ब्रह्मपुराणम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)

अनुवादक

आचार्य तारिणीश झा

शक - १९१५ : सन् १९९३

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

~~[illegible] शर्मा~~

~~रामेश्वर शर्मा~~

ब्रह्मपुराणम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)

* * *

अनुवादक
आचार्य तारिणीश झा
व्याकरण-वेदान्ताचार्य

* * *

शक १९१५ सन् १९९३

हिन्दी साहित्य सम्मेलन .प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

◆ **प्रकाशक**

प्रभातशास्त्री
प्रधानमंत्री : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

प्रकाशन वर्ष : शक १९१५ : सन् १९९३

द्वितीय संस्करण

मूल्य : ५०० रुपये मात्र

मुद्रक एवं फोटो कम्पोजिंग : **मनोज ऑफसेट**
२५५ चक, जीरो रोड, इलाहाबाद
दूरभाष : ५०२४३

प्रकाशकीय

भारतीय वाङ्मय में पुराणों की व्यापकता एवं महत्ता असंदिग्ध है और वे भारत की अतीतकालीन हिन्दू-संस्कृति के मूर्तमान गौरव के प्रतीक हैं। आज के वैज्ञानिक युग की यांत्रिक सभ्यता भी पुराणों के प्रभाव और उनके महत्त्व को रंचमात्र भी कम नहीं कर पायी है। आज भी उनके प्रति वही श्रद्धा और सम्मान का भाव दृष्टिगोचर होता है, जैसा आदि-काल से प्रचलित रहा है।

सम्मेलन के प्रतिष्ठापक स्वर्गीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टंडन ने सम्मेलन द्वारा पुराणों के हिन्दी अनुवाद तथा उनके मुद्रण की योजना बनायी थी, जिससे वे घर-घर सुगमता से पहुँच सकें और जन-जन उनके अध्ययन से लाभान्वित हो सकें। कार्य श्रमसाध्य, व्ययसाध्य और समयसाध्य था, फिर भी सम्मेलन ने इस दिशा में सक्रिय पग उठाया और मत्स्य पुराण और वायु पुराण का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया।

अनेक अप्रत्याशित कारणों, कठिनाइयों और बाधाओं के कारण यह कार्य उस गति से न चलता रह सका, जैसा कि इसके प्रणेता चाहते थे। फलतः इसमें शिथिलता आने लगी। पर सौभाग्य से सम्मेलन के वर्तमान प्रजातांत्रिक प्रशासन ने अपने त्रिवार्षिक कार्यक्रम के अन्तर्गत इस महत्त्वपूर्ण कार्य को यथाशीघ्र सम्पन्न करने का संकल्प किया है। परिणामस्वरूप ब्रह्मपुराण का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद विज्ञ पाठकों को देते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। हमें इस बात से विशेष हर्ष है कि धर्मप्राण जनों ने ब्रह्मपुराण के प्रथम संस्करण को इतना पसन्द किया कि यह उसका दूसरा संस्करण आपके समक्ष है।

मत्स्य एवं वायु पुराणों का केवल अनुवाद मात्र प्रकाशित किया गया था। वर्तमान स्थायी समिति ने, अनेक विद्वानों के सुझाव पर, मूल पाठ, पाठान्तर के साथ अनुवाद सहित पुराण-प्रकाशन का निश्चय किया। तदनुसार ब्रह्मपुराण का सम्पादन प्रकाशन इसी आधार पर किया गया है। भविष्य में अन्य पुराणों को भी इसी पद्धति से सम्पादित एवं प्रकाशित करने की योजना है, जिसके लिए विशेषज्ञ विद्वानों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है।

आशा ही नहीं, प्रत्युत विश्वास है कि हमारे इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन को विज्ञ-जन सहृदयता से अपनाकर हमें बल प्रदान करेंगे कि हम अपनी इस बृहद् योजना को निर्बाध गति से आगे बढ़ा कर राजर्षि टंडन जी के स्वप्न को साकार कर सकें।

प्रभात शास्त्री
प्रधानमंत्री
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

आषाढ़, संवत् २०३३

आदर्श पुस्तकों का नामोल्लेख

○○

[प्रस्तुत संस्करण की पाद-टिप्पणी में जिन महाशयों की पुस्तकों से 'क', 'ख' आदि संकेतों से पाठभेद दिये गये हैं, उनके नाम तथा संकेत इस प्रकार हैं—]

क. संकेत वाली पुस्तक जनस्थाननिवासी वे० शा० सं० साठे नारायण शास्त्री की है और पूर्ण है।

ख. संकेत वाली पुस्तक आष्टे ग्रामनिवासी लिमये महोदय की है, जो गौतमी माहात्म्य से रहित पूर्ण है।

ग. संकेतवाली पुस्तक दक्षिणापथवर्ती विद्यालय के पुस्तकालय की है। यह भी गौतमी माहात्म्य से रहित पूर्ण है।

घ. संकेत वाली पुस्तक रा० रा० भाऊसाहेब नगरकर की है। इसमें केवल गौतमी माहात्म्य है।

ङ. संकेत वाली पुस्तक श्री 'पंतसचिव संस्थान भोर' की है। इसमें केवल गौतमी माहात्म्य है।

च. संकेत वाली पुस्तक चोपड़े ग्रामनिवासी वे० रा० रा० 'वामनवुआ अयाचित' की है। इसमें भी केवल गौतमी-माहात्म्य है।

भूमिका

○○

यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः ।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ।।

(ब्रह्माण्डपुराण अ० १)

अर्थात् जो व्यक्ति सांगोपांग चारों वेदों और उपनिषदों को जानता है, पर पुराणों को नहीं जानता, वह विद्वान् नहीं हो सकता ।

उपर्युक्त कथन सत्य प्रतीत होता है, कारण पुराण सब की ऐहलौकिक और पारलौकिक कल्याण-सम्पदा के अक्षय भाण्डार हैं । ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम श्रद्धा, विश्वास, यज्ञ, दान तप संयम यम, नियम, सेवा भूत-दया, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म, मानवधर्म, व्यक्तिधर्म, स्त्री-धर्म, सदाचार और नाना श्रेणियों के पुरुषों के विभिन्न कल्याणकारी उपदेश सुन्दर, सरल और उपादेय भाषा में इनमें लिखे गये हैं । एतदतिरिक्त पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, प्रकृति-विकृति, भूगोल, खगोल, ऋषिवंश तथा राजवंश का वर्णन और स्थावर-जंगम सृष्टि का बहुत सुन्दर रीति से सूक्ष्म विवेचन किया है । कोश, दर्शन, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, कला, आयुर्वेद, गन्धर्ववेद, स्थापत्यवेद, राजनीति, समाजनीति, योग, तन्त्र, आदि शास्त्रों का भी परिज्ञान हमें इनसे प्राप्त होता है । आध्यात्मिक एवं आधिदैविक विषयों के अतिरिक्त आधिभौतिकवाद की भी प्रचुर सामग्री पुराणों में पायी जाती है ।

हरिदत्त शास्त्री के शब्दों में पुराणों से ही अणुशक्ति का ज्ञान प्राप्त करके वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद ने आकाश में निश्चेष्ट परमाणु के परस्पर सम्मिश्रणसे सात पदार्थों की उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकारा है । इस समय अणुगवेषणा पर भौतिक अनुसन्धान के विशेषज्ञों ने संहारक अणुशक्ति का पता लगाया है, किन्तु अभी प्रजनन और पालन अणुशक्ति का पता उनको नहीं है । वह विज्ञान पुराणादि में उल्लिखित है । इस पर ध्यान देकर यन्त्रों द्वारा अनुसन्धान करके प्रत्यक्षीकरण किया जाये तो संसार का महान् उपकार हो सकता है । देखिए शंकराचार्यरचित सौन्दर्यलहरी में महाशक्ति से अणु की उत्पत्ति का रूपक किस प्रकार बाँधा गया है—

'तनीयासं पांसुं तव चरणपंकेरुहभवम्
विरञ्चिः सञ्चिन्वन् विरचयति लोकानविकलम् ।
वहत्येनं शोरिः कथमपि सहस्रेण शिरसा
हरः संक्षुभ्यैनं भजति भसितोद्धूलनविधिम् ।।

अर्थात् आकाशरूपिणी अव्यक्त महाशक्ति से अणुओं की वृष्टि हुई । उन अणुओं में से सर्जनात्मक अणुओं को संचित करके संसार की रचना की गई । इसे ब्राह्मी अणुशक्ति कहते हैं । दूसरे प्रकार के अणुओं को संचित

करके वैष्णव अणु से संसार की पालनात्मक सामग्री बनी है। फिर संहारात्मक अणु (विस्फोटक पदार्थ) एकत्र करके रौद्र अणुओं के पिण्डीकरण से संसार के विनाश की शक्ति बनी है। इस प्रकार ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री अणुशक्ति—ये तीन प्रकार के अणु बताये गये हैं। यदि वर्तमान अणुपरीक्षण-समिति नवीनतम वैज्ञानिक उपलब्ध साधनों से इनका गंभीर परीक्षण करें तो वर्तमान काल भी पुराण-काल के समान वैज्ञानिक महत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

पुराणों में सिद्धपीठस्थली, भूमण्डल के विभाग, पुण्यसरितायें, महानद, सरोवर, मरुस्थली और शस्य-श्यामल भूभाग—इत्यादि का वर्णन आया है। इनसे प्रचुर मात्रा में ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री अणुशक्ति के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

स्कन्दपुराण में एक कथा आती है कि वर्करी नाम की एक राजकुमारी थी, जिसका मुख वकरी के मुख के समान था। वह शारीरिक निर्माण के कारणों का ज्ञान प्राप्त करके अपने मुखमण्डल को वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के द्वारा उसी शरीर में वकरी के मुख से, सुन्दर मानवमुख के रूप में वदलकर चन्द्रमुखी हो गई। उस राजकुमारी के आठ भाई और एक वहन थी। उसके पिता ने सम्पूर्ण देश को नौ भागों में विभक्त करके प्रत्येक को एक-एक खण्ड दे दिया। तव से भारतवर्ष नवखण्ड नाम से कहा जाने लगा। उन पृथक्-पृथक् खण्डों में अनेक प्रकार के भूगर्भगत धातुओं का वर्णन है। इसके अतिरिक्त पुराणों में आकाशचारी ग्रहनक्षत्रों की दूरी और उनकी गति, शिशुमारचक्र, ध्रुवस्थान, उत्तरायण, दक्षिणायण, ऋतु, मास आदि का विज्ञान भी निहित है।

पुराणों का प्रमुख उद्देश्य वेद के तत्त्वों को जन-साधारण तक पहुँचाना है। वेद में सूत्ररूप में जो बातें कही गई हैं, उन्हीं की व्याख्या पुराणों में भाष्यरूप से की गई है। यह बात पुराण-रचयिता व्यास जी ने स्वयं कही है—**'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'** अर्थात् इतिहास (रामायण-महाभारत) और पुराणों की सहायता से वेदों का अर्थ समझना चाहिए। यही कारण है कि वेदों में जिन बातों की सूचना मात्र है, पुराणों में उपाख्यानों के द्वारा उन्हीं का विस्तार है। जैसे ऋग्वेद के **'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'** विष्णु के अवतार की सूचना मात्र है, पर वामनपुराण में त्रिविक्रम नामक वामनावतार के प्रसंग में तथा अन्य पुराणों में भी विष्णु के वामनावतार का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी तरह अर्थववेद (क० ८० सू० प्र० ३।४।।५) में राजा पृथु का पृथ्वीदोहन संक्षेप में वर्णित है, पर श्रीमद्भागवत में उसी का विस्तृत रूप से वर्णन है।

पुराणों में जितनी सरलता से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग की सिद्धि का साधन मिलेगा, उतना अन्यत्र नहीं है। १८ पुराणों में परोपकार को सब धर्मों का सारभूत पुण्य बताया गया है और परपीड़ा को महा पाप। यह पाप-पुण्य की परिभाषा मानवता को कितना सुन्दर और मौलिक आचरण बता रही है।

पुराणों में सत्य का अन्वेषण करने की दृष्टि से, सत्यवादी हरिश्चन्द्र आदि के उपाख्यान से ज्ञात होता है कि उन्होंने सत्य की मूल्यवत्ता को कितना आत्मसात् किया था। सती अनसूया, सीता, सावित्री, सुकन्या आदि देवियों ने अपनी निष्ठा और सत्य से अलौकिक चमत्कार की सिद्धि प्राप्त की थी। भगवान् राम की जीवनचर्या से उनके चरित्र की विशेषता और मर्यादा-पालन की मर्यादापूर्ण एवं हृदयग्राही शिक्षा मिलती है। राम ने जनमत का सम्मान कर अपनी धर्मपत्नी सती सीता को छोड़ दिया था। पैतृक अनुशासन और आज्ञा का आदर्श स्थिर करने के लिए राज्य का भी त्याग किया एवं अत्याचार का शमन करने के लिए एक स्वेच्छाचारी अधिनायक का विध्वंस किया। श्रीराम के चरित्र में जो आदर्श है तथा जिस उच्च भूमिका पर समाज के जीवन का नैतिक, सामाजिक, चारित्रिक, धार्मिक, व्यावहारिक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक स्तर प्रतिष्ठित करने के अद्वितीय

लक्ष्य है, उसका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। रामराज्य के सम्बन्ध में व्यास जी ने लिखा है—**'न पुत्रमरणं केचिद्रामे राज्यं प्रशासति।'** इसी बात को महर्षि वाल्मीकि ने इस प्रकार लिखा है—

न पुत्रमरणं केचिद्द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् ।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ॥

अर्थात् राम के राज्य में कोई पुरुष पुत्र की मृत्यु नहीं देखता था, कोई स्त्री विधवा नहीं होती थी और सभी पतिव्रता होती थीं।

पुण्यशासन का यही आदर्श है। क्या राम के शासन के अतिक्ति संसार के किसी भी शासन का यह आदर्श मिलता है?

इसी प्रकार मार्कण्डेय मुनि के जीवन से दीर्घायु तथा दधीचि, शिवि आदि के चरित्र से त्याग आदि का आदर्श पुराणों के द्वारा ही मिलता है। इसलिए पुराण ग्रन्थ भारतवर्ष की बहुत बड़ी निधि हैं।

पुराणों का अविर्भाव

महर्षि वात्स्यायन ने अपने न्यायदर्शनाभाष्य में लिखा है कि वेदों और पुराणों का आविर्भावकाल समान ही है। जैसे वेद अपौरुषेय हैं; गौतम, वसिष्ठ, अत्रि, कश्यप, भारद्वाज, वामदेव आदि ऋषि वेद-मन्त्रों के द्रष्टा मात्र हैं कर्त्ता नहीं, वैसे ही पुराणों की मौलिक सामग्री का कर्त्ता कोई भी नहीं है; किन्तु वेद-प्रतिपादित पुराणों के स्मर्ता ब्रह्मदेव हैं और वक्ता अनेक ऋषि हैं। तात्पर्य यह है कि जो वेद के द्रष्टा हैं वे ही पुराणों के स्मर्त्ता एवं वक्ता हैं। जिस प्रकार वेद का आरंभ ब्रह्मा से है, उसी प्रकार पुराणों का आरंभ भी ब्रह्मा से ही हुआ है। विशेषता इतनी है कि मन्त्रोपदेश से पूर्व विनियोग आवश्यक है तथा विनियोग की पूर्णता के लिए ऋषि, देवता, छन्द तथा चरित्र का ज्ञान भी अत्यावश्यक है। अतः पहले पुराणों को जान लेने पर ही मन्त्रोपदेश सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी अभिप्राय से पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड के अध्याय १०४ में सिद्ध किया गया है [illegible] सर्वप्रथम ब्रह्मा के मुख से पुराणों का ही स्मरण हुआ, पश्चात् उनके मुख से वेदमन्त्र निकले—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥

इस सम्बन्ध में, अपने समय के अद्वितीय विद्वान् विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा का अभिमत है कि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद-ग्रन्थों के आविर्भाव से पहले या उसके समकाल ही ब्रह्माण्डपुराण नामक वेद-विशेष था, जिसमें सृष्टि और प्रलय का निरूपण था। इसीलिए शतपथब्राह्मण के **'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीति'** वाक्य में 'पुराण' शब्द का उल्लेख मिलता है। मत्स्यपुराण के निम्नलिखित श्लोक भी इस बात को पुष्ट करते हैं:—

पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ ।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥१॥
कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते ॥२॥

पद्मपुराण एवं बृहन्नारदीयपुराण में भी इस तरह के श्लोक पाये जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पहले के प्रसिद्ध पुराण ग्रन्थ के आधार पर ही अठारह पुराणों की उत्पत्ति हुई है। उसी आदिम ब्रह्माण्डपुराण से मन्त्रार्थोपयोगी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उपाख्यानों को लेकर महर्षियों ने ब्राह्मणग्रन्थों में सन्निविष्ट कर दिया। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण के निम्नलिखित मन्त्र में सिद्ध आख्यानों के वक्ताओं का ही प्रतिपादन किया गया है—

सोमो वै राजाऽमुष्मिन् लोके आसीदत देवाश्च ऋषयशचाभ्यध्यायन्—कथमयस्मान् सोमो राजा गच्छेदिति, ते ऽब्रुवन् छन्दांसि श्रूयां न इमं सोमं राजानमाहरतेति, तथेति, ते सुपर्णा भूत्वोदपतन् ते यत् सुपर्णा भूत्वोदतपन् तदेतत् सौपर्णमिति आख्यानविद आचक्षते।

यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थों में महर्षियों ने ही आख्यानों को कहा है, किन्तु वे आख्यान ब्राह्मणग्रन्थकर्त्ता महर्षियों द्वारा प्रणीत नहीं हैं, क्योंकि मन्त्रार्थ के उपपादन में उन आख्यानों का उपादान होने से उन्हें मन्त्र-रचना के बाद की कल्पना का विषय नहीं माना जा सकता। इसलिए ब्रह्मा द्वारा प्रस्तुत चिन्तन ब्रह्माण्डपुराण से ही ये आख्यान संकलित किये गये हैं, ऐसा मानना चाहिए। ब्राह्मणग्रन्थों में उल्लिखित पुराणार्थ—आख्यानों को ब्रह्मकृत मानकर ही पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड में कहा गया है—

सूतेनानुक्रमेणेदं पुराणं सम्प्रकाशितम्।
ब्राह्मणेषु पुरा यच्च ब्रह्मणोक्तं सविस्तारम्॥

इन ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः सभी विद्याओं का उल्लेख है, किन्तु वे क्रमबद्धता से रहित सूत्ररूप में अस्पष्ट हैं। अतएव उन्हें बुद्धिग्राह्य बनाने के लिए विशिष्टबुद्धिशाली महर्षियों ने अपनी प्रतिभा के बल पर उन ब्राह्मणग्रन्थो से उन विद्याओं को अलग करके युक्ति-प्रयुक्ति और सिद्धि द्वारा विशद करके लोक-कल्याणार्थ प्रसारित किया। जैसे कपिल और पतञ्जलि आदि ने सांख्य और योग को, वात्स्यायन आदि ने कामसूत्र को, मनु आदि ने धर्मसूत्र को, धन्वन्तरि आदि ने आयुर्वेद को, यास्क आदि ने निरुक्त को और इन्द्र, पाणिनि आदि ने व्याकरण को प्रवर्तित किया, उसी प्रकार वसिष्ठ के प्रपौत्र, शक्ति के पौत्र और पराशर के पुत्र, सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न भगवान् कृष्णद्वैपायन ने लोकोपकार के लिए समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थों से सभी उपाख्यानों एवं गाथाओं का संकलन करके कथा-प्रसंग में आयी हुई कल्पशुद्धियों को भी ठीक-ठीक जोड़कर लौकिक आख्यानों से मिश्रित तथा संगतिबद्ध करके पूर्वोक्त वेदरूप ब्रह्माण्हपुराण में कहे गये जगत्सृष्टि-प्रलयरूप पदार्थों को आख्यान[१], उपाख्यान[२], गाथा[३] और कल्पशुद्धि[४] से गुम्फित करके अठारह खण्डों में विभक्त एक पुराण-संहिता का निर्माण किया। उसे पुराण-संहिता इसलिए कहते हैं कि उसमें पुराण पद से अभिहित तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उल्लिखित विश्व-सृष्टि-विद्याओं का एक जगह संग्रह करके समाहार किया गया है। फिर कृष्णद्वैपायन ने अपने शिष्य सूतोत्पन्न लोमहर्षण को वह संहिता पढ़ायी। लोमहर्षण ने भी सम्पूर्ण संहिता को पढ़कर १. सर्ग (सृष्टि), २. प्रतिसर्ग (प्रलय), ३. वंश (देवताओं एवं पितरों की वंशावली), ४. मन्वन्तर (कि मनु का कब तक अधिकार रहता है) तथा ५. वंशानुचरित (सूर्य, चन्द्र प्रभृति राजवंशों में उत्पन्न होने वाले राजाओं के संक्षिप्त वर्णन) इन पाँच विषयों में विभक्त करके एक लौमहर्षणी नाम की संहिता बनायी। उन्हें अपने छह शिष्यों—१. सुमति २. अग्निवर्चस्, ३. मित्रयु, ४. सुशर्मा, ५. अकृतव्रण और

---

[१] स्वयं देखे गये विषयों का वर्णन। [२] कर्ण-परम्परा द्वारा सुने गये विषयों का वर्णन। [३] पितरगण, परलोक अथवा अन्यान्य विभिन्न विषयों के गीत वा अनुश्रुतियाँ। [४] श्राद्धकल्प आदि के निर्णय।

६. सोमदत्ति को पढ़ा दिया। ये ही छह व्यक्ति गोत्र-नाम से क्रम से १. आत्रेय, २. भारद्वाज, ३. वसिष्ठ, ४. शांशपायन, ५. काश्यप और ६. सावर्णि कहे जाते हैं। इन छहों ने भी पूर्वोक्त संहिताद्वय के आधार पर स्वेच्छानुसार क्रम रखकर छह संहिताओं का निर्माण किया। इन छहों संहिताओं में जिज्ञासा, आख्यान, संवाद एवं प्रवृत्ति के अनुरोध से प्रसगंतः संक्षिप्त और विस्तृत अनेक कथानक जोड़ दिये गये। जिससे उनके आकारों में भिन्नता आ गयी, परसर्ग, प्रतिसर्ग आदि सामान्य धर्म उनमें बराबर ही बने रहे। इस प्रकार पुराणों की आठ संहितायें बन गईं, यह किन्हीं आचार्यों का मत है। वैसे वायुपुराण और विष्णुपुराण के मत से चार ही संहितायें हैं—१. लोमहर्षणिका, काश्यपिका, सावर्णिका और शांशपायनिका। इन चार संहिताओं के आधार पर ही वेदव्यास ने ब्रह्मपुराण आदि प्रसिद्ध अठारह पुराणों की रचना की और उनमें उग्रश्रवा प्रभृति सूतों ने संवृद्धि की।

आगे चलकर उन चारों संहिताओं में उल्लिखित कथाओं में भिन्नता आ गई। इसका कारण यह है कि समय-समय पर मुनियों की गोष्ठियों में उस पर चर्चा होती रही, जिसमें सात्त्विक, राजस और तामस उपासना के भेद से उनको भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपित किया गया; फलतः मुख्य उद्देश्य में भिन्नता आ जाने से इतिहास और प्रबन्ध में भी भेद हो गया। बाद में उन-उन पुराणों में आये हुये पुलस्त्य एवं भीष्म और पराशर एवं मैत्रेय आदि के संवादों का प्रचार करने के लिए कभी लोमहर्षणसूत नैमिषारण्य में जाकर वेदव्यास ही के द्वारा विभक्त किये गये अठारह पुराणों को शौनक आदि जिज्ञासु मुनियों को सुनाने लगे। यद्यपि वेदव्यास द्वारा व्यक्त किये गये पुराणों का पूर्वापर क्रम दूसरे प्रकार से निर्धारित था, किन्तु लोमहर्षण सूत ने जिज्ञासुओं के अनुरोध से निर्धारित क्रम की उपेक्षा करके क्रमशः ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, वामनपुराण, वाराहपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, नारदीयपुराण तथा भविष्यपुराण—इन दस पुराणों को पूर्ण रूप से सुनाकर अग्निपुराण को आधा ही सुनाया। इसी बीच संयोग से नैमिषारण्य में आये हुए बलभद्र ने अवशिष्ट अग्निपुराण को सुनाते हुए ही सूत को यह बिना मेरा अभिवादन किये शूद्र होकर पुराण सुना रहा है—ऐसा सोचकर क्रोधावेश में मार डाला। तब लोमहर्षण के दिवंगत हो जाने पर शोकाकुलित शौनक आदि मुनियों ने लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा नामक सूत को बुलाकर व्यास-गद्दी पर बैठाकर उससे अग्निपुराण के अवशिष्ट आधे भाग के साथ और भी सात पुराण सुन लिये। यह बात पद्मपुराण के उत्तरखण्ड से आयी है। लोमहर्षण की जीवितावस्था में भी नित्य वे ही मुनियों को पुराण नहीं सुनाते थे अपितु उनकी आज्ञा से उग्रश्रवा भी नैमिषारण्य में जाकर मुनियों को पुराण सुनाया करते थे। यह बात भी पद्मपुराण से ही विदित होती है।

पहला पुराण

पूर्वोक्त चार संहिताओं पर आधारित अठारह पुराणों में प्रथम पुराण ब्रह्मपुराण ही है। इस वात को भगवान् पराशर ने मैत्रेय से कहा है—

चतुष्टयेनाप्येतेन संहितानामिदं मुने ।
आद्यं सर्वपुराणानां पुराणं ब्राह्ममुच्यते ॥

(विष्णुपुराण)

इस श्लोक में ब्रह्मपुराण को आद्य मानकर इतर पुराणों को तदुत्तवर्ती एवं संहिता चतुष्टयमूलक

प्रतिपादित किया गया है। केवल देवीभागवत को छोड़कर अन्य पुराणों में भी इस बात की पुष्टि की गई है। इसका स्पष्टीकरण आगे किया गया है।

पुराणों का क्रम

विष्णुपुराण के अनुसार पुराणों की रचना (सृष्टि) का क्रम इस प्रकार हैः—

१. ब्रह्म
२. पद्म
३. विष्णु
४. वायु (शिव)
५. भागवत
६. नारदीय
७. मार्कण्डेय
८. अग्नि
९. भविष्य
१०. ब्रह्मवैवर्त
११. लिंग
१२. वाराह
१३. स्कन्द
१४. वामन
१५. कूर्म
१६. मत्स्य
१७. गरुड़
१८. ब्रह्माण्ड

इन्हीं अठारह पुराणों का आद्य अक्षर लेकर निम्नलिखित श्लोक में मात्र सूची प्रस्तुत की गई है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
अनापकूस्कलिंगानि पुराणानि प्रचक्षते ।।

दो म	दो भ	तीन ब्र	चार व	अ०	ना०	प०	कू०	स्क०	लिं०	ग०
७,	५,	१,	३,	८,	६,	२,	१५,	१३,	११,	१७,
१६	९	१०	१२							
		१८	१४							
			४ (मतभेद से)							

पुराणों का क्रम-रहस्य

श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी के शब्दों में पुराणों की सृष्टि-प्रक्रिया को वैज्ञानिक दृष्टि से देखना हो तो क्षीरसमुद्र में शेषशायी भगवान् विष्णु का ध्यान कीजिए। क्षीरसागर में शेषनाग को शय्या बनाकर भगवान् विष्णु लेटे हुए हैं। जगज्जननी लक्ष्मी उनका पैर दबा रही हैं और महर्षि नारद पास में खड़े होकर स्तुति कर रहे हैं। जब विष्णु को सृष्टि रचने की इच्छा होती है तब उनकी नाभि से एक कमल निकलता है। उससे ब्रह्मा का प्रादुर्भाव होता है। उस पर बैठकर चतुर्मुख ब्रह्मा वेद पाठ करते हैं। यही सृष्टि के रचयिता हैं। इस चित्र को ध्यान में रखकर पुराणों के क्रम पर विचार करना चाहिए। सबसे पहले यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस दृश्यमान ब्रह्माण्ड के रचयिता कौन हैं ? इसका उत्तर प्रथम ब्रह्मपुराण देता है। इससे यह सूचित होता है कि **'ब्रह्म ब्रह्माभवत्स्वयम्'** इस तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार ब्रह्म ही ब्रह्मा के रूप में सृष्टि के रचयिता हैं। अर्थात् स्थावर-जंगमात्मक दृश्यजगत् के निर्माता ब्रह्मा का तत्त्व प्रथम ब्रह्मपुराण बतलाता है। पश्चात् दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्मा कहाँ से पैदा हुए। इसका उत्तर पद्मपुराण देता है कि ब्रह्मा ब्रह्म के नाभिकमल से उत्पन्न हुए। अब तीसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि पद्म कहाँ से निकला ? इस शंका का समाधान करने के लिए तीसरा विष्णुपुराण आता है। इसके बाद शंका होती है कि भगवान् विष्णु किस आधार पर स्थित है ? इसका समाधान

करने के लिए चौथा वायुपुराण उपस्थित होता है कि भगवान् विष्णु शेष-शय्या पर स्थित हैं, क्योंकि विष्णु के शयन-स्थान शेष का निरूपण वायुपुराण में किया गया है। वायुपुराण का ही दूसरा नाम शिवपुराण है। इनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। शेष के आधार सरस्वान् क्षीर समुद्र को बताने के लिए पाँचवाँ भागवत् पुराण आता है। अतः उसे सारस्वत कल्प का पुराण कहते हैं। क्षीरसमुद्र में शेषशय्या के पास वीणाधारी नारद जी सदा विराजते हैं। इस रहस्य को व्यक्त करने के लिए छठा नारदीय पुराण है। ये छह पुराण स्थूल तत्त्व से सूक्ष्म तत्त्व की ओर संकेत करते हैं। इनका मूल तत्त्व क्या है? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सातवाँ मार्कण्डेयपुराण आता है। इसका सिद्धान्त है कि प्रकृति ही सबका मूल तत्त्व है। आठवें अग्निपुराण में अग्नि को ही सबका आधार बताया गया है। अग्नि के भी उत्पादक सूर्य हैं, इसे बताने के लिए नवाँ भविष्य पुराण है। भविष्य पुराण में सूर्य को ही प्रधान तत्त्व माना गया है। इस प्रकार अनेक विप्रतिपत्ति बताकर अन्त में ब्रह्मवैवर्त ने ब्रह्मा को ही मूल तत्त्व बताया है। अर्थात् यह सब ब्रह्म का ही विवर्त है। इन पुराणों में क्रम से सृष्टि के पूर्ण विकास का निरूपण करने के बाद यह जिज्ञासा होती है कि उस मूल तत्त्व ब्रह्म को कैसे जाना जा सकता है? वह किस प्रकार सृष्टि का निर्वाह करता है? आत्मकल्याणार्थ जीव को कैसी उपासना करनी चाहिए? इसके उत्तर में ग्यारहवाँ लिंगपुराण और तेरहवाँ स्कन्दपुराण भगवान् शंकर का निर्देश करते हैं। बारहवाँ वाराहपुराण, चौदहवाँ वामनपुराण, पन्द्रहवाँ कूर्म, सोलहवाँ मत्स्यपुराण भगवान् विष्णु के अवतारों का विवरण देते हैं। सृष्टिप्रक्रिया में जिन अवतारों का उपयोग है, उन्हीं अवतारों के नाम से पुराणों के नाम रखे गये हैं। जिस क्रम से इन अवतारों का सृष्टिप्रक्रिया में उपयोग है, वही क्रम पुराणों का माना गया है। यद्यपि भगवान् विष्णु के अन्य अवतार भी परमाराध्य हैं तथापि सृष्टि-प्रक्रिया में इन चारों को विशेष रूप से प्रधानता दी गई है। सृष्टिचक्र में घूमने वाले जीव की किस-किस क्रम के अनुसार क्या-क्या गति होती है, उपासनार्थ जीव की विविध गति बताने के लिए सत्रहवाँ गरुड़पुराण है। सृज्यमान जगत् की सीमा निरूपण करने और सब गतियों का आधार बताने के लिए अन्त में अठारहवाँ ब्रह्माण्डपुराण है। क्योंकि **'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः'** के अनुसार ब्रह्म से आगे कोई ज्ञातव्य वस्तु शेष नहीं रह जाती है। यही इस क्रम का रहस्य है।

पुराणों की अष्टादश संख्या

यद्यपि पौराणिक शैली प्रधानतया त्रैगुण्य-रचना और प्रकृति की विकासक है तथा प्रत्येक में गुणत्रय और गुणातीत संसार एवं अव्यक्त का प्रतिपादन और उस प्रतिपाद्य की प्राप्ति का विधान है तो भी कोई पुराण प्रधानतया सात्त्विक, कोई राजसिक और कोई तामसिक होने से प्रधान-अप्रधान के भेद से नौ भेदों में पर्यवसित हो जाते हैं। फिर नवों के शक्त्यात्मक एवं शिवात्मक भेद होने से अठारह संख्या हो जाती है। वस्तुतः संख्या नौ ही है। परन्तु तन्त्र-शास्त्र के अनुसार शिव-शक्त्यात्मक योग से नौ संख्या अष्टादश हो जाती है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर अष्टादश पुराण, अष्टादश स्मृतियाँ, अष्टादश पर्व तथा गीता के अष्टादश अध्याय आदि कहे गये हैं।

वैदिक प्रक्रिया के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तीन भागों में विभक्त हैं—१. पृथ्वी, २. अन्तरिक्ष और ३. द्यौः। कालक्रमानुसार इन तीनों में ६-६ परिवर्तन होते हैं; १. सत्ता, २. उत्पत्ति, ३. वृद्धि, ४. परिपाक, ५. अपचय और ६. विनाश। ३ से प्रत्येक विकारों की गणना करने से १८ होता है। १८ पुराण इन तीनों स्थानों

की सृष्टि, प्रलय आदि का निरूपण करते हैं। इसलिए १८ भाव-विकारों को व्यक्त करने के लिए पुराण भी १८ माने गये हैं। फिर कल्प भी १८ माने जाते हैं। एक-एक कल्प में एक-एक पुराण की प्रधानता रहती है। इस दृष्टि से विचार करने पर भी पुराणों की अष्टादश संख्या के रहस्य का उद्घाटन होता है।

उपपुराण और औपपुराण

पुराणों की तरह उपपुराण और औपपुराण भी संख्या में अष्टादश ही हैं। यथा—**उपपुराण**—(१) सनत्कुमारकृत आदिपुराण, (२) नरसिंहपुराण, (३) कुमारकृत स्कन्दपुराण, (४) शिवधर्मपुराण, (५) दुर्वासापुराण, (६) नारदपुराण, (७) कपिलपुराण, (८) वामनपुराण, (९) औशनसपुराण, (१०) ब्रह्माण्डपुराण, (११) कालिकापुराण, (१२) वरुणपुराण, (१३) माहेश्वरपुराण, (१४) साम्बपुराण, (१५) सौरपुराण, (१६) पाराशरपुराण, (१७) मारीचपुराण और (१८) भास्करपुराण हैं।

औपपुराण—(१) सनत्कुमारपुराण, (२) बृहन्नारदीयपुराण, (३) आदित्यपुराण, (४) सूर्यपुराण, (५) नन्दिकेश्वरपुराण, (६) कौर्मपुराण, (७) वसिष्ठपुराण, (९) भार्गवपुराण, (१०) मुद्गलपुराण, (११) कल्किपुराण, (१२) देवीपुराण, (१३) महाभागवतपुराण, (१४) बृहद्धर्मपुराण, (१५) परानन्दपुराण, (१६) वह्निपुराण, (१७) पशुपतिपुराण और (१८) हरिवंशपुराण हैं।

इन उपपुराणों और औपपुराणों की रचना पुराणों के आधार पर ही हुई है। प्राचीन काल के विभिन्न विद्वानों ने १८ महापुराण की छाया लेकर ही इनकी रचना की है। विस्तार के भयसे इनमें कहीं-कहीं तो कथायें सूक्ष्म कर दी गई हैं, कहीं-कहीं पर विलक्षण कथाओं का भी समावेश कर दिया है और कहीं-कहीं कथाओं में नावीन्य लाने के लिए परिवर्तन भी कर दिया है। इतना अन्तर होने पर भी इनका मूल अष्टादश पुराण ही है। श्रीमद्भागवत के यशस्वी टीकाकार श्रीदर स्वामी के प्रधान शिष्ट नीलकण्ठने देवीभागवत की टीका में इस विषय का स्पष्ट संकेत भी किया है—

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्प्रदृश्यते।
विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तथा तेभ्यो विनिर्गतम्॥

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ

ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है:—

यस्मात्पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

अर्थात् सर्वप्रथम ज्ञान का प्रकाश करने के कारण इसकी 'पुराण' संज्ञा हुई। इसकी निरुक्ति या व्युत्पत्ति जो जानते हैं वे सव पापों से छूट जाते हैं।

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—पुरा नीयते इति पुराणम् पुरा नी + ड (अ), ईकार का लोप, णत्व। अथवा पुरा भवम् इति पुराणम् पुराट्यु (यु) 'सायंचिरप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इस सूत्र से। अनन्तर यु के स्थान में 'युवोरनाकौ' सूत्र से अन आदेश, नकार को 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' सूत्र से णत्व। यहाँ 'सायंचिरं'—इत्यादि सूत्र से ट्यु प्रत्यय तो होता है, पर तुट् का आगम नहीं हो पाता है, कारण, 'पूर्व

पुराण-लक्षण

कालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवला: समानाधिकरणेन' इस सूत्र में पाणिनि ने 'पुराण' शब्द का निर्देश किया है। यदि तुट् हो जाएगा तो उक्त सूत्र में पठित पुराण शब्द कैसे बनेगा ? अथवा 'पुराणप्रोक्तेषु' इस सूत्र निर्देश से निपातन करके पुराण शब्द बन सकता है।

निरुक्त में पुराण शब्द का निर्वाचन इस प्रकार आया है—'पुरा नवं भवति' जिसकी नव द्युति सबसे प्रथम प्रकट हुई वह पुराण है। इसलिए भगवान् को भी पुराणपुरुष कहते हैं। पुराण का अर्थ जीर्ण नहीं है अपितु आदि विकास है। गीता में भगवान् की प्रार्थना में आया है—'कविं पुराणमनुशासितारं' अर्थात् भगवान् क्रान्तदर्शी तथा पुराणण होने से सबके अनुशासक हैं। अत: पुराण शब्द से आदि साहित्य का तात्पर्य है। आदि साहित्य वह है जिसमें आदिदेव आत्मा का प्रबोध हो। इस आदि विद्या को वेदव्यास जी ने जगत्कल्याण के लिए सर्गादि पाँच लक्षणों में ग्रथित कर दिया। इसी को पुराण कहते हैं। पुराण शब्द को सुनते ही व्यासकृत अष्टादश पुराण की स्मृति हो जाती है।

पुराण-लक्षण

स्वयं पुराणों में ही 'पुराण' के कई लक्षण दिये गये हैं। कोशकारों के अनसुार उसका सर्वादिख प्रचलित लक्षण यह है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

अर्थात् जिसमें सर्ग ईश्वरकृत सृष्टि (कारणसृष्टि), प्रतिसर्ग पुन: (कार्य) सृष्टि और लय, देवताओं एवं पितरों की वंशावली, समस्त मन्वन्तर (किस मनु का कब तक अधिकार रहता है) तथा सूर्य-चन्द्र प्रभृति राजवंशों में उत्पन्न होने वाले राजाओं के संक्षिप्त वर्णन) पुराण के ये ही पाँच लक्षण हैं। इस लक्षण से 'पुराण' शब्द का व्यवहार अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीयारण्यक, आश्वलायनगृह्यसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, मनुसंहिता, रामायण, महाभारत, प्रभृति हिन्दू जाति के प्राचीनतम एवं सम्मान्य ग्रन्थों में किया गया है। पर यह विवादास्पद है कि उस समय भी पुराण का यही लक्षण था। अथर्वसंहिता के **ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह'** (अथर्व ११, ७, २४) इस मत का 'ऋक्, साम, छन्द और पुरा के साथ उत्पन्न हुए' यह स्फुट अर्थ है। बृहदारण्यक और शतपथब्राह्मण में एक स्थान पर यह वर्णन किया गया है कि 'जिस प्रकार गीले काष्ठ से उत्पन्न अग्नि से पृथक्-पृथक् धुआँ निकलता है उसी प्रकार इस महान् भूत के नि:श्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, व्यॉख्यान और अनुव्याख्यान निकले हैं। ये सभी इनके नि:श्वास हैं।' इसमें भी 'पुराण' का इतिहासादि से पृथक् कथन किया गया है। छान्दोग्योपनिषत् के '**होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चम् वेदम्।**' (छान्दोग्य उ० ७, १७१) इस वचन द्वारा 'पुराण' भी वेद-समूह में पाँचवाँ वेद माना गया है। इसी प्रकार महाभारत और रामायण में भी पुराण शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। भगवान् शंकराचार्य ने बृहदारण्यक के भाष्य में 'पुराण' शब्द की व्याख्या की है। उनका कहना है कि 'वेदों में उर्वशी और पुरूरवा के कथोपकथन आदि ब्राह्मणभाग का नाम इतिहास और सबसे पहले एकमात्र असत् था इत्यादि सृष्टि-प्रक्रिया के घटित वृत्तान्त का नाम पुराण है।' इसी प्रकार आचार्य सायण ने भी वेदों में आये हुये पुराण शब्द

की निरुक्ति करते हुए सृष्टि-प्रक्रिया-घटित वृत्तान्त को 'पुरा' माना है। शंकराचार्य एवं सायण की परिभाषा के अतिरिक्त महाभारत एवं रामायण में पुराणों का जो परिचय दिया गया है, उसमें सृष्टि-प्रक्रिया-घटित वृत्तान्तों के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी उल्लेख किया गया है। महाभारत के आदि पर्व में महर्षि शौनक ने कहा है—

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुराऽस्माभिः श्रुतपूर्वं पितुस्तव॥
(महाभारत आदिपर्व ५, २)

अर्थात् पुराणों में दिव्य कथाओं एवं परम बुद्धिमान व्यक्तियों के आदिवंशों के वर्णन हैं। यही नहीं, महाभारत के आदिपर्व में उन समस्त राजाओं की नामावली है, जिनके वंश-वर्णन पुराणों में हैं। इसी प्रकार रामायण के बालकाण्ड के नवम सर्ग से लेक.र ग्यारहवें सर्ग तक वर्णित कथाओं को भी 'पुराण' संज्ञा दी गई है। इन बातों पर विचार करने से पता लगता है कि वेद-काल से लेकर रामायण एवं महाभारत काल तक जो 'पुराण' प्रचलित थे, उनमें सृष्टि-प्रक्रिया-घटित वृत्तान्तों, दिव्य कथाओं एवं परम बुद्धिमान् व्यक्तियों के आदिवंशों का वर्णन था। 'पुराण' के अधुना प्रचलित 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' इस उपर्युक्त लक्षण से इसकी समानता है। अस्तु,

उपर्युक्त सर्वमान्य 'सर्गश्च प्रतिसर्गशच' इत्यादि लक्षण के अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्तपुराण में महापुराण के दूसरे लक्षण भी बनाये गये और उस सर्वमान्य लक्षण को उपपुराणों का लक्षण बतलाया गया—

सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेषाञ्च पालनम्।
कर्मणां वासनावार्तामनूनाञ्च क्रमेण च॥
वर्णनं प्रलयानाञ्च मोक्षस्य च निरूपणम्।
दशाधिकं लक्षणञ्च महतां परिकीर्तितम्॥
(१३२, ३५-३७)

इस प्रकार यदि ब्रह्मवैवर्तपुराण का मत माना जाय तो महापुराण में उपर्युक्त दस लक्षण होने चाहिये और उपपुराणों में पाँच। किन्तु इससे भी अमरकोश में वर्णित उक्त सर्वसम्मत लक्षण की ही मान्यता सिद्ध होती है। क्योंकि उपपुराणों में उक्त पाँच लक्षण भी नहीं मिलते।

क्या पुराण इतिहास है ?

'यस्मिन् पुराणमैतिह्यं पुराणं तेन तत् स्मृतम्' अर्थात् पुराण में इतिवृत्त होते हैं, इसलिए उसे पुराण कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि पुराण इतिहास से भिन्न नहीं हैं। फिर संसार परिवर्तनशील है। समयानुसार मनुष्य के विचार तथा अभिरुचियाँ परिवर्तित होती रहती हैं। जो चीज आज हम जिस रूप में देखते हैं, वह प्राचीनकाल में भी वैसी ही थी या नहीं और आगे भी वैसी ही होगी या नहीं, यह कोई नहीं कह सकता। अतएव इतिहास की जो परिभाषा आज है वही प्राचीन में भी थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, पर ऐतिहासिक पुस्तकों का जो उपयोग आज है वही प्राचीन काल में पुराणों का था। इतिहास के जो लक्षण उस समय बताये गए हैं वे सब पुराणों में पाये जाते हैं। यथा देवीभागवत में दिया है—

अर्थात् जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेशों से युक्त तथा पुरावृत्त कथाओं से संवलित हो, उसे इतिहास कहते हैं।

जैसे आजकल इतिहास में सन् संवत् सहित घटनायें रहती हैं अर्थात् सन् संवत् युक्त घटना-समूह या सूची को इतिहास कहते हैं, वैसे ही प्राचीकाल में भी था। किन्तु अतीत काल का इतिहास आधुनिक काल के इतिहास से पूर्णतया भिन्न था अर्थात् अतीत काल में इतिहास की वह परिभाषा न थी जो आज है। पूर्वकालीन इतिहास की व्युत्पत्त्यात्मक व्याख्या से यह विषय स्पष्ट हो जाएगा। देखिए विष्णुपुराण में इतिहास की व्याख्या—

'इतिहेत्यव्ययम् पारम्पर्योपदेशाध्यायी, अस्यासनम् आसः अवस्थितिरेतेष्विति।' अर्थात् 'इतिह' अव्यय है, जिसका अर्थ है परम्परागत उपदेशयुक्त कथायें और 'आस' का अर्थ हैं—अवस्थिति। अर्थात् जिसमें परम्परागत उपदेशपूर्ण कथायें हों, वह 'इतिहास' है। अमरकोश में भी 'इतिहास' का यही लक्षण किया गया है। यथा, **'पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाव्ययम्। इतिहासः पुरावृत्तः... ... ...'** अर्थात् परम्परागत प्राचीन घटनाओं का विवरण ही इतिहास है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्वाचीन तथा प्राचीन इतिहास में भेद केवल काल या समय का है। आजकल के इतिहास का तात्पर्य सन्, संवत् तिथि सहित बहुत-सी घटनाओं के वृत्तान्त से हैं, परन्तु प्राचीन काल में सन्, संवत् आदि की उतनी आवश्यकता नहीं थी, केवल मनु के समय से व्यक्ति तथा घटना-काल का अनुमान लिया जाता था। अतः पुराण निरे धार्मिक ग्रन्थ नहीं है, अपितु उनमें भारत के अतीत का इतिहास भरा पड़ा है। वे प्रागैतिहासिक काल के महत्त्वपूर्ण इतिहास हैं।

पुराणों का वर्गों में विभाजन

उक्त अष्टादश पुराणों को वर्गों में भी विभक्त किया गया है। स्कन्दपुराण के केदारखण्ड में यह चर्चा आयी है कि अठारहों महापुराणों में दस शैव, चार ब्राह्म, दो शाक्त और दो वैष्णव हैं। फिर उसी पुराण के शिवरहस्य खण्डान्तर्गत सम्भवकाण्ड में लिखा है कि शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिंग, वाराह, स्कन्द, मत्स्य, कूर्म, वामन और ब्रह्माण्ड—ये दस पुराण शैव हैं। इन सब की श्लोक संख्या ३ लाख है। विष्णु, भागवत, नारदीय और गरुड़—ये चार वैष्णव हैं, इनमें भगवान् विष्णु की महिमा वर्णित है। ब्रह्मा और पद्म—ये दो पुराण ब्रह्मा से सम्बन्धित हैं। अग्निपुराण अग्नि की और ब्रह्मवैवर्त पुराण सूर्य की महिमा से पूर्ण हैं। चारों वैष्णव पुराणों में अधिकतर शिव और विष्णु का माहात्म्य वर्णित किया गया है। ब्रह्मपुराण में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का साम्य प्रतिपादित करते हुए भी ब्रह्मा को श्रेष्ठ और सूर्य को त्रिदेवात्मक सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार शैव पुराणों में शिव को भी सभी देवताओं से अधिक शक्तिशाली माना गया है। मत्स्यपुराण में यद्यपि विष्णु के मत्स्यावतार का ही वर्णन किया गया है, पर शिव के विविध अवतारों एवं कार्यों का भी इसमें वर्णन मिलता है। इसी प्रकार वाराह, वामन ब्रह्माण्ड में भी शिव की अनन्त शक्ति का वर्णन किया गया है, जिसके सम्मुख विष्णु, ब्रह्मा प्रभृति सभी देवों एवं शक्तियों को कई बार प्रभावहीन होते दिखाया गया है। शैव मत की प्राचीनता एवं उसके उदात्त विचारों का ही यह परिणाम है कि अधिकांश पुराणों में उसकी चर्चा की गई है। ऋक्, यदु, साम और अथर्व चारो वैदिक संहिताओं में रुद्र की स्तुति मिलती है। इनमें यजुर्वेदान्तर्गत रुद्राष्टायी का आज भी बहुत प्रचार

है। यद्यपि इस बात में विवाद उठाया गया है कि रुद्र ही पौराणिक शिव अथवा रुद्र हैं, पर यह परम्परागत इतनी प्रचलित हो गई है कि वह तर्क नहीं स्वीकार करती। वाजसनेयी संहिता में शतरुद्रों के बीच-बीच में शिव, गिरीश, पशुपति, नीलग्रीव, शितिकण्ठ, भव, शर्व, महादेव इत्यादि नामों को देखने से रुद्र और शिव के एकत्व में अविश्वास नहीं रह जाता। अथर्वसंहिता में भी महादेव भव, पशुपति आदि नामों का उल्लेख हुआ है। अस्तु, शैव पुराणों में प्रायः इन्हीं उपर्युक्त नामों की चरितार्थता मनोहर कथाओं के रूप में की गई है। इनके अतिरिक्त सात्त्विक, राजस एवं तामस—इन तीन गुणों के आधार पर भी पुराणों का वर्ग-विभाग किया गया है।

पुराणों की श्लोक-संख्या और अध्यायों का विवरण

उपर्युक्त अठारहों पुराणों में आए हुए श्लोकों एवं अध्यायों की संख्या नारदीय पुराण एवं मत्स्यपुराण में उल्लिखित संख्या के अनुसार प्रस्तुत की जा रही है—

	नादीय पुराण के अनुसार (श्लोक संख्या)	मत्स्यपुराण के अनुसार (श्लोक संख्या)	(अध्याय-संख्या)
१. ब्रह्मपुराण	१००००	१३०००	२४५
२. पद्मपुराण	५५०००	५५०००	६४१
३. विष्णुपुराण	२३०००	२३०००	१२७
४. शिवपुराण	२४०००	२४०००	४६४
५. भागवत	१८०००	१८०००	३३२
६. नारदीयपुराण	२५०००	२५०००	२०७
७. मार्कण्डेयपुराण	९०००	९०००	१३४
८. अग्निपुराण	१५०००	१६०००	३८३
९. भविष्यपुराण	१४०००	१४५००	६०५
१०. ब्रह्मवैवर्तपुराण	१८०००	१८०००	२६६
११. लिंगपुराण	११०००	११०००	१६०
१२. वाराहपुराण	२४०००	२४०००	२१८
१३. स्कन्द पुराण	८११००	८१०००	१६७१
१४. वामनपुराण	१००००	१००००	२५
१५. कूर्मपुराण	१७०००	१८०००	९९
१६. मत्स्यपुराण	१५०००	१४०००	२९०
१७. गरुड़पुराण	१९०००	१८०००	३१८
१८. ब्रह्माण्डपुराण	१२०००	१२२००	१६१

इन पुराणों के जो संस्करण मिल रहे हैं, उनमें केवल भागवत, लिंगपुराण और ब्रह्माण्ड पुराण में उपर्युक्त श्लोक-संख्या ठीक है, पर शेष पुराणों की श्लोक-संख्या में पर्याप्त अन्तर है।

ब्रह्मपुराण

प्रस्तुत ब्रह्मपुराण विष्णुपुराण के अनुसार अठारहों पुराणों में सबसे पहला पुराण है—

आद्यं सर्वपुराणानां पुराणं ब्राह्ममुच्यते।
अष्टादश पुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते ॥

किन्तु देवीभागवत के अनुसार ब्रह्मपुराण पाँचवाँ पुराण है। नारदीय पुराण के अनुसार ब्रह्मपुराण में दस हजार श्लोक होने चाहिए, किन्तु मत्स्यपुराण में ब्रह्मपुराण के तेरह हजार श्लोकों की संख्या उल्लिखित है। यही संख्या लिंग पुराण, वाराहपुराण, कूर्मपुराण और पद्मपुराण में भी उल्लिखित है। किन्तु प्रस्तुत संस्करण में तेरह हजार सात सौ तिरासी श्लोक उपलब्ध हैं। यह संस्करण आनन्दाश्रम, पूना से प्रकाशित प्रति के आधार पर तैयार किया गया है।

ब्रह्मपुराण के दो भाग हैं—पूर्वभाग और उत्तरभाग। दोनों भागों में मिलाकर कुल २४६ अध्याय हैं। जिनमें, पूर्वभाग में देवों और असुरों, प्रजापतियों तथा दक्ष आदि की उत्पत्ति का वर्णन है। फिर भगवान् सूर्य के वंश का वर्णन तथा भगवान् राम के चतुर्व्यूहावतार का उल्लेख है। तदनन्तर चन्द्रवंश का वर्णन एवं जगदीश्वर कृष्ण का चरित्र चित्रित है। तत्पश्चात् द्वीपों, नदियों, वर्षों, पाताल, स्वर्ग और नरक का वर्णन मिलता है। फिर सूर्य की स्तुति एवं पार्वती का जन्म और विवाह वर्णित हैं। इसके बाद दक्ष का आख्यान और एकाम्रक्षेत्र का वर्णन मिलता है, बस, संक्षेप में पूर्वभाग में इतना ही विषय आया है।

उत्तरभाग में पुरुषोत्तमक्षेत्र का विस्तार से वर्णन तथा तीर्थयात्रा का विधान निरूपित है। पुनः यहाँ भी कृष्ण-चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। अनन्तर ब्रह्मलोक का वर्णन, पितृश्राद्ध का विधान, वर्णाश्रमधर्म का निरूपण, युगों का आख्यान तथा प्रलय का वर्णन किया गया है। तदुपरान्त योग तथा सांख्य की व्याख्या ब्रह्मवाद का निरूपण और ब्रह्मपुराण की फलश्रुति का कीर्तन किया गया है।

वैसे तो सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित-ये सभी पुराणों में प्रायः समान ही हैं। किन्तु ब्रह्मपुराण के आदि पुराण होने से इसके श्लोक भी कुछ पुराणों में ज्यों-के-त्यों रख दिए गए हैं। जैसे ब्रह्मपुराण के निम्नलिखित श्लोक विष्णुपुराण एवं नारदपुराण में अविकल रूप में आ गए हैं—

गोपीपरिवृतो रात्रिं शरच्चन्द्रमनोरमाम्।
मानयामास गोविन्दो रासारम्भरसोत्सुकः॥
गोप्यश्च वृन्दशः कृष्णचेष्टास्वायतमूर्तयः।
अन्यदेशं गते कृष्णे चेरुर्वृन्दावनान्तरम्॥
बभ्रमुस्तास्ततो गोप्यो निराशाः कृष्णदर्शने।
कृष्णस्य चरणं रात्रौ दृष्ट्वा वृन्दावने द्विजाः॥
एवं नानाप्रकारासु कृष्णचेष्टासु तासु च।

(ब्रह्मपुराण, अध्याय १८)

गोपीपरिवृतो रात्रिं शरच्चन्द्रमनोरमाम्।
मानयामास गोविन्दो रासारम्भरसोत्सुकः॥
गोप्यश्च वृन्दशः कृष्णचेष्टास्वायतमूर्तयः।
अन्यदेशं गते कृष्णे चेरुर्वृन्दावनान्तरम्॥

एवं नाना प्रकारासु कृष्णचेष्टासु तास्तदा। (विष्णुपुराण, अध्याय ५, १३)
श्रुत्वैतद्वचनं तस्य विश्वकर्मा सुकर्मकृत्।
तत्क्षणात्कारयामास प्रतिमाः शुभलक्षणाः।

प्रथमं शुक्लवर्णाभं शारदेन्दुसमप्रभम् ।
आरक्ताक्षं महाकायं जटाविकटमस्तकम् ।।
नीलाम्बरधरं चोग्रं बलं बलमदोद्धतम् ।
कुण्डलैकधरं दिव्यं गदामुशलधारिणम् ।।
द्वितीयं पुण्डरीकाक्षं नीलजीमूतसन्निभम् ।
अतसीपुष्पसंकाशं पद्मपत्रायतेक्षणम् ।।
पीतवाससमत्युग्रं शुभ्रं श्रीवत्सलक्षणम् ।
चक्रपूर्णकरं दिव्यं सर्वपापहरं हरिम् ।।
तृतीयां स्वर्णवर्णाभां पद्मपत्रायतेक्षणाम् ।
विचित्रवस्त्रसंछन्नां हारकेयूरभूषिताम् ।।
विचित्राभरणोपेतां रत्नहारविलम्बिताम् ।
पीनीन्नतकुचां रम्यां विश्कर्मा विनिर्ममे ।। (ब्रह्मपुराण, ५०, ४८-५६)

श्रुत्वैतद्वचनं तस्य विश्वकर्मा सुकर्मकृत् ।
तत्क्षणात्कारयामास प्रतिमाः शुभलक्षणाः ।।
कुण्डलाभ्यां विशिष्टाभ्यां कर्णाभ्यां सुविराजिताः ।
चक्रलाङ्गलविन्यासहस्ताभ्यां साधुसम्मताः ।।
प्रथमं शुक्लवर्णाभं शारदेन्दुसमप्रभम् ।
सुरकाङ्क्षं महाकायं जटाविकटमस्तकम् ।।
नीलाम्बरधरं चोग्रं बलं बलमदोद्धतम् ।
कुण्डलैकधरं दिव्यं गदामुशलधारिणम् ।।
द्वितीयं पुण्डरीकाक्षं नीलजीमूतसन्निभम् ।
अतसीपुष्पसंकाशं पद्मपत्रायतेक्षणम् ।।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्पीतवाससमच्युतम् ।
चक्रपूर्णकरं दिव्यं सर्वपापहरं हरिम् ।।
तृतीयां स्वर्णवर्णाभां पद्मपत्रायतेक्षणाम् ।
विचित्रवस्त्रसंछन्नां हारकेयूरभूषिताम् ।।
विचित्राभरणोपेतां रत्नहारविलम्बिताम् ।
पीनोन्नतकुचां रम्यां विश्कर्मा विनिर्ममे ।।
(नारदीयपुराणपूर्वार्ध, अध्याय ५४)

यह भूमिका लिखने में मुझे जिन विद्वानों की कृतियों से सहायता मिली है, उनके प्रति तथा विशेष रूप से पं० श्री श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ ।

—तारिणीश झा

संवत् २०३३ वि०
रामनवमी

विषय-सूची

(व्रह्मपुराण के अन्तर्वर्ती अध्यायों के क्रम से विषयों की अनुक्रमणिका)

अध्याय १

मंगलाचरण तथा नैमिषारण्य-वर्णन

मंगलाचरण के श्लोक, नैमिषारण्य का वर्णन, मुनियों का शुभागमन, नैमिषारण्य में सूतजी का जाना तथा ऋषियों का उनसे पुराण सुनाने के लिए निवेदन करना, लोमहर्षण (सूत) जी द्वारा पुराणकथा का आरंभ । सृष्टि के सम्वन्ध में विवरण, जल की उत्पत्ति, व्रह्मा का आविर्भाव, व्रह्मा द्वारा अण्ड का दो भाग करना, व्रह्मा से मरीचि आदि ऋषियों की उत्पत्ति, रूद्र आदि का उद्‌भव, वैवस्वत मनु की उत्पत्ति, आदि सर्ग के सुनने का फल। १-६

अध्याय २

स्वायंभुव मनु का वंश-वर्णन

स्वायम्भुव मनु के साथ शतरूपा का विवाह, शतरूपा से प्रियव्रत, उत्तानपाद दो पुत्र एवं काम्या नामक कन्या के जन्म का आख्यान । उत्तानपाद के वंश का वर्णन । प्रसंग से पृथु का जन्म । प्रचेताओं की उत्पत्ति, प्रचेताओं के मुखाग्नि से वृक्षों का जलना । उनका वृक्ष-पुत्री मारिषा से विवाह, मारिषा से दक्ष की उत्पत्ति एवं दक्ष का वंश-वर्णन, इस कथा के सुनने का फल । ६-११

अध्याय ३

देव-दानवोत्पत्ति-वर्णन

देवोत्पत्ति का कथन, सर्वप्रथम दक्ष की मानस सन्तान का वर्णन, पुनः मैथुन-धर्म से असिक्नी नामक पत्नी में हर्यश्वों का जन्म । पिता की आज्ञा से वंश बढ़ाने के इच्छुक हर्यश्वों को नारद का उपदेश और उनका वन में जाना । फिर शवलाश्व नामक पुत्रों का जन्म, उनका भी नारदजी के उपदेश से पूर्ववत् पुनः वन में जाना। अनन्तर दक्ष द्वारा पुनः साठ कन्याओं को जन्म देना, उनका विवाह एवं उनकी सन्तानों का वर्णन । मरूद्‌गण की उत्पत्ति । भूत-सृष्टि सुनने का फल । ११-२१

अध्याय ४

देव-दानवों के राज्याभिषेक का वर्णन

पितामह द्वारा उन-उन स्थानों में किए गए देवताओं का राज्याभिषेक-वर्णन । पृथु-चरित का आरंभ । वेन का चरित । वेन के दुश्चरित्रों को देखकर ऋषियों द्वारा शाप देना । ऋषियों के शाप से मरे हुए वेन की वाहु

के मन्थन से पृथु का जन्म, पृथु का राज्याभिषेक, पृथु के राज्य की स्थिति का वर्णन, सूत, मागध एवं वन्दी जन द्वारा पृथु की स्तुति । देवताओं के साथ पृथु द्वारा पृथ्वी का दोहन, जिसमें बछड़े, पात्र, दूध आदि का वर्णन है । २१-३१

अध्याय ५

मन्वन्तरों का वर्णन

मन्वन्तरों में देवर्षि, इन्द्र आदि का निरूपण । महाप्रलय एवं अल्प प्रलय का वर्णन । ३१-३६

अध्याय ६

सूर्योत्पत्ति का वर्णन

सूर्य के पुत्र एवं कन्या का वर्णन, छाया एवं संज्ञा का संवाद और उनका चरित्र-वर्णन । सूर्य एवं यम का संवाद । छाया का घोड़ी रूप धारण करना, सूर्य का अश्व रूप से छाया के साथ संगम । देव-वैद्य अश्विनी कुमारों की उत्पत्ति । संक्षेप से सूर्य-सन्तति यमुना, शनैश्चर तथा सावर्णि का वर्णन । देव-सृष्टि के सुनने का माहात्म्य । ३६-४०

अध्याय ७

सूर्य-वंश का वर्णन

सूर्य-वंश में इला की उत्पत्ति, इला एवं मैत्रावरुण का संवाद । इला का बुध के साथ समागम । सुद्युम्न आदि का जन्म, उनका वंश-वर्णन, इक्ष्वाकु आदि मनु-पुत्रों का वंश-वर्णन । कुश-स्थली का निर्माण । वलदेव और रेवती का विवाह । कुवलयाश्व के चरित्र का वर्णन । पिता के द्वारा कुवलयाश्व का चरित्र-वर्णन । पिता के द्वारा कुवलयाश्व का राज्याभिषेक एवं कुवलयाश्व के घर में उत्तंक मुनि का आगमन और उनके द्वारा धुन्धु राक्षस के चरित्र का वर्णन । पिता की आज्ञा से कुवलयाश्व का उत्तंक के साथ धुन्धु राक्षस को मारने के लिए जाना । धुन्धु राक्षस का वध । धुन्धुमार को उत्तंक का वरदान । धुन्धुमार के वंश में होने वाले राजाओं का संक्षेप में चरित्र-वर्णन । सत्यव्रत राजा का चरित्र-वर्णन एवं गालव का चरित्र-कथन । ४१-५०

अध्याय ८

सूर्य-वंश का वर्णन

सत्यव्रत का त्रिशंकु नाम पड़ना, त्रिशंकु का सशरीर स्वर्ग जाना । हरिश्चन्द्र का जन्म-कथन । राजा सगर का अश्वमेध यज्ञ करना । घोड़े को खोजने के लिए पृथ्वी को खोदते हुए साठ हजार सगर-पुत्रों को कपिल मुनि का शाप । अवशिष्ट चार पुत्रों को कपिल का वरदान । साठ हजार पुत्रों का जन्म-कथन । भगीरथ की उत्पत्ति, गंगा का भागीरथी नाम पड़ना । ५०-५७

अध्याय ९

चन्द्रमा की उत्पत्ति का वर्णन

अत्रि ऋषि का तप एवं अत्रि के नेत्रों से दश प्रकार की सृष्टि । चन्द्रमा की उत्पत्ति । चन्द्र का वीज एवं ओषधियों का स्वामी वनना । राजसूय यज्ञ का आरंभ । चन्द्र द्वारा बृहस्पति की स्त्री तारा का हरण, उसके

निमित्त देव-दानवों का युद्ध । वृहस्पति को तारा की प्राप्ति, गर्भ-त्याग के लिए तारा से वृहस्पति का सक्रोध कथन, इषीकास्तम्व में तारा द्वारा गर्भ-त्याग एवं बुध का प्रादुर्भाव । ५७-६०

अध्याय १०

चन्द्रवंश का वर्णन

सोम-पुत्र बुध के अंश से पुरूरवा की उत्पत्ति । पुरूरवा के पुत्र का आख्यान-वर्णन । गाधि-राज का जन्म । गाधि-कन्या सत्यवती का ऋचीक ऋषि के साथ विवाह । ऋचीक द्वारा सत्यवती को दो चरु देना — एक उसके लिए और दूसरा उसकी माता के लिए । चरु के वदल जाने से उसके प्रभाव से उत्पन्न पुत्रों के गुण-स्वभाव में व्यत्यय होगा—ऐसा ऋचीक द्वारा सत्यवती के प्रति कथन । सत्यवती को ऋचीक से वरदान की प्राप्ति । जमदग्नि की उत्पत्ति । रेणुका एवं जमदग्नि का विवाह । परशुराम की उत्पत्ति । विश्वामित्र का जन्म एवं तप आदि का वर्णन । ६०-६६

अध्याय ११

चन्द्र-वंश वर्णन

आयु के पाँच पुत्रों की उत्पत्ति । रजि का चरित्र-वर्णन । रजि से पाँच सौ पुत्रों की उत्पत्ति । देव-दानवों का युद्ध । दैत्यों को जीतने के लिए देवताओं द्वारा रजि से प्रार्थना । रजि द्वारा इन्द्र-पद की माँग । पश्चात् रजि से दैत्यों का पराजय और रजि को इन्द्र-पद की प्राप्ति । रजि और इन्द्र का प्रेमालाप । रजि के पुत्रों द्वारा इन्द्र पद का हरण एवं इन्द्र द्वारा उनका वध । इन्द्र को पुनः अपने पद की प्रप्ति । राजा अनेना की सन्तान का वर्णन । धनु नामक राजा से धन्वन्तरि का जन्म तथा भरद्वाज से आयुर्वेद की प्राप्ति । आयुर्वेद के आठ भाग कर के अपने शिष्यों को वितरण करना । काशी को निकुम्भ का शापदान तथा शाप के अन्त में अलर्क द्वारा पुनः स्थापन । ६६-७१

अध्याय १२

ययाति का चरित्र-वर्णन

नहुष से ययाति आदि पुत्रों का जन्म । ययाति के वंश का वर्णन । ययाति से ५ पुत्रों की उत्पत्ति । यदु के प्रति ययाति को अपनी वृद्धावस्था ग्रहण करने की आज्ञा । वृद्धत्व का ग्रहण न करने पर यदु को ययाति का शाप । पुरु से ययाति को युवावस्था का दान और भोग करने के वाद ययाति को ज्ञान । ७१-७५

अध्याय १३

पुरु के वंश का वर्णन

पुरु-वंश का वर्णन । पुरु-वंश के अन्तर्गत वंग-वंश का कथन । दुष्यन्त का जन्म । दुष्यन्त से शकुन्तला नामक पत्नी में भरत की उत्पत्ति । भरत के वंशजों की 'भारत' उपाधि । जहनु के द्वारा गंगाजी को शाप । कुरु से निर्मित कुरुक्षेत्र का वर्णन । सोम-वंश में प्रसिद्ध राजाओं—शान्तनु से जनमेजय तक— का वर्णन । पुरुवंश की समाप्ति । कार्तवीर्यार्जुन का वर्णन, कार्तवीर्य को आपव मुनि का शाप । ७६-९२

अध्याय १४

यदु-पुत्र क्रोष्टु के वंश का वर्णन

यदु के पुत्र क्रोष्टु के वंश का वर्णन । वसुदेव का जन्म । वसुदेव की चौदह पत्नियों की नामावली । संक्षेप में कृष्ण-जन्म-वर्णन । कालयवन के भय से कृष्ण-सहित यादवों का भाग जाना । ९२-९७

अध्याय १५

वृष्णि के वंश का वर्णन

वृष्णि-वंश का वर्णन । चमत्कारयुक्त राजा ज्यामघ का चरित्र-वर्णन । बभ्रु एवं देवावृध की महिमा का वर्णन । देवक के सात कन्याओं का उत्पन्न होना एवं कंस का जन्म । ९७-१०२

अध्याय १६

सत्राजित् का उपाख्यान

सत्राजित् के चरित्र का वर्णन । स्यमन्तक मणि का आख्यान । कृष्ण का जाम्बवती के साथ विवाह । ऋक्षराज जाम्बवान् से स्यमन्तक मणि का लाना । कृष्ण और सत्यभामा का विवाह-वर्णन । १०२-१०७

अध्याय १७

स्यमन्तक मणि की कथा

स्यमन्तक के लिए शतधन्वा के द्वारा सत्राजित् की मृत्यु । अक्रूर के पास स्यमन्तक मणि का मिलना । १०७-११०

अध्याय १८

भुवन-कोश का वर्णन

भुवनकोशद्वीप-वर्णन । मुनियों का लोमहर्षण के साथ संवाद । भूगोल का वर्णन । सात द्वीपों का वर्णन । जम्बू द्वीप का वर्णन एवं मेरु पर्वत का वर्णन । भरत आदि खण्डों का वर्णन । मर्यादा-पर्वतों का वर्णन । १११-११६

अध्याय १९

जम्बूद्वीप का वर्णन

जम्बूद्वीप का वर्णन । भारतवर्ष का वर्णन । नदी एवं उपनदियों की नामोत्पत्ति का कथन । जम्बूद्वीप की प्रशंसा । ११६-११८

अध्याय २०

जम्बू-द्वीप-वर्णन

जम्बूद्वीप का वर्णन । प्लक्षद्वीप का वर्णन तथा वहाँ पर रहने वाले मनुष्यों की आयु का प्रमाण । शाल्मल द्वीप, कुशद्वीप, कौञ्चद्वीप, शाकद्वीप, पुष्करद्वीप और लोकालोकपर्वत का वर्णन । ११९-१२६

अध्याय २१

पाताल के प्रमाण का वर्णन

पाताल आदि सात लोकों का वर्णन तथा अनन्त का पराक्रम-वर्णन । १२६-१२८

अध्याय २२

नरकों का वर्णन

नरक वर्णन—रौरव आदि नरकों की नामावली । पापों का वर्णन । पाप से नरक-प्राप्ति । पापी पुरुषों के पापों का नाश करने के लिए हरि-स्मरण ही प्रायश्चित्त है । १२९-१३३

अध्याय २३

भूर्, भुवर् आदि लोकों का वर्णन

आकाश और पृथ्वी का वर्णन । सौरादि मण्डलों का तथा भूर्भुवादि सात लोकों का प्रमाण-वर्णन । महदादि की उत्पत्ति का वर्णन । १३३-१३७

अध्याय २४

ध्रुव की स्थिति का वर्णन

शिशुमारचक्र का वर्णन, ध्रुवस्थिति का वर्णन । १३७-१३९

अध्याय २५

सकल तीर्थों के माहात्म्य का वर्णन

शरीरतीर्थ का वर्णन । जितेन्द्रिय पुरुष की प्रशंसा । संक्षेप से तीर्थों का नामकथन । तीर्थों के माहात्म्य पढ़ने का फल-वर्णन । १३९-१४५

अध्याय २६

ब्रह्मा और महर्षियों का संवाद-वर्णन

वेदव्यास से मुनियों का संवाद । मोक्ष के विषय में ब्रह्मा से मुनियों का प्रश्न । १४५-१४८

अध्याय २७

भारतवर्ष का वर्णन

भरत-खण्ड की प्रशंसा । भरत-खण्ड में होने वाले पर्वत और नदियों का वर्णन और वहाँ पर होने वाले नाना देशों का वर्णन । भरत-खण्ड के माहात्म्य का पठन एवं श्रवण का फल । १४८-१५५

अध्याय २८

कोणादित्य का माहात्म्य-वर्णन

ओण्ड्र (उड़ीसा) का वर्णन तथा वहाँ पर रहने वाले ब्राह्मणों की प्रशंसा । कोणादित्य नामक सूर्य की

महिमा का वर्णन । सूर्य की पूजा-विधि का वर्णन । मदनभञ्जिका नामक यात्रा की प्रशंसा । रामेश्वरम् नामक शिवलिंग की महिमा का वर्णन । १५५-१६०

अध्याय २९

सूर्य-पूजा का प्रकरण

सूर्य के ध्यान, पूजा और भक्ति के माहात्म्य का वर्णन । माघ मास में सप्तमी के दिन सूर्य की आराधना से विशेष फल-प्राप्ति का वर्णन । १६१-१६६

अध्याय ३०

आदित्य का माहात्म्य-वर्णन

सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति सूर्य से ही है, ऐसा वर्णन । इन्द्र, धाता आदि बारह सूर्यों से शत्रुनाश एवं त्रिविध प्रजा की उत्पत्ति, आदित्याख्यान का फल-कथन । १६६-१७४

अध्याय ३१

आदित्य का नाम-माहात्म्य

त्रिलोकी का मूल एवं परम देव सूर्य ही है । आदित्य के सामान्यतः द्वादश नामों का वर्णन । विष्णु आदि वारह आदित्यों का चैत्र आदि द्वादश मासों में तपन-कथन । सूर्य के विकर्तनादि २१ नामों का वर्णन एवं फल-कथन । १७४-१७७

अध्याय ३२

सूर्य के जन्म का माहात्म्य

दैत्यों से पीड़ित देवों के दुःख-नाश के लिए अदिति द्वारा सूर्य की आराधना एवं स्तुति । अदिति को सूर्य का दर्शन । अदिति की प्रार्थना से प्रसन्न सूर्य का वरदान माँगने के लिए प्रेरित करना । 'मेरे पुत्रों को यज्ञभागी वनाइए' — ऐसा अदिति का वर माँगना । मैं तुमसे जन्म लेकर तुम्हारे शत्रुओं का नाश करूँगा — ऐसा कहते हुए सूर्य का अलक्षित होना । देवमाता अदिति के गर्भ में सूर्य की स्थिति । कृच्छ्र एवं चान्द्रायणादि व्रतों से गर्भ धारण करती हुई अदिति से 'तुम इतने कठिन व्रतों के द्वारा गर्भ को क्यों नष्ट कर रही हो' — इस प्रकार कश्यप का कहना । तदनन्तर पति के वचनों से कुपित अदिति का गर्भ-त्याग । गर्भाण्ड से प्रकट हुए आदित्य की कश्यप द्वारा स्तुति । यह मार्तण्ड नामक तुम्हारा पुत्र होगा — यह आकाशवाणी का कथन । आकाशवाणी सुन कर देवताओं का आगमन । मार्तण्ड की सहायता से देवताओं का दैत्यों के साथ युद्ध । युद्ध में दैत्यों की पराजय । प्रसन्न हुए देवताओं द्वारा सूर्य की स्तुति । सूर्य का संज्ञा के साथ विवाह । सूर्य की सन्तानों का वर्णन । संज्ञा और छाया का संवाद । संज्ञा का पिता के घर जाना । अनन्तर छाया की सन्तानों का वर्णन । छाया का संज्ञा की सन्तानों के साथ विषम भाव । त्वष्टा और संज्ञा के संवाद में सूर्य-चरित्र-वर्णन । देवकृत सूर्यस्तुति । सूर्य के तेज का न्यूनीकरण । १७७-१८८

अध्याय ३३

सूर्य के नामों का माहात्म्य

अन्धकार से विमूढ़ ब्रह्मा आदि देवों के द्वारा सूर्य की स्तुति । देवताओं को सूर्यदेव का वरदान । सूर्य के १०८ नामों का माहात्म्य और उसका फल । १८८-१९२

अध्याय ३४

रुद्र का आख्यान-वर्णन

रुद्र की महिमा का वर्णन । संक्षेप से दक्षकन्या, सती आदि दक्ष-पुत्रियों का यज्ञोत्सव देखने के लिए पिता के घर जाना । दक्ष और सती संवाद । क्रोधयुक्त सती का योगाग्नि से शरीर-दाह । शंकर और दक्ष का परस्पर शाप-दान । ब्रह्मा और मुनियों का संवाद । पार्वती के आख्यान का आरंभ । हिमालय से उमा की उत्पत्ति । कश्यप और हिमालय का संवाद । तप करते हुए हिमालय को ब्रह्मा का वरदान । हिमालय से मेना में तीन कन्याओं की उत्पत्ति एवं उनका नामकरण । तप करती हुई पार्वती को ब्रह्मा का वरदान । १९३-२०३

अध्याय ३५

पार्वती का उपाख्यान-वर्णन

उमा का देवताओं के साथ संवाद । विकृतरूपधारी महादेव का पार्वती के पास जाना । विकृत रूप का वर्णन । शिव-पार्वती का संवाद । विकृतरूपधारी शिव का हिमालय के साथ वार्तालाप 'ये शिव हैं' ऐसा जानकर पार्वती द्वारा शिव का वरण । अशोक वृक्ष के प्रति शिव का वरदान । शिव का अन्तर्धान होना । ग्राह से ग्रस्त वालक का रोदन एवं पार्वती तथा ग्रह का संवाद । 'मेरा तप नष्ट हो गया' यह जानकर पार्वती का पुनः तप करना और पार्वती को शंकर का वरदान । २०३-२१०

अध्याय ३६

पार्वती का स्वयंवर-वर्णन

पार्वती के स्वयंवर में सम्पूर्ण देवताओं का आगमन । देवताओं द्वारा पार्वती की प्रशंसा । शिशुरूप से शंकर का पार्वती की गोद में सोना । क्रोधयुक्त इन्द्र आदि देवताओं द्वारा शिव पर शस्त्र-प्रहार । शिव द्वारा समस्त देवों का स्तम्भन । सम्पूर्ण देवताओं को छुड़ाने के लिए ब्रह्मा द्वारा शिव की स्तुति । स्तुति सुनकर शंकर का प्रादुर्भाव । पार्वती द्वारा शंकर के चरणों में माला का अर्पण । ब्रह्मा द्वारा हिमालय की प्रशंसा । शिव के विवाह के लिए ब्रह्मा के द्वारा नगर का निर्माण । देव-गन्धर्व आदि का आगमन एवं वसन्त आदि छह ऋतुओं का समागम । पार्वती और शंकर का विधिपूर्वक विवाह होना । २१०-२२३

अध्याय ३७

शिव की स्तुति का वर्णन

देवकृत महेश्वर की स्तुति । शिव के सम्मुख देवताओं का वर के लिए जाना । अपने गणों के साथ शंकर का अपने स्थान पर गमन । २२४-२२७

अध्याय ३८

मदन-दाह का वर्णन

महेश्वर की नेत्राग्नि से कामदेव का जलना । रति को महेश्वर का वरदान । पार्वती और शंकर की क्रीड़ा । पार्वती का माता के घर जाना । माता मेना के द्वारा पार्वती का उपहास । शिव के आगे माता के उपहास का वर्णन । पार्वती के क्रोध को शान्त करने के लिए महादेव का सुन्दर हास्यालाप ।२२७-२३२

अध्याय ३९

दक्ष के यज्ञ का विध्वंस

इन्द्र आदि देवताओं का दक्ष के पास जाना । देवताओं के साथ ऋषि दधीचि का संवाद । दधीचि का दक्ष के साथ संवाद । पार्वती और महेश्वर का संवाद-वर्णन । वीरभद्र की उत्पत्ति और शिव की आज्ञा से वीरभद्र का दक्ष के यज्ञ में जाना एवं यज्ञ का विध्वंस। इन्द्र आदि का वीरभद्र से प्रश्न करना और वीरभद्र का शिव की आज्ञा से यज्ञ नष्ट करने के लिए आगमन रूप उत्तर देना । मृगरूप धारण कर के दक्ष का आकाश में जाना । क्रुद्ध गणेशजी के ललाट के स्वेद-विन्दु से अग्नि की उत्पत्ति । वहाँ पर उत्पन्न हुए पुरुष के द्वारा यज्ञ का विध्वंस । यज्ञ-कर्म में देवता आपको भाग देंगे—इस प्रकार ब्रह्मा का शंकर के प्रति कथन । शंकर से दक्ष को वर-प्राप्ति । २३२-२४२

अध्याय ४०

दक्ष द्वारा शिव की स्तुति

दक्ष द्वारा शिव-सहस्र नामों का वर्णन तथा प्रसन्न होकर शंकर का दक्ष को वरदान । सम्पूर्ण वस्तुओं में शंकर के द्वारा ज्वर को विभक्त करना । ज्वरोत्पत्ति के पठन और श्रवण का फल । दक्षस्तोत्र का फल-कथन । २४२-२५३

अध्याय ४१

एकाम्रकक्षेत्र-वर्णन

एकाम्रकक्षेत्र का माहात्म्य-कथन । २५३-२६०

अध्याय ४२

उत्कलक्षेत्र का वर्णन

विरजा देवी, वैतरणी और कपिला आदि अष्ट तीर्थों का वर्णन । उत्कल तीर्थ का वर्णन और वहाँ पर पुरुषोत्तम क्षेत्र का माहात्म्य तथा रुद्र आदि देवों के स्थान का वर्णन । २१६-२६४

अध्याय ४३

अवन्तिका-वर्णन

ब्रह्मा के प्रति मुनियों का प्रश्न और अवन्ति-नगरी का वर्णन । महाकाल नामक शिव की महिमा का वर्णन तथा क्षिप्रा नदी का वर्णन । वहाँ पर गोविन्द स्वामी नामक विष्णु की महिमा का वर्णन । २६५-२७१

अध्याय ४४

इन्द्रद्युम्न का दक्षिण-समुद्र के तट पर जाना

अवन्तिदेश के राजा इन्द्रद्युम्न का वर्णन और सम्पूर्ण नगरवासियों के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर जाना । २७२-२७७

अध्याय ४५

पुरुषोत्तमक्षेत्र का वर्णन

ब्रह्मा के प्रति मुनियों का प्रश्न। मुनियों का संदेह दूर करने के लिए इतिहास-कथन। सुमेरुपर्वत पर बैठे हुए लक्ष्मी और विष्णु का संवाद । विष्णु के द्वारा पुरुषोत्तम नामक तीर्थवर्णन के प्रसंग में सृष्टि का वर्णन । ब्रह्मा और विष्णु का वार्तालाप । पुरुषोत्तम क्षेत्र में स्थित वट वृक्ष का वर्णन । वट वृक्ष के दक्षिण की तरफ मन्दिर में विष्णु-मूर्ति के दर्शन से सब मनुष्यों का वैकुण्ठ-गमन । तदनन्तर यम के द्वारा विष्णु की स्तुति । मूर्ति को ढकने के लिए यम की प्रार्थना । तत्पश्चात् यमराज का अपनी नगरी संयमनी को जाना। २७८-२८५

अध्याय ४६

पुरुषोत्तमक्षेत्र का वर्णन

पुरुषोत्तमक्षेत्र का वर्णन और वहाँ पर स्वित्रोत्पला नामक नदी का माहात्म्य । नदी के दोनों तरफ के गाँवों, वहाँ पर रहने वाले एवं वर्णाश्रम धर्म को धारण करने वाले पुरुषों और स्त्रियों का वर्णन । राजा इन्द्रद्युम्न द्वारा रमणीय स्थान देख कर मनः कामना पूर्ण करने का संकल्प । २८५-२८८

अध्याय ४७

मन्दिर बनवाने के लिए राजाओं का आह्वान

राजा इन्द्रद्युम्न द्वारा कारीगरों को शुभ मुहूर्त में मन्दिर का निर्माण आरंभ करने के लिए आज्ञा-प्रदान । इन्द्रद्युम्न की आज्ञा से उत्तम शिला लाने के लिए कलिंगादि माण्डलिक राजाओं का विन्ध्याचल के प्रति प्रस्थान । इन्द्रद्युम्न के दूत द्वारा संसार के समस्त राजाओं को सूचना देने पर उस क्षेत्र में आने का वर्णन । इन्द्रद्युम्न का राजाओं के साथ संवाद । राजा के द्वारा यज्ञ-सिद्धि के लिए सब सामग्रियों को जुटाना । इन्द्रद्युम्न की आज्ञा से उसके पुरोहित द्वारा यज्ञस्थल-निर्माण और वहाँ सब लोगों के प्रवेश का वर्णन । यज्ञ का आरंभ तथा यज्ञ के संभार को देखकर राजा को हर्ष की प्राप्ति । यज्ञ के घोड़े आदि सब पदार्थ लाने के लिए राजा का आदेश । ब्राह्मणों को वस्त्र,आभूषण आदि अनेक दान देने का वर्णन । सबकी अन्न के द्वारा तृप्ति । यज्ञ और प्रासाद की समाप्ति । २८८-२९६

अध्याय ४८

इन्द्रद्युम्न द्वारा प्रतिमा का निर्माण

प्रतिमा-प्राप्ति के लिए दिन-रात चिन्ता से व्याकुल राजा द्वारा सब भोगों का परित्याग । २९६-२९७

अध्याय ४९

इन्द्रद्युम्न द्वारा भगवान् की स्तुति

राजा के द्वारा भगवान् की स्तुति । स्तुति-पाठ का फल । २९८-३०३

अध्याय ५०

प्रतिमोत्पत्ति कथन

चिन्ताग्रस्त राजा को स्वप्न में भगवान् का दर्शन । प्रतिमा-प्रप्ति का उपाय वताना । प्रातःकाल उठ कर नित्यकर्म करने के वाद असहाय राजा का मूर्ति ढूँढ़ने के लिए जाना । वड़े वृक्ष को काटते हुए राजा के प्रति व्राह्मण-वेशधारी विष्णु एवं विश्वकर्मा का प्रश्न । प्रतिमा-निर्माण के लिए यत्न कर रहा हूँ — ऐसा राजा के कहने पर भगवान् का प्रसन्न होना और विश्वकर्मा को तीन प्रतिमा वनाने की आज्ञा देना । विष्णु की आज्ञा से विश्वकर्मा द्वारा तीन मूर्तियों का निर्माण । कौतुक के साथ मूर्ति को देखते हुए राजा 'आप कौन हैं' यह प्रश्न । ३०४-३०९

अध्याय ५१

भगवान् और इन्द्रद्युम्न का संवाद

सर्वजगन्नियन्तृत्व आदि गुणों से युक्त मैं ही पुरुषोत्तम हूँ — ऐसा भगवान् का वचन । राजा का निर्गुण आदि गुण विशिष्ट भगवत्पद-प्राप्ति के लिए स्तुतिपूर्वक प्रार्थना करना । भगवान् का 'तथास्तु' कहकर वरदान देना और अन्तर्धान हो जाना । पुरुषोत्तमक्षेत्र में तीनों मूर्तियों का शुभ मुहूर्त में स्थापन । इस प्रकार राजा के मनोरथ की पूर्ति एवं विष्णुपद की प्राप्ति । व्रह्मा द्वारा पुरुषोत्तम क्षेत्र में आए हुए पाँच तीर्थों का वर्णन । ३१०-३१६

अध्याय ५२

मार्कण्डेय मुनि का वटवृक्ष-दर्शन

मार्कण्डेय-आख्यान का आरंभ—कल्पक्षय में अनेक प्रकार के क्लेशों से व्याकुलचित्त मार्कण्डेय को वटवृक्ष का दर्शन । ३१७-३१८

अध्याय ५३

मार्कण्डेय मुनि का प्रलय-दर्शन

महाप्रलय के मेघों से आप्लावित पृथ्वी पर एकार्णव जल में स्नान करते हुए मार्कण्डेय को भगवान् के दर्शन । मार्कण्डेय को अभयदायक भगवान् के आश्वासनपूर्ण वचन । क्रोधयुक्त मार्कण्डेय के प्रति भगवान् का कथन । क्रोध के शान्त होने पर मार्कण्डेय को वटवृक्ष में भगवान् के दर्शन । मार्कण्डेय को भगवान् का आश्वासन । ३१९-३२३

अध्याय ५४

मार्कण्डेय का भगवान् की कुक्षि में प्रवेश

भगवान् के उदर में मार्कण्डेय का प्रवेश । उदरस्थ मार्कण्डेय को सम्पूर्ण लोकों का दर्शन । ३२३-३२५

अध्याय ५५

मार्कण्डेय द्वारा भगवान् की स्तुति

मार्कण्डेय का भगवान् के उदर से वाहर निकलना । मार्कण्डेयकृत वालमुकुन्द-स्तुति । ३२६-३२९

अध्याय ५६

विष्णु और मार्कण्डेय का संवाद

विस्तार से विष्णु एवं मार्कण्डेय का संवाद-वर्णन और भगवान् का अन्तर्धान । ३२९-३३६

अध्याय ५७

पञ्चतीर्थ की विधि का वर्णन

पञ्चतीर्थों का वर्णन तथा मार्कण्डेय नामक तालाब की प्रशंसा । वटवृक्ष की पूजा-विधि, विशेष रूप से पञ्चतीर्थों का वर्णन तथा कृष्णदर्शन का माहात्म्य । ३३६-३४१

अध्याय ५८

नरसिंह का माहात्म्य-वर्णन

ब्रह्मा और मुनियों के संवाद में नरसिंह-पूजा का विधान तथा नरसिंह-माहात्म्य का वर्णन। ३४२-३४८

अध्याय ५९

श्वेतमाधव का माहात्म्य-वर्णन

कपाल गौतम ऋषि के मृतपुत्र को जिलाने के लिए श्वेत राजा की प्रतिज्ञा । ब्रह्मा के प्रति श्वेतमाधव की स्थापना के लिए मुनियों का प्रश्न । वैष्णव पद की प्राप्ति के लिए श्वेतकृत विष्णु-स्तुति । श्वेत राजा को विष्णु का वरदान । ३४९-३५७

अध्याय ६०

समुद्र-स्नान की विधि का वर्णन

नारायण के अष्टाक्षर मंत्र की प्रशंसा एवं नारायण-कवच का वर्णन । समुद्र-स्नान की विधि का वर्णन । जल में ही स्नान के अंग संध्या आदि नित्यकर्म एवं देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण करना । ३५७-३६२

अध्याय ६१

पूजा की विधि का निर्देश

शरीर-शुद्धि का वर्णन । षोडशोपचार सहित पूजन-विधि का वर्णन । ३६३-३६९

अध्याय ६२

समुद्र-स्नान का माहात्म्य

समुद्र में स्नान करने का माहात्म्य-वर्णन। ३६९-३७१

अध्याय ६३

पञ्चतीर्थों का माहात्म्य-वर्णन

पाँच तीर्थों के माहात्म्य का निरूपण । ३७१-३७३

अध्याय ६४

महाज्यैष्ठी की प्रशंसा

महाज्यैष्ठी (ज्येष्ठा नक्षत्रयुक्त तिथि) की प्रशंसा का वर्णन । प्रयागादि तीर्थों में सूर्य और चन्द्र-ग्रहण के अवसर पर स्नान-दान करने से प्राप्त होने वाले फल के समान महाज्यैष्ठी में राम, कृष्ण और सुभद्रा का दर्शन करने से फल की प्राप्ति । ३७४-३७५

अध्याय ६५

कृष्ण-स्नान का माहात्म्य-वर्णन

कृष्ण के स्नान की विधि तथा स्नान का माहात्म्य । द्रेवताओं का कृष्ण की स्तुति करना । कृष्ण की मूर्ति का दर्शन करने से फल-प्राप्ति । ३७६-३८४

अध्याय ६६

गुडिवायात्रा का माहात्म्य-कथन

हे भगवन् ! मेरे तालाब के निकट आपकी यात्रा सात दिनों तक होनी चाहिए—इस प्रकार राजा इन्द्रद्युम्न द्वारा भगवान् से प्रार्थना करने पर भगवनाकी स्वीकारोक्ति का नाम गुडिवायात्रा पड़ना । ३८५-३८७

अध्याय ६७

बारह यात्राओं का माहात्म्य-वर्णन

प्रत्येक यात्रा का फल-कथन । यात्रा के प्रसंग से पूजा-विधि का वर्णन । द्वादश यात्राओं का फल-वर्णन । ३८७-३९४

अध्याय ६८

विष्णुलोक का वर्णन

विष्णुमन्दिर, विष्णुस्वरूप और विष्णुलोक के महत्त्व का वर्णन । वहाँ पर जाने वालों का निर्णय । ३९४-४००

अध्याय ६९

पुरुषोत्तम का माहात्म्य-निरूपण

पुरुषोत्तमक्षेत्र का माहात्म्यवर्णन। ४०१-४०४

अध्याय ७०

तीर्थसंख्याविषयक प्रश्न

ब्रह्मा से नारद का तीर्थों की संख्या के संबंध में प्रश्न करना । ४०४-४०८

अध्याय ७१

गंगा की उत्पत्ति की कथा

गंगा की उत्पत्ति का वर्णन । तारकासुर के भय से देवताओं का विष्णु की स्तुति करना । विष्णु की आज्ञा से देवताओं का हिमालय के निकट गमन । वृहस्पति की आज्ञा से कामदेव का शंकर के पास जाना और शंकर के नेत्राग्नि से कामदेव का दाह । ४०९-४१३

अध्याय ७२

हिमालय का वर्णन

हिमालय का वर्णन । शिव के विवाह का वर्णन । ग़ौरी के रूप-दर्शन से ब्रह्मा का वीर्यपात तथा उसी वीर्य से वालखिल्यों की उत्पत्ति । ४१४-४१७

अध्याय ७३

बलि की प्रशंसा का वर्णन

राजा बलि की प्रशंसा । राजा वलि के ऐश्वर्य को सहन न कर देवताओं का विष्णु के पास जाना ।

देवताओं द्वारा विष्णु की स्तुति । माता अदिति के गर्भ से वामन की उत्पत्ति । राजा वलि के यज्ञ में वामन का गमन । राजा वलि और शुक्राचार्य का संवाद । वामन को भूमिदान तथा वलि और वामन का परस्पर संवाद । भगवान् वामन से राजा वलि को वरदान की प्राप्ति । गंगा का महेश्वर की जटा में जाना । ४१७-४२४

अध्याय ७४

गंगा के दो भेदों का कथन

गंगा के दो रूपों का कथन । शंकर की जटा से गंगा को अलग करने के लिए पार्वती और गणेश की वार्ता । गौतम की प्रशंसा तथा आश्रम का वर्णन । स्वामी कार्तिकेय के साथ गणेश का गौतम के आश्रम में जाना । गणेश की आज्ञा से गोरूप धारण करके जया का गौतम के आश्रम में जाना, गौतम के रोकने पर जया का गिरना । गोवध के पाप को दूर करने के लिए गौतम को उपाय बतलाना । अपने संकल्प की सिद्धि के लिए गौतम की प्रार्थना । सवका अपने-अपने स्थान में जाना । शंकर को प्रसन्न करने के लिए गौतम का कैलास पर्वत पर गमन ।
४२५-४३४

अध्याय ७५

गौतम द्वारा उमा और महेश्वर की स्तुति

गौतम का उमा-महेश्वर की स्तुति करना । गौतम को उमा-महेश्वर का दर्शन । तदनन्तर गंगा-प्राप्ति के लिए गौतम की प्रार्थना । गंगा की प्रशंसा और गौतमी का लाना । ४३४-४४०

अध्याय ७६

स्वर्ग आदि में गंगा का गमन

स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में विभक्त होकर १५ आकृतियों से गंगा का गमन । गोदावरी तीर्थ की स्नानविधि ।
४४१-४४३

अध्याय ७७

गौतमी का महत्त्व-वर्णन

गौतमी का महत्त्व-वर्णन करके सब नदियों में गौतमी को श्रेष्ठ सिद्ध करना । ४४३-४४५

अध्याय ७८

सगर का आख्यान

पुत्रहीन राजा सगर का वशिष्ठ से सन्तान विषयक प्रश्न पूछना । वशिष्ठ के वरदान से सगर को पुत्रों की प्राप्ति । इन्द्र द्वारा चुराये गये घोड़े की खोज के लिए सगर-पुत्रों का इधर-उधर जाना । निद्रा-सुख के अनुभव के लिए देवताओं की आज्ञा से कपिल मुनि का रसातल में गमन । कपिल के प्रति सगर-पुत्रों का दुर्वचन । कपिल के क्रोध से सगर के पुत्रों का भस्म होना । सगर का नारद से अपने पुत्रों के नष्ट होने का वृत्तान्त सुनना । असमञ्जस को स्वदेश से निकालना ।। कपिल की आज्ञा से पूर्वजों के उद्धार के लिए भगीरथ का कैलास के प्रति गमन । भगीरथ की स्तुति से प्रसन्न होकर शंकर का वर देना । कपिल के शाप से मृत पूर्वजों को पवित्र करने के लिए गंगा के साथ भगीरथ का रसातल में जाना ।
४४५-४५२

अध्याय ७९

वराहतीर्थ का वर्णन ४५३-४५४

वराहतीर्थ का माहात्म्य-वर्णन ।

अध्याय ८०

कपोततीर्थ का वर्णन

लुब्धक-चरित्र का वर्णन । कपोती के विरह से दुःखित कपोत का विलाप । कपोत के विलाप को सुनकर पति के प्रति कपोती का वचन । कपोती द्वारा अतिथि की प्रशंसा । लुब्धक के लिए कपोत का अग्नि-प्रवेश । लुब्धक से कपोती की मुक्ति । कपोतीकृत पतिव्रता-धर्म की प्रशंसा । कपोती का देहत्याग । कपोत और कपोती का स्वर्ग-गमन । पाप दूर करने के लिए लुब्धक की प्रर्थना । तदनन्तर गौतमी-स्नान से तथा पाप-कथन से स्वर्ग-प्राप्ति का वर्णन । ४५५-४६३

अध्याय ८१

कुमारतीर्थ का वर्णन ४६३-४६५

स्वामी कार्तिकेय की विषयों में आसक्ति । कुमारतीर्थ का वर्णन ।

अध्याय ८२

कृत्तिकातीर्थ का वर्णन

नारद के वचन से कृत्तिकाओं का षण्मुख के पास जाना । कृत्तिकातीर्थ-वर्णन का उपसंहार । ४६६-४६७

अध्याय ८३

दशाश्वमेधतीर्थ का वर्णन

भौवन का कश्यप के प्रति 'किस देश में यज्ञ की सफलता प्राप्त होगी' यह प्रश्न । गुरु और गौतमी के प्रसाद के भौवन को एक अश्वमेध से दस अश्वमेधों के फल की प्राप्ति । आकाशवाणी का वचन । दशाश्वमेधतीर्थ का विधान । ४६७-४७०

अध्याय ८४

पैशाचतीर्थ का वर्णन

केसरी वानर का दक्षिण समुद्र के प्रति गमन । अञ्जन पर्वत के ऊपर अगस्त्य का जाना । अगस्त्य से अञ्जना और अद्रिका को पुत्र-प्रप्ति का वरदान । निर्ऋति और वायु के सम्पर्क से अञ्जना और अद्रिका को पुत्र-प्राप्ति । पैशाच तीर्थ का विधान एवं प्रयोजन । ४७१-४७२

अध्याय ८५

क्षुधातीर्थ का वर्णन

गौतम के ऐश्वर्य को न सहन करते हुए कण्व का सम्पत्ति उपार्जन के लिए गमन । कण्व द्वारा गंगा एवं क्षुधा की स्तुति और उनकी संनिधि में दो वरदानों की प्रार्थना । क्षुधातीर्थ का प्रयोजन-कथन । ४७३-४७५

अध्याय ८६

चक्रतीर्थ और गणिका के संगम का वर्णन

विश्वधर वैश्य का पुत्र के मरने पर शोकाकुल होना । यमराज का संयमनी से गौतमी के प्रति गमन ।

पृथ्वी का इन्द्र के पास जाना। पृथ्वी और इन्द्र का संवाद। इन्द्र की आज्ञा से सिद्धिकिन्नरोंका वैवस्वतपुर से यमराज को लाने के लिए जाना । यम कहाँ है ?—इस प्रकार इन्द्र का सूर्य के प्रति प्रश्न । सूर्य से यह पता चलने पर कि यम गौतमी-तट पर तप करने के लिए गया है, इन्द्र द्वारा अप्सराओं से पूछना कि यमराज के तप को नष्ट करने के लिए उन (अप्सराओं) में से कौन समर्थ है । चक्रतीर्थ का कारण-वर्णन । तप भंग करने के लिए इन्द्र की प्रेणा से गणिका का यमराज के पास गमन । प्रजाओं का नाश करने वाला कर्म करने के लिए यमराज से सूर्य का कथन । यमराज द्वारा अस्वीकार । अनन्तर दोनों का अपने-अपने स्थानों पर गमन । ४७६-४८१

अध्याय ८७

अहल्या-संगम या इन्द्रतीर्थ का वर्णन

अहल्या की यौवन-प्राप्ति पर्यन्त रक्षा करने के लिए गौतम को ब्रह्मा का आदेश । जो पुरुष पृथ्वी की परिक्रमा करके सबसे पहले ब्रह्मा के पास पहुँच जाएगा उसी को अहल्या दी जाएगी—ऐसी ब्रह्मा की प्रतिज्ञा । अनन्तर अहल्या की प्राप्ति के लिए देवताओं का पृथ्वी की परिक्रमा करना । फिर ब्रह्मा द्वारा समस्त देवों को छोड़कर गौतम को अहल्या प्राप्ति का उपाय-कथन । विवाह के पश्चात् ब्रह्मा के पास देवताओं का आगमन । विप्र-वेश में इन्द्र का अहल्या के लिए गौतम के आश्रम में जाना। तत्पश्चात् गौतम का इन्द्र को शाप, पुनः इन्द्र की गौतम से शापोद्धार के लिए प्रार्थना । गौतमी-स्नान से पापों को दूर करने का गौतम द्वारा उपाय-कथन । इन्द्रतीर्थ के आख्यान का वर्णन । ४८२-४८८

अध्याय ८८

जनस्थानतीर्थ का वर्णन

राजा जनक द्वारा याज्ञवल्क्य से 'सुख से मुक्ति कैसे होगी' यह प्रश्न पूछना । वरुण से पूछने के लिए याज्ञवल्क्य के कहने पर जनक और याज्ञवल्क्य का वरुण के पास जाकर वही प्रश्न दुहराना । गृहस्थ-धर्म-पालन से ही भुक्ति और मुक्ति मिलती है—ऐसा वरुण का मत-दर्शन । जनक और याज्ञवल्क्य के यह पूछने पर कि भुक्ति-मुक्ति-दाता कौन देश और कौन तीर्थ है, वरुण द्वारा गौतमी को ही सबसे श्रेष्ठ तीर्थ घोषित करना । अनन्तर जनक और याज्ञवल्क्य का अपने-स्थानों पर जाना । जनस्थानतीर्थ का प्रयोजन । ४८९-४९१

अध्याय ८९

अरुणा-वरुणा-संगम और अश्वभानु तीर्थ का वर्णन

छाया से यह कहकर कि मैं पिता के घर जाती हूँ, मेरे लौटने तक बच्चों की देख-रेख करो, सूर्य-पत्नी उषा का पिता के घर जाना । त्वष्टा का पुनः पति के घर जाने का आदेश । उषा का उत्तर कुरुक्षेत्र देश में तप करने के लिए जाना । छाया की सन्तानों का जन्म-कथन । छाया द्वारा यमराज को शाप । यमराज का पिता से यह कहना कि यह मुझे क्रोध की दृष्टि से देखती है अतः मेरी माता नहीं है। उत्तर कुरु में घोड़ी का रूप धारण कर उषा रहती है—ऐसा जानकर घोड़े का रूप बनाकर सूर्य का वहाँ जाना । आत्मरक्षा के लिए गौतमी पर वडवा का जाना और उसके पीछे सूर्य का भी वहाँ जाना । ऋषियों के प्रति सूर्य का शापकथन । पुनः अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति। उषा के निमित्त तेज का शमन करने के लिए सूर्य से त्वष्टा का कहना। ४९२—४९६

अध्याय ९०

गरुड़तीर्थ का वर्णन

गरुड़ से अभयदान-प्राप्ति के लिए मणिनाग नामक शेष-पुत्र द्वारा शिव की स्तुति । शंकर से वरदान प्राप्त

करके मणिनाग का इधर-उधर भ्रमण । गरुड़ द्वारा नाग का अपहरण । शंकर की आज्ञा से नाग को ढूँढ़ने के लिए नन्दीश्वर का विष्णु के समीप गमन । नन्दी को सर्प लौटा देने के लिए गरुड़ को विष्णु का आदेश । गरुड़ का प्रतिवाद । विष्णु की आज्ञा से नाग सहित गरुड़ का शंकर के पास गमन । शिव की आज्ञा से गरुड़ का गौतमी में स्नान करने को जाना और उसके शरीर का वज्र की तरह हो जाना तथा विष्णु की प्राप्ति । ४९६—५००

अध्याय ९१

गोवर्धन का वर्णन

नन्दी के द्वारा गायों का हरण । गायों को लाने के लिए देवताओं का शंकर के पास जाना । देवताओं को गायों की प्राप्ति । गोवर्धनतीर्थ का कथन । ५०१—५०२

अध्याय ९२

पापप्रणाशनतीर्थ का वर्णन

धृतव्रत की पत्नी मही का गालवाश्रम में जाना । पापप्रणाशनतीर्थ का माहात्म्य । ५०२—५०७

अध्याय ९३

विश्वामित्रतीर्थ का वर्णन

विश्वामित्रतीर्थ के स्वरूप का वर्णन । भूख से पीड़ित विश्वामित्र से प्रेरित शिष्यों का भिक्षा लाने के लिए जाना । शिष्यों द्वारा लाये गये मृत कुक्कुर का पाककरण । इन्द्र और विश्वामित्र का संवाद । इन्द्र की आज्ञा से मेघों का अमृत की वर्षा करना । ५०७—५१०

अध्याय ९४

श्वेततीर्थ का वर्णन

शिवभक्त श्वेतविप्र को लाने के लिए यमदूत का गमन । यमदूतों के देरी करने पर चित्रगुप्त द्वारा मृत्यु से पूछताछ । मृत्यु और यमदूतों का संवाद । मृत्यु के वध को सुनकर कुपित यमराज का श्वेत के पास जाना । शिवदूतों के साथ यमराज का युद्ध । कार्तिकेय द्वारा यमराज का वध । विष्णु आदि देवों का यमराज के पास गमन । देवताओं द्वारा शिव स्तुति । यमराज को जीवनदान देने के लिए देवताओं द्वारा शंकर से प्रार्थना । फिर शिवभक्त श्वेत की मृत्यु न हो इस शर्त पर यमराज को पुनः जीवनदान । ५१०—५१५

अध्याय ९५

शुक्रतीर्थ का वर्णन

भार्गव और अङ्गिरा का संवाद । गुरु की पुत्र और शिष्य में विषमता देखकर शुक्र का गौतम के पास जाना और उनकी आज्ञा से गंगा पर जाकर शुक्र द्वारा शिव की स्तुति करना । शुक्राचार्य को शिव से मृतसंजीवनी विद्या की प्राप्ति । ५१६—५१९

अध्याय ९६

पुण्यसिक्तासंगम, इन्द्रतीर्थ आदि सप्त सहस्र तीर्थों का वर्णन

ब्रह्महत्या से डरे हुए इन्द्र का कमलनाल में वास । ब्रह्मा की आज्ञा से देवताओं का गौतमी के पास जाना । अनन्तर गौतमी के भय से नर्मदा के निकट गमन । देवताओं द्वारा मार्कण्डेय ऋषि की प्रशंसा । मालवदेश का विधान तथा पुण्यसिक्तादि सात हजार तीर्थों का वर्णन । ५२०—५२२

अध्याय ९७

पौलस्त्यतीर्थ का वर्णन

माता के वचन से रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण का तप करने के लिए वन में जाना । रावण द्वारा कुवेर की पराजय । रावण को पुष्पकादि की प्राप्ति । भाई द्वारा निकाले गये वैश्रवण का पुलस्त्य के पास जाना । पुलस्त्य की आज्ञा से स्त्री-सहित गौतमी पर गमन और वहाँ कुवेर द्वारा शंकर की स्तुति । पश्चात् आकाशवाणी । शंकर का अपने स्थान पर गमन । पौलस्त्य तीर्थ का माहात्म्य । ५२३—५२६

अध्याय ९८

अग्नितीर्थ का वर्णन

मधुदैत्य द्वारा जातवेदा और दक्ष का वध । भाई के मरने पर अग्नि का गंगा में प्रवेश । अग्नि के पास देवताओं का जाना । अग्नि तीर्थ का माहात्म्य-वर्णन । ५२७—५२८

अध्याय ९९

ऋणप्रमोचनतीर्थ का वर्णन

ऋणभय से मुक्त होने के लिए विवाह करना आवश्यक है—ऐसी कक्षीवान् का अपने पुत्रों से कहना । पुत्रों को विवाह के लिए उदासीन देखकर स्नान के लिए गौतमी पर जाने की आज्ञा प्रदान करना । ऋणमोचनतीर्थ का माहात्म्य ५२९—५३०

अध्याय १००

कद्रू-सुपर्णा-संगमतीर्थ का वर्णन

कश्यप से वालखिल्यों का यह कहना कि हमारे दिये हुए आधे तप से इन्द्र का गर्व चूर करने वाला पुत्र उत्पन्न करना । पुनः प्रजापति कश्यप द्वारा अर्ध तप को ग्रहण कर सुपर्णा एवं कद्रू में गर्भ की स्थापना करके कहीं भी न जाने की आज्ञा प्रदान करना । कद्रू और सुपर्णा का ऋषियज्ञ में जाना । वहाँ पर दोनों को नदी होने का शाप । गौतमी पर जाकर शंकर की स्तुति करने से फिर स्त्री होगी—यह कश्यप से वालखिल्यों का कथन । स्तुति करने पर कश्यप को स्त्रियों की प्राप्ति । कद्रू को ऋषि का शाप । ५३१—५३४

अध्याय १०१

सरस्वती-संगम आदि तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा की सभा में पुरूरवा का जाना । उर्वशी और पुरूरवा का संभाषण । पुरूरवा के पास सरस्वती का गमन । ब्रह्मा के शाप से भयभीत सरस्वती का गौतमी पर गमन । सरस्वती के शाप को दूर करने के लिए ब्रह्मा के प्रति गंगा का कथन । स्त्रियों के स्वभाव का वर्णन । ५३४—५३६

अध्याय १०२

पञ्चतीर्थ का माहात्म्य-वर्णन

हरिण रूप धारी ब्रह्मा से व्याध रूप धारी शिव का कथन । सावित्री आदि पाँच नदियों का ब्रह्मा के पास जाना । पञ्चतीर्थों का माहात्म्य । ५३६—५३७

अध्याय १०३

शमी आदि तीर्थों का वर्णन

प्रियव्रत के यज्ञ में हिरण्यक दानव के जाने पर इन्द्र आदि देवताओं का भिन्न-भिन्न स्थान पर पलायन । दैत्य को रोकने के लिए वशिष्ठ का पुनः यज्ञारम्भ करना । शक्यादि तीर्थों का वर्णन । ५३८—५३९

अध्याय १०४

विश्वामित्र आदि बाईस हजार तीर्थों का वर्णन

हरिश्चन्द्र के घर नारद और पर्वत ऋषि का गमन । हरिश्चन्द्र का उनसे पुत्र के सम्बन्ध में प्रश्न । पुत्रवान् पुरुष की प्रशंसा । ऋषियों के प्रति पुत्रोत्पादनविषयक हरिश्चन्द्र का प्रश्न । पुत्र-प्राप्ति के लिए वरुणाराधन का निर्देश । वरुण की प्रसन्नता से हरिश्चन्द्र को पुत्र की प्राप्ति । वरुण और हरिश्चन्द्र की परस्पर उक्ति-प्रत्युक्ति । विष्णु-यजन के लिए रोहित की प्रार्थना । अजीगर्त और रोहित का प्रश्नोत्तर । रोहित का वन में जाना । वरुण के कोप से हरिश्चन्द्र को जलोदर की प्राप्ति । अजीगर्त की रोहित के साथ पुत्र खरीदने के विषय में बातचीत । अजीगर्त के द्वारा पुत्र का विक्रय । रोहित द्वारा अजीगर्त का पुत्र शुनःशेप हरिश्चन्द्र को समर्पण । शुनःशेप के यज्ञ में आकाशवाणी से यज्ञ की समाप्ति और विश्वामित्र की शुनःशेप पर कृपा और सब पुत्रों में शुनःशेप को ज्येष्ठ पुत्र बनाना । ५३९-५४९

अध्याय १०५

सोमतीर्थ का वर्णन

देवनदी-नद-संगम-वर्णन के प्रसंग से सोमतीर्थ का वर्णन । ५४९—५५२

अध्याय १०६

देव-दानवों का मंत्रणा करना

सुमेरुपर्वत पर जाकर मंत्रणा करने के पश्चात् देव-दानवों द्वारा समुद्र-मन्थन । सागर से अमृत की प्राप्ति । अमृत बाँटने के विषय में वृहस्पति से बातचीत । अमृत पीने के लिए विष्णु आदि देवताओं का सुमेरु पर गमन, उनके साथ राहु का भी वहीं जाना । विष्णु के द्वारा राहु का शिरश्छेदन । पश्चात् राहु का अभिषेक ।

५५२—५५८

अध्याय १०७

वृद्धा-संगम-तीर्थ का वर्णन

एकान्त में अवस्थित ब्रह्मचारिणी वृद्धा के साथ वृद्ध गौतम का संवाद । गौतम सूर्य से विद्या प्राप्त करके वृद्धा की पत्नी बनाना । अगस्त्य और गौतम का संवाद । वृद्धा को गंगा के अभिषेक यौवन की प्राप्ति । गंगा से वर प्राप्त करके वृद्धा के साथ सुख-प्राप्ति । ५५८—५६५

अध्याय १०८

इलातीर्थ का वर्णन

इल का हिमालय में निवास । यक्षों का इल के समीप जाना । यक्षों के साथ इल का युद्ध । इल का उमावन में जाना और वहाँ उसको स्त्री-रूप की प्राप्ति । यक्षिणी का इल के साथ संवाद । इल के स्त्रीरूप होने

पर बुध के आश्रम में जाना । इला का बुध के साथ संवाद और दोनों का विवाह । बुध से इला में पुत्रोत्पत्ति तथा देवताओं का वहाँ आना । बालक का पुरूरवा नामकरण । इला के साथ उसका संवाद । पुरूरवा से इक्ष्वाकु-कुल का वर्णन और अपना पहले का वृत्तान्त-कथन। बुध और ऐल का संवाद। इला को पुंसत्व की प्राप्ति के लिए पुरूरवा का प्रयत्न। ऐल और इला का हिमालय पर जाना और वहाँ पर शंकर की स्तुति। देवी से पुंसत्व की याचना । शंकर और पार्वती के अनुग्रह से पुंसत्व की प्राप्ति । ऐल का अभिषेक । ७५१—७५३

अध्याय १०९

चक्रतीर्थ का वर्णन

पार्वती का दक्ष के यज्ञ में जाना। वहाँ पर शिव-निन्दा सुनकर पार्वती का देहत्याग। महेश्वर का दक्ष के यज्ञ में आना । यज्ञ का वर्णन । वीरभद्र द्वारा यज्ञ-विध्वंस । देवताओं द्वारा शिव-स्तुति । दक्षकृत शिव-स्तुति । देवताओं द्वारा विष्णु की स्तुति । दैत्यों से उत्पन्न भय को जानकर देवताओं के साथ विष्णु का परामर्श । विष्णु के द्वारा चक्र-प्राप्ति के लिए शिव की आराधना । विष्णु को शंकर का वरदान और चक्र का होना । ५७९—५८४

अध्याय ११०

पिप्पलतीर्थ का वर्णन

पिप्पलतीर्थ का वर्णन । दधीचि ऋषि एवं लोपामुद्रा का वर्णन । दधीचि ऋषि के आश्रम में सब देवताओं का आगमन । अस्त्रों को रखने के लिए देवताओं का दधीचि से प्रश्न । लोपामुद्रा का दधीचि के साथ वार्तालाप। देवताओं का दधीचि के पास अस्त्र रखना। दैत्यों के डर से दधीचि द्वारा अस्त्रों के तेज का पाना दैत्यों से देवताओं को भय-प्राप्ति । देवताओं का दधीचि के पास अस्त्रों के लिए जाना । देवों के लिए दधीचि का अस्थिदान । देवताओं का अस्त्र निर्माण । दधीचि ऋषि की पत्नी का आगमन और उसका अग्नि के साथ संवाद । तदनन्तर अग्निकृत समाधान । प्रातिथेयी के द्वारा कुक्षिस्थ पुत्र का निकालना । प्रातिथेयी का अग्नि-प्रवेश, आश्रम में स्थित वृक्षों का विलाप । दधीचि के पुत्र को अमृत-प्राप्ति तथा पिप्पलाद नाम की प्राप्ति । पिप्पलाद के साथ वृक्षों का संवाद और अपने माता-पिता का पूर्ववृत्तान्त-श्रवण । सोम से पिप्पलाद को विद्या की प्राप्ति और सोम की आज्ञा से शंकर की स्तुति में प्रवृत्त होना । प्रसन्न हुए शंकर से देवताओं का नाश करने के लिए वर माँगना । पिप्पलाद के तप का वर्णन और शंकर के तृतीय नेत्र का दर्शन । तृतीय नेत्र से उत्पन्न कन्या को देवताओं के संहार के लिए आदेश । कृत्या से अग्नि की उत्पत्ति तथा अग्नि के डर से देवताओं का शंकर के पास जाना । देवताओं द्वारा शंकर की स्तुति । शंकर एवं देवताओं का संवाद । देवताओं का पिप्पलाद के साथ संवाद । अपने माता-पिता को दिखलाने के लिए पिप्पलाद का देवताओं से अनुरोध । पिप्पलाद का स्वर्गलोक में जाना । वहाँ पर माता-पिता का दर्शन । विवाह करने के लिए दधीचि और पिप्पलाद का संवाद । देवताओं के संहार के लिए उत्पन्न कृत्या का समाधान । कृत्या को नदीरूप की प्राप्ति । शंकर के साथ देवताओं का संवाद । दधीचि की अस्थियों, देवताओं तथा गायों का पवित्र होना । देवताओं का अपने-अपने स्थानों पर जाना एवं सूर्य का वहीं रहना। पिप्पलाद का गौतमी की पुत्री के साथ विवाह। पिप्पलादतीर्थ पर पिप्पलेश्वर नाम की प्राप्ति । ५८४—६१२

अध्याय १११

नागतीर्थ का वर्णन

नागतीर्थ का वर्णन । सोमवंशोत्पन्न शूरसेन के चरित्र का वर्णन । शूरसेन से सर्प की उत्पत्ति । सर्प एवं

शूरसेन का वैवाहिक विषय में संवाद । विजय की पुत्री भोगवती का वस्त्र के साथ विवाह । भोगवती के साथ सर्प का संवाद । सर्प के साथ शाप का वर्णन और दिव्य रूप की प्राप्ति । नागतीर्थ की प्रसिद्धि । ६१२—६२२

अध्याय ११२

मातृतीर्थ का वर्णन

मातृतीर्थ का वर्णन, देव-दानवों का युद्ध । ब्रह्मा के द्वारा शंकर की स्तुति । राक्षसों का रसातल में जाना । ६२२—६२५

अध्याय ११३

ब्रह्मतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मतीर्थ का वर्णन । ब्रह्मा के पञ्चम मुख को काट कर शंकर द्वारा उसका धारण। ६२५—६२८

अध्याय ११४

अविघ्नतीर्थ का वर्णन

अविघ्नतीर्थ का वर्णन । देवताओं का यज्ञारंभ और गणेश की स्तुति । देवों का विनायक के साथ संवाद । ६२८—६३१

अध्याय ११५

शेषतीर्थ का वर्णन

शेषतीर्थ का वर्णन । शेष का ब्रह्मा के साथ संवाद । शंकर की स्तुति करने पर शेष को त्रिशूल की प्राप्ति । ६३१—६३३

अध्याय ११६

वडवा आदि सहस्र तीर्थों का वर्णन

वडवा आदि सहस्र तीर्थों का वर्णन । राक्षसों के द्वारा ऋषियों के यज्ञ में उत्पात । ऋषियों तथा मृत्यु के द्वारा शंकर की स्तुति । देव-दानवों का आपस में वैर । ६३४—६३७

अध्याय ११७

आत्मतीर्थ का वर्णन

दत्तात्रेय का अत्रि के साथ संवाद । दत्त द्वारा शिव की स्तुति । शंकर द्वारा दत्त को आत्मज्ञाने रूप वरदान । ६३७—६४०

अध्याय ११८

अश्वत्थ आदि तीर्थों का वर्णन

अश्वत्थ आदि तीर्थों का वर्णन । अगस्त्य का दक्षिण दिशा में गमन । अश्वस्थ और पिप्पल नामक राक्षसों का वर्णन । शनैश्चर के द्वारा राक्षस की मृत्यु । ६४०—६४३

अध्याय ११९

सोमतीर्थ का वर्णन

सोमतीर्थ का वर्णन । औषधियों का ब्रह्मा के साथ संवाद । गंगाकृत सोम और औषधियों का विवाह । ६४४—६४६

अध्याय १२०

धान्यतीर्थ का वर्णन

धान्यतीर्थ का वर्णन । गंगा-तट पर दान का माहात्म्य । ६४६—६४८

अध्याय १२१

विदर्भा-संगम आदि तीर्थों का वर्णन

विदर्भा और रेवती का गंगा के साथ संगम । रेवती के साथ कठ का विवाह । ६४८—६५१

अध्याय १२२

पूर्ण आदि तीर्थों का वर्णन

पूर्णादि तीर्थों का वर्णन । ब्रह्मा के साथ राजा धन्वन्तरि का संवाद । धन्वन्तरि का तपोभंग । धन्वन्तरिकृत विष्णु-स्तुति और उसको देवराज्य की प्राप्ति । ब्रह्मा, बृहस्पति और इन्द्र का संवाद । इन्द्र द्वारा हरिहर की स्तुति । हरिहर के साथ इन्द्र का संवाद । बृहस्पति के द्वारा इन्द्र का अभिषेक । ६५१—६६२

अध्याय १२३

रामतीर्थ का वर्णन

रामतीर्थ का वर्णन । राजा दशरथ का वर्णन । देव-दानवों का युद्ध । देव-दानवों का दशरथ के पास आना । दशरथ द्वारा देवताओं की सहायता । युद्ध में कैकेयी का वर्णन । दशरथ के द्वारा मुनि-वालक की मृत्यु । पुत्र की मृत्यु से माता-पिता का विलाप और उसी शोक में मृत्यु । राम आदि का जन्म-कथन । विश्वामित्र को पुत्र-समर्पण । अहल्या का उद्धार और राक्षस का वध । सीता का विवाह । दशरथ की मृत्यु और नरकों की प्राप्ति तथा नरकों से मुक्ति । दशरथ का यम-किंकरों के साथ संवाद । राम, लक्ष्मण और दशरथ का संवाद । दशरथ का दुःख वर्णन करना । शोक-निवृत्त के लिए सीता का वचन । देवताओं के साथ राम का संवाद । राम के द्वारा शंकर की स्तुति । ६६३-६८४

अध्याय १२४

पुत्रतीर्थ का वर्णन

पुत्रतीर्थ का वर्णन । कश्यप के साथ दिति का संवाद । दिति और दनु का संवाद । मय के साथ इन्द्र का संवाद और मरुतों का जन्म । ६८५—६९९

अध्याय १२५

यमतीर्थ का वर्णन

कपोत और उलूक का युद्ध । हेति नामक कपोत का अग्नि की स्तुति करना और उलूकी के द्वारा यम की स्तुति । उलूकी के साथ यम का संवाद । यमतीर्थ का वर्णन । ७००—७०६

अध्याय १२६

तपस्तीर्थ का वर्णन

अग्नि का वर्णन । देव, ब्रह्मा और मुनियों का संवाद । तपस्तीर्थ का वर्णन । ७०६—७१०

अध्याय १२७

देवतीर्थ का वर्णन

आर्ष्टिषेण राजा का आख्यान एवं हयमेध का वर्णन । मिथ नामक दैत्य के द्वारा पुरोहित सहित दीक्षित राजा को रसातल में ले जाना। पुरोहित-पुत्र देवापि के द्वारा पिता के बारे में माता से पूछना। माता द्वारा पुत्र को सारे वृत्तान्त से अवगत कराना । देवापि की प्रतिज्ञा । नन्दि द्वारा मिथ का वध । रसातल से देवापि के पिता का आगमन । हयमेध की समाप्ति । अनेक तीर्थों का वर्णन । ७११—७१८

अध्याय १२८

तपोवन आदि तीर्थों का वर्णन

संक्षेप में कार्तिकेय का आख्यान । सन्तान के विषय में अग्नि और स्वाहा का संवाद । तारकासुर के भय से दु:खित देवों द्वारा अग्नि की प्रार्थना । शुकरूप से अग्नि का शिव के पास जाना । शिव-पार्वती संवाद । अग्नि-पत्नी स्वाहा के गर्भ से मिथुन (युग्म) की उत्पत्ति और उनका नामकरण (सुवर्ण-सुवर्णा) एवं विवाह । सुवर्णा और सुवर्ण को सुरासुर का शाप । शाप-विमोचन के लिए व्रह्मा के वचन से अग्नि का गौतमी के पास जाना । वहाँ पर अग्नि द्वारा शिव की स्तुति । शाप-मुक्ति के लिए शंकर का वरदान । गौतमी-तट पर शिवलिंग की स्थापना । तपोवनादि तीर्थों का वर्णन । ७१८—७२६

अध्याय १२९

इन्द्रतीर्थ का वर्णन

गंगा और फेन संगम । इन्द्र द्वारा नमुचि दैत्य का वध । हिरण्य दैत्य के पुत्र महाशनि से इन्द्र की पराजय । इन्द्र की पाताल में स्थिति । वरुण को पराजित करने के लिए महाशनि का प्रस्थान । वारुणी और महाशनि का विवाह । इन्द्र की मुक्ति के लिए देव और विष्णु का संवाद । विष्णु की आज्ञा से महाशनि के पास वरुण का जाना । वरुण के वचन से इन्द्र की मुक्ति । इन्द्र और इन्द्राणी का संवाद । इन्द्राणी के वचन से इन्द्र का गौतमी के प्रति जाना । इन्द्र द्वारा शंकर की स्तुति । शिव और इन्द्र का संवाद । शिव के वचन से इन्द्र द्वारा विष्णु की आराधना । प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु द्वारा महाशनि दैत्य का वध । ७२६—७३९

अध्याय १३०

आपस्तम्बतीर्थ का वर्णन

आपस्तम्व मुनि की प्रशंसा और उनके आश्रम में अगस्त्य मुनि का गमन । आपस्तम्व द्वारा अगस्त्य का पूजन और तीनों देवों में कौन श्रेष्ठ हैं, यह प्रश्न। तीनों देवों में भेद न होते हुए भी शिव ही सव सिद्धियों के दाता हैं—ऐसा अगस्त्य का उत्तर । अगस्त्य के वचन से आपस्तम्व का गौतमी पर जाना और वहाँ जाकर शंकर की स्तुति करना। तदनन्तर आपस्तम्व को शंकर का वरदान और आपस्तम्व तीर्थ की महिमा का वर्णन । ७३९—७४३

अध्याय १३१

यमतीर्थ का वर्णन

यमतीर्थ के प्रसंग में सरमा के आख्यान का कथन । देव-गायों की रक्षा करने वाली सरमा को लोभ देकर दैत्यों द्वारा गायों का हरण । 'मुझे वाँधकर दैत्य गायों को ले गये—ऐसा इन्द्र के प्रति सरमा का कथन ।' पश्चात् 'सरमा मिथ्या बोलती है' ऐसा बृहस्पति द्वारा इन्द्र के प्रति कथन । तब इन्द्र द्वारा सरमा पर पाद-प्रहार और

शापदान । गायों को लाने के लिए इन्द्र द्वारा विष्णु की स्तुति । विष्णु और दैत्यों का युद्ध तथा दैत्यों की पराजय । देवताओं को गायों की प्राप्ति । अपनी माता को शाप से छुड़ाने के लिए सरमा के पुत्र का यम से प्रश्न । सूर्य और यम का संवाद । सूर्य के वचन से यम का गौतमी पर जाना । गौतमी तटवर्ती कतिपय तीर्थों का वर्णन । वहाँ स्नान करने वालों को अनेक फल की प्राप्ति । ७४४—७४९

अध्याय १३२

यक्षिणी-संगम का माहात्म्य-वर्णन

यज्ञ करने वाले ऋषियों का विश्वावसु की बहन पिप्पला को शाप । विश्वावसु की प्रार्थना से शाप का निवारण । दुर्गातीर्थ का वर्णन और यक्षिणी-संगम-तीर्थ का माहात्म्य । ७५०

अध्याय १३३

शुक्लतीर्थ का वर्णन

शुक्लतीर्थ में भरद्वाज का यज्ञ-वर्णन । यज्ञ में पुरोडाश भक्षण करते हुए हव्यघ्न नामक राक्षस को मुनि का वचन । भरद्वाज और हव्यघ्न का संवाद । सम्पूर्ण अमृतों (जल) में गौतमी-जल की विशेषता । गौतमी-जल से हव्यघ्न का अभिषेक और कृष्ण रूप से शुक्लत्व की प्राप्ति एवं यज्ञ की समाप्ति । शुक्लादि तीर्थों का वर्णन । ७५१—७५३

अध्याय १३४

चक्रतीर्थ का वर्णन

चक्रतीर्थ में वशिष्ठादि सप्तर्षियों का यज्ञारंभ । राक्षसी के विघ्न करने पर ब्रह्मा के पास जाना । ब्रह्मा की आज्ञा से माया द्वारा विघ्न का निवारण, फिर यज्ञारंभ । शम्बर दैत्य द्वारा माया का भक्षण कर लिये जाने पर ऋषियों द्वारा विष्णु की प्रार्थना । पश्चात् उनकी रक्षा के लिए विष्णु द्वारा चक्र प्रदान और उस चक्र से राक्षसों का वध एवं यज्ञ की समाप्ति । गंगाजल में चक्र का प्रक्षालन । चक्रतीर्थ आदि पाँच सौ तीर्थों का वर्णन । ७५४—७५५

अध्याय १३५

वाणी-संगम तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा और विष्णु का अपने-अपने महत्व पर संवाद । ब्रह्मा और विष्णु के प्रति आकाशवाणी की उक्ति, तत्पश्चात् ज्योतिमूर्तिसंज्ञक शिवलिंग के अन्त का पता लगाने के लिए ब्रह्मा-विष्णु का प्रस्थान । अन्त को न देखते हुए विष्णु औ ब्रह्मा का शिव के पास क्रम से सत्य और असत्य कहना । ब्रह्मा के मुख से निकली हुई वाणी को हरिहर का शाप । पुनः शाप का निवारण । गौतमी और वाणी का संगम का अनेक प्रकार से वर्णन । दोनों के तटों पर स्थित एक सौ उन्नीस तीर्थों का माहात्म्य । ७५५—७५८

अध्याय १३६

विष्णुतीर्थ का वर्णन

मौद्गल्य चरित्र का वर्णन । मौद्गल्य द्वारा सदाचार का वर्णन । विष्णु और मौद्गल्य का संवाद । मौद्गल्य द्वारा दान की प्रशंसा । विष्णुतीर्थ की प्रशंसा । ७५८—७६२

अध्याय १३७

लक्ष्मीतीर्थ का वर्णन

अपनी-अपनी ज्येष्ठता के विषय में लक्ष्मी और दरिद्रा का संवाद । ब्रह्मा के पास दोनों का गमन और ब्रह्मा के कहने से दोनों का गौतमी पर जाना । गौतमी द्वारा लक्ष्मी की प्रशंसा । लक्ष्मीतीर्थ आदि छह हजार तीर्थों का वर्णन । ७६३—७६६

अध्याय १३८

भानु आदि सहस्र तीर्थों का वर्णन

भानुतीर्थ के प्रसंग में राजा शर्याति का चरित्र-वर्णन । शर्याति का दिग्विजय के लिए प्रस्थान । मार्ग में उसके पुरोहित मधुच्छन्दा का राजा के साथ संवाद। मधुच्छन्दा द्वारा सूर्य की आराधना। भानुतीर्थ के निकटवर्ती तीन हजार तीर्थों का वर्णन। ७६७—७७१

अध्याय १३९

खड्गतीर्थ का वर्णन

खड्गतीर्थ के प्रसंग से कवष के पुत्र पैलूस नामक मुनि का चरित्र-निरूपण। खड्गतीर्थ के निकटवर्ती छह हजार तीर्थों का वर्णन । ७७२—७७४

अध्याय १४०

अन्विन्द्र, आत्रेय आदि तीर्थों का वर्णन

आत्रेय ऋषि का आख्यान । ब्रह्मा के वर-प्रसाद से आत्रेय को इन्द्रपद की प्राप्ति । दिति के पुत्रों द्वारा सताये जाने से इन्द्रपद का त्याग ।.... ७७४—७८०

अध्याय १४१

कपिला-संगम की कथा का वर्णन

कपिल मुनि का चरित्र और उसी के प्रसंग में राजा पृथु का संक्षेप में चरित्र-वर्णन । कपिलासंगम के निकटवर्ती ८८००० तीर्थों का वर्णन । ७८०—७८३

अध्याय १४२

देवस्थान नामक तीर्थ का वर्णन

सिंहिका के पुत्र राहु के आत्मज मेघहास नामक दैत्य का चरित्र और उसके द्वारा तप किया जाना । देव-स्थानों के निकटवर्ती १८ तीर्थों का वर्णन । ७८४—७८५

अध्याय १४३

सिद्धतीर्थ का वर्णन

रावण को ब्रह्मा से शिव के १०८ नामों की प्राप्ति । रावण के तप का वर्णन । रावण के द्वारा कैलाश को हिलाना। रावण को शिव से तलवार की प्राप्ति। सिद्धतीर्थ के निकट एक सौ आठ तीर्थों का वर्णन। ७८६—७८८

अध्याय १४४

परुष्णी-संगम-तीर्थ का वर्णन

अत्रि ऋषि का उपाख्यान। अत्रि को चार पुत्ररत्नों की प्राप्ति। अत्रि ऋषि की कन्या आत्रेयी का चरित्र। आत्रेयी और ज्वलन का आख्यान। परुष्णी-संगम के निकटवर्ती तीन हजार तीर्थों का वर्णन। ७८८—७९१

अध्याय १४५

मार्कण्डेयतीर्थ का वर्णन

मार्कण्डेय आदि मुनियों का ब्रह्मा के साथ संवाद। मार्कण्डेयतीर्थ की महिमा का निरूपण। उसके निकटवर्ती अट्ठानबे तीर्थों का वर्णन। ७९२—७९३

अध्याय १४६

कालञ्जरतीर्थ का वर्णन

ययाति का आख्यान। कालञ्जर के निकटवर्ती एक सौ आठ तीर्थों का वर्णन.। ७९३—७९८

अध्याय १४७

अप्सरासंगमतीर्थ का वर्णन

दो अप्सराओं द्वारा विश्वामित्र ऋषि के तपोभंग का वर्णन। विश्वामित्र के शाप से अप्सराओं को नदीत्व की प्राप्ति। ७९९—८०१

अध्याय १४८

कोटितीर्थ का वर्णन

प्रसंगानुसार कण्व के पुत्र बाह्लीक का आख्यान। कण्वतीर्थ के निकट पचास तीर्थों का वर्णन। ८०१—८०३

अध्याय १४९

नारसिंहतीर्थ का वर्णन

हिरण्यकशिपु की प्रशंसा। नरसिंह द्वारा हिरण्यकशिपु का वध। नरसिंह का गौतमी के प्रति आगमन तथा अम्बर्य संज्ञक दैत्य का हनन। नारसिंह तीर्थ में स्नान, दान आदि करने वालों को नाना फलों की प्राप्ति का कथन। नारसिंहादि आठ तीर्थों का वर्णन। ८०४—८०५

अध्याय १५०

पैशाचतीर्थ का वर्णन

पैशाचतीर्थ का वर्णन। अजीगर्त का आख्यान। अजीगर्त द्वारा शुनःशेप नामक अपने पुत्र को बेचना। पुत्र को बेचने के पाप से अजीगर्त को नरक की प्राप्ति। रोते हुये पिशाच के प्रति शुनःशेप का प्रश्न। पिशाच की योनि में पड़े हुए अपने पिता का वचन सुनकर दुःखित अन्तःकरण वाले शुनःशेप द्वारा पिशाच के ऊपर गौतमी का जल छिड़कना। गौतमी-जल का स्पर्श होते ही अजीगर्त को विष्णु पद की प्राप्ति। पैशाचतीर्थ की महिमा पैशाच आदि तीन सौ तीर्थों का वर्णन। ८०६-८०८

अध्याय १५१

निम्नभेदतीर्थ का वर्णन

उर्वशीगमन से दुःखित पुरूरवा के प्रति वशिष्ठ का उपदेश । निम्नभेद आदि सात सौ तीर्थों का वर्णन ।

८०८—८११

अध्याय १५२

आनन्दतीर्थ का वर्णन

चन्द्र द्वारा तारा का हरण । शुक्र के पास गुरु का जाना । शुक्र के लिए स्त्री-हरण-कथन । तारा को लाने के लिए शुक्र की प्रतिज्ञा । चन्द्र को शुक्र का शाप । तारा की शुद्धि के लिए देवताओं के प्रति शुक्र का प्रश्न । गंगा के गुरु का वचन, आनन्दतीर्थ का वर्णन । ८११—८१५

अध्याय १५३

भावतीर्थ का वर्णन

भावतीर्थ आदि सात तीर्थों का वर्णन । ८१५—८१७

अध्याय १५४

सहस्रकुण्ड नामक तीर्थ का वर्णन

रावण आदि को मारकर अयोध्या के प्रति परिवार सहित राम का गमन । लोकापवाद के कारण राम की आज्ञा से वाल्मीकि के आश्रम के पास लक्ष्मण द्वारा सीता का त्याग । राम के अश्वमेध में लव-कुश का जाना । सहस्रकुण्ड आदि दस तीर्थों का वर्णन । ८१७—८२०

अध्याय १५५

कपिलातीर्थ का वर्णन

अंगिरा को दक्षिण में आदित्य द्वारा भूमिदान । कपिला संगमादि १०० तीर्थों का वर्णन । ८२०—८२१

अध्याय १५६

शंखह्रद नामक तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा को खाने के लिए आते हुए राक्षसों का विष्णु-चक्र द्वारा वध । शंखतीर्थ आदि अयुत तीर्थों का वर्णन ।

८२२—८२३

अध्याय १५७

किष्किन्धातीर्थ का वर्णन

रावण-वध के उपरान्त सीता और लक्ष्मण सहित श्रीराम का गौतमी पर जाना । रामकृत गौतमी की प्रशंसा । राम एवं वानरों का गौतमी पर स्नान और शिवलिंग पूजादि वर्णन । राम के प्रति विभीषण का वचन । किष्किन्धातीर्थ का महत्व ।

८२३—८२७

अध्याय १५८

व्यासतीर्थ का वर्णन

अंगिरसों की उत्पत्ति । माता की आज्ञा के विना तप करने के लिये गये हुए अंगिरसों को विघ्न होना ।

अगस्त्य के आश्रम में अंगिरसों का गमन व संवाद । अगस्त्य की आज्ञा से उनका गौतमी पर जाना । व्यासतीर्थ की महिमा । ८२७—८३१

अध्याय १५९

वंजरा-संगम नामक तीर्थ का वर्णन

दासभाव को प्राप्त हुए गरुड़ का अपनी माता विनता के प्रति प्रश्न । 'मैं अपने ही अपराध से दासीभाव को प्राप्त हुई हूँ,—ऐसा माता का उत्तर । कद्रू के वचन से गरुड़ का सर्पों को सूर्यलोक में ले जाना और उनका अधःपतन । तदर्थ कद्रू का विनता के प्रति दुर्वचन । सर्पों की जरा दूर करने के लिए गरुड़ का रसातल से जल लाना । उस जल के प्रोक्षण से सर्पो की जरा को दूर करना और उसी से वंजर की उत्पत्ति । वंजर-संगमादि सवा लाख तीर्थों का वर्णन । ८३१—८३७

अध्याय १६०

देवागम नामक तीर्थ का वर्णन

धन के निमित्त देव-दानवों की ईर्ष्या । व्रह्मा की आज्ञा से देवताओं का असुरों के साथ युद्धारम्भ । युद्ध के आरंभ में गौतमी-तट पर देवताओं का विष्णु शंकर की स्तुति करना । गौतमी, हरि एवं शंकर की कृपा से देवताओं की विजय । ८३७—८३९

अध्याय १६१

कुशतर्पणतीर्थ का वर्णन

कुशतर्पणीतीर्थ का वर्णन । व्रह्मा की उत्पत्ति और सृष्टि का क्रम । यज्ञ-सामग्री का वर्णन । विराट् पुरुष की उत्पत्ति । प्रणीता-संगम, कुशतीर्थ आदि छियासी हजार तीर्थों का वर्णन । ८४०—८४६

अध्याय १६२

मन्युतीर्थ का वर्णन

अपनी विजय के लिए और शूरवीर पुरुष की प्राप्ति के लिए देवताओं द्वारा महेश्वर की स्तुति । शंकर की कृपा से प्राप्त मन्यु नामक पुरुष के प्रति सामार्थ्य-परीक्षा के लिए देवताओं का वचन । मन्यु के स्वरूप का वर्णन । देवों द्वारा मन्यु की स्तुति । मन्यु के आश्रम से देवताओं को विजय प्राप्ति । ८४७—८५०

अध्याय १६३

सारस्वततीर्थ का वर्णन

ब्राह्मण का रूप धारण करके परशु नामक राक्षस के द्वारा शाकल्य मुनि से भोजन माँगना । भोजन के समय 'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, तुम्हारा शत्रु हूँ, तुम्हें खाने के लिए आया हूँ'—ऐसा परशु का शाकल्य से कहना । पश्चात् शाकल्य द्वारा अपना अपूर्व शरीर दिखलाना । परशुराक्षस द्वारा शाकल्य की स्तुति । शाकल्य की आज्ञा से परशु द्वारा सरस्वती की स्तुति और उसको स्वर्ग की प्राप्ति । ८५०—८५५

अध्याय १६४

चिञ्चिकतीर्थ का वर्णन

पवमान राजा का चिञ्चिक नामक पक्षी से संवाद । पवमान राजा के प्रति चिञ्चिक पक्षी का पूर्वजन्म-

वृतान्त कथन । ब्रह्महत्या सदृश पापों का वर्णन । चिञ्चिक की मुक्ति के लिए राजा का प्रश्न । अपनी मुक्ति के लिए श्वेतपर्वत-स्थित भगवान् गदाधर के पास ले चलने के लिए चिञ्चिक द्वारा राजा से प्रार्थना । राजा के साथ गंगा और गदाधर के दर्शन के लिए चिञ्चिक का गमन । चिञ्चिक द्वारा गंगा का स्तवन एवं स्वर्ग की प्राप्ति । राजा पवमान का अपने सेवकों के साथ अपने नगर में आना । ८५५—८६०

अध्याय १६५

भद्रतीर्थ का वर्णन

कन्या के विवाह के विषय में सूर्य का विचार । विवाह की अवधि का कथन । कन्यादान के लिए कुल आदि का विचार । कन्या की प्रशंसा । कन्या आदि के विक्रय में निषेध । विवाह-काल के उल्लघंन में दोष-वर्णन । विश्वरूप और विष्टि का विवाह । भद्रतीर्थ का वर्णन । ८६१—८६५

अध्याय १६६

पतत्रितीर्थ-वर्णन

सूर्य की किरणों से जलते हुए जटायु और संपाति को विष्णु द्वारा आश्वासन । पतत्रितीर्थ का वर्णन । ८६६—८६७

अध्याय १६७

विप्रतीर्थ का वर्णन

सोते हुए ब्राह्मण-पुत्र आसन्वि को लेखर राक्षसी का भागना । आसन्दिव और राक्षसी का संवाद । किसी ब्राह्मण कन्या के साथ आसन्दिव का विवाह । नारायण द्वारा राक्षसी का वध । विप्रतीर्थ का वर्णन । ८६७—८७१

अध्याय १६८

भानुतीर्थ का वर्णन

राजा अभिष्टुत का हयमेध आरंभ । याचना का लघुत्व-वर्णन । ब्राह्मणवेशधारी दैत्यों का यज्ञ में जाना । भान्वादि सौ तीर्थों का वर्णन । ८७१—८७४

अध्याय १६९

भिल्लतीर्थ का वर्णन

वेद नामक ब्राह्मण का शिवपूजा के अनन्तर भिक्षाटन के लिए गमन । व्याध का शिवपूजा-प्रकार । विधान से की हुई पूजा का विध्वंस करने वाले के प्रति वेद के मन में क्रोध की उत्पत्ति । आदिकेश और वेद का संवाद । व्याध की भक्ति का वर्णन । व्याध को वर की प्राप्ति । ८७५—८७९

अध्याय १७०

चक्षुस्तीर्थ का वर्णन

चक्षुस्तीर्थ का वर्णन । गौतम और कुण्डल का धन उपार्जन विषयक संवाद । पुत्र-धर्म का वर्णन । धर्म की प्रशंसा । धर्म की प्रशंसा करने वाले कुण्डल के नेत्रों का नाश । विभीषण का पुत्र के साथ संवाद । कुण्डल वैश्य को नेत्रादि की प्राप्ति । महाराजा नामक राजा की पुत्री को नेत्रों की प्राप्ति । कुण्डिल को राजकन्या की प्राप्ति ।
८७९—८८९

अध्याय १७१

उर्वशीतीर्थ का वर्णन

इन्द्र और प्रमिति का संवाद। इन्द्र और प्रमिति का क्रीड़न-वर्णन। प्रमिति और चित्रसेन का क्रीड़न-वर्णन। मधुच्छन्द के साथ प्रमिति-पुत्र सुमति के द्वारा प्रमिति को द्यूत-क्रीड़ा से विनष्ट राज्य की प्राप्ति। श्रेष्ठ पुरुषों के लिए विना छल की वृत्ति का विधान।
८८९—८९४

अध्याय १७२

सामुद्रतीर्थ का वर्णन

गंगा और सागर का संवाद। गंगा के सप्त रूप का वर्णन। ८९५—८९७

अध्याय १७३

भीमेश्वरतीर्थ का वर्णन

गंगा के सात नामों का वर्णन । ऋषि-यज्ञ में देव-शत्रु विश्वरूप का आगमन । विश्वरूप और ऋषि का संवाद ।
८९७—९०१

अध्याय १७४

गंगा और सागर के संगम का वर्णन

गंगा-सागर-संगम-वर्णन । देवताओं द्वारा हरि-हर का स्तवन । सोम-तीर्थ माहात्म्य । नारदकृत सोमस्तुति । आदित्य और बार्हस्पत्यादि तीर्थों का वर्णन ।
९०१—९०५

अध्याय १७५

तीर्थ आदि के चार प्रकार के होने का वर्णन

ब्रह्मा के कमण्डलु में, विष्णु के चरण में, शिव के जटाजूट में, ब्रह्मगिरि में और पूर्व समुद्र में क्रमशः गंगा की स्थिति का वर्णन । चार प्रकार के तीर्थों का निरूपण । तीर्थों का सत्ययुगादि में क्रम से त्रिदेवत्वभाव होने से कलियुग में भी दैवत्व भाव का निरूपण। तीर्थों का युगक्रम से दैव, आसुर, आर्ष और मनुष्यत्व-प्राप्ति का वर्णन। गणेश शंकर की जटा से गंगावतरण का पार्वती द्वारा कथन। पार्वती और गणेश के संवाद में ब्रह्मगिरि पर्वत से समुद्र पर्यन्त गौतमी के दोनों तटों की स्थिति का वर्णन। गौतम के प्रति हर्षपुलकित शिव का वरप्रदान। शिव द्वारा वर्णित गौतमी की यात्रादि का वर्णन । विस्तारसहित गौतमी-माहात्म्य का फल-कथन।९०५-९१३

अध्याय १७६

अनन्त वासुदेव का माहात्म्य-निरूपण

अनन्त वासुदेव भगवान् का माहात्म्य । ब्रह्मा की विश्व-कर्मा को वासुदेव भगवान् की मूर्ति बनाने के लिए आज्ञा । देवताओं के साथ रावण का संग्राम । रावण से इन्द्र की पराजय । रावण का इन्द्रपुरी में गमन । वहाँ पर स्थित भगवान् वासुदेव की मूर्ति को पुष्पक विमान द्वारा लंका में ले जाना। रावण से विभीषण को मूर्ति की प्राप्ति । राम और रावण का युद्ध। युद्ध में रावण की मृत्यु। भगवान् राम का अयोध्या के प्रतिगमन ।
९१३—९१८

अध्याय १७७

पुरुषोत्तमक्षेत्र का माहात्म्य-वर्णन

पुरुषोत्तमक्षेत्र की महिमा का वर्णन। ९१९—९२१

अध्याय १७८

कण्डु ऋषि के चरित्र का वर्णन

कण्डु के आश्रम में मुनि का तप भंग करने के लिए प्रम्लोचा का जाना । कण्डु और प्रम्लोचा का संवाद । तप नष्ट होने से कण्डु का पुरुषोत्तम क्षेत्र में जाना और विष्णु की स्तुति एवं वरदान की प्राप्ति, तदनन्तर मुक्ति । कण्डु की आख्यायिका का पठन एवं श्रवण का फल और पुरुषोत्तम क्षेत्र की महिमा का वर्णन । ९२२—९३८

अध्याय १७९

कृष्णावतार के सम्बन्ध में व्यास से मुनियों का प्रश्न

संशयाविष्ट मुनियों द्वारा व्यास से कृष्णावतार के सम्बन्ध में प्रश्न करना । ९३९—९४४

अध्याय १८०

श्रीकृष्ण-चरित्र का आरंभ

मुनियों के प्रश्नोत्तर में व्यासकृत भगवत्स्तुति व नानावतारों का वर्णन। चतुर्व्यूह-कथन। ९४५—९४८

अध्याय १८१

अवतार का प्रयोजन-वर्णन

भगवान् के अवतार धारण करने का प्रयोजन-वर्णन । भार से पीड़ित पृथिवी का ब्रह्मा के पास जाना और अपने दुःख का निवेदन । भगवान् की प्रशंसा से गर्वित देवताओं के प्रति ब्रह्मा का कथन । ब्रह्मा द्वारा विष्णु की स्तुति । स्तुति-श्रवण के अनन्तर ब्रह्मा को विष्णु द्वारा श्वेत और कृष्ण दो केशों का दान । विष्णु की सहायता के लिए इन्द्र आदि देवताओं का अवतार । नारद के मुख से यह सुनकर कि देवकी के आठवें गर्भ से कंस की मृत्यु होगी, कुपित कंस द्वारा वासुदेव तथा देवकी को कारागार में डालना । देवकी के छह पुत्रों का कंस द्वारा वध । विष्णु और माया के संवाद में माया के प्रति भगवान् की आज्ञा । ९४८—९५३

अध्याय १८२

श्रीकृष्ण की उत्पत्ति-कथा का निरूपण

भगवान् की आज्ञा से माया द्वारा देवकी के गर्भ का आकर्षण और रोहिणी के गर्भ में स्थापन । यशोदा के उदर में माया की स्थिति । देवकी के उदर में भगवान् का प्रवेश । भगवान् के अवतार के समय देवताओं द्वारा पुष्प-वृष्टि । वसुदेव-देवकी द्वारा भगवान् की स्तुति । देवकी के प्रति भगवान् का वचन । गोकुल में जाकर वसुदेव द्वारा यशोदा के गृह में पुत्र की स्थापना कर कन्या को लाना । बालक का रोना सुनकर देवकी के पुत्रजन्म का दूतों द्वारा वर्णन । कारागार में कंस का आगमन । कंस द्वारा रोती हुई देवकी से हठपूर्वक कन्या को छीन लेना और पश्चात् माया का स्वर्ग-गमन । ९५३—९५७

अध्याय १८३

कंस का अपना विचार कहना

अशांत कंस द्वारा प्रलम्ब आदि दैत्यों को कन्या का वृत्तान्त कथन । कंस द्वारा दैत्यों को बालकों को मारने का आदेश । पुनः कंस द्वारा देवकी, वसुदेव को बन्धन-मुक्त करना । ९५७—९५८

अध्याय १८४

श्रीकृष्ण का बाल-चरित्र-वर्णन

मथुरा में ही नन्द के पास वसुदेव का जाना । वसुदेव और नन्द का प्रेम-संवाद । वसुदेव की आज्ञा से नन्द आदि गोपों का गोकुल में आना । कृष्ण के द्वारा पूतना का वध । गोपुच्छादि से कृष्ण की रक्षा । नन्द द्वारा कृष्ण का स्वस्ति-वाचन करवाना । बालक के चरण-प्रहार से शकट का गिरना । उससे गोपियों का आश्चर्य । तदनन्तर यशोदा द्वारा शकट की पूजा । वसुदेव से प्रेरित गर्ग द्वारा गुप्त रूप में बालकों का नामकरण । वाललीला का वर्णन । यमलार्जुन का उद्धार । उत्पातों के भय से गोप-गोपियों का वृन्दावन में प्रवेश । वृन्दावन की शोभा का वर्णन । बालकों की क्रीड़ा का वर्णन । ९५९—९६४

अध्याय १८५

कालीय-दमन का आख्यान

बलराम के बिना गोपों के साथ कृष्ण का कालीयह्रद पर आगमन । उसको विषयुक्त देखकर कृष्ण का कालीयह्रद में कूदना । वहाँ सपरिवार कालीय का आ धमकना एवं कृष्ण को डँसना । गोपियों का विलाप । नन्द आदि के दुःख को मिटाने के लिए वलदेव का कृष्ण के प्रति स्पष्टीकरण । नागपत्नी द्वारा कृष्ण की स्तुति । कालीय द्वारा कृष्ण की स्तुति । समुद्र में जाने के लिए कालीय के प्रति कृष्ण की आज्ञा । सपरिवार कालीय का समुद्र के प्रति गमन । कृष्ण का ह्रद से वाहर आना । ९६४—९६९

अध्याय १८६

धेनुक नामक असुर का वध

गोपों के साथ वलराम और कृष्ण का तालवन के प्रति जाना । ताल-फल की इच्छा से गोपों का रामकृष्ण के प्रति विज्ञापन । रामकृष्ण द्वारा तालफल को गिराना । धेनुकासुर के द्वारा राम-कृष्ण के वक्षःस्थल पर ताड़न । कृष्ण द्वारा धेनुकासुर का वध । ९७०—९७१

अध्याय १८७

राम और कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन

वाह्यवाहक नामक खेल के वहाने बलदेव द्वारा प्रलम्वासुर का वध । गोपों द्वारा बलराम की प्रशंसा । ब्रज के प्रतिगमन । शरद् का वर्णन । गोवर्धनलीला का वर्णन

९७१—९७६

अध्याय १८८

गोवर्धन का आख्यान

कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत का उद्धार और इन्द्र का मान-भंग । इन्द्र द्वारा कृष्ण-स्तुति । कृष्ण को गोविन्द नाम की प्राप्ति । इन्द्र द्वारा अर्जुन के विषय में प्रार्थना । इन्द्र और कृष्ण का अपने-अपने स्थान में जाना । ९७७—९८१

अध्याय १८९

अरिष्ट नामक असुर का वध

रासक्रीड़ा का वर्णन और अरिष्टासुर का वध । ९८१—९८६

अध्याय १९०

केशी नामक असुर का वध

कंस और नारद का संवाद । बलराम और कृष्ण को लाने के लिए कंस का अक्रूर को भेजना । बलराम और कृष्ण को मारने के लिए कंस की मल्लयुद्ध योजना । कृष्ण के वध के लिए केशिका का वृन्दावन जाना । केशि के शब्दों से गोपों को भय । कृष्ण द्वारा केशी का वध । नारदकृत कृष्ण-वर्णन । ९८७—९९१

अध्याय १९१

अक्रूर के जाने का वर्णन

अक्रूर का गोकुल-गमन । अक्रूर द्वारा कृष्ण का वर्णन । ९९१—९९४

अध्याय १९२

अक्रूर के लौटने का वर्णन

अक्रूर द्वारा कृष्ण को नमस्कार । अक्रूर द्वारा कंस की उक्ति का कथन । कंस के वध के लिए कृष्ण की उक्ति । मथुरा के लिए राम, कृष्ण और अक्रूर का गमन । कृष्ण के गमन से दु:खित गोपियों का परस्पर संभाषण । यमुना-जल में अक्रूर को भगवान् का दर्शन । अक्रूर द्वारा कृष्ण की स्तुति । कृष्ण और अक्रूर का संवाद । मथुरा में बलराम और कृष्ण-पराक्रम-वर्णन । ९९५—१००२

अध्याय १९३

कुब्जा का उद्धार-वर्णन

कुब्जा के प्रति कृष्ण का कथन । कृष्णकृत अनुग्रह का वर्णन । बलराम और कृष्ण को मारने के लिए चाणूर और मुष्टिक को कंस की आज्ञा । नागरिकों द्वारा बलराम और कृष्ण का वर्णन । कृष्ण और चाणूर का युद्ध । मुष्टिक और बलराम का युद्ध । चाणूर और मुष्टिक का वध । कंस-वध । वसुदेव द्वारा भगवत्स्तुति । १००२—१०१०

अध्याय १९४

देवकी और वसुदेव के साथ कृष्ण का संवाद

देवकी और वसुदेव के साथ कृष्ण का संवाद । कृष्ण द्वारा कंस की पत्नी का समाधान । कृष्ण द्वारा उग्रसेन का राज्याभिषेक । उग्रसेन को सुधर्मा नामक सभा की प्राप्ति । बलदेव और कृष्ण को गुरु सान्दीपनि द्वारा अस्त्र प्रदान । सान्दीपनि को पुत्र प्राप्ति । १०१०—१०१३

अध्याय १९५

जरासन्ध के साथ राम-कृष्ण का युद्ध-वर्णन

जरासन्ध के साथ राम-जनार्दन का युद्ध । जरासन्ध का तिरस्कार । जरासन्ध का युद्ध के लिए फिर आना । जरासन्ध की पराजय । १०१३—१०१५

अध्याय १९६

कालयवन का उपाख्यान

कालयवन की उत्पत्ति का वर्णन । कालयवन द्वारा यादवों का नाश । यादवों की रक्षा के लिए कृष्ण द्वारा द्वारका का निर्माण । मुचुकुन्द द्वारा कालयवन का नाश । मुचुकुन्द द्वारा भगवत्स्वरूप का वर्णन । १०१५—१०१९

अध्याय १९७

गोकुल में बलराम का लौटना

मुचुकुन्द को भगवान् का वर-प्रदान । तप के लिए मुचुकुन्द का गन्धमादन के प्रति गमन । बलदेव का गोकुल में आना । १०१९—१०२१

अध्याय १९८

बलराम की क्रीड़ा का वर्णन

वरुण और वारुणी का संवाद । यमुना और बलदेव का संवाद । बलदेव का मथुरा में गमन । १०२१—१०२३

अध्याय १९९

रुक्मिणी के विवाह का वर्णन

कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण । कृष्ण से रुक्मी की पराजय । रुक्मिणी-विवाह का एवं प्रद्युम्न की उत्पत्ति । १०२३-१०२४

अध्याय २००

प्रद्युम्न का आख्यान-वर्णन

शम्बरासुर द्वारा प्रद्युम्न का हरण । शम्वर का प्रद्युम्न को समुद्र में फेंकना । मत्स्य के उदर से शम्वर की स्त्री को प्रद्युम्न की प्राप्ति । शम्वर की स्त्री से नारद का संवाद । शम्वर और प्रद्युम्न का युद्ध । शम्वर का वध । द्वारका में प्रद्युम्न का आगमन । श्रीकृष्ण-नारद संवाद । १०२५—१०२८

अध्याय २०१

अनिरुद्ध के विवाह में रुक्मी का वध

रुक्मिणी के पुत्रों के नाम । कृष्ण की स्त्रियों के नाम । अनिरुद्ध का विवाह रुक्मी और बलदेव का द्यूत-वर्णन । बलदेव द्वारा रुक्मी का वध । १०२८-१०३१

अध्याय २०२

नरकासुर के वध का वर्णन

इन्द्र का द्वारका में आना । इन्द्र द्वारा नरकासुर की चेष्टा का वर्णन । ज्योतिषपुर के प्रति कृष्ण का गमन । कृष्ण द्वारा मुरदैत्य का वध । कृष्ण द्वारा नरकासुर का वध । पृथ्वी द्वारा कृष्ण को कुण्डल दान । अदिति को कुण्डल देने के लिए भगवान् का स्वर्गगमन । १०३१—१०३४

अध्याय २०३

अदिति द्वारा भगवान् की स्तुति

अदितिकृत भगवत्स्तुति । कृष्ण और अदिति का संवाद । सत्यभामा के वचन से कृष्ण द्वारा कल्प वृक्ष का लाना । वनपालों के साथ श्रीकृष्ण का संवाद । वनपालों के साथ सत्यभामा की गर्वोक्ति । देवताओं के साथ श्रीकृष्ण का युद्ध । इन्द्र के साथ सत्यभामा का संवाद । इन्द्र द्वारा भगवद्वर्णन । १०३५—१०४२

अध्याय २०४

इन्द्र और कृष्ण के संवाद का वर्णन

इन्द्र के साथ श्रीकृष्ण का संवाद । द्वारका में भगवान् का आगमन । कल्पवृक्ष का वर्णन । १०४२—१०४४

अध्याय २०५

अनिरुद्ध का चरित्र-वर्णन

रुक्मिणी आदि स्त्रियों के पुत्र एवं पौत्रों के नामों का वर्णन । उषा और अनिरुद्ध के विवाह का कथन । वाणासुर की पुत्री उषा का गौरी से संवाद । चित्रलेखा की लेखनकला की चतुरता का वर्णन । १०४४—१०४७

अध्याय २०६

बाण के युद्ध का वर्णन

भगवान् शंकर के साथ वाणासुर का संवाद और युद्ध के लिए प्रार्थना । उषा के अन्तःपुर में चित्रलेखा द्वारा अनिरुद्ध का लाना । वाणासुर और अनिरुद्ध का युद्ध । अनिरुद्ध का वन्धन । कृष्ण और वलदेव का युद्ध के लिए आना । वाणासुर के साथ भगवान् का युद्ध । भगवान् और शंकर का युंद्ध । हरि-हर-संवाद । भगवान् का सपत्नीक अनिरुद्ध के साथ द्वारका में आना । १०४७—१०५१

अध्याय २०७

पौण्ड्रक-वध-वर्णन

काशिराज पौण्ड्रक के दूत का द्वारका में आगमन । दूत के साथ कृष्ण का संवाद । श्रीकृष्ण के साथ पौण्ड्रक का युद्ध । पौण्ड्रक का वध । शंकर के वरदान से काशिराज के पुत्र द्वारा कृत्या का उत्पादन । सुदर्शन चक्र के भय से कृत्या का वाराणसी में प्रवेश । चक्र द्वारा वाराणसी का दाह, पश्चात् चक्र का कृष्ण के हाथ में वापिस आना ।

१०५२—१०५६

अध्याय २०८

बलदेव का माहात्म्य-वर्णन

व्यास और ऋषियों के संवाद में वलदेव के पराक्रम का वर्णन । साम्व द्वारा दुर्योधन की कन्या का हरण । दुर्योधनादिकों द्वारा साम्व का वन्धन । वलदेव का हस्तिनापुर में आगमन । कौरवों के साथ वलदेव का संवाद । बलदेवकृत हस्तिनापुर का आकर्षण । कौरवों द्वारा वलदेव की प्रार्थना । १०५६—१०६०

अध्याय २०९

द्विविद नामक वानर का वध-वर्णन

व्यास और ऋषियों का संवाद । वलदेवकृत द्विविद वानर का वध । १०६०—१०६२

अध्याय २१०

पृथ्वी के भार उतारने का वर्णन

व्यास और ऋषियों के संवाद में भूमि के भारावतरण का कथन । यादव-कुल के उपसंहार का वर्णन । भगवान् का द्वारका-त्याग तथा निजधाम-गमन । यादवों के शाप का हेतु-कथन । देवताओं द्वारा भेजे हुए दूत का आगमन तथा कृष्ण के साथ संवाद । महोत्पातों के शमन के लिए यादवों का प्रभास में जाना । भगवान् का उद्धव के साथ संवाद । यादवों का नाश-वर्णन । १०६३—१०६८

अध्याय २११

कृष्ण का मनुष्य-देह-त्याग

भगवान् की कृपा से व्याध का स्वर्ग-गमन ।
१०६८—१०६९

अध्याय २१२

रुक्मिणी आदि का परलोक-गमन

रुक्मिणी आदि रानियों का स्वर्गारोहण । आभीर और अर्जुन का संवाद एवं युद्ध । अर्जुन की पराजय । म्लेच्छों द्वारा श्रेष्ठ स्त्रियों का हरण । अर्जुन के विषाद का वर्णन । व्यास और अर्जुन के संवाद में व्यास द्वारा अर्जुन का समाधान । अष्टावक्र के आख्यान का वर्णन । अष्टावक्र के तप का वर्णन । तिलोत्तमा, रंभा आदि अप्सराओं द्वारा अष्टावक्र की प्रशंसा । रंभा को पुरुषोत्तम पति प्राप्ति रूप अष्टावक्र का वर-प्रदान । जल से वाहर आये मुनि के शरीर का टेढ़ापन देखकर रंभा द्वारा हास्य । रंभा के हास्य से कुपित मुनि का शाप, पश्चात् प्रसन्न होकर वर प्रदान । सबान्धव पाण्डवों का महाप्रस्थान । परीक्षित् को राज्य-दान, तदुपरान्त वन-गमन । कृष्ण-चरित्र की समाप्ति का कथन ।
१०७०—१०७८

अध्याय २१३

वाराह-अवतार का वर्णन

वाराह-अवतार का वर्णन । वाराहरूपी परमेश्वर के शरीर के अंगों का वर्णन । यज्ञवराहकृत पृथ्वी का उद्धरण । नृसिंह अवतार का वर्णन । हिरण्यकशिपु के तप का वर्णन एवं वरप्रदान । व्रह्मा के साथ देवताओं का भगवान् के समीप गमन । देवताओं द्वारा भगवान् की स्थिति । भगवान् का नृसिंहरूप में अवतीर्ण होना । नृसिंह भगवान् द्वारा हिरण्यकशिपु का वध । वामन अवतार का वर्णन । दैत्यों की नामावली का कथन । दत्तात्रेय के अवतार का वर्णन । परशुराम के अवतार का वर्णन । संक्षेप में श्रीरामचरित्र का वर्णन । श्री कृष्णावतार का वर्णन । कल्कि अवतार का वर्णन । भगवान् के अवतारों के चरित्रों का श्रवण एवं पठन का फल ।
१०७०—१०९२

अध्याय २१४

नरकों का वर्णन

नरकों के नाम तथा वर्णन । देहत्याग का वर्णन । यमदूतों का वर्णन । धार्मिक एवं पापीजनों का वर्णन । यमपुरी का वर्णन एवं पुरी के द्वारों का वर्णन ।
१०९२—११०२

अध्याय २१५

दक्षिण मार्ग का वर्णन

दक्षिण मार्ग से जाने वाले प्राणियों के दुःखों का वर्णन । चित्रगुप्त द्वारा पापियों का वर्णन । भयंकर नरकों का वर्णन । अनेक प्रकार के पापों का वर्णन । पापों के अनुसार नरक-प्राप्ति का कथन ।
११०२—१११३

अध्याय २१६

नारकीय दुःखनिवारक धर्माचरण का वर्णन

नरकों के दुःख-निवारण के लिए मुनियों द्वारा व्यास के प्रति प्रश्न । व्यास द्वारा धर्म के आचरण से सुगति-प्राप्ति का वर्णन ।
११०२—१११३

अध्याय २१७

धर्म की श्रेष्ठता का वर्णन

धर्म्र की श्रेष्ठता का वर्णन । शरीर की उत्पत्ति का वर्णन । पुण्य एवं पाप के अनुरोध से अनेक योनियों में जन्म होने का वर्णन । अनन्तर पाप-पुण्य का वर्णन । ११२१—११३०

अध्याय २१८

अन्नदान की प्रशंसा का वर्णन

शुभप्राप्तिविषयक मुनियों का व्यास के प्रति प्रश्न । अन्न की प्रशंसा । अन्नदान से शुभ-प्राप्ति का कथन । ११३०—११३३

अध्याय २१९

श्राद्धविधि का वर्णन

श्राद्धविधि का निरूपण । पितरों के साथ चन्द्र-कन्या का संवाद । चन्द्रमा का पितरों को शाप । सोमजा का कोका नामक नदी बनना । पितरों द्वारा भगवान् की स्तुति । पितरों के उद्धार का कथन । अग्निकरण और पिण्डदान की विधि । ११३३—११४४

अध्याय २२०

श्राद्धकल्प का वर्णन

श्राद्धकल्प का वर्णन । प्रतिपद् आदि तिथि क्रम से श्राद्ध करने का फल कथन । सपिण्डीकरण का विधान श्राद्ध में ब्राह्मण विचार । ११४४—११६२

अध्याय २२१

सदाचार का वर्णन

सदाचार का कथन । धर्म-वर्णन । मालादि-उत्सर्ग एवं आचमन की विधि का कथन । अध्ययन-अनध्याय-निरूपण । कन्या-वर्णन तथा ऋतु-काल में गमन-प्रकार । देव-पूजा-कथन । देवता तथा पितरों के तर्पण का वर्णन। वैश्वदेव का विधान । विप्रों के निवासयोग्य देशों का वर्णन । सूतक का विचार । ११६२-११७७

अध्याय २२२

वर्णाश्रमधर्म का वर्णन

व्यास और मुनियों के संवाद में वर्णधर्म का कथन । ११७७—११८१

अध्याय २२३

संकर जाति का लक्षण-वर्णन

उमा और महेश्वर के संवाद में ब्राह्मणों को शूद्रत्व प्राप्ति का कथन । शूद्र आदि को उत्तम-गति की प्राप्ति का कथन । ११८२—११८७

अध्याय २२४

मनुष्यों को उत्तम गति मिलाने का वर्णन

उमा और महेश्वर के संवाद में मनुष्यों को उत्तम गति मिलने का वर्णन। स्वर्ग-प्राप्ति के हेतुभूत धर्म का कथन। कर्म के फल का कथन। ११८८—११९३

अध्याय २२५

देवलोग की प्राप्ति का कारण बताना

उमा और महेश्वर के संवाद में देवलोक की प्राप्ति का कथन। कृपण आदि के नरक में जाने का वर्णन। स्वधर्मरत प्राणियों का वर्णन। पापिष्ठ प्राणियों की नरक-प्राप्ति का कथन। ११९३—११९८

अध्याय २२६

वासुदेव की महिमा का वर्णन

मुनि और महेश्वर के संवाद में वासुदेव भगवान् की महिमा एवं भगवत्स्वरूप का वर्णन। मनु के वंश का वर्णन। व्यास जी और मुनियों के संवाद में कृष्णपूजा के फल का कथन। ११९७—१२०४

अध्याय २२७

मुनियों और व्यास के संवाद में विष्णु-पूजकों की गति का निरूपण

विष्णु की उपासना करने वालों को दिव्य लोकों की प्राप्ति एवं उत्तमोत्तम भोगों की प्राप्ति के पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति। १२०४-१२०८

अध्याय २२८

विष्णु-पूजा आदि का वर्णन

चाण्डाल और राक्षस के संवाद का वर्णन। उर्वशी और मूर्ख ब्राह्मण का संवाद। विष्णु भगवान् के जागरण में भगवद्भजन का फल। चाण्डाल और राक्षस का संवाद। जागरण की पुण्य-प्राप्ति के लिए राक्षस द्वारा मातंग की प्रार्थना। ब्रह्मराक्षस के पूर्वजन्म का कथन एवं राक्षसत्व की प्राप्ति। चाण्डाल के पूर्वजन्म का कथन। मूर्ख ब्राह्मण और उर्वशी का संवाद। शकटदान का माहात्म्य। १२०८—१२२२

अध्याय २२९

विष्णु-भक्ति का कारण वर्णन

व्यास और मुनियों के संवाद में विष्णुभक्ति का हेतु-कथन। सूर्य आदि देवों की आराधना का वर्णन। अवैष्णवत्व की प्राप्ति का कारण-कथन। भगवान् की माया का वर्णन। कामदमन का आख्यान। कपालमोचनतीर्थ की उत्पत्ति का वर्णन। कामदमन का स्वर्ग-गमन। १२२३—१२३२

अध्याय २३०

महाप्रलय का वर्णन

व्यास और मुनियों के संवाद में महाप्रलय का वर्णन। कलि के स्वरूप का वर्णन। कलियुग में भविष्य का वर्णन। १२३३—१२४०

अध्याय २३१

द्वापरयुग के अन्त का वर्णन

नष्ट धर्म के निमित्त का कथन। भविष्य का कथन। १२४०—१२४८

अध्याय २३२

संहार के लक्षण का वर्णन

व्यास और मुनियों के संवाद में संहार-लक्षण का कथन । कल्प का मान-कथन । नैमित्तिक लय का स्वरूप-कथन । १२४८—१२५१

अध्याय २३३

प्राकृत लय का निरूपण

प्राकृत लय का स्वरूप-वर्णन । १२५२—१२५५

अध्याय २३४

आत्यन्तिक लय का निरूपण

आध्यात्मिक आदि तीनों तीर्थों का कथन । शिरदर्द, जुकाम, खाँसी आदि आध्यात्मिक ताप का निरूपण । काम, क्रोध आदि मानसिक ताप का निरूपण । मृग, पक्षी से होने वाले आधिभौतिक ताप का वर्णन । गर्भ, जन्म, वृद्धावस्था आदि से उत्पन्न आधिदैविक ताप का कथन । गर्भ में स्थित प्राणी की दुःखावस्था का निरूपण । बाल अवस्था, वृद्धावस्था और मरणावस्था का वर्णन । पाप-कर्मों से नरक-प्राप्ति का कथन एवं मुक्ति और ज्ञान की महिमा का वर्णन । १२५६—१२६२

अध्याय २३५

योगाभ्यास-निरूपण

योगाभ्यास का वर्णन । १२६२—१२६५

अध्याय २३६

सांख्य-योग-निरूपण

विस्तारपूर्वक योग और सांख्य का निरूपण । १२६५—१२७१

अध्याय २३७

ज्ञानियों की मोक्ष-प्राप्ति का निरूपण

ज्ञानियों की मोक्षप्राप्ति का निरूपण एवं कर्म करने वालों के कर्मानुसार स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति का वर्णन । आकाश आदि पञ्च महाभूतों के गुणों का वर्णन । १२७१—१२७९

अध्याय २३८

गुणों की सृष्टि का प्रतिपादन

गुणों की रचना का वर्णन । विद्वान् को अभय और मूर्ख को भय की प्राप्ति का वर्णन । सब धर्मों में विशिष्ट धर्म का वर्णन । क्षमा आदि के द्वारा क्रोध आदि का नाश-कथन । १२८०—१२८५

अध्याय २३९

योगविधि का निरूपण

योग और सांख्य के विद्वानों के दया आदि आचरणों की समता का कथन । योगी की विशेष प्रशंसा । योगी के विहित और निषिद्ध आहारों का वर्णन । काम आदि सम्पूर्ण शत्रुओं के जय का वर्णन । योग के अभ्यास से नारायण-पद की प्राप्ति । १२८५—१२९०

अध्याय २४०

सांख्य-विधि का निरूपण

सांख्यविधि का निरूपण । मनुष्य आदि के विषय-ज्ञान का कथन । सत्त्व आदि गुण और सांख्य के ज्ञान का निरूपण । दृष्टि आदि के रूप आदि में संसक्त होने का कथन । मोक्ष की दुर्लभता का निरूपण । सांख्य-ज्ञान की महिमा का वर्णन । सांख्य-योग से भ्रष्ट जनों की उत्तम कुल में उत्पत्ति । १२९१—१३००

अध्याय २४१

वसिष्ठ और करालजनक के संवाद के क्षर और अक्षर का निरूपण

क्षर (नाशवान्) और अक्षर (ध्रुव) का वर्णन । मुनियों द्वारा व्यास जी की प्रशंसा । वसिष्ठ और कराल-जनक का संवाद । संसार का क्षरत्व से प्रतिपादन और ईश्वर का अक्षरत्व से प्रतिपादन । चौवीस तत्त्वों का वर्णन तथा तामसादिकों की नरकप्राप्ति और निर्गुण की मोक्ष-प्राप्ति का कथन । १३००—१३०४

अध्याय २४२

वशिष्ठ और करालजनक का संवाद-वर्णन

वसिष्ठ और करालजनक का संवाद । क्षर और अक्षर का ज्ञान न होने से बहुविध जन्मों की प्राप्ति । अभिमानी पुरुषों के बहुत-से साधनों का कथन । १३०४—१३०९

अध्याय २४३

मोक्षधर्म के सम्बन्ध में वसिष्ठ से जनक का प्रश्न

वसिष्ठ के प्रति मोक्ष-धर्म के विषय में जनक का प्रश्न । ग्रन्थ का अर्थ जाने विना ग्रन्थ का धारण करना केवल भार है—यह कथन । ग्रन्थ के तत्त्व को न जानकर लोभ से विवाद करने वाले को नरक की प्राप्ति । अक्षर और क्षर का लक्षण । योगलक्षण का वर्णन । सांख्यज्ञानकथन । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का लक्षण । १३०९—१३१६

अध्याय २४४

विद्या और अविद्या के स्वरूप का वर्णन

विद्या और अविद्या का स्वरूप-कथन । क्षर और अक्षर का विस्तार से वर्णन । प्रकृति के त्याग से विशुद्धि का कथन । अभेद से सांख्ययोग कथन । १३१७—१३२१

अध्याय २४५

ब्रह्म का अनेक होना

अज परमात्मा भी विकारों से अनेक रूपों में भासित होता है । एकत्व और नानात्व का लक्षण । ज्ञान और विज्ञान से संज्ञित मोक्ष का वर्णन । इस ज्ञान के दानार्थ अधिकारी का निर्णय । जनक के प्रति वसिष्ठ का यह कथन कि उन्हें यह ज्ञान ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था । ज्ञान-प्राप्ति की परम्परा का कथन । १३२१—१३२७

अध्याय २४६

इस पुराण के श्रवण और पाठ का फल-वर्णन

पुराण-श्रवण के उपरान्त मुनियों द्वारा व्यास जी की प्रशंसा । अनन्तर समस्त मुनियों का अपने-अपने आश्रमों में जाना । ब्रह्मपुराण के श्रोता एवं अध्येता को मिलने वाले फल का कथन । धर्म की प्रशंसा । १३२७—१३३१

रामेश्वर शर्मा

।। श्रीगणेशाय नमः ।।

ब्रह्मपुराणम्

प्रथमोऽध्यायः

तत्रादौ नैमिषारण्य-वर्णनम्

यस्मात् सर्व्वमिदं [1]प्रपञ्चरचितं मायाजगज्जायते, यस्मिंस्तिष्ठति[2] याति चान्तसमये कल्पानुकल्पे पुनः ।
यं ध्यात्वा मुनयः प्रपञ्चरहितं विन्दन्ति मोक्षं ध्रुवं, तं वन्दे पुरुषोत्तमाख्यममलं नित्यं विभुं [3]निश्चलम् ।। १।।
यं ध्यायन्ति बुधाः समाधिसमये शुद्धं वियत्सन्निभं, नित्यानन्दमयं प्रसन्नममलं सर्व्वेश्वरं निर्गुणम् ।
व्यक्ताव्यक्तपरं प्रपञ्चरहितं [4]ध्यानैकगम्यं [5]विभुं, तं संसारविनाशहेतुमजरं वन्दे हरिं मुक्तिदम्[6] ।।२।।
सुपुण्ये नैमिषारण्ये पवित्रे सुमनोहरे । नानामुनिजनाकीर्णे नानापुष्पोपशोभिते ।।३।।
सरलैः कर्णिकारैश्च पनसैर्धवखादिरैः । आम्रजम्बूकपित्थैश्च न्यग्रोधैर्देवदारुभिः ।।४।।
अश्वत्थैः पारिजातैश्च चन्दनागुरुपाटलैः[7] । बकुलैः सप्तपर्णैश्च [8]पुन्नागैर्नागकेशरैः ।।५।।
शालैस्तालैस्तमालैश्च [9]नारिकेलैस्तथार्ज्जुनैः । अन्यैश्च बहुभिर्वृक्षैश्चम्पकाद्यैश्च शोभिते ।।६।।
नानापक्षिगणाकीर्णे नानामृगगणैर्युते । नानाजलाशयैः [10]पुण्यैर्दीर्घिकाद्यैरलङ्कृते ।।७।।

अध्याय १

जिससे यह विस्तार के साथ रचा हुआ मायामय सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है, जिसमें स्थित रहता है तथा प्रत्येक कल्प के अन्त में लीन हो जाता है और जिसका ध्यान करके मुनिगण प्रपञ्चरहित मोक्ष को प्राप्त करते हैं उस निर्मल, नित्य, व्यापक, अचल, पुरुषोत्तमसंज्ञक ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ ।।१।। समाधि की अवस्था में विद्वान् (साधक) जिसका ध्यान करते हैं, उस आकाश के समान स्वच्छ, आनन्दमय, सदा प्रसन्न, निर्मल, सर्वेश्वर, निर्गुण, स्पष्ट और अस्पष्ट रूप से परे, सृष्टि से रहित, केवल ध्यानयोग से प्राप्त करने योग्य, व्यापक, संसार के प्रलय के कारण, अजर और मोक्षदायक हरि को प्रणाम करता हूँ ।।२।। मुनिगणों से व्याप्त, अनेक प्रकार के पुष्पों से सुशोभित, पुण्यरूप, पवित्र और मनोहर नैमिषारण्य की वनस्थली सरल (सड़र), आम्रातक (आमड़ा), कटहल, धव, खदिर (खैर), आम, जामुन, कठबेल, बरगद, देवदारु, पीपल, पारिजात, चन्दन, अगर, पाटला, मौलसिरी, सातला, पुन्नाग, नागकेसर, शाल (साखू), ताल, तमाल, नारिकेल, अर्जुन और चम्पा आदि नानाविध वृक्षों से भी सुशोभित थी ।।३-६।। वह अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों, पवित्र बावली आदि अनेक जलाशयों से

१ख. ०न्चचरितं मा ।. २क. ०ति लीयते तु स० । ख. ०ति लीयते च स० । ३. निष्कल० । ४. ज्ञानैकगम्यं । ५ग. प्रभुं । ६क. ०म्।।२।। ये पु० । ७ग. ०लैः । स० । ८ग. ०नागैः पलाशैर्ना० । ९क. ङ.नालिकेरैस्त० । १०क. पुण्ये वेदिका० ।

वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च यतिभिर्ब्रह्मचारिभिः[1] ॥८॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्चान्यैश्च जातिभिः। यवगोधूमचणकैर्माषमुद्‌गतिलेक्षुभिः[2] ॥९॥
सम्पन्नैर्गोकुलैश्चैव सर्वत्र समलङ्कृते। तत्र दीप्ते हुतवहे हूयमाने महामखे ॥१०॥
चीनकाद्यैस्तथा मेध्यैः शस्यैश्चान्यैश्च शोभिते। आजग्मुस्तत्र मुनयस्तथाऽन्ये[3]ऽपि द्विजातयः ॥११॥
यजतां नैमिषेयाणां सत्रे द्वादशवार्षिके। तेषु तत्रोपविष्टेषु ऋत्विग्भिः सहितेषु च ॥१२॥
तानागतान् द्विजांस्ते तु पूजां चक्रुर्यथोचिताम्[4]। तं दृष्ट्वा ते मुनिवराः पूजां चक्रुर्मुदान्विताः ॥१३॥
तत्राजगाम सूतस्तु मतिमाँल्लोमहर्षणः[5]। कथां चक्रुस्तदान्योन्यं[7] सूतेन [8]सहिता द्विजाः ॥१४॥
सोऽपि[6] तान् प्रतिपूज्यैव संविवेश वरासने। ऋत्विग्भिः सहिताः सर्व्वे सदस्यैः सह दीक्षिताः ॥१५॥
कथान्ते[9] व्यासशिष्यं ते[10] पप्रच्छुः[11] संशयं मुदा।

मुनय ऊचुः

पुराणागमशास्त्राणि सेतिहासानि सत्तम। जानासि देवदैत्यानां चरितं जन्म कर्म्म च ॥१६॥
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिद्वेदे[12] शास्त्रे च भारते। पुराणे मोक्षशास्त्रे च सर्व्वज्ञोऽसि महामते ॥१७॥

अलंकृत था ॥७॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—चारों वर्ण और आश्रम के लोग वहाँ निवास करते थे ॥८॥ पर्याप्त पशुधन एवं जौ, गेहूँ, चना, उड़द, मूँग, तिल, ईख और चीन आदि पवित्र अन्नों से वह क्षेत्र संपन्न था ॥९½॥ उस क्षेत्र में नैमिषारण्यवासी बारह वर्षों में समाप्त होने वाले यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे। महायज्ञ की प्रज्वलित अग्नि में आहुतियाँ पड़ रही थीं। उस यज्ञ में बहुत-से मुनि और दूसरे ब्राह्मण लोग भी आये हुए थे ॥१०-११॥ उन आगन्तुकों का नैमिषारण्यवासियों ने यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया। ऋत्विजों के सहित आये हुए ब्राह्मणों, मुनियों के बैठ जाने पर सुप्रसिद्ध मेधावी सूत लोमहर्षण वहाँ उपस्थित हुए ॥१२½॥ उन्हें देखते ही आनंदित मुनिगण ने यथोचित सत्कार किया। तदनंतर लोमहर्षण सूतजी भी उनके प्रति यथोचित सम्मान प्रकट करते हुए व्यासपीठ पर आसीन हो गये। फिर सूतजी सहित उपस्थित विप्रवृन्द परस्पर कथा-वार्ता करने लगे ॥१३-१४॥ कथा के समाप्त होने पर सदस्यों सहित दीक्षित हुए ऋत्विक् और मुनिवृन्द अपनी शंकाओं के समाधान हेतु सूतजी से नम्रतापूर्वक प्रश्न करने लगे ॥१५॥

मुनियों ने कहा—भगवन्! पुराण, आगम, शास्त्र और इतिहास एवं देवता, राक्षसों के जन्म, कर्म और चरित्रों के आप विज्ञाता हैं ॥१६॥ वेद, शास्त्र, महाभारत, पुराण, मोक्षशास्त्र—इनमें से कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिसे आप न जानते हों। महाधीमन्! आप सर्वज्ञ हैं ॥१७॥ हे सूतजी! प्रारंभ में देवता, राक्षस, गन्धर्व,

---

१क. ०भिः। समदैर्गो०। ख. ०भिः। समृद्धैर्गो०। २ग. ०भिः। शालिभिश्च तथा। ३क. ०न्ये च द्वि। ४क. ख. ०थोदिता०। ५क. ०मान्रोम०। ६ग. ०पि तां प्रतिगृह्यैव। ७क. ०स्तथाऽन्यो। ८ग. सह ते द्वि०। ९ख.। ०न्ते च व्या०। १०क. तु। ११क. ०प्रच्छुस्तेऽव्ययं मु०। १२क. ०द्वेदशास्त्रेषु भा०।

यथापूर्व्वमिदं सर्व्वमुत्पन्नं सचराचरम्। ससुरासुरगन्धर्व्वं सयक्षोरगराक्षसम् ॥१८॥
श्रोतुमिच्छामहे सूत ब्रूहि सर्व्वं यथा[1] जगत्। बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति ॥१९॥
यतश्चैव जगत्[2] सूत यतश्चैव [3]चराचरम्। लीनमासीत्तथा यत्र लयमेष्यति यत्र च[4] ॥२०॥

लोमहर्षण उवाच

अविकाराय [5]शुद्धाय नित्याय परमात्मने। सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्व्वजिष्णवे ॥२१॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शङ्कराय च। वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकर्म्मणे ॥२२॥
एकानेकस्वरूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने[6] नमः। अव्यक्ताव्यक्तभूताय विष्णवे [7]मुक्तिहेतवे ॥२३॥
सर्गस्थितिविनाशाय[8] जगतो [9]योऽजरामरः। मूलभूतो[10] नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने ॥२४॥
आधारभूतं विश्वस्याप्यणीयांसमणीयसाम्। प्रणम्य [11]सर्व्वभूतस्थमच्युतं पुरुषोत्तमम् ॥२५॥
ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं निर्म्मलं परमार्थतः। [12]तमेवार्थस्वरूपेण[13] भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥२६॥
विष्णुं ग्रसिष्णुं विश्वस्य स्थितौ[14] सर्गे तथा प्रभुम्। सर्व्वज्ञं जगतामीशमजमक्षयमव्ययम् ॥२७॥
आद्यं[15] सुसूक्ष्मं[16] विश्वेशं ब्रह्मादीन् प्रणिपत्य च[17]। इतिहासपुराणज्ञं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥२८॥
सर्व्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं पराशरसुतं प्रभुम्। गुरुं प्रणम्य वक्ष्यामि पुराणं वेदसम्मितम् ॥२९॥

यक्ष, सर्प, दैत्य आदि योनियों सहित यह चराचर जगत् जिस प्रकार उत्पन्न हुआ, उस प्रक्रिया को हम लोग सुनना चाहते हैं, कृपया सुनाइये ॥१८॥ महाभाग सूतजी ! जिस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई है और प्रलय के बाद जिस प्रकार फिर उत्पन्न होगी तथा चराचर सहित जगत् जिसमें लीन रहकर उत्पन्न हुआ और फिर जिसमें लीन होगा उसका समस्त उत्पत्ति एवं लयक्रम हमें बतलाइये ॥१९-२०॥

लोमहर्षण बोले—निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, सर्वात्मा, शाश्वत, सर्वव्यापक, सर्वजयी, हिरण्यगर्भ, हरि, शंकर, वासुदेव—नामधारी, अखिल उद्धारक, सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कारण-भूत, एक और अनेक स्वरूप धारण करनेवाले, स्थूल और सूक्ष्म आत्मा वाले, व्यक्त और अव्यक्त तथा मोक्ष के कारण भगवान् विष्णु को नमस्कार है ॥२१-२३॥ सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारणभूत, अजर, अमर, नित्य परब्रह्म विष्णु को नमस्कार है ॥२४॥ विश्व के आधार,सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं सभी प्राणियों में स्थित पुरुषोत्तम भगवान् अच्युत को प्रणाम है ॥२५॥ तत्त्वतः ज्ञानस्वरूप और अत्यन्त निर्मल होते हुए भी भ्रम से पदार्थरूप से भासित, सबको ग्रसनेवाले, विश्व की उत्पत्ति-स्थिति करने में समर्थ, सर्वज्ञ, संसार के स्वामी, जन्म-मरण-ह्रास से रहित, सब के आदि और अत्यन्त सूक्ष्म,ब्रह्माण्डनायक विष्णु को तथा ब्रह्मा आदि देवों को प्रणाम है ॥२६-२७½॥ वेद और वेदाङ्ग में निष्णात इतिहास, पुराण तथा सभी शास्त्रों के तत्त्वज्ञ पराशर मुनि के पुत्र परमगुरु व्यासजी को प्रणाम है। मैं जो कुछ

१क. ०थागतम्। व०। २क. ०गत्सर्वं य०। ३क. भविष्यति। ४क. वा। ५क. ख. गुह्याय। ६क. ०क्ष्माय ते न०। ७क. व्यक्तहेतवे। ८ख. ग. ०शानां ज०। ९ख. ग. यो जगन्मयः। मू०। १०क. ०तोऽवसत्तस्मै। ११ग. ०भूतेशम०। १२क. तमेव स्वस्व०। १३ग. ०वाऽऽत्मस्व०। १४क. स्थितिसर्गं। ग. स्थितिसर्गे। १५ख. ०द्यं सू०। १६ख. ०क्ष्मं च वि०। १७ख. वै।

पितामहः ॥३०॥
कथयामि यथापूर्व्वं दक्षाद्यैर्मुनिसत्तमैः। पृष्टः प्रोवाच भगवानब्जयोनिः[1] पितामहः ॥३०॥
शृणुध्वं सम्प्रवक्ष्यामि कथां [2]पापप्रणाशिनीम्। कथ्यमानां मया चित्रां बह्वर्थां [3]श्रुतिविस्तराम् ॥३१॥
यस्त्विमां धारयेन्नित्यं शृणुयाद्वाप्यभीक्ष्णशः। स्ववंशधारणं कृत्वा स्वर्गलोके महीयते ॥३२॥
अव्यक्तं कारणं यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम्। प्रधानं पुरुषस्तस्मान्निर्म्ममे विश्वमीश्वरः[4] ॥३३॥
तं बुध्यध्वं मुनिश्रेष्ठा ब्रह्माणममितौजसम्। स्रष्टारं सर्व्वभूतानां नारायणपरायणम् ॥३४॥
अहङ्कारस्तु महतस्तस्माद्भूतानि जज्ञिरे। भूतभेदाश्च भूतेभ्य इति सर्गः सनातनः ॥३५॥
विस्तरावयवं चैव यथाप्रज्ञं यथाश्रुति। कीर्त्त्यमानं शृणुध्वं वः[5] सर्व्वेषां कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥३६॥
कीर्त्तितं स्थिरकीर्त्तीनां सर्व्वेषां [6]पुण्यवर्द्धनम्। ततः स्वयम्भूर्भगवान् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ॥३७॥
अप एव ससर्ज्जादौ तासु वीर्य्यमथासृजत्[7]। आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ॥३८॥
अयनं तस्य ताः पूर्व्वं तेन नारायणः स्मृतः। हिरण्यवर्णमभवत्तदण्डमुदकेशयम् ॥३९॥
तत्र जज्ञे स्वयं ब्रह्मा स्वयम्भूरिति[8] नः श्रुतम्। हिरण्यवर्णो भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ॥४०॥

कहूँगा वेदों के अनुकूल कहूँगा ॥२८-२९॥ पूर्वकाल में दक्ष आदि मुनियों द्वारा पूछे जाने पर उन्हें पितामह ब्रह्मा ने जिस प्रकार बताया था, वैसे ही मैं वर्णन करता हूँ, सुनिये। मैं पापनाशिनी कथा कहूँगा ॥३०$\frac{१}{२}$॥ वैदिक रहस्यवाद एवं श्लेष-गर्भित कथा को जो व्यक्ति बार-बार सुनेगा या धारण करेगा, वह अपने वंश का वंशधर बनकर स्वर्गलोक में पूजित होगा ॥३१-३२॥ जो अव्यक्त कारण है, वह सत्-असत्, नित्य, प्रकृति और पुरुष है। उसी से ईश्वर ने विश्व की रचना की है ॥३३॥ मुनिश्रेष्ठ ! उस ईश्वर को आप सब प्राणियों का स्रष्टा तथा नारायण का आश्रित अत्यन्त तेजस्वी ब्रह्मा समझिये ॥३४॥ महत्-तत्त्व से अहंकार उत्पन्न हुआ, अहंकार से पंचमहाभूत, और उनसे उनके भेद उत्पन्न हुए। यही सनातन सृष्टि है ॥३५॥ अब जैसा मैंने सुना है और जैसी मेरी गति-मति है, तदनुसार इसका विस्तृत वर्णन करता हूँ, आप लोग सुनें। यशः शरीर से अमर व्यक्तियों का स्मरण पुण्यप्रद होता है, यह सृष्टि-कथा आप लोगों की प्रतिष्ठा को बढ़ानेवाली है ॥३६$\frac{१}{२}$॥ स्वयंभू भगवान् ने अनेक प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा रखकर पहले जल की ही सृष्टि की। उसमें बीज डाला। 'नार' शब्द जल-राशि और नर-पुत्र इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है ॥३७-३८॥ उस परम पुरुष का आश्रय पहले जल-राशि ही थी। इसलिए उसको 'नारायण'[1] कहा गया। जल में सोये हुए परम पुरुष की नाभि से एक सुवर्णमय अंडा[2] उत्पन्न हुआ ॥३९॥ उससे स्वयंभू ब्रह्मा उत्पन्न हुए—ऐसा हमने सुना है।

१क. ०नजो नित्यः पि०। २क. ०प्रभोचिनी०। ३ग. तिसंमिताम्। ४ग. ०मीदृशम्। तं। ५क. वै। ६ख. ग. ०ण्यकर्मणाम्। ७ख. ०मवासृ०। ८क. ०ति विश्रु०।

---

[1] नारं ज्ञानं तस्य अयनं स्थानं नारायणः—इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान के धाम को नारायण कहा जाता है। नार का तात्पर्य ज्ञान से है अर्थात् भौतिक सृष्टि से पूर्व ब्रह्मा ने ज्ञान-सृष्टि की। [2] ब्रह्म में अन्तर्निहित ज्ञानकोश का बहिर्भूत होना सुवर्णमय अंडा है। इस प्रकार इस कथा के श्लेष का भी ध्यान रखना चाहिए।

तदण्डमकरोद्द्वैधं दिवं भुवमथापि च। तयोः शकलयोर्म्मध्य आकाशमकरोत्प्रभुः ।।४१।।
अप्सु पारिप्लवां पृथ्वीं दिशश्च दशधा दधे[1]। तत्र कालं मनो वाचं कामं क्रोधमथो रतिम् ।।४२।।
ससर्ज सृष्टिं तद्रूपां स्रष्टुमिच्छन् प्रजापतीन्[2]। मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ[3] पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।।४३।।
वसिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजत्सप्त मानसान्। सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ।।४४।।
नारायणात्मकानां तु[4] सप्तानां ब्रह्मजन्मनाम्। ततोऽसृजत् पुरा[5] ब्रह्मा रुद्रं रोषात्मसम्भवम् ।।४५।।
सनत्कुमारं च विभुं पूर्व्वेषामपि पूर्व्वजम्[6]। सप्तस्वेता[7] अजायन्त प्रजा [8]रुद्राश्च भो द्विजाः ।।४६।।
स्कन्दः सनत्कुमारश्च तेजः संक्षिप्य तिष्ठतः[9]। तेषां सप्त महावंशा दिव्या [10]देवगणान्विताः ।।४७।।
क्रियावन्तः प्रजावन्तो महर्षिभिरलङ्कृताः। विद्युतोऽशनिमेघाश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।।४८।।
वयांसि च ससर्जादौ पर्जन्यञ्च ससर्ज ह। ऋचो यजूंषि सामानि निर्म्ममे यज्ञसिद्धये ।।४९।।
साध्यानजनयद्[11] देवानित्येवमनुसञ्जगुः[12]। उच्चावचानि भूतानि गात्रेभ्यस्तस्य जज्ञिरे ।।५०।।
आपवस्य[13] प्रजासर्गं सृजतो हि प्रजापतेः। सृज्यमानाः प्रजा नैव विवर्द्धन्ते यदा तदा ।।५१।।
द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्द्धेन नारी तस्यां तु सोऽसृजद्विविधाः प्रजाः ।।५२।।
दिवञ्च पृथिवीं चैव महिम्ना व्याप्य [14]तिष्ठति। विराजमसृजद्विष्णुः सोऽसृजत् पुरुषं विराट् ।।५३।।

हिरण्यगर्भ भगवान् ने वर्षों तक वास करके उस अंडे को स्वर्ग और पृथ्वी इन दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया ।।४०½।। परमात्मा ने उन दोनों टुकड़ों के मध्य भाग में आकाश बनाया और जल में डूबी हुई पृथिवी तथा दसों दिशाओं को धारण किया ।।४१½।। तदनन्तर काल, मन, वाणी, काम, क्रोध और रति की रचना की और फिर प्रजापतियों की सृष्टि की इच्छा रखकर मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—इन सात ऋषियों की मानसी सृष्टि की।।४२-४३½।। पुराणों में ये सात ब्रह्मा निश्चित हैं। नारायण के अंश से उत्पन्न हुए इन सात प्रजापतियों से पहले ब्रह्मा ने क्रोध से रुद्र को उत्पन्न किया ।।४४-४५।। फिर पूर्वजों के भी पूर्वज तथा सर्वत्र व्यापक सनत्कुमार को भी उत्पन्न किया। इन सप्तर्षियों से, ब्राह्मणों ! प्रजाओं और रुद्रों की उत्पत्ति हुई।।४६।। स्कन्द और सनत्कुमार अपने-अपने तेज को समेटकर स्थित हैं। उनके दिव्य और देवगणों से युक्त सात महावंश क्रियावान्, प्रजावान् और महर्षियों से अलंकृत हैं ।।४७½।। आदि में बिजली, वज्र, लाल इन्द्रधनुष, जल और मेघ को रचकर यज्ञसिद्धि के लिए ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का निर्माण ब्रह्मा ने किया।।४८-४९।। पश्चात् उन्होंने साध्यों और देवताओं को भी उत्पन्न किया। फिर छोटे-बड़े सब प्राणी ब्रह्माजी के अंग से उत्पन्न हुए।।५०।। 'आपव' नामक प्रजापति जब सृष्टि करते हैं, तब सर्जन की जानेवाली प्रजा जब-तब नहीं बढ़ती है ।।५१।। ब्रह्मा ने अपनी देह के दो भाग किये। आधे भाग से पुरुष बना और आधे भाग से स्त्री बनी। उस स्त्री से उन्होंने अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि की।।५२।। अपनी महिमा से स्वर्ग और पृथिवी को व्याप्त करके वे स्थित हैं। विष्णु ने विराट् की सृष्टि की। विराट् ने पुरुष को उत्पन्न किया।।५३।। उस पुरुष को मनु समझिये। उसी का

१क. दधौ। २क. ०पतिः। म०। ३ख. ग. ०रसं पु०। ४क. च.। ५ग. ०त्पुनर्ब्रह्मा। ६क. ०म्। ततश्चैता। ७ग. ०प्त त्वेता अ०। ८ग. रुद्रश्च। ९क. तिष्ठति। १०. ०णार्चिताः। ११ख. ०ध्यानन्यांस्तथा देवा०। १२ ख. ०नुशुश्रुमः। उ०। ग. ०नुशुश्रुमः। उ०। १३ख. आयतं च प्र०। १४क. ख. तिष्ठतः।

पुरुषं तं मनुं विद्यात्तस्य मन्वन्तरं स्मृतम्। द्वितीयं मानसस्यैतन्मनोरन्तरमुच्यते ।।५४।।
स वैराजः प्रजासर्गं ससर्ज पुरुषः प्रभुः। नारायणविसर्गस्य प्रजास्तस्याप्ययोनिजाः ।।५५।।
आयुष्मान् कीर्त्तिमान्[1] पुण्यप्रजावांश्च भवेन्नरः। आदिसर्गं [2]विदित्वेमं यथेष्टां चाप्नुयाद् गतिम् ।।५६।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे आदिसर्गवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

द्वितीयोऽध्यायः

तत्रादौ स्वायम्भुवमनुवंशवर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

स [3]सृष्ट्वा तु प्रजास्त्वेवमापवो वै प्रजापतिः। लेभे वै पुरुषः पत्नीं शतरूपामयोनिजाम् ।।१।।
आपवस्य महिम्ना तु दिवमावृत्य तिष्ठतः। धर्मेणैव मुनिश्रेष्ठाः शतरूपा व्यजायत ।।२।।
सा तु वर्षायुतं तप्त्वा तपः परमदुश्चरम्। भर्त्तारं दीप्ततपसं पुरुषं प्रत्यपद्यत ।।३।।
स वै स्वायम्भुवो विप्राः पुरुषो मनुरुच्यते। तस्यैकसप्ततियुगं मन्वन्तरमिहोच्यते ।।४।।

मन्वन्तर (कल्प) होता हैं, और मानस मनु का वह दूसरा अन्तर कहा जाता है ।।५४।। विराट् से उत्पन्न शक्तिशाली पुरुष ने प्रजा की सृष्टि की। नारायण के अंश से उत्पन्न हुए उस पुरुष की भी प्रजाएँ अयोनिज हुईं ।।५५।। जो व्यक्ति इस प्रकार आदि सृष्टि की रचना को समझेगा, वह आयुष्मान्, कीर्तिमान् तथा पवित्र प्रजावान् होगा और यथाभिलषित गति को प्राप्त करेगा ।।५६।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में आदिसर्गवर्णन नामक पहला अध्याय समाप्त ।।१।।

अध्याय २

स्वायंभुव मनु का वंश-वर्णन

लोमहर्षण बोले—इस प्रकार 'आपव' नामक प्रजापति ने प्रजा की रचना कर अयोनिज कन्या शतरूपा को अपनी पत्नी बनाया ।।१।। मुनिवर्यवृन्द ! अपनी महिमा से स्वर्ग को ढककर स्थित हुए आपव के धर्म से ही शतरूपा उत्पन्न हुई थी ।।२।। उसने दस हजार वर्षों तक अत्यन्त उग्र तपस्या करके अतितेजस्वी पुरुष को पति के रूप में प्राप्त किया था ।।३।। ब्राह्मणो ! वही पुरुष स्वायंभुव मनु कहलाता है। इकहत्तर युग का उसका एक मन्वन्तर कहा जाता है ।।४।। उस पुरुष से शतरूपा ने वीर नामक पुत्र को उत्पन्न किया। वीर की स्त्री काम्या से प्रियव्रत

---

[1] क. ख. ०मान्धन्यः प्र०। [2] ग. ०दित्वैनं य०। [3] ख सृष्टासु प्र०।

वैराजात् पुरुषाद्वीरं शतरूपा व्यजायत। प्रियव्रतोत्तानपादौ वीरात् काम्या व्यजायत ॥५॥
काम्या नाम[1] सुता श्रेष्ठा कर्दमस्य प्रजापतेः। काम्यापुत्रास्तु चत्वारः सम्राट् कुक्षिर्विराट्प्रभुः ॥६॥
उत्तानपादं जग्राह पुत्रमत्रिः प्रजापतिः। उत्तानपादाच्चतुरः सूनृता सुषुवे सुतान् ॥७॥
धर्म्मस्य कन्या सुश्रोणी सूनृता नाम विश्रुता। उत्पन्ना वाजिमेधेन ध्रुवस्य जननी शुभा ॥८॥
ध्रुवञ्च कीर्त्तिमन्तञ्च आयुष्मन्तं वसुं तथा। उत्तानपादोऽजनयत् सूनृतायां प्रजापतिः ॥९॥
ध्रुवो वर्षसहस्राणि[2] त्रीणि[3] दिव्यानि भो द्विजाः। तपस्तेपे महाभागः प्रार्थयन् सुमहद्यशः ॥१०॥
तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतः स्थानमात्मसमं प्रभुः। अचलञ्चैव पुरतः सप्तर्षीणां प्रजापतिः ॥११॥
तस्याभिमानमृद्धिञ्च[4] महिमानं निरीक्ष्य च[5]। देवासुराणामाचार्य्यः श्लोकं प्रागुशना जगौ ॥१२॥
अहोऽस्य तपसो वीर्य्यमहो श्रुतमहोऽद्भुतम्। यमद्य पुरतः कृत्वा ध्रुवं सप्तर्षयः स्थिताः ॥१३॥
तस्माच्छ्लिष्टिं[6]च भव्यं च ध्रुवाच्छम्भुर्व्यजायत[7]। श्लिष्टेराधत्त सुच्छाया[8] पञ्च पुत्रानकल्मषान् ॥१४॥
रिपुं[9] रिपुञ्जयं [10]वीरं वृकलं वृकतेजसम्। रिपोराधत्त बृहती [11]चक्षुषं सर्व्वतेजसम् ॥१५॥
अजीजनत् पुष्करिण्यां वैरिण्यां चाक्षुषं मनुम्। प्रजापतेरात्मजायां[12] वीरणस्य महात्मनः ॥१६॥
मनोरजायन्त दश नड्वलायां[13] महौजसः। कन्यायां मुनिशार्दूला वैराजस्य प्रजापतेः ॥१७॥

और उत्तानपाद उत्पन्न हुए ॥५॥ काम्या कर्दम नामक प्रजापति की ज्येष्ठ कन्या थी। काम्या के चार पुत्र हुए—सम्राट्, कुक्षि, विराट् और प्रभु ॥६॥ पुत्र उत्तानपाद को अत्रि प्रजापति ने ग्रहण किया। उत्तानपाद से सूनृता ने चार पुत्रों को प्रसव किया ॥७॥ अश्वमेध यज्ञ से उत्पन्न और सूनृता नाम से विख्यात सुन्दर कटि वाली धर्म की कन्या ध्रुव की कल्याणी माता हुई ॥८॥ प्रजापति उत्तानपाद ने ध्रुव, कीर्तिमान्, आयुष्मान् और वसु नामक पुत्रों को सूनृता से उत्पन्न किया ॥९॥ विप्रवृन्द ! ध्रुव ने महान् यश की इच्छा से तीन हजार देववर्ष पर्यन्त तपस्या की ॥१०॥ ब्रह्मा ने संतुष्ट होकर सप्तर्षियों के आगे उसे अपने समान अचल स्थान दिया ॥११॥ ध्रुव के अभिमान, ऐश्वर्य और माहात्म्य को देखकर देवता और दैत्यों के आचार्य शुक्र उसकी प्रशंसा करने लगे—॥१२॥ अहो ! ध्रुव की तपस्या-शक्ति आश्चर्य है ! इसका श्रुत (शास्त्र-ज्ञान या कीर्ति) आश्चर्य है ! आज इसी ध्रुव को आगे करके सप्तर्षि अवस्थित हैं ॥१३॥ ध्रुव से श्लिष्टि और भव्य को शंभु ने उत्पन्न किया। श्लिष्टि से सुच्छाया ने पाँच निष्पाप पुत्रों को जन्म दिया—॥१४॥ रिपु, रिपुंजय, वीर, वृकल और वृकलतेजा। रिपु से बृहती ने बड़े तेजस्वी चक्षुष् को उत्पन्न किया ॥१५॥ चक्षुष् से वैरिणी पुष्करिणी ने चाक्षुष मनु को जन्म दिया। पुष्करिणी महात्मा प्रजापति वीरण की कन्या थी ॥१६॥ नड्वला से चाक्षुष मनु के बड़े तेजस्वी दस पुत्र हुए। मुनिश्रेष्ठ ! नड्वला वैराज प्रजापति की पुत्री थी ॥१७॥ उसके

१क. ख. ०म मुनिश्रेष्ठाः क०। २ग. ०स्रान्ते त्रा०। ३. ०णि वर्षाणि भो०। ४ख. ०नवृद्धि। ५ख. वै। ६क. ग. ०स्मात्सृष्टि। ७क. ०त। सृष्टे०। ८क. ०या मन्त्रपूतान०। ९ख. ०पुंजयं पुरंजयं पुत्रं च वृ०। १०ग. विप्रं। ११क. ग. चाक्षुषं। १२क. ग. ०जायामरण्यस्य। १३ख. नद्वला०।

कुत्सः[१] [२]पुरुः शतद्युम्नस्तपस्वी सत्यवाक्कविः। अग्निष्टुदतिरात्रश्च[३] [४]सुद्युम्नश्चेति ते नव ॥१८॥
अभिमन्युश्च[५] दशमो नड्वलायां[६] महौजसः[७]। पुरोरजनयत् पुत्रान् षडाग्नेयी महाप्रभान् ॥१९॥
अङ्गं सुमनसं [८]स्वांति क्रतुमङ्गिरसं [९]मयम् । अङ्गात् सुनीथापत्यं वै वेनमेकं व्यजायत ॥२०॥
अपचारेण वेनस्य प्रकोपः सुमहानभूत्। प्रजार्थमृषयो यस्य ममन्थुर्दक्षिणं करम् ॥२१॥
वेनस्य मथिते पाणौ संबभूव [१०]महान्नृपः। तं दृष्ट्वा मुनयः प्राहुरेष वै मुदिताः प्रजाः ॥२२॥
करिष्यति महातेजा यशश्च प्राप्स्यते महत् । स धन्वी कवची जातो[११] ज्वलज्ज्वलनसन्निभः ॥२३॥
पृथुर्वैन्यस्तथा [१२]चेमां ररक्ष [१३]क्षत्रपूर्व्वजः। राजसूयाभिषिक्तानामाद्यः स वसुधाधिपः ॥२४॥
तस्माच्चैव समुत्पन्नौ निपुणौ सूतमागधौ। [१४]तेनेयं गौर्म्मुनिश्रेष्ठा दुग्धा शस्यानि भूभृता ॥२५॥
प्रजानां वृत्तिकामेन [१५]देवैः सर्षिगणैः सह। पितृभिर्दानवैश्चैव [१६]गन्धर्वैरप्सरोगणैः[१७] ॥२६॥
सर्पैः पुण्यजनैश्चैव वीरुद्भिः पर्व्वतैस्तस्था । तेषु तेषु च पात्रेषु दुह्यमाना वसुन्धरा ॥२७॥
प्रादाद्यथेप्सितं क्षीरं तेन प्राणानधारयन्। पृथोस्तु पुत्रौ धर्म्मज्ञौ जज्ञातेऽन्तर्धिपातिनौ ॥२८॥
शिखण्डिनी हविर्धानमन्तर्धानाद्व्यजायत। हविर्धानात् षडाग्नेयी[१८] धिषणाजनयत् सुतान् ॥२९॥
प्राचीनबर्हिषं शुक्रं गयं कृष्णं गजाजिनौ। प्राचीनबर्हिर्भगवान्महानासीत्प्रजापतिः ॥३०॥

पुत्रों के नाम कुत्स, पुरु, शतद्युम्न, तपस्वी, सत्यवाक्, कवि, अग्निष्टुत्, अतिरात्र, सुद्युम्न और अभिमन्यु थे ॥१८½॥ पुरु से आग्नेयी ने छह महातेजस्वी पुत्रों को उत्पन्न किया। वे अंग, सुमनस्, स्वाति, क्रतु, अंगिरस् और मय नाम से ख्यात हुए ॥१९½॥ अंग से सुनीथ ने वेन नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥२०॥ वेन के अनाचार से मुनिगण अत्यन्त कुपित हुए और उन्होंने सन्तान के लिए उसके दाहिने हाथ का मंथन किया ॥२१॥ उससे एक महान् राजा उत्पन्न हुआ। उसे देखकर मुनियों ने कहा—"यह प्रजा को आनन्दित करेगा; महान् तेजस्वी होगा और बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा' ॥२२½॥ उसने धनुष और कवच धारण किये थे। वह अग्नि के समान कान्तिमान् था ॥२३॥ उसका नाम पृथु पड़ा। उस राजा ने पृथ्वी की रक्षा की। वह राजसूय यज्ञ करनेवाले राजाओं में पहला राजा हुआ ॥२४॥ उसी से प्रवीण सूत और मागध उत्पन्न हुए। मुनिश्रेष्ठ! राजा पृथु ने प्रजाओं को जीविका देने की इच्छा से इस पृथिवी से अन्नों का दोहन किया ॥२५॥ उसके साथ देवता, ऋषिगण, पितर, राक्षस, गन्धर्व, अप्सराएँ, सर्पगण, पुण्यजन, लता और पर्वत भी (दुहने में लगे हुए) थे ॥२६॥ उन-उन पात्रों में दुही गयी पृथिवी ने यथेच्छ दूध दिया। उससे प्रजाओं ने प्राण धारण किये। यज्ञ के अन्त में पृथु के अन्तर्धि और पातिन् नामक दो धर्मज्ञाता पुत्र हुए ॥२७-२८½॥ शिखण्डिनी ने अन्तर्धान से हविर्धान को उत्पन्न किया। अग्नि की पुत्री धिषणा ने हविर्धान से छह पुत्र पैदा किये ॥२९॥ प्राचीनबर्हिस्, शुक्र, गय, कृष्ण, गज और अजिन। उनमें भगवान् प्राचीनबर्हिस्

१क. रुरुः। ग. ऊरुः। २ग. पूरुः। ३ख. ०ष्टुबति०। ४ख. ०म्नश्चापि ते। ५क. अतिम०। ६ख. नद्धला०। ७ग. ०सः। ऊरो०। ८ख. ख्याति। ९क. ग. गयम्। १०ग. हानृषिः। तं। ११क. राजा। १२क. वेमां। १३ख. दक्षपूर्वजः। १४ख. तेन पृथ्वी मुनि०। १५क. देवैर्ऋषिग०। १६ख. ०न्धर्वाप्स०। १७ख. ०प्सरसां ग०। १८क. ०यी पुण्यानज०।

हविर्धानान्मुनिश्रेष्ठा येन संवर्द्धिताः प्रजाः। प्राचीनबर्हिर्भगवान् पृथिवीतलचारिणीः[1] ॥३१॥
समुद्रतनयायां तु[2] कृतदारोऽभवत् प्रभुः। महतस्तपसः पारे सवर्णायां प्रजापतिः ॥३२॥
सवर्णाधत्त सामुद्री दश प्राचीनबर्हिषः। सर्व्वान् प्राचेतसो नाम धनुर्व्वेदस्य पारगान् ॥३३॥
अपृथग्धर्म्माचरणास्तेऽतप्यन्त महत्तपः। दश वर्षसहस्राणि समुद्रसलिलेशयाः ॥३४॥
तपश्चरत्सु पृथिवीं प्रचेतासु महीरुहाः। अरक्ष्यमाणामाववुर्बभूवाथ प्रजाक्षयः ॥३५॥
नाशकन्मारुतो वातुं [3]वृतं समभवद्द्रुमैः। दश वर्षसहस्राणि न [4]शेकुश्चेष्टितुं प्रजाः ॥३६॥
तदुपश्रुत्य तपसा युक्ता सर्व्वे प्रचेतसः। मुखेभ्यो वायुमग्निं च ससृजुर्जातमन्यवः ॥३७॥
[5]उन्मूलानथ[6] वृक्षांस्तु कृत्वा वायुरशोषयत्[7]। तानग्निरदहद्घोर[8] एवमासीद्द्रुमक्षयः ॥३८॥
द्रुमक्षयमथो बुद्ध्वा[9] किञ्चिच्छिष्टेषु[10] शाखिषु। उपगम्याब्रवीदेतांस्तदा[11] सोमः प्रजापतीन् ॥३९॥
कोपं यच्छत राजानः सर्व्वे प्राचीनबर्हिषः। वृक्षशून्या कृता पृथ्वी शाम्येतामग्निमारुतौ ॥४०॥
रत्नभूता च कन्येयं वृक्षाणां वरवर्णिनी। भविष्यं जानता[12] तात धृता गर्भेण वै मया ॥४१॥
मारिषा नाम नाम्नैषा वृक्षाणामिति निर्म्मिता। भार्य्या वोऽस्तु महाभागाः[13] सोमवंशविवर्द्धिनी ॥४२॥
युष्माकं तेजसोऽर्द्धेन मम चार्द्धेन तेजसः। अस्यामुत्पत्स्यते विद्वान् दक्षो नाम प्रजापतिः ॥४३॥
स इमां दग्धभूयिष्ठां युष्मत्तेजोमयेन वै। अग्निनाग्निसमो भूयः प्रजाः संवर्द्धयिष्यति ॥४४॥

महान् प्रजापति हुए ॥३०॥ मुनिश्रेष्ठ ! हविर्धान से प्रजाओं की वृद्धि हुई। भगवान् प्राचीनबर्हिस् पृथिवी के नीचे गये ॥३१॥ बहुत तपस्या करने के बाद सवर्णा नाम की समुद्र-कन्या से प्रभु प्रजापति ने विवाह किया ॥३२॥ समुद्र-पुत्री सवर्णा ने प्राचीनबर्हिस् से दस पुत्र उत्पन्न किये। धनुर्वेद में पारंगत वे सब पुत्र प्रचेता नाम से विख्यात हुए ॥३३॥ एक ही धर्म के अनुष्ठान करनेवाले प्रचेताओं ने दस हजार वर्षों तक समुद्र के जल में शयन करते हुए कठिन तपस्या की ॥३४॥ प्रचेतागण की तपस्या के समय वृक्षों नें असुरक्षित पृथ्वी को आच्छादित कर दिया। तब प्रजा का नाश होने लगा ॥३५॥ वृक्षों से ढके हुए आकाश में वायु नहीं बह सका। दस सहस्र वर्षों तक प्रजा निश्चेष्ट पड़ी रह गयी ॥३६॥ यह सुनकर तपस्वी प्रचेताओं को क्रोध हुआ। उन्होंने मुख से वायु और अग्नि की सृष्टि की ॥३७॥ वायु ने वृक्षों को उखाड़कर सुखा दिया। उनको अग्नि ने जला दिया। इस प्रकार वृक्षों का महान् वन नष्ट हो गया ॥३८॥ जब कुछ ही वृक्ष बच गये, तब वृक्षों का विनाश जानकर सोम उन प्रचेतागण प्रजापतियों के पास जाकर बोले—॥३९॥ 'हे प्राचीनबर्हिस् राजाओ ! आप क्रोध का त्याग करें। पृथिवी वृक्षों से शून्य हो गयी है। अग्नि और वायु को आप शान्त करें ॥४०॥ हे तात ! वृक्षों की इस सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या को भविष्य जानते हुए मैंने गर्भ में धारण किया था ॥४१॥ मारिषा नाम की यह कन्या वृक्षों द्वारा रची गयी है। महानुभावगण ! सोमवंश को बढ़ानेवाली यह मारिषा आपकी पत्नी हो ॥४२॥ आपके और मेरे आधे-आधे तेज से दक्ष नाम का विद्वान् प्रजापति इससे उत्पन्न होगा ॥४३॥ अग्नि

१क. ग. ०रिणः। स०। २क. च। ३ख. ०तं सम०। ४क. ०कश्चषितुं। ५क. ०लान्स ततो वृक्षान्कृत्वा। ६ख. ०थ तान्वृक्षान्कृत्वा। ७क. ०त्। दिव्याग्नि०। ८ग. ०रमेव०। ९क. दृष्ट्वा। १०क. ०षु भो द्विजाः। उ०। ११ग. ०देतान्राजा सो०। १२क. ख. ०ता सातु धृ०। १३ग. ०भागा सो०।

ततः सोमस्य वचनाज्जगृहुस्ते प्रचेतसः[1]। संहृत्य कोपं वृक्षेभ्यः[2] पत्नीं धर्म्मेण मारिषाम् ॥४५॥
दशभ्यस्तु प्रचेतोभ्यो मारिषायां प्रजापतिः। दक्षो जज्ञे महातेजाः [3]सोमस्यांशेन भो द्विजाः ॥४६॥
अचरांश्च चरांश्चैव द्विपदोऽथ चतुष्पदः। स सृष्ट्वा[4] मनसा[5] दक्षः [6]पश्चादसृजत स्त्रियः ॥४७॥
ददौ[7] दश स धर्म्माय कश्यपाय त्रयोदश। शिष्टाः सोमाय राज्ञे च[8] नक्षत्राख्या ददौ प्रभुः ॥४८॥
तासु देवाः खगा गावो नागा दितिजदानवाः। गन्धर्व्वाप्सरसश्चैव जज्ञिरेऽन्याश्च जातयः ॥४९॥
ततः प्रभृति विप्रेन्द्राः प्रजा मैथुनसंभवाः। सङ्कल्पाद्दर्शनात्स्पर्शात्पूर्व्वेषां प्रोच्यते प्रजा ॥५०॥

[9]मुनय ऊचुः

देवानां दानवानाञ्च गन्धर्व्वोरगरक्षसाम्। सम्भवस्तु श्रुताऽस्माभिर्दक्षस्य च महात्मनः ॥५१॥
[10]अङ्गुष्ठाद्ब्रह्मणो[11] जज्ञे दक्षः किल शुभव्रतः। वामाङ्गुष्ठात्तथा चैवं तस्य पत्नी व्यजायत ॥५२॥
कथं प्राचेतसत्वं स[12] पुनर्लेभे महातपाः। [13]एतन्नः संशयं सूत व्याख्यातुं[14] त्वमिहार्हसि ॥
दौहित्रश्चैव सोमस्य कथं श्वशुरतां गतः ॥५३॥

लोमहर्षण उवाच

उत्पत्तिश्च निरोधश्च[15] नित्यं भूतेषु भो द्विजाः। ऋषयोऽत्र न मुह्यन्ति विद्यावन्तश्च ये जनाः ॥५४॥

के समान तेजस्वी दक्ष आपके तेजरूप अग्नि से दग्ध हुई इस पृथिवी पर फिर प्रजा को बढ़ायेगा' ॥४४॥ तब सोम के वचन से प्रचेतागण ने क्रोध त्यागकर वृक्षों से मारिषा को धर्मपूर्वक पत्नी-रूप में ग्रहण किया ॥४५॥ विप्रवृन्द ! दसों प्रचेताओं से मारिषा ने महान् तेजस्वी प्रजापति दक्ष को सोम के अंश से उत्पन्न किया ॥४६॥ उस दक्ष ने स्थावरों और दो पैरवाले तथा चार पैरवाले जंगमों की मानसी सृष्टि कर पीछे स्त्रियों की रचना की ॥४७॥ उस प्रभु ने दस कन्याएँ धर्म को और तेरह कश्यप को दीं। अवशिष्ट नक्षत्ररूपी कन्याएँ सोम राजा को दीं ॥४८॥ उन कन्याओं से देव, पक्षी, गौ, नाग, दैत्य, दानव, गन्धर्व, अप्सरा और दूसरी जातियाँ उत्पन्न हुई ॥४९॥ विप्रवर्यवृन्द ! तभी से मैथुनी सृष्टि का प्रारंभ हुआ। पहले संकल्प, दर्शन और स्पर्श से प्रजा उत्पन्न हुआ करती थी ॥५०॥

मुनिगण बोले—देवता, दानव, गन्धर्व, नाग, राक्षस योनियों और महात्मा दक्ष की भी उत्पत्ति हमने सुनी ॥५१॥ ब्रह्मा के अँगूठे से शुभोदय दक्ष का जन्म हुआ। उसी प्रकार बायें अँगूठे से उसकी पत्नी की उत्पत्ति हुई ॥५२॥ फिर उस महान् तपस्वी ने प्रचेताओं का पुत्रत्व कैसे प्राप्त किया ? सूतजी ! आप हमारी इस शंका का समाधान करें कि चन्द्रमा का दौहित्र (दक्ष) चन्द्रमा का ससुर कैसे बना ? ॥५३॥

लोमहर्षण बोले—विप्रवृन्द ! प्राणियों में उत्पत्ति और निरोध (मरण) नित्य होते रहते हैं। मुनि और विद्वान् लोग इसमें मोहित नहीं हुआ करते ॥५४॥ ये दक्ष आदि राजा लोग हर युग में उत्पन्न होते हैं और

---

[1] ख. तपोधनाः। [2] क. वृक्षेषु। [3] क. ०मत्स्याऽऽत्मसमो द्वि०। [4] क. ०ष्ट्वा मानसान्दक्षः। [5] क. ०सा भूयः प०। [6] ख. ०श्चात्सृजन्स्त्रियः। [7] क. ख. ०दौ स दश ध०। [8] क. ख. तु। [9] क. ऋषयः। [10] ग. ०ष्ठाद्दक्षिणाज्जातो द०। [11] क. ०णो जातो द०। [12] ग. च.। [13] क. एवं। ख. एनं तु सं०। [14] ख. ०तुं वै त्वमर्ह०। [15] क. विपत्तिश्च।

युगे युगे भवन्त्येते[1] पुनर्दक्षादयो नृपाः। पुनश्चैव निरुध्यन्ते[2] विद्वांस्तत्र न मुह्यति[3] ॥५५॥
ज्यैष्ठ्यं कानिष्ठ्यमप्येषां पूर्व्वं नासीद्द्विजोत्तमाः । तप एव गरीयोऽभूत्प्रभावश्चैव कारणम् ॥५६॥
इमां[4] विसृष्टिं दक्षस्य यो विद्यात् सचराचराम्[5]। प्रजावानायुरुत्तीर्णः स्वर्गलोके महीयते ॥५७॥

इति श्री ब्राह्मे महापुराणे सृष्टिकथनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

देवदानवोत्पत्ति-वर्णनम्

मुनय ऊचुः

देवानां दानवानां च गन्धर्व्वोरगरक्षसाम्। उत्पत्तिं विस्तरेणैव लोमहर्षण कीर्त्तय ॥१॥

[6]लोमहर्षण उवाच

प्रजाः सृजति व्यादिष्टः [7]पूर्व्वं दक्षः स्वयम्भुवा। यथा ससर्ज भूतानि[8] तथा शृणुत भो द्विजाः ॥२॥

फिर नष्ट हो जाते हैं। विद्वान् इसमें मोहित नहीं होता ॥५५॥ द्विजगण ! पहले इनमें ज्येष्ठता तथा कनिष्ठता का भेद नहीं था; प्रत्युत तप और तप का प्रभाव ही मुख्य कारण माना जाता था ॥५६॥ दक्ष की इस चराचर सृष्टि को जो जानता है, वह प्रजावान् और आयुष्मान् होकर स्वर्ग में पूजित होता है ॥५७॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में सृष्टि-कथन नामक दूसरा अध्याय समाप्त ॥२॥

अध्याय ३

देवों और दानवों की उत्पत्ति का वर्णन

मुनिगण बोले—आर्य लोमहर्षण ! देवता, दानव, गन्धर्व, नाग और राक्षसों की उत्पत्ति-कथा विस्तारपूर्वक सुनाने की कृपा करें ॥१॥

लोमहर्षण बोले—विप्रगण ! ब्रह्मा द्वारा प्रजा की सृष्टि-रचना का आदेश प्राप्त कर दक्ष ने जिस प्रकार प्राणियों की सृष्टि की, वह (रचना-विधान पहले) सुनिये ॥२॥ प्रारंभ में प्रभु ने मानसी सृष्टि की रचना की,

---

[1] क. ख. ०ते सर्वे दक्षा० । [2] क. विपद्यन्ते । [3] क. ०ति । जन्म चैव विपत्तिश्च पू० । [4] क. ०मां तु सृ० । [5] क. ग. ०चरम् । [6] क. सूत । [7] क. ग. पूर्वद० ।

मानसान्येव भूतानि[1] पूर्व्वमेवासृजत् प्रभुः। ऋषीन्देवान् [2]सगन्धर्व्वानसुरान्यक्षराक्षसान् ॥३॥
यदास्य मानसी [3]विप्रा न व्यवर्द्धत वै प्रजा। तदा सञ्चिन्त्य धर्म्मात्मा प्रजाहेतोः प्रजापतिः ॥४॥
स मैथुनेन धर्म्मेण सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। असिक्नीमावहत् पत्नीं वीरणस्य प्रजापतेः ॥५॥
सुतां सुतपसा [4]युक्तां महतीं लोकधारिणीम्। अथ पुत्रसहस्राणि वैरण्यां[5] पञ्च वीर्य्यवान् ॥६॥
असिक्न्यां जनयामास दक्ष एव प्रजापतिः। तांस्तु दृष्ट्वा महाभागान् संविवर्द्धयिषून् प्रजाः ॥७॥
देवर्षिः प्रियसंवादो नारदः प्राब्रवीदिदम्। नाशाय वचनं तेषां शापायैवात्मनस्तथा ॥८॥
यं कश्यपः सुतवरं परमेष्ठी व्यजीजनत्। दक्षस्य वै दुहितरि दक्षशापभयान्मुनिः ॥९॥
पूर्व्वं स हि समुत्पन्नो नारदः परमेष्ठिनः। असिक्न्यामथ वैरण्यां[6] भूयो देवर्षिसत्तमः ॥१०॥
तं भूयो जनयामास [7]पितेव [8]मुनिपुङ्गवम्। तेन दक्षस्य वै पुत्रा हर्यश्वा इति विश्रुताः ॥११॥
निर्म्मथ्य नाशिताः सर्व्वे विधिना च न संशयः। तस्योद्यतस्तदा दक्षो नाशायामितविक्रमः ॥१२॥
ब्रह्मर्षीन् पुरतः कृत्वा याचितः परमेष्ठिना। ततो[9]ऽभिसन्धिश्चक्रे वै दक्षस्य परमेष्ठिना ॥१३॥
कन्यायां नारदो[10] मह्यं तव पुत्रो भवेदिति। ततो दक्षः सुतां प्रादात् प्रियां वै परमेष्ठिने ॥
स तस्यां नारदो जज्ञे भूयः शापभयादृषिः ॥१४॥

फिर मुनि, देवता, गन्धर्व, दैत्य, यक्ष और राक्षस योनियों की रचना की ॥३॥ किन्तु जब मानसी सृष्टि से प्रजा नहीं बढ़ी, तब धर्मात्मा प्रजापति ने प्रजा की वृद्धि के कारण पर अच्छी तरह विचार किया और मैथुन धर्म से अनेक प्रकार की प्रजाओं के रचने की इच्छा की ॥४½॥ फिर वीरण प्रजापतिं की अत्यन्त तपस्विनी और लोकधारिणी कन्या असिक्नी को पत्नी बनाया ॥५½॥ शक्तिशाली दक्ष प्रजापति ने वीरण-पुत्री असिक्नी से पाँच हजार पुत्र उत्पन्न किये ॥६½॥ प्रजाओं को बढ़ाने की इच्छा करनेवाले उन महाभागों को देखकर प्रियभाषी देवर्षि नारद ने उनके नाश के लिए और अपने शाप के लिए यह बात कही ॥७-८॥ पितामह कश्यप ने जिस पुत्र-श्रेष्ठ को उत्पन्न किया, वह मुनि नारद दक्ष-शाप के भय से कश्यप से दक्ष की कन्या में पहले उत्पन्न हो गया था ॥९½॥ फिर देवर्षियों में श्रेष्ठ कश्यप ने उस मुनिश्रेष्ठ नारद को वीरण प्रजापति की कन्या असिक्नी में पिता की तरह उत्पन्न किया ॥१०½॥ नारद ने हर्यश्व नाम से विख्यात दक्ष के पुत्रों को मथकर निःसन्देह विनष्ट किया था। तब अत्यन्त पराक्रमी दक्ष नारद का नाश करने के लिए तैयार हो गया ॥११-१२॥ कश्यप ने ब्रह्मर्षियों को आगे करके दक्ष से याचना की। इसके बाद कश्यप ने दक्ष से प्रतिज्ञा की—॥१३॥ 'आपकी कन्या से मेरा पुत्र नारद उत्पन्न होगा।' तब दक्ष ने अपनी प्रिय कन्या कश्यप को दे दी। वह मुनि नारद शाप के भय से फिर उससे उत्पन्न हुआ ॥१४॥

---

[1] ख. ०नि प्रज्ञापतिरवासृजत्। ऋ०। [2] क. ०र्वान्नरान्यक्षांश्च रा०। [3] ख. तात। [4] ख. जुष्टां। [5] क. वीरण्यां ख. वीरिण्यां। [6] क. ख. वीरिण्यां। [7] क. पीवर्यां। [8] क. मुनिपुंगवः। [9] ग. संधि चक्रे। [10] क. ०दोऽपत्यं त०।

[१]मुनय ऊचुः

कथं प्रणाशिताः पुत्रा नारदेन महर्षिणा। प्रजापतेः[२] सूतवर्य्य श्रोतुमिच्छाम तत्त्वतः।।१५।।

लोमहर्षण उवाच

दक्षस्य पुत्रा[३] हर्य्यश्वा विवर्द्धयिषवः प्रजाः। समागता महावीर्य्या नारदस्तानुवाच ह ।।१६।।

नारद उवाच

बालिशा बत [४]यूयं वै नास्या जानीत वै भुवः। प्रमाणं स्रष्टुकामा वै प्रजाः प्राचेतसात्मजाः ।।१७।।
अन्तरूर्द्‌ध्र्वमधश्चैव कथं सृजथ[५] वै प्रजाः। ते तु तद्वचनं श्रुत्वा प्रयाताः सर्व्वतो दिशः[६] ।।१८।।
अद्यापि न निवर्त्तन्ते समुद्रेभ्य इवापगाः। हर्यश्वेष्वथ नष्टेषु दक्षः प्राचेतसः पुनः[७] ।।१९।।
वैरण्यामथ पुत्राणां सहस्रमसृजत्प्रभुः। विवर्द्धयिषवस्ते तु शवलाश्वास्तथा प्रजाः ।।२०।।
पूर्व्वोक्तं वचनं[८] ते तु नारदेन[९] प्रचोदिताः। अन्योन्यमूचुस्ते सर्व्वे सम्यगाह [१०]महानृषिः ।।२१।।
भ्रातॄणां पदवीं ज्ञातुं गन्तव्यं नात्र संशयः। ज्ञात्वा प्रमाणं पृथ्व्याश्च सुखं स्रक्ष्यामहे प्रजाः ।।२२।।
तेऽपि तेनैव मार्गेण प्रयाताः सर्व्वतो दिशम्। अद्यापि न निवर्त्तन्ते समुद्रेभ्य इवापगाः ।।२३।।

मुनिगण बोले—आर्य सूतजी ! महर्षि नारद ने प्रजापति के पुत्रों का कैसे नाश किया—यह बात हम लोग यथार्थ रूप से सुनना चाहते हैं ।।१५।।

लोमहर्षण बोले—प्रजाओं को बढ़ाने की इच्छा रखनेवाले दक्ष के पुत्र महाबली हर्यश्व नारद के पास आये। नारद ने उनसे कहा—।।१६।।

नारद बोले—दक्ष-पुत्रो ! तुम लोग मूर्ख हो। प्रजा की सृष्टि करना चाहते हो, किन्तु इस पृथिवी के प्रमाण—ऊपर, नीचे और मध्य—को नहीं जानते। कैसे प्रजाओं की सृष्टि-रचना कर सकोगे ? ।।१७$\frac{१}{२}$।। मुनि की ऐसी बात सुनकर वे सब विभिन्न दिशाओं की ओर चले गये और जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिल जाने के बाद फिर नहीं लौटतीं उसी प्रकार वे आज तक अपने-अपने स्थानों से नहीं लौटे ।।१८$\frac{१}{२}$।। हर्यश्वों के नष्ट हो जाने पर प्रचेता के पुत्र समर्थ दक्ष ने फिर वैरणी से हजार पुत्रों को उत्पन्न किया। उनकी शवलाश्व संज्ञा पड़ी। उन्होंने प्रजाओं को बढ़ाना चाहा ।।१९-२०।। उनसे भी नारद ने वही बात कही। वे परस्पर कहने लगे—'मुनि ने ठीक कहा ।।२१।। भाइयों का मार्ग जानने के लिए जाना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि पृथिवी का प्रमाण जानकर हम लोग सुख से प्रजाओं की सृष्टि करेंगे ।।२२।। वे भी उसी मार्ग से विभिन्न दिशाओं की ओर प्रस्थित हुए और समुद्र से नदियों की तरह आज तक नहीं लौटे हैं ।।२३।। तब से भाई की खोज में गया हुआ भाई शीघ्र नष्ट हो जाता

१क. ऋषय। २क. ख. ०पतेस्तु भगवञ्श्रोतु०। ३. ०त्रास्ते सर्वे वि०। ४क. भूयो। ५क. रक्षथ। ६ख. दिशम्। ७क. ०नः। वीरिण्या०। ८ग. ०चनात्ते तु। ९क. ख. ०देनैव वो०। १०क. ०हामुनिः। भ्रा०।

तदा प्रभृति वै भ्राता भ्रातुरन्वेषणे द्विजाः[१]। प्रयातो नश्यति क्षिप्रं तन्न कार्य्यं विपश्चिता ॥२४॥
तांश्चैव नष्टान् विज्ञाय पुत्रान् दक्षः प्रजापतिः। षष्टिं ततोऽसृजत् कन्या[२] वैरण्यामिति नः श्रुतम् ॥२५॥
तास्तदा प्रतिजग्राह [३]भार्य्यार्थं कश्यपः प्रभुः। सोमो धर्म्मश्च भो विप्रास्तथैवान्ये महर्षयः ॥२६॥
ददौ स दश धर्म्माय कश्यपाय त्रयोदश। सप्तविंशति सोमाय चतस्रोऽरिष्टनेमिने[४] ॥२७॥
द्वे चैव बहुपुत्राय चैवाङ्गिरसे तथा। द्वे कृशाश्वाय विदुषे तासां नामानि[५] मे शृणु ॥२८॥
अरुन्धती वसुर्यामी[६] लम्बा[७] भानुर्मरुत्वती। सङ्कल्पा च मुहूर्त्ता च साध्या विश्वा च भो द्विजाः ॥२९॥
धर्म्मपत्न्यो दश त्वेतास्तास्वपत्यानि[८] बोधत। विश्वेदेवास्तु विश्वायाः साध्या साध्यान् व्यजायत ॥३०॥
मरुत्वत्यां मरुत्वन्तो वसोस्तु वसवः[९] सुताः[१०]। भानोस्तु भानवः पुत्रा मुहूर्त्तास्तु मुहूर्त्तजाः ॥३१॥
लम्बायाश्चैव [११]घोषोऽथ नागवीथी च [१२]यामिजा। [१३]पृथिवीविषयं सर्व्वमरुन्धत्यां व्यजायत ॥३२॥
[१४]सङ्कल्पायास्तु [१५]विश्वात्मा जज्ञे सङ्कल्प एव हि। [१६]नागवीथ्याञ्च [१७]यामिन्यां वृषलश्च व्यजायत॥३३॥
परा याः सोमपत्नीश्च दक्षः प्राचेतसो ददौ। सर्व्वा नक्षत्रनाम्न्यस्ता ज्योतिषे परिकीर्त्तिताः॥३४॥
ये त्वन्ये ख्यातिमन्तो वै देवा ज्योतिष्पुरोगमाः। वसवोऽष्टौ समाख्यातास्तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥३५॥
आपो ध्रुवश्च [१८]सोमश्च [१९]धवश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवो नामभिः स्मृताः ॥३६॥
आपस्य पुत्रो वैतण्ड्यः [२०]श्रमः [२१]श्रान्तो मुनिस्तथा। ध्रुवस्य पुत्रो भगवान् कालो [२२]लोकप्रकालनः॥३७॥

है। विद्वान् को ऐसा नहीं करना चाहिए ॥२४॥ दक्ष प्रजापति ने उन पुत्रों को नष्ट जानकर वैरणी से साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं—ऐसा हमने सुना है ॥२५॥ उन कन्याओं को प्रभु कश्यप, सोम, धर्म तथा दूसरे महर्षियों नें पत्नी बनाने के निमित्त ग्रहण किया ॥२६॥ दक्ष ने दस कन्याएँ धर्म को, तेरह कश्यप को, सत्ताईस सोम को, चार अरिष्टनेमि को, दो बहुपुत्र को, दो अंगिरा को और दो विद्वान् कृशाश्व को दीं। अब उनके नाम मुझसे सुनिये—॥२७-२८॥ विप्रवृन्द ! अरुन्धती, वसु, यामी, लम्बा, भानु, मरुत्वती, संकल्पा, मुहूर्ता, साध्या और विश्वा—ये दस कन्याएँ धर्म की पत्नी हुईं, उनकी सन्तानों के नाम सुनें—॥२९½॥ विश्वा से विश्वेदेव, साध्या से साध्य, मरुत्वती से मरुत्वान्, वसु से वसु, भानु से भानु, मूहुर्ता से मुहूर्त और लम्बा से घोष उत्पन्न हुए। यामि से नागवीथी उत्पन्न हुई ॥३०-३१½॥ पृथिवी के सब विषय अरुन्धती से उत्पन्न हुए। संसार के सब संकल्प संकल्पा से उत्पन्न हुए। नागवीथी यामिनी से वृषल उत्पन्न हुआ ॥३२-३३॥ प्रचेता-पुत्र दक्ष ने बाद में जो कन्याएँ सोम को दीं, वे सब नक्षत्र नाम से ज्योतिष में कही गयी हैं ॥३४॥ जो दूसरे ख्यातिप्राप्त तथा ज्योति के आगे चलने वाले देव हैं, वे आठ वसु कहलाये। उनका मैं यहाँ पर विस्तृत वर्णन करूँगा ॥३५॥ वे वसु आप, ध्रुव, सोम, धव, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—इन नामों से ख्यात हुए॥३६॥ आप के वैतण्ड्य, श्रम, श्रान्त और मुनि नामक

११क. ख. रतः। २क. ०न्या वीरिण्या०। ख. ०न्या वैरिण्या०। ३क. भार्यार्थे। ग. भार्यात्वे। ४. ०रिचने०। ५ख. ०नि बोधत। अ०। ६ख. ०सुर्जामी। ७ग. नंश्वा। ८ग. नि यानि च। वि०। ९क. ०सवस्तथा। भा०। १०ख. स्मृताः। ११ख. घोषश्च। १२ख. जामिजा। १३. ०थिव्या विषये स०। १४क. ०ल्पायां तु सर्वात्मा। १५ख. सर्वात्मा। १६ख. ०वीथी च जामि०। १७ख. ०न्यां विश्वान्व्यजा०। १८क. ०श्च बलश्चै०। १९ख. घरश्चै०। २०क. वैतण्डः। २१ग. शान्तो। २२ग. ०काशनः।

सोमस्य भगवान् वर्च्चा वर्च्चस्वी येन जायते। [1]धवस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा ॥३८॥
मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ रमणस्तथा। अनिलस्य शिवा भार्य्या तस्याः पुत्रो मनोजवः ॥
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य [2]च ॥३९॥
अग्निपुत्रः कुमारस्तु शरस्तम्बे [3]श्रिया वृतः। तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजः ॥४०॥
अपत्यं कृत्तिकानां तु कार्त्तिकेय इति स्मृतः। प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाथ देवलम् ॥४१॥
द्वौ पुत्रौ देवलस्यापि क्षमावन्तौ मनीषिणौ। बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री [4]ब्रह्मवादिनी ॥४२॥
[5]योगसिद्धा जगत् [6]कृत्स्नमसक्ता[7] विचचार ह। प्रभासस्य तु सा भार्य्या वसूनामष्टमस्य तु[8] ॥४३॥
विश्वकर्म्मा महाभागो [9]यस्यां [10]जज्ञे [11]प्रजापतिः। कर्त्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानाञ्च वार्द्धकिः ॥४४॥
भूषणानाञ्च सर्व्वेषां कर्त्ता शिल्पवतां वरः। यः सर्व्वेषां विमानानि देवतानां चकार ह ॥४५॥
मानुषाश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः। सुरभी[12] कश्यपाद्रुद्रानेकादश विनिर्म्ममे ॥४६॥
महादेवप्रसादेन तपसा भाविता सती। अजैकपादहिर्बुध्न्यस्त्वष्टा[13] रुद्रश्च वीर्य्यवान् ॥४७॥
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः। वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ॥४८॥
मृगव्याधश्च शर्व्वश्च कपाली च द्विजोत्तमाः। [14]एकादशैते विख्याता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥४९॥
शतं त्वेवं समाख्यातं रुद्राणाममितौजसाम्। पुराणे मुनिशार्द्दूला यैर्व्याप्तं सचराचरम् ॥५०॥

पुत्र हुए। ध्रुव का पुत्र लोक-संहारक तथा शक्ति-सम्पन्न काल हुआ ॥३७॥ सोम का (पुत्र) भगवान् वर्चस् हुआ, जिससे लोग तेजस्वी बनते हैं। धव के पुत्र द्रविण और हुतहव्यवह हुए। मनोहरा से शिशिर, प्राण और रमण हुए। अनिल की स्त्री शिवा थी। उसके पुत्र मनोजव और अविज्ञातगति हुए। सरपत के गुच्छों में सुषमा-सम्पन्न अग्नि का पुत्र कुमार उत्पन्न हुआ। उसके शाख, विशाख (नामक) पुत्रों के अलावा पीठ से उत्पन्न नैगमेय (नामक पुत्र) हुआ ॥३८-४०॥ कृत्तिका से उत्पन्न होनेवाली संतान कार्तिकेय कहलायी। प्रत्यूष का पुत्र देवल ऋषि हुआ ॥४१॥ देवल के भी क्षमावान् और मनीषी दो पुत्र हुए। स्त्रियों में श्रेष्ठ, ब्रह्मवादिनी, योग से सिद्ध और आसक्ति से रहित बृहस्पति की बहन संपूर्ण संसार में विचरने लगी ॥४२½॥ वह प्रभास नामक आठवें वसु की स्त्री हुई, जिससे महाभाग प्रजापति विश्वकर्मा की उत्पत्ति हुई, जो हजारों शिल्पों का निर्माता, देवताओं का शिल्पी, सब आभरणों का निर्माता और सर्वश्रेष्ठ शिल्पी हुआ ॥४३-४४½॥ उसने देवताओं के सारे विमान बनाये और उस महात्मा की शिल्पविद्या से मनुष्य जीविका उपार्जन करते हैं ॥४५½॥ महादेव जी की प्रसन्नता से तपः सिद्धा सती सुरभी ने कश्यप से ग्यारह रुद्रों की रचना की ॥४६½॥ ब्राह्मणश्रेष्ठो! अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, त्वष्टा, शक्तिशाली रुद्र, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शंभु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह रुद्र तीनों लोक के ईश्वर कहलाये ॥४७-४९॥ मुनिवर्यवृन्द! इस तरह पुराण में अत्यन्त तेजस्वी एक सौ रुद्र प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने चराचर सहित संसार को व्याप्त किया ॥५०॥

---

[1]क. बलस्य। ख. धरस्य। [2]ख. तु। [3]ख. ०म्बेषु यो धृतः। [4]ग. ०ह्मचारिणी। यो०। [5]क. तपः सिद्धा। [6]क. ०मश्रान्ता वि०। [7]ख. ०सक्तं वि०। [8]ख. हि। [9]क. यस्या। [10]ख. जातः। [11]ख. सुवर्धकिः। [12]. सुरभिः। [13]. ०र्बुध्नस्त्व०। [14]ख. ०दशेति वि०।

दारान् शृणुध्वं विप्रेन्द्राः कश्यपस्य प्रजापतेः। अदितिर्दितिर्दनुश्चैव अरिष्टा सुरसा खसा ।।५१।।
सुरभिर्विनता चैव ताम्रा क्रोधवशा इरा। कद्रुर्मुनिश्च भो विप्रास्तास्वपत्यानि बोधत ।।५२।।
पूर्व्वमन्वन्तरे श्रेष्ठा द्वादशासन् सुरोत्तमाः। तुषिता नाम तेऽन्योन्यमूचुर्वैवस्वतेऽन्तरे ।।५३।।
उपस्थितेऽतियशसश्चाक्षुषस्यान्तरे मनोः। हितार्थं सर्व्वलोकानां समागम्य परस्परम् ।।५४।।
आगच्छत द्रुतं देवा अदितिं सम्प्रविश्य वै। मन्वन्तरे प्रसूयामस्तन्नः श्रेयो भविष्यति ।।५५।।

लोमहर्षण उवाच

एवमुक्त्वा तु ते सर्व्वे चाक्षुषस्यान्तरे मनोः। मारीचात् कश्यपाज्जातास्त्वदित्या दक्षकन्यया ।।५६।।
तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव हि। अर्य्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च ।।५७।।
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च। अंशो भगश्चातितेजा आदित्या द्वादश स्मृताः ।।५८।।
सप्तविंशतिर्याः प्रोक्ताः सोमपत्न्यो महाव्रताः। तासामपत्यान्यभवन् [१]दीप्तान्यमिततेजसः ।।५९।।
अरिष्टनेमिपत्नीनामपत्यानीह षोडश। बहुपुत्रस्य विदुषश्चतस्रो [२]विद्युतः स्मृताः[३] ।।६०।।
चाक्षुषस्यान्तरे पूर्व्वे ऋचो [४]ब्रह्मर्षिसत्कृताः। कृशाश्वस्य च देवर्षेर्देवप्रहरणाः स्मृताः ।।६१।।
एते युगसहस्रान्ते जायन्ते पुनरेव हि। सर्व्वे देवगणाश्चात्र त्रयस्त्रिंशत्तु कामजाः ।।६२।।
तेषामपि च भो विप्रा निरोधोत्पत्तिरुच्यते। यथा सूर्य्यस्य गगन उदयास्तमयाविह[५] ।।६३।।
एवं देवनिकायास्ते सम्भवन्ति युगे युगे। [६]दित्याः पुत्रद्वयं जज्ञे कश्यपादिति नः श्रुतम् ।।६४।।

द्विजश्रेष्ठो ! प्रजापति कश्यप की पत्नियों के नाम सुनिये—अदिति, दिति, दनु, अरिष्टा, सुरसा, खसा, सुरभि, विनता, ताम्रा, क्रोधवशा, इरा, कद्रु और मुनि। विप्रगण ! उनकी सन्तानों के सम्बन्ध में सुन लीजिये ।।५१-५२।। पूर्व मन्वन्तर में तुषित नामक बारह उत्तम देवता हुए। वे वैवस्वत मन्वन्तर में एक-दूसरे से कहने लगे—।।५३।। 'देवताओ ! चाक्षुष मन्वन्तर आने पर सब लोगों के कल्याण के लिए परस्पर एकत्रित होकर शीघ्र आओ। अदिति में प्रवेश कर मन्वन्तर में हम लोग जन्म लें। इससे हमारा कल्याण होगा' ।।५४-५५।।

लोमहर्षण बोले—वे सब इस तरह कहकर चाक्षुष मन्वन्तर में मरीचि-पुत्र कश्यप से दक्ष की कन्या अदिति में उत्पन्न हुए।।५६।। कश्यप से फिर विष्णु और इन्द्र की उत्पत्ति हुई। अर्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अंश और महातेजस्वी भग—ये बारह आदित्य कहलाये।।५७-५८।। सोम की सत्ताईस महासती पत्नियों की संतानें अत्यन्त तेजस्वी हुईं।।५९।। अरिष्टनेमि की स्त्रियों के सोलह सन्तानें हुईं। विद्वान् बहुपुत्र के चार विद्युत् संज्ञक सन्तानें हुईं।।६०।। पहले चाक्षुष मन्वन्तर में ब्रह्मर्षियों से सम्मानित ऋचाएँ प्रकाशित हुईं। देवर्षि कृशाश्व से देवप्रहरण नामक गण उत्पन्न हुए।।६१।। ये देवगण हजार युगों के अन्त में फिर जन्म ग्रहण करते हैं। इनमें तैंतीस काम से उत्पन्न होते हैं।।६२।। ब्राह्मणो ! उनकी भी उत्पत्ति और लय होता है। जैसें आकाश में सूर्य का उदय और अस्त होता है, उसी तरह देव-समूह युग-युग में होते हैं।।६३½।। हमने सुना है कि

१ग. ०प्तानाममितते०। २क. वैद्युताः। ३ग. ०ताः। प्रत्यङ्गिरसवाः श्रेष्ठा ऋ०। ४क. पूर्वमृभवो वीतिस०। ५क. ०मने त्विह। ख. ०मने इह। ६ख. दित्यां।

हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षश्च वीर्य्यवान्। सिंहिका चाभवत् कन्या विप्रचित्तेः परिग्रहः ॥६५॥
सैंहिकेया इति ख्याता यस्याः पुत्रा महाबलाः। हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः प्रथितौजसः ॥६६॥
ह्लादश्च अनुह्लादश्च प्रह्लादश्चैव वीर्य्यवान्। संह्लादश्च चतुर्थोऽभूद्ह्लादपुत्रो ह्लदस्तथा ॥६७॥
ह्लदस्य पुत्रौ[1] द्वौ वीरौ शिवः कालस्तथैव च। विरोचनस्तु प्राह्लादिर्बलिर्जज्ञे विरोचनात् ॥६८॥
बलेः पुत्रशतं त्वासीद्बाणज्येष्ठं तपोधनाः। धृतराष्ट्रश्च सूर्यश्च चन्द्रमाश्चन्द्रतापनः ॥६९॥
कुम्भनाभो [2]गर्द्दभाक्षः कुक्षिरित्येवमादयः। बाणस्तेषामतिबलो ज्येष्ठः पशुपतेः प्रियः ॥७०॥
पुरा कल्पे तु बाणेन प्रसाद्योमापतिं प्रभुम्। पार्श्वतो विहरिष्यामि इत्येवं याचितो वरः ॥७१॥
[3]हिरण्याक्षसुताश्चैव विद्वांसश्च महाबलाः। [4]भर्भरः शकुनिश्चैव भूतसन्तापनस्तथा ॥७२॥
[5]महानाभश्च विक्रान्तः कालनाभस्तथैव च। अभवन् दनुपुत्राश्च शतं तीव्रपराक्रमाः ॥७३॥
तपस्विनो महावीर्य्याः प्राधान्येन ब्रवीमि तान्। द्विमूर्ध्धा शंकुकर्णश्च तथा [6]हयशिरा विभुः[7] ॥७४॥
अयोमुखः शम्बरश्च कपिलो वामनस्तथा। मारीचिर्मघवांश्चैव इल्वलः स्वसृमस्तथा ॥७५॥
विक्षोभणश्च केतुश्च केतुवीर्य्यशतह्लदौ। इन्द्रजित्सर्व्वजिच्चैव वज्रनाभस्तथैव च ॥७६॥
[8]एकचक्रो [9]महाबाहुस्तारकश्च महाबलः। वैश्वानरः पुलोमा च विद्रावणमहाशिराः ॥७७॥
स्वर्भानुर्वृषपर्व्वा च विप्रचित्तिश्च वीर्य्यवान्। सर्व्व एते दनोः पुत्राः कश्यपादभिजज्ञिरे ॥७८॥

कश्यप से दिति के दो शक्तिशाली पुत्र हुए—हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष। तथा सिंहिका नाम की कन्या उत्पन्न हुई, जो विप्रचित्ति को ब्याही गयी, और जिसके महाबली पुत्र सैंहिकेय (राहु) गण के नाम से प्रसिद्ध हुए ॥६४-६५½॥ हिरण्यकशिपु के महातेजस्वी चार पुत्र—ह्लाद, अनुह्लाद, पराक्रमी प्रह्लाद और चौथा संह्लाद हुए। उसी तरह ह्लाद का पुत्र ह्लद हुआ ॥६६-६७॥ ह्लद के दो वीर पुत्र हुए—शिव और काल। प्रह्लाद का पुत्र विरोचन हुआ। विरोचन से बलि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥६८॥ मुनिवृन्द! बलि के धृतराष्ट्र, सूर्य, चन्द्रमा, चन्द्रतापन, कुम्भनाभ, गर्दभाक्ष, कुक्षि इत्यादि नाम से विख्यात सौ पुत्र हुए ॥६९½॥ उन सबमें ज्येष्ठ बाण अत्यन्त बलवान् और शिव का प्रिय पात्र था ॥७०॥ पहले कल्प में बाण ने उमापति भगवान् शिव को प्रसन्न कर मैं 'आपके पास ही विहार करूँ' ऐसा वरदान उनसे माँगा ॥७१॥ हिरण्याक्ष के पुत्र भर्भर, शकुनि, भूतसंतापन, महानाभ, विक्रान्त और कालनाभ बड़े बलवान् और विद्वान् हुए ॥७२½॥ दनु के अत्यन्त पराक्रमी, तपस्वी और महाशक्तिशाली सौ पुत्र हुए। उनमें से प्रमुखों के नाम बताता हूँ—॥७३½॥ द्विमूर्धा, शंकुकर्ण, शक्तिशाली हयशिरा, अयोमुख, शम्बर, कपिल, वामन, मारीचि, मघवान्, इल्वल, स्वसृम, विक्षोभण, केतु, केतुवीर्य, शतह्लद, इन्द्रजिंत्, सर्वजित्, वज्रनाभ, एकचक्र, महाबाहु, महाबलवान् तारक, वैश्वानर, पुलोमा, विद्रावण, महाशिरा, स्वर्भानु, वृषपर्वा और शक्तिशाली विप्रचित्ति। ये सब दनु के पुत्र कश्यप से उत्पन्न हुए ॥७४-७८॥ इन सब महाबली दानवों में विप्रचित्ति प्रधान था।

---

[1] ख. पुत्रोऽप्यायुर्वै शि०। [2] क. गर्दभश्च। [3] ख. सुताः पञ्च वि०। [4] ख. ऊर्जराः। ग. ह्यर्कविः। [5] ख. ०हाभागश्च। [6] क. ख. शङ्कुशिरा। [7] क. द्विजाः। [8] ख. एकवक्त्रो। [9] ग. ०हुस्थावरश्च।

विप्रचित्तिप्रधानास्ते दानवाः[1] सुमहाबलाः। एतेषां[2] पुत्रपौत्रन्तु न तच्छक्यं द्विजोत्तमाः ।।७९।।
प्रसंख्यातुं बहुत्वाच्च पुत्रपौत्रमनन्तकम्। स्वर्भानोस्तु प्रभा कन्या पुलोम्नस्तु शची सुता ।।८०।।
[3]उपदीप्तिर्हयशिराः शर्मिष्ठा वार्षपर्व्वणी। पुलोमा कालिका चैव वैश्वानरसुते उभे ।।८१।।
बह्वपत्ये [4]महापत्ये[5] मरीचेस्तु परिग्रहः। तयोः पुत्रसहस्राणि [6]षष्टिर्दानवनन्दनाः ।।८२।।
चतुर्दशशतानन्यान् हिरण्यपुरवासिनः[7]। मारीचिर्जनयामास महता तपसान्वितः ।।८३।।
पौलोमाः कालकेयाश्च दानवास्ते महाबलाः। अवध्या देवतानां हि हिरण्यपुरवासिनः ।।८४।।
पितामहप्रसादेन ये हताः सव्यसाचिना। ततोऽपरे महावीर्य्या दानवास्त्वतिदारुणाः ।।८५।।
सिंहिकायामथोत्पन्ना विप्रचित्तेः सुतास्तथा। दैत्यदानवसंयोगाज्जातास्तीव्रपराक्रमाः ।।८६।।
[8]सैंहिकेया इति ख्यातास्त्रयोदश महाबलाः[9]। वंशः शल्यश्च[10] बलिनौ नलश्चैव तथा बलः ।।८७।।
[11]वातापिर्नमुचिश्चैव [12]इल्वलः स्वसृमस्तथा। [13]अञ्जिको नरकश्चैव कालनाभस्तथैव च ।।८८।।
[14]सरमानस्तथा चैव स्वरकल्पश्च वीर्य्यवान्। एते वै[15] दानवाः[16] श्रेष्ठा दनोर्वंशविवर्धनाः ।।८९।।
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः। संह्रादस्य तु दैत्यस्य निवातकवचाः कुले ।।९०।।
समुत्पन्नाः सुमहता तपसा भावितात्मनः। तिस्रः कोटयः सुतास्तेषां मणिवत्यां निवासिनः ।।९१।।
अवध्यास्तेऽपि देवानामर्ज्जुनेन निपातिताः। षट्सुताः सुमहाभागास्ताम्रायाः परिकीर्त्तिताः ।।९२।।

द्विजवर्य ! बहुत और अनन्त होने के कारण इनके पुत्र-पौत्रों को नहीं गिना सकता हूँ ।।७९½।। स्वर्भानु की कन्या प्रभा हुई। पुलोमा की शची हुई। उपदानवी हयशिरा की और शर्मिष्ठा वृषपर्वा की (कन्या) हुई ।।८०½।। वैश्वानर की पुलोमा और कालिका—ये दो कन्याएँ बहुत-सी संतान वाली हुईं। उनका विवाह मरीचि से हुआ। साठ हजार दानव पुत्र इनसे उत्पन्न हुए ।।८१-८२।। महान् तपस्वी मरीचि ने दूसरे चौदह सौ हिरण्यपुरवासियों को उत्पन्न किया ।।८३।। वे हिरण्यपुरवासी महाबलवान् दानव पौलोम और कालकेय नाम से ख्यात हुए, जो ब्रह्माजी की कृपा से देवताओं से अवध्य (न मारने योग्य) होते हुए भी अर्जुन के द्वारा मारे गये थे ।।८४½।। उनके अतिरिक्त बहुत-से महाशक्तिशाली भयंकर दानव विप्रचित्ति से सिंहिका में उत्पन्न हुए। विप्रचित्ति के तेरह पुत्र दैत्य और दानव के संयोग से बड़े पराक्रमी और सैंहिकेय नाम से प्रसिद्ध हुए ।।८५-८६½।। उनके नाम ये हैं-बली, वंश और शल्य, नल, बल, वातापि, नमुचि, इल्वल, स्वसृम, अंजिक, नरक, कालनाभ, सरमान और शक्तिशाली स्वरकल्प। वे श्रेष्ठ दानव दनु के वंश को बढ़ानेवाले हुए ।।८७-८९।। उनके सैकड़ों और हजारों पुत्र और पौत्र हुए। संह्राद नामक दैत्य के कुल में निवातकवच नामक बड़े तपस्वी पुत्रगण उत्पन्न हुए ।।९०।। उनके मणिवती में निवास करने वाले तीस करोड़ पुत्र उत्पन्न हुए। वे भी देवताओं से न मारने योग्य हुए और अर्जुन के द्वारा मारे गये।

१क. ०नवा वै म०। २ख. ०षां यदपत्यं तु। ३ख. ग. ०पदाननी हय०। ४क. ख. महासत्त्वे। ५ग. ०त्ये मारी०। ६. ०ष्टिश्च दितिन०। ७ ग. ०नः। मारी०। ८. कालकेया। ९ क. ०लाः। विशः स्वल्पश्च। ख. ०लाः। शतं शताश्वब०। १० ग. वलयो। ११क. ख. ०तापी नमु०। १२क. ०ल्वलेयः स्मृतस्त०। १३क. अजितो। १४क. ०मानामतश्चैव। १५क. तु। १६क. ०नवश्रे०।

[१]क्रौञ्ची श्येनी च भासी च सुग्रीवी शुचिगृध्रिका । [२]क्रौञ्ची [३]तु जनयामास उलूकप्रत्यलूककान् ।।९३।।
श्येनी श्येनांस्तथा भासी भासान्गृध्रांश्च गृध्र्यपि । शुचिरौदकान्पक्षिगणान्सुग्रीवी तु द्विजोत्तमाः ।।९४।।
अश्वानुष्ट्रान् गर्द्दभांश्च ताम्रावंशः[४] प्रकीर्त्तितः[५] । [६]विनतायास्तु द्वौ पुत्रौ विख्यातौ गरुडारुणौ ।।९५।।
[७]गरुडः पततां श्रेष्ठो दारुणः स्वेन कर्म्मणा । सुरसायाः सहस्रन्तु सर्पाणाममितौजसाम् ।।९६।।
अनेकशिरसां विप्राः खचराणां महात्मनाम् । काद्रवेयास्तु बलिनः सहस्रममितौजसः ।।९७।।
सुपर्णवशगा नागा जज्ञिरे नैकमस्तकाः । येषां प्रधानाः सततं शेषवासुकितक्षकाः ।।९८।।
ऐरावतो महापद्मः कम्बलाश्वतरावुभौ । एलापत्रश्च शङ्खश्च कर्कोटकधनञ्जयौ ।।९९।।
महानीलमहाकर्णौ [८]धृतराष्ट्रबलाहकौ । कुहरः पुष्पदंष्ट्रश्च दुर्म्मुखः सुमुखस्तथा ।।१००।।
शङ्खश्च शङ्खपालश्च कपिलो[९] वामनस्तथा । नहुषः शङ्खरोमा च मणिरित्येवमादयः ।।१०१।।
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः । चतुर्दशसहस्राणि[१०] क्रूराणामनिलाशिनाम् ।।१०२।।
गणं क्रोधवशं विप्रास्तस्य सर्व्वे च दंष्ट्रिणः । स्थलजाः पक्षिणोऽब्जाश्च धरायाः प्रसवाः स्मृताः ।।१०३।।
गास्तु वै जनयामास [११]सुरभिर्महिषीस्तथा । इरा वृक्षलता वल्लीस्तृणजातीश्च सर्व्वशः[१२] ।।१०४।।
खसा तु यक्षरक्षांसि मुनिरप्सरसस्तथा । अरिष्टा तु[१३] महासिद्धा गंधर्व्वानमितौजसः ।।१०५।।

ताम्रा के छह भाग्यशालिनी कन्याएँ हुईं।।९१-९२।। क्रौञ्ची, श्येनी, भासी, सुग्रीवी, शुचि और गृध्रिका। ब्राह्मण-शिरोमणि! क्रौञ्ची ने उलूकों (उल्लू पक्षी) और प्रत्यलूककों को, श्येनी ने श्येनों (बाजों) को, भासी ने भासों को, गृध्री ने गिद्धों को, शुचि ने जल-पक्षियों को और सुग्रीवी ने घोड़ों, ऊँटों और गधों को उत्पन्न किया। यह ताम्रावंश कहलाया।।९३-९४⅓।। विनता के दो प्रसिद्ध पुत्र हुए—गरुड़ और अरुण।।९५।। पक्षियों में श्रेष्ठ गरुड़ अपने कर्म से भयंकर हुआ। द्विजवृन्द! सुरसा से अत्यन्त तेजस्वी, आकाशचारी, मनस्वी और अनेक फन वाले हजार साँप हुए। कद्रू के महान् शक्तिशाली किन्तु गरुड़ के अधीनस्थ और अनेक सिरवाले नाग हुए, जिसमें सदा शेष, वासुकि और तक्षक प्रधान रहे।।९६-९८।। ऐरावत, महापद्म, कम्बल, अश्वतर, एलापत्र, शंख, कर्कोटक, धनंजय, महानील, महाकर्ण, धृतराष्ट्र, बलाहक, कुहर, पुष्पदंष्ट्र, दुर्मुख, सुमुख, शंख, शंखपाल, कपिल, वामन, नहुष, शंखरोमा, मणि इत्यादि नागों के नाम हैं।।९९-१०१।। उनके सैकड़ों-हजारों पुत्र-पौत्र हुए। द्विजगण! उन क्रूर साँपों की संख्या चौदह हजार थी।।१०२।। वे सब क्रोधी और बड़े-बड़े दाँतों वाले थे। जल और स्थल में उत्पन्न पक्षी पृथिवी की संतान माने गये हैं।।१०३।। सुरभि ने गायों और भैंसों को उत्पन्न किया। इरा ने वृक्षों, लताओं और संपूर्ण तृण-जाति को उत्पन्न किया।।१०४।। खसा से यक्ष और राक्षसों की एवम् मुनि से अप्सरा की उत्पत्ति हुई। महासिद्ध अरिष्टा ने अत्यन्त तेजस्वी गन्धर्वों को उत्पन्न किया।।१०५।। ये स्थावर और जंगम कश्यपजी के वंशज कहलाते हैं, जिनके

१ख. क्रुची। २ख. क्रुची। ३ग. ०ञ्ची क्रौञ्चानजनयदुलू०। ४ख. ग. ०वंशाः प्र०। ५ख. ग. ०र्तिताः। वि०। ६क. ख. ०याश्च पुत्रौ द्वावरुणौ गरुडस्तथा। ७ख. ग. सुपर्णः। ८क. ०ष्ट्रमहाबलौ। कु०। ९ख. ०लो मानसस्त०। १०क. ०णि सर्पाणा०। ११ग. ०हिषांस्त०। १२क. ०शः। शरमा च०। १३क. ख. महासत्त्वा।

एते कश्यपदायादाः कीर्त्तिताः स्थाणुजङ्गमाः। येषां[1] पुत्राश्च पौत्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥१०६॥
एष[2] मन्वन्तरे विप्राः सर्गः[3] स्वारोचिषे स्मृतः[4]। वैवस्वतेऽतिमहति वारुणे वितते क्रतौ ॥१०७॥
जुह्वानस्य ब्रह्मणो वै प्रजासर्ग इहोच्यते। पूर्व्वं यत्र समुत्पन्नान्ब्रह्मर्षीन्सप्त मानसान् ॥१०८॥
पुत्रत्वे कल्पयामास स्वयमेव पितामहः। ततो विरोधे[5] देवानां दानवानां च भो द्विजाः ॥१०९॥
दितिर्विनष्टपुत्रा वै तोषयामास कश्यपम्। कश्यपस्तु प्रसन्नात्मा सम्यगाराधितस्तया ॥११०॥
वरेण च्छन्दयामास सा च वव्रे वरं तदा। पुत्रमिन्द्रवधार्थाय समर्थममितौजसम् ॥१११॥
स च तस्मै वरं प्रादात् प्रार्थितः सुमहातपाः। दत्त्वा च [6]वरमत्युग्रो [7]मारीचः समभाषत ॥११२॥
इन्द्रं पुत्रो निहन्ता ते गर्भं वै शरदां शतम्। यदि धारयसे शौचतत्परा व्रतमास्थिता ॥११३॥
तथेत्यभिहितो भर्त्ता तया देव्या महातपाः। धारयामास गर्भं तु शुचिः सा मुनिसत्तमाः ॥११४॥
ततोऽ[8]भ्युपागमद्दित्यां गर्भमाधाय कश्यपः। रोधयन् वै गणं श्रेष्ठं देवानाममितौजसम् ॥११५॥
तेजः संहृत्य दुर्धर्षमवध्यममरैरपि। जगाम पर्व्वतायैव तपसे [9]संशितव्रता ॥११६॥
तस्याश्चैवान्तरप्रेप्सुरभवत् पाकशासनः। [10]जाते वर्षशते चास्या ददर्शान्तरमच्युतः ॥११७॥
अकृत्वा पादयोः शौचं दितिः शयनमाविशत्। निद्रां चाहारयामास तस्यां कुक्षिं प्रविश्य सः[11] ॥११८॥
वज्रपाणिस्ततो गर्भं सप्तधा तं न्यकृन्तयत्। स पाट्यमानो गर्भोऽथ वज्रेण प्ररुरोद ह ॥११९॥

सैकड़ों-हजारों पुत्र-पौत्र हैं ॥१०६॥ द्विजगण ! स्वारोचिष नामक मन्वन्तर में यह सृष्टि हुई। अब वैवस्वत नामक अत्यन्त महान् मन्वन्तर में वरुण के विस्तृत यज्ञ में आहुति देते हुए ब्रह्माजी की प्रजा-सृष्टि के बारे में मैं कहूँगा ॥१०७॥ ब्रह्मा ने पहले सात महर्षियों की मानसी सृष्टि की थी ॥१०८॥ द्विजवृन्द ! देव-दानव-युद्ध में अपने दैत्य-पुत्रों के मर जाने पर दिति ने कश्यप को संतुष्ट किया ॥१०९½॥ दिति द्वारा सम्पूजित प्रसन्न ऋषि कश्यप ने उससे वर माँगने के लिए कहा। जब उसने इन्द्र के वध के लिए अत्यन्त तेजस्वी समर्थ पुत्र को वरदान रूप में माँगा तो उस महान् तपस्वी ने उसे अभीष्ट वरदान दे दिया। वर देने के बाद अति उग्र होकर कश्यप ने दिति से कहा—॥११०-११२॥ 'तुम्हारा पुत्र इन्द्र-हन्ता होगा, यदि तुम पवित्रतापूर्वक व्रत करते हुए सौ वर्षों तक गर्भ धारण करो' ॥११३॥ मुनिश्रेष्ठ ! उस देवी ने महान् तपस्वी स्वामी से 'ऐसा ही करूँगी' कहकर पवित्रतापूर्वक गर्भ धारण किया ॥११४॥ तब कश्यप अत्यन्त तेजस्वी और श्रेष्ठ देवसमूह को रोकते हुए देवताओं से भी अवध्य अपने उत्कृष्ट तेज को दिति के गर्भ में स्थापित करके तपस्या के लिए पर्वत पर चले गये ॥११५-११६॥ इन्द्र दिति के गर्भ में प्रवेश करने का अवसर ताकने लगा। सौ वर्ष बीत जाने पर इन्द्र को अवसर मिला ॥११७॥ (एक दिन) दिति बिना पैर धोये शय्या पर जाकर सो गयी। हाथ में वज्र लिये हुए इन्द्र ने उसके पेट में पैठकर (वज्र से) उस गर्भ के सात टुकड़े कर दिये ॥१८॥ वज्र से खंडित किये जाने वाला गर्भ (स्थित

१क. तेषां। २क. एवं। ३क. सर्वे। ४क. स्मृताः। ५ख. ग. विरोधो। ६ख. ०मव्यग्रो। ७ख. ०रीचस्ताम०। ८क. ०पायमाधाय गर्भनाशाय वासवः। ते०। ९क. ०व्रतः। त०। १०क. ऊने। ११ग. ह।

मा रोदीरिति तं शक्रः पुनः[१]पुनरथाब्रवीत्। सोऽभवत् सप्तधा गर्भस्तमिन्द्रो रुषितः पुनः ॥१२०॥
एकैकं सप्तधा चक्रे वज्रेणैवारिकर्षणः। मरुतो नाम ते देवा[२] बभूवुर्द्विजसत्तमाः ॥१२१॥
यथोक्तं वै मघवता तथैव मरुतोऽभवन्। देवाश्चैकोनपञ्चाशत्सहाया वज्रपाणिनः ॥१२२॥
तेषामेवं प्रवृत्तानां भूतानां द्विजसत्तमाः। रोचयन् वै गणश्रेष्ठान् देवानाममितौजसाम् ॥१२३॥
निकायेषु निकायेषु[३]हरिः प्रादात् प्रजापतीन्[४]। क्रमशस्तानि राज्यानि पृथुपूर्व्वाणि भो द्विजाः ॥१२४॥
स हरिः पुरुषो वीरः कृष्णो जिष्णुः प्रजापतिः। [५]पर्जन्यस्तपनोऽ[६]नन्तस्तस्य सर्व्वमिदं जगत् ॥१२५॥
भूतसर्गमिमं सम्यग्जानतो द्विजसत्तमाः। नावृत्तिभयमस्तीह परलोकभयं कुतः[७] ॥१२६॥
इति श्रीब्राह्मे महापुराणे देवासुराणामुत्पत्तिकथनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

पृथुमारभ्य सर्वदेवदानवादीनां राज्याभिषेक-वर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

[८]अभिषिच्याधिराजेन्द्रं[९] पृथुं वैन्यं पितामहः। ततः क्रमेण राज्यानि व्यादेष्टुमुपचक्रमे ॥१॥

शिशु) रोने लगा ॥११९॥ इन्द्र ने उससे कहा—'मत रोओ।' उस गर्भ के सात भाग हो गये। शत्रु का दमन करने वाले इन्द्र ने क्रोध करके वज्र ही से एक-एक के सात-सात टुकड़े कर दिये ॥१२०½॥ विप्रवय ! वे मरुत् (वायु) नामक देवता हुए ॥१२१॥ जैसे इन्द्र ने कहा, वैसे ही वे उनचासों वायु देवता इन्द्र के सहायक बन गये ॥१२२॥ द्विजवर्य ! इस प्रकार उत्पन्न हुए प्राणियों तथा अत्यन्त तेजस्वी देवताओं के समूह को प्रसन्न करने वाले हरि ने राजा पृथु के बाद के राज्यों को प्रत्येक समूह में प्रजापतियों को दे दिया ॥१२३-१२४॥ द्विजवर ! वही हरि पुरुष, वीर, कृष्ण, जिष्णु, प्रजापति, मेघ, सूर्य और अनन्त (शेष) कहलाता है। उससे यह संपूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है ॥१२५॥ जो व्यक्ति इस प्राणि-सृष्टि को जानता है, उसका फिर जन्म नहीं होता, परलोक का तो उसे भय ही क्या है ? ॥१२६॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में देवता और राक्षस का उत्पत्ति-कथन नामक तीसरा अध्याय समाप्त ॥३॥

अध्याय ४

पृथु से लेकर सभी देव-दानवों के राज्याभिषेक का वर्णन

लोमहर्षण बोले—वेन के पुत्र पृथु का राज्याभिषेक कर ब्रह्मा क्रम से राज्यों का वितरण करने लगे ॥१॥

१क. ०नरुवाच ह। २ख. बाला। ३क. हर्रि। ग. हविः। ४क. ०पतिम्। क्र०। ग. ०पतिः। क्र०। ५ख. ०पसा व्यक्तं कृष्णः स०। ६ग. ०नो व्यक्तस्त०। ७क. न च। ८क. अध्यापयच्च रा०। ९ग. ०च्याऽऽ दिरा०।

द्विजानां वीरुधां चैव नक्षत्रग्रहयोस्तथा। यज्ञानां तपसां चैव सोमं राज्येऽभ्यषेचयत् ॥२॥
[१]अपां तु वरुणं राज्ये राज्ञां वैश्रवणं [२]पतिम्। आदित्यानां तथा विष्णुं वसूनामथ पावकम् ॥३॥
प्रजापतीनां दक्षं तु मरुतामथ वासवम्। दैत्यानां दानवानां वै प्रह्लादममितौजसम् ॥४॥
वैवस्वतं पितृणाञ्च यमं राज्येऽभ्यषेचयत्। यक्षाणां राक्षसानाञ्च पार्थिवानां तथैव च ॥५॥
सर्व्वभूतपिशाचानां गिरीशं शूलपाणिनम्। शैलानां हिमवन्तञ्च नदीनामथ सागरम् ॥६॥
गंधर्व्वाणामधिपतिं चक्रे चित्ररथं प्रभुम्। नागानां वासुकिं चक्रे सर्पाणामथ तक्षकम् ॥७॥
वारणानां तु राजानमैरावतमथादिशत्। उच्चैःश्रवसमश्वानां गरुडञ्चैव पक्षिणाम् ॥८॥
मृगाणामथ शार्द्दूलं गोवृषन्तु गवां पतिम्। वनस्पतीनां राजानं प्लक्षमेवाभ्यषेचयत् ॥९॥
एवं विभज्य राज्यानि [३]क्रमेणैव पितामहः। दिशां पालानथ ततः स्थापयामास स प्रभुः ॥१०॥
पूर्व्वस्यां दिशि पुत्रं तु वैराजस्य प्रजापतेः। दिशः पालं सुधन्वानं राजानं सोऽभ्यषेचयत् ॥११॥
दक्षिणस्यां[४] दिशि तथा कर्द्दमस्य प्रजापतेः। पुत्रं [५]शङ्खपदं नाम राजानं सोऽभ्यषेचयत् ॥१२॥
पश्चिमस्यां दिशि तथा रजसः पुत्रमच्युतम्। केतुमन्तं महात्मानं राजानं सोऽभ्यषेचयत् ॥१३॥
तथा हिरण्यरोमाणं पर्ज्जन्यस्य प्रजापतेः। उदीच्यां दिशि दुर्द्धर्षं राजानं सोऽभ्यषेचयत् ॥१४॥
तैरियं पृथिवी सर्व्वा सप्तद्वीपा सपत्तना। यथाप्रदेशमद्यापि धर्म्मेण प्रतिपाल्यते ॥१५॥
[६]राजसूयाभिषिक्तस्तु पृथुरेतैर्नराधिपैः। वेददृष्टेन विधिना [७]राजा राज्ये नराधिपः ॥१६॥

ब्राह्मण, लता, नक्षत्र, ग्रह, यज्ञ और तपस्या के राज्य में उन्होंने सोम को अभिषिक्त किया ॥२॥ जल का राज्य वरुण को दिया और कुबेर को राजाओं का स्वामी बनाया। विष्णु को आदित्यों का राजा, अग्नि को वसुओं का, दक्ष को प्रजापतियों का, इन्द्र को मरुतों का और अत्यन्त तेजस्वी प्रह्लाद को दैत्यों और दानवों का, सूर्यपुत्र यम को पितरों का तथा यक्ष, राक्षस, राजा, सम्पूर्ण भूत और पिशाचों का स्वामी शूलपाणि महादेव जी को बनाया ॥ ३-५½॥ हिमालय को पहाड़ों का राजा, समुद्र को नदियों का, चित्ररथ को गन्धर्वों का, वासुकि को नागों का, तक्षक को साँपों का, ऐरावत को हाथियों का, उच्चैःश्रवा को घोड़ों का, गरुड़ को पक्षियों, बाघ को मृगों का, बैल को गौओं का और बरगद को वनस्पतियों का राजा बनाया॥६-९॥ इस प्रकार क्रमशः राज्यों को बाँटकर प्रभु ब्रह्मा ने दिशाओं की स्थापना की ॥१०॥ पूर्व दिशा का राजा वैराज प्रजापति के पुत्र सुधन्वा को बनाया ॥११॥ दक्षिण दिशा में कर्दम प्रजापति के पुत्र शंखपद को राजा बनाया ॥१२॥ पश्चिम दिशा का राजा रजस् के पुत्र महात्मा केतुमान् को बनाया ॥१३॥ और उत्तर दिशा में पर्जन्य प्रजापति के पुत्र प्रचण्ड तेजस्वी हिरण्यरोमा को राजा बनाया ॥१४॥ उन राजाओं द्वारा अब तक सातों द्वीप, नगर और प्रदेश सहित इस पृथिवी का धर्मपूर्वक पालन हो रहा है ॥१५॥ इन राजाओं ने राजसूय याग में अभिषिक्त पृथु को वेद में बतलाये हुए विधान के अनुसार राजा बनाया ॥१६॥

---

[१]ग. आपे। [२]क. प्रभुम्। [३]क. ग. ०मेण प्रपि०। [४]क. ख. ०स्यां महात्मानं क०। [५]क. शस्त्रप्रदं। [६]. ०सूयेऽभि०। [७]क. ख. राजरा०।

ततो मन्वन्तरेऽतीते चाक्षुषेऽमिततेजसि। वैवस्वताय मनवे पृथिव्यां[1] राज्यमादिशत् ।।१७।।
तस्य विस्तरमाख्यास्ये मनोर्वैवस्वतस्य ह। [2]भवतां चानुकूल्याय यदि श्रोतुमिहेच्छथ ।।
महदेतदधिष्ठानं पुराणे तदधिष्ठितम् । ।।१८।।

मुनय ऊचुः

विस्तरेण पृथोर्जन्म लोमहर्षण कीर्त्तय। यथा महात्मना तेन दुग्धा[3] वेयं वसुन्धरा ।।१९।।
यथा[4] वापि नृभिर्दुग्धा यथा [5]देवैर्महर्षिभिः। यथा दैत्यैश्च नागैश्च यथा यक्षैर्यथा द्रुमैः ।।२०।।
यथा शैलैः पिशाचैश्च गंधर्व्वैश्च द्विजोत्तमैः। राक्षसैश्च महासत्त्वैर्यथा दुग्धा वसुन्धरा ।।२१।।
तेषां पात्रविशेषांश्च वक्तुमर्हसि सुव्रत। [6]वत्सक्षीरविशेषांश्च दोग्धारं चानुपूर्व्वशः ।।२२।।
यस्माच्च कारणात् पाणिर्वेणस्य मथितः पुरा। क्रुद्धैर्महर्षिभिस्तात कारणं [7]तच्च कीर्त्तय ।।२३।।

[8]लोमहर्षण उवाच

शृणुध्वं कीर्त्तयिष्यामि पृथोर्वैण्यस्य विस्तरम्। एकाग्राः [9]प्रयताश्चैव पुण्यार्थं वै [10]द्विजर्षभाः ।।२४।।
नाशुचेः क्षुद्रमनसो नाशिष्यस्याव्रतस्य च[11]। कीर्त्तयेयमिदं विप्राः कृतघ्नायाहिताय च ।।२५।।
स्वर्ग्यं[12] यशस्यमायुष्यं धन्यं वेदैश्च सम्मितम्। रहस्यमृषिभिः प्रोक्तं शृणुध्वं वै यथातथम् ।।२६।।
यश्चेमं[13] कीर्त्तयेन्नित्यं पृथोर्वैण्यस्य विस्तरम्। ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य न स शोचेत्कृताकृतम् ।।२७।।

इसके अनतर अत्यन्त तेजस्वी चाक्षुष मन्वन्तर वीत जाने पर वैवस्वत मनु को पृथिवी का राज्य चलाने के लिए व्रह्मा ने आदेश दिया ।।१७।। यदि आप सुनना चाहेंगे तो उस वैवस्वत मनु का विस्तृत वर्णन मैं आप लोगों के कल्याण के लिए करूँगा। यह महान् चरित्र पुराण में चित्रित किया गया है ।।१८।।

मुनियों ने कहा—आर्य लोमहर्षण ! पृथु की जन्म-कथा का विस्तृत वर्णन कीजिये। जिस प्रकार उस महात्मा ने इस पृथिवी का दोहन किया, या जैसे राजाओं ने, देवताओं ने, महर्षियों ने, दैत्यों ने, नागों ने, यक्षों ने, वृक्षों ने, पहाड़ों ने, पिशाचों ने, गन्धर्वों ने, द्विजवरों ने और महापराक्रमी राक्षसों ने पृथिवी को दुहा, उनको, भिन्न-भिन्न पात्रों को, बछड़ों को तथा दूध को और दुहनेवालों को क्रमशः बतलाइये ।।१९-२२।। भगवन् ! पहले जिस कारण क्रुद्ध होकर महर्षियों ने वेण के हाथ का मंथन किया था, वह कारण भी बतलाइये ।।२३।।

लोमहर्षण बोले—ब्राह्मणश्रेष्ठो ! वेण के पुत्र पृथु का वर्णन मैं विस्तार से करूँगा। धर्म के लिए आप लोग एकाग्र और सावधान होकर सुनिये ।।२४।। ब्राह्मणो ! अपवित्र, हृदयहीन, अशिष्य, अव्रती, कृतघ्न और शत्रु को यह नहीं सुनाऊँगा ।।२५।। ऋषियों ने इस रहस्य को स्वर्गप्रद, यश, धन और आयु देनेवाला तथा वेद-सम्मत कहा है। इसे यथार्थ रूप से सुनिये ।।२६।। जो व्यक्ति ब्राह्मणों को नमस्कार करके वेण के पुत्र पृथु की कथा का विस्तृत वर्णन प्रतिदिन करेगा, वह विहित और अविहित कर्मों से दुःखी नहीं होगा ।।२७।।

---

१ ग. ०थिवीरा०। २ क. ०वतामानु०। ३ ख. भृता। ४ ख. ०था च पितृभि०। ५ क. ख. ०वैर्यर्थर्षि०। ६ ख. वत्सान्क्षीर०। ७ क. तत्प्रकी०। ८ क. सूत। ९ ख. प्रणता०। १० क. ख. द्विजोत्तमाः। ११ ख. वा। १२ ख. ०र्ग्यं परममा०। १३ ख. ०मं कथये०।

आसीद्धर्मस्य संगोप्ता पूर्व्वमत्रिसमः प्रभुः। अत्रिवंशे समुत्पन्नस्त्वङ्गो नाम प्रजापतिः ॥२८॥
तस्य पुत्रोऽभवद्वेणो नात्यर्थं धर्म्मकोविदः। जातो मृत्युसुतायां वै सुनीथायां प्रजापतिः ॥२९॥
[1]स मातामहदोषेण तेन कालात्मजात्मजः। स्वधर्म्मं पृष्ठतः कृत्वा [2]कामलोभेष्ववर्त्तत ॥३०॥
मर्य्यादां[3] भेदयामास [4]धर्म्मोपेतां स पार्थिवः। वेदधर्म्मानतिक्रम्य सोऽधर्म्मनिरतोऽभवत् ॥३१॥
निःस्वाध्यायवषट्काराः प्रजास्तस्मिन् प्रजापतौ। प्रवृत्तं न पपुः सोमं हुतं यज्ञेषु देवताः ॥३२॥
न यष्टव्यं न होतव्यमिति तस्य प्रजापतेः। आसीत् प्रतिज्ञा क्रूरेयं विनाशं प्रत्युपस्थिते ॥३३॥
अहमिज्यश्च यष्टा च यज्ञश्चेति भृगूद्वह[5]। मयि[6] यज्ञो [7]विधातव्यो मयि होतव्यमित्यपि ॥३४॥
तमतिक्रान्तमर्य्यादमाददानमसाम्प्रतम्। ऊचुर्महर्षयः सर्व्वे मरीचिप्रमुखास्तदा ॥३५॥
वयं दीक्षां प्रवेक्ष्यामः संवत्सरगणान् बहून्। अधर्म्मं कुरु मा वेण एष[8] धर्म्मः सनातनः ॥३६॥
निधनेऽत्रेः प्रसूतस्त्वं प्रजापतिरसंशयम्। प्रजाश्च पालयिष्येऽहमितीह[9] समयः कृतः ॥३७॥
तांस्तथा ब्रुवतः सर्व्वान्महर्षीनब्रवीत्तदा। वेणः प्रहस्य दुर्ब्बुद्धिरिममर्थमनर्थवित् ॥३८॥

वेण उवाच

[10]स्रष्टा धर्म्मस्य कश्चान्यः श्रोतव्यं कस्य वा मया। श्रुतवीर्य्यतपःसत्यैर्मया वा कः समो भुवि ॥३९॥

पूर्वकाल में धर्म-संरक्षक और अत्रिसदृश ऐश्वर्यशाली अंग नामक प्रजापति अत्रिवंश में उत्पन्न हुआ ॥२८॥ उसका पुत्र वेण नामक धर्मज्ञ प्रजापति, मृत्यु की पुत्री सुनीथा से उत्पन्न हुआ ॥२९॥ वह मृत्युकन्यापुत्र अपने मातामह के दोष से स्वधर्म को छोड़कर काम और लोभ में प्रवृत्त हुआ ॥३०॥ और धार्मिक सीमाओं को तोड़-ताड़कर, वेद-धर्मों का उल्लंघन कर पापाचरण में अनुरक्त हो गया ॥३१॥ उस प्रजापति के काल में प्रजा वेदाध्ययन और मंत्र-जप से वंचित हो गयी थी। यज्ञों में आहुति दिये हुए सोम का पान देवगण नहीं करते थे ॥३२॥ सर्वनाश उपस्थित होने पर उस प्रजापति की यह क्रूर आज्ञा थी—"कोई याग न करे, कोई हवन न करे" ॥३३॥ भृगुश्रेष्ठ ! उसकी घोषणा थी कि—"मैं ही यज्ञ हूँ, यज्ञ करने योग्य और याज्ञिक हूँ। मुझे ही लक्ष्य कर यज्ञ और हवन करें" ॥३४॥ मर्यादा का उल्लंघन करने वाले और यज्ञों में अनुचित भाग लेनेवाले उस प्रजापति से मरीचि आदि मुनियों ने उसे समझाते हुए कहा— ॥३५॥ वेण ! हम लोग अभी बहुत वर्षों तक यज्ञ-दीक्षा प्राप्त करेंगे। तुम अधर्म मत करो। यह सनातन धर्म है ॥३६॥ निःसंदेह तुम अत्रि से उत्पन्न प्रजापति हो। अत्रि के देहान्त होने पर तुमने प्रतिज्ञा की थी कि मैं प्रजा का पालन करूँगा ॥३७॥ महर्षियों द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर अर्थ से अनभिज्ञ दुर्बुद्धि वेण ने हँसकर कहा ॥३८॥

वेण ने कहा—मुझे छोड़ धर्म का निर्माता दूसरा कौन है ? मैं किसका उपदेश सुनूँ ? श्रुति, शक्ति, तपस्या और सत्य में मेरे बराबर संसार में कौन है ? ॥३९॥ सब प्राणियों का विशेषकर धर्मों का उत्पत्ति-स्थान

---

१ ग. स पिता० । २ ख. ग. कामाल्लोभे० । ३ क. ग. ०दां स्थापया० । ४ क. ग. धर्मापे० । ५ ग. क्रतूद्वह । ६ ग. यज्ञा । ७ ग. विधातव्या । ८ ग. नैष । ९ क. ०मिति ह स० । ग. ०मिति ते स० । १० क. ख. कर्ता ।

प्रभवं सर्व्वभूतानां धर्म्माणां च विशेषतः। सम्मूढा न विदुर्नूनं भवन्तो[१] मां विचेतसः ।।४०।।
इच्छन् दहेयं पृथिवीं प्लावयेयं जलैस्तथा। द्यां वै भुवं च रुन्धेयं नात्र कार्य्या विचारणा ।।४१।।
यदा न शक्यते मोहादवलेपाच्च पार्थिवः। अपनेतुं तदा वेणस्ततः क्रुद्धा महर्षयः ।।४२।।
तं निगृह्य महात्मानो विस्फुरन्तं महाबलम्। [२]ततोऽस्य सव्यमूरुं ते ममन्थुर्जातमन्यवः ।।४३।।
[३]तस्मिन्निर्मथ्यमाने वै राज्ञ ऊरौ तु जज्ञिवान्। ह्रस्वोऽतिमात्रः पुरुषः कृष्णश्चेति बभूव ह ।।४४।।
स भीतः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थिवान् द्विजसत्तमाः। तमत्रिर्विह्वलं दृष्ट्वा निषीदेत्यब्रवीत्तदा ।।४५।।
निषादवंशकर्त्तासौ बभूव वदतां वराः[४]। धीवरानसृजच्चापि वेणकल्मषसम्भवान् ।।४६।।
ये चान्ये विन्ध्यनिलयास्तथा[५] पर्व्वतसंश्रयाः। अधर्म्मरुचयो विप्रास्ते तु वै वेणकल्मषाः ।।४७।।
ततः पुनर्महात्मानः पाणिं वेणस्य दक्षिणम्। अरणीमिव [६]संरब्धा ममन्थुर्जातमन्यवः ।।४८।।
पृथुस्तस्मात् समुत्पन्नः कराज्ज्वलनसन्निभः। दीप्यमानः स्ववपुषा साक्षादग्निरिव[७] ज्वलन्[८] ।।४९।।
अथ सोऽजगवं नाम धनुर्गृह्य महारवम्। शरांश्च दिव्यान् रक्षार्थं कवचं च महाप्रभम् ।।५०।।
तस्मिन् जातेऽथ भूतानि सम्प्रहृष्टानि[९] सर्व्वशः। समापेतुर्महाभागा वेणस्तु त्रिदिवं ययौ ।।५१।।
समुत्पन्नेन भो विप्राः सत्पुत्रेण महात्मना। त्रातः स पुरुषव्याघ्रः पुन्नाम्नो नरकात्तदा ।।५२।।
तं समुद्राश्च नद्यश्च रत्नान्यादाय सर्व्वशः। तोयानि चाभिषेकार्थं सर्व्व एवोपतस्थिरे ।।५३।।

मैं हूँ। आप लोग मूर्ख और हृदयशून्य हैं, निश्चय ही मुझे नहीं पहचानते हैं ।।४०।। मैं चाहूँ तो पृथिवी को जला दूँ, जल से बहा दूँ, पृथिवी और आकाश को रोक दूँ; इसमें सन्देह न कीजिये ।।४१।। जब मुनि लोग राजा वेण को अज्ञान और अहंकार से अलग नहीं कर सके, तब उनको क्रोध आ गया ।।४२।। और उस तेजस्वी महाबली को दृढ़ता से पकड़कर क्रोध से उसकी बायीं जाँघ का मंथन किया ।।४३।। मथने पर उसकी जंघा से एक बहुत छोटा और कृष्णवर्ण पुरुष उत्पन्न हुआ ।।४४।। द्विजवर ! वह नवजात पुरुष डरा हुआ-सा हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उसे व्याकुल देखकर अत्रि ने बैठ जाने को कहा ।।४५।। मुनिवर्य ! वह निषादवंश का कर्ता हुआ तथा वेण के पाप से उत्पन्न धीवरों (मल्लाहों) का भी स्रष्टा हुआ ।।४६।। विप्रवृन्द, वेण के पाप से उत्पन्न अधर्मपरायण वे धीवर विन्ध्यपर्वत एवं अन्य पहाड़ों के आश्रय में रहने लगे ।।४७।। उसके बाद क्रुद्ध मुनिगण वेण के दाहिने हाथ को अरणी (यज्ञीय अग्नि-मंथन-काष्ठ) की तरह मथने लगे ।।४८।। उस हाथ से साक्षात् अग्नि के समान दीप्तिमान् पृथु उत्पन्न हुआ ।।४९।। प्रजा की रक्षा के लिए उसने भयंकर ध्वनिकारक अजगव नामक धनुष तथा दिव्य बाणों और द्युतिमान् कवच को धारण किया ।।५०।। महानुभावगण ! पृथु के उत्पन्न होने पर सब प्राणी हर्षित होकर उसके पास पहुँचे। वेण तो स्वर्ग चला गया था ।।५१।। द्विजवर्य ! महात्मा सत्पुत्र के जन्म लेने से वह पुरुष-श्रेष्ठ वेण पुंनामक नरक से बच गया ।।५२।। सब ओर से समुद्र और नदियाँ पृथु के अभिषेक के लिए रत्न और जल लेकर उपस्थित हुईं ।।५३।। देवताओं और अंगिरा-पुत्रों के साथ

---

१ ख. ०न्तो मामचे०। २ क. ०तोऽपस०। ३ क. ख. तस्मिंस्तु म०। ४ख. वरः। ५ ख. ०यास्तुषारास्तम्बुरास्तथा। अ०। ग. यास्तुषारास्तुम्बुरास्तथा। अ०। ६ क. ख. संबद्धा। ७ क. ०रिवापरः। अ०। ८ क. ग. ०न्। आद्यमाज०। ९ ग. ०प्रकृष्टा०।

पितामहश्च भगवान् देवैराङ्गिरसैः सह। स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि च सर्व्वशः ॥५४॥
समागम्य[1] तदा वैण्यमभ्यषिञ्चन्नराधिपम्। महता राजराजेन प्रजास्तेनानुरञ्जिताः ॥५५॥
सोऽभिषिक्तो महातेजा विधिवद्धर्म्मकोविदैः। आधिराज्ये तदा राज्ञां पृथुर्वैण्यः प्रतापवान् ॥५६॥
पित्रापरञ्जितास्तस्य प्रजास्तेनानुरञ्जिताः। अनुरागात्ततस्तस्य नाम राजाभ्यजायत ॥५७॥
आपस्तस्तम्भिरे तस्य समुद्रमभियास्यतः। पर्व्वताश्च ददुर्म्मार्गं ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥५८॥
अकृष्टपच्या पृथिवी सिध्यन्त्यन्नानि[2] चिन्तनात्[3]। सर्व्वकामदुधा गावः पुटके पुटके मधु ॥५९॥
एतस्मिन्नेव काले तु यज्ञे पैतामहे शुभे। सूतः सूत्यां समुत्पन्नः सौत्येऽहनि महामतिः ॥६०॥
तस्मिन्नेव महायज्ञे जज्ञे प्राज्ञोऽथ मागधः। पृथोः स्तवार्थं तौ तत्र समाहूतौ महर्षिभिः ॥६१॥
तावूचुर्ऋषयः सर्व्वे स्तूयतामेष पार्थिवः। कर्म्मैतदनुरूपं वां पात्रं चायं नराधिपः ॥६२॥
तावूचतुस्तदा सर्व्वांस्तानृषीन् सूतमागधौ। आवां देवानृषींश्चैव प्रीणयावः स्वकर्म्मभिः ॥६३॥
न चास्य विद्मो वै कर्म्म[4] नाम[5] वा लक्षणं[6] यशः। स्तोत्रं येनास्य कुर्य्याव[7] राज्ञस्तेजस्विनो द्विजाः ॥६४॥
ऋषिभिस्तौ नियुक्तौ तु भविष्यैः स्तूयतामिति। यानि कर्म्माणि कृतवान् पृथुः पश्चान्महाबलः ॥६५॥
ततः प्रभृति[8] वै लोके स्तवेषु मुनिसत्तमाः। आशीर्वादाः प्रयुज्यन्ते सूतमागधवन्दिभिः ॥६६॥
तयोः स्तवान्ते सुप्रीतः पृथुः प्रादात्प्रजेश्वरः। अनूपदेशं सूताय मगधं मागधाय च ॥६७॥

ब्रह्मा, स्थावर और जंगम प्राणी सब तरफ से आकर वेणु-पुत्र (पृथु) का राज्याभिषेक करने लगे ॥५४॥ महाराज पृथु ने प्रजावर्ग को हर भाँति से प्रसन्न किया ॥५५॥ तब धर्मज्ञों ने महान् तेजस्वी पृथु का सविधि राज्याभिषेक किया ॥५६॥ (आचरण से) जो प्रजा उनके पिता से विरक्त थी, उसे उन्होंने पुनः अनुरक्त बना लिया। प्रजा द्वारा अनुराग किये जाने के कारण पृथु का नाम राजा पड़ गया ॥५७॥ महाप्रतापी राजा पृथु जब समुद्र की तरफ गमन करता था तो समुद्र का जल स्तंभित हो जाता था और पर्वत उसे रास्ता दे देते थे। उसकी पताका कभी नहीं झुकी ॥५८॥ बिना बीज बोये ही केवल चिन्तन से ही पृथिवी अन्न उत्पन्न करती थी। गायें इच्छानुसार दूध देती थीं। दोना भर-भर शहद मिलती थी ॥५९॥ इसी समय ब्रह्मा के मंगलमय यज्ञ में सूती से महामति सूत सौत्य नामक दिन में उत्पन्न हुआ ॥६०॥ और उसी महायज्ञ में विद्वान् मागध भी उत्पन्न हुआ। महर्षियों ने सूत और मागध को पृथु की स्तुति करने के लिए वहाँ आमंत्रित किया ॥६१॥ ऋषियों ने सूत और मागध से पृथु की स्तुति करने के लिए प्रार्थना करते हुए कहा—'यह कार्य आपके योग्य है और यह राजा भी सुपात्र है' ॥६२॥ तब सूत और मागध ने ऋषियों से कहा—'द्विजगण! हम दोनों अपने कर्मों से देवताओं और ऋषियों को संतुष्ट करेंगे ॥६३॥ किन्तु तेजस्वी राजा के कर्म, नाम, लक्षण और यश से अपरिचित होने के कारण हम कैसे स्तुति करें' ॥६४॥ ऋषियों ने उनसे कहा—'भविष्यत् कर्मों से आप स्तुति कीजिये।' मुनिश्रेष्ठ! तब से लेकर महाबलवान् पृथु ने जितने जो कर्म किये, उन सबका प्रयोग सूत, मागध और बंदी जन आशीर्वाद के रूप में करने लगे ॥६५-६६॥ उनकी स्तुति के अन्त में प्रजा के स्वामी पृथु ने प्रसन्न

---

१ क. ०म्य ददुर्वैण्य। २. ०न्नान्ययत्नतः। स०। ३ ग. चिन्तया। ४ ख. ०र्म न तथा ल०। ५ क. नास्य ल०। ६ क. ०क्षणमञ्जसा। स्तो०। ७ क. ख. कुर्वो वै रा०। ८ क. ख. ०ति त्रैलो०।

तं दृष्ट्वा परमप्रीताः प्रजाः[१] प्रोचुर्मनीषिणः। [२]वृत्तीनामेष वो दाता भविष्यति नराधिपः ॥६८॥
ततो वैण्यं महात्मानं प्रजाः समभिदुद्रुवुः। त्वं नो वृत्तिं विधत्स्वेति महर्षिवचनात्तदा ॥६९॥
सोऽभिद्रुतः प्रजाभिस्तु प्रजाहितचिकीर्षया। धनुर्गृह्य पृषत्कांश्च [३]पृथिवीमाद्रवद्बली ॥७०॥
ततो [४]वैण्यभयत्रस्ता गौर्भूत्वा प्राद्रवन्मही। तां पृथुर्धनुरादाय द्रवन्तीमन्वधावत ॥७१॥
सा लोकान् ब्रह्मलोकादीन् गत्वा वैण्यभयात्तदा[५]। [६]प्रददर्शाग्रतो वैण्यं प्रगृहीतशरासनम् ॥७२॥
ज्वलद्भिर्निशितैर्बाणैर्दीप्ततेजसमन्ततः[७]। महायोगं महात्मानं दुर्धर्षममरैरपि ॥७३॥
अलभन्ती तु सा त्राणं वैण्यमेवान्वपद्यत। कृताञ्जलिपुटा भूत्वा पूज्या लोकैस्त्रिभिस्तदा ॥७४॥
[८]उवाच वैण्यं[९] नाधर्म्मं स्त्रीवधे परिपश्यसि। कथं धारयिता चासि प्रजा राजन् विना मया ॥७५॥
मयि लोकाः स्थिता[१०] राजन्मयेदं धार्य्यते जगत्। मद्विनाशे विनश्येयुः प्रजाः पार्थिव विद्धि तत् ॥७६॥
न मामर्हसि हन्तुं वै [११]श्रेयश्चेत्त्वं चिकीर्षसि। प्रजानां पृथिवीपाल शृणु चेदं वचो मम ॥७७॥
उपायतः[१२] समारब्धाः सर्व्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः। उपायं पश्य येन त्वं धारयेथाः प्रजामिमाम् ॥७८॥
हत्वापि[१३] मां न शक्तस्त्वं प्रजानां पोषणं नृप। अनुकूला भविष्यामि यच्छ कोपं [१४]महामते ॥७९॥
अवध्यां च स्त्रियं [१५]प्राहुस्तिर्य्यग्योनिगतेष्वपि[१६]। [१७]यद्येवं पृथिवीपाल[१८] न धर्म्मं त्यक्तुमर्हसि ॥८०॥

होकर अनूप देश सूत को दिया और मगध देश मागध को ॥६७॥ पृथु को देखकर अत्यन्त प्रसन्न विद्वानों ने प्रजाओं से कहा—'यह राजा तुम्हें जीविका प्रदान करेगा' ॥६८॥ तब महात्मा पृथु के पास जाकर प्रजा कहने लगी—'आप हमें जीविका दें।' तब महर्षियों के वचन से प्रजाओं से घिरे हुए बली पृथु ने प्रजा के कल्याण की इच्छा से धनुष और बाण लेकर पृथिवी को खदेड़ा ॥६९-७०॥ पृथु के भय से काँपती हुई पृथ्वी गाय का रूप धारण कर भागने लगी। भागती हुई पृथ्वी के पीछे धनुष लेकर पृथु भी दौड़ने लगा ॥७१॥ भयभीत पृथिवी ब्रह्म-लोक आदि सभी लोकों में गयी, किन्तु उसने अन्त तक चमकते हुए तीक्ष्ण बाणों से कान्तिमान्, महायोगी, महात्मा और देवताओं से भी अजेय पृथु को अपने सामने धनुष लिये हुए देखा ॥७२-७३॥ कहीं त्राण न पाकर (अन्ततः) पृथु की ही शरण में जाकर वह त्रिभुवनपूज्या पृथिवी हाथ जोड़कर उससे कहने लगी—॥७४॥ 'स्त्री के मारने में अधर्म को आप नहीं देखते? राजन्! मेरे बिना प्रजाओं का धारण आप कैसे करेंगे? ॥७५॥ सब लोक मुझमें स्थित हैं। मैं संसार को धारण करती हूँ। राजन्! मेरा नाश हो जाने पर प्रजाओं का भी नाश ही समझिये ॥७६॥ यदि आप प्रजाओं का कल्याण करना चाहते हैं, तो मुझे न मारें। पृथ्वीपति! मेरी बात सुनिये ॥७७॥ उपाय करने से सब काम सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए आप उपाय कीजिये, जिससे प्रजाओं का धारण कर सकेंगे ॥७८॥ राजन्! मुझे मारकर भी प्रजाओं के पालन में आप समर्थ नहीं हो सकते। महामतिमान्! क्रोध त्यागिये! मैं आपका कहना मानूँगी ॥७९॥ पक्षी-योनि में जाने पर भी स्त्रियाँ अवध्य कही गयी हैं। राजन्! यदि ऐसा है, तो आपके लिए धर्म का परित्याग करना

---

१ क. ख. ०जाः प्राहुर्म। २ ग. वृत्तिं तामे०। ३ ख. ०मार्दद्ब०। ४ क. वैण्यादपत्र०। ५ क. ०दा। द०। ६ क. ०र्शाग्रे ततो वै०। ७ क. ख. ०मच्युतम्। म०। ८ क. चैनं। ९ ग. ०ण्यं माऽध०। १० ख. स्थिरा। ११ क. श्रेयो यत्त्वं। १२ क. ०यसहिता रम्याः सर्वे। १३ क. ०पि मामश०। १४ ख. महीपते। ग. महाद्युते। १५ क. ०गता अपि। १६ ख. पि। संपश्यन्पृथि०। १७ क. संपश्य। १८ क. ०ल अध।

एवं बहुविधं वाक्यं श्रुत्वा राजा महामनाः। कोपं निगृह्य धर्म्मात्मा वसुधामिदमब्रवीत्[1] ॥८१॥

पृथुरुवाच

एकस्यार्थे[2] तु यो हन्यादात्मनो वा परस्य वा। बहून् वा [3]प्राणिनोऽनन्तं भवेत्तस्येह पातकम् ॥८२॥
सुखमेधन्ति बहवो यस्मिंस्तु निहतेऽशुभे। तस्मिन् हते नास्ति भद्रे[4] पातकं चोपपातकम् ॥८३॥
सोऽहं प्रजानिमित्तं[5] त्वां हनिष्यामि वसुन्धरे। यदि मे [6]वचनान्नाद्य करिष्यसि जगद्धितम् ॥८४॥
त्वां निहत्याद्य बाणेन मच्छासनपराङ्मुखीम्। आत्मानं प्रथयित्वाहं प्रजा धारयिता स्वयम् ॥८५॥
सा त्वं शासनमास्थाय मम धर्म्मभृतां वरे। सञ्जीवय प्रजाः सर्व्वाः समर्था ह्यसि धारणे ॥८६॥
दुहितृत्वं च मे गच्छ तत एनमहं शरम्। नियच्छेयं त्वद्वधार्थमुद्यन्तं घोरदर्शनम् ॥८७॥

वसुधोवाच

सर्व्वमेतदहं वीर विधास्यामि न संशयः।[7] वत्सं तु मम[8] सम्पश्य क्षरेयं येन वत्सला ॥८८॥
समाञ्च कुरु सर्व्वत्र मां त्वं धर्मभृतां वर। यथा[9] विस्यन्दमानं मे क्षीरं सर्व्वत्र भावयेत् ॥८९॥

लोमहर्षण उवाच

तत उत्सारयामास शैलाञ्छतसहस्रशः। धनुष्कोटया तदा वैण्यस्तेन शैला विवर्द्धिताः ॥९०॥
न हि पूर्व्वविसर्गे वै विषमे पृथिवीतले[10]। संविभागःपुराणां वा ग्रामाणां वाभवत्तदा ॥९१॥

उचित नहीं है' ॥८०॥ इस तरह की बहुत-सी बातें सुनकर महामना धर्मात्मा राजा शान्त हो पृथ्वी से कहने लगा ॥८१॥

पृथु ने कहा—भद्रे ! एक अपने लिये अथवा दूसरे के लिए बहुत प्राणियों को अथवा एक को जो मारता है, उसको अनन्त पाप लगता है ॥८२॥ जिस पापी के मरने से बहुतेरे सुखी हों, उसके मारने में पाप और उपपाप नहीं लगते ॥८३॥ पृथ्वी ! मेरी आज्ञा से यदि तुम संसार का कल्याण नहीं करती हो तो प्रजा के कारण मैं तुम्हें मार डालूँगा ॥८४॥ शासन को न मानने वाली तुमको आज मार कर मैं प्रजा को धारण करने के लिए अपना विस्तार करूँगा ॥८५॥ अतः हे धर्मधुरीण, तुम मेरा शासन स्वीकार कर प्रजा का पालन-पोषण करो। प्रजा को धारण करने में तुम पूर्ण समर्थ हो ॥८६॥ यदि तुम्हें मेरी पुत्री बनना स्वीकार हो तो तुम्हारे वध के लिए तैयार इस भयंकर बाण को मैं रोक लूँ ॥८७॥

पृथिवी ने कहा—वीर ! निःसन्देह मुझे सब स्वीकार है। पर आप मेरे बछड़े को देखिये, जिससे मैं वात्सल्ययुक्त होकर दूध दूँ ॥८८॥ धर्मधुरीण ! आप मुझे सब ओर से समतल बना दें, जिससे मेरा झरा हुआ दूध सब जगह पहुँच सके ॥८९॥

लोमहर्षण ने कहा—तब पृथु ने धनुष के सिरे से सैकड़ों-हजारों पर्वतों को उखाड़ दिया। इससे पहाड़ बढ़ गये ॥९०॥ पहली सृष्टि में जब पृथ्वी की सतह ऊबड़-खाबड़ थी, तब गाँवों या नगरों का विभाग नहीं

---

१ क. ०त्। ए०। २ ख. ०स्यार्थाय यो। ग. ०स्यार्थेन यो। ३ क. ०नो भद्रे भ०। ४ ख. शुभे। ५ क. ०मित्ते त्वां। ६ ख. ०चनं नाद्य। ७ ख. ०त्सं त्वममृतं प०। ८ ग. ०म तं प०। ९ क. चस्या। १० म. ०ले। प्रवि०।

न शस्यानि न गोरक्ष्यं[1] न कृषिर्न वणिक्पथः। नैव सत्यानृतं चासीन्न लोभो न च मत्सरः ॥९२॥
वैवस्वतेऽन्तरे तस्मिन् साम्प्रतं समुपस्थिते। वैण्यात्प्रभृति वै विप्राः सर्व्वस्यैतस्य सम्भवः ॥९३॥
यत्र यत्र समं त्वस्या भूमेरासीत्तदा द्विजाः। तत्र तत्र प्रजाः सर्व्वा विवासं समरोचयन् ॥९४॥
आहारः फलमूलानि प्रजानामभवत्तदा। कृच्छ्रेण महता [2]युक्त इत्येवमनुशुश्रुम[3] ॥९५॥
सा कल्पयित्वा वत्सं तु मनुं स्वायम्भुवं प्रभुम्। स्वपाणौ पुरुषव्याघ्रो दुदोह पृथिवीं[4] ततः ॥९६॥
शस्यजातानि सर्व्वाणि पृथुर्वैण्यः प्रतापवान्। तेनान्नेन प्रजाः सर्व्वा वर्त्तन्तेऽद्यापि सर्व्वशः[5] ॥९७॥
ऋषयश्च तदा देवाः [6]पितरोऽथ सरीसृपाः। दैत्या यक्षाः पुण्यजना गन्धर्व्वाः पर्व्वता नगाः ॥९८॥
एते पुरा द्विजश्रेष्ठा दुदुहुर्धरणीं किल। क्षीरं वत्सश्च पात्रं च तेषां दोग्धा पृथक्पृथक् ॥९९॥
ऋषीणामभवत्सोमो वत्सो दोग्धा बृहस्पतिः। क्षीरं तेषां तपो ब्रह्म पात्रं छन्दांसि भो द्विजाः ॥१००॥
देवानां काञ्चनं पात्रं वत्सस्तेषां शतक्रतुः। [7]क्षीरमोजस्करं चैव दोग्धा च [8]भगवान्रविः ॥१०१॥
पितृणां राजतं पात्रं यमो वत्सः प्रतापवान्। अन्तकश्चाभवद्दोग्धा क्षीरं तेषां [9]सुधा स्मृता ॥१०२॥
नागानां तक्षको वत्सः पात्रं चालाबुसंज्ञकम्। दोग्धा त्वैरावतो नागस्तेषां क्षीरं विषं स्मृतम् ॥१०३॥
असुराणां मधुर्दोग्धा क्षीरं मायामयं स्मृतम्। विरोचनस्तु वत्सोऽभूदायसं पात्रमेव च ॥१०४॥
यक्षाणामामपात्रं तु वत्सो वैश्रवणः प्रभुः। दोग्धा रजतनाभस्तु क्षीरान्तर्धानमेव च ॥१०५॥
[10]सुमाली राक्षसेन्द्राणां वत्सं क्षीरं च शोणितम्। दोग्धा रजतनाभस्तु कपालं पात्रमेव च ॥१०६॥

हुआ था ॥९१॥ अन्न, गो-रक्षा, खेती, वाणिज्य, सत्य, मिथ्या, लोभ, डाह—ये सब नहीं थे ॥९२॥ द्विजवर्य ! वैवस्वत मन्वन्तर होने पर पृथु-काल में ही इनकी उत्पत्ति हुई ॥९३॥ विप्रवृन्द ! जहाँ-जहाँ पृथ्वी बराबर थी, वहाँ सर्वत्र प्रजा बसने लगी ॥९४॥ उस समय की जनता परिश्रम और कष्ट से फल-मूल भोजन प्राप्त करती थी—ऐसा हमने सुना है ॥९५॥ पुरुष-पुंगव पृथु ने समर्थ स्वायंभुव मनु को बछड़ा बनाकर अपने हाथ से पृथिवी को जब दुहा तो सभी प्रकार के अन्न पैदा हुए। उन्हीं भोज्यपदार्थों से जनता का पोषण अब भी हो रहा है ॥९६-९७॥ द्विजवर्य ! ऋषि, देवता, पितर, नाग, दैत्य, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पहाड़, वृक्ष—इन्होंने पहले पृथिवी को दुहा ॥९८$\frac{1}{2}$॥ विप्रवृन्द ! उनके दूध, बछड़ा, पात्र, दुहने वाला—ये सब अलग-अलग व्यक्ति हुए ॥९९॥ ऋषियों ने सोम को बछड़ा, बृहस्पति को दुहनेवाला और वेदों को दोहनी बनाकर तपस्या रूप दूध को दुहा ॥१००॥ देवताओं ने स्वर्ण की दोहनी में इन्द्र को बछड़ा और भगवान् सूर्य को दुहने वाला बनाकर तेजस्कर दूध को दुहा ॥१०१॥ पितरों ने चाँदी को पात्र, प्रतापी यम को बछड़ा, अन्तक (काल) को दुहने वाला बनाकर अमृत रूप दूध का दोहन किया ॥१०२॥ नागों ने तक्षक को बछड़ा, तूँबी को पात्र, ऐरावत नाग को दुहनेवाला बनाकर विष रूप दूध को दुहा ॥१०३॥ दैत्यों ने मधु (दैत्य) को दुहनेवाला, विरोचन (प्रह्लाद-पुत्र) को बछड़ा और लोहा को पात्र बनाकर माया रूप दूध को दुहा ॥१०४॥ यक्षों ने काँच को पात्र, कुबेर को बछड़ा, रजतनाभ को दुहनेवाला बनाकर अन्तर्धान (छिप जाने की विद्या) रूप दूध को दुहा ॥१०५॥ राक्षसों ने सुमाली को बछड़ा, रजतनाभ को दुहनेवाला और कपाल को पात्र बनाकर शोणित रूप

---

१ ग. गौरक्षं। ख. कृच्छ्र। ३ क. ०म। संक०। ४ क. ०थिवीतलम्। स०। ५ ख. सर्वतः। ६ क. ०तरः सस०। ख. ०तरोऽपि स०। ७ ख. ०रमूर्जस्क०। ८ क. ०वान्कविः। ९ ग. स्वधा। १० ग. सुमना।

गन्धर्व्वाणां चित्ररथो वत्सः पात्रं च पङ्कजम् । दोग्धा च सुरुचिः क्षीरं तेषां गन्धः शुचिः स्मृतः ॥१०७॥
शैलं पात्रं पर्व्वतानां क्षीरं रत्नौषधीस्तथा । वत्सस्तु हिमवानासीद्दोग्धा मेरुर्महागिरिः ॥१०८॥
प्लक्षो वत्सस्तु वृक्षाणां दोग्धा शालस्तु पुष्पितः । पालाशपात्रं क्षीरञ्च छिन्नदग्धप्ररोहणम् ॥१०९॥
सेयं धात्री विधात्री च पावनी च वसुन्धरा । चराचरस्य [1]सर्व्वस्य प्रतिष्ठा योनिरेव च ॥११०॥
सर्व्वकामदुधा दोग्ध्री सर्व्वशस्यप्ररोहणी । आसीदियं समुद्रान्ता मेदिनी परिविश्रुता ॥१११॥
मधुकैटभयोः कृत्स्ना मेदसा[2] समभिप्लुता । तेनेयं मेदिनी देवी उच्यते ब्रह्मवादिभिः ॥११२॥
ततोऽभ्युपगमाद्राज्ञः पृथोर्वैण्यस्य भो द्विजाः । दुहितृत्वमनुप्राप्ता देवी पृथ्वीति चोच्यते ॥११३॥
पृथुना प्रविभक्ता च शोधिता च वसुन्धरा । शस्याकरवती स्फीता[3] पुरपत्तनशालिनी ॥११४॥
एवम्प्रभावो वैण्यः स राजासीद्राजसत्तमः । नमस्यश्चैव पूज्यश्च भूतग्रामैर्न संशयः ॥११५॥
ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः । पृथुरेव नमस्कार्य्यो ब्रह्मयोनिः सनातनः ॥११६॥
पार्थिवैश्च[4] महाभागैः[5]पार्थिवत्वमिहेच्छुभिः । आदिराजो नमस्कार्य्यः पृथुर्वैण्यः प्रतापवान् ॥११७॥
योधैरपि च विक्रान्तैः[6] प्राप्तुकामैर्जयं युधि । आदिराजो[7] नमस्कार्य्यो योधानां प्रथमो नृपः ॥११८॥
यो हि योद्धा रणं याति कीर्त्तयित्वा पृथुं नृपम् । सघोररूपात्संग्रामात् [8]क्षेमी भवति कीर्तिमान् ॥११९॥
वैश्यैरपि च [9]वित्ताढ्यैर्वैश्यवृत्तिविधायिभिः । पृथुरेव नमस्कार्य्यो वृत्तिदाता महायशाः ॥१२०॥

दूध को दूहा ॥१०६॥ गन्धर्वों ने चित्ररथ को बछड़ा, कमल को पात्र, सुरुचि को दुहनेवाला बनाकर पवित्र गन्ध रूप दूध को दुहा ॥१०७॥ पहाड़ों ने शिला को पात्र, हिमालय को बछड़ा और सुमेरु को दुहनेवाला बनाकर रत्न और ओषधि रूप दूध दुहा ॥१०८॥ वृक्षों ने पाकर को बछड़ा, पुष्पित साखू को दुहनेवाला, पलाश को पात्र बनाकर कटे-जले हुए वृक्षों से निकला कोंपलरूप दूध दुआ ॥१०९॥ वही पृथ्वी विधात्री, पावनी, वसुंधरा, जननी, सर्वकामदोग्ध्री, सर्वसस्यप्ररोहिणी और मेदिनी नाम से विख्यात है और समुद्र तक फैली हुई है ॥११०-१११॥ मधु-कैटभ के मेद से व्याप्त होने के कारण ब्रह्मवादी इसे मेदिनी कहते हैं ॥११२॥ विप्रगण ! राजा पृथु द्वारा पुत्रीरूप में स्वीकार की जाने से यह पृथ्वी कहलायी ॥११३॥ पृथु ने पृथ्वी को विभक्त कर उसका संस्कार किया, जिससे यह धन, धान्य, गाँव, नगर आदि से समृद्ध हुई ॥११४॥ इस तरह प्रतापी और नृपश्रेष्ठ राजा पृथु प्राणियों में पूज्य और प्रणम्य बने, इसमें संशय नहीं ॥११५॥ वेद-वेदांगों में पारंगत महाभाग ब्राह्मणों को चाहिए कि सनातन और ब्रह्मयोनि पृथु को ही नमस्कार करें ॥११६॥ राजत्व चाहने वाले महाभाग राजाओं को भी परम प्रतापी आदिराजा पृथु को नमस्कार करना चाहिये ॥११७॥ युद्ध में जय की इच्छा रखने वाले पराक्रमी योद्धाओं को भी आदि राजा पृथु को नमस्कार करना चाहिये ॥११८॥ जो सैनिक राजा पृथु का स्मरण करके युद्ध में जाता है, वह घोर संग्राम में भी विजयी होता है ॥११९॥ महाधनवान् वैश्य भी जीविका देनेवाले महायशस्वी पृथु को ही नमस्कार करें ॥१२०॥ उसी तरह

१क. विश्वस्य । २क. ०सा च परिप्लु० । ३क. ०रग्रामवती च सा । ४ग. ०श्च नमस्कार्यो म ० । ५. ग ०गैः फलेप्सुभिः । ६. ०क्रान्तैराप्तु० । ७ख. ०र्यो वृत्तिदाता महायशाः । यो । ८ख. ०मात्तरति बहुकी ० । ९ख. ०त्तार्थे वैश्य० ।

तथैव शूद्रैः[1] शुचिभिस्त्रिवर्णपरिचारिभिः। पृथुरेव नमस्कार्य्यः श्रेयः परमिहेप्सुभिः ॥१२१॥
एते वत्सविशेषाश्च दोग्धारः क्षीरमेव च। पात्राणि च मयोक्तानि किं भूयो वर्णयामि वः ॥१२२॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे पृथोर्जन्ममाहात्म्यकथनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

मन्वन्तर-वर्णनम्

ऋषय ऊचुः

मन्वन्तराणि सर्व्वाणि विस्तरेण महामते। तेषां पूर्व्वविसृष्टिं च लोमहर्षण कीर्त्तय ॥१॥
यावन्तो मनवश्चैव यावन्तं कालमेव च। मन्वन्तराणि भो सूत श्रोतुमिच्छाम तत्त्वतः ॥२॥

लोमहर्षण उवाच

न शक्यो विस्तरो विप्रा वक्तुं वर्षशतैरपि। मन्वन्तराणां सर्व्वेषां संक्षेपाच्छृणुत द्विजाः ॥३॥
स्वायम्भुवो मनुः पूर्व्वं मनुः स्वारोचिषस्तथा[2]। उत्तमस्तामसश्चैव रैवतश्चाक्षुषस्तथा ॥४॥

तीनों वर्णों की सेवा करने वाले पवित्र शूद्र भी परम कल्याण के लिए पृथु को ही नमस्कार करें ॥१२१॥ ये विशेष बछड़े, दुहनेवाले, दूध और पात्र मैंने बतला दिये। अव और क्या वर्णन करूँ, कहिये ॥१२२॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में पृथु का जन्म-माहात्म्य-कथन नामक चौथा अध्याय समाप्त ॥४॥

अध्याय ५

मन्वन्तरों का वर्णन

मुनियों ने कहा—महाप्राज्ञ लोमहर्षण, सभी मन्वन्तरों और उनकी पूर्वसृष्टि का वर्णन विस्तार से कीजिये ॥१॥ महाभाग सूत ! जितने मनु, जितने काल और जितने मन्वन्तर हुए हैं, उनको तत्त्वतः हम सुनना चाहते हैं ॥२॥

लोमहर्षण बोले—विप्रवृन्द ! सभी मन्वन्तरों का विस्तार पूर्वक वर्णन मैं सौ वर्षों में भी नहीं कर सकता। इसलिए संक्षेपतः श्रवण कीजिये ॥३॥

सर्वप्रथम स्वायंभुव मनु हुआ। उसके बाद क्रमशः स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष—ये मनु हुए॥४॥

---

[1] ग. शूरैः। [2] ग. ०था। औत०।

वैवस्वतश्च भो विप्राः साम्प्रतं मनुरुच्यते। सार्वाणिश्च मनुस्तद्वद्रैभ्यो[1] रौच्यस्तथैव च ॥५॥
तथैव मेरुसावर्ण्यश्चत्वारो मनवः स्मृताः। अतीता वर्त्तमानाश्च तथैवानागता द्विजाः ॥६॥
कीर्त्तिता मनवस्तुभ्यं मयैवैते यथाश्रुताः। ऋषींस्त्वेषां प्रवक्ष्यामि पुत्रान्देवगणांस्तथा ॥७॥
मरीचिरत्रिर्भगवानङ्गिराः पुलहः क्रतुः। पुलस्त्यश्च वशिष्ठश्च सप्तैते ब्रह्मणः सुताः ॥८॥
उत्तरस्यां दिशि तथा द्विजाः सप्तर्षयस्तथा। आग्नीध्रश्चाग्निबाहुश्च मेध्यो[2] मेधातिथिर्वसुः[3] ॥९॥
ज्योतिष्मान्द्युतिमान्हव्यः[4] सबलः पुत्रसंज्ञकः। मनोः स्वायंभुवस्यैते दश पुत्रा महौजसः ॥१०॥
एतद्वै प्रथमं विप्रा मन्वन्तरमुदाहृतम्। और्व्वो वसिष्ठपुत्रश्च स्तम्बः [5]कश्यप एव च ॥११॥
प्राणो बृहस्पतिश्चैव दत्तोऽत्रिश्च्यवनस्तथा। एते महर्षयो विप्रा वायुप्रोक्ता [6]महाव्रताः ॥१२॥
देवाश्च तुषिता नाम स्मृताः स्वारोचिषेऽन्तरे। हविघ्नः[7] सुकृतिर्ज्योतिरापोमूर्त्तिरपि स्मृतः ॥१३॥
प्रतीतश्च नभस्यश्च नभ[8] ऊर्जस्तथैव च। स्वारोचिषस्य पुत्रास्ते मनोर्विप्रा महात्मनः ॥१४॥
कीर्त्तिताः पृथिवीपाला महावीर्य्यपराक्रमाः। द्वितीयमेतत्कथितं विप्रा मन्वन्तरं मया ॥१५॥
इदं तृतीयं वक्ष्यामि तद्बुध्यध्वं द्विजोत्तमाः। वसिष्ठपुत्राः सप्तासन् वासिष्ठा इति विश्रुताः ॥१६॥
हिरण्यगर्भस्य सुता ऊर्जा जाताः[9] सुतेजसः। ऋषयोऽत्र मया प्रोक्ताः कीर्त्त्यमानान्निबोधत ॥१७॥
औत्तमेयान्मुनिश्रेष्ठा दश पुत्रान्मनोरिमान्। इष ऊर्जस्तनूर्जस्तु मधुर्माधव एव च ॥१८॥
शुचिः शुक्रः सहश्चैव नभस्यो नभ एव च। भानवस्तत्र देवाश्च मन्वन्तरमुदाहृतम् ॥१९॥

द्विजवृन्द! इस समय वैवस्वत मनु है। सार्वाणि, रैभ्य, रौच्य और मेरुसावर्ण्य—ये चारों भी मनु कहलाते हैं॥५½॥ द्विजवृन्द! अतीत, वर्तमान और भविष्य में होने वाले मनुओं को मैंने अनुश्रुति के अनुसार आप लोगों से बतला दिया, अब इनके ऋषि, पुत्र और देवताओं का वर्णन करूँगा॥६-७॥ मरीचि, अत्रि, भगवान् अंगिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ— ये सातों ब्रह्मा के पुत्र कहलाये॥८॥ ब्राह्मणवृन्द, उत्तर दिशा में ये सातों सप्तर्षि कहलाते हैं। आग्नीध्र, अग्निबाहु, मेध्य, मेधातिथि, वसु, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, हव्य, सवल और पुत्र—ये महापराक्रमी दशों पुत्र स्वायंभुव मनु के हुए॥९-१०॥ ब्राह्मणगण! यह पहले मन्वन्तर का वर्णन मैंने किया है। वसिष्ठ का पुत्र और्व, स्तम्ब, कश्यप, प्राण, बृहस्पति, दत्त, अत्रि और च्यवन—ये वायु से कहे गये महाव्रती महर्षि और तुषित नामक देवता स्वारोचिष मन्वन्तर में हुए॥११-१२½॥ हविघ्न, सुकृति, ज्योति, आप, मूर्ति, प्रतीत, नभस्य, नभ और ऊर्ज—ये महात्मा स्वारोचिष मनु के पुत्र बड़े पराक्रमी राजा हुए॥१३-१४½॥ यह दूसरे मन्वन्तर का वर्णन मैंने किया॥१५॥ विप्रवर! अब तीसरे मन्वन्तर का वर्णन मैं करूँगा, सुनिये। वसिष्ठ के सातों पुत्र वासिष्ठ नाम से प्रसिद्ध हुए॥१६॥ हिरण्यगर्भ के तेजस्वी पुत्र ऊर्ज नाम से ख्यात हुए। मुनिवर्य! ऋषियों के बारे में मैंने बतला दिया॥१७॥ अब औत्तमि के दस पुत्रों के नाम सुनिये—इष, ऊर्ज, तनूर्ज, मधु, माधव, शुचि, शुक्र, सह, नभस्य और नभ। उस (मन्वन्तर) में भानु देवता हुए। यह मन्वन्तर मैंने कह दिया॥१८-१९॥ अब चौथे मन्वन्तर के विषय में मैं आपसे कहूँगा।

---

[1] ख. ०द्वद्भाव्यो रौ०। [2] ख. ग. मेधा। [3] क. ०थिर्विभुः। ज्यो०। [4] ख. ०न्हव्यो मनुपुत्रस्तथैव च। म०। [5] ग. काश्यप। [6] क. जितेन्द्रियाः। ख. महावलाः। [7] क. हविष्यः। ग हविध्र ०। [8] ख. भस्तर्षस्त ०। [9] ख. नाम।

मन्वन्तरं चतुर्थं वः[1] कथयिष्यामि साम्प्रतम् । काव्यः पृथुस्तथैवाग्निर्जह्नुर्धाता द्विजोत्तमाः॥२०॥
[2]कपीवानकपीवांश्च तत्र सप्तर्षयो द्विजाः । पुराणे कीर्त्तिता विप्राः पुत्राः पौत्राश्च भो द्विजाः ॥२१॥
[3]तथा देवगणाश्चैव तामसस्यान्तरे मनोः[4] । द्युतिस्तपस्यः सुतपास्तपोभूतः[5] सनातनः ॥२२॥
तपोरतिरकल्माषस्तन्वी[6] धन्वी[7] परन्तपः[8] । तामसस्य मनोरेते दश पुत्राः प्रकीर्त्तिताः ॥२३॥
वायुप्रोक्ता[9] मुनिश्रेष्ठाश्चतुर्थं चैतदन्तरम् । देवबाहुर्यदुध्रश्च मुनिर्व्वेदशिरास्तथा ॥२४॥
हिरण्यरोमा पर्ज्जन्य ऊर्ध्वबाहुश्च सोमजः[10] । सत्यनेत्रस्तथात्रेय एते सप्तर्षयोऽपरे ॥२५॥
[11]देवाश्चाभूतरजसस्तथा प्रकृतयः स्मृताः[12] । वारिप्लवश्च रैभ्यश्च[13] मनोरन्तरमुच्यते ॥२६॥
[14]अथ पुत्रानिमांस्तस्य बुध्यध्वं गदतो मम । धृतिमानव्ययो युक्तस्तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः ॥२७॥
आरण्यश्च प्रकाशश्च [15]निर्म्मोहः सत्यवाक्कृती । रैवतस्य मनोः पुत्राः पञ्चमं चैतदन्तरम् ॥२८॥
षष्ठं तु सम्प्रवक्ष्यामि तद्बुध्यध्वं द्विजोत्तमाः । भृगुर्नभो विवस्वांश्च सुधामा विरजास्तथा ॥२९॥
[16]अतिनामा सहिष्णुश्च सप्तैते[17] च महर्षयः । चाक्षुषस्यान्तरे विप्रा[18] मनोर्देवास्त्विमे स्मृताः[19]॥३०॥
आबालप्रथितास्ते वै पृथक्त्वेन दिवौकसः । लेखाश्च नामतो विप्राः पञ्च देवगणाः स्मृताः ॥३१॥
ऋषेरङ्गिरसः पुत्रा महात्मानो महौजसः । नाड्वलेयाः[20] मुनिश्रेष्ठा दश पुत्रास्तु विश्रुताः[21] ॥३२॥
रुरुप्रभृतयो विप्राश्चाक्षुषस्यान्तरे मनोः । षष्ठं मन्वन्तरं प्रोक्तं सप्तमं तु निबोधत ॥३३॥

ब्राह्मणश्रेष्ठो ! काव्य, पृथु, अग्नि, जह्नु, धाता, कपीवान् और अकपीवान्—ये सातों ऋषि चतुर्थ मन्वन्तर में हुए । तामस मन्वन्तर में मनु के पुत्र, पौत्र तथा देवसमूह का भी वर्णन पुराण में किया गया है ॥२०-२१॥ द्युति, तपस्य, सुतपस्, तपोभूत, सनातन, तप, अतिकल्माष, तन्वी, धन्वी और परंतप—ये दसों पुत्र तामस मनु के कहलाये—ऐसा वायु का कहना है । यह चौथा मन्वन्तर मैंने बतला दिया ॥२२-२३½॥ (पाँचवें मन्वन्तर में) देवबाहु, यदुध्र, मुनि वेदशिरा, हिरण्यरोमा, पर्जन्य, सोम से उत्पन्न ऊर्ध्वबाहु और अत्रि-पुत्र सत्यनेत्र—ये सातों ऋषि हुए ॥२४-२५॥ रजोविहीन प्रकृतियाँ देवता हुईं । वारिप्लव और रैभ्य भी मनु के अन्तर कहलाते हैं ॥२६॥ अब मनु के पुत्रों के नाम सुनिये । धृतिमान्, अव्यय, युक्त, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, आरण्य, प्रकाश, निर्मोह, सत्यवाक् और कृती—ये रैवत मनु के पुत्र हुए । यह पाँचवाँ मन्वन्तर मैंने वर्णन किया ॥२७-२८॥ ब्राह्मणश्रेष्ठो ! अब छठे के बारे में कहूँगा, सुनिये । भृगु, नभ, विवस्वान्, सुधामा, विरजा, अतिनामा और सहिष्णु—ये सातों महर्षि चाक्षुष मन्वन्तर में हुए ॥२९-३०॥ लेखा नाम से प्रसिद्ध पाँच देवता हुए, जिनके नाम पृथक्रूप से बालक तक भी जानते हैं ॥३१॥ मुनिवर ! अंगिरा मुनि के महापराक्रमी रुरु प्रभृति दस पुत्र नाड्वलेय नाम से प्रसिद्ध हुए ॥३२॥ चाक्षुष मन्वन्तर नामक छठा मन्वन्तर मैंने वर्णन

---

१ क. तु । ख. च । २ क. कक्षीवान्कपिवांश्चैव त ० । ३ ख. सत्या । ४ क. ०नोः । धृतिस्तपः सुतरणस्तपोमूलं स ० । ५ ख. ।०पोमूलः स० । ६ क. ०स्तन्विध० । ७ क. ०धन्विप० । ८ क. ०तपाः । ता० । ९ ख. ०क्ताश्च भो विप्राश्च० । १० क. सोमपः । ११ क. वाश्च भू० । १२ ख. ०ताः । पारि० । १३ ग. वैद्यश्च । १४ ख. ग. अरण्यश्च । १५ क. निर्भेदः । १६ क. ०तिधामा । १७ ग. ०प्तैतैऽतिम० । १८ ख. चैते । १९ क. ०ताः । अप्रसूताश्च ऋषयः पृथुशाज्या दिवौकसः । २० ख. नाद्वले० । २१ क. ०ताः । गुरु० ।

अत्रिर्वसिष्ठो भगवान् कश्यपश्च महानृषिः। गौतमोऽथ भरद्वाजो विश्वामित्रस्तथैव च ।।३४।।
तथैव पुत्रो भगवानृचीकस्य महात्मनः। सप्तमो जमदग्निश्च [1]ऋषयः साम्प्रतं दिवि ।।३५।।
साध्या रुद्राश्च विश्वे च वसवो मरुतस्तथा। आदित्याश्चाश्विनौ चापि देवौ वैवस्वतौ स्मृतौ ।।३६।।
मनोर्व्वैवस्वतस्यैते वर्त्तन्ते साम्प्रतेऽन्तरे। इक्ष्वाकुप्रमुखाश्चैव दश पुत्रा महात्मनः ।।३७।।
एतेषां कीर्त्तितानान्तु महर्षीणां महौजसाम्। तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च दिक्षु सर्व्वासु भो द्विजाः ।।३८।।
मन्वन्तरेषु सर्व्वेषु[2] प्रागासन् सप्त सप्तकाः। लोके धर्म्मव्यवस्थार्थं लोकसंरक्षणाय च ।।३९।।
मन्वन्तरे व्यतिक्रान्ते चत्वारः सप्तका गणाः। कृत्वा कर्म्म दिवं यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ।।४०।।
ततोऽन्ये तपसा युक्ताः स्थानं तत्पूरयन्त्युत। अतीता वर्त्तमानाश्च[3] क्रमेणैतेन भो द्विजाः ।।४१।।
अनागताश्च सप्तैते स्मृता दिवि महर्षयः। मनोरन्तरमासाद्य सावर्णस्येह[4] भो द्विजाः ।।४२।।
रामो व्यासस्तथात्रेयो दीप्तिमन्तो बहुश्रुताः[5]। भारद्वाजस्तथा द्रौणिरश्वत्थामा महाद्युतिः ।।४३।।
[6]गौतमश्चाजरश्चैव[7] शरद्वान्नाम गौतमः। कौशिको गालवश्चैव और्व्वः[8] काश्यप एव च ।।४४।।
एते सप्त महात्मानो भविष्या मुनिसत्तमाः। वैरी चैवाध्वरीवांश्च शमनो[9] धृतिमान् वसुः ।।४५।।
अरिष्टश्चाप्यधृष्टश्च वाजी सुमतिरेव च। सावर्णस्य मनोः पुत्रा भविष्या मुनिसत्तमाः ।।४६।।
एतेषां कल्यमुत्थाय कीर्त्तनात् सुखमेधते। यशश्चाप्नोति सुमहदायुष्मांश्च [10]भवेन्नरः ।।४७।।

कर दिया। अब सातवें के विषय में सुनिये ।।३३।। अत्रि, वसिष्ठ, भगवान् कश्यप, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र और ऋचीक महात्मा का सातवाँ पुत्र जमदग्नि—ये सब ऋषि इस समय स्वर्ग में हैं ।।३४-३५।। साध्य, रुद्र, विश्वेदेव, वसु, मरुत्, आदित्य और अश्विनीकुमार—ये सब देवता वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के हैं ।।३६½।। इस मनु के इक्ष्वाकु आदि दस पुत्र हैं ।।३७।। ब्राह्मणवृन्द ! पहले सभी मन्वन्तरों में लोक में धर्म-व्यवस्था तथा लोक-संरक्षण के लिए इन कथित महान् तेजस्वी महर्षियों के तथा इनके पुत्र-पौत्रों के सब दिशाओं में सात सप्तक अर्थात् विभिन्न सात-सात दल थे ।।३८-३९।। मन्वन्तर बीत जाने पर चार सप्तक-गण कार्य समाप्त करके रोगादि से रहित ब्रह्मलोक को चले जाते थे ।।४०।। तब दूसरे तपस्वी उस स्थान की पूर्ति करते थे। विप्रवृन्द ! अतीत, वर्तमान और भविष्यत् इस क्रम से ये सात महर्षि स्वर्ग में कहे गये हैं ।।४१½।। विप्रवृन्द ! सावर्ण मन्वन्तर में राम, व्यास, अत्रि-पुत्र, भारद्वाज, द्रोणाचार्य के पुत्र महातेजस्वी अश्वत्थामा, गौतम, अजर, शरद्वान् नामक गौतम, कौशिक, गालव, और्व, काश्यप—ये सात महात्मा होंगे ।।४२-४४½।। मुनिश्रेष्ठो ! वैरी, अध्वरीवान्, शमन, धृतिमान्, वसु, अरिष्ट, अधृष्ट, वाजी, सुमति—ये सात महर्षि सावर्ण मनु के पुत्र होंगे ।।४५-४६।। प्रातःकाल उठकर इनके नाम लेने से मनुष्य सुख, यश और पूर्ण आयु प्राप्त करता है ।।४७।। विप्रवृन्द ! ये सप्तक गण मैंने तत्त्वतः बतला दिये। अब आने वाले मन्वन्तरों

---

[1] क. ऋषिर्यस्माच्च जज्ञिरे। सा०। [2] ख. ०षु प्रथिताः सप्त। [3] क. ०श्च ऋषयोऽपि च भो। [4] क. ०र्णस्याऽऽदितो द्वि०। ख. र्णस्योदिता द्वि०। [5] क. ०ताः। भर०। क. ग. ०मस्याऽऽत्मजश्चै०। [7] क. ०व भरद्वाजोऽथ गौ०। [8] ख. ध्रौव्यः। [9] क. सुमन्तो। [10] ख. वेत्सदा। ए०।

एतान्युक्तानि भो विप्राः सप्तसप्त च तत्त्वतः। मन्वन्तराणि संक्षेपाच्छृणु तानागतान्यपि ।।४८।।
सावर्णा मनवो[1] विप्राः पञ्च तांश्च निबोधत। एको वैवस्वतस्तेषां चत्वारस्तु प्रजापतेः ।।४९।।
परमेष्ठिसुता[2] विप्रा मेरुसावर्ण्यतां गताः। दक्षस्यैते हि दौहित्राः प्रियायास्तनया नृपाः[3] ।।५०।।
महता तपसा युक्ता मेरुपृष्ठे महौजसः। रुचेः प्रजापतेः पुत्रो रौच्यो नाम मनुः स्मृतः ।।५१।।
भूत्यां चोत्पादितो देव्यां भौत्यो नाम[4] रुचेः सुतः। अनागताश्च सप्तैते कल्पेऽस्मिन्मनवः स्मृताः ।।।५२।।
तैरियं पृथिवी सर्व्वा [5]सप्तद्वीपा सपत्तना। [6]पूर्णंयुगसहस्रन्तु परिपाल्या द्विजोत्तमाः ।।५३।।
प्रजापति (ते) श्च तपसा संहारं तेषु नित्यशः। युगानि सप्ततिस्तानि साग्राणि कथितानि च ।।५४।।
कृतत्रेतादियुक्तानि मनोरन्तरमुच्यते। चतुर्दशैते मनवः कथिताः कीर्त्तिवर्द्धनाः ।।५५।।
वेदेषु सपुराणेषु सर्व्वेषु प्रभविष्णवः। प्रजानां पतयो विप्रा धन्यमेषां प्रकीर्त्तनम् ।।५६।।
मन्वन्तरेषु संहाराः संहारान्तेषु सम्भवाः। न [7]शक्यतेऽन्तस्तेषां वै वक्तुं वर्षशतैरपि ।।५७।।
विसर्गस्य प्रजानां वै संहारस्य च भो द्विजाः। मन्वन्तरेषु संहाराः श्रूयन्ते [8]द्विजसत्तमाः ।।५८।।
सशेषास्तत्र तिष्ठन्ति देवाः सप्तर्षिभिः सह। तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रुतेन च समन्विताः ।।५९।।
पूर्णे[9] युगसहस्रे तु कल्पो निःशेष उच्यते। तत्र भूतानि सर्व्वाणि दग्धान्यादित्यरश्मिभिः ।।६०।।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा सहादित्यगणैर्द्विजाः। प्रविशन्ति सुरश्रेष्ठं हरिनारायणं प्रभुम् ।।६१।।
स्रष्टारं सर्व्वभूतानां कल्पान्तेषु पुनःपुनः। अव्यक्तं शाश्वतो देवस्तस्य सर्व्वमिदं जगत् ।।६२।।

के बारे में भी संक्षेप से सुन लीजिये ।।४८।। ब्राह्मणवृन्द ! सावर्ण मनु पाँच हैं, उन्हें सुनिये। उनमें से एक तो वैवस्वत मनु हैं और चार प्रजापति परमेष्ठी के पुत्र कहलाते हैं, जो मेरुसावर्ण्यभाव को प्राप्त हो गये हैं ।।४९½।। ये महातेजस्वी राजा, जिन्होंने सुमेरु पर्वत पर वड़ी तपस्या की है, प्रजापति दक्ष के दौहित्र हैं और प्रिया से इनकी उत्पत्ति हुई है ।।५०½।। प्रजापति रुचि का पुत्र रौच्य नामक मनु कहलाया ।।५१।। रुचि का वह पुत्र, जो भूति नामक देवी से उत्पन्न हुआ था, भौत्य नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कल्प में ये सातों मनु होने वाले हैं ।।५२।। ब्राह्मणवर ! इनसे सातों द्वीप और नगरों सहित यह सम्पूर्ण पृथिवी पूरे हजार युग तक पाली जाती है। प्रजापति की तपस्या से इनका नाश भी नित्य होता रहता है।।५३½।। सत्ययुग, त्रेता आदि सत्तर युग मन्वन्तर कहलाते हैं। वेदों और पुराणों में कीर्ति-वर्द्धक ये चौदहों मनु प्रजा के स्वामी माने गये हैं। ब्राह्मणवृन्द ! इनका वर्णन कल्याण-दायक है।।५४-५६।। मन्वन्तरों का संहार हुआ करता है और संहार के बाद फिर मन्वन्तर होते हैं। इनके अन्त का वर्णन सैकड़ों वर्षों में भी नहीं किया जा सकता।।५७।। विप्रवर ! मन्वन्तरों में प्रजा की सृष्टि तथा संहार सुने जाते हैं।।५८।। वहाँ सप्तर्षियों के साथ देवता लोग तपस्या, ब्रह्मचर्य और वेदों के प्रभाव से बच जाते हैं।।५९।। हजार युग पूर्ण हो जाने पर निःशेष नामक कल्प होता है, जिसमें सूर्य की किरणों से सब प्राणी दग्ध हो जाते हैं।।६०।। ब्राह्मणवृन्द ! तब समस्त प्राणी आदित्यगणों के साथ ब्रह्मा को आगे करके कल्पों के अन्त में पुनः-पुनः प्राणियों के सृष्टि-कर्ता, देव-श्रेष्ठ तथा व्यापक हरि-नारायण में प्रविष्ट हो जाते हैं।।६१।। हरि भगवान् अव्यक्त और सनातन हैं। उन्हीं के अधीन यह संपूर्ण संसार

---

[1] क. ०नवस्तावत्पञ्च। ख. नवस्तात प०। [2] क. ०प्रा मनुसा०। [3] ग. द्विजाः। [4] क. ०म मनुः स्मृतः। अ०। [5] ग. ससमुद्रा। [6] ग. पूर्णवर्षस०। [7] क. ग. ०क्यमन्तरं तेषां व०। [8]. भरतर्षभ। [9] ग. ० र्णे वर्षस०।

विसर्गं मुनिशार्दूलाः साम्प्रतस्य महाद्युतेः ॥६३॥
अत्र वः[1] कीर्त्तयिष्यामि मनोर्वैवस्वतस्य वै। यत्रोत्पन्नो महात्मा स हरिर्वृष्णिकुले[2] प्रभुः ॥६४॥
अत्र वंशप्रसङ्गेन कथ्यमानं पुरातनम्।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे मन्वन्तरकीर्त्तनं नाम
पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

आदित्योत्पत्ति-कथनम्

लोमहर्षण उवाच

विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे दाक्षायण्यां द्विजोत्तमाः। तस्य भार्य्याभवत्संज्ञा त्वाष्ट्री देवी विवस्वतः ॥१॥
सुरेश्वरीति[3] विख्याता त्रिषु लोकेषु भाविनी[4]। सा वै भार्य्या भगवतो मार्त्तण्डस्य महात्मनः ॥२॥
भर्त्तृरूपेण नातुष्यद्रूपयौवनशालिनी। संज्ञा नाम[5] सुतपसा सुदीप्तेन समन्विता ॥३॥
आदित्यस्य हि तद्रूपं मण्डलस्य सुतेजसा[6]। गात्रेषु परिदग्धं वै नातिकान्तमिवाभवत् ॥४॥
न खल्वयं मृतोऽण्डस्थ इति स्नेहादभाषत। अजानन् काश्यपस्तस्मान्मार्त्तण्ड इति चोच्यते ॥५॥
तेजस्त्वभ्यधिकं तस्य नित्यमेव विवस्वतः। येनातितापयामास त्रींल्लोकान् कश्यपात्मजः ॥६॥

है ॥६२॥ मुनिवर्य ! अब मैं वर्तमान महातेजस्वी वैवस्वत मनु की सृष्टि का वर्णन आपसे करूँगा ॥६३॥ वंश के प्रसंग से मैं उस प्राचीन वृष्णि-कुल का वर्णन करूँगा, जिसमें वे सर्वशक्तिमान् भगवान् हरि उत्पन्न हुए थे ॥६४॥

श्री ब्रह्म-महापुराण में मन्वन्तर-कीर्तन नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥५॥

अध्याय ६

सूर्य की उत्पत्ति का वर्णन

लोमहर्षण ने कहा—विप्रवर ! कश्यप और दक्ष की पुत्री के संयोग से विवस्वान् (सूर्य) उत्पन्न हुआ। उस विवस्वान् की पत्नी त्वष्टा की पुत्री संज्ञा हुई ॥१॥ भगवान् सूर्य की स्त्री (संज्ञा) तीनों लोक में सुरेश्वरी नाम से विख्यात है ॥२॥ तपस्या और कान्ति से युक्त संज्ञा सौन्दर्य और यौवन से परिपूर्ण थी। स्वामी का रूप उसे पसन्द न था ॥३॥ अंगों में जलन पैदा करने वाला सूर्यमण्डल का वह तेजस्वी रूप उसे नहीं भाता था ॥४॥ उसने स्नेह से कहा कि यह अण्डस्थ मरा नहीं है। इसलिए कश्यप-पुत्र (सूर्य) का नाम मार्त्तण्ड पड़ा ॥५॥ उस विवस्वान् में अत्यन्त तेज होने के कारण वह तीनों लोकों को तपाने लगा ॥६॥ विप्रवृन्द ! अतितेजस्वी सूर्य ने

---

१ क. ते। २ क. ख. ०कुलोद्भवः। इ०। ३ क. उरेणुरिति। ख. सुरेणुरिति। ४ क. भामिनी। ५ ख. ०मस्वत०। ६ क. ख. सुतेजसः।

त्रीण्यपत्यानि[1] भो विप्राः [2]संज्ञायां तपतां वरः। आदित्यो जनयामास कन्यां द्वौ च प्रजापती ।।७।।
मनुर्वैवस्वतः पूर्व्वं श्राद्धदेवः प्रजापतिः। यमश्च यमुना चैव यमजौ सम्बभूवतुः ।।८।।
श्यामवर्णन्तु तद्रूपं संज्ञा दृष्ट्वा विवस्वतः। असहन्ती तु स्वां छायां सवर्णां निर्म्ममे ततः ।।९।।
मायामयी तु सा संज्ञा तस्यां छायासमुत्थिताम्। प्राञ्जलिः प्रणता भूत्वा छाया संज्ञां[3] द्विजोत्तमाः ।।१०।।
उवाच किं मया कार्य्यं कथयस्व शुचिस्मिते। स्थितास्मि तव निर्देशे शाधि मां वरवर्णिनि ।।११।।

संज्ञोवाच

अहं यास्यामि भद्रं ते स्वमेव[4] भवनं पितुः। त्वयैव[4] भवने मह्यं[5] वस्तव्यं निर्विशङ्कया ।।१२।।
इमौ च बालकौ मह्यं कन्या चेयं सुमध्यमा। सम्भाव्यास्ते न चाख्येयमिदं भगवते क्वचित्[6] ।।१३।।

सवर्णोवाच

आ कचग्रहणाद्देवि आ शापान्नैव कर्हिचित्। आख्यास्यामि[7] नमस्तुभ्यं गच्छ देवि यथासुखम् ।।१४।।

लोमहर्षण उवाच

समादिश्य सवर्णान्तु तथेत्युक्ता तया[8] च सा। त्वष्टुः[9] [10]समीपमगमद्व्रीडितेव तपस्विनी ।।१५।।
पितुः समीपगा सा तु पित्रा निर्भर्त्सिता शुभा[11]। भर्तुः[12] समीपं गच्छेति नियुक्ता च पुनः पुनः।।१६।।
आगच्छद्वडवा भूत्वाच्छाद्य रूपमनिन्दिता। कुरूनथोत्तरान् गत्वा तृणान्यथ चचार ह ।।१७।।

संज्ञा से एक कन्या और दो प्रजापतियों को उत्पन्न किया ।।७।। पहले प्रजापति श्राद्धदेव मनु विवस्वान् से उत्पन्न हुए। फिर यम और यमुना दोनों यमज (जुड़वाँ) उत्पन्न हुए ।।८।। विवस्वान् के श्यामवर्ण रूप को न सहती हुई संज्ञा ने अपनी छाया सवर्णा को रचा ।।९।। ब्राह्मणवर्य ! माया से रची हुई वह छाया अंजलि बाँधकर संज्ञा के सामने खड़ी हो गयी और बोली—हे सुन्दरी ! मैं आपके अधीन हूँ आपके लिए मुझे क्या करना है ? आज्ञा दीजिये ।।१०-११।।

संज्ञा बोली—तेरा कल्याण हो। मैं अपने पिता के घर जाऊँगी। तू मेरे घर में निःशंक होकर रह।। १२।। इन दोनों बालकों तथा इस सुन्दरी कन्या का पालन-पोषण करना। किन्तु यह रहस्य कभी भगवान् सूर्य से नहीं कहना।।१३।।

सवर्णा बोली—जब तक मेरी चोटी नहीं पकड़ी जायगी और शाप नहीं पड़ेगा, तब तक मैं इस रहस्य को प्रकट नहीं करूँगी। देवि, सादर प्रणाम। आप आनन्द से जाइये ।।१४।।

लोमहर्षण ने कहा—इस तरह सवर्णा के कहने पर उसको आज्ञा देकर तपस्विनी संज्ञा लज्जित-सी होती हुई त्वष्टा के पास गयी ।।१५।। पिता के समीप जाने पर पिता ने झिड़कते हुए, उस साध्वी से कहा—'तू अपने पति के पास जा।' और बार-बार इसके लिए प्रेरित किया ।।१६।। तब वह अपने रूप को छिपा कर घोड़ी का स्वरूप धारण कर उत्तर दिशा में कुरुदेश में जाकर घास चरने लगी ।।१७।। 'यह संज्ञा है' ऐसा समझते हुए सूर्य ने दूसरी संज्ञा में

---

[1] ख. ०नि कौरव्य स० । [2] क. ०यां भगवांस्ततः। आ०। [3] ख. ०ज्ञां ततो द्विजाः। उ०। [4] ख. त्वयेह भ०। [5] ख. मत्के। [6] क. ख. शुभे। [7] क. ग. ०मि मतं तुभ्यं। [8] ख. तयैव सा। [9] क. पितुः। [10] क. ०मद्भीतेव च त०। [11] क. ख. पुरा। [12] ग. रवेः।

द्वितीयायान्तु संज्ञायां संज्ञेयमिति चिन्तयन् । आदित्यो जनयामास पुत्रमात्मसमं तदा ।।१८।।
पूर्व्वजस्य मनोर्विप्राः सदृशोऽयमिति प्रभुः । मनुरेवाभवन्नाम्ना सावर्ण[१] इति चोच्यते ।।१९।।
द्वितीयो यः सुतास्तस्याः[२] स विज्ञेयः शनैश्चरः । संज्ञा तु पार्थिवी विप्राः स्वस्य पुत्रस्य वै तदा ।।२०।।
चकाराभ्यधिकं स्नेहं न तथा पूर्व्वजेषु वै । मनुस्तस्याः क्षमत्तत्तु यमस्तस्या न चक्षमे ।।२१।।
स वै रोषाच्च बाल्याच्च भाविनोऽर्थस्य वानघ । पदा [३]सन्तर्ज्जयामास संज्ञां वैवस्वतो यमः ।।२२।।
तं[४] शशाप ततः क्रोधात् [५]सावर्णजननी तदा । चरणः पततामेष तवेति भृशदुःखिता ।।२३।।
यमस्तु [६]तत्पितुः सर्व्वं प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत् । भृशं शापभयोद्विग्नः संज्ञावाक्यैर्विशङ्कितः ।।२४।।
शापोऽयं विनिवर्त्तेत[७] प्रोवाच पितरं द्विजाः[८] । मात्रा स्नेहेन सर्व्वेषु वर्त्तितव्यं सुतेषु वै ।।२५।।
[९]सेयमस्मानपास्येह[१०] विवस्वन् सम्बुभूषति । तस्यां मयोद्यतः पादो न तु देहे निपातितः[११] ।।२६।।
बाल्याद्वा यदि वा[१२] लौल्यान्मोहात्तत्क्षन्तुमर्हसि[१३] । शप्तोऽहमस्मि लोकेश जनन्या तपतां वर ।।
तव प्रसादाच्चरणो न पतेन्मम गोपते ।।२७।।

विवस्वानुवाच

असंशयं पुत्र महद्भविष्यत्यत्र कारणम् । येन त्वामाविशत् क्रोधो धर्म्मज्ञं सत्यवादिनम् ।।२८।।
न शक्यमेतन्मिथ्या तु कर्त्तुं मातृवचस्तव । कृमयो मांसमादाय यास्यन्त्यवनिमेव च ।।२९।।

अपने समान पुत्र उत्पन्न किया ।।१८।। ब्राह्मणो ! यह (बालक) अपने पूर्वज मनु के समान था । इसलिए मनु ही इसका नाम पड़ा । यह सावर्ण भी कहलाता है ।।१९।। उस (सवर्णा) के दूसरे पुत्र को शनैश्चर समझिये । विप्रवृन्द ! सवर्णा संज्ञा के पुत्रों की अपेक्षा अपने पुत्रों से अधिक स्नेह करती थी ।।२०½।। मनु ने तो छाया का यह व्यवहार सह लिया, पर यम नहीं सह सका ।२१।। उस सूर्य-पुत्र यम ने क्रोध के कारण या बचपन के कारण या होनहार के बल से सवर्णा को पैर से ताड़न किया ।।२२।। तब अत्यन्त दुःखी होकर क्रोध से सवर्णा ने उसको शाप दिया—'तेरा यह पैर गिर जाये' ।।२३।। ब्राह्मणो ! शाप के भय से अत्यन्त चंचल होकर छाया के वचनों से शंकित होते हुए यम ने हाथ जोड़कर अपने पिता से निवेदन किया—।।२४।। 'मेरा शाप दूर कीजिये । माता को सब पुत्रों में समान भाव बर्तना चाहिये । पर यह हमको छोड़कर छोटों पर अत्यधिक स्नेह करती है । इसलिए बालभाव से या मूर्खता से मैंने उस पर पैर तो उठाया, पर देह पर गिराया नहीं ।।२५-२६।। यह मेरा अपराध क्षमा कीजिये । लोक-पति ! महातेजस्विन् ! माता ने मुझे शाप दिया है ! आप कृपा करें, जिससे कि मेरा पैर न गिरने पाये' ।।२७।।

सूर्य ने कहा—'पुत्र ! निःसन्देह इसमें कोई महान् कारण होगा, जिससे कि तुम जैसे धर्मात्मा और सत्यवादी को क्रोध उत्पन्न हो गया ।।२८।। तुम्हारी माता के वचन को मैं मिथ्या नहीं कर सकता । कृमि (छोटे कीड़े) तुम्हारे पैर से मांस ले-लेकर पृथ्वी पर जायेंगे ।।२९।। इस तरह तुम्हारी माता का वचन सत्य होगा । शाप का

---

१ क. ग. सावर्ण्य । २ ख. ०स्तस्यां स । ३ ख. संताडयामास । ४ ख. सा । ५ क. ग. ०वर्ण्यज० । ६ ख. स्वपितुः । ७ ग. ०र्तेति प्रो० । ८ क. ख. तदा । ९ ख. ०नपहाय यवीयांसं । १० ग. ०ह यवीयांसं । ११ ख. वा मोहात्तद् भवान् क्षन्तु० । १२ ख. ०र्हति । श० ।

शापस्य परिहारेण त्वं च त्रातो भविष्यसि ॥३०॥
कृतमेवं वचस्तथ्यं मातुस्तव भविष्यति। तुल्येष्वभ्यधिकः स्नेह एकस्मिन् क्रियते त्वया ॥३१॥
आदित्यश्चाब्रवीत् संज्ञां किमर्थं तनयेषु वै। स चात्मानं समाधाय योगात्तथ्यमपश्यत ॥३२॥
सा तत् परिहरन्ती तु नाचचक्षे विवस्वते। मूर्द्धजेषु निजग्राह स तु तां मुनिसत्तमाः ॥३३॥
तां शप्तुकामो भगवान्नाशपन्मुनिसत्तमाः। विवस्वानथ तच्छ्रुत्वा क्रुद्धस्त्वष्टारमभ्यगात्[1] ॥३४॥
ततः सर्व्वं यथावृत्तमाचचक्षे विवस्वते। निर्दग्धुकामं रोषेण सान्त्वयामास वै तदा ॥३५॥
दृष्ट्वा तु तं यथान्यायमर्च्चयित्वा विभावसुम्।

त्वष्टोवाच

तवातितेजसाविष्टमिदं रूपं न शोभते। असहन्ती च संज्ञा सा वने चरति शाद्वले[2] ॥३६॥
द्रष्टा हि तां भवानद्य स्वां भार्य्यां शुभचारिणीम्। श्लाघ्यां योगबलोपेतां योगमास्थाय गोपते ॥३७॥
अनुकूलं तु ते देव यदि स्यान्मम[3] सम्मतम्। रूपं निर्वर्त्तयाम्यद्य तव कान्तमरिन्दम ॥३८॥
ततोऽभ्युपागमत्त्वष्टा मार्त्तण्डस्य विवस्वतः। भ्रमिमारोप्य तत्तेजः[4] सातयामास भो द्विजाः ॥३९॥
ततो निर्भासितं रूपं तेजसा संहतेन वै। कान्तात् कान्ततरं[5] द्रष्टुमधिकं शुशुभे तदा ॥४०॥
ददर्श योगमास्थाय स्वां[6] भार्य्यां वडवां ततः। अधृष्यां सर्व्वभूतानां तेजसा नियमेन च ॥४१॥
वडवावपुषा विप्राश्चरन्तीमकुतोभयाम्। सोऽश्वरूपेण भगवांस्तां मुखे समभावयत् ॥४२॥

निवारण करके तुम भी सुरक्षित हो जाओगे' ॥३०॥ सूर्य ने छाया से कहा—'क्यों तुम समान पुत्रों में से एक पर अधिक स्नेह करती हो ?' ॥३१॥ उसने उस रहस्य को गुप्त करती हुई सूर्य को उत्तर नहीं दिया। सूर्य ने भी योग से समाधि लगाकर सत्य का पता लगा लिया ॥३२॥ मुनिश्रेष्ठो ! भगवान् सूर्य ने उसको शाप देने की इच्छा रखते हुए भी शाप नहीं दिया, बल्कि उसका केश पकड़ लिया ॥३३॥ तव छाया ने सूर्य से सब वृत्तान्त कह दिया। सूर्य यह सुनकर क्रोध से त्वष्टा के पास गया ॥३४॥ जलाने की इच्छा रखने वाले कुपित सूर्य को देखकर त्वष्टा ने समयोचित सत्कार करके उसको शान्त किया ॥३५॥

त्वष्टा ने कहा—'आपके इस अत्यन्त तेजस्वी रूप को न सहती हुई संज्ञा घोड़ी बनकर वन की हरियाली में चरती है ॥३६॥ हे सूर्य ! आज आप कल्याणमयी, प्रशंसा के योग्य और योगवल से युक्त अपनी पत्नी को देखेंगे ॥३७॥ हे शत्रु-नाशन ! हे देव ! यदि मेरी सलाह को आप अनुकूल समझें, तो आज मैं आपके रूप को सुन्दर वना दूँ' ॥३८॥ ब्राह्मणो ! तब सूर्य की स्वीकृति पाकर त्वष्टा ने भ्रामण-यन्त्र के द्वारा सूर्य के तेज को छिन्न-भिन्न अर्थात् सूक्ष्म कर दिया ॥३९॥ इससे (अर्थात् तेज के संक्षिप्त हो जाने से) अत्यन्त भव्य रूप हो गया। तव वह सुन्दर-से-सुन्दर रूप पहले से अधिक सुशोभित होने लगा ॥४०॥ ब्राह्मणो ! तत्पश्चात् सूर्य ने समाधि लगाकर अपनी पत्नी घोड़ी को देखा। वह तेज और नियमों में सब प्राणियों से बढ़कर थी ॥४१॥ घोड़ी का शरीर धारण कर निर्भय होकर वह चर रही थी। भगवान् सूर्य ने अश्व का स्वरूप बनाकर मैथुन के लिए चेष्टा करती हुई अपनी पत्नी के मुँह में

---

१ ख. ०त्। सक्रोधं तत्र चाऽऽयातम०। २ क. शोभने। ३ ग. ०म तन्मत०। ४ ग. ०जः पात०। ५ ग. ०रं रूपम०। ६ क. स्वां प्रियां स दिवाकरः। अ०।

मैथुनाय विचेष्टन्तीं परपुंसोऽवशङ्कया। सा तन्निरवमच्छुक्रं नासिकाभ्यां विवस्वतः ॥४३॥
देवौ तस्यामजायेतामश्विनौ भिषजां वरौ। नासत्यश्चैव दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनाविति ॥४४॥
[1]मार्त्तण्डस्यात्मजावेतावष्टमस्य प्रजापतेः। तां तु रूपेण कान्तेन दर्शयामास भास्करः ॥४५॥
सा तु दृष्ट्वैव भर्त्तारं तुतोष मुनिसत्तमाः। यमस्तु कर्म्मणा येन भृशं पीडितमानसः ॥४६॥
धर्मेण रञ्जयामास धर्म्मराज इमाः प्रजाः। स लेभे कर्म्मणा तेन शुभेन परमद्युतिः ॥४७॥
पितृणामाधिपत्यं च लोकपालत्वमेव च। मनुः प्रजापतिस्त्वासीत् सावर्णिः स तपोधनाः ॥४८॥
भाव्यः[2] समागते तस्मिन्मनुः सावर्णिकेऽन्तरे। मेरुपृष्ठे तपो नित्यमद्यापि स चरत्युत ॥४९॥
भ्राता शनैश्चरस्तस्य ग्रहत्वं[3] स तु लब्धवान्। त्वष्टा तु तेजसा तेन विष्णोश्चक्रमकल्पयत् ॥५०॥
तदप्रतिहतं युद्धे दानवान्तचिकीर्षया। यवीयसी तु साप्यासीद्यामी कन्या यशस्विनी ॥५१॥
अभवच्च सरिच्छ्रेष्ठा यमुना लोकपावनी[4]। मनुरित्युच्यते लोके सावर्ण इति [5]चोच्यते ॥५२॥
द्वितीयो[6] यः सुतस्तस्य मनोर्भ्राता शनैश्चरः। ग्रहत्वं स च लेभे वै सर्व्वलोकाभिपूजितः ॥५३॥
य इदं जन्म देवानां शृणुयान्नरसत्तमः। आपदं प्राप्य मुच्येत प्राप्नुयाच्च महद्यशः ॥५४॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे आदित्योत्पत्तिकथनं
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

मैथुन किया ॥४२॥ उसने दूसरे पुरुष की शंका से सूर्य के वीर्य को अपनी नाक के द्वारा बाहर निकाल दिया ॥४३॥ उससे वैद्यों में श्रेष्ठ और दिव्यरूप वाले अश्विनीकुमार उत्पन्न हुए। दोनों अश्विनीकुमार नासत्य और दस्र नाम से विख्यात हुए ॥४४॥ ये दोनों आठवें प्रजापति मार्तण्ड के पुत्र हुए। पश्चात् सूर्य ने दिव्य रूप से अपनी भार्या को देखा ॥४५॥ ब्राह्मणश्रेष्ठो! वह अपने स्वामी को देखते ही सन्तुष्ट हो गयी। यम उस कर्म से अत्यन्त दुःखी हुआ और धर्मराज नाम से विख्यात होते हुए धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा ॥४६½॥ प्रजापालनरूप शुभ कर्म के द्वारा अत्यन्त कान्तिमान् यम ने पितरों का स्वामित्व तथा लोकपाल का पद प्राप्त किया। वह तपस्वी सवर्णापुत्र सावर्णिक मन्वन्तर में प्रजापति मनु होगा ॥४७-४८½॥ वह आज भी मेरुपर्वत के पृष्ठभाग में तप कर रहा है ॥४९॥ उसका भाई शनैश्चर ग्रह हुआ। त्वष्टा ने दैत्यों के नाश करने की इच्छा से सूर्य के उस तेज से युद्ध में नष्ट न होने वाला विष्णु का चक्र बनाया ॥५०॥ वह भी प्रशस्त यशवाली, यम की छोटी बहन, नदियों में श्रेष्ठ और लोगों को पवित्र करने वाली यमुना नाम से ख्यात हुई ॥५१½॥ लोग मनु और सावर्ण दोनों नाम कहते हैं ॥५२॥ सूर्य का दूसरा पुत्र, जो मनु का भाई शनैश्चर कहलाता है, सब लोगों के पूजने योग्य ग्रहभाव को प्राप्त हुआ ॥५३॥ जो मनुष्य देवताओं के इस जन्म को सुनेगा, वह सब विपत्तियों से बचकर महान् यश प्राप्त करेगा ॥५४॥

श्री ब्रह्म-महापुराण में सूर्य-जन्म-कथन नामक छठा अध्याय समाप्त ॥६॥

---

[1] ख. ०ण्डस्य सुतावे०। [2] ख. ०व्यः सोऽप्याग०। ग. व्यः सोप्याग०। [3] क. हत्वमुपल०। [4] ग. ० कभाविनी। [5] ख. विश्रुतः। [6] ख. ०तीयस्तु सु०।

सप्तमोऽध्यायः

सूर्यवंश-वर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

मनोर्वैवस्वतस्यासन् पुत्रा वै नव तत्समाः[१] । इक्ष्वाकुश्चैव नाभागो धृष्टः शर्यातिरेव च ॥१॥
नरिष्यन्तश्च[२] षष्ठो[३] वै प्रांशू रिष्टश्च सप्तमः । करूषश्च [४]पृषध्रश्च नवैते मुनिसत्तमाः ॥२॥
अकरोत् पुत्रकामस्तु[५] मनुरिष्टिं प्रजापतिः । मित्रावरुणयोर्विप्राः पूर्व्वमेव महामतिः ॥३॥
अनुत्पन्नेषु बहुषु पुत्रेष्वेतेषु भो द्विजाः । तस्यां च वर्त्तमानायामिष्ट्यां च द्विजसत्तमाः ॥४॥
मित्रावरुणयोरंशे [६]मनुराहुतिमावहत्[७] । तत्र दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिता ॥५॥
दिव्यसंहनना चैव इला जज्ञ इति श्रुतिः । तामिलेत्येव[८] होवाच मनुर्दण्डधरस्तदा ॥६॥
अनुगच्छस्व मां भद्रे तमिला प्रत्युवाच ह । धर्म्मयुक्तमिदं वाक्यं पुत्रकामं प्रजापतिम् ॥७॥

इलोवाच

मित्रावरुणयोरंशे जातास्मि वदतां वर । तयोः सकाशं यास्यामि न मां धर्म्महतां कुरु ॥८॥
सैवमुक्त्वा मनुं देवं मित्रावरुणयोरिला । गत्वान्तिकं वरारोहा प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥९॥

अध्याय ७

सूर्यवंश का वर्णन

लोमहर्षण ने कहा—वैवस्वत मनु के अपने ही समान इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, रिष्ट, करूष और पृषध्र—ये नौ पुत्र थे ।। १-२।। विप्रवृन्द ! इन पुत्रों की उत्पत्ति से पहले बुद्धिमान् प्रजापति मनु ने पुत्र की इच्छा से मित्रावरुण का यज्ञ किया ।। ३½।। द्विजवर्य ! उस वर्तमान यज्ञ में मनु ने मित्रावरुण के अंश से अग्नि में बहुत-सी आहुतियाँ दीं ।।४½।। उस यज्ञ में दिव्य वस्त्राभरण से अलंकृत दिव्य रूपवती कन्या उत्पन्न हुई ।।५½।। दण्डधारी मनु ने उसका नाम 'इला' रखकर कहा—'पुत्रि ! तुम मेरे साथ चलो ।' तब पुत्रार्थी प्रजापति से इला ने यह धर्म-युक्त वाक्य कहा ।।६-७।।

इला बोली—हे श्रेष्ठ वक्ता ! मैं मित्रावरुण के अंश से जनमी हूँ । इसलिए उन्हीं के पास जाऊँगी । आप मुझे धर्म से च्युत न करें ।।८।। ऐसा कहकर वह सुन्दरी इला मित्रावरुण के पास चली गयी और अंजलि बाँधकर कहने लगी ।।९।।

१क. ख. सत्तमाः । २ख. ०न्तस्तु ष० । ३ख. ०ष्ठो नाभागोऽरिष्टश्च सत्तमाः । क० । ४ग. पुरधश्चा । ५क. ०स्तु मुनिरि० । ६क. ०माजुहोत् । ७ख. ०वपत् । ८क. ख. ०लेतीति हो० ।

इलोवाच

अंशोऽस्मि[1] युवयोर्जाता देवौ किं करवाणि वाम् । मनुना चाहमुक्ता वा अनुगच्छस्व मामिति ॥१०॥
तौ तथावादिनीं साध्वीमिलां धर्म्मपरायणाम् । मित्रश्च वरुणश्चोभावूचतुस्तां द्विजोत्तमाः ॥११॥

मित्रावरुणावूचतुः

अनेन तव धर्म्मेण प्रश्रयेण दमेन च । सत्येन चैव सुश्रोणि प्रीतौ स्वो वरवर्णिनि ॥१२॥
आवयोस्त्वं महाभागे ख्यातिं कन्येति यास्यसि । मनोर्व्वंशकरः पुत्रस्त्वमेव च भविष्यसि ॥१३॥
सुद्युम्न इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु शोभने । जगत्प्रियो धर्म्मशीलो मनोर्व्वंशविवर्द्धनः[2] ॥१४॥
निवृत्ता सा तु तच्छ्रुत्वा गच्छन्ती पितुरन्तिकात् ॥१५॥
बुधेनान्तरमासाद्य मैथुनायोपमन्त्रिता[3] । [4]सोमपुत्राद्बुधाद्विप्रास्तस्यां जज्ञे पुरूरवाः ॥१६॥
जनयित्वा ततः सा तमिला सुद्युम्नतां गता । सुद्युम्नस्य तु दायादास्त्रयः परमधार्म्मिकाः ॥१७॥
उत्कलश्च गयश्चैव विनताश्वश्च[5] भो द्विजाः । उत्कलस्योत्कला विप्रा विनताश्वस्य[6] पश्चिमाः ॥१८॥
दिक्पूर्व्वा मुनिशार्दूला गयस्य तु गया स्मृता । प्रविष्टे तु मनौ विप्रा दिवाकरमरिन्दमम् ॥१९॥
दशधा[7] तत्पुनः क्षत्रमकरोत् पृथिवीमिमाम् । [8]इक्ष्वाकुर्ज्येष्ठदायादो मध्यदेशमवाप्तवान् ॥२०॥
कन्याभावात्तु सुद्युम्नो[9] नैतद्राज्यमवाप्तवान् । वसिष्ठवचनात्त्वासीत्[10] प्रतिष्ठाने महात्मनः ॥२१॥

इला ने कहा—हे देवताओ ! आप दोनों के अंश से मैं उत्पन्न हुई हूँ। किन्तु मनु ने मुझे अपने साथ चलने के लिए कहा था ॥१०॥ अब आप मुझे आदेश दें, क्या करूँ ? द्विजवर्य ! उस धर्म-परायण साध्वी इला के ऐसा कहने पर मित्रावरुण ने उससे कहा ॥११॥

मित्रावरुण बोले—'हे सुन्दर कटि वाली ! हे महाभागे ! तुम्हारे इस धर्म, विनय, शान्ति और सत्य से हम प्रसन्न हैं ॥१२॥ तुम हमारी पुत्री रूप में संसार में ख्यात होगी । हे शोभने ! मनु का वंश-वर्धक पुत्र तुम्हीं होगी ॥१३॥ जगत्-प्रिय, धर्मात्मा और मनु-वंश-वर्धक सुद्युम्न—इस नाम से तीनों लोक में विख्यात होगी ।' यह सुनकर वह पिता के यहाँ से लौट पड़ी ॥१४-१५॥ तो अवसर पाकर चन्द्रमा के पुत्र बुध ने उससे रति की प्रार्थना की । और बुध से इला में पुरूरवा नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१६॥ उसको उत्पन्न कर इला सुद्युम्न बन गयी । विप्रवृन्द ! सुद्युम्न के परम धार्मिक तीन पुत्र हुए—उत्कल, गय और विनताश्व ॥१७½॥ मुनिश्रेष्ठो ! उत्कल की उत्कला, विनताश्व की दिक्पश्चिमा और गय की गया नामक नगरी बनी ॥१८½॥ द्विजवृन्द ! जब मनुने शत्रुसूदन सूर्य में प्रवेश किया, तब उसके पुत्रों ने इस पृत्रिवी को फिर दस भागों में बाँट दिया ॥१९½॥ ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु को मध्यदेश मिला ॥२०॥ कन्याभाव होने के कारण सुद्युम्न को यह राज्य नहीं मिला । ब्राह्मणवर ! वसिष्ठ के वचन से धर्मराज सुद्युम्न की प्रतिष्ठा महात्मा पुरुषों के समान होने लगी ॥२१½॥

१ख. ०स्मिन्युव० । २क. मनुवंश० । ३क. ०पशंसिता । ४ख. ०धाद्राजा तस्माज्जज्ञे । ५क. विजिता० । ६क. विजिता० । ७क. ०धा तद भूत्क्षत्र० । ग. ०धा तु कुरुक्षेत्रम० । ८ख. कुर्योऽष्टदा० । ९ग. ०तद्गुण म० । १०ख. ० नाच्चाऽऽसी० ।

प्रतिष्ठा धर्म्मराजस्य सुद्युम्नस्य द्विजोत्तमाः । तत्पुरूरवसे प्रादाद्राज्यं प्राप्य महायशाः ॥२२॥
मानवेयो मुनिश्रेष्ठाः स्त्रीपुंसोर्लक्षणैर्युतः । धृतवांस्तामिलेत्येवं[१] सुद्युम्नेति च [२]विश्रुतः ॥२३॥
नारिष्यन्ताः शकाः पुत्रा नाभागस्य तु भो द्विजाः । अम्बरीषोऽभवत् पुत्रः [३]पार्थिवर्षभसत्तमः ॥२४॥
धृष्टस्य धार्ष्टकं क्षत्रं रणदृप्तं बभूव ह । करूषस्य च कारूषाः क्षत्रिया युद्धदुर्म्मदाः ॥२५॥
नाभागधृष्टपुत्राश्च क्षत्रिया वैश्यतां गताः । प्रांशोरेकोऽभवत्पुत्रः प्रजापतिरिति स्मृतः ॥२६॥
नरिष्यन्तस्य दायादो राजा दण्डधरो यमः । शर्यातेर्म्मिथुनं त्वासीदानर्तो नाम विश्रुतः ॥२७॥
पुत्रः कन्या सुकन्या च या पत्नी च्यवनस्य ह । आनर्त्तस्य तु दायादो [४]रैवो नाम महाद्युतिः ॥२८॥
आनर्त्तविषयश्चैव पुरी चास्य कुशस्थली । रैवस्य रैवतः पुत्रः ककुद्मी नाम धार्म्मिकः ॥२९॥
ज्येष्ठः पुत्रः[५] स तस्यासीद्राज्यं प्राप्यं कुशस्थलीम् । स कन्यासहितः श्रुत्वा गान्धर्व्वं ब्रह्मणोऽन्तिके ॥३०॥
मुहूर्त्तभूतं देवस्य तस्थौ बहुयुगं द्विजाः । आजगाम स चैवाथ स्वां पुरीं[६] यादवैर्वृताम् ॥३१॥
कृतां[७] द्वारवतीं नाम बहुद्वारां मनोरमाम् । भोजवृष्ण्यन्धकैर्गुप्तां वसुदेवपुरोगमैः ॥३२॥
तत्रैव[८] रैवतो ज्ञात्वा यथातत्त्वं[९] द्विजोत्तमाः । कन्यां तां बलदेवाय सुभद्रां नाम रेवतीम् ॥३३॥
दत्त्वा जगाम शिखरं मेरोस्तपसि संस्थितः[१०] । रेमे रामोऽपि धर्मात्मा रेवत्या सहितः सुखी ॥३४॥

महान् यशस्वी सुद्युम्न ने राज्य प्राप्त कर पुरूरवा को दे दिया ॥२२॥ मुनिवर ! स्त्री-पुरुष उभय लक्षणों से युक्त सुद्युम्न को देखकर लोग उसे इला और सुद्युम्न दोनों नाम से पुकारने लगे ॥२३॥ विप्रवृन्द ! नरिष्यन्त के शक जाति वाले पुत्र हुए । नाभाग के राजाओं में श्रेष्ठ अम्बरीष पुत्र हुआ ॥२४॥ धृष्ट के युद्ध-गर्वी धार्ष्टक नामक क्षत्रिय-पुत्र हुआ । करूष के युद्धाभिमानी कारूष नामक क्षत्रिय-पुत्र थे ॥२५॥ नाभाग और धृष्ट के क्षत्रिय-पुत्र वैश्य बन गये । प्रांशु के एक पुत्र हुआ, जो प्रजापति कहलाया ॥२६॥ नरिष्यन्त का पुत्र यम दण्ड-धारी राजा हुआ । शर्याति के आनर्त नामक पुत्र और सुकन्या नामक पुत्री हुई । सुकन्या च्यवन मुनि की पत्नी बनी । आनर्त का पुत्र महातेजस्वी रैव हुआ ॥२७-२८॥ आनर्त देश में इसका राज्य था और कुशस्थली (द्वारका) राजधानी थी । रैव का धर्मात्मा पुत्र रैवत और ककुद्मी दोनों नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥२९॥ वह ज्येष्ठ पुत्र था और उसी को द्वारका का राज्य मिला । गान्धर्व वेद को सुनकर वह अपनी कन्या सहित ब्रह्मा के पास चला गया ॥३०॥ वहाँ वह देवताओं की दो घड़ी के बराबर बहुत युगों तक उनके पास ठहर गया । फिर यादवों से व्याप्त अपनी नगरी द्वारकापुरी लौट आया ॥३१॥ नगरी बहुत द्वारों वाली और मनोहर थी । भोज, वृष्णि और अन्धक वंशवाले, जिनमें वसुदेव प्रधान थे, उसकी रक्षा करते थे ॥३२॥ विप्रवर ! उसी नगर में श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम के यथार्थ तत्त्व को जानकर रैवत रेवती नामक अपनी सुन्दरी कन्या बलदेव को समर्पित कर तपस्या करने के लिए सुमेरु पर्वत पर चला गया । धर्मात्मा बलराम भी रेवती के साथ सुखपूर्वक रमण करने लगे ॥३३-३४॥

१ख. ०त्येव सु० । २ग. विश्रुतिः । ३ख. ०वस्त्वृषिसत्तमाः । धृ० । ४ग. रेवो । ५ख. ग. पुत्रशत० । ६ख. ०रीं पादपैर्वृ० । ७ख. ० तां हरवतीं नाम्ना व० । ८ख. ततस्तद्वैव ० । ९क. याथातथ्यं । १० ग. संश्रितः ।

मुनय ऊचुः

कथं बहुयुगे काले समतीते महामते । न जरा रेवतीं प्राप्ता रैवतं च ककुद्मिनम् ॥३५॥
मेरुं गतस्य वा तस्य शर्यातेः सन्ततिः कथम् । स्थिता पृथिव्यामद्यापि श्रोतुमिच्छाम तत्त्वतः ॥३६॥

लोमहर्षण उवाच

न जरा क्षुत्पिपासा वा न मृत्युर्मुनिसत्तमाः । ऋतुचक्रं प्रभवति[1] ब्रह्मलोके सदानघाः ।
ककुद्मिनः[2] स्वर्लोकं तु रैवतस्य गतस्य ह ॥३७॥
हृता[3] पुण्यजनैर्विप्रा राक्षसैः सा कुशस्थली । तस्य भ्रातृशतं[4] त्वासीद्धार्म्मिकस्य महात्मनः ॥३८॥
तद्वध्यमानं रक्षोभिर्दिशः प्राक्रामदच्युताः[5] । विद्रुतस्य च विप्रेन्द्रास्तस्य भ्रातृशतस्य वै ॥३९॥
अन्ववायस्तु सुमहांस्तत्र तत्र द्विजोत्तमाः[6] । [7]तेषां ह्येते मुनिश्रेष्ठाः शर्याता इति विश्रुताः ॥४०॥
क्षत्रिया गुणसम्पन्ना दिक्षु सर्व्वासु विश्रुताः । सर्व्वशः सर्व्वगहनं [8]प्रविष्टास्ते महौजसः ॥४१॥
नाभागरिष्टपुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ । करूषस्य तु कारूषाः क्षत्रिया युद्धदुर्म्मदाः ॥४२॥
पृषध्रो हिंसयित्वा तु गुरोर्गां द्विजसत्तमाः । शापाच्छूद्रत्वमापन्नो नवैते परिकीर्त्तिताः ॥४३॥
वैवस्वतस्य तनया मुनेर्व्वै मुनिसत्तमाः। क्षुवतस्तु मनोर्विप्रा इक्ष्वाकुरभवत् सुतः ॥४४॥
तस्य पुत्रशतं त्वासीदिक्ष्वाकोर्भूरिदक्षिणम्[9] । तेषां [10]विकुक्षिर्ज्येष्ठस्तु [11]विकुक्षित्वादयोधताम् ॥४५॥

मुनियों ने पूछा—महाप्राज्ञ ! बहुत युग बीत जाने पर रेवती और ककुद्मी रैवत को वृद्धता क्यों नहीं प्राप्त हुई ? ॥३५॥ या मेरु पर्वत पर उनके चले जाने पर शर्याति राजा की सन्तान आज भी पृथ्वी पर कैसे अवस्थित है ? यह बात हम लोग तत्त्वतः सुनना चाहते हैं ॥३६॥

लोमहर्षण बोले—निष्पाप मुनिवृन्द ! बुढ़ापा, भूख, प्यास, मृत्यु और ऋतु-परिवर्तन आदि ब्रह्मलोक में नहीं हुआ करते हैं । ककुद्मी रैवत के देव-लोक चले जाने पर राक्षसों ने द्वारका पर अधिकार कर लिया ॥३७½॥ उस धार्मिक राजा के सौ भाई थे, जो राक्षसों से पीड़ित होकर विभिन्न दिशाओं में भाग गये ॥३८½॥ ब्राह्मणश्रेष्ठो ! उन भागे हुए भाइयों का वंश बहुत बड़ा था । उसी वंश के लोग सब दिशाओं में शर्यात नाम से विख्यात सर्वगुणसम्पन्न क्षत्रिय थे । वे महान् तेजस्वी सब ओर से सब वनों में प्रविष्ट हुए ॥३९-४१॥ नाभागारिष्ट के वैश्य जाति वाले दो पुत्र ब्राह्मण बन गये । करूष के कारूष नाम से प्रसिद्ध युद्धाभिमानी क्षत्रिय उत्पन्न हुए ॥४२॥ विप्रवर ! पृषध्र गुरु की गाय को मारने के कारण शाप से शूद्र हो गया । मुनिश्रेष्ठो ! ये नौ पुत्र वैवस्वत मनु के कहलाये ॥४३½॥ ब्राह्मणो ! मनु की छींक से इक्ष्वाकु उत्पन्न हुआ ॥४४॥ इक्ष्वाकु के बहुत-सी दक्षिणा देने वाले सौ पुत्र हुए । उनमें विकुक्षि सबसे ज्येष्ठ था । वह पेट की गड़बड़ी के कारण युद्ध करने में असमर्थ रहा ॥४५॥ परम धर्मज्ञ

१क. ०ति तत्र लो० । २ख. ०द्मिनश्च स्व० । ३क. ग. हता । ४ख. ०तं चाऽऽसी० । ५ख. ०दप्युत । वि० । ६क. ०माः । एवं ते तु मु० । ७क. तेषामेते । ८क. ष्टाश्च म० । ९ग. ०क्षिणाः । ते० । १०क. ०कुक्षिः श्रेष्ठ० । ११क. विक्रमे रुद्रसंनिभः । ख. विक्रमेण समन्वितः । प्रा० ।

प्राप्तः परमधर्म्मज्ञः[1] सोऽयोध्याधिपतिः प्रभुः । शकुनिप्रमुखास्तस्य पुत्राः पञ्चशतं स्मृताः ॥४६॥
उत्तरापथदेशस्य रक्षितारो महाबलाः । चत्वारिंशद्दशाष्टौ च दक्षिणस्यां तथा [2]दिशि ॥४७॥
वशातिप्रमुखाश्चान्ये रक्षितारो द्विजोत्तमाः । इक्ष्वाकुस्तु विकुक्षिं वा अष्टकायामथादिशत् ॥४८॥
मांसमानय श्राद्धार्थं मृगान् हत्वा महाबल । श्राद्धकर्म्मणि चोद्दिष्टो अकृते श्राद्धकर्म्मणि ॥४९॥
भक्षयित्वा शशं विप्रा शशादो मृगयां गतः । इक्ष्वाकुणा परित्यक्तो वसिष्ठवचनात् प्रभुः ॥५०॥
इक्ष्वाकौ संस्थिते विप्राः शशादस्तु नृपोऽभवत् । शशादस्य तु दायादः ककुत्स्थो नाम वीर्य्यवान् ॥५१॥
अनेनास्तु[3] ककुत्स्थस्य पृथुश्चानेनसः स्मृतः[4] । विष्टराश्वः[5] पृथोः पुत्रस्तस्मादार्द्रस्त्वजायत ॥५२॥
आर्द्रस्य युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्तत्सुतो द्विजाः । जज्ञे श्रावस्तको राजा श्रावस्ती येन निर्म्मिता ॥५३॥
श्रावस्तस्य तु दायादो बृहदश्वो महीपतिः । कुवलाश्वः सुतस्तस्य राजा परमधार्म्मिकः ॥५४॥
यः[6] स धुन्धुवधाद्राजा धुन्धुमारत्वमागतः ॥५५॥

मुनय ऊचुः

धुन्धोर्व्वधं[7] महाप्राज्ञ श्रोतुमिच्छाम तत्त्वतः । यद्वधात्कुवलाश्वोऽसौ धुन्धुमारत्वमागतः ॥५६॥

लोमहर्षण उवाच

कुवलाश्वस्य पुत्राणां शतमुत्तमधन्विनाम् । सर्व्वे विद्यासु निष्णाता बलवन्तो दुरासदाः ॥५७॥

विकुक्ष अयोध्या का शासक था । उसके शकुनि आदि पाँच सौ पुत्र हुए ॥४६॥ जिनमें से चालीस उत्तरापथ के और अठारह दक्षिणापथ के महाबली रक्षक थे ॥४७॥ ब्राह्मणश्रेष्ठो ! वशाति आदि दूसरे भी रक्षक थे । एक समय अष्टका (पितर और देवताओं के कर्म के दिन) में इक्ष्वाकु ने विकुक्षि से कहा—'महाबली ! श्राद्ध के लिए मृगों को मारकर मांस ले आओ ॥४८½॥ ब्राह्मणो ! श्राद्ध-कर्म में नियुक्त विकुक्षि श्राद्ध-कर्म के सम्पन्न हुए बिना ही खरगोश को खाकर शिकार खेलने के लिए चला गया । तब वसिष्ठ के आदेश से राजा इक्ष्वाकु ने (खरगोश खाने वाले) शशाद विकुक्षि का परित्याग कर दिया ॥४९-५०॥ इक्ष्वाकु के बाद शशाद राजा हुआ । शशाद का पुत्र अतिशक्तिशाली ककुत्स्थ हुआ ॥५१॥ ककुत्स्थ से अनेनस् और अनेनस् से पृथु उत्पन्न हुआ । पृथु से विष्टराश्व और उससे आर्द्र हुआ ॥५२॥ विप्रवृन्द ! आर्द्र का पुत्र युवनाश्व और उसका पुत्र श्राव हुआ । श्राव के पुत्र श्रावस्तक ने श्रावस्ती नाम की नगरी बसायी ॥५३॥ श्रावस्तक का पुत्र राजा बृहदश्व हुआ । उसका पुत्र परम धर्मात्मा राजा कुवलाश्व हुआ, जिसका नाम धुन्धु नामक दैत्य के मारने से धुन्धुमार पड़ गया ॥५४-५५॥

मुनियों ने कहा—हे महाविद्वन् ! हम धुन्धु के मारने का आख्यान तत्त्वपूर्वक सुनना चाहते हैं, जिसके मारने से कुवलाश्व धुन्धुमार कहलाया ॥५६॥

लोमहर्षणबोले—कुवलाश्वके उत्तम धनुर्धर, सर्व-विद्या-विशारद, बलवान्, सुन्दर, धर्मात्मा, यज्ञ-कर्त्ता और

---

[1] क. ०र्मज्ञः पृथिव्याधि० । [2] ख. ०शि । इणदप्र० । [3] ख: ०नेनसः क० । [4] ख. ०तः । वीराश्वस्तु पृ० । [5] क. विष्णोरंशः पृ० । [6] क. ख. यस्तु धु० । [7] क. ०धं वयं ब्रह्मञ्श्रोतु० ।

बभूवुर्धार्म्मिकाः सर्व्वे यज्वानो भूरिदक्षिणाः । कुवलाश्वं पिता[1] राज्ये बृहदश्वो[2] न्ययोजयत् ॥५८॥
पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु वनं राजा विवेश ह । तमुत्तङ्कोऽथ विप्रर्षिः [3]प्रयान्तं प्रत्यवारयत् ॥५९॥

उत्तङ्क उवाच

भवता रक्षणं कार्य्यं तच्च कर्त्तुं[4] त्वमर्हसि । निरुद्विग्नस्तपश्चर्तुं नहि शक्नोमि पार्थिव ॥६०॥
ममाश्रमसमीपे वै समेषु मरुधन्वसु । [5]समुद्रो बालुकापूर्ण [6]उद्दालक इति [7]स्मृतः ॥६१॥
देवतानामवध्यश्च महाकायो महाबलः । [8] अन्तर्भूमिगतस्तत्र बालुकान्तर्हितो महान् ॥६२॥
राक्षसस्य[9] मधोः पुत्रो धुन्धुर्नाम महासुरः[10] । शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम् ॥६३॥
संवत्सरस्य पर्य्यन्ते निश्वासं विमुञ्चति । यदा तदा मही तत्र चलति स्म नराधिप ॥६४॥
तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत् । आदित्यपथमावृत्य सप्ताहं भूमिकम्पनम् ॥६५॥
सविस्फुलिङ्गं साङ्गारं सधूममतिदारुणम् । तेन तात न शक्नोमि तस्मिन् स्थातुं स्व आश्रमे ॥६६॥
तं मारय महाकायं लोकानां हितकाम्यया । लोकाः[11] स्वस्था भवन्त्यद्य तस्मिन् विनिहते त्वया ॥६७॥
त्वं हि तस्य वधायैकः समर्थः पृथिवीपते । विष्णुना च वरो दत्तो मह्यं पूर्व्वयुगे नृप ॥६८॥
यस्तं महासुरं रौद्रं हनिष्यति महाबलम् । तस्य त्वं वरदानेन तेजश्चाप्यायपयिष्यसि ॥६९॥
न हि धुन्धुर्महातेजास्तेजसाल्पेन शक्यते । निर्दग्धुं पृथिवीपाल चिरं युगशतैरपि ॥७०॥

बहु-दक्षिणा-दाता सौ पुत्र हुए ॥५७½॥ पिता बृहदश्व ने कुवलाश्व को राज्य-प्रदान किया। इस प्रकार राज्य-लक्ष्मी पुत्र के अधीन कर राजा ने वन में प्रवेश किया। पर उत्तंक नामक ब्रह्मर्षि ने उसको आने से रोक दिया ॥५८-५९॥

उत्तंक ने कहा—राजन् ! तुम्हें रक्षा करनी चाहिये, तुम उसके योग्य हो, मैं निश्चिन्ततापूर्वक तपस्या नहीं कर पाता ॥६०॥ क्योंकि मेरे आश्रम के समीप मरुधन्वा नामक देश में बालू से भरा हुआ समुद्र उद्दालक नाम से ख्यात है ॥६१॥ वहाँ पृथ्वी के भीतर प्रवेश कर रेत से आच्छादित, देवताओं से भी अवध्य, महाकाय और महाबली मधु नामक राक्षस का पुत्र धुन्धु नामक महाराक्षस कठिन तपस्या करके लोक-विनाश के लिए शयन करता है ॥६२-६३॥ पृथिवी-पाल ! वर्ष के अन्त में जब वह साँस छोड़ता है तब वहाँ भू-कम्प हो जाता है ॥६४॥ उसकी साँस के वायु से उड़-कर धूल सूर्य के मार्ग को आच्छादित कर देती है । सात दिन तक पृथ्वी काँपती रहती है ॥६५॥ धुएँ से युक्त अग्नि से भयानक चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। तात ! इसी कारण मैं अपने आश्रम में नहीं ठहर पाता हूँ ॥६६॥ जन-कल्याण की कामना से तुम उस महाकाय राक्षस को मारो। तुम्हारे द्वारा उसका वध हो जाने पर जनता स्वस्थ, सन्तुष्ट हो जायगी ॥६७॥ राजन् ! उसका वध करने में तुम्हीं समर्थ हो । पूर्व युग में विष्णु ने मुझे वरदान दिया था कि जो उस भयंकर महाराक्षस को मारेगा, उसके तेज को वरदान से तुम बढ़ाओगे ॥६८-६९॥ पृथिवीपते ! महातेजस्वी धुन्धु अल्प तेज से सैकड़ों युगों तक दग्ध नहीं किया जा सकता ॥७०॥ उसका महापराक्रम

१क. ख. सुतं । २क. ख. ०श्वोऽभ्यषेचय० । ३ग. प्रयातं । ४क. ख. कर्तुमिहार्ह० । ५ख. ० मुद्रवा । ६ख. उज्जानक० । ७ख. ०तः । दैव० । ८ख. अनुभूमि० । ९क. ०सस्तु म० । १०ख. ०रः । स तु लो० । ११क. लोकाश्च सुखमेधन्ते त० ।

वीर्य्यञ्च सुमहत्तस्य देवैरपि दुरासदम् । स एवमुक्तो राजर्षिरुत्तङ्केन महात्मना ।
कुवलाश्वं सुतं प्रादात्तस्मै धुन्धुनिबर्हणे ॥७१॥

बृहदश्व उवाच

भगवन्न्यस्तशस्त्रोऽहमयं तु तनयो मम। भविष्यति द्विजश्रेष्ठ धुन्धुमारो न संशयः ॥७२॥
स तं व्यादिश्य तनयं राजर्षिर्धुन्धुमारणे । जगाम पर्व्वतायैव नृपतिः संशितव्रतः ॥७३॥

लोमहर्षण उवाच

कुवलाश्वस्तु पुत्राणां शतेन सह भो द्विजाः । प्रायादुत्तङ्कसहितो धुन्धोस्तस्य निबर्हणे ॥७४॥
तमाविशत्तदा विष्णुस्तेजसा भगवान् प्रभुः । उत्तङ्कस्य नियोगाद्वै लोकानां हितकाम्यया ॥७५॥
तस्मिन् प्रयाते दुर्द्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत् । एष श्रीमानवध्योऽद्य धुन्धुमारो भविष्यति ॥७६॥
दिव्यैर्गन्धैश्च माल्यैश्च[1] तं देवाः समवाकिरन् । देवदुन्दुभयश्चैव [2]प्रणेदुर्द्विजसत्तमाः ॥७७॥
स गत्वा जयतां [3]श्रेष्ठस्तनयैः सह वीर्य्यवान् । समुद्रं खानयामास बालुकान्तरमव्ययम् ॥७८॥
तस्य पुत्रैः खनद्भिश्च बालुकान्तर्हितस्तदा । धुन्धुरासादितो विप्रा दिशमावृत्य पश्चिमाम् ॥७९॥
मुखजेनाग्निना क्रोधाल्लोकानुद्वर्त्तयन्निव । वारि सुस्राव वेगेन महोदधिरिवोदये ॥८०॥
सोमस्य मुनिशार्द्दूला वरोर्म्मिकलिलो महान् । तस्य पुत्रशतं दग्धं त्रिभिरूनन्तु रक्षसा ॥८१॥

देवताओं से भी अजेय है। महात्मा उत्तंक के ऐसा कहने पर राजर्षि ने अपने पुत्र कुवलाश्व को धुन्धु-वध के निमित्त उस मुनि को दे दिया ॥७१॥

बृहदश्व ने कहा—भगवन् ! मैंने तो शस्त्र का त्याग कर दिया है। किन्तु मेरा यह पुत्र निःसन्देह धुन्धु को मारेगा ॥७२॥ इसके बाद अपने पुत्र को धुन्धु-वध का आदेश देकर वह राजर्षि तपस्या करने के लिए पर्वत पर चला गया ॥७३॥

लोमहर्षण बोले—ब्राह्मणो ! सौ पुत्रों को संग ले कुवलाश्व ने उत्तंक के साथ धुन्धु को मारने के लिए प्रस्थान किया तो लोकहित के लिए उत्तंक की आज्ञा से भगवान् विष्णु उस कुवलाश्व के शरीर में प्रविष्ट हुए ॥७४-७५॥ राजा के प्रस्थान करते ही आकाशवाणी का महानाद हुआ कि यह राजा अवध्य है और धुन्धु को मारेगा ॥७६॥ देवताओं ने उसके ऊपर दिव्य सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि की। दुन्दुभी बजने लगी ॥७७॥ जयशीलों में श्रेष्ठ वह पराक्रमी राजा अपने पुत्रों के साथ जाकर बालू से परिपूर्ण समुद्र को खुदवाने लगा ॥७८॥ ब्राह्मणो ! राज-पुत्रों के खोदने के समय बालू के भीतर छिपा धुन्धु पश्चिम दिशा को ढककर खड़ा हो गया ॥७९॥ और क्रोध से विश्व का संहार करने के लिए मुख से अग्नि निकालते हुए चन्द्रोदय में अत्यन्त तरंगित महासागर की तरह वेग से जल बढ़ाने लगा ॥८०$\frac{१}{३}$॥ मुनिवृन्द ! राक्षस ने तीन को छोड़कर सब पुत्रों को जला दिया ॥८१॥

---

[1] क. ख. ०श्च समन्तात्सम० । [2] ख. ०दुर्हि तदा भृशम् । स । [3] क. श्रेष्ठैस्त० ।

ततः स राजा द्युतिमान् राक्षसं तं महाबलम् । आससाद महातेजा धुन्धुं धुन्धुविनाशनः ।।८२।।
तस्य वारिमयं वेगमापीय स नराधिपः । योगी [१]योगेन वह्निञ्च शमयामास वारिणा ।।८३।।
निहत्य[२] तं महाकायं बलेनोदकराक्षसम् । उत्तङ्कं दर्शयामास कृतकर्म्मा नराधिपः ।।८४।।
उत्तङ्कस्तु वरं प्रादात्तस्मै राज्ञे महात्मने । ददौ तस्याक्षयं वित्तं शत्रुभिश्चापराजितम् ।।८५।।
धर्म्मे रतिञ्च सततं स्वर्गे वासं तथाक्षयम् । पुत्राणां चाक्षयाँल्लोकान् स्वर्गे ये रक्षसा हताः ।।८६।।
तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा[३] दृढाश्वो ज्येष्ठ उच्यते । चन्द्राश्वकपिलाश्वौ तु कनीयांसौ कुमारकौ ।।८७।।
धौन्धुमारेर्दृढाश्वस्य हर्य्यश्वश्चात्मजः स्मृतः । हर्य्यश्वस्य निकुम्भोऽभूत् क्षत्रधर्म्मरतः [४]सदा ।।८८।।
संहताश्वो निकुम्भस्य सुतो रणविशारदः । अकृशाश्वकृशाश्वौ तु संहताश्वसुतौ द्विजाः ।।८९।।
तस्य हैमवती कन्या सतां मता दृषद्वती । विख्याता त्रिषु लोकेषु पुत्रश्चास्याः प्रसेनजित् ।।९०।।
लेभे प्रसेनजिद्भार्य्यां[५] गौरीं नाम पतिव्रताम् । अभिशस्ता तु सा भर्त्रा नदी वै बाहुदाभवत् ।।९१।।
तस्य[६] पुत्रो महानासीद्युवनाश्वो नराधिपः । मान्धाता युवनाश्वस्य त्रिलोकविजयी सुतः ।।९२।।
तस्य चैत्ररथी भार्य्या शशविन्दोः सुताभवत् । साध्वी[७] विन्दुमती नाम रूपेणासदृशी भुवि ।।९३।।
पतिव्रता च ज्येष्ठा च भ्रातृणामयुतस्य वै । तस्यामुत्पादयामास मान्धाता द्वौ सुतौ द्विजाः ।।९४।।
पुरुकुत्सं च धर्म्मज्ञं मुचुकुन्दं च पार्थिवम् । पुरुकुत्ससुतस्त्वासीत्त्रसदस्युर्महीपतिः ।।९५।।

तब कान्तिमान् एवं महातेजस्वी वह धुन्धुनाशक राजा उस महाबली धुन्धु के पास पहुँचा ।।८२।। उस योगी राजा ने योगविद्या के बल से उसके जलमय वेग को पीकर जल से अग्नि को शान्त किया ।।८३।। उस महाकाय जल-राक्षस को बल से मारकर कृत-कृत्य राजा ने उत्तंक को दिखलाया ।।८४।। उत्तंक ने उस राजर्षि को यह वरदान दिया—'अक्षय धन तुम्हारे पास होगा, शत्रुओं से पराजय नहीं होगा, धर्म में सदा अनुराग रहेगा, अक्षय रूप से स्वर्ग में वास होगा और जिन पुत्रों को राक्षस ने मारा, उन्हें स्वर्ग में अक्षय लोक मिलेंगे' ।।८५-८६।। उस राजा के अवशिष्ट तीन पुत्रों में दृढाश्व ज्येष्ठ था। कुमार चन्द्राश्व और कपिलाश्व छोटे थे ।।८७।। धुंधुमार-पुत्र दृढाश्व के हर्यश्व नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। हर्यश्व के सदा क्षत्रिय-धर्म में तत्पर निकुम्भ नामक पुत्र हुआ ।।८८।। निकुम्भ के युद्ध-कुशल संहताश्व पुत्र हुआ। विप्रवृन्द ! संहताश्व के दो पुत्र हुए—अकृशाश्व और कृशाश्व ।।८९।। संहताश्व के सत्पुरुषों की आदरणीया और तीनों लोकों में दृषद्वती नाम से विख्यात हेमवती नामक कन्या हुई। इसके प्रसेनजित् नामक पुत्र हुआ ।।९०।। प्रसेनजित् की पतिव्रता पत्नी का नाम गौरी था। पति के शाप से वही गौरी बाहुदा नामक नदी बनी ।।९१।। प्रसेनजित् का पुत्र युवनाश्व महान् राजा हुआ। युवनाश्व के त्रैलोक्य-विजयी मांधाता पुत्र हुआ ।।९२।। शशविन्दु की कन्या चैत्ररथी उसकी भार्या हुई। वह अनुपम सुन्दरी, विन्दुमती नाम से प्रख्यात, पतिव्रता और दस हजार भाइयों में सबसे बड़ी थी ।।९३½।। द्विजगण ! मांधाता ने उससे दो पुत्र उत्पन्न किये— धर्मज्ञ पुरुकुत्स और राजा मुचुकुन्द। पुरुकुत्स का पुत्र त्रसदस्यु नामक राजा था ।।९४-९५।। उसके नर्मदा में उत्पन्न

---

[१] ख. योगियो०। [२] क. विशस्य। ग. निरस्य। [३] ग. शिष्टाः सुदासो ज्ये०। [४] क. ख. स्मृतः। [५] ख. ग. भार्या। [६] ग. तस्याः। [७] क. ०ध्वी चेन्दुम०।

नर्म्मदायामथोत्पन्नः [१]सम्भूतस्तस्य चात्मजः । [२]सम्भूतस्य तु दायादस्त्रिधन्वा रिपुमर्दनः ॥९६॥
राज्ञस्त्रिधन्वनस्त्वासीद्विद्वांस्त्रय्यारुणः[३] प्रभुः । तस्य सत्यव्रतो नाम कुमारोऽभून्महाबलः ॥९७॥
परिग्रहणमन्त्राणां विघ्नं चक्रे सुदुर्म्मतिः । येन भार्य्या कृतोद्वाहा हृता[४] चैव परस्य ह ॥९८॥
बाल्यात् कामाच्च मोहाच्च साहसाच्चापलेन च । जहार कन्यां कामार्त्तः कस्यचित् पुरवासिनः ॥९९॥
अधर्म्मशङ्कुना तेन तं स त्रय्यारुणोऽत्यजत् । अपध्वंसेति बहुशो वदन् क्रोधसमन्वितः ॥१००॥
सोऽब्रवीत् पितरं त्यक्तः क्व[५] गच्छामीति वै मुहुः । पिता च तमथोवाच[६] श्वपाकैः सह वर्त्तय ॥१०१॥
नाहं पुत्रेण[७] पुत्रार्थी त्वयाद्य कुलपांसन । इत्युक्तः स निराक्रामन्नगराद्वचनात् पितुः ॥१०२॥
न च तं वारयामास वसिष्ठो भगवानृषिः । स तु सत्यव्रतो विप्राः[८] श्वपाकावसथान्तिके ॥१०३॥
पित्रा त्यक्तोऽवसद्वीरः पिताप्यस्य वनं ययौ । ततस्तस्मिंस्तु विषये नावर्षत् पाकशासनः ॥१०४॥
समा द्वादश भो विप्रास्तेनाधर्म्मेण वै तदा । दारांस्तु तस्य विषये विश्वामित्रो महातपाः ॥१०५॥
संन्यस्य सागरान्ते तु चकार विपुलं तपः । तस्य पत्नी गले बद्ध्वा मध्यमं पुत्रमौरसम् ॥१०६॥
शेषस्य भरणार्थाय [९]व्यक्रीणाद्गोशतेन वै । तं च बद्धं गले दृष्ट्वा विक्रयार्थं नृपात्मजः ॥१०७॥
महर्षिपुत्रं धर्म्मात्मा मोक्षयामास भो द्विजाः । सत्यव्रतो महाबाहुर्भरणं तस्य चाकरोत् ॥१०८॥
विश्वामित्रस्य तुष्ट्यर्थमनुकम्पार्थमेव च । सोऽभवद्गालवो नाम गले बन्धान्महातपाः ।

संभूत नामक पुत्र हुआ । संभूत का पुत्र त्रिधन्वा शत्रु का मर्दन करनेवाला था ॥९६॥ राजा त्रिधन्वा के त्रय्यारुण नामक विद्वान् पुत्र हुआ । उसके सत्यव्रत नामक महाबली कुमार हुआ ॥९७॥ वह बड़ा दुष्टबुद्धि था, लोगों के विवाहों में विघ्न करता था, दूसरे की विवाहिता पत्नी का अपहरण कर लेता था ॥९८॥ उसने बचपन, काम, मोह, साहस तथा चंचलता के कारण काम से पीड़ित हो किसी नगरवासी की कन्या चुरा ली ॥९९॥ उसके अधर्माचरण के कारण त्रय्यारुण ने क्रोध से बहुत गालियाँ बकते हुए उसका परित्याग कर दिया । परित्यक्त पुत्र पिता से बारम्बार कहने लगा 'मैं कहाँ जाऊँगा ?' तब पिता ने कहा—"चांडालों के साथ रह । रे कुलांगार ! आज तुझ जैसे पुत्र से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है" ॥१००-१०१॥ इस प्रकार पिता के वचन से वह नगर से निकल गया ॥१०२॥ भगवान् वसिष्ठ ने भी उसे जाने से नहीं रोका । विप्रगण ! वह वीर सत्यव्रत पिता से त्यक्त होकर चांडाल के घर रहने लगा । उसका पिता भी वन चला गया ॥१०३॥ ब्राह्मणो ! तब इन्द्र ने बारह वर्षों तक उसके राज्य में वृष्टि नहीं की । महातपस्वी विश्वामित्र अपनी पत्नी को उसके राज्य में छोड़कर समुद्र-तट पर घोर तपस्या करने लगे ॥१०४-१०५॥ उनकी स्त्री अपने मझले पुत्र के गले को बाँध कर शेष कुटुम्ब के पालन के लिए उसे सौ गायों के मूल्य में बेचने को चली ॥१०६॥ विप्रवृन्द ! इस प्रकार बँधे हुए महर्षि-पुत्र को देखकर धर्मात्मा सत्यव्रत ने उसे छुड़ा दिया और विश्वामित्र की प्रसन्नता तथा अनुकम्पा के निमित्त उसका भरण-पोषण भी किया ॥१०७-१०८॥

१क. ०भूतिस्त० । २क. ०भूतेश्चैव दा० । ३ख. द्विद्वान्वस्त्रारु० । ४ग. हता । ५ख. त्यक्त्वा । ६ख. पातकैः । ७ख. दुष्टेन । ८ख. ०प्राः पुरस्य स्वस्य चान्ति० । ९ख. ०णादाश० ।

महर्षिः कौशिको धीमांस्तेन वीरेण मोक्षितः । ॥१०९॥

इतिश्रीब्राह्मे महापुराणे सूर्य्यवंशनिरूपणं नाम
सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

सूर्यवंश-वर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

सत्यव्रतस्तु [१]भक्त्या च कृपया च प्रतिज्ञया । विश्वामित्रकलत्रं तु बभार विनये स्थितः[२] ॥१॥
हत्वा मृगान् वराहांश्च महिषांश्च वनेचरान् । विश्वामित्राश्रमाभ्यासे मांसं वृक्षे बबन्ध च ॥२॥
उपांशुव्रतमास्थाय दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् । पितुर्नियोगादवसत्तस्मिन् वनगते नृपे ॥३॥
अयोध्यां चैव राज्यं च तथैवान्तःपुरं मुनिः । याज्योपाध्यायसंयोगाद्वसिष्ठः पर्य्यरक्षत ॥४॥
सत्यव्रतस्तु बाल्याच्च भाविनोऽर्थस्य वै बलात् । वसिष्ठेऽभ्यधिकं मन्युं धारयामास नित्यशः[३] ॥५॥
पित्रा हि तं तदा राष्ट्रात्त्यज्यमानं प्रियं सुतम् । निवारयामास मुनिर्बहुना कारणेन च ॥६॥

गले में बन्धन पड़ने के कारण वह मुनि-पुत्र गालव नाम से विख्यात महातपस्वी हुआ। विद्वान् महर्षि कौशिक वीर सत्यव्रत के द्वारा उन्मुक्त किये गये ॥१०९॥

श्री ब्रह्म-महापुराण में सूर्यवंश-निरूपण नामक सातवाँ अध्याय समाप्त ॥७॥

अध्याय ८

सूर्यवंश का वर्णन

लोमहर्षण ने कहा—सत्यव्रत भक्ति, कृपा, विनय तथा प्रतिज्ञा से विश्वामित्र की पत्नी का पालन करने लगा ॥१॥ वह मृग, शूकर, भैंस और जंगली जानवरों को मारकर मांस को विश्वामित्र के आश्रम में वृक्ष पर बाँध देता था ॥२॥ राजा के वन चले जाने के बाद वह उपांशुव्रत (अन्य कोई नहीं जान सके ऐसा नियम) स्वीकार कर बारह वर्षों की दीक्षा लेकर पिता की आज्ञा के अनुसार रहने लगा ॥३॥ यजमान-पुरोहित के सम्बन्ध से वसिष्ठ जी अयोध्यापुरी, राज्य तथा अन्तःपुर (रनिवास) की देख-भाल करने लगे ॥४॥ सत्यव्रत बचपन तथा भावी के कारण वसिष्ठ जी के प्रति अधिकाधिक क्रोध धारण करने लगा ॥५॥ जब पिता ने प्रिय पुत्र को राज्य से निकाल दिया था तब वसिष्ठ जी ने अनेक कारणों से उसका निवारण नहीं किया था ॥६॥ विवाह-मंत्रों की निष्ठा (अर्थात् विवाह का

---

[१]ख. भगवान्कृप० । [२]क. स्थितम् । [३]ख. ग. नित्यदा ।

पाणिग्रहणमन्त्राणां निष्ठा स्यात् सप्तमे पदे। न च सत्यव्रतस्तस्माद्धृतवान् सप्तमे पदे ।।७।।
जानन् धर्म्मं वसिष्ठस्तु न मां त्रातीति भो द्विजाः। सत्यव्रतस्तदा रोषं वसिष्ठे मनसाकरोत् ।।८।।
गुणबुद्ध्या तु भगवान् वसिष्ठः कृतवांस्तथा। न च सत्यव्रतस्तस्य तमुपांशुमबुध्यत ।।९।।
तस्मिन्नपरितोषश्च पितुरासीन्महात्मनः। तेन द्वादश वर्षाणि नावर्षत् पाकशासनः ।।१०।।
तेन त्विदानीं विहितां दीक्षां तां दुर्वहां भुवि। कुलस्य निष्कृतिर्विप्राः कृता सा वै भवेदिति ।।११।।
न तं वसिष्ठो भगवान् पित्रा त्यक्तं न्यवारयत्। अभिषेक्ष्याम्यहं पुत्रमस्येत्येवंमतिर्म्मुनिः ।।१२।।
स तु द्वादश वर्षाणि तां दीक्षामवहद्बली। अविद्यमाने मांसे तु वसिष्ठस्य महात्मनः ।।१३।।
सर्व्वकामदुघां दोग्ध्रीं स ददर्श नृपात्मजः। तां वै क्रोधाच्च मोहाच्च श्रमाच्चैव क्षुधान्वितः[1] ।।१४।।
देशधर्म्मगतो राजा जघान[2] मुनिसत्तमाः। तन्मांसं स[3] स्वयं चैव विश्वामित्रस्य चात्मजान् ।।१५।।
भोजयामास तच्छ्रुत्वा वसिष्ठोऽप्यस्य चुक्रुधे ।।१६।।

वसिष्ठ उवाच

पातयेयमहं क्रूर तव [4]शङ्कुमसंशयम्। यदि ते द्वाविमौ शङ्कू न स्यातां वै कृतौ पुनः ।।१७।।
पितुश्चापरितोषेण [5]गुरुदोग्ध्रीवधेन च। अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः ।।१८।।
एवं त्रीण्यस्य शङ्कूनि तानि दृष्ट्वा महातपाः। त्रिशङ्कुरिति होवाच त्रिशङ्कुस्तेन स स्मृतः ।।१९।।
विश्वामित्रस्य[6] [7]दाराणामनेन भरणं कृतम्। तेन तस्मै वरं प्रादान्मुनिः प्रीतस्त्रिशङ्कवे ।।२०।।

पर्यवसान) सप्तपदी में जाकर होती है। इसलिए सत्यव्रत ने सप्तपदी में कन्या का अपहरण नहीं किया ।।७।। विप्रवृन्द! 'वसिष्ठ धर्म को जानते हुए भी मेरी रक्षा नहीं कर रहे हैं' ऐसा सोचकर सत्यव्रत ने वसिष्ठ के प्रति मन में क्रोध किया ।।८।। भगवान् वसिष्ठ ने तो उसका हित समझ करके ऐसा किया था। पर सत्यव्रत ने उनका आशय नहीं समझा ।।९।। उसके ऊपर महात्मा पिता का पूर्ण असंतोष था। इसलिए बारह वर्षों तक इन्द्र ने वर्षा नहीं की ।।१०।। द्विजगण! 'बारह वर्ष की कठिन दीक्षा से इसके कुल का परिशोध (अर्थात् प्रायश्चित्त) हो जायगा। तब इसके पुत्र का अभिषेक मैं कर दूँगा।' ऐसा सोचकर भगवान् वसिष्ठ ने उसे नहीं रोका था, जब पिता ने उसका परित्याग कर दिया था ।।११-१२।। वह बारह वर्ष तक दीक्षा धारण किये रहा। (एक दिन) मांस मिलने पर महात्मा वसिष्ठ की कामधेनु गाय को राजपुत्र (सत्यव्रत) ने देखा ।।१३½।। मुनिश्रेष्ठो! भूखे राजा ने क्रोध, मोह और श्रम के कारण देशधर्म के अनुसार उस गाय को मार डाला ।।१४½।। उसके मांस को स्वयं भी खाया और विश्वामित्र के पुत्रों को भी खिलाया। यह सुनकर वसिष्ठ जी आग बबूला हो गये ।।१५-१६।।

वसिष्ठ ने कहा—'दुष्ट! मैं तेरे शंकु (पाप या अपराध) को दूर कर देता, यदि तूने ये दो शंकु नहीं किये होते ।।१७।। पिता का असंतोष, गुरु की गाय का वध और असंस्कृत मांस का भक्षण—ये तीन प्रतिकूल कार्य तूने किये हैं' ।।१८।। इस प्रकार उसके तीन शंकुओं को देखकर मुनि ने उसे 'त्रिशंकु' कहा। इसी से उसका नाम त्रिशंकु पड़ा ।।१९।। विश्वामित्र के स्त्री-बच्चों का पालन उसने किया था। इससे मुनि (विश्वामित्र) ने प्रसन्न होकर त्रिशंकु को

---

[1] ख. ०तः। हत्वा धेनुं ततो रा०। [2] ख. जगाम। [3] ख. तु। [4] ख. शङ्कुं न संशयः। य०। [5] क.ख. गुरोर्दोग्ध्री०। [6] क.ख. ०त्रस्तु दा०। [7] क.ख. ०णामागतो भरणे कृते। ततस्तस्मै।

छन्द्यमानो वरेणाथ वरं वव्रे नृपात्मजः। सशरीरो व्रजे स्वर्गमित्येवं याचितो वरः ॥२१॥
अनावृष्टिभये तस्मिन् गते द्वादशवार्षिके। पित्र्ये राज्येऽभिषिच्याथ याजयामास पार्थिवम् ॥२२॥
मिषतां देवतानां च वसिष्ठस्य च कौशिकः। दिवमारोपयामास सशरीरं महातपाः ॥२३॥
तस्य सत्यरथा नाम पत्नी कैकेयवंशजा। कुमारं जनयामास हरिश्चन्द्रमकल्मषम् ॥२४॥
स वै राजा हरिश्चन्द्रस्त्रैशङ्कव इति स्मृतः। आहर्त्ता राजसूयस्य सम्राडिति ह विश्रुतः ॥२५॥
हरिश्चन्द्रस्य पुत्रोऽभूद्रोहितो नाम पार्थिवः[1]। हरितो रोहितस्याथ[2] चञ्चुर्हारित उच्यते ॥२६॥
विजयश्च [3]मुनिश्रेष्ठाश्चञ्चुपुत्रो बभूव ह। जेता स सर्व्वपृथिवीं विजयस्तेन स स्मृतः ॥२७॥
[4]रुरुकस्तनयस्तस्य राजा धर्म्मार्थकोविदः। रुरुकस्य[5] वृकः पुत्रो वृकाद्बाहुस्तु जज्ञिवान् ॥२८॥
[6]हैहयास्तालजङ्घाश्च निरस्यन्ति स्म तं नृपम्[7]। तत्पत्नी गर्भमादाय और्व्वस्याश्रममाविशत् ॥२९॥
[8]नासत्यो धार्म्मिकश्चैव स हि धर्मयुगेऽभवत् । सगरस्तु सुतो बाहोर्यज्ञे सह गरेण वै ॥३०॥
और्व्वस्याश्रममासाद्य भार्गवेणाभिरक्षितः। आग्नेयमस्त्रं लब्ध्वा च भार्गवात् सगरो नृपः ॥३१॥
जिगाय पृथिवीं हत्वा तालजङ्घान् सहैहयान्। शकानां पह्लवानां च धर्मं निरसदच्युतः ॥
क्षत्रियाणां मुनिश्रेष्ठाः पारदानां च धर्म्मवित् ॥३२॥

मुनय ऊचुः

कथं स सगरो जातो गरेणैव सहाच्युतः। किमर्थं च शकादीनां क्षत्रियाणां महौजसाम् ॥३३॥

वरदान दिया॥२०॥ अनन्तर वरदान द्वारा अनुगृहीत किये जाते हुए राजपुत्र ने वर माँगा कि 'मैं इसी शरीर से स्वर्ग चला जाऊँ' ॥२१॥ बारह वर्षों तक की अनावृष्टि का भय शान्त हो जाने पर त्रिशंकु को पिता के राज्य में अभिषिक्त कर विश्वामित्र यज्ञ कराने लगे॥२२॥ देवताओं और वसिष्ठ जी के देखते ही विश्वामित्र ने राजपुत्र को सशरीर स्वर्ग भेज दिया॥२३॥ कैकेय वंश में समुत्पन्न सत्यरथा नामक उसकी पत्नी ने हरिश्चन्द्र नामक निष्पाप पुत्र को उत्पन्न किया॥२४॥ वही राजा हरिश्चन्द्र त्रैशंकव (त्रिशंकु का पुत्र) कहलाया। हरिश्चन्द्र राजसूय-यज्ञ-कर्ता चक्रवर्ती राजा हुआ॥२५॥ हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहित नामक राजा हुआ। रोहित के हरित नामक पुत्र हुआ और हरित का पुत्र चंचु कहा जाता है॥२६॥ मुनिश्रेष्ठो! चंचु का पुत्र विजय हुआ। वह संपूर्ण पृथिवी का विजेता था। इसलिए उसका नाम विजय पड़ा॥२७॥ उसका पुत्र धर्म-अर्थ को जानने वाला राजा रुरुक हुआ। रुरुक के पुत्र वृक से बाहु उत्पन्न हुआ॥२८॥ हैहय और तालजंघ नामक गणों ने बाहु को राज्य से अलग कर दिया। तब उसकी गर्भिणी पत्नी और्व मुनि के आश्रम में आ गयी॥२९॥ धर्म-युग के अनुसार बाहु सत्यात्मा और धार्मिक भी था। उसके सगर नामक पुत्र विष के साथ उत्पन्न हुआ ॥३०॥ और्व के आश्रम में भृगु-वंशी ने उसका पालन किया। सगर राजा को भृगु-वंशी से आग्नेय-अस्त्र प्राप्त हुआ॥३१॥ मुनिवर! सगर ने तालजंघों और हैहयों को मार पृथिवी को जीत कर शक, पह्लव, पारद आदि क्षत्रियों को धर्मच्युत कर दिया॥३२॥

मुनियों ने कहा—विष के साथ सगर क्यों उत्पन्न हुआ? किसलिए क्रोध करके राजा ने शक आदि पराक्रमी

---

१ क. धार्मिक। २ ख. ०थ चुम्बुर्हा०। ३ ख. ०ष्ठाश्चुपु०। ४ ख. रुरुक०। ५ ख. रुरुक०। ६ ग ०हयाः काल०। ७ क. ख. नृपाः। ८ ग. नात्यर्थं।

धर्म्मान्कुलोचितान् राजा क्रुद्धो निरसदच्युतः। एतन्नः सर्व्वमाचक्ष्व विस्तरेण महामते ।।३४।।

लोमहर्षण उवाच

बाहोर्व्यसनिनः पूर्व्वं हृतं राज्यमभूत् किल। हैहयैस्तालजङ्घैश्च शकैः सार्द्धं द्विजोत्तमाः ।।३५।।
यवनाः पारदाश्चैव काम्बोजाः पह्लवास्तथा। एते ह्यपि गणाः पञ्च हैहयार्थे पराक्रमम् ।।३६।।
हृतराज्यस्तदा राजा स वै बाहुर्वनं ययौ। पत्न्या चानुगतो दुःखी तत्र प्राणानवासृजत् ।।३७।।
पत्नी तु यादवी तस्य सगर्भा पृष्ठतोऽन्वगात्। सपत्न्या च गरस्तस्यै दत्तः पूर्व्वं किलानघाः ।।३८।।
सा तु भर्त्तुश्चितां कृत्वा वने [1]तामभ्यरोहत। और्व्वस्तां भार्गवो विप्राः कारुण्यात् समवारयत् ।।३९।।
तस्याश्रमे च गर्भः स गरेणैव सहाच्युतः। व्यजायत महाबाहुः सगरो नाम पार्थिवः ।।४०।।
और्व्वस्तु जातकर्म्मादींस्तस्य कृत्वा महात्मनः। अध्याप्य वेदशास्त्राणि ततोऽस्त्रं प्रत्यपादयत् ।।४१।।
आग्नेयं तु महाभागा अमरैरपि दुःसहम्। स तेनास्त्रबलेनाजौ बलेन च समन्वितः ।।४२।।
हैहयान् विजघानाशु क्रुद्धो रुद्रः पशूनिव[2]। आजहार च लोकेषु कीर्त्तिं[3] कीर्त्तिमतां वरः ।।४३।।
ततः[4] शकांश्च यवनान् [5]काम्बोजान् पारदांस्तथा। पह्लवांश्चैव निःशेषान् कर्त्तुं व्यवसितो नृपः ।।४४।।
ते वध्यमाना वीरेण सगरेण महात्मना। वसिष्ठं शरणं गत्वा प्रणिपेतुर्मनीषिणम् ।।४५।।
वसिष्ठस्त्वथ तान् दृष्ट्वा समयेन महाद्युतिः। सगरं वारयामास तेषां दत्त्वाभयं तदा ।।४६।।
सगरः[6] स्वां प्रतिज्ञां तु गुरोर्वाक्यं निशम्य च। धर्म्मं जघान तेषां वै वेशानन्यांश्चकार ह ।।४७।।

राजाओं को उनके कुल-धर्मों से च्युत किया ? हे महाविद्वन् ! यह सब विस्तार से हमलोगों को वताइये।। ३३-३४।।

लोमहर्षण बोले—ब्राह्मणश्रेष्ठो ! पहिले हैहय, तालजंघ और शक ने दुर्व्यसनी बाहु के राज्य का अपहरण कर लिया था ।।३५।। शक, यवन, पारद, काम्बोज और पह्लव—ये भी पाँच गण हैहय के सहायक थे ।।३६।। तब राज्य से वंचित बाहु वन चला गया। पत्नी भी पीछे से गयी। दुःखी होकर बाहु ने वहीं पर प्राणत्याग कर दिया ।।३७।। राजा की गर्भिणी पत्नी यादवी (यदुवंश में उत्पन्न) को सौत ने विष दे दिया ।।३८।। वह वन में पति की चिता पर जलने लगी। पर भृगुवंशी और्व ने दयावश उसको जलने नहीं दिया ।।३९।। मुनि के आश्रम में विष के साथ ही उसके गर्भ से राजा सगर उत्पन्न हुआ ।।४०।। और्व ने बालक का जातकर्म आदि संस्कार करके उसे वेद-शास्त्र पढ़ाया। महाभाग ! तब मुनि ने देवताओं से भी सहन न करने योग्य आग्नेयास्त्र उसको दिया।।४१½।। सेना से युक्त हो सगर मुनि-प्रदत्त अस्त्र से हैहयों को उसी तरह मारने लगा जिस तरह क्रुद्ध हुए रुद्र ने पशुओं को मारा था। यशस्वियों में श्रेष्ठ वह राजा संसार में अपनी कीर्ति फैलाने लगा।।४२-४३।। पश्चात् शकों, यवनों, काम्बोजों, पारदों और पह्लवों को निःशेष करने में राजा प्रवृत्त हुआ।।४४।। महात्मा वीर सगर के द्वारा विनष्ट होते हुए वे सब विद्वान् वसिष्ठ की शरण में गये और उनको दण्डवत् प्रणाम करने लगे।।४५।। तब महातेजस्वी वसिष्ठ ने उनसे प्रतिज्ञा कराकर सगर को रोक दिया और उन्हें अभयदान दिया ।।४६।। सगर ने अपनी प्रतिज्ञा याद कर और गुरु के वाक्य सुनकर उनके धर्मों का नाश किया और उनके वेशों को बदल दिया ।।४७।। शकों के आधे सिर को और

---

१ ख. ०मध्यरो०। २ ख. ०व। लेभे सदा स लो०। ३ ख. यशः ०। ४ ख. तदा स य ०। ५ ख. ०नाम्राजा काम्बो०। ६ ख. ०गरस्तां प्र०।

अर्द्धं शकानां शिरसो मुण्डयित्वा व्यसर्जयत्। यवनानां शिरः सर्व्वं काम्बोजानां तथैव च ॥४८॥
पारदा मुक्तकेशाश्च पह्लवाः श्मश्रुधारिणः। निःस्वाध्यायवषट्कारा: कृतास्तेन महात्मना ॥४९॥
शका यवनकाम्बोजाः पारदाश्च द्विजोत्तमाः[1]। कोणिसर्पा माहिषका दर्व्वाश्चोलाः सकेरलाः ॥५०॥
सर्व्वे ते क्षत्रिया विप्रा धर्म्मस्तेषां निराकृतः। वसिष्ठवचनाद्राज्ञा [2]सगरेण महात्मना ॥५१॥
स धर्म्मविजयी राजा विजित्येमां वसुन्धराम्। अश्वं प्रचारयामास वाजिमेधाय दीक्षितः ॥५२॥
तस्य चारयतः सोऽश्वः समुद्रे पूर्व्वदक्षिणे। वेलासमीपेऽपहृतो भूमिं चैव प्रवेशितः ॥५३॥
स तं देशं तदा पुत्रैः खानयामास पार्थिवः। आसेदुस्ते तदा तत्र खन्यमाने महार्णवे ॥५४॥
तमादिपुरुषं देवं हरिं कृष्णं प्रजापतिम्। विष्णुं कपिलरूपेण [3]स्वपन्तं पुरुषं तदा॥५५॥
तस्य चक्षुःसमुत्थेन तेजसा प्रतिबुध्यतः। दग्धाः सर्व्वे मुनिश्रेष्ठाश्चत्वारस्त्ववशेषिताः ॥५६॥
[4]बर्हिकेतुः सुकेतुश्च तथा [5]धर्म्मरथो नृपः। [6]शूरः पञ्चनदश्चैव[7] तस्य वंशकरा[8] नृपाः ॥५७॥
प्रादाच्च तस्मै भगवान् हरिर्नारायणो वरम्। अक्षयं वंशमिक्ष्वाकोः कीर्त्तिं चाप्यनिवर्त्तिनीम् ॥५८॥
पुत्रं समुद्रं च विभुः स्वर्गे वासं तथा क्षयम् । समुद्रश्चार्घ्यमादाय ववन्दे तं महीपतिम् ॥५९॥
सागरत्वं च लेभे स कर्म्मणा तेन तस्य ह। तं चाश्वमेधिकं सोऽश्वं समुद्रादुपलब्धवान् ॥६०॥
आजहाराश्वमेधानां शतं स सुमहातपाः[9]। पुत्राणां च सहस्राणि षष्टिस्तस्येति नः श्रुतम् ॥६१॥

यवनों तथा काम्बोजों के सम्पूर्ण सिर को मुँड़वा कर छोड़ दिया ॥४८॥ पारदों को मुक्तकेश (बिखरे बालों वाले) और पहलवों को दाढ़ी-मूँछ-युक्त बनाकर छोड़ दिया। विप्रवर! शक, यवन, काम्बोज, पारद, कोणिसर्प, माहिषक, दर्व, चोल, केरल—ये सब क्षत्रिय वेदाध्ययन, जप आदि से वंचित कर दिये गये। वसिष्ठ के वचन से राजा सगर ने इनके धर्मों का नाश कर दिया ॥४९-५१॥ धर्म-विजयी राजा ने सम्पूर्ण पृथिवी को जीतकर अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा लेकर अश्व को छोड़ दिया ॥५२॥ वह अश्व पूर्व-दक्षिण समुद्र के समीप अपहृत होकर पृथिवी में प्रविष्ट हुआ तो राजा ने अपने पुत्रों के द्वारा उस प्रदेश को खुदवाया ॥५३$\frac{१}{३}$॥ महासमुद्र को खोदते हुए वे राजपुत्र वहाँ पहुँचे, जहाँ आदि पुरुष, देव, हरि, कृष्ण, प्रजापति—संज्ञक विष्णु भगवान् कपिल मुनि के रूप में शयन कर रहे थे ॥५४-५५॥ मुनिवर! भगवान् के जगने पर उनकी आँखों के तेज से सगर के सब पुत्र दग्ध हो गये। केवल बर्हिकेतु, सुकेतु, राजा धर्मरथ, वीर पंचनद—ये चार राजपुत्र वंश बढ़ाने के लिए बच गये ॥५६-५७॥ पश्चात् भगवान् नारायण ने सगर को वरदान दिया—'इक्ष्वाकु का वंश अक्षय रहेगा, तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी, तुम्हें समुद्र पुत्र होगा और तुम अक्षय स्वर्गवास प्राप्त करोगे' ॥५८$\frac{१}{३}$॥ समुद्र भी अर्घ्य लेकर राजा की वन्दना करने लगा ॥५९॥ उसी कर्म से समुद्र सागर कहलाया। उस अश्व को राजा ने समुद्र से प्राप्त किया और सौ अश्वमेध यज्ञों को सम्पन्न किया। उसके साठ हजार पुत्र हुए— ऐसा हमने सुना है ॥६०-६१॥

---

१ क. ०माः। केलिसर्गा महाषीका और्वाश्चौडाः स०। ख. ०माः। केलसर्पा माहिषदा द्वाश्वोलाश्च स०। २ क.ख. कृतास्त्रेण। ३ क. ख. स्वयंभू। ४ ख. ग. बर्हके०। ५ क. बर्हिरथो। ख. बार्हद्रथो। ६ ख. ग. खरः। ७ क. ञ्चजनश्चै०। ८ ख. ०करोऽभवत्। प्रा०। ९ क. ख. ०हायशाः। पु०।

मुनय ऊचुः

सगरास्यात्मजा धीराः कथं जाता महाबलाः । विक्रान्ताः षष्टिसाहस्राः विधिना केन सत्तम[1] ।।६२।।

लोमहर्षण उवाच

द्वे भार्य्ये सगरस्यास्तां तपसा दग्धकिल्विषे । ज्येष्ठा विदर्भदुहिता केशिनी नाम नामतः ।।६३।।
कनीयसी तु महती पत्नी परमधर्म्मिणी । अरिष्टनेमिदुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि ।।६४।।
और्व्वस्ताभ्यां वरं प्रादात्तद्बुध्यध्वं द्विजोत्तमाः । षष्टिं पुत्रसहस्राणि गृह्णात्वेका नितम्बिनी[2] ।।६५।।
एकं वंशधरं त्वेका यथेष्टं वरयत्विति । तत्रैका जगृहे [3]पुत्रान् षष्टिसाहस्रसम्मितान् ।।६६।।
एकं वंशधरं त्वेका तथेत्याह ततो मुनिः । राजा पञ्चजनो नाम बभूव स महाद्युतिः ।।६७।।
इतरा सुषुवे तुम्बीं बीजपूर्णामिति श्रुतिः । तत्र षष्टिसहस्राणि गर्भास्ते तिलसम्मिताः ।।६८।।
संबभूवुर्यथाकालं ववृधुश्च यथासुखम् । घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान् गर्भान्निदधे ततः ।।६९।।
धात्रीश्चैकैकशः प्रादात्तावतीः पोषणे नृपः । [4]ततो दशसु मासेषु समुत्तस्थुर्यथाक्रमम् ।।७०।।
कुमारास्ते यथाकालं सगरप्रीतिवर्द्धनाः । षष्टिपुत्रसहस्राणि तस्यैवमभवन् द्विजाः ।।७१।।
गर्भादलाबुमध्याद्वै जातानि पृथिवीपतेः । तेषां नारायणं तेजः प्रविष्टानां महात्मनाम् ।।७२।।
एकः पञ्चजनो नाम पुत्रो राजा बभूव ह । [5]शूरः पञ्चजनस्यासीदंशुमान्नाम[6] वीर्य्यवान् ।।७३।।

मुनियों ने पूछा—हे सूतजी ! सगर के वीर, महाबली तथा पराक्रमी साठ हजार पुत्र कैसे हुए ? ।।६२।।

लोमहर्षण बोले—तपस्या से निष्पाप हुई दो भार्याएँ सगर की थीं । केशिनी नामक विदर्भ-राजकुमारी उनमें ज्येष्ठ थी ।।६३।। छोटी पत्नी अरिष्टनेमि की कन्या थी । जो अनुपम सुन्दरी और परम धर्मातमा थी ।।६४।। विप्रवृन्द ! और्व मुनि ने उन्हें जो वरदान दिया था, उसे सुनिये ।

'एक स्त्री साठ हजार पुत्रों को उत्पन्न करेगी और दूसरी वंश का धारण करने वाले एक ही पुत्र को । जिसको जो पसन्द हो, वह माँग ले' ।।६५।। तब मुनि की स्वीकृति के अनुसार एक स्त्री ने साठ हजार पुत्रों को और दूसरी ने एक ही वंशधर पुत्र की याचना की । वंशधर पुत्र पंचजन नामक महातेजस्वी राजा हुआ ।।६६-६७।। ऐसी प्रसिद्धि है कि दूसरी स्त्री ने बीज से भरी हुई एक तुम्बी (तुमड़ी) का प्रसव किया । उसमें से एक तिल के बराबर साठ हजार गर्भ (पुत्र) उत्पन्न हुए ।।६८।। समय और सुख के अनुसार वे सव वढ़ने लगे । उनको घी से भरे हुए घड़ों में रख दिया गया ।।६९।। राजा ने प्रत्येक बच्चे के लिए एक-एक दाई नियुक्त की । दस महीने बीत जाने पर वे कुमार क्रमशः खड़े होने लगे ।।७०।। यथासमय वे सभी राजकुमार सगर के लिए प्रीतिवर्धक हुए । द्विजगण ! इस प्रकार उस राजा के साठ हजार पुत्र हुए ।।७१।। उन बच्चों की उत्पत्ति तुम्बी के भीतर से हुई थी । उन मनस्वी वालकों में नारायण का तेज निहित था ।।७२।। पंचजन नामक पुत्र राजा हुआ । पंचजन का पुत्र अत्यन्त वीर अंशुमान् था ।।७३।। उसका पुत्र दिलीप था, जिसका नाम खट्वांग भी था,

---

[1] क. ख. सूतज । [2] ख. तपस्विनी । ग. तरस्विनी । [3] ग. ०त्राल्लुँब्धाञ्शूरान्वहूंस्तथा । ए० । [4] क. ततोऽथ दशमे मासे स० । [4] ख. सुतः । [6] क. ०सीद्वसुमा० ।

दिलीपस्तस्य तनयः खट्वाङ्ग इति विश्रुतः। येन स्वर्गादिहागत्य मुहूर्तं प्राप्य [1]जीवितम् ।।७४।।
त्रयोऽभिसन्धिता [2]लोका बुद्ध्या सत्येन चानघाः। दिलीपस्य तु दायादो [3]महाराजो भगीरथः[4] ।।७५।।
यः स गङ्गां सरिच्छ्रेष्ठामवातारयत प्रभुः। समुद्रमानयच्चैनां दुहितृत्वेऽप्यकल्पयत् ।।७६।।
तस्माद्भागीरथी गङ्गा कथ्यते [5]वंशचिन्तकैः। भगीरथसुतो राजा श्रुत इत्यभिविश्रुतः ।।७७।।
नाभागस्तु श्रुतस्यासीत् पुत्रः परमधार्म्मिकः। अम्बरीषस्तु नाभागिः सिन्धुद्वीपपिताभवत् ।।७८।।
अयुताजित्तु दायादः सिन्धुद्वीपस्य वीर्य्यवान्। अयुताजित्सुतस्त्वासीदृतुपर्णो महायशाः ।।७९।।
दिव्याक्षहृदयज्ञो वै राजा नलसखो बली। [6]ऋतुपर्णसुतस्त्वासीदात्तपर्णिर्महायशाः ।।८०।।
सुदासस्तस्य तनयो राजा इन्द्रसखोऽभवत्। सुदासस्य सुतः प्रोक्तः सौदासो नाम पार्थिवः ।।८१।।
ख्यातः कल्माषपादो[7] वै राजा मित्रसहोऽभवत्। कल्माषपादस्य सुतः सर्व्वकर्म्मेति विश्रुतः ।।८२।।
अनरण्यस्तु पुत्रोऽभूद्विश्रुतः सर्व्वकर्म्मणः। अनरण्यसुतो निघ्नो निघ्नतो द्वौ बभूवतुः ।।८३।।
अनमित्रो रघुश्चैव पार्थिवर्षभसत्तमौ। अनमित्रसुतो राजा विद्वान् [8]दुलिदुहोऽभवत् ।।८४।।
दिलीपस्तनयस्तस्य रामस्य प्रपितामहः। दीर्घबाहुर्दिलीपस्य रघुर्नाम्ना सुतोऽभवत् ।।८५।।
अयोध्यायां महाराजो[9] यः पुरासीन्महाबलः। अजस्तु राघवो जज्ञे [10]तथा दशरथोऽप्यजात् ।।८६।।
रामो दशरथाज्जज्ञे धर्म्मात्मा सुमहायशाः। रामस्य तनयो जज्ञे कुश इत्यभिसंज्ञितः ।।८७।।

और जिसने स्वर्ग से पृथ्वी पर आकर दो घड़ी भर जीवित रहकर बुद्धि और सत्य से तीनों लोक को जोड़ दिया ।।७४$\frac{१}{३}$।। दिलीप के महाराज भगीरथ पुत्र हुआ, जिसने नदियों में श्रेष्ठ गंगाजी को इस लोक में अवतरित किया और पुत्रीभाव से उसे मानते हुए समुद्र में मिला दिया ।।७५-७६।। इसलिए वंश को समझने वाले लोग गंगा को भागीरथी कहते हैं। भगीरथ के श्रुत नामक परम विख्यात पुत्र हुआ ।।७७।। श्रुत का पुत्र नाभाग परम धर्मात्मा था। नाभाग का पुत्र अम्बरीष सिन्धुद्वीप का पिता हुआ ।।७८।। सिन्धुद्वीप का पुत्र अयुताजित् शक्तिशाली हुआ। अयुताजित् का पुत्र महायशस्वी ऋतुपर्ण था ।।७९।। वह राजा पासों के खेलने में अतिचतुर (या दूरदर्शी तथा हृदयज्ञ) और नल नामक राजा का मित्र था। ऋतुपर्ण का पुत्र आत्तपर्णि महायशस्वी था ।।८०।। उसका सुदास नामक पुत्र इन्द्र का मित्र था। सुदास का पुत्र सौदास नामक राजा था ।।८१।। यही कल्माषपाद और मित्रसह नामों से भी प्रसिद्ध हुआ। कल्माषपाद के पुत्र का नाम सर्वकर्मा था ।।८२।। सर्वकर्मा के अनरण्य नामक पुत्र हुआ। अनरण्य के निघ्न नामक पुत्र हुआ। निघ्न के दो नृपश्रेष्ठ पुत्र हुए—।।८३।। अनमित्र और रघु। अनमित्र के पुत्र दुलिदुह हुआ, जो राजा और विद्वान् दोनों था ।।८४।। उसके पुत्र दिलीप हुआ, जो राम का प्रपितामह (परदादा) था। दिलीप के लम्बी बाहुओं वाला रघु नामक पुत्र हुआ ।।८५।। जो पूर्वकाल में अयोध्या का महाराज था। रघु से अज उत्पन्न हुआ और अज से दशरथ ।।८६।। दशरथ से अत्यन्त यशस्वी और धर्मात्मा राम की उत्पत्ति हुई। राम के कुश नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।।८७।। कुश से अति यशस्वी और धर्मातमा अतिथि उत्पन्न हुआ। अतिथि के निषध

---

[1] क. ०म्। ततो मि०। [2] ख. ०भिवन्दिता। [3] ग. महारथो। [4] क. ०थः। स्वर्गात्स तु स०। [5] क. धर्मचिन्तकैः। [6] ख. ०र्णस्य तस्या ऽऽसी०। [7] ग. ०दोऽभून्नाम्ना मि०। [8] क. ०न्दुहितृहो०। [9] ख. ०जो रघुरासी०। [10] ख. तस्माद्दशरथोऽभवत्।

अतिथिस्तु कुशाज्जज्ञे धर्म्मात्मा सुमहायशाः। अतिथेस्त्वभवत्पुत्रो निषधो नाम वीर्य्यवान् ॥८८॥
निषधस्य नलः पुत्रो नभः पुत्रो नलस्य तु। [1]नभस्य पुण्डरीकस्तु क्षेमधन्वा ततः स्मृतः ॥८९॥
क्षेमधन्वसुतस्त्वासीद्देवानीकः प्रतापवान्। आसीदहीनगुर्नाम देवानीकात्मजः प्रभुः ॥९०॥
अहीनगोस्तु दायादः सुधन्वा नाम पार्थिवः। सुधन्वनः सुतश्चापि ततो जज्ञे शलो नृपः ॥९१॥
उक्थो नाम स धर्म्मात्मा शलपुत्रो बभूव ह। वज्रनाभः सुतस्तस्य नलस्तस्य महात्मनः ॥९२॥
नलौ द्वावेव विख्यातौ पुराणे मुनिसत्तमाः। वीरसेनात्मजश्चैव यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्वहः ॥९३॥
इक्ष्वाकुवंशप्रभवाः प्राधान्येन प्रकीर्त्तिताः। एते विवस्वतो वंशे राजानो भूरितेजसः ॥९४॥
पठन् सम्यगिमां सृष्टिमादित्यस्य विवस्वतः। श्राद्धदेवस्य [2]देवस्य प्रजानां पुष्टिदस्य च ॥
प्रजावानेति सायुज्यमादित्यस्य विवस्वतः ॥९५॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे आदित्यवंशानुकीर्त्तनं
नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

तत्रादौ सोमोत्पत्ति-वर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

पिता सोमस्य भो विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः। ब्रह्मणो मानसात्पूर्व्वं प्रजासर्गं विधित्सतः ॥१॥

नामक पराक्रमी पुत्र हुआ। ॥८८॥ निषध के पुत्र नल और नल के पुत्र नभ हुआ। नभ से पुण्डरीक और उससे क्षेमधन्वा उत्पन्न हुआ ॥८९॥ क्षेमधन्वा का पुत्र प्रतापी देवानीक था। देवानीक के पुत्र का नाम अहीनगु था ॥९०॥ अहीनगु का पुत्र सुधन्वा नामक राजा हुआ। सुधन्वा से राजा शल की उत्पत्ति हुई ॥९१॥ शल के उक्य नामक धर्मात्मा पुत्र हुआ। वज्रनाभ उसका पुत्र हुआ। उस महात्मा के नल नामक पुत्र हुआ ॥९२॥ मुनिवर! पुराणों में दो ही नल प्रसिद्ध हैं—एक वीरसेन का पुत्र और दूसरा इक्ष्वाकु-वंश में समुद्भूत ॥९३॥ इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न प्रमुख राजाओं का वर्णन कर दिया गया। ये सभी परम तेजस्वी राजा सूर्यवंशी हैं ॥९४॥ प्रजा के पोषक और श्राद्ध के देव भगवान् सूर्य की इस सृष्टि का पढ़ने वाला मनुष्य सूर्य की समानता प्राप्त करता है ॥९५॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में आदित्य-वंश-कीर्तन नामक आठवाँ अध्याय समाप्त ॥८॥

अध्याय ९

चन्द्रवंश-वर्णन

लोमहर्षण बोले—विप्रवृन्द! पूर्वकाल में प्रजा-सृष्टि के इच्छुक ब्रह्मा के मन से चन्द्रमा के पिता

---

[1] ख. नभसः। [2] ख. वीरस्य।

अनुत्तरं नाम तपो येन तप्तं[1] हि तत्पुरा। त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति हि नः श्रुतम् ।।२।।
ऊद्‌र्ध्वमाचक्रमे तस्य रेतः सोमत्वमीयिवान् । नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयन् दिशः ।।३।।
तं गर्भं विधिनादिष्टा दश देव्यो दधुस्ततः। समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् ।।४।।
यदा न धारणे[2] शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः। ततस्ताभिः स[3] त्यक्तस्तु निपपात वसुन्धराम् ।।५।।
पतितं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः। रथमारोपयामास लोकानां हितकाम्यया।६।।
तस्मिन्निपतिते [4]देवाः [5]पुत्रेऽत्रेः परमात्मनि। तुष्टुवुर्ब्रह्मणः पुत्रास्तथान्ये[6] मुनिसत्तमाः ।।७।।
तस्य संस्तूयमानस्य तेजः सोमस्य भास्वतः। आप्यायनाय लोकानां भावयामास सर्व्वतः ।।८।।
स तेन रथमुख्येन सागरान्तां वसुन्धराम्। त्रिःसप्तकृत्वोऽतियशाश्चकाराभिप्रदक्षिणाम् ।।९।।
तस्य [7]यच्चरितं तेजः [8]पृथिवीमन्वपद्यत। ओषध्यस्ताः समुद्भूता याभिः सन्धार्यते जगत् ।।१०।।
स लब्धतेजा भगवान् संस्तवैश्च स्वकर्म्मभिः। तपस्तेपे महाभागः पद्मानां [9]दर्शनाय सः ।।११।।
ततस्तस्मै ददौ राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदांवरः। बीजौषधीनां[10] विप्राणामपां च मुनिसत्तमाः ।।१२।।
स तत्प्राप्य महाराज्यं सोमः सौम्यवतांवरः । समाजह्रे राजसूयं सहस्रशतदक्षिणम् ।।१३।।
दक्षिणामददात् सोमस्त्रींल्लोकानिति नः श्रुतम्। तेभ्यो ब्रह्मर्षिमुख्येभ्यः सदस्येभ्यश्च भो द्विजाः ।।१४।।
हिरण्यगर्भो ब्रह्मात्रिर्भृगुश्च ऋत्विजोऽभवत्। सदस्योऽभूद्धरिस्तत्र मुनिभिर्बहुभिर्वृतः ।।१५।।

भगवान् अत्रि मुनि उत्पन्न हुए ।।१।। मुनि ने हजार देव-वर्ष तक उग्र तपस्या की—ऐसा हमने सुना है ।।२।। उनका वीर्य शरीर के ऊर्ध्वभाग में जाकर अमृत बन गया। दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए जल दोनों नेत्रों से बहने लगा ।।३।। ब्रह्मा की आज्ञा से उस तेज संयुक्त जल रूप गर्भ को दशों दिशाओं ने मिलकर धारण किया। पर वे धारण करने में समर्थ नहीं हुईं ।।४।। तब उन्होंने गर्भ को त्याग दिया। गर्भ पृथ्वी पर गिर पड़ा ।।५।। गिरे हुए अमृत रूपी गर्भ को देखकर लोक-पितामह ब्रह्मा ने लोकों के कल्याण के लिए गर्भ को रथ पर स्थापित कर दिया ।।६।। मुनिवर ! अत्रि के उस परमात्मा पुत्र के गिर जाने पर देवता और ब्रह्मा के दूसरे पुत्र उसकी स्तुति करने लगे ।।७।। स्तुति किये जाने वाले उस प्रकाशमान सोम (चन्द्रमा) का तेज लोकों की वृद्धि के लिए सब तरफ फैल गया ।।८।। चन्द्रमा ने उस रथ से समुद्र पर्यन्त पृथिवी की इक्कीस बार परिक्रमा की ।।९।। चन्द्रमा का जो तेज पृथ्वी में व्याप्त हुआ उससे सब ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। जिनसे संसार का पोषण होता है ।।१०।। अपने कर्मों से तेज प्राप्त कर भगवान् चन्द्रमा ने पद्मों के दर्शन के लिए (पद्म संख्या वाले वर्षों तक ?) तपस्या की ।।११।। तब ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा ने चन्द्रमा को बीज, औषध, ब्राह्मण और जल का राज्य दिया ।।१२।। उस महाराज्य को प्राप्त कर चन्द्रमा ने एक लाख दक्षिणा वाले राजसूय यज्ञ को सम्पन्न किया ।।१३।। द्विजगण। ब्रह्मर्षि आदि सदस्यों को सोम ने दक्षिणा में तीनों लोक दिये, ऐसा हमने सुना है ।।१४।। यज्ञ में साक्षात् ब्रह्मा ब्रह्मा हुए। अत्रि और भृगु ऋत्विक् हुए। बहुत मुनियों से युक्त साक्षात्

---

१ ख. ०प्त महत्पु०। २ ख. ०क्तास्ता गर्भ स्य दिशो दश। त०। ३ ग सहसैवा ऽऽशु नि०। ४ ख. देवे। ५ ख. ०त्रे च सुमहात्म०। ६ ख. ०था ते मु०। ७ क. यत्स्रावितं। ख. यद्व्याधितं। ८ ख. ० थिवीं समप०। ९ ग. दशतीर्दश। त०। १०. ०नां राजानं निर्ममे मु०।

तं सिनीश्च कुहूश्चैव द्युतिः पुष्टिः प्रभा वसुः। कीर्त्तिर्धृतिश्च लक्ष्मीश्च नव देव्यः सिषेविरे ॥१६॥
प्राप्यावभृथमप्यग्र्यं सर्व्वदेवर्षिपूजितः। विरराजाधिराजेन्द्रो दशधा भासयन् दिशः ॥१७॥
तस्य तत्प्राप्य दुष्प्राप्यमैश्वर्य्यमृषिसत्कृतम्। विबभ्राम मतिस्ताताविनयादनयाहृता ॥१८॥
बृहस्पतेः स वै भार्य्यामैश्वर्य्यमदमोहितः। जहार तरसा सोमो विमत्याङ्गिरसः सुतम् ॥१९॥
स याच्यमानो देवैश्च [1]तथा [2]देवर्षिभिर्मुहुः। नैव व्यसर्ज्जयत्तारां [3]तस्मा अङ्गिरसे तदा ॥२०॥
उशना तस्य जग्राह पार्ष्णिमङ्गिरसस्तथा। रुद्रश्च पार्ष्णि जग्राह गृहीत्वाजगवं धनुः ॥२१॥
तेन ब्रह्मशिरो नाम परमास्त्रं महात्मना। उद्दिश्य देवानुत्सृष्टं[4] येनैषां नाशितं यशः ॥२२॥
तत्र तद्युद्धमभवत् प्रख्यातं तारकामयम्। देवानां दानवानाञ्च लोकक्षयकरं महत् ॥२३॥
तत्र शिष्टाश्च ये देवास्तुषिताश्चैव ये द्विजाः। ब्रह्माणं शरणं जग्मुरादिदेवं सनातनम् ॥२४॥
तदा निवार्य्योशनसं तं वै रुद्रञ्च शङ्करम्। ददावाङ्गिरसे तारां स्वयमेव पितामहः ॥२५॥
तामन्तःप्रसवां दृष्ट्वा क्रुद्धः प्राह बृहस्पतिः। मदीयायां न ते योनौ गर्भो धार्य्यः कथञ्चन ॥२६॥
इषीकास्तम्बमासाद्य गर्भं सा चोत्ससर्ज्ज ह। जातमात्रः स भगवान् देवानामाक्षिपद्वपुः ॥२७॥
ततः संशयमापन्नास्तारामूचुः सुरोत्तमाः। सत्यं ब्रूहि सुतः कस्य सोमस्याथ बृहस्पतेः ॥२८॥
पृच्छ्यमाना यदा देवैर्नाह सा विबुधान् किल। तदा तां शप्तुमारब्धः कुमारो [5]दस्युहन्तमः ॥२९॥

हरि सदस्य हुए ॥१५॥ सिनीवाली (पूर्व अमावास्या), कुहू (उत्तर अमावास्या), द्युति, पुष्टि, प्रभा, वसू, कीर्ति, धृति, लक्ष्मी—ये नौ देवियाँ चन्द्रमा की सेवा करती थीं ॥१६॥ यज्ञ को समाप्त कर देवता और ऋषियों से पूजित हो राजाओं में प्रधान चन्द्रमा दसों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए सुशोभित होने लगा ॥१७॥ ऋषियों से सत्कृत उस अलभ्य ऐश्वर्य को प्राप्त कर चन्द्रमा की बुद्धि अनीति से उच्छृंखल हो उठी ॥१८॥ ऐश्वर्य के मद से मत्त चन्द्रमा ने बृहस्पति की पत्नी का अपहरण कर लिया ॥१९॥ देवताओं और मुनियों द्वारा बार-बार समझाये जाने पर भी उसने वृहस्पति को तारा नहीं लौटायी ॥२०॥ तब चन्द्रमा का पक्ष शुक्राचार्य ने लिया और बृहस्पति का पक्ष अजगव नामक धनुष धारण कर महादेवजी ने लिया ॥२१॥ महात्मा शिव ने ब्रह्मशिर नामक एक महास्त्र दैत्यों के ऊपर फेंका, जिससे दैत्यों का यश नष्ट हो गया ॥२२॥ वहाँ पर लोक-क्षय करने के लिए तारकामय नाम से विख्यात देव-दानव युद्ध हुआ ॥२३॥ द्विजगण ! उस युद्ध में जो तुषित नामक देवता बच गये, वे सव आदिदेव और सनातन ब्रह्मा की शरण में गये ॥२४॥ तव शुक्राचार्य और महादेव जी को हटाकर स्वयं ब्रह्मा ने बृहस्पति को तारा लौटा दी ॥२५॥ गर्भवती तारा को देखकर बृहस्पति ने क्रोध से कहा—'मुझसे सम्वन्धित योनि में तुम कभी गर्भ धारण नहीं कर सकती' ॥२६॥ तब मूँज के गुच्छों पर तारा ने गर्भ का त्याग कर दिया। जन्म लेते ही वह वालक दिव्यरूपधारी हो गया ॥२७॥ देवताओं ने संदेह करके तारा से पूछा—'सत्य वोलो कि यह पुत्र चन्द्रमा का है या बृहस्पति का।' ॥२८॥ देवताओं से पूछी जाने पर जव वह नहीं बोली, तव चोरों का नाश करने वाला बालक उसको

---

[1] ग. तदा। [2] क. ग. ०र्षिभिः सह। नै०। [3] ख. तस्यैवांगिरसस्तदा। [4] ख. ०ष्टं तेषां नाशाय शंभुना। त०। [5] क. ख. मुनिसत्तमाः।

तं निवार्य्य ततो ब्रह्मा तारां प्रपच्छ संशयम्। यदत्र तद्ब्रूहि तारे कस्य सुतस्त्वयम् ॥३०॥
उवाच प्राञ्जलिः सा तं सोमस्येति पितामहम्। तदा तं मूर्ध्नि चाघ्राय सोमो [1]राजा सुतं प्रति ॥३१॥
बुध इत्यकरोन्नाम तस्य बालस्य धीमतः। प्रतिकूलञ्च गगने समभ्युत्तिष्ठते बुधः ॥३२॥
उत्पादयामास तदा पुत्रं वै राजपुत्रिकम्[2]। तस्यापत्यं महातेजाः बभूवैलः पुरूरवाः ॥३३॥
उर्व्वश्यां जज्ञिरे यस्य पुत्राः सप्त महात्मनः। एतत् सोमस्य वो जन्म कीर्त्तितं कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥३४॥
वंशमस्य मुनिश्रेष्ठाः कीर्त्त्यमानं निबोधत। धन्यमायुष्यमारोग्यं पुण्यं सङ्कल्पसाधनम् ॥३५॥
सोमस्य जन्म श्रुत्वैव पापेभ्यो विप्रमुच्यते ॥३६॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे सोमोत्पत्तिकथनं नाम
नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

तत्रादौ सोमोत्पत्ति-वर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

बुधस्य तु मुनिश्रेष्ठा विद्वान् पुत्रः पुरूरवाः। तेजस्वी दानशीलश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ॥१॥

शाप देने के लिए तैयार हो गया ॥२९॥ उसको निवृत्त कर ब्रह्मा ने तारा से संदेह पूछा—'तारे ! सत्य बतलाना। यह किसका पुत्र है ?' ॥३०॥ उसने हाथ जोड़कर ब्रह्माजी से कहा— 'चन्द्रमा का।' तब राजा सोम ने बालक के मस्तक को सूँघ कर उस बुद्धिमान् बालक का नाम 'बुध' रखा। अतएव बुध का आकाश में प्रतिकूल उदय होता है ॥३१-३२॥ वैराज मनु की कन्या से बुध ने पुत्र उत्पन्न किया। उसका इला से उत्पन्न पुरूरवा नामक पुत्र महातेजस्वी हुआ ॥३३॥ पुरूरवा से उर्वशी में सात पुत्र उत्पन्न हुए। मुनिश्रेष्ठो ! चन्द्रमा की यह कीर्ति बढ़ाने वाली उत्पत्ति मैने आपसे कही ॥३४॥ अब इसके वंश का वर्णन सुनिये। धन्यवाद के पात्र, आयु और आरोग्य के दायक तथा अभिलाषा को पूर्ण करने वाले चन्द्रमा के जन्म को सुनने से मनुष्य के सब पाप दूर हो जाते हैं ॥३५-३६॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में सोमोत्पत्तिकथन नामक नवाँ अध्याय समाप्त ॥९॥

अध्याय १०

सोमोत्पत्ति-वर्णन

लोमहर्षण बोले—मुनिवर ! बुध के विद्वान्, तेजस्वी, दानी, यज्ञ करनेवाला, बहुत दक्षिणा देने वाला,

---

[1] क. ग. ०जा प्रजापतिः। बु०। [2] ख. ०त्रिकः। त०।

ब्रह्मवादी पराक्रान्तः [1]शत्रुभिर्युधि दुर्दमः। आहर्त्ता चाग्निहोत्रस्य [2]यज्ञानाञ्च महीपतिः ॥२॥
सत्यवादी पुण्यमतिः [3]सम्यक् संवृत्तमैथुनः। अतीव त्रिषु लोकेषु यशसाप्रतिमः[4] सदा[5] ॥३॥
तं ब्रह्मवादिनं शान्तं धर्म्मज्ञं सत्यवादिनम्। उर्व्वशी वरयामास हित्वा मानं [6]यशस्विनी ॥४॥
तया सहावसद्राजा दश वर्षाणि पञ्च च। षट्पञ्च सप्त चाष्टौ च दश [7]वाष्टौ[8] च भो द्विजाः ॥५॥
वने चैत्ररथे रम्ये [9]तथा मन्दाकिनीतटे। अलकायां विशालायां नन्दने च वनोत्तमे ॥६॥
उत्तरान् स कुरून् प्राप्य [10]मनोरमफलद्रुमान्। गन्धमादनपादेषु [11]मेरुशृङ्गे तथोत्तरे ॥७॥
एतेषु वनमुख्येषु सुरैराचरितेषु च। उर्व्वश्या सहितो राजा रेमे परमया मुदा ॥८॥
देशे पुण्यतमे चैव महर्षिभिरभिष्टुते। राज्यं स कारयामास प्रयागे पृथिवीपतिः ॥९॥
एवम्प्रभावो राजासीदैलस्तु नरसत्तमः ॥१०॥

लोमहर्षण उवाच

ऐलपुत्रा बभूवुस्ते[12] सप्त[13] देवसुतोत्तमाः[14]। गन्धर्व्वलोके विदिता आयुर्धीमानमावसुः[15] ॥११॥
विश्वायुश्चैव धर्म्मात्मा श्रुतायुश्च तथापरः। दृढायुश्च वनायुश्च बह्वायुश्चोर्व्वशीसुताः ॥१२॥
अमावसोस्तु दायादो भीमो राजाथ राजराट्। श्रीमान् भीमस्य दायादो राजासीत्काञ्चनप्रभः ॥१३॥

ब्रह्म-वेत्ता, युद्ध में शत्रुओं से अजेय, अग्निहोत्री, राजा, सत्यवक्ता, पवित्र विचार वाला, मैथुन में संयमी और तीनों लोकों में सदा अनुपमेय यशस्वी पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१-३॥ उस ब्रह्मवादी, सत्यवादी, शान्त और धर्मज्ञ पुरूरवा को यशस्विनी उर्वशी ने मान त्याग कर वरण किया ॥४॥ विप्रवृन्द ! राजा ने उर्वशी के साथ चैत्ररथ नामक सुन्दर वन में दस वर्ष, मंदाकिनी नदी के तट पर पाँच वर्ष, अलकापुरी में छह वर्ष, बदरी पुरी में पाँच वर्ष, नन्दन वन में सात वर्ष, मनोरम फल-वृक्षों से युक्त उत्तर कुरुओं के देश में आठ वर्ष, गंधमादन पर्वत पर दस वर्ष और सुमेरु पर्वत के उत्तर भाग में आठ वर्ष तक वास किया ॥५-७॥ इन प्रधान वनों में और देवताओं के क्रीडा-स्थानों में उर्वशी के संग राजा परम हर्ष से रमण करता रहा ॥८॥ राजा ने पवित्रतम और महर्षियों से स्तुत प्रयाग-क्षेत्र में अपनी राजधानी बनायी ॥९॥ इस प्रकार प्रभावशाली, महामानव और महायशस्वी पुरूरवा गंगाजी के उत्तर तट पर रहता था ॥१०॥

लोमहर्षण ने कहा—देव-पुत्रों के समान पुरूरवा के सात पुत्र हुए। आयु, विद्वान् अमावसु, विश्वायु, धर्मात्मा श्रुतायु, दृढायु, वनायु और बह्वायु—ये उर्वशी के पुत्र थे ॥११-१२॥ अमावसु के, राजाओं का भी राजा भीम नामक पुत्र हुआ भीम के श्रीमान् कांचनप्रभ पुत्र हुआ ॥१३॥ कांचनप्रभ के महाबली सुहोत्र पुत्र हुआ। सुहोत्र का पुत्र जह्नु

---

[1] ख. शत्रूणां युधि दुर्जयः। [2] ख. सुभक्त्या। [3] क. ०म्यग्निभृत०। [4] क. ०तिमो युधि। तं। [5] ख. ०दा। विश्वं हि ब्रह्मंस्तत्तस्य कर्मापि विलयं गतम्। उर्वशीं व०। [6] ख. ०नीम्। त०। [7] ख. वाऽष्टौ। [8] ख. वाऽष्टौ। [9] क. देशे। ख. तदा। [10] ग. ०रथफ०। [11] क. ०रुपृष्ठान्तरेषु च। ए०। [12] ख. ०स्ते स्मरदे०। [13] क. सर्वे। [14] ख. ०माः। दिवि जाता महात्मान आ०। [15] ख. ०मान्विभाव०।

विद्वांस्तु काञ्चनस्यापि सुहोत्रोऽभून्महाबलः । सुहोत्रस्याभवज्जह्नुः केशिन्या गर्भसम्भवः ॥१४॥
आजह्ले यो महत् सत्रं सर्पमेधं महामखम् । मतिलोभेन यं गङ्गा पतित्वेन ससार ह ॥१५॥
नेच्छतः प्लावयामास तस्य गङ्गा[१] तदा सदः । स तया प्लावितं दृष्ट्वा यज्ञवाटं समन्ततः ॥१६॥
सौहोत्रिरशपद्गङ्गां[२] क्रुद्धो राजा द्विजोत्तमाः । एष ते[३] विफलं यत्नं[४] पिबन्नम्भः करोम्यहम् ॥१७॥
अस्य गङ्गेऽवलेपस्य[५] सद्यः फलमवाप्नुहि । जह्नुराजर्षिणा पीतां गङ्गां दृष्ट्वा महर्षयः ॥१८॥
उपनिन्युर्महाभागां[६] दुहितृत्वेन जाह्नवीम् । युवनाश्वस्य पुत्रीं तु कावेरीं जह्नुरावहत्[७] ॥१९॥
युवनाश्वस्य शापेन गङ्गार्द्धेन विनिर्गता[८] । कावेरीं सरितां श्रेष्ठां जह्नोर्भार्य्यामनिन्दिताम् ॥२०॥
जह्नुस्तु दयितं पुत्रं सुनद्यं[९] नाम धार्म्मिकम् । कावेर्य्यां जनयामास[१०] अजकस्तस्य चात्मजः ॥२१॥
[११]अजकस्य तु दायादो बलाकाश्वो महीपतिः । बभूव मृगयाशीलः कुशस्तस्यात्मजोऽभवत् ॥२२॥
कुशपुत्रा बभूवुर्हि चत्वारो देववर्च्चसः । कुशिकः कुशनाभश्च कुशाम्बो[१२] मूर्त्तिमांस्तथा[१३] ॥२३॥
वल्लवैः सह संवृद्धो राजा वनचरः सदा । कुशिकस्तु तपस्तेपे पुत्रमिन्द्रसमं प्रभुः[१४] ॥२४॥
लभेयमिति तं शक्रस्त्रासादभ्येत्य जज्ञिवान् । पूर्णे वर्षसहस्रे वै ततः शक्रो ह्यपश्यत ॥२५॥
अत्युग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरन्दरः । समर्थः पुत्रजनने स्वयमेवास्य शाश्वतः ॥२६॥

केशिनी के गर्भ से उत्पन्न हुआ, जिसने सर्पमेध और महामख संज्ञक महायज्ञ किये, और जिसके पास पति वनाने के लोभ से गंगाजी गयी थीं ॥१४-१५॥ गंगा जी से विरक्त जह्नु के यज्ञ-स्थल को गंगा ने डुवो दिया । चारों तरफ यज्ञ-स्थल को जलमग्न देखकर राजा जह्नु ने क्रोध में आकर गंगा को शाप दिया कि 'गंगे ! मैं जल पीकर तुम्हारे यत्न को विफल करता हूँ । तुम अपने इस अभिमान का फल तत्काल प्राप्त करो ।' ॥१६-१७॥ राजर्षि जह्नु के द्वारा पियी गयी गंगा को देखकर महर्षियों ने उनको जह्नु की पुत्री वना दिया ॥१८½॥ पश्चात् जह्नु ने युवनाश्व की पुत्री कावेरी से विवाह किया ॥१९॥ युवनाश्व के शाप से गंगा आधे भाग से नदियों में श्रेष्ठ तथा अनिन्दनीय जह्नु की पत्नी कावेरी में मिल गयी ॥२०॥ जह्नु ने सुनद्य नामक धर्मात्मा पुत्र को कावेरी से उत्पन्न किया॥२१॥ उसके अजक नामक पुत्र हुआ । अजक का पुत्र राजा बलाकाश्व शिकार खेलने में कुशल था । उसके कुश नामक पुत्र हुआ ॥२२॥ कुश के देवता के समान तेजस्वी चार पुत्र हुए—कुशिक, कुशनाभ, कुशाम्व और मूर्तिमान्॥२३॥ राजा कुशिक सदा वन ही में अहीरों के साथ पाला गया । 'मैं इन्द्र के समान पुत्र प्राप्त करूँ' इस इच्छा से वह तप करने लगा। यह जानकर भयवश इन्द्र उसके पास गये। हजार वर्ष वीत जाने पर इन्द्र ने उसे देखा। उस अत्यन्त उग्र तपस्वी को देखकर पुत्रोत्पादन में समर्थ सुरश्रेष्ठ इन्द्र स्वयं उसके पुत्र वने। कुशिक-

---

[१] ग. ० ङ्गा च तत्सदः । [२] क. ०रवदद्ग० । [३] क. ते त्रिपु लोकेपु संक्षिप्यापः पिवाम्य० । [४] ग. जन्म । [५] ख. ० ङ्गेऽनयस्यापि स० । [६] क. ख. ०भागा दु० । [७] क. ०त् । गंगाशापेन देहार्धं नदीं पश्चाद्विनिर्ममे । का० । [८] ग. निर्मिते । का० । [९] क. महान्तं । [१०] क. अञ्जक० । [११] क. अञ्जक० । [१२] ख. शाश्वान्मूर्ति ० । ग. शाश्वो मू० । [१३] ख. ०था । पह्लवैः स निराक्रामद्राजा । [१४] ख. प्रभुम् ।

पुत्रार्थं कल्पयामास देवेन्द्रः सुरसत्तमः । स गाधिरभवद्राजा मघवान् कौशिकः स्वयम् ।।२७।।
पौरा यस्याभवद्भार्य्या गाधिस्तस्यामजायत । गाधेः कन्या महाभागा नाम्ना सत्यवती शुभा ।।२८।।
तां गाधिः काव्यपुत्राय ऋचीकाय ददौ प्रभुः । तस्याः प्रीतः स वै भर्त्ता भार्गवो भृगुनन्दनः ।।२९।।
पुत्रार्थं साधयामास चरुं गाधेस्तथैव च । उवाचाहूय तां भार्य्यामृचीको भार्गवस्तदा ।।३०।।
उपयोज्यश्चरुरयं त्वया मात्रा स्वयं शुभे । तस्यां जनिष्यते पुत्रो दीप्तिमान्क्षत्रियर्षभः ।।३१।।
अजेयः क्षत्रियैर्लोके क्षत्रियर्षभसूदनः । तवापि पुत्रं कल्याणि धृतिमन्तं तपोधनम् ।।३२।।
शमात्मकं द्विजश्रेष्ठं चरुरेष विधास्यति । एवमुक्त्वा तु तां भार्य्यामृचीको भृगुनन्दनः ।।३३।।
तपस्यभिरतो नित्यमरण्यं प्रविवेश ह । गाधिः सदारस्तु तदा ऋचीकाश्रममभ्यगात्[1] ।।३४।।
तीर्थयात्राप्रसङ्गेन सुतां द्रष्टुं नरेश्वरः । [2]चरुद्वयं गृहीत्वा सा ऋषेः सत्यवती तदा[3] ।।३५।।
चरुमादाय यत्नेन सा तु मात्रे न्यवेदयत् । माता तु [4]तस्या दैवेन दुहित्रे स्वं चरुं ददौ ।।३६।।
तस्याश्चरुमथाज्ञानादात्मसंस्थं[5] चकार ह । अथ सत्यवती सर्व्वं क्षत्रियान्तकरं तदा ।।३७।।
धारयामास दीप्तेन वपुषा घोरदर्शना । तामृचीकस्ततो दृष्ट्वा योगेनाभ्युपसृत्य च ।।३८।।
ततोऽब्रवीद्द्विजश्रेष्ठः स्वां भार्य्यां वरवर्णिनीम् । मात्रासि वञ्चिता भद्रे चरुव्यत्यासहेतुना ।।३९।।
जनिष्यति हि पुत्रस्ते क्रूरकर्म्मातिदारुणः । भ्राता जनिष्यते चापि ब्रह्मभूतस्तपोधनः ।।४०।।

पुत्र इन्द्र गाधि नामक राजा हुआ ।।२४-२७।। कुशिक की पत्नी पौरा से गाधि की उत्पत्ति हुई थी । गाधि के महाभाग्यशालिनी सत्यवती नामक कन्या हुई । ।।२८।। गाधि ने उस पुत्री को भृगु-पुत्र ऋचीक को समर्पित किया । ऋचीक ने गाधि की कन्या से प्रसन्न होकर अपने और गाधि के पुत्र होने के लिए चरु वनाया और अपनी पत्नी को वुलाकर कहा— ।।२९-३०।। 'प्रिये' ! यह चरु तुम अपनी माता को देना । इसके खाने से तुम्हारी माता अत्यन्त तेजस्वी क्षत्रिय-श्रेष्ठ पुत्र को उत्पन्न करेगी, जो इस लोक में राजाओं से अजेय तथा नृप-श्रेष्ठों का संतापक होगा ।।३१½।। कल्याणी ! तुम्हें भी इस दूसरे चरु के खाने से धीर, तपस्वी, शान्त और द्विजवर पुत्र उत्पन्न होगा' ।।३२½।। इस प्रकार पत्नी से कहकर भृगु-पुत्र ऋचीक तपस्या में निरत हो वन में प्रविष्ट हुआ । तदुपरान्त तीर्थयात्रा के प्रसंग से पुत्री को देखने के लिए राजा गाधि अपनी भार्या सहित ऋचीक के आश्रम में गया ।।३३-३४½।। सत्यवती ने ऋषि के दोनों चरुओं को लाकर माता को समर्पित किया ।।३५½।। परन्तु दैवयोग से माता ने पुत्री को अपना चरु दे दिया और अज्ञानता से उसका चरु स्वयं खा लिया ।।३६½।। इसके बाद सत्यवती ने सव क्षत्रियों का नाश करने वाला गर्भ धारण किया । शरीर में तेज रहते हुए भी वह देखने में भयंकर लगती थी ।।३७½।। ऋचीक उसे देखते ही योग-वल से सव कुछ समझ गया और बोला—'भद्रे ! माता ने तुम्हें ठग लिया । चरु वदल जाने के कारण तुम्हें अत्यन्त भयंकर और क्रूर कर्म करने वाला पुत्र उत्पन्न होगा, पर तुम्हारा भाई व्रह्मवेत्ता तपस्वी होगा ।।३८-४०।।

---

[1] ख. ० भ्ययात् । [2] क. चरुं विप्रा गृहीतं तमृषेः । [3] क. ०दा । विपर्ययात्तदा तं वै सा । [4] क. ख. तदभेदेन । [5] क. ०ज्ञात्वा आत्म० ।

विश्वं[1] हि ब्रह्म तपसा मया तस्मिन् समर्पितम् । एवमुक्ता महाभागा भर्त्रा सत्यवती तदा ।।४१।।
प्रसादयामास पतिं पुत्रो मे नेदृशो भवेत् । ब्राह्मणापसदस्त्वत्त इत्युक्तो मुनिरब्रवीत्[2] ।।४२।।

ऋचीक उवाच

नैष संकल्पतः कामो मया भद्रे तथास्त्विति । उग्रकर्म्मा भवेत् पुत्रः पितुर्म्मातुश्च कारणात् ।।४३।।
पुनः सत्यवती वाक्यमेवमुक्त्वाब्रवीदिदम् । इच्छंल्लोकानपि मुने सृजेथाः किं पुनः सुतम् ।।४४।।
शमात्मकमृजुं त्वं मे पुत्रं दातुमिहार्हसि । काममेवंविधः पौत्रो[3] मम स्यात्तव च प्रभो ।।४५।।
यद्यन्यथा न शक्यं वै कर्त्तुमेतद्द्विजोत्तम । ततः प्रसादमकरोत् स तस्यास्तपसो बलात् ।।४६।।
पुत्रे[4] नास्ति विशेषो मे पौत्रे वा वरवर्णिनि । त्वया यथोक्तं वचनं तथा भद्रे भविष्यति ।।४७।।
ततः सत्यवती पुत्रं जनयामास भार्गवम् । तपस्यभिरतं दान्तं जमदग्निं शमात्मकम् ।।४८।।
[5]भृगोर्जगत्यां वंशेऽस्मिञ्जमदग्निरजायत । सा हि सत्यवती पुण्या सत्यधर्म्मपरायणा ।।४९।।
कौशिकीति समाख्याता प्रवृत्तेयं महानदी । इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रेणुर्नाम नराधिपः ।।५०।।
तस्य कन्या महाभागा कामली नाम रेणुका । रेणुकायां तु कामल्यां तपोविद्यासमन्वितः ।।५१।।
आर्चीको जनयामास जामदग्न्यं सुदारुणम् । [6]सर्व्वविद्यान्तगं श्रेष्ठं धनुर्वेदस्य पारगम् ।।५२।।

क्योंकि उस चरु में मैने तपस्या के बल से विश्वरूपी ब्रह्म को निहित कर दिया था ।' पति से यह बात सुनकर सौभाग्यवती सत्यवती ने उनसे यह प्रार्थना की, कि आप जैसे ब्राह्मण-श्रेष्ठ से मुझे इस तरह का पुत्र न हो, ऐसी कृपा करें । तब मुनि ने कहा ।।४१-४२।।

ऋचीक बोला—भद्रे ! तुम्हें इस तरह का पुत्र हो—ऐसा संकल्प मैंने नहीं किया था । पिता-माता के कारण उग्रकर्म करनेवाला पुत्र होगा ।।४३।। फिर सत्यवती बोली—'मुने ! आप चाहें, तो तीनों लोक की सृष्टि कर सकते हैं; फिर एक पुत्र की तो बात ही क्या ।।४४।। प्रभो ! शान्त तथा कोमल स्वभाव वाला पुत्र मुझे दीजिये । द्विजवर्य ! यदि आप ऐसा नहीं कर सकते, तो कम से कम इतना कीजिये कि मेरा पौत्र ऐसा (प्रार्थित पुत्र की तरह) हो' ।।४५$\frac{१}{२}$।। तब मुनि ने तपस्या के बल से उसके ऊपर कृपा की और कहा—'सुन्दरि ! मैं पुत्र और पौत्र में कोई भेद नही मानता । भद्रे ! तुमने जैसा कहा, वैसा ही होगा।।४६-४७।। तब सत्यवती ने तपस्या में निरत, इन्द्रियों को दमन करने वाले जमदग्नि नामक भृगुवंशी पुत्र को उत्पन्न किया ।।४८।। संसार में भृगु के इस वंश में जमदग्नि मुनि उत्पन्न हुए । सत्य तथा धर्म में परायण और पवित्र वह सत्यवती कौशिकी नाम से विख्यात महानदी हुई ।।४९$\frac{१}{२}$।। इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न रेणु नामक राजा की कन्या, कामली और रेणुका नाम से प्रसिद्ध थी ।।५०$\frac{१}{२}$।। उस रेणुका में तपस्वी और विद्वान् जमदग्नि ने अतिभयानक, सब विद्याओं में निष्णात, धनुर्वेद में पारंगत, क्षत्रियों के विनाशक और अग्नि के समान तेजस्वी राम (परशुराम) नामक पुत्र को उत्पन्न किया ।।५१-५२$\frac{१}{२}$।। इस

---

[1] ख. हि तपसा ब्रह्म म० । [2] क. ०त् । न स सं० । [3] ग. सुत्रो । [4] क. ख. भद्रे । [5] क. ०गोश्चरुविपर्यासि जम० । ग. ०गोश्चरुविपर्यासि रौद्रवष्णवयोः पुरा । यजनाद्वैष्णवे चांशे जम० । [6] क. ख. ०द्यानुगश्रे० ।

रामं क्षत्रियहन्तारं प्रदीप्तमिव पावकम् । औौर्वस्यैवमृचीकस्य[1] सत्यवत्यां महायशाः ॥५३॥
जमदग्निस्तपोवीर्य्याज्जज्ञे ब्रह्मविदांवरः । मध्यमश्च शुनःशेपः शुनःपुच्छः कनिष्ठकः ॥५४॥
विश्वामित्रं तु दायादं गाधिः कुशिकनन्दनः । जनयामास पुत्रं तु [2]तपोविद्याशमात्मकम् ॥५५॥
प्राप्य ब्रह्मर्षिसमतां योऽयं ब्रह्मर्षितां गतः । विश्वामित्रस्तु धर्म्मात्मा नाम्ना विश्वरथः स्मृतः ॥५६॥
जज्ञे भृगुप्रसादेन कौशिकाद्वंशवर्द्धनः । विश्वामित्रस्य च सुता देवरातादयः स्मृताः ॥५७॥
प्रख्यातास्त्रिषु लोकेषु तेषां नामान्यतः परम् । देवरातः कतिश्चैव यस्मात् कात्यायनाः स्मृताः ॥५८॥
शालावत्यां हिरण्याक्षो रेणुर्जज्ञेऽथ रेणुकः । सांकृतिर्गालवश्चैव[3] मुद्गलश्चैव विश्रुतः ॥५९॥
मधुच्छन्दो जयश्चैव देवलश्च तथाष्टमः । कच्छपो हारितश्चैव विश्वामित्रस्य ते सुताः ॥६०॥
तेषां[4] ख्यातानि गोत्राणि कौशिकानां महात्मनाम् । पाणिनो बभ्रवश्चैव ध्यानजप्यास्तथैव च ॥६१॥
पार्थिवा देवराताश्च शालङ्कायनवाष्कलाः । [5]लोहिता [6]यमदूताश्च तथा [7]कारूषकाः स्मृताः ॥६२॥
पौरवस्य मुनिश्रेष्ठा ब्रह्मर्षेः कौशिकस्य च । सम्बन्धोऽप्यस्य वंशेऽस्मिन् ब्रह्मक्षत्रस्य विश्रुतः ॥६३॥
विश्वामित्रात्मजानां तु शुनःशेपोऽग्रजः स्मृतः । भार्गवः कौशिकत्वं हि प्राप्तः स मुनिसत्तमः ॥६४॥
विश्वामित्रस्य पुत्रस्तु शुनःशेपोऽभवत् किल । हरिदश्वस्य यज्ञे तु पशुत्वे विनियोजितः ॥६५॥
देवैर्दत्तः शुनःशेपो विश्वामित्राय वै पुनः । देवैर्दत्तः स वै यस्माद्देवरातस्ततोऽभवत् ॥६६॥

प्रकार तपः शक्ति से ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ और महायशस्वी जमदग्नि मुनि सत्यवती से उत्पन्न हुए । मझले पुत्र का नाम शुनःशेप और छोटे पुत्र का नाम शुनःपुच्छ हुआ ॥५३-५४॥ कुशिक के पुत्र गाधि ने तपस्वी, विद्वान् और शान्त विश्वामित्र नामक पुत्र को उत्पन्न किया ॥५५॥ धर्मात्मा विश्वामित्र, जिसका नाम विश्वरथ भी था, ब्रह्मर्षियों की समानता को प्राप्त करके ब्रह्मर्षि बन गया ॥५६॥ भृगु की कृपा से कौशिक के वंश को बढ़ाने वाला पुत्र हुआ । विश्वामित्र के पुत्र देवरात आदि नाम से विख्यात हुए ॥५७॥ तीनों लोकों में प्रख्यात उन पुत्रों के नाम सुनिये—देवरात और कति, जिसमें कति के कात्यायन नाम से प्रसिद्ध पुत्र हुए ॥५८॥ शालावती नामक स्त्री से हिरण्याक्ष उत्पन्न हुआ । रेणु, रेणुक, सांकृति, गालव, मुद्गल, मधुच्छन्द, जय, देवल, अष्टक, कच्छप, हारित—ये विश्वामित्र के पुत्र कहलाये ॥५९-६०॥ उन महात्मा कौशिकों के गोत्र प्रसिद्ध हैं । मुनिश्रेष्ठो ! पाणिन, बभ्रव, ध्यान, जप्य, पार्थिव, देवरात, शालंकायन, वाष्कल, लोहित, यमदूत, कारूषक—ये सब ब्रह्मर्षि कौशिक के वंशज कहलाते हैं ॥६१-६२½॥ इस वंश में ब्राह्मण और क्षत्रिय का सम्बन्ध प्रसिद्ध है । विश्वामित्र के पुत्रों में शुनःशेप ज्येष्ठ था । मुनि-श्रेष्ठ भार्गव कौशिकत्व को प्राप्त हुआ ॥६३-६४॥ विश्वामित्र का पुत्र शुनःशेप हुआ । हरिदश्व (हरिश्चन्द्र) के यज्ञ में शुनःशेप पशु की जगह नियुक्त किया गया था ॥६५॥ देवताओं ने फिर शुनःशेप को विश्वामित्र को दे दिया । देवताओं के द्वारा दिया जाने के कारण उसका नाम 'देवरात' पड़ा ॥६६॥ विश्वामित्र के

---

[1] ख. ०व ऋची० । [2] ख. ०द्यासमन्वितम् । [3] क. ख. ०व दे० । [4] क. तेषामाख्यामि गो० । [5] क. ०तायन-हारीतावष्टकाद्याजनाः स्मृ० । [6] ग. याम-भूताश्च । [7] ग. कारीकयः ।

देवरातादयः सप्त विश्वामित्रस्य वै सुताः । दृषद्वतीसुतश्चापि[1] वैश्वामित्रस्तथाष्टकः ॥६७॥
अष्टकस्य सुतो लौहिः[2] प्रोक्तो जह्नुगणो मया । अत उर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वंशमायोर्महात्मनः ॥६८॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे सोमवंशेऽमावसुवंशानुकीर्त्तनं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

तत्रादौ सोमवंशवर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

आयोः पुत्राश्च ते पञ्च सर्व्वे वीरा[3] महारथाः । स्वर्भानुतनयायां च प्रभायां जज्ञिरे नृपाः ॥१॥
नहुषः प्रथमं जज्ञे वृद्धशर्म्मा ततः परम् । रम्भो रजिरनेनाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥२॥
रजिः पुत्रशतानीह जनयामास पञ्च वै । राजेयमिति विख्यातं क्षत्रमिन्द्रभयावहम् ॥३॥
यत्र दैवासुरे युद्धे समुत्पन्ने सुदारुणे । देवाश्चैवासुराश्चैव पितामहमथाब्रुवन् ॥४॥

देवासुरा ऊचुः

आवयोर्भगवन् युद्धे को विजेता भविष्यति । ब्रूहि नः सर्व्वभूतेश श्रोतुमिच्छाम तत्त्वतः ॥५॥

देवरात आदि सात पुत्र थे। विश्वामित्र के दृषद्वती से अष्टक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥६७॥ अष्टक के लौहि नामक पुत्र हुआ। मैंने जह्नु-परिवार को बतला दिया। अब इसके बाद महात्मा आयु नामक राजा के वंश का वर्णन करूँगा ॥६८॥

श्री ब्रह्ममहापुराण के सोमवंश के वर्णन-प्रसंग में अमावसु-वंशानुकीर्तन नामक दसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०॥

अध्याय ११

सोमवंश-वर्णन

लोमहर्षण बोले—आयु के वीर और महारथी पाँच पुत्र स्वर्भानु की प्रभा नामक कन्या से उत्पन्न हुए ॥१॥ पहले नहुष उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् तीनों लोकों में विख्यात वृद्धशर्मा, रम्भ, रजि और अनेना उत्पन्न हुए ॥२॥ रजि ने पाँचसौ पुत्र उत्पन्न किये, जो इन्द्र को डराने वाले राजेय नाम से प्रसिद्ध क्षत्रिय हुए ॥३॥ एक बार भयंकर देवासुर-संग्राम छिड़ जाने पर देवताओं और राक्षसों ने ब्रह्मा के पास जाकर यह निवेदन किया ॥४॥

देवासुरों ने कहा—भगवन्! आप सभी प्राणियों के स्वामी हैं, हम तत्त्वतः यह जानना चाहते हैं कि हम दोनों में से कौन पक्ष विजयी होगा? कृपया बताइये? ॥५॥

---

[1] ख. ०पि विश्वामित्रादथाष्ट०। [2] क.ख. लोहिः। [3] क. विप्रा।

ब्रह्मोवाच

येषामर्थाय संग्रामे रजिरात्तायुधः प्रभुः । योत्स्यते ते विजेष्यन्ति त्रींल्लोकान्नात्र संशयः ॥६॥
यतो रजिर्धृतिस्तत्र श्रीश्च तत्र यतो धृतिः । यतो धृतिश्च श्रीश्चैव धर्म्मस्तत्र जयस्तथा ॥७॥
ते देवा दानवाः प्रीता देवेनोक्ता रजिं तदा । अभ्ययुर्जयमिच्छन्तो वृण्वानास्तं नरर्षभम् ॥८॥
स हि स्वर्भानुदौहित्रः प्रभायां समपद्यत । राजा परमतेजस्वी सोमवंशविवर्द्धनः ॥९॥
ते हृष्टमनसः सर्व्वे रजिं वै देवदानवाः । ऊचुरस्मज्जयाय त्वं गृहाण वरकार्म्मुकम् ॥१०॥
अथोवाच रजिस्तत्र तयोर्वै देवदैत्ययोः । अर्थज्ञः स्वार्थमुद्दिश्य यशः स्वं च प्रकाशयन् ॥११॥

रजिरुवाच

यदि दैत्यगणान् सर्व्वान्[1] जित्वा वीर्य्येण वासवः । इन्द्रो भवामि धर्म्मेण ततो योत्स्यामि संयुगे ॥१२॥
देवाः प्रथमतो विप्राः प्रतीयुर्हृष्टमानसाः । एवं यथेष्टं नृपते कामः सम्पद्यतां तव ॥१३॥
श्रुत्वा सुरगणानान्तु वाक्यं राजा रजिस्तदा । पप्रच्छासुरमुख्यांस्तु यथा देवानपृच्छत ॥१४॥
दानवा दर्पसम्पूर्णाः स्वार्थमेवावगम्य ह । प्रत्यूचुस्तं नृपवरं साभिमानमिदं वचः ॥१५॥

दानवा ऊचुः

अस्माकमिन्द्रः प्रह्लादो यस्यार्थे विजयामहे । अस्मिंस्तु समरे राजंस्तिष्ठ त्वं राजसत्तम ॥१६॥

ब्रह्मा ने कहा—युद्ध में जिसके पक्ष से शस्त्र धारण कर रजि युद्ध करेगा निःसंदेह वही त्रैलोक्य-विजयी होगा ॥६॥ क्योंकि जहाँ रजि होगा वहाँ धैर्य, जहाँ धैर्य वहाँ लक्ष्मी, जहाँ लक्ष्मी वहाँ धर्म और जहाँ धर्म होगा वहाँ विजय निश्चित होगी ॥७॥ ब्रह्मा के वचन को सुनकर देवता और दानव प्रसन्न हो विजय की अभिलाषा करते हुए रजि को वरण करने के लिए उसके पास गये ॥८॥ स्वर्भानु का नाती रजि, जो सोमवंश को बढ़ाने वाला परम तेजस्वी राजा था, प्रभा से उत्पन्न हुआ था ॥९॥ प्रसन्नचित्त देवता और राक्षस रजि से कहने लगे कि आप हमारी जय के लिए धनुष-धारण कीजिये ॥१०॥ तब अभिप्राय को जानने वाले रजि ने स्वार्थ का उद्देश्य सम्मुख रखकर अपनी कीर्ति को प्रकाशित करते हुए देव-दानवों से कहा ॥११॥

रजि ने कहा—'यदि मैं शक्ति से दैत्यगणों को जीतकर धर्म से इन्द्र हो जाऊँ तो मैं संग्राम में युद्ध करूँगा'॥१२॥ देवताओं ने प्रथमतः प्रसन्न होकर कहा—'राजन् ! आपकी इच्छा पूरी होगी' ॥१३॥ देवताओं की बात सुनकर राजा रजि ने प्रमुख राक्षसों से भी वही बात पूछी जो देवताओं से पूछी थी ॥१४॥ तब दर्प से पूर्ण दानवों ने केवल अपने ही स्वार्थ को जानकर राजा से अभिमानपूर्वक यह कहा ॥१५॥

दानवों ने कहा—'हमारे इन्द्र तो प्रह्लाद हैं, जिनके लिए हम विजय चाहते हैं। राजन् ! यदि आप हमारे इन्द्र होने की इच्छा रखते हैं तो आप इस युद्ध में हमारे विपक्षी बनिये' ॥१६॥ राजा ने कहा—

---

[1] ख. ० र्वान्क्षिप्त्वा वी० ।

स तथेति ब्रुवन्नेव देवैरप्यतिचोदितः। भविष्यसीन्द्रो जित्वैनं देवैरुक्तस्तु पार्थिवः ॥१७॥
जघान दानवान् सर्व्वान् येऽवध्या वज्रपाणिनः । स विप्रनष्टां देवानां परमश्रीः श्रियं वशी ॥१८॥
निहत्य दानवान् सर्व्वानाजहार रजिः प्रभुः । ततो रजिं महावीर्य्यं देवैः सह शतक्रतुः ॥१९॥
रजिपुत्रोऽहमित्युक्त्वा पुनरेवाब्रवीद्वचः। इन्द्रोऽसि तात[1] देवानां सर्व्वेषां नात्र संशयः ॥२०॥
यस्याहमिन्द्रः पुत्रस्ते ख्यातिं यास्यामि कर्म्मभिः । स तु शत्रुवचः श्रुत्वा वञ्चितस्तेन मायया ॥२१॥
तथैवेत्यब्रवीद्राजा प्रीयमाणः शतक्रतुम्। तस्मिंस्तु देवैः सदृशे दिवं प्राप्ते महीपतौ ॥२२॥
दायाद्यमिन्द्रादाजह्रुः राज्यं तत्तनया रजेः । पञ्च पुत्रशतान्यस्य तद्वै स्थानं शतक्रतोः ॥२३॥
समाक्रामन्त बहुधा स्वर्गलोकं त्रिविष्टपम् । ते यदा तु [2]स्वसम्मूढा रागोन्मत्ता विधर्म्मिणः ॥२४॥
ब्रह्मद्विषश्च संवृत्ता हतवीर्य्यपराक्रमाः । ततो लेभे स्वमैश्वर्य्यमिन्द्रः स्थानं तथोत्तमम् ॥२५॥
हत्वा रजिसुतान् सर्व्वान् कामक्रोधपरायणान् । य इदं च्यावनं स्थानात्प्रतिष्ठानं शतक्रतोः॥
शृणुयाद्धारयेद्वापि न स दौर्गत्यमाप्नुयात् ॥२६॥

लोमहर्षण उवाच

रम्भोऽनपत्यस्त्वासीच्च वंशं वक्ष्याम्यनेनसः । अनेनसः सुतो राजा प्रतिक्षत्रो[3] महायशाः ॥२७॥
[4]प्रतिक्षत्रसुतश्चासीत्[5] सञ्जयो नाम विश्रुतः[6] । सञ्जयस्य जयः पुत्रो विजयस्तस्य चात्मजः ॥२८॥

'एवमस्तु'। तब देवताओं ने राजा से कहा—'आप इनको मार कर इन्द्र हो जायेंगे' ॥१७॥ राजा ने उन सब दैत्यों को, जो इन्द्र से अवध्य थे, मार कर चिरकाल से नष्ट देवताओं की श्री को राक्षसों से ग्रहण किया ॥१८॥ तदुपरान्त इन्द्र ने देवताओं के साथ आकर रजि से कहा—'मैं रजि का पुत्र हूँ। तात ! निःसंदेह आप सब देवताओं के इन्द्र हैं। जिन आपका पुत्र मैं इन्द्र हूँ—इस ख्याति को मैं कर्मों से प्राप्त करूँगा' ॥१९-२०½॥ वह राजा इन्द्र की बात सुनकर माया से मोहित हो सन्तुष्ट हो गया और इन्द्र से बोला—'ऐसा ही सही' ॥२१½॥ तब देवताओं के समान उस राजा के स्वर्ग चले जाने पर उसके पुत्रों ने इन्द्र से राज्य छीन लिया। उसके पाँच सौ पुत्रों ने अनेक बार स्वर्गलोक पर आक्रमण किया ॥२२-२३½॥ जब उन मूर्ख, रागोन्मत्त, विधर्मी और ब्रह्मद्रोही रजि-पुत्रों का पराक्रम नष्ट हो गया, तब इन्द्र ने काम, क्रोध में रत इन सब रजिपुत्रों को मारकर अपने ऐश्वर्य और उत्तम स्थान को प्राप्त किया ॥२४-२५॥ जो आदमी इन्द्र के इस उत्थान-पतन को सुनेगा या धारण करेगा, उसकी अधोगति कभी नहीं होगी ॥२६॥

लोमहर्षण बोले—रम्भ तो सन्तानहीन था, इसलिए अनेना के वंश का वर्णन मैं करूँगा। अनेना का पुत्र प्रतिक्षत्र महान् यशस्वी राजा हुआ ॥२७॥ प्रतिक्षत्र का संजय नामक पुत्र बड़ा प्रसिद्ध था। संजय का पुत्र

---

[1] क. तावद्देवा० । [2] ख. सुसंपुष्टा । [3] ग. प्रतिक्षेत्रो । [4] ग. ०तिक्षेत्रसु० । [5] क.ख. ०सीत्सृञ्जयो० । [6] क.ख. ०तः । सृञ्जय० ।

विजयस्य कृतिः पुत्रस्तस्य हर्य्यत्वतः[1] सुतः । [2]हर्य्यत्वतसुतो राजा सहदेवः प्रतापवान् ।।२९।।
सहदेवस्य धर्म्मात्मा नदीन[3] इति विश्रुतः । नदीनस्य[4] जयत्सेनो जयत्सेनस्य [5]सङ्कृतिः ।।३०।।
सङ्कृतेरपि[6] धर्म्मात्मा [7]क्षत्रवृद्धो महायशाः । अनेनसः समाख्याताः क्षत्रवृद्धस्य चापरः ।।३१।।
क्षत्रवृद्धात्मजस्तत्र सुनहोत्रो महायशाः । सुनहोत्रस्य दायादास्त्रयः परमधार्मिकाः ।।३२।।
काशः शलश्च द्वावेतौ तथा गृत्समदः प्रभुः । पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकः ।।३३।।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च । शलात्मज[8] आर्ष्टिसेनस्तनयस्तस्य काश्यपः ।।३४।।
काशस्य काशिपो राजा पुत्रो [9]दीर्घतपास्तथा । [10]धनुस्तु [11] दीर्घतपसो विद्वान् धन्वन्तरिस्ततः ।।३५।।
तपसोऽन्ते सुमहतो जातो वृद्धस्य धीमतः । पुनर्धन्वन्तरिर्देवो मानुषेष्विह जन्मनि ।।३६।।
तस्य गेहे समुत्पन्नो देवो धन्वन्तरिस्तदा । [12]काशिराजो महाराजः सर्व्वरोगप्रणाशनः ।।३७।।
आयुर्व्वेदं भरद्वाजात् प्राप्येह स भिषक्क्रियः । तमष्टधा पुनर्व्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत् ।।३८।।
[13]धन्वन्तरेस्तु तनयः केतुमानिति विश्रुतः । अथ केतुमतः पुत्रो वीरो भीमरथः स्मृतः ।।३९।।
पुत्रो भीमरथस्यापि दिवोदासः प्रजेश्वरः । दिवोदासस्तु धर्म्मात्मा वाराणस्यधिपोऽभवत् ।।४०।।
एतस्मिनेव काले तु पुरीं वाराणसीं द्विजाः । शून्यां निवेशयामास क्षेमको नाम राक्षसः ।।४१।।

जय और उसका पुत्र विजय हुआ ।।२८।। विजय के कृति नामक पुत्र और उसके हर्यत्वत नामक पुत्र हुआ। हर्यत्वत का पुत्र सहदेव प्रतापी राजा हुआ ।।२९।। सहदेव का धर्मातमा पुत्र नदीन नाम से विख्यात हुआ । नदीन के जयत्सेन नामक पुत्र और जयत्सेन के संकृति नामक पुत्र हुआ ।।३०।। संकृति के भी महायशस्वी और धर्मात्मा क्षत्रवृद्ध नामक पुत्र हुआ । अनेना का वंश बतला दिया, अब क्षत्रवृद्ध का सुनिये ।।३१।। क्षत्रवृद्ध के सुनहोत्र नामक महायशस्वी पुत्र हुआ । सुनहोत्र के काश, शल और गृत्समद नामक तीन धर्मात्मा पुत्र थे ।।३२$\frac{१}{२}$।। गृत्समद का पुत्र शुनक और उसका शौनक था । उसी से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण उत्पन्न हुए । आर्ष्टिसेन शल का पुत्र था । उसका पुत्र काश्यप था ।।३३-३४।। काश के पुत्र राजा काशिप और दीर्घतपा थे । दीर्घतपा के धनु नामक पुत्र हुआ और उससे विद्वान् धन्वन्तरि उत्पन्न हुए ।।३५।। वृद्ध और धीमान् धनु के कठिन तप के अन्त में देवता धन्वन्तरि मनुष्य योनि में उत्पन्न हुए ।।३६।। इस जन्म में उसके घर में उत्पन्न देव धन्वन्तरि ने, जो सर्वरोग-विनाशक तथा महाराज काशिराज कहलाते थे, भरद्वाज मुनि से आयुर्वेद को प्राप्त कर उसके आठ भाग करके शिष्यों को पढ़ा दिया ।।३७-३८।। धन्वन्तरि का पुत्र केतुमान् नाम से प्रसिद्ध था । केतुमान् का पुत्र भीमरथ बड़ा वीर हुआ ।।३९।। भीमरथ का पुत्र दिवोदास प्रजाओं का स्वामी हुआ । धर्मात्मा दिवोदास काशी-नरेश हुआ ।।४०।। विप्रवृन्द ! इसी समय क्षेमक नामक राक्षस ने शून्य काशीपुरी में प्रवेश किया ।।४१।। क्योंकि महात्मा

---

१ क. हर्यश्वतः । ख. हर्यश्वनः । २ क. ०र्यश्वतसु० । ख. ०र्यश्वनसु० । ३ क. नदीज । ४ क. ०दीजस्य । ५ ग. संहृतिः । ६ग. संहृते० । ७ख. कृतवर्मा । ८ ग. ०त्मजः पार्ष्णिसे० । ९ ग. ०तमास्त० । १० ख. धन्वस्तु । ११ ग. ०तमसो । १२ ग. मणिराजो । १३ क. ०न्तरेः सुतो नग्नः के० ।

शप्ता हि सा मतिमता निकुम्भेन महात्मना । शून्या वर्षसहस्रं वै भवित्री तु न संशयः ।।४२।।
तस्यां हि शप्तमात्रायां दिवोदासः प्रजेश्वरः । विषयान्ते पुरीं रम्यां गोमत्यां संन्यवेशयत् ।।४३।।
भद्रश्रेण्यस्य पूर्व्वं तु पुरी वाराणसी ह्यभूत् । भद्रश्रेण्यस्य पुत्राणां शतमुत्तमधन्विनाम् ।।४४।।
हत्वा निवेशयामास दिवोदासो नराधिपः । भद्रश्रेण्यस्य तद्राज्यं हृतं येन बलीयसा ।।४५।।
भद्रश्रेण्यस्य पुत्रस्तु दुर्दमो नाम विश्रुतः । दिवोदासेन बालेति घृणया स विसर्जितः ।।४६।।
हैहयस्य तु दायाद्यं हृतवान् वै महीपतिः । आजह्रे पितृदायाद्यं[1] दिवोदासहृतं बलात् ।।४७।।
भद्रश्रेण्यस्य पुत्रेण दुर्दमेन महात्मना । वैरस्यान्तो महाभागाः कृतश्चात्मीयतेजसा ।।४८।।
दिवोदासाद्दृषद्वत्यां वीरो जज्ञे प्रतर्दनः । तेन बालेन पुत्रेण प्रहृतं तु पुनर्बलम् ।।४९।।
प्रतर्दनस्य पुत्रौ द्वौ वत्सभर्गौ[2] सुविश्रुतौ[3] । वत्सपुत्रो ह्यलर्कस्तु सन्नतिस्तस्य चात्मजः ।।५०।।
अलर्कस्तस्य पुत्रस्तु ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः । अलर्कं प्रति राजर्षिं श्लोको गीतः पुरातनैः ।।५१।।
षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च । युवा रूपेण सम्पन्नः प्रागासीच्च कुलोद्वहः ।।५२।।
लोपामुद्राप्रसादेन परमायुरवाप्तवान् । तस्यासीत् सुमहद्राज्यं रूपयौवनशालिनः ।।५३।।
शापस्यान्ते महाबाहुर्हत्वा क्षेमकराक्षसम् । रम्यां निवेशयामास पुरीं वाराणसीं पुनः ।।५४।।
सन्नतेरपि दायादः सुनीथो नाम धार्मिकः । सुनीथस्य तु दायादः क्षेमो नाम महायशाः ।।५५।।
क्षेमस्य केतुमान् पुत्रः सुकेतुस्तस्य चात्मजः । सुकेतोस्तनयश्चापि धर्म्मकेतुरिति स्मृतः ।।५६।।

निकुम्भ ने काशीपुरी को शाप दिया था कि तुम हजार वर्ष तक निःसंदेह शून्य रहोगी ।।४२।। जब काशीपुरी शापग्रस्त हो गयी तब राजा दिवोदास ने गोमती नदी के तट पर सुन्दर नगर रचकर प्रजा को बसाया ।।४३।। पहले भद्रश्रेण्य की काशीपुरी हो गयी थी । भद्रश्रेण्य के सौ उत्तम धनुर्धारी पुत्रों को मारकर राजा दिवोदास ने बलपूर्वक भद्रश्रेण्य का राज्य-हरण कर अपना बना लिया ।।४४-४५।। भद्रश्रेण्य के दुर्दम नाम से विख्यात पुत्र को दिवोदास ने बालक समझकर दयावश छोड़ दिया ।।४६।। राजा ने हैहय की पैतृक-संपत्ति छीन ली । महाभाग ! भद्रश्रेण्य के पुत्र महात्मा दुर्दम ने दिवोदास से बलपूर्वक हरण किये गये पितृ-धन पर अपना प्रभुत्व फिर स्थापित कर लिया और अपने पराक्रम से शत्रु का अन्त कर दिया ।।४७-४८।। दिवोदास की दृषद्वती से वीर प्रतर्दन उत्पन्न हुआ । प्रतर्दन ने फिर उस राज्य को अपने अधीन कर लिया ।।४९।। प्रतर्दन से वत्स और भर्ग नामक दो पुत्रों की उत्पत्ति हुई । वत्स के पुत्र का नाम अलर्क और उसके पुत्र का नाम संनति था।।५०।। अलर्क ब्रह्मवादी तथा सत्यवादी था । राजर्षि अलर्क के विषय में ऐसा सुना जाता है कि छाछठ हजार वर्षों तक वह युवक ही बना रहा ।।५१-५२।। लोपामुद्रा की कृपा से उसने परमायु प्राप्त की थी । रूपयौवनशाली प्रतर्दन का राज्य बहुत विस्तृत था ।।५३।। शाप के अन्त में प्रतर्दन ने क्षेमक राक्षस को मारकर रमणीय काशीपुरी को फिर से बसाया ।।५४।। संनति का भी सुनीथ नामक पुत्र धर्मात्मा था । सुनीथ के क्षेम नामक महायशस्वी पुत्र हुआ ।।५५।। क्षेम के पुत्र केतुमान् से सुकेतु उत्पन्न हुआ। सुकेतु का पुत्र धर्मकेतु कहलाया।।५६।। धर्मकेतु का पुत्र महारथी सत्यकेतु हुआ। सत्यकेतु के विभु

---

[1] ग. ०यादान्कृत० । [2] क. ०त्सगौरौ सु० । [3] ख. ०तौ । शत्रुजिद्वत्सपुत्रोऽथ तस्य पुत्र ऋतध्वजः । अ०।

धर्म्मकेतोस्तु दायादः सत्यकेतुर्महारथः । सत्यकेतुसुतश्चापि विभुर्नाम प्रजेश्वरः[1] ॥५७॥
आनर्त्तस्तु विभोः पुत्रः सुकुमारश्च तत्सुतः । सुकुमारस्य पुत्रस्तु धृष्टकेतुः सुधार्मिकः ॥५८॥
धृष्टकेतोस्तु दायादो वेणुहोत्रः प्रजेश्वरः । वेणुहोत्रसुतश्चापि भार्गो[2] नाम प्रजेश्वरः ॥५९॥
वत्सस्य वत्सभूमिस्तु[3] भार्गभूमिस्तु[4] भार्गजः[5] । एते त्वङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे ॥६०॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया [6]वैश्यास्त्रयः पुत्राः सहस्रशः । इत्येते काश्यपाः प्रोक्ता नहुषस्य निबोधत ॥६१॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे सोमवंशे वृद्धक्षत्रप्रसूतिनिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

सोमवंशवर्णन आयुवंश-वर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

उत्पन्नाः पितृकन्यायां विरजायां महौजसः । नहुषस्य तु दायादाः [7]षडिन्द्रोपमतेजसः ॥१॥
यतिर्ययातिः संयातिरायातिर्यातिरेव च । सुयातिः षष्ठस्तेषां वै ययातिः पार्थिवोऽभवत् ॥२॥

नामक प्रजेश्वर पुत्र हुआ ॥५७॥ विभु के पुत्र का नाम आनर्त और उसके पुत्र का नाम सुकुमार था। सुकुमार का पुत्र धृष्टकेतु बड़ा धार्मिक था ॥५८॥ धृष्टकेतु का पुत्र वेणुहोत्र प्रजाओं का स्वामी हुआ। वेणुहोत्र का पुत्र भार्ग नामक प्रजेश्वर हुआ ॥५९॥ वत्स के वत्सभूमि नामक पुत्र हुआ। भार्ग के पुत्र का नाम भार्गभूमि था। ये अंगिरा के पुत्र भृगुवंश में उत्पन्न हुए ॥६०॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन पुत्र हजारों की संख्या में कश्यपवंश में उद्‌भूत हुए। अब नहुष के वंश को सुनिये ॥६१॥

श्री ब्रह्ममहापुराण के सोम-वंश के वर्णन-प्रसंग में वृद्धक्षत्र-प्रसूति-निरूपण नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥११॥

अध्याय १२

ययाति का चरित्र-वर्णन

लोमहर्षण ने कहा—महातेजस्वी नहुष के इन्द्र के समान तेजस्वी छह पुत्र विरजा नामक पितृकन्या से उत्पन्न हुए—यति, ययाति, संयाति, आयाति, याति और छठा सुयाति। उनमें से ययाति राजा हुआ ॥१-२॥ परम धार्मिक ययाति ने ककुत्स्थ की गो नामक कन्या को प्राप्त किया। यति मोक्ष में चित्त लगाकर ब्रह्मनिष्ठ मुनि वन

---

[1] ग. ०रः। स्वविभुस्तु। [2] ख. भर्गो। [3] ख. ०स्तु भर्ग०। [4] क. भूतिस्तु। [5] ग. भार्गवात्। [6] क. ०श्या आयोः पुत्राः। [7] ख. ०न्द्रोपेन्द्रते०।

ककुत्स्थकन्यां गां नाम लेभ परमधार्मिकः । यतिस्तु मोक्षमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन् मुनिः ।।३।।
तेषां ययातिः पञ्चानां विजित्य वसुधामिमाम् । देवयानीमुशनसः सुतां भार्य्यामवाप सः ।।४।।
शर्म्मिष्ठामासुरीं चैव तनयां वृषपर्व्वणः । यदुञ्च तुर्व्वसुञ्चैव देवयानी व्यजायत ।।५।।
द्रुह्यं चानुं च [1]पुरुं च शर्म्मिष्ठा वार्षपर्व्वणी । तस्मै शक्रो ददौ प्रीतो रथं परमभास्वरम्[2] ।।६।।
अङ्गदं काञ्चनं[3] दिव्यं दिव्यैः परमवाजिभिः । युक्तं [4]मनोजवैः शुभ्रैर्येन कार्य्यं समुद्वहन् ।।७।।
स तेन रथमुख्येन[5] षड्रात्रेणाजयन्महीम् । [6]ययातिर्युधि दुर्द्धर्षस्तथा देवान् सदानवान् ।।८।।
स रथः [7]कौरवाणां तु सर्व्वेषामभवत्तदा । संवर्त्तवसुनामस्तु कौरवाज्जनमेजयात् ।।९।।
कुरोः पुत्रस्य[8] राजेन्द्रराज्ञः पारिक्षितस्य ह । जगाम स रथो नाशं शापाद्गर्गस्य धीमतः ।।१०।।
गर्गस्य हि सुतं बालं स राजा जनमेजयः । कालेन[9] हिंसयामास ब्रह्महत्यामवाप सः[10] ।।११।।
स लोहगन्धो राजर्षिः परिधावन्नितस्ततः । पौरजानपदैस्त्यक्तो न लेभे शर्म्म कर्हिचित् ।।१२।।
ततः स दुःखसन्तप्तो नालभत्संविदं क्वचित् । [11]विप्रेन्द्रं शौनकं राजा शरणं प्रत्यपद्यत ।।१३।।
याजयामास[12] च ज्ञानी शौनको जनमेजयम् । अश्वमेधेन राजानं पावनार्थं द्विजोत्तमाः ।।१४।।
स लोहगन्धो व्यनशत्तस्यावभृथमेत्य ह । स च दिव्यरथो राज्ञो वशश्चेदिपतेस्तदा ।।१५।।
दत्तः शक्रेण तुष्टेन लेभे तस्माद्बृहद्रथः । बृहद्रथात्क्रमेणैव गतो बार्हद्रथं नृपम् ।।१६।।

गया । ययाति ने पाँचों भाइयों की पृथ्वी को जीतकर शुक्राचार्य की देवयानी नामक कन्या से विवाह किया ।।३-४।। पश्चात् उसने वृषपर्वा नामक राक्षस की शर्मिष्ठा नामक पुत्री को पत्नी बनाया । यदु और तुर्वसु नामक दो पुत्र देवयानी से उत्पन्न हुए ।।५।। शर्मिष्ठा ने द्रुह्य, अनु और पुरु नामक पुत्रों को उत्पन्न किया । ययाति को इन्द्र ने प्रसन्न होकर मन के वेग के समान वेग वाले तथा सफेद रंग वाले दिव्य घोड़ों से युक्त और परम प्रकाश से सुशोभित सुवर्ण-निर्मित रथ दिया ।।६-७।। उस रथ से युद्ध में अजेय ययाति ने छह रात्रि में देवता और राक्षस सहित संपूर्ण पृथ्वी को जीत लिया ।।८।। संवर्तवसु नामक वह रथ कुरुवंशियों के पास रहा । परन्तु महाराज परीक्षित के पुत्र—जनमेजय के समय वह रथ महात्मा गर्ग के शाप से नष्ट हो गया ।।९-१०।। कदाचित् राजा जनमेजय द्वारा गर्ग के पुत्र की हत्या हो जाने से उसे ब्रह्महत्या का दोष लग गया ।।११।। तब लोह-गन्ध से युक्त राजा जनमेजय इधर-उधर भागने लगा । जनता ने उसका परित्याग कर दिया । उसे कहीं भी शान्ति नहीं मिल रही थी ।।१२।। अतएव अशान्त, सन्तप्त राजा विप्रवर्य शौनक के पास गया ।।१३।। ब्राह्मण-श्रेष्ठ ज्ञानी शौनक ने राजा जनमेजय को पवित्र करने के लिए उससे अश्वमेध यज्ञ कराया ।।१४।। यज्ञान्त में राजा का लोह-गन्ध नष्ट हो गया । उस समय इन्द्र ने संतुष्ट होकर यही दिव्यरथ राजा चेदिपति (शिशुपाल) को दे दिया । उससे बृहद्रथ ने प्राप्त किया ।। १५।। क्रमशः यह रथ बृहद्रथ के हाथ से बार्हद्रथ (जरासन्ध) नामक राजा के हाथ में पड़ा ।।१६।। तब कुरुवंशी भीम ने जरासन्ध को मारकर यही उत्तम रथ

---

१ क.ग. पुरूं । २ क. ०म् । सशस्त्रास्त्रं का० । ३ ख. ०नं च दिव्यैः । ४ ग. मनोरमैः । ५ ख. ०न दिग्जयेन ज० । ६ ख. ०तिर्वर्षसाहस्रांस्त० । ७ क.ग. पौरवाणां । ८ ख. ०स्य विप्रेन्द्र० । ९ख. चाक्रूरं । ग. वाक्क्रूरं । १० ख. । दुर्गन्धयुक्तो रा० । ११ क. होतारं । ग. इन्द्रोतं । १२क. ० स चेन्द्रेण शौ० । १३ क. वसोश्चे० ।

प्रददौ वासुदेवाय प्रीत्या कौरवनन्दनः ॥१७॥
ततो हत्वा जरासन्धं भीमस्तं रथमुत्तमम् । [1]विभज्य पञ्चधा राज्यं पुत्राणां नाहुषस्तदा ॥१८॥
सप्तद्वीपां ययातिस्तु जित्वा पृथ्वीं ससागराम् । मध्ये [2]पुरुं च राजानमभ्यषिञ्चत् स नाहुषः ॥१९॥
ययातिर्दिशि पूर्व्वस्यां यदुं ज्येष्ठं न्ययोजयत् । तैरियं पृथिवी सर्व्वा सप्तद्वीपा सपत्तना ॥२०॥
दिशि दक्षिणपूर्व्वस्यां तुर्व्वसुं मतिमान्नृपः । प्रजास्तेषां पुरस्तात्तु वक्ष्यामि मुनिसत्तमाः ॥२१॥
यथाप्रदेशमद्यापि धर्म्मेण प्रतिपाल्यते । जरावानभवद्राजा भारमावेश्य बन्धुषु ॥२२॥
धनुर्न्यस्य पृषत्कांश्च पञ्चभिः पुरुषर्षभैः । प्रतिमानभवद्राजा ययातिरपराजितः ॥२३॥
विक्षिप्तशस्त्रः पृथिवीं चचार पृथिवीपतिः । जरां मे प्रतिगृह्णीष्व पुत्र कृत्यान्तरेण वै ॥२४॥
एवं विभज्य पृथिवीं ययातिर्यदुमब्रवीत् । जरां त्वयि समाधाय तं यदुः प्रत्युवाच ह ॥२५॥
तरुणस्तव रूपेण चरेयं पृथिवीमिमाम् ।

यदुरुवाच

अनिर्दिष्टा मया भिक्षा ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुता । अनपाकृत्य तां राजन्न ग्रहीष्यामि ते जराम् ॥२६॥
जरायां बहवो दोषाः पानभोजनकारिताः । तस्माज्जरां न ते राजन् ग्रहीतुमहमुत्सहे ॥२७॥
सन्ति ते बहवः पुत्रा मत्तः प्रियतरा नृप । प्रतिग्रहीतुं धर्म्मज्ञ पुत्रमन्यं वृणीष्व वै ॥२८॥
स एवमुक्तो यदुना राजा कोपसमन्वितः । उवाच वदतां श्रेष्ठो ययातिर्गर्हयन् सुतम् ॥२९॥

प्रीतिपूर्वक वासुदेव (कृष्ण) को दिया ॥१६-१७॥ ययाति ने समुद्र सहित सात द्वीप वाली इस पृथिवी को जीतकर इसके पाँच भाग करके पुत्रों में बाँट दिया ॥१८॥ नहुष-पुत्र ययाति ने पूर्व दिशा में ज्येष्ठ पुत्र यदु को नियुक्त किया, मध्य देश में राजा पुरु का अभिषेक किया और दक्षिण-पूर्व दिशा का राज्य तुर्वसु को दिया ॥१९॥ वे आज भी नगर सहित इस सप्तद्वीपा पृथ्वी का अपने-अपने प्रदेश में धर्मपूर्वक प्रतिपालन कर रहे हैं। मुनिवर! उनकी प्रजाओं का वर्णन आगे चलकर करूँगा ॥२०-२१॥ धनुष और बाणों का त्याग कर पाँचों पुरुष-श्रेष्ठ पुत्रों को सब भार सौंप कर राजा ययाति वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ ॥२२॥ शस्त्रों का त्याग कर अजेय राजा ययाति प्रसन्नता से पृथ्वी का परिभ्रमण करने लगा ॥२३॥ इस प्रकार पृथिवी का विभाग करके ययाति ने अपने पुत्र यदु से कहा— 'पुत्र! मेरी वृद्धावस्था को ग्रहण करो। मैं अपना बुढ़ापा तुम्हें देकर तुम्हारी युवावस्था को स्वयं लेकर कार्यान्तर से इस पृथिवी पर विचरण करूँगा।' पिता की बात सुनकर यदु ने उत्तर दिया ॥२४-२५॥

यदु बोला—मैंने अप्रकाश्य भिक्षा देने के लिए एक ब्राह्मण से प्रतिज्ञा की थी। राजन्! उसकी पूर्ति किये बिना मैं आपका बुढ़ापा ग्रहण कहीं कर सकता ॥२६॥ राजन्! खान-पान से उत्पन्न अनेक प्रकार के रोग वृद्धावस्था में होते हैं। इसलिए मैं उसे ग्रहण करने का उत्साह नहीं दिखा सकता ॥२७॥ मुझसे बढ़कर प्रिय आपके अनेक पुत्र हैं। हे धर्मज्ञ! उनमें से किसी को आप उसकी जवानी लेने के लिए चुन लें ॥२८॥ यदु के इस प्रकार कहने पर राजा कुपित हुआ। वक्ताओं में श्रेष्ठ ययाति ने पुत्र की भर्त्सना करते हुए कहा ॥२९॥

---

[1]ख. ०ज्य स्वं तदा रा० । [2]ग. पूरूं ।

ययातिरुवाच

क आश्रमस्तवान्योऽस्ति को वा धर्म्मो विधीयते । मामनादृत्य दुर्ब्बुद्धे यदहं तव देशिकः ।।३०।।
एवमुक्त्वा यदुं विप्राः शशापैनं स मन्युमान् । अराज्या ते प्रजा मूढ भवित्रीति न[1] संशयः ।।३१।।
द्रुह्युं च तुर्व्वसुं चैवाप्यनुं च द्विजसत्तमाः । एवमेवाब्रवीद्राजा प्रत्याख्यातश्च तैरपि ।।३२।।
शशापताननतिक्रुद्धो ययातिरपराजितः । यथावत् कथितं सर्व्वं मयास्य द्विजसत्तमाः ।।३३।।
एवं शप्त्वा सुतान् सर्व्वांश्चतुरः [2]पुरुपूर्व्वजान् । तदेव वचनं राजा पुरुमप्याह भो द्विजाः ।।३४।।
तरुणस्तव रूपेण चरेयं पृथिवीमिमाम् । जरां त्वयि समाधाय त्वं पुरो यदि मन्यसे ।।३५।।
स जरां प्रतिजग्राह[3] पितुः पुरुः प्रतापवान् । ययातिरपि रूपेण पुरोः पर्य्यचरन् महीम् ।।३६।।
स मार्गमाणः[4] कामानामन्तं नृपतिसत्तमः । विश्वाच्या सहितो रेमे वने चैत्ररथे प्रभुः ।।३७।।
यदा स तृप्तः कामेषु भोगेषु च नराधिपः । तदा पुरोः[5] सकाशाद्वै स्वां जरां प्रत्यपद्यत ।।३८।।
यत्र गाथा मुनिश्रेष्ठा गीताः किल ययातिना । याभिः प्रत्याहरेत्कामान् सर्वशोऽङ्गानि कूर्म्मवत् ।।३९।।
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ।।४०।।
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत्सर्व्वमिति कृत्वा न मुह्यति ।।४१।।

ययाति बोला—दुर्बुद्धे ! मेरा अनादर करके कौन ऐसा आश्रम या धर्म है, जिसका तुम आचरण करोगे? क्योंकि मैं तुम्हारा गुरु हूँ ।।३०।। विप्रवृन्द ! ऐसा कहकर क्रोधी राजा ने यदु को शाप दिया—'मूर्ख ! तेरी प्रजा राज्यरहित होगी, इसमें कोई संदेह नहीं' ।।३१।। द्विजवर ! राजा ने इसी प्रकार दुह्यु, तुर्वसु और अनु से भी कहा और उन लोगों ने भी स्पष्ट अस्वीकार कर दिया ।।३२।। द्विजश्रेष्ठ ! अजेय ययाति ने अत्यन्त क्रोध में आकर उनको भी वही शाप दिया। इसके बारे में मैंने सब कुछ यथार्थ कहा ।।३३।। पुरु से ज्येष्ठ चार पुत्रों को इस तरह शाप देकर राजा ने पुरु से भी कहा—'पुरु ! यदि तुम स्वीकार करो तो मैं अपनी बुढ़ाई तुम्हें देकर और तुम्हारी युवास्था को ग्रहण कर पृथिवी-मण्डल का चक्कर लगाऊँ' ।।३४-३५।। प्रतापी पुरु ने पिता की बुढ़ाई ले ली। ययाति भी पुरु का रूप लेकर पृथ्वी पर विचरने लगा ।।३६।। कामों का अन्त करने के विचार से राजा ययाति विश्वाची के संग चैत्ररथ नामक वन में रमण करने लगा ।।३७।। परन्तु जब कामों के भोग से वह तृप्त नहीं हुआ, तब उसने पुरु से अपनी वृद्धावस्था को लेकर उसकी जवानी लौटा दी ।।३८।। मुनिश्रेष्ठो ! उस समय राजा ययाति ने गाथाएँ गायीं, जिसको सुनकर मनुष्य कामों को उसी प्रकार संकुचित कर ले जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है ।।३९। "कामों का उपभोग करते रहने से काम नहीं मिटता; बल्कि घी डालने से आग की तरह वह और भी बढ़ जाता है ।।४०।। पृथ्वी पर जितने अन्न, सोना, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक आदमी के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। इसलिए मनुष्य को मोह में नहीं पड़ना चाहिए ।।४१।। जिस व्यक्ति को मनसा-वाचा-कर्मणा प्राणिमात्र में

---

१ ख. ग. नराधिप । २ग. पुरूपूर्वजान् । ३ख. ०ह पुरुः पुरुप्र० । ४ ख. ०माणस्तरुणीं सुमत्तो नृपस० । ५ क. ख. परोः ।

कर्म्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।४२।।
यदा भावं न कुरुते सर्व्वभूतेषु पापकम् । ~~~
यदा तेभ्यो न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति । यदि नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।४३।।
या दुस्त्यजा दुर्म्मतिभिर्या न जीर्य्यति जीर्य्यतः । योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ।।४४।।
जीर्य्यन्ति जीर्यतःकेशा दन्ता जीर्य्यन्ति जीर्य्यतः । धनाशा जीविताशा च जीर्य्यतोऽपि न जीर्य्यति ।।४५।।
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशीं कलाम् ।।४६।।
एवमुक्त्वा स राजर्षिः सदारः प्राविशद्वनम् । कालेन महता चायं[1] चचार विपुलं तपः ।।४७।।
भृगुतुङ्गे[2] गतिं प्राप तपसोऽन्ते महायशाः । [3]अनश्नन् देहमुत्सृज्य सदारः स्वर्गमाप्तवान् ।।४८।।
तस्य वंशे मुनिश्रेष्ठाः पञ्च राजर्षिसत्तमाः । यैर्व्याप्ता पृथिवी सर्व्वा सूर्य्यस्येव गभस्तिभिः ।।४९।।
यदोस्तु वंशं वक्ष्यामि शृणुध्वं राजसत्कृतम् । यत्र नारायणो जज्ञे हरिर्वृष्णिकुलोद्वहः ।।५०।।
सुस्थः प्रजावानायुष्मान् कीर्त्तिमांश्च भवेन्नरः । ययातिचरितं नित्यमिदं शृण्वन् द्विजोत्तमाः ।।५१।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे सोमवंशे ययातिचरितनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ।।१२।।

पाप-भावना नहीं होती, वही ब्रह्म को प्राप्त करता है ।।४२।। जो न किसी से डरता है, न उसी से कोई डरता है, न कुछ चाहता है और न किसी से द्रोह करता है, वही ब्रह्म में लीन होता है ।।४३।। जो तृष्णा कुबुद्धिवालों से दुस्त्याज्य है, वृद्धावस्था के साथ वृद्ध नहीं होती और प्राणों का नाश करनेवाला रोग है, उस तृष्णा को त्यागने से सुख मिलता है ।।४४।। शरीर के जीर्ण होने पर केश और दाँत जीर्ण हो जाते हैं, पर धन और प्राणों की आशा (शरीर के जीर्ण हो जाने पर भी) जीर्ण नहीं होती ।।४५।। लोक में जो काम़-सुख है और जो स्वर्गीय महान् सुख है, वे सब सुख तृष्णाक्षयरूप सुख के सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं हैं" ।।४६।। इस प्रकार कहकर राजर्षि ययाति वन में प्रविष्ट हुआ। दीर्घकाल तक उसने महान् तपस्या की ।।४७।। तप के अन्त में पर्वत के शिखर पर निराहार रहकर उसने शरीर को त्याग दिया। उस महायशस्वी राजा ने पत्नी सहित स्वर्ग को प्राप्त किया ।।४८।। मुनिवर ! उसके वंश में पाँच राजर्षि-श्रेष्ठ हुए, जिनसे यह संपूर्ण पृथ्वी वैसे ही व्याप्त हुई जैसे सूर्य की किरणों से वह व्याप्त रहती है ।।४९।। राजाओं से सत्कृत यदु का वंश मैं कहूँगा, जहाँ वृष्णि-कुल में साक्षात् नारायण अवतीर्ण हुए थे ।।५०।। आप लोग सुनें। द्विजवर ! जो व्यक्ति इस ययाति-चरित्र का नित्य श्रवण करेगा, वह स्वस्थ, प्रजावान्, आयुष्मान् और कीर्तिमान् होगा ।।५१।।

श्री ब्रह्ममहापुराण के चन्द्रवंशवर्णन-प्रसंग में ययाति-चरित-निरूपण नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त ।।१२।।

१ख. चापि । ग. वाऽपि । २ख. ग. ० गे तपश्चीर्त्वा त० । ३क. अनाशकं चरित्वा तु स० ।

त्रयोदशोऽध्यायः

पुरुवंश-वर्णनम्

ब्राह्मणा ऊचुः

पुरोर्वंशं वयं सूत श्रोतुमिच्छाम तत्त्वतः । द्रुह्यस्यानोर्यदोश्चैव तुर्वसोश्च पृथक् पृथक् ।।१।।

लोमहर्षण उवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः पुरोर्वंशं महात्मनः । विस्तरेणानुपूर्व्व्या च प्रथमं वदतो मम ।।२।।
पुरोः पुत्रः सुवीरोऽभून्मनस्युस्तस्य[1] चात्मजः । राजा चाभयदो नाम [2]मनस्योरभवत् सुतः ।।३।।
तथैवाभयदस्यासीत् सुधन्वा[3] नाम पार्थिवः । सुधन्वनः सुबाहुश्च रौद्राश्वस्तस्य चात्मजः ।।४।।
रौद्राश्वस्य [4]दशार्णेयुः [5]कृकणेयुस्तथैव च । कक्षेयुस्थण्डिलेयुश्च [6]सन्नतेयुस्तथैव च ।।५।।
ऋचेयुश्च जलेयुश्च स्थलेयुश्च [7]महाबलः । [8]धनेयुश्च [9]वनेयुश्च पुत्रकाश्च दश स्त्रियः ।।६।।
भद्रा[10] शूद्रा च मद्रा च शलदा मलदा तथा[11] । [12]खलदा च ततो विप्रा [13]नलदा सुरसापि च ।।७।।
तथा गोचपला च स्त्रीरत्नकूटा च ता दश । ऋषिर्जातोऽत्रिवंशे च तासां भर्त्ता प्रभाकरः ।।८।।
भद्रायां[14] जनयामास सुतं सोमं यशस्विनम् । स्वर्भानुना हते सूर्य्ये पतमाने दिवो महीम् ।।९।।

अध्याय १३

पुरु के वंश का वर्णन

ब्राह्मणों ने कहा—सूतजी ! पुरु, द्रुह्यु, अनु, यदु और तुर्वसु के वंशो को हम लोग तत्त्वपूर्वक पृथक्-पृथक् सुनना चाहते हैं ।।१।।

लोमहर्षण बोले—मुनिश्रेष्ठो ! पहले आप पुरुवंश का क्रमशः विस्तृत वर्णन सुनिये, मैं कह रहा हूँ ।।२।। पुरु के सुवीर नामक पुत्र हुआ। उसका पुत्र मनस्यु और मनस्यु का पुत्र अभयद नामक राजा हुआ।।३।। उसी तरह अभयद का पुत्र सुधन्वा नाम का राजा हुआ । सुधन्वा का पुत्र सुबाहु और उसका पुत्र रौद्राश्व था।।४।। रौद्राश्व के दशार्णेयु, कृकणेयु, कक्षेयु, स्थण्डिलेयु, सन्नतेयु, ऋचेयु, जलेयु, महाबली स्थलेयु, धनेयु, वनेयु—ये दस पुत्र थे। उसी कन्याएँ भी दस थीं—।।५-६।। भद्रा, शूला, मद्रा, शलदा, मलदा, खलदा, नलदा, सुरसा, गोचपला और स्त्रीरत्नकूटा ।।७½।। अत्रि-वंश में उत्पन्न प्रभाकर नामक ऋषि इनका पति था।।८।। भद्रा से यशस्वी सोम की उत्पत्ति हुई। राहु ने जब सूर्य को ग्रस लिया और सूर्य आकाश से पृथ्वी पर गिरने लगे तब प्रभाकर ने ही अँधेरे से युक्त लोक में प्रकाश डाला और

---

[1] ख. ०नस्यस्त०। [2] ख. ०नस्यस्याभ०। [3] ख. ०न्वा च महीपतिः। सु०। [4] ख. दशार्णायुः। ग. दशार्नेयुः। [5] क. ०कणायु०। [6] ख. सनुते। [7] ख. महायशाः। [8] क. ग. वननित्यो। [9] क. धनेयुश्च। [10] ग: रुद्रा। [11] ख. ० था। शलावलात०। [12] क. रालदा। [13] क. ख. वरदा। [14] ग. रुद्रायां।

स्वस्ति तेऽस्त्विति चोक्त्वा वै पतमानो दिवाकरः ॥१०॥
तमोऽभिभूते लोके च प्रभा येन प्रवर्त्तिता । अत्रिश्रेष्ठानि गोत्राणि यश्चकार महातपाः ॥११॥
वचनात्तस्य विप्रर्षेर्न पपात दिवो महीम् । स तासु जनयामास पुत्रिकास्वात्मकामजान्[२] ॥१२॥
[१]यज्ञेष्वत्रेर्बलञ्चैव देवैर्यस्य प्रतिष्ठितम् । ते तु गोत्रकरा विप्रा ऋषयो वेदपारगाः ॥१३॥
दश पुत्रान् महासत्त्वांस्तपस्युग्रे रतांस्तथा[३] । कक्षेयोस्तनयास्त्वासंस्त्रय[४] एव महारथाः ॥१४॥
स्वस्त्यात्रेय इति ख्याताः किञ्च त्रिधनवर्जिताः । सभानरस्य पुत्रस्तु विद्वान् कालानलो नृपः ॥१५॥
सभानरश्चाक्षुषश्च [५]परमन्युस्तथैव च । सृञ्जयस्याभवत् पुत्रो वीरो राजा पुरञ्जयः ॥१६॥
कालानलस्य धर्म्मज्ञः सृञ्जयो नाम वै सुतः । जनमेजयस्य राजर्षेर्महाशालोऽभवत् सुतः ॥१७॥
[६]जनमेजयो मुनिश्रेष्ठाः पुरञ्जयसुतोऽभवत् । महामना[७] नाम सुतो महाशालस्य विश्रुतः[८] ॥१८॥
देवेषु स परिज्ञातः प्रतिष्ठितयशा भुवि । महामनास्तु पुत्रौ द्वौ जनयामास भो द्विजाः ॥१९॥
जज्ञे वीरः सुरगणैः पूजितः सुमहामनाः । उशीनरस्य पत्न्यस्तु पञ्च राजर्षिवंशजाः ॥२०॥
उशीनरञ्च धर्म्मज्ञं तितिक्षुञ्च महाबलम् । उशीनरस्य पुत्रास्तु पञ्च तासु कुलोद्वहाः ॥२१॥
नृगा कृमिर्नवा दर्व्वा[९] पञ्चमी च वृषद्वती । नृगायास्तु नृगः पुत्रः कृम्यां[१०] कृमिरजायत ॥२२॥
तपसा चैव महता जाता वृद्धस्य चात्मजाः । वृषद्वत्यास्तु सञ्जज्ञे शिविरौशीनरो नृपः ॥२३॥
नवायास्तु नवः पुत्रो दर्व्वायाः[११] सुव्रतोऽभवत् ।

सूर्य से कहा—'तुम्हारा कल्याण हो' ॥९-१०॥ उस विप्रर्षि के वचन से सूर्य पृथ्वी पर नहीं गिरे। उसी तपस्वी ने अत्रि के आत्रेय नाम से विख्यात गोत्रों को बढ़ाया और यज्ञों में देवताओं के साथ अत्रि को भाग दिलवाया ॥११½॥ उसने उन कन्याओं से महासत्त्वशाली और तपस्या में निरत दस पुत्रों को उत्पन्न किया। वे पुत्र वेदपारंगत, स्वस्त्यात्रेय नाम से विख्यात, तीन प्रकार के धनों से वर्जित और गोत्रवर्धक हुए ॥१२-१३½॥ कक्षेयु के तीन ही महारथी पुत्र थे—सभानर, चाक्षुष और परमन्यु। सभानर का पुत्र कालानल विद्वान् तथा राजा था ॥१४-१५॥ कालानल का सृञ्जय नामक पुत्र धर्मज्ञ था। सृञ्जय का पुत्र पुरंजय वीर राजा हुआ ॥१६॥ मुनिवर ! पुरंजय के जनमेजय नामक पुत्र हुआ। राजर्षि जनमेजय के महाशाल नामक पुत्र हुआ ॥१७॥ वह देवताओं में विख्यात और संसार में महायशस्वी हुआ। महाशाल के महामना नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो देवताओं से पूजित तथा महावीर था ॥१८½॥ विप्रवृन्द ! महामना ने दो पुत्र उत्पन्न किये—धर्मज्ञ उशीनर और महाबली तितिक्षु। उशीनर की राजर्षि-वंश में समुत्पन्न पाँच पत्नियाँ थी—॥१९-२०॥ नृगा, कृमि, नवा, दर्वा और दृषद्वती। उशीनर ने उनसे वंश को धारण करने वाले पाँच पुत्र उत्पन्न किये ॥२१॥ बड़ी तपस्या करने के बाद वृद्ध उशीनर के ये पाँचों पुत्र उत्पन्न हुए थे। नृगा से नृग, कृमि से कृमि, नवा से नव और दर्वा से सुव्रत उत्पन्न हुए ॥२२½॥ दृषद्वती से शिवि नामक औशीनर राजा की उत्पत्ति हुई। शिवि के शिवि नामक और नृग के यौधेय

१क. यज्ञे ह्यत्रेर्धनं चै०। २क. त्मजान्स्वकान्। ३क. ०था। पृथुगो०। ४क. ०याश्चासंस्ते त्रयश्च म०। ५ग. ०मनुस्त०। ६ख. जन्मेज०। ७ ०मनाः सुतो जज्ञे म०। ८क. ख. धार्मिकः। ९ग. दर्घा। १०ख. कृम्याः। ११ग. दर्घायाः।

शिवेस्तु शिबयो विप्रा यौधेयास्तु नृगस्य ह । नवस्य[१]नवराष्ट्रन्तु कृमेस्तु [२]कृमिला पुरी ॥२४॥
सुव्रतस्य [३]तथाम्बष्ठाः शिबिपुत्रान्निबोधत । शिबेस्तु शिबयः पुत्राश्चत्वारो लोकविश्रुताः ॥२५॥
वृषदर्भः[४] सुवीरश्च केकयो मद्रकस्तथा । तेषां जनपदाः स्फीताः केकया मद्रकास्तथा ॥२६॥
वृषदर्भाः[५] सुवीराश्च तितिक्षोस्तु प्रजास्त्विमाः[६] । तितिक्षुरभवद्राजा पूर्व्वस्यां दिशि भो द्विजाः ॥२७॥
उषद्रथो महावीर्य्यः[७] फेनस्तस्य सुतोऽभवत् । फेनस्य[८] सुतपा जज्ञे ततः सुतपसो [९]बलिः ॥२८॥
जातो मानुषयोनौ तु स राजा काञ्चनेषुधिः । महायोगी स तु बलिर्बभूव नृपतिः पुरा ॥२९॥
पुत्रानुत्पादयामास पञ्च वंशकरान् भुवि । अङ्गः प्रथमतो जज्ञे बङ्गः सुह्मस्तथैव च ॥३०॥
पुण्ड्रः कलिङ्गश्च तथा बालेयं[१०] क्षत्रमुच्यते । बालेया ब्राह्मणाश्चैव तस्य वंशकरा[११] भुवि ॥३१॥
बलेश्च ब्रह्मणा दत्तो वरः प्रीतेन भो द्विजाः । महायोगित्वमायुश्च कल्पस्य परिमाणतः ॥३२॥
[१२]बले चाप्रतिमत्वं वै धर्म्मतत्त्वार्थदर्शनम् । संग्रामे चाप्यजेयत्वं धर्म्मे चैव प्रधानताम् ॥३३॥
त्रैलोक्यदर्शनञ्चापि प्राधान्यं[१३] प्रसवे तथा । चतुरो नियतान् वर्णांस्त्वञ्च स्थापयितेति च ॥३४॥
इत्युक्तो विभुना राजा बलिः शान्तिं परां ययौ । कालेन महता विप्राः[१४]स्वञ्च स्थानमुपागमत्॥३५॥

नामक पुत्र उत्पन्न हुए । नव का राष्ट्र नव नामक था और कृमि की राजधानी कृमिला पुरी नाम से विख्यात थी ॥२३-२४॥ सुव्रत के अम्बष्ठ नाम से ख्यात पुत्र हुए । अब शिबि के पुत्रों के नाम सुनिये । शिबि के शिबि संज्ञा वाले चार पुत्र लोक में प्रसिद्ध हैं ॥२५॥ जिनका नाम वृषदर्भ, सुवीर, केकय और मद्रक है । उनके धन-धान्य-सम्पन्न देश केकय, मद्रक, वृषदर्भ और सुवीर नाम से प्रसिद्ध हैं । ये प्रजाएँ तितिक्षु की हैं ॥२६१/२॥ विप्रवृन्द ! तितिक्षु पूर्व दिशा का राजा हुआ । उसका पुत्र महाशक्तिशाली उषद्रथ हुआ । उषद्रथ के फेन नामक पुत्र हुआ । फेन के सुतपसा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और सुतपसा से बलि की उत्पत्ति हुई ॥२७-२८॥ सुवर्ण का तरकश धारण करने वाला राजा बलि मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुआ । वह राजा बलि महायोगी था ॥२९॥ उसने अंग, बंग, सुह्म, पुण्ड्र और कलिग नामक वश को बढ़ानेवाले पाँच पुत्रों को उत्पन्न किया । यह प्रसिद्ध क्षत्रियवंश बालेय नाम से कहा जाता है। बलि के वंश में बालेय नाम से ख्यात ब्राह्मण भी पुत्र हुए ॥३०-३१॥ द्विजगण ! ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर बलि को वरदान दिया—'राजन् ! तुम महायोगी होगे, एक कल्प की तुम्हारी आयु होगी ॥३२॥ बल में तुम्हारे समान कोई नहीं होगा, तुम धर्म के तत्त्व को जानने वाले होगे, युद्ध में तुम्हें कोई नही जीत सकेगा, धर्म में तुम्हारी प्रधानता रहेगी ॥३३॥ तुम तीनों लोक के दर्शन करोगे । तुम्हारे पुत्रों की ख्याति बढ़ेगी और तुम चारों वर्णों की स्थापना करोगे'॥३४॥ इस प्रकार ब्रह्मा के कहने पर राजा बलि परम शान्ति को प्राप्त हुआ । विप्रवृन्द ! चिरकाल के बाद राजा अपने स्थान पर आया ॥३५॥ उसके पुत्रों के देश अंग, बंग, सुह्म, कलिंग और

१क. ०राष्ट्रास्तु कृ० । २क. कृमिभा । ३ख. ०था त्वष्टा शि० । ४क. वृकदर्भः । ५क. वृकदर्भाः । ६ख. ०माः । तैति० । ग. ०माः । तैतिक्षवोऽभ० । ७क. ०र्यः शालस्त० । ८क. शालस्य । ९ग. बली १०ग. वालेयं । ११ क. शसमुद्भवाः । ब० । १२ क. बलं चाप्रतिमं तस्य तथा धर्मार्थचिन्तनम् । १३कः ०न्यं सर्वतस्तथा । १४ख. विप्रा वर्जस्था० ।

तेषां जनपदाः पञ्च अङ्गा वङ्गाः[1] ससुह्मकाः। कलिङ्गाः पुण्ड्रकाश्चैव प्रजास्त्वङ्गस्य साम्प्रतम् ॥३६॥
अङ्गपुत्रो महानासीद्राजेन्द्रो दधिवाहनः। दधिवाहनपुत्रस्तु राजा दिविरथोऽभवत् ॥३७॥
पुत्रो दिविरथस्यासीच्छक्रतुल्यपराक्रमः। विद्वान् धर्म्मरथो[2] नाम तस्य [3]चित्ररथः सुतः ॥३८॥
तेन धर्म्मरथेनाथ तदा कालञ्जरे गिरौ। यजता सह शक्रेण सोमः पीतो महात्मना ॥३९॥
अथ[4] चित्ररथस्यापि पुत्रो दशरथोऽभवत्। लोमपाद इति ख्यातो यस्य शान्ता सुताभवत् ॥४०॥
तस्य दाशरथिर्वीरश्चतुरङ्गो महायशाः ऋष्यशृङ्गप्रसादेन जज्ञे वंशविवर्द्धनः ॥४१॥
चतुरङ्गस्य पुत्रस्तु पृथुलाक्ष इति स्मृतः। पृथुलाक्षसुतो राजा चम्पो नाम महायशाः ॥४२॥
चम्पस्य तु पुरी चम्पा या मालिन्यभवत् पुरा। पूर्णभद्रप्रसादेन [5]हर्य्यङ्गोऽस्य सुतोऽभवत् ॥४३॥
ततो वैभाण्डकिस्तस्य वारणं शक्रवारणम्। अवतारयामास महीं मन्त्रैर्वाहनमुत्तमम् ॥४४॥
[6]हर्य्यङ्गस्य[7] सुतस्तत्र राजा भद्ररथः स्मृतः। पुत्रो भद्ररथस्यासीद्बृहत्कर्म्मा प्रजेश्वरः ॥४५॥
बृहद्दर्भः सुतस्तस्य यस्माज्जज्ञे बृहन्मनाः। बृहन्मनास्तु राजेन्द्रो जनयामास वै सुतम् ॥४६॥
नाम्ना जयद्रथं नाम यस्माद्दृढरथो नृपः। आसीद्दृढरथस्यापि विश्वजिज्जनमेजयी ॥४७॥
दायादस्तस्य वैकर्णो विकर्णस्तस्य चात्मजः। तस्य पुत्रशतं त्वासीदङ्गानां कुलवर्द्धनम् ॥४८॥
एतेऽङ्गवंशजाः सर्व्वे राजानः कीर्त्तिता मया। सत्यव्रता महात्मानः प्रजावन्तो महारथाः ॥४९॥

पुण्ड्रक नाम से विख्यात हैं। अब अंग की संतान का वर्णन सुनिये ॥३६॥ अंग का पुत्र महान् राजा दधिवाहन था। दधिवाहन का पुत्र राजा दिविरथ हुआ ॥३७॥ दिविरथ का पुत्र इन्द्र के तुल्य पराक्रमी था। उसका पुत्र विद्वान् धर्मरथ था। धर्मरथ का पुत्र चित्ररथ था ॥३८॥ कालंजर नामक पहाड़ पर इन्द्र के साथ यज्ञ करते हुए धर्मरथ ने सोम (अमृत) का पान किया ॥३९॥ चित्ररथ का पुत्र दशरथ हुआ, जिसकी ख्याति लोमपाद नाम से थी, और जिसके शान्ता नामक कन्या हुई ॥४०॥ ऋष्यशृंग मुनि की कृपा से दशरथ के चतुरंग नामक महायशस्वी और वंश-वर्धक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४१॥ चतुरंग के पृथुलाक्ष नामक पुत्र हुआ। पृथुलाक्ष का पुत्र महायशस्वी चम्प हुआ ॥४२॥ चम्प ने मालिनी पुरी का नाम चम्पा रख दिया। पूर्णभद्र मुनि की कृपा से चम्प के हर्यंग नामक पुत्र हुआ ॥४३॥ उसी के समय वैभाण्डकि (ऋष्यशृंग मुनि) ने मन्त्रों के बल से इन्द्र के ऐरावत नामक हाथी को पृथ्वी पर उतारा था ॥४४॥ हर्यंग का पुत्र राजा भद्ररथ हुआ। भद्ररथ का पुत्र प्रजाओं का स्वामी बृहत्कर्मा था ॥४५॥ बृहत्कर्मा का पुत्र बृहद्दर्भ और उसका पुत्र बृहन्मना था। राजेन्द्र बृहन्मना ने जयद्रथ नामक पुत्र को उत्पन्न किया, जिससे दृढ़रथ नामक राजा उत्पन्न हुआ ॥४६½॥ दृढ़रथ के पुत्र विश्वजित् का नाम सुनकर लोग काँपते थे। उसका पुत्र वैकर्ण और वैकर्ण का पुत्र विकर्ण था। उसके सौ पुत्र थे, जो अंग-वंश को बढ़ाने वाले हुए ॥४७-४८॥ अंग-वंश में उत्पन्न सत्यव्रती, महात्मा, प्रजावान्

---

[1] ख. वंगाश्च सु०। [2] क. ०रतो ना०। [3] क. धर्मरथः। [4] क. ०थ धर्मर०। [5] क. ० र्यश्वोऽस्य। [6] ० र्यश्वस्य। [7] क. ग. ० स्य सुतः कर्णो।

ऋचेयोस्तु मुनिश्रेष्ठा रौद्राश्वतनयस्य वै । शृणुध्वं सम्प्रवक्ष्यामि वंशं राज्ञस्तु भो द्विजाः ॥५०॥
ऋचेयोस्तनयो राजा मतिनारो महीपतिः । मतिनारसुतास्त्वासंस्त्रयः परधार्म्मिकाः ॥५१॥
वसुरोधः[1] प्रतिरथः[2] सुबाहुश्चैव धार्म्मिकः । सर्व्वे[3] वेदविदश्चैव ब्रह्मण्याः[4] सत्यवादिनः ॥५२॥
इला नाम तु यस्यासीत् कन्या वै मुनिसत्तमाः । ब्रह्मवादिन्यधिस्त्री सा तंसुस्तामभ्यगच्छत ॥५३॥
तंसोः सुतोऽथ राजर्षिर्धर्म्मनेत्रः प्रतापवान् । ब्रह्मवादी पराक्रान्तस्तस्य भार्य्योपदानवी ॥५४॥
उपदानवी ततः पुत्रांश्चतुरोऽजनयच्छुभान् । [5]दुष्यन्तमथ [6]सुष्मन्तं प्रवीरमनघं तथा ॥५५॥
दुष्यन्तस्य[7] तु दायादो भरतो नाम वीर्य्यवान् । स सर्व्वदमनो नाम नागायुतबलो महान् ॥५६॥
चक्रवर्ती सुतो जज्ञे दुष्यन्तस्य[8] महात्मनः । शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना तु भारताः[9] ॥५७॥
भरतस्य विनष्टेषु तनयेषु महीपतेः । मातृणां तु प्रकोपेण मया[10] तत्कथितं पुरा ॥५८॥
बृहस्पतेरङ्गिरसः पुत्रो विप्रो महामुनिः । अयाजयद्भरद्वाजो महद्भिः क्रतुभिर्विभुः[11] ॥५९॥
पूर्व्वं तु वितथे तस्य कृते वै पुत्रजन्मनि । ततोऽथ वितथो नाम [12]भरद्वाजात्सुतोऽभवत् ॥६०॥
तथोऽथ वितथे जाते भरतस्तु दिवं ययौ । वितथं चाभिषिच्याथ भरद्वाजो वनं ययौ ॥६१॥
स चापि वितथः पुत्रान् जनयामास पञ्च वै । सुहोत्रञ्च सुहोतारं गयं [13]गर्गं तथैव च ॥६२॥

और महारथी राजाओं का वर्णन मैंने कर दिया ॥४९॥ मुनिवर ! अब मैं रौद्राश्व-पुत्र ऋचेयु का वंश वर्णन करूँगा, सुनिये ॥५०॥ ऋचेयु का पुत्र राजा मतिनार हुआ । मतिनार के तीन परम धर्मात्मा पुत्र थे—वसुरोध, प्रतिरथ और सुबाहु ॥५१½॥ सब वेदवेत्ता, ब्रह्मवादी और सत्यवादी थे ॥५२॥ मुनिश्रेष्ठो ! मतिनार की कन्या का नाम इला था, जो ब्रह्मवादिनी थी । तंसु ने उससे विवाह किया ॥५३॥ तंसु का पुत्र राजर्षि, प्रतापी, ब्रह्मवादी और पराक्रमी धर्मनेत्र था । धर्मनेत्र की पत्नी उपदानवी थी ॥५४॥ उपदानवी ने उसके संयोग से दुष्यन्त, सुष्मन्त, प्रवीर और अनघ नामक चार पवित्र पुत्रों को उत्पन्न किया ॥५५॥ दुष्यन्त के भरत नामक शक्तिशाली पुत्र हुआ । महात्मा दुष्यन्त का वह भरत नामक पुत्र, जो सब जीवों का दमन करनेवाला, दस हजार हाथियों के बल को धारण करनेवाला और चक्रवर्ती राजा था , शकुन्तला से उत्पन्न हुआ, जिसके नाम से इस वंश में सब भारत कहलाते हैं ॥५६-५७॥ माताओं के कोप से, जैसा कि पहले मैं बतला चुका हूँ, राजा भरत के सब पुत्रों के नष्ट हो जाने पर बृहस्पति के पुत्र महामुनि भरद्वाज ने भरत से बड़े-बड़े यज्ञ कराये ॥५८-५९॥ पहले तो पुत्र का जन्म वितथ (असत्य) हुआ अर्थात् नहीं हुआ । परन्तु बाद में भरद्वाज के नियोग से वितथ नामक पुत्र हुआ ॥६०॥ वितथ के जन्म होने के बाद भरत दिवंगत हो गया । तो भरद्वाज ने वितथ का राज्याभिषेक कर वन-गमन किया ॥६१॥ वितथ ने भी सुहोत्र, सुहोतार, गय, गर्ग और महात्मा कपिल नामक पाँच पुत्रों को उत्पन्न किया। सुहोत्र

१ख. तसुरोधः । २ख. ०रथो बाहुश्चैव तु धा० । ३क. ०र्वे ब्रह्मवि० । ख. ०र्वे धर्मवि० । ४ख. ब्राह्मणाः । ५ख. दुष्कन्त० । ६ख. पुष्कन्तं । ७ख. दुष्कन्त० । ८क. ख. दुष्कन्त० । ९क. ख. भारतम् । १०क. ०या ते परिकीर्तिताः । बृ० । ११क. ०र्विभुम् । पू० । १२क. ख. ०द्वाजसुतो ऽ० । १३क. तर्जं । ग. गङ्गं ।

कपिलञ्च महात्मानं सुहोत्रस्य सुतद्वयम् । [1]काशिकञ्च महासत्यं तथा [2]गृत्समतिं नृपम् ॥६३॥
तथा गृत्समतेः[3] पुत्रा ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः । [4]काशिकस्य तु काशेयः पुत्रो दीर्घतपास्तथा ॥६४॥
बभूव दीर्घतपसो विद्वान् धन्वन्तरिः सुतः । धन्वन्तरेस्तु तनयः केतुमानिति विश्रुतः ॥६५॥
[5]तथा केतुमतः पुत्रो विद्वान् भीमरथः स्मृतः । पुत्रो भीमरथस्यापि वाराणस्यधिपोऽभवत् ॥६६॥
दिवोदास इति ख्यातः[6] [7]सर्व्वशत्रुप्रणाशनः । दिवोदासस्य [8]पुत्रस्तु[9] वीरो राजा प्रतर्दनः ॥६७॥
प्रतर्दनस्य पुत्रौ द्वौ वत्सो[10] भार्गव एव च । अलर्को राजपुत्रस्तु राजा सन्मतिमान्[11] भुवि ॥६८॥
हैहयस्य तु [12]दायाद्यं[13] आजह्रे षष्टि ११ जह्नुः महासत्रं जह्नुरप्यब्रवीद् गङ्गां जह्नुरावहत् ॥६९॥
भद्रश्रेण्यस्य पुत्रेण दुर्दमेन महात्मना । दिवोदासेन बालेति घृणयासौ विसर्ज्जितः ॥७०॥
अष्टारथो नाम नृपः सुतो भीमरथस्य वै । तेन पुत्रेण बालस्य प्रहृतं तस्य भो द्विजाः ॥७१॥
वैरस्यान्तं मुनिश्रेष्ठाः क्षत्रियेण विधित्सता । अलर्कः काशिराजस्तु ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥७२॥
षष्टिं वर्षसहस्राणि षष्टिं वर्षशतानि च । युवा रूपेण सम्पन्न आसीत्काशिकुलोद्वहः ॥७३॥
लोपामुद्राप्रसादेन परमायुरवाप[14] सः । वयसोऽन्ते मुनिश्रेष्ठा हत्वा क्षेमकराक्षसम् ॥७४॥
रम्यां निवेशयामास पुरीं वराणसीं नृपः[15] । अलर्कस्य तु दायादः क्षेमको नाम पार्थिवः ॥७५॥
क्षेमकस्य तु[16] पुत्रो वै [17]वर्षकेतुस्ततोऽभवत् । वर्षकेतोश्च दायादो विभुर्नाम प्रजेश्वरः ॥७६॥

के दो पुत्र हुए—सत्यवादी काशिक और राजा गृत्समति ॥६१-६३॥ गृत्समति के पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हुए। काशिक के दीर्घतपा नामक पुत्र हुआ ॥६४॥ दीर्घतपा के विद्वान् धन्वन्तरि पुत्र हुआ। धन्वन्तरि का पुत्र केतुमान् नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥६५॥ केतुमान् का पुत्र भीमरथ हुआ। भीमरथ का पुत्र वाराणसी का स्वामी हुआ, जो दिवोदास नाम से प्रख्यात और सब शत्रुओं का विनाशक था ॥६६½॥ दिवोदास का पुत्र राजा प्रतर्दन था। प्रतर्दन के दो पुत्र थे—वत्स और भार्गव ॥६७½॥ वत्स का पुत्र अलर्क बहुत बुद्धिमान् राजा हुआ। राजा (दिवोदास) ने हैहय की पैतृक-संपत्ति छीन ली ॥६८½॥ भद्रश्रेण्य के दुर्दम नाम से ख्यात पुत्र ने, जिसको दिवोदास ने बालक जानकर दयावश छोड़ दिया था, दिवोदास से बलपूर्वक हरण किये गये अपने पितृ-धन पर फिर अधिकार कर लिया ॥६९-७०॥ भीमरथ के पुत्र का नाम अष्टारथ भी था। उसके पुत्र प्रतर्दन ने शत्रु का नाश करते हुए फिर अपना पैतृक-धन प्राप्त कर लिया ॥७१½॥ काशिराज अलर्क, जो ब्रह्मवादी तथा सत्यवादी था, छाछठ हजार वर्ष तक युवक ही बना रहा ॥७२-७३॥ लोपामुद्रा की कृपा से उसने परमायु प्राप्त की थी। मुनिवर! आयु के अन्तिम भाग में प्रतर्दन ने क्षेमक नामक राक्षस को मारकर रमणीय काशीपुरी को फिर से बसाया ॥७४½॥ अलर्क का पुत्र क्षेमक नामक राजा हुआ। क्षेमक का पुत्र वर्षकेतु हुआ। वर्षकेतु का पुत्र विभु नामक प्रजापति

१क. कौशिकं। २क. मृगमतिं। ३क. मृगमतेः। ४क. कौशिकस्य। ५. क. ख. अथ। ६. ख्यातो रोगदुष्टनिबर्हणः। दि०। ७ख. ०र्वक्षात्र०। ८ख. पुत्रोऽभूद्वीरो। ९क. ०स्तु सत्यवादी प्र०। १०ख. वसो। ११ख. ०मानपि। है०। १२क.ख. दायादो। १३ग. ०द्यं कृत०। १४क. ०वाप्तवान्। व०। १५क. पुनः। १६क. तु दायादो व०। १७क. ०तुर्महीपतिः व०।

आनर्त्तस्तु विभोः पुत्रः सुकुमारस्ततोऽभवत् । सुकुमारस्य पुत्रस्तु सत्यकेतुर्महारथः ॥७७॥
सुतोऽभवन्महातेजा राजा परमधार्म्मिकः । वत्सस्य वत्सभूमिस्तु भर्गभूमिस्तु[1] भार्गवात् ॥७८॥
एते त्वङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च मुनिसत्तमाः ॥७९॥
आजमीढोऽपरो वंशः श्रूयतां द्विजसत्तमाः । सुहोत्रस्य बृहत्पुत्रो बृहतस्तनयास्त्रयः[2] ॥८०॥
अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च वीर्य्यवान् । अजमीढस्य पत्न्यस्तु तिस्रो[3] वै यशसान्विताः ॥८१॥
नीली[4] च केशिनी चैव धूमिनी च वराङ्गनाः । अजमीढस्य[5] केशिन्यां जज्ञे जह्नुः प्रतापवान् ॥८२॥
आजह्रे यो महासत्रं [6]सर्व्वमेधमखं विभुम् । पतिलोभेन यं गङ्गा विनीतेव ससार ह ॥८३॥
नेच्छतः प्लावयामास तस्य गङ्गा च तत्सदः । तत्तया प्लावितं दृष्ट्वा यज्ञवाटं समन्ततः ॥८४॥
जह्नुरप्यब्रवीद् गङ्गां क्रुद्धो विप्रास्तदा नृपः । एष ते त्रिषु लोकेषु संक्षिप्यापः पिबाम्यहम् ॥८५॥
[7]अस्य गङ्गेऽवलेपस्य सद्यः फलमवाप्नुहि । ततः पीतां महात्मानो दृष्ट्वा गङ्गां महर्षयः ॥८६॥
उपनिन्युर्महाभागा दुहितृत्वेन जाह्नवीम् । युवनाश्वस्य पुत्रीं तु कावेरीं जह्नुरावहत् ॥८७॥
गङ्गाशापेन देहार्द्धं[8] यस्याः पश्चान्नदीकृतम्[9] । जह्नोस्तु दयितः पुत्रो अजको नाम वीर्य्यवान् ॥
अजकस्य तु दायादो बलाकाश्वो महीपतिः ॥८८॥
बभूव मृगयाशीलः कुशिकस्तस्य चात्मजः । पह्लवैः सह संवृद्धो राजा वनचरैः सह ॥८९॥

हुआ ॥७५-७६॥ विभु का पुत्र आनर्त और उसका पुत्र सुकुमार हुआ । सुकुमार का पुत्र महारथी, महातेजस्वी और परमधर्मात्मा राजा सत्यकेतु हुआ ॥७७॥ वत्सभूमि से वत्स और भार्गव से भर्गभूमि उत्पन्न हुआ ॥७८॥ मुनिश्रेष्ठो ! भार्गव-वंश में ये सब अंगिरा के पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हुए ॥७९॥ द्विजश्रेष्ठो ! अब आजमीढ़ नामक दूसरे वंश के विषय में आप लोग सुनिये । सुहोत्र के बृहत् नामक पुत्र हुआ । बृहत् के तीन पुत्र थे—अजमीढ, द्विमीढ और शक्तिसम्पन्न पुरुमीढ ॥८०१/३॥ अजमीढ की तीन यशस्विनी एवं सुन्दरी पत्नियाँ थीं—नीली, केशिनी और धूमिनी ॥८१½ केशिनी से प्रतापी जह्नु उत्पन्न हुआ, जिसने सर्वमेध नामक महायज्ञ किया, और जिसके पास पति के लोभ से (अर्थात् स्वामी बनाने के लिए) गंगा मानो विनीत होकर गयी थीं ॥८२-८३॥ गंगा को पत्नी रूप में न स्वीकार करने पर गंगा ने जह्नु के यज्ञ-स्थल को डुबो दिया । विप्रवृन्द ! चारों तरफ से यज्ञ-स्थल को जलमग्न देखकर जह्नु ने गंगा से कहा—'अभी मैं तीनों लोकों में तेरे जल को कम करके पी जाता हूँ । गंगे ! तू अपने इस कर्म का तत्काल फल पा ले ।' तदुपरान्त महात्मा महर्षियों ने पियी हुई गंगा को देखकर उसको जह्नु की पुत्री बना दिया । जह्नु ने युवनाश्व की पुत्री कावेरी से विवाह किया, जिसका आधा शरीर गंगा के शाप से नदी बन गया था । जह्नु के अजक नामक शक्ति-संपन्न पुत्र हुआ । अजक का पुत्र राजा बलाकाश्व शिकार खेलने में आसक्त था । उसका पुत्र राजा कुशिक हुआ, जो पह्लव संज्ञक वनचरों के साथ पाला-पोसा गया था ॥८४-८९॥ कुशिक ने इन्द्र के समान पराक्रमी पुत्र को प्राप्त करने के

१क. ०स्तु च्यवनो नाम भार्गवः । ए० । २क. ०यास्ततः । अ० । ३क. ०स्रो रूपगणान्वि० । ४क. नीलिनी के० । ५क. ०ढस्य पुत्रस्तु जह्नुर्जज्ञे प्र० । ६ग. ०मेव महारथः । प० । ७घ. तस्य । ८क. ०हार्धाद्यस्य प० । ९क. ०कृता । ज० । १०क. निषादैः ।

कुशिकस्तु तपस्तेपे[1] पुत्रमिन्द्रसमं विभुम् । लभेयमिति तं शक्रस्त्रासादभ्येत्य जज्ञिवान् ।।९०।।
स गाधिरभवद्राजा मघवा कौशिकः स्वयम् । विश्वामित्रस्तु गाधेयो[2] विश्वामित्रात्तथाष्टकः ।।९१।।
अष्टकस्य[3] सुतो लौहिः प्रोक्तो जह्नुगणो मया[4] । आजमीढोऽपरो वंशः श्रूयतां मुनिसत्तमाः ।।९२।।
अजमीढात्तु नील्यां[5] वै सुशान्तिरुदपद्यत । पुरुजातिः[6] सुशान्तश्च [7]बाह्याश्वः[8] पुरुजातितः ।।९३।।
[9]बाह्याश्वतनयाः [10]पञ्च स्फीता जनपदावृताः । मुद्गलः सृञ्जयश्चैव राजा बृहद्दिषुस्तथा ।।९४।।
यवीनरश्च विक्रान्तः क्रुमिलाश्वश्च पञ्चमः । पञ्चैते रक्षणायालं देशानामिति विश्रुताः ।।९५।।
पञ्चानां ते तु पञ्चालाः स्फीता जनपदावृताः । अलं संरक्षणे तेषां पञ्चाला इति विश्रुताः ।।९६।।
मुद्गलस्य तु दायादो मौद्गल्या सुमहायशाः । इन्द्रसेना यतो गर्भं ब्रध्नश्वं प्रत्यपद्यत ।।९७।।
आसीत् पञ्चजनः पुत्रः सृञ्जयस्य महात्मनः । सुतः पञ्चजनस्यापि सोमदत्तो महीपतिः ।।९८।।
सोमदत्तस्य दायादः सहदेवो महायशाः । सहदेवसुतश्चापि सोमको नाम विश्रुतः ।।९९।।
अजमीढसुतो जातः क्षीणे वंशे तु सोमकः । सोमकस्य सुतो जन्तुर्यस्य पुत्रशतं बभौ ।।१००।।
तेषां यवीयान् पृषतो द्रुपदस्य पिता प्रभुः । आजमीढाः स्मृताश्चैते महात्मास्तु सोमकाः ।।१०१।।
महिषी त्वजमीढस्य धूमिनी पुत्रगृद्धिनी । पतिव्रता महाभागा कुलजा मुनिसत्तमाः ।।१०२।।
सा च पुत्रार्थिनी देवी व्रतचर्य्यसमन्विता । ततो वर्षायुतं तप्त्वा तपः परमदुश्चरम् ।।१०३।।

लिए तपस्या की। इन्द्र डर कर स्वयं उसका पुत्र वन गये और गाधि नाम से प्रख्यात हुए। गाधि के पुत्र विश्वामित्र हुए। विश्वामित्र के अष्टक नामक पुत्र हुआ ।।९०-९१।। अष्टक का पुत्र लौहि नाम से ख्यात हुआ। मुनिश्रेष्ठो ! मैंने जह्नु-गण को वतला दिया। अब अजमीढ का वंश-वर्णन सुनिये ।।९२।। अजमीढ से नीली में सुशान्ति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सुशान्ति से पुरुजाति और पुरुजाति से बाह्याश्व की उत्पत्ति हुई ।।९३।। बाह्याश्व के पाँच पुत्र हुए—मुद्गल, सृञ्जय राजा बृहदिषु, पराक्रमी यवीनर और पाँचवाँ क्रुमिलाश्व ।।९४$\frac{१}{३}$।। ये पाँचों देशों की रक्षा करने में समर्थ थे। उन पाँचों के पञ्चाल देश जनपदों से आवृत तथा समृद्ध थे। उनकी रक्षा करने में समर्थ होने के कारण वे देश पञ्चाल नाम से प्रसिद्ध हुए।।९५-९६।। मुद्गल का पुत्र महायशस्वी मौद्गल्य हुआ, जिससे इन्दसेना ने व्रध्नश्व नामक पुत्र को उत्पन्न किया (?) ।।९७।। महात्मा सृञ्जय का पुत्र पञ्चजन हुआ। पञ्चजन का पुत्र राजा सोमदत्त और उसका पुत्र महायशस्वी सहदेव हुआ ।।९८$\frac{१}{३}$।। सहदेव का पुत्र सोमक नाम से प्रख्यात हुआ। वंश के क्षीण होने पर अजमीढ के सोमक नामक पुत्र हुआ ।।९९।। सोमक के जन्तु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके सौ पुत्र थे ।।९९-१००।। उनमें युवक पृषत के द्रुपद नामक पुत्र हुआ। ये सब महात्मा सोमक के पुत्र अजमीढ-वंश के कहलाये ।।१०१।। मुनिवर ! अजमीढ की धूमिनी नामक पत्नी पतिव्रता, कुलीना और महाभाग्यशालिनी थी ।।१०२।। पुत्र की आकांक्षा से धूमिनी ने व्रत-नियमादि से समन्वित होकर दस हजार वर्षों तक उग्र तपस्या की ।।१०३।। वह

---

[1] क. ०पे रम्यमिन्द्रपदं प्रभुः। ल०। [2] क. यो राजा विश्वरथस्ता। [3] ख. अलर्कस्य। [4] ख. ग. ०या। अज०। [5] क. ख. नीलिन्यां सु०। [6] क. ०जातिसु०। ख. जातिसुशान्ते च बा०। [7] क. वाह्यश्च। [8] ख. ०ह्याश्च पुरुजातिजाः। वाह्याश्च तनयाः पश्च बभूवुरमरोपमाः। म०। [9] क. वाह्यस्य त०। [10] क. ०ञ्च बभूवुरमरोपमाः। म०।

हुत्वाग्निं [1]विधिवत्सा तु [2]पवित्रामितभोजना । अग्निहोत्रकुशेष्वेव सुष्वाप मुनिसत्तमाः ।।१०४।।
धूमिन्या स तया देव्या त्वजमीढः समीयिवान् । ऋक्षं सञ्जनयामास धूम्रवर्णं [3]सुदर्शनम् ।।१०५।।
ऋक्षात् संवरणो जज्ञे कुरुः संवरणात्तथा[4] । यः प्रयागादतिक्रम्य कुरुक्षेत्रं चकार ह ।।१०६।।
पुण्यं च रमणीयं च पुण्यकृद्भिर्निषेवितम् । तस्यान्ववायः सुमहान् यस्य नाम्नाथ कौरवाः ।।१०७।।
कुरोश्च पुत्राश्चत्वारः सुधन्वा सुधनुस्तथा । [5]परीक्षिच्च महाबाहुः प्रवरश्चारिमेजयः ।।१०८।।
परीक्षितस्तु दायादो धार्म्मिको जनमेजयः । श्रुतसेनोऽग्रसेनश्च भीमसेनश्च नामतः ।।१०९।।
एते सर्व्वे महाभागा विक्रान्ताः बलशालिनः । [6]जनमेजयस्य पुत्रस्तु[7] सुरथो मतिमांस्तथा ।।११०।।
सुरथस्य तु विक्रान्तः पुत्रो जज्ञे विदूरथः । विदूरथस्य दायाद ऋक्ष[8] एव महारथः[9] ।।१११।।
द्वितीयस्तु[10] भरद्वाजान्नाम्ना तेनैव विश्रुतः । द्वावृक्षौ सोमवंशेऽस्मिन्[11] द्वावेव च परीक्षितौ ।।११२।।
भीमसेनास्त्रयो विप्रा द्वौ चापि जनमेजयौ । ऋक्षस्य तु द्वितीयस्य भीमसेनोऽभवत्सुतः ।।११३।।
प्रतीपो भीमसेनात्तु प्रतीपस्य तु [12]शान्तनुः । देवापिर्बाह्लिकश्चैव त्रय एव महारथाः ।।११४।।
शान्तनोस्त्वभवद्भीष्मस्तस्मिन् वंशे द्विजोत्तमाः । बाह्लिकस्य तु राजर्षेर्व्वंशं शृणुत भो द्विजाः ।।११५।।
बाह्लिकस्य [13]सुतश्चैव सोमदत्तो महायशाः । जज्ञिरे सोमदत्तात्तु[14] भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।।११६।।
उपाध्यायस्तु देवानां देवापिरभवन्मुनिः । [15]च्यवनपुत्रः कृतक इष्ट[16] आसीन्महात्मनः ।।११७।।

अग्नि में हवन करती, पवित्रता से रहती, परिमित भोजन करती और अग्निहोत्र के कुशों पर ही सोती थी । एक समय राजा ने धूमिनी से संगम किया, जिससे सुन्दर धूम्रवर्ण वाला ऋक्ष नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।।१०४-१०५।। ऋक्ष के संवरण नामक पुत्र हुआ और संवरण से कुरु की उत्पत्ति हुई । कुरु ने प्रयाग से जाकर पवित्र, सुन्दर तथा धर्मात्मा व्यक्तियों से सुसेवित कुरुक्षेत्र का निर्माण किया ।।१०६½।। उसके महान् वंश में उत्पन्न लोग कौरव नाम से विख्यात हुए ।।१०७।। कुरु के चार पुत्र थे—सुधन्वा, सुधनु, परीक्षित् और अरिमेजय ।।१०८।। परीक्षित् का धर्मात्मा पुत्र जनमेजय था, किन्तु श्रुतसेन, अग्रसेन और भीमसेन भी (उनके) पुत्र थे ।।१०९।। ये सब बड़े भाग्यवान्, बलवान् तथा पराक्रमी थे । जनमेजय का पुत्र बुद्धिमान् सुरथ था ।।११०।। सुरथ के विदूरथ नामक पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुआ । विदूरथ के महारथी पुत्र का नाम ऋक्ष था ।।१११।। ऋक्ष नाम से ही प्रसिद्ध दूसरा व्यक्ति भरद्वाज से उत्पन्न हुआ था । सोमवंश में दो ऋक्ष और दो परीक्षित् उत्पन्न हुए थे ।।११२।। तीन भीमसेन और दो जनमेजय भी हुए थे । द्वितीय ऋक्ष के भीमसेन नामक पुत्र हुआ ।।११३।। भीमसेन से प्रतीप और प्रतीप से शान्तनु, देवापि और बाह्लिक—ये तीन ही महारथी पुत्र उत्पन्न हुए ।।११४।। विप्रवर ! उस वंश में शान्तनु से भीष्म उत्पन्न हुआ । द्विजगण ! अब राजर्षि बाह्लिक का वंश-वर्णन सुनिये ।।११५।। बाह्लिक का पुत्र महायशस्वी सोमदत्त हुआ । सोमदत्त से भूरि, भूरिश्रवा और शल की उत्पत्ति हुई ।।११६।। मुनि देवापि देवताओं का उपाध्याय हुआ ।

---

[1] क. ०वद्विप्राः प० । [2] क. ०वित्रमि० । [3] ग. सुदर्शनः । [4] क. ख. ०त्ततः । यः । [5] क. परीक्षितो । ग. मरीचिश्च [6] ख. जन्मेज० । [7] ख. पुत्रो ञ भूत्सुर० । ग. पुत्रौ तु सु० । [8] ग. क्षत्र । [9] क. ख. महाबलः । [10] क. ख. ०यस्त्वभवद्राजा नाम्ना । [11] क. स्मिन्विख्यातौ द्विजसत्तमाः । भी० । [12] क. ख. शंतनः [13] क. ०तश्चासीत्सोम० । [14] ग. ०र्त्तु हविर्भूरि । [15] ख. ०वनः पुत्रकृ० । [16] ख. इन्दुश्चाऽऽसीन्महामतिः । शा० ।

शान्तनुस्त्वभवद्राजा कौरवाणां धुरन्धरः । शान्तनोः सम्प्रवक्ष्यामि वंशं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥११८॥
गाङ्गं देवव्रतं नाम पुत्रं सोऽजनयत् प्रभुः । स तु भीष्म इति ख्यातः पाण्डवानां पितामहः ॥११९॥
काली विचित्रवीर्य्यं तु जनयामास भो द्विजाः । शान्तनोर्दयितं पुत्रं धर्म्मात्मानमकल्मषम् ॥१२०॥
कृष्णद्वैपायनाच्चैव क्षेत्रे वैचित्रवीर्य्यके । धृतराष्ट्रं च पाडुं च विदुरं चाप्यजीजनत् ॥१२१॥
धृतराष्ट्रस्तु गान्धार्य्यां पुत्रानुत्पादयच्छतम् । तेषां दुर्य्योधनः श्रेष्ठः [1]सर्व्वेषामपि स प्रभुः ॥१२२॥
पाण्डोर्धनञ्जयः पुत्रः सौभद्रस्तस्य चात्मजः । अभिमन्योः परीक्षित्तु पिता पारीक्षितस्य ह ॥१२३॥
पारीक्षितस्य काश्यायां द्वौ पुत्रौ सम्बभूवतुः । चन्द्रापीडस्तु नृपतिः सूर्य्यापीडश्च [2]मोक्षवित् ॥१२४॥
चन्द्रापीडस्य पुत्राणां शतमुत्तमधन्विनाम् । [3]जानमेजयमित्येवं क्षात्रं[4] भुवि परिश्रुतम् ॥१२५॥
तेषां ज्येष्ठस्तु तत्रासीत् पुरे वाराणसाह्वये । सत्यकर्णो महाबाहुर्यज्वा विपुलदक्षिणः ॥१२६॥
सत्यकर्णस्य दायादः श्वेतकर्णः प्रतापवान् । अपुत्रः स तु धर्म्मात्मा प्रविवेश तपोवनम् ॥१२७॥
तस्माद्वनगता गर्भं यादवी प्रत्यपद्यत । सुचारोर्दुहिता सुभ्रूर्मालिनी ग्राहमालिनी ॥१२८॥
सम्भूते स च गर्भे च श्वेतकर्णः प्रजेश्वरः । अन्वगच्छत् कृतं पूर्व्वं महाप्रस्थानमच्युतम् ॥१२९॥
सा तु दृष्ट्वा प्रियं तं च मालिनी पृष्ठतोऽन्वगात् । सुचारोर्दुहिता साध्वी वने राजीवलोचना ॥१३०॥
पथि सा सुषुवे बाला सुकुमारं कुमारकम् । तमपास्याथ तत्रैव राजानं सान्वगच्छत ॥१३१॥

च्यवन मुनि के कृतक नामक पुत्र के साथ इसकी मित्रता थी ॥११७॥ कौरवों में राजा शान्तनु बड़ा प्रतापी हुआ। उसके त्रैलोक्य में प्रख्यात वंश का वर्णन मैं करूँगा ॥११८॥ उसने देवव्रत नामक पुत्र को गंगा में उत्पन्न किया। देवव्रत पाण्डवों का पितामह भीष्म नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥११९॥ द्विजगण ! काली ने धर्मात्मा, निष्पाप तथा प्रियपुत्र विचित्रवीर्य को शान्तनु से उत्पन्न किया ॥१२०॥ वेदव्यास ने विचित्रवीर्य की पत्नी में धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को उत्पन्न किया ॥१२१॥ धृतराष्ट्र ने गान्धारी में सौ पुत्र उत्पन्न किये। उनमें दुर्योधन सबसे बड़ा था ॥१२२॥ पाण्डु का पुत्र धनंजय (अर्जुन) हुआ और उसका पुत्र सौभद्र (अभिमन्यु)। अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित् और परीक्षित् का पुत्र पारीक्षित (जनमेजय) हुआ ॥१२३॥ पारीक्षित ने काश्या से दो पुत्र उत्पन्न किये—राजा चन्द्रापीड और मोक्षज्ञ सूर्यापीड ॥१२४॥ चन्द्रापीड के उत्तम धनुर्धारी सौ पुत्र हुए, जिनका जनमेजय नाम से प्रसिद्ध क्षत्रियवंश संसार में प्रचलित हुआ ॥१२५॥ उनमें सबसे ज्येष्ठ सत्यकर्ण, जो बहुत दक्षिणा देने वाला, यज्ञ करने वाला और पराक्रमी था, वाराणसी पुरी में वास करता था ॥१२६॥ सत्यकर्ण के श्वेतकर्ण नामक प्रतापी पुत्र हुआ। धर्मात्मा सत्यकर्ण पुत्र की अभिलाषा से तपोवन में पत्नी सहित प्रविष्ट हुआ ॥१२७॥ वन में यदुवंशी सुचारु की मालिनी नामक सुन्दरी कन्या ने उससे गर्भ धारण किया ॥१२८॥ गर्भ प्रकाशित होने पर राजा श्वेतकर्ण स्वर्ग की यात्रा करने लगा ॥१२९॥ मालिनी ने भी पति का अनुगमन किया। वन में (जाती हुई) कमलनयना पतिव्रता मालिनी ने मार्ग में सुकोमल बालक को प्रसव किया ॥१३०$\frac{१}{२}$॥ बालक को वहीं छोड़कर वह महाभागा मालिनी राजा के पीछे-पीछे उसी प्रकार चलने लगी जिस प्रकार पतिव्रता द्रौपदी ने अपने पतियों के

---

[1] क. ख. ०षामेव स। [2] क. मोक्षजित्। [3] क. ख. जान्मेजयं व इत्ये०। [4] क. ख. ०त्त्रं तु वि०।

पतिव्रता महाभागा [१]द्रौपदीव[२] पुरा सती । कुमारः[३] सुमारोऽसौ [४]गिरिपृष्ठे रुरोद ह[५] ॥१३२॥
दयार्थं तस्य मेघास्तु प्रादुरासन्महात्मनः । श्रविष्ठायास्तु पुत्रौ द्वौ [६]पैप्पलादिश्च कौशिकः ॥१३३॥
दृष्ट्वा कृपान्वितौ [७]गृह्य तौ प्राक्षालयतां जले । निघृष्टौ तस्य पार्श्वौ तु शिलायां रुधिरप्लुतौ[८] ॥१३४॥
अजश्यामः[९] स पार्श्वाभ्यां[१०] घृष्टाभ्यां सुसमाहितः । अजश्यामौ तु तत्पार्शौ देवेन सम्बभूवतुः ॥१३५॥
अथाजपार्श्व इति वै चक्राते नाम तस्य तौ । स तु रेमकशालायां द्विजाभ्यामभिवर्द्धितः ॥१३६॥
रेमकस्य तु भार्य्या तमुद्वहत् पुत्रकारणात् । रेमत्याः स तु पुत्रोऽभूद्ब्राह्मणौ सचिवौ तु तौ ॥१३७॥
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च युगपत्तुल्यजीविनः । स एष पौरवो वंशः पाण्डवानां महात्मनाम् ॥१३८॥
श्लोकोऽपि चात्र गीतोऽयं नाहुषेन ययातिना । जरासंक्रमणे पूर्व्वं तदा प्रीतेन धीमता ॥१३९॥
अचन्द्रार्कग्रहा भूमिर्भवेदियमसंशयम् । अपौरवा मही नैव भविष्यति कदाचन ॥१४०॥
एष वः पौरवो वंशो विख्यातः कथितो मया । तुर्व्वसोस्तु प्रवक्ष्यामि द्रुह्योश्चानोर्यदोस्तथा ॥१४१॥
तुर्व्वसोऽस्तु सुतो वह्निर्गोभानुस्तस्य चात्मजः । गोभानोस्तु सुतो राजा ऐशानुरपराजितः ॥१४२॥
करन्धमस्तु ऐशानोर्मरुत्तस्तस्य चात्मजः । अन्यस्त्वाविक्षितो राजा मरुत्तः कथितो मया ॥१४३॥
अनपत्योऽभवद्राजा यज्वा विपुलदक्षिणः । दुहिता संयता नाम तस्यासीत् पृथिवीपतेः ॥१४४॥

पीछे-पीछे स्वर्ग का प्रस्थान किया था ॥१३१½॥ वह सुकोमल बालक पर्वत-पृष्ठ पर रोने लगा । उसके ऊपर दया करने के लिए मेघ वहाँ प्रादुर्भूत हुए ॥१३२½॥ श्रविष्ठा के दो पुत्र थे—पैप्पलादि और कौशिक ॥१३३॥ दोनों व्यक्तियों ने सद्यः प्रसूत बालक को देखकर दया से द्रवित हो उसे जल से धो डाला । बालक के दोनों पार्श्व शिला पर घिस जाने के कारण शोणित से लथ-पथ हो गये ॥१३४॥ पार्श्व के घिस जाने पर दैव संयोग से पार्श्वसहित उसका शरीर बकरे के समान काला पड़ गया ॥१३५॥ इसलिए उन दोनों व्यक्तियों ने उसका नाम 'अजपार्श्व' रख दिया । रेमक मुनि के आश्रम में उन दोनों ब्राह्मणों ने उसका पालन-पोषण किया ॥१३६॥ रेमक की पत्नी ने अपना पुत्र बनाने के लिए उसे पाला । अतः रेमती का वह पुत्र कहलाया और दोनों ब्राह्मण उसके मंत्री बने ॥१३७॥ उनके पुत्र और पौत्र भी एक जैसे जीवन धारण करने वाले हुए । यही महात्मा पाण्डव का पौरव वंश है ॥१३८॥ इस वंश के बारे में वृद्धावस्था से पूर्व नहुष-पुत्र ययाति ने एक गाथा कही थी कि "कदाचित् पृथ्वी सूर्य-चन्द्रमा से रहित हो भी सकती है, पर पौरव वंश से रहित नहीं हो सकती" ॥१३९-१४०॥ यह प्रसिद्ध पौरव वंश मैंने कहा, अब तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और यदु का वंश-वर्णन करूँगा ॥१४१॥ तुर्वसु का पुत्र वह्नि और उसका पुत्र गोभानु हुआ । गोभानु का पुत्र ऐशानु नामक अजेय राजा हुआ ॥१४२॥ ऐशानु का पुत्र करंधम और उसका पुत्र मरुत्त हुआ । दूसरे अविक्षित के पुत्र राजा मरुत्त का वर्णन पहले ही किया चुका है ॥१४३॥ मरुत्त के सन्तान न थी । उसने बड़े-बड़े यज्ञ किये, वहुत-सी दक्षिणा दी । पश्चात् उसके संयता नामक कन्या उत्पन्न हुई, जिसे उसने संवर्त नामक महात्मा

१ग. ०पती च पु० । २ख. ०दी च पुरातनी । कु० । ३ख. कुमारं । ४ख. गिरिकुम्भे । ५क. ह । पार्श्वतस्तस्य । ६ख. ०प्पल्यादि । ७क. ख. तं । ८क. रुधिरोक्षितौ । ९ग. ०श्यामस्य पा० । १०क. ०र्श्वाभ्यामुभाभ्यां ।

दक्षिणार्थं तु सा दत्ता संवर्त्ताय महात्मने । दुष्यन्तं पौरवं चापि लेभे पुत्रमकल्मषम् ॥१४५॥
एवं ययातिशापेन जरासंक्रमणे तदा । पौरवं तुर्व्वसोर्वंशं प्रविवेश द्विजोत्तमाः ॥१४६॥
दुष्यन्तस्य तु दायादः करूरोमः प्रजेश्वरः । [१]करूरोमादथाह्लीदश्चत्वारस्तस्य चात्मजाः ॥१४७॥
पाण्ड्यश्च केरलश्चैव कालश्चोलश्च पार्थिवः । द्रुह्योश्च तनयो राजन् बभ्रुसेतुश्च पार्थिवः ॥१४८॥
अङ्गारसेतुस्तत्पुत्रो मरुतां पतिरुच्यते । यौवनाश्वेन समरे कृच्छ्रेण निहतो बली ॥१४९॥
युद्धं सुमहदप्यासीन्मासान् [२]परिचतुर्दश । अङ्गारसेतोर्दायादो गान्धारो नाम पार्थिवः ॥१५०॥
ख्यायते[३] यस्य नाम्ना वै गान्धारविषयो महान् । गान्धारदेशजाश्चैव तुरगा वाजिनां वराः ॥१५१॥
अनोस्तु पुत्रो [४]धर्म्मोऽभूद्द्युतरतस्यात्मजोऽभवत्[५] । द्युताद्वनदुहो जज्ञे प्रचेतास्तस्य चात्मजः ॥१५२॥
प्रचेतसः सुचेतास्तु कीर्त्तितास्तुर्वसोर्मया । बभूवुस्ते यदोः पुत्राः पञ्च देवसुतोपमाः ॥१५३॥
सहस्रादः पयोदश्च क्रोष्टा[६] नीलोऽञ्जिकस्तथा । सहस्रादस्य दायादास्त्रयः परमधार्म्मिकाः ॥१५४॥
हैहयश्च[७] हयश्चैव राजा वेणुहयस्तथा । हैहयस्याभवत् पुत्रो धर्म्मनेत्र इति श्रुतः॥१५५॥
धर्म्मनेत्रस्य कार्त्तस्तु[८] साहञ्जस्तस्य चात्मजः । साहञ्जनी नाम पुरी तेन राज्ञा निवेशिता ॥१५६॥
आसीन्महिष्मतः पुत्रो भद्रश्रेण्यः प्रतापवान् । भद्रश्रेण्यस्य दायादो दुर्दमो नाम विश्रुतः ॥१५७॥
दुर्दमस्य सुतो धीमान् कनको नाम नामतः । कनकस्य तु दायादाश्चत्वारो लोकविश्रुताः ॥१५८॥
कृतवीर्य्यः कृतौजाश्च कृतधन्वा[९] तथैव च । कृताग्निस्तु[१०] चतुर्थोऽभूत् कृतवीर्य्यादथार्ज्जुनः ॥१५९॥

को दक्षिणा में दे दिया ॥१९४$\frac{१}{२}$॥ संयता से दुष्यन्त नामक पौरव वंशी निष्पाप पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१४५॥ द्विजवर! इस प्रकार वृद्धावस्था में राजा ययाति के शाप से तुर्वसु का वंश पौरव वंश में मिल गया ॥१४६॥ दुष्यन्त का पुत्र करूरोम प्रजाओं का स्वामी हुआ। करूरोम का पुत्र अथाह्लीद और उसके चार पुत्र हुए—पाण्ड्य, केरल, काल और चोल ॥१४७$\frac{१}{२}$॥ द्रुह्यु का पुत्र राजा बभ्रुसेतु हुआ ॥१४८॥ बभ्रुसेतु के अंगारसेतु नामक पुत्र हुआ, जो मरुतों का स्वामी कहा गया है, और जिसे युद्ध में यौवनाश्व ने बड़ी कठिनाई से मारा था ॥१४९॥ चौदह मास तक उन दोनों में घमासान युद्ध हुआ था। अंगारसेतु का पुत्र गान्धार नामक राजा हुआ, जिसके नाम से गान्धार देश प्रसिद्ध है ॥१५०$\frac{१}{२}$॥ गान्धार देश के घोड़े वहुत अच्छे होते हैं। अनु का पुत्र धर्म और उसका पुत्र द्युत हुआ। द्युत से वनदुह उत्पन्न हुआ और उससे प्रचेता ॥१५१-१५२॥ प्रचेता के सुचेता नामक पुत्र हुआ। तुर्वसु का वंश-वर्णन मैंने कर दिया। यदु के देव-पुत्र के समान पाँच पुत्र उत्पन्न हुए—॥१५३॥ सहस्राद, पयोद, क्रोष्टा, नील तथा अञ्जिक। सहस्राद के तीन परम धर्मात्मा पुत्र हुए—हैहय, हय और वेणुहय ॥१५४$\frac{१}{२}$॥ हैहय का पुत्र धर्मनेत्र हुआ ॥१५५॥ धर्मनेत्र का कार्त और उसका साहञ्ज। उस राजा ने साहञ्जनी नामक नगर बसाया ॥१५६॥ महिष्मान् का पुत्र भद्रश्रेण्य प्रतापी था। भद्रश्रेण्य का पुत्र दुर्दम नाम से विख्यात था ॥१५७॥ दुर्दम का विद्वान् पुत्र कनक नाम से प्रसिद्ध था। कनक के लोक-प्रसिद्ध चार पुत्र थे—॥१५८॥ कृतवीर्य, कृतौजा, कृतधन्वा और चौथा कृताग्नि ॥१५९॥

१ग. ०रूषामा०। २क. ०परिचरद्दश। ३ख. ख्यातस्तु। ४ख. ०भूद्घृत०। ५ख. ०त्। घृताच्छतद्रुहो। ६ख. ०ष्टा ऽनिलो ऽ०। ७ख. ०हश्च हैहयश्चै०। ८ग. ०स्तु कार्तपुत्रास्तथा ऽभवन्। कृ०। ९ख. कृतवर्मा। १०क. कृताविनश्चतु०।

योऽसौ बाहुसहस्रेण [1]सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत्। जिगाय पृथिवीमेको रथेनादित्यवर्च्चसा ॥१६०॥
स हि वर्षायुतं तप्त्वा तपः परमदुश्चरम्। दत्तमाराधयामास कार्त्तवीर्य्योऽत्रिसम्भवम् ॥१६१॥
तस्मै दत्तो वरान् प्रादाच्चतुरो भूरितेजसः। पूर्व्वं बाहुसहस्रं तु प्रार्थितं सुमहद्वरम् ॥१६२॥
अधर्म्मेऽधीयमानस्य सद्भिस्तत्र निवारणम्। उग्रेण पृथिवीं [2]जित्वा धर्म्मेणैवानुरञ्जनम् ॥१६३॥
संग्रामान् सुबहून् जित्वा हत्वा चारीन् सहस्रशः। संग्रामे वर्त्तमानस्य वधं चाभ्यधिकाद्रणे ॥१६४॥
तस्य बाहुसहस्रं तु युध्यतः किल[3] भो द्विजाः। योगाद्योगीश्वरस्येव प्रादुर्भवति मायया ॥१६५॥
तनेयं पृथिवी सर्व्वा सप्तद्वीपा सपत्तना। ससमुद्रा सनगरा उग्रेण विधिना जिता ॥१६६॥
तेन सप्तसु द्वीपेषु सप्त यज्ञशतानि वै। प्राप्तानि विधिना राज्ञा श्रूयन्ते मुनिसत्तमाः ॥१६७॥
सर्व्वे यज्ञा मुनिश्रेष्ठाः सहस्रशतदक्षिणाः। सर्व्वे काञ्चनयूपाश्च सर्व्वे काञ्चनवेदयः ॥१६८॥
सर्व्वे देवैर्म्मुनिश्रेष्ठा विमानस्थैरलङ्कृतैः। गन्धर्व्वैरप्सरोभिश्च नित्यमेवोपशोभिताः ॥१६९॥
यस्य यज्ञे जगौ गाथां गन्धर्व्वो नारदस्तथा। [4]वरीदासात्मजो विद्वान्महिम्ना तस्य विस्मितः ॥१७०॥

नारद उवाच

न नूनं कार्तवीर्य्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः। यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च[5] विक्रमेण श्रुतेन च ॥१७१॥
स हि सप्तसु द्वीपेषु चर्म्मी खड्गी शरासनी। रथी द्वीपाननुचरन् योगी संदृश्यते नृभिः ॥१७२॥

कृतवीर्य से अर्जुन की उत्पत्ति हुई, जो हजार भुजाओं के प्रताप से सातों द्वीपो का अधीश्वर बन गया था। उसने सूर्य के समान तेजस्वी रथ से अकेले संपूर्ण पृथ्वी को जीत लिया ॥१६०॥ और उसने दस हजार वर्षों तक कठिन तपस्या करके अत्रि मुनि के पुत्र दत्त को प्रसन्न किया ॥१६१॥ दत्त ने उसे चार अत्यन्त तेजस्वी वरदान दिये। अर्जुन ने प्रार्थना की—'मुझे हजार भुजाएँ हो जायें, सत्पुरुष मुझे अधर्म से बचायें, अपने उग्र कर्त्तव्य से पृथ्वी को जीतकर पश्चात् धर्म से मैं प्रजाओं का अनुरञ्जन करूँ ॥१६२-१६३॥ और बहुत से संग्रामों को जीतकर हजारों शत्रुओं को मार कर युद्ध में अपने से अधिक बलशाली पुरुष के हाथ से मरूँ' ॥१६४॥ द्विजवृन्द ! जिस प्रकार योग-माया के बल से योगीश्वर की चमत्कृत गति हो जाती है उसी प्रकार युद्ध करते समय उसके हजार भुजाएँ प्रकट हो जाती थीं ॥१६५॥ ऐसा सुना जाता है कि उसने अपने उग्र कर्त्तव्य से सातों द्वीप, पर्वत, समुद्र और नगर सहित इस पृथ्वी को जीत लिया और सातों द्वीपों में सात सौ यज्ञ किये ॥१६६-१६७॥ उसने एक-एक लाख दक्षिणा दी थी। सब यज्ञों में सुवर्ण के यज्ञस्तम्भ और सुवर्ण की ही वेदी बनायी गयी थी ॥१६८॥ अलंकृत विमानों पर स्थित सभी देवता, गन्धर्व और अप्सराएँ यज्ञस्थल को सुशोभित करती थीं ॥१६९॥ अर्जुन के यज्ञ में गन्धर्व और वरीदास के पुत्र विद्वान् नारद ने उसकी महिमा से विस्मित होकर गाथा गायी ॥१७०॥

नारद ने कहा—"यज्ञ, दान, तप, पराक्रम और शास्त्र-ज्ञान में कृतवीर्य के पुत्र (अर्जुन) की गति को कोई राजा नहीं प्राप्त कर सकता है ॥१७१॥ ढाल, तलवार, धनुष, बाण को धारण कर और रथ में स्थित हो

१क. ०द्वीपाधिपोऽभ०। २ख. ०त्वा स्वधर्मेणानु०। ३ख. ०ल भारतः। यो०। ४ख. वरदा०। ५ख. भिर्वा वि०।

अनष्टद्रव्यता चैव न शोको न च विभ्रमः । प्रभावेण मया राज्ञः प्रजा धर्म्मेण [१]रक्षतः ॥१७३॥
[२]स सर्व्वरत्नभाक्[३] सम्राट् चक्रवर्ती बभूव ह । स एव पशुपालोऽभूत् क्षेत्रपालः स एव च ॥१७४॥
स एव वृष्ट्या पर्जन्यो योगित्वादर्ज्जुनोऽभवत् । स वै बाहुसहस्रेण ज्याघातकठिनत्वचा ॥१७५॥
भाति रश्मिसहस्रेण शरदीव च भास्करः । स हि नागान्मनुष्येषु माहिष्मत्यां महाद्युतिः ॥१७६॥
[४]कर्कोटकसुतान् जित्वा पुर्य्यां तस्यां न्यवेशयत् । स वै वेगं समुद्रस्य प्रावृट्कालेऽम्बुजेक्षणः ॥१७७॥
क्रीडन्निव भुजोद्भिन्नं प्रतिस्रोतश्चकार ह । लुण्ठिता क्रीडता तेन[५] नदी तद्ग्राममालिनी[६] ॥१७८॥
चलदूर्म्मिसहस्रेण [७]शङ्किताभ्येति नर्म्मदा । तस्य बाहुसहस्रेण क्षिप्यमाणे महोदधौ ॥१७९॥
भयान्निलीना निश्चेष्टा पातालस्था महासुराः । चूर्णीकृतमहावीचिं[८] चलन्मीनमहातिमिम् ॥१८०॥
[९]मारुताविद्धफेनौघमावर्त्तक्षोभसङ्कुलम्[१०] । प्रावर्त्तयत्तदा राजा सहस्रेण[११] च बाहुना ॥१८१॥
देवासुरसमाक्षिप्तः क्षीरोदमिव मन्दरः[१२] । मन्दरक्षोभचकिता[१३] अमृतोत्पादशङ्किताः ॥१८२॥
सहसोत्पतिता भीता भीमं दृष्ट्वा नृपोत्तमम् । नता निश्चलमूर्द्धानो बभूवुस्ते महोरगाः ॥१८३॥
सायाह्ने कदलीखण्डाः कम्पिता इव वायुना । स वै बद्ध्वा धनुर्ज्याभिरुत्सिक्तं पञ्चभिः शरैः ॥१८४॥

विचरण करता हुआ वह योगी अर्जुन सातो द्वीपों में मनुष्यों से देखा जाता है ॥१७२॥ प्रजाओं का धर्मपूर्वक पालन करते हुए महाराज अर्जुन का द्रव्य-क्षय कभी नहीं होता, शोक और भ्रम भी नहीं होते" ॥१७३॥ उसके पास सब प्रकार के रत्न थे। वह चक्रवर्ती राजा था। वह पशुपाल और क्षेत्रपाल भी था ॥१७४॥ योग के प्रताप से वही मेघ रूप होकर वर्षा भी करता था। वही शरद् ऋतु में सूर्य की सहस्र किरणों के समान धनुष के आघात से कठिन त्वचा वाली हजार भुजाओं से सुशोभित था ॥१७५½॥ उसी ने कर्कोटक के पुत्रों को जीतकर माहिष्मती पुरी में मनुष्यों के बीच नागों को बसाया और वर्षाकाल में समुद्र के वेग में क्रीड़ा करते हुए अपनी भुजाओं से समुद्र के बहुत-से स्रोत बना दिये ॥१७६-१७७½॥ उसी की क्रीड़ा के समय नर्मदा नदी, जिसमें हजारों तरंगें उठ रही थीं, शंकित होकर सम्मुख आयी ॥१७८½॥ जब उसने हजार बाहुओं से समुद्र को क्षोभित किया तब पातालवासी महाराक्षस भय से निश्चेष्ट होकर छिप गये ॥१७९½॥ पूर्व काल में जैसे देवता और असुरों ने मंदराचल से समुद्र का मंथन किया था उसी प्रकार उस राजा ने हजार भुजाओं से समुद्र-मंथन किया। समुद्र की महातरंगें चूर-चूर कर दी गयीं, मच्छ और महामच्छ काँपने लगे, पवन के वेग से झागों का समूह उत्पन्न हो गया, आवर्त्त (भँवर) फैलने लगे ॥१८०-१८१½॥ मंदराचल के संचालन से चकित और अमृत की उत्पत्ति से शंकित वे समुद्रवासी महासर्प हठात् उठकर चारों ओर निहारने लगे। उस भयानक राज-श्रेष्ठ को देखकर डर से उनके सिर निश्चल हो गये और सायंकाल में वायु से कंपित केले के पत्ते की तरह वे थरथराने लगे॥१८२-१८३½॥ उसी राजा ने धनुष की डोरी से मुक्त बाणों से सेनासहित लंकापति रावण को मोहित कर अपने वश में करके माहिष्मती

१क. सत्कृतः । गः रक्षिताः । २क. स तु सर्वत्र भोगाढ्यश्चक्र० । ३ख. ०रत्नभोगाढ्यश्चक्र० । ४ख. ०कयुतान्क्षिप्त्वा पु० । ५ग. ० न फेनश्चोद्दाम० । ६ग. ०नी । वल० । ७ग. ०ङ्किना भ्ये० । ८ग. ०चिं वल० । ९क. ०रुतोद्भिन्नफे० । १०ग. ०भदुःसहम् । ११क. ०स्रेणैव बा० । १२ ०रः । तत्संक्षोभेणाऽऽचकितास्ताक्ष्यर्गिभमनश० । १३क. तास्ताक्ष्यर्गिमनश० ।

लङ्केशं मोहयित्वा तु सबलं[1] रावणं बलात् । निर्जित्य वशमानीय माहिष्मत्यां बबन्ध तम् ॥१८५॥
श्रुत्वा तु बद्धं पौलस्त्यं रावणं त्वर्जुनेन च । ततो गत्वा पुलस्त्यस्तमर्ज्जुनं ददृशे स्वयम् ॥१८६॥
मुमोच रक्षः पौलस्त्यं पुलस्त्येनाभियाचितः । यस्य बाहुसहस्रस्य बभूव ज्यातलस्वनः ॥१८७॥
युगान्ते तोयदस्येव स्फुटतो ह्यशनेरिव । अहो बत मृधे वीर्य्यं भार्गवस्य यदच्छिनत् ॥१८८॥
राज्ञो बाहुसहस्रस्य हैमं तालवनं यथा । तृषितेन कदाचित् स भिक्षितश्चित्रभानुना ॥१८९॥
स भिक्षामददाद्वीरः सप्त द्वीपान् विभावसोः । पुराणि ग्रामघोषांश्च विषयांश्चैव सर्व्वशः ॥१९०॥
जज्वाल तस्य सर्व्वाणि चित्रभानुर्दिदृक्षया । स तस्य पुरुषेन्द्रस्य प्रभावेण महात्मनः ॥१९१॥
ददाह कार्त्तवीर्य्यस्तु शैलांश्चैव वनानि च । सशून्यमाश्रमं रम्यं वरुणस्यात्मजस्य वै ॥१९२॥
ददाह बलवद्भीतश्चित्रभानुः सहैहयः । यं लेभे वरुणः पुत्रं पुरा भास्वन्तमुत्तमम् ॥१९३॥
वशिष्ठं नाम स मुनिः ख्यात आपव इत्युत । तत्रापवस्तु तं क्रोधाच्छप्तवानर्ज्जुनं विभुः ॥१९४॥
यस्मान्न वर्ज्जितमिदं वनं ते मम हैहय । तस्मात्ते दुष्करं कर्म्म कृतमन्यो हनिष्यति ॥१९५॥
रामो नाम महाबाहुर्जामदग्न्यः प्रतापवान् । छित्त्वा बाहुसहस्रन्ते प्रमथ्य तरसा बली ॥१९६॥
तपस्वी[2] ब्राह्मणस्त्वां तु हनिष्यति[3] स भार्गवः । अनष्टद्रव्यता यस्य[4] बभूवामित्रकर्षिणः ॥१९७॥
प्रतापेन[5] नरेन्द्रस्य प्रजा धर्म्मेण रक्षतः[6] । प्राप्तस्ततोऽस्य मृत्युर्वै यस्य शापान्महामुनेः ॥१९८॥

पुरी में बाँधा था ॥१८४-१८५॥ परन्तु अर्जुन के द्वारा बाँधे गये पुलस्त्य-पुत्र रावण की बात सुनकर पुलस्त्य मुनि स्वयम् अर्जुन के पास गये ॥१८६॥ पुलस्त्य की याचना करने पर अर्जुन ने, जिसके हजार भुजाओं के धनुष की टंकार प्रलयकालीन मेघों के गर्जन के समान तथा बिजली की कड़क के समान होती थी, रावण को मुक्त कर दिया ॥१८७⅓॥ पर आश्चर्य तो यह है कि परशुराम ने संग्राम में उसी राजा की हजार भुजाओं को तालवन के समान काट दिया ॥१८८⅓॥ किसी समय अग्नि ने तृष्णा से युक्त हो अर्जुन से भिक्षा माँगी । उस वीर ने अग्नि को सातों द्वीप भिक्षा में दे दिये ॥१८९⅓॥ तब अग्नि उसके नगर, ग्राम और देशों को सब ओर से जलाने लगे ॥१९०⅓॥ उस महात्मा पुरुषेन्द्र अर्जुन के प्रभाव से अग्नि ने पर्वतों और वनों को जला डाला । उसी हैहय (अर्जुन) के साथ होकर अत्यन्त भयभीत अग्नि ने वरुण के पुत्र के शून्य तथा रमणीय आश्रम को भी जला डाला ॥१९१-१९२⅓॥ पहले जिस तेजस्वी तथा उत्तम पुत्र को वरुण ने प्राप्त किया था , वह वसिष्ठ नामक मुनि आपव नाम से भी प्रख्यात था ॥१९३⅓॥ उस शक्तिसंपन्न आपव ने क्रोध से अर्जुन को शाप दिया—'हैहय ! जिस उद्देश्य से तुमने मेरे आश्रम की रक्षा नहीं की उसे और तुम्हारे दुष्कर्म को कोई दूसरा नष्ट करेगा ॥१९४-१९४॥ प्रतापी तथा शक्तिशाली जनदग्नि-पुत्र परशुराम तुम्हारी हजार भुजाओं को काटकर देग से मथ कर तुमको मारेगा' ॥१९६⅓॥ जिस राजा के द्रव्यों का क्षय नहीं होता था , जो शत्रुओं का संहार और धर्मपूर्वक प्रजा पालन करता था, उसकी मृत्यु महामुनि

---

[1] ग. सगणं। [2] ख. तेजस्वी। [3] ख. ग. वधिष्यति। [4] क. तस्य। [5] क. ग. प्रभावेण। [6] क. ग. ०तः। रामात्ततोऽ०।

वरस्तथैव भो विप्राः स्वयमेव वृतः पुरा । तस्य पुत्रशतं[1] त्वासीत् पञ्च शेषा महात्मनः ॥१९९॥
कृतास्त्रा बलिनः[2] शूरा धर्म्मात्मानो यशस्विनः । शूरसेनश्च शूरश्च[3] वृषणो मधुपध्वजः ॥२००॥
जयध्वजश्व नाम्नासीदावन्त्यो नृपतिर्महान् । कार्त्तवीर्य्यस्य तनया वीर्य्यवन्तो महाबलाः ॥२०१॥
जयध्वजस्य पुत्रस्तु तालजङ्घो महाबलः । तस्य पुत्रशतं ख्यातास्तालजङ्घा इति स्मृताः ॥२०२॥
तेषां कुले मुनिश्रेष्ठा[4] हैहयानां महात्मनाम् । वीतिहोत्राः सुजाताश्च[5] भोजाश्चावन्तयः स्मृताः ॥२०३॥
[6]तौण्डिकेराश्च विख्यातास्तालजङ्घास्तथैव च[7] । भरताश्च सुजाताश्च बहुत्वान्नानुकीर्तिताः ॥२०४॥
[8]वृषप्रभृतयो विप्रा यादवाः पुण्यकर्म्मिणः । वृषो वंशधरस्तत्र तस्य पुत्रोऽभवन्मधुः ॥२०५॥
मधोः पुत्रशतं त्वासीद्वृषणस्तस्य वंशकृत् । वृषणाद्वृष्णयः सर्व्वे मधोस्तु माधवाः स्मृताः ॥२०६॥
यादवा यदुनाम्ना ते निरुच्यन्ते च हैहयाः । न तस्य वित्तनाशः स्यान्नष्टं प्रतिलभेच्च सः ॥२०७॥
कार्त्तवीर्य्यस्य यो जन्म कथयेदिह नित्यशः । एते ययातिपुत्राणां पञ्च वंशा द्विजोत्तमाः ॥२०८॥
कीर्त्तिता [9]लोकवीराणां ये लोकान्[10] धारयन्ति वै । भूतानीव मुनिश्रेष्ठाः पञ्च स्थावरजङ्गमान् ॥२०९॥
श्रुत्वा पञ्च विसर्गांस्तु राजा धर्म्मार्थकोविदः । वशीभवति पञ्चानामात्मजानां तथेश्वरः ॥२१०॥
लभेत् पञ्च वरांश्चैव दुर्लभानिह लौकिकान् । आयुः कीर्त्तिं तथा पुत्रानैश्वर्य्यं भूतिमेव च[11]॥२११॥

के शाप से हो गयी ॥१९७-१९८॥ विप्रवृन्द ! उसने स्वयं ही ऐसा वरदान पहले माँगा था । उसके सौ पुत्रों में से पाँच ही बली, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित, धर्मात्मा, वीर, यशस्वी और महात्मा पुत्र बच गये थे, जिनका नाम था—शूरसेन, शूर, वृषण, मधुपध्वज और जयध्वज । जयध्वज अवन्तीपुरी का राजा हुआ ॥१९९-२००½॥ कार्तवीर्य (अर्जुन) के सब पुत्र महाबलवान् तथा शक्तिसम्पन्न थे ॥२०१॥ जयध्वज के तालजंघ नामक महाबली पुत्र हुआ । उसके सौ पुत्र हुए, जो तालजंघ नाम से प्रसिद्ध थे ॥२०२॥ मुनिवर ! उन महात्मा हैहयों के वंश में वीतिहोत्र, सुजात, भोज, अवन्ति, तौण्डिकेर, तालजंघ और भरत—इन नामों से विख्यात पुत्र उत्पन्न हुए, जो विस्तार-भय से यहाँ नहीं गिनाये जा सकते हैं ॥२०३-२०४॥ विप्रवृन्द ! वृष नामक राजा से लेकर यदुवंशी धर्मात्मा हुए । वह वंशधर हुआ । उसके मधु नामक पुत्र हुआ॥२०५॥ मधु के सौ पुत्र थे । उसका वंशधर वृषण हुआ । वृषण के वंशज वृष्णि कहलाये और मधु के माधव ॥२०६॥ यदु के वंश में उत्पन्न वे हैहय यादव नाम से प्रख्यात हैं । जो व्यक्ति कार्तवीर्य के पुत्र अर्जुन की जन्म-कथा नित्यप्रति पढ़ेगा, सुनेगा, कहेगा, उसका वित्तनाश नहीं होगा और नष्ट हुआ भी द्रव्य पुनः मिल जायगा ॥२०७½॥ द्विजवर ! ये पाँचों वंश उन महावीर ययाति-पुत्रों के हैं, जो पंचमहाभूतों की तरह स्थावर-जंगम सहित त्रैलोक्य को धारण करते हैं ॥२०८-२०९॥ इन पाँचों वंशों को सुनकर धर्म-अर्थ को जानने वाला राजा पाँचों वंशों के अधीन अर्थात् प्रियपात्र तथा विभूतिमान् हो जाता है ॥२१०॥ द्विजगण ! इन पाँच वंशों के धारण और श्रवण से मनुष्य संसार में दुर्लभ आयु, कीर्ति, पुत्र, ऐश्वर्य और विभूतिरूप पाँच वरों को प्राप्त करता है ॥२११½॥ मुनिश्रेष्ठो ! अब

१क. ख. ०शतान्यासन्पञ्च । २क. धन्विनः । ३ग. ०श्च धृष्टोक्तः कृष एव च । ज० । ४ख. महावीर्या । ५ग. ०जात्याश्च । ६क. तौडिके० । ख. तोण्डिके० । ७क. च. । भार० । ८ख. ०षमष्टतपो वि० । ९क. ०णां लोकधारणहेतवः । भू० । १०ख. लोकांस्तार । ११ख. वा ।

धारणाच्छ्रवणाच्चैव पञ्चवर्गस्य भो द्विजाः । क्रोष्टोर्व्वंशं मुनिश्रेष्ठाः शृणुध्वं गदतो मम ॥२१२॥
यदोर्व्वंशधरस्याथ यज्विनः पुण्यकर्म्मिणः[1] । क्रोष्टोर्व्वंशं हि श्रुत्वैव[2] सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥
यस्यान्ववायजो विष्णुर्हरिर्वृष्णिकुलोद्वहः । ॥२१३॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे ययातिवंशानुकीर्त्तनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

तत्रादौ यदुपुत्र-क्रोष्टुवंश-वर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

गान्धारी चैव माद्री च क्रोष्टोर्भार्य्ये बभूवतुः । गान्धारी जनयामास अनमित्रं महाबलम् ॥१॥
माद्री युधाजितं पुत्रं ततोऽन्यं देवमीढुषम् । तेषां वंशस्त्रिधा भूतो वृष्णीनां कुलवर्द्धनः ॥२॥
माद्र्याः पुत्रौ तु जज्ञाते [3]श्रुतौ वृष्ण्यन्धकावुभौ । जज्ञाते तनयौ वृष्णे श्वफल्कश्चित्रकस्तथा ॥३॥
[4]श्वफल्कस्तु मुनिश्रेष्ठा धर्म्मात्मा[5] यत्र वर्तते । नास्ति व्याधिभयं तत्र[6] नावर्षस्त्तपमेव च ॥४॥

क्रोष्टु का वंश-वर्णन मुझसे सुनिये, जिस वंश में वृष्णि-वंश-उद्धारक साक्षात् विष्णु भगवान् अवतीर्ण हुए । यज्ञकर्त्ता, धर्मात्मा तथा वंशधारक यदु और क्रोष्टु के वंश-श्रवण से ही मनुष्य सब पापों से दूर हो जाते हैं।।२१२-२१३।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में ययाति-वंशानुकीर्तन नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥१३॥

अध्याय १४

यदु-पुत्र क्रोष्टु के वंश का वर्णन

लोमहर्षण बोले—क्रोष्टु की दो पत्नियाँ थीं—गान्धारी और माद्री । गान्धारी ने अनमित्र नामक महाबली पुत्र उत्पन्न किया ॥१॥ माद्री के युधाजित् और देवमीढुष नामक दो पुत्र हुए । उनके तीन प्रकार के वंश चले, जो वृष्णियों के वंश को बढ़ाने वाले हुए ॥२॥ माद्री ने वृष्णि और अन्धक नामक और दो पुत्रों को उत्पन्न किया। वृष्णि के श्वफल्क और चित्रक नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥३॥ मुनिवर ! धर्मात्मा श्वफल्क जहाँ रहता है, वहाँ व्याधि तथा अनावृष्टि का भय नहीं होता ॥४॥ मुनिगण ! ऐसा सुना है कि किसी समय काशिराज के राज्य में

---

१. क्रोष्टवंशं । २ख. ग. श्रुत्वैनं । ३क. ख. शुभौ । ४क. ०फल्कात्तुमु० । ५. धर्मोनैवात्यवर्तत । ना० । ६क. ०त्र न चावृष्टिभयं तथा । क० ।

कदाचित् काशिराजस्य विषये मुनिसत्तमाः[१] । त्रीणि वर्षाणि[२] पूर्णानि नावर्षत् पाकशासनः ॥५॥
स तत्र चानयामास श्वफल्कं परमार्च्चितम्[३] । श्वफल्कपरिवर्त्तेन[४] ववर्ष हरिवाहनः ॥६॥
श्वफल्कः काशिराजस्य सुतां भार्य्यामविन्दत[५] । गान्दिनीं नाम गां सा च ददौ विप्राय नित्यशः[६] ॥७॥
दाता यज्वा च वीरश्च श्रुतवानतिथिप्रियः । अक्रूरः सुषुवे तस्माच्छ्वफल्काद्भूरिदक्षिणः ॥८॥
[७]उपमद्गुस्तथा [८]मद्गुर्मेदुरश्चारिमेजयः[९] । [१०]अविक्षितस्तथाक्षेपः शत्रुघ्नश्चारिमर्दनः ॥९॥
धर्म्मधृग् यतिधर्म्मा च[११] धर्म्मोक्षान्धकरुस्तथा । आवाहप्रतिवाहा च सुन्दरी च वराङ्गना[१२] ॥१०॥
अक्रूरेणोग्रसेनायां सुगात्र्यां द्विजसत्तमाः[१३] । प्रसेनश्चोपदेवश्च जज्ञाते देववर्च्चसौ[१४] ॥११॥
चित्रकस्याभवन् पुत्राः पृथुर्व्विपृथुरेव च । अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च स्वपार्श्वक गवेषणौ ॥१२॥
[१५]अरिष्टनेमिरश्वश्च सुधर्मा धर्म्मभृत्तथा । [१६]सुबाहुर्बहुबाहुश्च श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ॥१३॥
असिक्न्यां जनयामास शूरं वै देवमीढुषम् । महिष्यां जज्ञिरे शूरा भोज्यायां पुरुषा दश ॥१४॥
वसुदेवो महाबाहुः पूर्व्वमानकदुन्दुभिः । जज्ञे यस्य प्रसूतस्य दुन्दुभ्यः प्राणदन् दिवि ॥१५॥
आनकानां च संह्लादः सुमहानभवद्दिवि । पपात पुष्पवर्षश्च शूरस्य जननी महान् ॥१६॥
मनुष्यलोके कृत्स्नेऽपि रूपे नास्ति समो भुवि । यस्यासीत्पुरुषाग्र्यस्य कान्तिश्चन्द्रमसो यथा ॥१७॥

लगातार तीन वर्ष तक अनावृष्टि रही ॥५॥ तो काशिराज श्वफल्क को सम्मानपूर्वक अपने साथ ले आये । उनके आते ही वृष्टि प्रारंभ हो गयी ॥६॥ प्रसन्न काशिराज ने अपनी कन्या गान्दिनी का विवाह श्वफल्क के साथ कर दिया । गान्दिनी नित्यप्रति ब्राह्मणों को गोदान दिया करती थी ॥७॥ श्वफल्क से अक्रूर नामक दाता, यज्ञकर्त्ता, वीर, विद्वान्, अतिथि-पूजक तथा भूरि-दक्षिणा देने वाला पुत्र उत्पन्न हुआ ॥८॥ उपमद्गु, मद्गु, मेदुर, अरिमेजय, अविक्षित, अक्षेप, शत्रुघ्न, अरिमर्दन, धर्मधृक्, यतिधर्मा, धर्मोक्ष, अन्धकरु, आवाह, प्रतिवाह—ये पुत्र तथा सुन्दरी नाम की एक कन्या भी श्वफल्क से उत्पन्न हुई ॥९-१०॥ विप्रवर ! अक्रूर की सुशोभना पत्नी उग्रसेना से प्रसेन और उपदेव नाम के दो देव-समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुए ॥११॥ चित्रक के पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, स्वपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुबाहु और बहुबाहु नामक पुत्र तथा श्रविष्ठा और श्रवणा नामक दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥१२-१३॥ देवमीढुष ने असिक्नी में शूर नामक पुत्र उत्पन्न किया । शूर की भोज्या नामक रानी में शूर नाम वाले दस पुरुष उत्पन्न हुए, जिनमें पहले वसुदेव की उत्पत्ति हुई ॥१४॥ वसुदेव के जन्म-समय आकाश में दुंदुभियाँ बजी थीं, इसलिए उन्हें 'आनकदुन्दुभि' भी कहा जाता है । शूर के घर में पुष्प-वर्षा के साथ अन्तरिक्ष में बजते हुए ढोलों की ध्वनि सुनायी पड़ी ॥१५-१६॥ मनुष्य लोक में वसुदेव अप्रतिम सौन्दर्यशाली थे । चाँदनी-सी चमकती हुई उनमें प्रभा थी ॥१७॥

---

[१] क. ०माः । पुरा द्वादशवर्षाणि ना० । [२] ग. वर्षसहस्राणि ना० । [३] ख. ०त्र वासया० । ग. ०त्र याजया० । [४] ग. परमार्चितः । [५] क. ०रिचारेण व० । [६] ख. ०मवाप ह । गा० । [७] क. ०शः । जाता यज्ञप्रिया दक्षा श्रुतज्ञा चातिथिप्रिया । अ० । [८] क. ०मन्युस्तथा मन्युर्मे० । [९] ख. ०द्रुर्मुदर ग. ०द्रुर्मृदवश्चा० । [९] ग. ०यः । परिक्षिपस्तथा ऽ त्यक्षः श० । [१०] ख. अरिक्षिपस्तथोपेक्षः श० । [११] ग. च. गृध्रमो जान्तकस्त० । [१२] क. वरानना । [१३] ख. कुरुनन्दनौ । [१४] क. ख. मुनिवर्चसौ । [१५] ग. ०रब्धश्च । [१६] ख. ०हुश्चारुबा ।

[१]देवभागस्ततो जज्ञे तथा देवश्रवाः पुनः । अनाधृष्टिः[२] कनवको[३] वत्सवानथ[४] गृञ्जमः ॥१८॥
श्यामः शमीको गण्डूषः पञ्च चास्य वराङ्गनाः । पृथुकीर्त्तिः पृथा चैव श्रुतदेवा श्रुतश्रवा ॥१९॥
राजाधिदेवी च तथा पञ्चैता वीरमातरः । श्रुतश्रवायां चैद्यस्तु[५] शिशुपालोऽभवन्नृपः ॥२०॥
हिरण्यकशिपुपर्योऽसौ[६] दैत्यराजोऽभवत्पुरा । पृथुकीर्त्यां तु सञ्जज्ञे तनयो वृद्धशर्म्मणः[७] ॥२१॥
करूषाधिपतिर्वीरो दन्तवक्त्रो महाबलः । पृथां दुहितरं चक्रे कुन्तिस्तां पाण्डुरावहत् ॥२२॥
यस्यां[८] स धर्म्मविद्राजा धर्म्मो जज्ञे युधिष्ठिरः । भीमसेनस्तथा वातादिन्द्राच्चैव धनञ्जयः ॥२३॥
लोकेऽप्रतिरथो वीरः शत्रुतुल्यपराक्रमः । [९]अनमित्राच्छिनिर्जज्ञे [१०]कनिष्ठाद्वृष्णिनन्दनात् ॥२४॥
शैनेयः सत्यकस्तस्माद्युयुधानश्च सात्यकिः । उद्धवो देवभागस्य महाभागः सुतोऽभवत् ॥२५॥
पण्डितानां परं प्राहुर्देवश्रवसमुत्तमम्[११] । अश्मक्यं[१२] प्राप्तवान् [१३]पुत्रमनाधृष्टिर्यशस्विनम् ॥२६॥
[१४]निवृत्तशत्रुं शत्रुघ्नं[१५] श्रुतदेवा त्वजायत[१६] । श्रुतदेवात्मजास्ते तु नैषादिर्यः परिश्रुतः ॥२७॥
एकलव्यो मुनिश्रेष्ठा निषादैः परिवर्द्धितः । वत्सवते[१७] त्वपुत्राय वसुदेवः प्रतापवान् ॥
अद्भिर्ददौ सुतं वीरं शौरिः कौशिकमौरसम्[१८] ॥२८॥
गण्डूषाय ह्यपुत्राय विष्वक्सेनो ददौ सुतान् । चारुदेष्णं सुदेष्णञ्च[१९] पञ्चालं कृतलक्षणम् ॥२९॥
असंग्रामेण यो वीरो नावर्त्तत[२०] कदाचन । रौक्मिणेयो महाबाहुः कनीयान् द्विजसत्तमाः ॥३०॥

वसुदेव के पश्चात् देवभाग, देवश्रवा, अनाधृष्टि, कनवक, वत्सवान्, गृञ्जम, श्याम, शमीक और गण्डूष नामक पुत्र तथा पृथुकीर्ति, पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी नामक पाँच पुत्रियाँ भी उत्पन्न हुईं । ये पाँचों कन्याएँ वीर-माताएँ थीं ॥१८-१९½॥ पूर्व जन्म में दैत्यराज हिरण्यकशिपु नाम से विख्यात चेदिराज शिशुपाल की उत्पत्ति श्रुतश्रवा से हुई ॥२०½॥ पृथुकीर्ति में वृद्धाशर्मा के महाबली, वीर तथा करूषदेश का स्वामी दन्तवक्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२१½॥ कुन्ति नामक राजा ने पृथा को अपनी पुत्री बनाया । पृथा का विवाह पाण्डु से हुआ, जिसने धर्म से धर्मराज युधिष्ठिर, वायु से भीमसेन तथा इन्द्र से इन्द्र तुल्य पराक्रमी अद्वितीय योद्धा अर्जुन को पैदा किया । सबसे छोटे वृष्णि-पुत्र अनमित्र से शिनि उत्पन्न हुआ ॥२२-२३½॥ शिनि से सत्यक और सत्यक के महारथी सात्यकि की उत्पत्ति हुई । देवभाग का पुत्र महाभाग्यशाली उद्धव हुआ ॥२४-२५॥ देवश्रवा महापंडित था । उसने अश्मक्य नामक पुत्र को प्राप्त किया । अनाधृष्टि ने निवृत्तशत्रु नामक पुत्र को उत्पन्न किया और श्रुतदेवा से शत्रुघ्न पैदा हुआ ॥२६½॥ मुनिश्रेष्ठ, श्रुतदेवा के एकलव्य नामक पुत्र हुआ, जो निषादों द्वारा पाले-पोसे जाने के कारण नैषादि नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥२७½॥ वत्सवान् के कोई पुत्र न था अतः प्रतापी शूर-पुत्र वसुदेव ने अपने वीर पुत्र कौशिक को जल से उत्सर्ग करके उसे दे दिया ॥२८॥ पुत्ररहित गण्डूष को विष्वक्सेन ने चारुदेष्ण, सुदेष्ण, पञ्चाल और कृतलक्षण नामक पुत्रों को दे दिया ॥२९॥ विप्रवर ! चारुदेष्ण रुक्मिणी का छोटा पुत्र था, जो निरन्तर युद्ध-रत रहता

१क. ०वनाग० । २क. ०नावृष्टिः । ३क. ०को वंशे तस्य बभूव ह । श्या० । ४ग. ०नमसुञ्जयः । श्या० । ५ग. ०द्यस्य शि० । ६ग. ०सौ चैद्यरा० । ७क. विश्वकर्मणा । ८क. यस्याः । ९ख. ०त्राच्छिणिर्जे । १०ग. ०ष्ठादृषिन० । ११ख. ग. ०मुद्धवम् । १२ग. अश्यक्यां । १३क. ग. ०नावृष्टिंयश० । १४क. विभिन्नशत्रुं । ख. निनर्तशत्रुं । १५ख. घ्न नै० । ग. ०घ्नं शक्रादेव व्यजा० । १६ग. ०त । श्राद्धदेवात्प्रजातस्तु नै० । १७क. वत्सामस्तस्य पौत्राय शौ० । १८क. कौरक० । १९क. सुचरुं । २०ख. ०वर्तेत ।

वायसानां सहस्राणि यं यान्तुं पृष्ठतोऽन्वयुः । चारुनद्योपभोक्ष्यामश्चारुदेष्णहतानिति ॥३१॥
तन्त्रिजस्तन्त्रिपालश्च सुतौ कनवकस्य तौ । वीरुश्चाश्वहनुश्चैव वीरौ तावथ गृञ्जिमौ[१] ॥३२॥
श्यामपुत्रः शमीकस्तु शमीको राज्यमावहत् । जुगुप्समानो भोजत्वाद्राजसूयमवाप सः ॥३३॥
अजातशत्रुः शत्रूणां जज्ञे तस्य विनाशनः । वसुदेवसुतान् वीरान् कीर्त्तयिष्याम्यतःपरम् ॥३४॥
वृष्णेस्त्रिविधमेवन्तु बहुशाखं महौजसम्[२] । धारयन् विपुलं वंशं नानर्थैरिह युज्यते ॥३५॥
याः पत्न्यो वसुदेवस्य चतुर्द्दश वराङ्गनाः । पौरवी रोहिणी नाम मदिरादिस्तथापरा ॥३६॥
वैशाखी च तथा भद्रा सुनाम्नी चैव पञ्चमी । सहदेवा शान्तिदेवा श्रीदेवी देवरक्षिता ॥३७॥
वृकदेव्युपदेवी च देवकी चैव सप्तमी । सुतनुर्वडवा चैव द्वे एते परिचारिके ॥३८॥
पौरवी रोहिणी नाम वाह्लिकस्यात्मजाभवत् । ज्येष्ठा पत्नी मुनिश्रेष्ठा दयितानकदुन्दुभेः ॥३९॥
लेभे ज्येष्ठं सुतं रामं शरण्यं[३] शठमेव[४] च । दुर्द्दमं दमनं[५] शुभ्रं पिण्डारकमुशीनरम् ॥४०॥
चित्रा नाम कुमारी च [६]रोहिणीतनया नव[७] । चित्रा[८] सुभद्रेति पुनर्विख्याता मुनिसत्तमाः ॥४१॥
वसुदेवाच्च देवक्यां जज्ञे शौरिर्महायशाः । रामाच्च निशठो[९] जज्ञे रेवत्यां[१०] दयितः सुतः[११]॥४२॥
सुभद्रायां रथी पार्थादभिमन्युरजायत । [१२]अक्रूरात्काशिकन्यायां सत्यकेतुरजायत ॥४३॥
वसुदेवस्य भार्य्यासु[१३] महाभागासु सप्तसु । ये पुत्रा जज्ञिरे शूराः[१४] समस्तांस्तान्निबोधत ॥४४॥

थाऔर जिसके पीछे-पीछे 'आज चारुदेष्ण के द्वारा मारे गये वीरों के मांस का स्वादिष्ठ भोजन करेंगे, ऐसा सोचते हुए हजारों कौए चला करते थे ॥३०-३१॥ कनवक के दो पुत्र थे—तन्त्रिज और तन्त्रिपाल। गृञ्जिम के वीरु और अश्वहनु नामक दो पुत्र थे ॥३२॥ श्याम का पुत्र शमीक था। शमीक ने राज्य-प्राप्ति की और भोज-संज्ञा से अपने को निन्दित मानते हुए राजसूय यज्ञ किया ॥३३॥ उसके अजातशत्रु नामक शत्रु-विनाशक पुत्र उत्पन्न हुआ। अब वसुदेव के वीर पुत्रों का वर्णन करूँगा ॥३४॥ इस प्रकार अनेक शाखाओं में विस्तृत एवं वृष्णि, अन्धक, भोज—इन तीन वर्गों में विभक्त महापराक्रमी वंश को धारण करते हुए वसुदेव किसी प्रकार के अनर्थ के भागी नहीं हुए ॥३५॥ पुरु-वंशी रोहिणी, मदिरा, वैशाखी, भद्रा, सुनाम्नी, सहदेवा, शान्तिदेवा, श्रीदेवी, देवरक्षिता, वृकदेवी, उपदेवी और देवकी ये चौदह पत्नियाँ थीं और सुतनु और वडवा—उनकी दो सेविकाएँ थीं ॥३६-३८॥ पुरुवंशी रोहिणी वाह्लिक की पुत्री थी। मुनिवर ! वसुदेव की प्रिय ज्येष्ठा पत्नी से राम तथा शरण्य, शठ, दुर्दम, दमन, शुभ्र, पिण्डारक और उशीनर नामके पुत्र उत्पन्न हुए ॥३९-४०॥ और रोहिणी से चित्रा, सुभद्रा आदि प्रख्यात नौ कन्याएँ पैदा हुईं ॥४१॥ मुनिवर ! वसुदेव की छोटी पत्नी देवकी से महायशस्वी शौरि (कृष्ण) उत्पन्न हुए। राम की पत्नी रेवती से निशठ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४२॥ अर्जुन की पत्नी सुभद्रा से रथी अभिमन्यु की उत्पत्ति हुई। अक्रूर की पत्नी काशिकन्या से सत्यकेतु हुआ ॥४३॥ वसुदेव की महाभाग्यवती सात पत्नियों से शूर नाम वाले जो पुत्र पैदा हुए, उन सबके नाम

१क. ०ञ्जिनौ। धर्मात्मानौ तयोर्विप्रा अभीको राजसत्तमः। जुगुप्समानो भोजस्तु राज०। २ख. महौजसः। ३ख. शारणं। ग. सारणं। ४ख. शवमे०। ५ग. दशनं। ६क. ०णीदयिता दश। चि०। ७ग. दश। ८क. पित्रा। ९क. धिषणो। ख. निषधो। १०क. ख. रोहिण्यां। ११क. स्मृतः। ख. पुनः। १२क. ०राद्राजक०। १३क. ०सु तासु सप्तसु भो द्विजाः। ये। १४ख. शूरा नामतस्ता०।

भोजश्च विजयश्चैव शान्तिदेवासुतावुभौ । वृकदेवः सुनामायां गदश्चास्तां सुतावुभौ ॥४५॥
अगावहं महात्मानं वृकदेवी व्यजायत । कन्या त्रिगर्त्तराजस्य भर्य्या[१] वै[२] शिशिरायणेः[३] ॥४६॥
जिज्ञासां पौरुषे[४] चक्रे न चस्कन्दे[५] च पौरुषम्[६] । कृष्णायससमप्रख्यो[७] वर्षे द्वादशमे तथा[८] ॥४७॥
मिथ्याभिशस्तो गार्ग्यस्तु [९]मन्युनातिसमीरितः[१०] । घोषकन्यामुपादाय मैथुनायोपचक्रमे ॥४८॥
गोपाली[११] चाप्सरास्तस्य गोपस्त्रीवेशधारिणी । धारयामास गार्ग्यस्य[१२] गर्भं दुर्द्धरमच्युतम् ॥४९॥
मानुष्यां [१३]गर्गभार्य्यायां नियोगाच्छूलपाणिनः । स कालयवनो नाम यज्ञे राजा महाबलः ॥५०॥
[१४]वृत्तपूर्व्वार्द्धकायस्तु[१५] सिंहसंहननो युवा । अपुत्रस्य स राज्ञस्तु ववृधेऽन्तःपुरे शिशुः ॥५१॥
यवनस्य मुनिश्रेष्ठाः स कालयवनोऽभवत् । [१६]आयुध्यमानो नृपतिः पर्य्यपृच्छद्द्विजोत्तमम्[१७] ॥५२॥
वृष्ण्यन्धककुलं[१८] तस्य [१९]नारदोऽकथयद्विभुः । अक्षौहिण्या तु सैन्यस्य मथुरामभ्ययात्तदा ॥५३॥
दूतं सम्प्रेषयामास वृष्ण्यन्धकनिवेशनम् । तो वृष्ण्यन्धकाः कृष्णं पुरस्कृत्य महामतिम् ॥५४॥
समेता मन्त्रयामासुर्यवनस्य भयात्तदा । कृत्वा विनिश्चयं सर्व्वे पलायनमरोचयन् ॥५५॥
विहाय मथुरां रम्यां मानयन्तः[२०] पिनाकिनम् । कुशस्थलीं द्वारवतीं निवेशयितुमीप्सवः ॥५६॥

सुनिये ॥४४॥ शान्तिदेवा के दो पुत्र हुए—भोज और विजय । सुनामा से वृकदेव और गद पैदा हुए । वृकदेवी ने महात्मा अगावह को उत्पन्न किया ॥४५½॥ किसी समय त्रिगर्तराज की कन्या ने, जो शिशिरायणि की भार्या थी, गार्ग्य मुनि के वीर्य की परीक्षा की । पर मुनि का वीर्य-स्खलन नहीं हुआ । तो यादवों ने नपुंसक कहकर हँसी उड़ायी । जिससे क्रुद्ध हुए मुनि का शरीर लोहे के तवे के समान काला पड़ गया । बारह वर्ष बीत जाने पर मुनि ने किसी गोप-कन्या के साथ मैथुन करने का निश्चय किया ॥४६-४८॥ गोपी-वेष धारण किये हुए गोपाली नाम की अप्सरा ने, गार्ग्य से समागम किया और नष्ट न होने वाले प्रचण्ड गर्भ को धारण कर लिया ॥४९॥ शंकर की प्रेरणा से गर्गमुनि की मानुषी भार्या ने कालयवन नामक महाबलवान् राजा को उत्पन्न किया, जिसका शरीर सिंह जैसा था और देह का पूर्वार्ध वृत्ताकार था ॥५०½॥ पुत्र-विहीन यवनराज के अन्तःपुर में पालन-पोषण होने के कारण उसका नाम कालयवन पड़ गया ॥५१½॥ युद्ध की कामना रखते हुए कालयवन ने मुनिश्रेष्ठ नारद से पूछा कि किससे युद्ध करूँ ? नारद ने उसे वृष्णि और अन्धक कुल के योद्धाओं से लड़ने का सुझाव दिया ॥५२½॥ तदनुसार कालयवन एक अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा की ओर चल पड़ा ॥५३॥ पहले उसने वृष्णि और अन्धक कुल के योद्धाओं के पास अपना दूत भेजा । उसका युद्ध-संदेश पाकर वृष्णि-अन्धक-वंशियों ने नीति-निपुण कृष्ण को अगुवा बनाकर परामर्श किया । और फिर कालयवन के भय से मथुरा छोड़ देने का निश्चय किया ॥५४-५५॥ शंकर को मानने वाले उन सब लोगों ने सुरम्य मथुरा पुरी को

१ग. भर्ता । २क. वैरपरायणा । जि० । ३ग. ०यणा । जि० । ४ग. पौरवे । ५क. ०स्कन्दास्य पौ० । ६ख. ०म् । स्कन्दाय० । ७क. प्रख्येव० । ग. ०प्रख्यैर्वर्षे । ८क. तदा । भिशस्तो गार्ग्यः शालेन म० । ९क. ०ना समुदीरि० । ख. ०नाभिस० । १०ग. ०तः । गोपक० । ११ ०ली तस्य भद्रा तु गो० । १२क. गर्गस्य । १३ग. गर्दभा० । १४ख. ग. वृषपू० । १५ग. ०स्तुमवहत्वाजिनो रणे । अ० । १६क. सुयुध्यमानो । ग. अयुध्यमानो । १७ख. ग. ०त्तमान् । वृ० । १८क. ०कुले त० । १९ख. ०यद्द्विजाः । अ० । २०ख. भावयन्तः ।

इति कृष्णस्य जन्मेदं[1] यः शुचिर्नियतेन्द्रियः। पर्व्वसु श्रावयेद्विद्वाननृणः स सुखी भवेत् ॥५७॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे कृष्णजन्मानुकीर्त्तनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

वृष्णिवंश-वर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

क्रोष्टोरथाभवत् पुत्रो वृजिनीवान्महायशाः । वार्जिनीवतमिच्छन्ति स्वाहिं स्वाहाकृतां वरम् ॥१॥
स्वाहिपुत्रोऽभवद्राजा[2] उषद्गुर्वदतां[3] वरः । महाक्रतुभिरीजे यो विविधैर्भूरिदक्षिणैः ॥२॥
ततः प्रसूतिमिच्छन् वै[4] [5]उषद्गुःसोऽग्र्यमात्मजम् । जज्ञे चित्ररथस्तस्य पुत्रः कर्म्मभिरन्वितः[6]॥३॥
आसीच्चैत्ररथिर्वीरो यज्वा विपुलदक्षिणः । शशविन्दुः परं वृत्तं[7] राजर्षीणामनुष्ठितः ॥४॥
पृथुश्रवाः पृथुयशाः [8]राजासीच्छाशविन्दवः[9] । शंसन्ति च पुराणज्ञाः पार्थश्रवसमन्तरम् ॥५॥
अन्तरस्य सुयज्ञस्तु सुयज्ञतनयोऽभवत् । उषतो[10] यज्ञमखिलं स्वधर्म्मे[11] च कृतादरः[12] ॥६॥
शिनेयुरभवत् पुत्र उषतः[13] शत्रुतापनः। मरुतस्तस्य तनयो राजर्षिरभवन्नृपः ॥७॥

छोड़कर द्वारका पुरी में ही रहने का निश्चय कर लिया ॥५६॥ जो पवित्र और जितेन्द्रिय होकर कृष्ण के इस जन्म-चरित्र को पर्व के दिन सुनायेगा, वह सब प्रकार के ऋणों से मुक्त होकर सुखी होगा ॥५७॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में कृष्ण-जन्मानुकीर्तन नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥१४॥

अध्याय १५

वृष्णि-वंश का वर्णन

लोमहर्षण बोले—क्रोष्टु का पुत्र वृजिनीवान् परम यशस्वी हुआ। वृजिनीवान् का पुत्र स्वाहि सर्वोच्च यज्ञकर्त्ता प्रसिद्ध हुआ ॥१॥ स्वाहि का पुत्र वक्ताओं में श्रेष्ठ राजा उषद्गु था, जिसने भूरि-दक्षिणा-सम्पन्न अनेक महायज्ञ किये ॥२॥ पुत्रोत्पत्ति की कामना से उषद्गु ने चित्ररथ नामक अपने प्रथम पुत्र को उत्पन्न किया, जो कर्मशील था ॥३॥ चित्ररथ का पुत्र शशविन्दु यज्ञकर्त्ता, विपुलदक्षिणादाता, कर्मिष्ठ तथा राजर्षि-श्रेष्ठ था ॥४॥ शशविन्दु का पुत्र महायशस्वी पृथुश्रवा था। पुराणज्ञों का कहना है कि पृथुश्रवा का पुत्र अन्तर, अन्तर का पुत्र सुयज्ञ और सुयज्ञ का पुत्र उषत् हुआ, जो निखिल-यज्ञ-कर्त्ता तथा निष्ठावान् धार्मिक था ॥५-६॥ उषत् से परन्तप शिनेयु उत्पन्न हुआ, और शिनेयु का

१क. ०न्मेह यः। २क. जा षडर्वा वद०। ३ख. षगुर्व०। ४क. न्वै षडर्वा आप चाऽऽत्म०। ५ख. उषगुः। ६ख. रञ्जितः। ७क. कृत्यं। ८ख. ०सीच्छश०। ९ख. विन्दुजः। शं०। १०क. उषितो। ११ख. धर्मसुखतां वरः। ०ग. धर्ममुखतां वरः। १२क. ०रः। सिनन्धु र०। १३. उषितः।

[१]मरुतोऽलभत ज्येष्ठं सुतं कम्बलबर्हिषम् । चचार विपुलं धर्म्मममर्षात्[२] प्रत्यभागपि[३] ।।८।।
स सत्प्रसूतिमिच्छन्[४] वै सुतं कम्बलबर्हिषः। बभूव रुक्मकवचः शतप्रसवतः[५] सुतः ।।९।।
निहत्य रुक्मकवचः शतं कवचिनां रणे । धन्विनां निशितैर्बाणैरवाप श्रियमुत्तमाम् ।।१०।।
जज्ञे च रुक्मकवचात्[६] परजित्परवीरहा । जज्ञिरे पञ्च पुत्रास्तु महावीर्य्याः[७] पराजिताः ।।११।।
रुक्मेषुः पृथुरुक्मश्च [८]ज्यामघः पालितो हरिः । पातितं च हरिं चैव विदेहेभ्यः[९] पिता ददौ ।।१२।।
रुक्मेषुरभवद्राजा[१०] पृथुरुक्मस्य संश्रयात् । ताभ्यां प्रव्राजितो राजा ज्यामघोऽवसदाश्रमे ।।१३।।
प्रशान्तश्च [११] तदा राजा ब्राह्मणैश्चावबोधितः । जगाम धनुरादाय देशमन्यं ध्वजी रथी ।।१४।।
नर्म्मदाकूलमेकाकीमेकलां[१२] मृत्तिकावतीम्[१३] । ऋक्षवन्तं[१४] गिरिं जित्वा[१५] शुक्तिमत्यामुवासस:[१६] ।।१५।।
ज्यामघस्याभवद्भार्य्या शैब्या बलवती सती । अपुत्रोऽपि स राजा वै नान्यां भार्य्यामविन्दत ।।१६।।
तस्यासीद्विजयो युद्धे तत्र कन्यामवाप सः । भार्य्यामुवाच सन्त्रस्तः स्नुषेति[१७] स जनेश्वरः ।।१७।।
एतच्छ्रुत्वाब्रवीद्देवी कस्य देव स्नुषेति वै[१८] । अब्रवीत्तदुपश्रुत्य ज्यामघो राजसत्तमः ।।१८।।

राजोवाच

यस्ते जनिष्यते [१९]पुत्रस्तस्य भार्य्योपपादिता ।।१९।।

पुत्र मरुत राजर्षि हुआ ।।७।। जिसका ज्येष्ठ पुत्र कम्बलबर्हिष् था । पापी होते हुए भी कम्बलबर्हिष् ईर्ष्या से महान् धार्मिक बना ।।८।। उसके पुत्र शतप्रसव से रुक्मकवच नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ।।९।। रुक्मकवच ने युद्ध में सौ कवचधारियों तथा धनुर्धारियों को अपने तीक्ष्ण बाणों से मारकर श्री-कीर्त्ति प्राप्त की ।।१०।। रुक्मकवच के शत्रु-संहारक पुत्र परजित् से रुक्मेषु, पृथुरुक्म, ज्यामघ, पालित और हरि ये पाँच महाशक्तिशाली पुत्र उत्पन्न हुए ।।११$\frac{१}{२}$।। पालित और हरि को पिता ने विदेहों को दिया ।।१२।। रुक्मेषु पृथुरुक्म का आश्रय लेकर राजा बना। उन दोनों ने मिलकर राजा ज्यामघ को निर्वासित कर दिया । ज्यामघ शान्तचित्त होकर आश्रम में रहने लगा ।।१३।। वहाँ उसे ब्राह्मणों ने जब बोध कराया तब उसने रथ-पताका से युक्त हो धनुष लेकर दूसरे देश के लिए प्रस्थान किया ।।१४।। नर्मदा नदी के किनारे एकाकी विचरण करता हुआ ज्यामघ, मेकला, मृत्तिकावती और ऋक्षवान् नामक पर्वत को जीतकर शुक्तिमती नामक नगरी में बस गया ।।१५।। ज्यामघ की शैब्या नामक बड़ी पतिव्रता पत्नी थी। निःसन्तान होते हुए भी राजा ने दूसरा विवाह नहीं किया ।।१६।। वह राजा एक युद्ध में विजयी हुआ, विजयश्री के साथ वहाँ उसे एक कन्या प्राप्त हुई । उस कन्या को अपनी पत्नी के पास ले जाकर राजा ने कहा—'यह तुम्हारी पुत्र-वधू है ।' यह सुनकर रानी ने कहा—'राजन् ! यह पुत्र-वधू कैसे है ?' नृपश्रेष्ठ ज्यामघ ने कहा ।।१७-१८।।

राजा बोला—तुम्हारा जो पुत्र उत्पन्न होगा, उसी की यह पत्नी बनेगी ।।१९।।

१ग. रुतस्त्वलभच्छ्रेष्ठं । २ख. ०र्षाप्रत्य० । ग. ०र्षात्प्रेत्य जाग० । ३ख. ग. ०पि० । शतप्रसू० । ४ख.ग. ०च्छन्ति सु० । ५ख. ०वता सु० । ६ग. ०त्पराजि० । ७ख. ०वीर्यपराक्रमाः ।।रु० । ८क. समयः । ग. यामधः । ९क. वैदिशेभ्यः । १०ग. रज्यि ह्याम० । ११ख. शान्तेः सवरस्थश्च ब्रा० । १२ख. ०कलामृ० । १३क. वनीम् । १४ग. अक्षवन्तं । १५ग. ०त्वा श्रुतिम० । १६क. सः । श्यामलस्या० । ग. सः । ह्योम० । १७ख. ०षेयं ते ज० । १८ख. ग. वै। य० । १९ग. पुत्रो भार्येयं तस्य जातभीः । उ० ।

लोमहर्षण उवाच

उग्रेण तपसा तस्याः कन्यायाः सा व्यजायत । पुत्रं विदर्भं सुभगा शैब्या परिणता सती ॥२०॥
[१]राजपुत्र्यां तु विद्वांसौ स्नुषायां [२]क्रथकैशिकौ । पश्चाद्विदर्भोऽजनयच्छूरौ रणविशारदौ ॥२१॥
भीमो विदर्भस्य सुतः कुन्तिस्तस्यात्मजोऽभवत् । [३]कुन्तेर्धृष्टः सुतो जज्ञे रणधृष्टः प्रतापवान् ॥२२॥
धृष्टस्य जज्ञिरे शूरास्त्रयः परमधार्मिकाः । [४]आवन्तश्च दशार्हश्च बली विषहरश्च[५] सः[६] ॥२३॥
दशार्हस्य सुतो व्योमा व्योम्नो जीमूत उच्यते । जीमूतपुत्रो[७] विकृतिस्तस्य भीमरथः स्मृतः[८] ॥२४॥
अथ भीमरथस्यासीत् पुत्रो[९] नवरथस्तथा । तस्य[१०] चासीद्दशरथः [११]शकुनिस्तस्य चात्मजः ॥२५॥
[१२]तस्मात्करम्भः कारम्भिर्देवरातोऽभवन्नृपः । देवक्षत्रोऽभवत्तस्य[१३] वृद्धक्षत्रो महायशाः[१४] ॥२६॥
देवगर्भसमो जज्ञे देवक्षत्रस्य नन्दनः । मधूनां वंशकृद्राजा मधुर्मधुरवागपि ॥२७॥
मधोर्जज्ञेऽथ वैदर्भ्यां[१५] पुरुद्वान्पुरुषोत्तमः । ऐक्ष्वाकी चाभवद्भार्य्या[१६] मधोस्तस्यां व्यजायत ॥२८॥
[१७]सत्त्वान् सर्व्वगुणोपेतः सत्वतां कीर्त्तिवर्द्धनः । इमां[१८] विसृष्टिं विज्ञाय [१९]ज्यामघस्य महात्मनः ॥
युज्यते [२०]परमप्रीत्या प्रजावांश्च भवेत्[२१] सदा ॥२९॥

लोमहर्षण उवाच[२२]

सत्त्वतः सत्त्वसम्पन्नान् कौशल्या[२३] सुषुवे सुतान् । भागिनं[२४] भजमानं च दिव्यं [२५]देवावृधं नृपम् ॥३०॥

लोमहर्षण बोले—उस कन्या की उग्र तपस्या से सौभाग्यवती पतिव्रता शैब्या ने विदर्भ नामक पुत्र को उत्पन्न किया ॥२०॥ पश्चात् विदर्भ ने उसी राजपुत्री में विद्वान्, वीर तथा युद्धविशारद क्रथ और कैशिक नामक दो पुत्र उत्पन्न किये ॥२१॥ विदर्भ का पुत्र भीम और उसका पुत्र कुन्ति हुआ। कुन्ति के धृष्ट नामक प्रतापी तथा युद्ध-कुशल पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२२॥ धृष्ट के तीन वीर तथा परम धर्मात्मा पुत्र हुए—आवन्त, दशार्ह और बली विषहर ॥२३॥ दशार्ह का पुत्र व्योमा और व्योमा का जीमूत कहा जाता है। जीमूत का पुत्र विकृति और उसका पुत्र भीमरथ कहा जाता है ॥२४॥ भीमरथ का पुत्र नवरथ था। नवरथ का दशरथ और उसका पुत्र शकुनि था ॥२५॥ शकुनि से करम्भ और करम्भ से राजा देवरात की उत्पत्ति हुई। देवरात का पुत्र देवक्षत्र और उसका पुत्र महायशस्वी तथा देवपुत्र के समान तेजस्वी वृद्धक्षत्र था ॥२६॥ वृद्धक्षत्र के देवपुत्र के समान मधु नामक मधुरवक्ता तथा मधु-वंश-कर्त्ता पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२७॥ मधु से वैदर्भी में पुरुषोत्तम पुरुद्वान् की उत्पत्ति हुई। पुरुद्वान् की ऐक्ष्वाकी नामक भार्या में सब गुणों से युक्त सात्वतों का यशोवर्धक सत्त्वान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥२८½॥ महात्मा ज्यामघ की इस सृष्टि को जानकर मनुष्य अत्यन्त प्रसन्न तथा सदा प्रजावान् होता है ॥२९॥

लोमहर्षण बोले—सत्त्वान् से कौशल्या ने सत्वसंपन्न भागी, भजमान, दिव्य, राजा देवावृध, महाशक्तिशाली

१क. राजपुत्रौ। २ग. ०थकौशिकाम्। प०। ३ग. ०न्तेवृष्णिसु०। ४क. अचरश्च। ५क. ०षधर०। ६क. ख. यः। ७क. ख. ०त्रो बृहतिस्त०। ८ख. सुतः। ९ग. नरर०। १०ग. तथा। ११क. शक्रतुल्योऽस्य। १२क. ततः करम्भिस्तस्माच्च देव०। १३ख. ग. ०स्य दैवक्षत्रिर्महा०। १४क. शाः। हेमग०। १५क. ०दर्भिस्तस्य च प्रियधूर्वहः। ऐक्ष्वाकिरभवद्राजासत्त्वस्तस्य व्य०। १६ख. ०र्या सावस्त०। १७ख. ०त्त्वात्सत्त्वगु०। १८क. ०मां च सृ०। १९ग. ह्यामघस्य। २०ख. रमं प्रि०। २१क. भवेद्द्विजः। २२ख. ०च। सात्त्वतान्सत्त्व०। २३क. न्कौशिकी सु०। २४क. भामिनं। ख. भजिनं। २५ग. देववृधं।

अन्धकं च [१]महाबाहुं वृष्णिं[२] च यदुनन्दनम् । तेषां विसर्गाश्चत्वारो विस्तरेणेह कीर्त्तिताः ॥३१॥
भजमानस्य सृञ्जय्यौ बाह्यकाथोपबाह्यका । आस्तां भार्य्ये तयोस्तस्माज्जज्ञिरे बहवः सुताः[३] ॥३२॥
क्रिमिश्च [४]क्रमणश्चैव [५]धृष्टः[६] शूरः पुरञ्जयः । एते बाह्यकसृञ्जय्यां भजमानाद्विजज्ञिरे ॥३३॥
[७]अयुताजित् [८]सहस्राजिच्छताजित्त्वथ दासकः । उपाबाह्यकसृञ्जय्यां भजमानाद्विजज्ञिरे ॥३४॥
यज्वा देवावृधो राजा चचार विपुलं तपः । पुत्रः सर्व्वगुणोपेतो मम स्यादिति निश्चितः ॥३५॥
[९]संयुज्यमानस्तपसा पर्णाशाया जलं स्पृशन् । [१०]सदोपस्पृशतस्तस्य चकार प्रियमापगा ॥३६॥
[११]चिन्तयाभिपरीता[१२] सा न जगामैव[१३] निश्चयम् । कल्याणत्वान्नरपतेस्तस्य सा निम्नगोत्तमा ॥३७॥
नाध्यगच्छत्तु तां नारीं यस्यामेवंविधः सुतः । भवेत्तस्मात् स्वयं गत्वा भवाम्यस्य सहानुगा[१४] ॥३८॥
अथ भूत्वा कुमारी सा बिभ्रती परमं वपुः । वरयामास नृपतिं तामियेष च स प्रभुः ॥३९॥
[१५]तस्यामाधत्त गर्भं स तेजस्विनमुदारधीः । अथ सा दशमे मासि सुषुवे सरितां वरा ॥४०॥
पुत्रं सर्व्वगुणोपेतं बभ्रुं देवावृधं द्विजाः । अत्र वंशे पुराणज्ञा गायन्तीति परिश्रुतम् ॥४१॥
गुणान् देवावृधस्यापि कीर्त्तयन्तो महात्मनः । यथैवाग्रे तथा दूरात्पश्यामस्तावदन्तिकात् ॥४२॥
बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधः समः । षष्टिश्च [१६]षट् च पुरुषाः सहस्राणि च सप्त च[१७] ॥४३॥
एतेऽमृतत्वं प्राप्ता वै बभ्रोर्देवावृधादपि । यज्वा [१८]दानपतिर्धीमान् ब्रह्मण्यः सुदृढायुधः ॥४४॥

अन्धक और यदुनन्दन वृष्णि को उत्पन्न किया ॥३०$\frac{१}{३}$॥ उनके चार वंशों का विस्तृत-वर्णन मैंने कर दिया ॥३१॥ भजमान की सृञ्जय-पुत्री बाह्यका और उपबाह्यका नामक दो भार्याएँ थीं । उन्होंने अनेक पुत्र उत्पन्न किये ॥३२॥ भजमान से बाह्यका में क्रिमि, क्रमण, धृष्ट, शूर और पुरंजय नामक पुत्र उत्पन्न हुए । उपबाह्यका ने भजमान से अयुताजित्, सहस्राजित्, शताजित् और दासक नामक पुत्रों को उत्पन्न किया ॥३३-३४॥ 'सब गुणों से युक्त पुत्र मुझे हो' ऐसा निश्चय कर यज्ञकर्त्ता राजा देवावृध उग्र तप करने लगा ॥३५॥ तपस्या से संयमी होकर वह पर्णाशा नदी के जल का स्पर्श करता था । सदा स्पर्श करने से नदी उससे प्रेम करने लगी ॥३६॥ पर राजा के विषय में सोचती हुई वह कोई निश्चय नहीं कर पाती । तब उस राजा का कल्याण चाहने वाली उस उत्तम नदी ने सोचा—'राजा की जो स्त्री है, उसमें इस तरह का पुत्र नहीं हो सकता । इसलिए मैं स्वयं जाकर उसकी पत्नी बन जाती हूँ' ॥३७-३८॥ तदनन्तर उसने परम सुन्दरी कुमारी का रूप धारण कर राजा का वरण किया । राजा ने भी स्वीकृति दे दी ॥३९॥ उदार राजा से उस नदी-श्रेष्ठ ने तेजस्वी गर्भ को धारण किया और दसवें मास में वभ्रुदेवावृध नामक प्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न किया ॥४०$\frac{१}{३}$॥ विप्रवृन्द ! इस वंश के वारे में पुराणज्ञों का कहना है कि—'महात्मा देवावृध के गुणों का गान करते हुए हम लोग जैसे उसको सामने देखते हैं वैसे दूर से भी बिलकुल पास ही में देखते हैं ॥४१-४२॥ मनुष्य-श्रेष्ठ वभ्रुदेवावृध देवता के समान है । सात हजार छाछठ पुरुषों ने वभ्रुदेवावृध से अमृत प्राप्त किया ॥४३$\frac{१}{३}$॥ बभ्रु का विशाल वंश यज्ञ-कर्त्ता, महादानी, ब्रह्मवादी और महायोद्धा हुआ, जिसमें सार्तिकावत आदि भोज हुए ।

---

[१]क. ०हु प्रथितं य० । [२]ख. वृजिं । [३]क. ०ताः । क्रृमि० । [४]ग. क्रमिणं । [५]ख. वृषः । [६]क. ०ष्टः सुरसुतोपमः । ए० । [७]ख. ०युतजि० । [८]ख. ०हस्रजि० । [९]क. संजुष्टकायस्त० । [१०]क. ०दोग्रतपसस्त० । [११]क. चितेन परितापं सा । [१२]ख. ०ताऽत्मा ज० । [१३]क. ०मैका विनि० । ख. ० मैकंविनि० । [१४]ख. सहव्रता० अ । [१५]क. तस्मादागत्य सा गर्भं दधार परया मुदा । अ० । [१६]क. षष्टि पु० । ख. षड् द्वै पु० । [१७]ख. च । [१८]क. ख. ०तिर्विद्वान्ब्र० ।

तस्यान्ववायः सुमहान्भोजा[1] ये सार्त्तिकावताः । [2]अन्धकात्काश्यदुहिता चतुरोऽलभतात्मजान् ।।४५।।
कुकुरं भजमानं च [3]ससकं बलबर्हिषम् । कुकुरस्य सुतो [4]वृष्टिर्वृष्टेस्तु तनयस्तथा ।।४६।।
कपोतरोमा तस्याथ[5] तिलिरिस्तनयोऽभवत् । जज्ञे पुनर्व्वसुस्तस्मादभिजिच्च[6] पुनर्व्वसोः ।।४७।।
तथा वै पुत्रमिथुनं बभूवाभिजितः किल । आहुकः[7] श्राहुकश्चैव ख्यातौ [8]ख्यातिमतां वरौ ।।४८।।
इमां चोदाहरन्त्यत्र गाथां प्रति तमाहुकम्[9] । श्वेतेन परिवारेण किशोरप्रतिमो महान् ।।४९।।
[10]अशीतिवर्म्मणा युक्त आहुकः प्रथमं व्रजेत् । नापुत्रवान्नाशतदो नासहस्रशतायुषः ।।५०।।
नाशुद्धकर्म्मा नायज्वा यो भोजमभितो व्रजेत्[11] । पूर्व्वस्यां दिशि नागानां भोजस्य प्रययुः किल ।।५१।।
सोमत्सङ्गानुकर्षाणां ध्वजिनां सवरूथिनाम् । रथानां मेघघोषाणां सहस्राणि दशैव तु ।।५२।।
रौप्यकाञ्चनकक्षाणां[12] सहस्राण्येकविंशतिः । तावत्येव सहस्राणि उत्तरस्यां तथा दिशि ।।५३।।
आभूमिपालाभोजास्तु[13] सन्ति ज्याकिङ्किणीकिनः । आहुः[14] किंचाप्यवन्तिभ्यःस्वसारं ददुरन्धकाः[15] ।।५४।।
आहुकस्य तु काश्यायां[16] द्वौ पुत्रौ सम्बभूवतुः । देवकश्चोग्रसेनश्च[17] देवगर्भसमावुभौ ।।५५।।
देवकस्याभवन् पुत्राश्चत्वारस्त्रिदशोपमाः । देववानुपदेवश्च[18] संदेवो देवरक्षितः ।।५६।।
कुमार्य्यः सप्त[19] चास्याथ वासुदेवाय ता ददौ । देवकी शान्तिदेवा च सुदेवा[20] देवरक्षिता ।।५७।।
वृकदेव्यपदेवी च [21]सुनाम्नी चैव सप्तमी । नवोग्रसेनस्य सुतास्तेषां कंसस्तु पूर्व्वजः ।।५८।।

काश्य की कन्या ने अन्धक से कुकुर, भजमान, ससक और बलबर्हिष् नामक चार पुत्र उत्पन्न किये ।।४४-४५½।। कुकुर का पुत्र वृष्टि और वृष्टि का पुत्र कपोतरोमा था। कपोतरोमा का पुत्र तिलिरि हुआ। उससे पुनर्वसु की उत्पत्ति हुई। पुनर्वसु अभिजित् हुआ ।।४६-४७।। अभिजित् के आहुक और श्राहुक नामक महाप्रसिद्ध दो पुत्र हुए ।।४८।। आहुक के विषय में यह गाथा प्रसिद्ध है कि 'वह श्वेत परिवार से युक्त किशोर के समान था ।।४९।। अस्सी कवचों से युक्त वह अग्रणी बनकर चलता था और उसके चारों तरफ पुत्रवान्, यज्ञकर्ता, सैकड़ों दानदाता, सैकड़ों-हजारों वर्ष जीने वाले और शुद्ध कर्म करने वाले लोग गमन करते थे ।।५०½।। भोज के साथ पूर्व दिशा में दस हजार हाथी, दस हजार सेना, मेघ के समान शब्द करने दस हजार रथ और इकतीस हजार सोने-चाँदी के कक्ष रहते थे । उत्तर दिशा में भी उसके साथ उतनी ही संख्या में उक्त चीजें रहती थीं ।।५१-५३।। भोजवंश के सभी राजा प्रत्यंचा के शब्द से युक्त रहते थे । और भी कहा जाता है कि अन्धकों ने अवन्तियों को अपनी बहन दी ।।५४।। आहुक की पत्नी काश्या से देवक और उग्रसेन नामक देवसदृश तेजस्वी दो पुत्र उत्पन्न हुए ।।५५।। देवक के देवता के समान चार पुत्र—देवान्, उपदेव, संदेव और देवरक्षित उत्पन्न हुए ।।५६।। इसकी सात कन्याएँ देवकी, शान्तिदेवा, सुदेवा, देवरक्षिता, वृकदेवी, उपदेवी और सुनाम्नी वसुदेव के साथ ब्याही गयीं ।।५७½।। उग्रसेन के कंस, न्यग्रोध,

---

१ क. जानामार्तिकावताम् । अ० । ग. ०जाजेमार्तिकारताः । अ० । २ क. ०काङ्कस्य दु० । ख. ०काश्वस्य दु० । ३ ख. समकं दल० । ४क. वृष्णिर्वृष्णेस्तु । ५ क. ०थतत्तिरि० । ६ क. ०दनिभिच्च । ७ क. ०हुक आहुकी चैव । ८ क. मतिमतां । ९ख. ०हुवम् । १० क. ०तिकर्म० । ख. ०तिचर्म० । ११ ख. व्रजन् । १२ ग. ०कल्पानां स० । १३ क. ०जाश्वाःस । ख. ०जास्ते सा तिष्ठन्किङ्किणी किल । आ० । १४ क. ग. आहुकीं चा० । १५ ख. ० रञ्चकाः । १६ ग. काश्याया । १७ ख. ०र्भसुतावु० । १८ ग. ०वरानु० । १९. ०श्च सदे० । २० ख. ०प्तधाऽस्या० । २१ क. संदेवी ।

न्यग्रोधश्च सुनामा च तथा कङ्कः[1] सुभूषणः । राष्ट्रपालोऽथ सुतनुरनावृष्टिस्तु पुष्टिमान् ।।५९।।
तेषां स्वसारः पञ्चांसन् कंसा कंसवती तथा । सुतनू राष्ट्रपाली च कङ्का चैव वराङ्गना ।।६०।।
उग्रसेनः सहापत्यो व्याख्यातः कुकुरोद्भवः । कुकुराणामिमं वंशं धारयन्नमितौजसाम् ।।६१।।
आत्मनो विपुलं वंशं [2]प्रजावानाप्नुयान्नरः ।।६२।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे वृष्णिवंशनिरूपणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।।१५।।

षोडशोऽध्यायः

तत्रादौ सत्राजिदुपाख्यानवर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

भजमानस्य पुत्रोऽथ [3]रथमुख्यो विदूरथः । राजाधिदेवः शूरस्तु विदूरथसुतोऽभवत् ।।१।।
राजाधिदेवस्य सुता जज्ञिरे वीर्य्यवत्तराः । [4]दत्तातिदत्तौ बलिनौ शोणाश्वः श्वेतवाहनः ।।२।।
शमी च दण्डशर्म्मा च [5]दन्तशत्रुश्च शत्रुजित् । श्रवणा[6] च श्रविष्ठा च स्वसारौ सम्बभूवतुः ।।३।।
[7]शमिपुत्रः प्रतिक्षत्रः प्रतिक्षत्रस्य चात्मजः । स्वयम्भोजः स्वयम्भोजाद्भदिकः[8] सम्बभूव ह ।।४।।

सुनामा, कंक, सुभूषण, राष्ट्रपाल, सुतनु, अनावृष्टि और पुष्टिमान् नामक नौ पुत्र हुए, जिनमें कंस सबसे ज्येष्ठ था ।।५८-५९।। उनकी कंसा, कंसवती, सुतनु, राष्ट्रपाली और कंका नामक पाँच रूपवती बहनें थीं ।।६०।। इन संतानों के सहित उग्रसेन कुकुर का वंशज कहलाया । कुकुरों के अत्यन्त तेजस्वी वंश को सुनने से मनुष्य महान् प्रजावान् होता है ।।६१-६२।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में वृष्टि-वंश निरूपण नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ।।१५।।

अध्याय १६

सत्राजित् का उपाख्यान-वर्णन

लोमहर्षण ने कहा—भजमान के विदूरथ नामक महारथी पुत्र हुआ, और विदूरथ के राजाधिदेव नामक वीर पुत्र हुआ ।।१।। राजाधिदेव के दत्त, अतिदत्त, शोणाश्व, श्वेतवाहन, शमी, दण्डशर्मा, दन्तशत्रु और शत्रुजित् नामक अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र एवं श्रवणा और और श्रविष्ठा नाम की दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं ।।२-३।। शमी का पुत्र प्रतिक्षत्र और प्रतिक्षत्र का स्वयंभोज था । स्वयंभोज से भदिक उत्पन्न हुआ ।।४।। भदिक के महापराक्रमी पुत्रों में

---

१ क. काङ्कः । २ क. ०वान्प्राप्नु० । ३ क. जम्भभानो । ४ क. ०त्ताभिद० । ५ क. ०न्तचक्रश्च । ६ क. श्रीवीरा । ७क. ख. शमी पु० । ८ क. ०जाद्वृदीकः । ख. जाद्वृदि० ।

तस्य पुत्रा बभूवुर्हि सर्व्वे भीमपराक्रमाः । कृतवर्म्माग्रजस्तेषां शतधन्वा तु मध्यमः ॥५॥
देवान्तश्च नरान्तश्च भिषग्वैतरणश्च यः[1] । सुदान्तश्चातिदान्तश्च निकाश्यः कामदम्भकः ॥६॥
देवान्तस्याभवत् पुत्रो विद्वान् कम्बलबर्हिषः । असमौजाः सुतस्तस्य [2]नासमौजाश्च तावुभौ ॥७॥
अजातपुत्राय सुतान् प्रददावसमौजसे । सुदंष्ट्रश्च सुचारुश्च कृष्ण इत्यन्धकाः[3] स्मृताः ॥८॥
गान्धारी चैव माद्री च [4]क्रोष्टुभार्य्ये [5]बभूवतुः । गान्धारी जनयामास अनमित्रं महाबलम् ॥९॥
माद्री युधाजितं पुत्रं ततो[6] वै देवमीढुषम् । [7]अनमित्रममित्राणां जेतारमपराजितम् ॥१०॥
अनमित्रसुतो निघ्नो निघ्नतो द्वौ बभूवतुः । प्रसेनश्चाथ[8] सत्राजिच्छत्रुसेनाजितावुभौ ॥११॥
प्रसेनो द्वारवत्यां तु [9]निवसन् यो महामणिम् । दिव्यं स्यमन्तकं नाम[10] स सूर्यादुपलब्धवान् ॥१२॥
तस्य सत्राजितः सूर्य्यः यथा प्राणसमोऽभवत् । स कदाचन्निशापाये रथेन रथिनां वरः ॥१३॥
[11]तोयकूलमपः स्प्रष्टुमुपस्थातुं ययौ रविम् । तस्योपतिष्ठतः सूर्य्यं विवस्वानग्रतः स्थितः[12] ॥१४॥
विस्पष्टमूर्त्तिर्भगवांस्तेजोमण्डलवान् विभुः । अथ राजा विवस्वन्तमुवाच स्थितमग्रतः ॥१५॥
यथैव व्योम्नि[13] पश्यामि सदा त्वां ज्योतिषां पते । तेजोमण्डलिनं देवं तथैव पुरतः स्थितम् ॥१६॥
को विशेषोऽस्ति मे त्वत्तः [14]सख्येनोपगतस्य वै । एतच्छ्रुत्वा तु भगवान्मणिरत्नं स्यमन्तकम् ॥१७॥

सबसे ज्येष्ठ कृतवर्मा और मझला शतधन्वा था ॥५॥ इनसे छोटे देवान्त, नरान्त, सुदान्त, अतिदान्त, भिषग्वैतरण, निकाश्य तथा कामदम्भक थे ॥६॥ देवान्त का पुत्र विद्वान् कम्बलबर्हिष् था । उसके असमौजा और नासमौजा नामक दो पुत्र थे ॥७॥ पुत्र-विहीन असमौजा को अन्धक ने सुदंष्ट्र, सुचारु और कृष्ण नामक पुत्र दिये, जो अन्धक नाम से ही प्रख्यात हुए ॥८॥ क्रोष्टु की गान्धारी और माद्री नामक दो स्त्रियाँ थीं । गान्धारी ने अनमित्र नामक महाबली पुत्र को उत्पन्न किया ॥९॥ माद्री से युधाजित् और देवमीढुष नामक पुत्रों की उत्पत्ति हुई । देवमीढुष शत्रुओं का भी मित्र तथा सर्वदा विजयशील था ॥१०॥ अनमित्र का पुत्र निघ्न था । निघ्न के दो पुत्र थे—प्रसेन और सत्राजित् । दोनों शत्रु-विजयी थे ॥११॥ प्रसेन द्वारकापुरी में वास करने लगा । सत्राजित् ने सूर्य से स्यमन्तक नामक दिव्य महामणि को प्राप्त किया था ॥१२॥ उस सत्राजित् का प्राणप्रिय आराध्य सूर्य था । किसी समय रात्रि के अवसान में सूर्योपस्थान करने के लिए महारथी सत्राजित् रथ पर आरूढ़ होकर नदी के किनारे गया ॥१३॥ जब वह सूर्योपस्थान कर रहा था तब स्पष्ट मूर्तिमान्, तेजोमण्डल से युक्त तथा शक्ति-संपन्न भगवान् सूर्य उसके सामने स्थित हो गये । राजा ने सूर्य से निवेदन किया ॥१४-१५॥ 'हे ज्योतिष्पते ! जैसे आकाश में मैं आपको सदा तेजोमण्डल से युक्त देखता हूँ वैसे ही अपने सामने भी देख रहा हूँ ॥१६॥ इसलिए आपके साथ मेरी घनिष्ठता में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ ?' यह सुनकर भगवान् सूर्य ने अपने गले से स्यमन्तक मणि उतार कर एकान्त

---

[1] क. यः । युवानश्चापि निष्कोश्यो निष्कोश्यात्काम० । [2] क. तामसौजाश्च । ख. नाममौजाश्च । [3] ख. ०त्यन्ध्वकाः । [4] क. ख. क्रोष्टोर्भार्ये । [5] क. महाद्युती । [6] क. तथा । [7] ख. ०मित्रं च शत्रूणां । [8] क. ०श्चापि स० । [9] क. ०वसंश्च म० । [10] क. ग. समुद्राद‍ु० । [11] ख. ० लमुपस्थातुं स राजा च य० । [12] ग. ०तः । अस्य० । [13] क. देव । [14] ख. सहायत्वं ग० ।

स्वकण्ठादवमुच्चयाथ[१] एकान्ते न्यस्तवान् विभुः । ततो विग्रहवन्तं तं ददर्श नृपतिस्तदा ॥१८॥
प्रीतिमानथ तं दृष्ट्वा मुहूर्त्तं कृतवान् कथाम् । तमभिप्रस्थितं भूयो विवस्वन्तं स सत्रजित् ॥१९॥
लोकान्[२] भासयसे सर्व्वान् येन त्वं सततं प्रभो । तदेतन्मणिरत्नं मे भगवन् दातुमर्हसि ॥२०॥
ततः स्यमन्तकमणिं दत्तवान् भास्करस्तदा । स तमाबध्य[३] नगरीं प्रविवेश महीपतिः ॥२१॥
तं जनाः पर्य्यधावन्तः सूर्य्योऽयं गच्छतीति ह[४] । स्वां पुरीं स विसिष्माय राजा त्वन्तःपुरं तथा ॥२२॥
तं प्रसेनजितं दिव्यं मणिरत्नं स्यमन्तकम्। ददौ भ्रात्रे नरपतिः प्रेम्णा सत्राजिदुत्तमम् ॥२३॥
स मणिः स्यन्दते रुक्मं वृष्ण्यन्धकनिवेशने । कालवर्षी च पर्जन्यो न च व्याधिभयं ह्यभूत् ॥२४॥
लिप्सां चक्रे प्रसेनस्य[६] मणिरत्ने स्यमन्तके । गोविन्दो न च तं लेभे भक्तोऽपि न जहार सः ॥२५॥
कदाचिन्मृगयां यातः प्रसेनस्तेन भूषितः । स्यमन्तककृते सिंहाद्वधं[७] प्राप वनेचरात् ॥२६॥
अथ सिंहं प्रधावन्तमृक्षराजो महाबलः । निहत्य मणिरत्नं[८] तदादाय [९]प्राविशद्गुहाम् ॥२७॥
ततो वृष्ण्यन्धकाः कृष्णं प्रसेनवधकारणात् । प्रार्थनां[१०] तां मणेर्बद्ध्वा सर्व्वे एव शशङ्किरे ॥२८॥
स[११] शङ्क्यमानो धर्म्मात्मा अकारी सत्य कर्म्मणः । आहरिष्ये मणिमिति प्रतिज्ञाय वनं ययौ ॥२९॥
यत्र प्रसेनो मृगयां व्याचरत्तत्र चाप्यथ । प्रसेनस्य पदं गृह्य पुरुषैराप्तकारिभिः[१२] ॥३०॥

स्थान में रख दिया ॥१७$\frac{१}{३}$॥ तव राजा ने शरीरधारी सूर्य को देखा और प्रसन्नता से दो घड़ी तक उनसे वार्तालाप किया ॥१८$\frac{१}{३}$॥ जब सूर्य चलने लगे तव सत्राजित् ने फिर कहा—'भगवन् ! जिस मणिश्रेष्ठ से आप सव लोकों को सदा प्रकाशित करते हैं, वह मुझे दे दीजिये ॥१९-२०॥ तव सूर्य ने स्यमन्तकमणि उसे दे दी। उसने भी मणि को वाँधकर अपने नगर में प्रवेश किया ॥२१॥ नगर के लोक 'यह सूर्य आ रहा है' ऐसा समझकर भागने लगे। इस प्रकार नगरवासियों को विस्मित करते हुए राजा अन्तःपुर में चला गया ॥२२॥ राजा सत्राजित् ने अपने भाई प्रसेन को वह दिव्य मणिरत्न स्यमन्तक प्रेम से दे दिया ॥२३॥ वृष्णि-अन्धक कुल वालों के घर में वह मणि सोना झरती थी। मणि के रहते द्वारकापुरी में कभी अवृष्टि या अतिवृष्टि नहीं होती थी; व्याधि का भय तो कतई नहीं था ॥२४॥ कृष्ण को स्यमन्तक मणि की लालसा थी, पर उन्हें नहीं मिली। सामर्थ्यवान् होते हुए भी वे हरण नहीं कर सकते थे ॥२५॥ किसी समय मणि से विभूषित होकर प्रसेन शिकार खेलने गया। वन में विचरते हुए एक सिंह प्रसेन को मारकर स्यमन्तक मणि लेकर भाग गया ॥२६॥ दौड़ते हुए उस सिंह को महाबलवान् ऋक्षराज (जाम्बवान्) ने मार डाला और मणि लेकर वह अपनी गुहा में प्रविष्ट हो गया ॥२७॥ पश्चात् कृष्ण स्यमन्तक लेना चाहते थे, ऐसी आशंका कर वृष्णि-अन्धक-वंशियों ने श्रीकृष्ण पर प्रसेन के वध का आरोप लगाया ॥२८॥ धर्मात्मा कृष्ण दोषरहित होते हुए भी मिथ्यापरोप के वचने के लिए 'मैं मणि लाऊँगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर वन में गये ॥२९॥ जहाँ प्रसेन शिकार खेलने गया था उस (स्थान) को आप्त व्यक्तियों के द्वारा निश्चित कराकर उसके पद-चिह्नों के ऊपर

---

[१] ख. ०मुत्त्यैवमेका० । ग. मुत्त्यैनमेका० । [२] क. ग. कानुद्भासयस्येतान्ये० । [३] ख. ०मामुच्य न० । [४] ख. ह । पुरीं विस्मापयित्वा तु स राजाऽन्तः० । [५] क. ख. ततो । [६] ग. ०सेनात्तुम० । [७] क. द्वधमाप । [८] ग. ०त्नं तु आदाय वनमाविशत् । तं । [९] क. ०शद्विलम् । [१०] क. प्रार्थितं तं मणिं वुद्ध्वा । [११] क शङ्कमा० । [१२] ख रात्मका० ।

ऋक्षवन्तं[1] गिरिवरं विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम् । अन्वेषयन्[2] परिश्रान्तः स ददर्श महामनाः ॥३१॥
साश्वं हतं प्रसेनं तु नाविन्दत च तन्मणिम् । अथ सिंहः प्रसेनस्य शरीरस्याविदूरतः ॥३२॥
ऋक्षेण निहतो दृष्टः[3] पदैर्ऋक्षस्तु[4] सूचितः । पदैस्तैरन्वियायाथ गुहामृक्षस्य माधवः ॥३३॥
स हि ऋक्षविले वाणीं शुश्राव प्रमदेरिताम् । धात्र्या कुमारमादाय सुतं जाम्बवतो द्विजाः ॥३४॥
क्रीडयन्त्या च मणिना मा रोदीरित्यथेरिताम् । ॥३५॥

धात्र्युवाच

सिंहः प्रसेनमवधीत् सिंहो जाम्बवता हतः । सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः ॥३६॥
[5]व्यक्तिस्तस्य शब्दस्य[6] तूर्णमेव बिलं ययौ । प्रविश्य[7] तत्र भगवांस्तदृक्षबिलमञ्जसा ॥३७॥
स्थापयित्वा बिलद्वारे यदूँल्लाङ्गलिना सह । शार्ङ्गधन्वा बिलस्थं तु जाम्बवन्तं ददर्श सः ॥३८॥
युयुधे वासुदेवस्तु बिले जाम्बवता सह । बाहुभ्यामेव[8] गोविन्दो दिवसानेकविंशतिम् ॥३९॥
प्रविष्टेऽथ बिले कृष्णे बलदेवपुरःसराः । पुरीं द्वारवतीमेत्य हतं कृष्णं न्यवेदयन् ॥४०॥
वासुदेवोऽपि निर्जित्य जाम्बवन्तं महाबलम्[9] । लेभे जाम्बवतीं कन्यामृक्षराजस्य सम्मताम्[10] ॥४१॥
मणिं स्यमन्तकं चैव [11]जग्राहात्मविशुद्धये । अनुनीयर्क्षराजं तु निर्ययौ च ततो बिलात् ॥४२॥
उपायाद्द्वारकां कृष्णः सविनीतैः पुरःसरैः । एवं स मणिराहृत्य विशोध्यात्मानमच्युतः ॥४३॥

कृष्ण चलने लगे। पर्वत-श्रेष्ठ ऋक्षवान् और पर्वतोत्तम विन्ध्य पर्वत में मणि को ढूँढ़ते हुए जब वे थक गये तो अश्व सहित निहत प्रसेन दिखायी पड़ा किन्तु मणि वहाँ भी नहीं थी ॥३०-३१$\frac{१}{३}$॥ इधर-उधर देखने पर प्रसेन के शव के पास ही रीछ द्वारा निहत सिंह दिखायी पड़ा ॥३२$\frac{१}{३}$॥ रीछ के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए श्रीकृष्ण उसकी गुहा तक पहुँच गये। रीछ की खोह में श्रीकृष्ण को जाम्बवान् के बालक को मणि से खेलाती हुई धात्री के मुख से निकली हुई 'मत रोओ' यह वाणी सुनायी पड़ी ॥३३-३५॥

धात्री ने कहा—सिंह ने प्रसेन को मारा और सिंह को जाम्बवान् ने। हे सुपुत्र ! मत रोओ, यह तुम्हारी ही स्यमन्तक मणि है ॥३६॥ उसके शब्द स्पष्ट सुनते ही कृष्ण ने उस खोह में प्रविष्ट होने से पूर्व बिल-द्वार पर बलभद्र सहित यदुवंशियों को खड़ा कर दिया। शाङ्र्ग नामक धनुष को धारण करने वाले कृष्ण ने खोह में स्थित जाम्बवान् को देखा ॥३७-३८॥ बिल में वासुदेव जाम्बवान् के साथ मल्लयुद्ध करने लगे। इक्कीस दिनों तक दोनों बाहु-युद्ध करते रहे ॥३९॥ कृष्ण के खोह में प्रविष्ट हो जाने पर बलदेव सहित यदुवंशियों ने द्वारका आकर लोगों से कह दिया कि कृष्ण मारे गये ॥४०॥ कृष्ण ने महाबलशाली जाम्बवान् को जीतकर ऋक्षराज की इच्छानुसार उसकी कन्या जाम्बवती से विवाह कर आत्मशुद्धि के लिए (दहेज में) उसी स्यमन्तक मणि को प्राप्त किया। फिर वे जाम्बवान् को सान्त्वना देकर बिल से बाहर निकले ॥४१-४२॥ तब अपने विनयी अनुयायियों के साथ कृष्ण द्वारका पहुँचे। इस प्रकार मणि

---

१ ग. अक्षवन्तं। २ क. ग. अन्वियेष परि०। ३ ख. ०ष्टः पादै०। ४. ०क्षस्य भावितः। ख. ०क्षस्य सू०। ५ ख. व्यक्तीकृतश्च श०। ग. व्यक्तीकृतस्य श०। ६ ख. शब्दश्च। ७ क. विष्टस्तत्र। ८ क. ०भ्यामथ गो०। ९ क. महाबलः। १० ख. संमतम्। ११ ख. जहाराऽऽत्म०।

दद‍ौ सत्राजिते[1] तं वै सर्वसात्त्वतसंसदि[2]। एवं मिथ्याभिशस्तेन कृष्णेनामित्रघातिना ॥४४॥
आत्मा विशोधितः पापाद्विनिर्जित्य स्यमन्तकम् । सत्राजितो दश त्वासन् भार्य्यास्तासां शतं सुताः ॥४५॥
ख्यातिमन्तस्त्रयस्तेषां[3] भङ्गकारस्तु पूर्व्वजः[4]। वीरो [5]वातपतिश्चैव वसुमेधस्तथैव च ॥४६॥
कुमार्य्यश्चापि तिस्रो वै दिक्षु ख्याता द्विजोत्तमाः । सत्यभामोत्तमा [6]तासां व्रतिनी च दृढव्रता ।४७॥
तथा प्रस्वापिनी चैव भार्य्याः कृष्णाय ता ददौ । [7]सभाक्षो भङ्गकारिस्तु [8]नावेयश्च नरोत्तमौ ॥४८॥
जज्ञाते गुणसम्पन्नौ विश्रुतौ [9]रूपसम्पदा । माद्र्याः पुत्रोऽथ जज्ञेऽथ वृष्णिपुत्रो युधाजितः ॥४९॥
जज्ञाते तनयौ वृष्णेः श्वफल्कश्चित्रकस्तथा । श्वफल्कः काशिराजस्य सुतां भार्य्यामविन्दत ॥५०॥
गान्दिनीं नाम तस्याश्च गाः सदा प्रददौ पिता । तस्यां जज्ञे महाबाहुः श्रुतवानतिथिप्रियः ॥५१॥
अक्रूरोऽथ महाभागो जज्ञे विपुलदक्षिणः । उपमद्गुस्तथा मद्गुर्म्मुदरश्चारिमर्दनः[10] ॥५२॥
अरिक्षेपस्तथोपेक्षः[11] शत्रुहा चारिमेजयः । धर्म्मभृच्चापि [12]धर्म्मा च [13]गृध्रभोजान्धकस्तथा ॥५३॥
[14]आवाहप्रतिवाहौ च सुन्दरी च वराङ्गना । विश्रुताश्वस्य[15] महिषी कन्या चास्य [16]वसुन्धरा ॥५४॥
रूपयौवनसम्पन्ना सर्व्वसत्त्वमनोहरा । अक्रूरेणोग्रसेनायां[17] सुतौ वै कुलनन्दनौ[18] ॥५५॥
वसुदेवश्चोपदेवश्च जज्ञाते देववर्च्चसौ । चित्रकस्याभवन् पुत्राः पृथुर्व्विपृथुरेव च ॥५६॥

लेकर आत्म-शुद्धि के लिए वासुदेव ने यादवों से भरी हुई सभा में वह मणि सत्राजित् को दे दी ॥४३½॥ इस प्रकार मिथ्यापवाद को प्राप्त शत्रु-नाशन कृष्ण ने स्यमन्तक मणि को जीतकर पाप से अपनी शुद्धि की ॥४४½॥ सत्राजित् के दस पत्नियाँ और सौ पुत्र थे । उन पुत्रों में तीन ही प्रशस्त हुए । भङ्गकार ज्येष्ठ था और वीर वातपति तथा वसुमेध छोटे थे ॥४५-४६॥ विप्रवर ! सर्वत्र विख्यात सत्यभामा, दृढव्रता तथा प्रस्वापिनी नामक तीन कन्याएँ भी उसकी थीं । सत्राजित् ने उन कन्याओं का विवाह कृष्ण के साथ कर दिया ॥४७½॥ भंगकार के सभाक्ष और नावेय नामक रूप-गुण-संपन्न नरोत्तम पुत्र उत्पन्न हुए ॥४८½॥ माद्री का पुत्र युधाजित हुआ । वृष्णि के श्वफल्क और चित्रक नामक दो पुत्र हुए । श्वफल्क ने काशिराज की गान्दिनी नामक पुत्री से विवाह किया ॥४९-५०॥ पिता गान्दिनी को सदा गायें दिया करता था । गान्दिनी से अक्रूर नामक वीर, विद्वान्, अतिथि-पूजक, महाभाग्यशाली तथा बहुत दक्षिणा देने वाला पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५१½॥ अक्रूर के उपमद्गु, मद्गु, मुदर, अरिमर्दन, अरिक्षेप, उपेक्ष, शत्रुहा, अरिमेजय, दर्मभृत्, धर्मा, गृध्रभोजान्धक, आवाह और प्रतिवाह—ये पुत्र थे । उसकी वसुंधरा नामक कन्या, जो रूप-यौवन आदि सर्वगुणों से संपन्न थी, राजा अश्व की रानी बनी ॥५२-५४½॥ अक्रूर की पत्नी उग्रसेना से वसुदेव तथा उपदेव नामक दो देवसदृश तेजस्वी कुल-वर्धन पुत्र उत्पन्न हुए ॥५५½॥ चित्रक के पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव,

---

१ ख. ०ते चैव स० । २ क. ०र्वयादवसं० । ३ ग. ०षां नगका० । ४क. ०जः । विरोधाधिप० । ५ क. ०व उपश्रावस्त० । ६ क. ग. स्त्रीणां । ७ ख. ०क्षोभाङ्ग० । ८ ख. तारयेश्च । ९ ख. रूपसंवृतौ १० क. ग. ०नः । गिरि० । ११ क. ग. ०स्तथाक्षेपः श० । १२ ग. धर्मी । १३ क. ०ध्रसो जाम्बवस्त० । ग. ०ध्रमो जातुकस्त० । १४ क. आवाहुः प्रतिवाहुश्च सु० । १५. ०ता सा च महिषक० । ग. ता० स्वस्य मा० । १६ ख. वराङ्गना । १७ ग. ०सेन्यां तु सु० । १८ क. ०नौ । वृषदे० ।

[1]अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च सुपार्श्वकगवेषणौ। अरिष्टनेमिश्च सुता धर्म्मो धर्म्मभृदेव च ।।५७।।
सुबाहुर्बहुबाहुश्च श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ। इमां मिथ्याभिशस्तिं यः कृष्णस्य समुदाहृताम् ।।५८।।
वेद मिथ्याभिशापास्तं न स्पृशन्ति कदाचन ।।५९।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे स्यमन्तकप्रत्यानयननिरूपणं नाम षोडशोऽध्यायः ।।१६।।

सप्तदशोऽध्यायः

स्यमन्तकोपाख्यानवर्णनम्

लोहर्षण उवाच

यत्तु सत्राजिते कृष्णो मणिरत्नं स्यमन्तकम्। ददावहारयद्बभ्रुर्भोजेन शतधन्वना ।।१।।
सदा हि प्रार्थयामास सत्यभामामनिन्दिताम्। अक्रूरोऽन्तरमन्विष्यन्मणिं चैव स्यमन्तकम् ।।२।।
सत्राजितं ततो हत्वा शतधन्वा महाबलः। रात्रौ तं मणिमादाय ततोऽक्रूराय दत्तवान् ।।३।।
अक्रूरस्तु तदा विप्रा[2] रत्नमादाय चोत्तमम्। समयं कारयाञ्चक्रे नावेद्योऽहं त्वयेत्युत ।।४।।
[3]वयमभ्युत्प्रपत्स्यामः कृष्णेन[4] त्वां [5]प्रधर्षितम्। ममाद्य द्वारका सर्व्वा वशे तिष्ठत्यसंशयम् ।।५।।
हते पितरि दुःखार्त्ता सत्यभामा[6] मनस्विनी। प्रययौ रथमारुह्य नगरं वारणावतम् ।।६।।

अश्वबाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, धर्म, धर्मभृत्, सुबाहु और बहुबाहु पुत्र उत्पन्न हुए। उसके श्रविष्ठा और श्रवणा नामक दो कन्याएँ भी थीं ।।५६-५७½।। कृष्ण के इस मिथ्यापवाद की कथा को जो जानता है, उसे मिथ्यापवाद कभी नहीं लगता ।।५८-५९।।

श्री ब्रह्मपुराण में स्यमन्तक प्रत्यानयन-निरूपण नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त ।।१६।।

अध्याय १७

स्यमन्तक मणि की कथा

लोमहर्षण बोले—जिस स्यमन्तक मणि को कृष्ण ने सत्राजित् को दिया, उसे भोजवंशी शतधन्वा ने चुरा लिया।।१।। अवसर ढूँढ़ता हुआ अक्रूर सदैव अनिन्द्य सुन्दरी सत्यभामा से स्यमन्तक मणि के लिए प्रार्थना किया करता था।।२।। एक रात महाबली शतधन्वा ने सत्राजित् को मारकर स्यमन्तक मणि लाकर अक्रूर को दे दिया।।३।। विप्रवृन्द! उस उत्तम मणि को प्राप्त कर अक्रूर ने शतधन्वा से यह प्रतिज्ञा करायी कि 'अक्रूर के पास मणि है'—यह रहस्य तुम किसी से नहीं बतलाना।।४।। यदि कृष्ण तुम्हारा कोई अनिष्ट करेंगे तो हम तुम्हारी सहायता करेंगे। आज सारी द्वारका मेरे अधीन है, इसमें कोई संशय नहीं।।५।। निदान सत्राजित् के वध से दुःखी मनस्विनी सत्यभामा रथ पर

---

[1] ख. ०श्वसेनोऽश्व०। [2] क. ०प्रा मणि मा०। [3] ख. वयं कृष्णं प्रप०। [4] क. ०ष्णे च त्वां। [5] क. प्रधर्षति। [6] ग. ०मा यशस्वि०।

सत्यभामा तु तद्वृत्तं भोजस्य शतधन्वनः। भर्त्तुर्निवेद्य दुःखार्त्ता पार्श्वस्थाश्रूण्यवर्त्तयत् ।।७।।
पाण्डवानां च दग्धानां हरिः कृत्वोदकक्रियाम् । कुल्यार्थे चापि पाण्डूनां न्ययोजयत सात्यकिम् ।।८।।
ततस्त्वरितमागम्य द्वारकां मधुसूदनः। पूर्व्वजं हलिनं श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ।।९।।

श्रीकृष्ण उवाच

हतः प्रसेनः सिंहेन सत्राजिच्छतधन्वना। स्यमन्तकस्तु मद्गामी तस्य प्रभुरहं विभो ।।१०।।
तदारोह रथं शीघ्रं भोजं हत्वा महारथम् । स्यमन्तको महाबाहो अस्माकं स भविष्यति[1] ।।११।।

लोमहर्षण उवाच

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं भोजकृष्णयोः। शतधन्वा ततोऽक्रूरं सर्व्वतोदिशमैक्षत ।।१२।।
संरब्धौ तावुभौ तत्र दृष्ट्वा भोजजनार्दनौ। शक्तोऽपि[2] शापाद्धार्दिक्यमक्रूरो नान्वपद्यत ।।१३।।
अपयाने ततो बुद्धिं भोजश्चक्रे भयार्दितः। योजनानां शतं साग्रं हृदया प्रत्यपद्यत ।।१४।।
विख्याता हृदया नाम शतयोजनगामिनी। भोजस्य वडवा विप्रा यया कृष्णमयोधयत्[3] ।।१५।।
क्षीणां जवेन हृदयामध्वनः शतयोजने। दृष्ट्वा रथस्य स्वां वृद्धिं शतधन्वानमर्द्दयत् ।।१६।।
ततस्तस्या हतायास्तु श्रमात् खेदाच्च भो द्विजाः। समुत्पेतुरथ प्राणाः कृष्णो राममथाब्रवीत् ।।१७।।

चढ़कर वारणावत नामक नगर को चली गयी ।।६।। सत्यभामा शतधन्वा का संपूर्ण वृत्तान्त अपने स्वामी से निवेदन कर उन्हीं के पास खड़ी होकर रोने लगी ।।७।। श्री कृष्ण ने दग्ध पाण्डवों को जलांजलि देकर उनके अस्थि-संस्कार के लिए सात्यकि को नियुक्त कर दिया और फिर द्वारका पहुँच कर अपने ज्येष्ठ भाई बलभद्र से कहा ।।८-९।।

श्रीकृष्ण बोले—प्रभो ! सिंह ने प्रसेन को मार डाला और शतधन्वा ने सत्राजित् को । अब स्यमन्तक मणि का स्वामी मैं हूँ ।।१०।। इसलिए हम लोग शीघ्र रथारूढ़ होकर शतधन्वा को मारकर स्यमन्तक मणि ग्रहण करें ।।११।।

लोमहर्षण बोले—ऋषिवृन्द, इसके बाद कृष्ण और शतधन्वा में घोर युद्ध प्रारंभ हो गया । शतधन्वा चारों तरफ अक्रूर को ताकने लगा ।।१२।। परन्तु जब युद्ध में प्रवृत्त शतधन्वा और कृष्ण को देखकर सामर्थ्यवान् होते हुए भी अक्रूर शाप के कारण शतधन्वा की सहायता करने के लिए न आया तब भय से पीड़ित शतधन्वा ने भागने का विचार किया।।१३$\frac{१}{३}$।। विप्रगण! तब हृदया चार सौ कोस दूर चली गयी ।।१४।। भोज की हृदया नाम से विख्यात घोड़ी सौ योजन तक चलने वाली थी, जिस पर सवार होकर शतधन्वा कृष्ण से युद्ध कर रहा था ।।१५।। परन्तु चार सौ कोस पहुँचने पर हृदया का वेग क्षीण हो गया । तब अपने रथ को आगे बढ़ाकर श्रीकृष्ण शतधन्वा को पीड़ित करने लगे।।१६।। पश्चात् श्रम और खेद के कारण हृदया के प्राणपखेरू उड़ गये। तब कृष्ण ने राम से कहा।।१७।।

---

[1] क. ०ति । प्रावर्तत ततो यु० । [2] ग. ०पि साध्याद्धार्षिक्य० । [3] ख. ०ष्णभयोद्गतः । क्षी० ।

श्रीकृष्ण उवाच

तिष्ठेह त्वं महाबाहो दृष्टदोषा हया मया । पद्भ्यां गत्वा हरिष्यामि मणिरत्नं स्यमन्तकम् ॥१८॥
पद्भ्यामेव ततो गत्वा शतधन्वानमच्युतः मिथिलामभितो विप्रा जघान[1] परमास्त्रवित् ॥१९॥
स्यमन्तकं च नापश्यद्धत्वा भोजं महाबलम् । निवृत्तं चाब्रवीत् कृष्णं [2]मणिं देहीति लाङ्गली ॥२०॥
नास्तीति कृष्णश्चोवाच ततो रामो रुषान्वितः । धिक्शब्दपूर्व्वमसकृत् प्रत्युवाच जनार्द्दनम् ॥२१॥

बलराम उवाच

भ्रातृत्वान्मर्षयाम्येष स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् । कृत्यं न मे द्वारकया[3] न त्वया न च वृष्णिभिः ॥२२॥
प्रविवेश ततो रामो मिथिलामरिमर्द्दनः । सर्व्वकामैरुपहृतैर्मिथिलेनाभिपूजितः ॥२३॥
एतस्मिन्नेव काले तु बभ्रुर्मतिमतां वरः । नानारूपान् क्रतून्[4] सर्व्वानाजहार निरर्गलान् ॥२४॥
दीक्षामयं स कवचं रक्षार्थं प्रविवेश ह । स्यमन्तककृते प्राज्ञो गान्दीपुत्रो महायशाः ॥२५॥
अथ रत्नानि चान्यानि धनानि विविधानि च । षष्टिं वर्षाणि धर्म्मात्मा यज्ञेष्वेव न्ययोजयत् ॥२६॥
अक्रूरयज्ञा इति ते ख्यातास्तस्य महात्मनः । बह्वन्नदक्षिणाः सर्वे सर्व्वकामप्रदायिनः ॥२७॥
अथ दुर्य्योधनो राजा गत्वा स मिथिलां प्रभुः । गदाशिक्षां ततो दिव्यां बलदेवादवाप्तवान् ॥२८॥
सम्प्रसाद्य ततो रामो वृष्ण्यन्धकमहारथैः । आनीतो द्वारकामेव कृष्णेन च महात्मना ॥२९॥
अक्रूरश्चान्धकैः सार्द्धमायातः पुरुषर्षभः । हत्वा सत्राजितं सुप्तं[5] सहबन्धुं महाबलः ॥३०॥

श्रीकृष्ण बोले—महाशक्तिशालिन् ! आप यहीं रहिये; घोड़ी नष्ट हो चुकी है; अब मै पैदल ही जाकर मणिरत्न स्यमन्तक को ले आऊँगा ॥१८॥ तब परम अस्त्रज्ञ कृष्ण ने पैदल जाकर मिथिलापुरी के पास शतधन्वा को मार डाला पर महाबली भोज के मारने पर भी स्यमन्तक मणि नहीं मिली । कृष्ण के लौटने पर बलराम ने उनसे मणि माँगी ॥१९-२०॥ उन्होंने जवाब दिया कि मिली ही नहीं । यह सुन बलराम क्रुद्ध होकर कृष्ण को बार-बार धिक्कारने लगे ॥२१॥

बलराम ने कहा—भ्रातृ-स्नेह के कारण मैं तुम्हारा यह अपराध क्षमा कर रहा हूँ । अच्छा, तुम्हारा कल्याण हो, मैं जाता हूँ । मुझे न तो द्वारका से, न तुमसे, न वृष्णियों से ही कोई कार्य है ॥२२॥ तब शत्रुनाशन राम ने मिथिलापुरी में प्रवेश किया । मिथिलापति ने अनेक उपहारों से राम की पूजा की ॥२३॥ इसी समय बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अक्रूर ने नाना प्रकार के यज्ञ किये और स्यमन्तक की रक्षा के निमित्त दीक्षामय कवच भी धारण किया ॥२४½॥ स्यमन्तक के लिए उस महायशस्वी तथा बुद्धिमान् गान्दी-पुत्र अक्रूर ने साठ वर्षों तक अनेक प्रकार के रत्न तथा धन उन यज्ञों में लगाये ॥२५-२६॥ उस महात्मा के बहुत अन्न और दक्षिणा वाले तथा सब कामनाओं को देने वाले वे यज्ञ 'अक्रूर-यज्ञ' नाम से विख्यात हुए ॥२७॥ इसके बाद राजा दुर्योधन मिथिलापुरी जाकर बलदेव जी से दिव्य गदा-शिक्षा प्राप्त करने लगा ॥२८॥ कुछ दिनों बाद महारथी वृष्णि-अन्धक वंशियों के साथ कृष्ण बलराम को द्वारका लिवा लाये ॥२९॥ बन्धु सहित सोये सत्राजित् को मारकर

---

[1] क. जग्राह । [2] ग. रत्नं । [3] ख. द्वारकायां । [4] ख. ०तून्मुख्याना० । [5] ख. ग. युद्धे ।

ज्ञातिभेदभयात्कृष्णस्तमुपेक्षितवांस्तदा । अपयाते तदाक्रूरे नावर्षत्पाकशासनः ॥३१॥
अनावृष्ट्या तदा राष्ट्रमभवद्बहुधा कृशम् । ततः प्रसादयामासुरक्रूरं कुकुरान्धकाः ॥३२॥
पुनर्द्वारवतीं प्राप्ते तस्मिन् दानपतौ ततः । प्रववर्ष सहस्राक्षः कक्षे जलनिधेस्तदा ॥३३॥
कन्यां च वासुदेवाय स्वसारं शीलसम्मताम् । अक्रूरः प्रददौ[1] धीमान् प्रीत्यर्थं मुनिसत्तमाः ॥३४॥
अथ विज्ञाय [2]योगेन कृष्णो [3]बभ्रुगतं मणिम् । सभामध्यगतः[4] प्राह तमक्रूरं जनार्द्दनः ॥३५॥

श्रीकृष्ण उवाच

यत्तद्रत्नं [5]मणिवरं तव हस्तगतं विभो । तत्प्रयच्छ[6] च मानार्ह मयि मानार्य्यकं कृथाः ॥३६॥
षष्टिवर्षगते काले[7] यो[8] रोषोऽभून्ममानघ । स [9]संरूढोऽसकृत् प्राप्तस्ततः[10] कालात्ययो महान् ॥३७॥
स ततः[11] कृष्णवचनात् सर्व्वसात्त्वतसंसदि । प्रददौ तं मणिं बभ्रुरक्लेशेन [12]मामतिः ॥३८॥
ततस्तमार्जवात् प्राप्तं बभ्रोर्हस्तादरिन्दमः । ददौ हृष्टमनाः कृष्णस्तं मणिं बभ्रवे पुनः ॥३९॥
स कृष्णहस्तात् सम्प्राप्तं[13] मणिरत्नं स्यमन्तकम् । आबध्य गान्दिनीपुत्रो विरराजांशुमानिव ॥४०॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे सोमवंशकथनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

महाबली अक्रूर भी अन्धक वंशियों के साथ आया ॥३०॥ उस समय बन्धु-भेद के भय से कृष्ण ने उसका परित्याग कर दिया। अक्रूर के चले जाने पर इन्द्र ने वर्षा नहीं की ॥३१॥ अनावृष्टि के कारण राष्ट्र-विप्लव हो गया। तब कुकुर और अन्धक वंशवालों ने अक्रूर को प्रसन्न किया ॥३२॥ फिर उस दानपति के आने पर इन्द्र ने द्वारका में वृष्टि की ॥३३॥ मुनिवर ! बुद्धिमान् अक्रूर ने कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए स्वसा नामक अपनी सुशील कन्या उन्हें समर्पित कर दी ॥३४॥ पर योगबल से कृष्ण अक्रूर के पास मणि को जानकर सभा-मध्य में स्थित अक्रूर से कहने लगे ॥३५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे शक्ति-संपन्न ! आपके पास जो मणि-रत्न है, उसे आप समर्पित कर दीजिये, मेरे साथ अनार्य का-सा व्यवहार न कीजिये ॥३६॥ हे निष्पाप ! मणि संबंधी जो मेरा क्रोध था, वह अब शान्त हो गया है; क्योंकि इस बीच महान् काल व्यतीत हो गया अर्थात् तब से आज तक साठ वर्ष बीत गये ॥३७॥ तब कृष्ण के वचन सुनकर बुद्धिमान अक्रूर ने यादवों की सभा में प्रसन्नतापूर्वक मणि कृष्ण को लौटा दी ॥३८॥ अक्रूर के हाथ से मणि प्राप्त कर कृष्ण ने पुनः बड़ी प्रसन्नता से मणि उसी को लौटा दी ॥३९॥ वह गान्दिनी-पुत्र (अक्रूर) कृष्ण के हाथ से स्यमन्तक मणि को पाकर अपने गले में बाँध कर सूर्य की तरह सुशोभित होने लगा ॥४०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में चन्द्र-वंश-कथन नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥१७॥

---

[1] ग. ०दौ श्रीमा०। [2] क. ०य चातियो०। [3] ख. बन्धुग०। [4] क. ०गतं प्रा०। [5] ख. मणिमयं। [6] ख. ग. ०च्छस्व मा०। [7] ग. ०ले यद्रोषो०। [8] क. यो यज्ञोऽभूत्तवान०। [9] क. संतुष्टोऽन्यतः प्राप्त०। [10] ग. स्तदाका०। [11] क. तत्र। [12] क. ग. महाद्युतिः। [13] ख. ग. ०प्राप्यम०।

अष्टादशोऽध्यायः

तत्रादौ भुवनकोशद्वीपवर्णनम्

मुनय ऊचुः

अहो सुमहदाख्यानं भवता परिकीर्त्तितम् । भारतानां च सर्व्वेषां पार्थिवानां तथैव च ॥१॥
देवानां दानवानां च गन्धर्व्वोरगरक्षसाम् । दैत्यानामथ सिद्धानां गुह्यकानां तथैव च ॥२॥
अत्यद्भुतानि कर्म्माणि विक्रमा धर्म्मनिश्चयाः । विविधाश्च कथा दिव्या जन्म[1] चाग्र्यमनुत्तमम् ॥३॥
सृष्टिः प्रजापते सम्यकत्वया प्रोक्ता महामते[2] । प्रजापतीनां सर्वेषां गुह्यकाप्सरसां तथा ॥४॥
स्थावरं जङ्गमं सर्व्वमुत्पन्नं विविधं जगत् । त्वया प्रोक्तं महाभाग श्रुतं चैतन्मनोहरम् ॥५॥
कथितं पुण्यफलदं पुराणं श्लक्ष्णया गिरा । मनः कर्णसुखं सम्यक् प्रीणात्यमृतसम्मितम् ॥६॥
इदानीं श्रोतुमिच्छामः सकलं मण्डलं भुवः । वक्तुमर्हसि सर्व्वज्ञ[3] परं कौतूहलं हि नः ॥७॥
यावन्तः सागरा द्वीपास्तथा वर्षाणि पर्व्वताः । वनानि सरितः पुण्यदेवादीनां महामते ॥८॥
यत्प्रमाणमिदं सर्व्वं यदाधारं[4] यदात्मकम् । संस्थानमस्य जगतो यथावद्वक्तुमर्हसि ॥९॥

अध्याय १८

भुवन-कोश-द्वीप का वर्णन

मुनियों ने कहा—आपने भारतों (भरत-वंशोत्पन्न) तथा सब राजाओं का महान् आख्यान एवम् देवता, दानव, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, दैत्य, गुह्य और सिद्ध के अद्भुत कर्म, पराक्रम, धर्म-निश्चय, अनेक प्रकारकी दिव्यकथा और उत्तम जन्म वर्णन किये ॥१-३॥ हे महाबुद्धिमान् ! प्रजापति का सृष्टि-वर्णन भी आपने अच्छी तरह किया। सब प्रजा-पतियों, गुह्यकों, अप्सराओं, स्थावर, जंगम और विविध प्रकार के जगत् का चित्रण भी आपने खूब किया। हमने मन और कर्ण को सुख देने वाला, मनोहर तथा पुण्यफल-प्रद अमृत तुल्य पुराण आपके मुख से श्रवण किया ॥४-६॥ अब पृथ्वी के सम्पूर्ण मण्डल का वर्णन श्रवण करने की हमारी इच्छा है। हे सर्वज्ञ ! हमें बड़ी उत्कण्ठा है। अतः आप सुनाने की कृपा करे ॥७॥ हे महामते ! जितने समुद्र, द्वीप, वर्ष, पर्वत, वन, नदियाँ और पवित्र देवस्थल हैं एवम् जितने प्रमाणवाला, जिस आधारवाला और जिस स्वरूपवाला इस जगत् का संस्थान है, उन सबका यथोचित वर्णन करें ॥८-९॥

१क. ०न्म चैषाम० । २क. ०ते । नृपतीनां च स० । ३ग. धर्मज्ञ । ४क. यदधीनं ।

लोमहर्षण उवाच

मुनयः श्रूयतामेतत् [१]संक्षेपाद्वदतो मम । नास्य वर्षशतेनापि वक्तुं [२]शक्योऽतिविस्तरः ।।१०।।
[३]जम्बूप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ [४]शाल्मलश्चापरो द्विजाः । कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः ।।११।।
एते द्वीपाः [५]समुद्रैस्तु सप्तसप्तभिरावृताः । लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलैः [६]समम् ।।१२।।
जम्बूद्वीपः [७]समस्तानामेतेषां [८]मध्यसंस्थितः । तस्यापि मध्ये विप्रेन्द्र मेरुः कनकपर्व्वतः ।।१३।।
चतुरशीतिसाहस्रैर्योजनैस्तस्य चोच्छ्रयः । प्रविष्टः षोडशाधस्ताद्द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि[१०] विस्तृतः ।।१४।।
मूले षोडशसाहस्रैर्विस्तारस्तस्य सर्व्वतः । [११]भूपद्मस्यास्य शैलोऽसौ कर्णिकाकारसंस्थितः ।।१५।।
हिमवान् हेमकूटश्च निषधस्तस्य दक्षिणे । नीलः श्वेतश्च शृंङ्गी च उत्तरे वर्षपर्व्वताः ।।१६।।
लक्षप्रमाणौ द्वौ मध्ये[१२] दशहीनास्तथापरे । सहस्रद्वितयोच्छ्रायास्तावद्विस्तारिणश्च ते[१३] ।।१७।।
भारतं प्रथमं वर्षं ततः किंपुरुषं स्मृतम्[१४] । हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्द्दक्षिणतो द्विजाः ।।१८।।
रम्यकं चोत्तरं वर्षं तस्यैव[१५] तु हिरण्मयम् । उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारतं[१६] तथा ।।१९।।
नवसाहस्रमेकैकमेतेषां द्विजसत्तमाः । [१७]इलावृतं च तन्मध्ये[१८] सौवर्णो मेरुरुच्छ्रितः ।।२०।।
मेरोश्चतुर्दिशं तत्रं[१९] नवसाहस्रविस्तृतम् । इलावृतं [२०]महाभागाश्चत्वारश्चात्र पर्व्वताः ।।२१।।

लोमहर्षण बोले—मुनिवृन्द! इसका विस्तृत वर्णन सौ वर्ष में भी नहीं हो सकता, इसलिए संक्षेपतः सुनें।।१०।। द्विजगण! जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शाक तथा पुष्कर नामक सात द्वीप हैं।।११।। सातों द्वीप लवण, ईख, मदिरा, घृत, दही, दूध और जल के साथ सात समुद्रों से वेष्टित हैं।।१२।। इन सब द्वीपों के मध्य में जम्बूद्वीप स्थित है। द्विजवर! उसके भी बीच में सुवर्ण का मेरुपर्वत है।।१३।। मेरुपर्वत चौरासी हजार योजन ऊँचा सोलह हजार योजन पृथ्वी के भीतर प्रविष्ट बत्तीस हजार योजन मस्तक (चोटी) में और सोलह हजार योजन मूल में विस्तृत है।।१४$\frac{१}{३}$।। पृथ्वी रूपी कमल के लिए मेरु कर्णिका (कमल का छत्ता या पँखुड़ी) है। दक्षिण भाग में हिमवान्, हेमकूट और निषध नामक पर्वत स्थित हैं। उत्तर में नील, श्वेत और शृंगवान् नामक वर्ष पर्वत स्थित हैं।।१५-१६।। बीच में एक-एक लाख योजन विस्तृत दो पर्वत हैं तथा नब्बे हजार विस्तृत अन्य पर्वत भी हैं। उन पर्वतों की ऊँचाई तथा चौडाई दो हजार योजन की है।।१७।। द्विजगण! मेरु से दक्षिण पहले भारतवर्ष तब किंपुरुषवर्ष वर्ष, हरिवर्ष तथा अन्य वर्ष भी स्थित हैं।।१८।। उत्तर की ओर रम्यक वर्ष, हिरण्मयवर्ष और उत्तरकुरुवर्ष भारत ही की तरह स्थित हैं।।१९।। द्विजवर! इलावृतवर्ष समेत ये सब नौ-नौ हजार योजन विस्तृत हैं। उनके बीच सुवर्ण का ऊँचा मेरु पर्वत स्थित है।।२०।। महाभाग ऋषिवृन्द! मेरु के चारों तरफ नौ हजार योजन विस्तृत इलावृत वर्ष है। इलावृतवर्ष में मेरु तक फैले हुए दस हजार योजन विस्तृत चार पर्वत भी हैं।।२१$\frac{१}{३}$।। मेरु पूर्व मन्दरा-

---

१ख.ग. ०पाद्गद० । २क. शक्येत विस्तरम् । ज० । ३घ. जम्बुप्ल० । ४क. ख. शाल्मलिश्चा ० । ५क. ख. ०द्रैश्च सप्तभिः परिवारिताः । ६क. समाः । ७ग. जम्बुद्वी० । ८क. फ. समुद्राणामे० । ९क. ०ध्यतः स्थि० । १०ख. ०द्वाविंशमूर्ध्नि । ११ख. भूमिपद्मस्य । १२ग. मध्यौ । १३क. ये। १४क. द्विजाः। १५ख.ग. ०स्यैवानु हि० । १६क. ०रतास्तथा । १७क. ०वृतश्चतस् । १८क. ०ध्ये योजनायुतविस्तृतः । १९क. तच्च । १०क. महद्द्वीपं चत्वा० ।

विष्कम्भा[१] वितता मेरोर्योजनायुतविस्तृताः । पूर्व्वेण मन्दरो[२] नाम दक्षिणे गन्धमादनः ।।२२।।
विपुलः पश्चिमे पार्श्वे सुपार्श्वश्चोत्तरे स्थितः । कदम्बस्तेषु जम्बूश्च[३] पिप्पलो वट एव च ।।२३।।
एकादशशतायामाः पादपा गिरिकेतवः । जम्बूद्वीपस्य सा जम्बूर्नामहेतुर्द्विजोत्तमाः ।।२४।।
महागजप्रमाणानि जम्ब्वास्तस्याः फलानि वै । पतन्ति भूभृतः पृष्ठे शीर्यमाणानि सर्व्वतः[४] ।।२५।।
रसेन तेषां विख्याता तत्र जम्बूनदीति वै । सरित्प्रवर्तते सा च पीयते तन्निवासिभिः ।।२६।।
न खेदो[५] न च दौर्गन्ध्यं न जरा नेन्द्रियक्षयः । तत्पानस्वस्थमनसां जनानां[६] तत्र जायते ।।२७।।
तीरमृत्तद्रसं प्राप्य सुखवायुविशोषिता[७] । जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं सिद्धभूषणम् ।।२८।।
भद्राश्वं[८] पूर्व्वतो मेरोः केतुमालञ्च[९] पश्चिमे । वर्षे द्वे तु मुनिश्रेष्ठास्तयोर्मध्ये[१०] त्विलावृतम् ।।२९।।
वनं चैत्ररथं पूर्व्वे[११] दक्षिणे गन्धमादनम् । वैभ्राजं पश्चिमे तद्वदुत्तरे नन्दनं स्मृतम् ।।३०।।
अरुणोदं [१२]महाभद्रमसितोदं समानसम् । सरांस्येतानि चत्वारि देवभोग्यानि [१३]सर्व्वदा ।।३१।।
शान्तवांश्चक्रकुञ्जश्च कुररी माल्यवांस्तथा[१४] । वैकङ्कप्रमुखा मेरोः पूर्व्वतः [१५]केसराचलाः ।।३२।।
त्रिकूटः [१६]शिशिरश्चैव पतङ्गो रुचकस्तथा । निषधादयो दक्षिणतस्तस्य केसरपर्व्वताः ।।३३।।
शिखिवासः[१७] सवैदूर्य्यः कपिलो गन्धमादनः । [१८]जानुधिप्रमुखास्तद्वत्[१९] पश्चिमे केसराचलाः ।।३४।।
[२०]मेरोरनन्तरास्ते च [२१]जठरादिष्ववस्थिताः । [२२]शङ्खकूटोऽथ ऋषभो हंसो नागस्तथापराः ।।३५।।

चल, दक्षिण गन्धमादन, पश्चिम विपुल और उत्तर सुपार्श्व स्थित हैं ।।२२½।। इन चारों पर्वतों पर कदम्ब, जामुन, पीपल और वट ग्यारह सौ योजन लम्बी पताका के रूप में स्थित हैं ।।२३½।। द्विजवर ! वही जामुन 'जम्बूद्वीप' नाम होने का कारण है। उस जामुन के विशाल हाथी के बराबर-बराबर फल पककर पर्वत के पृष्ठ भाग में गिरते रहते हैं ।।२४-२५।। उन फलों के रस से जम्बूनदी नाम से विख्यात नदी बह रही है, जिसका रस वहाँ के निवासी पीते हैं ।।२६।। उस रस के पान करने वालों को खेद, दुर्गन्ध, बुढ़ापा, और इन्द्रिय-क्षय नहीं होता ।।२७।। वहाँ के उत्तम वायु में तट की मृत्तिका सूखकर जाम्बूनद नाम से ख्यात सुवर्ण बनकर सिद्धों का आभूषण होती है ।।२८।। मुनिगण ! मेरु से पूर्व भद्राश्ववर्ष, पश्चिम केतुमालवर्ष और इन दोनों के मध्य में इलावृतवर्ष है ।।२९।। पूरब में चैत्ररथ, दक्षिण में गन्धमादन, पश्चिम में वैभ्राज और उत्तर में नन्दन नामक वन हैं ।।३०।। अरुणोद, महाभद्र, असितोद और मानस नामक सदा देव-भोग्य चार सरोवर हैं ।।३१।। शान्तवान्, चक्रकुञ्ज, कुररी, माल्यवान् और वैकंक नामक केसर-पर्वत मेरु के पूर्व में स्थित हैं ।।३२।। त्रिकूट, शिशिर, पतंग, रुचक और निषध नामक केसर-पर्वत दक्षिण में स्थित हैं ।।३३।। शिखिवास, सवैदूर्य, कपिल, गन्धमादन और जानुधि नामक केसर-पर्वत पश्चिम में स्थित हैं। शंखकूट, ऋषभ, हंस, नाग और कालञ्जर नामक केसर-पर्वत उत्तर में स्थित हैं ।।३४-

---

[१] क. ०म्भारविता। [२] ख. ०रो मेरोर्दक्षि०। [३] क. जम्बुश्च। [४] क. सर्वशः। [५] क. ख. स्वेदो। [६] क. नराणां। [७] ख. ०षितम्। जा०। [८] क. ख. ०द्राश्वः पू०। [९] क. ख. ०मालश्च प०। [१०] क. ०र्मध्य इला०। [११] क. पूर्वं। [१२] क. ०भद्रं शुचितोयं स०। ग. ०भद्रं सशीतो०। [१३] क. ०दा। शीतानकं कुरंगं च कुरगी मा०। ग. ०दा। शीताम्भश्च कुमुजश्च कुवरी। [१४] क. ०था। पाकेन्दुप्र०। [१५] ख. केशरावलाः। [१६] ग. शिखर०। [१७] ग. वासा स०। [१८] ग. जारुधि०। [१९] क. ०नविप्र०। [२०] क. ०रत्रान्तरे श्रेष्ठाज०। [२१] क. ०रादौ व्यवस्थि०। [२२] क. ०ङ्खकण्ठोऽथ।

कालञ्जराद्याश्च तथा उत्तरे केसराचलाः । चतुर्द्दश सहस्राणि योजनानां महापुरी ॥३६॥
मेरोरुपरि विप्रेन्द्रा ब्रह्मणः कथिता[1] दिवि । तस्यां समन्ततश्चाष्टौ दिशासु विदिशासु च ॥३७॥
इन्द्रादिलोकपालानां प्रख्याताः प्रवराः पुरः । विष्णुपादविनिष्क्रान्ता प्लावयन्तीन्दुमण्डलम् ॥३८॥
समन्ताद्ब्रह्मणः पुर्य्यां गङ्गा पतति वै दिवि[2] । सा तत्र पतिता दिक्षु चतुर्धा प्रत्यपद्यत ॥३९॥
सीता चालकनन्दा च चक्षुर्भद्रा च वै क्रमात् । पूर्व्वेण[3] सीता शैलाच्च शैलं यान्त्यन्तरिक्षगाः ॥४०॥
ततश्च पूर्व्ववर्षेण भद्राश्वेनेति सार्णवम् । तथैवालकनन्दा[4] च दक्षिणेनैत्य भारतम् ॥४१॥
प्रयाति सागरं भूत्वा सप्तभेदा द्विजोत्तमाः । चक्षुश्च पश्चिमगिरीनतीत्य सकलांस्ततः ॥४२॥
पश्चिमं केतुमालाख्यं वर्षमन्वेति सार्णवम् । भद्रा तथोत्तरगिरीनुत्तरांश्च तथा कुरून् ॥४३॥
अतीत्योत्तरमम्भोधिं समभ्येति द्विजोत्तमाः[5] । आनीलनिषधायामौ माल्यवद्गन्धमादनौ ॥४४॥
तयोर्मध्यगतो मेरुः कर्णिकाकारसंस्थितः । भारताः केतुमालाश्च भद्राश्वाः कुरवस्तथा ॥४५॥
पत्राणि [6]लोकशैलस्य मर्य्यादाशैलबाह्यतः । [7]जठरो देवटकूटश्च मर्य्यादापर्व्वतावुभौ ॥४६॥
तौ दक्षिणोत्तरायामावानीलनिषधायतौ । गन्धमादनकैलासौ [8]पूर्व्वपश्चात्तु तावुभौ ॥४७॥
अशीतियोजनायामावर्णवान्तर्व्यवस्थितौ[9] । निषधः पारियात्रश्च मर्य्यादापर्व्वतावुभौ ॥४८॥
तौ दक्षिणोत्तरायामावानीलनिषधायतौ । मेरोः पश्चिमदिग्भागे यथा पूर्व्वौ तथा स्थितौ ॥४९॥

३५½॥ विप्रवर ! मेरु पर ब्रह्मा की चौदह हजार योजन विस्तृत महापुरी स्थित है ॥ ३६॥ उसके चारों ओर दिशाओं और कोणों में इन्द्र आदि लोक-पालों की आठ नगरियाँ प्रख्यात हैं ॥ ३७½॥ विष्णु के पैर से समुद्भूत आकाश-गंगा चन्द्र-मंडल को प्लावित करती हुई ब्रह्मा की नगरी के चारों तरफ गिरती है ॥३८½॥ वहाँ से गंगा चार दिशाओं में क्रमशः सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा नाम से निकलती हैं ॥ ३९½॥ सीता नामक आकाश-गंगा पर्वत से पूर्व की ओर जाकर पर्वत में ही मिलती है । फिर वही गंगा भद्राश्व नामक वर्ष-पर्वत से मिलकर समुद्र में मिल जाती है ॥४०½॥ द्विजगणश्रेष्ठ ! उसी तरह अलकनन्दा सात भागों में बँटकर दक्षिण की ओर भारतखण्ड होते हुए समुद्र में मिल जाती है ॥४१½॥ चक्षु नामक गंगा पश्चिम दिशा के सब पर्वतों का अतिक्रमण कर केतुमाल नामक वर्षपर्वत होते हुए समुद्र में मिल जाती है ॥४२½॥ भद्रा नामक आकाशगंगा उत्तर के पर्वतों तथा कुरु देशों का अतिक्रमण कर उत्तर समुद्र में मिल जाती है ॥४३½॥ द्विजवर ! नील से निषध तक एवम् माल्यवान् से गन्धमादन तक मेरु पर्वत कनैल के आकार में स्थित है ॥४४½॥ मर्यादापर्वत के बाहर लोकपर्वत के भारत, केतुमाल, भद्राश्व और कुरु पत्र हैं । जठर और देवकूट मर्यादा-पर्वत हैं ॥४५-४६॥ ये दोनों दक्षिण-उत्तर में नील और निषध तक विस्तृत हैं । पूर्व-पश्चिम की ओर गन्ध-मादन और कैलास अस्सी योजन लम्बे तथा समुद्र तक विस्तृत हैं ॥४७½॥ निषध और पारियात्र दोनों मर्यादा-पर्वत कहलाते हैं । ये दोनों भी दक्षिण-उत्तर में नील निषध तक विस्तृत हैं तथा मेरु के पश्चिम दिग्भाग में वे दोनों पूर्व की तरह ही अवस्थित हैं ॥४८-४९॥ त्रिशृंग और

---

[1] ग. प्रथिता । [2] ख. दिवः । [3] ख. ०णहशैलाच्छीतालं शै० । [4] ख. ०न्दाऽपि द० । [5] ख. महामने । [6] ग. ०कपद्मस्य । [7] ख. तवरो । [8] ग. ०श्चायता० । [9] ग. ०न्तव्यव० ।

त्रिशृङ्गो जारुधिश्चैव उत्तरौ वर्षपर्व्वतौ । पूर्व्वपश्चायतावेतावर्णवान्तर्व्यवस्थितौ ।।५०।।
इत्येते हि[१] मया प्रोक्ता मर्य्यादापर्व्वता द्विजाः । [२]जठरावस्थिता मेरोर्य्येषां द्वौ द्वौ [३]चतुर्द्दिशम् ।।५१।।
मेरोश्चतुर्द्दिशं ये तु प्रोक्ताः [४]केसरपर्व्वताः[५] । सीतान्ताद्या द्विजास्तेषामतीव हि मनोहराः ।।५२।।
[६]शैलानामन्तरद्रोण्यः सिद्धचारणसेविताः । सुरम्याणि तथा तासु काननानि[७] पुराणि च ।।५३।।
लक्ष्मीविष्ण्वग्निसूर्य्येन्द्रदेवानां मुनिसत्तमाः । [८]तास्वायतनवर्षाणि[९] जुष्टानि नरकिन्नरैः[१०] ।।५४।।
गन्धर्व्वयक्षरक्षांसि तथा[११] दैतेयदानवाः । क्रीडन्ति तासु रम्यासु शैलद्रोणीष्वहर्निशम् ।।५५।।
भौमा ह्येते स्मृताः सर्गा धर्म्मिणामालया द्विजाः । नैतेषु पापकर्त्तारो यान्ति जन्मशतैरपि ।।५६।।
भद्राश्वे भगवान् विष्णुरास्ते हयशिरा द्विजाः । [१२]वाराहः केतुमाले तु भारते कूर्म्मरूपधृक् ।।५७।।
मत्स्यरूपश्च गोविन्दः कुरुष्वास्ते सनातनः । विश्वरूपेण सर्व्वत्र सर्व्वः सर्व्वेश्वरो हरिः ।।५८।।
सर्व्वस्याधारभूतोऽसौ द्विजा आस्तेऽखिलात्मकः । यानि किम्पुरुषाद्यानि वर्षाण्यष्टौ द्विजोत्तमाः ।।५९।।
न तेषु शोको नायासो नोद्वेगः क्षुद्भयादिकम् । सुस्थाः प्रजा निरातङ्काः सर्व्वदुःखविवर्ज्जिताः ।।६०।।
दशद्वादशवर्षाणां सहस्राणि स्थिरायुषः[१३] । नैतेषु भौमान्यन्यानि क्षुत्पिपासादि नो द्विजाः ।।६१।।

जारुधि नामक वर्षपर्वत पूर्व-पश्चिम की ओर विस्तृत होकर समुद्र तक चला गया है ।।५०।। द्विजगण ! उन मर्यादा-पर्वतों के बारे में मैंने बतला दिया, जो दो-दो करके मेरु पर्वत की चारों दिशाओं में स्थित हैं ।।५१।। मेरु के चारों तरफ स्थित केसर पर्वत के विषय में भी मैंने बतला दिया, जिनके आदि-अन्त शीतल एवं मनोहर हैं ।।५२।। विप्रवृन्द ! उन पर्वतों के मध्य में सिद्ध-चारणों से सेवित अन्तर द्रोणियाँ (पर्वतों के बीच की भूमि) हैं । जहाँ लक्ष्मी, विष्णु, अग्नि, सूर्य, इन्द्र आदि देवताओं के रमणीय वन तथा नगर हैं ।।५३½।। मुनिवर ! नर-किन्नरों से सुसेवित उन उत्तम स्थानों में गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, दैत्य और दानव निवास करते हुए उन रमणीय पर्वत-द्रोणियों में दिन-रात क्रीड़ा किया करते हैं ।।५४-५५।। द्विजगण ! धर्मात्माओं के लिए उस भूमि के गृह स्वर्गीय गृह हैं । पापात्मा लोग सैकड़ों जन्म के बाद भी वहाँ नहीं जा सकते ।।५६।। विप्रवर ! भद्राश्ववर्ष में हयशिरा तथा केतुमाल में वाराह नाम से प्रसिद्ध विष्णु रहते हैं । भारत में कूर्म तथा मत्स्यरूपधारी विष्णु रहते हैं। कुरु देशों में सनातन गोविन्द वास करते हैं ।।५७½।। सर्वेश्वर हरि विश्वरूप से सब जगह रहते हैं ।।५८।। विप्रवर्य ! अखिलात्मा विष्णु सब के आधार हैं । किंपुरुष आदि आठ वर्ष जो पहले कहे गये हैं, उनमें शोक, परिश्रम, उद्वेग और क्षुधा-भय का लेश भी नहीं है ।।५९½।। वहाँ की प्रजा स्वस्थ, आतंक-रहित और सब प्रकार के दुःखों से विवर्जित रहती है ।।६०।। वहाँ मनुष्यों की आयु दस हजार अथवा बारह हजार वर्षों की होती है । विप्रवृन्द ! यहाँ के लोगों की तरह उन्हें भूख-प्यास नहीं सताती ।।६१।। उन स्थानों में कृतयुग, त्रेता आदि

---

१ ख. च । २ ख. ०ठराद्यास्थि० । ३ क. व्यवस्थितौ । ४ ख. केशर० । ५ क. ०ताः । सीता० । ग. ०ताः । पीता० । ६ ख. ०नामुत्तरद्रो० । ७ क. ०नि च सर्वतः । ल० । ८ क. तान्याय ० । ९ क. ०नमुख्यानि जु० । १० क. ० रैः । अप्सरोय० । ११ क. ०था गन्धर्वकिंनराः । क्री० । १२ ग. वराहः । १३ ख. ०षः । न तेषु वर्षते देवो भौमान्यम्भांसि तेषु वै । कृ० ।

कृतत्रेतादिका नैव तेषु स्थानेषु कल्पना । सर्व्वेष्वेतेषु वर्षेषु सप्त सप्त कुलाचला: ॥
नद्यश्च शतशस्तेभ्य: [1]प्रसूता या द्विजोत्तमा: । ॥६२॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे भुवनकोशद्वीपवर्णनं नामाष्टादशोऽध्याय: ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्याय:

जम्बूद्वीपवर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

उत्तरेण समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे । वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्तति: ॥१॥
नवयोजनसाहस्रो विस्तारश्च द्विजोत्तमा: । कर्म्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गञ्च इच्छताम् ॥२॥
महेन्द्रो मलय: सह्य: शुक्तिमानृक्षपर्व्वत: । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्व्वता: ॥३॥
अत: सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात् प्रयाति वै । तिर्य्यक्त्वं नरकं चापि यान्त्यत: पुरुषा द्विजा: ॥४॥
इत: स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यं चान्ते च गच्छति । न खल्वन्यत्र मर्त्त्यानां कर्म्मभूमौ विधीयते ॥५॥
भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निशामय । इन्द्रद्वीप: कसेतुमांस्ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ॥६॥

युगों की कल्पना नहीं होती । विप्रवर्य ! इन सब वर्षों में भी सात-सात पर्वत स्थित हैं और उन पर्वतों से सैकड़ों नदियाँ निकलती हैं ॥६२॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में भुवन-कोश-द्वीप-वर्णन नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥१८॥

अध्याय १९

जम्बूद्वीप का वर्णन

समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण भारतवर्ष है, जहाँ की सन्तति भारती नाम से पुकारी जाती है॥१॥ विप्रवर ! भारतवर्ष नौ हजार योजन विस्तृत है । स्वर्ग और मोक्ष के इच्छुकों के लिए यह कर्मभूमि है॥२॥ यहाँ पर महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र—ये सात कुलपर्वत हैं ॥३॥ यहाँ के मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करते हैं। यहाँ से पुरुष पक्षीयोनि में और नरक में भी जाते हैं ॥४॥ यहाँ से मध्यकाल में स्वर्ग और अन्तकाल में मोक्ष को भी प्राप्त करते हैं । मनुष्यों के लिए इसके अतिरिक्त कर्मभूमि कहीं नहीं

---

[1] ख. प्रसृता ।

नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्व्वस्त्वथ वारुणः । अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ॥७॥
योजनानां सहस्रं च द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरात् । पूर्व्वे किरातास्तिष्ठन्ति पश्चिमे यवनाः स्थिताः ॥८॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः । इज्यायुद्धवणिज्याद्यवृत्तिमन्तो व्यवस्थिताः ॥९॥
शतद्रुचन्द्रभागाद्या हिमवत्पादनिःसृताः । वेदस्मृतिमुखाश्चान्याः परियात्रोद्भवा मुने ॥१०॥
नर्म्मदासुरमाद्याश्च नद्यो विन्ध्यविनिःसृताः । तापीपयोष्णीनिर्व्विन्ध्याकावेरीप्रमुखा नदीः ॥११॥
ऋक्षपादोद्भवा ह्येताः श्रुताः पापं हरन्ति याः । गोदावरीभीमरथीकृष्णवेण्यादिकास्तथा ॥१२॥
सह्यपादोद्भवा नद्यः स्मृताः पापभयापहाः । कृतमालाताम्रपर्णीप्रमुखा मलयोद्भवाः ॥१३॥
त्रिसान्ध्यऋषिकुल्याद्याः महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः । ऋषिकुल्याकुमाराद्याः शुक्तिमत्पादसम्भवाः ॥१४॥
आसां नद्युपनद्यश्च सन्त्यन्यास्तु सहस्रशः । तास्विमे कुरुपञ्चालमध्यदेशादयो जनाः ॥१५॥
पूर्व्वदेशादिकाश्चैव कामरूपनिवासिनः । प्रौण्ड्राः कलिङ्गा मगधा दाक्षिणात्याश्च सर्व्वशः ॥१६॥
तथापरान्त्याः सौराष्ट्राः शूद्राभीरास्तथाऽर्व्वुदाः । मारुका मालवाश्चैव पारियात्रनिवासिनः ॥१७॥
सौवीराः सैन्धवापन्नाः शाल्वाः शाकलवासिनः । मद्रा रामास्तथाम्बष्ठाः पारसीकादयस्तथा ॥१८॥
आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सरितां सदा । समोपेता महाभागा हृष्टपुष्टजनाकुलाः ॥१९॥
वसन्ति भारते वर्षे युगान्यत्र महामुने । कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चाप्यत्र न क्वचित् ॥२०॥
तपस्तप्यन्ति यतयो जुह्वते चात्र यज्विनः । दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात् ॥२१॥

है। इस भारतवर्ष के नौ भेद हैं—इन्द्रद्वीप, कसेतुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वारुण और स्वयं नवाँ द्वीप भारत है, जो समुद्रों से घिरा हुआ है ॥५-७॥ दक्षिण-उत्तर की तरफ यह एक हजार योजन विस्तृत है। इसके पूर्व में किरात, पश्चिम में यवन और मध्य में यज्ञ, युद्ध, व्यापार और सेवा वृत्ति वाले क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रहते हैं ॥८-९॥ शतद्रु (सतलज), चन्द्रभागा आदि नदियाँ हिमालय से निकली हैं। तथा मुने ! वेद, स्मृति प्रधान अन्य नदियाँ पारियात्र से उत्पन्न हुई हैं ॥१०॥ नर्मदा, सुरमा आदि नदियाँ विन्ध्य से उद्भूत हुई हैं। तापी, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, कावेरी आदि नदियाँ ऋक्षपर्वत से निकली हैं, जो पापों का हरण करती हैं ॥११½॥ पाप-भय को मिटाने वाली गोदावरी, भीमरथी, कृष्णा, वेणी आदि नदियाँ सह्य पर्वत से उत्पन्न हुई हैं ॥१२½॥ कृतमाला, ताम्रपर्णी आदि नदियाँ मलयाचल से निकली हैं ॥१३॥ त्रिसांध्य, ऋषिकुल्या आदि नदियाँ महेन्द्र पर्वत से उत्पन्न हैं। ऋषिकुल्या, कुमारा आदि नदियाँ शुक्तिमान् पर्वत से संभूत हैं। इन नदियों की हजारों उपनदियाँ हैं ॥१४½॥ कुरु, पञ्चाल, मध्यदेश, पूर्वदेश, कामरूप, पौण्ड्र, कलिंग, मगध, दक्षिण देश, परान्त्य, सौराष्ट्र, शूद्र, आभीर, अर्वुद, मारुक, मालव, पारियात्र, सौवीर, सैन्धव, शाल्व, शाकल, मद्र, राम, अम्बष्ठ, पारसीक (फारस) आदि देश-निवासी जन इन नदियों के जल पीते हैं ॥१५-१८½॥ महामुने ! इस भारतवर्ष में महाभाग्यवान् हृष्ट-पुष्ट मनुष्य युगों से बस रहे हैं। सत्ययुग, त्रेता द्वापर और कलियुग भारतवर्ष के अतिरिक्त कहीं नहीं होते ॥१९-२०॥ यहाँ मुनि लोग तपस्या करते हैं, यज्ञकर्ता लोग याग करते हैं और परलोक के लिए सम्मानपूर्वक दान दिया करते हैं ॥२१॥ जम्बूद्वीप में मनुष्य सदा विष्णु-यज्ञ करते हैं। यहाँ यज्ञों द्वारा यज्ञमय

पूरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते । यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा ॥२२॥
अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने । यतो हि कर्म्मभूरेषा यतोऽन्या भोगभूमयः ॥२३॥
अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम । कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात् ॥२४॥

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषा मनुष्याः ॥२५॥
कर्म्माण्यसंकल्पिततत्फलानि,
संन्यस्य विष्णौ परमात्मरूपे ।
अवाप्य तां कर्म्ममहीमनन्ते,
तस्मिँल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति ॥२६॥
जानीम नो तत्तु वयं विलीने,
स्वर्गप्रदे कर्म्मणि देहबन्धम् ।
प्राप्स्यन्ति धन्याः खलु ते मनुष्या,
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः ॥२७॥

नववर्षञ्च भो विप्रा जम्बूद्वीपमिदं मया । लक्षयोजनविस्तारं संक्षेपात् कथितं द्विजाः ॥२८॥
जम्बूद्वीपं समावृत्य लक्षयोजनविस्तरः । भो द्विजा वलयाकारः स्थितः क्षीरोदधिर्बहिः ॥२९॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे जम्बूद्वीपनिरूपणं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विष्णु की आराधना की जाती है और अन्य द्वीपों में अन्य प्रकार से यजन होता है ॥२२॥ महामुनि ! इस जम्बू-द्वीप में भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ है, यह (भारतभूमि) कर्मभूमि है और दूसरे (वर्ष या द्वीप) भोग-भूमि हैं॥२३॥ यहाँ पर हजारों जन्म के बाद कदाचित् जीव पुण्य-संचय के बल से मनुष्य शरीर प्राप्त करता है ॥२४॥ भारत की महिमा गाते हुए देवगण कहते हैं — 'वे मनुष्य धन्य हैं, जो स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के कारणभूत भारत-भूमि पर जन्म लेते हैं और उस कर्म-भूमि को प्राप्त कर निखिल कर्मों तथा उनके असंकल्पित फलों को परमात्मरूप विष्णु को समर्पित करके निर्मल बन जाते हैं और फिर अनन्त में लीन हो जाते हैं ॥२५-२६॥ हम यह नहीं जानते कि स्वर्गप्रद कर्मों के (विष्णु में) विलीन हो जाने पर जीव शरीर का बंधन प्राप्त करते हैं; किन्तु वे मनुष्य धन्य हैं जो भारत में इन्द्रियों से अत्यन्त हीन (अर्थात् अपंग) नहीं हैं ॥२७॥ विप्रवृन्द ! नौ खण्डों सहित जम्बू द्वीप तथा उसके लक्षयोजन परिमित विस्तार का भी वर्णन मैंने संक्षेपतः कर दिया। इस जम्बू-द्वीप को लक्ष्य योजन विस्तृत क्षीर समुद्र घेर कर वलयाकार में स्थित है ॥ २८-२९॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में जम्बूद्वीप-निरूपण नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

जम्बूद्वीपवर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

[1]क्षीरोदेन यथा द्वीपो [2]जम्बूसंज्ञो[3]ऽभिवेष्टितः । संवेष्ट्य क्षारमुदधिं प्लक्षद्वीपस्तथा स्थितः ॥१॥
[4]जम्बूद्वीपस्य विस्तारः शतसाहस्रसम्मितः । स एव द्विगुणो विप्राः प्लक्षद्वीपेऽप्युदाहृतः ॥२॥
सप्त [5]मेधातिथेः पुत्राः प्लक्षद्वीपेश्वरस्य वै । श्रेष्ठः शान्तमयो नाम शिशिरस्तदनन्तरम् ॥३॥
सुखोदयस्तथानन्दः शिवः क्षेमक एव च । ध्रुवश्च सप्तमस्तेषां प्लक्षद्वीपेश्वरा हि ते ॥४॥
पूर्व्वं शान्तमयं वर्षं शिशिरं सुखदं तथा । आनन्दञ्च शिवञ्चैव क्षेमकं ध्रुवमेव च ॥५॥
मर्य्यादाकारकास्तेषां तथान्ये वर्षपर्व्वताः । सप्तैव तेषां नामानि शृणुध्वं मुनिसत्तमाः ॥६॥
गोमेदश्चैव चन्द्रश्च नारदो दुन्दुभिस्तथा । सोमकः सुमनाः शैलो वैभ्राजश्चैव सप्तमः ॥७॥
वर्षाचलेषु रम्येषु वर्षेष्वेतेषु चानघाः । वसन्ति देवगन्धर्व्वसहिताः [6]सहितं प्रजाः ॥८॥
तेषु पुण्या जनपदा[7] वीरा न म्रियते जनः । नाधयो व्याधयो वापि [8]सर्व्वकालसुखं हि तत् ॥९॥
तेषां नद्यश्च सप्तैव वर्षाणान्तु समुद्रगाः । नामतस्ताः प्रवक्ष्यामि श्रुताः पापं हरन्ति याः ॥१०॥
अनुतप्ता शिखा चैव विप्राशा त्रिदिवा क्रमुः । [9]अमृता सुकृता चैव सप्तैतास्तत्र निम्नगाः ॥११॥

अध्याय २०

जम्बू-द्वीप का वर्णन

लोमहर्षण बोले—जैसे क्षीर समुद्र से जम्बूद्वीप वेष्टित है वैसे प्लक्ष-द्वीप क्षार-समुद्र से वेष्टित है ॥१॥ विप्रवृन्द! जम्बूद्वीप लक्ष-योजन-विस्तृत है और प्लक्ष-द्वीप उससे द्विगुण विस्तृत है ॥२॥ प्लक्षद्वीप के स्वामी मेधातिथि के सात पुत्र हैं। उनमें सबसे ज्येष्ठ शान्तमय है और उससे छोटे शिशिर, सुखोदय, आनन्द, शिव, क्षेमक और ध्रुव हैं। ये सब प्लक्ष-द्वीप के अधिपति हैं तथा मर्यादापर्वत कहलाते हैं। मुनिवर! इनके अतिरिक्त दूसरे वर्षपर्वत भी सात ही हैं। उनके नाम सुनिये ॥३-६॥ गोमेद, चन्द्र, नारद, दुन्दुभि, सोमक, सुमना और वैभ्राज ॥७॥ पुण्यश्लोक मुनिवृन्द! इन रमणीय वर्षपर्वतों पर प्रजासहित देव-गन्धर्व वास करते हैं ॥८॥ वहाँ स्थित देश पवित्र तथा वीर हैं, वहाँ के निवासी अमर हैं। उन्हें आधि-व्याधि का बिल्कुल डर नहीं है। वहाँ सदा सुख ही सुख का साम्राज्य रहता है ॥९॥ उन पर्वतों से निःसृत तथा समुद्र में मिलने वाली अनुतप्ता, शिखा, विप्राशा, त्रिदिवा, अमृता, सुकृता और क्रमु—ये पापनाशिनी सात नदियाँ हैं ॥१०-११॥

---

१ ख. क्षीरोदेन। २ क. जम्बुस०। ३ ख. ०ज्ञो निवे०। ४ क. ग. जम्बुद्वी०। ५ ख. ०मे चाति०। ६ ख. सततं। ७ क. ०दा चिरादुद्ध्रियते। ख. ० दाश्चिरावश्रिय ०। ८ ख. ०कालं सु०। ९ ग. प्रसृता।

एते शैलास्तथा नद्यः प्रधानाः कथिता द्विजाः । क्षुद्रनद्यस्तथा शैलास्तत्र सन्ति सहस्रशः ॥१२॥
ताः पिबन्ति सदा हृष्टा नदीर्जनपदास्तु ते[1] । अवसर्पिणी [2]नदी तेषां न चैवोत्सर्पिणी द्विजाः ॥१३॥
न तेष्वस्ति[3] युगावस्था तेषु स्थानेषु सप्तषु । त्रेतायुगसमः कालः सर्व्वदैव द्विजोत्तमाः ॥१४॥
प्लक्षद्वीपादिके विप्राः शाकद्वीपान्तिकेषु वै । पञ्चवर्षसहस्राणि जना जीवन्त्यनामयाः ॥१५॥
धर्म्मश्चतुर्व्विधस्तेषु वर्णाश्रमविभागजः । वर्णाश्च तत्र चत्वारस्तान् बुधाः प्रवदामि वः ॥१६॥
आर्य्यकाः [4]कुरवश्चैव [5]विविश्वा [6] भाविनश्च ये । विप्रक्षत्रियवैश्यास्ते शूद्राश्च मुनिसत्तमाः ॥१७॥
जम्बूवृक्षप्रमाणन्तु तन्मध्ये सुमहातरुः । प्लक्षस्तन्नामसंज्ञोऽयं प्लक्षद्वीपो द्विजोत्तमाः ॥१८॥
इज्यते तत्र [7]भगवांस्तैर्व्वर्णैरार्य्यकादिभिः । सोमरूपी [8]जगत्स्रष्टा सर्व्वः सर्व्वेश्वरो हरिः ॥१९॥
प्लक्षद्वीपप्रमाणेन प्लक्षद्वीपः समावृतः । तथैवेक्षुरसोदेन परिवेषानुकारिणा ॥२०॥
इत्येतद् वो मुनिश्रेष्ठाः प्लक्षद्वीप उदाहृतः । संक्षेपेण मया भूयः शाल्मलं तं निबोधत ॥२१॥
शाल्मलस्येश्वरो वीरो [9]वपुष्मांस्तत्सुता[10] द्विजाः । तेषान्तु नाम संज्ञानि[11] सप्त वर्षाणि तानि वै ॥२२॥
श्वेतोऽथ [12]हरितश्चैव जीमूतो[13] रोहितस्तथा । वैद्युतो मानसश्चैव सुप्रभश्च द्विजोत्तमाः ॥२३॥
शाल्मलश्च समुद्रोऽसौ द्वीपेनेक्षुरसोदकः । [14]विस्ताराद्द्विगुणेनाथ सर्व्वतः संवृतः स्थितः ॥२४॥

द्विजगण ! प्रधान पर्वतों तथा नदियों के नाम तो मैंने गिना दिये हैं । इनके अतिरिक्त हजारों क्षुद्र नदियाँ तथा पर्वत हैं ॥१२॥ वहाँ के निवासी सदैव उन्हीं नदियों का जल सहर्ष पीते हैं । विप्रगण ! उनकी नदियाँ घटती-बढ़ती नहीं हैं ॥१३॥ उन सात स्थानों में युगों की कल्पना भी नहीं है ; बल्कि त्रेतायुग के समान काल वहाँ सदैव बीतता है ॥१४॥ विप्रवृन्द ! प्लक्ष-द्वीप से लेकर शाक-द्वीप तक में मनुष्य पाँच हजार वर्ष रोग-रहित होकर जीते हैं ॥१५॥ वहाँ वर्णाश्रम विभाग के अनुसार चार प्रकार के धर्म प्रचलित हैं । वहाँ के चार वर्णो के बारे में मैं आपसे बतलाता हूँ ॥१६॥ मुनिवर ! वहाँ जो आर्यक, कुरु, विविश्व और भावी हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं ॥१७॥ जम्बूद्वीप में जामुन का वृक्ष जितना बड़ा है उतना ही बड़ा पाकर का वृक्ष प्लक्षद्वीप में है । इसी से इसका नाम प्लक्षद्वीप पड़ा ॥१८॥ द्विजश्रेष्ठो ! वहाँ आर्यक आदि जाति के लोग जगत्स्रष्टा सर्वेश्वर सोमरूपी हरि के लिए याग करते हैं ॥१९॥ प्लक्षद्वीप के बराबर विस्तृत मण्डलाकार में इक्षु-समुद्र से प्लक्षद्वीप वेष्टित है ॥२०॥ महामुने ! प्लक्षद्वीप का वर्णन करने के बाद अब मैं शाल्मलद्वीप का संक्षिप्त वर्णन करता हूँ, कृपया सुनें ॥२२॥ शाल्मलद्वीप का स्वामी शरीरधारी वीर है । उसके पुत्रों के नाम से श्वेत, हरित, जीमूत, रोहित, वैद्युत, मानस और सुप्रभ ये सात वर्षपर्वत प्रसिद्ध हैं ॥२३॥ शाल्मलद्वीप भी इक्षु-समुद्र से वेष्टित है और विस्तार में पहले द्वीप से द्विगुण है ॥२४॥ वहाँ भी सात नदियाँ और सात रत्नगर्भित

---

१ ग. ०ते । आस० । २ ग. न. तेषां वै न । ३ क. ख. तिष्ठति । ४ क. ०रराश्चै० । ५ क. विशा भोजवि० ।
६ ग. विशाभा० । ७ ग. ०वांस्त्रैवर्ण्यैरा ० । ८ ग. जगच्छ्रेष्ठः । ९ ख. ०ष्मांस्तु ततो द्वि० । १० ख. ग. ०त्सुतो द्वि० ।
११ ग. ०ज्ञामस० । १२ ख. ०थ लोहित० । १३ ख. ०तो हरित० । १४ ग. ०स्तारा द्विगु० ।

तत्रापि पर्व्वताः सप्त विज्ञेया रत्नयोनयः । वर्षाभिव्यञ्जकास्ते[1] तु तथा सप्तैव निम्नगाः ॥२५॥
[2]कुमुदश्चोन्नतश्चैव तृतीयस्तु बलाहकः । द्रोणो यत्र महौषध्यः स [3]चतुर्थो महीधरः ॥२६॥
कङ्कस्तु पञ्चमः षष्ठो महिषः सप्तमस्तथा । ककुद्मान् पर्व्वतवरः सरिन्नामान्यतो[4] द्विजाः[5] ॥२७॥
श्रोणीतोया वितृष्णा[6] च चन्द्रा[7] शुक्रा विमोचनी । निवृत्तिः सप्तमी तासां स्मृतास्ताः पापशान्तिदाः ॥२८॥
श्वेतञ्च लोहितञ्चैव जीमूतं हरितं तथा । वैद्युतं मानसञ्चैव सुप्रभं नाम सप्तमम् ॥२९॥
सप्तैतानि तु वर्षाणि चातुर्व्वर्ण्ययुतानि च । वर्णाश्च शाल्मले ये च वसन्त्येषु द्विजोत्तमा : ॥३०॥
कपिलाश्चारुणाः पीताः कृष्णाश्चैव पृथक् पृथक् । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव [8]यजन्ति तम् ॥३१॥
भगवन्तं समस्तस्य विष्णुमात्मानमव्ययम् । वायुभूतं मखश्रेष्ठैर्यज्वानो[9] [10]यज्ञसंस्थितम् ॥३२॥
देवानामत्र सान्निध्यमतीव सुमनोहरे । शाल्मलिश्च महावृक्षो[11] नामनिवृत्तिकारकः[12] ॥३३॥
एष द्वीपः समुद्रेण सुरोदेन[13] समावृतः । विस्ताराच्छाल्मलेश्चैव समेन तु समन्ततः ॥३४॥
सुरोदकः परिवृतः कुशद्वीपेन सर्व्वतः । शाल्मलस्य तु विस्ताराद्द्विगुणेन समन्ततः ॥३५॥
ज्योतिष्मतः [14]कुशद्वीपे शृणुध्वं तस्य पुत्रकान् । उद्भिदो वेणुमांश्चैव [15]स्वैरथो रन्धनो[16] धृतिः ॥३६॥
प्रभाकरोऽथ कपिलस्तन्नाम्ना[17] वर्षपद्धतिः । तस्यां वसन्ति मनुजैः सह दैतेयदानवाः ॥३७॥
तथैव देवगन्धर्व्वा यक्षकिम्पुरुषादयः । वर्णास्तत्रापि चत्वारो निजानुष्ठानतत्पराः ॥३८॥

पर्वत हैं । उन पर्वतों से वहाँ स्थित द्वीपों का बोध होता है ॥२५॥ पहला पर्वत कुमुद, दूसरा उन्नत, तीसरा बलाहक, चौथा महौषधियों से युक्त द्रोण, पाँचवाँ कंक, छठा महिष और सातवाँ पर्वतश्रेष्ठ ककुद्मान् है। विप्रवर ! अब नदियों के नाम सुनिये—॥२६-२७॥ श्रोणी, तोया, वितृष्णा, चन्द्रा, शुक्रा, विमोचनी और निवृत्ति । ये सब नदियाँ पापनाशिनी हैं ॥२८॥ श्वेत, लोहित, जीमूत, हरित, वैद्युत, मानस और सुप्रभ ये सात वर्ष (द्वीप) चार वर्णों से युक्त हैं ॥२९½॥ शाल्मलद्वीप के क्रमशः कपिल (भूरा) अरुण (लाल) पीत और कृष्ण वर्ण वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, सर्वात्मा, अव्यय, वायुभूत एवं यज्ञ-स्थित भगवान् विष्णु की आराधना बड़े-बड़े यज्ञों से करते हैं ॥३०-३२॥ इस सुन्दर द्वीप में देवताओं का सान्निध्य बना रहता है। महावृक्ष शाल्मलि (सेमर) के होने से इस द्वीप का नाम शाल्मलद्वीप पड़ा ॥३३॥ यह द्वीप सुरा-समुद्र से वेष्टित है और शाल्मलि वृक्ष यहाँ चारों ओर फैला हुआ है ॥३४॥ सुरा-समुद्र से ही वेष्टित, शाल्मल द्वीप से द्विगुण विस्तृत कुशद्वीप है । कुशद्वीप का स्वामी ज्योतिष्मान् है । उद्भिद, वेणुमान्, स्वैरथ, रन्धन, धृति, प्रभाकर और कपिल नाम के द्वीप उसके पुत्र रूप में विख्यात हैं ॥३५-३६½॥ उन वर्षों में मनुष्य, दैत्य, दानव, देव, गन्धर्व, यक्ष, किंपुरुष आदि वास करते हैं॥३७½॥ वहाँ भी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था है । श्रेष्ठ द्विजो ! वहाँ के निवासी दमी, शुष्मी,

---

१ क.ख. ०कास्तत्र त० । २ क. कुशदा वानदा चैव । ३ ख. वरूथो । ४ ग. ०मानि भो द्वि० । ५ क. ग. ०जाः । योनितो० । ६ ख. विप्रतृष्णा चन्द्रा । ग. निरस्रा । ७ ख. चङ्क्रा । ८ ग. प्रयन्ति । ९ ख. ग. ०र्यज्विनो । १० क. ०संमित० । ११ क. नानावृत्ति० । १२ ख. ०मवृत्तिप्रका० । १३ क. घृतोदेन । १४ ख. ०पे सह्यपुत्रान्निबोधत । उ० । ग. पे सप्तद्वीपाञ्शृणुष्व तान् । १५ ग. सुरथो । १६ क. लम्बनो । ग. नत्यलो । १७ ख. कम्पिल० ।

[1]दमिनः शुष्मिणः[2] स्नेहा मान्दहाश्च द्विजोत्तमाः। ब्राह्मणा : क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चानुक्रमोदिताः ।।३९।।
यथोक्तकर्म्मकर्त्तृत्वात् [3]स्वाधिकारक्षयाय ते । तत्र ते तु कुशद्वीपे ब्रह्मरूपं जनार्द्दनम् ।।४०।।
[4]यजन्तः क्षपयन्त्युग्रमधिकारफलप्रदम् [5]। [6]विद्रुमो हेमशैलश्च द्युतिमान् पुष्टिमांस्तथा ।।४१।।
कुशेशयो हरिश्चैव सप्तमो मन्दराचलः । वर्षाचलास्तु सप्तैते द्वीपे तत्र द्विजोत्तमाः ।।४२।।
नद्यश्च सप्त तासां तु वक्ष्ये[7] नामान्यनुक्रमात् । धूतपापा शिवा चैव पवित्रा[8] सम्मतिस्तथा ।।४३।।
[9]विद्युदम्भो मही[10] चान्या सर्व्वपापहरास्त्विमाः । अन्याः सहस्रशस्तत्र क्षुद्रनद्यस्तथाचलाः ।।४४।।
कुशद्वीपे कुशस्तम्बः संज्ञया तस्य तत्स्मृतम् । तत्प्रमाणेन स द्वीपो घृतोदेन समावृतः ।।४५।।
घृतोदश्च समुद्रो वै क्रौञ्चद्वीपेन संवृतः । क्रौञ्चद्वीपो मुनिश्रेष्ठाः श्रूयतां चापरो महान् ।।४६।।
कुशद्वीपस्य विस्ताराद्द्विगुणो यस्य विस्तरः । क्रौञ्चद्वीपे द्युतिमतः [11]पुत्राः सप्त महात्मनः ।।४७।।
तन्नामानि च वर्षाणि तेषां[12] चक्रे महामना :[13]। [14]कुशगो[15] मन्दगश्चोष्णः पीवरोऽथान्धकारक :।।४८।।
मुनिश्च दुन्दुभिश्चैव सप्तैते तत्सुता [16]द्विजाः । तत्रापि देवगन्धर्व्वसेविताः[17] सुमनोरमाः ।।४९।।
वर्षाचला मुनिश्रेष्ठास्तेषां नामानि भो द्विजाः। क्रौञ्चश्च वामनश्चैव तृतीयश्चान्धकारकः ।।५०।।
देवव्रतो[18] धमश्चैव तथान्यः पुण्डरीकवान् । दुन्दुभिश्च महाशैलो द्विगुणास्ते परस्परम् ।।५१।।
[19]द्वीपाद्द्वीपेषु[20] ये[21] शैलास्तथा[22] द्वीपानि ते तथा । वर्षेष्वेतेषु रम्येषु[23] वर्षशैलवरेषु[24] च ।।५२।।

स्नेह और मान्दह क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं ।।३८-३९।। अपने-अपने अधिकार की रक्षा के लिए ये चारों वर्ग स्वविहित कर्मों में लगे रहते हैं । कुशद्वीप में लोग अधिकार-फल-प्रद ब्रह्मरूप जनार्दन के लिए यज्ञ करते हैं ।।४०½।। विप्रवर ! वहाँ विद्रुम, हेमशैल, द्युतिमान्, कुशेशय, हरि, मन्दराचल—ये सात वर्ष-पर्वत हैं ।।४१-४२।। और धूतपापा, शिवा, पवित्रा, संमति, विद्युदम्भ, मही और कन्या—ये सात पापनाशिनी नदियाँ हैं।।४३½।। इनके अतिरिक्त वहाँ और भी हजारों क्षुद्र नदियाँ तथा पर्वत हैं । कुशद्वीप में कुशों का समूह होने से उसका नाम कुशद्वीप पड़ा है ।।४४½।। वह द्वीप अपनी ही परिधि के परिमाण के घृतसमुद्र से वेष्टित है और घृत-समुद्र क्रौञ्चद्वीप से आवृत है ।।४५½।। महामुने ! अब महान् क्रौञ्चद्वीप का वर्णन सुनिये—क्रौञ्चद्वीप कुशद्वीप की अपेक्षा द्विगुण विस्तृत है ।।४६½।। उसमें द्युतिमान् के सात महात्मा पुत्र हैं । महामना द्युतिमान् ने उन्हीं के नामों पर वहाँ के वर्षों (द्वीपों) के भी नाम कुशग, मन्दग, उष्ण, पीवर, अन्धकारक, मुनि और दुन्दुभि रखे हैं । द्विजगण ! वहाँ के मनोहर पर्वतीय द्वीपों पर देव, गन्धर्व आदि रहते हैं । क्रौञ्च, वामन, अन्धकारक, देवव्रत, धम, पुण्डरीकवान् और महापर्वत दुन्दुभि—ये वहाँ के पर्वतीय द्वीप हैं, जो एक-दूसरे से दूने हैं ।।४७-५१।। उन रमणीय वर्षों में तथा वर्षपर्वतों पर देवगणों के साथ जनता आतंकरहित होकर वास करती है । विप्रवर !

---

१ क. दयिनः । ख. देमिनः । २ ख. ०णः संद्या मंदेहाश्च महामुनेः । ब्रा० । ३ क. ०स्वाभिचारक्रिया हि ते । ४ ख. पर्वतः । ५ ख. ०मविका० । ६ क. विक्रमो । ७ ख. शृणु । ८ क. ०त्रा च सिता तथा । ९ क. ०दन्या म० ।०ग दत्त्वा म० । १० ख. महा । ११ क. ग. पुत्रास्तस्य म० । १२ क. तेषु । १३ क. ख. महीपतिः । १४ क. कुलवृद्धो वंशधरः पावनो धन्वका० । १५ ख. ०शलोमनुगृश्चोच्छः पी० । १६ ख. मुने । १७ ख. ०न्धर्वाः सर्वे ते सु० । १८ क. देवावृद्धो महातेजास्त० । १९ क. द्वीपद्वीपे० । २० ग. ०पाद्वीपे० । २१ ख. वै । २२ क. ०ला यथा द्वीपेन ते । २३ क. ०षु शैलारण्येषु भो द्विजाः । नि० । २४ ख. ०वनेषु ।

निवसन्ति निरातङ्काः सह देवगणैः प्रजाः । पुष्कला पुष्करा धन्यास्ते[1] ख्याताश्च द्विजोत्तमाः ॥५३॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चानुक्रमोदिताः । तत्र नद्यो मुनिश्रेष्ठा याः पिबन्ति तु ते सदा ॥५४॥
सप्त प्रधानाः शतशस्तथान्याः क्षुद्रनिम्नगा : । गौरी कुमुद्वती चैव सन्ध्या रात्रिर्मनोजवा ॥५५॥
ख्यातिश्च पुण्डरीका च सप्तैता वर्षनिम्नगाः । तत्रापि [2]वर्णैर्भगवान् पुष्कराद्यैर्ज्जनार्द्दनः ॥५६॥
ध्यानयोगै रुद्ररूप इज्यते यज्ञसन्निधौ । क्रौञ्चद्वीपः समुद्रेण दधिमण्डोदकेन तु ॥५७॥
आवृतः सर्व्वतः क्रौञ्चद्वीपतुल्येन[3] मानतः । दधिमण्डोदकश्चापि शाकद्वीपेन संवृतः ॥५८॥
क्रौञ्चद्वीपस्य [4]विस्तारद्विगुणेन द्विजोत्तमाः । शाकद्वीपेश्वरस्यापि [5]भव्यस्य सुमहात्मनः ॥५९॥
सप्तैव तनयास्तेषां ददौ वर्षाणि सप्त सः । जलदश्च कुमारश्च सुकुमारो [6]मनीरकः[7] ॥६०॥
[8]कुसमोदश्च मोदाकिः सप्तमश्च महाद्रुमः । तत्संज्ञान्येव तत्रापि सप्त वर्षाण्यनुक्रमात् ॥६१॥
तत्रापि पर्व्वताः सप्त वर्षविच्छेदकारकाः । पूर्व्वस्तत्रोदयगिरिर्ज्जलधारस्तथापरः ॥६२॥
तथा रैवतकः श्यामस्तथैवाम्भोगिरिर्द्विजाः । आस्तिकेयस्तथा रम्यः केसरी पर्व्वतोत्तमः ॥६३॥
शाकश्चात्र महावृक्षः सिद्धगन्धर्व्वसेवितः । [9]यत्पत्रवातसंस्पर्शादाह्लादो जायते परः ॥६४॥
तत्र पुण्या जनपदाश्चातुर्वर्ण्यसमन्विताः । निवसन्ति महात्मानो निरातङ्का निरामयाः ॥६५॥
नद्यश्चात्र महापुण्याः सर्व्वपापभयापहाः । सुकुमारी कुमारी च नलिनी [10] रेणुका च या ॥६६॥
इक्षुश्च[11] धेनुका[12] चैव गभस्ती सप्तमी तथा । [13]अन्यास्त्वयुतशस्तत्र क्षुद्रनद्यो द्विजोत्तमाः ॥६७॥

वहाँ के निवासी पुष्कल, पुष्कर धन्य और ख्यात हैं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णो के समान हैं॥५२-५३½॥ उस द्वीप में गौरी, कुमुद्वती, संध्या, रात्रि, मनोजवा, ख्याति और पुण्डरीका ये सात प्रधान नदियाँ हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ सैकड़ों क्षुद्र नदियाँ हैं। वहाँ के निवासी सदा उन्हीं नदियों का जल पान करते हैं॥५४-५५½॥ वहाँ भी पुष्कर आदि वर्ण रुद्ररूप जनार्दन के लिए यज्ञ करते हैं। क्रौञ्चद्वीप अपने बराबर विस्तृत दधि-समुद्र से वेष्टित है। ॥५६-५७½॥ द्विजगण ! दधि-समुद्र भी शाकद्वीप से आवृत है, जिसका विस्तार क्रौञ्चद्वीप की अपेक्षा द्विगुण है ॥५८½॥ शाकद्वीप के स्वामी महात्मा भव्य के सात ही पुत्र हैं, जिनके नाम से जलद, कुमार, सुकुमार, मनीरक, कुसमोद, मोदाकि और महाद्रुम ये सात वर्ष प्रसिद्ध हैं। ॥५९-६१॥ द्विजगण ! शाकद्वीप में भी उदयगिरि, जलधार, रैवतक, श्याम, अम्भोगिरि, रमणीय आस्तिकेय और पर्वतोत्तम केसरी ये सात वर्षपर्वत हैं॥६२-६३॥ उस द्वीप में शाक का महावृक्ष सिद्ध-गन्धर्वों से सुसेवित है, जिसके पत्रों के वायु के स्पर्श से मनुष्य आनन्दित हो जाता है॥६४॥ उस द्वीप में चारों वर्णों से समन्वित पवित्र देश स्थित हैं। उन देशों में नीरोग निरापद महात्मा लोग वास करते हैं॥६५॥ वहाँ सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, रेणुका, इक्षु, धेनुका और गभस्ती नाम की पापनाशिनी पवित्र नदियाँ हैं॥६६½॥ महामुने ! इनके अतिरिक्त दस हजार और क्षुद्र नदियाँ हैं॥६७॥

---

[1] ख. ०न्यास्तिष्याख्याश्च। [2] ख. वर्षे भग०। [3] ख. ०पकल्पेन। [4] क. ख. ०स्ताराद्द्विगु०। [5] क.ख. भविष्यस्य म०। [6] क. मरीचिकः। ख. मणीवकः। [7] क. ०कः। कृशोदरः समौदा०। [8] ख. कुसुमोदः समो०। [9] क. यत्र तद्वात०। [10] क. वेणुका। ख. धेनुका। [11] ख. ०श्च मधुकश्चैव। [12] क. विबुधा। [13] ख. ०न्यास्तु शतश०।

महीधरास्तथा सन्ति शतशोऽथ सहस्रशः । ताः पिबन्ति मुदा युक्ता जलदादिषु ये स्थिताः ।।६८।।
वर्षेषु ये [1]जनपदाश्चतुर्थार्थसमन्विताः । नद्यश्चात्र महापुण्याः स्वर्गादभ्येत्य मेदिनीम् ।।६९।।
धर्म्महानिर्न[1] तेष्वस्ति न [2]संहर्षो न शुक् तथा । मर्य्यादाव्युत्क्रमश्चापि तेषु देशेषु सप्तसु ।।७०।।
मगाश्च मागधाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा । मगा ब्राह्मणभूयिष्ठा मागधाः क्षत्रियास्तु ते ।।७१।।
वैश्यास्तु मानसास्तेषां शूद्रा ज्ञेयास्तु मन्दगाः । [3]शाकद्वीपे स्थितैर्विष्णुः सूर्य्यरूपधरो हरिः ।।७२।।
यथोक्तैरिज्यते[4] सम्यक्कर्म्मभिर्नियतात्मभिः । शाकद्वीपस्ततो विप्राः क्षीरोदेन समन्ततः ।।७३।।
शाकद्वीपप्रमाणेन बलयेनेव वेष्टितः । [5]क्षीराब्धिः सर्व्वतो विप्राः पुष्कराख्येन वेष्टितः ।।७४।।
द्वीपेन शाकद्वीपात्तु द्विगुणेन समन्ततः । पुष्करे सवनस्यापि [6]महावीतोऽभवत् सुतः ।।७५।।
धातकिश्च तयोस्तद्वद्द्वे वर्षे नामसंज्ञिते । [7]महावीतं तथैवान्यद्धातकीखण्डसंज्ञितम् ।।७६।।
एकश्चात्र महाभागाः प्रख्यातो वर्षपर्व्वतः । मानसोत्तरसंज्ञो वै मध्यतो वलयाकृतिः ।।७७।।
योजनानां सहस्राणि ऊर्ध्वं पञ्चाशदुच्छ्रितः[8] । तावदेव च विस्तीर्णः सर्व्वतः परिमण्डलः ।।७८।।
पुष्करद्वीपवलयं मध्येन विभजन्निव । स्थितोऽसौ तेन विच्छिन्नं जातं[9] वर्षद्वयं हि तत् ।।७९।।
वलयाकारमेकैकं तयोर्म्मध्ये महागिरिः । दशवर्षसहस्राणि तत्र जीवन्ति मानवाः ।।८०।।
निरामया विशोकाश्च रागद्वेषविवर्ज्जिताः । अधमोत्तमो न तेष्वास्तां न वध्यवधकौ द्विजाः ।।८१।।
[10]नेर्ष्यासूया भयं रोषो दोषो लोभादिकं न च । महावीतं बहिर्व्वर्षं घातकीखण्डमन्ततः ।।८२।।

पर्वत तो सैकड़ों-हजारों हैं। वहाँ के निवासी उन नदियों का जल प्रेम से पीते हैं ।।६८।। वर्षों के जितने देश हैं, उनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्राप्त होते हैं। वहाँ महापवित्र नदियाँ स्वर्ग से पृथ्वी पर आयी हैं ।।६९।। वहाँ के लोगों को धर्महानि तथा रोग-शोक नहीं होते। उन सात देशों में मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता ।।७०।। शाकद्वीप-निवासी मग, मागध, मानस और मन्दग नामक जातियों को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समझना चाहिये ।।७१½।। शाकद्वीपनिवासी अपने-अपने निश्चित कर्मों के द्वारा सूर्यरूपधारी भगवान् विष्णु का याग करते हैं ।।७२½।। विप्रवृन्द ! शाकद्वीप अपने बरावर विस्तृत वलयाकार क्षीर-समुद्र से वेष्टित हैं ।।७३½।। द्विजगण ! क्षीर-समुद्र शाकद्वीप से द्विगुण विस्तृत पुष्कर नामक द्वीप से वेष्टित है। पुष्करद्वीप में सवन के महावीत और धातकि नामक पुत्र हुए। उनके नाम से दो वर्ष प्रसिद्ध हैं—महावीत और धातकीखण्ड ।।७४-७६।। महामुने ! इस द्वीप में मानसोत्तर नामक एक ही वर्षपर्वत प्रख्यात है, जो मध्य में गोल, पचास हजार योजन ऊपर की ओर ऊँचा, इतने ही योजन प्रमाण विस्तृत, सब ओर से मण्डलाकार और पुष्कर द्वीप को बीच से विभक्त करता हुआ स्थित है। इसी से दोनों वर्षपर्वत अलग-अलग हैं ।।७७-७९।। दोनों वलयाकार हैं। दोनों के मध्य में महापर्वत है। उस द्वीप में मनुष्य रोग-शोक, राग-द्वेष से रहित होकर दस हजार वर्ष जीते हैं ।।८०½।। द्विजगण ! वहाँ उत्तम-मध्यम, वध्य-वधक, ईर्ष्या, असूया, भय, क्रोध, दोष (द्वेष ?), लोभ आदि नहीं होते ।।८१½।। मानसोत्तर पर्वत के बाहर महावीतवर्ष और अन्त में घातकीखण्डवर्ष देव, दैत्य आदि से सुसेवित

१ग. ०पदाः स्व०। २ग. संघर्षः परस्परम्। म०। ३ग. ०पे स्थितो विष्णुः। ४ग. ०क्तैर्विद्यते। ५ख. क्षीरोदः। ६ ख. ०वीरोऽभ०। ७ ख. महावीरं। ८ ख. ०दुच्छ्रयः। ता०। ९ ख. ०तं तद्वर्षकद्वयम्। व०। १० क. ०ष्यामयभयद्वेषलो०।

मानसोत्तरशैलस्य देवदैत्यादिसेवितम् । सत्यानृते न तत्रास्तां द्वीपे पुष्करसंज्ञिते ॥८३॥
न तत्र[1] नद्यः शैला वा द्वीपे वर्षद्वयान्विते । तुल्यवेषास्तु मनुजा देवैस्तत्रैकरूपिणः ॥८४॥
वर्णाश्रमाचारहीनं [2]धर्म्माहरणवर्ज्जितम्[3] । त्रयीवार्त्तादण्डनीतिशुश्रूषारहितं[4] च तत् ॥८५॥
वर्षद्वयं ततो विप्रा भौमस्वर्गोऽयमुत्तमः । सर्व्वस्य सुखदः कालो जरारोगविवर्ज्जितः ॥८६॥
पुष्करे धातकीखण्डे महावीते च वै द्विजाः । न्यग्रोधः पुष्करद्वीपे ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ॥८७॥
तस्मिन्निवसति ब्रह्मा पूज्यमानः सुरासुरैः । [5]स्वादूदकेनोदधिना पुष्करः परिवेष्टितः ॥८८॥
समेन पुष्करस्यैव विस्तारान्मण्डलात्तथा[6] । एवं द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृताः ॥८९॥
द्वीपश्चैव समुद्रश्च समानौ द्विगुणौ परौ । पयांसि सर्व्वदा सर्व्वसमुद्रेषु समानि वै ॥९०॥
न्यूनातिरिक्तता तेषां कदाचिन्नैव जायते । स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकि सलिलं यथा ॥९१॥
तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोधो मुनिसत्तमाः । अन्यूनानतिरिक्ताश्च वर्द्धन्त्यापो ह्रसन्ति च ॥९२॥
उदयास्तमने त्विन्दोः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः । दशोत्तराणि पञ्चैव अङ्गुलानां शतानि च ॥९३॥
अपां वृद्धिक्षयौ दृष्टौ [7]सामुद्रीणां द्विजोत्तमाः । भोजनं पुष्करद्वीपे तत्र स्वयमुपस्थितम् ॥९४॥
भुञ्जन्ति षड्रसं विप्राः प्रजाः सर्व्वाः सदैव हि । स्वादूदकस्य परितो[8] दृश्यते लोकसंस्थितिः ॥९५॥
द्विगुणा [9]काञ्चनी भूमिः [10]सर्व्वजन्तुविवर्ज्जिता । लोकालोकस्ततः शैलो योजनायुतविस्तृतः ॥९६॥
उच्छ्रयेणापि तावन्ति [11]सहस्राण्यावलोहि सः । ततस्तमः समावृत्य तं शैलं सर्व्वतः स्थितम् ॥९७॥

हैं ॥८२½॥ वर्षद्वययुक्त पुष्करद्वीप में सत्य, मिथ्या, नदी और पर्वत नहीं हैं। वहाँ देवतुल्य मनुष्य एक ही स्वरूप के हैं ॥८३-८४॥ दोनों वर्षों में वर्णाश्रम-धर्म, पाप, वाणिज्य, दण्डनीति, शुश्रूषा आदि कुछ नहीं है ॥८५॥ विप्रवृन्द ! वे दोनों उत्तम भू-स्वर्ग हैं। वहाँ सदा सबके लिए सुखद समय रहता है, बुढ़ापा और रोग का भय नहीं है ॥८६½॥ पुष्कर द्वीप में एक वट-वृक्ष ब्रह्मा का उत्तम स्थान माना जाता है। उस स्थान में ब्रह्मा सुर-असुरों से पूजित होते हैं ॥८७½॥ यह द्वीप अपने बराबर विस्तृत तथा मण्डलाकार स्वादिष्ट जल वाले समुद्र से वेष्टित है। इस प्रकार सातों द्वीप सातों समुद्रों से आवृत हैं ॥८८-८९॥ द्वीप और समुद्र समान हैं। सब समय सब समुद्रों में जल समान ही रहता है ॥९०॥ उसमें कमी-वेशी कभी नहीं होती। पर जैसे पात्र में स्थित जल अग्नि-संयोग से उफनने लगता है उसी तरह चन्द्रमा की वृद्धि होने पर समुद्र में जल उफनता है। महामुने ! शुक्ल-कृष्ण पक्ष में क्रमशः चन्द्रमा के उदय-अस्त होने पर समुद्रों का जल पाँच से दस अंगुलि प्रमाण बढ़ता-घटता है ॥९१-९३॥ विप्रवर ! समुद्र-जल का बढ़ाव-घटाव तो ऐसा ही है। पुष्करद्वीप के निवासियों को सदा आप-से-आप छहों प्रकार के रसों से युक्त भोजन प्राप्त हो जाते हैं ॥९४½॥ स्वादिष्ट जल वाले समुद्र के चारों तरफ लोकों की अवस्थिति है ॥९५॥ फिर उससे द्विगुण सुवर्णमय भूमि है, जो जन्तुमात्र से रहित है। उसके बाद लोकालोक पर्वत दस हजार योजन विस्तृत और उतना ही ऊँचा भी है ॥९६½॥ फिर अंधकार उस पर्वत को सब ओर से ढक कर स्थित है ॥९७॥ वह अंधकार चारों तरफ अण्डकटाह

---

१ क. ०त्र धर्मः शीलं वा द्वी० । २ ख. ग. धर्म्याह० । ३ क. ०र्माहारविव० । ४ क. तिक्षुत्तृषार० । ५ क. ०केन द० । ६ क. ०ण्डलस्य च । द्वी० । ७ क.ख. समुद्राणां । ८ ख.ग. पुरतो । ९ क. तावती । १० ख. ०र्वशत्रुवि० । ११ क. ०स्राण्यव० । ग. ०स्रानाव० ।

[1]तमश्चाण्डकटाहेन समन्तात् परिवेष्टितम् । पञ्चाशत्कोटिविस्तारा सेयमुर्व्वी द्विजोत्तमाः ॥९८॥
सहैवाण्डकटाहेन सद्वीपा समहीधरा । सेयं [2]धात्री विधात्री च सर्व्वभूतगुणाधिका ॥
आधारभूता जगतां सर्व्वेषां सा द्विजोत्तमाः ॥९९॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे समुद्रद्वीपपरिमाणवर्णनं नाम विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

तत्रादौ पातालप्रमाणवर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

विस्तार एष कथितः पृथिव्या मुनिसत्तमाः । सप्ततिस्तु सहस्राणि [3]तदुच्छ्रायोऽपि कथ्यते ॥१॥
दशसाहस्रमेकैकं पातालं मुनिसत्तमाः । अतलं वितलञ्चैव[4] नितलं[5] सुतलं तथा ॥२॥
तलातलं रसातलं पातालञ्चापि सप्तमम् । कृष्णा शुक्लारुणा पीता शर्करा[6] शैलकाञ्चनी ॥३॥
भूमयो यत्र विप्रेन्द्रा वरप्रासादशोभिताः। तेषु [7]दानवदैतेयजातयः[8] शतशः[9] स्थिताः[10] ॥४॥

(ब्रह्मांड ?) से परिवेष्टित है। महामुने! पचास करोड़ योजन विस्तृत यह पृथ्वी अण्डकटाहों, द्वीपों और पर्वतों से युक्त है। यही धात्री, प्राणिमात्र के गुणों से अधिक गुणवाली तथा संसार का आधार बनी हुई है ॥९८-९९॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में समुद्र-द्वीप-परिमाण-वर्णन नामक बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२०॥

अध्याय २१

पाताल के प्रमाण का वर्णन

लोमहर्षण बोले—मुनिवर! पृथिवी के विस्तार का वर्णन मैंने किया। उसकी सत्तर हजार योजन परिमित ऊँचाई के बारे में भी कहा जा रहा है ॥१॥ मुनिवर! एक-एक पाताल दस-दस हजार योजनप्रमाण विस्तृत है। अतल, वितल, नितल, सुतल, तलातल, रसातल और पाताल—ये सात पाताल हैं, जहाँ कृष्णा, शुक्ला, अरुणा, पीता, शर्करा और शैलकाञ्चनी नामक पृथिवी उत्तर भवनों से सुशोभित है ॥२-३½॥ उन स्थानों में सैकड़ों

---

[1] क. तमः खण्ड। [2] क. त्री च सर्वेषां स०। [3] क. ० दुत्कर्षोऽपि। [4] ख. ०ब तलातलं गभस्तिमत्। महातलाख्यं सुतलं पा०। [5] ग. ०लं च गभस्तिमत्। महाख्यं सुतलं चाग्र्यं पा०। [6] क. ख. ०रा चैव का०। [7] क. ०दैत्यानां ज्ञात०। ख. ०दैत्यानां जात०। [8] ख. ०तयस्तु सहस्रशः। ना०। [9] ग. शतसंघशः। ना०। [10] ख. ०ताः। निवसन्ति महाभागाः पत०। ग. ०ताः। निवसन्ति महाभागा जात ०।

नागानाञ्च महाङ्गानां ज्ञातयश्च द्विजोत्तमाः । स्वर्लोकादपि रम्याणि [१]पातालानीति नारद ॥५॥
प्राह स्वर्गसदोर्मध्ये पातालेभ्यो गतो दिवम्[२] । आह्लादकारिणः[३] शुभ्रा मणयो यत्र सुप्रभाः ॥६॥
नागाभरणभूषाश्च पातालं केन तत्समम् । दैत्यदानवकन्याभिरितश्चेतश्च[४] शोभिते ॥७॥
पाताले कस्य न प्रीतिर्विमुक्तस्यापि जायते । दिवार्करश्मयो यत्र प्रभास्तन्वन्ति नातपम् ॥८॥
शशिनश्च न शीताय निशि द्योताय केवलम् । भक्ष्यभोज्यमहापानमदमत्तैश्च भोगिभिः ॥९॥
यत्र न ज्ञायते कालो गतोऽपि दनुजादिभिः । वनानि नद्यो रम्याणि सरांसि कमलाकराः ॥१०॥
[५]पुंस्कोकिलादिलापाश्च मनोज्ञान्यम्बराणि च । भूषणान्यतिरम्याणि [६]गन्धाद्यञ्चानुलेपनम् ॥११॥
वीणावेणुमृदङ्गानां निःस्वनाश्च सदा द्विजाः । एतान्यन्यानि रम्याणि भाग्यभोग्यानि दानवैः ॥१२॥
दैत्योरगैश्च भुज्यन्ते पातालान्तरगोचरैः । पातालानामधश्चास्ते विष्णोर्या तामसी तनुः ॥१३॥
शेषाख्या यद्गुणान् वक्तुं न शक्ता दैत्यदानवाः । योऽनन्तः पठ्यते [७]सिद्धैर्देवदेवर्षिपूजितः[८] ॥१४॥
सहस्रशिरसा व्यक्तः स्वस्तिकामलभूषणः । फणामणिसहस्रेण यः स विद्योतयन् दिशः ॥१५॥
सर्व्वान् करोति निर्वीर्य्यान् हिताय जगतोऽसुरान् । मदाघूर्णिततनेत्रोऽसौ यः सदैवैककुण्डलः ॥१६॥
किरीटी स्रग्धरो भाति साग्निश्वेत इवाचलः । नीलवासा मदोत्सिक्तः श्वेतहारोपशोभितः ॥१७॥

दैत्य-दानव रहते हैं ॥४॥ महासर्पों की बहुत-सी जातियाँ निवास करती हैं। पाताल स्वर्ग से भी रमणीय हैं ॥५॥ एक बार पाताल से स्वर्ग जाकर नारद ने देवसभा में कहा—'सुखदायक, अच्छी कान्तिवाली स्वच्छ मणियों से परिपूर्ण एवम् सर्प-भूषणों से भूषित पाताल की उपमा किससे दी जा सकती है ? ॥६½॥ इतस्ततः दैत्य-दानवों की कन्याओं से सुशोभित पाताल में पहुँचकर किस मुक्त पुरुष को भी प्रीति उत्पन्न नहीं हो जाती ? ॥७½॥ वहाँ दिन में सूर्य की किरणें प्रकाश फैलाती हैं, न कि धूप। रात्रि में चन्द्रमा भी केवल प्रकाश देता है, ठंड नहीं ॥८½॥ भक्ष्य-भोज्य, मधु-मदिरा से मत्त सर्प और दानव आदि कालगति को भी नहीं जानते ॥९½॥ पातालवासी दानव, दैत्य और सर्प,वन, नदियाँ, रमणीय सरोवर, कमलों से युक्त तालाब, पुरुष कोकिलों का आलाप, मनोहर वस्त्र, अतिरमणीय भूषण, पुष्प-चन्दन-गन्ध, वीणा, बाँसुरी और मृदंगों के शब्द आदि रमणीय पदार्थों का भोग करते हैं॥१०-१२½॥ पातालों के नीचे विष्णु का शेष नामक शरीर है, जिसके गुण-गान करने में दैत्य-दानव भी समर्थ नहीं हैं ॥१३½॥ उसी शेष का नाम अनन्त है। वह सिद्ध, देवता और देवर्षियों से पूजित तथा व्यक्तरूप है। उसके हजार सिर तथा दिव्य आभूषण हैं। वह अपने फण की हजार मणियों से दिशाओं को प्रकाशित करता है॥१४-१५॥ जगत्कल्याण के लिए वह सब असुरों को शक्ति-रहित बनाकर छोड़ता है। उसकी आँखें सदा मद से चञ्चल रहती हैं ॥ मुकुट-कुण्डल-माला को धारण किये हुए शेष अग्नियुक्त श्वेतपर्वत के समान सुशोभित होता है॥१६½॥ वह नीलवस्त्रधारी, मद से उन्मत्त, श्वेत हार से सुशोभित है ॥१७॥ आकाश

---

१ ग. ०लादीनि ना० । २ क. ख. दिवि । ३ क. ०णः सर्वा भूमयोऽत्र मनोहराः । नानाभ० । ४ ख. ०तश्च शतशो० । ५ क. ०किलविरावैश्च म० । ६ ग. गन्धाढ्यं । ७ ग. देवैर्देवर्षि० । ८ ग. ०जितैः । स० ।

साभ्रगङ्गाप्रपातोऽसौ कैलासाद्रिरिवोत्तमः[१] । लांगलासक्तहस्ताग्रो बिभ्रन्मुशलमुत्तमम् ॥१८॥
उपास्यते स्वयं कान्त्या यो वारुण्या च मूर्त्तया । कल्पान्ते यस्य वक्त्रेभ्यो विषानलशिखोज्ज्वलः ॥१९॥
संकर्षणात्मको [२]रुद्रो निष्क्रम्यात्ति जगत्त्रयम् । स बिभ्रच्छिखरीभूतमशेषं क्षितिमण्डलम् ॥२०॥
आस्ते पातालमूलस्थः शेषोऽशेषसुरार्च्चितः । तस्य वीर्य्यं प्रभावश्च स्वरूपं रूपमेव च ॥२१॥
न हि वर्णयितुं शक्यं ज्ञातुं वा त्रिदशैरपि । यस्यैषा सकला पृथ्वी फणामणिशिखारुणा ॥२२॥
आस्ते कुसुममालेव कस्तद्वीर्यं वदिष्यति । यदा विजृम्भतेऽनन्तो मदाघूर्णितलोचनः ॥२३॥
तदा चलति भूरेषा साद्रितोयाधिकानना । गन्धर्व्वाप्सरसः सिद्धाः [३]किन्नरोरगवारणाः ॥२४॥
नान्तं गुणानां गच्छन्ति ततोऽनन्तोऽयमव्ययः[४] । यस्य नागवधूहस्तैर्लापितं[५] हरिचन्दनम् ॥२५॥
मुहुः श्वासानिलायस्तं याति दिक्पटवासताम् । । यमाराध्य पुरार्णाषिर्गर्गो ज्योतींषि तत्त्वतः ॥२६॥
ज्ञातवान् सकलं चैव [६]निमित्तपठितं फलम्[७] । तेनेयं [८]नागवर्य्येण शिरसा विधृता मही ।
बिभर्ति सकलाँल्लोकान् स देवासुरमानुषान् ॥२७॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे पातालप्रमाणकीर्त्तनं नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

गंगा-प्रपात से युक्त कैलास पर्वत के समान शेषनाग की शोभा उत्तम है। वह उत्तम मूसल तथा हल को धारण किये रहता है ॥१७-१८॥ कान्तिमती वरुण-पुत्री उसकी उपासना करती है। कल्प के अन्त में विषाग्नि के समान देदीप्यमान संकर्षण रूपी रुद्र शेष के मुखों से निकल कर तीनों लोकों का भक्षण कर लेता है ॥१९½॥ वह चोटी की तरह संपूर्ण पृथ्वीमण्डल को धारण किये स्थित है। पातालमूल में रहने वाला शेष देवगणों से वन्दित है ॥२०½॥ उसके प्रभाव, स्वरूप, शक्ति आदि का वर्णन देवता भी नहीं कर सकते ॥२१½॥ जिस शेष के फणों पर यह समस्त पृथिवी पुष्प-माला की तरह स्थित है, उसके पराक्रम का वर्णन भला कौन कर सकता है? ॥२२½॥ जब मद-मत्त अनन्त शेष जँभाई लेता है तब पर्वत, वन और समुद्र सहित यह पृथिवी विचलित हो उठती है ॥२३½॥ गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, किन्नर, सर्प आदि, शेष के गुणों का पार नहीं पाते। इसीलिए वह अनन्त तथा अव्यय कहलाता है ॥२४½॥ नाग-स्त्रियों के हाथों से लेप किया गया श्वेत चन्दन शेष के श्वास-वायु के द्वारा उड़ाया जाने पर दिशाओं का वस्त्र बन जाता है ॥२५½॥ भगवान् अनन्त की उपासना कर प्राचीन ऋषि गर्ग ने सम्पूर्ण ज्योतिष शास्त्र तथा उसके निमित्त पठित फल को तत्त्वतः समझा था। वही नागवर शेष पृथ्वी तथा देवता, राक्षस और मनुष्य सहित तीनों लोक को धारण करता है ॥२६-२७॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में पाताल-प्रमाण-कीर्तन नामक इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२१॥

---

[१] ख. ग. वोन्नतः । ला० । [२] क. ०द्रो भमन्याति ज० । [३] क. ०गराक्षसाः । [४] ख. ०मप्यजः । य०. । [५] ग. ०स्तैर्गालितं । [६] ख. ०मित्तं प० । [७] ग. फली । [८] क. नाम विधृता शिरसा सकला म० ।

द्वाविंशोऽध्यायः

तत्रादौ नरकवर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

ततश्चानन्तरं विप्रा नरका रौरवादयः । पापिनो येषु [1]पात्यन्ते ताञ्छृणुध्वं द्विजोत्तमाः ।।१।।
रौरवः [2]शौकरो [3]रोधस्तानो[4] [5]विशसनस्तथा । महाज्वालस्तप्तकुड्यो[6] महालोभो विमोहनः ।।२।।
रुधिरान्धो[7] वसातप्तः [8]कृमीशः कृमिभोजनः । असिपत्रवनं कृष्णो [9]लालाभक्षश्च दारुणः ।।३।।
तथा पूयवहः पापो वह्निज्वालो[10] ह्यधःशिराः । सदंशः कृष्णसूत्रश्च [11]तमश्चावीचिरेव च ।।४।।
श्वभोजनोऽथाप्रतिष्ठोमावीचिश्च तथापरः । इत्येवमादयश्चान्ये नरका भृशदारुणाः ।।५।।
यमस्य विषये घोराः शस्त्राग्निविषदर्शिनः । पतन्ति येषु पुरुषाः पापकर्म्मरताश्च ये ।।६।।
कूटसाक्षी तथा सम्यक् पक्षपातेन यो वदेत् । [12]यश्चान्यदनृतं वक्ति स नरो याति रौरवम् ।।७।।
भ्रूणहा [13]पुरहन्ता च गोघ्नश्च मुनिसत्तमाः । यान्ति ते [14]रौरवं घोरं [15]यश्चोच्छ्वासनिरोधकः ।।८।।
सुरापो [16]ब्रह्महा हर्त्ता सुवर्णस्य च शूकरे[17] । प्रयाति [18]नरके यश्च तैः संसर्गमुपैति वै ।।९।।
राजन्यवैश्यहा चैव तथैव [19]गुरुतल्पगः । तप्तकुम्भे [20]स्वसृगामी हन्ति राजभटञ्च यः ।।१०।।

अध्याय २२

नरकों का वर्णन

लोमहर्षण बोले—विप्रवृन्द ! अब इसके बाद रौरव आदि नरकों के बारे में सुनिये, जिनमें पापी लोग गिराये जाते हैं ।।१।। द्विजश्रेष्ठो ! रौरव, शौकर, रोधस्तान, विशसन, महाज्वाल, तप्तकुड्य, महालोभ, विमोहन ।।२।। रुधिरान्ध, वसातप्त, कृमीश, कृमिभोजन, असिपत्रवन, कृष्ण, लालाभक्ष, दारुण ।।३।। पूयवह, पाप, वह्निज्वाल, अधःशिरा, सदंश, कृष्णसूत्र, तम, आवीचि ।।४।। श्वभोजन, अप्रतिष्ठ, मावीचि आदि और दूसरे भी अत्यन्त भयंकर नरक हैं ।।५।। यम के राज्य में पाप-कर्म में निरत शस्त्र, अग्नि तथा विष का प्रयोग करने वाले भयानक पुरुष नरकों में गिरते हैं ।।६।। जो मनुष्य झूठी गवाही देता है, पक्षपात करता है, मिथ्या बोलता है, वह रौरव नरक जाता है ।।७।। मुनिवर ! गर्भपात, नगर-ध्वंस तथा गोहत्या करने वाले और गला घोंटकर हत्या करने वाले मनुष्य भयंकर रौरव नरक में जाते हैं ।।८।। मद्यपान करने वाले, ब्रह्महत्या करने वाले, सुवर्ण चुराने वाले तथा उनके संसर्ग करने वाले मनुष्य शौकर नरक में जाते हैं ।।९।। क्षत्रिय, वैश्य तथा राजदूत के हत्यारे, गुरुपत्नीगामी और

१क. पच्यन्ते। २क. ख. शूकरो। ३ख. रोधः शीलो विश्वस०। ४क. ०स्तालो वि०। ५ग. ०शनसस्त०। ६ख. ०प्तकुम्भो म०। ७ख. ग. ०न्धो वैतरणी कृ०। ८क. कृमिशः। ख. कृमिशः। ९क. ०क्षः सुदा०। १०क. वह्नितप्तोऽप्यधः। ११क. ०श्चाशूचि०। १२क. यस्तावद०। १३ख. गुरुहन्ता। १४क. निरयं। १५ख. यश्च श्वास०। १६क. ०ह्महत्यावान्सुव०। १७क. मूषकः। १८क. नरकं। १९क. ०गः। ये कुञ्जेषु मृगानन्यान्घ्नन्ति राजभटाश्च ये। सर्वविक्रयकर्त्ता वै पापः के। २०ख. स्वसागा०।

माध्वीविक्रयकृद्वध्यपालः[१] [२]केसरविक्रयी[३] । तप्तलोहे पतन्त्येते यश्च भक्तं परित्यजेत् ।।११।।
सुतां स्नुषाञ्चापि[४] गत्वा महाज्वाले निपात्यते । अवमन्ता गुरूणां यो यश्चाक्रोष्टा नराधमः[५] ।।१२।।
वेददूषयिता यश्च वेदविक्रयकश्च यः । अगम्यगामी यश्च स्यात् ते यान्ति शबलं द्विजाः ।।१३।।
चौरो विमोहे पतति मर्य्यादादूषकस्तथा । [६]देवद्विजपितृद्वेष्टा रत्नदूषयिता च यः ।।१४।।
स याति कृमिभक्ष्ये वै कृमीशे[७] तु दुरिष्टिकृत् । पितृदेवातिथीन् यस्तु पर्य्यश्नाति नराधमः ।।१५।।
लालाभक्ष्ये स यात्युग्रे शरकर्त्ता च वेधके । करोति कर्णिनो [८]यश्च यश्च खड्गादिकृन्नरः ।।१६।।
प्रयान्त्येते विशसने नरके भृशदारुणे । असत्प्रतिग्रहीता च नरके यात्यधोमुखे ।।१७।।
अयाज्ययाजकस्तत्र तथा नक्षत्रसूचकः[९] । कृमिपूये नरश्चैको याति मिष्टान्नभुक्[१०] सदा ।।१८।।
लाक्षामांसरसानाञ्च तिलानां लवणस्य च । विक्रेता ब्राह्मणो याति तमेव नरकं द्विजाः ।।१९।।
मार्ज्जारकुक्कुटच्छागश्ववराहविहङ्गमान्[११] । पोषयन्नरकं याति तमेव द्विजसत्तमाः ।।२०।।
रङ्गोपजीवी कैवर्त्तः कुण्डाशी गरदस्तथा । सूची माहिषिकश्चैव पर्व्वगामी च यो द्विजः ।।२१।।
अगारदाही [१२]मित्रघ्नः [१३]शकुनिग्रामयाजकः । रुधिरान्धे पतन्त्येते सोमं विक्रीणते च ये ।।२२।।

भगिनीगामी मनुष्य तप्तकुम्भ नरक में जाते हैं ।।१०।। मद्य तथा केसर-विक्रेता, वध करने योग्य व्यक्ति का रक्षक एवम् भक्त-त्यागी मनुष्य तप्तलोह नरक में जाते हैं ।।११।। पुत्री तथा पुत्रवधू गामी एवं गुरु-निन्दक तथा गुरु का अपमान करने वाले नीच मनुष्य महाज्वाल नरक में गिराये जाते हैं ।।१२।। वेद-विक्रेता, वेद-निन्दक तथा अगम्या-गमन करने वाले मनुष्य शवल नरक में जाते हैं।।१३।। दूषित यज्ञ करने वाले तथा पिता, देवता, ब्राह्मण तथा पिता के द्रोही मनुष्य विमोह नरक में जाते हैं ।।१४।। दूषित यज्ञ करने वाले तथा पिता, देवता और अतिथि का निरादर करने वाले नीच मनुष्य कृमिभक्ष्य या कृमीश नरक में जाते है ।।१५।। विषाक्त बाणों के निर्माता मनुष्य लालाभक्ष्य या वेधक नरक में जाते हैं। पिशुन (चुगलखोर) तथा तलवार आदि के निर्माता मनुष्य अत्यन्त भयानक विशसन नरक में जाते हैं।।१६$\frac{१}{३}$।। अनुचित दान देने वाले, अनधिकारी व्यक्तियों से यज्ञ कराने वाले तथा नक्षत्रों की सूचना देने वाले (ज्योतिष के व्यवसायी) मनुष्य अधोमुख नरक में जाते हैं।।१७$\frac{१}{३}$।। सदा मिष्टान्न खाने वाले मनुष्य कृमिपूय नरक में जाते हैं।।१८।। लाख, मांस, रस, तिल तथा लवण विक्रेता ब्राह्मण भी उसी नरक में जाते हैं।।१९।। द्विजवर्य ! बिलाड़, मुर्गे, बकरे, अश्व, शूकर और पक्षी को पालने वाले मनुष्य भीउसी नरक में जाते हैं।।२०।। रंग के द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले, कैवर्त (दास या धीवर), कुण्ड (जार-पुत्र) के अन्न-भोक्ता, विष देने वाले, सिलाई से जीविका अर्जित करने वाले, भैंस से जीवन निर्वाह करने वाले और पर्वकाल में स्त्री प्रसंग करने वाले ब्राह्मण, गृह जलाने वाले, मित्र को मारने वाले, शकुन विद्या को जानने वाले, ग्रामयाजक और मद्य-विक्रेता रुधिरान्ध नरक में जाते हैं ।।२१-२२।। मधु हरण करनेवाले तथा ग्राम जलाने वाले मनुष्य वैतरणी नरक में

१ख. ०कृद्यो वै पापः के० । २ग. ०सरिवि० । ३क. ०यी । ते मोहेषु प० । ४ग. ०षां च भगिनीं ग० । ५क. ०राधिपम् । वे० । ६क. ख. ०जनृपद्वेषी र० । ७क. ०मीन्यश्च निहन्ति वै । पि० । ८क. ०श्च कारयिता नरः । ९क. ०कः वैगीपूतिमयं चैको । ग. ०कः । वेगिपूयवहश्चैको । १०क. ग. भुङ्नरः । ला० । ११ क. ०गवराहांश्च वि० । १२क. ग्रामघ्नः । १३ख. ग. ०निर्ग्राम० ।

मधुहा[१] ग्रामहन्ता च याति [२]वैतरणीं नरः । रेतःपानादिकर्त्तारो [३]मर्य्यादाभेदिनश्च ये[४] ।।२३।।
ते कृच्छ्रे यान्त्यशौचाश्च कुहकाजीविनश्च ये । असिपत्रवनं [५]याति वनच्छदी वृथैव यः ।।२४।।
औरभ्रिका मृगव्याधा वह्निज्वाले पतन्ति वै । यान्ति तत्रैव ते विप्रा[६] यश्चापाकेषु वह्निदः ।।२५।।
व्रतोपलोपको यश्च स्वाश्रमाद्विच्युतश्च यः[७] । सन्दंशयातनामध्ये पततस्तावुभावपि ।।२६।।
दिवा स्वप्नेषु [८]स्यन्दन्ते ये नरा ब्रह्मचारिणः । पुत्रैरध्यापिता ये तु ते पतन्ति श्वभोजने ।।२७।।
एते चान्ये च नरकाः शतशोऽथ सहस्रशः । येषु दुष्कृतकर्म्माणः पच्यन्ते यातनागताः ।।२८।।
तथैव पापान्येतानि तथान्यानि सहस्रशः । भुज्यन्ते जातिपुरुषैर्नरकान्तरगोचरैः[९] ।।२९।।
वर्णाश्रमविरुद्धञ्च कर्म्म कुर्व्वन्ति ये नराः । कर्म्मणा मनसा वाचा निरयेषु पतन्ति ते ।।३०।।
अधःशिरोभिर्दृश्यन्ते नारकैर्दिवि देवताः । देवाश्चाधोमुखान् सर्व्वानधः पश्यन्ति नारकान् ।।३१।।
स्थावराः[१०] कृमयोऽब्जाश्च पक्षिणः पशवो नराः । धार्म्मिकास्त्रिदशास्तद्वन्मोक्षिणश्च यथाक्रमम् ।।३२।।
सहस्रभागः[११] प्रथमाद्द्वितीयोऽनुक्रमात्तथा । सर्व्वे ह्येते महाभागा यावन्मुक्तिसमाश्रयाः ।।३३।।
यावन्तो जन्तवः स्वर्गे तावन्तो नरकौकसः । पापकृद्याति नरकं प्रायश्चित्तपराङ्मुखः ।।३४।।
पापानामनुरूपाणि प्रायश्चित्तानि यद्यथा । तथा तथैव संस्मृत्य प्रोक्तानि परमर्षिभिः ।।३५।।

जाते हैं। वीर्य आदि का पान करने वाले, मर्यादा का भेदन करने वाले, अपवित्रता से रहने वाले और छल से आजीविका करने वाले कृच्छ्र नरक में जाते हैं ।।२३$\frac{१}{३}$।। व्यर्थ ही वृक्षों का छेदन करनेवाले असिपत्रवन नरक में जाते हैं।।२४।। भेड़ से जीविका कमाने वाले, मृगों का शिकार करने वाले वह्निज्वाल नरक में जाते हैं। पाकरहित भोजन में भी अग्नि का प्रयोग करने वाले मनुष्य भी उसी नरक में जाते हैं (?) ।।२५।। व्रत का लोप करने वाले और अपने आश्रम से च्युत होने वाले संदंशयातना नरक में जाते हैं ।।२६।। जिन ब्रह्मचारियों को दिन में स्वप्नदोष होता है वे तथा पुत्रों से पढ़ने वाले मनुष्य श्वभोजन नरक में जाते हैं ।।२७।। इनके अतिरिक्त और दूसरे भी सैकड़ों-हजारों नरक हैं, जिनमें दुष्कर्म करने वाले लोग पकाये जाते हैं ।।२८।। इसी तरह नरकगामी जीव हजारों पापों का फल भोगते हैं। कर्म, मन और वाणी से वर्णाश्रम-विरुद्ध कर्म करने वाले मनुष्य नरक में पड़ते हैं ।।२९-३०।। नीचे सिर वाले नरकवासी जीव स्वर्गगत देवताओं को देखते हैं और भी देवता उन अधोमुख नारकीयों को नीचे देखते हैं ।।३१।। महाभाग ऋषिगण, स्थावर, कृमि, जलजन्तु, पक्षी, पशु, मनुष्य, धर्मात्मा तथा मुक्त पुरुष—ये सब क्रमशः उत्तरोत्तर योनियों को प्राप्त करते हुए मोक्ष पाने तक ही रहते हैं।।३२-३३।। जितने जन्तु स्वर्ग में हैं, उतने ही नरक में भी हैं। प्रायश्चित्त न करनेवाले पापी मनुष्य नरक में जाते हैं ।।३४।। पापों के अनुरूप प्रायश्चित्तों के बारे में मुनियों ने चिन्तन करके वतलाया है ।।३५।। विप्रवर! स्वायंभुव आदि मनुओं ने भारी

१क. बन्धुहा। २क. ०णीं द्विजाः। मूल्येन संध्याक०। ३क. ०दानिन्दिताश्च। ४ग. ये। ये कृष्णे या०। ५ख. यान्ति। ६क. ०प्रा यः श्वपा०। ७क. यः। सदृशं पापमाश्रित्य व्रजतस्ता०। ८क. स्पन्दन्ते। ग. स्कन्दन्ते। ९क. ख. ०कार्णवगो०। १०क. ०मयः स्थाताः प०। ११क. ०स्रमार्गात्प्रथमाद्द्वितीयात्क्रमशस्तथा। ख. ०स्रभागात्प्रथमा द्वितीया तु क्रमास्तथा।

पापे गुरूणि गुरुणि स्वल्पान्यल्पे च तद्विदः । प्रायश्चित्तानि[1] विप्रेन्द्रा जगुः स्वायम्भुवादयः ।।३६।।
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्म्मात्मकानि वै । यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ।।३७।।
कृते [2]पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते । प्रायश्चित्तन्तु तस्यैकं [3]हरिसंस्मरणं परम् ।।३८।।
प्रातर्निशि तथा सन्ध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन् । नारायणमवाप्नोति सद्यः [4]पापक्षयान्नरः ।।३९।।
विष्णुसंस्मरणात् क्षीणसमस्तक्लेशसञ्चयः । मुक्तिं [5]प्रयाति भो विप्रा विष्णोस्तस्यानुकीर्त्तनात् ।।४०।।
वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्च्चनादिषु । तस्यान्तरायो विप्रेन्द्रा देवेन्द्रत्वादिकं फलम्[6] ।।४१।।
क्व नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम् । क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम् ।।४२।।
तस्मादहर्निशं विष्णुं संस्मरन् पुरुषो द्विजः । न याति नरकं शुद्धः [7]संक्षीणाखिलपातकः ।।४३।।
मनःप्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्य्ययः । नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तमाः ।।४४।।
वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्योदयाय च । कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु दुःखात्मकं कुतः ।।४५।।
तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते । तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते ।।४६।।
तस्माद्‌दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम् । मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः[8] ।।४७।।
ज्ञानमेव परं [9]ब्रह्माज्ञानं बन्धाय[10] चेष्यते । [11]ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम् ।।४८।।

पाप के भारी प्रायश्चित्त तथा अल्प के अल्प प्रायश्चित्त बताये हैं ।।३६।। तपस्या, सुकर्म आदि प्रायश्चित्त हैं । पर समस्त प्रायश्चित्तों के बाद श्रीकृष्ण का स्मरण करना उत्कृष्ट है ।।३७।। जिस पुरुष को पाप करने पर अनुताप होता है, उसका एकमात्र प्रायश्चित्त है—श्रीहरि का स्मरण ।।३८।। प्रातःकाल, सन्ध्याकाल, रात तथा दिन में नारायण का स्मरण करने वाले मनुष्य का सद्यः पाप-क्षय हो जाता है ।।३९।। विप्रवृन्द ! विष्णु के सम्यक् स्मरण से समस्त क्लेशों को नष्ट कर मनुष्य हरि-कीर्तन के बल से मुक्त हो जाता है ।।४०।। जिस मनुष्य का मन, जप-होम-पूजा के द्वारा वासुदेव में लगता है, उसे विघ्न-बाधा नहीं सताती, तथा इन्द्र-पद भी उसके लिए तुच्छ है ।।४१।। कहाँ पुनर्जन्म-दायक स्वर्गगमन और कहाँ सर्वोत्तम मोक्षदायक वासुदेव का जप ।।४२।। इसलिए दिन-रात विष्णु का स्मरण करने वाला शुद्ध ब्राह्मण, जिसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, नरक नहीं जाता है ।।४३।। स्वर्ग मन में प्रीति उत्पन्न करने वाला है और नरक उसका प्रतिकूल (अर्थात् दुःखदायक है) । द्विजवर्य ! पाप-पुण्य नरक-स्वर्ग संज्ञा वाले हैं ।।४४।। एक ही वस्तु दुःख, सुख, ईर्ष्या और क्रोध उत्पन्न करती है । इसलिए कोई पदार्थ दुःखसंज्ञक नहीं है ।।४५।। जो पदार्थ सुख देकर दुःख देता है, वही फिर क्रोध और प्रसन्नता उत्पन्न करता है । इसलिए दुःख-सुख नामक कोई चीज नहीं है ।।४६½।। सुख-दुःख होना—यह तो मन का परिणाम है। ज्ञान ही परब्रह्म है और अज्ञान बन्धन में डालता है ।।४७½।। यह संसार ज्ञान रूप है और ज्ञान से बढ़कर कुछ नहीं है ।।४८।। विप्रवृन्द ! विद्याओं से जानने योग्य पदार्थों में ज्ञान ही को धारण करना चाहिए।

१ख. ०नि भो विप्रा ज० । २ख. ०पे च ता० । ३क. कृष्णानुस्मरणं । ४ख. ग. ०क्षयं नरः । ५ख. ग. ०तिस्वर्गाप्तिस्तस्य विघ्नोऽनुमीयते । वा० । ६क. ०म् । नाकपृष्ठादिग० । ग. ०म् । आना० । ७क. ०णाशेषपा० । ८ख. ग. ०क्षणम् । ज्ञा० । ९क. ख. ब्रह्मज्ञा० । १०क. ०य नेष्य० । ११क. ज्ञानमेवं परं वि० । ख. ज्ञानं च कामदं वि० ।

विद्याविद्ये हि[1] भो विप्रा ज्ञानमेवावधार्य्यताम् । एवमेतन्मयाख्यातं भवतां मण्डलं भुवः ।।४९।।
पातालानि च सर्व्वाणि तथैव नरका द्विजाः । समुद्राः पर्व्वताश्चैव द्वीपा वर्षाणि निम्नगाः ।।
संक्षेपात् सर्व्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छथ[2] ।। ।।५०।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे पातालनरककीर्त्तनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ।।२२।।

त्रयोविंशोऽध्यायः

तत्रादौ भूर्भुवःस्वरादिवर्णनम्

मुनय ऊचुः

कथितं भवता सर्व्वमस्माकं सकलं तथा । भुवर्लोकादिकाँल्लोकान्[3] श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।।१।।
तथैव ग्रहसंस्थानं प्रमाणानि यथा तथा । समाचक्ष्व महाभाग यथावल्लोमहर्षण ।।२।।

लोमहर्षण उवाच

रविचन्द्रमसोर्यावन्मयूखैरवभास्यते[5] । ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता ।।३।।
यावत्प्रमाणा पृथिवी विस्तारपरिमण्डला । नभस्तावत्प्रमाणं हि विस्तारपरिमण्डलम् ।।४।।

इस प्रकार मैंने आपसे पृथ्वी-मण्डल, अखिल पाताल तथा नरकों का वर्णन किया ।।४९$\frac{१}{२}$।। द्विजगण ! समुद्रों, पर्वतों, द्वीपों, वर्षों तथा नदियों के बारे में भी संक्षेप से सब कुछ कह दिया । अब आप फिर क्या सुनना चाहते हैं ? ।।५०।।

श्री ब्रह्म-महापुराण में पाताल-नरक-कीर्तन नामक बाईसवाँ अध्याय समाप्त ।।२२।।

अध्याय २३

भूर्, भुवर् और स्वर् आदि लोकों का वर्णन

मुनियों ने कहा—आपने सब कुछ हमसे कहा । अब हम भुवः, स्वः आदि लोकों के बारे में सुनना चाहते हैं ।।१।। हे महाभाग, ग्रहों की स्थिति तथा प्रमाण के सम्बन्ध में भी यथार्थतः बोध कराइये ।।२।।

लोमहर्षण बोले—सूर्य-चन्द्रमा की किरणों से जहाँ तक समुद्र, नदी और पर्वत सहित पृथिवी प्रकाशित होतीहै वहाँ तक उसका प्रमाण है ।।३।। विस्तार और मण्डल सहित पृथ्वी का जितना परिमाण हैं उतना ही

१क. हि ये विप्रा ज्ञानं तेषां परं मतम् ।२क.ख.०च्छत। इ० । ३क. ०दिसर्वांस्ताञ्श्रो० । ४क. तत्र ग्रहाणां सं० । ५क. वत्किरणैर० ।

भूमेर्योजनलक्षे तु सौरं विप्रास्तु मण्डलम् । लक्षे दिवाकराच्चापि[१] मण्डलं शशिनः स्थितम् ।।५।।
पूर्णे शतसहस्रे तु योजनानां निशाकरात् । नक्षत्रमण्डलं कृत्स्नमुपरिष्टात् प्रकाशते ।।६।।
द्विलक्षे चोत्तरे विप्रा बुधो नक्षत्रमण्डलात् । तावत् प्रमाणभागे तु बुधस्याप्युशना स्थितः ।।७।।
अङ्गारकोऽपि शुक्रस्य तत्प्रमाणे व्यवस्थितः । लक्षद्वयेन भौमस्य स्थितो देवपुरोहितः ।।८।।
सौरिर्बृहस्पतेरूद्ध्र्वं द्विलक्षे समवस्थितः । सप्तर्षिमण्डलं तस्माल्लक्षमेकं द्विजोत्तमाः ।।९।।
ऋषिभ्यस्तु सहस्राणां शतादूद्ध्र्वं व्यवस्थितः । मेढीभूतः[२] समस्तस्य ज्योतिश्चक्रस्य वै ध्रुवः ।।१०।।
त्रैलोक्यमेतत् कथितं संक्षेपेण द्विजोत्तमाः । [३]इज्याफलस्य [४]भूरेषा [५]इज्या चात्र प्रतिष्ठिता[६] ।।११।।
ध्रुवादूर्ध्वं महर्लोको यत्र ते कल्पवासिनः । एकयोजनकोटी[७] तु[८] महर्लोको विधीयते ।।१२।।
द्वे कोट्यौ तु जनो लोको यत्र ते ब्रह्मणः सुताः । सनन्दनाद्याः [९]कथिता [१०]विप्राश्चामलचेतसः[११] ।।१३।।
चतुर्गुणोत्तरं[१२] चोद्ध्र्वं जनलोकात्तपः स्मृतम्[१३] । वैराजा यत्र ते देवाः स्थिता देहविवर्ज्जिताः ।।१४।।
षड्गुणेन तपोलोकात् सत्यलोको विराजते । [१४]अपुनर्मारकं[१५] यत्र सिद्धादिमुनिसेवितम् ।।१५।।
पादगम्यं तु यत् किञ्चिद्वस्त्वस्ति पृथिवीमयम् । स भूर्लोकः समाख्यातो विस्तारोऽस्य मयोदितः ।।१६।।
भूमिसूर्य्यान्तरं यत्तु सिद्धादिमुनिसेवितम् । भुवर्लोकस्तु सोऽप्युक्तो द्वितीयो मुनिसत्तमाः ।।१७।।

परिणाम विस्तार और परिमण्डल सहित आकाश का भी है ।।४।। विप्रवृन्द ! पृथिवी से एक लाख योजन दूरी पर सूर्य-मण्डल स्थित है और सूर्य से उतनी ही दूरी पर चन्द्र-मण्डल स्थित है ।।५।। चन्द्रमा से एक लाख योजन ऊपर सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल प्रकाशित होता है ।।६।। नक्षत्र-मण्डल से दो लाख योजन उत्तर बुध-मण्डल है और बुध से उतना ही दूर उत्तर शुक्र स्थित है ।।७।। शुक्र से उतनी ही दूरी पर मंगल भी स्थित है । मंगल से दो लाख योजन दूरी पर बृहस्पति स्थित है ।।८।। बृहस्पति से दो लाख योजन ऊपर शनि स्थित है । द्विजश्रेष्ठो ! शनि से एक लाख योजन ऊपर सप्तर्षि-मण्डल है ।।९।। सप्तर्षि-मण्डल से एक लाख योजन ऊपर समस्त ज्योतिश्चक्र का अरा बना हुआ ध्रुव स्थित है ।।१०।। विप्रवर ! संक्षेप से तीनों लोक का वर्णन मैंने कर दिया । यज्ञ-फल की यह भूमि है ; यज्ञ यहाँ प्रतिष्ठित हुआ है । ध्रुव से ऊपर महर्लोक है, जहाँ कल्पवासी जन रहते हैं ।।११½।। महर्लोक का परिमाण एक करोड़ योजन है । दो करोड़ योजन प्रमाण जनोलोक है, जहाँ ब्रह्मा के निर्मल चित्त वाले सनन्दन आदि पुत्र रहते हैं ।। १२-१३।। जनोलोक से चौगुना ऊपर तपोलोक है, जहाँ वैराज संज्ञक देवता शरीर-रहित होकर स्थित हैं ।।१४।। तपोलोक से छह गुना ऊपर सत्यलोक विराजमान है, जहाँ सिद्ध आदि मुनियों से सेवित ब्रह्मलोक भी है ।।१५।। पैरों से गमन करने योग्य जो कुछ भी पार्थिव वस्तु है, वह भूर्लोक कहलाता है । इसका विस्तार मैं बता चुका हूँ ।।१६।। मुनिश्रेष्ठो ! सिद्ध आदि मुनियों से सेवित पृथ्वी और सूर्य के अन्तर तथा भुवर्लोक के बारे में भी मैं कह चुका हूँ

१ख. ग. ०करस्यापि । २ग. मेध्वीभूतं स० । ३क. इष्टाफ० । ४क. भूम्येषा । ५क. इष्टा साऽत्र । ६क. ०ता । नवकोटिपु यत्रैते कल्प्यन्ते मुनिसत्तमाः । यान्ति चैते महर्लोकं यत्र क० । ७क. ०कोटिस्तु यत्र ते कल्पवासिनः । द्वे । ८ख. तु यत्र ते कल्पवासिनः । द्वे । ९क. कवयो । १०ग. ०थिताः प्रियाश्चा० । ११क. ०लतेजसः । १२क. ख. ०त्तरादूर्ध्वं । १३क. ख. स्मृतः । १४ख. ०नर्नारका सूर्या ब्रह्मलोको हि स स्मृतः । पा० । १५ग. ०रका यत्र ब्रह्मलोको हि स स्मृतः । पा० ।

[१]ध्रुवसूर्य्यान्तरं यत्तु नियुतानि चतुर्द्दश । स्वर्लोकः सोऽपि कथितो[२] [३]लोकसंस्थानचिन्तकैः[४] ।।१८।।
त्रैलोक्यमेतत् कृतकं विप्रैश्च परिपठ्यते । जनस्तपस्तथा सत्यमिति चाकृतकं त्रयम् ।।१९।।
कृतकाकृतको[५] मध्ये महर्लोक इति स्मृतः । शून्यो भवति कल्पान्ते योऽन्तं[६] न च विनश्यति ।।२०।।
एते सप्त महालोका मया वः कथिता द्विजाः । पातालानि च सप्तैव ब्रह्माण्डस्यैष विस्तरः ।।२१।।
एतदण्डकटाहेन तिर्य्यगूद्ध्र्वमधस्तथा । कपित्थस्य यथा बीजं सर्व्वतो वै समावृतम् ।।२२।।
दशोत्तरेण पयसा द्विजाश्चाण्डञ्च तद्वृतम्[७] । स चाम्बुपरिवारोऽसौ वह्निना वेष्टितो बहिः ।।२३।।
वह्निस्तु वायुना वायुर्विप्रास्तु नभसावृतः[८] । आकाशोऽपि मुनिश्रेष्ठा महता परिवेष्टितः ।।२४।।
दशोत्तराण्यशेषाणि विप्राश्चैतानि सप्त वै । महान्तञ्च समावृत्य प्रधानं समवस्थितम् ।।२५।।
अनन्तस्य न तस्यान्तः संख्यानं चापि विद्यते । तदनन्तमसंख्यातं प्रमाणेनापि वै यतः ।।२६।।
हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा[९] द्विजाः । अण्डानान्तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च ।।२७।।
ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि च । दारुण्यग्निर्यथा तैलं तिले तद्वत् [१०]पुमानिह ।।२८।।
[११]प्रधानेऽवस्थितो व्यापी चेतनात्मनिवेदनः । प्रधानञ्च पुमांश्चैव [१२]सर्व्वभूतानुभूतया ।।२९।।

।।१७।। लोक-स्थिति-चिन्तकों का कहना है कि ध्रुव और सूर्य के बीच एक करोड़ चालीस लाख योजन प्रमाण स्वर्लोक हैं। विप्रों ने इसका नाम कृतकत्रिलोकी रखा है ।।१८½।। जन, तप तथा सत्य—यह भी अकृतक त्रिलोकी नाम से ख्यात है ।।१९।। कृतक और अकृतक के मध्य महर्लोक माना गया है, जो कल्पान्त में शून्य हो जाता है, पर नष्ट नहीं होता ।।२०।। द्विजगण ! मैंने सातों महालोक तथा सातों पाताल से युक्त ब्रह्माण्ड के विस्तार का वर्णन कर दिया ।।२१।। जैसे कपित्थ (कठबेल) का बीज सब ओर से ढका रहता है उसी तरह यह ब्रह्माण्ड अण्डकटाह से ऊपर-नीचे और तिरछे ढका हुआ है ।।२२।। द्विजगण ! दस गुने जल से यह ब्रह्माण्ड आवृत है। जलराशि भी बाहर अग्नि से वेष्टित है ।।२३।। अग्नि तो वायु से और वायु आकाश से आवृत है। मुनिश्रेष्ठो! आकाश भी महत्तत्त्व से परिवेष्टित है ।।२४।। विप्रवृन्द ! ये सम्पूर्ण सातों दशाधिक (अर्थात् सत्रह) हैं। महत्तत्त्व को आवृत कर प्रधान (प्रकृति) अवस्थित है ।।२५।। उस अनन्तरूप देव का अन्त और संख्या नहीं है, अतएव उस अनन्त का प्रमाण भी नहीं बताया जा सकता है ।।२६।। द्विजगण ! अशेष ब्रह्माण्ड का कारण परा प्रकृति है। ऐसी ही हजार के हजार और करोड़ के करोड़ अपरिमित ब्रह्माण्ड हैं। जैसे काष्ठ में अग्नि और तिल में तेल स्थित रहता है उसी तरह व्यापक चेतन-आत्मा प्रधान में अवस्थित है। द्विजश्रेष्ठो ! सब प्राणियों में अनुप्रविष्ट विष्णु-शक्ति प्रकृति और पुरुष आश्रय-धर्म का धारण करते हैं। प्रकृति-पुरुष के पार्थक्य तथा आश्रय का

---

[१] ग. ०वपूर्वोत्तरं। [२] क. ०तो द्विजास्तत्त्वविचि०। [३] ख. कस्थानविचि०। [४] क. ०कैः। लोकत्रयं च कृतकं। [५] क. ०तकयोर्मध्ये। [६] ग. यो ह्यन्ते न। [७] ख. तत्स्मृत०। [८] ग. ०तः। भूतादिना नभः सोऽपि म०। [९] ख. ०राजिता। अ०। [१०] ख. ०मानपि। प्र०। [११] क. ०नेन स्थि०। [१२] क. ख. ०तात्मभू०।

विष्णुशक्त्या द्विजश्रेष्ठा[१] धृतौ संश्रयधर्म्मिणौ । तयोः सैव पृथग्भावे कारणं संश्रयस्य च ॥३०॥
क्षोभकारणभूता च सर्गकाले द्विजोत्तमाः । यथा शैत्यं जले वातो बिभर्त्ति कणिकागतम् ॥३१॥
जगच्छक्तिस्तथा विष्णोः प्रधानपुरुषात्मकम् । यथा च पादपो मूलस्कन्धशाखादिसंयुतः ॥३२॥
[२]आद्यबीजात् प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः । प्रभवन्ति ततस्तेभ्यो भवन्त्यन्ये परे द्रुमाः ॥३३॥
तेऽपि तल्लक्षणद्रव्यकारणानुगता द्विजाः । एवमव्याकृतात् पूर्व्वं जायन्ते महदादयः ॥३४॥
[३]विशेषान्तास्ततस्तेभ्यः सम्भवन्ति सुरादयः । तेभ्यश्च पुत्रास्तेषां तु पुत्राणां परमे सुताः ॥३५॥
वीजाद्वृक्षप्ररोहेण यथा नापचयस्तरोः । भूतानां भूतसर्गेण नैवास्त्यपचयस्तथा ॥३६॥
सन्निधानाद्यथाकाशकालाद्याः कारणं तरोः । तथैवापरिणामेन[४] विश्वस्य भगवान् हरिः ॥३७॥
व्रीहिबीजे यथा [५]मूलं नालं पत्राङ्कुरौ तथा । काण्डकोषास्तथा पुष्पं क्षीरं तद्वच्च तण्डुलः ॥३८॥
तुषाः कणाश्च सन्तो वै यान्त्याविर्भावमात्मनः । प्ररोहहेतुसामग्र्यमासाद्य मुनिसत्तमाः ॥३९॥
तथा [६]कर्म्मस्वनेकेषु देवाद्यास्तनवः स्थिताः । विष्णुशक्तिं समासाद्य प्ररोहमुपयान्ति वै ॥४०॥
स च विष्णुः परं ब्रह्म यतः सर्व्वमिदं जगत् । जगच्च यो यत्र चेदं [७]यस्मिन्विलयमेष्यति ॥४१॥
तद्ब्रह्म परमं धाम सदसत् परमं पदम् । यस्य सर्व्वमभेदेन जगदेतच्चराचरम् ॥४२॥
स एव मूलप्रकृतिर्व्यक्तरूपी जगच्च सः । तस्मिन्नेव लयं सर्वं याति तत्र च तिष्ठति ॥४३॥

कारण भी शक्ति ही है, जो सृष्टिकाल में क्षोभ का कारण बन जाती है ॥२७-३०$\frac{१}{३}$॥ द्विजवर ! जैसे वायु जल-कण से प्राप्त शैत्य को धारण करता है वैसे सृष्टि-काल में संचालन-कारण भूत विष्णु-शक्ति प्रकृति-पुरुष रूप जगत् का धारण करती है ॥३१$\frac{१}{३}$॥ जैसे मूल-स्कन्ध-शाखा आदि से संयुक्त वृक्ष प्रथम बीज से उत्पन्न होता है, दूसरे बीज उस वृक्ष से और अन्य वृक्ष उन बीजों से उत्पन्न होते हैं तथा हे द्विजो ! वे भी उसी लक्षण वाले द्रव्य के कारण के अनुगत होते हैं, उसी तरह अव्याकृत (मूल प्रकृति) से पूर्व महदादि उत्पन्न होते हैं ॥३२-३४॥ ये सब विशेष के अन्त वाले हैं अर्थात् विशेष उनमें अन्तिम होता है, उनसे ही सब सुर आदि समुत्पन्न हुआ करते हैं, फिर उनके पुत्र उत्पन्न होते हैं और उन पुत्रों के भी परम पुत्र-पौत्रादि हुआ करते हैं ॥३५॥ जैसे बीजों के रहते हुए वृक्ष का अभाव नहीं होता उसी प्रकार प्राणि-सृष्टि से प्राणियों का अभाव नहीं हो सकता ॥३६॥ जैसे सन्निधान से वृक्ष के आकाश, काल आदि कारण होते हैं उसी तरह विश्व के अपरिणाम के होने से भगवान् श्री हरि कारण होते हैं ॥३७॥ जैसे धान के बीज में मूल, नाल, पत्र, अंकुर, काण्ड (पोर), कोष (आवरण), पुष्प, दूध, चावल, तुष (भूसी) और कण अंकुर की कारण-सामग्री को प्राप्त कर उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार अनेक प्रकार के कर्मों में स्थित देव आदि के शरीर विष्णु-शक्ति को प्राप्त कर अंकुरित हो जाते हैं ॥३८-४०॥ वह विष्णु परब्रह्म है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है और जिसमें यह लीन हो जायगा ॥४१॥ वह ब्रह्म परम धाम, सत्-असत् रूप और परम पद है, जिससे यह चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् अभिन्न है ॥४२॥ वही मूल-प्रकृति और व्यक्तिरूप संसार है । उसी में यह जगत् स्थित रहता है तथा लीन होता है ॥४३॥ वही कर्त्ता, क्रिया,

---

[१]क. ०ष्ठाः । प्रवृत्त्याश्र० । [२]ग. आदिबी० । [३]क. ०शेषश्च तत० । [४]क. ०मे तु वि० । [५]ख. ०लं पत्राङ्कुरतयाऽपरे । का० । [६]ग. ०र्मसु लोके० । [७]ग. यस्मिश्च लय० ।

कर्त्ता क्रियाणां स च इज्यते क्रतुः, स एव तत् कर्म्मफलञ्च तस्य यत् ।
युगादि[2] यस्माच्च भवेदशेषतो हरेर्न किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति तत् ॥४४॥

इति श्री ब्राह्मे महापुराणे भूर्भुवःस्वरादिकीर्त्तनं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥३२॥

चतुर्व्विशोऽध्यायः

ध्रुवसंस्थितिनिरूपणम्

लोमहर्षण उवाच

तारामयं भगवतः शिशुमाराकृतिः प्रभोः । दिवि रूपं हरेर्यत्तु[3] तस्य पुच्छे स्थितो ध्रुवः ॥१॥
सैष भ्रमन् भ्रामयति चन्द्रादित्यादिकान् ग्रहान् । भ्रमन्तमनु तं यान्ति नक्षत्राणि च चक्रवत् ॥२॥
सूर्य्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणि ग्रहैः सह । [4]वातानीकमयैर्बन्धैर्ध्रुवे बद्धानि तानि वै ॥३॥
शिशुमाराकृति प्रोक्तं यद्रूपं ज्योतिषां दिवि । नारायणः परं धाम तस्याधारः स्वयं हृदि ॥४॥
उत्तानपादतनयस्तमाराध्य प्रजापतिम् । स ताराशिशुमारस्य ध्रुवः पुच्छे व्यवस्थितः ॥५॥

यज्ञरूप से पूजित और कर्म-फल भी है। उसी हरि से समस्त युग होते हैं और उससे अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है॥४४॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में भूर्भुवः स्वः आदि लोकों के वर्णन नामक तेईसवाँ अध्याय समाप्त ॥२३॥

अध्याय २४

ध्रुव की स्थिति का वर्णन

लोमहर्षण बोले—तारों से व्याप्त तथा शिशुमार तारे (ताराचक्र का भेद) की आकृति जैसे भगवान् हरि के दिव्य रूप के पुच्छ पर ध्रुव स्थित है॥१॥ स्वयं घूमता हुआ वह ध्रुव सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहों को भी घुमाता है। घूमते हुए ध्रुव के पीछे नक्षत्र-समूह चक्र की तरह घूमता है॥२॥ सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र, ग्रह—ये सब वायु-समूहरूपी बंधन से ध्रुव में बँधे हुए हैं॥३॥ आकाश में शिशुमार की आकृति की तरह जो ज्योतिषों का रूप कहा गया है, उसका आधार स्वयं परमधाम नारायण है॥४॥ ध्रुव उस प्रजापति की उपासना कर शिशुमार की पूँछ

---

[1] ग. ०या वै स । [2] ख. ०दि यत्साधनमप्यशे० । ग. दि० तत्साधनमप्यशे । [3] क. ०र्यच्च त० । [4] क. ०मयैःपाशैर्ध्रु० ।

आधारः शिशुमारस्य सर्व्वाध्यक्षो जनार्द्दनः । ध्रुवस्य शिशुमारस्य ध्रुवे[१] भानुर्व्यवस्थितः ॥६॥
तदाधारं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम् । येन विप्रा विधानेन तन्मे शृणुत साम्प्रतम् ॥७॥
विवस्वानष्टभिर्मासैर्ग्रसत्यापो[२] [३]रसात्मिकाः । [४]वर्षत्यम्बु [५]ततश्चान्नमन्नादमखिलं जगत् ॥८॥
विवस्वानंशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतो जलम् । सोमं[६] [७]पुष्यत्यथेन्दुश्च वायुनाड़ीमयैर्दिवि[८] ॥९॥
[९]जलैर्विक्षिप्यतेऽभ्रेषु धूमाग्न्यनिलमूर्त्तिषु । न भ्रश्यन्ति यतस्तेभ्यो जलान्यभ्राणि तान् यतः ॥१०॥
अभ्रस्थाः प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरिताः । संस्कारं कालजनितं विप्राश्चासाद्य निर्म्मलाः ॥११॥
[१०]सरित्समुद्रा[११] भौमास्तु तथापः प्राणिसम्भवाः । चतुष्प्रकारा भगवानादत्ते सविता द्विजाः ॥१२॥
आकाशगङ्गासलिलं तथाहृत्य गभस्तिमान् । अनभ्रगतमेवोर्व्व्यां सद्यः क्षिपति रश्मिभिः ॥१३॥
तस्य संस्पर्शनिर्धूतपापपङ्को द्विजोत्तमाः[१२] । न याति नरकं मर्त्त्यो दिव्यं स्नानं हि तत्स्मृतम् ॥१४॥
[१३]दृष्टसूर्य्यं हि तद्वारि पतत्यभ्रैर्विना दिवः । आकाशगङ्गासलिलं तद्गोभिः क्षिप्यते रवेः ॥१५॥
कृत्तिकादिषु [१४]ऋक्षेषु विषमेष्वम्बु यद्दिवः । दृष्ट्वार्कं पतितं ज्ञेयं तद्गाङ्गं दिग्गजोद्धृतम् ॥१६॥
युग्मर्क्षेषु तु यत्तोयं पतत्यर्कोद्धृतं दिवः । तत्सूर्य्यरश्मिभिः सद्यः समादाय निरस्यते ॥१७॥
उभयं पुण्यमत्यर्थं नृणां पापहरं[१५] द्विजाः । आकाशगङ्गासलिलं दिव्यं स्नानं[१६] द्विजोत्तमाः ॥१८॥

पर व्यवस्थित हुआ ॥५॥ शिशुमार का आधार सर्वाध्यक्ष जनार्दन है। ध्रुव का आधार शिशुमार है और ध्रुव में सूर्य अवस्थित है ॥६॥ विप्रवृन्द ! वह सूर्य देवता, राक्षस और मनुष्य सहित इस जगत् का जिस विधान से आधार है वह अब आप सुनिये ॥७॥ आठ मासों में सूर्य रस रूप जल को खींचता है। तब जलवृष्टि होती है, उससे अन्न उपजता है और अन्न को खाने वाला निखिल जगत् है ॥८॥ सूर्य अपनी तीक्ष्ण किरणों से जगत् के जल को ग्रहण कर सोम का पोषण करता है और वह इन्दु वायुमय नाड़ियों के द्वारा आकाश में स्थित होकर जल को धूम, अग्नि और वायु रूप मेघ में बिखेर देता है। वहाँ से जल के न गिरने के कारण उसका अभ्र (वादल) पड़ा है ॥९-१०॥ विप्रवृन्द ! वायु से प्रेरित वादल का निर्मल जल कालजन्य संस्कार को प्राप्त कर गिरता है ॥११॥ द्विजगण ! भगवान् सूर्य नदी, समुद्र, पृथिवी और प्राणी से उत्पन्न चार प्रकार के जल को ग्रहण करते हैं ॥१२॥ सूर्य आकाशगंगा के जल को भी ग्रहण कर बिना वादल के ही अपनी किरणों से पृथ्वी पर (उसे) वरसाते हैं ॥१३॥ द्विजवर्य, उस जल के स्पर्श से मनुष्य का पाप-पंक धुल जाता है और इस दिव्य स्नान के वाद उसे नरक में नहीं जाना पड़ता है ॥१४॥ सूर्य के न दिखायी पड़ने पर भी बिना वादल के जो वर्षा होती है, वह आकाश-गंगा का जल सूर्य-किरणों के द्वारा प्रक्षिप्त होता है ॥१५॥ कृत्तिका आदि विषम नक्षत्रों में जो सूर्य-दर्शन के साथ वर्षा होती है, उसे दिग्गजों के द्वारा उद्धृत आकाश-गंगा का जल समझना चाहिये ॥१६॥ युग्म नक्षत्रों में जो आकाश से जल वरसता है, उस जल को सूर्य-रश्मियाँ तत्काल ग्रहण कर प्रक्षिप्त करती हैं ॥१७॥ द्विजगण ! वह जल अत्यन्त पवित्र और पापहारी है। आकाश-गंगा का जल दिव्य स्नान है ॥१८॥ द्विजगण ! मेघों से वरसा हुआ जल ओषधियों को पुष्ट करता है और वह जल प्राणियों के जीवन के लिए

१ख. ध्रुवपुच्छेव्यव०। २क. ०सत्येको र०। ३क. रसात्मकम्। ४क. ०र्षतेऽम्बुरसं तस्मादन्नादाप्यायते ज०। ५ग. ०म्वुरसं तस्मादन्नादप्यखि०। ६क. सोमेऽमुं पुष्यते चेन्दुर्वायु०। ७ख. ०ष्यत्यथेन्द्रश्च। ८ख. ०वि। नालैर्विक्षिप्तमेघेषु। ९क. ०प्य मेघेषु। १०क. ०रितः समु०। ११क. ०मुन्द्रं भूमिं च त०। १२ग. ०तमः। न०। १३ख. दृष्ट्वा सू०। १४क. ०षु निपतत्यम्वु। १५क. पापापहं। १६क. स्थानं।

यत्तु मेघैः समुत्सृष्टं वारि तत् प्राणिनां द्विजाः । पुष्णात्योषधयः सर्व्वा जीवनायामृतं हि तत् ।।१९।।
तेन वृद्धिं परां नीतः [1]सकलश्चौषधीगणः । साधकः [2]फलपाकान्तः प्रजानान्तु प्रजायते ।।२०।।
तेन[3] यज्ञान् यथाप्रोक्तान्मानवाः शास्त्रचक्षुषः । [4]कुर्व्वतेऽहरहश्चैव[5] देवानाप्याययन्ति ते ।।२१।।
एवं यज्ञाश्च वेदाश्च [6]वर्णाश्च द्विजपूर्व्वकाः । सर्व्वदेवनिकायाश्च[7] पशुभूतगणाश्च ये ।।२२।।
वृष्ट्या धृतमिदं सर्व्वं[8] जगत्स्थावरजङ्गमम्[9] । सापि निष्पाद्यते वृष्टिः सवित्रा मुनिसत्तमाः ।।२३।।
आधारभूतः सवितुर्ध्रुवो मुनिवरोत्तमाः । ध्रुवस्य[10] शिशुमारोऽसौ सोऽपि नारायणाश्रयः ।।२४।।
हृदि नारायणस्तस्य शिशुमारस्य संस्थितः । विभर्त्ता सर्व्वभूतानामादिभूतः सनातनः ।।२५।।
एवं मया मुनिश्रेष्ठा ब्रह्माण्डं समुदाहृतम् । भूसमुद्रादिभिर्युक्तं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छथ ।।२६।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे ध्रुवसंस्थितिनिरूपणं नाम चतुर्व्विशोऽध्यायः ।।२४।।

पञ्चविंशोऽध्यायः

तत्रादौ सर्वतीर्थमाहात्म्यवर्णनम्

मुनय ऊचुः

पृथिव्यां यानि तीर्थानि[11] पुण्यान्यायतनानि च । वक्तुमर्हसि धर्म्मज्ञ श्रोतुं नो वर्त्तते मनः ।।१।।

अमृत रूप है।।१९।। उस जल से सब ओषधियाँ संवर्धित होती हैं। ओषधि-समूह फलने-फूलने और पकने तक प्रजाओं के उपयोग में आता है।।२०।। इसलिए शास्त्र रूप चक्षुवाले मनुष्य देवताओं की पुष्टि के लिए प्रतिदिन यज्ञ करते हैं।।२१।। इस प्रकार यज्ञ, वेद, ब्राह्मण आदि वर्ण, देव-समूह, पशु-प्राणी-गण, स्थावर, जंगम—एतद्रूप यह संपूर्ण जगत् वृष्टि के द्वारा धारण किया जाता है। मुनिवर्य ! वह वृष्टि भी सूर्य से निष्पन्न होती है।।२२-२३।। मुनिवर ! सूर्य का आधार ध्रुव है। ध्रुव का शिशुमार और वह भी नारायण का आश्रित है।।२४।। शिशुमार के हृदय में सब प्राणियों को धारण करनेवाले आदिकारण सनातन नारायण स्थित हैं।।२५।। मुनिवर्य ! इस तरह पृथ्वी, समुद्र आदि से युक्त ब्रह्माण्ड का वर्णन मैंने कर दिया। अब आप क्या सुनना चाहते हैं ? ।।२६।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में ध्रुव-संस्थिति-निरूपण नामक चौबीसवाँ अध्याय समाप्त।।२४।।

अध्याय २५

सकल तीर्थों के माहात्म्य का वर्णन

मुनियों ने कहा—हे धर्मज्ञ ! पृथिवी पर जितने पवित्र तीर्थ तथा आश्रम हैं, उन सबके बारे में हम सुनना चाहते हैं।।१।।

---

[1] ख. सफल०। [2] क. ०कान्तस्तस्मादेतत्प्रजाय०। [3] क. येन। [4] क. ख. र्वन्त्यह०। [5] ख. ०हस्तैश्च दे०। [6] ग. ऋषयो। [7] क. ०श्च सर्वभू०। [8] ग. सर्वमन्नं निष्पाद्यते यया। साऽ०। [9] क. ०म्। एवं निष्पाद्यते वृष्ट्या साविव्यामु०। [10] क. धवोऽपि शि०। [11] ख. ०नि धान्यान्या०।

लोमहर्षण उवाच

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्[1] । विद्या तपश्च कीर्त्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ।।२।।
मनो विशुद्धं पुरुषस्य तीर्थं, वाचां[2] तथा चेन्द्रियनिग्रहश्च[3] ।।
एतानि तीर्थानि शरीरजानि, स्वर्गस्य मार्गं प्रतिबोधयन्ति ।।३।।
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं [4]तीर्थस्नानैर्न शुध्यति । शतशोऽपि जलैर्धौतं [5]सुराभाण्डमिवाशुचि ।।४।।
न तीर्थानि न दानानि न व्रतानि न चाश्रमाः । दुष्टाशयं[6] दम्भरुचिं[7] पुनन्ति[8] व्युत्थितेन्द्रियम् ।।५।।
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा यत्र[9] यत्र वसेन्नरः । तत्र तत्र[10] कुरुक्षेत्रं प्रयागं पुष्करं तथा ।।६।।
[11]तस्माच्छृणुध्वं वक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च । संक्षेपेण मुनिश्रेष्ठाः पृथिव्यां यानि कानि वै ।।७।।
विस्तरेण न शक्यन्ते वक्तुं वर्षशतैरपि । प्रथमं पुष्करं तीर्थं नैमिषारण्यमेव च ।।८।।
प्रयागञ्च प्रवक्ष्यामि धर्म्मारण्यं द्विजोत्तमाः । धेनुकं[12] चम्पकारण्यं सैन्धवारण्यमेव च ।।९।।
पुण्यञ्च मगधारण्यं दण्डकारण्यमेव च । गया[13]प्रभासं श्रीतीर्थं दिव्यं कनखलं तथा ।।१०।।
भृगुतुङ्गं हिरण्याक्षं भीमारण्यं[14] कुशस्थलीम् । लोहाकुलं[15] सकेदारं मन्दरारण्यमेव च ।।११।।
महाबलं[16] कोटितीर्थं सर्व्वपापहरं तथा । [17]रूपतीर्थं शूकरवं[18] चक्रतीर्थं महाफलम् ।।१२।।
योगतीर्थं[19] सोमतीर्थं तीर्थं साहोटकं[20] तथा । तीर्थं कोकामुखं पुण्यं बदरीशैलमेव च ।।१३।।
सोमतीर्थं तुङ्गकूटं तीर्थं[21] [22]स्कन्दाश्रमं तथा । कोटितीर्थञ्चाग्निपदं तीर्थं पञ्चशिखं [23]तथा ।।१४।।

लोमहर्षण बोले—जिसके हाथ, पैर और मन में संयम है तथा विद्या, तप और कीर्ति है, वह तीर्थ-फल को प्राप्त करता है।।२।। पुरुष के शुद्ध मन और वाणी तथा इन्द्रियों का निग्रह तीर्थरूप हैं। ये शरीरजात तीर्थ स्वर्ग के मार्ग का बोध कराते हैं।।३।। सौ बार जल से धोया जाने पर भी मद्य-पात्र जैसे पवित्र नहीं होता उसी तरह दुष्ट मन तीर्थस्नान से शुद्ध नहीं होता है।।४।। तीर्थ, दान, व्रत और आश्रम दुष्ट चित्त वाले दम्भी तथा अजितेन्द्रिय मनुष्य को पवित्र नहीं कर सकते।।५।। इन्द्रियों को वश में करके मनुष्य जहाँ निवास करेगा, वहीं उसको कुरुक्षेत्र, प्रयाग तथा पुष्कर आदि तीर्थ प्राप्त हो जायेंगे।।६।। मुनिश्रेष्ठ! इसलिए पृथिवी पर जितने तीर्थ तथा आश्रम हैं, उनके सम्बन्ध में आप संक्षेप से सुन लीजिये। विस्तार से तो सौ वर्षों में भी नहीं कहा जा सकता है।।७½।। द्विजवर्य! प्रथम तीर्थ पुष्कर है। तब नैमिषारण्य, प्रयाग, धर्मारण्य, धेनुक, चम्पकारण्य, सैन्धवारण्य ।।८-९।। पवित्र मगधारण्य, दण्डकारण्य, गया, प्रभास, श्रीतीर्थ, दिव्य कनखल।।१०।। भृगुतुंग, हिरण्याक्ष, भीमारण्य, द्वारकापुरी, लोहाकुल, केदार, मन्दरारण्य।।११।। महाबल, कोटितीर्थ, सर्वपापहार, रूपतीर्थ, शूकरव, महाफलदायक चक्रतीर्थ।।१२।। योगतीर्थ, सोमतीर्थ, साहोटक तीर्थ, कोकामुख, पवित्र बदरीशैल ।।१३।। सोमतीर्थ, तुंगकूट, स्कन्दाश्रम,

---

[1] ख. ०संयुत० । [2] ख. वाचो मनस्त्विन्द्रि० । ग. वाच्यं मनस्त्विन्द्रि० । [3] ख. ग. ०ग्रहंतपः । ए० । [4] ग. ०स्नानान्न शु० । [5] क. ०ण्डमथाशु० । [6] क. दुष्टबुद्धि । [7] ख. ०चिं न पु० । [8] क. ०नन्तीह द्विजोत्तमाः । इ० । ख. ०नन्त्यजिते० । [9] क. ग. तत्र । [10] ख. ग. तस्य । [11] ख. तस्य श्रृणु० । [12] ख. वेणुकं । [13] क. ०भासतीर्थं च दि० । [14] क. हिमारण्यं । [15] क. ०हार्गलं च के० [16] क. हिमालयं । ख. महालयं । [17] क. सूर्यतीर्थं । [18] क. शुद्धिकरं । ख. शूकरं च च० । [19] क. घोरतीर्थं । ख. व्यासतीर्थं । [20] क. साकोट० । ख. साखोट० । [21] क. शंभुतीर्थं । [22] ग. स्कन्धाश्र० । [23] क. ख. ०था । सूर्यप्रभं धेनुसरः सप्तमायुषिकं तथा ।

धर्म्मोद्भवं कोटितीर्थं[1] तीर्थं बाधप्रमोचनम् । गङ्गाद्वारं[2] पञ्चकूटं मध्यकेसरमेव च ॥१५॥
चक्रप्रभं मतङ्गञ्च कुशदण्डञ्च[3] विश्रुतम् । [4]दंष्ट्राकुण्डं [5]विष्णुतीर्थं सार्व्वकामिकमेव च ॥१६॥
तीर्थं मत्स्यतिलञ्चैव वदरी सुप्रभं तथा । ब्रह्मकुण्डं वह्निकुण्डं तीर्थं सत्यपदं तथा ॥१७॥
चतुःस्रोतश्चतुःशृङ्गं शैलं द्वादशधारकम्[6] । मानसं [7]स्थूलशृङ्गञ्च स्थूलदण्डं[8] तथोर्व्वशी ॥१८॥
लोकपालं मनुवरं[9] सोमाह्वं शैलमेव[10] च[11] । सदाप्रभं मेरुकुण्डं तीर्थं सोमाभिषेचनम् ॥१९॥
महास्रोतं[12] कोटरकं पञ्चधारं त्रिधारकम् । सप्तधारैकधारञ्च[13] तीर्थं चामरकण्टकम् ॥२०॥
शालग्रामं[14] [15]चक्रतीर्थं[16] [17]कोटिद्रुममनुत्तमम् । विल्वप्रभं देवह्लदं तीर्थं विष्णुह्लदं[18] तथा ॥२१॥
शङ्खप्रभं देवकुण्डं तीर्थं वज्रायुधं तथा । अग्निप्रभञ्च पुन्नागं देवप्रभमनुत्तमम् ॥२२॥
विद्याधरं सगान्धर्व्वं श्रीतीर्थं ब्रह्मणो ह्लदम् । सातीर्थं लोकपालाख्यं मणिपूरगिरिं तथा ॥२३॥
तीर्थं पञ्चह्लदञ्चैव पुण्यं पिण्डारकं तथा । मलव्यं गोप्रभावञ्च गोवरं वटमूलकम् ॥२४॥
स्नानदण्डं प्रयागञ्च गुह्यं विष्णुपदं तथा । कन्याश्रमं वायुकुण्डं जम्बूमार्गं तथोत्तमम् ॥२५॥
गभस्तितीर्थञ्च तथा ययातिपतनं शुचि । कोटितीर्थं भद्रवटं महाकालवनं तथा ॥२६॥
नर्म्मदातीर्थमपरं तीर्थवज्रं तथार्व्वुदम् । पिङ्गुतीर्थं सवासिष्ठं तीर्थञ्च पृथुसङ्गमम् ॥२७॥
तीर्थं दौर्व्वासिकं नाम तथा पिञ्जरकं शुभम् । ऋषितीर्थं ब्रह्मतुङ्गं वसुतीर्थं कुमारिकम् ॥२८॥
शत्रुतीर्थं पञ्चनदं रेणुकातीर्थमेव च । पैतामहञ्च विमलं रुद्रपादं तथोत्तमम् ॥२९॥

कोटितीर्थ, अग्निपद तीर्थ, पञ्चशिख ॥१४॥ धर्मोद्भव कोटितीर्थ, बाधप्रमोचन तीर्थ, गंगाद्वार, पञ्चकूट, मध्यकेसर ॥१५॥ चक्रप्रभ, मतंग, प्रसिद्ध क्रुशदण्ड, दंष्ट्राकुण्ड, विष्णुतीर्थ, सार्वकामिकतीर्थ ॥१६॥ मत्स्यतिल, बदरी, सुप्रभ, ब्रह्मकुण्ड, वह्निकुण्ड, सत्यपदतीर्थ ॥१७॥ चतुःस्रोत, चतुःशृंग, शैल, द्वादशधारक, मानस, स्थूलशृंग, उर्वशी तीर्थ ॥१८॥ लोकपाल, मनुवर, सोमाह्वशैल, सदाप्रभ, मेरुकुण्ड, सोमाभिषेचन तीर्थ ॥१९॥ महास्रोत, कोटरक, पञ्चधार, त्रिधार, सप्तधार, एकधार, चामरकण्टक तीर्थ ॥२०॥ शालग्राम, चक्रतीर्थ, कोटिद्रुम, बिल्वप्रभु, देवह्लद, विष्णुह्लद ॥२१॥ शंखप्रभ, देवकुण्ड, वज्रायुध, अग्निप्रभ, पुंनाग, देवप्रभ ॥२२॥ विद्याधर, गान्धर्व, श्रीतीर्थ, ब्रह्मह्लद, सातीर्थ, लोकपाल, मणिपूरगिरि ॥२३॥ पञ्चह्लद, पिण्डारक, मलव्य, गोप्रभाव, गोवर, वटमूलक ॥२४॥ स्नानदण्ड, गुह्य, विष्णुपद, प्रयाग, कन्याश्रम, वायुकुण्ड, जम्बूमार्ग ॥२५॥ गभस्तितीर्थ, ययातिपतन, कोटितीर्थ, भद्रवट, महाकालवन ॥२६॥ नर्मदातीर्थ, तीर्थव्रज्र, अर्बुद, पिंगुतीर्थ, वासिष्ठ, पृथसंगम ॥२७॥ दौर्वासिक, पिञ्जरक, ऋषितीर्थ, ब्रह्मतुंग, वसुतीर्थ, कुमारिक ॥२८॥ शक्रतीर्थ, पञ्चनद, रेणुकातीर्थ, पैतामह, विमल, रुद्रपाद ॥२९॥ मणिमत्त, कामाख्य,

---

१क. ०र्थं सर्वप्रापप्र० । ख. ०र्थं सार्वकामिकमेव च । सूर्यप्रभं महाकुण्डं तीर्थं सो० । २क. गंगाधरं । ३ग. शत्रुकुण्डं । ४क. दृष्टकुण्डं । ५क. विष्णुकुण्डं । ६ग. ०शवार० । ७क. स्थलशृंगं । ८क. स्थूलकूटं । ९ग. मेसघरं । १०ग. ०मात्रिं शै० । ११क. च । सूर्यप्रभं मधुकु० । १२क. ०हाश्रोत्रं कोकनदं पं० । १३ख. ०प्तवीरै० । १४क. शालिग्रा० । १५क. वज्रतीर्थं । १६क. ०र्थं कदलीह्लदमेव च । वि० । ख. ०र्थं कदलीह्लदमुत्त० । १७ख. ०म् । विम्बप्र० । १८क. ख. विष्णुप्रभं ।

मणिमत्तञ्च कामाख्यं कृष्णतीर्थं कुशाविलम् । यजनं याजनञ्चैव तथैव ब्रह्मवालुकम् ॥३०॥
पुष्पन्यासं पुण्डरीकं मणिपूरं तथोत्तरम् । दीर्घसत्रं हयपदं तीर्थं चानशनं तथा ॥३१॥
गङ्गोद्भेदं शिवोद्भेदं नर्म्मदोद्भेदमेव च । वस्त्रापदं दारुबलं छायारोहणमेव च ॥३२॥
सिद्धेश्वरं मित्रबलं कालिकाश्रममेव च । वटावटं भद्रवटं कौशाम्बी च दिवाकरम् ॥३३॥
द्वीपं सारस्वतञ्चैव विजयं कामदं तथा । रुद्रकोटिं सुमनसं तीर्थं सद्रावनामितम् ॥३४॥
स्यमन्तपञ्चकं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सुदर्शनम् । सततं पृथिवीसर्व्वं पारिप्लवपृथूदकौ ॥३५॥
दशाश्वमेधिकं तीर्थं सर्पिजं विषयान्तिकम् । कोटितीर्थं पञ्चनदं वाराहं यक्षिणीह्रदम् ॥३६॥
पुण्डरीकं सोमतीर्थं मुञ्चवाटं तथोत्तमम् । बदरीवनमासीनं रत्नमूलकमेव च ॥३७॥
लोकद्वारं पञ्चतीर्थं कपिलातीर्थमेव च । सूर्य्यतीर्थं शङ्खिनी च गवां भवनमेव च ॥३८॥
तीर्थञ्च यक्षराजस्य ब्रह्मावर्त्तं सुतीर्थकम् । कामेश्वरं मातृतीर्थं तीर्थं शीतवनं तथा ॥३९॥
स्नानलोमापहञ्चैव माससंसरकं तथा । दशाश्वमेधं केदारं ब्रह्मोदुम्बरमेव च ॥४०॥
सप्तर्षिकुण्डञ्च तथा तीर्थं देव्याः सुजम्बुकम् । ईहास्पदं कोटिकूटं किन्दानं किञ्जपं तथा ॥४१॥
कारण्डवं चावेध्यञ्च त्रिविष्टपमथापरम् । पाणिखातं मिश्रकञ्च मधूवटमनोजवौ ॥४२॥
कौशिकी देवतीर्थञ्च तीर्थञ्च ऋणमोचनम् । दिव्यञ्च नृगधूमाख्यं तीर्थं विष्णुपदं तथा ॥४३॥
अमराणां ह्रदं पुण्यं कोटितीर्थं तथापरम् । श्रीकुञ्जं शालितीर्थञ्च नैमिषेयञ्च विश्रुतम् ॥४४॥
ब्रह्मस्थानं सोमतीर्थं कन्यातीर्थं तथैव च । ब्रह्मतीर्थं मनस्तीर्थं तीर्थं वै कारुपावनम् ॥४५॥
सौगन्धिकवनञ्चैव मणितीर्थं सरस्वती । ईशानतीर्थं प्रवरं पावनं पाञ्चयज्ञिकम् ॥४६॥
त्रिशूलधारं माहेन्द्रं देवस्थानं कृतालयम् । शाकम्भरी देवतीर्थं सुवर्णाक्षं कलिं ह्रदम् ॥४७॥
क्षीरस्रवं विरूपाक्षं भृगुतीर्थं कुशोद्भवम् । ब्रह्मतीर्थं ब्रह्मयोनिं नीलपर्व्वतमेव च ॥४८॥

कृष्णतीर्थ, कुशाविल, यजन, याजन, ब्रह्मवालुक ॥३०॥ पुष्पन्यास, पुण्डरीक, मणिपूर, दीर्घसत्र, हयपद, अनशन ॥३१॥ गंगोद्भेद, शिवोद्भेद, नर्मदोद्भेद, वस्त्रापद, दारुवल, छायारोहण ॥३२॥ सिद्धेश्वर, मित्रबल, कालिकाश्रम, वटावट, भद्रवट, कौशाम्वी, दिवाकर ॥३३॥ द्वीप, सारस्वत, विजय, कामद, रुद्रकोटि, सुमनस, सद्रावनामित ॥३४॥ स्यमन्तपञ्चक, ब्रह्मतीर्थ, सुदर्शन, सतत, पृथिवीसर्व, पारिप्लव, पृथूदक ॥३५॥ दशाश्वमेधिक, सर्पिज, विषयान्तिक, कोटितीर्थ, पञ्चनद, वाराह, यक्षिणीह्रद ॥३६॥ पुण्डरीक, सोमतीर्थ, मुञ्जवाट, वदरीवन, रत्नमूलक ॥३७॥ लोकद्वार, पञ्चतीर्थ, कपिलातीर्थ, सूर्यतीर्थ, शंखिनी, गवां भवन ॥३८॥ यक्षराजतीर्थ, ब्रह्मावर्त्त, सुतीर्थक, कामेश्वर, मातृतीर्थ, शीतवन ॥३९॥ स्नानलोमापह, माससंसरक, दशाश्वमेध, केदार, ब्रह्मोदुम्बर ॥४०॥ सप्तर्षिकुण्ड, सुजम्वुक, ईहास्पद, कोटिकूट, किंदान, किंजप ॥४१॥ कारण्डव, अवेध्य, त्रिविष्टप, पाणिखात, मिश्रक, मधूवट, मनोज़व ॥४२॥ कौशिकी, देवतीर्थ, ऋणमोचन, नृगधूम, विष्णुपद ॥४३॥ देवताओं का पवित्र ह्रद कोटितीर्थ, श्रीकुञ्ज, शालितीर्थ, प्रसिद्ध नैमिषेय ॥४४॥ ब्रह्मस्थान, सोमतीर्थ, कन्यातीर्थ, ब्रह्मतीर्थ, मनस्तीर्थ, कारुपावन ॥४५॥ सौगन्धिकवन, मणितीर्थ, सरस्वती, ईशानतीर्थ, प्रवर, पावन, पाञ्चयज्ञिक ॥४६॥ त्रिशूलधार, माहेन्द्र, देवस्थान, कृतालय, शाकंभरी, देवतीर्थ, सुवर्णा, कलि, ह्रद ॥४७॥ क्षीरश्रव, विरूपाक्ष, भृगुतीर्थ, कुशोद्भव, ब्रह्मतीर्थ, ब्रह्मयोनि, नीलपर्वत ॥४८॥

कुब्जाम्बकं भद्रवटं वसिष्ठपदमेव च । स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं कालिकाश्रममेव च ।।४९।।
रुद्रावर्त्तं सुगन्धाश्वं कपिलावनमेव च । भद्रकर्णह्लदञ्चैव शङ्कुकर्णह्लदं तथा ।।५०।।
सप्तसारस्वतञ्चैव तीर्थमौशनसं तथा । कपालमोचनञ्चैव अवकीर्णञ्च काम्यकम् ।।५१।।
चतुःसामुद्रिकञ्चैव शतिकञ्च सहस्रिकम् । रेणुकं पञ्चवटकं विमोचनमथौजसम् ।।५२।।
स्थाणुतीर्थं कुरोस्तीर्थं स्वर्गद्वारं कुशध्वजम् । विश्वेश्वरं मानवकं कूपं नारायणाश्रयम् ।।५३।।
गङ्गाह्लदं वटञ्चैव वदरीपाटनं तथा। इन्द्रमार्गमेकरात्रं क्षीरकावासमेव च ।।५४।।
सोमतीर्थं दधीचञ्च श्रुततीर्थञ्च भो द्विजाः । कोटितीर्थस्थलीञ्चैव भद्राकालीह्लदं तथा ।।५५।।
अरुन्धतीवनञ्चैव ब्रह्मावर्त्तं तथोत्तमम् । अश्ववेदी कुब्जावनं यमुनाप्रभवं तथा ।।५६।।
वीरं प्रमोक्षं सिन्धूत्थमृषिकुल्या सकृत्तिकम् । उर्व्वीसंक्रमणञ्चैव मायाविद्योद्भवं तथा ।।५७।।
महाश्रमो वैतसिकारूपं सुन्दरिकाश्रमम् । बाहुतीर्थं चारुनदीं विमलाशोकमेव च ।।५८।।
तीर्थं पञ्चनदञ्चैव मार्कण्डेयस्य धीमतः । सोमतीर्थं सितोदञ्च तीर्थं मत्स्योदरी तथा ।।५९।।
सूर्य्यप्रभं सूर्यतीर्थमशोकवनमेव च । अरुणास्पदं कामदञ्च शुक्रतीर्थं सवालुकम् ।।६०।।
पिशाचमोचनञ्चैव सुभद्राह्लदमेव च । कुण्डं विमलदण्डस्य तीर्थं चण्डेश्वरस्य च ।।६१।।
ज्येष्ठस्थानह्लदञ्चैव पुण्यं ब्रह्मसरं तथा । जैगीषव्यगुहा चैव हरिकेशवनं तथा ।।६२।।
अजामुखसरञ्चैव घण्टाकर्णह्लदं तथा । पुण्डरीकह्लदञ्चैव वापी कर्कोटकस्य च ।।६३।।
सुवर्णास्योदपानञ्च श्वेततीर्थह्लदं तथा । कुण्डं घर्घरिकायाश्च श्यामाकूपञ्च चन्द्रिका ।।६४।।
श्मशानस्तम्भकूपञ्च विनायकह्लदं तथा । कूपं सिन्धूद्भवञ्चैव पुण्यं ब्रह्मसरं तथा ।।६५।।
रुद्रावासं तथा तीर्थं नागतीर्थं पुलोमकम् । भक्तह्लदं क्षीरसरः प्रेताधारं कुमारकम् ।।६६।।
ब्रह्मावर्त्तं कुशावर्त्तं दधिकर्णोदपानकम् । भृङ्गतीर्थं महातीर्थं तीर्थश्रेष्ठा महानदी ।।६७।।

कुब्जाम्बक, भद्रवट, वसिष्ठपद, स्वर्गद्वार, प्रजाद्वार, कालिकाश्रम ।।४९।। रुद्रावर्त, सुगन्धाश्व, कपिलावन, भद्रकर्णह्लद, शंकुकर्णह्लद ।।५०।। सप्तसारस्वत, औशनस, कपालमोचन, अवकीर्ण, काम्यक ।।५१।। चतुःसामुद्रिक, शतिक, सहस्रिक, रेणुक, पञ्चवट, विमोचन, औजस ।।५२।। स्थाणुतीर्थ, कुरुतीर्थ, स्वर्गद्वार, कुशध्वज, विश्वेश्वर, मानवक, कूप, नारायणाश्रय ।।५३।। गंगाह्लद, वट, बदरीपाटन, इन्द्रमार्ग, एकरात्र, क्षीरकावास ।।५४।। सोमतीर्थ, दधीच, श्रुततीर्थ, कोटितीर्थस्थली, भद्रकालीह्लद ।।५५।। अरुन्धतीवन, ब्रह्मावर्त्त, अश्ववेदी, कुब्जावन, यमुनाप्रभव ।।५६।। वीर, प्रमोक्ष, सिन्धूत्थ, ऋषिकुल्या, सकृत्तिक, उर्वीसंक्रमण, मायाविद्योद्भव ।।५७।। महाश्रम, वैतसिकारूप, सुन्दरिकाश्रम, बाहुतीर्थ, चारुनदी, विमलाशोक ।।५८।। विद्वान् मार्कण्डेय का पञ्चनदतीर्थ, सोमतीर्थ, सितोद, मत्स्योदरी ।।५९।। सूर्यप्रभ, सूर्यतीर्थ, अशोकवन, अरुणास्पद, कामद, शुक्रतीर्थ, सवालुक ।।६०।। पिशाचमोचन, सुभद्राह्लद, विमलदण्ड-कुण्ड, चण्डेश्वर-तीर्थ ।।६१।। ज्येष्ठस्थानह्लद, पवित्र ब्रह्मसर, जैगीषव्यगुहा, हरिकेशवन ।।६२।। अजामुखसर, घण्टाकर्णह्लद, पुण्डरीकह्लद, कर्कोटक-वापी ।।६३।। सुवर्णास्योदपान, श्वेततीर्थह्लद, घर्घरिकाकुण्ड, श्यामाकूप, चन्द्रिका ।।६४।। श्मशान-स्तम्भकूप, विनायकह्लद, सिन्धूद्भवकूप, पवित्र ब्रह्मसर ।।६५।। रुद्रावास, नागतीर्थ, पुलोमक, भक्तह्लद, क्षीरसर, प्रेताधार, कुमारक ।।६६।। ब्रह्मावर्त्त, कुशावर्त्त, दधिकर्णोदपान, श्रृंगतीर्थ, महातीर्थ, तीर्थश्रेष्ठा,

दिव्यं ब्रह्मसरं पुण्यं गयाशीर्षाक्षयं वटम् । दक्षिणं चोत्तरञ्चैव गोमयं रूपशीतिकम् ।।६८।।
कपिलाह्लदं गृध्रवटं सावित्रीह्लदमेव च । प्रभासनं सीतवनं योनिद्वारञ्च धेनुकम् ।।६९।।
धन्यकं कोकिलाख्यञ्च मतङ्गह्लदमेव च । पितृकूपं रुद्रतीर्थं शक्रतीर्थं सुमालिनम् ।।७०।।
ब्रह्मस्थानं सप्तकुण्डं मणिरत्नह्लदं तथा । कौशिक्यं भरतञ्चैव तीर्थं ज्येष्ठालिका तथा ।।७१।।
विश्वेश्वरं कल्पसरः कन्यासंवेद्यमेव च । निश्चीवाप्रभवश्चैव वसिष्ठाश्रममेव च ।।७२।।
देवकूटञ्च कूपञ्च वसिष्ठाश्रममेव च । वीराश्रमं ब्रह्मसरो ब्रह्मवीरावकापिली ।।७३।।
कुमारधारा श्रीधारा गौरीशिखरमेव च । शुनः कुण्डोऽथ तीर्थञ्च नन्दितीर्थं तथैव च ।।७४।।
कुमारवासं श्रीवासमौर्वीशीतीर्थमेव च । कुम्भकर्णह्लदञ्चैव कौशिकीह्लदमेव च ।।७५।।
धर्म्मतीर्थं कामतीर्थं तीर्थमुद्दालकं तथा । सन्ध्यातीर्थं कारतोयं कपिलं लोहितार्णवम् ।।७६।।
शोणोद्भवं वंशगुल्ममृषभं कलतीर्थकम् । पुण्यावतीह्लदं तीर्थं तीर्थं बदरिकाश्रमम् ।।७७।।
रामतीर्थं पितृवनं विरजातीर्थमेव च । मार्कण्डेयवनञ्चैव कृष्णतीर्थं तथा वटम् ।।७८।।
रोहिणीकूपप्रवरमिन्द्रद्युम्नसरञ्च यत् । सानुगर्त्तं समाहेन्द्रं श्रीतीर्थं श्रीनदं तथा ।।७९।।
इषुतीर्थं वार्षभञ्च कावेरीह्लदमेव च । कन्यातीर्थञ्च गोकर्णं गायत्रीस्थानमेव च ।।८०।।
बदरीह्लदमन्यच्च मध्यस्थानं विकर्णकम् । जातीह्लदं देवकूपं कुशप्रवणमेव च ।।८१।।
सर्व्वदेवव्रतञ्चैव कन्याश्रमह्लदं तथा । तथान्यद्वालखिल्यानां सपूर्व्वाणां तथापरम् ।।८२।।
तथान्यच्च महर्षीणामखण्डितह्लदं तथा । तीर्थेष्वेतेषु विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।।८३।।
स्नानं करोति यो मर्त्त्यः सोपवासो जितेन्द्रियः । देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन् सन्तर्प्य च क्रमात् ।।८४।।
अभ्यर्च्च्य देवतास्तत्र स्थित्वा च रजनीत्रयम् । पृथक् पृथक् फलं तेषु प्रतितीर्थेषु भो द्विजाः ।।८५।।

महानदी ।।६७।। गयाशीर्षाक्षयवट, दक्षिण, उत्तर, गोमय, रूपशीतिक ।।६८।। कपिलाह्लद, गृध्रवट, सावित्रीह्लद, प्रभासन, सीतवन, योनिद्वार, धेनुक ।।६९।। धन्यक, कोकिलाख्य, मतंगह्लद, पितृकूप, रुद्रतीर्थ, शक्रतीर्थ, सुमाली ।।७०।। ब्रह्मस्थान, सप्तकुण्ड, मणिरत्नह्लद, कौशिक्य, भरत, ज्येष्ठालिका ।।७१।। विश्वेश्वर, कल्पसर, कन्यासंवेद्य, निश्चीवाप्रभव, वसिष्ठाश्रम ।।७२।। देवकूट, कूप, वीराश्रम, ब्रह्मवीरावकापिली ।।७३।। कुमारधारा, श्रीधारा, गौरीशिखर, शुनःकुण्ड, शुनस्तीर्थ, नन्दितीर्थ ।।७४।। कुमारवास, श्रीवास, और्वीशीतीर्थ?, कुम्भकर्णह्लद ।।७५।। धर्मतीर्थ, कामतीर्थ, उद्दालकतीर्थ, संध्यातीर्थ, कारतोय, कपिल, लोहितार्णव ।।७६।। शोणोद्भव, वंशगुल्म, ऋषभ, कलतीर्थक, पुण्यावतीह्लद, बदरिकाश्रम ।।७७।। रामतीर्थ, पितृवन, विरजातीर्थ, मार्कण्डेयवन, कृष्णतीर्थ, वटतीर्थ ।।७८।। रोहिणीकूपप्रवर, इन्द्रद्युम्नसर, सानुगर्त, समाहेन्द्र, श्रीतीर्थ, श्रीनद ।।७९।। इषुतीर्थ, ऋषभतीर्थ, कावेरीह्लद, कन्यातीर्थ, गोकर्ण, गायत्रीस्थान ।।८०।। बदरीह्लद, मध्यस्थान, विकर्णक, जातीह्लद, देवकूप, कुशप्रवण ।।८१।। सर्वदेवव्रत, कन्याश्रमह्लद—ये तीर्थ और आश्रम हैं। इसी प्रकार वालखिल्यों और दूसरे महर्षियों के भी अखण्डित ह्लद अर्थात् तीर्थस्थान हैं ।।८२$^{१}_{३}$।। द्विजगण ! जो मनुष्य जितेन्द्रिय, उपवासी तथा पूर्ण श्रद्धालु होकर इन तीर्थों में स्नान करता है और क्रमशः देव, ऋषि, मनुष्य तथा पितरों का तर्पण कर देव-पूजन करते हुए तीन रात वहाँ वास करता है, वह

प्राप्नोति हयमेधस्य नरो नास्त्यत्र संशयः । यस्त्विदं शृणुयान्नित्यं तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम् ।।
पठेच्च श्रावयेद्वापि सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ।।८६।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे तीर्थमाहात्म्यवर्णनम् नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ।।२५।।

षड्विंशोऽध्यायः

तत्रादौ स्वयम्भूब्रह्मर्षिसंवादवर्णनम्

मुनय ऊचुः

पृथिव्यामुत्तमां[१] भूमिं धर्म्मकामार्थमोक्षदाम्[२] । तीर्थानामुत्तमं तीर्थं ब्रूहि नो वदतांवर ।।१।।

लोमहर्षण उवाच

इमं प्रश्नं मम गुरुं पप्रच्छुर्म्मुनयः पुरा । तमहं सम्प्रक्ष्यामि यत्पृच्छध्वं द्विजोत्तमाः ।।२।।
स्वाश्रमे सुमहापुण्ये [३]नानापुष्पोपशोभिते । नानाद्रुमलताकीर्णे नानामृगगणैर्युते ।।३।।
पुन्नागैः कर्णिकारैश्च [४]सरलैर्देवदारुभिः । शालैस्तालैस्तमालैश्च पनसैर्धवखादिरैः ।।४।।
पाटलाशोकबकुलैः करवीरैः सचम्पकैः । अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैर्नानापुष्पोपशोभितैः ।।५।।

प्रत्येक तीर्थ में पृथक्-पृथक् अश्वमेध यज्ञ करने का फल प्राप्त करता है। जो इस उत्तम तीर्थ-माहात्म्य का श्रवण-पठन करेगा या करायेगा, वह सब पापों से मुक्त हो जायगा ।।८३-८६।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में तीर्थमाहात्म्य-वर्णन नामक पचीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२५।।

अध्याय २६

ब्रह्मा और ब्रह्मर्षियों का संवाद-वर्णन

मुनियों ने कहा—हे वक्ताओं में श्रेष्ठ ! पृथिवी में धर्म-अर्थ-काम-मोक्षदायक उत्तम भूमि तथा तीर्थों में उत्तम तीर्थ को हमें बतलाइये ।।१।।

लोमहर्षण बोले—मुनिवृन्द ! पहले मुनियों ने यही प्रश्न मेरे गुरु से पूछा था। इसे मैं बतलाऊँगा, आप लोग सुनिये ।।२।। महापवित्र, नाना प्रकार के पुष्पों से सुशोभित, अनेक वृक्ष-लताओं से व्याप्त, पशु-पक्षीगणों से युक्त, पुन्नाग, कर्णिकार (कनैल या कनकचम्पा), सरल (सड़र) देवदारु, शाल (साखू), ताल, तमाल, पनस (कटहल), धव, खादिर (खैर), पाटला, अशोक, बकुल (मौलसिरी), करवीर, चम्पा और विविध प्रकार के दूसरे

---

[१] क. ०त्तमं भूरि ध० । [२] क. ०क्षदम् । [३] क. नामुनिग० । [४] क. ०रसैर्दे० ।

महाभारतकर्त्तारं[1] सर्व्वशास्त्रविशारदम् ॥६॥
कुरुक्षेत्रे समासीनं व्यासं मतिमतां वरम् । पुराणागमवक्तारं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥७॥
अध्यात्मनिष्ठं सर्व्वज्ञं सर्व्वभूतहिते रतम् । द्रष्टुमभ्याययुः प्रीत्या मुनयः संशितव्रताः ॥८॥
पराशरसुतं शान्तं पद्मपत्रायतेक्षणम् । वसिष्ठो जैमिनिर्धौम्यो मार्कण्डेयोऽथ वाल्मिकिः ॥९॥
कश्यपो[2] जमदग्निश्च[3] भरद्वाजोऽथ गौतमः । सुमन्तुर्भार्गवो नाम[5] कण्वो मेधातिथिर्गुरुः ॥१०॥
विश्वामित्रः शतानन्दो वात्स्यो गार्ग्योऽथ आसुरिः[4] । मौद्गल्यस्तृणयज्ञश्च[6] पिप्पलादोऽकृतव्रणः ॥११॥
माण्डव्यश्च्यवनो धूम्रो ह्यसितो देवलस्तथा । शाण्डिल्यश्च[8] विभाण्डश्च दुर्व्वासा लोमशस्तथा ॥१२॥
संवर्तः कौशिको रैभ्यो[7] मैत्रेयो हरितस्तथा । भास्करिः[10] पूरणः[11] सूतः पुलस्त्यः कपिलस्तथा ॥१३॥
नारदः पर्व्वतश्चैव वैशम्पायनगालवौ[9] । सनत्कुमारः पैलश्च कृष्णः कृष्णानुभौतिकः ॥१४॥
उलूकः पुलहो[12] वायुर्देवस्थानश्चतुर्भुजः[13] । रराज स मुनिः[14] श्रीमान् नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ॥१५॥
एतैर्म्मुनिवरैश्चान्यैर्वृतः सत्यवतीसुतः । तेऽपि तं प्रतिपूज्यैव कथां चक्रुः परस्परम् ॥१६॥
तानागतान्मुनीन् सर्व्वान् पूजयामास वेदवित् । पप्रच्छुः संशयं सर्व्वे तपोवननिवासिनः ॥१७॥
कथान्ते ते मुनिश्रेष्ठाः कृष्णं सत्यवतीसुतम् ।

मुनय ऊचुः[15]

मुने वेदांश्च शास्त्राणि पुराणागमभारतम् । भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्व्वं जानासि वाङ्मयम् ॥१८॥

वृक्षों तथा पुष्पों से भी सुशोभित कुरुक्षेत्र में अपने आश्रम में बैठे हुए शान्त, विद्वत्श्रेष्ठ, महाभारत-रचयिता, सर्वशास्त्र-निष्णात, अध्यात्मनिष्ठ, सर्वज्ञ, सब प्राणियों के कल्याण में निरत, पुराण-शास्त्र-वक्ता, वेद-वेदांग-पारंगत और कमल के समान दीर्घ नेत्र वाले पराशर-पुत्र व्यास के दर्शन करने के लिए महाव्रती मुनिगण प्रसन्नतापूर्वक आये ॥३-८॥ कश्यप, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, वसिष्ठ, जैमिनि, धौम्य, मार्कण्डेय, वाल्मीकि, विश्वामित्र, शतानन्द, वात्स्य, गार्ग्य, आसुरि, सुमन्तु, भार्गव, कण्व, मेधातिथि, माण्डव्य, च्यवन, धूम्र, असित, देवल, मौद्गल्य, तृणयज्ञ, पिप्पलाद, अकृतव्रण, संवर्त, कौशिक, रैभ्य, मैत्रेय, हरित, शाण्डिल्य, विभाण्ड, दुर्वासा, लोमश, नारद, पर्वत, वैशम्पायन, गालव, भास्करि, पूरण, सूत, पुलस्त्य, कपिल, उलूक, पुलह, वायु, देवस्थान, चतुर्भुज, सनत्कुमार, पैल, कृष्ण, कृष्णानुभौतिक—इन मुनिश्रेष्ठों तथा दूसरे भी ऋषियों के मध्य व्यास उसी प्रकार शोभित हो रहे थे जिस प्रकार नक्षत्रों की बीच चन्द्रमा ॥९-१५॥ वेदवेत्ता व्यास ने आगन्तुक मुनियों का सम्मान किया। उन्होंने भी व्यास की पूजा कर आपस में कथा-वार्तालाप छेड़ दिया ॥१६॥ मुनिवर ! कथा के अन्त में तपोवन-निवासियों ने व्यास से संदेह पूछा ॥१७॥

मुनियों ने कहा—हे मुने ! आप वेद, शास्त्र, पुराण, आगम, महाभारत, भूत, भविष्य, वर्तमान—सब कुछ

---

[1] क. ख. ०रं नानाशा०। [2] ग. काश्यपो। [3] ग. ०श्च भारद्वा०। [4] क. गालवः। [5] ग. रामः। [6] ग. ०णजहनुश्च। [7] क. रैभ्य आत्रे०। [8] क. ०ण्डिल्यः श्वेतकेतुश्च। [9] क. ०नकाण्डवौ। [10] क. ०स्करः० पू०। [11] क. ०रणश्चैव पु०। [12] ग. ०श्च तम्बुरः। स०। [13] क. ०जः। कृष्णः पैलश्च भो विप्राः कृष्णात्रेयो नभोगतिः। ए०। [14] क. मुनिर्धीमा०। ख. मुनिर्धाम्ना नक्ष०। [15] ख. ०चुः०-पृ०।

कष्टेऽस्मिन् दुःखबहुले निःसारे भवसागरे[1] । रागग्राहाकुले रौद्रे विषयोदकसंप्लवे ॥१९॥
इन्द्रियावर्त्तकलिले दृष्टोर्मिशतसङ्कुले । [2]मोहपङ्काविले दुर्गे [3]लोभगम्भीरदुस्तरे ॥२०॥
निमज्जज्जगदालोक्य निरालम्बमचेतनम् । पृच्छामस्त्वां महाभागं ब्रूहि नो [4]मुनिसत्तम ? ॥२१॥
श्रेयः किमत्र संसारे [5]भैरवे लोमहर्षणे । उपदेशप्रदानेन लोकानुद्धर्त्तुमर्हसि ॥२२॥
दुर्लभं परमं क्षेत्रं वक्तुमर्हसि मोक्षदम् । पृथिव्यां [6]कर्म्मभूमिञ्च श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥२३॥
कृत्वा किल नरः सम्यक् कर्म्मभूमौ [7]यथोदितम् । प्राप्नोति परमां सिद्धिं नरकञ्च[8] विकर्म्मतः ॥२४॥
मोक्षक्षेत्रे तथा मोक्षं प्राप्नोति [9]पुरुषः सुधीः[10] । तस्माद् ब्रूहि महाप्राज्ञ यत्पृष्टोऽसि द्विजोत्तम ? ॥२५॥
श्रुत्वा तु वचनं तेषां मुनीनां भावितात्मनाम् । व्यासः [11]प्रोवाच भगवान् भूतभव्यभविष्यवित् ॥२६॥

व्यास उवाच

शृणुध्वं मुनयः सर्व्वे वक्ष्यामि यदि पृच्छथ[12] । यः संवादोऽभवत् पूर्व्वमृषीणां ब्रह्मणा सह ॥२७॥
मेरुपृष्ठे तु विस्तीर्णे नानारत्नविभूषिते । नानाद्रुमलताकीर्णे नानापुष्पोपशोभिते ॥२८॥
नानापक्षिरुते रम्ये [14]नानाप्रसवनाकुले । नानासत्त्वसमाकीर्णे नानाश्चर्य्यसमन्विते ॥२९॥
नानावर्णशिलाकीर्णे नानाधातुविभूषिते । नानामुनिजनाकीर्णे नानाश्रमसमन्विते ॥३०॥

जानते हैं ॥१८॥ अनुराग रूपी ग्राहों से व्याप्त, भयंकर, विषयरूपी जल से परिपूर्ण, इन्द्रिय रूपी आवर्तों (भँवर) से युक्त, सैकड़ों तरंगों से संकुल, मोहरूपी कीचड़ से समन्वित, कठिन लोभरूपी गम्भीरता से दुस्तर तथा कष्टमय इस सारहीन भवसागर में चेतनाहीन और निःसहाय होकर डूबते हुए विश्व को देखकर हम आपसे पूछते हैं कि इसे भयानक तथा रोमञ्चोत्पादक संसार में कल्याण क्या है ? ॥१९-२१½॥ हे महाभाग ! हे मुनिश्रेष्ठ ! आप उपदेश देकर लोगों का उद्धार कर सकते हैं। परम दुर्लभ तथा मोक्ष-दायक क्षेत्र को हमें बतलाइये। पृथिवी पर कर्मभूमि के बारे में भी हम सुनना चाहते हैं ॥२२-२३॥ भूमि पर शास्त्रविहित कर्मों को करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त करता है तथा कुकर्म करने से नरक भी जाता है ॥२४॥ उसी प्रकार विद्वान् पुरुष मोक्ष-क्षेत्र में मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिए, हे महाविद्वन् ! हे द्विजवर्य ! जो हमने पूछा है, उसे बतलाइये ॥२५॥ वश्यात्मा मुनियों के वचन सुनकर भूत-भविष्य-वर्तमान-वेत्ता भगवान् व्यास बोले ॥२६॥

व्यास ने कहा—मुनिवृन्द ! यदि आप पूछते हैं तो सुनिये। पहले ब्रह्मा के साथ ऋषियों का जो संवाद हुआ था, वही बतलाऊँगा ॥२७॥ नाना प्रकार के रत्नों से विभूषित, अनेक वृक्ष-लताओं से व्याप्त, विविध पुष्पों से सुशोभित, विभिन्न पक्षियों से शब्दायमान, अनेक जीव-जन्तुओं से परिव्याप्त, अनेक आश्चर्यकारी वस्तुओं से समन्वित विभिन्न वर्णों की शिलाओं तथा धातुओं से विभूषित, अनेक मुनिजनों तथा आश्रमों से युक्त एवं विस्तृत सुमेरु पर्वत के पीठ पर बैठे हुए विश्वनाथ, जगत् के उत्पत्तिस्थान, विश्ववन्द्य, संसार के आधार तथा शासक ब्रह्मा को

१क. ०रे रोग०। २क. ०हशोकाचले। ३ग. लोहग०। ४क. ख. द्विजसत्तम। ५क. प्राणिनां। ६ख. ०र्मभिश्जैव श्रो०। ७क. यदीरित०। ८ख. वा। ९क. ख. परमं। १०क. शुचिः। ११ख. ०च मतिमान्भू०। १२क. ०थ। यत्संवा०। १३क. ख. ०ष्ठे सुवि०। १४क. ०प्रश्रवणान्विते। ना०।

जगत्पतिं जगद्वन्द्यं जगदाधारमीश्वरम् ।।३१।।
तत्रासीनं जगन्नाथं जगद्योनिं चतुर्मुखम् । [1]मुनिसिद्धाप्सरोभिश्च वृतमन्यैर्दिवालयैः ।।३२।।
देवदानवगन्धर्व्वैर्यक्षविद्याधरोरगैः । केचिद्वाद्यानि वाद्यन्ते केचिन्नृत्यन्ति चापरे ।।३३।।
केचित्[2] स्तुवन्ति तं देवं केचिद्गायन्ति चाग्रतः[3] । नानाकुसुमगन्धाढ्ये दक्षिणानिलसेविते ।।३४।।
एवं प्रमुदिते काले[4] सर्व्वभूतसमागमे । [6]इममर्थमृषिवराः प्रपच्छुः पितरं द्विजाः[7] ।।३५।।
भृग्वाद्यास्तं[5] तदा देवं प्रणिपत्य पितामहम् ।

ऋषय ऊचुः

भगवञ्श्रोतुमिच्छामः कर्म्मभूमिं महीतले । वक्तुमर्हसि देवेश मोक्षक्षेत्रञ्च दुर्लभम् ।।३६।।

व्यास उवाच

तेषां वचनमाकर्ण्य प्राह ब्रह्मा सुरेश्वरः । पप्रच्छुस्ते यथा प्रश्नं तत्सर्व्वं मुनिसत्तमाः ।।३७।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे स्वयम्भूब्रह्मर्षिसंवादे प्रश्ननिरूपणं नाम षड्विंशोऽध्यायः ।।२६।।

सप्तविंशोऽध्यायः

तत्रादौ भारतवर्षवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनयः सर्व्वे यद्वो[8] वक्ष्यामि साम्प्रतम् । पुराणं वेदसम्बद्धं भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम् ।।१।।

देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर, सर्प, मुनि, सिद्ध, अप्सरा तथा और भी दूसरे देवता घेरकर बैठे हुए थे।।२८-३२।। कोई ब्रह्मा की स्तुति करते थे तो कोई उनके आगे गाते थे। कोई बाजे बजाते थे तो कोई नाचते थे।।३३।। मुनिवृन्द ! इस प्रकार आनन्दित, नाना प्रकार के पुष्पों से सुगन्धित तथा मलयानिल से सुसेवित प्राणियों के समागमकाल में भृगु आदि मुनि ब्रह्मा को प्रणाम कर यही प्रश्न पूछने लगे ।।३४-३५।।

मुनियों ने कहा— भगवन् ! पृथ्वी-तल पर कर्मभूमि के वारे में हम सुनना चाहते हैं। हे देवता के स्वामी ! दुर्लभ मोक्षक्षेत्र को भी बतला दीजिये ।।३६।।

व्यास बोले—मुनिवर ! उनके वचन सुनकर देवेश ब्रह्मा उनके सारे प्रश्नों का उत्तर देने लगे ।।३७।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ब्रह्मर्षियों के संवाद-प्रसंग में प्रश्न-निरूपण नामक
छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त।।२६।।

अध्याय २७

भारतवर्ष का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—मुनिगण ! इस समय मैं वेदों से सम्वन्ध रखने वाले तथा भोग-मोक्ष को देने वाले पवित्र

१क. ०निभिश्चाप्स०। २क. ०चित्तु नर्तननैर्देवं। ३क. तत्त्वतः। ४ख. लोके। ५. ०द्या मुनयो देवाः प्र०। ६क. ०मर्थं तदा देवाः प०। ७क. ख. ०जाः। भ०। ८ख. यद्वै।

पृथिव्यां भारतं वर्षं कर्म्मभूमिरुदाहृता[1] । कर्म्मणः [2]फलभूमिश्च स्वर्गञ्च नरकं तथा ॥२॥
तस्मिन् वर्षे नरः पापं कृत्वा [3]धर्म्मञ्च भो द्विजाः । अवश्यं फलमाप्नोति अशुभस्य शुभस्य च ॥३॥
ब्राह्मणाद्याः[4] स्वकं कर्म्म कृत्वा सम्यक्सुसंयताः । प्राप्नुवन्ति परां सिद्धिं तस्मिन्वर्षे न संशयः ॥४॥
धर्म्मञ्चार्थञ्च कामञ्च मोक्षञ्च द्विजसत्तमाः । प्राप्नोति पुरुषः सर्व्वं तस्मिन् वर्षे सुसंयतः ॥५॥
इन्द्राद्याश्च सुराः सर्व्वे तस्मिन् वर्षे द्विजोत्तमाः । कृत्वा[5] सुशोभनं कर्म्म देवत्वं प्रतिपेदिरे ॥६॥
अन्येऽपि लेभिरे मोक्षं पुरुषाः[6] संयतेन्द्रियाः[7] । तस्मिन् वर्षे बुधाः शान्ता वीतरागा विमत्सराः[8] ॥७॥
ये चापि स्वर्गे तिष्ठन्ति विमानेन[9] गतज्वराः । [10] तेऽपि कृत्वा शुभं[11] कर्म्म तस्मिन् वर्षे दिवं गताः ॥८॥
निवासं भारते वर्षे आकाङ्क्षन्ति सदा सुराः । स्वर्गापवर्गफलदे तत्पश्यामः[12] कदा वयम् ॥९॥

मुनय ऊचुः

यदेतद् भवता प्रोक्तं कर्म्म[13] नान्यत्र पुण्यदम् । पापाय[14] वा सुरश्रेष्ठ वर्ज्जयित्वा[15] च भारतम् ॥१०॥
ततः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यमं[16] तच्च गम्यते[17] । न[18] खल्वन्यत्र मर्त्त्यानां भूमौ कर्म्म विधीयते ॥११॥
तस्माद्विस्तरतो ब्रह्मन्नस्माकं भारतं वद । यदि तेऽस्ति[19] दयास्मासु यथावस्थितिरेव च ॥१२॥
तस्माद्वर्षमिदं[20] नाथ ये वास्मिन् वर्षपर्व्वताः । भेदाश्च तस्य वर्षस्य ब्रूहि सर्व्वानशेषतः ॥१३॥

पुराण के बारे में कहूँगा, आप लोग सुनें ॥१॥ पृथिवी पर कर्मभूमि के रूप में भारतवर्ष बतलाया गया है। कर्म-फल की भूमि तथा स्वर्ग-नरक भी यही है ॥२॥ विप्रवृन्द ! भारतवर्ष में मनुष्य पाप-पुण्य करके उनके शुभ-अशुभ फल अवश्य पाते हैं ॥३॥ इस वर्ष में ब्राह्मण आदि वर्ण संयमपूर्वक अपने-अपने कर्मों को करके निःसन्देह परा सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥४॥ द्विजश्रेष्ठो ! इस वर्ष में पुरुष संयमी होकर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—सब कुछ प्राप्त कर सकता है ॥५॥ विप्रवर ! इस वर्ष में इन्द्र आदि देवगण उत्तम कर्म करके देवत्व को प्राप्त हुए ॥६॥ दूसरे भी जितेन्द्रिय, विद्वान्, शान्त, वीतराग तथा ईर्ष्यारहित पुरुषों ने इस वर्ष में मोक्ष को प्राप्त किया ॥७॥ जो भी तापरहित होकर विमान के द्वारा स्वर्ग में विराज रहे हैं, वे भी इसी वर्ष में शुभ कर्म करके स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं ॥८॥ स्वर्ग-मोक्ष-दायक भारतवर्ष में वास करने के लिए देवतालोग सदा लालायित रहते हैं ॥९॥

मुनियों ने कहा—हे देवश्रेष्ठ ! आपने जिसलिए यह कहा है कि पाप-पुण्य-दायक कर्म भारतवर्ष को छोड़कर कहीं नहीं होता एवम् मनुष्यों के लिए भारतवर्ष ही स्वर्ग-मोक्ष-दायक कर्मभूमि है इसलिए भारतवर्ष के विषय में हमें विस्तारपूर्वक बतलाइये। ब्रह्मन् ! यदि हमारे ऊपर आपकी कृपा है तो भारतवर्ष, इसके वर्षपर्वत तथा वर्ष के भेदों को निःशेष करके बतला दीजिये ॥१०-१३॥

१क. ०हृतम्। क०। २ख. ०मिर्हि स्व०। ३ख. कर्म। ४ख. ०णाद्यास्तु यत्कर्म०। ५क. ०त्वा तु शो०। ६क. ख. संयताः। ७क. संजिते। ८ ०क. ०राः। देवाः स्व०। ९ख. ०ने विग०। १०ख. ते कृ०। ११ख. सुशुभं। १२क. उत्पस्यामः। १३क. ०र्म चान्य०। १४ख. पापदं। १५ख. वर्णयित्वा। १६ख. ०ध्यश्चान्तश्च ग०। १७क. ०ते। ततश्चान्यत्र। १८ ख. न चाल्पं चात्र। १९क. ते स्निग्धताऽस्मां। २०क. ०दं यावद्येऽप्यस्मि०।

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं भारतं वर्षं नवभेदेन भो द्विजाः । समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते[१] समाश्च परस्परम् ॥१४॥
इन्द्रद्वीपः[२] कशेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान् । नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्व्वो[३] वारुणस्तथा ॥१५॥
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः । योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं[४] दक्षिणोत्तरः ॥१६॥
पूर्व्वे किराता यस्यासन् पश्चिमे यवनास्तथा[५] । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्ते स्थिता द्विजाः ॥१७॥
इज्यायुद्धवणिज्याद्यैः कर्म्मभिः कृतपावनाः । तेषां संव्यवहारश्च एभिः कर्म्मभिरिष्यते[६] ॥१८॥
स्वर्गापवर्गहेतुश्च[७] पुण्यं पापञ्च[८] वै तथा । महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्व्वतः ॥१९॥
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैवात्र कुलाचलाः । तेषां सहस्रशश्चान्ये भूधरा ये समीपगाः ॥२०॥
विस्तारोच्छ्रयिणो रम्या विपुलाश्चित्रसानवः । कोलाहलः स वैभ्राजो मन्दरो दर्द्दुराचलः[९] ॥२१॥
वातन्धयो[१०] वैद्युतश्च मैनाकः[११] सुरसस्तथा । तुङ्गप्रस्थो नागगिरिर्गोधनः पाण्डराचलः[१२] ॥२२॥
पुष्पगिरिर्वैजयन्तो[१३] रैवतोऽर्ब्बुद[१४] एव च । ऋष्यमूकः स[१५] गोमन्थः[१६] कृतशैलः कृताचलः ॥२३॥
श्रीपार्व्वतश्चकोरश्च शतोशोऽन्ये च पर्व्वताः[१७] । तैर्विमिश्रा जनपदा[१८] म्लेच्छाद्याश्चैव भागशः ॥२४॥
तैः पीयन्ते सरिच्छ्रेष्ठास्ता बुध्यध्वं द्विजोत्तमाः । गङ्गा सरस्वती सिन्धुश्चन्द्रभागा तथा परा ॥२५॥

ब्रह्मा ने कहा—द्विजगण ! भारतवर्ष में नौ भेदों को सुनिये, जो परस्पर समुद्रों से व्यवहित हैं ॥१४॥ जैसे—इन्द्रद्वीप, कशेरु, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व, वारुण और नवाँ यही द्वीप (भारतवर्ष) है, जो समुद्र से आवृत है ॥१५½॥ दक्षिण-उत्तर में यह द्वीप एक हजार योजन विस्तृत है । इसके पूरब भाग में किरात, पश्चिम में यवन और अन्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रहते हैं ॥१६-१७॥ द्विजवृन्द ! ब्राह्मण आदि वर्ण क्रमशः यज्ञ, युद्ध, व्यापार और सेवा रूप कर्मों से पवित्र होते हैं । इन्हीं कर्मों से उनका परस्पर व्यवहार चलता है ॥१८॥ स्वर्ग-मोक्ष और पुण्य-पाप का उत्पत्ति-स्थान यही द्वीप है । यहाँ महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र नामक सात पर्वत हैं ॥१९½॥ उनके पास दूसरे भी हजारों पर्वत हैं, जो विस्तृत, उच्च, रमणीय तथा चित्र-विचित्र शिखर वाले हैं । जैसे—कोलाहल, वैभ्राज, मन्दर, दर्दुराचल, वातंधय, वैद्युत, मैनाक, सुरस, तुंगप्रस्थ, नागगिरि, गोधन, पाण्डराचल, पुष्पगिरि, वैजयन्त, रैवत; अर्बुद, ऋष्यमूक, गोमन्थ, कृतशैल, कृताचल, श्रीपार्वत, चकोर तथा दूसरे भी सैकड़ों पर्वत हैं ॥२०-२३½॥ इन पर्वतों से मिश्रित म्लेच्छ आदि अनेक देश हैं, जिनके निवासी उत्तम नदियों का जल पीते हैं॥२४½॥ द्विजश्रेष्ठो! उन नदियों के नाम सुनिये। जैसे

---

[१] ख. ०स्ते च गम्याः प० । ग. ०स्ते दुर्गम्याः प० । [२] क. इन्द्रपकः । [३] क. ख. गन्धर्वो । [४] क. यं च दशोत्त । [५] क. ०वनाःस्मृताः । ब्रा० । [६] क. ०भिरुच्यते । [७] ग. ०र्गप्रांप्तिश्च । [८] क. च नो द्विजाः । म० । [९] क. मन्दराचलः । ख. मन्दगाचलः । [१०] क. वाताचयो नैकशिरा मै० । ख. वाताम्बयो वै पशुश्च । [११] क. ०कः सर० । [१२] क. ०ण्डवाच० । [१३] क. पुण्यगिं० । ख. पुष्पगिरिदुर्जय० । [१४] ख. ०तोऽम्बुद । [१५] क. ०मन्तः कृ० । [१६] ग. ०न्थः कूटशैलकृतः सरः । श्री० । [१७] ख. ०ताः । नैते मिश्रा । [१८] क. ०दा विप्राद्या ।

यमुना शतद्रुर्विपाशा वितस्तैरावती कुहूः[१] । गोमती धूतपापा[२] च बाहुदा च दृषद्वती ।।२६।।
विपाशा देविका चक्षुर्निष्ठीवा गण्डकी तथा । कौशिकी चापगा चैव हिमवत्पादनिःसृताः ।।२७।।
देवस्मृतिर्देववती वातघ्नी सिन्धुरेव च । वेण्या तु चन्दना[३] चैव सदानीरा[४] मही तथा[५] ।।२८।।
चर्म्मण्वती वृषी[६] वैव विदिशा वेदवत्यपि[७] । सिप्रा[८] ह्यवन्ती च तथा पारियात्रानुगाः स्मृताः ।।२९।।
शोणा[९] महानदी चैव नर्म्मदा सुरथा क्रिया[१०] । मन्दाकिनी दशार्णा च चित्रकूटा[११] तथापरा ।।३०।।
चित्रोत्पला वेत्रवती[१२] करमोदा पिशाचिका । तथान्यातिलघुश्रोणी विपाप्मा[१३] शैवला[१४] नदी ।।३१।।
सधेरुजा[१५] शक्तिमती[१६] शकुनी त्रिदिवा क्रमुः[१७] । ऋक्षपादप्रसूता वै तथान्या[१८] वेगवाहिनी ।।३२।।
सिप्रा[१९] पयोष्णी निर्व्विन्ध्या[२०] तापी चैव सरिद्वरा । वेणा वैतरणी चैव सिनीवाली[२१] कुमुद्वती ।।३३।।
तोया[२२] चैव महागौरी दुर्गा चान्तःशिला तथा । विन्ध्यपादप्रसूतास्ता नद्यः पुण्यजलाः शुभाः ।।३४।।
गोदावरी भीमरथी कृष्णवेणा तथापगा । तुङ्गभद्रा सुप्रयोगा तथान्या पापनाशिनी ।।३५।।
सह्यपादविनिष्क्रान्ता इत्येताः सरितां वराः । कृतमाला[२३] ताम्रपर्णी पुष्यजा[२४] प्रत्यलावती ।।३६।।
मलयाद्रिसमुद्‌भूताः पुण्याः शीतजलास्त्विमा । पितृसोमर्षिकुल्या च[२५] वञ्जुला[२६] त्रिदिवा च या ।।३७।।

गंगा, सरस्वती, सिन्धु, चन्द्रभागा, यमुना, शतद्रु, विपाशा, वितस्ता, ऐरावती, कुहू, गोमती, धूतपापा, बाहुदा, दृषद्वती, देविका, चक्षु, निष्ठीवा, गण्डकी, कौशिकी—ये नदियाँ हिमालय से निकली हैं ।।२५-२७।। देवस्मृति, देववती, वातघ्नी, सिन्धु, वेण्या, चन्दना, सदानीरा, मही, चर्मण्वती, वृषी, विदिशा, वेदवती, सिप्रा, अवन्ती—ये नदियाँ पारियात्र से निःसृत हैं ।।२८-२९।। शोणा, महानदी, नर्मदा, सुरथा, क्रिया, मन्दाकिनी, दशार्णा, चित्रकूटा, चित्रोत्पला, वेत्रवती, करमोदा, पिशाचिका, अतिलघुश्रोणी, विपाप्मा, शैवला, सधेरुजा, शक्तिमती, शकुनी, त्रिदिवा और क्रमु ऋक्षपर्वत से बहिर्भूत हैं ।।३०-३२।। सिप्रा, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, नदीश्रेष्ठ तापी, वेणा, वैतरणी, सिनीवाली, कुमुद्वती, तोया, महागौरी, दुर्गा, अन्तःशिला—ये पवित्र जलवाली नदियाँ विन्ध्य पर्वत से निकली हैं ।।३३-३४।। गोदावरी, भीमरथी, कृष्णवेणा, तुङ्गभद्रा, सुप्रयोगा तथा और भी पापनाशिनी श्रेष्ठ नदियाँ ःसह्य पर्वत से निकली हैं ।।३५½।। कृतमाला, ताम्रपर्णी, पुष्यजा, प्रत्यलावती—ये शीततोया पवित्र नदियाँ मलयपर्वत से निकली हैं ।।३६½।। पितृसोमर्षिकुल्या, वञ्जुला, त्रिदिवा, लाङ्गुलिनी और वंशकरा महेन्द्रपर्वत से निकली हैं ।।३७½।। सुविकाला, कुमारी, मनूगा, मन्दगामिनी और क्षयापलासिनी शुक्तिमान्

१ख. कुरुः। २ख. हतपापा। ३क. ग. वदना। ४ख. दापारामकी त०। ५ग. ०था। परा चर्मण्वती चै०। ६ख. नृपी। ग. भूपा। ७ख. वेत्रव०। ८क. ०क्षिप्रा। ख. शीध्रा। ९ख. ग. शोणो। १०क. कृपा। ११ख. वेत्रकूपा। १२क. चैत्रवती। १३क. ख. विपाशा। १४ग. चैवला। १५क. समेरजा। ख. ससेरजा। १६ख. शुक्तिमती। १७क. ऋतुः। ख. कुरुः। १८क. ०था भद्राकवादिनी। १९क. चित्रा। २०क. विन्ध्यान्ता। २१ख. ०वालार्कमुमुद्वता। तो०। ग. ०वाला कु०। २२क. वापी। २३क. शतमाला। २४क. ०जात्युत्पला०। २५क. च चन्द्रमाला दि०। २६ग. इक्षुना।

लाङ्गुलिनी[१] वंशकरा महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः । सुविकाला कुमारी च मनूगा मन्दगामिनी ।।३८।।
क्षयापलासिनी चैव शुक्तिमत्प्रभवाः स्मृताः । सर्व्वाः पुण्याः सरस्वत्यः सर्व्वा गङ्गाः समुद्रगाः ।।३९।।
विश्वस्य मातरः सर्व्वाः सर्व्वाः[२] पापहराः स्मृताः । अन्याः सहस्रशः प्रोक्ताः क्षुद्रनद्यो द्विजोत्तमाः ।।४०।।
प्रावृट्कालवहाः सन्ति सदाकालवहाश्च[३]याः । मत्स्या मुकुटकुल्याश्च कुन्तलाः[४] काशिकोशलाः ।।४१।।
अन्ध्रकाश्च[५] कलिङ्गाश्च शमकाश्च वृकैः[६] सह । मध्यदेशा जनपदाः प्रायशोऽमी प्रकीर्त्तिताः ।।४२।।
सह्यस्य[७] चोत्तरे यस्तु यत्र गोदावरी नदी । पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः ।।४३।।
गोवर्द्धनपुरं रम्यं भार्गवस्य महात्मनः । वाहीका[८] वाटधानाश्च सुतीराः कालतोयदाः ।।४४।।
अपरान्ताश्च शूद्राश्च[९] वाह्लिकाश्च सकेरलाः । गान्धारा यवनाश्चैव सिन्धुसौवीरमद्रकाः ।।४५।।
शतद्रुहाः[१०] कलिङ्गाश्च पारदा हारभूषिकाः[११] । माठराश्चैव कनकाः[१२] कैकेया दम्भमालिकाः ।।४६।।
क्षत्रियोपमदेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च । काम्बोजाश्चैव विप्रेन्द्रा बर्व्वराश्च सलौकिकाः[१३] ।।४७।।
वीराश्चैव तुषाराश्च[१४] पह्लवाधायता[१५] नराः । आत्रेयाश्च भरद्वाजाः पुष्कलाश्च[१६] दशेरकाः ।।४८।।
लम्पकाः शुनःशोकाश्च कुलिका जाङ्गलैः सह । ओषध्यश्चलचन्द्रा च किरातानाञ्च जातयः ।।४९।।
तोमरा हंसमार्गाश्च काश्मीरा करुणास्तथा । शूलिकाः कुहकाश्चैव मागधाश्च तथैव च ।।५०।।
ऐते[१७]देशा उदीच्यास्तु[१८]प्राच्यान्देशान्निबोधत।अन्धा[१९]वामङ्कुराकाश्चवल्लकाश्चमखान्तकाः।।५१।।

पर्वत से निकली हैं ।।३८½।। द्विजवर ! ये सभी नदियाँ पवित्र हैं और सभी गंगा में गिरती हैं । ये सब नदियाँ पापहारिणी तथा विश्वमाताएँ हैं ।।३९½।। इनके अतिरिक्त अन्यान्य छोटी-मोटी नदियाँ और भी हैं। इनमें से कुछ तो केवल बरसाती हैं और कुछ सदा बहती रहती हैं ।।४०½।। मत्स्य, मुकुटकुल्य, कुन्तल, काशिकोशल, अन्ध्रक, कलिङ्ग, शमक और वृक ये जनपद मध्यदेश कहलाते हैं ।।४१-४२।। सह्यपर्वत के उत्तर भाग में, जहाँ गोदावरी नदी है, वह प्रदेश सम्पूर्ण पृथ्वी में (सर्वाधिक) मनोरम है ।।४३।। वहाँ महात्मा भार्गव का गोवर्धनपुर रमणीय है । वाहीक, वाटधान, सुतीर, कालतोयद, अपरान्त, शूद्र, वाह्लिक, केरल, गान्धार, यवन, सिन्धु, सौवीर, मद्र, शतद्रुह, कलिङ्ग, पारद, हारभूषिक, माठर, कनक, कैकेय, दम्भमालिक—ये क्षत्रियोपम देश हैं तथा वैश्य एवं शूद्रकुल हैं ।।४४-४६½।। द्विजेन्द्रो ! काम्बोज, बर्बर, लौकिक, वीर, तुषार, पह्लव, आधायत, नर, आत्रेय, भारद्वाज, पुष्कल, दशेरक, लम्पक, शुनशोक, कुलिक, जाङ्गल, ओषधि, चलचन्द्र, किरात-जाति, तोमर, हंसमार्ग, काश्मीर, करुण, शूलिक, कुहक और मागध—ये उत्तर दिशा के देश हैं । अब जो पूर्व दिशा के देश हैं उन्हें भी समझ लीजिये ।।४७-५०½।। अन्ध, वामंकुराक, वल्लक, मखान्तक, अङ्ग, वङ्ग, मलद, मालवर्तिक, भद्रतुङ्ग, प्रतिजय, भार्याङ्ग, अपमर्दक, प्राग्ज्योतिष

१क. ल—ांगली चैव श० । २क. ख. सर्वपा० । ३ख. ०याः । मान्याः कुमुदमान्याश्च चक्रलाः का० । ४क. क्रतुगाः । ५क. अथर्वाश्च । ६क. वृषैः । ७क. ०ह्यश्चैवोत्त० । ८क. वाधिकाश्चावधान्यश्च मुनिराकालतो० । ९ख. ०श्च पादपाश्चर्मखण्डिकाः । गा० । १०क. शतदुर्गाः । ख. शतद्रुकाः । ११ग. ०रमूषि । १२क. करकाश्चैकपादाः सुनासिकाः । १३क. ०काः । चीनाश्चै० । १४क. ०श्च ऊर्णा दीर्घास्तथैव च । ए० । १५क. पञ्चवालायतीन० । १६क. ०ष्कराश्च । १७क. एवं । १८क. प्राच्यां दिशि निबो० । १९ख. अन्धका मुहुकाराश्च कस्मीराः करुणोस्तथा । शूलिकाः कुहकाश्चैव समग्निरवहिर्गिराः । त० ।

[१]तथापरेऽङ्गा वङ्गाश्च[२] मलदा मालवर्त्तिकाः । भद्रतुङ्गाः[३] प्रतिजया भार्य्याङ्गाश्चापमर्द्दकाः ॥५२॥
प्राग्ज्योतिषाश्च मद्राश्च विदेहास्ताम्रलिप्तकाः । मल्ला मगधका नन्दाः प्राच्या जनपदास्तथा ॥५३॥
तथापरे जनपदा दक्षिणापथवासिनः । पूर्णाश्च[४] केवलाश्चैव गोलाङ्गूलास्तथैव च ॥५४॥
ऋषिका[५] मुषिकाश्चैव कुमारा[६] रामठाः शकाः । महाराष्ट्रा माहिषका[७] कलिङ्गाश्चैव सर्व्वशः[८] ॥५५॥
आभीराः सह वैशिक्या[९] अटव्याः[१०] [११]सरवाश्च ये । पुलिन्दाश्चैव मौलेया वैदर्भा दण्डकैः सह ॥५६॥
पौलिका[१२] मौलिकाश्चैव अश्मका भोजवर्द्धनाः । कौलिकाः[१३] कुन्तलाश्चैव दम्भका[१४] नीलकालकाः ॥५७॥
दाक्षिणात्यास्त्वमी देशा अपरान्तान्निबोधत । शूर्पारकाः [१५]कालिधना[१६] लोलास्तालकटैः सह ॥५८॥
इत्येते ह्यपरान्ताश्च शृणुध्वं विन्ध्यवासिनः । मलजाः[१७] कर्कशाश्चैव मेलकाश्चोलकैः[१८] सह ॥५९॥
उत्तमार्णा दशार्णाश्च भोजाः किष्किन्ध्यकैः सह । तोषलाः[१९] कोशलाश्चैव त्रैपुरा वैदिशास्तथा ॥६०॥
तुम्बुरास्तु चराश्चैव यवनाः पवनैः सह । अभया[२०] रुण्डिकेराश्च चर्च्चरा होत्रधर्त्तयः ॥६१॥
एते जनपदाः सर्व्वे तत्र विन्ध्यनिवासिनः । अतो देशान् प्रवक्ष्यामि [२१]पर्व्वताश्रयिणश्च[२२] ये ॥६२॥
नीहारास्तुषमार्गाश्च कुरवस्तङ्गणाः[२३] खसाः । कर्णप्रावरणाश्चैव[२४] ऊर्णा दर्घाः सकुन्तकाः ॥६३॥
चित्रमार्गा मालवाश्च किरातास्तोमरैः सह । कृतत्रेतादिकश्चात्र चतुर्युगकृतो विधिः ॥६४॥

मद्र, विदेह, ताम्रलिप्तक, मल्ल, मगधक और नन्द—प्राच्य देश कहलाते हैं ॥५१-५३॥ तथा दूसरे जनपद दक्षिणापथगामी हैं—एवं पूर्ण, केवल, गोलाङ्गूल, ऋषिक, मुषिक, कुमार, रामठ, शक, महाराष्ट्र, माहिषक, कलिङ्ग, आभीर, वैशिक्य, अटव्य, सरव, पुलिन्द, मौलेय, वैदर्भ, दण्डक, पौलिक, मौलिक, अश्मक, भोजवर्धन, कौलिक, कुन्तल, दम्भक, नीलक, अलक—ये दक्षिण के देश हैं। अब पश्चिम दिशा के देशों को समझिये ॥५४-५७½॥ शूर्पारक, कालिधन, लोल, तालकट—ये प्रतीच्य देश कहलाते हैं। अब विन्ध्यपर्वतस्थित देशों के नाम सुनिये ॥५८½॥ मलज, कर्कश, मेलक, चोलक, उत्तमार्ण, दशार्ण, भोज, किष्किन्धक, तोषल, कौशल, त्रैपुर, वैदिश, तुम्बुर, चर, यवन, पवन, अभय, रुण्डिकेर, चर्चर, होत्रधर्ति—ये सब विन्ध्यस्थित देश हैं। अब मैं पर्वतों के आश्रयी देशों के नाम बतलाता हूँ—॥५९-६२॥ नीहार, तुषमार्ग, कुरु, तङ्गण, खस, कर्णप्रावरण, ऊर्ण, दर्घ, कुन्तक, चित्रमार्ग, मालव, किरात और तोमर ये पार्वत्य प्रदेश हैं ॥६३½॥ इस वर्ष (द्वीप) में सत्ययुग, त्रेता आदि चार युग होते हैं। इस प्रकार भारतवर्ष में नौ खण्ड हैं, इस द्वीप के पूर्व और

---

[१] ख. ०था प्रचरगा ब०। [२] ख. ०ङ्गा म०। [३] क. ब्रह्मतुङ्गाः। [४] क. पूरणाः केरला०। [५] ख. रुष्टिका। ग. तूषिका। [६] ग. ०रानाम वासकाः। [७] क. माहिषिकाः। [८] क. ०श०ः। स०। [९] क. ०शः। स०। [९] क. ०शिका अपांख्याश्च शबराश्च सहस्रशः। पुण्ड्रका विन्ध्यलेखाश्च वै०। [१०] ख. आपाश्च। [११] ख. श्रवराश्च। [१२] ग. पालिका। [१३] क. कालिका। [१४] ख. ०म्भवानलका०। [१५] क. ०लिवना०। [१६] ग. ०नादूर्णास्थालटिकैः स०। [१७] ख. ०लश्वना सकेशाश्च मे०। [१८] ख. ग. ०श्चोत्कलैः स०। [१९] क. उल्लापाः। ख. अपलाः। [२०] क. ०यास्तुङ्गराः सर्वेरा होत्रवर्तकाः। ए०। [२१] क. ०तानाश्रिताश्च०। [२२] ख. ०श्रमिण०। [२३] ख. ०णास्तथा। कुण्डप्रा०। [२४] ख. व उल्लाटच्यः सकुञ्चकाः।

एवं तु भारतं वर्षं नवसंस्थानसंस्थितम् । दक्षिणे[1] परतो यस्य पूर्व्वे चैव महोदधिः ।।६५।।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः । तदेतद्भारतं वर्षं सर्व्वबीजं द्विजोत्तमाः ।।६६।।
ब्रह्मत्वममरेशत्वं देवत्वं मरुतां तथा । [2]मृगयक्षाप्सरोयोनिं तद्वत् सर्पसरीसृपाः ।।६७।।
स्थावराणाञ्च सर्व्वेषामितो विप्राः शुभाशुभैः । प्रयान्ति कर्म्मभूर्विप्रा नान्या लोकेषु विद्यते ।।६८।।
देवानामपि भो विप्राः सदैवैष मनोरथः । अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात् प्रत्युताः क्षितौ ।।६९।।
मनुष्यः कुरुते यत्तु तन्न शक्यं सुरासुरैः । तत्कर्म्मनिगडग्रस्तैस्तत्कर्म्मक्षपणोन्मुखैः ।।७०।।
न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः । यत्र विप्रादयो वर्णाः प्राप्नुवन्त्यभिवाञ्छितम् ।।।७१।।
धन्यास्ते भारते वर्षे जायन्ते ये नरोत्तमाः । धर्म्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्नुवन्ति महाफलम् ।।७२।।
प्राप्यते यत्र तपसः फलं परमदुर्लभम् । सर्व्वदानफलञ्चैव सर्व्वयज्ञफलं तथा ।।७३।।
तीर्थयात्राफलञ्चैव गुरुसेवाफलं तथा । देवताराधनफलं स्वाध्यायस्य फलं द्विजाः[3] ।।७४।।
यत्र देवाः सदा हृष्टा जन्म वाञ्छन्ति शोभनम् । नानाव्रतफलञ्चैव नानाशास्त्रफलं तथा ।।७५।।
अहिंसादिफलं सम्यक्फलं सर्व्वाभिवाञ्छितम् । ब्रह्मचर्य्यफलञ्चैव गार्हस्थ्येन च यत्फलम् ।।७६।।
यत् फलं वनवासेन संन्यासेन च यत्फलम् । इष्टापूर्त्तफलञ्चैव तथान्यच्छुभकर्म्मणाम् ।।७७।।
प्राप्यते भारते वर्षे न चान्यत्र द्विजोत्तमाः । कः शक्नोति गुणान् वक्तुं भारतस्याखिलान्द्विजाः ।।७८।।
एवं सम्यङ्मया प्रोक्तं भारतं वर्षमुत्तमम् । सर्व्वपापहरं पुण्यं धन्यं[4] बुद्धिविवर्द्धनम् ।।७९।।

दक्षिण में समुद्र और उत्तर में धनुष की डोरी की तरह हिमालय स्थित है। द्विजवर ! यह भारतवर्ष सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का केन्द्र है ।।६४-६६।। यहाँ से जीव अपने-अपने शुभ-अशुभ कर्मों के द्वारा ब्रह्मत्व, देवत्व, देवेशत्व और वायुत्व को तथा मृग, यक्ष, अप्सरा, सर्प और स्थावर की योनि को प्राप्त करते हैं। विप्रवृन्द ! संसार भर में केवल भारतवर्ष ही कर्मभूमि है ।।६७-६८।। द्विजगण! देवताओं की सदा यही लालसा रहती है कि हम देवत्व से च्युत होकर पृथ्वी पर मनुष्य-योनि को प्राप्त करें ।।६९।। मनुष्य जो कर्म कर सकता है, वह कर्मरूपी श्रृंखला में बद्ध तथा कर्म-क्षय करने के लिए उद्यत देवता और राक्षस नहीं कर सकते ।।७०।। द्विजगण ! पृथिवी पर भारत के समान कोई वर्ष नहीं है, जहाँ ब्राह्मण आदि वर्ण अभिलषित फल प्राप्त करते हैं ।।७१।। वे उत्तम मनुष्य धन्यवाद के पात्र हैं, जो भारतवर्ष में जन्म लेकर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्राप्त करते हैं ।।७२।। भारतवर्ष में तपस्या, सर्वदान, सर्वयज्ञ, तीर्थयात्रा, गुरुसेवा, देवता-आराधन और स्वाध्याय का परम दुर्लभ फल प्राप्त होता है ।।७३-७४।। इस वर्ष में सुन्दर जन्म पाने के लिए देवतागण उत्कण्ठित रहते हैं। द्विजवर्य ! नानाव्रत, नानाशास्त्र, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वनवास, संन्यास, इष्टापूर्त (यज्ञ-विशेष) तथा दूसरे शुभकर्मों का फल भारतवर्ष से अन्यत्र कहीं नहीं मिलता ।।७५-७७½।। द्विजगण ! भारत के अखिल गुणों का वर्णन कौन कर सकता है ? ।।७८।। इस प्रकार सब

---

[1] क. ०णे वै पुराभासा पू० । ख. ०णे च पुरी चास्य पू० । [2] ख. ०गपक्षा० । [3] क. ०जाः । नानातत्त्वफ० । [4] क. धनधान्यवि० । ख. धनबु० ।

य इदं शृणुयान्नित्यं पठेद्वा[1] नियतेन्द्रियः । [2]सर्व्वपापैर्विनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥८०॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे भारतवर्षानुकीर्त्तनं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

तत्रादौ कोणादित्यमाहात्म्यवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

तत्रास्ते भारते वर्षे दक्षिणोदधिसंस्थितः[3] । ओण्ड्रदेश इति ख्यातः स्वर्गमोक्षप्रदायकः ॥१॥
समुद्रादुत्तरं[4] तावद्यावद्विरजमण्डलम्। देशोऽसौ[5] पुण्यशीलानां गुणैः सर्व्वैरलङ्कृतः ॥२॥
तत्र देशप्रसूता ये ब्राह्मणाः संयतेन्द्रियाः। तपःस्वाध्यायनिरता वन्द्याः पूज्याश्च ते सदा ॥३॥
श्राद्धे[6] दाने विवाहे च[7] यज्ञे वाचार्य्यकर्म्मणि। प्रशस्ताः सर्व्वकार्य्येषु[8] तत्रदेशोद्भवा द्विजाः ॥४॥
षट्कर्म्मनिरतास्तत्र ब्राह्मणा वेदपारगाः । इतिहासविदश्चैव पुराणार्थविशारदाः ॥५॥

पापों को हरने वाले, बुद्धि को बढ़ाने वाले, स्तुत्य, पवित्र तथा उत्तम भारतवर्ष का वर्णन मैंने कर दिया ॥७९॥ जो व्यक्ति इन्द्रियों को वश में करके इस आख्यान का नित्य श्रवण या पठन करेगा, वह सब पापों से रहित होकर विष्णु-लोक को प्राप्त करेगा ॥८०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा तथा ऋषियों के संवाद-प्रकरण में भारतवर्षानुकीर्तन नामक
सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त ॥२७॥

अध्याय २८

कोणादित्य का माहात्म्य-वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—भारतवर्ष में दक्षिण समुद्र के समीप स्वर्ग-मोक्षदायक ओण्ड्र देश विख्यात है ॥१॥ समुद्र से उत्तर विरजमण्डल तक सब गुणों से विभूषित पुण्यात्मा मनुष्यों का निवास ओण्ड्र देश है ॥२॥ उस देश के ब्राह्मण जितेन्द्रिय, तप और स्वाध्याय में निरत, वन्दनीय एवम् पूज्यनीय होते हैं ॥३॥ वे ब्राह्मण श्राद्ध, दान, विवाह यज्ञ या आचार्यकर्म तथा सब कार्यों में प्रशस्त माने जाते हैं ॥४॥ वे षट्शास्त्री, वेदपारंगत, इतिहास-वेत्ता, पुराण-विशारद, सर्वशास्त्र-कुशल, यज्ञ-कर्त्ता, ईर्ष्यारहित, स्त्री-पुत्र-धन से युक्त, दाता तथा सत्यवादी हैं। उनमें से कोई अग्निहोत्री

---

१ क.ख. जपेद्वा। २क. ०पापविनि। ३क. ०तः। भद्रदे०। ४क. ०रं यावद्भद्रेति जयम०। ख. रंयावद्रम्यं विर०। ५ख. ०सौ गुणशी०। ६क. श्राद्धकाले वि०। ७क. च ये ज्ञेयाः पुण्यक०। ८क. ०र्वयज्ञेषु।

सर्व्वशास्त्रार्थकुशला यज्वानो[१] वीतमत्सराः । अग्निहोत्ररताः केचित् केचित् स्मार्त्ताग्नितत्पराः ।।६।।
पुत्रदारधनैर्युक्ता दातारः[२] सत्यवादिनः। निवसन्त्युत्कले पुण्ये यज्ञोत्सवविभूषिते ।।७।।
इतरेऽपि त्रयो वर्णाः क्षत्रियाद्याः सुसंयताः । [३]स्वकर्म्मनिरताः शान्तास्तत्र तिष्ठन्ति धार्म्मिकाः[४] ।।८।।
कोणादित्य इति ख्यातस्तस्मिन् देशे[५] व्यवस्थितः[६] । यं दृष्ट्वा भास्करं मर्त्यः सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ।।९।।

मुनय ऊचुः

श्रोतुमिच्छाम तद्ब्रूहि क्षेत्रं सूर्य्यस्य साम्प्रतम् । तस्मिन् देशे सुरश्रेष्ठ यत्रास्ते स दिवाकरः ।।१०।।

ब्रह्मोवाच

लवणस्योदधेस्तीरे पवित्रे सुमनोहरे । सर्व्वत्र वालुकाकीर्णे देशे सर्व्वगुणान्विते ।।११।।
चम्पकाशोकबकुलैः करवीरैः सपाटलैः । पुन्नागैः कर्णिकारैश्च वकुलैर्नागकेसरैः ।।१२।।
तगरैर्धवबाणैश्च अतिमुक्तैः सकुब्जकैः । मालतीकुन्दपुष्पैश्च तथान्यैर्मल्लिकादिभिः ।।१३।।
[७]केतकीवनखण्डैश्च[८] [९]सर्व्वर्त्तुकुसुमोज्ज्वलैः । [१०]कदम्बैर्लकुचैः शालैः पनसैर्देवदारुभिः ।।१४।।
सरलैर्मुचुकुन्दैश्च[११] चन्दनैश्च सितेतरैः। अश्वत्थैः सप्त पर्णैश्च आम्रै राम्रातकैस्तथा ।।१५।।
तालैः पूगफलैश्चैव नारिकेलैः कपित्थकैः । अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः सर्व्वतः समलङ्कृतम्[१२] ।।१६।।
क्षेत्रं तत्र रवेः पुण्यमास्ते जगति विश्रुतम् । समन्ताद्योजनं साग्रं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।।१७।।

(वैदिक कर्म करने वाले) हैं तो कोई स्मार्त-अग्नि-निरत (स्मृति विहित कर्म करने वाले) हैं। उस पवित्र देश में नित्य यज्ञ-उत्सव होता रहता है।।५-७।। वहाँ ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण भी अपने-अपने कर्म में निरत, संयमी, शान्त तथा धर्मात्मा होकर वास करते हैं।।८।। उस देश में व्यवस्थित 'कोणादित्य' नाम से प्रसिद्ध सूर्य को देखने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है।।९।।

मुनियों के कहा—संप्रति हम लोग उस सूर्य के क्षेत्र का वर्णन सुनना चाहते हैं। हे सुर-श्रेष्ठ ! उस स्थान के वारे में कहिये, जहाँ वे सूर्य रहते हैं।।१०।।

ब्रह्मा बोले—लवण-समुद्र के पवित्र, मनोहर, सर्वगुणसम्पन्न तथा बालू से परिपूर्ण तट पर चम्पा, अशोक,, मौलसिरी, करवीर, पाटला, पुंनाग, कनकचम्पा, नागकेसर, तगर, धव, अतिमुक्त, कुब्जक, मालती, कुन्द, मल्लिका, केवड़ा, कदम्ब, बड़हर, साखू, कटहल, देवदारु, सरल, मुचुकुन्द, चन्दन, अश्वत्थ, सप्तपर्ण, आम्र, इमली, ताल, सुपारी, नारियल, कैथा और अनेक प्रकार के दूसरे वृक्षों से विभूषित, पवित्र तथा जगत्प्रसिद्ध सूर्य का क्षेत्र है।।११-१६½।। जो चारों तरफ एक-एक योजन विस्तृत एवम् भोग-मोक्ष के फल को देने वाला है। वहाँ साक्षात्

१क. ज्ञानिनो । २ख. होतारः । ३क.ख. स्वधर्म० । ४क. ०काः । कर्णादि० । ५ख. न्देवोदिवाकरः । यं० । ६क. मुनीश्वराः । ७ख. ०कीबाणरव० । ८ख. ०श्च बकुलैर्नागकेसरैः । क० । ९क. ०र्वत्र कु० । १०क. कदम्ब-बकुलाशोकैः प० । ११क. ०श्च मुक्तकैरसितैः परैः । अ० १२क. ०कृते । क्षे० ।

आस्ते तत्र स्वयं देवः सहस्रांशुर्दिवाकरः । कोणादित्य इति ख्यातो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः[१] ।।१८।।
माघे मासि सिते पक्षे सप्तम्यां संयतेन्द्रियः । कृतोपवासो यत्रैत्य स्नात्वा तु मकरालये ।।१९।।
कृतशौचो विशुद्धात्मा स्मरन् देवं दिवाकरम् । सागरे विधिवत् स्नात्वा[२] शर्व्वर्य्यन्ते समाहितः ।।२०।।
देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन् सन्तर्प्य च द्विजाः । उत्तीर्य्य वाससी धौते परिधाय [३]सुनिर्म्मले ।।२१।।
आचम्य प्रयतो भूत्वा तीरे तस्य महोदधेः । उपविश्योदये काले प्राङ्मुखः सवितुस्तदा ।।२२।।
विलिख्य पद्मं मेधावी रक्तचन्दनवारिणा । अष्टपत्रं केसराढ्यं [४]वर्त्तुलं[५] चोर्ध्वकर्णिकम् ।।२३।।
तिलतण्डुलतोयञ्च रक्तचन्दनसंयुतम् । रक्तपुष्पं[६] सदर्भञ्च प्रक्षिपेत्ताम्रभाजने ।।२४।।
ताम्राभावेऽर्कपत्रस्य पुटैः कृत्वा तिलादिकम् । पिधाय तन्मुनिश्रेष्ठाः पात्रं पात्रेण विन्यसेत्[७] ।।२५।।
करन्यासाङ्गविन्यासं कृत्वाङ्गैर्हृदयादिभिः । आत्मानं भास्करं[८] ध्यात्वा सम्यक् [९]श्रद्धासमन्वितः[१०] ।।२६।।
मध्ये चाग्निदले धीमान्नैर्ऋते श्वसने दले । कामारिगोचरे चैव पुनर्मध्ये च पूजयेत् ।।२७।।
प्रभूतं विमलं सारमाराध्यं परमं सुखम्[११] । सम्पूज्य पद्ममावाह्य गगनात्तत्र भास्करम् ।।२८।।
कर्णिकोपरि संस्थाप्य ततो [१२]मुद्रां [१३]प्रदर्शयेत् । कृत्वा स्नानादिकं सर्व्वं ध्यात्वा तं सुसमाहितः ।।२९।।
सितपद्मोपरि [१४]रविं [१५]तेजोबिम्बे व्यवस्थितम् । पिङ्गाक्षं द्विभुजं रक्तं [१६]पद्मपत्रारुणाम्बरम्[१७] ।।३०।।

सहस्र किरणधारी सूर्य रहते हैं, जो कोणादित्य नाम से प्रसिद्ध तथा भोग-मोक्ष-दायक हैं।। १७-१८।। माघ मास के शुक्ल पक्ष की सप्मती तिथि में वहाँ जाकर जितेन्द्रिय होकर मनुष्य उपवासपूर्वक समुद्र में स्नान करे। स्नान के बाद शुद्ध चित्त से सूर्य का ध्यान करे। रात के अन्त में सावधान होकर विधिपूर्वक समुद्र में स्नान करे ।।१९-२०।। देवता, ऋषि और मनुष्यों का तपर्ण कर दो स्वच्छ वस्त्रों को धारण करे।।२१।। उसी समुद्र के तट पर आचमन से पवित्र होकर सूर्योदय काल में पूर्व की ओर मुख करके बैठ जाये।।२२।। फिर विद्वान् व्यक्ति लाल चन्दन मिश्रित जल से आठ पत्तों वाले, केसर (फूलों के बीच के पतले २ सींके) से परिपूर्ण, गोलाकार और ऊपर की ओर कर्णिका (करन फूल) के समान कमल को लिखकर तिल, चावल, जल, रक्तचन्दन, रक्तपुष्प और कुश को ताँबे के पात्र में रखे।।२३-२४।।

मुनिवर्य ! ताँबे के अभाव में आक के पत्ते के दोने में तिल आदि रखे और हे मुनीन्द्रो ! उस पात्र को दूसरे पात्र से ढककर न्यास करे ।।२५।। फिर हृदय आदि अंगों में अङ्गन्यास तथा करन्यास अच्छी तरह करके श्रद्धापूर्वक सूर्य का ध्यान करे ।।२६।। विद्वान् मनुष्य मध्यदल में, अग्नि, नैर्ऋत, ईशान तथा वायु कोण के दल में और फिर मध्य दल में पूजा करे।।२७।। पश्चात् प्रभुत, विमल, सार, आराध्य और परम सुख कमल को पूजकर आकाश से सूर्य का आवाहन करे ।।२८।। कर्णिका (कमल का छत्ता) के ऊपर स्थापित कर मुद्रा प्रदर्शित करे । स्नान के अनन्तर सावधान मन से स्वच्छ कमल के ऊपर तेजोमंडल में स्थित, पीत नेत्रवाले, दो भुजाओं वाले,

---

१क. ख. ०क्तिप्रदायकः । मा० । २क. ख. ०त्वा सर्वेन्द्रियस० । ३क. विनिर्मले । ४ग. बहुलं । ५क. ०लं चैकक० । ६ग. ०ष्पं च द० । ७ख. ०त् । अंगन्यासंकरन्यासं । ८क. ख. ०रं स० । ९क. ख. ०द्धाभावस० । १०क. ०तः । अर्चयेदग्निसांनिध्ये ग्रहांश्चैव सभास्करान् । ईशानकोणगं तं च पु० । ११क. विभुम् । १२ क. मुद्राः । १३ख. प्रदापयन् । १४ख. ०विं तोये तत्र व्य० । १५क. ०जोमूर्तिं सनातनम् । १६ख.ग. ०ब्रह्स्तारु० । १७ख. ०रुणं रविम् ।

सर्व्वलक्षणसंयुक्तं सर्व्वाभरणभूषितम् । सुरूपं वरदं शान्तं प्रभामण्डलमण्डितम् ।।३१।।
उद्यन्तं[1] भास्करं दृष्ट्वा सान्द्रसिन्दूरसन्निभम् । [2]ततस्तत्पात्रमादाय जानुभ्यां धरणीं गतः ।।३२।।
कृत्वा शिरसि तत्पात्रमेकचित्तस्तु [3]वाग्यतः । त्र्यक्षरेण तु मन्त्रेण सूर्य्यायार्घ्यं निवेदयेत् ।।३३।।
अदीक्षितस्तु तस्यैव नाम्नैवार्घ्यं[4] प्रयच्छति । श्रद्धया भावयुक्तेन भक्तिग्राह्यो रविर्यतः ।।३४।।
अग्निनिर्ऋतिवाय्वीशमध्यपूर्व्वादिदिक्षु च । हृच्छिरश्च शिखावर्मनेत्राण्यस्त्रञ्च पूजयेत् ।।३५।।
दत्त्वार्घ्यं गन्धधूपञ्च दीपं नैवेद्यमेव च । जप्त्वा स्तुत्वा[5] नमस्कृत्वा मुद्रां बद्ध्वा विसर्ज्जयेत् ।।३६।।
ये वार्घ्यं सम्प्रयच्छन्ति सूर्य्याय नियतेन्द्रियाः । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियाः शूद्राश्च[6] संयताः ।।३७।।
भक्तिभावेन सततं विशुद्धेनान्तरात्मना । ते भुवत्वाभिमतान् कामान् प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ।।३८।।
त्रैलोक्यदीपकं देवं भास्करं गगनेचरम् । [7]ये [8]संश्रयन्ति मनुजास्ते[9] स्युः [10]सुखस्य[11] भाजनम् ।।३९।।
यावन्न [12]दीयते चार्घ्यं [13]भास्कराय यथोदितम्[14] । तावन्न पूजयेद्विष्णुं शङ्करं वा सुरेश्वरम् ।।४०।।
तस्मात् प्रयत्नमास्थाय दद्यादर्घ्यं दिने दिने । आदित्याय [15] शुचिर्भूत्वा पुष्पैर्गन्धैर्मनोरमैः ।।४१।।
एवं ददाति यश्चार्घ्यं सप्तम्यां सुसमाहितः । आदित्याय शुचिः स्नातः स लभेदीप्सितं फलम् ।।४२।।

लाल कमल के समान अरुण वस्त्र धारी, सर्वलक्षण-संपन्न, सब आभूषणों से विभूषित, सुन्दर रूप वाले, वर देनेवाले, शान्त और प्रभा-मंडल से मंडित सूर्य का ध्यान और पूजन करे।।२९-३१।। फिर सघन सिन्दूर के समान उदित होते हुए सूर्य को देखकर पूर्वोक्त पात्र को ग्रहण करे और घुटने टेककर उस पात्र को मस्तक पर रखकर वाक्संयमी तथा सावधान हो तीन अक्षर वाले मंत्र से सूर्य को अर्घ दे ।।३२-३३।। अदीक्षित मनुष्य केवल सूर्य का नाम लेकर अर्घ दे; क्योंकि सूर्य श्रद्धा, भाव और भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं।।३४।। अग्नि, निर्ऋति, वायु, ईशान, मध्य और पूर्व आदि दिशाओं में हृदय, सिर, शिखा, नेत्र, कवच और अस्त्र की भी पूजा करे ।।३५।। अर्घ, गन्ध, धूप, दीप और नैवेद्य देकर जप, स्तुति और नमस्कार करके मुद्रा बाँधकर विसर्जन करे ।।३६।। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संयमी होकर भक्ति भाव तथा विशुद्ध मन से सतत सूर्य को अर्घ प्रदान करते हैं, वे अभिलषित भोगों को भोगकर उत्कृष्ट गति को प्राप्त करते हैं ।।३७-३८।। जो मनुष्य तीनों लोक को प्रकाशित करने वाले आकाशविहारी सूर्यदेव की उपासना करते हैं, वे सुखों के भोक्ता होते हैं ।।३९।। जब तक सूर्य को यथा विहित अर्घ न दिया जाय तब तक विष्णु, शंकर या इन्द्र की पूजा नहीं की जा सकती ।।४०।। इसलिए प्रतिदिन पवित्र होकर सुन्दर पुष्प-गन्ध आदि से यत्नपूर्वक सूर्य को अर्घ देना चाहिए ।।४१।। इस प्रकार सप्तमी तिथि को स्नान करके पवित्र तथा सावधान होकर जो सूर्य को अर्घ देता है, वह मनोवांछित फल प्राप्त करता है।।४२।। सूर्यार्घ्य देने से रोगी

---

१ ख. ऊर्ध्वगं। २ख. ०स्तप्तार्यमा०। ३क. ०तः। षडक्षरेण म०। ४क. नाम्नाऽऽवाह्य प्रपूजयेत्। श्र०। ५ख. जपित्वा। ६क. ०द्राः सुसं०। ७ख. ये च स्मरन्ति। ८ग. पूजयन्ति। ९ग. ०स्ते सर्वे सु०। १०क. सुखभागिनः। ११ग. ०खभागिनः। या०। १२क. ०ते भक्त्या भा०। १३क. ०रायार्घ उत्तमः। ता०। १४ख. निवेदितम्। १५क. ख. शुचिःस्ना०।

रोगाद्विमुच्यते रोगी वित्तार्थी लभते धनम् । विद्यां प्राप्नोति विद्यार्थी सुतार्थी पुत्रवान् भवेत् ।।४३।।
यं यं काममभिध्यायन् सूर्य्यायार्घ्यं प्रयच्छति । तस्य तस्य फलं सम्यक् प्राप्नोति पुरुषः [1]सुधीः ।।४४।।
स्नात्वा[2] वै सागरे दत्त्वा सूर्य्यायार्घ्यं प्रणम्य च । नरो वा यदि वा नारी सर्व्वकामफलं लभेत्[4] ।।४५।।
ततः सूर्य्यालयं गच्छेत् पुष्पमादाय वाग्यतः[5] । प्रविश्य पूजयेद्भानुं कृत्वा तु[6] त्रिः प्रदक्षिणम् ।।४६।।
पूजयेत् परया भक्त्या कोणार्कं मुनिसत्तमाः । गन्धैः पुष्पैस्तथा[7] [8]दीपैर्धूपै [9]नैवेद्यकै[10] रपि ।।४७।।
दण्डवत् प्रणिपातैश्च जयशब्दैस्तथा स्तवैः[11] । एवं सम्पूज्य तं देवं सहस्रांशुं [12]जगत्पतिम् ।।४८।।
दशानामश्वमेधानां फलं प्राप्नोति मानवः । सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो युवा [13]दिव्यवपुर्नरः ।।४९।।
[14]सप्तावरान् सप्त[15] परान् वंशानुद्धृत्य भो द्विजाः । विमानेनार्कवर्णेन कामगेन सुवर्च्चसा ।।५०।।
उपगीयमानो गन्धर्व्वैः सूर्य्यलोकं स गच्छति । भुक्त्वा तत्र वरान् भोगान् यावदाभूतसंप्लवम् ।।५१।।
पुण्यक्षयादिहायातः प्रवरे योगिनां कुले । चतुर्व्वेदो[16] भवेद्विप्रः[17] स्वधर्म्मनिरतः[18] शुचिः ।।५२।।
योगं विवस्वतः[19] प्राप्य ततो मोक्षमवाप्नुयात् । चैत्रे मासि सिते पक्षे यात्रां मदनभञ्जिकाम् ।।५३।।
यः करोति नरस्तत्र पूर्व्वोक्तं स फलं लभेत् । शयनोत्थापने भानोः संक्रान्त्यां विषुवायने ।।५४।।

रोग से मुक्त हो जाता है धनार्थी धन, विद्यार्थी विद्या एवम् पुत्रार्थी पुत्र प्राप्त करता है ।।४३।। जो विद्वान् पुरुष मन में जिस इच्छा को रखकर सूर्य को अर्घ देता है, उसकी वह इच्छा भली भाँति पूर्ण होती है ।।४४।। पुरुष या स्त्री—जो कोई समुद्र में स्नान कर सूर्य को प्रणाम करके अर्घ देता है, उसकी सब कामनाएँ पूरी होती हैं ।।४५।। तदुपरान्त सूर्य-मन्दिर में मौन होकर हाथ में पुष्प लेकर सूर्य की तीन बार प्रदक्षिणा कर पूजा करे ।।४६।। मुनिवर्य ! गन्ध-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य से श्रद्धा-भक्ति पूर्वक कोणार्क सूर्य की पूजा करनी चाहिए ।।४७।। द्विजगण ! दण्डवत् प्रणाम, जय शब्द के उच्चारण एवम् स्तुति से पूर्व कथित विधि के अनुसार सहस्रांशु जगत्पति सूर्य की पूजा कर मनुष्य दस अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त करता है और सब पापों से मुक्त होकर दिव्य देहधारी युवक बन जाता है ।।४८-४९।। उसकी आगे की सात पीढ़ी तथा बाद की सात पीढ़ी का उद्धार हो जाता है। और अन्त में वह सूर्य के समान तेजस्वी तथा इच्छागामी विमान में स्थित होकर गन्धर्वों से प्रशंसित होता हुआ सूर्यलोक को प्राप्त करता है ।।५०½।। वहाँ बहुत दिनों तक उत्तम भोगों को भोगकर पुण्य-क्षय होने पर मर्त्यलोक में योगियों के उत्तम कुल में जन्म लेकर चारों वेदों का ज्ञाता, स्वधर्मपरायण तथा पवित्र ब्राह्मण होकर सूर्य से योग को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता है ।।५१-५२½।। चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में जो मनुष्य काम को नष्ट करनेवाली कोणार्क की यात्रा करता है, वह पूर्वोक्त फल को प्राप्त करता है ।।५३½।। विप्रवृन्द ! सूर्य के शयन, उत्थापन,

---

१ ख. परम् । २ क. स्नात्वैवं सा० । ख. स्नात्वैव सा० । ३ क.ख. ०यार्घं प्र० । ४ क.ख. ०त् । पूर्वं गंगाम्भसा स्नात्वा कुशैर्वाऽऽसिच्य मूर्धनि । सर्वपापविनिर्मुक्तो नरो याति त्रिविष्टपम् । तं० । ५ क. सत्वरः । ६ क. तं । ७ ख. ०था धू० । ८ क. ०पैर्नै० । ९ ख. ०पैर्दीपैर्नैवेद्यकैर्द्विजाः । द० । १० क. ०वेद्यैर्विविधैस्तथा । द० । ११ क. ख. परैः । १२ क. दिवाकरम् । १३ ख. ०व्यरुचिर्न० । १४ ग. ०प्तापरा० । १५ क. ०प्तपूर्वान्वं० । १६ ख. ग. ०वैदीभ० । १७ क. ख. ०प्रः सर्वध० । १८ क. र्मवहःशु० । १९ ख. देवापतः ।

वारे रवेस्तिथौ[१] चैव पर्व्वकालेऽथवा द्विजाः । ये तत्र यात्रां कुर्व्वन्ति श्रद्धया संयतेन्द्रियाः ॥५५॥
विमानेनार्कवर्णेन सूर्य्यलोकं व्रजन्ति ते । आस्ते तत्र महादेवस्तीरे[२] नदनदीपतेः ॥५६॥
रामेश्वर इति ख्यातः सर्व्वकामफलप्रदः । ये[३] तं पश्यन्ति कामारिं स्नात्वा सम्यङ्महोदधौ ॥५७॥
गन्धैः पुष्पैस्तथा धूपैर्दीपैर्नैवेद्यकैर्व्वरैः । प्रणिपातैस्तथा [४]स्तोत्रैर्गीतैर्वाद्यैर्मनोहरैः[५] ॥५८॥
राजसूयफलं सम्यग्वाजिमेधफलं तथा । प्राप्नुवन्ति [६]महात्मानः संसिद्धिं परमां तथा ॥५९॥
कामगेन विमानेन किङ्किणीजालमालिना । उपगीयमाना गन्धर्व्वैः शिवलोकं व्रजन्ति ते ॥६०॥
आभूतसंप्लवं यावद्भुक्त्वा भोगान्मनोरमान् । पुण्यक्षयादिहागत्य[७] चातुर्व्वेदा भवन्ति ते ॥६१॥
शाङ्करं योगमास्थाय ततो मोक्षं व्रजन्ति ते । यस्तत्र[८] सवितुः क्षेत्रे प्राणांस्त्यजति मानवः ॥६२॥
स सूर्य्यलोकमास्थाय[९] देववन्मोदते दिवि[१०] । पुनर्मानुषतां[११] प्राप्य राजा भवति धार्म्मिकः ॥६३॥
योगं रवेः समासाद्य ततो मोक्षमवाप्नुयात् । एवं मया मुनिश्रेष्ठाः[१२] प्रोक्तं क्षेत्रं सुदुर्लभम् ॥६४॥
कोणार्कस्योदधेस्तीरे[१३] भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥६५॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे स्वयम्भुऋषिसंवादे कोणादित्यमाहात्म्यकीर्त्तनं
नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

संक्रान्ति, उत्तरायण, रविवार तथा सप्तमी तिथि में, अथवा पर्वकाल में जो मनुष्य इन्द्रियों का संयमन कर श्रद्धापूर्वक वहाँ की यात्रा करते हैं, वे सूर्य सदृश वर्णवाले विमान में बैठकर सूर्यलोक को जाते हैं ॥५४-५५½॥ उसी के निकट समुद्र-तट पर सब कामनाओं का फल देनेवाले रामेश्वर नाम से प्रख्यात महादेव हैं ॥५६॥ जो मनुष्य समुद्र में अच्छी तरह स्नान कर उन महादेव के दर्शन करते हैं एवम् गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, प्रणाम, स्तोत्र और सुन्दर गीत-वाद्यों से उनकी पूजा करते हैं, वे महात्मा राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के फल तथा परम सिद्धि को प्राप्त करते हैं और इच्छानुकूल गमन करनेवाले किंकिणी-जाल से विभूषित विमान पर चढ़कर गन्धर्वों द्वारा प्रशंसित होते हुए शिव-लोक को जाते हैं ॥५७-६०॥ वहाँ बहुत दिनों तक उत्तम भोगों को भोगकर पुण्य-क्षय होने पर फिर इस लोक में आते हैं और चारों वेदों के ज्ञाता होकर शांकर योग में आस्था रखते हुए मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥६१½॥ जो मनुष्य उस सूर्य-क्षेत्र में प्राणत्याग करता है, वह सूर्यलोक में जाकर स्वर्ग में देवता के समान आनन्द प्राप्त करता है ॥६२½॥ और फिर वह मनुष्य-योनि में आकर धर्मात्मा राजा होता है और सूर्य-योग को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता है ॥६३½॥ मुनिवर्य ! इस प्रकार मैंने परम दुर्लभ, भोग-मोक्ष के फलदायक तथा समुद्र तट पर स्थित कोणार्क-क्षेत्र का वर्णन कह सुनाया ॥६४-६५॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषियों के संवाद-प्रकारण में कोणादित्य-माहात्म्यवर्णन
नामक अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥२८॥

---

१ क. ख. रवेः स्थितश्चैव । २ ख. ०रे नद्याः सुखेन वै ०रा० । ३ ख. ये पूजयन्ति देवेशं स्ना० । ४ ख. ०त्रैर्गानैर्वा० । ५ ख. ०नोरमैः । रा० । ६ क. ०नः सिध्यन्ति नियमास्तथा । ७ क. ०हायाताः शिवलोकं व्रजन्ति । ८ क. यश्चात्र । ९ क. ख. ०मासाद्य दे० । १० क. ख. चिरम् । ११ क. ०नुष्यके प्रा० । १२ क. ०श्रेष्ठा यथावद्गदितं हितम् । १३ क. ०रे माहात्म्यं मुक्तिदं नृणाम् ।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

तत्रादौ सूर्यपूजाप्रकरणम्

मुनय ऊचुः

श्रुतोऽस्माभिः सुरश्रेष्ठ भवता यदुदाहृतम् । भास्करस्य परं क्षेत्रं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।।१।।
न तृप्तिमधिगच्छामः शृण्वन्तः सुखदां कथाम् । तव वक्त्रोद्भवां पुण्यामादित्यस्याघनाशिनीम् ।।२।।
अतः परं सुरश्रेष्ठ ब्रूहि नो वदतांवर । देवपूजाफलं यच्च यच्च दानफलं प्रभो ।।३।।
प्रणिपाते नमस्कारे तथा चैव प्रदक्षिणे । दीपधूपप्रदाने च सम्मार्ज्जनविधौ च यत् ।।४।।
उपवासे च यत् पुण्यं यत् पुण्यं [1]नक्तभोजने । अर्घ्यश्च कीदृशः प्रोक्तः[2] कुत्र वा संप्रदीयते ।।५।।
कथञ्च क्रियते भक्तिः कथं देवः प्रसीदति । एतत् सर्व्वं सुरश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।।६।।

ब्रह्मोवाच

अर्घ्यं पूजादिकं सर्व्वं भास्करस्य द्विजोत्तमाः । भक्तिं श्रद्धां[3] समाधिञ्च कथ्यमानं निबोधत ।।७।।
मनसा भावना [4]भक्तिरिष्टा श्रद्धा च कीर्त्यते । ध्यानं समाधिरित्युक्तं शृणुध्वं सुसमाहिताः ।।८।।
तत्कथां श्रावयेद् यस्तु तद्भक्तान्[5] पूजयेत वा । अग्निशुश्रूषकश्चैव स वै भक्तः सनातनः ।।९।।
तच्चित्तस्तन्मनाश्चैव देवपूजारतः सदा । तत्कर्म्मकृद्भवेद् यस्तु स वै भक्तः सनातनः ।।१०।।

अध्याय २९

सूर्य-पूजा का प्रकरण

मुनियों ने कहा—हे देवश्रेष्ठ ! आपसे वर्णित भोग-मोक्ष-फल-दायक सूर्य-क्षेत्र के बारे में हमने सब कुछ सुना ।।१।। पर आपके मुख से निःसृत सूर्य की पापनाशिनी, पवित्र तथा सुख-दायक कथा को सुनने से तृप्ति नहीं होती ।।२।। अतः वाग्विदांवर, प्रभो ! उस देव की पूजा का फल, दान का फल और प्रणाम, नमस्कार, प्रदक्षिणा, दीप-धूप-दान, मार्जन, उपवास तथा रात्रि-भोजन में जो पुण्य होता है, वह भी हमें बतलाइये ।।३-४$\frac{१}{३}$।। हे सुरश्रेष्ठ ! अर्घ कैसा होना चाहिये या कहाँ देना चाहिये, भक्ति कैसे की जाती है और वह देव कैसे प्रसन्न होते हैं—यह सब हम लोग सुनना चाहते हैं ।।५-६।।

ब्रह्मा बोले—द्विजवर्य ! सूर्य के अर्घ, पूजा, भक्ति, श्रद्धा, समाधि की पद्धति बतला रहा हूँ, आप लोग सुनें ।।७।। मन से की जाने वाली भावना ही इष्ट भक्ति और श्रद्धा कही गयी है। और ध्यान योग ही समाधि है। आप लोग सावधान होकर सुनें ।।८।। जो मनुष्य सूर्य की कथा को सुनायेगा या उनके भक्तों की पूजा करेगा तथा अग्निहोत्री होगा, वही सनातन भक्त कहा जायगा ।।९।। जो सदा सूर्य ही में अपने चित्त-मन को लगाता है, उन्हीं

---

[1] ख. ०ने। देवस्नानं कथं प्रोक्तं किं च वासः प्र०। [2] क. ०क्तः कीदृग्वासः प्र०। [3] क. स्तवं। [4] क. भक्तिः सदा। [5] ख. ०क्ताञ्श्रूयतस्तदा। अ०।

देवार्थे[1] क्रियमाणानि यः कर्म्माण्यनुमन्यते । कीर्त्तनाद्वा परो विप्राः स वै भक्ततरो नरः ।।११।।
नाभ्यसूयेत तद्भक्तान् न [2]निन्द्याच्चान्यदेवताम्[3] । आदित्यव्रतचारी च स वै भक्ततरो[4] नरः ।।१२।।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपञ्जिघ्रन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि । यः स्मरेद्भास्करं नित्यं स वै भक्ततरो नरः ।।१३।।
एवं विधा त्वियं भक्तिः सदा कार्य्या विजानता । भक्त्या समाधिना चैव [5]स्तवेन मनसा तथा[6] ।।१४।।
क्रियते नियमो यस्तु दानं विप्राय दीयते । प्रतिगृह्णन्ति तं देवा मनुष्याः पितरस्तथा ।।१५।।
पत्रं पुष्पं फलं तोयं [7]यद्भक्त्या समुपाहृतम् । प्रतिगृह्णन्ति तद्देवा नास्तिकान् वर्ज्जयन्ति च ।।१६।।
भावशुद्धिः प्रयोक्तव्या नियमाचारसंयुता । [8]भावशुद्धया क्रियते यत्तत् सर्व्वं सफलं भवेत्[9] ।।१७।।
स्तुतिजप्योपहारेण पूजयापि विवस्वतः । उपवासेन भक्त्या[10] वै सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ।।१८।।
प्रणिधाय शिरो भूम्यां नमस्कारं करोति यः । तत्क्षणात् सर्व्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ।।१९।।
भक्तियुक्तो नरो योऽसौ रवेः कुर्यात् प्रदक्षिणाम् । प्रदक्षणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा ।।२०।।
सूर्य्यं) मनसि यः कृत्वा कुर्य्याद्व्योमप्रदक्षिणाम् । प्रदक्षिणीकृतास्तेन सर्व्वे देवा भवन्ति हि ।।२१।।
एकाहारो नरो भूत्वा षष्ठ्यां योऽर्च्चयते रविम् । नियमव्रतचारी च[11] भवेद्भक्तिसमन्वितः[12] ।।२२।।
सप्तम्यां वा महाभागाः सोऽश्वमेधफलं लभेत् । अहोरात्रोपवासेन पूजयेद् यस्तु भास्करम् ।।२३।।

की पूजा में निरत रहता है और उनके लिए कर्म करता है वह सनातन भक्त है ।।१०।। विप्रवृन्द ! देवता के निमित्त क्रियमाण कर्मों का जो अनुमोदन या कीर्तन करता है, वह मनुष्य महाभक्त है ।।११।। जो मनुष्य देव-भक्तों से ईर्ष्या नहीं रखता, अन्य देवता की निन्दा नहीं करता और सूर्य-व्रत को धारण करता है, वह महाभक्त है ।।१२।। जो मनुष्य जाते, स्थित होते, सोते, सूँघते और नेत्रों को खोलते तथा मीचते सूर्य का नित्य स्मरण करता है, वह महाभक्त है ।।१३।। विज्ञ पुरुष को इस प्रकार की भक्ति सदा करनी चाहिये। जो मनुष्य भक्ति, समाधि, स्तुति तथा मन से नियम करता है तथा ब्राह्मण को दान देता है, उसके दान को देवता, मनुष्य और पितर स्वीकार करते हैं ।।१४-१५।। पत्र, पुष्प, फल, जल—जो कुछ भी भक्तिपूर्वक सर्मपित किया जाता है, उसे देवता स्वीकार करते हैं। पर देवता नास्तिकों का दान स्वीकार नहीं करते ।।१६।। नियम और आचार पूर्वक भाव-शुद्धि होनी चाहिये। भाव-शुद्धि से जो कुछ भी किया जाता है, वह सब सफल होता है ।।१७।। सूर्य की पूजा, स्तुति, जप, उपहार और उपवास से मनुष्य सर्व-पाप-रहित हो जाता है ।।१८।। जो भूमि पर सिर रखकर सूर्य को नमस्कार करता है, उसके तत्काल सब पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई संशय नहीं ।।१९।। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक सूर्य की प्रदक्षिणा करता है, वह सातों द्वीप सहित पृथ्वी की प्रदक्षिणा का फल प्राप्त करता है ।।२०।। जो मन में सूर्य का ध्यान करके आकाश में प्रदक्षिणा करता है, वह सब देवताओं की प्रदक्षिणा करता है ।।२१।। जो मनुष्य एकाहार करके षष्ठी या सप्तमी तिथि में नियम, व्रत और भक्तिपूर्वक सूर्य की अर्चना करता है, वह अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है ।।२२$\frac{१}{३}$।। अहोरात्र

---

[1] ख. वेदार्थे। [2] ख. ०न्याद्वान्य०। [3] ख. ०वताः। आ०। [4] ख. ०क्तवरो जनः। ग०। [5] ख. शुद्धेन। [6] ख. ०था। देवमुद्दिश्य भास्वन्तं दा०। [7] ख. ०यं तत्सर्वं। [8] क. भावेन हि कृतं यच्च तत्स०। [9] क. ०त्। तनुनाप्युपचारे०। [10] ग. षष्ठ्यां। [11] क. ख. च रवेर्भक्ति०। [12] क. ०तः। कृष्ण०।

सप्तम्यामथवा षष्ठ्यां सा याति परमां गतिम् । कृष्णपक्षस्य सप्तम्यां[1] सोपवासो जितेन्द्रियः ॥२४॥
[2]सर्व्वरत्नोपहारेण पूजयेद् यस्तु भास्करम् । पद्मप्रभेण यानेन सूर्य्यलोकं स गच्छति ॥२५॥
शुक्लपक्षस्य सप्तम्यामुपवासपरो नरः । सर्व्वशुक्लोपहारेण पूजयेद्[3] यस्तु भास्करम् ॥२६॥
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तः सूर्य्यलोकं स गच्छति । अर्कसम्पुटसंयुक्तमुदकं प्रसृतं पिबेत्[4] ॥२७॥
क्रमवृद्ध्या [5]चतुर्व्विशमेकैकं क्षपयेत् पुनः । द्वाभ्यां संवत्सराभ्यान्तु समाप्तनियमो भवेत् ॥२८॥
सर्व्वकामप्रदा ह्येषा प्रशस्ता[6] ह्यर्कसप्तमी । शुक्लपक्षस्य सप्तम्यां यदादित्यदिनं भवेत् ॥२९॥
सप्तमी[7] विजया नाम तत्र दत्तं महत् फलम्[8] । स्नानं दानं तपो होम उपवासस्तथैव च ॥३०॥
सर्व्वं विजयसप्तम्यां[9] महापातकनाशनम् । ये चादित्यदिने प्राप्ते श्राद्धं कुर्व्वन्ति मानवाः ॥३१॥
यजन्ति[10] च महाश्वेतं ते लभन्ते यथेप्सितम् । येषां धर्म्याः[11] क्रियाः सर्व्वाः सदैवोद्दिश्य भास्करम् ॥३२॥
न कुले जायते तेषां दरिद्रो व्याधितोऽपि वा । श्वेतया रक्तया वापि पीतमृत्तिकयापि वा ॥३३॥
उपलेपनकर्त्ता तु चिन्तितं लभते फलम् । चित्रभानुं विचित्रैस्तु कुसुमैश्च सुगन्धिभिः ॥३४॥
पूजयेत् सोपवासो यः स कामानीप्सितांल्लभेत् । घृतेन दीपं प्रज्वाल्य तिलतैलेन वा पुनः ॥३५॥

उपवास करके जो सप्तमी या षष्ठी तिथि में सूर्य की पूजा करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है ॥२३½॥ कृष्ण पक्ष की सप्तमी में जो इन्द्रिय-संयमपूर्वक उपवास करके सब रत्नों के उपहार से सूर्य की पूजा करता है, वह कमल की-सी कान्ति वाले विमान से सूर्यलोक को जाता है ॥२४-२५॥ जो मनुष्य शुक्ल पक्ष की सप्तमी में उपवास करके सर्वथा स्वच्छ उपहार से सूर्य की पूजा करता है, वह सब पापों से मुक्त होकर सूर्य लोक को प्राप्त करता है ॥२६½॥ यदि चौबीस दिनों तक क्रमशः एक-एक की वृद्धि कर आक के दोने से प्रसृत जल पिये और फिर क्रमशः एक-एक का ह्रास करे तो दो वर्ष तक इस प्रकार करते रहने से नियम की समाप्ति हो जाने पर यह अर्क सप्तमी सब कामनाओं को देनेवाली होती है ॥२७-२७½॥ जब शुक्ल पक्ष की सप्तमी में रविवार पड़ जाता है तब वह विजया सप्तमी कहलाती है, उसमें दान देने से महाफल होता है। विजया सप्तमी में स्नान, दान, तप, होम और उपवास—ये सब भयंकर पापों का नाश करने वाले होते हैं ॥२८-३०½॥ जो मनुष्य रवि के दिन श्राद्ध तथा सूर्य की पूजा करते हैं, उन्हें मनोवांछित फल मिलता है ॥३१½॥ जिनकी सब क्रियाएँ धार्मिक तथा सूर्य को उद्देश्य करके होती हैं, उनके कुल में कोई दरिद्र या रोगी नहीं होता ॥३२½॥ श्वेत, रक्त या पीत मृत्तिका से जो सूर्यालय को लीपता है, वह अभिलषित फल प्राप्त करता है ॥३३½॥ चित्र-विचित्र प्रकार के फूलों तथा गन्धों से जो उपवासपूर्वक सूर्य की पूजा करता है, वह ईप्सित फल की प्राप्ति करता है ॥३४½॥ घृत या तिल के तेल से दीप जलाकर जो सूर्य की पूजा करता है, उसे कोई

---

[1] क. ०म्यां पूजयेद्योजि० । [2] क. ०रक्तोप० । [3] क. ०येद्यो दिवाकर० । [4] ग. ०त् । हरासवृ० । [5] ख. ग. ०शदेकै० । [6] क. प्रसिद्धा । [7] क. शर्वरी । [8] क. ०म् । प्रदानं जपहोमौ च उ० । [9] क. ०प्तम्यामनन्तफलदं स्मृतम् । [10] ग. जपन्ति । [11] ग. धर्माः ।

आदित्यं पूजयेद्यस्तु चक्षुषा न स हीयते । दीपदाता नरो नित्यं ज्ञानदीपेन दीप्यते ।।३६।।
[१]तिलाः पवित्रं[२] तैलं वा तिलगोदानमुत्तमम् । अग्निकार्य्ये च दीपे च महापातकनाशनम् ।।३७।।
दीपं ददाति यो नित्यं देवतायतनेषु च । चतुष्पथेषु रथ्यासु रूपवान् सुभगो भवेत् ।।३८।।
हविर्भिः प्रथमः कल्पो द्वितीयश्चोषधीरसैः । वसामेदोस्थिनिर्य्यासैर्न तु देयः कथञ्चन ।।३९।।
भवेदूर्द्ध्वगतिर्दीपो न कदाचिदधोगतिः[३] । दाता दीप्यति[४] चाप्येवं न [५]तिर्य्यग्गतिमाप्नुयात् ।।४०।।
ज्वलमानं[६] सदा दीपं न हरेन्नापि नाशयेत् । दीपहर्त्ता नरो बन्धं नाशं क्रोधं तमो व्रजेत् ।।४१।।
दीपदाता स्वर्गलोके दीपमालेव राजते । यः समालभते नित्यं कुङ्कुमागुरुचन्दनैः[७] ।।४२।।
सम्पद्यते नरः प्रेत्य धनेन[८] यशसा श्रिया । रक्तचन्दनसंमिश्रै रक्तपुष्पैः शुचिर्नरः ।।४३।।
उदयेऽर्घ्यं सदा दत्त्वा सिद्धिं संवत्सराँल्लभेत् । उदयात् परिवर्त्तेत यावदस्तमने स्थितः ।।४४।।
[९]जपन्नभिमुखः [१०]किञ्चिन्मन्त्रं स्तोत्रमथापि वा । आदित्यव्रतमेतत्तु महापातकनाशनम् ।।४५।।
अर्घ्येण [११]सहितञ्चैव सर्व्वं[१२] साङ्गं प्रदापयेत् । उदये श्रद्धया युक्तः सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ।।४६।।
सुवर्णधेन्वनडुहवसुधावस्त्रसंयुतम् । अर्घ्यप्रदाता लभते सप्तजन्मानुगं फलम् ।।४७।।

नेत्र विकार नहीं होता ।।३५½।। सूर्य को दीप दान देने से मनुष्य ज्ञान रूपी दीप प्राप्त करता है ।।३६।। तिल या तिल का तेल पवित्र होता है । (अतएव) तिल की गाय बनाकर दान करना उत्तम है । यह दान हवन तथा दीपदान के समय करने से महापातकों का विनाश करने वाला होता है ।।३७।। जो व्यक्ति नित्य देवालय में, चौराहे पर तथा गलियों में दीप देता है, वह रूपवान् तथा भाग्यवान् होता है ।।३८।। पहला पक्ष तो यह है कि घी से दीप जलाना चाहिये, दूसरा पक्ष-ओषधीरस अर्थात् तिल आदि के तेल से जलाये, लेकिन वसा, मेद और अस्थि के तेल से कदापि नहीं जलाना चाहिये ।।३९।। जिस प्रकार दीप की सदा ऊर्ध्वगति होती है, अधोगति कभी नहीं होती इसी तरह दीप-दाता तिर्यग् गति न प्राप्त कर ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है ।।४०।। जलते हुए दीपक का हरण तथा नाश कभी नहीं करना चाहिये । ऐसा करने पर मनुष्य बंधन, नाश, क्रोध और अन्धकार को प्राप्त होता है ।।४१।। जो व्यक्ति सूर्य को दीपदान देता है वह स्वर्ग में दीपमाला की तरह सुशोभित होता है । और जो मनुष्य नित्यप्रति कुङ्कुम, अगर तथा चन्दन से सूर्य की पूजा करता है, वह दूसरे जन्म में श्रीकीर्ति-वैभव संपन्न होता है ।।४२½।। एक वर्ष तक पवित्र होकर रक्त चन्दन मिश्रित रक्त पुष्प से उदयकाल में सूर्य को अर्घ देने से सिद्धि प्राप्त होती है ।।४३½।। सूर्य के उदय से अस्त होने तक सूर्य के सम्मुख सूर्य-मन्त्र या स्तोत्र का जो जप या पाठ किया जाता है वह महापापनाशन आदित्यव्रत कहलाता है ।।४४-४५।। सूर्योदय काल में जो मनुष्य श्रद्धा से सूर्य को अर्घ सहित धूप-दीप-नैवेद्य अर्पित करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है ।।४६।। सुवर्ण-निर्मित गाय, बैल एवं पृथिवी और वस्त्र सहित अर्घ देने वाला मनुष्य सात जन्मों तक फल प्राप्त करता रहता है ।।४७।। अग्नि, जल, आकाश,

---

१ख.ग. तिलं प० । २ ख. ०त्रं परमं ति० ग. ०त्रं परमं तिलानां दा० । ३ ख. ०तिः । दद्यादेतादृशं दीपं न । ४ क. दीपेन चात्यन्तं न । ५ क. ०र्यग्योनिमा० । ६ क. दीपदाता । ७ क. ख. ०नैः । स पूज्यते । ८ क. ०न च परश्रि० । ९ क. ०भिमतं किं० । १० क. ०चित्पात्रहस्तो नरः शुचिः । आ० । ११ ख. सहितां । १२ ख. सर्वेषां गां प्र० । ग. सवत्सांगां प्र० ।

अग्नौ तोयेऽन्तरिक्षे च शुचौ भूम्यां तथैव च । प्रतिमायां तथा [1]पिण्ड्यां [2]देयमर्घ्यं प्रयत्नतः ।।४८।।
नापसव्यं न सव्यञ्च दद्यादभिमुखः सदा । सघृतं गुग्गुलं वापि रवेर्भक्तिसमन्वितः ।।४९।।
तत्क्षणात् सर्व्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः । श्रीवासं चतुरस्रञ्च देवदारुं तथैव च ।।५०।।
कर्पूरागरुधूपानि दत्त्वा वै स्वर्गगामिनः । अयने तूत्तरे सूर्य्यमथवा दक्षिणायने ।।५१।।
पूजयित्वा विशेषेण सर्व्वपापैः प्रमुच्यते । विषुवेषूपरागेषु षडशीतिमुखेषु च ।।५२।।
पूजयित्वा विशेषेण सर्व्वपापैः प्रमुच्यते । एवं वेलासु [3]सर्व्वासु [4]सर्व्वकालञ्च मानवः ।।५३।।
भक्त्या[5] पूजयते योऽर्कं सोऽर्कलोके महीयते । कृसरैः पायसैः पूपैः [6]फलमूलघृतौदनैः ।।५४।।
वलिं [7]कृत्वा तु सूर्य्याय सर्व्वान् कामानवाप्नुयात् । घृतेन तर्पणं कृत्वा[8] सर्व्वसिद्धो भवेन्नरः ।।५५।।
क्षीरेण तर्पणं कृत्वा मनस्तापैर्न युज्यते । दध्ना तु तर्पणं कृत्वा कार्य्यसिद्धिं लभेन्नरः ।।५६।।
स्नानार्थमाहरेद् यस्तु जलं भानोः समाहितः । तीर्थेषु[9] शुचितापन्नः[10] स याति परमां गतिम् ।।५७।।
छत्रं ध्वजं वितानं वा पताकां चामराणि च । श्रद्धया भानवे दत्त्वा गतिमिष्टामवाप्नुयात् ।।५८।।
यद्यद्द्रव्यं नरो भक्त्या आदित्याय प्रयच्छति । तत्तस्य शतसाहस्रमुत्पादयति भास्करः ।।५९।।
मानसं वाचिकं वापि[11] कायजं यच्च दुष्कृतम् । सर्व्वं सूर्य्यप्रसादेन[12] तदशेषं व्यपोहति ।।६०।।

पवित्र भूमि, प्रतिमा और पीठ (चौकी या आसन) पर यत्नपूर्वक अर्घ देना चाहिए ।।४८।। अर्घ कभी भी दाहिनी तथा बायीं ओर न दे; बल्कि सदा ही अभिमुख होकर अर्घ देना चाहिए । गुग्गुल या घृत के साथ भक्तिपूर्वक सूर्यार्घ्य देने से मनुष्य निःसंदेह तत्काल सब पापों से मुक्त हो जाता है ।।४९½।। श्रीवास, देवदारू, कर्पूर, अगर और धूप चढ़ाने से मनुष्य स्वर्गगामी होता है ।।५०½।। उत्तरायण या दक्षिणायन में सूर्य की विशेष पूजा करने से मनुष्य के सब पाप दूर हो जाते हैं ।।५१½।। विषुव में (अर्थात् उस समय जब दिन-रात का मान बराबर होता है) ग्रहण काल में और षडशीतिमुख (तुला राशि से छियासी दिनों के समय) में सूर्य की विशेष पूजा करने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है ।।५२½।। इस प्रकार सब दिन सब समय भक्तिपूर्वक सूर्य की पूजा करके मनुष्य सूर्यलोक में पूजित होता है ।।५३½।। खीर, मालपुआ, फल, मूल, घृत और चावल से सूर्य को बलि देने से सब कामनाएँ पूरी होती हैं ।।५४½।। सूर्य को घृत का तर्पण करने से मनुष्य पूर्ण सिद्ध हो जाता है ।।५५।। दूध का तर्पण करने से मनस्ताप दूर होता है । दही से तर्पण करे तो कार्य-सिद्धि होती है ।।५६।। जो सावधान होकर सूर्य को स्नान कराने के लिए तीर्थ से पवित्रतापूर्वक जल लाता है, वह परम गति को प्राप्त करता है ।।५७।। सूर्य को छत्र, ध्वज, चँदोवा, पताका और चामर श्रद्धापूर्वक समर्पित कर मनुष्य वांछित गति को प्राप्त करता है ।।५८।। मनुष्य भक्तिपूर्वक सूर्य को जो द्रव्य दान करता है, उसे भगवान् सूर्य उसके दान से लाख गुना अधिक करके लौटा देते हैं ।।५९।। सूर्य की कृपा से कायिक, वाचिक और मानसिक त्रयताप और पाप, सभी नष्ट हो जाते हैं ।।६०।।

---

[1] ख. पुण्यं । [2] क. देयो अर्घः प्र० । [3] ख. ०सु भक्तिमान्मानवोत्तमः । भ० । [4] ग. सुवेलासु । [5] क. ०क्त्या सपूज्य तरणिं सूर्यलो० । [6] क. ख. पललोन्मिश्रितौदनैः । [7] ख. ०त्वा तर्पयेच्च स० । [8] क. त्वा म० । [9] क. तीर्थाद्वा शु० । [10] क. ०चितः स्थानात्स या० । [11] ख. ०पि कर्मणाऽघं च यत्कृत० । [12] क. ख. ०प्रणामेन ।

एकाहेनापि यद्भानोः पूजायाः प्राप्यते फलम् । यथोक्तदक्षिणैर्विप्रैर्न तत् क्रतुशतैरपि ।।६१।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे सूर्य्यपूजादि नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ।।२९।।

त्रिंशोऽध्यायः

आदित्यमाहात्म्यवर्णनम्

मुनय ऊचुः

अहो देवस्य माहात्म्यं श्रुतमेवं[1] जगत्पते । भास्करस्य सुरश्रेष्ठ वदतस्तेषु दुर्लभम् ।।१।।
भूयः प्रब्रूहि देवेश यत्[2] पृच्छामो जगत्पते । श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन् परं कौतूहलं हि नः ।।२।।
गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । य इच्छेन्मोक्षमास्थातुं देवतां कां यजेत सः ।।३।।
कुतो ह्यस्याक्षयः स्वर्गः कुतो निःश्रेयसं परम् । स्वर्गतश्चैव किं कुर्य्याद् येन न च्यवते पुनः ।।४।।
देवानां चात्र को देवः पितॄणाञ्चैव कः पिता । यस्मात् परतरं नास्ति तन्मे ब्रूहि सुरेश्वर ।।५।।
कुतः सृष्टमिदं विश्वं[3] सर्व्वं स्थावरजङ्गमम् । प्रलये च कमभ्येति तद्भवान् वक्तुमर्हति ।।६।।

सूर्य की एक दिन की पूजा से जो फल प्राप्त होता है, वह विधि-विधान सहित किये गये दक्षिणा पुरस्सर सौ यज्ञों से भी नहीं मिलता है ।।६१।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में सूर्य-पूजा-नियम-भक्ति-माहात्म्यवर्णन नामक उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२९।।

अध्याय ३०

आदित्य का माहात्म्य-वर्णन

मुनियों ने कहा—हे सुरश्रेष्ठ ! हे जगत्पते ! आपने सूर्यदेव का दुर्लभ माहात्म्य सुनाया, अब हमारी एक जिज्ञासा और है। हमें यह जानने की बड़ी उत्कण्ठा है कि गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी जो भी मोक्षार्थी हो वह किस देवता की उपासना करे।। १-३।। वह कौन-सा ऐसा कर्म है जिसे करने से मनुष्य स्वर्ग प्राप्त कर फिर वहाँ से च्युत नहीं होता है ।।४।। हे ब्रह्मन्, देवाधि-देव कौन है ? पितरों का पिता कौन है ? जिससे बढ़कर कुछ भी नहीं है, वह कौन है ? ।।५।। स्थावर-जंगम सहित संपूर्ण विश्व की सृष्टि किससे हुई ? प्रलयकाल में यह जगत् किसमें लीन होता है ? —यह सब हमें बतलाइये ? ।।६।।

---

१ ख. ०तमस्य ज० । २ ख. संपृच्छामो । ३ ख. ०श्वं ब्रह्मन्स्थाव० ।

ब्रह्मोवाच

[१]उद्यन्नेवैष कुरुते जगद्वितिमिरं करैः । नातः परतरो देवः कश्चिदन्यो द्विजोत्तमाः ॥७॥
अनादिनिधनो ह्येष[२] पुरुषः शाश्वतोऽव्ययः । तापयत्येष[३] त्री ँल्लोकान् भवन्रश्मिभिरुल्वणः ॥८॥
सर्व्वदेवमयो ह्येष तपतां[४] तपनो वरः । सर्व्वस्य जगतो नाथः सर्व्वसाक्षी जगत्पतिः[५] ॥९॥
संक्षिपत्येष भूतानि तथा विसृजते पुनः । एष भाति तपत्येष[६] वर्षत्येष गभस्तिभिः ॥१०॥
एष धाता विधाता च भूतादिर्भूतभावनः । न ह्येष क्षयमायाति नित्यमक्षयमण्डलः ॥११॥
पितॄणां च पिता ह्येष देवतानां हि देवता । ध्रुवं स्थानं[७] स्मृतं[८] ह्येतद् यस्मान्न च्यवते पुनः ॥१२॥
सर्गकाले जगत् कृत्स्नमादित्यात् सम्प्रसूयते[९] । प्रलये च तमभ्येति भास्करं दीप्ततेजसम् ॥१३॥
[१०]योगिनश्चाप्यसंख्यातास्त्यक्त्वा[११] गृहकलेवरम्[१२] । वायुर्भूत्वा[१३] विशन्त्यस्मिंस्तेजोराशौ दिवाकरे॥१४॥
अस्य रश्मिसहस्राणि शाखा इव विहङ्गमाः । वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह ॥१५॥
गृहस्था जनकाद्याश्च राजानो[१४] योगधर्म्मिणः । बालखिल्यादयश्चैव ऋषयो ब्रह्मवादिनः[१५] ॥१६॥
वानप्रस्थाश्च ये चान्ये व्यासाद्या[१६] भिक्षवस्तथा । योगमास्थाय सर्व्वे ते प्रविष्टाः सूर्य्यमण्डलम् ॥१७॥
शुको व्याससुतः श्रीमान्योगधर्म्ममवाप्य सः । आदित्यकिरणान् गत्वा ह्यपुनर्भावमास्थितः ॥१८॥

ब्रह्मा ने कहा—द्विजवर ! जो उदित होते हुए अपनी किरणों से संसार को अंधकार-रहित कर देता है, उससे बढ़कर कोई देव नहीं है ॥७॥ यही अनादि और अनन्त है; पुरुष, शाश्वत (नित्य) और अव्यय (नाशरहित) भी यही है; यही अपनी तीक्ष्ण रश्मियों से तीनों लोक को तपाता है ॥८॥ यह सर्वदेवमय, तपानेवालों में श्रेष्ठ, संपूर्ण जगत् का स्वामी, सब का साक्षी, जगत्पति, प्राणियों का संहारक तथा सृष्टिकर्ता, किरणों के द्वारा प्रकाश तथा वर्षा करने वाला, धाता, विधाता, भूतादि, भूतपालक, क्षयरहित और नित्य अक्षयमण्डल वाला है ॥९-११॥ यही पितरों का पिता, देवताओं का देवता और ध्रुव का अक्षय स्थान है क्योंकि यहाँ से फिर पतन नहीं होता ॥१२॥ सृष्टिकाल में संपूर्ण जगत् सूर्य से उत्पन्न होता है और प्रलय काल में उसी अत्यन्त तेजस्वी आदित्य में लीन हो जाता है ॥१३॥ असंख्य योगी भी शरीर रूपी गृह को छोड़कर वायु का रूप धारण कर उसी तेजोराशि सूर्य में प्रवेश करते हैं ॥१४॥ सूर्य की हजार किरणों का आश्रय पाकर देवताओं के साथ सिद्ध-मुनि उसी तरह वास करते हैं, जिस तरह पक्षीगण वृक्षों की शाखाओं पर रहते हैं ॥१५॥ गृहस्थ होते हुए भी योगी राजा जनक आदि, ब्रह्मवादी मुनि बालखिल्य आदि, वानप्रस्थ और संन्यासी व्यास आदि जो कोई भी थे, वे सब योग को प्राप्त कर सूर्य मण्डल में प्रविष्ट हुए हैं ॥१६-१७॥ व्यास-पुत्र श्रीमान् शुक ने योग को प्राप्त कर सूर्य-किरणों में जाकर पुनः उत्पन्न न होने की स्थिति को प्राप्त किया ॥१८॥ ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि शब्दमात्र से गम्य हैं, पर तिमिर-नाशन सूर्य तो प्रत्यक्ष-

---

१ ग. उदयन्नेव कु० । २ क. देवः । ३ क. ०ष लोकांस्त्रीन्गभस्तिभिरनुल्बणैः । स० । ४ ग. ०तां वा शुभावनः । स० । ५ ग. शुभाशुभे । ६ क. ०ष त्रैलोक्यं स्वग० । ७ ख. स्थलं । ८ ख. ०तं ह्यस्य यस्मा० । ९ ख. ०प्रजाय० । १० क.ग. ०श्चात्र सं० । ११ क. ग. ०ख्याश्च त्यक्त्वा । १२ ख. ०म् । एकीभूता वि० । १३ क. ०शन्त्येनं तेजोमूर्ति दिवाकरम् । अ० । १४ क. ०नो ये च धार्मिकाः । वा० । १५ क. ब्रह्मचारिणः । १६ ख. ०द्या वसव० ।

शब्दमात्रश्रुतिमुखा ब्रह्मविष्णुशिवादयः । प्रत्यक्षोऽयं परो देवः सूर्य्यस्तिमिरनाशनः ।।१९।।
तस्मादन्यत्र भक्तिर्हि न कार्य्या शुभमिच्छता[1] । यस्माद्दृष्टेरगम्यास्ते देवा विष्णुपुरोगमाः ।।२०।।
अतो भवद्भिः सततमभ्यर्च्च्यो भगवान् रविः । स हि माता पिता चैव कृत्स्नस्य जगतो गुरुः ।।२१।।
अनाद्यो लोकनाथोऽसौ रश्मिमाली जगत्पतिः । मित्रत्वे च स्थितो यस्मात्तपस्तेपे द्विजोत्तमाः ।।२२।।
अनादिनिधनो ब्रह्मा[2] नित्यश्चाक्षय एव च । सृष्ट्वा ससागरान् द्वीपान् भुवनानि चतुर्दश ।।२३।।
लोकानां स हितार्थाय स्थितश्चन्द्रसरित्तटे । सृष्ट्वा प्रजापतीन् सर्व्वान्सृष्ट्वा च विविधाः प्रजाः ।।२४।।
ततः शतसहस्रांशुरव्यक्तश्च पुनः स्वयम् । कृत्वा द्वादशधात्मानमादित्यमुपपद्यते ।।२५।।
इन्द्रो धाताथ पर्जन्यस्त्वष्टा पूषार्य्यमा भगः । विवस्वान् [3]विष्णुरंशश्च वरुणो मित्र एव च ।।२६।।
आभिर्द्वादशभिस्तेन सूर्य्येण परमात्मना । कृत्स्नं जगदिदं व्याप्तं मूर्त्तिभिश्च द्विजोत्तमाः ।।२७।।
तस्य या प्रथमा मूर्तिरादित्यस्येन्द्रसंज्ञिता । स्थिता सा देवराजत्वे देवानां रिपुनाशिनी ।।२८।।
द्वितीया तस्य या मूर्त्तिर्नाम्ना धातेति कीर्त्तिता । स्थिता प्रजापतित्वेन विविधाः[4] सृजते प्रजाः ।।२९।।
तृतीयार्कस्य या मूर्त्तिः पर्जन्य इति विश्रुता । मेघेष्वेव स्थिता सा तु वर्षते च गभस्तिभिः ।।३०।।
चतुर्थी तस्य या मूर्त्तिर्नाम्ना त्वष्टेति विश्रुता । स्थिता वनस्पतौ सा तु ओषधीषु च सर्व्वतः ।।३१।।
पञ्चमी तस्य या मूर्त्तिर्नाम्ना पूषेति विश्रुता । अन्ने व्यवस्थिता सा तु प्रजां पुष्णाति नित्यशः ।।३२।।

देव है ।।१९।। इसलिए कल्याण चाहने वोले को सूर्य को छोड़ कर अन्यत्र भक्ति नहीं करनी चाहिये । जिसलिए विष्णु आदि देव अप्रत्यक्ष हैं अतः आप लोगों को सतत सूर्य की अर्चना करनी चाहिये ।।२०½।। सूर्य ही निखिल जगत् का माता-पिता है । विप्रवर ! यह अनादि, लोकनाथ, किरणों की माला वाला, जगत्पति, मित्रत्व में स्थित होकर तप करने वाला, जन्म-मरण से रहित, ब्रह्मा, नित्य और अक्षय है ।।२१-२२½।। समुद्रों और द्वीपों सहित चौदहों भुवन की सृष्टि करके लोक-कल्याण के लिए सूर्य चन्द्र-सरोवर के तट पर स्थित हुआ ।।२३½।। प्रजापतियों और विविध प्रजाओं का निर्माण कर सौ हजार किरण वाले उस अव्यक्त ने बारह आदित्यों के रूप में अपने आत्मा को विभक्त कर दिया ।।२४-२५।। द्विजवर्य ! इन्द्र, धाता, पर्जन्य, त्वष्टा, पूषा, अर्यमा, भग, विवस्वान्, विष्णु, अंश, वरुण और मित्र—इन बारह मूर्तियों से परमात्मा सूर्य ने समस्त जगत् को व्याप्त कर रखा है ।।२६-२७।। उस सूर्य की इन्द्र नामक जो पहली मूर्ति है, वह देवताओं के शत्रुओं को नष्ट करने वाली है तथा देवराजत्व पर स्थित है ।।२८।। धाता नाम की उसकी दूसरी मूर्ति प्रजापति बनकर विविध प्रजाओं की सृष्टि करती है । उसकी तीसरी मूर्ति, जो पर्जन्य नाम से प्रख्यात है, बादलों में ही स्थित रहती है और किरणों के द्वारा वर्षा करती है ।।२९-३०।। त्वष्टा नाम से प्रख्यात उसकी चौथी मूर्ति ओषधी-वनस्पतियों में स्थित है ।।३१।। पूषा नाम से विख्यात उसकी पाँचवीं मूर्ति अन्न में स्थित होकर नित्य प्रजा को पुष्टि प्रदान करती है ।।३२।। सूर्य की अर्यमा नाम से प्रसिद्ध छठी मूर्ति देवों में ही

---

[1] ख. ०ता । दृष्टरोगापहो यस्माददृष्टं नित्यमेव हि । अ० । ग. ०ता । दृष्टं न बाधते यस्माददृष्टं नित्यमेव हि । अ । [2] क. धाता । [3] क. ०रंशुश्च । [4] ख. विधाता ।

मूर्त्तिः षष्ठी[1] रवेर्या तु अर्य्यमा इति विश्रुता । वायोः संसरणा सा तु देवेष्वेव समाश्रिता ।।३३।।
भानोर्या सप्तमी मूर्त्तिर्नाम्ना भगेति विश्रुता । भूतिष्ववस्थिता सा तु शरीरेषु च देहिनाम् ।।३४।।
मूर्त्तिर्या त्वष्टमी तस्य विवस्वानिति विश्रुता । अग्नौ प्रतिष्ठिता[2] सा तु पचत्यन्नं शरीरिणाम् ।।३५।।
नवमी चित्रभानोर्या मूर्त्तिर्विष्णुश्च नामतः । प्रादुर्भवति सा नित्यं देवनामरिसूदनी ।।३६।।
दशमी तस्य या मूर्त्तिरंशुमानिति विश्रुता । वायौ प्रतिष्ठिता सा तु प्रह्लादयति वै प्रजाः ।।३७।।
मूर्त्तिस्त्वेकादशी[3] भानोर्नाम्ना वरुणसंज्ञिता[4] । जलेष्ववस्थिता सा तु प्रजां पुष्णाति नित्यशः ।।३८।।
मूर्त्तिर्या द्वादशी भानोर्नाम्ना मित्रेति संज्ञिता । लोकानां सा हितार्थाय स्थिता[5] [6]चन्द्रसरित्तटे ।।३९।।
[7]वायुभक्षस्तपस्तेपे स्थित्वा मैत्रेण चक्षुषा । अनुगृह्णन् सदा भक्तान् वरैर्नानाविधैस्तु सः ।।४०।।
एवं[8] सा जगतां मूर्त्तिर्हिताय विहिता पुरा । तत्र मित्रः स्थितो यस्मात्तस्मान्मित्रं परं स्मृतम् ।।४१।।
आभिर्द्वादशभिस्तेन सवित्रा परमात्मना । कृत्स्नं जगदिदं व्याप्तं मूर्त्तिभिश्च द्विजोत्तमाः ।।४२।।
तस्माद्ध्येयो नमस्यश्च द्वादशस्थासु मूर्त्तिषु । भक्तिमद्भिर्नरैर्नित्यं तद्गतेनान्तरात्मना ।।४३।।
इत्येवं द्वादशादित्यान्नमस्कृत्वा तु मानवः । [9]नित्यं श्रुत्वा [10]पठित्वा च सूर्य्यलोके महीयते ।।४४।।

आश्रित होकर वायु की संचालन-गति को बढ़ाती है ।।३३।। भग नामवाली सातवीं मूर्ति भूमि में स्थित होकर देहधारियों के शरीर मे प्रवेश करती है ।।३४।। विवस्वान् नामक आठवीं मूर्ति अग्नि में प्रतिष्ठित होकर देहधारियों के अन्न को पचाती है ।।३५।। विष्णु नामक नवीं मूर्ति देवताओं के शत्रुओं का वध करने के लिए नित्य अवतार लेती है ।।३६।। अंशुमान् नाम से प्रख्यात दसवीं मूर्ति वायु में प्रतिष्ठित होकर प्रजाओं को आनन्दित करती है ।।३७।। सूर्य की ग्यारहवीं मूर्ति, जो वरुण नाम से प्रसिद्ध है, जल में अवस्थित होकर नित्य प्रजाओं का पोषण करती है ।।३८।। मित्र नामक बारहवीं मूर्ति लोक-कल्याण के लिए चन्द्र-सरोवर के तट पर स्थित रहती है ।।३९।। मित्रतापूर्ण नेत्रों से अनेक प्रकार के वरदानों द्वारा भक्तों के ऊपर कृपा करते हुए सूर्य ने केवल वायु भक्षण करके तपस्या की ।।४०।। इस प्रकार जगत्कल्याण के लिए उसने मूर्तियों का विधान किया । मित्रभाव से स्थित होने के कारण वह मित्र कहलाया ।।४१।। द्विजवर ! परमात्मा सूर्य ने इन बारह मूर्तियों से अखिल जगत् को व्याप्त कर दिया है ।।४२।। इसलिए भक्तिमान् मनुष्य नित्य सूर्य में चित्त लगाकर बारह मूर्तियों में स्थित आदित्य को नमस्कार करें ।।४३।। इस तरह बारह आदित्यों को नमस्कार करके नित्य उनके माहात्म्य का श्रवण-पठन करने से मनुष्य सूर्य-लोक में पूजित होता है ।।४४।।

---

[1] क. ०ष्ठी तथाभानोरर्यमेत्यभिवि० । [2] क. ख. व्यवस्थिता । [3] म. ख. ०शी या तुभानोर्वरु० । [4] क. ख. ०ता । सा जीवयति वै कृत्स्नं जगदप्सु प्रतिष्ठितम् । मू० । [5] क. ०ता मूर्तिः स० । [6] ख. ०न्द्रस्य मण्डले । बहुकालं तपस्तेपे स्थितः स तु सरित्तटे । वा । [7] ग. ०युभूतः सदा । [8] ख. एवमाप्तं हितं स्थानं यश्चाश्चाध्वनयापिता । त० । ग. एवमाद्यं हि तत्स्थानं यश्चाच्छाश्वेन चाऽऽस्थितम् । त० । [9] क. ०त्यं समाहितो भूत्वा सू० । [10] ख. पवित्रो यः सू० ।

मुनय ऊचुः

यदि तावदयं सूर्य्यश्चादिदेवः सनातनः । ततः कस्मात्तपस्तेपे वरेप्सुः[1] प्राकृतो यथा ॥४५॥

ब्रह्मोवाच

एतद्वः संप्रवक्ष्यामि परं गुह्यं विभावसोः । पृष्टं मित्रेण[2] यत् पूर्व्वं नारदाय महात्मने ॥४६॥
प्राङ्मयोक्तास्तु युष्मभ्यं रवेर्द्वादश मूर्त्तयः । मित्रश्च वरुणश्चोभौ तासां तपसि संस्थितौ ॥४७॥
अब्भक्षो[3] वरुणस्तासां तस्थौ पश्चिमसागरे । मित्रो मित्रवने चास्मिन् [4]वायुभक्षोऽभवत्तदा ॥४८॥
अथ मेरुगिरेः शृङ्गात् प्रच्युतो गन्धमादनात् । नारदस्तु महायोगी सर्व्वांल्लोकांश्चरन् वशी ॥४९॥
आजगामाथ तत्रैव [5]यत्र मित्रोऽचरत्तपः । तं दृष्ट्वा तु तपस्यन्तं तस्य कौतूहलं ह्यभूत् ॥५०॥
योऽक्षयश्चाव्ययश्चैव व्यक्ताव्यक्तः सनातनः । धृतमेकात्मकं येन [6]त्रैलोक्यं सुमहात्मना ॥५१॥
यः पिता सर्व्वदेवानां पराणामपि[7] यः परः । अयजद्देवताः[8] कास्तु पितॄन् वा कानसौ यजेत् ॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा तं देवं नारदोऽब्रवीत् । ॥५२॥

नारद उवाच

वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे । त्वमजः शाश्वतो धाता त्वं निधानमनुत्तमम् ॥५३॥
भूतं भव्यं भवच्चैव त्वयि सर्व्वं प्रतिष्ठितम् । चत्वारश्चाश्रमा देव गृहस्थाद्यास्तथैव हि ॥५४॥

मुनियों ने कहा—यदि यह सूर्य सनातन आदिदेव है तो साधारण व्यक्ति की तरह वर-लोलुप होकर तपस्या क्यों करने लगा ? ॥४५॥

ब्रह्मा ने कहा—यह एक ऐसा रहस्य है जिसे स्वयं सूर्य ने महात्मा नारद से बतलाया था। वह मैं आपसे बतलाऊँगा ॥४६॥ मैं पहले कह चुका हूँ कि सूर्य की बारह मूर्तियाँ हैं। उनमें से मित्र और वरुण तपस्या करने लगे।॥४७॥ वरुण जल-भक्षण कर पश्चिम समुद्र में स्थित हुआ और मित्र वायु भक्षण कर मित्रवन में रहने लगा।॥४८॥ तदुपरान्त मेरुपर्वत की चोटी पर से उतर कर गंधमादन पर्वत होते हुए सब लोकों में विचरण करने वाले, वश्यात्मा तथा महायोगी नारद वहाँ आये, जहाँ मित्र तप कर रहा था।॥४९½॥ तप करते हुए मित्र को देखकर नारद को बड़ा कुतूहल हुआ कि जो सब देवों का पिता, व्यक्त, अव्यक्त, सनातन, अक्षय, अव्यय, त्रैलोक्यधारी और परात्पर है, वह भला किस देवता या पितर की उपासना करेगा। ऐसा मन में सोचकर नारद ने मित्र से कहा।॥५०-५२॥

नारद बोले—सांगोपांग वेद-पुराणों में आप ही की स्तुति की जाती है, आप अजन्मा, नित्य, धाता, सर्वोत्तम और सर्व-निधान हैं, भूत-भविष्य-वर्तमान—सब आप ही में प्रतिष्ठित हैं, गृहस्थ आदि चारों आश्रम

---

१ ख. धरायां। २ क. ख. मैत्रेण। ३ क. अध्यक्षो। ख. अव्यंक्तो। ४ ख. ग. ०भक्षश्चरंस्तपः। अ०। ५ क. ०त्र देवोऽच०। ६ क.ख. ०लोक्यमिदमात्म०। ७ क. ०रादपि च यः। ८ क. ०रः। सोऽय०। ९ ०वतां कां तुकं पूजयति नित्यशः। इ०।

यजन्ति त्वामहरहस्त्वां मूर्तित्वं समाश्रितम् । पिता माता च सर्व्वस्य दैवतं त्वं हि शाश्वतम् ॥५५॥
यजसे पितरं कं त्वं देवं वापि न विद्महे ॥५६॥

मित्र उवाच

अवाच्यमेतद्वक्तव्यं परं गुह्यं[1] सनातनम् । त्वयि भक्तिमति ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि यथातथम् ॥५७॥
यत्तत् सूक्ष्ममविज्ञेयमव्यक्तमचलं[2] ध्रुवम् । इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च सर्व्वभूतैर्विवर्ज्जितम् ॥५८॥
स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चैव कथ्यते । त्रिगुणाद्व्यतिरिक्तोऽसौ पुरुषश्चैव कल्पितः ॥५९॥
हिरण्यगर्भो भगवान् सैव बुद्धिरिति स्मृतः । महानिति च योगेषु प्रधानमिति कथ्यते ॥६०॥
सांख्ये च कथ्यते योगे नामभिर्बहुधात्मकः[3] । स[4] च त्रिरूपो विश्वात्मा शर्वोऽक्षर इति स्मृतः ॥६१॥
धृतमेकात्मकं तेन त्रैलोक्यमिदमात्मना । अशरीरः शरीरेषु सर्व्वेषु निवसत्यसौ ॥६२॥
वसन्नपि शरीरेषु न स लिप्येत[5] कर्म्मभिः । ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः ॥६३॥
सर्व्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यं केनचित् क्वचित् । सगुणो निर्गुणो विश्वो ज्ञानगम्यो ह्यसौ स्मृतः[6] ॥६४॥
सर्व्वतः पाणिपादान्तः सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखः । सर्व्वतः श्रुतिमाँल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति ॥६५॥
विश्वमूर्द्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः । एकश्चरति वै क्षेत्रे स्वैरचारी यथासुखम् ॥६६॥
क्षेत्राणीह शरीराणि तेषाञ्चैव यथासुखम् । तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥६७॥

नित्यप्रति आप ही की मूर्तियों की पूजा किया करते हैं और आप सबके माता-पिता तथा सनातन देव हैं। हे देव! ऐसी परिस्थिति में आप किस देवता की उपासना करते हैं—यह मुझे नहीं जान पड़ता। ॥५३-५६॥

मित्र ने कहा—ब्रह्मन्! यद्यपि यह सनातन रहस्य कहने योग्य नहीं है तो भी आप जैसे भक्तों से मैं छिपाऊँगा नहीं ॥५७॥ जो सूक्ष्म, अज्ञेय, अव्यक्त, अचल, ध्रुव और इन्द्रियों, इन्द्रियों के विषय तथा सब प्राणियों से विवर्जित है, वह प्राणियों का अन्तरात्मा और क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥५८½॥ सत्त्व-रज-तम—इन त्रिगुणों से परे पुरुष भी वही कहलाता है ॥५९॥ वही भगवान् हिरण्यगर्भ तथा बुद्धि भी कहलाता है। योगों में उसे महान् तथा प्रधान (प्रकृति) कहते हैं ॥६०॥ सांख्य-योग में उसे बहुत नामों से कहा गया है। उसी के नाम त्रिरूप, विश्वात्मा, शर्व और अक्षर हैं ॥६१॥ उसने त्रैलोक्य को धारण किया। वह शरीर रहित होकर सब देहों में निवास करता है ॥६२॥ पर शरीरों में वास करते हुए भी कर्मों से लिप्त नहीं होता। वह मेरा, आपका और जितने देहधारी हैं—सब का साक्षी है। वह कहीं किसी से गृहीत नहीं होता ॥६३½॥ वह सगुण, निर्गुण, विश्व, ज्ञानगम्य और सब ओर हाथ-पैर नेत्र-सिर तथा कर्ण वाला है। वह सबको वेष्टित कर स्थित है ॥६४-६५॥ वह विश्वमूर्धा, विश्वभुज और विश्वरूप पैर-नेत्र तथा नाक वाला है। वह क्षेत्र में सुख तथा इच्छा के अनुकूल अकेला ही विचरण करता है ॥६६॥ यहाँ क्षेत्र शरीर को कहा गया है। वह योगी क्षेत्रों को आसानी से जानता रहता है। इसलिए उसका नाम क्षेत्रज्ञ पड़ा

---

१ ख. गुप्तं। २ क. ०मजरं मुने। इ०। ३ ख. ०क। पवित्ररू०। ४ सत्त्वरूपेण वि०। ५ ख.ग. लिप्यति।
६ क. मतः।

अव्यक्ते[1] च पुरे शेते पुरुषस्तेन चोच्यते । विश्वं बहुविधं ज्ञेयं स च सर्व्वत्र उच्यते ॥६८॥
तस्मात् स बहुरूपत्वाद्विश्वरूप इति स्मृतः । तस्यैकस्य महत्त्वं[2] हि स चैकः पुरुषः स्मृतः ॥६९॥
महापुरुषशब्दं हि बिभर्त्त्येकः सनातनः । [3]स तु विधिक्रियायत्तः[4] सृजत्यात्मानमात्मना ॥७०॥
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा । कोटिशश्च करोत्येष[5] प्रत्यगात्मानमात्मना ॥७१॥
आकाशात् पतितं तोयं याति स्वाद्वन्तरं यथा । भूमे[6] रसविशेषेण तथा[7] [8]गुणरसात्तु सः ॥७२॥
एक एव यथा वायुर्देहेष्वेव हि पञ्चधा । एकत्वञ्च पृथक्त्वञ्च तथा तस्य न संशयः ॥७३॥
स्थानान्तरविशेषाच्च यथाग्निर्लभते पराम् । संज्ञां[9] तथा मुने सोऽयं ब्रह्मादिषु तथाप्नुयात् ॥७४॥
यथा दीपसहस्राणि दीप एकः प्रसूयते । तथा रूपसहस्राणि स एकः सम्प्रसूयते ॥७५॥
यदा स बुध्यत्यात्मानं तदा भवति केवलः । [10]एकत्वप्रलये[11] चास्य बहुत्वञ्च[12] प्रवर्त्तते[13] ॥७६॥
नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् । अक्षयश्चाप्रमेयश्च सर्व्वगश्च स उच्यते ॥७७॥
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं[14] द्विजसत्तमाः । अव्यक्ताव्यक्तभावस्था या सा प्रकृतिरुच्यते ॥७८॥
तां योनिं ब्रह्मणो विद्धि योऽसौ सदसदात्मकः । लोके च पूज्यते योऽसौ दैवे पित्र्ये च कर्म्मणि ॥७९॥

है ॥६७॥ अव्यक्त पुर में वह सोता है । इसलिए उसे पुरुष कहते हैं । विश्व बहुत प्रकार का है और उसे सर्वत्र कहा गया है ॥६८॥ इसलिए अनेक रूप होने के कारण उसका विश्वरूप नाम पड़ा । उसी एक का महत्त्व अर्थात् महत्तत्त्व है और वही एक पुरुष कहलाता है ॥६९॥ वही एक सनातन महापुरुष के शब्द को धारण करता है । वह विधिक्रिया के अधीन आत्मा से आत्मा का सर्जन किया करता है ॥७०॥ वह आत्मा से प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) को सौ हजार, लाख और करोड़ प्रकार का बना डालता है ॥७१॥ आकाश से पतित जल जैसे भूमि-रस के संयोग से भिन्न प्रकार के स्वाद को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार वैसे गुणों के रस-संयोग से वह विशेष रस को धारण करता है ॥७२॥ जैसे एक ही वायु शरीर में पाँच प्रकार से रहता है उसी प्रकार उसका एकत्व और पृथक्त्व है, इसमें कोई संदेह नहीं ॥७३॥ जैसे अग्नि स्थानान्तर के कारण दूसरी-दूसरी संज्ञा को प्राप्त होता है वैसे वह भी ब्रह्मा आदि संज्ञाएँ प्राप्त करता है ॥७४॥ जैसे हजारों द्वीपों को एक ही द्वीप उत्पन्न कर देता है वैसे वह भी एक होकर हजारों रूपों को उत्पन्न करता है ॥७५॥ जब वह आत्मा को जानता है तब केवल रूप होता है अर्थात् एक ही रहता है और एकत्व का नाश होने पर उसका बहुत्व अर्थात् बहुरूप हो जाता है ॥७६॥ संसार में स्थावर-जंगम नित्य नहीं है। पर वह अक्षय, अप्रमेय (न मापने योग्य) और व्यापक है ॥७७॥ द्विजवर्य ! इसलिए उसी से अव्यक्तरूप त्रिगुण उत्पन्न होता है और अव्यक्त से व्यक्त भाव में जो स्थित है, वही प्रकृति कहलाता है ॥७८॥ जो सत्-असत् रूप और लोक में देव-पितृ-कर्म में पूजित होता है, वह ब्रह्मा की योनि है ॥७९॥

---

१ ख. ०व्यक्तिके पु० । २ क. ममत्वं । ख. समत्वं । ३ क. ख. स त्वं वि० । ४ क. ख. ०यापन्नः सृ० । ५ क. ०ष पृथगा० । ६ क. भूमी र० । ७ क. ०थाऽयं शाश्वतो महान् । ए० । ८ ख. ०णवशानुगः । ए० । ९ ग. ०ज्ञां यथाऽध्वराह्येषु ब्रह्माह्येषु तथा ह्यसौ । य० । १० क. ख. ०कत्वं प्र० । ११ क. ०प्रलयं च० । १२ ख. च ततो भवेत् । नि० । १३ क. प्रपद्यते । १४ क. द्विगुणं ।

नास्ति तस्मात् परो ह्यन्यः पिता देवोऽपि वा द्विजाः । आत्मना स तु विज्ञेयस्ततस्तं पूजयाम्यहम् ॥८०॥
स्वर्गेष्वपि हि ये केचित्तं नमस्यन्ति देहिनः । तेन गच्छन्ति देवर्षे तेनोद्दिष्टफलां गतिम् ॥८१॥
तं[1] देवाः स्वाश्रमस्थाश्च नानामूर्त्तिसमाश्रिताः । भक्त्या सम्पूजयन्त्याद्यं गतिश्चैषां ददाति सः ॥८२॥
स हि सर्व्वगतश्चैव[2] निर्गुणश्चैव कथ्यते । एवं मत्वा यथाज्ञानं पूजयामि दिवाकरम् ॥८३॥
ये च तद्भाविता लोक एकतत्त्वं समाश्रिताः । एतदप्यधिकं तेषां यदेकं[3] प्रविशन्त्युत ॥८४॥
इति गुह्यसमुद्देशस्तव नारद कीर्त्तितः । अस्मद्भक्त्यापि देवर्षे त्वयापि परमं स्मृतम् ॥८५॥
सुरैर्व्वा मुनिभिर्व्वापि पुराणैर्व्वरदं स्मृतम् । सर्व्वे च परमात्मानं पूजयन्ति दिवाकरम् ॥८६॥

ब्रह्मोवाच

एवमेतत् पुराख्यातं नारदाय तु भानुना । मयापि च समाख्याता कथा भानोर्द्विजोत्तमाः ॥८७॥
इदमाख्यानमाख्येयं[4] मयाख्यातं द्विजोत्तमाः[5] । न ह्यनादित्यभक्ताय इदं देयं कदाचन ॥८८॥
यश्चैतच्छ्रावयेन्नित्यं[6] यश्चैव शृणुयान्नरः । स[7] सहस्रार्चिषं देवं प्रविशेन्नात्र संशयः ॥८९॥
मुच्येतार्त्तस्तथा रोगाच्छ्रुत्वेमामदितः कथाम् । जिज्ञासुर्लभते ज्ञानं गतिमिष्टां तथैव च ॥९०॥
क्षणेन लभतेऽध्वानमिदं यः पठते मुने । यो यं कामयते कामं स तं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥९१॥

उससे बढ़कर अन्य कोई पिता, द्विज और देव नहीं है। वह आत्मा द्वारा जानने योग्य है। अतः उसी की पूजा मैं करता हूँ ॥८०॥ हे देवर्षि ! स्वर्ग में भी जो कोई उसे नमस्कार करते हैं, वे उससे अपने अभीष्ट फल को प्राप्त करते हैं ॥८१॥ अनेक मूर्तियों में आश्रित देवता अपने आश्रम में ही रहकर भक्तिपूर्वक उसकी पूजा करते हैं और उससे अपनी कामनाएँ पूर्ण करते हैं। वह सब में व्याप्त और निर्गुण कहलाता है ॥८२$\frac{१}{३}$॥ ऐसा जानकर मैं अपने ज्ञानानुसार सूर्य की पूजा करता हूँ। सूर्य से प्रेरित लोक एक तत्त्व को प्राप्त कर फिर उसी एक (सूर्य) में प्रवेश करते हैं ॥८३$\frac{१}{३}$॥ हे नारद ! यह रहस्य मैंने आपसे बतला दिया और हमारी भक्ति से आपने भी सुना ॥८४-८५॥ देवता या पुराणज्ञ मुनियों ने उस सूर्य को वरदायक कहा है। सभी परमात्मा सूर्य की पूजा करते है ॥८६॥

ब्रह्मा ने कहा—द्विजवर्य ! पहले इस प्रकार नारद से सूर्य ने कहा था और अब मैंने भी आप लोगों से बतला दिया ॥८७॥ विप्रवर ! मेरे द्वारा वर्णित इस आख्यान को आप लोग भी सुनायेंगे, पर सूर्य के अभक्त को कभी नहीं सुनायेंगे ॥८८॥ जो मनुष्य नित्य इसका श्रवण करेगा या करायेगा, वह सहस्रकिरणधारी देव में प्रविष्ट होगा ॥८९॥ इस कथा को आदि से सुनने से रोगी रोग-मुक्त हो जाता है और जिज्ञासु ज्ञान तथा अभीष्ट वस्तु का लाभ करता है ॥९०॥ मुने ! जो इसका पाठ करता है, वह तत्काल मार्ग-प्राप्ति करता है । जिसकी

---

[1] क. ख. ते। [2] क. ख. ०व कथ्यते स्थाणुजङ्गमे। ए०। [3] क. ०कं ह्यधिकं पुनः। इ०। [4] ख. ०मार्यं च म०। ख. ०माः। [5]. अभक्ताय न देयं वै शठायापि कथंचन। [6] क. ०येच्छ्राद्धे य०। [7] क. स वै दिवाकरं दे०।

तस्माद्भवद्भिः सततं स्मर्त्तव्यो भगवान् रविः । स च धाता विधाता च सर्व्वस्य जगतः[1] प्रभुः ।।९२।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे आदित्यमाहात्म्यवर्णनं नाम त्रिंशोऽध्यायः ।।३०।।

एकत्रिंशोऽध्यायः

आदित्यमाहात्म्यवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

आदित्यमूलमखिलं[2] त्रैलोक्यं मुनिसत्तमाः । भवत्यस्माज्जगत् सर्व्वं सदेवासुरमानुषम् ।।१।।
रुद्रोपेन्द्रमहेन्द्राणां विप्रेन्द्र त्रिदिवौकसाम् । महाद्युतिमताञ्चैव तेजोऽयं सार्व्वलौकिकम् ।।२।।
सर्व्वात्मा सर्व्वलोकेशो देवदेवः प्रजापतिः । सूर्य्य एव त्रिलोकस्य मूलं परमदैवतम् ।।३।।
अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते[3] । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।।४।।
सूर्य्यात् प्रसूयते सर्व्वं तत्र चैव प्रलीयते । भावाभावौ हि लोकानामादित्यान्निःसृतौ पुरा ।।५।।
एतत्तु[4] ध्यानिनां ध्यानं मोक्षश्चाप्येष मोक्षिणाम् । तत्र गच्छन्ति निर्व्वाणं जायन्तेऽस्मात् पुनः पुनः ।।६।।

जो कामना हो, वह इसके पाठ से निःसंदेह पूर्ण हो जाती है ।।९१।। इसलिए आप लोग सदा भगवान् सूर्य का स्मरण करें । वही धाता, विधाता और संपूर्ण जगत् का स्वामी है ।।९२।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में आदित्य-माहात्म्य-वर्णन नामक तीसवाँ अध्याय समाप्त ।।३०।।

अध्याय ३१

आदित्य के नाम का माहात्म्य-वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—मुनिवर ! समस्त त्रैलोक्य का मूल सूर्य है । देवता, राक्षस और मनुष्य सहित यह संपूर्ण जगत् सूर्य से उत्पन्न है ।।१।। विप्रगण ! रुद्र, इन्द्र, विष्णु और महाकान्तिमान् देवताओं का सार्वलौकिक तेज यह सूर्य ही है ।।२।। सर्वात्मा, सब लोकों का स्वामी, देव-देव, प्रजापति, परमदेवता और त्रैलोक्य का मूल भी सूर्य ही है ।।३।। अग्नि में प्रक्षिप्त आहुति सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा ।।४।। सूर्य से सब की उत्पत्ति होती है और उसी में सब लीन होते हैं । पहले लोकों के भाव (सत्ता) और अभाव दोनों सूर्य से निःसृत हुए ।।५।। वही ध्यानियों का ध्यान और मोक्षार्थियों का मोक्ष है । उसी में मनुष्य निर्वाण

---

१ ख. ०गतो गुरुः। २ क. ०त्यभूतम्०। ३ ख. ग. ०ष्ठति। आ०। ४ ख. ०तद्वराणां श्राद्धानां मोक्षदोप्ये०।

क्षणा मुहूर्त्ता दिवसा निशा पक्षाश्च नित्यशः । मासाः संवत्सराश्चैव ऋतवश्च युगानि च ।।७।।
अथादित्यावृते ह्येषां कालसंख्या न विद्यते । कालादृते न नियमो नाग्नौ विहरणक्रिया[१] ।।८।।
ऋतूनामविभागश्च[२] ततः पुष्पफलं[३] कुतः । कुतो वै शस्यनिष्पत्तिस्तृणौषधिगणः कुतः ।।९।।
अभावो व्यवहाराणां जन्तूनां दिवि चेह च । जगत्प्रभावाद्विशते[४] [५]भास्कराद्वारितस्करात्[६] ।।१०।।
नावृष्ट्या तपते सूर्य्यो नावृष्ट्या परिशुष्यति[७] । नावृष्ट्या परिधिं धत्ते वारिणा दीप्यते रविः ।।११।।
वसन्ते कपिलः सूर्य्यो ग्रीष्मे काञ्चनसन्निभः । श्वेतो वर्षासु वर्णेन[८] पाण्डुः शरदि[९] भास्करः ।।१२।।
हेमन्ते ताम्रवर्णाभः शिशिरे लोहितो रविः । इति वर्णाः समाख्याताः सूर्य्यस्य ऋतुसम्भवाः ।।१३।।
ऋतुस्वभाववर्णैश्च सूर्य्यः क्षेमसुभिक्षकृत् । अथादित्यस्य नामानि सामान्यानि द्विजोत्तमाः ।।१४।।
द्वादशैव पृथक्त्वेन तानि वक्ष्याम्यशेषतः । आदित्यः सविता सूर्य्यो मिहिरोऽर्कः प्रभाकरः ।।१५।।
मार्त्तण्डो भास्करो भानुश्चित्रभानुर्दिवाकरः । रविर्द्वादशभिस्तेषां ज्ञेयः सामान्यनामभिः ।।१६।।
विष्णुर्धाता भगः पूषा मित्रेन्द्रौ वरुणोऽर्य्यमा । विवस्वानंशुमांस्त्वष्टा पर्जन्यो द्वादशः[१०] स्मृतः ।।१७।।
इत्येते द्वादशादित्याः पृथक्त्वेन व्यवस्थिताः । उत्तिष्ठन्ति सदा ह्येते मासैर्द्वादशभिः क्रमात् ।।१८।।
विष्णुस्तपति चैत्रे तु वैशाखे चार्य्यमा तथा । विवस्वान् ज्येष्ठमासे तु आषाढे चांशुमान्[११] स्मृतः ।।१९।।

प्राप्त करते हैं और उसी से पुन-पुनः उत्पन्न होते हैं ।।६।। क्षण, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष, ऋतु और युग—इन सब की कालसंख्या बिना सूर्य के नहीं हो सकती है ।।७½।। बिना काल के कोई नियम नहीं हो सकते और न अग्नि में विहरण-क्रिया ही हो सकती है। ऋतुओं का विभाग नहीं हो सकता, फल-फूलों की तो बात ही क्या । धान्य तृण और ओषधियों की उपज भी नहीं हो सकती ।।८-९।। पृथ्वी तथा आकाश में जीवों का व्यवहार नहीं हो सकता । जल चुराने वाले सूर्य से जगत् प्रभावित होता है ।।१०।। बिना वृष्टि के सूर्य न तप सकता है, न सूख सकता है । वृष्टि के अभाव में सूर्य अपनी परिधि को भी धारण नहीं कर सकता । जल से ही तो यह दीप्त होता हैं ।।११।। सूर्य वसन्त ऋतु में कपिल रूप, ग्रीष्म में सुवर्ण के समान, वर्षा में श्वेत, शरद् में पाण्डु, हेमन्त में ताम्रवर्ण और शिशिर में रक्त हो जाता है ।।१२½।। सूर्य के ये ऋतुकालीन वर्ण मैंने वर्णन कर दिये । अब ऋतुओं के अनुसार सूर्य सुभिक्ष करता है—यह जानकर आप उसके सामान्य नामों को भी सुन लीजिये ।।१३-१४।। द्विजगण ! आदित्य, सविता, सूर्य, मिहिर, अर्क, प्रभाकर, मार्तण्ड, भास्कर, भानु, चित्रभानु, दिवाकर और रवि—ये सामान्य नाम हैं ।।१५-१६।। विष्णु, धाता, भग, पूषा, मित्र, इन्द्र, वरुण, अर्यमा, विवस्वान्, अंशुमान्, त्वष्टा और पर्जन्य—ये द्वादश आदित्य पृथक् रूप से व्यवस्थित हैं । ये बारह महीनों में क्रमशः उत्थान करते हैं।।१७-१८।। विष्णु चैत्र में, अर्यमा वैशाख में, विवस्वान् ज्येष्ठ में, अंशुमान् आषाढ़ में, वरुण भाद्रपद में, इन्द्र

---

१ क० ख.० या। धातूना०। २ क. ख. ०श्च पु०। ३ क. ख. ०ष्पमूलफ०। ४ ख. ०त्प्रमाणं हि कृते। ५ ख. ०स्करो वारि०। ६ ख. ०स्करः। ना०। ७ क. परिविद्यते। ८ ख. ०न श०। ९ ख. ०दि श्यामवर्णकः। हे०। १० क. ०दशो मतः। ११ क. ०शुमांस्तथा। प०।

पर्ज्जन्यः श्रावणे मासि वरुणः प्रौष्ठसंज्ञके । इन्द्र आश्वयुजे मासि धाता तपति कार्त्तिके ॥२०॥
मार्गशीर्षे तथा मित्रः पौषे पूषा दिवाकरः । माघे भगस्तु विज्ञेयस्त्वष्टा तपति फाल्गुने ॥२१॥
शतैर्द्वादशभिर्विष्णू रश्मिभिर्दीप्यते सदा । दीप्यते गोसहस्रेण शतैश्च त्रिभिरर्य्यमा ॥२२॥
द्विःसप्तकैर्विवस्वांस्तु अंशुमान् पञ्चभिस्त्रिभिः । विवस्वानिव पर्ज्जन्यो वरुणश्चार्य्यमा तथा ॥२३॥
मित्रवद्भगवांस्त्वष्टा सहस्रेण शतेन च । इन्द्रस्तु द्विगुणैः षड्भिर्धातैकादशभिः शतैः ॥२४॥
सहस्रेण तु मित्रो वै पूषा तु नवभिःशतैः । उत्तरोपक्रमेऽर्कस्य वर्द्धन्ते रश्मयस्तथा ॥२५॥
दक्षिणोपक्रमे भूयो ह्रसन्ते सूर्य्यरश्मयः । एवं रश्मिसहस्रन्तु [1]सूर्य्यलोकादनुग्रहम्[2] ॥२६॥
एवं [3]नाम्नां चतुर्विंशदेक[4] एषां प्रकीर्त्तितः । विस्तरेण सहस्रन्तु पुनरन्यत् प्रकीर्त्तितम् ॥२७॥

मुनय ऊचुः

ये तन्नामसहस्रेण स्तुवन्त्यर्कं प्रजापते । तेषां भवति किं पुण्यं गतिश्च परमेश्वर ॥२८॥

ब्रह्मोवाच

श्रृणुध्वं मुनिशार्द्दूलाः सारभूतं सनातनम् । अलं[5] नामसहस्रेण [6]पठन्नेवं[7] स्तवं शुभम् ॥२९॥
यानि नामानि गुह्यानि पवित्राणि शुभानि च । तानि वः कीर्त्तयिष्यामि श्रृणुध्वं भास्करस्य वै ॥३०॥
विकर्त्तनो विवस्वांश्च मार्त्तण्डो भास्करो रविः । लोकप्रकाशकः[8] श्रीमाँल्लोकचक्षुर्महेश्वरः ॥३१॥

आश्विन में, धाता कार्तिक में, मित्र अगहन में, पूषा पौष में, भग माघ में और त्वष्टा फाल्गुन में तपते हैं ॥१९-२१॥ बारह सौ किरणों से विष्णु, तेरह सौ किरणों से अर्यमा, चौदह सौ किरणों से विवस्वान् और पन्द्रह सौ किरणों से अंशुमान् सदा तपा करते हैं ॥२२⅓॥ विवस्वान् के बराबर किरणों से पर्जन्य, वरुण और अर्यमा दीप्त होते हैं ॥२३॥ ग्यारह सौ किरणों से मित्र, धाता और त्वष्टा दीप्त होते हैं। बारह सौ किरणों से इन्द्र और नौ सौ किरणों से पूषा दीप्त होते हैं ॥२४⅓॥ उत्तरायण में सूर्य की रश्मियाँ बढ़ती हैं और दक्षिणायन में घटती हैं। इस प्रकार ये सहस्र किरणें सूर्यलोक से अनुग्रह किया करती हैं ॥२५-२६॥ सूर्य के चौबीस नाम तो मैंने बतला दिये, पर उनके सहस्र नाम भी हैं ॥२७॥

मुनियों ने कहा—हे परमेश्वर ! हे प्रजापते ! जो मनुष्य उन सहस्र नामों से सूर्य की स्तुति करते हैं, उनको क्या पुण्य प्राप्त होता है, कौन-सी गति मिलती है ? ॥२८॥

ब्रह्मा ने कहा—मुनिगण ! सूर्य के सहस्र नामों से क्या प्रयोजन ? जो उनकी सनातन तथा सारभूत शुभ स्तुति है, उसे सुनिये ॥२९॥ सूर्य के जो पवित्र, शुभ तथा गुप्त नाम हैं, उन्हें मैं आपको बतला रहा हूँ, सुनिये ॥३०॥ विकर्तन, विवस्वान्, मार्तण्ड, भास्कर, रवि, लोक-प्रकाशक, श्रीमान्, लोकचक्षु, महेश्वर, लोकसाक्षी, त्रिलोकेश, कर्ता, हर्ता, तमिस्रहा, तपन, तापन, शुचि, सप्ताश्ववाहन, गभस्तिहस्त, ब्रह्मा और सर्वदेवनमस्कृत—इन इक्कीस नाम का स्तोत्र

---

[1] क. ०लोके च सग्र० । [2] ग. ०कानुसंग्रहः । ए० । [3] ख. नाम्ना । [4] ख. ०देवतैषां प्र० । [5] क. एवं । [6] क. पठित्वेमं स्त० । [7] ख. ०ठतीदंस्त० । [8] क. ०शनः श्री० ।

लोकसाक्षी त्रिलोकेशः[1] कर्त्ता हर्त्ता तमिस्रहा । तपनस्तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः ॥३२॥
गभस्तिहस्तो ब्रह्मा[2] च [3]सर्व्वदेवनमस्कृतः । एकविंशतिरित्येष स्तव इष्टः सदा [4]रवेः ॥३३॥
शरीरारोग्यदश्चैव धनवृद्धियशस्करः । स्तवराज इति ख्यातस्त्रिषु लोकेषु [5]विश्रुतः ॥३४॥
य एतेन द्विजश्रेष्ठा[6] द्विसन्ध्येऽस्तमनोदये । स्तौति[7] सूर्य्यं शुचिर्भूत्वा सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥३५॥
मानसं वाचिकं वापि देहजं कर्म्मजं तथा । एकजप्येन तत्सर्व्वं नश्यत्यर्कस्य सन्निधौ ॥३६॥
एकजप्यश्च होमश्च सन्ध्योपासनमेव च । धूपमन्त्रार्घ्यमन्त्रश्च[8] बलिमन्त्रस्तथैव च ॥३७॥
अन्नप्रदाने[9] दाने च प्रणिपाते प्रदक्षिणे । पूजितोऽयं महामन्त्रः सर्व्वपापहरः शुभः ॥३८॥
तस्माद्यूयं[10] प्रयत्नेन स्तवेनानेन वै द्विजाः । स्तुवीध्वं वरदं देवं सर्व्वकामफलप्रदम् ॥३९॥

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे मार्त्तण्डस्यैकविंशतिनामानुकीर्त्तनं नाम एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

मार्तण्डजन्ममाहात्म्य-वर्णनम्

मुनय ऊचुः

निर्गुणः शाश्वतो देवस्त्वया प्रोक्तो दिवाकरः । पुनर्द्वादशधा[11] जातः श्रुतोऽस्माभिस्त्वयोदितः ॥१॥

सूर्य को सदा प्रिय है ॥३१-३३॥ यह स्तवराज तीनों लोक में प्रसिद्ध और आरोग्य, धन तथा यश को देनेवाला है ॥३४॥ जो मनुष्य पवित्र होकर दोनों संध्या इस स्तोत्र का पाठ करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥३५॥ कर्मणा, मनसा, वाचा तथा शरीर से जो कोई भी पाप किया गया है, वह सब सूर्य की सन्निधि में एक बार इस स्तोत्र का जप करने से नष्ट हो जाता है। ॥३६॥ यही स्तवराज जप, होम, संध्योपासन, धूप-मंत्र, अर्घ-मंत्र और बलि-मंत्र है ॥३७॥ अन्न-दान, दान, प्रणाम और प्रदक्षिणा में पूजित किया गया यह महामंत्र सब पापों का हरण कर लेता है ॥३८॥ द्विजगण ! इसलिए आप लोग इस स्तोत्र से वर-दायक तथा सर्व-काम-फल-प्रद सूर्य की स्तुति कीजिये॥३९॥

श्री ब्रह्म-महापुराण में सूर्य के इक्कीस नामों का अनुकीर्तन नामक एकतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥३१॥

अध्याय ३२

सूर्य के जन्म का माहात्म्य

मुनियों ने कहा—आपने निर्गुण तथा नित्य सूर्यदेव के बारे में कहा। सूर्य बारह प्रकार के हो गये—

---

[1] क. ०केशो दस्युह० । ख. ०केशो लोककर्ता त०। [2] ख. ब्रह्मण्यः स० । [3] क. ०र्वलोकन० । [4] ख. ग. ०वेः। श्रीदारोग्यकरश्चै० । [5] ख. ०तः। पठन्नेव द्वि० । [6] ख. ०श्रेष्ठो द्वि० । [7] ख. याति । [8] क. ख. ०न्त्रार्घम० । [9] ख. ०दानमन्त्रश्च प्राप्तिमंत्रस्तथैव च। पू० । [10] क. ख. स्मात्पूज्यः प्र० । [11] ख. नश्च कश्यपाज्जातः ।

स कथं तेजसो[1] रश्मिः स्त्रिया गर्भे महाद्युतिः । सम्भूतो भास्करो[2] जातस्तत्र नः संशयो महान् ।।२।।

ब्रह्मोवाच

[3]दक्षस्य हि सुताः श्रेष्ठा बभूवुः षष्टि शोभनाः । अदितिर्दितिर्दनुश्चैव विनताद्यास्तथैव च ।।३।।
दक्षस्ताः प्रददौ कन्याः कश्यपाय त्रयोदश । अदितिर्जनयामास देवांस्त्रिभुवनेश्वरान् ।।४।।
दैत्यान्दितिर्दनुश्चोग्रान्दानवान् बलदर्पितान् । विनताद्यास्तथा चान्याः सुषुवुः स्थाणुजङ्गमान् ।।५।।
तस्याथ पुत्रदौहित्रैः पौत्रदौहित्रकादिभिः । व्याप्तमेतज्जगत् सर्व्वं तेषां तासां च वै मुने ।।६।।
तेषां कश्यपपुत्राणां प्रधाना देवतागणाः । सात्त्विका राजसाश्चान्ये तामसाश्च गणाः स्मृताः ।।७।।
देवान्यज्ञभुजश्चक्रे तथा त्रिभुवनेश्वरान् । स्रष्टा ब्रह्मविदां श्रेष्ठः परमेष्ठी [4]प्रजापतिः ।।८।।
तानबाधन्त सहिताः सापत्न्याद्दैत्यदानवाः । ततो निराकृतान् पुत्रान्दैतेयैर्दानवैस्तथा ।।९।।
हतं त्रिभुवनं दृष्ट्वा अदितिर्मुनिसत्तमाः[5] । आच्छिनद्यज्ञभागांश्च क्षुधासम्पीडितान् भृशम् ।।१०।।
आराधनाय सवितुः परं यत्नं[6] प्रचक्रमे[7] । एकाग्रा नियताहारा परं नियममास्थिता ।।
तुष्टाव तेजसां राशिं गगनस्थं दिवाकरम् । ।।११।।

यह भी हमने आपसे सुना। पर एक बड़ा सन्देह हमें यह हो रहा है कि महाकान्तिमान् तथा तेजराशि सूर्य स्त्री के गर्भ से कैसे उत्पन्न हुए ? ।।१-२।।

ब्रह्मा बोले—दक्ष के साठ सुन्दरी कन्याएँ हुईं, जिनमें से अदिति, दिति, दनु और विनता आदि तेरह कन्याएँ दक्ष ने कश्यप को दीं।। ३$\frac{१}{३}$।। अदिति ने तीनों भुवन के स्वामी देवों को उत्पन्न किया।।४।। दिति ने दैत्यों को, दनु ने उग्र तथा बलाभिमानी दानवों को और विनता आदि दूसरी कन्याओं ने स्थावर-जंगमों को उत्पन्न किया।।५।। कश्यप के पुत्र-दौहित्र तथा पौत्र-दौहित्र आदि से यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है।।६।। कश्यप-पुत्रों में देवता तो सात्त्विक हैं, पर दूसरे पुत्र राजस तथा तामस हैं। ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ प्रजापति कश्यप ने देवताओं को त्रिभुवन-स्वामी तथा यज्ञ-भोक्ता बनाया।।७-८।। उन देवताओं को दैत्य और दानव पीड़ा देने लगे। मुनिगण ! दैत्य तथा दानवों ने देवताओं को भगाकर उनका यज्ञ-भाग अपहरण कर लिया। देवताओं को अत्यन्त पीड़ित तथा त्रिभुवन को विनष्ट होते हुए देखकर अदिति सूर्य की आराधना करने लगी। वह नियमित भोजन तथा कठिन नियमों को धारण कर एकाग्रचित्त होकर आकाशस्थ तेजोराशि सूर्य की स्तुति करने लगी।।९-११।।

---

[1] ख. ०सो राशिस्तिग्मतेजा म०। [2] ख. ०रो देवस्त०। [3] ग. ०क्षदुहितरः सर्वाब०। [4] क. ०तिः। दानवाः यक्षसहिताः सपत्ना दैत्यदानवाः। राक्षसाश्च ततो युद्धं तेषामासीत्सुदारुणम्। दिव्यं वर्षसहस्रं तु तत्राजीयन्त देवताः। जयवन्तोऽभवंस्तत्र बलिनो दैत्यदानवाः त०। [5] क. ०माः। विच्छि०। [6] ख. यत्नमुपस्थिता। ए०। [7] क. ०मे। जिताहारा तन्मनस्का प०।

अदितिरुवाच

नमस्तुभ्यं परं सूक्ष्मं सुपुण्यं [1]बिभ्रतेऽतुलम् । धाम धामवतामीशं[2] धामाधारं च शाश्वतम् ॥१२॥
[3]जगतामुपकाराय त्वामहं स्तौमि [4]गोपते । आददानस्य यद्रूपं तीव्रं तस्मै नमाम्यहम् ॥१३॥
ग्रहीतुमष्टमासेन [5]कालेनाम्बुमयं रसम् । बिभ्रतस्तव यद्रूपमतितीव्रं नतास्मि तत् ॥१४॥
समेतमग्निषोमाभ्यां नमस्तस्मै गुणात्मने । यद्रूपमृग्यजुःसाम्नामैक्येन तपते तव ॥१५॥
विश्वमेतत्त्रयीसंज्ञं नमस्तस्मै विभावसो । यत्तु तस्मात्परं रूपमोमित्युक्त्वाभिसंहितम् ॥
अस्थूलं स्थूलममलं नमस्तस्मै सनातन ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

एवं सा नियता देवी चक्रे स्तोत्रमहर्निशम् । निराहारा विवस्वन्तमारिराधयिषुर्द्विजाः ॥१७॥
ततः कालेन महता भगवांस्तपनो द्विजाः । प्रत्यक्षतामगात्तस्या दाक्षायण्या द्विजोत्तमाः ॥१८॥
सा ददर्श महाकूटं तेजसोऽम्बरसंवृतम् । भूमौ च संस्थितं भास्वज्ज्वालाभिरतिदुर्दृशम् ॥१९॥
तं दृष्ट्वा च ततो देवी साध्वसं परमं गता ॥२०॥

अदिति ने कहा—हे पृथ्वीपते ! तुम्हें नमस्कार है। तुम परम सूक्ष्म, अनुपमेय तेज को धारण करने वाले, तेजधारियों के स्वामी, तेजों के आधार तथा नित्य हो ॥१२॥ संसार के उपकार के लिए मैं तुम्हारी स्तुति करती हूँ। तुम्हारे तीक्ष्ण रूप को मैं नमस्कार करती हूँ ॥१३॥ आठ महीनों में जलमय रस को धारण करने वाले आपके अत्यन्त तीक्ष्ण रूप को नमस्कार है ॥१४॥ सत्त्व-रज-तम से युक्त तथा अग्नि-सोम सहित आपके रूप को नमस्कार है। ऋक्, यजुस् और साम की एकता से जो आपका रूप तपता है, उसे नमस्कार है ॥१५॥ विश्वात्मक जो आपका रूप है, उसे नमस्कार है। हे सूर्य ! सब से परे जो आपका ओम् रूप है, उसे नमस्कार है। हे सनातन ! आपके अस्थूल, स्थूल और निर्मल रूप को भी नमस्कार है ॥१६॥

ब्रह्मा ने कहा—द्विजगण ! सूर्य की आराधना करने वाली अदिति निराहार तथा नियमों से युक्त होकर इस प्रकार सूर्य की स्तुति किया करती थी ॥१७॥ विप्रवृन्द ! बहुत दिनों बाद भगवान् सूर्य उस दक्ष-पुत्री के सामने प्रकट हुए ॥१८॥ विप्रवर ! अदिति ज्वालाओं के कारण देखने न योग्य, तेजोराशि और भूमि पर स्थित सूर्य को देखकर अत्यन्त डर गयी ॥१९॥

अदिति बोली—हे गोपते ! हे जगत् के आदि ! प्रसन्न हों ! मैं आप को नहीं देखती। इसलिए कृपा

---

[1] क. ०ते पुनः। धा०। [2] क. ०धार जगत्पते। ज०। [3] ग. ०य तथाऽहं। [4] क. ०ते। अदर्शन०। [5] ग. ०लेनेन्दुम०।

अदितिरुवाच

जगदाद्य[1] प्रसीदेति न त्वां पश्यामि गोपते । प्रसादं कुरु पश्येयं यद्रूपं ते दिवाकर ॥
भक्तानुकम्पक विभो त्वद्भक्तान् पाहि मे सुतान् । ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

ततः स तेजसस्तस्मादाविर्भूतो विभावसुः । अदृश्यत तदादित्यस्तप्तताम्रोपमः प्रभुः ॥२२॥
ततस्तां प्रणतां देवीं तस्यासन्दर्शने द्विजाः । प्राह[2] भास्वान् वृणुष्वैकं वरं मत्तो यमिच्छसि ॥२३॥
प्रणता शिरसा सा तु जानुपीडितमेदिनी । प्रत्युवाच विवस्वन्तं वरदं समुपस्थितम् ॥२४॥

अदितिरुवाच

देव प्रसीद पुत्राणां हृतं त्रिभुवनं मम । यज्ञभागाश्च दैतेयैर्दानवैश्च बलाधिकैः ॥२५॥
तन्निमित्तं प्रसादं त्वं कुरुष्व मम गोपते । अंशेन तेषां भ्रातृत्वं गत्वा तान्नाशये रिपून् ॥२६॥
यथा मे तनया भूयो यज्ञभागभुजः प्रभो । भवेयुरधिपाश्चैव त्रैलोक्यस्य दिवाकर ॥२७॥
तथानुकल्पं पुत्राणां सुप्रसन्नो रवे मम । कुरु प्रसन्नार्त्तिहर कार्य्यं कर्त्ता त्वमुच्यते[3] ॥२८॥

ब्रह्मोवाच

ततस्तामाह भगवान् भास्करो वारितस्करः । प्रणतामदितिं विप्राः प्रसादसुमुखो विभुः ॥२९॥

कर मुझे अपना रूप दिखलाइये। हे भक्तों पर अनुकम्पा करने वाले ! हे विभो ! आप अपने भक्त मेरे पुत्रों की रक्षा कीजिये ॥२०-२१॥

ब्रह्मा ने कहा—तदुपरान्त सूर्य उस तेज से निकलकर तप्त ताँबे के समान कान्तिमान् होकर अदिति के सामने प्रकट हुए ॥२२॥ और प्रणाम करती हुई अदिति से सूर्य ने कहा—'तुम एक वर जो चाहो मुझसे माँग लो' ॥२३॥ घुटने टेक कर प्रणाम करती हुई अदिति ने वर देने के लिए प्रस्तुत सूर्य से कहा ॥२४॥

अदिति बोली—हे देव ! प्रसन्न हों। अधिक बल वाले दैत्य-दानवों ने मेरे पुत्रों से तीनों लोक तथा यज्ञ-भागों को छीन लिया ॥२५॥ हे गोपते ! उन्हीं के निमित्त आप मुझ पर अनुग्रह करें। अपने एक अंश से आप उनके भाई बनकर शत्रुओं का नाश कीजिये ॥२६॥ हे प्रभो ! जिस प्रकार मेरे पुत्र पुनः यज्ञ-भोक्ता और त्रिलोकी के स्वामी बनें उसी प्रकार की कृपा आप मुझ पर करें। हे शरणागतों की पीड़ा हरनेवाले ! आप सबके कर्ता कहे जाते हैं, मेरे मनोरथ पूरा कर दीजिये ॥२७-२८॥

ब्रह्मा ने कहा—विप्रवृन्द! तब जल चुराने वाले भगवान् सूर्य प्रसन्न होकर दण्डवत् करती हुई अदिति से बोले ॥२९॥

---

१ क. जगन्नाथ । २ ख. ०ह बाढं वृणु० । ३ ख. त्वमच्युतः । त० ।

सूर्य्य उवाच

सहस्रांशेन ते गर्भः सम्भूयाहमशेषतः । त्वत्पुत्रशत्रून् दक्षोऽहं नाशयाम्याशु निर्वृतः ॥३०॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा भगवान् भास्वानन्तर्धानमुपागतः । निवृत्ता सापि तपसः सम्प्राप्ताखिलवाञ्छिता ॥३१॥
ततो रश्मिसहस्रात्तु सुषुम्णाख्यो रवेः करः[1] । ततः संवत्सरस्यान्ते तत्कामपूरणाय सः ॥३२॥
निवासं सविता चक्रे देवमातुस्तदोदरे । [2]कृच्छ्रचान्द्रायणादींश्च सा चक्रे सुसमाहिता ॥३३॥
शुचिना धारयाम्येनं दिव्यं गर्भमिति द्विजाः । ततस्तां कश्यपः प्राह किञ्चित्कोपप्लुताक्षरम् ॥३४॥

कश्यप उवाच

किं मारयसि [3]गर्भाण्डमिति नित्योपवासिनी ॥

ब्रह्मोवाच

सा च तं प्राह गर्भाण्डमेतत्पश्येति कोपना । न मारितं विपक्षाणां मृत्युरेव भविष्यति ॥३५॥
इत्युक्त्वा तं तदा [4]गर्भमुत्ससर्ज सुरारणिः । जाज्वल्यमानं तेजोभिः पत्युर्वचनकोपिता ॥३६॥
तं दृष्ट्वा कश्यपो गर्भमुद्यद्भास्करवर्च्चसम् । तुष्टाव प्रणतो भूत्वा [5]वाग्भिराद्याभिरादरात् ॥३७॥

सूर्य ने कहा—मैं अपने हजार अंश से तेरे गर्भ में वास करूँगा और तेरे पुत्रों के शत्रुओं को शीघ्र ही नष्ट कर दूँगा ॥३०॥

ब्रह्मा ने कहा—इतना कहकर भगवान् सूर्य अन्तर्धान हो गये और अदिति भी वांछित फल प्राप्त कर तपस्या से निवृत्त हुई ॥३१॥ एक वर्ष वाद अदिति की कामना पूर्ण करने के लिए सहस्र किरणों में से सुषुम्ना नामक सूर्य-किरण आकर देवमाता के गर्भ में वास करने लगी ॥३२॥ अदिति भी सावधान होकर कठिन चान्द्रायण आदि व्रत करने में प्रवृत्त हुई। द्विजगण ! 'मैं पवित्रता से गर्भ धारण करूँगी' ऐसा निवेदन करती हुई अदिति से कश्यप ने कोप-युक्त कुछ बातें कहीं ॥३३-३४॥

कश्यप ने कहा—नित्य उपवास करके क्यों तुम गर्भस्थ अंडे को मार रही हो ?

ब्रह्मा ने कहा—अदिति भी क्रोध में आकर बोली—'देखो, यह गर्भस्थ अंड (बालक) नहीं मरा है। बल्कि इससे शत्रुओं की मृत्यु होगी' ॥३५॥ इतना कहकर 'पति के वचन से कुपित अदिति ने तेज से जाज्वल्यमान गर्भ का त्याग कर दिया ॥३६॥ उदयकालीन सूर्य के समान तेजस्वी उस गर्भ को देखकर कश्यप झुककर आद्य वाणियों

---

१ ग. ०रः। विप्रावतारं संचक्रे दे०। २ ख. कृच्छ्रात्सुधारणं तस्य सा। ३ ख. गर्भेऽण्ड०। ४ ख. ०र्भमासस०। ५ ख. ०भिरीड्याभि०।

संस्तूयमानः स तदा गर्भाण्डात् प्रकटोऽभवत् । [१]पद्मपत्रसवर्णाभस्तेजसा व्याप्तदिङ्मुखः ॥३८॥
अथान्तरिक्षादाभाष्य कश्यपं मुनिसत्तमम् । सतोयमेघगम्भीरा वागुवाचाशरीरिणी ॥३९॥

वागुवाच

[२]मारितमिति यत् प्रोक्तमेतदण्डं [३]त्वयादितेः । तस्मान्मुने सुतस्तेऽयं मार्त्तण्डाख्यो भविष्यति ॥४०॥
हनिष्यत्यसुरांश्चायं यज्ञभागहरानरीन् । देवा निशम्येति वचो गगनात् समुपागतम् ॥४१॥
प्रहर्षमतुलं याता दानवाश्च हतौजसः । ततो युद्धाय दैतेयानाजुहाव शतक्रतुः ॥४२॥
सह देवैर्मुदा युक्ता दानवाश्च तमभ्ययुः । तेषां युद्धमभूद्घोरं देवानामसुरैः सह ॥४३॥
शस्त्रास्त्रवृष्टिसन्दीप्तसमस्तभुवनान्तरम् । तस्मिन् युद्धे भगवता मार्त्तण्डेन निरीक्षिताः ॥४४॥
तेजसा दह्यमानास्ते भस्मीभूता महासुराः । ततः प्रहर्षमतुलं प्राप्ताः सर्व्वे दिवौकसः ॥४५॥
तुष्टुवुस्तेजसां योनिं मार्त्तण्डमदितिं तथा । स्वाधिकारांस्ततः प्राप्ता यज्ञभागांश्च पूर्व्ववत् ॥४६॥
भगवानपि मार्त्तण्डः स्वाधिकारमथाकरोत् । कदम्बपुष्पवद्भास्वानधश्चोर्द्ध्वञ्च रश्मिभिः ।
[४]वृतोऽग्निपिण्डसदृशो दध्रे नातिस्फुटं वपुः ॥४७॥

मुनय ऊचुः

कथं कान्ततरं पश्चाद्रूपं संलब्धवान् रविः । कदम्बगोलकाकारं तन्मे ब्रूहि जगत्पते ॥४८॥

से आदरपूर्वक उसकी स्तुति करने लगे ॥३७॥ स्तुति किये जाने पर जब गर्भस्थ अंड से निकल कर कमल-पत्र के समान कान्तिमान् सूर्य तेज से दशों दिशाओं को व्याप्त करते हुए प्रकट हुए तब मुनि-श्रेष्ठ कश्यप को लक्ष्य करके सजल मेघ के समान गंभीर आकाशवाणी हुई ॥३८-३९॥

वाणी ने कहा—हे मुने ! जिसलिए तुमने अदिति से कहा था कि क्यों अंडे को मार रही हो इसीलिए यह तुम्हारा पुत्र मार्तण्ड नाम से प्रख्यात होगा ॥४०॥ यह यज्ञ-भागों को हरने वाले असुरों का संहारक होगा। आकाशवाणी सुनकर देवता अत्यन्त प्रसन्न हुए और दानव निस्तेज हुए ॥४१½॥ तब इन्द्र ने दैत्यों को युद्ध के लिए आह्वान किया। दानव भी देवताओं के साथ संग्राम में प्रसन्नतापूर्वक जुट गये। बड़ा भयानक देवासुर-संग्राम हुआ ॥४२-४३॥ उनके शस्त्र-अस्त्रों की वृष्टि से त्रिभुवन व्याप्त हो गया। उस युद्ध में भगवान् मार्तण्ड ने देखा कि तेज से सब महादैत्य भस्मसात् हो गये ॥४४½॥ तब देवगण अत्यन्त हर्षित होकर तेजोराशि सूर्य की स्तुति करने लगे। भगवान् की कृपा से देवताओं को पूर्ववत् अपना-अपना अधिकार मिल गया ॥४५-४६॥ स्वयं सूर्य ने भी स्वाधिकार प्राप्त कर अग्नि-पिण्ड के समान किंचित् अस्फुट शरीर को धारण किया, जो कदम्ब-पुष्प के सदृश रश्मियों से कान्तिमान् था ॥४७॥

मुनियों ने कहा—हे जगत्पते ! सूर्य का कदम्ब के समान गोल तथा रमणीयतर रूप कैसे हुआ ? ॥४८॥

---

१ ग. ०त्रसुव० । २ ख. ०रितस्ते यतः प्रो० । ३ ख. त्वयोदितम् । त० । ग. त्वयोदितेः । त० । ४ ख. ०तोऽपि पि० ।

ब्रह्मोवाच

[1]त्वष्टा तस्मै ददौ कन्यां संज्ञां नाम विवस्वते । प्रसाद्य प्रणतो भूत्वा विश्वकर्म्मा प्रजापतिः ।।४९।।
त्रीण्यपत्यान्यसौ [2]तस्यां जनयामास गोपतिः । द्वौ पुत्रौ सुमहाभागौ कन्याञ्च यमुनां तथा ।।५०।।
यत्तेजोऽस्यधिकं तस्य मार्त्तण्डस्य विवस्वतः । तेनातितापयामास त्रींल्लोकान् सचराचरान् ।।५१।।
तद्रूपं गोलकाकारं दृष्ट्वा संज्ञा विवस्वतः । [3]असहन्ती महत्तेजः स्वां छायां वाक्यमब्रवीत् ।।५२।।

संज्ञोवाच

अहं यास्यामि भद्रं ते स्वमेव भवनं पितुः । निर्व्विकारं [4]त्वयात्रैव स्थेयं मच्छासनाच्छुभे ।।५३।।
इमौ च बालकौ मह्यं कन्या च वरवर्णिनी । सम्भाव्या नैव चाख्येयमिदं भगवते त्वया ।।५४।।

छायोवाच

[5]आ कचग्रहणाद्देवि आशापान्नैव कर्हिचित् । आख्यास्यामि मतं तुभ्यं गम्यतां यत्र वाञ्छितम् ।।५५।।
इत्युक्त्वा व्रीडिता संज्ञा जगाम पितृमन्दिरम् । वत्सराणां सहस्रन्तु वसमाना पितुर्गृहे ।।५६।।
भर्त्तुः समीपं याहीति पित्रोक्ता सा[6] पुनः पुनः । आगच्छद्वडवा भूत्वा [7]कुरूनथोत्तरांस्ततः ।।५७।।
तत्र तेपे तपः साध्वी निराहारा द्विजोत्तमाः । पितुः समीपं यातायां संज्ञायां वाक्यतत्परा ।।५८।।

ब्रह्मा ने कहा—त्वष्टा नामक प्रजापति विश्वकर्मा ने सूर्य को नित्य नमस्कार के द्वारा प्रसन्न करके संज्ञा नामक अपनी कन्या ब्याह दी ।।४९।। सूर्य से संज्ञा में दो पुत्र और एक यमुना नामक कन्या की उत्पत्ति हुई ।।५०।। मार्तण्ड का जो अत्यधिक तेज था, वह चराचर सहित तीनों लोकों को बहुत तपाता था ।।५१।। उसके गोलाकार रूप को देखकर महान् तेज को न सहती हुई संज्ञा अपनी छाया से बोली ।।५२।।

संज्ञा ने कहा—मैं अपने पिता के घर जा रही हूँ ! शुभे ! तुम्हारा कल्याण हो ! मेरी आज्ञा से तुम यहीं पर निर्विकार होकर रहो ।।५३।। हे सुन्दरी ! मेरे दोनों बालकों तथा कन्या का पालन-पोषण करना । पर भगवान् से इस आख्यान को कभी न कहना ।।५४।।

छाया ने कहा—हे देवी ! जब तक मेरे बाल नहीं पकड़े जायेंगे और शाप नहीं पड़ेगा तब तक मैं इस रहस्य को कभी नहीं बतला सकती । तुम जहाँ चाहो वहाँ जाओ ।।५५।। इस प्रकार कही जाने पर लजाती हुई संज्ञा पितृ-गृह को चली गयी । वहाँ एक हजार वर्ष तक वास करने के उपरान्त पिता ने उसे अपने स्वामी के पास लौट जाने के लिए विवश किया ।।५६½।। तब पतिव्रता संज्ञा घोड़ी का रूप धारण करके उत्तर-कुरु देश में आयी और निराहार रहकर तपस्या करने लगी ।।५७½।। द्विजगण ! संज्ञा के अपने पिता के पास चली जाने पर उसी का रूप

---

१ क. ग. अथ । २ ख. तत्र । ३ क. ०न्ती तदा तेजः । ४ ग. ०याऽप्यत्रये० । ५ ख. आ केशग्र० । ६ ख. तु । ७ख. ०रूनेवोत्त० ।

तद्रूपधारिणी छाया भास्करं समुपस्थिता । [१]तस्याञ्च भगवान् सूर्य्यः संज्ञेयमिति चिन्तयन् ।।५९।।
तथैव जनयामास द्वौ पुत्रौ[२] कन्यकां तथा । संज्ञा तु पार्थिवी तेषामात्मजानां तथाकरोत् ।।६०।।
स्नेहं न पूर्व्वजातानां तथा[३] कृतवती[४] तु सा । मनुस्तत्क्षान्तवांस्तस्या यमस्तस्या न चक्षमे ।।६१।।
बहुधा पीड्यमानस्तु पितुः पत्न्या सुदुःखितः । स वै कोपाच्च बाल्याच्च भाविनोऽर्थस्य वै बलात्[५] ।।
पदा सन्तर्ज्जयामास न तु देहे न्यपातयत् ।।६२।।

छायोवाच

पदा तर्ज्जयसे यस्मात्पितुर्भार्य्यां गरीयसीम् । तस्मात्तवैष चरणः पतिष्यति न संशयः ।।६३।।

ब्रह्मोवाच

यमस्तु तेन शापेन भृशं पीडितमानसः । मनुना सह धर्म्मात्मा पित्रे सर्व्वं न्यवेदयत् ।।६४।।

यम उवाच

स्नेहेन तुल्यमस्मासु[६] माता देव न वर्त्तते । विसृज्य ज्यायसं भक्त्या कनीयांसं बुभूषति ।।६५।।
तस्यां मयोद्यतः पादो न तु देहे निपातितः । बाल्याद्वा यदि वा मोहात्तद्भवान् क्षन्तुमर्हसि ।।६६।।
शप्तोऽहं तात कोपेन जनन्या तनयो यतः । ततो मन्ये न जननीमिमां वै तपतांवर ।।६७।।
तव प्रसादाच्चरणो भगवन् न पतेद्यथा । मातृशापादयं मेऽद्य तथा चिन्तय गोपते ।।६८।।

धारण करने वाली छाया सूर्य के समीप आयी ।।५८½।। भगवान् सूर्य ने उसे संज्ञा ही समझते हुए दो पुत्र और एक पुत्री उससे उत्पन्न किया ।।५९½।। अब नकली संज्ञा अपने पुत्र-पुत्री को सच्ची संज्ञा के बच्चे की अपेक्षा अधिक मानने लगी। मनु ने तो इसको सहन किया, पर यम नहीं सह सका ।।६०-६१।। उसने विमाता द्वारा बहुत पीड़ित होने पर कोप या लड़कपन या भावी अनर्थ के कारण छाया को लात मारना चाहा, पर उसके शरीर पर चरण-प्रहार नहीं किया ।।६२।।

छाया ने कहा—जिस चरण से तू माता को मारता है तेरा यह चरण गिर पड़ेगा, इसमें कोई संशय नहीं ।।६३।।

ब्रह्मा ने कहा—छाया के शाप से अत्यन्त दुःखी होकर धर्मात्मा यम ने मनु के साथ पिता के पास जाकर उनसे सारी बातें निवेदन कर दीं ।।६४।।

यम ने कहा—हे देव ! माता को समान भाव से हम लोगों के साथ बरतना चाहिये, पर वह तो बड़े को छोड़ कर छोटे ही को मानती है ।।६५।। इसलिए मैंने बचपन या मोह के कारण उसके ऊपर पैर उठाया ; किन्तु मारा नहीं। आप मेरे इस अपराध को क्षमा करें ।।६६।। हे तात ! हे तपनश्रेष्ठ ! माता ने क्रोध से मुझे शाप दे दिया । इससे मैं समझता हूँ कि यह मेरी माँ नहीं हैं ।।६७।। हे भगवन् ! मातृ-शाप के कारण मेरे पैर न गिरें ऐसा कोई उपाय करने की कृपा करें ।।६८।।

---

[१] ख. तदा सभ० । [२] ख. सुतौ । [३] क. यथा । [४] क. ०ती पुरा । म० । [५] क. वशात् । [६] ख. ०सु आत्मजेषु न ।

रविरुवाच

असंशयं महत्पुत्र भविष्यत्यत्र कारणम् । येन त्वामाविशत्क्रोधो धर्म्मज्ञं धर्म्मशीलिनम्[1] ॥६९॥
सर्व्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते । न तु मात्राभिशप्तानां [2]क्वचिच्छापनिवर्त्तनम् ॥७०॥
न शक्यमेतन्मिथ्या तु कर्त्तुः [3]मातुर्वचस्तव । किञ्चित्तेऽहं विधास्यामि [4]पुत्रस्नेहादनुग्रहम् ॥७१॥
कृमयो मांसमादाय प्रयास्यन्ति महीतलम् । [5]कृतं तस्या वचः सत्यं[6] त्वञ्च त्रातो भविष्यसि ॥७२॥

ब्रह्मोवाच

आदित्यस्त्वब्रवीच्छायां किमर्थं तनयेषु वै[7] । तुल्येष्वप्यधिकः स्नेह एकं प्रति कृतस्त्वया ॥७३॥
नूनं नैषां त्वं जननी संज्ञा कापि त्वमागता । निर्गुणेष्वप्यपत्येषु माता शापं न दास्यति ॥७४॥
सा [8]तत्परिहरन्ती च शापाद्भीता तदा रवेः । कथयामास वृत्तान्तं स श्रुत्वा श्वशुरं ययौ ॥७५॥
स चापि तं यथान्यायमर्च्चयित्वा तदा रविम् । निर्दग्धुकामं रोषेण सान्त्वयानस्तमब्रवीत् ॥७६॥

विश्वकर्म्मोवाच

तवातितेजसा व्याप्तमिदं रूपं सुदुःसहम् । असहन्ती तु तत्संज्ञा वने चरति वै तपः ॥७७॥
द्रक्ष्यते तां भवानद्य स्वां भार्य्यां शुभचारिणीम् । रूपार्थं भवतोऽरण्ये चरन्तीं सुमहत्तपः ॥७८॥
श्रुतं मे ब्रह्मणो [9]वाक्यं तव तेजोऽवरोधने । रूपं निवर्त्तयाम्यद्य तव कान्तं दिवस्पते ॥७९॥

सूर्य ने कहा—पुत्र ! निःसन्देह इसमें कोई महान् कारण है, जिससे तुम्हारे जैसे धर्मज्ञ तथा धर्मशील को क्रोध आ गया ॥६९॥ सबके शापों का प्रतीकार है ; किन्तु माता से अभिशप्तों की शाप-निवृत्ति कहीं नहीं होती ॥७०॥ मैं तुम्हारी माता के वचन को मिथ्या नहीं कर सकता । फिर भी पुत्र-स्नेह के कारण मैं कोई उपाय करूँगा ॥७१॥ कीड़े तुम्हारे पैर का मांस ले-लेकर पृथ्वी पर जायंगे, इससे उसका वचन भी सत्य होगा और तुम भी बच जाओगे ॥७२॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके उपरान्त सूर्य ने छाया से कहा—'क्यों तुम समान पुत्रों में से एक के प्रति अधिक स्नेह कर रही हो ? ॥७३॥ (इससे जान पड़ता है कि) निश्चय ही तुम इनकी माता नहीं हो, कोई दूसरी संज्ञा आ गयी हो। क्योंकि गुणहीन सन्तान को भी माता शाप नहीं देती ॥७४॥ तब सूर्य के शाप-भय से छाया ने सारा वृत्तान्त कह दिया। सूर्य भी यह सुनकर अपने श्वशुर के पास गये ॥७५॥ विश्वकर्मा ने क्रोध से दग्ध करने के इच्छुक सूर्य की समयोचित पूजा की और सान्त्वना देते हुए उनसे कहा ॥७६॥

विश्वकर्मा ने कहा—आपके अत्यन्त तेज से व्याप्त इस दुःसह रूप को न सहती हुई संज्ञा वन में तपस्या कर रही है ॥७७॥ आपके रूप के लिए वन में घोर तपस्या करती हुई पवित्र आचरण वाली अपनी पत्नी को आज आप देखेंगे ॥७८॥ आपके तेज को अवरुद्ध करने के विषय में मैंने ब्रह्मा जी का वाक्य सुना है। हे आकाश के स्वामी ! आज मैं आपके रूप को मनोहर बना दूँगा ॥७९॥

---

१ ख. ०र्मशाश्वतम् । २ ग. ०चित्पाप० । ३ क. मातृवच० । ४ ख. प्रदास्यामि । ५ ख. एवं । ६ ख. ०त्यं त्वयि पुत्र भ० । ७ क. च । ८ क. ख. ०न्तीव शा० । ९ क. ग. ०क्यं यदि ते देव रोचते । रू० ।

ब्रह्मोवाच

ततस्तथेति तं प्राह त्वष्टारं भगवान् रविः । ततो विवस्वतो रूपं प्रगासीत्परिमण्डलम् ॥८०॥
विश्वकर्म्मा त्वनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वता। भ्रमिमारोप्य तत्तेजःशातनायोपचक्रमे ॥८१॥
भ्रमताशेषजगतां नाभिभूतेन भास्वता । समुद्राद्रिवनोपेता त्वाऽरोह मही नभः ॥८२॥
गगनञ्चाखिलं विप्राः सचन्द्रग्रहतारकम् । अधो गतं महाभागा बभूवाक्षिप्तमाकुलम् ॥८३॥
विक्षिप्तसलिलाः सर्व्वे बभूवुश्च तथार्णवाः[1] । व्यभिद्यन्त महाशैलाः शीर्णसानुनिबन्धनाः[2] ॥८४॥
ध्रुवाधाराण्यशेषाणि धिष्ण्यानि मुनिसत्तमाः । त्रुट्यद्रश्मिनिबन्धीनि बन्धनानि अधो ययुः ॥८५॥
वेगभ्रमणसम्पातवायुक्षिप्तां सहस्रशः । व्यशीर्य्यन्त महामेघा घोरारावविराविणः ॥८६॥
भास्वद्भ्रमणविभ्रान्तभूम्याकाशरसातलम् । जगदाकुलमत्यर्थं [3]तदासीन्मुनिसत्तमाः ॥८७॥
त्रैलोक्यमाकुलं वीक्ष्य भ्रममाणं सुरर्षयः । देवाश्च ब्रह्मणा सार्द्धं भास्वन्तमभितुष्टुवुः ॥८८॥
आदिदेवोऽसि देवानां जातस्त्वं भूतये भुवः । स्वर्गस्थित्यन्तकालेषु त्रिधा भेदेन तिष्ठसि ॥८९॥
स्वस्ति तेऽस्तु जगन्नाथ[4] घर्म्मवर्ष दिवाकर । इन्द्रादयस्तदा देवा लिख्यमानमथास्तुवन्[5] ॥९०॥
जय देव [6]जगत्स्वामिन् जयाशेष जगत्पते । ऋषयश्च ततः सप्त वसिष्ठात्रिपुरोगमाः ॥९१॥
तुष्टुवुर्विविधैः स्तोत्रैः स्वस्ति स्वस्तीतिवादिनः। वेदोक्तिभिरथाग्र्यैरभिर्वालखिल्याश्च तुष्टुवुः[7] ॥९२॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद भगवान् सूर्य ने त्वष्टा से कहा—'ऐसा ही सही ।' तब सूर्य का रूप पहले मंडलाकार था ॥८०॥ पश्चात् शाकद्वीप में सूर्य की आज्ञा से विश्वकर्मा ने उनको भ्रमि (भ्रमण-यंत्र) पर चढ़ा कर उनके तेज को विशीर्ण अर्थात् संक्षिप्त करना प्रारंभ किया ॥८१॥ समस्त जगत् के नाभिरूप सूर्य के भ्रमण से समुद्र, वन आदि सहित पृथिवी आकाश में चली गयी ॥८२॥ विप्रवृन्द ! चन्द्रमा, ग्रह और तारा सहित निखिल आकाश व्याकुल होकर नीचे आ गया ॥८३॥ समुद्र का जल चंचल हो उठा । चोटियों के शीर्ण-विशीर्ण हो जाने से बड़े-बड़े पर्वत टूटने लगे ॥८४॥ मुनिगण ! ध्रुव रूपी आधार वाले समस्त नक्षत्र, जिनकी किरणों के बन्धन टूट गये, नीचे गिर पड़े ॥८५॥ भ्रमण-वेग से पतित वायु के द्वारा हजारों घोर शब्द करने वाले मेघ उखाड़ कर फेंक दिये गये ॥८६॥ मुनिगण ! सूर्य-भ्रमण के समय भूमि, आकाश और पाताल आदि विशिष्ट जगत् अत्यन्त व्याकुल हो गया ॥८७॥ तीनों लोक को भ्रमण से आकुल देखकर ब्रह्मा सहित देवगण सूर्य की स्तुति करने लगे ॥८८॥ 'तुम देवों के आदिदेव हो, तुम संसार की उत्पत्ति के लिए हो और सृष्टि-स्थिति-प्रलय—तीनों काल में तुम तीन प्रकार से रहते हो ॥८९॥ हे दिनकर ! हे जगन्नाथ ! हे ताप बरसाने वाले ! तुम्हारा कल्याण हो ।' उस समय इन्द्र आदि देवताओं ने भी खरादे जाते हुए सूर्य की स्तुति की ॥९०॥ 'हे देव ! आपकी जय हो ! हे अशेष जगत् के स्वामी ! आपकी जय हो ।' वसिष्ठ, अत्रि आदि सप्तर्षि भी स्वस्तिवाचन पूर्वक अनेक प्रकार के स्तोत्रों से सूर्य की स्तुति करने लगे

---

१ ख. ०वाः । भिद्यन्ते स्म । म० । २ ख. ०नाः । ब्रह्मलोकवशे० । ३ क. ०दाप्रभृति स० । ४ क. ०थ त्वमर्हसि दि० । ५ क. ०थाब्रुव० । ६ क. ०गद्व्यापितेजोधाम ज० । ७ क. ग. ०वुः । ऋग्नि० ।

अग्निराद्याश्च भास्वन्तं लिख्यमानं मुदा युताः[1] । त्वं नाथ मोक्षिणां मोक्षो ध्येयस्त्वं ध्यानिनां परः ॥९३॥
त्वं गतिः सर्व्वभूतानां [2]कर्म्मकाण्डविवर्त्तिनाम् । सम्पूज्यस्त्वं तु देवेश शं नोऽस्तु जगतां पते ॥९४॥
शं नोऽस्तु द्विपदे नित्यं शं नश्चास्तु चतुष्पदे । ततो विद्याधरगणा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥९५॥
कृताञ्जलिपुटाः सर्व्वे शिरोभिः प्रणता रविम् । ऊचुस्ते विविधा वाचो मनःश्रोत्रसुखावहाः ॥९६॥
सह्यं भवतु तेजस्ते भूतानां भूतभावन । ततो हाहाहूहूश्चैव नारदस्तुम्बुरुस्तथा ॥९७॥
उपगायितुमारब्धा गान्धर्व्वकुशला रविम् । षड्जमध्यमगान्धारगानत्रयविशारदाः ॥९८॥
मूर्च्छनाभिश्च तालैश्च[3] सम्प्रयोगैः[4] सुखप्रदम् । विश्वाची च घृताची च उर्व्वश्यथ तिलोत्तमा ॥९९॥
मेनका सहजन्या च रम्भा चाप्सरसांवरा[5] । ननृतुर्जगतामीशे[6] लिख्यमाने विभावसौ ॥१००॥
भावहासविलासाद्यान् कुर्व्वत्योऽभिनयान्बहून् । प्रावाद्यन्त ततस्तत्र वीणा वेण्वादिझर्झराः ॥१०१॥
पणवाः[7] पुष्कराश्चैव मृदङ्गाः पटहानकाः । देवदुन्दुभयः शङ्खाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥१०२॥
गायद्भिश्चैव नृत्यद्भिर्गन्धर्व्वैरप्सरोगणैः । तूर्य्यवादित्रघोषैश्च सर्व्वं कोलाहलीकृतम् ॥१०३॥
ततः कृताञ्जलिपुटा भक्तिनम्रात्ममूर्त्तयः । लिख्यमानं सहस्रांशुं प्रणेमुः सर्व्वदेवताः ॥१०४॥
ततः कोलाहले तस्मिन् सर्व्वदेवसमागमे । तेजसः [8]शातनं चक्रे विश्वकर्म्मा शनैः शनैः[9] ॥१०५॥
आजानुलिखितश्चासौ निपुणं विश्वकर्म्मणा । नाभ्यनन्दत्तु लिखनं ततस्तेनावतारितः ॥१०६॥

।।९१$\frac{१}{३}$।। वालखिल्य संज्ञक मुनिगण ने भी वेदोक्त मंत्रों से भास्कर की स्तुति की। अग्नि प्रमुख देवों ने भी खरादे जाते हुए सूर्य की हर्षपूर्वक स्तुति की— 'तुम मुक्तों के मोक्ष और ध्यानियों के ध्येय हो ।।९२-९३।। कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करने वाले प्राणियों की गति भी तुम्हीं हो। हे देवेश ! तुम पूज्य हो ! हे जगत्पते ! हमारा मंगल हो ! द्विपद तथा चतुष्पद जीवों से नित्य हमारा कल्याण हो।' ।।९४$\frac{१}{३}$।। तब यक्ष, राक्षस, सर्प और विद्याधर गण ने अंजलि बाँध सिर झुका कर सूर्य को प्रणाम किया और मन तथा कानों को सुख देने वाली अनेक बातें भी कहीं ।।९५-९६।। 'हे भूतपाल ! आपका तेज हमें सह्य हो।' तब हाहा, हूहू, नारद और तुम्बुरु, जो गान्धर्व विद्या में कुशल तथा षड्ज, मध्यम और गान्धार—इन तीनों गानों में विशारद थे, मूर्च्छना और तालों के साथ सुखप्रद गीत गाने लगे ।।९७-९८।। विश्वाची, धृताची, उर्वशी, तिलोत्तमा, मेनका, सहजन्या और रम्भा—ये श्रेष्ठ अप्सराएँ हाव, भाव तथा विलासपूर्वक अभिनय करती हुई नाचने लगीं। वीणा, वंशी, झाँझ, ढोल, नक्कारे, मृदंग, डमरू, देवदुन्दुभि और शंख आदि बाजे सैकड़ों-हजारों की संख्या में बजने लगे। गन्धर्व तथा अप्सरागणों के गान, नाच और भेरी आदि बाजों के शब्द से महान् कोलाहल हुआ ।।९९-१०३।। तब भक्ति से नतमस्तक हो अंजलि जोड़कर सब देवताओं ने सूर्य को प्रणाम किया ।।१०४।। देवों के एकत्रित होने से कोलाहल मच गया। उसी समय विश्वकर्मा ने धीरे-धीरे तेज को संक्षिप्त कर दिया। ।।१०५।। विश्वकर्मा ने दक्षता से जंघे तक सूर्य को खराद

---

१ क. ०ताः। त्वन्नामस्मरणान्मोक्षो। २ क. ०ण्डप्रव०। ३ क. ०श्च सुप्र०। ४ क. ०योगसु०। ५ क. ०रा। तुष्टुवुर्ज०। ६ क. ०मीशं लि०। ७ ख. ०णवादीनि वाद्यानि मृ०। ८ ख. शमनं। ९ ख. ०नैः। अथासील्लिखि०।

न तु निर्भर्त्सितं रूपं तेजसो हननेन तु । कान्तात्कान्ततरं रूपमधिकं शुशुभे ततः ।।१०७।।
इति हिमजलघर्म्मकालहेतोर्हरकमलासनविष्णुसंस्तुतस्य ।
तदुपरि लिखनं निशम्य भानोर्व्रजति दिवाकरलोकमायुषोऽन्ते ।।१०८।।
एवं जन्म रवेः पूर्व्वं बभूव मुनिसत्तमाः । रूपञ्च परमं तस्य मया सम्परिकीर्त्तितम् ।।१०९।।
इति श्रीब्राह्मे महापुराणे मार्त्तण्डजन्मशरीरलिखनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ।।३२।।

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

मार्तण्डमाहात्म्य-वर्णनम्

मुनय ऊचुः

भूयोऽपि कथयास्माकं कथां सूर्य्यसमाश्रिताम् । न तृप्तिमधिगच्छामः शृण्वन्तस्तां कथां शुभाम् ।।१।।
योऽयं दीप्तो महातेजा वह्निराशिसमप्रभः । एतद्वेदितुमिच्छामः प्रभावोऽस्य कुतः प्रभो ।।२।।

ब्रह्मोवाच

तमोभूतेषु लोकेषु नष्टे स्थावरजङ्गमे । [1]प्रकृतेर्गुणहेतुस्तु[2] पूर्व्वं बुद्धिरजायत ।।३।।

दिया। यद्यपि सूर्य इससे प्रसन्न नहीं हुए, फिर भी संक्षिप्त तेज वाले रूप की उन्होंने निन्दा भी नहीं की। और अब उनका रूप सुन्दर से भी सुन्दर बन गया ।।१०६-१०७।। हिम, जल, घर्म और काल के कारण तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश से स्तुत सूर्य के खरादे जाने के सम्बन्ध में सुनकर आयु के अन्त में मनुष्य सूर्य-लोक को प्राप्त करता है।।१०८।। मुनिवर! पहले इस प्रकार सूर्य का जन्म हुआ। उनके परमरूप के बारे में भी मैंने कह दिया।।१०९।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में सूर्य-जन्म-शरीर-लिखन नामक बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ।।३२।।

अध्याय ३३

सूर्य माहात्म्य-वर्णन

मुनियों ने कहा—फिर हमें सूर्य सम्बन्धी कथा सुनाइये। क्योंकि उस पवित्र कथा को सुनते हुए हमें तृप्ति नहीं हो रही है। हम जानना चाहते हैं कि अग्नि-राशि के समान कान्तिमान् तथा महातेजस्वी (सूर्य) को इतना प्रभाव कैसे प्राप्त हुआ ।।१-२।।

ब्रह्मा ने कहा—जब तीनों लोक अन्धकारमय थे और स्थावर-जंगम नष्ट हो चुके थे तब पहले (त्रिगुणा-

---

[1] ग. प्रवृत्ते गुण० । [2] ग. ०तुत्वे प० ।

अहङ्कारस्ततो [1]जातो महाभूतप्रवर्त्तकः । वाय्वग्निरापः खं भूमिस्ततस्त्वण्डमजायत ॥४॥
तस्मिन्नण्डे त्विमे लोकाः सप्त[2] चैव प्रतिष्ठिताः । पृथिवी सप्तभिर्द्वीपैः समुद्रैश्चैव सप्तभिः ॥५॥
तत्रैवावस्थितो ह्यासीदहं विष्णुर्महेश्वरः । विमूढास्तामसाः सर्व्वे प्रध्यायन्ति तमीश्वरम् ॥६॥
ततो वै सुमहातेजाः प्रादुर्भूतस्तमोनुदः । ध्यानयोगेन चास्माभिर्विज्ञातं सविता तदा ॥७॥
ज्ञात्वा च परमात्मानं सर्व एव पृथक् पृथक् । दिव्याभिः स्तुतिभिर्देवः स्तुतोऽस्माभिस्तदेश्वरः ॥८॥
आदिदेवोऽसि देवानामैश्वर्य्याच्च त्वमीश्वरः । आदिकर्त्ताऽसि भूतानां देवदेवो दिवाकरः ॥९॥
जीवनः सर्व्वभूतानां देवगन्धर्व्वरक्षसाम् । मुनिकिन्नरसिद्धानां तथैवोरगपक्षिणाम् ॥१०॥
त्वं ब्रह्मा त्वं महादेवस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः । वायुरिन्द्रश्च सोमश्च विवश्वान्वरुणस्तथा ॥११॥
त्वं कालः सृष्टिकर्त्ता च हर्त्ता भर्त्ता तथा प्रभुः । सरितः सागराः शैला विद्युदिन्द्रधनूंषि च ॥१२॥
प्रलयः प्रभवश्चैव व्यक्ताव्यक्तः सनातनः । ईश्वरात्परतो विद्या विद्यायाः परतः शिवः ॥१३॥
शिवात्परतरो देवस्त्वमेव परमेश्वरः । सर्व्वतः पाणिपादान्तः सर्व्वतोक्षिशिरोमुखः ॥१४॥
सहस्रांशुः सहस्रास्यः सहस्रचरणेक्षणः । भूतादिर्भूर्भुवः स्वश्च महः सत्यं तपो जनः ॥१५॥
प्रदीप्तं दीपनं दिव्यं सर्वलोकप्रकाशकम् । दुर्निरीक्षं सुरेन्द्राणां यद्रूपं तस्य ते नमः ॥१६॥
सुरसिद्धगणैर्जुष्टं भृग्वत्रिपुलहादिभिः । स्तुतं परममव्यक्तं यद्रूपं तस्य ते नमः ॥१७॥

त्मिका) प्रकृति की हेतुभूत बुद्धि उत्पन्न हुई ॥३॥ बुद्धि से पंचमहाभूत-प्रवर्तक अहंकार उत्पन्न हआ। अहंकार से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से आकाश, आकाश से भूमि और भूमि से अण्ड उत्पन्न हुआ ॥४॥ उस अण्ड में सातों लोक और सातों द्वीप तथा सातों समुद्र सहित पृथिवी प्रतिष्ठित हुई ॥५॥ उसी अण्ड में मैं, विष्णु और शंकर भी अवस्थित थे। विमूढ तामसी जीव उसी ईश्वर का ध्यान करते हैं ॥६॥ तब अन्धकार-नाशक महातेजस्वी सूर्य प्रकट हुए, जिन्हें ध्यान-योग से हमने समझा ॥७॥ उन्हें परमात्मा जानकर दिव्य स्तोत्रों के द्वारा हमने उनकी स्तुति की—॥८॥ 'तुम देवों के आदिदेव हो, ऐश्वर्य के कारण ईश्वर हो, प्राणियों के आदिकर्ता हो, देवाधिदेव हो, दिनकर हो और देव, गन्धर्व, रक्षस्, मुनि, किन्नर, सिद्ध, नाग, पक्षी तथा सब प्राणियों के जीवन हो ॥९-१०॥ तुम्हीं ब्रह्मा, तुम्हीं महादेव, तुम्हीं विष्णु, तुम्हीं प्रजापति, वायु, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य तथा वरुण भी तुम्हीं हो ॥११॥ तुम्हीं काल, सृष्टिकर्त्ता, हर्ता, भर्ता, प्रभु, नदी, समुद्र, पर्वत, विद्युत्, इन्द्र-धनुष, प्रलय, उत्पत्ति, व्यक्त, अव्यक्त और सनातन हो ॥१२½॥ ईश्वर से परे विद्या, विद्या से परे शिव और शिव से वढ़कर परमेश्वर तुम्हीं हो ॥१३½॥ तुम्हारे हाथ, पैर, नेत्र, सिर तथा मुख सब जगह हैं। तुम हजार मुख, हजार चरण, हजार नेत्र और हजार किरण वाले हो ॥१४½॥ तुम प्राणियों के आदि हो। भूर्, भुवर्, स्वर्, महर्, सत्य, तपस् तथा जनस् लोकवाला, दिव्य, सर्व-लोक-प्रकाशक, उद्दीप्त, उद्दीपकं और देवताओं से दुर्निरीक्ष्य जो तुम्हारा रूप है, उसे नमस्कार है ॥१५-१६॥ देवता और सिद्धगणों से सेवित तथा भृगु, अत्रि, पुलह आदि मुनियों से प्रशंसित जो परम अव्यक्त तुम्हारा रूप है, उसे नमस्कार है ॥१७॥

---

[1] क. जज्ञ । [2] क. सर्वदैव ।

वेद्यं वेदविदां नित्यं सर्वज्ञानसमन्वितम् । सर्वदेवातिदेवस्य यद्रूपं तस्य ते नमः ॥१८॥
विश्वकृद्विश्वभूतं च वैश्वानरसुरार्च्चितम् । विश्वस्थितमचिन्त्यं च यद्रूपं तस्य ते नमः ॥१९॥
परं यज्ञात् परं वेदात् परं लोकात् परं दिवः । परमात्मेत्यभिख्यातं यद्रूपं तस्य ते नमः ॥२०॥
अविज्ञेयमनालक्ष्यमध्यानगतमव्ययम् । अनादिनिधनं चैव यद्रूपं तस्य ते नमः ॥२१॥
नमो नमः कारणकारणाय, नमो नमः पापविमोचनाय[1] ।
नमो नमस्ते दितिजार्दनाय, नमो नमो रोगविमोचनाय[2] ॥२२॥
नमो नमः सर्व्ववरप्रदाय, नमो नमः[3] सर्व्वसुखप्रदाय ।
नमो नमः सर्वधनप्रदाय, नमो नमः सर्व्वमतिप्रदाय ॥२३॥
स्तुतः स भगवानेवं तैजसं रूपमास्थितः । उवाच वाचा कल्याण्या को वरो वः प्रदीयताम् ॥२४॥

देवा ऊचुः

तवातितैजसं रूपं न कश्चित्सोढुमुत्सहेत् । सहनीयं तद्भवतु हिताय जगतः प्रभो ॥२५॥
एवमस्त्विति सोऽप्युक्त्वा[4] भगवानादिकृत् प्रभुः । लोकानां कार्यसिद्ध्यर्थं घर्म्मवर्षहिमप्रदः[5] ॥२६॥
ततः सांख्याश्च योगाश्च ये चान्ये मोक्षकाङ्क्षिणः । ध्यायन्ति[6] ध्यायिनो देवं हृदयस्थं दिवाकरम् ॥२७॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि [7]युक्तो वा सर्व्वपातकैः । सर्व्वञ्च तरते पापं[8] [9]देवमर्कं समाश्रितः ॥२८॥

वेद-वेत्ताओं से जानने योग्य, नित्य सब ज्ञानों से युक्त तथा सब देवों के रूप से बढ़कर जो तुम्हारा रूप है, उसे नमस्कार है ॥१८॥ विश्व-कर्ता, विश्वात्मा, अग्नि तथा देवताओं से पूजित, संसार में स्थित और अचिन्त्य जो तुम्हारा रूप है, उसे नमस्कार है ॥१९॥ यज्ञ, वेद, लोक और आकाश से परे तथा परमात्मा नाम से विख्यात जो तुम्हारा रूप है, उसे नमस्कार है ॥२०॥ अविज्ञेय, अशोच्य, ध्यान से अगम्य, अव्यय, अनादि और अनन्त जो तुम्हारा रूप है, उसे नमस्कार है ॥२१॥ कारणों के कारण रूप तुम्हें नमस्कार है, पाप-विमोचन रूपी प्रभो ! तुम्हें नमस्कार है, दैत्यों के नाश करने वाले तुम्हें नमस्कार है, रोगों से उन्मुक्त करने वाले तुम्हें नमस्कार है, सब वरदानों को देने वाले तुम्हें नमस्कार है, सब के सुखदायक तुम्हें नमस्कार है, सब को धन देने वाले तुम्हें नमस्कार है और सब को बुद्धि देने वाले तुम्हें नमस्कार हैं ॥२२-२३॥ इस प्रकार स्तुति किये जाने पर भगवान् सूर्य तैजस रूप को धारण कर कल्याणमयी वाणी से कहने लगे—'आप लोगों को मैं कौन-सा वरदान दूँ ?' ॥२४॥

देवताओं ने कहा—'प्रभो ! तुम्हारे इस तैजस रूप को कोई नहीं सह सकेगा । इसलिए संसार के कल्याण के निमित्त अपने रूप को सहन करने योग्य बनाने की कृपा करो ॥२५॥ तब 'एवमस्तु' कहकर आदिकर्ता भगवान् सूर्य लोकों के कल्याण के लिये घाम, वर्षा तथा हिम देने लगे ॥२६॥ तभी से सांख्य, योगी और मोक्षाकांक्षी जन हृदयस्थ भास्कर का ध्यान करते हैं ॥२७॥ सब लक्षणों से हीन तथा सब पापों से युक्त मनुष्य भी सूर्यदेव का आश्रय

---

[1] क. ख. ०विनाशना० । [2] क. ख. ०विनाशना० । [3] क. ०मः स्वर्गगतिप्र० । [4] ग. ०प्युक्तो भ० । [5] क. ख. ०प्रभुः । त० । [6] ख. मनसा । [7] ग. मुक्तो । [8] ख. दुःखं । [9] ख. ०वमाश्रित्य मानवः । अ० ।

[1]अग्निहोत्रञ्च वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः । भानोर्भक्तिनमस्कारकलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।२९।।
तीर्थानां परमं तीर्थं मङ्गलानाञ्च मंगलम् । पवित्रञ्च पवित्राणाम् प्रपद्यन्ते[2] दिवाकरम् ।।३०।।
शक्राद्यैः संस्तुतं [3]देवं ये नमस्यन्ति भास्करम् । सर्वकिल्विषनिर्म्मुक्ताः सूर्य्यलोकं व्रजन्ति[4] ते ।।३१।।

मुनय ऊचुः

चिरात्प्रभृति नो ब्रह्मन् श्रोतुमिच्छा प्रवर्त्तते । नाम्नामष्टशतं ब्रूहि यत्त्वयोक्तं पुरा रवेः ।।३२।।

ब्रह्मोवाच

अष्टोत्तरशतं नाम्नां शृणुध्वं गदतो मम । भास्करस्य परं गुह्यं स्वर्गमोक्षप्रदं द्विजाः ।।३३।।
ॐ सूर्योऽर्य्यमा भगस्त्वष्टा पूषाऽर्कः सविता रविः । गभस्तिमानजः कालो मृत्युर्धाता प्रभाकरः ।।३४।।
पृथिव्यापश्च तेजश्च खं वायुश्च परायणम् । सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च ।।३५।।
इन्द्रो विवस्वान्दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः । ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च[5] स्कन्दो वैश्रवणो[6] यमः[7] ।।३६।।
वैद्युतो जाठरश्चाग्निरैन्धनस्तेजसां पतिः । धर्म्मध्वजो वेदकर्त्ता वेदाङ्गो वेदवाहनः ।।३७।।
कृतं[8] त्रेता द्वापरश्च कलिः[9] सर्वामराश्रयः । कलाकाष्ठामुहूर्त्ताश्च[10] क्षपा[11] यामास्तथा क्षणाः ।।३८।।
संवत्सरकरोऽश्वत्थः कालचक्रो विभावसुः । पुरुषः शाश्वतो योगी व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ।।३९।।

ग्रहण कर पाप-समुद्र को पार कर जाता है ।।२८।। अग्निहोत्र, वेद, यज्ञ, बहुत दक्षिणा—ये सब सूर्य को भक्तिपूर्वक नमस्कार करने की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं ।।२९।। भक्त लोग तीर्थों के तीर्थ, मंगलों के मंगल और पवित्रों के पवित्र सूर्य को प्राप्त करते हैं ।।३०।। जो मनुष्य इन्द्र आदि द्वारा स्तुति किये गये सूर्यदेव को नमस्कार करते हैं, वे सब पापों से मुक्त होकर सूर्य-लोक को जाते हैं ।।३१।।

मुनियों ने कहा—ब्रह्मन् ! चिरकाल से हमारी सुनने की इच्छा है, अतः आप के एक सौ आठ नामों को बताइये, जो आपने पहले कहा था ।।३२।।

ब्रह्मा ने कहा—द्विजगण ! (यदि यही इच्छा है तो) भास्कर के गुह्य तथा स्वर्ग-मोक्ष-दायक अष्टोत्तरशत नामों को सुनिये—ओं सूर्य, अर्यमा, भग, त्वष्टा, पूषा, अर्क, सविता, रवि, गभस्तिमान्, अज, काल, मृत्यु, धाता, प्रभाकर, ।।३४।। पृथिवी, आप, तेज, आकाश, वायु, परायण, सोम, बृहस्पति, शुक्र, बुध, अङ्गारक, ।।३५।। इन्द्र, विवस्वान्, दीप्तांशु, शुचि, शौरि, शनैश्चर, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, स्कन्द, वैश्रवण, ।।३६।। यम, वैद्युत, जाठर, अग्नि, ऐन्धन, तेजस्पति, धर्मध्वज, वेदकर्ता, वेदांग, वेदवाहन, ।।३७।। कृत, त्रेता, द्वापर, कलि, सर्वअमराश्रय, कला, काष्ठा, मुहूर्त, क्षपा, याम, क्षण, ।।३८।। संवत्सरकर, अश्वत्थ, कालचक्र, विभावसु, पुरुष, शाश्वत, योगी,

---

१ ख.ग. ०होत्राश्च वे० । २ ग. ०द्यध्वं दि० । ३ ख. देवैर्येन० । ४ ख. प्रयान्ति । ५ क. सोमश्च । ६ ग. ०णोपमः । ७ ख. ०मः । विकर्तनश्च ब्रध्नश्च त्वीश्वरस्ते० । ८ क. सत्यं । ९ ख. कल्किः । १० ख. ०श्च पक्षा मासास्त० ।। ११ क. ०पा मासास्त० ।

कालाध्यक्षः प्रजाध्यक्षो विश्वकर्म्मा तमोनुदः । वरुणः [1]सागरोंऽशश्च[2] जीमूतो जीवनोऽरिहा ॥४०॥
भूताश्रयो भूतपतिः सर्व्वलोकनमस्कृतः । स्रष्टा संवर्त्तको वह्निः सर्व्वस्याऽऽदिरलोलुपः ॥४१॥
[3]अनन्तः कपिलो भानुः कामदः सर्वतोमुखः । जयो विशालो वरदः सर्व्वभूतनिषेवितः[4] ॥४२॥
मनः सुपर्णो[5] भूतादिः शीघ्रगः प्राणधारणः । धन्वन्तरिर्धूमकेतुरादिदेवोऽदितेः सुतः ॥४३॥
द्वादशात्मा रविर्दक्षः[6] पिता माता पितामहः । स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ॥४४॥
देहकर्त्ता प्रशान्तात्मा[7] विश्वात्मा विश्वतोमुखः । चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा मैत्रेयः[8] करुणान्वितः ॥४५॥
एतद्वै कीर्त्तनीयस्य सूर्य्यस्यामिततेजसः । नाम्नामष्टशतं रम्यं मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ॥४६॥

सुरगणपितृयक्षसेवितं, ह्यसुरनिशाकरसिद्धवन्दितम् ।
वरकनकहुताशनप्रभं, प्रणिपतितोऽस्मि हिताय भास्करम् ॥४७॥
सूर्योदये यः सुसमाहितः पठेत्, स पुत्रदारान् धनरत्नसञ्चयान् ।
लभेत जातिस्मरतां नरः स तु, स्मृतिञ्च मेधाञ्च स विन्दते पराम् ॥४८॥
इमं स्तवं देववरस्य यो नरः, [9]प्रकीर्त्तयेच्छुद्धमनाः समाहितः ।
विमुच्यते शोकदवाग्निसागराल्लभेत कामान्मनसा[10] यथेप्सितान् ॥४९॥

इति श्री आदिब्राह्मे महापुराणे स्वयंम्भृषिसंवादे सूर्य्यनामाष्टोत्तरशतं
नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

व्यक्ताव्यक्त, सनातन, ॥३९॥ कालाध्यक्ष, प्रजाध्यक्ष, विश्वकर्मा, तमोनुद, वरुण, सागर, अंश, जीमूत, जीवन, अरिहन्, ॥४०॥ भूताश्रय, भूतपति, सर्वलोकनमस्कृत, स्रष्टा, संवर्तक, वह्नि, सर्वादि, अलोलुप, ॥४१॥ अनन्त, कपिल, भानु, कामद, सर्वतोमुख, जय, विशाल, वरद, सर्वभूतनिषेवित, ॥४२॥ मन, सुपर्ण, भूतादि, शीघ्रग, प्राणधारण, धन्वन्तरि, धूमकेतु, आदिदेव, अदितिसुत, ॥४३॥ द्वादशात्मा, रवि, दक्ष, पिता, माता, पितामह, स्वर्गद्वार, प्रजाद्वार, मोक्षद्वार, त्रिविष्टप, ॥४४॥ देहकर्ता, प्रशान्तात्मा, विश्वात्मा, विश्वतोमुख, चराचरात्मा, सूक्ष्मात्मा, मैत्रेय और करुणान्वित ॥४५॥ द्विजवर्य ! अमित तेजस्वी तथा कीर्तनीय सूर्य के रमणीय अष्टोत्तरशत नामों को मैंने सुना दिया ॥४३॥ देवगण, पिता तथा यक्षों से सेवित, राक्षस, चन्द्रमा तथा सिद्धों से वन्दित और अग्नि तथा सुवर्ण के समान कान्तिमान् सूर्य को जगत्-कल्याण के लिए मैं प्रणाम करता हूँ ॥४७॥ जो मनुष्य सूर्योदय काल में सावधान होकर इन नामों का पाठ करेगा, वह स्त्री, पुत्र, धन, रत्न-समूह, पूर्वजन्म के स्मरण, स्मरण-शक्ति और उत्तम बुद्धि को प्राप्त करेगा ॥४८॥ देवश्रेष्ठ सूर्य के इस स्तोत्र का जो मनुष्य सावधान होकर शुद्ध मन से कीर्तन करेगा, वह शोकाग्निरूपी सागर से मुक्त होकर यथेप्सित कामनाओं को प्राप्त करेगा ॥४९॥

श्री ब्रह्म-महापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में सूर्य के
अष्टोत्तरशत नामक तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥३३॥

---

[1] ग. ०गरांश० । [2] ख. ०रोऽम्भश्च । [3] क. अन्तकः । [4] ग. ०र्वधातुनि० । [5] क. सुवर्णो । [6] ग. ०विर्दार्क्षिः । [7] क. ख. प्रसन्नात्मा । [8] क. ख. ०त्रेण वपुषाऽन्वि० । [9] क. ०येच्छान्तम० । [10] क. ०सा सदेप्सि० ।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

रुद्राख्यानवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

योऽसौ सर्व्वगतो देवस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः । उमाप्रियकरो रुद्रश्चन्द्रार्द्धकृतशेखरः ॥१॥
विद्राव्य विबुधान् सर्व्वान् सिद्धविद्याधरानृषीन् । गन्धर्व्वयक्षनागांश्च तथान्यांश्च समागतान् ॥२॥
जघान पूर्व्वं दक्षस्य यजतो धरणीतले । यज्ञं समृद्धं रत्नाढ्यं [1]सर्व्वसम्भारसंभृतम् ॥३॥
यस्य प्रतापसंत्रस्ताः शक्राद्यास्त्रिदिवौकसः[2] । शान्तिं न लेभिरे विप्राः [3]कैलासं शरणं गताः[4] ॥४॥
स आस्ते तत्र वरदः शूलपाणिर्वृषध्वजः । पिनाकपाणिर्भगवान् [5]दक्षयज्ञविनाशनः ॥५॥
[6]महादेवोऽकले देशे कृत्तिवासा वृषध्वजः । एकाम्रके मुनिश्रेष्ठाः सर्व्वकामप्रदो हरः ॥६॥

मुनय ऊचुः

[7]किमर्थं स भवो देवः सर्वभूतहिते रतः । जघान यज्ञं दक्षस्य देवैः सर्वैरलङ्कृतम् ॥७॥
न ह्यल्पं कारणं तत्र प्रभो मन्यामहे वयम् । श्रोतुमिच्छामहे[8] ब्रूहि परं कौतूहलं हि नः ॥८॥

अध्याय ३४

रुद्र का आख्यान-वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—जो ये सर्वव्यापक, त्रिपुर-शत्रु, त्रिनेत्र, पार्वती-प्रिय, रुद्र और मस्तक पर अर्धचन्द्रधारी देव हैं, उन्होंने सिद्ध, विद्याधर, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष, नाग, देवता तथा दूसरे भी समागत व्यक्तियों का तिरस्कार कर पहले पृथ्वी-तल पर यज्ञ करते हुए दक्ष के समृद्ध, रत्नों से परिपूर्ण और सब प्रकार के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञ का विध्वंस कर दिया ॥१-३॥ विप्रवृन्द ! उनके प्रताप से संत्रस्त इन्द्र आदि देवता शान्ति न प्राप्त कर शरणरूप कैलास पर्वत पर गये ॥४॥ मुनिवर्य ! वहाँ वे वरदायक, शूलपाणि, वृषध्वज, पिनाकपाणि, दक्ष-यज्ञ-विनाशक, श्मशानवासी, व्याघ्र-चर्मधारी, हर तथा एकाम्रक (स्थानविशेष) में सर्वकामप्रद भगवान् महादेव रहते हैं ॥५-६॥

मुनियों ने कहा—सब प्राणियों के हित में निरत उस शंकरदेव ने सब देवों से अलंकृत दक्ष के यज्ञ को क्यों नष्ट किया ? प्रभो ! अवश्य ही इसका कोई महान् कारण होगा ? हम सुनना चाहते हैं, हमें बड़ी उत्सुकता हो रही है, कृपया सुनाइये ॥७-८॥

---

[1] ख. ०र्वलोकैश्च संस्तुत० । [2] क. ०सः । न शर्म ले० । [3] क. ग. पुनस्तं । [4] क. ०ताः । यत्रास्ते वरदो देवः शू० । [5] क. ख. ०क्षक्रतुवि० । [6] क. ख. ०वोत्कले । [7] क. ख. ०र्थं भगवान्देवः । [8] क. हे ब्रह्मन्परं ।

ब्रह्मोवाच

दक्षस्याऽऽसन्नष्ट कन्या याश्चैवं पतिसङ्गताः[1] । स्वेभ्यो गृहेभ्यश्चाऽऽनीय ताः पिताऽभ्यर्च्चयद्गृहे ॥९॥
ततस्त्वभ्यर्च्चिता[2] विप्रा न्यवसंस्ताः पितुर्गृहे । तासां ज्येष्ठा सती नाम पत्नी या [3]त्र्यम्बकस्य वै ॥१०॥
नाऽऽजुहावाऽऽत्मजां तां वै दक्षो रुद्रमभिद्विषन् । अकरोत्सन्नतिं दक्षे[4] न च काञ्चिन्महेश्वरः[5] ॥११॥
जामाता श्वशुरे तस्मिन् स्वभावात्तेजसि स्थितः । ततो ज्ञात्वा सती सर्वास्तास्तु प्राप्ताः पितुर्गृहम् ॥१२॥
जगाम साऽप्यनाहूता सती तु स्वपितुर्गृहम् । ताभ्यो हीनां पिता चक्रे सत्याः पूजामसम्मताम्[6] ॥
ततोऽब्रवीत्सा पितरं देवी क्रोधसमाकुला ॥१३॥

सत्युवाच

यवीयसीभ्यः श्रेष्ठाऽहं किं न पूजसि मां प्रभो । असत्कृतामवस्थां यः कृतवानसि गर्हिताम् ॥
अहं ज्येष्ठा[7] वरिष्ठा च मां त्वं सत्कर्त्तुमर्हसि ॥१४॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्तोऽब्रवदेनां दक्षः संरक्तलोचनः ॥१५॥

दक्ष उवाच

त्वत्तः श्रेष्ठा वरिष्ठाश्च पूज्या बालाः सुता मम । तासां ये चैव भर्त्तारस्ते मे बहुमताः सति ॥१६॥

ब्रह्मा बोले—दक्ष की आठ कन्याएँ थीं, जिन्हें उसने यथायोग्य पतियों से ब्याह दिया । (एक समय यज्ञ में) दक्ष ने सब कन्याओं को बुलाकर सत्कार किया ॥९॥ विप्रवृन्द ! वे सम्मानित कन्याएँ तब से पिता के ही घर में वास करने लगीं । उनमें बड़ी बहिन सती थी, जो शिव की पत्नी थी, और जिसे दक्ष ने रुद्र से शत्रुता के कारण नहीं बुलाया था ॥१०$\frac{१}{३}$॥ शिव ने इससे दक्ष के प्रति कोई क्षोभ नहीं प्रकट किया । स्वभाव से तेजस्वी जामाता श्वशुर के प्रति तटस्थ रहा ॥११$\frac{१}{३}$॥ तब सब बहनें पिता के घर गयी हैं—यह जानकर सती बिना बुलाये ही पिता के घर चली गयी ॥१२$\frac{१}{३}$॥ पिता ने और कन्याओं की अपेक्षा सती का कम आदर किया । तब क्रोध से आकुल सती ने पिता से कहा॥१३॥

सती बोली—प्रभो ! छोटी बहनों से मैं बड़ी हूँ । फिर आप सम्मान क्यों नहीं करते ? मेरा निरादर करके मेरी अवस्था को क्यों बुरी बना रहे हैं ! मैं श्रेष्ठ और ज्येष्ठ हूँ । मेरा भी सत्कार कीजिये ॥१४॥

ब्रह्मा ने कहा—सती की यह बात सुनकर दक्ष ने आँखें लाल कर उससे कहा ॥१५॥

दक्ष ने कहा—सती ! तुमसे श्रेष्ठ, उत्तम और पूज्य मेरी छोटी पुत्रियाँ हैं । उनके जो स्वामी हैं, वे

---

१ ग. ०संमताः । २ क. ख. ०र्चिताः सर्वा निवसन्ति पि० । ३ क. शंकरस्य । ४ ख. दक्षो । ५ ख. ०श्वरे । आजगामाप्यनाहू० । ६ क. ख. ०संगता० । ७ क. ०ष्ठा च पूज्या च ।

ब्रह्मिष्ठाश्च [1]व्रतस्थाश्च महायोगाः सुधार्म्मिकाः । गुणैश्चैवाधिकाःश्लाघ्याः सर्व्वे ते [2]त्र्यम्बकात् सति ।।१७।।
वसिष्ठोऽत्रिः पुलस्त्यश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः । भृगुर्मरीचिश्च तथा श्रेष्ठा जामातरो मम ।।१८।।
तैश्चापि स्पर्द्धते शर्व्वः सर्व्वे ते चैव तं प्रति । तेन त्वां न बुभूषामि प्रतिकूलो हि मे भवः ।।१९।।
इत्युक्तवांस्तदा दक्षःरः सम्प्रमूढेन चेतसा । शापार्थमात्मनश्चैव येनोक्ता वै महर्षयः ।।
तथोक्ता पितरं सा वै क्रुद्धा देवी तमब्रवीत् ।।२०।।

सत्युवाच

वाङ्मनःकर्म्मभिर्यस्माददुष्टां मां विगर्हसि । तस्मात्त्यजाम्यहं देहं मम तात तवाऽऽत्मजम् ।।२१।।

ब्रह्मोवाच

ततस्तेनापमानेन सती दुःखादमर्षिता । अब्रवीद्वचनं देवी नमस्कृत्य स्वयम्भुवम् ।।२२।।

सत्युवाच

येनाहमपदेहा वै पुनर्देहेन भास्वता । तत्राप्यहमसम्मूढा सम्भूता धार्म्मिकी पुनः ।
गच्छेयं धर्म्मपत्नीत्वं त्र्यम्बकस्यैव धीमतः ।।२३।।

ब्रह्मोवाच

तत्रैवाथ समासीना रुष्टाऽऽत्मानं समादधे । धारयामास चाऽऽग्नेयीं धारणामात्मनाऽऽत्मनि ।।२४।।

मेरे सम्माननीय हैं ।।१६।। सती ! वे सब जामाता शिव से अधिक गुणवान्, ब्रह्मिष्ठ, व्रती, महायोगी, धर्मात्मा तथा प्रशंसनीय हैं ।।१७।। वसिष्ठ, अत्रि, पुलस्त्य, अंगिरा, पुलह, क्रतु, भृगु और मरीचि—ये मेरे श्रेष्ठ जामाता हैं ।।१८।। इनसे शिव स्पर्धा करता है और उससे ये सब । इस कारण शिव को मैं अपना शत्रु समझ कर तुम्हारा मान नहीं करना चाहता ।।१९।। इस प्रकार दक्ष ने बिना सोचे-समझे कह क्या दिया मानो उसने अपने को शाप दिलाने के लिए ही महर्षियों का नाम ले लिया । पिता का यह उत्तर सुनकर सती ने क्रुद्ध होकर कहा ।।२०।।

सती बोली—तात ! जिसलिए आप मन, वाणी और कर्म से मुझे दुष्ट तथा निन्दित बना रहे हैं इसलिए आपसे उत्पन्न इस शरीर का अब मैं त्याग कर रही हूँ ।।२१।।

ब्रह्मा ने कहा—तब उस अपमान के दुःख से कुपित सती ब्रह्मा को नमस्कार करके कहने लगी ।।२२।।

सती बोली—इस देह का परित्याग करने पर फिर जो मुझे कान्तिमान् शरीर मिले, उस शरीर में भी मैं विवेकशील तथा धर्मात्मा होऊँ और बुद्धिमान् शिव की ही पत्नी बनूँ ।।२३।।

ब्रह्मा ने कहा—तदुपरान्त वहीं पर बैठी क्रुद्ध सती ने आत्मा को समाहित किया और आत्मा से आत्मा

---

[1] ख. श्रुतज्ञाश्च । [2] ख. कादपि । व० ।

ततः स्वात्मानमुत्थाप्य वायुना समुदीरितः । सर्व्वाङ्गेभ्यो विनिःसृत्य वह्निर्भस्म चकार ताम् ॥२५॥.
तदुपश्रुत्य निधनं सत्या देव्याः स शूलधृक् । संवादञ्च तयोर्बुद्ध्वा याथातथ्येन शङ्करः ॥
॥२६॥
दक्षस्य च विनाशाय चुकोप भगवान् प्रभुः

श्रीशङ्कर उवाच

यस्मादवमता दक्ष सहसैवाऽऽगता सती । प्रशस्ताश्चेतराः सर्व्वास्त्वत्सुता भर्त्तृभिः सह ॥२७॥
तस्माद्वैवस्वते प्राप्ते पुनरेते महर्षयः । उत्पत्स्यन्ति द्वितीये वै तव यज्ञे ह्ययोनिजाः ॥२८॥
[1]हुते वै ब्रह्मणः सत्रे चाक्षुषस्यान्तरे मनोः[2] । अभिव्याहृत्य सप्तर्षीन् दक्षं सोऽभ्यशपत् पुनः ॥२९॥
भविता मानुषो राजा चाक्षुषस्यान्तरे मनोः । प्राचीनबर्हिषः पौत्रः पुत्रश्चापि प्रचेतसः ॥३०॥
दक्ष इत्येव नाम्ना त्वं मारिषायां जनिष्यसि । कन्यायां[3] शाखिनाञ्चैव प्राप्ते वै चाक्षुषान्तरे ॥३१॥
अहं तत्रापि ते विघ्नमाचरिष्यामि दुर्म्मते । धर्म्मकामार्थयुक्तेषु कर्म्मस्विह पुनः पुनः ॥३२॥
॥३३॥
ततो वै व्याहृतो दक्षो रुद्रं सोऽभ्यशपत् पुनः

दक्ष उवाच

यस्मात्त्वं मत्कृते क्रूर ऋषीन् व्याहृतवानसि । तस्मात् सार्द्धं सुरैर्यज्ञे न त्वां यक्ष्यन्ति वै द्विजाः ॥३४॥
कृत्वाऽऽहुतिं तव क्रूर अपः स्पृशन्ति कर्म्मसु । इहैव वत्स्यसे लोके दिवं हित्वाऽऽयुगक्षयात् ॥
॥३५॥
ततो देवैस्तु ते सार्द्धं न तु पूजा भविष्यति

में आग्नेयी धारणा को जब धारण किया तब वायु से प्रेरित अग्नि ने सती के सब अंगों से निकलकर उसे भस्मसात् कर दिया ॥२४-२५॥ सती देवी का मरण सुनकर तथा दक्ष और सती का संवाद यथार्थतः जान कर दक्ष के विनाश के लिए भगवान् शंकर ने क्रोध किया ॥२६॥

श्री शंकर बोले—'दक्ष ! जिसलिए हठात् आयी हुई सती का तुमने अपमान किया और इतर पुत्रियों का स्वामियों के साथ सम्मान किया इसलिए द्वितीय वैवस्वत मनु के आने पर पुनः ये महर्षि तुम्हारे यज्ञ में अयोनिज होकर उत्पन्न होंगे ॥२७-२८॥ चाक्षुष मन्वन्तर में ब्रह्मा के यज्ञ में फिर उत्पन्न होंगे ।' इस प्रकार सप्तर्षियों को शाप देकर शिव ने फिर से दक्ष को शाप दिया ॥२९॥ चाक्षुष मन्वन्तर में तुम मनुष्यों के राजा, प्राचीनबर्हिस् के पौत्र प्रचेता के पुत्र तथा 'दक्ष' इसी नाम के प्रख्यात होंगे और वृक्ष की पुत्री मारिषा से तुम्हारी उत्पत्ति होगी ॥३१॥ दुष्ट-बुद्धे ! वहाँ भी मैं तुम्हारे धर्म, अर्थ और काम से युक्त कर्मों में बार-बार विघ्न डालूँगा ॥३२॥ इस प्रकार कहे गये दक्ष ने भी रुद्र को शाप दिया ॥३३॥

दक्ष ने कहा—क्रूर ! मेरे कारण तुमने ऋषियों को शाप दिया है, इसलिए ब्राह्मणगण यज्ञ में देवताओं के साथ तुम्हारी पूजा नहीं करेंगे ॥३४॥ क्रूर ! पुण्य कर्म करते समय तुम्हें आहुति देकर लोग जलस्पर्श करेंगे। स्वर्ग छोड़कर युग बीतने तक तुम इसी लोक में वास करोगे। देवताओं के साथ तुम्हारी पूजा नहीं होगी ॥३५॥

१क. गते । २क. ०नोः । इति व्या० । ३क. ०यां सान्वितश्चैव । ख. ०यां सात्वताश्चैव ।

रुद्र उवाच

चातुर्व्वर्ण्यन्तु देवानां ते चाप्येकत्र भुञ्जते । न भोक्ष्ये सहितस्तैस्तु ततो भोक्ष्याम्यहं पृथक् ॥३६॥
सर्व्वेषाञ्चैव लोकानामादिर्भूर्लोक उच्यते । तमहं धारयाम्येकः स्वेच्छया न तवाऽऽज्ञया ॥३७॥
तस्मिन् धृते सर्व्व (स्वर्ग) लोकाः सर्व्वे तिष्ठन्ति शाश्वताः । तस्मादहं वसामीह सततं न तवाज्ञया ॥३८॥

ब्रह्मोवाच

ततोऽभिव्याहृतो दक्षो रुद्रेणामिततेजसा । स्वायम्भुवीं तनुं त्यक्त्वा उत्पन्नो मानुषेष्विह ॥३९॥
यदा गृहपतिर्दक्षो यज्ञानामीश्वरः प्रभुः । समस्तेनेह यज्ञेन सोऽयजद्दैवतैः सह ॥४०॥
अथ देवी सती (यत्ते) जज्ञे प्राप्ते वैवस्वतेऽन्तरे । मेनायां तामुमां देवीं जनयामास शैलराट् ॥४१॥
सा तु देवी सती पूर्व्वमासीत् पश्चादुमाऽभवत् । सहव्रता भवस्यैषा नैतया मुच्यते भवः ॥४२॥
यावदिच्छति संस्थानं प्रभुर्मन्वन्तरेष्विह । मारीचं कश्यपं देवी यथाऽदितिरनुव्रता ॥४३॥
सार्द्धं नारायणं श्रीस्तु मघवन्तं शची यथा । विष्णुं कीर्त्तिरुषा सूर्य्यं वसिष्ठं चाप्यरुन्धती ॥४४॥
नैतांस्तु विजहत्येता भर्त्तॄन् देव्यः कथञ्चन । एवं प्राचेतसो दक्षो जज्ञे वै चाक्षुषेऽन्तरे ॥४५॥
प्राचीनर्बाहिषः पौत्रः पुत्रश्चापि प्रचेतसाम् । दशभ्यस्तु प्रचेतोभ्यो मारिषायां पुनर्नृप ॥४६॥
जज्ञे रुद्राभिशापेन द्वितीयमिति नः श्रुतम् । भृग्वादयस्तु ते सर्व्वे जज्ञिरे वै महर्षयः ॥४७॥
आद्ये त्रेतायुगे पूर्व्वं मनोर्वैवस्वतस्य ह । देवस्य महतो यज्ञे वारुणीं बिभ्रतस्तनुम् ॥४८॥

रुद्र ने कहा—देवताओं के चार वर्ण हैं। वे भी एक जगह खाते हैं। उनके साथ मैं नहीं खाऊँगा। मैं अलग ही खाऊँगा ॥३६॥ सब लोकों का आदि भूलोक कहा जाता है। उसको मैं अकेला ही अपनी इच्छा से धारण करूँगा, न कि तुम्हारी आज्ञा से ॥३७॥ उसके धारण करने से सब लोक स्थित रहेंगे। इसलिए मैं सतत भूलोक में वास करूँगा, पर तुम्हारी आज्ञा से नहीं ॥३८॥

ब्रह्मा ने कहा—तदुपरान्त अत्यन्त तेजस्वी रुद्र से अभिशप्त दक्ष स्वयंभू सम्बन्धी शरीर का परित्याग कर मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुआ ॥३९॥ जब यज्ञों का स्वामी, शक्तिसंपन्न गृहपति दक्ष देवताओं के साथ निखिल यज्ञ कर रहा था तब वैवस्वत मन्वन्तर में सती की हिमालय से मेना में उत्पत्ति हुई ॥४०-४१॥ उस देवी का नाम पहले सती था, पश्चात् उमा नाम हुआ। वह शिव की पतिव्रता पत्नी हुई। मन्वन्तरों में शंकर जब तक स्थिति चाहते हैं तब तक सती से मुक्त नहीं होते हैं ॥४२½॥ जैसे मरीचि-पुत्र कश्यप को अदिति, नारायण को लक्ष्मी, इन्द्र को शची, विष्णु को कीर्ति, सूर्य को उषा और वसिष्ठ को अरुन्धती किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ती उसी तरह सती भी शिव का त्याग नहीं करती ॥४३-४४½॥ इस प्रकार प्रचेता-पुत्र दक्ष चाक्षुष मन्वतर में उत्पन्न हुआ, जो प्राचीन-बर्हिस् का पौत्र और प्रचेताओं का पुत्र था ॥४५½॥ रुद्र-शाप के कारण राजा दक्ष ने दूसरी बार फिर प्रचेताओं से मारिषा में जन्म लिया—ऐसा हमने सुना है ॥४६½॥ आद्य त्रेतायुग में वारुणी शरीर को धारण किये हुए महान् देव वैवस्वत मनु से भृगु आदि वे सब महर्षि उत्पन्न हुए ॥४७-४८॥ प्रजापति दक्ष और धीमान् शिव दोनों

इत्येषोऽनुशयो [1]ह्यासीत्तयोर्जात्यन्तरं गतः[2] । प्रजापतेश्च दक्षस्य त्र्यम्बकस्य च धीमतः ॥४९॥
[3]तस्मान्नानुशयः कार्य्यो[4] वरेष्विह कदाचन । जात्यन्तरगतस्यापि भावितस्य[5] शुभाशुभैः[6] ॥
जन्तोर्न भूतये ख्यातिस्तन्न कार्य्यं विजानता ॥५०॥

मुनय ऊचुः

कथं रोषेण सा पूर्व्वं[7] दक्षस्य दुहिता सती । त्यक्त्वा देहं पुनर्जाता गिरिराजगृहे प्रभो ॥५१॥
देहान्तरे[8] कथं तस्याः[9] पूर्व्वदेहो बभूव ह । भवेन सह संयोगः संवादश्च तयोः कथम् ॥५२॥
स्वयंवरः कथं वृत्तस्तस्मिन् महति जन्मनि । विवाहश्च जगन्नाथ सर्व्वाश्चर्य्यसमन्वितः ॥५३॥
तत्सर्व्वं विस्तराद्ब्रह्मन् वक्तुमर्हसि साम्प्रतम् । श्रोतुमिच्छामहे पुण्यां कथां चातिमनोहराम् ॥५४॥

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः कथां पापप्रणाशिनीम् । उमाशङ्करयोः पुण्यां सर्व्वकामफलप्रदाम् ॥५५॥
कदाचित् स्वगृहात् प्राप्तं कश्यपं द्विपदां वरम् । अपृच्छद्धिमवान् वृत्तं लोके ख्यातिकरं हितम् ॥५६॥
केनाक्षयाश्च लोकाः स्युः ख्यातिश्च परमा मुने । तथैव चार्च्चनीयत्वं सत्सु तत्कथयस्व मे ॥५७॥

का ऐसा पूर्व वैर था, जिसका परिणाम जन्मान्तर में जाकर निकला ॥४९॥ इसलिए बड़ों के साथ वैर नहीं करना चाहिये । जीवों को पूर्व वैर का फल जन्मान्तर में भी भुगतना पड़ता है । अतः विद्वान् को ऐसा नहीं करना चाहिए ॥४९-५०॥

मुनियों ने कहा—प्रभो ! पहले क्यों क्रोध से दक्ष की पुत्री सती अपने शरीर का त्याग कर हिमालय के गृह उत्पन्न हुई ? ॥५१॥ दूसरे जन्म में भी कैसे उसको पहली देह मिली ? शिव के साथ संयोग कैसे हुआ ? महादेव और पार्वती का संवाद कैसे हुआ ? ॥५२॥ उस महान् जन्म में स्वयंवर तथा विवाह कैसे हुआ ? हे जगन्नाथ ! यह सब आश्चर्यजनक बात है ॥५३॥ ब्रह्मन् ! यह सब विस्तारपूर्वक हमें बतलाइये । अत्यन्त मनोहर तथा पवित्र कथा को हम सुनना चाहते हैं ॥५४॥

ब्रह्मा ने कहा—मुनिवर्यवृन्द ! उमा और शंकर की पापनाशिनी, पवित्र तथा सब कामनाओं को देने वाली कथा को आप लोग सुनिये ॥५५॥ किसी समय अपने गृह से आये हुए मानवों में श्रेष्ठ कश्यप से हिमालय ने लोक में ख्याति-वर्धक तथा कल्याणकर वृत्तान्त पूछा—'मुने ! किस तरह अक्षय लोक मिलेंगे, परम ख्याति होगी और सत्पुरुषों में प्रतिष्ठा बढ़ेगी—यह हमें बताइये ॥५६-५७॥

---

[1] ख. ०सीत्तेषु तेष्वन्तराऽन्तरा । प्र० । [2] ख. गते । [3] क. ०स्मान्न संश० । [4] ख. ०र्यो धीरे । [5] क. ०स्य सुरैरपि । ज० । [6] ख. भैः । देहान्तरे कथं तस्य पुनर्देहं न मुञ्चति । वासना न जहात्येव देहान्तरगतेऽपि वा । दुःखं त्वनुशयात्यन्तस्तत्र कार्या विजानता । मु० । [7] क. पूर्णा । [8] ग. ०रे पुनस्तस्याः कथं दे० । [9] ख. ०स्याः पुनर्देहो ।

कश्यप उवाच

अपत्येन[१] महाबाहो सर्व्वमेतदवाप्यते । ममाऽऽ[२]ख्यातिरपत्येन ब्रह्मणा ऋषिभिः सह ।।५८।।
किं न पश्यसि शैलेन्द्र यतो मां परिपृच्छसि । वर्त्तयिष्यामि यच्चापि यथादृष्टं पुराऽचल ।।५९।।
वाराणसीमहं गच्छन्नपश्यं संस्थितं दिवि । विमानं[३] सुनवं दिव्यमनौपम्यं महर्द्धिमत् ।।६०।।
तस्याधस्तादार्त्तनादं गर्त्तस्थाने शृणोम्यहम् । तमहं तपसा ज्ञात्वा तत्रैवान्तर्हितः स्थितः ।।६१।।
अथागात्तत्र शैलेन्द्र[४] विप्रो नियमवान् शुचिः । तीर्थाभिषेकपूतात्मा परे तपसि संस्थितः ।।६२।।
अथ स व्रजमानस्तु व्याघ्रेणाऽऽभीषितो द्विजः । विवेश तं तदा देशं स गर्तो यत्र भूधर ।।६३।।
गर्त्तायां वीरणस्तम्बे लम्बमानांस्तदा मुनीन् । अपश्यदार्त्तो दुःखार्त्तांस्तानपृच्छच्च स द्विजः ।।६४।।

द्विज उवाच

के यूयं वीरणस्तम्बे लम्बमाना ह्यधोमुखाः । दुःखिता केन मोक्षश्च युष्माकं भविताऽनघाः ।।६५।।

पितर ऊचुः

वयं ते कृतपुण्यस्य पितरः सपितामहाः । प्रपितामहाश्च क्लिश्यामस्तव दुष्टेन कर्म्मणा ।।६६।।
नरकोऽयं महाभाग गर्त्तरूपेण संस्थितः । त्वं चापि वीरणस्तम्बस्त्वयि लम्बामहे वयम् ।।६७।।
यावत्त्वं जीवसे विप्र तावदेव वयं स्थिताः । मृते त्वयि गमिष्यामो नरकं पापचेतसः ।।६८।।

कश्यप ने कहा—हे महाबाहो ! सन्तान से सब कुछ प्राप्त होता है । ब्रह्मा और ऋषियों के साथ मेरी ख्याति सन्तान ही से है ।।५८।। हे शैलेन्द्र ! क्या यह आप देख नहीं रहे हैं जो मुझसे पूछते हैं । हे पर्वत ! तो भी जैसा मैंने देखा है वैसा बतलाऊँगा ।।५९।। जब मैं वाराणसी जा रहा था तब आकाश में स्थित नवीन, दिव्य, अनुपम तथा महदैश्वर्य-सम्पन्न एक विमान मुझे दिखायी पड़ा ।।६०।। उस विमान के नीचे गर्तस्थान (गड्ढा) में मैंने आर्तनाद सुना । उसको तपस्या से जानकर मैं वहीं अन्तर्हित होकर ठहर गया ।।६१।। इसके उपरान्त, हे शैलेन्द्र ! एक संयमी, पवित्र, तीर्थस्नानों से पवित्रात्मा और उत्कृष्ट तपस्वी ब्राह्मण वहाँ आया ।।६२।। गमन करते हुए ब्राह्मण को एक व्याघ्र ने डरा दिया । हे भूधर ! तब वह द्विज उसी स्थान में चला गया, जहाँ वह गड्ढा था ।।६३।। गड्ढे में वीरण (खस) के गुच्छों से लटकते हुए दुःखपीड़ित मुनियों को देखकर उस द्विज ने पूछा ।।६४।।

द्विज ने कहा—वीरण के गुच्छों से लटकते हुए नीचे मुख किये हुए तुम कौन हो ? किसने तुम्हें यह दुःख दिया है ? हे निष्पाप ! किस प्रकार तुम्हें छुटकारा मिल सकता है ? ।।६५।।

पितरों ने कहा—तुझ पुण्यात्मा के पितामह, प्रपितामह आदि पितर तेरे दुष्ट कर्म से कष्ट पा रहे हैं ।।६६।। महाभाग ! गर्त रूप में स्थित यह नरक ही है । तू ही वीरण का गुच्छा है । तुझमें हीं हम लोग लटक रहे हैं ।।६७।। विप्र ! जब तक तू जी रहा है तभी तक हम लोग स्थित हैं । तेरे मर जाने पर हम सब पापी नरक को जायेंगे

---

[१] ख. तपसैव । [२] क. ०ख्यातिः परा तेन । [३] ख. ०नं स्वस्ति मद्दिव्यं मनोवेगं म० । [४] ख. ०द्र वसिष्ठो नियमस्थितः । ती० ।

यदि त्वं दारसंयोगं कृत्वापत्यं गुणोत्तरम् । उत्पादयसि तेनास्मान् मुच्येम वयमेनसः ॥६९॥
नान्येन तपसा पुत्र तीर्थानाञ्च फलेन च । एतत् कुरु महाबुद्धे तारयस्व पितॄन् भयात् ॥७०॥

कश्यप उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय आराध्य वृषभध्वजम् । पितॄन् गर्त्तात्समुद्धृत्य गणपान् प्रचकार ह ॥७१॥
स्वयं रुद्रस्य दयितः सुवेशो नाम नामतः । सम्मतो बलवांश्चैव रुद्रस्य गणपोऽभवत् ॥७२॥
तस्मात् कृत्वा तपो घोरमपत्यं गुणवद्भृशम् । उत्पादयस्व शैलेन्द्र सुतां त्वं वरवर्णिनीम् ॥७३॥

ब्रह्मोवाच

स एवमुक्त्वा ऋषिणा शैलेन्द्रो नियमस्थितः । तपश्चकाराप्यतुलं येन तुष्टिरभून्मम ॥७४॥
तदा तमुत्पपाताहं वरदोऽस्मीति चाब्रवम् । ब्रूहि तुष्टोऽस्मि शैलेन्द्र तपसानेन सुव्रत ॥७५॥

हिमवानुवाच

भगवन् पुत्रमिच्छामि गुणैः सर्व्वैरलङ्कृतम् । एवं वरं प्रयच्छस्व यदि तुष्टोऽसि मे[1] प्रभो ॥७६॥

ब्रह्मोवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा गिरिराजस्य[2] भो द्विजाः । तदा तस्मै वरं चाहं [3]दत्तवान्मनसेप्सितम् ॥७७॥

॥६८॥ यदि तू विवाह कर गुणवान् सन्तान को उत्पन्न करता है तो उसी से हम लोगों की मुक्ति हो जायगी ॥६९॥ पुत्र ! और किसी तपस्या या तीर्थों के फल से हमारी मुक्ति सम्भव नहीं है । महाबुद्धे ! ऐसा करके भय से पितरों का उद्धार कर ॥७०॥

कश्यप ने कहा—द्विज ने 'ऐसा ही करूँगा' यह प्रतिज्ञा कर शिव की आराधना की और गर्त से पितरों का उद्धार कर उन्हें गणपालक बना दिया ॥७१॥ वह स्वयं रुद्र का सुवेश नामक प्रिय, बुद्धिमान् तथा बलवान् गणपाल हुआ ॥७२॥ हे शैलेन्द्र ! इसलिए घोर तपस्या करके अत्यन्त गुणवान् पुत्र तथा सुन्दरी कन्या को उत्पन्न कीजिये ॥७३॥

ब्रह्मा ने कहा—ऋषि द्वारा इस प्रकार का सुझाव प्राप्त कर शैलेन्द्र नियमयुक्त होकर अतुल तप करने लगा, जिसमें मैं प्रसन्न हो उसके समीप जाकर बोला—'मैं वर देने आया हूँ । हे शैलेन्द्र ! तुमसे पूर्ण सन्तुष्ट हूँ । हे सुव्रती ! माँगो, इस तपस्या का फल तुम क्या चाहते हो ?' ॥७४-७५॥

हिमवान् ने कहा—भगवन् ! मैं सर्वगुणसम्पन्न सन्तान चाहता हूँ । प्रभो ! यदि आप संतुष्ट हैं तो ऐसा ही वरदान मुझे दीजिये ॥७६॥

ब्रह्मा ने कहा—द्विजगण ! हिमालय के वचन को सुनकर मैंने उसे यह मनोभिलषित वरदान दिया

---

[1] ख. नः । [2] क. ०स्य सुव्रताः । त० । [3] ख. ०वान्मान० ।

कन्या भवित्री[1] शैलेन्द्र[2] तपसाऽनेन सुव्रत । यस्याः प्रभावात्सर्व्वत्र कीर्त्तिमाप्स्यसि शोभनाम्[3] ।।७८।।
अर्च्चितः सर्व्वदेवानां तीर्थकोटिसमावृतः । पावनश्चैव[4] पुण्येन देवानामपि सर्व्वतः ।।७९।।
ज्येष्ठा च सा भवित्री ते अन्ये[5] चात्र ततः शुभे[6] ।।८०।।
सोऽपि कालेन शैलेन्द्रो मेनायामुदपादयत् । अपर्णामेकपर्णाञ्च तथा चैवैकपाटलाम् ।।८१।।
[7]न्यग्रोधमेकपर्णन्तु [8]पाटलञ्चैकपाटलाम् । अशित्वा [9]त्वेकपर्णान्तु अनिकेतस्तपोऽचरत् ।।८२।।
शतं वर्षसहस्राणां [10]दुश्चरं देवदानवैः । आहारमेकपर्णं तु एकपर्णा समाचरत् ।।८३।।
पाटलेन तथैकेन विदधे चैकपाटला । पूर्णे वर्षसहस्रे तु आहारं ताः प्रचक्रतुः ।।८४।।
अपर्णा तु निराहारा तां माता प्रत्यभाषत । निषेधयन्ती चोमेति मातृस्नेहेन दुःखिता ।।८५।।
सा तथोक्ता तया मात्रा देवी दुश्चरचारिणी । तेनैव नाम्ना लोकेषु विख्याता सुरपूजिता ।।८६।।
[11]एतत्तु त्रिकुमारीकं जगत्स्थावरजङ्गमम् । एतासां तपसा[12] वृत्तं यावद्भूमिर्धरिष्यति ।।८७।।
तपःशरीरास्ताः सर्व्वास्तिस्रो योगं समाश्रिताः । सर्व्वाश्चैव महाभागास्तथा च स्थिरयौवना[13] ।।८८।।
ता लोकमातरश्चैव ब्रह्मचारिण्य एव च । अनुगृह्णन्ति लोकांश्च तपसा स्वेन[14] सर्व्वदा ।।८९।।
उमा तासां वरिष्ठा च ज्येष्ठा च वरवर्णिनी । महायोगबलोपेता महादेवमुपस्थिता ।।९०।।

।।७७।। 'सुव्रती ! शैलेन्द्र ! इस तपस्या से तुम्हें कन्या होगी, जिसके प्रभाव से तुम सर्वत्र सुन्दर कीर्ति प्राप्त करोगे ।।७८।। करोड़ों तीर्थों से तुम आवृत रहोगे। सब देवताओं से पूजित तथा देवताओं को भी पुण्य से पवित्र करने वाले होगे ।।७९।। वह तुम्हारी ज्येष्ठ कन्या होगी और दो दूसरी कन्याएँ भी होंगी ।।८०।। यथासमय शैलेन्द्र ने मेना में अपर्णा, एकपर्णा और एकपाटला नाम की कन्याएँ उत्पन्न कीं ।।८१।। बरगद के पत्र को खाने वाली एकपर्णा, पाटला वृक्ष के पत्तों का आहार करने वाली एकपाटला और पत्र को न खाने वाली अपर्णा—ये तीनों देवियाँ एक लाख वर्ष तक देव-दानवों से भी दुःसाध्य तप करती रहीं ।।८२$\frac{१}{३}$।। एकपर्णा एक पत्र तथा एकपाटला पाटल-पत्र का भोजन किया करती थीं। हजार वर्ष पूर्ण होने पर उन्होंने भोजन किया ।।८३-८४।। किन्तु अपर्णा फिर भी भोजन नहीं करती थी। तब सन्तान-स्नेह से कातर माता ने 'उमा' कहकर उसका निवारण किया। घोर तप करने वाली देव-वन्द्या वह देवी तब से तीनों लोक में उमा नाम से विख्यात हुई ।।८५-९६।। स्थावर-जंगम रूप यह जगत् इन तीनों कुमारियों द्वारा धारण किया जाता है। इनकी तपस्या का वृत्तान्त तब तक प्रचलित रहेगा जब तक कि यह पृथ्वी रहेगी ।।८७।। तपः शरीर धारण करने वाली ये तीनों देवियाँ योग से अन्वित, महाभाग्यवती, स्थिरयौवना, ब्रह्मचारिणी तथा लोक-माताएँ हैं। ये तपस्या के द्वारा सदा लोकों को अनुगृहीत करती हैं ।।८८-८९।। इनमें सबसे ज्येष्ठ उत्तम, सुन्दरी और महायोगिनी उमा ने शिव को

१क. ख. भवतु । २क. ख. ०न्द्र सुता ते वरवर्णिनी । य० । ३क. ख. पुष्कलाम् । ४ख. ०व देवानामृषीणाम्० । ५ क. ख. अन्या चानु त०। ६क. ख. प्रभो । ७क. ०ग्रोधां चैकपर्णांतु । ८क. ख. पाटलां । ९ग. ०पर्णं तु । १० क.ख. दुष्करं । ११ ख. ०तत्रिककु० । १२क. ख. ०पसा व्याप्तं या० । १३ क. ख. ०नाः । त्रैलोक्यमा० । १४ ख. तेन।

दत्तकश्चोशना तस्य पुत्रः स भृगुनन्दनः । आसीत्तस्यैकपर्णा तु देवलं सुषुवे सुतम् ॥९१॥
या तु तासां कुमारीणां तृतीया ह्येकपाटला । [1]पुत्रं सा तमलर्कस्य जैगीषव्यमुपस्थिता ॥९२॥
तस्याश्च शङ्खलिखितौ स्मृतौ पुत्रावयोनिजौ । उमा तु या मया तुभ्यं कीर्त्तिता वरर्वाणनी ॥९३॥
अथ तस्यास्तपोयोगात्त्रैलोक्यमखिलं तदा । प्रधूपितमिहाऽऽलक्ष्य वचस्तामहमब्रवम् ॥९४॥
देवि किं तपसा लोकांस्तापयिष्यसि शोभने । त्वया सृष्टमिदं सर्व्वं मा कृत्वा तद्विनाशय ॥९५॥
त्वं हि धारयसे लोकानिमान् सर्व्वान् स्वतेजसा । ब्रूहि किं ते जगन्मातः प्रार्थितं सम्प्रतीह नः ॥९६॥

देव्युवाच

यदर्थं तपसो ह्यस्य चरणं मे पितामह । त्वमेव तद्विजानीषे ततः पृच्छसि किं पुनः ॥९७॥

ब्रह्मोवाच

ततस्तामब्रवं चाहं यदर्थं तप्यसे शुभे । स त्वां स्वयमुपागम्य इहैव वरयिष्यति ॥९८॥
शर्व्व एव पतिः श्रेष्ठः सर्व्वलोकेश्वरेश्वरः । वयं सदैव यस्येमे वश्या वै किङ्कराः शुभे ॥९९॥
स देवदेवः परमेश्वरः स्वयं, स्वयम्भुरायास्यति देवि तेऽन्तिकम् ।
उदाररूपो विकृतादिरूपः[2], समानरूपोऽपि न यस्य[3] कस्यचित् ॥१००॥

प्राप्त किया ॥९०॥ दत्तक का पुत्र भृगु-वंशी शुक्र था, जिससे ब्याह कर एकपर्णा ने देवल नामक पुत्र को उत्पन्न किया ॥९१॥ इन कुमारियों में तीसरी एकपाटला का विवाह अलर्क के पुत्र जैगीषव्य से हुआ ॥९२॥ उसके शंख और लिखित नामक दो अयोनिज पुत्र हुए । जिस सुन्दरी उमा के बारे में मैंने आपसे कहा है, उसने तपस्या के बल से संपूर्ण त्रिलोकी को प्रकाशित कर दिया । यह देखकर मैंने उससे कहा ॥९३-९४॥ हे देवि ! हे सुन्दरि ! क्या तुम तपस्या से लोकों को तपाओगी ? तुमने सबकी सृष्टि की है । ऐसा करके पुनः उनका विनाश मत करो ॥९५॥ तुम्हीं अपने तेज से लोकों को धारण करती हो । हे जगन्माता ! कहो, तुम्हें क्या अभीष्ट है ॥९६॥

देवी ने कहा—पितामह ! मैं जिसलिए तप कर रही हूँ, वह तो आप जानते ही हैं । फिर क्यों पूछ रहे हैं ? ॥९७॥

ब्रह्मा ने कहा—तब मैंने उससे कहा—'शुभे ! तुम जिसके लिए तप कर रही हो, वह स्वयं यहाँ आकर तुम्हें स्वीकार करेंगे ॥९८॥ कल्याणमयी ! सब लोकों के ईश्वर के ईश्वर शिव ही श्रेष्ठ पति हैं, जिनके सदा हम वश्य तथा दास बने रहते हैं ॥९९॥ देवी ! वह देव-देव, स्वयंभु, परमेश्वर स्वयं तुम्हारे पास आयेंगे, जो उदार रूप, विकृत-आदि-रूप, महेश्वर, पर्वतलोकवासी, चराचर के स्वामी, प्रथम, अप्रमेय (न मापने योग्य), चन्द्रमा

१क. ख. ०त्रं शान्तमशोकस्य । २ क. ख. ०तातिरू० । ३ख. ०स्य कुत्रचि० ।

महेश्वरः पर्व्वतलोकवासी, चराचरेशः प्रथमोऽप्रमेयः ।
विनेन्दुना हीन्द्रसमानवर्च्चसा, [1]विभीषणं रूपमिवास्थितो यः ॥१०१॥
इति श्री आदिब्राह्मे महापुराणे स्वयम्भु-ऋषि-संवादे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

पार्वत्युपाख्यान-वर्णनम्

ब्रह्मोवाच

ततस्तामब्रुवन् देवास्तदा गत्वा तु सुन्दरीम् । देवी शीघ्रेण कालेन धूर्ज्जटिर्नीललोहितः ॥१॥
स भर्त्ता तव देवेशो भविता[2] मा तपः कृथाः । ततः प्रदक्षिणीकृत्य देवा विप्रा गिरेः सुताम् ॥२॥
जग्मुश्चादर्शनं तस्याः सा चापि विरराम ह । सा देवी सूक्तमित्येवमुक्त्वा स्वस्याश्रमे शुभे ॥३॥
द्वारि जातमशोकञ्च समुपाश्रित्य चास्थिता । अथागाच्चन्द्रतिलकस्त्रिदशार्त्तिहरो हरः ॥४॥
विकृतं रूपमास्थाय ह्रस्वो बाहुक एव च । विभग्ननासिको भूत्वा कुब्जः केशान्तपिङ्गलः ॥५॥
उवाच विकृतास्यश्च देवि त्वां वरयाम्यहम् । अथोमा योगसंसिद्धा ज्ञात्वा शङ्करमागतम् ॥६॥

के बिना ही इन्द्र के समान तेजस्वी तथा भयानक रूप के सदृश अवस्थित हैं और जिनके समान रूप वाला कोई नहीं है ॥१००-१०१॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्म और ऋषि के संवाद-प्रकरण में चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥३४॥

अध्याय ३५

पार्वती का उपाख्यान-वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—तदुपरान्त देवता लोग जाकर उस सुन्दरी से कहने लगे—'हे देवि ! अब शीघ्र ही देवों के स्वामी महादेव जी तुम्हारे पति होंगे । तप मत करो' ॥१½॥ ऐसा कहकर देवगण पार्वती की प्रदक्षिणा कर अदृश्य हो गये । और पार्वती भी विश्राम करने लगी ॥२½॥ वह देवी 'अच्छा कहा' ऐसा कहकर अपने पवित्र आश्रम के द्वार पर उत्पन्न अशोक वृक्ष के नीचे बैठ गयी ॥३½॥ इसके अनन्तर देव-दुःखहारी, चन्द्रमा को मस्तस्क पर धारण करने वाले महादेव वहाँ आये, जिनके रूप तथा मुख विकृत थे, नाक कटी हुई थी, केशों का अन्तिम भाग पीला था और बाँहें छोटी थीं । उन्होंने गिरि-नन्दिनी से कहा—'देवि ! मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ' ॥४-५॥ इसके बाद ब्राह्मणप्रिय,

---

[1] ग. विभूषणं । [2] ख. ता तपसः क्षये । त० ।

अन्तर्भावविशुद्धात्मा[१] कृपानुष्ठान लिप्सया । तमुवाचार्घ्यपाद्याभ्यां मधुपर्केण चैव ह ॥७॥
संपूज्य सुमनोभिस्तं ब्राह्मणं ब्राह्मणप्रिया ॥८॥

देव्युवाच

भगवन्न स्वतन्त्राहं पिता मे त्वग्रणीर्गृहे । स प्रभुर्म्मम दाने वै कन्याहं द्विजपुङ्गव ॥९॥
गत्वा याचस्व पितरं मम [२]शैलेन्द्रमव्ययम् । स चेद्ददाति मां विप्र तुभ्यं तदुचितं मम ॥१०॥

ब्रह्मोवाच

ततः स भगवान् देवस्तथैव[३] विकृतः प्रभुः । उवाच शैलराजानं सुतां मे यच्छ शैलराट् ॥११॥
स तं विकृतरूपेण ज्ञात्वा रूद्रमथाव्ययम् । भीतः शापाच्च विमना इदं वचनमब्रवीत् ॥१२॥

शैलेन्द्र उवाच

भगवन्नावमन्येऽहं ब्राह्मणान्[४] भुवि देवताः । मनीषितन्तु यत् पूर्व्वं तच्छृणुष्व महामते ॥१३॥
स्वयंवरो मे दुहितुर्भविता विप्रपूजितः । वरयेद्यं स्वयं तत्र स भर्त्तास्या भविष्यति ॥१४॥
तच्छ्रुत्वा शैलवचनं भगवान् वृषभध्वजः । देव्या समीपमागत्य इदमाह महामनाः ॥१५॥

शिव उवाच

देवि पित्रा त्वनुज्ञातः स्वयंवर इति श्रुतिः । तत्र त्वं वरयित्री यं स ते भर्त्ता[५] भवेदिति ॥१६॥

योग से सिद्ध तथा विशुद्ध-अन्तरात्मा उमा ने शंकर के आगमन को जानकर उनकी कृपा पाने की लिप्सा से उन्हें अर्घ, आचमनीय तथा मधुपर्क दिया और पुष्पों से उनकी पूजा करके कहा—॥६-८॥

देवी बोली—भगवन् ! मैं स्वतंत्र नहीं हूँ । मेरे घर में पिता मुख्य हैं । द्विजश्रेष्ठ ! मैं तो कन्या हूँ। वे ही मेरे दान करने में समर्थ हैं । अतः आप जा करके उन विनाशरहित पर्वतराज से याचना कीजिये । विप्र ! यदि वे मुझे आपको दे दें, तो उचित है ॥९-१०॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर पूर्ववत् विकृतरूपधारी भगवान् शिव ने पर्वतेश्वर से कहा—'शैलराज ! मुझे आप अपनी कन्या दें ।' तव पर्वतराज ने विकृत रूप से ही उन्हें अविनाशी रुद्र समझ कर शाप के डर से दुःखी होकर यह वचन कहा ॥११-१२॥

शैलेन्द्र के कहा—भगवन् ! मैं पृथ्वी पर देवरूप ब्राह्मणों का अपमान नहीं करता । महामेधाविन् ! मेरी जो इच्छा है, वह आप सुनिये ॥१३॥ मेरी कन्या का ब्राह्मणों से सत्कृत्य स्वयंवर होगा । वहाँ वह जिसका वरण करेगी, वही उसका पति होगा ॥१४॥ पर्वतेन्द्र के ये वचन सुनकर भगवान् शिव पार्वती के समीप आकर कहने लगे ॥१५॥

शिव ने कहा—देवी ! ऐसा सुना जाता है कि तुम्हारे पिता की आज्ञा से स्वयंवर होगा; उसमें तुम

१क. ०त्मा क्रियानु० । २क. ०यः । स । ३ख. ०व कृतवान्प्रभुः । ४क. ०णान्भूमिदे० । २क. ख. ०र्ता किलानद्ये । त० ।

तदापृच्छ्य गमिष्यामि [1]दुर्लभां त्वां वरानने । रूपवन्तं समुत्सृज्य वृणोष्यसदृशं कथम् ।।१७।।

ब्रह्मोवाच

तेनोक्ता सा तदा तत्र भावयन्ती तदीरितम् । भावञ्च रुद्रनिहितं प्रसादं मनसस्तथा[2] ।।१८।।
सम्प्राप्योवाच देवेशं मा तेऽभूद्बुद्धिरन्यथा[3] । अहं त्वां वरयिष्यामि [4]नाद्भुतन्तु कथञ्चन ।।१९।।
अथवा तेऽस्ति सन्देहो मयि विप्र कथञ्चन । इहैव त्वां महाभाग वरयामि मनोगतम् ।।२०।।

ब्रह्मोवाच

गृहीत्वा स्तवकं सा तु हस्ताभ्यां तत्र संस्थिता । स्कन्धे शम्भोः सामाधाय देवी प्राह वृतोऽसि मे ।।२१।।
ततः स भगवान् देवस्तया देव्या वृतस्तदा । उवाच तमशोकं वै वाचा सञ्जीवयन्निव ।।२२।।

शिव उवाच

यस्मात्तव सुपुण्येन स्तवकेन वृतोऽस्म्यहम् । तस्मात्त्वं जरया त्यक्तस्त्वमरः सम्भविष्यसि ।।२३।।
कामरूपी कामपुष्पः कामदो दयितो मम । सर्व्वाभरणपुष्पाढ्यः [5]सर्व्वपुष्पफलोपगः[6] ।।२४।।
सर्व्वान्नभक्षकश्चैव अमृतस्वाद[7] एव च । सर्व्वगन्धश्च देवानां भविष्यसि दृढप्रियः ।।२५।।
निर्भयः सर्व्वलोकेषु[8] भविष्यसि सुनिर्वृतः । आश्रमं वेदमत्यर्थं चित्रकूटेति विश्रुतम् ।।२६।।

जिसको चुनोगी, वही तुम्हारा स्वामी होगा। हे सुमुखी ! इसलिए तुम्हें दुष्प्राप्य जानकर मैं जा रहा हूँ; क्योंकि रूपवान् को छोड़कर भला तुम कैसे कुरूप का वरण करोगी ? ।।१६-१७।।

ब्रह्मा ने कहा—तदुपरान्त शिव के प्रति अपने भाव और मन को प्रसन्न करने वाली उनकी वाणी को सोचती हुई उमा ने देवताओं के स्वामी शंकर से कहा—'आप अन्यथा न मानें। मैं आप ही का वरण करूँगी, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। अथवा हे विप्र ! हे महाभाग ! यदि आपको किसी प्रकार का संदेह होता है, तो यहीं पर मैं आपको मन से वरण किये लेती हूँ।' ।।१८-२०।।

ब्रह्मा ने कहा—उमा ने वहीं पर स्थित अशोक की मंजरी को हाथों से उठाकर शिव के कंधे पर रखकर कहा—'आप मेरे वृत (वरण किये गये) हो चुके।' तब भगवान् शिव उमा से वृत होकर उस अशोक वृक्षसे इस प्रकार कहने लगे मानो वाणी से उसे जीवित कर रहे हों ।।२१-२२।।

शिव बोले—तुम्हारी इस पवित्र मंजरी से जैसे मैं वृत हुआ हूँ वैसे ही तुम भी अजर-अमर हो जाओगे।।२३।। तुम कामरूपी, कामरूप पुष्पवाले, काम देने वाले, मेरे प्रिय, सब आभूषण रूप पुष्पों से धनी, सब प्रकार के फूल-फलों से युक्त, सब अन्नों का भक्षण करने वाले, अमृत के समान स्वादिष्ठ, निखिल गन्धों से परिपूर्ण तथा देवताओं के अत्यन्त प्रिय होगे ।।२४-२५।। सभस्त लोक में तुम निश्चिन्त तथा निर्भय रहोगे। चित्रकूट नाम से प्रसिद्ध इस

१ख. ०र्लभाऽसि व० । २क. ०था । देवी प्रोवा० । ३क. ०द्धिरीदृशी । अ० । ४ग. नान्यद्भूतं क० । ५क. ०र्वरत्नफ० । ६ख. ०पुण्यफलोपमः । स० । ७क. ०तस्रव ए० । ग. तस्वर ए० । ८ख. ०षु सर्वत्र चरिष्य० ।

यो हि यास्यति पुण्यार्थी[1] सोऽश्वमेधमवाप्स्यति । यस्तु तत्र मृतश्चापि ब्रह्मलोकं स गच्छति ।।२७।।
यश्चात्र नियमैर्युक्तः प्राणान् सम्यक् परित्यजेत् । स [2]देव्यास्तपसा युक्तो महागणपतिर्भवेत् ।।२८।।

ब्रह्मोवाच

[3]एवमुक्त्वा तदा देव आपृच्छ्य[4] हिमवत्सुताम् । अन्तर्द्दधे जगत्स्रष्टा सर्व्वभूतप[5] ईश्वरः ।।२९।।
सापि देवी गते तस्मिन् [6]भगवत्यमितात्मनि । तत[7] एवोन्मुखी भूत्वा शिलायां सम्बभूव ह ।।३०।।
उन्मुखी सा भवे तस्मिन् महेशे जगतां प्रभौ । निशेव चन्द्ररहिता न[8] बभौ विमनास्तदा ।।३१।।
अथ शुश्राव शब्दञ्च बालस्यार्त्तस्य शैलजा । सरस्युदकसम्पूर्णे समीपे चाश्रमस्य च ।।३२।।
स कृत्वा बालरूपन्तु देवदेवः स्वयं शिवः । क्रीडाहेतोः सरोमध्ये ग्राहग्रस्तोऽभवत्तदा ।।३३।।
योगमायां समास्थाय प्रपञ्चोद्भवकारणम् । तद्रूपं सरसो मध्ये कृत्वैवं समभाषत ।।३४।।

बाल उवाच

त्रातु मां कश्चिदित्याह ग्राहेण हृतचेतसम् । धिक्कष्टं बाल एवाहमप्राप्तार्थमनोरथः ।।३५।।
प्रयामि निधनं वक्त्रे ग्राहस्यास्य दुरात्मनः । शोचामि न स्वकं देहं ग्राहग्रस्तः सुदुःखितः ।।३६।।
यथा शोचामि पितरं मातरञ्च तपस्विनीम्[9] । ग्राहगृहीतं मां श्रुत्वा प्राप्तं निधनमुत्सुकौ ।।३७।।

आश्रम पर जो कोई पुण्याभिलाषी व्यक्ति आयेगा, उसे अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होगा ।।२६½।। जो यहाँ मरेगा वह भी ब्रह्मलोक को जायेगा । और जो यहाँ नियमपूर्वक प्राण-त्याग करेगा, वह देवी की तपस्या से युक्त होकर महा-गणाधिपति होगा ।।२७-२८।।

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद सब भूतों के पालक, जगत्स्रष्टा तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न शंकर उमा से विदाई लेकर अन्तर्धान हो गये ।।२९।। पार्वती भी सर्वात्मा शिव के चले जाने पर उन्हीं का ध्यान करती हुई शिला-खंड पर बैठ गयी ।।३०।। उस समय उसी जगत्प्रभु महेश्वर शिव में मन लगाये हुई दुःखी उमा चन्द्रमा-रहित रात्रि की तरह शोभाहीन थी ।।३१।। कुछ समय बाद पार्वती ने आश्रम के समीप ही जल से परिपूर्ण सरोवर में बालक का आर्तनाद सुना ।।३२।। देवताओं के भी देव स्वयं शिव ही बालक का रूप धारण करके क्रीड़ा के निमित्त बीच सरोवर में ग्राह-ग्रस्त हो गये थे ।।३३।। योगमाया में स्थित होकर संसार की उत्पत्ति के कारणभूत शिव अपने रूप को इस प्रकार मध्य सरोवर में करके बोले ।।३४।।

बालक ने कहा—ग्राह के द्वारा नष्ट चेतना वाले मुझे कोई बचाये ! हाय कष्ट है ! मैं बालक ही रहा, अपनी अभिलाषा को भी पूरी नहीं कर सका ।।३५।। इस दुरात्मा ग्राह के मुँह में मैं मर रहा हूँ । ग्राह के ग्रसने से अत्यन्त दुःखी मुझे अपनी देह की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी कि पिता तथा तपस्विनी माता की है ।।३६½।। मैं ग्राह-गृहीत होकर मर गया—ऐसा सुनकर मेरा प्यार करने वाले तथा एक पुत्र वाले माता-पिता निश्चय ही

१ख. यात्रार्थं । २ग. देवस्त० । ३ख. ०क्त्वा वृक्षराजमशोकं हि० । ४क. ०च्छ्य गिरिजां द्रुतम् । ५क. ०तगणेश्व० । ख. ०तमहेश्व० । ६ख. ०त्यमलात्म० । ७ख. तदैव दुःखी भूत्वा सा सभायां संविवेश ह । ८ख. सा । ९क. मनस्विनीम् ।

[1]प्रियपुत्रामेवेकपुत्रौ प्राणान् न्यूनं त्यजिष्यतः[2] । अहो बत सुकष्टं वै योऽहं बालोऽकृताश्रमः ।।
अन्तर्ग्राहेण ग्रस्तस्तु यास्यामि निधनं किल ।।३८।।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वा तु देवी तं नादं[3] विप्रस्याऽऽर्त्तस्य शोभना । उत्थाय प्रस्थिता तत्र यत्र तिष्ठत्यसौ द्विजः[4] ।।३९।।
सापश्यदिन्दुवदना बालकं चारुरूपिणम् । ग्राहस्य मुखमापन्नं वेपमानमवस्थितम् ।।४०।।
सोऽपि ग्राहवरः श्रीमान् दृष्ट्वा देवीमुपागताम् । तं गृहीत्वा द्रुतं यातो मध्यं सरस एव हि ।।४१।।
स कृष्यमाणस्तेजस्वी नादमार्त्तं तदाकरोत् । अथाह देवी दुःखार्त्ता[5] बालं दृष्ट्वा ग्रहावृतम् ।।४२।।

पार्वत्युवाच

ग्राहराज महासत्त्व बालकं ह्येकपुत्रकम् । विमुञ्चेमं महादंष्ट्रं क्षिप्रं भीमपराक्रम ।।४३।।

ग्राह उवाच

यो देवि दिवसे षष्ठे[6] प्रथमं समुपैति माम् । स आहारो मम पुरा विहितो लोककर्त्तृभिः ।।४४।।
सोऽयं मम महाभागे षष्ठेऽहनि गिरीन्द्रजे । ब्रह्मणा प्रेरितो नूनं नैनं मोक्ष्ये कथञ्चन ।।४५।।

देव्युवाच

यन्मया हिमवच्छृङ्गे[7] चरितं तप उत्तमम् । तेन बालमिमं मुञ्च ग्राहराज नमोऽस्तु ते ।।४६।।

प्राणों को त्याग देंगे। अहो खेद तथा कष्ट है कि मैं अकृताश्रम बालक (आश्रम-धर्म को बिना प्राप्त किये ही) बीच सरोवर में ग्राह-ग्रस्त हुए मर जाऊँगा ।।३७-३८।।

ब्रह्मा ने कहा—सुन्दरी उमा दुःखी बालक के उस आर्तनाद को सुनते ही उठकर उधर ही चल पड़ी, जिधर वह ब्राह्मण-बालक था ।।३९।। चन्द्रमुखी उमा ने ग्राह के मुँह में पड़े हुए तथा काँपते हुए सुरूपवान् बालक को देखा ।।४०।। देवी को देखते ही वह ग्राहराज बालक को खींचकर बीच सरोवर में ले जाने लगा तब तेजस्वी बालक आर्तनाद करने लगा ।।४१$\frac{\text{१}}{\text{३}}$।। अनन्तर ग्राह-गृहीत बालक को देखकर दुःख-पीड़ित देवी कहने लगी ।।४२।।

पार्वती बोली—हे महापराक्रमी ग्राहराज ! हे महादंष्ट्र ! इस बालक को शीघ्र छोड़ दो । हे महासत्त्वशाली ! यह अपने माँ-बाप का एक ही पुत्र है ।।४३।।

ग्राह ने कहा—हे देवि ! छठे दिन पहले-पहल जो मुझे प्राप्त होता है, वही मेरा आहार होता है—ऐसा विधाता ने मेरे लिए पहले से विधान बना रखा है। हे महाभागे ! हे गिरिनन्दिनी ! निःसन्देह यह आज छठे दिन ब्रह्मा से प्रेरित भोजन मुझे मिला है । मैं इसे किसी (भी) अवस्था में नहीं छोड़ूँगा ।।४४-४५।।

देवी ने कहा—हे ग्राहों के स्वामी ! तुम्हें नमस्कार है। मैंने हिमालय के शिखर पर जो कुछ भी उत्तम तपस्या की है, उससे इस बालक को छोड़ दो ।।४६।।

---

[1]क. ०त्रा तु सा नूनमद्य प्राणांस्त्यजि० । [2]क. ०ष्यति । अ० । [3]ख. ०दं बालस्याऽऽ० । [4]ख. शिशुः । [5]ख. दुखार्तं । [6]क. प्राप्ते । [7]क. ०ङ्गे चीर्णं वैत० ।

ग्राह उवाच

मा व्ययस्तपसो देवि[1] भृशं बाले शुभानने । यद्ब्रवीमि कुरु श्रेष्ठे तथा मोक्षमवाप्स्यति ।।४७।।

देव्युवाच

ग्राहाधिप वदस्वाशु यत् सतामविगर्हितम् । तत् कृतं नात्र सन्देहो यतो मे ब्राह्मणाः प्रियाः ।।४८।।

ग्राह उवाच

यत् कृतं वै तपः किञ्चिद्भवत्या स्वल्पमुत्तमम् । तत् सर्वं मे प्रयच्छाऽऽशु ततो मोक्षमवाप्स्यति ।।४९।।

देव्युवाच

जन्मप्रभृति यत् पुण्यं महाग्राह कृतं मया । तत्ते सर्वं मया दत्तं बालं मुञ्च महाग्रह ।।५०।।

ब्रह्मोवाच

प्रजज्वाल ततो ग्राहस्तपसा तेन भूषितः । आदित्य इव मध्याह्ने दुर्निरीक्ष्यस्तदाभवत् ।।५१।।
उवाच चैवं तुष्टात्मा[2] देवीं लोकस्य धारिणीम् ।।५२।।

ग्राह उवाच

देवि किं कृत्यमेतत्ते[3] सुनिश्चित्य महाव्रते । तपसोऽप्यर्ज्जनं दुःखं तस्य त्यागो न शस्यते ।

ग्राह ने कहा—हे बाले ! हे सुमुखी ! हे देवी ! कठिन तपस्या का व्यय मत करो ! हे श्रेष्ठे ! मैं जो कहता हूँ, वह करो ! उसी से इसको मुक्ति मिलेगी ।।४७।।

देवि ने कहा—ग्राहराज ! शीघ्र कहो ! जो सज्जनों से अनिन्दित बात है, उसे मैं अवश्य करूँगी, इसमें कोई संदेह नहीं ! क्योंकि ब्राह्मण मुझे प्रिय हैं ।।४८।।

ग्राह ने कहा—तुमने जो कुछ थोड़ा किन्तु उत्तम तप किया है, वह सब मुझे शीघ्र दे दो, ताकि इसे मोक्ष मिल जाये ।।४९।।

देवी ने कहा—हे महाग्राह ! जन्म से लेकर जो कुछ भी मैंने पुण्य किया है, वह सब तुम्हें समर्पित है, बालक को मुक्त कर दो ।।५०।।

ब्रह्मा ने कहा—तदुपरान्त वह ग्राह उस तपस्या से भूषित हो मध्याह्नकालीन सूर्य के समान देदीप्यमान तथा दुर्निरीक्ष्य हो गया । प्रसन्नचित्त ग्राह लोक-धारिणी देवी से कहने लगा ।।५१।।

ग्राह बोला—'हे महाव्रतधारिणी देवी ! तुमने ऐसा क्यों किया ! तपस्या का अर्जन बहुत दुःख से होता है। उसका त्याग ठीक नहीं है। हे सुन्दर कटि वाली ! तुम इस बालक के साथ-साथ अपना तप भी ले लो। तुम्हारी

१ख. ०वि व्यर्थं भवतु शोभने। २क.ख. दुष्टात्मा। ३क. ०त्ते अनि०।

गृहाण तप एव त्वं बालं चेमं सुमध्यमे[1] । तुष्टोऽस्मि ते विप्रभक्त्या वरं तस्माद्ददामि ते ॥
सा त्वेवमुक्ता ग्राहेण[2] उवाचेदं महाव्रता ॥५३॥

देव्युवाच

देहेनापि मया ग्राह रक्ष्यो विप्रः प्रयत्नतः । तपः पुनर्मया प्राप्तं न प्राप्यो ब्राह्मणः पुनः ॥५४॥
सुनिश्चित्य महाग्राह कृतं बालस्य मोक्षणम् । न विप्रेभ्यस्तपः श्रेष्ठं श्रेष्ठा मे ब्राह्मणा मताः ॥५५॥
दत्त्वा चाहं न गृह्णामि ग्राहेन्द्र विहितं हि ते । न हि कश्चिन्नरो ग्राह प्रदत्तं पुनराहरेत् ॥५६॥
दत्तमेतन्मया तुभ्यं नाऽऽददानि हि तत् पुनः । त्वय्येव रमतामेतद्बालश्चायं विमुच्यताम् ॥५७॥

ब्रह्मोवाच

तथोक्तस्तां प्रशस्याथ मुक्त्वा बालं नमस्य च । देवीमादित्यावभासस्तत्रैवान्तरधीयत ॥५८॥
बालोऽपि सरसस्तीरे मुक्तो ग्राहेण वै तदा । स्वप्नलब्ध इवार्थौघस्तत्रैवान्तरधीयत ॥५९॥
तपसोऽपचयं मत्वा देवी हिमगिरीन्द्रजा । भूय एव तपः कर्त्तुमारेभे नियमस्थिता ॥६०॥
कर्त्तुकामां तपो भूयो ज्ञात्वा तां शङ्करः स्वयम् । प्रोवाच वचनं विप्रा[3] मा कृथास्तप इत्युत ॥६१॥
मह्यमेतत्तपो देवी त्वया दत्तं महाव्रते । तत्तेनैवाक्षयं तुभ्यं भविष्यति सहस्रधा ॥६२॥
इति लब्ध्वा वरं देवी तपसोऽक्षयमुत्तमम् । स्वयंवरमुदीक्षन्ती तस्थौ प्रीता मुदा युता ॥६३॥

ब्राह्मण-भक्ति से मैं सन्तुष्ट हूँ। अतः वर देता हूँ।' ग्राह के इस प्रकार कहने पर उस महाव्रतधारिणी देवी ने यह कहा ॥५२-५३॥

देवी बोली—हे ग्राह ! मुझे तो शरीर देकर भी ब्राह्मण की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। हे महाग्राह ! तप तो मैं पुनः प्राप्त कर सकती हूँ, ब्राह्मण नहीं—ऐसा सोचकर मैंने बालक को मुक्त कराया है ॥५४½॥ तपस्या ब्राह्मणों से श्रेष्ठ नहीं है, ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है—यह मेरा मत है। हे ग्राहेन्द्र ! मैं अपना तप देकर फिर उसे ग्रहण नहीं करूँगी। क्योंकि कोई भी मनुष्य दत्त वस्तु का पुनर्ग्रहण नहीं करता है। मैंने तुम्हें यह दे दिया, अब वापस नहीं ले सकती। इस तपस्या का उपभोग तुम्हीं करो और बालक को छोड़ दो ॥५५-५७॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद सूर्य के समान कान्तिमान् वह ग्राह, बालक को छोड़ देवी की प्रशंसा करके उसे नमस्कार करके वहीं पर अन्तर्धान हो गया ॥५८॥ सरोवर के तीर में ग्राह से मुक्त बालक भी स्वप्न में प्राप्त धनराशि की तरह उसी जगह अन्तर्हित हो गया ॥५९॥ गिरिनन्दिनी उमा ने तपस्या का ह्रास जानकर पुनः नियम में स्थित हो तप करना आरम्भ कर दिया ॥६०॥ पुनः तप करने की इच्छुक उमा को देखकर स्वयं शंकर ने उससे कहा—'तप मत करो ॥६१॥ हे महाव्रते। हे देवि ! तुमने मुझे अपना तप दिया है। इसलिए तुम्हारा तप अक्षय रूप से हजार गुना अधिक हो जायगा ॥६२॥ अक्षय तथा उत्तम तप रूप वरदान प्राप्त कर पार्वती आनन्दित हो

---

[1] ग. ध्यमम्। तु०। [2] क. ०ण प्रत्युवाच म०। [3] क. भूयो।

इदं पठेद्यो हि नरः सदैव, बालानुभावाचरणं हि शम्भोः ।
स देहभेदं[1] समवाप्य पूतो[2] भवेद्गणेशस्तु कुमारतुल्यः ।।६४।।

इति श्रीब्राह्मे महापुराणे स्वयम्भु-ऋषि-संवादे पार्व्वत्याः सत्त्वदर्शनं नाम पञ्चत्रिंशोध्यायः ।।३५।।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

पार्वतीस्वयंवर-वर्णनम्

ब्रह्मोवाच

विस्तृते हिमवत्पृष्ठे विमानशतसङ्कुले । अभवत् स तु कालेन शैलपुत्र्याः स्वयंवरः ।।१।।
अथ पर्व्वतराजोऽसौ हिमवान्[3] ध्यानकोविदः । दुहितुर्देवदेवेन ज्ञात्वा तदभिमन्त्रितम् ।।२।।
जानन्नपि महाशैलः समयारक्षणेप्सया । स्वयंवरं ततो देव्याः सर्व्वलोकेष्वघोषयत् ।।३।।
देवदानवसिद्धानां सर्व्वलोकनिवासिनाम् । वृणुयात् परमेशानं समक्षं यदि मे मे सुता ।।४।।
तदेव सुकृतं श्लाघ्यं ममाभ्युदयसम्मतम् । इति सञ्चिन्त्य शैलेन्द्रः कृत्वा हृदि महेश्वरम् ।।५।।

स्वयंवर की प्रतीक्षा करती हुई रहने लगी।।६३।। जो मनुष्य शंकर के इस वालभावानुकूल आचरण को सदा पढ़ेगा, वह पवित्र होकर देह-भेद प्राप्त कर (अर्थात् शरीर त्यागकर) गणेश तथा कार्तिकेय के समान हो जायगा।।६४।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में पार्वती के
सत्त्वदर्शन नामक पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ।।३५।।

अध्याय ३६

पार्वती-स्वयंवर का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—सैकड़ों विमानों से व्याप्त, विस्तृत हिमालय के पृष्ठ पर समय पाकर गिरि-पुत्री का स्वयंवर हुआ।।११।। ध्यानशील पर्वतराज हिमालय ने शिव के द्वारा अपनी कन्या का अभिमन्त्रण (स्वीकार) जानकर भी समय निर्धारण (शिष्टाचार) करने की इच्छा से देवी का स्वयंवर सव लोकों में घोषित कर दिया ।।२-३।। 'सर्वलोकनिवासी देव-दानव-सिद्धों के समक्ष यदि मेरी कन्या शिव का वरण कर लेगी तभी मेरा श्लाघनीय पुण्योदय होगा'—ऐसा सोचकर शैलेन्द्र ने अपने हृदय में महेश्वर का ध्यान कर देवी के स्वयंवर के लिए ब्रह्मलोक तक के देशों को रत्नों

---

[1] क. देवपूज्यः स० । [2] क. मक्ति । [3] क. ०वाग्ज्ञानिको० ।

[१]आब्रह्मकेषु देवेषु देव्याः शैलेन्द्रसत्तमः । कृत्वा रत्नाकुलं देशं स्वयंवरमचीकरत् ॥६॥
अथैवमाघोषितमात्र एव, स्वयंवरे तत्र नगेन्द्रपुत्र्याः ।
देवादयः सर्वजगन्निवासाः, समाययुस्तत्र गृहीतवेशाः ॥७॥
प्रफुल्लपद्मासनसन्निविष्टः, सिद्धैर्वृतो योगिभिरप्रमेयैः ।
विज्ञापितस्तेन महीध्रराज्ञाऽऽगतस्तदाऽहं त्रिदिवैरुपेतः ॥८॥
अक्ष्णां सहस्रं सुरराट् स बिभ्रद् दिव्याङ्गहारस्रगुदाररूपः ।
ऐरावतं सर्व्वगजेन्द्रमुख्यं, स्रवन्मदासारकृतप्रवाहम् ॥९॥
आरुह्य सर्व्वामरराट् स वज्रं, बिभ्रत् समागात् पुरतः सुराणाम् ।
तेजःप्रभावाधिकतुल्यरूपी, प्रोद्भासयन् सर्व्वदिशो विवस्वान् ॥१०॥
हैमं विमानं स बलत्पताकमारुढ आगात्त्वरितं जवेन ।
मणिप्रदीप्तोज्ज्वलकुण्डलश्च वह्न्यर्कतेजःप्रतिमे विमाने ॥११॥
समभ्यगात् कश्यपसूनुरेक, आदित्यमध्याद्भगनामधारी ।
पीनाङ्गयष्टिः सुकृताङ्गहारतेजोबलाज्ञासदृशप्रभावः ॥१२॥
दण्डं समागृह्य कृतान्त आगादारुह्य भीमं महिषं जवेन ।
[२]महामहीध्रोच्छ्रयपीनगात्रःस्वर्णादिरत्नाञ्चितचारुवेशः ॥१३॥

से सुसज्जित किया ॥५-६॥ पार्वती के स्वयंवर की घोषणा होते ही संपूर्ण जगत् के निवासी देव आदि गण सुन्दर वेश बनाकर वहाँ पधारे ॥७॥ पहले विकसित कमलों के आसन पर उपविष्ट, अप्रेमय योगियों तथा सिद्धों से आवृत देवताओं से युक्त होकर मेरे वहाँ पहुँचने की सूचना पर्वतराज को मिली ॥८॥ तदनन्तर सहस्रनेत्रधारी, दिव्य अंगों के हार तथा पुष्पमाला धारण किये हुए उदार रूप वाले, गजेन्द्रो में मुख्य तथा वहते हुए मद की मूसलधार वृष्टि से धारा बनाते हुए ऐरावत नामक हाथी पर आरूढ़ और वज्र को धारण किये हुए इन्द्र देवताओं के अग्रगामी होकर वहाँ आये ॥९$\frac{१}{३}$॥ अनन्तर तेज के प्रभाव से अधिक सुन्दर और छत्र-पताका से युक्त सुवर्ण के विमान पर स्थित सूर्य सब दिशाओं को प्रकाशित करते हुए वेग से शीघ्र वहाँ आये। अग्नि तथा सूर्य के तेज के समान विमान पर आरूढ़ और प्रदीप्त मणि से उज्ज्वल कुण्डल को धारण किये हुए एक भग नामक आदित्य, जो कश्यप के पुत्र कहलाते हैं, आदित्यों के मध्य से निकल कर वहाँ आये ॥१०-११$\frac{१}{३}$॥ भयानक महिष पर चढ़कर अंगों को हार आदि से सुसज्जित कर तेज, वल और आज्ञा के समान प्रभाव वाले तथा स्थूल देह वाले यमराज दण्ड को धारण किये हुए वहाँ पहुँचे ॥१२$\frac{१}{३}$॥ महापर्वत के समान उच्च तथा पुष्ट शरीर वाले, सुवर्ण आदि रत्नों से जटित चारु वेश वाले और निखिल जगत् के पोषक वायु भी विमान पर चढ़कर आये ॥१३$\frac{१}{३}$॥ अधिक तेजवाले, तेज से ओत-प्रोत, सब देव-राक्षसों को

---

[१]क. आरुद्रके० । [२]क. ०ध्रोच्छ्रितपी० ।

समीरणः सर्व्वजगद्विभर्त्ता विमानमारुह्य समभ्यगाद्धि ।
संतापयन् सर्व्वसुरासुरेशांस्तेजोधिकस्तेजसि सन्निविष्टः ।।१४।।
वह्निः समभ्येत्य सुरेन्द्रमध्ये, ज्वलन् प्रतस्थौ वरवेशधारी ।
नानामणिप्रज्वलिताङ्गयष्टिर्जगद्वरं दिव्यविमानमग्र्यम् ।।१५।।
आरुह्य सर्वद्रविणाधिपेशः, स राजराजस्त्वरितोऽभ्यगाच्च ।
आप्याययन् सर्व्वसुरासुरेशान्, कान्त्या च वेशेन च चारुरूपः ।।१६।।
ज्वलन्महारत्नविचित्ररूपं, विमानमारुह्य शशी समायात् ।
श्यामाङ्गयष्टिः सुविचित्रवेशः, सर्व्वाङ्ग आबद्धसुगन्धिमाल्यः ।।१७।।
तार्क्ष्यं समारुह्य महीध्रकल्पं, गदाधरोऽसौ त्वरितः समेतः ।
अथाश्विनौ चापि भिषग्वरौ द्वावेकं विमानं त्वरयाऽधिरुह्य ।।१८।।
मनोहरौ प्रज्वलचारुवेशौ, आजग्मतुर्देववरौ सुवीरौ[1] ।
सहस्रनागः स्फुरदग्निवर्णं, बिभ्रत्तदानीं ज्वलनार्कतेजाः ।।१९।।
सार्द्धं स नागैरपरैर्महात्मा, विमानमारुह्य समभ्यगाच्च ।
दितेः सुतानाञ्च महासुराणां, वह्न्यर्कशक्रानिलतुल्यभासाम् ।।२०।।
वरानुरूपं प्रविधाय वेशं, वृन्दं समागात् पुरतः सुराणाम् ।
गन्धर्व्वराजः स च चारुरूपी, दिव्याङ्गदो दिव्यविमानचारी ।।२१।।

संतापित करने-वाले और सुन्दर वेश धारण करने वाले जलते हुए अग्नि भी देवताओं के मध्य में स्थित हुए ।।१४$\frac{१}{३}$।। अनेक मणियों के सदृश कान्तिमान् शरीर वाले तथा सब धनों के स्वामी कुवेर संसार में श्रेष्ठ दिव्य विमान पर आरूढ़ होकर शीघ्रता से आये ।।१५$\frac{१}{३}$।। मनोहर रूप वाले चन्द्रमा महारत्नों से चित्रित रूप वाले विमान पर चढ़कर अपनी कान्ति तथा वेश से सब देव-असुरों को पुष्ट करते हुए आये ।।१६$\frac{१}{३}$।। श्याम शरीर वाले, विचित्र वेशवाले और संपूर्ण अंगों से सुगन्धित मालाओं को धारण करने वाले विष्णु पर्वत सदृश गरुड़ पर सवार होकर वेग से आये ।।१७$\frac{१}{३}$।। अनन्तर वैद्य-श्रेष्ठ, देवश्रेष्ठ, सुन्दरवीर, मनोहर तथा चारुवेश वाले दोनों अश्विनीकुमार भी एक ही विमान पर चढ़कर शीघ्रता से आये ।।१८$\frac{१}{३}$।। हजारों नागों को धारण करने वाले, अग्नि के समान कान्तिमान् और सूर्य के सदृश तेजस्वी महात्मा शंकर भी वहुत से नागों के साथ विमान पर आरूढ़ होकर उस समय वहाँ पधारे ।।१९$\frac{१}{३}$।। अग्नि, सूर्य, इन्द्र और वायु के तुल्य कान्तिमान् दिति-पुत्र राक्षसों का समूह भी वर के योग्य वेश बनाकर देवताओं से पहले उपस्थित हुआ ।।२०$\frac{१}{३}$।। इन्द्र की आज्ञा से सुन्दर रूप वाले गन्धर्वराज विश्वावसु भी दिव्य विमान पर चढ़कर गन्धर्वसमूह और अप्सराओं के साथ वहाँ आये ।।२१$\frac{१}{३}$।। और भी गन्धर्व, यक्ष, साँप,

---

[1] क. तदानीम् ।

गन्धर्वसङ्घैः सहितोऽप्सरोभिः, शक्राज्ञया तत्र समाजगाम ।
अन्ये च देवास्त्रिदिवात्तदानीं, पृथक् पृथक् चारुगृहीतवेशाः ।।२२।।
आजग्मुरारुह्य विमानपृष्ठं, गन्धर्वयक्षोरगकिन्नराश्च ।
शचीपतिस्तत्र सुरेन्द्रमध्ये, रराज राजाऽधिकलक्ष्यमूर्त्तिः ।।२३।।
आज्ञाबलैश्वर्य्यकृतप्रमोदः[1], स्वयंवरं तं समलञ्चकार ।
हेतुस्त्रिलोकस्य जगत्प्रसूतेर्माता च तेषां स सुरासुराणाम् ।।२४।।
पत्नी च शम्भोः पुरुषस्य धीमतो, गीता पुराणे प्रकृतिः परा या ।
दक्षस्य कोपाद्धिमवद्‌गृहं सा, कार्यार्थमायात्त्रिदिवौकसां हि ।।२५।।
[2]विमानपृष्ठे [3]मणिहेमजुष्टे, स्थिता वलच्चामरवीजिताङ्गी ।
[4]सर्व्वर्त्तुपुष्पां [5]सुसुगन्धमालां, प्रगृह्य देवी प्रसभं प्रतस्थे[6] ।।२६।।

ब्रह्मोवाच

मालां प्रगृह्य देव्यान्तु स्थितायां देवसंसदि । शक्राद्यैरागतैर्देवैः स्वयंवर उपागते ।।२७।।
देव्या जिज्ञासया शम्भुर्भूत्वा पञ्चशिखः शिशुः । उत्सङ्गतलसंसुप्तो बभूव सहसा विभुः[7] ।।२८।।
ततो ददर्श तं देवी शिशुं पञ्चशिखं स्थितम् । ज्ञात्वा तं समवध्यानाज्जगृहे[8] प्रीतिसंयुता[9] ।।२९।।
अथ सा शुद्धसङ्कल्पा काङ्क्षितं प्राप्य सत्पतिम्[10] । निवृत्ता च तदा तस्थौ कृत्वा सा हृदि तं विभुम् ।।३०।।
ततो दृष्ट्वा शिशुं देवा देव्या उत्सङ्गवर्त्तिनम् । कोऽयमत्रेति संमन्त्र्य चुक्रुशुर्भृशमोहिताः[11] ।।३१।।

किन्नर आदि देवता पृथक्-पृथक् सुन्दर वेश बना विमान पर आरूढ़ होकर स्वर्ग से वहाँ आये ।।२२½।।

राजाओं से अधिक सुन्दर और आज्ञा, बल तथा ऐश्वर्य से प्रमोद करने वाले इन्द्र देवताओं के मध्य में सुशोभित होते हुए स्वयंवर सभा को अलंकृत करने लगे ।।२३½।। संसार की उत्पत्ति के कारण, सुरासुरों की माता, धीमान् पुरुष शंकर की पत्नी, पुराण में परा प्रकृति नाम से प्रख्यात, दक्ष के शाप से देवताओं के कार्य के लिए हिमालय के गृह में उत्पन्न, मणि तथा सुवर्ण जटित विमान पर स्थित एवम् छत्र-चामरों से वीजित अंगों वाली उमा सब ऋतुओं के पुष्पों की सुगन्धित माला को ग्रहण कर हठात् प्रस्थित हुई ।।२४-२६।।

ब्रह्मा ने कहा—जब स्वयंवर में इन्द्र आदि देवता उपस्थित हुए और देवसभा में पार्वती भी माला लेकर उपस्थित हो गयीं तब देवी के मनोभाव को समझने के लिए भगवान् शंकर अचानक पंचशिखाधारी गोद में सोया हुआ-सा बालक, बन गये ।।२७-२८।। देवी ने उस बालक को देख ध्यान योग से पहचानकर प्रीतिपूर्वक पकड़ लिया ।।२९।। शुद्ध संकल्प वाली उमा अभिलषित सत्पति को प्राप्त कर उस प्रभु बालक को हृदय से लगा निवृत्त हो गयी ।।३०।। देवगण देवी के क्रोड़-देश में स्थित बालक को देखकर मोहित हो गये और 'यह कौन यहाँ' इस प्रकार

१ग. ० मोहो वृथाधिकं यत्नमुमां च० । २क. ०नवर्ये म० । ३क. ०मपृष्ठे स्थि० । ४क. सुगन्धपुष्पां । ५ख. अनर्घ्यपुष्पां । ५ख. वरगन्धमालां । ६क. ०स्थे । मा० । ७क. ख. ०भुः । अकस्मादेव तं । ८ग. ०ज्जहृषे प्री० । ९क. ०ता । तपसः शु० । १०क. सत्फलम् । ११ग. ०शमार्दिताः ।

वज्रमाहारयत्तस्य बाहुमुत्क्षिप्य वृत्रहा । स [१]बाहुरुत्थितस्तस्य तथैव समतिष्ठत ।।३२।।
स्तम्भितः [२]शिशुरूपेण देवदेवेन शम्भुना । [३]वज्रं क्षेप्तुं न शशाक वृत्रहा चलितुं न च ।।३३।।
भगो नाम ततो देव आदित्यः काश्यपो बली । उत्क्षिप्य (चिक्षेप) आयुधं दीप्तं छेत्तुमिच्छन् विमोहितः ।।३४।।
तस्यापि भगवान् बाहुं तथैवास्तम्भयत्तदा । बलं तेजश्च योगश्च तथैवास्तम्भयद्विभुः ।।३५।।
शिरः प्रकम्पयन् विष्णुः शङ्करं समवैक्षत । अथ तेषु स्थितेष्वेवं मन्युमत्सु सुरेषु च ।।३६।।
अहं परमसंविग्नो ध्यानमास्थाय सादरम् । बुद्धवान् देवदेवेशमुमोत्सङ्गे समास्थितम् ।।३७।।
ज्ञात्वाऽहं परमेशानं शीघ्रमुत्थाय सादरम् । ववन्दे चरणं शम्भोः स्तुतवांस्तमहं द्विजाः ।।३८।।
पुराणैः [४]सामसङ्गीतैः पुण्याख्यैर्गुह्यनामभिः । अजस्त्वमजरो देवः स्रष्टा विभुः [५]परापरम् ।।३९।।
प्रधानं पुरुषो यस्त्वं ब्रह्म ध्येयं तदक्षरम्[६] । अमृतं परमात्मा च ईश्वरः कारणं महत् ।।४०।।
ब्रह्मसृक् प्रकृतेः स्रष्टा सर्व्वकृत्प्रकृतेः परः । इयञ्च प्रकृतिर्देवी सदा ते सृष्टिकारणम् ।।४१।।
पत्नीरूपं समास्थाय जगत्कारणमागता । नमस्तुभ्यं महादेव देव्या वै सहिताय च ।।४२।।
प्रसादात्तव देवेश नियोगाच्च मया प्रजाः । देवाद्यास्तु इमाः सृष्टा मूढ़ास्त्वद्योगमायया ।।४३।।

परस्पर वातें करने लगे ।।३१।। इन्द्र ने तो वज्र उठाकर उस पर फेंकना चाहा, पर उनकी भुजा जैसे उठी थी वैसे रुक गयी ।।३२।। वालक रूपधारी देव-देव शंकर ने उनका स्तम्भन कर दिया । इन्द्र न तो वज्र को फेंक सके न चल सके ।।३३।। तव कश्यप-पुत्र भग नामक वली आदित्य विना सोचे-समझे उस वालक को मारने के लिए प्रदीप्त अस्त्र फेंकने लगे ; पर उनकी भी भुजा को भगवान् शिव ने स्तम्भित कर दिया । शिवजी ने वल, तेज और योग का भी स्तम्भन कर दिया ।।३४-३५।। सिर को कँपाते हुए विष्णु शंकर को देखने लगे । सव देवों के इस प्रकार कुपित हो जाने पर मैं वहुत चिन्तित हुआ और ध्यानस्थित होकर देखने के वाद उमा की गोद में ससम्मान स्थित देवों के स्वामी शंकर को समझ पाया ।।३६-३७।। द्विजगण ! मैं महादेव जानकर शीघ्र उठा और सत्कारपूर्वक शभु की चरण-वंदना कर पुराण, सामवेदोक्त संगीत और उनके पवित्र गुप्त नामों से उनकी यह स्तुति करने लगा ।।३८।। 'आप अजर, अमर, देव, सृष्टिकर्त्ता, व्यापक, परात्पर, प्रकृति, पुरुष, व्रह्म, ध्यानकरने योग्य, अविनाशी, अमृत, परमात्मा, ईश्वर, कारण, महत्तत्त्व, व्रह्म-स्रष्टा, प्रकृति-स्रष्टा, प्रकृति से परे और सर्व-कर्त्ता हैं ।।३९-४०$\frac{१}{२}$।। ये देवी आपकी प्रकृति हैं, जो सदा सृष्टि-कारण तथा जगत्कारण होती हुई आपकी पत्नी के रूप में आयी हैं ।।४१$\frac{१}{२}$।। हे महादेव ! देवी सहित आपको नमस्कार है । हे देवेश ! आपकी कृपा तथा आज्ञा से मैंने योगमाया के वल से देव आदि मूढ़ प्रजा की सृष्टि की है ।।४२-४३।। अव आप इनके ऊपर अनुग्रह करें, ताकि ये पहले की तरह हो जायें ।'

---

[१]क. ०हुस्तस्य चोत्क्षिप्तस्तथै० । [२]ख. शिशुवेशेन । [३]ग रुद्रं । [४]क. ख. ०मगैर्मन्त्रैः पु० । [५]क. परावरः । [६]क. चराचरम् ।

कुरु प्रसादमेतेषां यथापूर्व्वं भवन्त्विमे । तत एवमहं विप्रा विज्ञाप्य परमेश्वरम् ।।४४।।
स्तम्भितान् सर्व्वदेवांस्तानिदं चाहं तदोक्तवान् । मूढाश्च देवताः सर्व्वा नैनं बुध्यत शङ्करम् ।।४५।।
गच्छध्वं शरणं [1]शीघ्रमेनमेव महेश्वरम् । सार्धं मयैव देवेशं परमात्मानमव्ययम् ।।४६।।
ततस्ते स्तम्भिताः सर्व्वे तथैव त्रिदिवौकसः । प्रणेमुर्मनसा सर्व्वे भावशुद्धेन चेतसा ।।४७।।
अथ तेषां प्रसन्नोऽभूद्देवदेवो महेश्वरः । यथापूर्व्वं चकाराऽऽशु देवतानां तनूस्तदा ।।४८।।
तत एव प्रवृत्ते तु सर्व्वदेवनिवारणे । वपुश्चकार देवेशस्त्र्यक्षं परममद्भुतम् ।।४९।।
तेजसा तस्य ते ध्वस्ताश्चक्षुः सर्व्वे न्यमीलयन् । तेभ्यः स परमं चक्षुः स्ववपुर्दृष्टिशक्तिमत् ।।५०।।
प्रादात् परमदेवेशमपश्यंस्ते तदा विभुम् । ते दृष्ट्वा परमेशानं तृतीयेक्षणधारिणम् ।।५१।।
शक्राद्या मेनिरे देवाः सर्व्व एव सुरेश्वराः । तस्य देवी तदा हृष्या समक्षं त्रिदिवौकसाम् ।।५२।।
पादयोः स्थापयामास स्रङ्मालाममितद्युतिः । साधु साध्विति ते होचुः सर्वे देवाः पुनर्विभुम् ।।५३।।
सह देव्या नमश्चक्रुः शिरोभिर्भूतलाश्रितैः[2] । अथास्मिन्नन्तरे विप्रास्तमहं दैवतैः सह ।।५४।।
हिमवन्तं महाशैलमुक्तवांश्च महाद्युतिम् । श्लाघ्यः पूज्यश्च वन्द्यश्च सर्व्वेषां त्वं महानसि ।।५५।।
शर्व्वेण सह सम्बन्धो यस्य तेऽभ्युदयो महान् । क्रियतां चारुरुद्वाहः क्रिमर्थं स्थीयते[3] परम् ।।
ततः प्रणम्य हिमवांस्तदा मां प्रत्यभाषत ।।५६।।

विप्रवृन्द ! इस प्रकार शिव की वन्दना कर चुकने के बाद मैंने स्तम्भित देवगणों से कहा—।।४४½।। 'तुम सव देवता मूर्ख हो। भगवान् शिव को नहीं जानते हो। अब इन्हीं परमात्मा, अव्यय तथा देवेश महेश्वर की शरण में मेरे साथ शीघ्र चलो।' यह सुनकर समस्त स्तम्भित देवगण भाव-शुद्ध चित्त से मन-ही-मन शंकर को प्रणाम करने लगे।।४५-४७।। तब उन पर प्रसन्न होकर देव-देव महेश्वर ने शीघ्र ही उन्हें पूर्ववत् कर दिया। इस प्रकार सव देवों का दु:ख निवारण करके देवेश ने अपना तीन आँखों वाला अद्भुत शरीर बना लिया।।४८-४९।। उनके तेज से देवगण नष्ट होने लगे। सब ने आँखें मूँद लीं। तब शिव ने देवों को अत्यन्त दृष्टि-शक्ति वाले नेत्र दिये, जिनसे वे शंकर को देखने लगे।।५०½।। तृतीय नेत्रधारी परमेश्वर को देखकर इन्द्र आदि समस्त देव उन्हें महादेव मानने लगे।।५१½।। देवताओं के समक्ष अत्यन्त कान्तिमती पार्वती ने हर्ष से पुष्पमाला शिव के चरणों पर समर्पित कर दी।।५२½।। फिर देवगण ने 'साधु साधु' कहकर पार्वती सहित शंकर को पृथ्वी पर माथा टेक कर प्रणाम किया।।५३½।। विप्रवृन्द ! इसके उपरान्त देवताओं के साथ मैं महाकान्तिमान् पर्वतराज हिमालय से कहने लगा—।।५४½।। आप श्लाघनीय, सवके पूज्य, वन्दनीय तथा महान् हैं। आपके साथ जिसका सम्वन्ध होगा, उसका महान् अभ्युदय कहना चाहिए। अव आप पवित्र विवाह संस्कार सम्पन्न करें, देर हो रही है।' तव हिमालय ने मुझे प्रणाम कर कहा।।५५-५६।।

---

[1] क. शीघ्रं देवेशं शूलपाणिनम्। [2] क. ०तैः। एतस्मि०। [3] क. म्लायते।

हिमवानुवाच

त्वमेव कारणं देव यस्य सर्व्वोदये मम । प्रसादः सहसोत्पन्नो हेतुश्चापि त्वमेव हि ॥
उद्वाहस्तु यदा यादृक् तद्वि (क्तं वि) धत्स्व पितामह ॥५७॥

ब्रह्मोवाच

तत एवं वचः श्रुत्वा गिरिराजस्य भो द्विजाः । उद्वाहः क्रियतां देव इत्यहं चोक्तवान् विभुम् ॥५८॥
मामाह शङ्करो देवो यथेष्टमिति लोकपः । तत्क्षणाच्च ततो विप्रा अस्माभिर्निर्म्मितं पुरम् ॥५९॥
उद्वाहार्थं महेशस्य नानारत्नोपशोभितम् । रत्नानि मणयश्चित्रा हेममौक्तिकमेव च ॥६०॥
मूर्त्तिमन्त उपागम्य अलञ्चक्रुः पुरोत्तमम्[1] । चित्रा मारकती भूमिः सुवर्णस्तम्भशोभिता ॥६१॥
भास्वत्स्फटिकभित्तिश्च मुक्ताहारप्रलम्बिता । तस्मिन् द्वारि पुरे रम्य उद्वाहार्थं विनिर्म्मिता ॥६२॥
शुशुभे देवदेवस्य महेशस्य महात्मनः । सोमादित्यौ समं तत्र तापयन्तौ महामणी ॥६३॥
सौरभेयं मनोरम्यं गन्धमादाय मारुतः । प्रववौ सुखसंस्पर्शो भवभक्तिं प्रदर्शयन् ॥६४॥
समुद्रास्तत्र चत्वारः शक्राद्याश्च सुरोत्तमाः । देवनद्यो महानद्यः सिद्धा मुनय एव च ॥६५॥
[2]गन्धर्व्वाप्सरसः सर्व्वे नागा यक्षाः सराक्षसाः । [3]औदकाः खेचराश्चान्ये किन्नरा देवचारणाः ॥६६॥

हिमालय ने कहा—हे देव ! हम सब के अभ्युदय में आप ही कारण हैं । अकस्मात् जो हम लोगों को प्रसन्नता उत्पन्न हो गयी, इसमें भी आप ही कारण हैं । हे पितामह ! जब और जिस तरह विवाह सम्पन्न हो, उसकी व्यवस्था आप ही करें ॥५७॥

ब्रह्मा ने कहा—द्विजगण ! तब पर्वतराज के वचन सुनकर मैंने परमेश्वर से कहा—'देव ! विवाह कीजिये' ॥५८॥ लोक-पालक शंकर ने भी मुझसे कहा—'जैसी आप सबकी इच्छा ।' विप्रवृन्द ! तत्काल ही हमने शिव के विवाह के निमित्त अनेक प्रकार के रत्नों से सुशोभित नगरी का निर्माण किया ॥५९½॥ चित्र-विचित्र रत्न, मणि, मोती और सुवर्ण मानो शरीर धारण कर उस श्रेष्ठ नगरी को अलंकृत कर रहे थे । वहाँ की भूमि मरकत मणिमय थी, जहाँ सुवर्ण के स्तम्भ सुशोभित हो रहे थे ॥६०-६१॥ देवों के देव भगवान् शिव के विवाह के लिए उस रमणीय नगर के द्वार पर निर्मित चमकते हुए स्फटिकों की दीवार सुशोभित हो रही थी, जहाँ मोतियों के हार लटक रहे थे ॥६२½॥ वहाँ महामणि रूप सूर्य-चन्द्रमा समान रूप से प्रकाश फैला रहे थे । शिव-भक्ति को प्रकट करते हुए वायु, जिनका स्पर्श सुखदायक था, सुगन्धित तथा मनोरम गन्ध से युक्त होकर बह रहे थे ॥६३-६४॥ चारों समुद्र, इन्द्र आदि देवता, देवनदियाँ, महानदियाँ, सिद्ध, मुनि, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस, जलचर, आकाशचर, किन्नर, देवचारण, तुम्बुरु, नारद, हाहा, हूहू और साम गाने वाले (यथायोग्य) रमणीय वाद्यों को लेकर

---

[1] ख. ०म् । विरराज तदा भू० । [2] क. ०न्धर्वाः किंनराः स० । [3] क. खादकाः । ख. भूधराः ।

तुम्बुरुर्नारदो हाहाहूहूश्चैव तु सामगाः । रम्याण्यादाय वाद्यानि तत्राऽऽजग्मुस्तदा[1] पुरम् ॥६७॥
ऋषयस्तु कथास्तत्र वेदगीतास्तपोधनाः । पुण्यान् वैवाहिकान्मन्त्राञ्जेपुः संहृष्टमानसाः ॥६८॥
जगतो मातरः सर्व्वा [2]देवकन्याश्च कृत्स्नशः । गायन्ति हर्षिताः सर्व्वा उद्वाहे परमेष्ठिनः ॥६९॥
ऋतवः षट् समं तत्र नानागन्धसुखावहाः । [3]उद्वाहः शङ्करस्येति[4] मूर्त्तिमन्त उपस्थिताः ॥७०॥
[5]नीलजीमूतसङ्काशैर्मन्त्रध्वनिप्रहर्षिभिः । केकायमानैः शिखिभिर्नृत्यमानैश्च सर्वशः ॥७१॥
विलोलपिङ्गलस्पष्टविद्युल्लेखाविहासिता[6] । [7]कुमुदापीडशुक्लाभिर्बलाकाभिश्च[8] शोभिता ॥७२॥
प्रत्यग्रसञ्जातशिलीन्ध्रकन्दलीलताद्रुमाद्युद्गतपल्लवा शुभा ।
शुभाम्बुधाराप्रणयप्रबोधितैर्महालसैर्भेकगणैश्च नादिता ॥७३॥
प्रियेषु मानोद्धतमानसानां, मनस्विनीनामपि कामिनीनाम् ।
मयूरकेकाभिरुतैः क्षणेन, मनोहरैर्मानविभङ्गहेतुभिः ॥७४॥
[9]तथा विवर्णोज्ज्वलचारुमूर्त्तिना, शशाङ्कलेखाकुटिलेन सर्वतः ।
पयोदसङ्घातसमीपवर्त्तिना, महेन्द्रचापेन भृशं विराजिता ॥७५॥
[10]विचित्रपुष्पाम्बुभवैः सुगन्धिभिर्घनाम्बुसम्पर्कतया सुशीतलैः ।
विकम्पयन्ती पवनैर्मनोहरैः, सुराङ्गनानामलकावलीः शुभाः ॥७६॥

वहाँ उपस्थित हुए। ६५-६७॥ तपोधन ऋषिगण वेदविहित कथा और विवाह-संबंधी पवित्र मन्त्रों का जप हर्षपूर्वक करने लगे॥६८॥ निखिल जगन्माताएँ तथा देवकन्याएँ शिव के विवाह में हर्ष से गान करने लगीं॥६९॥ नाना प्रकार की गन्ध तथा सुख को देने वाली छहों ऋतुएँ समान रूप से शंकर के विवाह में शरीर धारण कर उपस्थित हुईं ॥७०॥ (वर्षा ऋतु आने पर) नील मेघ के समान कान्ति वाले और मंत्र-ध्वनि से हर्षित होने वाले मयूर शब्द करते हुए नाचने लगे ॥७१॥ वह ऋतु चंचल तथा पिंगलवर्ण वाली विद्युत्-पंक्तियों से आभासित एवं कुमुदों की माला के समान शुक्ल वलाकाओं (बगलियों) से सुशोभित थी॥७२॥ कदली, लता और वृक्षों के अभिनव पल्लवों से उसकी अपूर्व शोभा थी। कल्याणमय मेघों के प्रेम के कारण जगे हुए अत्यन्त आलसी मेढकों से एवम् प्रियजनों के प्रति मान करने से उद्धत मन वाली मनस्विनी कामिनियों के क्षण भर में मान-भंग के हेतुभूत मनोहर मयूर-वाणी के शब्दों से वह शब्दायमान हो रही थी ॥७३-७४॥ विविध वर्ण तथा उज्ज्वल वर्ण वाले, सुन्दर रूप वाले, चन्द्र-लेखा के समान सव ओर से कुटिल तथा मेघसमूह के समीपवर्ती इन्द्र-धनुष से वह अत्यन्त सुशोभित हो रही थी॥७५॥ नाना प्रकार के पुष्पों के रस से सुगन्धित और मेघ-जल के संपर्क से सुशीतल मनोहर पवनों के द्वारा वह मानो देवांगनाओं की पवित्र अलकावलियों (केश-समूह) को कंपित कर रही थी॥७६॥ गरजते हुए वादल में चन्द्रविम्व को छिपाने वाली तथा

१क. ०ग्मुर्गिरिः पु० । २क. ०कन्याः सहस्रशः । ३क. ख. उद्वाहे । ४क. ०रस्येह मू० । ५ख. ०शैरक्ताकारैः प्रदर्शितैः । के० । ६क. ०विनामिता । ७क. कुसुमापी० । ८ख. ०दाकरशु० । ९ग. ०था त्रिव० । १०क. ०पुष्पाभरणैः सु० । ग. ०पुष्पस्य रसैः सु० ।

गर्जत्पयोदस्थगितेन्दुबिम्बा, नवाम्बुसिक्तोदकचारुदूर्वा ।
निरीक्षिता सादरमुत्सुकाभिर्निश्वासधूम्रं पथिकाङ्गनाभिः ॥७७॥
हंसनूपुरशब्दाढ्या समुन्नतपयोधरा । चलद्विद्युल्लताहारा[1] स्पष्टपद्मविलोचना ॥७८॥
असितजलदधीरध्वानवित्रस्तहंसा, विमलसलिलधारोत्पातनम्रोत्पलाग्रा[2] ।
सुरभिकुसुमरेणुक्लृप्तसर्वाङ्गशोभा[3], गिरिदुहितृविवाहे प्रावृडाविर्बभूव ॥७९॥
मेघकञ्चुकनिर्म्मुक्ता [4]पद्मकोशोद्भवस्तनी । हंसनूपुरनिर्ह्लादा[5] सर्वशस्यदिगन्तरा[6] ॥८०॥
विस्तीर्णपुलिनश्रोणी कूजत्सारसमेखला । प्रफुल्लेन्दीवरश्यामविलोचनमनोहरा ॥८१॥
पक्वबिम्बाधरपुटा कुन्ददन्तप्रहासिनी । नवश्यामलताश्यामसोमराजिपुरस्कृता ॥८२॥
चन्द्रांशुहारवर्गेण कण्ठोरस्थलगामिना । प्रह्लादयन्ती चेतांसि सर्वेषां त्रिदिवौकसाम् ॥८३॥
समदालिकुलोद्गीतमधुरस्वरभाषिणी । चलत्कुमुदसंघातचारुकुण्डलशोभिनी[7] ॥८४॥
रक्ताशोकप्रशाखोत्थपल्लवाङ्गुलिधारिणी । तत्पुष्पसञ्चयमयैर्वासोभिः समलङ्कृता ॥८५॥
रक्तोत्पलाग्रचरणा[8] जातीपुष्पनखावली । कदलीस्तम्भवामोरूः शशाङ्कवदना तथा ॥८६॥
सर्वलक्षणसम्पन्ना सर्वालङ्कारभूषिता । प्रेम्णा स्पृशति कान्तेव सानुरागा मनोरमा ॥८७॥

नवीन जल से सिक्त सुन्दर घासवाली वर्षा ऋतु को राह चलने वाली रमणियाँ आदर तथा उत्सुकता से देखकर अपनी साँसों से मानो धूमिल कर रही थीं ॥७७॥ वह ऋतु मानो समुन्नत पयोधर (मेघ, स्तन) वाली, विकसित कमल सदृश नेत्र वाली, चंचल विद्युल्लता रूप हार वाली तथा हंस (हंस पक्षी, पैर के कड़े) और नूपुर के शब्दों से युक्त रमणी थी ॥७८॥ वह काले बादल के गम्भीर गर्जन से त्रस्त हंस वाली, निर्मल जलधारा के गिरने से अवनत कमल के अग्रभाग वाली और सुगन्धित पुष्पों की रेणु से सुशोभित सर्वाङ्ग वाली थी। इस प्रकार वर्षा ऋतु गिरि-कन्या के विवाह में आविर्भूत हुई ॥७९॥ (तदनन्तर शरद् ऋतु का आगमन)। मेघरूप कंचुकी से निर्मुक्त, कमल की कलियों रूपी स्तनों वाली, हंस और नूपुर से शब्दित, सब दिशाओं में अन्नों से परिपूर्ण, विस्तृत तट रूप नितम्ब वाली, शब्द करते हुए सारस पक्षी रूप मेखला वाली, विकसित नील कमल रूपी मनोहर नेत्र वाली, पके विम्ब फल (कुन्दुरू के फल) रूपी अधर वाली, कुन्द पुष्प रूपी दाँतों से हँसने वाली, श्यामलता रूपी कृष्ण रोमावलियों से युक्त, गले से वक्षःस्थल तक लटकते हुए चन्द्रकिरण रूपी हारों से देवताओं के चित्त को आह्लादित करनेवाली, मदमत्त भ्रमरों के गीत रूपी मधुर स्वर से बोलने वाली, चंचल कुमुद-पुष्प-समूह रूपी सुन्दर कुण्डलों से शोभित, रक्त अशोक की शाखा के पल्लव रूपी अँगुलियाँ धारण करने वाली, लाल अशोक-पुष्पों के संचय रूपी वस्त्रों से अलंकृत, रक्त कमल के अग्रभाग रूपी चरणों वाली, चमेली के पुष्प रूपी नख-पंक्ति वाली, कदली-स्तम्भ रूपी सुन्दर जंघा वाली, चन्द्रमुखी, समस्त लक्षणों से संपन्न और सब प्रकार के भूषणों से भूषित शरद् ऋतु मानो अनुरागपूर्ण सुन्दर स्त्री की तरह प्रेम से स्पर्श करती

---

[1] ख. ०रा त्वतिश्यामवि० । [2] ख. ०लाक्षी । सु० । [3] क. ०णुक्लिन्नस० । [4] क. ०कोशे वपुः स्त० ।
[5] ग. ०दा शरद्रम्य दि० । [6] ख. ०गम्वरा । [7] क. ०लशालिनी । [8] ख. ०त्पलप्रावर० ।

निर्म्मुक्तासितमेघकञ्चुकपटा पूर्णेन्दुबिम्बानना[1], नीलाम्भोजविलोचना रविकरप्रोद्भिन्नपद्मस्तनी ।
नानापुष्परजः सुगन्धिपवनप्रह्लादनी चेतसां, तत्राऽऽसीत् कलहंसनूपुररवादेव्या विवाहे शरत् ॥८८॥
अत्यर्थशीतलाम्भोभिः प्लावयन्तौ दिशः सदा । ऋतू हेमन्तशिशिरौ आजग्मतुरतिद्युती ॥८९॥
ताभ्यामृतुभ्यां [2]संप्राप्तो हिमवान् स नगोत्तमः । प्रालेयचूर्णवर्षिभ्यां क्षिप्रं रौप्यहरो [3]बभौ ॥९०॥
तेन प्रालेयवर्षेण घनेनैव हिमालयः । अगाधेन तदा रेजे क्षीरोद इव सागरः ॥९१॥
ऋतुपर्य्यायसम्प्राप्तो बभूव स महागिरिः । साधूपचारात् सहसा [4]कृतार्थ इव दुर्जनः ॥९२॥
प्रालेयपटलच्छन्नैः शृङ्गैस्तु शुशुभे नगः । छत्रैरिव महाभागैः पाण्डरैः पृथिवीपतिः ॥९३॥
मनोभवोद्रेककराः[5] सुराणां[6] सुराङ्गनानाञ्च मुहुः समीराः[7] ।
स्वच्छाम्बुपूर्णाश्च[8] तथा नलिन्यः पद्मोत्पलानां कुसुमैरुपेताः ॥९४॥
विवाहे गुरुकन्याया वसन्तः समगादृतुः ॥९५॥
इषत्समुद्भिन्नपयोधराग्रा नार्य्यो यथा रम्यतरा बभूवुः ।
नात्युष्णशीतानि[9] पयःसरांसि[10] किञ्जल्कचूर्णैः कपिलीकृतानि[11] ॥
चक्राह्वयुग्मैरुपनादितानि ययुः प्रहृष्टाः सुरदन्तिमुख्याः ॥९६॥
प्रियङ्गूश्चूततरवश्चूतांश्चापि प्रियङ्गवः । तर्ज्जयन्त इवान्योन्यं मञ्जरीभिश्चकाशिरे ॥९७॥

थी ॥८०-८७॥ कृष्ण मेघ रूपी कंचुकी से निर्मुक्त, पूर्ण-चन्द्र-विम्व के समान मुखवाली, नील कमल के समान नेत्र वाली, सूर्य-किरण से विकसित कमल के समान स्तन वाली, अनेक पुष्पों की रेणु से सुगन्धित पवनों द्वारा चित्त को आनन्द देने वाली तथा राजहंस के समान नूपुरों द्वारा शब्द करने वाली शरद् ऋतु पार्वती के विवाह में उपस्थित हुई ॥८८॥ अत्यन्त शीतल जल से दिशाओं को सदा प्लावित करती हुई महाकान्ति वाली हेमन्त तथा शिशिर ऋतुएँ भी आयीं ॥८९॥ हिम-चूर्णों को बरसाने वाली उन ऋतुओं से प्राप्त (सम्मिलित) पर्वतश्रेष्ठ हिमालय शीघ्र ही चाँदनी के आहर्ता की तरह शोभित होने लगा ॥९०॥ हिमवर्षा करने वाले अगाध मेघ से हिमालय क्षीर-समुद्र की तरह सुशोभित हुआ ॥९१॥ अच्छे उपचारों से जैसे दुर्जन कृतार्थ हो जाता है वैसे ऋतुओं के आगमन से वह महापर्वत (कृतकृत्य) हुआ ॥९२॥ हिम-समूह से आच्छादित शिखरों से पर्वत की वैसी ही शोभा हुई जैसी महासुन्दर श्वेत छत्र से राजा की होती है ॥९३॥ देवता तथा देवांगनाओं में कामोद्दीपन करने वाले पवन बार-बार बहने लगे। जलाशय स्वच्छ जल से पूर्ण एवं कमल और कुमद के पुष्पों से युक्त हुए ॥९४॥ पर्वत-पुत्री के विवाह में वसन्त ऋतु आयी ॥९५॥ (उसके आने पर) जैसे थोड़े उभरे हुए स्तनाग्र वाली नारियाँ अधिक रमणीय होती हैं, वैसे न अधिक गरम न अधिक ठंडे जल वाले सरोवर पुष्परेणु (या कमल के केसरों) से कपिल वर्ण बने शोभित हो रहे थे। चकवा-चकई से शब्दित उन सरोवरों में देवताओं के श्रेष्ठ हाथी हर्ष से जाते थे ॥९६॥ प्रियंगुवृक्ष आम्रवृक्षों को और आम्रवृक्ष प्रियंगुवृक्षों को मानो परस्पर धकेलते हुए मंजरियों से सुशोभित हो रहे थे ॥९७॥ हिमालय के उज्ज्वल

---

१ ग. ना लीला० । २ क. संव्याप्तो । ३ ख. ०भौ । हिमसंघप्रव० । ४ ग. हृतार्थ । ५ ग. ०वोद्वेगक० । ६ ख. ०णां नगांग० । ७ क. समीरणाः । ख. सुचित्राः । ८ ग. ०म्वुपर्णा० । ९ ख. ०नि दिवः पयांसि । १० ख. सरःपयांसि । ११ क. ०पलाञ्छिता० ।

[1]हिमभृङ्गेषु शुक्लेषु तिलकाः [2]कुसुमोत्कराः। शुशुभुः कार्य्यमुद्दिश्य वृद्धा इव समागताः ॥९८॥
फुल्लाशोकलतास्तत्र रेजिरे शालसंश्रिताः। कामिन्य इव[3] कान्तानां कण्ठालम्बितबाहवः[4] ॥९९॥
तस्मिन्नृतौ शुभ्रकदम्बनीपास्तालास्तमालाः सरलाः कपित्थाः ॥१००॥
अशोकसर्ज्जार्ज्जुनकोविदाराः पुन्नागनागेश्वरकर्णिकाराः।
लवङ्गतालागुरुसप्तपर्णा न्यग्रोधशोभाञ्जननारिकेलाः ॥१०१॥
वृक्षास्तथाऽन्ये फलपुष्पवन्तो [5]दृश्या बभूवुः सुमनोहराङ्गाः।
जलाशयाश्चैव सुवर्णतोयाश्चक्राङ्गकारण्डवहंसजुष्टाः॥१०२॥
कोयष्टिदात्यूहबलाकयुक्ता [6]दृश्यास्तु पद्मोत्पलमीनपूर्णाः।
खगाश्च नानाविधभूषिताङ्गा [7]दृश्यास्तु वृक्षेषु सुचित्रपक्षाः ॥१०३॥
क्रीडासु[8] युक्तानथ[9] तर्ज्जयन्तः कुर्वन्ति शब्दं मदनेरिताङ्गाः।
तस्मिन् गिरावद्रिसुताविवाहे ववुश्च वाताः सुखशीतलाङ्गाः ॥१०४
पुष्पाणि [10]शुभ्राण्यपि पातयन्तः शनैर्नगेभ्यो मलयाद्रिजाताः
तथैव सर्वे ऋतवश्च पुण्याश्चकाशिरेऽन्योन्यविमिश्रिताङ्गाः ॥१०५॥
येषां सुलिङ्गानि च कीर्त्तितानि, ते तत्र आसन् सुमनोज्ञरूपाः ॥१०६॥
समदालिकुलोद्गीतशिलाकुसुमसञ्चयैः। परस्परं हि मालत्यो भावयन्त्यो विरेजिरे ॥१०७॥

शिखरों पर पुष्पों से युक्त तिलक वृक्ष कार्य के उद्देश्य से आये हुए वृद्ध पुरुषों की तरह शोभा पा रहे थे ॥९८॥ साखू से लिपटी हुई प्रफुल्लित अशोकलता प्रियतम के गले में अपनी बाँह डाले हुई कामिनी की तरह विराजमान थी ॥९९॥ उस ऋतु में सफेद कदम्ब, नील अशोक, ताल, तमाल, सरल, कैथा, अशोक, सर्ज (साखू), अर्जुन, कचनार, पुन्नाग, नागेश्वर, कनकचम्पा, लवंग, अगर, सप्तवर्ण (छितवन), वट, शोभाञ्जन (सहिजन), नारियल और दूसरे भी फल-फूल वाले वृक्ष अत्यन्त सुन्दर अंगों में दिखायी पड़े ॥१००-१०१$\frac{१}{३}$॥ सुवर्ण के समान जल वाले, चक्राङ्ग, कारण्डव और हंसों से सेवित, टिट्टिभ, दात्यूह (कठफोड़वा) तथा बलाकों से युक्त एवम् कमल, कुमुद तथा मछलियों से पूर्ण तालाब देखने योग्य थे ॥१०२$\frac{१}{३}$॥ वृक्षों पर चित्र-विचित्र पंख वाले तथा विविध भूषणों से भूषित पक्षीगण काम-विह्वल होकर क्रीड़ा में निरत पक्षियों को (चंचु से) मारते हुए कलरव कर रहे थे ॥१०३$\frac{१}{३}$॥ पार्वती के विवाह में उस पर्वत पर सुख तथा शीतल स्पर्श वाला वायु बह रहा था ॥१०४॥ पर्वतों से धीरे-धीरे मलयानिल निकल कर श्वेत पुष्पों को गिरा रहा था। उसी प्रकार सब पवित्र ऋतुएँ परस्पर मिलकर विराज रही थीं ॥१०५॥ जिन ऋतुओं के सब चिह्न बता दिये गये हैं, वे सब मनोहर रूप में वहाँ थीं ॥१०६॥ मदमत्त भ्रमरों से गुंजित शिला-पुष्प के समूह से परस्पर मिलती हुई मालती लताएँ शोभित हो रही थीं ॥१०७॥ सरोवर का जल नील

---

१ क. हिमालयस्य श्रृंगेषु। २ ख. कुसुमाकराः। ३क. कराल०। ४ ग. ०तमूर्तयः। त०। ५क.ग.दृश्यन्ति सर्वत्र म०। ६ क.ग. दृश्यन्ति। ७ क.ग.दृश्यन्ति। ८ ख. ०डा प्रयुक्तास्त्वथ। ९ ग. ० क्तास्त्वथ। १० ख. पत्राण्यथ।

नीलानि नीलाम्बुरुहैः पयांसि, गौराणि गौरैश्च मृणालदण्डैः ।
रक्तैश्च रक्तानि भृशं कृतानि, मत्तद्विरेफावलिजुष्टपत्रैः ।।१०८।।
हैमानि विस्तीर्णजलेषु केषुचिन्निरन्तरं चारुतराणि केषुचित् ।
वैदूर्य्यनालानि सरःसु केषुचित्प्रजज्ञिरे पद्मवनानि सर्वतः ।।१०९।।
वाप्यस्तत्राभवन्रम्याः कमलोत्पलपुष्पिताः । [1]नानाविहङ्गसंजुष्टा[2] हैमसोपानपङ्क्तयः ।।११०।।
शृङ्गाणि तस्य तु गिरेः कर्णिकारैः सुपुष्पितैः । समुच्छ्रितान्यविरलैर्हेमानीव बभुर्द्विजाः ।।१११।।
ईषद्विभिन्नकुसुमैः[3] पाटलैश्चापि पाटलाः । संबभूवुर्दिशः सर्वाः पवनाकम्पितमूर्त्तिभिः ।।११२।।
कृष्णार्ज्जुना दशगुणा नीलाशोकमहीरुहाः । गिरौ ववृधिरे फुल्लाः स्पर्धयन्तः परस्परम् ।।११३।।
वारुरावविजुष्टानि किंशुकानां वनानि च । पर्वतस्य नितम्बेषु सर्वेषु च विरेजिरे ।।११४।।
तमालगुल्मैस्तस्यासीऽऽच्छोभा हिमवतस्तदा[4]। नीलजीमूतसङ्घातैर्निलीनैरिव सन्धिषु[5] ।।११५।।
निकामपुष्पैः सुविशालशाखैः, समुच्छ्रितैश्चन्दनचम्पकैश्च ।
प्रमत्तपुंस्कोकिलसम्प्रलापैर्हिमाचलोऽतीव तदा रराज ।।११६।।
श्रुत्वा [6]शब्दं मृदुमदकलं सर्व्वतः कोकिलानां । चञ्चत्पक्षाः सुमधुरतरं नीलकण्ठा विनेदुः ।
तेषां शब्दैरुपचितबलः पुष्पचापेषु हस्तः । सज्जीभूतस्त्रिदशवनिता[7] वेद्धुमङ्गेष्वनङ्गः ।।११७।।
पटुः सूर्यातपश्चापि प्रायशोऽल्प (ल्पो) जलाशयः । देवीविवाहसमये ग्रीष्म आगाद्धिमाचलम् ।।११८।।

कमलों मे से नील, श्वेत मृणालदण्डों से श्वेत तथा मदमत्त भ्रमरावली से सेवित पत्रवाले लाल कमलों से लाल हो गया था ।।१०८।। किसी विस्तीर्ण जल वाले सरोवर में स्वर्ण वर्ण वाले, किसी में अत्यन्त रमणीय और किसी में वैदूर्य मणि के मृणाल वाले कमलों के वन उत्पन्न हुए थे ।।१०९।। वहाँ कमल तथा कुमुद पुष्पों से युक्त, अनेक पक्षियों से सेवित तथा सुवर्ण की पीढ़ियों से समन्वित बावलियाँ थीं ।।११०।। द्विजगण ! उस पर्वत के विस्तृत शिखर सघन कनकचम्पा वृक्षों से सुपुष्पित होकर सोने की तरह छिटक रहे थे ।।१११।। वायु से कम्पित किञ्चित् विकसित पाटला के पुष्पों से सब दिशाएँ श्वेत-रक्त वर्ण की हो गयी थीं ।।११२।। पर्वत पर नील अशोक वृक्ष तथा कृष्ण अर्जुन वृक्ष परस्पर स्पर्धा करते हुए दस गुना वढ़ने लगे ।।११३।।मनोहर शब्दों से सेवित पलाश के वन पर्वत के नितम्बों पर विराज रहे थे ।।११४।। संधियों (सन्ध्या समय) में छिपे हुए काले बादलों के समूह जैसे तमाल वृक्षों से हिमालय की शोभा हो रही थी ।।११५।। अतिशय पुष्पित, विशाल शाखाओं से युक्त तथा विस्तृत चन्दन और चम्पा वृक्षों से तथा मत्त पुरुष-कोकिलों के प्रलाप से हिमालय अत्यन्त शोभित हो रहा था ।।११६।। कोकिलों के मृदु तथा मद से भरे शब्दों को सुनकर मयूर पंखों को फैलाकर अत्यन्त मधुर शब्द करने लगे। उनके शब्दों से बल प्राप्त कर पुष्पों का धनुष हाथ में लेकर तैयारी के साथ कामदेव देवांगनाओं को वेधने लगा ।।११७।। सूर्य की किरणें तीक्ष्ण होने लगीं और प्रायः तालाबों में जल घटने लगा, जब देवी

---

१ क. ०गमयुता है० । २ ग. संघुष्टा । ३ क. ०षदुद्भिन्न० । ४ क. ०वतः शुभा । नी०। ५ ख. सानुषु । ६ क. शब्दमृतुम० । ७ ग. ०नितां वे० ।

स चापि तरुभिस्तत्र बहुभिः कुसुमोत्करैः। शोभयामास भृङ्गाणि प्रालेयाद्रेः समन्ततः ॥११९॥
तथाऽपि च गिरौ तत्र वायवः सुमनोहराः। ववुः पाटलविस्तीर्णकदम्बार्ज्जुनगन्धिनः ॥१२०॥
वाप्यः प्रफुल्लपद्मौघकेसरारुणमूर्त्तयः। अभवंस्तटसंघु (जु) ष्टकलहंसकदम्बकाः[1] ॥१२१॥
तथा कुरबकाश्चापि कुसुमापाण्डुमूर्त्तयः। सर्वेषु नगभृङ्गेषु भ्रमरावलिसेविताः ॥१२२॥
बकुलाश्च नितम्बेषु विशालेषु महीभृतः। उत्ससर्ज मनोज्ञानि कुसुमानि समन्ततः ॥१२३॥
इति कुसुमविचित्रसर्ववृक्षा विविधविहङ्गमनादरम्यदेशाः ।
[2]हिमगिरितनयाविवाहभूत्यै षडुपययुर्ऋतवो मुनिप्रवीराः ॥१२४॥
तत एवं प्रवृत्ते तु सर्व्वभूतसमागमे। [3]नानावाद्यसमाकीर्णे[4] अहं तत्र द्विजातयः ॥१२५॥
शैलपुत्रीमलंकृत्य योग्याभरणसम्पदा[5]। पुरं प्रवेशितवांस्तां स्वयमादाय भो द्विजाः ॥१२६॥
ततस्तु पुनरेवेशमहं चैवोक्तवान् विभुम्[6]। हविर्जुहोमि[7] वह्नौ ते उपाध्यायपदे स्थितः[8] ॥१२७॥
ददासि मह्यं यद्याज्ञां कर्त्तव्योऽयं क्रियाविधिः। मामाह शङ्करश्चैवं देवदेवो जगत्पतिः ॥१२८॥

शिव उवाच

[9]यदुद्दिष्टं सुरेशान तत्कुरुष्व यथेप्सितम्। कर्त्ताऽस्मि वचनं सर्वं ब्रह्मंस्तव जगद्विभो ॥१२९॥

के विवाह के समय ग्रीष्म ऋतु हिमालय पर आ पहुँची ॥११८॥ वह भी प्रचुर पुष्पों से युक्त वृक्षों से हिमालय के शिखरों को सब ओर से शोभित कर रही थी ॥११९॥ पर्वत पर पाटला, विस्तीर्ण कदम्ब तथा अर्जुन के गन्धों से युक्त मनोहर वायु बह रहा था ॥१२०॥ बावलियाँ विकसित पद्म-समूह के केसरों से अरुण रंग की हो गयी थीं जिनके तट कलहंसों और कदम्बों से सेवित थे ॥१२१॥ श्वेतवर्ण के कुसुमों से युक्त तथा भ्रमरावलियों से सेवित कुरवक वृक्ष समस्त पर्वत-शिखरों पर शोभित हो रहे थे। पर्वत के विशाल नितम्बों पर मौलसिरी मनोहर पुष्पों को चारों ओर बिखेर रहे थे ॥१२२-१२३॥ मुनिवर ! सब वृक्ष पुष्पों से विचित्र दीखते थे। विविध पक्षियों से सब स्थान रम्य लगते थे। गिरिपुत्री का विवाहोत्सव मनाने के लिए छहों ऋतुएँ उपस्थित हुईं ॥१२४॥ द्विजगण ! तदुपरान्त नाना प्रकार के वाद्यों से युक्त सब प्राणियों के समागम होने पर मैंने पार्वती को समुचित आभूषणों से अलंकृत कर स्वयं लेकर नगर में प्रवेश कराया ॥१२५-१२६॥ तब भगवान् शंकर से मैंने कहा—'भगवान्' उपाध्याय-पद पर स्थित होकर मैं हवन करूँगा। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं यह क्रिया प्रारम्भ करूँ।' तब देवेश जगत्पति शंकर ने मुझसे कहा ॥१२७-१२८॥

शिव बोले—देवेश ! एवमस्तु। ब्रह्मन् ! जगत्स्वामी ! मैं तुम्हारे सभी वचनों का अनुमोदन करता हूँ ॥१२९॥

---

१ क. ०संघृष्ट० । २क. ०हभृत्यै । ३ ग. ०द्यशताकी० । ४ ख.०र्णे देवास्तत्र द्विजाः स्वयम् । शै० । ५ ख. ०दा । सम्यां च वेशयामासुः स्व० । ६ क. ०म् । वहिनं जुहो० । ७ क. ०मि विधिवदुपा । ८ क. ०तः । इति सत्यं यद्यदन्यत्कर्ताऽहं स्यां क्रियाविधौ । मा० । ९ ख. यद्यदिष्टं ।

ब्रह्मोवाच

ततश्चाहं प्रहृष्टात्मा कुशानादाय सत्वरम् । हस्तं देवस्य देव्याश्च योगबन्धेन युक्तवान् ॥१३०॥
ज्वलनश्च स्वयं तत्र कृताञ्जलिपुटः स्थितः । [1]श्रुतिगीतैर्महामन्त्रैर्मूर्त्तिमद्भिरुपस्थितैः ॥१३१॥
यथोक्तविधिना हुत्वा सर्पिस्तदमृतं हविः । ततस्तं ज्वलनं सर्वं कारयित्वा प्रदक्षिणम् ॥१३२॥
मुक्त्वा हस्तसमायोगं सहितः सर्वदैवतैः । पुत्रैश्च मानसैः सिद्धैः प्रकृष्टेनान्तरात्मना ॥१३३॥
वृत्त उद्वाहकाले तु प्रणम्य च वृषध्वजम् । [2]योगेनैव तयोर्विप्रास्तदुमापरमेशयोः ॥१३४॥
उद्वाहः स परो वृत्तो यं देवा न विदुः क्वचित् । इति वः सर्वमाख्यातं स्वयंवरमिदं शुभम्[3] ।
उद्वाहश्चैव देवस्य शृणुध्वं परमाद्भुतम् ॥१३५॥

इति श्रीआदिब्राह्मे महापुराणे स्वयंभु-ऋषिसंवादे उमामहेश्वरयोर्विवाहनिरूपणं
नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

ब्रह्मा ने कहा——उसके वाद मैं प्रसन्न होकर शीघ्र कुशों को लेकर देवी और देव के हाथों को योगवन्धन से बाँध दिया ॥१३०॥ स्वयं अग्नि हाथ जोड़ कर वहाँ उपस्थित थे । शरीर धरकर वहाँ उपस्थित वेदविहित महामंत्रों से विधानपूर्वक मैंने हवन किया । वहाँ घी की जगह अमृत ही था ॥१३१½॥ तव अग्नि की प्रदक्षिणा करा कर उनका हस्तबन्धन छोड़वा दिया । विप्रवृन्द ! विवाह-काल के समाप्त होने पर मैंने प्रसन्न चित्त से सभी देवताओं, अपने मानस पुत्रों तथा सिद्धों के साथ शिव को प्रणाम किया । योग ही से उमा और महेश्वर का विवाह सम्पन्न हुआ—इस वृत्तान्त को कहीं देवताओं ने नहीं समझा । इस शुभ स्वयंवर का सब वर्णन मैनें आपसे कर दिया ॥१३२-१३४½॥ अब शिव के परम अद्भुत विवाह के विषय में भी सुन लीजिये ॥१३५॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में व्रह्म और ऋषि के संवाद-प्रकरण में उमा और महेश्वर के विवाह
निरूपण नामक छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥३६॥

१ख. ०तिगतै० । २ क. ०गेनानेन विप्रास्तु तुष्टुवुः परमेश्वरौ। उ०। ३ ख. कृतम् ।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

शिवस्तुति-वर्णनम्

ब्रह्मोवाच

अथ वृत्ते विवाहे तु[1] भवस्यामिततेजसः। प्रहर्षमतुलं गत्वा देवाः शक्रपुरोगमाः॥
[2]तुष्टुवुर्वाग्भिराद्याभिः[3] प्रणेमुस्ते महेश्वरम् ॥१॥

देवा ऊचुः

नमः पर्वतलिङ्गाय[4] पर्वतेशाय[5] वै नमः। नमः पवनवेगाय विरूपायाजिताय च॥
नमः क्लेशविनाशाय दात्रे च[6] शुभसम्पदाम् ॥२॥
नमो नीलशिखण्डाय अम्बिकापतये नमः। नमः पवनरूपाय[7] शतरूपाय[8] वै नमः॥३॥
नमो भैरवरूपाय विरूपनयनाय च[9]। नमः सहस्रनेत्राय सहस्रचरणाय च॥४॥
नमो देववयस्याय वेदाङ्गाय नमो नमः। विष्टम्भनाय शक्रस्य बाह्वोर्वेदाङ्कुराय च॥५॥
चराचराधिपतये शमनाय नमो नमः। सलिलाशयलिङ्गाय युगान्ताय नमो नमः॥६॥
नमः कपालमालाय कपालसूत्रधारिणे। नमः कपालहस्ताय दण्डिने[10] गदिने नमः॥७॥

अध्याय ३७

शिव की स्तुति का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—अमित तेजस्वी शिव के विवाह सम्पन्न हो जाने पर इन्द्र को अगुवा वनाकर देवगण अत्यन्त हर्ष से महेश्वर के पास गये और प्रणाम करके आद्य वाणी से उनकी स्तुति करने लगे ॥१॥

देववृन्द बोले—पर्वतलिंग को नमस्कार है, पर्वतेश को नमस्कार है, पवनवेग, विरूप और अजित को नमस्कार है, क्लेश-नाशक तथा शुभ-संपत्तिदायक को नमस्कार है॥२॥ नीलशिखण्ड को नमस्कार है, अम्बिकापति को नमस्कार है, पवनरूप को नमस्कार है, शतरूप को नमस्कार है ॥३॥ भैरवरूप तथा विरूपाक्ष को नमस्कार है, सहस्र-नेत्र तथा सहस्रचरण को नमस्कार है ॥४॥ देवमित्र को नमस्कार है, वेदांग को नमस्कार है, इन्द्र की बाँहों को स्तम्भित करने वाले तथा वेदांकुर को नमस्कार है ॥५॥ चराचर के स्वामी तथा शमन को नमस्कार है, जलाशय में लिंग वाले तथा युगों का अन्त करने वाले को नमस्कार है ॥६॥ कपालमाला तथा कपाल-सूत्रधारी को नमस्कार है, कपाल,

---

१ क. तु शिव०। २ क. ०ग्भिरर्थ्याभिः०। ख. ०ग्भिरिष्टाभिः०। ३ क. ०द्याभिरुमया सह शंकर०। ४ ख. ०तवासाय नमः पर्वतचारिणे। न०। ५ ख. पर्वतजामात्रे। ६ ग. सुतसं०। ७ क. पर्वतरूपाय। ख. पर्वतनाथाय। ८ क. श्वेतरूपाय। ९ क. च। सहस्रनेत्रशीर्षाय। १० ग. दंष्ट्रिणे।

नमस्त्रैलोक्यनाथाय पशुलोकरताय च। नमः खट्वाङ्गहस्ताय प्रमथार्त्तिहराय च ॥८॥
नमो यज्ञशिरोहन्त्रे कृष्णकेशापहारिणे[1]। भगनेत्रनिपाताय पूष्णो दन्तहराय च ॥९॥
नमः पिनाकशूलासिखड्गमुद्गरधारिणे। नमोऽस्तु कालकालाय तृतीयनयनाय च ॥१०॥
अन्तकान्तकृते चैव नमः [2]पर्व्वतवासिने। सुवर्णरेतसे चैव नमः कुण्डलधारिणे ॥११॥
दैत्यानां[3] योगनाशाय योगिनां गुरवे नमः। शशाङ्कादित्यनेत्राय ललाटनयनाय च ॥१२॥
नमः श्मशानरतये श्मशानवरदाय च। [4]नमो दैवतनाथाय त्र्यम्बकाय नमो नमः ॥१३॥
गृहस्थसाधवे नित्यं जटिले ब्रह्मचारिणे। नमो मुण्डार्धमुण्डाय पशूनां पतये नमः[5] ॥१४॥
सलिले तप्यमानाय योगैश्वर्य्यप्रदाय च। नम शान्ताय दान्ताय प्रलयोत्पत्तिकारिणे ॥१५॥
नमोऽनुग्रहकर्त्रे च स्थितिकर्त्रे नमो नमः। नमो रुद्राय वसव आदित्यायाश्विने नमः[6] ॥१६॥
नमः पित्रेऽथ साङ्ख्याय विश्वेदेवाय वै नमः। नमः शर्वाय उग्राय शिवाय वरदाय च ॥१७॥
नमो भीमाय सेनान्यै पशूनां पतये नमः। शुचये वैरिहानाय सद्योजाताय वै नमः ॥१८॥
महादेवाय चित्राय[7] विचित्राय च वै नमः। प्रधानायाप्रमेयाय कार्याय कारणाय च ॥१९॥
पुरुषाय नमस्तेऽस्तु पुरुषेच्छाकराय च। नमः पुरुषसंयोगप्रधानगुणकारिणे ॥२०॥

दण्ड तथा गदाधारी को नमस्कार है ॥७॥ त्रिलोकीनाथ तथा पशुलोक में रहने वाले को नमस्कार है, खट्वांग (अस्त्र-विशेष) धारी तथा प्रमथ (शिव के अनुचर) की आर्ति को हरने वाले को नमस्कार है ॥८॥ यज्ञ-सिर के हन्ता तथा कृष्णकेश (मृगचर्म ?) के अपहर्ता को नमस्कार है, भग देवता के नेत्र को गिराने वाले तथा पूषा के दन्तों को तोड़ने वाले को नमस्कार है ॥९॥ पिनाक (शिवधनुष), त्रिशूल, तलवार, खाँड़ा तथा मुद्गर धारण करने वाले को नमस्कार है, कालों के काल तथा तृतीय नेत्रधारी को नमस्कार है ॥१०॥ कालनाशन तथा पर्वतवासी को नमस्कार है, सुवर्णरूप वीर्यवाले (?) तथा कुण्डल धारण करने वाले को नमस्कार है ॥११॥ दैत्यों के योग के नाशकर्ता तथा योगियों के गुरु को नमस्कार है, सूर्य-चन्द्रमा-रूपी नेत्रों वाले तथा मस्तक पर नेत्र वाले को नमस्कार है ॥१२॥ श्मशान में रत तथा श्मशान में वर देने वाले को नमस्कार है, देवताओं के स्वामी तथा त्र्यम्बक (तीन नेत्र वाले) को नमस्कार है॥१३॥ गृहस्थों में साधु, नित्य जटाधारी तथा ब्रह्मचारी को नमस्कार है, मुण्डी, अर्ध-मुण्डी तथा पशुपति को नमस्कार है॥१४॥ जल में तप्त होने वाले तथा योग-ऐश्वर्य को देने वाले को नमस्कार है, शान्त, दान्त तथा सृष्टि-प्रलयकारी को नमस्कार है ॥१५॥ अनुग्रह-कर्ता तथा स्थिति-कर्ता को नमस्कार है, रुद्र, वसु, आदित्य तथा अश्विनीकुमार को नमस्कार है ॥१६॥ पिता, सांख्यरूप तथा विश्वेदेव को नमस्कार है, शर्व, उग्र, शिव तथा वरद को नमस्कार है॥१७॥ भीमरूप, सेनानी तथा पशुपति को नमस्कार है, पवित्ररूप, शत्रुनाशन तथा सद्यः उत्पन्न को नमस्कार है॥१८॥ महादेव, चित्त तथा विचित्ररूप को नमस्कार है, प्रधान, अप्रमेय, कार्य तथा कारणरूप को नमस्कार है॥१९॥ पुरुष तथा पुरुषरूप पुत्र की इच्छा करने वाले को नमस्कार

---

१ ख. ०शायहा०। २ क. वृषभगामिने। ३ क. राहवे। ४ ख. ०मोऽवनतना०। ५ ख. ०मः। मुनिकृतसुमा०। ६ ख. ०मः। साध्याय विश्वपतये वि०। ७ ख. ०य शूलिने च नमो न०।

प्रवर्त्तकाय प्रकृतेः पुरुषस्य च सर्वशः । कृताकृतस्य [1]सत्कर्त्रे फलसंयोगदाय च ॥२१॥
कालज्ञाय च [2]सर्वेषां नमो नियमकारिणे । नमो वैषम्यकर्त्रे च गुणानां वृत्तिदाय च ॥२२।
नमस्ते देवदेवेश नमस्ते भूतभावन । शिव सौम्यमुखो द्रष्टुं भव सौम्यो हि नः प्रभो ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

एवं स भगवान् देवो जगत्पतिरुमापतिः । स्तूयमानः सुरैः सर्वैरमरानिदमब्रवीत् ॥२४॥

श्रीशङ्कर उवाच

द्रष्टुं सुखश्च सौम्यश्च देवानामस्मि भोः सुराः । [3]वरं वरयत क्षिप्रं दाताऽस्मि तमसंशयम् ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

ततस्ते प्रणताः सर्वे सुरा ऊचुस्त्रिलोचनम् ॥२६॥

देवा ऊचुः

तवैव भगवन् हस्ते वर एषोऽवतिष्ठताम् । यदा कार्यं तदा नस्त्वं दास्यसे वरमीप्सितम् ॥२७॥

ब्रह्मोवाच

एवमस्त्विति तानुक्त्वा विसृज्य च सुरान् हरः । लोकांश्च [4]प्रमथैः सार्धं विवेश [5]भवनं स्वकम् ॥२८॥

है, पुरुष-संयोग से प्रधान गुण के करने वाले को नमस्कार है ॥२०॥ प्रकृति-पुरुष के प्रवर्तक को नमस्कार है, कृत और अकृत के सत् करनेवाले को तथा फलसंयोग देने वाले को नमस्कार है ॥२१॥ कालज्ञ तथा सब के नियामक को नमस्कार है और विषम करने वाले तथा गुणों की वृत्ति देने वाले को नमस्कार है ॥२२॥ हे देवदेवेश ! हे प्राणियों की उत्पत्ति करनेवाले ! आपको नमस्कार है ! हे शिव ! हे प्रभो ! आप दर्शन करने के योग्य सौम्य रूप तथा सौम्य मुखवाले हो जायँ ॥२३॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार देवगणों द्वारा स्तुति किये जाने पर जगत्पति तथा उमापति भगवान् शंकर ने उनसे कहा ॥२४॥

श्रीशंकर ने कहा—देववृन्द ! मैं देवताओं के लिए सुख से देखने योग्य तथा सौम्यरूप हूँ । आप लोग जो वरदान मुझसे चाहें उसे मैं निःसन्देह दूँगा ॥२५॥

ब्रह्मा ने कहा—तब समस्त देवता शिव को प्रणाम करते हुए बोले ॥२६॥

देवताओं ने कहा—भगवन् ! आप हमें जो वरदान देना चाहते हैं, अपने पास सुरक्षित रखें । जब आवश्यकता पड़ेगी तब आप हमें अभिलषित वरदान दीजियेगा ॥२७॥

ब्रह्मा ने कहा—'एवमस्तु' कहकर भगवान् शिव ने देवताओं को विदा किया और प्रमथ नामक गण के साथ

---

[1] ख. संकर्त्रे । [2] ग. सर्वत्र । [3] ग. ०रं बत यथेष्टं च दा० । [4] ख. स्वगणैः । [5] क. ग. भगवांस्ततः । य० ।

यस्तु हरोत्सवमद्‌भुतमेनं गायति दैवतविप्रसमक्षम् ।
सोऽप्रतिरूपगणेशसमानो देहविपर्य्ययमेत्य सुखी स्यात् ॥२९॥

ब्रह्मोवाच

विप्रवर्याः स्तवं हीमं शृणुयाद्वा पठेच्च यः। स सर्व्वलोकगो देवैः पूज्यतेऽमरराडिव ॥३०॥

इति श्रीआदिब्राह्मे महापुराणे स्वयम्भुऋषिसंवादे शिवस्तुतिनिरूपणं
नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

अथाष्टात्रिंशोऽध्यायः

मदनदहन-वर्णनम्

ब्रह्मोवाच

प्रविष्टे भवनं देवे सूपविष्टे वरासने। स वक्रो मन्मथः क्रूरो देवं वेद्धुमना भवत् ॥१॥
तमनाचारसंयुक्तं दुरात्मानं कुलाधमम्। लोकान् सर्व्वान् पीडयन्तं [1]सर्वाङ्गावरणात्मकम्[2]॥२॥

अपने भवन में प्रवेश किया। जो देवता तथा ब्राह्मणों के समक्ष शिव के इस अद्‌भुत उत्सव का गान करेगा, वह मरने पर गणेश के समान देह प्राप्त कर सुखी होगा ॥२८-२९॥

ब्रह्मा ने कहा—विप्रवर ! जो इस स्तोत्र को सुनेगा या पढ़ेगा, वह समस्त लोकों को प्राप्त कर देवताओं द्वारा इन्द्र के समान पूजित होगा ॥३०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में शिवस्तुतिनिरूपण
नामक सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥३७॥

अध्याय ३८

मदन-दाह का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—जब शिव ने अपने भवन में प्रविष्ट होकर श्रेष्ठ आसन ग्रहण किया तो कुटिल, क्रूर कन्दर्प ने उन्हें काम-वासना से विचलित करना चाहा ॥१॥ विप्रवृन्द ! अनाचार से संयुक्त, दुरात्मा, वंश में अधम,

---

[1] क. सर्वसंभर। [2] ख. ०ङ्गाभर०।

ऋषीणां विघ्नकर्त्तारं नियमानां व्रतैः सह। चक्राह्वयस्य रूपेण रत्या सह समागतम् ।।३।।
अथाऽऽततायिनं विप्रा वेद्धुकामं सुरेश्वरः। नयनेन तृतीयेन सावज्ञं समवैक्षत ।।४।।
ततोऽस्य नेत्रजो वह्निर्ज्वालामालासहस्रवान्। सहसा रतिभर्त्तारमदहत् सपरिच्छदम् ।।५।।
स दह्यमानः करुणमार्त्तोऽक्रोशत विस्वरम्। प्रसादयंश्च तं देवं पपात धरणीतले ।।६।।
अथ सोऽग्निपरीताङ्गो मन्मथो लोकतापनः। पपात सहसा मूर्च्छां क्षणेन समपद्यत ।।७।।
पत्नी [1]तु करुणं तस्य विललाप सुदुःखिता। देवीं देवञ्च दुःखार्त्ता अयाचत् करुणावती ।।८।।
तस्याश्च करुणं ज्ञात्वा देवौ तौ करुणात्मकौ। ऊचतुस्तां समालोक्य समाश्वास्य च दुःखिताम् ।।९।।

उमामहेश्वरावूचतुः

दग्ध एव ध्रुवं भद्रे नास्योत्पत्तिरिहेष्यते। अशरीरोऽपि ते भद्रे कार्यं सर्वं करिष्यति ।।१०।।
यदा तु विष्णुर्भगवान् वसुदेवसुतः शुभे। तदा तस्य सुतो यश्च पतिस्ते सम्भविष्यति ।।११।।

ब्रह्मोवाच

ततः सा तु वरं लब्ध्वा कामपत्नी शुभानना[2]। जगामेष्टं तदा देशं प्रीतियुक्ता [3]गतक्लमा[4] ।।१२।।
दग्ध्वा कामं ततो विप्राः स तु देवो वृषध्वजः। रेमे तत्रोमया सार्द्धं प्रहृष्टस्तु हिमाचले[5] ।।१३।।

समस्त लोगों का उत्पीड़न करने वाले, सब अंगों को आवृत करने वाले, ऋषियों के नियमों एवं व्रतों में विघ्न करने वाले, चकवे का रूप धारण कर रति के साथ आने वाले, अत्याचारी और शिव को विचलित करने के इच्छुक उस काम को महादेव ने अपने तीसरे नेत्र से तिरस्कारपूर्वक देखा ।।२-४।। तदनन्तर सहस्रों ज्वालाओं वाला अग्नि शिव के नेत्र से उत्पन्न होकर वस्त्र-आभूषण सहित कामदेव को सहसा जलाने लगा ।।५।। दग्ध होता हुआ काम दुःखी होकर जोर से चिल्लाने लगा और शिव की स्तुति करता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा ।।६।। लोकतापन काम अग्नि से सर्वांगदग्ध होकर सहसा मूर्च्छित हो गया ।।७।। उसकी पत्नी रति दुःखित होकर करुण विलाप करने लगी। करुणावती, दुःखपीड़िता, रति शिव तथा पार्वती से याचना करने लगी ।।८।। उसकी करुण स्थिति समझकर करुणारूप भवानी-शंकर दुःखित रति को आश्वासन देते हुए बोले— ।।९।।

उमा और महेश्वर ने कहा—भद्रे ! यह तो दग्ध हो गया। अब इसकी उत्पत्ति नहीं होगी। पर शरीर न होने पर भी यह तुम्हारा सब काम कर देगा। शुभे ! जब विष्णु भगवान् वसुदेव के पुत्र होंगे तब उनका पुत्र तुम्हारा पति होगा ।।१०-११।।

ब्रह्मा ने कहा—तदुपरान्त कल्याणमुखी कामपत्नी वर प्राप्त कर शोक-रहित हो गयी और प्रसन्न होकर अभीष्ट स्थान को चली गयी ।।१२।। द्विजगण ! काम को दग्ध कर भगवान् शंकर उसी हिमाचल पर प्रसन्नतापूर्वक उमा के साथ रमण करने लगे ।।१३।। रमणीय कन्दराओं में, पद्मवनों में, गुफाओं में, मनोहर झीलों में, कनकचम्पकवनों

---

[1] ख. तु ज्वलतस्तस्य। [2] क. वराङ्गना। [3] क. मनस्विनी। [4] ख. ०मा। तदाश्वास्य रतिं वि०। [5] क. हिमालये।

कन्दरेषु च रम्येषु पद्मिनीषु गुहासु[1] च। निर्झरेषु च रम्येषु कर्णिकारवनेषु च ॥१४॥
नदीतीरेषु कान्तेषु किन्नराचरितेषु च। भृङ्गेषु शैलराजस्य तडागेषु सरःसु च ॥१५॥
वनराजिषु रम्यासु नानापक्षिरुतेषु च। तीर्थेषु पुण्यतोयेषु मुनीनामाश्रमेषु च ॥१६॥

एतेषु पुण्येषु[2] मनोहरेषु, देशेषु विद्याधरभूषितेषु ।
गन्धर्वयक्षामरसेवितेषु, रेमे स देव्या सहितस्त्रिनेत्रः ॥१७॥
देवैः सहेन्द्रैर्मुनियक्षसिद्धैर्गन्धर्वविद्याधरदैत्यमुख्यैः ।
अन्यैश्च सर्वैर्विविधैर्वृतोऽसौ, तस्मिन्नगे हर्षमवाप शम्भुः ॥१८॥
नृत्यन्ति तत्राप्सरसः सुरेशा, गायन्ति गन्धर्वगणाः प्रहृष्टाः ।
दिव्यानि वाद्यान्यथ वादयन्ति, केचिद्द्रुतं [3]देववरं स्तुवन्ति[4] ॥१९॥
एवं स देवः स्वगणैरुपेतो, महाबलैः शक्रयमाग्नितुल्यैः ।
देव्याः प्रियार्थं भगनेत्रहन्ता, गिरिं न तत्याज तदा महात्मा ॥२०॥

ऋषय ऊचुः

देव्या समं तु भगवांस्तिष्ठंस्तत्र स कामहा। अकरोत् किं महादेव एतदिच्छाम वेदितुम् ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

भगवान् हिमवच्छृङ्गे स हि देव्याः प्रियेच्छया। गणेशैर्विविधाकारैर्हासं सञ्जनयन् मुहुः ॥२२॥

में, सुन्दर नदी-तटों पर, किन्नरों से सेवित पर्वतराज के शिखरों पर, तालाबों में, सरोवरों में, मनोरम तथा नाना पक्षियों के कलरव से प्रतिध्वनित वनों में, पवित्र जल वाले तीर्थों में और मुनियों के आश्रमों में—मनोहर, विद्याधरों से भूषित और गन्धर्व, यक्ष तथा देवताओं से सेवित पवित्र स्थानों में—शंकर ने भवानी के साथ रमण किया ॥१४-१७॥ उसी पर्वत पर इन्द्र आदि देवता, मुनि, यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, राक्षस एवं विविध गणों से आवृत होकर शंकर हर्षित हुए ॥१८॥ वहाँ अप्सराएँ नाच करती थीं, देवता तथा गन्धर्वगण प्रसन्न होकर गान करते थे, कोई दिव्य वाजे वजाते थे और कोई द्रुत गति से शंकर की स्तुति करते थे ॥१९॥ इस प्रकार इन्द्र और यम के तुल्य महावलवान् अपने गणों से युक्त होकर भग देवता के नेत्र को नष्ट करने वाले महात्मा शंभु ने प्रिया के निमित्त पर्वत को नहीं छोड़ा ॥२०॥

ऋषियों ने कहा—काम-नाशन भगवान् शिव ने वहाँ रहते हुए उमा की प्रसन्नता के लिए क्या किया—यह हम समझना चाहते हैं ॥२१॥

ब्रह्मा ने कहा—हिमालय के शिखर पर उमा के मनोरञ्जन के लिए भगवान् शिव अनेक प्रकार के

---

१ ख. सरःसु। २ ख. योग्येषु। ३ क. ख. ० चित्तु तं। ४ क. स्मरन्ति।

[1]देवीं बालेन्दुतिलको रमयंश्च रराम च। महानुभावैः सर्वज्ञैः कामरूपधरैः शुभैः ।।२३।।
अथ देव्याससादैका मातरं परमेश्वरी। आसीनां काञ्चने शुभ्र आसने परमाद्‌भुते ।।२४।।
अथ दृष्ट्वा सतीं देवीमागतां सुररूपिणीम् । आसनेन महार्हेणासम्पादयदनिन्दिताम् ।
आसीनां तामथोवाच मेना हिमवतः प्रिया ।।२५।।

मेनोवाच

चिरस्यागमनं तेऽद्य वद पुत्रि शुभेक्षणे। दरिद्रा क्रीडनैस्त्वं हि भर्त्रा क्रीडसि सङ्गता ।।२६।।
ये दरिद्रा भवन्ति स्म तथैव च निराश्रयाः। उभे त एवं क्रीडन्ति यथा तव पतिः शुभे ।।२७।।

ब्रह्मोवाच

सैवमुक्ताऽथ मात्रा तु नातिहृष्टमनाभवत्। महत्या क्षमया युक्ता न किञ्चित्तामुवाच ह।
विसृष्टा च तदा मात्रा गत्वा देवमुवाच ह ।।२८।।

पार्वत्युवाच

भगवन् देवदेवेश नेह वत्स्यामि भूधरे। अन्यं [2]कुरु ममाऽऽवासं भुवनेषु महाद्युते ।।२९।।

देव उवाच

सदा त्वमुच्यमाना वै मया वासार्थमीश्वरि। अन्यं न रोचितवती वासं वै देवि कर्हिचित् ।।३०।।

गण-नायकों के साथ वार-वार हास्य करते थे ।।२२।। वालचन्द्ररूप तिलकधारी शिव इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, कल्याणमय, सर्वज्ञ तथा विशाल हृदयवाले गण-पतियों के साथ हास्य करके उमा को प्रमुदित करते तथा स्वयं आनन्दित होते थे ।।२३।। एक समय पार्वती सुवर्ण के स्वच्छ तथा परम अद्‌भुत आसन पर वैठी हुई माता के पास गयीं ।।२४।। देव-रूपधारिणी सती को देखकर हिमालय की पत्नी मेना ने उस अनिन्द्य देवी को वहुमूल्य आसन पर वैठाया और कहा ।।२५।।

मेना बोली—हे शुभ नेत्रों वाली पुत्री ! वहुत दिनों पर तुम आयी हो। कहो, स्वामी के संग क्रीड़ा करते- करते तुम भी दरिद्र हो गयी क्या ? जो दरिद्र तथा आश्रयहीन होते हैं, वे ही इस प्रकार क्रीड़ा करते हैं, जैसे कि तुम्हारा पति कर रहा है ।।२६-२७।।

ब्रह्मा ने कहा—माता की यह वात सुनकर उमा हर्षित न हुई। क्षमाशीला होने के कारण वह माता से विना कुछ कहे विदा होकर शंकर के पास जाकर वोली ।।२८।।

पार्वती ने कहा—भगवन् ! हे देव-देवेश ! मैं अव इस पर्वत पर नहीं रहूँगी। हे महाकान्तिमान् ! मेरे लिए त्रिभुवन में कहीं दूसरा आवास-स्थान ढूँढ़िए ।।२९।।

देव ने कहा—देवी ! ईश्वरी ! मैं तो वासस्थान के लिए तुमसे सदा कहता था, पर तुम्हें तो कभी

---

[1] क. देवो। [2] क. ग. वृणु।

इदानीं स्वयमेव त्वं वासमन्यत्र शोभने। कस्मान्मृगयसे देवि ब्रूहि तन्मे शुचिस्मिते ॥३१॥

देव्युवाच

गृहं गताऽस्मि देवेश पितुरद्य महात्मनः। दृष्ट्वा च तत्र मे माता विजने लोकभावने ॥३२॥
आसनादिभिरभ्यर्च्य सा मामेवमभाषत। उमे तव सदा भर्त्ता दरिद्रः क्रीडनैः शुभे ॥३३॥
क्रीडते न हि देवानां क्रीडा भवति तादृशी। यत् किल त्वं महादेव गणैश्च विविधैस्तथा।
रमसे तदनिष्टं हि मम मातुर्वृषध्वज ॥३४॥

ब्रह्मोवाच

ततो देवः प्रहस्याऽऽह देवीं हासयितुं प्रभुः ॥३५॥

देव उवाच

एवमेव न सन्देहः कस्मान्मन्युरभूत्तव। कृत्तिवासा ह्यवासाश्च श्मशाननिलयश्च ह ॥३६॥
अनिकेतो ह्यरण्येषु पर्वतानां गुहासु च। विचरामि [1]गणैर्नग्नैर्वृतोऽम्भोजविलोचने ॥३७॥
मा क्रुधो देवि मात्रे त्वं तथ्यं माताऽवदत्तव। न हि मातृसमो बन्धुर्जन्तूनामस्ति भूतले ॥३८॥

देव्युवाच

न मेऽस्ति बन्धुभिः किञ्चित् कृत्यं सुरवरेश्वर। तथा कुरु महादेव [2]यथाऽहं सुखमाप्नुयाम् ॥३९॥

दूसरी जगह रुची ही नहीं। सुन्दरी! पवित्र हास्य वाली! क्या कारण है कि इस समय तुम स्वयं दूसरी जगह चाहती हो? ॥३०-३१॥

देवी ने कहा—देवेश! आज मैं पूज्य पिता के घर गयी थी। वहाँ जन-मन-भावन एकान्त स्थान में वैठी माता को मैंने देखा। आसन आदि प्रदान कर मेरा सत्कार करती हुई वह मुझसे इस प्रकार कहने लगी—'उमे! तुम्हारा पति क्रीड़ा करते-करते दंरिद्र हो गया है। इसलिए कि देवताओं की तरह वह क्रीड़ा नहीं करता।' हे महादेव! आप जो विविध गणों के साथ रमण करते हैं, वह मेरी माता को बुरा लगता है ॥३२-३४॥

ब्रह्मा ने कहा—तब प्रभु स्वयं हँसकर देवी को हँसाते हुए वोले ॥३५॥

देव ने कहा—बात ऐसी ही है, इसमें कोई संशय नहीं है, तुम्हें क्यों क्रोध हुआ? हे पद्मलोचने! मैं चर्म पहनता हूँ, नहीं भी कुछ पहनता हूँ, श्मशान में रहता हूँ, नहीं भी कहीं रहता हूँ और वनों में तथा पर्वतों की गुफाओं में नग्न गणों के साथ विचरण करता हूँ। देवि! तुम माता के ऊपर क्रोध मत करो। उसने सत्य कहा है। पृथ्वीतल पर प्राणियों के लिए माता के समान कोई बन्धु नहीं है ॥३६-३८॥

देवी ने कहा—देवश्रेष्ठ! मुझे बन्धुओं से कुछ करना नहीं है। महादेव अब आप वही कीजिए, जिससे मुझे सुख मिले ॥३९॥

---

[1] ख. ०र्वृतस्तोयजलो०। [2] ग. ०थान्यत्र वसामहे। ब्र०।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वा स देव्या वचनं सुरेशस्तस्याः प्रियार्थे [१]स्वगिरिं विहाय।
जगाम मेरुं सुरसिद्धसेवितं[२], भार्य्यासहायः स्वगणैश्च युक्तः ॥४०॥

इति श्रीआदिब्राह्मे महापुराणे स्वयम्भुऋषिसंवाद उमा-महेश्वरयोर्हिमवत्परित्यागनिरूपणं
नामाष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

दक्षयज्ञविध्वंसनम्

ऋषय ऊचुः

प्राचेतस्य दक्षस्य कथं वैवस्वतेऽन्तरे। [३]विनाशमगमद्[४] ब्रह्मन् हयमेधः[५] प्रजापतेः ॥१॥
देव्या [६]मन्युकृतं बुद्ध्वा क्रुद्धः सर्वात्मकः प्रभुः। कथं विनाशितो यज्ञो दक्षस्यामिततेजसः ॥
महादेवेन रोषाद्वै तन्नः प्रब्रूहि विस्तरात् ॥२॥

ब्रह्मा ने कहा—देवी के वचन सुनकर उसकी अभीष्ट-सिद्धि के लिए शंकर अपने पर्वत को छोड़कर भार्या और अपने गणों से युक्त होकर देवता तथा सिद्धों से सुसेवित मेरुपर्वत पर चले गये ॥४०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में शिव और पार्वती के
हिमालय-त्याग-निरूपण नामक अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥३८॥

अध्याय ३९

दक्ष के यज्ञ का विध्वंस

ऋषियों ने कहा—ब्रह्मन्! वैवस्वत नामक मन्वन्तर में प्रचेता-पुत्र प्रजापति दक्ष का अश्वमेध यज्ञ कैसे विनष्ट हुआ? देवी के कोप (-जन्य विनाश) को जानकर क्रुद्ध सर्वात्मा प्रभु ने अमित तेजस्वी दक्ष के यज्ञ का विनाश कैसे किया? महादेव ने क्रोध से जो किया, वह विस्तारपूर्वक हमें बतलाइये ॥१-२॥

---

१ क.ग.स्वसुरं। २ क. ०तं हृष्टाशयः सर्वग०। ३ क. ०नाशो ह्यभवद्ब्र०। ४ ख. ०शश्चाभवद्ब्र०। ५ क.ख. ०मेधे प्र०। ६ ख. ०कृते तत्र कु०।

ब्रह्मोवाच

वर्णयिष्यामि वो विप्रा महादेवेन वै यथा। क्रोधाद्विध्वंसितो यज्ञो देव्याः प्रियचिकीर्षया ।।३।।
पुरा मेरोर्द्विजश्रेष्ठाः शृङ्गं त्रैलोक्यपूजितम्[1] । ज्योतिःस्थलं नाम[2] चित्रं सर्वरत्नविभूषितम् ।।४।।
अप्रमेयमनाधृष्यं सर्वलोकनमस्कृतम् । तत्र देवो गिरितटे सर्वधातुविचित्रिते ।।५।।
पर्य्यङ्क इव विस्तीर्णे[3] उपविष्टो बभूव ह । शैलराजसुता चास्य नित्यं पार्श्वस्थिताऽभवत् ।।६।।
आदित्याश्च महात्मानो वसवश्च महौजसः । तथैव च महात्मानावश्विनौ भिषजां वरौ ।।७।।
तथा वैश्रवणो राजा गुह्यकैः परिवारितः । यक्षाणामीश्वरः श्रीमान् कैलासनिलयः प्रभुः ।।८।।
उपासते महात्मानमुशना च महामुनिः । सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव परमर्षयः ।।९।।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा देवर्षयोऽपि च । विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा नारदपर्वतौ ।।१०।।
अप्सरोगणसङ्घाश्च समाजग्मुरनेकशः । ववौ सुखशिवो वायुर्नानागन्धवहः शुचिः ।।११।।
सर्वर्त्तुकुसुमोपेतः [4]पुष्पवन्तोऽभवन्द्रुमाः । तथा विद्याधराः साध्याः सिद्धाश्चैव तपोधनाः ।।१२।।
महादेवं पशुपतिं पर्य्युपासत तत्र वै । भूतानि च तथाऽन्यानि नानारूपधराण्यथ ।।१३।।
राक्षसाश्च महारौद्राः पिशाचाश्च महाबलाः । बहुरूपधरा धृष्टा[5] नानाप्रहरणायुधाः ।।१४।।
देवस्यानुचरास्तत्र तस्थुर्वैश्वानरोपमाः । नन्दीश्वरश्च भगवान् देवस्यानुमते स्थितः ।।१५।।
प्रगृह्य ज्वलितं शूलं दीप्यमानं स्वतेजसा । गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा सर्वतीर्थजलोद्भवा ।।१६।।

ब्रह्मा ने कहा—विप्रवृन्द ! देवी का प्रिय करने की इच्छा से जैसे महादेव ने क्रोध से यज्ञ का विध्वंस किया, उसका मैं सविस्तार वर्णन करूँगा ।।३।। द्विजश्रेष्ठो ! पहले ज्योतिःस्थल नामक मेरु पर्वत का शिखर तीनों लोक से पूजित, विचित्र, सब प्रकार के रत्नों से विभूषित, मापने न योग्य, जनसमागमशून्य तथा समस्त लोकों से नमस्कृत था ।।४½।। वहाँ सब प्रकार के धातुओं से चित्रित पलँग की तरह विस्तीर्ण पर्वत-तट पर शंकर बैठते थे। उनकी बगल में गिरिराज-कन्या भी नित्य बैठती थीं ।।५-६।। महात्मा आदित्यगण, महातेजस्वी वसुगण, दोनों वैद्यश्रेष्ठ अश्विनीकुमार और गुह्यकों से युक्त, यक्षों के ईश्वर, कैलासवासी तथा शक्ति-सम्पन्न श्रीमान् कुबेर उनकी उपासना करते थे ।।७-८।। महामुनि शुक्र, सनत्कुमार आदि परमर्षि, अंगिरा आदि देवर्षि, विश्वावसु, गन्धर्व, नारद, पर्वत और अप्सरागण वहाँ अनेक बार आते थे ।।९-१०½।। सुख-शान्ति-दायक तथा गन्धवाहक पवित्र वायु बहता था। वृक्ष सब ऋतुओं में होने वाले पुष्पों से समन्वित थे। विद्याधर, साध्य, सिद्ध और तपस्वीगण पशुपति महादेव की आराधना करते थे ।।११-१२½।। नाना प्रकार के रूपों को धरकर दूसरे प्राणी, महाभयंकर राक्षस, बहुरूपी, धृष्ट नाना अस्त्र-शस्त्रों से युक्त तथा महाबलवान् पिशाच और अग्नि के समान शिव के अनुचर वहाँ उपस्थित रहते थे ।।१३-१४½।। अपने तेज से दीप्यमान तथा प्रज्वलित त्रिशूल को धारण कर भगवान् नन्दीश्वर भी शंकर की आज्ञा पाने के लिए तैयार खड़े रहते थे। द्विजश्रेष्ठो ! सब तीर्थों के जल से उत्पन्न तथा नदियों में श्रेष्ठ गंगा रूप धारण कर शंकर

---

[1] ख. ०म्। वित्तं ज्यो०। [2] ख. ०म स०। [3] क.ग. विभ्राजन्नुप०। [4] ख. पुण्यव०। [5] क.ग. हृष्टा।

पर्युपासत तं देवं रूपिणी द्विजसत्तमाः । एवं स भगवांस्तत्र पूज्यमानः सुरर्षिभिः ।।१७।।
देवैश्च[१] [२]सुमहाभागैर्महादेवो व्यतिष्ठत । कस्यचित्त्वथ कालस्य दक्षो नाम प्रजापतिः ।।१८।।
पूर्व्वोक्तेन विधानेन [३]यक्ष्यमाणोऽभ्यपद्यत । ततस्तस्य [४]मखे देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः[५] ।।१९।।
स्वर्गस्थानादथाऽऽगम्य[६] दक्षमापेदिरे तथा । ते विमानैर्महात्मानो[७] ज्वलद्भिर्ज्वलनप्रभाः ।।२०।।
देवस्यानुमतेऽगच्छन् गङ्गाद्वारमिति श्रुतिः । गन्धर्वाप्सरसाकीर्णं नानाद्रुमलतावृतम् ।।२१।।
[८]ऋषिसिद्धैः [९]परिवृतं दक्षं दर्म्मभृतां वरम् । पृथिव्यामन्तरिक्षे [१०]च ये च स्वर्लोकवासिनः ।।२२।।
सर्वे प्राञ्जलयो भूत्वा उपतस्थुः प्रजापतिम् । आदित्या वसवो रुद्राः [११]साध्याः सर्वे मरुद्गणाः ।।२३।।
विष्णुना सहिताः सर्व आगता [१२]यज्ञभागिनः । ऊष्मपा धूमपाश्चैव आज्यपाः सोमपास्तथा ।।२४।।
अश्विनौ मरुतश्चैव [१३]नानादेवगणैः सह । एते चान्ये च बहवो भूतग्रामास्तथैव च ।।२५।।
जरायुजाण्डजाश्चैव तथैव स्वेदजोजिद्भ्रदः । [१४]आगताः [१५]सत्रिणः सर्वे देवाः [१६]स्त्रीभिः सहर्षिभिः ।।२६।।
विराजन्ते विमानस्था दीप्यमाना इवाग्नयः[१७] । तान् दृष्ट्वा मन्युनाऽऽविष्टो दधीचिर्वाक्यमब्रवीत् ।।२७।।

की उपासना में लगी रहती थी ।।१५-१६।। इस प्रकार देवर्षियों तथा महाभाग देवताओं से पूज्यमान भगवान् शिव वहाँ रहते थे । कुछ काल बाद दक्ष नामक प्रजापति ने पूर्वोक्त विधान के अनुसार यज्ञ करना आरम्भ किया ।।१७-१८$\frac{१}{३}$।। ऐसा सुना जाता है कि उसके यज्ञ में इन्द्र आदि देवता स्वर्ग से आकर उपस्थित हुए । जलते हुए अग्नि के समान कान्तिवाले वे महात्मागण शिव की अनुमति पाकर गंगा-द्वार (हरिद्वार) में पहुँचे ।।१९-२०$\frac{१}{३}$।। पृथिवी, आकाश तथा स्वर्गलोकवासी—सव-के-सव गन्धर्व तथा अप्सराओं से समन्वित, नाना वृक्ष-लताओं से आवृत, ऋषि तथा सिद्धों से वेष्टित और धर्मधारियों में श्रेष्ठ प्रजापति दक्ष को हाथ जोड़कर उपस्थित हुए ।।२१-२२$\frac{१}{३}$।। विष्णु सहित आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य और मरुद्गण—ये सब यज्ञ में भाग लेने के लिए आये ।।२३$\frac{१}{३}$।। ऊष्म पान करने वाले, धूम पान करने वाले, घी पान करने वाले, सोमरस पान करने वाले, अश्विनीकुमार, नाना देवगण, मरुद्गण—ये तथा दूसरे बहुत-से प्राणी—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिञ्ज वहाँ आये । सब देवगण ऋषियों तथा स्त्रियों के साथ विमान में स्थित होकर अग्नि के समान द़ीप्यमान तथा शोभायमान होते हुए पधारे । उन्हें देखकर क्रोध से आविष्ट हो दधीचि ने कहा ।।२४-२७।।

१ख. ०श्च स म० । २ख. ०भागैः सेव्यमानो व्य० । ३ग. ०णोऽन्वप० । ४ख.ग. मखं । ५ख. ०माः । अन्तरिक्षाद० । ग. ०माः । गमनाय समाग० । ६क. ०म्यवृद्धिमा० । ग. ०म्य बुद्धिमादधिरे । ७क. ०त्मानः कूजद्भि । ८क. ख. ०षिसंघैः प० । ९ग. परिवृढं । १०क. ख. च स्वर्गलोक० । ११ख. ग. साध्या रुद्रा म० । १२क. ०नः । तत्र मासोपवासाश्च अम्बुपाः सो० । १३क. ख. गणास्तया । ए० । १४ग. आहूता मन्त्रिणः स० । १५क. मन्त्रिताः । १६ क. ख. ०वाः सह महर्षि० । १७ख. ०यः । दधीचिस्तु महांस्तत्र ऋषिस्तं यज्ञमण्डपम् । रुद्रेण रहितं दृष्ट्वा ऋषीन्वाक्यमभाषत । ऋषयोऽस्मिन्महायज्ञे शंकरः सर्वनायकः । न दृश्यते विना तेन यज्ञोऽयं नैव शोभते । ए० ।

दधीचिरुवाच

अपूज्यपूजने चैव पूज्यानां चाप्यपूजने । नरः पापमवाप्नोति महद्वै नात्र संशयः ॥२८॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा[1] तु विप्रर्षिः पुनर्दक्षमभाषत ॥२९॥

दधीचिरुवाच

पूज्यञ्च पशुभर्त्तारं कस्मान्नार्च्चयसे प्रभुम्[2] ॥३०॥

दक्ष उवाच

[3]सन्ति मे बहवो रुद्राः शूलहस्ताः कपर्द्दिनः । [4]एकादशस्थानगता नान्यं विद्मो महेश्वरम् ॥३१॥

दधीचिरुवाच

सर्वेषामेकमन्त्रोऽयं ममेशो न निमन्त्रितः । यथाऽहं शङ्कराद‍ूर्ध्वं नान्यं पश्यामि दैवतम् ॥
तथा दक्षस्य विपुलो यज्ञोऽयं न भविष्यति ॥३२॥

दक्ष उवाच[5]

विष्णोश्च भागा विविधाः प्रदत्तास्तथा च रुद्रेभ्य उत प्रदत्ताः
अन्येऽपि देवा निजभागयुक्ता, ददामि भागं न तु शङ्कराय ॥३३॥

दधीचि बोले—अपूज्यों के पूजन तथा पूज्यों के अपूजन से मनुष्य महापाप का भागी होता है, इसमें कोई संशय नहीं ॥२८॥

ब्रह्मा ने कहा—विप्रर्षि इतना कहकर फिर दक्ष से कहने लगे ॥२९॥

दधीचि ने कहा—सर्वशक्तिमान् पशुपति की पूजा क्यों नहीं करते हो ? ॥३०॥

दक्ष ने कहा—ग्यारह स्थानों में प्राप्त, जटाधारी तथा त्रिशूल हाथ में लिये अनेक रुद्र मेरे पास हैं, मैं दूसरे महेश्वर को नहीं जानता ॥३१॥

दधीचि ने कहा—सबका एकमात्र यही कहना है कि मेरे प्रभु को निमन्त्रित नहीं किया गया। जिस प्रकार मैं शंकर से बढ़कर किसी दूसरे देव को नहीं समझता उसी प्रकार दक्ष का यह बृहत् यज्ञ (सम्पन्न) नहीं होगा॥३२॥

दक्ष ने कहा—मैंने विष्णु को विविध भाग दिये, रुद्रों को दिये और दूसरे देवों ने भी अपने-अपने भाग पाये, पर मैं शंकर को यज्ञ-भाग नहीं दे सकता हूँ ॥३३॥

---

[1] ग. ०क्त्वा मुनिर्विप्रान्पुनर्वाक्यम०। [2] ख. विभुम्। [3] ख. सन्तीह व०। [4] ख. ०श तथा चान्ये विद्महे न म०। [5] क. ग. ०च। एतन्महेशाय सुवर्णपात्र हविः समस्तं विधिमन्त्रपूतम्। विष्णोश्च यस्याप्रतिवेश्य भागं न यज्ञभागं तु महेश्वराय। जगत्प्रभोस्तस्य दधीच भागं विष्णोश्च नित्यं विवुधैः प्रदत्तम्। तस्मादहं देववराय दद्यां यज्ञस्य भागं।

ब्रह्मोवाच

गतास्तु देवता ज्ञात्वा शैलराजसुता तदा । उवाच वचनं [1]शर्वं देवं पशुपतिं पतिम् ॥३४॥

उमोवाच

भगवन् कुत्र यान्त्येते देवाः शक्रपुरोगमाः । ब्रूहि तत्त्वेन तत्त्वज्ञ संशयो मे महानयम् ॥३५॥

महेश्वर उवाच

दक्षो नाम महाभागे प्रजानां पतिरुत्तमः । हयमेधेन यजते तत्र यान्ति दिवौकसः ॥३६॥

देव्युवाच

यज्ञमेतं [2]महाभाग किमर्थं नानुगच्छसि । केन वा प्रतिषेधेन गमनं ते न विद्यते ॥३७॥

महेश्वर उवाच

सुरैरेव[3] महाभागे सर्वमेतदनुष्ठितम् । यज्ञेषु मम सर्वेषु न भाग उपकल्पितः ॥३८॥
पूर्वागतेन गन्तव्यं मार्गेण वरवर्णिनि । न मे सुराः प्रयच्छन्ति भागं यज्ञस्य धर्म्मतः ॥३९॥

उमोवाच

भगवन् सर्वदेवेषु प्रभावाभ्यधिको गुणैः । अजेयश्चाप्यधृष्यश्च[4] तेजसा यशसा श्रिया ॥४०॥
अनेन तु महाभाग प्रतिषेधेन भागतः । अतीव दुःखमापन्ना वेपथुश्च महानयम् ॥४१॥

ब्रह्मा ने कहा—तब (दक्ष के यज्ञ में) गये देवताओं को जानकर गिरि-कुमारी अपने पति पशुपति शिव से कहने लगी ॥३४॥

पार्वती बोली—भगवन् ! ये इन्द्र आदि देवता कहाँ जा रहे हैं ? हे तत्त्वज्ञ ! बतलाइये, मुझे बड़ा संशय हो रहा है ॥३५॥

महेश्वर ने कहा—महाभागे ! दक्ष नामक उत्तम प्रजापति अश्वमेध यज्ञ करते हैं। वहीं ये देवता लोग जा रहे हैं ॥३६॥

देवी बोली—हे महाभाग ! इस यज्ञ में आप क्यों नहीं जाते ? आपके गमन पर कौन-सा प्रतिवन्ध लग गया है ? ॥३७॥

महेश्वर ने कहा—महाभागे ! देवताओं ने ही यह सब किया है। किसी भी यज्ञ में मुझे भाग नहीं मिलता। श्रेष्ठ वर्ण-वाली ! पहले के मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए। देवता लोग यज्ञ में धर्मपूर्वक भाग मुझे नहीं देते ॥३८-३९॥

उमा ने कहा—भगवन् ! समस्त देवताओं से आप अधिक प्रभाववान् तथा गुणवान् हैं। तेज, यश और श्री में भी आप अजेय तथा अघृष्य (न दबाने योग्य) हैं ॥४०॥ भागों के इस निषेध के कारण मैं बड़ी दुःखी हूँ,

---

[1] ख. साध्वी । [2] ख. महादेव । [3] क. रेवं म० । [4] क. ख. श्चाप्रमेयश्च ।

किं नाम दानं नियमं तपो वा, [1]कुर्यामहं येन पतिर्ममाद्य ।
लभेत भागं भगवानचिन्त्यो, यज्ञस्य[2] चेन्द्राद्यमरैर्विचित्र (भक्त)म् ॥४२॥

ब्रह्मोवाच

एवं ब्रुवाणां भगवान् विचिन्त्य, पत्नीं प्रहृष्टः क्षुभितामुवाच ।

महेश्वर उवाच

न वेत्सि मां देवि कृशोदराङ्गि, किं नाम युक्तं वचनं तवेदम् ॥४३॥
अहं विजानामि विशालनेत्रे, ध्यानेन सर्वे च विदन्ति सन्तः ।
तवाद्य[3] मोहेन सहेन्द्रदेवा, लोकत्रयं सर्वमथो विनष्टम् ॥४४॥
मामध्वरेशं नितरां स्तुवन्ति, रथन्तरं साम गायन्ति मह्यम् ।
मां ब्राह्मणा ब्रह्ममन्त्रैर्यजन्ति, ममाध्वर्य्यवः कल्पयन्ते च भागम् ॥४५॥

देव्युवाच[4]

विकत्थसे प्राकृतवत् सर्वस्त्रीजनसंसदि । [5]स्तौषि गर्वायसे[6] चापि स्वमात्मानं न संशयः ॥४६॥

भगवानुवाच

नाऽऽत्मानं स्तौमि देवेशि यथा त्वमनुगच्छसि । संस्रक्ष्यामि[7] वरारोहे भागार्थे वरवर्णिनि ॥४७॥

मेरा शरीर काँप रहा है ॥४१॥ मैं कौन-सा दान, नियम या तप करूँ, जिससे मेरे अचिन्त्य तथा शक्तिमान् पति यज्ञ में इन्द्र आदि देवताओं से भी विलक्षण भाग प्राप्त करेंगे ॥४२॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार कहती हुई दुःखी पत्नी को देखकर प्रसन्न भगवान् शंकर बोले ।

महेश्वर ने कहा—हे क्षीण कटि वाली ! देवी ! क्या तुम मुझे नहीं जानती हो ? क्या यह तुम्हारा वचन युक्ति-संगत है ? ॥४३॥ हे विशालाक्षी ! मैं सब कुछ जानता हूँ ; क्योंकि योगीजन ध्यान से सब कुछ समझ लेते हैं। आज तुम्हारे मोह के कारण इन्द्र आदि देवता सहित तीनों लोक नष्ट हो जायेंगे ॥४४॥ ब्राह्मण लोग मुझ यज्ञपति की स्तुति करते हैं, मेरे लिए रथंतर-साम का गान करते हैं तथा वेद-मंत्रों से यज्ञ करते हैं और अध्वर्यु मुझे भाग देते हैं ॥४५॥

देवी ने कहा—स्त्रियों की सभा में साधारण मनुष्य की तरह आप अपनी बड़ाई करते हैं, डींग हाँकते हैं तथा गर्व करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥४६॥

भगवान् ने कहा—हे देवताओं की स्वामिनी ! मैं अपनी प्रशंसा नहीं करता, जैसा कि तुम समझ रही हो। हे स्त्री-रत्न ! हे सुन्दर वर्ण वाली ! मैं अपने भाग के लिए सृष्टि करूँगा ॥४७॥

१क. कुर्यां मखे येन विभागमद्य । २ग. ०स्य भागं ह्यथवातृतीयम् । ३ख. कोपेन । ४ग. ०च—प्राकृतोऽपीह पुरुषः सर्व० । ५ग. स्तौति । ६ख. ०र्वाभिभूतस्तु त्वमा० । ७क. ख. प्रवक्ष्यामि ।

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा भगवान् पत्नीमुमां प्राणैरपि प्रियाम्। सोऽसृजद्भगवान् [1]वक्त्राद्भूतं क्रोधाग्निसम्भवम् ॥४८॥
तमुवाच मखं गच्छ दक्षस्य त्वं महेश्वर । नाशयाऽऽशु क्रतुं तस्य दक्षस्य मदनुज्ञया ॥४९॥

ब्रह्मोवाच

ततो रुद्रप्रयुक्तेन सिंहवेषेण लीलया । देव्या [2]मन्युकृतं ज्ञात्वा हतो दक्षस्य स क्रतुः ॥५०॥
मन्युना च महाभीमा भद्रकाली महेश्वरी । आत्मनः [3]कर्म्मसाक्षित्वे तेन सार्द्धं सहानुगा ॥५१॥
स एष भगवान् क्रोधः प्रेतावासकृतालयः । वीरभद्रेति विख्यातो देव्या मन्युप्रमार्जकः ॥५२॥
सोऽसृजद्रोमकूपेभ्य [4]आत्मनैव गणेश्वरान् । रुद्रानुगान्गणान्रौद्रान्रुद्रवीर्यपराक्रमान् ॥५३॥
रुद्रस्यानुचराः सर्वे सर्वे रुद्रपराक्रमाः । ते निपेतुस्ततस्तूर्णं शतशोऽथ सहस्रशः ॥५४॥
ततः किलकिलाशब्द आकाशं पूरयन्निव । समभूत् सुमहान् विप्राः सर्वरुद्रगणैः कृतः ॥५५॥
तेन शब्देन महता त्रस्ताः सर्वे दिवौकसः । पर्व्वताश्च व्यशीर्य्यन्त चकम्पे च वसुन्धरा ॥५६॥
मरुतश्च ववुः क्रूराश्चुक्षुभे वरुणालयः । अग्नयो वै न दीप्यन्ते चादीप्यत भास्करः ॥५७॥
ग्रहा नैव प्रकाशन्ते नक्षत्राणि न तारकाः। ऋषयो न प्रभासन्ते न देवा न च दानवाः ॥५८॥
एवं हि तिमिरीभूते निर्दहन्ति गणेश्वराः । प्रभञ्जन्त्यपरे यूपान् घोरानुत्पाटयन्ति च ॥५९॥

ब्रह्मा ने कहा—प्राणाधिक प्रिया उमा से इस तरह कहकर भगवान् ने क्रोधाग्नि के द्वारा अपने मुख से एक भूत को उत्पन्न किया । उससे शंकर ने कहा—'तुम दक्ष के यहाँ शीघ्र जाकर उसके यज्ञ का विध्वंस करो।'॥४८-४९॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर रुद्र के भेजे हुए उस भूत ने लीला से सिंह का वेश धारण कर पार्वती का क्रोध जानकर दक्ष के यज्ञ को नष्ट किया ॥५०॥ क्रोध से महाभयंकर भद्रकाली माहेश्वरी भी आत्मा को कर्म-साक्षी बनाकर भूत के साथ ही चल पड़ीं ॥५१॥ उस बली, क्रोधरूपी, श्मशानवासी तथा देवी के क्रोध को मिटाने वाले भूत का नाम वीरभद्र था ॥५२॥ उसने अपने रोम-कूपों से रुद्र के अनुगामी, भयंकर तथा रुद्रतुल्य पराक्रमी गण-नायकों की सृष्टि की ॥५३॥ सब-के-सब रुद्रतुल्य पराक्रमी तथा रुद्र के अनुचर थे । वे सैकड़ों-हजारों की संख्या में शीघ्रता से टूट पड़े ॥५४॥ विप्रवृन्द ! तव रुद्रगणों की किलकारी इतनी अधिक हुई कि (उससे) आकाश भर गया ॥५५॥ उस महाशब्द से देवता डर गये, पर्वत टूटने लगे, पृथ्वी काँप उठी, वायु क्रूरता से बहने लगा, समुद्र संक्षुब्ध हो उठा, अग्नि शीतल पड़ गया, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे प्रकाश खो वैठे और ऋषि, देव तथा दानव तेजोहीन हो गये ॥५६-५८॥ इस प्रकार सर्वत्र तिमिरावृत हो जाने पर वे

---

[1] ख. ०क्त्राद्दूतं । [2] ख. ०कृते ज्ञा० । [3] ख. ०त्वे वभूव वरवर्णिनी । वीरभद्रो महाक्रूरस्तया सार्ध सहानुगः । स । [4] ख. ०त्मनश्च ग० ।

प्रणदन्ति तथा चान्ये विकुर्वन्ति तथा परे । त्वरितं वै प्रधावन्ति वायुवेगा मनोजवाः ॥६०॥
चूर्ण्यन्ते यज्ञपात्राणि यज्ञस्यायतनानि । शीर्यमाणान्यदृश्यन्त तारा[1] इव नभस्तलात् ॥६१॥
दिव्यान्नपानभक्ष्याणां राशयः पर्व्वतोपमाः । क्षीरनद्यस्तथा चान्या घृतपायसकद्र्दमाः ॥६२॥
मधुमण्डोदका दिव्याः खण्डशर्करबालुकाः । षड्रसान्निवहन्त्यन्या गुडकुल्या मनोरमाः ॥६३॥
उच्चावचानि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च[2] । यानि कानि च दिव्यानि लेह्यचोष्याणि यानि च ॥६४॥
भुञ्जन्ति विविधैर्वक्त्रैर्विलुम्पन्ति क्षिपन्ति च । रुद्रकोपा महाकोपाः कालाग्निसदृशोपमाः ॥६५॥
भक्षयन्तोऽथ शैलाभा भीषयन्तश्च सर्वतः । क्रीडन्ति विविधकाराश्चिक्षिपुः सुरयोषितः ॥६६॥
एवं गणाश्च तैर्युक्तो वीरभद्रः प्रतापवान् । रुद्रकोपप्रयुक्तश्च सर्वदेवैः सुरक्षितम् ॥६७॥
तं यज्ञमदहच्छीघ्रं भद्रकाल्याः समीपतः । चक्रुरन्ये तथा नादान् सर्वभूतभयङ्करान् ॥६८॥
छित्वा शिरोऽन्ये यज्ञस्य व्यनदन्त भयङ्करम् । ततः शक्रादयो देवा दक्षश्चैव प्रजापतिः ॥
ऊचुः प्राञ्जलयो भूत्वा कथ्यतां को भवानिति ॥६९॥

वीरभद्र उवाच

नाहं देवो न दैत्यो वा [3]न च भोक्तुमिहागतः । नैव द्रष्टुञ्च देवेन्द्रा न च कौतूहलान्वितः ॥७०॥

गणेश्वर यज्ञमंडप को जलाने लगे। कोई भयानक यूपों (यज्ञ-स्तम्भों) को तोड़ते-उखाड़ते, तो कोई अव्यक्त शब्द करते थे। कोई कुत्सित शब्द करते थे और कोई वायु तुल्य या मन तुल्य शीघ्रता से दौड़ते थे ।।५९-६०।। यज्ञ-पात्र चूर-चूर कर दिये गये। यज्ञ-गृह टूट कर इस प्रकार गिरे जैसे आकाश से तारे गिरते हैं ।।६१।। (वहाँ) दिव्य अन्न, पान तथा भक्ष्य पदार्थों की राशि पर्वत की तरह थी। दूध की नदियाँ बह रही थीं। घी तथा खीर रूप कीचड़ वाली, मधु तथा मट्ठा रूप जल वाली और खाँड़ तथा शक्कर रूप रेत वाली दूसरी दिव्य नदियाँ बह रही थीं। छहों रसों को वहाने वाली अन्य मनोरम गुड़ की नहरें थीं ।।६२-६३।। छोटे-बड़े मांस तथा चाटने योग्य और चूसने योग्य विविध प्रकार की भक्ष्य-सामग्रियाँ थीं ।।६४।। (इन पदार्थों को) रुद्रकोपरूपी, महाकोपरूपी, कालाग्नि की उपमा देने योग्य तथा पर्वताकार गणेश्वर अनेक मुखों से खाते और फेंकते थे। अनेक रूपधारी गण सामग्रियों को खाते, लोगों को डराते, क्रीड़ा करते तथा देवांगनाओं के ऊपर प्रक्षेप करते थे ।।६५-६६।। इस प्रकार गणों से युक्त, रुद्रकोप से उत्पन्न, प्रतापी वीरभद्र ने निखिल देवों से सुरक्षित उस यज्ञ को भद्रकाली के सामने ही शीघ्र जला डाला। अतिरिक्त गणों में से कुछ तो प्राणिमात्र को भयानक लगने वाले शब्द करने लगे और कुछ यज्ञ के सिर को काट कर भीषण चीत्कार करने लगे। तदनन्तर शक्र आदि देवता और प्रजापति दक्ष ने अंजलि बाँध कर पूछा कि आप कौन हैं ।।६७-६९।।

वीरभद्र ने कहा—देवश्रेष्ठो ! मैं न देव हूँ, न दैत्य हूँ, न खाने के लिए आया हूँ, न देखने के लिए आया हूँ और न मुझे कुतूहल ही है ।।७०।। देववृन्द ! मैं तो दक्ष के यज्ञ को नष्ट करने के लिए आया हूँ। वीरभद्र

---

[1] ग. वाता । [2] ग. च । पानका० । [3] ख. न यक्षो न च राक्षसः । नै० ।

दक्षयज्ञविनाशार्थं सम्प्राप्तोऽहं सुरोत्तमाः । वीरभद्रेति विख्यातो रुद्रकोपाद्विनिःसृतः ॥७१॥
भद्रकाली च विख्याता[1] देव्याः क्रोधाद्विनिर्गता । प्रेषिता देवदेवेन यज्ञान्तिकमुपागता ॥७२॥
शरणं गच्छ राजेन्द्र देवदेवमुमापतिम् । वरं क्रोधोऽपि देवस्य न वरः[2] परिचारकैः[3] ॥७३॥

ब्रह्मोवाच

निखातोत्पाटितैर्यूपैरपविद्धैस्ततस्ततः । उत्पतद्भिः पतद्भिश्च गृध्रैरामिषगृध्नुभिः ॥७४॥
पक्षवातविनिर्धूतैः शिवारुतविनादितैः । स तस्य यज्ञो [4]नृपतेर्बाध्यमानस्तदा गणैः ॥७५॥
आस्थाय मृगरूपं वै खमेवाभ्यपतत्तदा । तन्तु यज्ञं तथारूपं गच्छन्तमुपलभ्य सः ॥७६॥
धनुरादाय [5]बाणञ्च तदर्थमगमत् प्रभुः । ततस्तस्य[6] गणेशस्य क्रोधादमिततेजसः ॥७७॥
ललाटात्प्रसृतो घोरः स्वेदविन्दुर्बभूव ह । तस्मिन्पतितमात्रे च स्वेदविन्दौ तदा भुवि ॥७८॥
प्रादुर्भूतो [7]महानग्निर्ज्वलत्कालानलोपमः । तत्रोदपद्यत तदा पुरुषो द्विजसत्तमाः ॥७९॥
ह्रस्वोऽतिमात्रो रक्ताक्षो हरिच्छ्मश्रुर्विभीषणः । ऊर्ध्वकेशोऽतिरोमाङ्गः[8] शोणकर्णस्तथैव च ॥८०॥
करालकृष्णवर्णश्च रक्तवासास्तथैव च । तं यज्ञं स [9]महासत्त्वोऽदहत्कक्षमिवानलः ॥८१॥
देवाश्च प्रद्रुताः सर्वे गता भीता दिशो दश । तेन तस्मिन्विचरता विक्रमेण तदा तु वै ॥८२॥
पृथिवी व्यचलत्सर्वा सप्तद्वीपा समन्ततः । [9]महाभूते प्रवृत्ते तु देवलोकभयंकरे ॥८३॥

मेरा नाम है। रुद्र-कोप से मेरी उत्पत्ति हुई है ॥७१॥ पार्वती के क्रोध से उत्पन्न भद्रकाली को भी शिव ने यज्ञ के समीप भेजा है। राजेन्द्र ! देव-देव उमापति की शरण में जाओ। महान् का क्रोध भी वरदान होता है और नीच का वरदान भी हेय होता है ॥७२-७३॥

ब्रह्मा ने कहा—तोड़े, उखाड़े तथा इधर-उधर बिखरे हुए यूपों, उड़ते, गिरते तथा पंखों के वायु से कँपाते मांसाभिलाषी गिद्धों और शृगालों के शब्दों द्वारा जब रुद्र गण राजा के यज्ञ में बाधा डालने लगे तब यज्ञ मृग का रूप धारण कर आकाश में उड़ गया ॥७४-७५⅓॥ यज्ञ को उस प्रकार जाते हुए देख कर प्रभु वीरभद्र ने धनुष और बाण लेकर उसका पीछा किया ॥७६⅓॥ क्रोध से उस अमित तेजस्वी गणनायक के मस्तक से भयंकर स्वेद-बिन्दु टपक पड़ा ॥७७⅓॥ द्विजश्रेष्ठो ! पृथ्वी पर उस स्वेद-बिन्दु के गिरते ही कालाग्नि के समान जलता हुआ महान् अग्निरूप पुरुष उससे उत्पन्न हुआ ॥७८-७९॥ वह अत्यन्त छोटा था, उसके नेत्र लाल थे, दाढ़ी-मूँछ नीली तथा भयंकर थी, केश ऊपर की ओर उठे थे, अंगों में बहुत रोएँ थे, कान लाल थे, वर्ण भयानक तथा काला था और वस्त्र लाल था ॥८०⅓॥ उस महाजीव ने यज्ञ को उसी तरह जला डाला, जैसे अग्नि शुष्क तृण को जला देता है। देवगण डर के मारे दशों दिशाओं में भाग गये ॥८१⅓॥ जब वह जीव पराक्रम से विचरण करने लगा तब सातों द्वीप सहित पृथिवी काँप उठी ॥८२⅓॥ देव-समूह को डराने वाले उस महाजीव के उत्पन्न

---

१ ख. ०ता रुद्रकोपाद्वि०। २ क. परं। ३ क. ०रके। नि०। ४ क. ग. ०तेर्वध्य०। ५ ख. बाणांश्च त०। ६ क. ०स्यगुणे सम्यक्क्रोधा०। ७ क. ०ग्निर्ज्वालामाली भयंकरः। त०। ८ क. ०ङ्गः सेनान्तकस्त०। ९ क. महालोके। ख. महीलोके च प्रहते दे०।

तदा चाहं महादेवमब्रवं प्रतिपूजयन् । [१]भवतेऽपि सुराः सर्वे भागं दास्यन्ति वै प्रभो ॥८४॥
क्रियतां प्रतिसंहारः सर्वदेवेश्वर त्वया । इमाश्च देवताः सर्वा ऋषयश्च सहस्रशः ॥८५॥
तव क्रोधान्महादेव न शान्तिमुपलेभिरे । यश्चैष पुरुषो जातः स्वेदजस्ते सुरर्षभ ॥८६॥
ज्वरो नामैष धर्मज्ञ लोकेषु प्रचरिष्यति । एकीभूतस्य न ह्यस्य धारणे तेजसः प्रभो ॥८७॥
समर्था सकला पृथ्वी बहुधा सृज्यतामयम् । इत्युक्तः स मया देवो भागे चापि प्रकल्पिते ॥८८॥
भगवान्मां तथेत्याह देवदेवः पिनाकधृक् । परां च प्रीतिमगमत्स स्वयं च पिनाकधृक् ॥८९॥
दक्षोऽपि मनसा देवं भवं शरणमन्वगात् । प्राणापानौ समारुध्य[२] चक्षुःस्थाने[३] प्रयत्नतः ॥९०॥
विधार्य[४] सर्वतो दृष्टिं [५]बहुदृष्टिरमित्रजित् । स्मितं कृत्वाऽब्रवीद्वाक्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥९१॥
श्राविते च महाख्याने देवानां पितृभिः सह । तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा दक्षो देवं प्रजापतिः ॥
भीतः शङ्कितचित्तस्तु सबाष्पवदनेक्षणः ॥९२॥

दक्ष उवाच

यदि प्रसन्नो भगवान्यदि वाऽहं तव प्रियः । यदि चाहमनुग्राह्यो यदि देयो वरो मम ॥९३॥
यद्भक्ष्यं भक्षितं पीतं त्रासितं यच्च नाशितम् । चूर्णीकृतापविद्धं च यज्ञसंभारमीदृशम् ॥९४॥
दीर्घकालेन महता प्रयत्नेन च संचितम् । न च मिथ्या भवेन्मह्यं त्वत्प्रसादान्महेश्वर ॥९५॥

होने पर मैंने शिव की पूजा करते हुए उनसे कहा—'प्रभो ! आपको भी सब देवता भाग देंगे ॥८३-८४॥ हे समस्त देवों के ईश्वर ! आप संहार को रोकिये । आपके क्रोध के कारण ये सब देवता और हजारों मुनि शान्ति नहीं प्राप्त कर रहे हैं । हे देवश्रेष्ठ ! हे धर्मज्ञ ! जो यह आपके पसीने से उत्पन्न पुरुष है, यह तीनों लोक में ज्वर नाम से प्रसिद्ध होगा ॥८५-८६ $\frac{१}{२}$॥ हे प्रभो ! एकत्रीभूत इस तेज को धारण करने में संपूर्ण पृथिवी समर्थ नहीं हो सकती । अतः इसको अनेक कर दीजिये' ॥८७ $\frac{१}{२}$॥ जब इतना मैंने शंकर से कहा और उनका भाग भी ठीक कर दिया तब पिनाक नामक धनुषधारी महादेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और मुझसे कहने लगे कि ऐसा ही होगा ॥८८-८९॥ दक्ष भी मन से शिव की शरण में गया । तब नेत्रस्थान में प्राण-अपान वायु को यत्नपूर्वक रोक कर सब तरफ से दृष्टि हटाकर बहुदृष्टि वाले तथा शत्रुजित् शिव ने मुस्कराते हुए दक्ष से कहा—'कहिये, प्रजापति, मैं आपका क्या उपकार करूँ ?' भयभीत, सशंकित तथा नेत्रों में आँसू भरे प्रजापति दक्ष ने पितरों के साथ देवताओं का महान् आख्यान सुना कर हाथ जोड़कर शिव से कहा ॥९०-९२॥

दक्ष ने कहा—हे महेश्वर ! यदि आप प्रसन्न हैं, और मैं आपका प्रिय हूँ, मुझ पर आपकी कृपा है और आप मुझे वर देना चाहते हैं, तो जो मेरी खाद्य-सामग्रियाँ खायी गयीं तथा नष्ट की गयीं और जो चिरकाल से महान् प्रयत्न से संचित यज्ञ-पदार्थ तोड़-ताड़ कर चूर-चूर कर दिये गये, वे सब मिथ्या न हों अर्थात् फिर मुझे प्राप्त हों ॥९१-९५॥

---

[१] क. ग. ०वतोऽपि । [२] ख. समाधाय । [३] ख. चित्तस्थाने । [४] क. विस्तार्य । ख. विचार्य । [५] क. ०रमीवजि० ।

ब्रह्मोवाच

तथाऽस्त्वित्याह भगवान्भगनेत्रहरो हरः । धर्माध्यक्षं महादेवं त्र्यम्बकं च प्रजापतिः ॥९६॥
जानुभ्यामवनीं गत्वा दक्षो लब्ध्वा भवाद्वरम्[1] । नाम्नां चाष्टसहस्रेण स्तुतवान्वृषभध्वजम् ॥९७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे दक्षयज्ञविध्वंसनं
नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

दक्षकृतशिवस्तुति-वर्णनम्

ब्रह्मोवाच

एवं दृष्ट्वा तदा दक्षः[2] शंभोर्वीर्यं द्विजोत्तमाः । प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा संस्तोतुमुपचक्रमे ॥१॥

दक्ष उवाच

नमस्ते देवदेवेश नमस्तेऽन्धकसूदन । देवेन्द्र त्वं बलश्रेष्ठ देवदानवपूजित ॥२॥

ब्रह्मा ने कहा—भग नामक आदित्य के नेत्र को फोड़ने वाले शिव ने 'ऐसा ही सही' यह कहा। प्रजापति दक्ष शिव से वर प्राप्त कर पृथ्वी पर घुटने टेककर धर्म के अध्यक्ष, तीन नेत्र से युक्त तथा वृषभारूढ़ महादेव की स्तुति करने लगा ॥९६-९७॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में दक्ष-यज्ञ-विध्वंसन
नामक उनतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥३९॥

अध्याय ४०

दक्ष द्वारा शिव की स्तुति

ब्रह्मा ने कहा—द्विजवर ! शंभु के ऐसे पराक्रम को देखकर दक्ष हाथ जोड़कर मस्तक झुका कर उनकी स्तुति करने लगा ॥१॥

दक्ष ने कहा—हे देवदेवेश ! आपको नमस्कार है। हे अन्धक नामक दैत्य को मारने वाले ! आपको

---

[1] ख. ०म् । तं च नाम्नां स० । [2] ख. ०क्षः सद्यो द्वेषफलं द्विजाः । प्रा० ।

सहस्राक्ष विरूपाक्ष त्र्यक्ष यक्षाधिपप्रिय । सर्व्वतःपाणिपादस्त्वं सर्वतोक्षिशिरोमुखः ।।३।।
सर्वतः श्रुतिमांल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि । शङ्कुकर्णो महाकर्णः कुम्भकर्णोऽर्णवालयः ।।४।।
गजेन्द्रकर्णो गोकर्णः शतकर्णो नमोऽस्तु ते । शतोदरः शतावर्तः शतजिह्वः सनातनः[1] ।।५।।
गायन्ति त्वां [2]गायत्रिणो अर्चयन्त्यर्कमर्किणः । देवदानवगोप्ता च ब्रह्मा च त्वं शतक्रतुः ।।६।।
मूर्तिमांस्त्वं महामूर्तिः समुद्रः सरसां निधिः । त्वयि सर्वा देवता हि गावो गोष्ठ इवाऽऽसते ।।७।।
त्वत्तः शरीरे पश्यामि सोममग्निजलेश्वरम् । आदित्यमथ विष्णुं च ब्रह्माणं सबृहस्पतिम् ।।८।।
क्रिया करणकार्ये च कर्ता कारणमेव च । असच्च सदसच्चैव तथैव प्रभवाव्य (प्य) यौ ।।९।।
नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च । पशूनां पतये चैव नमोऽस्त्वन्धकघातिने ।।१०।।
त्रिजटाय त्रिशीर्षाय त्रिशूलवरधारिणे । त्र्यम्बकाय त्रिनेत्राय त्रिपुरघ्नाय वै नमः ।।११।
नमश्चण्डाय मुण्डाय विश्वचण्डधराय च । [3]दण्डिने शङ्कुकर्णाय [4]दण्डिदण्डाय वै नमः ।।१२।।
नमोऽर्धदण्डिकेशाय शुष्काय विकृताय च । विलोहिताय धूम्राय[5] नीलग्रीवाय वै नमः ।।१३।।
[6]नमोऽस्त्वप्रतिरूपाय विरूपाय शिवाय च । सूर्याय सूर्यपतये सूर्यध्वजपताकिने ।।१४।।
नमः प्रमथनाशाय [7]वृषस्कन्धाय वै नमः । नमो हिरण्यगर्भाय[8] हिरण्यकवचाय च ।।१५।।

नमस्कार है। देवेन्द्र ! बलश्रेष्ठ ! देवदानवपूजित ! सहस्राक्ष ! विरूपाक्ष ! त्रिनेत्र ! कुबेर के सखा ! आप सब ओर हाथ-पैर वाले हैं, सब तरफ नेत्र-सिर वाले हैं, सब जगह कान वाले हैं और लोक में सबको आवृत करके स्थित हैं ।।२-३½।। शंकु के समान कर्ण वाले, महाकर्ण, घड़े के समान कर्णवाले, समुद्र में रहने वाले, गजेन्द्र सदृश कर्णवाले, गो सदृश कर्णवाले और सौ कर्णवाले आपको नमस्कार है ।।४½।। आप सौ उदर वाले, सौ आवर्त वाले, सौ जिह्वा वाले तथा सनातन हैं ।।५।। गायत्री के उपासक आपका गान करते हैं और सूर्य के उपासक सूर्य रूप में आप ही की पूजा करते हैं। आप देव-दानवों के रक्षक, ब्रह्मा तथा इन्द्र हैं ।।६।। आप मूर्तिमान्, महामूर्तिमान् तथा सरोवरों की निधि समुद्र हैं। जैसे गायें गोष्ठ (गोठ) में रहती हैं वैसे अखिल देवता आप में रहते हैं ।।७।। आप ही से शरीर में मैं चन्द्रमा, अग्नि, वरुण, सूर्य, विष्णु, ब्रह्मा और बृहस्पति को देखता हूँ ।।८।। आप क्रिया, करण, कार्य, कर्ता, कारण, सत्-असत् तथा उत्पत्ति-प्रलय रूप हैं ।।९।। भव, शर्व, रुद्र तथा वरद को नमस्कार है। पशुपति तथा अन्धकनाशन को नमस्कार है ।।१०।। तीन जटा वाले, तीन सिर वाले, तीन नेत्र वाले त्रिशूलधारी तथा त्रिपुर नामक राक्षस को मारने वाले शिव को नमस्कार है ।।११।। चण्ड, मुण्ड, विश्वचण्डधर, दण्ड धारण करने वाले, शंकुकर्ण तथा दण्डियों के दण्डरूप को नमस्कार है ।।१२।। अर्ध दण्ड तथा केश वाले, शुष्क, विकृत, रक्त-कृष्ण वर्ण वाले और नीलग्रीव को नमस्कार है ।।१३।। अनुपमेय रूप वाले, विरूप, शिव, सूर्य, सूर्यपति एवम् सूर्यध्वज की पताकावाले को नमस्कार है ।।१४।। प्रमथनाशन तथा वृषस्कन्ध को नमस्कार है। हिरण्यगर्भ, हिरण्यकवच, हिरण्यकृतचूड़ तथा हिरण्यपति को

---

[1] क. ख. शताननः । [2] ख. ०यकाश्च तर्कयन्ति च तर्कि० । [3] ख. चण्डिने । [4] ख. चण्डदण्डाय । [5] ख. ताम्राय । [6] ख. ०मोऽस्तु प्र० । [7] ख. ०य धन्विने । न० । [8] ख. ०ण्यवर्णाय ।

हिरण्यकृतचूडाय हिरण्यपतये नमः । शत्रुघाताय चण्डाय पर्णसंघशयाय च ॥१६॥
नमः स्तुताय[१] स्तुतये स्तूयमानाय वै नमः । सर्वाय सर्वभक्षाय सर्वभूतान्तरात्मने ॥१७॥
नमो होमाय[२] मन्त्राय शुक्लध्वजपताकिने । नमोऽनम्याय[३] नम्याय नमः किलकिलाय च ॥१८॥
नमस्त्वां शयमानाय शयितायोत्थिताय च । स्थिताय धावमानाय कुब्जाय कुटिलाय च ॥१९॥
नमो नर्तनशीलाय मुखवादित्रकारिणे । बाधापहाय लुब्धाय गीतवादित्रकारिणे ॥२०॥
नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय बलप्रमथनाय च । उग्राय च नमो नित्यं नमश्च दशबाहवे ॥२१॥
नमः कपालहस्ताय सितभस्मप्रियाय च । विभीषणाय भीमाय भीष्मव्रतधराय च[४] ॥२२॥
नानाविकृतवक्त्राय खड्गजिह्वोग्रदंष्ट्रिणे । पक्षमासलवार्धाय तुम्बीवीणाप्रियाय च ॥२३॥
अघोरघोररूपाय घोराघोरतराय च । नमः शिवाय शान्ताय नमः शान्ततमाय च ॥२४॥
[५]नमो बुद्धाय[६] शुद्धाय[७] संविभागप्रियाय च । पवनाय[८] पतङ्गाय नमः सांख्यपराय च ॥२५॥
नमश्चण्डैकघण्टाय घण्टाजल्पाय घण्टिने । सहस्रशतघण्टाय[९] घण्टामालाप्रियाय च ॥२६॥
प्राणदण्डाय नित्याय [१०]नमस्ते लोहिताय च । हूंहूंकाराय[११] रुद्राय [१२]भगाकारप्रियाय च ॥२७॥
नमोऽपारवते नित्यं गिरिवृक्षप्रियाय च । नमो यज्ञाधिपतये भूताय[१३] प्रस्तुताय[१४] च ॥२८॥

नमस्कार है ॥१५½॥ शत्रुघाती, चण्ड तथा पत्तों पर सोने वाले को नमस्कार है ॥१६॥ स्तुत, स्तुति और स्तूयमान को नमस्कार है । सबके रूप, सर्वभक्षक तथा सब प्राणियों के अन्तरात्मा को नमस्कार है ॥१७॥ होम, मन्त्र तथा शुक्ल ध्वज-पताका वाले को नमस्कार है । अनम्य, नम्य तथा किलकिला शब्द करने वाले को नमस्कार है ॥१८॥ सोते हुए, सुप्त, उत्थित, स्थित, दौड़ते हुए, कुब्ज तथा कुटिल आपको नमस्कार है ॥१९॥ नर्तनशील, शृंग बजाने वाले, बाधा नष्ट करने वाले, व्याधरूपधारी तथा गाना-बजाना करने वाले आपको नमस्कार है ॥२०॥ ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और बल-नाशन को नमस्कार है । उग्र को नित्य नमस्कार है । दसभुजाधारी को नमस्कार है ॥२१॥ हाथ में कपाल लिये, स्वच्छभस्मप्रिय, विभीषण, भीम, भीष्मव्रतधारी, अनेक विकृत मुख वाले, खड्ग के समान जिह्वा तथा तीक्ष्ण दंष्ट्रा वाले, पक्ष, मास तथा अर्ध लव रूप, तुम्बी तथा वीणा के प्रिय, अघोररूप, घोररूप घोरतररूप और अघोरतररूप आपको नमस्कार है ॥२२-२३½॥ शिव, शान्त तथा शान्ततम को नमस्कार है । बुद्ध, शुद्ध, विभागप्रिय, पवन तथा पतंगरूप को नमस्कार है । सांख्यपरायण रूप को नमस्कार है ॥२४-२५॥ एकप्रचण्ड घण्टा वाले, घण्टा के शब्द करने वाले, घण्टाधारी, सैकड़ों-हजारों घण्टा धारण करने वाले, घण्टा की माला के प्रिय, प्राण-दण्ड रूप, नित्य तथा रक्त वर्ण वाले को नमस्कार है ॥२६½॥ 'हूँ हूँ' करने वाले, रुद्र तथा भगाकार के प्रेमी को नमस्कार है ॥२७॥ पाररहित तथा पर्वत-वृक्ष के प्रेमी को नित्य नमस्कार है । यज्ञपति, भूतरूप, प्रस्तुतरूप, यज्ञ के

---

१ ख. स्तुत्यायास्तुत्याय स्तू० । २ क.ख. होत्राय । ३ क. ०मो देवनमस्याय नमः० । ४ क. भीमव्र० । ख. भस्मप्रहरणाय । ५ ख. ०मो नृत्यप्रवीणाय सं० । ६ क. वृद्धाय । ७ क. लुब्धाय । ८ ग. पाञ्चालाय । ९ क. ०य खण्डमा० । १० ग. नमो लोकहि० । ११ क. दण्डकाराय । १२ ख. द्वंद्वाकारप्रियाय । १३ क. हुताय । १४. क. प्रहुताय ।

यज्ञवाहाय दान्ताय तप्याय[1] च भगाय च । नमस्तटाय[2] तट्याय तटिनीपतये नमः ॥२९॥
अन्नदायान्नपतये नमस्त्वन्नभुजाय च । नमः सहस्रशीर्षाय सहस्रचरणाय च ॥३०॥
सहस्रोद्धतशूलाय सहस्रनयनाय च । नमो बालार्कवर्णाय बालरूपधराय च ॥३१॥
नमो बालार्करूपाय कालक्रीडनकाय च । नमः शुद्धाय बुद्धाय क्षोभणाय क्षयाय च ॥३२॥
तरङ्गाङ्कितकेशाय मुक्तकेशाय वै नमः । नमः षट्कर्मनिष्ठाय त्रिकर्मनियताय च ॥३३॥
वर्णाश्रमाणां विधिवत्पृथग्धर्मप्रवर्तिने । नमः श्रेष्ठाय ज्येष्ठाय नमः कलकलाय च ॥३४॥
श्वेतपिङ्गलनेत्राय कृष्णरक्तेक्षणाय च । धर्मकामार्थमोक्षाय क्रथाय क्रथनाय च ॥३५॥
सांख्याय सांख्यमुख्याय योगाधिपतये नमः । नमो रथ्याधिरथ्याय चतुष्पथपथाय च ॥३६॥
कृष्णाजिनोत्तरीयाय व्यालयज्ञोपवीतिने । ईशान[3] रुद्रसंघात हरिकेश नमोऽस्तु ते ॥३७॥
त्र्यम्बकायाम्बिकानाथ व्यक्ताव्यक्त नमोऽस्तु ते । कालकामदकामघ्न[4] दुष्टोद्वृत्तनिषूदन ॥३८॥
सर्वगर्हितसर्वघ्न सद्योजात नमोऽस्तु ते[5] । उन्मादनशतावर्त गङ्गातोयार्द्रमूर्धज ॥३९॥
चन्द्रार्धसंयुगावर्त मेघावर्त नमो-स्तु ते । नमोऽन्नदानकर्त्रे च अन्नदप्रभवे नमः ॥४०॥
अन्नभोक्त्रे च गोप्त्रे च त्वमेव प्रलयानल । जरायुजाण्डजाश्चैव स्वेदजोद्भिज्ज एव च ॥४१॥

अश्वरूप, दान्त, तपने योग्य और भग रूप को नमस्कार है ॥२८½॥ तटरूप, तट से युक्त तथा नदियों के स्वामी को नमस्कार है ॥२९॥ अन्न देनेवाले, अन्नपति तथा अन्नभोक्ता को नमस्कार है । सहस्र सिर वाले, सहस्र चरणवाले, हजारों उद्धत त्रिशूल वाले तथा सहस्र नेत्र वाले को नमस्कार है ॥३०½॥ बाल सूर्य के समान वर्ण वाले तथा बाल रूपधारी को नमस्कार है ॥३१॥ बालार्करूपी तथा काल से खेलने वाले को नमस्कार है । शुद्ध, बुद्ध, क्षोभ रूप, क्षयरूप तरंगों से अंकित केश वाले तथा बिखरे केश वाले को नमस्कार है ॥३२½॥ छहों कर्मों में निष्ठा रखने वाले, तीन कर्मों में नियमित तथा वर्णाश्रमों के पृथक्-पृथक् धर्मों के प्रवर्तक को नमस्कार है ॥३३½॥ ज्येष्ठ, श्रेष्ठ तथा कलकल शब्द करने वाले को नमस्कार है । श्वेत-पिंगल नेत्र वाले, रक्त-कृष्ण नेत्रवाले, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप, मारण-छेदन रूप, सांख्य (सम्यक्ज्ञान) रूप, सांख्यों में प्रधान तथा योग के अधिपति को नमस्कार है ॥३४-३५½॥ रथ्या (गली) रूप, गलियों के स्वामी, चौराहेरूप, कृष्णमृग-चर्म के उत्तरीय वाले तथा सर्प के यज्ञोपवीतधारी को नमस्कार है ॥३६½॥ ईशान ! रुद्रों के समूह ! हरिकेश ! आपको नमस्कार है ॥३७॥ पार्वतीपते ! व्यक्त-अव्यक्त ! तीन नेत्र वाले आपको नमस्कार है । काल ! काम-दाता ! कन्दर्पनाशन ! दुष्टों की उद्वृत्ति (उपद्रव) को दबाने वाले ! सब बुराइयों की समाप्ति करने वाले ! सद्यः उत्पन्न ! आपको नमस्कार है ॥३८½॥ सैकड़ों उन्मादक भँवरों वाले ! गंगाजल से सिक्त मस्तक वाले ! अर्धचन्द्र युक्त ! मेघ रूप आवर्त वाले आपको नमस्कार है ॥३९½॥ अन्नदान करने वाले, अन्नदाताओं के स्वामी, अन्नभोक्ता तथा रक्षक आपको नमस्कार है । आप ही प्रलयाग्नि हैं । जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज आप ही हैं ॥४१॥ हे देवदेवेश ! चार

---

१ क. पथ्याय । ख. तथ्याय वितथाय । २ ख. स्तडागरन्ध्राय । ३ ख. ०न यज्ञसपात । ४ ख. ०घ्न दृप्तोद्दृप्तनिवारण । स० । ५ ख. ते । ऋक्सादनश० ।

त्वमेव देवदेवेश भूतग्रामश्चतुर्विधः । चराचरस्य स्रष्टा त्वं प्रतिहर्ता त्वमेव च ॥४२॥
त्वमेव ब्रह्मा विश्वेश अप्सु ब्रह्म वदन्ति ते । सर्वस्य परमा योनिः सुधांशो ज्योतिषां निधिः ॥४३॥
ऋक्सामानि तथोंकारमाहुस्त्वां ब्रह्मवादिनः । हायि हायि हरे हायि हुवाहावेति वाऽसकृत् ॥४४॥
गायन्ति त्वां सुरश्रेष्ठाः सामगा ब्रह्मवादिनः । यजुर्मय ऋङ्मयश्च सामाथर्वयुतस्तथा[1] ॥४५॥
पठ्यसे ब्रह्मविद्भिस्त्वं कल्पोपनिषदां गणैः । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा[2] वर्णाश्रमाश्च ये ॥४६॥
त्वमेवाऽऽश्रमसंघाश्च विद्युत्स्तनितमेव च । संवत्सरस्त्वमृतवो मासा मासार्धमेव च ॥४७॥
कला काष्ठा निमेषाश्च नक्षत्राणि युगानि च । वृषाणां ककुदं त्वं हि गिरीणां शिखराणि च ॥४८॥
सिंहो [3]मृगाणां पतयस्तक्षकानन्तभोगिनाम् । क्षीरोदो ह्यु दधीनां च मन्त्राणां प्रणवस्तथा ॥४९॥
वज्रं प्रहरणानां च व्रतानां सत्यमेव च । त्वमेवेच्छा च द्वेषश्च रागो मोहः शमः क्षमा ॥५०॥
व्यवसायो धृतिर्लोभः कामक्रोधौ जयाजयौ । त्वं गदी त्वं शरी चापी खट्वाङ्गी मुद्गरी तथा ॥५१॥
छेत्ता भेत्ता प्रहर्ता च नेता[4] मन्ताऽसि नो मतः । दशलक्षणसंयुक्तो धर्मोऽर्थः काम एव च ॥५२॥
[5]इन्दुः समुद्रः सरितः पल्वलानि सरांसि च । लतावल्यस्तृणौषध्यः पशवो मृगपक्षिणः ॥५३॥
द्रव्यकर्मगुणारम्भः कालपुष्पफलप्रदः । आदिश्चान्तश्च मध्यश्च गायत्र्योंकार एव च ॥५४॥
हरितो लोहितः कृष्णो नीलः पीतस्तथा क्षणः । कद्रु श्च कपिलो बभ्रुः कपतोमच्छ (त्स्य) कस्तथा ॥५५॥

प्रकार के प्राणी समूह भी आप ही हैं। चराचर के स्रष्टा तथा संहारक आप ही हैं ॥४२॥ हे विश्वेश ! आप ही ब्रह्मा हैं। आप ही को लोग ब्रह्म कहते हैं। आप सब की उत्कृष्ट योनि तथा ज्योतियों की निधि चन्द्रमा हैं ॥४३॥ ब्रह्मवादी आप ही को ऋग्वेद, सामवेद तथा ओंकार कहते हैं। साम गाने वाले सुरश्रेष्ठ ब्रह्मवादी 'हायि-हायि-हरे हायि-हुवाहावा' इससे बार-बार आप ही का गान करते हैं ॥४४½॥ यजुर्वेदमय, ऋग्वेदमय, सामवेदमय तथा अथर्ववेद से युक्त आप ही ब्रह्मवेत्ताओं तथा कल्प और उपनिषद्गणों द्वारा पढ़े जाते हैं ॥४५½॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णाश्रम और आश्रम समूह भी आप ही हैं। आप विद्युत्, मेघगर्जन, वर्ष, ऋतु, मास, मासार्ध, कला, काष्ठा, निमेष, नक्षत्र, युग, बैलों के ककुद, पर्वतों के शिखर, मृगों के स्वामी सिंह, सर्पों में अनन्त और तक्षक, समुद्रों में क्षीरसमुद्र, मन्त्रों में प्रणव (ॐ), अस्त्रों में वज्र और व्रतों में सत्य हैं ॥४६-४९½॥ आप ही इच्छा, द्वेष, राग, मोह, शम, क्षमा, व्यवसाय, धैर्य, लोभ, काम, क्रोध, जय और पराजय हैं ॥५०½॥ आप गदाधारी, बाणधारी, धनुषधारी, खट्वांगधारी, मुद्गरधारी, छेदन करने वाले, भेदन करने वाले, प्रहार करने वाले, नेता और मानने वाले हैं—यह मेरा मत है ॥५१½॥ आप दस प्रकार के लक्षणों से युक्त धर्म, अर्थ, काम,, चन्द्रमा, समुद्र, नदियाँ, तालाब, सरोवर, लता, वल्ली, तृण, ओषधियाँ, पशु, पक्षी, द्रव्य, कर्म और गुणों के आरम्भ, समय पर फल-फूल देने वाले, आदि, अन्त, मध्य, गायत्री, ओंकार, हरित-लोहित-कृष्ण-नील-पीत (रंग), क्षण, कद्रु, कपिल, बभ्रु, कबूतर और मत्स्य हैं ॥५२-५५॥,

---

[1] ख. ०था। सेव्यस्तु ब्र०। [2] ख. शूद्रवर्णास्त्रयश्च। [3] ख. ०णां च पतिः कञ्चुको योऽस्ति भो०। [4] ख. ०ता भर्ताऽभिगतो गतः। [5] ख. इन्द्रः।

सुवर्णरेता विख्यातः सुवर्णश्चाप्यथो मतः । सुवर्णनाम च तथा सुवर्णप्रिय एव च ।।५६।।
त्वमिन्द्रश्च यमश्चैव वरुणो धनदोऽनलः । उत्फुल्लश्चित्रभानुश्च स्वर्भानुर्भानुरेव च ।।५७।।
होत्रं होता च होम्यं च हुतं चैव तथा प्रभुः । त्रिसौपर्णस्तथा ब्रह्मन्यजुषां शतरुद्रियम् ।।५८।।
पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् । प्राणश्च त्वं रजश्च त्वं तमः सत्त्वयुतस्तथा ।।५९।।
प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च । उन्मेषश्च निमेषश्च क्षुत्तृड्जृम्भा तथैव च ।।६०।।
लोहिताङ्गश्च दंष्टी च महावक्त्रो महोदरः । शुचिरोमा हरिच्छ्मश्रुरूर्ध्वकेशश्चलाचलः ।।६१।।
गीतवादित्रनृत्याङ्गो गीतवादनकप्रियः । मत्स्यो जालो जलोऽजय्यो जलव्यालः कुटीचरः ।।६२।।
विकालश्च सुकालश्च दुष्कालः कालनाशनः । [1]मृत्युश्चैवाक्षयोऽन्तश्च क्षमामायाकरोत्करः ।।६३।।
संचर्तो वर्तकश्चैव संवर्तकबलाहकौ । घण्टाकी घण्टकी घण्टी चूडालो लवणोदधिः ।।६४।।
ब्रह्मा कालाग्निवक्त्रश्च[2] दण्डी मुण्डस्त्रिदण्डधृक् । चतुर्युगश्चतुर्वेदश्चतुर्होत्रश्चतुष्पथः ।।६५।।
चातुराश्रम्यनेता च चातुवर्ण्यकरश्च ह । क्षराक्षरः प्रियो धूर्तो गणैर्गण्यो गणाधिपः ।।६६।।
रक्तमाल्याम्बरधरो गिरीशो गिरिजाप्रियः । शिल्पीशः शिल्पिनः श्रेष्ठं सर्वशिल्पिप्रवर्तकः ।।६७।।
भगनेत्रान्तकश्चण्डः पूष्णो दन्तविनाशनः । स्वाहा स्वधा वषट्कारो नमस्कार नमोऽस्तु ते ।।६८।।
गूढव्रतश्च गूढश्च गूढव्रतनिषेधितः । तरणस्तारणश्चैव सर्वभूतेषु तारणः ।।६९।।
धाता विधाता संधाता निधाता धारणो धरः । तपो ब्रह्म च सत्यं च ब्रह्मचर्यं तथाऽऽर्जवम् ।।७०।।

आप सुवर्ण के वीर्य वाले तथा सुवर्ण भी हैं । सुवर्ण आपका नाम है और आप सुवर्ण के प्रेमी हैं ।।५६।। आप इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, प्रफुल्लित चित्रभानु, स्वर्भानु, भानु, हवन, होता, होम करने योग्य, हुत तथा प्रभु हैं ।।५७$\frac{१}{२}$।। ब्रह्मन् ! आप त्रिसौपर्ण (ऋग्वेद के दशम मंडल के तीन विशिष्ट मंत्र), यजुर्वेदियों के शत रुद्र, पवित्रों में पवित्र तथा मंगलों में मंगल हैं ।।५८$\frac{१}{२}$।। आप प्राण, रजोगुण, तमोगुण तथा सत्त्वगुण हैं ।।५९।। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, उन्मेष, निमेष, भूख, प्यास, जमुहाई, लाल अंगवाले, दंष्ट्रावाले, विशाल मुख तथा पेट वाले, श्वेत रोम वाले, हरी मूँछ वाले, ऊर्ध्वकेश वाले, सतत गतिशील, गाने, बजाने तथा नाचने के अंगरूप, गाने-बजाने के प्रेमी, मत्स्य, जाल, जल, अजेय, जल-सर्प, कुटीचर, विकाल, सुकाल, दुष्काल, कालनाशन, मृत्यु, अक्षय, नाश, क्षमा और मायाकर, उत्कर, प्रलय, वर्तक, संवर्तक, मेघ, घण्टाकी, घण्टकी, घण्टी, शिखायुक्त, लवणसमुद्र, ब्रह्मा, कालाग्निमुख, दण्डी, मुण्ड, त्रिदण्डधारी, चारों युग, चारों वेद, चारों अग्नि, चारों मार्ग, चारों आश्रमों के नेता, चारों वर्णों के विधाता, क्षर (नाशशील), अक्षर (नाशरहित), प्रिय, धूर्त, गणों में गण्य, गणाधिप, रक्त माला और वस्त्रधारी, पर्वतेश, पार्वतीप्रिय, शिल्पियों के स्वामी, शिल्पी, श्रेष्ठ, सब शिल्पों के प्रवर्तक, भग के नेत्र को नष्ट करने वाले, चण्ड, पूषा के दन्तविनाशक, स्वाहा, स्वधा, वषट्कार और नमस्कार रूप आपको नमस्कार है ।।६०-६८।। गूढव्रती, गूढ, गूढव्रत से सेवित, तरण, तारण, सब प्राणियों के तारक, धाता, विधाता, संधाता, निधाता, धारण, धर, तप, ब्रह्म, सत्य, ब्रह्मचर्य, सीधापन, भूतात्मा, भूतकृत, भूत, भूत-भविष्य-

---

[1] ख. ०श्चैव क्ष० । [2] ख. ग्निचक्रश्च

भूतात्मा भूतकृद्भूतो भूतभव्यभवोद्भवः । भूर्भुवः स्वरितश्चैव भूतो ह्यग्निर्महेश्वरः ।।७१।।
ब्रह्मावर्तः [1]सुरावर्तः कामावर्त नमोऽस्तु ते । [2]कामबिम्बविनिर्हन्ता कर्णिकारस्रजप्रियः ।।७२।।
गोनेता गोप्रचारश्च गोवृषेश्वरवाहनः । त्रैलोक्यगोप्ता गोविन्दो गोप्ता[3] गोगर्ग (?) एव च ।।७३।।
अखण्डचन्द्राभिमुखः सुमुखो दुर्मुखोऽमुखः । चतुर्मुखो बहुमुखो रणेष्वभिमुखः सदा ।।७४।।
हिरण्यगर्भः शकुनिर्धनदोऽर्थपतिर्विराट् । अधर्महा महादक्षो दण्डधारो रणप्रियः ।।७५।।
तिष्ठन्स्थिरश्च स्थाणुश्च निष्कम्पश्च सुनिश्चलः । दुर्वारणो दुर्विषहो दुःसहो दुरतिक्रमः ।।७६।।
दुर्धरो दुर्वशो नित्यो दुर्दर्पो विजयो जयः । शशः[4] शशाङ्कनयनशीतोष्णः क्षुत्तृषा जरा ।।७७।।
आधयो व्याधयश्चैव व्याधिहा व्याधिपश्च यः । सह्यो यज्ञमृगव्याधो व्याधिनामाकरोऽकरः ।।७८।।
शिखण्डी पुण्डरीकश्च पुण्डरीकावलोकनः । दण्डधृक्चक्रदण्डश्च रौद्रभागविनाशनः[5] ।।७९।।
विषपोऽमृतपश्चैव सुरापः क्षीरसोमपः । मधुपश्चाऽऽपपश्चैव सर्वपश्च बलाबलः ।।८०।।
[6]वृषाङ्गराम्भो (?) वृषभस्तथा वृषभलोचनः । वृषभश्चैव विख्यातो लोकानां लोकसंस्कृतः ।।८१।।
चन्द्रादित्यौ चक्षुषी ते हृदयं च पितामहः । अग्निष्टोमस्तथा देहो धर्मकर्मप्रसाधितः ।।८२।।
न ब्रह्मा न च गोविन्दः पुराणऋषयो न च । माहात्म्यं वेदितुं शक्ता याथातथ्येन ते शिवः ।।८३।।
शिवा या मूर्तयः सूक्ष्मास्ते मह्यं यान्तु दर्शनम् । ताभिर्मां [7]सर्वतो रक्ष पिता पुत्रमिवौरसम् ।।८४।।
रक्ष मां रक्षणीयोऽहं तवानघ नमोऽस्तु ते । भक्तानुकम्पी भगवान्भक्तश्चाहं सदा त्वयि ।।८५।।

वर्तमान, उद्भव, भूर्, भुवर्, स्वर्, अग्नि, महेश्वर, ब्रह्मावर्त, सुरावर्त और कामावर्त रूप आपको नमस्कार है ।।६९-७१½।। आप कन्दर्पनाशन, कनकचम्पा की माला के प्रेमी, गो-नेता, गो-प्रचारक, गोवृषेश्वरवाहन, त्रैलोक्यरक्षक, गो लाभ करने वाले, संरक्षक, गोगर्ग (?) ।।७२-७३।। पूर्णचन्द्रमुख, सुमुख, दुर्मुख, मुखरहित, चतुर्मुख, बहुमुख, सदा रणसंमुख ।।७४।। हिरण्यगर्भ, शकुनि, धनद, धनपति, विराट्, अधर्मनाशन, महादक्ष, दण्डधार, रणप्रिय ।।७५।। खड़े होनेवाले, स्थिर, स्थाणु, कम्परहित, निश्चल, दुर्वारण, दुर्विषनाशन, दुःसह, दुर्लंघ्य ।।७६।। दुर्धर, दुर्वश, नित्य, दुर्दर्प, विजय, जय, खरगोश, चन्द्रनेत्र, शीत, उष्ण, भूख, प्यास, बुढ़ापा ।।७७।। आधि, व्याधि व्याधिनाशन, व्याधिप (?), सह्य, यज्ञरूपी मृग के लिए व्याध, व्याधिनामक, निधि, अकर्त्ता ।।७८।। मयूर, कमल, कमलनेत्र, दण्डधारी, चक्र-दण्ड, रौद्रभागविनाशन ।।७९।। विष पीने वाले, अमृत पीने वाले, मदिरा पीने वाले, दूध तथा सोमरस पीने वाले, मधु पीने वाले, जल पीनेवाले, सब पीने वाले, बलाबल ।।८०।। बैलों का (राँभना) (?) बैल, बैल के समान नेत्र वाले, वृषभ नाम से विख्यात तथा लोक-संस्कृत हैं ।।८१।। सूर्य-चन्द्रमा आपके नेत्र हैं, ब्रह्मा हृदय है और अग्निष्टोम धर्म-कर्म से साधित शरीर है ।।८२।। हे शिव ! ब्रह्मा, विष्णु तथा प्राचीन ऋषि कोई भी आपके माहात्म्य को यथार्थतः नहीं जान सकते ।।८३।। आपकी जो सूक्ष्म शिवमूर्तियाँ हैं, उनका मुझे दर्शन हो । उनसे मेरी सब तरह रक्षा कीजिये जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है ।।८४।। मेरी रक्षा कीजिये । मैं रक्षा करने योग्य हूँ । हे निष्पाप ! आपको नमस्कार

---

[1] ग. स्वरावर्तः । [2] ख. ०म्बनिहन्ता च क० । [3] ग. गोमाङ्गो मार्ग । [4] ख. ०शः सशोकशयनः प्रतृष्णश्च तृषा ज्वरः । आ० । [5] ग. ०भागावि० । [6] ख. वृषाद्वधान्यो । [7] ख. सततं ।

यः सहस्राण्यनेकानि पुंसामावृत्य दुर्दृशाम् । तिष्ठत्येकः समुद्रान्ते स मे गोप्ताऽस्तु नित्यशः ॥८६॥
यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः । ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मैयोगात्मने नमः ॥८७॥
संभक्ष्य सर्वभूतानि युगान्ते समुपस्थिते । यः शेते जलमध्यस्थस्तं प्रपद्येऽम्बुशायिनम् ॥८८॥
प्रविश्य वदनं राहोर्यः सोमं पिबते निशि । [1]ग्रसत्यर्कं च स्वर्भानुर्भूत्वा सोमाग्निरेव[2] च ॥८९॥
अङ्गुष्ठमात्राः पुरुषा देहस्थाः सर्वदेहिनाम् । रक्षन्तु ते च मां नित्यं नित्यं चाऽऽप्याययन्तु माम् ॥९०॥
येनाप्युत्पादिता गर्भा अपो भागगताश्च ये । तेषां स्वाहा स्वधा चैव आप्नुवन्ति स्वदन्ति च ॥९१॥
येन रोहन्ति देहस्थाः प्राणिनो रोदयन्ति च । हर्षयन्ति न [3]कृष्यन्ति नमस्तेभ्यस्तु नित्यशः[4] ॥९२॥
ये समुद्रे नदीदुर्गे पर्वतेषु गुहासु च । वृक्षमूलेषू गोष्ठेषु कान्तारगहनेषु च ॥९३॥
चतुष्पथेषु रथ्यासु चत्वरेषु सभासु च । हस्त्यश्वरथशालासु जीर्णोद्यानालयेषु च ॥९४॥
येषु पञ्चसु भूतेषु दिशासु विदिशासु च । इन्द्वार्कयोर्मध्यगता ये च चन्द्रार्करश्मिषु ॥९५॥
रसातलगता ये च ये च तस्मात्परं गताः । नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यस्तु सर्वशः[5] ॥९६॥
सर्वस्त्वं सर्वगो देवः सर्वभूतपतिर्भवः । सर्वभूतान्तरात्मा च तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥९७॥
त्वमेव चेज्यसे देव यज्ञैर्विविधदक्षिणैः । त्वमेव कर्ता सर्वस्य तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥९८॥

है। भगवान् भक्त के ऊपर कृपा करते हैं। मैं आपका सदा भक्त हूँ ॥८५॥ जो हजारों दुर्दृष्टि वाले पुरुषों को आवृत कर समुद्र के अन्त में एकाकी वास करते हैं, वे मेरी नित्य रक्षा करें ॥८६॥ जिनको ज्योतिरूप में निद्रा तथा श्वास को जीतने वाले, सत्त्व गुण में स्थित एवम् समदर्शी जन देखते हैं, उन योगात्मा को नमस्कार है ॥८७॥ जो युगान्त उपस्थित होने पर सब प्राणियों का भक्षण करके जल-मध्य में सोते हैं, उन जलशायी को मैं प्राप्त हूँ ॥८८॥ जो राहु के मुख में प्रवेश कर रात में सोम-पान करते हैं, चन्द्राग्नि तथा राहु बनकर सूर्य को ग्रसते हैं ॥८९॥ और सब प्राणियों के शरीर में अंगुष्ठ-प्रमाण-पुरुष के रूप में वास करते हैं, वे मेरी नित्य रक्षा करें और मुझे नित्य समृद्ध बनायें ॥९०॥ जिन्होंने जल को विभक्त करके उत्पन्न किया, जिनको स्वाहा और स्वधा प्राप्त होती हैं तथा आस्वादन करती हैं और जो देहस्थित होते हुए भी जन्म नहीं लेते, प्राणियों को रुलाते, आनन्दित करते और स्वयं आकृष्ट नहीं होते उनको नित्य नमस्कार है ॥९१-९२॥ जो समुद्रों में, दुस्तर नदियों में, पर्वतों में, गुफाओं में, वृक्षमूलों में, गोष्ठों में, कान्तारों में, वनों में, चतुष्पथों में, गलियों में, चत्वरों में, सभाओं में, हाथी घोड़े तथा रथ की शालाओं में, जीर्ण उद्यानालयों में, पञ्च महाभूतों में, दिशाओं में, विदिशाओं में, सूर्य-चन्द्रमा के मध्य में, चन्द्र-सूर्य की किरणों में और रसातलों में प्राप्त हैं तथा रसातल से भी आगे गये हुए हैं, उन्हें नमस्कार है, उन्हें नमस्कार है, उन्हें सब ओर से नमस्कार है ॥९३-९६॥ आप सब हैं, सर्वगत हैं, सब प्राणियों के स्वामी हैं, भव नाम वाले हैं और सब प्राणियों के अन्तरात्मा हैं। इस कारण मैंने आपको निमन्त्रण नहीं दिया ॥९७॥ हे देव ! विविध दक्षिणा वाले यज्ञों के द्वारा आप ही यज्ञ किये जाते हैं। आप ही सबके कर्ता हैं। इस कारण आपको निमन्त्रित नहीं किया ॥९८॥ अथवा, हे देव !

---

[1] ख. ०त्यवश्यं स्व०। [2] ख. सोमं तथा रविम्। अ०। [3] ख. हृष्यन्ति। [4] ख. ०शः। स्थलीजलनदीदुर्गे। [5] ख. नित्यशः।

अथवा मायया देव मोहितः [1]सूक्ष्मया तव । तस्मात्तु कारणाद्वाऽपि त्वं मया न निमन्त्रितः ।।९९।।
प्रसीद मम देवेश त्वमेव शरणं मम । त्वं गतिस्त्वं प्रतिष्ठा च न चान्योऽस्तीति मे मतिः ।।१००।।

ब्रह्मोवाच

स्तुत्वैवं स महादेवं विरराम प्रजापतिः । भगवानपि सुप्रीतः पुनर्दक्षमभाषत ।।१०१।।

श्रीभगवानुवाच

परितुष्टोऽस्मि ते दक्ष स्तवेनानेन सुव्रत । बहुना तु किमुक्तेन मत्समीपं गमिष्यसि ।।१०२।।

ब्रह्मोवाच

तथैवमब्रवीद्वाक्यं त्रैलोक्याधिपतिर्भवः । कृत्वाऽऽश्वासकरं वाक्यं सर्वज्ञो वाक्यसंहितम् ।।१०३।।

श्रीशिव उवाच

दक्ष दुःखं न कर्तव्यं यज्ञविध्वंसनं प्रति । अहं [2]यज्ञहनस्तुभ्यं दृष्टमेतत्पुराऽनघ ।।१०४।।
भूयश्च त्वं वरमिमं मत्तो गृह्णीष्व सुव्रत । प्रसन्नसुमुखो भूत्वा ममैकाग्रमनाः शृणु ।।१०५।।
अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य वै । प्रजापते मत्प्रसादात्फलभागी भविष्यसि ।।१०६।।
वेदान्षडङ्गान्बुध्यस्व सांख्ययोगांश्च कृत्स्नशः । तपश्च विपुलं तप्त्वा[3] दुश्चरं देवदानवैः ।।१०७।।

मैं आपकी सूक्ष्म माया से मोहित हो गया था । इस कारण भी मैंने आपको निमन्त्रित नहीं किया ।।९९।। हे देवेश ! प्रसन्न होइये, आप ही मेरे रक्षक हैं, गति हैं तथा प्रतिष्ठा हैं । आपके सिवाय मेरा दूसरा कोई नहीं है—ऐसी मेरी धारणा है ।।१००।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार महादेव की स्तुति करके प्रजापति विराम करने लगा । भगवान् शिव भी प्रसन्न होकर दक्ष से बोले ।।१०१।।

श्री भगवान् ने कहा—हे सुव्रती दक्ष ! मैं तुम्हारी इस स्तुति से संतुष्ट हूँ । मैं अधिक क्या कहूँ, तुम मेरे समीप जाओगे ।।१०२।।

ब्रह्मा ने कहा—त्रिभुवन के स्वामी सर्वज्ञ शंकर सान्त्वनादायक तथा वाक्यसमूह रूप वाक्य इस प्रकार बोले ।।१०३।।

ब्रह्मा ने कहा—दक्ष ! यज्ञ-विध्वस के प्रति तुम खेद मत करो ! निष्पाप ! पहले तुमने देखा है कि तुम्हारे यज्ञ का नाशकर्ता मैं हूँ । फिर तुम मुझसे वर माँग लो ।।१०४।। सुव्रती ! प्रसन्न होकर एकाग्र मन से (मेरे वचन) सुनो ।।१०५।। प्रजापते ! मेरी कृपा से तुम सहस्र अश्वमेध तथा सौ वाजपेय यज्ञों के फलभागी होगे ।।१०६।। छह अंगों सहित वेदों तथा सांख्य-योगों का पूर्ण ज्ञान करो। दक्ष ! देव-दानवों से दुःसाध्य प्रचुर तप करो।।१०७।।

---

[1] ख. ०तः सर्वरूपया । त० । [2] ग. ०ज्ञ नमस्तु ० । [3] ख. लब्ध्वा ।

अब्दैर्द्वादशभिर्युक्तं गूढमप्रज्ञनिन्दितम् । वर्णाश्रमकृतैर्धर्मैर्विनीतं न क्वचित्क्वचित्[1] ॥१०८॥
समागतं व्यवसितं पशुपाशविमोक्षणम् । सर्वेषामाश्रमाणां च मया पाशुपतं व्रतम् ॥१०९॥
उत्पादितं दक्ष शुभं सर्वपापविमोचनम्[2] । अस्य चीर्णस्य यत्सम्यक्फलं भवति पुष्कलम् ॥
तच्चास्तु सुमहाभाग मानसस्त्यज्यतां ज्वरः ॥११०॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तु देवेशः सपत्नीकः सहानुगः । अदर्शनमनुप्राप्तो दक्षस्यामिततेजसः ॥१११॥
अवाप्य च तथा भागं [3]यथोक्तं चोमया भवः । ज्वरं च सर्वधर्मज्ञो बहुधा व्यभजत्तदा ॥११२॥
शान्त्यर्थं सर्वभूतानां शृणुध्वमथ वै द्विजाः । शिखाभितापो नागानां पर्वतानां शिलाजतु ॥११३॥
अपां तु नीलिकां विद्यान्निर्मोको भुजगेषु च । खोरकः[4] सौरभेयाणामूखरः पृथिवीतले ॥११४॥
शुनामपि च धर्मज्ञा दृष्टिप्रत्यवरोधनम् । रन्ध्रागतमथाश्वानां शिखोद्भेदश्च बर्हिणाम् ॥११५॥
नेत्ररागः कोकिलानां द्वेषः [5]प्रोक्तो महात्मनाम् । जनानामपि भेदश्च सर्वेषामिति नः श्रुतम् ॥११६॥
शुकानामपि सर्वेषां हिक्किका[6] प्रोच्यते ज्वरः । शार्दूलेष्वथ वै विप्राः [7]श्रमोज्वर इहोच्यते ॥११७॥
मानुषेषु च सर्वज्ञा[8] ज्वरो नामैष कीर्तितः । मरणे जन्मनि तथा मध्ये चापि निवेशितः ॥११८॥
एतन्माहेश्वरं तेजो ज्वरो नाम सुदारुणः । नमस्यश्चैव मान्यश्च सर्वप्राणिभिरीश्वरः ॥११९॥

बारह वर्षों में सम्पन्न होने वाले, कठिन, मूर्खों द्वारा निन्दित, वर्णाश्रम-विहित धर्मों से युक्त, कहीं-कहीं नहीं प्राप्त, निश्चित, सब आश्रमों को पशु-पाश से मुक्त करने वाले, सब पापों से छुड़ाने वाले तथा पवित्र पाशुपत नामक व्रत को मैंने उत्पन्न किया है। महाभाग ! इस व्रत का जो पर्याप्त उत्तम फल है, वह तुम्हें मिलेगा। तुम मन में पीड़ा मत करो ॥१०८-११०॥

ब्रह्मा ने कहा—इतना कह कर पत्नी और अनुचरों सहित महेश्वर अमित तेजस्वी दक्ष के दृष्टि-पथ से बहिर्भूत हो गये ॥१११॥ पार्वती सहित सब धर्मों के ज्ञाता शिव अपना भाग, जैसा कि पहले कहा गया है, प्राप्त कर ज्वर को अनेक भागों में बाँट दिया॥११२॥ द्विजगण! धर्म के ज्ञाताओ ! प्राणिमात्र की शान्ति के लिए अब आप सुनिये। नागों का शिखाभिताप, पर्वतों का शिलाजतु, जल का नीलिका, सर्पों का निर्मोक, गो जाति का खोरक, पृथ्वी का ऊखर, कुत्तों का दृष्टिप्रत्यवरोध, घोड़ों का रन्ध्रागत, मयूरों का शिखोद्भेद, कोयलों का नेत्ररोग, महात्माओं का द्वेष, व्यक्तियों का भेद, तोतों का हिक्किका और बाघों का श्रम नामक ज्वर कहा जाता है॥११३-११७॥ सर्वज्ञ ऋषिगण ! मनुष्यों में यह ज्वर नाम से ही प्रसिद्ध है, जो मरणकाल, जन्मकाल तथा मध्य में भी प्रवेश करता है ॥११८॥ भयंकर ज्वर नाम से प्रसिद्ध यह शिव का तेज अखिल प्राणियों से

---

[1] ग. चित्समम्। गन्तान्तैरव्य०। [2] ख. ०मोक्षणम्। [3] ख. यथाप्रोक्तं मखे भ०। [4] ख. घोरकः। [5] ग. ज्वरः। [6] ख. दण्डिका। [7] ख. ०प्राः संमोहो ज्वर उच्य०। [8] ख. धर्मज्ञा।

इमां ज्वरोत्पत्तिमदीनमानसः, पठेत्सदा यः सुसमाहितो नरः
विमुक्तरोगः स नरो मुदायुतो, लभेत कामांश्च यथामनीषितान् ॥१२०॥
दक्षप्रोक्तं स्तवं चापि कीर्तयेद्यः शृणोति वा । नाशुभं प्राप्नुयात्किंचिद्दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥१२१॥
यथा सर्वेषु देवेषु वरिष्ठो भगवान्भवः[1] । तथा स्तवो वरिष्ठोऽयं स्तवानां दक्षनिर्मितः ॥१२२॥
यशः स्वर्गसुरैश्वर्यवित्तादिजयकाङ्क्षिभिः । स्तोतव्यो भक्तिमास्थाय विद्याकामैश्च यत्नतः ॥१२३॥
व्याधितो दुःखितो दीनो नरो ग्रस्तो भयादिभिः । राजकार्यनियुक्तो वा मुच्यते महते भयात् ॥१२४॥
अनेनैव च देहेन गणानां च महेश्वरात् । इह लोके सुखं प्राप्य गणराडुपजायते ॥१२५॥
न यक्षा न पिशाचा वा न नागा न विनायकाः । कुर्युर्विघ्नं गृहे तस्य यत्र संस्तूयते भवः ॥१२६॥
शृणुयाद्वा इदं नारी भक्त्याऽथ भवभाविता । पितृपक्षे भर्तृपक्षे पूज्या भवति चैव ह ॥१२७॥
शृणुयाद्वा इदं सर्वं कीर्तयेद्वाऽप्यभीक्ष्णशः । तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्धिं गच्छन्त्यविघ्नतः ॥१२८॥
मनसा चिन्तितं यच्च यच्च वाचाऽप्युदाहृतम् । सर्वं संपद्यते तस्य स्तवस्यास्यानुकीर्तनात् ॥१२९॥
देवस्य सगुहस्याथ देव्या नंदीश्वरस्य च । बलिं विभज (भाग) तः कृत्वा दमेन नियमेन च ॥१३०॥
ततः प्रयुक्तो गृह्णीयान्नामान्याशु यथाक्रमम् । इप्सिताल्लँभतेऽप्यर्थान्कामान्भोगांश्च मानवः ॥१३१॥
मृतश्च [2]स्वर्गमाप्नोति स्त्रीसहस्रसमावृतः । [3]सर्वकामसुयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः ॥१३२॥

आदरणीय तथा नमस्कार करने योग्य है ॥११९॥ जो मनुष्य सावधान होकर दीनता-रहित मन से इस ज्वरोत्पत्ति का सदा पाठ करेगा, वह मनुष्य रोग-मुक्त तथा प्रीतियुक्त होकर यथेप्सित कामनाओं को प्राप्त करेगा ॥१२०॥ दक्ष के द्वारा कथित स्तोत्र का जो कीर्तन या श्रवण करेगा, उसे किसी प्रकार का अशुभ नहीं होगा और वह दीर्घायु प्राप्त करेगा ॥१२१॥ जैसे सब देवों में भगवान् शंकर श्रेष्ठ हैं वैसे सव स्तोत्रों में दक्ष-निर्मित यह स्तोत्र श्रेष्ठ है ॥१२२॥ यश, स्वर्ग, देव-विभूति, वित्त तथा जय के अभिलाषियों को भक्तिपूर्वक इस स्तोत्र का पाठ करना चाहिए। विद्या चाहने वालों को तो यत्न से इसका पाठ करना चाहिए ॥१२३॥ (इस स्तोत्र के पाठ से) व्याधि-पीड़ित, दुःख-पीड़ित, दीन, भय आदि से ग्रस्त, राज-कार्य में नियुक्त मनुष्य महाभय से मुक्त होता है और इसी देह से गणों का ईश्वर वन कर तथा इस लोक में सुख प्राप्त कर गण-राज हो जाता है ॥१२४-१२५॥ न यक्ष, न पिशाच, न नाग, न विनायक ही उस घर में विघ्न करते हैं, जहाँ शिव की स्तुति की जाती है ॥१२६॥ जो स्त्री शिव में मन लगा कर भक्ति से इस स्तोत्र को सुनती है, वह पिता के घर तथा पति के यहाँ भी सम्मानित होती है ॥१२७॥ जो इसका बार-बार कीर्तन या श्रवण करेगा, उसके सब कार्य विना विघ्न के सिद्ध हो जायँगे ॥१२८॥ इस स्तव के कीर्तन से मन से चिन्तित या वाणी से कथित सब काम सिद्ध हो जाते हैं ॥१२९॥ दम तथा नियम से शिव, कार्त्तिकेय, पार्वती और नन्दीश्वर को अलग-अलग वलि चढ़ा कर शीघ्र ही क्रमानुसार नामों के ग्रहण करने से मनुष्य यथाभिलषित कामनाओं तथा भोगों को प्राप्त करता है और मरने पर हजारों स्त्रियों से आवृत होकर स्वर्ग-प्राप्ति करता है ॥१३०-१३१$\frac{१}{३}$॥ मनुष्य सब कामनाओं से युक्त हो या सब पापों से युक्त हो, पर दक्षकृत स्तोत्र का पाठ करने से सब पापों

---

१ ख. ०वान्हरः। त०। २ ख. ०र्गप्राप्तः स्यात्स्त्रीस०। ३ ख. ०मप्रयु०।

पठन्दक्षकृतं स्तोत्रं सर्वपापैः प्रमुच्यते । मृतश्च गणसायुज्यं पूज्यमानः सुरासुरैः ॥१३३॥
वृषेण विनियुक्तेन विमानेन विराजते[1] । आभूतसंप्लवस्थायी रुद्रस्यानुचरो भवेत् ॥१३४॥
इत्याह भगवान्व्यासः पराशरसुतः प्रभुः । नैतद्वेदयते कश्चिन्नैतच्छ्राव्यं च कस्यचित्[2] ॥१३५॥
श्रुत्वेमं परमं गुह्यं येऽपि स्युः पापयोनयः । वैश्याः स्त्रियश्च शूद्राश्च रुद्रलोकमवाप्नुयुः ॥१३६॥
श्रावयेद्यश्च विप्रेभ्यः सदा पर्वसु पर्वसु । रुद्रलोकमवाप्नोति द्विजो वै नात्र संशयः ॥१३७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभ्वृषिसंवादे दक्षस्तवनिरूपणं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

अथैकचत्वारिंशोऽध्यायः

एकाम्रकक्षेत्रमाहात्म्यकथनम्

लोमहर्षण उवाच

श्रुत्वैवं वै मुनिश्रेष्ठाः कथां पापप्रणाशिनीम् । रुद्रक्रोधोद्भवां पुण्यां व्यासस्य वदतो द्विजाः ॥१॥
पार्वत्याश्च तथा रोषं क्रोधं शंभोश्च दुःसहम् । उत्पत्तिं वीरभद्रस्य भद्रकाल्याश्च संभवम् ॥२॥

से मुक्त हो जाता है, मरने पर सुर-असुरों से पूजित होते हुए गण-सायुज्य प्राप्त करता है, वृष-युक्त विमान पर विराजता है और महाप्रलय तक रुद्र का अनुचर होता है ॥१३२-१३४॥ ऐसा पराशर-पुत्र भगवान् व्यास ने कहा है। इसे कोई नहीं जानता है, यह किसी को नहीं सुनाना चाहिए ॥१३५॥ जो कोई भी पापयोनि, वैश्य, स्त्री तथा शूद्र इसे सुनेंगे, वे रुद्रलोक को प्राप्त करेंगे। जो द्विज पर्वकाल में ब्राह्मणों को यह स्तोत्र सुनाता है, उसे निःसंदेह शिवलोक की प्राप्ति होती है ॥१३६-१३७॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और मुनि के संवाद-प्रकरण में दक्ष-स्तुति-निरूपण नामक
चालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥४०॥

अध्याय ४१

एकाम्रक क्षेत्र का माहात्म्य-कथन

लोमहर्षण ने कहा—मुनिवर ! इस प्रकार रुद्र-क्रोध से उत्पन्न पापनाशिनी पवित्र कथा को एवम् पार्वती के रोष, शंभु के दुःसह क्रोध, वीरभद्र तथा भद्रकाली की उत्पत्ति, दक्ष-यज्ञ-विनाश शंकर

---

[1] ग. विराजता । [2] ग. कर्हिचि० ।

दक्षयज्ञविनाशं च वीर्यं शंभोस्तथाऽद्‌भुतम् । पुनः प्रसादं देवस्य दक्षस्य सुमहात्मनः ।।३।।
यज्ञभागं च रुद्रस्य दक्षस्य च फलं क्रतोः । हृष्टा बभूवुः संप्रीता विस्मिताश्च पुनः पुनः ।।४।।
पप्रच्छुश्च पुनर्व्यासं [1]कथाशेषं तथा द्विजाः । पृष्टः प्रोवाच तान्व्यासः क्षेत्रमेकाम्रकं पुनः ।।५।।

व्यास उवाच

ब्रह्मप्रोक्तां कथां पुण्यां श्रुत्वा तु ऋषिपुंगवाः । प्रशशंसुस्तदा हृष्टा रोमाञ्चिततनूरुहाः ।।६।।

ऋषय ऊचुः

अहो देवस्य माहात्म्यं त्वया शंभोः प्रकीर्तितम् । दक्षस्य च सुरश्रेष्ठ यज्ञविध्वंसनं तथा ।।७।।
एकाम्रकं क्षेत्रवरं वक्तुमर्हसि सांप्रतम् । श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन्परं कौतूहलं हि नः ।।८।।

व्यास उवाच

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा लोकनाथश्चतुर्मुखः । प्रोवाच शंभोस्तत्क्षेत्रं भूतले दुष्कृतच्छदम् ।।९।।

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः प्रवक्ष्यामि समासतः । सर्वपापहरं पुण्यं क्षेत्रं परमदुर्लभम् ।।१०।।
लिङ्गकोटिसमायुक्तं वाराणसीसमं शुभम् । एकाम्रकेति विख्यातं तीर्थाष्टकसमन्वितम् ।।११।।
एकाम्रवृक्षस्तत्राऽऽसीत्पुरा कल्पे द्विजोत्तमाः । नाम्ना तस्यैव तत्क्षेत्रमेकाम्रकमिति [2]श्रुतम् ।।१२।।

के अद्‌भुत पराक्रम, महात्मा दक्ष के ऊपर पुनः शिव की कृपा, रुद्र के यज्ञ-भाग तथा दक्ष के यज्ञ-फल को व्यास से सुनकर द्विजगण हृष्ट-तुष्ट तथा विस्मित होकर फिर व्यास से कथा का अवशिष्ट भाग पूछने लगे ।।१-५।।

व्यास ने कहा—ब्रह्मा द्वारा कही गयी पवित्र कथा को सुनकर हर्षित तथा रोमाञ्चित शरीर होकर ऋषिगण प्रशंसा करने लगे ।।६।।

ऋषियों ने कहा—अहो ! देवश्रेष्ठ ! आपने शंभु का माहात्म्य तथा दक्ष का यज्ञ-विध्वंस वर्णन किया। अब एकाम्रक क्षेत्र का वर्णन कीजिये । ब्रह्मन्, हम सुनना चाहते हैं, हमें बड़ी उत्सुकता है ।।७-८।।

व्यास ने कहा—उनके इस वचन को सुनकर लोकपति ब्रह्मा भूतल पर पापनाशन शंभु के उस क्षेत्र के बारे में कहने लगे ।।९।।

ब्रह्मा ने कहा—मुनिवर्य ! सुनिये, मैं संक्षेप से कहूँगा । सब पापों को हरने वाला, परम दुर्लभ, करोड़ों लिंगों से युक्त, वाराणसी के समान शुभदायक तथा पवित्र एकाम्रक नाम से प्रसिद्ध तीर्थ आठ तीर्थों से युक्त है ।।१०-११।। द्विजवर ! पहले वहाँ एक आम का वृक्ष था । उसी के नाम पर वह क्षेत्र

---

१. ख. ०षं पुनर्द्विजाः । २ ख. स्मृतम् ।

हृष्टपुष्टजनाकीर्णं नरनारीसमन्वितम् । विद्वांसग (द्यावदृग) णभूयिष्ठं धनधान्यादिसंयुतम् ॥१३॥
गृहगोपुरसंबाधं त्रिकचाद्वारभूषितम् । नानावणिक्समाकीर्णं नानारत्नोपशोभितम् ॥१४॥
पुराट्टालकसंयुक्तं रथिभिः समलंकृतम् । राजहंसनिभैः शुभ्रैः प्रासादैरुपशोभितम् ॥१५॥
मार्गद्वारसंयुक्तं सितप्राकारशोभितम् । रक्षितं शस्त्रसंघैश्च परिखाभिरलंकृतम् ॥१६॥
सितरक्तैस्तथा पीतैः कृष्णश्यामैश्च वर्णकैः । समीरणोद्धताभिश्च पताकाभिरलंकृतम् ॥१७॥
नित्योत्सवप्रमुदितं [1]नानावादित्रनिस्वनैः । वीणावेणुमृदङ्गैश्च क्षेपणीभिरलंकृतम् ॥१८॥
देवतायतनैर्दिव्यैः [2]प्राकारोद्यानमण्डितैः । पूजाविचित्ररचितैः सर्वत्र समलंकृतम् ॥१९॥
स्त्रियः प्रमुदितास्तत्र दृश्यन्ते तनुमध्यमाः । [3]हारैरलंकृतग्रीवाः पद्मपत्रायतेक्षणाः ॥२०॥
पीनोन्नतकुचाः श्यामाः पूर्णचन्द्रनिभानना:[4] । स्थिरालकाः सुकपोलाः काञ्चीनूपुरनादिताः ॥२१॥
सुकेश्यश्चारुजघनाः कर्णान्तायतलोचनाः । सर्वलक्षणसंपन्नाः सर्वाभरणभूषिताः ॥२२॥
दिव्यवस्त्रधराः शुभ्राः काश्चित्काञ्चनसंनिभाः । हंसवारणगामिन्यः कुचभारावनामिताः ॥२३॥
दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गाः कर्णाभरणभूषिताः । मदालसाश्च सुश्रेण्यो नित्यं प्रहसिताननाः ॥२४॥
ईषद्विस्पष्टदशना बिम्बोष्ठा[5] मधुरस्वराः । ताम्बूलरञ्जितमुखा विदग्धाः प्रियदर्शनाः ॥२५॥

एकाम्रक नाम से विख्यात ॥१२॥ हृष्ट-पुष्ट जनों से प्रपूर्ण, नर-नारियों से समन्वित, विद्वद्गणों से परिपूर्ण, धन-धान्य आदि से संयुत ॥१३॥ गृह तथा पुरद्वारों से संकीर्ण, त्रिकोण द्वारों से भूषित, अनेक व्यापारियों से व्याप्त, नाना रत्नों से सुशोभित ॥१४॥ नगर की अट्टालिकाओं से संयुक्त, रथ वालों से अलंकृत, राजहंस के समान उज्ज्वल प्रासादों से शोभित ॥१५॥ मार्ग-द्वारों से संयुक्त, श्वेत चहारदीवारियों से शोभित, शस्त्रसमूहों से रक्षित, खाइयों से अलंकृत ॥१६॥ वायु द्वारा चंचल और सफेद, लाल, पीत, कृष्ण तथा श्याम वर्ण वाली पताकाओं से अलंकृत ॥१७॥ नित्य उत्सवों से प्रमुदित, अनेक प्रकार के वाद्यों—वीणा, वेणु, मृदंग और क्षेपणी के शब्दों से अलंकृत ॥१८॥ और चहारदीवारी युक्त उद्यानों से मंडित तथा पूजा की विचित्र रचनाओं से युक्त देवालयों से भूषित है ॥१९॥ वहाँ क्षीण कटिवाली, दिव्य हारों से युक्त|अलंकृत ग्रीवा वाली, कमललोचना ॥२०॥ स्थूल तथा उन्नत स्तनों वाली, श्यामा, पूर्णचन्द्र के समान मुख वाली, स्थिर केश वाली, सुन्दर कपोल वाली, करधनी और नूपुर का शब्द करने वाली ॥२१॥ सुन्दर केशवाली, सुन्दर जंघा वाली, कानों तक लम्बी आँखों वाली, सब लक्षणों से संपन्न, सब भूषणों से भूषित ॥२२॥ दिव्यवस्त्रधारिणी, गौरवर्णा, सुवर्ण-समान वर्ण वाली, हंस तथा हाथी के समान चाल वाली, स्तनों के भार से झुकी हुई ॥२३॥ दिव्य गन्धों से लिप्त अंग वाली, कानों के गहनों से भूषित, मद से अलसायी हुई, सुन्दर नितम्ब वाली, सदा हँसमुख ॥२४॥ किञ्चित् स्पष्ट दाँतों वाली, बिम्बोष्ठी, मधुर स्वर वाली, ताम्बूलों से रञ्जित मुख वाली, चतुर, प्रिय-

---

[1] ग. ०त्रवादितम् । वी० । [2] ख. ०कारैर्धातुम० । [3] ग. हावभावानत० । [4] ख. ०न्द्रसमान० । [5] ख. सुकण्ठ्यो ।

सुभगाः प्रियवादिन्यो नित्यं यौवनगर्विताः । दिव्यवस्त्रधराः सर्वाः सदा चारित्रमण्डिताः ।।२६।।
क्रीडन्ति ताः सदा तत्र स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः । स्वे स्वे गृहे प्रमुदिता दिवा रात्रौ वराननाः ।।२७।।
पुरुषास्तत्र दृश्यन्ते रूपयौवनगर्विताः । सर्वलक्षणसंपन्नाः सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।।२८।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च मुनिसत्तमाः । स्वधर्मनिरतास्तत्र निवसन्ति सुधार्मिकाः ।।२९।।
अन्याश्च तत्र तिष्ठन्ति वारमुख्याः सुलोचनाः । घृताचीमेनकातुल्यास्तथा समतिलोत्तमाः ।।३०।।
उर्वशीसदृशाश्चैव[१] विप्रचित्तिनिभास्तथा । विश्वाचीसहजन्याभाः प्रम्लोचासदृशास्तथा ।।३१।।
सर्वास्ताः प्रियवादिन्यः सर्वा विहसिताननाः । कलाकौशलसंयुक्ताः सर्वास्त[२] गुणसंयुताः ।।३२।।
एवं पण्यस्त्रियस्तत्र नृत्यगीतविशारदाः । निवसन्ति मुनिश्रेष्ठाः सर्वस्त्रीगुणगर्विताः ।।३३।।
प्रेक्षणालापकुशलाः सुन्दर्यः प्रियदर्शनाः । न रूपहीना दुर्वृत्ता न परद्रोहकारिकाः ।।३४।।
यासां कटाक्षपातेन मोहं गच्छन्ति मानवाः । न तत्र निर्धनाः सन्ति न मूर्खा न परद्विषः ।।३५।।
न रोगिणो न मलिना न कदर्या न मायिनः[३] । न रूपहीना दुर्वृत्ता न परद्रोहकारिणः ।।३६।।
तिष्ठन्ति मानवास्तत्र क्षेत्रे जगति विश्रुते । सर्वत्र सुखसंचारं सर्वसत्त्वसुखावहम् ।।३७।।
[४]नानाजनसमाकीर्णं सर्वसस्यसमन्वितम् । कर्णिकारैश्च पनसैश्चम्पकैर्नागकेसरैः ।।३८।।
पाटलाशोकबकुलैः [५]कपित्थैर्बहुलैर्धवैः । चूतनिम्बकदम्बैश्च तथाऽन्यैः पुष्पजातिभिः ।।३९।।
नीपकैर्धवखदिरैर्लताभिश्च विराजितम् । शालैस्तालैस्तमालैश्च नारिकेलैः शुभाञ्जनैः ।।४०।।

दर्शना ।।२५।। सौभाग्यवती, प्रियवादिनी, नित्य यौवन से गर्वित और सुचारित्रा स्त्रियाँ दीखती हैं।।२६।।अप्सराओं के समान वे श्रेष्ठ स्त्रियाँ दिन-रात अपने-अपने घरों में हर्ष से क्रीड़ा करती रहती हैं ।।२८।। वहाँ रूप-यौवन-गर्वित, सर्वलक्षण-संपन्न तथा सुन्दर मणि-कुण्डलों से युक्त पुरुष देखे जाते हैं ।।२८।। मुनिवर्य ! स्वधर्मपरायण अत्यन्त धार्मिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वहाँ वास करते हैं ।।२९।। वहाँ और भी घृताची, मेनका, तिलोत्तमा, उर्वशी, विप्रचित्ति, विश्वाची तथा प्रम्लोचा तुल्य सुन्दर नेत्र वाली वेश्याएँ रहती हैं ।।३०-३१।। वे सब प्रियवादिनी, हास्ययुक्त मुख वाली, कला-कौशल-संयुक्त तथा सर्वगुण-सम्पन्न हैं ।।३२।। मुनिवर्य ! इस प्रकार नृत्य-गीत-विशारद, समस्त स्त्रीगुणों से गर्वित, ताकने तथा बातचीत करने में कुशल, प्रिय दीखने वाली, सुन्दरी गणिकाएँ वहाँ बसती हैं, जो न रूप से हीन, न दुराचारिणी और न दूसरे से द्रोह करने वाली हैं, जिनके कटाक्षपात से ही मनुष्य मुग्ध हो जाते हैं ।।३३-३४½।। वहाँ न निर्धन, न मूर्ख, न परद्रोही, न रोगी, न म्लेच्छ, न कृपण, न मायाकारी, न रूपहीन और न दुराचारी मनुष्य रहते हैं ।।३५-३६।। उस जगद्विख्यात क्षेत्र में सब जगह सुख का संचार है, सब जीवों को सुख-ही-सुख होता है ।।३७।। वह क्षेत्र अनेक प्रकार के मनुष्यों से व्याप्त, सब तरह के अन्नों से समन्वित, कनकचम्पा, कटहल, चम्पा, नागकेसर।।३८।। पाटला, अशोक, मौलसिरी, कैथा, आम, नीम, कदम्ब तथा दूसरी पुष्प-जातियों ।।३९।। कदम्ब, धव, खैर और लताओं से विराजित, साखू, ताल, तमाल, नारियल, सहिजन ।।४०।। अर्जुन, समपर्ण,

---

१ ग. ०व पूर्ववित्तनि० । २ ख. ०र्वाश्च गु० । ३ ख. मानिनः : ४ ग. ०नपदाकी० । ५ ख. ०र्बदरैर्ध० ।

अर्जुनैः समपर्णैश्च कोविदारैः सपिप्पलैः । लकुचैः सरलैर्लोध्रैर्हिन्तालैर्देवदारुभिः ।।४१।।
पलाशैर्मुचुकुन्दैश्च पारिजातैः [१]सकुब्जकैः । कदलीवनखण्डैश्च [२]जम्बूपूगफलैस्तथा ।।४२।।
केतकीकरवीरैश्च अतिमुक्तैश्च किंशुकैः । मन्दारकुन्दपुष्पैश्च तथाऽन्यैः पुष्पजातिभिः ।।४३।।
नानापक्षिरुतैः सेव्यैरुद्यानैर्नन्दनोपमैः । फलभारानतैर्वृक्षैः [३]सर्वर्तुकुसुमोत्करैः ।।४४।।
चकोरैः शतपत्रैश्च भृङ्गराजैश्च कोकिलैः । कलविङ्कैर्मयूरैश्च प्रियपुत्रैः शुकैस्तथा ।।४५।।
जीवंजीवकहारीतैश्चातकैर्वनवेष्टितैः । नानापक्षिगणैश्चान्यैः [४]कूजद्‌भिर्मधुरस्वरैः ।।४६।।
दीर्घिकाभिस्तडागैश्च [५]पुष्करिणीभिश्च वापिभिः । नानाजलाशयैश्चान्यैः पद्मिनीखण्डमण्डितैः ।।४७।।
कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा नीलोत्पलैः शुभैः । कादम्बैश्चक्रवाकैश्च तथैव जलकुक्कुटैः ।।४८।।
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैस्तथाऽन्यैर्जलचारिभिः । एवं नानाविधैर्वृक्षैः [६]पुष्पैर्नानाविधैर्वरैः ।।४९।।
नानाजलाशयैः पुण्यैः शोभितं तत्समन्ततः । आस्ते तत्र [७]स्वयं देवः कृत्तिवासा वृषध्वजः ।।५०।।
हिताय सर्वलोकस्य भुक्तिमुक्तिप्रदः शिवः । पृथिव्यां यानि तीर्थानि सरितश्च सरांसि च ।।५१।।
पुष्करिण्यस्तडागानि वाप्यः कूपाश्च सागराः । तेभ्यः पूर्वं समाहृत्य जलबिन्दून्पृथक्पृथक् ।।५२।।
सर्वलोकहितार्थाय रुद्रः सर्वसुरैः सह । तीर्थं बिन्दुसरो नाम तस्मिन्क्षेत्रे द्विजोत्तमाः ।।५३।।
चकार ऋषिभिः सार्धं तेन बिन्दुसरः स्मृतम् । अष्टम्यां बहुले पक्षे मार्गशीर्षे द्विजोत्तमाः ।।५४।।

कचनार, पीपल, वड़हल, सरल, लोध्र, हिन्ताल, देवदारु ।।४१।। पलाश, मुचुकुन्द, पारिजात, कुब्ज, कदलीवनखण्ड, जामुन, सुपारी ।।४१।। केतकी, करवीर, अतिमुक्त, पलाश, मन्दार, कुन्द तथा दूसरी पुष्प-जातियों ।।४३।। नाना पक्षियों के शब्दों, नन्दनवन के समान सेव्य उद्यानों, फलों के भार से झुके वृक्षों, सब ऋतुओं में होने वाले पुष्पों की राशि ।।४४।। चकोर, शतपत्र (कठफोड़वा), भृङ्गराज, कोकिल, चटक (गौरैया), मयूर, प्रियपुत्र, तोते ।।४५।। जीवंजीवक, हारीत, पपीहे तथा वन में व्याप्त मधुर स्वर से बोलने वाले अन्य पक्षीगण ।।४६।। वावली, तालाव, पुष्करिणी तथा कमलिनी-वन-मण्डित्त अनेक जलाशय।।४७।। कुमुद, कमल, सुन्दर नीलकमल, हंस, चक्रवाक, जलकुक्कुट ।।४८।। कारण्डव, प्लव, हंस तथा अन्य जलचर पक्षियों एवम् अनेक प्रकार के वृक्षों, पुष्पों तथा पवित्र जलाशयों से चारों ओर सुशोभित है ।।४९$\frac{१}{३}$।। वहाँ स्वयं चर्म रूप वस्त्रधारी शिव रहते हैं ।।५०।। भुक्ति-मुक्ति-दाता शिव ने सव लोकों के कल्याण के लिए पृथिवी पर जितने तीर्थ, नदियाँ, सरोवर, पुष्करिणियाँ, तालाव, वावलियाँ, कुएँ तथा समुद्र हैं, उन सव से पृथक्-पृथक् जल-विन्दुओं को लाकर वहाँ स्थापित कर दिया ।।५१-५२।। द्विजश्रेष्ठो ! सर्वलोक-हित के लिए अखिल देवगण तथा मुनिवृन्द सहित रुद्र ने उस क्षेत्र में विन्दुसर नामक तीर्थ का निर्माण किया। विन्दुओं से वनने के कारण उसका नाम बिन्दुसर पड़ा ।।५३।। द्विजवर्य ! जो अगहन-कृष्ण-अष्टमी तिथि एवं विषुव में (वह समय जब दिन-रात का मान वरावर होता है) उस क्षेत्र के लिए यात्रा करता

---

[१] ख. ०कुन्चकैः । [२] ख. ०म्वूकन्दफ० । [३] ख. ०सुमाकरैः । [४] ख. ०स्वनैः । दी० । [५] ख. ०रिण्याश्च राजिभिः । [६] ख. ०धैर्जनैः । ना० । [७] ख. सदा ।

यस्तत्र यात्रां कुरुते विषुवे विजितेन्द्रियः । विधिवद्बिन्दुसरसि स्नात्वा श्रद्धासमन्वितः ॥५५॥
देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्संतर्प्य वाग्यतः । तिलोदकेन विधिना नामगोत्रविधानवित् ॥५६॥
स्नात्वैवं विधिवत्तत्र सोऽश्वमेधफलं लभेत् । ग्रहोपरागे विषुवे संक्रान्त्यामयने तथा ॥५७॥
युगादिषु षडशीत्यां तथाऽन्यत्र शुभे तिथौ । ये तत्र दानं विप्रेभ्यः प्रयच्छन्ति धनादिकम् ॥५८॥
अन्यतीर्थाच्छतगुणं फलं ते प्राप्नुवन्ति वै[1] । पिण्डं ये[2] संप्रयच्छन्ति पितृभ्यः सरसस्तटे ॥५९॥
पितृणामक्षयां तृप्तिं ते कुर्वन्ति न संशयः । ततः शंभोर्गृहं गत्वा[3] वाग्यतः संयतेन्द्रियः ॥६०॥
प्रविश्य पूजयेच्छर्वं कृत्वा तं त्रिःप्रदक्षिणम् । घृतक्षीरादिभिः स्नानं कारयित्वा भवं शुचिः ॥६१॥
चन्दने सुगन्धेन विलिप्य कुङ्कुमेन च[4] । ततः संपूजयेद्देवं चन्द्रमौलिमुमापतिम् ॥६२॥
[5]पुष्पैर्नानाविधैर्मेध्यैर्बिल्वार्ककमलादिभिः । आगमोक्तेन मन्त्रेण वेदोक्तेन च शंकरम् ॥६३॥
अदीक्षितस्तु नाम्नैव मूलमन्त्रेण चार्चयेत् । एवं संपूज्य तं देवं गन्धपुष्पानुरागिभिः ॥६४॥
धूपदीपैश्च नैवेद्यैरुपहारैस्तथा स्तवैः । दण्डवत्प्रणिपातैश्च गीतैर्वाद्यैर्मनोहरैः ॥६५॥
नृत्यजप्यनमस्कारैर्जयशब्दैः प्रदक्षिणैः । एवं संपूज्य विधिवद्देवदेवमुमापतिम् ॥६६॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो रूपयौवनगर्वितः । कुलैकविंशमुद्धृत्य दिव्याभरणभूषितः ॥६७॥
सौवर्णेन विमानेन किङ्किणीजालमालिना । उपगीयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिरलंकृतः ॥६८॥

है अर्थात् जितेन्द्रिय होकर विधिपूर्वक बिन्दुसर में स्नान कर श्रद्धापूर्वक देवता, ऋषि, मनुष्य तथा पितरों का तिल-जल से नाम-गोत्र उच्चारण करके तर्पण करता है, वह इस प्रकार विधिवत् स्नान करने से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है ॥५४-५६½॥ सूर्य और चन्द्र के ग्रहणों में, तुला और मेष राशि की संक्रान्ति में, अयन में (सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने के दिन), युगारम्भ में (अक्षय तृतीया के दिन), मिथुन, कन्या, धन तथा मीन राशि में और अन्य शुभ तिथि में जो वहाँ पर ब्राह्मणों को धन आदि दान देते हैं, वे अन्य तीर्थों से सौ गुना अधिक फल प्राप्त करते हैं ॥५७-५८½॥ जो उस सरोवर के तट पर पितरों को पिण्ड देते हैं, वे निःसन्देह पितरों को अक्षय तृप्ति प्रदान करते हैं ॥५९½॥ इसके अनन्तर शिवालय में जाकर वाक्संयम तथा इन्द्रिय-संयम करके शिव की तीन वार प्रदक्षिणा करके पूजा करे ॥६०॥ पवित्रतापूर्वक घी, दूध आदि से शिव को स्नान कराये। फिर सुगन्धित चन्दन तथा कुंकुम लेप कर नानाविध पुष्प, पवित्र विल्वपत्र, आक तथा कमल से एवम् आगमोक्त और वेदोक्त मन्त्र से चन्द्र-मुकुटधारी उमापति की पूजा करे ॥६१-६३॥ अदीक्षित व्यक्ति केवल नाम ही लेकर मूलमन्त्र से पूजा करे। इस प्रकार गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, उपहार, स्तुति, दण्डवत् प्रणाम, गीत, मनोहर वाद्य, नृत्य, जप, नमस्कार, जय शब्द तथा प्रदक्षिणा से विधिपूर्वक उमापति की पूजा करने से मनुष्य सर्वपापरहित, रूप-यौवन-गर्वित, इक्कीस कुलों का उद्धारक, दिव्य भूषणों से भूषित तथा क्षुद्रघण्टिकाओं की माला से युक्त सुवर्ण के विमान पर आरूढ़ होकर गन्धर्व और अप्सराओं से स्तुत

---

[1] ख. च । [2] ख. ये च प्र० । [3] ख. गच्छेद्वाग्य० । [4] ख. वा । [5] ख. ०धैर्दिव्यैः पुंनागक० ।

उद्योतयन्दिशः सर्वाः शिवलोकं स गच्छति । भुक्त्वा तत्र सुखं विप्रा मनसः प्रीतिदायकम् ॥६९॥
तल्लोकवासिभिः सार्धं यावदाभूतसंप्लवम् । ततस्तस्मादिहाऽऽयातः पृथिव्यां [1]पुण्यसंक्षये ॥७०॥
जायते योगिनां गेहे चतुर्वेदी द्विजोत्तमाः । योगं पाशुपतं प्राप्य ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥७१॥
शयनोत्थापने चैव संक्रान्त्यामयने तथा । अशोकाख्यां तथाऽष्टम्यां पवित्रारोपणे तथा ॥७२॥
ये च पश्यन्ति तं देवं कृत्तिवाससमुत्तमम् । विमानेनार्कवर्णेन शिवलोकं व्रजन्ति ते ॥७३॥
सर्वकालेऽपि तं देवं ये पश्यन्ति सुमेधसः । तेऽपि पापविनिर्मुक्ताः शिवलोकं व्रजन्ति वै ॥७४॥
देवस्य पश्चिमे पूर्वे दक्षिणे चोत्तरे तथा । योजनद्वितयं सार्धं क्षेत्रं तद्भुक्तिमुक्तिदम् ॥७५॥
[2]तस्मिन्क्षेत्रवरे लिङ्गं भास्करेश्वरसंज्ञितम् । पश्यन्ति ये तु तं देवं स्नात्वा कुण्डे महेश्वरम् ॥७६॥
आदित्येनार्चितं पूर्वं देवदेवं त्रिलोचनम् । सर्वपापविनिर्मुक्ता विमानवरमास्थिताः ॥७७॥
उपगीयमाना गन्धर्वैः शिवलोकं व्रजन्ति ते । तिष्ठन्ति तत्र मुदिताः कल्पमेकं द्विजोत्तमाः ॥७८॥
भुक्त्वा तु विपुलान्भोगाञ्छिवलोके मनोरमान् । पुण्यक्षयादिहाऽऽयाता जायन्ते प्रवरे कुले ॥७९॥
अथवा योगिनां गेहे वेदवेदाङ्गपारगाः । उत्पद्यन्ते द्विजवराः सर्वभूतहिते रताः ॥८०॥
मोक्षशास्त्रार्थकुशलाः सर्वत्र समबुद्धयः । योगं शंभोर्वरं प्राप्य ततो मोक्षं व्रजन्ति ते ॥८१॥
तस्मिन्क्षेत्रवरे पुण्ये लिङ्गं यद् दृश्यते द्विजाः । पूज्यापूज्यं च सर्वत्र वने रथ्याऽन्तरेऽपि वा ॥८२॥

होते हुए तथा सब दिशाओं को प्रकाशित करते हुए शिवलोक को जाता है ॥६४-६८½॥ विप्रवृन्द ! वह वहाँ के निवासियों के साथ कल्पान्त तक मन को आनन्द देने वाले सुख को भोग कर पुण्यक्षय होने पर इस पृथ्वी पर आ जाता है और योगियों के घर में जन्म लेकर चारो वेदों का ज्ञाता होता है; फिर पाशुपत योग (व्रत) लाभ कर मोक्ष प्राप्त करता है ॥६९-७१॥ हरिशयन एकादशी, देवोत्थान एकादशी, संक्रान्ति, अयनों के आरंभ, अशोक नामक अष्टमी तथा पवित्र ध्वजा आदि के आरोपण में जो मनुष्य चर्म-वस्त्रधारी उस उत्तम देव के दर्शन करते हैं, वे सूर्य के समान कान्ति वाले विमान में स्थित होकर शिवलोक को जाते हैं ॥७२-७३॥ सब समय जो विद्वान् उस देव को देखते हैं, वे भी पाप-रहित होकर शिवलोक जाते हैं ॥७४॥ वह क्षेत्र देव से पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और उत्तर ढाई योजन विस्तृत तथा भुक्तिमुक्ति-दायक है ॥७५॥ उस उत्तम क्षेत्र में भास्करेश्वर नामक लिंग है। जो मनुष्य कुण्ड में स्नान करके पूर्वकाल में सूर्य से अर्चित उस महेश्वर लिंग के दर्शन करते हैं, वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और उत्तम विमान पर चढ़ कर गन्धर्वों से स्तुत होते हुए शिवलोक जाते हैं ॥७६-७७½॥ द्विजवर्य ! वहाँ वे एक कल्प तक आनन्द से रहते हुए मनोरम भोगों को भोगते हैं और पुण्यक्षय होने पर यहाँ आकर उत्तम कुल में अथवा योगियों के घर में जन्म लेकर वेद-वेदागों के ज्ञाता, ब्राह्मणश्रेष्ठ, सब प्राणियों के कल्याण में रत, मोक्षशास्त्र के तत्त्वज्ञ तथा सर्वत्र समबुद्धि वाले होते हैं; फिर शंभु से उत्तम योग प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥७८-८१॥ द्विजगण ! उस पवित्र क्षेत्र में जो कोई भी पूज्य या अपूज्य

---

[1] ख. युगसंक्षये । [2] ग. ०न्क्षेत्रे व० ।

चतुष्पथे श्मशाने वा यत्र कुत्र च तिष्ठति । दृष्ट्वा तल्लिङ्गमव्यग्रः श्रद्धया सुसमाहितः ॥८३॥
स्नापयित्वा तु तं भक्त्या गन्धैः पुष्पैर्मनोहरैः । धूपैर्दीपैः सनैवेद्यैर्नमस्कारैस्तथा स्तवैः ॥८४॥
दण्डवत्प्रणिपातैश्च नृत्यगीतादिभिस्तथा । संपूज्यैवं विधानेन शिवलोकं व्रजेन्नरः ॥८५॥
नारी वा द्विजशार्दूलाः संपूज्य श्रद्धयाऽन्विता । पूर्वोक्तं फलमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥८६॥
कः शक्नोति गुणान्वक्तुं समग्रान्मुनिसत्तमाः । तस्य क्षेत्रवरस्याथ[1] ऋते देवान्महेश्वरात् ॥८७॥
तस्मिन्क्षेत्रोत्तमे गत्वा [2]श्रद्धयाऽश्रद्धयाऽपि वा । [3]माधवादिषु मासेषु नरो वा यदिवाऽङ्गना[4] ॥८८॥
यस्मिन्यस्मिंस्तिथौ विप्राः स्नात्वा बिन्दुसरोम्भसि । पश्येद्देवं विरूपाक्षं देवीं च वरदां शिवाम् ॥८९॥
[5]गणं चण्डं कार्तिकेयं गणेशं वृषभं तथा । कल्पद्रुमं च सावित्रीं शिवलोकं स गच्छति ॥९०॥
स्नात्वा च कापिले तीर्थे विधिवत्पापनाशने । प्राप्नोत्यभिमतान्कामाञ्छिवलोकं स गच्छति ॥९१॥
यः स्तम्भं तत्र विधिवत्करोति नियतेन्द्रियः । कुलैकविंशमुद्धृत्य शिवलोकं स गच्छति ॥९२॥
एकाम्रके शिवक्षेत्रे वाराणसीसमे शुभे[6] । स्नानं करोति यस्तत्र मोक्षं स लभते ध्रुवम् ॥९३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभ्वृषिसंवाद एकाम्रक्षेत्रमाहात्म्यवर्णनं
नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४१॥

लिंग वन में, गलियों में, चौराहों पर, श्मशान में या जहाँ-कहीं भी मिले, उस लिंग को प्रसन्नता, श्रद्धा तथा सावधानी से स्नान करा कर भक्तिपूर्वक गन्ध, मनोहर पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, नमस्कार, स्तुति, दण्डवत्प्रणाम तथा नृत्य-गीत आदि से पूजे। इस प्रकार विधानपूर्वक लिंग की पूजा करने से मनुष्य शिवलोक को जाता है ॥८२-८५॥ द्विजवर्य ! स्त्री भी अगर श्रद्धान्वित होकर इस तरह पूजा करेगी तो वह पूर्वोक्तफलभागिनी होगी, इसमें सोचने की कोई आवश्यकता नहीं ॥८६॥ मुनिवर ! महेश्वर को छोड़कर कौन ऐसा व्यक्ति है, जो उस उत्तम क्षेत्र के समग्र गुणों का वर्णन कर सके ॥८७॥ विप्रगण ! पुरुष या स्त्री जो कोई भी श्रद्धा या अश्रद्धा से उस उत्तम क्षेत्र में जाकर वैशाख आदि मासों में जिस -किसी तिथि को विन्दुसर में स्नान कर विरूप नेत्र वाले शिव, वर देने वाली पार्वती, गण, कार्तिकेय, गणेश, वृषभ, कल्पद्रुम तथा सावित्री का दर्शन करेगा, वह शिवलोक को जायेगा ॥८८-९०॥ वहाँ पापनाशक कापिल तीर्थ में विधिवत् स्नान करके मनुष्य अभिलषित भोगों को प्राप्त करता है तथा शिवलोक को जाता है ॥९१॥ जो जितेन्द्रिय होकर ध्वजारोपण करता है, वह इक्कीस कुलों का उद्धार कर शिवलोक को जाता है ॥९२॥ वाराणसी के समान पवित्र उस एकाम्रक नामक शिव-क्षेत्र में जो स्नान करता है, उसे निश्चय ही मुक्ति मिलती है ॥९३॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में एकाम्र-क्षेत्र-माहात्म्य-वर्णन
नामक एकतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥४१॥

---

१ क. ०थ तस्य देवस्य शूलिनः । त० । २ ख. व्या परयाऽ० । ३ ख. माघाद्यादि० । ४ ख. ०ना । तस्मिन्क्षेत्रे स्थितो वि० । ५ ख. गणांश्चन्द्रं का० । ६ ख. ०भे । कालं नयति ।

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्कलक्षेत्र-वर्णनम्

ब्रह्मोवाच

विरजे विरजा माता ब्रह्माणी संप्रतिष्ठिता। यस्याः [1]संदर्शनान्मर्त्यः पुनात्यासप्तमं कुलम्[2] ॥१॥
सकृद्दृष्ट्वा तु तां देवीं भक्त्याऽऽपूज्य प्रणम्य च। नरः स्ववंशमुद्धृत्य मम लोकं स गच्छति ॥२॥
[3]अन्याश्च तत्र तिष्ठन्ति विरजे[4] लोकमातरः। सर्वपापहरा देव्यो वरदा भक्तवत्सलाः ॥३॥
आस्ते वैतरणी तत्र सर्वपापहरा नदी। यस्यां स्नात्वा नरश्रेष्ठः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४॥
आस्ते [5]स्वयंभूस्तत्रैव[6] क्रोडरूपी हरिः स्वयम्। दृष्ट्वा प्रणम्य तं भक्त्या[7] परं विष्णुं व्रजन्ति ते ॥५॥
कापिले गोग्रहे सोमे तीर्थे चालाबुसंज्ञिते। [8]मृत्युंजये क्रोडतीर्थे वासुके सिद्धकेश्वरे ॥६॥
तीर्थेष्वेतेषु मतिमान्विरजे संयतेन्द्रियः। गत्वाऽष्टतीर्थं विधिवत्स्नात्वा देवान्प्रणम्य च ॥७॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो विमानवरमास्थितः। उपगीयमानो गन्धर्वैर्मम लोके महीयते ॥८॥
विरजे यो मम क्षेत्रे पिण्डदानं करोति वै। स [9]करोत्यक्षयां तृप्तिं पितॄणां नात्र संशयः ॥९॥
मम क्षेत्रे मुनिश्रेष्ठा विरजे ये कलेवरम्। परित्यजन्ति पुरुषास्ते मोक्षं प्राप्नुवन्ति वै ॥१०॥
स्नात्वा यः सागरे मर्त्यो दृष्ट्वा च कपिलं हरिम्। पश्येद्देवीं च वाराहीं स याति त्रिदशालयम् ॥११॥

अध्याय ४२

उत्कलक्षेत्र का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—विरज नामक क्षेत्र में विरजा नामक माता ब्रह्माणी प्रतिष्ठित है, जिसके दर्शन करने से मनुष्य सात कुलों को पवित्र करता है ॥१॥ एक वार उस देवी के दर्शन करके भक्तिपूर्वक पूजा तथा प्रणाम करने से मनुष्य अपने वंश का उद्धार कर मेरे लोक को प्राप्त करता है ॥२॥ उस विरज-क्षेत्र में दूसरी भी सब पापों को हरने वाली, वर देने वाली तथा भक्तवत्सला लोकमाताएँ रहती हैं ॥३॥ वहाँ निखिल पापनाशिनी वैतरणी नामक नदी है, जिसमें स्नान कर मनुष्य सव पापों से मुक्त हो जाता है ॥४॥ वहीं पर साक्षात् वराहरूपी स्वयंभू हरि विराजते हैं। उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम करने से मनुष्य विष्णुलोक को जाता है ॥५॥ विरज-क्षेत्र में कापिल, गोग्रह, सोम, अलावु, मृत्युंजय, क्रोड़तीर्थ, वासुक तथा सिद्धकेश्वर नामक तीर्थों में जो बुद्धिमान् मनुष्य इन्द्रिय संयमपूर्वक स्नान करके देवताओं को प्रणाम करता है, वह सव पापों से रहित तथा उत्तम विमान में स्थित होकर-गन्धर्वों से स्तुत होते हुए मेरे लोक में पूजित होता है ॥६-८॥ मेरे विरज-क्षेत्र में जो पिण्डदान करता है, उसके पितर लोग अक्षय तृप्ति प्राप्त करते हैं, इसमें कोई संशय नहीं॥९॥ मुनिवर्य! मेरे विरज-क्षेत्र में जो शरीर त्याग करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है।।१०।। जो मनुष्य समुद्र स्नान कर भगवान् कपिल तथा वाराही देवी का

१ग. ०र्शने मर्त्यः। २ख. ०म्। तत्र दृष्ट्वा। ३ख. अथान्यास्तत्र। ४ख. विरजा। ५ख. ०यं तु तत्रै०। ६ख. ०व क्रीडन्नपि ह०। ७ ख. ०क्त्या नरस्तु मत्पुरं व्रजेत्। का०। ८ ख. मृत्युक्षये। ९ ख. मृत्युक्षये। ९ ख. करोति परां तृ०।

सन्ति चान्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च। [१]तत्काले तु मुनिश्रेष्ठा वेदितव्यानि तानि वै ।।१२।।
समुद्रस्योत्तरे [२]तीरे तस्मिन्देशे द्विजोत्तमाः। [३]आस्ते गुह्यं परं क्षेत्रं मुक्तिदं पापनाशनम् ।।१३।।
सर्वत्र बालुकाकीर्णं [४]पवित्रं सर्वकामदम्। दशयोजनविस्तीर्णं क्षेत्रं परमदुर्लभम् ।।१४।।
अशोकार्जुनपुंनागैर्बकुलैः सरलद्रुमैः। पनसैर्नारिकेलैश्च[५] शालैस्तालैः कपित्थकैः ।।१५।।
चम्पकैः कर्णिकारैश्च चूतबिल्वैः सपाटलैः। कदम्बैः कोविदारैश्च लकुचैर्नागकेसरैः ।।१६।।
प्राचीनामलकैर्लोध्रैर्नारङ्गैर्धवखादिरैः। सर्जभूर्जाश्वकर्णैश्च तमालैर्देवदारुभिः ।।१७।।
मन्दारैः पारिजातैश्च न्यग्रोधागुरुचन्दनैः। खर्जूराम्रातकैः सिद्धैर्मुचुकुन्दैः सकिंशुकैः ।।१८।।
अश्वत्थैः सप्तपर्णैश्च [६]मधुधारशुभाञ्जनैः। शिंशपामलकैर्नीपैर्निम्बतिन्दुविभीतकैः ।।१९।।
सर्वर्तुफलगन्धाढ्यैः सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलैः। मनोह्लादकरैः शुभ्रैर्नानाविहगनादितैः ।।२०।।
श्रोत्ररम्यैः [७]सुमधुरैर्बलनिर्मदनेरितैः। मनसः प्रीतिजनकैः शब्दैः [८]खगमुखेरितैः ।।२१।।
चकोरैः शतपत्रैश्च भृङ्गराजैस्तथा शुकैः। कोकिलैः कलविङ्कैश्च हारीतैर्जीवजीवकैः ।।२२।।
प्रियपुत्रैश्चातकैश्च तथाऽन्यैर्मधुरस्वरैः। श्रोत्ररम्यैः प्रियकरैः कूजद्भिश्चार्वधिष्ठितैः ।।२३।।
केतकीवनखण्डैश्च अतिमुक्तैः सकुब्जकैः। [९]मालतीकुन्दबाणैश्च करवीरैः सितेतरैः।।२४।।
जम्बीरकरुणाङ्कोलैर्दाडिमैर्बीजपूरकैः। मातुलुङ्गैः पूगफलैर्हिन्तालैः कदलीवनैः ।।२५।।
अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः पुष्पैश्चान्यैर्मनोहरैः[१०]। लतावितानगुल्मैश्च विविधैश्च जलाशयैः ।।२६।।

दर्शन करता है, वह देवलोक जाता है ।।११।। मुनिवर्य ! दूसरे भी वहुत से तीर्थ तथा आलय हैं, जिन्हें इस समय जानना चाहिए ।।१२।। द्विजवर ! समुद्र के उत्तरी तट पर एक पापनाशन, मोक्षदायक, परम गुप्त, वालुकामय, पवित्र, सर्वकामप्रद, दस योजन प्रमाण विस्तृत तथा परम दुर्लभ क्षेत्र है ।।१३-१४।। वह अशोक, अर्जुन, पुन्नाग, मौलसिरी, सरल, कटहल, नारियल, साखू, ताल, कठवेल, चम्पा, कनकचम्पा, आम, वेल, पाटल, कदम्व, कचनार, वड़हर, नागकेसर, जलामलक, लोध, नारंगी, कैथा, खैर, सर्ज, भोजपत्र, अश्वकर्ण, तमाल, देवदारु, मदार, पारिजात, वरगद, अगर, चन्दन, खजूर, आमड़ा, मुचुकुन्द, पलाश, अश्वत्थ, सप्तपर्ण, मधुर सहिजन, शिंशपा, आमलक, नीप, निम्व, तिन्दु, वहेड़ा आदि वृक्षों से तथा मन को आनन्दित करने वाले, शुक्ल वर्ण वाले, नाना पक्षियों के शब्दों से शब्दित और सव ऋतुओं में फल-फूलों से सम्पन्न वृक्षों से सुशोभित है ।। १५-२०।। सुनने में मनोरम, अत्यन्त मधुर, कामप्रेरित तथा मन में प्रीति उत्पन्न करने वाले पक्षी-मुखोच्चरित शब्दों से, चकोर, शतपत्र, भृंगराज, तोते, कोकिल, गौरैये, हारीत, जीवजीवक, प्रियपुत्र, चातक तथा दूसरे भी मधुर स्वर से आलाप करने वाले और प्रीति उत्पन्न करने वाले पक्षियों से और केतकीवन, अतिमुक्त, कुब्ज, मालती, कुन्द, वाण, लाल करवीर, नीवू, करुण, अंकोल, दाड़िम, वीजपूरक, मातुलुंग, सुपारी, हिन्ताल, कदलीवन तथा अन्य विविध वृक्षों एवम् मनोहर पुष्पों से भी वह अलंकृत है ।।२१-२५½।। वहाँ लताओं का विस्तार विविध

---

[१]ग. उत्कले। [२]ख. भागे। [३]ख. अस्ति। [४]ख. सावित्रं। [५] ख. ०र्नालिकेरैश्च। [६]ख. ०नैः। शिरीषाम०। [७]ख. ०रैर्वर्णालंकारभूषितैः। [८]ख. ०मुखोदितैः। [९]ख. ०न्दपुष्पैश्च। [१०]ख. ०नोरमैः। ल०।

दीर्घिकाभिस्तडागैश्च[१] पुष्करिणीभिश्च वापिभिः। नानाजलाशयैः पुण्यैः पद्मिनीखण्डमण्डितैः ।।२७।।
सरांसि च मनोज्ञानि प्रसन्नसलिलानि च। [२]कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा नीलोत्पलैः शुभैः ।।२८।।
कह्लारैः कमलैश्चापि आचितानि समन्ततः। कादम्बैश्चक्रवाकैश्च तथैव जलकुक्कुटैः ।।२९।।
कारण्डवैः[३] प्लवैर्हंसैः कूर्मैर्मत्स्यैश्च मद्गुभिः। दात्यूहसारसाकीर्णैः कोयष्टिबकशोभितैः ।।३०।।
एतैश्चान्यैश्च कूजद्भिः[४] समन्ताज्जलचारिभिः[५]। खगैर्जलचरैश्चान्यैः कुसुमैश्च जलोद्भवैः ।।३१।।
एवं नानाविधैर्वृक्षैः पुष्पैः स्थलजलोद्भवैः। ब्रह्मचारिगृहस्थैश्च वानप्रस्थैश्च भिक्षुभिः ।।३२।।
स्वधर्मनिरतैर्वर्णैस्तथाऽन्यैः समलंकृतम्। हृष्टपुष्टजनाकीर्णं नरनारीसमाकुलम् ।।३३।।
अशेषविद्यानिलयं सर्वधर्मगुणाकरम्। एवं सर्वगुणोपेतं क्षेत्रं परमदुर्लभम् ।।३४।।
[६]आस्ते तत्र मुनिश्रेष्ठा विख्यातः पुरुषोत्तमः। यावदुत्कलमर्यादा दिक्क्रमेण प्रकीर्त्तिता ।।३५।।
तावत्कृष्णप्रसादेन देशः पुण्यतमो हि सः। यत्र तिष्ठति विश्वात्मा देशे स पुरुषोत्तमः[७] ।।३६।।
जगद्व्यापी जगन्नाथस्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्। अहं रुद्रश्च शक्रश्च देवश्चाग्निपुरोगमाः ।।३७।।
निवसामो मुनिश्रेष्ठास्तस्मिन्देशे सदा वयम्। गन्धर्वाप्सरसः सर्वाः पितरो देवमानुषाः ।।३८।।
यक्षा विद्याधराः सिद्धा मुनयः संशितव्रताः। ऋषयो वालखिल्याश्च कश्यपाद्याः प्रजेश्वराः ।।३९।।
सुपर्णाः किंनरा नागास्तथाऽन्ये स्वर्गवासिनः। साङ्गाश्च चतुरो वेदाः शास्त्राणि विविधानि च ।।४०।।

जलाशय, दीर्घिकाएँ, तालाब, पुष्करिणियाँ, बावलियाँ, कमलिनी-वन-मण्डित नाना जलाशय और कुमुद, कमल, नील कमल तथा लाल कमल से परिपूर्ण सरोवर हैं।।२६-२८½।। कादम्ब, चक्रवाक, जलकुक्कुट, कारण्डव, प्लव, हंस, मद्गु (पानिकौड़ि), कालकण्ठ और बक—ये तथा दूसरे भी जलचर पक्षी और जल में उत्पन्न होने वाले फूल उस क्षेत्र की शोभा बढ़ा रहे हैं।।२९-३१।। इस प्रकार नाना वृक्षों, स्थल और जल में होने वाले पुष्पों, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासियों और स्वधर्मपरायण चारों वर्णों से वह अलंकृत है।।३२½।। वह हृष्ट-पुष्ट व्यक्तियों से प्रपूर्ण तथा नर-नारियों से समन्वित है। अशेष विद्याओं का केन्द्र तथा समस्त धर्म-गुणों की निधि वह माना जाता है। इस प्रकार वह क्षेत्र निखिल गुणों से युक्त एवम् परमदुर्लभ है।।३३-३४।। मुनिश्रेष्ठो! वहाँ पुरुषोत्तम नाम से विख्यात कृष्ण भगवान् रहते हैं। दिशा के क्रम से जहाँ तक उत्कल (उड़ीसा) की सीमा है वहाँ तक वह देश कृष्ण की अनुकम्पा से पुण्यतम माना गया है।।३५½।। जिस देश में विश्वात्मा, जगद्व्यापी, जगन्नाथ, पुरुषोत्तम वास करते हैं, वहाँ सब कुछ स्थित है।।३६½।। मुनिवर! मैं, रुद्र, इन्द्र और अग्नि आदि देवता उस देश में सदा वास करते हैं।।३७½।। गन्धर्व, अप्सराएँ, पितर, देव, मनुष्य, यक्ष, विद्याधर, सिद्ध, मुनि, महाव्रती ऋषि वालखिल्य, प्रजापति कश्यप आदि, सुपर्ण, किन्नर, नाग तथा अन्य स्वर्गवासी, अंगों सहित चारों वेद, विविध शास्त्र, इतिहास, पुराण, उत्तम दक्षिण वाले यज्ञ, अनेक पवित्र नदियाँ,

---

[१] ख. ०श्च कासारैश्च समन्ततः। ना०। [२] ख. क्रमुकैः। [३] ख. ०ण्डवैर्बकैर्हं०। [४] ख. कीर्णानि। [५] ख. ०लवासिभिः। [६] ख. अस्ति। [७] ख. ०मः आत्मा स्वयं ज०।

इतिहासपुराणानि यज्ञाश्च वरदक्षिणाः। नद्यश्च विविधाः पुण्यास्तीर्थान्यायतनानि च ।।४१।।
सागराश्च तथा शैलास्तस्मिन्देशे व्यवस्थिताः। एवं पुण्यतमे देशे देवर्षिपितृसेविते ।।४२।।
सर्वोपभोगसहिते वासः कस्य न रोचते। श्रेष्ठत्वं कस्य देशस्य किं [1]चान्यदधिकं ततः ।।४३।।
आस्ते यत्र स्वयं देवो मुक्तिदः पुरुषोत्तमः। धन्यास्ते विबुधप्रख्या ये वसन्त्युत्कले नराः[2] ।।४४।।
तीर्थराजजले स्नात्वा पश्यन्ति पुरुषोत्तमे। स्वर्गे वसन्ति ते मर्त्या न ते यान्ति यमालये ।।४५।।
ये वसन्त्युत्कले क्षेत्रे पुण्ये श्रीपुरुषोत्तमे। सफलं जीवितं तेषामुत्कलानां सुमेधसाम् ।।४६।।
ये पश्यन्ति सुरश्रेष्ठं प्रसन्नायतलोचनम्[3]। चारुभ्रूकेशमुकुटं चारुकर्णावतंसकम्[4] ।।४७।।
चारुस्मितं चारुदन्तं [5]चारुकुण्डलमण्डितम्। सुनासं सुकोपलं च सुललाटं सुलक्षणम् ।।४८।।
त्रैलोक्यानन्दजननं कृष्णस्य मुखपङ्कजम् ।।४९।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभु-ऋषिसंवाद उत्कलक्षेत्रवर्णनं नाम
द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।।४२।।

तीर्थ, देवालय, समुद्र और पर्वत उस देश में व्यवस्थित हैं ।।३८-४१½।। ऐसे देवर्षियों तथा पितरों से सेवित, समस्त उपभोग-पदार्थों से युक्त एवम् पवित्रतम देश में किसको वसने की इच्छा नहीं होती? उससे भला कौन देश श्रेष्ठ है? कहाँ उससे अधिक पदार्थ है? ।।४२-४३।। जिस उत्कल देश में साक्षात् मुक्ति-दायक पुरुषोत्तम देव रहते हैं, वहाँ के निवासी देवतुल्य हैं और धन्यवाद के पात्र हैं ।।४४।। जो मनुष्य तीर्थराज के जल में स्नान कर पुरुषोत्तम के दर्शन करते हैं वे स्वर्ग जाते हैं, यमपुरी कभी नहीं जाते ।।४५।। जो बुद्धिमान् पुरुषोत्तमाश्रित उस उत्कल क्षेत्र में बसते हैं, उनका जीवन सफल है ।।४६।। जो देवश्रेष्ठ, विकसित कमल सदृश नेत्र वाले, सुन्दर भौं, केश और मुकुट वाले, मनोहर कर्ण-भूषणों वाले, सुन्दर हास्य और दाँत वाले, सुन्दर कुण्डलों से विभूषित, सुन्दर नाक, कपोल, ललाट और लक्षण वाले तथा तीनों लोक को आनन्द देने वाले कृष्ण के मुखकमल को देखते हैं, उनका जीवन सफल है ।।४७-४९।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में उत्कल-क्षेत्र-वर्णन
नामक बयालीसवाँ अध्याय समाप्त ।।४२।।

---

[1] ख. वाऽऽत्यमधि०। [2] ख. शुभे। [3] ख. ०म्। सुचारुके०। [4] ग. ०र्णालिकाञ्चितम्। [5] ख. ०रुचन्दनचर्चित०।

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

अवन्तिकावर्णनम्

ब्रह्मोवाच

पुरा कृतयुगे विप्राः शक्रतुल्यपराक्रमः। बभूव नृपतिः श्रीमानिन्द्रद्युम्न इति श्रुतः ॥१॥
सत्यवादी शुचिर्दक्षः [1]सर्वशास्त्रविशारदः। रूपवान्सुभगः शूरो दाता भोक्ता प्रियंवदः ॥२॥
[2]यष्टा समस्तयज्ञानां ब्रह्मण्यः सत्यसंगरः। धनुर्वेदे च वेदे च शास्त्रे च निपुणः कृती ॥३॥
वल्लभो [3]नरनारीणां पौर्णमास्यां यथा शशी। आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः शत्रुसंघभयंकरः ॥४॥
वैष्णवः सत्त्वसंपन्नो[4] जितक्रोधो जितेन्द्रियः। अध्येता योगसांख्यानां मुमुक्षुर्धर्मतत्परः ॥५॥
एवं स पालयन्पृथ्वीं राजा सर्वगुणाकरः। तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना हरेराराधनं प्रति ॥६॥
कथमाराधयिष्यामि देवदेवं जनार्दनम्। कस्मिन्क्षेत्रेऽथवा तीर्थे नदीतीरे तथाऽऽश्रमे ॥७॥
एवं चिन्तापरः सोऽथ निरीक्ष्य मनसा महीम्। आलोक्य सर्वतीर्थानि क्षेत्राण्यथ[5] पुराण्यपि ॥८॥
[6]तानि सर्वाणि संत्यज्य[7] [8]जगामाऽऽयतनं पुनः। विख्यातं परमं क्षेत्रं मुक्तिदं पुरुषोत्तमम् ॥९॥
स गत्वा [9]तत्क्षेत्रवरं समृद्धबलवाहनः। अयजच्चाश्वमेधेन विधिवद्भूरिदक्षिणः ॥१०॥
कारयित्वा [10]महोत्सेधं [11]प्रासादं चैव[12] विश्रुतम्। तत्र संकर्षणं कृष्णं सुभद्रां स्थाप्य वीर्यवान् ॥११॥

अध्याय ४३

अवन्तिका नगरी का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—विप्रवृन्द ! पूर्वकाल में इन्द्र तुल्य पराक्रमी इन्द्रद्युम्न नामक राजा हुआ ॥१॥ वह सत्यवादी, पवित्र, निपुण, सब शास्त्रों में विशारद, रूपवान्, सुभग, वीर, दाता, भोक्ता, प्रियवक्ता, समस्त यज्ञों का कर्ता, ब्रह्मनिष्ठ, सत्यात्मा, धनुर्वेद, वेद तथा शास्त्र में दक्ष, विद्वान्, पौर्णमासी के चन्द्रमा के समान नर-नारियों का प्रिय, सूर्य के समान दुष्प्रेक्ष्य, शत्रु-समूह के लिए भयंकर, वैष्णव, सत्त्वसंपन्न, जितक्रोध, जितेन्द्रिय, सांख्य-योग का ज्ञाता, मोक्ष का इच्छुक, धर्मपरायण और समस्त गुणों का आकर था। पृथ्वी का पालन करते हुए उस राजा में हरि की आराधना के प्रति बुद्धि उत्पन्न हुई ॥२-६॥ 'मैं किस क्षेत्र, तीर्थ, नदी-तीर या आश्रम में देव-देव जनार्दन की उपासना करूँ ?' इस प्रकार सोचते हुए राजा ने मन से पृथ्वी, सब तीर्थों, क्षेत्रों तथा नगरों को देख कर उन सब को त्याग कर पुनः उसी क्षेत्र के लिए प्रस्थान किया, जो पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध, मोक्षदायक परम क्षेत्र है ॥७-८॥ राजा सेना और वाहन से युक्त होकर उस उत्तम क्षेत्र में पहुँचा। वहाँ उसने विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञ किया, बहुत-सी दक्षिणाएँ दीं, महायज्ञ को सम्पन्न कर एक महाप्रसिद्ध भवन बनवाया, उसमें बलभद्र, कृष्ण और सुभद्रा की स्थापना की। फिर शक्तिशाली राजा ने विधिपूर्वक पञ्चतीर्थ का

---

१ ख. ०र्वशस्त्रभृतां वरः। रु०। २ ख. स्रष्टा। ३ ख. ०भो वर०। ४ ख. ०न्नो हृष्टः सर्वजनप्रियः। अध्यात्मविद्यानिरतो मु०। ५ ख. ०त्राण्यायतनानि च। ता०। ६ ग. भूमौ। ७ ख. संवित्त्य। ८ ग. ०गाम मनसा पु०। ९ ख. तत्र नृपतिः स०। १० ख. महारम्यं। ११ ग. प्राकारं। १२ ख. भूरि।

पञ्चतीर्थं च विधिवत्कृत्वा तत्र महीपतिः। स्नानं दानं तपो होमं देवताप्रेक्षणं तथा ।।१२।।
भक्त्या चाऽऽराध्य विधिवत्प्रत्यहं पुरुषोत्तमम्। प्रसादाद्देवदेवस्य ततो मोक्षमवाप्तवान् ।।१३।।
[1]मार्कण्डेयं च कृष्णं च दृष्ट्वा रामं च भो द्विजाः। सागरे चेन्द्रद्युम्नाख्ये स्नात्वा मोक्षं लभेद् ध्रुवम् ।।१४।।

मुनय ऊचुः

कस्मात्स नृपतिः पूर्वमिन्द्रद्युम्नो जगत्पतिः। जगाम परमं क्षेत्रं मुक्तिदं पुरुषोत्तमम् ।।१५।।
गत्वा तत्र सुरश्रेष्ठ कथं स नृपसत्तमः। वाजिमेधेन विधिवदिष्टवान्पुरुषोत्तमम् ।।१६।।
कथं स सर्वफलदे क्षेत्रे परमदुर्लभे। प्रासादं कारयामास [2]चेष्टं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।।१७।।
कथं स कृष्णं रामं च सुभद्रां च प्रजापते। निर्ममे राजशार्दूलः क्षेत्रं रक्षितवान्कथम् ।।१८।।
कथं तत्र महीपालः प्रासादे भुवनोत्तमे। स्थापयामास मतिमान्कृष्णादींस्त्रिदशार्चितान्[3] ।।१९।।
एतत्सर्वं सुरश्रेष्ठ विस्तरेण यथातथम्। वक्तुमर्हस्यशेषेण चरितं तस्य धीमतः ।।२०।।
न तृप्तिमधिगच्छामस्तव वाक्यामृतेन वै। श्रोतुमिच्छामहे[4] ब्रह्मन्परं कौतूहलं हि नः ।।२१।।

ब्रह्मोवाच

साधु साधु द्विजश्रेष्ठा यत्पृच्छध्वं पुरातनम्। सर्वपापहरं पुण्यं भुक्तिमुक्तिप्रदं शुभम्[5] ।।२२।।
वक्ष्यामि तस्य चरितं यथावृत्तं कृते युगे। शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः प्रयताः संयतेन्द्रियाः ।।२३।।

निर्माण कर स्नान, दान, तप तथा देव-दर्शन किया और प्रतिदिन भक्ति से विधिपूर्वक पुरुषोत्तम की पूजा करके देवदेव की कृपा से मोक्ष प्राप्त किया ।।९-१३।। द्विजगण ! मार्कण्डेय, कृष्ण तथा राम का दर्शन कर इन्द्रद्युम्न नामक सागर में स्नान करने से निश्चय ही मुक्ति मिलती है ।।१४।।

मुनियों ने कहा—हे सुरश्रेष्ठ ! पहले किसलिए जयत्पति इन्द्रद्युम्न नामक राजा पुरुषोत्तम संज्ञक मोक्षदायक परम क्षेत्र को गया ।।१५।। वहाँ जाकर कैसे उस श्रेष्ठ राजा ने अश्वमेध यज्ञ द्वारा विधिपूर्वक पुरुषोत्तम की आराधना की ? ।।१६।। कैसे सर्वफलप्रद परमदुर्लभ क्षेत्र में उसने त्रैलोक्य-प्रसिद्ध श्रेष्ठ भवन वनवाया ? ।।१७।। हे प्रजापते ! कैसे उनसे कृष्ण, राम तथा सुभद्रा का निर्माण किया और क्षेत्र की रक्षा की ? ।।१८।। कैसे बुद्धिमान् राजा ने तीनों लोक में उत्तम उस भवन में देवताओं से अर्चित कृष्ण आदि देवों की स्थापना की ? ।।१९।। देवश्रेष्ठ ! उस धीमान् के समस्त चरित्र विस्तार से यथार्थतः वर्णन कीजिये ।।२०।। आपके वचनामृत से हमें तृप्ति नहीं मिलती। ब्रह्मन् ! सुनने के लिए हमें बड़ी उत्सुकता हो रही है ।।२१।।

ब्रह्मा ने कहा—द्विजश्रेष्ठो ! ठीक है ! ठीक है ! जो आपने प्राचीन, सर्वपापनाशन, भुक्ति-मुक्ति-प्रद तथा पवित्र चरित्र पूछा है, उसे मैं कहूँगा। मुनिवर ! सत्ययुग में जैसे वह वृत्तान्त हुआ था, वैसे आप पवित्रता से इन्द्रिय-संयमपूर्वक सुनिये ।।२२-२३।। उस राजा की मालव देश में अवन्ती नाम से प्रसिद्ध नगरी मानो पृथिवी का ककुद

---

१ ग. ०ण्डेयवटं कृ० । २ ख. श्रेष्ठं । ३ ख. दशोत्तमान् । ४ ख. ०हे तस्मात्परं । ५ ख. शिवम् ।

अवन्ती नाम नगरी मालवे भुवि विश्रुता[१]। बभूव तस्य नृपतेः पृथिवी ककुदोपमा ॥२४॥
हृष्टपुष्टजनाकीर्णा दृढप्राकारतोरणा। दृढयन्त्रार्गलद्वारा[२] परिखाभिरलंकृता ॥२५॥
नानावणिक्समाकीर्णा नानाभाण्डसुविक्रिया। रथ्यापणवती रम्या[३] सुविभक्तचतुष्पथा ॥२६॥
गृहगोपुरसंबाधा वीथीभिः समलंकृता। राजहंसनिभैः शुभ्रैश्चित्रग्रीवैर्मनोहरैः ॥२७॥
अनेकशतसाहस्रैः प्रासादैः समलंकृता। यज्ञोत्सवप्रमुदिता गीतवादित्रनिस्वना ॥२८॥
नानावर्णपताकाभिर्ध्वजैश्च समलंकृता। हस्त्यश्वरथसंकीर्णपदातिगणसंकुला ॥२९॥
नानायोधसमाकीर्णा नानाजनपदैर्युता। ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्चैव द्विजातिभिः ॥३०॥
समृद्धा सा मुनिश्रेष्ठा विद्वद्भिः समलंकृता। न तत्र मलिनाः सन्ति न मूर्खा [४]नापि निर्धनाः ॥३१॥
न रोगिणो न हीनाङ्गा[५] न द्यूतव्यसनान्विताः। सदा हृष्टाः सुमनसो दृश्यन्ते पुरुषाः स्त्रियः ॥३२॥
क्रीडन्ति स्म दिवा रात्रौ हृष्टास्तत्र पृथक्पृथक्। सुवेषाः पुरुषास्तत्र दृश्यन्ते मृष्टकुण्डलाः[६] ॥३३॥
सुरूपाः सुगुणाश्चैव दिव्यालंकारभूषिताः। कामदेवप्रतीकाशाः सर्वलक्षणलक्षिताः ॥३४॥
सुकेशाः सुकपोलाश्च सुमुखाः श्मश्रुधारिणः। ज्ञातारः सर्वशास्त्राणां भेत्तारः शत्रुवाहिनीम् ॥३५॥
दातारः [७]सर्वरत्नानां भोक्तारः सर्वसंपदाम्। स्त्रियस्तत्र मुनिश्रेष्ठा दृश्यन्ते सुमनोहराः ॥३६॥
हंसवारणगामिन्यः[८] प्रफुल्लाम्भोजलोचनाः। सुमध्यमाः[९] सुजघनाः पीनोन्नतपयोधराः ।३७॥

(डिल्ला) है। वह नगरी हृष्ट-पुष्ट लोगों से परिपूर्ण, दृढ़ प्राकार-तोरण (चहारदीवारी-बंदनवार) वाली, दृढ़ यन्त्र (ताला) तथा अर्गला (जंजीर) युक्त द्वार वाली, खाइयों से अलंकृत, अनेक व्यापारियों से प्रपूर्ण, विविध बरतनों के विक्रय से युक्त, गलियों और बाजारों से समन्वित, रमणीय, अच्छी तरह विभक्त चौराहों से संयुत, गृहों तथा नगर-द्वारों से पूर्ण, गलियों से अलंकृत, राजहंस के समान उज्ज्वल तथा मनोहर, सैकड़ों-हजारों चित्र-विचित्र महलों से भूषित, यज्ञों और उत्सवों से आनन्दित गीत तथा वाद्यों से शब्दित अनेक वर्णों की ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित, हाथी, रथ तथा पैदल सेनाओं से परिपूर्ण और नाना योद्धाओं तथा जनपदों से युक्त है॥२५-२९½॥ मुनिवर्य! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जातियों और विद्वद्गणों से वह विभूषित है॥३०½॥ वहाँ न म्लेच्छ, न मूर्ख, न निर्धन, न रोगी, न हीन अंग वाले और न जुआरी रहते हैं॥३१॥ वहाँ सदा हृष्ट-प्रसन्न स्त्री-पुरुष दिन-रात पृथक्-पृथक् क्रीड़ा करते हैं॥३२½॥ वहाँ के पुरुष सुन्दर वेश तथा कुण्डलधारी, रूपवान्, गुणवान्, दिव्य अलंकारों से भूषित, कन्दर्पतुल्य, सर्वलक्षण-सम्पन्न, सुन्दर केश, कपोल तथा मुख वाले, दाढ़ी-मूँछ धारण करने वाले, सब शास्त्रों के ज्ञाता, शत्रु-सेना के छेदनकर्ता, अखिल रत्नों के दाता और निखिल सम्पत्तियों के भोक्ता हैं॥३३-३५½॥ मुनिवर्य! वहाँ की मनोहर, हंस तथा गज के समान चलने वाली, विकसित कमल के समान नेत्र वाली, सुन्दर कटि तथा जंघा वाली,

---

[१] ख. ०ता। इन्द्रद्युम्नस्य। [२] ग. ०न्त्राकुल०। [३] ख. ०म्या चतुष्पथविभूषिता। पुराट्टालकसंयुक्ता सुविविक्त०। [४] ग. नातिनि०। [५] ख. ०ङ्गा नाज्ञानव्य०। [६] ख. ०लाः। पुरुषाः सुभगाः शूरा दि०। [७] ग. सर्वकामानां। [८] ख. ०न्यः कर्णान्तायतलो०। [९] ख. ०मध्याश्च सु०।

सुकेशाश्चारुवदनाः सुकपोलाः स्थिरालकाः[1]। हावभावानतग्रीवाः कर्णाभरणभूषिताः ।।३८।।
बिम्बोष्ठ्यो रञ्जितमुखास्ताम्बूलेन विराजिताः। सुवर्णाभरणोपेताः सर्वालंकारभूषिताः ।।३९।।
श्यामावदाताः सुश्रोण्यः काञ्चीनूपुरनादिताः। दिव्यमाल्याम्बरंधरा दिव्यगन्धानुलेपनाः ।।४०।।
विदग्धाः सुभगाः कान्ताश्चार्वङ्ग्यः प्रियदर्शनाः। रूपलावण्यसंयुक्ताः सर्वाः प्रहसिताननाः ।।४१।।
क्रीडन्त्यश्च[2]मदोन्मत्ताः सभासु चत्वरेषु च। गीतावाद्यकथालापै रमयन्त्यश्च ताः स्त्रियः ।।४२।।
वारमुख्याश्च दृश्यन्ते नृत्यगीतविशारदाः। प्रेक्षणालापकुशलाः सर्वयोषिद्गुणान्विताः ।।४३।।
अन्याश्च तत्र दृश्यन्ते गुणाचार्याः कुलस्त्रियः। पतिव्रताश्च सुभगा गुणैः सर्वैरलंकृताः ।।४४।।
वनैश्चोपवनैः पुण्यैरुद्यानैश्च मनोरमैः। देवतायतनैर्दिव्यैर्नानाकुसुमशोभितैः ।।४५।।
शालैस्तालैस्तमालैश्च बकुलैर्नागकेसरैः। पिप्पलैः[3] कर्णिकारैश्च चन्दनागुरुचम्पकैः ।।४६।।
पुंनागैर्नारिकेरैश्च पनसैः सरलद्रुमैः। नारङ्गैर्लकुचैर्लोध्रैः सप्तपर्णैः शुभाञ्जनैः ।।४७।।
चूतबिल्वकदम्बैश्च शिंशपैर्धवखादिरैः। पाटलाशोकतगरैः करवीरैः सितेतरैः ।।४८।।
पीतार्जुनकभल्लातैः सिद्धैराम्रातकैस्तथा। न्यग्रोधाश्वत्थकाश्मर्यैः पलाशैर्देवदारुभिः ।।४९।।
मन्दारैः पारिजातैश्च तिन्तिडीकविभीतकैः। प्राचीनामलकैः प्लक्षैर्जम्बूशिरीषपादपैः ।।५०।।
कालेयैः काञ्चनारैश्च मधुजम्बीरतिन्दुकैः। खर्जुरागस्त्यबकुलैः शाखोटकहरीतकैः ।।५१।।
कङ्कोलैर्मुचुकुन्दैश्च हिन्तालैर्बीजपूरकैः। केतकीवनखण्डैश्च अतिमुक्तैः सकुब्जकैः ।।५२।।

स्थूल तथा उन्नत स्तनों वाली, सुन्दर केश, मुख तथा कपोल वाली, स्थिर लट वाली, हाव-भाव से झुकी ग्रीवा वाली, कर्णाभूषणों से भूषित, विम्वोष्ठी, ताम्वूल से रञ्जित मुख वाली, सुवर्ण के आभूषणों से युक्त, अशेष अलंकरणों से भूषित, श्याम तथा श्वेत वर्णवाली, सुनितम्वा, काञ्ची (करधनी) और नूपुरों से शब्दित, दिव्य माला तथा वस्त्रधारिणी, दिव्य गन्ध तथा लेप से युक्त, चतुर, सौभाग्यवती, रमणीय, मनोहर अंगों वाली, देखने में आकर्षक, रूप-सौन्दर्य-संयुक्त और हँसमुख स्त्रियाँ मदोन्मत्त होकर सभाओं में, चवूतरों पर क्रीड़ा करती हैं और गीत, वाद्य, कथा तथा आलापों से मनोरंजन करती हैं ।।३६-४२।। वहाँ नाचने-गाने में निपुण, कटाक्ष तथा आलाप करने में कुशल और समस्त स्त्रियों के गुणों से सम्पन्न वेश्याएँ देखी जाती हैं ।।४३।। दूसरी भी कुलवधुएँ वहाँ दीखती हैं, जो गुणों में आचार्य, पतिव्रता, सौभाग्यवती और सर्वगुण-सम्पन्न हैं ।।४४।। वनों से, पवित्र उपवनों से, मनोरम उद्यानों से, दिव्य तथा नाना पुष्प समन्वित देवालयों से, ।।४५।। साखू, ताल, तमाल, मौलसिरी, नागकेसर, पीपल, कनकचम्पा वृक्ष, चन्दन, अगर, चम्पक, ।।४६।। पुन्नाग, नारियल, कटहल, सरल, नारंगी, बड़हर, लोध, सप्तपर्ण, सहिजन, ।।४७।। आम, वेल, कदम्व, शीशम, कैथ, खैर, पाटल, अशोक, तगर, लाल करवीर, ।।४८।। पीतअर्जुन, भल्लात, सिद्ध, आम्रातक, वरगद, अश्वत्थ, काश्मर्य, पलाश, देवदारु, ।।४९।। मदार, पारिजात, तिन्तिड़ीक, वहेड़ा, प्राचीनामलक (जलआमला), पाकर, जामुन, शिरीष, ।।५०।। कालेय (काला चंदन), कचनार, मधु, नींवू, खजूर, अगस्त्य, शाखोटक, हरीतक, ।।५१।। कङ्कोल, मुचुकुन्द, हिन्ताल,

---

[1] ख. ०काः। मुक्ताहारर्हसुग्री०। [2] ख. ०न्मत्ता उद्यानेषु गृहेषु। [3] ख. प्रियालैः।

मल्लिकाकुन्दबाणैश्च कदलीखण्डमण्डितैः। मातुलुङ्गैः पूगफलैः करुणैः सिन्धुवारकैः ।।५३।।
बहुवारैः कोविदारैर्वदरैः सकरञ्जकैः। अन्यैश्च विविधैः पुष्पवृक्षैश्चान्यैर्मनोहरैः ।।५४।।
लतागुल्मैर्वितानैश्च उद्यानैर्नन्दनोपमैः। सदा कुसुमगन्धाढ्यैः सदा फलभरानतैः ।।५५।।
नानापक्षिरुतै रम्यैर्नानामृगगणावृतैः[1]। चकोरैः शतपत्रैश्च भृङ्गारैः प्रियपुत्रकैः ।।५६।।
कलविङ्कैर्मयूरैश्च शुकैः कोकिलकैस्तथा। कपोतैः खञ्जरीटैश्च श्येनैः पारावतैस्तथा ।।५७।।
खगैश्चान्यैर्बहुविधैः श्रोत्ररम्यैर्मनोरमैः। सरितः पुष्करिण्यश्च सरांसि सुबहूनि च ।।५८।।
अन्यैर्जलाशयैः पुण्यैः कुमुदोत्पलमण्डितैः। पद्मैः सितेतरैः शुभ्रैः कह्लारैश्च सुगन्धिभिः ।।५९।।
अन्यैर्बहुविधैः पुष्पैर्जलजैः सुमनोहरैः। गन्धामोदकरैर्दिव्यैः सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलैः ।।६०।।
हंसकारण्डवाकीर्णैश्चक्रवाकोपशोभितैः। सारसैश्च बलाकैश्च कूर्मैर्मत्स्यैः सनक्रकैः ।।६१।।
जलपादैः कदम्बैश्च प्लवैश्च जलकुक्कुटैः। खगैर्जलचरैश्चान्यैर्नानारवविभूषितैः ।।६२।।
नानावर्णैः सदा [2]हृष्टैरञ्चितानि समन्ततः। एवं नानाविधैः पुष्पैर्विविधैश्च जलाशयैः ।।६३।।
विविधैः पादपैः पुण्यैरुद्यानैर्विविधैस्तथा। जलस्थलचरैश्चैव विहगैश्चार्वधिष्ठतैः ।।६४।।
देवतायतनैर्दिव्यैः शोभिता सा महापुरी। तत्राऽऽस्ते भगवान्देवस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः[3] ।।६५।।
[4]महाकालेति विख्यातः सर्वकामप्रदः शिवः। शिवकुण्डे नरः स्नात्वा विधिवत्पापनाशने ।।६६।।

वीजपूरक, केतकीवन, अतिमुक्त, कुब्ज, ।।५२।। मल्लिका, कुन्द, बाण, केला, मातुलुङ्ग, सुपारी, करुण, सिन्धुवारक, ।।५३।। वहुवारक, कोविदार, वेर, करञ्ज आदि वृक्षों से, अन्य अनेक मनोहर पुष्प-वृक्षों से, ।।५४।। लता के गुच्छों से, नन्दन वन के समान विस्तृत उद्यानों से, सदा पुष्प-गन्धों से सुसम्पन्न वृक्षों से, सदा फलों के भार से अवनत वृक्षों से, ।।५५।। नाना पक्षियों के मनोरम शब्दों से, विभिन्न पशुगणों से और चकोर, शतपत्र, भृंगार, प्रियपुत्रक, ।।५६।। गौरैये, मयूर, तोते, कोयल, कबूतर, खञ्जन, बाज, पारावत तथा और भी विविध मनोरम पक्षियों से वह नगरी आवृत है।।५७½।। वहाँ नदियाँ, पुष्करिणियाँ और बहुत-से सरोवर तथा तालाब हैं, जो कुमुद-कमलों से, श्वेत से इतर वर्ण वाले कमलों से, सुगन्धित श्वेत कमलों से, दूसरे भी अनेक जलोत्पन्न मनोहर पुष्पों से और अत्यन्त गन्ध युक्त, दिव्य तथा सब ऋतुओं में होने वाले उज्ज्वल पुष्पों से सुशोभित हैं।।५८-६०।। जिनमें हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस, बलाक, कूर्म, मत्स्य, नक्र, जलपाद, कदम्ब, प्लव, जलकुक्कुट और दूसरे भी नाना प्रकार के शब्दों से विभूषित तथा सदा प्रसन्न, अनेक वर्ण वाले जलचर पक्षीगण रहते हैं।।६१-६२½।। इस प्रकार विविध पुष्प, जलाशय, वृक्ष, उद्यान, जल तथा स्थलचारी पक्षी और दिव्य देवालयों से वह महानगरी सुशोभित है।।६३-६४½।। वहाँ महाकाल नाम से विख्यात, सब कामनाओं के दाता, त्रिनेत्रधारी तथा त्रिपुर नामक राक्षस के शत्रु भगवान् शिव रहते हैं।।६५½।। विद्वान् मनुष्य पापनाशन शिवकुण्ड में विधिपूर्वक स्नान कर देवता, पितर तथा ऋषियों का विधान से तर्पण कर शिवालय में जाये।

---

१ ग. ०नामुनिग०। २ ख. ०ष्टैराविभाति स०। ३ख. ०रान्तस्त्रि०। ४ ख. ०हादेवेति।

देवान्पितृनृषींश्चैव संतर्प्य विधिवद्बुधः । गत्वा शिवालयं पश्चात्कृत्वा तं त्रिःप्रदक्षिणम् ॥६७॥
प्रविश्य संयतो भूत्वा धौतवासा जितेन्द्रियः । स्नानैः पुष्पैस्तथा गन्धैर्धूपैर्दीपैश्च भक्तितः ॥६८॥
नैवेद्यैरुपहारैश्च गीतवाद्यैः प्रदक्षिणैः । दण्डवत्प्रणिपातैश्च नृत्यैः स्तोत्रैश्च शंकरम् ॥६९॥
संपूज्य विधिवद्भक्त्या महाकालं सकृच्छिवम् । अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥७०॥
पापैः सर्वैर्विनिर्मुक्तो विमानैः सर्वकामिकैः । आरुह्य त्रिदिवं याति यत्र शंभोर्निकेतनम् ॥७१॥
दिव्यरूपधरः श्रीमान्दिव्यालंकारभूषितः । भुङ्क्ते तत्र वरान्भोगान्यावदाभूतसंप्लवम् ॥७२॥
शिवलोके मुनिश्रेष्ठा [1]जरामरणवर्जितः । पुण्यक्षयादिहाऽऽयातः प्रवरे ब्राह्मणे कुले ॥७३॥
चतुर्वेदी भवेद्विप्रः सर्वशास्त्रविशारदः । योगं पाशुपतं प्राप्य ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥७४॥
आस्ते तत्र नदी [2]पुण्या शिप्रा[3] नामेति विश्रुता । तस्यां स्नातस्तु विधिवत्संतर्प्य पितृदेवताः ॥७५॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो विमानवरमास्थितः । भुङ्क्ते बहुविधान्भोगान्स्वर्गलोके नरोत्तमः ॥७६॥
आस्ते तत्रैव भगवान्देवदेवो जनार्दनः । गोविन्दस्वामिनामाऽसौ भुक्तिमुक्तिप्रदो हरिः ॥७७॥
तं दृष्ट्वा मुक्तिमाप्नोति त्रिसप्तकुलसंयुतः । विमानेनार्कवर्णेन किङ्किणीजालमालिना ॥७८॥
सर्वकामसमृद्धेन कामगेनास्थिरेण च । उपगीयमानो गन्धर्वैर्विष्णुलोके महीयते ॥७९॥
भुङ्क्ते च [4]विविधान्कामान्निरातङ्को[5] गतज्वरः । आभूतसंप्लवं यावत्सुरूपः सुभगः सुखी ॥८०॥

पश्चात् तीन बार प्रदक्षिणा कर पवित्रवस्त्रधारी, जितेन्द्रिय तथा संयमी होकर स्नान, पुष्प, गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्य, उपहार, गीत, वाद्य, प्रदक्षिणा, दण्डवत् प्रणाम, नृत्य और स्तोत्र से महाकाल शिव की विधिपूर्वक भक्ति से पूजा करे। (इस तरह एक बार पूजा करने से) मनुष्य सहस्र अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है और समस्त पापों से रहित हो स्वेच्छाचारी विमानों पर चढ़ कर शंभु के निवास-स्थल को जाता है ॥६६-७१॥ वहाँ दिव्य भूषणों से भूषित तथा दिव्यरूपधारी होकर कल्पान्त तक अनेक प्रकार के उत्तम भोगों को भोगता है ॥७२॥ मुनिवर्य ! शिवलोक में बुढ़ापा तथा मृत्यु नहीं होती। पुण्यक्षय होने पर जीव यहाँ आकर उत्तम ब्राह्मण-कुल में जन्म लेता है और चारों वेदों का ज्ञाता तथा सर्वशास्त्र-कुशल होकर पाशुपत योग प्राप्त कर मोक्ष-प्राप्ति कर लेता है ॥७३-७४॥ वहाँ एक शिप्रा नाम से प्रसिद्ध पवित्र नदी है। उसमें स्नान तथा विधिपूर्वक पितर-देवताओं के तर्पण करने से मनुष्य सर्वपाप-रहित हो जाता है और उत्तम विमान द्वारा स्वर्गलोक जाकर अनेक भोगों का उपभोग करता है ॥७५-७६॥ वहीं पर गोविन्दस्वामी नाम से प्रसिद्ध, भुक्ति-मुक्ति-दायक, देवों के देव, भगवान् जनार्दन रहते हैं ॥७७॥ उनका दर्शन कर मनुष्य मुक्त हो जाता है और इक्कीस कुलों के साथ सूर्य के समान वर्ण वाले, क्षुद्र घण्टिकाओं की माला वाले, सव कामनाओं के पूरणकर्ता, स्वेच्छाचारी तथा अस्थिर विमान में स्थित होकर गन्धर्वों से स्तुत होते हुए विष्णुलोक में पूजित होता है ॥७८-७९॥ वहाँ वह आतङ्क तथा ज्वर से रहित, रूपवान्, भाग्यवान् तथा सुखी होकर

---

[1] ख. ०र्जिते। पु०। [2] ग. रम्या। [3] ख. क्षिप्रा। [4] ख. ०धान्भोगान्नि०। [5] ख. ०तङ्कान्गत०।

कालेनाऽऽगत्य मतिमान्ब्राह्मणः स्यान्महीतले । प्रवरे योगिनां गेहे वेदशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।।८१।।
वैष्णवं योगमास्थाय ततो मोक्षमवाप्नुयात् । विक्रमस्वामिनामानं विष्णुं तत्रैव भो द्विजाः ।।८२।।
दृष्ट्वा नरो वा नारी वा फलं पूर्वोदितं लभेत् । अन्येऽपि तत्र तिष्ठन्ति देवाः शक्रपुरोगमाः ।।८३।।
मातरश्च मुनिश्रेष्ठा सर्वकामफलप्रदाः । दृष्ट्वा तान्विधिवद्भक्त्या संपूज्य प्रणिपत्य च ।।८४।।
[1]सर्वपापविनिर्मुक्तो नरो याति त्रिविष्टपम् । एवं सा नगरी रम्या राजसिंहेन पालिता ।।८५।।
नित्योत्सवप्रमुदिता यथेन्द्रस्यामरावती । पुराष्टादशसंयुक्ता[2] सुविस्तीर्णचतुष्पथा ।।८६।।
धनुर्ज्याघोषनिनदा सिद्धसंगमभूषिता । विद्यावद्गणभूयिष्ठा वेदनिर्घोषनादिता ।।८७।।
इतिहासपुराणानि शास्त्राणि विविधानि च । काव्यालापकथाश्चैव श्रूयन्तेऽहर्निशं द्विजाः ।।८८।।
एवं मया गुणाढ्या सा तदु (सोज्ज) यिनी सुमुदाहृता । यस्यां राजाऽभवत्पूर्वमिन्द्रद्युम्नो महामतिः ।।८९।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादेऽवन्तिकावर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ।।४३।।

कल्पान्त तक विविध भोगों को भोगता है ।।८०।। फिर समय पाकर भू-तल पर आकर योगियों के उत्तम घर में जन्म लेता है और वेद-शास्त्रों का तत्त्वज्ञाता ब्राह्मण होकर वैष्णव योग में स्थित होते हुए मोक्ष प्राप्त करता है।।८१$\frac{१}{२}$।। द्विजगण ! वहीं पर विक्रमस्वामी नामक विष्णु के दर्शन करने से नर या नारी पूर्वोक्त फल लाभ करते हैं । मुनिवर ! वहाँ दूसरे भी इन्द्र आदि देवता तथा सब कामनाओं को देने वाले मातृ-गण विद्यमान हैं । उनका दर्शन कर भक्ति से विधिपूर्वक पूजा तथा प्रणाम करने से मनुष्य सर्वपाप-रहित होकर स्वर्ग जाता है।।८२-८४$\frac{१}{२}$।। इस प्रकार श्रेष्ठ राजा से पालित वह रमणीय नगरी अमरावती की तरह नित्य उत्सवों से प्रमुदित रहती है ।।८५$\frac{१}{२}$।। द्विजगण ! उस नगरी में अट्ठारह विस्तृत चौराहे हैं, धनुष-गुणों के महाशब्द होते रहते हैं, अनेक सन्त-महात्मा तथा विद्वद्गण वेद-ध्वनि करते रहते हैं और इतिहास, पुराण, विविध शस्त्र, काव्य, कथा तथा आख्यानकों की चर्चा रात-दिन चलती रहती है ।।८६-८८।। इस प्रकार वर्णित उस गुण-सम्पन्न नगरी का नाम उज्जयिनी है; जिसमें पहले इन्द्रद्युम्न नामक महाबुद्धिमान् राजा हुआ था ।।८९।।

श्री ब्रह्मपुराण में ब्रह्म और ऋषि के संवाद-प्रकरण में अवन्तिका-वर्णन
नामक तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ।।४३।।

---

[1] ख. ०र्वकामवि० । [2] ग. ०क्ता षड्विंशग्रामभू० ।

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

इन्द्रद्युम्नस्य दक्षिणोदधितटगमनम्

ब्रह्मोवाच

तस्यां स नृपतिः पूर्वं कुर्वन्राज्यमनुत्तमम् । पालयामास मतिमान्प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥१॥
सत्यवादी महाप्राज्ञः शूरः सर्वगुणाकरः[1] । मतिमान्धर्मसंपन्नः सर्वशास्त्रभृतां वरः ॥२॥
सत्यवाञ्छीलवान्दान्तः श्रीमान्परपुरंजयः । आदित्य इव तेजोभी रूपैराश्विनयोरिव[2] ॥३॥
वर्धमानसुराश्चर्यः शक्रतुल्यपराक्रमः । शारदेन्दुरिवाऽऽभाति लक्षणैः समलंकृतः ॥४॥
आहर्ता सर्वयज्ञानां हयमेधादिकृत्तथा । दानैर्यज्ञैस्तपोभिश्च तत्तुल्यो नास्ति[3] भूपतिः ॥५॥
सुवर्णमणिमुक्तानां गजाश्वानां च भूपतिः । प्रददौ विप्रमुख्येभ्यो यागे यागे महाधनम् ॥६॥
हस्त्यश्वरथमुख्यानां कम्बलाजिनवाससाम् । रत्नानां धनधान्यानामन्तस्तस्य[4] न विद्यते ॥७॥
एवं सर्वधनैर्युक्तो गुणैः सर्वैरलंकृतः । सर्वकामसमृद्धात्मा कुर्वन्राज्यमकण्टकम् ॥८॥
तस्येयं मतिरुत्पन्ना सर्वयोगेश्वरं हरिम् । कथमाराधयिष्यामि भुक्तिमुक्तिप्रदं प्रभुम् ॥९॥
विचार्य सर्वशास्त्राणि तन्त्राण्यागमविस्तरम् । इतिहासपुराणानि वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥१०॥

अध्याय ४४

इन्द्रद्युम्न का दक्षिणसमुद्र के तट पर जाना

ब्रह्मा ने कहा—पहले उस नगरी में उत्तम राज्य करते हुए वह बुद्धिमान् राजा अपने पुत्रों की तरह प्रजाओं का पालन करता था ॥१॥ वह सत्यवादी, महाविद्वान्, वीर, सर्वगुणाकर, बुद्धिमान्, धर्मसंपन्न, योद्धाओं में श्रेष्ठ, सत्यवान्, शीलवान्, संयमी, श्रीमान्, शत्रुविजयी, सूर्य के समान तेजस्वी, अश्विनीकुमार के सदृश रूपवान्, देवताओं को चकित करने वाले, इन्द्रतुल्य पराक्रमी, शरद् ऋतु के चन्द्र तुल्य कान्तिमान्, अखिल लक्षणों से अलंकृत, अश्वमेध आदि यज्ञों का कर्ता और दान, यज्ञ तथा तप करने में अद्वितीय राजा था ॥२-५॥ वह प्रतियज्ञ में उत्तम ब्राह्मणों को पर्याप्त धन—सुवर्ण, मणि, मोती, हाथी और घोड़े—देता था। उसके हाथी, घोड़े, रथ, कम्बल, चर्म, वस्त्र, रत्न तथा धन-धान्यों का अन्त नहीं था। इस तरह सब प्रकार के धनों से युक्त, समस्त गुणों से अलंकृत तथा सब कामनाओं से परिपूर्ण वह राजा अकण्टक राज्य करता था ॥६-८॥ उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं भुक्ति-मुक्ति-दायक प्रभु हरि की कैसे उपासना करूँ। तब वह अखिल शास्त्र, तन्त्र, आगम, इतिहास, पुराण, वेदांग, धर्मशास्त्र, ऋषिप्रोक्त नियम तथा विद्याओं के स्थानों को

---

[1] ख. ०रः । सर्वजिद्धर्म० । [2] ग. ०व । षोडशार्धगुणैयुक्तः श० । [3] ख. नात्र । [4] ख. ०न्तस्तेषां न ।

धर्मशास्त्राणि सर्वाणि नियमानृषिभाषितान् । वेदाङ्गानि च शास्त्राणि विद्यास्थानानि[१] यानि च ।।११।।
गुरुं संसेव्य[२] यत्नेन ब्राह्मणान्वेदपारगान् । आधाय परमां काष्ठां कृतकृत्योऽभवत्तदा ।।१२।।
संप्राप्य परमं तत्त्वं वासुदेवाख्यमव्ययम् । भ्रान्तिज्ञानादतीतस्तु मुमुक्षुः संयतेन्द्रियः ।।१३।।
कथमाराधयिष्यामि देवदेवं सनातनम् । पीतवस्त्रं चतुर्बाहुं शङ्खचक्रगदाधरम् ।।१४।।
वनमालावृतोरस्कं पद्मपत्रायतेक्षणम् । श्रीवत्सोरःसमायुक्तं मुकुटाङ्गदशोभितम् ।।१५।।
स्वपुरात्स तु निष्क्रान्त उज्जयिन्याः प्रजापतिः । बलेन महता युक्तः [३]सभृत्यः सपुरोहितः ।।१६।।
अनुजग्मुस्तु तं सर्वे रथिनः शस्त्रपाणयः । रथैर्विमानसंकाशैः पताकाध्वजसेवितैः ।।१७।।
सादिनश्च तथा सर्वे प्रासतोमरपाणयः । अश्वैः पवनसंकाशैरनुजग्मुस्तु तं नृपम् ।।१८।।
हिमवत्संभवैर्मत्तैर्वारणैः पर्वतोपमैः । ईषादन्तैः[४] सदा मत्तैः प्रचण्डैः षष्टिहायनैः ।।१९।।
हेमकक्षैः सपताकैर्घण्टारवविभूषितैः । अनुजग्मुश्च तं [५]सर्वे गजयुद्धविशारदाः ।।२०।।
असंख्येयाश्च पादाता धनुष्प्रासासिपाणयः[६] । दिव्यमाल्याम्बरधरा दिव्यगन्धानुलेपनाः ।।२१।।
अनुजग्मुश्च तं सर्वे युवानो मृष्टकुण्डलाः । सर्वास्त्रकुशलाः शूराः सदा सङ्ग्रामलालसाः ।।२२।।
अन्तःपुरनिवासिन्यः स्त्रियः सर्वाः स्वलंकृताः । बिम्बौष्ठचारुदशनाः[७] सर्वाभरणभूषिताः ।।२३।।
दिव्यवस्त्रधराः सर्वा दिव्यमाल्यविभूषिताः । दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गाः शरच्चन्द्रनिभाननाः ।।२४।।

विचार कर यत्नपूर्वक वेदपारंगत ब्राह्मणों तथा गुरु की सेवा कर चरम सीमा पर पहुँचकर कृतकृत्य हो गया।।९-१२।। पश्चात् काल वासुदेव संज्ञक अविनाशी परम तत्त्व को प्राप्त कर मुमुक्षु, जितेन्द्रिय तथा भ्रमात्मक ज्ञान से परे होकर 'देवों के देव, सनातन, पीतवस्त्रधारी, चतुर्भुज, शंख-चक्र-गदाधारी, वनमाला से आवृत वक्षःस्थल वाले, विकसित कमल के समान दीर्घ नेत्र वाले, हृदय पर श्रीवत्स नामक चिह्न से युक्त तथा मुकुट और अंगद (बाहुभूषण) से सुशोभित कृष्ण की कैसे आराधना करूँ' यह सोचते हुए राजा अपने नगर उज्जयिनी से चल पड़ा ।।१३-१५½।। उसके पीछे विशाल सेना, नौकर-चाकर, पुरोहित और शस्त्र हाथों में लिये सब रथारोही ध्वजा-पताकाओं से सेवित, विमान तुल्य रथों में स्थित होकर चल पड़े ।।१६-१७।। अश्वारोहीगण भी पवन तुल्य वेगी अश्वों पर चढ़ कर भाले और तोमर धारण कर राजा के पीछे हो लिये।।१८।। हिमालय प्रदेश में उत्पन्न, पर्वताकार, हरिस के समान दाँत वाले, सदा मतवाले, भयंकर, साठ वर्ष वाले, सुवर्णमय हौदा तथा पताका से युक्त और घंटा के शब्दों से विभूषित हाथियों पर चढ़ कर गजयुद्धविशारदवृन्द राजा का अनुसरण करने लगे ।।१९-२०।। दिव्यमाला, वस्त्र और सुगन्धित लेप धारी, सब प्रकार के अस्त्र चलाने में कुशल वीर, सदा संग्राम के अभिलाषी तथा सुन्दर कुण्डलों से विभूषित असंख्य युवक धनुष, भाले और तलवार हाथों में लिये पैदल ही राजा का अनुगमन करने लगे ।।२१-२२।। बिम्वोष्ठी, सुन्दर दाँत वाली, अशेष आभूषणों से अलंकृत, दिव्यवस्त्रधारिणी, दिव्य मालाओं से विभूषित,

---

१ ख. ०नि सर्वशः। गु०। २ ख. संभाव्य। ३ ख. सोहलासः। ४ ख. रेखादन्तैः। ५ ख. ०र्वे जययु०। ६ ग. सादिपा०। ७ ख. रूपयौवनसम्पन्नाः।

सुमध्यमाश्चारुवेषाश्चारुकर्णालकाञ्चिताः । ताम्बूलरञ्जितमुखा रक्षिभिश्च सुरक्षिताः ॥२५॥
यानैरुच्चावचैः शुभ्रैर्मणिकाञ्चनभूषितैः । उपगीयमानास्ताः सर्वा गायनैः स्तुतिपाठकैः ॥२६॥
वेष्टिताः [1]शस्त्रहस्तैश्च[2] पद्मपत्रायतेक्षणाः । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या अनुजग्मुश्च तं नृपम्[3] ॥२७॥
वणिग्ग्रामगणाः सर्वे नानापुरनिवासिनः । धनै रत्नैः सुवर्णैश्च सदाराः सपरिच्छदाः[4] ॥२८॥
अस्त्रविक्रयकाश्चैव ताम्बूलपण्यजीविनः । तृणविक्रयकाश्चैव काष्ठविक्रयकारकाः ॥२९॥
रङ्गोपजीविनः सर्वे मांसविक्रयिणस्तथा । तैलविक्रयकाश्चैव वस्त्रविक्रयकास्तथा[5] ॥३०॥
फलविक्रयिणश्चैव पत्रविक्रयिणस्तथा । तथा जवसहाराश्च रजकाश्च सहस्रशः ॥३१॥
गोपाला नापिताश्चैव तथाऽन्ये वस्त्रसूचकाः । मेषपालाश्चाजपाला मृगपालाश्च हंसकाः ॥३२॥
धान्यविक्रयिणश्चैव सक्तुविक्रयिणश्च ये । गुडविक्रयिकाश्चैव तथा लवणजीविनः ॥३३॥
गायना नर्तकाश्चैव तथा मङ्गलपाठकाः । शैलूषाः [6]कथकाश्चैव पुराणार्थविशारदाः ॥३४॥
कवयः काव्यकर्तारो नानाकाव्यविशारदाः । विषघ्ना गारुडाश्चैव नानारत्नपरीक्षकाः ॥३५॥
व्योकारास्ताम्रकाराश्च कांस्यकाराश्च रूठकाः । कौषकाराश्चित्रकाराः कुन्दकाराश्च पावकाः ॥३६॥

दिव्य गन्धों से लिप्त अंग वाली, शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान मुख वाली, सुन्दर कटि वाली, सुन्दर वेश वाली, कानों पर लटकते हुए बालों से सुशोभित, ताम्बूल से रञ्जित मुख वाली, रक्षकगणों से सुरक्षित, सब तरह की मणि-काञ्चन भूषित सवारियों पर स्थित, मागधवन्दियों से स्तुत, पद्म-पत्र के समान दीर्घ नेत्र वाली और शस्त्रधारियों से आवृत अन्तःपुर की स्त्रियाँ अच्छी तरह सज-धज कर राजा के पश्चात् प्रस्थित हुईं ॥२३-२६$\frac{१}{३}$॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा धन-रत्न, सुवर्ण, स्त्री और सामानों को साथ लिये वणिक्-समूह, अस्त्र-विक्रेता, ताम्बूल तथा जूए से जीविका उपार्जन करने वाले, घास-विक्रेता, लकड़ी का व्यापार करने वाले, ॥२७-२९॥ रंगों से जीविका कमाने वाले, मांस-विक्रेता, तेल-विक्रेता, वस्त्र-विक्रेता, ॥३०॥ फल-विक्रेता, पत्र-विक्रेता, घास ढोने वाले, हजारों धोबी, ॥३१॥ अहीर, नाई, दर्जी, गडरिये, बकरी पालने वाले, हरिण पालने वाले, हंस पालने वाले, ॥३२॥ धान्य-विक्रेता, सत्तू बेचने वाले, गुड़ बेचने वाले, लवण-विक्रेता, ॥३३॥ गवैये, नर्तक, बंदी, नट, कथक, पौराणिक, ॥३४॥ कवि, काव्यकर्ता, नाना काव्यनिपुण, विषवैद्य, विष-मंत्रज्ञाता, रत्नों के परीक्षक, ॥३५॥ लोहार, कसेरा, कोशकार, चित्रकार,

---

[1] ख. यष्टिहस्तैश्च। [2] ख. ०श्च अ० । [3] ख. ०म । वेश्याः सर्वाङ्गसुन्दर्यो नानालंकारभूषिताः । परिवारगणैः सार्धमनुजग्मुस्तथा नृपम् । तथा मणि ग० । [4] ख. ०दाः । साङ्गवेदविदश्चैव नानाशास्त्रार्थपारगाः । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैवाष्टजातयः । स्वर्णकाराश्च कर्मारा लोहकाराश्मकुट्टकाः । मणिकाराः कुम्भकाराश्चर्मकाराश्च पावकाः । पराकारा वेत्रकारा मुद्गकाराश्च शिल्पिनः । केशकारास्तुम्बिकारा इषुकारा स्वजीविनः । स्वर्णकाराः खड्गकाराः स्वधाकाराश्च वाहकाः । अपूपकारकाः सर्वे तोयविक्रयकास्तथा। मालाकाराः पर्वकाराः सर्वविक्रयिणश्च ये। मत्स्यविक्रयिणश्चैवमां० । [5] ख. ०था । सुस्रग्विक्रयकाश्चैव ताम्बूलीप्रण्यजीविनः । तृणविक्रयकाश्चैव काष्ठविक्रयकास्तथा । रङ्गोपजीविनश्चैव रज० । [6] ख. कत्थका० ।

दण्डकाराश्चासिकाराः सुराधूतोपजीविनः। मल्ला दूताश्च कायस्था ये चान्ये कर्मकारिणः ॥३७॥
तन्तुवाया रूपकारा वार्तिकास्तैलपाठकाः। लावजीवास्तैत्तिरिका मृगपक्ष्युपजीविनः ॥३८॥
गजवैद्याश्च वैद्याश्च नरवैद्याश्च ये नराः। वृक्षवैद्याश्च गोवैद्या ये चान्ये छेददाहकाः ॥३९॥
एते नागरकाः सर्वे ये चान्ये नानुकीर्तिताः। अनुजग्मुस्तु राजानं समस्तपुरवासिनः ॥४०॥
यथा व्रजन्तं पितरं ग्रामान्तरं समुत्सुकाः। अनुयान्ति यथा पुत्रास्तथा तं तेऽपि नागराः ॥४१॥
एवं स नृपतिः श्रीमान्वृतः सर्वैर्महाजनैः। हस्त्यश्वरथपादातैर्जगाम च शनैः शनैः ॥४२॥
एवं गत्वा स नृपतिर्दक्षिणस्योदधेस्तटम्। सर्वैस्तैर्दीर्घकालेन बलैरनुगतः प्रभुः ॥४३॥
ददर्श [1]सागरं रम्यं नृत्यन्तमिव च स्थितम्। अनेकशतसाहस्रैरूर्मिभिश्च समाकुलम् ॥४४॥
नानारत्नालयं पूर्णं नानाप्राणिसमाकुलम्। वीचीतरङ्गबहुलं महाश्चर्यसमन्वितम् ॥४५॥
तीर्थराजं महाशब्दमपारं सुभयंकरम्। मेघवृन्दप्रतीकाशमगाधं मकरालयम्[2] ॥४६॥
मत्स्यैः कूर्मैश्च शङ्खैश्च शुक्तिकानक्रशङ्कुभिः। शिशुमारैः कर्कटैश्च [3]वृतं सर्पैर्महाविषैः ॥४७॥
लवणोदं हरेः स्थानं शयनस्य नदीपतिम्। सर्वपापहरं पुण्यं सर्ववाञ्छाफलप्रदम् ॥४८॥
अनेकावर्तगम्भीरं दानवानां समाश्रयम्। अमृतस्यारणिं दिव्यं देवयोनिमपां पतिम् ॥४९॥
विशिष्टं सर्वभूतानां प्राणिनां जीवधारणम्[4]। सुपवित्रं पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ॥५०॥

खरादने वाले, रूठक ?, पावक (तपस्वी ?), ॥३६॥ दण्ड बनाने वाले, तलवार बनाने वाले, मद्य-विक्रेता, पहलवान, दूत, कायस्थ, अन्य कर्मचारी, ॥३७॥ जुलाहे, सोनार, वार्तिक (जासूस), तैलपाठक (तेली), लावा पक्षी से जीविका कमाने वाले, तीतर पक्षी से निर्वाह करने वाले, पशु-पक्षियों से जीने वाले, ॥३८॥ हाथी के वैद्य, वैद्य, मनुष्य-वैद्य, वृक्ष-वैद्य, गो-वैद्य, छेदनकर्ता, दाह-कर्ता—ये नागरिक और दूसरे भी समस्त पुरवासी, जिनके नाम नहीं लिये गये, राजा का अनुमान करने लगे ॥३९-४०॥ जैसे दूसरे गाँव को जाने वाले पिता का, पुत्र उत्सुकता से अनुगमन करते हैं उसी तरह वे नागरिक भी राजा के अनुयायी हुए ॥४१॥ इस प्रकार हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सेना और समस्त नागरिकों से वेष्टित राजा धीरे-धीरे प्रस्थान करने लगा ॥४२॥ इस प्रकार वह राजा सकल सैनिकों के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर पहुँचा ॥४३॥ राजा ने नाचते हुए-से स्थित, रमणीय, सैकड़ों-हजारों तरंगों से व्याप्त, ॥४४॥ नाना रत्नों के आलय, पूर्ण, अनेक जीव-जन्तुओं से भरे, महान् आश्चर्यजनक, ॥४५॥ तीर्थराज, महाशब्दकारी, पार-रहित, अतिभयंकर, मेघसमूहतुल्य, अगाध, ग्राहों के घर, ॥४६॥ मत्स्य, कूर्म, शंख, शुक्तिका (सितुही), नक्र, शंकु, शिशुमार, कर्कट तथा महाविषधर सर्पों से युक्त, ॥४७॥ खारे जल वाले, हरि के शयन-स्थान, नदियों के पति, सब पापों के हरने वाले, पवित्र, सब कामनाओं के फल देने वाले, ॥४८॥ अनेक आवर्तों से गम्भीर, दानवों के आश्रय, अमृत के उत्पत्ति-स्थान, दिव्य, देव-योनि, जल के स्वामी, ॥४९॥ सब के प्रिय, प्राणियों के जीव धारण

---

[1] ख. ०रं रौद्रमपारकलवर्तिनम्। [2] ख. ०म्। बहुकू०। [3] ख. श्रितं। [4] ख. ०धारिणाम्।

तीर्थानामुत्तमं तीर्थमव्ययं यादसां पतिम्। चन्द्रवृद्धिक्षयस्येव यस्य मानं प्रतिष्ठितम् ।।५१।।
अभेद्यं सर्वभूतानां देवानाममृतालयम्। उत्पत्तिस्थितिसंहारहेतुभूतं सनातनम् ।।५२।।
उपजीव्यं च सर्वेषां पुण्यं नदनदीपतिम्। दृष्ट्वा तं नृपतिश्रेष्ठो विस्मयं परमं गतः ।।५३।।
निवासमकरोत्तत्र वेलामासाद्य सागरीम्। पुण्ये मनोहरे देशे सर्वभूमिगुणैर्युते ।।५४।।
वृतं शालैः कदम्बैश्च पुंनागैः सरलद्रुमैः। पनसैर्नारिकेलैश्च[1] बकुलैर्नागकेसरैः ।।५५।।
तालैः पिप्पलैः खर्जूरैर्नारङ्गैर्बीजपूरकैः। शालैराम्रातकैर्लोध्रैर्बकुलैर्बहुवारकैः ।।५६।।
कपित्थैः कर्णिकारैश्च पाटलाशोकचम्पकैः। दाडिमैश्च तमालैश्च पारिजातैस्तथाऽर्जुनैः ।।५७।।
प्राचीनामलकैर्बिल्वैः प्रियंगुवटखादिरैः। इङ्गुदीसप्तपर्णैश्च अश्वत्थागस्त्यजम्बुकैः ।।५८।।
मधुकैः कर्णिकारैश्च बहुवारैः सतिन्दुकैः। पलाशबदरैर्नीपैः सिद्धनिम्बशुभाञ्जनैः[2] ।।५९।।
वारकैः कोविदारैश्च भल्लातामलकैस्तथा[3]। इति हिन्तालकाङ्कोलैः करञ्जैः सविभीतकैः ।।६०।।
ससर्जमधुकाश्मर्यैः शाल्मलीदेवदारुभिः। शाखोटकैर्निम्बवटैः कुम्भीकोष्ठहरीतकैः ।।६१।।
गुग्गुलैश्चन्दनैर्वृक्षैस्तथैवागुरुपाटलैः[4]। जम्बीरकरुणैर्वृक्षैस्तिन्तिडीरक्तचन्दनैः ।।६२।।
एवं नानाविधैर्वृक्षैस्तथाऽन्यैर्बहुपादपैः। [5]कल्पद्रुमैर्नित्यफलैः सर्वर्तुकुसुमोत्करैः ।।६३।।
नानापक्षिरुतैर्दिव्यैर्मत्तकोकिलनादितैः। मयूरवरसंघुष्टैः शुकसारिकसंकुलैः ।।६४।।
हारीतैर्भृङ्गराजैश्च चातकैर्बहुपुत्रकैः। जीवंजीवककाकोलैः कलविङ्कैः कपोतकैः ।।६५।।

करने वाले, पवित्रों में पवित्र, मंगलों में मंगल, ।।५०।। तीर्थों में उत्तम तीर्थ, नाश-रहित, जलजन्तुओं के स्वामी, चन्द्रमा की वृद्धि तथा क्षय की तरह मान (सीमा-प्रमाण) वाले, ।।५१।। सब प्राणियों से अभेद्य, देवताओं के अमृतालय, उत्पत्ति-स्थिति-संहार के कारण, सनातन, ।।५२।। सब के आश्रय और नद-नदियों के स्वामी सागर को देखा। देख कर वह अत्यन्त विस्मित हो गया। समुद्र-तट पर पहुँचकर राजा वहाँ निवास करने लगा ।।५३$\frac{१}{३}$।। (उस) पवित्र, मनोहर तथा भूमि के समस्त गुणों से युक्त देश में साखू, कदम्ब, पुन्नाग, सरड़, कटहल, नारियल, मौलसिरी, नागकेसर, ।।५४-५५।। ताल, पीपल, खजूर, नारंगी, बीजपूरक, आम्रातक, लोध, बहुवारक, कठबेल, कनकचम्पा, पाटला, अशोक, चम्पा, अनार, तमाल, पारिजात, अर्जुन, ।।५६-५७।। प्राचीनामलक, बेल, प्रियंगु, वट, खैर, हिंगोट, छतिवन, अश्वत्थ, अगस्त्य, नीबू, ।।५८।। महुआ, तिन्दुक, पलाश, बेर, कदम्ब, सिद्ध, नीम, सहिजन, ।।५९।। वारक, कचनार, भल्लात, आमलक, हिन्ताल, काङ्कोल, करञ्ज, बहेड़ा, ।।६०।। सर्ज, मधु, काश्मर्य, सेमल, देवदारु, शाखोटक, कुम्भीकोष्ठ, हर्रे, ।।६१।। गुग्गुल, चन्दन, अगर, करुण, तिन्तिड़ी, रक्तचन्दन—ऐसे नाना प्रकार के वृक्षों से, नित्य फूलने वाले तथा सब ऋतुओं में फूलने वाले कल्पवृक्षों से, ।।६२-६३।। नाना पक्षियों के दिव्य शब्दों से, मत्त कोकिल, मयुर, तोते, मैने, हारीत, भृङ्गराज, पपीहे, बहुपुत्रक, जीवंजीव (चकोर), गौरैये, कबूतर—पक्षियों से तथा दूसरे

---

[1] ख. ०श्च लकुचैर्ना०। [2] ख. ०म्बसुपत्रकैः। वा०। [3] ख. ०था। तीति। [4] ख. ०पादपैः। ज०। [5] ख. ०मैर्नीलफ०।

खगैर्नानाविधैश्चान्यैः श्रोत्ररम्यैर्मनोहरैः। पुष्पिताग्रेषु वृक्षेषु कूजद्भिश्चार्वधिष्ठितैः ।।६६।।
केतकीवनखण्डैश्च[1] सदा पुष्पधरैः सितैः। मल्लिकाकुन्दकुसुमैर्यूथिकातगरैस्तथा ।।६७।।
कुटजैर्बाणपुष्पैश्च अतिमुक्तैः सकुब्जकैः। मालतीकरवीरैश्च तथा कदलकाञ्चनैः ।।६८।।
अन्यैर्नानाविधैः पुष्पैः सुगन्धैश्चारुदर्शनैः। वनोद्यानोपवनजैर्नानावर्णैः सुगन्धिभिः ।।६९।।
विद्याधरगणाकीर्णैः सिद्धचारणसेवितैः। गन्धर्वोरगरक्षोभिर्भूताप्सरसकिंनरैः ।।७०।।
मुनियक्षगणाकीर्णैर्नानासत्त्वनिषेवितैः। मृगैः शाखामृगैः सिंहैर्वराहमहिषाकुलैः ।।७१।।
तथाऽन्यैः कृष्णसाराद्यैर्मृगैः सर्वत्र शोभितैः। [2]शार्दूलैर्दीप्तमातङ्गैस्तथाऽन्यैर्वनचारिभिः ।।७२।।
एवं नानाविधैर्वृक्षैरुद्यानैर्नन्दनोपमैः। लतागुल्मवितानैश्च विविधैश्च जलाशयैः ।।७३।।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मिनीखण्डमण्डितैः। कादम्बैश्च प्लवैर्हंसैश्चक्रवाकोपशोभितैः ।।७४।।
कमलैः शतपत्रैश्च कह्लारैः कुमुदोत्पलैः। खगैर्जलचरैश्चान्यैः पुष्पैर्जलसमुद्भवैः ।।७५।।
पर्वतैर्दीप्तशिखरैश्चारुकन्दरमण्डितैः। नानावृक्षसमाकीर्णैर्नानाधातुविभूषितैः ।।७६।।
सर्वाश्चर्यमयैः शृङ्गैः सर्वभूतालयैः शुभैः। सर्वौषधिसमायुक्तैर्विपुलैश्चित्रसानुभिः ।।७७।।
एवं सर्वैः समुदितैः शोभितं सुमनोहरैः। ददर्श स महीपालः स्थानं त्रैलोक्यपूजितम् ।।७८।।
दशयोजनविस्तीर्णं पञ्चयोजनमायतम्। [3]नानाश्चर्यसमायुक्तं क्षेत्रं परमदुर्लभम् ।।७९।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भ्वृषिसंवादे क्षेत्रदर्शनं नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ।।४४।।

भी पुष्पित वृक्षों के ऊपर शब्द करने वाले मनोहर पक्षियों से, सदा श्वेत पुष्प समन्वित केतकी, मल्लिका, कुन्द, जूही, तगर, कुटज, बाण, अतिमुक्त, कुब्ज, मालती, करवीर, कदल, काञ्चन—इन पुष्पों से ।।६४-६८।। तथा अन्य अनेक सुगन्धित मनोहर पुष्पों से, अनेक प्रकार के सुगन्धित वन, उपवन तथा उद्यानों से, विद्याधरगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, अप्सरा, किन्नर, ।।६९-७०।। मुनि, यक्षगण तथा अनेक जीवों से, हरिण, वन्दर, सिंह, शूकर, महिष, कृष्णमृग, बाघ, मतवाले हाथी तथा अन्य वनचारी पशुओं से, नाना प्रकार के वृक्षों तथा नन्दनवन तुल्य उद्यानों से, लता-गुल्म-वितानों से, हंस-कारण्डवों से प्रपूर्ण, कमलिनीखण्डों से सुशोभित, कादम्व, प्लव, हंस तथा चक्रवाकों से अलंकृत, कमल, शतपत्र, कह्लार, कुमुद तथा उत्पलों से विभूषित, जलचर पक्षियों तथा जलोत्पन्न पुष्पों से युक्त विविध जलाशयों और सुन्दर गुफाओं से मण्डित, नाना वृक्षों से व्याप्त, विविध धातुओं से विभूषित, सब प्राणियों के आश्रय, समस्त ओषधियों से युक्त तथा सब को चकित करने वाले कान्तिमान् शिखरों से युक्त अत्यन्त मनोहर पर्वतों से सुशोभित एक क्षेत्र राजा को दृष्टिगोचर हुआ, जो तीनों लोकों से पूजित, दस योजन प्रमाण चौड़ा, पाँच योजन प्रमाण लम्वा, अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओं से समन्वित तथा परम दुर्लभ था ।।७१-७९।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में क्षेत्र-दर्शन
नामक चौवालीसवाँ अध्याय समाप्त ।।४४।।

---

[1] ख. ०श्च तथा पुष्पवरैः। [2] ख. ०लैर्देवमा०। [3] ख. ०श्चर्यैः समाक्रान्तं क्षे०।

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

पुरुषोत्तमक्षेत्र-वर्णनम्

मुनय ऊचुः

तस्मिन्क्षेत्रवरे पुण्ये वैष्णवे पुरुषोत्तमे। किं तत्र प्रतिमा पूर्वं न स्थिता वैष्णवी प्रभो ॥१॥
येनासौ नृपतिस्तत्र गत्वा सबलवाहनः। स्थापयामास कृष्णं च [1]रामं भद्रां शुभप्रदाम् ॥२॥
संशयो नो महानत्र विस्मयश्च जगत्पते। श्रोतुमिच्छामहे सर्वं ब्रूहि तत्कारणं च नः ॥३॥

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं पूर्वसंवृत्तां कथां पापप्रणाशिनीम्। प्रवक्ष्यामि समासेन श्रिया पृष्टः सुरा हरिः ॥४॥
सुमेरोः काञ्चने शृङ्गे सर्वाश्चर्यसमन्विते। सिद्धविद्याधरैर्यक्षैः किंनरैरुपशोभिते ॥५॥
देवदानवगन्धर्वैर्नागैरप्सरसां गणैः। मुनिभिर्गुह्यकैः सिद्धैः सौपर्णैः समरुद्गणैः ॥६॥
अन्यैर्देवालयैः साध्यैः कश्यपाद्यैः प्रजेश्वरैः। वालखिल्यादिभिश्चैव शोभिते सुमनोहरे ॥७॥
कर्णिकारवनैर्दिव्यैः सर्वर्तुकुसुमोत्करैः। जातरूपप्रतीकाशैर्भूषिते सूर्यसंनिभैः ॥८॥
अन्यैश्च बहुभिर्वृक्षैः शालतालादिभिर्वनैः। पुंनागाशोकसरलन्यग्रोधाम्रातकार्जुनैः ॥९॥
पारिजाताम्रखदिरनीपबिल्वकदम्बकैः। धवखादिरपालाशशीर्षामलकतिन्दुकैः ॥१०॥

अध्याय ४५

पुरुषोत्तमक्षेत्र का वर्णन

मुनियों ने कहा—प्रभो ! क्या विष्णु के उस पवित्र पुरुषोत्तम क्षेत्र में पहले कोई वैष्णवी प्रतिमा नहीं थी, जो सेना-वाहनों के साथ जाकर उस राजा ने वहाँ कृष्ण, राम और कल्याण-दायिका सुभद्रा की स्थापना की ? जगत्पते ! इसमें हमें बड़ा संशय है और आश्चर्य भी है। हम सविस्तर सुनना चाहते हैं। आप इसका कारण वतलायें ॥१-३॥

ब्रह्मा ने कहा—सुनिये, जो कथा पूर्वकाल में लक्ष्मी ने विष्णु से पूछी थी, उसी पापनाशिनी कथा का मैं संक्षेप से वर्णन करूँगा ॥४॥ सिद्ध, विद्याधर, यक्ष, किन्नर, देव, दानव, गन्धर्व, अप्सरागण, मुनि, गुह्यक, सौपर्ण, मरुद्‌गण, साध्य, कश्यप आदि प्रजापति, वालखिल्य आदि ऋषि तथा देवालयों से शोभित, अत्यन्त मनोहर, सव ऋतुओं में सुनहले पुष्पों से समन्वित, दिव्य कनक चम्पा वृक्षों से भूषित, सूर्य के समान वर्ण वाले पुष्पों से युक्त, दूसरे भी वहुत-से वृक्षों से अलंकृत, शाल, ताल, पुन्नाग, अशोक, सरड़, वट, आम्रातक, अर्जुन, पारिजात, आम, खैर, नीप, वेल, कदम्व, कैथ, पलाश, शिरीष, आँवला, तिन्दुक, ॥५-१०॥

---

[1] ख. रामचन्द्र सुखप्रदम्।

नारिङ्गकोलबकुललोध्रदाडिमदारुकैः । सर्जैश्च कर्णैस्तगरैः शिशिभूर्जवनिम्बकैः ।।११।।
अन्यैश्च काञ्चनैश्चैव फलभारैश्च नामितैः । [1]नानाकुसुमगन्धाढ्यैर्भूषिते पुष्पपादपैः ।।१२।।
मालतीयूथिकामल्लीकुन्दबाणकुरुण्टकैः[2] । पाटलागस्त्यकुटजमन्दारकुसुमादिभिः ।।१३।।
अन्यैश्च विविधैः पुष्पैर्मनसः प्रीतिदायकैः । नानाविहगसंघैश्च कूजद्भिर्मधुरस्वरैः ।।१४।।
पुंस्कोकिलरुतैर्दिव्यैर्मत्तबर्हिणनादितैः । एवं नानाविधैर्वृक्षैः पुष्पैर्नानाविधैस्तथा ।।१५।।
खगैर्नानाविधैश्चैव शोभिते सुरसेविते । तत्र स्थितं जगन्नाथं जगत्स्रष्टारमव्ययम् ।।१६।।
सर्वलोकविधातारं वासुदेवाख्यमव्ययम् । प्रणम्य शिरसा देवी[3]लोकानां हितकाम्यया ।।
पप्रच्छेमं महाप्रश्नं[4] पद्मजा तमनुत्तमम् ।।१७।।

श्रीरुवाच

ब्रूहि त्वं सर्वलोकेश संशयं मे हृदि स्थितम् । मर्त्यलोके महाश्चर्ये कर्मभूमौ सुदुर्लभे ।।१८।।
लोभमोहग्रहग्रस्ते कामक्रोधमहार्णवे । येन मुच्येत देवेश अस्मात्संसारसागरात् ।।१९।।
आचक्ष्व सर्वदेवेश प्रणतां यदि मन्यसे । त्वदृते नास्ति लोकेऽस्मिन्वक्ता संशयनिर्णये ।।२०।।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वैवं वचनं तस्या देवदेवो जनार्दनः । प्रोवाच परमा प्रीत्या [5]परं सारामृतोपमम् ।।२१।।

नारंगी, कोल, मौलसिरी, लोध, अनार, दारुक, सर्ज, कनैल, तगर, शिशिभू (?), जव और नीम वृक्षों से तथा फलों के भार से झुके हुए अन्य वृक्षों से मंडित, मालती, जूही, मल्लिका, कुन्द, बाण, कुरुण्टक, पाटल, अगस्त्य, कुटज, मन्दार आदि पुष्पों से तथा मन को प्रसन्न करने वाले अन्य विविध पुष्पों से विभूषित, मधुर स्वर से आलाप करने वाले नाना पक्षियों के समूहों से तथा कोकिल एवम् मस्त मयूरों से शब्दित, देवताओं से सुसेवित, समस्त आश्चर्यजनक वस्तुओं से समन्वित मेरुपर्वत के सुवर्णमय शिखर पर स्थित जगत्स्रष्टा, जगत्पति, अविनाशी, सब लोकों के विधाता, वासुदेव को सिर झुका कर प्रणाम करके लक्ष्मी ने लोक-कल्याण के लिए उनसे यह महाप्रश्न पूछा ।।११-१७।।

रमा ने कहा—हे त्रिभुवन के स्वामी ! मेरे हृदय में जो संशय है, उसका आप निराकरण कीजिये । देवेश ! महान् आश्चर्यजनक, अत्यन्त दुर्लभ, कर्म की भूमि, लोभ-मोह रूपी ग्राहों से ग्रस्त, काम-क्रोध रूपी महासमुद्र से युक्त मर्त्य लोक में मनुष्य इस संसार-सागर से किस प्रकार मुक्त हो, वह उपाय आप बतलाइये । हे अखिल देवों के स्वामी ! इस लोक में आपको छोड़कर दूसरा कोई संशय-निर्णय करने में समर्थ नहीं है।।१८-२०।।

ब्रह्मा ने कहा—लक्ष्मी के ऐसे वचनों को सुन कर देव-देव जनार्दन बहुत प्रेम से अमृततुल्य सार वात बतलाने लगे ।।२१।।

---

[1] ग. ०षितैस्त्रिदशार्चितैः । [2] ख. ०कुरण्ट । [3] ख. देवं । [4] ग. ०श्नं भूमौ स्थानम० । [5] ख. ०रं वै चामृ० ।

श्रीभगवानुवाच

सुखोपास्यः सुसाध्यश्चाभिरामश्च सुसत्फलः। आस्ते तीर्थवरे देवि विख्यातः पुरुषोत्तमः ।।२२।।
न तेन सदृशः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते। कीर्तनाद्यस्य देवेशि मुच्यते सर्वपातकैः ।।२३।।
न विज्ञातोऽमरैः [1]सर्वैर्न दैत्यैर्न च दानवैः। मरीच्याद्यैर्मुनिवरैर्गोपितं मे वरानने ।।२४।।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि तीर्थराजं च सांप्रतम्। भावेनैकेन सुश्रोणि शृणुष्व वरवर्णिनि ।।२५।।
[2]आसीत्कल्पे [3]समुत्पन्ने नष्टे स्थावरजङ्गमे। [4]प्रलीना [5]देवगन्धर्वदैत्यविद्याधरोरगाः[6] ।।२६।।
तमोभूतमिदं सर्वं न प्राज्ञायत किंचन। तस्मिञ्जागर्ति भूतात्मा[7] परमात्मा जगद्गुरुः ।।२७।।
श्रीमांस्त्रिमूर्तिकृद्देवो जगत्कर्ता महेश्वरः। वासुदेवेति विख्यातो योगात्मा हरिरीश्वरः[8] ।।२८।।
सोऽसृजद्योगनिद्रान्ते नाभ्यम्भोरुहमध्यगम्[9]। [10]पद्मकेशरसंकाशं ब्रह्माणं भूतमव्ययम्[11] ।।२९।।
तादृग्भूतस्ततो ब्रह्मा[12] सर्वलोकमहेश्वरः। पञ्चभूतसमायुक्तं सृजते च[13] शनैः शनैः[14] ।।३०।।
मात्रायोनीनि भूतानि स्थूलसूक्ष्माणि यानि च। चतुर्विधानि सर्वाणि स्थावराणि चराणि च ।।३१।।
ततः प्रजापतिर्ब्रह्मा चक्रे सर्वं चराचरम्। संचिन्त्य मनसाऽऽत्मानं ससर्ज विविधाः प्रजाः ।।३२।।
मरीच्यादीन्मुनीन्सर्वान्देवासुरपितॄनपि। यज्ञविद्याधरांश्चान्यान्गङ्गाद्याः सरितस्तथा ।।३३।।

श्री भगवान् ने कहा—देवी ! उत्तम तीर्थों में प्रसिद्ध पुरुषोत्तम नामक तीर्थ सुख से उपासना करने योग्य, शोभनतया साधना करने योग्य, मनोहर तथा सत्फलदायक है। उसके समान तीनों लोक में कोई नहीं है। उसका कीर्तन करने से सब पाप दूर हो जाते हैं ।।२२-२३।। श्रेष्ठ मुख वाली ! न देवता, न दैत्य, न दानव, न मरीचि आदि मुनि ही उस गुप्त स्थान को जानते हैं ।।२४ ।। हे सुन्दर कटि वाली ! हे सुन्दरी ! इस समय मैं उस तीर्थराज के बारे में कहता हूँ, तुम एकाग्र मन से सुनो ।।२५।। कल्प उत्पन्न होने पर (कल्पान्त में) स्थावर-जंगमों के नष्ट हो जाने पर तथा देवों, गन्धर्वों, दैत्यों, विद्याधरों और सर्पों के लीन हो जाने पर यह सब कुछ अन्धकारमय दीखता था, कुछ भी मालूम नहीं पड़ता था। ।।२६$\frac{१}{२}$।। उस समय प्राणियों के आत्मा, परमात्मा, जगद्गुरु, श्रीमान्, त्रिमूर्तिकृत् (सत्त्व-रजस्-तमोमय), देव, जगत्कर्ता, महेश्वर, ईश्वर, योगात्मा, हरि (इत्यादि नामधारी) वासुदेव जागते थे ।।२७-२८।। उन्होंने योगनिद्रा के अन्त में नाभि रूपी कमल के मध्य में स्थित, कमल के केसर के सदृश, सत्य रूप तथा अविनाशी ब्रह्मा की सृष्टि की ।।२९।। तदुपरान्त समस्त लोकों में महान् ईश्वर ब्रह्मा धीरे-धीरे पंचभूतात्मक सृष्टि करने लगे ।।३०।। मात्रामूलक स्थूल-सूक्ष्म जितने चार प्रकार के स्थावर-जंगम हैं, उन सब को उन्होंने रचा ।।३१।। तब प्रजापति ब्रह्मा ने समस्त चराचरों को उत्पन्न किया। मन से आत्मा का ध्यान कर विविध प्रजाओं की उत्पत्ति की ।।३२।। मरीचि आदि समस्त मुनि, देव, राक्षस, पितर, यक्ष, विद्याधर, गंगा आदि नदी, मनुष्य, बन्दर, सिंह, विविध

---

१ ख. ०वैर्नां दित्यै०। २ ख. ०सीतपद्मं स०। ३ ख. ०त्पन्नं न०। ४ ग. प्रलीने। ५ ग. ०न्धर्वैर्दैत्य०। ६ ग. ०रगैः। त०। ७ ख. ०त्मा प्रलये वै ज०। ८ ख. ०रः। आसीत्सद्यो०। ९ ख. ०ध्यगः। पयः केश०। १० ख. ०काश ब्र०। ११ ख. ०म्। आविर्भूत०। १२ ख. देवः। १३ ख. स्म। १४ ख. ०नैः। विश्वं च नानाभू०।

नरवानरसिंहांश्च विविधांश्च विहंगमान्। जरायूनण्डजान्देवि स्वेदजोभेद्जांस्तथा ।।३४।।
ब्रह्मक्षत्रं तथा वैश्यं शूद्रं चैव चतुष्टयम्। अन्त्यजातांश्च[1] म्लेच्छांश्च ससर्ज विविधान्पृथक् ।।३५।।
यत्किंचिज्जीवसंज्ञं तु तृणगुल्मपिपीलिकम्। ब्रह्मा भूत्वा जगत्सर्वं निर्ममे सचराचरम् ।।३६।।
दक्षिणाङ्गे तथाऽऽत्मानं संचिन्त्य पुरुषं स्वयम्। वामे चैव तु नारीं स द्विधा भूतमकल्पयत् ।।३७।।
ततः प्रभृति लोकेऽस्मिन्प्रजा मैथुनसंभवाः। [2]अधमोत्तममध्याश्च मम क्षेत्राणि यानि च ।।३८।।
एवं संचिन्त्य देवोऽसौ पुरा सलिलयोनिजः। जगाम ध्यानमास्थाय वासुदेवात्मिकां तनुम् ।।३९।।
ध्यानमात्रेण देवेन स्वयमेव जनार्दनः। तस्मिन्क्षणे समुत्पन्नः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।।४०।।
सहस्रशीर्षा पुरुषः पुण्डरीकनिभेक्षणः। सलिलध्वान्तमेघाभः श्रीमाञ्छ्रीवत्सलक्षणः ।।४१।।
अपश्यत्सहसा तं तु ब्रह्मा लोकपितामहः। आसनैरर्घ्यपाद्यैश्च अक्षतैरभिनन्द्य च ।।४२।।
तुष्टाव परमैः स्तोत्रैर्विरिञ्चिः सुसमाहितः। ततोऽहमुक्तवान्देवं ब्रह्माणं कमलोद्भवम्
कारणं वद मां तात मम ध्यानस्य सांप्रतम् ।।४३।।

ब्रह्मोवाच

जगद्धिताय देवेश मर्त्यलोकैश्च दुर्लभम्। स्वर्गद्वारस्य मार्गाणि यज्ञदानव्रतानि च ।।४४।।
योगः सत्यं तपः श्रद्धा तीर्थानि विविधानि च। विहाय सर्वमेतेषां सुखं तत्साधनं वद ।।४५।।
स्थानं [3]जगत्पते मह्यमुत्कृष्टं च यदुच्यते। सर्वेषामुत्तमं स्थानं ब्रूहि मे [4]पुरुषोत्तम ।।४६।।

पक्षी, जरायुज-अण्डज-स्वेदज और उद्भिज्ज जीव, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज (अछूत), म्लेच्छ—सब को पृथक्-पृथक् रचा ।।३३-३५।। जो कुछ भी जीवसंज्ञक घास-पात, कीड़े-मकोड़े हैं, उन सब चराचरों का निर्माण उन्होंने ब्रह्मा होकर किया ।।३६।। अपने दाहिने अंग में पुरुष और वाम अंग में स्त्री की कल्पना कर वे स्वयम् दो हो गये ।।३७।। तब से लोक में प्रजा की मैथुनी सृष्टि होती है। मेरे जितने उत्तम-मध्यम-अधम क्षेत्र (शरीर) हैं, उन सबका चिन्तन कर ब्रह्मा ध्यान-स्थित होकर वासुदेव के शरीर को प्राप्त हुए ।।३८-३९।। ध्यानमात्र से ही तत्क्षण सहस्रनेत्र, सहस्रचरण और सहस्रसिर, कमल-नयन, नील नीरद तुल्य सुन्दर तथा श्रीवत्स-चिह्न से युक्त स्वयम् जनार्दन प्रकट हुए ।।४०-४१।। सहसा उनको देख कर लोक-रचयिता ब्रह्मा आसन, अर्घ्य, पाद्य और अक्षत से उनकी पूजा कर प्रणतिपूर्वक सावधान मन से स्तुति करने लगे। तत्पश्चात् कमलोत्पन्न ब्रह्मा से मैंने कहा—'तात ! किस हेतु तुमने इस समय मेरा ध्यान किया है ?' ।।४२-४३।।

ब्रह्मा ने कहा—देवेश ! जगत्कल्याण के लिए स्वर्ग-द्वार के मार्ग—यज्ञ, दान, तप, व्रत, योग, सत्य, श्रद्धा और विविध तीर्थ—इनको छोड़ कर मर्त्यलोक में दुर्लभ जो सुख-साधन है, उसे बतलाइये ।।४४-४५।। जगत्पते ! पुरुषोत्तम ! पृथ्वी पर सबसे उत्कृष्ट स्थान जो हो, उसे भी बतला दीजिये ।।४६।। प्रिये ! ब्रह्मा के

---

[1] ख. अन्यजातींश्च। [2] ग. ०ध्यानि म उक्षे०। [3] ग. ०ते तुभ्यं मर्त्यलोके यं०। [4] ख. मां।

विधातुर्वचनं श्रुत्वा ततोऽहं प्रोक्तवान्प्रिये। शृणु ब्रह्मन्प्रवक्ष्यामि [१]निर्मलं भुवि दुर्लभम् ।।४७।।
उत्तमं सर्वक्षेत्राणां धन्यं संसारतारणम्। गोब्राह्मणहितं पुण्यं चातुर्वर्ण्यसुखोदयम् ।।४८।।
भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणां क्षेत्रं [२]परमदुर्लभम्। महापुण्यं तु [३]सर्वेषां सिद्धिदं वै पितामह ।।४९।।
[४]तस्मादासीत्समुत्पन्नं तीर्थराजं सनातनम्। विख्यातं परमं क्षेत्रं चतुर्युगनिषेवितम्[५] ।।५०।।
सर्वेषामेव देवानामृषीणां ब्रह्मचारिणाम्। दैत्यदानवसिद्धानां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।।५१।।
नानाविद्याधराणां च स्थावरस्य चरस्य च। उत्तमः पुरुषो यस्मात्तस्मात्स पुरुषोत्तमः ।।५२।।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे न्यग्रोधो यत्र तिष्ठति। दशयोजनविस्तीर्णं क्षेत्रं परमदुर्लभम् ।।५३।।
यस्तु कल्पे समुत्पन्ने महदु (त्यु) ल्कानिबर्हणे। [६]विनाशं नैवमभ्येति स्वयं तत्रैवमास्थितः ।।५४।।
दृष्टिमात्रे वटे तस्मिंश्छायामाक्रम्य चासकृत्। [७]ब्रह्महत्यात्प्रमुच्येत पापेष्वन्येषु का कथा ।।५५।।
प्रदक्षिणा कृता यैस्तु नमस्कारश्च जन्तुभिः। [८]सर्वे विधूतपाप्मानस्ते गताः केशवालयम् ।।५६।।
न्यग्रोधस्योत्तरे किंचिद्दक्षिणे केशवस्य तु। प्रासादस्तत्र तिष्ठेत्तु पदं धर्ममयं हि तत् ।।५७।।
प्रतिमां तत्र वै दृष्ट्वा स्वयं देवेन निर्मिताम्। अनायासेन वै यान्ति भुवनं[९] मे ततो नराः ।।५८।।
गच्छमानांस्तु तान्प्रेक्ष्य एकदा धर्मराट् प्रिये। मदन्तिकमनुप्राप्य प्रणम्य शिरसाऽब्रवीत् ।।५९।।

वचन सुनकर मैंने कहा—ब्रह्मन् ! सुनिये, पृथ्वी पर दुर्लभ, निर्मल, निखिल क्षेत्रों में उत्तम, धन्यवाद के योग्य, संसार-तारण, गो-ब्राह्मणों का हितकारक, पवित्र, चारों वर्णों के लिए सुखदायक, भुक्ति-मुक्ति-प्रद, परम दुर्लभ, महापुण्यवर्धक और सब के लिए सिद्धिदाता स्थान मैं बतलाऊँगा ।।४७-४९।। चारों युगों में रहने वाला, सनातन, तीर्थों का राजा और परम विख्यात एक क्षेत्र है ।।५०।। वहाँ पर समस्त देव, ऋषि, ब्रह्मचारी, दैत्य, दानव, सिद्ध, गंधर्व, सर्प, राक्षस, नाग, विद्याधर, स्थावर, जंगम और सबसे उत्तम पुरुष वास करते हैं, अतः उसका नाम पुरुषोत्तम पड़ा है ।।५१-५२।। दक्षिण समुद्र के तट पर जहाँ वट वृक्ष है, वहाँ दस योजन प्रमाण विस्तीर्ण क्षेत्र परम दुर्लभ है ।।५३।। जो कल्प के उत्पन्न होने पर (कल्पान्त में) महान् उल्कापात होने पर (संसार के विनष्ट होने पर) स्वयं विनष्ट नहीं होते, वे उसी क्षेत्र में स्थित होते हैं ।।५४।। एक बार उस वट के दर्शन कर छाया में बैठने से ब्रह्महत्या भी दूर हो जाती है, और पापों की तो बात ही क्या है ? ।।५५।। जिन प्राणियों ने उसकी प्रदक्षिणा कर नमस्कार किया है वे सब निष्पाप होकर बैकुण्ठ गये हैं। वट से उत्तर और कृष्ण से कुछ दक्षिण जो मन्दिर है, वह धर्ममय स्थान है। वहाँ साक्षात् भगवान् द्वारा निर्मित प्रतिमा का दर्शन कर मनुष्य अनायास ही वैकुण्ठ पहुँच जाते हैं। प्रिये ! एक समय वैकुण्ठ जाते हुए उन मनुष्यों को देख कर धर्मराज मेरे पास आकर प्रणाम करके मुझसे कहने लगा ।।५६-५९।।

---

१ ख. निर्मितं। २ ख. ०मशोभनम्। ३ ग. ०षां वसतां प्रपि०। ४ ख. तत्तदा०। ५ ख. ०गयुगादिकृत्। स०। ६ ख. ०नाशे चैव वसते स्वयं तत्रैव दुर्लभः। दृ०। ७ ख. ०हत्या विनश्येत। ८ ख. ०र्वे ते पापनिर्भक्ता गच्छन्ति च शिवा०। ९ ख. भवनं।

यम उवाच

नमस्ते भगवन्देव लोकनाथ जगत्पते। [1]क्षीरोदवासिनं देवं शेषभोगानुशायिनम् ॥६०॥
वरं वरेण्यं वरदं [2]कर्तारमकृतं प्रभुम्। विश्वेश्वरमजं विष्णुं सर्वज्ञमपराजितम् ॥६१॥
नीलोत्पलदलश्यामं पुण्डरीकनिभेक्षणम्। सर्वज्ञं निर्गुणं शान्तं जगद्धातारमव्ययम् ॥६२॥
सर्वलोकविधातारं [3]सर्वलोकसुखावहम्। पुराणं पुरुषं वेद्यं व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥६३॥
परावराणां स्रष्टारं लोकनाथं जगद्गुरुम्। श्रीवत्सोरस्कसंयुक्तं वनमालाविभूषितम् ॥६४॥
पीतवस्त्रं चतुर्बाहुं शङ्खचक्रगदाधरम्। हारकेयूरसंयुक्तं मुकुटाङ्गदधारिणम् ॥६५॥
सर्वलक्षणसंपूर्णं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। कूटस्थमचलं सूक्ष्मं ज्योतीरूपं सनातनम् ॥६६॥
भावाभावविनिर्मुक्तं व्यापिनं प्रकृतेः परम्। नमस्यामि जगन्नाथमीश्वरं सुखदं प्रभुम् ॥६७॥
इत्येवं धर्मराजस्तु पुरा[4] न्यग्रोधसंनिधौ। स्तुत्वा नानाविधैः स्तोत्रैः प्रणाममकरोत्तदा ॥६८॥
तं दृष्ट्वा तु महाभागे प्रणतं प्राञ्जलिस्थितम्। स्तोत्रस्य कारणं देवि पृष्टवानहमन्तकम् ॥६९॥
वैवस्वत महाबाहो सर्वदेवोत्तमो ह्यसि। किमर्थं स्तुतवान्मां त्वं संक्षेपात्तद्ब्रवीहि मे ॥७०॥

[5]धर्मराज उवाच

अस्मिन्नायतने पुण्ये विख्याते पुरुषोत्तमे। इन्द्रनीलमयी श्रेष्ठा प्रतिमा सार्वकामिकी ॥७१॥
तां दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्ष भावेनैकेन श्रद्धया। श्वेताख्यं भवनं यान्ति निष्कामाश्चैव मानवाः ॥७२॥

यम ने कहा—भगवन्! देव! जगत्पते! लोकनाथ! आपको नमस्कार है। क्षीरसमुद्रवासी, शेषशायी, ॥६०॥ श्रेष्ठ, वरदाता, कर्ता, अविनाशी, समर्थ, विश्वेश्वर, अजन्मा, विष्णु, सर्वज्ञ, अपराजित, ॥६१॥ नील कमल के पत्र के समान श्याम, कमलनयन, सर्वज्ञ, निर्गुण, शान्त, जगत्-धारणकर्ता, नित्य, ॥६२॥ सर्वलोक-विधाता, सर्वलोक-सुखदायक, प्रचीन पुरुष, जानने योग्य, व्यक्त, अव्यक्त, सनातन, ॥६३॥ उच्च-नीच सब के स्रष्टा, लोकनाथ, जगद्गुरु, वक्षःस्थल पर श्रीवत्स-चिह्न-धारी, वनमाला से विभूषित, ॥६४॥ पीतवस्त्र-शंख-चक्र-गदा-हार-केयूर-मुकुट-अंगद-धारी, ॥६५॥ चतुर्भुज, सर्वलक्षण-संपन्न, सब इन्द्रियों से वर्जित, कूटस्थ, अचल, सूक्ष्म, ज्योतिरूप, सनातन, ॥६६॥ भाव-अभाव से निर्मुक्त, व्यापक, प्रकृति से परे, जगन्नाथ, ईश्वर, सुखदाता और सर्वशक्तिमान् को नमस्कार है ॥६७॥ इस प्रकार पूर्वकाल में वट वृक्ष के समीप धर्मराज ने अनेक स्तोत्रों से स्तुति कर मुझे प्रणाम किया ॥६८॥ महाभागे! मैंने हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हुए यम से स्तुति का कारण पूछा ॥६९॥ सूर्य के पुत्र! महाबाहो! तुम सब देवों में उत्तम हो। किसलिए तुमने मेरी स्तुति की? संक्षेपतः बताओ ॥७०॥

धर्मराज ने कहा—इस पवित्र तथा विख्यात पुरुषोत्तम क्षेत्र में सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली इन्द्रनीलमणि की उत्तम प्रतिमा है ॥७१॥ पुण्डरीकाक्ष! अनन्य भाव से श्रद्धापूर्वक उस प्रतिमा का दर्शन करके मनुष्य

---

[1] ख. ०रोदार्णवसंस्थानं शे०। [2] ख. ०मनघाकृतिम्। [3] ख. ०र्वस त्त्वसु०। [4] ख. परं। [5] ख. यजराज।

अतः कर्तुं न शक्नोमि व्यापारमरिसूदन। [1]प्रसीद सुमहादेव संहर प्रतिमां विभो ।।७३।।
श्रुत्वा [2]वैवस्वतस्यैतद्वाक्यमेतदुवाच ह। यम तां गोपयिष्यामि सिकताभिः समन्ततः ।।७४।।
ततः सा प्रतिमा देवि वल्लिभिर्गोपिता[3] मया। यथा तत्र न पश्यन्ति मनुजाः स्वर्गकाङ्क्षिणः ।।७५।।
प्रच्छाद्य वल्लिकैर्देवि जातरूपपरिच्छदैः। यमं प्रस्थापयामास स्वां पुरीं दक्षिणां दिशम् ।।७६।।

ब्रह्मोवाच

लुप्तायां प्रतिमायां तु इन्द्रनीलस्य भो द्विजाः। तस्मिन्क्षेत्रवरे पुण्ये विख्याते पुरुषोत्तमे ।।७७।।
यो भूतस्तत्र वृत्तान्तो देवदेवो जनार्दनः। तं सर्वं कथयामास स तस्यै भगवान्पुरा ।।७८।।
इन्द्रद्युम्नस्य गमनं क्षेत्रसंदर्शनं तथा। क्षेत्रस्य वर्णनं चैव प्रासादकरणं तथा ।।७९।।
हयमेधस्य यजनं स्वप्नदर्शनमेव च। लवणस्योदधेस्तीरे [4]काष्ठस्य दर्शनं तथा ।।८०।।
दर्शनं वासुदेवस्य शिल्पिराजस्य च द्विजाः। निर्माणं प्रतिमायास्तु यथावर्णं विशेषतः ।।८१।।
[5]स्थापनं चैव सर्वेषां प्रासादे भुवनोत्तमे। [6]यात्राकाले च विप्रेन्द्राः [7]कल्पसंकीर्तनं तथा ।।८२।।
मार्कण्डेयस्य चरितं स्थापनं शंकरस्य च। पञ्चतीर्थस्य माहात्म्यं दर्शनं शूलपाणिनः ।।८३।।
वटस्य दर्शनं चैव व्युष्टिं तस्य च भो द्विजाः। दर्शनं बलदेवस्य कृष्णस्य च विशेषतः ।।८४।।
सुभद्रायाश्च तत्रैव माहात्म्यं चैव सर्वशः। दर्शनं नरसिंहस्य व्युष्टिसंकीर्तनं तथा ।।८५।।

निष्काम हो जाते हैं और श्वेतसंज्ञक भवन को जाते हैं ।।७२।। शत्रुनाशन ! इसलिए मैं अपना कार्य नहीं कर सकता। महादेव ! विभो ! मुझ पर प्रसन्न हों, प्रतिमा को हटा दीजिये ।।७३।। यम की यह बात सुनकर मैंने कहा—'यम ! मैं बालुओं से उस प्रतिमा को चारों ओर से ढक दूँगा ।।७४।। देवी ! तब मैंने लताओं से उस प्रतिमा को छिपा दिया, जिससे स्वर्गाभिलाषी मनुष्य उसका दर्शन न कर पाये ।।७५।। सुनहली लताओं से उसे आच्छादित कर मैंने यम को दक्षिण दिशा की ओर अपनी नगरी के लिए बिदा कर दिया ।।७६।।

ब्रह्मा ने कहा—द्विजगण ! उस पवित्र तथा प्रसिद्ध पुरुषोत्तम नामक श्रेष्ठ क्षेत्र में इन्द्रनील मणि की प्रतिमा के लुप्त हो जाने पर जो दशा वहाँ की हुई उसे भगवान् जनार्दन ने लक्ष्मी को बतला दिया ।।७७-७८।। विप्रवृन्द ! इन्द्रद्युम्न का गमन, क्षेत्र का दर्शन तथा वर्णन, भवन-निर्माण, ।।७९।। अश्वमेध यज्ञ, स्वप्नदर्शन, क्षार समुद्र के तट पर काष्ठ का दर्शन, ।।८०।। वासुदेव तथा शिल्पिराज का दर्शन, प्रतिमा का उचित वर्णानुकूल निर्माण ।।८१।। तथा तीनों लोकों में सबसे उत्तम भवन में स्थापन, यात्राकाल में कल्पों का कीर्तन, मार्कण्डेय का चरित्र, शंकर की स्थापना, पञ्चतीर्थ का माहात्म्य, शिव का दर्शन, ।।८२-८३।। वट का दर्शन तथा स्तुति, बलदेव, कृष्ण तथा सुभद्रा का दर्शन और माहात्म्य, नरसिंह के दर्शन, स्तुति तथा कीर्तन, अनन्त वासुदेव के दर्शन तथा

---

१ ख. ०दस्व म०। २ ख. ०स्वतं वाक्यं युक्तमेतदचिन्तयम्। सा तदा प्र०। ३ ख. ०भिश्छादिता। ४ ख. ०ष्ठसंद०। ५ ख. स्थापना। ६ ख. ०कालं च। ७ ख. ०संकर्त०।

[१]अनन्तवासुदेवस्य दर्शनं [२]गुणकीर्तनम्। श्वेतमाधवमाहात्म्यं स्वर्गद्वारस्य दर्शनम्[३] ॥८६॥
उदधेर्दर्शनं चैव स्नानं तर्पणमेव च। समुद्रस्नानमाहात्म्यमिन्द्रद्युम्नस्य च द्विजाः ॥८७॥
पञ्चतीर्थफलं चैव महाज्येष्ठं तथैव च। स्थानं कृष्णस्य हलिनः[४] पर्वयात्राफलं तथा ॥८८॥
वर्णनं विष्णुलोकस्य क्षेत्रस्य च पुनः पुनः[५]। पूर्वं कथितवान्सर्वं तस्यै स पुरुषोत्तमः ॥८९॥
इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे पूर्ववृत्तानुवर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

पुरुषोत्तमक्षेत्र-वर्णनम्

मुनय ऊचुः

श्रोतुमिच्छामहे देव कथाशेषं महीपतेः[६]। तस्मिन्क्षेत्रवरे गत्वा किं चकार नराधिपः ॥१॥

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः प्रवक्ष्यामि समासतः। क्षेत्रसंदर्शनं चैव [७]कृत्यं तस्य च भूपतेः ॥२॥

गुणों का कीर्तन, श्वेतमाधव का माहात्म्य, स्वर्ग का दर्शन, समुद्र का दर्शन तथा उसमें स्नान और तर्पण, समुद्र-स्नान तथा इन्द्रद्युम्न का माहात्म्य, पञ्चतीर्थ का फल, महाज्येष्ठ (ज्येष्ठ की पूर्णिमा), कृष्ण तथा बलराम का स्थान, पर्व यात्रा का फल, विष्णु-लोक का वर्णन, क्षेत्र का पुनः-पुनः वर्णन—यह सब भगवान् पुरुषोत्तम ने लक्ष्मी को बतला दिया ॥८४-८९॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में पूर्व वृत्तान्त-वर्णन
नामक पैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥४५॥

अध्याय ४६

पुरुषोत्तमक्षेत्र का वर्णन

मुनियों ने कहा—देव ! हम राजा की अवशिष्ट कथा को सुनना चाहते हैं। उस उत्तम क्षेत्र में जाकर राजा ने क्या किया ? ॥१॥

ब्रह्मा ने कहा—मुनिवर ! सुनिये, मैं संक्षेप से उस राजा के कर्म तथा क्षेत्र-दर्शन का वर्णन करता हूँ

---

१ ख. अग्र्यं तु वा०। २ ख. पुण्यकीर्तनम्। ३ ख. वर्णनम्। ४ ख. ०नः सर्व०। ५ ख. स्वयम्। ६ ख. त्वदाननात्। ७ ख. जातं।

गत्वा तत्र महीपालः क्षेत्रे त्रैलोक्यविश्रुते। ददर्श रमणीयानि स्थानानि सरितस्तथा ॥३॥
नदी तत्र महापुण्या विन्ध्यपादविनिर्गता[1]। स्वित्रोपलेति विख्याता सर्वपापहरा शिवा[2] ॥४॥
गङ्गातुल्या महास्रोता दक्षिणार्णवगामिनी। महानदीति नाम्ना सा पुण्यतोया सरिद्वरा ॥५॥
[3]दक्षिणस्योदधेर्गर्भं गताऽऽवर्तातिशोभिता। उभयोस्तटयोर्यस्या ग्रामाश्च नगराणि च ॥६॥
दृश्यन्ते मुनिशार्दूलाः [4]सुसस्याः सुमनोहराः। हृष्टपुष्टजनाकीर्णा [5]वस्त्रालंकारभूषिताः ॥७॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रास्तत्र पृथक्पृथक्। स्वधर्मनिरताः शान्ता दृश्यन्ते शुभलक्षणाः ॥८॥
ताम्बूलपूर्णवदना मालादामविभूषिताः। वेदपूर्णमुखा विप्राः सषडङ्गपदक्रमाः ॥९॥
अग्निहोत्ररताः केचित्केचिदौपासनक्रियाः[6]। सर्वशास्त्रार्थकुशला यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥१०॥
चत्वरे राजमार्गेषु वनेषूपवनेषु च। सभामण्डलहर्म्येषु देवतायतनेषु च ॥११॥
इतिहासपुराणानि वेदाः साङ्गाः सुलक्षणाः। [7]काव्यशास्त्रकथास्तत्र श्रूयन्ते च महाजनैः ॥१२॥
स्त्रियस्तद्देशवासिन्यो रूपयौवनगर्विताः। संपूर्णलक्षणोपेता विस्तीर्णश्रोणिमण्डलाः ॥१३॥
सरोरुहमुखाः श्यामाः शरच्चन्द्रनिभाननाः। पीनोन्नतस्तनाः सर्वाः समृध्या चारुदर्शनाः ॥१४॥
सौवर्णवलयाक्रान्ता दिव्यैर्वस्त्रैरलंकृताः। कदलीगर्भसंकाशाः पद्मकिञ्जल्कसप्रभा ॥१५॥
बिम्बाधरपुटाः कान्ताः कर्णान्तायतलोचनाः। सुमुखाश्चारुकेशाश्च हावभावावनामिताः ॥१६॥

॥२॥ त्रैलोक्य-प्रसिद्ध उस क्षेत्र में जाकर राजा ने रमणीय स्थानों तथा नदियों को देखा ॥३॥ वहाँ विन्ध्यपर्वत से निकली स्वित्रोपला नामक नदी है, जो अखिल पापों को हरने वाली, कल्याणमयी, गंगातुल्य, महास्रोतवाली, दक्षिण समुद्र की ओर जाने वाली, महानदी नाम से विख्यात, पवित्रसलिला, नदियों में श्रेष्ठ, दक्षिण समुद्र के गर्भ में प्राप्त तथा आवर्तों से सुशोभित है ॥४-५$\frac{१}{२}$॥ मुनिवर्य ! उस नदी के दोनों तट पर धन-धान्य-सम्पन्न सुन्दर ग्राम और नगर हैं, जो हृष्ट-पुष्ट लोगों से प्रपूर्ण तथा वस्त्र-अलंकारों से भूषित हैं ॥६-७॥ वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपते धर्मों में निरत, शान्त, शुभलक्षण-सम्पन्न, मालाओं से विभूषित तथा ताम्बूल से पूर्ण मुखवाले दीखते हैं ॥८$\frac{१}{२}$॥ वहाँ के ब्राह्मण छहों अंग, पद और क्रम सहित वेदों के ज्ञाता, सब शास्त्रों में कुशल, यज्ञकर्ता तथा विपुल-दक्षिणादाता होते हैं। उनमें कोई अग्निहोत्री तो कोई कर्मकाण्डी होते हैं ॥९-१०॥ वहाँ चबूतरों पर, राजमार्गों में, वनों में, उपवनों में, सभामण्डल में तथा देवालयों में इतिहास, पुराण, अंगों सहित वेद, सुन्दर काव्य, शास्त्र और कथाएँ महान् व्यक्तियों द्वारा सुनी जाती हैं ॥११-१२॥ उस देश की स्त्रियाँ रूप यौवन से गर्वित, समस्त लक्षणों से युक्त, विशाल नितम्ब वाली, ॥१३॥ कमलमुखी, श्यामा, शरद्-चन्द्र तुल्य मुख वाली, स्थूल तथा उन्नत स्तन वाली, सुन्दर दीखने वाली, ॥१४॥ सोने की चूड़ियाँ पहनने वाली, दिव्य वस्त्रों से अलंकृत, केले के (भीतरी भाग) के तुल्य (वर्ण वाली), कमल के केसर के समान कान्ति वाली ॥१५॥ बिम्बोष्ठी, मनोरम, कानों तक लम्बी आँखों वाली, सुमुखी, सुन्दर केश वाली, हाव-भाव दिखाने में चतुर, ॥१६॥

---

[1] ख. ०ता। विन्ध्योत्पले। [2] ख. शुभा। [3] ख. ०दधेः कान्ता दुहितृशतशो०। [4] ख. संपन्नाः। [5] ख. ०स्त्राभरणभू०। [6] ख. ०चिद्योगासनप्रियाः। [7] ग. ०कलालापा दृश्यन्ते सुमहात्मनः। स्त्रि०।

काश्चित्पद्मपलाशाक्ष्यः काश्चिदिन्दीवरेक्षणाः। विद्युद्विस्पष्टदशनास्तन्वङ्ग्यश्च तथाऽपराः ॥१७॥
कुटिलालकसंयुक्ताः सीमन्तेन विराजिताः। ग्रीवाभरणसंयुक्ता माल्यदामविभूषिताः ॥१८॥
कुण्डलै रत्नसंयुक्तैः कर्णपूरैर्मनोहरैः। देवयोषित्प्रतीकाशा दृश्यन्ते शुभलक्षणाः ॥१९॥
दिव्यगीतवरैर्धन्यैः क्रीडमाना वराङ्गनाः। वीणावेणुमृदङ्गैश्च पणवैश्चैव गोमुखैः ॥२०॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्नानावाद्यैर्मनोहरैः। क्रीडन्त्यस्ताः सदा हृष्टा विलासिन्यः परस्परम् ॥२१॥
एवमादि तथाऽनेकगीतवाद्यविशारदाः। दिवा रात्रौ समायुक्ताः कामोन्मत्ता वराङ्गनाः ॥२२॥
भिक्षुवैखानसैः सिद्धैः स्नातकैर्ब्रह्मचारिभिः। मन्त्रसिद्धैस्तपःसिद्धैर्यज्ञसिद्धैर्निषेवितम् ॥२३॥
इत्येवं ददृशे राजा क्षेत्रं परमशोभनम्। [1]अत्रैवाऽऽराधयिष्यामि भगवन्तं सनातनम् ॥२४॥
जगद्गुरुं परं देवं परं पारं परं पदम्। [2]सर्वेश्वरेश्वरं विष्णुमनन्तमपराजितम्[3] ॥२५॥
इदं तन्मानसं तीर्थं ज्ञातं मे पुरुषोत्तमम्। कल्पवृक्षो महाकायो न्यग्रोधो यत्र तिष्ठति ॥२६॥
प्रतिमा चेन्द्रनीलाख्या स्वयं देवेन गोपिता। [4]न चात्र दृश्यते चान्या प्रतिमा वैष्णवी शुभा ॥२७॥
तथा[5] यत्नं करिष्यामि यथा देवो जगत्पतिः। प्रत्यक्षं[6]मम चाभ्येति विष्णुः सत्यपराक्रमः ॥२८॥
यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च होमैर्ध्यानैस्तथाऽर्चनैः। उपवासैश्च विधिवच्चरेयं व्रतमुत्तमम् ॥२९॥

कमललोचना, बिजली की तरह छिटकते हुए दाँतों वाली, कोमलाङ्गी, ॥१७॥ घुँघराले बालों से युक्त, सीमन्त (स्त्रियों की माँग) से सुशोभित, गले के आभूषणों से युक्त, मालाओं से विभूषित, ॥१८॥ रत्न-संयुक्त कुण्डलों तथा मनोहर कर्णपूरों से अलंकृत, देवांगना तुल्य और समस्त शुभ लक्षणों से संपन्न देखी जाती हैं ॥१९॥ वे विलासिनियाँ दिव्य गीत, वीणा, वेणु, मृदंग, ढोल, गोमुख (तुरही), शंख, नगाड़े तथा अनेक दूसरे मनोहर वाद्यों से परस्पर प्रसन्नतापूर्वक क्रीड़ा करती हैं ॥२०-२१॥ अनेक गीत-वाद्य-विशारद कामिनियाँ काम से उन्मत्त होकर रात-दिन विलास करती रहती हैं ॥२२॥ वहाँ राजा ने संन्यासी, वानप्रस्थी, सिद्ध, स्नातक, ब्रह्मचारी, मन्त्र-सिद्ध, तपः सिद्ध तथा यज्ञसिद्धों द्वारा सुसेवित एक अत्यन्त मनोहर क्षेत्र देखा। पश्चात् वह सोचने लगा—'यहीं पर मैं सनातन, जगद्गुरु, परम देव, परों से भी परे, परम पद, सर्वेश्वर, अनन्त, अपराजित भगवान् विष्णु की आराधना करूँगा ॥२३-२५॥ यह पुरुषोत्तम तीर्थ उनका मानस तीर्थ है—ऐसा मुझे ज्ञात हो रहा है। यहाँ कल्पवृक्ष रूपी विशालकाय वट वृक्ष स्थित है ॥२६॥ इन्द्रनील मणि की प्रतिमा को स्वयं देव ने छिपा दिया था। यहाँ कोई दूसरी वैष्णवी प्रतिमा नहीं दीख पड़ती ॥२७॥ मैं वैसा यत्न करूँगा, जिससे जगतपति, सत्यपराक्रमी, विष्णु मेरे प्रत्यक्ष होंगे। अनन्य मन से

---

१ ख. अत्र त्वारा०। २ ख. ०श्वरं विष्णुरूपमरूपमप०। ३ ख. ०म्। ददतं चापवर्गं तं ज्ञानं मां पु०। ४ ख. न वान्तर्दृश्यते चापि वल्लिभिर्वैष्ण०। ५ ख.. ०था चात्र क०। ६ ख. ०क्षं दृश्यते सर्वैर्विष्णु.।

अनन्यमनसा चैव तन्मना नान्यमानसः। [1]विष्ण्वायतनविन्यासे[2] प्रारम्भं च करोम्यहम् ॥३०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे क्षेत्रवर्णनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४६॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

इन्द्रद्युम्नस्य प्रासादकरणार्थं राज्ञामाह्वानम्

[3]ब्रह्मोवाच

एवं स पृथिवीपालश्चिन्तयित्वा द्विजोत्तमाः। प्रासादार्थं हरेस्तत्र प्रारम्भमकरोत्तदा ॥१॥
आनाय्य गणकान्सर्वानाचार्याञ्छास्त्रपारगान्। भूमिं संशोध्य यत्नेन राजा तु परया मुदा ॥२॥
ब्राह्मणैर्ज्ञानसंपन्नैर्वेदशास्त्रार्थपारगैः। अमात्यैर्मन्त्रिभिश्चैव वास्तुविद्याविशारदैः ॥३॥
तैः सार्धं स समालोच्य सुमुहूर्ते शुभे दिने[4]। सुचन्द्रतारसंयोगे [5]ग्रहानुकूल्यसंयुते ॥४॥
जयमङ्गलशब्दैश्च नानावाद्यैर्मनोहरैः। वेदाध्ययननिर्घोषैर्गीतैः [6]सुमधुरस्वरैः ॥५॥

अर्थात् उन्हीं में मन को लगा कर यज्ञ, दान, तप, होम, पूजा तथा उपवासों से मैं विधानपूर्वक उत्तम व्रत करूँगा। विष्णु-मन्दिर का निर्माण तो प्रारंभ ही कर रहा हूँ ॥२८-३०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में क्षेत्रवर्णन
नामक छियालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥४६॥

अध्याय ४७

मंदिर बनाने के लिए राजाओं का आह्वान

ब्रह्मा ने कहा—द्विजवर ! इस प्रकार सोचने के बाद उस राजा ने हरि-मन्दिर बनवाना प्रारंभ कर दिया ॥१॥ उसने परम हर्ष से शास्त्र-पारंगत आचार्यों तथा ज्योतिषियों को बुलवाकर यत्नपूर्वक भूमि का शोधन कराया ॥२॥ फिर वेदशास्त्र-कुशल, ज्ञानसंपन्न, वास्तु-विद्या-विशारद ब्राह्मणों तथा अमात्य-मंत्रियों से सलाह करके सुन्दर मुहूर्त, शुभ दिन, सुन्दर चन्द्रमा और नक्षत्रों के संयोग तथा ग्रहों की अनुकूलता में जय-मंगलशब्दों, अनेक मनोहर वाद्यों, वेद-ध्वनियों, गीतों, मधुर स्वरों, पुष्प-लाजा-अक्षतों, गन्धों, पूर्णकुम्भों तथा

---

१ ख. विश्वाय०। २ ख. ०न्यासप्रा०। ३ ख. सूत उवा०। ४ ख. ०ने। सच्चन्द्र। ५ ख. ग्रहलग्ने शुभे तथा। ज०। ६ ग. ०रस्तवैः। पु०।

पुष्पलाजाक्षतैर्गन्धैः पूर्णकुम्भैः सदीपकैः। ददावर्घ्यं ततो राजा श्रद्धया सुसमासितः ॥६॥
दत्त्वैवमर्घ्यं विधिवदानाय्य स महीपतिः। कलिङ्गाधिपतिं शूरमुत्कलाधिपतिं तथा ॥
कोशलाधिपतिं चैव तानुवाच तदा नृपः ॥७॥

राजोवाच

गच्छध्वं सहिताः सर्वे शिलार्थे[1] सुसमाहितः। गृहीत्वा शिल्पिमुख्यांश्च शिलाकर्मविशारदान् ॥८॥
विन्ध्याचलं सुविस्तीर्णं बहुकन्दरशोभितम्। निरूप्य सर्वासानूनि च्छेदयित्वा शिलाः शुभाः ॥
संवाह्यन्तां च शकटैर्नौकाभिर्मा विलम्बथ ॥९॥

ब्रह्मोवाच

एवं गन्तुं समादिश्य तान्नृपान्स महीपतिः। पुनरेवाब्रवीद्वाक्यं सामात्यान्स पुरोहितान् ॥१०॥

राजोवाच

गच्छन्तु दूताः सर्वत्र ममाऽऽज्ञां प्रवदन्तु वै। यत्र तिष्ठन्ति राजानः पृथिव्यां तान्सुशीघ्रगाः ॥११॥
हस्त्यश्वरथपादातैः सामात्यैः सपुरोहितैः। गच्छत सहिताः सर्व इन्द्रद्युम्नस्य शासनात् ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

एवं दूताः समाज्ञाता राज्ञा तेन महात्मना। गत्वा तदा नृपानूचुर्वचनं तस्य भूपतेः ॥१३॥
श्रुत्वा तु ते तथा सर्वे दूतानां वचनं नृपाः। आजग्मुस्त्वरिताः सर्वे स्वसैन्यैः परिवारिताः ॥१४॥

दीपों से पूजा की ॥३-५॥ तत्पश्चात् सावधान होकर श्रद्धा से अर्घ्यदान किया। विधिपूर्वक अर्घ देकर भूपति ने कलिंग-नरेश, शूर-पति, उत्कल के अधिपति तथा कोशल-महाराज से कहा ॥६-७॥

राजा ने कहा—आप लोग मिलकर सावधानी से शिला लाने के लिए जाइये। शिलाकर्म में निपुण अच्छे कारीगरों को साथ लेकर अनेक गुफाओं से शोभित तथा अत्यन्त विस्तीर्ण विन्ध्याचल पर जाकर उसकी शिखरस्थ शिलाओं को कटा कर नावों द्वारा शीघ्र ले आइये ॥८-९॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार राजाओं को आदेश देकर भूपति ने फिर मंत्री और पुरोहितों से कहा ॥१०॥

राजा ने कहा—सब जगह दूत जायें और मेरी आज्ञा घोषित करें कि—"पृथ्वी पर जितने राजा लोग हैं, वे शीघ्र ही हाथी, घोड़े, रथ, सिपाही, मंत्री और पुरोहित सहित इन्द्रद्युम्न के पास जायें" ॥११-१२॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार उस महात्मा राजा की आज्ञा पाकर दूत राजाओं के पास जाकर उसकी आज्ञा सुनाने लगे ॥१३॥ दूतों का वचन सुनकर राजाओं ने अपनी-अपनी सेनाओं के साथ शीघ्र प्रस्थान कर दिया ॥१४॥

---

[1] ख. ०लाप्रेक्षार्थमुत्तमाः। गृ०।

ये नृपाः सर्वदिग्भागे ये च दक्षिणतः स्थिताः । पश्चिमायां स्थिता ये च उत्तरापथसंस्थिताः ।।१५।।
प्रत्यन्तवासिनो येऽपि ये च संनिधिवासिनः । पार्वतीयाश्च ये केचित्तथा द्वीपनिवासिनः ।।१६।।
रथैर्नागैः पदातैश्च वाजिभिर्धनविस्तरैः । संप्राप्ता बहुशो विप्राः श्रुत्वेन्द्रद्युम्नशासनम् ।।१७।।
तानागतान्नृपान्दृष्ट्वा सामात्यान्सपुरोहितान् । प्रोवाच राजा हृष्टात्मा कार्यमुद्दिश्य सादरम् ।।१८।।

राजोवाच

शृणुध्वं नृपशार्दूला यथा किंचिद्ब्रवीम्यहम् । अस्मिन्क्षेत्रवरे पुण्ये भुक्तिमुक्तिप्रदे शिवे ।।१९।।
हयमेधं महायज्ञं प्रासादं चैव वैष्णवम् । कथं शक्नोम्यहं कर्तुमिति चिन्ताकुलं मनः ।।२०।।
[1]भवद्भिः सुसहायैस्तु [2]सर्वमेतत्करोम्यहम् । यदि यूयं सहाया मे भवध्वं नृपसत्तमाः ।।२१।।

ब्रह्मोवाच

इत्येवं वदमानस्य राजराजस्य धीमतः । सर्वे प्रमुदिता हृष्टा भूपास्ते तस्य शासनात् ।।२२।।
ववृषुर्धनरत्नैश्च सुवर्णमणिमौक्तिकैः । कम्बलाजिनरत्नैश्च राङ्कवास्तरणैः शुभैः ।।२३।।
वज्रवैदूर्यमाणिक्यैः पद्मरागेन्द्रनीलकैः । गजैरश्वैर्धनैश्चान्यै रथैश्चैव करेणुभिः ।।२४।।
असंख्येयैर्बहुविधैर्द्रव्यैरुच्चावचैस्तथा । शालिव्रीहियवैश्चैव माषमुद्गतिलैस्तथा ।।२५।।
सिद्धार्थचणकैश्चैव गोधूमैर्मसुरादिभिः । श्यामाकैर्मधुकैश्चैव नीवारैः सकुलत्थकैः ।।२६।।
अन्यैश्च विविधैर्धान्यैर्ग्राम्यारण्यैः सहस्रशः । बहुधान्यसहस्राणां तण्डुलानां च राशिभिः ।।२७।।

सब दिशाओं के राजा लोग अर्थात् दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर के रहने वाले, म्लेच्छदेशवासी, समीप के रहने वाले, पर्वत प्रदेश के वासी तथा द्वीपनिवासी राजा हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे तथा पर्याप्त धन लेकर चल पड़े ।।१५-१६$\frac{१}{३}$।। इन्द्रद्युम्न की आज्ञा सुनकर बहुत-से ब्राह्मण भी पहुँचे । अमात्य-पुरोहितों के साथ आये हुए उन राजाओं को देखकर इन्द्रद्युम्न हर्षित होकर आदर से अपने कार्य का उद्देश्य बताने लगा ।।१७-१८।।

राजा ने कहा—नृपवर ! मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे आप लोग ध्यान से सुनें । भुक्ति-मुक्तिदायक, कल्याणमय, पवित्र इस उत्तम क्षेत्र में मैं अश्वमेध महायज्ञ तथा विष्णु के मन्दिर की रचना कैसे करूँ—इस चिन्ता से मेरा मन व्याकुल हो रहा है । नृपवर्य ! यदि आप लोग सहायता करें तो आप जैसे सुयोग्य सहायक पाकर मैं सब कुछ कर सकता हूँ ।।१९-२१।।

ब्रह्मा ने कहा—बुद्धिमान् महाराज की बात सुनकर उसके शासन में रहने वाले समस्त राजवृन्द हर्षित हुए ।।२२।। उन्होंने धन, रत्न, सुवर्ण, मणि, मोती, कम्बल, चर्म, पवित्र मृगरोम-निर्मित बिस्तर (कालीन), वज्रमणि, वैदूर्यमणि, पद्मराग, इन्द्रनील, असंख्य तथा अनेक प्रकार के हाथी-घोड़े-रथ, छोटे-बड़े द्रव्य, धान, यव, चावल, उड़द, तिल, श्वेत सरसों, चना, गेहूँ, मसूरी, श्यामाक, मधूक, नीवार, कुलत्थक तथा दूसरे भी विविध प्रकार के ग्राम्य एवम् जंगली अन्न, गो-घृत के सैकड़ों-हजारों घड़े, अनेक भक्ष्य, भोज्य तथा लेप करने के पदार्थ—इन सब

---

[1] ख. ०द्भिः समवेतश्च स० । [2] ख. ०मेव करो० ।

गव्यस्य हविषः कुम्भैः शतशोऽथ सहस्रशः। [1]तथाऽन्यैर्विविधैर्द्रव्यैर्भक्ष्यभोज्यानुलेपनैः ॥२८॥
राजानः पूरयामासुर्यत्किचिद्द्रव्यसंभवैः। तान्दृष्ट्वा यज्ञसंभारान्सर्वसंपत्समन्वितान्[2] ॥२९॥
यज्ञकर्मविदो विप्रान्वेदवेदाङ्गपारगान्। शास्त्रेषु निपुणान्दक्षान्कुशलान्सर्वकर्मसु ॥३०॥
ऋषींश्चैव महर्षींश्च देवर्षींश्चैव तापसान्। ब्रह्मचारिगृहस्थांश्च वानप्रस्थान्यतींस्तथा ॥३१॥
स्नातकान्ब्राह्मणांश्चान्यानग्निहोत्रे सदा स्थितान्। आचार्योपाध्यायवरान्स्वाध्यायतपसाऽन्वितान्॥३२॥
सदस्याञ्छास्त्रकुशलांस्तथाऽन्यान्पावकान्बहून्। दृष्ट्वा तान्नृपतिः श्रीमानुवाच स्वं पुरोहितम् ॥३३॥

राजोवाच

ततः प्रयान्तु विद्वांसो ब्राह्मणा वेदपारगाः। वाजिमेधार्थसिद्ध्यर्थं देशं[3] पश्यन्तु [4]यज्ञियम् ॥३४॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्तः स तथा चक्रे वचनं तस्य भूपतेः। हृष्टः स मन्त्रिभिः सार्धं तदा राजपुरोहितः ॥३५॥
ततो ययौ पुरोधाश्च प्राज्ञः स्थपतिभिः सह। [5]ब्राह्मणानग्रतः कृत्वा कुशलान्यज्ञकर्मणि ॥३६॥
तं देशं धीवरग्रामं सप्रतोलिविटङ्किनम्। कारयामास विप्रोऽसौ यज्ञवाटं यथाविधि ॥३७॥
प्रासादशतसंबाधं [6]मणिप्रवरशोभितम्। इन्द्रसद्मनिभं रम्यं हेमरत्नविभूषितम् ॥३८॥
स्तम्भान्कनकचित्रांश्च तोरणानि बृहन्ति च। यज्ञायतनदेशेषु दत्त्वा शुद्धं च काञ्चनम् ॥३९॥

द्रव्य से प्राप्त होने वाली सामग्रियों को पूरा किया ॥२३-२८$\frac{१}{२}$॥ अविरल संपत्ति-समन्वित यज्ञ-सामग्रियों, यज्ञकर्मवेत्ता, वेद-वेदांगपारंगत, शास्त्रों में निपुण तथा सब कर्मों में कुशल ब्राह्मणों, ऋषियों, महर्षियों, देवर्षियों, तपस्वियों, ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों, संन्यासियों, स्नातकों, अग्निहोत्री ब्राह्मणों, आचार्यों, उपाध्यायों, स्वाध्याय तथा तपस्या से युक्त विप्रों, शास्त्र-कुशल सदस्यों और अन्य बहुत-से पवित्र मनुष्यों को देखकर राजा ने अपने पुरोहित से कहा ॥२९-३३॥

राजा ने कहा—वेदपारंगत विद्वान् ब्राह्मण जायें और अश्वमेध यज्ञ की सिद्धि के लिए यज्ञ-स्थल का निरीक्षण करें ॥३४॥

ब्रह्मा ने कहा—राजा के वचन सुनकर राजपुरोहित ने वैसा ही किया। वह प्रसन्न होकर मंत्रियों के साथ चल पड़ा ॥३५॥ यज्ञ-कर्मों में दक्ष ब्राह्मणों को आगे करके कारीगरों के साथ विद्वान् पुरोहित गलियों तथा विटंकों (कबूतरों के अड्डे) से युक्त धीवर-ग्राम को विधानपूर्वक यज्ञस्थल बनवाया॥ ३६-३७॥ उत्तम मणियों से शोभित, सुवर्ण-रत्नों से विभूषित, मनोरम तथा इन्द्र-भवन तुल्य सैकड़ों महल बनवाये। सुवर्ण के चित्र-विचित्र स्तम्भ, अनेक तोरण, शुद्धसुवर्णमय यज्ञ-गृह और नाना देश निवासी राजाओं के अन्तःपुर को उस धर्मात्मा ने

---

[1] ख. तथैव विवि०। [2] ख. ०न्सर्वान्यानसम०। [3] ख. दिशं। [4] ख. याज्ञिकाः। [5] ख. ०णान्पुरतः।
[6] ग. ०रकुट्टिमम्। कारयामास विधिवद्धेम०।

कारयामास धर्मात्मा तत्र तत्र यथाविधि ॥४०॥
अन्तःपुराणि राज्ञां च नानादेशनिवासिनाम्। कारयामास [2]विधिवच्छालास्तत्राप्यनेकशः॥४१॥
ब्राह्मणानां च [1]वैश्यानां नानादेशसमीयुषाम्। कारयामास [2]विधिवच्छालास्तत्राप्यनेकशः ॥४१॥
प्रियार्थं तस्य नृपतेरराययुर्नृपसत्तमाः। रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियश्चाऽऽययुरुत्सवे ॥४२॥
तेषां निर्विशतां स्वेषु शिविरेषु महात्मनाम्। नदतः सागरस्येव दिविस्पृगभवद्ध्वनिः ॥४३॥
तेषामभ्यागतानां च स राजा मुनिसत्तमाः। व्यादिदेशाऽऽयतनानि शय्याश्चाप्युपचारतः ॥४४॥
भोजनानि विचित्राणि शालीक्षुयवगोरसैः। उपेत्य नृपतिश्रेष्ठो व्यादिदेश स्वयं तदा ॥४५॥
तथा तस्मिन्महायज्ञे बहवो ब्रह्मवादिनः। ये च द्विजातिप्रवरास्तत्राऽऽसन्द्विजसत्तमाः ॥४६॥
समाजग्मुः [3]सशिष्यास्तान्प्रतिजग्राह पार्थिवः। सर्वांश्चताननुययौ यावदावसथानिति ॥४७॥
स्वयमेव महातेजा दम्भं त्यक्त्वा नृपोत्तमः। ततः कृत्वा स्वशिल्पं च शिल्पिनोऽन्ये च ये तदा ॥४८॥
[4]कृत्स्नं यज्ञविधिं राज्ञे तदा तस्मै न्यवेदयन्। ततः श्रुत्वा नृपश्रेष्ठः कृतं सर्वमतन्द्रितः ॥
हृष्टरोमाऽभवद्राजा सह मन्त्रिभिरच्युतः ॥४९॥

ब्रह्मोवाच

तस्मिन्यज्ञे प्रवृत्ते तु [5]वाग्मिनो हेतुवादिभिः। हेतुवादान्बहूनाहुः परस्परजिगीषवः ॥५०॥
देवेन्द्रस्येव[6] (?) विहितं राज्ञसिहेन भो द्विजाः। ददृशुस्तोरणान्यत्र शातकुम्भमयानि च ॥५१॥
शय्यासनविकारांश्च [7]सुबहून्रत्नसंचयान्[8]। घटपात्रीकटाहानि कलशान्वर्धमानकान् ॥५२॥

अच्छी तरह बनवाया ॥३८-४०॥ अनेक देशवासी ब्राह्मणों तथा वैश्यों की बहुत-सी शालाएँ विधिपूर्वक बनवायीं ॥४१॥ इन्द्रद्युम्न के हित के निमित्त राजा और स्त्रियाँ भी विविध रत्नों को लेकर उत्सव में आयीं ॥४२॥ जब वे महात्मा-वृन्द अपने-अपने शिविरों के अन्दर थे उस समय समुद्र-गर्जन की तरह आकाशव्यापी ध्वनि होने लगी ॥४३॥ मुनिगण ! तब राजा ने स्वयं वहाँ जाकर उन अभ्यागतों को गृह, शय्या, अद्‌भुत भोजन—चावल, गुड़, यव, दूध, घी आदि—देने की आज्ञा दी ॥४४-४५॥ द्विजवर ! उस महायज्ञ में जितने शिष्य सहित ब्रह्मवादी द्विजवर आयें हुए थे, उन सब का राजा ने सत्कार किया और स्वयं उनको घर तक पहुँचाया ॥४६-४७॥ महातेजस्वी नृप ने दम्भ का परित्याग कर दिया। जितने शिल्पी लोग थे, उन्होंने अपनी कारीगरी अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञ-विधि (यज्ञस्थल के निर्माण) को पूर्ण कर राजा से निवेदन किया कि सब कार्य सम्पन्न हो गया—यह सुन कर आलस्यरहित राजा मंत्रियों सहित आनन्द से गद्‌गद हो गया ॥४८-४९॥

ब्रह्मा ने कहा—उस यज्ञ के प्रारंभ में परस्पर विजय के इच्छुक वाग्मी लोग हेतुवादियों से अनेक कारणवाद कहने लगे ॥५०॥ द्विजगण ! उस श्रेष्ठ भूपति ने इन्द्र की तरह कार्य किया। वहाँ सुवर्णमय तोरण, घट, पात्र तथा

---

१ ग. वेश्मानि। २ ग. ०वद्विदितात्मा ह्यने०। ३ ख. ०स्तान्प्रीत्या ज०। ४ क. कृत्स्नयज्ञविधानज्ञास्तदा'। ५ ख. वादिनो। ६ ख. ०न्द्रस्य विधिं चिन्त्यं रा०। ७ ख. ०वहवन्नस्य सं०। ८ ख. ०न्। स्फाटिकानि च गेहानि क०।

नहि कश्चिदसौवर्णमपश्यद्वसुधाधिपः। यूपांश्च शास्त्रपठितान्दारवान्हेमभूषितान् ।।५३।।
उपक्षिप्तान्यथाकालं विधिवद्भूरिवर्चसः[1]। स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन द्विजाः ।।५४।।
सर्वानेव समानीतानपश्यंस्तत्र ते नृपाः। गाश्चैव महिषीश्चैव तथा वृद्धस्त्रियोऽपि च ।।५५।।
औदकानि च सत्त्वानि श्वापदानि वयांसि च। जरायुजाण्डजातानि स्वेदजान्युद्भिदानि च[2] ।।५६।।
पर्वतान्युपधान्यानि भूतानि ददृशुश्च ते। एवं प्रमुदितं सर्वं पशुतो धनधान्यतः ।।५७।।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा विस्मयं परमं गताः। ब्राह्मणानां विशां चैव बहुमिष्टान्नमृद्धिमत् ।।५८।।
पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां तत्र भुञ्जताम्। दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषान्मुहुर्मुहुरथाकरोत् ।।५९।।
विननादासकृच्चापि दिवसे दिवसे गते। एवं स ववृधे यज्ञस्तस्य राज्ञस्तु धीमतः ।।६०।।
अन्नस्य सुबहून्विप्रा उत्सर्गान्निर्गतोपमान्। दधिकुल्याश्च ददृशुः पयसश्च ह्रदांस्तथा ।।६१।।
जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदैर्युतः। द्विजाश्च तत्र दृश्यन्ते राज्ञस्तस्य महामखे ।।६२।।
तत्र [3]यानि सहस्राणि पुरुषाणां ततस्ततः। गृहीत्वा भाजनं जग्मुर्बहूनि द्विजसत्तमाः[4] ।।६३।।
श्राविणश्चापि ते सर्वे सुमृष्टमणिकुण्डलाः। पर्यवेषयन्द्विजातीञ्छतशोऽथ सहस्रशः ।।६४।।
विविधान्यनुपानानि पुरुषा येऽनुयायिनः। ते वै नृपोपभोज्यानि ब्राह्मणेभ्यो ददुः सह ।।६५।।
समागतान्वेदविदो राज्ञश्च पृथिवीश्वरान्। पूजां चक्रे तदा तेषां विधिवद्भूरिदक्षिणः ।।६६।।
दिग्देशादागतान्राज्ञो महासङ्ग्रामशालिनः। नटनर्तककादींश्च गीतस्तुतिविशारदान् ।।६७।।

कड़ाह और रत्नजटित शय्या, आसन एवम् इनके उपकरण थे ।।५१-५२।। राजा ने ऐसी कोई चीज नहीं देखी, जो सोने की नहीं थी। उन्होंने शास्त्रविहित काष्ठ के यूपों को स्वर्णभूषित, अत्यन्त तेजस्वी तथा ठीक समय से विधिपूर्वक गड़ते हुए देखा। विप्रवृन्द ! स्थलचर और जलचर सभी जन्तु वहाँ लाये गये ।।५३-५४½।। गायें, भैंसें, वृद्धा स्त्रियाँ, जलीय जन्तु, हिंसक जन्तु, पक्षीगण, जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज्ज, पर्वत, अन्न, प्राणी—सब वहाँ विद्यमान थे ।।५५-५६½।। इस प्रकार पशुओं और धनधान्यों से आनन्दित यज्ञस्थल को देख कर राजा लोग आश्चर्यचकित रह गये ।।५७½।। ब्राह्मणों और वैश्यों के पास पर्याप्त मिष्टान्न था। वहाँ एक लाख वर्षों तक ब्राह्मण-भोजन होता रहा ।।५८½।। मेघ-गर्जन के समान नगाड़ों के अनवरत घोष हो रहे थे। इस प्रकार उस बुद्धिमान् राजा का यज्ञ-कार्य विस्तृत होने लगा ।।५९-६०।। विप्रवृन्द ! अन्न जितना खर्च होता था उतना ही बढ़ता जाता था। दही के सरोवर और दूध की झीलें वहाँ दीखती थीं ।।६१।। द्विजगण ! अनेक देशों से युक्त सम्पूर्ण जम्बूद्वीप ही उस राजा के महायज्ञ में उपस्थित हुआ था ।।६२।। द्विजवर्य ! हजारों पुरुष पात्रों को लेकर वहाँ पहुँचे। निर्मल मणि-कुण्डलों से युक्त सैकड़ों-हजारों भक्त लोग ब्राह्मणों को अलंकृत करते, राजा के खाने योग्य भोजन कराते और विविध प्रकार के अनुपान देते थे ।।६३-६५।। विधिपूर्वक भूरि दक्षिणा देने वाला राजा आये हुए वेदवेत्ताओं तथा पृथिवीश्वर राजाओं की पूजा करता था ।।६६।। सभी दिशाओं के देशों से वहाँ महासंग्रामशाली राजवृन्द तथा गीत-स्तुति-विशारद नट, नर्तक आदि

---

[1] ख. ०रिदक्षिणः। स्थ०। [2] ख. च। पार्वतीयानि भूतानि भूतपा द०। [3] ग. यामीस०। [4] ख. ०माः। ते वै।

पत्न्यो मनोरमास्तस्य पीनोन्नतपयोधराः। इन्दीवरपलाशाक्ष्यः शरच्चन्द्रनिभाननाः ।।६८।।
कुलशीलगुणोपेताः सहस्रैकं शताधिकम्। एवं तद्भूप्परमपत्नीगणसमन्वितम् ।।६९।।
रत्नमालाकुलं दिव्यं पताकाध्वजसेवितम्। रत्नहारयुतं रम्यं चन्द्रकान्तिसमप्रभम् ।।७०।।
करिणः पर्वताकारान्मदसिक्तान्महाबलान्[1]। शतशः कोटिसंघातैर्दन्तिभिर्दन्तभूषणैः[2] ।।७१।।
वातवेगजवैरश्वैः सिन्धुजातैः सुशोभनैः। [3]श्वेताश्वैः श्यामकर्णैश्च कोट्यनेकैर्जवान्वितैः ।।७२।।
संनद्धबद्धकक्षैश्च नानाप्रहरणोद्यतैः। असंख्येयैः पदाश्तैश्च देवपुत्रोपमैस्तथा ।।७३।।
इत्येवं ददृशे राजा [4]यज्ञसंभारविस्तरम्। [5]मुदं लेभे तदा राजा संहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ।।७४।।

राजोवाच

आनयध्वं हयश्रेष्ठं सर्वलक्षणलक्षितम्। चारयध्वं पृथिव्यां वै राजपुत्राः सुसंयताः ।।७५।।
विद्वद्भिर्धर्मविद्भिश्च अत्र होमो विधीयताम्। कृष्णच्छागं च महिषं कृष्णसारमृगं द्विजान् ।।७६।।
अनड्वाहं च गाश्चैव सर्वांश्च पशुपालकान्। इष्टयश्च प्रवर्तन्तां प्रासादं वैष्णवं ततः ।।७७।।
सर्वमेतच्च विप्रेभ्यो दीयतां मनसेप्सितम्। स्त्रियश्च रत्नकोट्यश्च ग्रामाश्च नगराणि च ।।७८।।
सम्यक्समृद्धभूम्यश्च विषयाश्चैवमर्थिनाम्। अन्यानि द्रव्यजातानि मनोज्ञानि बहूनि च ।।७९।।
सर्वेषां याचमानानां नास्ति ह्येतन्न भाषयेत्। तावत्प्रवर्ततां यज्ञो [6]यावद्देवः पुरा त्विह ।।
प्रत्यक्षं मम चाभ्येति यज्ञस्यास्य समीपतः ।।८०।।

आये हुए थे ।।६७।। इन्द्रद्युम्न की ग्यारह सौ मनोरम पत्नियाँ थीं, जो स्थूल और उन्नत स्तन वाली, कमल-लोचना, शरद्-चन्द्र तुल्य मुख वाली और कुल, शील तथा गुणों से सम्पन्न थीं ।।६८$\frac{१}{३}$।। इस प्रकार पत्नीगण से समन्वित, रत्न-मालाओं से व्याप्त, दिव्य ध्वजा-पताकाओं से सेवित और चन्द्रकान्तमणि के समान कान्तिमान् वह यज्ञ-स्थल था ।।६९-७०।। पर्वताकार, महाबली, मद से सिक्त और दन्त रूप आभूषणों से युक्त करोड़ों हाथियों के झुण्डों से, पवन तुल्य वेग वाले, सिन्ध देशोत्पन्न, सुन्दर तथा श्वेत अंग वाले करोड़ों श्यामकर्ण घोड़ों से और कवचधारी, बद्धकक्ष, अनेक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित तथा देव-पुत्र तुल्य असंख्य सैनिकों से यज्ञ-स्थल सुशोभित था ।।७१-७३।। इस प्रकार यज्ञ-स्थान के महान् ठाट-बाट को देख कर राजा अत्यन्त आनन्दित होकर बोला ।।७४।।

राजा ने कहा—समस्त लक्षणों से सम्पन्न उत्तम घोड़े को संयमी राजकुमार लायें। और फिर पृथिवी पर उसका विचरण करायें ।।७५।। विद्वान् तथा धर्मवेत्ता लोग हवन करें। काले बकरे, महिष, कृष्णमृग, ब्राह्मणों, बैल, गाय और समस्त पशु-पालकों को बुलाकर यज्ञ आरंभ किया जाये। विष्णु का मंदिर बने ।।७६-७७।। विप्रों को अभिलषित दान दिया जाय, याचकों को स्त्रियाँ, रत्न, गाँव, नगर, अच्छी उपजाऊ भूमि, राज्य तथा दूसरे सुन्दर द्रव्य दिये जायँ ।।७८।। किसी भी याचक से 'नहीं है' ऐसा शब्द नहीं कहा जाय। जब तक भगवान् यज्ञवेदी में प्रत्यक्ष प्रकट न हों तब तक यज्ञ होता रहे ।।७९-८०।।

---

[1] ख. ०न्मनोहरान्। [2] ख. ०न्तिभिः कृतभ्। [3] ख. ०मवर्णै०। [4] ख. ०ज्ञवाटप्रवि०। [5] क. ०दं चैवातुलां प्राप्य सं०। [6] ग. ०वः सुराविह।

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तदा विप्रा राजसिंहो महाभुजः। ददौ सुवर्णसंघातं कोटीनां चैव भूषणम् ॥८१॥
करेणुशतसाहस्रं वाजिनो नियुतानि च। अर्बुदं चैव वृषभं स्वर्णभृङ्गीश्च धेनुकाः ॥८२॥
सुरूपाः सुरभीश्चैव कांस्यदोहाः पयस्विनीः। प्रायच्छत्स तु विप्रेभ्यो वेदविद्भयो मुदा युतः ॥८३॥
वासांसि च महार्हाणि राङ्कवास्तरणानि च। सुशुक्लानि च शुभ्राणि प्रवालमणिमुत्तमम् ॥८४॥
अददात्स महायज्ञे रत्नानि विविधानि च ॥८५॥
वज्रवैदूर्यमाणिक्यमुक्तिकाद्यानि यानि च। अलंकारवतीः शुभ्राः कन्या राजीवलोचनाः ॥८६॥
शतानि पञ्च विप्रेभ्यो राजा हृष्टः प्रदत्तवान्। स्त्रियः पीनपयोभाराः कञ्चुकैः स्वस्तनावृताः ॥८७॥
मध्यहीनाश्च सुश्रोण्यः पद्मपत्रायतेक्षणाः। हावभावान्वितग्रीवा बह्व्यो वलयभूषिताः ॥८८॥
पादनूपुरसंयुक्ताः पट्टदुकूलवाससः। एकैकशोऽददात्तस्मिन्काम्याश्च कामिनीर्बहूः ॥८९॥
अर्थिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यो हयमेधे द्विजोत्तमाः। भक्ष्यं भोज्यं च संपूर्णं नानासंभारसंयुतम् ॥९०॥
खण्डकाद्यान्यनेकानि स्विन्नपक्वांश्च पिष्टकान्। अन्नान्यन्यानि मेध्यांश्च घृतपूरांश्च खाण्डवान् ॥९१॥
मधुरांस्तर्जितान्पूपानन्नं मृष्टं सुपाकिकम्। प्रीत्यर्थं सर्वसत्त्वानां दीयतेऽन्नं पुनः पुनः ॥९२॥
दत्तस्य दीयमानस्य धनस्यान्तो न विद्यते। एवं दृष्ट्वा महायज्ञं देवदैत्याः सवा (चा) रणाः ॥९३॥
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा ऋषयश्च प्रजेश्वराः। विस्मयं परमं याता दृष्ट्वा क्रतुवरं शुभम् ॥९४॥
पुरोधा मन्त्रिणो राजा हृष्टास्तत्रैव सर्वशः। न तत्र मलिनः कश्चिन्न दीनो न क्षुधाऽन्वितः ॥९५॥

ब्रह्मा ने कहा—इतना कहकर उस महाबलवान् नृपवर ने हर्षपूर्वक सुवर्ण-समूह, करोड़ों भूषण, एक लाख हाथी, दस लाख घोड़े, एक अरब बैल तथा स्वर्णशृङ्गी, सुन्दर रूपवती एवम् दुधारू गायें वेदवेत्ता ब्राह्मणों को दान में दीं ॥८१-८३॥ तथा बहुमूल्य वस्त्र, उज्ज्वल मृगरोम-निर्मित बिस्तर (कालीन), उत्तम प्रवाल मणियाँ और विविध रत्न भी दिये ॥८४-८५॥ वज्रमणि, वैदूर्यमणि, मोती तथा अलंकारों से युक्त, गौरवर्ण एवम् कमल के समान नेत्रों वाली पाँच सौ कन्याएँ राजा ने प्रसन्न होकर विप्रों को दीं ॥८६½॥ द्विजवर्य ! अश्वमेध यज्ञ में स्थूल तथा कंचुकियों से आवृत स्तनों वाली, क्षीण कटि वाली, सुन्दर नितम्ब वाली, कमल-पत्र के समान दीर्घ नेत्रों वाली, हाव-भावों से अवनत ग्रीवा वाली, कंकण तथा नूपुरों से विभूषित, कौशेयवस्त्रधारिणी बहुत-सी कामिनियों को राजा ने एक-एक करके ब्राह्मण आदि याचकों को दे दिया ॥८७-८९॥ अनेक प्रकार के रसों से युक्त पर्याप्त भक्ष्य-भोज्य, खाँड़ मिश्रित विविध अन्न तथा उबालकर बनाये गये, पीसकर बनाये गये, पवित्र तथा घृतपूर्ण खाँड़ के बने मधुर, अच्छी तरह पकाये हुए खाद्यान्न एवं पूए—समस्त प्राणियों की तृप्ति के लिए बार-बार दिये जाते थे॥९०-९२॥ दिये गये तथा दिये जाने वाले अन्न का अन्त नहीं था। इस प्रकार महायज्ञ को देखकर देव, दैत्य, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, ऋषि तथा प्रजापति अत्यन्त विस्मित हुए॥९३-९४॥ पवित्र तथा उत्तम यज्ञ को देखकर पुरोहित, मंत्री, राजा—सब-के-सब हर्षित हुए। वहाँ न कोई मलिन, न दीन और न क्षुधा-पीड़ित

न वोपसर्गो न ग्लानिर्नाऽऽधयो व्याधयस्तथा। नाकालमरणं तत्र न दंशो न ग्रहा विषम् ॥९६॥
हृष्टपुष्टजनाः सर्वे तस्मिन्राज्ञो महोत्सवे। ये च तत्र तपःसिद्धा मुनयश्चिरजीविनः ॥९७॥
न जातं तादृशं यज्ञं धनधान्यसमन्वितम्। एवं स राजा विधिवद्वाजिमेधं द्विजोत्तमाः ॥
क्रतुं समापयामास प्रसादं वैष्णवं तथा ॥९८॥

इति श्रीमहापुराण आदिब्राह्मे स्वयंम्वृषिसंवादे प्रासादकरणं नाम
सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४७॥

अथाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

इन्द्रद्युम्नस्य प्रतिमानिर्माणम्

मुनय ऊचुः

ब्रूहि नो देवदेवेश यत्पृच्छामः पुरातनम्। यथा ताः प्रतिमाः पूर्वमिन्द्रद्युम्नेन निर्मिताः ॥१॥
केन चैव प्रकारेण तुष्टस्तस्मै स माधवः। तत्सर्वं वद चास्माकं परं कौतूहलं हि नः ॥२॥

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः पुराणं वेदसंमितम्। कथयामि पुरा वृत्तं प्रतिमानां च संभवम् ॥३॥

दिखायी पड़ता था ॥९५॥ उत्पात, ग्लानि, आधि-व्याधि, अकाल मृत्यु, दंश, ग्रह और विष किसी प्रकार की विपत्ति नहीं थी ॥९६॥ राजा के उस महोत्सव में सब लोग हृष्ट-पुष्ट, तपस्वी, मुनि तथा चिरजीवी थे ॥९७॥ वैसा धन्य-धान्य-समन्वित यज्ञ कहीं नहीं हुआ था। द्विजवर्य ! इस तरह राजा ने विधानपूर्वक अश्वमेध यज्ञ तथा विष्णु के मंदिर को सम्पन्न किया ॥९८॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में मंदिर-निर्माण नामक
सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥४७॥

अध्याय ४८

इन्द्रद्युम्न द्वारा प्रतिमा का निर्माण

मुनियों ने कहा—हे देवदेवेश ! हम यह प्राचीन कथा सुनना चाहते हैं कि इन्द्रद्युम्न ने उन प्रतिमाओं का निर्माण कैसे कराया ? किस प्रकार माधव उससे संतुष्ट हुए ? यह सब हमसे कहिये, हमें बड़ी उत्सुकता है ॥१-२॥

ब्रह्मा ने कहा—मुनिवर ! वेदसम्मत पुराण को सुनिये। मैं पूर्वकालीन, वृत्तान्त—प्रतिमाओं का

प्रवृत्ते च महायज्ञे प्रासादे चैव निर्मिते। चिन्ता तस्य बभूवाथ प्रतिमार्थमहर्निशम् ।।४।।
न वेद्मि केन देवेशं सर्वेशं लोकपावनम्। सर्गस्थित्यन्तकर्तारं पश्यामि पुरुषोत्तमम् ।।५।।
चिन्ताविष्टस्त्वभूद्राजा शेते रात्रौ दिवाऽपि न। न भुङ्क्ते विविधान्भोगान्न च स्नानं प्रसाधनम् ।।६।।
नैव वाद्येन गन्धेन गायनैर्वर्णकैरपि। न गजैर्मदयुक्तैश्च न चानेकैर्हयान्वितैः ।।७।।
नेन्द्रनीलैर्महानीलैः पद्मरागमयैर्न च। सुवर्णरजताद्यैश्च वज्रस्फटिकसंयुतैः ।।८।।
बहुरागार्थकामैर्वा न वन्यैरन्तरिक्षगैः। बभूव तस्य नृपतेर्मनसस्तुष्टिवर्धनम् ।।९।।
शैलमृद्दारुजातेषु प्रशस्तं किं महीतले। विष्णुप्रतिमायोग्यं च सर्वलक्षणलक्षितम् ।।१०।।
एतैरेव त्रयाणां तु दयितं स्यात्सुरार्चितम्। स्थापिते प्रीतिमभ्येति इति चिन्तापरोऽभवत् ।।११।।
पञ्चरात्रविधानेन संपूज्य पुरुषोत्तमम्। चिन्ताविष्टो महीपालः संस्तोतुमुपचक्रमे ।।१२।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे इन्द्रद्युम्नस्य प्रतिमानिर्माणविधानं नामाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।।४८।।

निर्माण—बतलाता हूँ ।।३।। महायज्ञ का आरंभ तथा मन्दिर का निर्माण हो जाने पर राजा को दिन-रात प्रतिमा की चिन्ता लगी रहती थी ।।४।। "मैं नहीं जानता कि किस प्रकार देवों के स्वामी, सब के स्वामी, लोकपावन तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता पुरुषोत्तम भगवान् का दर्शन कर सकूँगा" इस चिन्ता के कारण राजा को एक क्षण भी नींद नहीं आती थी। स्नान, श्रृंगार तथा भोगों से भी वह विरत हो गया था ।।५-६।। वाद्य, गन्ध, गाना, मदयुक्त हाथी, घोड़े, इन्द्रनील, महानील, पद्मराग, सोना, चाँदी, वज्रमणि, स्फटिकमणि, अनुराग उत्पन्न करनेवाले बहुत-से वन्य तथा गगन विहारी पक्षी—कोई भी राजा के मन को संतुष्ट नहीं कर पाता था ।।७-९।। "भूतल पर पत्थर, मिट्टी और लकड़ी—इन तीन चीजों में कौन विष्णु की प्रतिमा योग्य, सर्व-लक्षण-सम्पन्न तथा प्रशस्त है ? इन्हीं तीनों में से किसी वस्तु की प्रतिमा देवताओं को प्रिय होती है। प्रतिमा स्थापित होने पर ही भगवान् प्रसन्न होंगे।" इस तरह राजा सोचते हुए पञ्चरात्र के विधान से पुरुषोत्तम की पूजा कर चिन्तामग्न स्थिति में ही स्तुति करने लगा ।।१०-१२

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में प्रतिमानिर्माण-विधान
नामक अड़तालीसवाँ अध्याय समाप्त ।।४८।।

अथैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

इन्द्रद्युम्नकृतभगवत्स्तुतिः

वासुदेव नमस्तेऽस्तु नमस्ते मोक्षकारण। त्राहि मां सर्वलोकेश जन्मसंसारसागरात् ।।१।।
निर्मलाम्बरसंकाश नमस्ते पुरुषोत्तम। संकर्षण नमस्तेऽस्तु त्राहि मां धरणीधर ।।२।।
नमस्ते हेमगर्भाभ नमस्ते मकरध्वज। रतिकान्त नमस्तेऽस्तु त्राहि मां संवरान्तक ।।३।।
नमस्तेऽञ्जनसंकाश नमस्ते भक्तवत्सल। अनिरुद्ध नमस्तेऽस्तु त्राहि मां वरदो भव ।।४।।
नमस्ते विबुधावास नमस्ते विबुधप्रिय। नारायण नमस्तेऽस्तु त्राहि मां शरणागतम् ।।५।।
नमस्ते बलिनां श्रेष्ठ नमस्ते लाङ्गलायुध। चतुर्मुख जगद्धाम त्राहि मां प्रपितामह ।।६।।
नमस्ते नीलमेघाभ नमस्ते त्रिदशार्जित। त्राहि विष्णो जगन्नाथ मग्नं मां भवसागरे ।।७।।
प्रलयानलसंकाश नमस्ते दितिजान्तक। नरसिंह महावीर्य त्राहि मां दीप्तलोचन ।।८।।
यथा रसातलादुर्वी त्वया दंष्ट्रोद्धृता पुरा। तथा महावराहस्त्वं त्राहि मां दुःखसागरात् ।।९।।
तवैता मूर्तयः कृष्ण वरदाः संस्तुता मया। तवेमे बलदेवाद्याः पृथग्रूपेण संस्थिताः ।।१०।।
अङ्गानि तव देवेश गरुत्माद्यास्तथा प्रभो। दिक्पालाः सायुधाश्चैव केशवाद्यास्तथाऽच्युत ।।११।।

अध्याय ४९

इन्द्रद्युम्न द्वारा भगवान् की स्तुति

वासुदेव! आपको नमस्कार है। मोक्षकारण! आपको नमस्कार है। अखिल लोकों के स्वामी! मुझे जन्म तथा संसार सागर से बचाइये।।१।। स्वच्छ गगन तुल्य! पुरुषोत्तम! आपको नमस्कार है। संकर्षण! आपको नमस्कार है। धरणीधर! मेरी रक्षा करें।।२।। हिरण्यगर्भ! आपको नमस्कार है। मकरध्वज! आपको नमस्कार है। रतिपति! आपको नमस्कार है। शंवरारि! मेरी रक्षा करें।।३।। अञ्जनतुल्य! आपको नमस्कार है। भक्तवत्सल! आपको नमस्कार है। अनिरुद्ध! आपको नमस्कार है। मेरी रक्षा करें तथा वरदायक बनें।।४।। देवताओं के स्थान! आपको नमस्कार है। देवप्रिय! आपको नमस्कार है। नारायण! आपको नमस्कार है। मुझ शरणागत की रक्षा करें।।५।। बलियों में श्रेष्ठ! आपको नमस्कार है। हलायुध! आपको नमस्कार है। चतुर्मुख! जगद्धाम! प्रपितामह! मेरी रक्षा करें।।६।। नीलमेघ के समान कान्ति वाले! आपको नमस्कार है। देव-पूजित! आपको नमस्कार है। विष्णु! मेरी रक्षा करें। जगन्नाथ! भवसागर से मेरा उद्धार करें।।७।। प्रलयाग्नि के सदृश! दैत्यनाशन! आपको नमस्कार है! नरसिंह! महाशक्तिशाली! दीप्त नेत्र वाले! मेरी रक्षा करें।।८।। आपने जिस प्रकार महावराह का रूप धारण कर अपने दाँतों पर पताल से पृथ्वी का उद्धार किया था वैसे मुझे भी दुःखसागर से बचायें।।९।। कृष्ण! वर देने वाली आप ही की इन मूर्तियों की मैंने स्तुति की है। आप ही के ये बलदेव आदि रूप पृथक्-पृथक् स्थित हैं।।१०।। देवेश! प्रभो! गरुड़ आदि आपके

ये चान्ये तव देवेश भेदाः प्रोक्ता मनीषिभिः। तेऽपि सर्वे जगन्नाथ प्रसन्नायतलोचन ॥१२॥
मयाऽर्चिताः स्तुताः सर्वे तथा यूयं नमस्कृताः। प्रयच्छत वरं मह्यं धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥१३॥
भेदास्ते कीर्तिता ये तु हरे संकर्षणादयः। तव पूजार्थसंभूतास्ततस्त्वयि समाश्रिताः ॥१४॥
न भेदस्तव देवेश विद्यते परमार्थतः। विविधं तव [1]यद्रूपमुक्तं तदुपचारतः ॥१५॥
अद्वैतं त्वां कथं द्वैतं वक्तुं शक्नोति मानवः। [2]एकस्त्वं हि हरे व्यापी चित्स्वभावो निरञ्जनः ॥१६॥
परमं तव यद्रूपं भावाभावविवर्जितम्। निर्लेपं निर्गुणं श्रेष्ठं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥१७॥
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रव्यवस्थितम्। तद्देवाश्च न जानन्ति कथं जानाम्यहं प्रभो ॥१८॥
अपरं तव यद्रूपं पीतवस्त्रं चतुर्भुजम्। शङ्खचक्रगदापाणिमुकुटाङ्गदधारिणम् ॥१९॥
श्रीवत्सोरस्कसंयुक्तं वनमालाविभूषितम्। [3]तदर्चयन्ति विबुधा ये चान्ये तव संश्रयाः ॥२०॥
देवदेव सुरश्रेष्ठ भक्तानामभयप्रद। त्राहि मां पद्मपत्राक्ष मग्नं विषयसागरे ॥२१॥
नान्यं पश्यामि लोकेश यस्याहं शरणं व्रजे। त्वामृते कमलाकान्त प्रसीद मधुसूदन ॥२२॥
जराव्याधिशतैर्युक्तो नानादुःखैर्निपीडितः। हर्षशोकान्वितो मूढः कर्मपाशैः सुयन्त्रितः ॥२३॥
पतितोऽहं महारौद्रे घोरे संसारसागरे। विषमोदकदुष्पारे रागद्वेषझषाकुले ॥२४॥

अंग हैं। अच्युत ! दिक्पाल तथा आयुधधारी केशव आदि भी आपके अवयव हैं ॥११॥ प्रसन्न तथा लम्वे नेत्र वाले जगन्नाथ ! विद्वानों ने जितने आपके भेद वतलाये हैं, उन सबकी मैंने पूजा तथा स्तुति की और आपको नमस्कार किया। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षदायक वरदान मुझे दीजिये ॥१२-१३॥ हरे ! आपके संकर्षण आदि जितने भेद हैं, वे सब आपकी पूजा के लिए उत्पन्न होकर आपही के आश्रित हैं ॥१४॥ देवेश ! परमार्थ दृष्टि से आपका कोई भेद नहीं है। आपके जो ये विविध रूप कहे गये हैं, वे औपचारिक हैं ॥१५॥ आप अद्वैत हैं, भला मनुष्य आपको कैसे द्वैत कह सकता है। हरे ! आप एक, व्यापक, चित्स्वभाव तथा निरञ्जन हैं ॥१६॥ प्रभो ! आपका जो भाव-अभाव से वर्जित, निर्लेप, निर्गुण, श्रेष्ठ, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, सब उपाधियों से निर्मुक्त तथा सत्तामात्र से व्यवस्थित रूप है, उसे तो देवता भी नहीं जानते, मैं कैसे जानूं ॥१७-१८॥ आपका दूसरा जो पीतवस्त्र, चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, मुकुट तथा अंगद (बाजूबंद) धारी, वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिह्न से युक्त और वनमाला से विभूषित रूप है, उसी की पूजा आपके आश्रित देवगण करते हैं ॥१९-२०॥ देवों के देव ! सुरश्रेष्ठ ! भक्तों को अभय देने वाले ! पद्म-पत्र के समान नेत्रों वाले ! विषयसागर में डूबे हुए मुझको बचाइये ॥२१॥ लोकेश ! आपको छोड़कर मैं किसी दूसरे को नहीं देखता, जिसकी शरण में जाऊँ। कमलाकान्त ! मधुसूदन ! मुझ पर प्रसन्न हों ॥२२॥ मैं सैकड़ों जरा-व्याधियों से युक्त, नाना दुःखों से पीड़ित हर्ष-शोकों से समन्वित मुग्ध तथा कर्म-जाल में निवद्ध होकर महाभयंकर संसारसागर में गिर चुका हूँ ॥२३$\frac{१}{३}$॥ प्रभो ! विषय-जल के कारण दुष्पार, राग-द्वेष रूपी मीनों से प्रपूर्ण, इन्द्रिय रूपी आवर्तों से गंभीर, तृष्णा-शोक रूपी तरंगों से व्याप्त, आश्रय

---

१ ख. ०द्रूपं यज्ञार्थमुप० । २ ख. ०कश्चासि हरिर्व्यापी विश्वभावो नि० । ३ ख. तर्कयन्ति च वि० ।

इन्द्रियावर्तगम्भीरे तृष्णाशोकोर्मिसंकुले। निराश्रये निरालम्बे निःसारेऽत्यन्तचञ्चले ॥२५॥
मायया मोहितस्तत्र भ्रमामि सुचिरं प्रभो। नानाजातिसहस्रेषु जायमानः पुनः पुनः ॥२६॥
मया जन्मान्यनेकानि सहस्राण्ययुतानि च। विविधान्यनुभूतानि संसारेऽस्मिञ्जनार्दन ॥२७॥
वेदाः साङ्गा मयाऽधीताः शास्त्राणि विविधानि च। इतिहासपुराणानि तथा शिल्पान्यनेकशः ॥२८॥
असंतोषाश्च संतोषाः संचयापचया व्ययाः। मया प्राप्ता जगन्नाथ क्षयवृद्ध्यक्षयेतराः ॥२९॥
भार्यारिमित्रबन्धूनां वियोगाः संगमास्तथा। पितरो विविधा दृष्टा मातरश्च तथा मया ॥३०॥
दुःखानि चानुभूतानि यानि सौख्यान्यनेकशः। प्राप्ताश्च बान्धवाः पुत्रा भ्रातरो ज्ञातयस्तथा ॥३१॥
मयोषितं तथा स्त्रीणां कोष्ठे विण्मूत्रपिच्छले। गर्भवासे महादुःखमनुभूतं तथा प्रभो ॥३२॥
दुःखानि यान्यनेकानि बाल्ययौवनगोचरे। वार्धके च हृषीकेश तानि प्राप्तानि वै मया ॥३३॥
मरणे यानि दुःखानि यममार्गे [१]यमालये। मया तान्यनुभूतानि नरके [२]यातनास्तथा ॥३४॥
कृमिकीटद्रुमाणां च हस्त्यश्वमृगपक्षिणाम्। महिषोष्ट्रगवां चैव तथाऽन्येषां [३]वनौकसाम् ॥३५॥
द्विजातीनां च सर्वेषां शूद्राणां चैव योनिषु। धनिनां क्षत्रियाणां च दरिद्राणां तपस्विनाम् ॥३६॥
नृपाणां नृपभृत्यानां तथाऽन्येषां च देहिनाम्। गृहेषु तेषामुत्पन्नो देव चाहं पुनः पुनः ॥३७॥
गतोऽस्मि दासतां नाथ [४]भृत्यानां बहुशो नृणाम्। दरिद्रत्वं चेश्वरत्वं स्वामित्वं च तथा गतः ॥३८॥
हतो मया हताश्चान्ये घातितो घातितास्तथा। दत्तं ममान्यैरन्येभ्यो मया दत्तमनेकशः ॥३९॥

तथा अवलम्ब से रहित, सारहीन और अत्यन्त चञ्चल भवसागर में माया से मोहित होकर चिरकाल से मैं भ्रमण कर रहा हूँ (अर्थात् डूब रहा हूँ) ॥२४-२५$\frac{१}{३}$॥ जनार्दन ! इस संसार में नाना प्रकार की जातियों में हजारों-लाखों बार जन्म लेकर मैंने विविध सुख-दुःखों का अनुभव किया ॥२६-२७॥ जगन्नाथ ! मैंने चारों वेदों, छहो शास्त्रों, इतिहास-पुराणों तथा अनेक शिल्पों का अध्ययन किया ॥२८॥ असंतोष, संतोष, संचय, अपचय, व्यय, क्षय, वृद्धि तथा अक्षय मुझे प्राप्त हुए ॥२९॥ भार्या, शत्रु, मित्र तथा बंधुओं से संयोग-वियोग हुए; अनेक पिता-माता देखे ॥३०॥ विविध सुख-दुःखों का अनुभव किया; बहुत-से भाई-बंधु मिले ॥३१॥ स्त्रियों के मल-मूत्र से पिच्छल (फिसलने वाले) कोष्ठ में वास किया; गर्भ-वास में महान् दुःख का अनुभव किया ॥३२॥ हृषीकेश ! बाल्यावस्था, यौवनकाल तथा बुढ़ापे में जितने कष्ट होते हैं, वे सब मुझे मिले ॥३३॥ मरणकाल में, यम के मार्ग में तथा यमालय में जितने दुःख होते हैं, उन सब का मैंने अनुभव किया; नरक में यातनाएँ भी सहीं ॥३४॥ कृमि-कीट, वृक्ष, हाथी, घोड़े, मृग, पक्षी, महिष, ऊँट, गौ तथा अन्य जंगली पशु, द्विज एवम् शूद्र की योनि में और धनवान् क्षत्रिय, दरिद्र, तपस्वी, नृप, राजा के नौकर तथा अन्य प्राणियों के घरों में मैं बार-बार उत्पन्न हुआ ॥३५-३७॥ नाथ ! मैं अनेकों मनुष्य तथा दासों का दास बना; दरिद्र, धनी तथा स्वामी भी बना ॥३८॥ मैंने दूसरों को मारा और दूसरों ने मुझे मारा; मैंने दूसरों पर आघात किया और दूसरों ने मुझ पर आघात किया; मुझे दूसरों ने दिया और मैंने दूसरों को दिया ॥३९॥

---

[१] ख. ०ये। प्रयाता०। [२] ख. ०नाकुले। कृ०। [३] ख. दिवौकसाम्। [४] ख. धन्यानां।

पितृमातृसुहृद्भ्रातृकलत्राणां कृतेन च। धनिनां श्रोत्रियाणां च दरिद्राणां तपस्विनाम् ॥४०॥
उक्तं दैन्यं च विविधं त्यक्त्वा लज्जां जनार्दन। देवतिर्यङ्मनुष्येषु स्थावरेषु चरेषु च ॥४१॥
न विद्यते तथा स्थानं यत्राहं न गतः प्रभो। कदा मे नरके वासः कदा स्वर्गे जगत्पते ॥४२॥
कदा मनुष्यलोकेषु [1]कदा तिर्यग्गतेषु च। जलयन्त्रे यथा चक्रे घटी रज्जुनिबन्धना ॥४३॥
याति चोर्ध्वमधश्चैव कदा मध्ये च तिष्ठति। तथा चाहं [2]सुरश्रेष्ठ कर्मरज्जुसमावृतः ॥४४॥
अधश्चोर्ध्वं तथा मध्ये भ्रमन्गच्छामि योगतः। एवं संसारचक्रेऽस्मिन्भैरवे रोमहर्षणे ॥४५॥
भ्रमामि सुचिरं कालं नान्तं पश्यामि कर्हिचित्। न जाने किं करोम्यद्य हरे व्याकुलितेन्द्रियः ॥४६॥
शोकतृष्णाभिभूतोऽहं कांदिशीको विचेतनः। इदानीं त्वामहं देव विह्वलः शरणं गतः ॥४७॥
त्राहि मां दुःखितं कृष्ण मग्नं संसारसागरे। कृपां कुरु जगन्नाथ भक्तं मां यदि मन्यसे ॥४८॥
त्वदृते नास्ति मे बन्धुर्योऽसौ चिन्तां करिष्यति। देव त्वां नाथमासाद्य न भयं मेऽस्ति कुत्रचित् ॥४९॥
जीविते मरणे चैव योगक्षेमेऽथ वा प्रभो। ये तु त्वां विधिवद्देव नार्चयन्ति नराधमाः ॥५०॥
सुगतिस्तु कथं तेषां [3]भवेत्संसारबन्धनात्। किं तेषां कुलशीलेन विद्यया जीवितेन च ॥५१॥
येषां न जायते भक्तिर्जगद्धातरि केशवे। प्रकृतिं त्वासुरीं प्राप्य ये त्वां निन्दन्ति मोहिताः ॥५२॥
पतन्ति [4]नरके घोरे जायमानाः पुनः पुनः। न तेषां निष्कृतिस्तस्माद्विद्यते नरकार्णवात् ॥५३॥

पिता, माता, मित्र, भाई, स्त्री, धनी, श्रोत्रिय, दरिद्र और तपस्वियों के लिए मैंने बहुत कुछ किया ॥४०॥ जनार्दन ! मैंने लाज छोड़कर विविध प्रकार की दीनता प्रकट की। प्रभो ! देव, पक्षी, मनुष्य, स्थावर और जंगमों में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ मैं नहीं गया ॥४१½॥ जगत्पते ! मैं कर्म रूपी रस्सी से बँधा हुआ कभी नरक में, कभी स्वर्ग में, कभी मनुष्य लोक में और कभी तिर्यग् योनि में उसी प्रकार नीचे-ऊपर भ्रमण कर रहा हूँ, जैसे जलयन्त्र में रस्सी से बँधी हुई गगरी ऊपर-नीचे तथा मध्य में घूमती रहती है ॥४२-४४½॥ इस प्रकार भयंकर तथा रोमांचकारी संसार-चक्र में मैं चिरकाल से घूम रहा हूँ, कहीं अन्त नहीं देखता ॥४५½॥ हरे ! मैं नहीं जानता हूँ कि क्या करूँ; मेरी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी हैं; मैं शोक-तृष्णा से अभिभूत तथा अचेत हो रहा हूँ; मुझे इतना भी नहीं पता कि किस दिशा में जाऊँ। देव ! इस समय विह्वल होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ ॥४६-४७॥ कृष्ण ! संसार-सागर में निमग्न मुझ पीड़ित की रक्षा करें। जगन्नाथ ! यदि आप मुझे भक्त समझते हैं, तो कृपा कीजिये ॥४८॥ आपको छोड़कर मेरा कोई बन्धु नहीं है, जो मेरी चिन्ता करे। देव ! आपको स्वामी के रूप में प्राप्त कर जीवन, मरण या योगक्षेम—कहीं भी मुझे भय नहीं होता ॥४९½॥ प्रभो ! जो नराधम विधिपूर्वक आपकी पूजा नहीं करते, उन्हें संसार-बंधन से कैसे मुक्ति मिले ? जिनको जगद्धाता केशव में भक्ति नहीं है, उन्हें कुल-शील, विद्या तथा जीवन से क्या प्रयोजन ? ॥५०-५१॥ आसुरी प्रकृति को प्राप्त कर मोहवश जो आपकी निन्दा करते हैं, वे बार-बार जन्म लेकर घोर नरक में गिरते हैं। देव ! जो दुराचारी तथा अधम मनुष्य आपको दूषित करते हैं,

---

[1] ख. ०दा तीर्थजनेषु। [2] ख. ०ष्ठ कामर०। [3] ख. ०त्संसारसागरे। किं। [4] ख. ०के ते तु जा०।

ये दूषयन्ति दुर्वृत्तास्त्वां देव पुरुषाधमाः। यत्र यत्र भवेज्जन्म मम कर्मनिबन्धनात् ।।५४।।
तत्र तत्र हरे भक्तिस्त्वयि चास्तु दृढा सदा। आराध्य त्वां सुरा दैत्या नराश्चान्येऽपि संयताः ।।५५।।
अवापुः परमां सिद्धिं कस्त्वां देव न पूजयेत्। न शक्नुवन्ति ब्रह्माद्याः स्तोतुं त्वां त्रिदशा हरे ।।५६।।
कथं मानुषबुद्ध्याऽहं स्तौमि त्वां प्रकृतेः परम्। तथा चाज्ञानभावेन संस्तुतोऽसि मया प्रभो ।।५७।।
तत्क्षमस्वापराधं मे यदि तेऽस्ति दया मयि। कृपापराधेऽपि हरे क्षमां कुर्वन्ति साधवः ।।५८।।
तस्मात्प्रसीद देवेश भक्तस्नेहं समाश्रितः। स्तुतोऽसि यन्मया देव भक्तिभावेन चेतसा ।।
साङ्गं भवतु तत्सर्वं वासुदेव नमोऽस्तु ते ।।५९।।

ब्रह्मोवाच

इत्थं स्तुतास्तदा तेन प्रसन्नो गरुडध्वजः। ददौ तस्मै मुनिश्रेष्ठाः सकलं मनसेप्सितम् ।।६०।।
यः संपूज्य जगन्नाथं प्रत्यहं स्तौति मानवः। स्तोत्रेणानेन मतिमान्स मोक्षं लभते ध्रुवम्[1] ।।६१।।
त्रिसंध्यं यो जपेद्विद्वानिदं स्तोत्रवरं शुचिः। धर्मं चार्थं च कामं च मोक्षं च लभते नरः ।।६२।।
यः पठेच्छृणुयाद्वाऽपि श्रावयेद्वा समाहितः। स लोकं शाश्वतं[2] विष्णोर्याति निर्धूतकल्मषः ।।६३।।
धन्यं पापहरं चेदं भुक्तिमुक्तिप्रदं शिवम्। गुह्यं सुदुर्लभं पुण्यं न देयं यस्य कस्यचित् ।।६४।।
न नास्तिकाय मूर्खाय न कृतघ्नाय मानिने। न दुष्टमतये दद्यान्नाभक्ताय कदाचन ।।६५।।

उसका नरकार्णवं से उद्धार नहीं होता ।।५२-५३।। हरे ! कर्म-बन्धन में पड़ कर जहाँ-जहाँ मेरा जन्म हो वहाँ-वहाँ आप में मेरी दृढ़ भक्ति बनी रहे ।।५४½।। संयमी, देव, दैत्य, मनुष्य तथा दूसरों ने भी आपकी आराधना कर परम सिद्धि प्राप्त की है। देव ! कौन आपकी पूजा नहीं करेगा ? हरे ! ब्रह्मा आदि देवता भी आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हैं; फिर मनुष्य-बुद्धया मैं कैसे प्रकृति से भी परे आपकी स्तुति करूँगा ? प्रभो ! तो भी अज्ञानता से मैंने आपकी स्तुति की ।।५५-५७।। यदि मेरे ऊपर आपका अनुग्रह है, तो मेरे इस अपराध को आप क्षमा कर दें। हरे ! अपराधी पर भी साधु लोग दया करते हैं। देवेश ! इसलिए भक्त के स्नेहवश आप प्रसन्न हों। देव ! भक्ति-युक्त चित्त से जो मैंने आपकी स्तुति की, वह सब पूर्ण हो। वासुदेव ! आपको नमस्कार है।।५८-५९।।

ब्रह्मा ने कहा—राजा ने इस प्रकार स्तुति की। भगवान् उससे प्रसन्न हुए। मुनिवर्य ! भगवान् ने उसकी समस्त अभिलाषाएँ पूरी कीं ।।६०।। जो मनुष्य प्रतिदिन जगन्नाथ की पूजाकर इस स्तोत्र से स्तुति करता है वह निश्चय ही मुक्ति प्राप्त करता है।।६१।। जो विद्वान् मनुष्य पवित्र होकर तीनों सन्ध्या इस उत्तम स्तोत्र का जप करता है, वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करता है ।।६२।। जो सावधान होकर इस स्तोत्र को पढ़ेगा या सुनेगा या सुनायेगा, वह निष्पाप होकर शाश्वत विष्णु-लोक को जायेगा ।।६३।। यह स्तोत्र धन्य, पापहारी, भुक्ति-मुक्ति-दायक, कल्याणकारी, गोपनीय, अतिदुर्लभ और पवित्र है। यह हर किसी को नहीं देना चाहिए ।।६४।। नास्तिक, मूर्ख, कृतघ्न, अभिमानी, अभक्त तथा दुष्ट बुद्धि को यह कभी भी नहीं देना चाहिए।।६५।। भक्त, गुणवान्, शीलवान्,

---

[1] ख. ०म्। यः संध्ययोर्जपे०। [2] ख. ०तं दिव्यं याति।

दातव्यं भक्तियुक्ताय गुणशीलान्विताय च। विष्णुभक्ताय शान्ताय श्रद्धानुष्ठानशालिने ॥६६॥
इदं समस्ताघविनाशहेतुः, कारुण्यसंज्ञं सुखमोक्षदं च।
अशेषवाञ्छाफलदं वरिष्ठं, स्तोत्रं मयोक्तं पुरुषोत्तमस्य ॥६७॥
ये तं सुसूक्ष्मं विमला मुरारिं, ध्यायन्ति नित्यं पुरुषं पुराणम्।
ते मुक्तिभाजः प्रविशन्ति विष्णुं, मन्त्रैर्यथाऽऽज्यं हुतमध्वराग्नौ ॥६८॥
एकः स देवो भवदुःखहन्ता, परः परेषां न ततोऽस्ति चान्यत्।
द्र (स्र) ष्टा स पाता स तु नाशकर्ता, विष्णुः समस्ताखिलसारभूतः ॥६९॥
किं विद्यया किं स्वगुणैश्च तेषां, यज्ञैश्च दानैश्च तपोभिरुग्रैः।
येषां न भक्तिर्भवतीह कृष्णे, जगद्‌गुरौ मोक्षसुखप्रदे च ॥७०॥
लोके स धन्यः स शुचिः स विद्वान् मखैस्तपोभिः स गुणैर्वरिष्ठः।
ज्ञाता स दाता स तु सत्यवक्ता, यस्यास्ति भक्तिः पुरुषोत्तमाख्ये ॥७१॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भृषिसंवादे कारुण्यस्तवर्णनं नामैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

विष्णु-भक्त, शान्त, श्रद्धालु और अनुष्ठानशाली को यह देना चाहिए ॥६६॥ पुरुषोत्तम का यह समस्त पापों के नाश का कारण, कारुण्यसंज्ञक, सुखमोक्षदायक, अशेष-कामना-फल-दाता और सबसे श्रेष्ठ स्तोत्र मैंने बतला दिया ॥६७॥ जो निर्मल पुरुष उस अत्यन्त सूक्ष्म, पुराण पुरुष तथा मुर नामक दैत्य के शत्रु विष्णु का नित्य ध्यान करते हैं, वे मोक्षाधिकारी होकर विष्णु में उसी तरह प्रवेश करते हैं जिस तरह मन्त्रों से छोड़ा गया घी अग्नि में प्रवेश करता है ॥६८॥ वह देव एक, संसार-दुःखनाशन, परों से भी परे, अद्वितीय, द्रष्टा, रक्षक, नाशकर्ता, व्यापक और अखिल पदार्थों के सारभूत हैं ॥६९॥ जिसको जगद्‌गुरु तथा मोक्षसुखदाता कृष्ण में भक्ति नहीं है, उसे विद्या, गुण, यज्ञ, दान और उग्र तप से क्या लाभ ? ॥७०॥ लोक में वही धन्य, पवित्र, विद्वान्, यज्ञकर्ता, तपस्वी, गुणवान्, ज्ञाता, दाता और सत्यवक्ता है, जिसको पुरुषोत्तम कृष्ण में भक्ति है ॥७१॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में कारुण्यस्तुतिवर्णन
नामक उनचासवाँ अध्याय समाप्त ॥४९॥

अथ पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

प्रतिमोत्पत्तिकथनम्

ब्रह्मोवाच

स्तुत्वैवं मुनिशार्दूलाः प्रणम्य च सनातनम्। वासुदेवं जगन्नाथं सर्वकामफलप्रदम् ।।१।।
चिन्ताविष्टो महीपालः कुशानास्तीर्य भूतले। वस्त्रं च तन्मना भूत्वा सुष्वाप धरणीतले ।।२।।
कथं [1]प्रत्यक्षमभ्येति देवदेवो जनार्दनः[2]। मम चार्ऽतिहरो देवस्तदाऽसाविति चिन्तयन् ।।३।।
[3]सुप्तस्य तस्य नृपतेर्वासुदेवो जगद्गुरुः। आत्मानं दर्शयामास[4] शङ्खचक्रगदाभृतम् ।।४।।
स ददर्श तु[5] सप्रेम देवदेवं जगद्गुरुम्। शङ्खचक्रधरं देवं गदाचक्रोग्रपाणिनम् ।।५।।
शार्ङ्गबाणधरं देवं ज्वलत्तेजोतिमण्डलम्। युगान्तादित्यवर्णाभं नीलवैदूर्यसंनिभम् ।।६।।
सुपर्णांसे तमासीनं षोडशार्धभुजं शुभम्[6]। स चास्मै प्राब्रवीद्धीराः साधु राजन्महामते ।।७।।
क्रतुनाऽनेन दिव्येन[7] तया भक्त्या च श्रद्धया। तुष्टोऽस्मि ते महीपाल वृथा किमनुशोचसि ।।८।।
यदत्र प्रतिमा राजञ्जगत्पूज्या सनातनी। यथा सा प्राप्यते भूप तदुपायं ब्रवीमि ते[8] ।।९।।

अध्याय ५०

प्रतिमोत्पत्ति का कथन

ब्रह्मा ने कहा—मुनिवर्य ! इस प्रकार स्तुति कर चुकने के बाद राजा ने सर्व-काम-फल-प्रद सनातन वासुदेव जगन्नाथ को प्रणाम किया और फिर भूमि पर कुशों एवं वस्त्र को बिछा कर चिन्तामग्न राजा जमीन पर सो गया ।।१-२।। सोते समय उसके मन में यही भावना बनी रही कि "किस प्रकार देवाधिदेव, दुःखनाशक भगवान् वासुदेव मेरे नेत्रों के सम्मुख हों।"।।३।। सोये हुए उस राजा को शंख-चक्र-गदा-धारी, जगद्गुरु भगवान् ने अपना रूप दिखाया ।।४।। उस राजा ने बड़े प्रेम से देवों के देव, संसार के गुरु (मोह-नाशक) भगवान् को इस प्रकार देखा कि उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा, धनुष और बाण थे, प्रलयकालीन प्रचण्ड सूर्य के समान अत्यन्त तेजोमय शरीर से एक दीप्त प्रभा-पुंज चारों ओर बिखर रहा था, नीलमणि सदृश मंगलमय विग्रह धारण किये हुए अष्टभुजाधारी भगवान् गरुड़ासन पर आसीन थे। मुनिगण ! इस प्रकार प्रकट होकर भगवान् बोले—अनल्पमति राजन् ! तुम धन्य हो।।५-६।। महीपाल ! मैं तुम्हारे इस उत्कृष्ट यज्ञ, भक्ति तथा श्रद्धा से प्रसन्न हूँ, तुम व्यर्थ शोक कर रहे हो ? ।।८।। राजन् ! इस संसार में जगत्पूज्य जो सनातनी प्रतिमा है उसकी प्राप्ति का उपाय मैं तुमको बता रहा हूँ ।।९।। सूर्योदय

---

[1] ख. ०ति दृष्टेर्मम ज० । [2] ख. ०नः । स महार्ति० । [3] ख. सुद्युम्नस्य तु नृ० । [4] ग. ०स स्वप्ने तस्मै समक्षवत् । स । [5] ग. तु स्वप्ने वै दे० । [6] ख. ०म् । तदा राजानमासाद्य विभुः प्राह महा० । [7] ख. दानेन । [8] ख. ते । प्रभाते विमते जाते नि० ।

गतायामद्य शर्वर्यां निर्मले भास्करोदिते। सागरस्य जलस्यान्ते नानाद्रुमविभूषिते ॥१०॥
जलं तथैव वेलायां दृश्यते तत्र वै महत्। लवणस्योदधे राजंस्तरङ्गैः समभिप्लुतम् ॥११॥
कूलान्ते हि महावृक्षः स्थितः स्थलजलेषु च। वेलाभिर्हन्यमानश्च न चासौ कम्पते द्रुमः ॥१२॥
परशुमादाय हस्तेन ऊर्मेरन्तस्ततो व्रज। एकाकी विहरन्राजन्स त्वं पश्यसि पादपम्[1] ॥१३॥
ईदृक्चिह्नं समालोक्य छेदय त्वमशङ्कितः। छेद्यमानं तु तं वृक्षं प्रातरद्भुतदर्शनम् ॥१४॥
दृष्ट्वा तेनैव संचिन्त्य ततो भूपालदर्शनात्। कुरु तां प्रतिमां दिव्यां जहि चिन्तां विमोहिनीम् ॥१५॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा महाभागो जगामादर्शनं हरिः। स चापि स्वप्नमालोक्य परं विस्मयमागतः[2] ॥१६॥
तां निशां स समुद्वीक्ष्य स्थितस्तद्गतमानसः। व्याहरन्वैष्णवान्मन्त्रान्सूक्तं चैव तदात्मकम् ॥१७॥
प्रगतायां रजन्यां तु[3] उत्थितो नान्यमानसः। स स्नात्वा सागरे सम्यग्यथावद्विधिना ततः ॥१८॥
दत्त्वा दानं च विप्रेभ्यो ग्रामांश्च नगराणि च। कृत्वा पौर्वाह्णिकं कर्म जगाम स नृपोत्तमः ॥१९॥
न चाश्वो न पदातिश्च न गजो न च सारथिः। एकाकी स महावेलां प्रविवेश[4] महीपतिः[5] ॥२०॥
तं ददर्श महावृक्षं तेजस्वन्तं महाद्रुमम्। महातिगमहारोहं पुण्यं विपुलमेव च ॥२१॥
[6]महोत्सेधं महाकायं [7]प्रसुप्तं च जलान्तिकं। सान्द्रमाञ्जिष्ठवर्णाभं नामजातिविवर्जितम् ॥२२॥

वेला में भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्षों से सुशोभित आज रात वीत जाने पर उछलती हुई लहरों से व्याप्त गहरा समुद्रतट दिखायी देगा ॥१०-११॥ उस तट के छोर पर स्थल और जल के मध्य एक महावृक्ष स्थित है, जो तरंगों के आघात से रंच मात्र भी नहीं हिलता ॥१२॥ वहाँ तुम अकेले भ्रमण करते हुए हाथ में कुठार लेकर तरंगों के बीच से जव जाओगे तो वह वृक्ष तुम्हें दिखायी पड़ेगा ॥१३॥ मेरे द्वारा वताये गये अभिज्ञान से उस वृक्ष को पहचान कर तुम निःशंक होकर काटना। प्रातःकाल जब इस प्रकार उस वृक्ष को काटने लगोगे तो आश्चर्यजनक दर्शन होगा ॥१४॥ भूपाल! इस प्रकार दर्शन पाकर और उस अद्भुत दर्शन से कुछ ज्ञान-लाभ कर, सोच-विचारपूर्वक उस दिव्य प्रतिमा को बनाओगे तभी तुम्हारा कल्याण होगा। भ्रम में डाल देने वाली चिन्ता को छोड़ दो ॥१५॥ इतना कहकर भगवान् हरि अदृश्य हो गये। वह राजा भी इस प्रकार का स्वप्न देख कर अत्यन्त विस्मित हो गया ॥१६॥ ऐसे अद्भुत स्वप्न को देख कर उसी विषय में विचार-मग्न राजा ने पुरुष-सूक्त का पाठ करते हुए शेष रात्रि वैठे-वैठे बिता दी ॥१७॥ रात्रि बीत जाने पर स्वप्न-विषयक घटनाओं को सोचते हुए उसने उठ कर सागर में विधिवत् स्नान किया। तदनन्तर यथाविधि ब्रह्मणों को धन, गाँव और नगर का दान देकर प्रातःकालीन कर्म समाप्त कर वह श्रेष्ठ राजा वाहन, सेना, अंगरक्षक आदि से रहित अकेला ही समुद्र तट की ओर चल पड़ा ॥१८-१९॥ वहाँ उसने उस पवित्र, विस्तीर्ण, अत्यन्त ऊँचे और शोभाशाली लम्वी शाखावाले महावृक्ष को देखा ॥२१॥ वह उन्नत महाकाय वृक्ष जल के समीप शान्त भाव से स्थित था। गाढ़े मँजीठ के रंग का वह वृक्ष पहचाना नहीं जाता था कि इसका नाम

---

१ ख. ०म्। अश्वत्थं च स०। २ ख. ०गतम्। तां। ३ ख. तु नान्यचित्तो नृपोत्तमः। स। ४ ख. ०वेशामलां हिताम्। तत्रापश्यन्महा०। ५ क. महामतिः। ६ ख. महोत्कटं। ७ ख. सुप्रभो (भं)।

नरनाथस्तदा विप्रा[1] द्रुमं दृष्ट्वा मुदाऽन्वितः। परशुना शातयामास निशितेन दृढेन च ॥२३॥
द्वैधीकर्तुमनास्तत्र बभूवेन्द्रसखः स च। निरीक्ष्यमाणे काष्ठे तु बभूवाद्भुतदर्शनम् ॥२४॥
विश्वकर्मा[2] च विष्णुश्च विप्ररूपधरावुभौ। [3]आजग्मतुर्महाभागौ तदा तुल्याग्रजन्मानौ ॥२५॥
[4]ज्वलमानौ स्वतेजोभिर्दिव्यस्रगनुलेपनौ[5]। अथ तौ तं समागम्य नृपमिन्द्रसखं तदा ॥२६॥
तावूचतुर्महाराज किमत्र त्वं करिष्यसि। किमर्थं च महाबाहो शातितश्च वनस्पतिः ॥२७॥
असहायो महादुर्गे निर्जने गहने वने। महासिन्धुतटे चैव[6] कथं वै शातितो द्रुमः ॥२८॥

ब्रह्मोवाच

तयोः श्रुत्वा वचो विप्राः स तु राजा मुदाऽन्वितः। बभाषे वचनं ताभ्यां मृदुलं मधुरं तथा ॥२९॥
दृष्ट्वा तौ[7] ब्राह्मणौ तत्र चन्द्रसूर्याविवाऽऽगतौ। नमस्कृत्य जगन्नाथाववाङ्मुखमवस्थितः ॥३०॥

राजोवाच

देवदेवमनाद्यन्तमनन्तं [8]जगतां पतिम्। आराधयितुं प्रतिमां करोमीति मतिर्मम ॥३१॥
अहं स देवदेवेन परमेण महात्मना। स्वप्नान्ते च समुद्दिष्टो भवद्भ्यां श्रावितं मया ॥३२॥

क्या है, जाति क्या है ॥२२॥ ब्राह्मणगण ! उस वृक्ष को देखकर अत्यन्त प्रसन्न चित्त राजा ने अपने कठोर तीक्ष्ण कुठार से काट कर गिरा दिया ॥२३॥ इन्द्र का सखा वह राजा उसको दो भागों में काटने की इच्छा से देखने लगा कि इतने में ही उसको अद्भुत दर्शन हुआ ॥२४॥ उस समय ब्राह्मण वेश में अत्यन्त तेजस्वी तथा रूप और वय में समान विष्णु और विश्वकर्मा जी आये ॥२५॥ शारीरिक कान्ति से प्रदीप्त उनके अंगों पर दिव्य लेप और दिव्य माला सुशोभित थी ॥२६॥ विप्र वेशधारी विष्णु और विश्वकर्मा राजा के समीप आकर पूछने लगे कि महाराज ! आप यहाँ क्या कर रहे हैं ? महाबाहु ! इस महावृक्ष के काटने का क्या प्रयोजन है ? अकेले इस जनशून्य, सघन, दुर्गम वन में आकर महासागर तट पर स्थित इस वृक्ष को किसलिए काट डाला ? ॥२७-२८॥

ब्रह्मा बोले—ब्राह्मणवर्य ! चन्द्रमा और सूर्य के समान देदीप्यमान उपस्थित उन दो ब्राह्मणों को देख कर और उनकी जिज्ञासा सुनकर प्रसन्नचित्त राजा ने सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ! फिर विनम्र वाणी से बोला ॥२९-३०॥

राजा ने कहा—प्रभो ! इस काष्ठ से देवाधिदेव, विश्वपति, आद्यन्तरहित भगवान् की आराध्य प्रतिमा बनाने की मेरी इच्छा है। देवाधिदेव परमात्मा द्वारा मुझे इस प्रकार प्रतिमा बनाने का जो आदेश स्वप्न में प्राप्त हुआ है, उसे मैंने आप लोगों को सुना दिया ॥३१-३२॥

---

१ ख. विष्णुं। २ क. ०र्मा तथा विश्वकर्ता रू०। ३ ख. ०हात्मानौ त०। ४ ख. ०नौ सुते०। ५ ख. ०पनैः। अ०। ६ क. ०व किमर्थं शा०। ७ क. ख. तौ रूपसम्पन्नौ च०। ८ ग. जगतः।

ब्रह्मोवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा देवेन्द्रप्रतिमस्य च। प्रहस्य तस्मै विश्वेशस्तुष्टो वचनमब्रवीत् ।।३३।।

विष्णुरुवाच

साधु साधु महीपाल [१]यदेतन्मतमुत्तमम्[२]। संसारसागरे घोरे कदलीदलसंनिभे ।।३४।।
निःसारे [३]दुःखबहुले कामक्रोधसमाकुले। इन्द्रियावर्तकलिले दुस्तरे रोमहर्षणे ।।३५।।
नानाव्याधिशतावर्ते जलबुद्बुदसंनिभे। यतस्ते मतिरुत्पन्ना विष्णोराराधनाय वै ।।३६।।
धन्यस्त्वं नृपशार्दूल गुणैः सर्वैरलंकृतः। [४]सप्रजा पृथिवी धन्या सशैलवनकानना ।।३७।।
सपुरग्रामनगरा चतुर्वर्णैरलंकृता। यत्र त्वं नृपशार्दूल प्रजाः पालयिता प्रभुः ।।३८।।
एह्येहि सुमहाभाग द्रुमेऽस्मिन्सुखशीतले। आवाभ्यां सह तिष्ठ त्वं [५]कथाभिर्धर्मसंश्रितः ।।३९।।
अयं मम सहायस्तु आगतः शिल्पिनां वरः। विश्वकर्मसमः[६] साक्षान्निपुणः[७] सर्वकर्मसु ।।
मयोद्दिष्टां तु प्रतिमां करोत्येष तटं त्यज ।।४०।।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वैवं वचनं तस्य तदा राजा द्विजन्मनः। सागरस्य तटं त्यक्त्वा गत्वा तस्य समीपतः ।।४१।।

ब्रह्मा ने कहा—भगवत्प्रतिमा-निर्माण सम्बन्धी ऐसी बातें सुनकर विश्वपति विष्णु हँसते हुए राजा से बोले—।।३३।।

विष्णु ने कहा—भूपाल! तुम धन्य हो, क्योंकि तुम्हारा यह संकल्प उत्तम है। इस घोर, केले के पत्ते के समान निःसार, दुःखों से भरे, काम, क्रोघ से युक्त, इन्द्रिय रूपी आवर्त से गहन, कठिनाई से पार करने योग्य, भयंकर, अनेकों व्याधियों से व्याप्त और जल-बुद्बुद् के समान क्षणभंगुर संसार-सागर से विरक्त हो तुम्हारा ध्यान भगवान् की उपासना की ओर लगा है इसलिए तुम धन्य हो। नृपश्रेष्ठ! तुम सब गुणों से विभूषित हो। यह पर्वत, वन, कानन और प्रजाओं से युक्त पृथ्वी जो चारों वर्णों से और पुर, ग्राम, नगरों से सुशोभित है, धन्य है जिस पर प्रजा के पालक और शासक के रूप में तुमने जन्म लिया है। महाभाग! तुम परम धार्मिक हो, आओ, आओ, इस वृक्ष की सुखद, शीतल छाया में हम लोगों के साथ बैठो, और कोई धर्म-चर्चा सुनाओ। यह मेरा साथी उत्तम शिल्पी है, साक्षात् विश्वकर्मा के समान सब कलाओं में कुशल है। यह मेरे आदेशानुसार प्रतिमा बना देगा। तुम तट छोड़ कर मेरे पास आओ ।।३४-४०।।

ब्रह्मा ने कहा—विप्रगण! तब वह राजा ब्राह्मण की ऐसी बातें सुन सागर-तट को छोड़ कर वृक्ष की

---

१ क. ०तद्व्रत०। २ ख. ०न्मन उत्त०। ३ क. ख. ०ले मोहग्राहस०। ४ क. ससस्या। ५ ख. ०संहितः। ६ ख. ०मःक्षत्तानिपु०। ७ ग. क्षाद्विपुलःस०।

तस्थौ स नृपतिश्रेष्ठो वृक्षच्छाये सुशीतले। ततस्तस्मै स विश्वात्मा ददावाज्ञां द्विजाकृतिः ॥४२॥
शिल्पिमुख्याय विप्रेन्द्राः कुरुष्व प्रतिमा इति। कृष्णरूपं परं शान्तं पद्मपत्रायतेक्षणम् ॥४३॥
श्रीवत्सकौस्तुभधरं शङ्खचक्रगदाधरम् । गौराङ्गंक्षीरवर्णाभं द्वितीयं स्वस्तिकाङ्कितम् ॥४४॥
लाङ्गलास्त्रधरं देवमनन्ताख्यं महाबलम्। देवदानवगन्धर्वयक्षविद्याधरोरगैः[1] ॥४५॥
न विज्ञातो हि तस्यान्तस्तेनानन्त इति स्मृतः । भगिनीं वासुदेवस्य रुक्मवर्णां सुशोभनाम् ॥४६॥
तृतीयां वै सुभद्रां च सर्वलक्षणलक्षिताम् ॥४७॥

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वैतद्वचनं तस्य विश्वकर्मा सुकर्मकृत्[2]। तत्क्षणात्कारयामास प्रतिमाः शुभलक्षणाः ॥४८॥
प्रथमं शुक्लवर्णाभं शारदेन्दुसमप्रभम्। आरक्ताक्षं [3]महाकायं स्फटाविकटमस्तकम् ॥४९॥
नीलाम्बरधरं चोग्रं[4] बलं बलमदोद्धतम्। कुण्डलैकधरं दिव्यं[5] गदामुशलधारिणम् ॥५०॥
द्वितीयं पुण्डरीकाक्षं नीलजीमूतसंनिभम्। अतसीपुष्पसंकाशं पद्मपत्रायतेक्षणम्[6] ॥५१॥
पीतवाससमत्युग्रं शुभं श्रीवत्सलक्षणम्। चक्रपूर्णकरं दिव्यं सर्वपापहरं हरिम् ॥५२॥

शीतल छाया में उनके समीप बैठ गया। इसके बाद ब्राह्मणवेशधारी परमात्मा ने "मेरे कथनानुसार मूर्तियाँ बनाओ" ऐसी आज्ञा उस श्रेष्ठ शिल्पी को दी ॥४१-४२॥ पहली कृष्ण की मूर्ति हों, जो कृष्णवर्ण की, अत्यन्त शान्त, कमल के समान नेत्रवाली, श्रीवत्स और कौस्तुभमणि से युक्त वक्षःस्थलवाली तथा शंख, चक्र और गदा धारण किये हुए हो। दूसरी गौर वर्ण, दूध के समान धवल और स्वस्तिक से युक्त हाथ में हल (अस्त्र) धारण किये हुए अनन्त देव की मूर्ति बनाओ। इनका अन्त (रहस्य) देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर और नागों ने भी नहीं जाना इसीलिए ये 'अनन्त' इस नाम से प्रसिद्ध हुए। तीसरी स्वर्ण वर्ण की अत्यन्त मनोहर और सब लक्षणों, विशेषताओं से युक्त भगवान् वासुदेव की बहिन सुभद्रा की प्रतिमा की रचना करो ॥४३-४७॥

ब्रह्मा ने कहा—ब्राह्मणवेशधारी विष्णु की उपर्युक्त वातें सुन कर देवशिल्पी विश्वकर्मा ने शीघ्र ही मनोहर तथा सब लक्षणों से युक्त प्रतिमाएँ बना दीं ॥४८॥ पहली तेजस्वी तथा बल के मद से उद्धत वलदेव जी की प्रतिमा थी, जो शुक्ल-वर्ण, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान कान्तिमान् थे, जिनके नेत्र कुछ लाल, फण से युक्त विकट मस्तक, महाकाय, शरीर पर नील वस्त्र, कान में एक दिव्य कुण्डल, हाथों में गदा और मुशल था ॥४९-५०॥ दूसरी सब पापों को हरने वाले, कमल नेत्र, नील मेघ के समान श्याम शरीर वाले भगवान् कृष्ण की मूर्ति थी, जो पीत वस्त्र पहने हुए, श्रीवत्स से सुशोभित थे। जिनके शरीर की आभा अलसी के कुसुम के समान थी, नेत्र कमल-दल के समान थे, और हाथ में चक्र था ॥५१-५२॥ तीसरी मनोहर मूर्ति, सोने के समान पीत वर्ण वाली सुभद्रा की थी जिनकी आँखें कमल के समान बड़ी-बड़ी थीं, जो विचित्र वस्त्रों से अलंकृत थीं, जिनके अंग-

---

[1] क. ०गैः। महिमयस्य न ज्ञातस्ते०। [2] ख. स्वकर्मकृत्। [3] ख. ०यं फटा०। क. ०यं वलवन्तं। म०। [4] ख. घोरं। [5] क. ग. ०व्यं महामु०। [6] क. ०पत्रनिभेक्ष०।

तृतीयां स्वर्णवर्णाभां पद्मपत्रायतेक्षणाम्। विचित्रवस्त्रसंछन्नां हारकेयूरभूषिताम् ।।५३।।
विचित्राभरणोपेतां [1]रत्नहारावलम्बिताम्। पीनोन्नतकुचां रम्यां विश्वकर्मा विनिर्ममे ।।५४।।
स तु राजाऽद्भुतं दृष्ट्वा क्षणेनैकेन निर्मिताः। दिव्यवस्त्रयुगच्छन्ना नानारत्नैरलंकृताः ।।५५।।
सर्वलक्षणसंपन्नाः प्रतिमाः सुमनोहराः। विस्मयं परमं गत्वा इदं वचनमब्रवीत् ।।५६।।

इन्द्रद्युम्न उवाच

किं देवौ [2]समनुप्राप्तौ द्विजरूपधरावुभौ। उभौ चाद्भुतकर्माणौ देववृत्तावमानुषौ ।।५७।।
देवौ वा मानुषौ वाऽपि [3]यक्षविद्याधरौ युवाम्। किंनु ब्रह्महृषीकेशौ किं वसू किमुताश्विनौ ।।५८।।
न वेद्मि सत्यसद्भावौ मायारूपेण संस्थितौ। युवां गतोऽस्मि शरणमात्मा तु मे प्रकाश्यताम् ।।५९।।
इति श्री महापुराणे ब्राह्मे स्वयंम्भ्वृषिसंवादे प्रतिमोत्पत्तिकथनं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।।५०।।

प्रत्यंग हार, केयूर आदि विचित्र आभूषणों से भूषित थे, ग्रीवा में रत्नों के हार लटक रहे थे और जिनके कुच पीन और ऊँचे थे ।।५३-५४।। जव राजा ने देखा कि इस शिल्पी ने क्षण भर में ही, दिव्य युगल वस्त्र से युक्त अनेक आभूषणों से सुशोभित, सभी लक्षणों से युक्त मनोहर मूर्त्तियाँ बना दीं तो इस आश्चर्यजनक कौशल पर उसे अत्यन्त विस्मय हुआ और आश्चर्य-चकित हो पूछने लगा—।।५५-५६।।

इन्द्रद्युम्न ने कहा—क्या आप लोग देवता हैं, जो इस ब्राह्मण-वेश में मुझे कृतार्थ करने के लिए आये हुए हैं? आप दोनों महानुभावों के कार्य अद्भुत हैं, व्यवहार देवोचित हैं, आप लोग मानव नहीं ज्ञात होते। आप देव हैं या मनुष्य? यक्ष हैं या विद्याधर अथवा ब्रह्म, हृषीकेश, वसु या अश्विनीकुमार हैं? मैं इस समय सत्यतत्त्व और रहस्य को नहीं समझ पा रहा हूँ क्योंकि आप दोनों ने माया-वेश धारण कर रखा है। मैं आप लोगों की शरण में हूँ। कृपा कर अपने यथार्थ परिचय के प्रकाश से मेरे अन्तःकरण को प्रकाशित करें ।।५७-५९।।

श्री ब्रह्ममहापुराण के अन्तर्गत स्वयंभू और ऋषि के संवाद प्रकरण में प्रतिमोत्पत्ति
कथन नामक पचासवाँ अध्याय समाप्त ।।५०।।

---

[1] क. ०हारविलम्बिनीम्। ख. ०हारविल०। [2] ख. ०प्तौ दिव्यरू०। [3] ख. ०रौ च किम्।

अथैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवदिन्द्रद्युम्नसंवादकथनम्

श्रीभगवानुवाच[1]

नाहं देवो न यक्षो वा न दैत्यो न च देवराट्[2] । न ब्रह्मा न च रुद्रोऽहं विद्धि मां पुरुषोत्तमम्[3] ।।१।।
अर्तिहा सर्वलोकानामनन्तबलपौरुषः। आराधनीयो भूतानामन्तो यस्य न विद्यते ।।२।।
पठ्यते सर्वशास्त्रेषु वेदान्तेषु निगद्यते। यमाहुर्ज्ञानगम्येति वासुदेवेति योगिनः ।।३।।
अहमेव स्वयं ब्रह्मा [4]अहं विष्णुः शिवोऽप्यहम्। इन्द्रोऽहं देवराजश्च[5] जगत्संयमनो यमः ।।४।।
पृथिव्यादीनि भूतानि त्रेताग्निर्हुतभुङ्नृप। वरुणोऽपां पतिश्चाहं धरित्री च महीधरः ।।५।।
यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके जगत्स्थावरजङ्गमम्। चराचरं च यद्विश्वं मदन्यन्नास्ति किंचन ।।६।।
प्रीतोऽहं ते नृपश्रेष्ठ वरं वरय सुव्रत। यदिष्टं तत्प्रयच्छामि हृदि यत्ते व्यवस्थितम् ।।७।।
मद्दर्शनमपुण्यानां स्वप्नान्तेऽपि न जायते। त्वं पुनर्दृढभक्तित्वात्प्रत्यक्षं दृष्टवानसि ।।८।।

अध्याय ५१

भगवान् और इन्द्रद्युम्न का संवाद

श्री भगवान् ने कहा—"मैं न देव हूँ न यक्ष, न दैत्य न तो देवराज इन्द्र। मैं ब्रह्मा और रुद्र भी नहीं। राजन्, मुझे पुराण पुरुषोत्तम जानो ।।१।। जिसका अन्त नहीं है, जो समस्त प्राणियों का एकमात्र आराध्य है, जिसका बल और पराक्रम निःसीम है, जो अखिल-लोक की पीड़ा दूर करने वाला है, जिसकी सभी शास्त्रों में चर्चा है, जो वेदान्त का वर्ण्य विषय है, जिसको योगीजन ज्ञान-गम्य (ज्ञान से प्राप्त करने योग्य), वासुदेव (सर्व व्यापक) कहा करते हैं। मैं ही स्वयं ब्रह्मा हूँ, विष्णु और शिव भी मैं ही हूँ। देवराज इन्द्र और संसार को नियन्त्रण में रखने वाला यम (मृत्यु देव) मैं ही हूँ ।।२-४।। नृप ! पृथ्वी आदि पाँच महाभूत, आहुति ग्रहण करने वाले तीनों अग्नि मैं ही हूँ। जल के स्वामी वरुण, धरणी और पहाड़ भी मेरे ही रूप हैं ।।५।। संसार का सारा वाङ्मय, स्थावर जंगम रूपात्मक जगत् और जो कुछ भी चराचर विश्व है वह मुझसे अतिरिक्त नहीं है ।।६।। नृपश्रेष्ठ ! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। सुव्रत ! वर माँगो। तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होंगे, मनोवांछित फल तुम्हें दूँगा। देखो, मेरा दर्शन पुण्य न करने वाले को स्वप्न में भी नहीं होता। तुमने अपनी अविचल भक्ति द्वारा ही मेरा यह प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया है" ।।७-८।।

---

[1] ख. ब्राह्मण उवा०। [2] ख. देवताः। [3] क. ख. परमेश्वरम्। [4] क. अहमेव गदाधरः। तथैव दे०। [5] क. ०श्च प्रजासंय०।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वैवं वासुदेवस्य वचनं तस्य भो द्विजाः। रोमाञ्चिततनुर्भूत्वा[1] इदं स्तोत्रं जगौ नृपः ॥९॥

राजोवाच

श्रियः कान्त नमस्तेऽस्तु श्रीपते पीतवाससे। श्रीद श्रीश श्रीनिवास नमस्ते श्रीनिकेतन ॥१०॥
आद्यं पुरुषमीशानं [2]सर्वेशं सर्वतोमुखम्। निष्कलं परमं देवं प्रणतोऽस्मि [3]सनातनम् ॥११॥
शब्दातीतं [4]गुणातीतं भावाभावविवर्जितम्। निर्लेपं निर्गुणं सूक्ष्मं सर्वज्ञं सर्वभावनम्[5] ॥१२॥
[6]प्रावृण्मेघप्रतीकाशं गोब्राह्मणहिते[7] रतम्। सर्वेषामेव गोप्तारं व्यापिनं सर्वभाविनम् ॥१३॥
शङ्खचक्रधरं देवं गदामुशलधारिणम्। नमस्ये वरदं देवं नीलोत्पलदलच्छविम् ॥१४॥
नागपर्यङ्कशयनं क्षीरोदार्णवशायिनम्[8]। नमस्येऽहं हृषीकेशं सर्वपापहरं हरिम् ॥१५॥
पुनस्त्वां देवदेवेशं नमस्ये वरदं विभुम्। सर्वलोकेश्वरं विष्णुं[9] मोक्षकारणमव्ययम् ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

एवं स्तुत्वा तु तं देवं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः। उवाच प्रणतो भूत्वा निपत्य धरणीतले ॥१७॥

ब्रह्मा ने कहा—वासुदेव की इस प्रकार की बातें सुन कर, द्विजगण ! उस राजा को रोमांच हो गया, वह आनन्द विभोर हो यह स्तोत्र गाने लगा ॥९॥

राजा ने कहा—हे लक्ष्मीकान्त ! श्रीपते ! पीत वस्त्र धारण करने वाले आपको मेरा नमस्कार है। लक्ष्मी के देने वाले ! श्री के स्वामी ! श्री निवास ! श्री निकेतन ! आपको नमस्कार है ॥१०॥ आप आद्यपुरुष, सामर्थ्यवान्, सब के स्वामी और सर्वतोमुख (चारों ओर मुख वाले, व्यापक) हैं। निरवयव, सनातन, परम (श्रेष्ठ) देव को मैं प्रणाम करता हूँ ॥११॥ शब्द-गुण से परे भाव और अभाव से रहित, आसक्तिहीन, निर्गुण (गुण-रहित) सूक्ष्म, सब कुछ जानने वाले, और सब के एकमात्र ध्येय आपको प्रणाम है। वर्षाकालीन मेघ के समान श्याम, गो-ब्राह्मणों के हित में लीन, सभी के रक्षक, व्यापक और सर्व-भावी (स्रष्टा) तथा शंख, चक्र, गदा और मुशल धारण करने वाले, नीलकमल की पंखड़ियों के समान कान्तिमय वरदायक देव को मैं नमस्कार करता हूँ। शेष-शय्या पर सोने वाले, क्षीर-सागर-शायी, इन्द्रियों के स्वामी, पाप-नाशन हरि को नमस्कार है। देवदेवेश, वरदाता, व्यापक, सब लोकों के स्वामी, मोक्षदाता और अव्यय (नष्ट न होने वाले) विष्णु रूप को नमस्कार है ॥१२-१६॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार भगवान् की स्तुति करने के बाद करबद्ध साष्टांग दण्डवत् करते हुए राजा ने कहा—॥१७॥

---

[1] क. ०तवपुर्भू० । [2] क. सर्वगं । [3] ख. पुरातनम् । [4] ख. ज्ञानगम्यं । [5] ख. ०म् । सान्द्रमेघ० । [6] ख. ०शं ब्रा० । [7] ख. ०ह्मणानां हितं शिवम् । [8] ख. ०ववासिन० । [9] क. देवं ।

राजोवाच

प्रीतोऽसि यदि मे नाथ वृणोमि वरमुत्तमम्। देवासुराः सगन्धर्वा यक्षरक्षोमहोरगाः ॥१८॥
सिद्धविद्याधराः साध्याः किन्नरा गुह्यकास्तथा। [1]ऋषयो ये महाभागा नानाशास्त्रविशारदाः ॥१९॥
परिव्राड्योगयुक्ताश्च वेदतत्त्वार्थचिन्तकाः। मोक्षमार्गविदो येऽन्ये ध्यायन्ति परमं पदम् ॥२०॥
निर्गुणं निर्मलं [2]शान्तं यत्पश्यन्ति मनीषिणः। तत्पदं गन्तुमिच्छामि त्वत्प्रसादात्सुदुर्लभम् ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

[3]सर्वं भवतु भद्रं ते यथेष्टं सर्वमाप्नुहि। भविष्यति यथाकामं मत्प्रसादान्न संशयः ॥२२॥
दश वर्षसहस्राणि तथा नव शतानि च। अविच्छिन्नं महाराज्यं कुरु त्वं नृपसत्तम ॥२३॥
प्रयास्यसि पदं दिव्यं दुर्लभं यत्सुरासुरैः। पूर्णमनोरथं शान्तं गुह्यमव्यक्तमव्ययम् ॥२४॥
परात्परतरं सूक्ष्मं निर्लेपं[4] निष्कलं[5] ध्रुवम्[6]। चिन्ताशोकविनिर्मुक्तं क्रियाकारणवर्जितम् ॥२५॥
तदहं दर्शयिष्यामि ज्ञेयाख्यं परमं पदम्। यं प्राप्य परमानन्दं प्राप्स्यसि परमां गतिम् ॥२६॥
कीर्तिश्च तव राजेन्द्र भवत्यत्र[7] महीतले। यावद्घना[8] नभो यावद्यावच्चन्द्रार्कतारकम् ॥२७॥
यावत्समुद्राः सप्तैव यावन्मेर्वादिपर्वताः। तिष्ठन्ति दिवि देवाश्च तावत्सर्वत्र चाव्यया ॥२८॥

राजा ने कहा—नाथ ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं यही उत्तम वर माँगता हूँ कि देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महानाग, सिद्ध, विद्याधर, साध्यगण, किन्नर और गुह्यक तथा भिन्न-भिन्न शास्त्रों के पारंगत महाभाग्यशाली ऋषि, संन्यासी, योगी, वेद के रहस्य जानने वाले और मोक्ष-मार्ग के ज्ञाता जिस परम पद का ध्यान करते हैं तथा मनीषी (ज्ञानी) जिस अम्लान, निर्गुण और शान्त परम पद को देखा करते हैं उस दुर्लम परम पद को आपकी कृपा से प्राप्त करूँ, यही मेरी अभिलाषा है ॥१८-२१॥

श्री भगवान् ने कहा—सब प्रकार से तुम्हारा कल्याण होगा, तुम अपने सभी मनोरथ प्राप्त करोगे। मेरी कृपा से तुम्हारे सभी कार्य इच्छानुरूप होंगे इसमें सन्देह नहीं ॥२२॥ नृप-श्रेष्ठ ! पहले तुम दस हजार नौ सौ वर्ष निरन्तर अपने साम्राज्य का शासन करो। तदनन्तर उस दिव्य परमपद को प्राप्त करोगे जो देव-दानवों के लिए दुर्लभ, मनोरथ को पूर्ण करनेवाला, शान्त, रहस्यमय, अप्रत्यक्ष और नित्य है; जो परात्पर (सर्वोपरि) सूक्ष्म, निर्लेप, अखण्ड, अटल, चिन्ता-शोक से रहित, कार्यकरण-मुक्त (अनादि-अनन्त) है ॥२३-२५॥ मैं ऐसे ज्ञेय परम पद को दिखाऊँगा, जिसको पाकर तुम अत्यन्त आनन्दित हो मोक्ष-पद प्राप्त करोगे ॥२६॥ राजेन्द्र ! जब तक मेघ, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और तारा मण्डल एवं जव तक केवल समुद्र तथा सात मेरु आदि पर्वत और स्वर्ग लोक में देव गण स्थित हैं तव तक इस मही-मण्डल पर तुम्हारी अक्षय कीर्ति फैली रहेगी ॥२६-२८॥ यह इन्द्रद्युम्न

---

[1] ख. ०योर्गुथ म०। [2] ख. ०न्तं गुह्यं परमपावनम्। त०। [3] क. एवं। [4] क. निर्गुणं। ख. निर्मलं। [5] क. ख. निश्चलं। [6] ख. ०म्। जराशो०। [7] ख. तिष्ठत्वत्र। [8] ख. ०वच्चराचरो लोको यावच्च०।

इन्द्रद्युम्नसरो नाम तीर्थं यज्ञाङ्गसंभवम्[1] । यत्र स्नात्वा सकृल्लोकः शक्रलोकमवाप्नुयात् ॥२९॥
दापयिष्यति यः पिण्डांस्तटेऽस्मिन्सरसः शुभे। कुलैकर्विंशमुद्धृत्य शक्रलोकं गमिष्यति ॥३०॥
पूज्यमानोऽप्सरोभिश्च गन्धर्वैर्गीतनिस्वनैः। विमानेन वसेत्तत्र यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥३१॥
सरसो दक्षिणे भागे नैर्ऋत्यां तु समाश्रिते। न्यग्रोधस्तिष्ठते तत्र तत्समीपे तु मण्डपः ॥३२॥
केतकीवनसंछन्नो नानापादपसंकुलः। नारिकेलैरसंख्येयैश्चम्पकैर्बकुलावृतैः[2] ॥३३॥
अशोकैः कर्णिकारैश्च पुंनागैर्नागकेसरैः। पाटलाम्रातसरलैश्चन्दनैर्देवदारुभिः ॥३४॥
न्यग्रोधाश्वत्थखदिरैः पारिजातैः सहार्जुनैः। हिन्तालैश्चैव तालैश्च शिंशपैर्बदरैस्तथा ॥३५॥
करञ्जैर्लकुचैः प्लक्षैः पनसैर्बिल्वधातुकैः। अन्यैर्बहुविधैर्वृक्षैः शोभितः समलंकृतः ॥३६॥
आषाढस्य सिते पक्षे पञ्चम्यां पितृदैवते। ऋक्षे नेष्यन्ति नस्तत्र नीत्वा सप्त दिनानि वै ॥३७॥
मण्डपे स्थापयिष्यन्ति सुवेश्याभिः सुशोभनैः। क्रीडाविशेषबहुलैर्नृत्यगीतमनोहरैः ॥३८॥
चामरैः स्वर्णदण्डैश्च व्यजनै [3]रत्नभूषणैः। वीजयन्तस्तथाऽस्मभ्यं स्थापयिष्यन्ति मङ्गलाः ॥३९॥
ब्रह्मचारी यतिश्चैव स्नातकाश्च द्विजोत्तमाः। वानप्रस्था गृहस्थाश्च सिद्धाश्चान्ये च ब्राह्मणाः ॥४०॥
[4]नानावर्णपदैः स्तोत्रैर्ऋग्यजुःसामनिस्वनैः। करिष्यन्ति स्तुतिं राजन्रामकेशवयोः पुनः ॥४१॥
ततः स्तुत्वा च दृष्ट्वा च संप्रणम्य च भक्तितः। नरो वर्षायुतं दिव्यं श्रीमद्धरिपुरे वसेत् ॥४२॥

सर यज्ञांग से उत्पन्न पवित्र और अमर तीर्थ होगा, जिसमें एक बार स्नान करने से भी मनुष्य इन्द्रलोक को प्राप्त करेगा ॥२९॥ जो इस सरोवर के पुनीत तट पर पिण्डदान करेगा वह अपनी इक्कीस पीढ़ी का उद्धार कर स्वयं देव-लोक का अधिकारी होगा ॥३०॥ वहाँ गन्धर्व और अप्सराएँ अपनी मधुर गीत-ध्वनि से उसकी पूजा करेंगी। जब तक चौदहों इन्द्र रहेंगे तब तक वह पुण्यात्मा विमान द्वारा विहार करता हुआ स्वर्ग में निवास करेगा। सरोवर के दक्षिण तीर पर नैर्ऋत कोण में वट वृक्ष है जिसके निकट केतकी वन से घिरा हुआ एक मण्डप है। जिसके चारों ओर अनेक वृक्ष, अनगिनत नारिकेल, चम्पक और मौलिसिरी की पंक्तियाँ हैं ॥३२-३३॥ अशोक, कर्णिकार (कनेर), पुंनाग, नागकेसर, पाटल, आम्रात (आमड़ा), सरल, चन्दन, देवदारु, वट, पीपल, खदिर, अर्जुन, पारिजात, हिंताल, ताल, शीशम, बदर (बेर) तथा करञ्ज, लकुच (बड़हर), प्लक्ष (पाकड़), कटहल, विल्व, धातुक एवं अन्य वहुत प्रकार के वृक्षों से वह मण्डप सुशोभित है ॥३४-३६॥ उस मण्डप में आषाढ़ के शुक्ल पक्ष की मघा नक्षत्र वाली पञ्चमी तिथि में जो हमारी मूर्ति ले जाकर प्रतिष्ठित करेगा और सात दिनों तक सुन्दर वेश्याओं के मधुर गान, विभिन्न क्रीड़ाओं एवं मनोहर नृत्य-गीत द्वारा समारोहपूर्वक पूजन करेगा, चँवर और रत्नजटित स्वर्ण-दण्ड वाले पंखों से आदरपूर्वक पंखा झलते हुए मांगलिक पूजा करेगा; राजन्! जो ब्रह्मचारी, यति, स्नातक, उत्तम वेदपाठी, वानप्रस्थाश्रमी, गृहस्थ, सिद्ध अथवा जो कोई ब्राह्मण भिन्न-भिन्न वर्ण-पद वाले स्तोत्र पाठ से, ऋग्, यजु, साम के ऋचा-पाठ से राम और केशव की स्तुति करेगा और स्तुति के उपरान्त भक्तिपूर्वक दर्शन एवं प्रणाम करेगा; वह नर दिव्य अयुत (दस हजार) वर्ष तक विष्णु लोक में निवास

---

१ ख. ०ज्ञान्तसं० । २ ख. ०कुलैर्वृतः । अ० । ३ क.ख. ०भूषितैः । वी० । ४ क.ख. ०नामन्त्रप० ।

पूज्यमानोऽप्सरोभिश्च गन्धर्वैर्गीतनिस्वनैः[1]। हरेरनुचरस्तत्र क्रीडते केशवेन वै ॥४३॥
विमानेनार्कवर्णेन रत्नहारेण भ्राजता[2]। सर्वकामैर्महाभोगैस्तिष्ठते भुवनोत्तमे ॥४४॥
तपःक्षयादिहाऽऽगत्य मनुष्यो ब्राह्मणो भवेत्। कोटीधनपतिः श्रीमांश्चतुर्वेदी[3] भवेद्ध्रुवम् ॥४५॥

ब्रह्मोवाच

एवं तस्मै वरं दत्त्वा[4] कृत्वा च समयं हरिः। जगामादर्शनं विप्राः सहितो विश्वकर्मणा ॥४६॥
स तु राजा तदा हृष्टो रोमाञ्चिततनूरुहः। कृतकृत्यमिवाऽऽत्मानं मेने संदर्शनाद्धरेः ॥४७॥
ततः कृष्णं च रामं सुभद्रां च वरप्रदाम्। रथैर्विमानसंकाशैर्मणिकाञ्चनचित्रितैः ॥४८॥
संवाह्य तास्तदा राजा महामङ्गलनिःस्वनैः। आनयामास मतिमान्सामात्यः सपुरोहितः ॥४९॥
नानावादित्रनिर्घोषैर्नानावेदस्वनैः शुभैः। संस्थाप्य च शुभे देशे पवित्रे सुमनोहरे ॥५०॥
ततः शुभतिथौ काले नक्षत्रे शुभलक्षणे। प्रतिष्ठां कारयामास सुमुहूर्त्ते द्विजैः सह ॥५१॥
यथोक्तेन विधानेन विधिदृष्टेन कर्मणा। आचार्यानुमतेनैव सर्वं कृत्वा महीपतिः ॥५२॥
आचार्याय तदा दत्त्वा दक्षिणां विधिवत्प्रभुः। ऋत्विग्भ्यश्च विधानेन तथाऽन्येभ्यो धनं ददौ ॥५३॥
कृत्वा प्रतिष्ठां विधिवत्प्रासादे भवनोत्तमे। स्थापयामास तान्सर्वान्विधिदृष्टेन कर्मणा ॥५४॥

करेगा ॥३७-४२॥ उस लोक में उस भगवद्भक्त की गन्धर्व और अप्सराएँ अपने मधुर गीत गा-गाकर सेवा करेंगी। वह भगवान् केशव के साथ वहाँ सुखपूर्वक क्रीड़ा करेगा ॥४३॥ उस उत्तम लोक में वह रत्नहार से सुसज्जित, सूर्य के समान चमकीले विमान पर सवार हो अपनी सभी कामनाओं की तृप्ति और भोगों का उपभोग करता हुआ निवास करेगा। इस प्रकार भोग द्वारा पुण्य क्षीण हो जाने पर वह इस मृत्यु लोक में आकर चारों वेदों का ज्ञाता ब्राह्मण तथा वैभवशाली करोड़पति होगा ॥४४-४५॥

राजा ने कहा—"विप्रगण ! इस प्रकार भगवान् उस राजा को वर देकर तथा ऐसी प्रतिज्ञा करके विश्वकर्मा के साथ स्वयं अन्तर्हित हो गये। वह राजा भगवान् के इस अद्भुत दर्शन से अत्यन्त प्रसन्न हुआ, उसके रोम आनन्द से पुलकित हो गये, वह अपने को कृतकृत्य-सा समझने लगा ॥४६-४७॥ इसके उपरान्त मंत्रियों और पुरोहितों के साथ वह बुद्धिमान् राजा मणि, सुवर्ण से अलंकृत विमान के समान रथ पर कृष्ण, वलराम और वर देने वाली सुभद्रा की मूर्तियों को चढ़ा कर परम मांगलिक वाद्य-ध्वनि के साथ ले आया ॥४८-४९॥ भिन्न-भिन्न प्रकार की वाद्य-ध्वनि और मांगलिक वेद-ध्वनि के साथ, पवित्र-शुभ, मनोहर प्रदेश में मूर्तियाँ स्थापित की गयीं ॥५०॥ तदनन्तर शुभ तिथि, काल और शुभ लक्षण वाले नक्षत्र में ब्राह्मणों द्वारा प्रतिमा की प्रतिष्ठा करायी गयी ॥५१॥ महीपति ने आचार्य की अनुमति से शास्त्रोक्त नियमानुष्ठानपूर्वक सारा देवकार्य समाप्त किया, विधिपूर्वक आचार्य तथा ऋत्विजों को दक्षिणा दी, अन्यान्य ब्राह्मणों को विधान के अनुसार धन दान दिया। इस प्रकार राजा ने सर्वोत्तम भवन में मूर्ति की प्रतिष्ठा कर शास्त्र-सम्मत कर्म से स्थापन-क्रिया समाप्त की ॥५२-

---

[1] क.ख. ०नैः। हाररत्नधर०। [2] ख. राजता। [3] ख. ०र्वेदो भ०। [4] क. ०त्त्वा ध्मात्वा शंखं तदा ह०।

ततः संपूज्य विधिना नानापुष्पैः सुगन्धिभिः। सुवर्णमणिमुक्ताद्यैर्नानावस्त्रैः सुशोभनैः ।।५५।।
रत्नैश्च विविधैर्दिव्यैरासनैर्ग्रामपत्तनैः। ददौ चान्यान्स[1] विषयान्पुराणि नगराणि च ।।५६।।
एवं बहुविधं दत्त्वा राज्यं कृत्वा यथोचितम्। इष्ट्वा च विविधैर्यज्ञैर्दत्त्वा दानान्यनेकशः ।।५७।।
कृतकृत्यस्ततो राजा [2]त्यक्तसर्वपरिग्रहः। जगाम परमं स्थानं तद्विष्णोः परमं पदम् ।।५८।।
एवं मया मुनिश्रेष्ठाः कथितो वो नृपोत्तमः। क्षेत्रस्य चैव माहात्म्यं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छथ ।।५९।।

विष्णुरुवाच

श्रुत्वैवं वचनं तस्य ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः। आश्चर्यं मैनिरे विप्राः पप्रच्छुश्च पुनर्मुदा ।।६०।।

मुनय ऊचुः

कस्मिन्काले [3]सुरश्रेष्ठ गन्तव्यं पुरुषोत्तमम्। विधिना केन कर्तव्यं पञ्चतीर्थमिति प्रभो ।।६१।।
एकैकस्य च तीर्थस्य स्नानदानस्य यत्फलम्। देवताप्रेक्षणे चैव ब्रूहि सर्वं पृथक्पृथक् ।।६२।।

ब्रह्मोवाच

निराहारः कुरुक्षेत्रे पादेनैकेन, यस्तपेत्। जितेन्द्रियो जितक्रोधः सप्तसंवत्सरायुतम् ।।६३।।

५४।। तदनन्तर राजा ने भगवान् की अनेक सुगन्धित पुष्पों से विधिवत् पूजा की, स्वर्ण, मणि, मुक्ता एवं आभूषण चढ़ाये, अनेक सुन्दर वस्त्र, विविध रत्न, दिव्य आसन भगवान् को अर्पित किये, बहुत-से गाँव, पत्तन, अनेकों विषय (जिले), पुर और नगर इच्छानुसार दान में दिये गये ।।५५-५६।। इस प्रकार इच्छानुरूप बहुविध दान देकर राजा ने न्यायपूर्वक शासन किया। विविध यज्ञों के अनुष्ठान तथा अनेक प्रकार के दान से उसने अंपने को कृतकृत्य समझा । अन्त में सारी इच्छाओं और वस्तुओं का परित्याग कर विष्णु के परम पद को प्राप्त किया ।।५७-५८।। श्रेष्ठ मुनिगण ! मैंने राजा इन्द्रद्युम्न का चरित्र और क्षेत्र की महिमा आप लोगों को बतलायी, इसके अतिरिक्त आप लोग क्या सुनना चाहते हैं ? ।।५९।।

विष्णु ने कहा—अव्यक्तजन्मा (अनादि) ब्रह्मा की उपर्युक्त बातें सुन कर ब्राह्मणों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ, फिर प्रसन्न मन से प्रश्न किया ।।६०।।

मुनियों ने कहा—"सुरश्रेष्ठ ! किस समय पुरुषोत्तम तीर्थ की यात्रा करनी चाहिए, किस विधि से पाँचों तीर्थों को करना चाहिए। एक-एक तीर्थ के स्नान, दान और देव-दर्शन का जो फल होता है उसको अलग-अलग समझा कर बतायें ।।६१-६२।।

ब्रह्मा ने कहा—"कुरुक्षेत्र में सात अयुत (सत्तर हजार) वर्ष तक इन्द्रिय-संयमपूर्वक क्रोध को वश में कर

---

[1] क. न्यानि वित्तानि ग्रामाणि न०। [2] ख. त्यक्त्वा देहं दिवं ययौ। देवदेवप्रसादेन जगाम परमं प०। [3] ख. मुनिश्रेष्ठ।

दृष्ट्वा [1]सदा ज्येष्ठशुक्लद्वादश्यां पुरुषोत्तमम् । कृतोपवासः प्राप्नोति ततोऽधिकतरं फलम् ॥६४॥
तस्माज्ज्येष्ठे मुनिश्रेष्ठाः प्रयत्नेन सुसंयतैः । स्वर्गलोकेप्सुविप्राद्यैर्द्रष्टव्यः पुरुषोत्तमः ॥६५॥
[2]पञ्चतीर्थं तु विधिवत्कृत्वा ज्येष्ठे नरोत्तमः । शुक्लपक्षस्य द्वादश्यां पश्येत्तं पुरुषोत्तमम् ॥६६॥
ये पश्यन्तव्ययं देवं द्वादश्यां पुरुषोत्तमम् । ते विष्णुलोकमासाद्य न च्यवन्ते कदाचन ॥६७॥
तस्माज्ज्येष्ठे प्रयत्नेन गन्तव्यं भो द्विजोत्तमाः । कृत्वा तस्मिन्पञ्चतीर्थं द्रष्टव्यः पुरुषोत्तमः ॥६८॥
सुदूरस्थोऽपि यो भक्त्या कीर्तयेत्पुरुषोत्तमम् । अहन्यहनि शुद्धात्मा सोऽपि विष्णुपुरं व्रजेत् ॥६९॥
यात्रां करोति कृष्णस्य श्रद्धया[3] यः समाहितः[4] । सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं व्रजेन्नरः ॥७०॥
चक्रं दृष्ट्वा हरेर्दूरात्प्रासादोपरि संस्थितम् । सहसा मुच्यते पापान्नरो भक्त्या प्रणम्य तत् ॥७१॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे पुरुषोत्तमवर्णनं नामैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५१॥

एक पैर पर खड़ा हो, निराहार तपस्या करने से जितना फल मनुष्य को मिलता है, उससे अधिक ज्येष्ठ-शुक्ल द्वादशी के दिन निराहार रह कर पुरुषोत्तम के दर्शन से प्राप्त होता है ॥६३-६४॥ इसलिए, श्रेष्ठ मुनिगण ! स्वर्ग चाहने वाले, संयमशील ब्राह्मण आदि मनुष्यों को ज्येष्ठ मास में प्रयत्नपूर्वक पुरुषोत्तम का दर्शन करना चाहिए ॥६५॥ ज्येष्ठ मास में उत्तम मनुष्य पाँचों तीर्थों की विधिवत् यात्रा करके अवश्य पुरुषोत्तम तीर्थ का दर्शन करे ॥६६॥ जो द्वादशी के दिन अव्यय पुरुषोत्तम देव का दर्शन करते हैं वे विष्णुलोक में जाते हैं, कभी भी उनका वहाँ से पतन नहीं होता है ॥६७॥ इसलिए हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! ज्येष्ठ मास में प्रयत्नपूर्वक पंचतीर्थ की यात्रा कर पुरुषोत्तम का दर्शन करना चाहिए ॥६८॥ तीर्थ-यात्रा में असमर्थ व्यक्ति अत्यन्त दूर रह कर भी यदि भक्तिपूर्वक पुरुषोत्तम का कीर्त्तन करे तो वह भी दिन-प्रतिदिन पाप-रहित होकर विष्णुपुर का अधिकारी होगा । और जो व्यक्ति एकाग्रमन से श्रद्धापूर्वक इस कृष्ण-तीर्थ की यात्रा करता है, वह सब पापों से मुक्त होकर विष्णु-लोक को निश्चय ही प्राप्त करता है । दूर से ही कृष्ण-मन्दिर के ऊपर बने हुए चक्र को देख कर जो भक्तिपूर्वक प्रणाम करता है वह मनुष्य सहसा (शीघ्र ही) पापों से मुक्त हो जाता है ॥६१-७१ ॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में स्वयंभू और ऋषि के संवाद-प्रकरण में पुरुषोत्तम वर्णन नामक इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त ॥५१॥

---

[1] ख. सकृत्सुरश्रेष्ठं द्वाद० । [2] क.ख. पञ्चतीर्थानि । [3] क. ०या परया युतः । [4] ख. समाश्रितः ।

अथ द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

मार्कण्डेयाख्यानम्

ब्रह्मोवाच

[1]आसीत्कल्पे मुनिश्रेष्ठाः संप्रवृत्ते महाक्षये। नष्टेऽर्कचन्द्रे पवने नष्टे स्थावरजङ्गमे ॥१॥
उदिते प्रलयादित्ये प्रचण्डे घनगर्जिते। विद्युदुत्पातसंघातैः संभग्ने तरुपर्वते ॥२॥
लोके च संहृते[2] सर्वे महदुल्कानिबर्हणे। शुष्केषु सर्वतोयेषु सरःसु च सरित्सु च ॥३॥
ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह[3] भो द्विजाः। लोकं तु प्राविशत्सर्वमादित्यैरुपशोभितम् ॥४॥
पश्चात्स पृथ्वीं भित्त्वा प्रविश्य च रसातलम्। देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत् ॥५॥
निर्दहन्नागलोकं च यच्च किंचित्क्षिताविह। अधस्तान्मुनिशार्दूलाः सर्वं नाशयते क्षणात् ॥६॥
ततो योजनविंशानां सहस्राणि शतानि च। निर्दहत्याशुगो वायुः स च संवर्तकोऽनलः ॥७॥
सदेवासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम्। ततो दहति संदीप्तः[4] सर्वमेव जगत्प्रभुः ॥८॥
प्रदीप्तोऽसौ महारौद्रः कल्पाग्निरिति संश्रुतः। महाज्वालो महार्चिष्मान्संप्रदीप्तमहास्वनः ॥९॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशो ज्वलन्निव स तेजसा। त्रैलोक्यं चादहत्तूर्णं ससुरासुरमानुषम् ॥१०॥

अध्याय ५२

मार्कण्डेयमुनि का वटवृक्ष-दर्शन

ब्रह्मा ने कहा—श्रेष्ठ मुनिगण ! जब कल्पान्त में महानाश प्रारम्भ हो गया तब सूर्य, चन्द्र नष्ट हो गये, वायु, स्थावर, जंगम सभी विनष्ट हो गये। प्रलय-सूर्य आकाश में चमकने लगे, प्रचण्ड मेघ गरजने लगे, बार-बार बिजली गिरने से तरु-पर्वत टूट-फूट गये, महाभयंकर उल्कापात से सारा संसार भस्म हो गया, सर, सरिता और समुद्र का जल सूख गया ॥१-३॥ इसके बाद विप्रवृन्द ! वायु के साथ संवर्तक अग्नि (बारह) सूर्यों से शोभित लोकों में प्रविष्ट हुआ ॥४॥ वहाँ वह नाश लीला समाप्त कर पृथ्वी को फोड़ता हुआ रसातल लोक में पहुँचा जिसे देख कर देव, दानव, यक्ष सभी भय-त्रस्त हो गये ॥५॥ नागलोक को जला कर पृथ्वी और रसातल में जो कुछ था सब क्षण भर में जला डाला ॥६॥ तदनन्तर शीघ्रता से चलने वाला वह वायु और संवर्तक अग्नि बीस हजार बीस सौ योजन (बाइस हजार योजन) में फैल कर जलाने लगे ॥७॥ इस भाँति प्रभु ने देव-असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग और राक्षसों सहित सम्पूर्ण संसार को जला डाला ॥८॥ इस प्रकार प्रचण्ड, प्रदीप्त कल्पाग्नि नाम से प्रसिद्ध उस अग्नि ने शीघ्र ही सुर, असुर तथा मनुष्यों से युक्त इस त्रिलोक को भस्म कर दिया। उसकी लपटें बड़ी भयंकर और व्यापक थीं। ज्वाला प्रचण्ड थी। उससे घोर शब्द हो रहे थे। वह करोड़ों सूर्य के समान, अपने तेज से

---

[1] ख. ०सीत्कालश्चोग्रतरः सं०। [2] ख. संहते। [3] क.ख. सहितो द्वि। [4] ख. संतप्तः।

एवंविधे महाघोरे महाप्रलयदारुणे । ऋषिः परमधर्मात्मा ध्यानयोगपरोऽभवत् ।।१।।
एकः संतिष्ठते विप्रा मार्कण्डेयेति विश्रुतः। मोहपाशैर्निबद्धोऽसौ क्षुत्तृष्णाकुलितेन्द्रियः[1] ।।१२।।
स दृष्ट्वा तं महावह्निं शुष्ककण्ठोष्ठतालुकः। तृष्णार्तः प्रस्खलन्विप्रास्तदाऽसौभयविह्वलः ।।१३।।
बभ्राम पृथिवीं सर्वां कांदिशीको[2] विचेतनः। त्रातारं नाधिगच्छन्वै इतश्चेतश्च धावति ।।१४।।
न लेभे च तदा शर्म यत्र विश्राम्यता द्विजाः। करोमि किं न जानामि यस्याहं शरणं व्रजे ।।१५।।
कथं पश्यामि[3] तं देवं पुरुषेशं सनातनम्। इति संचिंतयन्देवमेकाग्रेण सनातनम् ।।१६।।
प्राप्तवांस्तत्पदं दिव्यं महाप्रलयकारणम्। पुरुषेशमिति ख्यातं वटराजं सनातनम् ।।१७।।
त्वरायुक्तो मुनिश्चासौ न्यग्रोधस्यान्तिकं ययौ। आसाद्य तं मुनिश्रेष्ठास्तस्य मूले समाविशत् ।।१८।।
न कालाग्निभयं तत्र न चाङ्गारप्रवर्षणम्। न संवर्तागमस्तत्र न च वज्राशनिस्तथा ।।१९।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे मार्कण्डेयेन
वटदर्शनं नाम द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।।५२।।

स्वयं जलता हुआ-सा जान पड़ता था ।।९-१०।। ऐसे महाघोर, दारुण प्रलयकाल में, विप्रगण ! परम धर्मात्मा, ध्यान-योग में लीन रहने वाले केवल मार्कण्डेय नामक ऋषि वच गये थे । उनकी इन्द्रियाँ भूख-प्यास से व्याकुल हो रही थीं, वह मोह-बन्धन से मुक्त होते हुए भी मोह-बन्धन से बँधे थे ।।११-१२।। उस समय उस महान् अग्नि को देखते ही उनके कण्ठ, ओठ और तालु सूख गये, भय से वे विह्वल हो गये और भूख-प्यास के कारण उनके पैर सीधे न पड़ते थे ।।१३।। वे चेतना-शून्य, दिशा-ज्ञान-रहित हो सम्पूर्ण पृथ्वी पर घूमने लगे, कहीं कोई रक्षक न पाकर इधर-उधर दौड़ने लगे ।।१४।। विप्रवृन्द ! वह जहाँ कहीं गये उनको सुख नहीं मिला । "क्या करूँ, नहीं समझ पाता कि किसकी शरण में जाऊँ ।।१५।। किस प्रकार सनातन पुरुषोत्तम देव को देख पाऊँ" इस प्रकार एकाग्र भाव से सनातन देव भगवान् का स्मरण करने लगे ।।१६।। इतने ही में महाप्रलय का कारण, पुरुषेश नाम से प्रसिद्ध, भगवान् का दिव्य पद, सनातन वटराज (अक्षयवट) उन्हें दिखायी पड़ा तो लपक कर शीघ्रता से वे उस वट वृक्ष की ओर वढ़े । मुनिश्रेष्ठ ! उस वृक्ष के पास जाकर वे उसकी जड़ में घुस गये । वहाँ न मृत्यु का भय था, न तो प्रलय अग्नि की ज्वालाएँ अंगार वरसा रही थीं, न तो संवर्तक (अग्नि) अथवा वज्र की ही वहाँ पहुँच थी ।।१७-१९।।

श्री व्रह्ममहापुराण में स्वयंभू और ऋषि के संवाद-प्रकरण में मार्कण्डेय
का वटदर्शन नामक बावनवाँ अध्याय समाप्त ।।५२।।

---

१ ख. ०ष्णाव्याकुलेन्द्रि । २ ख. ग. कांदिग्भूतो । ३ क.ख. यास्यामि ।

अथ त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

मार्कण्डेयाख्यानम्

ब्रह्मोवाच

ततो गजकुलप्रख्यास्तडिन्मालाविभूषिताः । समुत्तस्थुर्महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः ॥१॥
केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित्कुमुदसंनिभाः । केचित्किञ्जल्कसंकाशाः केचित्पीताः पयोधराः ॥२॥
केचिद्धरितसंकाशाः काकाण्डसंनिभास्तथा । केचित्कमलपत्राभाः केचिद्धिङ्गुलसंनिभाः ॥३॥
केचित्पुरवराकाराः केचिद्गिरिवरोपमाः । केचिदञ्जनसंकाशाः केचिन्मरकतप्रभाः ॥४॥
विद्युन्मालापिनद्धाङ्गाः समुत्तस्थुर्महाघनाः । घोररूपा महाभागा घोरस्वननिनादिताः ॥५॥
ततोजलधराः सर्वे समावृण्वन्नभस्तलम् । तैरियं पृथिवी सर्वा सपर्वतवनाकरा ॥६॥
आपूरिता दिशः सर्वाः सलिलौघपरिप्लुताः । ततस्ते जलदा घोरा वारिणा मुनिसत्तमाः ॥७॥
सर्वतः प्लावयामासुश्चोदिताः परमेष्ठिना । वर्षमाणा महातोयं[1] पूरयन्तो वसुंधराम् ॥८॥
सुघोरमशिवं रौद्रं नाशयन्ति स्म पावकम् । ततो द्वादश वर्षाणि पयोदाः समुपप्लवे ॥९॥
धाराभिः पूरयन्तो वै चोद्यमाना महात्मना । ततः समुद्राः स्वां वेलामतिक्रामन्ति भो द्विजाः ॥१०॥

अध्याय ५३

मार्कण्डेयमुनि का प्रलय-दर्शन

ब्रह्मा ने कहा—इसके अनन्तर आकाश में गजकुल नाम के विचित्र महामेघ प्रकट हुए, जिनके बीच विजली चमक रही थी ।।१।। उनमें कुछ नीलकमल के समान श्यामवर्ण के, कुछ कुमुद के समान, कुछ कमल-केसर के समान और कुछ पीत वर्ण के थे । कुछ बादल हरे-हरे तथा कुछ कौओं के अण्डे के समान, कुछ कमल-पत्र के समान एवं कुछ हिंगुल वर्ण के समान थे ।।२-३।। विस्तार में कुछ तो बड़े-वड़े नगरों के समान विस्तीर्ण तो कुछ हिमालय के समान विशाल थे, कुछ तो काजल के समान अत्यन्त काले, कुछ मरकत मणि के समान प्रभापूर्ण थे ।।४।। ऐसे भयंकर आकार वाले मेघ—जिनके मध्य विजली बार-वार चमक रही थी, जो भयंकर गर्जना कर रहे थे—आकाश मण्डल में चारों ओर फैल गये । पितामह ब्रह्मा की प्रेरणा से उन मेघों ने पर्वत-वनों सहित पृथ्वी को आच्छादित कर लिया । सम्पूर्ण दिशाएँ जल-प्रवाह से व्याप्त हो गयीं । श्रेष्ठ मुनिवृन्द ! उन घोर बादलों ने जल से चारों ओर भर दिया । अत्यधिक जल से सारी पृथ्वी परिपूर्ण हो गयी जिससे पृथ्वीतल का वह अत्यन्त भयंकर, अकल्याणकर और प्रचण्डाग्नि शान्त हो गया । ब्रह्मा की प्रेरणा से इस प्रकार वारह वर्षों तक निरन्तर वर्षा होती रही ।।५-९।। मूसलधार वर्षा से सभी समुद्र लवालव भर गये और जल की अधिकता से अपनी तट-सीमा का

---

[1] क. ख. महत्तोयं ।

पर्वताश्च व्यशीर्यन्त मही चाप्सु निमज्जति । सर्वतः सुमहाभ्रान्तास्ते पयोदा नभस्तलम् ।।११।।
संवेष्टयित्वा नश्यन्ति वायुवेगसमाहताः । ततस्तं मारुतं घोरं स विष्णुर्मुनिसत्तमाः[1] ।।१२।।
आदिपद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भो द्विजाः । तस्मिन्नेकार्णवे घोरे[2] नष्टे स्थावरजङ्गमे ।।१३।।
नष्टे देवासुरनरे यक्षराक्षसवर्जिते । ततो मुनिः स विश्रान्तो ध्यात्वा च पुरुषोत्तमम् ।।१४।।
ददर्श चक्षुरुन्मील्य जलपूर्णां वसुंधराम् । नापश्यत्तं वटं नोर्वीं न दिगादि न भास्करम् ।।१५।।
न चन्द्रार्काग्निपवनं न देवासुरपन्नगम्[3] । तस्मिन्नेकार्णवे घोरे तमोभूते निराश्रये ।।१६।।
निमज्जन्स तदा विप्राः संतर्तुमुपचक्रमे । बभ्रामासौ मुनिश्चाऽऽर्त इतश्चेतश्च संप्लवन्[4] ।।१७।।
निममज्ज तदा विप्रास्त्रातारं नाधिगच्छति । एवं तं विह्वलं दृष्ट्वा कृपया पुरुषोत्तमः ।।
प्रोवाच मुनिशार्दूलास्तदा ध्यानेन तोषितः ।।१८।।

श्रीभगवानुवाच

वत्स[5] श्रान्तोऽसि बालस्त्वं भक्तत्र मम सुव्रत । आगच्छाऽऽगच्छ शीघ्रं[6] त्वं मार्कण्डेय ममान्तिकम् ।।१९।।
मा त्वयैव च भेतव्यं संप्राप्तोऽसि ममाग्रतः । मार्कण्डेय मुने धीर बालस्त्वं श्रमपीडितः ।।२०।।

उल्लंघन करने लगे ।।१०।। जिससे सभी पर्वत गल गये, पृथ्वी जलमग्न हो गयी । पुनः वे उपद्रवी, इधर-उधर घूमने वाले आकाशव्यापी मेघ वायु-वेग से टक्कर खाकर स्वयं नष्ट हो गये ।।११½।। मुनिवर ! उस घोर वायु को भी आदि कमल के आधार भगवान् विष्णु पीकर उस घोर महासागर में, जब कि उस समय स्थावर, जंगम, देव, असुर, यक्ष, राक्षस सभी नष्ट हो चुके थे, सो गये । इधर थके-माँदे मार्कण्डेय मुनि ने जब भगवान् के ध्यान के बाद आँखें खोलीं तब केवल जल से भरी पृथ्वी दिखयी दी, न वट, न पृथ्वी, यहाँ तक कि दिशाएँ, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु तथा देव, राक्षस, नाग कोई भी वहाँ दिखाई नहीं पड़ता था ।।१२-१५½।। उस घोर, अन्धकारमय, आश्रयहीन महासमुद्र में जब मार्कण्डेय मुनि डूबने लगे तब उसको पार करने का उपाय सोचने लगे । कोई साधन न पाकर दुःखी हो, इधर-उधर जलप्रवाह में भटकते हुए घूमने लगे । विप्रवर ! उस समय मुनि को कोई रक्षक न मिलने से वे असहाय होकर डूबने लगें । मुनिशार्दूल ! उनको इस प्रकार विह्वल देख कर भगवान् उनकी ध्यान-भावना से प्रसन्न होकर कृपा करके बोले ।।१६-१८।।

श्री भगवान् बोले—"वत्स ! सुव्रत ! भक्तरक्षक ! तुम बालक हो, भक्त हो, इस समय थक गये हो । आओ मार्कण्डेय ! शीघ्र मेरे समीप आओ । तुम इस प्रकार मत डरो, अब मेरे समीप आ गये हो, धीर मार्कण्डेय मुनि ! तुम श्रम से दुःखी बालक जान पड़ते हो" ।।१९-२०।।

---

[1] क. ०ष्णुर्द्विजस० । [2] क. ख. ० रे तमोभूते निराश्रये । न० । [3] क. ०रमानवम् । [4] क. संप्लवे । [5] ख. ०त्स प्रीतोऽस्मि बा० । [6] ख. शीघ्रेण मा० ।

ब्रह्मोवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मुनिः परमकोपितः । उवाच स तदा विप्रा विस्मितश्चाभवन्मुहुः ॥२१॥

मार्कण्डेय उवाच

कोऽयं नाम्ना कीर्तयति तपः[1] परिभवन्निव । बहुवर्षसहस्राख्यं [2]धर्षयन्निव मे वपुः ॥२२॥
न ह्येष समुदाचारो देवेष्वपि समाहितः । मां ब्रह्मा स[3]च देवेशो दीर्घायुरिति[4] भाषते ॥२३॥
कस्तपो घोरशिरसो ममाद्य त्यक्तजीवितः । मार्कण्डेयेति चोक्त्वा मन्मृत्युं गन्तुमिहेच्छति ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तदा विप्राश्चिन्ताविष्टोऽभवन्मुनिः । [5]किं स्वप्नोऽयं मया दृष्टः किंवा मोहोऽयमागतः ॥२५॥
इत्थं चिन्तयतस्तस्य उत्पन्ना [6]दुःखहा मतिः । व्रजामि शरणं देवं भक्त्याऽहं पुरुषोत्तमम् ॥२६॥
स गत्वा शरणं देवं[7] मुनिस्तद्गतमानसः । ददर्श तं वटं भूयो विशालं सलिलोपरि ॥२७॥
शाखायां तस्य सौवर्णं विस्तीर्णायां महाद्भुतम् । रुचिरं दिव्यपर्यङ्कं रचितं विश्वकर्मणा ॥२८॥
वज्रवैदूर्यरचितं मणिविद्रुमशोभितम् । पद्मरागादिभिर्जुष्टं रत्नैरन्यैरलंकृतम् ॥२९॥
नानास्तरणसंवीतं नानारत्नोपशोभितम् । नानाश्चर्यसमायुक्तं प्रभामण्डलमण्डितम् ॥३०॥

ब्रह्मा ने कहा—विष्णु की उन बातों को सुन कर मुनि तो पहले अत्यन्त कुपित हुए परन्तु शीघ्र ही विस्मित हो बोले—॥२१॥

मार्कण्डेय ने कहा—कौन है यह जो मेरी चिरसंचित तपस्या और मेरे इस दीर्घजीवी शरीर की उपेक्षा करता हुआ सा-मेरा नाम लेकर बुला रहा है। ऐसा शिष्टाचार तो देवों में भी नहीं देखा है, मुझे देवेश ब्रह्मा भी 'दीर्घायु' इस नाम से पुकारते हैं। यह कौन है, जिसको जीवन का मोह नहीं, जो आज तपोमानी मुझे 'मार्कण्डेय' ऐसा कहकर मेरे द्वारा मृत्यु पाना चाहता है॥२२-२४॥

ब्रह्मा ने कहा—ऐसा कह कर विप्रगण! उस समय मुनि चिन्ताग्रस्त हो गये। "क्या मैंने यह स्वप्न देखा है अथवा मोह तो नहीं हो गया" ॥२५॥ इस प्रकार सोच ही रहे थे कि उनके हृदय में "मैं अवश्य भक्तिपूर्वक भगवान् की शरण चलूँ" ऐसी दुःखनाशिनी सद्बुद्धि उत्पन्न हो गयी॥२६॥ मुनि इस प्रकार अनन्य भाव से भगवान् की शरण में गये। पुनः उन्होंने जल के ऊपर विशाल वट वृक्ष को देखा, जिसकी विस्तृत शाखा पर विश्वकर्मा द्वारा निर्मित परम अद्भुत शोभामय दिव्य पलँग था जो वज्र और वैदूर्य मणि का वना था जिसमें विद्रुम, पद्मराग आदि मणि जड़े हुए थे, जो भिन्न-भिन्न रत्नों से अलंकृत और नाना प्रकार के बिछौने से सुसज्जित था॥२७-२९॥ इस प्रकार की आश्चर्यजनक, प्रभा मण्डल से सुशोभित शय्या पर करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशमान, अत्यन्त तेजोमय

---

१ ख. वपुः। २ ग. ०व तेजसा। न। ३ क. न। ४ क. ०युषमभाषत। क०। ५ ख। किं मोहो मां समारुढः किं वा भ्रंशोऽयं०। ६ क. ख. दुःसहा। ७ क. ख. विष्णु।

तस्योपरि स्थितं देवं कृष्णं बालवपुर्धरम् । सूर्यकोटिप्रतीकाशं दीप्यमानं सुवर्चसम् ।।३१।।
[1]चतुर्भुजं सुन्दराङ्गं पद्मपत्रायतेक्षणम् । श्रीवत्सवक्षसं देवं शङ्खचक्रगदाधरम् ।।३२।।
वनमालावृतोरस्कं दिव्यकुण्डलधारिणम् । हारभारार्पितग्रीवं दिव्यरत्नविभूषितम् ।।३३।।
दृष्ट्वा तदा मुनिर्देवं विस्मयोत्फुल्ललोचनः । रोमाञ्चिततनुर्देवं प्रणिपत्येदमब्रवीत् ।।३४।।

मार्कण्डेय उवाच

अहो चैकार्णवे घोरे विनष्टे सचराचरे । कथमेको ह्ययं बालस्तिष्ठत्यत्र [2]सुनिर्भयः ।।३५।।

ब्रह्मोवाच

भूतं भव्यं भविष्यं च जानन्नपि महामुनिः । न बुबोध तदा देवं मायया तस्य मोहितः ।।
यदा न बुबुधे चैनं तदा[3] खेदादुवाच ह ।।३६।।

मार्कण्डेय उवाच

वृथा मे तपसो वीर्यं वृथा ज्ञानं वृथा क्रिया । वृथा मे जीवितं दीर्घं वृथा [4]मानुष्यमेव च ।।३७।।
योऽहं सुप्तं न जानामि पर्यङ्के दिव्यबालकम् ।।३८।।

ब्रह्मोवाच

एवं संचिन्तयन्विप्रः प्लवमानो विचेतनः । त्राणार्थं विह्वलश्चासौ निर्वेदं गतवांस्तदा ।।३९।।

कृष्ण भगवान् को बाल रूप में बैठे हुए देखा, जिनके चार भुजाएँ थीं, मनोहर अंग, नेत्र कमल के समान वड़े थे, वक्षःस्थल पर श्रीवत्स, हाथों में शंख, चक्र और गदा थी, उरःप्रदेश वनमाला से ढँका, कानों में दिव्य कुण्डल और ग्रीवा में हारावली लटक रही थी। इस प्रकार दिव्य रत्नों से सुशोभित देव को देखकर मुनि की आँखें आश्चर्यचकित हो गयीं, शरीर में रोमांच हो गया। वे प्रणाम कर कहने लगे—।।३०-३४।।

मार्कण्डेय बोले—अहा ! इस चराचर-शून्य घोर सागर में कैसे यह निर्भीक बालक रह रहा है।।३५।।

ब्रह्मा ने कहा—उस समय महामुनि उस देव की माया से मोहित होने के कारण उस विषय में कुछ नहीं जान सके, यद्यपि वे भूत, भविष्यत् और वर्तमान के ज्ञाता थे। जव वे देव के विषय में कुछ न जान सके तव दुःखी होकर वे बोले।।३६।।

मार्कण्डेय ने कहा—मेरी तपस्या, ज्ञान और शक्ति व्यर्थ हैं, सारी क्रियाएँ विफल हैं, मेरा यह दीर्घ जीवन यहाँ तक कि मानव-जन्म भी व्यर्थ है जो आज मैं इस दिव्य पलँग पर सोये बालक को नहीं जान पा रहा हूँ।।३७-३८।।

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार चिन्ता-मग्न मुनि चेतना-शून्य-से होकर, इधर-उधर जलप्रवाह में भटकने लगे, रक्षा के लिए व्याकुलता बढ़ने लगी, अन्त में असमर्थता के कारण दुःखी हो गये। इसके अनन्तर प्रभातकाल के

---

[1] क.ग. ०र्भुजमुदाराङ्गं। [2] क. सुनिश्चलः। [3] क. ख. ० दा दुःखादु०। [4] ख. ०नुषजन्म च।

ततो बालार्कसंकाशं [1]स्वमहिम्ना व्यवस्थितम् । सर्वतेजोमयं विप्रा न [2]शशाकाभिवीक्षितुम् ।।४०।।
दृष्ट्वा तं मुनिमायान्तं स बालः प्रहसन्निव । प्रोवाच मुनिशार्दूलास्तदा मेघौघनिस्वनः ।।४१।।

श्रीभगवानुवाच

वत्स जानामि श्रान्तं [3]त्वां त्राणार्थं मामुपस्थितम् । शरीरं विश मे क्षिप्रं विश्रामस्ते [4]मयोदितः ।।४२।।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वा स वचनं तस्य किंचिन्नोवाच मोहितः । विवेश वदनं तस्य विवृतं चावशो मुनिः ।।४३।।
इति श्रीमहापुराणे ब्राह्मे स्वयंम्वृषिसंवादे मार्कण्डेयप्रलयदर्शनं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।।५३।।

अथ चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

मार्कण्डेयाख्यानम्

ब्रह्मोवाच

स प्रविश्योदरे तस्य बालस्य मुनिसत्तमः । ददर्श पृथवीं कृत्स्नां नानाजनपदैर्वृताम् ।।१।।

सूर्य के समान, तेजस्वी, महामहिमाशाली उस बालक को देखने में भी असमर्थ हो गये। मुनिवर्यवृन्द ! मुनि को अपनी ओर आता देखकर, हँसता हुआ-सा वह बालक मेघ के समान गम्भीर स्वर से बोल उठा ।।३९-४१।।

भगवान् बोले—वत्स ! मैं जानता हूँ कि तुम थक गये हो और अपनी रक्षा के लिए मेरे पास आये हो। शीघ्र ही मेरे शरीर में घुस जाओ, यही तुम्हारे लिए सुख का स्थान है जिसे मैंने तुम्हें बता दिया।।४२।।

ब्रह्मा बोले—भगवान् की इन बातों को सुन कर मुनि मोहित हो गये, कुछ भी न कह सके, और विवश हो उनके (विवृत) फैले हुए मुख में घुस गये ।।४३।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में स्वयंभू और ऋषि के संवाद-प्रकरण में मार्कण्डेय का प्रलय-
दर्शननामक तिरपनवाँ अध्याय समाप्त।।५३।।

अध्याय ५४

मार्कण्डेय का भगवान् की कुक्षि में प्रवेश

ब्रह्मा बोले—उस बालक के उदर में घुसकर मार्कण्डेय मुनि ने अनेक जनपदों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी को

---

१ ख. स्वमहिम्नि। २ ख. ०शाक च वी०। ३ क. ख. त्वां प्राणार्थिनम्०। ४क. विषयस्ते।

लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलोदधीन् । ददर्श तान्समुद्रांश्च जम्बु प्लक्षं च शाल्मलम् ॥२॥
कुशं क्रौञ्चं च शाकं च पुष्करं च ददर्श सः । भारतादीनि वर्षाणि तथा सर्वांश्च पर्वतान् ॥३॥
मेरुं च सर्वरत्नाढ्यमपश्यत्कनकाचलम् । [1]नानारत्नान्वितैः शृङ्गैर्भूषितं बहुकन्दरम् ॥४॥
नानामुनिजनाकीर्णं नानावृक्षवनाकुलम् । नानासत्त्वसमायुक्तं नानाश्चर्यसमन्वितम् ॥५॥
व्याघ्रैः सिंहैर्वराहैश्च चामरैर्महिषैर्गजैः । मृगैः शाखामृगैश्चान्यैर्भूषितं सुमनोहरम् ॥६॥
शक्राद्यैर्विविधैर्देवैः सिद्धचारणपन्नगैः । मुनियक्षाप्सरोभिश्च वृत्तैश्चान्यैः सुरालयैः ॥७॥

ब्रह्मोवाच

एवं सुमेरुं श्रीमन्तमपश्यन्मुनिसत्तमः । पर्यटन्स तदा विप्रस्तस्य बालस्य चोदरे ॥८॥
हिमवन्तं हेमकूटं निषधं गन्धमादनम् । श्वेतं च दुर्धरं नीलं कैलासं मन्दरं गिरिम् ॥९॥
महेन्द्र मलयं विन्ध्यं पारियात्रं तथाऽर्बुदम् । सह्यं च शुक्तिमन्तं च मैनाकं वक्रपर्वतम् ॥१०॥
एताश्चान्याश्च बहवो यावन्तः पृथिवीधराः । ततस्तांस्तु मुनिश्रेष्ठाः सोऽपश्यद्रत्नभूषितान् ॥११॥
कुरुक्षेत्रं च पाञ्चालान्मत्स्यान्मद्रान्सकेकयान् । वाह्लीकान्शूरसेनांश्च काश्मीरांस्तङ्गणान्खसान् ॥१२॥
पार्वतीयान्किरातांश्च कर्णप्रावरणान्मरून् । अन्त्यजानन्त्यजातींश्च सोऽपश्यत्तस्य चोदरे ॥१३॥
मृगाञ्छाखामृगान्सिहान्वराहान्सृमराञ्छशान्[2] । गजांश्चान्यांस्तथा सत्त्वान्सोऽपश्यत्तस्य चोदरे ॥१४॥

देखा ॥१॥ वहाँ लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दुग्ध और जल के सागरों को जम्बु (जामुन), प्लक्ष (पाकड़), शाल्मली (सेमर), कुश, क्रौंच, शाक, पुष्कर नामक द्वीपों को भारत आदि वर्षों को एवं सभी पर्वतों और सभी रत्नों से युक्त मेरु नामक सुवर्णपर्वत को देखा। जिसकी चोटियाँ अनेक रत्नों से विभूषित थीं जिसकी कन्दराएँ अनेक मुनियों से व्याप्त थीं ॥२-४॥ जहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्षों से सुशोभित वन थे जो अनेक आश्चर्यजनक दृश्यों तथा विभिन्न जीवों से युक्त था, जो बाघ, सिंह, शूकर, चामर (चमरी गौ), महिष, हाथी, मृग, बन्दर एवं अन्य विविध जीवों से सुशोभित सबके मन कों प्रसन्न कर रहा था, जहाँ इन्द्र आदि विविध देवता, सिद्ध, चारण, पन्नग, मुनि, यक्ष एवं अप्सराएँ निवास करती थीं। इस प्रकार अनेकों देव-मन्दिरों से वह मेरु पर्वत सुशोभित था ॥५-७॥ इस प्रकार अतिशोभाशाली सुमेरु पर्वत को देखने के बाद मुनि उस वालक के उदर-प्रदेश में घूमने लगे ॥८॥ श्रेष्ठ मुनिगण! वहाँ मेरुपर्वत के अतिरिक्त हिमालय, हेमकूट, निषध, गन्धमादन, श्वेत, दुर्धर, नील, कैलास, मन्दरा-चल, महेन्द्र, मलय, विन्ध्य, पारियात्र, अर्बुद, सह्य, शुक्तिमान्, मैनाक, वक्र आदि पर्वतों और अन्यान्य रत्नों से अलंकृत पहाड़ों को उन्होंने देखा ॥९-११॥ इसके बाद उस वालक के उदर में कुरुक्षेत्र, पाञ्चाल, मत्स्य, मद्र, केकय, वाह्लीक, शूरसेन, काश्मीर, तंगण, खस आदि देशों और वहाँ के निवासियों एवं पहाड़ी, किरात, कर्ण, प्रावरण, मरुदेशवासियों, अंत्यजों और अन्यान्य जातियों के लोगों को भी देखा। ऐसे ही मृग, वन्दर, सिंह, वराह, सृमर, शश (खरहे), गज आदि अन्य जीवों को तथा समस्त तीर्थों, गाँवों, नगरों, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, क्रय-विक्रय

---

[1] क. ०रत्नचितैः। [2] क.ख.। रा० महाखगान्। ग०।

पृथिव्यां यानि तीर्थानि ग्रामाश्च नगराणि च । कृषिगोरक्षवाणिज्यं क्रयविक्रयणं तथा ॥१५॥
शक्रादीन्विबुधाञ्छ्रेष्ठांस्तथाऽन्यांश्च दिवौकसः । गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव सनातनान् ॥१६॥
दैत्यदानवसंघांश्च[1] नागांश्च मुनिसत्तमाः । सिंहिकातनयांश्चैव ये चान्ये सुरशत्रवः ॥१७॥
यत्किंचित्तेन लोकेऽस्मिन्दृष्टपूर्वं चराचरम् । अपश्यत्स तदा सर्वं तस्य कुक्षौ द्विजोत्तमाः ॥१८॥
अथवा किं बहूक्तेन कीर्तितेन पुनः पुनः । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्किंचित्सचराचरम् ॥१९॥
भूर्लोकं च भुवर्लोकं स्वर्लोकं च द्विजोत्तमाः । महर्जनस्तपः सत्यमतलं वितलं तथा ॥२०॥
पातालं सुतलं चैव वितलं च रसातलम् । महातलं च ब्रह्माण्डमपश्यत्तस्य चोदरे ॥२१॥
अव्याहता[2] गतिस्तस्य तदाऽभूद्द्विजसत्तमाः । प्रसादात्तस्य देवस्य स्मृतिलोपश्च नाभवत् ॥२२॥
भ्रममाणस्तदा कुक्षौ कृत्स्नं जगदिदं द्विजाः । नान्तं जगाम देहस्य[3] तस्य विष्णोः कदाचन ॥२३॥
यदाऽसौ नाऽऽगतश्चान्तं तस्य देहस्य भो द्विजाः । तदा तं वरदं देवं शरणं गतवान्मुनिः ॥२४॥
ततोऽसौ सहसा विप्रा[4] वायुवेगेन निःसृतः । महात्मनो मुखात्तस्य विवृतात्पुरुषस्य सः ॥२५॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभ्वृषिसंवादे मार्कण्डेयस्य भगवत्कुक्षिपरिवर्तनं नाम
चतुष्पञ्चाशत्तमोध्यायः ॥५४॥

आदि कर्मों को भी वहाँ देखा ॥१२-१५॥ इन्द्र आदि देवता एवं अन्य स्वर्गलोकवासी, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, सनातन ऋषिगण, दैत्य-दानव-समूह, नाग, सिंहिका-पुत्र (राहु-केतु) और अन्य जितने देवशत्रु हैं उन सबको यहाँ तक कि इस संसार में सभी पूर्व परिचित चराचर को उस बालक के उदर में उन्होंने देखा ॥१६-१८॥ अथवा नाम गिनाने से क्या लाभ ? ब्रह्मा से लेकर स्तम्व पर्यन्त (जड़ पदार्थ तक) चर, अचर जो कुछ हैं उन सब को भूः, भुवः, स्वः महः, जनः, तपः, सत्य आदि लोकों अतल, वितल तथा पाताल, सुतल, वितल, रसातल, महातल पर्यन्त ब्रह्माण्ड को उस मुनि ने उस बालक के उदर में देखा ॥१९-२१॥ श्रेष्ठब्राह्मणवर्ग ! उस समय उस देव के प्रभाव से मुनि को अव्याहत (कहीं न रुकने वाली) गति प्राप्त हो गयी। उनकी स्मरण-शक्ति भी लुप्त नहीं हुई ॥२२॥ द्विजवर्यवृन्द ! उदरस्थ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का चक्कर लगाते हुए मार्कण्डेय मुनि किसी भी प्रकार से भगवान् विष्णु के शरीर का अन्त न पा सके ॥२३॥ द्विजगण ! जब मुनि ने उस देव के शरीर का अन्त न पाया तब विवश होकर वह मनोरथदाता देव की शरण में गये ॥२४॥ और परमात्मा के फैले हुए मुख से वायु के वेग के समान एकाएक बाहर निकल आये ॥२५॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में स्वयंभू और ऋषि के संवाद-प्रकरण में मार्कण्डेय का भगवत्कुक्षि-
परिवर्तन नामक चौवनवाँ अध्याय समाप्त ॥५४॥

---

[1] ख. ०वसर्पाश्च। [2] ग. ० ता मति०। [3] क. ग. देवस्य। [4] क. विप्रो।

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

मार्कण्डेयाख्यानम्

ब्रह्मोवाच

स निष्क्रम्योदरात्तस्य बालस्य मुनिसत्तमाः । पुनश्चैकार्णवामुर्वीमपश्यज्जनवर्जिताम् ।।१।।
पूर्वदृष्टं च तं देवं ददर्श शिशुरूपिणम् । शाखायां वटवृक्षस्य पर्यङ्कोपरि संस्थितम् ।।२।।
श्रीवत्सवक्षसं देवं पीतवस्त्रं चतुर्भुजम् । जगदादाय तिष्ठन्तं पद्मपत्रायतेक्षणम् ।।३।।
सोऽपि तं मुनिमायान्तं [1]प्लवमानमचेतनम् । दृष्ट्वा मुखाद्विनिष्क्रान्तं प्रोवाच प्रहसन्निव ।।४।।

श्री भगवानुवाच

कच्चित्त्वयोषितं वत्स विश्रान्तं च ममोदरे । भ्रममाणश्च किं तत्र आश्चर्यं दृष्टवानसि ।।५।।
भक्तोऽसि मे मुनिश्रेष्ठ श्रान्तोऽसि च ममाऽऽश्रितः । तेन त्वामुपकाराय संभाषे पश्य मामिह ।।६।।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वा स वचनं तस्य संप्रहृष्टतनूरुहः । ददर्श तं सुदुष्प्रेक्षं रत्नैर्दिव्यैरलंकृतम् ।।७।।
प्रसन्ना निर्मला दृष्टिर्मुहूर्तात्तस्य भो द्विजाः । प्रसादात्तस्य देवस्य प्रादुर्भूता पुनर्नवा ।।८।।

अध्याय ५५

मार्कण्डेय द्वारा भगवान् की स्तुति

ब्रह्मा बोले—उस बालक के उदर से निकलकर मुनि ने पुनः जनशून्य, समुद्रमय पृथ्वी देखी। सामने वही पहले का देखा हुआ बालरूपधारी देवता दिखायी दिया, जो वटवृक्ष की शाखा पर अवलम्बित पालने पर लेटा हुआ था। श्रीवत्स से सुशोभित वक्षःस्थल, कमल के समान बड़े-बड़े नेत्र, चार भुजाएँ और पीताम्बर से सुशोभित उसका शरीर था। ऐसा वह दिव्य बालक संसार को समेट कर स्थित था। अपने मुख से बाहर निकले हुए और जलप्रवाह में भटकते हुए चेतनारहित मुनि को अपनी ओर आता देख कर मुस्कराता वह बालक बोला।। १-४।।

श्री भगवान् बोले—वत्स! मेरे उदर में तुमनें निवास किया। थक गये हो क्या ? घूम-घूमकर तुमने कौन-सा आश्चर्यजनक दृश्य देखा है ? मुनिश्रेष्ठ! तुम मेरे भक्त हो, आश्रित हो, थक गये हो, तुम्हारे हित के लिए मैं तुमसे कह रहा हूँ। मेरा यह रूप देखो।।५-६।।

ब्रह्मा बोले—भगवान् की यह बात सुनकर मुनि के रोम-रोम पुलकित हो उठे, उन्होंने दिव्य-रत्नालंकारों से अलंकृत, कठिनाई से देखने योग्य भगवान् को देखा। भगवान् की कृपा से द्विजवर्ग! क्षणभर में ही मुनि की दृष्टि

---

[1] क. ०तसम्।

रक्ताङ्गुलितलौ पादौ ततस्तस्य सुरार्चितौ । प्रणम्य शिरसा विप्रा हर्षगद्गदया गिरा ॥९॥
कृताञ्जलिस्तदा हृष्टो विस्मितश्च पुनः पुनः । दृष्ट्वा तं [1]परमात्मानं संस्तोतुमुपचक्रमे ॥१०॥

मार्कण्डेय उवाच

देवदेव जगन्नाथ मायाबालवपुर्धर । त्राहि मां चारुपद्माक्ष दुःखितं शरणागतम् ॥११॥
संतप्तोऽस्मि सुरश्रेष्ठ संवर्ताख्येन वह्निना । अङ्गारवर्षभीतं च त्राहि मां पुरुषोत्तम ॥१२॥
शोषितश्च प्रचण्डेन वायुना जगदामुना । विह्वलोऽहं तथा श्रान्तस्त्राहि मां पुरुषोत्तम ॥१३॥
तापितश्च तशामात्यैः (?) प्रलयावर्तकादिभिः । न शान्तिमधिगच्छामि त्राहि मां पुरुषोत्तम ॥१४॥
तृषितश्च क्षुधाऽऽविष्टो दुःखितश्च जगत्पते । त्रातारं नात्र पश्यामि त्राहि मां पुरुषोत्तम ॥१५॥
अस्मिन्नेकार्णवे घोरे विनष्टे सचराचरे । न चान्तमधिगच्छामि त्राहि मां पुरुषोत्तम ॥१६॥
तवोदरे च देवेश मया दृष्टं चराचरम् । विस्मितोऽहं विषण्णश्च त्राहि मां पुरुषोत्तम ॥१७॥
संसारेऽस्मिन्निरालम्बे प्रसीद पुरुषोत्तम । प्रसीद विबुधश्रेष्ठ प्रसीद विबुधप्रिय ॥१८॥
प्रसीद विबुधां नाथ प्रसीद विबुधालय[2] । प्रसीद सर्वलोकेश जगत्कारणकारण ॥१९॥

पुनः प्रसन्न, निर्मल और नवीन हो गयी। इसके अनन्तर उनके रक्तवर्ण अँगुलियों और तलवों से सुशोभित चरणों पर, जिनकी पूजा में देवगण सदा निरत रहते हैं, सिर रखकर प्रणाम किया। परमात्मा के उस मनोहर रूप को देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न और आश्चर्यमग्न हो गये। पुनः हाथ जोड़कर बार-बार भगवान् को देखते हुए, मुनि गद्गद वाणी से स्तुति करने लगे ॥७-१०॥

मार्कण्डेय बोले—देवाधिदेव! संसार के स्वामी! माया से बालरूप धारण करने वाले! सुन्दर कमल के समान नेत्र वाले! शरण में आये हुए मुझ दुःखी की रक्षा कीजिये ॥११॥ सुरश्रेष्ठ! मैं इस संवर्त्त नामक अग्नि से जला जा रहा हूँ। पुरुषोत्तम! अंगार की वर्षा से भयभीत मेरी रक्षा कीजिये ॥१२॥ संसार के प्राणाधार! आज के इस ज्वालामय वायु से मैं सूख गया हूँ और भय से व्याकुल होकर थक गया हूँ, पुरुषोत्तम! मेरी रक्षा कीजिये ॥१३॥ इन प्रलयकारी आवर्त्तक आग्नेय सूर्यों से मैं जल गया हूँ। किसी प्रकार मुझे शान्ति नहीं मिल रही है, पुरुषोत्तम! मेरी रक्षा कीजिये ॥१४॥ जगत्पते! मैं प्यासा हूँ, भूखा हूँ, अति दुःखी हूँ, इस संसार में किसी को भी अपना रक्षक नहीं देख रहा हूँ, हे पुरुषोत्तम! मेरी रक्षा कीजिये ॥१५॥ इस भयंकर घोर एकान्त सागर में, जबकि चराचर विनष्ट हो गया है, मैं अन्त नहीं पा रहा हूँ, हे पुरुषोत्तम! मेरी रक्षा कीजिये ॥१६॥ देवेश! आपके उदर में मैंने चराचर-व्याप्त विश्व देखा है। इसलिए मैं आश्चर्यचकित हूँ, खिन्न हूँ, पुरुषोत्तम! मेरी रक्षा कीजिये ॥१७॥ पुरुषोत्तम! इस अवलम्बरहित संसार में मुझ आश्रयहीन पर प्रसन्न हों, देवश्रेष्ठ! प्रसन्न हों, देवप्रिय! प्रसन्न हों ॥१८॥ देवों के स्वामी! देवों के एकमात्र सहायक! प्रसन्न हों! अखिल लोक के स्वामी! जगत् के कारण

---

[1] ख. ०नं स स्तो०। [2] ख. ०धाश्रय।

प्रसीद सर्वकृद्देव[1] प्रसीद मम भूधर । प्रसीद[2] सलिलावास[3] प्रसीद मधुसूदन ।।२०।।
प्रसीद कमलाकान्त प्रसीद त्रिदशेश्वर । प्रसीद कंसकेशिघ्न प्रसीदारिष्टनाशन ।।२१।।
प्रसीद कृष्ण दैत्यघ्न प्रसीद दनुजान्तक । प्रसीद मथुरावास प्रसीद यदुनन्दन ।।२२।।
प्रसीद शक्रावरज प्रसीद वरदाव्यय[4] । त्वं मही त्वं जलं देव त्वमग्निस्त्वं समीरणः ।।२३।।
त्वं नभस्त्वं मनश्चैव त्वमहंकार एव च । त्वं बुद्धिः प्रकृतिश्चैव [5]सत्त्वाद्यास्त्वं[6] जगत्पते[7] ।।२४।।
पुरुषस्त्वं [8]जगद्व्यापी पुरुषादपि चोत्तमः । त्वमिन्द्रियाणि सर्वाणि शब्दाद्या विषयाः प्रभो ।।२५।।
त्वं दिक्पालाश्च धर्माश्च वेदा यज्ञाः सदक्षिणाः । त्वमिन्द्रस्त्वं शिवो देवस्त्वं हविस्त्वं हुताशनः ।।२६।।
त्वं यमः पितृराट्देव त्वं रक्षोधिपतिः स्वयम् । वरुणस्त्वमपां नाथ[9] त्वं [10]वायुस्त्वं धनेश्वरः ।।२७।।
त्वमीशानस्त्वमनन्तस्त्वं गणेशश्च षण्मुखः । वसवस्त्वं तथा रुद्रास्त्वमादित्याश्च खेचराः ।।२८।।
दानवास्त्वं तथा यक्षास्त्वं दैत्याः समरुद्गणाः । सिद्धाश्चाप्सरसो नागा गन्धर्वास्त्वं सचारणाः ।।२९।।
पितरो बालखिल्याश्च प्रजानां पतयोऽच्युत । मुनयस्त्वमृषिगणास्त्वमश्विनौ निशाचराः ।।३०।।
अन्याश्च जातयस्त्वं हि यत्किंचिज्जीवसंज्ञितम् । किंचात्र बहुनोक्तेन ब्रह्मादिस्तम्बगोचरम् ।।३१।।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्वं जगत्सचराचरम् । यत्ते रूपं परं देव कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।३२।।

के भी कारण! प्रसन्न हों।।१९।। सबके कर्त्ता देव! पृथ्वी के पालक! मेरे ऊपर कृपा करें। जलशायी! मधुसूदन! प्रसन्न हों।।२०।। कमलाकांत! देवेश्वर! प्रसन्न हों . कंस, केशी और अरिष्टासुर के संहारक! मुझ पर प्रसन्न हों! ।।२१।। कृष्ण! दैत्यों के नाशक! दानवों के संहारक! प्रसन्न हों। मथुरावासिन्! यदुनन्दन कृष्ण! आप प्रसन्न हो जायँ ।।२२।। इन्द्र के लघुभ्राता! वरदाता! अव्यय! आप मुझ पर प्रसन्न हों! देव! तुम मही हो, जल हो, तुम्हीं अग्नि और वायु भी हो।।२३।। तुम आकाश, मन और अहंकार भी हो, जगत्पते! तुम बुद्धि, प्रकृति और सत्त्व आदि गुण हो।।२४।। तुम संसार में व्याप्त रहने वाले पुरुष (अक्षर ब्रह्म) से भी उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम) हो। प्रभो! तुम्हीं सभी इन्द्रियाँ और उनके विषय शब्द, स्पर्श, रस आदि भी हो।।२५।। तुम दस दिक्पाल, धर्म, वेद और दक्षिणायुक्त (उत्तम) यज्ञ हो, इन्द्र, शिव, देव, हवि यहाँ तक कि हुताशन (अग्नि) भी तुम्हीं हो।।२६।। देव! तुम पितरों के अधिपति यम हो, राक्षसों के राजा भी स्वयं तुम्हीं हो। जल के स्वामी वरुण, वायु, धनेश्वर कुबेर तुम्हीं हों।।२७।। तुम ईशान (शिव) अनन्त, गणेश और कार्तिकेय भी हो। तुम वसु तथा रुद्र हो और आकाशचारी आदित्य भी हो।।२८।। तुम दानव, यक्ष तथा मरुद्गण सहित दैत्य हो। सिद्ध, अप्सराएँ, नाग, चारणों सहित गन्धर्व, ये सभी तुम्हीं हो।।२९।। अच्युत! पितर, बालखिल्य (ऋषि) प्रजाओं के पति (प्रजापति), मुनि, ऋषिगण, अश्विन, अथच निशाचर तुम्हीं हो।।३०।। जो कुछ जीव नाम से प्रसिद्ध दूसरी जातियाँ हैं, सभी तुम हो अथवा बहुत अधिक वर्णन से क्या प्रयोजन? ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (ठूँठ) पर्यन्त दिखायी पड़ने वाले भूत, भव्य, भविष्यत् सचराचर जगत् तुम्हारे ही रूप हैं।।३१ १/२।। देव! जो तुम्हारा कूटस्थ, अचल,

---

[1] ख. सर्वदेवेश। [2] क. ०द मे श्रीनिवास। [3] ख. कमलावास। [4] क. ०दायक। त्वं। [5] क. सत्यं त्वं च ज०। [6] ख. जगत्प्रभो। [7] ख. ० ते। जगत्स्रष्टा जगद्बीजं पु०। [8] ख. जगद्बीजं। [9] ख. ०थ वा०। [10] ख. ०स्यं वनदेवताः। त्वं०।

ब्रह्माद्यास्तन्न जानन्ति कथमन्येऽल्पमेधसः । देव शुद्धस्वभावोऽसि-नित्यस्त्वं प्रकृतेः परः ॥३३॥
अव्यक्तः शाश्वतोऽनन्तः सर्वव्यापी महेश्वरः । त्वमाकाशः परः शान्तो अजस्त्वं विभुरव्ययः ॥३४॥
एवं त्वां निर्गुणं स्तोतुं कः शक्नोति निरञ्जनम् । स्तुतोऽसि यन्मया देव [1]विकलेनाल्पचेतसा ॥
तत्सर्वं देवदेवेश क्षन्तुमर्हसि चाव्यय ॥३५॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे
भगवत्स्तवनिरूपणं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५५॥

अथ षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विस्तरेण विष्णुमार्कण्डेयसंवादकथनम्

ब्रह्मोवाच

[2]इत्थं स्तुतस्तदा तेन मार्कण्डेयेन भो द्विजाः । प्रीतः प्रोवाच भगवान्मेघगम्भीरया गिरा ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रूहि कामं मुनिश्रेष्ठ यत्ते मनसि वर्तते । ददामि सर्वं विप्रर्षे मत्तो यदभिवाञ्छसि ॥२॥

ध्रुव, पर (उत्कृष्ट निरंजन) रूप है उसको तो ब्रह्मा आदि भी नहीं जानते, दूसरे थोड़ी बुद्धि वालों की तो चर्चा भी व्यर्थ है ॥३२½॥ देव! तुम शुद्ध स्वभाव वाले, नित्य और प्रकृति से परे हो। तुम अव्यक्त, शाश्वत (नित्य), अनन्त, सर्वव्यापी, महेश्वर, आकाश, पर (सर्वश्रेष्ठ) और शान्त तथा अज, व्यापक, अव्यय भी हो ॥३३-३४॥ इस प्रकार निरञ्जन, निर्गुण तुम्हारी कौन स्तुति कर सकता है, जो कुछ विकल, अल्पबुद्धि मैंने तुम्हारी स्तुति की है, देवदेवेश, अव्यय!, वह तुमसे क्षमा के योग्य है। अर्थात् उसको क्षमा कर दो ॥३५॥

श्री ब्रह्ममहापुराण का भगवत्स्तवन नामक पचपनवाँ अध्याय समाप्त ॥५५॥

अध्याय ५६

विस्तार से विष्णु और मार्कण्डेय का संवाद-कथन

ब्रह्मा बोले—मार्कण्डेय ऋषि द्वारा इस प्रकार स्तुति किये जाने पर हे ब्राह्मण वर्ग! अत्यन्त प्रसन्न भगवान् मेघ के समान गम्भीर वाणी से बोले—॥१॥

भगवान् ने कहा—मुनिश्रेष्ठ! अपनी मनः कामना बताओ? विप्रर्षे! मैं तुम्हारे सभी मनोरथ पूर्ण करूँगा ॥२॥

---

[1] ख. विह्वले०। [2] क. एवं ।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वा स वचनं विप्राः[१] शिशोस्तस्य महात्मनः । उवाच परमप्रीतो मुनिस्तद्गतमानसः ॥३॥

मार्कण्डेय उवाच

ज्ञातुमिच्छामि देव त्वां मायां वै तव चोत्तमाम् । त्वत्प्रसादाच्च देवेश स्मृतिर्न परिहीयते ॥४॥
द्रुतमन्तः शरीरेण सततं पर्य (रि) वर्तितम् । इच्छामि पुण्डरीकाक्ष ज्ञातुं त्वामहमव्ययम् ॥५॥
इह भूत्वा शिशुः साक्षात्किं भवानवतिष्ठते । पीत्वा जगदिदं सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि ॥६॥
किमर्थं च जगत्सर्वं शरीरस्थं तवाऽनघ । कियन्तं च त्वया कालमिह स्थेयमरिंदम ॥७॥
ज्ञातुमिच्छामि देवेश ब्रूहि सर्वमशेषतः । त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम् ॥
महदेतदचिन्त्यं च यदहं दृष्टवान्प्रभो ॥८॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्तः स तदा तेन देवदेवो महाद्युतिः[२] । सान्त्वयन्स तदा[३] वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥९॥

श्री भगवानुवाच

कामं देवाश्च मां विप्र नहि जानन्ति तत्त्वतः । तव प्रीत्या प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम् ॥१०॥

ब्रह्मा ने कहा—विप्रगण! परमात्मा शिशु की ऐसी बातें सुनकर अत्यन्त प्रसन्न मुनि प्रभु में तन्मय होकर बोले ॥३॥

मार्कण्डेय बोले—देव! मैं आपको और आपकी इस अज्ञेय माया को जानना चाहता हूँ। देवेश! आपके प्रसाद से मेरी स्मृति लुप्त नहीं हुई है ॥४॥ पुण्डरीकाक्ष! आपके शरीर में प्रवेश कर मैंने अभी-अभी घूम-घूमकर सब कुछ देखा है। अविनाशी! अब आपको जानना चाहता हूँ ॥५॥ आप सारे संसार को उदरस्थ कर स्वयं शिशु रूप धारण किये हुए क्यों यहाँ विराजमान हैं? यह सब कुछ आप मुझसे कहिये ॥६॥ निष्पाप! किस प्रयोजन से सारा संसार तुम्हारे शरीर में समाहित हो गया है? शत्रुसूदन! कितने समय तक इस प्रकार तुम्हारा यहाँ निवास होगा ॥७॥ देवेश! मैं यह जानने की इच्छा रखता हूँ, सम्पूर्ण रूप से सब कुछ मुझसे कहें। प्रभो! जो कुछ मैंने देखा है वह अत्यन्त अगम्य और अचिन्त्य है। कमलनयन! मैं यथार्थ रूप से तुम्हारे मुख से सब कुछ विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥८॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार मार्कण्डेय मुनि ने परमदेव तेजोमय भगवान् से कहा। तदनन्तर परमवाग्मी मुनि को आश्वासन देते हुए भगवान् बोले—॥९॥

भगवान् बोले—विप्र! देवता भी मुझको यथार्थ और पूर्ण रूप से नहीं जानते हैं। किन्तु तुम्हारे प्रेम

---

[१] ख. विप्रा विष्णोस्त० । [२] क. जगत्पतिः। ख. महेश्वरः। [३] क. ०दा विप्रमु० ।

पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे[1] मामेव शरणं गतः । ततो दृष्टोऽस्मि ते साक्षाद्ब्रह्मचर्यं च ते महत् ।।११।।
आपो नारा इति पुरा संज्ञाकर्म कृतं मया । मया नारायणोऽस्म्युक्तो मम[2] तास्त्वयनं सदा ।।१२।।
अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः । विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम ।।१३।।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चापि [3]सुराधिपः । अहं वैश्रवणो राजा यमः [4]प्रेताधिपस्तथा ।।१४।।
अहं शिवश्च सोमश्च कश्यपश्च प्रजापतिः । अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाहं द्विजोत्तम ।।१५।।
अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने । [5]द्यौर्मूर्धा खं दिशः श्रोत्रे तथाऽऽपः स्वेदसंभवाः ।।१६।।
सदिशं च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः । मया[6] क्रतुशतैरिष्टं[7] बहुभिश्चाऽऽप्तदक्षिणैः ।।१७।।
यजन्ते वेदविदुषो मां देवयजने स्थितम् । पृथिव्यां क्षत्रियेन्द्राश्च पार्थिवाः स्वर्गकाङ्क्षिणः ।।१८।।
यजन्ते मां तथा वैश्याः स्वर्गलोकजिगीषवः । चतुःसमुद्रपर्यन्तां मेरुमन्दरभूषणाम् ।।१९।।
शेषो [8]भूत्वाऽहमेको हि धारयामि वसुंधराम्[9] । वाराहं रूपमास्थाय ममेयं जगती पुरा ।।२०।।
मज्जमाना जले विप्रवीर्येणास्मि समुद्धृता । अग्निश्च वाडवो विप्र भूत्वाऽहं द्विजसत्तम ।।२१।।
पिबाम्यपः समाविष्टस्ताश्चैव विसृजाम्यहम् । ब्रह्मा वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संश्रिता विशः ।।२२।।

वश जिस प्रकार इस जगत् का विसर्जन करता हूँ, कहूँगा ।।१०।। विप्रर्षे! तुम पितृ-भक्त हो, मेरी ही शरण में आये हो, इसके बाद मैंने स्वयं तुम्हारे महान् ब्रह्मचर्य व्रत को देखा है ।।११।। आदि काल में मैंने जल का नार, यह नामकरण किया है। मेरा जल ही सर्वदा निवास-स्थान है, इसलिए मैं नारायण कहलाता हूँ ।।१२।। द्विजोत्तम! मैं नारायण नाम से प्रसिद्ध आदिकारण, नित्य, अविनाशी, सभी भूतों का विधाता और विनाशकर्त्ता हूँ ।।१३।। मैं ही विष्णु, ब्रह्मा और देवराज इन्द्र हूँ । मैं ही वैश्रवण नामक राजा तथा प्रेतपतिं यम हूँ ।।१४।। मेरा ही नाम शिव, सोम और प्रजापति कश्यप है। द्विजवर्य! मैं ही सब का स्रष्टा, पालक तथा यज्ञ भी हूँ ।।१५।। मेरा मुख अग्नि, चरण पृथ्वी, नेत्र चन्द्र और सूर्य, द्यौः (स्वर्ग) मूर्धा, आकाश और दिशाएँ मेरे कर्ण हैं ।।१६।। और जल मेरे पसीने से उत्पन्न है। सम्पूर्ण दिशाओं सहित नभ मेरा शरीर है, वायु मेरे मन में स्थित है। बहुसंख्यक भरपूर दक्षिणा वाले सैकड़ों यज्ञों में मैं पूजित हूँ ।।१७।। देव-यज्ञ में प्रतिष्ठित मेरा ही पूजन वेदज्ञ लोग किया करते हैं। इस पृथ्वी पर स्वर्गलोक के इच्छुक बड़े-बड़े प्रतापी सम्राट् तथा स्वर्ग-कामना वाले वैश्य (धनिक वर्ग) मेरी ही पूजा करते हैं ।।१८½।। मैं ही अकेला शेष रूप होकर चारों समुद्र तक विस्तीर्ण, मेरु, मन्दर आदि पर्वतों से सुशोभित, गुरु भार वाली वसुन्धरा को धारण करता हूँ ।।१९½।। प्राचीन काल में वाराह रूप धारण कर मैंने ही जल में डूबी हुई पृथ्वी का अपने पराक्रम से उद्धार किया था। द्विजवर! विप्र! वड़वानल होकर मैं ही सम्पूर्ण जल को पी जाता हूँ और इस प्रकार अपने उदर में जल का समावेश कर पुनः उसको छोड़ भी देता हूँ ।।२०-२१½।। ब्राह्मण मेरा मुख, क्षत्रिय मेरी भुजाएँ और वैश्य मेरे ऊरु के आश्रित हैं। शक्ति और क्रम (श्रेणी) के रूप से शूद्र मेरे

---

१ क. ख. ०र्षे मां चैव श०। २ क. ०म ताः शय०। ३ ख. द्विजोत्तम। ४ क. प्रेतपतिस्त०। ५ ख. द्यौर्भुवौ खं। ६क. सदा। ७ क. ०ष्टं यथोक्तवरद०। ८ क. ०त्वा महीमेको धा०। ९ क. महामुने।

पादौ शूद्रा भवन्तीमे विक्रमेण क्रमेण च । ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदस्त्वथर्वणः ।।२३।।
मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च । यतयः शान्तिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः ।।२४।।
कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसङ्गा वीतकल्मषाः । सत्त्वस्था निरहंकारा नित्यमध्यात्मकोविदाः ।।२५।।
मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्त उपासते । अहं संवर्तको ज्योतिरहं संवर्तकोऽनलः ।।२६।।
अहं संवर्तकः सूर्यस्त्वहं संवर्तकोऽनिलः । तारारूपाणि दृश्यन्ते यान्येतानि नभस्तले ।।२७।।
मम वै रोमकूपाणि विद्धि त्वं द्विजसत्तम । रत्नाकराः समुद्राश्च सर्व एव चतुर्दिशः ।।२८।।
वसनं शयनं चैव निलयं चैव विद्धि मे । कामः क्रोधश्च हर्षश्च भयं मोहस्तथैव च ।।२९।।
ममैव विद्धि रूपाणि सर्वाण्येतानि सत्तम । प्राप्नुवन्ति नरा विप्र यत्कृत्वा कर्म शोभनम् ।।३०।।
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसां सर्वजन्तुषु । मद्विधानेन विहिता मम देहविचारिणः ।।३१।।
मयाऽभिभूतविज्ञानाश्चेष्टयन्ति[1] न कामतः । सम्यग्वेदमधीयाना यजन्तो विविधैर्मखैः ।।३२।।
[2]शान्तात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवन्ति द्विजातयः । प्राप्तुं शक्यो न चैवाहं नरैर्दुष्कृतकर्मभिः ।।३३।।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यरकृतात्मभिः । तन्मां महाफलं विद्धि नराणां भावितात्मनाम् ।।३४।।
सुदुष्प्रापं विमूढानां मां कुयोगनिषेविणाम् । यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम ।।३५।।

चरण हैं। ऋक्, यजुस्, साम और अथर्वण ये चारों वेद मुझसे उत्पन्न होते पुनः मुझमें प्रविष्ट हो जाते हैं ।।२२-२३½।। शान्ति के परमोपासक, संयमी, जिज्ञासु (ब्रह्मज्ञान के इच्छुक), यती एवं काम, क्रोध, द्वेष से दूर रहने वाले, अनासक्त, निष्पाप, सात्त्विक, अहंकार-रहित (परम विनीत), सर्वदा अध्यात्म (ज्ञान) के ही उपासक ब्राह्मण सर्वदा मेरा ही चिन्तन और मेरी ही उपासना किया करते हैं ।।२४-२५½।। आकाश-मंडल में तारागण के रूप में दिखायी पड़ने वाले संवर्तक (प्रलयकालीन) ज्योति, संवर्तक अग्नि, संवर्तक सूर्य और संवर्तक वायु मैं ही हूँ। द्विजवर्य ! इन्हें मेरे ही रोम-छिद्र जानो। चारों दिशाओं में फैले रत्न के भाण्डार इन समुद्रों को ही मेरा वस्त्र, शय्या और घर जानो ।।२६-२८½।। काम, क्रोध, हर्ष, भय, मोह, इन सब को भी मुनिश्रेष्ठ ! मेरे ही रूप जानो ।।२९½।। विप्र ! जिन शुभ कर्मों के अनुष्ठान से मनुष्य मुझे प्राप्त करते हैं वे भी मेरे ही रूप हैं। सत्य, दान, उग्र तपस्या, सब प्राणियों में अहिंसा की भावना करने वाले मनुष्य मेरे ही विधान से रचे गये हैं और मेरे ही शरीर में विचरण करते हैं।।३०-३१।। वे मेरे द्वारा अभिभूत विज्ञान वाले होने के कारण ऐसी चेष्टा करते हैं न कि अपनी इच्छा से। सम्यक् रूप से वेद का अध्ययन करने वाले, विविध यज्ञों से यज्ञ करने वाले, शान्त चित्त वाले, क्रोध को अपने वश में करने वाले द्विजाति ही मुझे प्राप्त करते हैं।।३२½।। बुरे काम करने वाले, लोभी, कृपण, अनार्य और स्वेच्छाचारी जनों के लिए मैं सर्वथा अप्राप्य हूँ ।।३३½।। शुद्ध हृदय वाले मनुष्यों के जीवन का (प्राप्य) महाफल मुझको जानो। विमूढ़, कुयोग-निषेवी (असत्पथ पर चले वाले) जनों से मैं अत्यन्त दुष्प्राप्य हूँ।।३४½।। हे सज्जनाग्रणी ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं अवतीर्ण होता हूँ ।।३५½।। जब हिंसा में लिप्त

---

[1] ख. ०न्ति तु कामितः । [2] क. जितमाना । ख. यतात्मानो।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् । दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।।३६।।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन्यदोत्पत्स्यन्ति दारुणाः । तदाऽहं संप्रसूयामि गृहेषु [1]पुण्यकर्मणाम् ।।३७।।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् । सृष्ट्वा देवमनुष्यांश्च गन्धर्वोरगराक्षसान् ।।३८।।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया । कर्मकाले पुनर्देहमनुचिन्त्य सृजाम्यहम् ।।३९।।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबन्धकारणात् । श्वेतः कृतयुगे धर्मः श्यामस्त्रेतायुगे मम ।।४०।।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा । त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन्काले भवन्ति च ।।४१।।
अन्तकाले च संप्राप्ते कालो भूत्वाऽतिदारुणः[2] । त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।।४२।।
अहं त्रिधर्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः । [3]अभिन्नः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उरुक्रमः ।।४३।।
कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मरूपं ममैव तत् । शमनं सर्वभूतानां सर्वभूतकृतोद्यमम् ।।४४।।
एवं प्रणिहितः सम्यङ्ममाऽऽत्मा मुनिसत्तम । सर्वभूतेषु विप्रेन्द्र न च मां वेत्ति कश्चन ।।४५।।
सर्वलोके च मां भक्ताः पूजयन्ति च सर्वशः । यच्च किंचित्त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज ।।४६।।
सुखोदयाय तत्सर्वं श्रेयसे च तवानघ । यच्च किंचित्त्वया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ।।४७।।
विहितः सर्व एवासौ मयाऽऽत्मा भूतभावनः । अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः ।।४८।।

रहने वाले (हिंसक) दैत्य देवताओं से न मारे जा सकेंगे और इस लोक में दारुण, घोर राक्षस उत्पन्न होंगे तव मैं पुण्य कर्म करने वाले, सज्जनों के घर में जन्म लूँगा ।। ३६-३७।। इस प्रकार मैं मनुष्य-देह में प्रविष्ट होकर सव कुछ शान्त करूँगा। देव, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षस, स्थावर तथा सभी भूतों (प्राणियों) को उत्पन्न कर अपनी माया से मैं इनका पुनः संहार भी करता हूँ। काम के समय अर्थात् कार्य की आवश्यकता पड़ने पर मैं पुनः विचार कर शरीर धारण करता हूँ ।। ३८-३९।। इस प्रकार लोक-मर्यादा की रक्षा के लिए मानव-शरीर में प्रवेश कर मैं सत्ययुग में श्वेत, त्रेता में श्याम, द्वापर आने पर रक्त और कलियुग में कृष्णवर्ण का स्वरूप धारण करता हूँ ।।४०$\frac{१}{३}$।। उस काल में (कलि में) अधर्म के भी तीन भाग हो जाते हैं। प्रलय काल आ जाने पर मैं अतिभयंकर काल रूप होकर अकेले ही स्थावर-जंगमात्मक त्रिलोकी का नाश करता हूँ ।।४१-४२।। मैं त्रिधर्मा (सत्त्व, रज, तम गुण वाला), विश्वात्मा (व्यापक), सम्पूर्ण लोक को सुख देने वाला, अभिन्न (एक), सर्वग, अनन्त, हृषीकेश (इन्द्रियों का स्वामी) उरुक्रम (शक्तिशाली विष्णु) हूँ ।।४३।। अकेला ही कालचक्र का संचालन करता रहता हूँ। वह सम्पूर्ण भूतों को शान्त करने वाला, अखिल लोक के कल्याणार्थ यत्नशील ब्रह्मरूप भी मेरा ही है ।।४४।। मुनिवर्य ! सभी पदार्थों में मेरी आत्मा भलीभाँति व्याप्त है फिर भी हे विप्रेन्द्र ! मुझे कोई भी नहीं जान पाता ।।४५।। सम्पूर्ण भुवन में भक्तजन सव प्रकार से मेरी पूजा करते हैं। द्विज ! मेरे लिए जो कुछ तुमने कष्ट उठाया है, अनघ ! वह सव तुम्हारे भाग्योदय और मंगल का कारण होगा। लोक में जो कुछ स्थावर, जंगम रूप में तुमने देखा है, सव मेरे द्वारा ही विहित है, मेरा ही भूत भावन (उत्पादक) रूप सर्वत्र व्याप्त है। मैं शंख-चक्र-गदा-धारी नारायण हूँ ।।४६-४८।। विप्रर्षे !

---

[1] क.ख. शुभकर्मणाम् । [2] क. ०त्वा सुदा० [3] क. अग्निसूः ।

यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रं परिवर्तते । तावत्स्वपिति विश्वात्मा सर्वविश्वानि मोहयन् ॥४९॥
एवं सर्वमहं कालमिहाऽऽसे मुनिसत्तम । अशिशुः शिशुरूपेण यावद्ब्रह्मा न बुध्यते ॥५०॥
मया च दत्तो विप्रेन्द्र वरस्ते ब्रह्मरूपिणा[1] । असकृत्परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित ॥५१॥
सर्वमेकार्णवं कृत्वा नष्टे स्थावरजङ्गमे । निर्गतोऽसि मयाऽऽज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत् ॥५२॥
अभ्यन्तरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम । दृष्ट्वा लोकं समस्तं हि विस्मितो नावबुध्यसे ॥५३॥
ततोऽसि वक्त्राद्विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया[2] । आख्यातस्ते मया चाऽऽत्मा दुर्ज्ञेयो[3] हि सुरासुरैः ॥५४॥
यावत्स भगवान्ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः । तावत्त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम् ॥५५॥
ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे । एको भूतानि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम ॥५६॥
आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुः सलिलमेव च । लोके यच्च भवेत्किंचिदिह स्थावरजङ्गमम् ॥५७॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तदा विप्राः पुनस्तं प्राह माधवः । पूर्णे युगसहस्रे तु मेघगम्भीरनिस्वनः ॥५८॥

श्री भगवानुवाच

मुने ब्रूहि यदर्थं मां स्तुतवान्परमार्थतः । वरं वृणीष्व यच्छ्रेष्ठं ददामि नचिरादहम्[4] ॥५९॥

जब तक चारों युग एक हजार बार व्यतीत होते हैं तब तक मैं विश्व को अपने वश में कर सोता रहता हूँ ॥४९॥ मुनिश्रेष्ठ! जब तक ब्रह्मा उत्पन्न नहीं होते तब तक बालक न होते हुए भी मैं बाल रूप में यहाँ विराजमान रहूँगा ॥५०॥ विप्रेन्द्र! विप्रर्षिगणों से पूजित मुनि! ब्रह्मस्वरूप मैंने अत्यन्त प्रसन्न होकर तुमको यह वर दिया है। स्थावर-जंगम के नष्ट हो जाने पर जब सारी पृथ्वी समुद्रमय हो गयी तब तुम मेरी आज्ञा से निर्गत हुए हो। तब तुम मेरे शरीर के भीतर प्रविष्ट हुए तब तुमने सारे विश्व को देखा, समस्त ब्रह्माण्ड को देखकर भी तुम आश्चर्यचकित हो कुछ जान न पाये ॥५१-५३॥ तदनन्तर विप्रर्षे! मेरे ही द्वारा तुम मुख से शीघ्र निकाले गये। सुर, असुरों के द्वारा दुःख से जानने योग्य अपने स्वरूप को मैंने तुमसे कहा है ॥५४॥ इसलिए यावत् काल पर्यन्त महातपस्वी ब्रह्मा प्रकट नहीं होते तब तक हे विप्रर्षे! तुम यहाँ सुखपूर्वक विश्वस्त हो, स्वेच्छा से विचरण करो ॥५॥ तदनन्तर सर्वलोक-पितामह ब्रह्मा के प्रकट हो जाने पर द्विजोत्तम! अकेला मैं सम्पूर्ण भूतों की सृष्टि करूँगा ॥५६॥ इस प्रकार युग-सहस्र बीत जाने पर आकाश, पृथ्वी, वायु, तेज, जल अथवा इस लोक में जो कुछ स्थावर-जंगम रहा, सब का निर्माण करूँगा ॥५७॥

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार कहने के बाद एक सहस्र युग बीत जाने पर फिर मेघ के समान गम्भीर वाणी वाले माधव ने मार्कण्डेय से कहा—॥५८॥

श्री भगवान् बोले—हे मुने! परमार्थ रूप से जिस लिये तुमने मेरी स्तुति की है—कहो,

---

१ ख. ब्रह्मरूपिणे । २ ग. मम । ३ ख. दुर्गम्यश्च सु० । ४ ख. त्वविचारतः ।

आयुष्मानसि देवानां मद्भक्तोऽसि दृढव्रतः । तेन त्वमसि विप्रेन्द्र पुनर्दीर्घायुराप्नुहि ।।६०।।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वा वाणीं शुभां तस्य विलोक्य स तदा पुनः । मूर्ध्ना निपत्य सहसा प्रणम्य पुनरब्रवीत् ।।६१।।

मार्कण्डेय उवाच

दृष्टं परं हि देवेश तव रूपं द्विजोत्तम । मोहोऽयं विगतः सत्यं त्वयि दृष्टे तु मे हरे ।।६२।।
एवमेवमहं नाथ इच्छेयं त्वत्प्रसादतः । लोकानां च हितार्थाय नानाभावप्रशान्तये ।।६३।।
शैवभागवतानां च वादार्थप्रतिषेधकम् । अस्मिन्क्षेत्रवरे पुण्ये निर्मले [1]पुरुषोत्तमे ।।६४।।
शिवस्याऽऽयतनं देव करोमि परमं महत् । प्रतिष्ठेयं तथा तत्र तव स्थाने च शंकरम् ।।६५।।
ततो ज्ञास्यन्ति लोकेऽस्मिन्नेकमूर्ती हरीश्वरौ । प्रत्युवाच जगन्नाथः स पुनस्तं महामुनिम् ।।६६।।

श्रीभगवानुवाच

यदेतत्परमं देवं कारणं भुवनेश्वरम् । लिङ्गमाराधनार्थाय नानाभावप्रशान्तये ।।६७।।
ममाऽऽदिष्टेन विप्रेन्द्र कुरु शीघ्रं शिवालयम् । तत्प्रभावाच्छिवलोके तिष्ठ त्वं च तथाऽक्षयम् ।।६८।।
शिवे संस्थापिते विप्र मम संस्थापनं भवेत् । नाऽऽवयोरन्तरं किंचिदेकभावौ द्विधा कृतौ ।।६९।।

वह श्रेष्ठ वर माँगो, मैं तुम्हें शीघ्र ही प्रदान करूँगा। तुम देवताओं से भी अधिक दीर्घायु हो, मेरे भक्त हो, दृढ़व्रती हो। इसलिए विप्रवर्य! तुम पुनः दीर्घायु प्राप्त करो ।।५९-६०।।

ब्रह्मा ने कहा—भगवान् की इस मंगलमयी वाणी को सुनकर पुनः प्रसन्नता से उनकी ओर देखकर मुनि ने चरणों पर सिर झुका प्रणाम करते हुए कहा—।।६१।।

मार्कण्डेय बोले—देवेश! द्विजोत्तम! मैंने तुम्हारा उत्कृष्ट स्वरूप देखा। हरे! निश्चय ही तुम्हारे रूप-दर्शन से मेरा आन्तरिक मोह नष्ट हो गया। तुम्हारे प्रसाद से नाथ! मैं ऐसा चाहता हूँ कि लोक-हित की दृष्टि से भिन्न-भिन्न भावनाओं (साम्प्रदायिकता) की शान्ति के लिए, जिससे कि शैव और भागवतों की प्रतिद्वन्द्विता मिट जाय, इस पवित्र, निर्मल, श्रेष्ठ पुरुषोत्तम क्षेत्र में देव! बृहत् शिव-मन्दिर का निर्माण करूँ और वहाँ तुम्हारे स्थान पर शंकर की प्रतिष्ठा करूँ। ऐसा करने के उपरान्त इस संसार के लोग समझेंगे कि शिव और हरि (विष्णु) एक रूप ही हैं। इतनी बातें सुनकर जगन्नाथ ने महामुनि से पुनः कहा ।।६२-६६।।

श्री भगवान् बोले—विप्रेन्द्र! जो ये उत्कृष्ट कारण स्वरूप भुवनेश्वर महादेव हैं उनके लिंग की आराधना के निमित्त विभिन्न भावों की शान्ति के लिए मेरे आदेश से शीघ्र ही शिव-मन्दिर का निर्माण करो ।।६७·$\frac{१}{२}$।। इस सुकृति के प्रभाव से तुम शिव लोक में अक्षय रूप से निवास करोगे। विप्र! शिव की स्थापना से मेरी ही स्थापना होगी, हम दोनों में कोई अन्तर नहीं, नाम्ना दो रूपों में विभक्त होते हुए भी हम लोग यथार्थतः एक

---

[1] क. ०त्तम। शि०।

यो रुद्रः स स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स महेश्वरः । उभयोरन्तरं नास्ति पवनाकाशयोरिव ॥७०॥
मोहितो नाभिजानाति य एव गरुडध्वजः । वृषध्वजः स एवेति त्रिपुरघ्नं त्रिलोचनम्[1] ॥७१॥
तव नामाङ्कितं तस्मात्कुरु विप्र शिवालयम् । उत्तरे देवदेवस्य कुरु तीर्थं सुशोभनम् ॥७२॥
मार्कण्डेयह्रदो नाम नरलोकेषु विश्रुतः । भविष्यति द्विजश्रेष्ठ सर्वपापप्रणाशनः ॥७३॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा स तदा देवस्तत्रैवान्तरधीयत । मार्कण्डेयं मुनिश्रेष्ठाः सर्वव्यापी जनार्दनः ॥७४॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भ्वृषिसंवादे मार्कण्डेयस्य
श्री भगवद्दर्शनं नाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥

अथ सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पञ्चतीर्थविधिवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि पञ्चतीर्थविधिं द्विजाः । यत्फलं स्नानदानेन दवताप्रेक्षणेन च ॥१॥

ही हैं ॥६८-६९॥ जो रुद्र वही स्वयं विष्णु और जो विष्णु वही स्वयं महेश्वर (शिव) हैं। दोनों में पवन और आकाश के समान कुछ भी अन्तर नहीं है ॥७०॥ माया-मूढ व्यक्ति नहीं जानता है कि जो गरुड़ध्वज हैं वही त्रिपुर नाशक, त्रिलोचन वृषभध्वज (शिव) हैं ॥७१॥ इसलिए विप्र! देव देव शिव के मन्दिर के उत्तर भाग में अपने नाम से अंकित एक सुन्दर तीर्थ भी बनवाओ ॥७२॥ हे द्विजश्रेष्ठ! इस लोक में सब पापों को दूर करने वाला वह तीर्थ 'मार्कण्डेय ह्रद' नाम से विख्यात होगा ॥७३॥

ब्रह्मा ने कहा—ऐसी बातें कहकर हे मुनिवर! सर्वव्यापी जनार्दन भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥७४॥
श्री ब्रह्ममहापुराण में मार्कण्डेय ऋषि का श्रीभगवद्दर्शन नामक छप्पनवाँ अध्याय समाप्त ॥५६॥

अध्याय ५७

पंचतीर्थ की विधि का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—द्विजगण! अब मैं पंचतीर्थ करने की विधि, उन तीर्थों में स्नान, दान और देव दर्शन का

---

[1] ख. ग. त्रिविक्रमम् ।

मार्कण्डेयह्लदं गत्वा नरश्चोदङ्मुखः शुचिः । निमज्जेत्तत्र वारांस्त्रीनिमं मन्त्रमुदीरयेत् ।।२।।
संसारसागरे मग्नं पापग्रस्तमचेतनम् । त्राहि मां भगनेत्रघ्न[1] त्रिपुरारे नमोऽस्तु ते ।।३।।
नमः शिवाय शान्ताय सर्वपापहराय च । स्नानं करोमि देवेश मम नश्यतु पातकम् ।।४।।
नाभिमात्रे जले स्नात्वा विधिवद्देवता ऋषीन् । तिलोदकेन [2]मतिमान्पितॄँश्चान्यांश्च तर्पयेत् ।।५।।
स्नात्वा तथैव चाऽऽचम्य ततो गच्छेच्छिवालयम् । प्रविश्य देवतागारं कृत्वा तं त्रिः प्रदक्षिणम् ।।६।।
मूलमन्त्रेण संपूज्य मार्कण्डेयस्य चेश्वरम् । अघोरेण च भो विप्राः प्रणिपत्य प्रसादयेत् ।।७।।
त्रिलोचन नमस्तेऽस्तु नमस्ते शशिभूषण । त्राहि मां त्वं विरूपाक्ष महादेव नमोऽस्तु ते ।।८।।
मार्कण्डेयह्लदे त्वेवं स्नात्वा[3] दृष्ट्वा च शंकरम् । दशानामश्वमेधानां फलं प्राप्नोति मानवः ।।९।।
पापैः सर्वैर्विनिर्मुक्तः शिवलोकं स गच्छति । तत्र भुक्त्वा वरान्भोगान्यावदाभूतसंप्लवम् ।।१०।।
इहलोकं समासाद्य भवेद्विप्रो बहुश्रुतः । शांकरं योगमासाद्य ततो मोक्षमवाप्नुयात् ।।११।।
कल्पवृक्षं ततो गत्वा कृत्वा तं त्रिः प्रदक्षिणम् । पूजयेत्परया भक्त्या मन्त्रेणानेन तं वटम् ।।१२।।
ओं नमो व्यक्तरूपाय महाप्रलयकारिणे । महद्रसोपविष्टाय न्यग्रोधाय नमोऽस्तु ते ।।१३।।
अमरस्त्वं सदा कल्पे हरेश्चाऽऽयतनं वट । न्यग्रोध हर मे पापं कल्पवृक्ष नमोऽस्तु ते ।।१४।।

फल बतला रहा हूँ ।।१।। मार्कण्डेय ह्लद में उत्तराभिमुख होकर, पवित्र भाव से तीन वार डुबकी लगाकर स्नान करने के बाद निम्नांकित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए ।।२।। हे भगनेत्रघ्न, त्रिपुरारे, तुम्हें नमस्कार है। मैं भवसागर में निमज्जित पापलिप्त और ज्ञान शून्य हूँ—मेरी रक्षा करो ।।३।। पापनाशन, शान्त शिव को नमस्कार है। हे देवेश ! मैं स्नान कर रहा हूँ, मेरे सभी पापों को आप नष्ट करें ।।४।। इस प्रकार नाभि पर्यन्त जल में स्नान कर बुद्धिमान् व्यक्ति तिल युक्त जल से देवता, ऋषि, पितरों आदि का यथाविधि तर्पण करे ।।५।। फिर आचमन करने के बाद शिवालय में जाकर तीन बार प्रदक्षिणा कर मूल मंत्र से मार्कण्डेय ऋषि के सहित शिव की पूजा करे। तदनन्दर सिर झुका कर इस अधोलिखित अघोर मंत्र से भगवान् शिव की स्तुति करे—"हे त्रिलोचन! हे चन्द्रभूषण! आपको मेरा नमस्कार है, हे विरूपाक्ष! तुम मेरी रक्षा करो, महादेव! तुम्हें नमस्कार है" ।।६-८।। इस प्रकार मार्कण्डेय ह्लद में स्नान और शंकर का दर्शन करने से मनुष्य दस अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त करता है।।९।। वह सब पापों से निर्मुक्त होकर शिवलोक में जाता है और वहाँ कल्पान्त तक दिव्य भोगों का भोग करता है ।।१०।। भोग समाप्त होने पर मृत्यु लोक में बहुज्ञ, विद्वान्, ब्राह्मण के रूप में उत्पन्न होता है और शांकर योग का अभ्यास कर मोक्ष पद प्राप्त करता है ।।११।। स्नान पूजन कर चुकने के वाद कल्पवृक्ष (वट वृक्ष) के पास जाकर उसकी तीन परिक्रमा कर अनन्य भक्ति भावना से निम्नांकित मन्त्र से वट की पूजा करनी चाहिए ।।१२।। मन्त्र—'ओं महाप्रलयंकर, प्रत्यक्ष रूप वट वृक्ष को नमस्कार है, महान् रस (अमृत) पर सर्वदा स्थित (अमृत पान करने वाले) न्यग्रोध (वट) को नमस्कार है ।।१३।। वट! तुम शाश्वत हो, तुम कल्पान्त में भी अमर हो,

---

[1] ख. ०गवन्नत्र त्रिपुरान्त न० । [2] ख. ०न्पितॄन्मातॄश्च । [3] ख. ०त्वा पश्येच्च शं० ।

भक्त्या प्रदक्षिणं कृत्वा नत्वा कल्पवटं नरः । सहसा मुच्यते पापाज्जीर्णत्वच इवोरगः ॥१५॥
छायां तस्य समाक्रम्य कल्पवृक्षस्य भो द्विजाः । ब्रह्महत्यां नरो जह्यात्पापेष्वन्येषु का कथा ॥१६॥
दृष्ट्वा कृष्णाङ्गसंभूतं ब्रह्मतेजोमयं परम् । न्यग्रोधाकृतिकं विष्णुं प्रणिपत्य च भो द्विजाः ॥१७॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति चाधिकम् । तथा स्ववंशमुद्धृत्य विष्णुलोकं स गच्छति ॥१८॥
वैनतेयं नमस्कृत्य कृष्णस्य पुरतः स्थितम् । सर्वपापविनिर्मुक्तस्ततो विष्णुपुरं व्रजेत् ॥१९॥
दृष्ट्वा वटं वैनतेयं यः पश्येत्पुरुषोत्तमम् । संकर्षणं सुभद्रां च स याति परमां गतिम् ॥२०॥
प्रविश्याऽऽयतनं विष्णोः कृत्वा[1] तं त्रिः प्रदक्षिणम् । संकर्षणं स्वमन्त्रेण भक्त्याऽऽपूज्य प्रसादयेत् ॥२१॥
नमस्ते हलधृग्राम[2] नमस्ते मुशलायुध । नमस्ते रेवतीकान्त नमस्ते भक्तवत्सल ॥२२॥
नमस्ते बलिनां श्रेष्ठ नमस्ते धरणीधर । प्रलम्बारे नमस्तेऽस्तु त्राहि मां कृष्णपूर्वज ॥२३॥
एवं प्रसाद्य चानन्तमजेयं त्रिदशार्चितम् । कैलासशिखराकारं चन्द्रात्कान्ततराननम् ॥२४॥
नीलवस्त्रधरं देवं[3] फणाविकटमस्तकम् । महाबलं हलधरं कुण्डलैकविभूषितम् ॥२५॥
रौहिणेयं नरो भक्त्या[4] लभेदभिमतं फलम् । सर्वपापैर्विनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥२६॥

तुम विष्णु के निवास-स्थान हो, न्यग्रोध! मेरे पापों को दूर करो, कल्प-वृक्ष! तुम्हें नमस्कार है ॥१४॥ भक्तिपूर्वक कल्पवृक्ष की प्रदक्षिणा कर नमस्कार करने से मनुष्य सब पापों से एकाएक उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार सर्प अपने पुराने चर्म (केंचुली से) ॥१५॥ द्विजगण! उस कल्पवृक्ष की छाया में बैठने से मनुष्य ब्रह्महत्या से भी मुक्त हो जाता है तो फिर अन्य पापों से मुक्त होने के विषय में कहना ही क्या है? ॥१६॥ ब्राह्मणगण! कृष्णांग से उत्पन्न, ब्रह्मतेज से व्याप्त, पर, न्यग्रोध की आकृति वाले विष्णु को प्रणाम कर मनुष्य राजसूय और अश्वमेध से भी अधिक फल प्राप्त करता है और अपने वंश का उद्धार कर स्वयं विष्णुलोक को प्राप्त करता है ॥१७-१८॥ कृष्ण के अग्रभाग में स्थित गरुड़ को नमस्कार करने से मनुष्य सब पापों से विनिर्मुक्त हो विष्णुपुर को जाता है ॥१९॥ जो मनुष्य वट एवं विनतापुत्र गरुड़ का दर्शन कर पुरुषोत्तम, संकर्षण (बलभद्र) और सुभद्रा का दर्शन करता है, वह परमगति (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥२०॥ विष्णु के मन्दिर में प्रवेश कर तीन बार परिक्रमा करने के बाद भगवान् संकर्षण की पूजा निम्नांकित मन्त्र से भक्तिपूर्वक करके उन्हें प्रसन्न करना चाहिए ॥२१॥ मन्त्र—हे हलधर राम! तुम्हें मेरा नमस्कार है। मुशलायुध, रेवतीकान्त! हे भक्तवत्सल, तुम्हें नमस्कार है ॥२३॥ बलशालियों में अग्रगण्य! धरणीधर! आपको नमस्कार है। हे प्रलम्ब-सूदन, कृष्णाग्रज! आपको नमस्कार है, मेरी रक्षा करें ॥२३॥ इस प्रकार अनन्त, सर्वविजयी, देवों से पूजित, कैलाश-शिखर के समान शुभ्र आकार वाले, चन्द्रमा से भी अधिक रम्य मुखवाले, नीलवस्त्रधारी, शेषफण से सुशोभित विकट मस्तक वाले, एक कुण्डल से अलंकृत, महाबली, रोहिणीपुत्र हलधर को अनन्य भक्ति से प्रसन्न कर अपने मन चाहे फल को प्राप्त करता है। वह सब पापों से मुक्त होकर शीघ्र ही विष्णुलोक को प्राप्त करता है ॥२४-२६॥

---

[1] ख. ०त्वा तत्र प्र० । [2] ग. हलहस्ताय । [3] क. ०वं घटावि० । [4] क. नत्वा ।

आभूतसंप्लवं यावद्भुक्त्वा तत्र सुखं नरं[१] । पुण्यक्षयादिहाऽऽगत्य प्रवरे योगिनां कुले ॥२७॥
ब्राह्मणप्रवरो भूत्वा सर्वशास्त्रार्थपारगः । ज्ञानं तत्र समासाद्य मुक्तिं प्राप्नोति दुर्लभाम्[२] ॥२८॥
एवमभ्यर्च्य हलिनं ततः कृष्णं विचक्षणः । द्वादशाक्षरमन्त्रेण पूजयेत्सुसमाहितः[३] ॥२९॥
द्विषट्कवर्णमन्त्रेण भक्त्या ये पुरुषोत्तमम् । पूजयन्ति सदा धीरास्ते मोक्षं प्राप्नुवन्ति वै ॥३०॥
न तां गतिं सुरा यान्ति योगिनो नैव सोमपाः[४] । यां गतिं यान्ति भो विप्रा द्वादशाक्षरतत्पराः[५] ॥३१॥
तस्मात्तेनैव मन्त्रेण भक्त्या कृष्णं जगद्गुरुम् । संपूज्य गन्धपुष्पाद्यैः प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥३२॥
जय कृष्ण जगन्नाथ जय सर्वाघनाशन[६] । जय चाणूरकेशिघ्न जय कंसनिषूदन[७] ॥३३॥
जय पद्मपलाशाक्ष जय चक्रगदाधर । जय नीलाम्बुदश्याम जय सर्वसुखप्रद[८] ॥३४॥
जय देव जगत्पूज्य जय संसारनाशन । जय लोकपते नाथ जय वाञ्छाफलप्रद ॥३५॥
संसारसागरे घोरे[९] निःसारे दुःखफेनिले । क्रोधग्राहाकुले रौद्रे विषयोदकसंप्लवे ॥३६॥
[१०]नानारोगोर्मिकलिले मोहावर्तसुदुस्तरे । निमग्नोऽहं सुरश्रेष्ठ त्राहि मां पुरुषोत्तम ॥३७॥
एवं प्रसाद्य देवेशं वरदं भक्तवत्सलम् । सर्वपापहरं देवं सर्वकामफलप्रदम्[११] ॥३८॥

वहाँ प्रलय काल तक नाना दिव्य सुखों का भोग कर पुनः पुण्यक्षय होने पर इस मृत्युलोक में आकर श्रेष्ठ योगी के वंश में उत्पन्न होता है ॥२७॥ इस प्रकार श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर, सम्पूर्ण शास्त्रों का पारंगत विद्वान् हो जाता है और शास्त्राभ्यास के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर दुर्लभ मुक्ति का अधिकारी हो जाता है ॥२८॥ हलधर की पूजा के बाद एकाग्रमन होकर द्वादशाक्षर मन्त्र से कृष्ण की विधिवत् पूजा करनी चाहिए ॥२९॥ जो धीरमति सर्वदा द्वादशाक्षर मन्त्र से भक्तिपूर्वक भगवान् पुरुषोत्तम की पूजा करते हैं, वे निश्चय ही मोक्ष लाभ प्राप्त करते हैं ॥३०॥ विप्रगण! द्वादशाक्षर मन्त्र के जप में सर्वदा लीन रहने वाले जिस गति को प्राप्त करते हैं; उस गति को देवता, योगी तथा सोम-रस का पान करने वाले भी नहीं प्राप्त करते ॥३१॥ इसलिए उसी मन्त्र से भक्तिपूर्वक जगद्गुरु कृष्ण का गन्ध, पुष्पादि द्वारा विधिवत् पूजन कर स्तुति से प्रसन्न करे ॥३२॥ स्तुति—हे जगन्नाथ कृष्ण! तुम्हारी जय हो। हे सम्पूर्ण पापों के नाश करने वाले! चाणूर, केशी के मारने वाले, कंस-प्राण-हर! आपकी जय हो, जय हो ॥३३॥ कमल-दल के समान आयत नेत्र वाले! जय हो; चक्र, गदा धारण करने वाले! नीलमेघ के समान श्याम वर्ण वाले! सब को सुख देने वाले! (तुम्हारी) जय हो ॥३४॥ जगत्पूज्य! संसार का संहार करने वाले देव! जय हो। अखिल लोक के स्वामी! अभिवांछित फल के देने वाले नाथ! तुम्हारी जय हो ॥३५॥ इस महाघोर, निःसार, दुःखरूपी फेन से परिपूर्ण, क्रोध-रूपी ग्राह से व्याप्त, भयंकर, विषयवासना-रूपी जल से भरे हुए, अनेक रोग रूपी तरंगों से क्षुब्ध, मोह के जलावर्त (भँवर) से पार करने में अति कठिन संसार-रूपी सागर में मग्न, हे सुरश्रेष्ठ पुरुषोत्तम! मेरी रक्षा करो ॥३६-३७॥ इस प्रकार स्तुति से वरदाता, भक्तवत्सल, सभी पापों को

---

१ ग. बुधः। २ क. निश्चितम्। ३ क. ०तः। त्रिष०। ४ ख. सामगाः। ५ क. ०रचिन्तकाः। त०। ६ ख. सर्वविना०। ७ क. कंसप्रमर्दन। ८ ख. ०द देवदे०। ९ क. ०रे दुःखसंतापफे०। १० ग. ० नावेगो०। ११ ख. ०म्। योगिध्येयपदं विष्णुं पं०।

पीनांसं द्विभुजं कृष्णं पद्मपत्रायतेक्षणम् । महोरस्कं महाबाहुं पीतवस्त्रं शुभाननम् ॥३९॥
शङ्खचक्रगदापाणिं मुकुटाङ्गदभूषणम् । सर्वलक्षणसंयुक्तं वनमालाविभूषितम् ॥४०॥
दृष्ट्वा नरोऽञ्जलिं कृत्वा दण्डवत्प्रणिपत्य च । अश्वमेधसहस्राणां फलं प्राप्नोति वै द्विजाः ॥४१॥
यत्फलं सर्वतीर्थेषु स्नाने दाने प्रकीर्तितम् । नरस्तत्फलमाप्नोति दृष्ट्वा कृष्णं प्रणम्य च ॥४२॥
यत्फलं सर्वरत्नाद्यैरिष्टे बहुसुवर्णके । नरस्तत्फलमाप्नोति दृष्ट्वा कृष्णं प्रणम्य च ॥४३॥
यत्फलं सर्ववेदेषु सर्वयज्ञेषु यत्फलम् । तत्फलं समवाप्नोति नरः कृष्णं प्रणम्य च ॥४४॥
यत्फलं सर्वदानेन व्रतेन नियमेन च । नरस्तत्फलमाप्नोति दृष्ट्वा कृष्णं प्रणम्य च ॥४५॥
तपोभिर्विविधैरुग्रैर्यत्फलं समुदाहृतम् । नरस्तत्फलमाप्नोति दृष्ट्वा कृष्णं प्रणम्य च ॥४६॥
यत्फलं ब्रह्मचर्येण सम्यक्चीर्णेन तत्कृतम् । नरस्तत्फलमाप्नोति दृष्ट्वा कृष्णं प्रणम्य च ॥४७॥
यत्फलं च गृहस्थस्य यथोक्ताचारवर्तिनः । नरस्तत्फलमाप्नोति दृष्ट्वा कृष्णं प्रणम्य च ॥४८॥
यत्फलं वनवासेन वानप्रस्थस्य कीर्तितम् । नरस्तत्फलमाप्नोति दृष्ट्वा कृष्णं प्रणम्य च ॥४९॥
संन्यासेन यथोक्तेन यत्फलं समुदाहृतम् । नरस्तत्फलमाप्नोति दृष्ट्वा कृष्णं प्रणम्य च ॥५०॥
किं चात्र बहुनोक्तेन माहात्म्ये तस्य भो द्विजाः । दृष्ट्वा कृष्णं नरो भक्त्या मोक्षं प्राप्नोति दुर्लभम् ॥५१॥

हरने वाले, सम्पूर्ण मनोरथों को देने वाले, पृथुल स्कन्ध वाले, दो भुजा वाले, पद्म-पत्र के समान मनोहर नेत्र वाले, विशाल वक्ष, महाबाहु, पीत वस्त्रधारी, शुभानन, शंख, चक्र, गदा, पद्म से युक्त, मुकुट और केयूर से अलंकृत, सर्वलक्षण-सम्पन्न, वनमाला से सुशोभित देवेश कृष्ण को प्रसन्न कर और उनका दर्शन कर मनुष्य करबद्ध साष्टांग दण्डवत् करे, तो द्विजगण! वह मनुष्य निश्चय ही सहस्र अश्वमेध का फल प्राप्त करता है ॥३८-४१॥ सब तीर्थों में स्नान करने से, दान देने से जो फल कहे गये हैं, उन सव को मनुष्य कृष्ण का दर्शन और प्रणाम करने से प्राप्त करता है ॥४२॥ जो फल सब प्रकार के रत्नों एवं प्रचुर सुवर्ण से यज्ञ करने पर प्राप्त होते हैं, मनुष्य उन सब फलों को कृष्ण के दर्शन और प्रणाम से प्राप्त कर लेता है ॥४३॥ सकल वेदों (के ज्ञान) तथा समस्त यज्ञों (के अनुष्ठान) से जो फल प्राप्त होता है, उस फल को मनुष्य कृष्ण को प्रणाम करके प्राप्त कर लेता है ॥४४॥ जो फल सव प्रकार के दान, व्रत एवं संयम से प्राप्त होता है, उस फल को मनुष्य कृष्ण के दर्शन और प्रणाम से प्राप्त कर लेता है ॥४५॥ विविध, कठिन तपस्या से जो फल कहे गये हैं, वे सभी कृष्ण के दर्शन और प्रणाम करने से मनुष्य को प्राप्त होते हैं ॥४६॥ भलीभाँति ब्रह्मचर्य-व्रत-पालन और शास्त्रोक्त विधि से संन्यास ग्रहण करने से जो फल मिलते हैं, वे सभी फल कृष्ण के दर्शन और प्रणाम से मिलते हैं ॥४७॥ शास्त्रानुसार आचार-पालन करने वाले गृहस्थ को जो फल प्राप्त होते हैं, वे सव फल कृष्ण के दर्शन और उन्हें प्रणाम करने से प्राप्त हो जाते हैं ॥४८॥ वन में निवास कर वानप्रस्थाश्रम के पालन से जो फल कहा गया है, वह फल मनुष्य को कृष्ण के दर्शन और प्रणाम से प्राप्त होता है ॥४९॥ शास्त्रोक्त विधि से संन्यास-पालन से जिन फलों की प्राप्ति का वर्णन किया गया है वे फल मनुष्य को कृष्ण के दर्शन और प्रणाम से अनायास प्राप्त हो जाते हैं ॥५०॥ अथवा द्विजगण! कृष्ण-दर्शन-माहात्म्य के विषय में अधिक कहने से क्या लाभ, कृष्ण के दर्शन से मनुष्य दुर्लभ मोक्ष को भी प्राप्त कर

पापैर्विमुक्तः शुद्धात्मा कल्पकोटिसमुद्भवैः । श्रिया परमया युक्तः सर्वैः समुदितो[1] गुणैः ॥५२॥
सर्वकामे समृद्धेन विमानेन सुवर्चसा । त्रिसप्तकुलमुद्धृत्य नरो विष्णुपुरं व्रजेत् ॥५३॥
तत्र कल्पशतं यावद्भुक्त्वा भोगान्मनोरमान् । गन्धर्वाप्सरसैः सार्धं यथा विष्णुश्चतुर्भुजः ॥५४॥
च्युतस्तस्मादिहाऽऽयातो विप्राणां प्रवरे कुले । [2]सर्वज्ञः [3]सर्ववेदी च जायते गतमत्सरः ॥५५॥
स्वधर्मनिरतः शान्तो[4]दाता भूतहिते रतः । आसाद्य वैष्णवं ज्ञानं ततो मुक्तिमवाप्नुयात् ॥५६॥
[5]ततः संपूज्य मन्त्रेण सुभद्रां भक्तवत्सलाम्[6] । प्रसादयेत्ततो विप्राः प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥५७॥
नमस्ते सर्वगे देवि नमस्ते शुभसौख्यदे । त्राहि मां पद्मपत्राक्षि कात्यायनि नमोऽस्तु ते ॥५८॥
एवं प्रसाद्य तां देवीं जगद्धात्रीं जगद्धिताम् । बलदेवस्य भगिनीं सुभद्रां वरदां शिवाम् ॥५९॥
कामगेन विमानेन नरो विष्णुपुरं व्रजेत् । आभूतसंप्लवं यावत्क्रीडित्वा तत्र देववत् ॥६०॥
इह मानुषतां प्राप्तो ब्राह्मणो वेदविद्भवेत् । प्राप्य योगं हरेस्तत्र मोक्षं च लभते ध्रुवम् ॥६१॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे कृष्णदर्शनमाहात्म्यं
नाम सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५७॥

लेता है ॥५१॥ कृष्ण-दर्शन के प्रभाव से मनुष्य करोड़ों कल्पों के संचित पापों से मुक्त होकर निर्मल हृदय हो जाता है, वह सर्वगुण-सम्पन्न बन जाता है और परम-श्री से युक्त हो जाता है ॥५२॥ अपने पुण्य प्रभाव से वह इक्कीस कुल परम्परा का उद्धार कर सब इच्छित पदार्थ से पूर्ण, तेजोमय विमान पर आरूढ़ होकर विष्णु-लोक प्राप्त करता है ॥५३॥ वहाँ सौ कल्प तक चतुर्भुज भगवान् विष्णु के समान गन्धर्व और अप्सराओं के साथ मनोहर भोगों का भोग करता है ॥५४॥ पुनः वहाँ से पुण्यक्षय होने पर च्युत होकर इस लोक में श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में जन्म ग्रहण करता है। यहाँ आकर वह सब शास्त्रों का ज्ञाता, अनुभवी, ईर्ष्यारहित, अपने धर्म में निरत, शान्त, दानी और सभी प्राणियों के हित में लगा रहता है। तदनन्तर भागवत ज्ञान को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करता है ॥५५-५६॥ कृष्ण की इस प्रकार पूजा करने के बाद मनुष्य भक्तों पर पुत्रवत् प्रेम करने वाली सुभद्रा जी की मन्त्र द्वारा पूजा कर, हाथ जोड़ कर प्रणाम करे और इस स्तुति से उन्हें प्रसन्न करे ॥५७॥ स्तुति :—हे सर्वव्यापिनी, शुभसौख्य प्रदान करने वाली देवि! तुम्हें नमस्कार है, पद्मपत्राक्षि! मेरी रक्षा करो। कात्यायनि! आपको प्रणाम है ॥५८॥ इस प्रकार जगत् का पालन करने वाली, संसार का कल्याण करने वाली, वरदायिनी, मंगलदायिनी, बलदेव की भगिनी सुभद्रा को स्तुति और श्रद्धापूर्वक पूजन से प्रसन्न कर मनुष्य इच्छा-परिचालित विमान पर आरूढ़ होकर विष्णुलोक को जाता है। वहाँ वह देवताओं के समान कल्प पर्यन्त विहार कर पुनः मृत्युलोक में आने पर मनुष्य योनि में वेदज्ञ ब्राह्मण होता है और भागवत ज्ञान की प्राप्ति कर निश्चय ही मोक्ष लाभ करता है ॥५९-६१॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में 'कृष्ण-दर्शन-माहात्म्य' नामक सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त ॥५७॥

---

[1] ग. प्रमुदितो । [2] क. धर्मज्ञः । [3] क. ख. सत्यवादी । [4] ख. दान्तो । [5] ख. ग. ०तः पूज्य स्वम० । [6] क. भद्रकारिणीम् ।

अथाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नरसिंहमाहात्म्यवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

एवं दृष्ट्वा बलं कृष्णं सुभद्रां प्रणिपत्य च। धर्मं चार्थं च कामं च मोक्षं च लभते ध्रुवम् ॥१॥
निष्क्रम्य देवतागारात्कृतकृत्यो भवेन्नरः। प्रणम्याऽऽयतनं पश्चाद्व्रजेत्तत्र समाहितः ॥२॥
इन्द्रनीलमयो[1] विष्णुर्यत्राऽऽस्ते वालुकावृतः। अन्तर्धानगतं नत्वा ततो[2] विष्णुपुरं व्रजेत् ॥३॥
सर्वदेवमयो योऽसौ हतवानसुरोत्तमम्। स आस्ते तत्र भो विप्राः सिंहार्धकृतविग्रहः ॥४॥
भक्त्या दृष्ट्वा तु तं देवं प्रणम्य नरकेसरीम्[3]। मुच्यते पातकैर्मर्त्यः समस्तैर्नात्र संशयः ॥५॥
नरसिंहस्य ये भक्ता भवन्ति भुवि मानवाः। न तेषां दुष्कृतं किंचित्फलं स्याद्यद्यदीप्सितम् ॥६॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन नरसिंहं समाश्रयेत्। धर्मार्थकाममोक्षाणां फलं यस्मात्प्रयच्छति ॥७॥

मुनय ऊचुः

माहात्म्यं नरसिंहस्य सुखदं[4] भुवि दुर्लभम्। यथा कथयसे देव तेन नो विस्मयो महान् ॥८॥

अध्याय ५८

नरसिंह का माहात्म्य-वर्णन

ब्रह्मा बोले—उपर्युक्त विधि से बलराम, कृष्ण तथा सुभद्रा का दर्शन और प्रणाम करने से मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करता है, यह ध्रुव है ॥१॥ उस देवालय से निकलने पर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार देव-मन्दिर से निकल कर, उसको प्रणाम कर तत्पश्चात् उस स्थान पर अनन्य भाव से जाय; जहाँ इन्द्रनीलमय विष्णु बालू की ढेरी में ढके हुए हैं। वहाँ इस प्रकार बालुकामय भूमि में छिपे हुए भगवान् को प्रणाम करने से मनुष्य विष्णुलोक को प्राप्त करता है ॥२-३॥ विप्रगण! जिन सर्वदेवमय (सम्पूर्ण देवों के तेज से सम्पन्न) ने असुरोत्तम हिरण्य कश्यप को मारा, वे वहीं पर हैं; जिनका आधा शरीर सिंह का है अर्थात् नृसिंह कहे जाते हैं, उन नृसिंह भगवान् को देख कर जो मर्त्य (मानव) भक्तिपूर्वक प्रणाम करता है; वह समस्त पापों से छूट जाता है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं ॥४-५॥ इस भूलोक में जो नृसिंहदेव के भक्त होते हैं; उनके सभी पाप मिट जाते हैं और वे मनचाहे फल को प्राप्त करते हैं ॥६॥ इसलिए मनुष्य प्रत्येक प्रकार से भगवान् का आश्रय प्राप्त करे; जिससे उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो ॥७॥

मुनियों ने कहा—देव! इस लोक में दुर्लभ और सुखद नरसिंह देव के माहात्म्य का जिस रूप में आपने

---

[1] ख. ०लसमो वि०। [2] ख. नरो। [3] ख. नरकेशवम्। [4] क. अनन्तं। ग. अत्यन्तं।

प्रभावं तस्य देवस्य विस्तरेण जगत्पते[1] । श्रोतुमिच्छामहे ब्रूहि परं कौतूहलं हि नः ।।९।।
यथा प्रसीदेद्देवोऽसि नरसिंहो महाबलः । भक्तानामुपकाराय ब्रूहि देव नमोऽस्तु ते ।।१०।।
प्रसादान्नरसिंहस्य या भवन्त्यत्र सिद्धयः । ब्रूहि ताः कुरु चास्माकं प्रसादं प्रपितामह ।।११।।

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं तस्य भो विप्राः प्रभावं गदतो मम । अजितस्याप्रमेयस्य भुक्तिमुक्तिप्रदस्य च ।।१२।।
कः शक्नोति गुणान्वक्तुं समस्तांस्तस्य भो द्विजाः । सिंहार्धकृतदेहस्य प्रवक्ष्यामि समासतः ।।१३।।
याः काश्चित्सिद्धयश्चात्र श्रूयन्ते दैवमानुषाः । प्रसादात्तस्य ताः सर्वाः सिध्यन्ति नात्र संशयः ।।१४।।
स्वर्गे मर्त्ये च पाताले दिक्षु तोये[2] पुरे नगे । प्रसादात्तस्य देवस्य भवत्यव्याहता गतिः ।।१५।।
असाध्यं तस्य देवस्य नास्त्यत्र सचराचरे । नरसिंहस्य भो विप्राः सदा भक्तानुकम्पिनः ।।१६।।
विधानं तस्य वक्ष्यामि भक्तानामुपकारकम् । येन प्रसीदेच्चैवासौ सिंहार्धकृतविग्रहः ।।१७।।
शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः कल्पराजं सनातनम् । नरसिंहस्य[3] तत्त्वं च यन्न ज्ञातं सुरासुरैः ।।१८।।
शाकयावकमूलैस्तु फलपिण्याकसक्तुकैः । पयोभक्षेण विप्रेन्द्रा वर्तयेत्साधकोत्तमः[4] ।।१९।।
कोशकौपीनवासाश्च ध्यानयुक्तो जितेन्द्रियः । अरण्ये विजने देशे पर्वते सिन्धुसंगमे ।।२०।।

वर्णन किया है, इससे हम लोगों को महान् विस्मय हो रहा है ।।८।। जगत्पते! उस देवता के प्रभाव को विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं, कहिये, हम लोगों को अत्यन्त उत्सुकता हो रही है ।।९।। देव! जिस प्रकार महाबली नरसिंह भगवान् प्रसन्न होते हैं; उसको भक्तों के उपकार के लिए कहिये, आपको हमारा नमस्कार है ।।१०।। नरसिंह की कृपा से जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनको कहिये। प्रपितामह! हम लोगों पर अनुग्रह कीजिये।।११।।

ब्रह्मा बोले—विप्रगण! उस अजित, अप्रमेय (जिसका यथार्थ ज्ञान न हो) भुक्ति और मुक्ति के देने वाले नृसिंह देव के प्रभाव को मैं कह रहा हूँ, तुम लोग ध्यानपूर्वक सुनो ।।१२।। द्विजगण! उस देवता के—जिसका आधा शरीर सिंह का है—समस्त गुणों का वर्णन कौन कर सकता है, इसलिए संक्षेप में ही कह रहा हूँ ।।१३।। इस संसार में जो कुछ सिद्धियाँ देवों या मनुष्यों में सुनी जाती हैं, वे सभी सिद्धियाँ उस देव की कृपा से प्राप्त होती हैं; इसमें सन्देह नहीं ।।१४।। उस देव की कृपा से स्वर्ग, मर्त्य, पाताल लोक तथा दिशाओं में, जल, पुर और पहाड़ों में सर्वत्र मनुष्य की अव्याहत गति हो जाती है ।।१५।। विप्रगण! सर्वदा भक्तजनों पर कृपा करने वाले, नरसिंह देव के लिए इस सचराचर जगत् में कुछ भी असाध्य अथवा अदेय नहीं है ।।१६।। मैं भक्तजनों के लिए उपकारक उन नियमों को कह रहा हूँ, जिनसे आधा सिंह का शरीण धारण करने वाले नृसिंह भगवान् प्रसन्न होते हैं ।।१७।। मुनिवर! नरसिंह देव के उस सनातन, कल्पराज (कल्पान्त में भी विद्यमान रहने वाले अमृत) तत्त्व को सुनो, जो अब तक देव और असुरों से अज्ञात रहा है ।।१८।। विप्रेन्द्रवृन्द! पहले उत्तम साधक, शाक, यावक (अलक्त, अन्न-विशेष), कन्द-मूल, फल, पिण्याक (तिल से बना कोई भोज्य), सत्तू अथवा केवल दुग्धाहार पर निर्वाह करे,

---

[1] ख. जगत्पतेः ।
[2] क. तोयान्तरे न० ।
[3] क. ०स्य सत्त्वस्य य० ।
[4] ख. ०मः । शुद्धः कौ० ।

ऊषरे सिद्धक्षेत्रे च नरसिंहाश्रमे तथा । प्रतिष्ठाप्य स्वयं[1] वाऽपि पूजां कृत्वा विधानतः ।।२१।।
द्वादश्यां शुक्लपक्षस्य उपोष्य मुनिपुंगवाः । जपेल्लक्षाणि वै विंशन्मनसा संयतेन्द्रियः ।।२२।।
उपपातकयुक्तश्च महापातकसंयुतः । मुक्तो भवेत्ततो विप्राः साधको नात्र संशयः ।।२३।।
कृत्वा प्रदक्षिणं तत्र[2] नरसिंहं प्रपूजयेत् । [3]पुण्यगन्धादिभिर्धूपैः प्रणम्य शिरसा प्रभुम्[4] ।।२४।।
कर्पूरचन्दनाक्तानि जातीपुष्पाणि मस्तके । प्रदद्यान्नरसिंहस्य ततः सिद्धिः प्रजायते ।।२५।।
भगवान्सर्वकार्येषु न क्वचित्प्रतिहन्यते । तेजः सोढुं न शक्ताः स्युर्ब्रह्मरुद्रादयः सुराः ।।२६।।
किं पुनर्दानवा लोके सिद्धगन्धर्वमानुषाः । विद्याधरा यक्षगणाः सकिन्नरमहोरगाः ।।२७।।
मन्त्रं यानासुरान्हन्तुं जपन्त्येकेऽन्यसाधकाः । ते सर्वे प्रलयं यान्ति दृष्ट्वाऽऽदित्याग्निवर्चसः ।।२८।।
सकृज्जप्तं तु कवचं रक्षेत्सर्वमुपद्रवम् । द्विर्जप्तं कवचं दिव्यं रक्षते देवदानवात् ।।२९।।
गन्धर्वाः किन्नरा यक्षा विद्याधरमहोरगाः । भूताः पिशाचा रक्षांसि ये चान्ये परिपन्थिनः ।।३०।।
त्रिर्जप्तं कवचं दिव्यमभेद्यं च सुरासुरैः । द्वादशाभ्यन्तरे चैव योजनानां द्विजोत्तमाः ।।३१।।
रक्षते भगवान्देवो नरसिंहो महाबलः । ततो गत्वा बिलद्वारमुपोष्य रजनीत्रयम् ।।३२।।

कोश अथवा कौपीन वस्त्र धारण करे, सर्वदा ध्यानपरायण और जितेन्द्रिय रहे, फिर किसी वन, निर्जन प्रदेश, पर्वत, नदियों का संगम स्थान, ऊसर, सिद्ध क्षेत्र अथवा नृसिंह के मन्दिर में ही स्वयं नरसिंह भगवान् की मूर्ति स्थापित कर विधिपूर्वक पूजा करे।।१९-२१।। मुनिपुंगव! वह साधक शुक्ल पक्ष की द्वादशी को निराहार व्रत रहे, इस प्रकार संयमपूर्वक वह बीस लक्ष मन्त्र का मानस जप करे।।२२।। इस प्रकार साधक चाहे उप-पातक से युक्त अथवा महापातक से युक्त क्यों न हो, मुक्त हो जाता है; इसमें सन्देह नहीं।।२३।। जप के अनन्तर प्रदक्षिणा कर पुष्प, गन्ध, धूपादि से नरसिंह की पूजा करे।।२४।। पुनः सिर झुकाकर प्रभु को प्रणाम कर कर्पूर-चन्दन से रंगे जाती पुष्प (जूही) को नरसिंह देव के मस्तक पर चढ़ाये। इस प्रकार नियमपूर्वक पूजन तथा जप से सिद्धि प्राप्त होती है।।२५।। इस प्रकार का साधक सब कार्यों को करने में समर्थ हो जाता है, उसकी गति कहीं भी रोकी नहीं जा सकती, उसके तेज को ब्रह्मा, रुद्र आदि देवता सहने में असमर्थ हो जाते हैं तो उसके सामने इस लोक के दानव, सिद्ध, गन्धर्व, मनुष्य, विद्याधर और किन्नर, महानागों सहित यक्षों की क्या गणना।।२६-२७।। अन्य विशिष्ट साधक जिन असुरों को मारने के अभिप्राय से मन्त्र का जप करते हैं, वे सभी असुर आदित्याग्नि के समान तेजस्वी उस साधक को देख कर ही नष्ट हो जाते हैं।।२८।। एक बार नरसिंह-कवच का जप करने से सभी प्रकार के उपद्रवों से रक्षा होती है। दो बार जपा हुआ वह दिव्य कवच देव-दानवों से रक्षा करता है, सुर एवं असुरों से अभेद्य यह दिव्य कवच जब तीन बार जपा जाता है; तब गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, विद्याधर, नाग, भूत, पिशाच, राक्षस तथा अन्य दूसरे विघ्न करने वालों से, हे द्विजोत्तमवृन्द! महाबली भगवान् नरसिंह देव बारह योजन तक रक्षा करते हैं।।२९-३१।। तदनन्तर बिल-द्वार के पास जाकर तीन रात्रि तक निराहार रह कर पलाश की लकड़ी से भगवान् अग्निदेव को प्रज्वलित कर मधु में डुबोयी दो सौ पलाश की समिधा का वषट्कार मंत्र से वह साधक उस

---

१ ख. ग. ०यं चापि । २ ग. तस्य । ३ क. ख. पुष्पग० । ४ क. पवभुम् ।

पलाशकाष्ठैः प्रज्वाल्य भगवन्तं हुताशनम् । [1]पलाशसमिधस्तत्र जुहुयात्त्रिमधुप्लुता[2] ॥३३॥
[3]द्वे शते द्विजशार्दूला[4] वषट्कारेण साधकः । ततो विवरद्वारं तु प्रकटं जायते क्षणात् ॥३४॥
ततो विशेत्तु निःशङ्कः[5] कवची विवरं बुधः । गच्छतः संकटं तस्य तमोमोहश्च नश्यति ॥३५॥
राजमार्गः सुविस्तीर्णो दृश्यते भ्रमराजि (ञ्चि) तः[6] । नरसिंहं स्मरंस्तत्र पातालं विशते द्विजाः ॥३६॥
गत्वा तत्र जपेत्तत्त्वं नरसिंहाख्यमव्ययम् । ततः स्त्रीणां सहस्राणि वीणावादनकर्मणाम् ॥३७॥
निर्गच्छन्ति पुरो विप्राः स्वागतं ता वदन्ति च । प्रवेशयन्ति ता हस्ते गृहीत्वा [7]साधकेश्वरम् ॥३८॥
ततो रसायनं दिव्यं पाययन्ति द्विजोत्तमाः । पीतमात्रे दिव्यदेहो जायते सुमहाबलः ॥३९॥
[8]क्रीडते सह कन्याभिर्यावदाभूतसंप्लवम् । [9]भिन्नदेहो वासुदेवे लीयते नात्र संशयः ॥४०॥
यदा न रोचते वासस्तस्मान्निर्गच्छते पुनः । पट्टं शूलं च खड्गं च रोचनां च मणिं तथा ॥४१॥
रसं रसायनं चैव पादुकाञ्जनमेव च । कृष्णाजिनं मुनिश्रेष्ठा[10] गुटिकां[11] च मनोहराम्[12] ॥४२॥
कमण्डलुं चाक्षसूत्रं यष्टिं[13] सञ्जीवनीं तथा । सिद्धविद्यां च शास्त्राणि गृहीत्वा साधकेश्वरः ॥ ४३॥
ज्वलद्वह्निस्फुलिङ्गोर्मिवेष्टितं त्रिशिखं हृदि । सकृन्न्यस्तं दहेत्सर्वं वृजिनं जन्मकोटिजम्[14] ॥४४॥

प्रज्वलित अग्नि में हवन करे ॥३२-३३॥ विप्रवर! इतनी साधना करने के बाद उस विवर का द्वार उसी क्षण प्रत्यक्ष हो जायगा ॥३४॥ इसके अनन्तर वह कवचधारी मनीषी निःशंक भाव से उस बिल में प्रवेश करे, उस विवर में प्रवेश करने वाले साधक की सारी विपत्तियाँ और अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाते हैं ॥३५॥ प्रवेश करने पर वहाँ भ्रमरावलियों से सुशोभित विस्तीर्ण राजपथ दिखायी देगा। द्विजगण! वह साधक भगवान् नरसिंह का स्मरण करते हुए पाताल में प्रवेश करे ॥३६॥ वहाँ जाकर अव्यय नरसिंह नामक मन्त्र-तत्त्व का जप करे। जप के प्रभाव से वीणावादन करती हुई सहस्रों स्त्रियाँ उसके आगे उपस्थित हो जाती हैं और उस साधक-शिरोमणि का हाथ पकड़कर विवर में ले जाती हैं ॥३७-३८॥ वहाँ ले जाकर उसको दिव्य रसायन पिलाती हैं, पीते ही वह साधक दिव्य शरीरधारी और बलशाली हो जाता है। वह भाग्यशाली कल्पान्त पर्यन्त उन कन्याओं के साथ क्रीड़ा करता है तथा शरीर त्याग करने के बाद वासुदेव में लीन हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥३९-४०॥ मुनिप्रवर! यदि उस साधक को वहाँ का निवास प्रिय नहीं जान पड़े, तब भी वह साधक शिरोमणि पट्ट, शूल, खड्ग, रोचना (वंशलोचन या गोरोचन) मणि तथा रस (शोधित द्रव्य), रसायन, पादुका, अंजन, कृष्णमृगचर्म, मनोहर गुटिका, कमण्डलु, अक्षसूत्र (रुद्राक्ष), संजीवनी यष्टि (एक लकड़ी जो मरते को जिलाती है), सिद्ध विद्या और शास्त्रों को प्राप्त कर उस पाताल देश से निकलता है ॥४१-४३॥ उस कवच का प्रभाव ऐसा है कि यदि जलते अग्नि की लपटों से वेष्टित कर उसको हृदय पर एक बार रखा जाय तो करोड़ों जन्म के पापों को जला देता है। विष

---

[1] ख. ०मिधा तत्र। ग. ०मिधं तत्र। [2] क. ०त्रिर्मधु०। [3] ख. ग. द्वै युते। [5] क. ०ला एकोनपञ्चाशत्तथा। त०। [5] ख. निःशंकः। [6] ख. भगवद्द्विजाः। [7] क. ०धकोत्तमम्। [8] ख. ०ते शतक०। [9] ख. ग. ०देहे वा०। [10] ख. द्विजश्रेष्ठा। [11] ग. गुडिकां। [12] ग. मनःशिलाम्। [13] क. विद्यां। [14] क. ०म्। देहे न्यस्तं करे न्यस्तं हन्यात्सप्तशतैः कृत०।

विषे न्यस्तं विषं हन्यात्कुष्ठं हन्यात्तनौ स्थितम् । स्वदेहे भ्रूणहत्यादि कृत्वा दिव्येन शुध्यति ॥४५॥
[1]महाग्रहगृहीतेषु ज्वलमानं विचिन्तयेत् । [2]हृदन्ते वै ततः शीघ्रं नश्येयुर्दारुणा ग्रहाः ॥४६॥
बालानां कण्ठके[3] बद्धं रक्षा भवति नित्यशः । गण्डपिण्डकलूतानां नाशनं[4] कुरुते ध्रुवम् ॥४७॥
व्याधिजाते समिद्भिश्च घृतक्षीरेण होमयेत् । त्रिसंध्यं मासमेकं तु सर्वरोगान्विनाशयेत् ॥४८॥
असाध्यं तु न पश्यामि त्रैलोक्ये सचराचरे । यां यां कामयते सिद्धिं तां तां प्राप्नोति स ध्रुवम् ॥४९॥
अष्टोत्तरशतं त्वेके पूजयित्वा मृगाधिपम् । मृत्तिकाः सप्त वल्मीके श्मशाने च चतुष्पथे ॥५०॥
रक्तचन्दनसंमिश्रा गवां क्षीरेण लोडयेत्[5] । सिंहस्य प्रतिमां कृत्वा प्रमाणेन षडङ्गुलाम् ॥५१॥
लिम्पेत्तथा भूर्जपत्रे रोचनया समालिखेत् । नरसिंहस्य कण्ठे तु बद्ध्वा चैव हि मन्त्रवित् ॥५२॥
जपेत्संख्याविहीनं तु पूजयित्वा जलाशये । यावत्सप्ताहमात्रं तु जपेत्संयमितेन्द्रियः ॥५३॥
जलाकीर्णा मुहूर्तेन जायते सर्वमेदिनी । अथवा शुष्कवृक्षाग्रे नरसिंहं तु पूजयेत् ॥५४॥
जप्त्वा चाष्टशतं तत्त्वं वर्षन्तं विनिवारयेत् । तमेवं पिञ्जके[6] बद्ध्वा भ्रामयेत्साधकोत्तमः ॥५५॥
महावातो मुहूर्तेन आगच्छेन्नात्र संशयः । पुनश्च धारयेत्क्षिप्रं सप्तस (ज) प्तेन वारिणा ॥५६॥
अथ तां प्रतिमां द्वारि निखनेद्यस्य साधकः । गोत्रोत्सादो भवेत्तस्य उद्धृते[7] चैव शान्तिदः ॥५७॥

में स्थाति करने पर विष-प्रभाव को नष्ट कर देता है और किसी कोढ़ी के शरीर पर रखने से कुष्ठ रोग को दूर कर देता है। स्वयं भ्रूण-हत्यादि पापों को करने वाला व्यक्ति अपने शरीर पर वह दिव्य कवच धारण करने से पाप मुक्त हो, शुद्ध हो जाता है ॥४४-४५॥ महादुष्ट ग्रहों से पीड़ित व्यक्ति यदि अपने हृदय में उस तेजोमय का स्मरण करे तो शीघ्र ही उसके दारुण ग्रह नष्ट हो जाते हैं ॥४६॥ बालकों के कण्ठ में बाँधने से उसकी सर्वदा व्याधियों से रक्षा होती हैं और गण्ड, पिण्डक, लूता आदि रोग निश्चय ही मिट जाते हैं ॥४७॥ व्याधि उत्पन्न होने पर कवच की प्रतिष्ठा कर एक महीने तक समिधा, घी और दूध से तीनों काल—प्रातः, मध्याह्न और संध्या—हवन करने से सभी रोग विनष्ट हो जाते हैं ॥४८॥ उस साधक के लिए इस चराचर युक्त त्रिभुवन में कुछ भी असाध्य नहीं देख रहा हूँ, वह तो जिन-जिन सिद्धियों की कामना करता है, निश्चय ही उन-उनको प्राप्त कर लेता है ॥४९॥ मृगराज (नृसिंह) की एक सौ आठ बार पूजा कर, वल्मीक, श्मशान, चौराहे आदि से सप्त मृत्तिका लाकर, उसमें लाल चन्दन मिलाये। पुनः गो-दुग्ध में उसको मिलाकर छह अंगुल प्रमाण की सिंह की प्रतिमा बनाये ॥५०-५१॥ भोजपत्र पर गोरोचन से शुद्ध कर नृसिंहकवच लिखकर वह मन्त्रज्ञ उसको नरसिंह के कण्ठ में बाँधे ॥५२॥ संयमी साधक उस मूर्ति को किसी जलाशय में स्थापित कर सप्ताह पर्यन्त पूजन कर विना गणना किये मन्त्रों का जप करे ॥५३॥ ऐसा करने से क्षण भर में पृथ्वी जल से परिपूर्ण हो जाती है अथवा यदि सूखे वृक्ष के अग्र भाग पर नृसिह देव का पूजन और एक सौ आठ बार जप करे तो वृष्टि का निवारण हो जाता है ॥५४½॥ उसी मूर्त्ति को रस्सी में बाँधकर घुमाने से क्षण भर में ही जोरों की आँधी आ जाती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। पुनः उसको शीघ्र ही जल में सात बार डुबा दे तो वह महावात शीघ्र ही शान्त भी हो जाता है ॥५५-५६॥ इसके

---

[1] क. ०हपरीते। [2] क. तुदते। [3] क. कत्चुके। [4] क. शमनं। [5] क. लेपयेत्। [6] क. पिष्टके। [7] क. ०तेनैव।

तस्मात्तं मुनिशार्दूला भक्त्या संपूजयेत्सदा । मृगराजं महावीर्यं सर्वकामफलप्रदम् ।।५८।।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः ।।५९।।
संपूज्य तं सुरश्रेष्ठं भक्त्या सिंहवपुर्धरम् । मुच्यन्ते चाशुभैर्दुःखैर्जन्मकोटिसमुद्भवैः ।।६०।।
संपूज्य तं सुरश्रेष्ठं प्राप्नुवन्त्यभिवाञ्छितम् । देवत्वममरेशत्वं [1]गन्धर्वत्वं च भो द्विजाः ।।६१।।
यक्षविद्याधरत्वं च तथाऽ[2]न्यच्चाभिवाञ्छितम् । दृष्ट्वा स्तुत्वा नमस्कृत्वा संपूज्य [3]नरकेसरीम् ।।६२।।
प्राप्नुवन्ति नरा राज्यं स्वर्गं मोक्षं च दुर्लभम् । नरसिंहं नरो दृष्ट्वा लभेदभिमतं फलम् ।।६३।।
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति । सकृद्दृष्ट्वा तु तं देवं भक्त्या सिंहवपुर्धरम् ।।६४।।
[4]मुच्यते चाशुभैर्दुःखैर्जन्मकोटिसमुद्भवैः । संग्रामे संकटे दुर्गे चोरव्याघ्रादिपीडिते ।।६५।।
कान्तारे प्राणसंदेहे विषवह्निजलेषु च । राजादिभ्यः समुद्रेभ्यो[5] ग्रहरोगादिपीडिते ।।६६।।
स्मृत्वा तं पुरुषः सर्वै राजग्रामैर्विमुच्यते । सूर्योदये यथा नाशं तमोऽभ्येति महत्तरम् ।।६७।।
तथा संदर्शने तस्य विनाशं यान्त्युपद्रवाः । गुटिकाञ्जनपातालपादुके च रसायनम् ।।६८।।
नरसिंहे प्रसन्ने तु [6]प्राप्नोत्यन्यांश्च वाञ्छितान्[7] । यान्यानकामानभिध्यायन्भजते नरकेसरीम् ।।६९।।

अनन्तर साधक यदि किसी के द्वार पर उसको खोद कर गाड़ दे, तो उसके वंश का उच्चाटन हो जाय, उखाड़ देने से पुनः वही प्रतिमा शान्तिप्रद हो जाती है ।।५७।। इसलिए हे मुनिवर! सर्वदा उस महापराक्रमी, सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले नरसिंह भगवान् की भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिए, ऐसा करने से वह भक्त सब पापों से मुक्त होकर विष्णुपुर को प्राप्त करता है ।।५८$\frac{१}{२}$।। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्रियाँ, शूद्र और चाण्डाल सभी उस सिंह-शरीर धारण करने वाले देव को भक्ति से पूज कर करोड़ों जन्म के किए पापों से मुक्त हो जाते हैं।।५९-६०।। उस सुर-श्रेष्ठ की पूजा कर द्विजो! मनुष्य इच्छित देवपद, इन्द्रपद अथवा गन्धर्वपद को प्राप्त कर लेते हैं ।।६१।। नरसिंह की पूजा, दर्शन, स्तुति और नमस्कार से मनुष्य, यक्ष, विद्याधर अथवा अन्य मनचाहे पद, राज्य, स्वर्ग और दुर्लभ मोक्ष को भी प्राप्त कर लेते हैं। नरसिंह का दर्शन कर मनुष्य अभिमत फल को प्राप्त कर अपने पापों से मुक्त हो विष्णुलोक को प्राप्त करता है ।।६२-६३।। श्रद्धापूर्वक सिंह शरीरधारी देव को एक बार देखकर भी मनुष्य करोड़ों जन्म के पापों से अपने को मुक्त कर लेता है ।।६४$\frac{१}{२}$।। संग्राम में, संकट या कठिनाइयाँ आ पड़ने पर, चोर, व्याघ्र आदि से कष्ट पाने के समय जंगल में, प्राण-संकट उपस्थित होने पर, विष, अग्नि, जल से भय होने पर राजा, समुद्र, ग्रह, रोगादि से पीड़ित होने पर उस नृसिंह का स्मरण कर मनुष्य उन सभी संकटों से इस प्रकार छूट जाता है जिस प्रकार सूर्योदय होने पर निविड़ अन्धकार से यह लोक ।।६५-६७।। इसी प्रकार उसके दर्शन से सारे उपद्रव भी नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य श्रीनृसिंह के प्रसन्न हो जाने पर गुटिका-अंजन, पाताल-पादुका (वह खड़ाऊँ जिसको पहन कर पाताल लोक में मनुष्य चला जाता है), रसायन तथा अन्य मनोरथों को भी प्राप्त करता है। जिन-जिन कामनाओं को हृदय में रखकर मनुष्य नरकेसरी की

---

[1] ख. सर्वज्ञत्वं । [2] क. ग. ०न्यच्च प्रयच्छति । दृ० । [3] क. ०केशवम् । [4] क. ०ते कल्मषैः सर्वैर्ज० । [5] खं. समुद्रास्ये । [6] ख. ०त्यन्यच्च वा० । [7] ख. ०ञ्छितम् । या० ।

तांस्तान्कामानवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः । दृष्ट्वा तं देवदेवेशं भक्त्याऽऽपूज्य प्रणम्य च ॥७०॥
दशानामश्वमेधानां फलं दशगुणं लभेत् । पापैः सर्वैर्विनिर्मुक्तो गुणैः सर्वैरलंकृतः ॥७१॥
सर्वकामसमृद्धात्मा जरामरणवर्जितः । सौवर्णेन विमानेन किंकिणीजालमालिना ॥७२॥
सर्वकामसमृद्धेन कामगेन सुवर्चसा । तरुणादित्यवर्णेन [1]मुक्ताहारावलम्बिना ॥७३॥
दिव्यस्त्रीशतयुक्तेन दिव्यगन्धर्वनादिना[2] । कुलैकविंशमुद्धृत्य देववन्मुदितः सुखी ॥७४॥
स्तूयमानोऽप्सरोभिश्च विष्णुलोकं व्रजेन्नरः । भुक्त्वा तत्र वरान्भोगान्विष्णुलोके द्विजोत्तमाः ॥७५॥
गन्धर्वैरप्सरैर्युक्तः कृत्वा रूपं चतुर्भुजम् । मनोह्लादकरं सौख्यं यावदाभूतसंप्लवम् ॥७६॥
पुण्यक्षयादिहाऽऽयातः प्रवरे योगिनां कुले । चतुर्वेदी भवेद्विप्रो वेदवेदाङ्गपारगः ॥
वैष्णवं योगमास्थाय[3] ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥७७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभ्वृषिसंवादे नरसिंहमाहात्म्यवर्णनं
नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

उपासना करता है, उन-उनको वह निःसन्देह प्राप्त करता है ॥६८-६९½॥ उस देव-देवेश का दर्शन कर, भक्ति से उसका पूजन तथा प्रणाम कर मनुष्य दस अश्वमेध यज्ञ के दस गुने फल को (सौ अश्वमेध के बराबर) प्राप्त करता है। वह सब पापों से मुक्त हो सभी गुणों से विभूषित हो जाता है ॥७०-७१॥ वह जरा-मृत्यु से मुक्त हो सभी मनोरथों को प्राप्त कर लेता है, क्षुद्र घण्टिकाओं से युक्त, सभी इच्छित साधनों से सुसज्जित, तेजोमय, इच्छा परिचालित स्वर्णमय, तरुण सूर्य के समान प्रकाशमान विमान पर आरूढ़ हो, मुक्ताहार से सुशोभित, दिव्य गान और वादन में निरत सैकड़ों स्वर्गाङ्गनाओं से घिरा, देवता के समान आनन्द-मग्न और सुखी वह व्यक्ति अपने इक्कीस कुलों का उद्धार करता हुआ विष्णुलोक को प्राप्त करता है, रास्ते में अप्सराएँ उसकी स्तुति करती जाती हैं ॥७२-७४½॥ द्विजवर! वहाँ गन्धर्व और अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करता हुआ, मन को आनन्द और सुख देने वाले चतुर्भुज रूप को धारण कर कल्पान्त तक दिव्य भोगों का आस्वादन करता है। पुनः पुण्य क्षय होने पर इस मर्त्यलोक में पुनीत योगि-कुल में जन्म लेकर वेद, वेदांग का पारदर्शी, चतुर्वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण होता है। तदनन्तर वैष्णव योग (भागवत ज्ञान) का अभ्यास कर मोक्ष-पदवी प्राप्त करता है ॥७५-७७॥

श्री ब्रह्ममहापुराण के अन्तर्गत स्वयंभू और ऋषि के संवादप्रकरण में नरसिंह
माहात्म्य वर्णन नामक अट्ठावनवाँ अध्याय समाप्त ॥५८॥

---

[1] क. ख. ०हारविल०। [2] ख. ग. ०र्ववादि० । [3] क. ख. ०मासाद्य त० ।

अथैकोनषष्टितमोऽध्यायः

श्वेतमाधवमाहात्म्यवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

अनन्ताख्यं वासुदेवं दृष्ट्वा भक्त्या प्रणम्य च । सर्वपापविनिर्मुक्तो नरो याति परं पदम् ॥१॥
मया चाऽऽराधितश्चासौ शक्रेण तदन्तरम् । विभीषणेन रामेण कस्तं नाऽऽराधयेत्पुमान् ॥२॥
श्वेतगङ्गां नरः स्नात्वा यः पश्येच्छ्वेतमाधवम् । मत्स्याख्यं माधवं चैव श्वेतद्वीपं स गच्छति ॥३॥

मुनय ऊचुः

श्वेतमाधवमाहात्म्यं वक्तुमर्हस्यशेषतः । विस्तरेण जगन्नाथ प्रतिमां तस्य वै हरेः ॥४॥
तस्मिन्क्षेत्रवरे पुण्ये विख्याते जगतीतले[1] । श्वेताख्यं माधवं देवं कस्तं स्थापितवान्पुरा ॥५॥

ब्रह्मोवाच

अभूत्कृतयुगे विप्राः श्वेतो नाम नृपो बली । मतिमान्धर्मविच्छूरः सत्यसंधो दृढव्रतः[2] ॥६॥
यस्य राज्ये तु वर्षाणां[3] सहस्रं दश मानवाः । भवन्त्यायुष्मन्तो लोका बालस्तस्मिन्न सीदति ॥७॥
वर्तमाने तदा राज्ये किंचित्काले गते द्विजाः । [4]कपालगौतमो नाम ऋषिः परमधार्मिकः ॥८॥

अध्याय ५९

श्वेतमाधव का माहात्म्य-वर्णन

ब्रह्मा बोले—मनुष्य अनन्त नामक वासुदेव का भक्तिपूर्वक दर्शन और प्रणाम करने से सब पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। सर्वप्रथम मैंने इस वासुदेव की आराधना की तदनन्तर इन्द्र, विभीषण और राम ने। अतः कौन ऐसा मनुष्य है जो उस देव की आराधना न करेगा। जो मनुष्य श्वेत गंगा में स्नान कर श्वेतमाधव और मत्स्यमाधव का दर्शन करता है वह श्वेतद्वीप को प्राप्त करता है॥१-३॥

मुनिगण बोले—जगन्नाथ! श्वेतमाधव का माहात्म्य और उनकी प्रतिमा के विषय में विस्तारपूर्वक बतलाइये। उस पुनीत, जगतीतल पर प्रसिद्ध शुभ क्षेत्र में सर्वप्रथम किसने श्वेतमाधव देव की स्थापना की॥४-५॥

ब्रह्मा बोले—विप्रगण! कृतयुग में श्वेत नाम का बली, बुद्धिमान्, धर्मज्ञ, शूर, सत्यप्रेमी और दृढ़व्रती राजा हुआ, जिसके राज्य में मनुष्य दस हजार वर्ष आयु वाले होते थे, बालकों की मृत्यु नहीं होती थी। उस समय द्विजगण! उसके राज्यकाल के कुछ वर्ष वीत जाने पर परम धार्मिक और वुद्धिमान् कपालगौतम नामक ऋषि

---

[1] क. ग. पुरुषोत्तमे। [2] क. ०तः। जीवन्ति तस्य राज्ये वै व०। [3] क. ०णां द०। [4] ख. ०लमौनको ना०।

सुतोऽस्याजातदन्तश्च मृतः[१] कालवशाद् द्विजाः । तमादाय ऋषिर्धीमान्नृपस्यान्तिकमानयत् ।।९।।
दृष्ट्वैवं नृपतिः सुप्तं कुमारं गतचेतसम् । प्रतिज्ञामकरोद्विप्रा जीवनार्थं शिशोस्तदा ।।१०।।

राजावोच

यावद्बालमहं त्वेनं यमस्य सदने गतम् । नाऽऽनये[२] सप्तरात्रेण चितां दीप्तां समारुहे ।।११।।

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वाऽसितैः पद्मैः शतैर्दशशतादिकैः । संपूज्य च महादेवं राजा [३]विद्यां[४]पुनर्जपेत् (?) ।।१२।।
अतिर्भक्ति तु संचिन्त्य नृपस्य जगदीश्वरः । सांनिध्यमगमत्तुष्टोऽस्मीत्युवाच सहोमया ।।१३।।
श्रुत्वैवं गिरमीशस्य विलोक्य सहसा हरम् । भस्मदिग्धं विरूपाक्षं शरत्कुन्देन्दुवर्चसम् ।।१४।।
शार्दूलचर्मवसनं शशाङ्कितमूर्धजम् । महीं निपत्य सहसा प्रणम्य स तदाऽब्रवीत् ।।१५।।

श्वेत उवाच

कारुण्यं यदि मे दृष्ट्वा प्रसन्नोऽसि प्रभो यदि । कालस्य वशमापन्नो[५] बालको द्विजपुत्रकः[६] ।।१६।।
जीवत्वेष पुनर्बाल इत्येवं व्रतमाहितम् । अकस्माच्च मृतं बालं नियम्य भगवन्स्वयम् ।।
यथोक्तायुष्यसंयुक्तं क्षेमं कुरु महेश्वर । ।।१७।।

काल की प्रेरणा से मरे पुत्र को—जिसके अभी दाँत भी नहीं निकले थे—लेकर उस राजा के पास आये। विप्रगण! राजा ने इस प्रकार उस सोये से, गतप्राण बालक को देखकर उसको पुनः जीवित कर देने की प्रतिज्ञा की ।।९-१०।।

राजा ने कहा—यदि मैं सात दिन के भीतर यमलोक गये इस बालक को लौटा न लाऊँ तो जलती चिता में प्रवेश कर भस्म हो जाऊँगा ।।११।।

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार प्रतिज्ञा कर राजा शत सहस्र (एक लाख) नील कमलों से महादेव की पूजा कर पुनः विद्या (मन्त्र) का जप करने लगा। जगदीश्वर शंकर राजा की उस उत्कृष्ट भक्ति को देखकर अति प्रसन्न हुए और पार्वती सहित नृपति के समीप आकर बोले—"मैं तुम पर प्रसन्न हूँ।" भगवान् शंकर की ऐसी वाणी को सुनकर राजा ने अकस्मात् देखा कि शरीर पर भस्म लगाये, तीन नेत्र वाले, शरत्कालीन चन्द्रमा और कुन्द के समान शुभ्र, व्याघ्रचर्मधारी, भालचन्द्र शंकर सामने खड़े हैं; तुरन्त साष्टांग दण्डवत् किया और फिर उसनें कहा—।।१२-१५।।

श्वेत ने कहा—प्रभो! यदि मुझको देख कर आपके हृदय में करुणा उत्पन्न हुई है, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो 'यम के वश में गया (मृत) यह ब्राह्मण-शिशु पुनः जीवित हो जाय, ऐसी प्रतिज्ञा मैंने की है।' अकस्मात् मरे हुए इस बालक पर अनुग्रह कर इसे पूर्ववत् जीवित (दीर्घायु) कर दीजिये। महेश्वर! यही शुभ अनुग्रह कीजिये।।१६-१७।।

---

[१] क. ग. ०तः पञ्चशताब्दिकः। त०। [२] क. ०येयं सपुत्रो हि चि०। [३] क. ख. राजवि०। [४] ख. ०नर्यजेत्। [५] क. ०न्नो जीवतु द्वि०। [६] क. ०कः। आनयिष्ये पु०।

ब्रह्मोवाच

श्वेतस्यैतद्वचः श्रुत्वा मुदं प्राप हरस्तदा । कालमाज्ञापयामास सर्वभूतभयंकरम् ।।१८।।
नियम्य कालं दुर्धर्षं यमस्याऽऽज्ञाकरं द्विजाः । बालं संजीवयामास मृत्योर्मुखगतं पुनः ।।१९।।
कृत्वा क्षेमं जगत्सर्वं मुनेः पुत्रं स तं द्विजाः । देव्या सहोमया देवस्तत्रैवान्तरधीयत ।।२०।।
एवं संजीवयामास मुनेः पुत्रं नृपोत्तमः ।।२१।।

मुनय ऊचुः

देवदेव जगन्नाथ त्रैलोक्यप्रभवाव्यय। ब्रूहि नः परमं तथ्यं श्वेताख्यस्य च सांप्रतम् ।।२२।।

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः सर्वसत्त्वहितावहम्[1] । प्रवक्ष्यामि यथातथ्यं यत्पृच्छथ ममानघाः ।।२३।।
माधवस्य च माहात्म्यं सर्वपापप्रणाशनम् । यच्छ्रुत्वाऽभिमतान्कामान्ध्रुवं प्राप्नोति मानवः ।।२४।।
श्रुतवानृषिभिः [2]पूर्वं माधवाख्यस्य भो द्विजाः । शृणुध्वं तां कथां दिव्यां भयशोकार्तिनाशिनीम् ।।२५।।
स कृत्वा राजमेकाग्र्यं वर्षाणां च सहस्रशः । विचार्य [3]लौकिकान्धर्मान्वैदिकान्नियमांस्तथा ।।२६।।
केशवाराधने विप्रा[4] निश्चितं व्रतमास्थितः । स गत्वा परमं क्षेत्रं सागरं[5] दक्षिणाश्रयम् ।।२७।।
तटे तस्मिञ्छुभे रम्ये देशे कृष्णस्य चान्तिके । श्वेतोऽ[6]थ कारयामास प्रसादं शुभलक्षणम् ।।२८।।

ब्रह्मा बोले—राजा श्वेत की इन बातों को सुनकर शंकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने सब प्राणियों को भयभीत करने वाले काल को आज्ञा दी। यम देव के आज्ञाकारी दुर्धर्ष काल को वशीभूत कर मृत्यु के मुख में गये बालक को पुनः जीवित कर दिया। इस प्रकार विप्रवृन्द! शंकर ने उस मुनि-पुत्र को जीवित कर सारे संसार का कल्याण किया। और देवी पार्वती के सहित वह वहीं पर अन्तर्हित हो गये।।१८-२१।।

मुनियों ने कहा—हे त्रैलोक्य के आदिकारण, अव्यय, देवाधिदेव जगत्पते! इस समय राजा श्वेत की परम रहस्यमयी बातें अविकल रूप से हम लोगों को बतलाइये।।२२।।

ब्रह्मा बोले—हे निष्पाप मुनिवृन्द! जो मुझसे पूछ रहे हो, उस सम्पूर्ण लोक के लिए उपकारक रहस्य को यथार्थ रूप से कह रहा हूँ; तुम लोग सुनो।।२३।। श्वेतमाधव का माहात्म्य अखिल पापों का नाशक है, जिसको सुन कर मनुष्य अपनी इष्ट कामनाओं को निश्चय ही प्राप्त करता है।।२४।। विप्रवृन्द! प्राचीनकाल में ऋषियों ने इस श्वेत माधव की कथा सुनी; उसी दिव्य, भय, शोक और पीड़ा को नष्ट करने वाली कथा को तुम लोग सुनो।।२५।। उस राजा श्वेत ने एकाग्र भाव से एक हजार वर्ष तक लोक-धर्म और वैदिक नियमों का यथावत् पालन करते हुए धर्मपूर्वक राज्य किया।।२६।। विप्रवृन्द! राज्य-शासन के अनन्तर उसके मन में भगवान् की आराधना का दृढ़ संकल्प उत्पन्न हुआ। इस विचार से दक्षिण दिशा में पवित्र समुद्र के तट पर स्थित शुभ तीर्थ में कृष्ण मन्दिर के समीप

---

[1] क. ख. ०ताय वै। प्र०। [2] क. सर्व। [3] क. ०कान्विधिवत्तथा। [4] ख. यत्तो। [5] क. सादरं। [6] ख. मनोज्ञं।

धन्वन्तरशतं चैकं देवदेवस्य दक्षिणे । ततः श्वेतेन विप्रेन्द्राः श्वेतशैलमयेन च ।।२९।।
कृतः स [1]भगवाञ्छ्वेतो माधवश्चन्द्रसंनिभः । प्रतिष्ठां विधिवच्चक्रे यथोद्दिष्टां स्वयं तु सः ।।३०।।
दत्त्वा दानं द्विजातिभ्यो [2]दीनानाथतपस्विनाम् । अथानन्तरतो राजा माधवस्य च संनिधौ ।।३१।।
महीं निपत्य सहसा ओंकारं द्वादशाक्षरम् । [3]जपन्स मौनमास्थाय मासमेकं समाधिना ।।३२।।
निराहारो महाभागः सम्यग्विष्णुपदे स्थितः । जपान्ते स तु देवेशं संस्तोतुमुपचक्रमे ।।३३।।

श्वेत उवाच

ॐ नमो वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च । प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमो नारायणाय च ।।३४।।
नमोऽस्तु बहुरूपाय विश्वरूपाय वेधसे । निर्गुणायाप्रतर्क्याय शुचये [4]शुक्लकर्मणे ।।३५।।
ॐ नमः पद्मनाभाय पद्मगर्भोद्भवाय च । नमोऽस्तु पद्मवर्णाय पद्महस्ताय ते नमः ।।३६।।
ॐ नमः पुष्कराक्षाय सहस्राक्षाय[5] मीढुषे । नमः सहस्रपादाय सहस्रभुजमन्यवे ।।३७।।
ॐ नमोऽस्तु वराहाय वरदाय सुमेधसे । वरिष्ठाय[6] वरेण्याय[7] शरण्यायाच्युताय च ।।३८।।
ॐ नमो बालरूपाय बालपद्मप्रभाय च । बालार्कसोमनेत्राय मुञ्जकेशाय धीमते ।।३९।।
केशवाय नमो नित्यं नमो नारायणाय च । माधवाय वरिष्ठाय गोविन्दाय नमो नमः ।।४०।।

हीं परम मनोहर सौ धन्वन्तर (४०० हाथ) की नाप का उत्तम मन्दिर बनवाया, उसमें श्वेत पत्थर की चन्द्रमा के समान स्वच्छ भगवान् श्वेतमाधव की विधिवत् मूर्ति स्थापित की; दीन, अनाथ और तपस्वी ब्राह्मणों को दान दिया ।।२७-३०½।। इसके उपरान्त राजा ने माधव-मूर्ति के समीप जाकर सहसा साष्टांग प्रणाम किया। वह एक मास तक मौन रहकर समाधिस्थ हो द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करता रहा। जप-काल में वह महाभाग निराहार रह कर अपने मन को भलीभाँति विष्णु के चरणों में ही लगाये रहा। जप के उपरान्त वह श्रद्धा से देवेश की स्तुति करने लगा ।।३१-३३।।

श्वेत ने कहा—ॐ, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और नारायण को नमस्कार है ।।३४।। बहुरूपधारी, विश्वरूप, निर्गुण, तर्कों से अगम्य, पवित्र तथा शुभ कर्म करने वाले ब्रह्म को नमस्कार है ।।३५।। पद्मनाभ, कमल के गर्भ से उत्पन्न देव को तथा कमल के समान वर्ण और हस्त वाले प्रभु को नमस्कार है ।।३६।। कमल के समान सहस्र नेत्र वाले, कल्याणदाता को नमस्कार है। सहस्र चरण और भुजावाले मन्यु (यज्ञ रूप) को नमस्कार है ।।३७।। वरद, सुष्ठु प्रतिभा वाले, श्रेष्ठ, वरेण्य, शरण्य और अच्युत भगवान् वराह को नमस्कार है ।।३८।। बाल-रूप धारण करने वाले, नवीन कमल के समान कान्ति वाले, नवीन सूर्य और चन्द्रमा रूपी नेत्र तथा कोमल केश वाले भगवान् को नमस्कार है ।।३९।। केशव को नमस्कार है; नारायण को मेरा नित्य नमस्कार तथा वरिष्ठ माधव और गोविन्द

---

[1] ख. ०ञ्श्वेतमा० । [2] ख. ०नानां च त० । [3] ख. जजाप मौ० । [4] क. ख. सर्वकर्मणाम् । [5] ख. ०यते नमः । न० । [6] ख. वसिष्ठा० । [7] क. ० य वरदाया० ।

ॐ नमो विष्णवे नित्यं[1] देवाय[2] वसुरेतसे । मधुसूदनाय नमः [3]शुद्धायांशुधराय च ।।४१।।
[4]नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय नमः श्रीवत्सधारिणे । त्रिविक्रमाय च नमो [5]दिव्यपीताम्बराय च ।।४२।।
सृष्टिकर्त्रे नमस्तुभ्यं गोप्त्रे धात्रे[6] नमो नमः । नमोऽस्तु [7]गुणभूताय निर्गुणाय नमो नमः ।।४३।।
नमो वामनरूपाय नमो वामनकर्मणे । नमो वामननेत्राय नमो वामनवाहिने ।।४४।।
[8]नमो रम्याय पूज्याय नमोऽस्त्वव्यक्तरूपिणे । अप्रतर्क्याय शुद्धाय नमो भयहराय च ।।४५।।
संसारार्णवपोताय प्रशान्ताय स्वरूपिणे । शिवाय सौम्यरूपाय [9]रुद्रायोत्तारणाय च ।।४६।।
भवभङ्गकृते चैव भवभोगप्रदाय च । भवसंघातरूपाय भवसृष्टिकृते नमः ।।४७।।
ॐ नमो दिव्यरूपाय सोमाग्निश्वसिताय च । [10]सोमसूर्यांशुकेशाय गोब्रह्माणहिताय च ।।४८।।
ॐ नम ऋक्स्वरूपाय पदक्रमस्वरूपिणे। ऋक्स्तुताय नमस्तुभ्यं नमः ऋक्साधनाय च ।।४९।।
ॐ नमो यजुषां धात्रे यजूरूपधराय च । यजुर्याज्याय जुष्टाय यजुषां पतये नमः ।।५०।।
ॐ नमः श्रीपते देव श्रीधराय वराय च। श्रियः कान्ताय दान्ताय योगिचिन्त्याय योगिने ।।५१।।
ॐ नमः सामरूपाय सामध्वनिवराय च । ॐ नमः सामसौम्याय सामयोगविदे नमः ।।५२।।
साम्ने च सामगीताय ॐ नमः सामधारिणे । सामयज्ञविदे चैव नमः सामकराय च ।।५३।।
नमस्त्वथर्वशिरसे नमोऽथर्वस्वरूपिणे । नमोऽस्त्वथर्वपादाय नमोऽथर्वकराय च ।।५४।।

को बार-बार नमस्कार है ।।४०।। विष्णु, वासुदेव देव को मेरा नित्य नमस्कार है, शुद्ध स्वरूप, तेजोमय मधुसूदन को नमस्कार है ।।४१।। अनन्त, सूक्ष्म, श्रीवत्सधारी, त्रिविक्रम, दिव्य पीत वस्त्र धारण करने वाले भगवान् को नमस्कार है ।।४२।। सृष्टि, पालन और पोषण करने वाले, गुणभूत, निर्गुण ब्रह्म को बार-बार नमस्कार है ।।४३।। वामन रूप, वामन कर्म, वामन नेत्र और वामन अश्व (यान) वाले वामन भगवान् को नमस्कार है ।।४४।। रम्य, पूज्य, अव्यक्त स्वरूप वाले, अप्रतर्क्य, शुद्ध और भय दूर करने वाले भगवान् को नमस्कार है ।।४५।। संसार रूपी सागर से पार करने के लिए पोत के समान, प्रशान्त रूप वाले, सौम्य रूप शिव, उद्धारकर्त्ता रुद्र, संसार का नाश करने वाले, संसार के सुखदाता, संसारव्यापी और सृष्टिकर्त्ता को नमस्कार है । दिव्य रूप वाले, सोम, अग्नि और वायु रूप में लोक में प्रसिद्ध, सोम और और सूर्य की किरण रूपी केश वाले तथा गो, ब्राह्मण के हितकारी ब्रह्म को नमस्कार है ।।४६-४८।। पद, क्रम, रूपवाले ऋग्वेद स्वरूप ऋचाओं से स्तुत, ऋग्वेद की साधना के परम लक्ष्य तुमको नमस्कार है ।।४९।। यजुर्वेद को धारण करने वाले फिर भी यजुष्रूपधारी, यजुष् से पूजित और सप्रेम वन्दित पालक ब्रह्म को नमस्कार है ।।५०।। श्रीपते ! हे देव ! आपको नमस्कार है, श्रीधर, लक्ष्मी के स्वामी, उदार, योगियों के द्वारा स्मृत और स्वयं भी योगी नारायण को नमस्कार है ।।५१।। साम स्वरूप, साम की सौम्य ध्वनि से गेय, साम के समान मधुर और सामयोग के ज्ञाता, साम से गाये गये और सामवेदधारी, साम यज्ञ के ज्ञाता और साम के कर्त्ता को नमस्कार है ।।५२-५३।। अथर्व सिर, अथर्व रूप वाले, अथर्व रूपी चरण वाले अथ च अथर्व के कर्त्ता के लिए

---

१ क. तुभ्यं। २क. ०य सुररे० । ३ ख. ०द्धाय अजरा० । ४ क. नमः पी० । ५ ख. ०म्बरधरा० । ६ क. हर्त्रे । ख. हन्त्रे । ७ ख. गुणयुक्ताय । ८ क. ख. ०मोऽनन्ताय। ९ ख. घोररूपधराय . १० क. ०सूर्याग्निके० ।

ॐ [१]नमो वज्रशीर्षाय मधुकैटभघातिने । महोदधिजलस्थाय वेदाहरणकारिणे ॥५५॥
नमो [२]दीप्तस्वरूपाय हृषीकेशाय वै नमः । नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय ते नमः ॥५६॥
नारायण नमस्तुभ्यं नमो लोकहिताय च । ॐ नमो मोहनाशाय् भवभङ्गकराय च ॥५७॥
गतिप्रदाय च नमो नमो बन्धहराय च । त्रैलोक्यतेजसां कर्त्रे नमस्तेजःस्वरूपिणे ॥५८॥
योगीश्वराय[३] [४]शुद्धाय[५] रामायोत्तरणाय च । सुखाय सुखनेत्राय नमः सुकृतधारिणे ॥५९॥
वासुदेवाय वन्द्याय वामदेवाय वै नमः । देहिनां देहकर्त्रे च भेदभङ्गकराय च ॥६०॥
देवैर्वन्दितदेहाय नमस्ते दिव्यमौलिने । नमो वासनिवासाय वासव्यवहराय च ॥६१॥
ॐ नमो वसुकर्त्रे च वसुवासप्रदाय[६] च । नमो यज्ञस्वरूपाय यज्ञेशाय च योगिने ॥६२॥
यतियोगकरेशाय नमो यज्ञाङ्गधारिणे । संकर्षणाय च नमः प्रलम्बमथनाय च ॥६३॥
[७]मेघघोषस्वनोत्तीर्णवेगलाङ्गलधारिणे । नमोऽस्तु ज्ञानिनां ज्ञान नारायणपरायण ॥६४॥
न मेऽस्ति त्वामृते बन्धुर्नरकोत्तारणे प्रभो । अतस्त्वां सर्वभावेन प्रणतो नतवत्सल ॥६५॥
मलं यत्कायजं वाऽपि मानसं चैव केशव । न तस्यान्योऽस्ति देवेश क्षालकस्त्वामृतेऽच्युत ॥६६॥
संसर्गाणि समस्तानि विहाय [८]त्वामुपस्थितः[९] । संगो मेऽस्तु त्वया सार्धमात्मलाभाय केशव ॥६७॥
कष्टमापत्सुदुष्पारं संसारं वेद्मि केशव। तापत्रयपरिक्लिष्टस्तेन त्वां शरणं गतः ॥६८॥

हमारा नमस्कार है ॥५४॥ वज्र के समान सिर वाले, मधुकैटभ को मारने वाले एवं महान् समुद्र के जल में स्थित ओर वेदों के उद्धारकर्त्ता को नमस्कार है ॥५५॥ परम प्रभामय, हृषीकेश, वासुदेव भगवान् तुमको मेरा नमस्कार है ॥५६॥ नारायण ! लोक-हित करने वाले, मोहनाशक, भवभंगकारी आपको नमस्कार है ॥५७॥ संसार को गति देने वाले, बाधाहारी को नमस्कार है; त्रिलोक को तेजोमय करने वाले, तेजःस्वरूप भगवान् को नमस्कार है ॥५८॥ योगीश्वर, शुद्ध, लोक से उद्धार करने वाले राम को नमस्कार है, सुखद नेत्र वाले, सुखस्वरूप और सुकृत धारण करने वाले को नमस्कार है ॥५९॥ वन्दनीय, वासुदेव, वामदेव, देहधारियों के स्रष्टा और भेदभाव को नष्ट करने वाले को नमस्कार है ॥६०॥ देवताओं से वन्दित, दिव्य मुकुट वाले, वास रूप, निवास रूप तथा वासव्यवहार को नमस्कार है ॥६१॥ वसु (जल) की सृष्टि करने वाले, वसु को वास देने वाले, यज्ञ स्वरूप, योगी और यज्ञपति को नमस्कार है ॥६२॥ यति और योगियों के ईश, यज्ञांगधारी, प्रलम्ब नामक असुर के मारने वाले, संकर्षण को नमस्कार है ॥६३॥ मेघ-ध्वनि से भी अधिक गम्भीर ध्वनि वाले, हल धारण करने वाले, ज्ञानियों में ज्ञान रूप तथा नारायण-परायण को नमस्कार है ॥६४॥ प्रभो ! इस नरक से पार उतारने के लिए तुमसे वढ़कर कोई मेरा सहायक नहीं है, अतः भक्त-वत्सल ! मैं सव प्रकार से आपकी शरण में हूँ ॥६५॥ देवेश ! अच्युत ! केशव ! तुमको छोड़कर शारीरिक और मानसिक पापों को धोने वाला दूसरा कोई नहीं है ॥६६॥ केशव ! मैं समस्त सम्वन्धों को त्याग कर तुम्हारे समीप आया हूँ, इसलिए तुम्हारे साथ मेरा दृढ़ सम्वन्ध हो जाय जिससे आत्मज्ञान पा जाऊँ ॥६७॥ केशव ! कष्ट

---

१ ग. ०मो वाजिशी० । २ ग. दीर्घस्व० । ३ख. वागीश्वराय । ४ क. ख. वुद्धाय । ५ क. ख. ०य वामा० । ६ख. शस्त्रवायुप्रदाय । ७ क. ०र्णवेदला० । ख. ०र्णदेवला० । ८ख. ०मुपाश्रितः । ९क. ख. ०तः । योगोऽस्तु मे त्व० ।

एषणाभिर्जगत्सर्वं मोहितं मायया तव । आकर्षितं च लोभाद्यैरतस्त्वामहमाश्रितः ।।६९।।
नास्ति किंचित्सुखं विष्णो संसारस्थस्य देहिनः । यथा यथा हि यज्ञेश त्वयि चेतः प्रवर्तते ।।७०।।
तथा फलविहीनं तु सुखमात्यन्तिकं लभेत् । नष्टो विवेकशून्योऽस्मि दृश्यते जगदातुरम् ।।७१।।
गोविन्द त्राहि संसारान्मामुद्धर्तुं त्वमर्हसि । मग्नस्य मोहसलिले निरुत्तारे भवार्णवे ।।
उद्धर्ता पुण्डरीकाक्ष त्वामृतेऽन्यो न विद्यते ।।७२।।

ब्रह्मोवाच

इत्थं स्तुतस्ततस्तेन राज्ञा श्वेतेन भो द्विजाः । तस्मिन्क्षेत्रवरे दिव्ये विख्याते पुरुषोत्तमे ।।७३।।
भक्तिं तस्य तु संचिन्त्य देवदेवो जगद्गुरुः । आजगाम [1]नृपस्याग्रे [2]सर्वैर्देवैर्वृतो हरिः ।।७४।।
नीलजीमूतसंकाशः पद्मपत्रायतेक्षणः । दधत्सुदर्शनं धीमान्कराग्रे दीप्तमण्डलम् ।।७५।।
क्षीरोदजलसंकाशो विमलश्चन्द्रसंनिभः । रराज वामहस्तेऽस्य पाञ्चजन्यो महाद्युतिः ।।७६।।
पक्षिराजध्वजः श्रीमान्गदाशार्ङ्गासिधृक्प्रभुः । उवाच साधु भो राजन्यस्य ते मतिरुत्तमा ।।
यदिष्टं वर भद्रं ते प्रसन्नोऽस्मि तवानघ ।।७७।।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वैवं देवदेवस्य वाक्यं तत्परमामृतम्[3] । प्रणम्य शिरसोवाच श्वेतस्तद्गतमानसः ।।७८।।

और आपत्तियों के कारण, दुःख से पार पाने योग्य इस संसार को भलीभाँति जानता हूँ । अब मैं त्रिविध ताप से संतप्त हो गया हूँ; इसलिए प्रभो ! आपकी शरण आया हूँ ।।६८।। तुम्हारी माया के कारण यह सारा संसार कामनाओं से मुग्ध, लिप्त और लोभ-क्रोधादि से आकृष्ट है, अतः मैं तुम्हारा आश्रित हूँ ।।६९।। विष्णो ! सांसारिक जीवों को कुछ भी सुख प्राप्त नहीं। यज्ञेश ! ज्यों-ज्यों आप में मनुष्य का चित्त लगता जाता है, त्यों-त्यों फलाकांक्षा रहित आत्यन्तिक सुख उसको मिलते जाते हैं। मैं ज्ञान-शून्य और नष्ट-सा हूँ, यह सारा संसार व्याकुल दिखायी पड़ रहा है। गोविन्द ! रक्षा करो। तुम्हीं संसार-सागर से मेरा उद्धार कर सकते हो। पुण्डरीकाक्ष ! इस मोह रूपी जल से भरे, पार न करने योग्य संसार में मग्न (डूबे हुए) मुझ जैसे के उद्धारक तुम्हारे अतिरिक्त और कोई नहीं है।।७०-७२।।

ब्रह्मा बोले—'विप्रवृन्द ! उस दिव्य, प्रसिद्ध पुरुषोत्तम नामक पवित्र तीर्थ में इस प्रकार राजा ने श्वेत भगवान् की स्तुति की । उसकी भक्ति से आकृष्ट होकर नील मेघ के समान कान्तिमान्, कमल-पत्र के समान बड़े और मनोहर नेत्र वाले, हस्ताग्र में प्रकाशमान सुदर्शन धारण किये, निर्मल चन्द्रमा के समान कान्तिमान्, क्षीरसागर के जल के समान प्रभापूर्ण, बायें हाथ में महातेजोमय पाञ्चजन्य शंख धारण किये हुए; गरुड़ के ऊपर आसीन तथा गदा, धनुष, खड्ग धारण किये हुए देवदेव जगद्गुरु हरि देवताओं के सहित राजा के पास आये और बोले—'राजन् ! तुम धन्य हो, तुम्हारी उत्तम बुद्धि प्रशंसनीय है। अनघ ! अभीष्ट वर माँगो, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ ।।७३-७७।।

ब्रह्मा बोले—देवाधिदेव भगवान् की ऐसी परम सुधामयी वाणी को सुनकर राजा श्वेत ने नत-मस्तक हो प्रणाम करते हुए कहा—।।७८।।

---

[1] ख. ०स्यार्थे स० । [2] क. सर्वदेवमयो ह० । [3] क. ०माद्भुत० ।

श्वेत उवाच

यद्यहं भगवन्भक्तः प्रयच्छ वरमुत्तमम् । आब्रह्मभवनादूर्ध्वं वैष्णवं पदमव्ययम् ।।७९।।
विमलं विरजं शुद्धं संसारासङ्गवर्जितम् । तत्पदं गन्तुमिच्छामि त्वत्प्रसादाज्जगत्पते ।।८०।।

श्रीभगवानुवाच

यत्पदं विबुधाः सर्वे मुनयः सिद्धयोगिनः । नाभिगच्छन्ति यद्रम्यं परं पदमनामयम् ।।८१।।
यास्यसि परमं स्थानं राज्यामृतमुपास्य च । सर्वांल्लोकानतिक्रम्य मम लोकं गमिष्यसि ।।८२।।
कीर्तिस्तवात्र राजेन्द्र त्रींल्लोकांश्च गमिष्यति । सांनिध्यं मम चैवात्र सर्वदैव भविष्यति ।।८३।।
श्वेतगङ्गेति गास्यन्ति सर्वे ते देवदानवाः । कुशाग्रेणापि राजेन्द्र श्वेतगाङ्गेयमम्बु च ।।८४।।
स्पृष्ट्वा स्वर्गं गमिष्यन्ति मद्भक्ता ये समाहिताः । यस्त्विमां प्रतिमां गच्छेन्माधवाख्यां शशिप्रभाम् ।।८५।।
शङ्खगोक्षीरसंकाशामशेषाघविनाशिनीम् । तां प्रणम्य सकृद्भक्त्या पुण्डरीकनिभेक्षणाम् ।।८६।।
विहाय सर्वलोकान्वै मम लोके महीयते । मन्वन्तराणि तत्रैव देवकन्याभिरावृतः ।।८७।।
गीयमानश्च मधुरं सिद्धगन्धर्वसेवितः । भुनक्ति विपुलान्भोगान्यथेष्टं मामकैः सह ।।८८।।
च्युतस्तस्मादिहाऽऽगत्य मनुष्यो ब्राह्मणो भवेत् । वेदवेदाङ्गविच्छ्रीमान्भोगवांश्चिरजीवितः[1] ।।८९।।
गजाश्वरथयानाढ्यो [2]धनधान्यावृतः शुचिः । रूपवान्बहुभाग्यश्च[3] पुत्रपौत्रसमन्वितः ।।९०।।

श्वेत बोले—भगवन् ! यदि मैं तुम्हारा भक्त हूँ, तो मुझे यह उत्तम वर दो । जगत्पते ! मैं तुम्हारे अनुग्रह से उस परम अव्यय वैष्णव पद को प्राप्त करना चाहता हूँ; जो ब्रह्मलोक से भी ऊपर, विमल, रजोगुण से रहित, शुद्ध और संसार के आकर्षण से परे हैं ।।७९-८०।।

श्री भगवान् बोले—सभी देवता, मुनि, सिद्धि और योगीजन भी जिस मनोहर, व्याधि-रहित परम पद को नहीं प्राप्त करते हैं; राज्य-सुख भोग कर भी तुम सब लोकों से परे मेरे उस परम स्थान एवं श्रेष्ठलोक को जाओगे ।।८१-८२।। राजेन्द्र ! तुम्हारी कीर्ति त्रिभुवन में फैलेगी और मेरा सर्वदा ही इस क्षेत्र में निवास रहेगा । इस जलोदधि को 'श्वेत गंगा' इस नाम से देव और दानव पुकारेंगे । राजेन्द्र ! इस श्वेत गंगा के जल को कुशाग्र से भी छूकर मेरे एकान्त भक्त स्वर्ग प्राप्त करेंगे । जो शशि के समान कान्तिमती, शंख तथा गो-दुग्ध के समान श्वेत, समस्त पापों को नष्ट करने वाली और मनोहर कमल के समान नेत्रवाली इस माधव की प्रतिमा के समीप जाता है एवं एक बार भी भक्तिपूर्वक प्रणाम करता है, वह भक्त सब लोकों को छोड़कर मेरे लोक में स्थान प्राप्त करता है और पूजित होता है ।।८३-८६ १/३।। वहाँ पर मन्वंतर पर्यन्त देव-कन्याओं के साथ रह कर मधुर गान का श्रवण करता है, सिद्ध-गन्धर्व उसकी सेवा करते हैं और वह मेरे पार्षदों के साथ विपुल भोगों का यथेच्छ भोग करता है ।।८७-८८।। पुनः वहाँ से च्युत होकर इस लोक में ब्राह्मण-कुल में जन्म लेता है; वह वेद-वेदांग का ज्ञाता, श्रीमान्, चिरञ्जीवी, गज, अश्व, रथ आदि वाहनों से सम्पन्न, धन-धान्य से समृद्ध, पवित्र, रूपवान्, भाग्यशाली और पुत्र-पौत्रादि वाला होता

---

[1] क. ० जीवनः । ग० । [2] ख. ०नवांश्च पुनः शु० । [3] ख. ०भार्यश्च ।

पुरुषोत्तमं पुनः प्राप्य वटमूलेऽथ सागरे । त्यक्त्वा देहं हरिं स्मृत्वा ततः शान्तपदं व्रजेत् ।।९१।।

इति श्री महापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे श्वेतमाधवमाहात्म्यवर्णनं
नामैकोनषष्टितमोऽध्यायः ।।५९।।

अथ षष्टितमोऽध्यायः

समुद्रस्नानविधिवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

श्वेतमाधवमालोक्य समीपे मत्स्यमाधवम् । एकार्णवजले [1]पूर्वं [2]रोहितं रूपमास्थितम् ।।१।।
वेदानां [3]हरणार्थाय रसातलतले स्थितम् । चिन्तयित्वा क्षितिं सम्यक्तस्मिन्स्थाने प्रतिष्ठितम् ।।२।।
आद्यावतरणं रूपं माधवं मत्स्यरूपिणम् । प्रणम्य प्रणतो भूत्वा सर्वदुःखाद्विमुच्यते ।।३।।
प्रयाति परमं स्थानं यत्र देवो हरिः स्वयम् । काले पुनरिहाऽऽयातो राजा स्यात्पृथिवीतले ।।४।।
वत्समाधवमासाद्य दुराधर्षो भवेन्नरः । दाता भोक्ता भवेद्यज्वा वैष्णवः संत्यसंगरः ।।५।।

है ।।९०।। तदुपरान्त पुरुषोत्तमतीर्थ में आकर सागर तट पर स्थित वट की छाया में भगवान् का स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर परम पद को प्राप्त करता है ।।९१।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में श्वेतमाधव-माहात्म्य-वर्णन नामक उनसठवाँ अध्याय समाप्त ।।५९।।

अध्याय ६०

समुद्र-स्नान की विधि का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—श्वेतमाधव का दर्शन कर समीप में ही स्थित उस मत्स्यमाधव को विनम्र भाव से प्रणाम करने पर मनुष्य सब दुःखों से छूट जाता है । पूर्वकाल में मत्स्यमाधव ने समुद्रमग्न पृथ्वी पर रोहित मत्स्य का रूप धारण किया था तथा वेदों का उद्धार करने के लिए वह रसातल में स्थित रहे और पृथ्वी को पुनः पूर्व स्थान पर प्रतिष्ठित किया था, यही भगवान् का मत्स्यरूप में प्रथम अवतार था । वह मनुष्य, जो मत्स्य को प्रणाम करता है, वह उसी स्थान को प्राप्त करता है, जहाँ भगवान् विष्णु स्वयं निवास करते हैं । समय पर (सृष्टि काल में) वह पुनः इस मृत्युलोक में आकर राजा होता है । मनुष्य मत्स्यमाधव का दर्शन कर अत्यन्त पराक्रमी, अजेय, दानी, भोगी, यज्ञकर्त्ता, विष्णुभक्त और सत्यप्रेमी होता है, लौकिक सुख-भोग के पश्चात् वैष्णव योग को पाकर मोक्ष प्राप्त

---

१ क. ख. पूर्णं । २ क. मोहितं । ३ ख. करणार्थाय ।

योगं प्राप्य हरेः पश्चात्ततो मोक्षमवाप्नुयात् । मत्स्यमाधवमाहात्म्यं मया संपरिकीर्तितम् ॥
यं दृष्ट्वा मुनिशार्दूलाः सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥६॥

मुनय ऊचुः

भगवञ्श्रोतुमिच्छामो मार्जनं वरुणालये । क्रियते स्नानदानादि तस्याशेषफलं वद ॥७॥

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूला मार्जनस्य यथाविधि । भक्त्या तु तन्मना भूत्वा संप्राप्य पुण्यमुत्तमम् ॥८॥
मार्कण्डेयह्लदे स्नानं पूर्वकाले [1]प्रशस्यते । चतुर्दश्यां विशेषेण सर्वपापप्रणाशनम् ॥९॥
तद्वत्स्नानं समुद्रस्य सर्वकालं प्रशस्यते । पौर्णमास्यां विशेषेण हयमेधफलं लभेत् ॥१०॥
मार्कण्डेयं वटं कृष्णं रौहिणेयं महोदधिम् । इन्द्रद्युम्नसरश्चैव पञ्चतीर्थीविधिः स्मृतः (?) ॥११॥
पूर्णिमा ज्येष्ठमासस्य ज्येष्ठा ऋक्षं यदा भवेत् । तदा गच्छेद्विशेषेण तीर्थराजं परं शुभम् ॥१२॥
कायवाङ्मानसैः शुद्धस्तद्भावो नान्यमानसः । सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्तो वीतरागो विमत्सरः ॥१३॥
कल्पवृक्षवटं रम्यं तत्र स्नात्वा जनार्दनम् । प्रदक्षिणं प्रकुर्वीत त्रिवारं सुसमाहितः ॥१४॥
यं दृष्ट्वा मुच्यते पापात्सप्तजन्मसमुद्भवात् । पुण्यं चाऽऽप्नोति विपुलं गतिमिष्टां च भो द्विजाः ॥१५॥

करता है । मुनिवर ! मैंने मत्स्यमाधव का माहात्म्य कह दिया, जिसका दर्शन कर मनुष्य सभी मनोरथों को प्राप्त करता है ॥१-६॥

मुनियों ने कहा—भगवन् ! अब हम लोग समुद्र में स्नान करने की विधि, स्नान-दानादि करने का फल भलीभाँति सुनना चाहते हैं, कृपया सुनाइये ॥७॥

ब्रह्मा ने कहा—मुनिवर ! मार्जन की विधि और भक्तिपूर्वक अनन्य भाव से तीर्थ में जाने से जो उत्तम पुण्य प्राप्त होता है उसे सुनिये ॥८॥ मार्कण्डेय ह्लद का प्रातःकालीन स्नान पापनाशक होता है; चतुर्दशी के दिन का स्नान तो विशेष रूप से सभी पापों को दूर करता है ॥९॥ उसी प्रकार यों तो सर्वदा समुद्र का स्नान प्रशस्त माना गया है, परन्तु पूर्णिमा के दिन स्नान करने से विशेष रूप से अश्वमेध का फल प्राप्त होता है ॥१०॥ मार्कण्डेय ह्लद, कृष्ण वट, रौहिणेय, महोदधि (सागर), इन्द्रद्युम्न सर—इन पाँच तीर्थों के स्नान की विशेष विधि कही गयी है ॥११॥ ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा यदि ज्येष्ठा नक्षत्र से युक्त हो, तो उस दिन विशेष रूप से परम शुभ तीर्थराज की यात्रा करनी चाहिए ॥१२॥ वहाँ शरीर, वाणी और मन से शुद्ध एवं सभी प्रकार के आन्तरिक द्वन्द्व, राग, ईर्ष्या से मुक्त हो अनन्य मन और भावना से मनोहर कल्पवटवृक्ष के समीप स्नान कर एकाग्र हो जनार्दन की तीन बार प्रदक्षिणा करे ॥१३-१४॥ विप्रगण वहाँ पर जनार्दन भगवान् का दर्शन कर मनुष्य अपने सात जन्म के पापों से छूट जाता है और अत्यन्त पुण्य तथा मनचाहे

---

[1] क. ०कालं विशिष्यते ।

तस्य नामानि वक्ष्यामि प्रमाणं च युगे युगे । यथासंख्यं च भो विप्राः कृतादिषु यथाक्रमम् ॥१६॥
वटं वटेश्वरं [१]कृष्णं पुराणपुरुषं द्विजाः । वटस्यैतानि नामानि कीर्तितानि कृतादिषु ॥१७॥
योजनं पादहीनं च योजनार्धं तदर्धकम् । प्रमाणं कल्पवृक्षस्य कृतादौ परिकीर्तितम् ॥१८॥
[२]यथोक्तेन तु मन्त्रेण नमस्कृत्वा तु तं वटम् । दक्षिणाभिमुखो गच्छेद्धन्वन्तरशतत्रयम् ॥१९॥
यत्रासौ दृश्यते विष्णुः[३] स्वर्गद्वारं मनोरमम् । सागराम्भः[४] समाकृष्टं काष्ठं सर्वगुणान्वितम् ॥२०॥
प्रणिपत्य ततस्तं भो परिपूज्य ततः पुनः । [५]मुच्यते सर्वरोगाद्यैस्तथा पापैर्ग्रहादिभिः ॥२१॥
उग्रसेनं पुरा दृष्ट्वा स्वर्गद्वारेण [६]सागरम् । [७]गत्वाऽऽचम्य शुचिस्तत्र ध्यात्वा नारायणं परम् ॥२२॥
न्यसेदष्टाक्षरं मन्त्रं पश्चाद्धस्तशरीरयोः । ॐ नमो नारायणायेति यं वदन्ति मनीषिणः ॥२३॥
किं कार्यं बहुभिर्मन्त्रैर्मनोविभ्रमकारकैः । ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥२४॥
आपो नरस्य सूनुत्वान्नारा इतीह कीर्तिताः । विष्णोस्तास्त्वयनं[८] पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥२५॥
नारायणपरा वेदा नारायणपरा द्विजाः । नारायणपरा यज्ञा नारायणपराः क्रियाः ॥२६॥
नारायणपरा पृथ्वी नारायणपरं जलम् । नारायणपरो वह्निर्नारायणपरं नभः ॥२७॥
नारायणपरो वायुर्नारायणपरं मनः । अहंकारश्च बुद्धिश्च उभे नारायणात्मके ॥२८॥

फल को प्राप्त करता है ॥१५॥ विप्रगण ! मैं उस वट के नाम, युगानुरूप प्रमाण और कृतादि युगों के अनुसार संख्या क्रमपूर्वक कहूँगा, ध्यानपूर्वक सुनो । द्विजगण ! कृत आदि युगों में इस वट के वट, वटेश्वर, कृष्ण और पुराण पुरुष—ये नाम कहे गये हैं ॥१६-१७॥ इस कल्पवृक्ष का प्रमाण एक योजन, पादोन योजन (तीन कोश), आधा (दो कोश) उसका आधा (एक कोश) क्रमशः कृत, त्रेता, द्वापर और कलि में कहा गया है ॥१८॥ यथोक्त मन्त्र से उस वट को नमस्कार कर दक्षिण की ओर तीन सौ धन्वन्तर (१२०० हाथ) पर्यन्त जाना चाहिए । जहाँ विष्णु, मनोरम स्वर्गद्वार तथा समुद्र-जल के द्वारा लाया गया सर्वगुणसम्पन्न काष्ठ दिखायी देता है ॥१९-२०॥ वहाँ पर भगवान् को नमस्कार और पुनः पूजन करने से मनुष्य सब प्रकार के रोग, पाप और ग्रह-पीड़ा से छूट जाता है ॥२१॥ पहले उग्रसेन का दर्शन कर स्वर्ग-द्वार से सागर के समीप जाकर, आचमन करके पवित्र हो जाय, फिर नारायण का स्मरण कर हाथ और शरीर पर 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्र से न्यास करे । अन्य बहुत-से भ्रम पैदा करने वाले मन्त्रों से कोई लाभ नहीं, यह ॐ नमो नारायणाय मन्त्र ही सभी अर्थों का साधक है ॥२२-२४॥ नर से उत्पन्न होने के कारण आप (जल) को 'नार' इस नाम से इस लोक में कहा गया है, वह पहले-पहल विष्णु का निवास-स्थान बना; इसलिए विष्णु 'नारायण' इस नाम से विख्यात हुए ॥२५॥ वेद, द्विज, यज्ञादि सभी क्रियाएँ पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु और मन सभी नारायण पर हैं, अर्थात् नारायण की उपासना में लीन और नारायण रूप हैं । अहंकार और बुद्धि दोनों नारायणात्मक हैं; भूत, भव्य, भविष्य और समस्त जीव नाम से प्रसिद्ध पदार्थ तथा स्थूल, सूक्ष्म, पर ये सभी नारायणात्मक हैं॥२६-२९॥ शब्द, रस आदि सभी विषय, श्रोत्र (कान) आदि इन्द्रियाँ, प्रकृति—यहाँ तक कि पुरुष भी

१क. पूर्वं । २ग. पूर्वोक्तेन । ३क. ग. चिह्नं । ४ग. ०माकीर्णं का० । ५ख. ०ते दुष्टरोगैस्तु तथा । ६क. संगतम् । ७क. ०त्वा तत्र शुचिर्भूत्वा ध्या० । ८क. ०स्तास्वय० ।

भूतं भव्यं भविष्यं च यत्किंचिज्जीवसंज्ञितम् । स्थूलं सूक्ष्मं परं चैव सर्वं नारायणात्मकम् ॥२९॥
शब्दाद्या विषयाः सर्वे श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि च । प्रकृतिः पुरुषश्चैव सर्वे नारायणात्मकाः ॥३०॥
जले स्थले च पाताले स्वर्ग लोकेऽम्बरे नगे । अवष्टम्य इदं सर्वमास्ते नारायणः प्रभुः ॥३१॥
किं चात्र बहुनोक्तेन जगदेतच्चराचरम् । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं सर्वं नारायणात्मकम् ॥३२॥
नारायणात्परं किंचिन्नेह पश्यामि भो द्विजाः । तेन व्याप्तमिदं सर्वं दृश्यादृश्यं चराचरम् ॥३३॥
आपो ह्यायतनं विष्णोः स च एवाम्भसां पतिः । तस्मादप्सु स्मरेन्नित्यं नारायणमघापहम् ॥३४॥
स्नानकाले विशेषेण[1] चोपस्थाय जले शुचिः । स्मरेन्नारायणं ध्यायेद्धस्ते काये च विन्यसेत् ॥३५॥
ओंकारं च नकारं च अङ्गुष्ठे हस्तयोर्न्यसेत् । शेषैर्ह (षान्ह) स्ततलं (ले) यावत्तर्जन्यादिषु विन्यसेत् ॥३६॥
ओंकारं वामपादे तु नकारं दक्षिणे न्यसेत् । मोकारं वामकट्यां तु नाकारं दक्षिणे न्यसेत् ॥३७॥
राकारं नाभिदेशे तु यकारं वामबाहुके । णाकारं दक्षिणे न्यस्य यकारं मूर्ध्नि विन्यसेत् ॥३८॥
अधश्चोर्ध्वं च हृदये पार्श्वतः पृष्ठतोऽग्रतः । ध्यात्वा नारायणं पश्चादारभेत्कवचं बुधः ॥३९॥
पूर्वे मां पातु गोविन्दो दक्षिणे मधुसूदनः । पश्चिमे श्रीधरो देवः केशवस्तु तथोत्तरे ॥४०॥
पातु विष्णुस्तथाऽऽग्नेये नैर्ऋते माधवोऽव्ययः । वायव्ये तु हृषीकेशस्तथेशाने च वामनः ॥४१॥
[2]भूतले पातु वाराहस्तथोर्ध्वं च त्रिविक्रमः । कृत्वैवं कवचं पश्चादात्मानं चिन्तयेत्ततः ॥४२॥

नारायणात्मक हैं ॥३०॥ जल, स्थल, पाताल, स्वर्ग, लोक, आकाश और पहाड़ सर्वत्र प्रभु नारायण व्यापक रूप से स्थित हैं ॥३१॥ इस विषय में और अधिक क्या कहा जाय, यह सचराचर जगत् व्रह्मा से लेकर स्तम्व पर्यन्त सब कुछ नारायणात्मक है ॥३२॥ द्विजगण ! नारायण के अतिरिक्त कोई भी वस्तु यहाँ नहीं दिखायी दे रही है, यह सारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष चराचरात्मक जगत् उसी नारायण से व्याप्त है ॥३३॥ विष्णु का जल ही निवास-स्थान है, वे ही जल के स्वामी हैं; इसलिए जल में सर्वदा उस अघहर नारायण का स्मरण करना चाहिए ॥३४॥ स्नान के समय तो विशेष रूप से जल में पवित्र भाव से स्थित होकर नारायण का स्मरण, ध्यान और हस्त तथा शरीर पर [1]अंगन्यास करना चाहिये ॥३५॥ पहले ओंकार और नकार को हाथों के अँगूठे पर न्यास करे, शेष मन्त्रभाग से हस्ततल (हथेली) से लेकर तर्जनी आदि तक न्यास करना चाहिए ॥३६॥ पुनः ओंकार को बायें और नकार को दाहिने चरण पर न्यस्त करे। मोकार को वाम तथा नाकार को दक्षिण कटि भाग पर स्थापित करे ॥३७॥ इसी प्रकार णकार को नाभि-देश में, यकार को बायीं भुजा पर, णकार को दाहिनी भुजा पर रखकर यकार को सिर भाग पर स्थापित करे ॥३८॥ तदनन्तर अधः, ऊर्ध्व, हृदय, पार्श्व (वगल) पृष्ठ (पीछे) और अग्र भाग में नारायण का ध्यान कर विद्वान् आगे कहे हुए नारायण-कवच का पाठ प्रारंभ करे ॥३९॥ गोविन्द पूर्व में, मधुसूदन दक्षिण में, श्रीधर पश्चिम में, इसी प्रकार उत्तर में केशव देव मेरी रक्षा करें ॥४०॥ और अग्निकोण में विष्णु, नैर्ऋत में अविनाशी माधव, वायव्य में हृषीकेश तथा ईशान में भगवान् वामन मेरी रक्षा करें ॥४१॥ एवं भू-पृष्ठ पर वाराह तथा आकाश में त्रिविक्रम विष्णु मेरी रक्षा करें। मैं ही शंख, चक्र और गदाधारी भगवान् नारायण

---

१ क. ख. ०ण वेदस्याऽयतनं शु० । २ क. सुतले ।

अहं नारायणो देवः शङ्खचक्रगदाधरः । एवं ध्यात्वा तदाऽऽत्मानमिमं मन्त्रमुदीरयेत् ॥४३॥
त्वमग्निर्द्विपदां[1] नाथ रेतोधाः कामदीपनः । प्रधानः सर्वभूतानां [2]जीवानां प्रभुरव्ययः[3] ॥४४॥
अमृतस्यारणिस्त्वं हि देवयोनिरपां पते । वृजिनं हर मे [4]सर्वं तीर्थराज नमोऽस्तु ते ॥४५॥
एवमुच्चार्य विधिवत्ततः स्नानं समाचरेत् । अन्यथा भो [5]द्विजश्रेष्ठाः स्नानं तत्र न शस्यते ॥४६॥
कृत्वा तु वैदिकैर्मन्त्रैरभिषेकं च मार्जनम् । अन्तर्जले [6]जपेत्पश्चात्त्रिरावृत्त्याऽघमर्षणम् ॥४७॥
हयमेधो यथा विप्राः सर्वपापहरः क्रतुः । तथाऽघमर्षणं चात्र सूक्तं सर्वाघनाशनम् ॥४८॥
उत्तीर्य वाससी धौते निर्मले परिधाय वै । प्राणानायम्य चाऽऽचम्य संध्यां चोपास्य भास्करम् ॥४९॥
[7]उपतिष्ठेत्ततश्चोर्ध्वं क्षिप्त्वा पुष्पजलाञ्जलिम् । उपस्थायोर्ध्वबाहुश्च तल्लिङ्गैर्भास्करं ततः[8] ॥५०॥
गायत्रीं पावनीं देवीं जपेदष्टोत्तरं शतम् । अन्यांश्च सौरमन्त्रांश्च जप्त्वा तिष्ठन्समाहितः ॥५१॥
कृत्वा प्रदक्षिणं सूर्यं नमस्कृत्योपविश्य च । स्वाध्यायं प्राङ्मुखः कृत्वा तर्पयेद्दैवतान्यृषीन् ॥५२॥
मनुष्यांश्च पितॄंश्चान्यान्नामगोत्रेण मन्त्रवित् । तोयेन तिलमिश्रेण विधिवत्सुसमाहितः ॥५३॥
तर्पणं देवतानां च पूर्वं कृत्वा समाहितः । अधिकारी भवेत्पश्चात्पितॄणां तर्पणे द्विजः ॥५४॥
श्राद्धे हवनकाले च पाणिनैकेन निर्वपेत्[9] । तर्पणे [10]तूभयं कुर्यादेष एव विधिः सदा ॥५५॥

हूँ, इस प्रकार नारायण रूप में अपने को ध्यान में रखकर इस आगे कहे हुए मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।।४३।। हे नरनाथ ! तुम अग्नि, वीर्य धारण वाले, और प्राणियों के हृदय में काम को दीप्ति करने वाले हो, तुम सभी भूतों (जीव या पदार्थ) में प्रधान, और जीवों के अविनाशी प्रभु हो ।।४४।। जल के स्वामी ! तुम अमृत के निधान, और देवयोनि हो, तीर्थराज ! मेरे सभी पापों को दूर करो, तुम्हें मेरा नमस्कार है ।।४५।। इस प्रकार मन्त्रोच्चारण कर विधिवत् स्नान करना चाहिये । विप्रवर्य ! अन्यथा (अविधि से) समुद्र में स्नान करने का कोई विशेष फल नहीं होता ।।४६।। वैदिक मन्त्रों से अभिषेक और मार्जन करने के पश्चात् जल में डूवकर तीन वार अघमर्षण मन्त्र का जप करे।।४७।। व्राह्मणो ! जिस प्रकार अश्वमेध सव पापों को नष्ट करने वाला यज्ञ है उसी प्रकार इस लोक में अघमर्षण सब पापों को नष्ट करने वाला सूक्त है ।।४८।। जल से निकल कर, स्वच्छ, धुले उत्तरीय वस्त्र पहनकर प्राणायाम और आचमन कर विधिवत् संध्योपासन करे। तदनन्तर पुष्पयुक्त जलाञ्जलि देकर खड़े होकर सूर्योपस्थान करे, ऊर्ध्ववाहु हो पूर्व प्रकार से ही सूर्योपस्थान करने के वाद एकाग्रचित्त से पवित्र गायत्री देवी का एक सौ आठ बार और अन्य सूर्य-मन्त्रों का भी जप करे।।४९-५१।। पुनः सूर्य की प्रदक्षिणा तथा नमस्कार कर आसनस्थ हो पूर्व की ओर मुख कर स्वाध्याय करे। मन्त्रज्ञ मनुष्य स्वाध्याय के वाद तिलमिश्रित जल से विधिपूर्वक एकाग्र मन से देवताओं, ऋषियों और नाम-गोत्रपूर्वक मनुष्यों, पितरों एवं अन्य भूतों का तर्पण करे।।५२-५३।। व्राह्मण एकाग्र मन से देवतर्पण करने के वाद ही पितृतर्पण का अधिकारी होता है। श्राद्ध और हवन काल में एक हाथ से ही निर्वपन (श्राद्ध या हवन की क्रिया) करना चाहिये । तर्पण में दोनों हाथों से क्रिया करे यही सनातन विधि है।।५४-

---

१क. ख.—द्विंषतां ना० । २ख. नां च प्रमुख्यकः । अ० । ३क. ख. ०यः । यतस्तस्या० । ४क. देव । ५ख. मुनिश्रेष्ठाः । ६क. ०श्चान्मन्त्रं चाप्यघ० । ७क. ०त्ततो विप्राः क्षि० । ८क. नरः । ९क. तर्पयेत् । १०ख. द्वितयं ।

अन्वारब्धेन सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु । [1]तृप्यतामिति सिञ्चेत्तु नामगोत्रेण वाग्यतः ।।५६।।
कायस्थैर्यस्तिलैर्मोहात्करोति पितृतर्पणम् । तर्पितास्तेन पितरस्त्वङ्मांसरुधिरास्थिभिः ।।५७।।
अङ्गस्थैर्न तिलैः कुर्याद्देवतापितृतर्पणम् । रुधिरं तद्भवेत्तोयं प्रदाता किल्बिषी भवेत् ।।५८।।
भूम्यां यद्दीयते तोयं दाता चैव जले स्थितः । वृथा तन्मुनिशार्दूला नोपतिष्ठति कस्यचित् ।।५९।।
स्थले स्थित्वा जले यस्तु प्रयच्छेदुदकं नरः । पितॄणां नोपतिष्ठेत सलिलं तन्निरर्थकम् ।।६०।।
उदके नोदकं कुर्यात्पितृभ्यश्च कदाचन । उत्तीर्य तु शुचौ देशे कुर्यादुदकतर्पणम् ।।६१।।
नोदकेषु न पात्रेषु न क्रुद्धो नैकपाणिना । नोपतिष्ठति तत्तोयं यद्भूम्यां न प्रदीयते ।।६२।।
पितृणामक्षयं[2] स्थानं मही दत्ता मया द्विजाः । तस्मात्तत्रैव दातव्यं पितॄणां प्रीतिमिच्छता ।।६३।।
भूमिपृष्ठे समुत्पन्ना भूम्यां चैव च संस्थिताः । भूम्यां चैव लयं याता भूमौ दद्यात्ततो जलम् ।।६४।।
आस्तीर्य च कुशान्साग्रांस्तानावाह्य स्वमन्त्रतः । प्राचीनाग्रेषु वै देवान्याम्याग्रेषु तथा पितॄन् ।।६५।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे समुद्रस्नानविधिनिरूपणं नाम
षष्टितमोऽध्यायः ।।६०।।

५५।। अन्वारब्ध (वायें पैर को मोड़कर वैठना) हो बायें हाथ से दाहिने हाथ में जल गिराता हुआ वाणी का संयम कर नाम गोत्र का उल्लेख करता हुआ 'तृप्यताम्' इस मंत्र के तर्पण करना चाहिये । जो मनुष्य शरीर पर तिल रख कर अज्ञानवश पितृतर्पण करता है वह अपने पितरों का मांस, रुधिर और चर्म अस्थि से तर्पण करता है।।५६-५७।। इसलिए शरीर पर रखे तिलों से कभी भी देव पितृ तर्पण नहीं करना चाहिये क्योंकि तर्पण में दिया वह जल रुधिर के समान होता और वह दाता पाप का भागी होता है ।।५८।। मुनिवर्य ! दाता द्वारा स्वयं जल में स्थित होकर भूमि पर दिया हुआ जल व्यर्थ जाता है वह किसी पितर या देव को प्राप्त नहीं होता ।।५९।। इसी प्रकार जो स्थल पर बैठ कर जल में तर्पण-जल गिराता है वह जल व्यर्थ हो जाता है, किसी पितर को प्राप्त नहीं होता ।।६०।। जल में स्थित होकर जल में कभी भी तर्पण नहीं करना चाहिये किन्तु जल से बाहर निकल कर पवित्र स्थान पर जल-तर्पण करना चाहिए ।।६१।। क्रुद्ध होकर, एक हाथ से, जल में या किसी पात्र में तर्पण-जल नहीं गिराना चाहिये क्योंकि वह जल जो पृथ्वी पर नहीं दिया जाता व्यर्थ जाता है, किसी अभीष्ट उद्दिष्ट पितर या देवता को प्राप्त नहीं होता ।।६२।। हे द्विजगण ! मैंने पितरों को पृथ्वी ही अक्षय स्थान के रूप में दी है इसलिए पितृप्रेमी व्यक्ति पितरों को प्रसन्न करने के लिए पृथ्वी पर ही तर्पण जल दे ।।६३।। पितर लोग इस भूपृष्ठ पर ही उत्पन्न हुए, भूमि पर ही रहे और अंत में भूमि में ही लीन भी हो गये इसलिए भूमि पर ही अग्रभागसिहत कुशाओं को फैलाकर, उनका मन्त्रों से आवाहन कर पूर्वाग्रभाग में देवताओं के लिए और दक्षिण भाग में पितरों के लिए जल देना चाहिये ।।६४-६५।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में समुद्रस्नान-विधि-निरूपण नामक साठवाँ अध्याय समाप्त ।।६०।।

---

[1] क. ख. ०ति वक्तव्यं ना० । [2] ख. ०यं सम्यङ्मही ।

अथैकषष्टितमोऽध्यायः

पूजाविधिकथनम्

ब्रह्मोवाच

देवान्पितॄस्तथा चान्यान्संतर्प्याऽऽचम्य वाग्यतः । हस्तमात्रं चतुष्कोणं चतुर्द्वारं सुशोभनम् ।।१।।
पुरं विलिख्य[१] भो विप्रास्तीरे तस्य महोदधेः । मध्ये तत्र लिखेत्पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ।।२।।
एवं मण्डलमालिख्य पूजयेत्तत्र भो द्विजाः । अष्टाक्षरविधानेन नारायणमजं विभुम् ।।३।।
अतः परं प्रवक्ष्यामि कायशोधनमुत्तमम् । [२]अकारं हृदये ध्यात्वा[३] चक्ररेखासमन्वितम्[४] ।।४।।
ज्वलन्तं त्रिशिखं चैव दहन्तं पापनाशनम् । [५]चन्द्रमण्डलमध्यस्थं [६]राकारं मूर्ध्नि चिन्तयेत् ।।५।।
[७]शुक्लवर्णं प्रवर्षन्तममृतं प्लावयन्महीम् । एवं निर्धूतपापस्तु [८]दिव्यदेहस्ततो भवेत् ।।६।।
अष्टाक्षरं ततो मन्त्रं न्यसेदेवाऽऽत्मनो बुधः । वामपादं समारभ्य क्रमशश्चैव विन्यसेत् ।।७।।
पञ्चाङ्गं वैष्णवं चैव चतुर्व्यूहं तथैव च । करशुद्धिं प्रकुर्वीत मूलमन्त्रेण साधकः ।।८।।
एकैकं चैव वर्णं तु अङ्गुलीषु पृथक्पृथक् । ओंकारं पृथिवीं शुक्लां वामपादे तु विन्यसेत् ।।९।।
नकारः [९]शांभवः श्यामो दक्षिणे तु व्यवस्थितः । मोकारं कालमेवाऽऽहुर्वामकट्यां निधापयेत् ।।१०।।

अध्याय ६१

पूजा की विधि का निर्देश

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार देव, पितर और मनुष्यों का तर्पण कर मौन हो आचमन कर विप्रगण, उस महोदधि के तट पर एक हाथ लम्बा, उतना ही चौड़ा एक सुन्दर चतुर्भुज क्षेत्र बनाये, जिसके चारों ओर चार द्वार हों, उसके मध्य में आठ पंखुड़ियों वाला कमल बनाये। द्विजवृन्द ! ऐसा मण्डल बना कर उसमें अष्टाक्षर मन्त्र से, अज, व्यापक नारायण की स्थापना कर पूजा करे ।।१-३।। अव इसके बाद उत्तम शरीर-शोधन की विधि बतला रहा हूँ। पहले हृदय में चक्र रेखा से युक्त आकार का, जिसमें पापों को नष्ट करने वाले प्रज्वलित अग्नि का भी रूप हो—ध्यान करे और मस्तक में चन्द्रमण्डल के मध्य में स्थित शुक्ल वर्ण और अपनी अमृत-वर्षा से पृथ्वी को डुबाते या भरते हुए-से 'रा' का ध्यान करे ।।४-५½।। इस प्रकार ध्यान करने से मनुष्य पापमुक्त और दिव्य देहवाला हो जाता है। तदुपरान्त विद्वान् मनुष्य अपने बायें पैर से आरम्भ कर क्रमशः अन्य अंगों में अष्टाक्षर मंत्र से अङ्गन्यास करे ।।६-७।। वह साधक फिर वैष्णव पंचाङ्ग तथा चतुर्व्यूह और मूल मन्त्र से कर-शुद्धि करे ।।८।। अँगुलियों पर पृथक्-पृथक् एक-एक वर्ण का और बायें पैर पर शुक्ल वर्ण पृथिवी, ओंकार का न्यास करे ।।९।। दक्षिण

---

[१]ख. विलिप्य। ग. प्रलिप्य। [२]ग. क्षकारं। [३]ख. ग. चिन्त्य। [४]ख. ०रेफस०। [५]ख. चतुर्मुण्ड०। [६]क. वकारं। ख. चकारं। [७]क. रक्तवर्णं। [८]ख. व्यहस्तस्त०। [९]क. शोभनः।

नाकारः [1]सर्वबीजं तु दक्षिणस्यां व्यवस्थितः । राकारस्तेज इत्याहुर्नाभिदेशे व्यवस्थितः ॥११॥
वायव्योऽयं यकारस्तु वामस्कन्धे समाश्रितः । णाकारः सर्वगो ज्ञेयो दक्षिणांसे व्यवस्थितः ॥
यकारोऽयं शिरस्थश्च यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥१२॥

ॐ विष्णवे नमः शिरः। ॐ ज्वलनाय नमः शिखा । ॐ विष्णवे नमः कवचम् । ॐ विष्णवे[2] नमः[3] स्फुरणं दिशोबन्धाय । ॐ हुंफडस्त्रम्[4] । ॐ शिरसि शुक्लो वासुदेव इति[5]। ॐ आं ललाटे रक्तः संकर्षणो[6] गरुत्मान्वह्निस्तेज आदित्य इति[7] । ॐ आं ग्रीवायां पीतः प्रद्युम्नो वायुमेघ[8] इति[9] । ॐ आं हृदये[10] कृष्णोऽनिरुद्धः सर्वशक्तिसमन्वित इति । एवं चतुर्व्यूहमात्मानं कृत्वा ततः कर्म समाचरेत् ॥१३॥

ममाग्रेऽवस्थितो विष्णुः पृष्ठतश्चापि केशवः । गोविन्दो दक्षिणे पार्श्वे वामे तु मधुसूदनः ॥१४॥
[11]उपरिष्टात्तु वैकुण्ठो वाराहः पृथिवीतले । अवान्तरदिशो यास्तु तासु सर्वासु माधवः ॥१५॥
गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा । नरसिंहकृता गुप्तिर्वासुदेवमयो ह्यहम् ॥१६॥
एवं विष्णुमयो भूत्वा ततः कर्म समारभेत् । यथा[12] देहे तथा देवे सर्वतत्त्वानि योजयेत् ॥१७॥

पाद पर श्यामवर्ण के शम्भु प्रतीक 'न' को स्थापित करे। 'मो' को काल ही कहा जाता है, उसको वाम कटि पर और सबके बीज रूप 'ना' को दक्षिण कटि पर स्थापित करे, 'रा' को तेज कहा जाता है, उसको नाभि प्रदेश में, वायु प्रतीक 'य' को बायें कन्धे पर न्यस्त करे, णकार को सर्वव्यापक जानना चाहिये । इसी प्रकार 'ण' को दाहिने कन्धे पर तथा 'य' को—जिसमें सब लोक प्रतिष्ठित हैं—सिर पर स्थापित करे ॥१०-१२॥

पुनः 'ॐ' विष्णवे नमः, कहकर सिर, ॐ ज्वलनाय नमः कहकर शिखा, ॐ विष्णवे नमः कहकर कवच, ॐ विष्णवे नमः और हुं फडस्त्रम् कहकर नेत्र-स्पर्श और दिग्बन्ध करे । इसके पश्चात् ॐ शिरसि शुक्लो वासुदेवः (सिर पर शुक्ल वासुदेव) ॐ आँ ललाटे (ललाट पर) रक्तः संकर्षणो गरुत्मान् वह्निस्तेज आदित्यः, ॐ आं ग्रीवायां (ग्रीवा में) पीतः प्रद्युम्नः वायुमेघः, ॐ आं हृदये कृष्णोऽनिरुद्धः सर्वशक्तिसमन्वितः, इन मन्त्रों से अपने को चतुर्व्यूह से सुरक्षित करने के बाद आगे कही विधि का अनुष्ठान करे ॥ १३॥ मेरे अग्रभाग में विष्णु, पीछे केशव, दाहिने पार्श्व में गोविन्द, बाँये मधुसूदन, ऊपर से वैकुण्ठ, पृथिवी-तल पर भगवान् वाराह, सम्पूर्ण दिशाओं और अवान्तर दिशाओं (कोणों में) माधव रक्षा करें । इसी प्रकार चलते, बैठते, जागते और सोते समय मेरी नृसिंह भगवान् के द्वारा रक्षा हो, अब मैं वासुदेवमय हो गया । इस प्रकार भवना से विष्णुमय होकर अग्रिम कर्म का प्रारम्भ करे और जिस प्रकार शरीर पर सब तत्त्वों की योजना की उसी प्रकार देव पर (मण्डलस्थदेव पर) सम्पूर्ण तत्त्वों की योजना करे ॥ १४-

---

[1] ग. पूर्वबीजं । [2] क. ०वे स्फु० । [3] ख. ०मः स्फुरस्कारदि० । ग. ०मः क्षारक्षारदि० । [4] ग. ०फण्मन्त्रम् । [5] क. ०ति । ए० । ख. ०तिल० । [6] ख. ०णो वह्नि० । [7] क. ०ति । आग्रि० । ख. ०ति । अग्री० । [8] ख. मेधाभ्र इ० । [9] ग. ०ति । अं ऊं हृ० । [10] ग. ०ये हृष्टोऽनि० । [11] क. ०पतिष्ठतु वै० । [12] ख. ०थात्मनि त० ।

ततश्चैव प्रकुर्वीत प्रोक्षणं [1]प्रणवेन तु । फट्कारान्तं समुद्दिष्टं सर्वविघ्नहरं शुभम् ॥१८।
[2]तत्रार्कचन्द्रवह्नीनां मण्डलानि विचिन्तयेत् । पद्ममध्ये न्यसेद्विष्णुं[3] पवनस्याम्बरस्य च ॥१९॥
ततो विचिन्त्य हृदय ओंकारं ज्योतिरूपिणम् । कर्णिकायां समासीनं ज्योतिरूपं सनातनम् ॥२०॥
अष्टाक्षरं ततो मन्त्रं विन्यसेच्च यथाक्रमम् । तेन व्यस्तसमस्तेन पूजनं परमं स्मृतम् ॥२१॥
द्वादशाक्षरमंत्रेण यजेद्देवं सनातनम् । ततोऽवधार्य हृदये कर्णिकायां[4] बहिर्न्यसेत् ॥२२॥
चतुर्भुजं महासत्त्वं सूर्यकोटिसमप्रभम् । चिन्तयित्वा महायोगं ज्योतिरूपं सनातनम् ॥
ततश्चाऽऽवाहयेन्मन्त्रं क्रमेणाऽऽचिन्त्य मानसे ॥२३॥

आवाहनमन्त्रः—मनीरूपो वराहश्च नरसिंहऽथ वामनः । आयातु देवो वरदो मम नारायणोऽग्रतः । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२४॥

स्थापनमन्त्रः[5]—कर्णिकायां सुपीठेऽत्र पद्मकल्पितमासनम् । सर्वसत्त्वहितार्थाय तिष्ठ त्वं मधुसूदन । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२५॥

अर्घमन्त्रः—ॐ त्रैलोक्यपतीनां[6] पतये[7] देवदेवाय हृषीकेशाय विष्णवे नमः । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२६॥

१७॥ इतनी क्रिया के पश्चात् विघ्न-विनाशक शुभ प्रणव से प्रारब्ध फट्कारान्त वाले मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय फट्) प्रोक्षण (जल सिंचन) करे ॥१८॥ उस मण्डल में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु और आकाश के चक्र स्थापित कर पद्म के मध्य भाग में विष्णु की स्थापना करे ॥१९॥ तदुपरान्त अपने हृदय में पद्मपत्र पर स्थित, ज्योतिस्वरूप, सनातन, ज्योतिर्मय ओकार का ध्यान कर क्रमपूर्वक अष्टाक्षर मन्त्र का विन्यास कर, फिर उसी मन्त्र से अलग-अलग और समूहात्मक रूप में पूजन करना परम उत्कृष्ट कहा गया है ॥२०-२१॥ द्वादशाक्षर मन्त्र से सनातन देव की पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार पूजन के बाद हृदय में भगवान् का ध्यान और सनातन ज्योति रूप महायोग का स्मरण कर कर्णिका के बाहरी भाग में महापराक्रमी, कोटि सूर्य के समान तेजस्वी, चतुर्भुज भगवान् की स्थापना कर मन्त्रों का क्रमशः मन में ध्यान कर आवाहन करे ॥२२-२३॥

आवाहन के मन्त्र—'मीनरूप' वराह, नरसिंह और वामन रूप धारण करने वाले, वरदनारायण देव मेरे सम्मुख आयें। ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२४॥

स्थापन मन्त्र—इस सुन्दर कर्णिका के पीठ पर पद्म रूप में कल्पित आसन पर हे मधुसूदन ! अखिल जीव के कल्याण के लिए तुम बैठो। ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२५॥

अर्घमन्त्र—ॐ त्रिभुवनपति के भी पति, देवदेव, हृषीकेश विष्णु को नमस्कार है, ॐ नमो नारायणाय नमः॥२६॥

---

[1]क. प्रवणेन । [2]ग. प्रवरेण । क. ० त्राथर्धच० । [3]क. ०द्विष्णुमेवमस्यापरस्य तु । त० । [4] ख. ०यां हरिं न्य० । [5] ग. ०न्त्रः० । सुमेरुः० पादपीठं ते प० । [6] क. तीनामर्च्याय दे० । [7] क. ०येऽर्च्याय दे० ।

पाद्यमन्त्रः—ॐ पाद्यं पादयोर्देव पद्मनाभ सनातन । विष्णो कमलपत्राक्ष गृहाण मधुसूदन । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२७॥

मधुपर्कमन्त्रः—मधुपर्कं महादेव ब्रह्माद्यैः कल्पितं तव । मया निवेदितं भक्त्या गृहाण पुरुषोत्तम । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२८॥

आचमनीयमन्त्रः—मन्दाकिन्याः सितं वारि सर्वपापहरं शिवम् । गृहाणाऽऽचमनीयं त्वं मया भक्त्या निवेदितम् । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२९॥

स्नानमन्त्रः—त्वमापः पृथिवी चैव ज्योतिस्त्वं वायुरेव च । [1]लोकेश वृत्तिमात्रेण वारिणा स्नापयाम्यहम् । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३०॥

वस्त्रमन्त्रः—देवतत्त्वसमायुक्त[2] यज्ञवर्णसमन्वित । स्वर्णवर्णप्रभे देव वाससी तव केशव । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३१॥

विलेपनमन्त्रः—शरीरं ते जानामि चेष्टां चैव च केशव । मया निवेदितो गन्धः प्रतिगृह्य विलिप्यताम् । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३२॥

उपवीतमन्त्रः—ऋग्यजुःसाममन्त्रेण त्रिवृतं पद्मयोनिना । सावित्रीग्रन्थिसंयुक्तमुपवीतं [3]तवार्पये । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३३॥

पाद्य मन्त्र—हे पद्मनाभ सनातन देव ! तुम्हारे चरणों पर पाद्य अर्पित कर रहा हूँ, कमलपत्राक्ष ! मधुसूदन ! विष्णो, ग्रहण करो। ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२७॥

मधुपर्क मन्त्र—महादेव ! ब्रह्मा आदि द्वारा कल्पित तुम्हारे इस मधुपर्क को मैं भक्तिपूर्वक अर्पित कर रहा हूँ, पुरुषोत्तम ! ग्रहण करो। ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२८॥

आचमनीय मन्त्र—इस सर्वपापहर शुभ मन्दाकिनी के जल को आचमन के लिए भक्तिपूर्वक अर्पित कर रहा हूँ, देव ! तुम ग्रहण करो। ॐ नमो नारायणाय नमः ॥२९॥

स्नान मन्त्र—तुम जल, पृथिवी और ज्योति रूप हो, तुम्हीं वायु हो, फिर भी लोकपते ! केवल औपचारिक रूप से जल से स्नान करा रहा हूँ। ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३०॥

वस्त्र मन्त्र—देव-तत्त्व से युक्त, यज्ञवर्ण से समन्वित देव ! केशव ! ये तुम्हारे लिये स्वर्णवर्ण के वस्त्र हैं। ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३१॥

विलेपन मन्त्र—केशव ! तुम्हारे शरीर को नहीं जानता, न तो तुम्हारी इच्छाओं को ही जानता हूँ, पुनरपि यह सुगन्धित लेप अर्पित कर रहा हूँ, इसको ग्रहण कर अपने शरीर पर लगा लो। ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३२॥

यज्ञोपवीत मन्त्र—पद्मयोनि ब्रह्मा द्वारा ऋक्, यजुः और सामवेद के मन्त्रों से तीन बार लपेटा हुआ और सावित्री द्वारा वनायी गाँठों से युक्त इस यज्ञोपवीत को अर्पित कर रहा हूँ। ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३३॥

---

[1] ग. लोकसंघृतिमा० । [2] ख. ०ज्ञकर्मस० । [3] क. तवाच्युत । ख. तथा तव । ॐ ।

अलंकारमन्त्रः—दिव्यरत्नसमायुक्त वह्निभानुसमप्रभ । गात्राणि तव शोभन्तु सालंकाराणि माधव । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३४॥

ॐ नम इति प्रत्यक्षरं समस्तेन मूलमन्त्रेण वा पूजयेत् ॥३५॥

धूपमन्त्रः—वनस्पतिरसो दिव्यो गन्धाढ्यः [१]सुरभिश्च ते । मया निवेदितो भक्त्या धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३६॥

दीपमन्त्रः—सूर्यचन्द्रसमो ज्योतिर्विद्युदग्न्योस्तथैव च । त्वमेव ज्योतिषां देव दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३७॥

नैवेद्यमन्त्रः—अन्नं चतुर्विधं चैव रसैः षड्भिः समन्वितम् । मया निवेदितं भक्त्या नैवेद्यं तव केशव । ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३८॥

पूर्वे दले वासुदेवं याम्ये संकर्षणं न्यसेत् । प्रद्युम्नं पश्चिमे कुर्यादनिरुद्धं तथोत्तरे ॥३९॥
वाराहं च तथाऽऽग्नेये नरसिंहं च नैर्ऋते । वायव्ये माधवं चैव तथैशाने त्रिविक्रमम् ॥४०॥
तथाऽष्टाक्षरदेवस्य गरुडं पुरतो न्यसेत् । वामपार्श्वे तथा चक्रं शङ्खं दक्षिणतो न्यसेत् ॥४१॥
तथा महागदां चैव न्यसेद्देवस्य दक्षिणे । ततः शार्ङ्गं धनुर्विद्वान्न्यसेद्देवस्य वामतः ॥४२॥
दक्षिणेनेषुधी दिव्ये खड्गं वामे च विन्यसेत् । श्रियं दक्षिणतः स्थाप्य पुष्टिमुत्तरतो न्यसेत् ॥४३॥

अलङ्कार मन्त्र—दिव्य रत्नों से आभूषित, अग्नि और भानु के समान प्रभा वाले माधव ! तुम्हारे अङ्ग इन मेरे दिये गये आभूषणों से सुशोभित हों, ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३४॥

ॐ नमः इसके प्रत्येक अक्षर से या समस्त मूल मन्त्र से पूजन करना चाहिये ॥३५॥

धूप मन्त्र—मैं तुम्हारे लिये इस दिव्य गन्ध से भरे, सुरभित वनस्पति रस धूप को श्रद्धा से समर्पित कर रहा हूँ, देव ! ग्रहण करो, ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३६॥

दीप मन्त्र—तुम सूर्य, चन्द्र, विद्युत् और अग्नि के समान ज्योतिष्मान् हो, तुम ही प्रकाश-पुञ्ज हो, देव ! यह दीप स्वीकार करो; ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३७॥

नैवेद्य मन्त्र—चार प्रकार का, षड्रस से युक्त मधुर भोजन श्रद्धापूर्वक अर्पित कर रहा हूँ, केशव ! स्वीकार करो; ॐ नमो नारायणाय नमः ॥३८॥ (इन उपर्युक्त मन्त्रों से सविधि भगवान् की पूजा करने के वाद पुनः देवन्यास करे।) पूर्व दल पर वासुदेव को, दक्षिण पर संकर्षण को एवं पश्चिम दल पर प्रद्युम्न को एवं उत्तर वाले दल पर अनिरुद्ध को न्यस्त करे ॥३९॥ इसी प्रकार अग्नि-निर्ऋति, वायव्य और ईशानकोण में क्रमशः वाराह, नरसिंह, माधव और त्रिविक्रम का न्यास करे ॥४०॥ इस प्रकार आठ अक्षरों में न्यस्त देवता के अग्रभाग में गरुड़ का तथा वाम पार्श्व और दक्षिण पार्श्व में चक्र, शंख का न्यास कर देव के दक्षिण महागदा तथा वामभाग में शार्ङ्गधनुष का विद्वान् मनुष्य न्यास करे ॥४१-४२॥ पुनः दक्षिण ओर दो दिव्य तरकस, और वायीं ओर खड्ग का न्यास करे। शस्त्रन्यास के उपरान्त दक्षिण ओर श्री को, उत्तर ओर पुष्टि को, आगे की ओर वनमाला, श्रीवत्स और कौस्तुभ तथा

---

[१] क. सुमनोहरः । म० ।

वनमालां च पुरतस्ततः श्रीवत्सकौस्तुभौ । विन्यसेद्धृदयादीनि पूर्वादिषु चतुर्दिशम् ॥४४॥
ततोऽस्त्रं देवदेवस्य कोणे चैव तु विन्यसेत् । इन्द्रमग्निं यमं चैव नैर्ऋतं वरुणं तथा ॥४५॥
वायुं धनदमीशानमनन्तं ब्राह्मणा सह । [1]पूजयेत्तान्त्रिकैर्मन्त्रैरधश्चोर्ध्वं तथैव च ॥४६॥
एवं संपूज्य देवेशं मण्डलस्थं जनार्दनम् । लभेदभिमतान्कामान्नरो नास्त्यत्र संशयः ॥४७॥
अनेनैव विधानेन मण्डलस्थं जनार्दनम् । पूजितं यः संपश्येत स विशेद्विष्णुमव्ययम् ॥४८॥
सकृदप्यर्चितो येन विधिनाऽनेन केशवः । जन्ममृत्युजरां[2] तीर्त्वा स विष्णोः पदमाप्नुयात् ॥४९॥
यः स्मरेत्सततं भक्त्या नारायणमतन्द्रितः । [3]अन्वहं तस्य वासाय श्वेतद्वीपः प्रकल्पितः ॥५०॥
ओंकारादिसमायुक्तं नमःकारान्तदीपितम् । तन्नाम सर्वतत्त्वानां मन्त्र इत्यभिधीयते ॥५१॥
अनेनैव विधानेन गन्धपुष्पं निवेदयेत् । एकैकस्य प्रकुर्वीत यथोद्दिष्टं क्रमेण तु ॥५२॥
मुद्रास्ततो [4]निबध्नीयाद्यथोक्तक्रमचोदिताः । जपं चैव प्रकुर्वीत मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ॥५३॥
अष्टाविंशतिमष्टौ वा शतमष्टोत्तरं तथा । कामेषु च[5] यथाप्रोक्तं यथाशक्ति समाहितः ॥५४॥
पद्मं शङ्खश्च श्रीवत्सो गदा गरुड एव च । चक्रं खड्गश्च शार्ङ्गं च अष्टौ मुद्राः प्रकीर्तिताः ॥५५॥
विसर्जनमन्त्रः—गच्छ गच्छ परंस्थानं पुराणपुरुषोत्तम[6] । यत्र ब्रह्मादयो देवा विन्दन्ति परमं पदम् ॥५६॥

हृदयादि को पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रमानुसार न्यस्त करना चाहिये ॥४३-४४॥ तदनन्तर कोण में देवदेव के अस्त्रों की स्थापना कर इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत्य, वरुण, वायु, कुवेर, ईशान, अनन्त आदि देवों का ब्रह्मा के साथ अधः और ऊर्ध्व भाग में आवाहन कर तान्त्रिक मन्त्रों से पूजन करे ॥४५-४६॥ इस प्रकार मण्डल में स्थित देवेश जनार्दन का पूजन करने से मनुष्य अपनी अभीष्ट कामनाओं को अवश्य प्राप्त करता है इसमें सन्देह नहीं ॥४७॥ इसी विधि से पूजित मण्डलस्थ जनार्दन का जो दर्शन करता है वह भी अविनाशी विष्णु का सायुज्य प्राप्त करता है ॥४८॥ एक बार भी जो मनुष्य केशव की इस प्रकार अर्चा करता है वह जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे को पारकर विष्णुलोक को प्राप्त करता है ॥४९॥ जो मनुष्य सर्वदा आलस्य-रहित हो नारायण का स्मरण करता है उसके निवास के लिए प्रतिदिन श्वेतद्वीप की व्यवस्था की जाती है ॥५०॥ ओंकार जिसके आदि में और नमःकार जिसके अन्त में लगा हो वह सम्पूर्ण तत्त्वों का सार है और वही श्रेष्ठ मन्त्र कहा गया है ॥५१॥ इसी विधान से गन्ध, पुष्प अर्पित करना चाहिये एवं यथोद्दिष्ट क्रम से एक-एक देव का पूजन करना चाहिये ॥५२॥ पूजानानन्तर यथोक्त क्रम से मुद्रा बन्धन कर मन्त्रज्ञ मनुष्य मूल मंत्र का जप करे ॥५३॥ भिन्न-भिन्न कामनाओं के लिए जिस प्रकार संख्या का विधान है उसी के अनुसार यथाशक्ति एकाग्रचित्त हो अट्ठाईस, आठ अथवा एक सौ आठ वार जप करे ॥५४॥ पद्म, शंख, श्रीवत्स, गदा, गरुड़, चक्र, खड्ग और शार्ङ्ग धनुष यही आठ मुद्राएँ कही गयी हैं ॥५५॥

विसर्जन का मन्त्र—"हे पुराणपुरुषोत्तम ! अपने उस परम स्थान को जाओ, जाओ, जहाँ जाकर ब्रह्मा

---

[1] क. ०त्तान्स्वकै० । [2] क. ०जरातीतं स । [3] क. ०हं स्वर्गमार्गे वै तेन दीपः प्रवर्तितः । [4] ख. ०यात्क्रमाच्चैव विधानतः । ज० । [5] ख. च तथा ऽप्येवं य० । [6] ख. ०राणं पु० ।

अर्चनं ये न जानन्ति हरेर्मन्त्रैर्यथोदितम् । ते तत्र मूलमन्त्रेण पूजयन्त्वच्युतं सदा ॥५७॥
इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भ्वृषिसंवादे पूजाविधिकथनं नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥६१॥

अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः

समुद्रस्नानमाहात्म्यवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

एवं संपूज्य विधिवद्भक्त्या तं पुरुषोत्तमम् । प्रणम्य शिरसा पश्चात्सागरं च प्रसादयेत् ॥१॥
प्राणस्त्वं सर्वभूतानां योनिश्च सरितां पते । तीर्थराज नमस्तेऽस्तु त्राहि मामच्युतप्रिय ॥२॥
स्नात्वैवं सागरे सम्यक्तस्मिन्क्षेत्रवरे द्विजाः । तीरे चाभ्यर्च्य विधिवन्नारायणमनामयम् ॥३॥
रामं कृष्णं सुभद्रां च प्रणिपत्य च सागरम्[1] । शतानामश्वमेधानां फलं प्राप्नोति मानवः ॥४॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वदुःखविवर्जितः । वृन्दारक इव श्रीमान्रूपयौवनगर्वितः ॥५॥

आदि देवता परम पद को प्राप्त करते हैं ।" इस मन्त्र से विसर्जन करे ॥५६॥ जो मनुष्य ऊपर गये मन्त्रों से हरि का पूजन करना नहीं जानते हैं वे वहाँ मूल मन्त्र से ही सर्वदा अच्युत विष्णु की पूजा करें ॥५७॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद में पूजाविधि-कथन नामक
इकसठवाँ अध्याय समाप्त ॥६१॥

अध्याय ६२

समुद्र-स्नान का माहात्म्य

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार भक्तिपूर्वक भगवान् पुरुषोत्तम का विधिवत् पूजन और नतमस्तक होकर प्रणाम करने के बाद सागर की यह स्तुति करनी चाहिए—'हे नदियों के स्वामी ! तुम सब प्राणियों के जीवन और उत्पादक हो, तीर्थराज ! तुम्हें प्रणाम है । अच्युतप्रिय ! मेरी रक्षा करो ॥१-२॥ विप्रगण, इस विधि से इस पुनीत और श्रेष्ठ तीर्थ में आकर स्नान कर और तीर पर अनामय (निर्विकार) नारायण की विधिवत् पूजा कर राम, कृष्ण, सुभद्रा और सागर को प्रणाम करना चाहिए । ऐसा करने से मनुष्य सौ अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त करता है, वह सब पापों और दुःखों से रहित हो, तेजस्वी तथा रूप-यौवन से सुशोभित हो जाता है ॥३-५॥ और सूर्य

---

[1] क. ०म् । दशाना० ।

विमानेनार्कवर्णेन दिव्यगन्धर्वनादिना । कुलैकविंशमुद्धृत्य विष्णुलोकं स गच्छति ॥६॥
भुक्त्वा तत्र वरान्भोगान्क्रीडित्वा चाप्सरैः सह । मन्वन्तरशतं साग्रं[1] जरामृत्युविवर्जितः ॥७॥
पुण्यक्षयादिहाऽऽयातः कुले सर्वगुणान्विते । रूपवान्सुभगः श्रीमान्सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥८॥
वेदशास्त्रार्थविद्विप्रो भवेद्यज्वा तु वैष्णवः । योगं च वैष्णवं प्राप्य ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥९॥
ग्रहोपरागे संक्रान्त्यामयने विषुवे तथा । युगादिषु षडशीत्यां व्यतीपाते दिनक्षये ॥१०॥
आषाढ्यां चैव कार्तिक्यां माघ्यां वाऽन्ये शुभे तिथौ । ये तत्र दानं विप्रेभ्यः प्रयच्छन्ति सुमेधसः ॥११॥
फलं सहस्रगुणितमन्यतीर्थाल्लभन्ति ते । पितॄणां ये प्रयच्छन्ति पिण्डं तत्र विधानतः ॥१२॥
अक्षयां पितरस्तेषां तृप्तिं संप्राप्नुवन्ति वै । एवं स्नानफलं सम्यक्सागरस्य मयोदितम् ॥१३॥
दानस्य च फलं विप्राः पिण्डदानस्य चैव हि । धर्मार्थमोक्षफलदमायुष्कीर्तियशस्करम् ॥१४॥
भुक्तिमुक्तिफलं नृणां धन्यं दुःस्वप्ननाशनम् । सर्वपापहरं पुण्यं सर्वकामफलप्रदम् ॥१५॥
नास्तिकाय न वक्तव्यं पुराणं च द्विजोत्तमाः । तावद् गर्जन्ति तीर्थानि माहात्म्यैः स्वैः पृथक्पृथक् ॥१६॥
यावन्न तीर्थराजस्य माहात्म्यं वर्ण्यते द्विजाः । पुष्करादीनि तीर्थानि प्रयच्छन्ति स्वकं फलम् ॥१७॥

के समान प्रकाशमान, स्वर्गीय गन्धर्वों के जयकार तथा स्तुतिगान से मुखरित विमान पर आरूढ़ होकर, देवता के समान, अपने इक्कीस कुलों का उद्धार करता हुआ विष्णुलोक को जाता है ॥६॥ वहाँ वह जरा-मृत्यु से रहित हो अगले सौ मन्वन्तरों तक दिव्य भोगों का भोग करता हुआ अप्सराओं के साथ क्रीड़ा कर पुनः पुण्य के क्षीण हो जाने पर इह लोक में सब गुणों से युक्त परिवार में जन्म ग्रहण करता है । इस जन्म में भी अपने पुण्य के प्रभाव से रूपवान्, भाग्यशाली, धनवान्, सत्यवक्ता, जितेन्द्रिय, वेद-शास्त्रों का ज्ञाता और वैष्णव-भक्त विप्र होता है । अन्तकाल में वैष्णव योग को पाकर मोक्ष लाभ करता है ॥७-९॥ जो बुद्धिमान् उस पुनीत क्षेत्र में ग्रहण, संक्रान्ति, अयन, विषुव (तुला और मेघ संक्रान्ति काल), युगादि काल में तथा षडशीति, व्यतीपात, दिन-क्षय और आषाढ़ी, कार्तिकी तथा माघी पूर्णिमा के दिन अथवा अन्य शुभ तिथियों में ब्राह्मणों को दान देते हैं, एवं विधानपूर्वक पितरों को पिण्डदान देते हैं वे अन्य तीर्थों की अपेक्षा हजार गुना अधिक फल प्राप्त करते हैं ॥१०-१२॥ उनके पितर भी निश्चय ही अक्षय तृप्ति प्राप्त करते हैं । इस प्रकार मैंने समुद्र-स्नान, पिण्डदान का फल कह दिया ॥१३॥ वस्तुतः हे द्विजगण, धर्म, अर्थ और मोक्ष को देने वाले, आयु बढ़ाने वाले, कीर्ति एवं यश फैलाने वाले, भुक्ति-मुक्तिदाता दुःस्वप्ननाशक, मनुष्यों को शुभ फल देनेवाले, सर्व-पाप-हर, पवित्र और सब मनोरथों को पूर्ण करने वाले पुराणों को अश्रद्धालु नास्तिकों से नहीं कहना चाहिए ॥१४-१५॥ सभी तीर्थ तब तक ही अलग-अलग अपने माहात्म्य के गर्व से गरजते रहते हैं जब तक द्विजगण ! तीर्थराज पुरुषोत्तम तीर्थ का माहात्म्य नहीं कहा जाता है ॥१६$\frac{१}{३}$॥ पुष्कर आदि तीर्थ तो केवल अपने फल को ही देते हैं परन्तु यह तीर्थराज तो पृथ्वी के सम्पूर्ण तीर्थों का फल देता है ॥१७$\frac{१}{३}$॥ पृथ्वी-तल के जितने तीर्थ, नदियाँ और सरोवर हैं वे सागर में

---

[1] क. ०ग्रं नरो मृ० ।

तीर्थराजस्तु स पुनः सर्वतीर्थफलप्रदः । भूतले यानि तीर्थानि सरितश्च सरांसि च ।।१८।।
विशन्ति सागरे तानि तेनासौ श्रेष्ठतां गतः । राजा समस्ततीर्थानां सागरः सरितां पतिः ।।१९।।
तस्मात्समस्ततीर्थेभ्यः श्रेष्ठोऽसौ सर्वकामदः । तमोनाशं यथाऽभ्येति भास्करेऽभ्युदिते द्विजाः ।।२०।।
स्नानेन तीर्थराजस्य तथा पापस्य संक्षयः । तीर्थराजसमं तीर्थं न भूतं न भविष्यति ।।२१।।
अधिष्ठानं यदा यत्र प्रभोर्नारायणस्य वै । कः शक्नोति गुणान्वक्तुं तीर्थराजस्य भो द्विजाः ।।२२।।
कोट्यो नवनवत्यस्तु यत्र तीर्थानि सन्ति वै । तस्मात्स्नानं च दानं च होमं जप्यं सुरार्चनम् ।
यत्किंचित्क्रियते तत्र चाक्षयं क्रियते द्विजाः ।।२३।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे समुद्रस्नानमाहात्म्यवर्णनं
नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ।।६२।।

अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः

पञ्चतीर्थीमाहात्म्यनिरूपणम्

ब्रह्मोवाच

ततो गच्छेद्द्विजश्रेष्ठास्तीर्थं यज्ञाङ्गसंभवम् । इन्द्रद्युम्नसरो नाम यत्राऽऽस्ते पावनं शुभम् ।।१।।

किसी-न-किसी रूप से प्रवेश करते हैं (सभी जलाशयों का जल समुद्र से आता अथवा समुद्र में जाता है) इसलिए यह तीर्थराज सर्वश्रेष्ठ पदवी का अधिकारी है ।।१८ १/३।। समुद्र सब नदियों का स्वामी है, समस्त तीर्थों (जलाशयों) का राजा है, इसलिए यह सब तीर्थों से श्रेष्ठ और सब मनोरथों का दाता है ।।१९ १/३।। द्विजवर ! जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अन्धकार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तीर्थराज के स्नान से मनुष्य के पापों का नाश हो जाता है ।।२० १/३।। तीर्थराज के समान न तो कोई तीर्थ हुआ है न होगा ।।२१।। प्रभु नारायण का जहाँ सर्वदा वास है, हे द्विजवृन्द ! उस तीर्थराज के गुणों को कहने में कौन समर्थ हो सकता है।।२२।। जहाँ पर नवासी करोड़ तीर्थ सर्वदा निवास करते हैं, वहाँ स्नान, दान, होम, जप, देवपूजन अथवा जो कुछ भी किया जाता है निश्चय ही द्विजवृन्द ! वह अक्षय हो जाता है ।।२३।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में समुद्रस्नान-माहात्म्य-वर्णन नामक बासठवाँ अध्याय समाप्त ।।६२।।

अध्याय ६३

पंचतीर्थी का माहात्म्य-वर्णन

ब्रह्मा बोले—द्विजश्रेष्ठ ! तदनन्तर यज्ञों के कारण शुभ, पवित्र, इन्द्रद्युम्न तीर्थ में जाकर विवेकी मनुष्य

गत्वा तत्र शुचिर्धीमानाचम्य मनसा हरिम् । ध्यात्वोपस्थाय च जलमिमं मन्त्रमुदीरयेत् ।।२।।
अश्वमेधाङ्गसंभूत तीर्थ सर्वाघनाशन । स्नानं त्वयि करोम्यद्य पापं हर नमोऽस्तु ते ।।३।।
एवमुच्चार्य विधिवत्स्नात्वा देवानृषीन्पितॄन् । तिलोदकेन चान्यांश्च संतर्प्याऽऽचम्य वाग्यतः ।।४।।
दत्त्वा पितॄणां पिण्डांश्च संपूज्य पुरुषोत्तमम् । दशाश्वमेधिकं सम्यक्फलं प्राप्नोति मानवः ।।५।।
सप्तावरान्सप्त परान्वंशानुद्धृत्य देववत् । कामगेन विमानेन विष्णुलोकं स गच्छति ।।६।।
भुक्त्वा तत्र [1]सुखान्भोगान्यावच्चन्द्रार्कतारकम् । च्युतस्तस्मादिहाऽऽयातो मोक्षं च लभते ध्रुवम् ।।७।।
एवं कृत्वा [2]पञ्चतीर्थीमेकादश्यामुपोषितः । ज्येष्ठशुक्लपञ्चदश्यां यः पश्येत्पुरुषोत्तमम् ।।८।।
स पूर्वोक्तं फलं प्राप्य क्रीडित्वा वाऽच्युतालये । प्रयाति परमं स्थानं यस्मान्नाऽऽवर्तते पुनः ।।९।।

मुनय ऊचुः

मासानन्यान्परित्यज्य [3]माघादीन्प्रपितामह । प्रशंससि कथं ज्येष्ठं ब्रूहि तत्कारणं प्रभो[4] ।।१०।।

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः प्रवक्ष्यामि समासतः । ज्येष्ठं मासं तथा तेभ्यः प्रशंसामि पुनः पुनः ।।११।।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि सरितश्च सरांसि च । पुष्करिण्यस्तडागानि वाप्यः कूपास्तथा ह्रदाः ।।१२।।

पवित्र भाव से आचमन और हृदय से भगवान् हरि का ध्यान कर जल के निकट इस मन्त्र का उच्चारण करे ।।१-२।। मन्त्र—'अश्वमेध के अङ्ग से उत्पन्न ! सब पापों के विनाशक हे तीर्थ ! आज मैं तुम्हारे जल में स्नान कर रहा हूँ, मेरे पापों को दूर करो, तुम्हें नमस्कार है ।।३।। इस प्रकार मन्त्र का उच्चारण कर विधिवत् स्नान करना चाहिये । पुनः तिल युक्त जल से देवता, ऋषि, पितरों और दूसरे देवों का तर्पण और आचमन कर वाणी पर संयम रख पितरों को पिण्ड दान दे और भगवान् पुरुषोत्तम की विधिवत् पूजा करे । ऐसी क्रिया का विधिवत् अनुष्ठान कर मनुष्य दस अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त करता है ।।४-५।। अपने सात पिछले एवं सात अगले वंश का उद्धार कर देवता के समान इच्छानुसार चलने वाले विमान से विष्णुलोक को जाता है ।।६।। वहाँ वह जब तक चन्द्र, सूर्य और तारागण रहते हैं तब तक सुखमय भोगों का भोग करता है । भोग के बाद वहाँ से लौटकर इस लोक में उत्तम कुल में जन्म ग्रहण करता और अन्त में निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करता है ।।७।। उक्त नियम के अनुसार जो मनुष्य एकादशी के दिन निराहार रहकर पञ्चतीर्थी एवं ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा को पुरुषोत्तम का दर्शन करता है, वह पूर्वोक्त फल प्राप्त करता है अथवा अच्युत हरि के लोक में सुखपूर्वक निवास कर उस लोक को प्राप्त करता है जहाँ से पुनः नहीं लौटता ।।८-९।।

मुनियों ने कहा—प्रपितामह ! माघ आदि अन्य महीनों को छोड़ कर क्यों आप जेठ महीने की इतनी प्रशंसा करते हैं । प्रभो ! इसका कारण बताइये ।।१०।।

ब्रह्मा बोले—मुनिवर ! अन्य महीनों की अपेक्षा जेष्ठ मास की प्रशंसा का कारण संक्षेप में सुनाता हूँ ।।११।। पृथ्वी पर जितने तीर्थ, सरिता, सरोवर, पुष्पकरिणी (पोखरियाँ), तालाव, वावलियाँ, कुएँ, झीलें, अनेक नदियाँ और

---

[1] ख. सुखं भोगा० । [2] ख. ०तीर्थ मे० । [3] ख. मार्गादी० । [4] ख. विभो ।

नानानद्यः समुद्राश्च सप्ताहं पुरुषोत्तमे । ज्येष्ठशुक्लदशम्यादि प्रत्यक्षं यान्ति सर्वदा ।।१३।।
स्नानदानादिकं तस्माद्देवताप्रेक्षणं द्विजाः । यत्किंचित्क्रियते तत्र तस्मिन्कालेऽक्षयं भवेत् ।।१४।।
शुक्लपक्षस्य दशमी ज्येष्ठे मासि द्विजोत्तमाः । हरते दश पापानि तस्माद्दशहरा स्मृता ।।१५।।
यस्तस्यां हलिनं कृष्णं पश्येद्भद्रां सुसंयतः । सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं व्रजेन्नरः ।।१६।।
उत्तरे दक्षिणे विप्रास्त्वयने पुरुषोत्तमम् । दृष्ट्वा रामं सुभद्रां च व्रिष्णुलोकं व्रजेन्नरः ।।१७।।
नरो दोलागतं[1] दृष्ट्वा गोविन्दं पुरुषोत्तमम् । फाल्गुन्यां प्रयतो भूत्वा [2]गोविन्दस्य पुरं व्रजेत् ।।१८।।
विषुवद्दिवसे प्राप्ते पञ्चतीर्थीविधानतः । कृत्वा संकर्षणं कृष्णं दृष्ट्वा भद्रां च भो द्विजाः ।।१९।।
नरः समस्तयज्ञानां फलं प्राप्नोति दुर्लभम् । विमुक्तः सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ।।२०।।
यः पश्यति तृतीयायां कृष्णं [3]चन्दनरूषितम् । वैशाखस्यासिते पक्षे स यात्यच्युतमन्दिरम् ।।२१।।
ज्यैष्ठ्यां ज्येष्ठर्क्षयुक्तायां यः पश्येत्पुरुषोत्तमम् । कुलैकविंशमुद्धृत्य विष्णुलोकं स गच्छति ।।२२।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्वृषिसंवादे पञ्चतीर्थीमाहात्म्यनिरूपणं
नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।।६३।।

समुद्र हैं, वे सभी इस पुरुषोत्तम तीर्थ में ज्येष्ठ शुक्ल की दशमी आदि तिथियों को एक सप्ताह तक सर्वदा प्रत्यक्ष रूप में रहते हैं ।।१२-१३।। इसलिए द्विजगण ! उस समय स्नान, दान, देव-दर्शन अथवा अन्य जो कुछ पुण्यकर्म किये जाते हैं, वे अक्षय होते हैं ।।१४।। विप्रवृन्द ! ज्येष्ठ-शुक्ल पक्ष की दशमी दशविध पापों को नष्ट करती है, इसलिए यह 'दशहरा' नाम से प्रसिद्ध है ।।१५।। जो मनुष्य एकाग्र मन से वलराम, कृष्ण और सुभद्रा का दर्शन करता है, वह सब पापों से मुक्त हो विष्णुलोक को प्राप्त करता है ।।१६।। विप्रवृन्द ! उत्तर और दक्षिण अयन काल में भी पुरुषोत्तम राम और सुभद्रा का दर्शन कर मनुष्य विष्णुलोक का अधिकार प्राप्त करता है ।।१७।। मनुष्य फाल्गुन पूर्णिमा के दिन झूले में झूलते हुए पुरुषोत्तम का अनन्य भाव से दर्शन करके गोविन्दलोक को जाता है ।।१८।। द्विजगण ! जो मनुष्य विपुव दिन आने पर विधिपूर्वक पञ्चतीर्थी की यात्रा करके राम, कृष्ण और सुभद्रा का दर्शन करता है, वह समस्त यज्ञों के दुर्लभ फल को पाता है और सब पापों से छूट कर विष्णुलोक का अधिकारी होता है ।।१९।। जो वैशाख मास की कृष्ण-तृतीया को चन्दन-चर्चित कृष्ण का दर्शन करता है, वह अच्युतलोक को प्राप्त करता है ।।२१।। ज्येष्ठा नक्षत्र से युक्त ज्येष्ठ पूर्णिमा को जो पुरुषोत्तम का दर्शन करता है, वह अपने इक्कीस कुलों का उद्धार कर स्वयं विष्णुलोक को प्राप्त करता है ।।२२।।

श्री व्रह्ममहापुराण में पञ्चतीर्थीमाहात्म्यवर्णन नामक तिरसठवाँ अध्याय समाप्त ।।६३।।

---

[1] क. दोलायितं । [2] क. ०न्दभवनं व्र० । [3] ख. ०नभूषि० ।

अथ चतुःषष्टितमोऽध्यायः

महाज्यैष्ठीप्रशंसावर्णनम्

ब्रह्मोवाच

यदा भवेन्महाज्यैष्ठी राशिनक्षत्रयोगतः । प्रयत्नेन तदा मर्त्यैर्गन्तव्यं पुरुषोत्तमम् ॥१॥
कृष्णं दृष्ट्वा महाज्यैष्ठ्यां रामं भद्रां च भो द्विजाः । नरो द्वादशयात्रायाः फलं प्राप्नोति चाधिकम् ॥२॥
प्रयागे च कुरुक्षेत्रे नैमिषे पुष्करे गये । [1]गङ्गाद्वारे कुशावर्ते गङ्गासागरसंगमे ॥३॥
कोकामुखे [2]शूकरे च मथुरायां मरुस्थले । शालग्रामे वायुतीर्थे मन्दरे सिन्धुसागरे ॥४॥
पिण्डारके चित्रकूटे प्रभासे कनखले द्विजाः । शङ्खोद्धारे द्वारकायां तथा बदरिकाश्रमे ॥५॥
[3]लोहकुण्डे चाश्वतीर्थे सर्वपापप्रमोचने । [4]कामालये कोटितीर्थे तथा चामरकण्टके ॥६॥
लोहार्गले [5]जम्बुमार्गे सोमतीर्थे पृथूदके । उत्पलावर्तके चैव [6]पृथुतुङ्गे सुकुब्जके ॥७॥
एकाम्रके च केदारे काश्यां च विरजे द्विजाः । कालञ्जरे च गोकर्णे श्रीशैले गन्धमादने ॥८॥
महेन्द्रे मलये विन्ध्ये पारियात्रे हिमालये । सह्ये च शुक्तिमन्ते च गोमन्ते चार्बुदे तथा ॥९॥
गङ्गायां सर्वतीर्थेषु यामुनेषु च भो द्विजाः । सरस्वतेषु गोमत्यां ब्रह्मपुत्रेषु सप्तसु ॥१०॥
गोदावरी भीमरथी तुङ्गभद्रा च नर्मदा । तापी पयोष्णी कावेरी शिप्रा चर्मण्वती द्विजाः ॥११॥

अध्याय ६४

महाज्यैष्ठी की प्रशंसा

ब्रह्मा ने कहा—जब उत्तम राशि, नक्षत्र से युक्त महाज्येष्ठपूर्णिमा हो, उस समय प्रयत्नपूर्वक मनुष्य को पुरुषोत्तम तीर्थ की यात्रा करनी चाहिये ॥ १॥ हे विप्रवृन्द ! मनुष्य ज्येष्ठ की महापूर्णिमा को कृष्ण, राम और सुभद्रा का दर्शन करके बारह बार तीर्थ यात्रा का फल प्राप्त करता है ॥ २॥ द्विजगण ! प्रयाग, कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, पुष्कर, गया, हरद्वार, कुशावर्त, गंगासागर-संगम ॥ ३॥ कोकामुख, शूकरक्षेत्र, मथुरा, मरुस्थल, शालग्राम, वायुतीर्थ, मन्दर, सिन्धुसागर ॥ ४॥ पिण्डारक, चित्रकूट, प्रभास, कनखल, शङ्खोद्धार, द्वारका, बदरिकाश्रम ॥ ५॥ लोहकुण्ड, सब पापों को दूर करने वाले अश्वतीर्थ, कामालय, कोटितीर्थ, अमरकण्टक ॥ ६॥ लोहार्गल, ज़म्वुमार्ग, सोमतीर्थ, पृथूदक, उत्पलावर्त्तक, पृथुतुंग, सुकुब्जक ॥ ७॥ एकाम्रक, केदार, काशी, विरज, कालञ्जर, गोकर्ण, श्रीशैल, गन्धमादन ॥ ८॥ महेन्द्र, मलय, विन्ध्य, पारियात्र, हिमालय, सह्य, शुक्तिमन्त, गोमन्त, अर्वुद ॥ ९। गंगा के सभी तीर्थ एवं यमुना, सरस्वती, गोमती और ब्रह्मपुत्र के सप्त तीर्थ ॥ १०॥ गोदावरी, भीमरथी, तुंगभद्रा, नर्मदा, तापी, पयोष्णी,

---

[1] ग. ०रे च कुब्जाम्रे ग०। [2] क. ०ङ्करके म०। [3] क. ख. ०हृदण्डे। [4] क. रुद्रमाले। ग. कर्दमाले। [5] क. जम्बुतीर्थे। [6] क. पृथुकुञ्जे। ख. पृथुनगे।

वितस्ता चन्द्रभागा च शतद्रुर्बाहुदा तथा । ऋषिकुल्या कुमारी च विपाशा च दृषद्वती ॥१२॥
[1]सरयूर्नाकगङ्गा च गण्डकी च महानदी । कौशिकी करतोया च त्रिस्रोता मधुवाहिनी ॥१३॥
महानदी वैतरणी याश्चान्या नानुकीर्तिताः । अथवा किं बहूक्तेन भाषितेन द्विजोत्तमाः ॥१४॥
पृथिव्यां [2]सर्वतीर्थेषु सर्वेष्वायतनेषु च । सागरेषु च शैलेषु नदीषु च सरःसु च ॥१५॥
यत्फलं स्नानदानेन राहुग्रस्ते दिवाकरे । तत्फलं कृष्णमालोक्य महाज्यैष्ठ्यां लभेन्नरः ॥१६॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गन्तव्यं पुरुषोत्तमे[3] । महाज्यैष्ठ्यां मुनिश्रेष्ठा सर्वकामफलेप्सुभिः ॥१७॥
दृष्ट्वा रामं महाज्येष्ठं कृष्णं सुभद्रया सह । विष्णुलोकं नरो याति समुद्धृत्य समं कुलम् ॥१८॥
भुक्त्वा तत्र वरान्भोगान्यावदाभूतसंप्लवम् । पुण्यक्षयादिहाऽऽगत्य चतुर्वेदी द्विजो भवेत्॥१९॥
स्वधर्मनिरतः शान्तः कृष्णभक्तो जितेन्द्रियः । वैष्णवं योगमास्थाय[4] ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥२०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे महाज्यैष्ठीप्रशंसावर्णनं नाम
चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

कावेरी, शिप्रा, चर्मण्वती ॥११॥ वितस्ता, चन्द्रभागा, शतद्रु (सतलज) तथा वाहुदा, ऋषिकुल्या, कुमारी, विपाशा, दृषद्वती ॥१२॥ सरयू, स्वर्गगंगा, गण्डकी, महानदी, कौशिकी (कोसी), करतोया, त्रिस्रोता, मधुवाहिनी ॥१३॥ महानदी, वैतरणी, या जो अन्य नदियाँ लोक-प्रसिद्ध हैं, अथवा द्विजवर्यवृन्द ! वहुत अधिक कहने से क्या लाभ ॥१४॥ पृथ्वी के सम्पूर्ण तीर्थों में जाने से सव मन्दिरों में दर्शन करने से, सागर, शैल, नदी और सरोवरों में स्नान करने, दान देने एवं सूर्यग्रहण के समय स्नान और दान से जितना फल मिलता है, उस सम्पूर्ण फल को ज्येष्ठ की उस अतिपवित्र पूर्णिमा के दिन कृष्ण के दर्शन करने से मनुष्य प्राप्त करता है ॥१५-१६॥ इसलिए मुनिवर्यवृन्द ! सव मनोरथों को पाने की कामना करने वाले मनुष्यों को अपने सभी प्रयत्नों से पुरुषोत्तम तीर्थ को जाना चाहिए ॥१७॥ वहाँ मनुष्य सुभद्रा सहित ज्येष्ठ राम और कृष्ण का दर्शन करके अपने संपूर्ण कुल का उद्धार करता है और स्वयं विष्णुलोक को प्राप्त करता है ॥१८॥ वहाँ कल्पान्त तक दिव्य भोगों का भोग करता है । पुनः पुण्यक्षय हो जाने पर इस मर्त्यलोक में चतुर्वेदपाठी ब्राह्मण होता है ॥१९॥ यहाँ वह जीवनपर्यन्त अपने धर्म में निरत रहने वाला, शान्त, जितेन्द्रिय और कृष्ण का भक्त होता है । पुनः वैष्णव भक्ति या ज्ञान को पाकर मोक्ष की प्राप्ति करता है ॥२०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में महाज्येष्ठी-प्रशंसा-वर्णन नामक चौसठवाँ अध्याय समाप्त ॥६४॥

---

१ क. ०यूर्वरग० । २ क. ख. ०षु हरेश्चाऽऽय० । ३ ग. ०त्तमम् । म० । ४ ख. ०मांसाद्य त० ।

अथ पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

कृष्णस्नानमाहात्म्यवर्णनम्

मुनय ऊचुः

कस्मिन्काले भवेत्स्नानं कृष्णस्य कमलोद्भव ।[1] विधिना केन तद्ब्रूहि ततो विधिविदां वर ॥१॥

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनयः स्नानं कृष्णस्य वदतो मम । रामस्य च सुभद्रायाः पुण्यं सर्वाघनाशनम् ॥२॥
[2]मासि ज्येष्ठे च संप्राप्ते नक्षत्रे चन्द्रदैवते । पौर्णमास्यां तदा स्नानं सर्वकालं हरेर्द्विजाः ॥३॥
सर्वतीर्थमयः कूपस्तत्राऽऽस्ते निर्मलः शुचिः । तदा भोगवती तत्र प्रत्यक्षा[3] भवति द्विजाः ॥४॥
तस्माज्ज्यैष्ठ्यां समुद्धृत्य हैमाद्यैः कलशैर्जलम् । कृष्णरामाभिषेकार्थं सुभद्रायाश्च भो द्विजाः ॥५॥
कृत्वा सुशोभनं मञ्चं पताकाभिरलंकृतम् । सुदृढं सुखसंचारं वस्त्रैः पुष्पैरलंकृतम् ॥६॥
विस्तीर्णं धूपितं धूपैः स्नानार्थं रामकृष्णयोः । [4]सितवस्त्रपरिच्छन्नं मुक्ताहारावलम्बितम् ॥७॥
तत्र नानाविधैर्वाद्यैः कृष्णं नीलाम्बरं द्विजाः । मध्ये सुभद्रां चाऽऽस्थाप्य जयमङ्गलनिस्वनैः ॥८॥

अध्याय ६५

कृष्ण-स्नान का महात्म्य-वर्णन

मुनियों ने कहा—कमल से उत्पन्न, विधिज्ञों में श्रेष्ठ ! किस समय और किस विधि से भगवान् कृष्ण का स्नान होता है, कृपया बताइये ॥१॥

ब्रह्मा बोले—मुनिगण ! मैं कृष्ण, राम और सुभद्रा के शुभ और अखिल पापों को नष्ट करने वाली स्नानविधि का वर्णन कर रहा हूँ, सुनो ॥२॥ द्विजगण ! जेठ के महीने में चन्द्रदैवत नक्षत्र (ज्येष्ठा) से युक्त पूर्णिमा के दिन भगवान् का स्नान सदा प्रशस्त और शुभ माना गया है ॥३॥ उस समय कूप निर्मल, पवित्र और सम्पूर्ण तीर्थों के जल से युक्त हो जाता है और भोगवती प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित हो जाती है ॥४॥ इसलिए ! द्विजगण ! कृष्ण, राम और सुभद्रा के अभिषेक के लिए सुवर्ण-कलशों में कुएँ से जल निकाल लिया जाता है ॥५॥ इसके पूर्व पताकाओं से सुशोभित, दृढ़, सुविधा से इधर-उधर घुमा देने योग्य, विस्तृत और मनोहर मंच बनाना चाहिए। उसको रंग-बिरंगे फूलों और पुष्पों से सजाकर धूप से सुगन्धित कर देना चाहिये। उस मंगल मंच पर राम-कृष्ण के स्नान के लिए श्वेत वस्त्र, मुक्ताहार आदि विविध सामग्री एकत्र कर रख देनी चाहिये ॥६-७॥ ऐसे सुसज्जित मंच पर अनेक बाजे बजाते हुए, जयकार और मंगल ध्वनि के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्य जातियों के लोगों

---

[1] ख. ०व । के च तत्कारयन्तीह स्नानं तस्य विधिं वद । ब्र० । [2]क. ख. मासे । [3] ग. प्रत्यक्षं । [4] ख. ०वस्त्रैः प० ।

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्चान्यैश्च जातिभिः । अनेकशतसाहस्रैर्वृतं स्त्रीपुरुषैर्द्विजाः ॥९॥
गृहस्थाः स्नातकाश्चैव यतयो ब्रह्मचारिणः । स्नापयन्ति तदा कृष्णं मञ्चस्थं सहलायुधम् ॥१०॥
तथा समस्ततीर्थानि पूर्वोक्तानि द्विजोत्तमाः । स्वोदकैः पुष्पमिश्रैश्च स्नापयन्ति पृथक्पृथक् ॥११॥
पश्चात्पटहशङ्खाद्यैर्भेरीमुरजनिस्वनैः । काहलैस्तालशब्दैश्च मृदङ्गैर्झर्झरैस्तथा ॥१२॥
अन्यैश्च [1]विविधैर्वाद्यैर्घण्टास्वनविभूषितैः । स्त्रीणां मङ्गलशब्दैश्च स्तुतिशब्दैर्मनोहरैः ॥१३॥
जयशब्दैस्तथा स्तोत्रैर्वीणावेणुनिनादितैः । श्रूयते सुमहाञ्छब्दः सागरस्येव गर्जतः ॥१४॥
मुनीनां वेदशब्देन मन्त्रशब्दैस्तथाऽपरैः । नानास्तोत्ररवैः पुण्यैः सामशब्दोपबृंहितैः ॥१५॥
यतिभिः स्नातकैश्चैव गृहस्थैर्ब्रह्मचारिभिः । स्नानकाले सुरश्रेष्ठ स्तुवन्ति परया मुदा ॥१६॥
श्यामैर्वेश्याजनैश्चैव कुचभारावनामिभिः । पीतरक्ताम्बराभिश्च माल्यदामावनामिभिः ॥१७॥
सरत्नकुण्डलैर्दिव्यैः [2]सुवर्णस्तवकान्वितैः । चामरै[3] रत्नदण्डैश्च वीज्येते रामकेशवौ ॥१८॥
यक्षविद्याधरैः सिद्धैः किंनरैश्चाप्सरोगणैः[4] । [5]परिवार्याम्बरगतैर्देवगन्धर्वचारणैः ॥१९॥
आदित्या वसवो रुद्राःसाध्या विश्वे मरुद्गणाः । लोकपालास्तथा चान्ये स्तुवन्ति पुरुषोत्तमम् ॥२०॥
नमस्ते देवदेवेश पुराण पुरुषोत्तम । सर्गस्थित्यन्तकृद्देव लोकनाथ जगत्पते ॥२१॥
त्रैलोक्यधारिणं देवं ब्रह्मण्यं[6] मोक्षकारणम् । तं नमस्यामहे भक्त्या सर्वकामफलप्रदम् ॥२२॥

एवं अनेक सैकड़ों हजारों स्त्री-पुरुषों के साथ समारोहपूर्वक राम, कृष्ण और सुभद्रा की स्थापना की जाती है ॥८-९॥ ऐसे शुभ मुहूर्त में पहले गृहस्थ, स्नातक, यति और वेदपाठी ब्रह्मचारी मञ्च पर अवस्थित हलधर राम और कृष्ण को नहलाते हैं ॥१०॥ इसी प्रकार ऊपर कहे गये सम्पूर्ण तीर्थ भी पृथक्-पृथक् पुष्प मिले अपने जल से अप्रत्यक्ष रूप से स्नान कराते हैं ॥११॥ तदनन्तर वहाँ पटह, शंख, भेरी, मुरज, काहल, मृदंग, झर्झर एवं अन्य विविध बाजों की ध्वनि और स्त्रियों के मंगल शब्द, मनोहर स्तुतिपाठ, जयध्वनि, स्तोत्रपाठ, और वीणा-वेणु की मधुर ध्वनि से गरजते हुए समुद्र की गम्भीर ध्वनि के समान शब्द सुनायी पड़ता है ॥१२-१४॥ उस समय स्नान-काल में अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक मुनिगण वेदपाठ से, अपर ऋषि मन्त्रोच्चारण से, नानास्तोत्रों के पाठ से, पवित्र स्वरयुक्त सामवेद के गान से, यति, स्नातक, गृहस्थ और ब्रह्मचारी स्तुति करते हैं ॥१५-१६॥ श्यामाङ्गी, स्तनभार से विनम्र, पीले, लाल वस्त्र धारण करने वाली रत्नजटित कुण्डल आदि आभूषण एवं पुष्पमाला से सजी हुई गणिकाएँ अनेक शिल्पकलाओं से आभूषित रत्नजटित स्वर्ण के बने चँवर राम और केशव को डुलाती हैं ॥१७-१८॥ आकाश में यक्ष, विद्याधर, सिद्ध, किन्नर, अप्सराएँ, देव, गन्धर्व आदि मण्डल बनाकर एवं आदित्य, वसु, रुद्र, साध्यगण, विश्वेदेव, मरुद्गण और लोकपाल सभी पुरुषोत्तम की इस प्रकार स्तुति करते हैं ॥१९-२०॥ 'देवदेवेश ! पुराणपुरुषोत्तम ! सृष्टि, पालन और विनाश करने वाले देव ! लोक के स्वामी ! जगत्पते ! आपको नमस्कार है ॥२१॥ हम सब मनोरथों को देने वाले, त्रिभुवन पालन करने वाले, ब्राह्मणों की रक्षा करने वाले, मोक्षदायक भगवान् को भक्तिपूर्वक नमस्कार

---

१ क. ख. ०धैर्घोषैर्घ० । २ ख. ०काञ्चितैः । ३ ख. ०रै रुक्मद० । ४ ख. ०णैः । संविचार्य वरगुणैर्द०। ५ क. ०र्यामरगणैर्दे० । ६ क. ख. ब्रह्माणं ।

स्तुत्वैवं विबुधाः कृष्णं रामं चैव महाबलम् । सुभद्रां च मुनिश्रेष्ठास्तदाऽऽकाशे व्यवस्थिताः ॥२३॥
गायन्ति देवगन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसस्तथा । देवतूर्याण्यवाद्यन्त वाता वान्ति सुशीतलाः ॥२४॥
पुष्पमिश्रं तदा मेघा वर्षन्त्याकाशगोचराः । जयशब्दं च कुर्वन्ति मुनयः सिद्धचारणाः ॥२५॥
शक्राद्या विबुधाः सर्वे ऋषयः [1]पितरस्तथा । प्रजानां पतयो नागा ये चान्ये स्वर्गवासिनः ॥२६॥
ततो मङ्गलसंभारैर्विधिमन्त्रपुरस्कृतम् । आभिषेचनिकं द्रव्यं गृहीत्वा देवतागणाः ॥२७॥
इन्द्रो विष्णुर्महावीर्यः सूर्याचन्द्रमसौ तथा । धाता चैव विधाता च तथा चैवानिलानलौ ॥२८॥
पूषा भगोऽर्यमा त्वष्टा अंशुनैव विवस्वता[2] । पत्नीभ्यां सहितो धीमान्मित्रेण वरुणेन च ॥२९॥
रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां च वृतः प्रभुः । विश्वैर्देवैर्मरुद्भिश्च साध्यैश्च पितृभिः सह ॥३०॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च यक्षराक्षसपन्नगैः । देवर्षिभिरसंख्येयैस्तथा ब्रह्मर्षिभिर्वरैः ॥३१॥
वैखानसैर्वालखिल्यैर्वाय्वाहारैर्मरीचिपैः । भृगुभिश्चाङ्गिरोभिश्च[3] सर्वविद्यासुनिष्ठितैः ॥३२॥
सर्वविद्याधरैः पुण्यैर्योगसिद्धिभिरावृतः । पितामहः पुलस्त्यश्च पुलहश्च महातपाः ॥३३॥
अङ्गिराः कश्यपोऽ[4]त्रिश्च मरीचिर्भृगुरेव च । क्रतुर्हरः प्रचेताश्च [5]मनुर्दक्षस्तथैव च ॥३४॥
[6]ऋतवश्च ग्रहाश्चैव[7] ज्योतींषि च द्विजोत्तमाः । मूर्तिमत्यश्च सरितो[8] देवाश्चैव सनातनाः ॥३५॥
समुद्राश्च ह्रदाश्चैव तीर्थानि विविधानि च । पृथिवी द्यौर्दिशश्चैव पादपाश्च द्विजोत्तमाः ॥३६॥

करते हैं, ॥२२॥ मुनिगण ! देववृन्द इस प्रकार कृष्ण, महाबलशाली राम और सुभद्रा की स्तुति कर आकाश में स्थित हो जाते हैं । उस समय देवगन्धर्व गाते हैं, अप्सराएँ नृत्य करती हैं, और देव वाद्य बजाने लगते हैं, शीतल वायु चलने लगता है ॥२३-२४॥ आकाश से मेघ पुष्पों से मिश्रित जल की वृष्टि करते हैं; मुनि, सिद्ध और चारण, इन्द्र आदि देवता, सभी ऋषि, पितर, प्रजापति, नाग और अन्य सभी स्वर्ग में निवास करने वाले देव विशेष जयध्वनि करते हैं ॥२५-२६॥ तदनन्तर मांगलिक सामग्रियों के साथ यथाविधि वेदध्वनि की जाती है । उस समय अभिषेकोपयोगी द्रव्य लेकर देवगण, इन्द्र, महापराक्रमी विष्णु, सूर्य, चन्द्रमा, ब्रह्मा, विधाता, वायु, अग्नि, ॥२७॥ पूषा, भग, अर्यमा, त्वष्टा तथा अंशु (किरण), विवस्वान्, मित्र, वरुण, पत्नियों सहित धीमान्, रुद्र, वसु, आदित्य, अश्विन् सहित प्रभु, विश्वेदेव, मरुद्, साध्य, पितरों के साथ गन्धर्व, अप्सराएँ, यक्ष-राक्षस, पन्नंग, असंख्य देवर्षिगण तथा श्रेष्ठ ब्रह्मर्षिगण ॥२८-३१॥ वैखानस, वायु का आहार करने वाले, किरण पान कर जीवन बिताने वाले बालखिल्यगण, भृगुवंशी, सब विद्याओं में निपुण अङ्गिरस् ॥३२॥ सब शुभ विद्याधरों तथा योग-सिद्धियों के साथ पितामह, पुलस्त्य, महातपस्वी पुलह, अङ्गिरा, कश्यप, अत्रि, मरीचि, भृगु, क्रतु, हर, प्रचेता, मनु, दक्ष, ऋतु, ग्रह, ज्योतिः पिण्ड, मूर्तिमती नदियाँ, नित्य सनातन देवता, समुद्र, ह्रद, सरोवर, विविध तीर्थ, पृथिवी, आकाश, दिशाएँ, वृक्ष, देवमाता अदिति, ह्री, श्री, स्वाहा, सरस्वती,

---

[1] क. ग. ० तरोऽव्ययाः । प्र० । [2] ग. ०ता । रुद्राश्विस० । [3] ख. ०श्च यतिभिश्च महात्मभिः । स० । [4] क. ख. ०श्यपश्चैव म० । [5] ख. मधुर्द० । [6] क. ईश्वराश्च । ख. ऐश्वराश्च । [7] क. ख. ०व नक्षत्राणि द्वि० । [8] ग. ०तो वेदाश्चै० ।

अदितिर्देवमाता च ह्रीः श्रीः स्वाहा सरस्वती । उमा शची सिनीवाली तथा चानुमतिः कुहूः ॥३७॥
राका च धिषणा चैव पत्न्यश्चान्या दिवौकसाम् । हिमवांश्चैव विन्ध्यश्च मेरुश्चानेकशृङ्गवान् ॥३८॥
ऐरावतः सानुचरः कलाकाष्ठास्तथैव च । मासार्धं मासऋतवस्तथा रात्र्यहनी समाः ॥३९॥
उच्चैःश्रवा हयश्रेष्ठो नागराजश्च वामनः । अरुणो गरुडश्चैव वृक्षाश्चौषधिभिः सह ॥४०॥
धर्मश्च भगवान्देवः[1] समाजग्मुर्हि संगताः । कालो यमश्च मृत्युश्च यमस्यानुचराश्च[2] ये ॥४१॥
बहुलत्वाच्च नोक्ता ये विविधा देवतागणाः । ते देवस्याभिषेकार्थं समायान्ति ततस्ततः ॥४२॥
गृहीत्वा ते तदा विप्राः सर्वे देवा दिवौकसः । आभिषेचनिकं द्रव्यं मङ्गलानि च सर्वशः ॥४३॥
दिव्यसंभारसंयुक्तैः कलशैः काञ्चनैर्द्विजाः । सारस्वतीभिः पुण्याभिर्दिव्यतोयाभिरेव च ॥४४॥
[3]तोयेनाऽऽकाशगङ्गायाः कृष्णं रामेण संगतम् । सपुष्पैःकाञ्चनैः कुम्भैः [4]स्नापयन्त्यवनिस्थिताः[5] ॥४५॥
संचरन्ति विमानानि देवानामम्बरे[6] तथा । उच्चावचानि दिव्यानि कामगानि स्थिराणि च ॥४६॥
दिव्यरत्नविचित्राणि सेवितान्यप्सरोगणैः । गीतैर्वाद्यैः पताकाभिः शोभितानि समन्ततः ॥४७॥
एवं तदा मुनिश्रेष्ठाः कृष्णं रामेण संगतम् । स्नापयित्वा सुभद्रां च संस्तुवन्ति मुदाऽन्विताः ॥४८॥
जय जय लोकपाल[7] भक्तरक्षक जय जय प्रणतवत्सल जय जय भूतचरण जय जयाऽऽदिदेव

उमा, शची, सिमीवाली, अनुमति, कुहू ॥३३-३७॥ राका, धिषणा एवं अन्य देवपत्नियाँ, हिमालय, विन्ध्य, अनेक शिखरों वाला मेरु ॥३८॥ अनुचरों सहित ऐरावत, कला, काष्ठा (समय-परिमाण), पक्ष, मास, ऋतु, रात्रि, दिन, वर्षा उत्तम अश्व उच्चैःश्रवा, नागराज शेष, वामन, अरुण, गरुड़, ओषधियों के सहित वृक्ष ॥३९-४०॥ काल, यम, मृत्यु एवं यम के अन्य अनुचर, भगवान् धर्म, ये सभी देवता वहाँ इकट्ठे होते हैं । इसी प्रकार अन्य विविध अगणित देवगण जिनका नाम यहाँ अधिकता के कारण नहीं कहा गया है—अपने-अपने स्थानों से वहाँ अभिषेक के लिए आते हैं ॥४१-४२॥ विप्रवृन्द ! उस समय वे सभी देवलोकवासी देवता स्वयं पृथ्वी पर स्थित हो मांगलिक अभिषेकोचित सामग्रियों एवं श्विव्य स्नानोचित द्रव्यों से भरे सुवर्ण कलशों में पवित्र सरस्वती आदि नदियों एवं आकाशगंगा का दिव्य जल भरकर पुष्पादि सुगन्धित द्रव्यों से युक्त सुवर्ण-कुम्भों से बलराम सहित कृष्ण और सुभद्रा को स्नान कराते हैं ॥४३-४५॥ उस समय आकाश में देवताओं के छोटे, बड़े, मनोहर, दृढ़ और इच्छानुसार चलने वाले (इच्छा-परिचालित) विमान इधर-उधर उड़ते दिखायी देते हैं ॥४६॥ आकाश-मण्डल अप्सराओं के दिव्य और विचित्र-विचित्र आभूषणों, चारों ओर फहराती हुई मनोहर पताकाओं से जगमगा जाता है, गन्धर्वों और कलकण्ठ मधुरालापी अप्सराओं के गान एवं वाद्य से आकाश गूँज उठता है ॥४७॥ मुनिगण ! इस प्रकार आनन्दमग्न हो बलराम के सहित कृष्ण और सुभद्रा को स्नान कराने के उपरान्त सभी श्रद्धापूर्वक स्तुति करने लगते हैं ॥४८॥ "हे लोकपाल ! भक्तों के रक्षक, शरणागतों पर वात्सल्य भाव रखनेवाले, आदिदेव, प्राणिमात्र में स्थित

---

१ क. ०न्देवैः स० । २ क. ०रास्तथा । ब० । ३ क. तोयैराका० । ४ ख. यन्ति धरास्थि० । ५ ग. ०न्त्यम्बरे स्थि० । ६ ख. ०मन्तरे । ७ क. ०ल जय जयजय काङ्क्षण जय जय पद्मनाभ जय जय परायण । ग. ०ल जय जय पद्मनाभ भूधर० ।

बहुकारण[1] जय जय वासुदेव जय जयासुरसंहरण जय जय [2]दिव्यमीन[3] जय जय त्रिदशवर जय जय जलधिशयन जय जय योगिवर[4] जय जय सूर्यनेत्र जय जय देवराज जय जय कैटभारे जय जय वेदवर[5] जय जय कूर्मरूप जय जय यज्ञवर[6] जय जय कमलनाभ जय जय शैलचर जय जय योगशायिन्जय जय वेगधर जय जय विश्वमूर्ते जय जय चक्रधर जय जय भूतनाथ जय जय धरणीधर जय जय शेषशायिन्जय जय पीतवासो जय जय सोमकान्त जय जय योगवास जय जय दहनवक्त्र[7] जय जय धर्मवास जय जय गुणनिधान जय जय श्रीनिवास जय जय गरुडगमन जय जय सुखनिवास जय जय धर्मकेतो जय जय महीनिवास जय जय [8]गहनचरित्र[9] जय जय योगिगम्य जय जय मखनिवास जय जय वेदवेद्य जय जय शान्तिकर जय जय योगिचिन्त्य जय जय पुष्टिकर जय जय ज्ञानमूर्ते जय जय कमलाकर जय जय भाववेद्य[10] जय जय मुक्तिकर[11] जय जय विमलदेह जय जय सत्त्वनिलय[12] जय जय गुणसमृद्ध[13] जय जय यज्ञकर जय जय गुणविहीन जय जय मोक्षकर जय जय भूशरण्य जय जय कान्तियुत जय जय लोकशरण जय जय लक्ष्मीयुत जय जय पङ्कजाक्ष जय जय सृष्टिकर जय जय योगयुत जय जयातसीकुसुमश्यामदेह[14] जय जय [15]समुद्रविष्टदेह[16] जय जय लक्ष्मीपङ्कजषट्चरण जय जय भक्तवश जय जय लोककान्त जय जय परमशान्त जय जय परमसार जय जय चक्रधर जय जय भोगियुत जय जय नीलाम्बर जय जय शान्तिकर जय जय मोक्षकर जय जय कलुषहर ॥४९॥

बहुकारण, वासुदेव, असुर-विनाशक, दिव्यमत्स्यरूपधारिन्, देववर, समुद्र में सोने वाले, योगिश्रेष्ठ, देवों के स्वामी, सूर्यनेत्र, कैटभ के शत्रु, वेद रूप, कूर्मावतार धारण करने वाले, यज्ञवर, पद्मनाभ, शैलचर! आपकी जय हो, जय हो। हे प्रलयकाल में योगमाया में शयन करने वाले, वेगधर, विश्वरूप, चक्रधर, भूतों के नाथ, पृथ्वी को धारण करने वाले, शेष पर शयन करने वाले, पीताम्बर, चन्द्र के समान कान्तिमान्, योग-वास, मुख से अग्नि उत्पन्न करने वाले, धर्म-रूप, गुणों के कोष, श्री के वासस्थान (पति), गरुड़ पर गमन करने वाले, सुख के सागर, धर्म की पताका फहराने वाले, पृथ्वी-व्यापक, गूढ़ चरित्र वाले, योगियों द्वारा प्राप्त होने वाले, यज्ञों में वास करने वाले, वेदों के द्वारा जानने योग्य, शान्ति-दाता, योगियों से ध्यान किये जाने वाले भगवन्! आपका जय-जयकार हो। हे पुष्टिकर्त्ता! ज्ञान के स्वरूप, कमलाकर, भावनाओं द्वारा जानने योग्य, मुक्तिदाता, निर्मल स्वरूप वाले, सत्त्व के निधान, गुणशाली, (सगुण) यज्ञकर, गुणातीत, मोक्षदाता, लोकरक्षक, कान्तिमान्, लोकाश्रय, लक्ष्मीपति, कमलनेत्र, सृष्टि करनेवाले, अलसी (तीसी) के कुसुम के समान श्याम शरीर वाले घनश्याम! सागर के मध्य निवास करने वाले, लक्ष्मीरूपी कमल का भ्रमर के समान मधुपान करने वाले, भक्तजनों के वश रहने वाले, लोकपति, परमशान्त! आपकी जय हो जय हो। हे परम-तत्त्व! चक्रधर! हे सर्पशायिन्, नीलाम्बर (बलराम), शान्तिकर, मोक्षप्रद और कलुषहरण करने वाले! आपकी

---

१ ग. ०हुकर०। २ ख. दिव्यगीत। ३ क. ०न जय जय जल०। ४ क. ०वन्द्य ज०। ५ क. ख. वैद्यवर। ६ क. यज्ञरूप। ख. यज्ञचर। ७ क. ख. दहनचक्र। ८ ग. गहनगेहनिवास। ९ ख. ०नगमन जय जय भवाब्धिवास ज०। १० क. भववैद्य। ११ क. ख. मूर्तिकर। १२ क. ख. प्रीतिकर। १३ ग. गुणसमूह। १४ ख. ०म ज०। १५ क. ख. सप्तसमु०। १६ क. ख. ०ष्टगेह०।

जय कृष्ण जगन्नाथ जय संकर्षणानुज । जय पद्मपलाशाक्ष जय वाञ्छाफलप्रद ॥५०॥
जय मालावृतोरस्क जय चक्रगदाधर । जय पद्मालयाकान्त जय विष्णो नमोऽस्तु ते ॥५१॥

ब्रह्मोवाच

एवं स्तुत्वा तदा देवाः शक्राद्या हृष्टमानसाः । सिद्धचारणसंघाश्च ये चान्ये स्वर्गवासिनः ॥५२॥
मुनयो वालखिल्याश्च कृष्णं रामेण संगतम् । सुभद्रां च मुनिश्रेष्ठाः प्रणिपत्याम्बरे स्थिताः ॥५३॥
दृष्ट्वा स्तुत्वा नमस्कृत्वा तदा ते त्रिदिवौकसः । कृष्णं रामं सुभद्रां च यान्ति स्वं स्वं निवेशनम् ॥५४॥
संचरन्ति विमानानि देवानामम्बरे तदा । उच्चावचानि दिव्यानि कामगानि स्थिराणि च ॥५५॥
दिव्यरत्नविचित्राणि सेवितान्यप्सरोगणैः । गीतैर्वाद्यैः पताकाभिः शोभितानि समन्ततः ॥५६॥
तस्मिन्काले तु ये मर्त्याः पश्यन्ति पुरुषोत्तमम् । बलभद्रं सुभद्रां च ते यान्ति पदमव्ययम् ॥५७॥
सुभद्रारामसहितं मञ्चस्थं पुरुषोत्तमम् । दृष्ट्वा निरामयं स्थानं यान्ति नास्त्यत्र संशयः ॥५८॥
कपिलाशतदानेन यत्फलं पुष्करे स्मृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य[2] मञ्चस्थं सहलायुधम् ॥
सुभद्रां च मुनिश्रेष्ठाः प्राप्नोति शुभकृन्नरः ॥५९॥
कन्याशतप्रदानेन यत्फलं समुदाहृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥६०॥
सुवर्णशतनिष्काणां दानेन यत्फलं स्मृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥६१॥

जय हो ॥४९॥ कृष्ण ! जगत्पते ! बलराम के छोटे भ्राता ! पद्मपत्र के समान मनोहर नेत्रवाले ! मनोरथ सिद्ध करने वाले ! सर्वदा वक्षःस्थल पर वैजयन्ती माला धारण करने वाले ! चक्रगदाधारिन् ! लक्ष्मीपते विष्णो ! आपकी जय हो । आपको हमारे असंख्य नमस्कार हैं ॥५०-५१॥

ब्रह्मा बोले—मुनिवर ! उस समय इस प्रकार इन्द्र आदि देवता, सिद्ध और चारणों का समूह एवं अन्य सभी स्वर्गवासी देवता, समस्त मुनिगण और वालखिल्य प्रभृति ऋषिगण राम सहित कृष्ण और सुभद्रा की स्तुति करते तथा प्रणाम कर आकाश में स्थित हो जाते हैं ॥५२-५३॥ इसके अनन्तर वे देववृन्द कृष्ण, राम एवं सुभद्रा का दर्शन, स्तुति अथवा नमस्कार कर अपने-अपने निवास-स्थान को चले जाते हैं ॥५४॥ उस समय आकाश में मनोहर, छोटे-बड़े उत्तम दृढ़ विमान उड़ते हुए दिखायी देते हैं, आकाश रंग-बिरंगी पताकाओं और अप्सराओं के विचित्र-विचित्र आभूषणों से सुशोभित हो जाता है, अप्सराओं के मनोहर मधुर गान और वाद्य से स्वयं गाता हुआ-सा जान पड़ता है ॥५५-५६॥ उस समय जो मनुष्य राम, कृष्ण और सुभद्रा का दर्शन करते हैं वे अव्यय पद को प्राप्त करते हैं । मञ्च पर बैठे सुभद्रा, राम के सहित पुरुषोत्तम कृष्ण का दर्शन कर मनुष्य निरामय स्थान को प्राप्त करते हैं इसमें सन्देह नहीं ॥५७॥ मुनिवर ! पुष्कर क्षेत्र में सैकड़ों गौओं के दान से जो फल मिलता है, उस फल को शुभ कार्य करनेवाला मनुष्य मञ्चस्थ कृष्ण, बलराम और सुभद्रा को देखकर प्राप्त करता है ॥५८॥ सैकड़ों कन्यादान से जो फल शास्त्रों में कहे गये हैं, मनुष्य उसको मञ्चस्थ कृष्ण के दर्शन से प्राप्त करता है ॥६०॥ सौ निष्क (एक निष्क = १६ माशे)

---

१ क. तथा । २ क. ०क्य ह्यवश्य लभते नरः । क० ।

गोसहस्रप्रदानेन यत्फलं परिकीर्तितम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥६२॥
भूमिदानेन विधिवद्यत्फलं समुदाहृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥६३॥
यत्फलं चान्नदानेन अर्घातिथ्येन कीर्तितम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥६४॥
वृषोत्सर्गेण विधिवद्यत्फलं समुदाहृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥६५॥
यत्फलं तोयदानेन ग्रीष्मे वाऽन्यत्र कीर्तितम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥६६॥
तिलधेनुप्रदानेन यत्फलं संप्रकीर्तितम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥६७॥
गजाश्वरथदानेन यत्फलं समुदाहृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥६८॥
सुवर्णभृङ्गीदानेन यत्फलं समुदाहृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥६९॥
जलधेनुप्रदानेन यत्फलं समुदाहृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥७०॥
दानेन घृतधेन्वाश्च फलं यत् समुदाहृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥७१॥
चान्द्रायणेन चीर्णेन यत्फलं समुदाहृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥७२॥
मासोपवासैर्विधिवद्यत्फलं समुदाहृतम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं लभते नरः ॥७३॥
अथ किं बहुनोक्तेन भाषितेन पुनः पुनः । तस्य देवस्य माहात्म्यं मञ्चस्थस्य द्विजोत्तमाः ॥७४॥
यत्फलं सर्वतीर्थेषु व्रतैर्दानैश्च कीर्तितम् । तत्फलं कृष्णमालोक्य मञ्चस्थं सहलायुधम् ॥७५॥
सुभद्रां च मुनिश्रेष्ठाः प्राप्नोति शुभकृन्नरः । तस्मान्नरोऽथवा नारी पश्येत्तं पुरुषोत्तमम् ॥७६॥
ततः समस्ततीर्थानां लभेत्स्नानादिकं फलम् । स्नानशेषेण कृष्णस्य तोयेनाऽऽत्माऽभिषिच्यते ॥७७॥
वन्ध्या मृतप्रजा या तु दुर्भगा ग्रहपीडिता । राक्षसाद्यैर्गृहीता वा तथा रोगैश्च संहताः ॥७८॥

परिमित स्वर्णदान से, हजार गौओं के दान से, विधिपूर्वक भूमिदान करने से एवं अन्नदान और अतिथि-सत्कार से जो फल मिलते हैं वे सभी मञ्चस्थ कृष्ण का दर्शन करने से मनुष्यों को मिल जाते हैं ॥६१-६४॥ इसी प्रकार विधिपूर्वक वृषोत्सर्ग श्राद्ध करने से, गर्मी के दिनों में जल पिलाने से, तिलधेनु (कूटे हुए तिलों की वनी गाय की प्रतिमा) के दान से, हाथी, घोड़े और रथ के दान से, सोने से मढ़े सींग वाली गौओं के दान से, जल-धेनु, घृत-धेनु (घी से बनी धेनु) के दान से जो फल शास्त्रानुसार प्राप्त होते हैं वे फल मञ्च पर आसीन पुरुषोत्तम कृष्ण के दर्शन से प्राप्त होते हैं ॥६५-७१॥ चान्द्रायण व्रत एवं विधिपूर्वक एक मास के उपवास से जो फल प्राप्त होता है वह मञ्च पर स्थित कृष्ण के दर्शन से मनुष्य को मिलता है ॥७२॥ द्विजवर ! उस मञ्चस्थ देव कृष्ण के दर्शन की महिमा को इस प्रकार बार-बार अधिक कहने से क्या लाभ ? सव तीर्थों के करने, दान देने और व्रतों के अनुष्ठान से जो फल प्राप्त होते हैं वे सभी मञ्चस्थ बलराम के सहित कृष्ण और सुभद्रा के दर्शन से पुण्यवान् मनुष्य को प्राप्त होते हैं ॥७३-७५½॥ इसलिए नर अथवा नारी अवश्य उस पुरुषोत्तम का दर्शन करे ॥७६॥ इसके अतिरिक्त कृष्ण के अभिषेक से बचे जल से जो स्नान करता है वह सम्पूर्ण तीर्थ के स्नान का फल पाता है ॥७७॥ बन्ध्या, मृतवत्सा, विधवा या भाग्यहीन, ग्रहों से पीड़ित, भूतप्रेतादि

---

१ ख. समुदाहृतम् ।

सद्यस्ताः स्नानशेषेण उदकेनाभिषेचिताः । प्राप्नुवन्तीप्सितान् कामान्यान्वाञ्छन्ति चेप्सितान् ॥७९॥
पुत्रार्थिनी लभेत्पुत्रान्सौभाग्यं च सुखार्थिनी । रोगार्ता मुच्यते रोगाद्धनं च धनकाङ्क्षिणी ॥८०॥
पुण्यानि यानि तोयानि तिष्ठन्ति धरणीतले । तानि स्नानावशेषस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८१॥
तस्मात्स्नानावशेषं यत्कृष्णस्य सलिलं द्विजाः । तेनाभिषिञ्चेद्गात्राणि सर्वकामप्रदं हि तत् ॥८२॥
स्नातं पश्यन्ति ये कृष्णं व्रजन्तं दक्षिणामुखम् । ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यन्ते ते न संशय ॥८३॥
शास्त्रेषु यत्फलं प्रोक्तं पृथिव्यास्त्रिप्रदक्षिणैः । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं व्रजन्तं दक्षिणामुखम् ॥८४॥
तीर्थयात्राफलं यत्तु पृथिव्यां समुदाहृतम् । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं दक्षिणामुखम् ॥८५॥
बदर्यां यत्फलं प्रोक्तं दृष्ट्वा नारायणं नरम् । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं दक्षिणामुखम् ॥८६॥
गङ्गाद्वारे कुरुक्षेत्रे स्नानदानेन यत्फलम् । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं दक्षिणामुखम् ॥८७॥
प्रयागे च महामाघ्यां यत्फलं समुदाहृतम् । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं दक्षिणामुखम् ॥८८॥
शालग्रामे महाचैत्र्यां स्नानदानेन यत्फलम् । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं दक्षिणामुखम् ॥८९॥
महाभिधानकार्तिक्यां पुष्करे यत्फलं स्मृतम् । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं दक्षिणामुखम् ॥९०॥
यत्फलं स्नानदानेन गङ्गासागरसंगमे । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं दक्षिणामुखम् ॥९१॥
ग्रस्ते सूर्ये कुरुक्षेत्रे स्नानदानेन यत्फलम् । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं दक्षिणामुखम् ॥९२॥

से दुःखी और रोगग्रस्त स्त्रियाँ यदि उस स्नान से वचे जल से स्नान करें तो तत्क्षण ही अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं और मनोरथों को प्राप्त कर लेती हैं ॥७९॥ पुत्र की कामना करने वाली स्त्री पुत्र को पाती है, सुख चाहने वाली अपने सौभाग्य को प्राप्त करती है, रोगी अपने रोगों से छूट जाती है और धन की इच्छा रखने वाली धन प्राप्त करती है ॥८०॥ इस पृथ्वीतल पर जितने प्रकार के जल पाये जाते हैं वे सभी इस स्नान से वचे जल के सोलहवें भाग के वरावर भी पुण्य देने वाले नहीं होते ॥८१॥ द्विजगण ! इसलिए कृष्ण के स्नान से वचे जल से अवश्य अपने गात्रों का अभिषेक करना चाहिये क्योंकि वह सव मनोरथों को देने वाला है ॥८२॥ जो मनुष्य स्नान किये हुए और दक्षिण की ओर जाने वाले (यहाँ रथयात्रा से अभिप्राय है। स्नान के वाद रथ पर कृष्ण को चढ़ाकर घुमाया जाता है) कृष्ण को देखता है वह निःसन्देह ब्रह्महत्या आदि पापों से मुक्त हो जाता है ॥८३॥ शास्त्रों में पृथ्वी की तीन वार प्रदक्षिणा करने से जो फल कहे गये हैं वे दक्षिणाभिमुख जाने वाले कृष्ण के दर्शन से मनुष्यों को प्राप्त होते हैं ॥८४॥ पृथ्वी पर तीर्थयात्रा करने से जो फल मिलते हैं, वदरिकाश्रम जाकर नारायण के दर्शन करने से जो फल मिलते हैं; हरद्वार कुरुक्षेत्र में स्नान करने एवं दान देने से जो फल मिलते हैं, माघी अमावस्या को प्रयाग स्नान करने से जो फल मिलते हैं, वे सभी दक्षिणाभिमुख जाने वाले कृष्ण के दर्शन से मनुष्य को मिलते हैं ॥८५-८८॥ पुण्यदायक चैत्रमास में शालग्राम तीर्थ में स्नान करने, और दान देने से, महापुण्यदायिनी कार्तिक-पूर्णिमा के दिन पुष्कर क्षेत्र में स्नान और दान से, गङ्गासागर संगम के स्नान और दान से, सूर्य ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में स्नान करने और दान देने से जो

---

१ क. ग. ०रे च कुब्जाम्रे स्ना० ।

गङ्गायां सर्वतीर्थेषु[१] यामुनेषु च भो द्विजाः । सारस्वतेषु तीर्थेषु तथाऽन्येषु सरःसु च ॥९३॥
यत्फलं स्नानदानेन विधिवत्समुदाहृतम् । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं दक्षिणामुखम् ॥९४॥
पुष्करे चाथ तीर्थेषु गये चामरकण्टके । नैमिषादिषु तीर्थेषु क्षेत्रेष्वायतनेषु च ॥९५॥
यत्फलं स्नानदानेन राहुग्रस्ते दिवाकरे । दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं दक्षिणामुखम् ॥९६॥
अथ किं पुनरुक्तेन भाषितेन पुनः पुनः । यत्किंचित्कथितं चात्र फलं पुण्यस्य कर्मणः ॥९७॥
वेदशास्त्रे पुराणे च भारते च द्विजोत्तमाः । धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु तथाऽन्यत्र मनीषिभिः ॥९८॥
दृष्ट्वा नरो लभेत्कृष्णं तत्फलं सहलायुधम् । सकलं भद्रया सार्धं व्रजन्तं दक्षिणामुखम् ॥९९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भ्वृषिसंवादे कृष्णस्नानमाहात्म्यवर्णनं नाम
पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥६५॥

फल होता है, वह दक्षिणाभिमुख जाने वाले कृष्ण के दर्शन से होता है ॥८९-९२॥ गंगा के सभी तीर्थों, यमुना के सभी तीर्थों, सरस्वती एवं अन्य सरोवरों के तीर्थों में विधिवत् स्नान और दान से जो फल कहे गये हैं वे सभी फल दक्षिणाभिमुख जाने वाले कृष्ण के दर्शन से मनुष्य को प्राप्त होते हैं ॥९३-९४॥ संक्षेप में, पुष्कर, गया, अमरकण्टक, नैमिषारण्य इत्यादि तीर्थों, क्षेत्रों एवं देवमन्दिरों में जाने, दर्शन करने, दान देने तथा सूर्यग्रहण-काल के स्नान-दान से जो फल मिलते हैं वे सभी फल उस भाग्यवान् मनुष्य को मिलते हैं जो दक्षिणाभिमुख जाते हुए कृष्ण का दर्शन करता है ॥९५-९६॥ अथवा बार-बार पुनरुक्त भाषण करने से क्या प्रयोजन ? वेदशास्त्र, पुराण, महाभारत तथा सभी धर्मशास्त्रों और अन्यत्र भी विद्वानों द्वारा जो पुण्य-फल कहे गये हैं, वे सभी उस मनुष्य को प्राप्त होते हैं जो बलराम और सुभद्रा के सहित दक्षिण की ओर जाते हुए कृष्ण का दर्शन करता है॥९७-९९॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में कृष्ण-माहात्म्य-वर्णन नामक पैंसठवाँ अध्याय समाप्त ॥६५॥

---

[१] ग. ०षु तथा चान्येषु भो ।

अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः

गुडिवायात्रामाहात्म्यकथनम्

ब्रह्मोवाच

[1] गुडिवामण्डपं यान्तं ये पश्यन्ति रथे स्थितम् । कृष्णं बलं सुभद्रां च ते यान्ति भवनं हरेः ।।१।।
ये पश्यन्ति तदा कृष्णं सप्ताहं मण्डपे स्थितम् । हलिनं च सुभद्रां च विष्णुलोकं व्रजन्ति ते ।।२।।

मुनय ऊचुः

केन सा निर्मिता यात्रा दक्षिणस्यां[2] जगत्पते । यात्राफलं च किं तत्र प्राप्यते ब्रूहि मानवैः ।।३।।
किमर्थं सरसस्तीरे राज्ञस्तस्य जगत्पते[3] । पवित्रे विजने देशे गत्वा[4] तत्र च मण्डपे ।।४।।
कृष्णः संकर्षणश्चैव सुभद्रा च रथेन ते । स्वस्थानं संपरित्यज्य सप्तरात्रं वसन्ति वै ।।५।।

ब्रह्मोवाच

इन्द्रद्युम्नेन भो विप्राः परा वै प्रार्थितो हरिः । सप्ताहं सरसस्तीरे मम यात्रा भवत्विति ।।६।।
गुडिवा नाम देवेश भुक्तिमुक्तिफलप्रदा । तस्मै किल वरं चासौ ददौ स पुरुषोत्तमः ।।७।।

अध्याय ६६

गुडिवायात्रा का माहात्म्य-कथन

ब्रह्मा बोले—जो मनुष्य रथ पर चढ़े कृष्ण, बलराम और सुभद्रा को गुडिवा मण्डप की ओर जाते हुए देखते हैं वे विष्णुलोक को प्राप्त करते हैं। और जो मण्डप में स्थित कृष्ण, राम और सुभद्रा का एक सप्ताह पर्यन्त दर्शन करते हैं वे विष्णुलोक को जाते हैं ।।१-२।।

मुनियों ने कहा—जगत्पते ! किसने भगवान् की उस दक्षिण की ओर की यात्रा का नियम निकाला और इस यात्रा के दर्शन से मनुष्यों को कौन-सा फल मिलता है, कृपा करके सुनाइये। जगत्पते ! उस इन्द्रद्युम्न सर के तीर पर, पवित्र, निर्जन प्रान्त में कृष्ण, बलराम और सुभद्रा मन्दिर से रथ द्वारा ले जाये जाकर उस मण्डप में एक सप्ताह तक किसलिये रखे जाते हैं ।।३-५।।

ब्रह्मा ने कहा—विप्रवृन्द ! पहले इन्द्रद्युम्न ने भगवान् से प्रार्थना की थी कि मेरे सरोवर के तट पर एक सप्ताह तक आपकी यात्रा हो, देवेश ! यह यात्रा भोग और मोक्ष को देने वाली गुडिवा नाम से विख्यात हो। ऐसी प्रार्थना सुनकर पुरुषोत्तम ने उसको मनचाहा वर प्रदान किया ।।६-७।।

---

१ क. गुटिवा० । ख. गुण्डिवा० । २ ख. दक्षिणाख्यां । ग. गुडिवाख्यां । ३ ख. ग. जगत्पतेः । ४ ख. यात्रा ।

श्रीभगवानुवाच

सप्ताहं सरसस्तीरे तव राजन्भविष्यति । गुडिवा[1] नाम यात्रा मे सर्वकामफलप्रदा ॥८॥
ये मां तत्रार्चयिष्यन्ति श्रद्धया मण्डपे स्थितम् । संकर्षणं सुभद्रां च विधिवत्सुसमाहिताः ॥९॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्राश्च वै नृप । पुष्पैर्गन्धैस्तथा धूपैर्दीपैर्नैवेद्यकैर्वरैः ॥१०॥
उपहारैर्बहुविधैः[2] प्रणिपातैः प्रदक्षिणैः । जयशब्दैस्तथा स्तोत्रैर्गीतैर्वाद्यैर्मनोहरैः ॥११॥
न तेषां दुर्लभं किञ्चित्फलं यस्य यदीप्सितम् । भविष्यति नृपश्रेष्ठ मत्प्रसादादसंशयम् ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तु तं देवस्तत्रैवान्तरधीयत । स तु [3]राजवरः श्रीमान्कृतकृत्योऽभवत्तदा ॥१३॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन [4]गुडिवायां द्विजोत्तमाः । सर्वकामप्रदं देवं पश्येत्तं पुरुषोत्तमम् ॥१४॥
अपुत्रो लभते पुत्रान्निर्धनो लभते धनम् । रोगाच्च मुच्यते रोगी कन्या प्राप्नोति सत्पतिम् ॥१५॥
आयुः कीर्तिं यशो मेधां बलं विद्यां धृतिं पशून् । [5]नरः संततिमाप्नोति रूपयौवनसंपदम् ॥१६॥
यान्यान्यसमीहते[6] भोगान्दृष्ट्वा तं पुरुषोत्तमम् । नरो वाऽप्यथवा नारी तांस्तान्प्राप्नोत्यसंशयम् ॥१७॥
यात्रां कृत्वा [7]गुडिवाख्यां विधिवत्सुसमाहितः । आषाढस्य[8] सिते पक्षे नरो योषिदथापि वा ॥१८॥

श्री भगवान् ने कहा—राजन् ! तुम्हारे सरोवर के तट पर मेरी सब मनोरथों को देने वाली गुडिवा नाम की यात्रा एक सप्ताह पर्यन्त होगी। जो एकाग्र चित्त से मण्डप में स्थित मेरी, बलराम और सुभद्रा की पुष्प, गंध, धूप, दीप, नैवेद्य तथा विविध उत्तम उपहारों से विधिवत् पूजा कर नमस्कार एवं प्रदक्षिणा करेंगे तथा जयध्वनि, स्तोत्रपाठ, मनोहर गान, वाद्य आदि से मुझे संतुष्ट करेंगे, नृप ! वे चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी क्यों न हों उनके लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहेगा। नृपश्रेष्ठ ! मेरी कृपा से उनको निश्चित ही इच्छानुकूल फल प्राप्त होंगे ॥८-१२॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार भगवान् विष्णु राजा से कहकर अन्तर्हित हो गये। वह प्रभावशाली राजा भी अत्यन्त कृतकृत्य हो गया ॥१३॥ इसलिए, द्विजवर ! मनुष्य को प्रयत्न करके गुडिवा यात्रा के समय सब मनोरथ सिद्ध करने वाले पुरुषोत्तम देव का दर्शन करना चाहिये ॥१४॥ पुत्रहीन व्यक्ति पुत्रों को, और धनहीन धन को प्राप्त करता है। इसी प्रकार रोगी अपने रोग से मुक्त हो जाता है और कन्या इच्छानुरूप उत्तम पति प्राप्त करती है ॥१५॥ भगवान् पुरुषोत्तम के दर्शन से मनुष्य आयु, कीर्ति, यश, बुद्धि, बल, विद्या, धैर्य, रूप, यौवन, धन और उत्तम सन्तान प्राप्त करता है ॥१६॥ नर हो या नारी सभी भगवान् के दर्शन से जिन-जिन सुखों की इच्छा करते हैं, निःसन्देह उनकी वे सभी इच्छाएँ पूरी होती हैं। नर हो अथवा स्त्री कोई भी आषाढ़ के शुक्ल पक्ष में अनन्य भाव से विधि-

---

[1] ख. गुण्डिवा। [2] क. ०विधैरुपवासैः प्रजागरैः। ज०। ख. ०विधैरुपचारैः प्र०। [3] क. भूपवरः। [4] ख. गुण्डिवायां। [5] ग. ०रः सद्गति०। [6] क. ०ते कामान्दृ०। [7] ख. गुण्डिवा०। [8] ख. ०ढस्यासि०।

दृष्ट्वा कृष्णं च रामं च सुभद्रां च द्विजोत्तमाः । दशपञ्चाश्वमेधानां फलं प्राप्नोति चाधिकम् ॥१९॥
सप्तावरान्सप्त परान्वंशानुद्धृत्य चाऽऽत्मनः । कामगेन विमानेन सर्वरत्नैरलङ्कृतः ॥२०॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च सेव्यमानो यथोत्तरैः । रूपवान्सुभगः शूरो नरो विष्णुपुरं व्रजेत् ॥२१॥
तत्र भुक्त्वा वरान्भोगान्यावदाभूतसंप्लवम् । सर्वकामसमृद्धात्मा जरामरणवर्जितः ॥२२॥
पुण्यक्षयादिहाऽऽगत्य चतुर्वेदी द्विजो भवेत् । वैष्णवं योगमास्थाय ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥२३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे गुडिवायात्रामाहात्म्यनिरूपणं
नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥६६॥

अथ सप्तषष्टितमोऽध्यायः

द्वादशयात्रामाहात्म्यवर्णनम्

मुनय ऊचुः

एकैकस्यास्तु यात्रायाः फलं ब्रूहि [2]पृथक्पृथक् । यत्प्राप्नोति नरः कृत्वा नारी[3] वा तत्र संयता[4] ॥१॥

पूर्वक गुडिवा नाम की यात्रा कर एवं कृष्ण, राम और सुभद्रा का दर्शन कर द्विजवृन्द ! पन्द्रह अश्वमेध यज्ञों से भी अधिक फल प्राप्त करता है ॥१७-१९॥ वह अपने सात बीते और सात आने वाले वंशों का उद्धार कर स्वयं इच्छागामी विमान से सब रत्नों से अलङ्कृत होकर विष्णुलोक को जाता है ॥२०-२१॥ वहाँ उसकी गन्धर्व और अप्सराओं द्वारा उत्तरोत्तर क्रम से सेवा होती है और वह रूपवान्, भाग्यशाली एवं शूरवीर होता है। उस विष्णुलोक में वह जरा-मृत्यु से रहित और शान्त होकर कल्पान्त तक उत्तम भोगों का भोग करता है। पुनः पुण्य क्षीण हो जाने पर इस लोक में आकर चारों वेदों का ज्ञाता ब्राह्मण होता है। तदनन्तर वैष्णव योग (ज्ञान) को पाकर मोक्ष का अधिकारी होता है ॥२२-२३॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद में गुडिवा-यात्रा-माहात्म्य-वर्णन नामक
छाछठवाँ अध्याय समाप्त ॥६६॥

अध्याय ६७

बारह यात्राओं का माहात्म्य-वर्णन

मुनियों ने कहा—उन यात्राओं को अनन्य भाव से करके स्त्री-पुरुष क्या फल पाते हैं कृपया एक-एक यात्रा का फल अलग-अलग कहिये ॥१॥

---

१ क. ख. ०मासाद्यत० । २ ख. ०थग्विभो । य० । ३ ख. ०रीभिस्तत्र सं० । ४ क. ख. संयुतः ।

ब्रह्मोवाच

प्रतियात्राफलं विप्राः शृणुध्वं गदतो मम । यत्प्राप्नोति नरः कृत्वा तस्मिन्क्षेत्रे सुसंयतः ।।२।।
गुडिवायां तथोत्थाने फाल्गुन्यां विषुवे तथा । यात्रां कृत्वा विधानेन दृष्ट्वा कृष्णं प्रणम्य च ।।३।।
संकर्षणं सुभद्रां च लभेत्सर्वत्र वै फलम् । नरो गच्छेद्विष्णुलोके यावदिन्द्राश्चतुर्दश ।।४।।
यावद्यात्रां ज्येष्ठमासे करोति विधिवन्नरः । तावत्कल्पं विष्णुलोके सुखं भुङ्क्ते न संशयः ।।५।।
तस्मिन्क्षेत्रवरे पुण्ये रम्ये श्रीपुरुषोत्तमे । भुक्तिमुक्तिप्रदे नृणां सर्वसत्त्वसुखावहे ।।६।।
ज्येष्ठे यात्रां (त्रा) नरः कृत्वा नारी वा संयतेन्द्रियः । यथोक्तेन विधानेन दश[2] द्वे च समाहितः ।।७।।
प्रतिष्ठां कुरुते यस्तु शाठ्यदम्भविवर्जितः । स भुक्त्वा विविधान्भोगान्मोक्षं चान्ते लभेद् ध्रुवम् ।।८।।

मुनय ऊचुः

श्रोतुमिच्छामहे देव प्रतिष्ठां वदतस्तव । विधानं चार्चनं दानं फलं तत्र जगत्पतेः[3] ।।९।।

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः प्रतिष्ठां विधिचोदिताम् । यां कृत्वा तु नरो भक्त्या नारी वा लभते फलम् ।।१०।।
यात्रा द्वादश संपूर्णा यदा स्यात्तु (स्युस्तु) द्विजोत्तमाः । तदा कुर्वीत विधिवत्प्रतिष्ठां पापनाशिनीम् ।।११।।

ब्रह्मा बोले—विप्रवृन्द ! संयमी व्यक्ति उस तीर्थ (गुडिवा) की यात्रा को सम्पन्न कर प्रत्येक यात्रा का जो फल प्राप्त करते हैं उसको मैं कह रहा हूँ, सुनो ।।२।। फाल्गुन की पूर्णिमा, विषुव (जिस दिन रात्रि-दिन समान होते हैं) काल में तथा देवोत्थान एकादशी के दिन गुडिवा यात्रा कर विधिपूर्वक कृष्ण, बलराम तथा सुभद्रा को प्रणाम कर मनुष्य सब फलों को प्राप्त करता है और चौदह इन्द्रों के भोग-काल तक विष्णु के लोक में निवास करता है ।। ३-४।। जेठ के महीने में मनुष्य जितने बार विधिपूर्वक यात्रा करता है, वह उतने ही कल्पों तक विष्णु लोक में सुखभोग करता है, इसमें सन्देह नहीं ।।५।। उस पवित्र, मनोहर, भोग और मोक्ष को देने वाले, सभी प्राणियों को सुख पहुँचाने वाले पुरुषोत्तम क्षेत्र में जो जितेन्द्रिय नारी या नर अनन्य भाव से विधान के अनुसार बारह बार ज्येष्ठ मास में यात्रा करेंगे तथा शठता और धूर्तता को छोड़कर देव-प्रतिष्ठा करेंगे वे विविध भोगों का भोग कर अन्तकाल में निश्चित ही मोक्ष प्राप्त करेंगे ।।६-८।।

मुनिगण बोले—देव ! अभी आपने जो जगत्पति की प्रतिष्ठा की चर्चा की है उस प्रतिष्ठा के विधान, पूजन, दान और फल के विषय में हम लोग सुनना चाहते हैं, कृपाकर सुनाइये ।।९।।

ब्रह्मा ने कहा—मुनिवर्य ! जिस देव-प्रतिष्ठा के करने से मनुष्य उत्तम फलों का प्राप्त करता है उस प्रतिष्ठा की विधि मैं बता रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो ।।१०।। उत्तम द्विजवृन्द ! जब बारह बार यात्रा पूरी हो जाय तब

---

[1] ख. गुण्डिवा० । [2] ख. दशाब्दं च । [3] ग. जगत्पते ।

ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे त्वेकादश्यां समाहितः । गत्वा जलाशयं पुण्यमाचम्य प्रयतः शुचिः ॥१२॥
आवाह्य सर्वतीर्थानि ध्यात्वा नारायणं तथा । ततः स्नानं प्रकुर्वीत विधिवत्सुसमाहितः ॥१३॥
यस्य यो विधिरुद्दिष्ट ऋषिभिः स्नानकर्मणि । तेनैव तु विधानेन स्नानं तस्य विधीयते ॥१४॥
स्नात्वा सम्यग्विधानेन ततो देवानृषीन्पितॄन् । संतर्पयेत्तथाऽन्यांश्च नामगोत्रविधानवित् ॥१५॥
उत्तीर्य वाससी धौते निर्मले परिधाय वै । उपस्पृश्य विधानेन भास्कराभिमुखस्ततः ॥१६॥
गायत्रीं पावनीं देवीं मनसा वेदमातरम् । सर्वपापहरां पुण्यां जपेदष्टोत्तरं शतम् ॥१७॥
पुण्यांश्च सौरमन्त्रांश्च श्रद्धया सुसमाहितः । त्रिःप्रदक्षिणमावृत्य भास्करं प्रणमेत्ततः ॥१८॥
वेदोक्तं त्रिषु वर्णेषु स्नानं[1] जाप्यमुदाहृतम् । स्त्रीशूद्रयोः स्नानजाप्यं वेदोक्तविधिवर्जितम् ॥१९॥
ततो गच्छेद्गृहं मौनी पूजयेत्पुरुषोत्तमम् । प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च उपस्पृश्य यथाविधि ॥२०॥
घृतेन स्नापयेद्देवं क्षीरेण तदनन्तरम् । मधुगन्धोदकेनैव तीर्थचन्दनवारिणा[2] ॥२१॥
ततो वस्त्रयुगं श्रेष्ठं भक्त्या तं परिधापयेत् । चन्दनागरुकर्पूरैः कुङ्कुमेन विलेपयेत् ॥२२॥
पूजयेत्परया भक्त्या [3]पद्मैश्च पुरुषोत्तमम् । अन्यैश्च वैष्णवैः[4] पुष्पैरर्चयेन्मल्लिकादिभिः ॥२३॥
संपूज्यैवं जगन्नाथं भुक्तिमुक्तिप्रदं हरिम् । धूपं चागुरुसंयुक्तं[5] दहेद्देवस्य चाग्रतः ॥२४॥

विधिपूर्वक इस पापनाशिनी प्रतिष्ठा को करना चाहिये ॥११॥ ज्येष्ठ मास की शुक्ल-एकादशी के दिन संयत भाव से उस पवित्र जलाशय के समीप जाकर आचमन कर पवित्र होना चाहिये ॥१२॥ पुनः सब तीर्थों का आवाहन कर तथा भगवान् का ध्यान कर विधिपूर्वक समाहित चित्त से उसमें स्नान करना चाहिये ॥१३॥ ऋषियों ने स्नान-कर्म में जिसके लिए जो विधि बतायी है उसी विधि से स्नान करना चाहिये ॥१४॥ तदनन्तर भली भाँति स्नान कर नाम गोत्र का जानने वाला व्यक्ति देव, ऋषि, पितर तथा अन्य देवों का तर्पण करे ॥१५॥ इसके बाद से निकलकर स्वच्छ, निर्मल, धुले वस्त्र पहन कर सूर्याभिमुख हो विधिपूर्वक आचमन करे ॥१६॥ आचमन से पवित्र हो सब पापों को दूर करने वाली पवित्र वेदमाता, गायत्री देवी का मन में जप करे ॥१७॥ इसके अनन्तर पवित्र सूर्यमन्त्रों का पाठ करते हुए श्रद्धा और संयत भाव से तीन बार प्रदक्षिणा कर सूर्य को प्रणाम करे ॥१८॥ मैंने तीन वर्णों के लिए वेदों द्वारा कहे गये स्नान और जपविधान को कहा है, स्त्री-शूद्रों के लिए वेदविधि से स्नान और जप वर्जित है ॥१९॥ इस प्रकार सन्ध्या-वन्दन से निवृत्त होकर मौन हो घर जाय, वहाँ हाथ-पैर धोकर यथाविधि आचमन कर पुरुषोत्तम की पूजा प्रारम्भ करे ॥२०॥ पहले भगवान् को घृत से तदनन्तर दूध से नहलाये फिर मधु-सुगन्ध से युक्त जल तथा चन्दन मिश्रित तीर्थ-जल से नहलाकर भक्तिपूर्वक भगवान् को उत्तम युगल वस्त्र पहनाये, शरीर में चन्दन, अगर, कुङ्कुम और कर्पूर का लेप लगाये, तथा अत्यन्त भक्तिभाव से कमल एवं अन्य मल्लिका आदि विष्णु को प्रिय लगने वाले फूलों से पुरुषोत्तम की पूजा करे ॥२१-२३॥ इस विधि से भुक्ति-मुक्ति-दाता लोकपति भगवान् विष्णु देव की पूजा कर उनके आगे अगुरु मिले धूप और सुगन्धित गुग्गुल को जलाये, शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक

---

१ ग. ०नं जप्य० । २ ख. ०णा । नव्यव० । ३ क. मन्त्रैश्च । ख. गन्धैश्च । ४ क. विविधैः । ५ क. ०क्तं देवदेव० ।

गुग्गुलं च[1] मुनिश्रेष्ठा दहेद्गन्धसमन्वितम् । दीपं प्रज्वालयेद्भक्त्या यथाशक्त्या (क्ति) घृतेन वै ।।२५।।
अन्यांश्च दीपकान्दद्याद्द्वादशैव समाहितः । घृतेन च मुनिश्रेष्ठास्तिलतैलेन वा पुनः ।।२६।।
नैवेद्ये पायसापूपशष्कुलीवटकं तथा । मोदकं फाणितं वाऽल्पं फलानि च निवेदयेत् ।।२७।।
एवं पञ्चोपचारेण संपूज्य पुरुषोत्तमम्[2] । नमः पुरुषोत्तमायेति जपेदष्टोत्तरं शतम् ।।२८।।
ततः प्रसादयेद्देवं भक्त्या तं पुरुषोत्तमम् । नमस्ते सर्वलोकेश भक्तानामभयप्रद ।।२९।।
संसारसागरे मग्नं त्राहि मां पुरुषोत्तम । यास्ते मया कृता यात्रा द्वादशैव जगत्पते ।।३०।।
प्रसादात्तव गोविन्द संपूर्णास्ता भवन्तु मे । एवं प्रसाद्य तं देवं दण्डवत्प्रणिपत्य च ।।३१।।
ततोऽर्चयेद्गुरुं भक्त्या पुष्पवस्त्रानुलेपनैः[3] । नानयोरन्तरं यस्माद्विद्यते मुनिसत्तमाः ।।३२।।
देवस्योपरि कुर्वीत श्रद्धया सुसमाहितः । नानापुष्पैर्मुनिश्रेष्ठा विचित्रं पुष्पमण्डपम्[4] ।।३३।।
कृत्वाऽवधारणं पश्चाज्जागरं कारयेन्निशि । कथां च वासुदेवस्य गीतिकां चापि [5]कारयेत् ।।३४।।
[5]ध्यायन्पठन्स्तुवन्देवं[6] प्रणयेद्रजनीं बुधः । ततः प्रभाते विमले द्वादश्यां द्वादशैव तु ।।३५।।
[7]निमन्त्रयेद्व्रतस्नातान्ब्राह्मणान्वेदपारगान् । इतिहासपुराणज्ञाञ्श्रोत्रियान्संयतेन्द्रियान् ।।३६।।
स्नात्वा सम्यग्विधानेन धौतवासा जितेन्द्रियः । स्नापयेत्पूर्ववत्तत्र पूजयेत्पुरुषोत्तमम् ।।३७।।

घृत का दीपक जलाये। इसी प्रकार मुनिवर्य ! घृत के अथवा तिल-तैल के अन्य बारह प्रदीप श्रद्धापूर्वक भगवान् को दिखाये। भोजन के लिए विभिन्न प्रकार के मधुर पदार्थ खीर, मालपूआ, पूरी, लड्डू, राब एवं फल भगवान् को अर्पित करे ।।२४-२७।। इस प्रकार पञ्चोपचार से भगवान् की पूजा कर 'नमः पुरुषोत्तमाय' इस मन्त्र का एक सौ आठ बार जप करे ।।२८।। जप के बाद भगवान् पुरुषोत्तम को स्तुति द्वारा प्रसन्न करे। भक्तों को अभय दान देने वाले देवेश ! आपको नमस्कार है। पुरुषोत्तम ! संसार-सागर में डूबे हुए मेरी रक्षा करो। जगत्पते ! मैंने आपकी कृपा से जो ये तुम्हारी द्वादश यात्राएँ की हैं, वे पूर्णरूप से मुझे फल दें। इस प्रकार स्तुति से भगवान् को प्रसन्न कर दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये ।।२९-३१।। मुनिश्रेष्ठ ! गुरु और भगवान् में थोड़ा भी अन्तर नहीं है, इसलिए भगवान् की पूजा के बाद गुरु की फूल, वस्त्र और सुगन्धित द्रव्यों से पूजा करनी चाहिये। मुनिश्रेष्ठ ! भगवान् की प्रसन्नता के लिए उनके ऊपर अनेक पुष्पों का विचित्र मण्डप श्रद्धापूर्वक अनन्य भाव से बनाना चाहिये ।।३२-३३।। इस प्रकार देव-प्रतिष्ठा कर रात्रि में जागरण करना चाहिये, वासुदेव की मनोहर कथा और गीत भी गाये जाने चाहिये। बुद्धिमान् व्यक्तियों को चाहिये कि इस प्रकार पुरुषोत्तम का ध्यान, स्तुति और स्तोत्र पाठ करते हुए रात बितायें ।।३४-३५।। तदनन्तर द्वादशी के दिन प्रातःकाल वेद के प्रकाण्ड विद्वान्, इतिहास-पुराणों के ज्ञाता, श्रोत्रिय, जितेन्द्रिय और व्रती बारह ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे ।।३५-३६।। स्वयं स्नान कर धुले हुए वस्त्र पहनकर विधिपूर्वक संयत भाव से भगवान् पुरुषोत्तम को पहले की तरह स्नान कराये, विविध पुष्पों, उपहार, नैवेद्य, दीप तथा विविध उपचारों

---

[1] ख. वा । [2] ग. ०म् । त्रों न० । [3] ख. ०नैः । स्नानसंध्योत्तरं पश्चाच्छोभनं मु० । [4] ग. ०ण्डलम् । [5] क. ०यन्गायन्स्तु० । [6] क. ०वं गमये० । [7] ख. ०येत्कृतस्नानान्न्रा० ।

गन्धैः पुष्पैरुपहारैर्नैवेद्यैर्दीपकैस्तथा । उपचारैर्बहुविधैः प्रणिपातैः प्रदक्षिणैः ।।३८।।
याप्यैः स्तुतिनमस्कारैर्गीतवाद्यैर्मनोहरैः । संपूज्यैवं जगन्नाथं ब्राह्मणान्पूजयेत्ततः ।।३९।।
द्वादशैव तु गास्तेभ्यो दत्त्वा कनकमेव च । छत्रोपानद्युगं चैव श्रद्धाभक्तिसमन्वितः[1] ।।४०।।
भक्त्या तु सधनं तेभ्यो दद्याद्वस्त्रादिकं द्विजाः । सद्भावेन तु [2]गोविन्दस्तोष्यते पूजितो यतः ।।४१।।
आचार्याय ततो [3]दद्याद्गोवस्त्रं कनकं तथा । छत्रोपानद्युगं[4] चान्यत्कांस्यपात्रं च भक्तितः ।।४२।।
ततस्तान्भोजयेद्विप्रान्भोज्यं पायसपूर्वकम् । पक्वान्नं भक्ष्यभोज्यं च गुडसर्पिःसमन्वितम् ।।४३।।
ततस्तानन्नतृप्तांश्च ब्राह्मणान्स्वस्थमानसान् । द्वादशैवोदकुम्भांश्च [5]दद्यात्तेभ्यः समोदकान् ।।४४।।
दक्षिणां च यथाशक्त्या (क्ति) दद्यात्तेभ्यो विमत्सरः । कुम्भं च दक्षिणां चैव आचार्याय निवेदयेत् ।।४५।।
एवं संपूज्य तान्विप्रान्गुरुं ज्ञानप्रदायकम् । पूजयेत्परया भक्त्या विष्णुतुल्यं द्विजोत्तमाः ।।४६।।
सुवर्णवस्त्रगोधान्यैर्द्रव्यैश्चान्यैर्वरैर्बुधः । संपूज्य तं नमस्कृत्य इमं मन्त्रमुदीरयेत् ।।४७।।
सर्वव्यापी जगन्नाथः शङ्खचक्रगदाधरः । अनादिनिधनो देवः प्रीयतां पुरुषोत्तमः ।।४८।।
इत्युच्चार्य ततो विप्रांस्त्रिः कृत्वा च प्रदक्षिणाम् । प्रणम्य शिरसा भक्त्या आचार्यं तु विसर्जयेत् ।।४९।।
ततस्तान्ब्राह्मणान्भक्त्या चाऽऽसीमान्तमनुव्रजेत् । अनुव्रज्य तु तान्सर्वान्नमस्कृत्य निवर्तयेत् ।।५०।।

से विधिवत् पूजा करे पुनः दण्डवत् और प्रदक्षिणा कर भगवान् को मनोहर गान, स्तुति, नमस्कार और जप द्वारा प्रसन्न करे। इस प्रकार भगवान् की पूजा करने के बाद उन निमन्त्रित ब्राह्मणों की यथा विधि पूजा करे ।।३७-३९।। प्रत्येक को एक-एक गाय, सुवर्ण, छाता और एक जोड़े जूते भक्तिपूर्वक दान दे ।।४०।। द्विजगण ! प्रत्येक ब्राह्मण को धन सहित वस्त्र आदि भी दे। क्योंकि सद्भावपूर्वक ब्राह्मणों की पूजा करने से भगवान् विष्णु भी प्रसन्न होते हैं ।।४१।। ब्राह्मणों की पूजा के बाद भक्तिपूर्वक आचार्य को गौ, वस्त्र, सुवर्ण, छत्र और उपानह आदि प्रदान करे। फिर उन ब्राह्मणों को पायस, पक्वान्न एवं गुड़, घी से बने स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों का भोजन कराये। उस भोजन से तृप्त ब्राह्मणों को मोदक के साथ बारह जल के घड़े दे और यथाशक्ति विनम्र भाव से दक्षिणा भी दे। इसी प्रकार अपने आचार्य को भी जल-कलश दक्षिणा सहित प्रदान करे ।।४२-४५।। द्विजोत्तम ! इस प्रकार उन ब्राह्मणों तथा विष्णुतुल्य ज्ञान-दाता गुरु की अत्यन्त श्रद्धा से पूजा करे ।।४६।। पुनः सुवर्ण, वस्त्र, गौ एवं दूसरे उत्तम पदार्थों से चतुर व्यक्ति गुरु की पूजा और नमस्कार कर इस मन्त्र का उच्चारण करे ।।४७।। सर्वव्यापक, जगत् के स्वामी, शङ्ख, चक्र और गदा के धारण करने वाले और अनादि अनन्त पुरुषोत्तम देव प्रसन्न हो जायें ।।४८।। इस मन्त्र का उच्चारण कर ब्राह्मणों की तीन वार प्रदक्षिणा करे, पुनः आचार्य को विनम्र प्रणाम कर बिदा करे ।।४९।। उन ब्राह्मणों के पीछे-पीछे ग्राम की सीमा तक भक्तिपूर्वक जाय और वहाँ से उन ब्राह्मणों को नमस्कार कर लौटा दे ।।५०।। घर लौटकर बान्धव, स्वजन एवं अन्य उपासक, दीन, भिक्षुक तथा

---

[1] क. ०क्तिपुरःसरः। भ०। [2] ख. ०न्दस्तुष्य०। [3] क. ख. ०द्यात्सुव०। [4] क. ख. ०गं धान्यं कांस्य०। [5] ख. ०द्याद्भक्त्या स०।

बान्धवैः स्वजनैर्युक्तस्ततो भुञ्जीत वाग्यतः।[1] अन्यैश्चोपासकैर्दीनैर्भिक्षुकैश्चान्नकाङ्क्षिभिः ॥५१॥
एवं कृत्वा नरः सम्यङ्नारी व लभते फलम्। अश्वमेधसहस्राणां राजसूयशतस्य च ॥५२॥
अतीतं शतमादाय पुरुषाणां नरोत्तमाः। भविष्यं च शतं विप्राः स्वर्गत्या दिव्यरूपधृक् ॥५३॥
सर्वलक्षणसंपन्नः सर्वालंकारभूषितः। सर्वकामसमृद्धात्मा [2]देववद्विगतज्वरः ॥५४॥
रूपयौवनसंपन्नो गुणैः सर्वैरलंकृतः। स्तूयमानोऽप्सरोभिश्च गन्धर्वैः समलंकृतः ॥५५॥
विमानेनार्कवर्णेन कामगेन स्थिरेण च। पताकाध्वजयुक्तेन सर्वरत्नैरलंकृतः ॥५६॥
उद्योतयन्दिशः सर्वा आकाशे विगतक्लमः। युवा महाबलो धीमान्विष्णुलोकं स गच्छति ॥५७॥
तत्र कल्पशतं यावद्भुङ्क्ते भोगान्यथेप्सितान्। सिद्धाप्सरोभिर्गन्धर्वैः सुरविद्याधरोरगैः ॥५८॥
स्तूयमानो मुनिवरैस्तिष्ठते विगतज्वरः। यथा देवो जगन्नाथः शङ्खचक्रगदाधरः ॥५९॥
तथाऽसौ मुदितो विप्राः कृत्वा रूपं चतुर्भुजम्। भुक्त्वा तत्र वरान्भोगान्[3] क्रीडां कृत्वा सुरैः सह ॥६०॥
तदन्ते ब्रह्मसदनमायाति सर्वकामदम्। सिद्धविद्याधरैश्चापि शोभितं सुरकिन्नरैः ॥६१॥
कालं नवतिकल्पं तु तत्र भुक्त्वा सुखं नरः। तस्मादायाति विप्रेन्द्राः सर्वकामफलप्रदम् ॥६२॥
रुद्रलोकं सुरगणैः सेवितं सुखमोक्षदम्। अनेकशतसाहस्रैर्विमानैः समलंकृतम् ॥६३॥

भूखे व्यक्तियों के साथ मौन होकर भोजन करे ॥५१॥ कोई भी स्त्री या पुरुष इस प्रकार भली भाँति व्रत का अनुष्ठान कर हजार अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञों के बराबर फल प्राप्त कर सकते हैं ॥५२॥ नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार देवानुष्ठान-परायण व्यक्ति अपने कुल के अतीत काल के सौ और आने वाले सौ व्यक्ति के सहित दिव्य रूप धारण कर, सब लक्षणों से युक्त, सब आभूषणों से आभूषित, पूर्णमनोरथ, देवता के समान ताप-रहित, रूप और यौवन से युक्त, सब गुणों से सुशोभित होकर रंग-बिरंगे पताकाओं से सुसज्जित, दृढ़ और सूर्य के समान चमकने वाले इच्छागामी विमान से विष्णुलोक को जाता है ॥५३-५७॥ साथ-साथ अप्सराएँ और गन्धर्व स्तुति गान करते जाते हैं। आकाश में वह अपनी देह-कान्ति से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करता जाता है। इस प्रकार वह युवा, महाबली, ज्ञानवान् व्यक्ति शान्तचित्त से आकाश-मार्ग से विष्णुलोक को प्रयाण करता है। वहाँ वह सौ कल्प तक अपने ईप्सित भोगों का भोग करता है, सिद्ध, अप्सराएँ, गन्धर्व, देवता, विद्याधर, नाग और मुनिप्रवर उसका यशोगान करते हैं, वह शंख-चक्र-गदाधारी विष्णु का चतुर्भुज रूप स्वयं धारण कर हे विप्रगण ! शान्त भाव से, प्रसन्नचित्त हो निवास करता है। वहाँ उत्तम भोगों का भोग तथा देववृन्दों के साथ क्रीड़ा करके उस विष्णु-मन्दिर में स्थान पाता है जो सुर, किन्नर, सिद्ध और विद्याधरों से सुशोभित रहता है ॥५८-६१॥ वहाँ से वह व्यक्ति नब्बे कल्प तक सुखों का उपभोग कर हे विप्रेन्द्रगण ! पुनः उस रुद्रलोक में जाता है, जो सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करने वाला, सुर-समूह से भरा हुआ, सुख और मोक्ष को देने वाला है, जो अनेक सहस्र देव-विमानों से सुशोभित है,

---

[1] ख. अन्नैश्च तर्पयेद्दीनान्भिक्षुकांश्चान्नकांक्षिणः। ए०। [2] क. ०वताराधने रतः। रु०। [3] ख. ग. ०गान्क्रीडित्वा चाप्सरैः।

सिद्धविद्याधरैर्यक्षर्भूषितं दैत्यदानवैः । अशीतिकल्पकालं तु तत्र भुक्त्वा सुखं नरः ॥६४॥
तदन्ते याति गोलोकं सर्वभोगसमन्वितम् । सुरसिद्धाप्सरोभिश्च शोभितं सुमनोहरम् ॥६५॥
तत्र सप्ततिकल्पांस्तु भुक्त्वा भोगमनुत्तमम् । दुर्लभं त्रिषु लोकेषु स्वस्थचित्तो[1] यथाऽमरः ॥६६॥
तस्मादागच्छते लोकं प्राजापत्यमनुत्तमम् । गन्धर्वाप्सरसैः सिद्धैर्मुनिविद्याधरैर्वृतः ॥६७॥
षष्टिकल्पान्सुखं तत्र भुक्त्वा नानाविधं मुदा[2] । तदन्ते शक्रभवनं नानाश्चर्यसमन्वितम् ॥६८॥
गन्धर्वैः किंनरैः सिद्धैः सुरविद्याधरोरगैः । गुह्यकाप्सरसैः साध्यैर्वृतैश्चान्यैः सुरोत्तमैः ॥६९॥
आगत्य तत्र पञ्चाशत्कल्पान्भुक्त्वा सुखं नरः[3] । सुरलोकं ततो गत्वा विमानैः समलंकृतः ॥७०॥
चत्वारिंशत्तु कल्पांस्तु भुक्त्वा भोगान्सुदुर्लभान् । आगच्छते ततो लोकं नक्षत्राख्यं सुदुर्लभम् ॥७१॥
ततोभोगान्वरान्भुङ्क्ते त्रिंशत्कल्पान्यथेप्सितान् । तस्मादागच्छते लोकं शशाङ्कस्य द्विजोत्तमाः ॥७२॥
यत्रासौ तिष्ठते सोमः सर्वैर्देवैरलंकृतः । तत्र विंशतिकल्पांस्तु भुक्त्वा भोगं सुदुर्लभम् ॥७३॥
आदित्यस्य ततो लोकमायाति सुरपूजितम् । नानाश्चर्यमयं पुण्यं गन्धर्वाप्सरःसेवितम् ॥७४॥
तत्र भुक्त्वा शुभान्भोगान्दश कल्पान्द्विजोत्तमाः तस्मादायाति भुवनं गन्धर्वाणां सुदुर्लभम् ॥७५॥
तत्र भोगान्समस्तांश्च कल्पमेकं यथासुखम् । भुक्त्वा चाऽऽयाति मेदिन्यां राजा भवति धार्मिकः ॥७६॥
चक्रवर्ती महावीर्यो गुणैः सर्वैरलंकृतः । कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण यज्ञैरिष्ट्वा सुदक्षिणैः ॥७७॥

जो दैत्य, दानव, सिद्ध, विद्याधर और यक्ष गणों से अलङ्क्त है, वहाँ अस्सी कल्प तक वह मनुष्य सुखों का भोग करता है ॥६२-६४॥ तदनन्तर सब भोग-सुख से युक्त देव, सिद्ध और अप्सराओं से सुशोभित और चित्ताकर्षक गोलोक को जाता है। वहाँ स्वस्थचित्त होकर सत्तर कल्प तक देवताओं के समान तीनों लोकों में दुर्लभ सुखों का उपभोग करता है ॥६५-६६॥ वहाँ से वह सर्वोत्तम प्राजापत्य लोक को आता है, जो सर्वदा सिद्ध, मुनि, विद्याधर और गन्धर्वों से घिरा रहता है ॥६७॥ वहाँ साठ कल्प तक प्रसन्नता से नाना प्रकार के सुखों का उपभोग करता है। तदनन्तर वह नाना आश्चर्यों से भरे इन्द्र-भवन को जाता है ॥६८॥ वहाँ वह सर्वदा गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, सुर, नाग, गुह्यक, अप्सरा, साध्य एवं अन्य देववृन्दों से घिरा रहता है ॥६९॥ वह मनुष्य वहाँ आकर पचास कल्प तक सुखों का उपभोग कर पुनः विमानों पर आरूढ़ होकर देवलोक को जाता है। वहाँ वह चालीस कल्पों तक सुदुर्लभ भोगों का आनन्दपूर्वक भोग करता है। इसके अनन्तर वह उस लोक को जाता है जो दूसरों के लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥७०-७१॥ वहाँ वह तीस कल्पों तक ईप्सित उत्तम भोगों का भोग करता है। वहाँ से पुनः वह चन्द्रलोक को आता है जहाँ चन्द्र देवता सब देवताओं के साथ विराजमान रहते हैं। वहाँ बीस कल्पों तक सुदुर्लभ भोगों का भोग करता है ॥७२-७३॥ तदनन्तर नाना आश्चर्य से भरे, पवित्र सूर्यलोक को आता है, जो देवताओं से भी पूजित है, जहाँ गन्धर्व और अप्सराएँ सर्वदा विराजमान रहती हैं ॥७४॥ द्विजोत्तम! दस कल्प तक शुभ भोगों को भोग कर वह वहाँ से दुष्प्राप्य गन्धर्व-लोक में आता है। वहाँ सुखपूर्वक एक कल्प तक समस्त भोगों को भोगकर पुनः पृथ्वी पर परम धार्मिक राजा बनकर आता है ॥७५-७६॥ यहाँ वह महापराक्रमी, सब गुणों से विभूषित चक्रवर्ती राजा होकर न्यायपूर्वक शासन करता है

---

[1] क. ०त्तो जितेन्द्रियः । त० । [2] क. बुधाः । [3] ख. बुधः ।

तदन्ते योगिनां लोकं गत्वा मोक्षप्रदं शिवम् । तत्र भुक्त्वा वरान्भोगान्यावदाभूतसंप्लवम् ॥७८॥
तस्मादागच्छते चात्र जायते योगिनां कुले । प्रवरे वैष्णवे विप्रा दुर्लभे साधुसंमते ॥७९॥
चतुर्वेदी विप्रवरो यज्ञैरिष्ट्वाऽऽप्तदक्षिणैः । वैष्णवं योगमास्थाय ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥८०॥
एवं यात्राफलं विप्रा मया सम्यगुदाहृतम् । भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणां किमन्यच्छ्रोतुमिच्छथ ॥८१॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्वृषिसंवादे द्वादशयात्राफलमाहात्म्यनिरूपणं नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥६७॥

अथाष्टषष्टितमोऽध्यायः

विष्णुलोकवर्णनम्

मुनय ऊचुः

श्रोतुमिच्छामहे देव [१]विष्णुलोकमनामयम् । लोकानन्दकरं कान्तं सर्वाश्चर्यसमन्वितम् ॥१॥

और बड़े-बड़े यज्ञ करता है जिनमें ब्राह्मणों को भरपूर दक्षिणाएँ देता है ॥७७॥ इसके उपरान्त मोक्ष देने वाले, योगियों के शुभ लोक में जाकर कल्प पर्यन्त उत्तम भोगों को भोगता है ॥७८॥ वहाँ से इस पृथ्वी पर दुर्लभ, सर्वोत्तम वैष्णव भक्तों के कुल में—जिसकी साधु जन भी इच्छा करते हैं—जन्म लेता है और चतुर्वेद का ज्ञाता ब्राह्मण होता है जो यथेष्ट दक्षिणा वाले यज्ञों का अनुष्ठान करता है । पुनः वैष्णव योग को प्राप्त कर मोक्ष का अधिकार प्राप्त करता है ॥७९-८०॥ विप्रगण ! मनुष्यों को भुक्ति और मुक्ति देने वाले इस यात्रा के फल को मैंने कह सुनाया अब तुम लोग और क्या सुनना चाहते हो ॥८१॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में स्वयंभू तथा ऋषि के संवाद-प्रकरण में द्वादशयात्राफलमाहात्म्यवर्णन नामक सरसठवाँ अध्याय समाप्त ॥६७॥

अध्याय ६८

विष्णुलोक का वर्णन

मुनियों ने कहा—देव ! सब आश्चर्यजनक वस्तु से भरे, पवित्र, मनोहर, लोक को आनन्द देने वाले और

---

[१] क. ०लोकं यथातथम् । लो० ।

प्रमाणं तस्य लोकस्य भोगं कान्तिं बलं प्रभो। कर्मणा केन गच्छन्ति तत्र धर्मपरायणाः ।।२।।
दर्शनात्स्पर्शनाद्वाऽपि तीर्थस्नानादिनाऽपि वा। विस्तराद्ब्रूहि तत्त्वेन परं कौतूहलं हि नः ।।३।।

ब्रह्मोवाच

शृणुध्वं मुनयः सर्वे यत्परं परमं पदम्। भक्तानामीहितं धन्यं पुण्यं संसारनाशनम् ।।४।।
प्रवरं सर्वलोकानां विष्ण्वाख्यं वदतो मम। सर्वाश्चर्यमयं पुण्यं स्थानं त्रैलोक्यपूजितम् ।।५।।
अशोकैः पारिजातैश्च मन्दारैश्चम्पकद्रुमैः[१]। मालतीमल्लिकाकुन्दैर्बकुलैर्नागकेसरैः ।।६।।
पुन्नागैरतिमुक्तैश्च प्रियङ्गुतगरार्जुनैः[१]। पाटलाचूतखदिरैः कर्णिकारवनोज्ज्वलैः ।।७।।
नारङ्गैः पनसैर्लोध्रैर्निम्बदाडिमसर्जकैः। द्राक्षालकुचखर्जूरैर्मधुकेन्द्रफलैर्द्रुमैः[२] ।।८।।
कपित्थैर्नारिकेरैश्च तालैः श्रीफलसंभवैः। कल्पवृक्षैरसंख्यैश्च वन्यैरन्यैः सुशोभनैः ।।९।।
सरलैश्चन्दनैर्नीपैर्देवदारुशुभाञ्जनैः। जातीलवङ्गकङ्कोलैः कर्पूरामोदवासिभिः ।।१०।।
ताम्बूलपत्रनिचयैस्तथा पूगीफलद्रुमैः। अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः सर्वर्तुफलशोभितैः ।।११।।
पुष्पैर्नानाविधैश्चैव लतागुच्छसमुद्भवैः। नानाजलाशयैः पुण्यैर्नानापक्षिरुतैर्वरैः ।।१२।।
दीर्घिकाशतसंघातैस्तोयपूर्णैर्मनोहरैः। कुमुदैः शतपत्रैश्च पुष्पैः कोकनदैर्वरैः ।।१३।।
रक्तनीलोत्पलैः कान्तैः कह्लारैश्च सुगन्धिभिः। जन्यैश्च जलजैः पुष्पैर्नानावर्णैः सुशोभनैः ।।१४।।

शान्तिप्रद विष्णुलोक के विषय में हम लोग सुनना चाहते हैं। इसलिए उस लोक के प्रमाण, भोग, शोभा और बल (आयु) के बारे में कहिये। दर्शन, स्पर्शन अथवा तीर्थस्नान आदि किन शुभ कर्मों से धर्माचरण-परायण व्यक्ति वहाँ जाते हैं कृपया यथार्थरूप से विस्तारपूर्वक कहिये हम लोगों को सुनने की अत्यन्त उत्कण्ठा हो रही है ।।१-३।।

ब्रह्मा बोले—मुनिवृन्द! वह विष्णुलोक नाम से प्रसिद्ध, पवित्र, परम पद, संसार के दुःखों को नष्ट करने वाला, सब लोकों से श्रेष्ठ, आश्चर्यमय और धन्य है, उसे पाने के लिए भक्तजन प्रयत्न किया करते हैं, वह लोक सम्पूर्ण लोकों से पूजित है।।४-५।। अशोक, पारिजात, मन्दार, चम्पक, मालती, मल्लिका, कुन्द, वकुल, नागकेसर, ।।६।। अतिमुक्त (माधवी), प्रियङ्गु, तगर, अर्जुन, पाटल, आम, खदिर, उज्ज्वल कर्णिकार, ।।७।। नारंग, पनस, लोध, निम्ब, अनार, सर्जक, द्राक्षा, लकुच (बड़हर), खजूर, मधुकेन्द्र आदि फलों ।।८।। और वृक्षों तथा कपित्थ, नारिकेल, ताड़, श्रीफल, असंख्य कल्पवृक्षों और अन्य मनोहर जंगली वृक्षों ।।९।। सरल, चन्दन, अशोक, देवदारु, शुभाञ्जन (सहिजन), जाती (चमेली), लवंग, कंकोल, कर्पूर आदि सुगन्ध फैलाने वाले वृक्षों ।।१०।। ताम्बूल, पुंगीफल, इसी प्रकार अन्य प्रत्येक ऋतु में फलने वाले वृक्षों ।।११।। नाना प्रकार की लताओं और गुच्छों से उत्पन्न होने वाले पुष्पों से सुशोभित है, जहाँ नाना प्रकार के पवित्र जलाशय और जल से भरी मनोहर सैकड़ों बावलियाँ स्थित हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के पक्षी कलरव करते रहते हैं।।१२$\frac{१}{३}$।। जो जलाशय, कुमुद, शतपत्र कमल, मनोहर कोकनद, नीलकमल, कह्लार एवं अनेक सुगन्धित कमलों से सुशोभित है, जहाँ, हंस, कारण्डव, मनोहर चक्रवाक, कोयष्टिक,

---

[१] ख. ०नैः। पलाश चू। [२] ख. ०धुकन् चुफ०।

[1]हंसकारण्डवाकीर्णैश्चक्रवाकोपशोभितैः । कोयष्टिकैश्च दात्यूहैः कारण्डवरवाकुलैः ॥१५॥
चातकैः प्रियपुत्रैश्च जीवंजीवकजातिभिः । अन्यैर्दिव्यैर्जलचरैर्विहारमधुरस्वनैः ॥१६॥
एवं नानाविधैर्दिव्यैर्नानाश्चर्यसमन्वितैः । वृक्षैर्जलाशयैः पुण्यैर्भूषितं सुमनोहरैः ॥१७॥
तत्र दिव्यैर्विमानैश्च नानारत्नविभूषितैः । कामगैः काञ्चनैः शुभ्रैर्दिव्यगन्धर्वनादितैः ॥१८॥
तरुणादित्यसंकाशैरप्सरोभिरलंकृतैः । [2]हेमशय्यासनयुतैर्नानाभोगसमन्वितैः ॥१९॥
खेचरैः सपताकैश्च मुक्ताहारावलम्बिभिः । नानावर्णैरसंख्यातैर्जातरूपपरिच्छदैः ॥२०॥
नानाकुसुमगन्धाढ्यैश्चन्दनागुरुभूषितैः । सुखप्रचार बहुलैर्नानावादित्रनिःस्वनैः ॥२१॥
मनोमारुततुल्यैश्च किङ्किणीस्तवकाकुलैः । विहरन्ति पुरे तस्मिन्वैष्णवे लोकपूजिते ॥२२॥
नानाङ्गनाभिः सततं गन्धर्वाप्सरसादिभिः । चन्द्राननाभिः कान्ताभिर्योषिद्भिः सुमनोहरैः ॥२३॥
पीनोन्नतकुचाग्राभिः सुमध्याभिः समन्ततः । श्यामावदातवर्णाभिर्मत्तमातङ्गगामिभिः ॥२४॥
परिवार्य नरश्रेष्ठं वीजयन्ति स्म ताः स्त्रियः । चामरै रुक्मदण्डैश्च नानारत्नविभूषितैः ॥२५॥
गीतनृत्यैस्तथा वाद्यैर्मोदमानैर्मदालसैः । यक्षविद्याधरैः सिद्धैर्गन्धर्वैरप्सरोगणैः ॥२६॥
सुरसंघैश्च ऋषिभिः शुशुभे भुवनोत्तमम् । तत्र प्राप्य महाभोगान्प्राप्नुवन्ति मनीषिणः ॥२७॥

टिट्टिभि (टिटिहरी), दात्यूह (कालकण्ठक), चातक, प्रियपुत्र, चकोर एवं अन्य दिव्य जलचर विहार करते और जो उनकी मधुर ध्वनि से गुञ्जित रहते हैं ॥ १३-१६॥ इस प्रकार वह लोक भिन्न-भिन्न प्रकार के आश्चर्य-जनक वृक्षों, पवित्र मनोहर जलाशयों से सुशोभित है ॥ १७॥ उस लोक में नाना रत्नों से विभूषित, सुवर्णमय (सुनहले) तरुण सूर्य के समान चमकने वाले शुभ्र दिव्य विमानों पर आरूढ़ गन्धर्वगण मधुर गान करते रहते हैं । वे अप्सराओं एवं स्वर्णमय शय्या, आसन और नाना प्रकार की भोग-सामग्रियों से सर्वदा भरे रहते हैं, जिन पर आकाश में फहराने वाली पताकाएँ लहराती रहती हैं, जो अनगिनत, रंग-बिरंगे सुनहले वस्त्रों से सजे रहते हैं ॥ १८-२०॥ जो नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों, चन्दन, अगुरु आदि से सुगन्धित और नाना प्रकार की सुखदायक सामग्रियों से युक्त रहते हैं, जिन पर अनेक प्रकार के वाद्य बजते रहते हैं, किङ्किणी की ध्वनि होती रहती है और जो मन तथा वायु के समान गतिमान् है, उसमें पुण्यवान् व्यक्ति बैठकर उस लोकपूज्य वैष्णव लोक में विहार करते हैं ॥२१-२२॥ उन भाग्यशाली श्रेष्ठ व्यक्तियों के चारों ओर सर्वदा अनेकों चन्द्रमुखी स्त्रियाँ, गन्धर्व अप्सराएँ और मनोहर श्यामाङ्गी, मत्त हस्ती के समान गमन करने वाली मनोहर कटिवाली अङ्गनाएँ, जिनके कुच कठोर और उभड़े हुए रहते हैं, घेर कर बैठी रहती हैं और नाना रत्नों से सुशोभित स्वर्ण दण्ड वाले चामर डुलाती रहती हैं । वह उत्तम लोक प्रसन्न, नशे में झूमते यक्ष, विद्याधर, सिद्ध, गन्धर्व और अप्सराओं के नृत्य, गीत तथा वाद्य से, सुर-समूह और ऋषियों से सुशोभित रहता है, उस लोक में जाकर भाग्यशाली ज्ञानी मनुष्य अनेक सुखों का भोग करते हैं ॥२३-२७॥

---

[1] ख. ०संसारससंकी० । [2] ख. ०मपुष्पसमायुक्तैर्ना० ।

वटराजसमीपे तु दक्षिणस्योदधेस्तटे । दृष्टो यैर्भगवान्कृष्णः [1]पुष्कराक्षो जगत्पतिः ।।२८।।
क्रीडन्त्यप्सरसैः सार्धं यावद्द्यौश्चन्द्रतारकम् । प्रतप्तहेमसंकाशा जरामरणवर्जिताः ।।२९।।
सर्वदुःखविहीनाश्च तृष्णाग्लानिविवर्जिताः । चतुर्भुजा महावीर्या वनमालाविभूषिताः ।।३०।।
श्रीवत्सलाञ्छनैर्युक्ताः शङ्खचक्रगदाधराः । केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित्काञ्चनसंनिभाः ।।३१।।
केचिन्मरकतप्रख्याः केचिद्वैदूर्यसंनिभाः । श्यामवर्णाः कुण्डलिनस्तथाऽन्ये वज्रसंनिभाः ।।३२।।
न तादृक्सर्वदेवानां भान्ति लोका द्विजोत्तमाः । यादृग्भाति हरेर्लोकः सर्वाश्चर्यसमन्वितः ।।३३।।
न तत्र पुनरावृत्तिर्गमनाज्जायते द्विजाः । प्रभावात्तस्य देवस्य यावदाभूतसंप्लवम् ।।३४।।
विचरन्ति पुरे दिव्ये रूपयौवनगर्विताः । कृष्णं रामं सुभद्रां च पश्यन्ति पुरुषोत्तमे ।।३५।।
प्रतप्तहेमसंकाशं तरुणादित्यसंनिभम् । पुरमध्ये हरेर्भाति मन्दिरं रत्नभूषितम् ।।३६।।
अनेकशतसाहस्रैः पताकैः समलंकृतम् । योजनायतविस्तीर्णं हेमप्राकारवेष्टितम् ।।३७।।
नानावर्णैर्ध्वजैश्चित्रैः कल्पितैः सुमनोहरैः । विभाति शारदो यद्वन्नक्षत्रैः सह चन्द्रमाः ।।३८।।
चतुर्द्वारं सुविस्तीर्णं कञ्चुकीभिः सुरक्षितम् । पुरसप्तकसंयुक्तं महोत्सेकं मनोहरम् ।।३९।।
प्रथमं काञ्चनं तत्र द्वितीयं मरकतैर्युतम् । इन्द्रनीलं तृतीयं तु महानीलं ततः परम् ।।४०।।

जो मनुष्य दक्षिण सागर के तट पर स्थित वटराज के समीप जगत्पति कमल-नेत्र भगवान् कृष्ण का दर्शन करते हैं वे जव तक आकाश में चन्द्र और तारागण रहते हैं तव तक अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करते हैं, वे जरा-मरण के भय से मुक्त सव दुःखों, तृष्णा और आत्मग्लानि से रहित हो जाते हैं, तपे सोने के समान कान्तिमान्, चतुर्भुज, शंख-चक्र-गदाधारी, श्रीवत्स और वनमाला से सुशोभित, महापराक्रमी हो जाते हैं ।।२८-३०।। उनमें से कोई नील-कमल के समान श्याम, कोई सोने के समान गौर वर्ण, कोई मरकतमणि के समान, कोई वैदूर्यमणि के समान, कोई श्यामवर्ण के, कुण्डल पहने हुए और अन्य वर्ण के समान कान्तिमान् होते हैं ।।३१-३२।। द्विजगण ! सम्पूर्ण देव लोकों की भी वैसी शोभा नहीं होती जैसी उस आश्चर्यजनक विष्णुलोक की शोभा होती है ।।३३।। विप्रवृन्द ! विष्णु देव के प्रभाव से कल्प पर्यन्त पुनर्जन्म नहीं होता ।।३४।। जो पुरुषोत्तम क्षेत्र में जाकर राम, कृष्ण और सुभद्रा का दर्शन करते हैं वे अपने रूप और यौवन पर इतराते हुए उस दिव्य पुर में विचरण करते हैं ।।३५।। उस पुर के मध्य में रत्नों से सुशोभित, तपाये हुए सोने की भाँति कान्तिमान् और तरुण सूर्य के समान चमकता हुआ भगवान् का मन्दिर है ।।३६।। उसके चारों ओर दस लाख योजन विस्तीर्ण सुनहली चहार दीवारी वनी हुई है । असंख्य पताकाओं, मनोहर रंग-विरंगी, चित्र-विचित्र ध्वजाओं से सुशोभित वह मन्दिर नक्षत्रों से घिरे चन्द्रमा के समान शोभा देता है ।।३७-३८।। उस चहारदीवारी में चार वड़े-वड़े द्वार हैं, जो रक्षकों से सुरक्षित हैं । भीतर ऊँचे-ऊँचे भवनों वाले मनोहर सात उपपुर हैं ।।३९।। पहला काञ्चन (सुनहला), दूसरा मरकत मणियों से जड़ा हुआ नील वर्ण का, तीसरा इन्द्र नीलमणि का वना, चौथा महानीलमणि का, पाँचवाँ

---

[1] क. पुरुषो जगतां पतिः ।

पुरं तु पञ्चमं दीप्तं पद्मरागमयं पुरम् । षष्ठं वज्रमयं विप्रा वैदूर्यं सप्तमं पुरम् ।।४१।।
नानारत्नमयैर्हेमप्रवालाङ्कुरभूषितैः । स्तम्भैरद्भुतसंकाशैर्भाति तद्भवनं महत् ।।४२।।
दृश्यन्ते तत्र सिद्धाश्च भासयन्ति दिशो दश । पौर्णमास्यां सनक्षत्रो यथा भाति निशाकरः ।।४३।।
आरूढस्तत्र भगवान्सलक्ष्मीको[1] जनार्दनः । पीताम्बरधरः श्यामः श्रीवत्सलक्ष्मसंयुतः ।।४४।।
ज्वलत्सुदर्शनं चक्रं घोरं सर्वास्त्रनायकम् । दधार दक्षिणे हस्ते सर्वतेजोमयं हरिः ।।४५।।
कुन्देन्दुरजतप्रख्यं हारगोक्षीरसंनिभम् । आदाय तं मुनिश्रेष्ठाः सव्यहस्तेन केशवः ।।४६।।
यस्य शब्देन सकलं [2]संक्षोभं जायते जगत् । विश्रुतं पाञ्चजन्येति सहस्रावर्तभूषितम् ।।४७।।
दुष्कृतान्तकरीं रौद्रां दैत्यदानवनाशिनीम् । ज्वलद्वह्निशिखाकारां दुःसहां त्रिदशैरपि ।।४८।।
कौमोदकीं गदां चासौ धृतवान्दक्षिणे करे । वामे विस्फुरति ह्यस्य शार्ङ्गं सूर्यसमप्रभम् ।।४९।।
शरैरादित्यसंकाशैर्ज्वालामालाकुलैर्वरैः । योऽसौ संहरते देवस्त्रैलोक्यं सचराचरम् ।।५०।।
सर्वानन्दकरः श्रीमान्सर्वशास्त्रविशारदः । सर्वलोकगुरुर्देवः सर्वैर्देवैर्नमस्कृतः ।।५१।।
सहस्रमूर्धा देवेशः सहस्रचरणेक्षणः । सहस्राख्यः सहस्राङ्गः सहस्रभुजवान्प्रभुः ।।५२।।
सिंहासनगतो देवः पद्मपत्रायतेक्षणः । विद्युद्विस्पष्टसंकाशो जगन्नाथो जगद्गुरुः ।।५३।।

चमकते पद्मराग मणियों से वना अति सुशोभित, छठा वज्रमय और सातवाँ वैदूर्यमणि से वना हुआ है ।।४०-४१।। ऐसे उपपुरों के मध्य वह ऊँचा हरिमन्दिर नाना रत्नों से वने हुए और प्रवाल खण्डों से जड़े हुए अद्भुत वर्ण के खम्भों से सुशोभित है ।।४२।। उस मन्दिर में सिद्ध समूह रहते हैं, जो दसों दिशाओं को जगमगाते रहते हैं। उस भवन की वैसी शोभा होती है मानो पूर्णिमा की जगमग रात्रि में नक्षत्रों के वीच चन्द्रमा शोभायमान हो ।।४३।। वहाँ सिंहासन पर पीताम्बर पहने हुए, श्रीवत्स से अङ्कित, श्यामवर्ण के भगवान् जनार्दन लक्ष्मी के सहित विराजमान रहते हैं ।।४४।। वे हरि अपने दाहिने हाथ में सव अस्त्रों में श्रेष्ठ, भयङ्कर, सर्वतेजोमय और अग्नि के समान जलता हुआ-सा सुदर्शन चक्र धारण किये रहते हैं ।।४५।। वायें हाथ में कुन्द, चन्द्रमा और रजत के समान शुभ्र हार, गोदुग्ध के समान श्वेत, सहस्रों आवर्त्तों (चक्कर घुमाव) से सुशोभित वह प्रसिद्ध पाञ्चजन्य शंख रहता है, जिसकी ध्वनि से सारा संसार क्षुब्ध हो जाता है ।।४६-४७।। दाहिने हाथ में प्रलय मचा देने वाली, भयङ्कर, दैत्य-दानवों को विनष्ट करने वाली, जलते अग्नि के लपटों के समान और देवताओं से भी कठिनाई से सही जाने योग्य कौमोदकी गदा को धारण किये रहते हैं ।।४८$\frac{१}{२}$।। उसी प्रकार उनके वायें हाथ में सूर्य के समान प्रभापूर्ण शाङ्‌र्ग नामक धनुष रहता है। वह भगवान् उसी धनुष से छूटे हुए असंख्य लपटों से जगमगाते, सूर्य के समान जलते वाणों से चराचर जगत् का संहार करते हैं ।।४९-५०।। ऐसे सवको आनन्द देने वाले, श्रीमान्, सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता, सव लोकों के गुरु, देवपूज्य, सहस्र सिर, सहस्र चरण और सहस्र नेत्रवाले, अनन्त नामों से प्रसिद्ध, सहस्र भुजाओं से युक्त देवेश, जगन्नाथ, जगद्गुरु भगवान् सिंहासन पर विराजमान रहते हैं, जिनके नेत्र पद्म के समान वड़े और जिनके शरीर की कांति विद्युत् के

---

[1] क. ख. ०न्सर्वलोकज० । [2] ख. ग. विक्षोभं ।

परीतः सुरसिद्धैश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः । यक्षविद्याधरैर्नागैर्मुनिसिद्धैः सचारणैः ॥५४॥
सुपर्णैर्दानवैर्दैत्यै राक्षसैर्गुह्यकिंनरैः । अन्यैर्देवगणैर्दिव्यैः स्तूयमानो विराजते ॥५५॥
तत्रस्था सततं कीर्तिः[1] प्रज्ञा मेधा सरस्वती । बुद्धिर्मतिस्तथा क्षान्तिः [2]सिद्धिर्मूर्तिस्तथा द्युतिः ॥५६॥
गायत्री चैव सावित्री मङ्गला सर्वमङ्गला । प्रभा मतिस्तथा कान्तिस्तत्र नारायणी स्थिता ॥५७॥
श्रद्धा च कौशिकी देवी विद्युत्सौदामिनी तथा । निद्रा रात्रिस्तथा माया तथाऽन्यामरयोषितः ॥५८॥
वासुदेवस्य सर्वास्ता भवने[3] संप्रतिष्ठिताः । अथ किं बहुनोक्तेन सर्वं तत्र प्रतिष्ठितम् ॥५९॥
घृताची मेनका रम्भा सहजन्या तिलोत्तमा । उर्वशी[4] चैव निम्लोचा च प्रम्लोचा सुमनोहरा ॥६१॥
मुनिसंमोहनी रामा चन्द्रमध्या शुभानना । सुकेशी नीलकेशा च तथा मन्मथदीपिनी ॥६२॥
अलम्बुषा मिश्रकेशी तथाऽन्या [7]मुञ्जिकस्थला । [8]क्रतुस्थला वराङ्गी च पूर्वचित्तिस्तथा परा ॥६३॥
[9]परावती महारूपा [10]शशिलेखा शुभानना । हंसलीलानुगामिन्यो मत्तवारणगामिनी ॥६४॥
बिम्बोष्ठी नवगर्भा च विख्याताः सुरयोषितः । एताश्चान्या अप्सरसो रूपयौवनगर्विताः ॥६५॥
सुमध्याश्चारुवदनाः सर्वालंकारभूषिताः । गीतमाधुर्यसंयुक्ताः सर्वलक्षणसंयुताः ॥६६॥
गीतवाद्ये च कुशलाः सुरगन्धर्वयोषितः । नृत्यन्त्यनुदिनं तत्र यत्रासौ पुरुषोत्तमः ॥६७॥

समान है, जिनको सुर, सिद्ध, गन्धर्व, अप्सराएँ, यक्ष, विद्याधर, नाग, मुनि, सिद्ध, चारण, सुपर्ण (गरुड़), दानव, दैत्य, राक्षस, गुह्य, किन्नर एवं अन्य दिव्य देवगण चारों ओर से घेरे हुए स्तुति किया करते हैं ॥५१-५५॥ वहाँ सर्वदा कीर्ति, प्रज्ञा, मेधा, सरस्वती, बुद्धि, मति, क्षान्ति, सिद्धि, मूर्ति, द्युति, गायत्री, सावित्री, मङ्गला, प्रभा, मति, कान्ति, नारायणी, श्रद्धा, कौशिकी, देवी, विद्युत्, सौदामिनी, निद्रा, रात्रि, माया तथा अन्य देवस्त्रियाँ भगवान् के मन्दिर में विराजमान रहती हैं । अधिक कहाँ तक कहा जाय ? वहाँ सब कुछ सर्वदा विद्यमान रहता है ॥५६-५९॥ घृताची, मेनका, रम्भा, सहजन्या, तिलोत्तमा, उर्वशी, निम्लोचा, वामना, मन्दोदरी, सौभाग्यवती, विश्वाची, विपुलानना, भद्राङ्गी, चित्रसेना, अत्यन्त मनोहर प्रम्लोचा, मुनिजनों को भी मुग्ध करने वाली रामा, सुन्दर मुख वाली चन्द्रमध्या, सुकेशी, नीलकेशा, मन्मथदीपिनी, अलम्बुषा, मिश्रकेशी, मुञ्जिकस्थला, वराङ्गी, क्रतुस्थला, पूर्वचित्ति, परावती, महारूपा, शुभानना शशिलेखा आदि हंसी के समान क्रीड़ा करने वाली, मत्त गज के समान गमन करने वाली, बिम्ब के समान लाल ओठों वाली विख्यात सुर-सुन्दरियाँ एवं अन्य अपने रूप और यौवन पर गर्व करने वाली अप्सराएँ तथा सब आभूषणों से आभूषित, सुन्दर मुख वाली तथा क्षीण कटि वाली सर्वलक्षणसम्पन्न सुर-गन्धर्वों की गीत और वाद्य में कुशल स्त्रियाँ प्रतिदिन, अपने मधुर गान और नृत्य से भगवान् पुरुषोत्तम को प्रसन्न किया करती

---

[1] क. संततिः । [2] क. ख. ०द्धिर्मूर्ति० । [3] क. भुवने । [4] क. ख. ०शी सुरसेना च त० । [5] क. ख. वासना । [6] क. महोद० । [7] क. जम्वुकस्तना । [8] क. जन्तुस्थला । [9] क. पञ्चजन्या । [10] क. सलिलेशा ।

न तत्र रोगो नो ग्लानिर्न मृत्युर्न हिमातपौ । न क्षुत्पिपासा न जरा न वैरूप्यं न चासुखम् ।।६८।।
परमानन्दजननं सर्वकामफलप्रदम् । विष्णुलोकात्परं लोकं नात्र पश्यामि भो द्विजाः ।।६९।।
ये लोकाः स्वर्गलोके तु श्रूयन्ते पुण्यकर्मणाम् । विष्णुलोकस्य ते विप्राः कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।७०।।
एवं हरेः पुरस्थानं सर्वभोगगुणान्वितम् । सर्वसौख्यकरं पुण्यं सर्वाश्चर्यमयं द्विजाः ।।७१।।
न तत्र नास्तिका यान्ति पुरुषा विषयात्मकाः । न कृतघ्ना न पिशुना नो स्तेना नाजितेन्द्रियाः ।।७२।।
येऽर्चयन्ति सदा भक्त्या वासुदेवं जगद्गुरुम् । ते तत्र वैष्णवा यान्ति विष्णुलोकं न संशयः ।।७३।।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे क्षेत्रे परमदुर्लभे । दृष्ट्वा कृष्णं च रामं च सुभद्रां च द्विजोत्तमाः[1] ।।७४।।
कल्पवृक्षसमीपे तु ये त्यजन्ति कलेवरम् । ते तत्र मनुजा यान्ति मृता ये पुरुषोत्तमे ।।७५।।
वटसागरयोर्मध्ये यः स्मरेत्पुरुषोत्तमम् । तेऽपि तत्र नरा यान्ति ये मृताः पुरुषोत्तमे ।।७६।।
तेऽपि तत्र परं स्थानं यान्ति नास्त्यत्र संशयः । एवं मया मुनिश्रेष्ठा विष्णुलोकः सनातनः ।।
सर्वानन्दकरः प्रोक्तो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।।७७।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भ्वृषिसंवादे विष्णुलोकानुकीर्तनं नामाष्टषष्टितमोऽध्यायः ।।६८।।

हैं ।।६०-६७।। मुनिगण ! उस लोक में रोग, ग्लानि (मानसिक चिन्ता), मृत्यु, हिम और आतप का भय नहीं, न तो भूख, प्यास की ही चिन्ता और न तो वुढ़ापा, अङ्गदोष और किसी दुःख की ही सम्भावना रहती है ।।६८।। हे विप्रगण ! इस सृष्टि में विष्णुलोक से अधिक आनन्ददायक और मनोरथ पूर्ण करने वाला कोई लोक नहीं है । स्वर्गलोक में जो कोई अन्य पुण्य देवलोक सुने जाते हैं वे विष्णुलोक की सोलहवीं कला की भी समानता नहीं कर सकते ।।६९-७०।। द्विजगण ! भगवान् का इस प्रकार का वह पावन लोक है, जहाँ प्रत्येक प्रकार की भोगसामग्रियाँ विद्यमान रहती हैं । उस आश्चर्यमय पवित्र स्थान पर जाकर भक्त जन सुख का अनुभव करते हैं ।।७१।। उस पुण्य लोक में नास्तिक, विषयी या इन्द्रियलोलुप मनुष्य नहीं जा सकते, न तो विश्वासघाती, न चुगलखोर, और न चोर ही वहाँ जा सकते हैं ।।७२।। इसके विपरीत जो वैष्णव भक्त सर्वदा भक्तिपूर्वक जगद्गुरु वासुदेव की उपासना में रत रहते हैं वे ही उस लोक में जाते हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।।७३।। द्विजोत्तम ! दक्षिण समुद्र के तट पर उस परम दुर्लभ पवित्र क्षेत्र में राम, कृष्ण और सुभद्रा का दर्शन कर जो मनुष्य कल्पवृक्ष के समीप शरीर त्याग करते हैं, पुरुषोत्तम क्षेत्र में मरने वाले वे मनुष्य उसी लोक में जाते हैं ।।७४-७५।। जो मनुष्य वट और सागर के मध्यवर्ती पुनीत प्रदेश में भगवान् का स्मरण करते हुए प्राण त्याग करते हैं वे भी विष्णुलोक को प्राप्त करते हैं, इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं ।।७६।। मुनिगण ! आप लोगों के इच्छानुसार सव आनन्द को देने वाले और मुक्ति-भुक्ति उभय प्रदान करने वाले विष्णुलोक का वर्णन मैंने सुना दिया ।।७७।।

श्री व्रह्ममहापुराण में विष्णुलोकानुकीर्त्तन नामक अड़सठवाँ अध्याय समाप्त ।।६८।।

---

[1] जितेन्द्रियाः ।

अथोनसप्ततितमोऽध्यायः

पुरुषोत्तममाहात्म्यनिरूपणम्

मुनय ऊचुः

बह्वाश्चर्यस्त्वया प्रोक्तो विष्णुलोको जगत्पते[1] । नित्यानन्दकरः श्रीमान्भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।।१।।
क्षेत्रं च दुर्लभं लोके कीर्तितं पुरुषोत्तमम् । त्यक्त्वा यत्र नरो देहं याति सालोक्यतां हरेः ।।२।।
सम्यक्क्षेत्रस्य माहात्म्यं त्वया[2] सम्यक्प्रकीर्तितम् । यत्र स्वदेहसंत्यागाद्विष्णुलोकं व्रजेन्नरः ।।३।।
[3]अहो मोक्षस्य मार्गोऽयं देहत्यागस्त्वयोदितः । नराणामुपकाराय पुरुषाख्ये न संशयः ।।४।।
अनायासेन देवेश देहं त्यक्त्वा नरोत्तमाः । तस्मिन्क्षेत्रे परं[4] विष्णोः पदं यान्ति निरामयम् ।।५।।
श्रुत्वा क्षेत्रस्य माहात्म्यं विस्मयो नो महानभूत् । प्रयागपुष्करादीनि क्षेत्राण्यायतनानि च ।।६।।
पृथिव्यां सर्वतीर्थानि सरितश्च सरांसि च । न तथा तानि सर्वाणि प्रशंससि सुरोत्तम ।।७।।
यथा प्रशंससि क्षेत्रं पुरुषाख्यं पुनः पुनः । ज्ञातोऽस्माभिरभिप्रायस्तवेदानीं पितामह ।।८।।
येन प्रशंससि क्षेत्रं मुक्तिदं पुरुषोत्तमम् । पुरुषाख्यसमं नूनं क्षेत्रं नास्ति महीतले ।।
तेन त्वं विबुधश्रेष्ठ प्रशंससि पुनः पुनः ।।९।।

अध्याय ६९

पुरुषोत्तम का माहात्म्य-निरूपण

मुनियों ने कहा—जगत्पते ! आपने नित्य आनन्दप्रद भुक्ति और मुक्ति के दाता, शोभाशाली विष्णुलोक के विषय में बहुत-सी आश्चर्यजनक बातें सुनायीं ।। १।। आपसे यह भी ज्ञात हुआ कि यह पुरुषोत्तम क्षेत्र इस संसार में दुर्लभ है और वहाँ पर देहत्याग कर मनुष्य हरि की सालोक्य-मुक्ति प्राप्त करता है ।।२।। आपने इस पवित्र क्षेत्र की महिमा भी भलीभाँति बतलायी जहाँ देहत्याग करने से मनुष्य विष्णुलोक को प्राप्त करता है ।।३।। अहा ! आपने लोक के उपकार के लिए यह मोक्ष का सरल मार्ग बतलाया (कि इस पुरुषोत्तम तीर्थ में देह त्याग करने से निश्चय ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है) ।।४।। देवेश ! आपने यह भी बतलाया कि इस पुरुषोत्तम क्षेत्र में देह त्याग कर मनुष्य अनायास विष्णुपद को प्राप्त कर लेता है ।।५।। इस क्षेत्र की महिमा सुनकर हम लोगों को महान् आश्चर्य हुआ । सुरोत्तम ! आप जिस प्रकार इस तीर्थ की प्रशंसा करते हैं, वैसी प्रशंसा प्रयाग, पुष्कर आदि क्षेत्र, अन्य देव-मन्दिर या पृथ्वी पर के किसी तीर्थ, नदी या सरोवर की नहीं करते ।।६-७।। आप जिस अभिप्राय से बार-बार इस क्षेत्र की प्रशंसा करते हैं, हे पितामह ! आपके उस अभिप्राय को हम लोगों ने जान लिया ।।८।। इस मुक्तिदायक पुरुषोत्तम क्षेत्र की प्रशंसा से ज्ञात होता है कि निश्चय ही इस धरातल पर पुरुषोत्तम के समान अन्य कोई भी तीर्थ नहीं है । इसलिए हे देवेन्द्र ! आप इसकी बार-बार प्रशंसा करते हैं ।।९।।

---

१ क. जगत्पतेः । २ ख. ०या ब्रह्मन्प्रकी० । ३ ग. अथ । ४ क. वरं ।

ब्रह्मोवाच

सत्यं सत्यं मुनिश्रेष्ठा भवद्भिः समुदाहृतम् । [१]पुरुषाख्यसमं क्षेत्रं [२]नास्त्यत्र पृथिवीतले ॥१०॥
सन्ति यानि तु तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च । तानि श्रीपुरुषाख्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥११॥
यथा सर्वेश्वरो विष्णुः [३]सर्वलोकोत्तमोत्तमः । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥१२॥
आदित्यानां यथा विष्णुः श्रेष्ठत्वे समुदाहृतः । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥१३॥
नक्षत्राणां यथा सोमः सरसां सागरो यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥१४॥
वसूनां पावको यद्वद्रुद्राणां शंकरो यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥१५॥
वर्णानां ब्राह्मणो यद्वद्वैनतेयश्च पक्षिणाम् । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥१६॥
शिखरिणां यथा मेरुः पर्वतानां हिमालयः । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥१७॥
प्रमदानां यथा लक्ष्मीः सरितां जाह्नवी यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥१८॥
ऐरावतो गजेन्द्राणां महर्षीणां भृगुर्यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥१९॥
सेनानीनां यथा स्कन्दः सिद्धानां कपिलो यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥२०॥
उच्चैःश्रवा यज्ञाऽश्वानां कवीनामुशना कविः । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥२१॥
मुनीनां च यथा व्यासः कुबेरो यक्षरक्षसाम् । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥२२॥
इन्द्रियाणां मनो यद्वद्भूतानामवनी यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥२३॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां पवनः प्लवतां यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥२४॥

ब्रह्मा बोले—मुनिश्रेष्ठ ! आप लोगों का कथन सत्य है । वास्तव में इस पृथ्वी-तल पर पुरुषोत्तम तीर्थ के समान तीर्थ नहीं हैं ॥१०॥ जितने तीर्थ और पुनीत क्षेत्र हैं, वे सभी श्री पुरुषोत्तम तीर्थ के सोलहवें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकते ॥११॥ जिस प्रकार सब के ईश्वर विष्णु सम्पूर्ण लोकों में सर्वश्रेष्ठ हैं उसी प्रकार सब तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥१२॥ जिस प्रकार आदित्यों में विष्णु की श्रेष्ठता स्वीकार की गयी है उसी प्रकार समस्त तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥१३॥ जिस प्रकार नक्षत्रों में चन्द्रमा और जलाशयों में सागर की, वसुओं में पावक की तथा रुद्रों में शंकर की श्रेष्ठता है उसी प्रकार समस्त तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥१४-१५॥ जिस प्रकार वर्णों में ब्राह्मण, पक्षियों में गरुड़, शिखर वालों में मेरु तथा पर्वतों में हिमालय और स्त्रियों में लक्ष्मी, नदियों में गङ्गा श्रेष्ठ मानी जाती हैं, उसी प्रकार तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठतम है ॥१६-१८॥ मुनिगण ! जिस प्रकार गजेन्द्रों में ऐरावत, महर्षियों में भृगु, सेनापतियों में स्कन्द, सिद्धों में कपिल, अश्वों में उच्चैःश्रवा, कवियों के शुक्र, मुनियों में व्यास, यज्ञ और रक्षोगणों में कुबेर, इन्द्रियों में मन, और सम्पूर्ण तत्त्वों में पृथ्वी श्रेष्ठतम है, उसी प्रकार समस्त तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥१९-२३॥ और जिस प्रकार सब वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल), संचरणशील पदार्थों में

---

[१] ख. ०मं नूनं क्षे० । [२] ख. नास्ति महीत० । [३] ख. लोकेषु चोत्त० ।

भूषणानां तु सर्वेषां यथा चूडामणिर्द्विजाः । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥२५॥
गन्धर्वाणां चित्ररथः शस्त्राणां कुलिशो यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥२६॥
अकारः सर्ववर्णानां गायत्री छन्दसां यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥२७॥
सर्वाङ्गेभ्यो यथा श्रेष्ठमुत्तमाङ्गं द्विजोत्तमाः । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥२८॥
अरुन्धती यथा स्त्रीणां सतीनां श्रेष्ठतां गता । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥२९॥
यथा समस्तविद्यानां मोक्षविद्या परा स्मृता । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥३०॥
मनुष्याणां यथा राजा धेनूनामपि कामधुक् । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥३१॥
सुवर्णं सर्वरत्नानां सर्पाणां वासुकिर्यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥३२॥
प्रह्लादः सर्वदैत्यानां रामः शस्त्रभृतां यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥३३॥
झषाणां मकरो यद्वन्मृगाणां मृगराड्यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥३४॥
समुद्राणां यथा श्रेष्ठः क्षीरोदः सरितां पतिः । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥३५॥
वरुणो यादसां यद्वद्यमः संयमिनां यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥३६॥
देवर्षीणां यथा श्रेष्ठो नारदो मुनिसत्तमाः । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥३७॥
धातूनां काञ्चनं यद्वत्पवित्राणां च दक्षिणा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥३८॥

पवन श्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥२४॥ द्विजवृन्द ! जिस प्रकार सम्पूर्ण आभूषणों में चूड़ामणि श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥२५॥ जिस प्रकार गन्धर्वों में चित्ररथ, शस्त्रों में वज्र श्रेष्ठ माना गया है, उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥२६॥ तथा जिस प्रकार सब अक्षरों में अकार, छन्दों में गायत्री श्रेष्ठ छन्द है, उसी प्रकार समस्त तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥२७॥ द्विजश्रेष्ठ ! जिस प्रकार सव अंगों में मस्तक उत्तम अङ्ग है उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थों में पुरुषोत्तम उत्तम तीर्थ है ॥२८॥ जिस प्रकार सती स्त्रियों में अरुन्धती, परमश्रेष्ठ सती मानी गयी है उसी प्रकार तीर्थों में पुरुषोत्तम श्रेष्ठ तीर्थ माना गया है ॥२९॥ जिस प्रकार समस्त विद्याओं में मोक्ष विद्या परा (सर्वोत्तम) विद्या मानी गयी है उसी प्रकार समस्त तीर्थों में पुरुषोत्तम सर्वोत्तम माना गया है ॥३०॥ जिस प्रकार मनुष्यों में राजा, दूध देने वाली गायों में कामधेनु उत्तम धेनु है उसी प्रकार समस्त तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ उत्तम है ॥३१॥ जिस प्रकार सव रत्नों में सोना और साँपों में वासुकि श्रेष्ठ है उसी प्रकार सव तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥३२॥ जिस प्रकार सब दैत्यों में प्रह्लाद और धनुर्धारियों में राम श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार सब तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥३३॥ जिस प्रकार मत्स्यों में मकर और वन्य पशुओं में सिंह श्रेष्ठ है उसी प्रकार सव तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥३५॥ जैसे यादस् (जलचर) समूह में वरुण और शासकों में यम श्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है॥३६॥ मुनिशार्दूल ! जिस प्रकार देवर्षियों में नारद श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥३७॥ तथा जिस प्रकार धातुओं में काञ्चन (सोना), पवित्र द्रव्यों में दक्षिणा पवित्र है, उसी प्रकार

प्रजापतिर्यथा दक्ष ऋषीणां कश्यपो यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥३९॥
ग्रहाणां भास्करो यद्वन्मन्त्राणां प्रणवो यथा । तथा समस्ततीर्थानां वरिष्ठं पुरुषोत्तमम् ॥४०॥
अश्वमेधस्तु यज्ञानां यज्ञा श्रेष्ठः प्रकीर्तितः । तथा समस्ततीर्थानां क्षेत्रं च तद्द्विजोत्तमाः ॥४१॥
ओषधीनां यथा धान्यं तृणेषु तृणराड्यथा । तथा समस्ततीर्थानामुत्तमं पुरुषोत्तमम् ॥४२॥
यथा समस्ततीर्थनां धर्मः संसारतारकः । तथा समस्ततीर्थानां श्रेष्ठं तत्पुरुषोत्तमम् ॥४३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भृषिसंवादे पुरुषोत्तममाहात्म्यनिरूपणं
नामैकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥६९॥

अथसप्ततितमोऽध्यायः

ब्रह्माणं प्रति तीर्थसंख्याविषयको नारदप्रश्नः

ब्रह्मोवाच

सर्वेषां चैव तीर्थानां क्षेत्राणां च द्विजोत्तमाः । जपहोमव्रतानां च तपोदानफलानि च ॥१॥
न तत्पश्यामि भो विप्रा यत्तेन सदृशं भुवि । किं चात्र बहुनोक्तेन भाषितेन पुनः पुनः ॥२॥

समस्त तीर्थों में पुरुषोत्तम क्षेत्र पवित्र है ॥३८॥ जिस प्रकार प्रजापतियों में दक्ष, ऋषियों में कश्यप श्रेष्ठतम माने गये हैं, उसी प्रकार तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ माना गया है ॥३९॥ जिस प्रकार ग्रहों में भास्कर (सूर्य) और मन्त्रों में प्रणव (ओंकार) श्रेष्ठतम माने गये हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ है ॥४०॥ जिस प्रकार यज्ञों में अश्वमेध यज्ञ को श्रेष्ठ वतलाया गया है उसी प्रकार तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ को श्रेष्ठ कहा गया है ॥४१॥ मुनिवृन्द ! जिस प्रकार ओषधियों (जीवन-दायि-पदार्थों) में धान्य (अन्न) और तृणों में तृणराड् (कुश) की श्रेष्ठता कही गयी है, उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थों में पुरुषोत्तम की श्रेष्ठता है ॥४२॥ जिस प्रकार समस्त तीर्थों में धर्म संसार से उद्धार करने वाला है, उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थों में पुरुषोत्तम तीर्थ श्रेष्ठ (संसारोद्धारक) है।

श्री ब्रह्ममहापुराण में पुरुषोत्तम-माहात्म्य-वर्णन नामक उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥६९॥

अध्याय ७०

ब्रह्मा से नारद का तीर्थसंख्याविषयक प्रश्न

ब्रह्मा ने कहा—विप्रवृन्द ! इस संसार के जितने तीर्थ, क्षेत्र, जप, होम, व्रत, तप और दान आदि हैं, उनमें एक भी ऐसा नहीं है जो पुरुषोत्तम तीर्थ के समान पवित्र तथा फल देने वाला हो । इसकी महिमा के विषय में वार-

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं क्षेत्रं तत्परमं महत् । पुरुषाख्यं सकृद्दृष्ट्वा सागराम्भःसमाप्लुतम् ॥३॥
ब्रह्मविद्यां सकृज्ज्ञात्वा गर्भवासो न विद्यते । हरेः संनिहिते स्थान उत्तमे पुरषोत्तमे ॥४॥
संवत्सरमुपासीत मासमात्रमथापि वा । ते जप्तं हुतं तेन तेन तप्तं तपो महत् ॥५॥
स याति परमं स्थानं यत्र योगेश्वरो हरिः । भुक्त्वा भोगान्विचित्रांश्च देवयोषित्समन्वितः[1] ॥६॥
कल्पान्ते पुनरागत्य मर्त्यलोके नरोत्तमः । जायते योगिनां विप्रा ज्ञानज्ञेयोद्यतो[2] गृहे ॥७॥
संप्राप्य वैष्णवं योगं हरेः स्वच्छन्दतां व्रजेत् । कल्पवृक्षस्य रामस्य कृष्णस्य भद्रया सह ॥८॥
मार्कण्डेयेन्द्रद्युम्नस्य माहात्म्यं माधवस्य च । स्वर्गद्वारस्य माहात्म्यं सागरस्य विधिः क्रमात् ॥९॥
मार्जनस्य यथाकाले भागीरथ्याः समागमम् । सर्वमेतन्मया ख्यातं यत्परं श्रोतुमिच्छथ ॥१०॥
इन्द्रद्युम्नस्य माहात्म्यमेतच्च कथितं मया । सर्वाश्चर्यं समाख्यातं रहस्यं पुरुषोत्तमम् ॥
पुराणं परमं गुह्यं धन्यं संसारमोचनम् ॥११॥

मुनय ऊचुः

नहि नस्तृप्तिरस्तीह श्रृण्वतां तीर्थविस्तरम् । पुनरेव परं गुह्यं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥
परं तीर्थस्य माहात्म्यं सर्वतीर्थोत्तमोत्तमम् ॥१२॥

वार कहने से क्या लाभ ? ॥१-२॥ समुद्र-जल से सुशोभित परम श्रेष्ठ पुरुषोत्तम तीर्थ का एक वार भी दर्शन करने से तथा ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य कभी भी जन्म-मरण के फन्दे में नहीं फँसता, यह निश्चय ही परम श्रेष्ठ सत्य है । भगवान् के शाश्वत निवास इस पुरुषोत्तम क्षेत्र में जो व्यक्ति एक वर्ष या एक मास रहकर उपासना करता है, उसे जप, हवन और तप से प्राप्त होने वाले सभी फल प्राप्त होते हैं और वह उस परम स्थान को जाता है जहाँ स्वयं योगेश्वर हरि निवास करते हैं ॥३-५½॥ विप्रगण ! देवकन्याओं के साथ वह विचित्र भोगों को भोग कर कल्पान्त में पुनः इस मृत्युलोक में ज्ञान और ज्ञेय की जिज्ञासा रखने वाला वह सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति योगियों के कुल में जन्म लेता है ॥६-७॥ पुनः देह त्यागने के बाद वह नरोत्तम वैष्णव ज्ञान को प्राप्त कर हरिलोक में सामीप्य-मुक्ति प्राप्त करता है । मैने इस प्रकार कल्पवृक्ष एवं सुभद्रा सहित राम, कृष्ण, मार्कण्डेय, इन्द्रद्युम्न, माधव, स्वर्गद्वार और सागर का माहात्म्य क्रमशः सुना दिया ॥८-९॥ भागीरथी के तट पर आने का समय स्नान-विधि आदि बातें भी मैंने सुना दीं, जिनके सुनने के लिए तुम लोगों को अत्यन्त उत्कण्ठा थी ॥१०॥ इन्द्रद्युम्न का माहात्म्य पुरुषोत्तम की रहस्यमयी और आश्चर्यजनक बातें तथा संसार के क्लेशों को मिटाने वाले परम गुह्य शुभ पुराण को भी सुना दिया ॥११॥

मुनिगण बोले—भगवन् ! तीर्थों की इस विस्तृत विवेचना को सुनकर भी हम लोग अभी तृप्त नहीं हुए हैं । इसलिए पुनः तीर्थों का माहात्म्य और सर्वोत्तम तीर्थ की परम रहस्यमय बातें पूर्ण रूप से सुनाइये ॥१२॥

---

[1] क. ०न्वितान् । क० । [2] ख. ०यो यतो गृही । सं० ।

ब्रह्मोवाच

इममेव पुरा प्रश्नं पृष्टोऽस्मि द्विजसत्तमाः । नारदेन प्रयत्नेन तदा तं प्रोक्तवानहम् ।।१३।।

नारद उवाच

तपसो यज्ञदानानां तीर्थानां[1] पावनं स्मृतम् । सर्वं श्रुतं मया त्वत्तो जगद्योने जगत्पते[2] ।।१४।।
[3]कियन्ति सन्ति तीर्थानि[4] स्वर्गमर्त्यरसातले । सर्वेषामेव तीर्थानां सर्वदा किं विशिष्यते ।।१५।।

ब्रह्मोवाच

चतुर्विधानि तीर्थानि स्वर्गे मर्त्ये रसातले । दैवानि मुनिशार्दूल आसुराण्यारुषाणि च ।।१६।।
मानुषाणि त्रिलोकेषु विख्यातानि सुरादिभिः । मानुषेभ्यश्च तीर्थेभ्य आर्षं तीर्थमनुत्तमम् ।।१७।।
आर्षेभ्यश्चैव तीर्थेभ्य आसुरं बहुपुण्यदम् । आसुरेभ्यस्तथा पुण्यं दैवं तत्सार्वकामिकम् ।।१८।।
ब्रह्मविष्णुशिवैश्चैव निर्मितं दैवमुच्यते । त्रिभ्यो यदेकं जायेत तस्मान्नातः परं विदुः ।।१९।।
त्रयाणामपि लोकानां तीर्थं मेध्यमुदाहृतम् । तत्रापि जाम्बवं द्वीपं तीर्थं बहुगुणोदयम् ।।२०।।
जाम्बवे भारतं वर्षं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । कर्मभूमिर्यतः पुत्र तस्मात्तीर्थं तदुच्यते ।।२१।।
तत्रैव यानि तीर्थानि यान्युक्तानि मया तव । हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये षण्नद्यो देवसंभवाः ।।२२।।

ब्रह्मा बोले—द्विजवर्य ! पूर्वकाल में नारदमुनि ने इसी प्रश्न को मुझसे पूछा था । उस समय मैंने जो कुछ कहा, उसी को पुनः कह रहा हूँ ।।१३।।

नारद ने कहा—जगत् के आदि कारण ! जगत्पते ! आपसे मैंने तप, यज्ञ, दान और तीर्थों का पवित्र माहात्म्य पूर्णरूपेण सुना । अब यह बतलाइये कि स्वर्ग, मर्त्य और रसातलों में कितने तीर्थ हैं और उन सब तीर्थों में किसकी महत्ता सर्वदा मानी जाती है ।।१४-१५।।

ब्रह्मा ने कहा—मुनिशार्दूल! देवताओं एवं तत्त्वज्ञानियों ने स्वर्ग, मर्त्य और रसातल में स्थित दैव, आसुर, आर्ष और मानुष—ये चार प्रकार के तीर्थ बतलाये हैं। इनमें मानुष तीर्थों से आर्षतीर्थ उत्तम माने गये हैं, आर्ष से आसुरतीर्थ अधिक पुण्यप्रद माने गये हैं, और आसुरतीर्थों से दैवतीर्थ सब मनोरथों के दाता कहे गये हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश द्वारा प्रतिष्ठित तीर्थ देवतीर्थ कहे जाते हैं। इन तीनों देवों द्वारा जो तीर्थ प्रतिष्ठित हुआ उस दैव तीर्थ से श्रेष्ठ कोई अन्य तीर्थ नहीं है ।।१६-१९।। यों तो तीनों लोकों के तीर्थ पवित्र माने गये हैं। परन्तु उनमें भी जम्बूद्वीप के तीर्थ बहुत उत्तम फल देने वाले हैं।।२०।। जम्बूद्वीप के तीर्थों से भी भारतवर्ष त्रिभुवन-प्रसिद्ध तीर्थ हैं। चूँकि यह भारतवर्ष कर्मभूमि है, इसलिए यह तीर्थ कहा जाता है।।२१।। उस देश में जितने तीर्थ हैं उनके विषय में मैंने तुमसे कहा है कि हिमालय और विन्ध्य गिरि के मध्य की छह नदियाँ हैं ।।२२।। उसी प्रकार हे नारद!

---

१ घ. तीर्थसेवनमुत्तमम् । इति श्रु० । २ घ. जगत्प्रभो । ३ घ. ०यद्भेदानि ती० । ४ घ. ०नि किंफलानि सुरेश्वर । स ।

तथैव देवजा ब्रह्मान्दक्षिणार्णवविन्ध्ययोः । एता द्वादश नद्यस्तु प्राधान्येन प्रकीर्तिताः ॥२३॥
अभिसंपूजितं यस्माद्भारतं बहुपुण्यदम् । कर्मभूमिरतो देवैर्वर्षं तस्मात्प्रकीर्तितम् ॥२४॥
आर्षाणि चैव तीर्थानि देवजानि क्वचित्क्वचित् । आसुरैरावृतान्यासंस्तदेवाऽसुरमुच्यते ॥२५॥
दैवेष्वेव प्रदेशेषु तपस्तप्त्वा महर्षयः । दैवप्रभावात्तपस आर्षाण्यपि च तान्यपि ॥२६॥
आत्मनः श्रेयसे मुक्त्यै पूजायै भूतयेऽथवा । आत्मनः फलभूत्यर्थं यशसोऽवाप्तये पुनः ॥२७॥
मानुषैः कारितान्याहुर्मानुषाणीति नारद । एवं चतुर्विधो भेदस्तीर्थानां मुनिसत्तमाः ॥२८॥
भेदं न कश्चिज्जानाति श्रोतुं युक्तोऽसि नारद । बहवः पण्डितंमन्याः शृण्वन्ति कथयन्ति च ॥
सुकृती कोऽपि जानाति वक्तुं श्रोतुं निजैर्गुणैः ॥२९॥

नारद उवाच

तेषां स्वरूपं भेदं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः । यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ॥३०॥
ब्रह्मन्कृतयुगादौ तु उपायोऽन्यो न विद्यते । तीर्थसेवां विना स्वल्पायासेनाभीष्टदायिनीम् ॥३१॥
न त्वया सदृशो धातर्वक्ता ज्ञाताऽथवा क्वचित् । त्वं नाभिकमले विष्णोः संजातोऽखिलपूर्वजः ॥३२॥

ब्रह्मोवाच

गोदावरी भीमरथी तुङ्गभद्रा च वेणिका । तापी पयोष्णी विन्ध्यस्य दक्षिणे तु प्रकीर्तिताः ॥३३॥
भागीरथी नर्मदा तु यमुना च सरस्वती । विशोका च वितस्ता च हिमवत्पर्वताश्रिताः ॥३४॥

विन्ध्य और दक्षिण सागर के मध्य की छह नदियाँ भी देवनदियाँ हैं। ये बारह नदियाँ प्रधान रूप से श्रेष्ठ मानी गयी हैं॥२३॥ क्योंकि भारत सबसे पूजित, अधिक पुण्य देने वाला और कर्मभूमि है, अतएव इसको देवों ने वर्ष (श्रेष्ठ) कहा है॥२४॥ आर्ष और कहीं-कहीं दैवतीर्थ भी आसुर प्रदेशों अथवा असुर-समूह से घिरे हैं, इसीलिए उनको आसुर कहा गया है॥२५॥ दैव प्रदेशों में ही ऋषियों ने तपस्या कर दैव-प्रभाव या अपनी तपस्या के प्रभाव से आर्ष तीर्थों का निर्माण किया है॥२६॥ लोक-कल्याण, मुक्ति, पूजा, ऐश्वर्य-प्राप्ति अथवा अपनी अभीष्ट-सिद्धि या यश प्राप्ति के लिए मनुष्यों ने जिन तीर्थों को बनाया, वे ही मानुष तीर्थ कहे जाते हैं॥२७॥ मुनिवर नारद ! इस प्रकार तीर्थों के चार भेद हैं। नारद ! इस भेद को कोई नहीं जानता। तुम्हीं इस भेद को सुनने के अधिकारी हो। यद्यपि बहुत-से पण्डितम्मन्य लोग इस भेद को सुनते और सुनाते हैं, किन्तु कोई पुण्यवान् व्यक्ति ही अपने गुणों के कारण सुनने और कहने (प्रवचन) का अधिकारी होता है, सभी नहीं॥२८-२९॥

नारद बोले—ब्रह्मन् ! यथार्थ रूप से मैं उपर्युक्त तीर्थों का स्वरूप और भेद सुनना चाहता हूँ, जिसको सुनकर मनुष्य सब पापों से छूट जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। कृतयुग आदि में थोड़े श्रम से मनोरथ सिद्ध करने वाली तीर्थ-सेवा के अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं है। धातः ! तुम्हारे समान ज्ञाता और वक्ता कहीं नहीं है, क्योंकि तुम विष्णु के नाभि-कमल से उत्पन्न हुए हो और सबके पूर्वज हो॥३०-३२॥

ब्रह्मा ने कहा—विन्ध्य के दक्षिण भाग में गोदावरी, भीमरथी, तुंगभद्रा, वेणिका, तापी, पयोष्णी, ये नदियाँ ही गयी हैं। भागीरथी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, विशोका और वितस्ता ये हिमालय पर्वत से निकली हैं॥३३-३४॥

एता नद्यः पुण्यतमा देवतीर्थान्युदाहृताः । गयः [1]कोल्लासुरो वृत्रस्त्रिपुरो ह्यन्धकस्तथा ॥३५॥
हयमूर्धा च लवणो नमुचिः शृङ्गकस्तथा । यमः पातालकेतुश्च मयः पुष्कर एव च ॥३६॥
एतैरावृततीर्थानि आसुराणि शुभानि च । प्रभासो भार्गवोऽगस्तिर्नरनारायणौ तथा ॥३७॥
वसिष्ठश्च भरद्वाजो गौतमः कश्यपो मनुः । इत्यादिमुनिजुष्टानि ऋषितीर्थानि नारद ॥३८॥
अम्बरीषो हरिश्चन्द्रो मांधाता मनुरेव च । कुरुः कनखलश्चैव भद्राश्वः[2] सगरस्तथा ॥३९॥
अश्वयूपो नाचिकेता वृषाकपिररिंदमः । इत्यादिमानुषैर्विप्र निर्मितानि शुभानि च ॥४०॥
यशसः फलभूत्यर्थं निर्मितानीह नारद । स्वतोद्भूतानि दैवानि यत्र क्वापि जगत्त्रये ॥
पुण्यतीर्थानि तान्याहुस्तीर्थभेदो मयोदितः ॥४१॥

इति श्रीमहापुराणे[3] स्वयंम्भृषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये तीर्थभेदवर्णनं नाम सप्ततितमोऽध्यायः ॥७०॥
गौतमीमाहात्म्ये प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

ये नदियाँ अत्यन्त पुण्यजनक और देवतीर्थ कही गयी हैं। गय, कोल्लासुर, वृत्र, त्रिपुर, अन्धक, हयमूर्धा, लवण, नमुचि, शृंगक, यम, पातालकेतु, मय और पुष्कर इन असुरों से अधिष्ठित अथवा घिरे हुए तीर्थ आसुर हैं और शुभ भी हैं।।३५-३६½।। प्रभाव, भार्गव, अगस्ति, नरनारायण, वशिष्ठ, भारद्वाज, गौतम, कश्यप और मनु इत्यादि ऋषियों से सेवित आर्षतीर्थ है ।।३७-३८।। अम्बरीष, हरिश्चन्द्र, मान्धाता, मनु, कुरु, कनखल, भद्राश्व, सगर, अश्वयूप, नचिकेता, वृषाकपि, अरिंदम आदि से निर्मित शुभ मानुषतीर्थ है। नारद ! इस लोक में यश तथा ऐश्वर्य की सिद्धि के निमित्त बनाये गये या स्वयं उत्पन्न दैवतीर्थ जहाँ-कहीं भी इन तीनों लोकों में हैं, वे सभी पुण्यतीर्थ कहे जाते हैं। इस प्रकार मैंने तीर्थ के भेद सुना दिये ।।३९-४१।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में तीर्थ-माहात्म्य के क्रम में तीर्थ-भेद-वर्णन नामक सत्तरवाँ अध्याय समाप्त ।।७०।।

---

[1] घ. कोह्लासु० । [2] घ. भरतः । [3] घ. ०णे गौतमीमाहात्म्ये ।

अथैकसप्ततितमोऽध्यायः

गङ्गोत्पत्तिकथोपक्रमः

नारद उवाच

त्रिदैवत्यं तु यत्तीर्थं सर्वेभ्यो ह्युक्तमुत्तमम् । तस्य स्वरूपभेदं च विस्तरेण ब्रवीतु मे ।।१।।

ब्रह्मोवाच

तावदन्यानि तीर्थानि तावत्ताः पुण्यभूमयः । तावद्यज्ञादयो यावत्त्रिदैवत्यं न दृश्यते ।।२।।
गङ्गेयं सरितां श्रेष्ठा सर्वकामप्रदायिनी । त्रिदैवत्या मुनिश्रेष्ठ तदुत्पत्तिमतः [१]भृणु ।।३।।
वर्षाणामयुतात्पूर्वं देवकार्य उपस्थिते । तारको बलवानासीन्मद्वरादतिगर्वितः ।।४।।
देवानां परमैश्वर्यं हृतं तेन बलीयसा । ततस्ते शरणं जग्मुर्देवाः सेन्द्रपुरोगमाः ।।५।।
क्षीरोदशायिनं देवं जगतां प्रपितामहम् । कृताञ्जलिपुटा देवा विष्णुमूचुरनन्यगाः ।।६।।

देवा ऊचुः

त्वं त्राता जगतां नाथ देवानां कीर्तिवर्धन । सर्वेश्वर जगद्योने[२] त्रयीमूर्ते नमोऽस्तु ते[३] ।।७।।

अध्याय ७१

गंगा की उत्पत्ति की कथा

नारद ने कहा—आपने जो त्रिदैवत्य तीर्थ को सबसे उत्तम तीर्थ कहा है, सो उसके स्वरूप और भेद का विस्तारपूर्वक वर्णन मुझे सुनाइये ।।१।।

ब्रह्मा बोले—तब तक ही अन्य तीर्थों, पुण्यक्षेत्रों और अन्य यज्ञों का महत्त्व है, जब तक कि त्रिदैवत्य का दर्शन नहीं होता है । मुनिश्रेष्ठ ! यह गंगा नदी ही—जो सब नदियों में श्रेष्ठ है, सम्पूर्ण फल को देने वाली है—त्रिदैवत्या है, अतः उसकी उत्पत्ति की कथा सुनो । आज से दस हजार वर्ष पूर्व एक देवकार्य उपस्थित हुआ । उस समय तारक नामक एक असुर था, जो मुझसे वर पाकर अत्यन्त मदोद्धत हो गया था । उस महाबली ने बलपूर्वक देवताओं का सारा वैभव छीन लिया । इसलिए वे देवगण हृतसर्वस्व इन्द्र को अगुवा बनाकर देवताओं के एकमात्र रक्षक, क्षीरशायी, जगत्कर्ता विष्णु की शरण में गये । उनके पास जाकर देवगण हाथ जोड़कर कहने लगे ।।२-६।।

देवगण बोले—समस्त लोक के स्वामी ! हे देवों की कीर्ति बढ़ाने वाले सर्वेश्वर ! तुम हमारे एकमात्र रक्षक हो, संसार के उत्पत्ति-स्थान ! हे त्रिमूर्ति ! आपको नमस्कार है ।।७।। तुम्हीं असुरों को मारने वाले, लोक के

---

१ घ. ०णु । इन्द्राणा० । २ घ. ०ने त्रिमूर्ते तु न० । ३क. ०ते । अपां स्र० ।

लोकस्रष्टाऽसुरान्हन्ता त्वमेव जगतां पतिः । स्थित्युत्पत्तिविनाशानां कारणं त्वं जगन्मय ॥८॥

त्राता न कोऽप्यस्ति जगत्त्रयेऽपि, शरीरिणां सर्वविपद्गतानाम् ।
त्वया विना वारिजपत्रनेत्र, तापत्रयाणां शरणं न चान्यत् ॥९॥
पिता च माता जगतोऽखिलस्य, त्वमेव सेवासुलभोऽसि विष्णो ।
प्रसीद पाहीश महाभयेभ्योऽस्मदार्तिहन्ता वद कस्त्वदन्यः ॥१०॥

आदिकर्ता वराहस्त्वं मत्स्यः कूर्मस्तथैव च । इत्यादिरूपभेदैर्नो रक्षसे[1] भय आगते ॥११॥
हृतस्वाम्यान्सुरगणान्हृतदारान्गतापदः । कस्मान्न रक्षसे देव अनन्यशरणान्हरे ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

ततः प्रोवाच भगवाञ्शेषशायी जगत्पतिः । कस्माच्च भयमापन्नं तद्ब्रुवन्तु गतज्वराः ॥
ततः श्रियःपतिं प्राहुस्तं तारकवधं प्रति ॥१३॥

देवा ऊचुः

तारकाद्भयमापन्नं भीषणं रोमहर्षणम् । न युद्धैस्तपसा शापैर्हन्तुं नैव क्षमा वयम् ॥१४॥
अर्वाग्दशाहाद्यो बालस्तस्मान्मृत्युमवाप्स्यति । तस्माद्देव न चान्येभ्यस्तत्र नीतिर्विधीयताम् ॥१५॥

निर्माता और संसार के स्वामी हो । हे संसारमय ! संसार की सृष्टि, पालन और विनाश के कारण तुम्हीं हो ॥८॥ इन तीनों लोकों में सब प्रकार की विपत्तियों में फँसे जीवों के रक्षक तुम्हीं हो दूसरा कोई नहीं । कमलनेत्र ! त्रिताप से संतप्त प्राणियों को तुम्हारे अतिरिक्त कोई आश्रय देनेवाला नहीं है । विष्णो ! इस अखिल लोक के तुम्हीं पिता और माता हो, और तुम्हीं केवल सेवा द्वारा सुलभ हो । ईश ! प्रसन्न हो जाओ । इस महाविनाश से हम लोगों की रक्षा करो । तुम्हारे सिवा और कौन हम लोगों के कष्टों को दूर कर सकता है ? ॥९-१०॥ विपत्ति आ जाने पर तुम्हीं आदिकर्त्ता वराह, मत्स्य तथा कूर्म आदि रूपों में अवतार लेकर हमारी रक्षा करते हो । देव ! हरे ! इन अनन्यशरण तथा विपत्तियों में फँसे देवों की—जिनके सारे अधिकार छीन लिये गये हैं और जिनकी स्त्रियाँ लूट ली गयी हैं—क्यों नहीं रक्षा करते ? ॥११-१२॥

ब्रह्मा बोले—इन बातों को सुनकर जगत्पति, शेषशायी भगवान् ने पूछा—देववृन्द ! तुम लोगों को किससे भय है ? निःशंक होकर कहो । भगवान् की वातें सुनकर देवों ने तारक के वध के संवंध में उनसे कहा ॥१३॥

देवों ने कहा—भगवन् ! तारकासुर के भीषण, रोमाञ्चकारी अत्याचारों से हम लोग भयभीत हो गये हैं । हम लोग युद्ध, तप, शाप आदि किन्हीं उपायों से उसको मारने में समर्थ नहीं हैं । देव ! दस दिन के वाद का ही शिशु उसकी मृत्यु का कारण होगा, दूसरे से उसकी मृत्य नहीं होगी । इसलिए कोई उपाय ढूँढ़ निकालिये ॥१४-१५ ॥

---

[1] क. ०क्षसो भयमागतान् । हत० ।

ब्रह्मोवाच

पुनर्नारायणः प्राह नाहं बलोत्कटः सुराः । न मत्तो मदपत्याच्च च देवेभ्यो वधो भवेत् ।।१६।।
ईश्वराद्यदि जायेत अपत्यं बहुशक्तिमत् । तस्माद्वधमवाप्नोति तारको [1]लोकदारुणः ।।१७।।
तद्गच्छामः सुराः सर्वे यतितुमृषिभिः सह । भार्यार्थं प्रथमो यत्नः कर्तव्यः प्रभविष्णुभिः ।।१८।।
तथेत्युक्त्वा सुरगणा जग्मुस्ते च नगोत्तमम् । हिमवन्तं रत्नमयं मेनां च हिमवत्प्रियाम् ।।१९।।
इदमूचुः सर्व एव सभार्यं तुहिनं गिरिम् ।।२०।।

देवा ऊचुः

दाक्षायणी लोकमाता या शक्तिः संस्थिता गिरौ[2] । बुद्धिः प्रज्ञा धृतिर्मेधा लज्जा पुष्टिः सरस्वती ।।२१।।
एवं त्वनेकधा लोके या स्थिता लोकपावनी । देवानां कार्यसिद्ध्यर्थं [3]युवयोर्गर्भमाविशत्[4] ।।२२।।
समुत्पन्ना [5]जगन्माता शंभोः पत्नी भविष्यति । अस्माकं भवतां चापि पालनी च भविष्यति ।।२३।।

ब्रह्मोवाच

हिमवानपि तद्वाक्यं सुराणामभिनंद्य च । मेना चापि महोत्साहा अस्त्वित्येवं वचोऽब्रवीत् ।।२४।।
तदोत्पन्ना जगद्धात्री गौरी हिमवतो गृहे । शिवध्यानरता नित्यं तन्निष्ठा [6]तन्मनोगता ।।२५।।
तां वै प्रोचुः सुरगणा ईशार्थे तप आविश । तथा हिमवतः पृष्ठे गौरी तेपे तपो महत् ।।२६।।

ब्रह्मा बोले—तदनन्तर भगवान् नारायण ने कहा—'देवगण! मैं उत्कट वलशाली नहीं हूँ और उसका वध न मुझसे न मेरे पुत्र से न देवताओं से ही हो सकता है। यदि शंकर से कोई अत्यन्त वलवान् पुत्र उत्पन्न हो तो वह लोक-पीड़क तारक उससे मारा जा सकता है। इसलिए प्रभावशाली ऋषियों के सहित हम सव प्रयत्न करने के लिए चलें। सर्वप्रथम उनके विवाह के लिए प्रयत्न करना चाहिये। 'ऐसा ही हो' यह कहकर वे देवगण रत्नपूर्ण नगाधिराज हिमालय और उसकी स्त्री मेना के पास गये। सभी उसकी भार्या मेना और हिमालय से वोले।।१६-२०।।

देवों ने कहा—लोक-माता शक्तिस्वरूपिणी दाक्षायणी तुम्हारे यहाँ विराजमान हैं। लोक को पवित्र करने वाली उस जननी के, वुद्धि, प्रज्ञा, धृति, मेधा, लज्जा, पुष्टि, सरस्वती आदि अनेक नाम लोक में प्रसिद्ध हैं। वही देवों की कार्य-सिद्धि के लिए आपके गर्भ में प्रविष्ट हुई हैं। उत्पन्न होकर वह जगन्माता भविष्य में शंभु की पत्नी होगी और हम लोगों की तथा आप लोगों की भी वह रक्षिका वनेगी ।।२१-२३।।

ब्रह्मा बोले—पर्वतराज हिमालय ने भी देवों के इस प्रस्ताव की सराहना की और मेना ने भी वड़े उत्साह से कहा कि 'ऐसा ही हो।' उस समय हिमालय के घर में उत्पन्न जगन्माता गौरी भी सर्वदा शिव के ध्यान में मग्न रहती थीं। उनकी निष्ठा और मन उनमें ही लगा रहता था। देवों ने उस हिमकन्या से कहा कि तुम भगवान् को पति रूप में पाने के लिए तप करो। तव गौरी भी हिमालय के ऊपर वैठकर कठोर तपस्या करने लगी। पुनः

---

[1] घ. लोकदारकः। [2] घ. शिवे। [3] क. ०विशेत्। [4] घ. ०त्। सा तूत्प०। [5] घ. जगद्धात्री। [6] घ. तत्परायणा।

पुनः संमन्त्रयामासुरीशो ध्यायति तां शिवाम् । आत्मानं वा तथाऽन्यद्वा न जानीमः कथं भवः ॥२७॥
मेनकायाः सुतायां तु चित्तं दध्यात्सुरेश्वरः । तत्र नीतिर्विधातव्या ततः श्रैष्ठ्यमवाप्स्यथ ॥
ततः प्राह महाबुद्धिर्वाचस्पतिरुदारधीः ॥२८॥

बृहस्पतिरुवाच

यस्त्वयं मदनो धीमान्कन्दर्पः पुष्पचापधृक् । स विध्यतु शिवं शान्तं बाणैः पुष्पमयैः शुभैः ॥२९॥
तेन विद्धस्त्रिनेत्रोऽपि ईशायां बुद्धिमादधेत् । परिणेष्यत्यसौ नूनं तदा तां गिरिजां हरः ॥३०॥
जयिनः पञ्चबाणस्य न बाणाः क्वापि कुण्ठिताः । तथोढायां जगद्धात्र्यां शंभोः पुत्रो भविष्यति ॥३१॥
जातः पुत्रस्त्रिनेत्रस्य तारकं स हनिष्यति । वसन्तं च सहायार्थं शोभिष्ठं कुसुमारकम् ॥३२॥
आह्लादनं च मनसा कामायैनं प्रयच्छथ ॥३३॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा सुरगणा मदनं कुसुमाकरम् । प्रेषयामासुरव्यग्राः शिवान्तिकमरिंदमाः ॥३४॥
स जगाम त्वरा कामो धृतचापो समाधवः । रत्या च सहितः कामः कर्तुं कर्म सुदुष्करम् ॥३५॥
गृहीत्वा सशरं चापमिदं तस्य मनोऽभवत् । मया वेध्यस्त्ववेध्यो वै शंभुर्लोकगुरुः प्रभुः ॥३६॥
त्रैलोक्यजयिनो बाणाः शंभौ मे किं दृढा न वा । तेनासौ चाग्निनेत्रेण भस्मशेषस्तदा कृतः ॥३७॥

देवताओं ने मन्त्रणा की कि भगवान् शंकर स्वयं गौरी या अपने आपका या अन्य किसी वस्तु का चिन्तन करते हैं, इस वात को हम नहीं जानते । अतः सुरेश्वर शंकर किस प्रकार मेना-पुत्री में अपना मन लगायेंगे, इस बात के लिए कोई उपाय करना चाहिये, तभी सफलता प्राप्त होगी । इतनी वातें सुनकर महावुद्धिमान्, उदारचेता वृहस्पति ने कहा ॥२४-२८॥

बृहस्पति बोले—जो यह कुसुम-धनुष धारण करने वाला वुद्धिमान् कामदेव है, वह शान्त शिव को अपने कोमल पुष्पबाणों से मारे । पुष्पवाणों से बिंधे त्रिनेत्र गौरी की ओर आकृष्ट होंगे, तव निश्चय ही शंकर गिरिजा का पाणिग्रहण करेंगे । विजयी कामदेव के बाण कहीं भी असफल नहीं हुए । इस प्रकार पार्वती से विवाह हो जाने पर शंभु से पुत्र उत्पन्न होगा । शंकर से उत्पन्न वह पुत्र तारक का वध करेगा । इसके पूर्व मनोहर वसन्त को, जो कि मन में आह्लाद उत्पन्न कर देता है—सहायता के लिए मदन को दे दिया जाय ॥२९-३३॥

ब्रह्मा ने कहा—यही ठीक है—ऐसा कहकर शत्रुसूदन देवताओं ने प्रसन्नतापूर्वक वसन्त के साथ मदन को शिव के समीप भेजा । कामदेव भी वसन्त और रति के साथ हाथ में अपना अमोघ धनुष लेकर उस दुष्कर कार्य को करने के लिए शीघ्रता से गया । हाथ में वाण सहित धनुष लेकर कामदेव मन में सोचने लगा कि लोकपूज्य (अतएव) न वेधने योग्य प्रभु शंकर अवश्य मेरे वाणों के लक्ष्य वनेंगे । त्रिभुवन को वश में करने वाले मेरे बाण शंभु पर अपना प्रभाव दिखायेंगे कि नहीं, कामदेव यह सोच ही रहा था कि इतने ही में वह भगवान् के नेत्र से निकली

तदेव कर्म सुदृढमीक्षितुं सुरसत्तमाः । आजग्मुस्तत्र यद्वृत्तं शृणु विस्मयकारकम् ॥३८॥
शंभुं दृष्ट्वा सुरगणा यावत्पश्यन्ति मन्मथम् । तावच्च भस्मसाद्भूतं कामं दृष्ट्वा भयातुराः ॥
तुष्टुवुस्त्रिदशेशानं कृताञ्जलिपुटाः सुराः ॥३९॥

देवा ऊचुः

तारकाद्भयमापन्नं कुरु पत्नीं गिरेः सुताम् ॥४०॥

ब्रह्मोवाच

विद्धचित्तो हरोऽप्याशु मेने वाक्यं सुरोदितम् । अरुन्धतीं वसिष्ठं च मां तु चक्रधरं तथा ॥४१॥
प्रेषयामासुरमरा विवाहाय परस्परम् । संबन्धोऽपि तथाऽप्यासीद्धिमवल्लोकनाथयोः ॥४२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभ्वृषिसंवादे गङ्गोत्पत्तौ शंभुविवाहसंभवो
नामैकसप्ततितमोऽध्यायः ॥७१॥
गौतमीमाहात्म्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

ज्वाला से जलकर भस्म हो गया। इस कठोर कर्म को देखने के लिए वहाँ वे देवता आये। इसके आगे जो आश्चर्यजनक घटना हुई उसको हे पुत्र ! सुनो। शंभु को देखने के वाद देवगण ज्योंही मदन की ओर ताकने लगे त्योंही उसको भस्मीभूत देखकर भय से अधीर हो गये। तव हाथ जोड़कर देवताओं ने देवेश शंकर की स्तुति की ॥३४-३९॥

देवों ने कहा—तारकासुर से हम लोग त्रस्त हैं, हमारे उद्धार के लिए (प्रभो) पार्वती को अपनी पत्नी बनाइये ॥४०॥

ब्रह्मा ने कहा—इधर मदन-पीड़ित शंकर ने भी शीघ्र ही देवों की प्रार्थना स्वीकार कर ली। अपना मनोरथ सिद्ध जानकर देवताओं ने अरुन्धती, वशिष्ठ, मुझ (ब्रह्मा) को और विष्णु को विवाह का संघटन (घटकैती) करने के लिए भेजा। यथार्थ में वह विवाह भी हिमालय और लोकस्वामी शंकर के पद और प्रतिष्ठा के अनुरूप ही था ॥४१-४२॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में गंगोत्पत्ति-प्रकरण में शंभुविवाह की संभावना नामक
इकहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥७१॥

अथ द्विसप्ततितमोऽध्यायः

हिमवद्वर्णनम्

ब्रह्मोवाच

हिमवत्पर्वते श्रेष्ठे नानारत्नविचित्रिते । नानावृक्षलताकीर्णे नानाद्विजनिषेविते ॥१॥
नदीनदसरःकूपतडागादिभिरावृते । देवगन्धर्वयक्षादिसिद्धचारणसेविते ॥२॥
शुभमारुतसंपन्ने हर्षोत्कर्षैककारणे । मेरुमन्दरकैलासमैनाकादिनगैवृते ॥३॥
वसिष्ठागस्त्यपौलस्त्यलोमशादिभिरावृते । महोत्सवे वर्तमाने विवाहः समजायत ॥४॥
तत्र वेदी रत्नमयी शोभिला स्वर्णभूषिता । वज्रमाणिक्यवैदूर्यतन्मयस्तम्भशोभिता ॥५॥
जयालक्ष्मीशुभाक्षान्तिकीर्तिपुष्ट्यादिसंवृता । मेरुमन्दरकैलासरैवतैः[1] परिशोभितैः ॥६॥
पूजितो लोकनाथेन विष्णुना प्रभविष्णुना । मैनाकः पर्वतश्रेष्ठो रेजेऽतीव हिरण्मयः ॥७॥
ऋषयो लोकपालाश्च आदित्याः समरुद्गणाः । विवाहे वेदिकां चक्रुर्देवदेवस्य शूलिनः ॥८॥
विश्वकर्मा स्वयं त्वष्टा वेदीं चक्रे सतोरणाम् । सुरभी नन्दिनी नन्दा [2]सुनन्दा कामदोहिनी ॥९॥
आभिस्तु शोभितेशान्या विवाहः समजायत । समुद्राः सरितो नागा ओषध्यो लोकमातरः ॥१०॥

अध्याय ७२

हिमालय का वर्णन

ब्रह्मा बोले—नाना रत्नों से विचित्र शोभाशाली श्रेष्ठ हिमालय-पर्वत पर जो अनेक वृक्ष और लताओं से प्रपूर्ण था, जहाँ भिन्न-भिन्न रंग के अनेक पक्षी रहते थे, जो नदी, नद, सरोवर, कूप और तड़ाग आदि से घिरा हुआ था, जहाँ देव, गन्धर्व, यक्ष आदि तथा सिद्ध-चारण निवास करते थे और वसिष्ठ, अगस्त्य, पौलस्त्य, लोमश आदि विवाहोत्सव देखने के लिए आये थे—बड़े समारोह के साथ विवाह-कृत्य शुभ वेला में प्रारम्भ हुआ ॥ १-४॥ वहाँ सोने से सुसज्जित रत्नजटित वेदी वनायी गयी, उस पर वज्र-माणिक्य और वैदूर्य जड़े स्तम्भ खड़े किये गये ॥५॥ जया, लक्ष्मी, शुभा, क्षान्ति, कीर्ति, पुष्टि आदि देवियाँ वहाँ विवाह-मण्डप में उपस्थित थीं, मेरु, मन्दर, कैलास, रैवत आदि विराजमान थे और लोकस्वामी सर्वसमर्थ विष्णु से सम्मानित स्वर्णमय, पर्वत-शिरोमणि मैनाक वहाँ अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥६-७॥ उस शंकर के विवाह में ऋषि, लोकपाल तथा मरुद्गणों के साथ आदित्यगणों ने मिलकर वेदी वनायी, देव-शिल्पी विश्वकर्मा ने तोरण से उसको सजाया। तदनन्तर सुरभी, नन्दिनी, नन्दा, सुनन्दा, कामधेनु आदि सखियों के मध्य सुशोभित पार्वती का विवाह सम्पन्न हुआ। समुद्र, सरिता, पर्वत, औषधियाँ, लोकमाताएँ

---

[1] घ. ०लासे तैरेवोपरिशोभिते । पू० । [2] म. कामदा ।

सवनस्पतिबीजाश्च सर्वे तत्र समाययुः। भुवः कर्म इला चक्रे ओषध्यस्त्वन्नकर्म च ।।११।।
वरुणः पानकर्माणि दानकर्म धनाधिपः। अग्निश्चकार[1] तत्रान्नं यच्चेष्टं लोकनाथयोः ।।१२।।
तत्र तत्र पृथक्पूजां चक्रे विष्णुः सनातनः । [2]वेदाश्च सरहस्या[3] वै गायन्ति च[4] हसन्ति च ।।१३।।
नृत्यन्त्यप्सरसः सर्वा जगुर्गन्धर्वकिंनराः। लाजाधृक्चापि मैनाको बभूव मुनिसत्तम ।।१४।।
पुण्याहवाचनं वृत्तमन्तर्वेश्मनि नारद। वेदिकायामुपाविष्टौ दंपती सुरसत्तमौ ।।१५।।
प्रतिष्ठाप्याग्निं विधिवदश्मानं चापि पुत्रक। हुत्वा लाजांश्च विधिवत्प्रदक्षिणमथाकरोत् ।।१६।।
अश्मनः स्पर्शहेतोश्च देव्यङ्गुष्ठं करेऽस्पृशत्। विष्णुना प्रेरितः शंभुर्दक्षिणस्य पदस्य च ।।१७।।
तामदर्शमहं तत्र होमं [5]कुर्वन्हरान्तिके। दृष्टेऽङ्गुष्ठे दुष्टबुद्ध्या वीर्यं सुस्राव मे तदा ।।१८।।
लज्जया कलुषीभूतः स्कन्नं वीर्यमचूर्णयम्। मद्वीर्याच्चूर्णितात्सूक्ष्माद्वालखिल्यास्तु जज्ञिरे ।।१९।।
ततो महानभूत्तत्र हाहाकारः सुरोदितः। लज्जया परिभूतोऽहं निर्गतस्तु तदाऽऽसनात् ।।२०।।
पश्यत्सु देवसंघेषु तूष्णींभूतेषु नारद। गच्छन्तं मां महादेवो दृष्ट्वा नन्दिनमब्रवीत् ।।२१।।

वनस्पति, बीज, सभी वहाँ उत्सव में सम्मिलित हुए ।।८-१०।। नारद ! उस उत्सव में इला ने पृथ्वी-कर्म (झाड़ना, लीपना, आदि) किया, ओषधियों ने अन्न-सामग्री जुटायी, वरुण ने जलपान का प्रबन्ध किया, धनपति कुबेर ने दान-दक्षिणा देने का कार्य किया, अग्नि ने शिव की इच्छा के अनुरूप विविध स्वादु भोजन बनाया ।।११-१२।। सनातन विष्णु ने स्थान-स्थान पर विवाहोचित पृथक्-पृथक् पूजा की । वहाँ सांगोपांग वेद स्वयं गान करते थे तथा हँसते भी थे ।।१३।। सभी अप्सराओं ने अपना नृत्य दिखाया, गन्धर्व और किन्नरों ने मधुर गान गाया । मुनिश्रेष्ठ ! मैनाक ने मांगलिक धान के लाजा (लावा) विखेरने की विधि पूर्ण की ।।१४।। नारद ! अन्तर्गृह में पुण्याहवाचन हुआ और दोनों देव-दम्पति ने वेदिका पर बैठकर विधिपूर्वक अग्नि और पत्थर की प्रतिष्ठा की । तदनन्तर लाजा-होम और अग्नि-प्रदक्षिणा-विधि समाप्त हुई । विष्णु की प्रेरणा से शम्भु ने पार्वती के दाहिने पैर के अँगूठे का पत्थर से स्पर्श कराने के लिए हाथ से स्पर्श किया । पुत्र ! उस समय मैं शंकर के समीप हवन कर रहा था । मैंने पार्वती को देख लिया । उनके अँगूठे को देखने से ही मेरे हृदय में कामभावना जागरित हो गयी और वीर्य-पात हो गया ।।१५-१८।। लज्जा से संकुचित होकर मैंने उस गिरे हुए वीर्य को चूर्ण कर दिया । उस बारीक चूर्ण किये वीर्य से बालखिल्य उत्पन्न हुए ।।१९।। यह देखकर देवताओं ने बड़ा हाहाकार मचाया । तब लज्जा से आसन छोड़कर मैं बाहर चला आया ।।२०।। नारद ! इस प्रकार लज्जित और मण्डप से बाहर जाते मुझे देखकर सभी देवता मौन हो गये । किन्तु मुझको जाते देखकर शंकर ने नन्दी से कहा ।।२१।।

---

[1] घ. ०र यच्चेष्टं हिमवल्लोक०। [2] क. वेदांश्च। [3] क. ०स्यान्वै गा०। [4] क. वदन्ति। [5] क. ०र्वन्सुरा०।

शिव उवाच

ब्रह्माणमाह्वयस्वेह गतपापं करोम्यहम्। कृतापराधेऽपि जने सन्तः सकृपमानसाः ॥
मोहयन्त्यपि विद्वांसं विषयाणामियं स्थितिः ॥२२॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा स भगवानुमया सहितः शिवः। ममानुकम्पया चैव लोकानां हितकाम्यया ॥२३॥
एतच्चकार लोकेशः शृणु नारद यत्नतः। पापिनां पापमोक्षाय भूमिरापो भविष्यति ॥२४॥
तयोश्च सारसर्वस्वमाहरिष्यामि पावनम्। एवं निश्चित्य भगवांस्तयोः सारं समाहरत् ॥२५॥
भूमिं कमण्डलुं कृत्वा तत्रापः संनिवेश्य च। पावमान्यादिभिः सूक्तैरभिमन्त्र्य च यत्नतः ॥२६॥
त्रिजगत्पावनीं शक्तिं तत्र सस्मार पापहा। मामुवाच स लोकेशो गृहाणेमं कमण्डलुम् ॥२७॥
आपो वै मातरो देव्यो भूमिर्माता तथाऽपरा। स्थित्युत्पत्तिविनाशानां हेतुत्वमुभयोः स्थितम् ॥२८॥
अत्र प्रतिष्ठतो धर्मो ह्यत्र यज्ञः सनातनः। अत्र भुक्तिश्च मुक्तिश्च स्थावरं जङ्गमं तथा ॥२९॥
स्मरणान्मानसं पापं वचनाद्वाचिकं तथा। स्नानपानाभिषेकाच्च प्रणश्यत्यपि कायिकम् ॥३०॥
एतदेवामृतं लोके नैतस्मात्पावनं परम्। मयाऽभिमन्त्रितं ब्रह्मन्गृहाणेमं कमण्डलुम् ॥३१॥
अत्रत्यं वारि यः कश्चित्स्मरेदपि पठेदपि। स सर्वकामानाप्नोति गृहाणेमं कमण्डलुम् ॥३२॥

शंकर बोले—तुम ब्रह्मा को यहाँ वुलाओ, मैं उनको निष्पाप करूँगा। सन्त मनुष्य अपराधी पर भी दया दिखलाते हैं, विषयवासनाओं की यह स्थिति है कि वे ज्ञानी को भी वशीभूत कर लेती हैं ॥२२॥

ब्रह्मा ने कहा—उमा के सहित शंकर ने ऐसा कहकर मेरे ऊपर कृपाकर, लोक-हित की भावना से आगे क्या किया उसको तुम सावधानी से सुनो। उन्होंने कहा कि पृथ्वी और जल पापियों के पाप को नष्ट करने में सहायक होते हैं। मैं इनके पवित्र सार भाग को निकालूँगा, ऐसा निश्चय कर भगवान् शंकर ने उनके सार भाग को निकाल लिया ॥२३-२५॥ पृथ्वी को कमण्डलु वनाकर उसमें जल को रख दिया। पावमान्य आदि वैदिक मंत्रों से भलीभाँति अभिमन्त्रित कर उस पाप-विनाशक ने उसमें तीनों लोकों को पवित्र करने वाली शक्ति का आवाहन किया। पुनः लोकपति शंकर ने मुझसे कहा कि इस कमण्डलु को लो ॥२६-२७॥ सुनो, जल मातृदेवी है, तथा पृथ्वी भी दूसरी माता है। इन दोनों में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के कारण निहित हैं ॥२८॥ इनमें धर्म प्रतिष्ठित है। सनातन यज्ञ इनमें वर्त्तमान है। इनमें भुक्ति और मुक्ति है। स्थावर, जंगम सभी इनमें ही रहते हैं ॥२९॥ जल के स्मरण से मन के पाप, इसके विषय में चर्चा करने से वचन के पाप और इसके स्नान, पान और अभिषेक से शरीर के पाप नष्ट हो जाते हैं ॥३०॥ यही संसार में अमृत है। इससे अधिक कोई भी वस्तु पवित्र नहीं। मैंने इसको अभिमन्त्रित कर दिया है, इस कमण्डलु को ग्रहण करो ॥३१॥ इस कमण्डलु के जल का जो कोई स्मरण करेगा अथवा इसका स्तोत्र पाठ करेगा, उसके सव मनोरथ पूर्ण होंगे, अतः इस कमण्डलु को लो। ॥३२॥ पञ्च महाभूतों से जल-

भूतेभ्यश्चापि पञ्चभ्य आपो भूतं महोदितम्। तासामुत्कृष्टमेतस्माद्गृहाणेमं कमण्डलुम् ॥३३॥
अत्र यद्वारि शोभिष्ठं पुण्यं पावनमेव च । स्पृष्ट्वा स्मृत्वा च दृष्ट्वा च ब्रह्मन्पापाद्विमोक्ष्यसे ॥३४॥
एवमुक्त्वा महादेवः प्रादान्मम कमण्डलुम्.। ततः सुरगणाः सर्वे भक्त्या प्रोचुः सुरेश्वरम् ॥
आह्लादश्च महांस्तत्र जयशब्दो व्यवर्तत ॥३५॥

देवोत्सवे मातुरजः पदाग्रं, समीक्ष्य पापात्पतितत्वमाप ।
प्रादात्कृपालुः स्मरणात्पवित्रां गङ्गां पिता पुण्यकमण्डलुस्थाम् ॥३६॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये गङ्गोत्पत्तौ ब्रह्मकमण्डलुदानं नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥
गौतमीमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अथ त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

बलिप्रशंसावर्णनम्

नारद उवाच

कमण्डलुस्थिता देवी तव पुण्यविवर्धिनी। यथा मर्त्यं गता नाथ तन्मे विस्तरतो वद ॥१॥

तत्त्व श्रेष्ठ कहा गया है। यह तो उसका सार तत्त्व होने के कारण उससे भी अति उत्कृष्ट है, इसलिए इस कमण्डलु को ग्रहण करो ॥३३॥ ब्रह्मन् ! इस कमण्डलु में जो ज़ल है, वह पवित्र, पापनाशक और शुभदायक है। इसके स्पर्श, स्मरण और दर्शन से मनुष्य पापों से छूट जाता है ॥३४॥ ऐसा कहकर महादेव ने मुझको कमण्डलु दे दिया। इस घटना को देखकर सबको अत्यन्त प्रसन्नता हुई, जय-घोष की तुमुल ध्वनि से मण्डप गूँज उठा। देवताओं ने भक्तिपूर्वक सुरेश्वर शंकर से कहा ॥३५॥ देवोत्सव के अवसर पर माता के चरण के अँगूठे को देखकर ब्रह्मा अपने पाप से पतित हो गये, परन्तु कृपालु पिता शंकर ने इसका स्मरण करके भी परम पवित्र गंगा को कमण्डलु में रखकर ब्रह्मा को दे दिया ॥३६॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में तीर्थ-माहात्म्य-प्रकरण में गंगोत्पत्ति नामक बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥७२॥

अध्याय ७३

बलि की प्रशंसा का वर्णन

नारद ने कहा—प्रभो ! आपके कमण्डलु में रहने वाली पुण्यदायिनी गंगा किस प्रकार मर्त्यलोक में आयीं, इसे भी विस्तारपूर्वक सुनाइये ॥१॥

१घ. ० तस्याद्गृ० ।

ब्रह्मोवाच

बलिर्नाम महादैत्यो देवारिरपराजितः । धर्मेण यशसा चैव प्रजासंरक्षणेन च ॥२॥
गुरुभक्त्या च सत्येन वीर्येण च बलेन च । त्यागेन क्षमया चैव त्रैलोक्ये नोपमीयते ॥३॥
तस्यर्द्धिमुन्नतां दृष्ट्वा देवाश्चिन्तापरायणाः । मिथः समूचुरमरा जेष्यामो वै कथं बलिम् ॥४॥
तस्मिञ्शासति राज्यं तु त्रैलोक्यं हतकण्टकम् । नारयो व्याधयो वाऽपि नाऽऽधयो वा कथंचन ॥५॥
अनावृष्टिरधर्मो वा नास्तिशब्दो न दुर्जनः । स्वप्नेऽपि नैव दृश्येत बलौ राज्यं प्रशासति ॥६॥
तस्योन्नतिशरैर्भग्नाः कीर्तिखड्गद्विधाकृताः । तस्याऽऽज्ञाशक्तिभिन्नाङ्गा देवाः शर्म न लेभिरे ॥७॥
ततः संमन्त्रयामासुः कृत्वा मात्सर्यमग्रतः । तद्यशोग्निप्रदीप्ताङ्गा विष्णुं जग्मुः सुविह्वलाः ॥८॥

देवा ऊचुः

[1]आर्ताः स्म गतसत्त्वाः स्म शङ्खचक्रगदाधर । अस्मदर्थे [2]भवान्नित्यमायुधानि बिभर्ति च ॥९॥
त्वयि नाथे जगन्नाथ अस्माकं दुःखमीदृशम् । त्वां तु प्रणमती वाणी कथं दैत्यं नमस्यति ॥१०॥
मनसा कर्मणा वाचा त्वामेव शरणं गताः । त्वदङ्घ्रिशरणाः सन्तः कथं दैत्यं नमेमहि ॥११॥
यजामस्त्वां महायज्ञैर्वदामो वाग्भिरच्युत । त्वदेकशरणाः सन्तः कथं दैत्यं नमेमहि ॥१२॥

ब्रह्मा ने कहा—वलि नामक एक महादैत्य था, जो देवताओं का परम शत्रु था । देवता उसको कभी भी पराजित न कर सके । वह अपने धर्म-पालन, यश, प्रजा-संरक्षण, गुरु-भक्ति, सत्य, पौरुष, पराक्रम, त्याग और क्षमा आदि गुणों के कारण तीनों लोक में अनुपम था । उसके महान् वैभव को देखकर देवता अत्यन्त चिन्तित हो उठे । वे परस्पर कहने लगे कि "किस प्रकार वलि को हम लोग जीत सकेंगे ॥२-४॥ इसके शासनकाल में तो सारा संसार निष्कण्टक है, न शत्रु है, न रोग है और न किसी को किसी प्रकार की मानसिक चिन्ता ही है ॥५॥ अनावृष्टि (सूखा), अधर्म, नास्तिकता और दुष्ट मनुष्य नहीं हैं । और क्या कहा जाय, इस वलि के शासन-काल में स्वप्न में भी ये सब नहीं देखे जाते ॥६॥ इस प्रकार उसकी उन्नति रूपी शरों से वे हतोत्साह हो गये, उसके यशरूपी खड्ग से आहत हो गये, उसकी प्रभुता-शक्ति को देखकर वे देव क्षत-विक्षत अर्थात् विकल हो गये । उनको किसी प्रकार शान्ति नहीं मिली ॥७॥ अन्त में ईर्ष्याभाव से मिल-जुलकर उन लोगों ने मन्त्रणा की और उसके यशरूपी अग्नि से जले-भुने वे देव अत्यन्त व्याकुल होकर भगवान् विष्णु के समीप गये ॥८॥

देवों ने कहा—शंख, चक्र, गदा के धारण करने वाले ! हम लोगों की रक्षा के लिए ही आप सर्वदा शस्त्र धारण करते हैं, फिर भी हम लोग दुःखी हैं, अधिकार से वंचित हैं। जगन्नाथ ! आपके रक्षक रहने पर भी हम लोगों की यह दुर्गति ! आपकी सर्वदा स्तुति करने वाली यह वाणी किस प्रकार इस अधम दैत्य की स्तुति करेगी ॥९-१०॥ हम सभी मन, वचन और कर्म से आपकी ही शरण में रहते हैं। भला, आपके चरणों के सेवक हम उस दैत्य को कैसे नमस्कार करेंगे? ॥११॥ हम महायज्ञों के द्वारा आपकी ही आराधना करते हैं। अच्युत ! अपनी वाणी से आप ही स्तोत्र गान करते हैं, एकमात्र आपकी ही शरण में रहने वाले हम कैसे उस दैत्य को नमस्कार कर सकते

---

[1] घ. आर्तानां जगतामीश श० । [2] घ. ०न्नित्यं छायारूपं वि० ।

त्वद्वीर्यमाश्रिता नित्यं देवाः सेन्द्रपुरोगमाः। त्वया दत्तं पदं प्राप्य कथं दैत्यं नमेमहि ॥१३॥
स्रष्टा त्वं ब्रह्ममूर्त्या तु विष्णुर्भूत्वा तु रक्षसि। संहर्ता रुद्रशक्त्या त्वं कथं दैत्यं नमेमहि ॥१४॥
ऐश्वर्यं कारणं लोके विनैश्वर्यं तु किं फलम्। [1]हतैश्वर्याः सुरेशान कथं दैत्यं नमेमहि ॥१५॥
अनादिस्त्वं जगद्धातरनन्तस्त्वं जगद्गुरुः। अन्तवन्तममुं शत्रुं कथं दैत्यं नमेमहि ॥१६॥
तवैश्वर्येण पुष्टाङ्गा जित्वा त्रैलोक्यमोजसा। स्थिराः स्याम सुरेशान कथं दैत्यं नमेमहि ॥१७॥

ब्रह्मोवाच

इत्येतदेव वचनं श्रुत्वा दैतेयसूदनः। उवाच सर्वानमरान्देवानां कार्यसिद्धये ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

मद्भक्तोऽसौ बलिर्दैत्यो [2]ह्यवध्योऽसौ सुरासुरैः। यथा भवन्तो मत्पोष्यास्तथा पोष्यो बलिर्मम ॥१९॥
विना तु संगरं देवा हत्वा राज्यं त्रिविष्टपे। बलिं निबध्य मन्त्रोक्त्या राज्यं वः प्रददाम्यहम् ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा सुरगणाः संजग्मुर्दिवमेव हि। भगवानपि देवेशो ह्यदित्या गर्भमाविशत् ॥२१॥
तस्मिन्नुत्पद्यमाने तु उत्सवाश्च बभूविरे। जातोऽसौ वामनो ब्रह्मन्यज्ञेशो यज्ञपूरुषः ॥२२॥

हैं ? ॥१२॥ इन्द्र आदि हम सभी देव आपके पराक्रम के सहारे जीते हैं, आपके द्वारा प्राप्त अधिकार को पाकर कैसे अधिकार-हीन (याचक) की भाँति उस दैत्य को नमस्कार करें ॥१३॥ प्रभो, आप ब्रह्मा के रूप में सृष्टि करते हैं, विष्णु होकर रक्षा करते हैं, और रुद्र-शक्ति से विनाश करते हैं, फिर हम कैसे उसको नमस्कार करें ॥१४॥ इस लोक में ऐश्वर्य ही जीने का आधार है, विभवहीन जीवन से क्या लाभ, देवों के शुभेच्छु ! ऐश्वर्यहीन हम कैसे उसको नमस्कार करें ? ॥१५॥ जगत् के पालक ! आप अनादि हैं, अनन्त हैं, जगत् के एकमात्र गुरु हैं, आपके रहते हुए इस नश्वर दैत्य को गुरु मानकर हम लोग कैसे नमस्कार करें ॥१६॥ आपके ही प्रभाव से हम पुनः पराक्रमी होकर अपने पराक्रम से तीनों लोकों को जीत कर स्थिर और शान्त होंगे। सुरपालक ! आपके समान रक्षक पाकर कैसे उस दैत्य को नमस्कार करें ॥१७॥

ब्रह्मा ने कहा—देवताओं की इतनी बातें सुनकर दैत्यारि भगवान् ने कहा—॥१८॥

श्रीभगवान् बोले—यह दैत्य बलि मेरा भक्त है, और देव, दानव कोई इसे मार नहीं सकते। जिस प्रकार आप लोगों का पालन मेरा कर्त्तव्य है, उसी प्रकार बलि भी मेरा पोष्य है। फिर भी देववृन्द ! बिना युद्ध के ही उससे राज्य छीनकर मैं युक्ति से उसी की स्वीकृति से ही उसको बाँधकर स्वर्ग का राज्य तुम लोगों को दे दूँगा ॥१९-२०॥

ब्रह्मा ने कहा—'ऐसा ही हो' यह कहकर सुरगण स्वर्ग चले गये। इधर देवेश भगवान् ने भी अदिति के गर्भ में प्रवेश किया ॥२१॥ ब्रह्मन् ! यज्ञेश, यज्ञपुरुष वामन के रूप में उत्पन्न हुए उनके उत्पन्न

२क. ०श्वर्याशनाः सन्तः क०। २घ. ह्यजेयोऽसौ।

एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन्हयमेधाय दीक्षितः। बलिर्बलवतां श्रेष्ठ ऋषिमुख्यैः समाहितः ॥२३॥
पुरोधसा च शुक्रेण वेदवेदाङ्गवेदिना। मखे तस्मिन्वर्तमाने यजमाने बलौ तथा ॥२४॥
आर्त्विज्य ऋषिमुख्ये तु शुक्रे तत्र पुरोधसि। हविर्भागार्थमासन्नदेवगन्धर्वपन्नगे ॥२५॥
दीयतां भुज्यतां पूजा क्रियतां च पृथक्पृथक्। परिपूर्णं पुनः पूर्णमेवं वाक्ये प्रवर्तति ॥२६॥
शनैस्तद्देशमभ्यागाद्वामनः सामगायनः। यज्ञवाटमनुप्राप्तो [1]वामनश्चित्रकुण्डलः ॥२७॥
प्रशंसमानस्तं यज्ञं वामनं प्रेक्ष्य भार्गवः। ब्रह्मरूपधरं देवं वामनं दैत्यसूदनम् ॥२८॥
दातारं यज्ञतपसां फलं हन्तारं रक्षसाम्। ज्ञात्वा त्वरन्नथोवाच राजानं भूरितेजसम् ॥२९॥
जेतारं क्षत्रधर्मेण दातारं भक्तितो धनम्। [2]बलिं बलवतां श्रेष्ठं सभार्यं दीक्षितं मखे ॥३०॥
ध्यायन्तं यज्ञपुरुषमुत्सृजन्तं हविः पृथक्। तमाह भृगुशार्दूलः शुक्रः परमबुद्धिमान् ॥३१॥

शुक्र उवाच

योऽसौ तव मखं प्राप्तो ब्राह्मणो वामनाकृतिः। नासौ विप्रो बले सत्यं यज्ञेशो यज्ञवाहनः ॥३२॥
शिशुस्त्वां याचितुं प्राप्तो[3] नूनं देवहिताय हि। मया च सह संमन्त्र्य पश्चाद्देयं त्वया प्रभो ॥३३॥

ब्रह्मोवाच

बलिस्तु भार्गवं प्राह पुरोधसमरिंदमः ॥३४॥

होने पर बड़े-बड़े उत्सव मनाये गये ॥२२॥ ब्रह्मन् ! इसी वीच वलवानों में श्रेष्ठ वलि ने अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ले ली। उसके यज्ञ में प्रमुख-प्रमुख ऋषि सम्मिलित हुए ॥२३॥ वेद, वेदांगों के ज्ञाता शुक्र पुरोहित थे। उस यज्ञ में वलि यजमान बनकर वैठा हुआ था, ऋषि-वर शुक्र पुरोहित वने हुए थे और अपने-अपने हवि-भाग पाने के लिए देव गन्धर्व और नाग उपस्थित थे। पुरोहित शुक्र यहाँ अमुक सामग्री दो, यहाँ बलि दो, यहाँ पूजा करो इस प्रकार पृथक्-पृथक् आदेश दे रहे थे और परिपूर्ण पुनः पूर्णम्, आदि वाक्य कह रहे थे कि इतने में सामवेद का गान करते हुए हाथ में विचित्र कमण्डलु लिये हुए भगवान् वामन यज्ञ-प्रदेश में पहुँच गये और उस यज्ञ की प्रशंसा करने लगे। भार्गव शुक्र विप्रवेषधारी दैत्यारि वामन को—देखकर समझ गये कि ये यज्ञ और तप के फल देने वाले, राक्षसों के विनाशक भगवान् हैं। इसलिए परम बुद्धिमान् भृगु श्रेष्ठ शुक्र ने अत्यन्त पराक्रमी, पराक्रम से युद्ध में सवको जीतने वाले सपत्नीक यजमान वलि से, जो भक्तिपूर्वक धन का दान किया करता था और उस समय यज्ञ पुरुष का ध्यान कर पृथक् उनके निमित्त हवि देने को प्रस्तुत था, कहा—॥२४-३१॥

शुक्र ने कहा—यज्ञ स्थल में आया हुआ वामन रूप यह व्राह्मण व्राह्मण नहीं हैं, अपितु साक्षात् यज्ञपुरुष यज्ञ के स्वामी हैं। वलि ! अवश्य ही यह शिशु देवताओं की भलाई करने के लिए तुमसे याचना करने आया है। इसलिए राजन् ! मेरे साथ परामर्श करने के वाद ही इसको दान देना उचित होगा ॥३२-३३॥

ब्रह्मा ने कहा—शत्रु-सूदन वलि ने पुरोहित भार्गव से कहा ॥३४॥

---

[1] घ. ०नश्छत्र०। [2] घ. ०लिं तं० कलिहन्तारं स०। [3] क. ०प्तो यः परः परमादपि। म०।

बलिरुवाच

धन्योऽहं मम यज्ञेशो [1]गृहमायाति मूर्तिमान्। आगत्य याचते किंचित्किं[2] मन्त्र्यमवशिष्यते ॥३५॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा सभार्योऽसौ शुक्रेण च पुरोधसा। जगाम यत्र विप्रेन्द्रो वामनोऽदितिनन्दनः ॥३६॥
कृताञ्जलिपुटो [3]भूत्वा केनार्थित्वं तदुच्यताम्। वामनोऽपि तदा प्राह पदत्रयमितां भुवम् ॥३७॥
देहि राजेन्द्र नान्येन कार्यमस्ति धनेन किम्। तथेत्युक्त्वा तु कलशान्नानारत्नविभूषितात् ॥३८॥
वारिधारां पुरस्कृत्य वामनाय भुवं ददौ। पश्यत्सु ऋषिमुख्येषु शुक्रे चैव पुरोधसि ॥३९॥
पश्यत्सु [4]लोकनाथेषु वामनाय भुवं ददौ। पश्यत्सु दैत्यसंघेषु जयशब्दे प्रवर्तति ॥४०॥
शनैस्तु वामनः प्राह स्वस्ति राजन्सुखी भव। देहि मे संमितां भूमि त्रिपदामाशु गम्यते ॥४१॥
तथेत्युवाच दैत्येशो यावत्पश्यति वामनम्। यज्ञेशो यज्ञपुरुषश्चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे ॥४२॥
यथा स्यातां [5]सुरा मूर्ध्नि ववृधे विक्रमाकृतिः। अनन्तश्चाच्युतो देवो विक्रान्तो विक्रमाकृतिः[6]॥
तं दृष्ट्वा दैत्यराट् प्राह सभार्यो विनयान्वितः ॥४३॥

बलि बोले—मैं धन्य हूँ कि आज स्वयं यज्ञेश मूर्तिमान् होकर मेरे घर आये हुए हैं। यदि आकर कुछ माँगते ही हों तो इस विषय में मन्त्रणा की क्या आवश्यकता है ? ॥३५॥

ब्रह्मा ने कहा—ऐसा कहकर पुरोहित शुक्र को साथ लेकर भार्या सहित राजा बलि उस स्थान पर गया जहाँ अदितिपुत्र, ब्राह्मण-शिरोमणि वामन विराजमान थे ॥३६॥ हाथ जोड़कर बलि ने कहा कि आप किस वस्तु की इच्छा करते हैं। वामन ने कहा 'केवल तीन डग मात्र भूमि। राजेन्द्र ! केवल मुझे इतनी ही भूमि दे दो, अन्य किसी वस्तु या धन की आवश्यकता नहीं है' ॥३७½॥ 'ऐसा ही हो' यह कहकर नाना रत्नों से विभूषित कलश से जल निकाल कर ऋषियों के देखते-देखते पुरोहित शुक्र के सामने, वामन को (तत्परिमित) पृथ्वी दे दी। इस दान को लोक-पाल और दानवों का समूह भी देख रहे थे। इस अपूर्व दान को देखकर आनन्द-पुलकित हो सबने जय-ध्वनि की ॥३८-४०॥ इधर भगवान् वामन ने धीरे से कहा—'राजन्। स्वस्ति हो, तुम सुखी बनो।' मेरी अभीष्ट तीन डग पृथ्वी शीघ्र दे दो, मैं शीघ्र चला जाऊँ ॥४१॥ 'ऐसा ही हो' यह कहकर दैत्यराज ज्योंही वामन को देखता है त्योंही यज्ञेश, यज्ञपुरुष का इतना विराट् रूप दिखायी दिया कि चन्द्र और सूर्य उसके वक्षःस्थल पर दिखायी देने लगे ॥४२॥ वे अनन्त अच्युत देव इतने बड़े विशाल दिखायी पड़े कि सुरगण भी उनके मस्तक में दिखायी पड़ने लगे। तव भार्या के सहित, विनय से नम्र दैत्यराज ने कहा—॥४३॥

---

[1] क. ०मागत्य यत्परः। आ०। [2] क. ०चित्किमन्यदव०। [3] घ. ०त्वा मम कृत्यं तु तद्वद्। वां०। [4] घ. लोकपालेषु। [5] क. सुरेशानौ व०। [6] घ. विक्रमाश्रयः।

बलिरुवाच

क्रमस्व विष्णो लोकेश यावच्छक्त्या (क्ति) जगन्मय । जितं मया सुरेशान सर्वभावेन विश्वकृत् ।।४४।।

ब्रह्मोवाच

तद्वाक्यसमकालं तु विष्णुः प्राह महाक्रतुः ।।४५।।

विष्णुरुवाच

दैत्येश्वर महाबाहो क्रमिष्ये पश्य दैत्यराट् ।।४६।।

ब्रह्मोवाच

एवं वदन्तं स प्राह क्रम विष्णो पुनः पुनः ।।४७।।

ब्रह्मोवाच

कूर्मपृष्ठे पदं न्यस्य बलियज्ञे पदं न्यसत् । द्वितीयं तु पदं प्राप ब्रह्मलोकं सनातनम् ।।४८।।
तृतीयस्य [1]पदस्यात्र स्थानं नास्त्यसुरेश्वर । क्व क्रमिष्ये भुवं देहि बलिं तं हरिरब्रवीत् ।।
विहस्य बलिरप्याह सभार्यः स कृताञ्जलिः ।।४९।।

बलिरुवाच

त्वया सृष्टं [2]जगत्सर्वं न स्रष्टाऽहं सुरेश्वर । त्वद्दोषादल्पमभवत्किं करोमि जगन्मय ।।५०।।

बलि ने कहा—लोक-स्वामिन् ! व्यापक ! विष्णो ! अपनी शक्ति के अनुसार नाप लो। सुरस्वामिन् ! विश्व के रचयिता ! मैंने सब प्रकार से संसार को जीत लिया है, नाप लीजिये ।।४४।।

ब्रह्मा ने कहा—उसके वाक्य के साथ ही महायज्ञपुरुष विष्णु ने कहा—।।४५।।

विष्णु बोले—महाबाहो ! दैत्यपते ! देखो, मैं डग उठा रहा हूँ । दैत्यराज ! देखो ।।४६।।

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार की विष्णु की बातें सुनकर बलि ने कहा—विष्णो ! यथारुचि अलग-अलग नाप लो ।।४७।।

ब्रह्मा ने कहा—भगवान् ने भी एक चरण कूर्म की पीठ पर रखकर दूसरा चरण बलि के यज्ञ में रख दिया और दूसरा डग सनातन ब्रह्मलोक पर्यन्त पहुँच गया । पुनः भगवान् ने बलि से कहा—'असुरेश्वर ! तीसरे डग के लिए अब स्थान नहीं है तो कहाँ अपना तृतीय चरण रखूँ । (अब तृतीय डग के लिए) पृथ्वी दो ।' हँसकर अपनी भार्या के सहित बलि ने हाथ जोड़कर कहा—।।४८-४९।।

बलि बोले—सुरेश्वर ! तुमने सम्पूर्ण संसार को बनाया है, मैंने नहीं । (अतएव) तुम्हारे दोष से कमी

---

[1] क. पदं स्थानं नैवास्ति द्विजसत्तम । क्व । [2] क. ०र्वं तावदेव सु० ।

तथाऽपि नानृतपूर्वं कदाचिद्वच्मि केशव । सत्यवाक्यं च मां कुर्वन्मत्पृष्ठे हि पदं न्यस ।।५१।।

ब्रह्मोवाच

ततः प्रसन्नो भगवांस्त्रयीमूर्तिः सुरार्चितः ।।५२।।

भगवानुवाच

वरं वृणीष्व भद्रं ते भक्त्या प्रीतोऽस्मि दैत्यराट् ।।५३।।

ब्रह्मोवाच

स तु प्राह जगन्नाथं न याचे त्वां त्रिविक्रमम् । स तु प्रादात्स्वयं विष्णुः प्रीतः सन्मनसेप्सितम् ।।५४।।
रसातलपतित्वं च भावि चेन्द्रपदं पुनः । आत्माधिपत्यं च हरिरविनाशि यशो विभुः ।।५५।।
एवं दत्त्वा बलेः सर्वं ससुतं भार्ययाऽन्वितम् । रसातले हरिः स्थाप्य बलिं त्वमरवैरिणम् ।।५६।।
शतक्रतोस्तथा प्रादात्सुरराज्यं यथाभवम् । एतस्मिन्नन्तरे तत्र पदं प्रागात्सुरार्चितम् ।।५७।।
द्वितीयं तत्पदं विष्णोः पितुर्मम महामते । यत्पदं समनुप्राप्तं गृहं दृष्ट्वाऽप्यचिन्तयम् ।।५८।।
किं कृत्यं यच्छुभं मे स्यात्पदे विष्णोः समागते । सर्वस्वं च समालोक्य श्रेष्ठो मे स्यात्कमण्डलुः ।।५९।।
तद्वारि यत्पुण्यतमं दत्तं च त्रिपुरारिणा । वरं वरेण्यं वरदं वरं शान्तिकरं परम् ।।६०।।
शुभं च शुभदं नित्यं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् । मातृस्वरूपं लोकानाममृतं भेषजं शुचि ।।६१।।

हो गयी, जगन्मय ! मैं क्या करूँ। फिर भी हे केशव ! मैं कभी भी असत्य नहीं कहता हूँ । इसलिए मेरे सत्य की रक्षा के लिएं मेरी पीठ पर अपना चरण रखिये ।।५०-५१।।

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर तीन मूर्ति वाले प्रसन्न भगवान् देवताओं द्वारा पूजे गये।

भगवान् ने कहा—'तुम वर माँगो तुम्हारा कल्याण होगा, दैत्यराज ! तुम्हारी भक्ति से मैं प्रसन्न हूँ' ।।५१-५३।।

ब्रह्मा ने कहा—राजा बलि ने कहा कि मैं तीन डगों से सम्पूर्ण लोक को नापने वाले तुम जगत्पति से कुछ नहीं मागूँगा। परन्तु भगवान् ने प्रसन्न होकर स्वयं उसको अपनी इच्छा के अनुसार वर दिया कि "तुम सम्प्रति रसातल के स्वामी बनो और भविष्य में इन्द्र की पदवी तुम्हें मिलेगी, तुम्हारी अक्षय कीर्ति लोक में फैलेगी और तुम्हारा एकमात्र आधिपत्य रहेगा ।।५४-५५।। इस प्रकार जगद्व्यापी भगवान् हरि ने पुत्र और भार्या के सहित बलि को सब कुछ देकर उस देव-शत्रु (बलि) को परिवार सहित रसातल में भेज दिया और इन्द्र को पूर्व की भाँति स्वर्ग का राज्य दे दिया ।।५६।। महामते ! इसी बीच जवकि भगवान् दूसरे चरण से नापने का प्रयत्न कर रहे थे तव वह देवों से पूजित द्वितीय चरण मेरे लोक में आया। मैं अपने पिता के चरण को अपने घर में आया देखकर सोचने लगा कि मेरे घर आये इस चरण की क्या सेवा करूँ कि मेरा शुभ हो। इस विचार से मैं सव कुछ देखने लगा तव तक ध्यान में आया कि यह मेरा कमण्डलु ही इस कार्य के लिए श्रेष्ठ है। इसमें त्रिपुरारि शंकर का दिया हुआ वह जल है जो पावन, वर देने वाला, श्रेष्ठ, अत्यन्त शान्तिप्रद, शुभ, शुभ देनेवाला, सर्वदा मुक्ति और भुक्ति देने वाला, माता के समान लोकपालक, अमृत, रोगनाशक, पवित्र, पूज्य, सर्वोत्तम और उत्तम गुणों से युक्त है। जिसके स्मरण मात्र से

पवित्रं पावनं पूज्यं[१] ज्येष्ठं श्रेष्ठं गुणान्वितम् । स्मरणादेव लोकानां पावनं किं नु दर्शनात् ।।६२।।
तादृग्वारि शुचिर्भूत्वा कल्पयेऽर्घाय मे पितुः । इति संचिन्त्य तद्वारि गृहीत्वाऽर्घाय कल्पितम् ।।६३।।
विष्णोः पादे तु पतितमर्घवारि सुमन्त्रितम् । तद्वारि पतितं मेरौ चतुर्धा व्यगमद्भुवम् ।।६४।।
पूर्वे तु दक्षिणे चैव पश्चिमे चोत्तरे तथा । दक्षिणे पतितं यत्तु जटाभिः शंकरो मुने ।।६५।।
जग्राह पश्चिमे यत्तु पुनः प्रायात्कमण्डुलम् । उत्तरे यत्तु पतितं विष्णुर्जग्राह तज्जलम् ।।६६।।
पूर्वस्मिन्नृषयो देवा पितरो लोकपालकाः । जगृहुः शुभदं वारि तस्माच्छ्रेष्ठं तदुच्यते ।।६७।।
या दक्षिणां दिशं प्राप्ता आपो वै लोकमातरः । विष्णुपादप्रसूतास्ता[२] ब्रह्मण्या लोकमातरः ।।६८।।
महेश्वरजटासंस्थाः[३] पर्वजातशुभोदयाः । तासां प्रभावस्मरणात्सर्वकामानवाप्नुयात् ।।६९।।

इति श्रीमहापुराणे ब्राह्मे स्वयंम्भ्वृषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये गंगाया महेश्वरजटागमन-निरूपणं नाम त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ।।७३।।

गौतमीमाहात्म्ये चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

प्राणी पवित्र हो जाते हैं, दर्शन के विषय में तो कहना ही क्या ? तो आज इस पवित्र जल से, स्वयं पवित्र होकर अपने पिता को अर्घ प्रदान करूँ, ऐसा सोचकर उस जल को लेकर अर्घ देने को प्रस्तुत हुआ ।।५७-६३।। जव मन्त्र से अभिमन्त्रित कर उस अर्घ-जल को विष्णु के चरण पर गिराया तो वह जल वहाँ से मेरु पर्वत पर गिर कर चार भागों में बँट कर पृथ्वी पर कुछ पूर्व, कुछ पश्चिम, कुछ उत्तर और कुछ दक्षिण की ओर गिर पड़ा ।।६४$\frac{१}{२}$।। जो जलधारा दक्षिण की ओर गिरी उसको, हे मुने, शंकर ने अपनी जटा में धारण कर लिया । पश्चिम की ओर गिरा जल मेरे कमण्डलु में आया । उत्तर दिशा में जो गिरा उसको विष्णु ने ले लिया और जो पूर्व की ओर गिरा, उस मंगलप्रद जल को ऋषि, देव, पितर और लोकपालों ने ले लिया । इस प्रकार विष्णु को अर्घ के रूप में दिया गया वह जल और अधिक पवित्र हो गया । जो जल दक्षिण दिशा में गया वह विष्णु-चरण से निकला हुआ, लोक-माता और ब्रह्म-संबंधी है । जिसको पवित्र जानकर स्वयं महेश्वर ने अपनी जटा में स्थापित किया, और जिसका पर्ववेला में उदय (उत्पत्ति) हुआ है । इसलिए ऐसे जल में जल की महिमा का स्मरण करने से मनुष्य सव मनोरथों को प्राप्त करता है ।।६५-६९।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में तीर्थ-माहात्म्य-प्रकरण में गंगा का महेश्वर की जटा में आगमन-निरूपण नामक तिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ।।७३।।

---

[१] क. ज्यं श्रेष्ठं श्रेष्ठशुभावहम् । [२] घ. ०स्ता ब्राह्म्यो वै लो० । [३] घ. ० संस्थाः एवं जाताः शु० ।

अथ चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

गङ्गाया द्वैरूप्यकथनम्

नारद उवाच

कमण्डलुस्थिता देवी महेश्वरजटागता । श्रुता देव यथा मर्त्यमागता तद्ब्रवीतु मे ॥१॥

ब्रह्मोवाच

महेश्वरजटास्था या आपो देव्यो महामते । तासां च द्विविधो भेद आहर्तृद्वयकारणात् ॥२॥
एकांशो [1]ब्राह्मणेनात्र व्रतदानसमाधिना । गौतमेन शिवं पूज्य आहृतो लोकविश्रुतः ॥३॥
अपरस्तु महाप्राज्ञ क्षत्रियेण बलीयसा । आराध्य शंकरं देवं तपोभिर्नियमैस्तथा ॥४॥
भगीरथेन भूपेन आहृतोंऽशोऽपरस्तथा । एवं द्वैरूप्यमभवद्गङ्गाया[2] मुनिसत्तम ॥५॥

नारद उवाच

महेश्वरजटास्था या हेतुना केन गौतमः । आहर्ता क्षत्रियेणापि आहृता केन तद्वद ॥६॥

ब्रह्मोवाच

यथाऽऽनीता पुरा वत्स ब्राह्मणेनेतरेण वा । तत्सर्वं विस्तरेणाहं वदिष्ये प्रीतये तव ॥७॥

अध्याय ७४

गंगा के दो भेदों का कथन

नारद ने कहा—कमण्डलु में रहने वाली देवी जिस प्रकार महेश्वर की जटा में आयीं, उसको तो मैंने सुना। अब जिस प्रकार वे मर्त्यलोक में आयीं, उसको सुनाइये ॥१॥

ब्रह्मा बोले—महामते ! महेश्वर की जटा में रहनेवाली जल-देवी को पृथ्वी पर लाने वाले दो व्यक्ति थे, इसलिए उसके दो भेद हो गये। एक अंश को गौतम नामक ब्राह्मण व्रत, दान और समाधि से शंकर की पूजाकर पृथ्वी पर लाया, यह लोक में प्रसिद्ध है। महाभाग ! दूसरे अंश को बलवान् भगीरथ नामक क्षत्रिय राजा तप और नियम से शंकर को प्रसन्न करके ले आया। मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार गंगा के दो भेद हो गये ॥२-५॥

नारद ने कहा—महेश्वर की जटा में रहने वाली गंगा के एक अंश को किस कारण गौतम और दूसरे अंश को किस कारण क्षत्रिय (यहाँ) लाये, सो बतलाइये ॥६॥

ब्रह्मा ने कहा—पूर्वकाल में जिस कारण ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय गंगा को पृथ्वी पर लाये, इन सब बातों

---

१ घ. ०णेनेज्यो ब्र० । २ क. ०ङ्गायां गां गता यतः । ना० ।

यस्मिन्काले सुरेशस्य उमा पत्न्यभवत्प्रिया । तस्मिन्नेवाभवद्गङ्गा प्रिया शंभोर्महामते ॥८॥
मम दोषापनोदाय चिन्तयानः शिवस्तदा । उमया सहितः श्रीमान्देवीं प्रेक्ष्य विशेषतः ॥९॥
रसवृत्तौ स्थितो यस्मान्निर्ममे रसमुत्तमम् । रसिकत्वात्प्रियत्वाच्च स्त्रैणत्वात्पावनत्वतः ॥१०॥
सर्वाभ्यो ह्यधिकप्रीतिर्गङ्गाऽभूद्द्विजसत्तम[1] । तामेव चिन्तयानोऽसौ सर्वदाऽऽस्ते महेश्वरः ॥११॥
सैवोद्भूता जटामार्गात्कस्मिंश्चित्कारणान्तरे । स तु संगोपयामास गङ्गां शंभुर्जटागताम् ॥१२॥
शिरसा च धृतां ज्ञात्वा न शशाक उमा तदा । सोढुं ब्रह्मञ्जटाजूटे स्थितां दृष्ट्वा पुनः पुनः[2] ॥१३॥
अमर्षेण भवं गौरी प्रेरयस्वेत्यभाषत । नैवासौ प्रैरयच्छंभू रसिको रसमुत्तमम् ॥१४॥
जटास्वेव तदा देवीं गोपायन्तं विमृश्य सा । विनायकं जयां स्कन्दं रहो वचनमब्रवीत् ॥१५॥
नैवायं त्रिदशेशानो गङ्गां त्यजति कामुकः । साऽपि प्रिया शिवस्याद्य कथं त्यजति तां प्रियाम् ॥१६॥
एवं विमृश्य बहुशो गौरी चाऽऽह विनायकम् ॥१७॥

पार्वत्युवाच

न देवैर्नासुरैर्यक्षैर्न[3] सिद्धैर्भवताऽपि च । न राजभिरथान्यैर्वा न गङ्गां त्यजति प्रभुः ॥१८॥
पुनस्तप्स्यामि वा गत्वा हिमवन्तं नगोत्तमम् । अथवा ब्राह्मणैः पुण्यैस्तपोभिर्हतकल्मषैः ॥१९॥

को मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए विस्तारपूर्वक कह रहा हूँ ॥७॥ महामते ! जिस समय उमा शंकर की पत्नी हुईं, उसी समय गंगा भी शंभु की प्रिय पत्नी हुईं ॥८॥ उस समय मेरे दोष को दूर करने के लिए पार्वती सहित शंकर ने चिन्तन करते हुए विशेष रूप से देवी को देखा। उस समय रसभाव में रहने के कारण उन्होंने उत्तम रस (शृंगार) का निर्माण किया। द्विजवर ! रसिक, प्रिय, स्त्रीभक्त (माया-भक्त) तथा लोकपावन होनें के कारण शंकर की सवसे अधिक प्रीति गंगा में हो गयी। महेश्वर दिन-रात उसी गंगा के ध्यान में मग्न रहने लगे ॥९-१०॥ वही गंगा किसी अन्य कारण जटा-मार्ग से प्रकट हुईं। शंकर जी ने जटा में आयी हुई गंगा को छिपा लिया ॥११-१२॥ ब्रह्मन् ! उस समय उमा गंगा को सिर पर प्रतिष्ठित देखकर इस वात को सह न सकीं। जटाजूट में स्थित गंगा को बार-बार देखकर गौरी ने क्रोध से गंगा को हटा देने के लिए शंकर से कहा। किन्तु रसिक-शिरोमणि शंकर ने उत्तम रस देनेवाली गंगा को नहीं हटाया। गौरी ने फिर भी गंगा को जटा में ही छिपाते देखकर विनायक, स्कन्द और जया से एकान्त में कहा, कि यह देवों के स्वामी, कामी शिव गंगा को नहीं छोड़ रहे हैं, वह इनकी प्रिया भी इनको नहीं छोड़ रही है, तो ये किस प्रकार गंगा को छोड़ सकते हैं ? ऐसा कहने के वाद सोच-विचारकर गौरी ने गणेश से कहा ॥१३-१७॥

पार्वती बोलीं—ये शंकर देवों, असुरों, यक्षों, सिद्धों, राजाओं, तुम्हारे अथवा अन्य किसी के कहने से गंगा को नहीं छोड़ रहे हैं। इसलिए या तो मैं इस कार्य के लिए पुनः नगाधिराज हिमालय पर जाकर स्वयं तपस्या करूँगी

---

[1] क. ०म। आत्मनो मस्तके गङ्गा जानात्येव उपैति वै। गङ्गां जगद्गुरुर्देवः कस्मि०। [2] क. ०नः। उमा तदाऽवदद्दुःखादनाथाऽस्मीति वै तदा। ज०। [3] घ. ०र्न मर्त्यैर्भ०।

तैर्वा जटास्थिता गङ्गा प्रार्थिता भुवमाप्नुयात् ।।२०।।

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा मातृवाक्यं मातरं प्राह विघ्नराट् । भ्रात्रा स्कन्देन जयया संमन्त्र्येह [१]च युज्यते ।।२१।।
तत्कुर्मो मस्तकाद्गङ्गां तथा त्यजति मे पिता । एतस्मिन्नन्तरे ब्राह्मन्ननावृष्टिरजायत ।।२२।।
द्विर्द्वादश समा मर्त्ये सर्वप्राणिभयावहा । ततो विनष्टमभवज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।।२३।।
विना तु गौतमं पुण्यमाश्रमं सर्वकामदम् । स्रष्टुकामः पुरा पुत्र स्थावरं जङ्गमं तथा ।।२४।।
कृतो यज्ञो मया पूर्वं स देवयजनो गिरिः । मन्नामा तत्र विख्यातस्ततो ब्रह्मगिरिः सदा ।।२५।।
तमाश्रित्य नगश्रेष्ठं सर्वदाऽऽस्ते स गौतमः । तस्याऽऽश्रमे महापुण्ये श्रेष्ठे ब्रह्मगिरौ शुभे ।।२६।।
आधयो व्याधयो वाऽपि दुर्भिक्षं वाऽप्यवर्षणम् । भयशोकौ च दारिद्र्यं न श्रूयन्ते कदाचन् ।।२७।।
तदाश्रमं विनाऽन्यत्र हव्यं वा कव्यमेव वा । नास्ति पुत्र तथा दाता होता यष्टा तथैव च ।।२८।।
यदैव गौतमो विप्रो ददाति च जुहोति च । तदैवाप्ययनं स्वर्गे सुराणामपि नान्यतः ।।२९।।
देवलोकेऽपि मर्त्ये वा श्रूयते गौतमो मुनिः[२] । होता दाता च भोक्ता च स एवेति जना विदुः ।।३०।।
तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे नानाश्रमनिवासिनः । गौतमाश्रममापृच्छन्नागच्छन्तस्तपोधनाः ।।३१।।

अथवा तपस्या द्वारा निष्पाप एवं पवित्र ब्राह्मण की प्रार्थना से प्रसन्न होकर गंगा पृथ्वी पर जाय, ऐसा कोई प्रयत्न करना चाहिये ।।१८-२०।।

ब्रह्मा ने कहा—माता की इन बातों को सुनकर विघ्नराज विनायक ने कहा कि भाई स्कन्द और जया से इसके लिए परामर्श करना ठीक होगा। इनके परामर्श से मैं वही प्रयत्न करूँगा जिससे कि मेरे पिता गंगा को मस्तक से हटा सकें ।।२१$\frac{१}{३}$।। ब्रह्मन्! इसी बीच समस्त प्राणियों को त्रस्त करने वाला बारह वर्ष का अकाल पड़ गया। सारा स्थावर जगमात्मक संसार विनष्टप्राय हो गया, केवल सब मनोरथों को देने वाला गौतम का आश्रम ही शेष रहा । पुत्र! इसका कारण यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल में जब स्थावर (अचल), जंगम (चल) की सृष्टि की इच्छा मेरे मन में उत्पन्न हुई तब उसी देवयजन गिरि पर मैंने यज्ञ किया था। तभी से सर्वदा के लिए वह पहाड़ मेरे नाम से प्रसिद्ध हो गया ।।२२-२५।। वह गौतम उसी श्रेष्ठ पर्वत पर अपना आश्रम बनाकर सदा रहता है। उस पवित्र ब्रह्मगिरि पर बने अतिपवित्र शुभ आश्रम में रोग, मानसिक चिन्ता, दुर्भिक्ष, सूखा, भय, शोक और दरिद्रता आदि कभी भी नहीं सुने गये हैं ।।२६-२७।। पुत्र! उस आश्रम को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी हव्य, कव्य (पितरों को दिया जाने वाला अन्न), दाता, होता और यज्ञकर्त्ता नहीं थे ।।२८।। जब भी विप्र गौतम, पितरों को अन्न देते या हवन करते थे, तभी स्वर्ग में देवताओं को भी तृप्ति मिलती थी। अन्य किसी प्रकार से नहीं ।।२९।। देव या मृत्युलोक में गौतम ऋषि की ही प्रसिद्धि थी। सभी यही जानते थे कि हवन करनें वाले, दान देने वाले और सुख भोगने वाले केवल गौतम ऋषि ही हैं। इस चर्चा को

---

१ क. च पूज्य च । त० । २ क. ०निः । स एव दाता भो० ।

तेषां मुनीनां सर्वेषामागतानां स गौतमः । शिष्यवत्पुत्रवद्‌भक्त्या पितृवत्पोषकोऽभवत् ॥३२॥
यस्य (तेषां) यथेप्सितं कामं यथायोग्यं यथाक्रमम् । यथानुरूपं सर्वेषां शुश्रूषामकरोन्मुनिः ॥३३॥
आज्ञया गौतमस्याऽऽसन्नोषध्यो लोकमातरः । आराधिताः [1]पुनस्तेन ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥३४॥
जायन्ते च तदौषध्यो [2]लूयन्ते च तदैव [3]हि । संपत्स्यन्ते तदोप्यन्ते गौतमस्य तपोबलात् ॥३५॥
सर्वाः समृद्धयस्तस्य संसिध्यन्ते मनोगताः । प्रत्यहं वक्ति विनयाद्‌गौतमस्त्वागतान्मुनीन् ॥३६॥
पुत्रवच्छिष्यवच्चैव प्रेष्यवत्करवाणि किम् । पितृवत्पोषयामास संवत्सरगणान्बहून् ॥३७॥
एवं वसत्सु मुनिषु त्रैलोक्ये ख्यातिराश्रयात् । ततो विनायकः प्राह मातरं भ्रातरं जयाम् ॥३८॥

विनायक उवाच

देवानां सदने मातर्गीयते गौतमो द्विजः । यन्न साध्यं सुरगणैर्गौतमः कृतवानिति ॥३९॥
एवं श्रुतं मया देवि ब्राह्मणस्य तपोबलम् । स विप्रश्चालयेदेनां मातर्गङ्गां जटागताम् ॥४०॥
तपसा वाऽन्यतो वाऽपि पूजयित्वा त्रिलोचनम् । स एव च्यावयेदेनां जटास्थां मे पितृप्रियाम् ॥४१॥
तत्र नीतिर्विधातव्या तां विप्रो याचयेद्यथा । तत्प्रभावात्सरिच्छ्रेष्ठा शिरसोऽवतरत्यपि ॥४२॥

सुनकर अनेक आश्रमों के रहने वाले ऋषि, मुनि गौतम के आश्रम को पूछते हुए आने लगे । ऋषि ने भी उन आगत सभी मुनियों की योग्यतानुसार किसी का शिष्य के समान, किसी का भक्ति-नम्र पुत्र के समान और किसी का पिता के समान आदर और पालन-पोषण किया ॥३०-३२॥ जिसकी जैसी इच्छा थी उसी के अनुसार यथायोग्य मुनि ने सेवा-सत्कार किया । गौतम की इस अतिथि-सेवा और तपस्या से ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी अत्यन्त प्रसन्न हो गये ॥३३-३४॥ उनकी आज्ञा से लोक का भरण-पोषण करने वाली मातृस्वरूप ओषधियाँ थोड़ी ही देर में बढ़ जाती थीं और पुनः काट भी ली जाती थीं । ऋषि के तपः प्रभाव से बोते-ही-बोते पक कर तैयार भी हो जाती थीं ॥३५॥ इस प्रकार सर्वदा उस अतिथि-सेवी गौतम ऋषि को मनोवाञ्छित वैभव प्राप्त हो जाते थे । प्रतिदिन वे ऋषि आश्रम में आये हुए अतिथियों से विनयपूर्वक कहा करते थे कि पुत्र के समान, शिष्य के समान मुझको आज्ञा दीजिये कि मैं आप लोगों की कौन-सी सेवा करूँ ॥३६-३७॥ इस प्रकार अनेक वर्षों तक पिता के समान ऋषि ने आश्रमों से आये अतिथियों का पालन किया और इस प्रकार वहाँ मुनियों के निवास करने से गौतम ऋषि की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गयी ॥३८॥ गौतम की इस कीर्ति को सुनकर गणेश ने अपनी माता, भाई और जया से कहा ।

गणेश बोले—माता ! स्वर्ग में गौतम का बड़ा गुण-गान हो रहा है। सभी कहते हैं कि इन्होंने वह कार्य कर दिखाया जो देवताओं से भी नहीं हो सकता था। इस प्रकार मैंने ब्राह्मण गौतम के तपोबल को सुना है। वह विप्र निश्चय ही जटा में छिपी रहने वाली गंगा को वहाँ से हटा देगा। तपस्या या अन्य किसी प्रकार से वह त्रिनेत्र शंकर को प्रसन्न कर अवश्य ही पिता की प्यारी गंगा को जटा से च्युत कर देगा। इस विषय में कोई ऐसा उपाय होना चाहिए कि गौतम गंगा की याचना करे। उसके प्रभाव से गंगा (शिव के) सिर से उतर सकती है ॥३९-४२॥

---

[1] घ. पुरातेन । [2] घ. सूयन्ते । [3] क. हि । तं कल्पन्ते ।

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा मातरं भ्रात्रा जयया सह विघ्नराट् । जगाम गौतमो यत्र ब्रह्मसूत्रधरः कृशः ॥४३॥
वसन्कतिपयाहःसु गौतमाश्रममण्डले । उवाच ब्राह्मणान्सर्वांस्तत्र तत्र च विघ्नराट् ॥४४॥
गच्छामः स्वमधिष्ठानमाश्रमाणि शुचीनि च । पुष्टाः स्म गौतमान्नेन पृच्छामो गौतमं मुनिम् ॥४५॥
इति संमन्त्र्य पृच्छन्ति मुनयो मुनिसत्तमाः । स तान्निवारयामास स्नेहबुद्ध्या मुनीन्पृथक् ॥४६॥

गौतम उवाच

कृताञ्जलिः सविनयमासध्वमिह चैव हि । युष्मच्चरणशुश्रूषां करोमि मुनिपुंगवाः ॥४७॥
शुश्रूषौ पुत्रवन्नित्यं मयि तिष्ठति नोचितम् । भवतां भूमिदेवानामाश्रमान्तरसेवनम् ॥४८॥
इदमेवाऽऽश्रमं पुण्यं सर्वेषामिति मे मतिः । अलमन्येन मुनय आश्रमेण गतेन वा ॥४९॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा [1]मुनिर्वाक्यं विघ्नकृत्यमनुस्मरन् । उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा ब्राह्मणान्स गणाधिपः ॥५०॥

गणाधिप उवाच

अन्नक्रीता वयं किं नो[2] निवारयत गौतमः । साम्नां[3] नैव वयं शक्ता गन्तुं स्वं स्वं[4] निवेशनम् ॥५१॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार माता से कहकर विघ्नराज विनायक भाई स्कन्द और जया के साथ उस स्थान पर पहुँचे जहाँ यज्ञोपवीतधारी दुबले-पतले गौतम थे। कुछ दिनों तक गौतम के आश्रम में रहने के बाद विघ्नराज ने वहाँ के सब ब्राह्मणों से कहा—'हम लोग गौतम के अन्न को खाकर स्वस्थ और पुष्ट हो गये हैं, अब अपने-अपने घरों, पवित्र आश्रमों को चलना चाहिये, इसके लिए मुनि गौतम से पूछ लेना चाहिये।' इस प्रकार परामर्श कर उन श्रेष्ठ मुनियों ने गौतम से पूछा। उनके इस प्रकार के प्रस्ताव को सनुकर मुनि ने बड़े स्नेहपूर्वक उन मुनियों को जाने से रोका ॥४३-४६॥

गौतम ने कहा—मुनिपुंगव ! मैं हाथ जोड़कर, विनयपूर्वक आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग मेरे आश्रम में रहें। आप लोगों की और अधिक चरण-सेवा करना चाहता हूँ। क्योंकि अभी इस क्षुद्र सेवा से मुझे संतोष नहीं है। पुत्र के समान सेवा करने की इच्छा रखने वाले गौतम के रहते आप भूदेवों का दूसरे आश्रम को जाना ठीक नहीं है। मेरा विचार है कि यह पवित्र आश्रम ही आप लोगों के रहने के लिए र्स्वथा उचित है। मुनिवृन्द ! आप लोगों का अन्य आश्रमों में जाना मेरी दृष्टि से उचित नहीं ॥४७-४९॥

ब्रह्मा ने कहा—मुनि की बातों को सुनकर बाधा डालने वाले कार्यों का स्मरण करते हुए गणपति ने हाथ जोड़कर ब्राह्मणों से कहा ॥५०॥

गणपति बोले—क्या हम लोग अन्न से खरीद लिये गये हैं कि गौतम हमको घर जाने से रोक रहे हैं ?

---

[1] घ. क्यं दिव्यकृ० । [2] क. तु । [3] क. शप्तुं । [4] क. वा ।

नायमर्हति दण्डं वा उपकारी द्विजोत्तमः । तस्माद्बुद्ध्या व्यवस्यामि तत्सर्वैरनुमन्यताम् ॥५२॥

ब्रह्मोवाच

ततः सर्वे द्विजश्रेष्ठाः क्रियतामित्यनुब्रुवन् । एतस्य तूपकाराय लोकानां हितकाम्यया ॥५३॥
ब्राह्मणानां च सर्वेषां श्रेयो यत्स्यात्तथा कुरु । ब्राह्मणानां वचः श्रुत्वा मेने वाक्यं गणाधिपः ॥५४॥

विनायक उवाच

क्रियते गुणरूपं यद्गौतमस्तु विशेषतः ॥५५॥

ब्रह्मोवाच

अनुमान्य द्विजान्सर्वान्पुनः पुनरुदारधीः । स्वयं च ब्राह्मणो भूत्वा प्रणम्य ब्राह्मणान्पुनः ॥
मातुर्मते स्थितो विद्वाञ्जयां प्राह गणेश्वरः ॥५६॥

विनायक उवाच

यथा नान्यो विजानीते तथा कुरु शुभानने । गोरूपधारिणी गच्छ गौतमो यत्र तिष्ठति ॥५७॥
शालीन्खाद विनाश्याथ विकारं कुरु भामिनि[1] । कृते प्रहारे[2] हुंकारे प्रेक्षिते चापि किंचन ॥
पत दीनं स्वनं कृत्वा न म्रियस्व न जीव च ॥५८॥

शान्त (सीधे) उपाय से हम अपने-अपने घर को जाने में सर्वथा समर्थ नहीं हैं, परन्तु इस उपकारी ब्राह्मण को कोई दण्ड देना भी उचित नहीं है। इसलिए मैं चतुराई से एक नयी युक्ति कर रहा हूँ। आप सभी इसका समर्थन करें ॥५१-५२॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके उपरान्त उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने कहा—'ठीक है, ऐसा ही कीजिये। लोक-हित की दृष्टि से इस ऋषि के उपकार एवं हम सभी ब्राह्मणों के कल्याण की दृष्टि से जो कुछ आपको श्रेयस्कर जान पड़े वैसा ही करें।' गणनायक ने ब्राह्मणों की स्वीकृति सुनकर उनके वचनों की सराहना की। पुनः कहा कि जो गौतम के गुण और प्रतिष्ठा के अनुरूप हो विशेष रूप से उसी कार्य को करना चाहिए ॥५३-५५॥

ब्रह्मा बोले—बार-बार उन सभी ब्राह्मणों को सान्त्वना देकर और उनका समर्थन प्राप्त कर उदार बुद्धि गणेश जी ने स्वयं ब्राह्मण का रूप धारण किया और पुनः ब्राह्मणों को प्रणाम किया। अपनी माता की भी स्वीकृति लेकर विद्वान् गणेश ने जया से कहा ॥५६॥

विनायक बोले—मंगलमुखी ! जिसको दूसरे न जान सकें इस रूप से कार्य करो। तुम गौ का रूप धारण कर जहाँ गौतम हैं वहाँ जाओ। भामिनि ! वहाँ जाकर चावल खाने लगो अथवा उसको पैरों से कुचलकर नष्ट कर दो। इसको देखकर यदि गौतम मारें या हुंकार के साथ तुम्हारी ओर देखें, तो तुरन्त वहीं आर्तनाद कर गिर जाओ। न तो मरना न तो जीना ही, अचेत हो पड़ जाना ॥५७-५८॥

---

[1] घ. ०नि। दत्ते प्र०। [2] घ. हारवचने प्रक्षिप्ते वाऽपि।

ब्रह्मोवाच

तथा चकार विजया विघ्नेश्वरमते स्थिता । यत्राऽऽसीद्गौतमो विप्रो जया गोरूपधारिणी ॥५९॥
जगाम शालीन्खादन्ती तां ददर्श स गौतमः । गां दृष्ट्वा विकृतां विप्रस्तां तृणेन न्यवारयत् ॥६०॥
निवार्यमाणा सा तेन स्वनं कृत्वा पपात गौः । तस्यां तु पतितायां च हाहाकारो महानभूत् ॥६१॥
स्वनं श्रुत्वा च दृष्ट्वा च गौतमस्य विचेष्टितम् । व्यथिता ब्राह्मणाः प्राहुर्विघ्नराजपुरस्कृताः ॥६२॥

ब्राह्मणा ऊचुः

इतो गच्छामहे सर्वे न स्थातव्यं तवाऽऽश्रमे । पुत्रवत्पोषिताः सर्वे पृष्टोऽसि मुनिपुंगव ॥६३॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा मुनिर्वाक्यं विप्राणां गच्छतां तदा । वज्राहत इवाऽऽसीत्स विप्राणां पुरतोऽपतत् ॥६४॥
तमूचुर्ब्राह्मणाः सर्वे पश्येमां पतितां भुवि । रुद्राणां मातरं देवीं जगतां पावनीं प्रियाम् ॥६५॥
तीर्थदेवस्वरूपिण्यामस्यां गवि विधेर्बलात् । पतितायां मुनिश्रेष्ठ गन्तव्यमवशिष्यते ॥६६॥
चीर्णं[1] व्रतं क्षयं याति यथा वासस्त्वदाश्रमे । वयं नान्यधना ब्रह्मन्केवलं तु तपोधनाः ॥६७॥

ब्रह्मा बोले—विघ्नराज के मत को मान कर जया ने वैसा ही किया । वह जया गौ रूप धारण कर वहाँ गयी जहाँ विप्र गौतम विराजमान थे । वह जाकर चावल खाने लगी । गौतम ने चावल खाती हुई उस गाय को देखा, और उसे दुर्बल जानकर एक तिनके से उसको हाँकने लगे । उसको गौतम हाँक रहे थे कि वह निर्बल गौ करुणाजनक क्रन्दन कर गिर पड़ी । उसके गिर जाने पर वहाँ महान् हाहाकार हुआ । गौ की आर्तध्वनि को सुनकर और गौतम की चेष्टाओं को देखकर वे ब्राह्मण बहुत दुःखी हुए और विघ्नराज के साथ जाकर गौतम से बोले ॥५९-६२॥

ब्राह्मणों ने कहा—हम सभी यहाँ से जा रहे हैं, तुम्हारे आश्रम में रहना अब उचित नहीं । मुनिवर्य ! तुमने पुत्र के समान हम लोगों का पालन किया है, इसलिए, हम तुमसे विदा ले रहे हैं ॥६३॥

ब्रह्मा बोले—मुनि गौतम उस समय ब्राह्मणों की बातें सुनकर और आश्रम से उनको जाते देखकर वज्राहत-से हो गये और ब्राह्मणों के सामने पृथ्वी पर गिर पड़े । ब्राह्मणों ने कहा—'संसार को पवित्र करने वाली, प्रिय, इस रुद्रों की माता को, जो धरती पर पड़ी हुई है, देखो । काल की प्रेरणा से तीर्थ-देव-रूप गौ के इस प्रकार मूर्च्छित हो गिरने पर, मुनिश्रेष्ठ ! हम लोगों का यहाँ से चला जाना ही एकमात्र उचित उपाय है । अब तुम्हारे आश्रम में पूर्व की भाँति निवास करने से हमारा यह चिरसञ्चित व्रत (पुण्य-तप) नष्ट हो जायगा । ब्रह्मन् ! हम लोगों के पास अन्य कोई धन नहीं, केवल तप ही धन है' ॥६४-६७॥

---

[1] घ. चीर्णव्रतं पुनीतं त्वामेष्यामः पुनरेव हि । व० ।

ब्रह्मोवाच

विप्राणां पुरतः स्थित्वा विनीतः प्राह गौतमः ॥६८॥

गौतम उवाच

भवन्त एव शरणं पूतं मां कर्तुमर्हथ ॥६९॥

ब्रह्मोवाच

ततः प्रोवाच भगवान्विघ्नराड्ब्राह्मणैर्वृतः ॥७०॥

विघ्नराज उवाच

नैवेयं म्रियते तत्र नैव जीवति तत्र किम् । वदामोऽस्मिन्सुसंदिग्धे निष्कृतिं गतिमेव वा ॥७१॥

गौतम उवाच

कथमुत्थास्यतीयं गौरथ चास्मिंश्च निष्कृतिम् । वक्तुमर्हथ तत्सर्वं करिष्येऽहमसंशयम् ॥७२॥

ब्राह्मणा ऊचुः

सर्वेषां च मतेनायं [2]वदिष्यति च बुद्धिमान् । एतद्वाक्यमथास्माकं प्रमाणं तव गौतम[3] ॥७३॥

ब्रह्मोवाच

ब्राह्मणैः प्रेर्यमाणोऽसौ गौतमेन बलीयसा । विघ्नकृद्ब्रह्मवपुषा प्राह सर्वानिदं वचः ॥७४॥

ब्रह्मा बोले—ब्राह्मणों की इन बातों को सुनकर गौतम ने विप्रों के सामने विनीत भाव से खड़े होकर कहा—'मेरे एकमात्र सहायक आप ही लोग हैं, आप लोग मुझे अवश्य पवित्र करने में समर्थ हैं ॥६८-६९॥

ब्रह्मा ने कहा—गौतम की करुण वातों को सुनकर ब्राह्मणों से घिरे हुए विघ्नराज ने कहा—'यह गौ न तो मरी ही है, और न तो जीवित ही जान पड़ती है । तो इससे क्या प्रयोजन ? मैं इस अत्यन्त सन्देहजनक अवसर पर इसके बचाव और उद्धार का उपाय वताता हूँ ॥७०-७१॥

गौतम ने कहा—यह गौ किस प्रकार उठ खड़ी होगी और मेरे इस पाप का प्रायश्चित्त कैसे होगा, इसको आप लोग वतायें । मैं निश्चय ही उन सव वातों का पालन करूँगा ॥७२॥

ब्राह्मणों ने कहा—गौतम ! सवकी ओर से यह चतुर ब्राह्मण कहेगा । इसके कहे वाक्य हमारे और आपके लिए प्रमाण स्वरूप होंगे ॥७३॥

ब्रह्मा बोले—ब्राह्मणों और स्वयं तपस्वी गौतम की प्रेरणा से ब्राह्मण-वेशधारी उस विघ्नराज ने सवको सुनाकर यह कहा ॥७४॥

---

१ क. ०घ्नकृद्ब्राह्म० । २ घ. ष्यत्यतिबु० । ३ घ. ०म । तच्छ्रुत्वा हर्षसंपन्नो गौ० ।

विघ्नराज उवाच

सर्वेषां च मतेनाहं वदिष्यामि यथार्थवत् । अनुमन्यन्तु मुनयो मद्वाक्यं गौतमोऽपि च ॥७५॥
महेश्वरजटाजूटे ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः । कमण्डलुस्थितं वारि तिष्ठतीति हि शुश्रुम ॥७६॥
तदानयस्व तरसा तपसा नियमेन च । तेनाभिषिञ्च गामेतां भगवन्भुवमाश्रिताम् ॥
ततो वत्स्यामहे सर्वे पूर्ववत्तव वेश्मनि ॥७७॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्तवति विप्रेन्द्रे ब्राह्मणानां च संसदि । तत्रापतत्पुष्पवृष्टिर्जयशब्दो व्यवर्धत ॥
ततः कृताञ्जलिर्नम्रो गौतमो वाक्यमब्रवीत् ॥७८॥

गौतम उवाच

तपसाऽग्निप्रसादेन देवब्रह्मप्रसादतः । भवतां च प्रसादेन मत्संकल्पोऽनुसिद्ध्यताम् ॥७९॥

ब्रह्मोवाच

एवमस्त्विति तं विप्रा आपृच्छन्मुनिपुंगवम् । स्वानि स्थानानि ते जग्मुः समृद्धान्यन्नवारिभिः ॥८०॥
यातेषु तेषु विप्रेषु भ्रात्रा सह गणेश्वरः । जयया सह सुप्रीतः कृतकृत्यो न्यवर्तत ॥८१॥
गतेषु ब्रह्मवृन्देषु गणेशे च गते तथा । गौतमोऽपि मुनिश्रेष्ठस्तपसा हतकल्मषः ॥८२॥

विघ्नराज बोले—मैं सवकी प्रेरणा और राय से यथार्थ वात कह रहा हूँ । आज यहाँ के उपस्थित सभी मुनि और गौतम मेरी वात का समर्थन करें। भगवान् शंकर के जटाजाल में अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा के कमण्डलु का पवित्र जल स्थित है, ऐसा हम सभी सुनते हैं। उस जल को योग-साधना, तपस्या या नियमानुसार अनुष्ठान से लाओ। भगवन् ! उसी को इस धरती पर पड़ी गौ पर छिड़को। ऐसा करने से ही हम सभी पहले की भाँति तुम्हारे आश्रम में रह सकेंगे ॥७५-७७॥

ब्रह्मा बोले—व्राह्मणों की उस सभा में विप्र-श्रेष्ठ के इतना कहने पर वहाँ आकाश से फूलों की वर्षा हुई और जोरों की जयध्वनि हुई। तदनन्तर गौतम ने अञ्जलि वाँधकर वड़ी नम्रता से यह कहा—॥७८॥

गौतम बोले—तपस्या, अग्निदेव की कृपा, देवों और व्राह्मणों के अनुग्रह और आप लोगों की दया से मेरा यह संकल्प सिद्ध हो ॥७९॥

ब्रह्मा बोले—तुम्हारे संकल्प पूर्ण हों, ऐस कहकर व्राह्मणों ने उस मुनिवर गौतम से विदा लेकर अन्न और जल से समृद्ध अपने-अपने निवास-स्थान को चले गये। उन व्राह्मणों के चले जाने पर जया और भाई (स्कन्द) के साथ गणेश प्रसन्नता से कृतार्थ होकर लौट गये। उन ब्राह्मणों और गणेश जी के चले जाने पर मुनिश्रेष्ठ गौतम भी तपस्या से अपने को निष्पाप समझ कर इस घटना पर विचार करने लगे। वे सोचने लगे कि मेरे द्वारा यह क्या हो गया। इस प्रकार वार-वार ध्यान करने पर अन्त में अपने ज्ञान से इन सव वातों को जान गये। देव-कार्य

ध्यायंस्तदर्थं स मुनिः किमिदं मम संस्थितम् । इत्येवं बहुशो ध्यायञ्ज्ञानेन ज्ञातवान्द्विज ॥८३॥
निश्चित्य देवकार्यार्थमात्मनः किल्विषां गतिम् । लोकानामुपकारं च शंभोः प्रीणनमेव च ॥८४॥
उमायाः प्रीणनं चापि गङ्गानयनमेव च । सर्वं श्रेयस्करं मन्ये मयि नैव च किल्विषम् ॥८५॥
इत्येवं मनसा ध्यायन्सुप्रीतोऽभूद्द्विजोत्तमः । आराध्य जगतामीशं त्रिनेत्रं वृषभध्वजम् ॥८६॥
आनयिष्ये सरिच्छ्रेष्ठां प्रीताऽस्तु गिरिजा मम । सपत्नी जगदम्बाया महेश्वरजटास्थिता ॥८७॥
एवं हि संकल्प्य मुनिप्रवीरः, स गौतमो ब्रह्मगिरेर्जगाम ।
कैलासमाधिष्ठितमुग्रधन्वना, सुरार्चितं प्रियया ब्रह्मवृन्दैः ॥८८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभ्वृषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये विनायकगौतमव्यापार-निरूपणं नाम चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥७४॥
गौतमीमाहात्म्ये पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

गौतमकृतमुमामहेश्वरस्तवनम्

नारद उवाच

कैलासशिखरं गत्वा गौतमो भगवानृषिः । किं चकार तपो वाऽपि कां चक्रे स्तुतिमुत्तमाम् ॥१॥

की सिद्धि, अपने पापों का उद्धार, संसार का कल्याण, उमा और शंभु की प्रसन्नता और गंगा का पृथ्वी पर आगमन, ये सभी कल्याणकर हैं। इसमें मुझे कोई पाप नहीं लगेगा। इस प्रकार मन में ध्यान करते हुए वह द्विजवर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं जगत् के स्वामी, वृषभध्वज, त्रिनेत्र की आराधना कर पवित्र नदी गंगा को अवश्य लाऊँगा। गिरिकन्या पार्वती और जगन्माता की सौत, महेश्वर की जटा में रहने वाली गंगा मुझ पर प्रसन्न हों। इस प्रकार वह मुनिवर गौतम अपने मन में दृढ़ संकल्प कर, ब्राह्मण वृन्द के आदेशानुसार ब्रह्मगिरि को छोड़कर देवों से पूजित कैलास पर्वत पर गये जहाँ उग्र धनुष धारण करने वाले शंकर, प्रिया पार्वती के साथ रहते थे ॥८०-८८॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में गणेश और गौतम के कार्य निरूपण नामक चौहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥७४॥

अध्याय ७५

गौतम द्वारा उमा और महेश्वर की स्तुति

नारद ने कहा—भगवान्, ऋषि गौतम ने कैलास शिखर पर जाकर कौन-सी तपस्या की या कौन-सी उत्तम स्तुति की ॥१॥

ब्रह्मोवाच

गिरिं गत्वा ततो[१] वत्स वाचं संयम्य गौतमः । आस्तीर्य स कुशान्प्राज्ञः कैलासे पर्वतोत्तमे ॥२॥
उपविश्य शुचिर्भूत्वा स्तोत्रं चेदं ततो जगौ । अपतत्पुष्पवृष्टिश्च स्तूयमाने महेश्वरे ॥३॥

गौतम उवाच

भोगार्थिनां भोगमभीप्सितं च, दातुं महान्त्यष्टवपूंषि धत्ते[२] ।
सोमो जनानां गुणवन्ति नित्यं, देवं महादेवमिति स्तुवन्ति ॥४॥
कर्त्तुं स्वकीयैर्विषयैः सुखानि, भर्तुं समस्तं सचराचरं च ।
संपत्तये ह्यस्य[३] विवृद्धये च, महीमयं रूपमितीश्वरस्य ॥५॥
सृष्टेः स्थितेः संहरणाय भूमेराधारमाधातुमपां स्वरूपम् ।
भेजे शिवः शान्ततनुर्जनानां, सुखाय धर्माय जगत्प्रतिष्ठितम्[४] ॥६॥
[५]कालव्यवस्थाममृतस्रवं च, जीवस्थितिं सृष्टिमथो विनाशनम् ।
मुदं प्रजानां सुखमुन्नतिं च, चक्रेऽर्कचन्द्राग्निमयं शरीरम् ॥७॥
वृद्धिं गतिं शक्तिमथाक्षराणि, जीवव्यवस्थां मुदमप्यनेकाम् ।
स्रष्टुं कृतं वायुरितीशरूपं, त्वं वेत्सि नूनं भगवन्भवन्तम् ॥८॥

ब्रह्मा बोले—वत्स ! तदनन्तर विवेकी गौतम पर्वत पर जाकर अपनी वाणी को वश में कर कुशाओं को बिछा कर पर्वतों में श्रेष्ठ कैलास पर बैठ गये । पुनः पवित्र होने बाद जब वे यह स्तोत्रगान करने लगे तो फूलों की वर्षा होने लगी ॥२-३॥

गौतम ने कहा—जो भगवान् सोम (शंकर) भोग चाहने वाले मनुष्यों की भोगेच्छा की पूर्ति और मनचाहे पदार्थों को देने के लिए आठ महान् शरीरों को धारण करते हैं, और जिस नित्य देव को विवेकी जन महादेव कहकर स्तुति किया करते हैं ॥४॥ जिस ईश्वर ने समस्त चर-अचर जगत् को अपनी महिमा से उत्पन्न पदार्थों से सुख देने के लिए और और इसका भरण-पोषण करने के लिए, इसको ऐश्वर्ययुक्त बनाने तथा इसकी समृद्धि के लिए महीमय (पृथ्वी) रूप धारण किया है ॥५॥ जिस शान्त-वपु शिव ने सर्जन, पालन और संहार के लिए भूमि का आधार रूप बनने के लिए (अर्थात् पृथ्वी को सहारा देने के लिए), जन-समूह को सुख देने के लिए और धर्म की रक्षा के लिए लोक-प्रसिद्ध जल के रूप को धारण किया है ॥६॥ जिसने अपने सूर्य, चन्द्र और अग्निमय शरीर से समय की व्यवस्था (सूर्यरूप से), सुधा की वृष्टि (चन्द्ररूप से), जीव की स्थिति (पालन), सृष्टि और विनाश (अग्निरूप से) किया है एवं प्रजा को सुख, आनन्द और उन्नति दी है ॥७॥ भगवन् ! ऐसे आपने वृद्धि, गति, शक्ति और अक्षर (नित्य पदार्थ), जीव व्यवस्था तथा अनेक प्रकार के आनन्द की सृष्टि करने के लिए ही 'वायु' इस ईशरूप (शक्तिशाली स्वरूप) को धारण किया है । आप स्वयं इन सब रहस्यों को निश्चय ही जानते हैं ॥८॥

१घ. ०त्वा यतो भूत्वा वा० । २क. धत्से । ३घ. तस्य । ४घ. ०तिष्ठम् । ५ घ. ०लप्रतिष्ठाम० ।

भेदैर्विना नैव कृतिर्न धर्मो, नाऽऽत्मीयमन्यन्न दिशोऽन्तरिक्षम् ।
द्यावापृथिव्यौ न च भुक्तिमुक्ती, तस्मादिदं व्योमवपुस्तवेश ॥९॥
धर्मं व्यवस्थापयितुं व्यवस्य, ऋक्सामशास्त्राणि यजुश्च शाखाः ।
लोके च गाथाः स्मृतयः पुराणमित्यादिशब्दात्मकतामुपैति ॥१०॥
यष्टा क्रतुर्यान्यपि साधनानि, ऋत्विक्प्रदेशं (यं) फलदेशकालाः ।
त्वमेव शंभो परमार्थतत्त्वं, वदन्ति यज्ञाङ्गमयं वपुस्ते ॥११॥
कर्ता प्रदाता प्रतिभूः प्रदानं, सर्वज्ञसाक्षी पुरुषः परश्च ।
प्रत्यात्मभूतः परमार्थरूपस्त्वमेव सर्वं किमु वाग्विलासैः ॥१२॥
न वेदशास्त्रैर्गुरुभिः प्रदिष्टो,[1] न नासि[2] बुद्ध्यादिभिरप्रधृष्यः ।
अजोऽप्रमेयः [3]शिवशब्दवाच्यस्त्वमस्ति (मेव) सत्यं भगवन्नमस्ते ॥१३॥
आत्मैकतां स्वप्रकृतिं कदाचिदैक्षच्छिवः संपदियं [4]ममेति ।
पृथक्तदैवाभवदप्रतर्क्याचिन्त्यप्रभावो बहुविश्वमूर्तिः ॥१४॥
भावेऽभिवृद्धा[5] च भवे भवे च, स्वकारणं कारणमास्थिता च ।
नित्या शिवा सर्वसुलक्षणा वा, विलक्षणा विश्वकरस्य शक्तिः ॥१५॥

ईश ! भेदों के बिना न तो कृति, न धर्म, न आत्मीयता, न अन्य पदार्थ, न दिशाएँ, न अन्तरिक्ष, न आकाश, न पृथिवी और न भुक्ति या मुक्ति की ही कल्पना सम्भव हो सकती है। अतः हे नाथ ! इसलिए यह जो है वह तुम्हारा ही है ॥९॥ आप इस लोक में धर्म की व्यवस्था (स्थापना) करने के लिए ऋक्, यजुः, साम आदि वेद और शाखाएँ तथा शास्त्र, गाथाएँ, स्मृतियाँ और पुराण आदि शब्दात्मक रूप धारण करते हैं ॥१०॥ यज्ञकर्त्ता, यज्ञ, सभी साधन, ऋत्विक् प्रदेश, फल, देश और काल एवं परमार्थतत्त्व आदि सब कुछ तुम्हीं हो। तुम्हारा शरीर यज्ञांगमय है ॥११॥ कर्त्ता, प्रदाता, प्रतिभू (जामिन), प्रदान, सर्वज्ञ, साक्षी, सर्वोपरि, पुरुष, सब जीवों में वर्त्तमान रहने वाले, और परमार्थ रूप आदि सब कुछ तुम्हीं हो। इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ ॥१२॥ तुम वेद, शास्त्र और गुरुओं से भी अज्ञेय हो अर्थात् वेद, शास्त्र और ऋषि-मुनि भी तुम्हें नहीं जान पाये। वुद्धि आदि की पहुँच से तुम परे हो। तुम अज (जन्म-रहित), अप्रमेय (वुद्धि से न जानने योग्य) और शिव शब्द कै वाच्य (अर्थ) हो। भगवन् ! तुम्हीं एकमात्र सत्य हो। इसलिए सत्यरूप भगवान् को मेरा नमस्कार है ॥१३॥ जब किसी समय अपने में लीन अपनी प्रकृति को 'यह मेरी संपद् भोग्य हो' इस रूप से देखने लगते हो उसी समय यह प्रकृति तुमसे अलग हो जाती है और अप्रतर्क्य (जिसके विषय में तर्क न किया जा सके) अचिन्त्य प्रभाव (जिसका प्रभाव न जाना जा सके) तुम विश्व के अनेक रूपों में मूर्तिमान् हो जाते हो ॥१४॥ संसार के रचयिता शंकर की नित्य, सब सुलक्षणों से युक्त शिवा विलक्षण शक्ति है, जो अपना स्वयं कारण होते हुए भी संसार का कारण है

---

[1] घ. ष्टो नानाऽसि। [2] क. नास्ति वु०। [3] घ. ०शक्ति वा०। [4] क. ०ति। वृथा सदै०। [5] घ. ०वृद्ध्याऽभिभवे भवस्य या कारणं कारणका भवानी। नि०।

उत्पादनं संस्थितिरन्नवृद्धियाःसतां यत्र सनातनास्ते ।
एकैव[1] मूर्त्तिर्न समस्ति किंचदसाध्यमस्या दयिता हरस्य ॥१६॥
यदर्थमन्नानि धनानि जीवा, यच्छन्ति कुर्वन्ति तपांसि धर्मान् ।
साऽपीयमम्बा जगतो जनित्री, प्रिया तु सोमस्य[2] महासुकीर्तिः ॥१७॥
यदीक्षितं काङ्क्षति वासवोऽपि, यन्नामतो मङ्गलमाप्नुयाच्च ।
या व्याप्य विश्वं विमलीकरोति[3], सोमा सदा सोमसमानरूपा ॥१८॥
ब्रह्मादिजीवस्य[4] चराचरस्य, [5]बुद्ध्यक्षिचैतन्यमनःसुखानि ।
यस्याः प्रसादात्फलवन्ति नित्यं, वागीश्वरी लोकगुरोः सुरम्या ॥१९॥
चतुर्मुखस्यापि मनो मलीनं, किमन्यजन्तोरिति चिन्त्य माता ।
गङ्गाऽवतारं विविधैरुपायैः, सर्वं जगत्पावयितुं चकार ॥२०॥
श्रुतीः समालक्ष्य हरप्रभुत्वं, विश्वस्य लोकः सकलैः प्रमाणैः ।
कृत्वा च धर्मान्बुभुजे च भोगान्विभूतिरेषा तु सदाशिवस्य ॥२१॥
कार्यक्रियाकारकसाधनानां, वेदोदितानामथ लौकिकानाम् ।
यत्साध्यमुत्कृष्टतमं प्रियं च, प्रोक्ता च सा सिद्धिरनादिकर्तुः ॥२२॥

और जो भव (जन्म)-भव में अपने भाव में अभिवृद्ध है ॥१५॥ शंकर की सनातन शक्ति से ही विश्व के पदार्थों की उत्पत्ति, संस्थिति, पालन होता है और पुनः उसी में लय भी हो जाता है, इस प्रकार शंकर की एक ही शक्ति के लिए इस संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। जगत् को पैदा करने वाली जिस जननी को संसार के जीव अन्न और धन का उपहार देते हैं और जिसकी प्रसन्नता के लिए तपस्या करते हैं वह अत्यन्त शोभन कीर्ति वाली जगज्जननी शिव की प्रिया है ॥१६-१७॥ इन्द्र भी जिस शिव-प्रिया शिवा की कृपा को चाहते हैं, जिसके नाम लेने से ही कल्याण की प्राप्ति होती है, जो इस विश्व में व्यापक होकर इसको निर्मल बना देती है यानी तमोगुण का नाश कर देती है वह सोमा (शिवा) सर्वदा सोमस्वरूप (शिवस्वरूप) ही है ॥१८॥ ब्रह्मा से लेकर चराचर जीव की बुद्धि, नेत्र, चैतन्य (ज्ञान), मन और सुख जिस लोक-गुरु की स्मरणीय वागीश्वरी की प्रसन्नता और कृपा से फलयुक्त होते हैं, उस माता ने अन्य जन्तुओं की कौन कहे ब्रह्मा के भी मन को मलिन देखकर विविध उपायों से संसार को पवित्र करने के लिए गंगा को पृथ्वी पर अवतरित किया ॥१९-२०॥ सम्पूर्ण संसार वेदों में वर्णित शिव-महिमा को समझ कर समस्त प्रमाणों के आधार पर विविध विधि-निषेधों की कल्पना कर जो विविध भोगों का भोग कर रहा है यह सब सदाशिव शंकर की ही विभूति है (उनका ही प्रभाव है) ॥२१॥ वेदोक्त अथवा लौकिक कार्य, क्रिया, कारक और साधनों का जो परम उत्कृष्ट प्रिय साध्य है, वह अनादि, संसार-स्रष्टा शंकर की सिद्धि ही है अर्थात् वैदिक, लौकिक कार्य-कलाप और प्रयत्नों का एकमात्र उद्देश्य शंकर को प्रसन्न

---

[1] ग. एषैव भूमिर्न समाऽस्ति किंस्विन्न ध्यानगम्या द० । [2] क. ०स्य सहस्र की० । [3] घ . ०ति सा मां स० । [4] क. ०दिवेव० । [5] क. बुद्ध्यादिचै० ।

ध्यात्वा वरं ब्रह्म परं प्रधानं, यत्सारभूतं यदुपासितव्यम्
यत्प्राप्य मुक्ता न पुनर्भवन्ति, सद्योगिनो मुक्तिरुमापतिः सः ॥२३॥
यथा यथा शंभुरमेयमायारूपाणि धत्ते जगतो हिताय
तद्योगयोग्यानि तथैव धत्से, पतिव्रतात्वं त्वयि मातरेवम् ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

इत्येवं स्तुवतस्तस्य पुरस्तद्वृषभध्वजः । उमया सहितः श्रीमान्गणेशादिगणैर्वृतः ॥२५॥
साक्षादागत्य तं शंभुः प्रसन्नो वाक्यमब्रवीत् ॥२६॥

शिव उवाच

किं ते गौतम दास्यामि भक्तिस्तोत्रव्रतैः शुभैः । परितुष्टोऽस्मि याचस्व देवानामपि दुष्करम् ॥२७॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा जगन्मूर्तेर्वाक्यं वाक्यविशारदः । हर्षबाष्पपरीताङ्गो गौतमः पर्यचिन्तयत् ॥२८॥
अहो दैवमहो धर्मो ह्यहो वै विप्रपूजनम् । अहो लोकगतिश्चित्रा अहो धातर्नमोऽस्तु ते ॥२९॥

गौतम उवाच

जटास्थितां शुभां गङ्गां देहि मे त्रिदशार्चित । यदि तुष्टोऽसि देवेश त्रयीधाम नमोऽस्तु ते ॥३०॥

करना ही है ॥२२॥ जिस परम ब्रह्म, सारभूत प्रधान तत्त्व का योगीजन ध्यान करते हैं, जिसकी उपासना करते हैं और जिस तत्त्व को पाकर मुक्तजन आवागमन के बन्धन से छूट जाते हैं, वे अच्छे योगीजनों के मुक्तिदाता उमापति शंकर ही हैं ॥२३॥ जगत् के कल्याण के लिए जिस प्रकार भगवान् शंकर न जानने योग्य माया के रूप धारण करते हैं, उसके अनुरूप ही हे माता शिवा ! तुम भी उनमें अपनी दृढ़ पतिभक्ति धारण करती हो ॥२४॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार गौतम की स्तुति सुनकर उमा सहित श्रीमान् शंकर जी गणेश आदि गणों को साथ लिये हुए, मुनि के सामने प्रत्यक्ष रूप में आये और प्रसन्नतापूर्वक गौतम से कहने लगे ॥२५-२६॥

शिव बोले—गौतम ! तुम्हें क्या दूँ । तुम्हारी भक्ति, स्तुति और शुभ व्रत के अनुष्ठान से प्रसन्न हूँ । तुम वर माँगो, देव-दुर्लभ वर भी तुम्हें दूँगा ॥२७॥

ब्रह्मा बोले—जगन्मूर्ति शंकर की बातों को सुनकर वाणी-प्रयोग में निपुण गौतम आनन्द से गद्‌गद हो गये और मन में विचार करने लगे कि 'अहा ! दैव क्या है, धर्म और विप्रों की पूजा भी क्या है, अहो ! संसार की गति भी क्या विचित्र है, अहा ! धाता ! आपको नमस्कार है' ॥२८-२९॥

गौतम बोले—देवों के पूज्य शंकर ! देवेश ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो अपनी जटा में रहने वाली कल्याणी गंगा को मुझे दे दीजिये । हे त्रैलोक्यवासिन् ! आपको नमस्कार है ॥३०॥

ईश्वर उवाच

त्रयाणामुपकारार्थं लोकानां याचितं त्वया । आत्मनस्तूपकाराय तद्याचस्वाकुतोभयः ॥३१॥

गौतम उवाच

स्तोत्रेणानेन ये [1]भक्तास्त्वां च देवीं स्तुवन्ति वै । सर्वकामसमृद्धाः स्युरेतद्धि वरयाम्यहम् ॥३२॥

ब्रह्मोवाच

एवमस्त्विति देवेशः परितुष्टोऽब्रवीद्वचः । अन्यानपि वरान्मत्तो याचस्व विगतज्वरः ॥३३॥
एवमुक्तस्तु हर्षेण गौतमः प्राह शंकरम् ॥३४॥

गौतम उवाच

इमां देवीं जटासंस्थां पावनीं लोकपावनीम् । तव प्रियां जगन्नाथ उत्सृज ब्रह्मणो गिरौ ॥३५॥
सर्वासां तीर्थभूता तु यावद्गच्छति सागरम् । ब्रह्महत्यादिपापानि मनोवाक्कायिकानि च ॥३६॥
स्नानमात्रेण सर्वाणि विलयं यान्तु शंकर । चन्द्रसूर्योपरागे च अयने विषुवे तथा ॥३७॥
संक्रान्तौ वैधृतौ पुण्यतीर्थेष्वन्येषु यत्फलम् । अस्यास्तु स्मरणादेव तत्पुण्यं जायतां हर ॥३८॥
श्लाघ्यं कृते तपः प्रोक्तं त्रेतायां यज्ञकर्म च । द्वापरे यज्ञदाने च दानमेव कलौ युगे ॥३९॥

शंकर ने कहा—तुमने तो तीनों लोकों के उपकार के लिए यह याचना की है, अपने उपकार के लिए भी कुछ माँगो, इसमें डरने की कोई आवश्यकता नहीं ॥३१॥

गौतम ने कहा—जो भक्त इस स्तोत्र से आपकी और देवी गौरी की स्तुति करें वे भी अपनी सब कामनाओं से परिपूर्ण होकर विभवशाली बनें, यही वर मैं चाहता हूँ ॥३२॥

ब्रह्मा ने कहा—प्रसन्न भगवान् शंकर ने कहा कि 'ऐसा ही हो' तुम निःशंक होकर दूसरे वरों को भी मुझसे माँगो । इस प्रकार आश्वासन पाने पर गौतम ने प्रसन्न होकर शंकर से कहा—॥३३-३४॥

गौतम ने कहा—जगन्नाथ ! इस लोक को पवित्र कर देने वाली, जटा में रहने वाली, अपनी पुनीत प्रिया गंगा को ब्रह्मगिरि पर छोड़ दो ॥३५॥ शंकर ! सब तीर्थों का स्वरूप यह गंगा जहाँ तक सागर में जाती है वहाँ तक अर्थात् उद्गम से संगम तक इसके जल में स्नान करने मात्र से मनुष्यों के ब्रह्महत्या आदि पाप अथवा मन, वचन और शरीर से किये गये पाप विनष्ट हो जायँ ॥३६॥ अन्य पवित्र तीर्थों में चन्द्र-सूर्यग्रहण के समय, अयनकाल में, तथा विषुवकाल में, संक्रान्ति और वैधृति योग में स्नान करने से जो फल (पुण्य) मिलते हैं, वे पुण्य इसके स्मरण मात्र से मिल जायँ ॥३७-३८॥ कृतयुग में तपस्या, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में यज्ञ और दान तथा कलि युग में केवल दान महत्त्वपूर्ण कहा गया है ॥३९॥ इसी प्रकार युगधर्म तथा सब देशधर्म एवं देशकाल के संयोग में जो धर्म श्रेष्ठ माने गये हैं और अन्यत्र स्नान, दान, तप आदि से जो पुण्य प्राप्त होते हैं, हर ! वे सभी पुण्यफल

---

[1] घ. भक्त्या त्वां च ।

युगधर्माश्च ये सर्वे देशधर्मास्तथैव च । देशकालादिसंयोगे यो धर्मो यत्र शस्यते ।।४०।।
यदन्यत्र कृतं पुण्यं स्नानदानादिसंयमैः । अस्यास्तु स्मरणादेव तत्पुण्यं जायतां हर ।।४१।।
यत्र यत्र त्वियं याति यावत्सागरगामिनी । तत्र तत्र त्वया भाव्यमेष चास्तु वरो वरः ।।४२।।
योजनानां तूपरि तु दश यावच्च संख्यया । तदन्तरप्रविष्टानां महापातकिनामपि ।।४३।।
तत्पितॄणां च तेषां च स्नानायाऽऽगच्छतां शिव । स्नाने चाप्यन्तरे मृत्योर्मुक्तिभाजो भवन्तु वै ।।४४।।
एकतः सर्वतीर्थानि स्वर्गमर्त्यरसातले । एष तेभ्यो विशिष्ट तु अलं शंभो नमोऽस्तु ते ।।४५।।

ब्रह्मोवाच

तद्गौतमवचः श्रुत्वा तथाऽस्त्वित्यब्रवीच्छिवः । अस्याः परतरं तीर्थं न भूतं न भविष्यति ।।४६।।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं वेदे च परिनिष्ठितम् । सर्वेषां गौतमी पुण्या इत्युक्त्वाऽन्तरधीयत ।।४७।।
ततो गते भगवति लोकपूजिते, तदाज्ञया पूर्णबलः स गौतमः
जटां समादाय सरिद्वरां तां, सुरैर्वृतो ब्रह्मगिरिं विवेश ।।४८।।
ततस्तु गौतमे प्राप्ते जटामादाय नारद । पुष्पवृष्टिरभूत्तत्र समाजग्मुः सुरेश्वराः ।।४९।।
ऋषयश्च महाभागा ब्राह्मणाः क्षत्रियास्तथा । जयशब्देन तं विप्रं पूजयन्तो मुदान्विताः ।।५०।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये गौतम्यानयनं नाम
पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ।।७५।।
गौतमीमाहात्म्ये षष्ठोऽध्यायः

इस (गौतमी) गंगा के स्मरण मात्र से मनुष्यों को मिल जायें ।।४०-४१।। जहाँ-जहाँ यह जाय और जव तक सागर में न मिले, वहाँ-वहाँ आप अवश्य विराजमान रहें यही मेरे लिये श्रेष्ठ वरदान होगा । शिव ! दस योजन तक के भीतर रहने वाले या इस सीमा तक प्रवेश पा जाने वाले महापातकियों, स्नान के लिए आये हुए मनुष्यों और उनके पितरों के भी पाप इस गंगा में स्नान करने से नष्ट हो जायें और वे मृत्यु के वाद निश्चित रूप से मुक्ति के अधिकारी हो जायें । स्वर्ग, मर्त्य और रसातल के सभी तीर्थों में यह अद्वितीय तीर्थ हो और सवसे यह विशिष्ट मानी जाय । शंभो ! वस, यही इच्छा है । अब आपको मेरा नमस्कार है ।।४२-४५।।

ब्रह्मा बोले—गौतम के (उपर्युक्त) शब्दों को सुनकर शंकर ने कहा 'ऐसा ही हो, इससे श्रेष्ठ तीर्थ न तो हुआ और न होगा । यह सत्य है, सत्य है, पुनः सत्य है और वेद से प्रमाणित है कि गौतमी सव तीर्थों से विशिष्ट तीर्थ है', यह कहकर वे अन्तर्हित हो गये ।।४६-४७।। तदनन्तर लोक-पूजित भगवान् शंकर के चले जाने पर उनकी आज्ञा से पूर्णमनोरथ और तपोवलशाली गौतम शिव की जटा और उसमें स्थित सरिता-शिरोमणि गंगा को लेकर देवताओं के सहित ब्रह्मगिरि पर आये ।।४८।।

नारद ! जटा को लेकर, जब मुनि गौतम अपने आश्रम मे आये तव वहाँ (आकाश से) फूलों की वृष्टि हुई, सव देवता वहाँ उपस्थित हो गये । साथ-साथ ऋषिगण, भाग्यशाली व्राह्मण तथा क्षत्रिय सभी वहाँ एकत्रित हो गये और बड़े आनन्द से गौतम की पूजा कर जयजयकार करने लगे ।।४९-५०।।

श्री व्रह्ममहापुराण में गंगानयन नामक पचहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ।।७५।।

अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः

स्वर्गादौ पंचदशाकृत्या गङ्गाया गमनम्

नारद उवाच

महेश्वरजटाजूटाद्गङ्गामादाय गौतमः । आगत्य ब्रह्मणः पुण्ये ततः किमकरोद्गिरौ ॥१॥

ब्रह्मोवाच

आदाय गौतमो गङ्गां शुचिः प्रयतमानसः । पूजितो देगन्धर्वैस्तथा गिरिनिवासिभिः ॥२॥
गिरेर्मूर्ध्नि जटां स्थाप्य स्मरन्देवं त्रिलोचनम् । उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा गङ्गां स द्विजसत्तमः ॥३॥

गौतम उवाच

त्रिलोचनजटोद्भूते सर्वकामप्रदायिनि । क्षमस्व मातः शान्ताऽसि सुखं याहि हितं कुरु ॥४॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्ता गौतमेन गङ्गा प्रोवाच गौतमम् । दिव्यरूपधरा देवी दिव्यस्रगनुलेपना ॥५॥

गङ्गोवाच

गच्छेयं देवसदनमथवाऽपि कमण्डलुम् । रसातलं वा गच्छेयं जातस्त्वं सत्यवागसि ॥६॥

अध्याय ७६

१५ रूप बनाकर स्वर्ग आदि में गंगा का गमन

नारद ने पूछा—महेश्वर की जटा से गंगा को ले आने के वाद गौतम ने उस पवित्र ब्रह्मगिरि पर क्या किया ॥१॥

ब्रह्मा बोले—पवित्रात्मा, संयमी गौतम जब गंगा को लेकर उस पर्वत पर आये तब देव, गन्धर्व और पर्वत-निवासियों ने उनकी बड़े प्रेम से पूजा की। पर्वत के शिखर पर जटा की स्थापना कर त्रिनेत्र शंकर का स्मरण करते हुए उन्होंने गंगा से कहा ॥२-३॥

गौतम बोले—त्रिलोचन की जटा से उत्पन्न होने वाली ! सव मनोरथों को पूर्ण करने वाली माता ! आप अपराधों को क्षमा कीजिये। आप शान्तिपूर्वक सुख से जायें और हम लोगों का कल्याण करें ॥४॥

ब्रह्मा ने कहा—गौतम की प्रार्थना सुनकर दिव्य रूप धारण करने वाली और दिव्य माला तथा लेप से विभूषित अंगों वाली गंगा ने कहा ॥५॥

गंगा ने कहा—मैं देवलोक जाऊँ या ब्रह्मा के कमण्डलु में अथवा रसातल जाऊँ ? तुम सत्यवादी मानव हो, इसलिए वतलाओ ॥६॥

गौतम उवाच

त्रयाणामुपकारार्थं लोकानां याचिता मया । शंभुना च तथा दत्ता देवि तन्नान्यथा भवेत् ॥७॥

ब्रह्मोवाच

तद्गौतमवचः श्रुत्वा गङ्गा मेने द्विजेरितम् । त्रेधाऽऽत्मानं विभज्याथ स्वर्गमर्त्यरसातले ॥८॥
स्वर्गे चतुर्धा व्यगमत्सप्तधा मर्त्यमण्डले । रसातले चतुर्धैव सैवं पञ्चदशाकृतिः ॥९॥
सर्वत्र[1] सर्वभूतैव सर्वपापविनाशिनी । सर्वकामप्रदा नित्यं सैव वेदे प्रगीयते ॥१०॥
मर्त्यामर्त्यगतामेव पश्यन्ति न तलं गताम् । नैव स्वर्गगतां मर्त्याः पश्यन्त्यज्ञानबुद्धयः ॥११॥
यावत्सागरगा देवी तावद्देवमयी स्मृता । उत्सृष्टा गौतमेनैव प्रायात्पूर्वार्णवं प्रति ॥१२॥
ततो देवर्षिभिर्जुष्टां मातरं जगतः शुभाम् । गौतमो मुनिशार्दूलः प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥१३॥
त्रिलोचनं सुरेशानं प्रथमं पूज्य गौतमः । उभयोस्तीरयोः स्नानं करोमीति दधे मतिम् ॥१४॥
स्मृतमात्रस्तदा तत्राऽऽविरासीत्करुणार्णवः । तत्र स्नानं कथं सिध्येदित्येवं शर्वमब्रवीत् ॥१५॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा भक्तिनम्रस्त्रिलोचनम् ॥१६॥

गौतम उवाच

देवदेव महेशान तीर्थस्नानविधिं मम । ब्रूहि सम्यङ्महेशान लोकानां हिकाम्यया ॥१७॥

गौतम ने कहा—तीनों लोकों के उपकार के लिए मैंने शंभु से प्रार्थनापूर्वक आपको माँगा है । शम्भु ने भी इसी उद्देश्य से प्रदान किया है, इसलिए देवि ! इसके विपरीत नहीं होना चाहिए ॥७॥

ब्रह्मा ने कहा—ऐसी बात सुन कर गंगा ने गौतम की बात मान ली और स्वर्ग, मर्त्य एवं रसातल में जाने के लिए अपने को तीन भागों में बाँट कर स्वर्ग में चार रूप से, मृत्युलोक में सात रूप से और रसातल में चार रूप से प्रवेश किया । इस प्रकार गंगा की पन्द्रह आकृतियाँ हुईं ॥८-९॥ सब जगह सब रूप से सबके पापों का विनाश करने वाली तथा सबके मनोरथ को देने वाली उस गंगा का वेदों ने गान किया है ॥१०॥ मृत्युलोकवासी अपने लोक की गंगा को ही देखते हैं, रसातल वाली गंगा को नहीं । इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति स्वर्ग में गयी गंगा को भी नहीं देखते हैं ॥११॥ सागर तक की गंगा अर्थात् जिस स्थान पर गंगा सागर में मिल जाती हैं वहाँ तक वह देवमयी मानी जाती हैं ॥१२॥ इस प्रकार गौतम से छोड़ी गयी गंगा पूर्व सागर की ओर चली गयीं । तदनन्तर देवर्षियों द्वारा पूजित, जगत् का कल्याण करने वाली, शुभ गंगा की मुनि-शार्दूल गौतम ने प्रदक्षिणा की ॥१३॥ पुनः गौतम ने सुर-स्वामी त्रिलोचन की पहले पूजा की और फिर मैं दोनों तटों पर जाकर स्नान करूँ, इस प्रकार का निश्चय मन में किया ॥१४॥ तब स्मरण मात्र से करुणा के सागर शंभु वहाँ प्रकट हो गये । गौतम ने हाथ जोड़कर, भक्ति से विनम्र होकर शंकर से कहा कि किस विधि से मैं स्नान करूँ, कृपाकर आप बतलाये ॥१५-१६॥

गौतम ने कहा—हे देवों के देव ! महेशान ! लोक-हित की कामना से आप आज भलीभाँति तीर्थ स्नान की विधि बतलाइये ॥१७॥

---

[1] घ. ०त्र धर्मभू० ।

शिव उवाच

महर्षे शृणु सर्वं च विधिं गोदावरीभवम् । पूर्वं नान्दीमुखं कृत्वा देहशुद्धिं विधाय च ॥१८॥
ब्राह्मणान्भोजयित्वा च तेषामाज्ञां प्रगृह्य च । ब्रह्मचर्येण गच्छन्ति पतितालापवर्जिताः ॥१९॥
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् । विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥२०॥
भावदुष्टिं परित्यज्य स्वधर्मपरिनिष्ठितः । श्रान्तसंवाहनं कुर्वन्दद्यादन्नं यथोचितम् ॥२१॥
अकिंचनेभ्यः साधुभ्यो दद्याद्वस्त्राणि कम्बलान् । शृण्वन्हरिकथां दिव्यां तथा गङ्गासमुद्भवाम् ॥
अनेन विधिना गच्छन्सम्यक्तीर्थफलं लभेत् ॥२२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥७६॥
गौतमीमाहात्म्ये सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अथ सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

गौतमीमहत्त्ववर्णनम्

ब्रह्मोवाच

त्र्यम्बकश्च इति प्राह गौतमं मुनिभिर्वृतम् ॥१॥

शिव ने कहा—महर्षि गौतम ! गोदावरी तीर्थ की सभी विधियाँ सुनो । पहले नान्दी मुख श्राद्ध कर भलीभाँति शरीर-शुद्धि करनी चाहिये । पुनः ब्राह्मणों को भोजन कराकर उनसे आज्ञा लेकर ब्रह्मचर्यपूर्वक यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिये । मार्ग में पतितों से वार्तालाप सर्वथा निषिद्ध है । जिस मनुष्य के हाथ, पैर और मन वश में रहते हैं एवं जो अपनी विद्या, तप और कीर्ति पर अभिमान नहीं करता, वही तीर्थ का फल प्राप्त करता है । अपनी आन्तरिक दुष्ट भावनाओं को छोड़कर अपने धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रखकर थके-माँदे यात्रियों की थकावट को दूर करते हुए यथाशक्ति तीर्थोचित अन्न प्रदान करना चाहिए । दरिद्रों और साधुओं को वस्त्र और कम्वल प्रदान करना चाहिए और हरिकथा तथा स्वर्गीय गंगा सम्वन्धी कथा सुननी चाहिये । इस विधि से तीर्थयात्रा करने पर पूर्णरूप से तीर्थ का फल मिलता है ॥१८-२२॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में तीर्थमाहात्म्य-प्रकरण में छिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥७६॥

अध्याय ७७

गौतमी का महत्त्व-वर्णन

ब्रह्मा बोले—इसके बाद ऋषियों से घिरे हुए गौतम से शिव ने पुनः यह कहा ॥१॥

शिव उवाच

द्विहस्तमात्रे तीर्थानि संभविष्यन्ति गौतम । सर्वत्राहं संनिहितः सर्वकामप्रदस्तथा ।।२।।

ब्रह्मोवाच

गङ्गाद्वारे प्रयागे च तथा सागरसंगमे । एतेषु पुण्यदा पुंसां मुक्तिदा सा भगीरथी ।।३।।
नर्मदा तु सरिच्छ्रेष्ठा पर्वतेऽमरकण्टके । यमुना संगता तत्र[1] प्रभासे तु सरस्वती ।।४।।
कृष्णा भीमरथी चैव तुङ्गभद्रा तु नारद । तिसृणां संगमो यत्र तत्तीर्थं मुक्तिदं नृणाम्[2] ।।५।।
पयोष्णी संगता यत्र[3] तत्रत्या[4] तच्च मुक्तिदम् । इयं तु गौतमी वत्स यत्र क्वापि ममाऽऽज्ञया ।।६।।
सर्वेषां सर्वदा नृणां[5] स्नानान्मुक्तिं प्रदास्यति । किंचित्काले पुण्यतमं किंचित्तीर्थं सुरागमे ।।७।।
सर्वेषां सर्वदा तीर्थं गौतमी नात्र संशयः । तिस्रः कोटयोऽर्धकोटी च योजनानां शतद्वये ।।८।।
तीर्थानि मुनिशार्दूल संभविष्यन्ति गौतम । इयं माहेश्वरी गङ्गा गौतमी वैष्णवीति च ।।९।।
ब्राह्मी गोदावरी नन्दा सुनन्दा कामदायिनी । ब्रह्मतेजः समानीता सर्वपापप्रणाशनी ।।१०।।
स्मरणादेव पापौघहन्त्री मम सदा प्रिया । पञ्चानामपि भूतानामापः श्रेष्ठत्वमागताः ।।११।।
तत्रापि तीर्थभूतास्तु तस्मादापः पराः स्मृताः । तासां भागीरथी श्रेष्ठा ताभ्योऽपि गौतमी तथा ।।१२।।

शिव बोले—गौतम ! दो हाथ परिमित स्थानों पर तीर्थ रहते हैं और सबके मनोरथ को पूर्ण करने वाला मैं सब स्थानों पर सर्वदा विद्यमान रहता हूँ ।।२।।

ब्रह्मा ने कहा—हरिद्वार, प्रयाग तथा गंगासागर-संगम में मुक्तिदायिनी भागीरथी अधिक पुण्य देनेवाली है ।।३।। नदियों में श्रेष्ठ नर्मदा अमरकण्टक पर्वत पर, यमुना संगम क्षेत्र में और सरस्वती प्रभास क्षेत्र में अधिक पुण्यप्रद मानी गयी हैं ।।४।। नारद ! कृष्णा, भीमरथी, तुंगभद्रा, ये तीनों नदियाँ जहाँ मिलती हैं, वह तीर्थ मनुष्यों के लिए मोक्षदायक है ।।५।। पयोष्णी नदी जहाँ संगम बनाती है वह स्थान और जो नदी उससे मिलती है दोनों मोक्षप्रद हैं। वत्स ! इस गौतमी गंगा में जहाँ-कहीं भी स्नान किया जाय, यह मेरी आज्ञा से सब लोगों को सर्वदा मोक्ष प्रदान करेगी। कुछ तीर्थ किसी विशेष अवसर पर देवताओं के आगमन पर अत्यन्त पुण्यदायक होते हैं, परन्तु गौतमी सब के लिए, सब काल में पुण्यप्रद तीर्थ है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। तीन करोड़ पचास लाख दो सौ योजन परिमित क्षेत्र में हे मुनिशार्दूल गौतम ! बहुत-से तीर्थ हैं और होंगे, परन्तु ये माहेश्वरी गंगा, गौतमी, वैष्णवी, ब्राह्मी, गोदावरी, नन्दा, सुनन्दा, कामदायिनी आदि नदियाँ ब्रह्म तेज से पृथ्वी पर लायी गयी हैं, इसलिए सब पापों को नष्ट करने वाली हैं। परन्तु मेरी प्रिया गौतमी स्मरण मात्र से ही पाप-समूह का नाश करने वाली है। पाँचों महाभूतों में जल श्रेष्ठ है। उसमें भी तीर्थीभूत जल अत्यन्त श्रेष्ठ माना गया है। उन तीर्थों में भी भागीरथी परमश्रेष्ठ मानी गयी है; परन्तु भागीरथी से भी गौतमी श्रेष्ठतर मानी गयी है। मुने ! यद्यपि स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल के

---

१ घ. यत्र । २ घ. स्मृतम् । ३ क. तत्र । ४ क. तपत्या । ५ क. ०णां नाम्ना मुक्ति ।

आनीता सजटा गङ्गा अस्या नान्यच्छुभावहम् । स्वर्गे भुवि तले वाऽपि तीर्थं सर्वार्थदं मुने ॥१३॥

ब्रह्मोवाच

इत्येतत्कथितं पुत्र गौतमाय महात्मने । साक्षाद्धरेण तुष्टेन मया तव निवेदितम् ॥१४॥
एवं सा गौतमी गङ्गा सर्वेभ्योऽप्यधिका मता । तत्स्वरूपं च कथितं कुतोऽन्या श्रवणस्पृहा ॥१५॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७॥
गौतमीमाहात्म्येऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अथाष्टसप्ततितमोऽध्यायः

सगराख्यानकथनम्

नारद उवाच

द्विविधा सैव गदिता एकाऽपि सुरसत्तम । एको भेदस्तु कथितो ब्राह्मणेनाऽऽहृतो [1]यतः ॥१॥
क्षत्रियेणापरोऽप्यंशो जटास्वेव व्यवस्थितः । भवस्य देवदेवस्य आहृतस्तद्वदस्व मे ॥२॥

सभी तीर्थ मनोरथ पूर्ण करने वाले हैं, किन्तु गौतमी जटासहित यहाँ लायी गयी है, अतः इससे अधिक शुभदायक अन्य तीर्थ नहीं है ॥६-१३॥

ब्रह्मा बोले—पुत्र ! ये सारी बातें स्वयं हर ने प्रसन्न होकर गौतम से कही थीं, जिन्हें मैंने तुमसे कह दिया । इस प्रकार वह गौतमी गंगा सबसे अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुई । इसके स्वरूप का परिचय मैंने दे ही दिया, अब अधिक क्या सुनने की इच्छा है ? ॥१४-१५॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में तीर्थ-माहात्म्य-प्रसंग में सतहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥७७॥

अध्याय ७८

सगर का आख्यान

नारद बोले—सुरश्रेष्ठ ! आपने उस एक ही गंगा के दो भेद कहे हैं, उनमें से एक अंश जिस प्रकार ब्राह्मण द्वारा जहाँ से लाया गया उसको तो कह दिया, अब दूसरा अंश जो कि देवदेव शिव की जटा में ही रहा गया था, वह क्षत्रिय भगीरथ द्वारा किस प्रकार लाया गया, उसे भी कहने की कृपा करें ॥१-२॥

---

[1] घ. मतः ।

ब्रह्मोवाच

वैवस्वतान्वये जात इक्ष्वाकुकुलसंभवः । पुरा वै सगरो नाम राजाऽऽसीदतिधार्मिकः ।।३।।
यज्वा दानपरो नित्यं धर्माचारविचारवान् । तस्य भार्याद्वयं चाऽऽसीत्पतिभक्तिपरायणम् ।।४।।
तस्य वै संततिर्नाभूदिति चिन्तापरोऽभवत् । वसिष्ठं गृहमाहूय संपूज्य विधिवत्ततः ।।५।।
उवाच वचनं राजा संततेः कारणं प्रति । इति तद्वचनं श्रुत्वा ध्यात्वा राजानमब्रवीत् ।।६।।

वसिष्ठ उवाच

सपत्नीकः सदा राजन्नृषिपूजापरो भव ।।७।।

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा स मुनिर्विप्र यथास्थानं जगाम ह । एकदा तस्य राजर्षेर्गृहमागात्तपोनिधिः ।।८।।
तस्यर्षेः पूजनं चक्रे स संतुष्टोऽब्रवीद्वचः । वरं ब्रूहि महाभागेत्युक्ते पुत्रान्स चावृणोत् ।।९।।
स मुनिः प्राह राजानमेकस्यां वंशधारकः । पुत्रो भूयात्तथाऽन्यस्यां षष्टिसाहस्रकं सुताः ।।१०।।
वरं दत्त्वा मुनौ याते पुत्रा जाताः सहस्रशः । स यज्ञान्सुबहूंश्चक्रे हयमेधान्सुदक्षिणान् ।।११।।
एकस्मिन्हयमेधे वै दीक्षितो विधिवन्नृपः । पुत्रान्व्ययोजयद्राजा ससैन्यान्हयरक्षणे ।।१२।।
क्वचिदन्तरमासाद्य हयं जह्रे शतक्रतुः । मार्गमाणाश्च ते पुत्रा नैवापश्यन्हयं तदा ।।१३।।

ब्रह्मा ने कहा—प्राचीन काल में वैवस्वत वंश की इक्ष्वाकु-कुल-परम्परा में सगर नामका एक अत्यन्त धार्मिक राजा हुआ। वह धर्मानुकूल आचार और विचार का पालन करता था और नित्य यज्ञानुष्ठान एवं दान दिया करता था। उसकी दो पतिव्रता स्त्रियाँ थीं। सन्तानहीन होने के कारण वह सर्वदा सन्तान-चिन्ता में ही लीन रहता था। एक दिन गुरु वसिष्ठ को घर बुलाकर उनकी विधिवत् पूजा की। तदनन्तर उनसे सन्तान न होने का कारण पूछा। राजा के प्रश्न को सुनकर कुछ समय ध्यान करके वसिष्ठ बोले ।।३-६।।

वसिष्ठ ने कहा—राजन्! तुम सर्वदा पत्नी सहित ऋषि-पूजा किया करो ।।७।।

ब्रह्मा बोले—इतना कहकर मुनि वसिष्ठ अपने स्थान को चले गये। एक दिन उस राजर्षि के घर एक तपस्वी आया ।।८।। राजा ने उस ऋषि की भक्तिपूर्वक पूजा की। उसकी पूजा से प्रसन्न होकर ऋषि ने कहा—'महाभाग! वर माँगो।' तव राजा ने ऋषि से पुत्रोत्पत्ति का वर माँगा ।।९।।

मुनि ने राजा से कहा—'तुम्हारी एक स्त्री से वंश बढ़ाने वाला यशस्वी पुत्र होगा। दूसरी से साठ हजार लड़के उत्पन्न होंगे' ।।१०।। इस प्रकार वर देकर मुनि चले गये। इधर राजा के हजारों लड़के उत्पन्न हुए। राजा ने वहुत-से अश्वमेध यज्ञ किये, जिनमें ब्राह्मणों को भरपूर दक्षिणा दी गयी ।।११।। एक अश्वमेध यज्ञ में जव राजा ने विधिपूर्वक दीक्षा ले ली तव अपने पुत्रों को सेना के साथ यज्ञाश्व की रक्षा के लिए नियुक्त किया ।।१२।। किन्तु शतक्रतु इन्द्र ने उस घोड़े का हरण कर लिया। सगर-पुत्र घोड़े को ढूँढ़ कर हार गये परन्तु कहीं पता नहीं

सहस्राणां तथा षष्टिर्नानायुद्धविशारदाः । तेषु पश्यत्सु रक्षांसि पुत्रेषु सगरस्य हि ॥१४॥
प्रोक्षितं तद्धयं नीत्वा ते रसातलमागमन् । राक्षसान्मायया युक्तान्नैवापश्यन्त सागराः ॥१५॥
न दृष्ट्वा ते हयं पुत्राः सगरस्य बलीयसः । इतश्चेतश्चरन्तस्ते नैवापश्यन्हयं तदा ॥१६॥
देवलोकं तदा जग्मुः पर्वतांश्च सरांसि च । वनानि च विचिन्वन्तो नैवापश्यन्हयं तदा ॥१७॥
कृतस्वस्त्ययनो राजा ऋत्विग्भिः कृतमङ्गलः । अदृष्ट्वा तु पशुं रम्यं राजा चिन्तामुपेयिवान् ॥१८॥
[1]अटन्तः सागराः सर्वे[2] देवलोकमुपागमन् । हयं तमनुचिन्वन्तस्तत्रापि न हयोऽभवत् ॥१९॥
ततो महीं समाजग्मुः पर्वतांश्च वनानि च । तत्रापि च हयं नैव दृष्टवन्तो नृपात्मजाः ॥२०॥
एतस्मिन्नन्तरे यत्र दैवी वागभवत्तदा । रसातले हयो बद्ध आस्ते नान्यत्र सागराः ॥२१॥
इति श्रुत्वा ततो वाक्यं गन्तुकामा रसातलम् । अखनन्पृथिवीं सर्वां परितः सागरास्ततः ॥२२॥
ते क्षुधार्ता मृदं शुष्कां भक्षयन्तस्त्वहर्निशम् । न्यखनंश्चापि जग्मुश्च सत्वरास्ते रसातलम् ॥२३॥
तानागतान्भूपसुतान्सागरान्बलिनः कृतीन् । श्रुत्वा रक्षांसि संत्रस्ता व्यगमन्कपिलान्तिकम् ॥२४॥
कपिलोऽपि महाप्राज्ञस्तत्र शेते रसातले । पुरा च साधितं तेन देवानां कार्यमुत्तमम् ॥२५॥
विनिद्रेण ततः श्रान्तः सिद्धे कार्ये सुरान्प्रति । अब्रवीत्कपिलः श्रीमान्निद्रास्थानं प्रयच्छथ (त) ॥२६॥
रसातलं ददुस्तस्मै पुनराह सुरान्मुनिः । यो मामुत्थापयेन्मन्दो भस्मी भूयाच्च सत्वरम् ॥२७॥

चला ॥१३॥ भिन्न-भिन्न प्रकार की युद्धविद्या में कुशल उन साठ हजार सगर-पुत्रों के देखते रहने पर भी (इन्द्र के अनुगामी) राक्षस लोग उस यज्ञाभिषिक्त अश्व को लेकर रसातल चले गये । किन्तु सगर-पुत्रों ने मायावी राक्षसों को नहीं देखा ॥१४-१५॥ राजा सगर के वे बलवान् पुत्र अश्व को न पाकर इधर-उधर ढूँढ़ते हुए देवलोक में गये, पर्वत, सरोवर, वनों को छान डाला; फिर भी घोड़े का कुछ पता न चला ॥१६-१७॥ इधर राजा ने स्वस्त्ययन क्रिया की और ऋत्विजों ने मंगल क्रिया की; परन्तु उस यज्ञाश्व को आया न देखकर राजा अधिक चिन्तित हो गया ॥१८॥ देवेलोक में ढूँढ़ने के पश्चात् सगर-पुत्र पृथ्वी पर आये, पर्वतों और वनों को छान डाला किन्तु घोड़ा कहीं भी दिखायी न पड़ा ॥१९-२०॥ इसी बीच यह आकाशवाणी हुई कि 'सगर-कुमार ! रसातल में घोड़ा बँधा हुआ है, दूसरी जगह नहीं है ॥२१॥ ऐसी आकाशवाणी सुनकर वे सब रसातल जाने के लिए चारों ओर से पृथ्वी को खोदने लगे ॥२२॥ भूख से व्याकुल वे लोग सूखी मिट्टी खा-खाकर रात-दिन परिश्रम कर पृथ्वी खोद कर रसातल में पहुँच गये ॥२३॥ उन बली, कर्मठ एवं कार्य-कुशल, सगर-कुमारों का आगमन सुनकर राक्षस भयत्रस्त हो कपिल मुनि के समीप चले गये ॥२४॥ महाज्ञानी कपिल मुनि भी उस समय रसातल में ही सोये हुए थे । बहुत पहले उन्होंने देवताओं का एक उत्तम कार्य सिद्ध किया था ॥२५॥ रात-दिन जाग कर कार्य करने से थके हुए कपिल मुनि ने देवताओं से कहा "मुझे सोने के लिए स्थान दो" ॥२६॥ तब देवताओं ने उन्हें सोने के लिए रसातल लोक दे दिया । कपिल मुनि दे देवों से कहा—"जो कोई मन्दमति मुझे जगाये ॥२७॥ वह शीघ्र ही भस्म हो जाय, ऐसा होने पर ही मैं रसातल में जाकर सो

---

[1] घ. अथ ते सा० । [2] क. ० र्वे लोकपालमु० ।

ततः शये तलगतो नो चेन्न स्वप्न एव हि । तथेत्युक्तः सुरगणैस्तत्र शेते रसातले ।।२८।।
तस्य प्रभावं ते ज्ञात्वा राक्षसा मायया युताः । सागराणां च सर्वेषां वधोपायं प्रचक्रिरे ।।२९।।
विना युद्धेन ते भीता राक्षसाः सत्वरास्तदा । आगत्य यत्र स मुनिः कपिलः कोपनो महान् ।।३०।।
शिरोदेशे हयं ते वै बद्ध्वाऽथ त्वरयाऽन्विताः । दूरे स्थित्वा मौनिनश्च प्रेक्षन्र्तः किं भवेदिति ।।३१।।
ततस्तु सागराः सर्वे निर्विशन्तो रसातलम् । ददृशुस्ते हयं बद्धं शयानं पुरुषं तथा ।।३२।।
तं मेनिरे च हर्तारं क्रतुहन्तारमेव च । एनं हत्वा महापापं नयामोऽश्वं नृपान्तिकम् ।।३३।।
केचिदूचुः पशुं बद्धं नयामोऽनेन किं फलम् । तदाऽऽहुरपरे शूरा राजानः शासका वयम् ।।३४।।
उत्थाप्यैनं महापापं हन्मः क्षात्रेण वर्चसा । ते तं जघ्नुर्मुनिं पादैर्ब्रुवन्तो निष्ठुराणि च ।।३५।।
ततः कोपेन महता कपिलो मुनिसत्तमः । सागरानीक्षयामास तान्कोपाद्भस्मसात्करोत् ।।३६।।
जज्वलुस्ते ततस्तत्र सागराः सर्व एव हि । तत्तु सर्वं न जानाति दीक्षितः सगरो नृपः ।।३७।।
नारदः कथयामास सगराय महात्मने । कपिलस्य तु संस्थानं हयस्यापि तु संस्थितिम् ।।३८।।
राक्षसानां तु विकृतिं सागराणां च नाशनम् । ततश्चिन्तापरो राजा कर्त्तव्यं नावबुध्यत ।।३९।।
अपरोऽपि सुतश्चाऽऽसीदसमञ्जा इति श्रुतः । स तु बालांस्तथा पौरान्मौर्ख्यात्क्षिपति चाम्भसि ।।४०।।
सगरोऽप्यथ विज्ञप्तः पौरैः संमिलितैस्तदा । दुर्नयं तस्य तं ज्ञात्वा ततः क्रुद्धोऽब्रवीन्नृपः ।।४१।।

सकता हूँ अन्यथा मुझे नींद नहीं आयेगी ।।" देवताओं ने उनकी इच्छा के अनुरूप वर दे दिया । इसलिए वे वहाँ रसातल में सोये हुए थे ।।२८।। मायावी राक्षसों ने मुनि के उस प्रभाव को जानकर (मायापूर्वक) उन सगर-पुत्रों के वध का उपाय किया ।।२९।। भयभीत राक्षस बिना युद्ध किये ही शीघ्र वहाँ आये, जहाँ महाक्रोधी कपिल मुनि थे और उनके सिर की ओर घोड़े को बाँध कर तुरंत वहाँ से हट गये । दूर जाकर चुपचाप छिपकर यह देखने लगे कि क्या परिणाम होता है ।। ३०-३१।। इसके अनन्तर वे सब सगरपुत्र रसातल में पहुँचे । वहाँ उन लोगों ने बँधे हुए घोड़े और सोये हुए एक पुरुष को देखा ।। ३२।। उस पुरुष को ही उन सबों ने घोड़े का चोर और यज्ञ-विध्वंसक समझा । उनमें से कुछ लोगों ने कहा कि इस पापी को मारकर अश्व को राजा के निकट ले चलें ।। ३३।। किसी ने कहा कि बँधे हुए घोड़े को ही ले चलना चाहिये, इस पुरुष को मारने से क्या लाभ ? यह सुनकर दूसरे कुछ शूर पुरुषों ने कहा कि हम शासक राजा हैं ।। ३४।। इस महापापी को उठाकर क्षात्र तेज से इसको मारेंगे । ऐस कहकर मुनि को अनुचित बातें कहते हुए वे पैरों से मारने लगे ।।३५।। इस पर महामुनि कपिल ने अत्यन्त क्रोध से उन सगर-पुत्रों को देखा और देखते ही वे सब मुनि के क्रोधाग्नि में भस्म हो गये ।। ३६।। इस दुर्घटना को यज्ञ में दीक्षित नृप सगर नहीं जानते थे ।।३७।। नारद ने आकर उनसे कपिल का रसातल में रहना और वहाँ घोड़े का बाँधा जाना, राक्षसों का कपट व्यवहार, तथा उनके पुत्रों का सर्वनाश आदि सारी बातें बता दीं ।।३८।। इन बातों को सुनकर राजा अत्यन्त चिन्तित हो गये, अब क्या करना चाहिये यह भी न सोच सके ।। ३९।। राजा का दूसरा पुत्र एक असमंजस नाम का था । वह अपनी दुष्टता और अज्ञानता के कारण नगर के बालकों को जल में फेंक देता था ।।४०।। नरगवासियों ने मिलकर राजा से यह बात बतायी । उसके इस अत्याचार को जानकर राजा अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और मन्त्रियों से बोला कि असमंजस क्षत्रिय-धर्मभ्रष्ट और बालकों को मारने वाला है । इसलिए यह देश से

स्वानमात्यांस्तदा राजा देशत्यागं करोत्वयम् । असमञ्जाः क्षत्रधर्मत्यागी वै बालघातकः ॥४२॥
सगरस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वाऽमात्यास्त्वरान्विताः । तत्यजुर्नृपतेः पुत्रमसमञ्जा गतो वनम् ॥४३॥
सागरा ब्रह्मशापेन नष्टाः सर्वे रसातले । एकोऽपि च वनं प्राप्त इदानीं का गतिर्मम ॥४४॥
अंशुमानिति विख्यातः पुत्रस्तस्यासमञ्जसः । आनाय्य बालकं राजा कार्यं तस्मै न्यवेदयत् ॥४५॥
कपिलं च समाराध्य अंशुमानपि बालकः । सगराय हयं प्रादात्ततः पूर्णोऽभवत्क्रतुः ॥४६॥
तस्यापि पुत्रस्तेजस्वी दिलीप इति धार्मिकः । तस्यापि पुत्रो मतिमान्भगीरथ इति श्रुतः ॥४७॥
पितामहानां सर्वेषां गतिं श्रुत्वा सुदुःखितः । सगरं नृपशार्दूलं पप्रच्छ विनयान्वितः ॥४८॥
सागराणां तु सर्वेषां निष्कृतिस्तु कथं भवेत् । भगीरथं नृपः प्राह कपिलो वेत्ति पुत्रक ॥४९॥
तस्य तद्ववचनं श्रुत्वा बालः प्रयाद्रसातलम् । कपिलं च नमस्कृत्वा सर्वं तस्मै न्यवेदयत् ॥५०॥
स मुनिस्तु चिरं ध्यात्वा तपसाऽऽराध्य शंकरम् । जटाजलेन स्वपितॄनाप्लाव्य नृपसत्तम ॥५१॥
ततः कृतार्थो भविता त्वं च ते पितरस्तथा । तथा करोमीति मुनिं प्रणम्य पुनरब्रवतीत् ॥५२॥
क्व गच्छेऽहं मुनिश्रेष्ठ कर्त्तव्यं चापि तद्वद ॥५३॥

कपिल उवाच

कैलासं तं नरश्रेष्ठ गत्वा स्तुहि महेश्वरम् । तपः कुरु यथाशक्ति ततश्चेप्सितमाप्स्यसि ॥५४॥

निकाल दिया जाय ॥४१-४२॥ राजा सगर की आज्ञा सुनकर मन्त्रियों ने शीघ्र ही राजपुत्र को देश से निकाल दिया । वह वन को चला गया ॥४३॥ राजा सोचने लगे कि मेरे साठ हजार पुत्र रसातल में मुनिशाप से भस्म हो गये और एक जो था वह भी वन को चला गया, अव मेरे लिये कौन-सा मार्ग है ॥४४॥ अंशुमान् नाम से प्रसिद्ध असमंजस का एक पुत्र था । राजा ने उस बालक को वुलवा कर यह कार्यभार उसको सौंप दिया ॥४५॥ वालक अंशुमान् ने कपिल मुनि को प्रसन्न कर घोड़ा लाकर सगर को दे दिया । तदनन्तर वह यज्ञ समाप्त हुआ ॥४६॥ अंशुमान् का पुत्र दिलीप तेजस्वी तथा धार्मिक था । उसके भगीरथ नाम का वुद्धिमान् पुत्र हुआ ॥४७॥ अपने पितामहों की गति सुनकर अत्यन्त दुःखी भगीरथ ने हाथ होड़कर विनयपूर्वक नृप-शार्दूल सगर से पूछा ॥४८॥ मेरे पितामहों का उद्धार कैसे होगा । राजा ने भगीरथ से कहा—पुत्रक ! इसको कपिल मुनि ही जानते हैं ॥४९॥ यह सुनकर वालक भगीरथ कपिलमुनि के पास रसातल लोक को गया । मुनि को नमस्कार कर सारी कथा उनसे कह दी ॥५०॥ तव मुनि वोले—नृपश्रेष्ठ ! चिरकाल तक ध्यानावस्थित होकर अपनी तपस्या से शंकर की आराधना करके प्रसन्न करो । उनकी जटा में स्थित गंगा के जल से अपने पितरों को अभिषिक्त करो ॥५१॥ तुम स्वयं कृतार्थ (सफल) होगे और अपने पितरों को भी कृतकृत्य कर सकोगे । 'मैं आपके आदेशानुसार कार्य करूँगा' यह कहकर भगीरथ ने मुन को प्रणाम करके कहा—'मुनिश्रेष्ठ ! मैं कहाँ जाऊँ, किस प्रकार साधना करूँ,' कृपया यह भी वतलाइये ॥५२-५३॥

कपिल ने कहा—नरश्रेष्ठ ! कैलास पर जाकर महेश्वर की स्तुति और यथाशक्ति तपस्या करो । तभी तुम अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकोगे ॥५४॥

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वा स मुनेर्वाक्यं मुनिं नत्वा त्वगान्नगम् । कैलासं स शुचिर्भूत्वा बालो बालक्रियान्वितः ।।
तपसे निश्चयं कृत्वा उवाच स भगीरथः ।।५५।।

भगीरथ उवाच

बालोऽहं बालबुद्धिश्च बालचन्द्रधर प्रभो । नाहं किमपि जानामि ततः प्रीतो भव प्रभो ।।५६।।

वाग्भिर्मनोभिः कृतिभिः कदाचिन्ममोपकुर्वन्ति हिते रता ये ।
तेभ्यो हितार्थं त्विह चामरेश, सोमं नमस्यामि सुरादिपूज्यम् ।।५७।।
उत्पादितो यैरभिवर्धितश्च, समानगोत्रश्च समानधर्मा ।
तेषामभीष्टानि शिवः करोतु, बालेन्दुमौलिं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ।।५८।।

ब्रह्मोवाच

एवं तु ब्रुवतस्तस्य पुरस्तादभवच्छिवः । वरेण च्छन्दयानो[१] वै भगीरथमुवाच ह ।।५९।।

शिव उवाच

यन्न साध्यं सुरगणैर्देयं तत्ते मया ध्रुवम् । वदस्व निर्भयो भूत्वा भगीरथ महामते ।।६०।।

ब्रह्मा ने कहा—वह वालक मुनि की वातों को सुनकर उन्हें प्रणाम करके कैलास पर्वत पर चला गया। वहाँ पवित्र होकर अपने वाल-सुलभ व्यवहार के साथ तपस्या का दृढ़ निश्चय करके शंकर की स्तुति करने लगा।।२५।।

भगीरथ ने कहा—वालचन्द्र को धारण करने वाले प्रभो ! मैं वाल हूँ, वालवुद्धि हूँ, कुछ भी नहीं जानता हूँ। इसलिए प्रभो ! मुझ वालक पर प्रसन्न हो जाओ ।।५६।। देवेश, जो किसी समय मेरा मन, वाणी और कर्म से सदा उपकार और हित किया करते थे, उन्हीं पूर्वजों के उद्धार के लिए मैं देवों के पूज्य शंकर को नमस्कार करता हूँ ।।५७।। जिन महापुरुषों के द्वारा मैं उत्पन्न किया गया हूँ, पाल-पोस कर वड़ा वनाया गया हूँ, जिनका मैं सगोत्री और सधर्मी हूँ, उनकी इष्ट-सिद्धि (उद्धार) शिव जी करें, मैं वालचन्द्र को धारण करनेवाले शंकर को नित्य प्रणाम करता हूँ ।।५८।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार भगीरथ प्रार्थना कर ही रहे थे कि शंकर जी ने वरदान देने की इच्छा से भगीरथ से कहा ।।५९।।

शिव बोले—महामति भगीरथ ! जो देवों के लिए दुष्प्राप्य है उस वर को भी तुम प्राप्त कर सकते हो। इसलिए निर्भीक होकर कहो ।।६०।।

---

[१] घ. ०यामास भ० ।

ब्रह्मोवाच

भगीरथः प्रणम्येशं हृष्टः प्रोवाच शंकरम् ॥६१॥

भगीरथ उवाच

जटास्थितां पितॄणां मे पावनाय सरिद्वराम् । तामेव देहि देवेश सर्वमाप्तं ततो भवेत् ॥६२॥

ब्रह्मोवाच

महेशोऽपि विहस्याथ भगीरथमुवाच ह ॥६३॥

शिव उवाच

दत्ता मयेयं ते पुत्र पुनस्त्वां स्तुहि सुव्रत ॥६४॥

ब्रह्मोवाच

तद्देववचनं श्रुत्वा तदर्थं तु तपो महत् । स्तुतिं चकार गङ्गाया भक्त्या प्रयतमानसः ॥६५॥
तस्या अपि प्रसादं च प्राप्य बालोऽप्यबालवत् । गङ्गां महेश्वरात्प्राप्तामादायागाद्रसातलम् ॥६६॥
न्यवेदयत्स मुनये कपिलाय महात्मने । यथोदितप्रकारेण गङ्गां संस्थाप्य यत्नतः ॥६७॥
प्रदक्षिणमथाऽऽवर्त्य कृताञ्जलिपुटोऽब्रवीत् ॥६८॥

भगीरथ उवाच

देवि मे पितरः शापात्कपिलस्य महामुनेः । प्राप्तास्ते विगतिं मातस्तस्मात्तान्पातुमर्हसि ॥६९॥

ब्रह्मा बोले—भगीरथ ने शंकर को प्रणाम किया और प्रसन्नतापूर्वक उनसे कहा ॥६१॥

भगीरथ ने कहा—मेरे पितरों के उद्धार के लिए अपनी जटा में रखी हुई उत्तम सरिता (गंगा) को प्रदान करें। इस दान से ही मेरे मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे ॥६२॥

ब्रह्मा बोले—इसके वाद शंकर ने हँसकर भगीरथ से कहा ॥६३॥

शिव बोले—पुत्र ! मैंने गंगा को तुम्हें दे दिया । सुव्रत ! अव उसकी स्तुति करो ॥६४॥

ब्रह्मा ने कहा—भगवान् शंकर की वातों को सुनकर भगीरथ ने गंगा को प्रसन्न करने के लिए एकाग्र मन से महान् तपस्या और गंगा की स्तुति की । वालक होते हुए भी भगीरथ ने अवालक के समान गंगा का कृपापात्र वनकर महेश्वर द्वारा दी गयी गंगा को लेकर रसातल चले गये । वहाँ जाकर उन्होंने मुनि से सव कुछ कहा और उनके आदेशानुसार यत्नपूर्वक गंगा की स्थापना की । तदनन्तर उनकी परिक्रमा कर बद्धाञ्जलि होकर कहा ॥६५-६८॥

भगीरथ ने कहा—देवि ! मेरे पितर महामुनि कपिल के शाप से दुर्गति को प्राप्त हो गये हैं । उस पाप से हे माता ! तुम्हीं उन लोगों का उद्धार कर सकती हो ॥६९॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा सुरनदी सर्वेषामुपकारिका । लोकानामुपकारार्थं पितॄणां पावनाय च ।।७०।।
अगस्त्यपीतस्याम्भोधेः पूरणाय विशेषतः । स्मरणादेव पापानां नाशाय सुरनिम्नगा ।।७१।।
भगीरथोदितं चक्रे रसातलतले स्थितान् । भस्मीभूतान्नृपसुतान्सागरांश्च विशेषतः ।।७२।।
विनिर्दग्धानथाऽऽप्लाव्य खातपूरमथाकरोत् । ततो मेरुं समाप्लाव्य स्थितां बालोऽब्रवीन्नृपः ।।७३।।
कर्मभूमौ त्वया भाव्यं तथेत्यागाद्धिमालयम् । हिमवत्पर्वतात्पुण्याद्भारतं वर्षमभ्यगात् ।।७४।।
तन्मध्यतः पुण्यनदी प्रायात्पूर्वार्णवं प्रति । एवमेषाऽपि ते प्रोक्ता गङ्गा क्षात्रा महामुने ।।७५।।
माहेश्वरी वैष्णवी च सैव ब्राह्मी च पावनी । भागीरथी देवनदी हिमवच्छिखराश्रया ।।७६।।
महेश्वरजटावारि एवं द्वैविध्यमागतम् । विन्ध्यस्य दक्षिणे गङ्गा गौतमी सा निगद्यते ।।
उत्तरे साऽपि विन्ध्यस्य भागीरथ्यभिधीयते ।।७७।।

इति श्री महापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे भागीरथ्यवतरणं नामाष्टसप्ततितमोऽध्यायः ।।७८।।
गौतमीमाहात्म्ये नवमोऽध्यायः ।।९।।

ब्रह्मा ने कहा—सबका उपकार करने वाली देवनदी गंगा ने 'ऐसा ही हो'' कह यह कहकर लोक-कल्याण के लिए पितरों को पुनीत करने के लिए विशेषरूप से अगस्त्य द्वारा पान किये गये समुद्र को भर देने के लिए, और स्मरणमात्र से पापों का नाश करने के लिए भगीरथ के कथनानुसार कार्य किया । पहले तो उसने प्रधानरूप से भस्मीभूत राजा सगर के पुत्रों को जल से भलीभाँति अभिषिक्त किया, तदनंतर उनसे खोदे गये गड्ढों को जल से भर दिया । फिर वहाँ से मेरु पर्वत पर आकर विराजमान हो गयी । यह देखकर बालक राजा भगीरथ ने कहा आपको कर्मभूमि (भारतभूमि) पर चलना चाहिये । इसको भी स्वीकार कर वह हिमालय पर्वत पर चली गयी । उस हिमालय पर्वत से पुण्य-भूमि भारतवर्ष में आ गयी । उसके मध्य से होकर वह पुण्य नदी पूर्वसागर (वंग सागर) की ओर चली गयी (और उसमें मिल गयी) । महामुनि नारद ! इस प्रकार मैंने क्षत्रिय द्वारा लायी हुई गंगा के विषय में सुना दिया । वही माहेश्वरी वैष्णवी और पवित्र ब्राह्मी है । उसी को भगीरथी, देवनदी और हिमालय के शिखर पर रहने वाली (हिमालयशिराश्रया) कहते हैं । इस प्रकार महेश्वर की जटा का वह शुभ जल दो भागों में विभक्त हो गया । विन्ध्य के दक्षिण में वह गंगा गौतमी नाम से कही जाती है और विन्ध्य के उत्तर प्रदेश की गंगा भागीरथी इस नाम से पुकारी जाती है ।।७०-७७।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में भागीरथी-अवतरण नामक अठहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ।।७८।।

अथोनाशीतितमोऽध्यायः

वराहतीर्थवर्णनम्

नारद उवाच

न मनस्तृप्तिमाधत्ते कथाः शृण्वत्त्वयेरिताः । पृथक्तीर्थफलं श्रोतुं प्रवृत्तं मम मानसम् ।।१।।
क्रमशो ब्राह्मणानीतां गङ्गां मे प्रथमं वद । पृथक्तीर्थफलं पुण्यं सेतिहासं यथाक्रमम् ।।२।।

ब्रह्मोवाच

तीर्थानां च पृथग्भावं फलं माहात्म्यमेव च । सर्वं वक्तुं न शक्नोमि न च त्वं श्रवणे क्षमः ।।३।।
तथाऽपि किंचिद्वक्ष्यामि शृणु नारद यत्नतः । यान्युक्तानि च तीर्थानि श्रुतिवाक्यानि यानि च ।।४।।
तानि वक्ष्यामि संक्षेपान्नमस्कृत्वा त्रिलोचनम् । यत्रासौ भगवानासीत्प्रत्यक्षस्त्र्यम्बको मुने ।।५।।
त्र्यम्बकं नाम तत्तीर्थं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् । वाराहमपरं तीर्थं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।।६।।
तस्य रूपं प्रवक्ष्यामि नाम विष्णोर्यथाऽभवत् । पुरा देवान्पराभूय यज्ञमादाय राक्षसः ।।७।।
रसातलमनुप्राप्तः सिन्धुसेन इति श्रुतः । यज्ञे तलमनुप्राप्ते निर्यज्ञा ह्यभवन्मही ।।८।।
नायं लोकोऽस्ति न परो यज्ञे नष्ट इतीत्वराः । सुरास्तमेव विविशू रसातलमनुद्विषम् ।।९।।

अध्याय ७९

वराहतीर्थ का वर्णन

नारद ने कहा—आपसे कथाओं को सुनकर मेरा मन तृप्त नहीं हो रहा है । अव पृथक्-पृथक् तीर्थों के फल सुनने की ओर मेरी प्रवृत्ति हो रही है । इसलिए क्रमशः पहले ब्राह्मण गौतम द्वारा लायी गयी गंगा का फल, पुनः इतिहास सहित पवित्र तीर्थों के फल क्रमशः सुनाने की कृपा करें ।।१-२।।

ब्रह्मा ने कहा—तीर्थों का पार्थक्य (भेद) फल और माहात्म्य आदि न तो पूर्णरूपेण मैं कह सकता हूँ और न तुम्हीं उनको सुनने में समर्थ हो ।।३।। फिर भी संक्षेप रूप से कुछ कह दूँगा, नारद ! सावधान होकर सुनो । जितने तीर्थ वताये गये हैं और जितने श्रुति-परम्परा से प्रसिद्ध हैं उन सबका संक्षिप्त वर्णन भगवान् शंकर को नमस्कार करके कर रहा हूँ ।।४$\frac{१}{३}$।। मुने ! जहाँ पर भगवान् त्र्यम्वक (शंकर) प्रत्यक्ष रूप में निवास करते हैं, वह लौकिक एवं पारलौकिक फल को देने वाला त्र्यम्वक नामक तीर्थ है । दूसरा तीनों लोकों में विख्यात वराह नामक तीर्थ है ।।५-६।। किस प्रकार वह भगवान् विष्णु के नाम से प्रसिद्ध हुआ उसका स्वरूप और इतिहास कह रहा हूँ । पूर्वकाल में सिन्धुसेन नामक राक्षस देवताओं को पराजित कर उनसे यज्ञ को छीनकर रसातल लोक में चला गया । यज्ञ के चले जाने से पृथ्वी यज्ञहीन हो गयी ।।७-८।। यज्ञ के नष्ट हो जाने से भूलोक और स्वर्गलोक दोनों स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं, यह सोचकर देवगण शीघ्र ही उस शत्रु के पीछे-पीछे रसातल लोक में घुस गये ।।९।। परन्तु इन्द्र के

नाशक्नुवंस्तु तं जेतुं देवा इन्द्रपुरोगमाः । विष्णुं पुराणपुरुषं गत्वा तस्मै न्यवेदयन् ॥१०॥
राक्षसस्य तु तत्कर्म यज्ञभ्रंशमशेषतः । ततः प्रोवाच भगवान्वाराहं वपुरास्थितः ॥११॥
शङ्खचक्रगदापाणिर्गत्वा चैव रसातलम् । आनयिष्ये मखं पुण्यं हत्वा राक्षसपुंगवान् ॥१२॥
स्वः प्रयान्तु सुराः सर्वे व्येतु वो मानसो ज्वरः । येन गङ्गा तलं प्राप्ता पथा तेनैव चक्रधृक् ॥१३॥
जगाम तरसा पुत्र भुवं भित्त्वा रसातलम् । स वराहवपुः श्रीमान्रसातलनिवासिनः ॥१४॥
राक्षसान्दानवान्हत्वा मुखे धृत्वा महाध्वरम् । वाराहरूपी भगवान्मखमादाय यज्ञभुक् ॥१५॥
येन प्राप तलं विष्णुः पथा तेनैव शत्रुजित् । मुखे न्यस्य महायज्ञं निश्चक्राम रसातलात् ॥१६॥
तत्र ब्रह्मगिरौ देवाः प्रतीक्षां चक्रिरे हरेः । पथस्तस्माद्विनिःसृत्य गङ्गास्रवणमभ्यगात् ॥१७॥
प्राक्षालयच्च स्वाङ्गानि असृग्लिप्तानि नारद । गङ्गाम्भसा तत्र कुण्डं वाराहमभवत्ततः ॥१८॥
मुखे न्यस्तं महायज्ञं देवानां पुरतो हरिः । दत्तवांस्त्रिदशश्रेष्ठो मुखाद्यज्ञोऽभ्यजायत ॥१९॥
ततः प्रभृति यज्ञाङ्गं प्रधानं स्रुव उच्यते । वाराहरूपमभवदेवं वै कारणान्तरात् ॥२०॥
तस्मात्पुण्यतमं तीर्थं वाराहं सर्वकामदम् । तत्र स्नानं च दानं च सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥२१॥
तत्र स्थितोऽपि यः कश्चित्पितॄन्स्मरति पुण्यकृत् । विमुक्ताः सर्वपापेभ्यः पितरः स्वर्गमाप्नुयुः ॥२२॥
इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये वराहतीर्थवर्णनं नामोनाशीतितमोऽध्यायः ॥७९॥
गौतमीमाहात्म्ये दशमोऽध्यायः ॥१०॥

नेतृत्व में जाने वाले वे देव उसको जीत न सके, इसलिए पुराणपुरुष विष्णु के पास जाकर उन्होंने राक्षस का वह कुकृत्य और यज्ञलोप होने का समाचार पूर्णरूप से निवेदन किया ॥१०½॥ सुनकर भगवान् ने कहा कि मैं वराह शरीर धारण कर हाथ में शंख, चक्र, गदा लेकर रसातल को जाऊँगा और वहाँ के वड़े-वड़े राक्षसों को मारकर पुनीत यज्ञ को ले आऊँगा ॥११-१२॥ आप सव देवगण स्वर्गलोक को जाइये और मानसिक चिन्ता को छोड़ दीजिये । पुत्र ! जिस मार्ग से गंगा रसातल लोक को गयी थीं उसी मार्ग से वह चक्रधारी भगवान् पृथ्वी को फाड़कर चले गये ॥१३½॥ वह वराहरूपधारी श्रीमान् रसातल-निवासी राक्षसों एवं दानवों को मारकर, महायज्ञ को मुख पर रख लिया । पुनः वराहरूपधारी, यज्ञ के भोक्ता तथा शत्रुओं के विजेता विष्णु जिस पथ से गये थे उसी पथ से महायज्ञ को मुख पर रखे हुए रसातल से निकल आये ॥१४-१६॥ इधर व्रह्मगिरि पर देवता भगवान् की प्रतीक्षा कर रहे थे । नारद ! उस मार्ग से निकल कर विष्णु गंगा की धारा में पहुँचे ॥१७॥ वहाँ गंगा-जल से रक्त लगे अपने अंगों को धोया । इसलिए वहाँ का वह कुण्ड वाराह नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१८॥ देव-शिरोमणि भगवान् हरि ने मुख पर रखे हुए महायज्ञ को देवताओं के सामने रख दिया । इसलिए मुख से यज्ञ की पुनः उत्पत्ति हुई ॥१९॥ तभी से स्रुव प्रधान यज्ञांग कहा जाता है, इस प्रकार कारणान्तर से वाराह रूप हुआ॥२०॥ इस कारण वाराह सव कामों को देने वाला तीर्थ है । वहाँ का स्नान और दान सम्पूर्ण यज्ञों के फल देने वाला है ॥२१॥ जो कोई पुण्यकर्मा वहाँ स्थित होकर भी अपने पितरों का स्मरण करता है, उसके वे पितर सव पापों से मुक्त होकर स्वर्ग में चले जाते हैं ॥२२॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में वराहतीर्थवर्णन नामक उन्यासीवाँ अध्याय समाप्त ॥७९॥

अथाशीतितमोऽध्यायः

कपोततीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

कुशावर्तस्य माहात्म्यमहं वक्तुं न ते क्षमः । तस्य स्मरणमात्रेण कृतकृत्यो भवेन्नरः ।।१।।
कुशावर्तमिति ख्यातं नराणां सर्वकामदम् । कुशेनाऽऽवर्तितं यत्र गौतमेन महात्मना ।।२।।
कुशेनाऽऽवर्तयित्वा तु आनयामास तां मुनिः । तत्र स्नानं च दानं च पितृणां तृप्तिदायकम् ।।३।।
नीलगङ्गा सरिच्छ्रेष्ठा निःसृता नीलपर्वतात् । तत्र स्नानादि यत्किंचित्करोति प्रयतो नरः ।।४।।
सर्वं तदक्षयं विद्यात्पितृणां तृप्तिदायकम् । विश्रुतं त्रिषु लोकेषु कपोतं तीर्थमुत्तमम् ।।५।।
तस्य रूपं च वक्ष्यामि मुने शृणु महाफलम् । तत्र ब्रह्मगिरौ कश्चिद्व्याधः परमदारुणः ।।६।।
हिनस्ति ब्राह्मणान्साधून्यतीन्गोपक्षिणो मृगान् । एवंभूतः स पापात्मा क्रोधनोऽनृतभाषणः ।।७।।
भीषणाकृतिरत्युग्रो नीलाक्षो ह्रस्वबाहुकः । दन्तुरो नष्टनासाक्षो ह्रस्वपात्पृथुकुक्षिकः ।।८।।
ह्रस्वोदरो ह्रस्वभुजो विकृतो गर्दभस्वनः । पाशहस्तः पापचित्तः [1]पापिष्ठः सधनुः सदा ।।९।।

अध्याय ८०

कपोततीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—मैं कुशावर्ततीर्थ की महिमा तुमसे कहने में समर्थ नहीं हूँ । उसके स्मरण मात्र से ही मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है ।।१।। जहाँ पर महात्मा मुनि गौतम ने कुशा से घुमाया था, वह मनुष्यों के सव मनोरथों को देने वाला स्थान कुशावर्त नाम से प्रसिद्ध हुआ ।।२।। मुनि कुश से गंगा को घुमा कर लाये थे । वहाँ का स्नान और दान पितरों को तृप्त करने वाला है ।।३।। नील गंगा नाम की उत्तम नदी नील पर्वत से निकली हुई है, उसमें मनुष्य एकाग्रचित्त से स्नान आदि से जो कुछ करता है वह पितरों के लिए अक्षय तृप्ति को देनवाला होता है ।।४।। तीनों लोकों में कपोत तीर्थ अति प्रसिद्ध उत्तम तीर्थ है ।।५।। मुने ! उसका इतिहास और फल वता रहा हूँ, सुनो—ब्रह्म पर्वत पर कोई एक अतिक्रूर (शिकारी) रहता था ।।६।। वह ब्राह्मण, साधु, यति, गौ, पक्षी और जंगली जीवों को मारा करता था । ऐसा हिंसक वह पापात्मा, क्रोधी, असत्यवादी, भयंकर आकारवाला और अत्यन्त उद्धत था । उसकी आँख नीले रंग की, भुजाएँ छोटी-छोटी, दाँत निकले हुए, नाक चिपटी, एक आँख कानी, पैर छोटे-छोटे, पेट लम्बा और मोटा और उसका स्वर गदहे के समान था । वह कुरूप, पापी सर्वदा हाथ में पाश और धनुष लिये हुए पाप (हिंसा) की ही वातें सोचा करता था । नारद ! उसकी स्त्री और वच्चे भी उसी के समान थे ।।७-९$\frac{१}{२}$।।

---

[1] घ सयष्टिः ।

तस्य भार्या तथाभूता अपत्यान्यपि नारद । तया तु प्रेर्यमाणोऽसौ विवेश गहनं वनम् ॥१०॥
स जघान मृगान्पापः पक्षिणो बहुरूपिणः । पञ्जरे प्राक्षिपत्कांश्चिज्जीवमानांस्तथेतरान् ॥११॥
क्षुधया परितप्ताङ्गो विह्वलस्तृषया तथा । भ्रान्तदेशो बहुतरं न्यवर्तत गृहं प्रति ॥१२॥
ततोऽपराह्णे संप्राप्ते निवृत्ते मधुमाधवे । क्षणात्तडिद्गर्जितं च साभ्रं चैवाभवत्तदा ॥१३॥
ववौ वायुः साश्मवर्षो वारिधारातिभीषणः । स गच्छंल्लुब्धकः श्रान्तः पन्थानं नावबुध्यत ॥१४॥
जलं स्थलं गर्तमथो पन्थानमथवा दिशः । न बुबोध तदा पापः श्रान्तः शरणमप्यथ ॥१५॥
क्व गच्छामि क्व तिष्ठेयं किं करोमीतचिन्तयत् । सर्वेषां प्राणिनां प्राणानाहर्ताऽहं यथाऽन्तकः ॥१६॥
ममाप्यन्तकरं भूतं संप्राप्तं चाश्मवर्षणम् । त्रातारं नैव पश्यामि शिलां वा वृक्षमन्तिके ॥१७॥
एवं बहुविधं व्याधो विचिन्त्यापश्यदन्तिके । वने वनस्पतिमिव नक्षत्राणां यथाऽत्रिजम् ॥१८॥
मृगाणां च यथा सिंहमाश्रमाणां गृहाधिपम् । इन्द्रियाणां मन इव त्रातारं प्राणिनां नगम् ॥१९॥
श्रेष्ठं विटपिनं शुभ्रं शाखापल्लवमण्डितम् । तमाश्रित्योपविष्टोऽभूत्क्लिन्नवासा स लुब्धकः ॥२०॥
स्मरन्भार्यामपत्यानि जीवेयुरथवा न वा । एतस्मिन्नन्तरे तत्र चास्तं प्राप्तो दिवाकरः ॥२१॥
तमेव नगमाश्रित्य कपोतो भार्यया सह । पुत्रपौत्रैः परिवृतो ह्यास्ते तत्र नगोत्तमे ॥२२॥

एक दिन अपनी स्त्री की प्रेरणा से वह घने जंगल में घुस गया। उस पापी ने बहुत-से मृगों और रंग-बिरंगे पक्षियों को मारा। अपने पिंजरे में कुछ जीवित और कुछ मृत पक्षियों को भी भर लिया ॥१०-११॥ बहुत इधर-उधर घूमने के कारण भूख की ज्वाला से उसका शरीर जलने लगा और वह प्यास से व्याकुल हो गया। विवश हो वह भटकता हुआ घर की ओर लौटा ॥१२॥ तत्पश्चात् उस जेठ की दुपहरी बीत जाने पर तीसरे पहर क्षण भर में बिजली गरजने लगी, आकाश बादलों से घिर गया, वायु जोरों से चलने लगी, अति भीषण वृष्टि होने लगी और साथ-साथ पत्थर गिरने लगे। ऐसे समय वह बहेलिया चलते-चलते थक गया, और अपना मार्ग भी भूल गया ॥१३-१४॥ उसको जल, स्थल या गड्ढे का ज्ञान न रहा। न तो उस समय उसको मार्ग और दिशाओं का ही ज्ञान रहा। वह थका-माँदा पापी यह भी नहीं जान पाता था कि कहाँ उसको शरण (रहने को स्थान) मिलेगी। ॥१५॥ वह चिन्ता करने लगा कि कहाँ जाऊँ, कहाँ रहूँ, क्या करूँ। जिस प्रकार सब प्राणियों के प्राण का घातक मैं सबके लिए यमराज के समान हूँ, उसी प्रकार मेरे प्राणों का अन्त करने वाला यम के रूप में यह पत्थर की वर्षा भी आ गयी है। यहाँ कोई अपना रक्षक नहीं दीख पड़ता, न तो समीप में कोई चट्टान या वृक्ष ही दिखायी देते हैं कि अपनी रक्षा कर सकूँ ॥१६-१७॥ इस प्रकार वह व्याध अपने मन में भिन्नभिन्न प्रकार से सोच ही रहा था कि इतने में उसे समीप ही वन में वनस्पति के समान, नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा के समान, पशुओं में सिंह के समान, आश्रमों में गृहस्थ के समान, इन्द्रियों में मन के समान, प्राणियों का रक्षक एक वृक्ष दिखायी पड़ा ॥१८-१९॥ शाखाओं और पत्तों से सुशोभित शुभ्र, उस उत्तम वृक्ष के नीचे आकर वह बैठ गया। उस शिकारी के वस्त्र भीग गये थे, वह थर-थर काँप रहा था। वह सोच रहा था कि मेरे बच्चे और स्त्री जीवित रहेंगे या नहीं। इसी बीच सूर्य भी अस्त हो गया ॥२०-२१॥ उसी वृक्ष पर अपना (बसेरा) बनाकर एक कबूतर अपनी स्त्री, पुत्र और पौत्रों के साथ रहता था। उस उत्तम वृक्ष पर वह संतुष्ट और

सुखेन निर्भयो भूत्वा सुतृप्तः प्रीत एव च । बहवो वत्सरा याता वसतस्तस्य पक्षिणः ।।२३।।
पतिव्रता तस्य भार्या सुप्रीता तेन चैव हि । कोटरे तन्नगे श्रेष्ठे जलवाय्वग्निवर्जिते ।।२४।।
भार्यापुत्रैः परिवृतः सर्वदाऽऽस्ते कपोतकः । तस्मिन्दिने दैववशात्कपोतश्च कपोतकी ।।२५।।
भक्ष्यार्थं तु उभौ यातौ कपोतो नगमभ्यगात् । साऽपि दैववशात्पुत्र पञ्जरस्थैव वर्तते ।।२६।।
गृहीता लुब्धकेनाथ जीवमानेव वर्तते । कपोतकोऽप्यपत्यानि मातृहीनान्युदीक्ष्य च ।।२७।।
वर्षं च भीषणं प्राप्तमस्तं यातो दिवाकरः । स्वकोटरं तयाहीनमालोक्य विललाप सः ।।२८।।
तां बद्धां पञ्जरस्थां वा न बुबोध कपोतराट् । अन्वारेभे कपोतो वै प्रियाया गुणकीर्तनम् ।।२९।।
नाद्याप्यायाति कल्याणी मम हर्षविवर्धिनी । मम धर्मस्य जननी मम देहस्य चेश्वरी ।।३०।।
धर्मार्थकाममोक्षाणां सैव नित्यं सहायिनी । तुष्टे हसन्ती रुष्टे च मम दुःखप्रमार्जनी ।।३१।।
सखी मन्त्रेषु सा नित्यं मम वाक्यरता सदा । नाद्याप्यायाति कल्याणी संप्रयातेऽपि भास्करे ।।३२।।
न जानाति व्रतं मन्त्रं दैवं धर्मार्थमेव च । पतिव्रता पतिप्राणा पतिमन्त्रा पतिप्रिया ।।३३।।
नाद्याप्यायाति कल्याणी किं करोमि क्व यामि वा । किं मे गृहं काननं च तया हीनं हि दृश्यते ।।३४।।
तया युक्तं श्रिया युक्तं भीषणं वाऽपि शोभनम् । नाद्याप्यायाति मे कान्ता यया गृहमुदीरितम् ।।३५।।

प्रसन्न पक्षी निर्भय होकर सुखपूर्वक रहता था । इस प्रकार उस वृक्ष पर रहते हुए उस पक्षी के बहुत वर्ष बीत गये थे।।२२-२३।। उसकी पतिव्रता भार्या भी उससे अत्यन्त प्रसन्न रहती थी । उस श्रेष्ठ वृक्ष के कोटर (खोड़रा) में जहाँ अग्नि-जल और वायु का भय नहीं था—वह बेचारा कबूतर भार्या और पुत्र के साथ सर्वदा निवास करता था।।२४$\frac{१}{३}$।। दैववश उसी दिन कपोत और कपोती दोनों भोजन की खोज में बाहर गये हुए थे । कपोत तो उस वृक्ष पर पुनः लौट आया । पुत्र ! दैवयोग से वह कपोती भी उस शिकारी के पिंजरे में ही थी ।।२५-२६।। यद्यपि व्याध ने उसको पकड़ लिया था परन्तु वह अभी जीवित थी । बेचारा कपोत अपने मातृहीन बच्चों को देखकर और यह देखकर कि इतनी भीषण वर्षा हो रही है, सूर्य भी डूब गया है, कोटर मेरी कपोती से शून्य है, विलाप करने लगा ।।२७-२८।। उस कपोतराज ने नहीं जाना कि कपोती यहीं पिंजड़े में बँधी पड़ी है । वह अपनी प्रिया की बड़ाई इस प्रकार करने लगा ।।२९।। वह कल्याणी मेरे आनन्द को बढ़ाने वाली, मेरे धर्म की जननी और मेरे शरीर की स्वामिनी अब तक नहीं आ रही है । वह मेरे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में सर्वदा सहायता करने वाली रही है । मेरे प्रसन्न रहने पर वह स्वयं प्रसन्न रहती थी और मेरे दुःख के समय सांत्वना देकर दुःख को दूर कर देती थी।।३०-३१।। आवश्यक परामर्श के समय वह सखी के समान थी । वह सर्वदा मेरे कहने के अनुसार ही काम करती थी । सूर्य डूब गया, परन्तु अब तक वह कल्याणी नहीं आयी ।।३२।। वह कोई व्रत, मन्त्र, दैव या धर्म के तत्त्व नहीं जानती है, वह तो केवल पतिव्रता है, पतिप्राणा है, पति की आज्ञाकारिणी और पतिप्रिया है, वह कल्याणी अब तक नहीं आ रही है । क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ? उसके विना आज यह मेरा घर और कानन क्यों सूना दिखायी दे रहा है ।। ३३-३४।। उसके साथ रहने पर मैं संकट काल अथवा सुख के क्षणों में सर्वदा श्रीसम्पन्न रहा । ऐसी मेरी भार्या नहीं आ रही है, जिसके रहने से ही गृह गृह कहा गया है (गृहिणी गृहमुच्यते) ।।३५।। उसके विना मैं जीवित नहीं रहूँगा, अपने इस प्रिय शरीर को छोड़ दूँगा । परन्तु मेरे ये बच्चे क्या करेंगे, कैसे रहेंगे, पुनः मैं दोनों रूपों में धर्म

विनाऽनया न जीविष्ये त्यजे वाऽपि प्रियां तनुम् । किं कुर्वन्तु त्वपत्यानि लुप्तधर्मस्त्वहं पुनः ।।३६।।
एवं विलपतस्तस्य भर्तुर्वाक्यं निशम्य सा । पञ्जरस्थैव सा वाक्यं भर्तारमिदमब्रवीत् ।।३७।।

कपोतक्युवाच

अत्राहमस्मि बद्धैव विवशाऽस्मि खगोत्तम । आनीताऽहं लुब्धकेन बद्धा पाशैर्महामते ।।३८।।
धन्याऽस्म्यनुगृहीताऽस्मि पतिर्वक्ति गुणान्मम । सतो वाऽप्यसतो वाऽपि कृतार्थाऽहं न संशयः ।।३९।।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः । विपर्यये तु नारीणामवश्यं नाशमाप्नुयात् ।।४०।।
त्वं दैवं त्वं प्रभुर्मह्यं त्वं सुहृत्त्वं परायणम् । त्वं व्रतं त्वं परं ब्रह्म स्वर्गो मोक्षस्त्वमेव च ।।४१।।
मा चिन्तां कुरु कल्याण धर्मे बुद्धि स्थिरां कुरु । त्वत्प्रसादाच्च भुक्ता हि भोगाश्च विविधा मया ।।४२।।
अलं खेदेन मज्जेन धर्मे बुद्धि कुरु स्थिराम् ।।४३।।

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा प्रियावाक्यमुत्ततार नगोत्तमात् । यत्र सा पञ्जरस्था तु कपोती वर्तते त्वर (द्रुत)म् ।।४४।।
तामागत्य प्रियां दृष्ट्वा मृतवच्चापि लुब्धकम् । मोक्षयामीति तामाह निश्चेष्टो लुब्धकोऽधुना ।।४५।।
मा मुञ्चस्व महाभाग ज्ञात्वा संबन्धमस्थिरम् । लुब्धानां खेचरा ह्यन्नं जीवो जीवस्य चाशनम् ।।४६।।
नापराधं स्मराम्यस्य धर्मबुद्धि स्थिरां कुरु । गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।।४७।।

छोड़ रहा हूँ ।।३६।। इस प्रकार विलाप करते हुएं अपने पति की वातें सुनकर उस कपोती ने पिंजरे से ही अपने पति से ये शब्द कहे ।।३७।।

कपोती ने कहा—खगोत्तम ! मैं यहीं बँधी हुई हूँ, विवश हूँ । महामति ! व्याध पाश से वाँधकर मुझको यहाँ से लाया है । मैं धन्य हूँ, अनुगृहीत हूँ कि मेरे रहते या न रहते हुए भी आप मेरे गुणों का वर्णन कर रहे हैं । इसलिए निश्चय ही मैं कृतार्थ हो गयी । पति के प्रसन्न रहने पर नारी के ऊपर सव देवता प्रसन्न रहते हैं, अन्यथा नारियों का निश्चय ही नाश होता है । तुम मेरे देवता हो, मेरे लिये तुम ईश्वर हो, तुम सुहृद् हो, मेरे एकमात्र रक्षक हो, तुम्हीं व्रत हो, परब्रह्म तुम्हीं हो, मेरे लिये मोक्ष अथवा स्वर्ग भी तुम्हीं हो । कल्याण ! तुम चिन्ता मत करो, धर्म में अपनी वुद्धि स्थिर करो । तुम्हारे अनुग्रह से मैंने विविध भोगों को भोगा है । यह खेद व्यर्थ है । इस प्रकार चिन्तामग्न होना उचित नहीं । तुम धर्म (कर्त्तव्य) में अपनी वुद्धि (आस्था) स्थिर करो ।।३८-४३।।

ब्रह्मा बोले—पत्नी की इन वातों को सुनकर वह वृक्ष से उतर आया और जहाँ उसकी पञ्जरवद्ध कपोती थी वहाँ शीघ्र ही चला गया । प्रिया के समीप जाकर अपनी प्रिया को साथ ही मृत की भाँति अचेत व्याध को देखकर उसने अपनी प्रिया से कहा कि अभी तुमको छुड़ाता हूँ । इस समय शिकारी चेतनाशून्य-सा हो रहा है ।।४४-४५।। यह सुनकर कपोती ने कहा कि महाभाग ! पति-पत्नी के सम्वन्ध को अस्थिर (थोड़े समय का) समझकर मुझे मत छुड़ाओ। लुब्धकों के लिए पक्षी ही अन्न (भोजन)हैं, जीव ही जीव का भोजन है ।।४६।। इसमें इसका मैं कुछ भी अपराध नहीं समझ रही हूँ । अपनी धार्मिक भावना को दृढ़ करो । व्राह्मणों के गुरु अग्नि और इतर वर्णों के गुरु व्राह्मण हैं । स्त्रियों के गुरु पति ही हैं परन्तु अतिथि सव के गुरु माने गये हैं ।।४७$\frac{१}{३}$।। जो घर पर आये अतिथि

पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः । अभ्यागतमनुप्राप्तं वचनैस्तोषयन्ति ये ।।४८।।
तेषां वागीश्वरी देवी तृप्ता भवति निश्चितम् । तस्यान्नस्य प्रदानेन शक्रस्तृप्तिमवाप्नुयात् ।।४९।।
पितरः पादशौचेन अन्नाद्येन प्रजापतिः । तस्योपचाराद्वै लक्ष्मीर्विष्णुना प्रीतिमाप्नुयात् ।।५०।।
शयने सर्वदेवास्तु तस्मात्पूज्यतमोऽतिथिः । अभ्यागतमनुश्रान्तं सूर्योढं गृहमागतम् ।।
तं विद्याद्देवरूपेण सर्वक्रतुफलो ह्यसौ ।।५१।।

अभ्यागतं श्रान्तमनुव्रजन्ति, देवाश्च सर्वे पितरोऽग्नयश्च ।
तस्मिन्हि तृप्ते मुदमाप्नुवन्ति, गते निराशेऽपि चि ते निराशाः ।।५२।।

तस्मात्सर्वात्मना कान्त दुःखं त्यक्त्वा शमं व्रज । कृत्वा तिष्ठ शुभां बुद्धिं धर्मकृत्यं समाचर ।।५३।।
उपकारोऽपकारश्च प्रवराविति संमतौ । उपकारिषु सर्वोऽपि करोत्युपकृतिं पुनः ।।५४।।
अपकारिषु यः साधुः पुण्यभाक्स उदाहृतः ।।५५।।

कपोत उवाच

आवयोरनुरूपं च त्वयोक्तं साधु मन्यसे । किंतु वक्तव्यमप्यस्ति तच्छृणुष्व वरानने ।।५६।।
सहस्रं भरते कश्चिच्छतमन्यो दशापरः । आत्मानं च सुखेनान्यो वयं कष्टोदरंभराः ।।५७।।
गर्तधान्यधनाः केचित्कुशूलधनिनोऽपरे । घटक्षिप्तधनाः केचिच्च्वञ्चुक्षिप्तधना वयम् ।।५८।।
पूजयामि कथं श्रान्तमभ्यागतमिमं शुभे ।।५९।।

को अपनी मधुर वाणी से सन्तुष्ट करते हैं, उन पर वागीश्वरी देवी निश्चय ही प्रसन्न होती हैं ।।४८$\frac{१}{३}$।। उसको अन्न देने से स्वयं इन्द्र तृप्त होते हैं, पैर धोने से पितर और अन्न भोजन कराने से प्रजापति (ब्रह्मा) तृप्त होते हैं। उसकी सेवा करने से विष्णु सहित लक्ष्मी प्रसन्न होती हैं ।।४९-५०।। शयन कराने से सब देवता प्रसन्न होते हैं। इसलिए अतिथि सबसे पूज्य हैं। सूर्यास्त के समय थका-माँदा अतिथि यदि घर आये तो उसको देवरूप समझना चाहिये, क्योंकि वह सब यज्ञों के फल के रूप में वहाँ आता है ।।५१।। थके अतिथि के पीछे-पीछे सब देवता, पितर और अग्नि चलते हैं। उसके तृप्त हो जाने पर वे भी आनन्दित होते हैं और अतिथि के निराश होने पर वे भी निराश हो जाते हैं ।।५२।। इसलिए कान्त ! सब प्रकार से दुःख का परित्याग कर आप शान्त हो जायँ, अपनी बुद्धि को निर्मल बना कर धर्मकार्य करें ।।५३।। उपकार और अपकार दोनों श्रेष्ठ माने गये हैं। उपकार करने वाले के प्रति सभी उपकार करते हैं, परन्तु अपकार करने वाले के प्रति जो उपकार करता है वही पुण्य का अधिकारी कहा गया है ।।५४-५५।।

कपोत ने कहा—तुमने तो दोनों के अनुरूप ही कहा है। मैं इसको उचित मानता हूँ। किन्तु सुमुखि ! मेरा भी कथन सुनो ! कोई हजारों का भरण-पोषण करता है, कोई सौ का, अन्य कोई दस का, और कोई सुखपूर्वक अपना भी भरण-पोषण कर लेता है, परन्तु हम लोग कष्ट से अपनी उदर-पूर्ति कर पाते हैं। कोई गर्त (तहखाने) भर धान के धनी होते हैं, कोई कुशूल (बखार) परिमित धान के तो कोई घड़े भर धान के ही धनी होते हैं, किन्तु हम तो केवल चोंच भर धान के ही धनी हैं। शुभे ! इस अवस्था में मैं किस प्रकार इस थके हुए अतिथि की पूजा करूँ ।।५६-५९।।

कपोत्युवाच

अग्निरापः शुभा वाणी तृणकाष्ठादिकं च यत् । एतदप्यर्थिने देयं शीतार्तो लुब्धकस्त्वयम् ॥६०॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा प्रियावाक्यं वृक्षमारुह्य पक्षिराट् । आलोकयामास तदा वह्निं दूरं ददर्श ह ॥६१॥
स तु गत्वा वह्निदेशं चञ्चुनोल्मुकमाहरत् । पुरोऽग्निं ज्वालयामास लुब्धकस्य कपोतकः ॥६२॥
शुष्ककाष्ठानि पर्णानि तृणानि च पुनः पुनः । अग्नौ निक्षेपयामास निशीथे स कपोतराट् ॥६३॥
तमग्निं ज्वलितं दृष्ट्वा लुब्धकः शीतदुःखितः । अवशानि स्वकाङ्गानि प्रताप्य सुखमाप्तवान् ॥६४॥
क्षुधाग्निना दह्यमानं व्याधं दृष्ट्वा कपोतकी । मा मुञ्चस्व महाभाग इति भर्तारमब्रवीत् ॥६५॥
स्वशरीरेण दुःखार्तं लुब्धकं प्रीणयामि तम् । इष्टातिथीनां ये लोकास्तांस्त्वं प्राप्नुहि सुव्रत ॥६६॥

कपोत उवाच

मयि तिष्ठति नैवायं तव धर्मो विधीयते । इष्टातिथिर्भवामीह अनुजानीहि मां शुभे ॥६७॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वाऽग्निं त्रिरावर्त्य स्मरन्देवं चतुर्भुजम् । विश्वात्मकं महाविष्णुं शरण्यं भक्तवत्सलम् ॥६८॥
यथासुखं जुषस्वेति वदन्नग्निं तथाऽऽविशत् । तं दृष्ट्वाऽग्नौ क्षिप्तजीवं लुब्धको वाक्यमब्रवीत् ॥६९॥

कपोती ने कहा—अग्नि, जल, शुभवाणी, तृण, काष्ठ आदि जो कुछ हो, वही याचक को दे देना चाहिये। यह व्याध तो शीत से दुःख पा रहा है ॥६०॥

ब्रह्मा ने कहा—प्रिया की इन बातों को सुनकर पक्षिराज कपोत वृक्ष पर चढ़ गया। उसने चारों ओर देखा तो दूर में अग्नि दिखायी पड़ा। वह उस अग्नि वाले स्थान पर गया और अपनी चोंच से जलती लकड़ी ले आया। कबूतर ने शिकारी के आगे अग्नि जला दिया। उस अँधेरी रात में वह कपोतराज सूखे काठ, पत्तियाँ और तिनके ला-लाकर बार-बार उसमें छोड़ने लगा। अग्नि को इस प्रकार जलता हुआ देखकर शीत से दुःखी वह शिकारी ठिठुरे हुए अपने अंगों को आग से सेंक कर सुखी हुआ। भूख की ज्वाला से जलते हुए उस व्याध को देखकर कपोती ने अपने स्वामी से कहा—'महाभाग ! मुझको मत छुड़ाओ, मत छुड़ाओ। यह मैं अपने शरीर से दुःखी शिकारी की भूख मिटाकर उसे प्रसन्न करूँगी। सुव्रत ! तुम (मेरी इस सेवा से) अतिथि-पूजकों के जो लोक हैं, उन्हें प्राप्त करो ॥६१-६६॥

कपोत ने कहा—मेरे रहते तुम्हारा यह धर्म नहीं है। मैं स्वयं अतिथि का इष्ट-साधक बनूँगा। शुभे ! मुझको आज्ञा दो ॥६७॥

ब्रह्मा ने कहा—यह कहकर अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा कर विश्वरूप, शरण्य, भक्तरक्षक, चतुर्भुज भगवान् महाविष्णु का स्मरण करता हुआ 'तुम सुखपूर्वक भोजन करो' यह कहकर अग्नि में घुस गया। इस प्रकार कबूतर को अपने को अग्नि में फेंकता हुआ देखकर शिकारी ने यह वाक्य कहा ॥६८-६९॥

लुब्धक उवाच

अहो मानुषदेहस्य धिग्जीवितमिदं मम । यदिदं पक्षिराजेन मदर्थे साहसं कृतम् ॥७०॥

ब्रह्मोवाच

एवं ब्रुवन्तं तं लुब्धं पक्षिणी वाक्यमब्रवीत् ॥७१॥

कपोत्युवाच

मां त्वं मुञ्च महाभाग दूरं यात्येष मे पतिः ॥७२॥

ब्रह्मोवाच

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा पञ्जरस्थां कपोतकीम् । लुब्धको मोचयामास तरसा भीतवत्तदा ॥७३॥
साऽपि प्रदक्षिणं कृत्वा पतिमग्निं तदा जगौ ॥७४॥

कपोत्युवाच

स्त्रीणामयं परो धर्मो यद्भर्तुरनुवेशनम् । वेदे च विहितो मार्गः सर्वलोकेषु पूजितः ॥७५॥
व्यालग्राही यथा व्यालं बिलादुद्धरते बलात् । एवं त्वनुगता नारी सह भर्त्रा दिवं व्रजेत् ॥७६॥
तिस्रः कोटयोऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे । तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति ॥७७॥
नमस्कृत्वा भुवं देवान्गङ्गां चापि वनस्पतीन् । आश्वास्य तान्यपत्यानि लुब्धकं वाक्यमब्रवीत् ॥७८॥

व्याध ने कहा—अहा ! मेरे मानव-शरीर के इस जीवन को धिक्कार है । क्योंकि आज पक्षिराज ने मेरे लिये अपूर्व साहस किया है ॥७०॥

ब्रह्मा ने कहा—कपोती ने इस प्रकार उसको कहता हुआ देखकर यह वाक्य कहा ॥७१॥

कपोती ने कहा—महाभाग ! तुम मुझको छोड़ दो, देखो मेरा यह पति मुझसे दूर जा रहा है ॥७२॥

ब्रह्मा ने कहा—कपोती की उन बातों को सुनकर वह शिकारी कुछ डर-सा गया और उसने बँधी हुई कपोती को शीघ्र छोड़ दिया । वह भी अपने पति और अग्नि की परिक्रमा कर आगे कही हुई बातें कहने लगी ॥७३-७४॥

कपोती ने कहा—'भर्त्ता के साथ सहगमन ही स्त्रियों का उत्तम धर्म है । यही मार्ग वेदों में प्रतिपादित है, और सब लोकों में यह श्रेष्ठ माना गया है । जिस प्रकार सँपेरा साँप को बिल से बलपूर्वक बाहर खींच लाता है उसी प्रकार पति के साथ अनुगत (सती होनेवाली) नारी पति को लेकर स्वर्ग चली जाती है । जो अपने पति के साथ सती होती है, वह मनुष्य के शरीर में जितने तीन करोड़ पचास लाख के लगभग रोयें हैं उतने वर्ष तक स्वर्ग में निवास करती है ।' इस प्रकार सहगमन की महिमा कह कर कपोती ने पृथ्वी, देवगण, गंगा और वनस्पतियों को नमस्कार किया, अपने बच्चों को ढाढस बँधाया और पुनः शिकारी से कहा ॥७८॥

कपोत्युवाच

त्वत्प्रसादान्महाभाग उपपन्नं ममेदृशम् । अपत्यानां क्षमस्वेह भर्त्रा यामि त्रिविष्टपम् ॥७९॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा पक्षिणी साध्वी प्रविवेश हुताशनम् । प्रविष्टायां हुतवहे जयशब्दो न्यवर्तत ॥८०॥
गगने सूर्यसंकाशं विमानमतिशोभनम् । तदाऽऽरूढौ सुरनिभौ दंपती ददृशे ततः ॥८१॥
हर्षेण प्रोचतुरुभौ लुब्धकं विस्मयान्वितम् ॥८२॥

दंपती ऊचतुः

गच्छावस्त्रिदशस्थानमापृष्टोऽसि महामते । आवयोः स्वर्गसोपानमतिथिस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥८३॥

ब्रह्मोवाच

विमानवरमारूढौ तौ दृष्ट्वा लुब्धकोऽपि सः । सधनुः पञ्जरं त्यक्त्वा कृताञ्जलिरभाषत ॥८४॥

लुब्धक उवाच

न त्यक्तव्यो महाभागौ देयं किंचिदजानते । अहमत्रातिथिर्मान्यो निष्कृतिं वक्तुमर्हथः ॥८५॥

दंपती ऊचतुः

गौतमीं गच्छ भद्रं ते तस्याः पापं निवेदय । तत्रैवाऽऽप्लवनात्पक्षं सर्वपापैर्विमोक्ष्यसे ॥८६॥
मुक्तपापः पुनस्तत्र गङ्गायामवगाहने । अश्वमेधफलं पुण्यं प्राप्य पुण्यो भविष्यसि ॥८७॥

कोपती ने कहा—महाभाग ! तुम्हारी कृपा से मुझे यह सुअवसर प्राप्त हुआ । मेरे बच्चों को क्षमा करना अर्थात् बच्चों पर कृपा करना । मैं अब स्वामी के साथ स्वर्ग जा रही हूँ ॥७९॥

ब्रह्मा ने कहा—यह कहकर वह साध्वी कपोती अग्नि में प्रवेश कर गयी । उसके अग्नि में प्रवेश करते ही जयध्वनि हुई । आकाश में अतिमनोहर सूर्य के समान चमकीला विमान और उस पर बैठे हुए वे पक्षी के जोड़े देवता के समान दिखायी पड़े । आश्चर्य में डूबे हुए उस व्याध से उन दोनों ने आनन्दपूर्वक कहा ॥८०-८२॥

दम्पती ने कहा—हम दोनों देवलोक को जा रहे हैं। तुमसे विदा चाहते हैं। महामति ! तुम हम लोगों के स्वर्ग की सीढ़ी के समान अतिथि हो अर्थात् तुम्हारे अतिथि होने से ही स्वर्ग मिला है। तुमको नमस्कार है।॥८३॥

ब्रह्मा बोले—उन दोनों को उत्तम देव-विमान पर आरूढ़ देखकर वह शिकारी भी धनुष और पिंजरा फेंककर हाथ जोड़ कर बोला ॥८४॥

व्याध ने कहा—हे महाभाग ! मुझ अज्ञानी को इस प्रकार छोड़ना उचित नहीं । इस अनजान को भी कुछ ज्ञान देते जाइये । मैं आज मान्य अतिथि हूँ । इसलिए मेरे उद्धार का मार्ग बताने की कृपा कीजिये ॥८५॥

दम्पती ने कहा—गौतमी नदी के तट पर जाओ । उनसे अपने पापों का निवेदन करो । तुम्हारा कल्याण होगा । वहीं एक पक्ष तक स्नान करने से तुम सब पापों से छूट जाओगे । पुनः पापमुक्त होकर उस गंगा में स्नान

सरिद्वरायां गौतम्यां ब्रह्मविष्णवीशसंभुवि । पुनराप्लवनादेव त्यक्त्वा देहं मलीमसम् ॥८८॥
विमानवरमारूढः स्वर्गं गन्ताऽस्यसंशयम् ॥८९॥

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं ताभ्यां तथा चक्रे स लुब्धकः । विमानवरमारूढो दिव्यरूपधरोऽवत् ॥९०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरः पूज्यमानोऽप्सरोगणैः । कपोतश्च कपोती च तृतीयो लुब्धकस्तथा ॥
गङ्गायाश्च प्रभावेण सर्वे वै दिवमाक्रमन् ॥९१॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं कापोतमिति विश्रुतम् । तत्र स्नानं च दानं च पितृपूजनमेव च ॥९२॥
जपयज्ञादिकं कर्म तदानन्त्याय कल्पते ॥९३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये कपोततीर्थवर्णनं नामाशीतितमोऽध्यायः ॥८०॥
गौतमीमाहात्म्ये एकादशोऽध्यायः ॥११॥

अथैकाशीतितमोऽध्यायः

कुमारतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

कार्तिकेयं परं तीर्थं कौमारमिति विश्रुतम् । यन्नामश्रवणादेव कुलवान्रूपवान्भवेत् ॥१॥

करने से अश्वमेध का फल पाकर पवित्र हो जाओगे। ब्रह्मा, विष्णु और शंकर द्वारा प्रकट की हुई उस उत्तम सरिता में पुनः स्नान करने से ही अपने पापमय शरीर को छोड़कर उत्तर विमान पर चढ़कर निःसन्देह स्वर्ग चले जाओगे ॥८६-८९॥

ब्रह्मा ने कहा—उन दोनों से ऐसी बातें सुनकर व्याध ने वैसा ही किया। जिसके फलस्वरूप वह दिव्यदेहधारी होकर उत्तम विमान पर आरूढ़ हो गया, उत्तम दिव्यमाला और वस्त्रों से सुशोभित हो गया और अप्सराएँ उसकी पूजा करने लगीं। इस प्रकार वे कपोत, कपोती तथा तीसरा व्याध ये तीनों गौतमी गंगा के प्रभाव से स्वर्गलोक को चले गये। तब से वह तीर्थ कपोत तीर्थ नाम से प्रसिद्ध हो गया। उस तीर्थ में स्नान, दान, पितृपूजन और जप, यज्ञ आदि कर्म करने से अक्षय और अनन्त फल प्राप्त होते हैं ॥९०-९३॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में कपोततीर्थ वर्णन नामक अस्सीवाँ अध्याय समाप्त ॥८०॥

अध्याय ८१

कुमारतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—कार्तिकेय नाम का एक उत्तम तीर्थ है, जिसकी प्रसिद्धि कौमार तीर्थ नाम से भी है। उस

निहते तारके दैत्ये स्वस्थे जाते त्रिविष्टपे । कार्तिकेयं सुतं ज्येष्ठं प्रीत्या प्रोवाच पार्वती ।।२।।
यथासुखं भुङ्क्ष्व भोगांस्त्रैलोक्ये मनसः प्रियान् । ममाऽऽज्ञया प्रीतमनाः पितुश्चैव प्रसादतः ।।३।।
एवमुक्तः स वै मात्रा विशाखो देवतास्त्रियः (?) । यथासुखं बलाद्रेमे देवपत्न्योऽपि रेमिरे ।।४।।
ततः संभुज्यमानासु देवपत्नीषु नारद । नाशक्नुवन्वारयितुं कार्तिकेयं दिवौकसः ।।५।।
ततो निवेदयामासुः पार्वत्यै पुत्रकर्म तत् । असकृद्वार्यमाणोऽपि मात्रा देवैः स शक्तिधृक् ।।६।।
नैवासावकरोद्वाक्यं स्त्रीष्वासक्तस्तु षण्मुखः । अभिशापभयाद्भीता पार्वती पर्यचिन्तयत् ।।७।।
पुत्स्नेहात्तथैवेशा देवानां कार्यसिद्धये । देवपत्न्यश्चिरं रक्ष्या इति मत्वा पुनः पुनः ।।८।।
यस्यां तु रमते स्कन्दः पार्वती त्वपि तादृशी । तद्रूपमात्मनः कृत्वा वर्तयामास पार्वती ।।९।।
इन्द्रस्य वरुणस्यापि भार्यामाहूय षण्मुखः । यावत्पश्यति तस्यां तु मातृरूपमपश्यत ।।१०।।
तामपास्य नमस्याथ पुनरन्यामथाऽऽह्वयत् । तस्यां तु मातृरूपं स प्रेक्ष्य लज्जामुपेयिवान् ।।११।।
एवं बह्वीषु तद्रूपं दृष्ट्वा मातृमयं जगत् । इति संचिन्त्य गाङ्गेयो वैराग्यमगमत्तदा ।।१२।।
स तु मातृकृतं ज्ञात्वा प्रवृत्तस्य निवर्तनम् । निवार्यश्चेदहं भोगात्किंतु पूर्वं प्रवर्तितः ।।१३।।
तस्मान्मातृकृतं सर्वं मम हास्यास्पदं त्विति । लज्जया परया युक्तो गौतमीमगमत्तदा ।।१४।।

तीर्थ का स्मरण करने मात्र से मनुष्य रूपवान् और पुत्रपौत्रादि से संपन्न हो जाता है ।। १।। जब तारक नामक असुर के मारे जाने पर स्वर्ग में शान्ति स्थापित हो गयी तब युद्ध में थके अपने ज्येष्ठ प्रिय पुत्र कार्तिकेय से पार्वती ने कहा ।। २।। 'तुम मेरी आज्ञा और पिता की प्रसन्नता से इस त्रिभुवन में प्रसन्नतापूर्वक प्रिय भोगों का यथेच्छ उपभोग करो' ।। ३।। माता से इस प्रकार आज्ञा पा जाने पर कार्तिकेय बलपूर्वक देव-स्त्रियों के साथ स्वेच्छापूर्वक विहार करने लगे, देवस्त्रियाँ भी उनके साथ विहार करने लगीं ।। ४।। नारद ! तदनन्तर इस प्रकर देवपत्नियों के साथ विहार करनेवाले कार्तिकेय को देवता किसी प्रकार से भी रोक न सके ।। ५।। विवश हो उन्होंने माता पार्वती से उनके पुत्र का यह अनुचित कर्म कहा । माता और देवताओं से बार-बार मना किये जाने पर भी वे शक्तिशाली षण्मुख स्त्रीजनों में अधिक आसक्त हो जाने के कारण अपने को उस कार्य से विरत न कर सके ।। ६$\frac{१}{३}$।। तब अभिशाप (निन्दा) के भय से डरकर माता पार्वती सोचने लगीं ।—'पुत्र-स्नेह तथा देवों की कार्यसिद्धि के लिए देवपत्नियाँ भी चिररक्षणीय हैं', यह बार-बार सोचकर अन्त में जिस स्त्री से कार्तिकेय विहार करते थे उसी के समान अपना रूप बनाकर पार्वती रहने लगीं ।। ७-९।। इधर इन्द्र और वरुण की स्त्रियों को समीप बुलाकर स्कन्द ने ज्यों ही देखा त्यों ही उनको उनमें मातृत्व का आभास मिला ।। १०।। यह देखकर वे अत्यन्त लज्जित हो गये। उनको हटाकर और प्रणाम कर पुनः दूसरी को बुलाया। उसमें भी मातृरूप देखकर वे और भी लज्जित हुए ।। ११।। उन बहुत-सी देवभार्याओं में मातृत्व का दर्शन करने से उनको यह सारा संसार ही मातृमय है यह ज्ञान हो जाने से वैराग्य हो गया ।। १२।। उन्होंने 'यह सारा रहस्य कामासक्त मुझको निवृत्ति की ओर ले जाने के लिये ही माता द्वारा किया गया है' यह जान लिया। वे सोचने लगे कि यदि मुझको भोगों से निवृत्त करना था तो क्यों पहले भोग की ओर मुझे झुकाया गया ? इसलिए माता द्वारा किया गया यह सब कुछ मेरे लिये हास्यास्पद है। यह सोचकर अत्यन्त लज्जित होकर गौतमी

इयं च मातृरूपा मे शृणोतु मम भाषितम् । इतः स्त्रीनामधेयं यन्मम मातृसमं मतम् ।।१५।।
एवं ज्ञात्वा लोकनाथः पार्वत्या सह शंकरः । पुत्रं निवारयामास वृत्तमित्यब्रवीद्गुरुः ।।१६।।
ततः सुरपतिः प्रीतः किं ददामीति चिन्तयन् । कृताञ्जलिपुटः स्कन्दः पितरं पुनरब्रवीत् ।।१७।।

स्कन्द उवाच

सेनापतिः सुरपतिस्तव पुत्रोऽहमित्यपि । अलमेतेन देवेश किं वरैः सुरपूजित ।।१८।।
अथवा दातुकामोऽसि लोकानां हितकाम्यया । याचेऽहं नाऽऽत्मना देव तदनुज्ञातुमर्हसि ।।१९।।
महापातकिनः केचिद्गुरुदाराभिगामिनः । अत्राऽऽप्लवनमात्रेण धौतपापा भवन्तु ते ।।२०।।
आप्नुवन्तूत्तमां जातिं तिर्यञ्चोऽपि सुरेश्वर । कुरूपो रूपसंपत्तिमत्र स्नानादवाप्नुयात् ।।२१।।

ब्रह्मोवाच

एवमस्त्विति तं शंभुः प्रत्यनन्दत्सुतेरितम् । ततः प्रभृति तत्तीर्थं कार्तिकेयमिति श्रुतम् ।।
तत्र स्नानं च दानं च सर्वक्रतुफलप्रदम् ।।२२।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये कुमारतीर्थवर्णनं नामैकाशीतितमोऽध्यायः ।।८१।।
गौतमीमाहात्म्ये द्वादशोऽध्यायः ।।१२।।

की ओर चले गये ।।१३-१४।। वहाँ जाकर गौतमी को सम्बोधित करते हुये कहा कि यह गौतमी मेरी माता के समान है, अतः हे माता ! मेरी प्रतिज्ञा सुनो 'आज से स्त्री मात्र का नाम मेरे लिये मातृनाम के तुल्य होगा, ऐसा मेरा विचार है' ।।१५।। पार्वती के सहित लोकपति शंकर ने जब इस प्रकार की घटना सुनी तव अपने विरागी पुत्र को वहाँ से लौटाने का प्रयत्न किया और कहा कि जो कुछ होना था सो हो गया, अब चलो । पुनः सुर-स्वामी शंकर प्रसन्न होकर सोचने लगे कि स्कन्द को क्या दिया जाय। इधर स्कन्द हाथ जोड़कर पिता से बोले।।१६-१७।।

स्कन्द ने कहा—देवेन्द्र ! देव-पूज्य मैं सेनापति (देव-सेनापति) हूँ, सुर और तुम्हारा पुत्र भी हूँ, इसलिए मुझे वर देने से क्या प्रयोजन । अथवा यदि तुम वर देना ही चाहते हो तो मैं अपने लिये नहीं प्रत्युत लोकहित के लिए याचना करता हूँ, सो हे देव ! मुझे प्रदान कीजिये । जो कोई महापातकी हों, चाहे वे गुरु-पत्नीगामी ही क्यों न हों, वे सभी यहाँ गौतमी में स्नान मात्र से पाप मुक्त हो जायँ । सुरेश्वर ! यहाँ के स्नान से तिर्यग्योनि में उत्पन्न भी उत्तम योनि को प्राप्त करें, और कुरूपजन रूप-सम्पदा को प्राप्त करें ।।१८-२१।।

ब्रह्मा ने कहा—शंभु ने 'ऐसा ही हो' यह कहकर अपने पुत्र की कही हुई बातों का समर्थन कर उसको प्रसन्न किया । तभी वह तीर्थ कार्तिकेय नाम से प्रसिद्ध हुआ । उस तीर्थ में स्नान करने और दान देने से समस्त यज्ञों का फल प्राप्त होता है ।।२२।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में कुमारतीर्थ-वर्णन नामक इक्यासीवाँ अध्याय समाप्त ।।८१।।

अथ द्व्यशीतितमोऽध्यायः

कृत्तिकातीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

यत्ख्यातं कृत्तिकातीर्थं कार्तिकेयादनन्तरम् । तस्य श्रवणमात्रेण सोमपानफलं लभेत् ॥१॥
पुरा तारकनाशाय भवरेतोऽपिबत्कविः । रेतोगर्भं कविं दृष्ट्वां ऋषिपत्न्योऽस्पृहन्मुने ॥२॥
सप्तर्षीणामृतुस्नातां वर्जयित्वा त्वरुन्धतीम् । तासु गर्भः समभवत्षट्सु स्त्रीषु तदाऽग्नितः ॥३॥
तप्यमानास्तु शोभिष्ठा (?) ऋतुस्नातास्तु ता मुने। किं कुर्मः क्व नु गच्छामः किं कृत्वा सुकृतं भवेत् ॥४॥
इत्युक्त्वा ता मिथो गङ्गां व्यग्रा गत्वा व्यपीडयन् । ताभ्यस्ते निःसृता गर्भाः फेनरूपास्तदाऽम्भसि ॥५॥
अम्भसा त्वेकतां प्राप्ता वायुना सर्व एव हि । एकरूपस्तदा ताभ्यः षण्मुखः समजायत ॥६॥
स्रावयित्वा तु तान्गर्भानृषिपत्न्यो गृहान्ययुः । तासां विकृतरूपाणि दृष्ट्वा ते ऋषयोऽब्रुवन् ॥७॥
गम्यतां गम्यतां शीघ्रं स्वैरी वृत्तिर्न युज्यते । स्त्रीणामिति ततो वत्स निरस्ताः पतिभिस्तु ताः ॥८॥
ततो दुःखं समाविष्टास्त्यक्ताः स्वपतिभिश्च षट् । ता दृष्ट्वा नारदः प्राह कार्तिकेयो हरोद्भवः ॥९॥

अध्याय ८२

कृत्तिकातीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—कार्तिकेय तीर्थ के वाद कृत्तिका नामक तीर्थ प्रसिद्ध है। उसके नाम सुनने मात्र से सोमपान का फल प्राप्त होता है ॥१॥ प्राचीन काल में तारक के वध के लिए कवि (अग्नि) ने शंकर का वीर्य पी लिया। मुने! कवि को इस प्रकार शिववीर्य से युक्त देखकर ऋषिपत्नियों के मन में इच्छा उत्पन्न हुई ॥२॥ उस समय अरुन्धती को छोड़ शेष सप्तर्षियों की पत्नियाँ ऋतु-स्नाता थीं। उन छह स्त्रियों को इच्छामात्र से अग्नि के द्वारा गर्भ रह गया ॥३॥ मुनि नारद! वे ऋतुस्नाता सुन्दर स्त्रियाँ यह देखकर अनुताप करने लगीं, सोचने लगीं कि क्या करें, हम कहाँ चलें, क्या करने से हमारा कल्याण होगा ॥४॥ इस प्रकार आपस में विचार कर व्याकुल हो गंगा के पास गयीं। वहाँ जाकर अपने पेट को वलपूर्वक दवाने लगीं। जिससे उन सवों का गर्भ फेन के रूप में बाहर निकल पड़ा ॥५॥ वायु की प्रेरणा से और जल के वेग से सभी एक में मिल गये। तव वह मिलित गर्भ एक शरीर और छह मुखवाला हो गया ॥६॥ ऋषि पत्नियाँ भी गर्भ-स्राव के बाद अपने-अपने घर चली गयीं। उनके विरूप मुख को देखकर उन ऋषियों ने कहा-॥७॥ 'जाओ तुम लोग यहाँ से शीघ्र जाओ। स्त्रियों के लिए स्वैरी वृत्ति (पर पुरुष की कामना) उचित नहीं है।' वत्स! उसके बाद वे सभी स्त्रियाँ अपने पतियों से बहिष्कृत हो गयीं ॥८॥ तब पतित्यक्ता वे छहों स्त्रियाँ अत्यन्त दुःखी हुईं। उनको इस प्रकार दुःखी देखकर नारद ने कहा—शंकर के पुत्र कार्तिकेय के पास, जो

गाङ्गेयोऽग्निभवश्चेति विख्यातस्तारकान्तकः । तं यान्तु न चिरादेव प्रीतो भोगं प्रदास्यति ॥१०॥
देवर्षेर्वचनादेव समभ्येत्य च षण्मुखम् । कृत्तिकाः स्वयमेवैतद्यथावृत्तं न्यवेदयन् ॥११॥
ताभ्यो वाक्यं कृत्तिकाभ्यः कार्तिकेयोऽनुमन्य च। गौतमीं यान्तु सर्वाश्च स्नात्वाऽऽपूज्य महेश्वरम् ॥१२॥
एष्यामि चाहं तत्रैव यास्यामि सुरमन्दिरम् । तथेत्युक्त्वा कृत्तिकाश्च स्नात्वा गङ्गां च गौतमीम् ॥१३॥
देवेश्वरं च संपूज्य कार्तिकेयानुशासनात् । देवेश्वरप्रसादेन प्रययुः सुरमन्दिरम् ॥१४॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं कृत्तिकातीर्थमुच्यते । कार्तिक्यां कृत्तिकायोगे तत्र यः स्नानमाचरेत् ॥१५॥
सर्वक्रतुफलं प्राप्य राजा भवति धार्मिकः । तत्तीर्थस्मरणं वाऽपि यः करोति शृणोति च ॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥१६॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये कृत्तिकातीर्थवर्णनं नाम द्वयशक्षतितमोऽध्यायः ॥८२॥
गौतमीमाहात्म्ये त्रयोदशोध्यायः ॥१३॥

अथ त्र्यशीतितमोऽध्यायः

दशाश्वमेधतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

दशाश्वमेधिकं तीर्थं तच्छृणुष्व महामुने । यस्य श्रवणमात्रेण हयमेधफलं लभेत् ॥१॥

गांगेय (गंगा के पुत्र) अग्निभव (अग्नि से उत्पन्न) और तारकान्तक (तारक के वध करने वाले) नाम से प्रसिद्ध हैं, जाओ। वे शीघ्र ही प्रसन्न होकर मुक्ति के उपाय बतलायेंगे ॥९-१०॥ देवर्षि नारद के कहने से षण्मुख स्कन्द के पास जाकर उन कृत्तिकाओं (ऋषि-पत्नियों ने) स्वयं जैसा हुआ था वैसा कह सुनाया। उन कृत्तिकाओं के मुख से इन बातों को सुनकर कार्तिकेय ने स्वयं विचार किया और कहा कि गौतमी नदी के पास आप सब जायँ। वहाँ स्नान कर महेश्वर की पूजा करें। आप सबका उद्धार हो जायगा। मैं भी वहाँ आऊँगा और देवमन्दिर में चलूँगा ॥११-१२½॥ कृत्तिकाओं ने भी 'ठीक है' यह कहकर गौतमी गंगा में स्नान किया और कार्तिकेय के कथनानुसार महेश्वर की पूजा की। इस प्रकार देवेश्वर की कृपा से वे स्वर्ग को चली गयीं। ॥१३-१४॥ उस समय से वह स्थान कृत्तिकातीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वहाँ जो कृत्तिका नक्षत्र से युक्त कार्तिकी पूर्णिमा को स्नान करता है, वह सब यज्ञों का फल प्राप्त करता है और परम धार्मिक राजा होता है। जो व्यक्ति उस तीर्थ का स्मरण करता है या वर्णन सुनता है, वह भी सब पापों से मुक्त होकर दीर्घायु प्राप्त करता है ॥१५-१६॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में कृत्तिकातीर्थ-वर्णन नामक बयासीवाँ अध्याय समाप्त ॥८२॥

अध्याय ८३

दशाश्वमेधतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—'महामुनि ! अब दशाश्वमेधिक तीर्थ के विषय में सुनो, जिसके श्रवणमात्र से मनुष्य दस

विश्वकर्मसुतः श्रीमान्विश्वरूपो महाबलः । तस्यापि प्रथमः पुत्रस्तत्पुत्रो भौवनो विभुः ॥२॥
पुरोधाः कश्यपस्तस्य सर्वज्ञानविशारदः । तमपृच्छन्महाबाहुर्भौवनः सार्वभौवनः ॥३॥
यक्ष्येऽहं हयमेधैश्च युगपद्दशभिर्मुने । इत्यपृच्छद्गुरुं विप्रं क्व यक्ष्यामि सुरानिति ॥४॥
सोऽवदद्देवयजनं तत्र तत्र नृपोत्तम । यत्र यत्र द्विजश्रेष्ठा प्रावर्तन्त महाक्रतून् ॥५॥
तत्राभवन्नृषिगणा आर्त्विज्ये मखमण्डले । युगपद्दशमेधानि प्रवृत्तानि पुरोधसा ॥६॥
पूर्णतां नाऽऽययुस्तानि दृष्ट्वा चिन्तापरो नृपः । विहाय देवयजनं पुनरन्यत्र तान्क्रतून् ॥७॥
उपाक्रमत्तथा तत्र विघ्नदोषास्तमाययुः । दृष्ट्वाऽपूर्णांस्ततो यज्ञान्राजा गुरुमभाषत ॥८॥

राजोवाच

देशदोषात्कालदोषान्मम दोषात्तवापि वा । पूर्णतां नाऽऽप्नुवन्ति स्म दशमेधानि वाजिनः ॥९॥

ब्रह्मोवाच

ततश्च दुःखितो राजा कश्यपेन पुरोधसा । गीष्पतेर्भ्रातरं ज्येष्ठं गत्वा संवर्तमूचतुः ॥१०॥

कश्यपभौवनावूचतुः

भगवन्युगपत्कार्याण्यश्वमेधानि मानद । दश संपूर्णतां यान्ति तं देशं तं गुरुं वद ॥११॥

अश्वमेध के फल को प्राप्त करता है ॥१॥ महाबलवान् श्रीमान् विश्वरूप विश्वकर्मा का पुत्र था। उसके एक पुत्र था। उसके भी बलवान् भौवन नाम का एक पुत्र हुआ ॥२॥ सब विद्याओं में निपुण कश्यप जी उसके पुरोहित थे। उस महापराक्रमी, सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा भौवन ने उनसे पूछा—॥३॥ 'मुने ! मैं एक ही साथ दस अश्वमेध यज्ञ करना चाहता हूँ।' फिर उसने ब्राह्मण गुरु से पूछा कि कहाँ मैं देवताओं का यजन करूँ ॥४॥ कश्यपजी ने उन-उन स्थानों को—जहाँ-जहाँ द्विजवर्यों ने बड़े-बड़े यज्ञों को कराया था—यज्ञ करने के लिए बताया ॥५॥ पुरोहित द्वारा एक साथ दस अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ करा दिये गये और उस यज्ञ-मण्डल में ऋत्विक् का कार्य करने के लिए ऋषिगण नियुक्त भी कर दिये गये। परन्तु वे यज्ञ पूर्ण नहीं हुये। यह देखकर राजा चिन्तित हो गये। पुनः वहाँ उन देव-यज्ञों को छोड़कर अन्यत्र उन्हीं दस यज्ञों को प्रारम्भ किया। वहाँ भी ज्योंही यज्ञ प्रारम्भ हुए, विघ्न और दोष उपस्थित हो गये। फिर यज्ञों को अपूर्ण देखकर राजा ने गुरु से कहा ॥६-८॥

राजा ने कहा—देश-दोष, समय-दोष से, मेरे अथवा आपके दोष से ही मेरे ये दस अश्वमेध यज्ञ पूर्ण नहीं हो रहे हैं ॥९॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर राजा ने अत्यन्त दुःखी होकर पुरोहित कश्यप के साथ बृहस्पति के बड़े भाई संवर्त के पास जाकर कहा ॥१०॥

कश्यप और भौवन ने कहा—भगवन् ! प्रतिष्ठा देने वाले ! दस अश्वमेध यज्ञ एक ही साथ करना चाहता हूँ। जहाँ और जिससे पूर्ण होंगे, उस स्थान और गुरु को बताइये ॥११॥

ब्रह्मोवाच

ततो ध्यात्वा ऋषिश्रेष्ठः संवर्तो भौवनं तदा । अब्रवीद्गच्छ ब्रह्माणं गुरुं देशं वदिष्यति ॥१२॥
भौवनोऽपि महाप्राज्ञः कश्यपेन महात्मना । आगत्य मामब्रवीच्च गुरुं देशादिकं च यत् ॥१३॥
ततोऽहमब्रवं पुत्र भौवनं कश्यपं तथा । गौतमीं गच्छ राजेन्द्र स देशः क्रतुपुण्यवान् ॥१४॥
अयमेव गुरुः श्रेष्ठः कश्यपो वेदपारगः । गुरोरस्य प्रसादेन गौतम्याश्च प्रसादतः ॥१५॥
एकेन हयमेधेन तत्र स्नानेन वा पुनः । सेत्स्यन्ति तत्र यज्ञाश्च दशमेधानि वाजिनः ॥१६॥
तच्छ्रुत्वा भौवनो राजा गौतमीतीरमभ्यगात् । कश्यपेन सहायेन हयमेधाय दीक्षितः ॥१७॥
ततः प्रवृत्ते यज्ञेशे हयमेधे महाक्रतौ । संपूर्णे तु तदा राजा पृथिवीं दातुमुद्यतः ॥१८॥
ततोऽन्तरिक्षे वागुच्चैरुवाच नृपसत्तमम । पूजयित्वा स्थितं विप्रानृत्विजोऽथ सदस्पतीन् ॥१९॥

आकाशवागुवाच

पुरोधसे कश्यपाय सशैलवनकाननाम् । पृथिवीं दातुकामेन दत्तं सर्वं त्वया नृप ॥२०॥
भूमिदानस्पृहां त्यक्त्वा अन्नं देहि महाफलम् । नान्नदानसमं पुण्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥२१॥
विशेषतस्तु गङ्गायाः श्रद्धया पुलिने मुने । त्वया तु हयमेधोऽयं कृतः सबहुदक्षिणः ॥
कृतकृत्योऽसि भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ॥२२॥

ब्रह्मा ने कहा—तब ऋषि-श्रेष्ठ संवर्त ने कुछ समय तक ध्यानस्थ होकर भौवन से कहा—'ब्रह्मा के पास जाओ, वही गुरु और उचित स्थान को बतायेंगे।' महाज्ञानी भौवन ने भी गुरु कश्यप के साथ मेरे पास आकर गुरु और देश आदि के विषय में पूछा। पुत्र ! इसके बाद मैंने भौवन और कश्यप से कहा—'राजेन्द्र ! गौतमी के तट पर जाओ, वहीं यज्ञ के योग्य पुण्यभूमि है। यही वेदों के पारंगत विद्वान् कश्यप उत्तम गुरु हैं। इनकी और गौतमी की कृपा से एक ही अश्वमेध यज्ञ करने से और पुनः उसमें स्नान करने से दस अश्वमेध यज्ञ सिद्ध हो जायेंगे अर्थात् दस अश्वेमध यज्ञ का फल प्राप्त होगा। उन बातों को सुनकर राजा भौवन गौतमी तीर पर गुरु कश्यप के साथ गये और यज्ञ के लिए दीक्षित हो गये। इसके उपरान्त महायज्ञ तथा यज्ञराज अश्वमेध के प्रारम्भ हो जाने पर राजा ने विधिपूर्वक यज्ञ समाप्त किया। तब वह गुरु कश्यप को दक्षिणा में पृथ्वी देने के लिए उद्यत हो गया। तदनन्तर जब उसने विप्र, ऋत्विज और सदस्यों की पूजा समाप्त कर ली तब अन्तरिक्ष में उच्च स्वर से राजा के प्रति आकाशवाणी ने कहा ॥१२-१९॥

आकाशवाणी ने कहा—नृप ! पुरोहित कश्यप को शैल, वन, काननसहित दान देने की इच्छा कर तुमने सब कुछ दे दिया। इसलिए भूमिदान की इच्छा छोड़कर तुम अन्नदान दो, इससे महान् फल होगा। अन्नदान के समान पुण्यदायक दान इन तीनों लोकों में नहीं है। मुनि ! गंगा के तट पर अन्नदान देने से तो और विशेष फल होता है। तुमने तो इस गंगा (गौतमी) के तट पर यह महान् अश्वमेध यज्ञ किया है, जिसमें बहुत दक्षिणा दी गयी है। इसलिए तुम कृतकृत्य हो गये। तुम्हारा कल्याण होगा। इस पर अधिक विचार करने की आवश्यता नहीं है॥२०-२२॥

ब्रह्मोवाच

तथाऽपि दातुकामं तं मही प्रोवाच भौवनम् ॥२३॥

पृथिव्युवाच

विश्वकर्मज सार्वभौम मा मां देहि पुनः पुनः । निमज्जेऽहं सलिलस्य मध्ये तस्मान्न दीयताम् ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

ततश्च भौवनो भीतः किं देयमिति चाब्रवीत् । पुनश्चोवाच सा पृथ्वी भौवनं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥२५॥

भूम्युवाच

तिला गावो धनं धान्यं यत्किचिद्गौतमीतटे । सर्वं तदक्षयं दानं किं मां भौवन दास्यसि ॥२६॥
गङ्गातीरं समाश्रित्य ग्रासमेकं ददाति यः । तेनाहं सकला दत्ता किं मां भौवन दास्यसि ॥२७॥

ब्रह्मोवाच

तद्भुवो, वचनं श्रुत्वा भौवनः सार्वभौवनः । तथेति मत्वा विप्रेभ्यो ह्यन्नं प्रादात्सुविस्तरम् ॥२८॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं दशाश्वमेधिकं विदुः । दशानामश्वमेधानां फलं स्नानादवाप्यते ॥२९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये दशाश्वमेधतीर्थवर्णनं नाम त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥८३॥
गौतमीमाहात्म्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

ब्रह्मा ने कहा—इतना सुन लेने पर भी उसने पृथ्वी दान का विचार नहीं छोड़ा तब स्वयं पृथ्वी ने भौवन से कहा ॥२३॥

पृथ्वी ने कहा—विश्वकर्मा के वंशज ! सार्वभौम ! मुझको बार-बार दान में मत दो। ऐसा करने से मैं जल में डूब जाऊँगी, इसलिए मेरा दान मत करो ॥२४॥

ब्रह्मा ने कहा—यह बात सुनकर भौवन डर गया और पूछा—कि कौन-सी वस्तु देनी चाहिए। इसको सुनकर पुनः पृथ्वी ने ब्राह्मणों से घिरे भौवन से कहा ॥२५॥

पृथ्वी ने कहा—तिल, गौ, धन, अन्न आदि जो कुछ गौतमी के तट पर दिया जाता है, वह सब अक्षय दान होता है, तो भौवन ! क्यों मुझे दान कर रहे हो ? जो इस गंगातीर पर आकर एक कौर अन्न भी दान दे देता है, उससे मैं सम्पूर्ण रूप से दान में दी जाती हूँ। इसलिए भौवन ! क्यों मुझे दान में दे रहे हो ? ॥२६-२७॥

ब्रह्मा ने कहा—पृथ्वी की बात सुनकर चक्रवर्ती भौवन ने उसको स्वीकार कर लिया और प्रचुर अन्न विप्रों को दिया। तब से वह तीर्थ दशाश्वमेध तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वहाँ स्नान करने से दश अश्वमेध का फल प्राप्त होता है ॥२८-२९॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में दशाश्वमेधतीर्थ-वर्णन नामक तिरासीवाँ अध्याय समाप्त ॥८३॥

अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः

पैशाचतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

पैशाचं तीर्थमपरं पूजितं ब्रह्मवादिभिः । तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि गौतम्या दक्षिणे तटे ॥१॥
गिरिर्ब्रह्मगिरेः पार्श्वे अञ्जनो नाम नारद । तस्मिञ्शैले मुनिवर शापभ्रष्टा वराप्सरा ॥२॥
अञ्जना नाम तत्राऽऽसीदुत्तमाङ्गेन वानरी । केसरी नाम तद् भर्ता अद्रिकेति तथाऽपरा ॥३॥
साऽपि केसरिणो भार्या शापभ्रष्टा वराप्सरा । उत्तमाङ्गेन मार्जारी साऽप्यास्तेऽञ्जनपर्वते ॥४॥
दक्षिणार्णवमभ्यागात्केसरी लोकविश्रुतः । एतस्मिन्नन्तरेऽगस्त्योऽञ्जनं पर्वतमभ्यगात् ॥५॥
अञ्जना चाद्रिकं चैव अगस्त्यमृषिसत्तमम् । पूजयामासतुरुभे यथान्यायं यथासुखम् ॥६॥
ततः प्रसन्नो भगवानाहोभे व्रियतां वरः । ते आहतुरुभेऽगस्त्यं पुत्रौ देहि मुनीश्वर ॥७॥
सर्वेभ्यो बलिनौ श्रेष्ठौ सर्वलोकोपकारकौ । तथेत्युक्त्वा मुनिश्रेष्ठो जगामाऽऽशां स दक्षिणाम् ॥८॥
ततः कदाचित्ते काले अञ्जना चाद्रिका तथा । गीतं नृत्यं च हास्यं च कुर्वत्यौ गिरिमूर्धनि ॥९॥
वायुश्च निर्ऋतिश्चापि ते दृष्ट्वा सस्मितौ सुरौ । कामाक्रान्तधियौ चोभौ तदा सत्वरमीयतुः ॥१०॥

अध्याय ८४

पैशाचतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—गौतमी के दाहिने किनारे पर पैशाच नामक एक दूसरा तीर्थ है, जिसकी ब्रह्मज्ञानी भी पूजा करते हैं। उसके स्वरूप का वर्णन मैं कर रहा हूँ ॥१॥ नारद ! ब्रह्मगिरि के बगल में अञ्जन नाम का एक पर्वत है। मुनिवर ! उस पर्वत पर अञ्जना नाम की एक शाप-भ्रष्ट श्रेष्ठ अप्सरा थी, जिसका शिरोभाग वानरी का था। उसके पति का नाम केसरी था। दूसरी अद्रिका नाम की थी ॥२-३॥ वह भी शापभ्रष्ट थी और उसी केसरी की स्त्री थी। उसका मुख मार्जारी के समान था ॥४॥ वहीं अञ्जन पर्वत पर वह भी रहती थी। एक समय लोकविख्यात केसरी दक्षिण सागर के समीप गया। इसी बीच ऋषि अगस्त्य अञ्जन पर्वत पर गये ॥५॥ ऋषि को आया देखकर अञ्जना और अद्रिका दोनों ने ऋषि-श्रेष्ठ अगस्त्य जी की यथोचित और सुखदायक पूजा की ॥६॥ उनकी सेवा से प्रसन्न होकर भगवान् अगस्त्य ने कहा 'वर माँगो'। उन दोनों ने अगस्त्य से कहा कि हे मुनीश्वर ! सबसे अधिक बलवान्, उत्तम गुण सम्पन्न और सब लोकों का उपकार करने वाले दो पुत्र दीजिये। "ऐसा ही होगा" ऐसा कहकर अगस्त्य जी दक्षिण दिशा की ओर चले गये ॥७-८॥ 'इसके अनन्तर किसी समय अञ्जना और अद्रिका दोनों पर्वत के शिखर पर गीत, हास्य और नृत्य कर रही थीं उस समय वायु और निर्ऋति नामक दो देवता उन दोनों को देखकर प्रसन्न हो गये और काम के वशीभूत होकर शीघ्र ही वहाँ आ गये ॥१०॥ और कहा कि 'तुम दोनों हम वर देने वाले देवताओं की स्त्रियाँ हो जाओ'। उन दोनों

भार्ये भवेतामुभयोरावां देवौ वरप्रदौ । ते अप्यूचतुरस्त्वेतद्वेमाते गिरिमूर्धनि ॥११॥
अञ्जनायां तथा वायोर्हनुमान्समजायत । अद्रिकायां च निर्ऋतेरद्रिर्नाम पिशाचराट् ॥१२॥
पुनस्ते आहतुरुभे पुत्रौ जातौ मुनेर्वरात् । आवयोर्विकृतं रूपमुत्तमाङ्गेन दूषितम् ॥१३॥
शापाच्छचीपतेस्तत्र युवामाज्ञातुमर्हथः । ततः प्रोवाच भगवान्वायुश्च निर्ऋतिस्तथा ॥१४॥
गौतम्यां स्नानदानाभ्यां शापमोक्षो भविष्यति । इत्युक्त्वा तावुभौ प्रीतौ तत्रैवान्तरधीयताम् ॥१५॥
ततोऽञ्जनां समादाय अद्रिः पैशाचमूर्त्तिमान् । भ्रातुर्हनुमतः प्रीत्यै स्नापयामास मातरम् ॥१६॥
तथैव हनुमान्गङ्गामादायाद्रिमतित्वरन् । मार्जाररूपिणीं नीत्वा गौतम्यास्तीरमाप्तवान् ॥७॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं पैशाचं चाऽऽञ्जनं तथा । ब्रह्मणो गिरिमासाद्य सर्वकामप्रदं शुभम् ॥१८॥
योजनानां त्रिपञ्चाशन्मार्जारं पूर्वतो भवेत् । मार्जारसंज्ञितात्तस्माद्धनूमन्तं वृषाकपिम् (?) ॥१९॥
फेनासंगममाख्यातं सर्वकामप्रदं शुभम् । तस्य स्वरूपं व्युष्टिश्च तत्रैव प्रोच्यते शुभा ॥२०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये पैशाचतीर्थवर्णनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥८४॥
गौतमीमाहात्म्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

ने भी स्वीकार कर लिया और उस गिरि-शिखर पर विहार करने लगीं ॥११॥ वायु से अञ्जना को हनुमान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, तथा निर्ऋति से अद्रिका के गर्भ से अद्रि नामक पिशाचराज उत्पन्न हुआ ॥१२॥ पुनः उन दोनों ने कहा कि मुनि के आशीर्वाद से आप दोनों को पुत्र उत्पन्न हुए किन्तु हम दोनों के मुख इन्द्र के शाप से दूषित और विकृत हैं ॥१३॥ अतः हम दोनों इस दोष को दूर करने के लिए वर दीजिये। तव भगवान् वायु और निर्ऋति ने कहा कि गौतमी में स्नान और दान देने से शाप से उद्धार हो जायगा। यह कहकर वे दोनों प्रसन्नतापूर्वक अन्तर्हित हो गये ॥१४-१५॥ तदनंतर भाई हनुमान् की प्रसन्नता के लिए पिशाचमूर्ति अद्रि ने माता अंजना को ले जाकर गौतमी में स्नान कराया। हनुमान् ने भी मार्जारमुखी अद्रिका को शीघ्र ही गौतमी के तट पर ले जाकर नहलवाया ॥१६-१७॥ उस समय से वह तीर्थ पैशाच और अंजन नाम से प्रसिद्ध हुए जो ब्रह्मगिरि को पाकर अर्थात् उसके समीप होने के कारण पवित्र और सव मनोरथों के देने वाले हैं ॥१८॥ उस अंजन पर्वत का तिरपन योजन लम्बा पूर्व का भाग मार्जार कहलाता है और उस मार्जार के बाद का भाग हनुमान् (वृषाकपि) तीर्थ है। सब कामनाओं को देनेवाला फेनासंगम नामक शुभ तीर्थ भी प्रसिद्ध है। उसका स्वरूप और शुभफल भी वहीं कहा गया है॥१९-२०॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में पैशाचतीर्थ-वर्णन नामक चौरासीवाँ अध्याय समाप्त ॥८४॥

अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

क्षुधातीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

क्षुधातीर्थमिति ख्यातं शृणु नारद तन्मनाः । कथ्यमानं महापुण्यं सर्वकामप्रदं नृणाम् ॥१॥
ऋषिरासीत्पुरा कण्वस्तपस्वी वेदवित्तमः । परिभ्रमन्नाश्रमाणि क्षुधया परिपीडितः ॥२॥
गौतमस्याऽऽश्रमं पुण्यं समृद्धं चान्नवारिणा । आत्मानं च क्षुधायुक्तं समृद्धं चापि गौतमम् ॥३॥
वीक्ष्य कण्वोऽथ वैषम्यं वैराग्यमगमत्तदा । गौतमोऽपि द्विजश्रेष्ठो ह्यहं तपसि निष्ठितः ॥४॥
समेन याच्ञाऽयुक्ता स्यात्तस्माद्गौतमवेश्मनि । न भोक्ष्येऽहं क्षुधार्तोऽपि पीडितेऽपि कलेवरे ॥५॥
गच्छेयं गौतमीं गङ्गामर्जयेयं च संपदम् । इति निश्चित्य मेधावी गत्वा गङ्गां च पावनीम् ॥६॥
स्नात्वा शुचिर्यतमना उपविश्य कुशासने । तुष्टाव गौतमीं गङ्गां क्षुधां च परमापदम् ॥७॥

कण्व उवाच

नमोऽस्तु गङ्गे परमार्तिहारिणि, नमः क्षुधे सर्वजनार्तिकारिणि ।
नमो महेशानजटोद्भवे शुभे, नमो महामृत्युमुखाद्विनिःसृते ॥८॥

अध्याय ८५

क्षुधातीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—नारद ! क्षुधातीर्थ नामक एक प्रसिद्ध तीर्थ है । मनुष्यों के सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करने वाले उस महापवित्र तीर्थ के विषय में अब कहूँगा, तुम एकाग्र मन से सुनो । प्राचीन काल में कण्व नामक वेदवेत्ता और तपस्वी ऋषि थे । वे एक बार क्षुधा से पीड़ित होकर विभिन्न आश्रमों का भ्रमण करते हुए गौतम ऋषि के पवित्र आश्रम में पहुँचे जो अन्न और जल से परिपूर्ण था । अपने को भूख से व्याकुल तथा गौतम को समृद्धिशाली देखकर कण्व को कठोर वैराग्य हो गया । सोचने लगे कि गौतम भी ब्राह्मण हैं, मैं भी उसी के समान तपस्या में निरत रहने वाला उत्तम ब्राह्मण हूँ । समान श्रेणी और ज्ञान रखने वाले से याचना करना अनुचित है, इसलिए मैं गौतम के आश्रम में भूख से व्याकुल और शारीरिक कष्ट सहते हुए भी भोजन नहीं करूँगा । शीघ्र ही गौतमी गंगा के पास जाऊँगा और विभव अर्जन करूँगा । इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर वह मेधावी ऋषि परम पवित्र गंगा तट पर गया और स्नान से पवित्र हो कुशासन पर एकाग्रचित्त हो बैठ गया तथा गंगा और आपत्ति स्वरूपिणी क्षुधा देवी की स्तुति करने लगा ॥१-७॥

कण्व बोले—भयानक कष्टों को दूर करने वाली गंगे ! तुमको नमस्कार है, सब लोकों को कष्ट देने वाली क्षुधा ! तुमको भी नमस्कार है । महेश की जटा से उत्पन्न होने वाली शुभे ! तुमको नमस्कार है और महामृत्यु के मुख से निकलने वाली भगवती क्षुधा ! तुमको भी नमस्कार है ॥८॥ पुण्यात्माओं के लिए शान्तरूपवाली !

पुण्यात्मनां शान्तरूपे क्रोधरूपे दुरात्मनाम् । सरिद्रूपेण सर्वेषां तापपापापहारिणि ॥९॥
क्षुधारूपेण सर्वेषां तापपापप्रदे नमः । नमः श्रेयस्करि देवि नमः पापप्रतर्दिनि ॥
नमः शान्तिकरि देवि नमो दारिद्र्यनाशिनि ॥१०॥

ब्रह्मोवाच

इत्येवं स्तुवतस्तस्य पुरस्तादभवद्द्वयम् । एकं गाङ्गं मनोहारि ह्यपरं भीषणाकृति ॥
नमः कृताञ्जलिर्भूत्वा नमस्कृत्वा द्विजोत्तमः ॥११॥

कण्व उवाच

सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये ब्राह्मि माहेश्वरि शुभे । वैष्णवि त्र्यम्बके देवि गोदावरि नमोऽस्तु ते ॥१२॥
त्र्यम्बकस्य जटोद्भूते गौतमस्याघनाशिनि । सप्तधा सागरं यान्ति गोदावरि नमोऽस्तु ते ॥१३॥
सर्वपापकृतां पापे धर्मकामार्थनाशिनि । दुःखलोभमयि देवि क्षुधे तुभ्यं नमो नमः ॥१४॥

ब्रह्मोवाच

तत्कण्ववचनं श्रुत्वा सुप्रीते आहतुर्द्विजम् ॥१५॥

गङ्गाक्षुधे ऊचतुः

अभीष्टं वद कल्याण वरान्वरय सुव्रत ॥१६॥

दुरात्माओं के लिए क्रोधस्वरूपे ! और सरिता के रूप में पापी तथा सज्जन सबके ताप, पाप दोनों को हरने वाली गंगे ! तुमको नमस्कार करता हूँ। सबको भूख के रूप में ताप और पाप देने वाली क्षुधे ! तुमको नमस्कार करता हूँ। श्रेय (कल्याण) करने वाली ! पापों को नष्ट करने वाली तुमको नमस्कार है। शान्ति प्रदान करने वाली देवि ! तुमको नमस्कार करता हूँ। दरिद्रता को नष्ट करने वाली ! तुमको नमस्कार है ॥९-१०॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार कण्व ऋषि स्तुति कर रहे थे कि उनके सामने दो विभिन्न रूपवाली मूर्तियाँ प्रकट हुईं। एक गंगा की मनोहर मूर्ति और दूसरी क्षुधा की भयंकर आकृति। यह देखकर कण्व हाथ जोड़कर पुनः प्रार्थना करने लगे ॥११॥

कण्व बोले—सब मंगलों को देने वाली मंगलरूपिणि ! ब्राह्मि ! शुभे ! माहेश्वरि ! वैष्णवि ! त्र्यम्बके ! देवि ! गोदावरि ! तुमको नमस्कार है। त्रिलोचन की जटा से उत्पन्न होने वाली ! गौतम के पापों को नष्ट करने वाली ! सात धाराओं में विभक्त होकर सागर में मिलने वाली ! गोदावरी ! आपको नमस्कार है। सब पापियों के लिए पापरूप वाली ! धर्म, काम, अर्थ को नष्ट करने वाली ! दुःख-लोभ से परिपूर्ण क्षुधे ! देवि ! तुमको बार-बार नमस्कार है ॥१२-१४॥

ब्रह्मा ने कहा—ऋषि कण्व की बात सुनकर दोनों देवियाँ प्रसन्न होकर ब्राह्मण कण्व से बोलीं ॥१५॥

गंगा और क्षुधा बोलीं—कल्याण ! अपना मनोरथ कहो। सुव्रत ! वर माँगो ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

प्रोवाच प्रणतो गङ्गां कण्वः क्षुधां यथाक्रमम् ॥१७॥

कण्व उवाच

देहि देवि मनोज्ञानि कामानि विभवं मम । आयुर्वित्तं च भुक्तिं च मुक्तिं गङ्गे प्रयच्छ मे ॥१८॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा गौतमीं गङ्गां क्षुधां चाऽऽह द्विजोत्तमः ॥१९॥

कण्व उवाच

मयि मद्वंशजे चापि क्षुधे तृष्णे दरिद्रिणि । याहि पापतरे रूक्षे न भूयास्त्वं कदाचन ॥२०॥
अनेन स्तवेन ये वै त्वां स्तुवन्ति क्षुधातुराः । तेषां दारिद्र्यदुःखानि न भवेयुर्वरोऽपरः ॥२१॥
अस्मिंस्तीर्थे महापुण्ये स्नानदानजपादिकम् । ये कुर्वन्ति नरा भक्त्या लक्ष्मीभाजो भवन्तु ते ॥२२॥
यस्त्विदं पठते स्तोत्रं तीर्थे वा यदि वा गृहे । तस्य दारिद्र्यदुःखेभ्यो न भयं स्याद्वरोऽपरः ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

एवमस्त्विति चोक्त्वा ते कण्वं याते स्वमालयम् । ततः प्रभृति तत्तीर्थं काण्वं गाङ्गं क्षुधाभिधम् ॥
सर्वपापहरं वत्स पितॄणां प्रीतिवर्धनम् ॥२४॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये क्षुधातीर्थवर्णनं नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥८५॥
गौतमीमाहात्म्ये षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

ब्रह्मा बोले—विनीत कण्व ने क्षुधा और गंगा से क्रमपूर्वक कहा ॥१७॥

कण्व बोले—देवि ! मुझे मनोहर कामनाएँ और सम्पत्ति दो । गंगे ! आयु, धन, भुक्ति और मुक्ति मुझे दो ॥१८॥

ब्रह्मा बोले—यह कहकर द्विजवर कण्व ने पुनः गौतमी गंगा और क्षुधा से कहा ॥१९॥

कण्व बोले—अतिपापे ! तुम जाओ, मेरे अथवा मेरे वंशजों के समीप क्षुधा ! तृष्णा ! दरिद्रा ! रूक्षा ! कर्कशा ! तुम, कभी मत आना । जो कोई क्षुधा-पीड़ित व्यक्ति इस स्तुति से तुम्हारी प्रार्थना करें उनको दरिद्रता और दुःख कभी न सताये । दूसरा एक और वर है—इस महापुण्यवान् तीर्थ में जो कोई स्नान, दान, जप आदि भक्तिपूर्वक करे वह अवश्य धनवान् हो । जो इस स्तोत्र को तीर्थ अथवा घर पर ही पढ़े उसको दरिद्रता और दुःख से भय न हो, यह मेरा एक और वर है ॥२०-२३॥

ब्रह्मा बोले—'ऐसा ही हो' यह कहकर वे दोनों अन्तर्हित हो गयीं । इधर कण्व भी अपने घर चले गये । उस समय से वह तीर्थ काण्व, गांग या क्षुधा-तीर्थ नाम से प्रसिद्ध हो गया । वत्स ! वह तीर्थ सब पापों को दूर करनेवाला और पितरों की प्रीति बढ़ानेवाला है ॥२४॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में क्षुधातीर्थ-वर्णन नामक पचासीवाँ अध्याय समाप्त ॥८५॥

अथ षडशीतितमोऽध्यायः

चक्रतीर्थगणिकासंगमवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

अस्ति ब्रह्मन्महातीर्थं चक्रतीर्थमिति श्रुतम् । तत्र स्नानान्नरो भक्त्या हरेर्लोकमवाप्नुयात् ॥१॥
एकादश्यां तु शुक्लायामुपोष्य पृथिवीपते । गणिकासंगमे स्नात्वा प्राप्नुयादक्षयं पदम् ॥२॥
पुरा तत्र यथा वृत्तं तन्मे निगदतः शृणु । आसीद्विश्वधरो नाम वैश्यो बहुधनान्वितः ॥३॥
उत्तरे वयसि श्रेष्ठस्तस्य पुत्रोऽभवदृषे । गुणवान्रूपसंपन्नो विलासी शुभदर्शनः ॥४॥
प्राणेभ्योऽपि प्रियः पुत्रः काले पञ्चत्वमागतः । तथा दृष्ट्वा तु तं पुत्रं दंपती दुःखपीडितौ ॥५॥
कुर्वाते स्म तदा तेन सहैव मरणे मतिम् । हा पुत्र हन्त कालेन पापेन सुदुरात्मना ॥६॥
यौवने वर्तमानोऽपि नीतोऽसि गुणसागर । आवयोश्च तथैव त्वं प्राणेभ्योऽपि सुदुर्लभः ॥७॥
इत्थं तु रुदितं श्रुत्वा दंपत्योः करुणं यमः । त्यक्त्वा निजपुरं तूर्णं कृपयाऽऽविष्टमानसः ॥८॥
गोदावर्याः शुभे तीरे स्थितो ध्यायञ्जनार्दनम् । अपि स्वल्पेन कालेन प्रजा वृद्धाः समन्ततः ॥९॥
इयत इति मे पृथ्वी कथ्यतां केन पूरिता (?) । न कश्चिन्म्रियते जन्तुर्भाराक्रान्ता वसुंधरा ॥१०॥

अध्याय ८६

चक्रतीर्थ और गणिकातीर्थ का संगम-वर्णन

ब्रह्मा बोले—ब्रह्मन् ! चक्रतीर्थ नामक एक परम प्रसिद्ध महातीर्थ है, उस तीर्थ में भक्तिपूर्वक स्नान करने से मनुष्य विष्णुलोक को प्राप्त करता है ।।१।। पृथ्वीपते ! शुक्लपक्ष की एकादशी को उपवास कर गणिका-संगम में स्नान करने से मनुष्य अक्षय पद को प्राप्त करता है ।।२।। पहले वहाँ जो कुछ हुआ, उसको मैं कह रहा हूँ, सुनो । कोई विश्वधर नाम का एक अत्यन्त धनवान् वैश्य था ।।३।। ऋषे ! उसकी ढलती हुई अवस्था में उसको एक गुणवान्, रूपवान्, देखने में सुन्दर और विलासी उत्तम पुत्र उत्पन्न हुआ ।।४।। प्राणों से अधिक प्रिय वह पुत्र युवावस्था में ही मर गया । इस प्रकार अपने बालक को मरा देख वे दोनों पति-पत्नी अत्यन्त दुःख से व्याकुल हो गये और पुत्र के ही साथ मरने का निश्चय कर लिया ।।५।। इस प्रकार निश्चय कर पुत्र-शोक से विलाप करने लगे—हा पुत्र ! हे गुणसागर ! शोक है कि पापी दुरात्मा काल के द्वारा तुम युवावस्था में ही हर लिये गये हो । तुम हम लोगों के लिए प्राणों से भी अधिक प्रिय और दुर्लभ हो ।।६-७।। इस प्रकार दम्पति का करुणा उत्पन्न करनेवाला विलाप सुनकर यम का हृदय करुणा से पिघल गया और वे अपने लोक को छोड़कर शीघ्र ही गोदावरी के पवित्र तीर पर आकर बैठ गये और भगवान् जनार्दन का ध्यान करने लगे ।।८।। इसलिए मृत्यु न होने के कारण थोड़े ही समय में चारों ओर प्रजा की संख्या बढ़ गयी। किसी भी प्राणी की मृत्यु नहीं होती थी, इसलिए वसुन्धरा भार से आक्रान्त हो गयी ।।९-१०।। यम सोचने लगे कि इतने थोड़े समय में किसने मेरी पृथ्वी को भार से पूर्ण कर दिया।

ततो देवी गता तूर्णं वसुधा मुनिसत्तम । यत्रास्ति सुरसंयुक्तः शक्रः परपुरंजयः ॥
दृष्ट्वा वसुन्धरामिन्द्रः प्रणिपत्येदमब्रवीत् ॥११॥

इन्द्र उवाच

किमागमनकार्यं त इति मे पृथ्वि कथ्यताम् ॥१२॥

धरोवाच

भारेण गुरुणा शक्र पीडिताऽहं विना वधम् । कारणं प्रष्टुमायाता किमिदं कथ्यतां मम ॥१३॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा महीवाक्यमिन्द्रो वचनमब्रवीत् ॥१४॥

इन्द्र उवाच

कारणं यदि नाम स्यात्तदानीं ज्ञायते मया । सुराणां हि पतिर्यस्मादहं सर्वासु (?) मेदिनि ॥१५॥

ब्रह्मोवाच

अथ पृथ्वी तदा वाक्यं श्रुत्वा चाऽऽह शचीपतिम् । यम आदिश्यतां तर्हि यथा संहरते प्रजाः ॥१६॥
इति श्रुत्वा वचो मह्या आदिष्टाः सिद्धकिन्नराः । यमस्याऽऽनयने शीघ्रं महेन्द्रेण महामुने ॥१७॥
ततस्ते सत्वरं याताः सर्वे वैवस्वतं पुरम् । नैवापश्यन्यमं तत्र ते सिद्धाः सह किंनरैः ॥
तथाऽऽगत्य पुनर्वेगाद्वार्ता शक्रे निवेदिता ॥१८॥

मुनिशार्दूल ! इसके वाद वसुन्धरा देवी दौड़ी हुई वहाँ गयीं, जहाँ देवताओं से युक्त शत्रुपुर को जीतनेवाले इन्द्र विराजमान रहते हैं। वसुन्धरा को देखकर इन्द्र ने प्रणाम किया और कहा ॥११॥

इन्द्र ने कहा—देवि पृथ्वि ! तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ? मुझसे कहो ॥१२॥

धरा ने कहा—इन्द्र ! मैं भार की अधिकता के विना वध के ही (अर्थात् बिना किसी से मार खाये ही) अत्यन्त पीड़ित हूँ। इसका कारण पूछने के लिए आयी हूँ, क्या कारण है, मुझसे कहिये ॥१३॥

ब्रह्मा बोले—पृथ्वी की उपर्युक्त बातें सुनकर इन्द्र ने यह बात कही ॥१४॥

इन्द्र ने कहा—मेदिनि ! यदि कोई कारण है तो अवश्य मैं उसको जान सकता हूँ, क्योंकि मैं (सब) अवस्थाओं में देवताओं का स्वामी हूँ ॥१५॥

ब्रह्मा बोले—तब पृथ्वी ने इन्द्र की बातें सुनकर पुनः इन्द्र से कहा—यदि ऐसी बात है तो यम को आज्ञा दीजिये, ताकि वे प्रजाओं का संहार करें। पृथ्वी की यह बात सुनकर महेन्द्र ने सिद्ध-किन्नरों को आदेश दिया कि यम को शीघ्र यहाँ बुला लाओ। तदनन्तर वे किंकर शीघ्र ही यमपुरी में गये, परन्तु उन किन्नर और सिद्धों ने वहाँ यमराज को नहीं देखा। तब शीघ्र ही वहाँ से लौटकर इन्द्र से सारी वार्ता कह सुनायी ॥१६-१८॥

सिद्धकिंनरा ऊचुः

यमो यमपुरे नाथ अस्माभिर्नावलोकितः । महताऽपि सुयत्नेन वीक्ष्यमाणः समन्ततः ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा वचस्तेषां पृष्टः शक्रेण वै तदा । सविता स पिता तस्य यमः कुत्राऽऽस्त इत्यथ ॥२०॥

सूर्य उवाच

शक्र गोदावरीतीरे कृतान्तो वर्ततेऽधुना । चरंस्तत्र तपस्तीव्रं न जाने किं नु कारणम् ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा वचो भानोः शक्रः शङ्कामुपाविशत् ॥२२॥

शक्र उवाच

अहो कष्टं महाकष्टं नष्टा मे सुरनाथता । गोदावर्यां तपः कुर्याद्यमो वै दुष्टचेष्टितः ॥
जिघृक्षुर्मत्पदं नूनं देवा इति मतिर्मम ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा सहसेन्द्रेण आहूतश्चाप्सरोगणः ॥२४॥

इन्द्र उवाच

का भवतीषु कालस्य स्थितस्य तपसि द्विषः । तपःप्रणाशने शक्ता इति मे शीघ्रमुच्यताम् ॥२५॥

सिद्ध-किन्नर बोले—नाथ ! यमलोक में हम लोगों ने यम को नहीं देखा, यद्यपि बड़े परिश्रम से चारों ओर खोज की ॥१९॥

ब्रह्मा बोले—उनकी इन बातों को सुनकर इन्द्र ने यम के पिता सविता से पूछा-यम इस समय कहाँ हैं ? ॥२०॥

सूर्य ने कहा—इन्द्र ! पुत्र यम इस समय गोदावरी के तीर पर बैठा हुआ उग्र तपस्या कर रहा है, मैं यह नहीं जानता कि क्या कारण है ॥२२॥

ब्रह्मा बोले—सूर्य की यह बात सुनकर इन्द्र को सन्देह हो गया ॥२२॥

इन्द्र बोले—अहो ! कष्ट है, महाकष्ट है। मेरी देवेन्द्र की पदवी लुप्त होना चाहती है । यम निश्चय ही ईर्ष्या-भावना से गोदावरी तीर पर तपस्या कर रहा है । देवगण ! निश्चय ही वह मेरे पद को ले लेना चाहता है, यही मेरी धारणा है ॥२३॥

ब्रह्मा बोले—इन्द्र ने इस प्रकार कहकर सहसा अप्सराओं को बुलवाया ॥२४॥

इन्द्र बोले—तपस्या में तल्लीन शत्रु यम की तपस्या भंग करने में आप लोगों में से कौन समर्थ है, यह मुझसे शीघ्र बतलाइये ? ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

इति शक्रवचः श्रुत्वा नोचे काऽपि महामुने । अथ शक्रः प्रकोपेण प्रत्युवाचाप्सरोगणम् ॥२६॥

इन्द्र उवाच

उत्तरं नाब्रवीत्किञ्चिद्यामस्तर्हि वयं स्वयम् । सज्जा भवन्तु विबुधाः सैन्यैरायान्तु मा चिरम् ॥
घातयामो वयं शत्रुं तपसा स्वर्गकामुकम् ॥२७॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्ते सति देवानां सेना प्रादुर्बभूव ह । इतीन्द्रहृदयं ज्ञात्वा हरिणा लोकधारिणा ॥२८॥
प्रेषितं चक्रिणा चक्रं रक्षणाय यमस्य हि । चक्रं यत्राभवत्तत्र चक्रतीर्थमनुत्तमम् ॥२९॥
अथेन्द्रं मेनका प्राह शङ्कितेति वचस्तदा ॥३०॥

मेनकोवाच

कालावलोकने नालं काचिदस्ति सुरेश्वर । मरणं च वरं देव भवतो न यमात्पुनः ॥३१॥
रूपयौवनमत्तेयं गणिकायाचनं प्रभो । प्रेषणं तत्प्रयच्छैषा स्वामित्वं मन्यते त्वया ॥३२॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा वचस्तस्याः शक्रः सुरवरेश्वरः । आदिदेशाबलां क्षामां सत्कृत्य गणिकां तथा ॥३३॥

ब्रह्मा बोले—महामुने ! इन्द्र की यह बात सुनकर किसी ने कुछ नहीं कहा । तब इन्द्र ने बड़े क्रोध से अप्सराओं से कहा ॥२६॥

इन्द्र बोले—तुम लोग कुछ उत्तर नहीं दे रही हो, इसलिए हम स्वयं जा रहे हैं । देवताओ ! तैयार हो जाओ, अपने सैनिकों के साथ युद्धार्थ प्रस्थान करो, विलम्ब न हो । हम स्वयं तपस्या द्वारा स्वर्ग की इच्छा करने वाले शत्रु का वध करेंगे ॥२७॥

ब्रह्मा बोले—इतना कह देने पर देवताओं की सेना प्रस्तुत हो गयी । इन्द्र की इस कुटिलता को जानकर लोकरक्षक, चक्र धारण करनेवाले विष्णु ने यम की रक्षा के लिए चक्र को भेज दिया । जहाँ चक्र रक्षार्थ प्रकट हुआ वह परमश्रेष्ठ चक्रतीर्थ हो गया । यह देखकर शंकित मेनका ने इन्द्र से यह वचन कहा ॥२८-३०॥

मेनका ने कहा—सुरेश्वर ! हम लोगों में से कोई मृत्यु देव की ओर आँख उठाकर देखने का साहस नहीं कर सकती है । देव ! आपके हाथ की मौत अच्छी है, यम के नहीं । प्रभो ! रूप और यौवन से मतवाली इस गणिका की यही प्रार्थना है । यदि आप भेजना चाहते हैं तो मुझे भेजिये, आपका प्रभु-आदेश मुझे सर्वथा स्वीकार है ॥३१-३२॥

ब्रह्मा ने कहा—उस गणिका की इन बातों को सुनकर सुरनायक इन्द्र ने अच्छे प्रकार से सत्कार कर उस कृशांगी अवला गणिका को आज्ञा दी ॥३३॥

शक्र उवाच

गणिके गच्छ मे कार्यं कुरु सुन्दरि मा चिरम् । कृतकृत्याऽऽगता भूयो वल्लभा मे यथा शची ॥३४॥

ब्रह्मोवाच

इत्याकर्ण्य वचः शक्रादुत्पत्य गणिका दिशः । क्षणेन यमसांनिध्यमायाता चारुरूपिणी ॥३५॥
यमान्तिकमनुप्राप्ता द्योतयन्ती दिशो दश। सलीलं ललितं बाला जगौ हिन्दोलकंकलम् (चञ्चला) ॥३६॥
ततश्चचाल कालस्य मनो लोलं चलाचलम् । अथोन्मील्य यमो नेत्रे कामपावकपूरिते ॥३७॥
तस्यां व्यापारयामास श्रेयःशत्रौ महामुने। ततो विलीय सा सद्यः सरित्त्वमगमत्तदा ॥३८॥
गौतम्यां तु समागम्य गणिकागर्णाकिंकरैः । गीयमाना गता स्वर्गे तस्य तीर्थप्रभावतः ॥३९॥
गच्छन्तीं गणिकां दृष्ट्वा विमानस्थां दिवं प्रति । विस्मयं परमं प्राप्तः कालस्तरललोचनः ॥
आऽऽदित्येन चाऽऽगत्य एवमुक्तो यमस्तदा ॥४०॥

सूर्य उवाच

कुरु पुत्र निजं कर्म प्रजानां त्वं परिक्षयम् । पश्य वातं सदा वान्तं सृजन्तं वेधसं प्रजाः ॥
पर्यटन्तं त्रिलोकीं मां वहन्तीं वसुधां प्रजाः ॥४१॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा यमो वाक्यं पितुर्वचनमब्रवीत् ॥४२॥

इन्द्र बोले—गणिके ! जाओ, मेरे कार्य को पूरा करो। सुन्दरि ! विलम्ब न हो। सफलता प्राप्त करने पर तुम शची की भाँति मेरी प्रिया बनोगी ॥३४॥

ब्रह्मा ने कहा—इन्द्र की इन बातों को सुनकर मनोहर रूपवाली वह मेनका आकाश मार्ग से उड़कर क्षण भर में ही यम के समीप आ गयी। अपनी शरीर-कान्ति से दसों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई वह बाला (गणिका) यम के समीप आकर बड़े हाव-भाव से आकर्षक हिन्दोलकंकल (राग) गाने लगी। उसके मधुर गान को सुनकर यम का चंचल मन विचलित हो गया। महामुने ! यम ने कोधाग्नि से भरे नेत्रों को खोलकर कल्याण मार्ग में बाधा पहुँचानेवाली गणिका की ओर देखा। देखते ही वह उसी क्षण अदृश्य होकर नदीरूप में परिणत हो गयी और गौतमी में मिल गयी। उस तीर्थ के प्रभाव से वह गणिका गणों और किन्नरों के गान से सत्कृत होकर स्वर्ग लोक को चली गयी। विमान में बैठकर जब वह स्वर्ग की ओर जाने लगी, तब यह देखकर चञ्चललोचन काल को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। तत्पश्चात् उस समय स्वयं सूर्य ने आकर यम से कहा—॥३५-४०॥

सूर्य ने कहा—पुत्र ! अपना कर्त्तव्य—प्रजा का नाश करो। देखो ब्रह्मा सर्वदा प्रजा की सृष्टि करते रहते हैं, वायु सर्वदा बहते रहते हैं, मैं सर्वदा त्रिभुवन का चक्कर लगाया करता हूँ और पृथ्वी अपने वक्षःस्थल पर प्रजा का भार ढोती रहती है ॥४१॥

ब्रह्मा बोले—पिता की इस वाणी को सुनकर यम ने कहा—॥४२॥

यम उवाच

एतन्न गर्हितं कर्म कुर्यामहमिदं ध्रुवम् । कर्मण्यस्मिन्महाक्रूरे समादेष्टुं न वाऽर्हसि ।।४३।।
इति श्रुत्वा च तद्वाक्यं भानुर्वचनमब्रवीत् । किं नाम गर्हितं कर्म तव कर्तुमलं यम ।।४४।।
किं न दृष्टा त्वया यान्ती गणिका गणकिंकरैः । गीयमाना दिवं सद्यो गौतमीतोयमाप्लुता ।।४५।।
त्वया चात्र तपस्तीव्रं कृतं पुत्र सुदुष्करम् । नैवान्तं तस्य पश्यामि तस्माद्गच्छ निजं पुरम् ।।४६।।
इत्युक्त्वा भगवान्भानुस्तत्र स्नात्वा गतो दिवम् । यमोऽपि संगमे स्नात्वा ततो निजपुरं ययौ ।।४७।
भूतहाऽपि ततः शङ्कां तत्याज च महामुने । तथा दृष्ट्वा यमं यान्तं चक्रे चक्रं प्रयाणकम् ।।४८।।
भगवान्यत्र गोविन्दो वनमालाविभूषितः । इति यः श्रृणुयान्मर्त्यः पठेद्वाऽपि समाहितः ।।४९।।
आपदस्तस्य नश्यन्ति दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।।५०।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये चक्रतीर्थगणिकासंगमवर्णनं नाम षडशीतितमोऽध्यायः।।८६।।
गौतमीमाहात्म्ये सप्तदशोऽध्यायः ।।१७।।

यम बोले—यह क्रूर और निन्द्य कर्म मैं नहीं करूँगा, यह ध्रुव है । यह अति क्रूर कर्म करने के लिए आप आदेश न दीजिये । पुत्र यम की इन बातों को सुनकर सूर्य ने कहा—'यम ! क्या मैं तुमको गर्हित कर्म करने के लिए कभी कह सकता हूँ ? क्या तुमने अभी-अभी गौतमी-जल में स्नान करने के फलस्वरूप गणिका को स्वर्ग की ओर जाते नहीं देखा जिसका गुणगान देवगण सेवक भाव से करते जा रहे थे ? पुत्र ! तुमने तो इस नदी के पुनीत तीर पर अन्यों से न करने योग्य कठिन तप किया है, इस तपस्या का अन्त (नाश) नहीं देख रहा हूँ, इसलिए तुम शीघ्र अपने लोक को जाओ । यह कहकर भगवान् सूर्य गौतमी में नहाकर स्वर्ग को चले गये । तदनन्तर यम भी संगम में स्नान कर अपने लोक को चले गये । महामुने ! प्राणियों के वध करनेवाले यम ने भी (गर्हित कर्म करने की) शंका को छोड़ दिया । इस प्रकार यम को जाते हुए देखकर चक्र भी जहाँ वनमाला से सुशोभित भगवान् गोविन्द थे वहाँ चला गया । इस उपर्युक्त कथा को जो कोई मनुष्य एकाग्रचित्त से सुनता है या पढ़ता है, उसकी सभी आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं और वह दीर्घायु प्राप्त करता है ।।४३-५०।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में चक्रतीर्थ-गणिका-संगम-वर्णन नामक छियासीवाँ अध्याय समाप्त ।।८६।।

गौतमी माहात्म्य का सत्रहवाँ अध्याय ।।१७।।

अथ सप्ताशीतितमोऽध्यायः

अहल्यासंगमेन्द्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

अहल्यासंगमं चेह तीर्थं त्रैलोक्यपावनम् । शृणु सम्यंङ्मुनिश्रेष्ठ तत्र वृत्तमिदं यथा ॥१॥
कौतुकेनातिमहता मया पूर्वं मुनीश्वर । सृष्टा कन्या बहुविधा रूपवत्यो गुणान्विताः ॥२॥
तासामेकां श्रेष्ठतमां निर्ममे शुभलक्षणाम् । तां बालां चारुसर्वाङ्गीं दृष्ट्वा रूपगुणान्विताम् ॥३॥
को वाऽस्याः पोषणे शक्त इति मे बुद्धिराविशत् । न दैत्यानां सुराणां च न मुनीनां तथैव च ॥४॥
नास्त्यस्याः पोषणे शक्तिरिति मे बुद्धिरन्वभूत् । गुणज्येष्ठाय विप्राय तपोयुक्ताय धीमते ॥५॥
सर्वलक्षणयुक्ताय वेदवेदाङ्गवेदिने । गौतमाय महाप्राज्ञामददां पोषणाय ताम् ॥६॥
पालयस्व मुनिश्रेष्ठ यावदाप्स्यति यौवनम् । यौवनस्थां पुनः साध्वीमानयेथा ममान्तिकम् ॥७॥
एवमुक्त्वा गौतमाय प्रादां कन्यां सुमध्यमाम् । तामादाय मुनिश्रेष्ठ तपसा हतकल्मषः ॥८॥
तां पोषयित्वा विधिवदलंकृत्य ममान्तिकम् । निर्विकारो मुनिश्रेष्ठो ह्यहल्यामानयत्तदा ॥९॥

अध्याय ८७

अहल्या-संगम या इन्द्रतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—इस संसार में त्रैलोक्य को पवित्र करनेवाला अहल्या-संगम नाम का एक तीर्थ है। मुनिश्रेष्ठ ! इस विषय में जो कुछ हुआ, उसको भलीभाँति सुनो ॥१॥ मुनीवर ! बहुत पहले मैंने अत्यन्त कौतूहलवश बहुत-सी रूपवती और गुणवती कन्याओं को बनाया ॥२॥ उनमें से एक को सर्वलक्षणसम्पन्न और अतिसुन्दर बनाया। उस रूप और गुण से युक्त, मनोहर अंगोंवाली बाला को देखकर इसके पालन-पोषण का भार कौन उठायेगा, यह भावना मेरे मन में उत्पन्न हुई ॥ ३½॥ इसके पालन-पोषण की क्षमता न तो दैत्यों न देवताओं और न तो मुनियों में ही है, ऐसी मेरी धारणा हुई। यह सोचकर गुणश्रेष्ठ, परमतपस्वी, बुद्धिमान्, वेद-वेदांग के ज्ञाता, सर्वलक्षणसम्पन्न विप्र गौतम को पालन करने के लिए उस परम बुद्धिमती कन्या को दे दिया और कहा कि मुनिश्रेष्ठ ! तुम इसका तब तक पालन करो जब तक कि यह युवावस्था को न प्राप्त हो जाय। पुनः युवती हो जाने पर इस साध्वी को मेरे समीप ले आना॥४-७॥ यह कहकर मैंने उस सुन्दर कटिवाली कन्या को गौतम को दे दिया। मुनिश्रेष्ठ ! तप से पापों को दूर कर देनेवाले उस मुनि ने उसको ले लिया और नियत अवधि तक उसका विधिवत् पालन-पोषण किया। और इसके बाद आभूषणों से आभूषित कर निर्विकार भाव से अहल्या को मेरे समीप ले आया ॥८-९॥ उस समय उसको देखकर सब अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवता 'सुरेशान ! मुझको दीजिये, मुझको दीजिये'

तां दृष्ट्वा विबुधाः सर्वे शक्राग्निवरुणादयः । मम देया सुरेशान इत्यूचुस्ते पृथक्पृथक् ।।१०।।
तथैव मुनयः साध्या दानवा यक्षराक्षसाः । तान्सर्वानागतान्दृष्ट्वा कान्यार्थमथ संगतान् ।।११।।
इन्द्रस्य तु विशेषेण महांश्चाभूत्तदा ग्रहः । गौतमस्य तु माहात्म्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।।१२।।
स्मृत्वा सुविस्मितो भूत्वा ममैवमभवत्सुधीः । देयेयं गौतमायैव नान्ययोग्या शुभानना ।।१३।।
तस्मा एव तु तां दास्ये तथाऽप्येवमचिन्तयम् । सर्वेषां च मतिर्धैर्यं मथितं बालयाऽनया ।।१४।।
अहल्येति सुरैः प्रोक्तं[1] मया च ऋषिभिस्तदा । देवानृषींस्तदा वीक्ष्य मया तत्रोक्तमुच्चकैः ।।१५।।
तस्मै सा दीयते सुभ्रूर्यः पृथिव्याः प्रदक्षिणाम् । कृत्वोपतिष्ठते पूर्वं न चान्यस्मै पुनः पुनः ।।१६।।
ततः सर्वे सुरगणाः श्रुत्वा वाक्यं मयेरितम् । अहल्यार्थं सुरा जग्मुः पृथिव्याश्च प्रदक्षिणे ।।१७।।
गतेषु सुरसंघेषु गौतमोऽपि मुनीश्वर । प्रयत्नमकरोत्किंचिदहल्यार्थमिमं तथा ।।१८।।
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन्सुरभिः सर्वकामधुक् । अर्धप्रसूता ह्यभवत्तां ददर्श स गौतमः ।।१९।।
तस्याः प्रदक्षिणं चक्रे इयमुर्वीति संस्मरन् । लिङ्गस्य च सुरेशस्य प्रदक्षिणमथाकरोत् ।।२०।।
तयोः प्रदक्षिणं कृत्वा गौतमो मुनिसत्तमः । सर्वेषां चैव देवानामेकं चापि प्रदक्षिणम् ।।२१।।
नैवाभवद्भुवो गन्तुः संजातं द्वितयं मम । एवं निश्चित्य स मुनिर्ममान्तिकमथाभ्यगात् ।।२२।।

इस प्रकार अलग-अलग कहने लगे ।।१०।। इसी प्रकार सभी मुनि, साध्य, दानव, यक्ष, राक्षस कन्या को माँगने के लिए आ गये । इस प्रकार कन्या के लिए सबको सामूहिक रूप से आया देखकर और इस विषय में इन्द्र का विशेष रूप से महान् आग्रह देखकर मुझको अत्यन्त आश्चर्य हुआ ।।११$\frac{१}{३}$।। इसके साथ ही गौतम का धैर्य, गम्भीरता और उसकी महत्ता को स्मरण कर मैं तो अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गया । इतनें में मुझे यह सुबुद्धि हुई कि 'यह शुभानना गौतम को ही दी जानी चाहिए, यह दूसरों के योग्य नहीं ।।१२-१३।। अतः उसको ही दूँगा ।' फिर भी मैंने इस प्रकार सोचा कि इस बाला ने सबके ज्ञान और धैर्य को मथ डाला है, इसलिए इसका नाम अहल्या रखा जाय, इसका समर्थन ऋषियों और देवताओं ने भी किया ।।१४$\frac{१}{३}$।। तब मैंने देवताओं और ऋषियों की ओर देखकर ऊँचे स्वर से कहा कि यह सुन्दर भौं वाली कन्या उसी को दी जायगी जो पृथ्वी की प्रदक्षिणा कर सबसे पहले आ जायगा, दूसरे को बार-बार नहीं दी जायगी ।।१५-१६।। इसके बाद मेरी कही हुई बातों को सुनकर सब देवता अहल्या को प्राप्त करने की इच्छा से पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने के लिए चले गये ।।१७।। मुनीश्वर ! देवताओं के चले जाने पर गौतम ने भी अहल्या के लिए कुछ इस ढंग का प्रयत्न किया । ब्रह्मन् ! इसी बीच सब कामनाओं को देनेवाली कामधेनु अर्धप्रसूता (आधा बच्चा जननेवाली) हुई । गौतम ने उसको देख लिया ।।१८-१९।। यह पृथ्वी है, इस बात का स्मरण कर उसने उसी की प्रदक्षिणा की और सुरेश शंकर के लिंग की भी प्रदक्षिणा की ।।२०।। उन दोनों की प्रदक्षिणा कर मुनि गौतम 'सब देवताओं ने अब तक पृथ्वी की एक भी प्रदक्षिणा नहीं की, तब तक प्रदक्षिणा करनेवाले मैंने तो दो प्रक्षिणाएँ कर दीं' यह मन में निश्चय कर मेरे समीप आया ।।२१-२२।। महामति गौतम ने मुझे नमस्कार करके यह

---

[1] ग. प्रोक्ता ।

नमस्कृत्वाऽब्रवीद्वाक्यं गौतमो मां महामतिः । कमलासन विश्वात्मन्नमस्तेऽस्तु पुनः पुनः ।।२३।।
प्रदक्षिणीकृता ब्रह्मन्मयेयं[1] वसुधाऽखिला । यदत्र युक्तं देवेश जानीते तद्भवान्स्वयम् ।।२४।।
मया तु ध्यानयोगेन ज्ञात्वा गौतममब्रवम् । तवैव दीयते सुभ्रूः प्रदक्षिणमिदं कृतम् ।।२५।।
धर्मं जानीहि विप्रर्षे दुर्ज्ञेयं निगमैरपि । अर्धप्रसूता सुरभिः सप्तद्वीपवती मही ।।२६।।
कृता प्रदक्षिणा तस्याः पृथिव्याः सा कृता भवेत् । लिङ्गं प्रदक्षिणीकृत्य तदेव फलमाप्नुयात् ।।२७।।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुने गौतम सुव्रत । तुष्टोऽहं तव धैर्येण ज्ञानेन तपसा तथा ।।२८।।
दत्तेयमृषिशार्दूल कन्या लोकवरा मया । इत्युक्त्वाऽहं गौतमाय अहल्यामददां मुने ।।२९।।
जाते विवाहे ते देवाः कृत्वेलायाः प्रदक्षिणम् । शनैः शनैरथाऽऽगत्य ददृशुः सर्व एव ते ।।३०।।
तं गौतममहल्यां च दाम्पत्यं प्रीतिवर्धनम् । ते चाऽऽगत्याथ पश्यन्तो विस्मिताश्चाभवन्सुराः ।।३१।।
अतिक्रान्ते विवाहे तु सुराः सर्वे[2] दिवं ययुः । समत्सरः शचीभर्ता तामीक्ष्य च दिवं ययौ ।।३२।।
ततः प्रीतमनास्तस्मै गौतमाय महात्मने । प्रादां ब्रह्मगिरिं पुण्यं सर्वकामप्रदं शुभम् ।।३३।।
अहल्यायां मुनिश्रेष्ठो रेमे तत्र स गौतमः । गौतमस्य कथां पुण्यां श्रुत्वा शक्रस्त्रिविष्टपे ।।३४।।

वाक्य कहा—'कमलासन' ! विश्वात्मन् ! आपको मेरा वार-वार नमस्कार है ।।२३।। व्रह्मन् ! मैंने इस सम्पूर्ण पृथ्वी की प्रदक्षिणा कर दी । देवेश ! इस विषय में जो कुछ सत्यता है उसको आप स्वयं जानते हैं,।।२४।। मैंने भी ध्यानावस्थित होकर योग-दृष्टि से यह सव कुछ जान लिया और गौतम से कहा 'यह सुन्दर भौं वाली अहल्या तुमको ही दी जायगी क्योंकि तुमने प्रदक्षिणा समाप्त कर दी है ।।२५।। विप्रर्षि ! शास्त्रों से भी कठिनाई से जानने योग्य धर्म को तुम जानते हो । सचमुच अर्धप्रसूता (आधी ब्याई) कामधेनु सात द्वीप वाली पृथ्वी है ।।२६।। उसकी की हुई प्रदक्षिणा पृथिवी की की हुई प्रदक्षिणा के वरावर हुई, और शिवलिंग की प्रदक्षिणा से पृथ्वी-प्रदक्षिणा का ही फल मिलता है ।।२७।। ऋषिशार्दूल ! सर्वसुन्दरी यह कन्या तुमको दे दी गयी ।' । मुने ! यह कहकर मैंने गौतम को अहल्या दे दी ।।२९।। इधर विवाह हो जाने पर वे देवता पृथ्वी की परिक्रमा कर धीरे-धीरे मेरे पास आये और यह सव कुछ देखा ।।३०।। वे देवता आकर अहल्या और गौतम का प्रेम वढ़ानेवाला दाम्पत्य (विवाह-सम्वन्ध) देखकर अत्यन्त विस्मित हो गये ।।३१।। इस प्रकार विवाह-विधि समाप्त हो जाने पर सव देवता स्वर्ग को चले गये । परन्तु शचीपति इन्द्र ने अत्यन्त ईर्ष्या की दृष्टि से अहल्या को देखते हुए स्वर्ग को प्रस्थान किया ।।३२।। इसके वाद मैंने प्रसन्न होकर महात्मा गौतम को सव कामनाओं को देने वाला पवित्र व्रह्मगिरि दे दिया । उस पर्वत पर मुनिश्रेष्ठ गौतम आनन्दपूर्वक अहल्या के साथ विहार करने लगे, इस पवित्र शुभदायक गौतम के दाम्पत्य-प्रेम की कथा को इन्द्र ने स्वर्ग में

---

[1] क. ०येला द्विविधा पुनः । य० । [2] क. ०वर्गेताः पुनः । स० ।

तमाश्रमं तं च मुनिं तस्य भार्यामनिन्दिताम् । भूत्वा ब्राह्मणवेषेण द्रष्टुमागाच्छतक्रतुः ॥३५॥
स दृष्ट्वा भवनं तस्य भार्यां च विभवं तथा । पापीयसीं मतिं कृत्वा अहल्यां समुदैक्षत ॥३६॥
नाऽऽत्मानं न परं देशं कालं शापादृषेर्भयम् । न बुबोध तदा वत्स कामाकृष्टः शतक्रतुः ॥३७॥
तद्ध्यानपरमो नित्यं सुरराज्येन गर्वितः । संप्तप्ताङ्गः कथं कुर्यां प्रवेशो मे कथं भवेत् ॥३८॥
एवं वसन्विप्ररूपो नान्तरं त्वध्यगच्छत । स कदाचिन्महाप्राज्ञः कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ॥३९॥
सहितो गौतमः शिष्यैर्निर्गतश्चाऽश्रमाद्बहिः । आश्रमं[1] गौतमीं[2] विप्रान्धान्यानि विविधानि च ॥४०॥
द्रष्टुं गतो मुनिवर इन्द्रस्तं समुदैक्षत । इदमन्तरमित्युक्त्वा चक्रे कार्यं मनःप्रियम् ॥४१॥
रूपं कृत्वा गौतमस्य प्रियेप्सुः स शतक्रतुः । तां दृष्ट्वा[3] चारुसर्वाङ्गीमहल्यां वाक्यमब्रवीत् ॥४२॥

इन्द्र उवाच

आकृष्टोऽहं तव गुणै रूपं स्मृत्वा स्खलत्पदः । इति ब्रुवन्हसन्हस्तमादायान्तः समाविशत् ॥४३॥
न बुबोध त्वहल्या तं जारं मेने तु गौतमम् । रममाणा यथासौख्यं प्रागाच्छिष्यैः स गौतमः ॥४४॥

सुना ॥३३-३४॥ ईर्ष्यालु शतक्रतु इन्द्र उस आश्रम, उस मुनि और मुनि की पवित्र पतिव्रता भार्या को देखने के लिए ब्राह्मण के वेश में आया ॥३५॥ गौतम के भवन, भार्या और विभव को देखकर उसके मन में पापबुद्धि उत्पन्न हो गयी। उसने बुरी दृष्टि से अहल्या को देखा ॥३६॥ वत्स ! उस काम के वशीभूत शतक्रतु इन्द्र ने न तो आत्मगौरव, न लोकापवाद, न देश, न काल को ही समझा और न तो ऋषि-शाप के भय का ही उसको ज्ञान रहा ॥३७॥ वह कामाग्नि से दग्ध शरीरवाला सर्वदा अहल्या के ही ध्यान में मस्त रहा। उसको अपने सुर-राज्य पर अभिमान था। वह तो यही सोचता रहा कि 'क्या करूँ, कैसे ऋषि के घर में मेरा प्रवेश होगा' ॥३८॥ इस प्रकार ब्राह्मण के वेश में छिपा हुआ इन्द्र ऋषि-आश्रम में रहने लगा किन्तु उसको अवसर नहीं मिला। किसी समय वह महाबुद्धिमान् गौतम मुनि पूर्वाह्ण की नित्यक्रिया समाप्त कर शिष्यों के साथ आश्रम से बाहर चले गये ॥३९$\frac{१}{३}$॥ इन्द्र ने देखा कि मुनि आश्रम, गौतमी, विप्रों और विविध धान्यों को देखने के लिए चले गये हैं। तो अब मुझे अवसर मिला, यह कहकर अपना अभिलषित कार्य करने लगा ॥४०-४१॥ प्रिय अहल्या को पाने की इच्छा रखनेवाले शतक्रतु ने गौतम का रूप धारण कर लिया और उस सर्वाङ्ग सुन्दरी अहल्या को देखकर यह कहा ॥४२॥

इन्द्र ने कहा—मैं तुम्हारे गुणों से खिंचा हुआ (वशीभूत) हूँ। तुम्हारे रूप का स्मरण कर मेरे पैर सीधे नहीं पड़ते (अपने पद से भ्रष्ट हो गया हूँ)। यह कहकर हँसता हुआ उसका हाथ पकड़कर अन्तःपुर में घुस गया। अहल्या ने उसको जार (उपपति) नहीं समझा, किन्तु गौतम ही मान लिया। इसलिए उसके साथ सुख-पूर्वक विहार करने लगी। इसी समय अपने शिष्यों सहित गौतम पहुँच गये। नित्यप्रति प्रिय वचन कहनेवाली

---

[1] घ. आश्रमे। [2] घ. ०नि च वनानि। [3] घ. गत्वा।

आगच्छन्तं नित्यमेव अहल्या प्रियवादिनी । प्रतियाति[1] प्रियं वक्ति तोषयन्ती च तं गुणैः ।।४५।।
तामदृष्ट्वा महाप्राज्ञो मेने तन्महदद्भुतम् । द्वारस्थितं मुनिश्रेष्ठं सर्वे पश्यन्ति नारद ।।४६।।
अग्निहोत्रस्य शालाया रक्षिणो गृहकर्मिणः । ऊचुर्मुनिवरं भीता गौतमं विस्मयान्विताः ।।४७।।

रक्षिण ऊचुः

भगवन्किमिदं चित्रं बहिरन्तश्च दृश्यसे । प्रिययाऽन्तः प्रविष्टोऽसि तथैव च बहिर्भवान् ।।
अहो तपःप्रभावोऽयं नानारूपधरो भवान् ।।४८।।

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वा विस्मितस्त्वन्तः प्रविष्टः को नु तिष्ठति । प्रिये अहल्ये भवति किं मां न प्रतिभाषसे ।।४९।।
इत्यृषेवर्चनं श्रुत्वा अहल्या जारमब्रवीत् ।।५०।।

अहल्योवाच

को भवान्मुनिरूपेण पापं त्वां कृतवानसि । इति ब्रुवती शयनादुत्थिता सत्वरं भयात् ।।५१।।
स चापि पापकृच्छक्रो विडालोऽभून्मुनेर्भयात् । त्रस्तां च विकृतां दृष्ट्वा स्वप्रियां दूषितां तदा ।।५२।।

अहल्या गौतम के आने पर उनका सत्कार करने के लिए द्वार तक जाती, मधुर वचन बोलती थी और अपने स्त्रीसुलभ गुणों से उनको संतुष्ट करती थीं। किन्तु आज उसको पूर्व की भाँति न देखकर उस महाप्राज्ञ को अत्यन्त आश्चर्य जान पड़ा। नारद ! द्वार पर खड़े मुनिश्रेष्ठ को सभी देखने लगे। अग्निहोत्रशाला के रक्षक और घर पर काम करनेवाले सेवक आश्चर्य-चकित और भयभीत होकर मुनि से कहने लगे ।।४३-४७।।

रक्षकों ने कहा—भगवन् ! यह क्या ! आप बाहर और भीतर सर्वत्र दिखायी देते हैं, अभी प्रिया के साथ अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए और अभी उसी प्रकार बाहर भी दिखायी दे रहे हैं। अहो ! यह तपस्या का प्रभाव है, आप विभिन्न रूप धारण करनेवाले हैं ।।४८।।

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर विस्मित गौतम घर के भीतर चले गये और बोले—'यहाँ कौन है ? प्रिये ! अहल्ये ! तुम आज मुझसे क्यों नहीं प्रतिभाषण कर रही हो ?' ऋषि की बातों को सुनकर अहल्या ने जोर से कहा ।।४९-५०।।

अहल्या बोली—'तुम कौन हो ? तुमने मुनि का वेश धारण कर मेरे साथ पाप कर्म किया है।' यह कहती हुई भय से शीघ्र पलँग से उठ गयी। वह पापकर्मा इन्द्र भी मुनि के भय से बिडाल बन गया। उस समय भयभीत, विकृत और दूषित अपनी प्रिया को देखकर उस मुनि ने क्रोध से कहा कि 'तुमने यह कौन-सा साहस (बुरा

---

[1] क. पतिप्रिया।

उवाच स मुनिः कोपात्किमिदं साहसं कृतम् । इति ब्रुवन्तं भर्तारं साऽपि नोवाच लज्जिता[१] ।।५३।।
अन्वेषयंस्तु तं जारं बिडालं ददृशे मुनिः । को भवानिति तं प्राह भस्मीकुर्यां[२] मृषा वदन् ।।५४।।

इन्द्र उवाच

कृताञ्जलिपुटो भूत्वा चैवमाह शचीपतिः । शचीभर्ता पुरां भेत्ता तपोधन पुरुष्टुतः ।।५५।।
ममेदं पापमापन्नं सत्यमुक्तं मयाऽनघ । महद्विगर्हितं कर्म कृतवानस्म्यहं मुने ।।५६।।
स्मरसायकनिर्भिन्नहृदयाः किं न कुर्वते । ब्रह्मन्मयि महापापे क्षमस्व करुणानिधे ।।५७।।
सन्तः कृतापराधेऽपि न रौक्ष्यं जातु कुर्वते । निशम्य तद्वचो विप्रो हरिमाह रुषाऽन्वितः[३] ।।५८।।

गौतम उवाच

भगभक्त्या कृतं पापं [४]सहस्रभगवान्भव । तामप्याह मुनिः कोपात्त्वं च शुष्कनदी भव ।।५९।।
ततः प्रसादयामास कथयन्ती तदाकृतिम् ।।६०।।

अहल्योवाच

मनसाऽप्यन्यपुरुषं पापिष्ठाः कामयन्ति याः । अक्षयान्यान्ति नरकांस्तासां सर्वेऽपि पूर्वजाः ।।६१।।

कर्म) कर डाला ।' इस प्रकार भर्त्ता को कहते हुए देखकर वह भी लज्जा के मारे कुछ न कह सकी । मुनि भी जार को ढूँढ़ने लगे । इतने में एक बिड़ाल दिखायी दिया । उन्होंने उससे कहा — 'तुम कौन हो ? असत्य बोलोगे तो भस्म कर दूँगा'।।५१-५४।।

इन्द्र बोले—हाथ जोड़कर इन्द्र ने इस प्रकार कहा—'तपोधन ! शची का भर्ता, पुर राक्षस को मारनेवाला पुरुष्टुत (बहुत नामवाला) इन्द्र हूँ। निष्पाप ! मुझसे ही यह पापकर्म हुआ। मैंने सत्य कहा है। मुने ! महान् निन्दित कर्म मैंने किया है । काम के बाणों से आहत हृदय वाले (कामार्त) व्यक्ति नहीं कर देते हैं ? ब्रह्मन् ! करुणा-सागर ! मुझ महापापी को क्षमा कीजिये । सन्त पुरुष अपराधियों पर भी क्रोध नहीं करते । इन्द्र की बातों को सुनकर क्रुद्ध विप्र ने इन्द्र से कहा—।।५५-५८।।

गौतम बोले—तुमने भग के प्रेम से यह काम किया है, इसलिए हजार भग (योनि) वाले हो जाओ। मुनि ने क्रोध से अहल्या से भी कहा कि तुम भी सूखी नदी हो जाओ। तदनन्तर इन्द्र की आकृति का वर्णन करती हुई अहल्या उनको प्रसन्न करने का प्रयत्न करने लगी।।५९-६०।।

अहल्या ने कहा—जो पापिष्ठा नारी मन से भी परपुरुष की कामना करती है उसकी तो कौन कहे, उसके सभी पूर्वज भी कभी न नष्ट होनेवाले नरक को जाते हैं। भगवान् ! प्रसन्न होकर मेरी बातों पर विचार कीजिये।

१क. ०ता । भ्रममाणं भयोद्विग्नं वि०। २ घ. ०र्यां सहानुगम् । इ० । ३क. ०तः । त्वया शफ कृ० । ४ घ. ०गभाग्भव ।

भूत्वा प्रसन्नो भगवन्नवधारय मद्वचः । तव रूपेण चाऽऽगत्य मामगात्साक्षिणस्त्विमे ॥६२॥
तथेति रक्षिणः प्रोचुरहल्या सत्यवादिनी । ध्यानेनापि मुनिर्ज्ञात्वा शान्तः प्राह पतिव्रताम् ॥६३॥

गौतम उवाच

यदा तु संगता भद्रे गौतम्या सरिदीशया । नदी भूत्वा पुना रूपं प्राप्यसे प्रियकृन्मम ॥६४॥
इत्यृषेर्वचनं श्रुत्वा तथा चक्रे पतिव्रता । तया तु संगता देव्या अहल्या गौतमप्रिया ॥६५॥
पुनस्तद्रूपमभवद्यन्मया निर्मितं पुरा । ततः कृताञ्जलिपुटः सुरराट् प्राह गौतमम् ॥६६॥

इन्द्र उवाच

मां पाहि मुनिशार्दूल पापिष्ठं गृहमागतम् । पादयोः पतितं दृष्ट्वा कृपया प्राह गौतमः ॥६७॥

गौतम उवाच

गौतमीं गच्छ भद्रं ते स्नानं कुरु पुरंदर । क्षणान्निर्धूतपापस्त्वं सहस्राक्षो भविष्यसि ॥६८॥
उभयं विस्मयकरं दृष्टवानस्मि नारद । अहल्यायाः पुनर्भावं शचीभर्ता सहस्रदृक् ॥६९॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थमहल्यासंगमं शुभम् । इन्द्रतीर्थमिति ख्यातं सर्वकामप्रदं नृणाम् ॥७०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्येऽहल्यासंगमेन्द्रतीर्थवर्णनं नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥८७॥
गौतमीमाहात्म्येऽष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

वह आप का ही रूप धारण कर मेरे पास आया, इसके ये रक्षक साक्षी हैं। उन रक्षकों ने भी कहा कि अहल्या सत्य कह रही हैं। मुनि ने भी अपने योगबल से जानकर शान्त हो पतिव्रता भार्या से कहा ॥६१-६३॥

गौतम ने कहा—कल्याणि ! जब तुम नदी होकर नदियों की स्वामिनी गौतमी से मिलोगी तब पुनः मेरे प्रिय करनेवाले रूप को प्राप्त करोगी। ऋषि की बात सुनकर पतिव्रता अहल्या ने वैसा ही किया। देवी गौतमी से मिल जाने पर गौतम की प्रिया अहल्या पुनः उस रूप को पा गयी जैसा कि मैंने पहले बनाया था। इसके बाद सुरराज इन्द्र ने हाथ जोड़कर गौतम से कहा—॥६४-६६॥

इन्द्र बोले—'मुनिशार्दूल ! घर में आये हुए इस महापापी की रक्षा कीजिये।' इस प्रकार इन्द्र को पैरों पर गिरा हुआ देखकर करुणा से आर्द्र मुनि ने कहा—॥६७॥

गौतम ने कहा—'गौतमी के पास जाओ, तुम्हारा कल्याण होगा। पुरंदर ! उसमें जाकर स्नान करो, एक क्षण में ही तुम्हारे पाप धुल जायेंगे और तुम सहस्राक्ष हो जाओगे।' नारद ! मैंने आश्चर्य में डाल देनेवाली दोनों घटनाओं को—पहली अहल्या का नदी होकर भी पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त होना और दूसरी शचीपति का सहस्राक्ष होना—देखा है। तब से वह शुभतीर्थ अहल्या-संगम या इन्द्रतीर्थ नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो मनुष्यों के सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाला है ॥६८-७०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में अहल्या-संगम-इन्द्रतीर्थ-वर्णन नामक सत्तासीवाँ अध्याय समाप्त ॥८७॥
गौतमी माहात्म्य का अठारहवाँ अध्याय॥१८॥

अथाष्टाशीतितमोऽध्यायः

जनस्थानतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

तस्मादप्यपरं तीर्थं जनस्थानमिति श्रुतम्। चतुर्योजनविस्तीर्णं स्मरणान्मुक्तिदं नृणाम् ॥१॥
वैवस्वतान्वये जातो राजाऽभूज्जनकः पुरा। सोऽपांपतेस्तु तनुजामुपयेमे गुणार्णवाम् ॥२॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां जनकां जनको नृपः। अनुरूपगुणत्वाच्च तस्य भार्या गुणार्णवा ॥३॥
याज्ञवल्क्यश्च विप्रेन्द्रस्तस्य राज्ञः पुरोहितः। तमपृच्छन्नृपश्रेष्ठो याज्ञवल्क्यं पुरोहितम् ॥४॥

जनक उवाच

भुक्तिमुक्ती उभे श्रेष्ठे निर्णीते मुनिसत्तमैः। दासीदासेभतुरगरथाद्यैर्भुक्तिरुत्तमा ॥५॥
किंत्वन्तविरसा भुक्तिर्मुक्तिरेका निरत्यया। भुक्तेर्मुक्तिः श्रेष्ठतमा भुक्त्या मुक्तिं कथं व्रजेत् ॥६॥
सर्वसङ्गपरित्यागान्मुक्तिप्राप्तिः सुदुःखतः। तद्ब्रूहि द्विजशार्दूल सुखान्मुक्तिः कथं भवेत् ॥७॥

अध्याय ८८

जनस्थानतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—उसके बाद जनस्थान नाम से प्रसिद्ध, चार योजन तक विस्तृत एक तीर्थ है, जिसके स्मरणमात्र से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। प्राचीन काल में वैवस्वत वंश में जनक नाम के एक राजा उत्पन्न हुए। उन्होंने जल के स्वामी वरुण की कन्या गुणार्णवा (गुण का समुद्र, अत्यन्त गुणवती) से—जो कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देनेवाली थी—विवाह किया। उस राजा जनक की भार्या गुणार्णवा अपने अनुरूप गुणों के कारण वास्तव में गुणार्णवा (गुण-सागर) थी। विप्रेन्द्र याज्ञवल्क्य उस राजा के पुरोहित थे। एक दिन नृपश्रेष्ठ जनक ने पुरोहित याज्ञवल्क्य से पूछा—॥१-४॥

जनक बोले—भुक्ति और मुक्ति दोनों श्रेष्ठ हैं, ऐसा मुनियों ने निर्णय किया है। यद्यपि दासी, दास, हाथी, घोड़े और रथ आदि सुख-सामग्रियों के कारण भुक्ति उत्तम मानी जाती है, परन्तु भुक्ति का अन्त आनन्द से रहित है, केवल मुक्ति ही निरत्यय (नित्य और अविनाशी) है। भुक्ति से मुक्ति श्रेष्ठ है, परन्तु भोग के बाद मुक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है। सब प्रकार की आसक्ति के त्याग से ही मुक्ति प्राप्त होती है, इसलिए यह मुक्ति अत्यन्त दुःख से प्राप्त करने योग्य है। अतः हे द्विजशार्दूल ! मुक्ति सुखपूर्वक कैसे प्राप्त की जा सकती है, वह कहिये ॥५-७॥

याज्ञवल्क्य उवाच

अपांपतिस्तव गुरुः श्वशुरः प्रियकृत्तथा। तं गत्वा पृच्छ नृपते उपदेक्ष्यति ते हितम् ॥८॥
याज्ञवल्क्यश्च जनको राजानं वरुणं तदा। गत्वा चोचतुरव्यग्रौ मुक्तिमार्गं यथाक्रमम् ॥९॥

वरुण उवाच

द्विधा तु संस्थिता मुक्तिः कर्मद्वारेऽप्यकर्मणि। वेदे च निश्चितो मार्गः कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ॥१०॥
सर्वं च कर्मणा बद्धं पुरुषार्थचतुष्टयम्। अकर्मणैवाऽऽप्यत इति मुक्तिमार्गो मृषोच्यते ॥११॥
कर्मणा [1]सर्वधान्यानि सेत्स्यन्ति नृपसत्तम। तस्मात्सर्वात्मना कर्म कर्तव्यं वैदिकं नृभिः ॥१२॥
तेन भुक्तिं च मुक्तिं च प्राप्नुवन्तीह मानवाः। अकर्मणः कर्म पुण्यं कर्म चाप्याश्रमेषु च ॥१३॥
जात्याश्रितं च राजेन्द्र तत्रापि शृणु धर्मवित्। आश्रमाणि च चत्वारि कर्मद्वाराणि मानद ॥१४॥
चतुर्णामाश्रमाणां च गार्हस्थ्यं पुण्यदं स्मृतम्। तस्माद्भुक्तिश्च मुक्तिश्च भवतीति मतिर्मम ॥१५॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा तु जनको याज्ञवल्क्यश्च बुद्धिमान्। वरुणं पूजयित्वा तु पुनर्वचनमूचतुः ॥१६॥
को देशः किं च तीर्थं स्याद्भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्। तद्वदस्व सुरश्रेष्ठ सर्वज्ञोऽसि नमोऽस्तु ते ॥१७॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—जल के स्वामी वरुण तुम्हारे श्वशुर गुरु (ज्ञानदाता) तथा प्रिय करनेवाले हैं। नृपति! तुम उन्हीं के पास जाकर पूछो। वे तुम्हारे अनुकूल ज्ञान का उपदेश करेंगे। तब याज्ञवल्क्य और जनक दोनों ने राजा वरुण के पास जाकर शान्तभाव से यथाक्रम मुक्तिमार्ग के विषय में पूछा॥८-९॥

वरुण ने कहा—मुक्ति की स्थिति दो प्रकार की है, एक कर्म द्वारा, दूसरी अकर्म द्वारा, परन्तु वेदों में यही मार्ग निश्चित किया गया है कि अकर्म से कर्म ही श्रेयस्कर है। सब धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि चारों पुरुषार्थ कर्म से ही आबद्ध हैं। अतः 'कर्मत्याग मुक्ति का मार्ग है' यह कहना व्यर्थ है। नृपश्रेष्ठ! कर्म से ही सब धान्यों की भी प्राप्ति होती है, अतः सब प्रकार से वेदोक्त कर्म करना चाहिये। मनुष्य उस कर्म के द्वारा ही लोक में भुक्ति और मुक्ति प्राप्त करते हैं। अकर्म की अपेक्षा कर्म ही श्रेयस्कर है। चारों आश्रमों में भी कर्म की ही प्रधानता है। राजेन्द्र! धर्म के जाननेवाले! उन कर्मों में भी जाति से सम्बन्ध रखनेवाले कर्म को सुनो। मानद! चारों आश्रम भी कर्म के द्वारा ही बनाये गये हैं। चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम पुण्यप्रद कहा गया है। उसी गृहस्थाश्रम से भुक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त होती हैं, यह मेरा विचार है॥१०-१५॥

ब्रह्मा ने कहा—इस बात को सुनकर जनक और बुद्धिमान् याज्ञवल्क्य ने वरुण की पूजा कर पुनः यह वचन कहा—'कौन-सा देश और कौन-से तीर्थ, भुक्ति और मुक्ति को देनेवाले हैं। सुरश्रेष्ठ! आप सर्वज्ञ हैं। इस बात को बतलाइये। आपको नमस्कार है'॥१६-१७॥

---

[1] घ. °र्वसाध्यानि।

वरुण उवाच

पृथिव्यां भारतं वर्षं दण्डकं तत्र पुण्यदम्। तस्मिन्क्षेत्रे कृतं कर्म भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम् ॥१८॥
तीर्थानां गौतमी गङ्गा श्रेष्ठा मुक्तिप्रदा नृणाम्। तत्र यज्ञेन दानेन भोगान्मुक्तिमवाप्स्यति ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

याज्ञवल्क्यश्च जनको वाचं श्रुत्वा ह्यपांपतेः। वरुणेन ह्यनुज्ञातौ स्वपुरीं जग्मतुस्तदा ॥२०॥
अश्वमेधादिकं कर्म चकार जनको नृपः। याजयामास विप्रेन्द्रो याज्ञवल्क्यश्च तं नृपम् ॥२१॥
गङ्गातीरं समाश्रित्य यज्ञान्मुक्तिमवाप राट्। तथा जनकराजानो बहवस्तत्र कर्मणा ॥२२॥
मुक्तिं प्रापुर्महाभागा गौतम्याश्च प्रसादतः। ततः प्रभृति तत्तीर्थं जनस्थानेति विश्रुतम् ॥२३॥
जनकानां यज्ञसदो जनस्थानं प्रकीर्तितम्। चतुर्योजनविस्तीर्णं स्मरणात्सर्वपापनुत् ॥२४॥
तत्र स्नानेन दानेन पितॄणां तर्पणेन तु। तीर्थस्य स्मरणाद्वाऽपि गमनाद्भक्तिसेवनात् ॥२५॥
सर्वान्कामानवाप्नोति मुक्तिं च समवाप्नुयात् ॥२६॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये जनस्थानतीर्थवर्णनं नामाष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥८८॥
गौतमीमाहात्म्ये एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

वरुण बोले—इस भूमण्डल में भारतवर्ष और उसमें भी दण्डकवन पुण्यदायक प्रदेश है। उस क्षेत्र में किये गये कर्मों से मनुष्य को भुक्ति और मुक्ति प्राप्त होती है। तीर्थों में गौतमी गंगा श्रेष्ठ और मनुष्यों को मुक्ति देने वाली है। वहाँ यज्ञ करने और दान देने से भोगों से मुक्ति मिल जाती है ॥१८-१९॥

ब्रह्मा ने कहा—याज्ञवल्क्य और राजा जनक वरुण की उपर्युक्त बातों को सुनकर उनसे आज्ञा लेकर अपनी नगरी को चले गये। वहाँ जाकर नृप जनक ने अश्वमेधादि यज्ञों को किया और विप्रेन्द्र याज्ञवल्क्य ने (पुरोहित बनकर) नृप जनक से यज्ञ करवाया। उस राजा ने इस प्रकार गंगा-तीर का आश्रय लेकर यज्ञों द्वारा मुक्ति प्राप्त की। इसी प्रकार बहुत-से जनक-वंश के राजाओं ने वहाँ पर कर्म करने से और गौतमी की कृपा से मुक्ति प्राप्त की। तब से वह तीर्थ जनस्थान नाम से प्रसिद्ध हो गया। जनकवंशी राजाओं का यज्ञभवन ही जनस्थान कहा गया है, जो चार योजन विस्तीर्ण है। उसके स्मरण से ही सब प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं। वहाँ स्नान करने, दान देने और पितृतर्पण करने और तीर्थ के स्मरण करने, अथवा भक्तिपूर्वक वहाँ जाने और तीर्थ-सेवन करने से मनुष्य सब मनोरथों का प्राप्त कर अन्त में मुक्ति प्राप्त करता है ॥२०-२६॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में जनस्थान-तीर्थ-वर्णन नामक अट्ठासीवाँ अध्याय समाप्त ॥८८॥

गौतमीमाहात्म्य का उन्नीसवाँ अध्याय ॥१९॥

अथोननवतितमोऽध्यायः

अरुणावरुणासंगमाश्वभानुतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

अरुणा वरुणा चैव नद्यौ पुण्यतरे शुभे। तयोश्च संगमः पुण्यो गङ्गायां मुनिसत्तम ॥१॥
तदुत्पत्तिं शृणुष्वेह सर्वपापविनाशिनीम्। काश्यपस्य सुतो ज्येष्ठ आदित्यो लोकविश्रुतः ॥२॥
त्रैलोक्यचक्षुस्तीक्ष्णांशुः सप्ताश्वो लोकपूजितः। तस्य पत्नी उषा ख्याता त्वाष्ट्री त्रैलोक्यसुन्दरी ॥३॥
भर्तुः प्रतापतीव्रत्वमसहन्ती सुमध्यमा। चिन्तयामास किं कृत्यं मम स्यादिति भामिनी ॥४॥
तस्याः पुत्रौ महाप्राज्ञौ मनुर्वैवस्वतो यमः। यमुना च नदी पुण्या शृणु विस्मयकारणम् ॥५॥
साऽकरोदात्मनश्छायामात्मरूपेण यत्नतः। तामब्रवीत्ततश्चोषा त्वं च मत्सदृशी भव ॥६॥
भर्तारं त्वमपत्यानि पालयस्व ममाऽज्ञया। यावदागमनं मे स्यात्पत्युस्तावत्प्रिया भव ॥७॥
नाऽऽख्यातव्यं त्वया क्वापि अपत्यानां तथा प्रिये। तथेत्याह च सा छाया निजगाम गृहादुषा ॥८॥
इत्युक्त्वा सा जगामाऽऽशु शान्तं रूपमभीप्सती। सा गत्वोषा गृहं त्वष्टुः पित्रे सर्वं न्यवेदयत् ॥
त्वष्टाऽपि चकितः प्राह तां सुतां सुतवत्सलः ॥९॥

अध्याय ८९

अरुणा-वरुणा-संगम और अश्वभानुतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—मुनिश्रेष्ठ ! अरुण और वरुण नाम की दो शुभ पवित्र नदियाँ हैं। उनका संगम जो गंगा में मिलने से बनता है—अत्यन्त पुण्य देनेवाला है। उनकी उत्पत्ति की कथा—जो सब पापों को नष्ट करने वाली है—सुनो। कश्यप के ज्येष्ठ पुत्र लोक-प्रसिद्ध आदित्य हैं—जो तीनों लोकों के नेत्रस्वरूप, तीक्ष्ण किरणवाले और लोक-पूजित हैं। उनके सात घोड़े हैं। उनकी पत्नी त्वष्टा की कन्या, त्रिभुवन-सुन्दरी उषा हुई। वह सुन्दर कटिवाली भार्या पति के तीव्र तेज को नहीं सह पाती थी, इसलिए अपने मन में विचार किया कि "मुझे क्या करना चाहिये।" उसके दो परम प्रज्ञावान् वैवस्वत मनु और यम पुत्र हुए। परम पवित्र यमुना नदी पुत्री हुई। आगे-कौन सी विस्मय उत्पन्न करनेवाली घटना हुई, उसको सुनो। उसने अपनी छाया को बड़े यत्न से अपने रूप के समान ही बनाया। इसके अनन्तर उषा ने अपनी मूर्तिमती छाया से कहा—तुम मेरे समान हो जाओ। मेरी आज्ञा से मेरे पति और बच्चों का पालन करो, जब तक मैं न आऊँ तब तक तुम मेरे पति की प्रिया बनो। प्रिये ! इस रहस्य को कहीं पर किसी से भी यहाँ तक कि अपने बच्चों से भी मत कहना। छाया ने इसको स्वीकार कर लिया। तब उषा घर से बाहर चली गयी। इस प्रकार छाया को समझाकर शीघ्र आत्मशान्ति प्राप्त करने की इच्छा से अपने पिता त्वष्टा के घर जाकर पिता से सब कुछ कह सुनाया। सुतवत्सल त्वष्टा भी यह सुनकर चकित हो गये और पुत्री उषा से कहा—॥१-९॥

त्वष्टोवाच

नैतद्युक्तं भर्तृमत्या यत्स्वैरेण प्रवर्तनम्। अपत्यानां कथं वृत्तिर्भर्तुर्वा सवितुस्तव ॥
बिभेमि भद्रे शिष्टोऽहं भर्तुर्गेहं पुनर्व्रज ॥१०॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्ता तु पित्रा सा नेत्युक्त्वा वै पुनः पुनः। उत्तरं च कुरोर्देशं जगाम तपसे त्वरा ॥११॥
तत्र तेपे तपस्तीव्रं वडवारूपधारिणी। दुष्प्रेक्षं तं स्वकं कान्तं ध्यायन्ती निश्चला उषा ॥१२॥
एतस्मिन्नन्तरे तात छाया चोषास्वरूपिणी। पत्यौ सा वर्तयामास अपत्यान्यथ जज्ञिरे ॥१३॥
सार्वणिश्च शनिश्चैव विष्टिर्या दुष्टकन्यका। सा छाया वर्तयामास वैषम्येणैव नित्यशः ॥१४॥
स्वेष्वपत्येषु चोषाया यमस्तत्र चुकोप ह। वैषम्येणाथ वर्तन्तीं छायां तां मातरं तदा ॥१५॥
ताडयामास पादेन दक्षिणाशापतिर्यमः। पुत्रदौर्जन्यसंक्षोभाच्छाया वैवस्वतं यमम् ॥१६॥
शशाप पाप ते पादो विशीर्यतु ममाऽऽज्ञया। विशीर्णचरणो दुःखाद्रुदन्पितरमभ्यगात् ॥
सवित्रे तं तु वृत्तान्तं न्यवेदयदशेषतः ॥१७॥

यम उवाच

नेयं माता सुरश्रेष्ठ यया शप्तोऽहमीदृशः। अपत्येषु विरुद्धेषु जननी नैव कुप्यते ॥१८॥
यद्बाल्यादब्रवं किंचिदथवा दुष्कृत कृतम्। नैव कुप्यति सा माता तस्मान्नेयं ममाम्बिका ॥१९॥

त्वष्टा ने कहा—यह पति वाली स्त्रियों के लिए उचित नहीं है कि वह स्वेच्छा से कार्य करे। भला वताओ तो तुम्हारे भर्ता सविता और सतान की क्या स्थिति होगी। भद्रे! मैं शिष्टता के नाते डर रहा हूँ, तुम पुनः अपने स्वामी के घर चली जाओ॥१०॥

ब्रह्मा ने कहा—पिता के इस प्रकार कहने पर उस उषा ने बार-बार "नहीं, नहीं" कहा और कुरु से उत्तर प्रदेश की ओर शीघ्रता से तपस्या करने चली गयी। वहाँ वडवा (घोड़ी) का रूप धारण कर उषा ने निश्चल भाव से अपने कठिनाई से देखे जाने योग्य पति का ध्यान करती हुई तीव्र तप किया। तात! इस बीच उषा की प्रतिनिधि छाया ने पति के साथ दाम्पत्य व्यवहार किया और सार्वणि तथा शनि नाम के दो पुत्रों एवं विष्टि नाम की दुष्ट कन्या को उत्पन्न किया। वह छाया नित्य प्रति अपने पुत्रों और उषा के पुत्रों के साथ असमान व्यवहार करने लगी। यह देखकर यम क्रुद्ध हो गये। दक्षिण दिशा के स्वामी यम ने उस समय असमान व्यवहार करनेवाली उस माता छाया को पैर से मारा। पुत्र की इस अशिष्टता को देखकर छाया को अत्यन्त क्षोभ हुआ। उसने वैवस्वत यम को शाप दिया कि 'पापी! मेरे शाप से तेरे चरण गल जायँ।' माता के शाप से यम के पैर गल गये, दुःख से रोता हुआ वह पिता के समीप गया और सविता से आदि से अन्त तक सारा वृत्तान्त कहा सुनाया॥११-१७॥

यम ने कहा—सुरश्रेष्ठ! जिसने मुझे इस प्रकार शाप दिया है, वह मेरी माता नहीं है। संतान के अशिष्ट आचरण करने पर माता कभी भी क्राध नहीं करती है। बाल्य-काल में जो कुछ मैंने कहा या अशिष्टता की है,

यदपत्यकृतं किंचित्साध्वस्वाधु यथा तथा। मात्यस्यां सर्वमप्येतत्तस्मान्मातेति गीयते ॥२०॥
प्रधक्ष्यन्तीव मां तात नित्यं पश्यति चक्षुषा । वक्त्यग्निकालसदृशा वाचा नेयं मदम्बिका ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

तत्पुत्रवचनं श्रुत्वा सविताऽचिन्तयत्ततः। इयं छाया नास्य माता उषा माता तु साऽन्यतः ॥२२॥
मम शान्तिमभीप्सन्ती देशेऽन्यस्मिंस्तपोरता। उत्तरे च कुरौ त्वाष्ट्री वडवारूपधारिणी ॥२३॥
तत्राऽऽस्ते सा इति ज्ञात्वा जगामेशो दिवाकरः। यत्र सा वर्तते कान्ता अश्वरूपः स्वयं तदा ॥२४॥
तां दृष्ट्वा वडवारूपां पर्यधावद्धयाकृतिः। कामातुरं हयं दृष्ट्वा श्रुत्वा वै ह्रेषितस्वनम् ॥२५॥
उषा पतिव्रतोपेता पतिध्यानपरायणा। हयधर्षणसंभीता को न्वयं चेत्यजानती ॥२६॥
अपलायत्पतौ प्राप्ते दक्षिणाभिमुखी त्वरा। को नु मे रक्षकोऽत्र स्यादृषयो वाऽथवा सुराः ॥२७॥
धावन्तीं तां प्रियामश्वामश्वरूपधरः स्वयम्। पर्यधावद्यतो याति उषा भानुस्ततस्ततः ॥२८॥
स्मरग्रहवशे जातः को दुश्चेष्टं न चेष्टते। भागीरथीं नदीश्चान्या वनान्युपवनानि च ॥२९॥
नर्मदां चाथ विन्ध्यं च दक्षिणाभिमुखावु (खी उ) भौ। अतिक्रम्य भयोद्विग्ना त्वाष्ट्र्यभ्यगाच्छ गौतमीम् ॥३०॥
त्रातारः सन्ति मुनयो जनस्थान इति श्रुतम्। ऋषीणामाश्रमं साऽश्वा प्रविष्टा गौतमीं तथा ॥३१॥

उसको देखकर वह मेरी माता कभी भी क्रुद्ध नहीं हुई। इसलिए यह मेरी माता नहीं है। जिस किसी प्रकार का संतान द्वारा किया हुआ कर्म चाहे वह अच्छा हो या बुरा सब कुछ उस माता के करुण हृदय में जाकर ही शान्त हो जाता है, इसीलिए उसको (माति अस्याम्) कहते हैं। तात ! मुझको यह इस प्रकार देखती है मानो आँखों से जला देगी और सर्वदा कालाग्नि के समान वाणी से ही बोलती है, इसलिए यह मेरी माता नहीं है ॥१८-२१॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके उपरान्त सविता अपने पुत्र की बातों को सुनकर विचार करने लगे कि यह छाया इसकी माता नहीं है। इसकी माता उषा तो दूसरे स्थान पर है। वह त्वष्टा की पुत्री तो वडवा का रूप धारण कर इस समय उत्तर कुरु प्रदेश में मेरी शान्ति की कामना से तपस्या में लीन है। 'वह वहाँ ही है' यह जानकर भगवान् दिवाकर स्वय अश्व का रूप धारण कर उस प्रदेश में गये, जहाँ उनकी प्रिया उषा तपस्या कर रही थी। प्रिया उषा को इस प्रकार वडवा के रूप में देखकर स्वयं अश्व की आकृति वाले सूर्य कामातुर हो उसकी ओर दौड़ पड़े। घोड़े को कामातुर देखकर और उसकी हिनहिनाहट को सुनकर पतिव्रता, पति के ध्यान में तल्लीन उषा अश्व की ढिठाई से डर गयी। 'यह कौन है' यह जानकर पति के आने पर भी वह शीघ्र ही दक्षिण दिशा की ओर भाग चली और सोचने लगी कि अब इस परिस्थिति में मेरा कौन रक्षक होगा, ऋषिगण अथवा देवगण। उस अपनी प्रिया वडवा को भागती हुई देखकर अश्वरूप धारी सूर्य भी स्वयं दौड़ने लगे। वह दौड़ती हुई जिधर जाती थी सूर्य भी उधर ही दौड़ते हुए जाते थे। कामदेव रूपी ग्रह के वश में हो जाने पर कौन है जो अशिष्ट चेष्टाएँ नहीं कर देता है ? इस प्रकार वे दोनों दक्षिण की ओर मुख किये हुए भागीरथी, अन्यान्य नदियों, वन, उपवन तथा नर्मदा और विन्ध्यपर्वत को पार कर गये। उषा किसी प्रकार अपनी रक्षा न देखकर भय से उद्विग्न हो गौतमी के समीप गयी। यह सुनकर कि ऋषि-मुनि इस लोक में दुःखियों की पीड़ितों के रक्षक हैं, वह वडवा गौतमी-तट पर स्थित ऋषि-आश्रम में पहुँची। कुछ देर

अनुप्राप्तस्तथा चाश्वो भानुस्तुद्रूपवांस्ततः। अश्वं निवारयामासुवर्जनस्था मुनिदारकाः।।
ततः कोपादृषींस्तांश्च शशापोषापतिः प्रभुः ।।३२।।

भानुरुवाच

निवारयथ मां यस्माद्वटा यूयं भविष्यथ ।।३३।।

ब्रह्मोवाच

ज्ञानदृष्ट्या तु मुनयो मेनिरेऽश्वमुषापतिम्। स्तुवन्तो देवदेवेशं भानुं तं मुनयो मुदा ।।३४।।
स्तूयमानो मुनिगणैरश्वां भानुरथागमत्। वडवाया मुखे लग्नं मुखं चाश्वस्वरूपिणम् ।।३५।।
ज्ञात्वा त्वाष्ट्री च भर्तारं मुखाद्वीर्यं प्रसुस्रुवे। तयोर्वीर्येण गङ्गायामश्विनौ समजायताम् ।।३६।।
तत्राऽऽगच्छन्सुरगणाः सिद्धाश्च मुनयस्तथा। नद्यो गावस्ततौषध्यो देवा ज्योतिर्गणास्तथा ।।३७।।
सप्ताश्वश्च रथः पुण्यो ह्यरुणो भानुसारथिः। यमो मनुश्च वरुणः शनिर्वैवस्वतस्तथा ।।३८।।
यमुना च नदी पुण्या तापी चैव महानदी। तत्तद्रूपं समास्थाय नद्यस्ता विस्मयान्मुने ।।३९।।
द्रष्टुं ते विस्मयाविष्टा आजग्मुः श्वशुरस्तथा। अभिप्रायं विदित्वा तु श्वशुरं भानुरब्रवीत्।।४०।।

भानुरुवाच

उषायाः प्रीतये त्वष्टः कुर्वत्यास्तप उत्तमम्। यन्त्रारूढं च मां कृत्वा छिन्धि तेजांस्यनेकशः ।।
यावत्सौख्यं भवेदस्यास्तावच्छिन्धि प्रजापते ।।४१।।

बाद भानु भी अश्व के रूप में वहाँ पहुँच गये। आश्रम में रहनेवाले मुनि-कुमारों ने उस घोड़े को रोका। इस प्रकार रोके जाने पर क्रुद्ध होकर उषापति सूर्य ने उनको तथा ऋषियों को शाप दे दिया।।२२-३२।।

भानु ने कहा—तुम लोग मुझे जिस कारण निवारण कर रहे हो, इसलिए वट वृक्ष हो जाओगे।।३३।।

ब्रह्मा ने कहा—ज्ञान दृष्टि से देखने पर मुनियों ने उस अश्व को उषापति समझ लिया। तब प्रसन्न होकर उस देवदेवेश सूर्य की स्तुति करने लगे। इस प्रकार मुनिगणों द्वारा स्तुति किये जाने के बाद सूर्य वडवा के पास गये और अपने घोड़े के मुख के आकारवाले मुख को वडवा (घोड़ी) के मुख में मिला दिया। त्वाष्ट्री ने मुखस्पर्श से अपने पति को पहचान कर मुख से वीर्य त्याग किया। गंगा में उन दोनों के वीर्य गिरने से अश्विनी कुमारों की उत्पत्ति हुई। मुने ! यह घटना देखकर विस्मित हो वहाँ पर सुरगण, सिद्ध, मुनि, नदियाँ, गौवें, ओषधियाँ, देवता, नक्षत्र, सूर्य या सातों घोड़े तथा दिव्यरथ के सहित सूर्यसारथी अरुण, यम, मनु, वरुण, वैवस्वत, शनि, पवित्र नदी यमुना, तापी और महानदी आदि नदियाँ अपने रूप को धारण कर कौतूहलवश देखने के लिए आयीं। उस समय सूर्य के श्वशुर त्वष्टा भी आश्चर्यचकित होकर वहाँ चले आये। उषा के अभिप्राय को समझकर सूर्य ने अपने ससुर त्वष्टा से कहा।।३४-४०।।

भानु ने कहा—त्वष्टा ! उत्तम तप करनेवाली उषा की प्रसन्नता के लिए मुझको यंत्र पर चढ़ाकर अनेक प्रकार से मेरे तेज को काट डालो (खराद डालो)। प्रजापति ! जितने से इसको सुख हो अर्थात् जितना तेज सह सके उतना मेरा तेज काट डालो।।४१।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा ततस्त्वष्टा सोमनाथस्य संनिधौ। तेजसां छेदनं चक्रे प्रभासं तु ततो विदुः ॥४२॥
भर्त्रा च संगता यत्र गौतम्यामश्वरूपिणी। अश्विनोर्यत्र चोत्पत्तिरश्वतीर्थं तदुच्यते ॥४३॥
भानुतीर्थं तदाख्यातं तथा पञ्चवटाश्रमः। तापी च यमुना चैव पितरं द्रष्टुमागते ॥४४॥
अरुणावरुणानद्योर्गङ्गायां संगमः शुभः। देवानां तत्र तीर्थानामागतानां पृथक्पृथक् ॥४५॥
नव त्रीणि सहस्राणि तीर्थानि गुणवन्ति च। तत्र स्नानं च दानं च सर्वमक्षयपुण्यदम् ॥४६॥
स्मरणात्पठनाद्वाऽपि श्रवणादपि नारद। सर्वपापविनिर्मुक्तो धर्मवान्स सुखी भवेत् ॥४७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्येऽरुणावरुणासंगमाश्वभानुतीर्थवर्णनं नामोननवतितमोऽध्यायः ॥८९॥

गौतमीमाहात्म्ये विंशतितमोध्यायः ॥२०॥

अथ नवतितमोऽध्यायः

गरुडतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

गारुडं नाम यत्तीर्थं सर्वविघ्नप्रशान्तिदम्। तस्य प्रभावं वक्ष्यामि शृणु नारद यत्नतः ॥१॥

ब्रह्मा ने कहा—"ऐसा ही होगा" यह कहकर त्वष्टा ने सोमनाथ के समीप सूर्य के तेज का छेदन किया। तब से वह स्थान प्रभास नाम से लोक-प्रसिद्ध हो गया। जहाँ गौतमी के तीर पर अश्वरूप धारण करनेवाली उषा का पति के साथ संयोग हुआ और जहाँ अश्विनीकुमार की उत्पत्ति हुई वही अश्वतीर्थ कहा जाता है। जहाँ तापी और यमुना अपने पिता का दर्शन करने के लिए आयीं, वह भानुतीर्थ अथवा पंचवटाश्रम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जहाँ अरुणा और वरुणा गंगा नदी से मिलती हैं, वह संगमस्थल अत्यन्त पुनीत एवं शुभ है। वहाँ देवताओं और अन्य तीर्थों के आने से वहाँ पृथक्-पृथक् सत्ताईस सहस्र पुण्यप्रद तीर्थ हो गये। वहाँ स्नान करने और दान देने से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है। नारद ! जो मनुष्य इस तीर्थ के माहात्म्य का स्मरण, पाठ या श्रवण करता है वह धार्मिक सब पापों से मुक्त होकर सुखी होता है ॥४२-४७॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में अरुणा-वरुणासंगम, अश्वतीर्थ-वर्णन नामक नवासीवाँ अध्याय समाप्त ॥८९॥
गौतमीमाहात्म्य का बीसवाँ अध्याय ॥२०॥

अध्याय ९०

गरुडतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—गारुड नामक तीर्थ, सब विघ्नों को नष्ट करनेवाला है। नारद ! उसकी महिमा का वर्णन कर रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो।

मणिनाग इति त्वासीच्छेषपुत्रो महाबलः। गरुडस्य भयाद्भक्त्या तोषयामास शंकरम् ।।२।।
ततः प्रसन्नो भगवान्परमेष्ठी महेश्वरः। तमुवाच महानागं वरं वरय पन्नग ।।३।।
नागः प्राह प्रभो मह्यं देहि मे गरुडाभयम्। तथेत्याह च तं शंभुर्गरुडादभयं भवेत् ।।४।।
निर्गतो निर्भयो नागो गरुडादरुणानुजात्। क्षीरोदशायी यत्राऽऽस्ते क्षीरार्णवसमीपतः ।।५।।
इतश्चेतश्च चरति नागोऽसौ सुखशीतले। गरुडोऽपि च यत्राऽऽस्ते तं देशमपि यात्यसौ ।।६।।
गरुडः पन्नगं दृष्ट्वा चरन्तं निर्भयेन तु। तं गृहीत्वा महानागं प्राक्षिपत्स्वस्य वेश्मनि ।।७।।
तं बद्ध्वा गारुडैः पाशैर्गरुडो नागसत्तमम्। एतस्मिन्नन्तरे नन्दी प्रोवाचेशं जगत्प्रभुम् ।।८।।

नन्दिकेश्वर उवाच

नूनं नागो न चाऽऽयाति भक्षितो बद्ध एव वा। गरुडेन सुरेशान जीवन्नागो न संव्रजेत् ।।९।।

ब्रह्मोवाच

नन्दिनो वचनं श्रुत्वा ज्ञात्वा शंभुरथाब्रवीत् ।।१०।।

शिव उवाच

गरुडस्य गृहे नागो बद्धस्तिष्ठति सत्वरम्। गत्वा तं जगतामीशं विष्णुं स्तुहि जनार्दनम् ।।११।।
बद्धं नागं काश्यपेन मद्वाक्यादानय स्वयम्। तत्प्रभोर्वचनं श्रुत्वा नन्दी गत्वा श्रियः पतिम् ।।१२।।
व्यज्ञापयत्स्वयं वाक्यं विष्णुं लोकपरायणम्। नारायणः प्रीतमना गरुडं वाक्यमब्रवीत् ।।१३।।

शेषनाग का पुत्र महाबलवान् मणिनाग था। उसने गरुड़ के भय से भक्तियुत हो शङ्कर को सन्तुष्ट किया। उसकी भक्ति से प्रसन्न हो भगवान् परमेष्ठी शंकर ने उस महानाग से कहा—'पन्नग ! वर माँगो।' नाग ने कहा—'प्रभु ! मुझे गरुड़ से अभय होने का वरदान दीजिये।' शंभु ने कहा—'ठीक है, गरुड़ से निर्भीक हो जाओ।' तब वह नाग अरुण के छोटे भाई गरुड़ से निर्भय होकर निकला और जहाँ क्षीरशायी भगवान् थे, उस क्षीरसागर के समीप से ही होकर इधर-उधर सुख-शान्ति के साथ घूमने लगा। यहाँ तक कि जहाँ स्वयं गरुड़ थे वहाँ पर भी वह निर्भीक नाग जाता था। गरुड़ ने जब इस प्रकार निर्भीक भाव से नाग को टहलते हुए देखा तो उस नाग-श्रेष्ठ को पकड़कर और गरुड़-पाश से बाँधकर अपने घर में बन्द कर दिया। इसी बीच यह घटना देखकर नन्दी ने भगवान् शंकर से कहा ।।१-८।।

नन्दिकेश्वर ने कहा—सुरेशान ! वह नाग इस समय नहीं आता है तो अवश्यमेव उसे गरुड़ ने खा लिया होगा या बाँध दिया होगा। यदि ऐसा न होता और वह जीवित रहता तो क्यों नहीं आता ? ।।९।।

ब्रह्मा ने कहा—नन्दी की बातों को सुनकर महेश्वर ने कहा ।।१०।।

शिव बोले—गरुड़ के घर में वह नाग बँधा हुआ है, इसलिए शीघ्र ही जगत् के स्वामी, जनार्दन विष्णु के पास जाकर उनकी स्तुति करो। स्वयं मेरी ओर से कहकर गरुड़ द्वारा बाँधे गये उस सर्प को ले आओ।

विष्णुरुवाच

विनतात्मज मे वाक्यान्नन्दिने देहि पन्नगम्। कम्पमानस्तदाकर्ण्य नेत्युवाच विहंगमः॥
विष्णुमप्यब्रवीत्कोपात्सुपर्णो नन्दिनोऽन्तिके ॥१४॥

गरुड उवाच

यद्यत्प्रियतमं किंचिद्भृत्येभ्यः प्रभविष्णवः। दास्यन्त्यन्ये भवान्नैव मयाऽऽनीतं हरिष्यति ॥१५॥
पश्य देवं त्रिनयनं नागं मोक्ष्यति नन्दिना। मयोपपादितं नागं त्वं तु दास्यसि नन्दिने ॥१६॥
त्वां वहामि सदा स्वामिन्मम देयं सदा त्वया। मयोपपादितं नागं वक्तुं देहीति नोचितम् ॥१७॥
सतां प्रभूणां नेयं स्याद्वृत्तिः सद्वृत्तिकारिणाम्। सन्तो दास्यन्ति भृत्येभ्यो मदुपात्तहरो भवान् ॥१८॥
दैत्याञ्जयसि संग्रामे मद्बलेनैव केशव। अहं महाबलीत्येवं मुधैव श्लाघते भवान् ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

गरुडस्येति तद्वाक्यं श्रुत्वा चक्रगदाधरः। विहस्य नन्दिनः पार्श्वे पश्यद्भिर्लोकपालकैः ॥२०॥
इदमाह महाबुद्धिर्मां समुह्य कृशो भवान्। त्वद्बलादसुरान्सर्वाञ्जेष्येऽहं खगसत्तम ॥२१॥
इत्युक्त्वा श्रीपतिर्ब्रह्मञ्शान्तकोपोऽब्रवीदिदम्। वहाङ्गुलिं करस्याऽऽशु कनिष्ठां नन्दिनोऽन्तिके ॥२२॥
गरुडस्य ततो मूर्ध्नि न्यस्येदं पुनरब्रवीत्। सत्यं मां वहसे नित्यं पश्य धर्मं विहंगम ॥२३॥

प्रभु की बातों को सुनकर नन्दी ने लक्ष्मीपति विष्णु के पास जाकर लोक-कल्याण में रत रहनेवाले भगवान् से सारी घटना कह सुनायी। नारायण ने भी प्रसन्न होकर गरुड से ये शब्द कहे ॥११-१३॥

विष्णु ने कहा—विनतासुत ! मेरे कहने से पन्नग को नन्दी के हाथ दे दो। इस बात को सुनकर गरुड़ ने काँपते हुए 'नहीं' ऐसा कहा। नन्दी के सामने ही उसने क्रोध से विष्णु से और भी कहा ॥१४॥

गरुड़ ने कहा—दूसरे समर्थ स्वामी-सेवकों के जो-जो पदार्थ प्रिय होते हैं उन सब पदार्थों को देते हैं, किन्तु आप ही ऐसे हैं जो कि सेवक के लाये हुए पदार्थ को भी (उससे) छीन लेते हैं। त्रिनेत्र शंकर को देखिये वह नन्दी के द्वारा नाग को मुक्त कराते हैं, और मेरे द्वारा पाये हुए नाग को आप नन्दी को दे रहे हैं। स्वामी ! मैं आपको सर्वदा ढोता हूँ अतः आपको सर्वदा मुझे कुछ-न-कुछ देना चाहिये, अतः मेरे द्वारा पाये हुए 'नाग को दे दो' ऐसा कहना उचित नहीं है। सद्व्यवहार करनेवाले स्वामी का ऐसा व्यवहार नहीं होना चाहिये। सज्जन लोग अपने भृत्यों को पुरस्कार देते हैं और आप तो मेरे द्वारा प्राप्त वस्तु को भी हर लेते हैं। केशव ! मेरे बल से ही आप दैत्यों को जीतते हैं। और स्वयं 'मैं महावलवान् हूँ' ऐसी व्यर्थ में डींग हाँकते हैं ॥१५-१९॥

ब्रह्मा ने कहा—महाबुद्धिमान् चक्रगदाधारी विष्णु ने गरुड़ की उन बातों को सुनकर हँसकर नन्दी के समीप बैठे लोकपालों के सामने ही गरुड़ से कहा—'तुम सचमुच मुझे पीठ पर ढोते-ढोते दुर्बल हो गये हो। खगश्रेष्ठ ! तुम्हारे बल से ही मैं सब असुरों को जीतता हूँ, जीतूँगा भी। ब्रह्मन् ! यह कह अपने क्रोध को छिपाकर लक्ष्मीपति ने कहा—मेरी कनिष्ठिका अँगुली को शीघ्र ही नदी के समीप तक ढोकर ले चलो। इतना कहकर भगवान् ने गरुड़ के सिर पर अपनी अंगुली रख दी और फिर कहा कि 'विहङ्गम ! यदि तुम सचमुच मुझको नित्य

न्यस्तायां च ततोङ्गुल्यां शिरः कुक्षौ समाविशत्। कुक्षिश्च चरणस्यान्तः प्राविशच्चूर्णितोऽभवत्॥
ततः कृताञ्जलिर्दीनो व्यथितो लज्जयाऽन्वितः ॥२४॥

गरुड उवाच

त्राहि त्राहि जगन्नाथ भृत्यं मामपराधिनम्। त्वं प्रभुः सर्वलोकानां धर्ता धार्यस्त्वमेव च॥२५॥
अपराधसहस्राणि क्षमन्ते प्रभविष्णवः। कृतापराधेऽपि जने महती यस्य वै कृपा॥२६॥
वदन्ति मुनयः सर्वे त्वामेव करुणाकरम्। रक्षस्वाऽऽर्तं जगन्मातर्मामम्बुजनिवासिनि॥
कमले बालकं दीनमार्तं तनयवत्सले ॥२७॥

ब्रह्मोवाच

ततः कृपान्विता देवी श्रीरप्याह जनार्दनम् ॥२८॥

कमलोवाच

रक्ष नाथ स्वकं भृत्यं गरुडं विपदं गतम्। जनार्दन उवाचेदं नन्दिनं शंभुवाहनम्॥२९॥

विष्णुरुवाच

नय नागं सगरुडं शंभोरन्तिकमेव च। तत्प्रसादाच्च गरुडो महेश्वरनिरीक्षितः॥
आत्मीयं च पुना रूपं गरुडः समवाप्स्यति ॥३०॥

ढोते हो तो इसका निर्णय आज देखो। इसके उपरान्त अँगुली के रखते ही सिर दवकर कोख में घुस गया और कोख दोनों पैरों के बीच घुस गया, इस प्रकार वह वेचारा चूर-मूर हो गया। तव वह अत्यन्त लज्जित, दीन व्यथा से कराहता हुआ हाथ जोड़कर विनीत भाव से वोला॥२०-२४॥

गरुड़ ने कहा—जगन्नाथ! मुझ अपराधी भृत्य की रक्षा करो, रक्षा करो। तुम सम्पूर्ण संसार के धारण करनेवाले प्रभु हो, तुम्हीं संपूर्ण लोक के धार्य (धारण करने योग्य) भी हो। समर्थ व्यक्ति हजारों अपराधों को क्षमा कर देते हैं, और अपराधियों पर उनकी सर्वदा कृपा रहती है। सब मुनि तुमको ही करुणा का कोश कहते हैं। हे कमल मे निवास करनेवाली! जगन्माता! मुझ दुःखी की रक्षा करो। कमले! पुत्रवत्सल! इस दीन, दुःखी बालक की रक्षा करो॥२५-२७॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर करुण हृदयवाली कृपालु लक्ष्मी ने भी जनार्दन से कहा॥२८॥

कमला ने कहा—नाथ! अपने इस विपत्ति में पड़े हुए, सेवक गरुड़ की रक्षा कीजिये। जनार्दन ने यह सुनकर शम्भुवाहन नन्दी से कहा॥२९॥

विष्णु बोले—गरुड़ के सहित इस नाग को शंकर के समीप ले जाओ। उनकी कृपा से यह गरुड़, जब वे अपनी कृपा-दृष्टि से इसको देखेंगे तो पुनः अपने स्वस्थ स्वरूप को प्राप्त करेगा॥३०॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा च वृषभो नागेन गरुडेन च। शनैः स शंकरं गत्वा सर्वं तस्मै न्यवेदयत् ।।
शंकरोऽपि गरुत्मन्तं प्रोवाच शशिशेखरः ।।३१।।

शिव उवाच

याहि गङ्गां महाबाहो गौतमीं लोकपावनीम् । सर्वकामप्रदां शान्तां तामाप्लुत्य पुनर्वपुः ।।३२।।
प्राप्स्यसे सर्वकामांश्च शतधाऽथ सहस्रधा। सर्वपापोपतप्ता ये दुर्दैवोन्मूलितोद्यमाः ।।
प्राणिनोऽभीष्टदा तेषां शरणं खग गौतमी ।।३३।।

ब्रह्मोवाच

तद्वाक्यं प्रणतो भूत्वा श्रुत्वा तु गरुडोऽभ्यगात् । गङ्गामाप्लुत्य गरुडः शिवं विष्णुं ननाम सः ।।३४।।
ततः स्वर्णमयः पक्षी वज्रदेहो महाबलः। वेगी भवन्मुनिश्रेष्ठ पुनर्विष्णुमियात्सुधीः ।।३५।।
ततः प्रभृति तत्तीर्थं गारुडं सर्वकामदम् । तत्र स्नानादि यत्किञ्चित्करोति प्रयतो नरः ।।
सर्वं तदक्षयं वत्स शिवविष्णुप्रियावहम् ।।३६।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये गरुडतीर्थवर्णनं नाम
नवतितमोऽध्यायः ।।९०।।

गौतमीमाहात्म्ये एकविंशतितमोऽध्यायः।।२१।।

ब्रह्मा ने कहा—'आपकी जैसी आज्ञा' यह कहकर नन्दी नाग और गरुड़ के साथ मन्दगति से शंकर के पास गया और सारी घटना कह सुनायी। चन्द्रशेखर शंकर ने भी गरुड़ से कहा—।।३१।।

शिव ने कहा—महापराक्रमी ! लोक को पुनीत करनेवाली गौतमी गंगा के पास जाओ। उस शान्त, सब कामनाओं को देनेवाली गंगा में स्नान करने से तुम पुनः अपना शरीर तथा अपने मनोरथ का सौगुना, हजार गुना अधिक फल प्राप्त करोगे। खग ! सब पाप रूपी अग्नि से जले हुए, दुर्भाग्य से विफल परिश्रम वाले प्राणियों को यह मनोरथ पूर्ण करनेवाली गौतमी एकमात्र शरण देनेवाली है ।।३२-३३।।

ब्रह्मा ने कहा—गरुड़ भगवान् शंकर की बातों को विनीत भाव से सुनकर गंगा के समीप गया, उसने स्नान किया और शिव तथा विष्णु को प्रणाम किया। मुनिश्रेष्ठ ! स्नान के बाद गरुड़ स्वर्णमय पंख वाला, महाबली, वज्र के समान देहवाला और अति वेगवान् हो गया। तब वह महाबुद्धिमान् गरुड़ विष्णु के समीप चला गया। तब से वह स्थान सब कामनाओं को देनेवाला गारुड़तीर्थ कहा जाने लगा। जो व्यक्ति अनन्यभाव से उस तीर्थ में स्नान आदि जो कुछ सत्कर्म करता है, वत्स ! वह सब कुछ अक्षय हो जाता है तथा उससे शिव, विष्णु दोनों प्रसन्न होते हैं ।।३४-३६।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में गरुड़तीर्थवर्णन नामक नब्बेवाँ अध्याय समाप्त।।९०।।

गौतमीमाहात्म्य का इक्कीसवाँ अध्याय ।।२१।।

अथैकनवतितमोऽध्यायः

गोवर्धनतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

ततो गोवर्धनं तीर्थं सर्वपापप्रणाशनम्। पितॄणां पुण्यजननं स्मरणादपि पापनुत् ।।१।।
तस्य प्रभाव एष स्यान्मया दृष्टस्तु नारद। ब्राह्मणः कर्षकः कश्चिज्जाबालिरिति विश्रुतः ।।२।।
न विमुञ्चत्यनड्वाहौ मध्यं यातेऽपि भास्करे। प्रतोदेन प्रतुदति पृष्ठतोऽपि च पार्श्वयोः ।।३।।
तौ गावावश्रुपूर्णाक्षौ दृष्ट्वा गौः कामदोहिनी। सुरभिर्जगतां माता नन्दिने सर्वमब्रवीत् ।।४।।
स चापि व्यथितो भूत्वा शंभवे तन्न्यवेदयत्। शंभुश्च वृषभं प्राह सर्वं सिध्यतु ते वचः ।।५।।
शिवाज्ञासहितो नन्दी गोजातं सर्वमाहरत्। नष्टेषु गोषु सर्वेषु स्वर्गे मर्त्ये ततस्त्वरा ।।६।।
मामवोचन्सुरगणा विना गोभिर्न जीव्यते। तानवोचं सुरान्सर्वाञ्शंकरं यात याचत ।।७।।
तथैवेशं तु ते सर्वे स्तुत्वा कार्यं न्यवेदयन्। ईशोऽपि विबुधानाह जानाति वृषभो मम ।।८।।
ते वृषं प्रोचुरमरा देहि गा उपकारिणः। वृषोऽपि विबुधानाह गोसवः क्रियतां क्रतुः ।।९।।

अध्याय ९१

गोवर्धन का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—इसके अनन्तर सब पापों को नष्ट करनेवाला और पितरों को सुख देनेवाला गोवर्धन तीर्थ है, जिसके स्मरण से ही पाप नष्ट हो जाते हैं।।१।। नारद! उसका प्रभाव मैंने अपने नेत्रों से देखा है, वह इस प्रकार है—जाबालि नाम से प्रसिद्ध कोई कृषक ब्राह्मण था।।२।। वह मध्याह्न हो जाने पर भी अपने बैलों को नहीं छोड़ता था अपितु चाबुक से उनके पृष्ठ और पार्श्व भाग पर मारता था।।३।। इस प्रकार पीड़ित, आँसू से भरे नेत्रवाले बैलों को देखकर जगत् की माता कामधेनु गौ ने नन्दी से जाकर सब कुछ कहा।।४।। नन्दी ने भी उन मूक पशुओं की व्यथा से व्यथित होकर भगवान् शंकर से निवेदन किया। शंभु ने नन्दी से कहा कि तुम्हारी इच्छाओं के अनुसार ही कार्य-सिद्धि होगी।।५।। नन्दी ने शिव की आज्ञा से सम्पूर्ण गो-समूह को ही छिपा दिया। इस प्रकार गो-समूह के नष्ट हो जाने पर स्वर्ग और मृत्युलोक में खलबली मच गयी।।६।। देवताओं ने शीघ्रता से मेरे पास आकर कहा कि गौओं के बिना हम सब कैसे जी सकते हैं। उन देवताओं से मैंने कहा कि शंकर के पास जाओ और उनसे याचना करो।।७।। मेरे कहने के अनुसार उन सब देवताओं ने शिव की स्तुति की और उनसे अपना अभिप्राय व्यक्त किया। शंकर ने भी कहा कि इस विषय को मेरा वृषभ नन्दी ही जानता है।।८।। उन देवताओं ने पुनः नन्दी से कहा कि उपकारी गौओं को दे दो। नन्दी ने भी उनसे कहा कि आप लोग गोसव नामक यज्ञ करें।।९।। तभी जितनी

ततः प्राप्स्यथ गाः सर्वा या दिव्या याश्च मानुषाः। ततः प्रवर्तते यज्ञो गोसवो देवनिर्मितः ॥१०॥
गौतम्याश्च शुभे [1]पार्श्वे गावो ववृधिरे ततः। गोवर्धनं तु तत्तीर्थं देवानां प्रीतिवर्धनम् ॥११॥
तत्र स्नानं मुनिश्रेष्ठ गोसहस्रफलप्रदम्। किंचिद्दानादिना यत्स्यात्फलं तत्तु न विद्महे ॥१२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये गोवर्धनतीर्थवर्णनं नामैकनवतितमोऽध्यायः ॥९१॥
गौतमीमाहात्म्ये द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

अथ द्विनवतितमोऽध्यायः

पापप्रणाशनतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

पापप्रणाशनं नाम तीर्थं पापभयापहम्। नामधेयं प्रवक्ष्यामि शृणु नारद यत्नतः ॥१॥
धृतव्रत इति ख्यातो ब्राह्मणो लोकविश्रुतः। तस्य भार्या मही नाम तरुणी लोकसुन्दरी ॥२॥
तस्य पुत्रः सूर्यनिभः सनाज्जात इति श्रुतः। धृतव्रतं तथाऽकर्षन्मृत्युः कालेरितो मुने ॥३॥
ततः सा बालविधवा बालपुत्रा सुरूपिणी। त्रातारं नैव पश्यन्ती गालवाश्रममभ्यगात् ॥४॥

दिव्य और मर्त्यलोक की गौएँ हैं, प्राप्त हो सकती हैं। तदनन्तर देवों की योजना के अनुसार गोसव यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ॥१०॥ यज्ञ के परिणामस्वरूप गौतमी के पवित्र कछार में गोओं की वृद्धि होने लगी। वह गोवर्धन तीर्थ देवताओं को अधिक प्रसन्न करनेवाला है॥११॥ मुनिश्रेष्ठ ! उस तीर्थ का स्नान सहस्र गोदान का फल देता है। वहाँ दान देने का जो फल है उसको तो मैं भी नहीं जानता अतः कहने में असमर्थ हूँ॥१२॥

श्रीब्रह्ममहापुराण गोवर्धनतीर्थवर्णन नामक इक्यानबेवाँ अध्याय समाप्त॥९१॥
गौतमीमाहात्म्य का बाईसवाँ अध्याय ॥२२॥

अध्याय ९२

पापप्रणाशन तीर्थ का वर्णन

नारद! पाप-भय को दूर करनेवाला एक पाप-प्रणाशन नामक तीर्थ है, उसका यह नाम क्यों पड़ा, इसको मैं कह रहा हूँ तुम यत्नपूर्वक सुनो॥१॥ धृतव्रत नाम का एक परम लोकप्रसिद्ध ब्राह्मण था। उसकी मही नाम की विश्व-सुन्दरी युवती स्त्री थी॥२॥ उसके सूर्य के समान तेजस्वी सनाज्जात नामक एक पुत्र हुआ। मुनि! काल की प्रेरणा से मृत्यु ने उस धृतव्रत को खींच लिया॥३॥ इसके अनन्तर वह सुन्दरी बाल विधवा जिसका पुत्र अभी अबोध था— किसी को अपना रक्षक न देखकर गालव ऋषि के आश्रम में चली गयी॥४॥ गालव को अपना पुत्र

---

[1] घ. पारे।

तस्मै पुत्रं निवेद्याथ स्वैरिणी पापमोहिता। सा बभ्राम बहून्देशान्पुंस्कामा कामचारिणी ॥५॥
तत्पुत्रो गालवगृहे वेदवेदाङ्गपारगः। जातोऽपि मातृदोषेण वेश्येरितमतिस्त्वभूत् ॥६॥
जनस्थानमिति ख्यातं नानाजातिसमावृतम्। तत्रासौ पण्यवेषेण अध्यास्ते च मही तथा ॥७॥
तत्सुतोऽपि बहून्देशान्परिबभ्राम कामुकः। सोऽपि कालवशात्तत्र जनस्थानेऽवसत्तदा ॥८॥
स्त्रियमाकाङ्क्षते वेश्यां धृतव्रतसुतो द्विजः। मही चापि धनं दातॄन्पुरुषान्समपेक्षते ॥९॥
मेने न पुत्रमात्मीयं स चापि न तु मातरम्। तयोः समागमश्चाऽऽसीद्विधिना मातृपुत्रयोः ॥१०॥
एवं बहुतिथे काले पुत्रे मातरि गच्छति। तयोः परस्परं ज्ञानं नैवाऽऽसीन्मातृपुत्रयोः ॥११॥
एवं प्रवर्तमानस्य पितृधर्मेण सन्मतिः। आसीत्तस्याप्यसद्वृत्तेः शृणु नारद चित्रवत् ॥१२॥
स्वैरस्थित्या वर्तमानो नेदं स परिहातवान्। ब्राह्मीं संध्यामनुष्ठाय तदूर्ध्वं तु धनार्जनम् ॥१३॥
विद्याबलेन वित्तानि· बहून्याज्र्य ददात्यसौ। तथा स प्रातरुत्थाय गङ्गां गत्वा यथाविधि ॥१४॥
शौचादि स्नानसंध्यादि सर्वं कार्यं यथाक्रमम्। कृत्वा तु ब्राह्मणान्नत्वा ततोऽभ्येति स्वकर्मसु ॥१५॥
प्रातःकाले गौतमीं तु यदा याति विरूपवान्। कुष्ठसर्वाङ्गशिथिलः पूयशोणितनिःस्रवः ॥१६॥
स्नात्वा तु गौतमीं गङ्गां यदा याति सुरूपधृक्। शान्तः सूर्याग्निसदृशो मूर्तिमानिव भास्करः ॥१७॥

देकर वह स्वेच्छाचारिणी पाप कर्मों के आकर्षण से मोहित होकर यौन सुख की कामना से स्वच्छन्दतापूर्वक वहुत देशों में घूमने लगी।।५।। यद्यपि उसका पुत्र गालव के आश्रम में वेद-वेदांग का ज्ञाता हुआ तथापि मातृदोष के कारण उसकी वेश्यागमन की ओर प्रवृत्ति हो गयी।।६।। इधर मही जनस्थान नामक नगर में—जहाँ विभिन्न जाति के लोग रहते थे—वेश्या वृत्ति से रहने लगी।।७।। उसका कामुक पुत्र भी इधर-उधर बहुत से देशों का भ्रमण करता रहा। उस समय वह भी समय की प्रेरणा से उसी जनस्थान में रहता था।।८।। इधर ब्राह्मण धृतव्रत का पुत्र वेश्या नारी की इच्छा करता था उधर मही भी धन देनेवाले लम्पट पुरुषों की अपेक्षा रखती थी।।।९।। उस कामी पुत्र ने न तो माता को और न माता ने ही अपने औरस पुत्र को पहचाना। दैववश उन माता-पुत्रों का परस्पर समागम हो गया।।१०।। इस प्रकार वहुत समय बीत गया, माता-पुत्र में परस्पर अनुचित संबंध चलता रहा परन्तु उन दोनों को माता-पुत्र के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं था।।११।। नारद! सुनो, यह आश्चर्य का विषय है कि इस प्रकार अनुचित व्यवहार में प्रवृत्त रहनेवाले उस दुष्कर्मी ब्राह्मण में पिता के प्रभाव के कारण सद्बुद्धि थी।।१२।। इस प्रकार स्वेच्छा में लीन रहते हुए भी उसने अपने नित्यकर्म को नहीं छोड़ा। प्रतिदिन वह प्रातः संध्या का अनुष्ठान करता तत्पश्चात् धन कमाने के लिए जाता था।।१३।। वह अपने विद्या के प्रभाव से धन कमाता पुनः उसी को सायंकाल दे देता था। प्रातःकाल उठकर यथाविधि गंगातट पर जाता था और क्रमपूर्वक शौच, स्नान-संध्या आदि सब क्रियाएँ समाप्त कर ब्राह्मणों को नमस्कार करता था, तत्पश्चात् अपने कार्य में लग जाता था।।१४-१५।। प्रातःकाल जब वह गौतमी को जाता था तब वह विरूप रहता, सर्वाङ्ग कुष्ठ रोग से शिथिल रहता, उसके शरीर के व्रण से पूप और रक्त बहता रहता था। जब उधर से स्नान के बाद लौटता था तब सुन्दर रूप वाला, शान्त, सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी होकर आता था। वह अपनी कान्ति से ऐसा ज्ञात होता था मानो मूर्तिमान् भास्कर है।।१६-१७।। परन्तु वह ब्राह्मण अपने इन दोनों रूपों को नहीं देख पाता था

एतद्रूपद्वयं स्वस्य नैव पश्यति स द्विजः। गालवो यत्र भगवांस्तपोज्ञानपरायणः ॥१८॥
आश्रित्य गौतमीं देवीं आस्ते च मुनिभिर्वृतः। ब्राह्मणोऽपि च तत्रैव नित्यं तीर्थं समेत्य च ॥१९॥
गालवं च नमस्याथ ततो याति स्वमन्दिरम्। गङ्गायाः सेवनात्पूर्वं सनाज्जातस्य यद्वपुः ॥२०॥
स्नानसंध्योत्तरे काले पुनर्यदपि तद्द्विजे। उभयं तस्य तद्रूपं गालवो नित्यमेव च ॥२१॥
दृष्ट्वा सविस्मयो मेने किंचिदस्त्यत्र कारणम्। एवं सविस्मयो भूत्वा गालवः प्राह तं द्विजम् ॥२२॥
गच्छन्तं तु नमस्याथ सनाज्जातं गुरुर्गृहम्। आहूय यत्नतो धीमान्कृपया विस्मयेन च ॥२३॥

गालव उवाच

को भवान्क्व च गन्ताऽसि किं करोषि क्व भोक्ष्यसि। किंनामा त्वं क्व शय्या ते का ते भार्या वदस्व मे ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

गालवस्य वचः श्रुत्वा [1]ब्राह्मणोऽप्याह तं मुनिम् ॥२५॥

ब्राह्मण उवाच

श्वः कथ्यते मया सर्वं ज्ञात्वा कार्यविनिर्णयम् ॥२६॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा गालवं तं सनाज्जातो गृहं ययौ। भुक्त्वा रात्रौ तया सम्यक्शय्यामासाद्य बन्धकीम् ॥
उवाच चकितः स्मृत्वा गालवस्य तु यद्वचः ॥२७॥

तप और ज्ञान में सर्वदा तल्लीन रहनेवाले गालवमुनि अपने साथी मुनियों के साथ जहाँ गौतमी के तट पर सन्ध्या वन्दनादि करते थे, वहीं वह ब्राह्मण की नित्य आता और मिलता था तथा गालव मुनि को प्रणाम कर अपने घर को जाता था।। १८-१९½।। गंगा-स्नान के पूर्व सनाज्जात का जैसा शरीर रहता था और पुनःस्नान, संध्या के बाद उस ब्राह्मण का जैसा रूप हो जाता था, उसके उन उभय रूपों को नित्य देखकर मुनि गालव को बहुत आश्चर्य हुआ, सोचा इसमें अवश्य कुछ कारण है।।२०-२१½।। निदान, इस प्रकार विस्मित होकर, बुद्धिमान् गुरु गालव ने नमस्कार के बाद घर जाने के लिए प्रस्तुत उस ब्राह्मण को बुलाकर कृपा और आश्चर्य से युक्त होकर बड़े यत्न से पूछा।। २२-२३।।

गालव ने कहा—तुम कौन हो ? कहाँ जा रहे हो ? क्या कार्य करते हो ? कहाँ भोजन करते हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? कहाँ सोते हो ? तुम्हारी भार्या कौन है ? इन प्रश्नों का उत्तर मुझे दो।।२४।।

ब्राह्मण ने कहा—मैं कल भलीभाँति विचार कर उत्तर दूँगा।।२६।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार गालव मुनि से कहकर सनाज्जात अपने घर को चला गया। रात्रि में भोजन के पश्चात् उस वेश्या के साथ भलीभाँति शय्या पर बैठकर, गालव की बातों का स्मरण करता हुआ वह चकित होकर वेश्या से बोला।।२७।।

---

[1] घ. ०णो भ्रान्तवन्मुनि०।

ब्राह्मण उवाच

त्वं तु सर्वगुणोपेता बन्धक्यपि पतिव्रता। आवयोः सदृशी प्रीतिर्यावज्जीवं प्रवर्तताम् ।।२८।।
तथाऽपि किंचित्पृच्छामि किंनाम्नी त्वं क्व वा कुलम् । किंनु स्थानं क्व वा बन्धुर्मम सर्वं निवेद्यताम् ।।२९।।

बन्धक्युवाच

धृतव्रत इति ख्यातो ब्राह्मणो दीक्षितः शुचिः। तस्य भार्या मही चाहं मत्पुत्रो गालवाश्रमे ।।३०।।
उत्सृष्टो मतिमान् बालः सनाज्जात इति श्रुतः। अहं तु पूर्वदोषेण त्यक्त्वा धर्मं कुलागतम् ।।
स्वैरिणी त्विह वर्तेऽहं विद्धि मां ब्राह्मणीं द्विज ।।३१।।

ब्रह्मोवाच

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा मर्मविद्ध इवाभवत्। पपात सहसा भूमौ वेश्या तं वाक्यमब्रवीत् ।।३२।।

वेश्योवाच

किं तु जातं द्विजश्रेष्ठ क्व च प्रीतिर्गता तव। किं तु वाक्यं मया चोक्तं तव चित्तविरोधकृत् ।।३३।।
आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य ब्राह्मणो वाक्यमब्रवीत् ।।३४।।

ब्राह्मण उवाच

धृतव्रतः पिता विप्रस्तत्पुत्रोऽहं सनाद्यतः। माता मही मम इयं मम दैवादुपागता ।।३५।।

ब्राह्मण ने कहा—तुम सब गुणों से युक्त, वेश्या होते हुए भी पतिव्रता हो। यह हम लोगों का समान प्रेम जीवन भर रहे। फिर भी मैं कुछ पूछ रहा हूँ। 'तुम्हारा नाम क्या है? कुल क्या है? तुम्हारा कौन-सा स्थान (जन्मभूमि) है? तुम्हारे बन्धु (हितेच्छु माता-पिता या परिवार) कहाँ रहते हैं? इन बातों को मुझे बताओ।।२८-२९।।

बन्धकी ने कहा—धृतव्रत नाम का पवित्र एवं यज्ञनिष्ठ ब्राह्मण था। उसी की मैं भार्या हूँ। मेरा नाम मही है। मैंने अपने सनाज्जात नामक बुद्धिमान् पुत्र को शैशवावस्था में ही गालव के आश्रम में छोड़ दिया। स्वयं अपने पूर्वजन्म के दोष के कारण कुलधर्म को छोड़कर इस प्रकार वेश्या बनकर रह रही हूँ। द्विज! मुझ ब्राह्मणी की यही कथा है।।३०-३१।।

ब्रह्मा ने कहा—उसकी उन बातों को सुनकर वह मर्माहत-सा हो गया। वह एकाएक पृथ्वी पर गिर पड़ा। यह देखकर वेश्या ने उस ब्राह्मण से कहा।।३२।।

वेश्या ने कहा—द्विजश्रेष्ठ! क्यों, क्या हो गया? तुम्हारा वह प्रेम कहाँ गया? क्या मैंने ऐसे वाक्य कह दिये जो तुम्हारे हृदय में विरुद्ध भावना उत्पन्न करनेवाले हैं? इन वातों को सुनकर ब्राह्मण ने स्वयं अपने को सम्भाल कर कहा।।३३-३४।।

ब्राह्मण ने कहा—धृतव्रत मेरे पिता का नाम है। मैं उन्हीं का पुत्र विप्र सनाज्जात हूँ। यह मेरी ही माता मही है, जो दैवयोग से मेरे समक्ष इस रूप में आयी है।।३५।।

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा तस्य वाक्यं साऽप्यभूदतिदुःखिता। तयोस्तु शोचतोः पश्चात्प्रभाते विमले रवौ ।।
गालवं मुनिशार्दूलं गत्वा विप्रो न्यवेदयत् ।।३६।।

ब्राह्मण उवाच

धृतव्रतसुतो ब्रह्मंस्त्वया पूर्वं तु पालितः। उपनीतस्त्वया चैव मही माता मम प्रभो ।।३७।।
किं करोमि च किं कृत्वा निष्कृतिर्मम वै भवेत् ।।३८।।

ब्रह्मोवाच

तद्विप्रवचनं श्रुत्वा गालवः प्राह मा शुचः। तवेदं द्विविधं रूपं नित्यं पश्याम्यपूर्ववत् ।।३९।।
ततः पृष्टोऽसि वृत्तान्तं श्रुतं ज्ञातं मया यथा[1]। यत्कृत्यं तव तत्सर्वं गङ्गायां प्रत्यगात्क्षयम् ।।४०।।
अस्य तीर्थस्य माहात्म्यादस्या देव्याः प्रसादतः। पूतोऽसि प्रत्यहं वत्स नात्र कार्या विचारणा ।।४१।।
प्रभाते तव रूपाणि सपापानि त्वहर्निशम्। पश्येऽहं पुनरप्येव रूपं तव गुणोत्तमम्[2] ।।४२।।
आगच्छन्तं त्वागोयुक्तं गच्छन्तं त्वामनागसम्। पश्यामि नित्यं तस्मात्त्वं पूतो देव्या कृतोऽधुना ।।४३।।
तस्मान्न कार्यं ते किंचिदवशिष्टं भविष्यति। इयं च माता ते विप्र ज्ञाता या चैव बन्धकी ।।४४।।

ब्राह्मण ने कहा—उसकी इन बातों को सुनकर वह भी अत्यन्त दुःखी हुई। इस प्रकार पश्चात्ताप करते-करते प्रातः हो गया। निर्मल सूर्य प्राची में चमकने लगे। तब विप्र ने मुनिपुंगव गालव से कहा।।३६।।

ब्रह्मा ने कहा—ब्रह्मन्! मैं धृतव्रत का पुत्र हूँ। शैशव में आपने ही मेरा पालन-पोषण और उपनयन (यज्ञोपवीत) किया है। प्रभु! यही मेरी माता है। मैं क्या करूँ? क्या करने से मेरा उद्धार होगा? ।।३७-३८।।

ब्रह्मा बोले—उस विप्र की बातें सुनकर गालव ने कहा—'मत डरो। तुम्हारे इन दो रूपों को प्रतिदिन अनोखे स्वरूप में मैं देखता हूँ। इसके पश्चात् जैसा कि मैंने सुनाया और अनुमान द्वारा जाना, उसी वृत्तान्त को मैंने पूछा है। तुम्हारे प्राचीन किये हुए सभी दुष्कर्म इस समय गौतमी में नष्ट हो गये। वत्स! इस तीर्थ के माहात्म्यवश, इस देवी की कृपा से तुम प्रतिदिन पवित्र हो, इस विषय में अधिक शोक करने की आवश्यकता नहीं। प्रतिदिन प्रातःकाल तुम्हारे पापयुक्त स्वरूप को देखता हूँ, पुनः तत्काल ही तुम्हारे उस रूप-गुण से सम्पन्न आकृति को भी देखता हूँ।।३९-४२।। नित्य ही आते समय तो तुमको रोगयुक्त देखता था परन्तु जाते समय स्वस्थ एवं रूपमय। अतः तुमको देवी गौतमी ने इस समय पवित्र बना दिया।।४३।। तो तुम्हारा कोई भी कार्य शेष नहीं रह गया है। विप्र! यह तुम्हारी माता, जो वेश्या के नाम से प्रसिद्ध है, वह भी अत्यन्त पश्चात्ताप की ज्वाला में जल चुकी है। इसलिए वह भी पाप से सर्वथा मुक्त हो गयी। वत्स! प्राणियों की विषयों के प्रति आसक्ति स्वाभाविक है, परन्तु यह भी सत्य है कि दैववश सत्संग-जन्य महापुण्य से निवृत्ति भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त पूर्व-

---

[1] घ. तथा। [2] घ. ०त्तरम्।

पश्चात्तापं गताऽत्यन्तं निवृत्ता त्वथ पातकात्। भूतानां विषये प्रीतिर्वत्स स्वाभाविकी यतः ।।४५।।
सत्सङ्गतो महापुण्यन्निवृत्तिर्दैवतो भवेत्। अत्यर्थमनुतप्तेयं प्रागाचरितपुण्यतः ।।४६।।
स्नानं कृत्वा चात्र तीर्थे ततः पूता भविष्यति। तथा तौ चक्रतुरुभौ मातापुत्रौ च नारद ।।४७।।
स्नानाद्बभूवतुरुभौ गतपापावसंशयम्। ततः प्रभृति तत्तीर्थं धौतपापं प्रचक्षते ।।४८।।
पापप्रणाशनं नाम गालवं चेति विश्रुतम्। महापातकमल्पं वा तथा यच्चोपपातकम् ।।
तत्सर्वं नाशयेदेतद्धौतपापं सुपुण्यदम् ।।४९।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे गौतमीमाहानिरुपणं नाम द्विनवतितमोऽध्यायः ।।९२।।
गौतमीमाहात्म्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ।।२३।।

अथ त्रिनवतितमोऽध्यायः

विश्वामित्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

यत्र दाशरथी रामः सीतया सहितो द्विज। पितॄन्संतर्पयामास पितृतीर्थं ततो विदुः ।।१।।
तत्र स्नानं च दानं च पितॄणां तर्पणं तथा। सर्वमक्षयतामेति नात्र कार्या विचारणा ।।२।।

जन्मकृत पुण्यों के फलस्वरूप यह अत्यन्त अनुतप्त भी है ।।४४-४६।। इसलिए इस तीर्थ में स्नान करने से यह शीघ्र पवित्र हो जायगी। नारद! उन दोनों माता और पुत्रों ने ऋषि के कथनानुसार सारा कार्य किया। स्नान के करने से ही वे दोनों निश्चित ही पवित्र हो गये ।।४७।। तभी से वह तीर्थ धौतपाप नाम से प्रसिद्ध हो गया, साथ ही उसके पापप्रणाशन (पाप नष्ट करनेवाला) और गालव नाम भी प्रसिद्ध हैं। यह अत्यन्त पुण्य देने वाला गालव नामक तीर्थ चाहे अधिक पाप हो चाहे कम अथवा जो कुछ उपपाप भी हैं उनको क्षण भर में नष्ट कर देता है ।।४८-४९।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में धौतपाप-माहात्म्य-निरूपण नामक बानबेवाँ अध्याय समाप्त ।।९२।।

अध्याय ९३

विश्वामित्रतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—जहाँ दशरथ-पुत्र राम ने सीता के सहित अपने पितरों को तृप्त किया, उसको पितृ-तीर्थ कहा जाता है। उस तीर्थ में स्नान, दान और पितरों का तर्पण, ये सभी अक्षय पुण्य के देनेवाले हैं, इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। जहाँ पर दशरथ पुत्र राम ने महामुनि विश्वामित्र की तत्त्वद्रष्टा मुनिजनों के सहित पूजा

यत्र दाशरथी रामो विश्वामित्रं महामुनिम्। पूजयामास राजेन्द्रो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥३॥
विश्वामित्रं तु तत्तीर्थमृषिजुष्टं सुपुण्यदम्। तत्स्वरूपं च वक्ष्यामि पठितं वेदवादिभिः ॥४॥
अनावृष्टिरभूत्पूर्वं प्रजानामतिभीषणा। विश्वामित्रो महाप्राज्ञः सशिष्यो गौतमीमगात् ॥५॥
शिष्यान्पुत्रांश्च जायां च कृशान्दृष्ट्वा क्षुधातुरान्। व्यथितः कौशिकः श्रीमाञ्शिष्यानिदमुवाच ह ॥६॥

विश्वामित्र उवाच

यथाकथंचिद्यत्किचिद्यत्र क्वापि यथा तथा। आनीयतां किंतु भक्ष्यं भोज्यं वा मा विलम्ब्यताम् ॥
इदानीमेव गन्तव्यमानेतव्यं क्षणेन तु ॥७॥

ब्रह्मोवाच

ऋषेस्तद्वचनाच्छिष्याः क्षुधितास्त्वरया ययुः। अटमाना इतश्चेतो मृतं ददृशिरे शुनम् ॥८॥
तमादाय त्वरायुक्ता आचार्याय न्यवेदयन्। सोऽपि तं भद्रमित्युक्त्वा प्रतिजग्राह पाणिना ॥९॥
विशसध्वं श्वमांसं च क्षालयध्वं च वारिणा। पचध्वं मन्त्रवच्चापि हुत्वाऽग्नौ तु यथाविधि ॥१०॥
देवानृषीन्पितॄनन्यांस्तर्पयित्वा[1]ऽतिथीन्गुरून्। सर्वे भोक्ष्यामहे शेषमित्युवाच स कौशिकः ॥११॥
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा शिष्याश्चक्रुस्तथैव तत्। पच्यमाने श्वमांसे तु देवदूतोऽग्निरभ्यगात् ॥
देवानां सदने सर्वं देवेभ्यस्तन्न्यवेदयत् ॥१२॥

की, उस शुभ, पुण्यप्रद, ऋषियों से अहर्निश सेवित विश्वामित्र तीर्थ के स्वरूप का परिचय दे रहा हूँ, जिसका वेदाभ्यासी लोग सर्वदा गान किया करते हैं। आज से बहुत पहले का समय था। प्रजा को अत्यन्त कष्ट देनेवाला भयंकर सूखा (अनावृष्टि) पड़ा। यह देखकर महाप्राज्ञ विश्वामित्र अपने शिष्यवर्ग के साथ गौतमी के तट पर गये। अपने पुत्र, स्त्री और शिष्यों को कृशकाय और भूख से व्याकुल देखकर श्रीमान् विश्वामित्र व्यथित हो गये। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा ॥१-६॥

विश्वामित्र बोले—जिस किसी प्रकार जो कुछ, जहाँ कहीं भी खाने योग्य या पीने योग्य पदार्थ मिलें ले आओ। विलम्व करने की आवश्यकता नहीं। अभी-अभी चले जाओ और क्षण भर में ही लाना होगा ॥७॥

ब्रह्मा बोले—ऋषि की बातें सुनकर भूखे वे शिष्य शीघ्र इधर-उधर चले गये। इधर-उधर घूमने पर उन लोगों ने एक मृत कुत्ते को देखा। उसको लेकर बड़ी शीघ्रता से आचार्य विश्वामित्र को अर्पित कर दिया। उन्होंने भी कल्याण हो, ऐसा कहकर अपने हाथों में ले लिया और कहा कि इस श्वमांस को काट डालो, पानी से धो डालो और अग्नि में डालकर विविधपूर्वक मन्त्र के साथ इसको पकाओ, पुनः देवता, ऋषि, पितर एवं अन्य अतिथि गुरुजनों को तृप्त कर बचे हुए भाग का हम सब भोजन करेंगे। विश्वामित्र की उपर्युक्त बातें सुनकर शिष्यों ने उसी तरह किया। इस प्रकार जब कुत्ते का मांस पकाया जाने लगा तब उसी समय देवदूत अग्नि देवों के समीप गये और सब देवों से उस घटना को कह सुनाया ॥८-१२॥

---

[1] क. ०त्वा क्रमाद्वयम्। स०।

अग्निरुवाच

देवैः[1] श्वमांसं भोक्तव्यमापन्नमृषिकल्पितम् ॥१३॥

ब्रह्मोवाच

अग्नेस्तद्वचनादिन्द्रः श्येनो भूत्वा विहायसि। स्थालीमथाहरत्पूर्णां मांसेन पिहितां तदा ॥१४॥
तत्कर्म दृष्ट्वा शिष्यास्ते ऋषेः श्येनं न्यवेदयन्। हृता स्थाली मुनिश्रेष्ठ श्येनेनाकृतबुद्धिना[2] ॥१५॥
ततश्चुकोप भगवाञ्शप्तुकामस्तदा हरिम्। ततो ज्ञात्वा सुरपतिः स्थालीं चक्रे मधुप्लुताम् ॥१६॥
पुनर्निवेशयामास उल्कास्वेव खगो हरिः। मधुना तु समायुक्तां विश्वामित्रश्चुकोप ह ॥
स्थालीं वीक्ष्य ततः कोपादिदमाह स कौशिकः ॥१७॥

विश्वामित्र उवाच

श्वमांसमेव नो देहि त्वं हरामृतमुत्तमम्। नो चेत्त्वां भस्मसात्कुर्यामिन्द्रो भीतस्तदाऽब्रवीत् ॥१८॥

इन्द्र उवाच

मधु हुत्वा यथान्यायं पिब पुत्रैः समन्वितः। किमनेन श्वमांसेन अमेध्येन महामुने ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

विश्वामित्रोऽपि नेत्याह भुक्तेनैकेन किं फलम्। प्रजाः सर्वाश्च सीदन्ति किं तेन मधुना हरे ॥२०॥

अग्नि ने कहा—ऋषि द्वारा बनाया हुआ कुत्ते का मांस आप देवों को खाना होगा।।१३।।

ब्रह्मा बोले—अग्नि की उन बातों को सुनकर इन्द्र श्येन (बाज) बनकर मांस से परिपूर्ण और ढकी हुई स्थाली को लेकर आकाश में उड़ गया। ऋषि-शिष्यों ने यह कर्म देखकर श्येन के इस घोर कर्म को ऋषि से निवेदन किया कि 'मुनिश्रेष्ठ! किसी अविवेकी बाज ने मांस की स्थाली चुरा ली है। तदनन्तर भगवान् विश्वामित्र इन्द्र को शाप देने की इच्छा से अत्यन्त कुपित हुए। इस अभिप्राय को जानकर बाजरूपधारी इन्द्र ने स्थाली को मधु से परिपूर्ण कर दिया और उसको पुनः जलती हुई लकड़ियों पर रख दिया। विश्वामित्र मधु से परिपूर्ण स्थाली को देखकर और अधिक कुपित हो गये। तब क्रोध से उन्होंने कहा।।१४-१७।।

विश्वामित्र बोले—तुम हम लोगों को कुत्ते का मांस ही दो, अपना उत्तम अमृत ले जाओ, नहीं तो तुमको भस्म कर दूँगा। इन्द्र मुनि की क्रोध-मुद्रा को देखकर भयभीत हो गये और बोले।।१८।।

इन्द्र ने कहा—मधु को ही यथाभाग वितरित कर पुत्र, परिवार सहित पीजिये। महामुने! इस अपवित्र, कुत्ते का मांस खाने से क्या लाभ होगा?।।१९।।

ब्रह्मा बोले—विश्वामित्र ने भी कहा कि नहीं, केवल हम लोगों के भोजन कर लेने से क्या लाभ होगा? इन्द्र! सारी प्रजा कष्ट पा रही है। तो उस मधु या मधुपान से क्या लाभ होगा? यदि सबके लिए अमृत का प्रबन्ध

---

[1] क. देवाः। [2] क. ०नेन क्रु०।

सर्वेषाममृतं चेत्स्याद्भोक्ष्येऽहममृतं शुचि। अथवा देवपितरो भोक्ष्यन्तीदं श्वमांसकम् ॥२१॥
पश्चादहं तच्च मांसं भोक्ष्ये नानृतमस्ति मे। ततो भीतः सहस्राक्षो मेघानाहूय तत्क्षणात् ॥२२॥
ववर्ष चामृतं वारि ह्यमृतेनार्पिताः प्रजाः। पश्चात्तदमृतं पुण्यं हरिदत्तं यथाविधि ॥२३॥
तर्पयित्वा सुरानादौ तर्पयित्वा जगत्त्रयम्। विप्रः संभुक्तवाञ्शिष्यैर्विश्वामित्रः स्वभार्यया ॥२४॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थमाख्यातं चातिपुण्यदम्। यत्राऽऽगतः सुरपतिर्लोकानाममृतार्पणम् ॥२५॥
संजातं मांसवर्जं तु तत्तीर्थं पुण्यदं नृणाम्। तत्र स्नानं च दानं च सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥२६॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं विश्वामित्रमिति स्मृतम्। मधुतीर्थमथैन्द्रं च श्येनं पर्जन्यमेव च ॥२७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भृषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये विश्वामित्रतीर्थवर्णनं नाम त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥९३॥

गौतमीमाहात्म्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

अथ चतुर्नवतितमोऽध्यायः

श्वेततीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

श्वेततीर्थमिति ख्यातं त्रैलोक्ये विश्रुतं शुभम्। तस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१॥

हो, तो मैं भी पवित्र अमृत का पान करूँगा, नहीं तो देव, पितर सभी उस अमेध्य मांस को ही खायेंगे। इसके बाद मैं उस मांस को खाऊँगा, मेरा कथन असत्य नहीं है। विश्वामित्र की इन बातों से सहस्र नेत्र वाले इन्द्र भयभीत हो गये। उसी समय मेघों को बुलाकर अमृतमय जल की वर्षा कर सम्पूर्ण प्रजा को अमृतदान से तृप्त किया। इसके अनन्तर इन्द्र के दिये हुए पवित्र अमृत को लेकर यथाविधि पहले देवताओं को और तीनों लोक को विश्वामित्र ने तृप्त किया, पुनः अपनी भार्या और शिष्यों के साथ स्वयं पान किया। उस समय से वह तीर्थ अत्यन्त पुण्यप्रद माना जाने लगा। उस तीर्थ में स्नान करने और दान देने से सब यज्ञों का फल प्राप्त होता है। और उसी समय से वह विश्वामित्र-तीर्थ नाम से प्रसिद्ध हुआ। कोई उसको मधुतीर्थ, ऐन्द्र, श्येन और पर्जन्य भी कहते हैं ॥२०-२७॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में विश्वामित्रतीर्थ-वर्णन नामक तिरानबेवाँ अध्याय समाप्त ॥९३॥

गौतमीमाहात्म्य का चौबीसवाँ अध्याय ॥२४॥

अध्याय ९४

श्वेततीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—त्रिभुवन में अति प्रसिद्ध श्वेततीर्थ नामक एक तीर्थ है। उस तीर्थ के नाम-श्रवण मात्र से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। प्राचीन काल में श्वेत नामक एक ब्राह्मण ऋषि गौतम का सखा था। वह गौतमी

श्वेतो नाम पुरा विप्रो गौतमस्य प्रियः सखा। आतिथ्यपूजानिरतो गौतमीतीरमाश्रितः ॥२॥
मनसा कर्मणा वाचा शिवभक्तिपरायणः। ध्यायन्तं तं द्विजश्रेष्ठं पूजयन्तं सदाशिवम् ॥३॥
पूर्णायुषं द्विजवरं शिवभक्तिपरायणम्। नेतुं दूताः समाजग्मुर्दक्षिणाशापतेस्तदा ॥४॥
नाशक्नुवन्गृहं तस्य प्रवेष्टुमपि नारद। तदा काले व्यतिक्रान्ते चित्रको मृत्युमब्रवीत् ॥५॥

चित्रक उवाच

किं नाऽऽयाति क्षीणजीवो मृत्यो श्वेतः कथंत्विति। नाद्याप्यायान्ति दूतास्ते मृत्योर्नैवोचितं तु ते ॥६॥

ब्रह्मोवाच

ततश्च कुपितो मृत्युः प्रायाच्छ्वेतगृहं स्वयम्। बहिःस्थितांस्तदा पश्यन्मृत्युर्दूतान्भयार्दितान् ॥
प्रोवाच[1] किमिदं दूता मृत्युमूचुश्च दूतकाः ॥७॥

दूता ऊचुः

शिवेन रक्षितं श्वेतं वयं नो वीक्षितुं क्षमाः। येषां प्रसन्नो गिरिशस्तेषां का नाम भीतयः ॥८॥

ब्रह्मोवाच

पाशपाणिस्तदा मृत्युः प्राविशद्यत्र स द्विजः। नासौ विप्रो विजानाति मृत्युं वा यमकिंकरान् ॥९॥

के तीर पर आश्रम बनाकर रहता था। सर्वदा द्वार पर आये अतिथियों के आतिथ्य-सत्कार में लगा रहता था। मन, वचन और कर्म से उसकी शिव में निष्ठा रहती थी। एक दिन जब उस शिव-भक्ति-परायण द्विजवर की आयु का अन्त समय आया तब सदाशिव की पूजा में रत और ध्यानमग्न उस श्रेष्ठ द्विज को ले जाने के लिए यम के दूत आये। नारद! उस शिवभक्त के तेज से हतवीर्य हो वे यमदूत उसके गृह में प्रवेश नहीं कर पाते थे। उधर विलम्ब होने पर चित्रक ने मृत्यु से पूछा— ॥१-५॥

चित्रक ने कहा—मृत्यु! आयु क्षीण हो जाने पर भी श्वेत क्यों नहीं आ रहा है? अब तक तुम्हारे दूत नहीं आये, यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥६॥

ब्रह्मा बोले—इस पर मृत्यु कुपित होकर स्वयं विप्र श्वेत के घर गया। वहाँ अपने भयत्रस्त दूतों को बाहर बैठे देखकर बोला—'दूतो'! यह क्या है?' यह सुनकर दूतों ने मृत्यु से कहा ॥७॥

दूतों ने कहा—शिव के द्वारा रक्षित श्वेत को हम लोग आँख उठाकर भी देखने में समर्थ नहीं हो रहे हैं। जिनके ऊपर स्वयं कैलाशपति शंकर प्रसन्न हैं, उनको डर किस बात का ॥८॥

ब्रह्मा बोले—यह सुनकर मृत्यु हाथ में पाश लिये हुए उस स्थान पर पहुँचा जहाँ वह विप्र विराजमान था। उसने अपनी तन्मयता के कारण मृत्यु अथवा यमदूतों को नहीं पहचाना। वह तो भक्तिपूर्वक शिवाराधन में ही लगा रहा। ऐसे भक्त श्वेत के समीप पाशहस्त मृत्यु को देखकर दण्डी ने अत्यन्त विस्मित हो उससे पूछा— ॥९-१०॥

---

[1] घ. ०च किंत्विह यूयं स्खलद्वाचः समूचिरे। शि०।

शिवं पूजयते भक्त्या श्वेतस्य तु समीपतः । मृत्युं पाशधरं दृष्ट्वा दण्डी[१] प्रोवाच विस्मितः ।।१०।।

दण्ड्युवाच

किमत्र वीक्षसे मृत्यो दण्डिनं[२] मृत्युरब्रवीत् ।।११।।

मृत्युरुवाच

श्वेतं नेतुमिहाऽऽयातस्तस्माद्वीक्षे द्विजोत्तमम् ।।१२।।

ब्रह्मोवाच

त्वं गच्छेत्यब्रवीद्दण्डी मृत्युः पाशानथाक्षिपत् । श्वेताय मुनिशार्दूल ततो दण्डी[३] चुकोप ह ।।१३।।
शिवदत्तेन दण्डेन दण्डी मृत्युमताडयत् । ततः पाशधरो मृत्युः पपात धरणीतले ।।१४।।
ततस्ते सत्वरं दूता हतं मृत्युमवेक्ष्य च । यमाय सर्वमवदन्वधं मृत्योस्तु दण्डिना[४] ।।१५।।
ततश्च कुपितो धर्मो यमो महिषवाहनः । चित्रगुप्तं बहुबलं यमदण्डं च रक्षकम् ।।१६।।
महिषं भूतवेतालानाधिव्याधींस्तथैव च । अक्षिरोगान्कुक्षिरोगान्कर्णशूलं तथैव च ।।१७।।
ज्वरं च त्रिविधं पापं नरकाणि पृथक्पृथक् । त्वरन्तामिति तानुक्त्वा जगाम त्वरितो यमः ।।१८।।
एतैरन्यैः परिवृतो यत्र श्वेतो द्विजोत्तमः । तमायान्तं यमं दृष्ट्वा नन्दी प्रोवाच सायुधः ।।१९।।
विनायकं तथा स्कन्दं भूतनाथं तु दण्डिनम् । तत्र तद्युद्धमभवत्सर्वलोकभयावहम् ।।२०।।

दण्डी बोला—मृत्यु ! यहाँ क्या देख रहे हो ? ।।११।।

मृत्यु ने दण्डी से कहा—श्वेत को ले जाने के लिए यहाँ आया हूँ, इसलिए द्विजश्रेष्ठ श्वेत को देख रहा हूँ ।।१२।।

ब्रह्मा बोले—तुम चले जाओ, दण्डी ने कहा । मुनिशार्दूल ! इसके बाद मृत्यु ने श्वेत के लिए पाश फेंका । यह देख दण्डी के क्रोध का ठिकाना न रहा । उसने शिव-दत्त दण्ड से मृत्यु पर आक्रमण किया, जिसके फलस्वरूप यम पाश हाथ में लिये ही पृथ्वी पर गिर पड़ा ।।१३-१४।। वे यमदूत इस प्रकार मृत मृत्यु को देखकर शीघ्र ही यम के पास गये और उसने दण्डी के द्वारा मृत्यु का वध आदि सब कुछ यम को सुना दिया ।।१५।। इसको सुनकर महिषवाहन यम कुपित हो गया । उसने अपने अतिबलशाली चित्रगुप्त, रक्षा करनेवाले यमदण्ड, भैंसा, भूत, वेताल, व्याधि, इसी प्रकार नेत्ररोग, उदररोग, कर्णशूल, तीन प्रकार के ज्वर, पाप और विविध प्रकार ने नरकों से 'जल्दी करो' यह कहकर बड़ी शीघ्रता से सबको साथ लेकर घटनास्थल पर पहुँचा ।।१६-१८।। इस प्रकार उपर्युक्त गणों एवं अन्य सहायकों के साथ यम वहाँ पहुँचा जहाँ श्वेत बैठा था । शस्त्रसज्जित यम को इस प्रकार आते देखकर शस्त्र सम्हालते हुए नन्दी ने विनायक, स्कन्द तथा दण्डधारी भूतनाथ शंकर से यम की दुरभिसन्धि कह सुनायी । अब वहाँ सम्पूर्ण लोक को भय देने वाला भयंकर युद्द प्रारम्भ हो गया ।।१९-२०।। युद्ध में कार्तिकेय ने स्वयं अपनी शक्ति

---

[१] घ. नन्दी । [२] घ. नन्दिनं । [३] घ. नन्दी । [४] घ. नन्दिना ।

कार्तिकेयः स्वयं शक्त्या बिभेद यमकिंकरान् । दक्षिणाशापतिं चापि निजघान बलान्वितम् ॥२१॥
हतावशिष्टा याम्यास्ते आदित्याय न्यवेदयन् । आदित्योऽपि सुरैः सार्धं श्रुत्वा तन्महदद्भुतम् ॥२२॥
लोकपालैरनुवृतो ममान्तिकमुपागमत् । अहं विष्णुश्च भगवानिन्द्रोऽग्निर्वरुणस्तथा ॥२३॥
चन्द्रादित्यावश्विनौ च लोकपाला मरुद्गणाः । एते चान्ये च बहवो वयं याता यमान्तिकम् ॥२४॥
मृत आस्ते दक्षिणेशो गङ्गातीरे बलान्वितः । समुद्राश्च नदा नागा नानाभूतान्यनेकशः ॥२५॥
तत्राऽऽजग्मुः सुरेशानं द्रष्टुं वैवस्वतं यमम् । तं दृष्ट्वा हतसैन्यं च यमं देवा भयार्दिताः ॥
कृताञ्जलिपुटाः शंभुमूचुः सर्वे पुनः पुनः ॥२६॥

देवा ऊचुः

भक्तप्रियत्वं ते नित्यं दुष्टहन्तृत्वमेव च । आदिकर्तर्नमस्तुभ्यं नीलकण्ठ नमोऽस्तु ते ॥
ब्रह्मप्रिय नमस्तेऽस्तु देवप्रिय नमोऽस्तु ते ॥२७॥
श्वेतं द्विजं भक्तमनायुषं ते, नेतुं यमादिः सकलोऽसमर्थः ।
संतोषमाप्ताः परमं समीक्ष्य, भक्तप्रियत्वं त्वयि नाथ सत्यम् ॥२८॥
ये त्वां प्रपन्नाः शरणं कृपालुं, नालं कृतान्तोऽप्यनुवीक्षितुं तान् ।
एवं विदित्वा शिव एव सर्वे, त्वामेव भक्त्या परया भजन्ते ॥२९॥
त्वमेव जगतां नाथ किं न स्मरसि शंकर । त्वां विना कः समर्थोऽत्र व्यवस्थां कर्तुमीश्वरः ॥३०॥

से यमदूतों को छेड़ डाला । पुनः उन्होंने बलगर्वित दक्षिण दिशा के स्वामी यम को भी मार गिराया ॥२१॥ हतशेष यम के अनुचरों ने यमपिता आदित्य से सारी कथा कही । आदित्य भी इस अद्भुत संग्राम को सुनकर देवताओं और लोकपालों को साथ ले मेरे पास आये ॥२२½॥ मैं (ब्रह्मा) विष्णु, भगवान् इन्द्र, अग्नि, वरुण, चन्द्र, आदित्य, अश्विन्, लोकपाल, मरुद्गण तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से देव यम के समीप गये ॥२३—२४॥ वहाँ गंगा के तट पर अपनी सेना सहित दक्षिणेश यम मरा हुआ पड़ा था । सभी समुद्र, नद, नाग एवं अनेक संघवद्ध प्राणी देवस्वामी यम को देखने के लिए वहाँ पहुँचे हुए थे । उसको इस प्रकार सैन्य सहित मरा देखकर सभी देवता भय से व्याकुल हो गये। वे हाथ जोड़कर भगवान् शंकर से पुनः-पुनः कहने लगे।॥२५-२६॥

देवों ने कहा—तुम्हारा भक्तों के प्रति सर्वदा स्नेहभाव रहता है । तुम दुष्टों के वध के लिए सर्वदा तत्पर रहते हो । आदिकर्त्ता ! तुमको नमस्कार है, नीलकण्ठ ! तुमको हम नमस्कार करते हैं । ब्रह्मप्रिय ! आपको नमस्कार है ! देवप्रिय ! आपको हम नमस्कार करते हैं ॥२७॥ तुम्हारे इस गतायुष भक्त द्विज श्वेत को ले जाने में यमादि सभी असमर्थ हो गये । नाथ ! तुममें भक्तवात्सल्य का यह उत्कृष्ट सत्यस्वरूप देखकर हम अत्यन्त सन्तुष्ट हैं । जो व्यक्ति कृपालु तुम्हारी शरण में आते हैं उन लोगों की ओर यम भी आँख उठाकर देखने का साहस नहीं कर सकता । शिव ! तुम्हारी इस कृपालुता को जानकर सब तुमको अत्यन्त भक्ति से भजते हैं । शंकर ! क्या आप स्मरण नहीं करते कि आपही संसार के स्वामी हैं । तुमको छोड़कर कौन ऐसा है जो इस संसार में व्यवस्था स्थापित करने में समर्थ हो सकता है ॥२८-३०॥

ब्रह्मोवाच

एवं तु स्तुवतां[1] तेषां पुरस्तादभवच्छिवः । किं ददामीति तानाह इदमूचुः सुरा अपि ।।३१।।

देवा ऊचुः

अयं वैवस्वतो धर्मो नियन्ता सर्वदेहिनाम् । धर्माधर्मव्यवस्थायां स्थापितो लोकपालकः ।।३२।।
नायं वधमवाप्नोति नापराधी न पापकृत् । विना तेन जगद्धातुर्नैव किंचिद्भविष्यति ।।३३।।
तस्माज्जीवय देवेश यमं सबलवाहनम् । प्रार्थना सफला नाथ महत्सु न वृथा भवेत् ।।३४।।

ब्रह्मोवाच

ततः प्रोवाच भगवाञ्जीवयेयमसंशयम् । यमं यदि वचो मेऽद्य अनुमन्यन्ति देवताः ।।३५।।
ततः प्रोचुः सुराः सर्वे कुर्मो वाक्यं त्वयोदितम् । हरिब्रह्मादिसहितं वशे यस्याखिलं जगत् ।।३६।।
ततः प्रोवाच भगवानमरान्समुपागतान् । मद्भक्तो न मृतिं यातु नेत्यूचुरमराः पुनः ।।३७।।
अमराः स्युस्ततो देव सर्वलोकाश्चराचराः । अमर्त्यमर्त्यभेदोऽयं न स्याद्देव जगन्मय ।।३८।।
पुनरप्याह ताञ्शंभुः शृण्वन्तु मम भाषितम् । मद्भक्तानां वैष्णवानां गौतमीमनुसेवताम् ।।३९।।
वयं तु स्वामिनो नित्यं न मृत्युः स्वाम्यमर्हति । वार्ताऽप्येषां न कर्तव्या यमेन तु कदाचन ।।४०।।
आधिव्याध्यादिभिर्जातु कार्यो नाभिभवः क्वचित् । ये शिवं शरणं यातास्ते मुक्तास्तत्क्षणादपि ।।४१।।

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार देवों की प्रार्थना सुनकर आशुतोष शिव उन देवों के सामने प्रत्यक्ष हुए । उन्होंने कहा—क्या दूँ ? यह सुनकर देवों ने कहा ।।३१।।

देवगण बोले—यह वैवस्वत धर्म सब प्राणियों पर अनुशासन करनेवाला है । यही धर्माधर्म की व्यवस्था के लिए लोक-पालक के रूप में प्रतिष्ठित है । यह न तो अपराधी है और न पापकर्म करनेवाला ही है । अतः यह वध के योग्य नहीं है, इसके बिना विधाता की सृष्टि में कोई व्यवस्था न हो सकेगी । देवेश ! इसलिए इस यम को सैन्य, वाहन के सहित जीवित कर दो । नाथ ! महानों से की गयी प्रार्थना सफल होती है, व्यर्थ नहीं ।।३२-३४।।

ब्रह्मा बोले—तदनन्तर भगवान् शंकर ने कहा 'मैं अवश्य यम को जीवित कर दूँगा, यदि आप सब देवता आज मेरे प्रस्ताव का समर्थन करें ।' यह सुनकर सब देवताओं ने कहा कि आप की कही हुई बातों का हम सब अक्षरशः पालन करेंगे । जिसके अधिकार में विष्णु और ब्रह्मा सहित सारा जगत् है, उसकी कौन उपेक्षा कर सकता है ? तत्पश्चात् भगवान् ने आगत देवों से कहा—'मेरे भक्त कभी मृत्यु-मुख में न जायँ ।' पुनः देवताओं ने कहा 'नहीं। देव ! तब तो चराचरात्मक सारा जगत् अमर हो जायगा । जगद्व्यापक ! देव ! अमर्त्य (देव) और मरणधर्मा मनुष्य का भेद भी मिट जायगा ।' इन उपर्युक्त तर्कों को सुनकर शंकर ने पुनः कहा—मेरी कही हुई बातों का अभिप्राय सुनो 'मेरे भक्तों (शैव) और वैष्णवों—जो कि सर्वदा गौतमी गंगा के आश्रय में रहते हैं—के स्वामी हम सब ही हैं अतः उन भक्तों पर मृत्यु का आधिपत्य कभी भी रहना उचित नहीं। अधिकार को कौन कहे,

---

[1] घ. ब्रवतां ।

सानुगस्य यमस्यातो नमस्याः सर्व एव ते । तथेत्युचुः सुरगणा देवदेवं शिवं प्रति ।।४२।।
ततश्च भगवान्नाथो नन्दिनं प्राह वाहनम् ।।४३।।

शिव उवाच

गौतम्या उदकेन त्वमभिषिञ्च मृतं यमम् ।।४४।।

ब्रह्मोवाच

ततो यमादयः सर्वे अभिषिक्तास्तु नन्दिना । उत्थिताश्च सजीवास्ते दक्षिणाशां ततो गताः ।।४५।।
उत्तरे गौतमीतीरे विष्ण्वाद्याः सर्वदैवताः । स्थिता आसन्पूजयन्तो देवदेवं महेश्वरम् ।।४६।।
तत्राऽऽसन्नयुतान्यष्ट सहस्राणि चतुर्दश । तथा षट्च सहस्राणि पुनः षट्च तथैव च ।।४७।।
षड्दक्षिणे तथा तीरे तीर्थानामयुतत्रयम् । पुण्यमाख्यानमेतद्धि श्वेततीर्थस्य नारद ।।४८।।
यत्रासौ पतितो मृत्युर्मृत्युतीर्थं तदुच्यते । तस्य श्रवणमात्रेण सहस्रं जीवते समाः ।।४९।।
तत्र स्नानं च दानं च सर्वपापप्रणाशनम् । श्रवणं पठनं चापि स्मरणं च मलक्षयम् ।।
करोति सर्वलोकानां भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ।।५०।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये उत्तरतीरस्थैकलक्षद्वादशसहस्रतीर्थदक्षिणतीरस्थत्रिंशत्सहस्रतीर्थवर्णनं नाम चतुर्नवतितमोऽध्यायः ।।९४।।
गौतमीमाहात्म्ये पञ्चविंशोऽध्यायः ।।२५।।

इन लोगों के विषय में यम कभी वार्त्ता तक न करे । वे कभी किसी अवस्था में आधि-व्याधि से सताये न जायें, जो शिव की शरण में चले जाते हैं वे तत्क्षण ही मुक्त समझे जाते हैं । अतः वे सभी अनुचर सहित यम के लिए वन्दनीय हैं, अर्चनीय हैं ।' यह सुनकर देवताओं ने दवाधिदेव शंकर से कहा—"ऐसा ही हो ।" इसके अनन्तर भगवान् शंकर ने अपने वाहन नन्दी से कहा ।।३५-४३।।

शिव ने कहा—तुम गौतमी के जल से मृत यमराज का अभिषेक करो ।।४४।।

ब्रह्मा ने कहा—तब सभी यम आदि के ऊपर नन्दी ने गौतमी का जल छिड़का । वे सभी जल-स्पर्श से ही सजीव हो उठ गये और अपनी प्रिय दक्षिण दिशा की ओर चले गये । इधर उत्तर की ओर गौतमी के तीर पर विष्णु आदि सब देवताओं ने आसन जमाया और देवाधिदेव महेश्वर की सविधि पूजा की । वहाँ उस समय एक सौ छह हजार तीर्थ उपस्थित हुए थे । इसी प्रकार दक्षिण तीर पर छत्तीस हजार तीर्थ उपस्थित थे । नारद ! यही श्वेत तीर्थ का पुण्यदाता आख्यान है । जहाँ मृत्यु युद्ध में आहत हो धराशायी हुए थे, मृत्युतीर्थ कहा जाता है । उस मृत्युतीर्थ के नाम-श्रवण मात्र से मनुष्य सहस्र वर्ष तक जीवित रहता है । वहाँ स्नान करने और दान देने से सब प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं । इस तीर्थ का माहात्म्य श्रवण, पठन अथ च स्मरण सम्पूर्ण लोक का पाप नष्ट करता है और सबको भुक्ति-मुक्ति प्रदान करता है ।।४५-५०।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में चौरानबेवाँ अध्याय समाप्त ।।९४।।
गौतमीमाहात्म्य का पचीसवाँ अध्याय ।।२५।।

अथ पञ्चनवतितमोऽध्यायः

शुक्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

शुक्रतीर्थमिति ख्यातं सर्वसिद्धिकरं नृणाम्। सर्वपापप्रशमनं सर्वव्याधिविनाशनम् ।।१।।
अङ्गिराश्च भृगुश्चैव ऋषी परमधार्मिकौ। तयोः पुत्रौ महाप्राज्ञौ रूपबुद्धिविलासिनौ ।।२।।
जीवः कविरिति ख्यातौ मातापित्रोर्वशे रतौ[1]। उपनीतौ सुतौ दृष्ट्वा पितरावूचतुर्मिथः ।।३।।

ऋषी ऊचतुः

आवयोरेक एवास्तु शास्ता नित्यं च पुत्रयोः। तस्मादेकः शासिता स्यात्तिष्ठत्वेको यथासुखम् ।।४।।

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा ततः शीघ्रमङ्गिराः प्राह भार्गवम्। अध्यापयिष्ये सदृशं सुखं तिष्ठतु भार्गवः ।।५।।
एतच्छ्रुत्वा चाङ्गिरसो वाक्यं भृगुकुलोद्वहः। तथेति मत्वाऽङ्गिरसे शुक्रं तस्मै न्यवेदयत् ।।६।।
उभावपि सुतौ नित्यमध्यापयति वै पृथक्। वैषम्यबुद्ध्या तौ बालौ चिराच्छुक्रोऽब्रवीदिदम् ।।७।।

अध्याय ९५

शुक्रतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—सब मनुष्यों के मनोरथ को पूर्ण करनेवाला शुक्रतीर्थ नामक एक विश्वविख्यात तीर्थ है, जो मनुष्य के सब पापों को दूर करता और सब प्रकार की व्याधियों को नष्ट करता है। अङ्गिरा और भृगु नाम के दो परम धार्मिक ऋषि थे। उनके दो पुत्र थे जो परम बुद्धिमान् तथा रूप और बुद्धि के कोश थे। उन लोगों का नाम जीव (बृहस्पति) और कवि (शुक्र) था, जो सर्वदा माता और पिता के आज्ञा-पालन में निरत रहते थे। पुत्रों के यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने के बाद, उन दोनों बालकों के पिता ने आपस में मन्त्रणा की ।।१-३।।

दोनों ऋषियों ने कहा—हम दोनों में से एक ही सर्वदा इन दोनों का अभिभावक रहे। इसलिए एक तो इनका अभिभावक हो और दूसरा पुत्रपालन से निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक रहे ।।४।।

ब्रह्मा बोले—यह सुनकर अङ्गिरा ने भार्गव से शीघ्र कहा—'मैं समान भाव से दोनों बालकों को पढ़ाऊँगा, भार्गव सुखपूर्वक रहें।' ऋषि अंगिरा की इन बातों को सुनकर भृगुकुलश्रेष्ठ ने उसको स्वीकार कर लिया और शुक्र को अंगिरा के हाथ समर्पित कर दिया। गुरु उन दोनों बालकों को चिरकाल तक पृथक्-पृथक् असमान भाव से नित्य पढ़ाते थे। यह चिरकालीन विषम अध्यापन देखकर शुक्र ने कहा ।।५-७।।

---

[1] ख. ०र्वशीकृतौ।

शुक्र उवाच

वैषम्येण गुरो मां त्वमध्यापयसि नित्यशः। गुरूणां नेदमुचितं वैषम्यं पुत्रशिष्ययोः ।।८।।
वैषम्येण च वर्तन्ते मूढाः शिष्येषु देशिकाः। नैषा विषमबुद्धीनां संख्या पापस्य विद्यते ।।९।।
आचार्य सम्यग्ज्ञातोऽसि नमस्येऽहं पुनः पुनः। गच्छेयं गुरुमन्यं वै मामनुज्ञातुमर्हसि ।।१०।।
गच्छेयं पितरं ब्रह्मन्यद्यसौ विषमो भवेत्। ततो वाऽन्यत्र गच्छामि स्वामिन्पृष्टोऽसि गम्यते ।।११।।

ब्रह्मोवाच

गुरुं बृहस्पतिं दृ (पृ) ष्ट्वा अनुज्ञातस्त्वगात्ततः। अवाप्तविद्यः पितरं गच्छेयं चेत्यचिन्तयत् ।।१२।।
तस्मात्कमनुपृच्छेयमुत्कृष्टः को गुरुर्भवेत्। इति स्मरन्महाप्राज्ञमपृच्छद्वृद्धगौतमम् ।।१३।।

शुक्र उवाच

को गुरुः स्यान्मुनिश्रेष्ठ मम ब्रूहि गुरुर्भवेत्। त्रयाणामपि लोकानां यो गुरुस्तं व्रजाम्यहम् ।।१४।।

ब्रह्मोवाच

स प्राह जगतामीशं शंभुं देवं जगद्गुरुम्[1]। क्वाऽऽराधयामि गिरिशमित्युक्तः प्राह गौतमः ।।१५।।

शुक्र बोले—गुरुदेव ! तुम तो नित्य ही मुझको असमान रूप से पढ़ाते हो। गुरुजनों का इस प्रकार पुत्र और शिष्य के प्रति विषम व्यवहार उचित नहीं। मूर्ख गुरु ही शिष्यों के प्रति पक्षपातयुक्त व्यवहार करते हैं, ऐसे पक्षपाती गुरुओं के पापों की गणना नहीं हो सकती। आचार्य ! तुम भलीभाँति पहचाने गये। तुमको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। अब अन्य गुरु के समीप जाना चाहता हूँ, कृपा करके मुझे अनुमति प्रदान कीजिये। ब्रह्मन् ! यदि वहाँ जाने पर भी ऐसा ही विषम व्यवहार होगा तो पिता जी के पास चला जाऊँगा अथवा दूसरे गुरु के समीप चला जाऊँगा। स्वामिन् ! आपसे पूछ लिया, अब जा रहा हूँ ।।८-११।।

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार गुरु और सहपाठी बृहस्पति से भेंट कर उनसे विदा माँगकर वहाँ से प्रस्थान कर दिया। सोचने लगा कि सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञाता होकर ही पिता के समीप चलना चाहिए। इसलिए किससे पूछूँ, कौन ऐसा उत्कृष्ट व्यक्ति है जो मेरा गुरु हो। इस प्रकार सोचते हुए उसने महाबुद्धिमान् गौतम से पूछा—।।१२-१३।।

शुक्र ने कहा—मुनिश्रेष्ठ ! इस लोक में कौन ऐसा ज्ञानी व्यक्ति है जो मेरा गुरु हो, यह मुझको बतलाइये। तीनों लोकों के जो गुरु हैं, उनके समीप भी मैं जा सकता हूँ ।।१४।।

ब्रह्मा बोले—गौतम ने जगत् के स्वामी, जगद्गुरु शंकर को ही गुरु के योग्य बताया। यह पूछने पर कि उनकी आराधना कहाँ करूँ, गौतम ने कहा ।।१५।।

---

[1] क. ०म्। शुक्र प्राह कथं तं वै पश्येयं त्रिदशेश्वरम्। गौतमः प्राह धर्मज्ञो वृद्धः शुक्रं गुरुप्रियम्। गौतम्यां।

गौतम उवाच

गौतम्यान्तु शुचिर्भूत्वा स्तोत्रैस्तोषय शङ्करम् । ततस्तुष्टो जगन्नाथः स ते विद्यां प्रदास्यति ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

गौतमस्य तु तद्वाक्यात्प्रागाद्गङ्गां स भार्गवः । स्नात्वा भूत्वा शुचिः सम्यक्स्तुतिं चक्रे स बालकः ॥१७॥

शुक्र उवाच

बालोऽहं बालबुद्धिश्च बालचन्द्रधर प्रभो । नाहं जानामि ते किंचित्स्तुतिं कर्तुं नमोऽस्तु ते ॥१८॥
परित्यक्तस्य गुरुणा न ममास्ति सुहृत्सखा । त्वं प्रभुः सर्वभावेन जगन्नाथ नमोऽस्तु ते ॥१९॥
गुरुर्गुरुमतां देव महतां च महानसि । अहमल्पतरो बालो जगन्मय नमोऽस्तु ते ॥२०॥
विद्यार्थं हि सुरेशान नाहं वेद्मि भवद्गतिम् । मां त्वं च कृपया पश्य लोकसाक्षिन्नमोऽस्तु ते ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

एवं तु स्तुवतस्तस्य प्रसन्नोऽभूत्सुरेश्वरः ॥२२॥

शिव उवाच

कामं वरय भद्रं ते यच्चापि सुरदुर्लभम् ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

कविरप्याह देवेशं कृताञ्जलिरुदारधीः ॥२४॥

गौतम बोले—गौतमी में स्नान कर पवित्र हो स्तोत्र-पाठ से शंकर को प्रसन्न करो । तब जगत्पति प्रसन्न होकर तुमको विद्या प्रदान करेंगे ॥१६॥

ब्रह्मा बोले—वह भार्गव (शुक्र) गौतम के कथनानुसार गंगा के तीर पर गया । स्नान कर पवित्र हो उस बालक ने विधिपूर्वक शंकर की स्तुति की ॥१७॥

शुक्र बोले—द्वितीया के चन्द्रमा को धारण करनेवाले ! प्रभो ! मैं बालक हूँ, बाल-बुद्धि (अल्पबुद्धि) हूँ । किञ्चित्मात्र भी तुम्हारी स्तुति करना नहीं जानता, तुमको मेरा नमस्कार हो । गुरु से परित्यक्त मेरा कोई भी सहायक या मित्र नहीं है । जगन्नाथ ! सब प्रकार से तुम्हीं मेरे प्रभु हो, मैं तुमको नमस्कार करता हूँ । तुम श्रेष्ठों में श्रेष्ठ तथा महानों के भी महान् हो । मैं तो अत्यन्त अल्पबुद्धि बालक हूँ । जगद्व्यापक ! आपको मेरा नमस्कार है । सुरेशान ! मैं विद्या-प्राप्ति के लिए आपकी शरण में आया हूँ, परन्तु आपकी गति नहीं जानता । अतः आप मुझको कृपा-दृष्टि से देखिये । लोकसाक्षिन् ! आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१८-२१॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार बालक की स्तुति-प्रार्थना सुनकर सुरेश्वर शंकर प्रसन्न हो गये ॥२२॥

शंकर ने कहा—तुम्हारा कल्याण हो ! तुम अभिलषित वर माँगो । जो देवों से भी दुष्प्राप्य हो वह भी माँगो ॥२३॥

ब्रह्मा ने कहा—उदार बुद्धि शुक्र ने भी अञ्जलि बाँधकर देवेश से कहा—॥२४॥

शुक्र उवाच

ब्रह्मादिभिश्च ऋषिभिर्या विद्या नैव गोचरा। तां विद्यां नाथ याचिष्ये त्वं गुरुर्मम दैवतम् ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

मृतसंजीवनीं विद्यामज्ञातां त्रिदशैरपि। तां दत्तवान्सुरश्रेष्ठस्तस्मै शुक्राय याचते ॥२६॥
इतरा लोकिकी विद्या वैदिकी चान्यगोचरा। किं पुनः शंकरे तुष्टे विचार्यमवशिष्यते ॥२७॥
स तु लब्ध्वा महाविद्यां प्रायात्स्वपितरं गुरुम्। दैत्यानां च गुरुश्चाऽऽसीद्विद्यया पूजितः कविः ॥२८॥
ततः कदाचित्तां विद्यां कस्मिंश्चित्कारणान्तरे। कचो बृहस्पतिसुतो विद्यां प्राप्तः कवेस्तु ताम् ॥२९॥
कचाद्बृहस्पतिश्चापि[1] ततो देवाः पृथक्पृथक्। अवापुर्महतीं विद्यां यामाहुर्मृतजीविनीम् ॥३०॥
यत्र सा कविना प्राप्ता विद्याऽऽपूज्य महेश्वरम्। गौतम्या उत्तरे पारे शुक्रतीर्थं तदुच्यते ॥३१॥
मृतसंजीविनीतीर्थमायुरारोग्यवर्धनम्। स्नानं दानं च यत्किंचित्सर्वमक्षयपुण्यदम् ॥३२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे मृतसंजीविनीतीर्थमाहात्म्यनिरूपणं नाम
पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥९५॥
गौतमीमाहात्म्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

शुक्र ने कहा—जिस विद्या को ब्रह्मादि देवता और ऋषियों ने भी जाना, नाथ ! उसी विद्या की याचना करता हूँ, तुम मेरे गुरु हो, देवता हो ॥२५॥

ब्रह्मा बोले—जब देवों से भी अज्ञात मृतसंजीवनी विद्या को सुरश्रेष्ठ शंकर ने शुक्र की याचना पर दे दिया तो इतर लौकिक, वैदिक या अन्य विद्याओं के दान के विषय में प्रसन्न शंकर के लिए कुछ सोच-विचार करने का अवसर ही कहाँ रहा ? अर्थात् इतर विद्याएँ तो अनायास शंकर से प्राप्त हो गयीं। वह महाविद्या को प्राप्त कर अपने गुरु के समीप चला गया। अपनी विद्या के कारण पूजित कवि दैत्यों के गुरु हुए। तदनन्तर किसी समय कारणवश बृहस्पति पुत्र कच ने कवि से मृत संजीवनी विद्या प्राप्त की। कच से बृहस्पति और बृहस्पति से देवताओं ने पृथक्-पृथक् उस श्रेष्ठ विद्या को—जिसको मृतसंजीवनी (मरे को जिलानेवाली) कहते हैं—प्राप्त किया। जिस स्थान पर शुक्र ने महेश्वर की आराधना कर उस विद्या को प्राप्त किया था, वही गौतमी के उत्तम तीर वाला स्थान शुक्रतीर्थ कहा जाता है। वह मृतसंजीवनीतीर्थ आयु-आरोग्य को बढ़ानेवाला है, वहाँ पर स्नान, दान आदि जो कुछ किया जाता है, वह अक्षय पुण्य को देता है ॥२६-३२॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में मृत-संजीवनी-माहात्म्य-वर्णन नामक पंचानबेवाँ अध्याय समाप्त ॥९५॥
गौतमीमाहात्म्य का छब्बीसवाँ अध्याय ॥२६॥

---

[1] घ. ०पि जीवाद्देवाः।

अथ षण्णवतितमोऽध्यायः

पुण्यासिक्तासंगमेन्द्रतीर्थादिसप्तसहस्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

इन्द्रतीर्थमिति ख्यातं ब्रह्महत्याविनाशनम्। स्मरणादपि पापौघक्लेशसंघविनाशनम् ॥१॥
पुरा वृत्रवधे वृत्ते ब्रह्महत्या तु नारद। शचीपतिं चानुगता तां दृष्ट्वा भीतवद्धरिः ॥२॥
इन्द्रस्ततो वृत्रहन्ता इतश्चेतश्च धावति। यत्र यत्र त्वसौ याति हत्या साऽपीन्द्रगामिनी ॥३॥
स महत्सर आविश्य पद्मनालमुपागमत्। तत्रासौ तन्तुवद्भूत्वा वासं चक्रे शचीपतिः ॥४॥
सरस्तीरेऽपि हत्याऽऽसीद्दिव्यं वर्षसहस्रकम्। एतस्मिन्नन्तरे देवा निरिन्द्रा ह्यभवन्मुने ॥५॥
मन्त्रयामासुरव्यग्राः कथमिन्द्रो भवेदिति। तत्राहमवदं देवान्हत्यास्थानं प्रकल्प्य च ॥६॥
इन्द्रस्य पावनार्थाय गौतम्यामभिषिच्यताम्। यत्राभिषिक्तः पूतात्मा पुनरिन्द्रो भविष्यति ॥७॥
तथा ते निश्चयं कृत्वा गौतमीं शीघ्रमागमन्। तत्र स्नानं सुरपतिं देवाश्च ऋषयस्तथा ॥८॥
अभिषेक्तुकामास्ते सर्वे शचीकान्तं च तस्थिरे। अभिषिच्यमानमिन्द्रं तं प्रकोपाद् गौतमोऽब्रवीत् ॥९॥

अध्याय ९६

पुण्या-सिक्ता-संगम, इन्द्रतीर्थ आदि सप्त सहस्र तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—ब्रह्महत्याजन्य पापों को भी नष्ट कर देनेवाला, इन्द्र तीर्थ नामक एक परम प्रसिद्ध तीर्थ है, जिसके स्मरण मात्र से सब पाप और क्लेश-समूह विनष्ट हो जाते हैं। नारद ! प्राचीन काल में वृत्रासुर-वध के पश्चात् ब्रह्महत्या साकार रूप में शचीपति के पीछे चली। उसको देखकर इन्द्र भयभीत-से हो गये। तब वृत्र-हन्ता इन्द्र इधर-उधर भागने लगे। जहाँ-जहाँ वे जाते थे, वह ब्रह्महत्या भी उनके पीछे-पीछे जाती थी। अन्ततोगत्वा इन्द्र महासरोवर में घुसकर कमल नाल में छिप गये, वहाँ तन्तु के रूप में शचीपति इन्द्र निवास करने लगे। वह हत्या भी उस सरोवर के तीर पर दिव्य सहस्र वर्षों तक निवास करती रही। मुने ! इतने वर्षों तक देवता बिना इन्द्र के हो गये। आपस में उन देवों ने शान्त चित्त से परामर्श किया कि किस प्रकार पुनः इन्द्र प्रकट होंगे। उस समय मैंने-देवों से कहा कि कुछ समय तक हत्या को एक निर्दिष्ट स्थान दे दिया जाय, और इन्द्र को हत्या से मुक्त करने के लिए गौतमी में उनको स्नान कराया जाय। उस गौतमी में अभिषिक्त होने से इन्द्र पुनः पवित्र होकर इन्द्रत्व को प्राप्त कर लेंगे। ऐसा निश्चय कर वे देव शीघ्र ही गौतमी के तीर पर आये। वहाँ सुरेश को स्नान कराकर, उनका अभिषेक करने की इच्छा से देव, ऋषि आदि प्रस्तुत हो गये। अभिषेक किये जाने वाले इन्द्र को देखकर गौतम ने कुपित होकर कहा—॥१-९॥

गौतम उवाच

अभिषेक्ष्यन्ति पापिष्ठं महेन्द्रं गुरुतल्पगम्। तान्सर्वान्भस्मसात्कुर्यां शीघ्रं यान्त्वसुरारयः ॥१०॥

ब्रह्मोवाच

तदृषेर्वचनं श्रुत्वा परिहृत्य च गौतमीम्। नर्मदामगमन्सर्व इन्द्रमादाय सत्वराः ॥११॥
उत्तरे नर्मदातीरे अभिषेकाय तस्थिरे। अभिषेक्ष्यमाणमिन्द्रं तं माण्डव्यो भगवानृषिः ॥१२॥
अब्रवीद्भस्मसात्कुर्यां यदि स्यादभिषेचनम्। पूजयामासुरमरा माण्डव्यं युक्तिभिः स्तवैः ॥१३॥

देवा ऊचुः

अयमिन्द्रः सहस्राक्षो यस्मिन्देशेऽभिषिच्यते। तत्रातिदारुणं विघ्नं मुने समुपजायते ॥१४॥
तच्छान्तिं कुरु कल्याण प्रसीद वरदो भव। मलनिर्यातनं यस्मिन्कुर्मस्तस्मिन्वरान्बहून् ॥१५॥
देशे दास्यामहे सर्वे तदनुज्ञातुमर्हसि। यस्मिन्देशे सुरेन्द्रस्य अभिषेको भविष्यति ॥१६॥
स सर्वकामदः पुंसां धान्यवृक्षफलैर्युतः। नानावृष्टिर्न दुर्भिक्षं भवेदत्र कदाचन ॥१७॥

ब्रह्मोवाच

मेने ततो मुनिश्रेष्ठो माण्डव्यो लोकपूजितः। अभिषेकः कृतस्तत्र मलनिर्यातनं तथा ॥१८॥
देवैस्तदोक्तो मुनिभिः स देशो मालवस्ततः। अभिषिक्ते सुरपतौ जाते च विमले तदा ॥१९॥

गौतम बोले—यदि गुरुतल्पगामी पापी इन्द्र का तुम लोग अभिषेक करोगे तो सबको अपने शापाग्नि से भस्म कर दूँगा, अतः राक्षसों के शत्रु देवगण यहाँ से शीघ्र चले जायँ ॥१०॥

ब्रह्मा ने कहा—उस ऋषि की बात सुनकर गौतसी को छोड़कर इन्द्र को साथ ले वे देवता शीघ्र ही नर्मदा के तट पर चले गये। वहाँ नर्मदा के उत्तर तीर पर अभिषेक करने के लिए स्थित हुए। इस प्रकार इन्द्र के अभिषेक का समारोह देखकर भगवान् ऋषि माण्डव्य ने कहा—'यदि यहाँ अभिषेक हुआ तो सबको भस्मावशेष कर दूँगा।' यह देखकर देवों ने अनेक युक्तियों और स्तुतिपाठ से माण्डव्य ऋषि की पूजा की ॥११-१३॥

देवों ने कहा—इस सहस्र नेत्र वाले इन्द्र का जिस देश में अभिषेक होगा, मुनिवर ! उस देश में अति भयंकर विघ्न उत्पन्न होंगे। कल्याणमूर्ति ! आप प्रसन्न होइये, उन विघ्नों की शांति कीजिये। वर देने वाले होइये। हम जिस प्रदेश में जल-मोचन करेंगे, उस प्रदेश को हम सब उत्तम कल्याणमय वरों से समृद्ध कर देंगे, इसलिए आप कृपा कर आज्ञा प्रदान करें। जिस प्रदेश में सुरराज का अभिषेक होगा, वह प्रदेश भाँति-भाँति के धान्य और फलदार वृक्षों से सुशोभित रहेगा एवं मनुष्यों की कामनाओं की पूर्ति करेगा। वहाँ समयानुकूल वृद्धि होती रहेगी, कभी भी दुर्भिक्ष न होगा ॥१४-१७॥

ब्रह्मा ने कहा—इतनी प्रार्थना के उपरान्त लोक-पूजित माण्डव्य ऋषि ने इसको स्वीकार किया। वहाँ इन्द्र का अभिषेक तथा पापमोचन कर्म किया गया। तब देवताओं और मुनियों के द्वारा उस देश का मालव नामकरण किया गया। इस प्रकार अभिषेक हो जाने पर सुरपति इन्द्र पापमुक्त हो गये। पुनः उनको गौतमी गंगा के तट पर

आनीय गौतमीं गङ्गां तं पुण्यायाभिषेचिरे। सुराश्च ऋषयश्चैव अहं विष्णुस्तथैव च॥२०॥
वशिष्ठो गौतमश्चापि अगस्त्योऽत्रिश्च कश्यपः। एते चान्ये च ऋषयो देवा यक्षाः संपन्नगाः॥२१॥
स्नानं तत्पुण्यतोयेन अकुर्वन्नभिषेचनम्। मया पुनः शचीभर्ता कमण्डलुभवेन च॥२२॥
वारिणाऽप्यभिषिक्तश्च तत्र पुण्याभऽभवन्नदी। सिक्ता चेति च तत्राऽऽसीत्ते गङ्गायां च संगते॥२३॥
संगमौ तत्र विख्यातौ सर्वदा मुनिसेवितौ। ततः प्रभृति तत्तीर्थं पुण्यासंगममुच्यते॥२४॥
सिक्तायाः संगमे पुण्यमैन्द्रं तदभिधीयते। तत्र सप्त सहस्राणि तीर्थान्यासञ्शुभानि च॥२५॥
तेषु स्नानं च दानं च विशेषेण तु संगमे। सर्वं तदक्षयं विद्यान्नात्र कार्या विचारणा॥२६॥
यदेतत्पुण्यमाख्यानं यः पठेच्च शृणोति वा। सर्वपापैः स स मुच्येत मनोवाक्कायकर्मजैः॥२७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये पुण्यासिक्तासंगमेन्द्रतीर्थादिसप्तसहस्रतीर्थवर्णनं नाम षण्णवतितमोऽध्यायः॥९६॥

गौतमीमाहात्म्ये सप्तविंशोऽध्यायः

लाकर सुरगण, ऋषि, मैं (ब्रह्मा), विष्णु, वशिष्ठ, गौतम, अगस्त्य, अत्रि, कश्यप तथा अन्य ऋषि, देव, यक्ष और नागों आदि ने पुण्यार्थ उनका अभिषेक किया। प्रथम उस नदी के पवित्र जल से स्नान हुआ, पुनः अभिषेक-क्रिया समाप्त हुई। तदन्तर स्वयं मैंने अपने कमण्डलु-जल से शचीपति का अभिषेक किया। उस अभिषेक के जल से वहाँ पुण्या नदी उत्पन्न हुई, वहाँ एक सिक्ता नदी भी थी, वे दोनों नदियाँ गंगा में जाकर मिल गयीं। उन दोनों के संगम-स्थान अत्यन्त विख्यात तीर्थ हो गये, वहाँ सर्वदा मुनिजन निवास करने लगे। तव से वह तीर्थ पुण्या-संगम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिक्ता के संगम-स्थान पर जो तीर्थ हुआ, वह इन्द्रतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वहाँ सात हजार पवित्र तीर्थों का निवास है, उन तीर्थों में स्नान और वहाँ का दान अक्षय होता है, संगम का स्नान और दान तो विशेष महत्त्व रखता है, इसमें विचार या सन्देह करने की आवश्यकता नहीं। जो इस पवित्र आख्यान को पढ़ता अथवा श्रवण करता है, वह अपने मानसिक और वाचिक पापों से मुक्त हो जाता है॥१८-२७॥

श्री ब्रह्मपहापुराण में पुण्या-सिक्ता-संगम, इन्द्रतीर्थ आदि सप्त सहस्रतीर्थों का वर्णन नामक छियानवेवाँ अध्याय समाप्त॥९६॥

सप्तनवतितमोऽध्यायः

पौलस्त्यतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

पौलस्त्यं तीर्थमाख्यातं सर्वसिद्धिप्रदं नृणाम्। प्रभावं तस्य वक्ष्यामि भ्रष्टराज्यप्रदायकम् ॥१॥
उत्तराशापतिः पूर्वमृद्धिसिद्धिसमन्वितः। पुरा लङ्कापतिश्चाऽसीज्ज्येष्ठो विश्रवसः सुतः ॥२॥
तस्यै भ्रातरश्चाऽऽसन्बलवन्तोऽमितप्रभाः। सापत्ना रावणश्चैव कुम्भकर्णो विभीषणः ॥३॥
तेऽऽपि विश्रवसः पुत्रा राक्षस्यां राक्षसास्तु ते। मद्दत्तेन विमानेन धनदो भ्रातृभिः सह ॥४॥
ममान्तिकं भक्तियुक्तो नित्यमेति तु याति च। रावणस्य तु या माता कुपिता साऽऽब्रवीत्सुतान् ॥५॥

रावणमातोवाच

मरिष्ये न च जीविष्ये पुत्रा वैरूप्यकारणात्। देवाश्च दानवाश्चाऽऽसन्सापत्ना भ्रातरो मिथः ॥६॥
अन्योन्यवधमीप्सन्ते जयैश्वर्यवशानुगाः। तद्भवन्तो न पुरुषा न शक्ता न जयैषिणः ॥
सापत्नं योऽनुमन्यन्ते तस्य जीवो निरर्थकः ॥७॥

अध्याय ९७

पौलस्त्यतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—मनुष्यों को सब प्रकार की सिद्धियाँ देने वाला पौलस्त्यनामक प्रसिद्ध तीर्थ है। राज्यच्युत व्यक्ति को पुनः राज्य दिलाने वाले उस तीर्थ की महिमा का वर्णन करूँगा। विश्रवा का ज्येष्ठ पुत्र उत्तर दिशा का स्वामी कुबेर पहले लंका का अधिपति था। पहले वह ऋषि, सिद्धि से युक्त अत्यन्त वैभवशाली था। उसके अमित तेजस्वी, अत्यन्त बलवान् रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण नामक सौतेले भाई थे। वे भी विश्रवा के, राक्षसी के गर्भ से उत्पन्न राक्षस पुत्र थे। मेरे द्वारा दिये गये विमान से नित्य कुबेर अपने भाइयों के साथ भक्तिपूर्वक आता और जाता था। रावण की माता इस प्रकार मातृ-प्रेम देखकर कुपित हो गयी, उसने अपने पुत्रों से कहा ॥१-५॥

रावण की माता बोली—पुत्रो ! तुम लोगों के प्रकृति-विरुद्ध कार्य को देखकर न तो मरती ही हूँ, न जीवन-सुख ही प्राप्त करती हूँ। अव तक देवता और दानव आपस में सौतेले भाई थे। वे विजय और ऐश्वर्य की कामना से एक-दूसरे का वध करना चाहते थे। इसलिए तुम लोग न तो पुरुष हो, न शक्तिशाली और नतो विजयाकांक्षी हो। उन लोगों का जीवन निरर्थक है जो अपने सौतेले भाई के अनुचर होकर रहते हैं ॥६-७॥

ब्रह्मोवाच

तन्मातृवचनं श्रुत्वा भ्रातरस्ते त्रयो मुने। जग्मुस्ते तपसेऽरण्यं कृतवन्तस्तपो महत् ॥८॥
मत्तो वरानवापुश्च त्रय एते च राक्षसाः। मातुलेन मरीचेन तथा मातामहेन तु ॥९॥
तन्मातृवचनाच्चापि ततो लङ्कामयाचत। रक्षोभावान्मातृदोषाद्भ्रात्रोर्वैरमभून्महत् ॥१०॥
ततस्तदभवद्युद्धं देवदानवयोरिव। युद्धे जित्वाऽग्रजं शान्तं धनदं भ्रातरं तथा ॥११॥
पुष्पकं च पुरीं लङ्कां सर्वं चैव व्यपाहरत्। रावणो घोषयामास त्रैलोक्ये सचराचरे ॥१२॥
यो दद्यादाश्रयं भ्रातुः स च वध्यो भवेन्मम। भ्रात्रा निरस्तो वैश्रवणो नैव प्रापाऽऽश्रयं क्वचित् ॥१३॥
पितामहं पुलस्त्यं तं गत्वा नत्वाऽब्रवीद्वचः ।

धनद उवाच

भ्रात्रा निरस्तो दुष्टेन किं करोमि वदस्व मे। आश्रयः शरणं यत्स्याद्दैवं वा तीर्थमेव च ॥१४॥

ब्रह्मोवाच

तत्पौत्रवचनं श्रुत्वा पुलस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ॥१५॥

पुलस्त्य उवाच

गौतमीं गच्छ पुत्र त्वं स्तुहि देवं महेश्वरम्। तत्र नास्य प्रवेशः स्याद्गङ्गाया जलमध्यतः[1] ॥१६॥

ब्रह्मा ने कहा—मुने ! माता की बातों को सुनकर वे तीनों भाई तपस्या करने के लिए जंगल में चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने घोर तपस्या की और उन राक्षसों ने मुझसे वरदान भी पा लिया। तदनन्तर मामा मरीच, मातामह तथा उस माता की वाणी से प्रेरित होकर उन तीनों ने ज्येष्ठ भ्राता कुबेर से लंका का आधिपत्य माँगा। एक तो स्वयं राक्षस होने के कारण दूसरे, माता की दुष्टता से उन भाइयों में महान् वैर हो गया। इसके परिणामस्वरूप देव और दानव के समान ही उन सौतेले भाइयों में युद्ध हुआ। रावण ने अपने परम शान्त ज्येष्ठ भाई कुबेर को युद्ध में पराजित कर, पुष्पक विमान, लंकापुरी एवं सारी संपत्ति छीन ली और सारे चराचर युक्त संसार में घोषित करा दिया कि जो कोई उसके भाई को आश्रय देगा वह मेरे हाथों द्वारा मारा जायगा। इस प्रकार वह वैश्रवण अपने भाई से निर्वासित कर दिया गया, उसको किसी के यहाँ आश्रय नहीं मिला। अन्ततः वह विवश होकर अपने पितामह पुलस्त्य के यहाँ गया और प्रणाम कर कहा— ॥८-१३॥

कुबेर ने कहा—मैं अपने ही भाई रावण से निर्वासित कर दिया गया हूँ, अब क्या करूँ, मुझे बताइये, दैव का भरोसा करना होगा या तीर्थ की शरण लेनी होगी ॥१४॥

ब्रह्मा ने कहा—अपने पौत्र की बातें सुनकर पुलस्त्य ने कहा ॥१५॥

पुलस्त्य ने कहा—पुत्र ! गौतमी के तीर पर जाओ, वहाँ महेश्वर की स्तुति करो, उस स्थान पर गंगा जल के

---

[1] घ. ०लसंप्लवात्। सि०।

सिद्धिं प्राप्स्यति कल्याणीं तथा कुरु मया सह ॥१७॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा जगामासौ सभार्यो धनदस्तथा। पित्रा मात्रा च वृद्धेन पुलस्त्येन धनेश्वरः ॥१८॥
गत्वा तु गौतमीं गङ्गां शुचिः स्नात्वा यतव्रतः। तुष्टाव देवदेवेशं भुक्तिमुक्तिप्रदं शिवम् ॥१९॥

धनद उवाच

स्वामी त्वमेवास्य चराचरस्य, विश्वस्य शंभो न परोऽस्ति कश्चित् ।
त्वामप्यवज्ञाय यदीह मोहात्प्रगल्भते कोऽपि स शोच्य एव ॥२०॥
त्वमष्टमूर्त्या सकलं बिभर्षि, त्वदाज्ञया वर्तत एव सर्वम्
तथाऽपि वेदेति बुधो भवन्तं, न जात्वविद्वान्महिमा पुरातनम् ॥२१॥
मलप्रसूतं यदवोचदम्बा हास्यात्सुतोऽयं तव देव शूरः ।
त्वत्प्रेक्षिताद्यः स च विघ्नराजो, जज्ञे त्वहो चेष्टितमीशदृष्टेः ॥२२॥
अश्रुप्लुताङ्गी गिरिजा समीक्ष्य, वियुक्तदांपत्यमितीशमूचे ।
मनोभवोऽभून्मदनो रतिश्च, सौभाग्यपूर्व (र्ण) त्वमवाप सोमात् ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

इत्यादि स्तुवतस्तस्य पुरतोऽभूत्त्रिलोचनः। वरेण च्छन्दयामास हर्षान्नोवाच किंचन ॥२४॥

बीच से इसका प्रवेश न हो सकेगा। वहाँ अवश्य तुम कल्याणमयी सफलता प्राप्त करोगे। इसलिए चलो, मेरे साथ पूर्वोक्त कार्य का अनुष्ठान प्रारम्भ करो ॥१६-१७॥

ब्रह्मा बोले—आपके कथनानुसार कार्य करूँगा, यह कहकर अपनी भार्या तथा पिता, माता और वृद्ध पुलस्त्य के साथ धनेश्वर कुबेर गौतमी तट पर चला गया। वहाँ जाकर उसने गंगा में स्नान कर अपने को पवित्र किया और व्रत की दीक्षा लेकर एकाग्र मन से देवदेवेश, भुक्ति ओर मुक्ति के दाता शिव की स्तुति प्रारम्भ की॥ १८-१९॥

धनद ने कहा—तुम्हीं इस चराचर विश्व के स्वामी हो, शंभो ! आपसे बढ़कर और कोई नहीं है। यदि इस संसार में आपकी उपेक्षा कर कोई मनुष्य मोहवश अभिमान करता है तो वह अधम शोचनीय है ॥२०॥ आप अपनी आठ मूर्तियों से सम्पूर्ण जगत् को धारण करते हैं। आपकी ही आज्ञा से सारा सृष्टि-विधान संचालित होता है। तथापि विद्वान् ही सनातन आपको जानते हैं, अविद्वान् कभी भी आपकी महिमा नहीं जान पाते ॥२१॥ हँसी में जननी ने अपने मल से उत्पन्न बालक को तुम्हारा बलवान् पुत्र कहा परन्तु देव ! तुम्हारी कृपादृष्टि से वही विघ्नराज विनायक हो गया। अहा ! आपकी कृपादृष्टि का यह फल है ॥२२॥ रति के करुण विलाप से आँसू से व्याप्त अंगों वाली पार्वती ने करुणापूर्वक रति और मदन का पारस्परिक सम्बन्ध भंग हो गया है—इस विषय की वार्त्ता भगवान् शंकर से कही, जिससे कल्याण करने वाले आपकी कृपा से मदन ने मनोभव-पदवी और रति ने अपना सौभाग्य-सुख प्राप्त किया ॥२३॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार स्तुति-संलग्न कुबेर के सम्मुख त्रिनेत्र शंकरस्वयं उपस्थित हो गये और वरदान से उसको कृतकृत्य किया; परन्तु धनद कुबेर आनन्दातिरेक से कुछ न बोले ॥२४॥ कुबेर और पुलस्त्य के इस प्रकार

तूष्णींभूते तु धनदे पुलस्त्ये च महेश्वरे। पुनः पुनर्वरस्वेति शिवे वादिनि हर्षिते ॥२५॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र वागुवाचाशरीरिणी। प्राप्तव्यं धनपालत्वं वदन्तीदं महेश्वरम् ॥२६॥
पुलस्त्यस्य तु यच्चित्तं पितुर्वैश्रवणस्य तु। विदित्वेव तदा वाणी शुभमर्थमुदीरयत् ॥२७॥
भूतवद्भवितव्यं स्याद्दास्यमानं तु दत्तवत्। प्राप्तव्यं प्राप्तवत्तत्र दैवी वागभवच्छुभा ॥२८॥
प्रभूतशत्रुः परिभूतदुःखः, संपूज्य सोमेश्वरमाप लिङ्गम् ।
दिगीश्वरत्वं द्रविणप्रभुत्वमपारदातृत्वकलत्रपुत्रान् ॥२९॥
तां वाचं धनदः श्रुत्वा देवदेवं त्रिशूलिनम्। एवं भवतु नामेति धनदो वाक्यमब्रवीत् ॥३०॥
तथैवास्त्विति देवेशो दैवीं वाचममन्यत। पुलस्त्यं च वरैः पुण्यैस्तथा विश्रवसं मुनिम् ॥३१॥
धनपालं च देवेशो ह्यभिनन्द्य ययौ शिवः। ततः प्रभृति तत्तीर्थं पौलस्त्यं धनदं विदुः ॥३२॥
तथा वैश्रवसं पुण्यं सर्वकामप्रदं शुभम्। तेषु स्नानादि यत्किंचित्तत्सर्वं बहुपुण्यदम् ॥३३॥
इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये पौलस्त्यतीर्थवर्णनं नाम सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥९७॥
गौतमीमाहात्म्येऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

मौन होने पर शंकर जी अति प्रसन्न होकर 'वर माँगो वर माँगो,' यह शब्द बार बार कहने लगे ॥२५॥ इसी बीच वहाँ आकाशवाणी ने शंकर से कहा कि यह धनपाल (कुबेर) की पदवी ही प्राप्त करना चाहता है ॥२६॥ पुलस्त्य और पिता वैश्रवण के मन में जैसी इच्छा थी उसको जानकर ही आकाशवारी ने उस समय यह कल्याणमय अभिप्राय व्यक्त किया ॥२७॥ भविष्य भूत के समान समृद्धिपूर्ण, प्राप्तव्य, प्राप्त के समान और दिया जाने वाला, दिये हुए के समान हो ऐसी उस समय शुभ देववाणी हुई ॥२८॥ अनेक शत्रुवाले, अनेक कष्टों से दुःखी कुबेर ने सोमेश्वर लिंग की पूजा कर दिक्पाल-पदवी, प्रभूतधन, अमितदान की शक्ति और स्त्री-पुत्र को प्राप्त कर लिया ॥२९॥ उपर्युक्त आकाशवाणी को सुनकर कुबेर ने त्रिशूलधारी, देवों के देव शंकर से कहा कि ऐसा ही हो ॥३०॥ देवेश शंकर ने भी आकाशवाणी का ही समर्थन करते हुए कहा कि ऐसा ही हो। इस प्रकार पुलस्त्य, मुनि विश्रवा और कुबेर को पवित्र, उत्तम वरों से सम्मानित कर देवेश शंकर जी अन्तर्हित हो गये। उस समय से वह तीर्थ पौलस्त्य और धनद नाम से प्रसिद्ध हो गया, तथा सब मनोरथों को देने वाला,शुभ, पवित्र वैश्रवस् तीर्थ भी वही कहा गया। उस तीर्थ में स्नान आदि जो कुछ किया जाता है वह बहुत पुण्यप्रद होता है ॥३१-३३॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में पौलस्त्यतीर्थवर्णन नामक सत्तानबेवाँ अध्याय समाप्त ॥९७॥

अथाष्टनवतितमोऽध्यायः

अग्नितीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

अग्नितीर्थमिति ख्यातं सर्वक्रतुफलप्रदम्। सर्वविघ्नोपशमनं तत्तीर्थस्य फलं शृणु ।।१।।
जातवेदा इति ख्यातो अग्नेर्भ्राता स हव्यवाट्। हव्यं वहन्तं देवानां गौतम्यास्तीर एव तु ।।२।।
ऋषीणां सत्रसदने अग्नेर्भ्रातरमुत्तमम्। भ्रातुः प्रियं तथा दक्षं मधुर्दितिसुतो बली ।।३।।
जघान ऋषिमुख्येषु पश्यत्सु च सुरेष्वपि। हव्यं देवा नैव चाऽऽपुर्मृते वै जातवेदसि ।।४।।
मृते भ्रातरि स त्वग्निः प्रिये वै जातवेदसि। कोपेन महताऽविष्टो गाङ्गमम्भः समाविशत् ।।५।।
गङ्गाम्भसि समाविष्टे ह्यग्नौ देवाश्च मानुषाः। जीवमुत्सर्जयामासुरग्निजीवा यतो मताः ।।६।।
यत्राग्निर्जलमाविष्टस्तं देशं सर्व एव ते। आजग्मुर्विबुधाः सर्व ऋषयः पितरस्तथा ।।७।।
विनाऽग्निना न जीवामः स्तुवन्तोऽग्निं विशेषतः। अग्निं जलगतं दृष्ट्वा प्रियं चोचुर्दिवौकसः ।।८।।

देवा ऊचुः

देवाञ्जीवय हव्येन कव्येन च पितॄंस्तथा। मानुषानन्नपाकेन बीजानां क्लेदनेन च ।।९।।

अध्याय ९८

अग्नितीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—जो सब यज्ञों के फल को देने वाला, सम्पूर्ण विघ्नों को शान्त करने वाला, प्रसिद्ध अग्नितीर्थ है, उसके फल को सुनो। जातवेदस् नाम का अग्नि का एक भ्राता था, वह यज्ञों में हव्यवाहक था। एक समय वह गौतमी के तीर पर ऋषियों के यज्ञमण्डप में हव्य (हवनसामग्री) को ढो रहा था। उसी समय बलवान् दिति-सुत मधु ने देवताओं और मुख्य ऋषियों की आँखों के सामने ही अग्नि के उत्तम, प्रिय, कार्यकुशल भाई को मार डाला। जातवेदस् के मर जाने पर देवताओं को हव्य नहीं प्राप्त होता था। इधर अपने प्रिय भ्राता जातवेदस् के मर जाने से अग्नि अत्यन्त कुपित होकर गंगा के जल में प्रविष्ट हो गये। अग्नि के गङ्गा में इस प्रकार प्रविष्ट हो जाने पर सभी देवता, मनुष्य निर्जीव-से हो गये। क्योंकि सभी अग्नि के ही आधार पर जीने वाले प्राणी हैं। वे सब देवता, ऋषि और पितर गण जहाँ जल में अग्नि प्रविष्ट हुए थे, वहाँ आ गये। "हम लोग अग्नि के बिना जीवित नहीं रह सकते" इस प्रकार विशेषरूप से अग्नि का गुणगान करने लगे। और प्रिय अग्नि को जल में प्रविष्ट देखकर सब देवता प्रेमपूर्वक कहने लगे ।।१-८।।

देवों ने कहा—आप हव्य प्रदान कर देवताओं को और कव्य दान से पितरों को जीवित कीजिये। इसी प्रकार अन्न का परिपाक कर तथा बीजों को उगाकर मनुष्यों को जीवन-दान दीजिये ।।९।।

अग्निरप्याह तान्देवाञ्शक्तो यो मे गतोऽनुजः। क्रियमाणे भवत्कार्ये या गतिर्जातवेदसः ॥१०॥
सा वाऽपि स्यान्मम सुरा नोत्सहे कार्यसाधने। कार्यं तु सर्वतस्तस्य भवतां जातवेदसः ॥११॥
इमां स्थितिमनुप्राप्तो न जाने मे कथं भवेत्। इह चामुत्र च व्याप्तौ शक्तिरप्यत्र नो भवेत् ॥१२॥
अथापि क्रियमाणे वै कार्ये सैव गतिर्मम। देवास्तमूचुर्भाविन सर्वेण ऋषयस्तथा ॥१३॥
आयुः कर्मणि च प्रीतिर्व्याप्तौ शक्तिश्च दीयते। प्रयाजाननुयाजांश्च दास्यामो हव्यवाहन ॥१४॥
देवानां त्वं मुखं श्रेष्ठमाहुत्यः प्रथमास्तव। त्वया दत्तं तु यद्द्रव्यं भोक्ष्यामः सुरसत्तम ॥१५॥

ब्रह्मोवाच

ततस्तुष्टोऽभवद्वह्निर्देववाक्याद्यथाक्रमम्। इह चामुत्र च व्याप्तौ हव्ये वा लौकिके तथा ॥१६॥
सर्वत्र वह्निरभयः समर्थोऽभूत्सुराज्ञया। जातवेदा बृहद्भानुः सप्तार्चिर्नीललोहितः ॥१७॥
जलगर्भः शमीगर्भो यज्ञगर्भः स उच्यते। जलादाकृष्य विबुधा अभि (भ्य) षिच्य वि (ञ्चन्वि) भावसुम्॥१८॥
उभयत्र पदे वासः सर्वगोऽग्निस्ततोऽभवत्। यथागतं सुरा जग्मुर्वह्नितीर्थं तदुच्यते ॥१९॥
तत्र सप्त शतान्यासंस्तीर्थानि गुणवन्ति च। तेषु स्नानं च दानं च यः करोति जितात्मवान् ॥२०॥
अश्वमेधफलं साग्रं प्राप्नोत्यविकलं शुभम्। देवतीर्थं च तत्रैव आग्नेयं जातवेदसम् ॥२१॥

ब्रह्मा बोले—अग्नि ने भी उन देवताओं से कहा कि जो मेरा समर्थ शक्तिशाली छोटा भाई था वह तो चला गया। आप लोगों के कार्य करते रहने पर जो गति उस जातवेदस् की हुई, वही गति मेरी भी हो जायेगी। इसलिए, देवगण ! आप लोगों के कार्य सम्पादन करने के लिए मुझे उत्साह नहीं हो रहा है। आप लोगों के कार्य को भलीभाँति करने वाला बेचारा जातवेदस् जब इस अवस्था को प्राप्त हुआ तो मेरी कैसी दुर्दशा होगी। साथ ही मृत्युलोक, स्वर्गलोक और व्याप्ति में कार्य करने की शक्ति भी तो मुझमें नहीं है। इसके अतिरिक्त आप लोगों के कार्य करते रहने पर भी तो वही मेरी गति होगी। यह सुनकर देवों तथा ऋषियों ने सब प्रकार से अग्नि से कहा—हम लोग आयु कर्म में प्रेम और व्याप्ति में शक्ति दे रहे हैं। प्रयाज और अनुयाज (यज्ञ भाग) भी हम आपको देंगे। तुम देवों के श्रेष्ठ मुख हो, इसलिए पहली आहुतियाँ तुम्हें दी जायेंगी। सुरश्रेष्ठ द्वारा दिये गये द्रव्य को ही हम लोग ग्रहण करेंगे ॥१०-१५॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके अनन्तर देवताओं के कहने से अग्नि प्रसन्न हो गये। और क्रमानुसार भूलोक, स्वर्लोक, व्याप्ति हव्य तथा लौकिक कार्यों में सर्वत्र ही देवों की आज्ञा से अग्नि भयरहित और शक्तिशाली हो गये। अब वे जलगर्भ (जल में रहनेवाला वड़वानल) शमीगर्भ और यज्ञगर्भ नाम से प्रसिद्ध हो गये। इस प्रकार देवों ने जल से अग्नि को निकाल कर अभिषेक द्वारा संतुष्ट कर (लोक-प्रतिष्ठित) किया। तब लोक, परलोक दोनों में अग्नि का निवास हुआ। तदनन्तर देवों के अनुग्रह से अग्नि सर्वव्यापक हुए। इस प्रकार अग्निप्रतिष्ठा कर देवगण जहाँ से आये थे वहाँ चले गये। वह स्थान भी इसीलिए वह्नि तीर्थ कहा जाता है। वहाँ पर और भी सात सौ पवित्र, पुण्यप्रद तीर्थ हैं। जो जितात्मा उन तीर्थों में स्नान और दान करता है वह सम्पूर्ण रूप से अश्वमेध का शुभ, उत्तम

अग्निप्रतिष्ठितं लिङ्गं तत्राऽऽस्तेऽनेकवर्णवत्। तद्देवदर्शनादेव सर्वक्रतुफलं लभेत् ॥२२॥
इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहत्म्येऽग्नितीर्थवर्णनं नामाष्टनवतितमोऽध्यायः ॥९८॥
गौतमीमाहात्म्ये/ऐकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥२९॥

अथैकोनशततमोऽध्यायः

ऋणप्रमोचनतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

ऋणप्रमोचनं नाम तीर्थं वेदविदो विदुः। तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि शृणु नारद तन्मनाः ॥१॥
आसीत्पृथुश्रवा नाम प्रियः कक्षीवतः सुतः। न दारसंग्रहं लेभे वैराग्यान्नाग्निपूजनम् ॥२॥
कनीयांस्तु समर्थोऽपि परिवित्तिभयान्मुने। नाकरोद्दारकर्मादि नैवाग्नीनामुपासनम् ॥३॥
ततः प्रोचुः पितृगणाः पुत्रं कक्षीवतः शुभम्। ज्येष्ठं चैव कनिष्ठं च पृथक्पृथगिदं वचः ॥४॥

पितर ऊचुः

ऋणत्रयापनोदाय क्रियतां दारसंग्रहः ॥५॥

फल प्राप्त करता है। वहीं पर अग्नितीर्थ जातवेदा और देवतीर्थ भी हैं। तथा अनेक वर्ण के अग्नि द्वारा प्रतिष्ठित लिंग भी हैं। उन देवों के दर्शन मात्र से मनुष्य सम्पूर्ण यज्ञों का फल प्राप्त करता है ॥१६-२२॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में अग्नितीर्थ वर्णन नामक अट्ठानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥९८॥

अध्याय ९९

ऋणप्रमोचनतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—ऋण-प्रमोचन नामक तीर्थ को वेदज्ञ लोग जानते हैं। नारद ! मैं उसके स्वरूप का वर्णन कर रहा हूँ, मन लगा कर सुनो। पृथुश्रवा नाम का कक्षीवान् का प्रिय पुत्र था। उसने विरक्ति के कारण नतो विवाह ही किया और न तो अग्निपूजन (अग्नि-स्थापन) ही। मुने ! कनिष्ठ पुत्र ने योग्य होते हुए भी परिवित्ति (ज्येष्ठभ्राता के अविवाहित रहने पर छोटे भाई के विवाह से उत्पन्न पाप या दुःख) के भय से स्वयं विवाह या अग्निस्थापन आदि कर्म नहीं किया। यह देखकर पितृगणों ने कक्षीवान् के प्रिय ज्येष्ठ और कनिष्ठ पुत्र से अलग अलग ये शब्द कहे ॥१-४॥

पितरों ने कहा—तीन ऋणों से उद्धार पाने के लिए तुम लोगों को अपना विवाह कर लेना चाहिये ॥५॥

ब्रह्मोवाच

नेत्युवाच ततो ज्येष्ठः किमृणं केन युज्यते। कनीयांस्तु पितॄन्प्राह न योग्यो दारसंग्रहः ॥६॥
ज्येष्ठे सति महाप्राज्ञः परिवित्तिभयादिति। तावुभौ पुनरप्येवमूचुस्ते वै पितामहाः ॥७॥

पितर ऊचुः

यातामुभौ गौतमीं तु पुण्यां कक्षीवतः सुतौ। कुरुतां गौतमीस्नानं सर्वाभीष्टप्रदायकम् ॥८॥
गच्छतां गौतमीं गङ्गां लोकत्रितयपावनीम्। स्नानं च तर्पणं तस्यां कुरुतां श्रद्धयाऽन्वितौ ॥९॥
दृष्ट्वाऽवनामिता ध्याता गौतमी सर्वकामदा। न देशकालजात्यादिनियमोऽत्रावगाहने ॥
ज्येष्ठोऽनृणस्ततो भूयात्परिवित्तिर्न चेतरः ॥१०॥

ब्रह्मोवाच

ततः पृथुश्रवा ज्येष्ठः कृत्वा स्नानं सतर्पणम्। त्रयाणामपि लोकानां काक्षीवतोऽनृणोऽभवत् ॥११॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थमृणमोचनमुच्यते। श्रौतस्मार्तऋणेभ्यश्च इतरेभ्यश्च नारद ॥
तत्र स्नानेन दानेन ऋणी मुक्तः सुखी भवेत् ॥१२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये ऋणमोचनतीर्थवर्णनं नाम नवनवतितमोऽध्यायः ॥९९॥
गौतमीमाहात्म्ये त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

ब्रह्मा बोले—पितरों के उपदेश सुनने पर भी ज्येष्ठ पुत्र ने कहा नहीं, 'कौन-सा ऋण है ? उससे किस प्रकार मनुष्य ऋणी हो जाता है' ? छोटे पुत्र ने पितरों से कहा—जेष्ठ भाई के रहते बुद्धिमान् छोटे भाई को विवाह नहीं करना चाहिये, ऐसा करने से वह परिवित्ति दोष का भागी होता है ॥६-७॥

पितरों ने कहा--कक्षीवान् के तुम दोनों पुत्र पवित्र गौतमी तट पर जाओ, सब मनोरथों को देनेवाली गौतमी में स्नान करो। तीनों लोगों में अति पुनीत उस नदी के तट पर जाओ, उसमें श्रद्धापूर्वक स्नान और तर्पण करो। गौतमी के दर्शन, प्रणाम और ध्यान से सम्पूर्ण कामनाएँ प्राप्त होती हैं, उसमें स्नान करने के लिए देश, काल, जाति आदि का कोई बन्धन नहीं। ऐसा करने से ज्येष्ठ भ्राता अपने पितृ-ऋण से मुक्त हो जायेगा और छोटे को भी परिवित्ति दोष नहीं लगेगा ॥८-१०॥

ब्रह्मा ने कहा—पितरों के उपदेशानुसार ज्येष्ठ पुत्र पृथुश्रवा ने गौतमी गंगा में स्नान और तर्पण आदि किया जिससे कि वह तीनों लोकों तथा पिता कक्षीवान् के ऋण से उऋण हो गया। उसी समय से वह तीर्थ ऋणमोचन तीर्थ कहा जाने लगा। नारद ! वह तीर्थ श्रौत, स्मार्त अथवा अन्य सब प्रकार के ऋणों से मनुष्य को मुक्त कर देता है। उस तीर्थ में स्नान और दान से ऋणी मनुष्य ऋण से मुक्त हो सुखी हो जाता है ॥११-१२॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में ऋणमोचनतीर्थवर्णन नामक निन्यानबेवाँ अध्याय समाप्त ॥९९॥

अथ शततमोऽध्यायः

कद्रूसुपर्णासगमतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

सुपर्णासंगमं नाम काद्रवासंगमं तथा। महेश्वरो यत्र देवो गङ्गापुलिनमाश्रितः ।।१।।
अग्निकुण्डं च तत्रैव रौद्रं वैष्णवमेव च। सौरं सौम्यं तथा ब्राह्मं कौमारं वारुणं तथा ।।२।।
अप्सरा च नदी यत्र संगता गङ्गया तथा। तत्तीर्थस्मरणादेव कृतकृत्यो भवेन्नरः ।।३।।
सर्वपापप्रशमनं शृणु यत्नेन नारद। इन्द्रेण हिंसिताः पूर्वं वालखिल्या महर्षयः ।।
दत्तार्धतपसः सर्वे प्रोचुस्ते काश्यपं मुनिम् ।।४।।

वालखिल्या ऊचुः

पुत्रमुत्पादयानेन इन्द्रदर्पहरं शुभम्। तपसोऽर्धं तु दास्यामस्तथेत्याह मुनिस्तु तान् ।।५।।
सुपर्णायां[1] ततो गर्भमादधे स प्रजापतिः। कद्र्वां चैव शनैर्ब्रह्मन्सर्पाणां सर्पमातरि ।।६।।
ते गर्भिण्यावुभे आह गन्तुकामः प्रजापतिः। अपराधो न च क्वापि कार्यो गमनमेव च ।।७।।
अन्यत्र गमनाच्छापो भविष्यति न संशयः ।।८।।

अध्याय १००

कद्रू-सुपर्णा-संगमतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—सुपर्णा-संगम और काद्रव-संगम नाम के दो तीर्थ हैं, जहाँ भगवान् शंकर गंगा तट पर विद्यमान हैं। वहीं पर अग्निकुण्ड, विष्णुकुण्ड, सौर सौम्य, ब्राह्म, कौमार और वारुणकुण्ड हैं। जहाँ अप्सरा नाम की नदी गंगा से मिलती है उस तीर्थ के स्मरण मात्र से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। नाथ ! उन सब पापों को शान्त करने वाले तीर्थ के विषय में ध्यानपूर्वक सुनो। आज से बहुत पहले इन्द्र ने वालखिल्य महर्षियों से वहुत अधिक ईर्ष्या की। वे सब अपनी तपस्या का आधा भाग कश्यप मुनि को देकर मुनि से बोले ।।१-४।।

वालखिल्यों ने कहा—मुनि कश्यप ! आप हमारी तपस्या के इस आधे भाग से इन्द्र के दर्प को चूर करने वाले कल्याणकारी पुत्र को उत्पन्न कीजिये। इस कार्य के लिए तपस्या का आधा भाग दे रहे हैं। मुनि ने भी कहा कि अवश्य ऐसा करूँगा। तदनन्तर उस प्रजापति कश्यप ने सुपर्णा नामक पत्नी में गर्भाधान किया। ब्रह्मन् ! साँपों की माता कद्रू मेंभी उन्होंने सोपों की उत्पत्ति के लिए गर्भाधान किया। एक दिन प्रजापति के मन में अन्यत्र जाने की इच्छा हुई, उन्होंने अपनी दोनों गर्भिणी पत्नियों से कहा—'तुम लोगों को न कोई अपराध करना चाहिए, और न कहीं जाना चाहिए। अन्यत्र जाने से अवश्य शाप पड़ेगा' ।।५-८।।

---

[1] घ. विनतायां।

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा स ययौ पत्न्यौ गते भर्तरि ते उभे। तदैव जग्मतुः सत्रमृषीणां भावितात्मनाम् ॥९॥
ब्रह्मवृन्दसमाकीर्णं गङ्गातीरसमाश्रितम्। उन्मत्ते ते उभे नित्यं वयःसंपत्तिगर्विते ॥१०॥
निवार्यमाणे बहुशो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। विकुर्वत्यौ तत्र सत्रे समानि च हवींषि च ॥११॥
योषितां दुर्विलसितं कः संवरितुमीश्वरः। ते दृष्ट्वा चुक्षुभुर्विप्रा अपमार्गरते उभे ॥१२॥
अपमार्गस्थिते यस्मादापगे हि भविष्यथः। सुपर्णा चैव कद्रूश्च नद्यौ ते संबभूवतुः ॥१३॥
स कदाचिद्गृहं प्रायात्कश्यपोऽथ प्रजापतिः। ऋषिभ्यस्तत्र वृत्तान्तं शापं ताभ्यां सविस्तरम् ॥१४॥
श्रुत्वा तु विस्मयाविष्टः किं करोमीत्यचिन्तयत्। ऋषिभ्यः कथयामास वालखिल्या इति श्रुताः ॥१५॥
त ऊचुः कश्यपं विप्र गत्वा गङ्गां तु गौतमीम्। तत्र स्तुहि महेशानं पुनर्भार्ये भविष्यतः ॥१६॥
ब्रह्महत्याभयादेव यत्र देवो महेश्वरः। गङ्गामध्ये सदा ह्यास्ते मध्यमेश्वरसंज्ञया ॥१७॥
तथेत्युक्त्वा कश्यपोऽपि स्नात्वा गङ्गां जितव्रतः। तुष्टाव स्तवनैः पुण्यैर्देवदेवं महेश्वरम् ॥१८॥

कश्यप उवाच

लोकत्रयैकाधिपतेर्न यस्य, कुत्रापि वस्तुन्यभिमानलेशः
स सिद्धनाथोऽखिलविश्वकर्ता, भर्ता शिवाया भवतु प्रसन्नः ॥१९॥

ब्रह्मा ने कहा—ऐसा कहकर प्रजापति कश्यप चले गये। पति के चले जाने पर दोनों पत्नियाँ उसी समय शुद्धहृदय ऋषियों के यज्ञ मेंचली गयीं, जो गंगा-तट पर हो रहा था और जहाँ ब्राह्मण-मण्डली एकत्र थी। अपनी युवावस्था पर गर्व करने वाली उन्मत्त वे दोनों प्रतिदिन तत्त्वदर्शी ऋषियों के बार-बार मना करने पर भी उस यज्ञ में हविष्य (पदार्थों) को दूषित या विकृत कर देती थीं। भला कौन एसा व्यक्ति है जो नारियों की अनुचित चेष्टा (व्यापार) को रोकने की शक्ति रखता है ? इसलिए वे ऋषि बार बार अनुचित व्यापार में लगी रहने वाली उन दोनों नारियों को देखकर क्षुब्ध हो गये और शाप दिया कि तुम दोनों अपमार्ग पर स्थित हो इसलिए आपगा (नदी) हो जाओ। वे दोनों शापवश शीघ्र नदियाँ बन गयीं। इसके अनन्तर किसी समय प्रजापति कश्यप घर की ओर लौटे जा रहे थे। उन्होंने ऋषियों के मुख से उन दोनों के शाप की घटना को विस्तार रूप से सुना। सुनकर विस्मित हो गये, सोचने लगे कि 'अब क्या करूँ'। विवश हो उन्होंने ऋषियों से कहा कि 'मैं बालखिल्यों से प्रतिज्ञा कर चुका हूँ।' यह सुनकर ऋषियों ने विप्र कश्यप से कहा—गौतमी गंगा के समीप जाइये, वहाँ जाकर महेश की स्तुति कीजिये, जहाँ वे ब्रह्महत्या के भय से देवमहेश्वर सर्वदा गंगा के मध्य में मध्यमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध होकर रहते हैं। (ऐसा करने से) पुनः आपकी भार्याएँ पहले के समान हो जायँगी। "ऐसा ही करूँगा" यह कहकर परम-व्रती कश्यप ने भी गंगा में स्नान कर मंगलमय स्तुतियों से देवदेव की स्तुति की ॥९-१८॥

कश्यप ने कहा—तीनों लोकों के एकमात्र स्वामी होते हुए भी जिस शंकर ने किसी भी अवस्था में लेशमात्र अधिकार गर्व नहीं किया वे सम्पूर्ण विश्व के कर्ता, सिद्धनाथ, शिवा के भर्ता मेरे ऊपर प्रसन्न हों ॥१९॥ त्रिताप

तापत्रयोष्णद्युतितापितानामितस्ततो वै परिधावतां च
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां, त्वमेव दुःखव्यपनोददक्षः ॥२०॥
सत्त्वादियोगस्त्रिविधोऽपि यस्य, शक्रादिभिर्वक्तुमशक्य एव
विचित्रवृत्तिं परिचिन्त्य सोमं, सुखी सदा दानपरो वरेण्यः ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

इत्यादिस्तुतिभिर्देवः स्तुतो गौरीपतिः शिवः। प्रसन्नो ह्यददाच्छंभुः कश्यपाय वरान्बहून् ॥२२॥
भार्यार्थिनं तु तं प्राह स्यातां भार्ये उभे तु ते। नदीस्वरूपे पत्न्यौ ये गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम् ॥२३॥
तत्संगमनमात्रेण ताभ्यां भूयात्स्वकं वपुः। ते गर्भिण्यौ पुनर्जाते गङ्गायाश्च प्रसादतः ॥२४॥
ततः प्रजापतिः प्रीतो भार्ये प्राप्य महामनाः। आह्वयामास तान्विप्रान्गौतमीतीमाश्रितान् ॥२५॥
सीमन्तोन्नयनं चक्रे ताभ्यां प्रीतः प्रजापतिः। ब्राह्मणान्पूजयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ॥२६॥
भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु कश्पस्याथ मन्दिरे। भर्तृसमीपोपविष्टा कद्रूर्विप्रान्निरीक्ष्य च ॥२७॥
ततः कद्रूर्ऋषीनक्ष्णा प्राहसत्ते च चुक्षुभुः। येनाक्ष्णा हसिता पापे भज्यतां तेऽक्षि पापवत् ॥२८॥
काणाऽभवत्ततः कद्रूः सर्पमातेति योच्यते। ततः प्रसादयामास कश्यपो भगवानृषीन् ॥२९॥

की ज्वाला से जले अतएव शान्ति-प्राप्ति के लिये इधर उधर भटकने वाले शरीरधारी, स्थावर और जंगमों के दुःख को नष्ट करने में केवल तुम्हीं कुशल हो ॥२०॥ जिसके सत्त्व, रज और तम भेद से तीनों प्रकार के योग की व्याख्या करने में इन्द्र आदि भी असमर्थ ही हैं, उस विचित्र वृत्ति (माया) वाले शंकर का ध्यान कर मनुष्य सर्वदा सुखी, दान-परायणर और श्रेष्ठ होता है ॥२१॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार ऊपर कही गयी स्तुतियों से गौरीपति शंकर की वन्दना की गयी। स्तुति से प्रसन्न होकर शंकर ने कश्यप को बहुत-से वरदान दिये। भार्या पाने की इच्छा रखने वाले कश्यप से कहा कि 'तुम्हारी खोयी हुई भार्याएँ जो नदी के रूप में हो गयी हैं—नदी-श्रेष्ठ गंगा को पाकर उनके संगम मात्र से पुनः अपने नारी-रूप को पा जायँ, इस प्रकार तुम पुनः भार्याएँ प्राप्त करो।' इस प्रकार शिव के वरदान से कश्यप की इच्छा पूर्ण हुई। और गंगा की कृपा से उनकी भार्यायें पुनः गर्भवती भी हो गयीं ॥२२-२४॥ अन्त में भार्याओं को पाकर महामना कश्यप अत्यन्त प्रसन्न हुए। गौतमी-तीर पर निवास करने वाले उन विप्रों को निमन्त्रण देकर बुलवाया ॥२५॥ प्रसन्नतापूर्वक उस प्रजापति ने उन दोनों के सीमन्तोन्नयन संस्कार किये और शास्त्रीय ब्राह्मणों की पूजा की ॥२६॥ ब्राह्मणों के भोजन कर चुकने पर कश्यप के भवन में पति के समीप बैठी हुई कद्रू ने ऋषियों को देखकर नेत्र-संकेत से अर्थात् (आँखें इधर उधर हिलाकर) उनकी खिल्ली उड़ायी। यह देखकर ऋषिगण पुनः कुपित हो गये और शाप दिया कि 'पापे! जिस आँख से तुमने हम लोंगों का उपहास किया है, वह पाप-परायण आँख फूट जाय।' तत्पश्चात् कद्रू—जो सर्पमाता कही जाती है—कानी हो गयी। यह देख कर भगवान् कश्यप ने पुनः उन ऋषियों को किसी प्रकार प्रसन्न किया ॥२७-२९॥ प्रसन्न होने पर उन्होंने कहा कि नदियों में

ततः प्रसन्नास्ते प्रोचुर्गौतमी सरितां वरा। अपराधसहस्रेभ्यो रक्षिष्यति च सेवनात् ॥३०॥
भार्यान्वितस्तथा चक्रे कश्यपो मुनिसत्तमः। ततः प्रभृति तत्तीर्थमुभयो संगमं विदुः ॥
सर्वपापप्रशमनं सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥३१॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे कद्रूसुपर्णासंगमतीर्थवर्णनं नाम शततमोऽध्यायः ॥१००॥

गौतमीमाहात्म्ये एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

अथैकाधिकशततमोऽध्यायः

सरस्वतीसंगमपुरूरवसब्रह्मतीर्थसिद्धेश्वरवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

पुरूरवसमाख्यातं तीर्थं वेदविदो विदुः। स्मरणादेव पापानां नाशनं किंतु दर्शनात् ॥१॥
पुरूरवा ब्रह्मसदः प्राप्य तत्र सरस्वतीम्। यदृच्छया देवनदीं हसन्तीं ब्रह्मणोऽन्तिके ॥
तां दृष्ट्वा रूपसंपन्नामुर्वशीं प्राह भूपतिः ॥२॥

राजोवाच

केयं रूपवती साध्वी स्थितेयं ब्रह्मणोऽन्तिके। सर्वासामुत्तमा योषिद्दीपयन्ती सभामिमाम् ॥३॥

उत्तम कोटि की गौतमी गंगा सेवा करने से सहस्रों अपराधों से रक्षा करती है ॥३०॥ तव मुनि कश्यप ने भार्या सहित गौतमी की सेवा कर भार्या के नेत्रदोष को दू किया। उस समय से वह तीर्थ सब पापों को नष्ट करने वाला, सब यज्ञों के फल को देने वाला सुपर्णासंगम या काद्रवसंगम के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥३१॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में कद्रू-सुपर्णा-संगमतीर्थ नामक सौवाँ अध्याय समाप्त ॥१००॥

अध्याय १०१

सरस्वतीसंगम आदि तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—वेदज्ञ व्यक्ति उस पुरूरवा नामक तीर्थ को जानते हैं, जो स्मरण मात्र से पापों को नष्ट कर देता है। उसके दर्शन के फल को तो कहना ही क्या। एक समय पुरूरवा ब्रह्मा के भवन में गया। वहाँ उनके समीप अकारण हास करती हुई देवनदी सरस्वती को देखा। भूपति पुरूरवा ने उस रूपवती को देखकर उर्वशी से पूछा ॥१-२॥

राजा ने कहा—यह रूपवती साध्वी कौन है ? जो सब स्त्रियों में उत्तम है, अपनी शरीरकान्ति से इस देवसभा को प्रकाशित कर रही है—और ब्रह्मा के समीप वैठी हुई है ॥३॥

ब्रह्मोवाच

उर्वशी प्राह राजानमियं देवनदी शुभा। सरस्वती ब्रह्मसुता नित्यमेति च याति च ॥
तच्छ्रुत्वा विस्मितो राजा आनयेमां ममान्तिकम् ॥४॥

ब्रह्मोवाच

उर्वशी पुनरप्याह राजानं भूरिदक्षिणम् ॥५॥

उर्वश्युवाच

आनीयते महाराज तस्याः सर्वं निवेद्य च ॥६॥

ब्रह्मोवाच

ततस्तां प्राहिणोत्तत्र राजा प्रीत्या तदोर्वशीम्। सा गत्वा राजवचनं न्यवेदयदथोर्वशी ॥७॥
सरस्वत्यपि तन्मेने उर्वश्या यन्निवेदितम्। सा तथेति प्रतिज्ञाय प्रायाद्यत्र पुरूरवाः ॥८॥
सरस्वत्यास्ततस्तीरे स रेमे बहुलाः समाः। सरस्वानभवत्पुत्रो यस्य पुत्रो बृहद्रथः ॥९॥
तां गच्छन्तीं नृपगृहं नित्यमेव सरस्वतीम्। सरस्वन्तं ततो लक्ष्म ज्ञात्वाऽन्येषु तथा कृतम् ॥१०॥
तस्यै ददावहं शापं भूया इति महानदी। मच्छापभीता वागीशा प्रागाद्देवीं च गौतमीम् ॥११॥
कमण्डलुभवां पूतां मातरं लोकपावनीम्। तापत्रयोपशमनीमैहिकामुष्मिकप्रदाम् ॥१२॥
सा गत्वा गौतमीं देवीं प्राह मच्छापमादितः। गङ्गाऽपि मामुवाचेदं विशापं कर्तुमर्हसि ॥१३॥

ब्रह्मा बोले—उर्वशी ने राजा से कहा—यह ब्रह्मपुत्री पवित्र देवनदी सरस्वती है जो यहाँ सर्वदा आती और जाती है। यह सुनकर राजा विस्मित हो गया और कहा—'इसको मेरे समीप ले जाओ' ॥४॥

ब्रह्मा ने कहा—उर्वशी ने अत्यन्त दक्षिणा (दान) देने वाले राजा से पुनः कहा ॥५॥

उर्वशी ने कहा—महाराज ! मैं उससे सारी बातें कहकर अभी ले आ रही हूँ ॥६॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके पश्चात् राजा ने प्रेमपूर्वक उर्वशी को सरस्वती के समीप भेजा। सरस्वती ने भी उर्वशी से जो कुछ कहा, उसको स्वीकार कर लिया। और 'अवश्य मैं मिलूँगी' यह प्रतिज्ञा कर जहाँ पुरूरवा थे, वहाँ वह पहुँच गयी। पुरूरवा ने बहुत वर्षों तक सरस्वती के तीर पर उसके साथ विहार किया। उसके गर्भ से एक सरस्वान् नामक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, जिसका पुत्र, बृहद्रथ नामक प्रतापी राजा हुआ ॥७-९॥ मैं सरस्वती को प्रतिदिन राजा के घर जाते देखता था। सरस्वान् को भी उसके आकार-चिह्नों एवं दूसरों से कहे गये संकेतों से सरस्वती का पुत्र जान लिया। अन्त में यह सारा रहस्य जानकर सरस्वती को शाप दे दिया कि तुम महानदी हो जाओ ॥१०॥ मेरे शाप से डरी हुई वागीश्वरी गौतमी देवी के समीप गयी। उसने कमण्डलु से उत्पन्न, पवित्र, लोकपावनी, जगन्माता, तीनों तापों को दूर करने वाली, ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों को देनेवाली गौतमी के पास जाकर आदि से अन्त तक मेरे शाप का विवरण सुनाया ॥११-१२॥ उसको सुनकर गंगा ने भी मुझसे कहा कि अवश्य इसको शापमुक्त कर देना चाहिए। सरस्वती को जो तुमने शाप दे दिया, यह ठीक नहीं किया क्योंकि स्त्रियोंका यह स्वभाव है कि वे प्रायः

न युक्तं यत्सरस्वत्याः शापं त्वं दत्तवानसि। स्त्रीणामेष स्वभावो वै पुंस्कामा योषितो यतः ॥१४॥
स्वभावचपला ब्रह्मन्योषितः सकला अपि। त्वं कथं तु न जानीषे जगत्स्रष्टाऽम्बुजासन ॥१५॥
विडम्बयति कं वा न कामो वाऽपि स्वभावतः। ततो विशापमवदं दृश्याऽपि स्यात्सरस्वती ॥१६॥
तस्माच्छापान्नदी मर्त्ये दृश्याऽदृश्या सरस्वती। यत्रैषा संगता देवी गङ्गायां शापविह्वला ॥१७॥
तत्र प्रायान्नृपवरो धार्मिकः स पुरूरवाः। तपस्तप्त्वा समाराध्य देवं सिद्धेश्वरं हरम् ॥१८॥
सर्वान्कामानथावाप गङ्गायाश्च प्रसादतः। तत प्रभृति तत्तीर्थं पुरूरवसमुच्यते ॥१९॥
सरस्वतीसंगमं च ब्रह्मतीर्थं तदुच्यते। सिद्धेश्वरो यत्र देवः सर्वकामप्रदं तु तत् ॥२०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये सरस्वतीसंगमपुरूरवसब्रह्मतीर्थसिद्धेश्वरवर्णनं नामैकाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०१॥

गौतमीमाहात्म्ये द्वात्रिंशोऽध्यायः

अथ द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

पञ्चतीर्थमाहात्म्यवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

सावित्री चैव गायत्री श्रद्धा मेधा सरस्वती। एतानि पञ्च तीर्थानि पुण्यानि मुनयो विदुः ॥१॥

पुरुषसान्निध्य की कामना करती हैं ॥१३-१४॥ ब्रह्मन् ! सभी स्त्रियाँ स्वभाव से ही चंचल होती हैं, पंकजासन ! तुम जगत् के सृष्टिकर्ता होकर भी इसको क्यों नहीं जानते हो ॥१५॥ स्वभावतः कामदेव सहज में ही किसको अपने जाल में नहीं फँसा लेता है? गौतमी की बातों को सुनकर मैंने उसको शाप से मुक्त कर दिया कि सरस्वती दृश्या (प्रत्यक्ष दिखायी देने वाली) भी हो ॥१६॥ मेरे उस शाप के कारण ही इस मर्त्यलोक में सरस्वती दृश्य और अदृश्य दो रूपों की हो गयी। जहाँ यह सरस्वती शापविह्वल होकर गंगा में मिली, वहाँ वह धार्मिक, श्रेष्ठ राजा पुरूरवा गया। वहाँ तपस्या तथा सिद्धेश्वर शंकर की आराधना करके उसने गंगा की कृपा से अपने सब मनोरथों को प्राप्त किया। उस समय से वह पुरूरवा तीर्थ कहलाता है, सरस्वतीसंगम और ब्रह्मतीर्थ भी उसी को कहते हैं। जहाँ सिद्धेश्वर महादेव विराजमान हैं, वह पुनीत तीर्थ सम्पूर्ण कामनाओं को देने वाला है ॥१७-२०॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में सरस्वतीसंगम पुरूरवस-ब्रह्मतीर्थ-सिद्धेश्वर-वर्णन नामक एक सौ पहला अध्याय समाप्त ॥१०१॥

अध्याय १०२

पञ्चतीर्थ का माहात्म्य-वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—सावित्री, गायत्री, श्रद्धा, मेधा और सरस्वती ये पाँच तीर्थ अत्यन्त पवित्र हैं, इनको

तत्र स्नात्वा तु पीत्वा तु मुच्यते सर्वकल्मषात् । सावित्री चैव गायत्री श्रद्धा मेधा सरस्तवी ॥२॥
एता[1] मम सुता ज्येष्ठा धर्मसंस्थानहेतवः । सर्वासामुत्तमां कांचिन्निर्ममे लोकसुन्दरीम् ॥३॥
तां दृष्ट्वा विकृता बुद्धिर्ममाऽऽसीन्मुनिसत्तमः । गृह्यमाणा मया बाला सा मां दृष्ट्वा पलायिता ॥४॥
मृगीभूता तु सा बाला मृगोऽहमभवं तदा । मृगव्याधोऽभवच्छंभुर्धर्मसंरक्षणाय च ॥५॥
ता मद्भीताः पञ्च सुता गङ्गामीयुर्महानदीम् । ततो महेश्वरः प्रयाद्धर्मसंरक्षणाय सः ॥६॥
धर्नुर्गृहीत्वा सशरमीशोऽपि मृगरूपिणम् । मामुवाच वधिष्ये त्वां मृगव्याधस्तदा हरः ॥७॥
तत्कर्मणो निवृत्तोऽहं प्रादां कन्यां विवस्वते । सावित्र्याद्याः पञ्च सुता नदीरूपेण संगताः ॥८॥
ता आगताः पुनश्चापि स्वर्गं लोकं ममान्तिकम् । यत्र ताः संगता देव्या पञ्च तीर्थानि नारद ॥९॥
संगतानि च पुण्यानि पञ्च नद्यः सरस्वती । तेषु स्नानं तथा दानं र्यत्किंचित्कुरुते नरः ॥१०॥
सर्वकामप्रदं तस्मान्नैष्कर्म्यान्मुक्तिदं स्मृतम् । तत्राभवन्मृगव्याधं तीर्थं सर्वार्थदं नृणाम् ॥
स्वर्गमोक्षफलं चान्यद्ब्रह्मतीर्थफलं स्मृतम् ॥११॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये पञ्चतीर्थमाहात्म्यनिरूपणं नाम
द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०२॥
गौतमीमाहात्म्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

मुनिगण जानते हैं । इन तीर्थो में स्नान और आचमन करने से मनुष्य सब प्रकार के पापों से मुक्ता होजाता है । सावित्री, गायत्री, श्रद्धा, मेधा और सरस्वती ये मेरी ज्येष्ठ कन्यायें हैं, जिनके द्वारा धर्म-संस्थापन का कार्य हुआ है । इन सवों में से एक को मैंने त्रिभुवन में अलौकिक रूपवती बनाया । मुनिश्रेठ ! उस अद्वितीय सुन्दरी को देखकर मेरी वुद्धि भी विकृत हो गयी । कामवश मैंने जब उसको पकड़ना चाहा तब वह मुझको देखकर भाग खड़ी हुई । जब वह मृगी बनकर भागने लगी तब मैं भी मृग बन गया । यह देखकर लोक-धर्म की रक्षा के लिये शंभु ने मृग-व्याध (शिकारी) का रूप धारण कर लिया । वे पाँचों कन्याएँ मुझसे डरकर महानदी गंगा में मिल गयीं । इसके वाद ही धर्म-रक्षा के लिये उद्यत शंकर भी पीछे-पीछे आये । तब मृगवधिक (शंकर) ने हाथ में बाण सहित धनुष लेकर मृगरूपधारी मुझसे कहा 'मैं अवश्य तुम्हारा वध करूँगा' ॥१-७॥ किसी प्रकार उस कर्म से पिण्ड छुड़ाकर मैंने अपनी कन्या को विवस्वान् के हाथों सौंप दिया । इधर सावित्री आदि पाँच कन्याएँ नदी रूप होकर गंगा में मिल गयी थीं, परन्तु पुनः वे स्वर्ग लोक में मुझसे मिलीं । नारद ! जहाँ-जहाँ वे पाँचों मिलीं वे पाँचों स्थान पाँच तीर्थ वन गये । जहाँ वे सरस्वती आदि पाँचों नदियाँ मिलकर पवित्र तीर्थ वनाती हैं, उन तीर्थों में स्नान दान अथवा जो कुछ शुभ कार्य किये जाते हैं, सब अभिमत कामनाओं के देने वाले होते हैं तथा निष्काम भाव से किये जाने पर मुक्तिदायक होते हैं, वहीं मनुष्यों की सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाला मृग्व्याधतीर्थ भी है । दूसरा जो ब्रह्मतीर्थ है वह भी स्वर्ग अथवा मोक्ष फल को देने वाला कहा गया है ॥८-११॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में पञ्चतीर्थ-माहात्म्य-वर्णन नामक एक सौ दूसरा अध्याय समाप्त ॥१०२॥

---

[1] क. एताः पञ्च सु० ।

अथ त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

शम्यादितीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

शमीतीर्थमिति ख्यातं सर्वपापोपशान्तिदम्। तस्याऽऽख्यानं प्रवक्ष्यामि शृणु यत्नेन नारद ॥१॥
आसीत्प्रियव्रतो नाम क्षत्रियो जयतां वरः। गौतम्या दक्षिणे तीरे दीक्षां चक्रे पुरोधसा ॥२॥
हयमेध उपक्रान्ते ऋत्विग्भिर्ऋषिभिर्वृते। तस्य राज्ञो महाबाहोर्वसिष्ठस्तु पुरोहितः ॥३॥
तद्यज्ञवाटमगमद्दानवोऽथ हिरण्यकः। तं दानवमभिप्रेक्ष्य देवास्त्विन्द्रपुरोगमाः ॥४॥
भीताः केचिद्दिवं जग्मुर्हव्यवाट्शमिमाविशत्। अश्वत्थं विष्णुरगमद्भानुरर्कं वटं शिवः ॥५॥
सोमः पलाशमगमद्गङ्गाम्भो हव्यवाहनः। अश्विनौ तु हयं गृह्य वायसोऽभूद्यमः स्वयम् ॥६॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र वसिष्ठो भगवानृषिः। यष्टिमादाय दैतेयान्न्यवारयदथाऽऽज्ञया ॥७॥
ततः प्रवृत्तः पुनरेव यज्ञो, दैत्यो गतः स्वेन बलेन युक्तः ।
इमानि तीर्थानि ततः शुभानि, दशाश्वमेधस्य फलानि दद्युः ॥८॥
प्रथमं तु शमीतीर्थं द्वितीयं वैष्णवं विदुः। आर्कं शैवं च सौम्यं च वासिष्ठं सर्वकामदम् ॥९॥

अध्याय १०३

शमी आदि तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—शमीतीर्थ सम्पूर्ण पापों से मुक्त करने वाला है, उसकी कथा मैं कह रहा हूँ, नारद ! तुम चाव से सुनो। विजयप्रेमी राजाओं मे श्रेष्ठ शिवव्रत नामक एक क्षत्रिय राजा था। उसने गौतमी के दक्षिण तीर पर पुरोहित द्वारा यज्ञ की दीक्षा ग्रहण की। उस महावलवान् राजा के अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ हो जाने पर सब ऋषि वहाँ ऋत्विक् बनाये गये। वसिष्ठ ने पुरोहित का आसन ग्रहण किया। यज्ञ प्रारम्भ हो जाने के बाद हिरण्यक नाम का एक दानव यज्ञ मण्डप की ओर आया। उस दानव को देखकर इन्द्र आदि सभी देवता भयभीत हो गये। कुछ तो स्वर्ग भाग गये। स्वयं अग्निदेव शमी वृक्ष में छिप गये। विष्णु पीपल के वृक्ष में, सूर्य अर्क (मदार) में, शिव वट में और सोम पलाश में घुस गये। वेचारे हव्यवाहन गंगा-जल में कूदकर छिपे, अश्विनीकुमारों ने यज्ञाश्व में छिप कर प्राण रक्षा की, यम ने कौए का रूप धारण किया। इसी बीच मेरी आज्ञा से भगवान् ऋषि वसिष्ठ ने हाथ में डण्डा लेकर हठात् उन दैत्य पुत्रों को यज्ञ-भूमि में आने से रोक दिया ॥१-७॥ तदनन्तर जब वह दैत्य अपने अनुचर सैनिकों के साथ लौट गया तब पुनः यज्ञ प्रारम्भ हुआ। तब से ये आगे कहे हुए तीर्थ शुभ और दस अश्वमेध के फल को देने वाले हुए ॥८॥ उनमें से पहला शमी तीर्थ, दूसरा वैष्णव, तीसरा आर्क (सूर्य-सम्वन्धी) तीर्थ माना गया है। इसी प्रकार वहाँ सम्पूर्ण अभिमत वस्तुओं के देने वाले शैव, सौम्य और वासिष्ठ तीर्थ भी हुए ॥९॥

देवाश्च ऋषयः सर्वे निवृत्ते मखविस्तरे। तुष्टाः प्रोचुर्वसिष्ठं तं यजमानं प्रियव्रतम् ॥१०॥
तांश्च वृक्षांस्तां च गङ्गां मुदा युक्ताः पुनः पुनः। हयमेधस्य निष्पत्त्यै एते याता इतस्ततः ॥११॥
हयमेधफलं दद्युस्तीर्थानीत्यवदन्सुराः। तस्मात्स्नानेन दानेन तेषु तीर्थेषु नारद॥
हयमेधफलं पुण्यं प्राप्नोति न मृषा वचः ॥१२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये शम्यादितीर्थवर्णनं नाम त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०३॥

गौतमीमाहात्म्ये चतुर्स्त्रिशोऽध्यायः ॥३४॥

अथ चतुरधिकशततमोऽध्यायः

विश्वामित्रादिद्वाविंशतिसहस्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

विश्वामित्रं हरिश्चन्द्रं शुनः शेपं च रोहितम्। वारुणं ब्राह्ममाग्नेयमैन्द्रमैन्दवमैश्वरम् ॥१॥
मैत्रं च वैष्णवं चैव याम्यमाश्विनमौशनम्। एतेषां पुण्यतीर्थानां नामधेयं शृणुष्व मे ॥२॥
हरिश्चन्द्र इति त्वासीदिक्ष्वाकुप्रभवो नृपः। तस्य गृहे मुनी प्राप्तौ नारदः पर्वतस्तथा॥
कृत्वाऽऽतिथ्यं तयोः सम्यग्घरिश्चन्द्रोऽब्रवीदृषी ॥३॥

जब उस महान् यज्ञ से सभी निवृत्त हुये तब देवों और ऋषियों ने प्रसन्न और आनन्दित होकर पुरोहित वसिष्ठ और उस यजमान प्रियव्रत से कहा कि यह गंगा और ये सभी वृक्ष अश्वमेध यज्ञ की पूर्ति के लिये ही यत्र-तत्र विभिन्न रूपों में उत्पन्न हुये हैं ॥१०-११॥ देवों ने पुनः कहा कि वे तीर्थ अश्वमेध यज्ञ के समान फल देने वाले हैं। इसलिये हे नारद ! उन तीर्थों में स्नान करने और दान देने से मनुष्य अश्वमेध का पावन फल प्राप्त करता है, इसको असत्य मत समझना ॥१२॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में शम्यादितीर्थ वर्णन नामक एक सौ तीसरा अध्याय समाप्त ॥१०३॥

अध्याय १०४

विश्वामित्र आदि बाईस हजार तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—इस पवित्र विश्वामित्र, हरिश्चन्द्र, शुनः शेप, रोहित, वारुण, ब्राह्म, आग्नेय, इन्दुतीर्थ, ईश्वरतीर्थ मैत्र, वैषण्व, याम्य, आश्विन और शुक्र आदि इन तीर्थों के नाम क्यों पड़े इसको भी मुझसे सुनो। इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हरिश्चन्द्र नामक एक राजा था। एक समय उसके घर नारद और पर्वत नामक दो मुनि आये। उन दोनों की भली भाँति अतिथि-सेवा कर हरिश्चन्द्र ने ऋषियों से कहा ॥१-३॥

हरिश्चन्द्र उवाच

पुत्रार्थं क्लिश्यते लोकः किं पुत्रेण भविष्यति। ज्ञानी वाऽप्यथवाऽज्ञानी उत्तमो मध्यमोऽथवा ॥
एतं मे संशयं नित्यं ब्रूतामृषिवरावुभौ ॥४॥

ब्रह्मोवाच

तावूचतुर्हरिश्चन्द्रं पर्वतो नारदस्तथा ॥५॥

नारदपर्वतावूचतुः

एकधा दशधा राजञ्शतधा च सहस्रधा। उत्तरं विद्यते सम्यक्तथाऽप्येतदुदीर्यते ॥६॥
नापुत्रस्य परो लोको विद्यते नृपसत्तम। जाते पुत्रे पिता स्नानं यः करोति जनाधिप ॥७॥
दशानामश्वमेधानामभिषेकफलं लभेत्। आत्मप्रतिष्ठा पुत्रात्स्याज्जायते चामरोत्तमः ॥८॥
अमृतेनामरा देवाः पुत्रेण ब्राह्मणादयः। त्रिऋणान्मोचयेत्पुत्रः पितरं च पितामहान् ॥९॥
किंतु मूलं किमु जलं किंतु श्मश्रूणि किं तपः। विना पुत्रेण राजेन्द्र स्वर्गो मुक्तिः सुतात्स्मृताः ॥१०॥
पुत्र एव परो लोको धर्मः कामोऽर्थ एव च। पुत्रो मुक्तिः परं ज्योतिस्तारकः सर्वदेहिनाम् ॥११॥
विना पुत्रेण राजेन्द्र स्वर्गमोक्षौ सुदुर्लभौ। पुत्र एव परो लोके धर्मकामार्थसिद्धये ॥१२॥
विना पुत्रेण यद्दत्तं विना पुत्रेण यद्धुतम्। विना पुत्रेण यज्जन्म व्यर्थं तदवभाति मे ॥१३॥
तस्मात्पुत्रसमं किंचित्काम्यं नास्ति जगत्त्रये। तच्छ्रुत्वा विस्मयवांस्तावुवाच नृपः पुनः ॥१४॥

हरिश्चंन्द्र ने कहा—संसार के लोग पुत्र के लिये वहुत चिन्तित रहते और कष्ट उठाते हैं चाहे वे ज्ञानी हों अथवा अज्ञानी, उत्तम मनुष्य हों अथवा मध्यम सबकी यही गति है। परन्तु पुत्र से क्या होता है। यही सर्वदा मुझे संदेह बना रहता है, आप दोनों ऋषिवर मुझे समझा कर कहें ॥४॥

ब्रह्मा ने कहा—वे दोनों नारद तथा पर्वत हरिश्चन्द्र से वोले ॥५॥

नारद और पर्वत ने कहा—राजन्! इस प्रश्न के एक, दश, सौ और हजार प्रकार के युक्तियुक्त उत्तर हैं। तथापि यहाँ संक्षेप में कहा जा रहा है। नृपश्रेष्ठ! अपुत्र के लिये स्वर्गलोक में कोई स्थान नहीं। जनाधिप! पुत्र हो जाने पर जो पिता स्नान करता है वह दश अश्वमेध के अभिषेक का फल प्राप्त करता है। पुत्र के द्वारा ही आत्मप्रतिष्ठा प्राप्त होती है, और उत्तम देवत्व की प्राप्ति भी। अमृत के द्वारा देव अमर हुए हैं परन्तु ब्राह्मण आदि मानव पुत्र के द्वारा। पुत्र अपने पिता और पितरों को तीनों (देव, पितृ, ऋषि) ऋणों से छुड़ाता है। पुत्र के बिना, मूल (वेदाध्ययन) जल (स्नान-तर्पण), पंचकेश (दाड़ी आदि रखने) और तपस्या से क्या लाभ। राजेन्द्र! स्वर्ग अथवा मुक्ति की प्राप्ति पुत्र द्वारा ही होती है ऐसा कहा गया है ॥६-१०॥ पुत्र ही उत्तम लोक, धर्म, काम और अर्थ भी है। पुत्र ही मुक्ति, परं ज्योति ओर सव मनुष्यों का उद्धारकर्ता है। राजेन्द्र! पुत्र के बिना स्वर्ग और मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ हैं। इस लोक में धर्म, काम और अर्थ सिद्धि के लिये पुत्र ही एकमात्र साधन है। मेरा मत है कि पुत्र के बिना दिया हुआ दान, हवन-कर्म (यज्ञ) यहाँ तक कि पुत्र के बिना मानव-जीवन भी व्यर्थ है। इसलिए तीनों लोक में पुत्र के समान कोई काम्य कर्म नहीं। इन वातों को सुनकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ और पुनः कहा—॥११-१४॥

हरिश्चन्द्र उवाच

कथं मे स्यात्सुतो ब्रूतां यत्र क्वापि यथातथम्। येन केनाप्युपायेन कृत्वा किंचित्तु पौरुषम्॥
मन्त्रेण यागदानाभ्यामुत्पाद्योऽसौ सुतो मया ॥१५॥

ब्रह्मोवाच

तावूचतुर्नृपश्रेष्ठ हरिश्चन्द्रं सुतार्थिनम्। ध्यात्वा क्षणं तथा सम्यग्गौतमीं याहि मानद ॥१६॥
तत्रापांपतिरुत्कृष्टं ददाति मनसीप्सितम्। वरुणः सर्वदाता वै मुनिभिः परिकीर्तितः ॥१७॥
स तु प्रीतः शनैः काले तव पुत्रं प्रदास्यति। एतच्छ्रुत्वा नृपश्रेष्ठो मुनिवाक्यं तथाऽकरोत् ॥१८॥
तोषयामास वरुणं गौतमीतीरमाश्रितः। ततश्च तुष्टो वरुणो हरिश्चन्द्रमुवाच ह ॥१९॥

वरुण उवाच

पुत्रं दास्यामि ते राजंल्लोकत्रयविभूषणम्। यदि यक्ष्यसि तेनैव तव पुत्रो भवेद्ध्रुवम् ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

हरिश्चन्द्रोऽपि वरुणं यक्ष्ये तेनेत्यवोचत। ततो गत्वा हरिश्चन्द्रश्चरुं कृत्वा तु वारुणम् ॥२१॥
भार्यायै नृपतिः प्रदात्ततो जातः सुतो नृपात्। जाते पुत्रे अपामीशः प्रोवाच वदतां वरः ॥२॥

वरुण उवाच

अद्यैव पुत्रो यष्टव्यः स्मरसे वचनं पुरा ॥२३॥

हरिश्चन्द्र ने कहा—मुझे पुत्र कैसे उत्पन्न होगा, इसको आप बतायें। मैं, जिस किसी उपाय से—चाहे कहीं जाने से अथवा कोई पौरुष करने से मन्त्र से, अथवा दान से—वह पुत्र अवश्य उत्पन्न करना चाहता हूँ॥ १५॥

ब्रह्मा ने कहा—क्षण भर ध्यानावस्थित होकर (सोच-विचार कर) पुत्राकांक्षी हरिश्चन्द्र से उन ऋषियों ने कहा—मानद ! तुम गौतमी के समीप जाओ। वहाँ जल के अधिपति वरुण उत्तम-से-उत्तम मनोवाञ्छित फल को प्रदान करते हैं, क्योंकि मुनियों ने वरुण को सर्व-दाता कहा है। वह शनैः-शनैः तुम्हारी आराधना से प्रसन्न होकर अथवा यथासमय तुम्हें पुत्र प्रदान करेंगे। मुनियों की उपर्युक्त बातें सुनकर श्रेष्ठ नृपति ने तदनुकूल ही कार्य किया। गौतमीतीर पर आसनस्थ होकर उसने वरुण को प्रसन्न किया। तदनन्तर वरुण प्रसन्न होकर हरिश्चन्द्र से बोले—॥१६-१९॥

वरुण ने कहा—राजन् ! तीनों लोकों को अपने गुणों से विभूषित करने वाला पुत्र दूँगा, यदि तुम उसी पुत्र द्वारा मेरा यज्ञ करने की प्रतिज्ञा करो। ऐसी प्रतिज्ञा करने पर तुम्हें पुत्र उत्पन्न होगा, यह ध्रुव है ॥२०॥

ब्रह्मा ने कहा—पुत्रकामी हरिश्चन्द्र ने उत्पन्न पुत्र से यज्ञ करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा वरुण से की। वरप्राप्ति के वाद नृपति हरिश्चन्द्र ने घर जाकर वारुण चरु (हविष्य) बनाया और भार्या को खिलाया। फलस्वरूप राजा को पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र उत्पन्न होने पर जल के पति वाग्मी वरुण ने कहा—॥२१-२२॥

वरुण ने कहा—आज ही पुत्र द्वारा यज्ञ कीजिये, क्या पहले की बातों का स्मरण है ? ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

हरिशचन्द्रोऽपि वरुणं प्रोवाचेदं क्रमागतम् ॥२४॥

हरिश्चन्द्र उवाच

निर्दशो मेध्यतां याति पशुर्यक्ष्ये ततो ह्यहम् ॥२५॥
तच्छ्रुत्वा वचनं राज्ञो वरुणोऽगात्स्वमालयम्। निर्दशे पुनरभ्येत्य यजस्वेत्याह तं नृपम् ॥२६॥
राजाऽपि वरुणं प्राह निर्दन्तो निष्फलः पशुः। पशोर्दन्तेषु जातेषु एहि गच्छाधुनाऽप्पते ॥२७॥
तच्छ्रुत्वा राजवचनं पुनः प्रायादपांपतिः। जातेषु चैव दन्तेषु सप्तवर्षेषु नारद ॥२८॥
पुनरप्याह राजानं यजस्वेति ततोऽब्रवीत्। राजाऽपि वरुणं प्राह पत्स्यन्तीमे अपांपते ॥२९॥
संपत्स्यन्ति तथा चान्ये ततो यक्ष्ये व्रजाधुना। पुनः प्रायात्स वरुणः पुनर्दन्तेषु नारद ॥
यजस्वेति नृपं प्राह राजा प्राह त्वपांपतिम् ॥३०॥

राजोवाच

यदा तु क्षत्रियो यज्ञे पशुर्भवति वारिप। धनुर्वेदं यदा वेत्ति तदा स्यात्पशुरुत्तमः ॥३१॥

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वा राजवचनं वरुणोऽगात्स्वमालयम्। यदाऽस्त्रेषु च शस्त्रेषु समर्थोभूत्स रोहितः ॥३२॥

ब्रह्मा ने कहा—हरिश्चन्द्र ने भी इस प्रकार क्रमशः वरुण से कहा ॥२४॥

हरिश्चन्द्र ने कहा— दाँत निकल जाने पर ही पशु मेध्य (यज्ञ-योग्य) माना जाता है, इसलिए दाँत निकलने पर ही यज्ञ करूँगा ॥३२॥

ब्रह्मा बोले—राजा की बातें सुनकर वरुण अपने स्थान पर चले आये। दाँत निकल आने पर पुनः आकर वरुण ने राजा से कहा 'यज्ञ करो'। राजा ने वरुण से कहा—निर्दन्त (वहुत-से दाँतों के विना) पशु यज्ञ के योग्य नहीं होते। यज्ञपशु के वहुत दाँत निकल जाने पर पुनः आइए। वरुण! इस समय आप चले जाइये। राजा की वात सुनकर वरुण लौट गये। नारद! सात वर्षों में बहुत दाँत निकल आने पर पुनः राजा से वरुण ने कहा कि 'अव यज्ञ करो'। राजा वरुण से कहा कि जब ये दाँत गिर जायेगें और दूसरे दाँत निकल आयेंगे तदुपरान्त यज्ञ करूँगा, इस समय आप जाइये। नारद! पुनः दाँतों की नर्दिष्ट अवधि बीत जाने पर वरुण आये और राजा से यज्ञ करने के लिये कहा। यह सुनकर राजा ने वरुण से कहा ॥२६-३०॥

राजा ने कहा—जलरक्षक वरुण! जव क्षत्रिय यज्ञ में पशु वनाया जाता है तव धनुर्वेद जान लेने पर ही वह उत्तम पशु होता है ॥३१॥

ब्रह्मा ने कहा—राजा की वातें सुनकर वरुण पुनः अपने स्थान को वापस चले गये। जब वह राजपुत्र रोहित अस्त्र-शस्त्र विद्या में निपुण हो गया, शत्रुनाशक, एवं सब वेदों और शास्त्रो का भी विद्वान् हो गया और जब

सर्व्ववेदेषु शास्त्रेषु वेत्ताऽभूत्स त्वरिंदमः। युवराज्यमनुप्राप्ते रोहिते षोडशाब्दिके ॥३३॥
प्रीतिमानगमत्तत्र यत्र राजा सरोहितः। आगत्य वरुणः प्राह यजस्वाद्य सुतं स्वकम् ॥३४॥
ओमित्युक्त्वा नृपवर ऋत्विजः प्राह भूपतिः। रोहितं च सुतं ज्येष्ठं शृण्वतो वरुणस्य च ॥३५॥

हरिश्चन्द्र उवाच

एहि पुत्र महावीर यक्ष्ये त्वां वरुणाय हि ॥३६॥

ब्रह्मोवाच

किमेतदित्यथोवाच रोहितः पितरं प्रति। पिताऽपि यद्यथावृत्तमाचचक्षे सविस्तरम् ॥
रोहितः पितरं प्राह शृण्वतो वरुणस्य च ॥३७॥

रोहित उवाच

अहं पूर्वं महाराज ऋत्विग्भिः सपुरोहितः। विष्णवे लोकनाथाय यक्ष्येऽहं त्वरितं शुचिः ॥
पशुना वरुणेनाथ तदनुज्ञातुमर्हसि ॥३८॥

ब्रह्मोवाच

रोहितस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा वारीश्वरस्तदा। कोपेन महताऽऽविष्टो जलोदरमथाकरोत् ॥३९॥
हरिश्चन्द्रस्य नृपते रोहितः स वनं ययौ। गृहीत्वा स धनुर्दिव्यं रथारूढो गतव्यथः ॥४०॥
यत्र चाऽऽराध्य वरुणं हरिश्चन्द्रो जनेश्वरः। गङ्गायां प्राप्तवान्पुत्रं तत्रागात्सोऽपि रोहितः ॥४१॥
व्यतीतान्यथ वर्षाणि पञ्चषष्ठे प्रवर्तति। तत्र स्थित्वा नृपसुतः शुश्राव नृपते रुजम् ॥४२॥
मया पुत्रेण जातेन पितुर्वै क्लेशकारिणा। किं फलं किंनु कृत्यं स्यादित्येवं पर्यचिन्तयत् ॥४३॥

उसने सोलह वर्ष का होकर युवराज पद का अधिकार भी प्राप्त कर लिया तब वरुण प्रसन्न चित्त हो, जहाँ राजा और रोहित थे वहाँ गये और कहा कि आज अपने पुत्र द्वारा यज्ञ करो। वह नृपश्रेष्ठ ऋत्विज् राजा वरुण के सामने ही अपने ज्येष्ठ पुत्र रोहित से बोला ॥३२-३५॥

हरिश्चन्द्र ने कहा—पुत्र ! आओ, मैं वरुण की प्रसन्नता के लिए तुमसे यज्ञ करूँगा ॥३६॥

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर रोहित ने अपने पिता से कहा "यह क्या"। पिता ने भी पूर्व घटना का विस्तार-पूर्वक वर्णन कर दिया। पिता से सारा रहस्य जानकर रोहित ने वरुण के सामने ही कहा॥३७॥

रोहित ने कहा—महाराज ! पहले मैं ही ऋत्त्विजों और पुरोहित के सहित वरुण को यज्ञ-पशु बनाकर लोक-स्वामी विष्णु का यज्ञ शीघ्र ही करना चाहता हूँ, आप शीघ्र आज्ञा दीजिये ॥३८॥

ब्रह्मा ने कहा—रोहित की बातें सुनकर वरुण अत्यन्त क्रोधान्ध होकर राजा हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग का रोगी बना दिया। वह रोहित दिव्य धनुष लेकर रथ पर सवार होकर शान्त भाव से वन को चला गया। वह रोहित भी उस स्थान पर—जहाँ जननायक हरिश्चन्द्र ने गंगा के समीप वरुण की आराधना कर पुत्र को प्राप्त किया था—गया। वहाँ रहकर उसने पाँच वर्ष बिता दिये। छठे वर्ष के प्रारम्भ में ही सुना कि राजा को जलोदर रोग हो गया है। वह सोचने लगा कि "पिता को कष्ट देने वाले मेरे समान पुत्र के जन्म लेने से क्या हुआ ? अब इस

तस्यास्तीरे ऋषीन्पुण्यानपश्यन्नृपतेः सुतः। गङ्गातीरे वर्तमानमपश्यदृषिसत्तमम् ॥४४॥
अजीगर्तमिति ख्यातमृषेस्तु वयसः सुतम्। त्रिभिः पुत्रैरनुवृतं भार्यया क्षीणवृत्तिकम् ॥
तं दृष्ट्वा नृपतेः पुत्रो नमस्येदं वचोऽब्रवीत् ॥४५॥

रोहित उवाच

क्षीणवृत्तिः कृशः कस्माद्दुर्मना इव लक्ष्यसे ॥४६॥

ब्रह्मोवाच

अजीगर्तोऽपि चोवाच रोहितं नृपतेः सुतम् ॥४७॥

अजीगर्त उवाच

वर्तनं नास्ति देहस्य भोक्तारो बहवश्च मे। विनाऽन्नेन मरिष्यामो ब्रूहि किं करवामहे ॥४८॥

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वा पुनरप्याह नृपपुत्र ऋषिं तदा ॥४९॥

रोहित उवाच

तव किं वर्तते चित्ते तद्ब्रूहि वदतांवर ॥५०॥

अजीगर्त उवाच

हिरण्यं रजतं गावो धान्यं वस्त्रादिकं न मे। विद्यते नृपशार्दूल वर्तनं नास्ति मे ततः ॥५१॥
सुता मे सन्ति भार्या च अहं वै पञ्चमस्तथा। नैतेषां कतमस्यापि क्रेताऽन्नेन नृपोत्तम ॥५२॥

समय मेरा, क्या कर्तव्य है।" उसी समय नृपपुत्र ने गंगा तट पर पवित्र ऋषियों को देखा। उसी तट पर वर्तमान वय नामक ऋषि के अजीगर्त नामक ऋषिश्रेष्ठ को देखा, जो अपनी भार्या और तीन पुत्रों के साथ थे; परन्तु जीविका के साधन से हीन थे। उनको देखकर राजपुत्र ने नमस्कार करके पूछा ॥३९-४५॥

रोहित ने कहा—आप इतने दुर्बल और जीविकाहीन क्यों हैं, किस कारण इतने व्यग्र-से जान पड़ते हैं?॥४६॥

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर अजीगर्त ने नृप-पुत्र रोहित से कहा— ॥४७॥

अजीगर्त ने कहा—शरीर-रक्षा के साधन नहीं हैं, और मेरे परिवार में भोजन करने वाले बहुत-से हैं, अन्न के बिना हम लोग मर जायेंगे, कहो, इस अवस्था में हम लोग क्या करें ॥४८॥

ब्रह्मा ने कहा—तब ऋषि की बातों को सुनकर नृपपुत्र ने पुनः ऋषि से कहा— ॥४९॥

रोहित ने कहा—हे श्रेष्ठ वक्ता! तुम्हारे क्या विचार हैं, वह बताओ ॥५०॥

अजीगर्त ने कहा—नृपश्रेष्ठ! मेरे पास सोना, चाँदी, गौ, धान्य, और वस्त्रादि कुछ नहीं हैं, इसके अतिरिक्त मेरे पास जीविका का भी कोई साधन नहीं है। हाँ, मेरे पास पुत्र, भार्या और पाँचवाँ मैं हूँ। नृपोत्तम! हम लोगों में से किसी को अन्न देकर खरीदने वाला भी कोई नहीं है ॥५१-५२॥

रोहित उवाच

किं क्रीणासि महाबुद्धेऽजीगर्त सत्यमेव मे। वद नान्यच्च वक्तव्यं विप्रा वै सत्यवादिनः ।।५३।।

अजीगर्त उवाच

त्रयाणामपि पुत्राणामेकं वा मां तथैव च। भार्यां वाऽपि गृहाणेमां क्रीत्वा जीवामहे वयम् ।।५४।।

रोहित उवाच

किं भार्यया महाबुद्धे किं त्वया वृद्धरूपिणा। युवानं देहि पुत्रं मे पुत्राणां यं त्वमिच्छसि ।।५५।।

अजीगर्त उवाच

ज्येष्ठपुत्रं शुनःपुच्छं नाहं क्रीणामि रोहित। माता कनीयसं चापि न क्रीणाति ततोऽन्ययोः[1] ।।
मध्यमं तु शुनःशेपं क्रीणामि वद तद्धनम् ।।५६।।

रोहित उवाच

वरुणाया पशुः कल्प्यः पुरुषो गुणवत्तरः। यदि क्रीणासि मूल्यं त्वं वद सत्यं महामुने ।।५७।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा त्वजीगर्तः पुत्रमूल्यमकल्पयत्। गवां सहस्रं धान्यानां निष्काणां चापि वाससाम् ।।
राजपुत्र वरं देहि दास्यामि स्वसुतं तव ।।५८।।

रोहित ने कहा—महाबुद्धिमान् अजीगर्त ! आप किसको, कितने में बेचना चाहते हैं, सत्य कहिये। दूसरी बात मत कहियेगा, ब्राह्मण सर्वथा सत्य-वक्ता होते हैं ।।५३।।

अजीगर्त ने कहा—इन तीनों पुत्रों में से किसी एक को, अथवा मुझको या इस भार्या को ही खरीद कर ले जाओ, जिससे कि हम लोंगों की जीवन-रक्षा हो ।।५४।।

रोहित ने कहा—इस भार्या से क्या होगा, वृद्ध रूपी तुम्हारी भी आवश्यकता नहीं। हाँ, इन पाँचों में से किसी युवक पुत्र को, जिसको तुम चाहो दे दो ।।५५।।

अजीगर्त ने कहा—रोहित ! ज्येष्ठ पुत्र शुनः पुच्छ को मैं नहीं बेच सकता। माता अपने कनिष्ठ पुत्र को भी बेचना नहीं चाहती, इसलिए इन दोनों से अतिरिक्त मँझले पुत्र पुनःशेप को बेचूँगा, इसका मूल्य कहो ।।५६।।

रोहित ने कहा—एक अधिक गुणवान् पुरुष की वरुण -यज्ञ में यज्ञ-पशु बनाने के लिए आवश्यकता है, महामुने ! यदि तुम बेचना चाहते हो तो उचित मूल्य कहो ।।५७।।

ब्रह्मा ने कहा—'ऐसा ही हो' यह कहकर अजीगर्त ने सहस्र गौ, सहस्र निष्क (अशर्फी), धान्य और सहस्र वस्त्र अपने पुत्र का मूल्य बताया और कहा राजपुत्र ! इतना दे दो, मैं तुमको अपना पुत्र दे दूँगा ।।५८।।

---

[1] घ. श्वलाङ्गुलम् ।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा रोहितोऽपि प्रादात्सवसनं धनम् । दत्त्वा जगाम पितरमृषिपुत्रेण रोहितः ।।
पित्रे निवेदयामास क्रयक्रीतमृषेः सुतम् ।।५९।।

रोहित उवाच

वरुणाय यजस्व त्वं पशुना त्वमरुग्भव ।।६०।।

ब्रह्मोवाच

तथोवाच हरिश्चन्द्रः पुत्रवाक्यादनन्तरम् ।।६१।।

हरिश्चन्द्र उवाच

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या राज्ञा पाल्या इति श्रुतिः । विशेषतस्तु वर्णानां गुरवो हि द्विजोत्तमाः ।।६२।।
विष्णोरपि हि ये पूज्या मादृशाः कुत एव हि । अवज्ञयाऽपि येषां स्यान्नृपाणां स्वकुलक्षयः ।।६३।।
तान्पशून्कृत्वा कृपणं कथं रक्षितुमुत्सहे । अहं च[1] ब्राह्मणं कुर्यां पशुं नैतद्धि युज्यते ।।६४।।
वरं हि जातु मरणं न कथंचिद्द्विजं पशुम् । करोमि तस्मात्पुत्र त्वं ब्राह्मणेन सुखं व्रज ।।६५।।

ब्रह्मोवाच

एतस्मिन्नन्तरे तत्र वागुवाचाशरीरिणी ।।६६।।

ब्रह्मा ने कहा—रोहित ने भी उसको स्वीकार कर लिया और ऋषि को मुँह माँगा वस्त्र और धन दे दिया। धन देकर ऋषिपुत्र को साथ ले वह अपने पिता के पास गया। पिता से, मूल्य देकर खरीदे हुए ऋषि-पुत्र के विषय में सारी बातें बतायीं ।।५९।।

रोहित ने कहा—आप वरुण का इस पशु से यज्ञ कीजिये और नीरोग हो जाइये ।।६०।।

ब्रह्मा ने कहा—पुत्र की बातों को सुनकर हरिश्चन्द्र ने कहा ।।६१।।

हरिश्चन्द्र ने कहा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का पालन राजा का कर्तव्य है ऐसी श्रुतियों की आज्ञा है। उत्तम ब्राह्मणों की रक्षा तो विशेष रूप से होनी चाहिए इसलिए कि वे सब वर्णों के गुरु हैं। जो ब्राह्मण विष्णु के भी पूज्य हैं, तो मेरे समान व्यक्तियों के लिये तो कुछ कहना ही नहीं। जिनके अपमान से भी राजाओं का कुल-क्षय हो जाता है, उन देवपूज्यों को पशु बनाकर अपने क्षुद्र जीवन की रक्षा करने का साहस मुझसे नहीं होगा। मैं ब्राह्मण को यज्ञ-पशु बनाऊँ यह मेरे लिए उपयुक्त नहीं है। बल्कि मृत्यु उत्तम है परन्तु द्विज को किसी प्रकार पशु नहीं बनाऊँगा। इसलिये पुत्र ! तुम सुखपूर्वक इस ब्राह्मण-पुत्र के साथ जाओ, मुझे रोगी ही रहने दो।।६२-६५।।

ब्रह्मा ने कहा—इसी समय वहाँ आकाशवाणी हुई ।।६६।।

---

[1] घ. तु।

आकाशवागुवाच

गौतमीं गच्छ राजेन्द्र ऋत्विग्भिः सपुरोहितः । पशुना विप्रपुत्रेण रोहितेन सुतेन च ॥६७॥
त्वया कार्यः क्रतुश्चैव शुनःशेपवधं विना । क्रतुः पूर्णो भवेत्तत्र तस्माद्याहि महामते ॥६८॥

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं शीघ्रं गङ्गामगान्नृपोत्तमः । विश्वामित्रेण ऋषिणा वसिष्ठेन पुरोधसा ॥६९॥
वामदेवेन ऋषिणा तथाऽन्यैर्मुनिभिः सह । प्राप्य गङ्गां गौतमीं तां नरमेधाय दीक्षितः ॥७०॥
वेदिमण्डपकुण्डादि यूपपश्वादि चाकरोत् । कृत्वा सर्वं यथान्यायं तस्मिन्यज्ञे प्रवर्तिते ॥७१॥
शुनःशेपं पशुं यूपे निबध्याथ समन्त्रकम् ।[1] वारिभिः प्रोक्षितं दृष्ट्वा विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ॥७२॥

विश्वामित्र उवाच

देवानृषीन्हरिश्चन्द्रं रोहितं च विशेषतः । अनुजानन्त्विमं सर्वे शुनःशेपं द्विजोत्तमम् ॥७३॥
येभ्यस्त्वयं हविर्देयो देवेभ्योऽयं पृथक्पृथक् । अनुजानन्तु ते सर्वे शुनःशेपं विशेषतः ॥७४॥
वसाभिर्लोमभिस्त्वग्भिर्मांसैः सन्मन्त्रितैर्मखे । अग्नौ होष्यः पशुश्चायं शुनःशेपो द्विजोत्तमः ॥७५॥
उपासिताः स्युर्विप्रेन्द्रास्ते सर्वे त्वनुमन्य माम् । गौतमीं यान्तु विप्रेन्द्राः स्नात्वा देवान्पृथक्पृथक् ॥७६॥
मन्त्रैः स्तोत्रैः स्तुवन्तस्ते मुदं यान्तु शिवे रताः । एनं रक्षन्तु मुनयो देवाश्च हविषो भुजः ॥७७॥

आकाशवाणी ने कहा—राजेन्द्र ! तुम अपने ऋत्विजों और पुरोहित के साथ गौतमी के तट पर जाओ । साथ में ऋषिपुत्र और राजपुत्र रोहित को भी ले लो । तुम यज्ञ करो । शुनःशेप के वध के बिना ही तुम्हारा यज्ञ पूर्ण हो जायगा । इसलिए महामति वहाँ जाओ ॥६७-६८॥

ब्रह्मा ने कहा—आकाशवाणी को सुनकर नृपोत्तम हरिश्चन्द्र शीघ्र ही ऋषि विश्वामित्र, पुरोहित वशिष्ठ, वामदेव एवं अन्यान्य मुनियों के साथ गंगा तट पर गया । वहाँ गौतमीगंगा के तट पर जाकर नरमेध यज्ञ की दीक्षा लेकर वेदी, मण्डप, यूप और पशु आदि की व्यवस्था करने लगा । यथाविधि सब सामग्री एकत्र कर यज्ञ कार्य प्रारम्भ हुआ । यूप में शुनःशेप को पशु बनाकर मन्त्र पाठपूर्वक बाँधा गया । उसको जल से अभिषिक्त होते देखकर विश्वामित्र ने यह कहा ॥६९-७२॥

विश्वामित्र ने कहा—देव, ऋषि, हरिश्चन्द्र, विशेषरूप से रोहित से मैं कह रहा हूँ कि सभी इस द्विजोत्तम शुनःशेप को आज्ञा दें। जिन देवताओं को यह हवि (शुनःशेप) पृथक्-पृथक् दी जायगी, वे सब देवता भी विशेष रूप से इस शुनःशेप को अनुमति दें। इस यज्ञपशु द्विजवर्य शुनःशेप के वसा (चर्बी), लोम, त्वचा, मांस से मन्त्रोच्चारणपूर्वक यज्ञाग्नि में हवन किया जायगा। अर्थात् शुनःशेन इन सभी ब्राह्मणों और देवों की पूजा करे। वे सभी विप्रेन्द्र (देवता) आज पूजित हों। मेरी ओर ध्यान देकर आज सब विप्रवर्य भी गौतमी के तीर पर जायँ और स्नान कर पृथक्-पृथक् मन्त्र, स्तोत्रों से देवताओं की स्तुति करते हुए आनन्दपूर्वक शिव-उपासना में लीन हो जायें। इस प्रकार आज आप मुनि, हविष्य को ग्रहण करने वाले देवता गण इस शुनःशेप की प्राण-रक्षा करें।।७३-७७॥

---

[1] घ. समन्त्रकैः ।

ब्रह्मोवाच

तथेत्यूचुश्च मुनयो मेने च नृपसत्तमः । ततो गत्वा शुनःशेपो गङ्गां त्रैलोक्यपावनीम् ॥७८॥
स्नात्वा तुष्टाव तान्देवान्ये तत्र हविषो भुजः । ततस्तुष्टाः सुरगणाः शुनःशेपं च ते मुने ॥
अवदन्त सुराः सर्वे विश्वामित्रस्य शृण्वतः ॥७९॥

सुरा ऊचुः

क्रतुः पूर्णो भवत्वेष शुनःशेपवधं विना ॥८०॥

ब्रह्मोवाच

विशेषेणाथ वरुणश्चावदन्नृपसत्तमम् । ततः पूर्णोऽभवद्राज्ञो नृमेधो लोकविश्रुतः ॥८१॥
देवानां च प्रसादेन मुनीनां च प्रसादतः । तीर्थस्य तु प्रसादेन राज्ञः पूर्णोऽभवत्क्रतुः ॥८२॥
विश्वामित्रः शुनःशेपं पूजयामास संसदि । अकरोदात्मनः पुत्रं पूजयित्वा सुरान्तिके ॥८३॥
ज्येष्ठं चकार पुत्राणामात्मनः स तु कौशिकः । न मेनिरे ये च पुत्रा विश्वामित्रस्य धीमतः ॥८४॥
शुनःशेपस्य च ज्यैठ्यं ताञ्शशाप स कौशिकः । ज्येष्ठ्यं ये मेनिरे पुत्राः पूजयामास तान्सुतान् ॥८५॥
वरेण मुनिशार्दूलस्तदेतत्कथितं मया । एतत्सर्वं यत्र जातं गौतम्या दक्षिणे तटे ॥८६॥
तत्र तीर्थानि पुण्यानि विख्यातानि सुरादिभिः । बहूनि तेषां नामानि मत्तः शृणु महामते ॥८७॥
हरिश्चन्द्रं शुनःशेपं विश्वामित्रं सरोहितम् । इत्याद्यष्ट सहस्राणि तीर्थान्यथ चतुर्दश ॥८८॥

ब्रह्मा ने कहा—मुनियों ने "ऐसा ही होगा" यह कहा और नृप-श्रेष्ठ ने भी इसको स्वीकार किया । इसके अनन्तर शुनःशेप त्रिभुवन पावनी गंगा के पास गया । गंगा में स्नान कर, जितने वहाँ हविष ग्रहण करने वाले देवता थे उनको स्तुति द्वारा प्रसन्न किया । वे सभी देवता शुनःशेप पर प्रसन्न हो गये । मुने ! सब देवताओं ने विश्वामित्र के सामने ही कहा ॥७८-७९॥

देवों ने कहा—यह यज्ञ शुनःशेप के वध के बिना ही पूर्ण हो जाय ॥८०॥

ब्रह्मा ने कहा— वरुण ने विशेषरूप से नृपवर्य को यज्ञपूर्ति का आशीर्वाद दिया । तदनन्तर राजा का वह लोक-प्रसिद्ध नरमेध यज्ञ सम्पन्न हुआ । देवताओं की कृपा से, मुनियों के अनुग्रह से और तीर्थ के माहात्म्य से राजा का यज्ञ इस प्रकार निर्विघ्न समाप्त हुआ । उस सभा में ही विश्वामित्र से शुनःशेप का सत्कार किया और देवों के समीप ही उसकी पूजा कर अपना पुत्र स्वीकार कर लिया । उस विश्वामित्र ने उसको ज्येष्ठ पुत्र बनाया । परम बुद्धिमान् ऋषि विश्वामित्र के जिन पुत्रों ने उसका ज्येष्ठत्व स्वीकार नहीं किया उनको ऋषि ने शाप दे दिया और जिन पुत्रों ने उसकी ज्येष्ठता स्वीकार कर ली उनका उस मुनिशार्दूल ने वर देकर आदर-सत्कार किया । इस प्रकार नारद ! मैंने इस घटना को सुना दिया। यह सारा कार्य गौतमी के दक्षिण तीर पर, जहाँ सम्पन्न हुआ, वहाँ बहुतसे पवित्र, देवताओं के नाम से प्रसिद्ध तीर्थ हो गये। महामति नारद ! इनके नाम मैं कह रहा हूँ, सुनो— हरिश्चन्द्र, शुनःशेप, विश्वामित्र, रोहित आदि वाईस हजार तीर्थ हैं । उन तीर्थों में स्नान करने और दान देने से

तेषु स्नानं च दानं च नरमेधफलप्रदम् । आख्यातं चास्य माहात्म्यं तीर्थस्य मुनिसत्तम ॥८९॥
यः पठेत्पाठयेद्वाऽपि शृणुयाद्वाऽपि भक्तितः । अपुत्रः पुत्रमाप्नोति यच्चान्यन्मनसः प्रियम् ॥९०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभ्वृषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये विश्वामित्रादिद्वाविंशतिसहस्रतर्थवर्णनं नाम चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥१०४॥

गौतमीमाहात्म्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

अथ पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

सोमतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

सोमतीर्थमिति ख्यातं पितृणां प्रीतिवर्धनम् । तत्र वृत्तं महापुण्यं शृणु यत्नेन नारद ॥१॥
सोमो राजाऽमृतमयो गन्धर्वाणां पुराऽभवत् । न देवानां तदा देवा मामभ्येत्येदमब्रुवन् ॥२॥

देवा ऊचुः

गन्धर्वैराहृतः सोमो देवानां प्राणदः पुरा । तमध्यायन्सुरगणा ऋषयस्त्वतिदुःखिताः ॥
यथा स्यात्सोमो ह्यस्माकं तथा नीतिर्विधीयताम् ॥३॥

नरमेधयज्ञ का फल प्राप्त होता है । मुनिश्रेष्ठ ! इस तीर्थ की कथा और माहात्म्य को जो पढ़ता या पढ़ाता है अथवा भक्तिपूर्वक सुनता है, वह अपुत्र रहने पर पुत्र को प्राप्त करता है अथवा जो कुछ उसकी अभिलाषा होती वह पूरी होती है ॥८९-९०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में विश्वामित्र आदि बाईस हजार तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ चौथा अध्याय समाप्त ॥१०४॥

अध्याय १०५

सोमतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—सोमतीर्थ नामक पितरों को आनन्द देने वाला एक तीर्थ है । नारद ! वहाँ जो अत्यन्त पवित्र शुभ घटना हुई उसको सुना रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो । बहुत पहले गन्धर्वों का अमृतमय सोम राजा हुआ देवों का नहीं (अर्थात् गन्धर्वों को सोम प्राप्त हो गया देवों को नहीं) यह देखकर देवता मेरे पास आये और बोले॥१-२॥

देवों ने कहा—देवताओं के जीवनधारा सोम को गन्धर्वों ने पहले ही ले लिया। यह देखकर हम देवता लोग अत्यन्त चिन्तित हैं, ऋषिगण अति दुःखी हैं। जिस प्रकार सोम हम लोगों को मिले वैसी कोइ युक्ति कीजिये॥३॥

ब्रह्मोवाच

तत्र वाग्विबुधानाह गन्धर्वाः स्त्रीषु कामुकाः । तेभ्यो [१]दत्त्वाऽथ मां देवाः सोममाहर्तुमर्हथ ॥४॥
वाचं प्रत्यूचुरमरास्त्वां दातुं न क्षमा वयम् । विना तेनापि न स्थातुं शक्यं नैव त्वया विना ॥५॥
पुनर्वागब्रवीद्देवान्पुनरेष्याम्यहं त्विह । अत्र बुद्धिर्विधातव्या क्रियतां क्रतुरुत्तमः ॥६॥
गौतम्या दक्षिणे तीरे भवेद्देवागमो यदि । मखं तु विषयं कृत्वा आयान्तु सुरसत्तमाः ॥७॥
गन्धर्वाः स्त्रीप्रिया नित्यं पणध्वं तं मया सह । तथेत्युक्त्वा सुरगणाः सरस्वत्या वचःस्थिताः ॥८॥
देवदूतैः पृथग्देवान्यक्षान्गन्धर्वपन्नगान् । आह्वानं चक्रिरे तत्र पुण्ये देवगिरौ तदा ॥९॥
ततो देवगिरिर्नाम पर्वतस्याभवन्मुने । तत्राऽऽगमन्सुरगणा गन्धर्वा यक्षकिंनराः ॥१०॥
देवाः सिद्धाश्च ऋषयस्तथाऽष्टौ देवयोनयः । ऋषिभिर्गौतमीतीरे क्रियमाणे महाध्वरे ॥११॥
तत्र देवैः परिवृतः सहस्राक्षोऽभ्यभाषत ॥१२॥

इन्द्र उवाच

गन्धर्वानथ संपूज्य सरस्वत्याः समीपतः । सरस्वत्या पणध्वं नो युष्माकममृतात्मना ॥१३॥

ब्रह्मा ने कहा—उस समय वाणी (सरस्वती) ने कहा कि गन्धर्व अत्यन्त स्त्रीकामी होते हैं, उनके हाथ मुझको सौंप कर तुम लोग सोम को प्राप्त कर सकते हो । वाणी की वातें सुनकर देवताओं ने उत्तर दिया 'तुमको कभी भी हम देने को तैयार नहीं हैं । न तो हम सोम के बिना जीवित रह सकते हैं, न तो तुम्हारे बिना' । पुनः वाणी ने देवताओं से कहा—में पुनः वहाँ से यहाँ चली आऊँगी । यहाँ चतुराई दिखलानी चाहिये । तुम लोग एक उत्तम यज्ञ का उपक्रम (तैयारी) करो । गौतमी के दक्षिण तीर पर यदि यज्ञ को लक्षित कर देवागम (देवार्चन) हो तो वहाँ सब सुर-वर एकत्र हो जायँ । गन्धर्व सदा स्त्रीप्रेमी होते हैं, इसलिए मेरे साथ उनका सौदा पटा दिया जाय । इस वात को स्वीकार कर वे देव सरस्वती के कथनानुसार कार्य करने लगे । इसके अनन्तर उन लोगों ने देवदूत को भेजकर पृथक-पृथक् देवों, गन्धर्वों, यक्ष और पन्नगों को उस पवित्र देवगिरि पर बुलवाया ॥९॥ मुने ! उस समय से ही उस पर्वत का नाम देवगिरि पड़ा । वहाँ सुर-गण, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, देव, सिद्ध, ऋषि तथा आठ देवयोनिज उपस्थित थे । जब उस गौतमी के तीर पर महायज्ञ प्रारम्भ हुआ, उस समय देवताओं से घिरे इन्द्र ने कहा ॥४-१२॥

इन्द्र ने कहा—सरस्वती के समीप गन्धर्वों की पूजा कर हम लोग अमृत-प्राप्ति के लिये तुम लोंगों से सरस्वती का विनिमय करना चाहते हैं, तुम लोग यह सौदा स्वीकार कर लो ॥१३॥

---

[१] घ. ०त्त्वा तु मां ।

ब्रह्मोवाच

तच्छक्रवचनात्ते वै गन्धर्वाः स्त्रीषु कामुकाः । सोमं दत्त्वा सुरेभ्यस्तु जगृहुस्तां सरस्वतीम् ॥१४॥
सोमोऽभवच्चामराणां गन्धर्वाणां सरस्वती । अवसत्तत्र वागीशा तथाऽपि च सुरान्तिके ॥१५॥
आयाति च रहो नित्यमुपांशु क्रियतामिति । अत एव हि सोमस्य क्रयो भवति नारद ॥१६॥
उपांशुना वर्तितव्यं सोमक्रयण एव हि। ततोऽभवद्देवतानां सोमश्चापि सरस्वती ॥१७॥
गन्धर्वाणां नैव सोमो नैवाऽऽसीच्च सरस्वती । तत्रागमन्सर्व एव सोमार्थं गौतमीतटम् ॥१८॥
गावो देवा पर्वता यक्षरक्षाः, सिद्धाः साध्या मुनयो गुह्यकाश्च ।
गन्धर्वास्ते मरुतः पन्नगाश्च, सर्वौषध्यो मातरो लोकपालाः ॥
रुद्रादित्या वसवश्चाश्विनौ च, येऽन्ये देवा यज्ञभागस्य योग्याः ॥१९॥
पञ्चविंशतिनद्यस्तु गङ्गायां संगता मुने । पूर्णाहुतिर्यत्र दत्ता पूर्णाख्यानं तदुच्यते ॥२०॥
गौतम्यां संगता यास्तु सर्वाश्चापि यथोदिताः । तन्नामधेयतीर्थानि संक्षेपाच्छृणु नारद ॥२१॥
सोमतीर्थं च गान्धर्वं देवतीर्थमतः परम् । [1]पूर्णातीर्थं ततः शालं श्रीपर्णासंगमं तथा ॥२२॥
स्वागतासंगमं पुण्यं कुसुमायाश्च संगमम् । पुष्टिसंगममाख्यातं कर्णिकासंगमं शुभम् ॥२३॥
वैणवीसंगमश्चैव कृशरासंगमस्तथा । वासवीसंगमश्चैव [2]शिवशर्या तथा शिखी[3] ॥२४॥
कुसुम्भिका [4]उपारथ्या शान्तिजा देवजा तदा । अजो वृद्धः सुरो भद्रो गौतम्या सह संगताः ॥२५॥

ब्रह्मा ने कहा—इन्द्र की घोषणा के अनुसार स्त्रीप्रेमी गन्धर्वों ने सोम को देकर बदले में सरस्वती को ले लिया । अब सोम देवताओं के अधिकार में आ गया और सरस्वती गन्धर्वों की हो गयी, फिर भी वागीश्वरी देवों के ही समीप रहती थी ॥१४-१५॥ प्रतिदिन एकान्त भाव से (छिपे रूप में) आती थी और देवों को उपांशु (मौन) रहने के लिए कहती थी । नारद ! इसी कारण यज्ञ में सोम को खरीदा जाता है ॥१६॥ और सोमक्रय के समय उपांशु व्यवहार किया जाना चाहिये अर्थात् मौन रहना चाहिये । इस प्रकार चतुराई से सोम और सरस्वती दोनों देवताओं के ही अधिकार में रह गये ॥१७॥ गन्धर्वों के साथ न तो सोम और न तो सरस्वती ही थी । सोम के इस प्रकार प्राप्त हो जाने पर उस गौतमीतट पर यज्ञ में सब गौयें, देव, पर्वत, यक्ष, रक्ष, सिद्ध, साध्य, मुनि, गुह्यक, गन्धर्व, मरुत, पन्नग, सब ओषधियाँ, मातृगण, लोकपाल, रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विन् अथवा जो और यज्ञभाग के अधिकारी देवता थे आये ॥१८-१९॥ मुने ! पचीस नदियाँ गंगा में आकर मिल गयीं । जहाँ पूर्णाहुति दी गयी, वह पूर्णाख्यान नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥२०॥ गौतमी में जितनी नदियाँ मिलीं, जिनका कि ऊपर वर्णन हो चुका है, नारद ! उन नामों से प्रसिद्ध तीर्थों का नाम थोड़े में सुनो ॥२१॥ सोमतीर्थ, गान्धर्वतीर्थ, देवतीर्थ, पूर्णातीर्थ, शाल, श्रीपर्णा-संगम, पवित्र स्वागता-संगम, कुसुमासंगम, प्रसिद्ध पुष्टिसंगम शुभकर्णिकासंगम तथा वैष्णवीसंगम, कृशरासंगम, वासवीसंगम, शिवशर्यासंगम, शिखी, कुसुम्भिका, उपास्थ्या, शान्तिजा ।, देवजा, वृद्धअज और भद्रसुर, इतनी नदियाँ और नद गौतमी के साथ सम्मिलित हुए ॥२२-२५॥ इसके अतरिक्त बहुत-सी नदियाँ और नद सम्मिलित

१क. पूर्णती० । २घ. शिल्या आर्या । ३घ. शिली । ४घ. थया रन्तिदा देवनो नदः । आजो बुध्न्यः सरो ।

एते चान्ये च बहवो नदीनदसहायगाः । पृथिव्यां यानि तीर्थानि ह्यगमन्देवपर्वते ।।२६।।
सोमार्थं वै तथा चान्येऽप्यागमन्मखमण्डपम् । तानि तीर्थानि गङ्गायां संगतानि यथाक्रमम् ।।२७।।
नदीरूपेण कान्येव नदरूपेण कानिचित् । सरोरूपेण कान्यत्र स्तवरूपेण कानिचित् ।।२८।।
तान्येव सर्वतीर्थानि विख्यातानि पृथक्पृथक् । तेषु स्नानं जपो होमः पितृतर्पणमेव च ।।२९।।
सर्वकामप्रदं पुंसां भुक्तिदं मुक्तिभाजनम् । एतेषां पठनं चापि स्मरणं वा करोति यः ।।
सर्वपापविनिर्मुक्तो[1] याति विष्णुपुरं जनः ।।३०।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये पूर्णादिपञ्चविंशतिनदी-
देवनदीनदसंमवर्णनं नाम पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ।।१०५।।
गौतमीमाहात्म्ये षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।।३६।।

अथ षडधिकशततमोऽध्यायः

देवदानवानां मेरुपर्वतं प्राप्य मन्त्रकरणम्

ब्रह्मोवाच

प्रवरासंगमो[2] नाम श्रेष्ठा चैव[3] महानदी । यत्र सिद्धेश्वरो देवः सर्वलोकोपकारकृत् ।।१।।

हुए । उस देवगिरि पर पृथिवी के जितने तीर्थ आये थे, वे सभी तथा अन्य भी सोम के लिए उस यज्ञ-मंडप में आये ।।२६½।। उन सब तीर्थों में से कुछ नदी रूप में, कुछ नद रूप में, कुछ सरोवर के रूप में और कुछ स्तव (स्तुति) के रूप में ही गौतमी गंगा में सम्मिलित हुए ।।२७-२८।। वे सभी तीर्थ पृथक्-पृथक् प्रसिद्ध हैं । उन तीर्थों में स्नान, जप, होम और पितृतर्पण आदि कर्म मनुष्यों के लिए सब मनोरथ तथा भुक्ति और मुक्ति के देने वाले हैं । इन तीर्थों की महिमा का जो कोई पठन या स्मरण करता है वह भी सब पापों से मुक्त होकर विष्णुलोक को प्राप्त करता है।।१९।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में पूर्णा आदि पचीस नदी-देवनदी-नद-संगम वर्णन नामक
एक सौ पाँचवाँ अध्याय समाप्त ।।१०५।।

अध्याय १०६

देवता और दानवों का और सुमेरुपर्वत पर जाकर मंत्रणा करना

ब्रह्मा ने कहा—प्रवरा-संगम नामक तीर्थ और प्रवरा नामक श्रेष्ठ महानदी है । जहाँ सब लोक के उपकार

---

[1] घ. ०र्मुक्तश्चान्ते विष्णुपदं व्रजेत् । पुण्याप्रवरयोर्मध्ये नद्यो विंशतिरीरितः । वृद्धाप्रवरयोर्मध्ये या भूमिः श्रेयसंयुता । तत्रस्था प्राणिनः सर्वे भुक्तिभाजो न संशयः । अहं च वा य आसीच्च सृष्ट्यर्थे यजनं कृतम् । प्रणीतासंगमायार्थे पुरतः कथयामि ते । इ० । [2] क. ०गमं श्रेष्ठं श्रे० । [3] घ. सैव ।

देवानां दानवानां च संगमोऽभूत्सुदारुणः । तेषां परस्परं वाऽपि प्रतिश्चाभून्महामुने ॥२॥
तेऽप्येवं मन्त्रयामासुर्देवा वै दानवा मिथः । मेरुपर्वतमासाद्य परस्परहितैषिणः ॥३॥

देवदैत्या ऊचुः

अमृतेनामरत्वं स्यादुत्पाद्यामृतमुत्तमम् । पिबामः सर्व एवैते भवामश्चामरा वयम् ॥४॥
एकीभूत्वा वयं लोकान्पालयामः सुखानि च । प्राप्स्यामः संगरं हित्वा संगरो दुःखकारणम् ॥५॥
प्रीत्या चैवार्जितानर्थान्भोक्ष्यामो गतमत्सराः । यतः स्नेहेन वृत्तिर्या साऽस्माकं सुखदा सदा ॥६॥
वैपरीत्यं तु यद्वृत्तं न स्मर्तव्यं कदाचन । न च त्रैलोक्यराज्येऽपि कैवल्ये वा सुखं मनाक् ॥
तदूर्ध्वमपि वा यत्तु निर्वैरत्वादवाप्यते ॥७॥

ब्रह्मोवाच

एवं परस्परं प्रीताः सन्तो देवाश्च दानवाः । एकीभूताश्च सुप्रीता विमथ्य वरुणालयम् ॥८॥
मन्थानं मन्दरं कृत्वा रज्जुं कृत्वा तु वासुकिम् । देवाश्च दानवाः सर्वे ममन्थुर्वरुणालयम् ॥९॥
उत्पन्नं च ततः पुण्यममृतं सुरवल्लभम् । निष्पन्ने चामृते पुण्ये ते च प्रोचुः परस्परम् ॥१०॥
यामः स्वं स्वमधिष्ठानं कृतकार्याः श्रमं गताः । सर्वे समं च सर्वेभ्यो यथायोग्यं विभज्यताम् ॥११॥
यदा सर्वागमो यत्र यस्मिँल्लग्ने शुभावहे । विभज्यतामिदं पुण्यममृतं सुरसत्तमाः ॥१२॥

करने वाले सिद्धेश्वर महादेव विराजमान हैं। एक समय देवों और दानवों में अति भयंकर युद्ध हुआ। महामुने ! थोड़े समय बाद उन में परस्पर प्रेम भी हो गया। उन देव-दानवों ने आपस में मिल-जुल कर मेरु पर्वत पर परस्पर हित की कामना से परामर्श किया ॥१-३॥

देव-दानवों ने कहा—अमृत से अमरत्व की प्राप्ति होती है। अतः अमृत उत्पन्न कर हम सभी पान करें जिससे हम सब अमर हो जायँ। तब हम एक होकर लोक-पालन करें और युद्ध का त्याग कर सुख-भोग करें। वास्तव में युद्ध ही दुःख का कारण है। इस प्रकार प्रेमपूर्वक अपने श्रम से अर्जित सम्पत्ति का परस्पर मात्सर्य छोड़ कर भोग करेंगे। क्योंकि प्रेमपूर्वक जो हम लोगों का पारस्परिक व्यवहार होगा वह सदा सुखकर होगा। आज तक के जो विपरीत व्यवहार हुए उनका स्वप्न में भी स्मरण नहीं करना चाहिये। जो सुख वैर-कलह को छोड़कर जीव यापन करने में मिलता है उसका स्वल्पांश भी त्रिभुवन के राज्य अथवा मुक्ति की प्राप्ति में नहीं।॥४-७॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार देव और दानव परस्पर की प्रीति-वार्ता से प्रसन्न होकर एक हो गये, और प्रसन्नतापूर्वक समुद्र को मथकर अमृत उत्पन्न करने की युक्ति सोची। मन्दराचल को मथनी और वासुकि को रस्सी बनाकर सब देवों और दानवों ने समुद्र को मथ डाला। मन्थन के बाद समुद्र से देवों का प्रिय, पवित्र अमृत निकला। अमृत उत्पन्न हो जाने पर उन लोंगों ने परस्पर विचार किया—हम सब अपने-अपने स्थान को इस समय चले, अब तो हम सफलमनोरथ हो गये, सारा श्रम दूर हो गया। पुनः जब सब लोग शुभ लग्न में जहाँ-कहीं एकत्र होंगें तब सब देवता सबकों यथाभाग यह पवित्र अमृत बाँट देंगे।

इत्युक्त्वा ते ययुः सर्वे दैत्यदानवराक्षसाः । गतेषु दैत्यसंघेषु देवाः सर्वेऽन्वमन्त्रयन् ॥१३॥

देवा ऊचः

गतास्ते रिपवोऽस्माकं दैवयोगादरिंदमाः । रिपूणाममृतं नैव देयं भवति सर्वथा ॥१४॥

ब्रह्मोवाच

बृहस्पतिस्तथेत्याह पुनराह सुरानिदम् ॥१५॥

ब्रहस्पतिरुवाच

न जानन्ति यथा पापा पिबध्वं च तथाऽमृतम् । अयमेवोचितो मन्त्रो यच्छत्रूणां पराभवः ॥१६॥
द्वेष्याः सर्वात्मना द्वेष्या इति नीतिविदो विदुः। न विश्वास्या न चाऽऽख्येया नैव मन्त्र्याश्च शत्रवः ॥१७॥
तेभ्यो न देयममृतं भवेयुरमरास्ततः। अमरेषु च जातेषु तेषु दैत्येषु शत्रुषु ॥
ताञ्जेतुं नैव शक्ष्यामो न देयममृतं तः ॥१८॥

ब्रह्मोवाच

इति संमन्त्र्य ते देवा वाचस्पतिमथाब्रुवन् ॥१९॥

देवा ऊचुः

क्व यामः कुत्र मन्त्रः स्यात्क्व पिबामः क्व संस्थितिः। कुर्मस्तदेव प्रथमं वद वाचस्पते तथा ॥२०॥

यह कहकर वे सव दैत्य, और राक्षस चले गये। उन दैत्य-समूहों के चले जाने पर सव देवता परामर्श करने लगे ॥८-१३॥

देवों ने कहा—शत्रुनाशक ! दैवयोग से हम लोगों के वे शत्रु चले गये । शत्रुओं को किसी भी प्रकार से अमृत देना उचित नहीं ॥१४॥

ब्रह्मा ने कहा—वृहस्पति ने भी इसका समर्थन किया । पुनः उन्होंने देवताओं से कहा ॥१५॥

बृहस्पति ने कहा—तुम लोग यह अमृत पी जाओ । किसी प्रकार वे पापी राक्षस इस भेद को न जान पायें । यह उचित मन्त्र है कि शत्रुओं की हार हो । नीतिज्ञों ने कहा है कि शत्रुओं से सव प्रकार से द्वेष करना चाहिये । शत्रु किसी प्रकार भी विश्वसनीय नहीं, शत्रुओं से कोई हृदय की बात नहीं कहनी चाहिये, न तो उनसे रहस्यमय परामर्श ही करना चाहिये । उनको अमृत नहीं देना चाहिये अन्यथा अमृत-पान से वे अमर हो जायेंगे । उन शत्रु दैत्यों के अमर हो जाने पर हम किसी प्रकार उनको जीत न सकेंगे । इसलिए उनको अमृत नहीं देना चाहिए ॥१६-१८॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार परस्पर मन्त्रंणा कर देवताओं ने पुनः बृहस्पति से कहा ॥१९॥

देवताओं ने कहा—वाचस्पति ! कहाँ जायँ, कहाँ परामर्श किया जाय और कहाँ स्थित होकर हम लोग अमृत पान करें। आप जैसे कहेंगे, हम वही करेंगे, आप कहिये ॥२०॥

बृहस्पतिरुवाच

यान्तु ब्रह्माणममराः पृच्छन्त्वत्र गतिं पराम् । स तु ज्ञाता च वक्ता च दाता चैव पितामहः ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

बृहस्पतेर्वचः श्रुत्वा मदन्तिकमथाऽऽगमन् । नमस्य मां सुराःसर्वे यद्वृत्तं तन्न्यवेदयन् ॥२२॥
तद्देववचनात्पुत्र तैः सुरैरगमं हरिम् । विष्णवे कथितं सर्वं शंभवे विषहारिणे ॥२३॥
अहं विष्णुश्च शंभुश्च देवगन्धर्वकिंनरैः । मेरुकंदरमागत्य न जानन्ति यथाऽसुराः ॥२४॥
रक्षकं च हरिं कृत्वा सोमपानाय तस्थिरे । आदित्यस्तत्र विज्ञाता सोमभोज्यानथेतरान् ॥२५॥
सोमो दाताऽमृतं भागं चक्रधृग्रक्षकस्तथा। नैव जानन्ति तद्दैत्या दनुजा राक्षसास्तथा ॥२६॥
विना राहुं महाप्राज्ञं सैंहिकेयं च सोमपम् । कामरूपधरो राहुर्मरुतां मध्यमाविशत् ॥२७॥
मरूद्रूपं समास्थाय पानपात्रधरस्तथा । ज्ञात्वा दिवाकरो दैत्यं तं सोमाय न्यवेदयत् ॥२८॥
तदा तदमृतं तस्मै दैत्यायादैत्यरूपिणे । दत्त्वा सोमं तदा सोमो विष्णवे तन्न्यवेदयत् ॥२९॥
विष्णुः पीतामृतं दैत्यं चक्रेणोद्यम्य तच्छिरः । चिच्छेद तरसा वत्स तच्छिरस्त्वमरं त्वभूत् ॥३०॥
शिरोमात्रविहीनं यद्देहं तदपतद्भुवि। देहं तदमृतस्पृष्टं पतितं दक्षिणे तटे ॥३१॥
गौतम्या मुनिशार्दूल कम्पयद्वसुधातलम् । देहं चाप्यमरं पुत्र तदद्भुतमिवाभवत् ॥३२॥

बृहस्पति ने कहा—सब देवता ब्रह्मा के पास जायँ और इस विय में उन्हीं से उचित राय पूछें। वे पितामह ज्ञाता, वक्ता और दाता हैं ॥२१॥

ब्रह्मा बोले—बृहस्पति की बातें सुनकर देवता मेरे पास आये और मुझे नमस्कार करके जो कुछ हुआ था कह सुनाया ॥२२॥ पुत्र ! उन देवताओं के कथनानुसार मैं उन लोगों के साथ विष्णु के समीप गया। सारा रहस्य विष्णु और विषपान करने वाले शंकर से कह दिया गया ॥२३॥ मैं, विष्णु, शंभु, देव, गन्धर्व और किन्नर मेरु की कन्दरा में आकर जिस प्रकार असुर न जान पायें, उस प्रकार ॥२४॥ हरि को रक्षक बनाकर सोम पान के लिए बैठ गये। वहाँ आदित्य ही सोम पान के योग्य और अयोग्य व्यक्तियों को जानते थे ॥२५॥ सोम देव अमृत को बाँटने वाले तथा चक्रधारी विष्णु रक्षक थे, इस रहस्य को महाबुद्धिमान्, और सोम-पायी सिंहिका-सुत राहु को छोड़कर अन्य दैत्य, दानव तथा राक्षस नहीं जानते ते ॥२६॥ माया रूपधारी राहु मरुद्गणों के मध्य घुस गया और मरुद् का रूप धारण कर पान-पात्र हाथ में लेकर बैठ गया ॥२७॥ दिवाकर ने उस रहस्यमय दैत्य को जानकर सोम को बता दिया ॥२८॥ उस समय देवरूपधारी उस दैत्य को सोम अमृत दे चुके थे, तब इस घटना को उन्होंने विष्णु से कहा ॥२९॥ विष्णु ने अमृत पान कर चुके उस देत्य के सिर को चक्र उठाकर बलपूर्वक काट डाला ॥३०॥ वत्स ! काटने पर भी उसका सिर अमर हो गया। सिर से रहित जो कबन्ध था वह पृथिवी पर गिर पड़ा। मुनिशार्दूल ! वह अमृत से स्पृष्ट शरीर गौतमी के दक्षिण तट पर पृथ्वीतल को कँपाता हुआ-सा गिर पड़ा। पुत्र ! उस अमर देह की अद्भुत अवस्था हो गयी ॥३१-३२॥ देह सिर की अपेक्षा रखती और सिर देह के

देहं च शिरसोऽपेक्षि शिरो देहमपेक्षते । उभयं चामरं जातं दैत्यश्चायं महाबलः ।।३३।।
शिरःकाये समाविष्टं सर्वान्भक्षयते सुरान् । तस्माद्देहमिदं पूर्वं नाशयामो महीगतम् ।।
ततस्ते शंकरं प्राहुर्देवाः सर्वे ससंभ्रमाः ।।३४।।

देवा ऊचुः

महीगतं दैत्यदेहं नाशयस्व सुरोत्तम । त्वं देव करुणासिन्धुः शरणागतरक्षकः ।।३५।।
शिरसा नैव युज्येत दैत्यदेहं तथा कुरू ।।३६।।

ब्रह्मोवाच

प्रेषयामास चेशोऽपि श्रेष्ठां शक्तिं तदाऽऽत्मनः । मातृभिः सहितां देवीं मातरं लोकपालिनीम् ।।३७।।
ईशायुधधरा देवी ईशशक्तिसमन्विता । महीगतं यत्र देहं तत्रागाद्भक्ष्यकाङ्क्षिणी ।।३८।।
शिरोमात्रं सुराःसर्वे मेरौ तत्रैव सान्त्वयन् । देहो देव्या[1] पुनस्तत्र युयुधे बहवः समाः ।।३९।।
राहुस्तत्र सुरानाह भित्त्वा देहं पुरा मम(?) । अत्राऽऽस्ते रसमुत्कृष्टं तदाकृष्य शरीरतः(?) ।।४०।।
पृथग्भूते रसे देहं प्रवरेऽमृतमुत्तमम् । भस्मीभूयात्क्षणेनैव तस्मात्कुर्वन्तु तत्पुरा ।।४१।।

ब्रह्मोवाच

एतद्राहुवचः श्रुत्वा प्रीताः सर्वेऽसुरारयः । अभ्यषिञ्चन्ग्रहाणां त्वं ग्रहो भूया मुदाऽन्वितः ।।४२।।

बिना अलग नहीं रह सकता परन्तु वह महावली (सिर और धड़) उभय रूप में भी अमर हो गया ।।३३।। देवताओं ने सोचा कि यदि सिर पुनः धड़ पर जुट जायगा तो यह राक्षस सब देवों को खा जायेगा; इसलिए पृथ्वी पर पड़े इस शरीर का पहले ही नाश कर दिया जाय। यह सोच कर उन देवताओं ने वड़ी शीघ्रता से शंकर के पास जाकर निवेदन किया ।।३४।।

देवों ने कहा—सुरोत्तम ! पृथ्वी पर पड़े इस दैत्य-शरीर को नष्ट कीजिये। देव ! आप करुणा के सागर हैं, शरणागत जनों के एकमात्र रक्षक हैं। यह देह सिर से युक्त न होने पाये, ऐसा कोई उपाय कीजिये ।।३५-३६।।

ब्रह्मा ने कहा—देवों की प्रार्थना सुनकर शंकर ने अपनी श्रेष्ठ शक्ति लोकपालक माता, देवी चण्डिका को मातृकाओं के साथ भेजा। शिव के आयुधों और उनकी शक्ति से युक्त होकर वह देवी उस दैत्य-शरीर को खा जाने की इच्छा से वहाँ गयी। उधर सब देवता केवल सिर भाग को उसी मेरु पर्वत पर रोक रखे। उधर वह देह देवी के साथ बहुत वर्षों तक युद्ध करती रही। अन्त में मेरु स्थित राहु के सिर ने देवों से कहा कि पहले मेरे शरीर को फाड़ कर उसमें से उत्तम रस को शरीर से अलग खींच लो। उस उत्तम रस के अलग हो जाने पर वह अमर शरीर क्षण भर में ही भस्म हो जायगा। इसलिए पहले इस कार्य को करें ।।३७-४१।।

ब्रह्मा बोले—राहु की कही हुई बात को सुनकर सब देव अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन लोगों ने राहु का प्रसन्नतापूर्वक अभिषेक करते हुए कहा कि आनन्दपूर्वक ग्रहों के मध्य एक ग्रह हो जाओ।।४२।। देवताओं के कथनानुसार

---

[1] घ. ०व्या सह तदा यु० ।

तद्देववचनाच्छक्तिरीश्वरी या निगद्यते । देहं भित्त्वा दैत्यपतेः सुरशक्तिसमन्विता ॥४३॥
आकृष्य शीघ्रमुत्कृष्टं प्रवरं चामृतं बहिः । स्थापयित्वा तु तद्देहं भक्षयामास चाम्बिका ॥४४॥
कालरात्रिर्भद्रकाली प्रोच्यते या महाबला । स्थापितं रसमुत्कृष्टं रसानां प्रवरं रसम्(?) ॥४५॥
व्यस्रवत्स्थापितं तत्तु प्रवरा साऽभवन्नदी । आकृष्टममृतं चैव स्थापितं साऽप्यभक्षयत् ॥४६॥
ततः श्रेष्ठा नदी जाता प्रवरा चामृता शुभा । राहुदेहसमुद्भूता रुद्रशक्तिसमन्विता ॥४७।
नदीनां प्रवरा रम्या चामृता प्रेरिता तथा । तत्र पञ्च सहस्राणि तीर्थानि गुणवन्ति च ॥४८॥
तत्र शंभुः स्वयं तस्थौ सर्वदा सुरपूजितः । तस्यै तुष्टाः सुराः सर्वे देव्यै नद्यै पृथक् पृथक् ॥४९॥
वरान्ददुर्मुदा युक्ता यथा पूजामवाप्स्यति । शंभुः सुरपतिर्लोके तथा पूजामवाप्स्यसि ॥५०॥
निवासं कुरु देवि त्वं लोकानां हितकाम्यया । सदा तिष्ठ रसेशानि सर्वेषां सर्वसिद्धिदा ॥५१॥
स्तवनात्कीर्तनाद्ध्यानात्सर्वकामप्रदायिनी । त्वां नमस्यन्ति ये भक्त्या किंचिदापेक्ष्य सर्वदा ॥५२॥
तेषां सर्वाणि कार्याणि भवेयुर्देवताज्ञया । शिवशक्त्योर्यतस्तस्मिन्निवासोऽभूत्सनातनः ॥५३॥
अतो वदन्ति मुनयो निवासपुरमित्यदः । प्रवरायाः पुरा देवाः सुप्रीतास्ते वरान्ददुः ॥५४॥
गङ्गायाः संगमो यस्ते विख्यातः सुरवल्लभः । तत्राऽऽप्लुतानां सर्वेषां भुक्तिर्वा मुक्तिरेव च ॥५५॥
यद्वाऽपि मनसः काम्यं देवानामपि दुर्लभम् । स्यात्तेषां सर्वमेवेह एवं दत्त्वा सुरा ययुः ॥५६॥

ईश्वरी नाम से विख्यात शिवशक्ति ने देवों की शक्ति से उत्साहित होकर दैत्यराज का शरीर फाड़ कर शीघ्र ही उस उत्कृष्ट अमृत रस को खींचकर बाहर निकाल डाला। और कालरात्रि, भद्रकाली एवं महाबला कही जानेवाली वह अम्बिका उसके शरीर को खा गयी और उस रस को एक स्थान पर स्थापित कर दिया ॥४३-४५॥ उस रखे गये रस का जो भाग बाहर बह गया उससे प्रवरा नाम की उत्तम और शुभ नदी हो गयी। उस घटस्थापित उत्तम अमृत को भी वह अम्बिका खा गयी ॥४६॥ इस प्रकार राहु देह से निकली हुई, रुद्रशक्ति से युक्त वह शुभ श्रेष्ठ प्रवरा नाम की अमृत सरिता उत्पन्न हो गयी। वहाँ पाँच हजार पवित्र पुण्यप्रद तीर्थ सर्वदा निवास करते हैं ॥४७-४८॥ वहाँ देवपूजित शंभु सर्वदा विद्यमान रहते हैं। देवताओं ने प्रसन्न होकर उस देवी (नदी) को पृथक्-पृथक वरदान दिया कि जिस प्रकार भगवान् शंभु लोक में पूजा प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार तुभ भी लोक में पूजा प्राप्त करोगी ॥४९-५०॥ देवि ! तुम लोकहित की कामना से सर्वदा इस पृथ्वी पर निवास करो, रसेशानि ! सबको सर्वदा सिद्धि प्रदान करने वाली तुम सर्वदा यहाँ विराजमान रहो ॥५१॥ स्तुति, कीर्तन और ध्यान करने से मनुष्यों को सब मनोरथ देने वाली बनो। जो भक्तिपूर्वक किसी मनोरथ की पूर्ति के लिए सर्वदा तुम्हें नमस्कार करेंगे उन भक्तों के सभी कार्य देवताओं की आज्ञा से अवश्य पूर्ण होंगे। यतः वहाँ शिव और शक्ति का सर्वदा निवास रहता है, इसलिए उस तीर्थ को मुनिगण 'निवासपुर' कहते हैं। इस भाँति देवताओं ने प्राचीन काल में प्रवरा को प्रसन्न होकर वर प्रदान किया ॥५२-५४॥ जो देवों का अत्यन्त प्रिय विख्यात गंगा-संगम है वहाँ स्नान करने वालों को भुक्ति और मुक्ति अथवा जो भी उनका मनोभिलषित है चाहे वह देव-दुर्लभ ही क्यों न हो, सब उनको प्राप्त हों, ऐसा वर देकर देवता चले गये ॥५५-५६॥ तब से वह

ततः प्रभृति तत्तीर्थं प्रवरासंगमं विदुः । प्रेरिता देवदेवेन शक्तिर्या प्रेरिता तु सा ॥५७॥
अमृता[1] सैव विख्याता प्रवरैवं महानदी ॥५८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे शिवप्रेरितामृतासंगमादितीर्थवर्णनं नाम षडधिकशततमोऽध्यायः ॥१०६॥

गौतमीमाहात्मये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

अथ सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

वृद्धासंगमतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

वृद्धासंगममाख्यातं यत्र वृद्धेश्वरः शिवः । तस्याऽऽख्यानं प्रवक्ष्यामि शृणु पापप्रणाशनम् ॥१॥
गौतमो वृद्ध इत्युक्तो मुनिरासीन्महातपाः । यदा पुराऽभवद्बालो गौतमस्य सुतो द्विजः ॥२॥
अनासः स पुरोत्पन्नस्तस्माद्विकृतरूपधृक् । स वैराग्याज्जगामाथ देशं तीर्थमितस्ततः ॥३॥
उपाध्यायेन नैवाऽसील्लज्जितस्य समागमः । शिष्यैरन्यैः सहाध्यायो लज्जितस्य च नाभवत् ॥४॥

तीर्थ प्रवरा संगम के नाम से प्रसिद्ध हो गया । इस देवदेव शंकर ने जिस शक्ति को प्रेरित किया था, वही प्रेरित होने पर विख्यात अमृत स्वरूपिणी महानदी प्रवरा हो गयी ॥५०-५८॥

श्री ब्रह्मपुराण में शिव-प्रेरित अमृतासंगामादि तीर्थ वर्णन नामक
एक सौ छठा अध्याय समाप्त ॥१०६॥

अध्याय १०७

वृद्धासंगमतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—जहाँ वृद्धेश्वर शिव निवास करते हैं उस वृद्धासंगम नाम से प्रसिद्ध तीर्थ की पापविनाशक कथा का वर्णन कर रहा हूँ, उसको सुनो ॥१॥ वृद्ध गौतम नामक एक महातपस्वी मुनि थे । बहुत पहले गौतम मुनि को एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि जन्म से ही नासिका हीन था । इसलिए विरूप होने के कारण विरक्त होकर वह बाल गौतम इधर उधर देश और तीर्थ का भ्रमण करने लगा ॥२-३॥ अपनी विरूपता से लज्जित होने के कारण वह उपाध्याय (विद्यागुरु) के समीप न जा सका, न तो अन्य शिष्यों के साथ उस संकोचशील गौतम का सहाध्ययन ही हुआ ॥४॥ किसी प्रकार उसके पिता गौतम ने उसका उपनयन संस्कार कर दिया । इतने ही ब्रह्म-

---

[1] क । अमृतं ।

उपनीतः कथंचिच्च पित्रा वै गौतमेन सः । एतावता गौतमोऽपि व्यगमच्चरितुं बहिः ॥५॥
एवं बहुतिथे काले ब्रह्ममात्रा धृते द्विजे । नैव चाध्ययनं तस्य संजातं गौतमस्य हि ॥६॥
नैव शास्त्रस्य चाभ्यासो गौतमस्याभवत्तदा । अग्निकार्यं ततश्चक्रे नित्यमेव यतव्रतः ॥७॥
गायत्र्यभ्यासमात्रेण ब्राह्मणो नामधारकः । अग्न्युपासनमात्रं च गायत्र्यभ्यसनं तथा ॥८॥
एतावता ब्राह्मणत्वं गौतमस्याभवन्मुने । उपासतोऽग्निं विधिवद्गायत्रीं च महात्मनः ॥९॥
तस्याऽऽयुर्ववृधे पुत्र गौतमस्य चिरायुषः । न दारसंग्रहं लेभे वैव दाताऽस्ति कन्याकाम् ॥१०॥
तथा चरंस्तीर्थदेशे वनेषु विविधेषु च । आश्रमेषु च पुण्येषु अटन्नास्ते स गौतमः ॥११॥
एवं भ्रमञ्शीतगिरिमाश्रित्याऽऽस्ते स गौतमः । तत्रापश्यद्गुहां रम्यां वल्लीविटपमालिनीम् ॥१२॥
तत्रोपविश्य विप्रेन्द्रो वस्तुं समकरोन्मतिम्[1] । चिन्तयंस्तु प्रविष्टोऽसावपश्यत्स्त्रियमुत्तमाम् ॥१३॥
शिथिलाङ्गीमथ कृशां वृद्धां च तपसि स्थिताम् । ब्रह्मचर्येण वर्तन्तीं विरागां[2] रहसि स्थिताम् ॥१४॥
स तां दृष्ट्वा मुनिश्रेष्ठो नमस्काराय तस्थिवान् । नमस्यन्तं मुनिश्रेष्ठं तं गौतममवारयत् ॥१५॥

वृद्धोवाच

गुरुस्त्वं भविता मह्यं न मां वन्दितुमर्हसि । आयुर्विद्या धनं कीर्तिधर्मः स्वर्गादिकं च यत् ॥
तस्य नश्यति वै सर्वं यं नमस्यति वै गुरुः ॥१६॥

चिह्न से (यज्ञोपवित संस्कार) से युक्त होकर वह बाहर भ्रमण करने चला गया ॥५॥ इस प्रकार यज्ञोपवीत मात्र (ब्रह्म-चिह्न) धारण किये हुए उस ब्राह्मण के जीवन का बहुत अंश बीत गया । उस द्विज गौतम ने न तो अध्ययन ही किया और न तो शास्त्रों का अभ्यास ही । परन्तु उस संयम व्रत वाले गौतम ने अग्न्याधान अवश्य किया और गायत्री-जप के अभ्यास से ब्रह्मत्व की रक्षा अवश्य करता रहा । मुने ! इस प्रकार अग्निपूजा और गायत्रीजप मात्र ही उसके ब्राह्मणत्व का प्रतीक रहा ॥६-८$\frac{१}{२}$॥ विधिपूर्वक अग्नि की उपासना एवं गायत्री का जप करते करते, हे पुत्र ! व दीर्घजीवी महात्मा ब्राह्मण की आयु अधिक हो चली । परन्तु उसका विवाह नहीं हुआ क्योंकि उस विरूप को कोई अपनी कन्या देने वाला नहीं था ॥९-१०॥ इस प्रकार अविवाहित वह गौतम तीर्थों, विविध वनों, और पुण्य आश्रमों में भटकता हुआ समय बिताने लगा ॥११॥ एक समय वह घूमता हुआ हिमालय पहाड़ पर पहुँचा । वहाँ उसने लताओं और वृक्षमालाओं से सुशोभित एक रमणीय गुफा को देखा ॥१२॥ वहीं बैठकर उस विप्रेन्द्र ने उसी गुफा में निवास करने का विचार किया । इसी विचार से वह उस गुहा में प्रविष्ट हुआ, इतने में उसने एक उत्तम स्त्री को, जो कृशकाय और वृद्ध थी, जिसके अंग शिथिल हो गये थे, जो सर्वदा एकान्त में रहने वाली, वीतराग और ब्रह्मचर्यपरायण थी, देखा । वह मुनिश्रेष्ठ उसको देखकर नमस्कार करने के लिये उद्यत हुआ । यह देखकर उस वृद्धा ने नमस्कारोन्मुख उस मुनि गौतम को रोका ॥१३-१५॥

वृद्धा ने कहा—तुम मेरे भविष्यद् गुरु हो, मुझे नमस्कार मत करो, उस व्यक्ति की आयु, विद्या, धन, कीर्ति, धर्म, स्वर्ग आदि सब कुछ नष्ट हो जाते हैं जिसको गुरुजन नमस्कार करते हैं ॥१६॥

---

[1] घ. ०म् । तदाऽन्तस्तु । [2] घ. कुमारीं ।

ब्रह्मोवाच

कृताञ्जलिपुटस्तां वै गौतमः प्राह विस्मितः ॥१७॥

गौतम उवाच

तपस्विनी त्वं वृद्धा च गुणज्येष्ठा च भामिनी । अल्पविद्यस्त्वल्पवया अहं तव गुरु कथम् ॥१८॥

वृद्धोवाच

आर्ष्टिषेणप्रियपुत्र ऋतुध्वज इति श्रुतः । गुणवान्मतिमाञ्शूरः क्षत्रधर्मपरायणः ॥११॥
स कदाचिद्वनं प्रायान्मृगयाकृष्टचेतनः । विश्राममकरोदस्यां गुहायां स ऋतध्वजः ॥२०॥
युवा स मतिमान्दक्षो बलेन महता वृतः । तं विश्रान्तं नृपवरमप्सरा ददृशे ततः ॥२१॥
गन्धर्वराजस्य सुता सुश्यामा इति विश्रुता । तां दृष्ट्वा चकमे राजा राजानं चकमे च सा ॥२२॥
इति क्रीडा समभवत्तया राज्ञो महामते । निवृत्तकामो राजेन्द्रस्तामापृच्छ्याऽऽगमद्गृहम् ॥२३॥
उत्पन्नाऽहं ततस्तस्यां सुश्यामायां महामते । गच्छन्ती मां तदा माता इदमाह तपोधन ॥२४॥

सुश्यामोवाच

यस्त्वस्यां प्रविशेद्भद्रे स ते भर्ता भविष्यति ॥२५॥

वृद्धोवाच

इत्युक्त्वा सा जगामाथ माता मम महामते । तस्मादत्र प्रविष्टस्त्वं पुमान्नान्यः कदाचन ॥२६॥

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर विस्मित गौतम ने हाथ जोड़कर उस वृद्ध ब्रह्मचारिणी से कहा ॥१७॥

गौतम ने कहा—तुम तपस्विनी, वृद्ध और गुणश्रेष्ठ स्त्री हो, मैं, अल्पज्ञ तथा अल्प वय वाला व्यक्ति किस प्रकार तुम्हारा गुरु हो सकता हूँ ॥१८॥

वृद्धा ने कहा—ऋतुध्वज नाम का अर्ष्टिषेण का प्रिय पुत्र था। वह बड़ा ही शूर, गुणशाली, बुद्धिमान् और क्षत्रिय धर्म का पालन करने वाला था। वह ऋतुध्वज किसी समय मृगया (शिकार) खेलने की प्रवल इच्छा से प्रेरित होकर वन में आया और इसी गुहा में विश्राम करने लगा। वह युवक, बुद्धिमान्, कुशल, महावलवान् ऋतुध्वज यहाँ विश्राम कर रहा था कि उस श्रेष्ठ नृप को गन्धर्वराज की कन्या सुश्यामा नामक अप्सरा ने देख लिया। राजा उसको देखकर कामासक्त हो गये और वह राजा को देखकर। महामति ! इसलिए राजा का अप्सरा के साथ प्रेम-सम्वन्ध हो गया। राजेन्द्र की काम-पिपासा जब शान्त हो गयी तब उससे परिचय-भाषण कर अपने घर को चले गये। महामते ! तदनन्तर मैं उस सुश्यामा के गर्भ से उत्पन्न हुई। तपोधन ! मुझको यहीं छोड़कर जाती हुई माता ने मुझसे यह कहा— ॥१९-२४॥

सुश्यामा ने कहा—भद्रे ! जो इस गुहा में प्रवेश करेगा वहीं तुम्हारा भर्ता होगा ॥२५॥

वृद्धा ने कहा—महामति ! इसके बाद यह कहकर वह मेरी माता चली गयी। इस कारण आज इस गुहा में आये हुए तुम कभी भी अन्य (अर्थात् पति से अन्य) नहीं हो सकते। मेरे पिता एक हजार अस्सी वर्ष तक राज्य

सहस्राणि तथाऽशीतिं कृत्वा राज्यं पिता मम । अत्रैव च तपस्तप्त्वा ततः स्वर्गमुपेयिवान् ॥२७॥
स्वर्ग यातेऽपि पितरि सहस्राणिर तथा दश । वर्षाणि मुनिशार्दूल राज्यं कृत्वा तथा परः ॥२८॥
स्वर्गं यातो मम भ्राता अहमत्रैव संस्थिता । अहं ब्रह्मन्नान्यवृत्ता न माता न पिता मम ॥२९॥
अहमात्मेश्वरी ब्रह्मन्निष्टा[1] क्षत्रकन्यका । तस्माद्भजस्व मां ब्रह्मान्व्रतस्थां पुरूषार्थिनीम् ॥३०॥

गौतम उवाच

सहस्रायुरहं भद्रे मत्तस्त्वं वयसाऽधिका । अहं बालस्त्वं तु वृद्धा नैवायं घटते मिथः ॥३१॥

वृद्धोवाच

त्वं भर्ता मे पुरा दिष्टो नान्यो भर्ता मतो मम । धात्रा दत्तस्ततस्त्वं मां न निराकर्तुमर्हसि ॥३२॥
अथवा नेच्छसि मां त्वमप्रदुष्टामनुव्रताम् । ततस्त्यक्ष्यामि जीवं में इदानीं तव पश्यतः ॥३३॥
अपेक्षिताप्राप्तितो हि देहिनां मरणं वरम् । अनुरक्तजनत्यागे पातकान्तो न विद्यते ॥३४॥

ब्रह्मोवाच

वृद्धायास्तद्वचः श्रुत्वा गौतमो वाक्यमब्रवीत् ॥३५॥

गौतम उवाच

अहं तपोविरहितो विद्याहीनो ह्यकिंचनः । नाहं वरो हि योग्यस्ते कुरूपो भोगवर्जितः ॥३६॥

पालन कर यहीं तपस्या कर स्वर्ग को चले गये । मुनिशार्दूल ! पिता के स्वर्ग चले जाने पर एक हजार दस वर्ष तक राज्य कर दूसरा मेरा भाई भी स्वर्ग चला गया और मैं यहीं स्थित हूँ। ब्रह्मन् ! मैं अन्य किसी से वृत (ब्याही गयी) नहीं हूँ, न तो मेरी माता और पिता ही हैं। इस समय मैं स्वयं अपनी स्वामिनी हूँ। ब्रह्मन् ! मैं क्षत्रिय-कन्या हूँ, तपस्विनी हूँ, इसलिए पति की इच्छा करने वाली मुझ सदाचारिणी को तुम अपना लो ॥२६-३०॥

गौतम ने कहा—भद्रे ! मै सहस्रायु हूँ, तुम मुझसे आयु में अधिक हो, मैं बालक हूँ, तुम वृद्ध हो, अतः हम दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध उपयुक्त नहीं जँच रहा है ॥३१॥

वृद्धा ने कहा—पहले से ही तुम मेरे भर्ता निर्दिष्ट (कहे गये) हो। ब्रह्मा ने तुम्हारे हाथों मुझे सौंप दिया। इसलिए मेरा अनादर करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। अथवा यदि तुम (निष्पाप) सदाचारिणी, व्रतपरायण मुझको अपनाओगे तो अभी तुम्हारे देखते देखते मैं अपने प्राणों को छोड़ दूँगी। क्योंकि अपेक्षित (मनचाही) वस्तु को न पाने की अपेक्षा मनुष्यों का मर जाना ही अच्छा है। और यह भी समझ लो कि अनुरक्त (प्रेमी) जन के परित्याग में पापों का अन्त भी नहीं है। अर्थात् प्रेमी के परित्याग से अनन्त पाप होते हैं ॥३२-३४॥

ब्रह्मा ने कहा—वृद्धा की उन बातों को सुनकर गौतम ने कहा ॥३५॥

गौतम ने कहा—मैं तपस्या-विमुख, अशिक्षित और धनहीन हूँ, इसलिये कुरूप और भोगरहित मैं तुम्हारे वर बनने के योग्य नहीं हूँ। नासिकाहीन, मूर्ख और तपोहीन मैं क्या करूँ, मैं सर्वदा तुम्हारे लिए अयोग्य हूँ। इसलिए

---

[1] घ. ०न्निर्दिष्टा ।

अनासोऽहं किं करोमि अतपोविद्य एव च । तस्मात्सुरूपं सुविद्यामापाद्य प्रथमं शुभे ॥
पश्चात्ते वचनं कार्यं ततो वृद्धाऽब्रवीद्द्विजम् ॥३७॥

वृद्धोवाच

मया सरस्वती देवी तोषिता तपसा द्विज । तथैवाऽऽपो रूपवत्यो रूपदाताऽग्निरेव च ॥३८॥
तस्माद्वागीश्वरी देवी सा ते विद्यां प्रदास्यति । अग्निश्च रूपवान्देवस्तव रूपं प्रदास्यति ॥३९॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा गौतमं तं वृद्धोवाच विभावसुम् । प्रार्थयित्वा सुविद्यं तं सुरूपं चाकरोन्मुनिम् ॥४०॥
ततः सुविद्यः सुभगः सुकान्तो, वृद्धां स पत्नीमकरोत्प्रीतियुक्तः ।
तया स रेमे बहुला मनोज्ञया, समाः सुखं प्रीतमना गुहायाम् ॥४१॥
कदाचित्तत्र वसतोर्दम्पत्योर्मुदतोर्गिरौ । गुहायां मुनिशार्दूल आजग्मुर्मुनयोऽमलाः ॥४२॥
वसिष्ठवामदेवाद्या ये चान्ये च महर्षयः । भ्रमन्तः पुण्यतीर्थानि प्राप्नुवंस्तस्य तां गुहाम् ॥४३॥
आगतांस्तानृषीञ्ज्ञात्वा गौतमः सह भार्यया । सत्कारमकरोत्तेषां जहसुस्तं च केचन ॥४४॥
ये बाला यौवनोन्मत्ता वयसा ये च मध्यमाः । वृद्धां च गौतमं प्रेक्ष्य जहसुस्तत्र केचन ॥४५॥

ऋषय ऊचुः

पुत्रोऽयं तव पौत्रो वा वृद्धे को गौतमोऽभवत् । सत्यं वदस्व कल्याणि इत्येवं जहसुर्द्विजाः ॥४६॥

शुभे ! पहले तुम मुझको रूपवान् और विद्यवान् बनाओ, पश्चात् मैं योग्य होकर तुम्हारी बातों का पालन करूँगा। यह सुनकर वृद्धा ने ब्राह्मण से कहा ॥३६-३७॥

वृद्धा ने कहा—द्विज ! मैंने अपनी तपस्या से सरस्वती देवी को प्रसन्न कर लिया है, इसी प्रकार रूपवान् जलदेव (वरुण) और रूपदाता अग्नि को भी। इसलिए वह वागीश्वरी देवी तुम्हें विद्या और रूपवान् अग्नि तुमको रूप प्रदान करेंगे ॥३८-३९॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार उस गौतम से कहकर वृद्धा ने सूर्यदेव से प्रार्थना की और उनको प्रार्थना से प्रसन्न कर उस कुरूप मुनि को रूपवान् और विद्वान् बना दिया ॥४०॥ इस प्रकार रूपवान् बनने के बाद उस सुरूप विद्वान् और भाग्यशाली ब्राह्मण ने उस वृद्धा को अपनी पत्नी बना लिया और उस गुहा में उस सुन्दरी के साथ बहुत वर्षों तक आनन्दपूर्वक विहार किया ॥४१॥ मुनिशार्दूल ! उस गिरि पर सानन्द विहार करने वाले दम्पति के पास किसी समय पवित्र मुनि लोग आये। वसिष्ठ, वामदेव आदि महर्षि जो अन्य महर्षियों के साथ पवित्र तीर्थों का भ्रमण कर रहे थे, गौतम की उस गुहा में पहुँचे ॥४२-४३॥ उन महर्षियों को अपना अतिथि जान कर भार्या सहित गौतम ने उनका आतिथ्य सत्कार किया। उनमें जो बाल, यौवन की उमंगों से भरे और आयु में मध्य श्रेणी के थे वे उस वृद्धा गौतम को देखकर हँस पड़े ॥४४-४५॥

ऋषियों ने कहा—वृद्धे ! यह गौतम तुम्हारा पुत्र है या पौत्र ? कल्याणी ! सत्य बताओ, यह तुम्हारा कौन है, यह कहकर वे द्विज हँसने लगे। अहा ! वृद्ध के लिए युवती विष तुल्य और वृद्धा के लिए युवक

विषं वृद्धस्य युवती वृद्धाया अमृतं युवा । इष्टानिष्टसमायोगो दृष्टोऽस्माभिरहो चिरात् ।।४७।।

ब्रह्मोवाच

इत्येवमूचिरे केचिद्दंपत्योः शृण्वतोस्तदा । एवमुक्त्वा कृतातिथ्या ययुः सर्वे महर्षयः ।।४८।।
ऋषीणां वचनं श्रुत्वा उभावपि सुदुःखितौ । लज्जितौ च महाप्राज्ञौ गौतमो भार्यया सह ।।
प्रपच्छ मुनिशार्दूलमगस्त्यमृषिसत्तमम् ।।४९।।

गौतम उवाच

को देशः किमु तीर्थं वा यत्र श्रेयः समाप्यते । शीघ्रमेव महाप्राज्ञ भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ।।५०।।

अगस्त्य उवाच

वदद्भिर्मुनिभिर्ब्रह्मन्मया श्रुतमिदं वचः । सर्वे कामास्तत्र पूर्णा गौतम्यो नात्र संशयः ।।५१।।
तस्माद्गच्छ महाबुद्धे गौतमीं पापनाशिनीम् । अहं त्वामनुयास्यामि यथेच्छसि तथा कुरु ।।५२।।

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वाऽगत्यवाक्यं वृद्धया गौतमोऽभ्यगात् । तत्र तेपे तपस्तीव्रं पत्न्या स भगवानृषिः ।।५३।।
स्तुतिं चकार देवस्य शंभोर्विष्णोस्तथैव च । गङ्गां च तोषयामास भार्यार्थं भगवानृषिः ।।५४।।

अमृत तुल्य है, इस प्रकार इष्ट (अच्छे) और अनिष्ट (बुरे) का संयोग हम लोगों ने बहुत समय के बाद देखा है।४६-४७।।

ब्रह्मा बोले—कुछ मुनियों ने इस प्रकार की हास्यजनक बातें उन दम्पतियों के सामने कहीं; ऐसी हास्यजनक बातें कहकर वे सब महर्षि आतिथ्य सत्कार ग्रहण करने के बाद चले गये। ऋषियों की बातें सुनकर बुद्धिमान् वे दोनों ही अत्यन्त दुःखी और लज्जित हो गये। भार्या के साथ गौतम ने ऋषि श्रेष्ठ अगस्त्य ऋषि से पूछा ।।४८-४९।।

गौतम ने कहा—महाप्राज्ञ ! वह कौन सा देश अथवा तीर्थ है जहाँ जाकर कल्याण प्राप्त किया जा सकता है, आप शीघ्र ही उस भुक्ति और मुक्ति देने वाले तीर्थ को बतलाइये।।५०।।

अगस्त्य ने कहा— ब्रह्मन् ! श्रेय-पथ बताने वाले मुनियों के मुख से मैंने सुना है कि गौतमी के पास जाने से मनुष्य की सारी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, इसमें सन्देह नहीं। इसलिए महाबुद्धि ! तुम पापमोचिनी गौतमी के पास जाओ। मैं तुमको केवल पथ प्रदर्शन कर रहा हूँ, तुम जैसा चाहो वैसा करो।।५१-५२।।

ब्रह्मा से बोले—अगस्त्य की उपर्युक्त बातों को सुनकर वृद्ध पत्नी के साथ गौतम गौतमी के तट पर चला गया। वहाँ पर उस ऋषि ने पत्नी के सहित घोर तपस्या की। उस शक्तिसम्पन्न ऋषि ने इस प्रकार पत्नी के लिए शंभु और भगवान् विष्णु की स्तुति की तथा गंगा को प्रसन्न किया।।५३-५४।।

गौतम उवाच

खिन्नात्मनामत्र भवे त्वमेव शरणं शिवः । मरुभूमावध्वगानां विटपीव प्रियायुतः ।।५५।।
उच्चावचानां भूतानां सर्वथा पापनोदनः । सस्यानां घनवत्कृष्ण त्वमवग्रहशोषिणाम् ।।५६।।
वैकुण्ठदुर्गनिःश्रेणिस्त्वं पीयूषतरङ्गिणी । अधोगतानां तप्तानां शरणं भव गौतमि ।।५७।।

ब्रह्मोवाच

ततस्तुष्टाऽवदद्वाक्यं गौतमं वृद्धया युतम् । शरणागतदीनार्तं शरण्या गौतमी मुदा ।।५८।।

गौतम्युवाच

अभिषिञ्चस्व भार्यां त्वं मज्जलैर्मन्त्रसंयुतैः । कलशैरुपचारैश्च ततः पत्नी तव प्रिया ।।५९।।
सुरूपा चारुसर्वाङ्गी सुभगा चारुलोचना । सर्वलक्षणसंपूर्णा रम्यरूपमवाप्स्यति ।।६०।।
रूपवत्या पुनस्त्वं वै भार्यया चाभिषेचितः । सर्वलक्षणसंपूर्णः कान्तं रूपमवाप्स्यसि ।।६१।।

ब्रह्मोवाच

तथेति गङ्गावचनाद्यथोक्तं तौ च चक्रतुः । सुरूपतामुभौ प्राप्तौ गौतम्याश्च प्रसादतः ।।६२।।
अभिषेकोदकं यच्च सा नदी समजायत । तस्या नाम्ना तु विख्याता वृद्धाया मुनिसत्तम ।।६३।।
वृद्धा नदीति विख्याता गौतमोऽपि तथोच्यते । वृद्धगौतम इत्युक्त ऋषिभिः समवासिभिः ।।
।।६४।।
वृद्धा तु गौतमीं प्राह गङ्गां प्रत्यक्षरूपिणीम्

गौतम ने कहा—इस संसार में आर्तजनों के, तप्त मरुभूमि के मध्य यात्रा करने वाले पथिकों के रक्षक वृक्ष के समान हे उमा सहित शंकर जी ! आप ही रक्षक हैं। कृष्ण ! अनावृष्टि से सूखते हुए धान के खेतों को जिस प्रकार मेघ हरा बना देता है उसी प्रकार तुम अधम पुरुष के पापों को दूर कर सुखी बना देते हो। भगवति गौतमी ! तुम अमृतमय तरंगों वाली और स्वर्ग रूपी दुर्ग की सीढ़ी हो, इस समय अधम और आर्त मेरी रक्षा करो।।५५-५७।।

ब्रह्मा ने कहा—गौतम की प्रार्थना सुनकर भक्तवत्सल गौतमी ने प्रसन्न होकर वृद्ध भार्या के सहित शरण में आये दीन और आर्त गौतम से कहा।।५८।।

गौतमी ने कहा—तुम मन्त्रोचारण, कलशस्थापन और अन्यान्य याज्ञिक उपचारों और कलश में रखे हुए मेरे जल से अपनी भार्या का अभिषेक करो। ऐसा करने से तुम्हारी प्रिय पत्नी सर्वाङ्गसुन्दरी, सुरूप, सौभाग्यवती, सुलोचना और सब लक्षणों से युक्त हो मनोहर रूप को प्राप्त कर लेगी। पुनः अपनी रूपवती भार्या द्वारा अभिषिक्त होने पर तुम भी सुन्दर रूप प्राप्त कर लोगे।।५९-६१।।

ब्रह्मा ने कहा—ऐसा ही होगा, यह कहकर गंगा के कथनानुसार उन दोनों ने परस्पर अभिषेक किया, जिससे गौतमी की कृपा से वे दोनों अत्यन्त रूपवान् हो गये। अभिषेक का जो जल था उससे एक नदी उत्पन्न हो गयी। मुनिश्रेष्ठ ! वह उस वृद्धा के नाम से वृद्धानदी नाम से प्रसिद्ध हो गयी। गौतम भी वृद्धा के साथ रहने के कारण सहयोगी ऋषियों के कथनानुसार वृद्ध गौतम नाम से प्रसिद्ध हो गया। उस वृद्धा ने प्रत्यक्ष रूपवाली गौतमी गंगा से कहा ।।६२-६४।।

वृद्धोवाच

मन्नाम्नीयं नदी देवि वृद्धा चेत्यभिधीयताम् । त्वया च संगमस्तस्यास्तस्यास्तीर्थमनुत्तमम् ॥६५॥
रूपसौभाग्यसंपत्तिपुत्रपौत्रप्रवर्धनम् । आयुरारोग्यकल्याणं जयप्रीतिविवर्धनम् ॥
स्नानदानादिहोमैश्च पितॄणां पावनं परम् ॥६६॥

ब्रह्मोवाच

अस्त्वित्याह च तां गङ्गां सुवृद्धां गौतमप्रियाम् । गौतमस्थपितं लिङ्गं वृद्धानाम्नैव कीर्तितम् ॥६७॥
तत्रैव च मुदं प्राप्तो वृद्धया मुनिसत्तमः । तत्र स्नानं च दानं च सर्वाभीष्टप्रदायकम् ॥६८॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं वृद्धासंगममुच्यते ॥६९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये वृद्धासंगमाद्युभयतटसप्तदशतीर्थवर्णनं नाम सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥१०७॥

गौतमीमाहात्म्येऽष्टात्रिंशोऽध्यायः॥३८॥

अथाष्टाधिकशततमोऽध्यायः

इलातीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

इलातीर्थमिति ख्यातं सर्वसिद्धिकरं नृणाम् । ब्रह्महत्यादिपापानां पावनं सर्वकामदम्॥१॥

वृद्धा ने कहा—देवि ! यह नदी मेरे नाम पर 'वृद्धा' इस नाम से पुकारी जाय और इसका तुम्हारे साथ संगम हो तथा यह संगम-तीर्थ परमोत्तम हो । यहाँ स्नान, दान और होम करने से यह रूप, सौभोग्य, संपत्ति, पुत्र, पौत्र बढ़ाने वाला, आयु, आरोग्य, कल्याण, विजय और प्रेम बढ़ाने वाला तथा पितरों को पवित्र कर देने वाला हो ॥६५-६६॥

ब्रह्मा ने कहा—गंगा ने उस सुरूपवृद्धा, गौतम भार्या से कहा कि ऐसा ही होगा । गौतम द्वारा स्थापित लिङ्ग भी वृद्धा नाम से ही प्रसिद्ध हुआ । वहीं उस वृद्धा के साथ गौतम को अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ था । उस तीर्थ में स्नान और दान करने से सब अभीष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं । तव से वह तीर्थ वृद्धासंगम के नाम से प्रसिद्ध हो गया ॥६७-६९॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में वृद्धासंगमतीर्थमाहात्म्यवर्णन नामक एक सौ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥१०७॥

अध्याय १०८

इलातीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—मनुष्यों को सब प्रकार सिद्धि देने वाला इलातीर्थ नामक एक विख्यात पवित्र तीर्थ है, जो ब्रह्महत्या आदि पापों को भी दूर कर मनुष्य की सब प्रकार की इच्छाएँ पूर्ण करता है । वैवस्वत वंश में इल

वैवस्वतान्वये जात इलो नाम जनेश्वरः । महत्या सेनया सार्धं जगाम मृगयावनम् ।।२।।
परिबभ्राम गहनं बहुव्यालसमाकुलम् । नानाकारद्विजयुतं विटपैः परिशोभितम् ।।३।।
वनेचरं नृपश्रेष्ठो मृगयागतमानसः तत्रैव मतिमाधत्त इलोऽमात्यानथाब्रवीत् ।।४।।

इल उवाच

गच्छन्तु नगरं सर्वे मम पुत्रेण पालितम् । देशं कोशं बलं राज्यं पालयन्तु[1] पुनश्च तम् ।।५।।
वसिष्ठोऽपि तता यातु आदायाग्नीन्पितेव नः । पत्नीभिः सहितो धीमानरण्येऽहं वसाम्यथ ।।६।।
अरण्यभोगभुग्भिश्च वाजिवारणमानुषैः । मृगयाशीलिभिः कैश्चिद्यान्तु सर्व इतः पुरीम् ।।७।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा ययुस्तेऽपि स्वयं प्रायाच्छनैर्गिरिम् । हिमवन्तं [2]रत्नमयं वसंस्तत्र इलो नृपः ।।८।।
ददर्श कन्दरं तत्र नानारत्नविचित्रितम् । तत्र यक्षेश्वरः कश्चित्समन्युरिति विश्रुतः ।।९।।
तस्य भार्या समानाम्नी भर्तृव्रतपरायणा। तस्मिन्वसत्यसौ यक्षो रमणीये नगोत्तमे ।।१०।।
मृगरूपेण व्यचरद्भार्यया स महामतिः । स्वेच्छया स्ववने यक्षः क्रीडते नृत्यगीतकैः ।।११।।
इत्थं स यक्षो जानाति मृगरूपधरोऽपि च । इलस्तु तं न जानाति कन्दरं यक्षपालितम् ।।१२।।

नामक एक नरेश हुआ । एक समय वह बहुत बड़ी सेना लेकर शिकार खेलने के लिये वन में गया । वह अनेकों सर्पों से भरे, विभिन्न आकार वाले पक्षियों से व्याप्त, अनेक प्रकार के वृक्षों से सुशोभित उस गहन वन में घूमने लगा । उस वन में घूमते हुए मृगयाप्रेमी नृपश्रेष्ठ के मन में उसी वन में रहने की भावना उत्पन्न हुई । अतः उन्होंने अपने मंत्रियों से कहा ।। १-४।।

इल ने कहा—तुम सब मेरे पुत्र द्वारा रक्षित नगर को चले जाओ । वहाँ जाकर देश, कोश, सेना, राज्य और उस मेरे पुत्र की रक्षा करो । पितृतुल्य गुरु वसिष्ठ भी अग्नि और रानियों को साथ लेकर चले जायँ । मैं यहीं जंगली पदार्थों को खाकर रह सकने वाले अपने थोड़े-से अनुचरों, आखेटकुशल हाथी, घोड़े और मनुष्यों के साथ निवास करूँगा । और सब यहाँ से अपनी पुरी (राजधानी) को लौट जायँ ।।५-७।।

ब्रह्मा ने कहा—'जैसी आज्ञा' यह कहकर वे सभी चले गये। वह राजा इल भी धीरे -धीरे रत्नमय, हिमालय पहाड़ की ओर चल पड़ा। वहाँ जाकर उसने डेरा डाल दिया।।८।। उसने एक दिन नाना रत्नों से सुसज्जित कन्दरा देखी। उस कन्दरा में कोई सुमन्यु नाम का यक्षराज रहता था।।९।। उसकी समा नाम की पतिव्रता भार्या थी। पत्नी सहित वह यक्ष उस परम रम्य हिमगिरि पर रहता था।।१०।। वह महामति यक्ष इच्छानुरूप मृगरूप धारण कर अपनी भार्या के साथ नृत्य गान करता हुआ स्वेच्छया विहार करता था।।११।। इस प्रकार रूप धारण करने पर भी वह यक्ष अपनी कन्दरा को अच्छी तरह जानता था, परन्तु इल यक्ष द्वारा अधिकृत उस कन्दरा के विषय

---

[1] घ. ०यन्तं प्रजाश्च । [2] क. ०यं स्वयं वसन्निलो ।

यक्षस्य गेहं विपुलं नानारत्नविचित्रितम् । तत्रोपविष्टो नृपतिर्महत्या सेनया वृतः ॥१३॥
वासं चक्रे स तत्रैव गेहे यक्षस्य धीमतः । स यक्षोऽधर्मकोपेन भार्यया मृगरूपधृक् ॥१४॥
इलं जेतुं न शक्नोमि याचितो न ददाति च । हृतं गेहं ममानेन किं करोमीत्यचिन्तयत् ॥१५॥
युधि मत्तं कथं हन्यां चेति स्थित्वा स यक्षराट् । आत्मीयान्प्रेषयामास यक्षाञ्शूरान्धनुर्धरान् ॥१६॥

यक्ष उवाच

युद्धे जित्वा च राजानमिलमुद्धतदन्तिनम् । गृहाद्यथाऽन्यतो याति मम तत्कर्तुमर्हथ ॥१७॥

ब्रह्मोवाच

यक्षेश्वरस्य तद्वाक्याद्यक्षास्ते युद्धदुर्मदाः । इलं गत्वाऽब्रुवन्सर्वे निर्गच्छास्माद्गुहालयात् ॥१८॥
न चेद्युद्धात्परिभ्रष्टः पलाय्य क्व गमिष्यसि । तद्यक्षवचनात्कोपाद्युद्धं चक्रे स राजराट् ॥१९॥
जित्वा यक्षान्बहुविधानुवास दश शर्वरीः । यक्षेश्वरो मृगो भूत्वा भार्ययाऽपि वने वसन् ॥२०॥
हृतगेहो वनं प्राप्तो हृतभृत्यः स यक्षिणीम् । प्रह चिन्तापरो भूत्वा मृगीरूपधरां प्रियाम् ॥२१॥

यक्ष उवाच

राजाऽयं दुर्मनाः कान्ते व्यसनासक्तमानसः । कथमायाति विपदं तत्रोपायो विचिन्त्यताम् ॥२२॥
पापर्धिव्यसनान्तानि राज्यान्यखिलभूभुजाम् । प्रापयोमावनं सुभ्रूर्मृगी भूत्वा मनोहरा ॥२३॥

में अनभिज्ञ-सा था ॥१२॥ यक्ष का वह गृह बहुत बड़ा और नाना रत्नों से सुसज्जित था। अपनी बहुत बड़ी सेना के साथ वह नृपति उस बुद्धिमान् यक्ष के घर में निवास करने लगा। मृगरूप धारी भार्या के सहित वह यक्ष इस अन्याय को देखकर अत्यन्त कुपित हुआ। वह सोचने लगा कि इस इल को मैं युद्ध में जीत नहीं सकता, माँगने पर यह दे नहीं रहा है अब क्या करूँ। इस उन्मत्त को युद्ध में कैसे हराऊँ—यह सोचकर उस यक्षेश ने अपने धनुर्धर,शूर यक्ष सैनिकों को लड़ने के लिए भेजा और कहा ॥१३-१६॥

यक्ष ने कहा—सैनिको ! राजा इल को—जिसके पास वहुत-से मतवाले हाथी हैं—युद्ध में जीत कर जिस किसी प्रकार वह मेरे घर से अन्यत्र चला जाय वही प्रयत्न करना ॥१७॥

ब्रह्मा ने कहा—यक्षाधिपति की बातों को सुनकर वे युद्ध-दुर्मद यक्ष उसके पास गये और कहा कि 'हे राजन् ! तुम इस गुहा-गृह से निकल जाओ। नही तो युद्ध में हार जाने पर तुम भागकर कहाँ जा सकोगे। यक्षों की अशिष्ट बातों को सुनकर वह सम्राट् इल कुपित हो युद्ध करने लगा। युद्ध में उसने अनेकों यक्षों को हराकर दशरात्रि तक आनन्दपूर्वक उस गुहा में रहा। इधर वह मृगरूपधारी यक्ष जो अपनी भार्या के साथ वन में निवास कर रहा था, गृह-विहीन और जन-विहीन हो गया। उसने वन में मृगी रूप धारी अपनी यक्षिणी भार्या से अत्यन्त चिन्तित होकर कहा ॥१८-२१॥

यक्ष ने कहा—कान्ते ! यह दुष्ट राजा किस प्रकार विपत्तिग्रस्त हो सकता है इसके लिए उपाय सोचना चाहिये। अधिकतर सम्पूर्ण भूमिपालों का शासन इसी प्रकार अन्याय और दुर्व्यसन से कलङ्कित है। हे सुन्दर भौं वाली ! तुम मनोहर मृगी बनकर इस राजा को उमावन में पहुँचा दो। जब यह उस वन में घुसेगा निश्चय ही

प्रविशेत्तत्र राऽजायं स्त्री भविष्यत्यसंशयम् । करणीयं त्वया भद्रे न चैतद्युज्यते मम ।।
अहं तु पुरुषो येन त्वं पुनः स्त्री च यक्षिणी ।।२४।।

यक्षिण्युवाच

कथं त्वया न गन्तव्यमुमावनमनुत्तमम् । गतेऽपि त्वयि को दोषस्तन्मे कथय तत्त्वतः ।।२५।।

यक्ष उवाच

हिमवत्पर्वतश्रेष्ठ उमया सहितः शिवः । देवैर्गणैरनुवृतो विचचार यथासुखम् ।।
पार्वती शंकरं प्राह कदाचिद्रहसि स्थितम् ।।२६।।

पार्वत्युवाच

स्त्रीणामेष स्वभावोऽस्ति रतं गोपायितं भवेत् । तस्मान्मे नियतं देशमाज्ञया रक्षितं तव ।।२७।।
देहि मे त्रिदशेशान उमावनमिति श्रुतम् । विना त्वया गणेशेन कार्तिकेयेन नन्दिना ।।२८।।
यस्त्वत्र प्रविशेन्नाथ स्त्रीत्वं तस्य भवेदिति ।।२९।।

यक्ष उवाच

इत्याज्ञोमावने दत्ता प्रसन्नेनेन्दुमौलिना । किं करोमि पुमान्कान्ते त्वया प्रणयनार्दितः ।।
तस्मान्मया न गन्तव्यमुमाया वनमुत्तमम् ।।३०।।

स्त्री हो जायगा। भद्रे ! यह कार्य तुम्हारे ही करने योग्य है मुझसे यह नहीं हो सकता। क्योंकि मैं पुरुष हूँ, इसलिए वहाँ नहीं जा सकता। तुम तो यक्षिणी स्त्री हो ।।२२-२४।।

यक्षिणी ने कहा—तुम उस परम मनोहर उमावन में क्यों नहीं जा सकते ? तुम्हारे जाने से क्या अनिष्ट होगा ? उसको यथार्थ रूप से मुझको कहो ।।२५।।

यक्ष ने कहा—एक समय पर्वतशिरोमणि हिमालय पर उमा के साथ शंकर जी सुख पूर्वक भ्रमण कर रहे थे, उनके पीछे-पीछे देवता भी थे। किसी समय पार्वती ने एकान्त में वैठे शंकर से कहा ।।२६।।

पार्वती ने कहा—स्त्रियों का यह स्वभाव है कि अत्यन्त गुप्त रूप से उनका पुरुष के साथ सहवास हो। इसलिए देवेशान ! मेरे लिये एक नियत रूप से गुप्त और अपनी आज्ञा से सुरक्षित स्थान दीजिये। वह उमावन नाम से प्रसिद्ध रहे। नाथ ! तुमको, गणेश, कार्तिकेय और नन्दी को छोड़कर जो कोई इतर व्यक्ति यहाँ प्रवेश करे वह अवश्य स्त्रीत्व प्राप्त करे (स्त्री हो जाय) ।।२७-२९।।

यक्ष बोला—शंकर ने प्रसन्न होकर इस प्रकार की आज्ञा दे दी। कान्ते ! मैं पुरुष हूँ इसलिए विवश हूँ, क्या करूँ। तुमने मुझसे प्यार से पूछा है, इसलिए यह रहस्य वता दिया। इसलिए उस परम रमणीय उमावन में मेरा जाना उचित नहीं है ।।३०।।

ब्रह्मोवाच

तद्भर्तृवचनं श्रुत्वा यक्षिणी कामरूपिणी । मृगी भूत्वा विशालाक्षी इलस्य पुरतोऽभवत् ॥३१॥
यक्षस्तु संस्थितस्तत्र ददर्शेलो मृगीं तदा । मृगयासक्तचित्तो वै मृगीं दृष्ट्वा विशेषतः ॥३२॥
एक एव हयारूढो निर्ययौ तां मृगीमनु । साऽऽकर्षत शनैस्तं तु राजानं मृगयाकुलम् ॥३३॥
शनैर्जगाम सा तत्र यदुमावनमुच्यते । अदृश्या तु मृगी तस्मै दर्शयन्ती क्वचित्क्वचित् ॥३४॥
तिष्ठन्ती चैव गच्छन्ती धावन्ती च विभीतवत् । हरिणी चपलाक्षी सा तमाकर्षदुमावनम् ॥३५॥
अनुप्राप्तो हयारूढस्तत्प्राप स उमावनम् । उमावनं प्रविष्टं तं ज्ञात्वा सा यक्षिणी तदा ॥३६॥
मृगीरूपं परित्यज्य यक्षिणी कामरूपिणी । दिव्यरूपं समास्थाय चाशोकतरुसंनिधौ ॥३७॥
तच्छाखालम्बितकरा दिव्यगन्धानुलेपना । दिव्यरूपधरा तन्वी कृताकार्या समा तदा ॥३८॥
हसन्ती नृपतिं प्रेक्ष्य श्रान्तं हयगतं तदा । मृगीमालोकयन्तं तं चपलाक्षमिलं तदा ॥३९॥
भर्तृवाक्यमशेषेण स्मरन्ती प्राह भूमिपम् ॥४०॥

समो उवाच

हयारूढाऽबला तन्वि क्व एकैव तु गच्छसि । पुरुषस्य च वेषेण इसे कामनुयास्यसि ॥४१॥

ब्रह्मोवाच

इलेति वचनं श्रुत्वा राजाऽसौ क्रोधमूर्च्छितः । यक्षिणीं भर्त्सयित्वाऽसौ तामपृच्छन्मृगीं पुनः ॥४२॥

ब्रह्मा बोले—पति की बातें सुनकर इच्छानुकूल रूप परिवर्तन करनेवाली यक्षिणी दीर्घलोचन मृगी बनकर राजा इल के सामने आयी। वहीं बैठे हुए राजा ने उस समय मृगी और यक्ष को देखा। उस मृगी को देखकर मृगयाप्रेमी राजा विशेष रूप से आकृष्ट हो गया। वह अकेला ही घोड़े पर सवार होकर उस मृगी के पीछे निकल पड़ा। उस मृगी ने आखेट के लिये उतावले राजा को अपने वश में कर लिया। वह धीरे-धीरे उस स्थान पर गयी जो उमा वन कहा जाता था। वह कहीं कहीं अपने को प्रकट करती, कभी छिपाती, कभी बैठती, कभी चलती और कभी डरी हुई सी दौड़ती थी। इस प्रकार अनेकों हाव-भाव दिखाती हुई वह चपल नेत्रों वाली मृगी उस राजा को उमा वन तक खींच ले गयी। राजा अश्वारूढ़ हो उसके पीछे-पीछे उस उमा वन तक चला गया। उस समय जब उस यक्षिणी ने राजा को उमा वन में फँसा हुआ जान लिया तब वह काम रूपिणी यक्षिणी मृगीरूप छोड़ दिव्यरूप धारण कर अशोक वृक्ष के निकट शाखा को हाथ में पकड़ कर खड़ी हो गयी। दिव्य सुगन्धित लेपों को अंग में लगाये हुई, दिव्य रूप वाली वह तन्वी समा अपने को कृतकृत्य-सी समझने लगी। तब वह चपल नेत्र वाला थका-माँदा अश्वारोही मृगी को इधर-उधर देखने लगा। इस प्रकार विस्मित राजा को देखकर वह हँसने लगी और अपने पति (यक्ष) की बातों को पूर्ण रूप से स्मरण करती हुई राजा से बोली ॥३१-४०॥

समा बोली—कृशाङ्गी! घोड़े पर सवार होकर अबला तुम अकेले कहाँ जा रही हो? इले! पुरुष-वेश बनाकर किस प्रेमी के पीछे पागल हो रही हो? ॥४१॥

ब्रह्मा बोले—यह सुनकर वह राजा क्रोध से पागल हो उठा। पुनः यक्षिणी को बुरा-भला कहकर उसने

तथाऽपि यक्षिणी प्राह इले किमनुवीक्षसे । इलेति वचनं श्रुत्वा धृतचापो हयस्थितः ।।४३।।
कुपितो दर्शयामास त्रैलोक्यविजयी[1] धनुः । पुनः सा प्राह नृपतिं महात्मानमिले स्वयम् ।।४४।।
प्रेक्षस्व पश्चान्मां ब्रूहि असत्यां सत्यवादिनीम् । तदा चाऽऽलोकयद्राजा स्तनौ तुङ्गौ भुजान्तरे ।।४५।।
किमिदं मम संजातमित्येवं चकितोऽभवत् ।।४६।।

इलोवाच

किमिदं मम संजातं जानीते भवती स्फुटम् । वद सर्वं यथातथ्यं त्वं का वा वद सुव्रते ।।४७।।

यक्षिण्युवाच

हिमवत्कंदरश्रेष्ठे समन्युर्वसते पतिः । यक्षाणामधिपः श्रीमांस्तद्भार्याऽहं तु यक्षिणी ।।४८।।
यत्कंदरे भवान्राजा तूपविष्टः सुशीतले । यस्य यक्षा हता मोहात्त्वया हि संगरं विना ।।४९।।
ततोऽहं निर्गमार्थं ते मृगी भूत्वा उमावनम् । प्रविष्टा त्वं प्रविष्टोऽसि पुरा प्राह महेश्वरः ।।५०।।
यस्त्वत्र प्रविशेन्मन्दः पुमान्स्त्रीत्वमवाप्स्यति । तस्मात्स्त्रीत्वमवाप्तोऽसि न त्वं दुःखितुमर्हसि ।।
प्रौढोऽपि कोऽत्र जानाति विचित्रभवितव्यताम् ।।५१।।

ब्रह्मोवाच

यक्षिणीवचनं श्रुत्वा हयारूढस्तदाऽपतत् । तमाश्वास्य पुनः सैव यक्षिणी वाक्यमब्रवीत् ।।५२।।

उस मृगी के विषय में पूछा। पूछने पर यक्षिणी ने कहा—'इले! क्या ढूँढ़ रही हो? 'इले' ऐसा संवोधन सुनकर अश्व पर बैठे-बैठे, राजा ने कुपित होकर अपना त्रैलोक्य-विजयी धनुष दिखलाया। फिर यक्षिणी ने महात्मा इल से कहा 'स्वयं अपने को देख लो, पश्चात् मुझे सत्यवादिनी या असत्यवादिनी कहो'। तब राजा ने अपनी भुजाओं के बीच उभड़े हुए दो स्तनों को देखा। आह! 'यह क्या हो गया' इस प्रकार वह आश्चर्यचकित हो गया।।४२-४६।।

इला ने कहा—यह मुझे क्या हो गया, इस बात को तुम अच्छी तरह जानती हो। मुझसे सब ठीक-ठीक कहो। सुव्रते! तुम कौन हो यह भी बताओ ।।४७।।

यक्षिणी ने कहा—हिमालय की रमणीय कन्दरा में मेरा समन्यु नामक पति रहता है जो यक्षों का राजा और अत्यन्त श्रीमान् है। मैं उसी की भार्या यक्षिणी हूँ। जिस अतिशीतल रम्य कन्दरा में आप राजा वन कर बैठे थे और जिसके यक्षों को आपने प्रमादवश बिना युद्ध के ही मार डाला। उसके कारण मैं आपको वहाँ से निकालने के लिए मृगी बन कर इस उमावन में प्रविष्ट हुई। मेरे पीछे तुम भी घुस आये। कुछ समय पहले शंकर ने पार्वती से कहा था कि जो मूर्ख पुरुष यहाँ प्रवेश करेगा वह स्त्रीरूप प्राप्त करेगा। इस प्रकार तुम स्त्री हो गये हो, तुम्हें इस विषय में दुःखित होने की आवश्यकता नहीं। इस संसार में कोई अति चतुर व्यक्ति भी विचित्र भवितव्यता को नहीं जानता है ।।४८-५१।।

ब्रह्मा बोले—यक्षिणी की बात सुनकर वह घोड़े पर से गिर पड़ा। उसे सान्त्वना देकर पुनः यक्षिणी उससे कहने लगी ।।५२।।

---

[1] घ. ०क्यजयिनं भुजम् । पु० ।

यक्षिण्युवाच

स्त्रीत्वं जातं जातमेव न पुंस्त्वं कर्तुमर्हसि । गृहाण विद्यां स्त्रीयोग्यां नृत्यं गीतमलंकृतिम् ॥
स्त्रीलालित्यं स्त्रीविलासं स्त्रीकृत्यं सर्वमेव तत् ॥५३॥

ब्रह्मोवाच

इला सर्वमथावाप्य यक्षिणीं वाक्यमब्रवीत् ॥५४॥

इलोवाच

को वा भर्ता किं तु कृत्यं पुनः पुंस्त्वं कथं भवेत् । एतद्वदस्व कल्याणी दुःखार्ताया विशेषतः ॥
आर्तानामार्तिशमनाच्छ्रेयो नाभ्यधिकं क्वचित् ॥५५॥

यक्षिण्युवाच

बुधः सोमसुतो नाम वनादस्माच्च पूर्वतः । आश्रमस्तस्य सुभगे पितरं नित्यमेष्यति ॥५६॥
अनेनैव पथा सोमं पितरं स बुधो ग्रहः । द्रष्टं याति ततो नित्यं नमस्कर्तुं तथैव च ॥५७॥
यदा याति बुधः शान्तस्तदाऽऽत्मानं च दर्शय[1] । तं दृष्ट्वा त्वं तु सुभगे सर्वकामानवाप्स्यसि ॥५८॥

ब्रह्मोवाच

तामाश्वास्य ततः सुभ्रूर्यक्षिण्यन्तरधीयत। यक्षिणी सा तमाचष्ट यक्षोऽपि सुखमाप्तवान् ॥५९॥

यक्षिणी ने कहा—अब स्त्रीत्व हो गया, सो तो रहेगा ही, तुम किसी भी प्रकार इसको पुंस्त्व में बदल नहीं सकते हो। अर्थात् अब स्त्री से पुरुष नहीं बन सकते। अब स्त्रीजनोचित नृत्य, गीत, अलंकार, स्त्रियों के हाव-भाव, सौन्दर्य आदि सम्पूर्ण स्त्री योग्य कलाओं को मुझसे सीख लो ॥५३॥

ब्रह्मा ने कहा—इला सब कलाओं को यक्षिणी से सीखकर पुनः यक्षिणी से बोली ॥५४॥

इला बोली—मेरा पति कौन होगा, मुझे क्या करना होगा, पुनः मैं पुरुषत्व कैसे प्राप्त करूँगी। इन बातों को विशेष रूप से मुझ दुःखी को बतलाओ। दुःखियों के दुःख को दूर करने की अपेक्षा अधिक पुण्य इस संसार में कहीं भी नहीं है ॥५५॥

यक्षिणी ने कहा—सुभगे ! सोमपुत्र बुध का इस वन से पूर्व की ओर आश्रम है। वह प्रतिदिन पिता के पास जाते हैं। वह बुध (ग्रह) इसी मार्ग से पिता को देखने और प्रणाम करने के लिए प्रतिदिन जाते हैं। जब शान्त बुध इस मार्ग से जाने लगें तो तुम अपने को दिखाओ। सुभगे ! तुम उनको देखकर (परिचय प्राप्त कर) अवश्य सम्पूर्ण इच्छाओं को प्राप्त कर सकोगी ॥५६-५८॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार उसको समझा-बुझाकर वह सुन्दर भौं वाली यक्षिणी अन्तर्हित हो गयी। उसने अपने पति (यक्ष) से सारी घटना सुना दी। यक्ष ने भी यह सुनकर सुख को प्राप्त किया। जो वहाँ इल की सेना पड़ी

---

[1] घ. ०य। तत्प्रसादवशात्सर्वानिले का०।

इलसैन्यं च तत्राऽऽसीत्तद्गतं च यथासुखम् । उमावनस्थिता चेला गायन्ती नृत्यती पुनः ॥६०॥
स्त्रीभावमनुचेष्टन्ती स्मरन्ती कर्मणो गतिम् । कदाचित्क्रियमाणे तु इलया नृत्यकर्मणि ॥६१॥
तामपश्यद्बुधो धीमान्पितरं गन्तुमुद्यतः । इलां दृष्ट्वा गतिं त्यक्त्वा तामागत्याब्रवीद्बुधः ॥६२॥

बुध उवाच

भार्या भव मम स्वस्था सर्वास्यस्त्वं प्रिय भव ॥६३॥

ब्रह्मोवाच

बुधवाक्यमिला भक्त्या त्वभिनन्द्य तथाऽकरोत् । स्मृत्वा च यक्षिणीवाक्यं ततस्तुष्टाऽऽभवन्मुने ॥६४॥
बुधो रेमे तया प्रीत्या नीत्वा स्वस्थानमुत्तमम् । सा चापि सर्वभावेन तोषयामास तं पतिम् ॥
ततो बहुतिथे काले बुधस्तुष्टोऽवदत्प्रियाम् ॥६५॥

बुध उवाच

किं ते देयं मया भद्रे प्रियं यन्मनसि स्थितम् ॥६६॥

ब्रह्मोवाच

तद्वाक्यसमकालं तु पुत्रं देहीत्यभाषत । इला बुधं सोमसुतं प्रीतिमन्तं प्रियं तथा ॥६७॥

बुध उवाच

अमोघमेतन्मद्वीर्यं तथा प्रीतिसमुद्भवम् । पुत्रस्ते भविता तस्मात्क्षत्रियो लोकविश्रुतः ॥६८॥

हुयी थी वह अपनी राजधानी को सुखपूर्वक लौट गयी। इधर इला उस उमावन में रहने लगी। वह कभी गाती, नाचती पुनः अपने कर्म की गति का स्मरण करती हुई स्त्री-सुलभ कामनाओं की इच्छा करती थी। किसी समय इला नृत्य कर रही थी, उसी समय बुद्धिमान् बुध पिता के पास जाने को तैयार थे। उसको देखकर उन्होंने अपनी यात्रा स्थगित कर दी और इला के पास आकर कहा ॥५९-६२॥

बुध ने कहा—तुम मेरी प्रिय भार्या बन जाओ। तुम सब स्त्रियों से अधिक प्रिय बनो ॥६३॥

ब्रह्मा ने कहा—इला ने बुध की बातों का आदर के साथ समर्थन किया और उसकी भार्या बन गयी। मुने ! वह यक्षिणी की बातों का स्मरण कर अत्यन्त प्रसन्न हुई। बुध उसको अपने उत्तम स्थान पर लिवा ले गये और प्रीतिपूर्वक उसके साथ विहार करने लगे। उसने भी प्रत्येक प्रकार से अपने पति को प्रसन्न किया। इस प्रकार बहुत समय बीत जाने बुध ने प्रसन्न होकर अपनी प्रिया से कहा ॥६५॥

बुध ने कहा—भद्रे ! तुमको क्या दूँ ? तुम्हारे मन में जिस प्रिय वस्तु की इच्छा हो, कहो मैं अवश्य प्रदान करूँगा ॥६६॥

ब्रह्मा ने कहा—बुध की बातें अभी समाप्त नहीं हुई थीं कि 'पुत्र दीजिये', ऐसा उसने अपने प्रिय प्रेमी सोमपुत्र बुध से कहा ॥६७॥

बुध ने कहा—मेरा यह तुम्हारे प्रति अत्यन्त प्रेम के कारण निकला हुआ वीर्य अमोघ है। इसलिए तुमको

सोमवंशकरः श्रीमानादित्य इव तेजसा । बुद्धया बृहस्पतिसमः क्षमया पृथिवीसमः ॥६९॥
वीर्येणाऽऽजौ हरिरिव कोपेन हुतभुग्यथा ॥७०॥

ब्रह्मोवाच

तस्मिन्नुत्पद्यमाने तु बुधपुत्रे महात्मनि । जयशब्दश्च सर्वत्र त्वासीच्च सुरवेश्मनि ॥७१॥
बुधपुत्रे समुत्पन्ने तत्राऽऽजगमुः सुरेश्वराः । अहमप्यागमं तत्र मुदा युक्तो महामते ॥७२॥
जातमात्रः सुतो रावमकरोत्स पृथुस्वरम् । तेन सर्वेऽप्यवोचन्वै संगता ऋषयः सुराः ॥७३॥
यस्मात्पुरूरवोऽस्येति तस्मादेष पुरूरवाः । स्यादित्येवं नाम चक्रुः सर्वे संतुष्टमानसाः ॥७४॥
स शीघ्रं वृद्धिमगमच्छुक्लपक्षे सुतं शुभाम् । धनुर्वेदं सप्रयोगं बुधः प्रादात्तदाऽऽत्मजे ॥७५॥
स शीघ्रं वृद्धिमगमच्छुक्लपक्षे यथा शशी । स मातरं दुःखयुतां समीक्ष्येलां महामतिः ॥
नमस्याथ विनीतात्मा इलामैलोऽब्रवीदिदम् ॥७६॥

ऐल उवाच

बुधो मातर्मम पिता तव भर्ता प्रियस्तथा । अहं च पुत्रः कर्मण्यः कस्मात्ते मानसो ज्वरः ॥७७॥

इलोवाच

स्तयं पुत्र बुधो भर्ता त्वं च पुत्रो गुणाकरः । भर्तृपुत्रकृता चिन्ता न ममास्ति कदाचन ॥७८॥
तथाऽपि पूर्वजं किंचिद्दुःखं समृत्वा पुनः पुनः । चिन्तयेयं महाबुद्धे ततो मातारमब्रीवीत् ॥७९॥

लोक-विख्यात क्षत्रिय पुत्र होगा। वह सोमवंश की नींव डालने वाला बुद्धिमान् तेज में आदित्य के समान, बुद्धि में बृहस्पति के समान, क्षमा में पृथ्वी के समान, युद्ध में पराक्रम-प्रदर्शन में विष्णु के समान और क्रोध में अग्नि के समान होगा ॥६८-७०॥

ब्रह्मा ने कहा—उस महात्मा बुध-पुत्र के उत्पन्न होने पर स्वर्ग में सर्वत्र जयध्वनि होने लगी। बुध-पुत्र के उत्पन्न होने पर वहाँ देवेश उपस्थित हो गये। महामति ! मैं भी वहाँ प्रसन्न होकर आया। उस बालक ने उत्पन्न होते ही अति ऊचे स्वर से शब्द किया। इसलिए सब देवताओं और ऋषियों ने मिलकर कहा। यतः इसका रव (ध्वनि) पुरु (गम्भीर) है, इसलिए इसका नाम पुरूरवा रखा जाय। इस प्रकार विचार-विमर्श कर प्रसन्नतापूर्वक सबने उसका नाम पुरूरवा रख दिया। बुध ने भी अपने पुत्र को शुभ क्षात्रविद्या पढ़ायी और प्रयोगविधि सहित धनुर्वेद पुत्र को प्रदान किया। वह शीघ्रता से जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा दिनों दिन बढ़ता है उसी प्रकार बढ़ने लगा। उस विनीत, महामतिमान् ऐल ने माता इला को दुःखी देख कर नमस्कार करके पूछा ॥७१-७६॥

ऐल ने कहा—माता ! बुध मेरे पिता और तुम्हारे प्रिय पति हैं। मैं तुम्हारा कर्मकुशल मनस्वी पुत्र हूँ। तो किस कारण तुमको इतनी मानसिक व्यथा है ? ॥७७॥

इला ने कहा—पुत्र ! यह सत्य है कि बुध मेरे पति और अतिगुणवान् तुम मेरे पुत्र हो। मुझे किसी प्रकार की पुत्र और पति सम्बन्धी चिन्ता नहीं है। फिर भी महाबुद्धिमान् ! अपने पूर्व काल के दुःख का स्मरण कर बार-बार मुझे चिन्ता हो जाती है। यह सुनकर ऐल ने पुनः माता से कहा ॥७८-७९॥

ऐल उवाच

निवेदयस्व मे मातस्तदेव प्रथमं मम ॥८०॥

ब्रह्मोवाच

इला चैनमुवाचेदं रहोवाचं कथं वदे । तथाऽऽपि पुत्र ते वच्मि पित्रोः पुत्रो यतो गतिः ॥
मग्नानां दुःखपाथोऽब्धौ पुत्रः प्रवहणं परम् ॥८१॥

ब्रह्मोवाच

तन्मातृवचनं श्रुत्वा विनीतः प्राह मातरम् । पादयोः पतितश्चापि वद मातर्यथा तथा ॥८२॥

ब्रह्मोवाच

सा पुरूरवसं प्राह इक्ष्वाकूणां तथा कुलम् । तत्रोत्पत्तिं स्वस्य नाम राज्यप्राप्ति प्रियान्सुतान् ॥८३॥
पुरोधसं वसिष्ठं च प्रियां भार्यां स्वकं पदम् । वननिर्याणमेवाथ अमात्यानां पुरोधसः ॥८४॥
प्रेषणं च नगर्यां तां मृगयासक्तिमेव च । हिमवत्कंदरगतिं यक्षेश्वरगृहे गतिम् ॥८५॥
उमावनप्रवेशं च स्त्रीत्वप्राप्तिमशेषतः । महेश्वराज्ञया तत्र चाप्रवेशं नरस्य तु ॥८६॥
यक्षिणीवाक्यमप्यस्य वरदानं तथैव च । बुधप्राप्ति तथा प्रीतिं पुत्रोत्पत्त्याद्यशेषतः ॥८७॥
कथयामास तत्सर्वं श्रुत्वा मातरमब्रवीत् । पुरूरवाः किं करोमि किं कृत्वा सुकृतं भवेत् ॥८८॥
एवतावता ते तृप्तिश्चेदलमेतेन चाम्बिके । यदप्यन्यन्मनोवर्ति तदप्याज्ञापयस्व मे ॥८९॥

ऐल ने कहा—मेरी माता ! इसलिये मुझे सवसे पहले वही बात वताओ ॥८०॥

ब्रह्मा ने कहा—इला ने पुत्र ऐल से कहा 'यह गुप्त भेद है, इसको में कैसे कहूँ । फिर भी हे पुत्र ! तुमसे मैं कह रही हूँ । क्योंकि माता-पिता का एकमात्र आधार पुत्र ही है । दुःखरूपी सागर में डूबे हुए गुरुजनों के लिए पुत्र ही उद्धार करने वाला महान् नौका है' ॥८१॥

ब्रह्मा ने कहा—माता की बातों को सुनकर वह माता के चरणों पर गिर पड़ा और उसने माता से विनम्र हो कहा कि माता ! तुम सत्य कहो ॥८२॥

ब्रह्मा बोले—इला ने अपने पुत्र पुरूरवा से, इक्ष्वाकु का वैभवशाली कुल, उस कुल में अपनी उत्पत्ति, अपना नाम, राज्य-प्राप्ति, प्रियपुत्रों की उत्पत्ति, पुरोहित वसिष्ठ, प्रिय भार्या, अपनी राज्य-प्रतिष्ठा, मन्त्रियों और पुरोहितों के साथ वन को जाना, पुनः उनको राजधानी को भेजना, मृगया के प्रति आसक्ति, हिमालय की कन्दरा के पास जाना, यक्षेश्वर के घर में प्रवेश करना, उमावन में प्रवेश करना, स्त्रीत्व-प्राप्ति आदि बातें पूर्णरूप से तथा महेश्वर की आज्ञा से उमावन में पुरुष का प्रवेश-निषेध, यक्षिणी की बातें, बुध-प्राप्ति का वरदान और उनका विशेष प्रेम, पुत्र का उत्पन्न होना आदि सब कुछ बातें सम्पूर्ण रूप से कह दीं । उन सब घटनाओं को सुनकर पुरूरवा ने माता से कहा—मैं कौन-सा कार्य करूँ क्या करने से कल्याण होगा ? माता ! यदि इतने से (वर्तमान अवस्था से) तुम्हें सन्तोष है तव तो इस प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता नहीं । यदि तुम्हारे मन में कोई दूसरी इच्छा है तो मुझे आज्ञा प्रदान करो ॥८३-८९॥

इच्छेयं पुंस्त्वमुत्कृष्टमिच्छेयं राज्यमुत्तमम् । अभिषेकं च पुत्राणां तव चापि विशेषतः ॥९०॥
दानं दातुं च यष्टुं च मुक्तिमार्गस्य वीक्षणम् । सर्वं च कर्तुमिच्छामि तव पुत्र प्रसादतः ॥९१॥

पुत्र उवाच

उपायं त्वा तु पृच्छामि येन पुंस्त्वमवाप्स्यसि । तपसो वाऽन्यतो वाऽपि वदस्व मम तत्त्वतः ॥९२॥

इलोवाच

बुधं त्वं पितरं पृच्छ गत्वा पुत्र यथार्थवत् । स तु सर्वं तु जानाति उपदेक्ष्यति ते हितम् ॥९३॥

ब्रह्मोवाच

तन्मातृवचनादैलो गत्वा पितरमञ्जसा । उवाच प्रणतो भूत्वा मातुः कृत्यं तथाऽऽत्मनः ॥९४॥

बुध उवाच

इलं जाने महाप्राज्ञ इलां जातां पुनस्तथा । उमावनप्रवेशं च शंभोराज्ञां तथैव च ॥९५॥
तस्माच्छंभुप्रसादेन उमायाश्च प्रसादतः । विशापो भविता पुत्र तावाराध्य न चान्यथा ॥९६॥

पुरूरवा उवाच

पश्येयं तं कथं देवं कथं वा मातरं शिवाम् । तीर्थाद्वा तपसो वाऽपि तत्पितः प्रथमं वद ॥९७॥

इला ने कहा—मैं पुनः अपना उत्कृष्ट पुरुषभाव और उत्तम राज्य को चाहती हूँ। अपने पुत्रों का अभिषेक, विशेष रूप से तुम्हारा अभिषेक करना चाहती हूँ। पुत्र ! तुम्हारे प्रयास से मैं दान देना, यज्ञ करना और मुक्तिमार्ग का अनुसरण आदि सब कुछ चाहती हूँ ॥९०-९१॥

पुत्र ने कहा—मैं तुमसे उन उपायों को पूछता हूँ, जिससे पुनः तुम पुंस्त्व प्राप्त कर सकती हो। चाहे वह तपस्या से हो, या अन्य किसी प्रकार से, मुझसे तुम यथार्थरूप से कहो ॥९२॥

इला ने कहा—पुत्र ! तुम पिता बुध के पास जाओ, उनसे यथार्थ मार्ग पछूो। वे सब कुछ जानते हैं, तुमको हितकर उपाय बतायेंगे ॥९३॥

ब्रह्मा ने कहा—माता के कथनानुसार ऐल ने पिता के पास जाकर विनम्र भाव से माता की तथा अपनी सम्पूर्ण कहानी सुना दी ॥९४॥

बुद्ध ने कहा—महाप्राज्ञ ! मैं इल को तथा फिर उनका इलारूप में परिवर्तन हो जाना, उमावन में प्रवेश करना और शंकर की आज्ञा आदि घटनाओं को जानता हूँ। इसलिए हे पुत्र ! शंभु और उमा की कृपा से ही शाप से उद्धार हो सकेगा। उनकी आराधना से ही यह कार्य होगा अन्यथा नहीं ॥९५-९६॥

पुरूरवा ने कहा—उस देव शंकर और माता उमा को कैसे देख सकता हूँ, तीर्थयात्रा से या तपस्या से, इसको पिताजी ! आप पहले बतलाइये ॥९७॥

बुध उवाच

गौतमीं गच्छ पुत्र त्वं तत्राऽऽस्ते सर्वदा शिवः । उमया सहितः श्रीमाञ्शापहन्ता वरप्रदः ॥९८॥

ब्रह्मोवाच

पुरूरवाः पितुर्वाक्यं श्रुत्वा तु मुदिताऽभवत् । गौतमीं तपसे धीमान्गङ्गां त्रैलोक्यपावनीम् ॥९९॥
पुंस्त्वमिच्छंस्तथा मातुर्जगाम तपसे त्वरन् । हिमवन्तं गिरिं नत्वा मातरं पितरं गुरुम् ॥१००॥
गच्छन्तमन्वगात्पुत्रमिला सोमसुतस्तथा । ते सर्वे गौतमीं प्राप्ता हिमवत्पर्वतोत्तमात् ॥१०१॥
तत्र स्नात्वा तपः किंचित्कृत्वा चक्रुः स्तुतिं पराम् । भवस्य देवदेवस्य स्तुतिक्रममिमं शृणु ॥१०२॥
बुधस्तुष्टाव प्रथममिला च तदनन्तरम् । ततः पुरूरवाः पुत्रो गौरीं देवीं च शंकरम् ॥१०३॥

बुध उवाच

यौ कुङ्कुमेन स्वशरीरजेन, स्वभावहेमप्रतिमौ सरूपौ ।
यावर्चितौ स्कन्दगणेश्वराभ्यां, तौ मे शरण्यौ शरणं भवेताम् ॥१०४॥

इलोवाच

संसारतापत्रयदावदग्धाः, शरीरिणो यौ परिचिन्तयन्तः ।
सद्यः परां निर्वृतिमाप्नुवन्ति, तौ शंकरौ मे शरणं भवेताम् ॥१०५॥
आर्ता ह्यहं पीडितमानसा ते, क्लेशादिगोप्ता न परोऽस्ति कश्चित् ।
देव त्वदीयौ चरणौ सुपुण्यौ, तौ मे शरण्यौ शरणं भवेताम् ॥१०६॥

बुध ने कहा—पुत्र ! तुम गौतमी के तट पर जाओ । वहाँ सर्वदा उमा सहित श्रीमान् शंकर जी निवास करते हैं । वही शाप को नष्ट करने वाले और वरदाता हैं ॥९८॥

ब्रह्मा बोले—पिता के वाक्यों को सुनकर पुरूरवा अत्यन्त प्रसन्न हुआ । वह धीमान् त्रिभुवनपावनी गौतमी गंगा के पास माता इला को पुनः पुरुषत्व प्राप्त करा देने की इच्छा से तपस्या करने के लिए माता, पिता, गुरु और हिमालय को प्रणाम कर शीघ्र ही गया । पुत्र को पुनः तपस्या के लिए जाते हुए देखकर सोम-सुत-बुध और इला उस हिमालय पहाड़ से उतर कर पुत्र के पीछे-पीछे चले और गौतमी तट पर पहुँचे । वहाँ स्नान और कुछ तपस्या कर देवाधिदेव शंकर की अति उत्कृष्ट स्तुति की । किस क्रम से स्तुति हुई, इसको सुनो । सबसे पहले बुध ने, तदनन्तर इला ने तत्पश्चात् पुत्र पुरूरवा ने देवी गौरी और शंकर की स्तुति की ॥९९-१०३॥

बुध ने कहा—जो प्रकृत्या सुवर्ण के समान गौर वर्ण, सुन्दर रूप वाले और स्कन्द एवं गणेश के अंग में लगे कुंकुम से सर्वदा पूजित रहते हैं, ऐसे भक्तवत्सल शंकर और पार्वती हमारे रक्षक हों ॥१०४॥

इला ने कहा—संसार के त्रिविधि ताप रूपी दावाग्नि से दग्ध व्यक्ति जिस शंकर और पार्वती का ध्यान कर अत्यन्त सुख तथा शान्ति प्राप्त करते हैं, वे पार्वती शंकर हमारे सहायक हों । मैं अत्यन्त आर्त और व्यथितचित्त हूँ । आपको छोड़ कर और कोई मेरा रक्षक नहीं । देव ! आपके वे शुभ, पुनीत, शरणागतों की रक्षा करने वाले चरण मेरे रक्षक हों ॥१०५-१०६॥

पुरूरवा उवाच

यथोः सकाशादिदमभ्युदैति, प्रयाति चान्ते लयमेव सर्वम् ।
जगच्छरण्यौ जगदात्मकौ तु, गौरीहरौ मे शरणं भवेताम् ॥१०७॥
यौ देववृन्देषु महोत्सवे तु, पादौ गृहाणेश (ति) गिरीशपुत्र्याः ।
प्रोक्तं धृतौ प्रीतिवशाच्छिवेन, तौ मे शरण्यौ शरणं भवेताम् ॥१०८॥

श्रीदेव्युवाच

किमभीष्टं प्रदास्यामि युष्मभ्यं तद्वदन्तु मे । कृतकृत्याः स्थ भद्रं वो देवानामपि दुष्करम् ॥१०९॥

पुरूरवा उवाच

इलो राजा तवाज्ञात्वा वनं प्राविशदम्बिके । तत्क्षमस्व सुरेशानि पुंस्त्वं दातुं त्वमर्हसि ॥११०॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युवाच तान्सर्वान्भवस्य तु मते स्थिता । ततः स भगवानाह देवीवाक्यरतः सदा ॥१११॥

शिव उवाच

अत्राभिषेकमात्रेण पुंस्त्वं प्राप्नोत्वयं नृपः ॥११२॥

ब्रह्मोवाच

स्नाताया बुधभार्यायाः शरीराद्वारि सस्रुवे । नृत्यं गीतं च लावण्यं यक्षिण्या यदुपार्जिताम् ॥११३॥

पुरूरवा ने कहा—जिनके समीप से (जिस प्रकृति पुरुष से) यह सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता और प्रलय काल में जिनमें पुनः लीन हो जाता है, एसे जगत् के एक मात्र रक्षक वे जगद्‌भिन्न (संसार-रूप) पार्वती-शंकर मेरे रक्षक हों। परमोत्सव के अवसर पर देववृन्द की उपस्थिति में गिरीशपुत्री ने 'मेरे चरणों को पकड़िये' ऐसा कहा। उस समय प्रेमपूर्वक शंकर जी बिना किसी संकोच के पार्वती के जिन चरणों को पकड़ लिया, वे शरणागत की रक्षा करने वाले पार्वती के चरण मेरी रक्षा करें ॥१०७-१०८॥

श्री देवी (पार्वती) ने कहा—तुम लोगों की अभीष्ट वस्तु क्या है, कहो मैं अवश्य प्रदान करूँगी, चाहे वह देवदुर्लभ ही क्यों न हो। तुम लोग अव सफल मनोरथ हो (अपने को सफल समझो) तुम लोगों का कल्याण हो। देवताओं से भी दुर्लभ वर प्राप्त करोगे यह निश्चित समझो ॥१०९॥

पुरूरवा ने कहा—अम्बिके ! राजा इल तुम्हारी महिमा और आदेश को न जानकर उमावन में घुस गया। सुरेश्वरी ! उस अपराध को क्षमा कर दो, तुम कृपा कर उनको पुनः पुंस्त्व (पुरुषभाव) प्रदान कर दो ॥११०॥

ब्रह्मा ने कहा—शंकर की आज्ञा के अनुसार ही कार्य करने वाली पार्वती ने शंकर का अभिप्राय समझ कर "ऐसा ही हो" यह कह दिया। यह सुनकर सर्वदा देवी उमा में ही लीन रहने वाले शंकर ने कहा ॥१११॥

शिव ने कहा—यहाँ केवल अभिषेक करने से ही यह राजा पुंस्त्व (पुरुषभाव) प्राप्त कर लेगा ॥११२॥

ब्रह्मा ने कहा—बुध-भार्या इला के स्नान करने से जो जल गिरा और नृत्य, गीत, सौन्दर्य आदि जो कुछ यक्षिणी से सीखे गये थे, वे सभी जल-धारा के रूप में परिणत होकर गंगा के जल में मिल गये ॥११३$\frac{१}{३}$॥ जिससे नृत्या,

तत्सर्वं वारिधाराभिर्गङ्गाम्भसि समाविशत् । नृत्या गीता च सौभाग्या इमा नद्यो बभूविरे ॥११४॥
ताश्चापि संगता गङ्गां ते पुण्याः संगमास्त्रयः । तेषु स्नानं च दानं च सुरराज्यफलप्रदम् ॥११५॥
इला पुंस्त्वमवाप्याथ गौरीशंभोः प्रसादतः । महाभ्युदयसिद्ध्यर्थं वाजिमेधमथाकरोत् ॥११६॥
पुरोधसं वसिष्ठं च भार्यां पुत्रांस्तथैव च । अमात्यांश्च बलं कोशमानीय स नृपोत्तमः ॥११७॥
चतुरङ्गं बलं राज्यं दण्डकेऽस्थापयत्तदा । इलस्य नाम्ना विख्यातं तत्र तत्पुरमुच्यते ॥११८॥
पूर्वजातानथो पुत्रान्सूर्यवंशक्रमागते । राज्येऽभिषिच्य पश्चात्तमैलं स्नेहादसिञ्चयत् ॥११९॥
सोमवंशकरः श्रीमानयं राजा भवेदिति । सर्वेभ्यो मतिमानेभ्यो ज्येष्ठःश्रेष्ठोऽभवन्मुने ॥१२०॥
यत्र च क्रतवो वृत्ता इलस्य नृपतेः शुभाः । यत्र पुंस्त्वमवाप्याथ यत्र पुत्राः समागताः ॥१२१॥
यक्षिणीदत्तनृत्यादिगीतसौभाग्यमङ्गलाः । नद्यो भूत्वा यत्र गङ्गां संगतास्तानि नारद ॥१२२॥
तीर्थानि शुभदान्यासन्सहस्राण्यथ षोडश । उभयोस्तीरयोस्तात तत्र शंभुरिलेश्वरः ॥
तेषु स्नानं च दानं च सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥१२३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भृषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये बुधेलापुरूरवोवसिष्ठ-नृत्यगीतसौभाग्येलेश्वरादिषोडशसहस्रतीर्थवर्णनं नामाष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०८॥

गौतमीमाहात्म्ये एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥३९॥

गीता और सौभाग्या नाम की नदियाँ उत्पन्न हो गयीं। वे सभी नदियाँ जहाँ गंगा से मिलीं, वे तीनों संगम-स्थान अत्यन्त पुण्य देनेवाले सिद्ध हुए। उन तीर्थों में स्नान करने और दान देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥११४-११५॥ इसके अनन्तर गौरी और शंभु की कृपा से पुरुषत्व प्राप्त हो जाने के बाद राजा इल ने परम कल्याण (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया ॥११६॥ उस उत्तम नृप ने पुरोहित वसिष्ठ, भार्या, पुत्र, राजकोश, मन्त्रीगण और सेना को लेकर उस दण्डकारण्य में चतुरंग सैन्य से युक्त विस्तृत राज्य की स्थापना की। इल के नाम से ही उस राज्य में वह नगर, जो कि राजधानी था, इलपुर नाम से कहा जाने लगा ॥११७-११८॥ इसके पश्चात् अपने पहले के उत्पन्न पुत्रों को पैतृक राज्य (वंश क्रम से प्राप्त राज्य) पर अभिषिक्त कर दिया (राज्याधिकारी बना दिया)। तत्पश्चात् नवीन राज्य पर ऐल (पुरूरव) को यह सोच कर कि यह सोम वंश का संस्थापक श्रीमान् राजा हो—स्नेह से अभिषिक्त कर दिया ॥११९३॥ मुने! वह पुरूरवा शेष अपने भाइयों से बुद्धिमान्, गुणवान् और श्रेष्ठ हुआ ॥१२०॥ राजा इल के जिस स्थल पर शुभ यज्ञ हुए, जहाँ उनको पुरुषत्व की प्राप्ति हुई, जहाँ उनके सब पुत्र आये, और जहाँ यक्षिणी के दिये हुए नृत्य गीत, और सौभाग्य आदि नदी होकर गंगा में मिले, नारद! वे सब शुभदायक तीर्थ वहाँ हुए। साथ ही अन्य सोलह हजार और भी तीर्थ वहाँ उसके दोनों तट पर स्थापित हो गए। तात! वहीं इलेश्वर शंकर भी हैं। उन तीर्थों में स्नान, दान आदि पुण्य कर्म करने से सब यज्ञों का फल प्रप्त होता है ॥१२१-१२३॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में इलातीर्थमहात्म्यवर्णन नामक एक सौ आठवाँ अध्याय समाप्त ॥१०८॥

अथ नवाधिकशततमोऽध्यायः

चक्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

चक्रतीर्थमिति ख्यातं ब्रह्महत्यादिनाशनम् । यत्र चक्रेश्वरो देवश्चक्रमाप यतो हरिः ॥१॥
यत्र विष्णुः स्वयं स्थित्वा चक्रार्थं शंकरं प्रभुः । पूजयामास तत्तीर्थं चक्रतीर्थमुदाहृतम् ॥२॥
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते । दक्षक्रतौ प्रवृत्ते तु देवानां च समागमे ॥३॥
दक्षेण दूषिते देवे शिवे शर्वे महेश्वरे । अनाह्वाने सुरेशस्य दक्षचित्ते मलीमसे ॥४॥
दाक्षायण्या श्रुते वाक्ये अनाह्वानस्य कारणे । अहल्यायां चोक्तवत्यां कुपिताऽभूत्सुरेश्वरी ॥५॥
पितरं नाशये पापं क्षमेयं न[1] कथंचन । शृण्वती दोषवाक्यानि पित्रा चोक्तानि भर्तरि॥६॥
पत्युः शृण्वन्ति या निन्दां तासां पापावधिः कुतः । यादृशस्तादृशो वाऽपि पतिः स्त्रीणां परा गतिः॥७॥
किं पुनः सकलाधीशो महादेवो जगद्गुरुः। श्रुतं तन्निन्दनं तर्हि धारयामि न देहकम् ॥८॥
तस्मात्त्यक्ष्य इमं देहमित्युक्त्वा सा महासती । कोपेन महताऽऽविष्टा प्रजज्वाल सुरेश्वरी ॥९॥

अध्याय १०९

चक्रतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—ब्रह्महत्या आदि सभी पापों को नष्ट करने वाला विख्यात चक्रतीर्थ है, जहाँ चक्रेश्वर देव से विष्णु ने चक्र प्राप्त किया था ॥१॥ जिस स्थान पर स्वयं प्रभु विष्णु ने चक्र के लिए शंकर की पूजा की, वह तीर्थ चक्रतीर्थ नाम से प्रसिद्ध हो गया ॥२॥ जिसके नाम श्रवण मात्र से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है॥२$\frac{१}{३}$॥ एक समय दक्ष ने यज्ञ प्रारम्भ किया। उसमें सब देवता एकत्र हुए। दक्ष के मन में शिव के प्रति कुछ मलिनता हो गयी थी, जिससे उन्होंने महेश्वर, शर्व, देव, शिव को दूषित (अग्राह्य) घोषित कर दिया ॥३-४॥ दाक्षायणी ने इन बातों को सुना और निमन्त्रित न होने का कारण समझ लिया। अहल्या के मुख से कुछ अनुचित वाक्यों को सुनकर वह सुरेश्वरी अत्यन्त कुपित हो गयी ॥५॥ उन्होंने अपने पति के प्रति पिता की आक्षेपभरी बातें सुनकर कहा कि मैं अवश्य पापात्मा पिता का नाश करूँगी, किसी प्रकार उसका क्षमा नहीं कर सकती ॥६॥ क्योंकि जो स्त्रियाँ अपने पति की निन्दा सुनती हैं, उनके पापों का अन्त नहीं होता अर्थात् असंख्य पाप होते हैं। पति चाहे कैसा भी हो, वह स्त्री के लिए परम गति है ॥७॥ तो फिर सबके स्वामी जगद्गुरु शंकर के विषय में क्या कहा जाय। ऐसे पति की मैंने निन्दा सुनी है, इसलिए अब अपने शरीर को धारण न करूँगी ॥८॥ इस अधम शरीर को छोड़ दूँगी। यह कहकर वह महासती सुरेश्वरी अत्यन्त क्रोध से स्वयं जलने लगीं ॥९॥ शिव में ही अपने ध्यान को लगाकर उन्होंने योग द्वारा

---

[1] घ. वा।

शिवैकचेतना देहं बलाद्योगाच्च तत्यजे। महेश्वरोऽपि सकलं वृत्तमाकर्ण्य नारदात् ।।१०।।
दृष्ट्वा चुकोप पप्रच्छ जयां च विजयां तथा। ते ऊचतुरुभे देवं दक्षक्रतुविनाशनम् ।।११।।
दाक्षायण्या इति श्रुत्वा मखं प्रयान्महेश्वरः। भीमैर्गणैः परिवृतो भूतनाथैः समं ययौ ।।१२।।
मखस्तैर्वेष्टितः सर्वो देवब्रह्मपुरस्कृतः । दक्षेण यजमानेन शुद्धभावेन रक्षितः ।।१३।।
वसिष्ठादिभिरत्युग्रैर्मुनिभिः परिवारितः। इन्द्रादित्याद्यैर्वसुभिः सर्वतः परिपालितः ।।१४।।
ऋग्यजुः सामवेदैश्च स्वाहा शब्दैरलंकृतः। श्रद्धा पुष्टिस्तथा तुष्टिः शान्तिर्लज्जा सरस्वती ।।१५।।
भूमिर्द्यौः शर्वरी क्षान्तिरुषा आशा जया मतिः। एताभिश्च तथाऽन्याभिः सर्वतः समलंकृतः ।।१६।।
त्वष्ट्रा महात्मना चापि कारितो विश्वकर्मणा। सुरभिर्नन्दिनी धेनुः कामधुक्कामदोहिनी ।।१७।।
एताभिः कामवर्षाभिः सर्वकामसमृद्धिमान्। कल्पवृक्षः पारिजातो लताः कल्पलतादिकाः ।।१८।।
यद्यदिष्टतमं किंचित्तत्र तस्मिन्मखे स्थितम्। स्वयं मघवता पूष्णा हरिणा परिरक्षितः ।।१९।।
दीयतां भुज्यतां वाऽपि क्रियतां स्थीयतां सुखम्। एतैश्च सर्वतो वाक्यैर्दक्षस्य पूजितं मखम् ।।२०।।
आदौ तु वीरभद्रोऽसौ भद्रकाल्या युतो ययौ। शोककोपपरीतात्मा पश्चाच्छूलपिनाकधृक् ।।२१।।
अभ्याययौ महादेवो महाभूतैरलंकृतः । तानि भूतानि परितो मखे वेष्टय महेश्वरम् ।।२२।।
क्रतुं विध्वंसयामासुस्तत्र क्षोभो महानभूत्। पलायन्त ततः केचित्केचिद्गत्वा ततः शिवम् ।।२३।।
केचित्स्तुवन्ति देवेशं केचित्कुप्यन्ति शंकरम्। एवं विध्वंसितं यज्ञं दृष्ट्वा पूषा समभ्यगात् ।।२४।।

हठात् शरीर छोड़ दिया। नारद के मुख से सारी घटना को सुनकर शंकर अत्यन्त कुपित हो गये। उन्होंने जया और विजया को देखकर इस विषय में पूछा। उन दोनों ने दाक्षायणी की अथ से इति तक की कथा दक्ष के यज्ञ को विनष्ट करने वाले शंकर से कही। यह सुन कर महेश्वर अपने भयङ्कर अनुचरों और भूतनाथों (रुद्रगण) के साथ उस यज्ञ में गये ।।१०-१२।। वहाँ वह दक्ष का यज्ञ शिवगणों से घेर लिया गया जहाँ देव और ब्रह्मा भलीभाँति सम्मानित थे, जो यजमान दक्ष से शुद्धतापूर्वक अत्यन्त रक्षित था, जो वशिष्ठ आदि तेजस्वी मुनियों से घिरा हुआ, इन्द्र, आदित्य, वसु आदि देवों से चारों ओर से रक्षित, ऋग्, यजुस्, सामवेद की ध्वनि और स्वाहा शब्दों से गुंजित, श्रद्धा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति, लज्जा, सरस्वती, भूमि, द्यौः, शर्वरी, क्षान्ति, उषा, आशा, जया, मति आदि तथा अन्य देवियों से सुशोभित, महात्मा त्वष्टा विश्वकर्मा से भलीभाँति बनाया हुआ, सुरभिनन्दिनी, धेनु, कामधेनु, कामदोहिनी आदि कामनाओं की वर्षा करने वाली देव-सुरभियों तथा सम्पूर्ण वैभवों से युक्त, और कल्पवृक्ष, पारिजात, कल्पलतिका लता आदि जो कुछ अभीष्ट पदार्थ थे वे सव उस यज्ञ में उपस्थित थे। वह स्वयं इन्द्र, पूषा और विष्णु से परिरक्षित था ।।१३-१९।। दीजिये, भोजन कीजिये, कार्य प्रारम्भ कीजिये, यहाँ सुखपूर्वक विराजिये, आदि शिष्ट वाक्यों से दक्ष का वह यज्ञमण्डप शलाघ्य था ।।२०।। पहले वीरभद्र भद्रकाली के साथ वहाँ गया, पीछे शूल और पिनाक (धनुष) धारण करने वाले शंकर गये ।।२१।। इस प्रकार महादेव शंकर अपने उद्धत और भयङ्कर अनुचरों, महाभूतों से सुशोभित हो वहाँ गये और अपने उन भूतों को चारों ओर यथास्थान नियुक्त कर यज्ञ का विनाश कर दिया। इस विनाशलीला को देखकर वहाँ महान् कोलाहल हो गया ।।२२½।। कुछ इधर-उधर भागने लगे, कुछ देवेश शंकर के पास जाकर स्तुति करने लगे तो कुछ लोग शंकर को क्रोध से घूरने लगे। इस प्रकार यज्ञ को ध्वस्त होते देखकर पूषा शंकर के सामने आये ।।२३-२४।।

पूष्णो दन्तानथोत्पाट्य इन्द्रं व्यद्रावयत्क्षणात् । भगस्य चक्षुषी विप्र वीरभद्रो व्यपाटयत् ।।२५।।
दिवाकरं पुनर्दोर्भ्यां परिभ्राम्य समाक्षिपत् । ततः सुरगणाः सर्वे विष्णुं ते शरणं ययुः ।।२६।।

देवा ऊचुः

त्राहि त्राहि गदापाणे भूतनाथकृताद्‌भयात् । महेश्वरगणः कश्चित्प्रमथानां तु नायकः ।।
तेन दग्धो मखः सर्वो वैष्णवः पश्यतो हरेः ।।२७।।

ब्रह्मोवाच

हरिणा चक्रमुत्सृष्टं भूतनाथवधं प्रति । भूतनाथोऽपि तच्चक्रमापतच्च तदाऽग्रसत् ।।२८।।
ग्रस्ते चक्रे ततो विष्णोर्लोकपाला भयाद्ययुः । तथा स्थितानवेक्ष्याथ दक्षो यज्ञं सुरानपि ।।
तुष्टाव शंकरं देवं दक्षो भक्त्या प्रजापतिः ।।२९।।

दक्ष उवाच

जय शंकर सोमेश जय सर्वज्ञ शंभवे । जय कल्याणभृच्छंभो जय कालात्मने नमः ।।३०।।
आदिकर्तर्नमस्तेऽस्तु नीलकण्ठ नमोऽस्तु ते । ब्रह्मप्रिय नमस्तेऽस्तु ब्रह्मरूप नमोऽस्तु ते ।।३१।।
त्रिमूर्तये नमो देव त्रिधाम परमेश्वर । सर्वमूर्ते नमस्तेऽस्तु त्रैलोक्याधार कामद ।।३२।।
नमो वेदान्तवेद्याय नमस्ते परमात्मने । यज्ञरूप नमस्तेऽस्तु यज्ञधाम नमोऽस्तु ते ।।३३।।
यज्ञदान नमस्तेऽस्तु हव्यवाह नमोऽस्तु ते । यज्ञहर्त्रे नमस्तेऽस्तु फलदाय नमोऽस्तु ते ।।३४।।

परन्तु उन्होंने पूषा के दाँत उखाड़ लिये और इन्द्र को क्षण भर में वहाँ से भगा दिया । विप्र ! वीरभद्र ने भग की आँखें निकाल लीं ।।२५।। सूर्य को भुजाओं के बीच पकड़ कर घुमा कर फेंक दिया । तदनन्तर सब अशरण होकर विष्णु की शरण में गये । ।।२६।।

देवताओं ने कहा—हे गदापाणि ! भूतनाथों के इस उपद्रव से रक्षा करो, बचाओ । तुम्हारे देखते-देखते उपद्रवियों के सरदार (शंकर के गण) से यह वैष्णव (विष्णु का) यज्ञ जला दिया गया, नष्ट कर दिया गया ।।२७।।

ब्रह्मा ने कहा—यह गुहार सुनकर विष्णु ने भूतनाथ को मारने के लिए चक्र चलाया । भूतनाथ ने भी चक्र को अपनी ओर आते देखकर पकड़ लिया । विष्णु के अमोघ चक्र को इस प्रकार व्यर्थ होते देखकर सर्व लोकपाल भयभीत हो इधर-उधर भागने लगे । प्रजापति दक्ष ने यज्ञ और देवों की ऐसी स्थिति देखकर विनीत भाव से शंकर की स्तुति की ।।२८-२९।।

दक्ष ने कहा—शंकर ! सोमेश । आपकी जय हो, हे सर्वज्ञ ! शंभु ! जय हो । कल्याण करने वाले ! जय हो । शंभु ! जय हो । काल रूप शंकर को नमस्कार है । आदिकर्त्ता ! आपको नमस्कार है । नीलकण्ठ ! आपको नमस्कार है । ब्रह्मप्रिय ! आपको नमस्कार है । ब्रह्मरूप ! आपको नमस्कार है । त्रिमूर्ति को नमस्कार है । परमेश्वर ! देव ! त्रैलोक्यव्यापी ! आपको नमस्कार करते हैं । विश्वमूर्ति ! त्रिभुवन के आधार ! कामनाओं को देने वाले ! आपको नमस्कार है । वेदान्त (ज्ञान) से जानने योग्य आपको नमस्कार है । परमात्मा को नमस्कार है । यज्ञरूप ! आपको नमस्कार है । यज्ञधाम ! आपको नमस्कार है । यज्ञदान ! आपको नमस्कार है ।

त्राहि त्राहि जगन्नाथ शरणागतवत्सल। भक्तानामप्यभक्तानां त्वमेव शरणं प्रभो ॥३५॥

ब्रह्मोवाच

एवं तु स्तुवतस्तस्य प्रसन्नोऽभून्महेश्वरः। किं ददामीति तं प्राह क्रतुः पूर्णोऽस्तु मे प्रभो ॥३६॥
तथेत्युवाच भगवान्देवदेवो महेश्वरः। शंकरः सर्वभूतात्मा करुणावरुणालयः ॥३७॥
क्रतुं कृत्वा ततः पूर्णं तस्य दक्षस्य वै मुने। एवमुक्त्वा स भगवान्भूतैरन्तरधीयत ॥३८॥
यथागतं सुरा जग्मुः स्वमेव सदनं प्रति। ततः कदाचिद्देवानां दैत्यानां विग्रहो महान् ॥३९॥
बभूव तत्र दैत्येभ्यो भीता देवाः श्रियः पतिम्। तुष्टुवुः सर्वभावेन वचोभिस्तं जनार्दनम् ॥४०॥

देवा ऊचुः

शक्रादयोऽपि त्रिदशाः कटाक्षमवेक्ष्य यस्यास्तप आचरन्ति ।
सा चापि यत्पादरता च लक्ष्मीस्तं ब्रह्मभूतं शरणं प्रपद्ये ॥४१॥
यस्मात्त्रिलोक्यां न परः समानो, न चाधिकस्तार्क्ष्यस्थान्नृसिंहात् ।
स देवदेवोऽवतु नः समस्तान्महाभयेभ्यः कृपया प्रपन्नान् ॥४२॥

ब्रह्मोवाच

ततः प्रसन्नो भगवाञ्शङ्खचक्रगदाधरः। किमर्थमागताः सर्वे तत्कर्ताऽस्मीत्युवाच तान् ॥४३॥

हव्य को ढोने वाले ! (अग्ने !) आपको नमस्कार है। यज्ञ को नष्ट करने वाले को नमस्कार है, फल देने वाले को नमस्कार करते हैं। जगन्नाथ ! शरण में आये हुए की रक्षा करने वाले ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। प्रभो ! तुम्हीं भक्तों और अभक्तों के रक्षक हो ॥३०-३५॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार शंकर की स्तुति करने पर महेश्वर प्रसन्न हो गये। उन्होंने दक्ष से कहा कि 'क्या दूँ।' दक्ष ने कहा—प्रभो ! मेरा यज्ञ पूर्ण हो। भगवान् देवदेवेश्वर शंकर ने 'ऐसा ही हो' यह कहा। मुने ! करुणा के सागर, सब प्राणियों में निवास करने वाले भगवान् उस दक्ष के यज्ञ को पूर्ण कर अपने अनुचर भूतों के साथ अन्तर्हित हो गये। आये हुए देवता भी अपने-अपने स्थान को चले गये। अनन्तर किसी समय देवों और दानवों में अति भयंकर युद्ध हुआ। उस युद्ध में देवता दानवों से भयभीत हो गये। विवश हो लक्ष्मीपति जनार्दन की शरण में गये। वहाँ जाकर उन लोगों ने सब भावों से भगवान् को प्रार्थना द्वारा प्रसन्न किया ॥३६-४०॥

देवताओं ने कहा—जिसके केवल कटाक्ष मात्र को देखकर इन्द्र आदि देवता उसकी प्राप्ति के लिए तपस्या करते हैं, वही लक्ष्मी जिस विष्णु की चरण-सेवा में तल्लीन रहती हैं, उस ब्रह्मस्वरूप विष्णु की शरण में हम आये हुए हैं। जिस गरुड़ वाहन भगवान् नृसिंह से त्रिलोकी में उत्तम, समान या अधिक दूसरा कोई नहीं है, वे देवदेव प्रपन्न (शरण में आये) हम लोगों की समस्त भयङ्कर विभीषिका से रक्षा करें ॥४१-४२॥

ब्रह्मा ने कहा—देवों की प्रार्थना सुनकर शंख, चक्र और गदाधारी भगवान् अन्यन्त प्रसन्न हो गये। उन्होंने देवों से कहा कि 'किसलिए तुम लोग यहाँ आये हो, मैं उन सब इच्छाओं को पूर्ण कर दूँगा' ॥४३॥

देवा ऊचुः

भयं च तीव्रं दैत्येभ्यो देवानां मधुसूदन। ततस्त्राणाय देवानां मतिं कुरु जनार्दन ॥४४॥

ब्रह्मोवाच

तानागतान्हरिः प्राह ग्रस्तं चक्रं हरेण मे। किं करोमि गतं चक्रं भवन्तश्चार्तिमागताः ॥४५॥
यान्तु सर्वे देवगणा रक्षा वः क्रियते मया ॥४६॥

ब्रह्मोवाच

ततो गतेषु देवेषु विष्णुश्चक्रार्थमुद्यतः। गोदावरीं ततो गत्वा शंभोः पूजां प्रचक्रमे ॥४७॥
सुवर्णकमलैर्दिव्यैः सुगन्धैर्दशभिः शतैः। भक्तितो नित्यवत्पूजां चक्रे विष्णुरुमापतेः ॥४८॥
एवं संपूज्यमाने तु तयोस्तत्त्वमिदं शृणु। कमलानां सहस्रे तु यदेकं नैव पूर्यते ॥४९॥
तदाऽसुरारिः स्वं नेत्रमुत्पाट्यार्घ्यमकल्पयत्। अर्घ्यपात्रं करे गृह्य सहस्रकमलान्वितम् ॥
ध्यात्वा शंभुं ददावर्घ्यमनन्यशरणो हरिः ॥५०॥

विष्णुरुवाच

त्वमेवं देव जानीषे भावमन्तर्गतं नृणाम्। त्वमेव शरणोऽधीशोऽत्र का भवेद्विचारणा ॥५१॥

ब्रह्मोवाच

वदन्नुदश्रुनयनो निलिल्येऽसावितीश्वरे। भवानीसहितः शंभुः पुरस्तादभवत्तदा ॥५२॥

देवों ने कहा—मधुसूदन ! दैत्यों से हम देवों को दारुण भय होता है। इसलिए आप देवताओं की रक्षा का उपाय कीजिये ॥४४॥

ब्रह्मा ने कहा—उन शरणागत देवों से भगवान् विष्णु ने कहा—मेरा चक्र शंकर ने ले लिया है। क्या करूँ। ? चक्र हाथ से निकल गया और आप लोग इस समय विपत्ति में फँस गये। फिर भी आप लोग इस समय जाइये, मैं आप लोगों की रक्षा करूँगा ॥४५-४६॥

ब्रह्मा ने कहा—देवताओं के लौट जाने पर विष्णु चक्र लाने के लिए उद्यत हो गये। इस अभिप्राय से वे गोदावरी के तट पर गये और शंकर की पूजा करने लगे। विष्णु प्रतिदिन भक्तिपूर्वक दिव्य, सुगन्धित हजार सुवर्ण कमलों से उमापति की पूजा करने लगे। इस प्रकार पूजा करते समय उन दोनों देवों में जो रहस्य हुआ, उसको सुनो। जब सहस्र कमलों में एक कम हो गया तब असुरशत्रु विष्णु ने अपने कमल-नेत्र को ही निकालकर अर्घ्य देने के लिए उस (संख्या) को पूरा किया। इस प्रकार हजार कमलों से पूर्ण कर अर्घ्य पात्र को हाथ में लेकर अनन्य भावना से विष्णु ने शंकर का ध्यान कर अर्घ्य प्रदान किया ॥४७-५०॥

विष्णु ने कहा—देव ! तुम्हीं मनुष्यों के मन के भावों को जानते हो, देवेश ! तुम्हीं एकमात्र शरण हो, इसमें विचार की क्या आवश्यकता है ? ॥५१॥

ब्रह्मा ने कहा—भगवान् विष्णु इस प्रकार प्रार्थना करते हुए शंकर में तल्लीन हो गये, उनकी आँखों से प्रेमाश्रु

गाढमालिङ्ग्य विविधैर्वरैरापूरयद्धरिम्। तदेव चक्रमभवन्नेत्रं चापि यथा पुरा ।।५३।।
ततः सुरगणाः सर्वे तुष्टुवुर्हरिशंकरौ। गङ्गां चापि सरिच्छ्रेष्ठां देवं च वृषभध्वजम् ।।५४।।
ततः प्रभृति तत्तीर्थं चक्रतीर्थमिति स्मृतम्। यस्यानुश्रवणेनैव मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।।५५।।
तत्र स्नानं च दानं च यः कुर्यात्पितृतर्पणम्। सर्वपापविनिर्मुक्तः पितृभिः स्वर्गभाग्भवेत् ।।५६।।
तत्तु चक्राङ्कितं तीर्थमद्यापि परिदृश्यते ।।५७।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे चक्रतीर्थवर्णनं नाम नवाधिकशततमोऽध्यायः ।।१०९।।
गौतमीमाहात्म्ये चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।।४०।।

अथ दशाधिकशततमोऽध्यायः

पिप्पलतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

पिप्पलं तीर्थमाख्यातं [1]चक्रतीर्थादनन्तरम्। यत्र चक्रेश्वरो देवश्चक्रमाप यतो हरिः ।।१।।
यत्र विष्णुः स्वयं स्थित्वा चक्रार्थं शंकरं विभुम्। पूजयामास तत्तीर्थं चक्रतीर्थमुदाहृतम् ।।२।।

बहने लगे। इसी समय भवानी सहित शंकर प्रकट हुए। उन्होंने उनको प्रेमपूर्वक गले लगाकर विविध वरदानों की वर्षा कर प्रसन्न किया। पुनः वही चक्र विष्णु के समीप चला आया और उनका नेत्र भी पूर्ववत् हो गया। तदनन्तर सब देवताओं ने हरि और शंकर तथा श्रेष्ठ नदी गंगा की स्तुति की। तभी से वह तीर्थ चक्रतीर्थ के नाम से विख्यात हो गया। उसके नामश्रवणमात्र से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है। उस तीर्थ में जो कोई स्नान, दान और पितृतर्पण आदि शुभ कर्म करता है वह सब पापों से मुक्त होकर अपने पितरों के साथ स्वर्ग प्राप्त करता है। ऐसा वह तीर्थ आज भी चक्र से चिह्नित देखा जाता है ।।५२-५७।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में चक्रतीर्थवर्णन नामक एक सौ नवाँ अध्याय समाप्त ।।१०९।।

अध्याय ११०

पिप्पलतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—चक्रतीर्थ के बाद पिप्पलतीर्थ परम प्रसिद्ध है, जहाँ चक्रेश्वर देव, जिनसे हरि ने चक्र प्राप्त किया था—रहते हैं ।।१।। जहाँ विष्णु ने चक्र के लिए प्रभु शंकर की पूजा की, वही तीर्थ चक्रतीर्थ के नाम से विख्यात

---

[1] घ. ०र्थाच्च दक्षिणे। य०।

यत्र प्रीतोऽभवद्विष्णोः शंभुस्तत्पिप्पलं विदुः। महिमानं यस्य वक्तुं न क्षमोऽप्यहिनायकः ॥३॥
चक्रेश्वरो पिप्पलेशो नामधेयस्य कारणम्। शृणु नारद तद्भक्त्या [1]साक्षाद्वेदोदितं मया ॥४॥
दधीचिरिति विख्यातो मुनिरासीद्गुणान्वितः। तस्य भार्या महाप्राज्ञा कुलीना च पतिव्रता ॥५॥
लोपामुद्रेति या ख्याता स्वसा तस्या गभस्तिनी। इति नाम्ना च विख्याता वडवेति प्रकीर्तितता ॥६॥
दधीचेः सा प्रिया नित्यं तपस्तेपे तया महत्। दधीचिरग्निमान्नित्यं गृहधर्मपरायणः ॥७॥
भागीरथीं समाश्रित्य देवातिथिपरायणः। स्वकलत्ररतः शान्तः कुम्भयोनिरिवापरः ॥८॥
तस्य प्रभावात्तं देशं नारयो दैत्यदानवाः। आजग्मुर्मुनिशार्दूल यत्रागस्त्यस्य चाऽऽश्रमः ॥९॥
तत्र देवाः समाजग्मू रुद्रादित्यास्तथाऽश्विनौ। इन्द्रो विष्णुर्यमोऽग्निश्च जित्वा दैत्यानुपागतान् ॥१०॥
जयेन जातसंहर्षाः स्तुताश्चैव मरुद्गणैः। दधीचिं मुनिशार्दूलं दृष्ट्वा नेमुः सुरेश्वराः ॥११॥
दधीचिर्जातसंहर्षः सुरान्पूज्य पृथक्पृथक्। गृहकृत्यं ततश्चक्रे सुरेभ्यो भार्यया सह ॥१२॥
पृष्टाश्च कुशलं तेन कथाश्चक्रुः सुरा अपि। दधीचिमब्रुवन्देवा भार्यया सुखितं पुनः ॥१३॥
आसीनं हृष्टमनस ऋषिं नत्वा पुनः पुनः ॥१४॥

देवा ऊचुः

किमद्य दुर्लभं लोके ऋषेऽस्माकं भविष्यति। त्वादृशः सकृपो येषु मुनिर्भूकल्पपादपः ॥१५॥

हुआ ॥२॥ जहाँ भगवान् शम्भु विष्णु पर प्रसन्न हुए वह पिप्पलतीर्थ कहा जाता है, जिसकी महिमा वर्णन करने में शेषनाग भी समर्थ नहीं हैं ॥३॥ नारद ! चक्रेश्वर और पिप्लेश नाम पड़ने का कारण भक्तिपूर्वक सुनो। यह आख्यान साक्षात् वेद में भी कहा गया है ॥४॥ दधीचि नाम के एक परमविख्यात, गुणवान् मुनि थे। उनकी परम कुलीन बुद्धिमती और पतिव्रता पत्नी थी। ॥५॥ वह प्रसिद्ध लोपामुद्रा की बहिन गभस्तिनी थी, जिसको लोग वडवा भी कहा करते थे ॥६॥ दधीचि की वह प्रिया भी प्रतिदिन महान् तप किया करती थी। स्वयं दधीचि नित्य ही अग्नि-स्थापना कर गृहस्थ-धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करते थे ॥७॥ वे भागीरथी के तट पर निवास कर देव और अतिथियों की एकान्त सेवा में लीन रहते थे। अपनी प्रिया के प्रति अनन्य प्रेम रखने वाले वे शान्त दधीचि दूसरे अगस्त्य के समान थे ॥८॥ मुनिशार्दूल ! उनकी तपस्या के प्रभाव से उस प्रदेश में और अगस्त्य ऋषि के आश्रम में कोई भी शत्रु या दैत्यदानव आने का साहस नहीं करते थे ॥९॥ एक दिन आक्रमणकारी उपद्रवी दैत्यों को जीतकर रुद्र, आदित्य, अश्विन, इन्द्र, विष्णु, यम, अग्नि आदि देवता उनके यहाँ आये जो विजय से अत्यन्त प्रसन्न थे, मरुद्गण उनकी स्तुति कर रहे थे। उन देवेश्वरों ने मुनिपुङ्गव दधीचि को देखकर उनका अभिनन्दन किया ॥१०-११॥ दधीचि अपने देव अतिथियों को देखकर आनन्द के मारे फूले न समाये। भार्या के सहित उन्होंने उन देवों का प्रेमपूर्वक अतिथि-सत्कार किया ॥१२॥ कुशल प्रश्न होने के बाद देवताओं ने अपनी कुशल-वार्ता सुनायी। पुनः देवगण प्रसन्न होकर भार्यासहित बैठे हुए ऋषि दधीचि को बार-बार नमस्कार करके बोले ॥१३-१४॥

देवों ने कहा—ऋषे ! जब तुम्हारे समान पृथ्वी के कल्पवृक्ष की कृपा हम लोगों पर है तब भला हम

---

[1] घ. ०क्षाद्देवोदि०।

एतदेव फलं पुंसां जीवतां मुनिसत्तम। तीर्थाप्लुतिर्भूतदया दर्शनं च भवादृशाम् ॥१६॥
यत्स्नेहादुच्यतेऽस्माभिरवधारय तन्मुने। जित्वा दैत्यानिह प्राप्ता हत्वा राक्षसपुंगवान् ॥१७॥
वयं च सुखिनो ब्रह्मंस्त्वयि दृष्टे विशेषतः। नाऽऽयुधैः फलमस्माकं वोढुं नैव क्षमा वयम् ॥१८॥
स्थाप्यदेशं न पश्याम आयुधानां मुनीश्वर। स्वर्गे सुरद्विषो ज्ञात्वा स्थापितानि हरन्ति च ॥१९॥
नयेयुरायुधानीति तथैव च रसातले। तस्मात्तवाश्रमे पुण्ये स्थाप्यन्तेऽस्त्राणि मानद ॥२०॥
नैवात्र किंचिद्भयमस्ति विप्र, न दानवेभ्यो राक्षसेभ्यश्च घोरम् ।
त्वदाज्ञया रक्षितपुण्यदेशो, न विद्यते तपसा ते समानः ॥२१॥
जितारयो ब्रह्मविदां वरिष्ठं, वयं च पूर्वं निहता दैत्यसंघाः ।
अस्त्रैरलं भारभूतैः कृतार्थैः, स्थाप्यं स्थानं ते समीपे मुनीश ॥२२॥
दिव्यान्भोगान्कामिनीभिः समेतान्देवोद्याने नन्दने संभजामः ।
ततो यामः कृतकार्याः सहेन्द्राः, स्वं स्वं स्थानं चाऽऽयुधानां च रक्षा ॥२३॥
त्वया कृता जायतां तत्प्रशाधि समर्थस्त्वं रक्षणे धारणे च ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

तद्वाक्यमाकर्ण्य दधीचिरेवं, वाक्यं जगौ विबुधानेवमस्तु ।
निर्वार्यमाणः प्रियशीलया स्त्रिया, किं देवकार्येण विरुद्धकारिणा ॥२५॥

लोगों को कौन-सा पदार्थ दुर्लभ होगा ? मुनिसत्तम ! मनुष्य-जीवन का फल तीर्थाटन, प्राणियों पर दया आपके समान महापुरुषों का दर्शन ही है ॥१५-१६॥ मुने ! आज हम लोग विनम्र भाव से प्रेमपूर्वक जो कुछ कह रहे हैं उस पर ध्यान दीजिये। बड़े-बड़े बलशाली दैत्यों को जीतकर हम यहाँ आये हुए हैं। ब्रह्मन् ! हम लोग सुखी हैं। आपको देखकर और विशेष रूप से प्रसन्नता हो रही है। ये अस्त्र-शस्त्र अब भार-से जान पड़ते हैं, थकावट के कारण इन व्यर्थ अस्त्रों को ढोने की शक्ति भी नहीं रह गयी है ॥१७-१८॥ मुनीश्वर ! इन आयुधों को रखने के लिए कोई सुरक्षित स्थान भी नहीं दिखायी दे रहा है। स्वर्ग में रखने पर राक्षस पता पा जाने पर छीन लेंगे। इसी प्रकार यदि इन अस्त्रों को रसातल ले जाय तो वहाँ भी यही दशा है। इसलिए हे मानद ! (प्रतिष्ठा देने वाले, सबकी प्रतिष्ठा करने वाले) आपके आश्रम में इन अस्त्रों को रखा जा रहा है ॥१९-२०॥ क्योंकि हे विप्र ! यहाँ न तो राक्षसों से और न तो दानवों से ही भय है। यह पुण्य स्थान आपकी आज्ञा (तेज) से सुरक्षित है, आपके समान तपस्या में भी कोई नहीं है ॥२१॥ मुनीश ! ज्ञानियों में श्रेष्ठ ! हम लोगों ने शत्रुओं को जीत लिया है, दैत्यों को पहले ही विनष्ट कर दिया है, अब इन भारमूत, युद्धशेष अतएव व्यर्थ अस्त्रों की कोई आवश्यकता नहीं है और आपके समीप रखने योग्य स्थान भी है ॥२२। अब हम लोग कामिनियों के सोथ देवोद्यान नन्दनवन में दिव्य भोगों का भोग करेंगे इसलिए हम लोग इन्द्र के सहित आपकी दया से कृतकृत्य होकर अपने-अपने स्थान को जा रहे हैं। अब शस्त्रास्त्रों की रक्षा आप के ही द्वारा होगी, इसलिए आज्ञा दीजिये, आप ही इन शस्त्रों की रक्षा और देख-भाल करने में समर्थ हैं ॥२३-२४॥

ब्रह्मा ने कहा—देवों की ऐसी प्रार्थना सुनकर दधीचि ने देवों से कहा कि 'एवमस्तु'। यह देखकर प्रिय स्वभाव-वाली स्त्री ने बार-बार मना किया कि इस वैमनस्य पैदा करने वाले देव-कार्य में हाथ लागने की क्या आवश्यकता ॥२५॥

ये ज्ञातशास्त्राः परमार्थनिष्ठाः, संसारचेष्टासु गतानुरागः ।
तेषां परार्थव्यसनेन किं मुने, येनात्र वाऽमुत्र सुखं न किंचित् ॥२६॥
देवद्विषो द्वेषमनुप्रयान्ति, दत्ते स्थाने विप्रवर्य भृणुष्व ।
नष्टे हृते चाऽऽयुधानां मुनीश, कुप्यन्ति देवा रिपवस्ते भवन्ति ॥२७॥
तस्मान्नेदं वेदविदां वरिष्ठ, युक्तं द्रव्ये परकीये ममत्वम् ।
तावच्च मैत्री द्रव्यभावश्च तावन्नष्टे हृते रिपवस्ते भवन्ति ॥२८॥
चेदस्ति शक्तिर्द्रव्यदाने ततस्ते, दातव्यमेवार्थिने किं विचार्यम् ।
नो चेत्सन्तः परकार्याणि कुर्युर्वाग्भिर्मनोभिः कृतिभिस्तथैव ॥२९॥
परस्वसंधारणमेतदेव, सद्भिर्निरस्तं त्यज कान्त सद्यः ॥३०॥

ब्रह्मोवाच

एवं प्रियाया वचनं स विप्रो, निशम्य भार्यामिदमाह सुभ्रूम् ॥३१॥

दधीचिरुवाच

पुरा सुराणामनुमान्य भद्रे, नेतीति वाणी न सुखं ममैति ॥३२॥

मुने ! जो शास्त्रज्ञ, परमार्थ (मोक्षज्ञान) में निष्ठा रखने वाले और सांसारिक व्यापारों से विरक्त हैं उनको ऐसे दूसरों के व्यर्थ कामों में पड़ने से क्या लाभ ? जिनके करने से न तो कोई लौकिक सुख हो, न पारलौकिक ॥२६॥ विप्रवर्य ! सुनिये, इस प्रकार स्थान देने से राक्षस कुपित हो जायेंगे। मुनीश ! शस्त्रास्त्रों के नष्ट हो जाने से या चोरी चले जाने से देवता कुपित होंगे और शत्रु बन जायेंगे ॥२७॥ इन कारणों से हे वेदज्ञों में श्रेष्ठ ! दूसरे के द्रव्य में इस प्रकार ममत्व उत्पन्न करना कदापि उचित नहीं। जब तक यह न्यास (धरोहर) रक्षित है तब तक मैत्री है, नष्ट हो जाने पर अथवा चोरी चले जाने पर वे ही शत्रु हो जायेंगे ॥२८॥ यदि द्रव्यदान की शक्ति है तो याचकों को धन अवश्य देना चाहिये, वहाँ आगा-पीछा सोचने की आवश्यकता नहीं, यदि दान की शक्ति नहीं है तो सज्जन व्यक्तियों को दूसरों का कार्य वाणी, मन तथा रचनाओं से करना चाहिये ॥२९॥ यही कारण है कि दूसरों की सम्पत्ति अपने पास रखने को सज्जनों ने बार-बार मना किया है और निन्द्य माना है। इसलिए कान्त ! आप अपने इस निश्चय को छोड़ दीजिये ॥३०॥

ब्रह्मा ने कहा—प्रिया की इस प्रकार की बातें सुनकर विप्र दधीचि ने अपनी सुन्दर भौं वाली पत्नी से कहा ॥३१॥

दधीचि ने कहा—भद्रे ! पहले देवताओं को वाग्दान द्वारा सम्मानित कर पुनः नहीं कहना मुझको उचित अथवा सुखकर नहीं जान पड़ता ॥३२॥

ब्रह्मा ने कहा—प्रिया के प्रति पति की कही हुई बातों को सुनकर वे देवता अपने तेजोमय (चमकने वाले) अस्त्रों को मुनि के आश्रम में रखकर मुनि को प्रणाम कर अपने लोक को चले गये। पत्नी भी मनुष्यों के भाग्य के

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वेरितं पत्युरिति प्रियायां, दैवं विनाऽन्यत्र नृणां समर्थम् ।
तूर्ष्णीं स्थितायां सुरसत्तमास्ते, संस्थाप्य चास्त्राण्यतिदीप्तिमन्ति ॥३३॥
नत्वा मुनीन्द्रं ययुरेव लोकान्दैत्यद्विषो[1] न्यस्तशस्त्राः कृतार्थाः ।
गतेषु देवेषु मुनिप्रवर्यो हृष्टोऽवसद्भार्यया धर्मयुक्तः ॥३४॥
गते च काले ह्यतिविप्रयुक्ते, दैवे वर्षे संख्यया वै सहस्रे ।
न ते सुरा आयुधानां मुनीश, वाचं मनश्चापि तथैव चक्रुः ॥३५॥
दधीचिरप्याह गभस्तिमोजसा, देवारयो मां द्विषतीह भद्रे ।
न ते सुरा नेतुकामा भवन्ति, संस्थापितान्यत्र वदस्व युक्तम् ॥३६॥
सा चाऽऽह कान्तं विनयादुक्तमेव, त्वं जानीषे नाथ यदत्र युक्तम् ।
दैत्या हरिष्यन्ति महाप्रवृद्धास्तपोयुक्ता बलिनः स्वायुधानि ॥३७॥
तदस्त्ररक्षार्थमिदं स चक्रे, मन्त्रैस्तु संक्षाल्य जलैश्च पुण्यैः ।
तद्वारि सर्वास्त्रमयं सुपुण्यं, तेजोयुक्तं तच्च पपौ दधीचिः ॥३८॥
निर्वीर्यरूपाणि तदायुधानि, क्षयं जग्मुः क्रमशः कालयोगात् ।
सुराः समागत्य दधीचिमूचुर्महाभयं ह्यागतं शात्रवं नः ॥३९॥

अतिरिक्त और कोई पदार्थ बलवान् नहीं, यह सोच कर चुप हो गयी । इधर देववृन्द मुनि-आश्रम में शस्त्र रखकर अपने को अत्यन्त कृतकृत्य समझने लगे ॥३३½॥

देवताओं के चले जाने पर मुनिवर्य भार्या के साथ धर्म का पालन करते हुए सानन्द जीवन बिताने लगे। मुनीश ! देवों के हजार वर्ष व्यतीत हो गये परन्तु देवों ने अपने रखे हुए अस्त्रों के विषय में कोई खोज-बीन न की, ले जाने की चर्चा कौन कहे, मन से भी अस्त्रों के बारे में कुछ नहीं सोचा ॥३४-३५॥ यह देखकर दधीचि ने अपनी प्रिया गभस्तिनी से कहा—भद्रे ! सुरशत्रु राक्षस मेरे इस कार्य से द्वेष करते हैं, और अब तक देवता इस रक्षित अस्त्रों को ले जाना नहीं चाहते, इसलिए इस बारे में कोई उचित उपाय बताओ ॥३६॥ उसने अपने पति से विनयपूर्वक कहा 'मैंने तो पहले ही कह दिया था, नाथ ! इस विषय में जो कुछ उचित है उसको आप स्वयं जानते हैं। तपस्वी, बली और महाशक्तिशाली राक्षस अपने अस्त्रों को छीन ले जायेंगे, यह सोचकर दधीचि ने उन अस्त्रों की रक्षा के लिए मन्त्रों से जल को अभिमन्त्रित कर उससे अस्त्रों को धो दिया। और उस तेजोमय पवित्र और सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति से सम्पन्न उस जल को पी गये, इस प्रकार उन्होंने अस्त्रों की रक्षा की ॥३७-३८॥ अधिक समय बीत जाने के कारण वे अस्त्र बेकाम हो गये और धीरे-धीरे नष्ट हो गये। अब अवसर देखकर देवताओं ने आकर दधीचि से कहा कि हम लोगों के सिर पर शत्रुओं का भीषण भय आ गया ॥३९॥ इसलिए मुनिप्रवीर ! आप उन

---

[1] घ. जयिनस्ते ।

ददस्व चास्त्राणि मुनिप्रवीर, यानि त्वदन्ते निहितानि देवैः ।
दधीचिरप्याह सुरारिभीत्या, अनागत्या भवतां चाचिरेण ॥४०॥
अस्त्राणि पीतानि शरीरसंस्थान्युक्तानि युक्तं मम तद्वदन्तु ।
श्रुत्वा तदुक्तं वचनं तु देवाः, प्रोचुस्तमित्थं विनयावनम्राः ॥४१॥
अस्त्राणि देहीति च वक्तुमेतच्छक्यं न वाऽन्यत्प्रतिवक्तुं मुनीन्द्र ।
विना च तैः परिभूयेम नित्यं, पुष्टारयः क्व प्रयामो मुनीश ॥४२॥
न मर्त्यलोके न तले न नाके, वासः सुराणां भविताऽद्य तात ।
त्वं विप्रवर्यस्तपसा चैव युक्तो, नान्यद्वक्तुं [1]युज्यते ते पुरस्तात्[2] ॥४३॥
विप्रस्तदोवाच मदस्थिसंस्थान्यस्त्राणि गृह्णन्तु न संशयोऽत्र ।
देवास्तमप्याहुरनेन किं नो, ह्यस्त्रैर्हीनाः स्त्रीत्वमाप्ताः सुरेन्द्राः ॥४४॥
पुनस्तदा चाऽह मुनिप्रवीरस्त्यक्ष्ये जीवान्दैहिकान्योगयुक्तः
अस्त्राणि कुर्वन्तु मदस्थिभूतान्यनुत्तमान्युत्तमरूपवन्ति ॥४५॥
कुरुष्व चेत्याहुरदीनसत्त्वं, दधीचिमित्युत्तरमग्निकल्पम् ।
तदा तु तस्य प्रियमीरयन्ती, न सांनिध्ये प्रातिथेयी मुनीश ॥४६॥

अस्त्रों को, जो आपके पास रखे गये थे, दीजिये । यह सुनकर दधीचि ने कहा कि दैत्यों के भय से आप लोग शीघ्र नहीं आये, जिससे मैंने अस्त्रों को रक्षा की दृष्टि से जल के रूप में पीकर शरीरस्थ कर लिया है, अतः जो कुछ उपयुक्त उपाय हो मुझसे कहिये । ऋषि की बातों को सुनकर देवों ने विनम्र भाव से कहा—मुनीन्द्र ! हम लोगों को अस्त्र दीजिये, यही कह सकते हैं, इसके अतिरिक्त कोई दूसरी बात नहीं कहना चाहते ॥४०-४१½॥ मुनीश ! उन अस्त्रों के बिना हम लोग सर्वदा शत्रुओं से पराजित होंगे, प्रबल शत्रुओं से बचकर कहाँ जाकर त्राण पा सकेंगे ? तात ! आज मर्त्यलोक, पाताल या स्वर्ग कहीं भी उन दुष्टों के भय से देवों को स्थान नहीं मिलेगा । आप विप्रवर्य तपस्वी हैं, आपके सामने और कुछ कहना उचित नहीं प्रतीत होता ॥४२-४३॥ यह सुनकर विप्र ने कहा—'मेरी हड्डियों में स्थित अपने अस्त्रों को ले लो, इसमें कोई संशय नहीं ।' (अर्थात् सोचने की आवश्यकता नहीं), देवताओं ने कहा—आपके शरीरस्थ अस्त्रों से क्या होगा । हम सब देवगण अस्त्रहीन होने से स्त्री के समान निर्बल हो गये हैं ॥४४॥ यह सुनकर पुनः मुनिवर्य दधीचि ने कहा—मैं योगयुक्त होकर (योग द्वारा) अपने शरीरस्थ जीव (प्राण) को छोड़ दूँगा । मेरी शस्त्रमय अस्थियों से उत्तम और सुन्दर आकार वाले अस्त्रों को बनवा लीजिये ॥४५॥ देवताओं ने उन परम पुरुषार्थी, अग्नि के समान तेजस्वी दधीचि से कहा कि ऐसा ही कीजिये । मुनीश ! इस प्रकार के वार्तालाप के समय दधीचि की

१क. ०ते हि द्विजेश । वि । २घ. ०त् । इतीरितं देवगणैः स विप्र आकर्ण्य तानाह कथं विषण्णाः । कुर्वन्तु सर्वे त्रिदशा यथेष्टं मदस्थिभिस्तानि समायुधानि । निशम्य शक्रो मुनिभाषितं हृदा प्रकम्पितस्तप्तमना मनस्वी । यद्दैवदिष्टं मुनिवर्य तन्नो भवत्यहो ब्राह्मणदैवतानाम् । अथो बभाषे स महानुभावो न मेऽभिलाषोऽस्ति शरीरकस्य । वि०।

ते चापि देवास्तामदृष्ट्वैव शीघ्रं, तस्या भीता विप्रमूचुः कुरुष्व ।
तत्याज जीवान्दुस्त्यजान्प्रीतियुक्तो यथासुखं देहमिमं जुषध्वम् ॥४७॥
मदस्थिभिः प्रीतिमन्तो भवन्तु, सुराः सर्वे किंतु देहेन कार्यम् ॥४८॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वाऽसौ बद्धपद्मासनस्थो, नासाग्रदत्ताक्षिप्रकाशप्रसन्नः ।
वायुं सर्वाह्नि मध्यमोद्घाटयोगान्नीत्वा शनैर्दहराकाशगर्भम् ॥४९॥
यदप्रमेयं परमं पदं यद्यद्ब्रह्मरूपं यदुपासितव्यम् ।
तत्रैव विन्यस्य धियं महात्मा, सायुज्यतां ब्रह्मणोऽसौ जगाम ॥५०॥
निर्जीवतां प्राप्तमभीक्ष्य देवाः, कलेवरं तस्य सुराश्च सम्यक् ।
त्वष्टारमप्यूचुरतित्वरन्तः, कुरुष्व चास्त्राणि बहूनि सद्यः ॥५१॥
स चापि तानाह कथं नु कार्यं, कलेवरं ब्राह्मणस्येह देवाः ।
बिभेमि कर्तुं दारुणं चाक्षमोऽहं, [1]विदारितान्यायुधान्युत्तमानि ॥५२॥
तदस्थिभूतानि करोमि सद्यस्ततो देवा गाः समूचुस्त्वरन्त ॥५३॥

प्रिय वचन बोलने वाली, अतिथि-सेविका पत्नी वहाँ उपस्थित न थी। वे देव उसको वहाँ उपस्थित न देखकर, उसके भय से भयभीत होकर ब्राह्मण से बोले कि शीघ्रता कीजिये। देवों की बातें सुनकर दधीचि प्रसन्न हो अपने अत्यन्त कष्ट से छोड़ने योग्य प्राणों को यह कहते हुए कि मेरे इस शरीर का इच्छानुकूल उपयोग कीजिये, सब देवता मेरी हड्डियों से प्रसन्न हों, इस व्यर्थ शरीर का परोपकार के अतिरिक्त और कौन सदुपयोग हो सकता है, इस शरीर से कोई लाभ नहीं, छोड़ दिया ॥४६-४८॥

ब्रह्मा ने कहा—यह कहकर दधीचि पद्मासन लगाकर बैठ गये, नासाग्र में अपनी दृष्टि एकाग्र की दी, योग द्वारा सुषुम्ना को जाग्रत कर शरीर-संचारी वायु और अग्नि को दीप्त कर शनैः-शनैः हृदय-गह्वर में पहुँचा दिया ॥४९॥ और जो अप्रमेय (अज्ञेय), परम पद ब्रह्म का स्वरूप है, उसी में अपनी बुद्धि (भावना) को लगाकर उस महात्मा ब्राह्मण ने परब्रह्म की सायुज्य-मुक्ति प्राप्त कर ली। इस प्रकार उस ब्राह्मण के शरीर को निर्जीव देखकर, देवताओं ने विश्वकर्मा से कहा—'शीघ्र ही इसी क्षण बहुत-से अस्त्रों को बना डालो'। विश्वकर्मा ने भी देवताओं से कहा—'देवगण ! यह ब्राह्मण का शरीर है, मैं कैसे यह दारुण कार्य कर सकता हूँ, यह वीभत्स कार्य करने में मैं अशक्त हूँ, यदि अस्थियों को कोई फाड़ कर अलग कर दे तब मैं उनसे उत्तम-से-उत्तम अस्त्र बना दूँगा। यह सुनकर देवताओं ने शीघ्र ही गौओं से कहा ॥५०-५३॥

---

[1] घ. ०दार्येता० ।

देवा ऊचुः

वज्रं मुखं वः क्रियते हितार्थं, गावो देवैरायुधार्थं क्षणेन ।
दधीचिदेहं तु विदार्य यूयमस्थीनि शुद्धानि प्रयच्छताद्य ॥५४॥

ब्रह्मोवाच

ता देववाक्याच्च तथैव चक्रुः, संलिह्य चास्थीनि ददुः सुराणाम् ।
सुरास्त्वरा जग्मुरदीनसत्त्वाः, स्वमालयं चापि तथैव गावः ॥५५॥
कृत्वा तथाऽस्त्राणि च देवतानां, त्वष्टा जगामाथ सुराज्ञया तदा ।
ततश्चिराच्छीलवती सुभद्रा, भर्तुःप्रिया बालगर्भा त्वरन्ती ॥५६॥
करे गृहीत्वा कलशं वारिपूर्णमुमां नत्वा फलपुष्पैः समेत्य ।
अग्निं च भर्तारमथाऽऽश्रमं च, संद्रष्टुकामा ह्याजगामाथ शीघ्रम् ॥५७॥
आगच्छन्तीं तां प्रातिथेयीं तदानीं, निवारयामास तदोल्कपातः ।
सा संभ्रमादागता चाऽऽश्रमं स्वं, नैवापश्यत्तत्र भर्तारमग्रे ॥५८॥
क्व वा गतश्चेति सविस्मया सा, पप्रच्छ चाग्निं प्रातिथेयी तदानीम् ।
अग्निस्तदोवाच सविस्तरं तां, देवागमं [1]याचनं वै शरीरे ॥५९॥

देवों ने कहा—गौओं ! आज देवों के हित के लिए तुम सबों का मुख वज्र के समान कठोर बना दिया जाता है, इसलिए तत्काल ही दधीचि के शरीर को फाड़कर हड्डियों को शुद्ध कर दो जिससे कि देवों के लिए अस्त्र-शस्त्र बनाये जायँ ॥५४॥

ब्रह्मा ने कहा—उन गौओं ने देवों के कथनानुसार वैसा ही किया, हड्डियों को चाट-चाट कर स्वच्छ कर देवताओं को दे दिया । सफलमनोरथ हो पराक्रमी देवता शीघ्र ही अपने-अपने स्थान को चले गये, इसी प्रकार गौओं ने भी अपना रास्ता पकड़ा ॥५५॥ त्वष्टा (विश्वकर्मा) भी देवताओं के अस्त्र बना कर उनकी आज्ञा पा चले गये । इसके बाद बिचारी सुशीला दधीचि की प्रिय पत्नी जो गर्भवती थी बहुत विलम्ब से उमा की पूजा कर हाथ में जल से भरा कलश और फल-पुष्प लिये हुए जल्दी-जल्दी वहाँ पहुँची । उसके हृदय में आश्रम, अग्नि और भर्ता के दर्शन की अत्यन्त उत्सुकता थी ॥५६-५७॥ वह अतिथि-सेवा-परायण साध्वी जब आ रही थी उसी समय रास्ते में उल्कापात हुआ, जिससे कि उसको अपशकुन की पूर्व सूचना मिली । यह देख कर उसके हृदय में और अधिक आशंका हो गयी । वह दौड़ी हुई शीघ्र अपने आश्रम में आयी परन्तु आते ही उसने अपने प्राणाधिक पति को नहीं देखा ॥५८॥ उस अतिथि-सेवा-परायण ने अत्यन्त विस्मित हो उस समय अग्नि से पूछा कि 'मेरे पति देव कहाँ गये ।' यह सुनकर अग्नि ने विस्तारपूर्वक उससे देवों का आश्रम में आना, दधीचि से शरीर का माँगना, उनका प्रणत्याग, हड्डियों का निकालना, उससे अस्त्र-निर्माण और पुनः देवताओं का चला जाना आदि बातें कह सुनायी । इन बातों को सुनकर

---

[1] घ. ०नं चैव शस्त्रम् । अ० ।

अस्थ्नामुपादानमथ प्रयाणं, श्रुत्वा सर्वं दुःखिता सा बभूव
दुःखोद्वेगात्सा पपाताथ पृथ्व्यां, मन्दं मन्दं वह्निनाऽऽश्वासिता च ॥६०॥

प्रातिथेय्युवाच

शापेऽमराणां तु नाहं समर्था, अग्निं प्राप्स्ये किं नु कार्यं भवेन्मे ॥६१॥

ब्रह्मोवाच

कोपं च दुःखं च नियम्य साध्वी, तदाऽवादीद्धर्मयुक्तं च भर्तुः ॥६२॥

प्रातिथेय्युवाच

उत्पद्यते यत्तु विनाशि सर्वं, न शोच्यमस्तीति मनुष्यलोके ।
गोविप्रदेवार्थमिह त्यजन्ति, प्राणान्प्रियान्पुण्यभाजो मनुष्याः ॥६३॥
संसारचक्रे परिवर्तमाने देहं समर्थं धर्मयुक्तं त्ववाप्य ।
प्रियान्प्राणान्देवविप्रार्थहेतोस्ते वै धन्याः प्राणिनो ये त्यजन्ति ॥६४॥
प्राणाः सर्वेऽस्यापि देहान्वितस्य, यातारो वै नात्र संदेहलेशः ।
एवं ज्ञात्वा विप्रगोदेवदीनाद्यर्थं चैनानुत्सृजन्तीश्वरास्ते ॥६५॥
निवार्यमाणोऽपि मया प्रपन्नया, चकार देवास्त्रपरिग्रहं सः ।
मनोगतं वेत्त्यथवा विधातुः, को मर्त्यलोकातिगचेष्टितस्य ॥६६॥

उसको अत्यन्त दुःख हुआ, दुख के आवेग से मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ी । अग्निदेव ने धीरे-धीरे उसको पुनः समझा-बुझाकर सचेत किया ॥५९-६०॥

प्रातियेयी ने कहा—देवताओं को शाप देना मेरे लिये उचित नहीं, अब अग्नि-प्रवेश (सती होना) ही करूँगी, इसके अतिरिक्त मेरे लिये रास्ता ही कौन-सा है ॥६१॥

ब्रह्मा ने कहा—धीरे-धीरे उस साध्वी ने प्रज्ञा द्वारा कोप और आन्तरिक व्यथा पर अधिकार किया, तब उसने अपने पति के विषय में धर्मयुक्त (कर्तव्योचित) बातें कहना प्रारम्भ किया ॥६२॥

प्रातियेयी ने कहा—इस मनुष्यलोक में जो कुछ उत्पन्न होता है वह नश्वर (क्षणभंगुर) है, इसलिए इसके विषय में शोक करना व्यर्थ है, परन्तु वे मनुष्य अत्यन्त पुण्यात्मा हैं जो गौ, विप्र और देवों के लिए अपने प्रिय प्राणों का बलिदान करते हैं। इस परिवर्तनशील संसार (चक्र) में जो समर्थ (कार्य-क्षम) धर्मयुक्त (धर्मार्थि सदा तत्पर रहनेवाला) मानव शरीर पाकर अपने प्रिय प्राणों को देव और ब्राह्मणों के लिए छोड़ देते हैं, वे प्राणी धन्य हैं। इस शरीर में निवास करने वाले प्राण गमनशील (मरणशील) हैं, इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं है। यह रहस्य जानकर जो विप्र, गौ, देव और दीनों के लिए अपने प्राणों को छोड़ देते हैं वे अवश्य ही भाग्यशाली और महान् हैं। मैंने वड़े अनुनय-विनय से उनको रोका परन्तु उन्होंने देवताओं के अस्त्रों को रख लिया। अथवा ठीक है, मृत्युलोक में रहने वाले (मनुष्यों) से सर्वथा अपरिचित स्वभाववाले विधाता के मनोगत भावों को कौन जानता है।॥६३-६६॥

ब्रह्मोवाच

इत्येवमुक्त्वाऽऽपूज्य चाग्नीन्यथावद्भर्तुस्त्वचालोमभिः सा विवेश ।
गर्भस्थितं बालकं प्रातिथेयी, कुक्षिं विदार्याथ करे गृहीत्वा ।।६७।।
नत्वा च गङ्गां भुवमाश्रमं च, वनस्पतीनोषधीराश्रमस्थान् ।।६८।।

प्रातिथेय्युवाच

पित्रा हीनो बन्धुभिर्गोत्रजैश्च, मात्रा हीनो बालकः सर्व एव ।
रक्षन्तु सर्वेऽपि च भूतसंघास्तथौषध्यो बालकं लोकपालाः ।।६९।।
ये बालकं मातृपितृप्रहीणं, सर्निर्विशेषं स्वतनुप्ररूढैः ।
पश्यन्ति रक्षन्ति त एव नूनं, ब्रह्मादिकानामपि वन्दनीयाः ।।७०।।

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा चात्यजद्बालं भर्तृचित्तपरायणा । पिप्पलानां समीपे तु न्यस्य बालं नमस्य च ।।७१।।
अग्निं प्रदक्षिणीकृत्य यज्ञपात्रसमन्विता । विवेशाग्निं प्रातिथेयी भर्त्रा सह दिवं ययौ ।।७२।।
रुरुदुश्चाऽऽश्रमस्था ये वृक्षाश्च वनवासिनः । पुत्रवत्पोषिता येन ऋषिणा च दधीचिना ।।७३।।
विना तेन न जीवामस्तया मात्रा विना तथा । मृगाश्च पक्षिणः सर्वे वृक्षाः प्रोचुः परस्परम् ।।७४।।

वृक्षा ऊचुः

स्वर्गमासेदुषोः पित्रोस्तदपत्येष्वकृत्रिमम् । ये कुर्वन्त्यनिशं स्नेहं त एव कृतिनो नराः ।।७५।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार कहकर उस अतिथि-सेविका ने अग्नि की यथाविधि पूजा की, पति के अवशिष्ट त्वचा, लोम आदि को एकत्र किया और अपनी कुक्षि को फाड़कर गर्भस्थ बालक को अपने हाथों पर लिया। अनन्तर आश्रम की वनस्पतियों, ओषधियों, गंगा, पृथ्वी और अपने आश्रम को प्रणाम करती हुई वह अग्नि में प्रवेश करने की कामना से बोली—।।६७-६८।।

प्रातिथेयी ने कहा—आप सभी प्राणि-समूह, ओषधियाँ और लोकपाल पिता, माता, भाई, बन्धु और सगोत्रों से रहित इस बालक की रक्षा करें। जो व्यक्ति माता-पिता से हीन (अनाथ) बालक को अपने औरस पुत्र के समान समझ कर पालन करते हैं वे भाग्यशाली हैं और ब्रह्मा आदि देवों के भी वन्दनीय हैं ।।६९-७०।।

ब्रह्मा बोले—यह कहकर पति-चरण में लीन रहने वाली उस सुशीला ने बालक को एक पीपल के वृक्ष के नीचे रख दिया। फिर यज्ञपात्र हाथ में लेकर अग्नि की प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करके वह अग्नि में प्रविष्ट हो गयी। इस प्रकार अपने पति के साथ वह स्वर्ग को चली गयी। यह करुण दृश्य देखकर, आश्रम तथा वन के वृक्ष, पक्षी, मृग आदि, जिनका ऋषि दधीचि ने पुत्र के समान पालन किया था, रो पड़े। वे परस्पर कहने लगे कि उस माता के बिना हम लोग कैसे जी सकेंगे ? ।।७१-७४।।

वृक्षों ने कहा— जो व्यक्ति माता-पिता से वंचित संतान पर अपना सहज स्नेह सर्वदा दिखलाते हैं, वे ही वास्तव में भाग्यशाली हैं। पिता दधीचि और माता प्रातिथेयी जिस सहज-स्नेहमयी दृष्टि से हम लोगों को देखते थे,

दधीचिः प्रातिथेयी वा वीक्षतेऽस्मान्यथा पुरा। तथा पिता न माता वा धिगस्मान्पापिनो वयम् ॥७६॥
अस्माकमपि सर्वेषामतः प्रभृति निश्चितम्। बालो दधीचिः प्रातिथेयी बालो धर्मः सनातनः ॥७७॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तदौषध्यो वनस्पतिसमन्विताः। सोमं राजानमभ्येत्य याचिरेऽमृतमुत्तमम् ॥७८॥
स चापि दत्तवांस्तेभ्यः सोमोऽमृतमनुत्तमम्। ददुर्बालाय ते चापि अमृतं सुरवल्लभम् ॥७९॥
स तेन तृप्तो ववृधे शुक्लपक्षे यथा शशी। पिप्पलैः पालितो यस्मात्पिप्पलादः स बालकः॥
प्रवृद्धः पिप्पलानेवमुवाच त्वतिविस्मितः ॥८०॥

पिप्पलाद उवाच

मानुषेभ्यो मानुषास्तु जायन्ते पक्षिभिः खगाः। बीजेभ्यो वीरुधो लोके वैषम्यं नैव दृश्यते॥
वार्क्षस्त्वहं कथं जातो हस्तपादादिजीववान् ॥८१॥

ब्रह्मोवाच

वृक्षास्तद्वचनं श्रुत्वा सर्वमूचुर्यथाक्रमम्। दधीचेर्मरणं साध्व्यास्तथा चाग्निप्रवेशनम् ॥८२॥
अस्थ्नां संहरणं देवैरेतत्सर्वं सविस्तरम्। श्रुत्वा दुःखसमाविष्टो निपपात तदा भुवि ॥८३॥
आश्वासितः पुनर्वृक्षैर्वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः। आश्वस्तः स पुनः प्राह तदौषधिवनस्पतीन् ॥८४॥

उस प्रकार कोई माता या पिता भी अपनी सन्तान को नहीं देख सकते। ऐसे पिता-माता से हम वियुक्त हो गये। हाय! हम पापियों को धिक्कार है!! अतः आज हम लोग यह दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि दधीचि और प्रातिथेयी के इस बाल आत्मा का पालन-पोषण हम लोग अवश्य करेंगे। यही सनातन धर्म है ॥७५-७७॥

ब्रह्मा ने कहा—उस समय ऐसी प्रतिज्ञा करके वनस्पतियों सहित वे ओषधियाँ राजा सोम के समीप गयीं और अमृत माँगा। उस राजा सोम ने भी उनको वह परमोत्तम अमृत दे दिया। उन्होंने भी देवों को प्रिय लगने वाला अमृत बालक को दे दिया। वह बालक भी अमृत पान से तृप्त होकर शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान दिनोंदिन बढ़ने लगा। पीपल के वृक्षों ने उस बालक का पालन किया था, इसलिए उसका नाम 'पिप्पलाद' रखा गया। जब वह बड़ा हुआ, तब अत्यन्त विस्मित होकर पीपल के वृक्षों से कहा ॥७८-८०॥

पिप्पलाद ने कहा—प्रायः लोक में मनुष्यों से मनुष्य, पक्षियों से पक्षी और बीज से वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, इसमें कभी भी वैषम्य नहीं देखा जाता; परन्तु मैं हाथ-पैर वाला, प्राणधारी मानव कैसे वृक्षों से उत्पन्न हो गया? ॥८१॥

ब्रह्मा बोले—बालक पिप्पलाद की स्वाभाविक बातों को सुनकर वृक्षों ने आदि से अन्त तक—दधीचि की मृत्यु, साध्वी का पति के साथ अग्नि-प्रवेश (सती होना), देवताओं द्वारा अस्थि के लिए कपट उपाय आदि—सारी घटनाएँ विस्तारपूर्वक सुना दीं। यह सुनकर उसको अत्यन्त व्यथा हुई। वह मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। बालक को इस प्रकार मूर्च्छित देखकर वृक्षों ने धर्मार्थ-संगत वाक्य कहकर ढाढ़स बँधाया। वृक्षों के आश्वासन से अपने को सँभाल कर उसने पुनः ओषधियों और वनस्पतियों से कहा ॥८२-८४॥

पिप्पलाद उवाच

पितृहन्तॄन्हनिष्येऽहं नान्यथा जीवितुं क्षमः। पितुर्मित्राणि शत्रूंश्च तथा पुत्रोऽनुवर्तते ।।८५।।
स एव पुत्रो योऽन्यस्तु पुत्ररूपो रिपुः स्मृतः। वदन्ति पितृमित्राणि तारयन्त्यहितानपि ।।८६।।

ब्रह्मोवाच

वृक्षास्तं बालमादाय सोमान्तिकमथाऽऽययुः। बालवाक्यं तु ते वृक्षाः सोमायाथ न्यवेदयन् ।।
श्रुत्वा सोमोऽपि तं बालं पिप्पलादमभाषत ।।८७।।

सोम उवाच

गृहाण विद्यां विधिवत्समग्रां, तपःसमृद्धिं च शुभां च वाचम् ।
शौर्यं च रूपं च बलं च बुद्धिं, संप्राप्स्यसे पुत्र मदाज्ञया त्वम् ।।८८।।

ब्रह्मोवाच

पिप्पलादस्तमप्याह ओषधीशं विनीतवत् ।।८९।।

पिप्पलाद उवाच

सर्वमेतद्वृथा मन्ये पितृहन्तृविनिष्कृतिम्। न करोम्यत्र यावच्च तस्मात्तत्प्रथमं वद ।।९०।।
यस्मिन्देशे यत्र काले यस्मिन्देवे च मन्त्रके। यत्र तीर्थे च सिध्येत मत्संकल्पः सुरोत्तम ।।९१।।

पिप्पलाद ने कहा—मैं अपने पिता के हत्यारों का अवश्य वध करूँगा। बिना ऐसा किये मैं जी नहीं सकता। यह नीति वचन है कि पिता के शत्रु और मित्रों के प्रति पुत्र को भी वैसा ही व्यवहार करना चाहिये। वही पुत्र है जिसने उपर्युक्त वचन को सत्य सिद्ध किया, नहीं तो वह पुत्र नहीं प्रत्युत पुत्र रूप में पिता का शत्रु है। ऐसे ही पुत्र पितरों के उद्धारकर्ता होते हैं जो पिता के मित्रों और शत्रुओं के प्रति यथयोग्य व्यवहार करते हैं, ऐसा नीतिज्ञों ने कहा है ।।८५-८६।।

ब्रह्मा ने कहा—बालक की यह दृढ़ प्रतिज्ञा सुनकर वृक्ष उसको साथ लेकर सोम के समीप गये और उनसे बालक की कही हुई बातें कह सुनायीं। सोम ने यह सुनकर बालक पिप्पलाद से कहा ।।८७।।

सोम ने कहा—वेटा ! तुम विधिपूर्वक सब विद्याएँ बहुत बड़ी तपस्याएँ, कल्याणमयी वाणी, वीरता, रूप, बल तथा बुद्धि प्राप्त करो। मेरी आज्ञा से तुम्हें सब चीजें मिल जायेंगी ।।८८।।

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर पिप्पलाद ने पुनः राजा सोम से नम्रतापूर्वक कहा ।।८९।।

पिप्पलाद बोले—पिता के हत्यारों से बदला लेने में कुछ भी सहायता न देने वाले इस वरदान को व्यर्थ समझता हूँ। जितना आप कह गये हैं उनमें से किसी को भी मैं स्वीकार नहीं करता। इसलिए हे देववर ! पहले आप यह बतलाइये कि किस देश में किस समय किस देवता के पास किस मंत्र का जप करने से या किस तीर्थ में जाने से मेरा संकल्प सिद्ध होगा ? ९०-९१।।

ब्रह्मोवाच

चन्द्रः प्राह चिरं ध्यात्वा भुक्तिर्वा मुक्तिरेव वा। सर्वं महेश्वराद्देवाज्जायते नात्र संशयः ।।९२।।
स सोमं पुनरप्याह कथं द्रक्ष्ये महेश्वरम्। बालोऽहं बालबुद्धिश्च न सामर्थ्यं तपस्तथा ।।९३।।

चन्द्र उवाच

गौतमीं गच्छ भद्र त्वं स्तुहि चक्रेश्वरं हरम्। प्रसन्नस्तु तवेशानो ह्यल्पायासेन वत्सक ।।९४।।
प्रीतो भवेन्महादेवः साक्षात्कारुणिकः शिवः। आस्ते साक्षात्कृतः शंभुर्विष्णुना प्रभविष्णुना ।।९५।।
वरं च दत्तवान्विष्णोश्चक्रं च त्रिदशार्चितम्। गच्छ तत्र महाबुद्धे दण्डके गौतमीं नदीम् ।।९६।।
चक्रेश्वरं नाम तीर्थं जानन्त्योषधयस्तु तत्। तं गत्वा स्तुहि देवेशं सर्वभावेन शंकरम् ।।
स ते प्रीतमनास्तात सर्वान्कामान्प्रदास्यति ।।९७।।

ब्रह्मोवाच

तद्राजवचनाद्ब्रह्मन्पिप्पलादो महामुनिः। आजगाम जगन्नाथो यत्र रुद्रः स चक्रदः ।।९८।।
तं बालं कृपयाऽऽविष्टाः पिप्पलाः स्वाश्रमान्ययुः। गोदावर्यां ततः स्नात्वा नत्वा त्रिभुवनेश्वरम् ।।
तुष्टाव सर्वभावेन पिप्पलादः शिवं शुचिः ।।९९।।

ब्रह्मा ने कहा—कुछ देर तक ध्यान करके चन्द्र ने कहा—'भुक्ति या मुक्ति सब कुछ शंकर भगवान् से ही प्राप्त होते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं।' पुनः बालक ने सोमदेव से प्रश्न किया, मैं बालक हूँ, थोड़ी बुद्धि रखता हूँ, कठोर तपस्या करने की शक्ति भी मुझमें नहीं है। तब मैं किस प्रकार महेश्वर का दर्शन प्राप्त कर सकूँगा ? ।।९२-९३।।

चन्द्र ने कहा—भद्र ! तुम गौतमी के तट पर जाओ, वहाँ चक्रेश्वर शंकर की स्तुति करो ! वत्स ! तुम्हारे थोड़े प्रयत्न से ही शंकर प्रसन्न हो जायेंगे। महादेव शंकर साक्षात् करुणा के अवतार हैं, वे अवश्य तुम्हारी बाल-उपासना से प्रसन्न होकर दर्शन देंगे। परम सामर्थ्यवान् विष्णु ने शंकर का साक्षात्कार किया है। शंकर ने उनको देवों से पूजित चक्र और अन्यान्य वर दिये हैं। महाबुद्धिमान् ! तुम दण्डक वन में गौतमी के तट पर जाओ। ये ओषधियाँ भी उस चक्रेश्वर तीर्थ को जानती हैं। वहाँ जाकर अनन्य भाव से भगवान् शंकर की स्तुति करो। तात ! वे प्रसन्न होकर अवश्य तुम्हारी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करेंगे ।।९४-९७।।

ब्रह्मा ने कहा—राजा सोम के आदेशानुसार महामुनि पिप्पलाद उस स्थान पर गये, जहाँ चक्र के दाता जगन्नाथ शंकर निवास करते हैं। पीपल वृक्ष भी करुणा से विह्वल होकर उस बालक को वहाँ पहुँचाकर अपने आश्रम को चले गये। इसके उपरान्त पिप्पलाद ने गोदावरी में स्नान किया और पवित्र होकर त्रिभुवनेश्वर शंकर को प्रणाम करके अनन्य भाव से उनकी स्तुति की ।।९८-९९।।

पिप्पलाद उवाच

सर्वाणि कर्माणि विहाय धीरास्त्यक्तैषणा निर्जितचित्तवाताः ।
यं यान्ति मुक्त्यै शरणं प्रयत्नात्तमादिदेवं प्रणमामि शंभुम् ॥१००॥
यः सर्वसाक्षी सकलान्तरात्मा, सर्वेश्वरः सर्वकलानिधानम् ।
विज्ञाय मच्चित्तगतं समस्तं, स मे स्मरारिः करुणां करोतु ॥१०१॥
दिगीश्वराञ्जित्य सुरार्चितस्य, कैलासमान्दोलयतः पुरारेः ।
अङ्गुष्ठकृत्यैव रसातलादधोगतस्य तस्यैव दशाननस्य ॥१०२॥
आलूनकायस्य गिरं निशम्य, विहस्य देव्या सह दत्तमिष्टम् ।
तस्मै प्रसन्नः कुपितोऽपि तद्वदयुक्तदाताऽसि महेश्वर त्वम् ॥१०३॥
सौत्रामणीमृद्धिमधः स चक्रे, योऽर्चां हरौ (रे) नित्यमतीव कृत्वा ।
बाणः प्रशस्यः कृतवानुच्चपूजां, रम्यां मनोज्ञां शशिखण्डमौलेः ॥१०४॥
जित्वा रिपून्देवगणान्प्रपूज्य, गुरुं नमस्कर्तुमगाद्विशाखः ।
चुकोप दृष्ट्वा गणनाथमूढमङ्के तमारोप्य जहास सोमः ॥१०५॥
ईशाङ्करूढोऽपि शिशुस्वभावान्न मातुरङ्कं प्रमुमोच बालः ।
क्रुद्धं सुतं बोधितुमप्यशक्तस्ततोऽर्धनारित्वमवाप सोमः ॥१०६॥

पिप्पलाद ने कहा—मैं उस व्यापक शिव को प्रणाम करता हूँ, जिसकी शरण में जाकर मनस्वी जन अपनी सम्पूर्ण सांसारिक इच्छाओं और सब कर्मों का त्याग कर अपने चित्त एवं प्राणवायु को वश में करके मुक्ति-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ।।१००।। वे शंकर सबके साक्षी हैं, सबके अन्तःकरण में निवास करते हैं, सबके ईश्वर और सम्पूर्ण कला के कोश हैं ; वे मदनरिपु मेरे हृदय की समस्त भावनाओं को जानकर मेरे ऊपर करुणा करें ।।१०१।। हे महेश्वर ! रावण ने दिक्पालों को जीतकर देवताओं से पूजा प्राप्त की और दर्प से आपके कैलास पर्वत को हिला दिया । उसकी इस धृष्टता से कुपित होकर आपने उसे अँगूठे से दबाकर रसातल भेज दिया ; परन्तु उस छिन्न शरीर वाले रावण की प्रार्थना सुनकर कुपित होने पर भी आप पार्वती सहित प्रसन्न हो गये और उसको अभिलषित वरदान दिया । इस प्रकार आप औढरदानी हैं ।।१०१-१०३।। प्रशंसनीय बाण ने शशिमौलि की उच्च कोटि की रम्य और मनोहर पूजा के द्वारा सौत्रामणि यज्ञ सम्बन्धी सिद्धियों को तुच्छ कर दिया ।।१०४।। जब कार्तिकेय शत्रुओं को जीतकर और देवताओं की पूजा करके गुरुजनों को प्रणाम करने के लिए आये तब गणनाथ (गणेश) को पहले ही आपकी गोद में बैठे देखकर कुपित हो गये ; फिर आप कार्तिकेय को गोद में लेकर पार्वती सहित हँस पड़े ।।१०५।। आपकी गोदी में बैठे हुए उस बालक ने अपनी बाल प्रकृति के कारण माता की गोद नहीं छोड़ी । तब अपने क्रुद्ध पुत्र को और किसी प्रकार से समझाने में अपने को असमर्थ पाकर पार्वती सहित आपने अर्धनारी का रूप धारण कर लिया ।।१०६।।

ब्रह्मोवाच

ततः स्वयंभूः सुप्रीतः पिप्पलादमभाषत ॥१०७॥

शिव उवाच

वरं वरय भद्रं ते पिप्पलाद यथेप्सितम् ॥१०८॥

पिप्पलाद उवाच

हतो देवैर्महादेव पिता मम महायशाः। अदाम्भिकः सत्यवादी तथा माता पतिव्रता ॥१०९॥
देवेभ्यश्च तयोर्नाशं श्रुत्वा नाथ सविस्तरम्। दुःखकोपसमाविष्टो नाहं जीवितुमुत्सहे ॥११०॥
तस्मान्मे देहि सामर्थ्यं नाशयेयं सुरान्यथा। अवध्यसेव्यस्त्रैलोक्ये त्वमेव शशिशेखर ॥१११॥

ईश्वर उवाच

तृतीयं नयनं द्रष्टुं यदि शक्नोषि मेऽनघ। ततः समर्थो भविता देवांश्छेदयितुं भवान् ॥११२॥

ब्रह्मोवाच

ततो द्रष्टुं मनश्चक्रे तृतीयं लोचनं विभोः। न शशाक तदोवाच न शक्तोऽस्मीति शंकरम् ॥११३॥

ईश्वर उवाच

किंचित्कुरु तपो बाल यदा द्रक्ष्यसि लोचनम्। तृतीयं त्वं तदाऽभीष्टं प्राप्स्यसे नात्र संशयः ॥११४॥

ब्रह्मा ने कहा—पिप्पलाद की प्रार्थना सुनकर स्वयंभू शंकर जी अत्यन्त प्रसन्न होकर पिप्पलाद से बोले ॥१०७॥

शिव ने कहा—तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपना अभीष्ट वर माँगो ॥१०८॥

पिप्पलाद ने कहा—महादेव ! मेरे अतिविनम्र, साधु, सत्यवादी और महाप्रतापी पिता तथा पतिव्रता माता को देवताओं ने मार डाला । नाथ ! देवताओं द्वारा अपने माता-पिता का नाश सुनकर दुःख और क्रोध से अन्धा हो गया हूँ, मुझे जीने की इच्छा नहीं हो रही है । इसलिए मुझे ऐसी शक्ति दीजिये, जिससे मैं देवताओं का नाश कर सकूँ । शशिशेखर ! इस त्रिभुवन में आप ही अवध्य एवं सेव्य हैं ॥१०९-१११॥

ईश्वर ने कहा—हे निष्पाप ! यदि तुम मेरे तीसरे नेत्र को देख सको तो तुम देवताओं को नष्ट करने में समर्थ हो जाओगे ॥११२॥

ब्रह्मा बोले—यह सुनकर व्यापक शंकर के तृतीय लोचन को देखने के लिए उसने प्रयत्न किया, परन्तु देख न सका । तब शंकर से कहा कि मैं देखने में समर्थ नहीं हूँ ॥११३॥

ईश्वर ने कहा—बालक कुछ और तपस्या करो जब तुम तृतीय नेत्र को देखोगे तब निश्चय ही अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लोगे ॥११४॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वेशानवाक्यं तपसे कृतनिश्चयः। दधीचिसूनुर्धर्मात्मा तत्रैव बहुलाः समाः ।।११५।।
शिवध्यानैकनिरतो बालोऽपि बलवानिव। प्रत्यहं प्रातरुत्थाय स्नात्वा नत्वा गुरून्क्रमात् ।।११६।।
सुखासीनो मनः कृत्वा सुषुम्नायामनन्यधीः। हस्तस्वस्तिकमारोप्य नाभौ विस्मृतसंसृतिः ।।११७।।
स्थानात्स्थानान्तरोत्कर्षान्विदध्यौ शांभवं महः। ददर्श चक्षुर्देवस्य तृतीयं [1]पिप्पलाशनः ।।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा विनीत इदमब्रवीत् ।।११८।।

पिप्पलाद उवाच

शंभुना देवदेवेन वरो दत्तः पुरा मम। तार्तीयचक्षुषो ज्योतिर्यदा पश्यसि तत्क्षणात् ।।११९।।
सर्वं ते प्रार्थितं सिध्येदित्याह त्रिदशेश्वरः। तस्माद्रिपुविनाशाय हेतुभूतां प्रयच्छ मे ।।१२०।।
तदैव पिप्पलाः प्रोचुर्वडवाऽपि महाद्युते। माता तव प्रातिथेयी वदन्त्येवं दिवं गता ।।१२१।।
पराभिद्रोहनिरता विस्मृतात्महिता नराः। इतस्ततो भ्रान्तचित्ताः पतन्ति नरकावटे ।।१२२।।
तन्मातृवचनं श्रुत्वा कुपितः पिप्पलाशनः। अभिमाने ज्वलत्यन्तः साधुवादो निरर्थकः ।।१२३।।

ब्रह्मा ने कहा—शंकर जी की इतनी बातें सुनकर धर्मातमा दधीचि-पुत्र ने तपस्या के लिए दृढ़ संकल्प कर लिया और वह वहीं पर एकमात्र शिव के ध्यान में तल्लीन होकर बालक होते हुए भी बलवान् के समान दीर्घकालीन तपस्या करने लगा। प्रतिदिन प्रातःकाल उठता, स्नानोपरान्त क्रमशः गुरुजनों को प्रणाम करता था। पुनः आसन पर सुखपूर्वक बैठकर सुषुम्ना में एकाग्र मन से ध्यान लगाता और नाभिस्थान में हस्त-स्वस्तिक लगाकर संसार की ओर से एकदम अपना मन हटा लेता था। इस प्रकार अपने ध्यान को एक स्थान से हटाकर दूसरे उत्कृष्ट स्थान में जमाता हुआ शंभु के महातेज का ध्यान करता था। अन्त में पिप्पलाद ने अपनी उत्कृष्ट योग-साधना द्वारा शंकर के तृतीय नेत्र को देख लिया। तब हाथ जोड़कर विनीत भाव से शंकर जी से कहा ।।११५-११८।।

पिप्पलाद ने कहा—पहले देवों के देव शंकर ने मुझको वर दिया था कि 'जब तुम मेरे तीसरे नेत्र की ज्योति को देखोगे तब उसी क्षण तुम्हारे सब मनोरथ पूरे हो जायेंगे' ।।११९½।। इसलिए शत्रु का विनाश करने के लिए मुझे शक्ति प्रदान कीजिये। उसी समय पीपल के वृक्षों और वडवा ने कहा 'हे महातेजस्वी ! तुम्हारी माता प्रातिथेयी इस प्रकार कहती हुई ही स्वर्ग चली गयी थी कि दूसरों के अपकार में निरत रहने वाले, अपने हित को भुला देने वाले और इधर-उधर भटकने वाले मानव नरक कुण्ड में गिरते हैं ।।१२०-१२२।। माता की कही हुई बातों को सुनकर पिप्पलाद कुपित हो गया। उसका अन्तःकरण अभिमान के अग्नि में जलने लगा। उसने कहा कि यह साधु उपदेश निरर्थक है ।।१२३।। उसी क्षण उसके नेत्र से एक कृत्या निकली और बोलने लगी—'दो दो।' चूंकि उस समय

---

[1] क. ङ. प्रीतिकारणम्।

देहि देहीति तं प्राह कृत्या नेत्रविनिर्गता। वडवेति स्मरन्विप्रः कृत्याऽपि वडवाकृतिः ।।१२४।।
सर्वसत्त्वविनाशाय प्रभूताऽनलगर्भिणी। गभस्तिनी बालगर्भा या माता पिप्पलाशिनः ।।१२५।।
तद्ध्यानयोगात्तु जाता कृत्या साऽनलगर्भिणी। उत्पन्ना सा महारौद्रा मृत्युजिह्वेव भीषणा ।।१२६।।
अवोचत्पिप्पलादं तं किं कृत्यं मे वदस्व तत्। पिप्पलादोऽपि तां प्राह देवान्खाद रिपून्मम ।।१२७।।
जग्राह सा तथेत्युक्त्वा पिप्पलादं पुरस्थितम्। स प्राह किमिदं कृत्ये सा चाप्याह त्वयोदितम् ।।१२८।।
देवैश्च निर्मितं देहं ततो भीतः शिवं ययौ। तुष्टाव देवं स मुनिः कृत्यां प्राह तदा शिवः ।।१२९।।

शिव उवाच

योजनान्तः स्थिताञ्जीवान्न गृहाण मदाज्ञया। तस्माद्याहि ततो दूरं कृत्ये कृत्यं ततः कुरु ।।१३०।।

ब्रह्मोवाच

तीर्थात्तु पिप्पलात्पूर्वं यावद्योजनसंख्यया। प्रातिष्ठद्वडवारूपा कृत्या सा ऋषिनिर्मिता ।।१३१।।
तस्यां जातो महानग्निर्लोकसंहरणक्षमः। तं दृष्ट्वा विबुधाः सर्वे त्रस्ताः शंभुमुपागमन् ।।१३२।।
चक्रेश्वरं पिप्पलेशं पिप्पलादेन तोषितम्। स्तुवन्तो भीतमनसः शंभुमूचुर्दिवौकसः ।।१३३।।

ब्राह्मण ने वडवा का स्मरण किया था, अतएव कृत्या भी वडवा (घोड़ी) जैसी आकृति में प्रकट हुई। वह सभी प्राणियों को विनष्ट करने के लिए अपने गर्भ में प्रचुर अग्नि धारण किये हुई थी ।।१२४½।। पिप्पलाद की माता वड़ी कान्तिमती तथा वालगर्भा थी, इसलिए उसका ध्यान करने के कारण कृत्या भी अग्निगर्भा हुई। इस प्रकार अत्यन्त क्रूर एवं मृत्यु की जीभ के समान भयंकर वह कृत्या उत्पन्न होकर पिप्पलाद से वोली—मेरे लिये कौन-सा कार्य है, वह वताओ।' पिप्पलाद ने भी उससे कहा कि तुम मेरे शत्रु देवताओं को खा डालो ।।१२५-१२७।। 'अच्छी वात' यह कहकर उसने पहले सामने खड़े हुए पिप्पलाद को ही पकड़ लिया। पिप्पलाद वोला—'कृत्या ! यह क्या कर रही है ?' वह वोल उठी—'तुमने ही तो कहा है। तुम्हारा शरीर भी तो देवताओं द्वारा ही निर्मित है।' तव पिप्पलाद डरकर शिव की शरण में गया और उनकी स्तुति करने लगा। तव शंकर ने कृत्या से कहा ।।१२८-१२९।।

शिव ने कहा—कृत्या ! मेरी आज्ञा से योजन-परिमित सीमा के भीतर रहने वाले प्राणियों को मत पकड़ो। इसलिए यहाँ से दूर जाओ और तव अपना कार्य करो ।।१३०।।

ब्रह्मा बोले—तदनन्तर वह ऋषि द्वारा उत्पन्न की हुई वडवारूप कृत्या पिप्पल तीर्थ से पूर्व एक योजन के क्षेत्र में अवस्थित हो गयी। वहाँ उसके शरीर से सम्पूर्ण लोक को भस्म कर देने की क्षमता रखने वाली अग्निज्वाला उत्पन्न हुई। उसको देखकर सव देव भयत्रस्त हो शंकर के समीप गये। वहाँ जाकर भयभीत देवगण पिप्पलाद से संतुष्ट किये गये पिप्पलाधिपति चक्रेश्वर शंभु की स्तुति करते हुए वोले ।।१३१-१३३।।

देवा ऊचुः

रक्षस्व शंभो कृत्याऽस्मान्बाधते तद्भवानलः। शरणं भव सर्वेश[1] भीतानामभयप्रद ॥१३४॥
सर्वतः परिभूतानामार्तानां श्रान्तचेतसाम्। सर्वेषामेव जन्तूनां त्वमेव शरणं शिव ॥१३५॥
ऋषिणाऽभ्यर्थिता कृत्या त्वच्चक्षुर्वह्निनिर्गता। सा जिघांसति लोकांस्त्रींस्त्वं नस्त्राता न चेतरः ॥१३६॥

ब्रह्मोवाच

तानब्रवीज्जगन्नाथो योजनान्तर्निवासिनः। न बाधते त्वसौ कृत्या तस्माद्यूयमहर्निशम् ॥१३७॥
इहैवाऽऽसध्वममरास्तस्या वो न भयं भवेत् ॥१३८॥

ब्रह्मोवाच

पुनरूचुः सुरेशानं त्वया दत्तं त्रिविष्टपम्। तत्त्यक्त्वाऽत्र कथं नाथ वत्स्यामस्त्रिदशार्चित ॥१३९॥

ब्रह्मोवाच

देवानां वचनं श्रुत्वा शिवो वाक्यमथाब्रवीत् ॥१४०॥

शिव उवाच

देवोऽसौ विश्वतश्चक्षुर्यो देवो विश्वतोमुखः। यो रश्मिभिस्तु धमते नित्यं यो जनको मतः ॥१४१॥
स सूर्य एक एवात्र साक्षाद्रूपेण सर्वदा। स्थितिं करोतु तन्मूर्तौ भविष्यन्त्यखिलाः स्थिताः ॥१४२॥

देवगण बोले—शंभो ! रक्षा कीजिये। कृत्या और उससे निकली हुई ज्वाला हम लोगों को नष्ट कर रही है। हे सबके स्वामी ! डरे हुओं को अभय-वरदान देने वाले ! हम लोगों के शरणदाता होइये। हे शिव ! सब ओर से पराजित, दुःखी तथा थके हुए चित्त वाले सभी प्राणियों के लिए आप ही शरणदाता हैं। ऋषि से प्रार्थित और आपके नेत्र की ज्वाला से निकली हुई वह कृत्या तीनों लोकों को नष्ट करना चाहती है। आप ही हम लोगों को बचा सकते हैं, दूसरा कोई नहीं बचा सकता ॥१३४-१३६॥

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर जगन्नाथ शंकर ने देवों से कहा—यह कृत्या योजन परिमित सीमा के भीतर रहने वालों को कोई क्षति नहीं पहुँचाती; इसलिए तुम लोग रात-दिन यहीं रहो। तुम्हें उसका कोई भय नहीं होगा॥१३७॥

ब्रह्मा ने कहा—पुनः देवताओं ने शंकर से कहा—आपने ही तो हम लोगों को स्वर्ग प्रदान किया है, तब हे नाथ ! हे देवों के पूज्य ! उस स्वर्ग को छोड़कर यहाँ हम कैसे निवास करेंगे ? देवताओं की बातें सुनकर शिव ने पुनः देवों से कहा ॥१३८-१४०॥

शिव ने कहा—जिसके चारों ओर नेत्र हैं तथा चारों ओर मुख हैं और जो नित्य ही अपनी किरणों से प्रकाशमान करते हैं तथा संसार के प्राणदाता हैं, वे ही सूर्य देवता अकेले यहाँ सर्वदा प्रत्यक्ष रूप से निवास करेंगे और उनकी मूर्ति में सभी देवता अवस्थित होंगे ॥१४१-१४२॥

---

[1] क. ०श भक्तानां०।

ब्रह्मोवाच

तथेति शंभुवचनात्पारिजाततरोस्तदा। देवा दिवाकरं चक्रुस्त्वष्टा भास्करमब्रवीत् ॥१४३॥

त्वष्टोवाच

इहैवाऽऽस्स्व जगत्स्वामिन्रक्षेमान्विबुधान्स्वयम्। स्वांशैश्च वयमप्यत्र तिष्ठामः शंभुसंनिधौ ॥१४४॥
चक्रेश्वरस्य परितो यावद्योजनसंख्यया। गङ्गाया उभयं तीरमासाद्याऽऽसन्सुरोत्तमाः ॥१४५॥
अङ्गुल्यर्धार्धमात्रं तु गङ्गातीरं समाश्रिताः। तिस्रः कोटयस्तथा पञ्च शतानि मुनिसत्तम ॥
तीर्थानां तत्र व्युष्टिं च कः शृणोति ब्रवीति वा ॥१४६॥

ब्रह्मोवाच

ततः सुरगणाः सर्वे विनीताः शिवमब्रुवन् ॥१४७॥

देवा ऊचुः

पिप्पलादं सुरेशान शमं नय जगन्मय ॥१४८॥

ब्रह्मोवाच

ओमित्युक्त्वा जगन्नाथः पिप्पलादमवोचत ॥१४९॥

शिव उवाच

नाशितेष्वपि देवेषु पिता ते नाऽऽगमिष्यति। दत्ताः पित्रा तव प्राणा देवानां कार्यसिद्धये ॥१५०॥
दीनार्तकरुणाबन्धुः को हि तादृग्भवे भवेत्। तथा याता दिवं तात तव माता पतिव्रता ॥१५१॥

ब्रह्मा ने कहा—'ऐसा ही होगा' यह कहकर शंकर के आदेशानुसार उस समय देवताओं ने पारिजात वृक्ष के काष्ठ से सूर्य की मूर्ति बनायी। तब विश्वकर्मा ने सूर्य से कहा ॥१४३॥

विश्वकर्मा ने कहा—हे संसार के स्वामी ! आप यहीं रहें और स्वयं इन देवों की रक्षा करें। हम लोग भी अपने-अपने अंशों से यहाँ शंकर के समीप निवास करेंगे। इस प्रकार चक्रेश्वर के चारों ओर एक योजन के परिमाण में गङ्गा के दोनों तटों पर देव-वर्ग निवास करने लगा। हे मुनिश्रेष्ठ ! वे तीस करोड़ पाँच सौ देवता गंगा-तट पर आध-आध अंगुल मात्र स्थान पाकर भी रहने लगे। वहाँ के तीर्थों का फल कौन बता सकता अथवा सुन सकता है ॥१४४-१४६॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर सब देवता विनीत भाव से शंकर से बोले ॥१४७॥

देवगण बोले—हे देवाधिदेव ! जगद्व्यापक ! पिप्पलाद को अब शान्त कीजिये ॥१४८॥

ब्रह्मा ने कहा—'अच्छा !' यह कहकर शिव ने पिप्पलाद से कहा ॥१४९॥

शिव ने कहा—देवों के नष्ट हो जाने पर भी तुम्हारे पिता नहीं आयेगे और तुम्हारे पिता ने तो देवों की कार्य-सिद्धि के लिए अपने प्राणों का बलिदान किया है। इस संसार में उनके समान दीन-दुःखियों पर करुणा करनेवाला दूसरा कौन होगा? पुत्र! तुम्हारी पतिव्रता माता भी लोकहित के लिए ही स्वर्ग गयी है। तुम्हारी माता के समान

समा काऽप्यत्र न तया लोपामुद्राऽप्यरुन्धती । यदस्थिभिः सुराः सर्वे जयिनः सुखिनः सदा ॥१५२॥
तेनावाप्तं यशः स्फीतं तव मात्राऽक्षयं कृतम् । त्वया पुत्रेण सर्वत्र नातः परतरं कृतम् ॥१५३॥
त्वत्प्रतापभयात्स्वर्गाच्च्युतांस्त्वं पातुमर्हसि । कांदिशीकांस्तव भयादमरांस्त्रातुमर्हसि ॥
नाऽऽर्तत्राणादभ्यधिकं सुकृतं क्वापि विद्यते ॥१५४॥

यावद्यशः स्फुरत चारु मनुष्यलोक अहानि तावन्ति दिवं गतस्य ।
दिने दिने वर्षसंख्या (ख्यं) परस्मिंल्लोको वासो जायते निर्विकारः ॥१५५॥
मृतास्त एवात्र यशो न येषामन्धास्त एव श्रुतवर्जिता ये ।
ये दानशीला न नपुंसकास्ते, ये धर्मशीला न त एव शोच्याः ॥१५६॥

ब्रह्मोवाच

भाषितं देवदेवस्य[1] श्रुत्वा शान्तोऽभवन्मुनिः । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा नत्वा नाथमथाब्रवीत् ॥१५७॥

पिप्पलाद उवाच

वाग्भिर्मनोभिः कृतिभिः कदाचिन्ममोपकुर्वन्ति हिते रता ये ।
तेभ्यो हितार्थं त्विह चापरेषां, सोमं नमस्यामि सुरादिपूज्यम् ॥१५८॥
संरक्षितो[2] यैरभिवर्धितश्च, समानगोत्रश्च समानधर्मा ।
तेषामभीष्टानि शिवः करोतु, बालेन्दुमौलिं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥१५९॥

लोपामुद्रा अथवा अरुन्धती कोई भी इस भूतल पर नहीं हैं । उनकी हड्डियों से सम्पूर्ण देवता सर्वदा विजयी और सुखी रहेंगे ? इस महात्याग से तुम्हारी माता ने अपने यश को फैलाया और अविनाशी बनाया । परन्तु उनका पुत्र होकर तुमने उनसे अधिक यश अर्जन नहीं किया । तुम्हारे प्रताप के भय से वे देवता स्वर्ग से च्युत हो गये हैं । भागने को उन्हें दिशा नहीं मिल रही है । ऐसे देवों की तुम रक्षा करो । कहीं भी दुःखीजनों की रक्षा से बढ़कर और कोई पुण्य नहीं है । इस मृत्युलोक में मनुष्य का जितने दिनों तक विमल यश रूपी प्रकाश फैलता रहता है, वह मनुष्य मरने पर दिनों की संख्या के अनुसार उतने ही वर्षों तक स्वर्ग में सुखपूर्वक निवास करता है । इस संसार में जिनकी ख्याति नहीं है वे ही मृत हैं, जो वेदज्ञानहीन हैं वे ही अन्धे हैं जो दानपरायण नहीं हैं वे नपुंसक हैं और जो धर्मशील नहीं हैं वे ही शोचनीय हैं ॥१५०-१५६॥

ब्रह्मा ने कहा—देवाधिदेव शंकर का वचन सुनकर मुनि शान्त हो गये, और दोनों हाथ जोड़कर भगवान् शंकर को प्रणाम करके बोले—

पिप्पलाद ने कहा—जो मेरे हित का ध्यान रखते और वाणी, मन तथा कार्यों द्वारा मेरा उपकार करते हैं, उनके और अन्यों के हित के लिए मैं देव आदि के पूज्य शंकर को नमस्कार करता हूँ । जिन लोगों ने मेरी रक्षा की,

---

[1] घ. ०देवेन श्रु० । [2] घ. उत्पादितो ।

यैरहं वर्धितो नित्यं मातृवत्पितृवत्प्रभो। तन्नाम्ना जायतां तीर्थं देवदेव जगत्त्रये ।।१६०।।
यशस्तु तेषां भविता तेभ्योऽहमनृणस्ततः। यानि क्षेत्राणि देवानां यानि तीर्थानि भूतले ।।१६१।।
तेभ्यो यदिदमधिकमनुमन्यन्तु देवताः। ततः क्षमेऽहं देवानामपराधं निरञ्जनः ।।१६२।।

ब्रह्मोवाच

ततः समक्षं सुरसाक्षरां गिरं, सहस्रचक्षुः प्रमुखांस्तथाऽग्रतः ।
उवाच देवा अपि मेनिरे वचो, दधीचिपुत्रोदितमादरेण ।।१६३।।
बालस्य बुद्धिं विनयं च विद्यां, शौर्यं बलं साहसं सत्यवाचम् ।
पित्रोर्भक्तिं भावशुद्धिं विदित्वा, तदाऽवादीच्छंकरः पिप्पलादम् ।।१६४।।

शंकर उवाच

वत्स यद्वै प्रियं कामं यच्चापि सुरवल्लभम्। प्राप्स्यसे वद कल्याणं नान्यथा त्वं मनः कृथाः ।।१६५।।

पिप्पलाद उवाच

ये गङ्गयामाप्लुता धर्मनिष्ठाः, संपश्यन्ति त्वत्पदाब्जं महेश ।
सर्वान्कामानाप्नुवन्तु प्रसह्य, देहान्ते ते पदमायान्तु शैवम् ।।१६६।।
तातः प्राप्तस्त्वत्पदं चाम्बिका मे, नाथ प्राप्ता पिप्पलश्चामराश्च ।
सुखं प्राप्ता नाथनाथं विलोक्य, त्वां पश्येयुस्त्वत्पदं ते प्रयान्तु ।।१६७।।

पालन-पोषण किया और जो मेरे सगोत्र तथा समान धर्म वाले हैं उनके मनोरथों को भगवान् शंकर पूर्ण करें। मैं द्वितीया के चंद्रमा को सिर पर धारण करने वाले शंकर को नित्य प्रणाम करता हूँ। हे प्रभो ! हे देवाधिदेव ! जिन्होंने माता और पिता के समान नित्य मेरा पालन करके इतना बड़ा बनाया है, उन्हीं के नाम से यह तीर्थ प्रसिद्ध हो। जब उन लोगों की कीर्ति संसार में फैलेगी तभी मैं उनके ऋण से उऋण हो सकूँगा। इस भूतल पर जितने तीर्थ और देवस्थान हैं, उन सबसे श्रेष्ठ इस तीर्थ को यदि देवगण स्वीकार करें तो शिव ! मैं देवताओं के अपराध को क्षमा कर सकता हूँ ।।१५७-१६२।।

ब्रह्मा बोले—तदनन्तर इन्द्र आदि देवताओं के समक्ष यह बात रखी गयी। देवों ने भी दधीचि-पुत्र की कही हुई बातों को आदर के साथ स्वीकार किया। अन्त में बालक की बुद्धि, विद्या, विनय, शौर्य, बल, साहस, सत्य वचन, माता-पिता की भक्ति और भाव-शुद्धि को जानकर शंकर ने पिप्पलाद से कहा—।।१६३-१६४।।

शंकर ने कहा—वत्स ! जो तुम्हारा अभीष्ट है वह देव-दुर्लभ ही क्यों न हो, उसे बताओ। अवश्य पाओगे। मन में अन्यथा न समझना ।।१६५।।

पिप्पलाद ने कहा—महेश ! जो धर्मप्रेमी गंगा में स्नान कर आपके चरणकमल का ध्यान करते हैं, वे अवश्य ही अपने सब मनोरथों को प्राप्त करें और शरीर-त्याग के बाद शिव-लोक में बिराजें। नाथ ! मेरे पिता और माता ने आपका पावन पद प्राप्त किया, पिप्पल और देवताओं ने भी नाथों के नाथ (आप) का दर्शन कर सुख प्राप्त किया। इसी प्रकार जो कोई आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करें वे सभी आपके लोक में जायँ ।।१६६-१६७।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा पिप्पलादं देवदेवो महेश्वरः। अभिनन्द्य च तं देवैः सार्धं वाक्यमथाब्रवीत् ॥१६८॥
देवा अपि मुदा युक्ता [1]निर्भयास्तत्कृताद्भयात्। इदमूचुः सर्व एव दाधीचं शिवसंनिधौ ॥१६९॥

देवा ऊचुः

सुराणां यदभीष्टं च त्वया कृतमसंशयम्। पालिता देवदेवस्य आज्ञा त्रैलोक्यमण्डनी ॥१७०॥
याचितं च त्वया पूर्वं परार्थं नाऽऽत्मने द्विज। तस्मादन्यतमं ब्रूहि किंचिद्दास्यामहे वयम् ॥१७१॥

ब्रह्मोवाच

पुनः पुनस्तदेवोचुः सुरसंघा द्विजोत्तमम्। कृताञ्जलिपुटः पूर्वं नत्वा शंभुसुरानिदम् ॥
उवाच पिप्पलादश्च उमां नत्वा च पिप्पलान् ॥१७२॥

पिप्पलाद उवाच

पितरौ द्रष्टुकामोऽस्मि सदा मे शब्दगोचरौ। ते धन्याः प्राणिनो लोके मातापित्रोर्वशे स्थिताः ॥१७३॥
शुश्रूषणपरा नित्यं तत्पादाज्ञाप्रतीक्षकाः। इन्द्रियाणि शरीरं च कुलं शक्तिं धियं वपुः ॥१७४॥
परिलभ्य तयोः [2]कृत्ये कृतकृत्यो भवेत्स्वयम्। पशूनां पक्षिणां चापि सुलभं मातृदर्शनम् ॥१७५॥

ब्रह्मा ने कहा—देवों के देव शंकर ने 'ऐसा ही होगा' यह कहकर पिप्पलाद की प्रशंसा की और पुनः देवों के साथ उस बालक से संभाषण किया। देवगण भी उसके द्वारा उत्पन्न किये गये भय से अपने को मुक्त जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और निर्भय होकर सब देवों ने भी शिव के समीप ही दधीचि-पुत्र से कहा ॥१६८-१६९॥

देवगण बोले—निःसन्देह तुमने त्रिभुवन को विभूषित करने वाली शिवाज्ञा का पालन किया है और इस प्रकार देवों का जो अभीष्ट था, वह तुमने पूरा कर दिया। द्विज ! परन्तु तुमने अब तक परोपकार के लिए ही याचना की अपने लिये कुछ नहीं माँगा, इसलिए कोई दूसरी चीज अपने लिये माँगो, हम अवश्य प्रदान करेंगे ॥१७०-१७१॥

ब्रह्मा ने कहा—बार-बार देवों ने द्विजवर्य पिप्पलाद से वही बातें दुहरायीं। पिप्पलाद ने भी हाथ जोड़कर शंभु, देव, उमा और पिप्पलों को प्रणाम कर ये वाक्य कहे ॥१७२॥

पिप्पलाद ने कहा—मैं अपने माता-पिता को देखना चाहता हूँ, जिनका नाम मैं सदा सुनता हूँ। संसार में वे प्राणी धन्य हैं जो माता और पिता के वश में रहते हैं, उनकी सेवा में सर्वदा लगे रहते हैं और उनके चरणों की आज्ञा की प्रतीक्षा किया करते हैं। मनुष्य इन्द्रियाँ, शरीर, कुल, पौरुष, बुद्धि और शरीर को पाकर यदि उनको माता-पिता के सेवाकार्य में लगायें तो वह स्वयं ही कृतकृत्य हो जायें। पशुओं और पक्षियों को भी माता का दर्शन नित्य हुआ

---

[1] घ ०र्भयाः शंकराज्ञया। इ०। [2] घ. ०त्ये नोपयोगि निरर्थकम्।

दुर्लभं मम तच्चापि पृच्छे पापफलं नु किम्। दुर्लभं च तथा चेत्स्यात्सर्वेषां यस्य कस्यचित् ॥१७६॥
नोपपद्येत सुलभं मत्तो नान्योऽस्ति पापकृत्। तयोर्दर्शनमात्रं च यदि प्राप्स्ये सुरोत्तमाः ॥१७७॥
मनोवाक्कायकर्मभ्यः फलं प्राप्तं भविष्यति। पितरौ ये न पश्यन्ति समुत्पन्ना न (स्तु) संसृतौ ॥
तेषां महापातकानां कः संख्यां कर्तुमीश्वरः ॥१७८॥

ब्रह्मोवाच

तदृषेर्वचनं श्रुत्वा मिथः संमन्त्र्य ते सुराः। विमानवरमारूढौ पितरौ दंपती शुभौ ॥१७९॥
तव संदर्शनाकाङ्क्षौ द्रक्ष्यसे वाऽद्य निश्चितम्। विषादं लोभमोहौ च त्यक्त्वा चित्तं शमं नय ॥१८०॥
पश्य पश्येति तं प्राहुर्दाधीचं सुरसत्तमाः। विमानवरमारूढौ स्वर्गिणौ स्वर्णभूषणौ ॥१८१॥
तव संदर्शनाकाङ्क्षौ पितरौ दंपती शुभौ। वीज्यमानौ सुरस्त्रीभिः स्तूयमानौ च किंनरैः ॥१८२॥
दृष्ट्वा स मातापितरौ [1]ननाम शिवसंनिधौ। हर्षवाष्पाश्रुनयनौ स कथंचिदुवाच तौ ॥१८३॥

पुत्र उवाच

तारयन्त्येव पितरावन्ये पुत्राः कुलोद्वहाः। अहं तु मातुरुदरे केवलं भेदकारणम् ॥
एवं भूतोऽपि तौ मोहात्पश्येयमतिदुर्मतिः ॥१८४॥

करता है, परन्तु मुझ अभागे के लिए वह दुर्लभ हो गया है। मैं पूछता हूँ कि यह मेरे किस पाप का फल है? यदि सबके लिए मातृदर्शन दुर्लभ होता तो जिस किसी एक व्यक्ति को सुलभ न होने पर कोई आपत्ति नहीं होती, परन्तु मेरे विषय में यह विपरीत है। अतः मेरे समान पापी दूसरा कोई नहीं है। हे श्रेष्ठ देवगण! यदि मैं अपने माता-पिता का दर्शन मात्र पा जाऊँगा तो मन, वचन और कर्म का फल मिल गया—ऐसा मैं समझँगां। इस लोक में जो जन्म लेकर अपने माता-पिता को नहीं देखते हैं, उन महापापियों के पापों की गिनती करने में कौन समर्थ हो सकता है? ॥१७३-१७८॥

ब्रह्मा ने कहा—उस ऋषि की बातों को सुनकर देवों ने परस्पर मन्त्रणा करके कहा कि तुम आज निश्चित रूप से श्रेष्ठ विमान पर आरूढ़ अपने शुभ मूर्ति माता-पिता का, जो स्वयं तुम्हें दर्शन देने के लिए उत्सुक हैं, दर्शन करोगे। तुम विषाद, लोभ और मोह का परित्याग कर अपने चित्त को शान्त करो। पुनः उन सर्वश्रेष्ठ देवों ने उस दधीचि-पुत्र से कहा कि 'देखो, देखो, उत्तम विमान पर चढ़े हुए, स्वर्ण आभूषणों से सुशोभित तुमको दर्शन देने के लिए लालायित, और पवित्र दम्पति तुम्हारे माता-पिता आ रहे हैं। उन्हें देवांगनाएँ पंखे झल रही हैं और किन्नरगण स्तुति कर रहे हैं। शिव के समीप अपने माता-पिता का दर्शन पाकर पिप्पलाद ने उन्हें प्रणाम किया। उसके नेत्रों में आनन्द के आँसू आ गये। फिर किसी प्रकार अपने को सँभाल कर उसने माता-पिता से कहा ॥१७९-१८३॥

पुत्र ने कहा—वंश का धारण करने वाले दूसरे पुत्र अपने माता-पिता का उद्धार करते हैं, परन्तु मैं अभागा माता के उदर में आकर केवल उसके दुःख का कारण वना। ऐसा भाग्यहीन होकर भी आज अत्यन्त दुर्मति मैं मोहवश अपने माता-पिता को देख रहा हूँ ॥१८४॥

---

[1] घ. ०म सुरसं०।

ब्रह्मोवाच

तावालोक्य ततो दुःखाद्वक्तुं नैव शशाक सः। देवाश्च मातापितरौ पिप्पलादमथाब्रुवन् ॥१८५॥

देवा ऊचुः

धन्यस्त्वं पुत्र लोकेषु यस्य कीर्तिर्गता दिवम्। साक्षात्कृतस्त्वया त्र्यक्षो देवाश्चाऽऽश्वासितास्त्वया ॥
त्वया पुत्रेण सल्लोका न क्षीयन्ते कदाचन ॥१८६॥

ब्रह्मोवाच

पुष्पवृष्टिस्तदा स्वर्गात्पपात तस्य मूर्धनि। जयशब्दः सुरैरुक्तः प्रादुर्भूतो महामुने ॥१८७॥
आशिषं तु सुते दत्त्वा दधीचिः सह भार्यया। शंभुं गङ्गां सुरान्नत्वा पुत्रं वाक्यमथाब्रवीत् ॥१८८॥

दधीचिरुवाच

प्राप्य भार्यां शिवे भक्तिं कुरु गङ्गां च सेवय। पुत्रानुत्पाद्य विधिवद्यज्ञानिष्ट्वा सदक्षिणान् ॥
कृतकृत्यस्ततो वत्स आक्रमस्व चिरं दिवम् ॥१८९॥

ब्रह्मोवाच

करोम्येवमिति प्राह दधीचिं पिप्पलाशनः। दधीचिः पुत्रमाश्वास्य भार्यया च पुनः पुनः ॥१९०॥
अनुज्ञातः सुरगणैः पुनः स दिवमाक्रमत्। देवा अप्यूचिरे सर्वे पिप्पलादं ससंभ्रमाः ॥१९१॥

ब्रह्मा बोले—इसके अनन्तर उनको देखकर वह दुःख के मारे कुछ बोल न सका। तब देवगण तथा माता-पिता ने पिप्पलाद से कहा—॥१८५॥

देवगण बोले—पुत्र ! तीनों लोक में तुम धन्य हो, तुम्हारी कीर्ति स्वर्ग में भी पहुँच गयी। तुमने शिव का साक्षात्कार किया और देवों को भी आश्वासन दिया। तुम्हारे समान पुत्र के उत्पन्न होने से उत्तम लोकों का कभी ह्रास नहीं होता ॥१८६॥

ब्रह्मा ने कहा—उस समय उसके सिर पर स्वर्ग से पुष्पवृष्टि हुई। महामुने ! देवों ने जयघोष किया। पत्नी समेत दधीचि ने पुत्र को आशीर्वाद दिया और शंकर, गंगा तथा देवों को नमस्कार करके, पुत्र से कहा ॥१८७-१८८॥

दधीचि ने कहा—पुत्र ! पहले विवाह करो, शिव में अपनी भक्ति करो, गंगा की सेवा करो, शास्त्रानुसार पुत्रों को उत्पन्न करो, फिर यज्ञों का अनुष्ठान करो और उनमें भरपूर दक्षिणा दो। इस प्रकार अपने जीवन को सफल बना चिरकाल तक स्वर्ग में बने रहो ॥१८९॥

ब्रह्मा ने कहा—पिप्पलाद ने 'ऐसा ही करूँगा' यह अपने पिता दधीचि से कहा। दधीचि ने भी बार-बार अपने पुत्र को आश्वासन देकर देवताओं से आज्ञा लेकर भार्या सहित स्वर्ग को चले गये। तदनन्तर सब देवताओं ने भी सहसा पिप्पलाद से कहा ॥१९०-१९१॥

देवा ऊचुः

कृत्यां शमय भद्रं ते तदुत्पन्नं महानलम् ॥१९२॥

ब्रह्मोवाच

पिप्पलादस्तु तानाह न शक्तोऽहं निवारणे। असत्यं नैव वक्ताऽहं यूयं कृत्यां तु ब्रूत ताम् ॥१९३॥
मां दृष्ट्वा सा महारौद्रा विपरीतं करिष्यति। तामेव गत्वा विबुधाः प्रोचुस्ते शान्तिकारणम् ॥१९४॥
अनलं च यथाप्रीति ते उभे नेत्यवोचताम्। सर्वेषां भक्षणायैव सृष्टा चाहं द्विजन्मना ॥१९५॥
तथा च मत्प्रसूतोऽग्निरन्यथा तत्कथं भवेत्। महाभूतानि पञ्चापि स्थावरं जङ्गमं तथा ॥१९६॥
सर्वमस्मन्मुखे विद्याद्वक्तव्यं नावशिष्यते। मया संमन्त्र्य ते देवाः पुनरूचुरुभावपि ॥१९७॥
भक्षयेतामुभौ सर्वं यथानुक्रमतस्तथा। वडवाऽपि सुरानेवमुवाच शृणु नारद ॥१९८॥

वडवोवाच

भवतामिच्छया सर्वं भक्ष्यं मे सुरसत्तमाः ॥१९९॥

ब्रह्मोवाच

वडवा सा नदी जाता गङ्गया संगता मुने। तद्भवस्तु महानग्निर्य आसीदतिभीषणः॥
तमाहुरमरा वह्निं भूतानामादितो विदुः ॥२००॥

देवगण बोले—कृत्या और उससे उत्पन्न भयंकर ज्वाला को शान्त करो। तुम्हारा कल्याण होगा॥१९२॥

ब्रह्मा ने कहा—पिप्पलाद ने उन देवों से कहा—'मैं उनको शान्त करने में असमर्थ हूँ। मैं असत्य नहीं कह रहा हूँ। आप लोग स्वयं उससे कहिये। मुझको देखकर वह महाभयंकर कृत्या उलटा ही करेगी।' तदुपरान्त देवगण उसी कृत्या के पास गये और उससे तथा अग्नि से प्रेमपूर्वक शान्त हो जाने को कहा। उन दोनों ने कहा 'नहीं'। सबको भस्म कर देने के लिए ही मेरी तथा मुझसे उत्पन्न इस महान् अग्नि की ब्राह्मण ने सृष्टि की है। तब भला इसके विपरीत कैसे हो सकता है ? पाँचों महाभूत, स्थावर तथा जंगम सबको हमारे मुख में समझो; अब इस विषय में कुछ कहने को शेष नहीं है। पुनः मुझसे मंत्रणा करके उन देवताओं ने उन दोनों से कहा—'तब तुम दोनों क्रमशः सबको खा डालो।' नारद ! सुनो, बडवा ने भी देवताओं से इस प्रकार कहा॥१९३-१९८॥

बडवा ने कहा—हे श्रेष्ठ देवो ! आप लोगों की इच्छा से सब कुछ मेरा भक्ष्य है।॥१९९॥

ब्रह्मा ने कहा—मुने ! इतना कहते ही बडवा नदी हो गयी। और गंगा से मिल गयी। उससे उत्पन्न जो अतिभीषण महान् अनल था उसको वेदों ने वह्नि कहा और वह पञ्चमहाभूतों का आदि महाभूत माना जाता है॥२००॥

सुरा ऊचुः

आपो ज्येष्ठतमा ज्ञेयास्तथैव प्रथमं भवान् । तत्राप्यपांपतिं ज्येष्ठं समुद्र (तिर्ज्येष्ठस्तस्य त्व) मशनं कुरु ॥
अथैव[1] तु वयं ब्रूमो गच्छ भुङ्क्ष्व यथासुखम् ॥२०१॥

ब्रह्मोवाच

अनलस्त्वमरानाह आपस्तत्र कथं त्वहम् । व्रजेयं यदि मां तत्र प्रापयन्त्युदकं महत् ॥२०२॥
भवन्त एव तेऽप्याहुः कथं तेऽग्ने गतिर्भवेत् । अग्निरप्याह तान्देवान्कन्या मां गुणशालिनी ॥२०३॥
हिरण्यकलशे स्थाप्य नयेद्यत्र गतिर्मम । तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कन्यामूचुः सरस्वतीम् ॥२०४॥

देवा ऊचुः

[2]नयैनमनलं शीघ्रं शिरसा वरुणालयम् ॥२०५॥

ब्रह्मोवाच

सरस्वती सुरानाह नैका शक्ता च धारणे । युक्ता चतसृभिः शीघ्रं वहेयं वरुणालयम् ॥२०६॥
सरस्वत्या वचः श्रुत्वा गङ्गां च यमुनां तथा । नर्मदां तपतीं चैव सुराः प्रोचुः पृथक्पृथक् ॥२०७॥
ताभिः समन्वितोवाह[3] हिरण्यकलशेऽनलम् । संस्थाप्य शिरसाऽऽधार्य ता जग्मुर्वरुणालयम् ॥२०८॥
संस्थाप्य यत्र देवेशः सोमनाथो जगत्पतिः । अस्यास्ते विबुधैः सार्धं प्रभासे शशिभूषणः ॥२०९॥

देवों ने कहा—जल सबसे श्रेष्ठ माना गया है, उसी प्रकार आप भी हैं । उसमें भी जलपति समुद्र सबसे ज्येष्ठ है, इसलिए उसको ही खाओ । जैसा हम कह रहे हैं, उसी के अनुसार जाओ और आनन्दपूर्वक भक्षण करो ॥२०१॥

ब्रह्मा बोले—अनल ने देवों से कहा 'जहाँ जल है वहाँ मैं कैसे रह सकता हूँ ? यदि आप मुझे उस अगाध जल के मध्य पहुँचा दें तो मैं जा सकता हूँ ।' यह सुनकर उन्होंने कहा—'अग्ने ! किस प्रकार तुम वहाँ तक जा सकते हो ?' अग्नि ने भी देवों से कहा कि यदि (ब्रह्मा की) गुणशालिनी कन्या सरस्वती मुझे सुवर्ण-कलश में रख कर वहाँ तक ले जाय तो मुझ में गति हो सकती है अर्थात् वहाँ मैं जा सकता हूँ ।' उसकी उन बातों को सुनकर देवों ने मेरी कन्या सरस्वती से कहा—॥२०२-२०४॥

देवगण बोले—तुम इस अनल को शीघ्र ही सिर पर रखकर समुद्र में ले जाओ ॥२०५॥

ब्रह्मा बोले—सरस्वती ने देवताओं से कहा मैं अकेली अनल को ले जाने में असमर्थ हूँ । यदि चार और सहायक मिल जायँ तो शीघ्र ही समुद्र में पहुँचा सकती हूँ ।

सरस्वती की बातें सुनकर देवताओं ने गंगा, यमुना, नर्मदा और तपती (ताप्ती) से अलग-अलग कहा । अन्त में सरस्वती ने उन चारों सहयोगी नदियों के साथ सुवर्ण-कलश में अनल को रखा और उस कलश को सिर पर

---

१ क. ङ तथैव । २ घ. नय त्वम० । ३ घ. ०न्विता वाचा हि० ।

प्रापयामासुरनलं[1] पञ्चनद्यः सरस्वति। अध्यास्ते च महानग्निः पिबन्वारि शनैः शनैः ॥२१०॥
ततः सुरगणाः सर्वे शिवमूचुः सुरोत्तमम् ॥२११॥

देवा ऊचुः

अस्थ्नां च पावनं ब्रूहि अस्माकं च गवां तथा ॥२१२॥

ब्रह्मोवाच

शिवः प्राह तदा सर्वान्गङ्गामाप्लुत्य यत्नतः। देवाश्च गावस्तत्पापान्मुच्यन्ते नात्र संशयः ॥२१३॥
प्रक्षालितानि चास्थीनि ऋषिदेहभवान्यथ। तानि प्रक्षालनादेव तत्र प्राप्तानि पूतताम् ॥२१४॥
यत्र देवा मुक्तपापास्तत्तीर्थं पापनाशनम्। तत्र स्नानं च दानं च ब्रह्महत्याविनाशनम् ॥२१५॥
गवां च पावनं यत्र गोतीर्थं तदुदाहृतम्। तत्र स्नानान्महाबुद्धिर्गोमेधफलमाप्नुयात् ॥२१६॥
यत्र तद्ब्राह्मणास्थीनि आसन्पुण्यानि नारद। पितृतीर्थं तु वै ज्ञेयं पितॄणां प्रीतिवर्द्धनम् ॥२१७॥
भस्मास्थिनखरोमाणि प्राणिनो यस्य कस्यचित्। तत्र तीर्थे संक्रमेरन्यावच्चन्द्रार्कतारकम् ॥२१८॥
स्वर्गे वासो भवेत्तस्य अपि दुष्कृतकर्मणः। तथा चक्रेश्वरात्तीर्थात्त्रीणि तीर्थानि नारद[2] ॥
ततः पूताः सुरगणा गावः शंभुमथाब्रुवन् ॥२१९॥

धारण करके समुद्र की ओर ले चली। जहाँ प्रभास क्षेत्र में देवताओं के साथ संसार के पति तथा देवताओं के प्रभु शंकर रहते हैं, वहाँ अनल को रखकर सरस्वती आदि पाँच नदियों ने पुनः उसे समुद्र में पहुँचा दिया। वहाँ वह जल को धीरे-धीरे जलाता रहता है। तदनन्तर सब देवताओं ने सुरश्रेष्ठ शंकर से कहा ॥२०६-२११॥

देवगण बोले—अस्थि, हम सब और गायें किस प्रकार पवित्र हो सकते हैं इसको आप बतलाइये ॥२१२॥

ब्रह्मा ने कहा—तब शंकर ने उन सब देवताओं से कहा कि श्रद्धापूर्वक गंगा में स्नान करने से सब देव और गायें अपने आप से छूट जायेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। ऋषि-शरीर से प्राप्त अस्थियाँ वहाँ केवल प्रक्षालन मात्र कर देने से पवित्र हो जायेंगी। जहाँ देवगण पाप-मुक्त हो गये थे, वह तीर्थ पापों को विनष्ट करने वाला है। वहाँ स्नान करने और दान देने से ब्रह्महत्या आदि दोष भी छूट जाते हैं। जहाँ गायें पवित्र हो गयी थीं, वह तीर्थ गोतीर्थ कहा जाता है। बुद्धिमान् व्यक्ति वहाँ स्नान कर गोमेध (यज्ञ) का फल प्राप्त करता है। नारद ! जिस स्थान पर ब्राह्मण दधीचि की पवित्र अस्थियाँ रखी गयी थीं, वह पितरों को परमानन्द देने वाला पितृतीर्थ नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस पवित्र तीर्थ में जिस किसी प्राणी के शरीर का भस्म, अस्थि, नख और रोम पहुँच जाते हैं, वह दुष्कर्मी होने पर भी स्वर्ग में तब तक निवास करता है, जब तक सूर्य, चन्द्रमा और तारे हैं। नारद ! इस भाँति चक्रेश्वर तीर्थ से तीन तीर्थ उत्पन्न हुए। इसके उपरान्त सुरगण और गायें पवित्र हो जाने पर शंभु से बोले॥२१३-२१९॥

---

[1] घ ०मास वारीशं पञ्चनद्या सरस्वती अ०। [2] घ. मध्यतः।

गोसुरा ऊचुः

यामः स्वं स्वमधिष्ठानमत्र सूर्यः प्रतिष्ठितः । अस्मिन्स्थिते दिनकरे सुराः सर्वे प्रतिष्ठिताः ॥२२०॥
भवेयुर्जगतामीश तदनुज्ञातुमर्हसि । सूर्यो ह्यात्माऽस्य जगतस्तस्थुषश्च सनातनः ॥२२१॥
दिवाकरो देवमयस्तत्रास्माभिः प्रतिष्ठितः । यत्र गङ्गा जगद्धात्री यत्र वै त्र्यम्बकः स्वयम् ॥
सुरवासं[1] प्रतिष्ठानं भवेद्यत्र च त्र्यम्बकम् ॥२२२॥

ब्रह्मोवाच

आपृच्छ्य पिप्पलादं तं सुराः स्वं सदनं ययुः । पिप्पलाः कालपर्याये स्वर्गं जग्मुरथाक्षयम् ॥२२३॥
पादपानां पदं[2] विप्रः पिप्पलादः प्रतापवान् । क्षेत्राधिपत्ये संस्थाप्य पूजयामास शंकरम् ॥२२४॥
दधीचिसूनुर्मुनिरुग्रतेजा, अवाप्य भार्यां गौतमस्याऽऽत्मजां च ।
पुत्रानथावाप्य श्रियं यशाश्च, सुहृज्जनैः स्वर्गमवाप धीरः ॥२२५॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं पिप्पलेश्वरमुच्यते । सर्वक्रतुफलं पुण्यं स्मरणादघनाशनम् ॥२२६॥
किं पुनः [3]स्नानदानाभ्यामादित्यस्य तु दर्शनात् । चक्रेश्वरः पिप्पलेशो देवदेवस्य नामनी ॥२२७॥
सरहस्यं विदित्वा तु सर्वकामानवाप्नुयात् । सूर्यस्य च प्रतिष्ठानात्सुरवासे प्रतिष्ठिते ॥
प्रतिष्ठानं तु तत्क्षेत्रं सुराणामपि वल्लभम् ॥२२८॥

गायें और देवगण बोले—हम सब अपने-अपने स्थान को जा रहे हैं । यहाँ सूर्य प्रतिष्ठित हैं । इनके यहाँ रहने से सब देवता भी रहें, हे संसार के ईश ! ऐसी आप आज्ञा प्रदान कीजिये । इस वर्तमान जगत् का सूर्य सनातन आत्मा है । हमने सूर्य को सब देवों के रूप में वहाँ प्रतिष्ठित किया है, अतः हम सभी वहाँ प्रतिष्ठित-से हैं । जहाँ जगन्माता गंगा और स्वयं त्रिनेत्र शंकर विराजमान हैं, वह स्थान सकल देवताओं का मंदिर तथा संस्थान है ॥२२१-२२२॥

ब्रह्मा ने कहा—देववृन्द उस पिप्पलाद से पूछ कर अपने लोक को चले गये । वे पीपल के वृक्ष भी कालक्रम से अमर लोक को चले गये । इधर प्रतापी विप्र पिप्पलाद ने क्षेत्रों के अधिपति के रूप में वृक्षों की स्थापना करके शंकर की पूजा की । पुनः अतितेजस्वी मुनि दधीचिपुत्र ने गौतम-कन्या को अपनी भार्या बनायी और उससे पुत्र उत्पन्न किये । तदनन्तर वह धीर पुरुष यश और लक्ष्मी को प्राप्त कर इष्ट मित्रों के साथ स्वर्ग में चला गया । तब से वह तीर्थ पिप्पलेश्वर तीर्थ कहा जाता है । वह तीर्थ सब यज्ञों के फल को देने वाला है और उसके स्मरण से सम्पूर्ण पापों का नाश हो जाता है । उस तीर्थ में स्नान, दान और आदित्य के दर्शन से जो फल प्राप्त होता है, उसका तो कहना ही क्या ? चक्रेश्वर और पिप्पलेश ये दोनों देवदेव शंकर के नाम हैं । उस तीर्थ के रहस्य को जानकर मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करता है । सूर्य की वहाँ प्रतिष्ठा होने से और सब देवताओं के निवास करने से वह क्षेत्र देवताओं को भी प्रिय हो गया है । यह आख्यान अत्यन्त पुण्यप्रद है, इस पुण्य आख्यान को जो पढ़ता, सुनता अथवा स्मरण करता

---

१ घ. ०वासः प्र० । ङ. ०वारां प्र० । २ घ. परं । ३ घ. ०नाभ्यां देवदेवस्य द० ।

इतीदमाख्यानमतीव पुण्यं, पठेत वा यः शृणुयात्स्मरेद्वा ।
स दीर्घजीवी धनवान्धर्मयुक्तश्चान्ते स्मरञ्शंभुमुपैति नित्यम् ॥२२९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे चक्रेश्वरपिप्पलेश्वरपापप्रणाशनगोतीर्थपितृतीर्थसूर्य
प्रतिष्ठानकोट्यादितीर्थवर्णनं नाम दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११०॥
गौतमीमाहात्म्ये एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४१॥

अथैकादशाधिकशततमोऽध्यायः

नागतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

नागतीर्थमिति ख्यातं सर्वकामप्रदं शुभम् । यत्र नागेश्वरो देवः शृणु तस्यापि विस्तरम् ॥१॥
प्रतिष्ठानपुरे राजा शूरसेन इति श्रुतः । सोमवंशभवः श्रीमान्मतिमान्गुणसागरः ॥२॥
पुत्रार्थं स महायत्नमकरोत्प्रियया सह । तस्य पुत्रश्चिरादासीत्सर्पो वै भीषणाकृतिः ॥३॥
पुत्रं तं गोपयामास शूरसेनो महीपतिः । राज्ञः पुत्रः सर्प इति न कश्चिद्विन्दते जनः ॥४॥
अन्तर्वर्ती परो वापि मातरं पितरं विना । [1]धात्रेय्यपि न जानाति नामात्यो न पुरोहितः ॥५॥

है, व दीर्घजीवी, धनवान् और धार्मिक होता है तथा अन्त काल में शम्भु का स्मरण करता हुआ शिव का सान्निध्य प्राप्त करता है ॥२२३-२२९॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में पिप्पलेश्वरतीर्थवर्णन नामक एक सौ दसवाँ अध्याय समाप्त ॥१००॥

अध्याय १११

नागतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—सब कामनाओं को देने वाला नागतीर्थ नामक एक शुभ तीर्थ है जहाँ नागेश्वर देव निवास करते हैं। उसके विषय में भी विस्तारपूर्वक कह रहा हूँ, सुनो। प्रतिष्ठानपुर में शूरसेन नाम का अत्यन्त गुणवान्, श्रीमान् और बुद्धिमान् सोमवंशी राजा था। पुत्र की कामना से उसने अपनी प्रिया के साथ महान् प्रयत्न किया। चिरकाल के बाद उसके एक भयंकर आकार वाला साँप पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा शूरसेन ने उसको अत्यन्त गुप्त रखा। ताकि कहीं कोई यह न जान जाय कि राजा का पुत्र सर्प है। माता-पिता के अतिरिक्त कोई भी दूसरा व्यक्ति, चाहे वह अत्यन्त आत्मीय ही क्यों न रहा हो, नहीं जानता था।

---

[1] घ. ०त्रेयी कापि जा०।

तं दृष्ट्वा भीषणं सर्पं सभार्यो नृपसत्तमः। संतापं[1] नित्यमाप्नोति सर्पाद्वरमपुत्रता ॥६॥
एतदस्ति महासर्पो वक्ति नित्यं मनुष्यवत्। स सर्पः पितरं प्राह कुरु[2] चूडामपि[3] क्रियाम् ॥७॥
तथोपनयनं चापि वेदाध्ययनमेव च। यावद्वेदं च चाधीते तावच्छूद्रसमो द्विजः ॥८॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा पुत्रवचः शूरसेनोऽतिदुःखितः। ब्राह्मणं कंचनाऽऽनीय संस्कारादि[4] तदाऽकरोत् ॥
अधीतवेदः सर्पोऽपि पितरं[5] चाब्रवीदिदम् ॥९॥

सर्प उवाच

विवाहं कुरु मे राजन्स्त्रीकामोऽहं नृपोत्तम। [6]अन्यथाऽपि च कृत्यं ते न सिध्येदिति मे मतिः ॥१०॥
जनयित्वाऽऽत्मजान्वेदविधिनाऽखिलसंस्कृतीः। न कुर्याद्यः पिता तस्य नरकान्नास्ति निष्कृतिः ॥११॥

ब्रह्मोवाच

विस्मितः स पिता प्राह[7] सुतं तमुरगाकृतिम् ॥१२॥

शूरसेन उवाच

यस्य शब्दादपि त्रासं यान्ति शूराश्च पूरुषाः। तस्मै कन्यां तु को दद्याद्वद पुत्र करोमि किम् ॥१३॥

यहाँ तक कि मन्त्री, पुरोहित और धाई भी इस रहस्य को नहीं जानती थी। उस भीषण सर्प को देखकर वह श्रेष्ठ राजा भार्या सहित अत्यन्त व्यथित रहता था और सोचता था कि इस सर्प पुत्र की अपेक्षा पुत्र का न होना ही अच्छा था। इधर वह सर्प सर्वदा मनुष्य के समान बोलता था। एक दिन उस सर्प ने पिता से कहा कि मेरा चूड़ाकरण संस्कार, उपनयन और वेदाध्ययन करा दीजिये। द्विज जब तक वेद का अध्ययन नहीं करता तब तक वह शूद्र के समान रहता है ॥१-८॥

ब्रह्मा बोले—शूरसेन पुत्र की बातें सुनकर अति दुःखित हुआ, और विवश हो किसी ब्राह्मण को बुलाकर संस्कार आदि करवा दिया। थोड़े दिनों बाद जब वह वेदों का अध्ययन समाप्त कर चुका तब पुनः पिता से कहा ॥९॥

सर्प ने कहा—राजन्! मेरा विवाह कर दो। नृपोत्तम! मैं इस समय स्त्री का इच्छुक हूँ। यदि ऐसा नहीं करते तो तुम्हारे कर्तव्य की पूर्णता नहीं सिद्ध होगी, ऐसी मेरी धारणा है। जो पिता पुत्रों को उत्पन्न कर वेद-विधि से उनके सब संस्कार नहीं करता, उसे नरक से छुटकारा नहीं मिलता है ॥१०-११॥

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर आश्चर्य में पड़ा हुआ पिता अपने सर्पशरीरधारी पुत्र से बोला ॥१२॥

शूरसेन ने कहा—जिसके शब्द मात्र से बड़े-बड़े वीर भयभीत हो जाते हैं, उसे भला अपनी कन्या कौन देगा? पुत्र! तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ? ॥१३॥

---

[1] ङ. संतोषं नित्यं नाऽऽप्नो०। [2] घ. ०डादिकी क्रि०। [3] क. ०मणिक्रियाः। त०। [4] ज. ०स्कारांश्च तथाऽक०। [5] घ. ०रं ह्यब्रवीद्रहः०। विवाहकर्म हे तात मम त्वं कुरु निर्भयः। अ०। [6] क. ङ. ०था पितृकृत्यं मे न। [7] घ. ०ह त्वं सर्पो ह्यतिभीषणः। य०। [8] ङ. मानवाः।

ब्रह्मोवाच

तत्पितुर्वचनं श्रुत्वा सर्पः प्राह विचक्षणः ।।१४।।

सर्प उवाच

विवाहा बहवो राजन्राज्ञां सन्ति जनेश्वर। प्रसह्याऽऽहरणं चापि शस्त्रैर्वैवाह एव च ।।१५।।
जाते विवाहे पुत्रस्य पिताऽसौ कृतकृद्भवेत्। नो चेदत्रैव गङ्गायां मरिष्ये नात्र संशयः ।।१६।।

ब्रह्मोवाच

तत्पुत्रनिश्चयं ज्ञात्वा[1] अपुत्रो नृपसत्तमः। विवाहार्थममात्यास्तानाहूयेदं वचोऽब्रवीत् ।।१७।।

शूरसेन उवाच

नागेश्वरो मम सुतो युवराजो गुणाकरः। गुणवान्मतिमाञ्शूरो दुर्जयः शत्रुतापनः ।।१८।।
रथे नागे स[2] धनुषि पृथिव्यां नोपमीयते। विवाहस्तस्य कर्तव्यो ह्यहं वृद्धास्तथैव च ।।१९।।
राज्यभारं सुते न्यस्य निश्चिन्तोऽहं भवाम्यतः। न दारसंग्रहो यावत्तावत्पुत्रो मम प्रियः ।।२०।।
बालभावं नो जहाति तस्मात्सर्वेऽनुमन्य च। विवाहायाथ[3] कुर्वन्तु यत्नं मम हिते रताः ।।२१।।
न मे काचित्तदा चिन्ता कृतोद्वाहो यदाऽऽत्मजः। सुते न्यस्तभरा[4] यान्ति कृतिनस्तपसे वनम् ।।२२।।

ब्रह्मा ने कहा—पिता की यह बात सुनकर पंडित सर्प ने कहा ।।१४।।

सर्प ने कहा—राजन्! प्रजाओं के प्रभु! राजाओं के बहुत प्रकार के विवाह होते हैं, बलात् कन्या-हरण, और युद्ध द्वारा जीतकर विवाह करना भी राजाओं के लिए विधेय है। पुत्र का विवाह हो जाने पर ही पिता कृतकृत्य होता है। यदि आप मेरा विवाह नहीं करायेंगे, तो मैं इसी गंगा में डूबकर प्राण दे दूँगा, इसमें सन्देह नहीं ।।१५-१६।।

ब्रह्मा ने कहा—राजा शूरसेन ने उस पुत्र के हठ को जानकर विवाह-परामर्श करने के लिए मन्त्रियों को बुलाकर कहा ।।१७।।

शूरसेन ने कहा—मेरा गुणवान्, शूर, बुद्धिमान्, दुर्जेय और शत्रुओं को चैन से न रहने देने वाला पुत्र नागेश्वर अब युवराज हो गया है, वह रथ, हाथी और धनुष चलाने में इस पृथ्वी पर अपनी समता नहीं रखता। अतः अब उसका विवाह कर देना चाहिए। मैं वृद्ध हो चला हूँ, इसलिए विवाहोपरान्त पुत्र को राज्यभार सौंप कर निश्चिन्त हो जाऊँ, यही मेरी इच्छा है। जब तक पुत्र का विवाह नहीं होता तब तक वह मेरा प्रियपुत्र बालभाव को नहीं छोड़ सकता, अतः मेरे हितचिन्तक आप लोग इसके विवाह के लिए प्रयत्न कीजिये। जब मेरा पुत्र विवाहित हो जायेगा तब कदाचित् मुझे किसी प्रकार की चिन्ता न होगी। प्रायः विज्ञ जन पुत्र को सारा भार सौंप कर तपस्या के लिए वन में चले जाते हैं ।।१८-२२।।

---

[1] ङ. ०त्वा स पुत्री नृ०। [2] घ च। [3] ङ्० हार्थ प्रकु०। [4] घ न्यस्य भुवो या०।

ब्रह्मोवाच

अमात्या राजवचनं श्रुत्वा सर्वे विनीतवत्। ऊचुः प्राञ्जलयो हर्षाद्राजानं भूरितेजसम् ॥२३॥

अमात्या ऊचुः

तव पुत्रो गुणज्येष्ठस्त्वं च सर्वत्र विश्रुतः। विवाहे तव पुत्रस्य किं मन्त्र्यं किंतु चिन्त्यते ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

अमात्येषु तथोक्तेषु गम्भीरो नृपसत्तमः। पुत्रं[1] सर्पं त्वमात्यानां न चाऽऽख्याति न ते विदुः ॥२५॥
राजा पुनस्तानुवाच[2] का स्यात्कन्या गुणाधिका। महावंशभवः[3] श्रीमान्को राजा स्याद्गुणाश्रयः[4] ॥२६॥
संबन्धयोग्यः शूरश्च यत्संबन्धः प्रशस्यते। तद्राजवचनं श्रुत्वा अमात्यानां महामतिः ॥२७॥
कुलीनः साधुरत्यन्तं राजकार्यहिते रतः। राज्ञो मतिं विदित्वा[5] तु इङ्गितज्ञोऽब्रवीदिदम् ॥२८॥

अमात्य उवाच

पूर्वदेशे महाराज विजयो नाम भूपतिः। वाजिवारणरत्नानां यस्य संख्या न विद्यते ॥२९॥
अष्टौ पुत्रा महेष्वासा महाराजस्य धीमतः। तेषां स्वासा भोगवती साक्षाल्लमीरिवापरा ॥
तव पुत्रस्य योग्या सा भार्या राजन्मयोदिता[6] ॥३०॥

ब्रह्मा ने कहा—सभी मन्त्रियों ने राजा की बातें सुनकर अत्यन्त विनीत भाव से हाथ जोड़कर हर्षपूर्वक अत्यन्त तेजस्वी राजा से कहा ॥२३॥

मंत्री बोले—आपके कुमार बड़े गुणवान् हैं और आप भी सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, तब आपके पुत्र के विवाह में परामर्श और चिन्ता की क्या आवश्यकता है ॥२४॥

ब्रह्मा ने कहा—मन्त्रियों के इस प्रकार कहने पर गम्भीर महाराज ने न तो सर्पपुत्र के विषय में कुछ कहा और न मन्त्रियों ने कुछ जाना। राजा ने पुनः उन मन्त्रियों से कहा कि वह कौन-सी गुणवती कन्या है, और वह कौन अत्यन्त कुलीन, गुणवान्, श्रीमान् तथा सम्बन्ध योग्य राजा है, जिसके साथ सम्बन्ध करना श्रेयस्कर और प्रशस्त होगा। राजा की बातें सुनकर मन्त्रियों में अत्यन्त बुद्धिमान्, कुलीन, साधु, चेष्टाओं द्वारा मन की बात जानने वाले और राजा के अत्यन्त हितैषी एक मंत्री ने राजा का अभिप्राय समझकर कहा ॥२५-२८॥

मंत्री बोले—महाराज ! पूर्व देश में विजय नाम का एक राजा है, जिसके असंख्य हाथी, घोड़े और रत्नों की गणना नहीं की जा सकती। उस धीमान् राजा के धनुर्विद्या में कुशल आठ पुत्र हैं। उसकी भोगवती नाम की बहिन साक्षात् द्वितीय लक्ष्मी के समान है। राजन् ! आपके पुत्र के योग्य वही कन्या है, यही मेरा कथन है ॥२९-३०॥

---

१. घ पुत्ररूपं त्व०। २. क० च कस्य कन्या। ३. घ ०शधरः श्री०। ४ घ. ०णाधिकः। सं०। ५. घ ०त्वाऽथ। ६. क. ङ०दितम्। वृ०।

ब्रह्मोवाच

वृद्धामात्यवचः श्रुत्वा राजा तं प्रत्यभाषत ॥३१॥

राजोवाच

सुता तस्य कथं मेऽस्य सुतस्य स्याद्वदस्व तत् ॥३२॥

वृद्धामात्य उवाच

लक्षितोऽसि महाराज[1] यत्ते मनसि वर्तते[2]। यच्छूरसेन कृत्यं स्यादनुजानीहि मां ततः ॥३३॥

ब्रह्मोवाच

वृद्धामात्यवचः श्रुत्वा भूषणाच्छादनोक्तिभिः। संपूज्य प्रेषयामास महत्या सेनया सह[3] ॥३४॥
स पूर्वदेशमागत्य महाराजं समेत्य च। संपूज्य विविधैर्वाक्यैरुपायैर्नीतिसंभवैः ॥३५॥
महाराजसुतायाश्च भोगवत्या महामतिः। शूरसेनस्य नृपतेः सूनोर्नागस्य धीमतः ॥३६॥
विवाहायाकरोत्संधिं मिथ्यामिथ्यावचोक्तिभिः। पूजयामास नृपतिं भूषणाच्छादनादिभिः ॥३७॥
अवाप्य पूजां नृपतिर्ददामीत्यवदत्तदा। तत आगत्य राज्ञेऽसौ वृद्धामात्यो महामतिः ॥३८॥
शूरसेनाय तद्वृत्तं वैवाहिकमवेदयत्। ततो बहुतिथे काले वृद्धामात्यो महामतिः ॥३९॥
पुनर्बलेन महता वस्त्रालंकारभूषितः। जगाम तरसा सर्वैरन्यैश्च सचिवैर्वृतः ॥४०॥

ब्रह्मा ने कहा—वृद्ध मन्त्री की बात सुनकर राजा ने उससे कहा ॥३१॥

राजा ने कहा—उसकी कन्या किस प्रकार मेरे पुत्र की भार्या होगी यह बतलाओ ॥३२॥

बूढ़े मंत्री ने कहा—महाराज ! आपके मन में जो बात है, उसको मैंने समझ लिया। शूरसेन ! अब जो करना है, उसके लिए मुझे आज्ञा दीजिये ॥३३॥

ब्रह्मा ने कहा—वृद्धमन्त्री की बात सुनकर राजा ने आभूषण, वस्त्र और आदर की वाणी से उसका सम्मान कर बहुत बड़ी सेना के साथ उसे भेज दिया। वह पूर्व देश में आकर महाराज से मिला, उनकी पूजा कर नीति-सम्मत उपायों और अनेक प्रकार की बातों सें उस महाबुद्धिमान् मन्त्री ने भूपति शूरसेन के बुद्धिमान् पुत्र नाग के साथ महाराज-कन्या भोगवती के विवाह की सन्धि की। इस कार्य में उसने सत्य, असत्य प्रत्येक प्रकार के उपायों और उक्तियों का सहारा लिया, विविध आभूषणों और वस्त्र आदि भेंट की सामग्रियों से उस राजा की पूजा भी की। पूजा से प्रसन्न होकर राजा ने कन्या-दान की स्वीकृति दे दी। कार्यसिद्धि जानकर उस वृद्धमन्त्री ने लौट कर शूरसेन से सारी वैवाहिक घटना को सुना दिया। इसके उपरान्त कुछ समय बीत जाने पर वह महाबुद्धिमान् वृद्धमन्त्री बहुत बड़ी सेना के साथ वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित होकर अन्य सब मन्त्रियों को भी साथ

---

[1] घ. मया राजन्यत्ते। [2] घ. ०ते। क्रियते तच्छूरसेन चानु०। [3] घ. ० हासोऽगाच्छनैः पूर्वदेशं म०।

विवाहाय[1] महामात्यो महाराजाय बुद्धिमान्[2]। सर्वं प्रोवाच वृद्धोऽसावमात्यः सचिवैर्वृतः ।।४१।।

वृद्धामात्य उवाच

अत्राऽऽगन्तुं न चाऽऽया (चेच्छ) ति शूरसेनस्य भूपतेः। पुत्रो नाग इति ख्यातो बुद्धिमान्गुणसागरः ।।४२।।
क्षत्रियाणां विवाहाश्च भवेयुर्बहुधा नृप। तस्माच्छस्त्रैरलंकारैर्विवाहः स्यान्महामते ।।४३।।
क्षत्रिया ब्राह्मणाश्चैव सत्यां वाचं वदन्ति हि। तस्माच्छस्त्रैरलंकारैर्विवाहस्त्वनुमन्यताम् ।।४४।।

ब्रह्मोवाच

वृद्धामात्यवचः श्रुत्वा विजयो राजसत्तमः। मेने वाक्यं तथा[3] सत्यममात्यं भूपतिं[4] तदा ।।४५।।
विवाहमकरोद्राजा भोगवत्याः सविस्तरम्। शस्त्रेण च यथाशास्त्रं प्रेषयामास तां पुनः ।।४६।।
स्वानमात्यांस्तथा गाश्च हिरण्यतुरगादिकम्। बहु दत्त्वाऽथ विजयो हर्षेण महता युतः ।।४७।।
तामादायाश्च सचिवा वृद्धामात्यपुरोगमाः। प्रतिष्ठानमथाभ्येत्य शूरसेनाय तां स्नुषाम् ।।४८।।
न्यवेदयंस्तथोचुस्ते विजयस्य वचो बहु। भूषणानि विचित्राणि दास्यो वस्त्रादिकं च यत् ।।४९।।
निवेद्य शूरसेनाय कृतकृत्या बभूविरे। विजयस्य तु येऽमात्या भोगवत्या सहाऽऽगताः ।।५०।।
तान्पूजयित्वा राजाऽसौ बहुमानपुरःसरम्। विजयाय यथा प्रीतिस्तथा कृत्वा व्यसर्जयत् ।।५१।।
विजयस्य सुता बाला रूपयौवनशालिनी। श्वश्रूश्वशुरयोर्नित्यं शुश्रूषन्ती सुमध्यमा ।।५२।।

लेकर दर्प के साथ राजा विजय के पास गया। और अपने सहायक मन्त्रियों के सहित उस वृद्ध महामन्त्री ने विवाह के लिए महाराज से प्रस्ताव किया ।।३४-४१।।

वृद्ध मन्त्री ने कहा—राजा शूरसेन का वह गुणसागर, बुद्धिमान् पुत्र नाग यहाँ आना नहीं चाहता है। नृप ! क्षत्रियों के विवाह बहुत प्रकार से होते हैं, इसलिए महामते ! यह विवाह शस्त्र और आभूषणों द्वारा ही सम्पन्न हो जाय। क्षत्रिय और ब्राह्मण सत्य वचन बोलते हैं। इसलिए शस्त्र और आभूषणों से विवाह-विधि सम्पन्न हो, ऐसी आज्ञा दीजिये ।।४२-४४।।

ब्रह्मा ने कहा—वृद्ध मन्त्री की बातें सुनकर महाराज विजय ने अमात्य, राजा तथा वृद्धमंत्री की बात को सत्य समझ लिया। राजा ने शास्त्रानुसार शस्त्र के साथ धूमधाम से भोगवती का विवाह कर उसको पतिगृह भेज दिया। इस शुभ कृत्य से प्रफुल्लित होकर राजा विजय ने अपने मन्त्रियों, सेवकों और ब्राह्मणादिकों को गायें, सुवर्ण और घोड़े इत्यादि पुरस्कार और दान दिये। उधर वृद्ध मन्त्री सहित सचिवों ने प्रतिष्ठानपुर आकर राजा शूरसेन को उनकी पुत्रवधू अर्पित कर दी तथा महाराज विजय की बहुत-सी बातें सुनायीं, साथ ही उनके दिये हुए विचित्र प्रकार के वस्त्र, आभूषण और दासी आदि अर्पित कर वे लोग कृतकृत्य हो गये। राजा शूरसेन ने भी भोगवती के साथ आये हुए राजा विजय के मन्त्रियों का बहुत आदर-सत्कार करके राजा विजय की

---

१ घ. विजयाय। २ ङ. ०मान्सगुणाकरः। ३ घ. तच्च सत्यंमत्वा वृद्धस्य भूपतिः। वि०। ४ ङ. ०पतिस्तदा।

भोगवत्याश्च यो भर्ता महासर्पोऽतिभीषणः। एकान्तदेशे विजने गृहे रत्नसुशोभिते ।।५३।।
सुगन्धकुसुमाकीर्णे तत्राऽऽस्ते सुखशीतले। स सर्पो मातरं प्राह पितरं च पुनः पुनः ।।५४।।
मम भार्या राजपुत्री किं मां नैवोपसर्पति। तत्पुत्रवचनं श्रुत्वा सर्पमातेदमब्रबीत् ।।५५।।

राजपत्न्युवाच

धात्रिके गच्छ सुभगे शीघ्रं भोगवतीं वद। तव भर्ता सर्प इति ततः सा किं वदिष्यति ।।५६।।

ब्रह्मोवाच

धात्रिका च तथेत्युक्त्वा गत्वा भोगवतीं तदा। रहोगता उवाचेदं विनीतवदपूर्ववत् ।।५७।।

धात्रिकोवाच

जानेऽहं सुभगे भद्रे भर्तारं तव दैवतम्। न चाऽऽख्येयं त्वया क्वापि सर्पो न पुरुषो ध्रुवम् ।।५८।।

ब्रह्मोवाच

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा भोगवत्यब्रवीदिदम् ।।५९।।

भोगवत्युवाच

मानुषीणां मनुष्यो हि भर्ता सामान्यतो भवेत्। किं पुनर्देवजातिस्तु भर्ता पुण्येन लभ्यते।।६०।।

प्रसन्नता के अनुरूप उन्हें बिदा किया। राजा विजय की वह रूपवती युवती और सुन्दर कटिवाली कन्या सर्वदा अपने सास-ससुर की शुश्रूषा में लगी रहती थी। भोगवती का जो सर्प पति था, वह भी एकान्त जनशून्य, रत्नों से सुशोभित और सुगन्धित पुष्पों से सुसज्जित गृह में निवास करता था। एक दिन उस सर्प ने अपनी माता और पिता से अनुरोधपूर्वक बार-बार कहा कि मेरी राज-कन्या पत्नी मेरे पास क्यों नहीं आती है। पुत्र की बात सुनकर सर्पमाता ने कहा ।।४५-५५।।

राजपत्नी ने कहा—धाई ! सुन्दरी ! जाओ, शीघ्र भोगवती से कहो कि तुम्हारा पति सर्प है, इसके उत्तर में वह क्या कहती है, सो मुझे वताना ।।५६।।

ब्रह्मा ने कहा—धाई 'जैसी आज्ञा' यह कहकर भोगवती के पास गयी। एकान्त पाकर बड़ी नम्रता और अपूर्व ढंग से वोली ।।५७।।

धाई बोली—सुभगे ! भद्रे ! मैं जानती हूँ कि तुम्हारा पति देवता है। परन्तु तुम निश्चय ही इस बात को कहीं भी न कहना कि तुम्हारा पति मनुष्य नहीं बल्कि सर्प है ।।५८।।

ब्रह्मा ने कहा—धाई की बातों को सुनकर भोगवती ने यह कहा ।।५९।।

भोगवती बोली—साधारणतया मानुषी स्त्रियों का पति मनुष्य ही होता है; देवकुलोत्पन्न स्वामी तो महान् पुण्य से प्राप्त होता है ।।६०।।

ब्रह्मोवाच

भोगवत्यास्तु तद्वाक्यं सा च सर्वं न्यवेदयत्। सर्पाय सर्पमात्रे च राज्ञे चैव यथाक्रमम् ॥६१॥
रुरोद राजा तद्वाक्यात्स्मृत्वा तां कर्मणो गतिम्। भोगवत्यपि तां प्राह उक्तपूर्वां पुनः सखीम् ॥६२॥

भोगवत्युवाच

कान्तं दर्शय भद्रं ते वृथा याति वयो मम ॥६३॥

ब्रह्मोवाच

ततः सा दर्शयामास सर्पं तमतिभीषणम्। सुगन्धकुसुमाकीर्णे शयने सा रहोगता ॥६४॥
तं दृष्ट्वा भीषणं सर्पं भर्तारं रत्नभूषितम्। कृताञ्जलिपुटा [1]वाक्यमवदत्कान्तमञ्जसा ॥६५॥

भोगवत्युवाच

धन्याऽस्म्यनुगृहीताऽस्मि यस्या मे दैवतं पतिः ॥६६॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा शयने स्थित्वा तं सर्पं [2]सर्पभावनैः[3]। खेलयामास तन्वङ्गी गीतैश्चैवाङ्गसंगमैः ॥६७॥
सुगन्धकुसुमैः पानैस्तोषयामास तं पतिम्। तस्याश्चैव प्रसादेन सर्पस्याभूत्स्मृतिर्मुने ॥
स्मृत्वा सर्वं दैवकृतं रात्रौ सर्पोऽब्रवीत्प्रियाम् ॥६८॥

ब्रह्मा ने कहा—उस धाई ने भोगवती की बातों को सर्प, उसकी माता और राजा को क्रमशः विस्तारपूर्वक सुना दिया। राजा उसकी बातों को सुनकर उसके कर्म-विपाक का स्मरण करके रो पड़ा। इधर भोगवती ने अपनी उस सन्देशवाहक सखी से कहा ॥६१-६२॥

भोगवती ने कहा—मेरे कान्त को दिखलाओ, मेरा जीवन व्यर्थ बीतता जा रहा है, यह कार्य करने से तुम्हारा कल्याण होगा ॥६३॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर उस सेविका ने सुगन्धित फूलों से सजी शय्या पर विराजमान उस भीषणाकृति साँप को दिखा दिया। एकान्त में अवस्थित भोगवती ने रत्नों से अलंकृत भयंकर सर्पपति को देखकर विनीत भाव से बद्धाञ्जलि होकर पति से तुरंत कहा ॥६४-६५॥

भोगवती ने कहा—मैं धन्य हूँ, अनुगृहीत हूँ कि मुझे देवता पति प्राप्त हुआ ॥६६॥

ब्रह्मा ने कहा—यह कह कर स्वयं शय्या पर स्थित हो उस सुकुमारी ने अपने सर्पपति के साथ उसके मनोनुकूल गीत और अंगस्पर्शव्यापारपूर्वक दाम्पत्य क्रीड़ा की, और सुगन्धित फूलों एवं पेय पदार्थों से अपने पति को प्रसन्न किया। हे मुनि (नारद)! उसी राजकन्या के प्रसाद से सर्प को पूर्व-स्मृति हो गयी। भाग्य की सब करतूत स्मरण करके सर्प ने रात्रि में अपनी पत्नी से कहा ॥६७-६८॥

---

[1] ङ. ०दद्वाक्यकोविदा। भो०। [2] घ. ङ. सर्वभा०। [3]. ङ. ०नैः। क्ष्वेल०।

राजकन्याऽपि मां दृष्ट्वा न भीताऽसि कथं प्रिये। सोवाच दैवविहितं कोऽतिक्रमितुमीश्वरः ।।
पतिरेव गतिः स्त्रीणां सर्वदैव विशेषतः ।।६९।।

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वेति हृष्टस्तामाह नागः प्रहसिताननः ।।७०।।

सर्प उवाच

तुष्टोऽस्मि तव भक्त्याऽहं किं ददामि तवेप्सितम्। तव प्रसादाच्चार्वङ्गि सर्वस्मृतिरभूदियम् ।।७१।।
शप्तोऽहं देवदेवेन कुपितेन पिनाकिना। महेश्वरकरे नागः शेषपुत्रो महाबलः ।।७२।।
[१]सोऽहं पतिस्त्वं च भार्या नाम्ना भोगवती पुरा। उमावाक्याज्जहासोच्चैः शंभुः प्रीतो रहोगतः ।।७३।।
ममापि [२]चाऽऽगतं भद्रे हास्यं तद्देवसंनिधौ। ततस्तु कुपितः शंभुः प्रादाच्छापं ममेदृशम् ।।७४।।

शिव उवाच

मनुष्ययोनौ त्वं सर्पो भविता ज्ञानवानिति ।।७५।।

सर्प उवाच

ततः प्रसादितः शंभुस्त्वया [३]भद्रे मया सह[४]। ततश्चोक्तं तेन भद्रे गौतम्यां मम पूजनम् ।।७६।।
[५]कुर्वतो[६] ज्ञानमाधास्ये[७] यदा[८] सर्पाकृतेस्तव[९]। तदा विशापो भविता[१०] भोगवत्याः प्रसादतः ।।७७।।

सर्प ने कहा—प्रिये! तुम राजकुमारी होकर भी मुझको देखकर क्यों नहीं डरी? यह सुनकर उसने कहा—भाग्य-विधान को उलट देने में कौन समर्थ हो सकता है? पति ही सदा स्त्रियों की विशेष गति होता है।।६९।।

ब्रह्मा ने कहा—पत्नी की बातों को सुनकर मुस्कराते हुए नाग ने हर्ष से कहा ।।७०।।

सर्प बोला—तुम्हारी इस पति-भक्ति से मैं प्रसन्न हूँ, तुम्हारी कौन-सी कामना मैं पूर्ण करूँ? सुन्दरी! तुम्हारी कृपा से मुझे पूर्व की सारी घटनाओं का अब स्मरण हो आया है। मैं शेषनाग का पुत्र महाबलशाली नाग शंभु के हाथ पर रहता था। एक बार देवदेव शिव ने कुपित होकर मुझे शाप दे दिया था। वही मैं तुम्हारा पति हूँ और तुम मेरी पूर्व जन्म की वही भोगवती नाम की भार्या हो। एक बार एकान्त क्रीड़ा में उमा के प्रेमवाक्य से शंकर जोर से हँस पड़े। भद्रे! उस देवता के समीप मुझे भी हँसी आ गयी। तब कुपित होकर शंकर ने मुझे ऐसा शाप दे दिया ।।७१-७४।।

शिव ने कहा—तुम मनुष्य-कुल में ज्ञानी साँप होगे ।।७५।।

साँप ने कहा—भद्रे! तदनन्तर तुम्हारे साथ मैंने भी बड़ी विनम्रता से उनको प्रसन्न किया। तब उन्होंने कहा कि गोमती नदी में जब मेरा पूजन करोगे तब भोगवती की कृपा से तुम्हें सर्प के शरीर से छुटकारा मिलेगा। सुमुखी!

---

[१] घ. ०हं भद्रे त्वं च। [२] घ. ०तं तत्र हसितं देव०। [३] घ. चैव। [४] क. ङ ह। पुनश्चो०। [५] क. ङ. कुरुतां। [६] घ. ०र्वती सर्वभावेन सहभक्तिपुरःसरम्। त०। [७] क. ०मापद्येय०। [८] ङ. तदा। [९] क. ङ. ०व। वि०। [१०] क. ०ता वत्स भग०। ङ. ०ता वत्स भो०।

तस्मादिदं ममाऽऽपन्नं तव चापि शुभानने । तस्मान्नीत्वा गौतमीं मां पूजां कुरु मया सह ॥७८॥
ततो विशापो भविता आवां यावः शिवं पुनः । सर्वेषां सर्वदाऽऽर्तानां शिव एव परा गतिः ॥७९॥

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वा भर्तृवचनं सा भर्त्रा गौतमीं ययौ । ततः स्नात्वा तु गौतम्यां पूजां चक्रे शिवस्य तु ॥८०॥
ततः प्रसन्नो भगवान्दिव्यरूपं ददौ मुने । आपृच्छ्य पितरौ सर्पो भार्यया गन्तुमुद्यतः ॥
शिवलोकं ततो ज्ञात्वा पिता प्राह [1]महामतिः ॥८१॥

पितोवाच

युवराज्यधरो ज्येष्ठः पुत्र एको भवानिति । तस्माद्राज्यमशेषेण कृत्वोत्पाद्य सुतान्बहून् ॥
याते मयि परं धाम ततो याहि शिवं पुरम्[2] ॥८२॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा पितृवचस्तथेत्याह स नागराट् । कामरूपमवाप्याथ भार्यया सह सुव्रतः ॥८३॥
पित्रा मात्रा तथा पुत्रै राज्यं कृत्वा सुविस्तरम् । याते पितरि स्वर्लोकं पुत्रान्स्थाप्य स्वके पदे ॥८४॥
भार्यामात्यादिसहितस्ततः शिवपुरं ययौ । ततः प्रभृति तत्तीर्थं नागतीर्थमिति श्रुतम् ॥८५॥

उसी शाप के प्रभाव से मेरे और तुम्हारे ऊपर यह विपति आयी । इसलिए मुझको वहाँ ले चलो और मेरे साथ पूजा करो । तब हम दोनों शाप-मुक्त होकर पुनः शिव का सामीप्य प्राप्त करेंगे । भगवान् शंकर ही सदा सब विपन्न प्राणियों के एकमात्र आधार हैं ॥७६-७९॥

ब्रह्मा ने कहा—पति की बातें सुनकर वह पति (साँप) को लेकर गौतमी तट पर गयी । इसके अनन्तर गौतमी में स्नान कर उसने शिव की पूजा की ! मुने ! पूजा से प्रसन्न होकर शंकर नें नाग को दिव्य रूप दिया । अपनी माता और पिता से अनुमति लेकर वह साँप भार्या के साथ शिवलोक जाने के लिए उद्यत हुआ । यह जानकर महाबुद्धिमान् पिता ने कहा— ॥८०-८१॥

पिता ने कहा—तुम्हीं मेरे एकमात्र युवराज पद को धारण करने वाले पुत्र हो । इसलिए मेरे सम्पूर्ण राज्य का उपभोग कर बहुत-से पुत्रों को उत्पन्न करो । फिर जब मैं स्वर्ग को सिधार जाऊँ तब तुम शिवपुरी जाना ॥८२॥

ब्रह्मा ने कहा—पिता की यह बात सुनकर नागराज ने उसे स्वीकार कर लिया । तदनन्तर वह महाव्रती नाग यथेच्छ रूप पाकर, पत्नी, पिता, माता तथा पुत्रों के साथ अपने विशाल राज्य का उपभोग करने लगा । पुनः पिता के स्वर्ग लोक चले जाने पर अपने पद पर पुत्रों को स्थापित करके स्त्री और अमात्य आदि के सहित वह

---

[1] घ. ०हामनाः । त्वं मे रा० । [2] घ. परम् ।

[1]यत्र नागेश्वरो देवो भोगवत्या प्रतिष्ठितः। तत्र स्नानं च दानं च [2]सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥८६॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये नागतीर्थवर्णनं नामैकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१११॥

गौतमीमाहात्म्ये द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४२॥

अथ द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

मातृतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

मातृतीर्थमिति ख्यातं सर्वसिद्धिकरं नृणाम्। आधिभिर्मुच्यते जन्तुस्तत्तीर्थस्मरणादपि ॥१॥
देवानामसुराणां च संगरोऽभूत्सुदारुणः। नाशक्नुवंस्तदा जेतुं देवा दानवसंगरम् ॥२॥
[3]तदाऽहमगमं देवैस्तिष्ठन्तं शूलपाणिनम्। अस्तवं विविधैर्वाक्यैः कृताञ्जलिपुटः शनैः ॥३॥
संमन्त्र्य देवैरसुरैश्च सर्वैर्यदाऽऽहृतं संमथितुं समुद्रम्।
यत्कालकूटं समभून्महेश, तत्त्वां विना को ग्रसितुं समर्थः ॥४॥

शिवपुरी को चला गया। तब से वह तीर्थ नागतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हो गया। जहाँ भोगवती के द्वारा नागेश्वर देव प्रतिष्ठित हुए हैं, वहाँ स्नान और दान करने से सम्पूर्ण यज्ञों के फल प्राप्त होते हैं ॥८३-८६॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में तीर्थ-माहात्म्य-वर्णन के प्रसंग में नागतीर्थ वर्णन नामक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥१११॥

अध्याय ११२

मातृतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—मनुष्यों को सब प्रकार की सिद्धियाँ देने वाला मातृतीर्थ नाम से प्रसिद्ध एक तीर्थ है, उस तीर्थ के स्मरण मात्र से भी मनुष्य मानसिक व्यथाओं से छूट जाता है। एक समय देवों और दानवों में अति घोर युद्ध हुआ। जब देवगण वह दानव-संग्राम जीतने में समर्थ नहीं हुए, तब मैं देवताओं के सहित कैलाश पर्वत पर विराजमान शंकर के पास गया और हाथ जोड़कर धीरे-धीरे विविध वाक्यों से उनकी स्तुति करने लगा—'महेश ! जब सब देवता और दानव आपस में मन्त्रणा कर समुद्र का मंथन करने लगे, उस समय जो कालकूट विष उत्पन्न हुआ, उसको निगलने में आपके बिना दूसरा कौन समर्थ हो सकता था ? जो कामदेव पुष्प-बाण के

---

१ क. घ. तत्र। २ घ. ०र्वकामफ०। ३ घ. दाऽहं दैवतैः सार्धमगमं शू०।

पुष्पप्रहारेण[1] जगत्त्रयं यः; स्वाधीनमापादयितुं समर्थः ।
मारो हरेऽप्यन्यसुरादिवन्द्यो, वितायमानो विलयं प्रयातः ॥५॥
विमथ्य वारीशमनङ्गशत्रो, यदुत्तमं तत्तु दिवौकसेभ्यः ।
ततश्च तुष्टो दत्त्वा विषं संहरनीलकण्ठ, को वा धर्तुं त्वामृते वै समर्थः ॥६॥
ततश्च तुष्टो भगवानादिकर्ता त्रिलोचनः ॥७॥

शिव उवाच

दास्येऽहं यदभीष्टं वो ब्रुवन्तु सुरसत्तमाः ॥८॥

देवा ऊचुः

दानवेभ्यो भयं घोरं तत्रैहि वृषभध्वज। जहि शत्रून्सुरान्पाहि नाथवन्तस्त्वया प्रभो ॥९॥
निष्कारणः सुहृच्छंभो नाभविष्यद्भवान्यदि। तदाऽकरिष्यन्किमिव दुःखार्ताः सर्वदेहिनः ॥१०॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्तस्तत्क्षणात्प्रायाद्यत्र ते देवशत्रवः। तत्र तद्युद्धमभवच्छंकरेण सुरद्विषाम् ॥११॥
ततस्त्रिलोचनः[2] श्रान्तस्तमोरूपधरः शिवः। [3]ललाटाद्व्यपतंस्तस्य युद्ध्यतः स्वेदबिन्दवः ॥१२॥
स संहरन्दैत्यगणांस्तामसीं मूर्तिमाश्रितः। तां मूर्तिमसुरा दृष्ट्वा मेरुपृष्ठाद्भुवं ययुः ॥१३॥
स [4]संहरन्सर्वदैत्यांस्तदाऽगच्छद्भुवं हरः। इतश्चेतश्च भीतास्तेऽधावन्सर्वां महीमिमाम् ॥१४॥

प्रहार से तीनों लोकों को अपने वशीभूत करने में समर्थ हुआ, तथा अन्य सब देवताओं द्वारा वन्दित हुआ, वही मदन जब आप पर अपनी शक्ति का प्रयोग (प्रदर्शन) करने लगा तब स्वयं विनष्ट हो गया। मदन-रिपु ! समुद्र को मथने से जो उत्तम चीजें निकलीं उनको तो देवताओं ने ले लिया, परन्तु नीलकण्ठ ! विनाशकारी विष आपको दिया गया। सत्य है कि आपको छोड़कर उस महाविष को धारण करने में कौन समर्थ था ? इस स्तुति से आदिकर्ता शंकर प्रसन्न हो गये ॥१-७॥

शिव ने कहा—हे देवश्रेष्ठो ! आप लोग अपना अभीष्ट बताइए, मैं अवश्य दूँगा ॥८॥

देवों ने कहा—हे वृषवाहन ! दानवों से हम देवों को दारुण भय हो गया है, आप वहाँ चलिये और राक्षसों को मारकर देवों की रक्षा कीजिये। प्रभो ! तुमसे ही हम सनाथ हैं। शंभो ! यदि आप आज अकारण बंधु (रक्षक) नहीं होंगे तो दुःखों से आर्त्त सब प्राणी क्या कर सकेंगे ? ॥९-१०॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार निवेदन किये जाने पर शंकर जी तुरंत वहाँ गये जहाँ राक्षस लोग थे। वहाँ उनके साथ राक्षसों का भयंकर युद्ध हुआ। इसके अनन्तर तामस रूप धारण करने वाले त्रिनेत्र शिव थक-से गये। युद्ध करते समय उनके ललाट से पसीने की बूँदें गिरने लगीं। तब वे रौद्र मूर्ति धारण कर दैत्यों का संहार करने लगे। उनकी उस भयंकर संहारकारिणी मूर्ति को देखकर वे दानव मेरु पृष्ठ से भाग कर पृथ्वी पर चले आये। यह देखकर शंकर जी

---

१. ङ॰ प्रणोदेन ज०। २क. ०नः स्विन्नस्त०। ३क. ०टाद्व्यगमंस्त०। ङ॰ टाद्व्यगमंस्त०। ४घ. ङ॰ दैत्यानथाग०।

तथैव कोपाद्रुद्रोऽपि शत्रूंस्ताननुधावति। तथैव युध्यतः शंभोः पतिताः स्वेदबिन्दवः ॥१५॥
यत्र यत्र भुवं प्राप्तो बिन्दुर्माहेश्वरो मुने। तत्र तत्र शिवाकारा मातरो जज्ञिरे ततः ॥१६॥
प्रोचुर्महेश्वरं सर्वाः खादामस्त्वसुरानिति। ततः प्रोवाच भगवान्सर्वैः सुरगणैर्वृतः ॥१७॥

शिव उवाच

स्वर्गाद्भुवमनुप्राप्ता राक्षसास्ते रसातलम्। अनुप्राप्तास्ततः सर्वाः शृण्वन्तु मम भाषितम् ॥१८॥
यत्र यत्र द्विषो यान्ति तत्र गच्छन्तु मातरः। रसातलमनुप्राप्ता इदानीं मद्भयाद्द्विषः॥
भवत्योऽप्यनुगच्छन्तु रसातलमनु द्विषः ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

ताश्च जग्मुर्भुवं भित्त्वा यत्र ते दैत्यदानवाः। तान्हत्वा मातरः [1]सर्वान्देवारीनतिभीषणान् ॥२०॥
पुनर्देवानुपाजग्मुः पथा तेनैव मातरः। गताश्च मातरो यावद्यावच्च पुनरागताः ॥२१॥
तावद्देवाः स्थिता आसन्गौतमीतीरमाश्रिताः। प्रस्थानात्तत्र मातॄणां सुराणां च प्रतिष्ठितेः ॥२२॥
प्रतिष्ठानं तु तत्क्षेत्रं पुण्यं विजयवर्धनम्। मातॄणां यत्र चोत्पत्तिर्मातृतीर्थं पृथक्पृथक् ॥२३॥
तत्र तत्र बिलान्यासन्रसातलगतानि च। सुरास्ताभ्यो [2]वरान्प्रोचुर्लोके पूजां यथा शिवः ॥२४॥

सब दानवों का संहार करते हुए पृथ्वी पर चले आये। वहाँ भी शंकर को देखकर राक्षस भयभीत हो सम्पूर्ण पृथ्वी पर इधर-उधर भागने लगे। शंकर भी क्रुद्ध होकर उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। जैसे-जैसे वे दौड़ते थे वैसे-वैसे उनके शरीर से पसीने की बूँदें गिरने लगीं। मुनि! जहाँ-जहाँ शिव के शरीर से निकल कर बूँदें पृथ्वी पर गिरीं वहाँ- वहाँ शिव के आकार की माताएँ उत्पन्न हो गयीं। उन माताओं ने शंकर से कहा कि 'हम असुरों को खायेंगी।' यह सुनकर भगवान् ने सब देववृन्दों के सामने ही कहा ॥११-१७॥

शिव ने कहा—वे सब राक्षस स्वर्ग से भागकर पृथ्वी पर आये, फिर वहाँ से रसातल को चले गये। इसलिए आप सब मेरा कहना सुनिये। जहाँ-जहाँ शत्रु जायँ, वहाँ-वहाँ माताएँ भी जायँ। इस समय मेरे भय से शत्रु रसातल को चले गये हैं। इसलिए आप सब भी शत्रुओं का पीछा करती हुई रसातल को जाइये ॥१८-१९॥

ब्रह्मा ने कहा—वे माताएँ पृथ्वी को भेदकर वहाँ गयीं, जहाँ दैत्य-दानव थे। वहाँ जाकर सभी महाभयंकर राक्षसों को मार डाला। पुनः वे उसी मार्ग से जिस मार्ग से इधर से गयी थीं—देवताओं के पास चली आयीं। जिस समय माताएँ रसातल को गयीं और जब तक पुनः वहाँ से नहीं लौटीं तब तक देवगण गौतमी के तट पर स्थित रहे। वहाँ माताओं के प्रस्थान करने और देवताओं के प्रतिष्ठित होने से वह क्षेत्र पवित्र और विजय देनेवाला क्षेत्र माना गया। जहाँ माताओं की उत्पत्ति हुई और जहाँ रसातल को जाने वाले विल थे वे पृथक्-पृथक् एक-एक मातृतीर्थ कहलाये।

---

[1] घ. ०र्वा ननृतुस्तत्पलाशनाः। उपागमंस्ततो देवान्पथा तेनैव मातृकाः। हत्वा दैत्यान्रणे या०। [2] क. ङ. ०रान्दत्त्वा लोके।

प्राप्नोति तद्वन्मातृभ्यः पूजा भवतु सर्वदा। इत्युक्त्वाऽन्तर्दधुर्देवा आसंस्तत्रैव मातरः ।।२५।।
यत्र यत्र स्थिता देव्यो मातृतीर्थं[1] ततो विदुः। सुराणामपि सेव्यानि किं पुनर्मानुषादिभिः ।।२६।।
तेषु स्नानमथो दानं पितॄणां चैव तर्पणम्। सर्वं तदक्षयं ज्ञेयं शिवस्य वचनं यथा[2] ।।२७।।
यस्त्विदं शृणुयान्नित्यं स्मरेदपि पठेत्तथा[3]। आख्यानं मातृतीर्थानामायुष्मान्स सुखी भवेत् ।।२८।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे देवतीर्थमातृतीर्थप्रतिष्ठानवर्णनं नाम
द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ।।११२।।
गौतमीमाहात्म्ये त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।।४३।।

अथ त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्मतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

इदमप्यपरं तीर्थं देवानामपि दुर्लभम्। ब्रह्मतीर्थमिति ख्यातं भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम् ।।१।।

देवों ने माताओं को वर दिया कि जिस प्रकार लोक में शिव की पूजा होती है, उसी प्रकार सर्वदा माताओं को भी पूजा प्राप्त होगी। यह कहकर देवता अन्तर्हित हो गये, परन्तु माताएँ वहीं रहीं। जहाँ-जहाँ माताएँ स्थित रहीं वहाँ-वहाँ मातृतीर्थ स्थापित हुए। वे तीर्थ देवों के लिए भी सेव्य माने गये हैं, फिर मनुष्यों के लिए तो कहना ही क्या ? उन तीर्थों में किये गये स्नान, दान और पितृ तर्पण आदि कर्म उसी प्रकार अक्षय होते हैं जिस प्रकार शिव के वरदानवाक्य। जो मनुष्य मातृ-तीर्थ की कथा को सुनता, स्मरण करता और पढ़ता है वह दीर्घ-जीवी और सुखी होता है ।।२०-२८।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में देवतीर्थ-मातृतीर्थ-प्रतिष्ठा-वर्णन नामक एक सौ बारहवाँ अध्याय समाप्त ।।११२।।

अध्याय ११३

ब्रह्मतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—यह एक दूसरा मनुष्यों को भुक्ति और मुक्ति देने वाला ब्रह्मतीर्थ नाम से प्रसिद्ध तीर्थ है, जो देवों के लिए भी दुर्लभ माना गया है ।।१।। मुनिश्रेष्ठ ! जब राक्षस रसातल में घुस गये तब उनके पीछे-पीछे

१घ. ०र्थं पृथक्पृथक्। सु०। २घ. तथा। ३क. घ. ०ठेत वा। आ०।

स्थितेषु देवसैन्येषु प्रविष्टेषु रसातलम्। दैत्येषु च मुनिश्रेष्ठ तथा मातृषु तानन्‌ ॥२॥
मदीयं पञ्चमं वक्त्रं गर्दभाकृति भीषणम्। तद्वक्त्रं देवसैन्येषु मयि तिष्ठत्युवाच ह ॥३॥
[1]हे दैत्याः किं पलायन्ते न भयं वोऽस्तु सत्वरम्। [2]आगच्छन्तु सुरान्सर्वान्भक्षयिष्ये क्षणादिति[3] ॥४॥
निवारयन्तं मामेवं भक्षणायोद्यतं[4] तथा। तं दृष्ट्वा विबुधाः सर्वे वित्रस्ता विष्णुमब्रुवन्‌ ॥५॥
त्राहि विष्णो जगन्नाथ ब्रह्मणोऽस्य [5]मुखं लुन। चक्रधृग्विबुधानाह च्छेद्‌मि चक्रेण[6] वै शिरः ॥६॥
किं तु तच्छिन्नमेवेदं संहरेत्सचराचरम्। मन्त्रं ब्रूमोऽत्र विबुधाः श्रूयतां सर्वमेव[7] हि ॥७॥
त्रिनेत्रः कशिरश्छेत्ता स[8] च धत्ते न संशयः। मया च[9] शंभुः सर्वैश्च स्तुतः प्रोक्तस्तथैव च ॥८॥
याग: क्षणी दृष्टफलेऽसमर्थः, स नैव कर्तुः फलतीति मत्वा ॥
फलस्य दाने प्रतिभूर्जटीति, निश्चित्य लोकः प्रतिकर्म यातः ॥९॥
ततः सुरेशः संतुष्टो देवानां कार्यसिद्धये। लोकानामुपकारार्थं तथेत्याह सुरान्प्रति ॥१०॥
तद्वक्त्रं पापरूपं यद्‌भीषणं लोमहर्षणम्। निकृत्य नखशस्त्रैश्च क्व स्थाप्यं चेत्यथाब्रवीत्‌ ॥११॥
तत्रेला विबुधानाह नाहं वोढुं शिरः क्षमा। रसातलमथो यास्ये उदधिश्चाप्यथाब्रवीत्‌ ॥१२॥

माताएँ भी गयीं और देव-सेनाएँ वहीं रह गयीं, उस समय मेरा पाँचवाँ गदहे की आकृति का भयंकर मुख देवताओं और सैनिकों के बीच मुझको बैठा देख कर बोल उठा॥२-३॥ हे दैत्यो! तुम लोग क्यों भाग रहे हो? तुम लोग भयभीत मत होओ, आओ, मैं एक ही क्षण में सब देवों को खा जाऊँगा॥४॥ मैं उस मुख को जो इस प्रकार देवों को खाने के लिए उद्यत हो रहा था, रोकने लगा। यह देखकर सब देव भयभीत हो भगवान् विष्णु से बोले॥५॥ विष्णो! रक्षा कीजिये। ब्रह्मा के इस मुख को शीघ्र काट डालिये। विष्णु ने देवताओं से कहा 'मैं चक्र से शिरच्छेद तो अवश्य कर सकता हूँ, किन्तु वह सिर कट जाने पर भी चराचर सहित जगत् का संहार कर सकता है। इसलिए देवगण! मैं इस विषय में एक उचित परामर्श देता हूँ, सावधान होकर सुनिये। भगवान् त्रिलोचन इस दुष्ट सिर का छेदन कर, इसको धारण कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं।' यह सुनकर मैंने और सब देवताओं ने मिलकर शंकर की स्तुति की और कहा॥६-८॥ 'यज्ञ क्षणभर में सम्पन्न होने वाला, प्रत्यक्ष फल देने में असमर्थ तथा कर्त्ता को फल नहीं देता है', इस सिद्धान्त को मानकर, फल देने में शंकर को ही साक्षी माना जाता है और तब प्रत्येक काम में संसार प्रवृत्त होता है॥९॥ तदनन्तर सन्तुष्ट हुए शंकर ने देवकार्य की सिद्धि तथा लोककल्याण के लिए देवताओं से कहा कि मैं ऐसा ही करूँगा॥१०॥ परन्तु इस कुत्सित रूप वाले, भीषण और रोंगटे खड़े कर देने वाले मस्तक को नखरूपी अस्त्रों से काट कर कहाँ स्थापित करूँ। यह बताइये ॥११॥ यह सुनकर पृथ्वी ने देवों से कहा कि मैं इस शरीर को ढोने

---

१. ङ. हा। २घ. ०च्छत सु०। ३घ. ०दिव। नि०। ४क. ०तं शिरः। तद्दृष्ट्वा। घ. ०तं शिरः। तं। ५घ. ०खं हर। मुरारिविंब०। ६घ. ०ण कस्य कम्। किं। ७क. घ. ०र्व एव। ८. ङ. स. च्छेत्स्यति न। ९घ. च. सर्वैर्देवैश्च।

शोषं यास्ये क्षणादेव पुनश्चोचुः शिवं सुराः। त्वयैवैतद्ब्रह्मशिरो धार्यं लोकानुकम्पया ॥१३॥
अच्छेदे जगतां नाशश्छेदे दोषश्च तादृशः। एवं विमृश्य सोमेशो दधार कशिरस्तदा ॥१४॥
तद्दृष्ट्वा दुष्करं कर्म [1]गौतमीं प्राप्य पावनीम्। अस्तुवञ्जगतामीशं प्रणयाद्भक्तितः सुराः ॥१५॥

देवेष्वमित्रं कशिरोऽतिभीमं, तान्भक्षणायोपगतं निकृत्य
नखाग्रसूच्या शकलेन्दुमौलिस्त्यागेऽपि दोषात्कृपयाऽनुधत्ते ॥१६॥

तत्र ते विबुधाः सर्वे स्थिता ये ब्रह्मणोऽन्तिके। तुष्टुवुर्विबुधेशानं कर्म दृष्ट्वाऽतिदैवतम् ॥१७॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं ब्रह्मतीर्थमिति श्रुतम्। अद्यापि ब्रह्मणो रूपं चतुर्मुखमवस्थितम् ॥१८॥
शिरोमात्रं तु यः पश्येत्स गच्छेद्ब्रह्मणः पदम्। यत्र स्थित्वा स्वयं रुद्रो लूनवान्ब्रह्मणः शिरः ॥१९॥
रुद्रतीर्थं तदेव स्यात्तत्र साक्षाद्दिवाकरः। देवानां च स्वरूपेण स्थितो यस्मात्तदुत्तमम् ॥२०॥
सौर्यं तीर्थं[2] तदाख्यातं सर्वक्रतुफलप्रदम्। तत्र स्नात्वा रविं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥२१॥
महादेवेन यच्छिन्नं ब्रह्मणः पञ्चमं शिरः। क्षेत्रेऽविमुक्ते संस्थाप्य देवतानां हितं कृतम् ॥२२॥

में असमर्थ हूँ, यदि ऐसा करूँगा तो इसके भार से मैं ही रसातल चली जाऊँगी। समुद्र ने कहा यदि मैं इसको धारण करूँ तो क्षण भर में ही सूख जाऊँगा। निदान विवश हो देवों ने पुनः शंकर से कहा कि लोक पर दया करके आप ही इस सिर को धारण कीजिये॥१२-१३॥ शंकर जी ने इस सिर को न काटने से संसार का नाश हो जायगा और काट देने पर भी वैसा ही दोष होगा, यह विचार कर उस समय उस गर्दभाकृति शिर को धारण कर लिया॥१४॥ इस दुष्कर कार्य को देखकर सब देवता पावन गौतमी के तट पर जाकर प्रेम से भक्तिपूर्वक जगत्पति शंकर की स्तुति करने लगे॥१५॥ देवों के मध्य शत्रु बनकर रहने वाले ब्रह्मा के पाँचवें मुख को जो कि सब देवताओं को खा जाने के लिए उद्यत था—द्वितीया के चन्द्र को सिर पर धारण करने वाले आपने नखाग्र रूपी सूची अस्त्र से काट कर दोषों के कारण त्यागने योग्य उस सिर को भी कृपापूर्वक धारण कर लिया॥१६॥ वहाँ ब्रह्मा के समीप जितने देवता थे, उन्होंने शंकर के इस देवातीत कार्य को देखकर उनकी अत्यन्त स्तुति की॥१७॥ तब से वह तीर्थ ब्रह्मतीर्थ के नाम से विख्यात हुआ। आज भी ब्रह्मा का चतुर्मुख रूप वहाँ स्थित है॥१८॥ जो मनुष्य उनके शिरोभाग का दर्शन कर लेता है वह अवश्य ब्रह्मपद को प्राप्त करता है। जहाँ स्थित होकर स्वयं शंकर ने ब्रह्मा का सिर काटा था, वही रुद्रतीर्थ कहलाता है। वहाँ साक्षात् सूर्य देवताओं के स्वरूप से स्थित हैं। वह अत्युत्तम सौर तीर्थ माना जाता है और सब यज्ञों का फल देने वाला है। उस तीर्थ में स्नानकर सूर्य-बिम्ब का दर्शन करने से मनुष्य आवागमन के बन्धन से छूट जाता है॥१९-२१॥ महादेव ने ब्रह्मा के जिस पाँचवें सिर का छेदन किया और अविभुक्त क्षेत्र में जिसकी स्थापना कर देवताओं का हित-साधन किया, गौमती तटवर्ती ब्रह्मतीर्थ में उस सिर

---

१. ङ. ०तमीतीरमाश्रितम्। २घ. तीर्थमिति ख्या०।

ब्रह्मतीर्थे शिरोमात्रं यो दृष्ट्वा गौतमी तटे। क्षेत्रेऽविमुक्ते तस्यैव स्थापितं योऽनुपश्यति ।।
कपालं ब्रह्मणः पुण्यं ब्रह्महा पूततां व्रजेत् ।।२३।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये ब्रह्मतीर्थब्रह्मशिरोलिङ्गशिवतीर्थसूर्यतीर्थादिषडशीतितीर्थवर्णनं नाम त्रयोदशादिकशततमोऽध्यायः ।।११३।।

गौतमीमाहात्म्ये चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।।४४।।

अथ चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

अविघ्नतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

अविघ्नं तीर्थमाख्यातं सर्वविघ्नविनाशनम्। तत्रापि वृत्तमाख्यास्ये शृणु नारद भक्तितः ।।१।।
देवसत्रे प्रवृत्ते तु गौतम्याश्चोत्तरे तटे। समाप्तिर्नैव सत्रस्य संजाता विघ्नदोषतः ।।२।।
ततः सुरगणाः सर्वे मामवोचन्हरिं तदा। ततो ध्यानगतोऽहं तानवोचं[1] वीक्ष्य कारणम् ।।३।।

मात्र का दर्शन करके जो व्यक्ति अविमुक्त क्षेत्र में ब्रह्मकपाल का दर्शन करता है, वह यदि ब्रह्मघाती भी हो तो भी पवित्र हो जाता है ।।२२-२३।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मतीर्थ, शिरोलिंग, शिवतीर्थ, सूर्यतीर्थ आदि छियासी तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ।।११३।।

अध्याय ११४

अविघ्नतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—सब विघ्नों को नष्ट करने वाला अविघ्न नामक विख्यात एक तीर्थ है। उसका भी वृत्तान्त बताता हूँ। नारद! तुम श्रद्धा से सुनो। एक समय गौतमी के उत्तर तीर पर देवयज्ञ प्रारम्भ हुआ, परन्तु विघ्नों और त्रुटियों के कारण उस यज्ञ की समाप्ति नहीं हो सकी। तदनन्तर सब देवताओं ने मुझसे और विष्णु से निवेदन किया। मैंने ध्यानावस्थित होकर योग-दृष्टि से कारण जान लिया और कहा कि यह यज्ञ गणेशकृत विघ्नों के

---

[1] क. ०चं कारणान्तरे। वि०।

विनायककृतैर्विघ्नैर्नैतत्सत्रं समाप्यते। तस्मात्स्तुवन्तु ते सर्वे आदिदेवं विनायकम् ।।४।।
तथेत्युक्त्वा सुरागणाः स्नात्वा ते गौतमीतटे। अस्तुवन्भक्तितो देवा आदिदेवं गणेश्वरम् ।।५।।

देवा ऊचुः

य: सर्वकार्येषु सदा सुराणामपीशविष्ण्वम्बुजसंभवानाम् ।
पूज्यो नमस्य: परिचिन्तनीयस्तं विघ्नराजं शरणं व्रजाम: ।।६।।
न विघ्नराजेन समोऽस्ति कश्चिद्देवो मनोवाञ्छितसंप्रदाता ।
निश्चित्य चैतत्त्रिपुरान्तकोऽपि, तं पूजयामास वधे पुराणाम् ।।७।।
करोतु सोऽस्माकमविघ्नमस्मिन्महाक्रतौ सत्वरमाम्बिकेय: ।
ध्यातेन येनाखिलदेहभाजां, पूर्णा भविष्यन्ति मनोभिलाषा: ।।८।।
महोत्सवोऽभूदखिलस्य देव्या, जात: सुतश्चिन्तितमात्र एव ।
अतोऽवदन्सुरसंघा: कृतार्था:, सद्योजातं विघ्नराजं नमन्त: ।।९।।
यो मातुरुत्सङ्गगतोऽथ मात्रा, निवार्यमाणोऽपि बलाच्च चन्द्रम् ।
संगोपयामास पितुर्जटासु, गणाधिनाथस्य विनोद एष: ।।१०।।
पपौ स्तनं मातुरथापि तृप्तो, यो भ्रातृमात्सर्यकषायबुद्धि:
लम्बोदरस्त्वं भव विघ्नराजो, लम्बोदरं नाम चकार शंभु: ।।११।।
संवेष्टितो देवगणैर्महेश:, प्रवर्ततां नृत्यमितीत्युवाच ।
संतोषितो नूपुररावमात्राद्गणेश्वरत्वेऽभिषिषेच पुत्रम् ।।१२।।

कारण समाप्त नहीं हो पा रहा है। अत: आप लोग आदिदेव विनायक की स्तुति करें। देवताओं ने इसे स्वीकार किया और गौतमी में स्नान कर भक्तिपूर्वक आदिदेव गणेश की स्तुति की ।।१-५।।

देवगण बोले—जो सब कार्यों में सर्वदा देवता, शंकर, विष्णु और कमलयोनि ब्रह्मा आदि के भी पूज्य, नमस्करणीय और ध्यान करने योग्य हैं उस विघ्नराज की शरण में हम आये हैं ।।६।। मनोरथ पूर्ण करने में विघ्नराज के समान कोई भी दूसरा देवता नहीं है, यही निश्चय कर त्रिपुरारि शंकर ने भी त्रिपुरासुर के वध के समय उस गणेश की पूजा की ।।७।। वे अम्बिका सुत—जिनके ध्यान करने से सम्पूर्ण प्राणियों के मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं—हमारे इस महायज्ञ में मङ्गल करें ।।८।। देवी शिवा को पुत्र उत्पन्न हुआ, इसका मात्र ध्यान करने से सम्पूर्ण संसार को महान् आनन्द हुआ, इसलिए देवगणों ने कृतार्थ होकर उस सद्योजात बालक को नमस्कार करते हुए विघ्नराज कहा ।।९।। वे गणेश माता की गोद में बैठे हुए थे, परन्तु माता के बार-बार मना करने पर भी उन्होंने हठात् चन्द्र को पिता की जटा में छिपा दिया। यह गणनायक का विनोद रहा ।।१०।। वे माता के स्तनपान से तृप्त थे, फिर भी स्कन्द के प्रति ईर्ष्या से उनकी बुद्धि कलुषित हो जाती थी। इसलिए शंकर ने उनसे कहा कि विघ्नराज ! तुम लंबोदर (पेटू) हो, यह कहकर शिव ने उनका नाम लम्बोदर रख दिया ।।११।। देवों से घिरे हुए महेश ने आपसे कहा—'अपना नृत्य दिखाओ।' आपने भी अपने नूपुर के संचालन मात्र से पिता को प्रसन्न कर दिया। यह देखकर पिता ने भी पुत्र गणेश को गणनायक की पदवी से विभूषित कर दिया ।।१२।। जो एक हाथ में विघ्नपाश धारण करते और दूसरे हाथ से कन्धे पर

यो विघ्नपाशं च करेण बिभ्रत्स्कंधे कुठारं च तथा परेण ।
अपूजितो विघ्नमथोऽपि मातुः, करोति को विघ्नपतेः समोऽन्यः ॥१३॥
धर्मार्थकामादिषु पूर्वपूज्यो, देवासुरैः पूज्यत एव नित्यम् ।
यस्यार्चनं[1] नैव विनाशमस्ति,[2] तं पूर्वपूज्यं प्रथमं नमामि ॥१४॥
यस्यार्चनात्प्रार्थनयाऽनुरूपां, दृष्ट्वा तु सर्वस्य फलस्य सिद्धिम् ।
स्वतन्त्रसामर्थ्यकृतातिगर्वं, भ्रातृप्रियं त्वाखुरथं तमीडे ॥१५॥
यो मातरं सरसैर्नृत्यगीतैस्तथाऽभिलाषैरखिलैर्विनोदैः ।
संतोषयामास तदाऽतितुष्टं, तं श्रीगणेशं शरणं प्रपद्ये ॥१६॥
[3]सुरोपकारैरसुरैश्च युद्धैः,[4] स्तोत्रैर्नमस्कारपरैश्च[5] मन्त्रैः[6] ।
पितृप्रसादेन सदा समृद्धं, तं श्रीगणेशं शरणं प्रपद्ये ॥१७॥
जये पुराणामकरोत्प्रतीपं, पित्राऽपि हर्षात्प्रतिपूजितो यः ।
निर्विघ्नतां चापि पुनश्चकार, तस्मै गणेशाय नमस्करोमि ॥१८॥

ब्रह्मोवाच

इति स्तुतः सुरगणैर्विघ्नेशः प्राह तान्पुनः ॥१९॥

गणेश उवाच

इतो निर्विघ्नता सत्रे मत्तः स्यादसुरारिणः ॥२०॥

कुठार लिये रहते हैं, और पूजा न पाने पर माता के कार्य में भी विघ्न उत्पन्न कर देते हैं, ऐसे विघ्नराज के समान दूसरा कौन देवता है ॥१३॥ धर्म, अर्थ और काम सम्वन्धी कार्यों में देव और असुरों द्वारा आप सर्वदा पूर्वपूज्य के रूप में पूजे जाते हैं । जिसका पूजन करने से कार्य निश्चित रूप से पूर्ण हो जाते हैं, ऐसे पूर्वपूज्य (प्रथम पूजा पाने योग्य) देव को प्रथम नमस्कार है ॥१४॥ जिसकी पूजा और प्रार्थना के अनुरूप ही सब फलों की सिद्धि देखी जाती है ऐसे अपनी स्वतन्त्र शक्ति पर गर्व करने वाले, स्कन्दप्रिय, और चूहे पर सवारी करने वाले देव को नमस्कार है ॥१५॥ जो अपनी माता को सरस नृत्य, गीत और बालक्रीड़ाओं से प्रसन्न करके स्वयं अतिप्रसन्न हो जाते थे, ऐसे श्री गणेश जी के हम शरणागत हैं ॥१६॥ जिन्होंने देवों के उपकार, असुरों से युद्ध में स्तोत्रपाठ और नमस्कारपरक मन्त्रों के द्वारा पिता की कृपा से समृद्धि प्राप्त की, ऐसे श्रीगणेश की शरण में हम लोग आये हैं ॥१७॥ त्रिपुरों की विजय के समय जिन्होंने कुछ विघ्न कर दिया, जिसके पिता (शंकर) ने भी प्रसन्नता से जिनकी पूजा की, तदनन्तर जिन्होंने निर्विघ्न रूप से कार्य होने दिया, ऐसे गणेश को हम नमस्कार करते हैं ॥१८॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार देवताओं द्वारा प्रार्थना की जाने पर विघ्नराज ने पुनः कहा ॥१९॥

गणेश ने कहा—असुरशत्रु ! आज से आप लोगों के यज्ञ में मेरी ओर से किसी प्रकार का विघ्न नहीं होगा ॥२०॥

१घ. ०र्चने नै० । २घ. ङ. विमानम० । ३ङ. सुराप० । ४घ. सर्वैः० । ङ. युद्धे । ५घ. ०पदैश्च । ६ङ. ०न्त्रैः । तृप्तं प्र० ।

ब्रह्मोवाच

देवसत्रे निवृत्ते तु गणेशः प्राह तान्सुरान् ॥२१॥

गणेश उवाच

स्तोत्रेणानेन ये भक्त्या मां स्तोष्यन्ति यतव्रताः। तेषां दारिद्र्यदुःखानि न भवेयुः कदाचन ॥२२॥
अत्र ये भक्तितः स्नानं दानं कुर्युरतन्द्रिताः। तेषां सर्वाणि कार्याणि भवेयुरिति मन्यताम् ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

तद्वाक्यसमकालं तु तथेत्यूचुः सुरा अपि। निवृत्ते तु मखे तस्मिन्सुरा जग्मुः स्वमालयम् ॥२४॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थमविघ्नमिति गद्यते। सर्वकामप्रदं पुंसां सर्वविघ्नविनाशनम् ॥२५॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्येऽविघ्नतीर्थवर्णनं नाम चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११४॥
गौतमीमाहात्म्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥

अथ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

शेषतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

शेषतीर्थमिति ख्यातं सर्वकामप्रदायकम्[1]। तस्य रूपं प्रवक्ष्यामि यन्मया परिभाषितम् ॥१॥
शेषो नाम महानागो रसातलपतिः प्रभुः। सर्वनागैः परिवृतो रसातलमथाभ्यगात् ॥२॥

ब्रह्मा ने कहा—देव-यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर गणेश ने उन देवों से कहा ॥२१॥

गणेश ने कहा—जो संयमी व्यक्ति इस स्तोत्र से भक्तिपूर्वक मेरी स्तुति करेंगे उन्हें कभी भी दरिद्रता से कष्ट नहीं होगा। इस स्थान पर जो उत्साही व्यक्ति स्नान और दान करेंगे उनके सब कार्य पूर्ण होंगे, इस पर आप विश्वास करें ॥२२-२३॥

ब्रह्मा ने कहा—गणेश जी के इस प्रकार के आशीर्वाद-कथन के साथ ही देवों ने भी 'ऐसा ही हो' यह कहा। इस प्रकार उस यज्ञ के समाप्त हो जाने पर सब देवता अपने स्थान को चले गये। तब से वह तीर्थ मनुष्यों के सब मनोरथ पूर्ण करने वाला और विघ्नविनाशक अविघ्नतीर्थ कहा जाता है ॥२४-२५॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में अविघ्नतीर्थ वर्णन नामक एक सौ चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥११४॥

अध्याय ११५

शेषतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—सब कामनाओं को देने वाला शेषतीर्थ नाम से विख्यात एक तीर्थ है। उसका परिचय जिसे मैं पहले कभी बता चुका हूँ—दे रहा हूँ। रसातल का स्वामी महान् शेषनाग अपने अनुचर नागों के सहित रसातल-

---

[1] घ. ०मफलप्रदम्।

राक्षसा दैत्यदनुजाः प्रविष्टा ये रसातलम्। तैर्निरस्तो भोगिपतिर्मामुवाचाथ विह्वलः ॥३॥

शेष उवाच

रसातलं त्वया दत्तं राक्षसानां ममापि च। ते मे स्थानं न दास्यन्ति तस्मात्त्वां शरणं गतः ॥४॥
ततोऽहमब्रवं नागं गौतमीं याहि पन्नग। तत्र स्तुत्वा महादेवं लप्स्यसे त्वं मनोरथम् ॥५॥
नान्योऽस्ति लोकत्रितये मनोरथसमर्पकः। मद्वाक्यप्रेरितो नागो गङ्गामाप्लुत्य यत्नतः ॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा तुष्टाव त्रिदशेश्वरम् ॥६॥

शेष उवाच

नमस्त्रैलोक्यनाथाय दक्षयज्ञविभेदिने। आदिकर्त्रे नमस्तुभ्यं नमस्त्रैलोक्यरूपिणे ॥७॥
नमः सहस्रशिरसे नमः संहारकारिणे। सोमसूर्याग्निरूपाय जलरूपाय ते नमः ॥८॥
सर्वदा सर्वरूपाय कालरूपाय ते नमः। पाहि शंकर सर्वेश पाहि सोमेश सर्वग।
जगन्नाथ नमस्तुभ्यं देहि मे मनसेप्सितम् ॥९॥

ब्रह्मोवाच

ततो महेश्वरः प्रीतः प्रादान्नागेप्सितान्वरान्। विनाशाय सुरारीणां दैत्यदानवरक्षसाम् ॥१०॥
शेषाय प्रददौ शूलं जह्यनेनारिपुंगवान्। ततः प्रोक्तः शिवेनासौ शेषः शूलेन भोगिभिः ॥११॥
रसातलमथो गत्वा निजघान रिपून्रणे। निहत्य नागः शूलेन दैत्यदानवराक्षसान् ॥१२॥

लोक में गया। किन्तु राक्षस, दैत्य और दानव पहले ही रसातल में घुस गये थे—सर्पपति को वहाँ से निकाल दिया। तब वह व्याकुल होकर मुझसे बोला—॥१-३॥

शेष ने कहा—आपने राक्षसों को और मुझको रसातल तो दिया, परन्तु वे मुझको वहाँ रहने नहीं देते, इसीलिए आपनी शरण में आया हुआ हूँ। तब मैंने नाग से कहा कि सर्प! गौतमी के तट पर जाओ, वहाँ महादेव की स्तुति कर अपना मनोरथ अवश्य प्राप्त करोगे। इस त्रैलोक्य में शंकर के समान मनोरथ पूर्ण करने वाला और कोई नहीं। मेरे कथन से प्रेरित होकर वह नाग प्रेमपूर्वक गंगा में स्नान कर हाथ जोड़ कर देवेश की स्तुति करने लगा ॥४-६॥

शेष ने कहा—त्रैलोक्य के स्वामी, दक्ष-यज्ञ को नष्ट करने वाले शिव को नमस्कार है, आदिकर्त्ता! तुमको नमस्कार है, त्रिलोकी के रूप में रहने वाले को नमस्कार करते हैं। हजार सिर वाले को नमस्कार है, संहार करने वाले प्रभु को नमस्कार है, सोम, सूर्य, अग्नि और जल वाले आपको नमस्कार है। सर्वदा सब रूप में रहने वाले कालरूप आपको नमस्कार है, शंकर! रक्षा कीजिये, सर्वेश! सोमेश! रक्षा कीजिये। जगन्नाथ! आपको नमस्कार है। आप मेरे अभिमत को प्रदान कीजिये ॥७-९॥

ब्रह्मा ने कहा—प्रार्थना सुनकर महादेव प्रसन्न हो गये, उन्होंने नागराज को अंभीष्ट वर प्रदान किया। सुर-शत्रु राक्षसों और दैत्य दानवों के नाश के लिए शंकर ने अपना शूल दिया और कहा कि इससे अपने प्रबल शत्रुओं को नष्ट कर दो। शूल-प्राप्ति के बाद शंकर का इस प्रकार आशीर्वाद प्राप्त कर नागराज अनुचरों को साथ लेकर रसातल को

न्यवर्तत पुनर्देवो यत्र शेषेश्वरो हरः। पथा येन समायातो देवं द्रष्टुं स नागराट् ॥१३॥
रसातलाद्यत्र देवो बिलं तत्र व्यजायत। तस्माद्बिलतलाद्यातं गाङ्गं वार्यतिपुण्यदम् ॥१४॥
तद्वारि गङ्गामगमद्गङ्गायाः[1] संगमस्ततः। देवस्य पुरतश्चापि कुण्डं तत्र सुविस्तरम् ॥१५॥
नागस्तत्राकरोद्धोमं यत्र चाग्निः सदा स्थितः। सोष्णं तदभवद्वारि गङ्गायास्तत्र संगमः ॥१६॥
देवदेवं समाराध्य नागः प्रीतो महायशाः। रसातलं ततोऽभीष्टं शिवात्प्राप्य तलं ययौ ॥१७॥
ततः प्रभृति [2]तत्तीर्थं नागतीर्थमुदाहृतम्। सर्वकामप्रदं पुण्यं रोगदारिद्र्यनाशनम् ॥१८॥
आयुर्लक्ष्मीकरं पुण्यं स्नानदानाच्च मुक्तिदम्। शृणुयाद्वा पठेद्भक्त्या यो वाऽपि स्मरते तु तत् ॥१९॥
तीर्थं शेषेश्वरो यत्र यत्र शक्तिप्रदः शिवः। एकविंशतितीर्थानामुभयोस्तत्र तीरयोः ॥
शतानि मुनिशार्दूल सर्वसंपत्प्रदायिनाम् ॥२०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये उभयतीरगतशेषतीर्थशेषेश्वरशूलेश्वराग्नि-कुण्डरसातलगङ्गासंगमोष्णतीर्थाद्येकविंशतिशततीर्थवर्णनं नाम
पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११५॥

गया और युद्ध में शत्रुओं का संहार करने लगा। इस प्रकार शूल से दैत्य, दानव और राक्षसों को विनष्ट कर पुनः जहाँ शेषेश्वर शंकर थे वहाँ नागेन्द्र लौट आया। जिस मार्ग से वह नागराज शंकर का दर्शन करने के लिए रसातल से शिव-स्थान तक आया था, वह मार्ग बिल के रूप में हो गया। उस बिल से होकर गौतमी गंगा का अति पुनीत जल बहने लगा और वह गंगा के जल से मिल गया, जिससे वहाँ शंकर के सामने ही दो गंगाओं का पुनीत संगम एक दीर्घाकार कुण्ड के रूप में बन गया। उस कुण्ड में नाग ने हवन किया। वहाँ अग्निदेव सर्वदा स्थित रहते हैं, इसलिए गंगा के संगम का जल सर्वदा के लिए उष्ण हो गया। महायशस्वी नाग देवाधिदेव शंकर की आराधना कर प्रसन्न हो शंकर से अपना अभीष्ट पाकर रसातल को चला गया। तब से सब कामनाओं को प्रदान करने वाला, रोग और दरिद्रता को दूर करने वाला वह तीर्थ नागतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हो गया। जो व्यक्ति इस तीर्थकथा को भक्तिपूर्वक सुनता, पढ़ता या स्मरण करता है उसको वह पावन तीर्थ आयु और लक्ष्मी प्रदान करता है। वहाँ स्नान और दान करने से मुक्ति प्राप्त होती है। जहाँ शक्ति-दाता शंकर रहते हैं, वहाँ शेषेश्वर तीर्थ है। मुनिश्रेष्ठ ! गौतमी के दोनों तटों पर सब प्रकार की सम्पत्ति प्रदान करने वाले इक्कीस सौ तीर्थ विराजमान हैं ॥१०-२०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में शेषतीर्थ-वर्णन नामक एक सौ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥११५॥

---

[1] घ. ०द्गङ्गयोः सं०। [2] झ. ङ. ०त्तीर्थमुष्णती०।

अथ षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

वडवादिसहस्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

महानलमिति ख्यातं वडवानलमुच्यते। महानलो यत्र देवो वडवा यत्र सा नदी ।।१।।
तत्तीर्थं यत्र वक्ष्यामि मृत्युदोषजरापहम्। पुराऽऽसन्नैमिषारण्ये ऋषयः सत्रकारिणः ।।२।।
शमितारं च ऋषयो मृत्युं चक्रुस्तपस्विनः। वर्तमाने सत्रयागे मृत्यौ शमितरि स्थिते ।।३।।
न ममार तदा कश्चिदुभयं स्थास्नु जङ्गमम्। विना पशून्मुनिश्रेष्ठ मर्त्यं चामर्त्यतां गतम् ।।४।।
ततस्त्रिविष्टपे शून्ये मर्त्ये चैवातिसंभृते। मृत्युनोपेक्षिते देवा राक्षसानूचिरे तदा ।।५।।

देवा ऊचुः

गच्छध्वमृषिसत्रं तन्नाशयध्वं महाध्वरम् ।

ब्रह्मोवाच

इति देववचः श्रुत्वा प्रोचुस्ते राक्षसाः सुरान् ।।६।।

असुरा ऊचुः

विध्वंसयामस्तं यज्ञमस्माकं किं फलं ततः। प्रवर्तते विना हेतुं न कोऽपि क्वापि जातुचित् ।।७।।

अध्याय ११६

वडवा आदि सहस्र तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—महानल—जिसका दूसरा नाम वडवानल भी कहा जाता है—एक प्रसिद्ध तीर्थ है। जहाँ महानल देवता है और वडवा नदी है, उस जरा-मृत्यु-नाशक तीर्थ का वर्णन मैं करूँगा। बहुत पहले नैमिषारण्य में ऋषि लोग यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञ में उन तपस्वी ऋषियों ने मृत्यु को 'शमिता' बनाया। इस प्रकार सत्रयाग में शमिता के पद पर मृत्यु के प्रतिष्ठित होने पर उस समय स्थावर या जंगम दोनों में से कोई भी मरता नहीं था। मुनिश्रेष्ठ! केवल यज्ञपशुओं को छोड़कर सभी मानव मृत्यु-रहित हो गये। ऐसी दशा में स्वर्ग शून्य हो गया, परन्तु मृत्युलोक जीवों से भर उठा। इस प्रकार मृत्यु की उपेक्षा-भावना देखकर देवों ने राक्षसों से कहा ।।१-५।।

देवगण बोले—तुम लोग ऋषि-यज्ञ में जाओ और उस महायज्ञ को नष्ट कर दो।

ब्रह्मा ने कहा—देवों की ऐसी बात सुनकर उन राक्षसों ने देवों से कहा—।।६।।

असुरों ने कहा—हम लोग उस यज्ञ को तो नष्ट कर देंगे, परन्तु हम लोगों को इस विनाश से क्या लाभ होगा? इस लोक में कोई भी कहीं बिना प्रयोजन के कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है ।।७।।

ब्रह्मोवाच

देवा अप्यसुरानूचुर्यज्ञार्धं भवतामपि। भवेदेव ततो यान्तु ऋषीणां सत्रमुत्तमम् ॥८॥
ते श्रुत्वा त्वरिताः सर्वे यत्र यज्ञः प्रवर्तते। जग्मुस्तत्र विनाशाय देववाक्याद्विशेषतः ॥९॥
तज्ज्ञात्वा ऋषयो मृत्युमाहुः किं कुर्महे वयम्। आगता देववचनाद्राक्षसा यज्ञनाशिनः ॥१०॥
मृत्युना सह संमन्त्र्य नैमिषारण्यवासिनः। सर्वे त्यक्त्वा स्वाश्रमं तं शमित्रा सह नारद ॥११॥
अग्निमात्रमुपादाय त्यक्त्वा पात्रादिकं तु यत्[१]। क्रतुनिष्पत्तये[२] जग्मुर्गौतमीं प्रति सत्वराः ॥१२॥
तत्र स्नात्वा महेशानं रक्षणायोपतस्थिरे। कृताञ्जलिपुटास्ते तु तुष्टुवुस्त्रिदशेश्वरम् ॥१३॥

ऋषय ऊचुः

योलीलया विश्वमिदं चकार, धाता विधाता भुवनत्रयस्य।
यो विश्वरूपः सदसत्परो यः, सोमेश्वरं तं शरणं व्रजामः ॥१४॥

मृत्युरुवाच

इच्छामात्रेण यः सर्वं हन्ति पाति करोति च। तमहं त्रिदशेशानं शरणं यामि शंकरम् ॥१५॥
महानलं[३] महाकायं महानागविभूषणम्। महामूर्तिधरं देवं शरणं यामि शंकरम् ॥१६॥

ब्रह्मा ने कहा—देवों ने यह सुनकर असुरों से कहा, तो तुम लोगों को भी यज्ञ में आधा भाग मिलेगा। अब तो शीघ्र ऋषियों के उस यज्ञ में जाओ। यह सुनकर वे राक्षस शीघ्र यज्ञ का विनाश करने के लिए यज्ञप्रेमी देवों की विशेष प्रेरणा से वहाँ गये जहाँ यज्ञ हो रहा था। यह जानकर ऋषियों ने मृत्यु से कहा—अब हम लोग क्या करें, देवों की प्रेरणा से यज्ञ को नष्ट करने के लिए राक्षस आ गये हैं। नारद ! मत्यु से परामर्श करने के उपरान्त वे नैमिषारण्य-निवासी ऋषिगण अपने आश्रम तथा पात्र आदि को भी छोड़कर शमिता के साथ अग्निमात्र लेकर यज्ञ पूर्ण करने के लिए गौतमी के तट पर जल्दी से पहुँचे। उसमें स्नान करके वे यज्ञ-रक्षा के लिए शंकर के निकट गये और बद्धाञ्जलि होकर देवेश्वर की स्तुति करने लगे ॥८-१३॥

ऋषिगण बोले—जिसने सहज ही में विश्व का निर्माण कर दिया, जो तीनों लोकों का पालक और स्रष्टा है, जो विश्वमूर्ति है और जो सत् एवं असत् से परे है, उस सोमेश्वर शंकर की शरण में हम आये हुए हैं ॥१४॥

मृत्यु ने कहा— जो केवल इच्छामात्र से विश्व का संहार, पालन और निर्माण करता है, उस देवेश शंकर की शरण में हम उपस्थित हैं। महान् अग्निरूप, महान् शरीर वाले, महान् नागों के आभूषण वाले और महान् मूर्ति धारण करने वाले शंकर देव की शरण में हम आये हैं ॥१५-१६॥

---

[१]क. तत्। [२]घ. ङ. ०निष्कृतये। [३]ङ. ०हाबलं।

ब्रह्मोवाच

ततः प्रोवाच भगवान्मृत्यो का प्रीतिरस्तु ते ।।१७।।

मृत्युरुवाच

राक्षसेभ्यो भयं घोरमापन्नं त्रिदशेश्वर। यज्ञमस्मांश्च रक्षस्व यावत्सत्रं समाप्यते ।।१८।।

ब्रह्मोवाच

तथा चकार भगवांस्त्रिनेत्रो वृषभध्वजः। शमित्रा मृत्युना सत्रमृषीणां पूर्णतां ययौ ।।१९।।
हविषां भागधेयाय आजग्मुरमराः क्रमात्। तानवोचन्मुनिगणाः संक्षुब्धा मृत्युना सह ।।२०।।

ऋषय ऊचुः

अस्मन्मखविनाशाय राक्षसाः प्रेषिता यतः। तस्माद्भवद्भ्यः पापिष्ठा राक्षसाः सन्तु शत्रवः ।।२१।।
ततः प्रभृति देवानां राक्षसा वैरिणोऽभवन्। कृत्यां च वडवां तत्र देवाश्च ऋषयोऽमलाः ।।२२।।
मृत्योर्भार्या भव त्वं तामित्युक्त्वा तेऽभ्यषेचयन्। अभिषेकोदकं यत्तु सा नदी वडवाऽभवत् ।।२३।।
मृत्युना स्थापितं लिङ्गं महानलमिति श्रुतम्। ततः प्रभृति तत्तीर्थं वडवासंगमं विदुः ।।२४।।
महानलो यत्र देवस्तत्तीर्थं भुक्तिमुक्तिदम्। सहस्रं तत्र तीर्थानां सर्वाभीष्टप्रदायिनाम् ।।

ब्रह्मा ने कहा—तब भगवान् शिव ने कहा—हे मृत्यु ! मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य सम्पादन करूँ ? ।।१७।।

मृत्यु ने कहा—देवाधिपति ! राक्षसों ने भीषण संकट खड़ा कर दिया है, जब तक यज्ञ समाप्त न हो जाय तब तक आप यज्ञ की और हमारी भी रक्षा करें ।।१८।।

ब्रह्मा ने कहा—वृषवाहन भगवान् त्रिलोचन ने वैसा ही किया जिससे मृत्यु शमिता की संरक्षता में ऋषियों का वह यज्ञ पूर्ण हो गया। यज्ञ पूर्ण हो जाने पर देववृन्द भी क्रमशः अपना यज्ञ भाग लेने के लिए आये। यह देखकर मृत्यु के साथ क्षुब्ध मुनियों ने देवों से कहा ।।१९-२०।।

ऋषियों ने कहा—जिस लिए आप लोगों ने हमारे यज्ञ को नष्ट करने के लिए राक्षसों को भेजा, इसलिए वे पापी राक्षस आपके शत्रु हो जायँ ।।२१।।

ब्रह्मा ने कहा—उस समय से राक्षस देवताओं के वैरी हो गये। इसके साथ ही वहाँ निर्मल ऋषियों और देवताओं ने 'तुम मृत्यु की भार्या बनो' यह कहकर वडवा रूपिणी कृत्या का अभिषेक किया। जो अभिषेक-जल था वही वडवा नदी बन गया। मृत्यु द्वारा स्थापित लिङ्ग 'महानल' नाम से प्रसिद्ध हुआ। तब से वह स्थान वडवा-संगम नाम से कहा जाने लगा। जहाँ महानल महादेव हैं वह मुक्ति और भुक्ति देने वाला तीर्थ है। इसके अतिरिक्त

उभयोस्तीरयोस्तत्र स्मरणादघघातिनाम् ।।२५।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये वडवादिसहस्रतीर्थवर्णनं नाम षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ।।११६।।

गौतमीमाहात्म्ये सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।।४७।।

अथ सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

आत्मतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

आत्मतीर्थमिति ख्यातं भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम् । तस्य प्रभावं वक्ष्यामि यत्र ज्ञानेश्वरः शिवः ।।१।।
दत्त इत्यपि विख्यातः सोऽत्रिपुत्रो हरप्रियः[1] । दुर्वाससः प्रियो भ्राता सर्वज्ञानविशारदः ।।
स गत्वा पितरं प्राह विनयेन प्रणम्य च ।।२।।

दत्त उवाच

ब्रह्मज्ञानं कथं मे स्यात्कं पृच्छामि क्व यामि च ।।३।।

वहाँ गौतमी के दोनों तटों पर सब प्रकार के अभीष्ट देने वाले तथा केवल स्मरण मात्र से पापों को नष्ट करने वाले सहस्रों तीर्थ हैं ।।२२-२५।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में वडवा आदि सहस्रतीर्थवर्णन नामक एक सौ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ।।११६।।

अध्याय ११७

आत्मतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—मनुष्यों को भोग और मोक्ष प्रदान करने वाला एक आत्मतीर्थ नाम से विख्यात तीर्थ है, जहाँ ज्ञानेश्वर शिव निवास करते हैं । उसके प्रभाव का वर्णन मैं कर रहा हूँ, सुनो । अत्रि का पुत्र शंकर का प्रिय और दुर्वासा का भाई दत्त नाम से विख्यात था । वह सब प्रकार के ज्ञान में निपुण था । एक दिन वह अपने पिता के पास जाकर विनयपूर्वक प्रणाम करके बोला ।।१-२।।

दत्त ने कहा—ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति मुझे कैसे होगी ? मैं किससे पूछूँ ? और कहाँ जाऊँ ? ।।३।।

---

[1] क. हरिप्रि० ।

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वाऽत्रिः पुत्रवाक्यं ध्यात्वा वचनमब्रवीत् ।।४।।

अत्रिरुवाच

गौतमीं पुत्र गच्छ त्वं तत्र स्तुहि महेश्वरम् । स तु प्रीतो यदैव स्यात्तदा ज्ञानमवाप्स्यसि ।।५।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा तदाऽऽत्रेयो गङ्गां गत्वा शुचिर्यतः । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा[1] भक्त्या तुष्टाव शंकरम् ।।६।।

दत्त उवाच

संसारकूपे[2] पतितोऽस्मि दैवान्मोहेन गुप्तो भवदुःखपङ्के ।
अज्ञाननाम्ना तमसाऽऽवृतोऽहं, परं न विन्दामि सुराधिनाथ ।।७।।
भिन्नस्त्रिशूलेन बलीयसाऽहं, पापेन चिन्ताक्षुरपाटितश्च ।
तप्तोऽस्मि[3] पञ्चेन्द्रियतीव्रतापैः, श्रान्तोऽस्मि संतारय सोमनाथ ।।८।।
बद्धोऽस्मि[4] दारिद्र्यमयैश्च बन्धैर्हतोऽस्मि रोगानलतीव्रतापैः ।
क्रान्तोऽस्म्यहं मृत्युभुजंगमेन, भीतो भृशं किं करवाणि शंभो[5] ।।९।।

ब्रह्मा ने कहा—अत्रि-पुत्र की बातों को सुनकर थोड़ी देर तक विचार-मग्न रहे, फिर बोले ।।४।।

अत्रि ने कहा—पुत्र ! गौतमी के पास जाओ । वहाँ महेश्वर की स्तुति करो । वे जब प्रसन्न हो जायेंगे, तब तुम्हें ज्ञान की प्राप्ति होगी ।।५।।

ब्रह्मा ने कहा—अत्रिपुत्र दत्त 'ऐसा ही करूँगा' कहकर गंगा के समीप गया और स्नान कर पवित्र हो संयत भाव से हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक शंकर की स्तुति करने लगा ।।६।।

दत्त ने कहा—दैवयोग से संसार रूपी कुएँ में गिर पड़ा हूँ । मोह ने मुझे संसार के दुःख रूपी कीचड़ में छिपा दिया है । अज्ञानांधकार में ढक गया हूँ । सुरों के स्वामी ! आपको नहीं पा रहा हूँ ।।७।। बलवान् पापरूपी त्रिशूल से मैं क्षत-विक्षत हो गया हूँ तथा चिन्ता के अस्तुरे से फाड़ दिया गया हूँ । पाँचों इन्द्रियों के तीव्र ताप से जल गया हूँ । सोमनाथ ! मैं थक गया हूँ । किसी प्रकार पार लगाइये ।।८।। दरिद्रता के बंधन में मैं बँध गया हूँ । रोग रूपी अग्नि के तीव्र दाह से मार डाला गया हूँ । मृत्यु रूपी सर्प ने मुझे डस लिया है । शंभो ! मैं अत्यन्त भयभीत हो गया हूँ । क्या करूँ ? समझ में नहीं आता ।।९।। जन्म और अजन्म की पीड़ा, क्षुधा, तृष्णा, रजोगुण और तमोगुण

---

[1] घ ङ. ०त्वा शिवं तुष्टाव भक्तितः । द० । [2] ङ. ०रपङ्के प० । [3] घ. ०स्मि रोगा-वलिती० । [4] घ. ०श्च पाशैर्दृष्टोऽस्मि । [5] घ. ०भो । मायाभ० ।

भवाभवाभ्यामतिपीडितोऽहं, तृष्णाक्षुधाभ्यां च रजस्तमोभ्याम् ।
ईदृक्षया[1] जरया[2] चाभिभूतः[3], पश्यावस्थां कृपया मेऽद्य नाथ ॥१०॥
कामेन कोपेन च मत्सरेण, दम्भेन दर्पादिभिरप्यनेकैः ।
एकैकशः[4] कष्टगतोऽस्मि विद्धस्त्वं[5] नाथवद्वारय नाथ शत्रून् ॥११॥
कस्यापि कश्चित्पतितस्य पुंसो, दुःखप्रणोदी भवतीति सत्यम् ।
विना भवन्तं मम सोमनाथ, कुत्रापि कारुण्यवचोऽपि नास्ति ॥१२॥
तावत्स कोपो भयमोहदुःखान्यज्ञानदारिद्र्यरुजस्तथैव ।
कामादयो मृत्युरपीह यावन्नमः शिवायेति न वच्मि वाक्यम् ॥१३॥
न मेऽस्ति धर्मो न च मेऽस्ति भक्तिर्नाहं विवेकी करुणा कुतो मे ।
दाताऽसि तेनाऽऽशु शरण्य चित्ते, निधेहि सोमेति पदं मदीये ॥१४॥
याचे न चाहं सुरभूपतित्वं, हृत्पद्ममध्ये मम सोमनाथ ।
श्रीसोमपादाम्बुजसंनिधानं, याचे विचार्यैव च तत्कुरुष्व ॥१५॥
यथा तवाहं विदितोऽस्मि पापस्तथाऽपि विज्ञापनमाशृणुष्व ।
संश्रूयते यत्र वचः शिवेति, तत्र स्थितिः स्यान्मम सोमनाथ ॥१६॥
गौरीपते शंकर सोमनाथ, विश्वेश कारुण्यनिधेऽखिलात्मन् ।
संस्तूयते यत्र सदेति तत्र, केषामपि स्यात्कृतिनां निवासः ॥१७॥

से मैं पीड़ित हूँ । ऐसी वृद्धावस्था से आक्रान्त हूँ । नाथ ! आज मेरी इस अवस्था को कृपापूर्वक देखिये ॥१०॥ काम, क्रोध, डाह, दम्भ, अभिमान आदि अनेक शत्रु, एक-एक करके मुझे कष्ट दे रहे हैं, बेध रहे हैं । प्रभो ! आप मेरे रक्षक बन कर शत्रुओं को दूर भगाइये ॥११॥ किसी पतित प्राणी का कोई मनुष्य दुःख दूर करने वाला होता है यह सत्य है, किन्तु सोमनाथ ! आपके अतिरिक्त किसी के सम्मुख मैं अपनी करुण कहानी भी तो नहीं कह सकता ॥१२॥ क्रोध, भय, मोह, दुःख, अज्ञान, दरिद्रता, रोग, काम आदि तथा मृत्यु-भय तभी तक है, जब तक 'नमः शिवाय' मन्त्र मेरे मुख से नहीं निकलता है ॥१३॥ मेरे पास न तो धर्म है, न भक्ति है, न मैं ज्ञानी ही हूँ । फिर करुणा मुझमें कहाँ से आयेगी ? परन्तु हे शरण देने वाले ! आप दाता हैं, इसलिए मेरे हृदय में शीघ्र 'सोम' इस पद को स्थापित कर दीजिये ॥१४॥ मैं इन्द्र-पदवी की याचना नहीं करता । सोमनाथ ! मेरे हृदय-कमल के मध्य में श्रीसोमनाथ के चरण-कमल की स्थापना हो, यही प्रार्थना है । पहले विचार कर लीजिये तब उसको स्वीकार कीजिये ॥१५॥ जैसे आपने मुझको पापी समझ लिया है, उसी प्रकार मेरी भी आपसे एक प्रार्थना है, उसको भलीभाँति सुनिये । सोमनाथ ! जहाँ 'शिव' ऐसा शब्द सुना जाता है, वहाँ मेरा निवास हो ॥१६॥ (क्योंकि) जहाँ सर्वदा गौरीपते ! शंकर ! सोमनाथ ! विश्वेश ! कारुण्यनिधे ! अखिलात्मन् ! आदि शब्दों द्वारा स्तुति की जाती है, वहाँ किन्हीं पुण्यात्माओं का निवास होता है ॥१७॥

---

[1] घ. दुःशीलया । [2] ङ. ०या वाऽपि भूयः प० । [3] घ. चापि भूयः । [4] घ. ङ०. शः कूपग० । [5] ङ. ०द्धस्त्वनाथ० ।

ब्रह्मोवाच

इत्यात्रेयस्तुतिं श्रुत्वा तुतोष भगवान्हरः। वरदोऽस्मीति तं प्राह योगिनं विश्वकृद्भवः ॥१८॥

आत्रेय उवाच

आत्मज्ञानं च मुक्तिं च भुक्तिं[1] च विपुलां त्वयि। तीर्थस्यापि च माहात्म्यं वरोऽयं त्रिदशार्चित ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

एवमस्त्विति तं शंभुरुक्त्वा चान्तरधीयत। ततः प्रभृति तत्तीर्थमात्मतीर्थं [2]विदुर्बुधाः ॥
तत्र स्नानेन दानेन मुक्तिः स्यादिह[3] नारद ॥२०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्य आत्मतीर्थवर्णनं नाम सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११७॥

गौतमीमाहात्म्येऽष्टचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४८॥

अथाष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

अश्वत्थादितीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

[4]अश्वत्थतीर्थमाख्यातं पिप्पलं च ततः परम्। उत्तरे मन्दतीर्थं तु[5] तत्र व्युष्टिमितः शृणु ॥१॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार अत्रि-पुत्र की स्तुति सुनकर भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये। उस विश्व-स्रष्टा शंकर ने उस योगी से कहा मैं 'वर देना चाहता हूँ, माँगो' ॥१८॥

आत्रेय ने कहा—हे देववन्द्य ! आत्मज्ञान, मुक्ति, आपमें प्रचुर भक्ति और तीर्थ का माहात्म्य मुझे प्राप्त हो, यह वर दीजिये ॥१९॥

ब्रह्मा ने कहा—'ऐसा ही हो' यह कहकर शंभु अन्तर्हित हो गये। उस समय से उस तीर्थ को विद्वान् लोग आत्मतीर्थ कहने लगे। नारद ! उस तीर्थ में स्नान और दान करने से मुक्ति अवश्य मिलती है ॥२०॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में आत्मतीर्थवर्णन नामक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥११७॥

अध्याय ११८

अश्वत्थ आदि तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—अश्वतीर्थ और पिप्पलतीर्थ दोनों प्रसिद्ध तीर्थ हैं, उत्तर दिशा में मन्दतीर्थ भी है। इन तीर्थों

---

[1] ङ. भक्तिं। [2] घ. तदुच्यते। [3] घ. स्यात्किंत्वितः फलम्। इ० [4] क. घ. ङ ०श्वतीर्थमिति ख्यातमश्वत्थं च। [5] घ. च।

पुरा त्वगस्त्यो भगवान्दक्षिणाशापतिः प्रभुः। देवैस्तु प्रेरितः पूर्वं विन्ध्यस्य प्रार्थनं प्रति ॥२॥
स शनैर्विन्ध्यमस्यागात्सहस्रमुनिभिर्वृतः। तमागत्य नगश्रेष्ठं बहुवृक्षसमाकुलम् ॥३॥
स्पर्धिनं मेरुभानुभ्यां विन्ध्यं शृङ्गशतैर्वृतः। अत्युन्नतं नगं धीरो लोपामुद्रापतिर्मुनिः ॥४॥
कृतातिथ्यो द्विजैः सार्धं प्रशस्य च नगं पुनः। इदमाह मुनिश्रेष्ठो देवकार्यार्थसिद्धये ॥५॥

अगस्त्य उवाच

अहं यामि नगश्रेष्ठ मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। तीर्थयात्रां करोमीति दक्षिणाशां व्रजाम्यहम् ॥६॥
देहि मार्गं नगपते आतिथ्यं देहि याचते। यावदागमनं मे स्यात्स्थातव्यं तावदेव हि ॥७॥
नान्यथा भवितव्यं ते तथेत्याह नगोत्तमः। आक्रामन्दक्षिणामाशां तैर्वृतो मुनिभिर्मुनिः ॥८॥
शनैः स गौतमीमागात्सत्रयागाय दीक्षितः[1]। यावत्संवत्सरं सत्रमकरोदृषिभिर्वृतः ॥९॥
कैटभस्य सुतौ पापौ राक्षसौ धर्मकण्टकौ। अश्वत्थः पिप्पलश्चेति विख्यातौ त्रिदशालये ॥१०॥
अश्वत्थोऽश्वत्थरूपेण पिप्पलो ब्रह्मरूपधृक्। तावुभावन्तरं प्रेप्सू यज्ञविध्वंसनाय तु ॥११॥
कुरुतां काङ्क्षितं रूपं दानवौ पापचेतसौ। अश्वत्थो वृक्षरूपेण पिप्पलो ब्राह्मणाकृतिः ॥१२॥
उभौ तौ ब्राह्मणान्नित्यं पीडयेतां तपोधन। आलभन्ते च येऽश्वत्थं तांस्तानश्नात्यसौ तरुः ॥१३॥

का परिचय तथा फल अब सुनो। बहुत पहले दक्षिण दिशा के स्वामी भगवान् अगस्त्य से देवताओं ने विन्ध्य के विषय में प्रार्थना की। देवताओं से प्रेरित होने पर अगस्त्य ऋषि सहस्र मुनियों को साथ ले धीरे से विन्ध्य के निकट आये। बहुत-से वृक्षों से भरे, मेरु और भानुपर्वत से स्पर्धा करने वाले, सैकड़ों शिखरों से युक्त, अत्यन्त ऊँचे विन्ध्य पर्वत के पास जाकर लोपामुद्रा के स्वामी धीर मुनि अगस्त्य ने विन्ध्य का आतिथ्य ग्रहण किया। पुनः विन्ध्याचल की प्रशंसा करते हुए देवकार्य की सिद्धि करने के लिए मुनिश्रेष्ठ ने कहा ॥१-५॥

अगस्त्य बोले—हे पर्वतश्रेष्ठ ! मैं तत्त्वदर्शी मुनियों के साथ तीर्थयात्रा के उद्देश्य से दक्षिण दिशा को जा रहा हूँ ॥६॥ नगपते ! मुझे मार्ग दो, यही आतिथ्य के रूप में माँग रहा हूँ। जब तक मैं इधर से न लौटूँ तब तक तुम इसी प्रकार विनम्र रहो, इसके प्रतिकूल कोई कार्य न हो। विन्ध्याचल ने इसे स्वीकार कर लिया। उन मुनियों के साथ अगस्त्य मुनि ने दक्षिण दिशा को प्रस्थान किया। शनैः-शनैः वे गौतमी के तट पर आये और सत्रयाग के लिए दीक्षा लेकर एक वर्ष ऋषियों के साथ यज्ञ करते रहे ॥७-९॥ स्वर्ग में कैटभ के दो पापी, धर्म के मार्ग में बाधा पहुँचाने वाले, अश्वत्थ और पिप्पल नाम से विख्यात राक्षस पुत्र थे ॥१०॥ अश्वत्थ पीपल का और पिप्पल ब्राह्मण का रूप धारण कर यज्ञ नष्ट करने के लिए जाते थे। दोनों इस गुप्त रूप को यज्ञ का भेद जानने के लिए धारण किया करते थे। हे तपस्वी ! इस प्रकार वे दोनों पापात्मा राक्षस इच्छानुसार अश्वत्थ वृक्ष और ब्राह्मण को आकृति धारण कर ब्राह्मणों को नित्य प्रति पीड़ा पहुँचाते थे ॥११-१२½॥ जो समिधा के लिए वृक्ष की टहनियाँ तोड़ने आता था उसको वह अश्वत्थ खा जाता था और राक्षस पिप्पल साम-गायक बनकर अपने शिष्यों को

---

[1] घ. ड०. ०तः। सांवत्सरं तथा स०।

पिप्पलः सामगो भूत्वा शिष्यानश्नाति राक्षसः। तस्माद्द्यापि विप्रेषु सामगोऽतीव निष्कृपः ॥१४॥
क्षीयमाणान्द्विजान्दृष्ट्वा मुनयो राक्षसाविमौ। इति बुद्ध्वा महाप्राज्ञा दक्षिणं तीरमाश्रितम् ॥१५॥
सौरिं शनैश्चरं मन्दं तपस्यन्तं धृतव्रतम्। गत्वा मुनिगणाः सर्वे रक्षःकर्म न्यवेदयन् ॥१६॥
सौरिर्मुनिगणानाह पूर्णे तपसि मे द्विजाः। राक्षसौ हन्म्यपूर्णे[1] तु[2] [3]तपस्यक्षम एव हि ॥१७॥
पुनः प्रोचुर्मुनिगणा दास्यामस्ते तपो महत्। इत्युक्तो ब्राह्मणैः सौरिः कृतमित्याह तानपि ॥१८॥
सौरिर्ब्राह्मणवेषेण प्रायादश्वत्थरूपिणम्। राक्षसं ब्राह्मणो भूत्वा प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥१९॥
प्रदक्षिणं तु कुर्वाणं मेने ब्राह्मणमेव तम्। नित्यवद्राक्षसः पापो भक्षयामास मायया ॥२०॥
तस्य कायं समाविश्य चक्षुषाऽन्त्राण्यपश्यत। दृष्टः स राक्षसः पापो मन्देन रविसूनुना ॥२१॥
भस्मीभूतः क्षणेनैव गिरिर्वज्रहतो यथा। अश्वत्थं भस्मसात्कृत्वा अन्यं ब्राह्मणरूपिणम् ॥२२॥
राक्षसं पापनिलयमेक एव तमभ्यगात्। अधीयानो विप्र इव शिष्यरूपो विनीतवत् ॥२३॥
पिप्पलः पूर्ववच्चापि भक्षयामास भानुजम्। स भक्षितः पूर्ववच्च कुक्षावन्त्राण्यवैक्षत ॥२४॥
तेनाऽऽलोकितमात्रोऽसौ राक्षसो भस्मसादभूत्। उभौ हत्वा भानुसुतः किं कृत्यं मे वदन्त्वथ ॥२५॥
मुनयो जातसंहर्षाः सर्व एव तपस्विनः। ततः प्रसन्ना ह्यभवन्नृषयोऽगस्त्यपूर्वकाः ॥२६॥

खा जाता था। यही कारण है कि अब भी ब्राह्मणों में सामगायक अत्यन्त करुणाहीन माना जाता है ॥१३-१४॥ बुद्धिमान् मुनिवृन्द इस प्रकार ब्राह्मणों की संख्या कम होते देखकर 'ये दोनों राक्षस हैं' यह जानकर दक्षिण तीर पर तपस्या करने वाले, व्रतपरायण सूर्यसुत शनि के पास गये और प्रणाम कर राक्षसों के इस घृणित कर्म को उनसे निवेदन किया। यह सुनकर सूर्यसुत ने मुनियों से कहा, 'तपस्या पूर्ण हो जाने पर ही मैं राक्षसों का वध कर सकता हूँ, तपस्या के अपूर्ण रहने पर तो मैं सर्वथा अक्षम हूँ ॥१५-१७॥ पुनः मुनियों ने कहा 'आपको हम सब अपनी महातपस्या दे रहे हैं।' यह सुनकर शनि ने ब्राह्मणों से कहा कि तब कार्य हो गया, ऐसा समझिये ॥१८॥ शनि ब्राह्मण का वेश बनाकर अश्वत्थ रूप वाले राक्षस के पास गये और प्रदक्षिणा करने लगे ॥१०॥ राक्षस इस प्रकार उनको प्रदक्षिणा करते देखकर सामान्य ब्राह्मण समझ कर नित्य की तरह अपनी माया से उनको निगल गया ॥२०॥ शनि ने उनके शरीर में घुसकर उसकी आँतों को देखा। देखते ही वह पापी राक्षस शनि के द्वारा क्षणभर में उसी प्रकार भस्म कर दिया गया जिस प्रकार वज्र से पर्वत विनष्ट कर दिया गया था ॥२१½॥ अश्वत्थ को भस्म कर शनि दूसरे ब्राह्मणवेशधारी पापी राक्षस के पास गये। उससे ब्राह्मण के समान शिष्यरूप से विनीत होकर पढ़ने लगे ॥२३॥ पहले की भाँति पिप्पल ने इस भानुपुत्र को भी खा लिया। खाये जाने पर शनि ने भी पहले की भाँति उदर में आँतों को देखा ॥२४॥ उनके इस प्रकार देखने मात्र से वह राक्षस भस्मीभूत हो गया। दोनों को इस प्रकार नष्ट कर भानुपुत्र ने कहा कि अब आप लोगों का कौन-सा प्रिय कार्य करूँ, बतलाइये ॥२५॥ सब तपस्वी मुनि आनन्द-विभोर हो गये॥२६॥ तदनन्तर अगस्त्य आदि महर्षियों ने प्रसन्न होकर इच्छानुसार मन्द-

---

[1] ङ. ०र्णेन तपसा क्ष०। [2] घ. मे। [3] क. ०पसि नैव सिध्यति। पु०।

वरान्ददुर्यथाकामं सौरये मन्दगामिने। स प्रीतो ब्राह्मणानाह शनिः सूर्यसुतो बली ।।२७।।

सौरिरुवाच

मद्वारे नियता ये[1] च कुर्वन्त्यश्वत्थलम्भनम् । तेषां सर्वाणि कार्याणि स्युः पीडा मद्भवा न च ।।२८।।
तीर्थे चाश्वत्थसंज्ञे वै स्नानं कुर्वन्ति ये नराः। तेषां सर्वाणि कार्याणि भवेयुरपरो वरः ।।२९।।
मन्दवारे तु येऽश्वत्थं प्रातरुत्थाय मानवाः। आभलन्ते च तेषां वै ग्रहपीडा व्यपोहतु ।।३०।।

ब्रह्मोवाच

ततः प्रभृति तत्तीर्थमश्वत्थं पिप्पलं विदुः। तीर्थं शनैश्चरं तत्र तत्रागस्त्यं च [2]सात्रिकम् ।।३१।।
याज्ञिकं चापि तत्तीर्थं सामगं तीर्थमेव च। इत्याद्यष्टोत्तराण्यासन्सहस्राण्यथ षोडश ।।
तेषु स्नानं च दानं च [3]सत्रयागफलप्रदम् ।।३२।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे गौतमीमाहात्म्येऽश्वत्थाद्यष्टोत्तरषोडशसहस्रतीर्थवर्णनं नामाष्टाधिकशततमोऽध्यायः ।।११८।।
गौतमीमाहात्म्य ऊनपञ्चाशत्तमोध्यायः ।।४९।।

गति से चलने वाले शनि को यथेच्छ वर प्रदान किये। बलवान् सूर्यपुत्र शनि ने प्रसन्न होकर ब्राह्मणों से कहा ।।२७।।

शनि ने कहा—मेरे दिन अर्थात् शनिवार को जो मनुष्य नियमित रूप से अश्वत्थ वृक्ष का स्पर्श करेंगे, उनके सब कार्य सिद्ध होंगे तथा मुझसे उनको कोई पीड़ा नहीं होगी ।।२८।। जो व्यक्ति इस अश्वत्थ तीर्थ में स्नान करेंगे, उनके सब मनोरथ पूर्ण हों, यह दूसरा वरदान है ।।२९।। जो शनिवार को प्रातःकाल उठकर अश्वत्थ का स्पर्श करेंगे उन्हें ग्रहजन्य पीड़ा नहीं होगी ।।३०।।

ब्रह्मा ने कहा—उस समय से ही वह तीर्थ अश्वत्थ तीर्थ और पिप्पलतीर्थ कहा जाने लगा। वहाँ पर शनैश्चर तीर्थ, आगस्त्य और सात्रिक तीर्थ, तथा याज्ञिक, सामग आदि चौबीस हजार तीर्थ प्रतिष्ठित हैं। उन तीर्थों में स्नान और दान करने से मनुष्य सत्रयाग का फल प्राप्त करता है ।।३१-३२।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में अश्वत्थतीर्थ, पिप्पलतीर्थ और मन्दतीर्थ-वर्णन
नामक एक सौ अठारहवाँ अध्याय समाप्त ।।११८।।

---

[1] घ. येऽत्र कु०। [2] क. सात्त्विक०। [3] क. ङ. सर्वया०।

अथैकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सोमतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

सोमतीर्थमिति ख्यातं तदप्युक्तं [1]महात्मभिः। तत्र स्नानेन दानेन सोमपानफलं लभेत् ॥१॥
जगतां मातरः पूर्वमोषध्यो जीवसंमताः। ममापि मातरो देव्यः [2]पूर्वासां पूर्ववत्तराः ॥२॥
आसु प्रतिष्ठितो धर्मः स्वाध्यायो यज्ञकर्म च। आभिरेव धृतं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥३॥
अशेषरोगोपशमो भवत्याभिरसंशयम्। अन्नमेताभिरेव स्यादशेषप्राणरक्षणम्[3] ॥
अत्रौषध्यो जगद्वन्द्या मामूचुरनहंकृताः ॥४॥

ओषध्य ऊचुः

अस्माकं त्वं पतिं देहि राजानं सुरसत्तम ॥५॥

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं [4]तासां मयोक्ता ओषधीरिदम्। पतिं प्राप्स्यथ सर्वाश्च राजानं प्रीतिवर्धनम् ॥६॥
राजानमिति तच्छ्रुत्वा मामूचुः पुनर्मुने। गन्तव्यं क्व पुनश्चोक्ता गौतमीं यान्तु मातरः ॥७॥
तुष्टायामथ तस्यां वो राजा स्याल्लोकपूजितः। ताश्च गत्वा मुनिश्रेष्ठ तुष्टुवुर्गौतमीं नदीम् ॥८॥

अध्याय ११९

सोमतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद महात्माओं द्वारा वर्णित सोमतीर्थ नाम का एक प्रसिद्धतीर्थ है। उस तीर्थ में स्नान करने और दान देने से मनुष्य सोमपान का फल प्राप्त करता है। पहले ओषधियाँ प्राणिमात्र से मान्य और संसार की माता कहलाती थीं। पूर्व उत्पन्न ओषधियों से भी पूर्व काल की ओषधियाँ मेरी भी माता थीं। इन्हीं ओषधियों से धर्म, स्वाध्याय और यज्ञ कर्म प्रतिष्ठित हैं, इन्होंने ही सम्पूर्ण चराचरात्मक त्रैलोक्य को धारण किया है। इनसे ही सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। सब प्राणियों की प्राणरक्षा करने वाले अन्न इनसे ही उत्पन्न होते हैं। एक बार जगद्वन्द्य इन ओषधियों ने विनीत भाव से मुझसे कहा ॥१-४॥

ओषधियाँ बोलीं—हे देवों में श्रेष्ठ ! हम लोगों को आप राजा पति दीजिये ॥५॥

ब्रह्मा ने कहा—उनकी बातों को सुनकर मैंने ओषधियों से कहा कि तुम सब प्रेम बढ़ाने वाले राजा पति को प्राप्त करोगी। मुने ! 'राजा' ऐसा शब्द सुनकर उन्होंने मुझसे पुनः पूछा—'इसके लिए कहाँ जाना होगा।' मैंने कहा—'मातृवृन्द ! गौतमी के तट पर जाओ ! उसकी प्रसन्नता पर अवश्य ही लोकपूजित राजा तुम लोगों का पति बनेगा।' वे सब ओषधियाँ पास जाकर गौतमी नदी की स्तुति करने लगीं ॥६-८॥

---

[1] घ. महाफलम्। [2] क. पूर्वेषां। [3] घ. ०म्। तत्रौ०। [4] क. ङ. ताभ्यो।

ओषध्य ऊचुः

किं वाऽकरिष्यन्भववर्तिनो जना, नानाघसंघाभिभवाच्च दुःखिताः ।
न चाऽऽगमिष्यद्भवती भुवं चेत्पुण्योदके गौतमि शंभुकान्ते ॥९॥
को वेत्ति भाग्यं नरदेहभाजां, महीगतानां सरितामधीशे ।
एषां महापातकसंघहन्त्री, त्वमम्ब गङ्गे सुलभा सदैव ॥१०॥
न ते विभूतिं ननु वेत्ति कोऽपि, त्रैलोक्यवन्द्ये जगदम्ब गङ्गे ।
गौरीसमालिङ्गितविग्रहोऽपि, धत्ते स्मरारिः शिरसाऽपि यत्त्वाम् ॥११॥
नमोऽस्तु ते मातरभीष्टदायिनि, नमोऽस्तु ते ब्रह्ममयेऽघनाशिनि ।
नमोऽस्तु ते विष्णुपदाब्जनिःसृते, नमोऽस्तु ते शंभुजटाविनिःसृते ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

इत्येवं स्तुवतामीशा किं [1]ददामीत्यवोचत ॥१३॥

ओषध्य ऊचुः

पतिं देहि जगन्माता[2] राजानमतितेजसम् ॥१४॥

ब्रह्मोवाच

तदोवाच नदी गङ्गा ओषधीस्ता इदं वचः ॥१५॥

ओषधियाँ बोलीं—गौतमि ! शंभुकान्ते ! ये अनेक पापसमूहों से अभिभूत, दुःखी संसारी जन क्या कर सकते थे (अर्थात् इनका उद्धार कैसे होता) ? यदि पुण्योदके ! आप इस भूतल पर न आतीं। नदियों की अधीश्वरी ! मनुष्य-देह धारण करने वालों का अहोभाग्य कौन जानता था ? हे अम्ब ! गंगे ! आज इन पापियों के पापसमूहों को नष्ट करने वाली तुम इनको सदा के लिए सुलभ हो गयी हो। जगद्वन्द्ये ! जगदम्ब ! गंगे ! तुम्हारी विभूति को कोई भी व्यक्ति नहीं जानता है। क्योंकि पार्वती से आलिंगित शरीर वाले मदन-मन्मथ शंकर भी तुमको अपने सिर पर बैठाये रहते हैं। माता ! मनोरथ-दायिनी ! तुमको नमस्कार है, ब्रह्मस्वरूपिणि ! पापविनाशिनी ! तुमको नमस्कार है। विष्णु के चरण-कमल से निकलने वाली ! तुमको नमस्कार है, शंभु की जटा से निकलने वाली ! तुमको बार-बार नमस्कार है ॥९-१२॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार ओषधियों की स्तुति से प्रसन्न हो गौतमी ने कहा 'क्या दूँ ?' ॥१३॥

ओषधियाँ बोलीं—जगन्माता ! हमें अत्यन्त तेजस्वी राजा पति दीजिये ॥१४॥

ब्रह्मा ने कहा—ओषधियों की प्रार्थना सुनकर गौतमी गंगा ने उन ओषधियों से यह बात कही ॥१५॥

---

[1] घ. ०मीति चाब्रवीत् । प० । [2] घ. ०न्मातरस्माकमुचितं शिवे । त० ।

गङ्गोवाच

अहं चामृतरूपाऽस्मि ओषध्यो मातरोऽमृताः। तादृशं चामृतात्मनं पतिं सोमं ददामि वः ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

देवाश्च ऋषयो वाक्यं मेनिरे सोम एव च। ओषध्यश्चापि तद्वाक्यं ततो जग्मुः स्वमालयम् ॥१७॥
यत्र चाऽऽपुर्महौषध्यो राजानममृतात्मकम्। सोमं समस्तसंतापपापसंघनिवारकम् ॥१८॥
सोमतीर्थं तु तत्ख्यातं सोमपानफलप्रदम्। तत्र स्नानेन दानेन पितरः स्वर्गमाप्नुयुः ॥१९॥
य इदं शृणुयान्नित्यं पठेद्वा भक्तितः स्मरेत्। दीर्घमायुरवाप्नोति स पुत्री [1]धनवान्भवेत् ॥२०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये सोमतीर्थवर्णनं नामोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥११९॥

गौतमीमाहात्म्ये पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५०॥

अथ विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

धान्यतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

धान्यतीर्थमिति ख्यातं सर्वकामप्रदं नृणाम्। सुभिक्षं क्षेमदं पुंसां सर्वापद्विनिवारणम् ॥१॥

गंगा ने कहा—मैं अमृत स्वरूप हूँ और आप ओषधि माताएँ भी अमृत रूप ही हैं, अतः वैसे ही अमृतात्मा सोम को आप लोगों को पति के रूप में दे रही हूँ ॥१६॥

ब्रह्मा ने कहा—देवों, ऋषियों और सोम ने भी इस वाक्य का समर्थन किया। ओषधियों ने भी यह स्वीकार कर लिया और प्रसन्नतापूर्वक अपने स्थान को चली गयीं। जिस स्थान पर उन महोषधियों ने सब संताप और पाप-समूह को दूर करने वाले अमृतस्वरूप सोम को प्राप्त किया, वह स्थान सोमपान के फल को देने वाला सोमतीर्थ नाम से प्रसिद्ध हो गया। उस तीर्थ में स्नान करने और दान देने से पितरगण स्वर्ग प्राप्त करते हैं। जो व्यक्ति इस आख्यान का नित्य भक्तिपूर्वक श्रवण, पाठ या स्मरण करता है, वह दीर्घायु प्राप्त करता है और धनवान् तथा पुत्रवान् होता है ॥१७-२०॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में सोमतीर्थवर्णन नामक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥११९॥

अध्याय १२०

धान्यतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—मनुष्यों की सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला, सब आपदाओं का निवारक और सुभिक्ष

---

[1] घ. धनधान्यवान्।

ओषध्यः सोमराजानं पतिं प्राप्य मुदाऽन्विताः। ऊचुः सर्वस्य लोकस्य गङ्गायाश्चेप्सितं वचः ॥२॥

ओषध्य ऊचुः

वैदिकी पुण्यगाथाऽस्ति यां वै वेदविदो विदुः। भूमिं सस्यवतीं कश्चिन्मातरं मातृसंमिताम् ॥३॥
गङ्गासमीपे यो दद्यात्सर्वकामानवाप्नुयात्। भूमिं सस्यवतीं गाश्च ओषधीश्च मुदाऽन्वितः ॥४॥
विष्णुब्रह्मेशरूपाय यो दद्याद्भक्तिमान्नरः। सर्वं तदक्षयं विद्यात्सर्वकामानवाप्नुयात् ॥५॥
ओषध्यः सोमराजन्याः सोमश्चाप्योषधीपतिः। इति ज्ञात्वा ब्रह्मविद ओषधीर्यः प्रदास्यति ॥६॥
सर्वान्कामानवाप्नोति ब्रह्मलोके महीयते। ता एव सोमराजन्याः प्रीताः प्रोचुः पुनः पुनः ॥७॥

ओषध्य ऊचुः

योऽस्मान्ददाति गङ्गायां तं राजन्पारयामसि। त्वमुत्तमश्चौषधीश त्वदधीनं चराचरम् ॥८॥
ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा। योऽस्मान्ददाति[1] विप्रेभ्यस्तं राजन्पारयामसि ॥९॥
वयं च ब्रह्मरूपिण्यः प्राणरूपिण्य एव च। योऽस्मान्ददाति विप्रेभ्यस्तं राजन्पारयामसि ॥१०॥
अस्मान्ददाति यो नित्यं[2] ब्राह्मणेभ्यो जितव्रतः। उपास्तिरस्ति साऽस्माकं तं राजन्पारयामसि ॥११॥

एवं कल्याण प्रदान करने वाला धान्यतीर्थ नामक एक तीर्थ है। राजा सोम को अपना पति पाकर अत्यन्त हर्षित हुई ओषधियों ने सब लोक तथा गंगा को प्रिय लगने वाले वचन कहे ॥१-२॥

ओषधियाँ बोलीं—यह एक वैदिक पवित्र गाथा है, जिसे वेदज्ञ महापुरुष जानते हैं, कि जो कोई व्यक्ति गंगा के समीप मातृतुल्य एवं सस्य-सम्पन्न माता भूमि का दान करता है, उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं। जो भक्त मनुष्य प्रसन्न होकर सस्यसम्पन्न भूमि, गायें तथा ओषधियाँ विष्णु, ब्रह्मा और ईशरूप (ब्राह्मण या मन्दिर) को दान में देता है, वह अपने सब अभीप्सित पदार्थों को प्राप्त करता है और उसकी दान की हुई वस्तु अक्षय हो जाती है। ओषधियाँ सोमराजा की रानियाँ हैं और सोम ओषधियों के राजा हैं, यह समझ कर जो ओषधियों का दान करता है, वह अपने सब मनोरथों को प्राप्त करता है और स्वर्गलोक में उसकी पूजा होती है। इस दान-कथा को उन ओषधियों ने ही प्रेमगद्गद होकर बार-बार कहा था ॥३-७॥

ओषधियाँ बोलीं—राजन्! जो गंगा में हम सबको दे देता है, उसको हम इस संसार-सागर से पार लगा देती हैं। ओषधियों के स्वामी! तुम श्रेष्ठ हो, तुम्हारे ही अधीन यह चराचर है। ओषधियाँ राजा सोम के साथ बातचीत करती हैं कि जो हमको ब्राह्मणों को दान करता है, राजन्! उसका हम उद्धार करती हैं। हम ब्रह्मरूप हैं, प्राण रूप हैं, हमें जो विप्रों को प्रदान करता है, उसको हम संसार से पार कर देती हैं। जो संयमी व्रतपरायण व्यक्ति नित्य हमको ब्राह्मणों को दान में देता है, वह हम सबका प्रिय होता है, उसको हम भवसागर से पार कर देती हैं। राजन्! स्थावर और जंगम जो कुछ जगत् है, सब हमसे व्याप्त है। ऐसी हमको जो ब्राह्मणों के लिए दान कर देता है, उसको हम संसार से पार कर देती हैं। हव्य (देवों के लिए देयान्न) कव्य (पितरों को दिया जाने वाला अन्न)

---

[1] घ. ०ति चार्थिभ्य०। [2] घ. ०त्यं दृश्यादृश्येभ्य एव च। उ०।

स्थावरं जङ्गमं किंचिदस्माभिर्व्यापृतं जगत् । योऽस्मान्ददाति[1] विप्रेभ्यस्तं राजन्पारयामसि ।।१२।।
हव्यं कव्यं यदमृतं यत्किंचिदुपभुज्यते । यद्‌गरीयश्च यो दद्यात्तं राजन्पारयामसि ।।१३।।
इत्येतां वैदिकीं गाथां यः शृणोति स्मरेत वा । पठते भक्तिमापन्नस्तं राजन्पारयामसि ।।१४।।

ब्रह्मोवाच

यत्रैषा पठिता गाथा सोमेन सह राज्ञा । गङ्गातीरे चोषधीभिर्धान्यतीर्थं तदुच्यते ।।१५।।
ततः प्रभृति तत्तीर्तमौषध्यं सौम्यमेव च । अमृतं वेदगाथं च मातृतीर्थं तथैव च ।।१६।।
एषु स्नानं जपो होमो दानं च पितृतर्पणम् । अन्नदानं तु यः कुर्यात्तदानन्त्याय कल्पते ।।१७।।
षट्शताधिकसाहस्रं तीर्थानां तीरयोर्द्वयोः । सर्वपापनिहन्तॄणां सर्वसंपद्विवर्धनम् ।।१८।।

इति श्री महापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये धान्यतीर्थादिषट्शताधिकसहस्रतीर्थवर्णनं
नाम विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१२०।।
गौतमीमाहात्म्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।।५१।।

अथैकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

विदर्भासंगमरेवतीसंगमादितीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

विदर्भासंगमं पुण्यं रेवतीसंगमं तथा । तत्र यद्वृत्तमाख्यास्ये यत्पुराणविदो विदुः ।।१।।

रूप जो अमृत पदार्थ है, जो कुछ उपभोग किया जाता है और जो सर्वोत्तम पदार्थ है, उसे जो दान करता है, उसका हम उद्धार करती हैं । हे राजन् ! इस वैदिकी गाथा को जो भक्तिपूर्वक सुनता, स्मरण करता या पढ़ता है, उसका हे राजन् ! हम उद्धार कर देती हैं ।।८-१४।।

ब्रह्मा ने कहा—गंगातटवर्ती जिस स्थान पर ओषधियों ने राजा सोम के साथ इस गाथा को पढ़ा, वह धान्य-तीर्थ कहा जाता है । तब से वह तीर्थ ओषधितीर्थ, सौम्यतीर्थ, अमृततीर्थ, वेदगाथतीर्थ, मातृतीर्थ आदि नामों से प्रसिद्ध है । इन तीर्थों में जो मनुष्य स्नान, जप, होम, दान, पितृतर्पण और अन्नदान करते हैं, वे अनन्तफल के अधिकारी होते हैं । उस गौतमी के दोनों तटों पर एक हजार छह सौ तीर्थ हैं, जो सब पापों को दूर करनेवाले तथा सब प्रकार की सम्पत्ति देने वाले हैं ।।१५-१८।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में धान्यतीर्थवर्णन नामक एक सौ बीसवाँ अध्याय समाप्त ।।१२०।।

अध्याय १२१

विदर्भा-संगम और रेवती-संगम आदि तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—इसके उपरान्त पवित्र विदर्भा-संगम तथा रेवती-संगम की कथा का वर्णन मैं करूँगा, जिसको

---

[1] घ. ०ति सर्वेभ्य० ।

भरद्वाज इति ख्यात ऋषिरासीत्तपोऽधिकः। तस्य स्वसा रेवतीति कुरूपा विकृतस्वरा ॥२॥
तां दृष्ट्वा विकृतां भ्राता भरद्वाजः प्रतापवान्। चिन्तया परया युक्तो गङ्गाया दक्षिणे तटे ॥३॥
कस्मै दद्यामिमां कन्यां स्वसारं भीषणाकृतिम्। न कश्चित्प्रतिगृह्णाति दातव्या च स्वसा तथा ॥४॥
अहो भूयान्न कस्यापि कन्या दुःखैककारणम्। मरणं जीवतोऽप्यस्य प्राणिनस्तु पदे पदे ॥५॥
एवं विमृशतस्तस्य स्वाश्रमे चातिशोभने। द्रष्टुं मुनिवरः प्रायाद्भरद्वाजं यतव्रतम् ॥६॥
द्व्यष्टवर्षः शुभवपुः शान्तो दान्तो गुणाकरः। नाम्ना कठ इति ख्यातो भरद्वाजं ननाम सः ॥७॥
विधिवत्पूज्य तं विप्रं भरद्वाजः कठं तदा। तस्याऽऽगमनकार्यं च पप्रच्छ पुरतः स्थितः ॥८॥
कठोऽप्याह भरद्वाजं विद्यार्थ्यहमुपागतः। तथा च दर्शनाकाङ्क्षी यद्युक्तं तद्विधीयताम् ॥९॥
भरद्वाजः कठं प्राह अधीष्व यदभीप्सितम्। पुराणं स्मृतयो वेदा धर्मस्थानान्यनेकशः ॥१०॥
सर्वं वेद्मि महाप्राज्ञ रुचिरं वद मा चिरम्। कुलीनो धर्मनिरतो गुरुशुश्रूषणे रतः ॥
अभिमानी श्रुतधरः शिष्यः पुण्यैरवाप्यते ॥११॥

कठ उवाच

अध्यापयस्व भो ब्रह्मञ्शिष्यं मां वीतकल्मषम्। शुश्रूषणरतं भक्तं कुलीनं सत्यवादिनम् ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा भरद्वाजः प्रादाद्विद्यामशेषतः। प्राप्तविद्यः कठः प्रीतो भरद्वाजमथाब्रवीत् ॥१३॥

पुराणवेत्ता लोग भली भाँति जानते हैं। भरद्वाज नामक एक अत्यन्त तपस्वी ऋषि थे। उनकी एक बहिन थी, जो अति कुरूप और अस्पष्ट स्वर से बोलने वाली थी। प्रतापी भाई भरद्वाज उस कुरूप कन्या को देखकर, एक दिन गंगा के दक्षिण तट पर बैठ चिन्तामग्न हो विचार करने लगे कि इस भयंकर आकार वाली कन्या (बहिन) को किसके हाथों सौंपूँ। कोई इसको ग्रहण भी तो नहीं करेगा, परन्तु इस बहिन को किसी विप्र को देना अनिवार्य है। हाय! दुःख का एकमात्र कारण कन्या किसी को उत्पन्न न हो। ऐसे कन्या वाले प्राणी (पिता) के जीवन में क्षण-क्षण में मृत्यु का स्वाद मिलता है। इस प्रकार वे विचार कर ही रहे थे कि उनके उस रम्य आश्रम में कोई मुनिवर संयमी भरद्वाज ऋषि को देखने आये। उस षोडशवर्षीय शुभमूर्ति, शान्त, उदार और गुणी आगन्तुक का नाम कठ था। उसने भरद्वाज को नमस्कार किया। मुनि ने उसका सत्कार किया। और स्वयं उसके सामने स्थित हो उसके आने का कारण पूछा। कठ ने भी भरद्वाज मुनि से कहा कि 'मैं विद्या प्राप्त करने के लिए यहाँ उपस्थित हुआ हूँ, उसी बहाने दर्शन की भी अभिलाषा थी, अब जो कुछ उपयुक्त आज्ञा हो प्रदान कीजिये।' यह सुनकर भरद्वाज ने कठ से कहा 'जो कुछ पढ़ने की इच्छा हो पढ़ो। पुराण, स्मृतियाँ, वेद आदि अनेक धर्मग्रन्थ हैं। महाबुद्धिमान् मैं सब कुछ जानता हूँ, इच्छानुसार कहो। विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं है। कुलीन, कर्त्तव्यप्रेमी, गुरुसेवा में लीन रहने वाला, स्वाभिमानी और प्रतिभाशाली शिष्य बड़े भाग्य से गुरु को प्राप्त होता है॥१-११॥

कठ ने कहा—ब्रह्मन्! मुझ निष्पाप, शुश्रूषापरायण, भक्त, कुलीन और सत्यवादी शिष्य को पढ़ाइये॥१२॥

ब्रह्मा ने कहा—'ऐसा ही हो' यह कहकर भरद्वाज ने उसको सब विद्याएँ पूर्णरूप से पढ़ा दीं। विद्या प्राप्त कर लेने के बाद कठ ने प्रसन्न होकर भरद्वाज से कहा ॥१३॥

कठ उवाच

इच्छेयं दक्षिणां दातुं गुरो तव मनःप्रियाम् । वदस्व दुर्लभं वाऽपि गुरो तुभ्यं नमोऽस्तु ते ॥१४॥
विद्यां प्राप्यापि ये मोहात्स्वगुरोः पारितोषिकम् । न प्रयच्छन्ति निरयं ते यान्त्याचन्द्रतारकम् ॥१५॥

भरद्वाज उवाच

गृहाण कन्यां विधिवद्भार्यां कुरु मम स्वसाम् । अस्यां प्रीत्या वर्तितव्यं याचेयं दक्षिणामिमाम् ॥१६॥

कठ उवाच

भ्रातृवत्पुत्रवच्चापि शिष्यः स्यात्तु गुरोः सदा । गुरुश्च पितृवच्च स्यात्संबन्धोऽत्र कथं भवेत् ॥१७॥

भरद्वाज उवाच

मद्वाक्यं कुरु सत्यं त्वं मम्माऽज्ञा तव दक्षिणा । सर्वं स्मृत्वा कठाद्य त्वं रेवतीं भर तन्मनाः ॥१८॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा गुरोर्वाक्यात्कठो जग्राह पाणिना । रेवतीं विधिवद्दत्तां तां समीक्ष्य कठस्त्वथ ॥१९॥
[1]तत्रैव पूजयामास देवेशं शंकरं तदा[2]। रेवत्या रूपसंपत्त्यै शिवप्रीत्यै च रेवती ॥२०॥
सुरूपा चारुसर्वाङ्गी न रूपेणोपमीयते। अभिषेकोदके तत्र रेवत्या यद्विनिःसृतम् ॥२१॥

ब्रह्मा ने कहा—गुरो ! मैं आपको मन-पसंद दक्षिणा देना चाहता हूँ । गुरो ! चाहे आपकी इच्छा दुर्लभ वस्तु के लिए ही क्यों न हो, आप कहिये । आपको नमस्कार है । जो विद्या प्राप्त कर अज्ञानवश गुरु को दक्षिणा नहीं देते हैं वे जब तक आकाश में चन्द्र और नक्षत्र रहते हैं तब तक के लिए नरक को जाते हैं ॥१४-१५॥

भरद्वाज ने कहा—मेरी इस कुमारी बहिन को शास्त्रानुसार अपनी भर्या बना लो । इससे प्रेमपूर्वक व्यवहार करना, इसी दक्षिणा की याचना करता हूँ ॥१६॥

कठ ने कहा—शिष्य गुरु के लिए भाई के समान या पुत्र के समान सर्वदा माना जाता है । गुरु शिष्य के पिता के तुल्य होता है । ऐसी स्थिति में (आपके यहाँ मेरा) वैवाहिक सम्बन्ध कैसे होगा ? ॥१७॥

भरद्वाज ने कहा—मेरे शब्दों को तुम सत्य सिद्ध करो, यह मेरी आज्ञा और तुम्हारी दक्षिणा है । कठ ! आज सब कुछ स्मरण कर भी रेवती का प्रेमपूर्वक पाणिग्रहण करो ॥१८॥

ब्रह्मा ने कहा—'जो आज्ञा' कहकर कठ ने अपने गुरु के कथनानुसार विधिपूर्वक दी हुई रेवती का पाणिग्रहण कर लिया; कठ ने रेवती को देखकर उसको रूपवती बनाने के अभिप्राय से भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिए वहीं देवेश शंकर की पूजा की । पूजा के प्रभाव से वह कुरूपा रेवती सुरूप सर्वाङ्गसुन्दरी बन गयी । उसके रूप का सादृश्य किसी अन्य से करना कठिन हो गया । उसके अभिषेक से जो जल बहा वह उसी के नाम पर रूप और सौभाग्य देने वाली रेवती नाम की नदी बन गयी जो कि गंगा में जाकर मिल गयी । पुनः कठ ने पवित्र रूप की

---

[1]घ. तथैव । [2]घ. मुदा ।

साऽभवत्तत्र गङ्गायां तस्मात्तन्नामतो नदी। रेवतीति समाख्याता रूपसौभाग्यदायिनी ॥२२॥
पुनर्दर्भैश्च विविधैरभिषेकं चकार सः। पुण्यरूपत्वसंसिद्ध्यै विदर्भा तदभून्नदी ॥२३॥
श्रद्धया संगमे स्नात्वा रेवतीगङ्गयोर्नरः। सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ॥२४॥
तथा विदर्भागौतम्योः संगमे श्रद्धया मुने। स्नानं करोत्यसौ याति भक्तिं मुक्तिं च तत्क्षणात् ॥२५॥
उभयोस्तीरयोस्तत्र तीर्थानां शतमुत्तमम्। सर्वपापक्षयकरं सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥२६॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये विदर्भासंगमरेवतीसंगमादितीर्थवर्णनं नामैकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२१॥

गौतमीमाहात्म्ये द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५२॥

अथ द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पूर्णादितीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

पूर्णतीर्थमिति ख्यातं गङ्गाया उत्तरे तटे। तत्र स्नात्वा नरोऽज्ञानात्तथाऽपि शुभमाप्नुयात् ॥१॥

प्राप्ति के लिए अनेक कुशों से उसका अभिषेक किया। उस अभिषेक के जल से विदर्भा नाम की नदी बनी। मनुष्य रेवती और गंगा के संगम में स्नान कर सब पापों से छूट जाता और विष्णुलोक में पूजित होता है। मुने! इसी प्रकार विदर्भा और गौतमी के संगम में स्नान करने से भी मनुष्य तत्क्षण भुक्ति और मुक्ति को प्राप्त करता है। यही नहीं, वहाँ दोनों तटों पर सब पापों को नष्ट करने वाले और सब प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करने वाले सौ तीर्थ भी हैं ॥१९-२६॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में विदर्भा-संगम, रेवती-संगम आदि तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१२१॥

अध्याय १२२

पूर्ण आदि तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद गंगा के उत्तर तट पर पूर्ण तीर्थ नामक एक तीर्थ है। उसमें यदि मनुष्य भूलकर भी स्नान करे तो भी शुभ फल प्राप्त करेगा ॥१॥ जहाँ स्वयं चक्रधर विष्णु और पिनाकी शिव निवास करते हैं,

पूर्णतीर्थस्य माहात्म्यं वर्ण्यते केन जन्तुना[1]। स्वयं संस्थीयते यत्र चक्रिणा च पिनाकिना ॥२॥
पुरा धन्वन्तरिर्नाम कल्पादावायुषः सुतः। इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैरश्वमेधपुरःसरैः ॥३॥
दत्त्वा दानान्यनेकानि भुक्त्वा भोगांश्च पुष्कलान्। विज्ञाय भोगवैषम्यं परं वैराग्यमाश्रितः ॥४॥
गिरिशृङ्गेऽम्बुधेः पारे तथा गङ्गानदीतटे। शिवविष्ण्वोर्गृहे वापि विशेषात्पुण्यसंगमे ॥५॥
तप्तं हुतं च जप्तं च सर्वमक्षयतां व्रजेत्। धन्वन्तरिरिति ज्ञात्वा तत्र तेपे तपो महत् ॥६॥
ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भीमेशचरणाश्रयः। तपश्चकार विपुलं गङ्गासागरसंगमे ॥७॥
पुरा च निकृतो राज्ञा रणं हित्वा महासुरः। सहस्रमेकं वर्षाणां समुद्रं प्राविशद्भयात् ॥८॥
धन्वन्तरौ वनं प्राप्ते राज्यं प्राप्ते तु तत्सुते। विरागं च गते राज्ञि ततः प्रायादथार्णवात् ॥९॥
तपस्यन्तं तमो नाम बलवानसुरो मुने। गङ्गातीरं समाश्रित्य राजा धन्वन्तरिर्यतः ॥१०॥
जपहोमरतो नित्यं ब्रह्मज्ञानपरायणः। तं रिपुं[2] नाशयामीति तमः प्रायादथार्णवात् ॥११॥
नाशितो बहुशोऽनेन राज्ञा बलवता त्वहम्। तं रिपुं[3] नाशयामीति तमः प्रायादथार्णवात् ॥१२॥
[4]मायया प्रमदारूपं कृत्वा राजानमभ्यगात्। नृत्यगीतवती सुभ्रूर्हसन्ती चारुदर्शना ॥१३॥

उस पूर्ण तीर्थ का माहात्म्य-वर्णन भला कौन कर सकता है ? ॥२॥ बहुत पहले कल्प के आदि में आयु का धन्वन्तरि नामक पुत्र था। उसने अश्वमेध आदि विविध यज्ञ किये, अनेक प्रकार के दान दिये और अनन्त भोगों का भोग किया। अन्त में भोगों का विषम-परिणाम जानकर वह परम विरक्त हो गया ॥३-४॥ उसने यह जानकर कि पर्वतशिखर, समुद्रतट, गंगातट अथवा शिव-विष्णु के मन्दिर में और विशेष रूप से पवित्र संगम-स्थान में जप, तप और हवन करने से अक्षय पुण्य प्राप्त होता है—यह जानकर धन्वन्तरि महान् तप करने लगा ॥५-६॥ उसने गंगा और सागर के संगम पर ज्ञान एवं वैराग्य से युक्त होकर शंकर के चरणों में दृढ़ निष्ठा रखकर महान् तपस्या की ॥७॥ पहले राजा (धन्वन्तरि) के शासन-काल में राजा से रण में हारकर एक महाराक्षस उसके भय से एक हजार वर्ष तक समुद्र में रहा ॥८॥ उस तम नामक राक्षस ने जब यह सुना कि राजा को विराग हो गया है, वह वन में तपस्या के लिए चला गया है और राज्य पुत्र के हाथ में चला आया है तब वह समुद्र से निकला ॥९॥ मुने ! वह बलवान् असुर समुद्र से निकलकर यह सोचने लगा कि जिसलिए राजा धन्वन्तरि गंगा-तट पर आश्रम बनाकर तपस्या कर रहा है और सर्वदा जप-होम में तल्लीन होकर ब्रह्मज्ञानपरायण हो गया है, अतः उस शत्रु को नष्ट कर दूँगा। इस बलवान् राजा ने मुझे अनेक बार नष्ट किया है। इसलिए मैं इस शत्रु को नष्ट करूँगा। यह सोचकर वह समुद्र से निकला ॥१०-१२॥ अनन्तर माया से नृत्यगीतकुशल, सर्वाङ्गसुन्दरी, सुन्दर भौं वाली और हास्यपटु रमणी का रूप धारण कर

---

[1]घ. देहिना। [2]घ. नृपं। [3]. नृपं। [4]घ. तमस्तु।

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं बहुकालं नयान्विताम्[1] । शान्तामनुव्रतां[2] भक्तां कृपया चाब्रवीन्नृपः[3] ।।१४।।

नृप उवाच

काऽसि त्वं कस्य हेतोर्वा वर्तसे गहने वने । कं दृष्ट्वा हर्षसीव त्वं वद कल्याणि पृच्छते ।।१५।।

ब्रह्मोवाच

प्रमदा चापि तद्वाक्यं श्रुत्वा राजानमब्रवीत् ।।१६।।

प्रमदोवाच

त्वयि तिष्ठति को लोके हेतुर्हर्षस्य मे भवेत् । अहमिन्द्रस्य या लक्ष्मीस्त्वां दृष्ट्वा कामसंभृतम् ।।१७।।
हर्षाच्चरामि पुरतो राजंस्तव पुनः पुनः । अगण्यपुण्यविरहादहं सर्वस्य दुर्लभा ।।१८।।

ब्रह्मोवाच

एतद्वचो निशम्याऽऽशु तपस्त्यक्त्वा सुदुष्करम्[4] । तामेव मनसा ध्यायंस्तन्निष्ठस्तत्परायणः[5] ।।१९।।
तदेकशरणो राजा बभूव स[6] यदा तमः । अन्तर्धानं गतो ब्रह्मन्नाशयित्वा तपो बृहत्[7] ।।२०।।
एतस्मिन्नन्तरेऽहं वै वरान्दातुं समभ्यगाम् । तं दृष्ट्वा विह्वलीभूतं तपोभ्रष्टं यथामृतम् ।।२१।।

वह राजा के पास गया । राजा ने उस सर्वाङ्गसुन्दरी, विनयशील, शान्त, भक्त और व्रतपरायण महिला को बहुत बार देखा । अन्त में स्वयं कृपा और प्रेम से आर्द्र हो उस माया-रमणी से पूछा ।।१३-१४।।

राजा बोला—तुम कौन हो ! किसलिए इस गहन वन में घूम रही हो ? कल्याणि ! किसको देखकर इतनी प्रसन्न-सी हो रही हो ? तुम बतलाओ, मैं पूछ रहा हूँ ।।१५।।

ब्रह्मा ने कहा—वह रमणी भी राजा के वाक्य को सुनकर उससे बोली ।।१६।।

रमणी बोली—तुम्हारे रहते दूसरा कौन मेरे आनन्द का कारण हो सकता है ? राजन् ! मैं इन्द्र के दरबार की शोभा हूँ, आज तुमको काममोहित देखकर आनन्द से बार-बार तुम्हारे सामने घूम रही हूँ । परन्तु यह समझ लो मैं अगणित पुण्य से रहित व्यक्ति के लिए दुर्लभ हूँ ।।१७-१८।।

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर राजा शीघ्र अपने अति दुष्कर तप को छोड़कर उसी का ध्यान करने लगा । उसी में उसकी एकमात्र निष्ठा हो गयी और उसके पीछे वह पागल-सा हो गया । ब्रह्मन् ! जब तम ने देखा कि राजा एकमात्र मुझ पर अनुरक्त हो गया है तब वह उसके महान् तप को अपनी माया से नष्ट कर स्वयं अन्तर्हित हो गया । नारद ! इसी बीच मैं उसको वर देने के लिए उसके पास गया । उस तपोभ्रष्ट, व्याकुल और मृततुल्य महाराज को देखकर मैंने विविध युक्तियों और उदाहरणों से उसको सान्त्वना दी कि देखो वह तम नामक तुम्हारा शत्रु था जो

१घ. ०न्वितः । शा० । २घ. ०नुपमांभक्त्या कृ० । २क.ङ ०वीदिदम् । नृ० । ४घ. ङ ०दुस्त्यजम् । ५घ. ०त्परोऽभवत् । अनाशयत्तपस्तस्य तमः केनापि हेतुना । त० । ६घ. च । ७घ. ङ. महत् ।

तमाश्वास्याथ विविधैर्हेतुभिर्नृपसत्तमम् । तव शत्रुस्तमो नाम कृत्वा तां तपसश्च्युतिम् ॥२२॥
चरितार्थो गतो राजन्न त्वं शोचितुमर्हसि । आनन्दयन्ति प्रमदास्तापयन्ति च मानवम् ॥२३॥
सर्वा एव विशेषेण किमु मायामयी तु सा । ततः कृताञ्जली राजा मामाह विगतभ्रमः ॥२४॥

राजोवाच

किं करोमि कथं ब्रह्मंस्तपसः पारमाप्नुयाम् ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

ततस्तस्योत्तरं प्रादां देवदेवं जनार्दनम् । स्तुहि सर्वप्रयत्नेन ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥२६॥
स ह्यशेषजगत्स्रष्टा वेदवेद्यः पुरातनः । सर्वार्थसिद्धिदः पुंसां नान्योऽस्ति भुवनत्रये ॥२७॥
स जगाम नगश्रेष्ठं हिमवन्तं नृपोत्तमः । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा विष्णुं तुष्टाव भक्तितः ॥२८॥

धन्वन्तरिरुवाच

जय विष्णो जयाचिन्त्य जय जिष्णो जयाच्युत[1] । जय गोपाल लक्ष्मीश जय कृष्ण जगन्मय ॥२९॥
जय भूतपते नाथ जय पन्नगशायिने । जय सर्वग गोविन्द जय विश्वकृते नमः ॥३०॥

इस प्रकार तुमको तपस्या से च्युत कर सफलमनोरथ होकर चला गया । राजन् ! तुम चिन्तित मत हो । सभी रमणियाँ विशेष रूप से मानव को आनन्दित करतीं और क्लेश पहुँचाती हैं । वह तो मायाविनी थी; फिर उसके विषय में कहना ही क्या ? तदनन्तर मेरी बातों को सुनकर उसका भ्रम दूर हो गया, उसने हाथ जोड़कर मुझसे कहा ॥१९-२४॥

राजा ने कहा—ब्रह्मन् ! तो अब मैं क्या करूँ ? किस प्रकार तपःसिद्धि को प्राप्त करूँ ॥२५॥

ब्रह्मा ने कहा—तदुपरान्त मैंने उसको उत्तर दिया कि तुम देवाधिदेव जनार्दन की स्तुति करो । उससे सिद्धि प्राप्त करोगे । वे सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, वेदों से जानने योग्य, पुरातन और मनुष्यों को सब प्रकार की मनोरथ-सिद्धि प्रदान करने वाले हैं । उनके समान इस त्रिभुवन में और कोई नहीं है । मेरे आदेश को मानकर वह नृपोत्तम पर्वतराज हिमालय पर गया और वहाँ अञ्जलि बाँधकर भक्तिपूर्वक विष्णु की स्तुति करने लगा ॥२६-२८॥

धन्वन्तरि ने कहा—विष्णो ! आपकी जय हो, अचिन्त्य ! जय हो, जयशील ! जय हो, अच्युत ! जय हो। गोपाल ! जय हो, लक्ष्मीपते ! जय हो, जगन्मय ! कृष्ण ! जय हो ॥२९॥ भूतपते ! जय हो। नाथ ! सर्प पर सोने वाले ! जय हो। व्यापक ! गोविन्द ! जय हो। जय हो । संसार के बनाने वाले ! आपको नमस्कार है ॥३०॥ विश्व के भोक्ता ! देव ! आपकी जय हो, विश्व के धारण करने वाले को नमस्कार है। ईश ! जय

---

[1] घ. च. ०याव्यय । ज० ।

जय विश्वभुजे[1] देव जय विश्वधृते[2] नमः । जयेश[3] सदसत्त्वं वै जय माधव धर्मिणे ॥३१॥
जय कामद काम त्वं जय राम गुणार्णव । जय पुष्टिद पुष्टीश जय कल्याणदायिने ॥३२॥
जय भूतप भूतेश जय [4]मानविधायिने । जय कर्मद कर्म त्वं जय पीताम्बरच्छद ॥३३॥
जय सर्वेश सर्वस्त्वं जय मङ्गलरूपिणे । जय [5]सत्त्वाधिनाथाय जय वेदविदे नमः ॥३४॥
जय जन्मद जन्मिस्थ[6] परमात्मन्नमोऽस्तु ते । जय मुक्तिद मुक्तिस्त्वं[7] जय भुक्तिद केशव ॥३५॥
जय लोकद लोकेश जय पापविनाशन । जय वत्सल भक्तानां जय चक्रधृते[8] नमः ॥३६॥
जय मानद मानस्त्वं जय लोकनमस्कृत । जय धर्मस्त्वं जय संसारपारग ॥३७॥
जय अन्नद [9]अन्नं त्वं जय वाचस्पते नमः । जय शक्तिद [10]शक्तिस्त्वं जय जैत्रवरप्रद ॥३८॥
जय यज्ञद यज्ञस्त्वं[11]जय पद्मलक्षेण । जय दानद दानं त्वं जय कैटभसूदन ॥३९॥

हो आप सत् और असत् है। माधव! धर्मात्मन्! धर्मात्मन्! जय हो ॥३१॥ काम के देने वाले! कामरूप! जय हो, गुण के सागर! राम! आपकी जय हो। पुष्टि के देने वाले! जय हो, पुष्टि के ईश! जय हो। कल्याणदाता की जय हो॥३२॥ समस्त प्राणियों के पालन करने वाले! भूतेश! जय हो। संमान देने वाले की जय हो। कर्म के देने वाले! कर्मरूप! जय हो। पीताम्वरधारी! आपकी जय हो॥३३॥ सर्वेश! सर्व! आपकी जय हो। मंगल रूपी की जय हो। जीवों के अधिपति की जय हो। वेदों के ज्ञाता की जय हो। आपको नमस्कार है ॥३४॥ जन्मदाता! जन्म देने वालों के हृदय में रहने वाले! परमात्मन्! आपको नमस्कार है। मुक्तिदाता! जय हो। आप मुक्ति रूप भी हैं। केशव! भुक्तिदाता! जय हो ॥३५॥ लोक के मनोरथ-दाता! लोकेश! पापविनाशक! जय हो, भक्तवत्सल! जय हो, चक्रधारी को नमस्कार है ॥३६॥ मान देने वाले! आप मानस्वरूप हैं। संसार से पूजित! जय हो! धर्म के देने वाले! और धर्मस्वरूप! आपकी जय हो। संसार के पार जाने वाले! जय हो ॥३७॥ अन्नदाता! आप अन्नस्वरूप हैं। आपकी जय हो। वाणीपति को नमस्कार है। शक्ति के दाता! जय हो। आप शक्तिस्वरूप हैं। विजयी जनों को वर देने वाले! जय हो ॥३८॥ यज्ञफल देने वाले! आप यज्ञस्वरूप हैं। आपकी जय हो। पद्म की पंखुड़ियों के समान नेत्रवाले! जय हो। दानदाता! आप दानस्वरूप हैं। आपकी जय हो। कैटभ नामक असुर के शत्रु! जय हो॥३९॥ कीर्तिदाता! आप कीर्तिस्वरूप हैं। आपकी जय हो।

---

[1] च. विश्वविदे। [2] घ. च. पाशभृते। [3] घ. ङ. जय सत्यद स्त्य त्वं ज०। [4] घ. मायावि०। [5] घ. च. सत्त्वद सत्त्वस्थ ज०। [6] ङ. जन्म त्वं प०। [7] च. मुक्तीश जय सर्वद माधव। [8] घ. च. ०क्रभृते। [9] घ. च. अन्नात्मञ्जय। [10] घ. च. शक्त्यात्मञ्जय ज्ञानव०। [11] घ. च. यज्ञात्मञ्जय।

जय कीर्तिद कीर्तिस्त्वं जय मूर्तिद मूर्तिधृक् । जय सौख्यद सौख्यात्मञ्जय पावनपावन ।।४०।।
जय शान्तिद शान्तिस्त्वं जय शंकरसंभव । जय पानद पानस्त्वं जय ज्योतिःस्वरूपिणे ।।४१।।
जय वामन वित्तेश जय धूमपताकिने । जय सर्वस्य जगतो दातृमूर्ते नमोऽस्तु ते ।।४२।।
त्वमेव लोकत्रयवर्तिजीवनिकायसंक्लेशविनाशदक्ष ।
श्रीपुण्डरीकाक्ष कृपानिधे त्वं, निधेहि पाणिं मम मूर्ध्नि विष्णो ।।४३।।

ब्रह्मोवाच

एवं स्तुवन्तं भगवाञ्शङ्खचक्रगदाधरः । वरेण च्छन्दयामास सर्वकामसमृद्धिदः ।।४४।।
धन्वन्तरिः प्रीतमना वरदानेन चक्रिणः । वरदानाय देवेशं गोविन्दं संस्थितं पुरः ।।४५।।
तमाह नृपतिः प्रह्वः सुरराज्यं ममेप्सितम् । तच्च दत्तं त्वया विष्णो प्राप्तोऽस्मि कृतकृत्यताम् ।।४६।।
स्तुतः संपूजितो विष्णुस्तत्रैवान्तरधीयत । तथैव त्रिदशेशत्वमवाप नृपतिः क्रमात् ।।४७।।
प्रार्गाजितानेककर्मपरिपाकवशात्ततः । त्रिःकृत्वो नाशमगमत्सहस्राक्षः स्वकात्पदात् ।।४८।।
नहुषाद्वृत्रहत्यायाः सिन्धुसेनवधात्ततः । अहल्यायां च गमनाद्येन केन च हेतुना ।।४९।।
स्मारं स्मारं तत्तदिन्द्रश्चिन्तासंतापदुर्मनाः । ततः सुरपतिः प्राह वाचस्पतिमिदं वचः ।।५०।।

मूर्ति देने वाले ! मूर्ति धारण करने वाले ! जय हो। सौख्य प्रदान करने वाले ! सौख्यरूप ! जय हो। पवित्र को भी पवित्र करने वाले ! जय हो ।।४०।। शान्ति प्रदान करने वाले ! आप शान्तिरूप हैं । आपकी जय हो। शंकर के उद्‌गम ! जय हो ! पेय प्रदान करने वाले ! आप पेयरूप हैं ! आपकी जय हो, ज्योतिःस्वरूप की जय हो ।।४१।। वामन ! जय हो धनेश ! जय हो । अग्निरूप की जय हो । सम्पूर्ण संसार के दातास्वरूप आपको नमस्कार है ।।४२।। आप ही त्रिभुवन में रहने वाले प्राणि-समूह के महान् क्लेशों को विनष्ट करने में दक्ष हैं। श्रीकमलनयन ! कृपानिधान ! विष्णो ! आप मेरे सिर पर अपना (वरद) हस्त रखिये ।।४३।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार स्तुति करने वाले धन्वन्तरि को सव प्रकार की कामनाओं और समृद्धियों को देने वाले तथा शंख, चक्र एवं गदा धारण करने वाले भगवान् विष्णु ने वर प्रदान किया। चक्री के वरदान से धन्वन्तरि प्रसन्न हो गया। उसने वड़ी विनम्रता से वर देने के लिए सामने खड़े भगवान् से कहा—'विष्णो ! आपने मेरी अभीप्सित कामना देवराज्य प्रदान कर दिया। इससे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ।' भगवान् विष्णु भी राजा की स्तुति और पूजा से प्रसन्न हो अन्तर्धान हो गये। राज ने भी क्रम से देवेन्द्र की पदवी प्राप्त की। तदनन्तर पूर्वजन्म के अनेक कर्मों के परिपाक से वह सहस्राक्ष (इन्द्र) अपने पद से तीन वार च्युत हुए। पहली वार वृत्र-हत्या के कारण नहुष द्वारा पदच्युत किये गये, दूसरी वार सिन्धुसेन-वध के कारण, इसके वाद तीसरी वार अहल्या के पास अनुचित रूप से जाने के कारण वे पदच्युत हुए। इस प्रकार जिस किसी कारण से पदभ्रष्ट होने पर इन्द्र अपने उन-उन पतन की घटनाओं अथवा कारणों को सोचकर चिन्ता की अग्नि से जलने-से लगे। तव अत्यन्त व्याकुल हो देवेन्द्र ने वृहस्पति से यह प्रश्न किया ।।४४-५०।।

इन्द्र उवाच

हेतुना केन वागीश भ्रष्टराज्यो भवाम्यहम् । मध्ये मध्ये पदभ्रंशाद्वरं निःश्रीकता नृणाम् ।।५१।।
गहनां कर्मणां जीवगतिं को वेत्ति तत्त्वतः । रहस्यं सर्वभावनां ज्ञातुं नान्यः प्रगल्भते ।।५२।।

ब्रह्मोवाच

बृहस्पतिर्हरिं प्राह ब्रह्माणं पृच्छ गच्छ तम् । स तु जानाति यद्भूतं भविष्यच्चापि वर्तनम् ।।५३।।
स तु वक्ष्यति येनेदं जातं[1] तच्च महामते । तावागत्य महाप्राज्ञौ नमस्कृत्य ममान्तिकम् ।।
कृताञ्जलिपुटौ भूत्वा मामूचतुरिदं वचः ।।५४।।

इन्द्रबृहस्पती ऊचतुः

भगवन्केन दोषेण शचीभर्ता उदारधीः । राज्यात्प्रभ्रश्यते नाथ संशयं छेत्तुमर्हसि ।।५५।।

ब्रह्मोवाच

तदाऽहमब्रवं ब्रह्मंश्चिरं ध्यात्वा बृहस्पतिम् । खण्डधर्माख्यदोषेण तेन राज्यपदाच्च्युतः ।।५६।।
देशकालादिदोषेण श्रद्धामन्त्रविपर्ययात् । यथावद्दक्षिणादानादसद्द्रव्यप्रदानतः ।।५७।।
देवभूदेवतावज्ञापातकाच्च विशेषतः । यत्खण्डत्वं स्वधर्मस्य देहिनामुपजायते ।।५८।।

इन्द्र ने कहा—वागीश ! किस कारण मैं सिहान-च्युत हो जाता हूँ । मनुष्यों के वीच-वीच में पद-भ्रंश से तो जीवनभर श्री-हीन होना ही उत्तम है । दुर्ज्ञेय कर्मों के अनुसार कठिन जीवगति को कौन व्यक्ति यथार्थतः जाना पाता है ? सव भावों (व्यापारी) के रहस्यों को जानने की क्षमता अन्य किसी में नहीं है।।५१-५२।।

ब्रह्मा ने कहा—वृहस्पति ने इन्द्र से कहा कि तुम ब्रह्मा के पास जाओ और उनसे ही पूछो । वे भूत, भविष्य और वर्तमान को जानते हैं । महामते ! वही जिस कारण ऐसा हुआ है, उसको वतायेंगे । ऐसा परामर्श करके वे दोनों महामतिमान् मेरे समीप आये और नमस्कार कर वद्धाञ्जलि हो मुझसे वोले ।।५३-५४।।

इन्द्र और बृहस्पति ने कहा—भगवन् ! किस दोष से उदार वुद्धि वाले देवराज अपने राज्य से च्युत होते हैं । नाथ ! इस संशय को आप ही दूर कर सकते हैं ।।५५।।

ब्रह्मा ने कहा—व्रह्मन् ! तव मैंने वहुत देर तक सोच-विचार कर बृहस्पति से कहा कि ये खण्ड-धर्म नामक दोष के काण राज्यपद से च्युत हो गये हैं । क्योंकि देशकाल आदि के दोष से, श्रद्धा और मन्त्र के विपर्यय से, यथोचित दक्षिणा के न देने से, असद् द्रव्य के दान देने से विशेष रूप से देवता एवं व्राह्मण के अपमानजन्य पाप से मनुष्यों का जो धर्म खण्डित होता है, उससे अत्यन्त मानसिक संताप होता है, और अवश्यमेव पदहानि होती है । क्षुब्धचित्त होकर धर्म करने से भी अनिष्ट ही होता है । वह धर्म कार्य-सिद्धि के लिए नहीं होता, है, अतएव मनुष्य को स्थिरचित्त

---

[1] घ. च. ०तं वक्ष्यति निष्कृतिम् । ता० ।

तेनातिमानसस्तापः पदहानिश्च दुस्त्यजा । कृतोऽपि धर्मोऽनिष्टाय जायते क्षुब्धचेतसा ।।५९।।
कार्यस्य न भवेत्सिद्ध्यै तस्मादव्याकुलाय च । असंपूर्णे स्वधर्मे हि किमनिष्टं न जायते ।।६०।।
ताभ्यां यत्पूर्ववृत्तान्तं तदप्युक्तं मयाऽनघ । आयुषस्तु सुतःश्रीमान्धन्वन्तरिरुदारधीः ।।६१।।
तमसा च कृतं विघ्नं विष्णुना तच्च नाशितम् । पूर्वजन्मसु वृत्तान्तमित्यादि परिकीर्तितम् ।।६२।।
तच्छ्रुत्वा विस्मतौ चोभौ मामेव पुनरूचतुः ।।६३।।

इन्द्रबृहस्पती ऊचतुः

तद्दोषप्रतिबन्धस्तु केन स्यात्सुरसत्तम ।।६४।।

ब्रह्मोवाच

पुनर्ध्यात्वा ताववदं श्रूयतां दोषका (हा) रकम् । कारणं सर्वसिद्धीनां दुःखसंसारतारणम् ।।६५।।
शरणं तप्तचित्तानां निर्वाणं जीवतामपि । गत्वा तु गौतमीं देवीं स्तूयेतां हरिशंकरौ ।।६६।।
नोपायोऽन्योऽस्ति संशुद्ध्यै तौ तां हित्वा जगत्त्रये । तदैव जग्मतुरुभौ गौतमीं मुनिसत्तम ।।
स्नातौ [1]कृतक्षणौ चोभौ देवौ तुष्टुवतुर्मुदा ।।६७।।

इन्द्र उवाच

नमो मत्स्याय कूर्माय वराहाय नमो नमः । नरसिंहाय देवाय वामनाय नमो नमः ।।६८।।

होकर धर्मकार्य करना चाहिये । अपने धर्म के अपूर्ण रहने पर कौन-सा अनिष्ट नहीं होता है ? निष्पाप ! मैंने उन दोनों से जो कुछ पूर्व जन्म का वृत्तान्त था, उसको भी कह दिया । उदारवुद्धि आयु-पुत्र धन्वन्तरि का होना, तम राक्षस द्वारा उनकी तपस्या में विघ्न डालना और विष्णु के द्वारा पुनः उन विघ्नों का नाश आदि जो कुछ पूर्व जन्म के वृत्तान्त थे, सव वता दिये । इस प्रकार की वातें सुनकर वे दोनों विस्मित हो गये । पुनः उन दोनों ने मुझसे कहा ।।५६-६३।।

इन्द्र और बृहस्पति ने कहा—हे देवश्रेष्ठ ! इस दोष का निराकरण किससे होगा ? ।।६४।।

ब्रह्मा ने कहा—पुनः मैंने विचारकर उन दोनों से कहा कि सुनो, सव प्रकार की सिद्धियों के आदिकारण, संसार के दुःखों से पार लगाने वाले, दुःख-दग्ध जीवों के एकमात्र आधार और जीवन में ही निर्वाण सुख देने वाले उपाय को सुनो । गौतमी-गंगा के तट पर जाकर हरि और शंकर की स्तुति करो । दोष-शुद्धि के लिए हरि और शंकर की स्तुति को छोड़कर इन तीनों लोकों में अन्य कोई उपाय नहीं है । मुनिश्रेष्ठ ! यह सुनकर वे दोनों उसी समय गौतमी के समीप गये और स्नान कर समय पाकर दोनों देवों की स्तुति करने लगे ।।६५-६७।।

इन्द्र ने कहा—भगवान् मत्स्य को नमस्कार है, कूर्म को नमस्कार है, वराह को वार वार नमस्कार है, नरसिंह देव और वामन को नमस्कार है, नमस्कार है । अश्वरूप भगवान् को नमस्कार है । तीन डग से सम्पूर्ण भुवनमण्डल

---

[1] च. कृतेक्ष० ।

नमोऽस्तु हयरूपाय त्रिविक्रम नमोऽस्तु ते । नमोऽस्तु[1] बुद्धरूपाय रामरूपाय कल्किने ॥६९॥
अनन्तायाच्युतायेश जामदग्न्याय ते नमः । वरुणेन्द्रस्वरूपाय यमरूपाय ते नमः ॥७०॥
परमेशाय देवाय नमस्त्रैलोक्यरूपिणे । बिभ्रत्सरस्वतीं वक्त्रे सर्वज्ञोऽसि नमोऽस्तु ते ॥७१॥
लक्ष्मीवानस्यतो लक्ष्मीं बिभ्रद्वक्षसि चानघ । बहुबाहूरूपादस्त्वं बहुकर्णाक्षिशीर्षकः ॥
त्वामेव सुखिनं प्राप्य बहवः सुखिनोऽभवन् ॥७२॥
तावन्निःश्रीकता पुंसां मालिन्यं दैन्यमेव वा । यावन्न यान्ति शरणं हरे त्वां करुणार्णवम् ॥७३॥

बृहस्पतिरुवाच

सूक्ष्मं परं जो (ज्यो) तिरनन्तरूपमोंकारमात्रं प्रकृतेः परं यत् ।
चिद्रूपमानन्दमयं समस्तमेवं वदन्तीश मुमुक्षवस्त्वाम् ॥७४॥
आराधयन्त्यत्र भवन्तमीशं, महामखैः पञ्चभिरप्यकामाः ।
संसारसिन्धोः परमाप्तकामा, विशन्ति दिव्यं भुवनं वपुस्ते ॥७५॥
सर्वेषु सत्त्वेषु समत्वबुद्ध्या, संवीक्ष्य षट्सूर्मिषु शान्तभावाः ।
ज्ञानेन ते कर्मफलानि हित्वा, ध्यानेन ते त्वां प्रविशन्ति शंभो ॥७६॥

को नापे वाले (त्रिविक्रम) ! आपको नमस्कार है ! बुद्धरूप, रामरूप और कल्की रूप में अवतीर्ण होने वाले भगवान् को नमस्कार है । ईश ! अनन्त, अच्युत और परशुराम रूप आपको नमस्कार है । वरुण, इन्द्र और यम रूप आपको नमस्कार है । परमेश देव और त्रैलोक्यरूपधारी को नमस्कार है । अपने मुख में सरस्वती को धारण करने वाले आप सर्वज्ञ हैं, आपको नमस्कार है । निष्कलमष ! आप लक्ष्मीवान् हैं, इसलिये लक्ष्मी कों वक्षःस्थल पर धारण करते हैं । आप अनन्त बाहु, ऊरू (जंघा), चरण, कान, आँख और सिर वाले हैं । सुखमूर्ति आपको पाकर ही बहुत-से मनुष्य सुखी हो गये । हरे ! मनुष्यों के पास दरिद्रता, मलिनता और दीनता तभी तक रहती है जब तक वे करुणा सागर आपकी शरण में नहीं जाते हैं ॥६८-७४॥

बृहस्पति ने कहा—ईश ! मुमुक्षु लोग आपको सूक्ष्म, पर, ज्योतिः स्वरूप, अनन्तरूप, ओंकार मात्र, प्रकृति से परे, चिद्रूप, आनन्दमय और सम्पूर्ण (विश्वरूप) ऐसा कहते हैं ॥७४॥ निष्काम साधक पाँच महायज्ञों द्वारा आप प्रभु की ही आराधना करते हैं । संसार-सागर से पार जाने की इच्छा करने वाले लोग आप ही के दिव्य भुवन रूपी शरीर में प्रवेश करते हैं ॥७५॥ शंभो ! सब प्राणियों में समान बुद्धि से देखकर, छह प्रकार के क्लेशों—भूख, प्यास, लोभ, मोह, सर्दी और गर्मी में शान्त भाव से रहने वाले मुमुक्षुजन तुम्हारे ज्ञान से कर्म-फलों को छोड़कर ध्यानके द्वारा तुममें ही प्रवेश करते हैं ॥७६॥ मुझमें न तो जाति-धर्म है, न वेद-शास्त्र का ज्ञान है, न ध्यान-योग

---

[1] घ. च. ०स्तु रामरामाय बौद्धरूपाय क० ।

न जातिधर्माणि न वेदशास्त्रं, न ध्यानयोगो न [1]समाधिधर्मः ।
रुद्रं शिवं शंकरं शान्तचित्तं, भक्त्या देवं सोममहं नमस्ये ॥७७॥
मूर्खोऽपि शंभो तव पादभक्त्या,समाप्नुयान्मुक्तिमयीं तनुं ते ।
ज्ञानेषु यज्ञेषु तपःसु चैव, ध्यानेषु होमेषु महाफलेषु ॥७८॥
संपन्नमेतत्फलमुत्तमं यत्सोमेश्वरे भक्तिरहर्निशं यत् ।
स्वर्गस्य जीवस्य सदा प्रियस्य, फलस्य दृष्टस्य तथा श्रुतस्य ॥७९॥
स्वर्गस्य मोक्षस्य जगन्निवास, सोपानपङ्क्तिस्तव भक्तिरेषा ।
त्वत्पादसंप्राप्तिफलाप्तये तु, सोपानपङ्क्तिं न वदन्ति धीराः ॥८०॥
तस्माद्दयालो मम भक्तिरस्तु, नैवास्त्युपायस्तव रूपसेवा ।
आत्मीयमालोक्य महत्त्वमीश, पापेषु चास्मासु कुरु प्रसादम् ॥८१॥
स्थूलं च सूक्ष्मं त्वमनादि नित्यं, पिता च माता यदसच्च सच्च ।
एवं स्तुतो यः श्रुतिभिः पुराणैर्नमामि सोमेश्वरमीशितारम् ॥८२॥

ब्रह्मोवाच

ततः प्रीतौ हरिहरावूचतुस्त्रिदशेश्वरौ ॥८३॥

हरिहरावूचतुः

व्रियतां यन्मनोभीष्टं यद्वरं चातिदुर्लभम् ॥८४॥

का बल है और न समाधि-धर्म ही है। मैं केवल भक्तिपूर्वक शान्तचित्त रुद्र, शिव, शंकर और सोमदेव को नमस्कार करता हूँ ॥७७॥ शंभो ! मूर्ख भी तुम्हारे चरणों की भक्ति से आपके मुक्तिमय शरीर को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान, यज्ञ, तपस्या, ध्यान, होम, महान् फल वाले कार्यों का उत्तम फल यही है कि भगवान् सोमेश्वर के चरणों में सर्वदा अचल भक्ति हो ॥७६$\frac{१}{३}$॥ जगन्निवास ! आपकी यह भक्ति स्वर्ग के फल तथा जीवों को प्रिय लगने वाले दृष्ट एवं श्रुत फल और स्वर्ग तथा मोक्ष (प्राप्त करने) की सीढ़ियों की परम्परा है ॥७९$\frac{१}{३}$॥ परन्तु धीर पुरुष तुम्हारे चरणों तक पहुँचा देने के लिए इस सीढ़ियों के सिलसिले को नहीं बताते हैं ॥८०॥ इसलिए हे दयालो ! तुममें मेरी भक्ति है, तुम्हारी रूप-सेवा (भक्ति) के अतिरिक्त मेरे लिये और कोई उपाय नहीं है। ईश ! अपनी महत्ता का ध्यान कर हम पापात्माओं के ऊपर आप प्रसन्न होइये ॥८१॥ श्रुतियों और पुराणों ने स्थूल, सूक्ष्म, अनादि, नित्य, पिता, माता, असत् और सत् कहकर जिसकी स्तुति की है, उस प्रभु सोमेश्वर को नमस्कार करता हूँ ॥८२॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर देवेश हरि और हर प्रसन्न होकर बोले ॥८३॥

हरिहर ने कहा—तुम लोगों को जो अभीष्ट हो और जो अतिदुर्लभ वर हो, वह माँगो ॥८४॥

---

[1] घ. च. ०धिकर्म । रू० ।

ब्रह्मोवाच

इन्द्र प्राह सुरेशानं मद्राज्यं तु पुनः पुनः । जायते भ्रश्यते चैव तत्पापमुपशाम्यताम् ॥८५॥
यथा स्थिरोऽहं राज्ये स्यां सर्वं स्यान्निश्चलं मम । सुप्रीतौ यदि देवेशौ सर्वं स्यान्निश्चलं सदा ॥८६॥
तथेति हरिवाक्यं तावभिनन्द्येदमूचतुः । परं प्रसादमापन्नौ तावालोक्य स्मिताननौ ॥८७॥
निरपायनिराधारनिर्विकारस्वरूपिणौ । शरण्यौ सर्वलोकानां भुक्तिमुक्तिप्रदावुभौ ॥८८॥

हरिहरावूचतः

त्रिदैवत्यं महातीर्थं गौतमी वाञ्छितप्रदा । तस्यामनेन मन्त्रेण कुरुतां स्नानमादरात् ॥८९॥
अभिषेकं महेन्द्रस्य मङ्गलाय बृहस्पतिः । करोतु संस्मरन्नावां संपदां स्थैर्यसिद्धये ॥९०॥
इह जन्मनि पूर्वस्मिन्यत्किंचित्सुकृतं कृतम् । तत्सर्वं पूर्णतामेतु गोदावरि नमोऽस्तु ते ॥९१॥
एवं स्मृत्वा तु यः कश्चिद्गौतम्यां स्नानमाचरेत् । आवाभ्यां तु प्रसादेन धर्मः संपूर्णतामियात् ॥
पूर्वजन्मकृताद्दोषात्स मुक्तः पुण्यवान्भवेत् ॥९२॥

ब्रह्मोवाच

तथेति चक्रतुः प्रीतौ सुरेन्द्रधिषणौ ततः । महाभिषेकमिन्द्रस्य चकार द्युसदां गुरुः ॥९३॥
तेनाभूद्या नदी पुण्या मङ्गलेत्युदिता तु सा । तया च संगमः पुण्यो गङ्गायाः शुभदस्त्वसौ ॥९४॥
इन्द्रेण संस्तुतो विष्णुः प्रत्यक्षोऽभूज्जगन्मयः । त्रिलोकसंमितां शक्रो भूमिं लेभे जगत्पतेः ॥९५॥

ब्रह्मा ने कहा—इंद्र ने शंकर से कहा—जिस पाप से वार वार मेरा राज्य होता है और नष्ट हो जाता है उस पाप को शान्त कीजिये। यदि आप दोनों देवेश परम प्रसन्न हैं तो मैं जिस प्रकार अपने राज्य पर स्थिर हो जाऊँ और सब पर मेरा अधिकार अचल हो जाय, वैसा कीजिये। विष्णु ने 'ऐसा ही हो' यह कहा। इस स्वीकारात्मक वाणी को सुनकर उन दोनों ने अभिनन्दन किया और पुनः कहा—अविनाशी, निराधार, निर्विकारस्वरूप, समस्त लोकों के रक्षक और भोग-मोक्ष देने वाले आप दोनों को प्रसन्नमुख देखकर हम दोनों अत्यन्त आनन्दित हो गये ॥८५-८८॥

हरिहर ने कहा—यह त्रिदैवत्य (तीन देवताओं वाला) महातीर्थ है, और यह गौतमी वाञ्छित फल को देने वाली है। उसमें इस (निम्नलिखित) मन्त्र से भक्तिपूर्वक स्नान करो। बृहस्पति इन्द्र के कल्याण तथा सम्पत्ति की स्थिरता के लिए हम दोनों का स्मरण करते हुए, देवराज का अभिषेक करें। (स्नान-मंत्र) 'इस जन्म में तथा पूर्वजन्म में, जो कुछ मैंने शुभ कर्म किये हैं, वे सब (कर्म) पूर्ण हो जायें। हे गोदावरी! आपको नमस्कार है!' इस प्रकार स्मरण कर जो कोई गौतमी में स्नान करता है, उसका खण्डित धर्म हम लोगों की कृपा से पूर्ण हो जाता है और वह पूर्व जन्म के किये दोषों से मुक्त हो पुण्यवान् हो जाता है ॥८९-९२॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके उपरान्त महेन्द्र और वाचस्पति ने 'ऐसा ही करेंगे' यह कहकर प्रसन्न हो कार्य प्रारम्भ किया। देव-गुरु ने इन्द्र का महाभिषेक किया। उस अभिषेक-जल से जो नदी उत्पन्न हुई वह पवित्र मंगला नाम से प्रसिद्ध हुई। गंगा के साथ उसका संगम पवित्र और शुभप्रद हुआ। इन्द्र की स्तुति से जगन्मूर्ति विष्णु वहाँ प्रत्यक्ष हुए। उस जगत्पति की कृपा से इन्द्र ने त्रिलोक-पूजित (भूमि) प्राप्त की। इसलिए वहाँ 'गोविन्द' इस नाम से

तन्नाम्ना चापि विख्यातो गोविन्दो इति तत्र च। त्रिलोकसंमिता लब्धा तेन गौर्वज्रधारिणा ॥९६॥
दत्ता च हरिणा तत्र गोविन्दस्तदभूद्धरिः। त्रैलोक्यराज्यं [1]यत्प्राप्तं हरिणा च हरेर्मुने ॥९७॥
निश्चलं येन (तच्च) [2] संजातं देवदेवान्महेश्वरात्। बृहस्पतिर्देवगुरुर्यत्रास्तौषीन्महेश्वरम्[3] ॥९८॥
राज्यस्य स्थिरभावाय[4] देवेन्द्रस्य महात्मनः। सिद्धेश्वरस्तत्र देवो लिङ्गं तु त्रिदशार्चितम् ॥९९॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं गोविन्दमिति विश्रुतम्। [5]मङ्गलसंगमं चैव पूर्णतीर्थं ततः परम् ॥१००॥
इन्द्रतीर्थमिति ख्यातं बार्हस्पत्यं च विश्रुतम्। यत्र[6] सिद्धेश्वरो देवो विष्णुर्गोविन्द एव च ॥१०१॥
तेषु[7] स्नानं च दानं च यत्किंचित्सुकृतार्जनम्[8]। सर्वं तदक्षयं विद्यात्पितॄणामतिवल्लभम् ॥१०२॥
शृणोति यश्चापि पठेद्यश्च स्मरति नित्यशः। तस्य तीर्थस्य माहात्म्यं भ्रष्टराज्यप्रदायकम् ॥१०३॥
सप्तत्रिंशत्सहस्राणि तीर्थानां तीरयोर्द्वयोः। उभयोर्मुनिशार्दूल सर्वसिद्धिप्रदायिनाम् ॥१०४॥
न पूर्णतीर्थसदृशं तीर्थमस्ति महाफलम्। निष्फलं तस्य जन्मादि यो न सेवेत तन्नरः ॥१०५॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये उभयोस्तीरयोः पूर्णतीर्थमङ्गलासंगमगोविन्दसिद्धेश्वरादिसप्तत्रिंशत्सहस्रतीर्थवर्णनं नाम द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१२२॥

गौतमीमाहात्मये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५३॥

विख्यात हुए; क्योंकि उस वज्रधारी इन्द्र ने वहाँ त्रैलोक्यपूजित गौ (भूमि) प्राप्त की। विष्णु ने वहाँ इन्द्र को गौ दी थी, इसलिए हरि गोविन्द हो गये। मुने! विष्णु से इन्द्र ने जो त्रैलोक्य-राज्य प्राप्त किया वह राज्य देवाधिदेव महेश्वर की कृपा से अचल हो गया। देव-गुरू वृहस्पति ने जहाँ महात्मा देवेन्द्र के राज्य की स्थिरता के लिए महेश्वर की स्तुति की, वहाँ सिद्धेश्वर देव और देवपूजित लिंग की स्थापना की गयी। उस समय से वह तीर्थ गोविन्द नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसके पश्चात मंगला-संगम, पूण्यतीर्थ, इन्द्रतीर्थ और वृहस्पति तीर्थ विख्यात तीर्थ हुए। जहाँ सिद्धेश्वर देव, विष्णु और गोविन्द (इन्द्र) स्थित हैं, उन तीर्थों में स्नान करने और दान देने से जो कुछ पुण्य प्राप्त होते हैं, वे सव अक्षय होते हैं और उनसे पितरों को अत्यन्त प्रसन्नता मिलती है। उस तीर्थ के माहात्म्य को जो कोई नित्य पढ़ता है, या स्मरण करता है, उसका गया हुआ राज्य और नष्ट वैभव पुनः प्राप्त हो जाते हैं। मुनिवर! उस पुण्य सलिला नदी के दोनों तटों पर सव प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करने वाले सैंतीस हजार तीथल हैं। पूर्ण तीर्थ के समान उत्तम फल देने वाला को ई भी तीर्थ इस भूमण्डल पर नहीं है। उस मनुष्य के जन्म आदि निष्फल हैं, जो इस पूर्णतीर्थ का सेवन नहीं करता है ॥९३-१०५॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में पूर्णतीर्थ, मङ्गला तीर्थ आदि सैंतीस हजारर तीर्थों का माहात्म्य-वर्णन नामक एक सौ बाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥१२२॥

---

[1] घ.च. तत्प्राप्तं। [2] क. ०तं तद्वै देवा०। [3] घ. च. ०रूस्तोषं नीत्वा महे०। ङ. ०रूस्तत्र स्थाप्य महे०। [4] घ. च. ०रतां प्रायाद्देवे ०। ङ. ०रतां प्राप·दे०। [5] घ. च. ०मं चेति तत्र स्नात्वा शुचिर्भवेत्। इ०। [6] ङ.च. तत्र। [7] क. तत्र। [8] घ. ङ. च. ०म्। यत्र सिद्धेश्वरो देवो गोविन्दो जनवल्लभः। स०।

अथ त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

रामतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

रामतीर्थमिति ख्यातं[1] भ्रूणहत्याविनाशनम् । तस्य[2] श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।१।।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवः[3] क्षत्रियो लोकविश्रुतः । बलवान्मतिमाञ्शूरो यथा शक्रः पुरंदरः ।।२।।
पितृपैतामहं राज्यं कुर्वन्नास्ते यथा बलिः । तस्य तिस्रो महिष्यः स्यू राज्ञो दशरथस्य हि ।।३।।
कौशल्या च सुमित्रा च कैकेयी च महामते । एताः कुलीनाः सुभगा रूपलक्षणसयुंताः ।।४।।
तस्मिन्राजनि राज्ये तु स्थितेऽयोध्यापतौ मुने । वसिष्ठे ब्रह्मविच्छ्रेष्ठे पुरोधसि विशेषतः ।।५।।
न च व्याधिर्न दुर्भिक्षं न चावृष्टिर्न चाऽऽधयः । ब्रह्मक्षत्रविशां नित्यं शूद्राणां च विशेषतः ।।६।।
आश्रमाणां तु सर्वेषामानन्दोऽभूत्पृथक्पृथक् । तस्मिञ्शासति राजेन्द्र इक्ष्वाकूणां कुलोद्वहे[4] ।।७।।
देवानां दानवानां तु राज्यार्थे विग्रहोऽभवत् । क्वापि तत्र जयं प्रापुर्देवाः क्वापि तथेतरे ।।८।।
एवं प्रवर्तमाने तु त्रैलोक्यमतिपीडितम् । अभून्नारद तत्राहमवदं दैत्यदानवान् ।।९।।

अध्याय १२३

रामतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—गर्भहत्या के पाप को दूर करने वाला रामतीर्थ नामक एक तीर्थ है। उसके नामश्रवण मात्र से मनुष्य सव पापों से छूट जाता है।। १।। इक्ष्वाकुवंशी, विश्व-प्रसिद्ध, वलवान् क्षत्रिय राजा दशरथ इन्द्र के समान शूर और बुद्धिमान् थे।।२।। वे वलि के समान अपने पिता-पितामह के राज्य का पालन करते थे। उस राजा दशरथ की तीन रानियाँ थीं ।।३।। महामते ! उनके नाम कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा थे। वे कुलीन, भाग्यशालिनी और रूप-लक्षण-संपन्ना थीं ।।४।। मुने ! उस अयोध्यापति राजा दशरथ के शासन-काल में, विशेषकर महाब्रह्मज्ञानी वसिष्ठ के पुरोहित रहते ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और विशेषतया शूद्रं को कभी भी मानसिक पीड़ा, व्याधि, दुर्भिक्ष अथवा अवृष्टि (सूखा) इत्यादि से कष्ट नहीं होता था ।।५-६।। इक्ष्वाकु-कुल की मर्यादा बढ़ाने वाले उस राजेन्द्र के शासन में सब आश्रमों को पृथक-पृथक् इच्छानुकूल आनन्द प्राप्त था ।।७।। इसी समय देवताओं और दानवों में राज्य के लिए युद्ध हो गया, कहीं पर राक्षसों की विजय तो किसी मोर्चे पर देवों की विजय हुई ।।८।। इस प्रकार युद्ध छिड़ जाने पर त्रि-भुवन दुःख से काँप उठा। नारद ! यह देखकर मैंने दैत्य-दानवों और विशेषकर देवताओं को समझाया परन्तु उन रण-दुर्मदों ने मेरा कहना नही सुना ।।९½।। प्रत्युत, पुनः उनमें परस्पर अति भयंकर युद्ध छिड़

१ङ. च। ०तं ब्रह्मह०। २ङ. ०स्य स्मरण०। ३घ. ङ. च. ०प्रवरः क्ष०। ४ङ. च. ०हे। एतस्मिन्नन्तरे तत्र महत्कार्यमुपस्थितम्। दे०।

देवांश्चापि विशेषण न कृतं तैर्मदीरितम् । पुनश्च संगरस्तेषां बभूव सुमहान्मिथः ॥१०॥
विष्णुं गत्वा सुराः प्रोचुस्तथेशानं जगन्मयम् । तावूचतुरुभौ देवानसुरान्दैत्यदानवान् ॥११॥
तपसा बलिनो यान्तु पुनः कुर्वन्तु संगरम् । तथेत्याहुर्ययुः सर्वे तपसे नियतव्रताः ॥१२॥
ययुस्तु राक्षसान्देवाः पुनस्ते मत्सरान्विताः । देवानां दानवानां च संगरोऽभूत्सुदारूण ॥१३॥
न तत्र देवा जेतारो नैव दैत्याश्च दानवाः । संयुगे वर्तमाने तु वागुवाचाशरीरिणी ॥१४॥

आकाशवागुवाच

येषां दशरथो राजा ते जेतारो न चेतरे ॥१५॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा जयायोभौ जग्मतुर्देवदानवौ । तत्र वायुस्त्वरन्प्राप्तो राजानमवदत्तदा ॥१६॥

वायुरुवाच

आगन्तव्यं त्वया राजन्देवदानवसंगरे । यत्र राजा दशरथो जयस्तत्रेति विश्रुतम् ॥१७॥
तस्मात्त्वं देवपक्षे स्या भवेयुर्जयिनः सुराः ॥१८॥

ब्रह्मोवाच

तद्वायुवचनं श्रुत्वा राजा दशरथो नृपः । आगम्यते मया सत्यं गच्छ वायो यथासुखम् ॥१९॥
गते वायौ तदा[1] दैत्या आजग्मुर्भूपतिं प्रति । तेऽप्यूचुर्भगवन्नस्मत्साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥२०॥

गया । देवताओं ने विष्णु और जगद्गुरु शंकर से सारा वृत्तान्त कह सुनाया । उन दोनों देवताओं ने देव, असुर, दैत्य और दानव सबको एकत्र कर कहा कि पहले तपस्या से वल प्राप्त करो, फिर युद्ध करना । दोनों पक्ष वालों ने इस आदेश को स्वीकार किया और उभयपक्ष दृढ़व्रत होकर तपस्या के लिए चले गये । यद्यपि वे दोनों (राक्षस और देवता) गये तो परन्तु पुनः वे ईर्ष्या करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप पुनः अति कठिन युद्ध छिड़ गया । परन्तु उस युद्ध में न तो देवता ही विजयी हुए और न दानव ही । इसी वीच युद्ध के अवसर पर आकाशवाणी हुई ॥१०-१४॥

आकाशवाणी ने कहा—जिनके पक्ष में राजा दशरथ रहेंगें, वे ही जीतेंगे, दूसरे नहीं ॥१५॥

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर दोनों देव और दानव विजय की इच्छा से राजा दशरथ के पास पहुँचने लगे । (उनमें से देव-पक्ष के दूत) वायु शीघ्र राजा के पास पहुँच गये और राजा से वोले ॥१६॥

वायु ने कहा—राजन् ! देव-दानवों के युद्ध में आपको आना चाहिये; क्योंकि जिस ओर आप रहेंगे वही पक्ष विजयी होगा, यह बात प्रसिद्ध है । इसलिए आप देव-पक्ष में रहें, जिससे देव विजयी हो जायँ॥१७-१८॥

ब्रह्मा ने कहा—वायु की वात सुनकर राजा दशरथ ने कहा कि आप सुखपूर्वक जाइये, मैं अवश्य आपके पक्ष में आऊँगा। जब वायु चले गये तव दैत्य भी राजा के समीप आये। उन लोगों ने भी कहा—'भगवन् ! हम लोगों

---

[1] घ. च. तथा ।

राजन्दशरथ श्रीमन्विजयस्त्वयि संस्थितः । तस्मात्त्वं वै दैत्यपतेः साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥२१॥
ततः प्रोवाच नृपतिर्वायुना प्रार्थितः पुराः । प्रतिज्ञातं मया तच्च यान्तु दैत्याश्च दानवाः ॥२२॥
स तु राजा तथा चक्रे गत्वा चैव त्रिविष्टपम् । युद्धं चक्रे तथा दैत्यैर्दानवैः सह राक्षसैः ॥२३॥
पश्यत्सु देसंघेषु नमुचेर्भ्रातरस्तदा । विविधुर्निशितैर्बाणैरथाक्षं नृपतेस्तथा ॥२४॥
भिन्नाक्षं तं रथं राजा न जानाति स संभ्रमात् । राजान्तिके स्थिता सुभ्रूः कैकेय्याऽज्ञायि नारद ॥२५॥
न ज्ञापितं तया राज्ञे स्वयमालोक्य सुव्रता । भग्नमक्षं समालक्ष्य चक्रं हस्तं तदा स्वकम् ॥२६॥
अक्षवन्मुनिशार्दूल तदेतन्महदद्भुतम् । रथेन रथिना श्रेष्ठस्तया दत्तकरेण च ॥२७॥
जितवान्दैत्यदनुजान्[1] देवः प्राप्य वरान्बहून् । ततो देवैरनुज्ञातस्त्वयोध्यां पुनरभ्यगात् ॥२८॥
स[2] तु मध्ये महाराजे मार्गे वीक्ष्य तदा प्रियाम् । कैकेय्याः कर्म तद्दृष्ट्वा विस्मयं परमं गतः ॥२९॥
ततस्तस्यै वरान्प्रादात्त्रींस्तु नारद सा अपि । अनुमान्य नृपप्रोक्तं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥३०॥

कैकेय्युवाच

त्वयि तिष्ठन्तु राजेन्द्र त्वया दत्ता वरा अमी ॥३१॥

की सहायता कीजिये ! श्रीमन् ! राजन् ! दशरथ ! विजय आप ही के हाथ में है । इसलिए आप अवश्य दैत्यपति की सहायता कीजिये ।' यह सुनकर राजा ने कहा—'वायु ने पहले ही आकर प्रार्थना की है, मैंने भी उस प्रार्थना के अनुसार जाने की प्रतिज्ञा कर ली है, अतः (आप) दैत्य, दानव चले जायँ ।' उस राजा ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार स्वर्ग जाकर दैत्य, दानव तथा राक्षसों के साथ युद्ध किया । उस समय देवताओं के देखते-देखते नमुचि के भाइयों ने राजा के रथ की धुरी को तीखे बाणों से तोड़ डाला । वह राजा युद्धरत होने के कारण इस घटना को न जान सका, परन्तु नारद ! उसके समीप बैठी हुई सुन्दर भौं वाली कैकेयी ने जान लिया । उस सुव्रता ने स्वयं देखकर भी राजा को नहीं बताया, अपितु अपना हाथ धुरी की जगह लगा दिया । मुनीश्वर ! उसने यह बड़ा अद्भुत कार्य किया । रथियों में श्रेष्ठ राजा दशरथ ने उसी रथ पर बैठ कर दैत्य-दानवों को जीता और देवताओं से अनेकों वर प्राप्त किये । तदनन्तर देवताओं से सादर बिदा हो पुनः अयोध्या पुरी को लौट आये । उस समय मार्ग में राजा अपनी प्रिया को देखकर और कैकेयी के उस अति अद्भुत कर्म को जानकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गया । नारद ! तब (उसके इस कर्म से कृतज्ञ हो) राजा ने रानी को तीन वर दिये । कैकेयी ने भी राजा के दिये तीन वरों को स्वीकार कर राजा से कहा—॥१९-३०॥

कैकेयी ने कहा—राजेन्द्र ! तुम्हारे दिये ये तीन वर तब तक तुम्हारे ही पास धरोहर के रूप में रहें ॥३१॥

---

[1] ङ. ०न्देवात्प्राप्य । [2] घ. च. स तदा तु महा० ।

विभूषणानि राजेन्द्रो दत्त्वा स प्रियया सह । रथेन विजयी राजा ययौ स्वनगरं सुखी ॥३२॥
योषितां किमदेयं हि प्रियाणामुचितागमे । स कदाचिद्दशरथो मृगयाशीलिभिर्वृतः ॥३३॥
अटन्नरण्ये शर्वर्यां वारिबन्धमथाकरोत् । सप्तव्यसनहीनेन भवितव्यं तु भूभुजा ॥३४॥
इति जानन्नपि च तच्चकार तु विधेर्वशात् । गर्तं प्रविश्य पानार्थमागतान्निशितैः शरैः ॥३५॥
मृगान्हन्ति महाबाहुः शृणु कालविपर्ययम्[1] । गर्तं प्रविष्टे नृपतौ तस्मिन्नेव नगोत्तमे ॥३६॥
वृद्धो वैश्रवणो नाम न शृणोति न पश्यति । तस्य भार्या तथाभूता तावब्रूतां तदा सुतम् ॥३७॥

मातापितरावूचतुः

आवां तृषार्तौ रात्रिश्च कृष्णा चापि प्रवर्तते । वृद्धानां जीवितं [2]कृत्स्नं बालस्त्वमसि पुत्रक ॥३८॥
अन्धानां बधिराणां च[3] वृद्धानां धिक्च जीवितम् । जराजर्जरदेहानां धिग्धिक्पुत्रक जीवितम् ॥३९॥
तावत्पुंभिर्जीवितव्यं यावल्लक्ष्मीर्दृढं वपुः । यावदाज्ञाऽप्रतिहता तीर्थादावन्यथा मृतिः ॥४०॥

ब्रह्मोवाच

इत्येतद्वचनं श्रुत्वा वृद्धयोर्गुरुवत्सलः । पुत्रः प्रोवाच तद्दुःखं गिरा मधुरया हरन् ॥४१॥

ब्रह्मा ने कहा—वह विजयी राजा अपनी प्रिया को विविध आभूषण देकर प्रिया के साथ रथ से सुखपूर्वक अपने नगर को गया । सच कहा है कि उचित समय आने पर प्रिय स्त्रियों के लिए कौन-सी वस्तु न देने योग्य है ? किसी समय वह राजा शिकार के प्रेमी अनुचरों के साथ वन में इधर-उधर घूमने लगा । रात्रि में उसने पानी को बाँधों से रोकवा दिया। 'राजा को सात प्रकार के व्यसनों से (जिनमें एक शिकार भी है) पृथक् रहना चाहिये' यह जानकर भी विधि-प्रेरणा से उसने एक अनर्थ किया। वह महापराक्रमी राजा स्वयं गड्ढे में छिपकर पानी पीने के लिए आए हुए वन्य पशुओं को अपने तीखे बाणों से मारने लगा। अब समय की कुटिलता की कहानी सुनो—उसी ऊँचे पर्वत पर—जहाँ कि राजा गड्ढे में घुसकर आखेट कर रहा था—एक वृद्ध रहता था जो न सुनता था न देखता था। उसकी स्त्री भी उसी के समान थी। उन दोनों वृद्ध दम्पति ने अपने पुत्र से कहा ॥३२-३७॥

माता-पिता ने कहा—हम दोनों प्यास से व्याकुल हैं और इस समय रात अँधेरी है । वत्स ! तुम्हीं हम बूढ़ों के एकमात्र जीवन हो । अन्धों, बहरों और वूढ़ों के जीवन को धिक्कारा है । बेटा ! वृद्धावस्था से जीर्ण शरीर वालों के जीवन को धिक्कार है ! धिक्कार है ! ! मनुष्यों को तब तक ही जीना चाहिये जव तक उनके पास लक्ष्मी हो तथा शरीर दृढ़ हो और उनकी आज्ञा का बेरोक-टोक पालन होता हो; नहीं तो उन्हें तीर्थों में शरीर त्याग देना चाहिए ॥३८-४०॥

ब्रह्मा ने कहा—बूढ़े माँ-वाप की इन वातों को सुनकर अपनी मधुर वाणी से उनके दु:ख को हरता हुआ वह गुरुभक्त पुत्र बोला ॥४१॥

---

[1] घ. ङ. च. ०म् । एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मंस्तस्मि० । [2] घ. कष्टं । [3] घ. च. दैवोपहतकर्मणाम् । ज० ।

पुत्र उवाच

मयि जीवति किं नाम युवयोर्दुःखमीदृशम् । न हरत्यात्मजः पित्रोर्यश्चरित्रैर्मनोरुजम् ॥४२॥
तेन किं तनुजेनेह कुलोद्वेगविधायिना ॥४३॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा पितरौ नत्वा तावाश्वास्य महामनाः । तरुस्कन्धे समारोप्य वृद्धौ च पितरौ तदा ॥४४॥
हस्ते गृहीत्वा कलशं जगाम ऋषिपुत्रकः । स ऋषिर्नतु राजानं जानाति नृपतिर्द्विजम् ॥४५॥
उभौ सरभसौ तत्र द्विजा वारि समाविशत् । सत्वरं कलशे न्युब्जे वारि गृह्णन्तमाशुगैः ॥४६॥
द्विजं राजा द्विपं मत्वा विव्याध निशितैः शरैः । वनद्विपोऽपि भूपानामवध्यस्तद्विदन्नपि ॥४७॥
विव्याध तं नृपः कुर्यान्न किं किं विधिवञ्चितः । स विद्धो मर्मदेशे तु दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ॥४८॥

द्विज उवाच

केनेदं दुःखदं कर्म कृतं सद्ब्राह्मणस्य मे । मैत्रो ब्राह्मण इत्युक्तो नापराधोऽस्ति कश्चन ॥४९॥

ब्रह्मोवाच

तदेतद्वचनं श्रुत्वा मुनेरार्तस्य भूपतिः । निश्चेष्टश्च निरुत्साहो शनैस्तं देशमभ्यगात् ॥५०॥
तं तु दृष्ट्वा द्विजवरं ज्वलन्तमिव तेजसा । असावप्यभवत्तत्र सशल्य इव मूर्च्छितः ॥५१॥

पुत्र ने कहा—मेरे जीते जी आप लोगों को इस प्रकार दुःखी होने की क्या आवश्यकता ? जो पुत्र अपने आचरण से माता-पिता की मानसिक व्यथा को दूर नहीं करता, उस कुलांगार पुत्र से क्या लाभ ? ॥४२-४३॥

ब्रह्मा ने कहा—यह कहकर उस महामना ने अपने माता-पिता को आश्वासन दिया, पुनः प्रणाम कर उनको वृक्ष के स्कन्ध पर बैठा दिया और स्वयं अपने हाथ में कलश लेकर वह ऋषि-कुमार जल लेने के लिए चल पड़ा। उस समय न तो वह ऋषिपुत्र मृगयासक्त राजा के विषय में जानता था और न राजा ही उस द्विज को जानता था। दोनों अपने-अपने व्यापार में आवश्यकता से अधिक शीघ्रता कर रहे थे। उस गड्ढे में पानी के लिए वह द्विज उतरा, शीघ्र ही कलश को झुकाकर पानी भरने लगा। उसी समय राजा ने उसको जंगली हाथी जानकर अपने तीखें और शीघ्रगामी वाणों से वेध डाला। 'राजा जंगली हाथी को भी अवध्य समझे' यह जानते हुए भी राजा ने उसको मार ही डाला। भाग्य से प्रतारित होने पर मनुष्य क्या-क्या नहीं कर डालता है ? मर्म-स्थल में बाण लगने से वह ऋषि-कुमार अत्यन्त पीड़ित हो बोला— ॥४४-४८॥

ब्राह्मण ने कहा—आह ! मुझ निरपराध सद्ब्राह्मण के प्रति किसने यह पीड़ाकारक कार्य किया ? ब्राह्मण सबका मित्र कहा जाता है, फिर मैंने तो कोई अपराध भी नहीं किया है ॥४९॥

ब्रह्मा ने कहा—राजा आर्त मुनि की बातों को सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। उसका सारा उत्साह

आत्मानमात्मना कृत्वा स्थिरं राजाऽब्रवीदिदम् ॥५२॥

राजोवाच

को भवान्द्विजशार्दूल किमर्थमिह चाऽऽगतः । वद पापकृते मह्यं वद मे निष्कृतिं पराम् ॥५३॥
ब्रह्महा वर्णिभिः किंतु श्वपचैरपि जातुचित् । न स्प्रष्टव्यो महाबुद्धे द्रष्टव्यो न कदाचन ॥५४॥

ब्रह्मोवाच

तद्राजवचनं श्रुत्वा मुनिपुत्रोऽब्रवीद्वचः ॥५५॥

मुनिपुत्र उवाच

उत्क्रमिष्यन्ति मे प्राणा अतो वक्ष्यामि किंचन । स्वच्छन्दवृत्तिताज्ञाने विद्धि पाकं च कर्मणाम् ॥५६॥
आत्मार्थं तु न शोचामि वृद्धौ तु पितरौ मम । तयो शुश्रूषकः कः स्यादन्धयोरेकपुत्रयोः ॥५७॥
विना मया महारण्ये कथं तौ जीवयिष्यतः । ममाभाग्यमहो कीदृक्पितृशुश्रूषणे क्षतिः ॥५८॥
जाता मेऽद्य विना प्राणैर्हा विधे किं कृतं त्वया । तथाऽपि गच्छ तत्र त्वं गृहीतकलशस्त्वरन् ॥५९॥
ताभ्यां देह्युदपानं त्वं यथा तौ न मरिष्यतः ॥६०॥

ब्रह्मोवाच

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य गताः प्राणा महावने । विसृज्य सशरं चापमादाय कलशं नृपः ॥६१॥
तत्रागात्स तु वेगेन यत्र वृद्धौ महावने । वृद्धौ चापि तदा रात्रौ तावन्योन्यं समूचतुः ॥६२॥

जाता रहा। वह धीरे-धीरे उस स्थान पर आया। वह तेज से जलते हुए उस ब्राह्मणकुमार को देखकर स्वयं वाण-विद्ध-सा मूर्च्छित हो गया। धीरे-धीरे उस राजा ने अपने को सम्हालकर कहा— ॥५०-५२॥

राजा ने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आप कौन हैं ? यहाँ किसलिए आये ? आप इस पापी से कहिये; साथ ही इस महापाप का क्या प्रतिकार है, इसको भी वतलाइये। महावुद्धिमान् ! ब्रह्मघाती मनुष्य किसी वर्ण के मनुष्यों से तो कौन कहे चाण्डालों से भी छूने योग्य नहीं होता। उसकी ओर देखना भी नहीं चाहिए ॥५३-५४॥

ब्रह्मा ने कहा—उस राजा की वातों को सुनकर मुनिपुत्र ने कहा ॥५५॥

मुनिपुत्र ने कहा—मेरे प्राण अभी निकल जायेंगे, इसलिए कह रहा हूँ, सुनो, स्वयं हो जाने वाले व्यवहारों का कारण पूर्वजन्म के कर्मों का फल समझो। मैं स्वयं अपने लिये शोक नहीं कर रहा हूँ, परन्तु मेरे वृद्ध माँ-वाप हैं; उन इकलौते पुत्र वाले अन्धे वृद्धों की सेवा करने वाला अव कौन होगा ? मेरे विना अव इस घनघोर जंगल में वे कैसे जीवित रहेंगे ? आह ! मेरा यह कैसा दुर्भाग्य है कि मेरी मृत्यु से माता-पिता की सेवा में वाधा पड़ गयी। हा ! अकरुण विधाता ! तुमने यह क्या किया ? तथापि तुम कलश ले लो और शीघ्र वहाँ जाओ। उनको पानी पीने के लिए दो, जिससे कि वे दोनों मरने न पायें ॥५६-६०॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार वह कह ही रहा था कि उसके प्राण उस महावन में निकल गये। राजा यह देखकर वाण सहित धनुष को फेंक दिया तथा स्वयं जल-कलश लेकर वड़ी शीघ्रता से वहाँ गया, जहाँ दोनों वृद्ध थे। वे दोनों वूढ़े भी कुछ अधिक विलम्व होने के कारण उस समय रात्रि में एक-दूसरे से कह रहे थे ॥६१-६२॥

वृद्धावूचतुः

उद्विग्नः कुपितो वा स्यादथवा भक्षितः कथम् । न प्राप्तश्चाऽवयोर्यष्टिः किं कुर्मः का गतिर्भवेत् ॥६३॥
न कोऽपि तादृशः पुत्रो विद्यते सचराचरे । यः पित्रोरन्यथा वाक्यं न करोत्यपि निन्दितः ॥६४॥
वज्रादपि कठोरं वा जीवितं तमपश्यतोः । शीघ्रं न यान्ति यत्प्राणास्तदेकायत्तजीवयोः ॥६५॥

ब्रह्मोवाच

एवं बहुविधा वाचो वृद्धयोर्वदतोर्वने । तदा दशरथो राजा शनैस्तं देशमभ्यगात् ॥६६॥
पादसंचारशब्देन मेनाते सुतमागतम् ॥६७॥

वृद्धावूचतुः

कुतो वत्स चिरात्प्राप्तस्त्वं दृष्टिस्त्वं परायणम् । न ब्रूषे किंतु रुष्टोऽसि वृद्धयोरन्धयोः सुतः ॥६८॥

ब्रह्मोवाच

सशल्य इव दुःखार्तः शोचन्दुष्कृतमात्मनः । स भीत इव राजेन्द्रस्तावुवाचाथ नारद ॥६९॥
उदपानं च कुरुतां तच्छ्रुत्वा नृपभाषितम् । नायं वक्ता सुतोऽस्माकं को भवांस्तत्पुरा वद ॥७०॥
पश्चात्पिबावः पानीयं ततो राजाऽब्रवीच्च तौ ॥७१॥

राजोवाच

तत्र तिष्ठति वां पुत्रो यत्र वारिसमाश्रयः ॥७२॥

वृद्धों ने कहा—क्या वह ऊब गया या कुपित हो गया ? अथवा जंगली जानवर ने उसको खा डाला ? आह ! वह हम लोगों के हाथ की लकड़ी (सहारा) नहीं आया । क्या करें ? हम लोगों की उसके विना क्या गति होगी ? अखिल चराचरात्मक जगत् में उसके समान कोई भी पुत्र नहीं, जो डाँटने-फटकारने पर भी माता-पिता के कहने के विरुद्ध काम नहीं करता । हम लोगों का जीवन वज्र से भी अधिक कठोर है, जो उसको न देखकर उसी के सहारे जीने-वाले हमारे प्राण शीघ्र नहीं निकलते ॥६३-६५॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार की बहुत-सी वातें वे दोनों वृद्ध उस वन में कह रहे थे कि इतने में राजा दशरथ धीरे से उस स्थान पर पहुँचा । उसके पैर की आहट पाकर दोनों ने समझा कि उनका प्रिय-पुत्र आ गया ॥६६-६७॥

वृद्धों ने कहा—वत्स ! क्यों इतने विलम्ब से आये ? तुम हमारे नेत्र हो, एकमात्र आधार हो, वोलते नहीं हो, क्या वूढ़े अन्धे के पुत्र तुम रुष्ट हो गये हो ? ॥६८॥

ब्रह्मा ने कहा—इन शब्दों को सुनकर वह राजा मानो वाणों से आहत-सा हो गया । दुःख से उसको तीव्र वेदना हुई । नारद ! पाप का स्मरण करते हुए उस राजेन्द्र ने डरते-डरते उन दोनों वृद्धों से कहा-'यह जल पीजिये ।' राजा की उस वोली को सुनकर उन दोनों ने कहा-'यह वक्ता मेरा पुत्र नहीं जान पड़ता । अतः आप पहले यह बतलाइये कि आप कौन हैं, पीछे हम जल ग्रहण करेंगे ।' यह सुनकर राजा ने उनसे कहा ॥६९-७१॥

राजा ने कहा—इस समय आपका पुत्र जलाशय के तट पर पड़ा हुआ है ॥७२॥

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वोचतुरार्तौ तौ सत्यं ब्रूहि न चान्यथा । आचचक्षे ततो राजा सर्वमेव यथातथम् ।।७३।।
ततस्तु पतितौ वृद्धौ तत्राऽऽवां नय मा स्पृश । ब्रह्मघ्नस्पर्शनं पापं न कदाचिद्विनश्यति ।।७४।।
निन्येस वै श्रवणं वृद्धं सभार्यं नृपसत्तमः । यत्रासौ पतितः पुत्रस्तं स्पृष्ट्वा तौ विलेपतुः ।।७५।।

वृद्धावूचतुः

यथा पुत्रवियोगेन मृत्युर्नो विहितस्तथा। त्वं चापि पाप पुत्रस्य यियोगान्मृत्युमाप्स्यसि ।।७६।।

ब्रह्मोवाच

एवं तु[1] जल्पतोर्ब्रह्मन्गताः प्राणास्ततो नृपः । अग्निना योजयामास वृद्धौ च ऋषिपुत्रकम् ।।७७।।
ततो जगाम नगरं दुःखितो नृपतिर्मुने । वसिष्ठाय च तत्सर्वं न्यवेदयदशेषतः ।।७८।।
नृपाणां सूर्यवंश्यानां वसिष्ठो हि परा गतिः । वसिष्ठोऽपि द्विजश्रेष्ठैः संमन्त्र्याऽऽह च निष्कृतिम् ।।७९।।

वसिष्ठ उवाच

गालवं वामदेवं च जाबालिमथ कश्यपम् । एतानन्यान्समाहूय हयमेधाय यत्नतः ।।८०।।
यजस्व हयमेधैश्च बहुभिर्बहुदक्षिणैः ।।८१।।

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर उन दुःखी वृद्धों ने कहा—'सच्ची वात कहो, झूठी मत वोलो ।' तदनन्तर राजा ने सत्य सत्य आदि से अन्त तक सब कुछ कह सुनाया । यह सुनकर वे दोनों वृद्ध मूर्च्छित हो नीचे गिर पड़े । पुनः कुछ अपने को सम्हाल कर उन्होंने कहा कि हम दोनों को वहाँ ले चलो, परन्तु शरीर-स्पर्श मत करो, क्योंकि ब्रह्महत्या करने वाले के स्पर्श से जो पाप होता है, वह कभी भी दूर नहीं होता है । अन्त में वह राजर्षि वृद्ध श्रवण को स्त्रीसहित वहाँ लिवा ले गया, जहाँ वह प्यारा पुत्र मरा पड़ा हुआ था । उसका स्पर्श कर वे दोनों विलाप करने लगे ।।७३-७५।।

वृद्ध ने कहा—जिस प्रकार पुत्र-वियोग से हम दोनों की मृत्यु हो रही है, उसी प्रकार ऐ पापी ! तू भी अपने पुत्र के वियोग से मरेगा ।।७३-७५।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार कहते हुए उन दोनों ने प्राण-त्याग कर दिया । इसके बाद राजा ने अग्नि से उन दोनों वृद्धों और ऋषि -कुमार की दाह-क्रिया की । मुने ! तव वह राजा अति दुःखी हो नगर की ओर लौटा । नगर जाकर उसने गुरु वसिष्ठ से सारा वृत्तान्त पूर्णरूप से कह सुनाया । गुरु वसिष्ठ ही सूर्यवंशी राजाओं के एकमात्र गति (आधार) थे । उन्होंने भी अनेक श्रेष्ठ व्राह्मणों से परामर्श कर इस पाप की निष्कृति (उद्धार) बतायी ।।७७-७९।।

वसिष्ठ ने कहा—गालव, वामदेव, जाबालि और कश्यप इनको तथा अन्य ऋषियों को हयमेध यज्ञ के लिए विधिपूर्वक निमन्त्रण देकर बुलाओ । फिर अनेकों उत्तम दक्षिणावाले अश्वमेध यज्ञ करो ।।८०-८१।।

---

[1] क. तु ब्रुवतो० ।

ब्रह्मोवाच

अकरोद्धयमेधांश्च राजा दशरथो द्विजैः । एतस्मिन्नन्तरे तत्र वागुवाचाशरीरिणी ॥८२॥

आकाशवाण्युवाच

पूतं शरीरमभवद्राज्ञो दशरथस्य हि । व्यवहार्यश्च भविता भविष्यन्ति तथा सुताः ॥
ज्येष्ठपुत्रप्रसादेन राजाऽपापो भविष्यति ॥८३॥

ब्रह्मोवाच

ततो बहुतिथे काले ऋष्यभृङ्गान्मुनीश्वरात् । देवानां कार्यसिद्ध्यर्थं सुता आसन्सुरोपमाः ॥८४॥
कौशल्यायां तथा रामः सुमित्रायां च लक्ष्मणः । शत्रुघ्नश्चापि कैकेय्यां भरतो मतिमत्तरः ॥८५॥
ते सर्वे मतिमन्तश्च प्रिया राज्ञो वशे स्थिताः । तं राजानमृषिः प्राप्य विश्वामित्रः प्रजापति। ॥८६॥
रामं च लक्ष्मणं चापि अयाचत महामते । यज्ञसंरक्षणार्थाय ज्ञाततन्महिमा मुनिः ॥८७॥
चिरप्राप्तसुतो वृद्धो राजा नैवेत्यभाषत ॥८८॥

राजोवाच

महता दैवयोगेन कथंचिद्वार्धके मुने । जातावानन्दसंदोहदायकौ मम बालकौ ॥८९॥
सशरीरमिदं राज्यं दास्ये नैव सुताविमौ ॥९०॥

ब्रह्मा ने कहा—राजा दशरथ ने गुरु के आदेशानुसार अनेकों अश्वमेध यज्ञ किये । इसी बीच वहाँ आकाशवाणी हुई ॥८२॥

आकाशवाणी ने कहा—अब राजा दशरथ का शरीर पवित्र हो गया । अब इनके साथ (सामाजिक) व्यवहार किया जाना चाहिये । उनके पुत्र उत्पन्न होंगे । और अपने जेठे पुत्र के पुण्यप्रभाव से ये राजा निष्पाप हो जायेंगे ॥८३॥

ब्रह्मा ने कहा—कुछ समय बीत जाने के बाद मुनीश्वर ऋष्यशृंग के प्रभाव से देवों की कार्य-सिद्धि के लिए राजा के देव तुल्य चार पुत्र उत्पन्न हुए । कौशल्या से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न तथा कैकेयी से भरत नाम के महाबुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी बुद्धिमान् बालक राजा के प्रिय और वशवर्ती थे। महाबुद्धिमान् ! एक बार प्रजापति ऋषि विश्वामित्र उस राजा के पास आये और यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को माँगने लगे । क्योंकि तत्त्वर्शी मुनि उन दोनों पराक्रमी बालकों की महिमा को जानते थे । परन्तु वृद्ध राजा दशरथ ने चिरकाल के बाद प्राप्त इन दोनों पुत्रों को देने में आनाकानी की और कहा ॥८४-८८॥

राजा ने कहा—मुने ! बहुत बड़ी दैव-कृपा से किसी प्रकार इस वृद्धावस्था में अपार आनन्द देने वाले ये दोनों पुत्र मुझे प्राप्त हुए हैं । अतः मैं शरीर के सहित अपना सारा राज्य दे सकता हूँ, परन्तु ये दोनों पुत्र नहीं दूँगा ॥८९-९०॥

ब्रह्मोवाच

वसिष्ठेन तदा प्रोक्तो राजा दशरथस्त्विति ॥९१॥

वसिष्ठ उवाच

रघवः प्रार्थनाभङ्गं न राजन्क्वापि शिक्षिताः ॥९२॥

ब्रह्मोवाच

रामं च लक्ष्मणं चैव कथंचिदवदन्नृपः ॥९३॥

राजोवाच

विश्वामित्रस्य ब्रह्मर्षेः कुरुतां (तं) यज्ञरक्षणम् ॥९४॥

ब्रह्मोवाच

वदन्निति सुतौ सोष्णं निश्वसन्ग्लपिताधरः । पुत्रौ समर्पयामास विश्वामित्रस्य [१]शास्त्रकृत् ॥९५॥
तथेत्युक्त्वा दशरथं नमस्य च पुनः पुनः । जग्मतू रक्षणार्थाय विश्वामित्रेण तौ मुदा ॥९६॥
ततः प्रहृष्टः[२] स मुनिर्मुदा प्रादात्तदोभयोः । माहेश्वरीं महाविद्यां धनुर्विद्यापुरःसराम् ॥९७॥
शास्त्रीमास्त्रीं लौकिकीं च रथविद्यां गजोद्भवाम् । अश्वविद्यां गदाविद्यां मन्त्राह्वानविसर्जने ॥९८॥
सर्वविद्यामथावाप्य उभौ तौ रामलक्ष्मणौ । वनौकसां हितार्थाय जघ्नतुस्ताटकां वने ॥९९॥
अहल्यां शापनिर्मुक्तां पादस्पर्शाच्च चक्रतुः । यज्ञविध्वंसनायातांञ्जघ्नतुस्तत्र राक्षसान् ॥१००॥

ब्रह्मा ने कहा—तब वसिष्ठ ने राजा से इस प्रकार कहा ॥९१॥

वसिष्ठ ने कहा—रघुवंशियों ने प्रार्थना को अस्वीकार कर देना कहीं भी नही सीखा है ॥९२॥

ब्रह्मा ने कहा—यह गुरुवाक्य सुनकर राजा ने किसी प्रकार राम और लक्ष्मण से कहा ॥९३॥

राजा ने कहा—विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करो ॥९४॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार पुत्रों को आज्ञा देते समय राजा ने गरम साँस ली, उसके ओठ सूख गये; फिर भी शास्त्रज्ञ राजा ने दोनों पुत्रों को विश्वामित्र के हाथ में सौंप दिया ॥९५॥ पुत्रों ने भी 'जैसी आज्ञा' कहकर बार-बार पिता को प्रणाम किया और प्रसन्नचित्त हो यज्ञ की रक्षा के लिए विश्वामित्र के साथ चल दिये ॥९६॥ तदन्तर प्रसन्न मुनि ने आनन्दपूर्वक उन दोनों बालकों को धनुर्विद्या आदि महेश्वर-संबंधी महाविद्या एवं आह्वान और विसर्जन के मंत्रों सहित शस्त्रविद्या, अस्त्र विद्या, लौकिक विद्या, रथ-विद्या, हस्ति-विद्या, अश्व-विद्या और गदा विद्या प्रदान की ॥९७-९८॥ इस प्रकार गुरु विश्वामित्र से सब विद्याएँ प्राप्त कर उन दोनों राम और लक्ष्मण ने वनवासी ऋषि-मुनियों के हित के लिए वन में ताड़का को मार डाला ॥९९॥ अपने पावन चरण के स्पर्श से अहल्या को शापमुक्त किया और यज्ञ-विध्वसं के लिए आये हुए अधम राक्षसों का वध किया ॥१००॥ उन दोनों विद्या-कुशल

---

[१] ङ. च. ०स्त्रदृक् । [२] घ. ङ. च. ०हृष्टो गाधेयो मुदा ।

[1]कृतविद्यौ धनुष्पाणी चक्रतुर्यज्ञरक्षणम् । ततो महामखे वृत्ते विश्वामित्रो मुनीश्वरः ॥१०१॥
पुत्राभ्यां सहितो राज्ञो जनकं द्रष्टुमभ्यगात् । चित्रामदर्शयत्तत्र राजमध्ये नृपात्मजः ॥१०२॥
रामः सौमित्रिसहितो धनुर्विद्यां गुरोर्मताम् । तत्प्रीतो जनकः प्रादात्सीतां लक्ष्मीमयोनिजाम् ॥१०३॥
तथैव लक्ष्मणस्यापि भरतस्यानुजस्य च । शत्रुघ्नभरतादीनां वसिष्ठादिमते स्थितः ॥१०४॥
राजा दशरथः श्रीमान्विवाहमकरोन्मुने । ततो बहुतिथे काले राज्यं तस्य प्रयच्छति ॥१०५॥
नृपतौ सर्वलोकानामनुमत्या गुरोरपि । मन्थरात्मकदुर्दैवप्रेरिता मत्सराकुला ॥१०६॥
कैकेयी विघ्नमातस्थे वनप्रव्राजनं तथा । भरतस्य च तद्राज्यं राजा नैव च दत्तवान् ॥१०७॥
पितरं सत्यवाक्यं तं कुर्वन्रामो महावनम् । विवेश सीतया सार्धं तथा सौमित्रिणा सह ॥१०८॥
सतां च मानसं शुद्धं स विवेश स्वकैर्गुणः । तस्मिन्विनिर्गते रामे वनवासाय दीक्षिते ॥१०९॥
समं लक्ष्मणसीताभ्यां राज्यतृष्णाविवर्जिते । तं रामं चापि सोमित्रिं सीतां च गुणशालिनीम् ॥११०॥
दुःखेन महताऽऽविष्टो ब्रह्मशापं च संस्मरन् । तदा दशरथो राजा प्राणांस्तत्याज दुःखितः ॥१११॥
कृतकर्मविपाकेन राजा नीतो यमानुगैः । तस्मै[2] राज्ञे महाप्राज्ञ यावत्स्थावरजङ्गमे[3] ॥११२॥
यमसद्मन्यनेकानि तामिस्रादीनि नारद । नरकाण्यथ घोराणि भीषणानि बहूनि च ॥११३॥

धनुर्धारी कुमारों ने इस प्रकार यज्ञ की रक्षा की। तदनन्तर महायज्ञ के विधिपूर्वक सम्पन्न हो जाने के बाद महामुनीश्वर विश्वामित्र उन कुमारों के साथ राजा जनक को देखने के लिए जनकपुर गये ॥१०½ ॥ वहाँ नृप-कुमार राम ने लक्ष्मण के सहित उस राज-सभा में गुरु द्वारा प्राप्त और अभिमत अद्‌भुत धनुर्विद्या का प्रदर्शन किया। उनकी कला से प्रसन्न होकर राजा जनक ने अपनी कन्यालक्ष्मी अयोनिजा सीता राम को दे दी ॥१०२-१०३॥ उसी प्रकार वसिष्ठ आदि गुरुजनों के कथनानुसार श्रीमान् राजा दशरथ ने भरतानुज लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न आदि भाइयों का भी विवाह कर दिया ॥१०४॥

बहुत दिन बीत जाने पर राजा ने प्रजा और गुरु की अनुमति से राम को राज्य देने का विचार किया, परन्तु मन्थरा के रूप में आये दुर्दैव की प्रेरणा से कैकेयी ईर्ष्या से उन्मत्त हो गयी ॥१०५-१०६॥ उसने इस कार्य में विघ्न उपस्थित किया और राम को वन भेजने और भरत को राज्य देने का वर माँगा। किन्तु राजा ने (पुत्र-स्नेह वश) नहीं दिया ॥१०७॥ पितृभक्त राम अपने पिता के वचन को सत्य सिद्ध करने के लिए सीता और सुमित्रा-पुत्र लक्ष्मण के साथ महावन में प्रविष्ट हुए, और साथ ही अपने (उच्च) गुणों के कारण सज्जनों के शुद्ध मन में भी प्रविष्ट हो गये ॥१०७-१०८½॥ इधर वनवास के लिए दीक्षित (दृढ़-प्रतिज्ञ) तथा राज्य-लोभ से रहित राम के सीता और लक्ष्मण के सहित चले जाने पर राम, लक्ष्मण और गुणवती सीता के वियोग की महान् व्यथा से व्यथित होकर ब्रह्मशाप का स्मरण करते हुए दुःखी राजा ने अपने प्राणों को छोड़ दिया ॥१०९-१११॥ किये हुए कर्मों के परिणाम-स्वरूप राजा को यम के अनुचर ले गये। महाप्राज्ञ नारद ! स्थावर-जंगम रूप यमालय में जितने भयंकर और तामिस्र आदि नरक हैं, उनमें राजा (दशरथ) पृथक्-पृथक् रूप से डाले गये ॥११२-११३½॥ उनको अग्नि में जलाया

१घ. ङ. च. कृतास्त्रौ तौ घ० । २ च. तस्मिन्राज्ञि महाप्राज्ञे या० । ३घ. ङ. च. ० ङ्गमम् । य० ।

पच्यते छिद्यते राजा पिष्यते[1] चूर्ण्यते तथा ।।११४।।
तत्र क्षिप्तस्तदा राजा नरकेषु पृथक्पृथक् । एवमादिषु घोरेषु नरकेषु च पच्यते ।।११५।।
शोष्यते दश्यते भूयो दह्यते च निमज्ज्यते । तत्रैव त्रीणि वर्षाणि व्यतीतानि महामते ।।११६।।
रामोऽपि गच्छन्नध्वानं चित्रकूटमथागमत्[2] । विख्यातं त्रिषु लोकेषु देशानां तद्धि पुण्यदम् ।।११७।।
पुनः स दक्षिणामाशामाक्रमद्दण्डकं वनम् । तद्भयादृषिभिस्त्यक्तं हत्वा दैत्यांस्तु राक्षसान् ।।११८।।
प्राविशत्तन्महारण्यं भीषणं दैत्यसेवितम् । तत्रेदं वृत्तमाख्यास्ये शृणु नारद यत्नतः ।।११९।।
विचरन्दण्डकारण्ये ऋषिसेव्यमथाकरोत् । गौतमीं समनुप्राप्तो राजाऽपि नरके स्थितः ।।१२०।।
तावच्छनैस्त्वगाद्रामो यावद्योजनपञ्चकम् । गौतमीमभितो याति पितरं तस्य धीमतः ।।१२१।।
यमः स्वकिंकरानाह रामो दशरथात्मजः । उत्तीर्य गौतमीं याति यावद्योजनपञ्चकम् ।।१२२।।
आकर्षन्त्वथ राजानं नरकान्नात्र संशयः । यदेतन्मद्वचः पुण्यं न कुर्युर्यदि दूतकाः ।।१२३।।
रामस्तावत्तस्य पिता नरके नैव पच्यताम् । या काऽप्युक्ता परा शक्तिः शिवस्य समवायिनी ।।१२४।।
ततश्च नरके घोरे यूयं सर्वे निमज्जथ । देह्यदपानं मान्या वन्द्या च सैव यत् ।।१२५।।
तामेव गौतमीं सन्तो वदन्त्यम्भःस्वरूपिणीम् । पापिनोऽप्यात्मजः कश्चिद्यश्च (स्य) गङ्गामनुस्मरेत् ।।१२६।।
निस्तीर्यते न केनापि तदतिक्रमजं त्वघम् ।

गया; चक्की में पीसा गया; सुखाया गया, दाँतों से काटा गया; पुनः जलाया गया; फिर डुवाया गया, इस प्रकार विभिन्न घोर नरकों में उन्हें यंत्रणा दी गयी ।।११४-११५।।

इधर राम भी वन-मार्ग पर चलते-चलते चित्रकूट आये। महामते ! उसी स्थान पर उन्होंने तीन वर्ष व्यतीत किये ।।११६।। पुनः वे दक्षिण दिशा की ओर चले और तीनों लोक में विख्यात, परम पुण्यप्रद उस दण्डक वन में प्रविष्ट हुये, जो दैत्यों के रहने के कारण अत्यन्त भयङ्कर था। दैत्यों के भय से ऋषियों ने भी उस वन को छोड़ दिया था। उन्होंने इस दण्डकारण्य में घूम-घूम कर उन दैत्यों का वध किया तथा वन को ऋषियों के निवास-योग्य बनाया ।।११७-११८½।। नारद ! अव आगे जो घटना हुई उसको कह रहा हूँ, सावधान होकर सुनो। राम भी तव तक धीरे-धीरे गौतमी की ओर वढ़े और केवल पाँच योजन दूर रह गये थे, उस समय तक राजा नरक में ही थे ।।११९-१२०।। यह देखकर यमराज ने अपने अनुचरों से कहा कि दशरथ-पुत्र राम गौतमी के सन्निकट जा रहे हैं, अतः उस वुद्धिमान् के पिता राजा दशरथ को नरक से निकाल दो, इसमें संशय करने की आवश्यकता नहीं है। ।।१२१½।। जव तक राम गौतमी को पार कर पाँच योजन दूर नहीं चले जाते, तव तक उनके पिता को नरक में मत पकाओ ।।१२२½।। यदि मेरे इस पवित्र वचन की उपेक्ष करोगे तो ऐ दूतो ! तुम लोग अवश्य घोर नरक में डूवोगे ।।१२३½।। शिव की जो संघी-भूत परा शक्ति है उसी के जलमय रूप को सन्त लोग गौतमी कहते हैं ।।१२४½।। जिसलिए वही गौतमी हरि, व्रह्मा और महेश की मान्य और पूज्य है, अतः उसके अपमान करने से उत्पन्न पापों से किसी का उद्धार नहीं हो सकता।।१२५½।। पापी पिता का भी कोई पुत्र यदि गंगा का स्मरण करता है तो उसका पिता अनेक घोर नरकों से निकल कर मुक्ति प्राप्त करता है ।।१२६½।। फिर जिस पिता का राम के समान पुत्र गौतमी

---

[1] क. घ. पेष्यते । [2] घ. ङ. ०थाभ्यागत् ।

सोऽनेकदुर्गनिरयान्निर्गतो मुक्ततां व्रजेत् । किं पुनस्तादृशः पुत्रो गौतमीनिकटे स्थितः ॥१२७॥
यस्यासौ नरके पक्तुं न कैरपि हि शक्यते । दक्षिणाशापतेर्वाक्यं निशम्य यमकिंकराः ॥१२८॥
नरके पच्यमानं तमयोध्याधिपतिं नृपम् । उत्तार्य घोरनरकाद्वचनं चेदमब्रुवन् ॥१२९॥

यमकिंकरा ऊचुः

धन्योऽसि नृपशार्दूल यस्य पुत्रः स तादृशः । इह चामुत्र विश्रान्तिः सुपुत्रः केन लभ्यते ॥१३०॥

ब्रह्मोवाच

स विश्रान्तः शनै राजा किंकरान्वाक्यमब्रवीत् ॥१३१॥

राजोवाच

नरकेष्वथ घोरेषु पच्यमानः पुनः पुनः । कथं त्वाकर्षितः शीघ्रं तन्मे वक्तुमिहार्हथ ॥१३२॥

ब्रह्मोवाच

तत्र कश्चिच्छान्तमना राजानमिदमब्रवीत् ॥१३३॥

यमदूत उवाच

वेदशास्त्रपुराणादावेतद्गोप्यं प्रयत्नतः । प्रकाश्यते तदपि ते सामर्थ्यं पुत्रतीर्थयोः ॥१३४॥
रामस्तव सुतः श्रीमान्गौतमीतीरमागतः । तस्मात्त्वं नरकाद्घोरादाकृष्टोऽसि नरोत्तम ॥१३५॥
यदि त्वां तत्र गौतम्यां स्मरेद्रामः सलक्ष्मणः । स्नानं कृत्वाऽथ पिण्डादि ते दद्यात्स नृपोत्तम ॥
ततस्त्वं सर्वपापेभ्यो मुक्तो यासि त्रिविष्टपम् ॥१३६॥

के निकट अवस्थित हो, उसके विषय में तो कहना ही क्या है ? अतएव इस समय दशरथ को नरक में कोई भी नहीं पीड़ित कर सकता है। दक्षिण दिशा के स्वामी यम की बातों को सुनकर यम-दूतों ने नरक में पड़े उस अयोध्यापति राजा को उस घोर नरक से निकाला और कहा ॥१२७-१२९॥

यमदूत बोले—नृपश्रेष्ठ ! तुम धन्य हो, जिसका वैसा (राम के समान) पुत्र है। (क्योंकि) इहलोक और परलोक में शान्ति प्रदान करने वाला सुपुत्र किसको मिलता है ? (अर्थात् बड़े भाग्यशाली को ही मिलता है) ॥१३०॥

ब्रह्मा ने कहा—धीरे-धीरे (उस नरक-यातना से) विश्राम मिलने पर राजा ने यमदूतों से कहा ॥१३१॥

राजा ने कहा—वार-वार घोर नरक में यातना सहने वाले मुझको तुम लोगों ने कैसे निकाला ? यह शीघ्र ही मुझसे वतलाओ ॥१३२॥

ब्रह्मा ने कहा—उन दूतों में से किसी शान्त दूत ने राजा से कहा ॥१३३॥

यमदूत ने कहा—वेद-शास्त्र और पुराण आदि में यह बात यत्नपूर्वक गुप्त रूप से कही गयी है, परन्तु आज मैं तुमको पुत्र और तीर्थ का सामर्थ्य वता रहा हूँ। तुम्हारे पुत्र श्रीमान् राम गौतमी-तट पर आये हुए हैं, नरोत्तम ! इसीलिए तुम इस घोर नरक से निकाले गये हो। यदि लक्ष्मण के सहित वह राम उस गौतमी में तुम्हारा स्मरण करेंगे और हे नृपोत्तम ! यदि स्नान कर तुम्हें पिण्ड आदि देंगे, तो तुम सब पापों से मुक्त होकर स्वर्ग चले जाओगे ॥१३४-१३६॥

राजोवाच

भवन्त एव शरणमनुज्ञां दातुमर्हथ ॥१३७॥
तत्र गत्वा भवद्वाक्याक्यमाख्यास्ये स्वसुतौ प्रति ।
तद्राजवचनं श्रुत्वा कृपया यमकिंकराः आज्ञां च प्रददुस्तस्मैं राजा प्रागात्सुतौ प्रति ॥१३८॥
भीषणं यातनादेहमापन्नो निःश्वसन्मुहुः । निरीक्ष्य[1] स्वयं लज्जमानः कृतं कर्म च संस्मरन् ॥१३९॥
स्वेच्छया विहरन्गङ्गामाससाद च राघवः । गौतम्यास्तटमाश्रित्य रामो लक्ष्मण एव च ॥१४०॥
सीतया सह वैदेह्या सस्नौ चैव यथाविधि । नैव तत्राभवद्भोज्यं भक्ष्यं वा गौतमीतटे ॥१४१॥
तद्दिने तत्र वसतां गौतमीतीरवासिनाम् । तद्दृष्ट्वा दुःखितो भ्राता लक्ष्मणो राममब्रवीत् ॥१४२॥

लक्ष्मण उवाच

पुत्रौ[2] दशरथस्याऽऽवां तवापि बलमीदृशम् । नास्ति भोज्यमथास्माकं गङ्गातीरनिवासिनाम् ॥१४३॥

राम वाच

भ्रातर्यद्विहितं कर्म नैव तच्चान्यथा भवेत् । पृथिव्यामन्नपूर्णायां वयमन्नाभिलाषिणः ॥१४४॥
सौमित्रे नूनमस्माभिर्न ब्राह्मणमुखे हुतम् । अवज्ञया महीदेवांस्तर्पयन्त्यर्चयन्ति न[3] ॥१४५॥
ते ये लक्ष्मण जायन्ते सर्वदैव बुभुक्षिताः । स्नात्वा देवानथाभ्यर्च्य होतव्यश्च हुताशनः ॥
॥१४६॥
ततः स्वसमये[4] देवो विधास्यत्यशनं तु नौ

राजा ने कहा—वहाँ जाकर अपने पुत्रों से आपकी वात कहूँगा । अव आप ही मेरे एकमात्र शरण हैं। आज्ञा दीजिये ॥१३७॥

ब्रह्मा ने कहा—राजा की प्रार्थना सुनकर यमदूतों ने कृपाकर उस राजा को आज्ञा दे दी । राजा भी अपने पुत्रों के समीप चल पड़ा । उसका यातना-शरीर (मृत्यु के वाद पाप-भोग के लिए जीव को एक शरीर दिया जाता है वही यातना-शरीर कहलाता है), भयङ्कर था । वह बार-बार लंबी साँस ले रहा था और अपने पूर्व के किये कर्मों का स्मरण कर तथा अपनी वर्तमान दशा को देखकर लज्जित हो रहा था । राघव भी स्वेच्छया घूमते हुए गङ्गा तट-पर आये । गौतमी-तट पर आश्रय पाकर लक्ष्मण और विदेह-तनया सीता के साथ उन्होंने यथा-विधि स्नान किया, परन्तु उस दिन गौतमी-तट पर निवास करने वाले उन तीनों को कोई भी भोज्य या भक्ष्य पदार्थ प्राप्त नहीं हुआ । यह देखकर अत्यन्त दुःखी हुए । उन्होंने राम से कहा ॥१३८-१४२॥

लक्ष्मण ने कहा—हम दोनों दशरथ के पुत्र हैं और आपको ऐसी अद्भुत शक्ति भी प्राप्त है । फिर भी आज गंगा-तट पर निवास करते हुए हम लोगों को भोज्य सामग्री नहीं मिल रही है ॥१४३॥

राम ने कहा—भ्राता ! जो किए हुए कर्म हैं वे वदले नहीं जा सकते । इस शस्य-सम्पन्न पृथ्वी पर हम अन्न के लिए चिन्तत हों, तो सौमित्रे ! अवश्य ही हम लोगों ने व्राह्मण के मुख में कोई पदार्थ नहीं दिया है अर्थात् किसी व्राह्मण को नहीं खिलाया है । जो व्राह्मणों को अवज्ञा से तृप्त करते हैं, उनकी पूजा नहीं करते हैं, वे (उनके अपमान के कारण) सर्वदा भूखे रहते हैं। अतः स्नान कर देवताओं की पूजा करनी चाहिये और तदनन्तर अग्नि में हवन करना चाहिये। इससे देवता अपने समय पर हम लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था कर देंगे ॥१४४-१४६॥

१घ. ङ. निनिन्दस्वं ल० । १घ. ङ. च. पुत्रो दशरथस्य त्वं त० । ३घ. च । ४ङ. च. स्वयमथो ।

ब्रह्मोवाच

भ्रात्रोः संजल्पतोरेवं पश्यतोः कर्मणो गतिम् । शनैर्दशरथो राजा तं देशमुपजग्मिवान् ॥१४७॥
तं दृष्ट्वा लक्ष्मणः शीघ्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् । धनुराकृष्य कोपेन रक्षस्त्वं दानवोऽथवा ॥१४८॥
आसन्नं च पुनर्दृष्ट्वा याहि यात्य (ह्य) त्र पुण्यभाक् । रामो दशरथी राजा धर्मभाक्पश्य पर्वते ॥१४९॥
गुरुभक्तः सत्यसंधो देवब्राह्मणसेवकः । त्रैलोक्यरक्षादक्षोऽसौ वर्तते यत्र राघवः ॥१५०॥
न तत्र त्वादृशामस्ति प्रवेशः पापकर्मणाम् । यदि प्रविशसे पाप ततो वधमवाप्स्यसि ॥१५१॥
तत्पुत्रवचनं श्रुत्वा शनैराहूय वाचया । उवाचाधोमुखो भूत्वा स्नुषां पुत्रौ कृताञ्जलिः ॥
मुहुरन्तर्विनिध्यायन्गतिं दुष्कृतकर्मणः ॥१५२॥

राजोवाच

अहं दशरथो राजा पुत्रौ मे शृणुतं वचः । तिसृभिर्ब्रह्महत्याभिर्वृतोऽहं दुःखभागतः ॥
छिन्नं पश्यत मे देहं नरकेषु च पातितम्[1] ॥१५३॥

ब्रह्मोवाच

ततः कृताञ्जली रामः सीतया लक्ष्मणेन च । भूमौ[2] प्रणेमुस्ते सर्वे वचनं चैतदब्रुवन् ॥१५४॥

सीतारामलक्ष्मणा ऊचुः

कस्येदं कर्मणस्तात फलं नृपतिसत्तम ॥१५५॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार दोनों भाई परस्पर वार्तालाप कर रहे थे और कर्म की गति का अनुभव कर रहे थे कि राजा दशरथ धीरे से उस स्थान पर पहुँचे। उनको देखकर लक्ष्मण ने अपना धनुष खींच लिया और क्रोधपूर्वक कहा—रुक जाओ, रुक जाओ। तुम दानव हो या राक्षस ? पुनः उस भयंकर प्रतिमा को समीप आते देखकर उन्होंने कहा—जाओ जाओ, देखो, यहाँ पुण्यशाली धर्मात्मा राजा राम हैं। जहाँ गुरु-भक्त, सत्य-प्रतिज्ञ, देव-ब्राह्मण-सेवक और त्रैलोक्य की रक्षा में कुशल राम रहते हैं, वहाँ तुम्हारे समान पापीजनों का प्रवेश नहीं होता। पापी ! यदि तुम प्रवेश करोगे तो तुम्हारा वध अवश्य कर दिया जयगा। पुत्र की उन बातों को सुनकर उन्होंने धीरे से बुलाकर नीचे सिर किये हुए हाथ जोड़कर अपनी पुत्र-वधू और पुत्रों से बार-बार अपने दुष्कर्मों के फल का ध्यान करते हुए कहा ॥१७४-१५२॥

राजा ने कहा—मैं राजा दशरथ हूँ। पुत्रो ! मेरी बातें सुनो ! मैं तीन ब्रह्महत्याओं के पाप से अत्यन्त दुःख पा रहा हूँ। नरकों में गिराये हुए मेरे कटे शरीर को देखो ॥१५३॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर सीता और लक्ष्मण के साथ राम ने हाथ जोड़कर साष्टांग प्रणाम किया तथा उन सब ने यह वचन कहा ॥१५४॥

सीता राम और लक्ष्मण ने कहा—महाराज ! यह आपके किस कर्म का फल है ? ॥१५५॥

---

[1] च. पाचित०। [2] घ. ङ. च. भूमिं।

ब्रह्मोवाच

स च प्राह यथावृत्तं ब्रह्महत्यात्रयं तथा ॥१५६॥

राजोवाच

निष्कृतिर्ब्रह्महन्तॄणां पुत्रौ क्वापि न विद्यते ॥१५७॥

ब्रह्मोवाच

ततो दुःखेन महताऽऽवृताः सर्वे भुवं गताः । राजानं वनवासं च मातरं पितरं तथा ॥१५८॥
दुःखागमं कर्मगतिं नरके पातनं तथा । एवमाद्यथ संस्मृत्य मुमोह नृपतेः सुतः ॥
विसंज्ञं नृपतिं दृष्ट्वा सीता वाक्यमथाब्रवीत् ॥१५९॥

सीतोवाच

न शोचन्ति महात्मानस्त्वादृशा व्यसनागमे । चिन्तयन्ति प्रतीकारं दैव्यमप्यथ मानुषम् ॥१६०॥
शोचद्भिर्युगसाहस्रं विपत्तिर्नैव तीर्यते । व्यामोहमाप्नुवन्तीह न कदाचिद्विचक्षणाः ॥१६१॥
किमनेनात्र दुःखेन निष्फलेन जनेश्वर । देहि हत्यां प्रथमतो या जाता ह्यतिभीषणा ॥१६२॥
पितृभक्तः पुण्यशीलो वेदवेदाङ्गपारगः । अनागा यो हतो विप्रस्तत्पापस्यात्र निष्कृतिम् ॥१६३॥
आचरामि यथाशास्त्रं मा शोकं कुरुतं युवाम् । द्वितीयां लक्ष्मणो हत्यां गृह्णातु त्वपरां भवान् ॥१६४॥

ब्रह्मा ने कहा—उन्होंने, जिस प्रकार तीन ब्रह्म-हत्याएँ हुई थीं, उनको उसी प्रकार कह दिया ॥१५६॥

राजा ने कहा—पुत्रो ! ब्रह्म-हत्या करनेवालों के पाप का प्रतीकार कहीं भी नहीं है ॥१५७॥

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर सभी अत्यन्त दुःखी हो गये और दुःखावेग से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। नृपति-पुत्र राम राजा की अवस्था, वनवास, माता-पिता, दुःखों की प्राप्ति, कर्म-गति और पिता का नरक में गिराया जाना आदि बातों का स्मरण करके संज्ञा-हीन-से-हो गये। इस प्रकार राम को संज्ञा-शून्य देखकर सीता ने कहा— ॥१५८-१५९॥

सीता ने कहा—आपके समान महात्मा लोग आपत्तियों के आ जाने पर शोक नहीं करते, प्रत्युत उसके प्रतीकार को सोचते हैं, चाहे वह प्रतीकार मानवीय हो या दैवी। सहस्र-युगों तक शोक करते रहने पर भी विपत्तियों से पार नहीं पाया जा सकता। अतएव विद्वान् व्यक्ति कभी भी इस लोक में मोह को नहीं प्राप्त होते हैं। जनेश्वर ! इस निष्फल दुःख करने से क्या लाभ ? पहली अति भीषण हत्या हो गयी है। उसका फल मुझे दे दीजिये। पितृ-भक्त पुण्यशील वेदवेदाङ्गों के पारदर्शी विद्वान् और निष्पाप ब्राह्मण की जो हत्या हुई है, उस पाप का प्रतीकार मैं शास्त्र-सम्मत उपाय से करूँगी। आप दोनों शोक मत कीजिये। दूसरी हत्या को लक्ष्मण और अवशिष्ट को आप ग्रहण कर लीजिये ॥१६०-१६४॥

ब्रह्मोवाच

एतद्धर्मयुतं वाक्यं सीतया भाषितं दृढम् । तथेति चाऽऽहतुरुभौ ततो दशरथोऽब्रवीत् ॥१६५॥

दशरथ उवाच

त्वं हि ब्रह्मविदः कन्या जनकस्य त्वयोनिजा । भार्या रामस्य किं चित्रं यद्युक्तमनुभाषसे ॥१६६॥
न कोऽपि भवतां किंतु श्रमः स्वल्पोऽपि विद्यते । गौतम्यां स्नानदानेन पिण्डनिर्वपणेन च ॥१६७॥
तिसृभिर्ब्रह्महत्याभिर्मुक्तो यामि त्रिविष्टपम् । त्वया जनकसंभूते स्वकुलोचितमीरितम् ॥१६८॥
प्रापयन्ति परं पारं भवाब्धेः कुलयोषितः । गोदावर्याः प्रसादेन किं नामास्त्यत्र दुर्लभम् ॥१६९॥

ब्रह्मोवाच

तथेति क्रियमाणे तु पिण्डदानाय शत्रुहा । नैवापश्यद्भक्ष्यभोज्यं ततो लक्ष्मणब्रवीत् ॥१७०॥
लक्ष्मणः प्राह विनयादिङ्गुद्याश्च फलानि च । सन्ति तेषां च पिण्याकमानीतं तत्क्षणादिव ॥१७१॥
पिण्याकेनाथ गङ्गायां पिण्डं दातुं तथा पितुः । मनः कुर्वंस्ततो रामो मन्दोऽभूद्दुःखितस्तदा ॥१७२॥
दैवी वागभवत्तत्र दुःखं त्यज नृपात्मज । राज्यभ्रष्टो वनं प्राप्तं किं वै निष्किंचनो भवान् ॥१७३॥
अशठो धर्मनिरतो न शोचितुमिहार्हसि । वित्तशाठ्येन यो धर्मं करोति स तु पातकी ॥१७४॥

ब्रह्मा ने कहा—सीता की इस धर्म-सम्मत और दृढ वाक्यों को सुनकर उन दोनों भाइयों ने भी स्वीकार कर लिया। इसके वाद स्वयं दशरथ ने अपने मनोभाव व्यक्त किये ॥१६५॥

दशरथ ने कहा—तुम ब्रह्म-ज्ञानी जनक की अयोनिजा कन्या हो, राम की भार्या हो, तुम यदि ऐसी युक्तिपूर्ण वातें कहती तो हो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु तुम लोगों को कोई भी श्रम करने की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए एक लघु उपाय है। गौतमी में स्नान-दान करने और पिण्ड-दान मात्र से मैं तीनों ब्रह्म-हत्याओं से मुक्त होकर स्वर्ग चला जाऊँगा। जनकात्मजे ! तुमने अपने कुल के अनूरूप ही उपाय वतलाया है। सत्य है, कुलीन स्त्रियाँ मनुष्य को भवसागर से पार करा देती हैं। गोदावरी की कृपा से इस संसार में कौन-सा पदार्थ रह जाता है ॥१६६-१६९॥

ब्रह्मा ने कहा—शत्रुहन्ता (राम) पिता के आदेशानुसार वैसे ही पिण्डदान करने को प्रस्तुत हुए, परन्तु पिण्ड के उपयुक्त कोई भक्ष्य या भोज्य पदार्थ नहीं देखा, तब लक्ष्मण से कहा। लक्ष्मण ने विनयपूर्वक कहा—'इङ्गुदी के फल हैं।' अतः उन्होंने तत्क्षण उन फलों का चूर्ण (आटा) ला दिया। जब राम उस इंगुदी के चूर्ण का पिण्ड पिता को देने के लिए प्रस्तुत हुए तब उनको कुछ दुःख हुआ। उसी समय आकाशवाणी हुई कि हे नृप-पुत्र। तुम शोक छोड़ो; तुम इस समय राज्यच्युत हो और सर्वथा द्रव्यहीन हो ! तुम उदार हो और धर्म में लीन रहने वाले व्यक्ति हो, इसलिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है। जो धन रहते कृपण वन कर धर्म कार्य करता है, वह पातकी होता है। राम ! जो धर्मशास्त्रों में सुना गया है, उसको सावधान होकर सुनो। राजन् ! जो अन्न पुरुष खाता है या प्राप्त करता है उसके देवता भी उसी अन्न के प्रेमी या अधिकारी होते हैं। तब राम ने पिण्ड को पृथ्वी पर

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु यद्राम शृणु यत्नतः । यदन्नः पुरुषो राजंस्तदन्नास्तस्य देवताः ।।१७५।।
पिण्डे निपतिते भूमौ नापश्यत्पितरं तदा । शवं च पतितं यत्र शवतीर्थमनुत्तमम् ।।१७६।।
महापातकसंघातविघातकृदनुस्मृतिः । तत्राऽऽगच्छँल्लोकपाला रुद्रादित्यास्तथाऽश्विनौ ।।१७७।।
स्वं स्वं विमानमारुढास्तेषां मध्येऽतिदीप्तिमान् । विमानवरमारूढः स्तूयमानश्च किंनरैः ।।१७८।।
आदित्यसदृशाकरस्तेषां मध्ये बभौ पिता । तमदृष्ट्वा स्वपितरं देवान्दृष्ट्वा विमानिनः ।।१७९।।
कृताञ्जलिपुटो रामः पिता मे क्वेत्यभाषत । इति (ततो) दिव्याऽभवद्वाणी रामं संबोध्य सीतया ।।१८०।।
तिसृभिर्ब्रह्महत्याभिर्मुक्तो दशरथो नृपः । वृतं पश्य सरैस्तात देवा अप्यूचिरे च तम् ।।१८१।।

देवा ऊचुः

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि राम स्वर्गं गतः पिता । नानानिरयसंघातात्पूर्वजानुद्धरेत्तु यः ।।१८२।।
स धन्योऽलंकृतं तेन कृतिना भुवनत्रयम् । एनं पश्य महाबाहो मुक्तपापं रविप्रभम् ।।१८३।।
सर्वसंपत्तियुक्तोऽपि पापी दग्धद्रुमोपम । निर्ष्किचनोऽपि सुकृती दृश्यते चन्द्रमौलिवत् ।।१८४।।

ब्रह्मोवाच

दृष्ट्वाऽब्रवीत्सुतं राजा आशीर्भिरभिनन्द्य च ।।१८५।।

राजोवाच

कृतकृत्योऽसि भद्रं ते तारितोऽहं त्वयाऽनघ । धन्यः स पुत्रो लोकेऽस्मिन्पितॄणां यस्तु तारकः ।।१८६।।

गिराया। किन्तु उन्होंने अपने पिता को नहीं देखा, केवल शव वहाँ पड़ा हुआ दिखायी दिया। जहाँ वह शव गिरा वह परमोत्तम शवतीर्थ बन गया। जिसके स्मरणमात्र से महापापों का समूह सहज ही में नष्ट हो जाता है। इसके बाद वहाँ लोकपाल, रुद्र, आदित्य तथा अश्विनीकुमार अपने-अपने विमानों पर आरूढ़ होकर आये। उनके मध्य में एक उत्तम विमान पर आरूढ़ अत्यन्त कान्तिमान् रूप में राम के पिता शोभित थे। वे सूर्य के समान चमक रहे थे और किन्नरगण उनकी स्तुति कर रहे थे। उस समय राम ने अपने पिता को नहीं देखा। केवल देवता विमानारूढ़ दिखायी दिये। तब हाथ जोड़कर वे बोले कि मेरे पिता कहाँ हैं। उसी समय सीता सहित राम को संबोधित कर आकाशवाणी हुई कि तात ! तीनों ब्रह्म-हत्याओं से राजा दशरथ मुक्त हो गये। इनको देवों से घिरा हुआ देखो। पुनः देवों ने उनसे कहा ।।१७०-१८१।।

देवगण बोले—राम ! तुम धन्य हो ! तुम्हारा जीवन सफल है। देखो, तुम्हारे पिता स्वर्ग को चले गये। जो अपने पिता को अनेक नरक-जालों से उबारता है, वह धन्य है। उसने अपनी कृति से त्रिभुवन को सुशोभित कर दिया। महाबाहु ! इस मुक्त-पाप एवं सूर्य के समान तेजस्वी पिता को देखो। सब प्रकार की सम्पत्तियों से परिपूर्ण रहने पर भी पापी व्यक्ति जले वृक्ष के समान हैं, इसके विपरीत अकिंचन पुण्यात्मा व्यक्ति शिव के समान पूज्य-भाव से देखा जाता है ।।१८२-१८४।।

ब्रह्मा ने कहा—अपने पुत्र को राजा ने आशीर्वाद दिया और उसकी प्रशंसा करते हुए कहा ।।१८५।।

राजा ने कहा—तुम कृत-कृत्य हो गये हो, तुम्हारा कल्याण हो। निष्पाप ! तुमने मुझको तार दिया। इस लोक में वह पुत्र धन्य है, जो अपने पिता का उद्धार करता है ।।१८६।।

ब्रह्मोवाच

ततः सुरगणाः प्रोचुर्देवानां कार्यसिद्धये । रामं च पुरुषश्रेष्ठं गच्छ तात यथासुखम् ॥
ततस्तद्वचनं श्रुत्वा रामस्तानब्रवीत्सुरान् ॥१८७॥

राम उवाच

गुरौ पितरि मे देवाः किं कृत्यमवशिष्यते ॥१८८॥

देवा ऊचुः

नदी न गङ्गया तुल्या न त्वया सदृशः सुतः । न शिवेन समो देवो न तारेण समो मनुः ॥१८९॥
त्वया राम गुरूणां[1] च कार्यं सर्वमनुष्ठितम् । तारिताः पितरो राम त्वया पुत्रेण मानद ॥
गच्छन्तु सर्वे स्वस्थानं त्वं च गच्छ यथासुखम् ॥१९०॥

ब्रह्मोवाच

तद्देववचनाद्धृष्टः सीतया लक्ष्मणाग्रजः । तद्दृष्ट्वा गङ्गामाहात्म्यं विस्मितो वाक्यमब्रवीत् ॥१९१॥

राम उवाच

अहो गङ्गाप्रभावोऽयं त्रैलोक्ये नोपमीयते । वयं धन्या यतो गङ्गा दृष्टाऽस्माभिस्त्रिपावनी ॥१९२॥

ब्रह्मोवाच

हर्षेण महता युक्तो देवं स्थाप्य महेश्वरम् । तं षोडशभिरीशानमुपचारैः प्रयत्नतः ॥१९३॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके वाद देवताओं ने देव-कार्य की सिद्धि के लिए पुरुषोत्तम राम से कहा; —तात ! अव सुखपूर्वक जाओ। देवों की वातें सुनकर राम ने उन देवताओं से पूछा ॥१८७॥

राम ने कहा—देवगण ! आदरणीय पिता के विषय में कौन-सा कृत्य शेष रह गया है ? ॥१८८॥

देवगण बोले—गंगा के समान कोई नदी नहीं है, तुम्हारे समान कोई पुत्र नहीं है, शिव के समान कोई देवता नहीं है और ओंकार के समान कोई मन्त्र नहीं है । राम ! तुमने अपने गुरु के समस्त कार्यों को पूरा कर दिया । राम ! पुत्र होकर तुमने अपने पितरों का उद्धार कर दिया । अव सव अपने-अपने स्थान को जायें, तुम भी अपने स्थान को सुखपूर्वक जाओ ॥१८९-१९०॥

ब्रह्मा ने कहा—देवों की उपर्युक्त वातों को सुनकर सीता सहित लक्ष्मणाग्रज राम अत्यन्त प्रसन्न हुए और गंगा के उस अद्‌भुत महात्म्य को देखकर आश्चर्य के साथ वोले ॥१९१॥

राम ने कहा—अहो ! गंगा के इस प्रभाव की उपमा त्रैलोक्य में किसी से नहीं दी जा सकती । हम धन्य हैं कि आज इस त्रिभुवन-पावनी गंगा का दर्शन हमें प्राप्त हुआ ॥१९२॥

ब्रह्मा ने कहा—अत्यन्त आनन्द से युक्त होकर उन्होंने महेश्वर देव की स्थापना की । वड़े यत्न से उनका

---

[1] छ. सुराणां

संपूज्याऽऽवरणैर्युक्तं षट्त्रिंशत्कलमीश्वरम् । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा रामस्तुष्टाव शंकरम् ॥१९४॥

राम उवाच

नमामि शंभुं पुरुषं पुराणं, नमामि सर्वज्ञमपारभावम् ।
नमामि रुद्रं प्रभुमक्षयं तं, नमामि शर्वं शिरसा नमामि ॥१९५॥
नमामि देवं परमव्ययं तमुमापतिं लोकगुरुं नमामि ।
नमामि दारिद्र्यविदारणं तं, नमामि रोगापहरं नमामि ॥१९६॥
नमामि कल्याणमचिन्त्यरूपं, नमामि विश्वोद्भवबीजरूपम् ।
नमामि विश्वस्थितिकारणं तं, नमामि संहारकरं नमामि ॥१९७॥
नमामि गौरीप्रियमव्ययं तं, नमामि नित्यं क्षरमक्षरं तम् ।
नमामि चिद्रूपममेयभावं, त्रिलोचनं तं शिरसा नमामि ॥१९८॥
नमामि कारुण्यकरं भवस्य, भयंकरं वाऽपि सदा नमामि ।
नमामि दातारमभीप्सितानां, नमामि सोमेशमुमेशमादौ ॥१९९॥
नमामि[1] वेदत्रयलोचनं तं नमामि मूर्तित्रयवर्जितं तम् ।
नमामि पुण्यं सदसद्व्यतीतं, नमामि तं पापहरं नमामि ॥२००॥

षोडशोपचार पूजन किया। अंगों सहित छत्तीस कला वाले महेश्वर की अर्चना करके राम हाथ जोड़कर शंकर की स्तुति करने लगे ॥१९३-१९४॥

राम ने कहा—पुराण-पुरुष शंभु को नमस्कार करता हूँ। सर्वत्र तथा अनन्त रूप वाले को नमस्कार करता हूँ अक्षय (नित्य) प्रभु रुद्र को नमस्कार करता हूँ। उस शर्व को सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥१९५॥ उस परम अव्यय देव को नमस्कार करता हूँ। उमापति, लोकगुरु को नमस्कार करता हूँ। दरिद्रता को नष्ट करने वाले को नमस्कार करता हूँ। रोगों को दूर करने वाले उस शंकर को नमस्कार करता हूँ ॥१९६॥ कल्याणमय, अचिन्त्यरूप को नमस्कार करता हूँ। विश्व-निर्माण के आदि कारण को नमस्कार करता हूँ। विश्व की स्थिति के कारण को नमस्कार करता हूँ। संहार करने वाले विभु को नमस्कार करता हूँ ॥१९७॥ उस गौरी-प्रिय शंकर को नमस्कार करता हूँ। उस नित्य क्षर और अक्षर रूप को नमस्कार करता हूँ। ज्ञानरूप एवं अमित प्रभाव वाले को नमस्कार करता हूँ। उस त्रिनेत्र को सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥१९८॥ संसार पर करुणा करने वाले को नमस्कार करता हूँ, भय प्रदान करने वाले को सदा नमस्कार करता हूँ। मनोरथ प्रदान करने वाले को नमस्कार करता हूँ। सर्वप्रथम सोमेश और उमेश को नमस्कार करता हूँ ॥१९९॥ तीन वेदरूपी नेत्र वाले को नमस्कार करता हूँ। त्रिमूर्ति वर्जित उस शंकर को नमस्कार करता हूँ। सत् और असत् से परे उस पुण्यस्वरूप को नमस्कार करता हूँ। उस पापहर को नमस्कार करता हूँ ॥२००॥ विश्व के हित में लीन रहने वाले को नमस्कार करता हूँ। लोक-हित के विविध रूप

---

[1] ङ. च. ०मि देवत्र० ।

नमामि विश्वस्य हिते रतं तं, नमामि रूपाणि बहूनि धत्ते ।
यो विश्वगोप्ता सदसत्प्रणेता, नमामि, तं विश्वपतिं नमामि ॥२०१॥
यज्ञेश्वरं संप्रति हव्यकव्यं, तथा गतिं लोकसदाशिवो यः ।
आराधितो यश्च ददाति सर्वं, नमामि दानप्रियमिष्टदेवम् ॥२०२॥
नमामि सोमेश्वरमस्वतन्त्रमुमापतिं तं विजयं नमामि ।
नमामि विघ्नेश्वरनन्दिनाथं, पुत्रप्रियं तं शिरसा नमामि ॥२०३॥
नमामि देवं भवदुःखशोकविनाशनं चन्द्रधरं नमामि ।
नमामि गङ्गाधरमीशमीड्यमुमाधवं देववरं नमामि ॥२०४॥
नमाम्यजादीशपुरंदरादिसुरासुरैरर्चितपादपद्मम्[1] ।
नमामि देवीमुखवादनानामीक्षार्थमक्षित्रियं य ऐच्छत् ॥२०५॥
पञ्चामृतैर्गन्धसुधूपदीपैर्विचित्रपुष्पैर्विविधैश्च मन्त्रैः ।
अन्नप्रकारैः सकलोपचारैः, संपूजितं सोममहं नमामि ॥२०६॥

ब्रह्मोवाच

ततः स भगवानाह रामं शंभुः सलक्ष्मणम् । वरान्वृणीष्व भद्रं ते रामः प्राह वृषध्वजम् ॥२०७॥

धारण करने वाले को नमस्कार करता हूँ। जो विश्व का रक्षक तथा सत् और असत् का रचयिता है, उसको नमस्कार करता हूँ। उस विश्वपति को नमस्कार करता हूँ ॥२०१॥ जो सम्प्रति यज्ञेश्वर, हव्य और कव्य है, जो सर्वदा लोक को मंगल दान करने वाला एवं गति है, जो आराधना करने पर सेवक को सव कुछ प्रदान करता है, उस दान-पटु इष्टदेव को नमस्कार करता हूँ ॥२०२॥ सोमेश्वर तथा अस्वतन्त्र (भक्त के अधीन) उमापति को नमस्कार करता हूँ, उस विजय को नमस्कार करता हूँ। विघ्नेश्वर, नन्दि-नाथ को नमस्कार करता हूँ। पुत्र-प्रेमी को सिर नवा कर नमस्कार करता हूँ ॥२०३॥ संसार के दुःख और शोक को नष्ट करने वाले को नमस्कार करता हूँ। चन्द्रमा को धारण करने वाले को नमस्कार करता हूँ। पूज्य, गंगाधर-महादेव को नमस्कार करता हूँ। देवश्रेष्ठ उमापति को नमस्कार करता हूँ ॥२०४॥ जिनके चरण-कमल की अर्चना ब्रह्मा आदि तथा प्रभु इन्द्र आदि देवता एवं राक्षस करते हैं, उनको नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने देवी के मुख-वादन के विशेषावलोकन की इच्छा से तीन नेत्रों की इच्छा की, उनको नमस्कार करता हूँ ॥२०५॥ पञ्चामृत, गन्ध, सुगन्धित धूप, दीप, विचित्र पुष्प एवं विविध मन्त्रों तथा अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ से जिसकी षोडशोपचार पूजा होती है, उस सोम को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२०६॥

ब्रह्मा ने कहा—राम की प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान् शंभु ने लक्ष्मण सहित राम से कहा—'वर माँगो, तुम्हारा कल्याण हो।' यह सुनकर राम ने शंकर से कहा ॥२०७॥

---

[1] घ. ङ. च. ०दयुग्मम् ।

राम उवाच

स्तोत्रेणानेन ये भक्त्या तोष्यन्ति त्वां सुरोत्तम । तेषां सर्वाणि कार्याणि[१] सिद्धिं यान्तु महेश्वर ॥२०८॥
येषां च पितरः शंभो पतिता नरकार्णवे । तेषां[२] पिण्डादिदानेन पूता यान्तु त्रिविष्टिपम् ॥२०९॥
जन्मप्रभृति पापानि (यच्चापि) मनोवाक्कायिकं[३] त्वघम्। अत्र तु स्नानमात्रेण तत्सद्यो[४] नाशमाप्नुयात्॥२१०॥
अत्र ये भक्तितः शंभो ददत्यर्थिभ्य अण्वपि । सर्वं तदक्षयं शंभो दातृणां[५] फलकृद्भवेत् ॥२११॥

ब्रह्मोवाच

एवमस्त्विति तं रामं शंकरो हृषितोऽब्रवीत् । गते[६] तस्मिन्सुरश्रेष्ठे रामोऽप्यनुचरैः[७] सह ॥२१२॥
गौतमी यत्र चोत्पन्ना शनैस्तं देशमभ्यगात् । ततः प्रभृति तत्तीर्थं रामतीर्थमुदाहृतम् ॥२१३॥
दयालोरपतत्त (द्य) त्र लक्ष्मणस्य कराच्छरः । तद्बाणतीर्थमभवत्सर्वापद्विनिवारणम् ॥२१४॥
यत्र सौमित्रिणा स्नानं शंकरस्यार्चनं कृतम् । तत्तीर्थं लक्ष्मणं जातं तथा सीतासमुद्भवम् ॥२१५॥
नानाविधाशेषपापसंघनिर्मूलनक्षमम् । यदङ्घ्रिसङ्गादभवद्गङ्गा त्रैलोक्यपावनी ॥२१६॥
स यत्र स्नानमकरोत्तद्वैशिष्ट्यं किमुच्यते । तद्रामतीर्थसदृशं तीर्थं क्वापि न विद्यते ॥२१७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये रामतीर्थादितीर्थवर्णनं नाम त्रयोविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१२३॥

गौतमीमाहात्म्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

राम ने कहा—सुरोत्तम ! इस स्तोत्र से जो तुम्हारी स्तुति करें, महेश्वर ! उनके सब मनोरथ सिद्ध हो जायँ । शंभु ! जिनके पितर नरक में गिरे हों, उनको यहाँ पिण्ड-दान देने से, वे स्वर्ग को चले जायँ । यहाँ केवल स्नान करने से ही मनुष्यों के जन्म से लेकर सभी कायिक, वाचिक और मानसिक पाप नष्ट हो जायँ । शंभो ! यहाँ जो याचकों को भक्ति-पूर्वक अणुमात्र भी प्रदान करें, वह उन दाताओं के लिए अक्षय फल प्रदान करने वाला हो ॥२०८-२११॥

ब्रह्मा ने कहा—शंकर ने प्रसन्न होकर उस राम से 'एवमस्तु' कहा । उस देवेश के चले जाने पर राम भी अपने अनुयायियों के साथ धीरे-धीरे उस स्थान पर गये, जहाँ से गौतमी नदी निकलती है । तव से वह स्थान राम-तीर्थ कहा जाता है । दयालु लक्ष्मण के हाथ से जहाँ वाण गिरा वह लक्ष्मण-तीर्थ हो गया । इसी प्रकार वहाँ अनेक प्रकार के अखिल पाप-समूह को नष्ट कर देने वाला सीतातीर्थ भी प्रसिद्ध है । जिनके चरण-स्पर्श से गंगा त्रिभुवन-पावनी हो गयी, उन्हीं राम ने जहाँ स्नान किया, उस स्थान की विशेषता का वर्णन कैसे किया जा सकता है ? उस राम-तीर्थ के समान कहीं भी दूसरा तीर्थ नहीं है ॥२१२-२१७॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में रामतीर्थवर्णन नामक एक सौ तेईसवाँ अध्याय समाप्त ॥१२३॥

---

१ घ. ङ. च. ०णि रसंसिर्द्धि यान्तु शंकर । २घ. ङ. च. तेभ्यः । ३क. ०यिकानि च । अ० । ४घ. ङ. च. तदघं । ५घ.ङ. च. दातृभ्यः । ६घ. ङ. च. याते । ७. घ. ङ. च. ०नुगतैः स० ।

अथ चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पुत्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

पुत्रतीर्थमिति ख्यातं [1]पुण्यतीर्थं तदुच्यते । सर्वान्कामानवाप्नोति यन्महिम्नः श्रुतेरपि ॥१॥
तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि शृणु यत्नेन नारद । दितेः पुत्राश्च दनुजाः परिक्षीणा यदाऽभवन् ।
अदितेस्तु सुता ज्येष्ठाः सर्वभावेन नारद ॥२॥
तदा दितिः पुत्रवियोगदुःखात्संस्पर्धमाना दनुमाजगाम ॥३॥

दितिरुवाच

क्षीणाः सुता आवयोरेव भद्रे, किं कुर्महे कर्म लोके गरीयः ।
पश्यादितेर्वंशमभिन्नमुत्तमं, सौराज्ययुक्तं यशसा जयश्रिया ॥४॥
जितारिमभ्युन्नतकीर्तिधर्मं, मच्चित्तसंहर्षविनाशदक्षम् ।
समानभर्तृत्वसमानधर्मे, समानगोत्रेऽपि समानरूपे ॥५॥

अध्याय १२४

पुत्रतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—एक प्रसिद्ध पुत्रतीर्थ है। उसको पुण्यतीर्थ भी कहा जाता है। उसकी महिमा के सुनने से भी मनुष्य सब मनोरथ को प्राप्त कर लेता है। उसके स्वरूप का वर्णन मैं करता हूँ। नारद ! तुम ध्यान से सुनो। जब दैत्य और दानव बहुत क्षीण हो गये तथा देवगण सब प्रकार से श्रेष्ठ हो गये तब नारद ! दिति पुत्र-वियोग से कातर और सौत की विभूति की प्रति-स्पर्धा से दुःखी होकर दनु के पास आयी ॥१-३॥

दिति ने कहा—भद्रे ! हम दोनों ही के पुत्र नष्ट हो गये। क्या करें ? संसार में कर्म सबसे बलवान् होता है। देखो, अदिति का वंश किस प्रकार जय-लक्ष्मी, कीर्ति और उत्तम राज-सुख का निरन्तर उपभोग कर रहा है; अपने शत्रुओं को जीत कर चैन की वंशी बजा रहा है; कीर्ति और धर्म की पताका फहरा कर मेरे हृदय को सर्वथा नष्ट कर रहा है। यद्यपि अदिति भी मेरे ही पति की पत्नी है और गोत्र और धर्म तथा रूप में भी समान है, तथापि उसके पुत्रों की श्री एवं उन्नति देखकर मैं दुर्बल हो गयी हूँ। अब जीने की सम्भावना भी नहीं है। अदिति की उत्कृष्ट

---

[1] घ. ङ. छ. सम्यक्तीर्थं ।

न जीवयेयं श्रियमुन्नतिं च, जीर्णाऽस्मि दृष्ट्वा त्वदितिप्रसूतान् ।
कामप्यवस्थामनुयामि दुःस्थाऽदितेर्विलोक्याथ परां समृद्धिम् ।।
दावप्रवेशोऽपि सुखाय नूनं, स्वप्नेऽप्यवेक्ष्या न सपत्नलक्ष्मीः ।।६।।

ब्रह्मोवाच

एवं ब्रुवाणामतिदीनवक्त्रां, विनिश्वसन्तीं परमेष्ठिपुत्रः ।
कृताभिपूजो विगतश्रमस्तां, स सान्त्वयन्नाह मनोभिरामाम् ।।७।।

परमेष्ठिपुत्र उवाच

खेदो न कार्यः समभीप्सितं यत्तत्प्राप्यते पुण्यत एव भद्रे ।
तत्साधनं वेत्ति महानुभावः, प्रजापतिस्ते स तु वक्ष्यतीति ।।८।।
साध्व्येतत्सर्वभावेन प्रश्रयावनता सती ।।९।।

ब्रह्मोवाच

एवं ब्रुवाणां च दितिं दनुः प्रोवाच नारद ।।१०।।

दनुरुवाच

भर्तारं कश्यपं भद्रे तोषयस्व निजैर्गुणैः । तुष्टो यदि भवेद्भर्ता ततः कामानवाप्स्यसि ।।११।।

समृद्धि को देखकर अस्वस्थ हो गयी हूँ । ओर किसी दूसरी ही दशा को प्राप्त करने जा रही हूँ ; क्योंकि स्वप्न में भी सौत का वैभव देखने की अपेक्षा अग्नि में जल कर मर जाना कहीं अधिक सुखकर है ।।४-६।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार कहकर दिति आहें भरने लगी, दीर्घोच्छ्वास छोड़ने लगी और उसके मुख पर दीनता के भाव दिखायी देने लगे । यह देखकर परमेष्ठि-पुत्र (कश्यप) ने उसका सम्मान किया और स्वयं शान्त होकर उस मनोहारिणी दिति को आश्वासन देते हुए कहा ।।७।।

परमेष्ठि-पुत्र ने कहा—भद्रे ! इस प्रकार खेद करने की आवश्यकता नहीं है । मनोरथ पुण्य द्वारा ही प्राप्त होते हैं । महानुभाव प्रजापति तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करने का उपाय जानते हैं । वे अवश्य तुम्हें उपयुक्त साधन वतायेंगे । इस पर विनयावनत पतिव्रता दिति ने कहा-'यह सव तरह से अच्छा है' ।।८-९।।

ब्रह्मा ने कहा—नारद ! इस प्रकार कहने वाली दिति से दनु ने कहा ।।१०।।

दनु ने कहा—भद्रे ! अपने पति कश्यप को अपने गुणों से प्रसन्न करो । यदि तुम्हारे पति प्रसन्न हो जायेंगे तो तुम अपनी मनःकामना अवश्य प्राप्त करोगी ।।११।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा सर्वभावैस्तोषयामास कश्यपम् । दितिं प्रोवाच भगवान्कश्यपोऽथ प्रजापतिः ।।१२।।

कश्यप उवाच

किं ददामि वदाभीष्टं दिते वरय सुव्रते ।।१३।।

ब्रह्मोवाच

दितिरप्याह भर्तारं पुत्रं बहुगुणान्वितम् । जेतारं[1] सर्वलोकानां सर्वलोकनमस्कृतम् ।।१४।।
येन जातेन लोकेऽस्मिन्भवेयं वीरपुत्रिणी । तं वरेयं [2]सुरपतिरित्याह विनयान्विता ।।१५।।

कश्यप उवाच

उपदेक्ष्ये व्रतं श्रेष्ठं द्वादशाब्दफलप्रदम् । तत आगत्य ते गर्भमाधास्ये यन्मनोगतम् ।।
निष्पापतायां जातायां सिध्यन्ति हि मनोरथाः ।।१६।।

ब्रह्मोवाच

भर्तृवाक्याद्दितिः प्रीता तं नमस्याऽऽयतेक्षणा । उपदिष्टं व्रतं चक्रे भर्त्राऽऽदिष्टं यथाविधि ।।१७।।
तीर्थसेवापात्रदानव्रतचर्यादिवर्जिताः । कथमासादयिष्यन्ति प्राणिनोऽत्र मनोरथान् ।।१८।।
ततश्चीर्णे व्रते तस्यां दित्यां गर्भमधारयत् । पुनः कान्तामथोवाच कश्यपस्तां दितिं रहः ।।१९।।

ब्रह्मा ने कहा—दिति ने इसको स्वीकार किया और अपने प्रत्येक प्रयत्नों से कश्यप को प्रसन्न किया । अनन्तर भगवान् प्रजापति कश्यप ने दिति से कहा ।।१२।।

कश्यप ने कहा—दिते ! तुमको क्या दूँ ? तुमं अपनी इच्छा व्यक्त करो। सुव्रते ! वर माँगो ।।१३।।

ब्रह्मा ने कहा—दिति ने भी अपने भर्ता से विनयपूर्वक कहा 'मैं अत्यन्त गुणशाली, सव लोकों को जीतनेवाला और सव लोंगों से पूजित पुत्र चाहती हूँ । हे देवों के पिता ! जिसके उत्पन्न होने से मैं इस संसार में वीर पुत्र की माता कहलाऊँ, उसको मैं चाहती हूँ' ।।१४-१५।।

कश्यप ने कहा—बारह वर्षों में फल देने वाले श्रेष्ठ व्रत को वता रहा हूँ । इस व्रत के पालन के वाद तुम्हारी इच्छा के अनुसार गर्भाधान करूँगा, क्योंकि पापशून्य होने पर ही मनोरथ पूर्ण होते हैं ।।१६।।

ब्रह्मा ने कहा—पति की वातों से दिति प्रसन्न हो गयी । तत्पश्चात् उस विशालनेत्रा ने पति को प्रणाम कर, उनके द्वारा कहे हुए व्रत का विधिपूर्वक पालन किया । तीर्थ-सेवा, उपयुक्त पात्र को दान देना, व्रत-पालन आदि पुण्यानुष्ठान के विना प्राणी कैसे इस लोक में अपने मनोरथ को प्राप्त कर सकते हैं ? ऐसे कठोर व्रत-पालन के वाद कश्यप ने उस दिति में गर्भाधान किया । एक दिन एकान्त में कश्यप ने उस प्रिय दिति से कहा ।।१७-१९।।

---

[1] घ. ङ. च. सर्वसैन्यनां । [2] क. सुतं ब्रह्मन्नित्या० । ङ. सुरपतिमित्या० ।

कश्यप उवाच

न प्राप्नुवन्ति यत्कामान्मुनयोऽपि तपस्थिताः । यथाविहितकर्माङ्गावज्ञया तच्छुचिस्मिते ॥२०॥
निन्दितं च न कर्तव्यं संध्ययोरुभयोरपि । न स्वप्तव्यं न गन्तव्यं मुक्तकेशी च नो भव ॥२१॥
भोक्तव्यं सुभगे नैव क्षुतं वा जृम्भणं तथा । संध्याकाले न कर्तव्यं भूतसंघसमाकुले ॥२२॥
सान्तर्धानं सदा कार्यं हसितं तु विशेषतः । गृहान्तदेशे संध्यासु न स्थातव्यं कदाचन ॥२३॥
मुशलोलूखलादीनि शूर्पपीठपिधानकम् । नैवातिक्रमणीयानि दिवा रात्रौ सदा प्रिये ॥२४॥
उदक्शीर्षं तु शयनं न संध्यासु विशेषतः । वक्तव्यं नानृतं किंचिन्नान्यगेहाटनं तथा ॥२५॥
कान्तादन्यो न वीक्ष्यस्तु प्रयत्नेन नरः क्वचित् । इत्यादिनियमैर्युक्ता यदि त्वमनुवर्तसे ॥
ततस्ते भविता पुत्रस्त्रैलोक्यैश्वर्यभाजनम् ॥२६॥

ब्रह्मोवाच

तथेति प्रतिजज्ञे सा भर्तारं लोकपूजितम् । गतश्च कश्यपो ब्रह्मन्नितश्चेतः सुरान्प्रति ॥२७॥
दितेर्गर्भोऽपि ववृधे बलवान्पुण्यसंभवः । एतत्सर्वं मयो दैत्यो मायया वेत्ति तत्त्वतः ॥२८॥
इन्द्रस्य सख्यमभवन्मयेन[1] प्रीतिपूर्वकम् । मयो गत्वा रहः प्राह इन्द्रं स विनयान्वितः ॥२९॥

कश्यप ने कहा—पवित्र हास्य वाली ! तपस्या में लीन मुनिगण भी जो अपने मनोरथ को प्राप्त करने में असफल होते हैं उसका मुख्य कारण शास्त्र-सम्मत नियमों की उपेक्षा है । (अतः उन नियमों को सुनो) दोनों सन्ध्याकाल में कोई निन्दित कर्म नहीं करना चाहिए । न सोना चाहिए, न (वाहर) जाना चाहिये और न उस समय केशों को विखरी अवस्था में रखना चाहिए । सुन्दरी ! संध्याकाल में विशेषतः अनेक प्राणियों से भरे स्थान में भोजन नहीं करना चाहिए । न छींकना चाहिए और न जम्भाई लेनी चाहिये । हँसने के समय तो अवश्य कोई आवरण लगा लेना चाहिए । सन्ध्याकाल में घर की ओलती में कभी नहीं रहना चाहिये । प्रिये ! दिन या रात्रि में सर्वदा मूसल, ओखली, सूप, पीढ़ा आदि को कभी भी नहीं लाँघना चाहिये । उत्तर की ओर सिर करके नहीं सोना चाहिये विशेषतःसंध्या समय ।थोड़ा भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये । दूसरे के घर नहीं जाना चाहिये । प्रयत्नपूर्वक पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष को नहीं देखना चाहिये । इस प्रकार यदि तुम उपयुक्त नियमों का पालन करोगी तो त्रिभुवन के ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाला तुम्हारा पुत्र होगा ॥२०-२६॥

ब्रह्मा ने कहा—दिति ने लोकपूजित पति के सामने 'ऐसा ही करूँगी' ऐसी प्रतिज्ञा की । ब्रह्मन् ! कश्यप भी इधर-उधर देवताओं के निवास-स्थान की ओर चले गये । परमशक्तिशाली और पुण्य द्वारा प्राप्त दिति का गर्भ भी वढ़ने लगा । इन सव वातों को मय नामक दैत्य अपनी माया के द्वारा यथार्थरूप से जानता था । मय की इन्द्र के साथ पहले ही से अति प्रीतिकर मित्रता थी । मय ने इन्द्र के यहाँ जाकर विनम्र भाव से एकान्त में दिति और दनु का अभि-

---

[1] ङ. च. ०ये तु प्री० ।

दितेर्दनोरभिप्रायं व्रतं गर्भस्य वर्धनम् । तस्य वीर्यं च विविधं प्रीत्येन्द्राय न्यवेदयत् ।।३०।।
विश्वासैकगृहं मित्रमपायत्रासवर्जितम् । अर्जितं सुकृतं नानाविधं चेत्तदवाप्यते ।।३१।।

नारद उवाच

नमुचेश्च प्रियो भ्राता मयो दैत्यो महाबलः । भ्रातृहन्त्रा कथं मैत्र्यं मयस्याऽसीत्सुरेश्वर ।।३२।।

ब्रह्मोवाच

दैत्यानामधिपश्चाऽऽसीद्बलवान्नमुचिः पुरा । इन्द्रेण वैरमभवद्भीषणं लोमहर्षणम् ।।३३।।
युद्धं हित्वा कदाचिद्भ्रो गच्छन्तं तु शतक्रतुम् । दृष्ट्वा दैत्यपतिः शूरो नमुचिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।।३४।।
तमायान्तमभिप्रेक्ष्य शचीभर्ता भयातुरः । ऐरावतं गजं त्यक्त्वा इन्द्रः फेनमथाऽऽविशत् ।।३५।।
स वज्रपाणिस्तरसा फेनेनैवाहनद्रिपुम् । नमुचिर्नाशमगमत्तस्य भ्राता मयोऽनुजः ।।३६।।
भ्रातृहन्तृविनाशाय तपस्तेपे मयो महत् । मायां च विविधामाप देवानामतिभीषणाम् ।।३७।।
वरांश्चावाप्य तपसा विष्णोर्लोकपरायणात् । दानशौण्डः प्रियालापी तदाऽभवदसौ मयः ।।३८।।
अग्नींश्च ब्राह्मणान्पूज्य जेतुमिन्द्रे कृतक्षणः । दातारं च तदाऽर्थिभ्यः स्तूयमानं च बन्दिभिः ।।३९।।
विदित्वा मघवा वायोर्मयं मायाविनं रिपुम् । उपक्रान्तं सुयुद्धाय विप्रो भूत्वा तमभ्यगात् ।।
शचीभर्ता मयं दैत्यं प्रोवाचेदं पुनः पुनः ।।४०।।

प्राय, व्रत-पालन, गर्भ का दिनों दिन बढ़ना तथा उस भावी पुत्र का पराक्रम आदि विविध बातें बड़े प्रेम से कहीं। कहा भी है कि एकमात्र विश्वास-पात्र और मैत्री-विच्छेद के भय से रहित मित्र मनुष्य को अनेकों अर्जित सत्कर्मों के प्रभाव से प्राप्त होता है ।।२७-३१।।

नारद ने पूछा—सुरेश्वर ! महाबलवान् मय नमुचि का प्रिय भ्राता था। उस मय की भातृ-हन्ता इन्द्र के साथ कैसे मित्रता हो गयी ।।३२।।

ब्रह्मा ने कहा—प्राचीन काल में बलवान् नमुचि दैत्यों का स्वामी था। उसकी इन्द्र से भीषण एवं रोमाञ्चकारी शत्रुता हो गयी। किसी समय युद्धभूमि को छोड़कर भागते हुए इन्द्र को देखकर दैत्यराज शूर नमुचि उनका पीछा करने लगा। उसको अपना पीछा करते देख शचीपति इन्द्र भय से विह्वल हो ऐरावत हाथी से उतरकर फेन में घुस गये। उन्होंने उस फेन से ही उस शत्रु को शीघ्रता से मारा। नमुचि उस प्रहार से मर गया। मय उसी नमुचि का छोटा भाई था। उसने भाई के हत्याकारी को नष्ट करने के लिए तपस्या की। उसने तपोबल से देवों को डरा देने वाली भीषण माया प्राप्त की और तप के द्वारा लोकपालक विष्णु से वर पाकर वह मय अति दान-कुशल तथा मधुरभाषी वन गया। अग्नि और ब्राह्मणों की पूजा कर वह इन्द्र को जीतने का मौका ढूँढ़ने लगा। बंदी और याचक लोग उसकी स्तुति किया करते थे। वह इन्द्र से युद्ध के लिए तैयार हो रहा था। ऐसे मायावी शत्रु को वायु के द्वारा जानकर शचीपति इन्द्र ब्राह्मण के वेश में उस मय दैत्य के पास गये और बार-बार उससे यह कहने लगे ।।३३-४०।।

इन्द्र उवाच

देहि दैत्यपते मह्यमर्थिनेऽपेक्षितं वरम्। त्वां श्रुत्वा दातृतिलकमागतोऽहं द्विजोत्तमः ।।४१।।

ब्रह्मोवाच

मयोऽपि ब्राह्मणं मत्वाऽवदद्दत्तं मया तव। विचारयन्ति कृतिनो बह्वल्पं वा पुरोऽर्थिनि ।।४२।।
इत्युक्ते तु हरिः प्राह सख्यमिच्छे ह्यहं त्वया। इन्द्रं मयः पुनः प्राह किमनेन द्विजोत्तम ।।४३।।
न त्वया मम वैरं भोः स्वस्तीत्याह हरिर्मयम्। तत्त्वं वदेति स हरिर्दैत्येनोक्तः स्वकं वपुः ।।४४।।
दर्शयामास दैत्याय सहस्राक्षं यदुच्यते। ततः सविस्मयो दैत्यो मयो हरिमुवाच ह ।।४५।।

मय उवाच

किमिदं वज्रपाणिस्त्वं तवायोग्या कृतिः सखे ।।४६।।

ब्रह्मोवाच

परिष्वज्य विहस्याथ वृत्तमित्यब्रवीद्धरिः। केनापि साधयन्त्यत्र पण्डिताश्च समीहितम् ।।४७।।
ततः प्रभृति शक्रस्य मयेन महती ह्यभूत्। सुप्रीतिर्मुनिशार्दूल मयो हरिहितः सदा ।।४८।।
इन्द्रस्य भवनं गत्वा तस्मै सर्वं न्यवेदयत्। किं मे कृत्यमिति प्राह मयं मायाविनं हरिः ।।४९।।
हरये च मयो मायां प्रादात्प्रीत्या तथा हरिः। प्राप्तः संप्रीतिमानाह किं कृत्यं मय तद्वद ।।५०।।

इन्द्र ने कहा—दैत्यपति ! मुझ याचक को मेरा अभीष्ट वर दो। दाताओं में सर्वश्रेष्ठ तुम्हें सुनकर मैं उत्तम ब्राह्मण तुम्हारे पास आया हूँ ।।४१।।

ब्रह्मा बोले—मय ने भी उसको ब्राह्मण जानकर कहा—'तुम जो चाहो, वह मैं देने के लिए तैयार हूँ। क्या दानशील व्यक्ति याचक के आ जाने पर उसके सामने दान की छोटाई या बड़ाई पर विचार करते हैं ?' इतना कहने पर इन्द्र ने कहा 'मैं तुम्हारे साथ मित्रता चाहता हूँ। मय ने पुनः इन्द्र से कहा 'द्विजवर ! इसका क्या अर्थ ? ओ ! तुम्हारे साथ तो मेरी कोई शत्रुता नहीं। इन्द्र ने मय से "स्वस्ति" यह कहा। यह सुन दैत्य ने उस ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र से कहा कि इसका रहस्य बतलाओ। तब इन्द्र ने दैत्य को अपना सहस्र नेत्र वाला शरीर दिखलाया। इन्द्र की इस कपट माया को देखकर विस्मित हो दैत्य ने इन्द्र से कहा ।।४२-४५।।

मय ने कहा—यह क्या, तुम तो वज्रपाणि इन्द्र हो। सखे ! यह कपट तुम्हारे समान देवता के लिए उचित नहीं है ।।४६।।

ब्रह्मा बोले—इन्द्र ने हँसकर मय को गले लगाया और कहा कि जो होना था हो गया। इस लोक में बुद्धिमान् व्यक्ति जिस किसी प्रकार से अपने इष्ट का साधन करते हैं। मुनिशार्दूल ! तभी से मय के साथ इन्द्र की अति घनिष्ठ मैत्री हो गयी। मय भी सर्वदा के लिए इन्द्र का हितेच्छु बन गया। इन्द्र के भवन में जाकर मय ने सारा रहस्य कह दिया। यह सुन कर हरि ने मायावी मय से कहा कि 'मुझे क्या करना चाहिये।' मय ने प्रेमपूर्वक अपनी माया (विद्या) हरि को दे दी। हरि ने माया विद्या पाकर अति प्रसन्न हो कहा कि 'मय ! मुझे क्या करना होगा वह बताओ' ।।४७-५०।।

मय उवाच

अगस्त्यस्याऽऽश्रमं गच्छ तत्राऽऽस्ते गर्भिणी दितिः। तस्याः शुश्रूषणं कुर्वन्नास्स्व तत्र कियन्ति च ॥५१॥
अहानि मघवंस्तस्या गर्भमाविश्य वज्रधृक्। वर्धमानं च तं छिन्धि यावद्वश्योऽथवा मृतिम् ॥
प्राप्नोति तावद्वज्रेण ततो न भविता रिपुः ॥५२॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा मयं पूज्य मघवानेक एव हि। विनीतवत्तदा प्रायाद्दितिं मातरमञ्जसा ॥५३॥
शुश्रूषमाणस्तां देवीं शक्रो दैतेयमातरम्। सा न जानाति तच्चित्तं[1] शक्रस्य द्विषतो दितिः ॥५४॥
गर्भे स्थितं तु यद्भूतं देवेन्द्रस्य विचेष्टितम्। अमोघं तन्मुनेस्तेजः कश्यपस्य दुरासदम् ॥५५॥
ततः प्रगृह्य कुलिशं सहस्राक्षः पुरंदरः[2]। अन्तःप्रवेशकामोऽसौ बहुकालं समावसन् ॥५६॥
संध्योदक्शीर्षनिद्रां तामवेक्ष्य कुलिशायुधः। इदमन्तरमित्युक्त्वा दित्याः कुक्षिं समाविशत् ॥५७॥
अन्तर्वर्ति च यद्भूतमिन्द्रं दृष्ट्वा धृतायुधम्। हन्तुकामं तदोवाच पुनः पुनरभीतवत् ॥५८॥

गर्भस्थ उवाच

किं मां न रक्षसे वज्रिन्भ्रातरं त्वं जिघांससि। नारणे मारणादन्यत्पातकं विद्यते महत् ॥५९॥

मय ने कहा—अगस्त्य के आश्रम में जाओ, वहाँ गर्भिणी दिति रहती है। उस आश्रम में कुछ दिनों तक उसकी शुश्रूषा करते हुए रहो। वज्रहस्त ! समय पाकर उसके गर्भ में घुसकर उस बढ़ते हुए गर्भ को जब तक वह वश्यता न स्वीकार करे अथवा मर न जाय तब तक वज्र से काटो। ऐसा करने से वह तुम्हारा शत्रु नहीं होगा ॥५१-५२॥

ब्रह्मा ने कहा—ऐसा ही होगा, यह कहकर मय की पूजा कर वह इन्द्र अकेले विनीत भाव से शीघ्र ही माता दिति के पास गया। वहाँ जाकर वह उस दैत्य-माता देवी की सेवा करने लगा। परन्तु वह दिति ईर्ष्यालु इन्द्र के मनोगत भावों को नहीं जानती थी। उस मुनि कश्यप के अमोघ और दुर्लभ तेज के गर्भस्थ होने पर इन्द्र के मन में कैसे विचार हुए होंगे इस बात को भी दिति नहीं जानती थी। इधर सहस्राक्ष इन्द्र वज्र हाथ में लिये गर्भ में प्रवेश करने की इच्छा से बहुत समय तक वहाँ प्रतीक्षा करते हुए रह गये। निदान एक दिन दिति को संध्या समय उत्तर की ओर सिर रखकर सोते हुए देखकर 'यह अच्छा अवसर है' यह कहकर इन्द्र दिति के उदर में घुस गये। वज्र हाथ में लिये हुए और मारने के लिए उद्यत इन्द्र को देखकर गर्भस्थ जीव निर्भीक होकर बार-बार कहने लगा ॥५३-५८॥

गर्भस्थ शिशु ने कहा—वज्रिन् ! तुम क्यों मेरी रक्षा नहीं करते ? क्या अपने भाई का ही वध करना चाहते हो ? युद्ध से अन्यत्र किसी को मारने से जो महापाप होता है, उससे बढ़कर और कोई पाप नहीं है। पराक्रमी इन्द्र ! बाहर निकलने पर मुझसे युद्ध करो ! इसलिए इस प्रकार का यह दुष्कर्म तुम्हारे लिए उचित नहीं होगा।

---

१. ङ. च. ०च्चित्रमिन्द्रस्य। २घ. ०रः। गर्भवैशसका०।

ऋते युद्धान्महाबाहो शक्र युध्यस्व निर्गते। मयि तस्मान्नैतदेवं तव युक्तं भविष्यति ।।६०।।
शतक्रतुः सहस्राक्षः शचीभर्ता पुरंदरः। वज्रपाणिः सुरेन्द्रस्त्वं[1] ते न युक्तं भवेत्प्रभो ।।६१।।
अथवा युद्धकामस्त्वं मम निष्क्रमणं यथा। तथा कुरु महाबाहो मार्गादस्मादपासर ।।६२।।
कुमार्गे न प्रवर्तन्ते महान्तोऽपि विपद्गताः। अविद्यश्चाप्यशस्त्रश्च नैव चाऽऽयुधसंग्रहः ।।६३।।
त्वं विद्यावान्वज्रपाणे मां निघ्नन्किं न लज्जसे। कुर्वन्ति गर्हितं कर्म न कुलीनाः कदाचन ।।६४।।
हत्वा वा[2] किं तु जायेत यशो वा पुण्यमेव वा। वध्यन्ते भ्रातरः कामाद्गर्भस्थाः किं न पौरुषम् ।।६५।।
यदि वा युद्धभक्तिस्ते मयि भ्रातरसंशयम्। ततो मुष्टिं पुरस्कृत्य वज्रिणेऽसौ व्यवस्थितः ।।६६।।
बालघाती[3] ब्रह्मघाती तथा विश्वासघातकः। एवंभूतं फलं शक्र कस्मान्मां हन्तुमुद्यतः ।।६७।।
यस्याऽऽज्ञया सर्वमिदं वर्तते सचराचरम्। स हन्ता बालकं मां वै किं यशः किन्तु पौरुषम् ।।६८।।

ब्रह्मोवाच

एवं ब्रुवन्तं तं गर्भं चिच्छेद कुलिशेन सः। क्रोधान्धानां लोभिनां च न घृणा क्वापि विद्यते ।।६९।।
न ममार ततो दुःखादाहुस्ते भ्रातरो वयम्। पुनश्चिच्छेद तान्खण्डान्मा वधीरिति चाब्रुवन् ।।७०।।
विश्वस्तान्मातृगर्भस्थान्निजभ्रातॄञ्शतक्रतो। द्वेषविध्वस्तबुद्धीनां न चित्ते करुणाकणः ।।७१।।

प्रभो ! तुम शतक्रतु (सौ यज्ञ करने वाले), सहस्राक्ष, शची के भर्ता, वज्र-पाणि, पुरन्दर और सुरेन्द्र हो, अतः यह कार्य तुम्हारे लिए युक्त नहीं होगा। अथवा यदि तुम युद्ध करना चाहते हो तो जिस प्रकार मैं यहाँ से निकलूँ वैसा करो। परन्तु महाबाहु ! इस कुमार्ग से अपने को हटाओ। महान् व्यक्ति आपत्ति में पड़ने पर भी कुमार्ग की ओर नहीं जाते। तुम तो विद्या-विमुख और शस्त्र-हीन भी नहीं हो। वज्रपाणे ! तुम तो आयुधवान् हो, विद्यावान् हो। तो क्या मुझको मारने में तुम लज्जित नहीं होते ? कुलीन व्यक्ति कभी भी निन्दित कर्म नहीं करते। सोचो तो, मुझको मारने से तुमको क्या मिलेगा यश या पुण्य ? लोभवश गर्भस्थ भ्राता को मारकर तुम कौन-सा पौरुष करोगे ? अथवा भाई ! यदि तुम्हारी मुझसे निश्चित ही युद्ध करने की इच्छा है (यदि तुम मुझे मारना चाहते हो) (तो उसने अपनी बँधी मुट्ठी इन्द्र को दिखाते हुए कहा) तो तुम बालघाती, ब्रह्मघाती और विश्वास-घातक हो। शक्र ! तुमको इस पापकर्म से क्या फल मिलेगा ? किस लिए तुम मुझे मारने के लिए तैयार हो ? जिसकी आज्ञा से यह सम्पूर्ण स्थावर-जंगम रूप जगत् संचालित होता है, क्या वह मेरे समान बालक का हत्यारा बने ? इसमें तुम्हें क्या यश मिलेगा ? और क्या पुरुषार्थ होगा ? ।।५९-६८।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार बातचीत करते हुए उस गर्भ को इन्द्र ने वज्र से काट डाला। सत्य है, क्रोध और लोभी जनों को किसी काम में घृणा नहीं होती। कटने पर भी वह गर्भस्थ जीव मरा नहीं। किन्तु दुःख से गर्भ के टुकड़ों ने कहा—'हम लोग भाई हैं। फिर इन्द्र ने उन खण्डों को भी काटा। इस पर खण्डों ने कहा—'शतक्रतो ! विश्वासपात्र एवं माता के गर्भ में स्थित अपने भाइयों को मत मारो।' परन्तु द्वेष से जिन प्राणियों की बुद्धि नष्ट

---

[1] घ. ङ. ०स्त्वं नैतद्युक्तं। [2] ङ. च. मां। [3] ङ. ०ती भातृघा०।

एवं तु खण्डितं खण्डं हस्तपादादिजीववत् । निर्विकारं ततो दृष्ट्वा सप्तसप्त सुविस्मितः ।।७२।।
[1]एकवद्बहुरूपाणि गर्भस्थानि शुभानि च। रुदन्ति बहुरूपाणि मा रुतेत्यब्रवीद्धरिः ।।७३।।
ततस्ते मरुतो जाता बलवन्तो महौजसः। गर्भस्था एव तेऽन्योन्यमूचुः शक्रं गतभ्रमाः ।।७४।।
अगस्त्यं मुनिशार्दूलं माता यस्याऽऽश्रमे स्थिता । अस्मत्पिता तव भ्राता सख्यं ते बहु मन्यते ।।७५।।
अस्मानुपरि सस्नेहं मनस्ते विद्महे मुने। न यत्करोति श्वपचः प्रवृत्तस्तत्र वज्रधृक् ।।७३।।
इत्येतद्वचनं श्रुत्वा अगस्त्योऽगात्ससंभ्रमः। दितिं संबोधयामास व्यथितां गर्भवेदनात् ।।
।।७७।।
तत्रागस्त्यः शचीकान्तमशपत्कुपितो भृशम्

अगस्त्य उवाच

सङ्ग्रामे रिपवः पृष्ठं पश्येयुस्ते सदा हरे। जीवतामेव मरणमेतदेव हि मानिनाम् ।।
।।७८।।
पृष्ठं पलायमानानां यत्पश्यन्त्यहिता रणे

ब्रह्मोवाच

।।७९।।
साऽपि तं गर्भसंस्थं च शशापेन्द्रं रुषा दितिः

दितिरुवाच

न पौरुषं कृतं तस्माच्छापोऽयं भविता तव। स्त्रीभिः परिभवं प्राप्य राज्यात्प्रभ्रश्यसे हरे ।।८०।।

हो गयी है, उनके हृदय में थोड़ी-सी भी करुणा के लिए स्थान कहाँ ? इस प्रकार इन्द्र ने प्रत्येक खण्ड को खण्डित करके भी हाथ पैर वाले जीव के समान उनचासों भागों को निर्विकार देखा । यह देखकर वे अतिविस्मित हो गये । उन एक प्रकार के बहुत-से रूपवाले पवित्र गर्भस्थ जीवों को विभिन्न प्रकार से रोते हुए देखकर इन्द्र ने कहा—'मा रुत (मत रोओ) ।' इतना कहने से वे जीव महातेजस्वी एवं बलवान् 'मारुत' हो गये । गर्भ में रहकर ही उन जीवों ने मुनिवर अगस्त्य से, जिनके आश्रम में उनकी माता रहती थी, इन्द्र के बारे में परस्पर बातचीत की, फिर निःशंक होकर कहा 'मुने !' हमारे पिता तुम्हारे भाई हैं और तुम्हारी मित्रता पर अधिक विश्वास करते हैं। हम लोगों पर तुम्हारे मन में स्नेह है, यह हम जानते हैं, परन्तु इतना होने पर जिस काम को एक चाण्डाल भी नहीं कर सकता, उस कार्य में वज्रधारी इन्द्र प्रवृत्त हुए हैं । यह सुनकर अगस्त्य शीघ्र वहाँ पहुँचे और गर्भपीड़ा से व्यथित दिति को संबोधित करने लगे । वहाँ अगस्त्य ने अत्यन्त कुपित होकर इन्द्र को शाप दिया ।।६९-७७।।

अगस्त्य ने कहा—हरे ! सर्वदा शत्रु संग्राम में तुम्हारी पीठ देखें । मान-प्रिय व्यक्तियों के लिए यही जीते हुए भी मृत्यु के समान कष्ट भोगना है कि रण में उनके शत्रु भागते हुए उन मनस्वियों की पीठ देखें ।।७८।।

ब्रह्मा ने कहा—उस दिति ने भी क्रोध से उस इन्द्र को शाप दिया, जो कि अभी गर्भ में ही था ।।७९।।

दिति ने कहा—तुमने पुरुषार्थ नहीं किया है (अर्थात् तुमने यह कायरता की है) । अतः तुमको यह शाप है कि ऐ इन्द्र ! तुम स्त्रियों से अनादर पाकर राज्य से च्युत होगे ।।८०।।

---

[1] क० ०कस्य बहु० ।

ब्रह्मोवाच

एतस्मिन्नन्तरे तत्र कश्यपो वै प्रजापतिः। प्रायाच्च व्यथितोऽगस्त्याच्छ्रुत्वा शक्रविचेष्टितम् ॥
गर्भान्तरगतः शक्रः पितरं प्राह भीतवत् ॥८१॥

शक्र उवाच

अगस्त्याच्च दितेश्चैव बिभेमि क्रमितुं बहिः ॥८२॥

ब्रह्मोवाच

एतस्मिन्तरे प्राप्य कश्यपोऽपि प्रजापतिः। पुत्रकर्म च तद्दृष्ट्वा गर्भान्तः स्थितिमेव च ॥
दितिशापमगस्त्यस्य श्रुत्वाऽसौ दुःखितोऽभवत् ॥८३॥

कश्यप उवाच

निर्गच्छ शक्र पुत्रैतत्पापं किं कृतवानसि। न निर्मलकुलोत्पन्ना मनः कुर्वन्ति पातके ॥८४॥

ब्रह्मोवाच

स निर्गतो वज्रपाणिः सव्रीडोऽधोमुखोऽब्रवीत्। तन्मूर्तिरेव वदति सदसच्चेष्टितं नृणाम् ॥८५॥

शक्र उवाच

यदुक्तमत्र श्रेयः स्यात्तत्कर्ताऽहमसंशयम् ॥८६॥

ब्रह्मोवाच

ततो ममान्तिकं प्रायाल्लोकपालैः स कश्यपः। सर्वं वृत्तमथोवाच पुनः पप्रच्छ मां सुरैः ॥८७॥
दितिगर्भस्य वै शान्तिं सहस्राक्षविशापताम्। गर्भस्थानां च सर्वेषामिन्द्रेण सह मित्रताम् ॥८८॥

ब्रह्मा ने कहा—इसी बीच प्रजापति कश्यप भी वहाँ आ गए। वे अगस्त्य के मुँह से इन्द्र के दुष्कर्म को सुनकर अत्यन्त व्यथित हुए। इन्द्र भयभीत होकर गर्भ के भीतर से ही पिता से बोले ॥८१॥

इन्द्र ने कहा—अगस्त्य और दिति के भय से मैं बाहर आने से डर रहा हूँ ॥८२॥

ब्रह्मा ने कहा—इस समय प्रजापति कश्यप भी पुत्र के उस कर्म को और गर्भ के भीतर उसको घुसा देखकर एवं दिति तथा अगस्त्य के शाप को सुनकर अत्यन्त दुःखी हुए ॥८३॥

कश्यप ने कहा—शक्र ! निकलो। पुत्र ! तुमने यह पाप कार्य क्यों किया है ? उच्च कुल में उत्पन्न व्यक्ति कभी भी पाप की ओर अपना मन नहीं लगाते ॥८४॥

ब्रह्मा ने कहा—वह वज्रपाणि इन्द्र लज्जा से मुँह नीचे किये हुए निकला और बोला। सत्य है, मनुष्य की आकृति ही उसके सत् और असत् कर्मों को बता देती है ॥८५॥

इन्द्र ने कहा—जिस कार्य के करने से कल्याण होगा, वह मैं अवश्य करूँगा। आप कृपापूर्वक बतलाइये ॥८६॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर लोकपालों के साथ कश्यप मेरे पास आये। सारी घटना कह सुनायी। पुनः देवताओं ने मुझसे पूछा—'किस प्रकार दिति की गर्भ-शान्ति, इन्द्र का शाप से उद्धार, गर्भस्थ सब जीवों की इन्द्र के साथ मैत्री

तेषामारोग्यतां चापि शचीभर्तुरदोषताम्। अगस्त्यदत्तशापस्य विशापत्वमपि क्रमात् ॥८९॥
ततोऽहमब्रवं वाक्यं कश्यपं विनयान्वितम्। प्रजापते कश्यप त्वं वसुभिर्लोकपालकैः ॥९०॥
इन्द्रेण सहितः शीघ्रं गौतमीं याहि मानद। तत्र स्नात्वा महेशानं स्तुहि सर्वैः समन्वितः ॥९१॥
ततः शिवप्रसादेन सर्वं श्रेयो भवेदिति। तथेत्युक्त्वा[1] जगामासौ कश्यपो गौतमीं तदा ॥९२॥
स्नात्वा तुष्टाव देवेशमेभिरैव पदक्रमैः। सर्वदुःखापनोदाय द्वयमेव प्रकीर्तितम् ॥९३॥
गौतमी वा पुण्यनदी शिवो वा करुणाकरः

कश्यप उवाच

पाहि शंकर देवेश पाहि लोकनमस्कृत। पाहि पावन वागीश पाहि पन्नगभूषण ॥९४॥
पाहि धर्मवृषारूढ़ पाहि वेदत्रयेक्षण। पाहि गोधरलक्ष्मीश पाहि शर्व गजाम्बर ॥९५॥
पाहि त्रिपुरहन्नाथ पाहि सोमार्धभूषण। पाहि यज्ञेश सोमेश पाह्यभीष्टप्रदायक ॥९६॥
पाहि कारुण्यनिलय पाहि मङ्गलदायक। पाहि प्रभव सर्वस्य पाहि पालक वासव ॥९७॥
पाहि भास्कर वित्तेश पाहि ब्रह्मनमस्कृत। पाहि विश्वेश सिद्धेश पाहि पूर्ण नमोऽस्तु ते ॥९८॥
घोरसंसारकान्तारसंचारोद्विग्नचेतसाम्। शरीरिणां कृपासिन्धो त्वमेव शरणं शिव ॥९९॥

और उन जीवों का उत्तम स्वाथ्य, शचीपति के दोषों का निराकरण एवं अगस्त्य के दिये हुए शाप से इन्द्र का उद्धार होगा ?' तब मैंने विनयावनत कश्यप से कहा—'प्रजापते ! कश्यप ! मानद ! तुम शीघ्र वसुओं, लोकपालों और इन्द्र के सहित गौतमी के पास जाओ। उसमें स्नान कर सबके साथ महेशान (शंकर) की स्तुति करो। शिव की कृपा से सब प्रकार से कल्याण होगा।' कश्यप ने इसको स्वीकार किया और गौतमी के तट पर गये। उसमें स्नान कर इन आगे के कहे गये छन्दों से शंकर की स्तुति की। इस लोक में सब प्रकार के दुःखों को दूर करने के लिए दो देवता ही समर्थ माने गये हैं—एक पुण्य-नदी गौतमी और दूसरे करुणा के सागर भगवान् शंकर ॥८७-९३॥

कश्यप ने कहा—देवताओं के प्रभु शंकर ! रक्षा करो ! लोकपूजित ! रक्षा करो। परम पावन ! वाणी के स्वामी ! रक्षा करो ! सर्प के आभूषण वाले ! रक्षा करो ! धर्म ! नन्दी पर (अथवा धर्मरूप वृष पर) आरूढ़ होने वाले ! रक्षा करो। तीन वेद रूपी तीन नेत्रवाले ! रक्षा करो। कैलाश की लक्ष्मी (शोभा) के ईश ! रक्षा करो। शर्व ! गज-चर्मधारिन् ! रक्षा करो। त्रिपुर को नष्ट करने वाले नाथ ! रक्षा करो। अर्द्ध चन्द्रमा को शिरोभूषण बनाने वाले ! रक्षा करो ! यज्ञेश ! रक्षा करो ! सोमेश ! मनोरथ देने वाले ! रक्षा करो। करुणामूर्ति ! रक्षा करो। मङ्गलदायक ! रक्षा करो। सबको उत्पन्न करने वाले ! रक्षा करो। वासव ! पालक ! रक्षा करो। भास्कर ! धनेश ! रक्षा करो। ब्रह्मा से भी पूजित ! रक्षा करो। विश्वेश ! रक्षा करो। सिद्धेश ! रक्षा करो। पूर्ण ! आपको नमस्कार है। शिव ! कृपासिन्धो ! संसार रूपी भयंकर वन में संचार करने से उद्विग्न हुए चित्त वाले प्राणियों के लिए तुम्हीं एकमात्र शरण हो ॥९४-९९॥

---

[1] ङ्. ०क्त्वा तैर्जगाम क०।

ब्रह्मोवाच

एवं संस्तुवतस्तस्य पुरतोऽभूद्वृषध्वजः। वरेण च्छन्दयामास कश्यपं तं प्रजापतिम् ॥१००॥
कश्यपोऽपि शिवं प्राह विनीतवदिदं वचः। स प्राह विस्तरेणाथ इन्द्रस्य तु विचेष्टितम् ॥१०१॥
शापं नाशं च पुत्राणां परस्परममित्रताम्। पापप्राप्तिं तु शक्रस्य शापप्राप्तिं तथैव च॥
ततो वृषाकपिः प्राह दितिं चागस्त्यमेव च ॥१०२॥

शिव उवाच

मरुतो ये भवत्पुत्राः पञ्चाशच्चैकवर्जिताः। सर्वे भवेयुः सुभगा भवेयुर्यज्ञभागिनः ॥१०३॥
इन्द्रेण सहिता नित्यं वर्तयेयुर्मुदाऽन्विताः ॥१०४॥
इन्द्रस्य तु हविर्भागो यत्र यत्र मखे भवेत्। आदौ तु मरुतस्तत्र भवेयुर्नात्र संशयः ॥१०५॥
मरुद्भिः सहितं शक्रं न जयेयुः कदाचन। जेता भवेत्सर्वदैव सुखं तिष्ठ प्रजापते ॥१०६॥
अद्यप्रभृति ये कुर्युरनयाद्भ्रातृघातनम्। वंशच्छेदो विपत्तिश्च नित्यं तेषां भविष्यति ॥१०७॥

ब्रह्मोवाच

अगस्त्यमृषिशार्दूलं शंभुरप्याह यत्नतः ॥१०८॥

शंभुरुवाच

न कुर्यास्त्वं च कोपं च शचीभर्तरि वै मुने। शमं व्रज महाप्राज्ञ मरुतस्त्वमरा [1]भवन् ॥१०९॥

ब्रह्मोवाच

दितिं चापि शिवः प्राह प्रसन्नो वृषभध्वजः ॥११०॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार स्तुति करने पर कश्यप के सामने शंकर ने प्रकट होकर उस प्रजापति कश्यप को वर प्रदान किया। कश्यप ने भी विनीत भाव से इन्द्र के किये कर्म—शाप, पुत्रों का नाश, परस्पर की ईर्ष्या, इन्द्र की पाप तथा शाप की प्राप्ति आदि—विस्तार के साथ बता दिये। यह सुनकर शिव ने अगस्त्य और दिति से कहा ॥१००-१०२॥

शिव ने कहा—जो मरुत् नाम के तुम्हारे उनचास पुत्र हैं। वे सब भाग्यशाली और यज्ञांश पाने वाले होंगे। वे इन्द्र के साथ आनन्दपूर्वक रहेंगे। जिन यज्ञों में इन्द्र को यज्ञ-भाग प्राप्त होगा, वहाँ इन्द्र के पहले मरुत् ही यज्ञ-भाग पायेंगे, यह निश्चित समझो। मरुतों के सहित इन्द्र को कभी कोई जीत न सकेगा। प्रजापते ! आप सुखपूर्वक निश्चिन्त रहिये। यह आपका पुत्र सर्वदा ही विजयी होगा। आज से जो कोई अन्याय-पूर्वक भाइयों का वध करेंगे उनका वंश-नाश होगा और वे सर्वदा विपत्ति-ग्रस्त रहेंगे ॥१०३-१०७॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके उपरान्त शंभु ने बड़े प्रेम से ऋषिवर अगस्त्य से कहा ॥१०८॥

शंभु ने कहा—मुने ! शचीपति के ऊपर आप क्रोध न करें। महाप्राज्ञ ! आप शान्त हो जाइये। मरुद्गण तो अब अमर हो गये हैं ॥१०९॥

ब्रह्मा ने कहा—परम प्रसन्न वृषभ-ध्वज शंकर ने दिति से भी कहा ॥११०॥

---

[1] अडभाव आर्षः।

शिव उवाच

एको भूयान्मम सुतस्त्रैलोक्यैश्वर्यमण्डितः। इत्येवं चिन्तयन्ती त्वं तपसे नियताऽभवः ॥१११॥
तदेतत्सफलं तेऽद्य पुत्रा बहुगुणाः शुभाः। अभवन्बलिनः शूरास्तस्माज्जहि मनोरुजम् ॥
अन्यानपि वरान्सुभ्रूर्याचस्व गतसंभ्रमा ॥११२॥

ब्रह्मोवाच

तदेतद्वचनं श्रुत्वा देवदेवस्य सा दितिः। कृताञ्जलिपुटा नत्वा शंभुं वाक्यमथाब्रवीत् ॥११३॥

दितिरुवाच

लोके यदेतत्परमं यत्पित्रोः पुत्रदर्शनम्। विशेषेण तन्मातुः प्रियं स्यात्सुरपूजित ॥११४॥
तत्रापि रूपसंपत्तिशौर्यविक्रमवान्भवेत्। एकोऽपि तनयः किंतु बहवश्चेत्किमुच्यते ॥११५॥
मत्पुत्रास्ते प्रभावाच्च जेतारो बलिनो ध्रुवम्। इन्द्रस्य भ्रातरः सत्यं पुत्राश्चैव प्रजापते ॥११६॥
अगस्त्यस्य प्रसादाच्च गङ्गायाश्च प्रसादतः। यत्र देव प्रसादस्ते तच्छुभं कोऽत्र संशयः ॥११७॥
कृतार्थाऽहं तथाऽपि त्वां भक्त्या विज्ञापयाम्यहम्। श‍ृणुष्व देव वचनं कुरुष्व च जगद्धितम् ॥११८॥

ब्रह्मोवाच

वदेत्युक्ता जगद्धात्रा दितिर्नम्राऽब्रवीदिदम् ॥११९॥

दितिरुवाच

सन्ततिप्रापणं लोके दुर्लभं सुरवन्दित। विशेषेण प्रियं मातुः पुत्रश्चेर्त्कि नु वर्ण्यते ॥१२०॥

शंकर ने कहा—'मुझे त्रैलोक्य के ऐश्वर्य का अधिकारी एक पुत्र हो', इस विचार से तुमने कठिन तपस्या की है। सो आज तुम्हारी कामना सफल हो गई। तुम्हारे पुत्र बहुगुणशाली, शुभमूर्ति, बली और शूर हो गये हैं। अब मानसिक सन्ताप छोड़ दो। सुन्दर भौं वाली ! तुम अब निश्चिन्त हो, अन्य वरों को माँगो ॥१११-११२॥

ब्रह्मा ने कहा—देवाधिदेव शंकर की इन बातों को सुनकर वह दिति हाथ जोड़कर शंभु को प्रणाम करके बोली ॥११३॥

दिति ने कहा—सुरपूजित ! इस संसार में यह परम सौभाग्य का विषय है कि माता-पिता पुत्र का मुख देखे। माता के लिये तो यह और भी अधिक प्रिय विषय है। तिस पर भी यदि एक भी पुत्र रूप, सम्पत्ति, शूरता और पराक्रम वाला हो जाता है तो महान् आनन्द होता है, फिर ऐसे बहुत से पुत्रों के हो जाने पर तो कहना ही क्या है। आपके प्रभाव से तथा अगस्त्य और गंगा की कृपा से मेरे सभी पुत्र बलवान्, विजयी इन्द्र के भाई और प्रजापति के पुत्र हैं, यह सत्य है। जहाँ आपकी कृपा होगी वहाँ तो शुभ होगा ही, इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं है। अब मैं कृतार्थ हो गई, तिस पर भी आज मैं भक्तिपूर्वक आपसे प्रार्थना करती हूँ। देव ! इस प्रार्थना को सुनिये और जगत् का कल्याण कीजिये ॥११४-११८॥

ब्रह्मा ने कहा—जगद्धाता ने कहा 'कहो'। तब दिति नम्रता के साथ बोली ॥११९॥

दिति ने कहा—सुरवन्दित ! इस लोक में सन्तान-प्राप्ति दुर्लभ है विशेषकर माता को संतान बहुत प्रिय

स चापि गुणवाञ्श्रीमानायुष्मान्यदि जायते। किंतु स्वर्गेण देवेश[1] पारमेष्ठ्यपदेन वा ।।१२१।।
सर्वेषामपि भूतानामिहामुत्र फलैषिणाम्। गुणवत्पुत्रसंप्राप्तिरभीष्टा सर्वदैव हि ।।
तस्मादाप्लवनादत्र क्रियतां समनुग्रहः ।।१२२।।

शंकर उवाच

महापापफलं चेदं यदेतदनपत्यता। स्त्रिया वा पुरुषस्यापि वन्ध्यत्वं यदि जायते ।।१२३।।
तदत्र स्नानमात्रेण तद्दोषो नाशमाप्नुयात्। स्नात्वा तत्र फलं दद्यात्स्तोत्रमेतच्च यः पठेत् ।।१२४।।
स तु पुत्रमवाप्नोति[2] त्रिमासस्नानदानतः। अपुत्रिणी त्वत्र स्नानं कृत्वा पुत्रमवाप्नुयात् ।।१२५।।
ऋतुस्नाता तु या काचितत्र स्नाता सुताँल्लभेत्। त्रिमासाभ्यन्तरं या तु गुर्विणी भक्तितस्त्विह ।।१२६।।
फलैः[3] स्नात्वा तु मां पश्येत्स्तोत्रेण स्तौति मां तथा। तस्याः शक्रसमः पुत्रो जायते नात्र संशयः ।।१२७।।
पितृदोषैश्च ये पुत्रं न लभन्ते दिते शृणु। धनापहारदोषैश्च तत्रैषा निष्कृतिः परा ।।१२८।।
तत्रैषां पिण्डदानेन पितॄणां प्रीणनेन च। किंचित्सुवर्णदानेन ततः पुत्रो भवेद्ध्रुवम् ।।१२९।।
ये न्यासाद्यपहर्तारो रत्नापह्लवकारकाः[4]। श्राद्धकर्मविहीनाश्च तेषां वंशो न वर्धते ।।१३०।।
दोषिणां तु परेतानां गतिरेषा भवेदिति। संततिर्जायतां श्लाघ्या जीवतां तीर्थसेवनात् ।।१३१।।

होती है उस पर भी पुत्र हो तो फिर कहना ही क्या है ? देवेश ! यदि वह पुत्र गुणवान्, श्रीमान् और दीर्घजीवी हो जाय, तव तो उसके सामने स्वर्ग या व्रह्मपद का भी कोई महत्त्व नहीं होता। लौकिक एवं पारलौकिक फलों की इच्छा करने वाले सभी प्राणियों को गुणी पुत्र पाने की सर्वदा इच्छा वनी रहती है। इसलिए आप इस विषय में कल्प-पर्यन्त के लिए अनुग्रह कीजिये ।।१२०-१२२।।

शंकर ने कहा—जो यह अनपत्यता (संतान-हीनता) है, वह महापाप का परिणाम है। अतः यदि स्त्री या पुरुष किसी को वन्ध्यापन दोष हो जाय तो यहाँ स्नान करने से ही वह दोष नष्ट हो जायगा। जो इस तीर्थ में स्नान कर किसी को फल का दान करेगा और इस स्तोत्र का पाठ करेगा, उसे तीन मास के स्नान-दान से पुत्र की प्राप्ति होगी। अपुत्रिणी स्त्री यहाँ स्नान करने से पुत्रवती होगी। जो कोई ऋतु-स्नाता स्त्री यहाँ स्नान करेगी, वह पुत्रों को प्राप्त करेगी। जो गर्भिणी स्त्री यहाँ तीन महीने तक स्नान कर फल हाथ में लेकर मेरा दर्शन करेगी और मेरे स्तोत्र से स्तुति करेगी उसको इन्द्र के समान तेजस्वी पुत्र होगा, इसमें सन्देह नहीं। दिति ! जो अपने पिता के दोष तथा धन अपहरण करने के दोष के कारण पुत्र नहीं प्राप्त करते, उनके लिए उत्तम उपाय वता रहा हूँ, सुनो। ऐसे व्यक्ति यदि उस तीर्थ में पिण्डदान करें और पितरों को प्रसन्न करें तथा कुछ सोना दान दें तो वे अवश्य पुत्रवान् होंगे। जो किसी की धरोहर को हड़प लेते अथवा रत्नों को धूर्तता से वदल लेते हैं और जो श्राद्ध आदि कर्म नहीं करते हैं, उनकी वंश-वृद्धि नहीं होती है। ऐसे दुष्ट व्यक्तियों के मरने पर यही गति (वंश-विच्छेद) होती है। अतःजीवित व्यक्तियों को इस तीर्थ के सेवन से उत्तम सन्तति की प्राप्ति होती है। जो दिति और गंगा के संगम में स्नान कर प्रभु, सिद्धेश्वर,

---

[1] घ. ङ. च. मोक्षेण। [2] क. ०ति मासेन स्ना०। [3] क. तिलैः। [4] ङ. च. ०पहारका०।

संगमे दितिगङ्गायाः स्नात्वा सिद्धेश्वरं प्रभुम्। [1]अनाद्यपारमजरं चित्सदानन्दविग्रहम् ।।१३२।।
देवर्षिसिद्धगन्धर्वयोगीश्वरनिषेवितम्। लिङ्गात्मकं महादेवं ज्योतिर्मयमनामयम् ।।१३३।।
पूजयित्वोपचारैश्च नित्यं भक्त्या यतव्रतः। स्तोत्रेणानेन यः स्तौति चतुर्दश्यष्टमीषु च ।।१३४।।
यथाशक्त्या (क्ति) स्वर्णदानं ब्राह्मणानां च भोजनम्। यः करोत्यत्र गङ्गायांस[2] पुत्रशतमाप्नुयात् ।।१३५।।
संप्राप्य सकलान्कामानन्ते शिवपुरं व्रजेत्। स्तोत्रेणानेन यः कश्चिद्यत्र क्वापि स्तवीति माम् ।।
षण्मासात्पुत्रमाप्नोति अपि [3]वन्ध्याऽप्यशङ्कितम् ।।१३६।।

ब्रह्मोवाच

ततः प्रभृति तत्तीर्थं [4]पुत्रतीर्थमुदाहृतम्। तत्र तु स्नानदानाद्यैः सर्वकामानवाप्नुयात् ।।१३७।।
मरुद्भिः सह मैत्र्येण मित्रतीर्थं तदुच्यते। निष्पापत्वेन चेन्द्रस्य शक्रतीर्थं तदुच्यते ।।१३८।।
ऐन्द्रीं श्रियं यत्र लेभे तत्तीर्थं कमलाभिधम्। एतानि सर्वतीर्थानि सर्वाभीष्टप्रदानि हि ।।१३९।।
सर्वं भविष्यतीत्युक्त्वा शिवश्चान्तरधीयत। कृतकृत्याश्च ते जगमुः सर्व एव यथागतम् ।।
तीर्थानां पुण्यदं तत्र लक्षमेकं प्रकीर्तितम् ।।१४०।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भ्वृषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये पुत्रतीर्थादिलक्षतीर्थवर्णनं नाम चतुर्विशाधिकशततमोऽध्यायः ।।१२४।।
गौतमीमाहात्म्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।।५५।।

अनादि, अपार, सत्, चित् एवं आनन्दमय शरीरवाले, देव, ऋषि, सिद्ध, गन्धर्व और योगीश्वरों से सर्वदा सेवित लिङ्गात्मक, ज्योतिर्मय तथा निर्विकार महादेव की संयम और भक्तिपूर्वक नित्य षोडशोपचार से पूजा करते हैं और चतुर्दशी, अष्टमी आदि तिथियों में इस स्तोत्र से स्तुति करते, यथाशक्ति ब्राह्मणों को भोजन कराते और उस गंगा में सोना दान देते हैं, वे सौ पुत्र पाते हैं। वे अपने जीवन की सम्पूर्ण कामनाओं का उपभोग कर अन्त में शिवलोक को जाते हैं। जो कोई जहाँ कहीं भी इस स्तोत्र से मेरी स्तुति करता है, वह चाहे बाँझ ही क्यों न हो छह महीने के भीतर ही निश्चित रूप से पुत्रवान् हो जाता है ।।१२३-१३६।।

ब्रह्मा ने कहा—तब से वह तीर्थ पुत्र-तीर्थ कहा जाने लगा। उसमें स्नान दान आदि करने से सब कामनाएँ प्राप्त होती हैं। मरुत् के साथ इन्द्र की मैत्री होने से वह मित्र-तीर्थ भी कहा जाता है। इन्द्र का वहाँ पाप दूर हो गया, अतएव उसको शक्र-तीर्थ भी कहा जाता है। जहाँ इन्द्र ने अपनी श्री प्राप्त की, वहाँ कमला-तीर्थ बन गया है। ये सब तीर्थ सब प्रकार की मनःकामनाओं को देने वाले हैं। तदनन्तर 'सब कुछ प्राप्त होगा' यह कहकर शिव अन्तर्हित हो गये। वे सभी इन्द्र आदि कृतकृत्य होकर अपने गन्तव्य स्थान को चले गये। वहाँ एक लाख पवित्र तीर्थ निवास करते हैं, ऐसा कहा जाता है ।।१३७-१४०।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में पुत्र-तीर्थ-वर्णन नामक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय समाप्त ।।१२४।।

---

[1] घ. ङ्. च. ०रसहजं चि० । [2]घ. ङ्. च. स तु पुत्रमवाप्नु० । [3]क. ०न्ध्या ह्यशीतिका । त० । [4]घ. ङ्. च. ०र्थमिति श्रुतम् ।

अथ पञ्चविंशत्यधिकाततमोऽध्यायः

यमतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मोवाच

यमतीर्थमिति ख्यातं पितॄणां प्रीतिवर्धनम्, दृष्टादृष्टेष्टदं सर्वदेवर्षिगणसेवितम् ।।१।।
तस्य प्रभावं वक्ष्यामि सर्वपापप्रणाशनम् । अनुह्लाद इति ख्यातः कपोतो बलवानभूत् ।।२।।
तस्य भार्या हेतिनाम्नी पक्षिणी कामरूपिणी । मृत्योः [1]पौत्रो ह्यनुह्लादो दौहित्री हेतिरेव च ।।३।।
कालेनाथ तयोः पुत्राः पौत्राश्चैव बभूविरे । तस्य शत्रुश्च बलवानुलूको नाम पक्षिराट् ।।४।।
तस्य पुत्राश्च पौत्राश्च आग्नेयास्ते बलोत्कटाः । तयोश्च वैरमभवद्बहुकालं द्विजन्मनोः ।।५।।
गङ्गाया उत्तरे तीरे कपोतस्याऽऽश्रमोऽभवत् । [2]तस्याश्च दक्षिणे कूल उलूको नाम पक्षिराट् ।।६।।
वासं चक्रे तत्र पुत्रैः पौत्रैश्च द्विजसत्तम । तयोश्च युद्धमभवद्बहुकालं विरुद्धयोः ।।७।।
पुत्रैः पौत्रैश्च वृतयोर्बलिनोर्बलिभिः सह । उलूको वा कपोतो वा नैवाऽऽप्नोति जयाजयौ ।।८।।
कपोतो यममाराध्य मृत्युं पैतामहं तथा । याम्यमस्त्रमवाप्याथ सर्वेभ्योऽप्यधिकोऽभवत् ।।९।।
तथोलूकोऽग्निमाराध्य बलवानभवद्भृशम् । वरैरुन्मत्तयोर्युद्धमभवच्चातिभीषणम् ।।१०।।
तत्राऽऽग्नेयमुलूकोऽपि कपोतायास्त्रमाक्षिपत् । कपोतोऽप्यथ पाशान्वै याम्यानाक्षिप्य शत्रवे ।।११।।

अध्याय १२५

यमतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—(इसके वाद) पितरों के आनन्द को वढ़ाने वाला, दृष्ट, अदृष्ट और इष्ट फल को देने वाला और सव देवों एवं ऋषियों से सेवित यम-तीर्थ नाम का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। सव प्रकार के पापों को नष्ट करने वाले उस तीर्थ के प्रभाव को वतला रहा हूँ। एक अनुह्लाद नाम का वलवान् कवूतर था। उसकी हेति नाम की भार्या थी, जो अत्यन्त सुन्दर पक्षिणी थी। अनुह्लाद मृत्यु का पौत्र और हेति उसकी नतिनी (कन्या की कन्या) थी। समय आने पर उनके पुत्र और पौत्र हुए। उसका एक उलूक नामक वलवान् पक्षिराज शत्रु था। उसके भी अत्यन्त विकट अग्निवंशी पुत्र और पौत्र हुए। उन दोनों पक्षिकुलों में दीर्घकालीन वैर हो गया। गंगा के उत्तर तीर पर कवूतर का घोंसला था और उसके दक्षिण तट पर पक्षिराज उलूक निवास करता था। द्विजवर! पुत्रों और पौत्रों से युक्त दोनों वलशाली पक्षीदलों का वहुत काल तक युद्ध चलता रहा परन्तु कपोत या उलूक दोनों में से किसी की हार-जीत नहीं हुई। कपोत ने पैतामह मृत्यु (यम) की आराधना कर याम्म अस्त्र प्राप्त कर लिया, जिससे वह सवसे अधिक शक्तिशाली हो गया। इसी प्रकार उलूक भी अग्नि की आराधना से अत्यन्त वलवान् हो गया। इस प्रकार देव-वर पा लेने से उन्मत्त उन दोनों पक्षियों में घोर संग्राम हुआ। उस युद्ध में उलूक ने कपोत पर आग्नेयास्त्र और कपोत ने

---

[1] क. पुत्रो । [2] घ. ङ. गङ्गाया ।

ब्रह्मोवाच

उलूकायाथ दण्डं च मृत्युपाशानवासृजत् । पुनस्तदभवद्युद्धं पुराऽऽडीबकयोर्यथा ।।१२।।
हेतिः कपोतकी दृष्ट्वा ज्वलनं प्राप्तमन्तिके । पतिव्रता महायुद्धे भर्तुः सा दुःखविह्वला ।।१३।।
अग्निना वेष्ट्यमानांश्च पुत्रान्दृष्ट्वा विशेषतः । सा गत्वा ज्वलनं हेतिस्तुष्टाव विविधोक्तिभिः ।।१४।।

हेतिरुवाच

रूपं न दानं न परोक्षमस्ति, यस्याऽऽत्मभूतं च पदार्थजातम् ।
अश्नन्ति हव्यानि च येन देवाः, स्वाहापतिं यज्ञभुजं नमस्ये ।।१५।।
मुखभूतं च देवानां देवानां हव्यवाहनम् । होतारं चापि देवानां देवानां दूतमेव च ।।१६।।
तं देवं शरणं यामि आदिदेवं विभावसुम् । अन्तःस्थितः प्राणरूपो बहिश्चान्नप्रदो हि यः ।।
यो यज्ञसाधनं यामि शरणं तं धनंजयम् ।।१७।।

अग्निरुवाच

अमोघमेतदस्त्रं मे न्यस्तं युद्धे कपोतकि । यत्र विश्रमयेदस्त्रं तन्मे ब्रूहि पतिव्रते ।।१८।।

कपोत्युवाच

मयि विश्रम्यतामस्त्रं न पुत्रे न च भर्तरि । सत्यवाग्भव हव्येश जातवेदो नमोऽस्तु ते ।।१९।।

जातवेदा उवाच

तुष्टोऽस्मि तव वाक्येन भर्तृभक्त्या पतिव्रते । तवापि भर्तृपुत्राणां हेति क्षेमं ददाम्यहम् ।।२०।।
आग्नेयमेतदस्त्रं मे न भर्तारं सुतानपि । न त्वां दहेत्ततो याहि सुखेन त्वं कपोतकि ।।२१।।

शत्रु उलूक पर याम्य पाश को छोड़ा। इस प्रकार प्राचीन काल के आड़ी और वक पक्षियों के समान वह युद्ध होने लगा। पतिव्रता कपोतकी हेति ने देखा कि उसके पति के पास अग्नि की लपटें पहुँच गयी हैं और पुत्रों को अग्नि ने घेर लिया है इससे वह वहुत घवरायी। तव अग्नि के पास जाकर वह विविध वाक्यों से स्तुति करने लगी ।। १-४।।

हेति ने कहा—जिनका स्वरूप और दान किसी से छिपा नहीं है, जो सभी पदार्थों को आत्मसात् कर लेते हैं, जिनकी सहायता से देवता हव्य ग्रहण करते हैं, ऐसे, स्वाहा के पति यज्ञभुक् अग्नि को नमस्कार करती हूँ। जो अग्निदेव देवताओं के मुख के समान हैं, जो देवों के हव्य ढोने वाले हैं, जो देवताओं के होता ओर दूत हैं, उस अग्निदेव विभावसु (अग्नि) की शरण मैं ग्रहण करती हूँ। जो प्राणरूप होकर समस्त प्राणियों के अन्तस् में स्थित हैं, जो वाहर (जगत् में) रहकर सवके अन्न-दाता हैं, जो यज्ञ के एकमात्र साधन हैं, ऐसे धनंजय अग्नि की शरण मैं ग्रहण करती हूँ ।।१५-१७।।

अग्नि ने कहा—कपोतकि ! मेरा यह अस्त्र अमोघ है, जिसका इस युद्ध में प्रयोग हो गया है। इसलिए पतिव्रते ! जहाँ यह विश्राम ले (अर्थात् जिसको मार कर यह शान्त हो जाय), वह मुझे वताओ ।।१८।।

कपोती ने कहा—मुझ पर यह विश्राम करे। मेरे पुत्र और पति पर इसका प्रभाव न पड़े। हव्येश ! आप अपनी वात सत्य कीजिये, जातवेदा ! आपको नमस्कार है ।।१९।।

अग्नि ने कहा—पतिव्रते ! तुम्हारे पति-प्रेम और इन वाक्यों से मैं प्रसन्न हूँ, हेति ! तुम्हारे भर्ता, पुत्र और स्वयं तुमको भी कल्याण का वरदान देता हूँ। यह मेरा आग्नेयास्त्र न तो तुमको ही जलायेगा, न तुम्हारे पति या पुत्रों को ही। कपोतकि ! तुम सुखपूर्वक जाओ ।।२०-२१।।

ब्रह्मोवाच

एतस्मिन्नन्तरे तत्र उलूकी ददृशे पतिम् । वेष्ट्यमानं याम्यपाशैर्यमदण्डेन ताडितम् ॥
उलूकी दुःखिता भूत्वा यमं प्रायाद्भयातुरा ॥२२॥

ब्रह्मोवाच

त्वद्भीता अनुद्रवन्ते जनास्त्वद्भीता ब्रह्मचर्यं चरन्ति ॥
त्वद्भीताः साधु चरन्ति धीरास्त्वद्भीताः कर्मनिष्ठा भवन्ति ॥२३॥
त्वद्भीता अनाशकमाचरन्ति, ग्रामादरण्यमभि यच्चरन्ति ।
त्वद्भीताः सौम्यतामाश्रयन्ते, त्वद्भीताः सोमपानं भजन्ते ॥
त्वद्भीताश्चान्नगोदाननिष्ठास्त्वद्भीता ब्रह्मवादं वदन्ति ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

एवं [१]ब्रुवत्यां तस्यां तामाह दक्षिणदिक्पतिः ॥२५॥

यम उवाच

वरं वरय भद्रं ते दास्येऽहं मनसः प्रियम् ॥२६॥

ब्रह्मोवाच

यमस्येति वचः श्रुत्वा सा तमाह पतिव्रता ॥२७॥

ब्रह्मा ने कहा—इसी वीच उलूकी ने भी अपने पति को युद्ध में मृत्युपाश से वँधा और यमदण्ड से पिटते देखा। यह देखकर उलूकी दुःखी और भयातुर होकर यम के समीप गयी ॥२२॥

उलूकी ने कहा—देव ! तुमसे भयभीत होकर सभी प्राणी भाग जाते हैं। तुमसे डरकर ही प्राणी व्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं। धीर पुरूष तुम्हारे भय से ही साधु आचरण करते हैं और तुम्हारे भय से ही सभी अपने कर्त्तव्यों में आस्था रखते हैं। तुम्हारे ही भय से अविध्वंसक कार्य किये जाते हैं और लोग गाँव से जंगल को जाते हैं। तुम्हारे भय से मनुष्य अपनी वर्वरता छोड़कर विनीत वन जाते हैं। तुम्हारे डर से सोम-पान किया जाता है। तुम्हारे डर से मनुष्य अन्नदान, गोदान आदि मे निष्ठा रखते हैं और तुम्हारे भय से मनुष्य व्रह्मवाद (आस्तिकवाद) का प्रवचन करते हैं ॥२३-२४॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार की स्तुति सुनकर दक्षिण दिशा के स्वामी यम ने उस उलूकी से कहा ॥२५॥

यम ने कहा—भद्रे ! वर माँगो ! मैं तुम्हारी मनःकामना पूर्ण करूँगा ॥२६॥

ब्रह्मा ने कहा—यम की वातें सुनकर उस पतिव्रता ने यम से कहा ॥२७॥

---

[१] घ. च. स्तुवत्यां ।

उलूक्युवाच

भर्ता मे वेष्टितः पाशैर्दण्डेनाभिहतस्तव । तस्माद्रक्ष सुरश्रेष्ठ पुत्रान्भर्तारमेव च ॥२८॥

ब्रह्मोवाच

[1]तद्वाक्यात्कृपया युक्तो यमः प्राह पुनः पुनः ॥२९॥

यम उवाच

पाशानां चापि दण्डस्य स्थानं वद शुभानने ॥३०॥

ब्रह्मोवाच

सा प्रोवाच यमं देवं मयि पाशास्त्वयेरिताः । आविशन्तु जगन्नाथ दण्डो मय्येव संविशेत् ॥
ततः प्रोवाच भगवान्यमस्तां कृपया पुनः ॥३१॥

यम उवाच

तव भर्ता च पुत्राश्च सर्वे जीवन्तु विज्वराः ॥३२॥

ब्रह्मोवाच

न्यवारयद्यमः पाशानाग्नेयास्त्रं तु हव्यवाट् । कपोतोलूकयोश्चापि प्रीतिं वै चक्रतुः सुरौ ॥
आहतुश्च द्विजन्मानौ व्रियतां वर ईप्सितः ॥३३॥

पक्षिणावूचतुः

भवतोर्दर्शनं लब्धं वैरव्याजेन दुष्करम् । वयं च पक्षिणः पापाः किं वरेण सुरोत्तमौ ॥३४॥

उलूकी ने कहा—सुरश्रेष्ठ ! मेरा पति तुम्हारे पाश से बँधा हुआ है। तुम्हारे दण्ड से पीड़ित है। इसलिए मेरे पुत्रों और पति की रक्षा करो ॥२८॥

ब्रह्मा ने कहा—उलूकी की बातों को सुनकर यम ने दयार्द्र होकर बार-बार कहा ॥२९॥

यम ने कहा—हे शुभानने ! मेरे पाश और दण्ड के लिए स्थान बतलाओ ॥३०॥

ब्रह्मा ने कहा—उसने यम देवता से कहा—तुमने अपने पाशों को मेरे ऊपर ही फेंका है। अतः जगन्नाथ ! ये पाश और दण्ड मुझमें ही लीन हो जायँ। इसके बाद भगवान् यम ने कृपापूर्वक उससे कहा ॥३१॥

यम ने कहा—तुम्हारे पुत्र और पति सब निष्कण्टक होकर जीयें ॥३२॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार यम ने उलूकी को वर देकर अपने पाशों (बन्धन) को, और अग्नि ने अपने आग्नेयास्त्र को हटा दिया। कपोत और उलूक पर भी उन दोनों देवों ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की और उन दोनों पक्षियों से कहा कि अपने अभीष्ट वर माँगो ॥३३॥

दोनों पक्षी बोले—सुरोत्तम ! आज अपने परस्पर के वैर के बहाने ही आप लोगों का यह दुर्लभ दर्शन प्राप्त हुआ। हम तो पापकर्मा पक्षी हैं, हम लोगों को वर की क्या आवश्यकता ? यदि आप देवता हम लोगों को वर देना

---

[1] क. ०क्यार्ततया ।

अथ देयो वरोऽस्माकं भवद्भ्यां प्रीतिपूर्वकम् । नाऽऽत्मार्थमनुयाचावो दीयमानं वरं शुभम् ।।३५।।
आत्मार्थं यस्तु याचेत स शोच्यो हि सुरेश्वरौ । जीवितं सफलं तस्य यः परार्थोद्यतः सदा ।।३६।।
अग्निरापो रविः पृथ्वी धान्यानि विविधानि च । परार्थं वर्तनं तेषां सतां चापि विशेषतः ।।३७।।
ब्रह्मादयोऽपि हि यतो युज्यन्ते मृत्युना सह । एवं ज्ञात्वा तु देवेशौ वृथा स्वार्थपरिश्रमः ।।३८।।
जन्मना सह यत्पुंसां विहितं परमेष्ठिना । कदाचिन्नान्यथा तद्वै वृथा क्लिश्यन्ति जन्तवः ।।३९।।
तस्माद्याचावहे किंचिद्धिताय जगतां शुभम् । गुणदायि तु सर्वेषां तद्युवा (युवाभ्या) मनुमन्यताम् ।।४०।।

ब्रह्मोवाच

तावाहतुरुभौ देवौ पक्षिणौ लोकविश्रुतौ । धर्मस्य यशसोऽवाप्त्यै लोकानां हितकाम्यया ।।४१।।

पक्षिणावूचतुः

आवाभ्यामाश्रमौ तीर्थे गङ्गाया उभये तटे । भवेतां जगतां नाथावेष एव परो वरः ।।४२।।
स्नानं दानं जपो होमः पितॄणां चापि पूजनम् । सुकृती दुष्कृती वाऽपिः यः करोति यथा तथा ।।
सर्वं तदक्षयं पुण्यं स्यादित्येष परो वरः ।।४३।।

देवावूचतुः

एवमस्तु तथाचान्यत्सुप्रीतौ तु ब्रुवावहै ।।४४।।

ही चाहते हैं तो हम भी आप लोगों कां यह दिया हुआ शुभ वर अपने स्वार्थ के लिए नहीं चाहते हैं, क्योंकि हे सुरेश्वरगण ! जो व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए याचना करता है, उसका जीवन प्रशंसनीय नहीं होता । उसी व्यक्ति का जीवन सफल कहा जाता है जो सर्वदा परोपकार के लिए उद्यत रहता है । अग्नि, जल, सूर्य, पृथ्वी, विविध प्रकार के धान्य आदि परोपकार के लिए ही अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं और प्रायः सज्जन व्यक्ति विशेष रूप से परोपकार के लिए जीते हैं । जब ब्रह्मा आदि देव भी मृत्यु की पाश में बँधे हैं, तो यह जानकर हे देवेश ! स्वार्थ के लिए परिश्रम करना व्यर्थ है । परमेष्ठी (ब्रह्मा) ने प्राणियों के जन्म के साथ जो कुछ निर्दिष्ट कर दिया है, वह किसी प्रकार से बदला नहीं जा सकता । तब जीवों को अपने स्वार्थ के लिए कष्ट उठाना व्यर्थ है । इसलिए लोक-कल्याण के लिए कुछ शुभ और गुण-प्रद वरदान माँग रहे हैं उसको आप दोनों स्वीकार करें ।। ३४-४०।।

ब्रह्मा ने कहा—उन दोनों लोक-प्रसिद्ध देवताओं से उन दोनों पक्षियों ने धर्म और यश की प्राप्ति के लिए साथ ही लोक-हित की कामना से कहा ।।४१।।

दोनों पक्षियों ने कहा—जगत् के स्वामी ! गंगा के दोनों तटों पर हम लोगों के आश्रम हैं । वे दोनों आश्रम तीर्थ बन जायँ यही हमारे लिए उत्तम वर है । सुकृती या दुष्कृती कोई भी हो और वह यहाँ स्नान, दान, जप, होम और पितरों की पूजा आदि कर्म चाहे जिस किसी प्रकार करे, परन्तु उसको उससे अक्षय-पुण्य प्राप्त हो, यही हमारा अभीष्ट वर है ।।४२-४३।।

दोनों देवों ने कहा—हम दोनों प्रसन्न होकर कहते हैं कि ऐसा ही होगा तथा दूसरी बातें भी होंगी ।।४४।।

यम उवाच

उत्तरे गौतमीतीरे यमस्तोत्रं पठन्ति ये । तेषां सप्तसु वंशेषु नाकाले मृत्युमाप्नुयात् ॥४५॥
पुरुषो भाजनं च स्यात्सर्वदा सर्वसंपदाम् । यास्त्विदं पठते नित्यं मृत्युस्तोत्रं जितात्मवान् ॥४६॥
अष्टाशीतिसहस्रैश्च व्याधिभिर्न स बाध्यते । अस्मिंस्तीर्थे द्विजश्रेष्ठौ त्रिमासाद्गुर्विणी सती[1] ॥४७॥
अर्वाग्वन्ध्या च षणमासात्सप्ताहं स्नानमाचरेत् । वीरसूः सा भवेन्नारी शतायुः स सुतो भवेत् ॥
लक्ष्मीवान्मतिमाञ्शूरः पुत्रपौत्रविवर्धनः । तत्र पिण्डादिदानेन पितरो मुक्तिमाप्नुयुः ॥४८॥
मनोवाक्कायजात्पापात्स्नानन्मुक्तो भवेन्नरः ॥४९॥

ब्रह्मोवाच

यमवाक्यादनु तथा हव्यवाडाह पक्षिणौ ॥५०॥

अग्निरुवाच

मत्स्तोत्रं दक्षिणे तीरे ये पठन्ति यतव्रताः । तेषामारोग्यमैश्वर्यं लक्ष्मीं रूपं ददाम्यहम् ॥५१॥
इदं स्तोत्रं तु यः कश्चिद्यत्र क्वापि पठेन्नरः । नैवाग्नितो भयं तस्य लिखितेऽपि गृहे स्थिते ॥५२॥
स्नानं दानं च यः कुर्यादग्नितीर्थे शुचिर्नरः । अग्निष्टोमफलं तस्य भवेदेव न संशयः ॥५३॥

ब्रह्मोवाच

ततः प्रभृति तत्तीर्थं यास्यमाग्नेयमेव च । कपोतं च तथोलूकं हेत्युलूकं विदुर्बुधाः ॥५४॥

यम ने कहा—जो गौतमी के उत्तर तीर पर यम का स्तोत्र पढ़ेंगे उनकी सात पीढ़ी में किसी की अकाल-मृत्यु नहीं होगी । जो संयमी व्यक्ति उस मृत्यु-स्तोत्र का सर्वदा पाठ करेगा वह सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त करेगा और अट्ठासी हजार व्याधियों से कभी भी पीड़ित नहीं होगा । पक्षिश्रेष्ठ ! इस तीर्थ में गर्भिणी स्त्री यदि तीन महीने तक और वन्ध्या छःह महीने से कम (या) सात दिन भी स्नान कर ले तो वह नारी वीर-पुत्र की जननी होगी और वह पुत्र शतायु, लक्ष्मीवान्, मतिमान्, शूर और पुत्र-पौत्र को बढ़ाने वाला होगा । उस तीर्थ में पिण्डदान करने से पितर मुक्ति प्राप्त करते हैं । मनुष्य उसमें स्नान करने से मानसिक, कायिक और वाचिक पापों से छूट जाता है ॥४५-४९॥

ब्रह्मा ने कहा—यम के कहने के बाद अग्नि ने पक्षियों से कहा ॥५०॥

अग्नि ने कहा—जो व्रती मेरे स्तोत्र को दक्षिण तीर पर पढेंगे उनको मैं आरोग्य, ऐश्वर्य, लक्ष्मी और सुन्दर रूप प्रदान करूँगा । जो कोई व्यक्ति इस स्तोत्र को जहाँ-कहीं भी पढ़ता है अथवा लिखकर अपने घर में रखता है उसको अग्नि से भय नहीं होता । जो मनुष्य पुनीत भाव से इस अग्नि-तीर्थ में स्नान करता है और दान देता है, उसको अग्निष्टोम यज्ञ के समान फल मिलता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥५१-५३॥

ब्रह्मा ने कहा—उस समय से उस तीर्थ को याम्य, आग्नेय, कपोत, उलूक तथा हेति-उलूक तीर्थ के नाम से

---

[1] ङ । भवेत् ।

तत्र त्रीणि सहस्त्राणि तावन्त्येव शतानि च । पुनर्नवतितीर्थानि प्रत्येकं मुक्तिभाजनम् ॥५५॥
तेषु स्नानेन दानेन प्रेतीभूताश्च ये नराः । पूतास्ते पुत्रवित्ताढ्या आक्रमेयुर्दिवं शुभाः ॥५६॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये यमाग्न्यादिनवत्युत्तरत्रिशताधिक-
त्रिसहस्त्रतीर्थवर्णनं नाम पञ्चविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१२५॥
गौतमीमाहात्म्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥

अथ षड्विंशाधिकशततमोऽध्यायः

तपस्तीर्थवर्णनम्

तपस्तीर्थमिति ख्यातं तपोवृद्धिकरं महत् । सर्वकामप्रदं पुण्यां पितॄणां प्रीतिवर्धनम् ॥१॥
तस्मिंस्तीर्थे तु यद्वृत्तं शृणु पापप्रणाशनम् । अपामग्नेश्च संवादमृषीणां च परस्परम् ॥२॥
अपो ज्येष्ठतमाः केचिन्मेनिरेऽग्निं तथाऽपरे । एवं ब्रुवन्तो मुनयः संवादं चाग्निवारिणोः ॥३॥
विनाऽग्निं जीवनं क्व स्याज्जीवभूतो यतोऽनलः । आत्मभूतो हव्यभूतश्चाग्निना जायतेऽखिलम् ॥४॥
अग्निना ध्रियते लोको ह्यग्निर्ज्योतिर्मयं जगत् । तस्मादग्नेः परं नास्ति पावनं दैवतं महत् ॥५॥
अन्तर्ज्योतिः स एवोक्तः परं ज्योतिः स एव हि । विनाऽग्निना किंचिदस्ति यस्य धाम जगत्त्रयम् ॥६॥

विद्वान् लोग कहने लगे। वहाँ इसके अतिरिक्त तीन हजार तीन सौ नब्बे तीर्थ भी हैं जिनमें से प्रत्येक ही मुक्ति देने वाले हैं। उनमें स्नान करने और दान देने से मनुष्य पवित्र हो जाता तथा पुत्र और पौत्र से परिपूर्ण होकर मृत्यु के वाद स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥५४-५६॥

श्री व्रह्ममहापुराण में यमादि तीथ-वर्णन नामक एक सौ पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१२५॥

अध्याय १२६

तपस्तीर्थवर्णनम्

ब्रह्मा ने कहा—इसके वाद तपस्या की वृद्धि करने वाले तपस्तीर्थ नामक एक प्रसिद्ध तीर्थ है, जो पवित्र, सव कामनाओं को देने वाला और पितरों का आनन्द वढ़ाने वाला है। उस तीर्थ में जो पाप को दूर करने वाली घटना हुई, उसको सुनो। एक वार ऋषियों में जल और अग्नि को लेकर परस्पर संवाद हुआ। कुछ ऋषि जल को ज्येष्ठ मानते थे तो कुछ अग्नि को। इस प्रकार अग्नि और जल की श्रेष्ठता को लेकर वातचीत होने लगी और धीरे-धीरे वह विवाद के रूप में वदल गयी। कुछ मुनि कहते थे कि विना अग्नि के जीवन दुर्लभ है, क्योंकि अग्नि ही प्राणरूप है, अग्नि ही आत्मा स्वरूप और हव्य रूप भी है, अग्नि से ही सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति होती है, अग्नि से ही यह लोक टिका हुआ है और अग्नि से ही संसार ज्योतिर्मय है। इसलिए अग्नि से वढ़कर कोई पवित्र देवता नहीं है। वही अन्तः ज्योति है, वही पर ज्योति भी है, जिसका स्थान तीनों लोक में है उस अग्नि के विना इस जगत् में अन्य किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। इसलिए सम्पूर्ण भूतों में अग्नि के अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ कहलाने के योग्य नही हैं।

तस्मादग्नेः परं नास्ति भूतानां[1] ज्यैष्ठ्यभाजनम् । योषित्क्षेत्रेऽर्पितं बीजं पुरुषेण यथा तथा ।।७।।
तस्य देहादिका शक्तिः[2] कृशानोरेव नान्यथा । देवानां हि मुखं वह्निस्तस्मान्नातः परं विदुः ।।८।।
अपरे तु ह्यपां ज्यैष्ठ्यं मेनिरे वेदवादिनः । अद्भिः संपत्स्यते ह्यन्नं शुचिरद्भिः प्रजायते ।।९।।
अद्भिरेव धृतं सर्वमापो वै मातरः स्मृताः । त्रैलोक्यजीवनं वारि वदन्तीति[3] पुराविदः ।।१०।।
उत्पन्नममृतं ह्यद्भ्यस्ताभ्यश्चौषधिसंभवः । अग्निर्ज्येष्ठ इति प्राहुरापो ज्येष्ठतमाः परे ।।११।।
एवं मीमांसमानास्ते ऋषयो वेदवादिनः । विरुद्धवादिनो मां च समभ्येत्येदमब्रुवन् ।।१२।।

ऋषय ऊचुः

अग्नेरपां वद ज्यैष्ठ्यं त्रैलोक्यस्य भवान्प्रभुः ।।१३।।

ब्रह्मोवाच

अहमप्यब्रवं प्राप्तानृषीन्सर्वान्यतव्रतान् । उभौ पूज्यतमौ लोके उभाभ्यां जायते जगत् ।।१४।।
उभाभ्यां जायते हव्यं कव्यं चामृतमेव च । उभाभ्यां जीवनं लोके शरीरस्य च धारणम् ।।१५।।
नानयोश्च विशेषोऽस्ति ततो ज्यैष्ठ्यं समं मतम् । ततो मद्वचनाज्ज्यैष्ठ्यमुभयोर्नैव कस्यचित् ।।१५।।
ज्यैष्ठ्यमन्यतरस्येति मेनिरे ऋषिसत्तमाः । न तृप्ता[4] मम वाक्येन जग्मुर्वायुं तपस्विनः ।।१७।।

जिस किसी प्रकार पुरष द्वारा स्त्री-क्षेत्र में डाले गये वीज का देहात्मक भाग अग्नि का ही है दूसरे का नहीं। देवताओं का मुख भी अग्नि ही है। अतः अग्नि निःसन्देह सवसे वड़ा है। अपर पक्ष जो कि वेदवादी था वह जल की ही श्रेष्ठता स्वीकार करता था। उनका कहना था कि जल से ही अग्नि की उत्पत्ति होती है, जल से ही सव पदार्थ शुद्ध होते हैं, जल ने सम्पूर्ण लोक को धारण किया है, आप (जल) को ही माता कहा जाता है, प्राचीन मर्मज्ञ जन जल को ही त्रैलोक्य का जीवन कहते हैं, जल से ही अमृत उत्पन्न हुआ है और जल से ही ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार कुछ ऋषि अग्नि को ज्येष्ठ कहते थे और अपर जल को उससे भी श्रेष्ठ कहते थे। इस प्रकार की मीमांसा करते हुए वेदवादी तथा विरुद्ध पक्ष वाले मेरे पास आये और कहा ।।१-१२।।

ऋषिगण बोले—आप त्रिलोकी के प्रभु हैं, अतः आप ही निर्णय करें कि अग्नि और जल में कोन श्रेष्ठ है ।।१३।।

ब्रह्मा ने कहा—मैंने भी आये हुए उन व्रती ऋषियों से कहा कि दोनों ही इस लोक में पूज्य हैं, क्योंकि दोनों से जगत् की उत्पत्ति होती है। दोनों से हव्य-कव्य और अमृत उत्पन्न होते हैं, दोनों ही संसार के जीवन हैं और दोनों से लोक में शरीर को धारण किया जाता है। इन दोनों में कोई वढ़कर नहीं है, इसलिए दोनों की श्रेष्ठता समान है, यही मेरा मत है। तदनन्तर मेरे कहने से किसी की भी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हुई। परन्तु उन मुनिवरों को किसी एक की श्रेष्ठता अभीष्ट थी, इसलिए मेरे निर्णय से वे तृप्त नहीं हुए और तपस्वी वायु के पास गये ।।१४-१७।।

१घ. ङ. ०नां ज्येष्ठभा० । २घ. च. व्यक्तिः । ३क. ङ्. ०न्तीह पु० । ४क. तुष्टा ।

मुनय ऊचुः

कस्य ज्यैष्ठ्यं भवान्प्राणो वायो सत्यं त्वयि स्थितम् ।।१८।।

ब्रह्मोवाच

वायुराहानलो ज्येष्ठः सर्वमग्नौ प्रतिष्ठितम् । नेत्युक्त्वाऽन्योन्यमृषयो जग्मुस्तेऽपि वसुंधराम् ।।१९।।

मुनयः ऊचुः

सत्यं भूमे वद ज्यैष्ठ्यमाधाराऽसि चराचरे ।।२०।।

ब्रह्मोवाच

भूमिरप्यराह विनयादागतांस्तानृषीनिदम् ।।२१।।

भूमिरुवाच

ममाप्याधारभूताः स्युरापो देव्यः सनातनाः । अद्भ्यस्तु जायते सर्वं ज्यैष्ठ्यमप्सु प्रतिष्ठितम् ।।२२।।

ब्रह्मोवाच

नेत्युक्त्वाऽन्योन्यमृषयो जग्मुः क्षीरोदशायिनम् । तुष्टुवुर्विविधैः स्तोत्रैः शङ्खचक्रगदाधरम् ।।२३।।

ऋषय ऊचुः

यो वेद सर्वं भुवनं भविष्यद्यज्जायमानं च गुहानिविष्टम्
लोकत्रयं चित्रविचित्ररूपमन्ते समस्ते च यमाविवेश ।।२४।।
यदक्षरं शाश्वतमप्रमेयं, यं वेदवेद्यमृषयो वदन्ति

मुनियों ने कहा—वायु ! आप जगत् के प्राण हैं । किसकी श्रेष्ठता आप स्वीकार करते हैं ? आप में सत्य की स्थापना है । ।।१८।।

ब्रह्मा ने कहा—वायु ने कहा कि अग्नि श्रेष्ठ है, क्योंकि अग्नि में सब कुछ प्रतिष्ठित है । परन्तु वे ऋषि 'यह उचित निर्णय नहीं है' इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए वसुन्धरा के पास गये ।।१९।।

मुनिगण ने कहा—पृथ्वी ! तु सत्य वताओ कि कोन श्रेष्ठ है; क्योंकि तुम चर-अचर सवकी आधार हो ।।२०।।

ब्रह्मा ने कहा—पृथ्वी ने भी उन आये हुए मुनियों से नम्रतापूर्वक कहा ।।२१।।

भूमि ने कहा—मेरा आधार भी सनातन (जल) है । जल से ही सम्पूर्ण पदार्थ उत्पन्न होते हैं । अतः श्रेष्ठता जल में प्रतिष्ठित है ।।२२।।

ब्रह्मा ने कहा—एक पक्ष ने इसको भी स्वीकार नहीं किया । इस प्रकार इस निर्णय पर भी विश्वास न कर वे मुनि क्षीरसागरशायी विष्णु के पास गये और शंख-चक्र-गदाधारी विष्णु की विविध स्तोत्रों से स्तुति करने लगे ।।२३।।

ऋषियों ने कहा—जो सव भुवन तथा भूत, भविष्य और वर्तमान को जानते हैं, जिनमें अन्तकाल में यह चित्र-विचित्रमय त्रैलोक्य समा जाता है; जो अक्षर, नित्य तथा अप्रमेय हैं, जिनको ऋषिगण वेदों से वेद्य (जानने

यमाश्रिताः स्वेप्सितमाप्नुवन्ति, तद्वस्तु सत्यं शरणं व्रजामः ॥२५॥
भूत महाभूतजगत्प्रधानं, न विन्दते योगिनो विष्णुरूपम् ।
तद्वक्तुमेते ऋषयोऽत्र याताः, सत्यं वदस्वेह जगन्निवास ॥२६॥
त्वमन्तरात्माऽखिलदेहभाजां, त्वमेव सर्वं त्वयि सर्वमीश ।
तथाऽपि जानन्ति न केऽपि कुत्राप्यहो भवन्तं प्रकृतिप्रभावात् ॥
अन्तर्बहिः सवर्त एव सन्तं, विश्वात्मना संपरिवर्तमानम् ॥२७॥

ब्रह्मोवाच

ततः प्राह जगद्धात्री दैवी वागशरीरिणी ॥२८॥

दैवी वागुवाच

उभावाराध्य तपसा भक्त्या च नियमेन च । यस्य स्यात्प्रथमं सिद्धिस्तद्भूतं ज्येष्ठमुच्यते ॥२९॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा ययुः सर्वे ऋषयो लोकपूजिताः । श्रान्ताः खिन्नान्तरात्मानः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥३०॥
सर्वलोकैकजननीं भुवनत्रयपावनीम् । गौतमीमगमन्सर्वे तपस्तप्तुं यतव्रताः ॥३१॥
अब्दैवतं तथाऽग्निं च पूजनायोद्यतास्तदा । अग्नेश्च पूजका ये च अपां वै पूजने स्थिताः ॥
तत्र वागब्रवीद्दैवी वेदमाता सरस्वती ॥३२॥

योग्य) बताते हैं और जिनके आश्रितजन अपने मनोरथ को प्राप्त करते हैं, ऐसे सत्य वस्तु ब्रह्म की शरण में हम आये हुए हैं। योगी जन भी महाभूतात्मक जगत् में प्रधानतया व्याप्त एवं सत्य विष्णुरूप को नहीं जान पाते हैं, अतः जगन्निवास ! इतने ऋषि आपके समीप आये हुए हैं। आप कृपा कर स्वयं इस सत्य को व्यक्त कीजिये। ईश ! देहधारी सम्पूर्ण जीवों के आप ही अन्तरात्मा हैं, आप ही सब कुछ हैं और आप में ही सब कुछ है। परन्तु प्रकृति के प्रभाव से कोई भी कहीं भी आपको जान नहीं पाते हैं, यद्यपि आप भीतर, बाहर, चारों ओर विश्वात्मा के रूप में परिवर्तमान (घुले-मिले) हैं ॥२४-२७॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके उपरान्त जगत् का धारण करने वाली आकाशवाणी ने कहा ॥२८॥

आकाशवाणी ने कहा—तपस्या, भक्ति और संयम से दोनों की आराधना करो, जिसको या जिससे पहले सिद्धि प्राप्त होगी वही श्रेष्ठ माना जायगा ॥२९॥

ब्रह्मा ने कहा—इसको स्वीकार कर वे सब लोक-वन्दित, श्रान्त, अपने अन्तःकरण में कुछ झुँझलाये हुए से और अत्यन्त वैराग्यभाव से भरे ऋषि लौट गये और तीनों लोक को पवित्र करने वाली, सब लोकों की एकमात्र जननी गौतमी के तट पर संयमपूर्वक तपस्या करने के लिए बैठ गये। उस समय वहाँ जो जल देवता के भक्त थे वे जल की पूजा करने के लिए और जो अग्निभक्त थे वे अग्नि की पूजा करने के लिए प्रस्तुत हुए। उसी समय वेद-माता सरस्वती रूप दैवी वाणी ने कहा ॥३०-३२॥

दैवी वागुवाच

अग्नेरापस्तथा योनिरद्भिः शौचमवाप्यते । अग्नेश्च पूजका ये च विनाऽद्भिः पूजनं कथम् ॥३३॥
अप्सु जातासु सर्वत्र कर्मण्यधिकृतो भवेत् । तावत्कर्मण्यनर्होऽयम—शुचिर्मलिनो नरः[1] ॥३४॥
न मग्नः श्रद्धया यावदप्सु शीतासु वेदवित् । तस्मादपो वरिष्ठा स्युर्मातृभूता[2] यतः स्मृताः ॥
तस्माज्ज्यैष्ठ्यमपामेव जनन्योऽग्नेर्विशेषतः ॥३५॥

ब्रह्मोवाच

एतद्वचः शुश्रुवस्ते ऋषयो वेदवादिनः । निश्चयं च ततश्चक्रुर्भवेज्ज्यैष्ठ्यमपामिति ॥३६॥
यत्र तीर्थे वृत्तमिदमृषिसत्रे च नारद । तपस्तीर्थं तु तत्प्रोक्तं सत्रतीर्थं तदुच्यते ॥३७॥
अग्नितीर्थं च तत्प्रोक्तं तथा सारस्वतं विदुः । तेषु स्नानं च दानं च सर्वकामप्रदं शुभम् ॥३८॥
चतुर्दश शतान्यत्र तीर्थानां पुण्यदायिनाम् । तेषु स्नानं च दानं च स्वर्गमोक्षप्रदायकम् ॥३९॥
कृतं संदेहहरणमृषीणां यत्र भाषया । सरस्वत्यभवत्तत्र गङ्गाया संगता नदी ॥
माहात्म्यं तस्य को वक्तुं संगमस्य क्षमो नरः ॥४०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये तपस्तीर्थादिचतुर्दशशततीर्थवर्णनं
नाम षड्विंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१२॥
गौतमीमाहात्म्ये सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५७॥

दैवी वाणी ने कहा—जल अग्नि का उत्पादक है, जल से ही पवित्रता प्राप्त होती है । जो अग्नि के पूजक हैं वे बिना जल के पूजन कैसे करेंगे ? जल में स्नान करने के बाद ही सब कर्मों के करने का अधिकार प्राप्त होता है । तब तक वह मनुष्य किसी अनुष्ठान के अयोग्य समझा जायगा, चाहे वह वेदज्ञ ही क्यों न हो जब तक कि वह शीतल जल में स्नान नहीं करेगा । इसलिए जल ही सर्वश्रेष्ठ है । अतः जल मातृभूत है, इसलिए जल की ही श्रेष्ठता सर्वमान्य है, विशेष रूप से इसलिए कि वह अग्नि की भी जननी है ॥३३-३५॥

ब्रह्मा ने कहा—इन बातों को उन वेद-वादी ऋषियों ने सुना । तदनन्तर यह निश्चय हुआ कि जल की ही श्रेष्ठता स्वीकार हो । नारद ! जिस तीर्थ या ऋषि-सत्र (यज्ञ) में यह सब कुछ हुआ, उसकी तपस्तीर्थ या सत्रतीर्थ नाम से प्रसिद्धि हुई । वही अग्नि-तीर्थ या सरस्वतीतीर्थ भी माना जाता है । उसमें स्नान और दान अत्यन्त शुभ और सब अभीष्टों के दाता माने जाते है । जहाँ वाणी द्वारा ऋषियों का सन्देह दूर किया गया वहाँ सरस्वती नाम की एक नदी हो गयी जो कि गंगा में जाकर मिली । उस संगम की महत्ता वर्णन करने में कौन मनुष्य समर्थ हो सकता ? ॥३६-४०॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में तपस्तीर्थ-वर्णन नामक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१२६॥

---

[1] च. मतः । [2] क. ०भूताः सनातनाः । त० ।

अथ सप्तविंशाधिकशततमोऽध्यायः

देवतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

देवतीर्थमिति ख्यातं गङ्गाया उत्तरे तटे । तस्य प्रभावं वक्ष्यामि सर्वपापप्रणाशनम् ॥१॥
आर्ष्टिषेण इति ख्यातो राजा सर्वगुणान्वितः । तस्य भार्या जया नाम साक्षाल्लक्ष्मीरिवापरा ॥२॥
तस्य पुत्रो भरो नाम मतिमान्पितृवत्सलः । धनुर्वेद च वेदे च निष्णातो दक्ष एव च ॥३॥
तस्य भार्या रुपवती सुप्रभेत्यमिविश्रुता । आर्ष्टिषेणस्ततो राजा पुत्रे राज्यं निवेश्य सः ॥४॥
पुरोधसा च मुख्येन दीक्षां चक्रे नरेश्वरः[1] । सरस्वत्यास्ततस्तीरे हयमेधाय यत्नवान् ॥५॥
ऋत्विग्भिर्ऋषिमुख्यैश्च देदशास्त्रपरायणैः । दीक्षितं तं नृपश्रेष्ठं ब्राह्मणाग्निसमीपतः ॥६॥
मिथुर्दानवराट्शूरः पापबुद्धिः प्रतापवान् । मखं विध्वस्य नृपतिं सभार्यं सपुरोहितम् ॥७॥
आदाय वेगात्स प्रागाद्रसातलतलं मुने । नीते तस्मिन्नृपवरे यज्ञे नष्टे ततोऽमराः ॥८॥
ऋत्विजश्च ययुः सर्वे स्वं स्वं स्थानं मखात्ततः । पुरोहितसुतो राज्ञो देवापिरिति विश्रुतः ॥९॥

अध्याय १२७

देवतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद गंगा के उत्तर तीर पर देवतीर्थ नामक एक प्रसिद्ध तीर्थ है। उसके सब प्रकार के पापों को नष्ट करने वाले प्रभाव को कह रहा हूँ। आर्ष्टिषेण नाम से प्रसिद्ध एक सर्वगुणी राजा था। उसका जया नामक की भार्या थी, जो (रूप और गुण में) दूसरी साक्षात् लक्ष्मी के समान थी। उसका भर नामक पुत्र था, जो बुद्धिमान् और पितृ-भक्त था। वह धनुर्वेद और वेद में अत्यन्त निपुण और पारदर्शी विद्वान् था। उसकी सुप्रभा नाम की अतिरूपवती भार्या थी। अपने पुत्र को योग्य और वयस्क जानकर राजा ने सारा राज्य-भार पुत्र को सौंपकर अपने प्रधान पुरोहित से यज्ञ-दीक्षा ले ली। तदनन्तर वह सरस्वती के तीर पर अश्व-मेध यज्ञ करने के लिए तैयारी करने लगे। परन्तु यज्ञ में वेदशास्त्रों के पारदर्शी प्रधान ऋषियों के रहते हुए भी एक पापात्मा, प्रतापी और वीर दानवराज मिथु यज्ञ को नष्ट-भ्रष्ट कर पुरोहित और स्त्री के सहित उस यज्ञ-दीक्षित राजा को लेकर ब्राह्मण और अग्नि के समीप से उठाकर बड़े वेग से पाताल चला गया। यह देखकर सब देवता और ऋत्विज यज्ञ-भूमि को छोड़कर अपने-अपने आश्रम को चले गये। राजा के पुरोहित का देवापि नामक एक पुत्र था। उस बालक ने अपनी माता को तो देखा,परन्तु पिता को नहीं देखा। यह देखकर उसको अत्यन्त आश्चर्य हुआ, वह पितृ-वियोग से कातर हो उठा।

---

[1] घ.ङ. च.जनेश्वरः।

[1]बालस्तां मातरं दृष्ट्वा आत्मनः पितरं न च । दृष्ट्वा सविस्मयो भूत्वा दुःखितोऽतीव चाभवत् ।।१०।।
स मातरं तु पप्रच्छ पिता मे क्व गतोऽम्बिके । पितृहीनो न जीवेयं मातः सत्यं वदस्व मे ।।११।।
धिग्धिक्पितृविहीनानां जीवितं पापकर्मणाम् । न वक्षि यदि मे मातर्जलमग्निमथाऽऽविशे ।।१२।।
पुत्रं प्रोवाच सा माता राज्ञो भार्या पुरोधसः । दानवेन तलं नीतो राज्ञा सह पिता तव ।।१३।।

देवापिरुवाच

क्व नीतः केन वा नीतः कथं नीतः क्व कर्मणि । केषु पश्यत्सु किं स्थानं दानवस्य वदस्व मे ।।१४।।

मातोवाच

दीक्षितं यज्ञसदसि सभार्यं सपुरोधसम् । राजानं तं मिथुर्दैत्यो नीतवान्स रसातलम् ।।
पश्यत्सु देवसंघेषु वह्निब्राह्मणसंनिधौ ।।१५।।

ब्रह्मोवाच

तन्मातृवचनं श्रुत्वा देवापिः कृत्यमस्मरत् । देवान्पश्येऽथवाऽग्निं वा ऋत्विजो वाऽसुरांस्तथा ।।१६।।
एतेष्वेव पिताऽन्वेष्यो नान्यत्रेति मतिर्मम । इति निश्चित्य देवापिर्भरं प्राह नृपात्मजम् ।।१७।।

देवापिरुवाच

तपसा ब्रह्मचर्येण व्रतेन नियमेन च । आनेतव्या मया सर्वे नीता ये च रसातलम्।।१८।।

उसने अपनी माता से पूछा—'माँ ! मेरे पिता जी कहाँ चले गये ? माता ! मैं पितृ-हीन होकर जीना नहीं चाहता। तुम मुझसे सत्य कहो। पापी, पितृ-हीनों के जीवन को धिक्कार है, धिक्कार है, माता ! यदि तुम नहीं वतलाओगी तो मैं या तो जल में डूब मरूँगा या अग्नि में जल जाऊँगा।' पुत्र की इस प्रकार की कातरता देखकर राजपुरोहित की उस भार्या ने अपने पुत्र से कहा-'राजा के सहित तुम्हारे पिता को लेकर दावन रसातल चला गया ।। १-१३।।

देवापि ने कहा—कहाँ ले गया ? कौन ले गया ? किस कार्य के लिए और क्यों ले क्या ? किनके देखते-देखते यह दुष्कार्य हुआ ? दानव का कहाँ स्थान है ? इन सब वातों को बताओ ।।१४।।

माता ने कहा—यज्ञ-मण्डप में दीक्षित राजा को उनकी भार्या और पुरोहित के सहित, वह मिथु नामक दैत्य अग्नि और व्राह्मण के समीप से देवों के देखते-देखते लेकर चला गया ।।१५।।

ब्रह्मा ने कहा—माता की वातों को सुनकर देवापि सोचने लगा कि 'क्या करूँ, देवों के पास जाऊँ या अग्नि अथवा ऋत्विज के समीप अथवा सीधे असुरों को ही देखूँ । इन्हीं स्थानों में पिता जी को खोजना चाहिये, अन्यत्र नहीं । यही मेरा निश्चय है ।' इस प्रकार निश्चयकर देवापि ने राज-पुत्र भर से कहा ।।१६-१७।।

देवापि ने कहा—मैं तपस्या, ब्रह्मचर्य व्रत तथा अनुष्ठान के वल से उन लोगों को, जिन्हें दावन रसातल ले गया है, ले आना चाहता हूँ । जो नराधम कठोरतापूर्वक अपमानित होने पर भी बदला नहीं लेता उसके जीवन से

---

[1]क. बालानं पितरं ।

जाते पराभवे घोरे यो न कुर्यात्प्रतिक्रियाम् । नराधमेन किं तेन जीवता वा मृतेन वा ॥१९॥
त्वं प्रशाधि महीं कृत्स्नामार्ष्टिषेणः पिता यथा । माता मम त्वया पाल्या राजन्यावन्ममाऽऽगतिः ॥
भवेच्च कृतकार्यस्य अनुजानीहि मां भर ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

भरेणोक्तः स देवापिः सर्वं निश्चित्य यत्नतः ॥२१॥

भर उवाच

सिद्धिं कुरु सुखं याहि मा चिन्तामल्पिकां भज ॥२२॥

ब्रह्मोवाच

ततो देवापिरमरराजाङ्घ्रिध्यानतत्परः । ऋत्विजोऽन्वेष्य यत्नेन नत्वा तानृत्विजः पृथक् ॥
कृताञ्जलिपुटो बालो देवापिर्वाक्यमब्रवीत् ॥२३॥

देवापिरुवाच

भवद्भिश्च मखो रक्ष्यो यजमानश्च दीक्षितः । पुरोधाश्च तथा रक्ष्यः पत्नी या दीक्षितस्य तु ॥२४॥
भवत्सु तत्र पश्यत्सु यज्ञं विध्वस्य दैत्यराट् (ऋत्विजः) । राजादयस्तेन नीतास्तन्न युक्ततमं भवेत् ॥२५॥
अथाप्येतदहं मन्ये भवन्तस्तानरोगिणः । दातुमर्हन्ति तान्स (वै स) र्वानन्यथा शापमर्हथ ॥२६॥

ऋत्विज ऊचुः

मखेऽग्निः प्रथमं पूज्यो ह्यग्निरेवात्र दैवतम् । तस्माद्वयं न जानीमो ह्यग्नीनां परिचारकाः ॥२७॥

क्या लाभ ? या मृत्यु से क्या हानि ? तुम इस पृथ्वी का शासन अपने पिता आर्ष्टिषेण के समान करो। राजन् ! जव तक मैं लौटकर नहीं आता तव तक मेरी माता की देखरेख या पालन तुमको करना होगा । भर ! मैं अपने कार्य में कृत-कृत्य (सफल) हो जाऊँ, ऐसा तुम मुझे आदेश दो ॥१८-२०॥

ब्रह्मा ने कहा—सव कुछ विचारपूर्वक निश्चित कर भर ने देवापि से कहा ॥२१॥

भर ने कहा—तुम अपने कार्य में सफलता प्राप्त करो, सुखपूर्वक जाओ, किसी विषय की थोड़ी-सी भी चिन्ता न करो ॥२१-२२॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके वाद देवापि ने देवराज के चरणों का ध्यान करता हुआ बड़े परिश्रम से ऋत्विजों का पता लगाया, उनको प्रणाम कर एकान्त में उनसे अलग-अलग हाथ जोड़कर कहा ॥२३॥

देवापि ने कहा—आप लोगों को यज्ञ-दीक्षित यजमान, पुरोहित और यजमान की पत्नी की रक्षा करनी चाहिये, परन्तु आप लोंगों के सामने से ही दैत्यराट् यज्ञ को नष्ट-भ्रष्ट कर राजा को लेकर चला गया, यह अच्छा नहीं हुआ । फिर भी मैं आप लोगों से कहूँगा कि उन सवको आप शीघ्र स्वस्थरूप में ले आयें । अन्यथा आप लोग शाप के भागी होंगे ॥२४-२६॥

ऋत्विज गण ने कहा—यज्ञ में अग्नि की पहले पूजा होती है, अतः अग्नि ही इसका देवता है, इसलिए इस

९०

स एव दाता भोक्ता च हर्ता कर्ता च हव्यवाट् ।।२८।।

ब्रह्मोवाच

ऋत्विजः पृष्ठतः कृत्वा देवापिर्जातवेदसम् । पूजयित्वा यथान्यायमग्नये तन्न्यवेदयत् ।।२९।।

अग्निरुवाच

यर्थात्विजस्तथा चाहं देवानां परिचारकः । हव्यं वहामि देवानां भोक्तारो रक्षकाश्च ते ।।३०।।

देवापिरुवाच

देवानाहूय यत्नेन हविर्भागान्पृथक्पृथक् । दास्येऽहमेष दोषो मे तस्माद्याहि सुरान्प्रति ।।३१।।

ब्रह्मोवाच

देवापिः स सुरान्प्राप्य नत्वा तेभ्यः पृथक्पृथक् । ऋत्विग्वाक्यं चाग्निवाक्यं शापं चापि न्यवेदयत् ।।३२।।

देवा ऊचुः

आहूता वैदिकैर्मन्त्रैर्ऋत्विग्भिश्च यथाक्रमम् । भोक्ष्यामहे हविर्भागान्न स्वतन्त्रा द्विजोत्तम ।।३३।।
तस्माद्वेदानुगा नित्यं वयं वेदेन चोदिताः । परतन्त्रास्ततो विप्र वेदेभ्यस्तन्निवेदय ।।३४।।

ब्रह्मोवाच

सा देवपिः शुचिर्भूत्वा वेदानाहूय यत्नतः । ध्यानेन तपसा युक्तो वेदाश्चापि पुरोऽभवन् ।।३५।।
वेदानुवाच देवापिर्नमस्य तु पुनः पुनः । ऋत्विग्वाक्यं चाग्निवाक्यं देववाक्यं न्यवेदयत् ।।३६।।

विषय में हम कुछ नहीं जानते, क्योंकि हम लोग तो केवल अग्नि के सेवक हैं। वे ही दाता, भोक्ता, हर्ता, कर्ता और हव्य को ढोने वाले हैं।।२७-२८।।

ब्रह्मा ने कहा—ऋत्विजों को पीछे करके देवापि ने अग्नि की शास्त्रोक्त विधि से पूजा की और यह निवेदन किया।।२९।।

अग्नि ने कहा—जिस प्रकार ऋत्विज देवों के सेवक हैं उसी प्रकार मैं भी। मैं तो केवल देवों के लिए यत्नपूर्वक हव्य पहुँचा दिया करता हूँ, यज्ञ के रक्षक या भोक्ता वे ही हैं।।३०।।

देवापि ने कहा—मैं देवताओं को यत्नपूर्वक वुलाकर पृथक्-पृथक् हविर्भाग दे देता हूँ। यही मेरा दोष है। अतः तुम देवताओं के पास जाओ[1]।।३१।।

ब्रह्मा ने कहा—वह देवापि देवताओं के पास गया और प्रणाम कर एक-एक से ऋत्विजों का कथन, अग्नि की वातें और शाप की कथा कही।।३२।।

देवगण बोले—द्विजवर! हम सवको ऋत्विज वैदिक मन्त्रों से क्रमशः वुलाते हैं, इस प्रकार हम अपने हविष्यांश को खाते हैं। हम भी स्वतन्त्र नहीं है। इस कारण हम नित्य वेदों के अनुयायी हैं और वेदों की प्रेरणा से प्रेरित होते रहते हैं। अतएव हम परतन्त्र हैं। विप्र! तुम उन वेदों से अपना अभिप्रयाय कहो।।३३-३४।।

ब्रह्मा ने कहा—उस देवापि ने पवित्र होकर अपनी तपस्या एवं ध्यान के द्वारा वेदो का आह्वान किया। वेद भी उसके सामने प्रकट हुए। देवापि ने भी वार-वार प्रणाम कर वेदों से ऋत्विजों, अग्नि और देवताओ की वात कह सुनायी।।३५-३६।।

---

[1] श्लोक ३१ में अग्नि का ही कथन प्रतीत होता है। यहाँ 'देवापिरुवाच' भ्रामक है।

वेदा ऊचुः

परतन्त्रा वयं तात ईश्वरस्य वशानुगाः । अशेषजगदाधारो निराधारो निरञ्जनः ॥३७॥
सर्वशक्त्यैकसदनं निधानं सर्वसंपदाम् । स तु कर्ता महादेवः संहर्ता स महेश्वरः ॥३८॥
वयं शब्दमया ब्रह्मन्वदामो विद्म एव च । अस्माकमेतत्कृत्यं स्याद्वदामो यत्तु पृच्छसि ॥३९॥
केन नीतास्तस्य नाम तत्पुरं तद्बलं तथा । भक्षिताः किंतु नो[1] नष्टा[2] एतज्जानीमहे वयम् ॥४०॥
यथा च तव सामर्थ्यं यमाराध्य च यत्र च । स्यादित्येतच्च जानीमो यथा प्राप्स्यसि तान्पुरः ॥४१॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वाऽदद्वेदान्विचार्य सुचिरं हृदि ॥४२॥

देवापिरुवाच

वेदा वदन्त्वेतदेव सर्वमेव यथार्थतः । सर्वान्प्राप्स्ये तलं नीतानलं तेभ्यो नमोऽस्तु वः ॥४३॥

वेदा ऊचुः

गौतमीं गच्छ देवापे तत्र स्तुहि महेश्वरम् । सुप्रसन्नस्तवाभीष्टं दास्यत्येव कृपाकरः ॥४४॥
भवेद्देवः शिवः प्रीतः स्तुतः सत्यं महामते । आर्ष्टिषेणश्च नृपतिस्तस्य जाया जया सती ॥४५॥

देवों ने कहा—तात ! हम परतन्त्र हैं, ईश्वर के संकेत के अनुसार चलने वाले हैं। सम्पूर्ण विश्व के आधार, निराधार, निर्विकार, सर्वशक्तिसम्पन्न और समस्त विभूतियों के पुंज वे महादेव ही सब के निर्माता और वे महेश्वर ही सबके संहार करने वाले हैं। ब्रह्मन् ! हम तो शब्द-स्वरूप हैं, सब कुछ जानते हैं और उसको बता देते हैं। हम लोग यही कार्य कर सकते हैं कि जो कुछ तुम पूछोगे, बता देंगे। कौन ले गया, उसका नाम, उसका नगर, उसकी सैन्य-शक्ति और वे खा लिये गये किन्तु नष्ट नहीं हुए (या वह उन व्यक्तियों को खा गया या वे नष्ट हो गये) यह सारे रहस्य हम जानते हैं। इसके अतिरिक्त तुम्हारी शक्ति, जहाँ जिसकी आराधना से कार्यसिद्धि होगी और जिस प्रकार तुम उन लोगों को सामने पाओगे आदि बातों को भी हम जानते हैं ॥३७-४१॥

ब्रह्मा ने कहा—वेदों की ये बातें सुनकर अपने हृदय में भलीभाँति सोच-विचार कर उसने वेदों से कहा ॥४२॥

देवापि ने कहा—देवगण ! आपको नमस्कार है ! कृपाकर आप इन्हीं सब बातों को यथार्थ रूप से बता दीजिये कि कैसे मैं रसातल में पहुँचाये हुए उन लोगों को प्राप्त करूँगा, और कुछ अधिक नहीं जानना चाहता ॥४३॥

वेदगण ने कहा—देवापे ! गौतमी के तट पर जाओ। वहाँ महेश्वर की स्तुति करो। वे करुणा के सागर अवश्य प्रसन्न होकर तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे। महामति ! स्तुति करने पर महादेव

---

[1] घ. च. ते । [2] घ. ०ष्टा नै त० ।

पिता तवाप्युपमन्युस्तले तिष्ठन्त्यरोगिणः । वरदानान्महेशस्य मिथुं हत्वा च राक्षसम् ॥
यशः प्राप्स्यसि धर्मं च एतच्छक्यं न चेतरम् ॥४६॥

ब्रह्मोवाच

तद्वेदवचनाद्बालो देवापिर्गौतमीं गतः । स्नात्वा कृतक्षणो विप्रस्तुष्टाव च महेश्वरम् ॥४७॥

देवापिरुवाच

बालोऽहं देवदेवेश गुरूणां त्वं गुरुर्मम[1] । न मे शक्तिस्त्वत्स्तवने तुभ्यं शंभो नमोऽस्तु ते ॥४८॥
न त्वां जानन्ति निगमा न देवा मुनयो न च । न ब्रह्मा नापि वैकुण्ठो योऽसि सोऽसि नमोस्तु ते ॥४९॥
येऽनाथा ये च कृपणा ये दरिद्राश्च रोगिणः । पापात्मानो ये च लोके तांस्त्वं पासि महेश्वर ॥५०॥
तपसा नियमैर्मन्त्रैः पूजितास्त्रिदिवौकसः । त्वया दत्तं फलं तेभ्यो दास्यन्ति जगतां पते ॥५१॥
याचितारश्च दातारस्तेभ्यो यद्यन्मनीषतिम् । भवतीति न चित्रं स्यात्त्वं विपर्ययकारकः ॥५२॥
येऽज्ञानिनो ये च पापा ये मग्ना नरकार्णवे । शिवेति वचनान्नाथ तान्पासि त्वं जगद्गुरो ॥५३॥

ब्रह्मोवाच

एवं तु स्तुवतस्तस्य पुरः प्राह त्रिलोचनः ॥५४॥

शंकर अवश्य प्रसन्न होंगे । राजा आर्ष्टिषेण, उनकी पतिव्रता स्त्री जया, तुम्हारे पिता उपमन्यु सभी रसातल में कुशलपूर्वक हैं । तुम शंकर की कृपा से वरदान प्राप्त कर मिथु राक्षस को मार कर कीर्ति और धर्म प्राप्त करोगे । यही कार्य तुमसे हो सकता है, इसके अतिरिक्त नहीं ॥४४-४६॥

ब्रह्मा ने कहा—उन वेदों की आज्ञा के अनुसार बालक देवापि गौतमीतट पर गया । उसमें स्नान कर बड़ी तपस्या से वह विप्र शंकर की स्तुति करने लगा ॥४७॥

देवापि ने कहा—देवदेवेश ! मैं बालक हूँ । तुम मेरे गुरुओं के भी गुरु हो । तुम्हारी स्तुति करने की मुझमें शक्ति नहीं है । शंभो ! तुमको नमस्कार है । तुमको न तो वेद जानते हैं न देवता और न मुनि । ब्रह्मा और वैकुण्ठपति विष्णु भी तुमको नहीं जानते । तुम जो हो वही हो । तुमको नमस्कार है । इस संसार में जो अनाथ हैं, कृपण हैं, दरिद्र हैं, रोगी हैं और पापी हैं उनकी हे महेश्वर ! तुम्हीं रक्षा करते हो । जगत् के स्वामी ! जो व्यक्ति तपस्या, नियम और मन्त्रों से देवताओं की पूजा करते हैं, उनको भी देवतागण तुमसे पाये हुए फल को ही प्रदान करते हैं । उन व्यक्तियों के मनोरथों को स्वयं याचक वनकर ही वे देवता दान करते हैं, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं क्योंकि तुम विपरीत कार्य करने में समर्थ हो । हे नाथ ! जगद्गुरो ! जो अज्ञानी, पापी और नरक के सागर में गिरे हुए हैं, उनके 'शिव' इस शब्द के कहने पर ही तुम उनकी रक्षा करते हो ॥४८-५३॥

ब्रह्मा ने कहा—उस वालक की ऐसी स्तुति सुनकर त्रिनेत्र शंकर स्वयं उसके सामने प्रकट होकर बोले ॥५४॥

---

[1] घ. ०र्मतः । न ।

शिव उवाच

वरं ब्रूह्यथ देवापे अलं दैन्येन बालक ।।५५।।

देवापिरुवाच

राजानां राजपत्नीं च पितरं च गुरूं मम । प्राप्तुमिच्छे जगन्नाथ निधनं च रिपोर्मम ।।५६।।

ब्रह्मोवाच

देवापिवचनं श्रुत्वा तथेत्याहाखिलेश्वरः । देवापेः सर्वमभवदाज्ञया शंकरस्य तत् ।।५७।।
पुनरप्याह तं (आहूय स्वगणं) शंभुर्देवापिकरुणाकरः। नन्दिनं प्रेषयामास शंभुः (ततः) शूलेन नारद।।५८।।
रसातले मिथुं नन्दी हत्वा चासुरपुंगवान् । तत्पित्रादीन्समानीय तस्मै तान्स न्यवेदयत् ।।५९।।
हयमेधश्च तत्राऽऽसीदार्ष्टिषेणस्य धीमतः । अग्निश्च ऋत्विजो देवा वेदाश्च ऋषयोऽब्रुवन् ।।६०।।

अग्न्यादय ऊचुः

यत्र साक्षादभूच्छंभुर्देवापे भक्तवत्सलः । देववदेवो जगन्नाथो देवतीर्थमभूच्च तत् ।।६१।।
सर्वपापक्षयकरं सर्वसिद्धिप्रदं नृणाम् । पुण्यदं तीर्थमेतत्स्यात्तव कीर्तिश्च शाश्वती ।।६२।।

ब्रह्मोवाच

अश्वमेधे निवृत्ते तु सुरास्तेभ्यो वरान्ददुः । स्नात्वा कृतार्था गङ्गायां ततस्ते दिवमाक्रमन् ।।६३।।

शिव ने कहा—देवापे ! वर माँगो। वालक अव दीन की भावना छोड़ो ।।५५।।

देवापि ने कहा—जगन्नाथ ! राजा, राजपत्नी और अपने गुरु पिता को प्राप्त करना चाहता हूँ, साथ ही मेरे शत्रु का नाश भी हो, यही मेरा वर है ।।५६।।

ब्रह्मा ने कहा—देवापि की वातों को सुनकर अखिल जगत् के ईश्वर ने 'ऐसा ही हो' । शंकर की आज्ञा से देवापि की सभी कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। नारद ! पुनः देवापि पर करुणा करने वाले शंभु ने अपने गण नन्दी को वुलाकर सव वातें कहीं ओर त्रिशूल देकर उसको रसातल भेज दिया। नन्दी ने रसातल में जाकर मिथु एवं वड़े-वड़े असुरों का वध किया और उस वालक के पिता आदि को लाकर उसको दे दिया। इसके बाद पुनः धीमान् आर्ष्टिपेण ने वहाँ अश्व-मेध यज्ञ किया। उस यज्ञ में अग्नि, ऋत्विज, देवता, वेदों और ऋषियों ने कहा ।।५७-६०।।

अग्नि आदि ने कहा—देवापे ! जिस स्थान पर भक्तवत्सल देवों के देव तथा जगन्नाथ शंकर का साक्षात्कार हुआ था, वह स्थान देवतीर्थ हो गया है । वह सव पापों को नष्ट करने वाला, मनुष्यों को सब प्रकार की सिद्धियाँ देने वाला और पुण्य देने वाला तीर्थ तुम्हारी शाश्वत कीर्ति का स्मारक है ।।६१-६२।।

ब्रह्मा ने कहा—अश्वमेध सम्पन्न हो जाने पर देवों ने उस सबको वर दिया। वे भी गंगा में स्नान कर स्वयं

ततः प्रभृति तत्राऽऽसंस्तीर्थानि दश पञ्च च । सहस्राणि शतान्यष्टावुभयोरपि तीरयोः ॥
तेषु स्नानं च दानं च ह्यतीव फलदं विदुः ॥६४॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये आर्ष्टिषेणाद्यष्टोत्तरशताधिकपञ्चदशसहस्रतीर्थवर्णनं नाम सप्तविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१२७॥
गौतमीमाहात्म्येऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

अथाष्टाविंशाधिकशततमोऽध्यायः

तपोवनादितीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

तपोवनमिति ख्यातं नन्दिनीसंगमं तथा । सिद्धेश्वरं तत्र तीर्थं गौतम्या दक्षिणे तटे ॥१॥
शार्दूलं चेति विख्यातं तेषां वृत्तमिदं शृणु । यस्याऽऽकर्णनमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२॥
अग्निर्होता पुरा त्वासीद्देवानां हव्यवाहनः । भार्यां प्राप्तो दक्षसुतां स्वाहानाम्नीं सुरूपिणीम् ॥३॥
साऽनपत्या पुरा चाऽसीत्पुत्रार्थं तप आविशत् । तपश्चरन्तीं विपुलं तोषयन्तीं हुताशनम् ॥
स भर्ता हुतभुक्प्राह भार्यां स्वाहामनिन्दिताम् ॥४॥

कृतकृत्य हो गये और अन्त में स्वर्ग को प्राप्त किया । तव से वहाँ उस गंगा के दोनों तट पर पन्द्रह हजार एक सौ आठ तीर्थ प्रतिष्ठित हो गये। उसमें स्नान और दान करना अधिक फलदायक माना गया है ॥६३-६४॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में आर्ष्टिषेण आदि पन्द्रह हजार एक सौ आठ तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ सत्ताइसवाँ अध्याय समाप्त ॥१२७॥

अध्याय १२८

तपोवन आदि तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद गौतमी के दक्षिणी किनारे पर तपोवन तथा नन्दिनीसंगम नामक विख्यात तीर्थ हैं, वहीं सिद्धेश्वर और शार्दूल नामक दो और भी प्रसिद्ध तीर्थ हैं । उनका इतिहास सुनो, जिसके सुनने से ही सब पाप छूट जाते हैं ।

वहुत पहले देवों को हव्य पहुँचाने वाले अग्नि होते थे । उनका दक्ष की परम सुन्दरी स्वाहा नामक की कन्या से विवाह हुआ । पहले वह सन्तानहीन रही । तब पुत्र के लिए तपस्या करने लगी । उसने कठोर तपस्या से हुताशन को प्रसन्न करने की चेष्टा की । यह देखकर उसके पति अग्नि ने अपनी अनिन्द्य सुन्दरी भार्या से कहा ॥१-४॥

अग्निरुवाच

अपत्यानि भविष्यन्ति मा तपः कुरु शोभने ॥५॥

ब्रह्मोवाच

एच्छ्रुत्वा भर्तृवाक्यं निवृत्ता तपसोऽभवत् । स्त्रीणामभीष्टदं नान्यद्भर्तृवाक्यं विना क्वचित् ॥६॥
ततः कतिपये काले तारकाद्भय आगते । अनुत्पन्ने कार्तिकेये चिरकालरहोगते ॥७॥
महेश्वरे भवन्या च त्रस्ता देवाः समागताः देवानां कार्यसिद्ध—यर्थमग्निं प्रोचुर्दिवौकसः ॥८॥

देवा ऊचुः

देव गच्छ महाभाग शंभुं त्रैलोक्यपूजितम् । तारकाद्भयमुत्पन्नं शंभवे त्वं निवेदय ॥९॥

अग्निरुवाच

न गन्तव्यं तत्र देशे दंपत्योः स्थितयो रहः । सामान्यमात्रतो न्यायः किं पुनः शूलपाणिनि ॥१०॥
एकान्तस्थितयोः स्वैरं जल्पतोर्यः सरागयोः दंपत्योः शृणुयाद्वाक्यं निरयात्तस्य नोद्धृतिः ॥११॥
स स्वाम्यखिललोकानां महाकालस्त्रिशूलवान् । निरीक्षणीयः केन स्याद्भवान्या रहसि स्थितः ॥१२॥
महाभये चानुगते न्यायः कोऽन्वत्र वर्ण्यते । तारकाद्भय आपन्ने गच्छ त्वं तारको भवान् ॥१३॥

अग्नि ने कहा—सुन्दरी ! तपस्या मत करो, तुम्हें सन्तान होगी ॥५॥

ब्रह्मा ने कहा—भर्ता की वातों को सुनकर उसने तपस्या छोड़ दी । क्योंकि विना पति के वचन के स्त्रियों के अभीष्ट को सिद्ध करने वाली दूसरी कोई वात नहीं होती । कुछ समय वीत जाने पर देवताओं को तारक का भय उत्पन्न हुआ । चिरकाल तक महेश्वर और भवानी के एकान्त विलास के वाद भी कार्तिकेय की उत्पत्ति नहीं हुई । यह देखकर देवता भयत्रस्त हो गये । वे देव अपने कार्य सिद्धि के लिए एकत्र हुए और अग्नि से कहा ॥६-८॥

देवों ने कहा—महाभाग ! देव ! तुम त्रैलोक्य से वन्दित शंकर के पास जाओ । वहाँ जाकर शंभु से कहो कि तारक के कारण देवों के सामने महान् संकट आ गया है ॥९॥

अग्नि ने कहा—उस स्थान पर, जहाँ पति-पत्नी एकान्तवास करते हों, नहीं जाना चाहिये, यह एक सर्वसाधारण के लिए नियम है, फिर शूलपाणि शंकर के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं । जो एकान्त में स्थित, प्रेपूर्वक स्वेच्छया वातचीत करने वाले पति-पत्नी की वातों को सुनता है, उसका नरक से कभी भी उद्धार नहीं होता । वे तो अखिल लोक के स्वामी हैं, महाकाल हैं और त्रिशूलधारी हैं । एकान्त में भवानी के साथ स्थित उनको कौन देख सकता है ? ॥१०-१२॥

देवों ने कहा—महान् संकट आ जान पर कौन-सा कार्य उचित है, इसको कौन कह सकता है ? इस समय तारक के भय से रक्षा करने वाले आप ही हैं, अतः आप अवश्य जायँ । क्योकि महासंकट के समुद्र से उवारने के

महाभयाब्धौ साधूनां यत्परार्थाय जीवितम् । रूपेणान्येन वा गच्छ वाचं वद यथा तथा ॥१४॥
विश्राव्य देववचनं शंभुमागच्छ सत्वरः । ततो दास्यामहे पूजामुभयोर्लोकयोः कवे ॥१५॥

ब्रह्मोवाच

शुको भूत्वा जगामाऽऽशु देववाक्याद्धुताशनः। यत्राऽऽसीज्जगतां नाथो रममाणस्तदोमया ॥१६॥
स भीतवदथ प्रायाच्छुको भूत्वा तदाऽनलः । नाशकद्द्वारदेशे तु प्रवेष्टुं हव्यवाहनः ॥१७॥
ततो गवाक्षदेशे तु तस्थौ धुन्वन्नधोमुखः । तं दृष्ट्वा प्रहसञ्शंभुरुमां प्राह रहोगतः ॥१८॥

शंभुरुवाच

पश्य देवि शुकं प्राप्तं देववाक्याद्धुताशनम् ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

लज्जिता चावदद्देवमलं देवेति पार्वती । पुरश्चरन्तं देवेशो ह्यग्निं तं द्विजरूपिणम् ॥२०॥
आहूय बहुशश्चापि ज्ञातोऽस्यग्नेऽत्र मा वद । विदारयस्व स्वमुखं गृहाणेदं नयस्व तत् ॥२१॥
इत्युक्त्वा तस्य चाऽऽस्येऽग्ने रेतः स प्राक्षिपद्बहु । रेतोगर्भस्तदा चाग्निर्गन्तुं नैव[1] च शक्तवान् ॥२२॥
सुरनद्यास्ततस्तीरं श्रान्तोऽग्निरुपतस्थिवान् । कृत्तिकासु च तद्रेतः प्रक्षेपात्कार्तिकोऽभवत् ॥२३॥

लिए साधुओं का जीवन ही परोपकार की भावना से आगे बढ़ता है। इसलिए अपने इसी रूप में या किसी अन्य वेश में आप जाइये और जिस किसी प्रकार से उनसे कहिये। इस प्रकार शंकर से देवताओं का संकट सुनाकर शीघ्र ही आइये। कवे ! तदनन्तर हम लोग दोनों लोकों की श्रेष्ठ पूजा आपको अर्पित करेंगे ॥१३-१५॥

ब्रह्मा ने कहा—दोनों के कहने के अनुसार अग्नि शुक का रूप धरकर वहाँ गये जहाँ कि संसार के स्वामी उमा के साथ विलास कर रहे थे। अग्नि शुक के रूप में डरते-डरते वहाँ गये, परन्तु वे मुख्य द्वार की ओर से घुसने में समर्थ न हो सके। अतः खिड़की पर मुँह नीचे लटकाये और कुछ काँपते हुए बैठ गये। उनको खिड़की पर बैठा देखकर एकान्त में विलास करने वाले शंभु हँसकर पार्वती से बोले ॥१६-१८॥

शंभु ने कहा—देवि ! देखो, देवों के कहने से अग्नि शुक के रूप में यहाँ आया है ॥१९॥

ब्रह्मा ने कहा—लज्जित होकर पार्वती ने शंकर से कहा—'देव ! अब बस कीजिये।' देवेश ने सामने घूमते हुए पक्षीरूपधारी अग्नि को बुलाकर कहा—'अग्ने ! अपने विषय में कुछ मत कहो। तुम किसलिए आये हो, यह मैं पूर्णरूप से जान गया हूँ। अपना मुख फैलाओ, यह लो और लेकर जाओ।' यह कहकर उस अग्नि के मुख में बहुत-सा वीर्य उड़ेल दिया। अग्नि उस शिववीर्य को मुख में रखकर ले जाने में असमर्थ हो गया। अतः थक कर गंगा नदी के तट पर बैठ गये। कृत्तिकाओं में उस वीर्य को डाल देने से कार्तिक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अग्नि की देह में बचा हुआ शंभु का जो कुछ वीर्य था, उसी को अग्नि ने अपनी विशेष रूप से पुत्र की इच्छा रखने वाली प्रिय भार्या

---

[1] घ. च. नैवाशकद्दिवम्। सु०।

अवशिष्टं च यत्किंचिदग्नेर्देहे च शांभवम् । तदेव रेतो वह्निस्तु स्वभार्यायां द्विधाऽक्षिपत् ॥२४॥
स्वाहायां प्रियभूतायां पुत्रार्थिन्यां विशेषतः । पुरा साऽऽश्वासिता तेन संततिस्ते भविष्यति ॥२५॥
तद्वह्निनाऽथ संस्मृत्य तत्क्षिप्तं शांभवं महः । तदग्ने रेतसस्तस्यां जज्ञे मिथुनमुत्तमम् ॥२६॥
सुवर्णश्च सुवर्णा च रूपेणाप्रतिमं भुवि । अग्नेः प्रीतिकरं नित्यं लोकानां प्रीतिवर्धनम् ॥२७॥
अग्निः प्रीत्या सुवर्णां तां प्रादाद्धर्माय धीमते । सुवर्णस्याथ पुत्रस्य संकल्पामकरोत्प्रियाम् ॥
एवं पुत्रस्य पुत्र्याश्च विवाहमकरोत्कविः ॥२८॥

अन्योन्यरेतोव्यतिषङ्गदोषादग्नेरपत्यमुभयं तथैव ।
पुत्रः सुवर्णो बहुरूपरूपी, रूपाणि कृत्वा सुरसत्तमानाम् ॥२९॥
इन्द्रस्य वायोर्धनदस्य भार्या, जलेश्वरस्यापि मुनीश्वराणाम् ।
भार्यास्तु गच्छत्यनिशं सुवर्णो, यस्याः प्रियं यच्च वपुः स कृत्वा ॥३०॥
याति क्वचिच्चाप कवेस्तनूजस्तद्भर्तृरूपं च पतिव्रतासु ।
कृत्वाऽनिशं ताभिरुदारभावः, कुर्वन्कृतार्थं मदनं स रेमे ॥३१॥
कृत्वा गता क्वापि चैवं सुवर्णा, धर्मस्य भार्याऽपि सुवर्णनाम्नी ।
स्वाहासुता स्वैरिणी सा बभूव, यस्यापि यस्यापि मनोगता या ॥३२॥
भार्यास्वरूपा सैव भूत्वा सुवर्णा, रेमे पतीन्मानुषानासुरांश्च ।
देवानृषीन्पितृरूपांस्तथाऽन्यान्रुपौदार्यस्थैर्यगाम्भीर्ययुक्तान् ॥३३॥

स्वाहा में दो भागों में बाँट कर छोड़ दिया; क्योंकि पहले उन्होंने उसको आश्वासन दिया था कि तुमको संतान अवश्य होगी । इसी प्रतिज्ञा का स्मरण कर अग्नि ने उस शंभु-तेज को स्वाहा के गर्भ में छोड़ दिया । अग्नि के उसी दिये हुए रेतस् (वीर्य) से युगल (जुड़वाँ) सन्तान सुवर्ण और सुवर्णा उत्पन्न हुई । वह संतति सुन्दरता में भूमण्डल पर वेजोड़ थी । उससे अग्नि को तो अधिक आनन्द मिलता ही था, परन्तु उसके साथ-साथ लोक को भी विशेष आनन्द प्राप्त होता था । अग्नि ने अपनी उस कन्या सुवर्णा को प्रज्ञावान् धर्म को प्रेम-पूर्वक दे दिया । इसके उपरान्त पुत्र सुवर्ण का विवाह संकल्पा के साथ कर दिया । इस प्रकार अग्नि ने पुत्र और पुत्री का विवाह कर दिया ॥२०-२८॥ एक-दूसरे के वीर्य-सम्मिश्रण-दोष के कारण अग्नि की दोनों सन्तानें उसी के अनुसार अतृप्ताभिलाषी हो गयीं । अनेकों कपट वेश-धारण-पटु पुत्र सुवर्ण देवों के वेश में इन्द्र, वायु, कुवेर, वरुण और मुनीश्वरों की स्त्रियों के साथ उनकी इच्छा के अनुसार मनोहर शरीर धारण कर प्रतिदिन एकान्त-विलास करता था ॥२९-३०॥ कहीं पर अग्नि-पुत्र पतिव्रता स्त्रियों के यहाँ उनके पति का रूप धारण कर प्रतिदिन जाता था और स्वेच्छया अपनी कामेच्छा की पूर्ति करता हुआ रमण करता था ॥३१॥ इसी प्रकार धर्म की रूपवती भार्या सुवर्णा भी मायारूप धारण कर कहीं भी चली जाती थी । वह स्वाहा-पुत्री इतनी स्वेच्छाचारिणी हो गयी कि जिन-जिन पुरुषों को जो-जो स्त्रियाँ प्रिय लगती थीं, उन्हीं के रूप धारण कर उन मानव अथवा असुर पतियों के साथ या देव, ऋषि, पितर या अन्य रूप, उदारता, गम्भीरता आदि से युक्त पतियों के साथ विहार करती थी । जिस देवता को जो स्त्री प्रिय थी उसी का

याऽभिप्रेता यस्य देवस्य भार्या, तद्रूपा सा रमते तेन सार्धम्
नानाभेदैः करणैश्चाप्यनेकैराकर्षन्ती तन्मनःकामसिद्धिम् ॥३४॥
एवं सुवर्णस्य निरीक्ष्य चेष्टामग्नेः सूनोः पुत्रिकायास्तथाऽग्नेः ॥
सर्वे च शेपुः कुपितास्तदाऽग्नेः, पुत्रं च पुत्रीं च सुरासुरास्ते ॥३५॥

सुरासुरा ऊचुः

कृतं यदेतद्व्यभिचाररूपं यच्छद्मना वर्तनं पापरूपम् ।
तस्मात्सुतस्ते व्यभिचारवांश्च, सर्वत्र गामी जायतां हव्यवाह ॥३६॥
तथा सुवर्णाऽपि न चैकनिष्ठा, भूयादग्ने नैकतृप्ता बहूंश्च ।
नानाजातीन्निन्दितान्देहभाजो, भजित्री स्यादेष दोषश्च पुत्र्याः ॥३७॥

ब्रह्मोवाच

इत्येतच्छापवचनं श्रुत्वाऽग्निरतिभीतवत् । मामभ्येत्य तदोवाच निष्कृतिं वद पुत्रयोः ॥३८॥
तदाऽहमब्रवं वह्ने गौतमीं गच्छ शंकरम् । स्तुत्वा तत्र महाबाहो निवेदय जगत्पते ॥३९॥
माहेश्वरेण वीर्येण तव देहस्थितेन च । एवंविधं त्वपत्यं ते जातं वह्ने ततो भवान् ॥४०॥
निवेदयस्व (तु) देवाय देवानां शापमीदृशम् । स्वापत्यरक्षणायासौ शंभुः श्रेयः करिष्यति ॥४१॥
स्तुहि देवं च देवीं च भक्त्या प्रीतो भवेच्छिवः । ततस्त्वपत्यविषये प्रियान्कामानवाप्स्यसि ॥४२॥

रूप धारण कर वह नाना प्रकार के स्त्री-सुलभ हाव-भावों और अङ्ग-सञ्चालन के द्वारा उनके मन में काम-भावना जागरित कर उनको अपनी ओर आकृष्ट करके उनके साथ रमण करती थी ॥३२-३४॥ इस प्रकार अग्नि के पुत्र और पुत्री की क्रिया को देखकर देवों तथा असुरों ने कुपित होकर शाप दे दिया ॥३५॥

सुर और असुरों ने कहा—अग्ने ! कपटरूप से तुम्हारे पुत्र ने जो यह व्यभिचाररूप पापकर्म किया है, इसके फलस्वरूप वह व्यभिचारी और सर्वत्रगामी हो जाय ! और तुम्हारी कन्या सुवर्णा भी कभी भी एक पति से प्रेम करने वाली तथा एक से तृप्त होने वाली न हो । नाना जातियों तथा निन्दित देहधारियों के साथ विलास-शील हो ऐसी तुम्हारी पुत्री की दूषित प्रकृति हो जाय ॥३६-३७॥

ब्रह्मा ने कहा—शाप की इस भाषा को सुनकर अग्नि अत्यन्त भयभीत से हो गये। मेरे पास आकर उन्होंने कहा—'मेरी सन्तानों के उद्धार का मार्ग बताइये।' तब मैंने कहा—'अग्ने ! गौतमी के तट पर जाओ, वहाँ शंकर की स्तुति कर हे महाबाहु ! जगत्पति से निवेदन करो कि किस प्रकार तुम्हारे मुख में रखे गये शंभु के वीर्य से इस प्रकार की तुम्हारी संतति उत्पन्न हुई। तत्पश्चात् अग्ने ! तुम शंकर से देवताओं के इस शाप का वर्णन करो। अपने अपत्य की रक्षा के लिए भगवान् शंकर अवश्य कोई-न-कोई कल्याणकर प्रबन्ध करेंगे। शीघ्र जाकर तुम शंकर और देवी गौतमी की भक्तिपूर्वक स्तुति करो। तब शंकर जी प्रसन्न होंगे और तदनन्तर तुम अपनी

ततो मद्वचनादग्निर्गङ्गां गत्वा महेश्वरम् । तुष्टाव नियतो वाक्यैः स्तुतिभिर्वेदसंमितैः ॥४३॥

अग्निरुवाच

विश्वस्य जगतो धाता विश्वमूर्तिर्निरञ्जनः । आदिकर्ता स्वयंभूश्च तं नमामि जगत्पतिम् ॥४४॥
योऽग्निर्भूत्वा संहरति स्रष्टा वै जलरूपतः । सूर्यरूपेण यः पाति तं नमामि च त्र्यम्बकम् ॥४५॥

ब्रह्मोवाच

ततः प्रसन्नो भगवाननन्तः शंभुरव्ययः । वरेण च्छन्दयामास पावकं सुरपूजितम् ॥४६॥
स विनीतः शिवं प्राह तव वीर्यं मयि स्थितम् । तेन जातः सुतो रम्यः सुवर्णो लोकविश्रुतः ॥४७॥
तथा सुवर्णा पुत्री च तस्मादेव जगत्प्रभो । अन्योन्यवीर्यसङ्गाच्च तद्दोषादुभयं त्विदम् ॥४८॥
व्यभिचारात्सदोषं च अपत्यमभवच्छिव । शापं ददुः सुराः सर्वे तयोः शान्तिं कुरु प्रभो ॥४९॥
तदग्निवचनाच्छम्भुः प्रोवाचेदं शुभोदयम् ॥५०॥

शंभुरुवाच

मद्वीर्यादभवत्त्वत्तः सुवर्णो भूरिविक्रमः । समग्रा ऋद्धयः सर्वाः सुवर्णेऽस्मिन्समाहिताः ॥५१॥
भविष्यन्ति न संदेहो वह्ने शृणु वचो मम । त्रयाणामपि लोकानां पावनः स भविष्यति ॥५२॥
स एव चामृतं लोके स एव सुरवल्लभः । स एव भुक्तिमुक्ती च स एव मखदक्षिणा ॥५३॥

सन्तान के विषय में अपने मनोरथ को प्राप्त करोगे ।' इसके बाद मेरे कहने के अनुसार अग्नि गंगा के समीप गये और संयत भाव से भगवान् आशुतोष की वेदसम्मत स्तुति-वचनों से स्तुति करने लगे ॥३८-४३॥

अग्नि ने कहा—तुम गतिशील विश्व के पालक, विश्वरूप, निर्विकार, आदिकर्ता और स्वयंभू हो, ऐसे जगत्पति शंकर को प्रणाम करता हूँ । जो अग्नि रूप से विश्व का संहार करता है, जलरूप से सृष्टि करता और सूर्यरूप से संसार की रक्षा करता है, उस त्रिनेत्र शंकर को नमस्कार है ॥४४-४५॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद भगवान् अनन्त, अव्यय शंभु ने प्रसन्न होकर देव-पूजित अग्नि को वरदान दिया । विनीत अग्नि ने शंकर से कहा कि मेरे मुख में रखे हुए तुम्हारे वीर्य से लोक-प्रसिद्ध सुवर्ण नामक एक मनोहर पुत्र उत्पन्न हुआ । प्रभो ! उसी (वीर्य) से पुत्री सुवर्णा की भी उत्पत्ति हुई । परस्पर के वीर्य-संयोग से और उसके दोष से ये दोनों अपत्य व्यभिचारदोष से दूषित हो गये । प्रभो ! सब देवताओं ने उस दोष के कारण शाप भी दे दिया । उनके पापों की शान्ति कीजिये । अग्नि की उन बातों को सुनकर शम्भु ने यह मंगल-जनक वाणी कही ॥४६-५०॥

शंभु ने कहा—मेरे वीर्य से तुम्हारे द्वारा यह परम विक्रमशाली सुवर्ण हुआ है । इस सुवर्ण में सम्पूर्ण ऋद्धियाँ समाहित (एकत्र) होंगी ! अग्नि ! इसमें कुछ भी सन्देह नहीं । और सुनो, वह सुवर्ण तीनों लोकों में पवित्र होगा ; संसार मे वही अमृत है, वही देवों को भी प्रिय है, वही मुक्ति-भुक्ति है, वही यज्ञों की दक्षिणा भी है । वही सबका रूप और गुरुओं का भी गुरु है । उसको परम श्रेष्ठ वीर्य समझो । मुझसे उत्पन्न जो उत्तम वीर्य था,

स एव रूपं सर्वस्य गुरूणामप्यसौ गुरुः । वीर्यं श्रेष्ठतमं विद्याद्वीर्यं मत्तो यदुत्तमम् ।।५४।।
विशेषतस्त्वयि क्षिप्तं तस्य का स्याद्विचारणा । हीनं तेन विना सर्वं संपूर्णास्तेन संपदः ।।५५।।
जीवन्तोऽपि मृताः सर्वे सुवर्णेन विना नराः । निर्गुणोऽपि धनी मान्यः सगुणोऽप्यधनो नहि ।।५६।।
तस्मान्नातः परं किंचित्सुवर्णाद्धि भविष्यति । तथा चैषा सुवर्णाऽपि स्यादुत्कृष्टाऽपि चञ्चला ।।५७।।
अनया वीक्षितं सर्वं न्यूनं पूर्णं भविष्यति । तपसा जपहोमैश्च [1]येयं प्राप्या जगत्त्रये ।।५८।।
तस्याः प्रभावं प्राशस्त्यमग्ने किंचिच्च कीर्त्यते । सर्वत्र या तु संतिष्ठेदायातु विचरिष्यति ।।५९।।
सुवर्णा कमला साक्षात्पवित्रा च भविष्यति । अद्य प्रभृत्यात्मजयोस्तथा स्वैरं विचेष्टतोः ।।६०।।
तथाऽपि चैतयोः पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।।६१।।

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा ततः शंभुः साक्षात्तत्राभवच्छिवः । लिङ्गरूपेण सर्वेषां लोकानां हितकाम्यया ।।६२।।
वरान्प्राप्य सुताभ्यां व अग्निस्तुष्टोऽभवत्ततः । स्वभर्त्रा च सुवर्णा सा धर्मेणाग्निसुता मुदा ।।६३।।
वर्तयामास पुत्रोऽपि वह्नेः संकल्पया मुदा । एतस्मिन्नन्तरे स्वर्णामग्नेर्दुहितरं मुने ।।६४।।
परिभूय च धर्मं तं शार्दूलो दानवेश्वरः । अहरद्भाग्यसौभाग्यविलासवसतिं छलात् ।।६५।।

जो विशेष रूप से तुम (अग्नि) में प्रक्षिप्त होने के कारण और अधिक निखर-सा गया, उसकी उत्तमता के विषय में अधिक क्या विचार किया जाय। उसके बिना सारा संसार तुच्छ है। उससे सब प्रकार की सम्पत्ति को पूर्ण समझो। सुवर्ण के बिना जीवित मनुष्य को भी मृत समझो। संसार में गुण-हीन धनी व्यक्ति आदर का पात्र है और गुण भी धनाभाव के कारण उपेक्ष्य होता है। इसलिए इस सुवर्ण से उत्कृष्ट कोई भी पदार्थ नहीं होगा। और यह सुवर्णा भी परम उत्कृष्ट परन्तु चंचला होगी। उसके दृष्टि-विक्षेप मात्र से सारे अभाव भाव में परिणत हो जायेंगे। इन तीनों लोकों में तपस्या, जप और होम द्वारा प्राप्त करने योग्य जो यह सुवर्णा है, अग्ने ! इसके प्रभाव और महत्त्व का थोड़ा-सा वर्णन किया गया है। जो सुवर्णा सर्वत्र रही है, वह सर्वत्र रहे और घूमे पुनरपि यह साक्षात् लक्ष्मी और पवित्र मानी जायगी। आज से इस प्रकार का स्वेच्छाचार करते हुए भी तुम्हारी ये सन्तति पवित्र हैं। इनके समान पवित्र पदार्थ न हुए न होंगे ।।५१-६१।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार कहकर शंभु सब लोकों के हित की कामना से लिङ्ग रूप से वहाँ प्रकट हुए ।।६२।। वे अग्नि भी शंकर से अपने पुत्रों के लिए वरदान पाकर प्रसन्न हो गये। इसके अनन्तर अग्नि-तनया वह सुवर्णा प्रीतिपूर्वक अपने पति धर्म के साथ रहने लगी। अग्नि-पुत्र सुवर्ण भी आनन्दपूर्वक संकल्पा के साथ काल बिताने गला ।।६३$\frac{१}{३}$।। मुने ! इस बीच दानवराज शार्दूल धर्म को हराकर भाग्य, सौभाग्य और विलास की केन्द्रभूमि विश्व-विश्रुत सुवर्णा का छल से अपहरण करके रसातल में ले गया। यह देखकर अग्नि के जामाता धर्म

---

[1] ङ नेयं ।

नीता रसातलं तेन सुवर्णा लोकविश्रुता। जामाताऽग्नेः स धर्मश्च अग्निश्चैव स हव्यवाट् ।।६६।।
विष्णवे लोकनाथाय स्तुत्वा चैव पुनः पुनः। कार्यविज्ञापनं चोभौ चक्रतुः प्रभविष्णवे ।।६७।।
ततश्चक्रेण चिच्छेद शार्दूलस्य शिरो हरिः। साऽनीता विष्णुना देवी सुवर्णा लोकसुन्दरी ।।६८।।
महेश्वरसुता चैव अग्नेश्चैव तथा प्रिया। महेश्वराय तां विष्णुर्दर्शयामास नारद ।।६९।।
प्रीतोऽभवन्महेशोऽपि सस्वजे तां पुनः पुनः। चक्रं प्रक्षालितं यत्र शार्दूलच्छेदि दीप्तिमत् ।।७०।।
चक्रतीर्थं तु विख्यातं शार्दूलं चेति तद्विदुः। यत्र नीता सुवर्णा सा विष्णुना शंकरान्तिकम् ।।७१।।
तत्तीर्थं शांकरं ज्ञेयं वैष्णवं सिद्धमेव तु। यत्राऽऽनन्दमनुप्राप्तो ह्यग्निर्धर्मश्च शाश्वतः ।।७२।।
आनन्दाश्रूणि न्यपतन्यत्राग्नेर्मुनिसत्तम। आनन्देति नदी[१] जाता तथा वै नन्दिनीति च ।।७३।।
तस्याश्च संगमः पुण्यो गङ्गायां तत्र वै शिवः। तत्रैव संगमे साक्षात्सुवर्णाऽद्यापि संस्थिता ।।७४।।
दाक्षायणी सैव शिवा आग्नेयी चेति विश्रुता। अम्बिका जगदाधारा शिवा कात्यायनीश्वरी ।।७५।।
भक्ताभीष्टप्रदा नित्यमलंकृत्योभयं तटम्। तपस्तेपे यत्र चाग्निस्तत्तीर्थं तु तपोवनम् ।।७६।।
एवमादीनि तीर्थानि तीरयोरुभयोर्मुने। तेषु स्नानं च दानं च सर्वकामप्रदं शुभम् ।।७७।।
उत्तरे चैव पारे च सहस्राणि चतुर्दश। दक्षिणे च तथा पारे सहस्राण्यथ षोडश ।।७८।।

और स्वयं हव्य-वाट् अग्नि ने लोक-पति महामहिम विष्णु की बार-बार स्तुति करके उनको इस अन्याय-कार्य की सूचना दी।।६४-६७।। हरि ने उन दोनों की प्रार्थना सुनकर चक्र से शार्दूल का सिर काट डाला और लोक-सुन्दरी महेश्वर और अग्नि की प्रिय पुत्री उस अपहृत सुवर्णा देवी को ला दिया। नारद ! विष्णु ने लाकर उसको शंकर को दिखलाया।।६८-६९।। उसको देखकर वे प्रसन्न हो गये और बार-बार उसको छाती से लगाया। जहाँ पर उन्होंने शार्दूल के सिर को काटने वाले चक्र को जल से धोया वह चक्र-तीर्थ नाम से प्रसिद्ध हुआ। शार्दूल-तीर्थ भी लोग उसी को कहते हैं।।७०$\frac{१}{२}$।। जहाँ वह सुवर्णा विष्णु के द्वारा शंकर के पास लायी गयी उसको शांकर, वैष्णव और सिद्ध-तीर्थ कहा गया।।७१$\frac{१}{२}$।। मुनिश्रेष्ठ ! जहाँ अग्नि और धर्म को अतिशय आनन्द प्राप्त हुआ और अग्नि के नेत्रों से आनन्द के अश्रु-बिन्दु गिरे वहाँ आनन्दा नाम की नदी—जिसको नन्दिनी भी कहते हैं—उत्पन्न हो गयी ।।७२-७३।। उसके गंगा में मिलने से जो संगम बना, यह अत्यन्त पवित्र तीर्थ हो गया। वहाँ शिव और साक्षात् सुवर्णा आज तक प्रतिष्ठित हैं।।७४।। उसी की दाक्षायणी, शिवा, आग्नेयी आदि नामों से प्रसिद्धि है। उस नदी के दोनों तटों पर भक्तों को अभीष्ट प्रदान करने वाली जगदाधार अम्बिका, शिवा, और ईश्वरी कात्यायनी नित्य निवास कर उन तटों की शोभा बढ़ाती हैं। जहाँ अग्नि ने तपस्या की वह तीर्थ तपोवन के नाम से प्रसिद्ध हुआ।।७५-७६।। मुने ! इस प्रकार के तीर्थ उसके दोनों तटों पर स्थित हैं, जहाँ स्नान और दान करना शुभ एवं सब प्रकार की कामनाओं को देने वाला है।।७७।। इसके उत्तर तट पर चौदह हजार और दक्षिण तीर पर सोलह-हजार तीर्थ हैं। ये सब तीर्थ विशेष घटनाओं के स्मारक हैं। इनके नाम अलग-अलग हैं। मैंने तो संक्षेपरूप में कुछ के नाम गिनाये हैं

---

[१] घ. च. ०ता नन्दा वै।

तत्र तत्र च[१] तीर्थानि साभिज्ञानानि सन्ति वै । नामानि च पृथक् सन्ति संक्षेपात्तन्मयोच्यते ॥७९॥
एतानि यश्च शृणुयाद्यश्च वा पठति स्मरेत् । सर्वेषु तत्र काम्येषु[२] परिपूर्णो भवेन्नरः ॥८०॥
एतद्वृत्तं तु यो ज्ञात्वा तत्र स्नानादिकं चरेत् । लक्ष्मीवाञ्जायते नित्यं धर्मवांश्च विशेषतः ॥८१॥
अब्जकात्पश्चिमे तीर्थं तच्छार्दूलमुदाहृतम् । वाराणस्यादितीर्थेभ्यः सर्वेभ्यो ह्यधिकं भवेत् ॥८२॥
तत्र स्नात्वा पितॄन्देवान्वन्दते तर्पयत्यपि । सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ॥८३॥
तपोवनाच्च शार्दूलान्मध्ये तीर्थान्यशेषतः । तस्यैकैकस्य माहात्म्यं न केनाप्यत्र वर्ण्यते ॥८४॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये तपोवननन्दिनीसंगमेश्वरदेवीदाक्षायणीसिद्धेश्वरवैष्णवशार्दूलाग्निचक्रतीर्थादित्रिंशत्सहस्रतीर्थवर्णनं नामाष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२८॥

गौतमीमाहात्म्ये एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥५९॥

अथैकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

इन्द्रतीर्थमिति ख्यातं तत्रैव च वृषाकपम् । फेनायाः संगमो यत्र हनूमतं तथैव च ॥१॥

॥७८-७९॥ जो इन तीर्थों का नाम श्रवण करता है, पढ़ता है अथवा स्मरण करता है, वह मनुष्य अपने सम्पूर्ण अभिलषित फलों को प्राप्त करता है ॥८०॥ इन तीर्थों के इतिहास को जानकर जो व्यक्ति इनमें स्नान आदि करता है, वह नित्य-प्रति लक्ष्मीवान् और विशेषरूप से धार्मिक होता जाता है ॥८१॥ अब्जक से पश्चिम ओर जो तीर्थ है, वह शार्दूलतीर्थ कहलाता है। वह वाराणसी आदि सब तीर्थों से अधिक पवित्र है ॥ ८५॥ जो व्यक्ति उसमें स्नान कर पितर और देवों की वन्दना करता है या तर्पण करता है, वह सब पापों से छूटकर विष्णुलोक में स्थान पाता है ॥८३॥ तपोवन से लेकर शार्दूलतीर्थ के बीच के सम्पूर्ण तीर्थों की महिमा पृथक्-पृथक् रूप से इस लोक में कोई भी वर्णन नहीं कर सकता है ॥८४॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में तपोवन, नन्दिनी-संगम आदि तीस हजार तीर्थों का वर्णन नामक
एक सौ अट्ठाइसवाँ अध्याय समाप्त ॥१२८॥

अध्याय १२९

इन्द्रतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—वहीं इन्द्रतीर्थ तथा वृषाकपतीर्थ प्रसिद्ध हैं। वहीं फेना का संगम, हनूमत तीर्थ एवं अब्जक

---

[१] घ. च. तीर्थेषु । [२] क. कार्येषु ।

अब्जकं चापि यत्प्रोक्तं यत्र देवस्त्रिविक्रमः । तत्र स्नानं च दानं च पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥२॥
तत्र वृत्तान्यथाऽऽख्यास्ये गङ्गाया दक्षिणे तटे । इन्द्रेश्वरं चोत्तरे च शृणु भक्त्या यतव्रतः ॥३॥
नमुचिर्बलवानासीदिन्द्रशत्रुर्मदोत्कटः । तस्येन्द्रेणाभवद्युद्धं फेनेनेन्द्रोऽहरच्छिरः ॥४॥
अपां च नमुचेः शत्रोस्तत्फेनवज्ररूपधृक् । शिरश्छित्वा तच्च फेनं गङ्गाया दक्षिणे तटे ॥५॥
न्यपतद्भूमिं भित्त्वा तु रसातलमथाऽऽविशत् । रसातलभवं गाङ्गं वारि यद्विश्वपावनम् ॥६॥
वज्रादिष्टेन मार्गेण व्यगमद्भूमिमण्डलम् । तज्जलं फेननाम्ना तु नदी फेनेति गद्यते ॥७॥
तस्यास्तु संगमः पुण्यो गङ्गया लोकविश्रुतः । सर्वपापक्षयकरो गङ्गायमुनयोरिव ॥८॥
हनूमदुपमाता वै यत्राऽऽप्लवनमात्रतः । मार्जारत्वादभून्मुक्ता विष्णुगङ्गाप्रसादतः ॥९॥
मार्जारं चेति तत्तीर्थं पुरा प्रोक्तं मया तव । हनूमतं च तत्प्रोक्तं तत्राऽऽख्यानं पुरोदितम् ॥१०॥
[१]वृषाकपं चाब्जकं च तत्रेदं प्रयतः शृणु । हिरण्य इति विख्यातो दैत्यानां पूर्वजो बली ॥११॥
तपस्तप्त्वा सुरैः सर्वैरजेयोऽभूत्सुदारुणः । तस्यापि बलवान्पुत्रो देवानां दुर्जयः सदा ॥१२॥
महाशनिरिति ख्यातस्तस्य भार्या पराजिता । तेनेन्द्रस्याभवद्युद्धं बहुकालं निरन्तरम् ॥१३॥
महाशनिर्महावीर्यः सततं रणमूर्धनि । जित्वा नागेन सहितं शक्रं पित्रे न्यवेदयत् ॥१४॥

तीर्थ हैं, जहाँ स्वयं विष्णु निवास करते हैं ।।१$\frac{१}{३}$।। वहाँ स्नान और दान करने से पुनः जन्म लेना दुर्लभ हो जाता है ।।२।। अब वहाँ का इतिहास बताता हूँ—गंगा के दक्षिण तट पर जैसी घटना हुई और उत्तर तीर पर जिस प्रकार इन्द्रेश्वर तीर्थ की स्थापना हुई, उसका वर्णन हे नारद ! भक्तिपूर्वक एकान्तभाव से सुनो ।।३।। नमुचि इन्द्र का अति मदोन्मत्त और बलवान् शत्रु था । उसका इन्द्र के साथ संग्राम हुआ । युद्ध में इन्द्र ने फेन से उसका सिर उतार लिया ।।४।। वह फेन वज्ररूप होकर शत्रु नमुचि के सिर को काटकर गंगा के दक्षिण तट पर गिर पड़ा और पृथिवी को फोड़कर रसातल में घुस गया । विश्व को पवित्र कर देने वाला पाताल गंगा का जो जल वज्र के प्रवेश से बने हुए छिद्र-मार्ग से निकलकर पृथ्वी तल पर आया, उस जल की फेन नाम से प्रसिद्धि हुई । अतः उससे निकली नदी भी फेना कहलाने लगी ।।५-७।। उसके गंगा के साथ पावन लोक-प्रसिद्ध संगम गंगा-यमुन के संगम के समान सब पापों को नष्ट करने वाला हुआ ।।८।। हनूमान् की उपमाता जहाँ स्नान करने से ही विष्णु और गंगा की कृपा से बिल्ली की आकृति को छोड़कर परम सुन्दरी बन गयीं ।।९।। उसका मार्जार-तीर्थ नाम से परिचय पहले ही तुमसे कह चुका हूँ । हनूमत तीर्थ भी उसी को कहा गया है । इसकी कथा भी पहले ही कह दी गयी है ।।१०।। अब वृषाकप और अब्जक तीर्थ कैसे बने, इसको सावधान होकर सुनो। वली हिरण्य दैत्यों का पूर्वज था ।।११।। वह अति भयानक दैत्य अपनी कठोर तपस्या के कारण देवों से न जीतने-योग्य (अजेय) हो गया।।१२।। उसका बलवान् पुत्र भी जिसका नाम महाशनि था—सदा देवताओं के लिए दुर्जय ही रहा। उसकी पराजिता नाम की स्त्री थी। उस महाशनि का इन्द्र के साथ निरन्तर युद्ध होता रहा।।१३।। सदा के पराक्रमी उस दैत्य ने उस भयङ्कर युद्ध में ऐरावत के सहित इन्द्र को जीतकर पिता के हाथों सौंप दिया।।१४।। जिस समय हाथी के सहित इन्द्र को बाँधकर ले आया, उस

---

[१] ङ. च. वार्षाकपं ।

बद्ध्वा हस्तिसमायुक्तं स्वसारं वीक्ष्य तां तदा । विहाय क्रूरतां दैत्यो हिरण्याय न्यवेदयत् ॥१५॥
महाशनिपिता दैत्यः पूर्वेषां पूर्ववत्तरः । शचीकान्तं तले स्थाप्य तस्य रक्षामथाकरोत् ॥१६॥
महाशनिर्हरिं जित्वा जेतुं वरुणमभ्यगात् । वरुणोऽपि महाबुद्धिः प्रादात्कन्यां महाशनेः ॥१७॥
उदधिं स्वालयं प्रादाद्वरुणस्तु महाशनेः । तयोश्च सख्यमभवद्वरुणस्य महाशनेः ॥१८॥
वारुणी चापि या कन्या सा प्रियाऽभून्महाशनेः । वीर्येण यशसा चापि[1] शौर्येण च बलेन च ॥१९॥
महाशनिर्महादैत्यस्त्रैलोक्ये नोपमीयते । निरिन्द्रत्वं गते लोके देवाः सर्वे न्यमन्त्रयन् ॥२०॥

देवा ऊचुः

विष्णुरेवेन्द्रदाता स्याद्दैत्यहन्ता स एव च । मन्त्रदृग्वा स एव स्यादिन्द्रं चान्यं करिष्यति ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

एवं संमन्त्र्य ते देवा विष्णोर्मन्त्रं न्यवेदयन् । ममावध्यो महादैत्यो महाशनिरिति ब्रुवन् ॥२२॥
प्रायाद्वारीश्वरं विष्णुः श्वशुरं वरुणं तदा । केशवो वरुणं गत्वा प्राहेन्द्रस्य पराभवम् ॥२३॥
तथा त्वयैतत्कर्तव्यं यज्ञाऽऽयाति पुरंदरः । तद्विष्णुवचनाच्छीघ्रं ययौ जलपतिर्मुने ॥२४॥
सुतार्पति हिरण्यसुतं विक्रान्तं तं महाशनिम् । अतिसंमानितस्तेन जामात्रा वरुणः प्रभुः ॥२५॥
पप्रच्छाऽऽगमनं दैत्यो विनयाच्छ्वशुरं तदा । वरुणः प्राह तं दैत्यं यदागमनकारणम् ॥२६॥

समय अपनी बहिन इन्द्राणी को देखकर उसने अपनी क्रूरता का त्याग कर इन्द्र को पिता हिरण्य के हाथों सौंप दिया ॥१५॥ महाशनि का वह दैत्य पिता, जो पूर्व के सभी दैत्यों से अधिक बली और दीर्घजीवी था, शची-पति को पाताल में बन्दी बना कर रख दिया और उनकी रक्षा का प्रबन्ध कर दिया ॥१६॥ इधर महाशनि ने इन्द्र को जीतकर वरुण को जीतने के लिए अभियान किया । महाबुद्धि वरुण ने इस आगत संकट को टालने के लिए महाशनि को अपनी कन्या वारुणी और अपना वास-स्थान समुद्र दे दिया । फलस्वरूप उन दोनों (वरुण और महाशनि) में मित्रता हो गयी ॥१७-१८॥ वरुण की जो कन्या वारुणी थी, वह भी महाशनि की प्राणप्रिया बन गयी। वह दैत्येन्द्र अपने पराक्रम, कीर्ति, शौर्य और बल में त्रैलोक्य में बेजोड़ हो गया । तब स्वर्गलोक को इन्द्र से शून्य देखकर देवताओं ने मन्त्रणा की ॥१९-२०॥

देवों ने कहा—विष्णु ही इन्द्र के दाता होंगे। वही दैत्यों के हन्ता भी हैं। वही मंत्रद्रष्टा हैं और वही दूसरा इन्द्र बनायेंगे ॥२१॥

ब्रह्मा ने कहा—देवताओं ने इस प्रकार परस्पर मंत्रणा की और विष्णु से कहा कि हम लोगों से यह महाशनि नाम का महादैत्य अवध्य है। यह सुनकर विष्णु अपने श्वशुर जलेश्वर वरुण के पास गये। वहाँ जाकर केशव ने इन्द्र की पराजय की कथा वरुण से कही, और बतलाया कि तुमको वैसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे इन्द्र यहाँ आ जायें। मुने ! विष्णु की बातों को सुनकर वरुण शीघ्र ही अपने पराक्रमी जामाता हिरण्य-पुत्र महाशनि के पास गये। उस जामाता ने अपने श्वशुर वरुण का अत्यन्त सम्मान किया और बड़ी नम्रता से उनके आने का कारण पूछा । वरुण ने अपने आने का जो कारण था, वह बता दिया ॥२२-२६॥

---

[1] घ. ०ण तपसा तथा । म० ।

वरुण उवाच

इन्द्रं देहि महाबाहो यस्त्वया निर्जितः पुरा । बद्धं रसातलस्थं तं देवानामधिपं सखे ॥२७॥
अस्माकं सर्वदा मान्यं देहि त्वं मम शत्रुहन् । बद्ध्वा विमोक्षणं शत्रोर्महते यशसे सताम् ॥२८॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा कथंचित्स दैत्येशो वरुणाय तम् । प्रादादिन्द्रं शचीकान्तं वारणेन समन्वितम् ॥२९॥
स दैत्यमध्येऽतिविराजमानो, हरिं तदोवाच जलेशसंनिधौ ।
संपूज्य चैवाथ महापचारैर्महाशनिर्मघवन्तं बभाषे ॥३०॥

महाशनिरुवाच[1]

केन त्वमिन्द्रोऽद्य कृतोऽसि केन, वीर्यं तवेदृग्बहु भाषसे च ।
त्वं[2] संगरे [3]शत्रुभिर्बाध्यसे[4] च, तथाऽपि चेन्द्रो भवसीति चित्रम् ॥३१॥
अथापि बद्धा पुरुषेण काचित्तस्याः पतिस्तां मोचयतीति युक्तम् ।
स्त्रियोऽस्वतन्त्राः पुरुषप्रधानास्त्वं, वै[5] पुमान्भविता शक्र साधो ॥३२॥
बद्धो मया संगरे वाहनेन, [6]क्वाप्यस्त्रं ते वज्रमुद्दामशक्ति ।
चिन्तारत्नं नन्दनं योषितस्ता, यशो बलं देवाराजोपभोग्यम् ॥
सर्वं हित्वा (त्वं) किंतु मुक्तो जलेशादाकाङ्क्षसे जीवितं धिक्तवेदम् ॥३३॥

वरुण ने कहा—सखे ! तुमने जिस इन्द्र को युद्ध में जीत लिया है और बन्दी बना कर रसातल में रख छोड़ा है, उस देव-स्वामी को हे महाबाहो ! दे दो । शत्रुनाशक ! वे हम लोगों के सदा मान्य हैं, इसलिए उनको मुझे दे दो । शत्रु को बन्दी बना कर पुनः छोड़ देने से विजेता की महान् कीर्ति होती है ॥२७-२८॥

ब्रह्मा ने कहा—'अच्छी बात है,' यह कहकर उस दैत्येश ने किसी प्रकार शची-पति इन्द्र को ऐरावत के सहित वरुण के हवाले कर दिया । अपने दैत्य-समाज में अतिशोभाशाली उस दैत्येन्द्र ने वरुण के सामने ही इन्द्र की बहुमूल्य पूजा-सामग्रियों से पूजा की और पुनः इन्द्र से कहा ॥२९-३०॥

महाशनि ने कहा—आज किसके द्वारा इंद्र बनाये गये हो ? किसके द्वारा पुनः तुम शक्तिसम्पन्न हुए ? और किसके कारण तुम बढ़-चढ़कर बातें कर रहे हो ? तुम एक बार युद्ध में शत्रुओं द्वारा बन्दी बनाये गये थे; फिर भी तुम आज इन्द्र हो रहे हो, यह एक विचित्र घटना है । किसी पुरुष के द्वारा बन्दी बनायी गयी स्त्री को उसका पति ही छुड़ाता है, यह बात सही और उचित है; क्योंकि स्त्रियाँ परवश और पुरुषों के ही भरोसे रहनेवाली होती हैं । शक्र ! साधो ! अब आज से तुम मुक्त हो, आज तक तो तुम बन्दी बनकर स्त्री के समान ही बने रहे । अब पुनः पुरुष होगे तुम अपने वाहन ऐरावत सहित युद्ध में मेरे द्वारा बन्दी बनाये गये थे । तुम्हारा वह अद्भुत प्रभाव

---

[1] घ. च. ०च—दत्तं पदं ते वद केन शक्र त्वं वा सृष्टः केन जम्भासुरारे । के० । [2] घ. ङ. च. यः । [3] घ. च. ०भिर्बध्यतेऽसौ तं । [4] ङ. ०ध्यतेऽसौ त० । [5] च. ०मान्शक्र लोकत्रयेऽपि । ब० । [6] क. ङ. ०न पुष्टो रणे क्षत्रधर्मेण शक्र । यशोबलं देवराज्योपयोग्यं सर्वं हित्वा किंतु मुक्तो जलेशात् ॥३३॥ तज्जी० ।

तज्जीवनं यत्तु यशोनिधानं, स एव मृत्युर्यशसो यद्विरोधि ।
एवं जानञ्शक्र कथं जलेशान्मुक्ति प्राप्तो नैव लज्जां भजेथाः[1] ॥३४॥
त्रिविष्टपस्थः परवेष्टितः सन्सर्वैः सुरैः कान्तया वीज्यमानः ।
संस्तूयमानश्च तथाऽप्सरोभिर्नू नं लज्जा ते बिभेतीति मन्ये ॥३५॥
त्वं वृत्रहा नमुचेश्चापि हन्ता, पुरां भेत्ता गोत्रभिद्वज्रबाहुः ।
एवं सुरास्त्वां [2]परिपूजयन्तीत्यतो जिष्णो सर्वमेतत्त्यजस्व ॥३६॥
विकारमाप्याप्यहितोद्भवं ये, जीवन्ति लोकाननुसंविशन्ति ।
भवादृशां दुश्च्यवनाब्जजन्मा, कथं न हृद्भेदमवाप कर्ता ॥३७॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तु दैत्येशो वरुणाय महात्मने । प्रादादिन्द्रं पुनश्चेदं वचनं तदभाषत ॥३८॥

महाशनिरुवाच

अद्य प्रभृत्यसौ शिष्य इन्द्रः स्याद्वरुणो गुरुः । श्वशुरो मम येन त्वं मुक्तिमाप्तोऽसि वासव ॥३९॥
तथा त्वं भृत्यभावेन वर्तेथा वरुणं प्रति । नो चेद्बद्ध्वा पुनस्त्वां वै क्षेप्स्ये चैव रसातलम् ॥४०॥

और शक्ति रखने वाला अस्त्र वज्र तो कहीं का भी नहीं रहा । तुम्हारे पास चिन्ता दूर करनेवाली चिन्तामणि, नन्दनवन, मनोमोहिनी स्त्रियाँ (अप्सराएँ) कीर्ति, बल (सैन्यशक्ति) आदि देवराज के उपभोग योग्य सब सामग्रियाँ हैं, परन्तु आज तुम वरुण द्वारा छुड़ाये जा रहे हो । फिर भी जीना चाहते हो । धिक्कार है, तुम्हारी इस जीवनाकांक्षा को । जीवन वही है जो यश का भण्डार हो । कीर्ति-विरोधी जीवन ही मृत्यु है । इन्द्र ! ऐसा जानते हुए भी तुम वरुण की कृपा से मुक्ति प्राप्त कर रहे हो । क्या इससे तुमको कुछ भी लज्जा नहीं हो रही है ? मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि जब तुम सब देवताओं के बीच में स्वर्गासन पर विराजमान होते हो, शची पंखा झलने लगती है और अप्सराएँ स्तवन-गान करने लगती हैं तब लज्जा तुमसे डर जाती है । तुमको वृत्रहा (वृत्र को मारने वाले) नमुचि को मारने वाले, पुरंदर पर्वतों के पक्ष-छेदन करने वाले वज्रबाहु आदि कहकर देवगण तुम्हारी पूजा करते हैं, परन्तु आज से हे जयाशील ! अपनी इन सब उपाधियों को छोड़ दो । आपके समान अपकीर्ति-जन्य निन्दा (लोकापवाद) को पाकर भी जो जीते हैं और इस लोक में मुँह दिखाते हैं, उन्हें देखकर अच्युत कमलयोनि, ब्रह्मा का हृदय फट क्यों नहीं जाता ::३१-३७॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार कहकर दैत्येन्द्र ने महात्मा वरुण के हाथ इन्द्र को सौंप दिया और पुनः उनसे यह वचन कहा ॥३८॥

महाशनि ने कहा—आज से यह इन्द्र शिष्य और मेरे ससुर वरुण गुरु होंगे । क्योंकि इन्द्र ! तुमको इन्हीं के कारण मुक्ति प्राप्त हुई है । साथ ही तुम सर्वदा वरुण के प्रति दास-भाव से रहना । यदि ऐसा नहीं करोगे तो पुनः तुमको बाँधकर पाताल की कारा में डाल दूँगा ॥३९-४०॥

---

[1] घ. भजेस्त्वम् । [2] च. ०यन्ति कुतो जिष्णो सर्वमेतत्त्यजेस्त्वम् । वि० ।

ब्रह्मोवाच

एवं निर्भर्त्स्य तं शक्रं हसंश्चापि पुनः पुनः । अब्रवीद्गच्छ गच्छेति वरुणं चानुमन्यतु[1] ॥४१॥
स तु प्राप्तः स्वनिलयं लज्जया कलुषीकृतः । [2]पौलोम्यां प्राह तत्सर्वं यत्तच्छत्रुपराभवम् ॥४२॥

इन्द्र उवाच

एकमुक्तः कृतश्चैव शत्रुणाऽहं वरानने । निर्वापयामि येन[3] स्वमात्मानं सुभगे वद ॥४३॥

इन्द्राण्युवाच

दानवानामथोद्भूतिं [4]शक्र मायां पराभवम् । वरदानं तथा मृत्युं जानेऽहं बलसूदन ॥४४॥
तस्माद्यस्मात्तस्य मृत्युरथवापि पराभवः । जायेत शृणु तत्सर्वं वक्ष्येऽहं प्रीतये तव ॥४५॥
हिरण्यस्य सुतो वीरः पितृव्यस्य सुतो बली । तस्मान्मम स्यात्स भ्राता वरदानाच्च दर्पितः ॥४६॥
ब्रह्माणं तोषयामास तपसा नियमेन च । ईदृशं बलमापन्नं तपसा किं न सिध्यति ॥४७॥
तस्मात्त्वया[5] चित्तरागो विस्मयो वा कथंचन । न कार्यः शृणु तत्रेदं कार्यं यत्तु क्रमागतम् ॥४८॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तु पौलोमी प्राहेन्द्रं विनयान्विता ॥४९॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार उस इन्द्र को फटकार सुनाकर और बार-बार हँसते हुए उस दैत्य ने कहा—'ज़ाओ जाओ, वरुण की सेवा स्वीकार करो।' इन्द्र इस प्रकार अपमानजनक बातों को सुनकर लज्जा से उदास होकर अपने भवन आये और पौलोमी से शत्रु के द्वारा किये गये अपमान को कहा ॥४१-४२॥

इन्द्र ने कहा—सुन्दर मुख वाली ! मैं इस प्रकार शत्रु द्वारा अपमानित किया गया हूँ, और कटु वचन सुन चुका हूँ। सुभगे ! जिस प्रकार इस अपमान का बदला ले सकूँ, ऐसी युक्ति बताओ, जिससे कि अपने को शान्त कर सकूँ ॥४३॥

इन्द्राणी ने कहा—शक्र ! बलसूदन ! दानवों की उत्पत्ति, उनकी माया, उनका पराभव, वरदान तथा उनकी मृत्यु के कारण आदि बातों को मैं जानती हूँ। अतः जिससे उसकी मृत्यु अथवा पराजय होगी, उसको मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए कह रही हूँ सुनो। वह मेरे पितृव्य (चाचा) हिरण्य का बलवान् पुत्र है, इसलिए वह मेरा भाई हुआ। वह इस समय वरदान से उन्मत्त हो गया है। उसने तपस्या और संयम के द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न किया था। इसी कारण उसको इस प्रकार बल प्राप्त हुआ है। सच है, तपस्या के द्वारा क्या नहीं प्राप्त होता है ? इसलिऐ तुमको अपने मन में किसी प्रकार का क्षोभ या विस्मय नहीं करना चाहिये। इस विषय में जो कुछ करना है, वह सुनो ॥४४-४८॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार कहकर विनीत पौलोमी ने पुनः इन्द्र से कहा ॥४९॥

---

[1] घ. च. ०न्य च ॥४१॥ स। [2] क. ०लोम्याः प्रा०। [3] ङ. येनाऽऽशु चाऽऽत्मा०। [4] घ. शक्ति। [5] घ. ०या न चिन्ताऽत्र कार्या शक्र कदाचन। एकाग्रः शृणु तत्रेदं कार्यं।

इन्द्राण्युवाच

नासाध्यमस्ति तपसो नासाध्यं यज्ञकर्मणः । नासाध्यं लोकनाथस्य विष्णोर्भक्त्या हरस्य च ।।५०।।
पुनश्चेदं मया कान्त श्रुतमस्त्यतिशोभनम् । स्त्रीणां स्वभावं जानन्ति स्त्रिय एव सुराधिप ।।५१।।
तस्माद्‌भूमेस्तथा चापां नासाध्यं विद्यते प्रभो । तपो वा यज्ञकर्मादि ताभ्यामेव यतो भवेत् ।।५२।।
तत्रापि तीर्थभूता तु या भूमिस्तां व्रजेद् भवान् । तत्र विष्णुं शिवं पूज्य सर्वान्कामानवाप्स्यसि ।।५३।।
श्रुतमस्ति पुनश्चेदं स्त्रियो याश्च पतिव्रताः । ता एव सर्वं जानन्ति धृतं ताभिश्चराचरम् ।।५४।।
पृथिव्यां सारभूतं स्यात्तन्मध्ये दण्डकं वनम् । तत्र गङ्गा जगद्धात्री तत्रेशं पूजय प्रभो ।।५५।।
विष्णुं वा जगतामीशं दीनार्तार्तिहरं विभुम् । अनाथानामिह नृणां मज्जतां दुःखसागरे ।।५६।।
हरो हरिर्वा गङ्गा वा क्वाप्यन्यच्छरणं नहि । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तोषयैतान्समाहितः ।।५७।।
भक्त्या स्तोत्रैश्च तपसा कुरु चैव मया सह । ततः प्राप्स्यसि कल्याणमीशविष्णुप्रसादजम् ।।५८।।
अज्ञात्वैकगुणं कर्म फलं दास्यति कर्मिणः । ज्ञात्वा शतगुणां तत्स्याद्‌भार्यया च तदक्षयम् ।।५९।।
पुंसः सर्वेषु कार्येषु भार्येविह सहायिनी । स्वल्पानामपि कार्याणां नहि सिद्धिस्तया विना ।।६०।।
एकेन यत्कृतं कर्म तस्मादर्धफलं भवेत् । जायया तु कृतं नाथ पुष्कलं पुरुषो लभेत् ।।६१।।

इन्द्राणी ने कहा—तपस्या के द्वारा कुछ भी असाध्य नहीं, यज्ञ के द्वारा सब कुछ साध्य है और लोकपति विष्णु तथा शंकर की भक्ति से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त हे कान्त ! एक और अति उपयुक्त बात सुनी है। सुराधिप ! स्त्रियों की प्रकृति को स्त्रियाँ ही जानती हैं ।।५०-५१।। प्रभो ! इसलिए भूमि और जल के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है; क्योंकि तपस्या अथवा यज्ञ आदि इन्हीं दो पदार्थों से निष्पन्न होते हैं ।।५२।। इनमें भी ज़ो तीर्थभूमि है वहाँ आज आप जाइये। वहाँ विष्णु और शिव की पूजा कर आप अपने सब मनोरथों को प्राप्त कीजिये ।।५३।। और यह भी सुना जाता है कि जो पतिव्रता स्त्रियाँ होती हैं वे सब कुछ जानती हैं। इन्हीं के द्वारा यह चराचरात्मक जगत् टिका हुआ है ।।५४।। पृथ्वी का जो मुख्य प्रदेश है उसी के मध्य में दण्डक वन है। उसमें जगज्जननी गौतमी बहती है। प्रभो ! वहीं चलकर ईश विष्णु अथवा दीनार्तजनों के कष्ट को दूर करने वाले जगत्पति शंकर की पूजा करो ।।५५।। इस विपत्ति-सागर में डूबते हुए अनाथ मनुष्यों के लिए शंकर, विष्णु और गौतमी को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी शरण नहीं है। इसलिए तन्मय होकर अपने प्रत्येक प्रयत्नों से इन देवेशों को प्रसन्न करो। तुम मेरे साथ भक्तिपूर्वक स्तोत्र-पाठ और तपस्या से उनकी उपासना करो। तदनन्तर शंकर और विष्णु की कृपा से कल्याण प्राप्त करोगे ।।५६-५८।। बिना जाने कर्म करने से कर्म करने वाले को एक गुना फल मिलता है, जानकर करने पर वह फल सौ गुना हो जाता है, सस्त्रीक करने से वह अनन्त हो जाता है ।।५९।। इस संसार में पुरुष के प्रत्येक कार्य में स्त्री ही सहायक है। छोटे-छोटे कार्यों में भी उसके बिना सफलता नहीं प्राप्त होती ।।६०।। अकेले जो कार्य किया जाता है, उससे आधा फल मिलता है। नाथ ! स्त्री के साथ करने से पुरुष प्रचुर फल प्राप्त करता है ।।६१।। इसलिए वेदों में भी 'जाया अर्द्धभाग है' ऐसा कहा गया है।

तस्मादेतत्सुविदितमर्धो[1] जाया इति श्रुतेः । श्रूयते दण्डकारण्ये सरिच्छ्रेष्ठाऽस्ति गौतमी ॥६२॥
अशेषाघप्रशमनी सर्वाभीष्टप्रदायिनी । तस्माद्गच्छ मया तत्र कुरु पुण्यं महाफलम् ॥६३॥
ततः शत्रून्निहत्याऽऽजौ महत्सुखमवाप्स्यसि ॥६४॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा स गुरुणा भार्यया च शतक्रतुः । ययौ गङ्गां जगद्धात्रीं गौतमीं चेति विश्रुताम् ॥६५॥
दण्डकारण्यमध्यस्थां ययौ स (दृष्ट्वा तां) प्रीतिमान्हरिः । तपः कर्तुं मनश्चक्रे देवदेवाय शंभवे ॥६६॥
गङ्गां नत्वा तु प्रथमं स्नात्वा च स कृताञ्जलिः । शिवैकशरणो भूत्वा स्त्रोत्रं चेदं ततोऽब्रवीत् ॥६७॥

इन्द्र उवाच

स्वमायया यो ह्यखिलं चराचरं, सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।
एकः स्वतन्त्रोऽद्वयचित्सुखात्मकः, स नः प्रसन्नोऽस्तु पिनाकपाणिः ॥६८॥
न यस्य तत्त्वं सनकादयोऽपि, जानन्ति वेदान्तरहस्यविज्ञाः ।
स पार्वतीशः सकलाभिलाषदाता प्रसन्नोऽस्तु ममान्धकारिः ॥६९॥
सृष्ट्वा स्वयंभूर्भगवान्विरिञ्चिं, भयंकरं चास्य शिरोऽन्वपश्यत् ।
छित्त्वा नखाग्रैर्नखसक्तमेतच्चिक्षेप तस्मादभवत्त्रिवर्गः ॥७०॥

सुना जाता है कि दण्डकारण्य में गौतमी नाम की अशेष पापों को नष्ट करने वाली एक अतिपवित्र नदी है। इसलिए मेरे साथ वहाँ चलो और महाफलदाता पुण्य (तप) करो। तदनन्तर शत्रु को समर में मारकर महान् आनन्द प्राप्त करोगे ॥६२-६४॥

ब्रह्मा ने कहा—'ऐसा ही हो', यह कहकर वे इन्द्र गुरु और भार्या के साथ प्रसिद्ध जगज्जननी दण्डकारण्य के मध्य में सुशोभित गौतमी के तट पर गये। उसको देखते ही इन्द्र प्रसन्न हो गये और देवदेव शंभु की आराधना करने के लिए प्रस्तुत हो गये। पहले तो गंगा में स्नान किया, पुनः हाथ जोड़कर शिव में ही अपनी एकान्त भावना स्थिर करके यह (अग्रिम) स्तोत्र पढ़ने लगे ॥६५-६७॥

इन्द्र ने कहा—जो अपनी माया से अखिल चराचर की सृष्टि करते, रक्षा करते और पुनः संहार करते हैं, फिर भी अनासक्त ही रहते हैं, एवं जो एक स्वतन्त्र अद्वैत, चित्, सुख-स्वरूप हैं, ऐसे पिनाकपाणि (शंकर) हम पर प्रसन्न हों ॥६८॥ जिनके तत्त्व को वेदान्त के रहस्य जानने वाले सनकादि ऋषि भी नहीं जानते हैं, वे पार्वतीपति, सब अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले, अन्धक-रिपु शिव मुझ पर प्रसन्न हों ॥८६॥ स्वयंभू भगवान् शंकर ने पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया, परन्तु जब उन्होंने उनके भयंकर सिर को देखा तब नखाग्र से उसको काट डाला। किन्तु वह नख में ही चिपका रहा। पुनः उसको फेंक दिया। उससे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की उत्पत्ति हुई ॥७०॥ उसी त्रिवर्ग से पाप, दरिद्रता, लोभ, याचना, मोह, विपत्ति और अनन्त प्रभावशाली सांसारिक दुःख उत्पन्न हुए,

---

[1] क. मर्ध जा ०।

पापं दरिद्रं त्वथ लोभयाच्ञे मोहो विपच्चेति ततोऽप्यनन्तम् ।
जातप्रभावं भवदुःखरूपं, बभूव तैर्व्याप्तमिदं समस्तम् ॥७१॥
अवेक्ष्य सर्वं चकितः सुरेशो, देवीमवोचज्जगदस्तमेति ।
त्वं पाहि लोकेश्वरि लोकमातरुमे शरण्ये सुभगे सुभद्रे ॥७२॥
जगत्प्रतिष्ठे वरदे जय त्वं, भुक्तिः समाधिः परमा च मुक्तिः ।
स्वाहा स्वधा स्वस्तिरनादिसिद्धिर्गीर्बुद्धिरासीरजरामरे त्वम् ॥७३॥
विद्यादिरुपेण जगत्त्रये त्वं, रक्षां करोष्येव [1]मदाज्ञया च ।
त्वयैव सृष्टं भुवनत्रयं स्याद्यतः प्रकृत्यैव तथैव चित्रम् ॥७४॥
इत्येवमुक्ता दयिता हरेण, संश्लेषसंलापपरा बभूव ।
श्रान्ता भवस्यार्धतनौ सुलग्ना, चिक्षेप च स्वेदजलं कराग्रैः ॥७५॥
तस्माद्बभूव प्रथमं स धर्मो, लक्ष्मीरथो दानमथो सुवृष्टिः ।
सत्त्वं सुसंपन्नधरं सरांसि, धान्यानि पुष्पाणि फलानि चैव ॥७६॥
सौभाग्यवस्तूनि वपुः सुवेषः, श्रृङ्गारभाजीनि महौषधानि ।
नृत्यानि गीतान्यमृतं पुराणं, श्रुतिस्मृती नीतिरथान्नपाने ॥७७॥
शस्त्राणि शास्त्राणि गृहोपयोग्यान्यस्त्राणि तीर्थानि च काननानि ।
इष्टानि पूर्तानि च मङ्गलानि, यानानि शुभ्राभरणासनानि ॥७८॥

जिनसे यह सारा लोक-भर सा गया ॥७१॥ सुरेश ने जब यह सब देखा तो चकित हो गये और देवी से कहा कि सारा जगत् विनाश की ओर जा रहा है। लोकेश्वरी ! जगज्जननी ! उमे ! सुभगे ! सुभद्रे ! शरणदायिनी ! तुम रक्षा करो। वरदायिनी ! जगत् को नाश से बचाने वाली ! तुम्हारी जय हो। तुम भुक्ति, परम समाधि (शान्ति) और मुक्ति हो। तुम स्वाहा, स्वधा, स्वस्ति, अनादि, सिद्धि, वाणी, बुद्धि और अजर-अमर हो ॥७२-७३॥ तीनों लोकों में तुम विद्या आदि रूप से रक्षा करती हो। मेरी आज्ञा से यतः प्रकृतिरूपा तुमने ही त्रिभुवन की सृष्टि की है, अतः यह त्रिभुवन आश्चर्यमय है। इस प्रकार शंकर ने अपनी प्रिया से कहा। तब उमा उनका आलिंगन कर प्रेमालाप में तल्लीन हो गयीं। इस प्रकार शंकर के पार्श्व में चिपकी हुई उमा ने श्रान्त होकर अपनी अँगुलियों से श्रम-स्वेद (पसीने) को गिराया ॥७४-७५॥ उसी पसीने की बूँदों से पहले धर्म, तब लक्ष्मी, दान, सुवृष्टि, पृथ्वी को समृद्ध बनाने वाले प्राणी, सरोवर, धान्य, पुष्प, फल, सौभाग्य-पदार्थ, शरीर को सुन्दर बनाने वाले पदार्थ, श्रृंगारोपयोगी वस्तुएँ, महोषधियाँ, नृत्य, गीत, अमृत, पुराण, श्रुति-स्मृति, नीति, अन्न, पेयपदार्थ, शस्त्र, शास्त्र, गृहोपयोगी अस्त्र, तीर्थ, कानन, इष्टकर्म, पूर्तकर्म (तालाब खोदवाना आदि), मंगल, सवारियाँ, स्वच्छ आभूषण, आसन आदि पदार्थ उत्पन्न हुए ॥७६-७८॥ देवि ! इसी प्रकार तुम्हारे और शंकर के अङ्ग-संयोग, एकान्तवास के सुखद हास और संलापजन्य

---

[1] ङ. सदाऽक्षया।

भवाङ्गसंसर्गसुसंप्रहाससुस्वेदसंलापरहःप्रकारैः ।
तथैव जातं सचराचरं च, अपापकं देवि ततश्च जातम् ॥७९॥
सुखं प्रभूतं च शुभं च नित्यं, विराजि चैतत्तव देवि भावात् ।
तस्मात्तु मां रक्ष जगज्जनित्रि, भीतं भयेभ्यो जगतां प्रधाने ॥८०॥
एके तर्के विमुह्यन्ति लीयन्ते तत्र चापरे । शिवशक्त्योस्तदाऽद्वैतं सुन्दरं नौमि विग्रहम् ॥८१॥

ब्रह्मोवाच

एवं तु स्तुवतस्तस्य पुरस्तादभवच्छिवः ॥८२॥

शिव उवाच

किमभीष्टं वरयसे हरे वद परायणम् ॥८३॥

इन्द्र उवाच

बलवान्मे रिपुश्चाऽऽसी[1]द्दर्शनैश्च[2] शनिर्यथा । तेन बद्धस्तलं नीतः परिभूतस्त्वनेकधा ॥८४॥
वाक्सायकस्तथा विद्धस्तद्वधाय त्वियं कृतिः । तदर्थं जगतामीश येन जेष्ये रिपुं प्रभो ॥८५॥
तदेव देहि वीर्यं मे यच्चान्यद्रिपुनाशनम् । जातः पराभवो यस्मात्तद्विनाशे कृते सति ॥
पुनर्जातमहं मन्ये वरं कीर्तिर्जयश्रियोः ॥८६॥

स्वेद (पसीने) से चराचरात्मक संसार (पापरहित) उत्पन्न हुए। देवि ! इस लोक में जो प्रचुर सुख और नित्य शुभ फैला हुआ है, यह सब तुम्हारा ही प्रसाद है। इसलिए हे जगज्जननी ! लोक-प्रधाने ! तुम भयभीत एवं विपत्ति में पड़े हुए मेरी रक्षा करो। कुछ मनीषी अपने तर्कों के जाल में पड़कर मोह में पड़ जाते हैं और दूसरे उसमें लीन हो जाते हैं। ऐसे शिव और शक्ति अद्वैत (अभिन्न) एवं सुंदर विग्रह (शरीर) को मैं नमस्कार करता हूँ॥७९-८१॥

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार स्तुति करते हुए इन्द्र के सम्मुख शंकर प्रकट हुए ॥८२॥

शिव ने कहा—इन्द्र ! किस उत्तम अभीष्ट को चाहते हो, कहो ॥८३॥

इन्द्र ने कहा—मेरा बलवान् रिपु, जो देखने में साक्षात् शनि-सा जान पड़ता है, मुझको बाँधकर रसातल ले गया और वहाँ अनेकों प्रकार से उसने मुझे अपमानित किया और वाग्बाणों से मेरा हृदय छलनी बना दिया। उसी के वध के लिए यह मेरा प्रयत्न है। जगत् के स्वामी ! इसलिए जिस प्रकार मैं उसको जीत सकूँ, वैसी ही मुझे शक्ति दीजिये। ताकि मैं अन्य शत्रुओं का भी नाश कर सकूँ। जिससे मैं पराभूत हुआ हूँ, उसको विनष्ट कर देने पर अपना पुनर्जन्म समझूँगा। क्योंकि कीर्ति विजय और लक्ष्मी से श्रेष्ठ होती है ॥८४-८६॥

---

[1] घ. च. ०सीदशनिश्चाश० । [2] ङ. ०नैश्चाश० ।

ब्रह्मोवाच

स शिवः शक्रमाहेदं न मयैकेन ते रिपुः । वधमाप्नोति तस्मात्त्वं विष्णुमप्यव्ययं हरिम् ॥८७॥
आराधस्व पौलोम्या सह देवं जनार्दनम् । लोकत्रयैकशरणं नारायणमनन्यधीः ॥८८॥
ततः प्राप्स्यसि तस्माच्च मत्तश्चापि प्रियं हरे । पुनश्चोवाच भगवानादिकर्ता महेश्वरः ॥८९॥
मन्त्राभ्यासस्तपो वापि योगाभ्यसनमेव च । संगमे यत्र कुत्रापि सिद्धिदं मुनयो विदुः ॥९०॥
किं पुनः संगमे विप्र गौतमीसिन्धुफेनयोः । गिरीणां गह्वरे यद्वा सरितामथ संगमे ॥९१॥
विप्रो धियैव भवति मुकुन्दाङ्घ्रिनिविष्टया । गङ्गाया दक्षिणे तीर आपस्तम्बो मुनीश्वरः ॥९२॥
आस्ते तस्याप्यहं तोषमगमं बलसूदन । तेन त्वं भार्यया चैव तोषयस्व गदाधरम् ॥९३॥

ब्रह्मोवाच

आपस्तम्बेन सहितो गङ्गाया दक्षिणे तटे । तुष्टाव देव प्रयतः स्नात्वा पुण्येऽथ संगमे ॥९४॥
फेनायाश्चैव गङ्गायास्तत्र देवं जनार्दनम् । वैदिकैर्विविधैर्मन्त्रैस्तपसाऽतोषयत्तदा ॥९५॥
ततस्तुष्टोऽभवद्विष्णुः किं देयं चेत्यभाषत । देहि मे शत्रुहन्तारमित्याह भगवान्हरिः ॥९६॥
दत्तमित्येव जानीहि तमुवाच जनार्दनः । तत्राभवच्छिवस्यैव गङ्गाविष्ण्वोः प्रसादतः ॥९७॥
अम्भसा पुरुषो जातः शिवविष्णुस्वरूपधृक् । चक्रपाणिः शूलधरः स गत्वा तु रसातलम् ॥९८॥

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर शिव ने इन्द्र से कहा 'अकेले मुझसे तुम्हारा शत्रु मारा नहीं जायगा। इसलिए तुम अव्यय, हरि, विष्णु तीनों लोकों के एकमात्र आधार, नारायण और जनार्दन देव की इन्द्राणी के साथ अनन्य भाव से आराधना करो। हरे ! इसके बाद तुम मुझसे और उनसे अपने प्रिय मनोरथ को प्राप्त करोगे।' आदिकर्ता महेश्वर ने पुनः कहा—'मुनियों ने मन्त्राभ्यास, तपस्या या योगाभ्यास को जिस किसी संगम पर करने से सिद्धि-प्रद कहा है। विप्र ! तब जहाँ गंगा, सिन्धु और फेना संगम हो, गिरि-गुहा हो या अनेक नदियों का संगम हो उनके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। गंगा के दक्षिणी तट पर विप्र मुनीश्वर आपस्तम्ब मुकुन्द के चरणकमल में अपनी बुद्धि को लगाये हुए रह रहे हैं। बलसूदन ! उनको भी मैंने इसी प्रकार सन्तुष्ट किया है। अतः तुम अपनी भार्या के साथ गदाधर विष्णु को प्रसन्न करो' ॥८७-९३॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद गंगा और फेना के पवित्र संगम में स्नान कर गंगा के दक्षिण तट पर आपस्तम्ब के साथ इन्द्र एकाग्र मन से विष्णु की स्तुति करने लगे। विविध वैदिक मन्त्रों और तपस्या से इन्द्र ने जनार्दन देव की स्तुति की। तदनन्तर विष्णु प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि तुमको क्या दूँ। 'मुझे शत्रु का नाश करने वाला साधन प्रदान कीजिये' ऐसा इन्द्र ने कहा। यह सुनकर जनार्दन ने इन्द्र से कहा—'दे दिया गया' ऐसा समझो। उसी समय वहाँ शिव, गंगा और विष्णु की कृपा से जल के बीच से शिव और विष्णु दोनों के मिले-जुले आकार का हाथ में चक्र और शूल लिये हुए एक पुरुष उत्पन्न हुआ। उसने रसातल जाकर इन्द्र के शत्रु उस दैत्य महाशनि को मार डाला। फलतः वह अब्जक, वृषाकपि इन्द्र का मित्र बन गया। इन्द्र स्वर्ग में रहते हुए भी सर्वदा उस वृषाकपि का अनुसरण

निजघान तदा दैत्यमिन्द्रशत्रुं महाशनिम्। सखाऽभवत्स चेन्द्रस्य अब्जकः स वृषाकपिः ॥९९॥
दिविस्थोऽपि सदा चेन्द्रस्तमन्वेति वृषाकपिम्। कुपिता प्रणयेनाभूदन्यासक्तं विलोक्य तम् ॥
शचीं तां सान्त्वयन्नाह शतमन्युर्हसन्निदम् ॥१००॥

इन्द्र उवाच

नाहमिन्द्राणि शरणमृते सख्युर्वृषाकपेः। वारि वाऽपि हविर्यस्य अग्नेः प्रियकरं सदा ॥१०१॥
नाहमन्यत्र गन्ताऽस्मि प्रिये चाङ्गेन ते शपे। तस्मान्नार्हसि मां वक्तुं शङ्कयाऽन्यत्र भामिनि ॥१०२॥
पतिव्रता प्रिया मे त्वं धर्मे मन्त्रे सहायिनी। सापत्या च कुलीना च त्वत्तोऽन्या का प्रिया मम ॥१०३॥
तस्मात्तवोपदेशेन गङ्गां प्राप्य महानदीम्। प्रसादाद्देवदेवस्य विष्णोर्वै चक्रपाणिनः ॥१०४॥
तथा शिवस्य देवस्य प्रसादाच्च वृषाकपेः। जलोद्भवाच्च मे मित्रादब्जकाल्लोकविश्रुतात् ॥१०५॥
उत्तीर्णदुःखः सुभगे इत इन्द्रोऽहमच्युतः। किं न साध्यं यत्र भार्या भर्तृचित्तानुगामिनी ॥१०६॥
दुष्करा तत्र नो मुक्तिः किमर्थादित्रयं शुभे। जायैव परमं मित्रं लोकद्वयहितैषिणी ॥१०७॥
सा चेत्कुलीना प्रि[illegible]बेगा च, पतिव्रता रूपवती गुणाढ्या ।
संपत्सु चाऽऽपत्सु समानरूपा, तया ह्यसाध्यं किमिह त्रिलोक्याम् ॥१०८॥
तस्मात्तव धिया कान्ते ममेदं शुभमागतम्। इतस्तवोदितं चैव कर्तव्यं नान्यदस्ति मे ॥१०९॥

करने लगे। इस प्रकार अपने सखा में इन्द्र की प्रेममय आसक्ति देखकर शची कुपित हो गयी। उसका कोप देखकर इन्द्र हँसने लगे और उसको समझाते हुए बोले ॥९४-१००॥

इन्द्र ने कहा—इन्द्राणि ! मैं सखा वृषाकपि को छोड़कर और किसी के वश में नहीं हूँ। प्रिये ! मैं तुम्हारे अंग की शपथ खाकर कहता हूँ कि जिस वृषाकपि अग्नि को हवि और वारि (जल) सदा प्रिय हैं उसको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता। इसलिए हे भामिनी ! मुझसे शंका की दृष्टि से मत बोलो ॥१०१-१०२॥ तुम धर्म और सलाह में सदा सहायता करने वाली मेरी पतिव्रता प्रिया हो। ऐसी सन्तानवती, कुलीन तुमको छोड़कर और कौन मेरी प्रिया हो सकती है ? ॥१०३॥ तुम्हारे ही उपदेश से मैंने महानदी गंगा को प्राप्त किया। देवाधिदेव चक्रपाणि विष्णु, देव शंकर की कृपा और जल से उत्पन्न, लोक-प्रसिद्ध अब्जक और वृषाकपि नामक मित्र की सहायता से अपने दुःखों से पार पाया है। सुभगे ! तुम्हारे ही प्रयत्नों से मैं अच्युत इन्द्र हुआ। जिसकी भार्या पति के अनुकूल आचरण करने वाली है, उसके लिए संसार में कौन ऐसा काम है जो न हो सके। शुभे ! उसके लिए मुक्ति भी दुर्लभ नहीं है, अर्थ, धर्म और काम की तो बात ही क्या। पुरुष के लिए लोक-परलोक दोनों का हित चाहने वाली स्त्री ही परम मित्र है ॥१०४-१०७॥ वह स्त्री यदि कुलीन है, प्रिय बोलने वाली है, पतिव्रता, सुरूपा, गुणवती और संपत्ति तथा विपत्ति में समान रूप से रहने वाली है तब तो उसके लिए त्रिभुवन में कुछ भी असाध्य नहीं है ॥१०८॥ कान्ते ! इसीलिए तुम्हारी बुद्धि के प्रभाव से ही मेरा शुभोदय हुआ है, आज से मेरे लिये तुम्हारा संकेत ही एकमात्र कर्त्तव्यप्रदर्शक है, दूसरा नहीं ॥१०९॥ सत्पुत्र के समान परलोक और धर्म का सहायक

परलोके च धर्मे च सत्पुत्रसदृशं न च। आर्तस्य पुरुषस्येह भार्यावद्भेषजं न हि ॥११०॥
निःश्रेयसपदप्राप्त्यै तथा पापस्य मुक्तये। गङ्गया सदृशं नास्ति शृणु चान्यद्वरानने ॥१११॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्तये पापमुक्तये। शिवविष्ण्वोरनन्यत्वज्ञानान्नास्त्यत्र मुक्तये ॥११२॥
तस्मात्तव धिया साध्वि सर्वमेतन्मनोगतम्। अवाप्तं च शिवाद्विष्णोर्गङ्गायाश्च प्रसादतः ॥११३॥
इन्द्रत्वं मे स्थिरं चेतो मन्ये मित्रबलात्पुनः। वृषाकपिर्मम सखा यो जातस्त्वप्सु भामिनि ॥११४॥
त्वं च प्रियसखी नित्यं नान्यत्प्रियतरं मम। तीर्थानां गौतमी गङ्गा देवानां हरिशंकरौ ॥११५॥
तस्मादेभ्यः प्रसादेन सर्वं चेप्सितमाप्तवान्। मम प्रीतिकरं चेदं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥११६॥
तस्मादेतद्धि याचिष्ये देवान्सर्वाननुक्रमात्। अनुमन्यन्तु ऋषयो गङ्गा च हरिशंकरौ ॥११७॥
इन्द्रेश्वरे चाब्जके च उभयोस्तीरयोः सुराः। एकत्र शंकरो देवो ह्यपरत्र जनार्दनः ॥११८॥
पावयन्दण्डकारण्यं साक्षाद्विष्णुस्त्रिविक्रमः। अन्तरे यानि तीर्थानि सर्वपुण्यप्रदानि च ॥११९॥
अत्र तु स्नानमात्रेण सर्वे ते मुक्तिमाप्नुयुः। पापिष्ठाः पापतो मुक्तिमाप्नुयुर्ये च धर्मिणः ॥१२०॥
तेषां तु परमा मुक्तिः पितृभिः पञ्चपञ्चभिः। अत्र किंचिच्च ये दद्युरर्थिभ्यस्तिलमात्रकम् ॥१२१॥
दातृभ्यो ह्यक्षयं तत्स्यात्कामदं मोक्षदं तथा। धन्यं यशस्यमायुष्यमारोग्यं पुण्यवर्धनम् ॥१२२॥
आख्यानं विष्णुशंभ्वोश्च ज्ञात्वा स्नानाच्च मुक्तिदम्। अस्य तीर्थस्य माहात्म्यं ये शृण्वन्ति पठन्ति च ॥१२३॥

दूसरा नहीं और दुःखी पुरुष के लिए भार्या के समान कोई ओषधि नहीं ॥११०॥ सुन्दर मुख वाली ! पाप से छूटने के लिए एवं मोक्ष-पद पाने के लिए गंगा के समान और कोई साधन नहीं ॥१११॥ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-प्राप्ति के लिए तथा पाप-मुक्त होने के लिए शिव-विष्णु के ऐक्य-ज्ञान के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं ॥११२॥ पतिव्रते ! तुम्हारी बुद्धि के प्रभाव से ही मेरी समस्त मनोगत कामनाएँ शिव, विष्णु और गंगा के प्रसाद से पूर्ण हुई हैं ॥११३॥ इसके अतिरिक्त मेरा इन्द्रत्व भी मेरे मित्र की सहायता से ही पुनः स्थिर हुआ है, ऐसा मैं मानता हूँ । भामिनि ! मेरा मित्र भी दूसरा कोई नहीं अपितु वही वृषाकपि है, जो जल से उत्पन्न हुआ ॥११४॥ तुम मेरी सर्वदा की प्रिय सखी हो । तुमसे बढ़कर मेरा कोई प्रियपात्र नहीं । तीर्थों में गौतमी गंगा तथा देवों में विष्णु और शंकर ही मेरे मान्य हैं ॥११५॥ इनकी कृपा से ही मेरे सब मनोरथ पूर्ण हुए हैं । यह त्रैलोक्य-प्रसिद्ध तीर्थ मुझे वहुत प्रिय है ॥११६॥ इसलिए मैं क्रमशः सब देवताओं से यही याचना करता हूँ और ऋषिगण, गंगा, हरि और शंकर से भी मेरा यही अनुरोध है कि गंगा के दोनों तटों पर इन्द्रेश्वर और अब्जक नामक तीर्थों में सब देवता क्रमानुसार निवास करें । एक स्थान पर शंकर और दूसरे पर स्वयं जनार्दन निवास करें तथा इस दण्डकारण्य को साक्षात् विष्णु पवित्र करें । इसके मध्य में जितने तीर्थ हैं वे सभी सब पुण्यों के देने वाले हों ॥११७-११९॥ यहाँ स्नान करने से ही सबको मुक्ति मिले । पापी इस तीर्थ के प्रभाव से पापमुक्त हो जाय । जो धार्मिक व्यक्ति स्नान करें, वे परम मुक्ति प्राप्त करें और उनकी पाँच आगे की तथा पाँच पीछे की पीढ़ी मुक्त हो जाय ॥१२०½॥ यहाँ जो कोई याचकों को तिलमात्र भी दान करे तो वह दाता के लिए अक्षय हो जाय । उस क्षुद्रदान से वह मोक्ष और अपने मनोरथ को प्राप्त करे ॥१२१½॥ जो इस धन्य, कीर्तिप्रद, आयु, आरोग्य और पुण्य-प्रद विष्णु और शम्भु के आख्यान और स्नान से मुक्ति देने वाले इस तीर्थ के माहात्म्य का श्रवण या पाठ करते हैं वे पुण्यात्मा हो जाते हैं और उनको इसी लोक

पुण्यभाजो भवेयुस्ते तेभ्योऽत्रैव स्मृतिर्भवेत् । शिवविष्ण्वोरशेषाघसंघविच्छेदकारिणी ॥
यां प्रार्थयन्ति मुनयो विजितेन्द्रियमानसाः ॥१२४॥

ब्रह्मोवाच

भविष्यत्येवमेवेति तं देवा ऋषयोऽब्रुवन् । गौतम्या उत्तरे पारे तीर्थानां मोक्षदायिनाम् ॥१२५॥
देवर्षिसिद्धसेव्यानां सहस्राण्यथ सप्त वै । तथैव दक्षिणे तीरे तीर्थान्येकादशैव तु ॥१२६॥
अब्जकं हृदयं प्रोक्तं गोदावर्या मुनीश्वरैः । विश्रामस्थानमीशस्य विष्णोर्ब्रह्मण एव च ॥१२७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये गौतम्युत्तरकूलस्थेन्द्रेश्वरादिसप्तसहस्रतीर्थदक्षिणकूलस्थापस्तम्बसोमेश्वरफेनासंगमवृषाकपाब्जकवैष्णवहनूमत्तीर्थमार्जारेत्याद्येकादशतीर्थवर्णनं नामैकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१२९॥
गौतमीमाहात्म्ये षष्टितमोऽध्यायः ॥६०॥

अथ त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आपस्तम्बतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

आपस्तम्बमिति ख्यातं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । स्मरणादप्यशेषाघसंघविध्वंसनक्षमम् ॥१॥

में सब पापों को नष्ट करने देने वाली शिव और विष्णु की स्मृति हो जाती है जिस स्मृति के लिए इन्द्रिय और मन पर संयम वाले मुनि प्रार्थना किया करते हैं ॥१२२-१२४॥

ब्रह्मा ने कहा—इन्द्र की बात सुनकर देवताओं और ऋषियों ने कहा कि आपका कहा हुआ सब सत्य होगा। गौतमी के उत्तर तट पर देव, ऋषि और सिद्धजनों के रहने योग्य सात हजार मोक्षदायक तीर्थ हैं। इसी प्रकार दक्षिणी तीर पर ग्यारह तीर्थ हैं। मुनीश्वरों ने ईश, विष्णु और ब्रह्मा के निवास-स्थान अब्जक को गोदावरी का हृदय स्वीकार किया है ॥१२५-१२७॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में गौतमी के उत्तर तट पर स्थित इन्द्रेश्वर आदि सात हजार तीर्थों एवं दक्षिण तटवर्ती आपस्तम्ब, सोमेश्वर अब्जक आदि ग्यारह तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ उनतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१२९॥

अध्याय १३०

आपस्तम्बतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—(इसके बाद) तीनों लोक में प्रसिद्ध आपस्तम्ब नामक एक तीर्थ है, जिसके स्मरण मात्र

आपस्तम्बो महाप्राज्ञो मुनिरासीन्महायशाः। तस्य भार्याऽक्षसूत्रेति पतिधर्मपरायणा ॥२॥
तस्य पुत्रो महाप्राज्ञः कर्किनामाऽथ तत्त्ववित्। तस्याऽऽश्रममनुप्राप्तो ह्यगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥३॥
तमगस्त्यं पूजयित्वा आपस्तम्बो मुनीश्वरः। शिष्यैरनुगतो धीमांस्तं प्रष्टुमुपचक्रमे ॥४॥

आपस्तम्ब उवाच

त्रयाणां को नु पूज्यः स्याद्देवानां मुनिसत्तम। भुक्तिर्मुक्तिश्च कस्माद्वा स्यादनादिश्च को भवेत् ॥५॥
अनन्तश्चापि को विप्र देवानामपि दैवतम्। यज्ञैः क इज्यते देवः को वेदेष्वनुगीयते ॥
एवं मे संशयं छेत्तुं वदागस्त्य महामुने ॥६॥

अगस्त्य उवाच

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रमाणं शब्द उच्यते। तत्रापि वैदिकः शब्दः प्रमाणं परमं मतः ॥७॥
वेदेन गीयते यस्तु पुरुषः स परात्परः। मृतोऽपरः स विज्ञेयो ह्यमृतः पर उच्यते ॥८॥
योऽमूर्तः स परो ज्ञेयो ह्यपरो मूर्त उच्यते। गुणाभिव्याप्तिभेदेन मूर्तोऽसौ त्रिविधो भवेत् ॥९॥
ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चेति एक एव त्रिधोच्यते। त्रयाणामपि देवानां वेद्यमेकं परं हि तत् ॥१०॥
एकस्य बहुधा व्याप्तिर्गुणकर्मविभेदतः। लोकानामुपकारार्थमाकृतित्रितयं भवेत् ॥११॥
यस्तत्त्वं वेत्ति परमं स च विद्वान्न चेतरः। तत्र यो भेदमाचष्टे लिङ्गभेदी स उच्यते ॥१२॥

से समस्त पापों का विध्वंस हो जाता है। महायशस्वी एव महाबुद्धिमान् आपस्तम्व नामक एक ऋषि थे। उनकी अक्षसूत्रा नाम की पतिव्रता भार्या थी। उनके तत्त्वज्ञ तथा महामेधावी कर्कि नामक पुत्र था। एक दिन मुनि-पुङ्गव अगस्त्य उनके आश्रम में आये। मुनीश्वर आपस्तम्व ने उनकी पूजा की। पुनः अपने समस्त शिष्यों के साथ बुद्धिमान् मुनि ने मान्य अतिथि से पूछा ॥१-४॥

आपस्तम्ब ने कहा—मुनिश्रेष्ठ! तीनों देवों में कौन पूज्य है? किसके द्वारा भुक्ति और मुक्ति प्राप्त होती है? कौन अनादि है? विप्र! कौन अनन्त और देवों का भी पूज्य देव है? यज्ञों से किसकी पूजा की जाती है? किसकी वेदों में स्तुति की गयी है? यही मेरा संदेह है, जिसका निराकरण चाहता हूँ। महामुनि अगस्त्य! कृपाकर कहिये ॥५-६॥

अगस्त्य ने कहा—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के शब्द ही प्रमाण कहे जाते हैं। उनमें भी वैदिक शब्द परम प्रमाण माने जाते हैं। वेद जिस पुरुष का गान करते हैं, वह परात्पर कहा जाता है। पर अमृत है और अपर मृत है। जो अमूर्त (अप्रत्यक्ष) है वह पर और जो मूर्त (प्रत्यक्ष) है वह अपर कहा जाता है। वह मूर्त गुणों की अभिव्याप्ति (उत्कर्षापकर्ष) भेद से तीन प्रकार का हो जाता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक के ही तीन रूप हैं, इन तीनों देवों से भी जो एक ही वेद्य है वही पर है। एक की ही गुण-कर्म के भेद से बहुत रूपों में व्याप्ति होती है। लोकों के उपकार के लिए ही ये तीन रूप होते हैं। जो परमतत्त्व को जानता है, वही विद्वान् है दूसरा नहीं। उनमें जो भेद-

प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति यश्चैषां व्याहरेद्भिदम् । त्रयाणामपि देवानां मूर्तिभेदः पृथक्पृथक् ।।१३।।
वेदाः प्रमाणं सर्वत्र साकारेषु पृथक्पृथक् । निराकारं च यत्त्वेकं तत्तेभ्यः परमं मतम् ।।१४।।

आपस्तम्ब उवाच

नानेन निर्णयः कश्चिन्मयाऽत्र विदितो भवेत् । तत्राप्यत्र रहस्यं यत्तद्विमृश्याऽऽशु कीर्त्यताम् ।।
निःसंशयं निर्विकल्पं भाजनं सर्वसंपदाम् ।।१५।।

ब्रह्मोवाच

एतदाकर्ण्य भगवानगस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ।।१६।।

अगस्त्य उवाच

यद्यप्येषां न भेदोऽस्ति देवानां तु परस्परम् । तथाऽपि सर्वसिद्धिः स्याच्छिवादेव सुखात्मनः ।।१७।।
प्रपञ्चस्य निमित्तं यत्तज्ज्योतिश्च परं शिवः । तमेव साधय हरं भक्त्या परमया मुने ।।
गौतम्यां सकलाघौघसंहर्ता दण्डके वने ।।१८।।

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं परां प्रीतिमुपागतः । भुक्तिदो मुक्तिदः पुंसां साकारोऽथ निराकृतिः ।।१९।।
[1]सृष्ट्याकारस्ततः [2]शक्तः पालनाकार एव च । दाता[3] च हन्ति सर्वं यो यस्मादेतत्समाप्यते ।।२०।।

बुद्धि रखता है, वह लिंग-भेदी कहा जाता है । जो इन तीनों मे भेद बतलाते हैं, उनके लिए कोई भी प्रायश्चित्त नहीं । इन तीनों में केवल पृथक्-पृथक् स्वरूप का ही भेद है । सर्वत्र साकार पदार्थों में वेद ही पृथक्-पृथक् प्रमाण माने जाते हैं । जो एक निराकार तत्त्व है, वह उन तीनों से पर माना गया है ।।७-१४।।

आपस्तम्ब ने कहा—इस कथन से कोई भी निर्णय मुझे ज्ञात नहीं हुआ । इसमें भी जो कुछ रहस्य है, उसको भली भाँति विचार कर कहिये; क्योंकि निःसंशय और निर्विकल्प (ननु नच रहित) ज्ञान ही सब प्रकार की समृद्धियों का एकमात्र स्थान है ।।१५।।

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर भगवान् अगस्त्य ने कहा ।।१६।।

अगस्त्य ने कहा—यद्यपि इन देवों में परस्पर भेद नहीं है तो भी आनन्दात्मा शिव से ही सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । इस प्रपञ्च का जो निमित्त कारण है, वह परं ज्योति शिव है । मुने ! अपनी उत्कृष्ट भक्ति से उसी शंकर की साधना करो । दण्डक वन में गौतमी के तट पर सब पाप-समूह को नष्ट करने वाले शंकर रहते हैं, वहीं जाओ ।।१७-१८।।

ब्रह्मा ने कहा—मुनि की इन बातों को सुनकर आपस्तम्ब परम प्रसन्न हुए । मनुष्यों को भुक्ति और मुक्ति देने वाला ब्रह्म साकार है और निराकार भी । वही सृष्टि करने वाला, पालन करने वाला, देने वाला और सबका संहार करने वाला भी है । उसी में सब कुछ समाप्त हो जाता है ।।१९-२०।।

---

[1] घ. च. स्थित्याकारस्तत्र। [2] ङ. प्रोक्तः। [3] घ. ०तास्याहन्तृशक्तिर्वा य०। च. ०तास्याहं त्रिशक्तिर्वाय ०।

अगस्त्य उवाच

ब्रह्माकृतिः कर्तृरूपा वैष्णवी पालनी तथा। रुद्राकृतिर्निहन्त्री सा सर्ववेदेषु पठ्यते ।।२१।।

ब्रह्मोवाच

आपस्तम्बस्तदा गङ्गां गत्वा स्नात्वा यतव्रतः। तुष्टाव शंकरं देवं स्तोत्रेणानेन नारद ।।२२।।

आपस्तम्ब उवाच

काष्ठेषु वह्निः कुसुमेषु गन्धो, बीजेषु वृक्षादि दृषत्सु हेम ।
भूतेषु सर्वेषु तथाऽस्ति यो वै, तं सोमनाथं शरणं व्रजामि[1] ।।२३।।
यो लीलया विश्वमिदं चकार, धाता विधाता भुवनत्रयस्य ।
यो विश्वरूपः सदसत्परो यः, सोमेश्वरं तं शरणं व्रजामि ।।२४।।
यं स्मृत्य दारिद्र्यमहाभिशापरोगादिभिर्न स्पृश्यते शरीरी ।
यमाश्रिताश्चेप्सितमाप्नवन्ति, सोमेश्वरं तं शरणं व्रजामि ।।२५।।
येन त्रयीधर्ममवेक्ष्य पूर्वं, ब्रह्मादयस्तत्र समीहिताश्च[2] ।
एवं द्विधा येन कृतं शरीरं, सोमेश्वरं तं शरणं व्रजामि ।।२६।।
यस्मै नमो गच्छति मन्त्रपूतं, हुतं हविर्या च कृता च पूजा ।
दत्तं हविर्येन सुरा भजन्ते, सोमेश्वरं तं शरणं व्रजामि ।।२७।।

अगस्त्य ने कहा—ब्रह्मा की आकृति कर्त्तारूप है, विष्णु की आकृति पालन करने वाली और रुद्र की आकृति नाश करने वाली है। यह सब वेदों के द्वारा समर्थित है ।।२१।।

ब्रह्मा ने कहा—नारद ! तदनन्तर आपस्तम्ब गंगा-तट पर गये और उसमें स्नानकर संयत-भाव से इस आगे कहे स्तोत्र से शंकर की स्तुति करने लगे ।।२२।।

आपस्तम्ब ने कहा—जिस प्रकार शमी काष्ठ में अग्नि, फूलों में सुगन्ध, बीजों में वृक्ष और पत्थरों में सुवर्ण रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों में जो छिपा हुआ है उस सोमनाथ की शरण में आया हूँ । जिसने अनायास इस विश्व की रचना कर दी जो त्रिभुवन का धाता और विधाता है, जो विश्वरूप, सत् और असत् से परे है, मैं उस सोमेश्वर की शरण में जाता हूँ। जिसके स्मरण करने से प्राणी दरिद्रता, महाभिशाप एवं रोगादि से सर्वथा पृथक् हो जाता है, और जिसकी शरण में आये हुए व्यक्ति अपने मनचाहे फल को प्राप्त करते हैं उस सोमेश्वर की शरण में मैं जाता हूँ । आदि काल में ब्रह्मा आदि जिसके द्वारा वेद-ज्ञान प्राप्त कर पुनः उसी के ध्यान में समाधिस्थ हो गये तथा जिसने अपने शरीर को दो भागों (प्रकृति-पुरुष के रूप) में बाँट दिया, उस सोमेश्वर की शरण में जाता हूँ। जिसके पास सबके नमस्कार जाते हैं, जिसको मन्त्र से पवित्र की हुई आहुतियाँ और हवि प्राप्त होती हैं, जिसके निकट की हुई पूजा चली जाती है और जिसकी दी हुई हवि सब देवता ग्रहण करते हैं, उस सोमेश्वर की शरण में जाता हूँ । जिससे

---

[1] घ. च. प्रपद्ये । [2] च. सर्मपिताश्च ।

यस्मात्परं नान्यदस्ति प्रशस्तं, यस्मात्परं नैव सुसूक्ष्ममन्यत् ।
यस्मात्परं नो महतां महच्च, सोमेश्वरं तं शरणं व्रजामि ॥२८॥
यस्याऽऽज्ञया विश्वमिदं विचित्रमचिन्त्यरूपं विविधं महच्च ।
एकक्रियं यद्वदनुप्रयाति सोमेश्वरं तं शरणं व्रजामि ॥२९॥
यस्मिन्विभूतिः सकलाधिपत्यं, कर्तृत्वदातृत्वमहत्त्वमेव ।
प्रीतिर्यशः सौख्यमनादिधर्मः, सोमेश्वरं तं शरणं व्रजामि ॥३०॥
नित्यं शरण्यः सकलस्य पूज्यो, नित्यं प्रियो यः शरणागतस्य ।
नित्यं शिवो[१] यः सकलस्य रूपं, सोमेश्वरं तं शरणं व्रजामि ॥३१॥

ब्रह्मोवाच

ततः प्रसन्नो भगवानाह नारद तं मुनि (न्वरं वृण्विति चाऽऽह त) म् । ।
आत्मार्थं च परार्थं च आपस्तम्बोऽब्रवीच्छिवम् ॥३२॥
सर्वान्कामानाप्नुयुस्ते ये स्नात्वा देवमीश्वरम् । पश्येयुर्जगतामीशमस्त्वित्याह शिवो मुनिम् ॥३३॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थमापस्तम्बमुदाहृतम् । अनाद्यविद्यातिमिरव्रातनिर्मूलनक्षमम् ॥३४॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये दक्षिणकूलस्थापस्तम्बसोमेश्वरतीर्थवर्णनं
नाम त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३०॥
गौतमीमाहात्म्ये एकषष्टितमोऽध्यायः ॥६१॥

बढ़कर उत्तम कोई पदार्थ नहीं है, जिससे बढ़कर कोई अति सूक्ष्म वस्तु नहीं है और जिस महान् से बढ़कर कोई महान् पदार्थ नहीं, उस सोमेश्वर की शरण में जाता हूँ। जिसकी आज्ञा से यह विचित्र, विविध, महान् और अचिन्त्य रूप वाला विश्व एकक्रिय (सहकर्मी) के समान पीछे-पीछे चलता है, उस सोमेश्वर की शरण में जाता हूँ। जिसमें सम्पूर्ण विश्व की विभूतियाँ, सबका स्वामित्व, कर्त्तृत्व, दानशीलता, महत्त्व, प्रीति, यश, सौख्य और अनादि धर्म समाहित हैं, उस सोमेश्वर की शरण में जाता हूँ। जो नित्य है, शरण देने वाला है, सबका पूज्य है, जो शरण में आये हुए से नित्य प्रेम करने वाला है, जो नित्य शिव (मंगल) है, जो सबका रूप है, उस सोमेश्वर देव की शरण में जाता हूँ ॥२३-३१॥

ब्रह्मा ने कहा—नारद ! मुनि की उपर्युक्त स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने उस मुनिवर से वर माँगने के लिए कहा। आपस्तम्ब ने भी आत्मकल्याण तथा लोककल्याण की दृष्टि से कहा कि जो यहाँ स्नान करके जगत् के स्वामी ईश (शंकर) का दर्शन करें वे सम्पूर्ण मनोरथों को प्राप्त करें। यह सुनकर शिव ने कहा 'ऐसा ही हो'। तब से वह तीर्थ आपस्तम्ब कहा जाता है, जो अनादि अविद्या रूपी अंधकार के समूह को नष्ट कर देने में समर्थ है ॥३२-३४॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में आपस्तम्बतीर्थवर्णन नामक एक सौ तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१३०॥

---

[१] घ. च. ०वो नित्यमशेषरू० ।

अथैकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

यमतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

यमतीर्थमिति ख्यातं पितृणां प्रीतिवर्धनम्। अशेषपापशमनं तत्र वृत्तमिदं शृणु ॥१॥
तत्राऽऽख्यानमिदं त्वासीदितिहासं पुरातनम्। सरमेति प्रसिद्धाऽस्ति नाम्ना देवशुनी मुने ॥२॥
तस्याः पुत्रौ महाश्रेष्ठौ श्वानौ नित्यं जनाननु। गामिनौ पवनाहारौ चतुरक्षौ यमप्रियौ ॥३॥
गा रक्षति स्म देवानां यज्ञार्थं कल्पितान्पशून्। रक्षन्तीमनुजग्मुस्ते राक्षसा दैत्यदानवाः ॥४॥
रक्षन्तीं तां महाप्राज्ञाः श्वानयोर्मातरं शुनीम्। प्रलोभयित्वा विविधैर्वाक्यैर्दानैश्च यत्नतः ॥५॥
हृता गा राक्षसैः पापैः पश्वर्थे कल्पिताः शुभाः। तत आगत्य सा देवानिदमाह क्रमाच्छुनी ॥६॥

सरमोवाच

मां बद्ध्वा राक्षसैः पाशैस्ताडयित्वा प्रहारकैः। नीता गा यज्ञसिद्ध्यर्थं कल्पिताः पशवः सुराः ॥७॥

ब्रह्मोवाच

तस्या वाचं निशम्याऽऽशु सुरान्प्राह बृहस्पतिः ॥८॥

अध्याय १३१

यमतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—(इसके बाद) पितरों की प्रीति बढ़ाने वाला तथा समस्त पापों को दूर करने वाला एक यम-तीर्थ है, उस तीर्थ में जो घटना हुई उसको सुनो। उसके विषय में यह एक पुराना इतिहास सुना जाता है। मुने! सरमा नाम की एक प्रसिद्ध देवशुनी (देवों की कुतिया) थी। उसके दो बहुत अच्छे पुत्र (कुत्ते) थे, जो वायु पीकर रहने वाले, सर्वदा प्यार से देवों के पीछे चलने वाले, चतुरक्ष (चार नेत्र वाले) और यम के प्रिय थे। वह देव-शुनी यज्ञ के लिए पालित-पशुओं और गायों की रक्षा करती थी। एक बार राक्षस और दैत्य उस रक्षा करने वाली कुत्तिया के पास गये। और उसको चतुराई से विविध प्रकार के खाद्य-पदार्थों के लोभ में फँसाकर और चटुल वचनों के द्वारा उसको धोखा देकर वे पापी राक्षस सब गायों और पशुओं को चुरा ले गये। उन पशुओं को अपने यज्ञ का शुभ पशु भी बना लिया। तब वह कुतिया देवों के पास आकर बोली ॥१-६॥

सरमा ने कहा—देवगण! राक्षसों ने मुझे रस्सी से बाँधकर डंडों से खूब पीटा है और यज्ञ के लिए रक्षित सब गायों को ले जाकर अपने पशु बना लिये हैं ॥७॥

ब्रह्मा ने कहा—उसकी बातों को सुनकर बृहस्पति ने देवों से कहा ॥८॥

बृहस्पतिरुवाच

इयं विकृतरूपाऽऽस्ते अस्याः पापं च लक्षये। अस्या मतेन ता गावो नीता नान्येन हेतुना॥
पापेयं सुकृतीवेति लक्ष्यते देहचेष्टितैः ॥९॥

ब्रह्मोवाच

तद्‌गुरोर्वचनाच्छक्रः पदा तां प्राहरच्छुनीम्। पदाघातात्तदा तस्या मुखात्क्षीरं प्रसुस्रुवे ॥१०॥
पुनः प्राह शचीभर्ता क्षीरं पीतं त्वया शुनि। राक्षसैश्च तदा दत्तं तस्मान्नीतास्तु गा मम ॥११॥

सरमोवाच

नापराधोऽस्ति मे नाथ न चान्यस्यापि कस्यचित्। नापराधो न[1] चोपेक्षा ममास्ति त्रिदशेश्वर॥
तस्माद्रुष्टोऽसि किं नाथ रिपवो बलिनस्तु ते ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

ततो ध्यात्वा देवगुरुर्ज्ञात्वा तस्या विचेष्टितम्। सत्यं शक्र त्वियं दुष्टा रिपूणां पक्षकारिणी ॥१३॥
ततः शशाप तां शक्रः पापिष्ठे त्वं शुनी भव। मर्त्यलोके पापभूता अज्ञानात्पापकारिणी ॥१४॥
तदेन्द्रस्य तु शापेन मानुषे सा व्यजायत। यथा शप्ता मघवता पापात्सा ह्यतिभीषणा ॥१५॥

बृहस्पति ने कहा—यह इस समय विकृत-रूप दिखायी देती है, जिससे इसका पाप स्पष्ट लक्षित हो रहा है। इसी की राय से गौएँ चुरायी गयी हैं और कोई कारण नहीं। यह पापिष्ठा अपनी शारीरिक चेष्टाओं से निर्दोष-सी दिखाई दे रही है ॥९॥

ब्रह्मा ने कहा—अपने गुरु की बातों को सुनकर इन्द्र ने उस कुतिया को पैर से मारा। उस समय पैर की चोट से उसके मुँह से दूध निकल आया। पुनः इन्द्र ने कहा—शुनी ! तुमने राक्षसों का दिया हुआ दूध पिया है, इस प्रकार तुम्हारे कारण ही वे मेरी गायों को ले गये हैं ॥१०-११॥

सरमा ने कहा—नाथ ! इसमें मेरा अपराध नहीं है, किसी दूसरे का भी नहीं है। देवेश ! न तो मेरा अपराध है, और न इस विषय में मेरी उदासीनता ही है। नाथ ! वे शत्रु (राक्षस) बली हैं। आप क्यों रुष्ट हो रहे हैं ? ॥१२॥

ब्रह्मा ने कहा—तब देवगुरु ने ध्यान लगाकर उसकी कपट-चेष्टाओं को जान लिया और कहा 'शक्र ! सचमुच यह दुष्टा शत्रुओं का पक्ष करने वाली है ॥१३॥ तब इन्द्र ने उसको शाप दिया 'पापिष्ठे ! तुम मर्त्यलोक में अज्ञानवश पाप करने वाली पापरूपिणी कुतिया हो जाओ ॥१४॥ तब इन्द्र के शाप से वह मृत्युलोक में, जैसा कि इन्द्र ने शाप दिया था, अपने पापों के कारण भयङ्कर कुतिया हुई ॥१५॥ इधर देवेन्द्र, उन राक्षसों द्वारा चुरायी हुई गौओं को ले

---

[1] घ. न चापेक्षा।

गावो या राक्षसैर्नीतास्तासामानयनाय च। यत्नं कुर्वन्सुरपतिर्विष्णवे तन्न्यवेदयत् ।।१६।।
विष्णुर्दैत्यांश्च दनुजान्गोहर्तॄंश्चैव राक्षसान्। हन्तुं प्रयत्नमकरोज्जगृहे चाहद्धनुः ।।१७।।
शार्ङ्गं यल्लोकविख्यातं दैत्यनाशनमेव च। जितारिः पूजितो देवैः स्वयं स्थित्वा जनार्दनः ।।१८।।
यत्र वै दण्डकारण्ये शार्ङ्गपाणिर्जगत्प्रभुः। तत्रस्थान्दैत्यदनुजान्राक्षसांश्च बलीयसः ।।१९।।
पुनर्जघ्ने स वै विष्णुर्गा यैर्नीताश्च राक्षसैः। तत्र वै दण्डकारण्ये शार्ङ्गपाणिरिति श्रुतः ।।२०।।
युध्यमानस्ततो विष्णुर्दितिजै राक्षसैः सह। ते जग्मुर्दक्षिणामाशां विष्णोस्त्रासान्महामुने ।।२१।।
अन्वगच्छत्ततो विष्णुस्तानेव परमेश्वरः। गरुत्मता तानवाप्य शार्ङ्गमुक्तैर्मनोजवैः ।।२२।।
बाणैस्तान्व्याहनद्विष्णुर्गङ्गाया उत्तरे तटे। देवारयः क्षयं नीता विष्णुना प्रभविष्णुना ।।२३।।
शार्ङ्गमुक्तैर्महावेगैः सुस्वनैश्च सुमन्त्रितः। क्षयं प्राप्ता विष्णुबाणैस्ततस्ते देवशत्रवः ।।२४।।
गावो लब्धा यत्र देवैर्बाणतीर्थं तदुच्यते। वैष्णवं लोकविदितं गोतीर्थं चेति विश्रुतम् ।।२५।।
पश्वर्थे कल्पिता गावो गङ्गाया दक्षिणे तटे। [1]प्रद्रुतास्ते सुराः सर्वे गङ्गायां संन्यवेशयन् ।।२६।।
तन्मध्ये कारयामासुर्द्वीपं चैवाऽऽश्रयं गवाम्। तैर्गोभिस्तत्र गङ्गायां सुरयज्ञो व्यजायत ।।२७।।
यज्ञतीर्थं तु तत्प्रोक्तं गोद्वीपं गाङ्गमध्यतः । देवानां यजनं तच्च सर्वकामप्रदं शुभम् ।।२८।।

आने के लिए प्रयत्न करने लगे और यह सारी कथा विष्णु से कह सुनायी।।१६।। विष्णु यह सुनकर उन गौओं के चुराने वाले राक्षसों, दनुजों और दैत्यों को मारने के लिए उद्यत हो गये। उन्होंने दैत्यों को नष्ट करने वाले लोकविख्यात महान् शाङ्‌र्ग (धनुष) को हाथ में लिया।।१७।। शत्रुविजयी, देवों से पूजित तथा संसार के स्वामी विष्णु हाथ में धनुष लेकर उस दण्डकारण्य में गये और वहाँ के बलवान् दैत्य, दनुज और राक्षसों को मारने लगे। पुनः शाङ्‌र्गपाणि नाम से प्रसिद्ध विष्णुदेव ने उन गायों के चुराने वाले राक्षसों को भी मार डाला। इसके अनन्तर विष्णु अन्य दैत्यों और राक्षसों से युद्ध करने लगे। महामुने! विष्णु के भय से वे राक्षस दक्षिण-दिशा की ओर भाग गये।। १८-२१।। तब परमेश्वर विष्णु ने गरुड़ पर सवार होकर उनका पीछा करने लगे और उनको पाकर मन के समान वेगवाले अपने धनुष से छोड़े हुए बाणों से गंगा के उत्तर तट पर उन्हें मार गिराया। इस प्रकार पराक्रमी विष्णु ने राक्षसों का संहार कर डाला।।२२-२३।। तदनन्तर वे सभी देव-शत्रु धनुष से फेंके गये सुमन्त्रित (मन्त्रों द्वारा प्रयुक्त) गम्भीर शब्द करने वाले और महावेग वाले विष्णु के बाणों से नष्ट कर दिये गये।।२४।। जहाँ देवताओं ने गौओं को पाया उसको बाणतीर्थ कहा जाता है। लोक-विदित वैष्णव तीर्थ एवं गोतीर्थ नाम से उसकी प्रसिद्धि हुई।।२५।। गंगा के दक्षिण तट पर वे गायें यज्ञ-पशु बनायी गयी थीं। वे देवता यह देख दौड़कर गंगा में घुस गये।।२६।। उसके मध्य में उन्होंने गौओं के रहने के योग्य एक उत्तम द्वीप बनाया। वहाँ उन गौओं के द्वारा देव-यज्ञ सम्पन्न हुआ।।२७।। गंगा के मध्य में जहाँ वह सब मनोरथों को पूर्ण करने वाला देवों का शुभ-यज्ञ हुआ, वह गोतीर्थ और यज्ञ-तीर्थ कहलाया।।२८।। महाकान्तिमान्! इस असार और अपार संसार रूपी सागर से पार लगाने में नौका के समान, विश्वेश्वरी,

---

[1] क. घ. ङ. प्रददुस्ते।

स्वयं मूर्तिमती भूत्वा गङ्गाशक्तिर्महाद्युते। असारापारसंसारसागरोत्तरणे तरिः ॥२९॥
विश्वेश्वरी योगमाया सद्भक्ताभयदायिनी। गोरक्षं तु ततस्तीर्थं गङ्गाया दक्षिणे तटे ॥३०॥
तौ श्वानौ सरमापुत्रौ चतुरक्षौ यमप्रियौ। मातुः शापं चापराधं सर्वं चापि सविस्तरम् ॥३१॥
निवेद्य तु यथान्यायं कार्यं चापि सुखप्रदम्। विशापकरणं चापि पप्रच्छतुरुभौ यमम् ॥३२॥
स ताभ्यां सहितः सौरिः पित्रे सूर्याय चाब्रवीत्। श्रुत्वा सूर्यः सुतं प्राह गङ्गायां सुरसत्तम ॥३३॥
लोकत्रयैकपावन्यां गौतम्यां दण्डके वने। श्रद्धया परया वत्स सुस्नातः सुसमाहितः ॥३४॥
ब्रह्माणं चैव विष्णुं च मामीशं च यथाक्रमम्। स्तुहि त्वं सर्वभावेन भृत्यौ प्रीतिमवाप्स्यतः ॥३५॥
तत्पितुर्वचनं श्रुत्वा यमः प्रीतमनास्तदा। तयोश्च प्रीतये प्रायाद्देवतर्पणयोर्यमः ॥३६॥
गौतम्यामघहारिण्यां सुसमाहितमानसः। तथैव तोषयामास गङ्गायां सुरसत्तमान् ॥३७॥
श्वभ्यां च सहितः श्रीमान्दक्षिणाशापतिः प्रभुः। ब्रह्माणं तोषयामास भानुं वै दक्षिणे तटे ॥३८॥
ईशानमुत्तरे विष्णुं स्वयं धर्मः प्रतापवान्। दत्तवन्तो वरं श्रेष्ठं सरमाया विशापकम् ॥
वरानयाचत बहूंल्लोकानामुपकारकान् ॥३९॥

यम उवाच

एषु स्नानं तु ये कुर्युर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। आत्मार्थं च परार्थं च ते कामानाप्नुयुः शुभान् ॥४०॥
बाणतीर्थे तु ये स्नात्वा शार्ङ्गपाणिं स्मरन्ति वै। तेभ्यो दारिद्र्यदुःखानि न भवेयुर्युगे युगे ॥४१॥

योगमाया और अच्छे भक्तों को अभय प्रदान करने वाली गंगा-शक्ति मूर्ति धारण करके उस यज्ञ में उपस्थित थीं। इसके बाद गंगा के दक्षिण तट पर गोरक्ष नामक तीर्थ बना ॥२९-३०॥

इधर सरमा के पुत्र उन दोनों यम के प्रिय-पात्र चार आँखों वाले श्वानों ने माता के अपराध और शाप को यथावत् विस्तारपूर्वक यम से कह सुनाया और माता के शापमोचन का उपाय तथा उसको सुख पहुँचाने वाले कार्य के विषय में भी पूछा ॥३१-३२॥ सूर्य-तनय यम ने अपने प्रिय श्वानों के साथ सूर्य के पास जाकर सारी कथा कह सुनायी। यह सुनकर सूर्य ने अपने पुत्र से कहा—'सुरश्रेष्ठ! वत्स! तुम दण्डक वन में त्रैलोक्य को पवित्र करने वाली गंगा में अति श्रद्धा के साथ स्नान करो और एकाग्र मन से ब्रह्मा, विष्णु, मेरी (सूर्य की) और शंकर की क्रमशः स्तुति करो। ऐसा करने से तुम्हारे ये भृत्य सब प्रकार का सुख प्राप्त करेंगे ॥३३-३५॥ पिता की बातों को सुनकर यम अत्यन्त प्रसन्न हुए, और अपने सेवकों को सुखी बनाने की इच्छा से देवों को तृप्त करने के लिए पापहारिणी गंगा के पास गये। अपने कुत्तों के सहित दक्षिण दिशा के स्वामी प्रभु यम ने एकाग्र-मन से गंगा में स्नान कर श्रेष्ठ देवताओं को प्रसन्न किया। पहले गंगा के दक्षिण तट पर ब्रह्मा और सूर्य को तथा उत्तर तट पर ईशान और विष्णु को स्वयं प्रतापी यम ने प्रसन्न किया। देवों ने प्रसन्न होकर सरमा को शाप-रहित करने के लिए वर प्रदान किया। फिर स्वयं यम ने बहुत-से लोककल्याणकारी वरों को भी माँगा ॥३६-३९॥

यम ने कहा—हे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर! जो कोई इन तीर्थों में आत्मार्थ या परार्थ स्नान करेंगे उन्हें अवश्य अपने शुभ मनोरथों की प्राप्ति होगी। बाण तीर्थ में स्नान कर जो शार्ङ्गपाणि विष्णु का स्मरण करेंगे, उनको

गोतीर्थे ब्रह्मतीर्थे वा यस्तु स्नात्वा यतव्रतः। ब्रह्माणं तं नमस्याथ द्वीपस्यापि प्रदक्षिणम् ॥४२॥
यः कुर्यात्तेन पृथिवी सप्तद्वीपा वसुंधरा। प्रदक्षिणीकृता तत्र किंचिद्दत्त्वा वसु द्विजम् ॥४३॥
तद्देवयजनं प्राप्य किंचिद्धुत्वा हुताशने। अश्वमेधादियज्ञानां फलं प्राप्नोति पुष्कलम् ॥४४॥
यः सकृत्तत्र पठति गायत्रीं वेदमातरम्। अधीतास्तेन वेदा वै निष्कामो मुक्तिभाजनम् ॥४५॥
स्नात्वा तु दक्षिणे कूले शक्ति देवीं तु भक्तितः। पूजयित्वा यथान्यायं सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥४६॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानां शक्तिर्माता त्रयीमयी। सर्वान्कामानवाप्नोति (स्नात्वाऽत्र पूजयेद्यस्तां) ॥
पुत्रवान्धनवान्भवेत् ॥४७॥
आदित्यं भक्तितो यस्तु दक्षिणे नियतो नरः। स्नात्वा पश्येत तेनेष्टा यज्ञा विविधदक्षिणाः[1] ॥४८॥
कूले यश्चोत्तरे चैव गङ्गाया दैत्यसूदनम्। स्नात्वा पश्येत तं नत्वा तस्य विष्णोः परं पदम् ॥४९॥
यमेश्वरं ततो यस्तु यमतीर्थे तु पूजितम्। स्नातः पश्यति युक्तात्मा स करोत्यचिरेण हि ॥५०॥
पितृणामक्षयं पुण्यं फलदं कीर्तिवर्धनम्। तत्र स्नानेन दानेन जपेन स्तवनेन च ॥
अपि दुष्कृतकर्माणः पितरो मोक्षमाप्नुयुः ॥५१॥

ब्रह्मोवाच

[2]इत्याद्यष्ट सहस्राणि तीर्थानि त्रीणि नारद। तेषु स्नानं च दानं च सर्वमक्षयपुण्यदम् ॥५२॥

युग-युग तक दरिद्रता के कष्ट नहीं होंगे। जो संयमी व्यक्ति गोतीर्थ और ब्रह्मतीर्थ में स्नान कर उस ब्रह्मा को नमस्कार करता है और द्वीप की प्रदक्षिणा करता है उसे सात द्वीप वाली वसुमती पृथिवी की प्रदक्षिणा करने का फल मिलता है। वहाँ यदि कुछ धन ब्राह्मणों को दे देता और उस देव-यजन के पास जाकर अग्नि में हवन कर देता है तब तो अश्वमेध यज्ञ का अपरिमित फल उसको प्राप्त हो जाता है। जो वहाँ निष्काम होकर एक बार भी वेद माता गायत्री का पाठ करता है वह सब वेदों का पाठ करने का फल प्राप्त करता है, एवं मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। जो दक्षिण-तट पर स्नान कर शक्ति देवी की भक्तिपूर्वक यथा-विधि पूजा करता है वह अपने सारे मनोरथों को पा जाता है। जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शक्ति वेदमयी माता की पूजा करता है, वह अपने सब मनोरथों को प्राप्त कर पुत्रवान् और धनवान् होता है। जो मनुष्य नियम-पूर्वक दक्षिण तट पर स्नान कर भगवान् सूर्य का दर्शन करता है, वह विविध दक्षिणा वाले यज्ञों के अनुष्ठान का फल प्राप्त करता है। जो गंगा के उत्तर तट पर स्नान कर दैत्य-नाशक विष्णु को नमस्कार करता है, उसको विष्णु का परम पद प्राप्त हो जाता है। इसके बाद जो यम तीर्थ में स्नान कर एकाग्र मन से यमेश्वर का दर्शन और पूजन करता है, वह शीघ्र ही पितरों को अक्षय पुण्य तथा यशविस्तारक फल का अधिकारी बना देता है। उस तीर्थ में स्नान, दान, जप और स्तुति करने से अति दुष्कर्म करने वाले पितर भी मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं ॥४०-५१॥

ब्रह्मा ने कहा—नारद ! इस प्राकर आठ हजार तीन तीर्थ वहाँ प्रतिष्ठित हैं। उनमें स्नान और दान करने

---

[1] घ. ङ. च. ०णाः। भवेयुश्चो०। [2] क. च. ०द्यथ स०।

एतेषां स्मरणं पुण्यं नानाजन्माघनाशनम्। श्रवणात्पितृभिः सार्धं पठनात्स्वकुलैः सह ॥५३॥
तेषामप्यतिपापानि नाशं यान्ति ममाऽऽज्ञया। तत्र स्नानादि यः कृत्वा किंचिद्दत्त्वा यतात्मवान् ॥५४॥
पितृणां पिण्डदानादि कृत्वा नत्वा सुरानिमान्। धनं धान्यं यशो वीर्यमायुरारोग्यसंपदः ॥५५॥
पुत्रान्पौत्रान्प्रियां भार्यां लब्ध्वा चान्यन्मनीषितम्। अवियुक्तः प्रीतमना बन्धुभिश्चातिमानितः ॥५६॥
नरकस्थानपि पितॄंस्तारयित्वा कुलानि च। पावयित्वा प्रियैर्युक्तो ह्यन्ते विष्णुं शिवं स्मरेत् ॥
ततो मुक्तिपदं गच्छेद्देवानां वचनं यथा ॥५७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये बाणतीर्थशार्ङ्गपाणीयगोद्वीपदेवयजनब्रह्मतीर्थशक्तियमादित्यसुपर्णदैत्यसूदनयमेश्वरपितृतीर्थादि[1]त्र्यधिकाष्टसहस्रतीर्थवर्णनं नामैकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३१॥

गौतमीमाहात्म्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥६२॥

से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है। इन तीर्थों का स्मरण भी पुण्यकारक और अनेक जन्मों के पापों को दूर करने वाला है। इन तीर्थों के माहात्म्य सुनने और पढ़ने से उस व्यक्ति के पितरों तथा कुलों के अत्यन्त पाप भी मेरी आज्ञा से नष्ट हो जाते हैं। जो संयमी उनमें स्नान कर विप्रों को कुछ दान देता एवं पितरों को पिण्डदान देकर इन देवों को नमस्कार करता है वह धन-धान्य, यश, पराक्रम, आयु, आरोग्य, सम्पत्ति, पुत्र, पौत्र, प्रिय भार्या एवं अपने अन्य मनोरथों को प्राप्त कर सर्वदा प्रसन्नतापूर्वक अपने परिवार के साथ पन्धुजनों से सम्मानित होकर निवास करता है। वह अपने नरकगामी पितरों का उद्धार कर और कुलों को पवित्र कर प्रियजनों के सहित अन्तकाल में विष्णु और शिव का स्मरण करता है। तदनन्तर देवों के कथनानुसार वह मुक्ति प्राप्त करता है ॥५२-५७॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में यमतीर्थ वर्णन नामक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१३१॥

---

[1] क. च. ०दिसहस्रत्रयव०।

अथ द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

यक्षिणीसंगममाहात्म्यकथनम्

ब्रह्मोवाच

यक्षिणीसंगमं नाम तीर्थं सर्वफलप्रदम्। तत्र स्नानेन दानेन सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥१॥
यत्र यक्षेश्वरो देवो दर्शनाद्भुक्तिमुक्तिदः। तत्र च स्नानमात्रेण [1]सत्रयागफलं लभेत् ॥२॥
विश्वावसोः स्वसा नाम्ना पिप्पला गुरुहासिनी। ऋषीणां सत्रमगमद्गौतमीतीरवर्तिनाम् ॥३॥
दृष्ट्वा तत्र ऋषीन्क्षामान्सा जहासातिगर्विता। या गत्वाऽऽश्रावय वौषडस्तु श्रौषडिति स्थिरम् ॥४॥
विस्वरेण ब्रुवतो तां ते शेपुः स्राविणी भव। ततो नद्यभवत्तत्र यक्षिणीति सुविश्रुता ॥५॥
ततो विश्वावसुः पूज्य ऋषीन्देवं त्रिलोचनम्। संगम्य चैव गौतम्यां तां विशापामथाकरोत् ॥६॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं यक्षिणीसंगमं स्मृतम्। तत्र स्नानादिदानेन सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥७॥
विश्वावसोः प्रसन्नेऽभूद्यत्र शंभुः शिवान्वितः। शैवं तत्परमं तीर्थं दुर्गातीर्थं च विश्रुतम् ॥८॥
सर्वपापौघहरणं सर्वदुर्गतिनाशनम्। सर्वेषां तीर्थमुख्यानां तद्धि सारं महामुने ॥
तीर्थं मुनिवरैः ख्यातं सर्वसिद्धिप्रदं नृणाम् ॥९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये यक्षिणीसंगमदुर्गादितीर्थवर्णनं नाम
द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३२॥
गौतमीमाहात्म्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥६३॥

अध्याय १३२

यक्षिणी-संगम का माहात्म्य-वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—(इसके बाद) सब फलों को देनेवाला यक्षिणी-संगम नामक एक तीर्थ है, उसमें स्नान एवं दान करने से मनुष्य अपने सब मनोरथों को प्राप्त करता है। जहाँ केवल दर्शनमात्र से भुक्ति और मुक्ति के देने वाले यक्षेश्वर देव हैं, उस तीर्थ में स्नान मात्र से यज्ञफल मिल जाते हैं। विश्वावसु की खूब ठहाका मारकर हँसने वाली पिप्पला नाम की एक बहिन थी। वह एक दिन गौतमी-तीर पर रहने वाले ऋषियों के यज्ञ में गयी। वहाँ दुवले-पतले ऋषियों को देखकर घमंड से हँस पड़ी और यज्ञ के निकट जाकर 'बौषट, श्रौषट्', इन शब्दों का भद्दे और अशुद्ध स्वर से पाठ कर उनको चिढ़ाने लगी। यह देखकर ऋषियों ने उस पिप्पला को शाप दिया कि 'तुम नदी हो जाओ'। शाप सुनते ही वह यक्षिणी नाम की प्रसिद्ध नदी हो गयी। तब विश्वावसु ने ऋषियों और त्रिनेत्र शंकर की पूजा की तथा यक्षिणी को गौतमी से मिलाकर उसको शाप-मुक्त किया। उस समय से वह स्थान यक्षिणी-संगम नामक तीर्थ हो गया। उस तीर्थ में स्नान और दान करने से मनुष्य अपने सारे मनोरथों को प्राप्त करता है। जहाँ शिवा सहित शिव विश्वावसु पर प्रसन्न हुए, वह सब पाप-समूहों एवं कठिन पीड़ाओं को दूर करनेवाला अति उत्तम शैव और दुर्ग-तीर्थ के नाम से विख्यात हुआ। महामुनि नारद ! उस तीर्थ को ऋषिवरों ने मनुष्यों को सब प्रकार की सिद्धियाँ देने वाला और सब प्रसिद्ध तीर्थों का सारभूत तीर्थ घोषित किया है ॥१-९॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में यक्षिणी-संगम वर्णन नामक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१३२॥

---

[1] क. ङ. सर्वयज्ञफ०।

अथ त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शुक्लतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

शुक्लतीर्थमिति ख्यातं सर्वसिद्धिकरं नृणाम्। यस्य स्मरणमात्रेण सर्वकामानवाप्नुयात् ।।१।।
भरद्वाज इति ख्यातो मुनिः परमधार्मिकः। तस्य पैठीनसी नाम भार्या सुकुलभूषणा ।।२।।
गौतमीतीरमध्यास्ते पतिव्रतपरायणा। अग्नीषोमीयमैन्द्राग्नं पुरोडाशमकल्पयत् ।।३।।
पुरोडाशे श्रप्यमाणे धूमात्कश्चिदजायत। पुरोडाशं भक्षयित्वा[1] लोकत्रितयभीषणः ।।४।।
यज्ञं मे ह्यत्र को हंसि कोपात्त्वमिति तं मुनिः। प्रोवाच सत्वरं क्रुद्धो भरद्वाजो द्विजोत्तमः ।।
तदृषेर्वचनं श्रुत्वा राक्षसः प्रत्युवाच तम् ।।५।।

राक्षस उवाच

हव्यघ्न इति विख्यातं भरद्वाज निबोध माम्। संध्यासुतोऽहं ज्येष्ठश्च पुनः प्राचीनबर्हिषः ।।६।।
ब्रह्मणा मे वरे दत्तो यज्ञान्खाद यथासुखम्। ममानुजः कलिश्चापि बलवानतिभीषणः ।।७।।
अहं कृष्णः पिता कृष्णो माता कृष्णा तथाऽनुजः। अहं मखं हनिष्यामि यूपं छेद्मि कृतान्तकः ।।८।।

अध्याय १३३

शुक्लतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—(इसके बाद) मनुष्यों को सब प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करने वाला शुक्ल-तीर्थ नामक एक विख्यात तीर्थ है, जिसके स्मरण मात्र से मनुष्य अपनी मनः कामनाओं को अनायास प्राप्त कर लेता है। (इसकी कथा इस प्रकार है)—

भरद्वाज नाम के एक परम धार्मिक विख्यात मुनि थे। उनकी पैठीनसी नाम की अत्यन्त गुणवती भार्या थी। वह पति-परायणा गौतमी-तीर पर रहती थी। एक बार वह अग्नि-सोम देवता तथा इन्द्र-अग्नि देवता के लिए चरु बना रही थी। जब वह चरु पकने लगा तब धुएँ से एक-त्रैलोक्य भयङ्कर जीव निकला जो चरु को चट कर गया। यह देख द्विजवर्य मुनि भरद्वाज ने क्रोध से तुरंत उसको डाँटकर कहा—'तुम कौन हो जो मेरे यज्ञ को नष्ट कर रहे हो ?' ऋषि की बात सुनकर राक्षस ने मुनि से कहा ।।१-५।।

राक्षस ने कहा—भारद्वज ! मुझको प्राचीनबर्हिस् का संध्या से उत्पन्न यज्ञघ्न नामक प्रसिद्ध ज्येष्ठ पुत्र जानो। ब्रह्मा ने मुझे वरदान दिया है कि तुम इच्छानुसार यज्ञों को खाया करो। मेरा बलवान्, अतिभीषण अनुज भी इसी ढंग का है। मैं काला, मेरे पिता काले, माता काली और भाई भी काला है। मैं यम होकर यज्ञों को नष्ट करूँगा और यूपों को तोड़ डालूँगा ।।६-८।।

---

[1] क. ङ. भेदयित्वा।

भरद्वाज उवाच

रक्ष्यतां मे त्वया यज्ञः प्रियो धर्मः सनातनः। जाने त्वां यज्ञहन्तारं सद्द्विजं रक्ष मे क्रतुम् ॥९॥

यज्ञघ्न उवाच

भरद्वाजं निबोधेदं वाक्यं मम समासतः। ब्रह्मणाऽहं पुरा शप्तो देवदानवसंनिधौ ॥१०॥
ततः प्रसादितो देवो मया लोकपितामहः। अमृतैः प्रोक्षयिष्यन्ति यदा त्वां मुनिसत्तमाः ॥११॥
तदा विशापो भविता हव्यघ्न त्वं न चान्यथा। एवं करिष्यसि यदा ततः सर्वं भविष्यति ॥
यद्यदाकाङ्क्षितं ब्रह्मन्नैतन्मिथ्या कदाचन ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

भरद्वाजः पुनः प्राह सखा मेऽसि महामते। मखसंरक्षणं येन स्यान्मे वद करोमि तत् ॥१३॥
संभूय देवा दैतेया ममन्थुः क्षीरसागरम्। अलभन्तामृतं कष्टात्तदस्मत्सुलभं कथम् ॥१४॥
प्रीत्या यदि प्रसन्नोऽसि सुलभं यद्वदस्व तत्। तदृषेर्वचनं श्रुत्वा रक्षः प्राह तदा मुदा ॥१५॥
अमृतं गौतमीवारि अमृतं स्वर्णमुच्यते। अमृतं गोभवं चाऽऽज्यममृतं सोम एव च ॥१६॥
एतैर्मामभिषिञ्चस्व अथ [1]वैतैस्तथा त्रिभिः। गङ्गाया वारिणाऽऽज्येन हिरण्येन तथैव च ॥
सर्वेभ्योऽप्यधिकं दिव्यममृतं गौतमीजलम् ॥१७॥

भरद्वाज ने कहा—देखो, मैं यज्ञ-विध्वंसक तुमको जानता हूँ, तुम एक अच्छे ब्राह्मण हो, तुम मेरे यज्ञ और प्रिय सनातन धर्म की रक्षा करो ॥९॥

यज्ञघ्न ने कहा—भरद्वाज ! मेरी बातों को संक्षेप में सुनो। देव-दानवों के सामने ब्रह्मा ने मुझे शाप दिया। तब मैंने बड़े अनुनय-विनय से लोक-पितामह को प्रसन्न किया। उन्होंने कहा कि जब मुनिवर्यगण अमृत से तुम्हारा अभिषेक करेंगे, तब हे हव्यघ्न ! तुम शाप-मुक्त होओगे अन्यथा नहीं। यदि तुम ऐसा करोगे तब हे ब्रह्मन् ! जो-जो तुम चाहोगे वह सब हो जायगा, यह बात कभी भी मिथ्या नहीं हो सकती ॥१०-१२॥

ब्रह्मा ने कहा—भरद्वाज ने पुनः कहा 'महामते ! तुम मेरे सखा हो। जिस प्रकार मेरे यज्ञ की रक्षा हो, कहो, मैं अवश्य करूँगा। एक बात है कि देवों और दैत्यों ने मिलकर क्षीर-सागर को मथा। तब बड़े कष्ट से अमृत को प्राप्त किया। ऐसा दुर्लभ अमृत हम लोगों को कैसे सुलभ हो सकता है ? यदि तुम हृदय से मेरे ऊपर प्रसन्न हो तो बताओ कि वह कैसे सुलभ होगा। ऋषि की बात को सुनकर राक्षस ने प्रसन्न होकर कहा ॥१३-१५॥

राक्षस ने कहा—गौतमी का जल अमृत है। सोने को भी अमृत कहते हैं। गौ के घृत और सोम को भी अमृत माना जाता है। इनसे मेरा अभिषेक कीजिये अथवा गंगा-जल, घृत और सुवर्ण इन तीनों से ही अभिषेक हो। या सबसे अधिक दिव्य अमृत गौतमी का जल ही है ॥१६-१७॥

---

[1] ङ. वैकं तथा।

ब्रह्मोवाच

एतदाकर्ण्य स ऋषिः परं संतोषमागतः। पाणावादाय गङ्गायाः सलिलामृतमादरात् ॥१८॥
तेनाकरोदृषी रक्षो ह्यभिषिक्तं तदा मखे। पुनश्च यूपे च पशावृत्विक्षु मखमण्डले ॥१९॥
सर्वमेवाभवच्छुक्लमभिषेकान्महात्मनः। तद्रक्षोऽपि तदा शुक्लो भूत्वोत्पन्नो महाबलः ॥२०॥
यः पुरा कृष्णरूपोऽभूत्स तु शुक्लोऽभवत्क्षणात्। यज्ञं सर्वं समाप्याथ भरद्वाजः प्रतापवान् ॥२१॥
ऋत्विजोऽपि विसृज्याथ यूपं गङ्गोदकेऽक्षिपत्। गङ्गामध्ये तद्धि यूपमद्याप्यास्ते महामते ॥२२॥
अभिषिक्तं चामृतेन अभिज्ञानं तु तन्महत्। तत्र तीर्थे पुना रक्षो भरद्वाजमुवाच ह ॥२३॥

रक्ष उवाच

अहं यामि भरद्वाज कृतः शुक्लस्त्वया पुनः। तस्मात्तवात्र तीर्थे ये स्नानदानादिपूजनम् ॥२४॥
कुर्युस्तेषामभीष्टानि भवेयुर्यत्फलं मखे। स्मरणादपि पापानि नाशं यान्तु सदा मुने ॥२५॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं शुक्लतीर्थमिति स्मृतम्। गौतम्यां दण्डकारण्ये स्वर्गद्वारमपावृतम् ॥२६॥
उभयोस्तीरयोः सप्त सहस्राण्यपराणि च। तीर्थानां मुनिशार्दूल सर्वसिद्धिप्रदायिनाम् ॥२७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये शुक्लतीर्थाद्युभयतीरस्थसप्त-
सहस्रतीर्थवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३३॥
गौतमीमाहात्म्ये चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

ब्रह्मा ने कहा—इस सुलभ उपाय को सुनकर ऋषि अत्यन्त सन्तुष्ट हो गये। उन्होंने बड़े आदर से हाथ में गंगाजल ले लिया। उससे उस यज्ञ में ही उस राक्षस का अभिषेक किया। पुनः उसी जल को यूप, यज्ञ-पशु और ऋत्विजों पर भी छिड़का। उस महात्मा के अभिषेक से सब कुछ शुक्ल-वर्ण का हो गया। वह महाबली राक्षस भी शुक्ल होकर प्रकट हुआ। जो पहले अति कृष्ण था वह क्षण भर में ही शुक्लवर्ण का हो गया। प्रतापी भरद्वाज ने अपने यज्ञ की समस्त क्रियाएँ समाप्त कीं। सब ऋत्विजों को बिदा कर दिया और उस यूप को गंगा के मध्य में फेंक दिया। महामते! वह फेंका हुआ यूप आज भी गंगा के बीच में वर्त्तमान है। गौतमी के अमृत-जल से अभिषिक्त होने पर उस राक्षस को पूर्व की बातों का स्मरण हो आया। तब उसने पुनः उस तीर्थ में भरद्वाज से कहा ॥१८-२३॥

राक्षस ने कहा—भरद्वाज! मुझको तुमने पुनः शुक्ल कर दिया। अतः इस तीर्थ में जो स्नान-दान और देवपूजन करेंगे उनके सब अभिमत पूरे होंगे और उनको यज्ञ करने का फल प्राप्त होगा। मुने! इसके स्मरणमात्र से सब पाप नष्ट हो जायेंगे। उस समय से वह तीर्थ शुक्ल-तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह दण्डक वन में गौतमी-तट पर स्वर्ग का एक खुला द्वार है। मुनिशार्दूल! वहाँ गौतमी के दोनों तटों पर सब प्रकार की सिद्धि प्रदान करने वाले और भी सात हजार तीर्थ हैं ॥२४-२७॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में शुक्ल-तीर्थ आदि सात हजार तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१३३॥

अथ चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

चक्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

चक्रतीर्थमिति ख्यातं स्मरणात्पापनाशनम्। तस्य प्रभावं वक्ष्यामि शृणु यत्नेन नारद ॥१॥
ऋषयः[1] सप्त विख्याता वसिष्ठप्रमुखा मुने। गौतम्यास्तीरमाश्रित्य सत्रयज्ञमुपासते ॥२॥
तत्र विघ्न उपक्रान्ते रक्षोभिरतिभीषणे। मामभ्येत्याथ मुनयो रक्षःकृत्यं न्यवेदयन् ॥३॥
तदाऽहं प्रमदारूपं माययाऽऽसृज्य नारद। यस्याश्च दर्शनादेव नाशं यान्त्यथ राक्षसाः ॥४॥
एवमुक्त्वा तु तां प्रादामृषिभ्यः प्रमदां मुने। मद्वाक्यादृषयो मायामादाय पुनरागमन् ॥५॥
अजैका या समाख्याता कृष्णलोहितरूपिणी। मुक्तकेशीत्यभिधया साऽऽस्तेऽद्यापि स्वरूपिणी ॥६॥
लोकत्रितयसंमोहदायिनी कामरूपिणी। तद्‍बलात्स्वस्थमनसः सर्वे च मुनिपुंगवाः ॥७॥
गौतमीं सरितां श्रेष्ठां पुनर्यज्ञाय दीक्षिताः। पुनस्तन्मखनाशाय राक्षसाः समुपागमन् ॥८॥
यज्ञवाटान्तिके मायां दृष्ट्वा राक्षसपुंगवाः। ततो नृत्यन्ति गायन्ति हसन्ति च रुदन्ति च ॥९॥
माहेश्वरी महामाया प्रभावेणातिदर्पिता। तेषां मध्ये दैत्यपतिः शम्बरो नाम वीर्यवान् ॥१०॥

अध्याय १३४

चक्रतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—(इसके बाद) चक्रतीर्थ नामक तीर्थ है, जिसके स्मरणमात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं। नारद ! उसके प्रभाव का वर्णन कर रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। मुने ! वसिष्ठ आदि सात प्रसिद्ध मुनि गौतमी के तीर पर कुटी बनाकर सत्र-यज्ञ कर रहे थे। जब अतिभीषण राक्षसों ने यज्ञ में विघ्न डालना प्रारम्भ किया तब मुनियों ने मेरे पास आकर राक्षसों का वह उपद्रव बताया। नारद ! तब मैंने अपनी माया से एक ऐसी स्त्री उत्पन्न की, जिसके देखने से ही सम्पूर्ण राक्षस नष्ट हो जायँ। मुने ! मैंने मुनियों से इस प्रकार कह सुनकर उस स्त्री को ऋषियों के साथ कर दिया। मेरे समझाने से वे ऋषि उस माया-स्त्री को लेकर चले गये। वह कृष्ण और ईषद् रक्तवर्ण की मुक्तकेशी नाम की अजा माया आज भी अपने स्वरूप में वर्त्तमान है, जो मायारूपिणी है और त्रिभुवन को मोह में डाल देने वाली है। वे मुनिश्रेष्ठ उसकी शक्ति से स्वस्थचित्त होकर उस श्रेष्ठ गौतमी के तट पर पुनः यज्ञ के लिए दीक्षित हो गये। राक्षस यह देखकर फिर यज्ञ को नष्ट करने के लिए उपस्थित हुए ॥१-८॥ वे बड़े-बड़े राक्षस यज्ञ-पथ में उस मोहिनी माया को देखकर माहेश्वरी महामाया के प्रभाव से अतिगर्वित होकर नाचने, गाने, हँसने और रोने लगे। उनमें एक अतिपराक्रमी शम्बर नामक दैत्यराज था। नारद ! उसने उस माया रूप प्रमदा को खा लिया। उसका यह कार्य उसके मायाबल को देखने वालों के

---

[1] घ. ०षयस्ते च वि०।

मायारूपां तु प्रमदां भक्षयामास नारद। तदद्भुतमतीवाऽऽसीत्तन्मायाबलदर्शिनाम् ॥११॥
मखे विध्वंस्यमाने तु ते विष्णुं शरणं ययुः। प्रादाद्विष्णुश्चक्रमथो मुनीनां रक्षणाय तु ॥१२॥
चक्रं तद्वराक्षसानाजौ दैत्यांश्च दनुजांस्तथा। चिच्छेद तद्भयादेव मृता राक्षसपुंगवाः ॥१३॥
ऋषिभिस्तन्महासत्रं संपूर्णमभवत्तदा। विष्णोः प्रक्षालितं चक्रं गङ्गाम्भोभिः सुदर्शनम् ॥१४॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं चक्रतीर्थमुदाहृतम्। तत्र स्नानेन दानेन सत्रयागफलं लभेत् ॥१५॥
तत्र पञ्च शतान्यासंस्तीर्थानां पापहारिणाम्। तेषु स्नानं तथा दानं प्रत्येकं मुक्तिदायकम् ॥१६॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये चक्रतीर्थादिपञ्चशततीर्थवर्णनं नाम
चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३४॥
गौतमीमाहात्म्ये पञ्चपष्टितमोऽध्यायः ॥५५॥

अथ पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

वाणीसंगमतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

[1]वाणीसंगममाख्यातं यत्र वागीश्वरो हरः। तत्तीर्थं सर्वपापानां मोचनं सर्वकामदम् ॥१॥

लिए अतिविस्मयजनक था। वे ऋषि पुनः अपने यज्ञ को नष्ट होते देख विष्णु की शरण में गये। विष्णु ने मुनियों की रक्षा के लिए अपना चक्र भेजा। उस चक्र ने युद्ध में उन राक्षसों, दैत्यों और दनुजों का सिर काट डाला। कितने राक्षस तो उसके भय से ही मर गये। तब ऋषियों का वह महा-यज्ञ पूर्ण हुआ। विष्णु का वह सुदर्शन चक्र जहाँ गंगा-जल से धोया गया वह स्थान तब से चक्रतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हो गया। उसमें स्नान और दान करने से सत्र-यज्ञ का फल प्राप्त होता है। वहाँ पाप-समूह को दूर करने वाले पाँच सौ और भी तीर्थ हैं जिनमें स्नान और दान करने से मुक्ति प्राप्त होती है ॥९-१६॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में चक्रतीर्थ आदि पाँच सौ तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ चौतीसवाँ अध्याय
समाप्त ॥१३४॥

अध्याय १३५

वाणीसंगमतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—(इसके बाद) वाणीसंगम नामक तीर्थ है, जहाँ वागीश्वर शंकर विद्यमान हैं। वह तीर्थ सब पापों को दूर करने वाला और सब कामनाओं को देने वाला है। उस तीर्थ में स्नान और दान करने से ब्रह्म-हत्या जनित

---

[1] घ. च. वाक्संगममिति ख्या०।

तत्र स्नानेन दानेन ब्रह्महत्यादिनाशनम्। ब्रह्मविष्ण्वोश्च संवादे महत्त्वे च परस्परम् ॥२॥
तयोर्मध्ये महादेवो ज्योतिर्मूर्तिरभूत्किल। तत्रैव वागुवाचेदं दैवी पुत्र तयोः शुभा ॥३॥
अहमस्मि महांस्तत्र अहमस्मीति वै मिथः। दैवी वाक्तावुभौ प्राह यस्त्वस्यान्तं तु पश्यति ॥४॥
स तु ज्येष्ठो भवेत्तस्मान्मा वादं कर्तुमर्हथः। तद्वाक्याद्विष्णुरगमदधोऽहं चोर्ध्वमेव च ॥५॥
ततो विष्णुः शीघ्रसेत्य ज्योतिःपार्श्व उपाविशत्। अप्राप्यान्तमहं प्रायां दूराद्दूरतरं मुने ॥६॥
ततः श्रान्तो निवृत्तोऽहं द्रष्टुमीशं तु तं प्रभुम्। तदैवं मम धीरासीद्दृष्टश्चान्तो मया भृशम् ॥७॥
अस्य देवस्य तद्विष्णोर्मम ज्यैष्ठ्यं स्फुटं भवेत्। पुनश्चापि मम त्वेवं मतिरासीन्महामते ॥८॥
सत्यैर्वक्त्रैः कथं वक्ष्ये पीडितोऽप्यनृतं वचः। नानाविधेषु पापेषु नानृतात्पातकं परम् ॥९॥
सत्यैर्वक्त्रैरसत्यां वा वाचं वक्ष्ये कथं त्विति। ततोऽहं पञ्चमं वक्त्रं गर्दभाकृतिभीषणम् ॥१०॥
कृत्वा तेनानृतं वक्ष्य इति ध्यात्वा चिरं तदा। अब्रवं तं हरिं तत्र आसीनं जगतां प्रभुम् ॥११॥
अस्य चान्तो मया दृष्टस्तेन ज्यैष्ठ्यं जनार्दन। ममेति वदतः पार्श्वे उभौ तौ हरिशंकरौ ॥१२॥
एकरूपत्वमापन्नौ सूर्याचन्द्रमसाविव। तौ दृष्ट्वा विस्मितो भीतश्चास्तवं तावुभावपि ॥
ततः क्रुद्धौ जगन्नाथौ वाचं तामिदमूचतुः ? ॥१३॥

हरिहरावूचतुः

दुष्टे त्वं निम्नगा भूया नानृतादस्ति पातकम् ॥१४॥

दोष भी मिट जाते हैं। एक बार ब्रह्मा और विष्णु में 'मैं बड़ा हूँ तो मैं बड़ा हूँ' इस विषय पर आपस में वाद-विवाद होने लगा। उस समय उन दोनों के मध्य महादेव की ज्योतिर्मयी मूर्ति प्रकट हुई और शुभ आकाशवाणी हुई। उसने दोनों से कहा कि पुत्र! जो इस ज्योतिर्मयमूर्ति का अन्त देख लेगा वही श्रेष्ठ माना जायगा, अतः व्यर्थ का विवाद मत करो। उसके कथनानुसार विष्णु नीचे की ओर और मैं ऊपर की ओर गया। तदनन्तर विष्णु शीघ्र ही नीचे से लौटकर चले आये और उस मूर्ति के समीप बैठ गये। मुने! मैं तो उसका अन्त न पाकर बहुत दूर चला गया। अन्त में थक कर उस प्रभु ईश को देखने के लिए लौटा। उस समय मेरे मन में ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई कि यदि मैं जोर देकर यह कह दूँ कि मैंने अन्त देख लिया है तब तो उस विष्णु से मेरा श्रेष्ठत्व स्वयं सिद्ध हो जायगा, परन्तु फिर ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई कि पीड़ित होने पर भी सत्य वचन कहने वाले इन मुखों से किस प्रकार असत्य बोलूँगा। नाना प्रकार के पापों में असत्य से बढ़कर दूसरा पाप नहीं। अतः सत्यवादी मुखों से कैसे असत्य बोलूँ, यह सोचकर गदहे की आकृति का अतिभीषण पाँचवाँ मुख बना कर उसी से असत्य बोलूँगा। इस प्रकार व्यवस्था कर चिरकाल तक ध्यानमग्न होकर वहाँ बैठे हुए जगत्प्रभु विष्णु से कहा कि जनार्दन! इसका अन्त मैंने देख लिया है अतः मेरी श्रेष्ठता स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार कहते ही मेरे बगल में दोनों हरि और शंकर सूर्य-चन्द्र की ज्योति के समान एकाकार हो गये। इस प्रकार उन दोनों को देखकर मैं तो हैरान हो गया। डर कर दोनों की स्तुति करने लगा परन्तु उन दोनों जगत्पतियों ने क्रुद्ध होकर उस वाणी से कहा ॥१-१३॥

हरिहर ने कहा—दुष्टे! तुम नदी बन जाओ। असत्य से बढ़कर दूसरा पाप नहीं है ॥१४॥

ब्रह्मोवाच

ततः सा विह्वला भूत्वा नदीभावमुपागता। तद्दृष्ट्वा विस्मितो भीतस्तामब्रवमहं तदा ॥१५॥
यस्मादसत्यमुक्ताऽसि ब्रह्मवाचि स्थिता सती। तस्माददृश्या त्वं भूयाः पापरूपाऽस्यसंशयम् ॥१६॥
एतच्छापं विदित्वा तु तौ देवौ प्रणता तदा। विशापत्वं प्रार्थयन्ती तुष्टाव च पुनः पुनः ॥१७॥
ततस्तुष्टौ देवदेवौ प्रार्थितौ त्रिदशार्चितौ। प्रीत्या हरिहरावेवं वाचं वाचमथोचतुः ॥१८॥

हरिहरावुचतुः

गङ्गया संगता भद्रे यदा त्वं लोकपावनी। तदा पुनर्वपुस्ते स्यात्पवित्रं हि सुशोभने ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा साऽपि देवी गङ्गया संगताऽभवत्। भागीरथी गौतमी च ततश्चापि स्वकं वपुः ॥२०॥
देवी सा व्यगमद्ब्रह्मन्देवानामपि दुर्लभम्। गौतम्यां सैव विख्याता नाम्ना वाणीति पुण्यदा ॥२१॥
भागीरथ्यां सैव देवी सरस्वत्यभिधीयते। उभयत्रापि विख्यातः संगमो लोकपूजितः ॥२२॥
सरस्वतीसंगमश्च वाणीसंगम एव च। गौतम्या संगता देवी वाणी वाचा सरस्वती ॥२३॥
सर्वत्र पूजितं तीर्थं तत्र वाचा शिवं प्रभुम्। देवेश्वरं पूजयित्वा विशापमगमद्यतः ॥२४॥
ब्रह्मा विधूय वाग्दौष्ट्यं स्वं च धामागमत्पुनः। तस्मात्तत्र शुचिर्भूत्वा स्नात्वा तत्र च संगमे ॥२५॥
वागीश्वरं ततो दृष्ट्वा तावता मुक्तिमाप्नुयात्। दानहोमादिकं किंचिदुपवासादिकां क्रियाम् ॥२६॥

ब्रह्मा ने कहा—तब व्याकुल होकर वह मेरी असत्य वाणी नदी के रूप में परिणत हो गयी। यह देखकर मैं विस्मित हो गया। उस समय डरते-डरते मैंने उस वाणी से कहा—जिसलिए तुमने ब्रह्मवाणी में रहकर भी असत्य कहा है, अतः तुम निःसन्देह पापी हो, तुम अदृश्य हो जाओ। इस शाप को सुनकर वह उन दोनों देवों के चरणों पर गिर पड़ी। और बार बार प्रार्थना करती हुई अपने शाप-मोचन का उपाय पूछने लगी। इस प्रकार प्रार्थना करने पर देवपूजित वे दोनों देव प्रसन्न हो गये और उस वाणी से इस प्रकार बोले ॥१५-१८॥

हरिहर ने कहा—भद्रे ! लोकपावनी तुम जब गंगा से मिलोगी तब पुनः शुभानने ! तुम पवित्र शरीर प्राप्त करोगी ॥१९॥

ब्रह्मा ने कहा—'ऐसा ही हो' यह कहकर वह देवी भागीरथी गंगा और गौतमी में मिल गयी। तदनन्तर ब्रह्मन् ! उसने देव-दुर्लभ अपना शरीर प्राप्त कर लिया। गौतमी में मिलने वाली वह देवी वाणी नाम से प्रसिद्ध हुई और भागीरथी गंगा में सरस्वती नाम से। दोनों स्थानों पर ये संगम लोक-विख्यात और लोकपूजित हैं। इस प्रकार दोनों गंगा (गौतमी, भागीरथी) से मिलने पर वही वाणी वाणी और सरस्वती नाम से प्रसिद्ध हुई और उसका संगम सरस्वती-संगम और वाणी-संगम कहलाने लगा। यतः वहाँ वाणी देवेश्वर शिव की पूजा कर शाप-मुक्त हुई, अतः वह तीर्थ सब तीर्थों से उत्तम और श्रेष्ठ समझा जाता है। स्वयं ब्रह्मा वहाँ अपनी वाणी के दुष्प्रयोग-जन्य पापों को धोकर पुनः अपने लोक को चले गये। इसलिए जो कोई वहाँ पवित्र होकर संगम में स्नान करता और

यः कुर्यात्संगमे पुण्ये संसारे न भवेत्पुनः। [1]एकोनविंशतिशतं तीर्थानां तीरयोर्द्वयोः॥
नानाजन्मार्जिताशेषपापक्षयविधायिनाम् ॥२७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये [2]वाणीसंगमवागीश्वराद्युभयतटस्थैकोनविंशतिशततीर्थवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३५॥
गौतमीमाहात्म्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥६६॥

अथ षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विष्णुतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

विष्णुतीर्थमिति ख्यातं तत्र वृत्तमिदं शृणु। मौद्गल्य इति विख्यातो मुद्गलस्य सुतो ऋषिः ॥१॥
तस्य भार्या तु जाबाला नाम्ना ख्याता सुपुत्रिणी। पिता ऋषिस्तथा वृद्धो मुद्गलो लोकविश्रुतः ॥२॥
तस्य भार्या तथा ख्याता नाम्ना भागीरथी शुभा। स मौद्गल्यः प्रातरेव गङ्गां स्नाति यतव्रतः ॥३॥
नित्यमेव त्विदं कर्म तस्याऽऽसीन्मुनिसत्तम। गङ्गातीरे कुशैर्मृद्भिः [3]शमीपुष्पैरहर्निशम् ॥४॥

वागीश्वर का दर्शन करता है, वह इतने से ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जो उस पुण्य संगम पर दान, होम और उपवास आदि अनुष्ठानों को करता है उसका पुनः संसार में जन्म नहीं होता है। इसके अतिरिक्त वहाँ दोनों तटों पर अनेक जन्मों के उपार्जित पाप को नष्ट करने वाले उन्नीस सौ तीर्थ हैं ॥२०-२७॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में वाणीसंगम आदि के दोनों तटों पर स्थित उन्नीस सौ तीर्थों का वर्णन' नामक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१३५॥

अध्याय १३६

विष्णुतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—(इसके बाद) विष्णुतीर्थ नामक एक तीर्थ है। वहाँ जो घटना हुई, उसको सुनो। मुद्गल ऋषि के मौद्गल्य नामक प्रसिद्ध पुत्र था। उसकी सुपुत्रवती जाबाला नाम की पत्नी थी। उसके पिता वृद्ध मुद्गल भी लोक-प्रसिद्ध ऋषि थे। उसी प्रकार उनकी भागीरथी नाम की भार्या भी मंगलमयी थीं। वह व्रती मौद्गल प्रातःकाल ही नियमतः गंगा में स्नान करता था। मुनिश्रेष्ठ ! उसका यह नित्य का कर्म था। गंगा-तीर पर प्रतिदिन वह मौद्गलि कुशा, मृत्तिका और शमीपुष्प आदि सामग्रियों से पिता द्वारा बतायी विधि के अनुसार अपने मानस रूपी

---

[1] च. ०तिस्तत्र ती०। [2] घ. च. ०तिती०। [3] घ. ०मीपत्रैर०।

गुरूदितेन मार्गेण स्वमानससरोरुहे। आवाहनं नित्यमेव विष्णोश्चक्रे स मौद्गलिः ॥५॥
तेनाऽऽहूतस्त्वरन्नेति लक्ष्मीभर्ता जगत्पतिः। वैनतेयमथाऽऽरुह्य शङ्खचक्रगदाधरः ॥६॥
पूजितस्तेन ऋषिणा स मौद्गल्येन यत्नतः। प्रब्रुते च कथाश्चित्रा मौद्गल्याय जगत्प्रभुः ॥७॥
ततोऽपराह्णसमये विष्णुः प्राह स मौद्गलिम्। याहि वत्स स्वभवनं श्रान्तोऽसीति पुनः पुनः ॥८॥
एवमुक्तः स देवेन विष्णुना याति स द्विजः। जगत्प्रभुस्ततो याति देवैर्युक्तः स्वमन्दिरम् ॥९॥
मौद्गल्योऽपि तथाऽभ्येत्य किंचिदादाय नित्यशः। स्वमेव भवनं विद्वान्भार्यायै स्वार्जितं धनम् ॥१०॥
ददाति स महाविष्णुचरणाब्जपरायणः। मौद्गल्यस्य प्रिया साऽपि पतिव्रतपरायणा ॥११॥
शाकं मूलं फलं वाऽपि भर्त्राऽऽनीतं तु यत्नतः। सुसंस्कृत्याप्यतिथीनां बालानां भर्तृरेव च ॥१२॥
दत्त्वा तु भोजनं तेभ्यः पश्चाद्भुङ्क्ते यतव्रता। भुक्तवत्स्वथ सर्वेषु रात्रौ नित्यं स मौद्गलिः ॥१३॥
विष्णोः श्रुताः कथाश्चित्रास्तेभ्यो वक्त्यथ हर्षितः। एवं बहुतिथे काले व्यतीते चातिविस्मिता ॥
मौद्गल्यस्य रहो भार्या भर्तारं वाक्यमब्रवीत् ॥१४॥

जाबालोवाच

यदि ते विष्णुरभ्येति समीपं त्रिदशार्चितं। तथाऽपि कष्टमस्माकं कस्मादिति जगत्प्रभुम् ॥१५॥
तत्पृच्छ त्वं महाप्राज्ञ यदाऽसौ विष्णुरेति च। यस्मिंश्च स्मृतमात्रे तु जराजन्मरुजो मृतिः ॥
नाशं यान्ति कुतो दृष्टे तस्मात्पृच्छ जगत्पतिम् ॥१६॥

कमल में विष्णु का नित्य आवाहन करता था। उसके आह्वान को सुनकर जगत्पति और लक्ष्मी के पति, शंख-चक्र-गदा-धारी विष्णु गरुड़ पर सवार होकर शीघ्र चले आते थे। ऋषि मौद्गल्य उनकी भक्तिपूर्वक भलीभाँति पूजा करता था। पूजा से प्रसन्न होकर भगवान् जगन्नाथ उससे तरह-तरह की कथाएँ कहा करते थे। तदनन्तर अपराह्ण काल में विष्णु मौद्गलि से कहते 'वत्स ! तुम अब अधिक थक गये हो, अपने भवन को जाओ' ॥१-८॥ इस प्रकार विष्णु के कहने पर वह ब्राह्मण घर जाता था। तब स्वयं भगवान् भी देवों के साथ अपने मन्दिर को जाते थे। वह विष्णु के चरण-कमलों में अनन्य निष्ठा रखने वाला विद्वान् मौद्गल्य प्रतिदिन इस प्रकार भगवान् का सुखद दर्शन पाता था। बाद में थोड़ा सा धन भी कमा लेता था और उस धन को घर ले जाकर अपनी भार्या को दे देता था। उसकी वह प्रिया भार्या भी अति पतिव्रता थी। पति के द्वारा लाये हुए शाक, मूल और फल को यत्नपूर्वक स्वच्छ करके रखती थी। बड़े प्रेम से अतिथि, बालक और पति को भोजन करा कर पीछे वह व्रतिनी स्वयं भोजन करती थी। सबके भोजन कर लेने के बाद रात्रि में वह मौद्गलि विष्णु से सुनी हुई अनुपम कथा को बड़ी प्रसन्नता से अपने उन बाल-बच्चों को सुनाया करता था। इस प्रकार बहुत समय बीत गया। एक दिन पत्नी अत्यन्त विस्मित होकर अपने पति से एकान्त में बोली ॥९-१४॥

जाबाला ने कहा—जब कि स्वयं देव-पूज्य विष्णु तुम्हारे पास आते हैं तब हम लोगों को इतना कष्ट क्यों सहन करना पड़ता है ? इस बात को जब जगत्प्रभु तुम्हारे पास आयें तब हे महामति ! तुम (उनसे) पूछना। जिसके स्मरण मात्र से जरा, जन्म और मृत्यु सम्बन्धी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं उसके दर्शन पाने पर हमारी विपत्तियाँ क्यों नहीं नष्ट होतीं। इसलिए इस रहस्य को जगत् के स्वामी से पूछो ॥१५-१६॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा प्रियावाक्यान्मौद्‌गल्यो नित्यवद्धरिम् । पूजयित्वा विनीतश्च पप्रच्छ स कृताञ्जलिः ।।१७।।

मौद्‌गल्य उवाच

त्वयि स्मृते जगन्नाथ शोकदारिद्र्यदुष्कृतम् । नाशं याति विपत्तिर्मे त्वयि दृष्टे कथं स्थिता ।।१८।।

श्रीविष्णुरुवाच

स्वकृतं भुज्यते भूतैः सर्वैः सर्वत्र सर्वदा । न कोऽपि कस्यचित्किंचित्करोत्यत्र हिताहिते ।।१९।।

यादृशं चोप्यते बीजं फलं भवति तादृशम् । रसालः स्यान्न निम्बस्य बीजाज्जात्वपि कुत्रचित् ।।२०।।

न कृता गौतमीसेवा नार्चितौ हरिशंकरौ । न दत्तं यैश्च विप्रेभ्यस्ते कथं भाजनं श्रियः ।।२१।।

त्वया न दत्तं किंचिच्च ब्राह्मणेभ्यो ममापि च । यद्दीयते तदेवेह परस्मिंश्चोपतिष्ठति ।।२२।।

मृद्भिर्वार्भिः कुशैर्मन्त्रैः शुचिकर्म सदैव यत् । करोति तस्मात्पूतात्मा शरीरस्य च शोषणात् ।।२३।।

विना दानेन न क्वापि भोगावाप्तिर्नृणां भवेत् । सत्कर्माचरणाच्छुद्धो विरक्तः स्यात्ततो नरः ।।२४।।

ततोऽप्रतिहतज्ञानो जीवन्मुक्तस्ततो भवेत् । सर्वेषां सुलभा मुक्तिर्मद्भक्त्या चेह पूर्ततः ।।२५।।

भुक्तिर्दानादिना सर्वभूतदुःखनिबर्हणात् । अथवा लप्स्यसे मुक्तिं भक्त्या भुक्तिं न लप्स्यसे ।।२६।।

ब्रह्मा ने कहा—'ऐसा ही करूँगा' यह कहकर प्रिया के कथनानुसार उस ऋषि ने नित्य की भाँति हरि की पूजा कर विनीत भाव से हाथ जोड़कर पूछा ।।१७।।

मौद्‌गल्य ने कहा—जगन्नाथ ! तुम्हारे स्मरण मात्र से मनुष्यों के शोक, दरिद्रता और पापकर्म नष्ट हो जाते हैं । तब आपके दर्शन करने पर भी क्यों मेरी विपत्तियाँ ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं ? ।।१८।।

श्री विष्णु ने कहा—सब सर्वदा अपने किये कर्मों का फल भोगते हैं । कोई भी किसी का इस संसार में हित या अहित नहीं करता । जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही फल भी मिलता है । कहीं पर भी नीम के बीज से आम का पौधा नहीं उगता । जिन्होंने कभी गौतमी की सेवा नहीं की, हरि-शंकर की अर्चना नहीं की, ब्राह्मणों को भोजन-दान नहीं दिया वे किस प्रकार लक्ष्मी के अधिकारी हो सकते हैं । तुमने आज तक किसी ब्राह्मण को अथवा मुझको कुछ नहीं दिया । जो कुछ दूसरों को दिया जाता है, वही इस लोक और परलोक में प्राप्त होता है । तुम जो सदैव मिट्टी, जल, कुश और मन्त्रों से शुचि कर्म करते हो, इसलिए शरीर से कष्ट सहते हुए भी पुनीत आत्मा वाले हो । बिना दान के कहीं भी मनुष्य को भोग-सुख की प्राप्ति नहीं होती । सत्कर्म के आचरण से मनुष्य शुद्ध हो जाता है । बाद में वह विरक्त हो जाता है । इसके बाद वह अबाधित ज्ञान प्राप्त करता है । तत्पश्चात् वह जीवन्मुक्त हो जाता है । मेरी भक्ति और पूर्व कर्मों (तालाब आदि खोदवाने और मंदिर बनवाने) से सब मनुष्यों के लिए इस लोक में मुक्ति सुलभ है । दान आदि देने और सब प्राणियों के दुःख दूर करने से भुक्ति या मुक्ति अवश्य प्राप्त होती है, किन्तु केवल भक्ति से भुक्ति नहीं मिलती ।।१९-२६।।

मौद्गल्य उवाच

भक्त्या मुक्तिः कथं भूयाद्भुक्तेर्मुक्तिः सुदुर्लभा। जाता चेद्देहिनां मुक्तिः किमन्येन प्रयोजनम् ॥२७॥
भक्त्या मुक्तिः सर्वपूज्या तामिच्छेयं जगन्मय ॥२८॥

विष्णुरुवाच

एतदेवान्तरं ब्रह्मन्दीयते मामनुस्मरन्। ब्राह्मणायाथवार्ऽथिभ्यस्तदेवाक्षयतां व्रजेत्[1] ॥२९॥
मामध्यात्वाऽथ [2]यद्दद्यात्तत्तन्मात्रफलप्रदम्। तत्पुनर्दत्तमेवेह न भोगायात्र कल्पते ॥३०॥
तस्माद्देहि महाबुद्धे भोज्यं किंचिन्मम ध्रुवम्। अथवा विप्रमुख्याय गौतमीतीरमाश्रितः ॥३१॥

ब्रह्मोवाच

मौद्गल्यः प्राह तं विष्णुं देयं मम न विद्यते। नान्यत्किंचन देहादि यत्तत्त्वयि समर्पितम् ॥३२॥
ततो विष्णुर्गरुत्मन्तं प्राह शीघ्रं जगत्पतिः। इहाऽऽनयस्व कणिशं ममायं चार्पयिष्यति ॥३३॥
ततो योग्यानयं भोगान्प्राप्स्यते मनसः प्रियान्। आकर्ण्य स्वमिनाऽऽदिष्टं तथा चक्रे स पक्षिराट् ॥३४॥
विष्णुहस्ते कणान्प्रादात्स मौद्गल्यो यतव्रतः। एतस्मिन्नन्तरे विष्णुर्विश्वकर्माणमब्रवीत् ॥३५॥

मौद्गल्य ने कहा— भक्ति से मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, भुक्ति से तो मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ है ? यदि भुक्ति से ही मुक्ति मिल जाय तो मनुष्य को अन्य वस्तु की आवश्यकता ही नहीं ? जगन्मय ! यदि भक्ति से मिली मुक्ति सर्वमान्य है तो मैं उसी को चाहता हूँ ॥२७-२८॥

विष्णु ने कहा—दान देने के भी कई मार्ग हैं। ब्रह्मन् ! उनमें अन्तर यह है कि जो दान ब्राह्मणों याचकों को मेरा स्मरण करते हुए दिया जाता है, वह अक्षय हो जाता है। और जो मेरे स्मरण के बिना दिया जाता है उससे केवल उतने परिमाण में ही फल मिलता है। वह दिया हुआ दान तो केवल दान-मात्र है; वह इस जीवन में भोग-सुख का कारण नहीं बनता। अतएव महाबुद्धे ! मुझको कुछ अवश्य दो अथवा इस गौतमी के तीर पर श्रेष्ठ ब्राह्मण को दो ॥२९-३१॥

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर मौद्गल्य ने भगवान् विष्णु से कहा कि परन्तु मेरे पास इस समय कुछ भी देने योग्य नहीं है। देह को छोड़ कर और कुछ नहीं है। वह भी आपको अर्पित हो चुकी है। तदनन्तर जगत्पति विष्णु ने गरुड़ से शीघ्र कहा 'तुम यहाँ कुछ अन्न के दाने ले आओ, जिसको यह मेरा भक्त मुझको देकर उचित मनोवाञ्छित भोगों को प्राप्त कर सके।' स्वामी की आज्ञा को सुनकर पक्षिराज ने शीघ्र उसका पालन किया। तब व्रती मौद्गल्य ने विष्णु के हाथ में अन्न-कणों को रख दिया। इसी बीच विष्णु ने विश्वकर्मा से कहा ॥३२-३५॥

---

[1] घ. च. ०त्। न मां ध्यात्वा० [2] घ. ङ. च. ०द्यात्तावन्मा०।

विष्णुरुवाच

यावच्चास्य कुले सप्त पुरुषास्तावदेव तु। भवितारो महाबुद्धे तावत्कामा मनीषिताः ।।
गावो हिरण्यं धान्यानि वस्त्राण्याभरणानि च ।।३६।।

ब्रह्मोवाच

यच्च किंचिन्मनःप्रीत्यै लोके भवति भूषणम्[1] । तत्सर्वमाप मौद्गल्यो विष्णुगङ्गाप्रभावतः[2] ।।३७।।
गृहं गच्छेति मौद्गल्यो विष्णुनोक्तस्ततो ययौ । आश्रमे स्वस्य सर्वर्धिं दृष्ट्वा ऋषिरभाषत ।।३८।।

ऋषिरुवाच

अहो दानप्रभावोऽयमहो विष्णोरनुस्मृतिः[3] । अहो गङ्गाप्रभावश्च कैर्विचार्यो महानयम् ।।३९।।

ब्रह्मोवाच

मौद्गल्यो भार्यया सार्धं [4]पुत्रैः पौत्रैश्च बन्धुभिः । पितृभ्यां बुभुजे भोगान्भुक्तिं मुक्तिमवाप च ।।४०।।
ततः प्रभृति तत्तीर्थं मौद्गल्यं वैष्णवं तथा । तत्र स्नानं च दानं च भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।।४१।।
तत्र श्रुतिः स्मृतिर्वाऽपि तीर्थस्य स्यात्कथंचन । तस्य विष्णुर्भवेत्प्रीतः पापैर्मुक्तः सुखी भवेत् ।।४२।।
एकादश सहस्राणि तीर्थानां तीरयोर्द्वयोः । सर्वार्थदायिनां तत्र स्नानदानजपादिभिः ।।४३।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये मौद्गल्यविष्णुतीर्थाद्येकादशसहस्रतीर्थवर्णनं नाम षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।।१३६।।

गौतमीमाहात्म्ये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ।।६७।।

विष्णु ने कहा—महाबुद्धि ! जब तक इसके कुल में सात पुरुष (सात पीढ़ियों तक के पुरुष) हों तब तक के लिए मनचाही इच्छाएँ अर्थात् गौ, सोना, अन्न, वस्त्र और आभूषण आदि इसके घर में हो जायँ । ।।३६।।

ब्रह्मा ने कहा—इस संसार में मन को प्रिय लगने वाले जो कुछ आभूषण या पदार्थ हो सकते हैं, वे सब सामग्रियाँ विष्णु और गंगा के प्रभाव से मौद्गल्य को प्राप्त हो गयीं । तब विष्णु ने मौद्गल्य को घर जाने की आज्ञा दी । वह अपने घर गया । अपने आश्रम को सब प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण देखकर ऋषि ने कहा ।।३७-३८।।

ऋषि ने कहा—अहा ! यह दान का प्रभाव है ! यह विष्णु की उपासना का प्रभाव है । अहा ! यह गंगा का प्रभाव है । कौन इस महान् प्रभाव को जान सकता है ।।३९।।

ब्रह्मा ने कहा—भार्या, पुत्र, पौत्र, भाई, बन्धु और माता-पिता के सहित मौद्गल्य ने विविध भोगों को भोगकर भुक्ति और मुक्ति दोनों को प्राप्त किया । उस समय से वह तीर्थ मौद्गल्य और वैष्णव तीर्थ कहा जाता है । उसमें स्नान-दान करने से भुक्ति एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है । यदि किसी प्रकार किसी को उस तीर्थ का नाम-श्रवण हो जाय तो उस व्यक्ति पर विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं और वह सब पापों से मुक्त होकर सुखी हो जाता है । उसके दोनों तीरों पर स्नान, दान और जप से सब प्रकार के मनोरथ सिद्ध करने वाले ग्यारह हजार तीर्थ हैं।।४०-४३।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में मौद्गल्य, विष्णुतीर्थ आदि ग्यारह हजार तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ।।१३६।।

---

१ घ. ङ. च. शोभनम् । २च. ०ष्णुसङ्गप्र० । ३घ. च. ०स्मृतेः । अ० । ४घ. ङ. च. पुत्रैरिष्टैश्च ।

अथ सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

लक्ष्मीतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

लक्ष्मीतीर्थमिति ख्यातं साक्षाल्लक्ष्मीविवर्धनम् । अलक्ष्मीनाशनं पुण्यमाख्यानं शृणु नारद ।।१।।
संवादश्च पुरा त्वासील्लक्ष्म्याः पुत्र दरिद्रया । परस्परविरोधिन्यावुभे विश्वं समीयतुः ।।२।।
ताभ्यामव्यापृतं वस्तु तन्नास्ति भुवनत्रये । मम जैष्ठ्यं मम ज्यैष्ठ्यमित्यूचतुरुभे मिथः ।।
अहं पूर्वं समुद्भूता इत्याह श्रियमोजसा ।।३।।

श्रीलक्ष्मीरुवाच

कुलं शीलं जीवितं वा देहिनामहमेव तु । मया वना देहभाजो जीवन्तोऽपि मृता इव ।।४।।

ब्रह्मोवाच

दरिद्रया च सा प्रोक्ता सर्वेभ्यो ह्यधिका ह्यहम् । मुक्तिर्मदाश्रिता नित्यं दरिद्रैवं वचोऽब्रवीत् ।।५।।
कामः क्रोधश्च लोभश्च मदो मात्सर्यमेव च । यत्राहमस्मि तत्रैते न तिष्ठन्ति कदाचन ।।६।।
न भयोद्भूतिरुन्माद ईर्ष्या उद्धतवृत्तिता । यत्राहमस्मि तत्रैते न तिष्ठन्ति कदाचन ।।७।।
दरिद्राया वचः श्रुत्वा लक्ष्मीस्तां प्रत्यभाषत ।।८।।

अध्याय १३७

लक्ष्मीतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—(इसके बाद) साक्षात् लक्ष्मी को बढ़ाने वाला लक्ष्मी-तीर्थ नामक एक प्रसिद्ध तीर्थ है । नारद ! उसकी दरिद्रतानाशक पवित्र कथा को सुनो । पुत्र ! आज से बहुत पहले लक्ष्मी का दरिद्रा के साथ संवाद हुआ । परस्पर विवाद करती हुई वे दोनों संसार में आयीं । तीनों भुवन में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो उनसे अछूता बचा हो । दोनों परस्पर मैं बड़ी हूँ, मैं बड़ी हूँ, कहने लगीं । दरिद्रा ने बड़े तपाक से लक्ष्मी से कहा कि मैं पहले उत्पन्न हुई हूँ । यह सुन कर लक्ष्मी ने कहा ।।१-३।।

श्रीलक्ष्मी ने कहा—प्राणियों का कुल, शील और जीवन मैं ही हूँ । मेरे बिना प्राणी जीते हुए भी मरे के समान हैं ।।४।।

ब्रह्मा ने कहा—दरिद्रा ने लक्ष्मी से कहा—'सबसे श्रेष्ठ मैं हूँ । मुक्ति सर्वदा मेरे ही अधीन है ।' फिर दरिद्रा ने ऐसा कहा कि जहाँ मैं रहती हूँ वहाँ काम, क्रोध, लोभ, मद और मात्सर्य कभी भी टिकने नहीं पाते । जहाँ मैं रहती हूँ वहाँ भय, उन्माद, ईर्ष्या और उद्दण्ड-व्यवहार कभी भी नहीं रहते हैं । दरिद्रा की बातों को सुनकर सक्ष्मी ने प्रत्युत्तर दिया ।।५-८।।

लक्ष्मीरुवाच

अलंकृतो मया जन्तुः सर्वो भवति पूजितः। निर्धनः शिवतुल्योऽपि सर्वैरप्यभिभूयते ।।९।।
देहीति वचनद्वारा देहस्थाः पञ्च देवताः। सद्यो निर्गत्य गच्छन्ति[1] धीश्रीह्रीशान्तिकीर्तयः[1] ।।१०।।
तावद्गुणा गुरुत्वं च यावन्नार्थयते परम्। अर्थी चेत्पुरुषो जातः क्व गुणाः क्व च गौरवम् ।।११।।
तावत्सर्वोत्तमो जन्तुस्तावत्सर्वगुणालयः। नमस्यः सर्वलोकानां यावन्नार्थयते परम् ।।१२।।
कष्टमेतन्महापापं निर्धनत्वं शरीरिणाम्। न मानयति नो वक्ति न स्पृशत्यधनं जनः ।।१३।।
अहमेव ततः श्रेष्ठा दरिद्रे शृणु मे वचः ।।१४।।

ब्रह्मोवाच

तल्लक्ष्मीवचनं श्रुत्वा दरिद्रा वाक्यमब्रवीत् ।।१५।।

दरिद्रोवाच

वक्तुं न लक्ष्मीर्ज्येष्ठाऽहमिति वै लज्जसे मुहुः। पापेषु रमसे नित्यं विहाय पुरुषोत्तमम् ।।१६।।
विश्वस्तवञ्चका नित्यं भवती श्लाघसे कथम्। सुखं न तादृक्त्वत्प्राप्तौ पश्चात्तापो यथा गुरुः ।।१७।।
न तथा जायते पुंसां सुरया दारुणो मदः। त्वत्संनिधानमात्रेण यथा वै विदुषामपि ।।१८।।

लक्ष्मी ने कहा—मुझसे अलंकृत साधारण मनुष्य भी सम्मान पाता है। निर्धन मनुष्य चाहे शिव के तुल्य ही क्यों न हो, वह सबसे अपमानित होता है। 'दो' इस शब्द को सुनते ही देह में रहने वाले धी, श्री, ह्री, शान्ति और कीर्ति ये पाँच देवता तुरंत देह से निकल कर चले जाते हैं। मनुष्य में तब तक ही सारे गुण और महत्ता रहती है जब तक कि वह दूसरों से याचना नहीं करता। यदि पुरुष याचक बन गया तब तो कहाँ वे गुण और वहाँ वे गौरव ! मनुष्य तब तक ही सर्वश्रेष्ठ, सब गुणों का घर और सब लोगों का पूज्य होता है, जब तक वह दूसरों से याचना नहीं करता। मनुष्यों के लिए निर्धनता महापाप है, बहुत बड़ा कष्ट है। मनुष्य निर्धन व्यक्ति का न तो मान करता है, न उससे बोलता है, यहाँ तक कि उसका स्पर्श भी नहीं करता है। दरिद्रे ! मेरी बात सुनो। इसलिए मैं ही तुमसे श्रेष्ठ हूँ ।।९-१४।।

ब्रह्मा ने कहा—लक्ष्मी की बढ़ी-चढ़ी बातों को सुनकर दरिद्रा ने कहा ।।१५।।

दरिद्रा ने कहा—लक्ष्मी ! मैं जेठी हूँ, यह कहते क्या तुमको फिर लज्जा नहीं हो रही है ? तुमको पता नहीं कि तुम पुरुषोत्तम (भगवान् और सत्पुरुष) को छोड़कर पापियों के साथ रहा करती है। विश्वास पात्रों के साथ नित्य प्रवंचना करने वाली तुम क्यों बढ़-बढ़कर बातें बना रही हो ? तुमको पाने से मनुष्य इतना अधिक सुख नहीं पाता जितना अधिक पश्चात्ताप। मनुष्यों को सुरा-पान से भी उतना नशा नहीं होता जितना तुम्हारे साथ रहने

---

[1] घ. धीह्रीश्रीकान्ति०।

सदैव रमसे लक्ष्मीः प्रायस्त्वं पापकारिषु। अहं वसामि योग्येषु धर्मशीलेषु सर्वदा ।।१९।।
शिवविष्ण्वनुरक्तेषु कृतज्ञेषु महत्सु च। सदाचारेषु शान्तेषु गुरुसेवोद्यतेषु च ।।२०।।
सत्सु विद्वत्सु शूरेषु कृतबुद्धिषु साधुषु। निवसामि सदा लक्ष्मीस्तस्माज्ज्यैष्ठ्यं मयि स्थितम् ।।२१।।
ब्राह्मणेषु शुचिष्मत्सु व्रतचारिषु भिक्षुषु। निर्भयेषु वसिष्यामि लक्ष्मीस्त्वं शृणु ते[1] स्थितिम् ।।२२।।
राजवर्तिषु पापेषु निष्ठुरेषु खलेषु च। पिशुनेषु च लुब्धेषु विकृतेषु शठेषु च ।।२३।।
अनार्येषु कृतघ्नेषु धर्मघातिषु सर्वदा। मित्रद्रोहिष्वनिष्टेषु भग्नचित्तेषु वर्तसे ।।२४।।

ब्रह्मोवाच

एवं विवदमाने ते जग्मतुर्मामुभे अपि। तयोर्वाक्यमुपश्रुत्य मयोक्ते ते उभे अपि ।।२५।।
मत्तः पूर्वतरा पृथ्वी आपः पूर्वतरास्ततः। स्त्रीणां विवादं ता एव स्त्रियो जानन्ति नेतरे ।।२६।।
विशेषतः पुनस्ताभ्यः[2] कमण्डलुभवाश्च याः। तत्रापि गौतमी देवी निश्चयं कथयिष्यति ।।२७।।
सैव सर्वार्तिसंहर्त्री सैव संदेहकर्तरी। ते मद्वाक्याद्भुवं गत्वा भूम्या च सहिते अपि ।।२८।।
अद्भिश्च सहिताः सर्वा गौतमीं ययुरापगाम्। भूमिरापस्तयोर्वाक्यं गौतम्यै क्रमशः स्फुटम् ।।२९।।
सर्वं निवेदयामासुर्यथावृत्तं प्रणम्य ताम्। दरिद्रायाश्च लक्ष्म्याश्च वाक्यं मध्यस्थवत्तदा ।।३०।।

से, चाहे वे विद्वान् ही क्यों न हों। लक्ष्मी ! प्रायः तुम सर्वदा पाप कर्म करने वालों के साथ ही रमा करती हो। इसके विपरीत मैं सर्वदा योग्य, धर्म-प्रेमी व्यक्तियों के समीप रहती हूँ। लक्ष्मी ! मैं सर्वदा सज्जन, विद्वान्, शूर, बुद्धिमान्, साधु, शिव और विष्णु के भक्त, महान् कृतज्ञ, सदाचार-परायण, शान्त और गुरु-सेवा में तत्परता दिखाने वाले जनों के समीप रहा करती हूँ, इसलिए श्रेष्ठता मुझमें है। लक्ष्मी ! (मेरे अन्य वास-स्थानों को भी सुन लो) मैं शुद्ध ब्राह्मण, पवित्रात्मा, व्रत-प्रेमी, त्यागी भिक्षु और निर्भीक जनों के समीप ही निवास करती हूँ। तुम तो राजा के चापलूस या सेवक, पापी, निर्दयी, दुष्ट, चुगलखोर, हत्यारे, शठ, विकृत (चंचल), अनार्य, कृतघ्न, धर्म-द्रोही, मित्र-द्रोही, अनिष्ट करने वाले और रूखे लोगों से ही सर्वदा प्रेम करती हो ।।१६-२४।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार परस्पर विवाद करती हुई वे दोनों मेरे पास आयीं। उनकी बातों को सुनकर मैंने उन दोनों से कहा मुझसे पूर्व पृथ्वी हुई, उससे भी पूर्व अप् (जल)। स्त्रियों के विवाद का निपटारा वे स्त्रियाँ ही जानती हैं, दूसरे नहीं। उनमें भी विशेष रूप से जो मेरे कमण्डलु से उत्पन्न नदियाँ हैं, वे पूर्ण रहस्यज्ञ हैं। उनमें भी गौतमी देवी निश्चय ही निर्णय कर देगी। वही सब दुःखों को नष्ट करने वाली है, संदेहों को काटने वाली छुरी भी वही है। वे दोनों मेरे कथनानुसार पृथ्वी के पास गयीं। भूमि के सहित वे दोनों जल के समीप गयीं। वहाँ से वे सब गौतमी नदी के पास गयीं। गौतमी को प्रणाम कर भूमि और जल ने उन दोनों के कथन को क्रमशः स्पष्ट रूप से, जैसा कि दोनों कहती थीं कह सुनाया। नारद ! तब दरिद्रा और लक्ष्मी के वाक्यों को सुनकर वह गौतमी गंगा

---

[1] क. घ. च. मे। [2] क. ङ. ०स्ताभ्यां क०।

शृण्वत्सु लोकपालेषु शृण्वत्यां भुवि नारद। शृण्वतीष्वप्सु सा गङ्गा दरिद्रां वाक्यमब्रवीत्।।
संप्रशस्य तथा लक्ष्मीं गौतमीं वाक्यमब्रवीत् ।।३१।।

गौतम्युवाच

ब्रह्मश्रीश्च तपःश्रीश्च यज्ञश्रीः कीर्तिसंज्ञिता। धनश्रीश्च यशःश्रीश्च विद्या प्रज्ञा सरस्वती ।।३२।।
भुक्तिश्रीश्चाथ मुक्तिश्च स्मृतिर्लज्जा धृतिः क्षमा। सिद्धिस्तुष्टिस्तथा पुष्टिः शान्तिरापस्तथा मही ।।३३।।
अहंशक्तिरथौषध्य श्रुतिःशुद्धिर्विभावरी। द्यौर्ज्योत्स्ना आशिषः स्वस्तिर्व्याप्तिर्माया उषा शिवा ।।३४।।
यत्किंचिद्विद्यते लोके लक्ष्म्या व्याप्तं चराचरम्। ब्राह्मणेष्वथ धीरेषु क्षमावत्स्वथ साधुषु ।।३५।।
विद्यायुक्तेषु चान्येषु भुक्तिमुक्त्यनुसारिषु। यद्यद्रम्यं सुन्दरं वा तत्तल्लक्ष्मीविजृम्भितम् ।।३६।।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वं लक्ष्मीमयं जगत्। यस्मिन्कस्मिंश्च यत्किंचिदुत्कृष्टं परिदृश्यते ।।३७।।
लक्ष्मीमयं तु तत्सर्वं तया हीनं न किंचन। अत्रेमां सुन्दरीं देवीं स्पर्धयन्ती न लज्जसे ।।३८।।
गच्छ गच्छेति तां गङ्गा दरिद्रां वाक्यमब्रवीत्। ततः प्रभृति गङ्गाम्भो दरिद्रावैरकार्यभूत् ।।३९।।
तावद्दरिद्राभिभवो गङ्गा यावन्न सेव्यते। ततः प्रभृति तत्तीर्थमलक्ष्मीनाशनं शुभम् ।।४०।।
तत्र स्नानेन दानेन लक्ष्मीवान्पुण्यवान्भवेत्। तीर्थानां षट्सहस्राणि तस्मिंतीर्थे महामते ।।
देवर्षिमुनिजुष्टानां सर्वसिद्धिप्रदायिनाम् ।।४१।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये लक्ष्मीतीर्थादिषट्सहस्रतीर्थवर्णनं नाम
सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।।१३७।।
गौतमीमाहात्म्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ।।६८।।

मध्यस्थ के समान लोक-पालों, पृथ्वी और जल को सुनाती हुई लक्ष्मी की प्रशंसा करके दरिद्रा से बोली ।।२५-३१।।

गौतमी ने कहा—ब्रह्मश्री, तपःश्री, यज्ञनश्री, कीर्ति नामक श्री, धनश्री, यशःश्री, विद्या, प्रज्ञा सरस्वती, भुक्तिश्री, मुक्ति, स्मृति, लज्जा, धृति, क्षमा, सिद्धि, पुष्टि, शान्ति, जल और पृथिवी एवं आत्मशक्ति इसके बाद ओषधियाँ, श्रुति, शुद्धि, उजेली रात, आकाश, ज्योत्स्ना (चाँदनी), आशीर्वाद, स्वस्ति, व्याप्ति, माया, उषा, शिवा अथवा जो कुछ इस लोक में है—यह सारा चराचर लक्ष्मी से व्याप्त है। इसके अनन्तर ब्राह्मणों, धीरों, क्षमावानों, साधुओं, विद्वानों अथवा अन्य भुक्ति मुक्ति के अनुरागियों में जो कुछ रमणीयता या सुन्दरता दिखायी देती है वह सब कुछ लक्ष्मी का ही प्रसार है। और अधिक क्या कहा जाय, सारा जगत् लक्ष्मीमय है। जिस-किसी में जो कुछ उत्कृष्टता दिखाई देती है वह सब कुछ लक्ष्मीमय है, उससे रहित कोई भी वस्तु नहीं। तुम इस विषय में लक्ष्मी से प्रतिस्पर्धा करने में लजाती नहीं? गंगा ने उस दरिद्रा से कहा। यहाँ से चली जाओ! जाओ! तब से गंगाजल दरिद्रा का शत्रु बन गया। दरिद्रा से दुःख तभी तक होता है जब तक कि गंगा की सेवा नहीं की जाती। उस समय से वह तीर्थ पवित्र और दरिद्रता को भगाने वाला हो गया। वहाँ स्नान और दान करने से मनुष्य धनवान् और पुण्यवान् होता है। महामति! उस तीर्थ में सब प्रकार की सिद्धियाँ देने वाले छह हजार तीर्थ हैं, जिनमें स्नान और वास करने के लिए देवता, ऋषि और मुनि भी लालायित रहते हैं ।।३२-४१।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में लक्ष्मी-तीर्थ आदि छह हजार तीर्थों का वर्णन नामक
एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ।।१३७।।

अथाष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भान्वादित्रिसहस्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

भानुतीर्थमिति ख्यातं सर्वसिद्धिकरं नृणाम् । तत्रेदं वृत्तमाख्यास्ये महापातकनाशनम् ।।१।।
शर्यातिरिति विख्यातो राजा परमधार्मिकः । तस्य भार्या [1]स्थविष्ठेति रूपेणाप्रतिमा भुवि ।।२।।
मधुच्छन्दा इति ख्यातो वैश्वामित्रो द्विजोत्तमः । पुरोधास्तस्य नृपतेर्ब्रह्मर्षिः शमिनां प्रभुः ।।३।।

दिशो विजेतुं स जगाम राजा, पुरोधसा तेन नृपप्रवीरः ।
पुरोधसं प्राह महानुभावं, जित्वा दिशश्चाध्वनि संनिविष्टः ।।४।।
पप्रच्छेदं केन खेदं गतोऽसि, हेतुं वदस्वेति महानुभाव ।
त्वमेव राज्ये मम सर्वमान्यः, समस्तविद्यानिरवद्यबोधः ।।५।।
विधूतपापः परितापशून्यः, किमन्यचेता इव लक्ष्यसे त्वम् ।
जितेयमुर्वी विजिता नरेन्द्रा, हर्षस्य हेतौ महतीह जाते ।।६।।
किं त्वं कृशो मे वद सत्यमेव, द्विजातिवर्यातिमहानुभाव ।
संबोध्य शर्यातिमुवाच विप्रश्छन्दोमधुः प्रेममयीं प्रियोक्तिम् ।।७।।

अध्याय १३८

भानु आदि तीन सहस्र तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—मनुष्यों को सब सिद्धियाँ देने वाला भानुतीर्थ नामक प्रसिद्ध तीर्थ है । वहाँ जो महापापों को दूर करने वाली घटना घटी, उसको अब कह रहा हूँ, सुनो !

शर्याति नामक एक प्रसिद्ध परम धार्मिक राजा था । उसकी स्थविष्ठा नाम की भार्या थी, जो लोक में अनुपम सुन्दरी थी । उस नरेन्द्र के मधुच्छन्दा नामक विश्वामित्र-कुलोत्पन्न उत्तम ब्राह्मण पुरोहित थे, जो कि संयमियों में सर्वश्रेष्ठ और ब्रह्मर्षि थे । वह भूपश्रेष्ठ राजा अपने उस पुरोहित के साथ दिग्विजय करने चला । सम्पूर्ण दिशाओं को जीत कर जब लौटने लगा तब रास्ते में महानुभवी पुरोहित ने पूछा—'महानुभाव ! आप क्यों इतने खिन्न है, कृपाकर कारण बतलाइये । आप ही मेरे राज्य में सर्वमान्य हैं, समस्त विद्याओं के प्रशंसनीय ज्ञाता हैं, निष्पाप हैं और संताप-शून्य हैं; फिर क्यों आज आप अन्यमनस्क-से दिखायी देते हैं । सारी महती वसुन्धरा जीत ली गयी, नरेन्द्र वश में हो गये, इस प्रकार महान् आनन्द की सामग्री पा जाने पर भी आप क्यों दुर्बल होते जाते रहे हैं ? हे महानुभाव ! द्विजातिवर्य ! सत्य सत्य कहिये ।' विप्र मधुच्छन्दा शर्याति को संबोधित करते हुए इस प्रकार प्रेममय मधुर वाणी बोले—।।१-७।।

---

[1] ङ. प्रतिष्ठेति । च. छविश्चेति ।

मधुच्छन्दा उवाच

शृणु भूपाल मद्वाक्यं भार्यया यदुदीरितम् । स्थिते यामे वयं यामो यामिनी चार्धगामिनी ॥८॥
स्वामिनी चास्य देहस्य कामिनी मां प्रतीक्षते । स्मृत्वा तत्कामिनीवाक्यं शोषं याति कलेवरम् ॥
विकारे स्मरसंजाते जीवातुर्नलिनानना ॥९॥

ब्रह्मोवाच

विहस्य चाब्रवीद्राजा पुरोधसमरिंदमः ॥१०॥

राजोवाच

त्वं गुरुर्मम मित्रं च किमात्मानं विडम्बसे । किमनेन महाप्राज्ञ मम वाक्येन मानद ॥
क्षणविध्वंसिनि सुखे का नामाऽऽस्था महात्मनाम् ॥११॥

ब्रह्मोवाच

एतदाकर्ण्य मतिमान्मधुच्छन्दा वचोऽब्रवीत् ॥१२॥

मधुच्छन्दा उवाच

यत्राऽऽनुकूल्यं दंपत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते । न चेदं दूषणं राजन्भूषणं चातिमन्यताम् ॥१३॥

ब्रह्मोवाच

आजगाम स्वकं देशं महत्या सेनया वृतः । परीक्षार्थं च तत्प्रेम पुर्यां वार्तामदीदिशत् ॥१४॥

मधुच्छन्दा बोले—भूपाल ! भार्या ने जो कुछ मुझसे कहा है, उसको सुनो। प्रहर बीत जाने पर हम लोग घर जायेंगे और आज अर्द्धरात्रि बीत जाने पर मेरे इस शरीर की स्वामिनी, मेरे जीवन की संजीवनी, कमलमुखी मेरी स्त्री शुद्ध होकर काम-भावना से मेरी प्रतीक्षा करती रहेगी। उस कामिनी प्रिया के वाक्यों का स्मरण कर मेरा शरीर सूखता जा रहा है ॥८-९॥

ब्रह्मा बोले—पुरोहित की बात सुनकर शत्रुविजेता राजा ने हँस कर कहा ॥१०॥

राजा ने कहा—आप मेरे गुरु हैं, मित्र हैं। क्यों इस प्रकार अपने को विडम्बना में डाल रहे हैं। मेरे मानद ! महाप्राज्ञ ! इस वाक्य से क्या प्रयोजन। इस क्षणभंगुर सुख के पीछे महापुरुषों को इतनी निष्ठा रखने से क्या लाभ ? ॥११॥

ब्रह्मा ने कहा—इस बात को सुनकर मतिमान् मधुच्छन्दा ने कहा ॥१२॥

मधुच्छन्दा ने कहा—जहाँ पति-पत्नी में हृदय की इस प्रकार एकता रहती है वहाँ त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की बढ़ती होती है, राजन् ! इसको जीवन का अभिशाप नहीं वरदान मानना चाहिए ॥१३॥

ब्रह्मा ने कहा—राजा अपनी महती सेना के साथ अपने देश में आया। पुरोहित-दम्पती की प्रेम-परीक्षा के लिए उन्होंने राजधानी में ढिंढोरा पिटवा दिया कि दिग्विजय के लिए प्रस्थित राजा शर्याति को पुरोहित के सहित

दिशो विजेतुं शर्यातौ याते राक्षसपुंगवः । हत्वा रसातलं यातो राजानं सपुरोधसम् ॥१५॥
राज्ञो भार्या निश्चयाय प्रवृत्ता मुनिसत्तम । वार्तां श्रुत्वा दूतमुखान्मधुच्छन्दःप्रिया पुनः ॥१६॥
तदैवाभूद्गतप्राणा तद्विचित्रमिवाभवत् । [1]तस्या वृत्तं तु ते दृष्ट्वा दूता राज्ञे न्यवेदयन् ॥१७॥
यत्कृतं राजपत्नीभिः प्रियया च पुरोधसः । विस्मितो दुःखितो राजा पुनर्दूतानभाषत ॥१८॥

शीघ्रं गच्छन्तु हे दूता ब्राह्मण्या यत्कलेवरम् । रक्षन्तु वार्तां कुरुत राजाऽऽगन्ता पुरोधसा ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

इति [2]चिन्तापुरे राज्ञि वागुवाचाशरीरिणी ॥२०॥

आकाशवागुवाच

विधास्यत्यखिलं गङ्गा राजंस्तव समीहितम् । सर्वाभिषङ्गशमनी पावनी भुवि गौतमी ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा स शर्यातिर्गौतमीतटमाश्रितः । ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा तर्पयित्वा पितॄन्द्विजान् ॥२२॥

किसी बली राक्षस ने मार डाला और स्वयं रसातल चला गया। दूतों के मुख से ऐसी बातें सुनकर हे मुनिश्रेष्ठ ! राजा की स्त्री इसकी सच्चाई की जाँच करने लगी, परन्तु मधुच्छन्दा की स्त्री उसी समय निष्प्राण हो गयी। इस प्रकार खिलवाड़ में ही एक विचित्र-सी घटना हो गयी। दूतों ने उसकी इस अवस्था को देखकर राजा से जाकर राज-पत्नियों ने और पुरोहित की स्त्री ने जो कुछ किया, वह कह सुनाया। यह सुनकर अत्यन्त विस्मित और दुःखित हुए राजा ने पुनः दूतों से कहा—॥१४-१८॥

राजा के कहा—दूतों ! शीघ्र जाओ, ब्राह्मणी का जो शरीर है, उसकी रक्षा करो और ऐसा घोषित कर दो कि राजा पुरोहित के साथ आ रहे हैं ॥१९॥

ब्रह्मा ने कहा—राजा के इस प्रकार चिन्तातुर होने पर आकाशवाणी हुई ॥२०॥

आकाशवाणी ने कहा—राजन् ! तुम्हारी सब कामनाओं को सब आपत्तियों को शान्त करने वाली पृथ्वी की पुनीत नदी गौतमी पूर्ण कर देंगी ॥२१॥

ब्रह्मा ने कहा—यह सुनकर शर्याति ने गौतमीतट पर स्थित होकर ब्राह्मणों को धन दिया तथा पितरों और द्विजों को तृप्त किया और उस द्विजश्रेष्ठ पुरोहित को बहुत-सा धन देकर बिदा किया। इसके अनन्तर स्वयं दूसरे तीर्थों

---

[1] क. ङ. च. पुर्या । [2] घ. च. चिन्तापरे । ङ. चिन्तायुते ।

[1]पुरोहितं द्विजश्रेष्ठं प्रेषयित्वा धनान्वितम् । अन्यत्र तीर्थे सार्थेषु दानं देहि (ददौ) प्रयत्नतः ।।२३।।
एतत्सर्वं न जानाति राज्ञः कृत्यं पुरोहितः । गते तस्मिन्गुरौ राजा वैश्वामित्रे महात्मनि ।।२४।।
सर्वं बलं प्रेषयित्वा गङ्गातीरेऽग्निमाविशत् । इत्युक्त्वा स तु राजेन्द्रो गङ्गां भानुं सुरानपि ।।२५।।
यदि दत्तं यदि हुतं यदि त्राता प्रजा मया । तेन सत्येन सा साध्वी ममाऽऽयुष्येण जीवतु ।।२६।।
इत्युक्त्वाऽग्नौ प्रविष्टे तु शर्यातौ नृपसत्तमे । तदैव जीविता[2] भार्या राज्ञस्तस्य पुरोधसः ।।२७।।
अग्निप्रविष्टं राजानं श्रुत्वा विस्मयकारणम् । पतिव्रतां तथा भार्यां मृतां जीवान्वितां पुनः ।।२८।।
तदर्थं चापि राजानं [3]त्यक्तात्मानं विशेषतः । आत्मनश्च पुनः कृत्यमस्मरन्नृपतेर्गुरुः ।।२९।।
अहमप्यग्निमावेक्ष्य उत यास्ये प्रियान्तिकम् । अथवेह तपस्तप्स्ये ततो निश्चयवान्द्विजः ।।३०।।
एतदेवाऽऽत्मनः कृत्यं मन्ये सुकृतमेव च । जीवयामि च राजानं ततो यामि प्रियां पुनः ।।३१।।
एतदेव शुभं मे स्यात्ततस्तुष्टाव भास्करम् । न ह्यन्यः कोऽपि देवोऽस्ति सर्वाभीष्टप्रदो रवेः ।।३२।।

मधुच्छन्दा उवाच

नमोऽस्तु तस्मै सूर्याय मुक्तयेऽमिततेजसे । छन्दोमयाय देवाय ओंकारार्थाय ते नमः ।।३३।।
विरूपाय सुरूपाय त्रिगुणाय त्रिमूर्तये । स्थित्युत्पत्तिविनाशानां हेतवे प्रभविष्णवे ।।३४।।

में अनुचरों के सहित जाकर बड़े चाव से दान दिया। पुरोहित राजा के इन कार्यों के रहस्य को नहीं जानता था। इस महात्मा विश्वामित्रकुलोत्पन्न गुरु के चले जाने पर राजा ने सब सेनाओं को राजधानी भेज दिया, और स्वयं वह गंगा-तट पर अग्नि में गंगा, सूर्य और देवताओं से यह प्रार्थना करता हुआ कि यदि मैंने कुछ दान दिया है, हवन किया है और प्रजाओं की रक्षा की है तो मेरे उन पुण्यों के प्रभाव से तथा मेरे शेष आयु से वह साध्वी ब्राह्मणी जीवित हो जाय, घुस गया। राजा शर्याति के अग्नि में प्रवेश करते ही उस राज-पुरोहित की भार्या शीघ्र ही जीवित हो गयी। नृपति-गुरु ने जब राजा का इस प्रकार का विस्मयजनक अग्नि-प्रवेश और अपनी पतिव्रता भार्या का मर कर पुनः जीवित होना सुना और विशेष रूप से यह सुना कि राजा ने अपने को उसके लिए अग्नि में जला दिया है, तब वह अपना कर्त्तव्य सोचने लगा। उसने सोचा कि क्या मैं भी अग्नि-प्रवेश करूँ या प्रिया के पास जाऊँ अथवा यहीं तपस्या करूँ। अनन्तर उसने निश्चय किया कि यही मेरा पुण्य कर्त्तव्य है कि पहले राजा को जीवित करूँ तब फिर प्रिया के पास जाऊँ। यही मेरे लिए कल्याणप्रद है। ऐसा सोचकर वह भगवान् भास्कर की स्तुति करने लगा और बोला कि सूर्य को छोड़ दूसरा कोई भी सब प्रकार के अभीष्ट को पूरा करने वाला नहीं है ।।२२-३२।।

मधुच्छन्दा बोले—उस अमित तेजस्वी, मुक्तिस्वरूप सूर्य को नमस्कार है, ओंकार के अर्थ स्वरूप वेदमय देव को नमस्कार है। विरूप, सुरूप, त्रिगुणात्मक, त्रिमूर्ति, स्थिति, सृष्टि और विनाश के आदि कारण एवं महामहिमशाली सूर्य को नमस्कार है ।।३३-३४।।

---

[1]घ. ङ. पुरोधसं । [2]घ. च. चोत्थिता । [3]घ. च. त्यक्तजीवं ।

ब्रह्मोवाच

ततः प्रसन्नः सूर्योऽभूद्वरयस्वेत्यभाषत ॥३५॥

मधुच्छन्दा उवाच

राजानं देहि देवेश भार्यां च प्रियवादिनीम् । आत्मनश्च शुभान्पुत्रान्राज्ञश्चैव शुभान्वरान् ॥३६॥

ब्रह्मोवाच

ततः प्रादाज्जगन्नाथः [1]शर्यातिं रत्नभूषितम् । तां च भार्यां वरानन्यान्सर्वं क्षेममयं तथा ॥३७॥
ततो यातः प्रियाविष्टः प्रीतेन च पुरोधसा । ययौ सुखी स्वकं देशं तत्तु तीर्थं शुभं स्मृतम् ॥३८॥
तत्र त्रीणि सहस्राणि तीर्थानि गुणवन्ति च । ततः प्रभृति तत्तीर्थं भानुतीर्थमुदाहृतम् ॥३९॥
मृतसंजीवनं चैव शार्यातं चेति विश्रुतम् । माधुच्छन्दसमाख्यातं स्मरणात्पापनुन्मुने[2] ॥४०॥
तेषु स्नानं च दानं च सर्वक्रतुफलप्रदम् । मृतसंजीवनं तत्स्यादायुरारोग्यवर्धनम् ॥४१॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये भान्वादित्रिसहस्रतीर्थवर्णनं नामाष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३८॥

गौतमीमाहात्म्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥६९॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर सूर्य प्रसन्न हो गये और कहा कि 'वर माँगो' ॥३५॥

मधुच्छन्दा बोला—देवेश ! राजा और मेरी प्रिय-भाषिणी भार्या को जीवित कर दो, साथ ही मुझे उत्तम पुत्र और राजा को भी उत्तम वरदान दो ॥३६॥

ब्रह्मा ने कहा—तब प्रसन्न होकर जगन्नाथ ने रत्न-भूषित शर्याति, (तथा) भार्या (विप्रपत्नी को जीवनदान), अन्य वरदान और प्रत्येक प्रकार के कल्याणमय आशीर्वाद दिये । इस प्रकार वरदान पाकर वह विप्र अपनी प्रिया के साथ आनन्द और सुखपूर्वक अपने देश को चला गया । वह तीर्थ भी इसीलिए शुभ-तीर्थ माना गया । वहाँ फल देने वाले और भी तीन हजार तीर्थ हैं । उस समय से वह तीर्थ भानुतीर्थ कहा जाने लगा । मुने ! मृतसंजीवन और शर्याति तीर्थ नाम से भी वह विख्यात हुआ । माधुच्छन्द तीर्थ भी उसे ही कहा जाता है, जिसके स्मरण मात्र से पापों का नाश हो जाता है । उन तीर्थों में स्नान करने और दान देने से सब यज्ञों का फल मिलता है । जो मृतसंजीवन तीर्थ है वह तो आयु और आरोग्य दोनों को बढ़ाने वाला है ॥३७-४१॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में भानु आदि तीन हजार तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१३८॥

---

[1] घ. ङ. च. ०ति स्वर्णभू० । [2] घ. ०पनाशनम् । ते० । ङ. च. ०पहं स्मृतम् । ते० ।

अथैकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

खड्गतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

खड्गतीर्थमिति ख्यातं गौतम्या उत्तरे तटे । तत्र स्नानेन दानेन मुक्तिभागी[1] भवेन्नरः ॥१॥
तत्र वृत्तं प्रवक्ष्यामि शृणु नारद यत्नतः । पैलूष इति विख्यातः कवषस्य सुतो द्विजः ॥२॥
कुटुम्बभारात्परितो ह्यर्थार्थी परिधावति । न किमप्याससादासौ ततो वैराग्यमास्थितः ॥३॥
अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थीभूते तु पौरुषे । न वैराग्यादन्यदस्ति[2] पण्डितस्यावलम्बनम् ॥४॥
इति संचिन्तयामास तदाऽसौ निःश्वसन्मुहुः । क्रमागतं धनं नास्ति पोष्याश्च बहवो मम ॥५॥
मानी चाऽऽत्मा न कष्टार्हो हा धिग्दुर्दैवचेष्टितम् । स कदाचिद्वृत्तियुतो वृत्तिभिः परिवर्तयन् ॥६॥
न लेभे तद्धनं वृत्तेर्विरागमगमत्तदा । सेवा निषिद्धा या काचिद्गहना दुष्करं तपः ॥७॥
बलादाकर्षतीयं मां तृष्णा सर्वत्र दुष्कृते । त्वयाऽपकृतमज्ञानात्तस्मात्तृष्णे नमोऽस्तु ते ॥८॥
एवं विचिन्त्य मेधावी[3] तृष्णाछेदाय किं भवेत् । इत्यालोच्य स पैलूषः पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥९॥

अध्याय १३९

खड्गतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—गौतमी के उत्तर तट पर खड्गतीर्थ नामक एक तीर्थ है। उसमें स्नान और दान करने से मनुष्य मुक्ति का भागी होता है। नारद ! वहाँ के इतिहास को कह रहा हूँ, सावधान होकर सुनो।

विख्यात द्विज पैलूष कवष का पुत्र था। वह कुटुम्ब के भार के कारण धन-याचना के लिये चारों ओर दौड़ता था। जब प्रयत्न करने पर भी उसको कुछ न मिला तब उसको वैराग्य हो गया। क्योंकि भाग्य के अत्यन्त विमुख एवं आत्म-पौरुष के निष्फल हो जाने पर पंडितजनों के लिए वैराग्य के अतिरिक्त और कुछ सहारा नहीं रहता है। वह बार-बार लम्बी आहें भरता हुआ सोचने लगा कि मेरे पास कोई पैतृक सम्पत्ति नहीं है। मेरे ऊपर बहुत से आश्रित जनों के पोषण का भार है। स्वाभिमानी आत्मा कष्ट भोगने के उपयुक्त नहीं है। हाय ! इस दुर्दैव के व्यापार को धिक्कार है। फिर कभी वह जीविका का साधन पा गया परन्तु जीविका के पुनः बदल देने से उससे कुछ धन न पा सका तब उसको विराग हो गया। सोचने लगा कि सेवा तो निषिद्ध और कठिन है चाहे किसी की क्यों न हो और तपस्या अति दुःसाध्य है। परन्तु यह तृष्णा मुझे दुष्कर्म करने के लिए बार-बार प्रेरित कर रही है। इस प्रकार वह चंचल हो रहा था कि उसको अकस्मात् ज्ञान हुआ और उसने कहा कि तृष्णे ! तुमने मेरी अज्ञानता के कारण मेरा महान् अपकार किया है। तृष्णे ! तुमको नमस्कार है। इस प्रकार सोचकर वह मेधावी पैलूष 'तृष्णा-नाश के लिए कौन-सा साधन होगा'। यही विचार करने लगा। अन्त में उसने अपने पिता से कहा ॥१-९॥

---

[1] क. ङ. ०भाजी भ० । [2] घ. ०स्ति पीडित० । [3] घ. ङ. च. ०वी बन्धच्छेदा० ।

पैलूष उवाच

ज्ञानासिना क्रोधलोभौ संसृतिं चातिदुस्तराम् । छेद्मीमां केन हे तात तमुपायं वद प्रभो ।।१०।।

कवष उवाच

ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेदित्येषा वैदिकी श्रुतिः । तस्मादाराधयेशानं ततो ज्ञानमवाप्स्यसि ।।११।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा स पैलूषो ज्ञानायेश्वरमार्चयत् । ततस्तुष्टो महेशानो ज्ञानं प्रादाद्द्विजातये ।।
प्राप्तज्ञानो महाबुद्धिर्गाथाः प्रोवाच मुक्तिदाः ।।१२।।

पैलूष उवाच

क्रोधस्तु प्रथमं शत्रुर्निष्फलो देहनाशनः । ज्ञानखड्गेन तं छित्त्वा परमं सुखमाप्नुयात् ।।१३।।
तृष्णा बहुविधा माया बन्धनी पापकारिणी । छित्त्वैतां ज्ञानखड्गेन सुखं तिष्ठति मानवः ।।१४।।
सङ्गस्तु [1]परमोऽधर्मो देवादीनामिति श्रुतिः । [2]असङ्गस्याऽऽत्मनोऽप्यस्य सङ्गोऽयं परमो रिपुः ।।१५।।
छित्त्वैनं ज्ञानखड्गेन शिवैकत्वमवाप्नुयात् । संशयः परमो नाशो धर्मार्थानां विनाशकृत् ।।१६।।

पैलूष बोला—हे तात ! ज्ञानरूपी खड्ग से इस क्रोध, लोभ और अतिदुस्तर सांसारिक माया को कैसे काटूँ, वह उपाय बतलाइये ।।१०।।

कवष के कहा—ईश्वर (शंकर) से ही ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए, ऐसी वैदिकी श्रुति है । इसलिए शिव की आराधना करो । तब तुम ज्ञान प्राप्त कर सकोगे ।।११।।

ब्रह्मा ने कहा—'ऐसा ही करूँगा' यह कहकर वह पैलूष ज्ञान के लिए ईश्वर की पूजा करने लगा । उसकी आराधना से प्रसन्न होकर महेश ने उस द्विज को ज्ञान-प्रदान किया । ज्ञान पा जाने पर उस महाबुद्धिमान् ने ऐसी मुक्तिदायिनी गाथा गायी ।।१२।।

पैलूष बोला—इस देह को नष्ट करने वाला, निष्फल क्रोध पहला शत्रु है । ज्ञान की तलवार से उसको काटने से परम सुख प्राप्त होता है । यह भिन्न-भिन्न प्रकार की तृष्णा पाप कराने वाली तथा बन्धन में डाल देने वाली माया है । इसको ज्ञान-खड्ग से काटकर मनुष्य सुखी होता है । 'आसक्ति' बहुत बड़ा पाप है, ऐसा देवताओं आदि का कथन है । इस अनासक्त (मुक्त) आत्मा के लिए यह आसक्ति परम शत्रु है । इसको ज्ञान के खड्ग से काटकर शिव से अद्वैतता प्राप्त करनी चाहिये । संशय परम शत्रु है । यह धर्म, अर्थ, काम, क्रोधादिकों का विनाश करने वाला है । इस संशय को दूर कर ही जीव अपने परम मनोरथ को प्राप्त कर सकता है । आशा पिशाची के

---

[1] घ. ०मो बन्धो दे० । [2] घ. ०नो ह्यस्य संयोगः स कथं भवेत् । छि०।

छित्त्वैनं संशयं जन्तुः परमेप्सितमाप्नुयात् । पिशाचीव विशत्याशा निर्दहत्यखिलं सुखम् ॥
पूर्णाहन्तासिना छित्त्वा जीवन्मुक्तिमवाप्नुयात् ॥१७॥

ब्रह्मोवाच

ततो ज्ञानमवाप्यासौ गङ्गातीरं समाश्रितः । ज्ञानखड्गेन निर्मोहस्ततो मुक्तिमवाप सः ॥१८॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं खड्गतीर्थमिति स्मृतम् । ज्ञानतीर्थं च कवषं पैलूषं सर्वकामदम् ॥१९॥
इत्यादिषट्सहस्राणि तीर्थान्याहुमहर्षयः । अशेषपापतापौघहराणीष्टप्रदानि च ॥२०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये खड्गतीर्थवर्णनं नामैकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३९॥

गौतमीमहात्म्ये सप्ततितमोऽध्यायः॥७॥

अथ चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अन्विन्द्रात्रेयादितीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

आत्रेयमिति विख्यातमन्विन्द्रं तीर्थमुत्तमम् । तस्य प्रभावं वक्ष्यामि भ्रष्टराज्यप्रदायकम् ॥१॥

समान मानव-देह में घुसकर सब सुखों को नष्ट कर देती है, मनुष्य इसको उसी ज्ञानखड्ग से भली भाँति नष्ट कर जीवन काल में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥१३-१७॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके वाद वह ज्ञान प्राप्त करके गंगा-तीर पर रहने लगा और ज्ञानखड्ग से मोह का छेदन करके उसने मुक्ति प्राप्त कर ली । उस समय से वह तीर्थ खड्गतीर्थ नाम से प्रसिद्ध हो गया । उसी को सब कामनाओं को देने वाला ज्ञानतीर्थ, कवष और पैलूष नामों से भी पुकारा जाता है । इसके अतिरिक्त महर्षिगण समस्त पाप-ताप के समूह को नष्ट करने वाले इष्ट-प्रद छह हजार तीर्थों की स्थिति भी वहाँ बतलाते हैं ॥१८-२०॥

श्रीब्राह्ममहापुराण में तीर्थ-माहात्म्य-प्रकरण में खड्गतीर्थ वर्णन नामक एक सौ उनतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१३९॥

अध्याय १४०

अन्विन्द्र, आत्रेय आदि तीर्थों का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—आत्रेय नाम से विख्यात अन्विन्द्र नामक उत्तम तीर्थ है । उसके भ्रष्ट राज्य को दिलाने वाले प्रभाव का वर्णन कर रहा हूँ । गौतमी के उत्तर तीर पर भगवान् ऋषि आत्रेय ने ऋत्विजों और मुनियों के

गौतम्या उत्तरे तीरे आत्रेयो भगवानृषिः । अन्वारेभेऽथ सत्राणि ऋत्विग्भिर्मुनिभिर्वृतः ॥२॥
तस्य होताऽभवत्त्वग्निर्हव्यवाहन एव च । एवं सत्रे तु संपूर्ण इष्टिं माहेश्वरीं पुनः ॥३॥
कृत्वैश्वर्यमगाद्विप्रः सर्वत्र गतिमेव च । [1]इन्द्रस्य भवनं रम्यं स्वर्गलोकं रसातलम् ॥४॥
स्वेच्छया याति विप्रेन्द्रः प्रभावात्तपसः शुभात् । स कदाचिद्दिवं गत्वा इन्द्रलोकमगात्पुनः ॥५॥
तत्रापश्यत्सहस्राक्षं सुरैः परिवृतं शुभैः । स्तूयमानं सिद्धसाध्यैः प्रेक्षन्तं नृत्यमुत्तमम् ॥
शृण्वानं मधुरं गीतमप्सरोभिश्च वीजितम् ॥६॥

उपोपविष्टैः सुरनायकैस्तैः, संपूज्यमानं महदासनस्थम् ।
जयन्तमङ्के विनिधाय सूनुं, शच्या युतं प्राप्तरतिं महिष्ठम् ॥७॥
सतां शरण्यं वरदं महेन्द्रं, समीक्ष्य विप्राधिपतिर्महात्मा ।
विमोहितोऽसौ मुनिरिन्द्रलक्ष्म्या, समीहयामास तदिन्द्रराज्यम् ॥८॥
संपूजितो देवगणैर्यथावत्स्वमाश्रमं वै पुनराजगाम ।
समीक्ष्य तां शक्रपुरीं सुरम्यां, रत्नैर्युतां पुण्यगुणैः सुपूर्णाम् ॥९॥
स्वमाश्रमं निष्प्रभहेमवर्ज्यं, समीक्ष्य विप्रो विरमं जगाम ।
समीहमानः सुरराज्यमाशु, प्रियां तदोवाच महात्रिपुत्रः ॥१०॥

सहित यज्ञ प्रारम्भ किया। उस यज्ञ के होता हव्य-वाहन अग्नि स्वयं थे। इस प्रकार यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर पुनः उन्होंने माहेश्वरी इष्टि का अनुष्ठान कर महान् ऐश्वर्य एवं सर्वत्र गमन करने की शक्ति प्राप्त कर ली। वे विपेन्द्र इन्द्र के रम्य-भवन, स्वर्गलोक और रसातल में अपनी तपस्या के शुभ प्रभाव से स्वेच्छापूर्वक जाते थे। वे किसी समय स्वर्ग में गये, फिर घूमते हुए इन्द्रलोक में पहुँचे। वहाँ मंगलमय देवताओं के मध्य में बैठे हुए इन्द्र को देखा, जिनकी स्तुति सिद्ध और साध्यगण कर रहे थे, जो स्वयं उत्तम नृत्य को देख रहे थे, गन्धर्वों के मधुर गान को सुन रहे थे, अप्सराएँ जिनको पंखा झल रही थीं। उन महेन्द्र को, जो उच्च आसन पर बैठे हुए थे, समीप बैठे हुए सुरनायक जिनकी पूजा कर रहे थे, जो अपने पुत्र जयन्त को गोद में बैठाकर शची के साथ प्रेमाप कर रहे थे, जो महान् सज्जनों के एकमात्र आश्रय और वर देने वाले थे, देखकर विप्रेन्द्र महात्मा मुनि इन्द्र की लक्ष्मी से मोहित हो गये। मन-ही- मन उन्होंने उस इन्द्र-राज्य की इच्छा की। पुनः वहाँ देवताओं से भलीभाँति सम्मानित होकर अपने आश्रम में चले आये। उस इन्द्रपुरी को अतिमनोहर, विविध-रत्नों से सुसज्जित, ऐश्वर्यों और उत्तम पदार्थों से भरी-पूरी देखकर और इसके विपरीत अपने आश्रम को, ऐश्वर्य एवं श्री से हीन देखकर वह विप्र उदास हो गया। उस ऐश्वर्य-कामी अत्रि-पुत्र के मन में शीघ्र इन्द्र-पद पाने की इच्छा हो गयी। तब उन्होंने अपनी स्त्री से कहा॥१-१०॥

---

[1] घ. च. चन्द्रस्य ।

आत्रेय उवाच

भोक्तुं न शक्तोऽस्मि फलानि मूलान्यनुत्तमान्यप्यतिसंस्कृतानि ।
स्मृत्वाऽमृतं पुण्यतमं च तत्र, भक्ष्यं च भोज्यं च वरासनानि ॥
स्तुतिं च दानं च सभां शुभां च, अस्त्रं च वासांसि पुरीं वनानि ॥११॥

ब्रह्मोवाच

ततो महात्मा तपसः प्रभावात्त्वष्टारमाहूय वचो बभाषे ॥१२॥

आत्रेय उवाच

इच्छेयमिन्द्रत्वमहं महात्मन्कुरुष्व शीघ्रं पदमैन्द्रमत्र ।
ब्रूषेऽन्यथा चेन्मदुदीरितं त्वं, भस्मीकरोम्येव न संशयोऽत्र ॥१३॥

ब्रह्मोवाच

तदत्रिवाक्यात्त्वरितः प्रजानां, स्रष्टा विभुर्विश्वकर्मा तदैव ।
चकार मेरुं च पुरीं सुराणां, कल्पद्रुमान्कल्पलतां च धेनुम् ॥१४॥
चकार वज्रादिविभूषितानि, गृहाणि शुभ्राण्यतिचित्रितानि ।
चकार सर्वावयवानवद्यां, शचीं स्मरस्येव विहारशालाम् ॥१५॥
सभां सुधर्माणमहो क्षणेन, तथा चकाराप्सरसो मनोज्ञाः ।
चकार चोच्चैःश्रवसं गजं च, वज्रादि चास्त्राणि सुरानशेषान् ॥१६॥

अत्रि ने कहा—इन परिष्कृत एवं अत्युत्तम फल-फूलों को खाने में मैं असमर्थ हूँ । स्वर्ग के उन अमृतमय, पवित्रतम भक्ष्य और भोज्य पदार्थों, उत्तम आसनों, स्तुति, दान, उत्तम सभा, अस्त्र, वस्त्र, पुरी और वनों को देखकर इन फलमूलों से अरुचि हो गयी है ॥११॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद महात्मा आत्रेय ने अपनी तपस्या के प्रभाव से त्वष्टा को बुलाकर कर कहा ॥१२॥

आत्रेय ने कहा—महात्मन् ! मैं इन्द्रत्व को प्राप्त करना चाहता हूँ । शीघ्र ही यहाँ ऐन्द्र पद के उपयुक्त व्यवस्था कर दो । यदि मेरे कहने के विरुद्ध एक भी शब्द निकाले तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मैं तुमको जलाकर भस्म कर दूँगा ॥१३॥

ब्रह्मा ने कहा—उस आत्रेय की आज्ञा से शीघ्र ही प्रजाओं के स्रष्टा, व्यापक विश्वकर्मा ने मेरुपर्वत, देवपुरी, कल्पद्रुम, कल्पलता, धेनु आदि की सृष्टि कर दी । अति विचित्र वज्र (मणि), आदि से जटित सौधशालाएँ बना दी गईं । सर्वाङ्गसुन्दरी, कामदेव की विहारशाला के समान शची तुरंत प्रस्तुत कर दी गयीं । मनोहर देवसभा और अप्सराएँ क्षण भर में ही बना दी गयी । उच्चैःश्रवा, ऐरावत, वज्रादि अस्त्र और सम्पूर्ण देवता वहाँ प्रस्तुत कर दिये गये । प्रिया के बार-बार मना करने पर भी उस शची रूपिणी शची को ऋषि ने अपनी पत्नी बना लिया । तब उसके बाद

निवार्यमाणः प्रिययाऽत्रिपुत्रः, शचीसमामात्मवधूं चकार ।
तदाऽत्रिपुत्रोऽत्रिमुखैः समेतो, वज्रादिरूपं च चकार चास्त्रम् ॥१७॥
नृत्यादि गीतादि च सर्वमेव, चकार शक्रस्य पुरे च दृष्टम् ।
तत्सर्वमासाद्य तदा मुनीन्द्रः, प्रहृष्टचेताः सुतरां बभूव ॥१८॥
आपातरम्येष्वपि कस्य नाम, भवत्यपेक्षा न हि गोचरेषु ।
श्रुत्वा च दैत्या दनुजाः समेता, रक्षांसि कोपेन युतानि सद्यः ॥१९॥
स्वर्गं परित्यज्य कुतो हरिर्भुवं, समागतो न्वेष मिथः सुखाय ।
तस्माद्वयं याम इतो नु योद्धुं, वृत्रस्य हन्तारमदीर्घसत्रम्[1] ॥२०॥
ततः समागत्य तदाऽत्रिपुत्रं, संवेष्टयामासुरथासुरास्ते ।
संवेष्टयित्वा पुरमत्रिपुत्रकृतं तथा चेन्द्रपुराभिधानम् ॥
तैर्वध्यमानः शस्त्रपातैर्महद्भिस्ततो भीतो[2] वाक्यमिदं जगाद ॥२१॥

आत्रेय उवाच

यो जात एवं प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां, नृम्णस्य मह्ना सजना स इन्द्रः ॥२२॥

अत्रि-पुत्र ने अत्रि-प्रमुख ऋषियों के सामने ही वज्रादि अस्त्रो को अपना अस्त्र बना लिया । नृत्य, गीत आदि सब कुछ की व्यवस्था—जैसा कि इन्द्रपुरी में उन्होंने देखा था—कर ली । उस समय उन सम्पूर्ण सुखद सामग्रियों को पाकर मुनीन्द्र स्वयमेव प्रसन्न चित्त हो गये । सत्य भी है, आपातरम्य (देखने में ऊपर से अतिआकर्षक) विषय के सामने आ जाने पर किसको भोगाकांक्षा नहीं हो जाती है ? जब दैत्यों, मनुजों और राक्षसों ने यह सुना तब वे कुपित हो गये । सोचने लगे कि किस कारण यह इन्द्र स्वर्ग को छोड़कर यहाँ पृथ्वी पर आ गया है । यह तो हम लोगों के लिए प्रसन्नता की बात है । इसलिये हम वृत्र-हन्ता, दीर्घकालीन यज्ञों से विमुख इस इन्द्र से युद्ध करने के लिए यहाँ (दैत्यलोक) से प्रस्थान करें । इस प्रकार निश्चय करके उन असुरों ने दैत्यलोक से आकर अत्रि-पुत्र को घेर लिया । अत्रि-पुत्र से बसाये गये उस इन्द्रपुर नामक नगर को घेरकर महान् भयंकर शस्त्रों के प्रहार से उनको मारने लगे । तब अस्त्र-प्रहार से भयभीत होकर आत्रेय ने यह कहा ॥१४-२१॥

अत्रिपुत्र ने कहा—जो उत्पन्न होते ही सबका मुखिया बन गया, जिसने स्वयं देव होकर भी अन्य देवों को वशीभूत कर लिया, जिसके शारीरिक बल से स्वर्ग और पृथ्वी काँप उठी, हे असुर जनो ! यह ऐश्वर्यशाली इन्द्र है (मैं नहीं) ॥२२॥

---

[1] घ. च. ०र्घसूत्र० । [2] क. ङ्. ०तो हरिर्वाक्य० ।

ब्रह्मोवाच

इत्यादिसूक्तेन रिपूनुवाच, हरिं च तुष्टाव तदाऽत्रिपुत्रः ॥२३॥

आत्रेय उवाच

नाहं हरिर्नैव शची मदीया, नेयं पुरी नैव वनं तदैन्द्रम् ।
स एव चेन्द्रो वृत्रहन्ता स वज्री, सहस्राक्षो गोत्रभिद्वज्रबाहुः ॥२४॥
अहं तु विप्रो वेदविद्ब्रह्मवृन्दैः, समाविष्टो गौतमीतीरसंस्थः ।
यत्राऽऽयत्यां नाद्य वा सौख्यहेतुस्तच्चाकार्षं कर्म दुर्दैवयोगात् ॥२५॥

असुरा ऊचुः

संहरस्वेदमात्रेय यदिन्द्रस्य विडम्बनम् । क्षेमस्ते भविता सत्यं नान्यथा मुनिसत्तम ॥२६॥

ब्रह्मोवाच

तदाऽऽत्रेयोऽब्रवीद्वाक्यं यथा वक्ष्यन्ति मामिह। करोम्येव महाभागाः सत्येनाग्निं समालभे ॥२७॥
एवमुक्त्वा स दैतेयांस्त्वष्टारं पुनरब्रवीत् ॥२८॥

आत्रेय उवाच

यत्कृतं त्वत्र मत्प्रीत्या ऐन्द्रं त्वष्टः पदं त्वया । संहरस्व पुनः शीघ्रं रक्ष मां ब्राह्मणं मुनिम् ॥२९॥
पुनर्देहि पदं मह्यमाश्रमं मृगपक्षिणः । वृक्षांश्च वारि यत्राऽऽसीन्न मे दिव्यैः प्रयोजनम् ॥
सर्वमक्रममायातं न सुखाय मनीषिणाम् ॥३०॥

ब्रह्मा ने कहा—तब इस सूक्त से अत्रि-पुत्र ने इन्द्र की महत्ता व्यक्त की और पुनः अपने शत्रुओं से कहा ॥२३॥

आत्रेय बोले—मैं इन्द्र नहीं हूँ, न तो यह शची और नगरी ही मेरी है और न यह नन्दनवन ही मेरा है। वस्तुतः स्वर्गस्थ इन्द्र ही इन्द्र हैं, वही वृत्र-हन्ता, वज्र धारण करने वाला, सहस्र नेत्र वाला, पर्वतों के पंखों को काटने वाला, वज्रबाहु इन्द्र है। मैं तो वेदों को जानने वाला ब्राह्मण हूँ, सर्वदा ब्राह्मणों के सहित इस गौतमी-तीर पर रहा करता हूँ। जिसके द्वारा भविष्य अथवा वर्तमान कभी भी सुख का मूल नहीं प्राप्त हो सकता अर्थात् जिस कर्म से कभी सुख नहीं प्राप्त होता, उस कर्म की ओर मैं दुर्दैव की प्रेरणा से आकृष्ट हो गया हूँ ॥२४-२५॥

असुरों ने कहा—आत्रेय ! तो तुमने जो यह इन्द्र का ढोंग फैला रखा है, उसको समेटो। मुनिश्रेष्ठ ! यथार्थतः तुम्हारा कल्याण इसी में है, दूसरे में नहीं ॥२६॥

ब्रह्मा बोले—तब आत्रेय ने कहा—महाभाग ! जैसा आप लोग कहते हैं, वैसा ही करूँगा। अग्नि की शपथ है, सत्य कहता हूँ। इस प्रकार उन दैत्यों से कहकर पुनः उन्होंने त्वष्टा से कहा ॥२७-२८॥

आत्रेय ने कहा—त्वष्टा ! तुमने मेरी प्रसन्नता के लिए जिस ऐन्द्र-पद को यहाँ बनाया है, उसको शीघ्र दूर करो। इस प्रकार इस मुनि ब्राह्मण की रक्षा करो। पुनः मेरा वह मृग और पक्षियों से सुशोभित आश्रम ही दो जहाँ वृक्ष और जल का मधु स्रोत था, अब मुझे इन स्वर्गीय वस्तुओं की कुछ भी आवश्यकता नहीं। मनीषियों के लिए क्रमविरुद्ध (अकस्मात्) प्राप्त पदार्थ सुखद नहीं होते ॥२९-३०॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा प्रजानाथस्त्वष्टा संहृतवांस्तदा । दैत्याश्च स्वस्थानं जग्मुः कृत्वा देशमकण्टकम् ।।३१।।
त्वष्टा चापि ययौ स्थानं स्वकं संप्रहसन्निव । आत्रेयोऽपि तदा शिष्यैः संवृत्तः सह भार्यया ।।३२।।
गौतमीतीरमाश्रित्य तपोनिष्ठोऽखिलैर्वृतः । वर्तमाने महायज्ञे लज्जितो वाक्यमब्रवीत् ।।३३।।

आत्रेय उवाच

अहो मोहस्य महिमा ममापि भ्रान्तचित्तता । किं महेन्द्रपदं लब्धं किं मयाऽत्र पुरा कृतम् ।।३४।।

ब्रह्मोवाच

एवं वदन्तमात्रेयं लज्जितं प्राब्रुवन्सुराः ।।३५।।

सुरा ऊचुः

लज्जां जहि महाबाहो भविता[1] ख्यातिरुत्तमा । आत्रेयतीर्थे ये स्नानं प्राणिनः कुर्युरञ्जसा ।।३६।।
इन्द्रास्ते भवितारो वै स्मरणात्सुखभागिनः । तत्र पञ्च सहस्राणि तीर्थान्याहुर्मनीषिणः ।।३७।।
अन्विन्द्रात्रेयदैतेयनामभिः कीर्तितानि च । तेषु स्नानं च दानं च सर्वमक्षयपुण्यदम् ।।३८।।

ब्रह्मा बोले—तव ऐसा ही हो, यह कहकर प्रजापति त्वष्टा ने सव माया समेट ली । दैत्य भी यह देखकर उस स्थान को निरापद कर अपने स्थान को चले गये । त्वष्टा भी हँसते हुए-से अपने स्थान को लौट गये । अनन्तर आत्रेय भी अपने शिष्यों और भार्या के साथ गौतमी-तट पर तपोनिष्ठ हो रहने लगे । कुछ दिनों वाद पुनः महायज्ञ प्रारम्भ हुआ, उसमें सव देवों और ऋषियों के सामने ही लज्जित होकर उन्होंने कहा ।।३१-३३।।

आत्रेय ने कहा—अहो ! मोह की महिमा भी क्या है, जिसके कारण मेरे मन में भी भ्रान्ति हो गयी । मैंने पहले क्या (तप) किया था और फिर मोह में आकर किस प्रकार महेन्द्र-पद प्राप्त किया ।।३४।।

ब्रह्मा ने कहा—इस प्रकार कहने वाले लज्जित मुनि से देवों ने कहा ।।३५।।

देवताओं ने कहा—महावाहु ! लज्जा को छोड़ो, तुम्हारी उत्तम कीर्ति इस लोक में फैलेगी । इस आत्रेय तीर्थ में जो प्राणी विधिपूर्वक स्नान करेंगे, वे अवश्य इन्द्र होंगे और इस तीर्थ के स्मरण मात्र से प्राणी सुखभागी होंगे । वहाँ मनीषियों ने अन्य पाँच हजार अन्विन्द्र, आत्रेय, दैतेय आदि तीर्थों के नाम गिनाये हैं जिनमें स्नान और दान से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है ।।३६-३८।।

---

[1] घ. च. भवित्री ।

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा विबुधा याताः संतुष्टश्चाभवन्मुनिः ॥३९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्येऽन्विन्द्रात्रेयादिपञ्चसहस्रतीर्थवर्णनं
नाम चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४०॥
गौतमीमाहात्म्ये एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥७१॥

अथैकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कपिलासंगमाख्यानवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

कपिलासंगमं नाम तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । तत्र नारद वक्ष्यामि कथां पुण्यामनुत्तमाम्[1] ॥१॥
कपिलो नाम तत्त्वज्ञो मुनिरासीन्महायशाः । क्रूरश्चापि प्रसन्नश्च तपोव्रतपरायणः ॥२॥
तपस्यन्तं मुनिश्रेष्ठं गौतमीतीरमाश्रितम् । तमागत्य महात्मानं वामदेवादयोऽब्रुवन् ॥३॥
हत्वा वेनं ब्रह्मशापैर्नष्टधर्मे त्वराजके । कपिलं सिद्धमाचार्यमूचुर्मुनिगणास्तदा ॥४॥

मुनिगणा ऊचुः

गते वेदे गते धर्मे किं कर्त्तव्यं मुनीश्वर ॥५॥

ब्रह्मा बोले—यह कहकर देवता चले गये और मुनि भी सन्तुष्ट हो गये ॥३९॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में अन्विन्द्र-आत्रेयादि पाँच हजार तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ चालीसवाँ
अध्याय समाप्त ॥१४०॥

अध्याय १४१

कपिला-संगम की कथा का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—त्रिभुवन-विख्यात कपिला-संगम नामक एक तीर्थ है। नारद ! उस तीर्थ की अत्युत्तम पुण्यकथा को कह रहा हूँ, सुनो। महायशस्वी कपिल नामक तत्त्वदर्शी मुनि थे। वे क्रूर एवं प्रसन्न होकर भी तपस्या और व्रत परायण मुनि थे। गौतमी-तीर पर स्थित होकर तपस्या करते हुए उस महात्मा मुनिवर के पास आकर वामदेव आदि ऋषियों ने कहा कि जव वेन को व्रह्म-शाप से मार डाला गया, सारा राज्यधर्म नष्ट-भ्रष्ट हो गया और देश में अराजकता फैल गयी तव मुनियों ने सिद्ध आचार्य कपिल से कहा ॥१-४॥

मुनिगण बोले—मुनीश्वर ! वेदों के लुप्त हो जाने पर और धर्म के नष्ट हो जाने पर क्या करना उचित है ? ॥५॥

---

[1] एतदग्रे घ. च. पुस्तकयोः 'तिलोत्तमायास्तत्रैव संगमो लोकविश्रुतः । स्मरणात्सर्वपापानां नाशनः किंनु दर्शनात्' इत्यधिकः श्लोको वर्तते ।

ब्रह्मोवाच

ततोऽब्रवीन्मुनिर्ध्यात्वा कपिलस्त्वागतान्मुनीन् ॥६॥

कपिल उवाच

वेनस्योर्विमथ्योऽभूत्ततः कश्चिद्भविष्यति ॥७॥

ब्रह्मोवाच

तथैव चक्रुर्मुनयो वेनस्योरुं विमथ्य वै । तत्रोत्पन्नो महापापः कृष्णो रौद्रपराक्रमः ॥८॥
तं दृष्ट्वा मुनयो भीता निषीदस्वेति चाब्रुवन् । निषादः सोऽभवत्तस्मान्निषादाश्चाभवंस्ततः ॥९॥
वेनबाहुं ममन्थुस्ते दक्षिणं धर्मसंहितम् । ततः पृथुस्वरश्चैव सर्वलक्षणलक्षितः ॥१०॥
राजाऽभवत्पृथुः श्रीमान्ब्रह्मसामर्थ्यसंयुतः । तमागत्य सुराः सर्वे अभिनन्द्य वराञ्शुभान् ॥११॥
तस्मै ददुस्तथाऽस्त्राणि मन्त्राणि गुणवन्ति च । ततोऽब्रुवन्मुनिगणास्तं पृथुं कपिलेन च ॥१२॥

मुनय ऊचुः

आहारं देहि जीवेभ्यो भुवा [2]ग्रस्तौषधीरपि ॥१३॥

ब्रह्मोवाच

ततः स धनुरादाय भुवमाह नृपोत्तमः ॥१४॥

ब्रह्मा ने कहा—तब कपिल मुनि ने सोच-विचार कर आगत मुनियों से कहा ॥६॥

कपिल बोले—वेन का ऊरु प्रदेश यदि मथा जाय तो कोई समस्या का हल प्राप्त हो जायगा ॥७॥

ब्रह्मा बोले—मुनियों ने मुनि के आदेशानुसार वेन के ऊरु को मथा। उसमें से एक महापापी कृष्णकाय भयंकर बलशाली पुरुष उत्पन्न हुआ। उसको देखकर मुनि लोग डर गये। और 'निषीदस्व' (बैठो) ऐसा कहा। तब वह निषाद बन गया। उससे फिर निषादों की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर उन्होंने धर्मयुक्त वेन की दाहिनी भुजा को मथा। तब उसमें गम्भीर स्वर वाला, सब राजलक्षणों से युक्त, श्रीमान्, ब्रह्मशक्ति से युक्त पृथु नामक राजा उत्पन्न हुआ। उसके पास आकर सब देवों ने उसका स्वागत किया और उसको विभिन्न शुभ वरदान, अस्त्र और उपयोगी मन्त्र दिये। तदुपरान्त मुनियों ने कपिल के सहित उस पृथु से कहा ॥८-१२॥

मुनिगण बोले—समस्त जीवों को भोजन दो और पृथिवी द्वारा निगली हुई ओषधियाँ भी ॥१३॥

ब्रह्मा ने कहा—तब हाथ में धनुष लेकर उस नृपोत्तम ने पृथिवी से कहा—॥१४॥

---

[1] घ. च. ०मथ्याऽऽशु ततः । [2] घ. च. ग्रस्ता महौषधीः । त० ।

पृथुरुवाच

ओषधीर्देहि या ग्रस्ताः प्रजानां हितकाम्यया ॥१५॥

ब्रह्मोवाच

तमुवाच मही भीता पृथुं तं पृथुलोचनम् ॥१६॥

मह्युवाच

मयि जीर्णा महौषध्यः कथं दातुमहं क्षमा ॥१७॥

ब्रह्मोवाच

ततः सकोपो नृपतिस्तामाह पृथिवीं पुनः ॥१८॥

पृथुरुवाच

नो चेद्ददास्यद्य त्वां हत्वा दास्ये महौषधीः ॥१९॥

भूमिरुवाच

कथं हंसि स्त्रियं राजञ्ज्ञानी भूत्वा नृपोत्तम । विना मया कथं चेमाः प्रजाः संधारयिष्यसि ॥२०॥

पृथुरुवाच

यत्रोपकारोऽनेकानामेकनाशे भविष्यति । न दोषस्तत्र पृथिी तपसा धारये प्रजाः ॥२१॥
न दोषमत्र पश्यामि नाऽऽचक्षेऽनर्थकं वचः । यस्मिन्निपातिते सौख्यं बहूनामुपजायते ॥
मुनयस्तद्वधं प्राहुरश्वमेधशताधिकम् ॥२२॥

पृथु ने कहा—जिन ओषधियों को तुमने हजम कर लिया है, प्रजाओं की भलाई के लिए उनको शीघ्र लाओ ॥१५॥

ब्रह्मा ने कहा—भयभीत पृथिवी ने उस दीर्घनेत्र पृथु से कहा ॥१६॥

पृथ्वी ने कहा—वे महौषधियाँ तो मेरे उदर में जीर्ण हो गयीं। अब कैसे उनको दे सकती हूँ ? ॥१७॥

ब्रह्मा बोले—तब राजा कुपित होकर पुनः उस पृथिवी से बोले ॥१८॥

पृथु ने कहा—यदि नहीं दोगी तो आज तुमको मारकर प्रजा को महौषधियाँ दे दूँगा ॥१९॥

भूमि ने कहा—राजन् ! तुम ज्ञानी होकर कैसे स्त्री को मारने के लिए उद्यत हो ? नृपोत्तम ! मेरे बिना किस प्रकार इन प्रजाओं की रक्षा या पालन करोगे ? ॥२०॥

पृथु बोले—पृथिवी ! जहाँ एक के नाश से अनेक का उपकार होता हो, उस एक का वध करने में कोई दोष नहीं। प्रजाओं की रक्षा तो अपनी तपस्या के द्वारा कर लूँगा। इसमें कुछ भी दोष नहीं देख रहा हूँ, यह व्यर्थ की बातें मैं नहीं कर रहा हूँ। जिसके वध से बहुतों को सुख होता हो, उसके वध को मुनिगण सौ अश्वमेध से भी अधिक फल-प्रद बतलाते हैं ॥२१-२२॥

देवा ऊचुः

ततो देवाश्च ऋषयः सान्त्वयित्वा नृपोत्तमम् । महीं च मातरं देवीमूचुः सुरगणास्तदा ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

भूमे गोरूपिणी भूत्वा पयोरूपा महौषधीः । देहि त्वं पृथवे राज्ञे ततः प्रीतो भवेन्नृपः ॥
प्रजासंरक्षणं च स्यात्ततः क्षेमं भविष्यति ॥२४॥

देवा ऊचुः

ततो गोरूपमास्थाय[1] भूम्यासीत्कपिलान्तिके । दुदोह च महौषध्यो (धी) राजा वेनकरोद्भवः ॥२५॥
यत्र देवाः सगन्धर्वा ऋषयः कपिलो मुनिः । महीं गोरूपमापन्नां नर्मदायां महामुने ॥२६॥
सरस्वत्यां भागीरथ्यां गोदावर्यां विशेषतः । महानदीषु सर्वासु दुदुहेऽसौ पयो महत् ॥२७॥
सा दुह्यमाना[2] पृथुना पुण्यतोयाऽभवन्नदी । गौतम्या संगता चाभूत्तदद्भुतमिवाभवत् ॥२८॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं कपिलासंगमं विदुः । तत्राष्टाशीतिः पूज्यानि सहस्राणि महामते ॥२९॥
तीर्थान्याहुर्मुनिगणाः स्मरणादपि नारद । पावनानि जगत्यस्मिंस्तानि सर्वाण्यनुक्रमात् ॥३०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भृषिसंवादे तीर्थमाहात्म्ये कपिलासंगमाद्याष्टा-शीतिसहस्रतीर्थवर्णनं नामैकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४१॥

गौतमीमाहात्म्ये द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

ब्रह्मा ने कहा—तदनन्तर देवों और ऋषियों ने उस नृपवर्य को समझा-बुझा कर शान्त किया । तब देवों ने माता पृथिवी देवी से कहा ॥२३॥

देवगण बोले—भूमि ! तुम गौ रूप होकर दूध के रूप में महौषधियाँ राजा पृथु को दे दो । इससे राजा प्रसन्न हो जायँगे और तब प्रजा की रक्षा भी हो जायगी । इस प्रकार सबका कल्याण होगा ॥२४॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद पृथिवी गौ का रूप धारण कर कपिल के समीप खड़ी हो गयी, जहाँ गंधर्वों के सहित देवता, ऋषि और कपिलमुनि थे । वहाँ वेन के हाथ से उत्पन्न राजा ने महौषधियों को दूहा । महामुनि नारद ! गो-रूप धारण करने वाली उस पृथिवी के दूध को उस राजा ने नर्मदा, सरस्वती, भागीरथी, गोदावरी आदि विशिष्ट महानदियों में भली भाँति दूहा । पृथु से दूही गई वह कपिला (गौ) पवित्र जल वाली नदी बन गयी और वह गौतमी से जाकर मिल गयी । इस प्रकार उसका मिलन एक आश्चर्यजनक घटना हुई । तब से वह तीर्थ कपिला-संगम कहा जाने लगा । महामति ! वहाँ पर मुनिगण और अस्सी हजार पूज्य तीर्थ बतलाते हैं । नारद! इस संसार में वे सब तीर्थ क्रमशः स्मरणमात्र से सबको पुनीत कर देते हैं ॥२५-३०॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में कपिला-संगम-तीर्थ-वर्णन नामक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१४१॥

---

[1] क. घ. ङ. ०य कपिला कपिलान्ति० । [2] घ. च. दोह्यमाना ।

अथ द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

देवस्थानाख्यतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

देवस्थानमिति ख्यातं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् । तस्य प्रभावं वक्ष्यामि शृणु यत्नेन नारद ॥१॥
पुरा कृतयुगस्याऽऽदौ देवदानवसंगरे । प्रवृत्ते वा सिंहिकेति विख्याता दैत्यसुन्दरी ॥२॥
तस्याः पुत्रो महादैत्यो राहुर्नाम महाबलः । अमृते तु समुत्पन्ने सैंहिकेये च भेदिते ॥३॥
तस्य पुत्रो महादैत्यो मेघहास इति श्रुतः । पितरं घातितं श्रुत्वा तपस्तेपेऽतिदुःखितः ॥४॥
तपस्यन्तं राहुसुतं गौतमीतीरमाश्रितम् । देवाश्च ऋषयः सर्वे तमूचुरतिभीतवत् ॥५॥

देवर्षय ऊचुः

तपो जहि महाबाहो यत्ते मनसि संस्थितम् । सर्वं भवतु नामेदं शिवगङ्गाप्रसादतः ॥
शिवगङ्गाप्रसादेन किं नामास्त्यत्र दुर्लभम् ॥६॥

ब्रह्मोवाच

परिभूतः पिता पूज्यो युष्माभिर्मम दैवतम् । तस्यापि मम चात्यन्तं प्रीतिश्च क्रियते यदि ॥७॥

अध्याय १४२

देवस्थान नामक तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—त्रिभुवन में प्रसिद्ध देव-स्थान नामक एक तीर्थ है। नारद ! उसके प्रभाव का वर्णन कर रहा हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

बहुत पहले कृतयुग के आदि में देव-दानवों में युद्ध छिड़ा। उस समय सिंहिका नाम की प्रसिद्ध दैत्य-सुन्दरी थी। उसका राहु नामक महाबलवान् दैत्य पुत्र था। जब अमृत उत्पन्न हुआ, तब राहु अमृत-पान के कारण काट दिया गया। उस राहु का पुत्र मेघहास नामक महादैत्य था। अपने पिता का वध सुनकर दुःखी हो वह अतिभीषण तप करने लगा। गौतमी-तीर पर बैठकर तपस्या करने वाले उस राहु-पुत्र से देव और ऋषि भयभीत-से होकर बोले ॥१-५॥

देव और ऋषि बोले—महाबाहु ! तपस्या छोड़ दो। शिव और गंगा की कृपा से तुम्हारी जो कोई मनःकामना है, वह पूर्ण हो जायगी। इस संसार में शिव-गंगा की कृपा से कौन-सा पदार्थ दुर्लभ है ?॥६॥

मेघहास ने कहा—आप लोगों ने मेरे देवतुल्य पूज्य पिता को पराजित किया है। यदि उनका और मेरा अत्यन्त प्रिय करना चाहते हैं तो मैं अपनी इस तपस्या से आपके उस वैर को दूर कर रहा हूँ। पुत्र का यह कर्तव्य

भवद्भिस्तपसोऽस्माच्च अहं वैरान्निवर्तये । वैरनिर्यातनं कार्यं पुत्रेण पितुरादरात् ॥
प्रार्थयन्ते भवन्तश्चेत्पूर्णास्तन्मे मनोरथाः ॥८॥

ब्रह्मोवाच

ततः सुरगणाः सर्वे राहुं चक्रुर्ग्रहानुगम्[1] । तं चापि मेघहासं ते चक्रू राक्षसपुंगवम् ॥९॥
ततोऽभवद्राहुसुतो नैर्ऋताधिपतिः प्रभुः । पुनश्चाऽऽह सुरान्दैत्यो मम ख्यातिर्यथा भवेत् ॥१०॥
तीर्थस्यास्य प्रभावश्च दातव्य इति मे मतिः । तथेत्युक्त्वा ददुर्देवाः सर्वमेव मनोगतम् ॥११॥
दैत्येश्वरस्य देवर्षे तन्नाम्ना तीर्थमुच्यते[2] । देवा यतोऽभवन्सर्वे तत्र स्थाने महामते ॥१२॥
देवस्थानं तु तत्तीर्थं देवानामपि दुर्लभम् । यत्र देवेश्वरो देवो देवतीर्थं ततः स्मृतम् ॥१३॥
तत्राष्टादश तीर्थानि दैत्यपूज्यानि नारद । तेषु स्नानं च दानं च महापातकनाशनम् ॥१४॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये देवस्थानाद्यष्टादशतीर्थवर्णनं नाम
द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४२॥
गौतमीमाहात्म्ये त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥७३॥

है कि वह आदरपूर्वक पिता के वैर का वदला चुकाये । यदि आप लोग प्रसन्न हैं तो मैं आप लोगों से प्रार्थना करता हूँ कि मेरे मनोरथ पूर्ण हो जायँ ॥७-८॥

ब्रह्मा बोले—तब सब देवताओं ने राहु को ग्रहों की श्रेणी में परिगणित कर दिया और उस मेघहास को भी श्रेष्ठ राक्षस वना दिया । इसके बाद वह राहु-पुत्र नैर्ऋत दिशा का समर्थ स्वामी हो गया । पुनः उस दैत्य ने देवताओं से कहा कि मेरी कीर्ति जिस प्रकार हो वैसे ही इस तीर्थ को प्रभावशाली बनाइये, यही मेरा विचार है । देवताओं ने 'एवमस्तु' कह (उसे) मनोवांछित सब कुछ दे दिया । देवर्षिनारद ! उस दैत्येश्वर के नाम से वह तीर्थ कहा जाता है । महामते ! यतः उस स्थान पर सब देवता उपस्थित हुए, अतः वह तीर्थ देवों के लिए भी दुर्लभ देवस्थान नामक तीर्थ हो गया । जहाँ देवेश्वर देव हैं वह देवतीर्थ कहा जाता है । नारद । वहाँ दैत्यों से पूज्य अट्ठारह और तीर्थ हैं, उनमें स्नान और दान करने से महापातक भी नष्ट हो जाते हैं ॥९-१४॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में देवस्थान आदि अट्ठारह तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ बयालीसवाँ
अध्याय समाप्त ॥१४२॥

---

[1] घ. च. ग्रहाधिपम् । [2] क. ०मुत्तमम् । दे० ।

अथ त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

सिद्धतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

सिद्धतीर्थमिति ख्यातं यत्र सिद्धेश्वरो हरः । तस्य प्रभावं वक्ष्यामि सर्वसिद्धिकरं नृणाम् ॥१॥
पुलस्त्यवंशसंभूतो रावणो लोकरावणः । दिशो विजित्य सर्वाश्च[1] सोमलोकमजीगमत् ॥२॥
सोमेन सह योत्स्यन्तं दशास्यमहमब्रवम् । मन्त्रं दास्ये निवर्तस्व सोमयुद्धाद्दशानन ॥३॥
इत्युक्त्वाऽष्टोत्तरं मन्त्रं शतनामभिरन्वितम् । शिवस्य राक्षसेन्द्राय प्रादां नारद शान्तये ॥४॥
निःश्रीकाणां विपन्नानां नानाक्लेशजुषां नृणाम् । शरणं शिव एवात्र संसारेऽन्यो न कश्चन ॥५॥
ततो निवृत्तः स ह मन्त्रियुक्तस्तत्सोमलोकाज्जयमाप्य रक्षः ।
स पुष्पकारुढगतिः [2]सगर्वो, लोकान्पुनः प्राप जवाद्दशास्यः ॥६॥
स प्रेक्षमाणो दिवमन्तरिक्षं, भुवं च नागांश्च गजांश्च विप्रान्[3] ।
आलोकयामास नगं महान्तं, कैलासमावास उमापतेर्यः ॥७॥
दृष्ट्वा स्मयोत्फुल्लदृगद्रिराजं, स मन्त्रिणौ रावण इत्युवाच ॥८॥

अध्याय १४३

सिद्धतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—सिद्धतीर्थ नामक एक तीर्थ है, जहाँ सिद्धेश्वर हर निवास करते हैं। मनुष्यों को सब सिद्धियाँ देने वाले उसके प्रभाव को बता रहा हूँ। पुलस्त्यकुलोत्पन्न लोक-भयङ्कर रावण सम्पूर्ण दिशाओं को जीतकर चन्द्रलोक में पहुँचा। चन्द्रमा के साथ युद्ध-रत उस दशमुख से मैंने कहा—'दशानन ! तुमको मन्त्र दूँगा, चन्द्रमा के साथ युद्ध करना वन्द कर दो। नारद ! यह कहकर मैंने उसकी शान्ति के लिए उस राक्षसेन्द्र को शिव के एक सौ आठ नामों से युक्त मन्त्र दे दिया। इस संसार में श्रीहीन तथा विपद्ग्रस्त, अनेक क्लेशों को भोगने वाले मनुष्यों के शिव ही एकमात्र शरण हैं, दूसरा कोई नहीं। तब वह राक्षस सोमलोक को जीत कर मन्त्रियों के सहित वहाँ से लौटा। वह रावण गर्व के साथ पुष्पकविमान पर आरुढ़ होकर बड़े वेग से पुनः लोकों में गया। वह आकाश, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, नागों, गजों एवं विप्रों को देखने लगा। इतनें में उमापति का जो वासस्थान था, उस महापर्वत कैलास को उसने देखा। पर्वतराज को देखकर उस रावण के नेत्र आनन्द से खिल उठे। उसने अपने दोनों मन्त्रियों से कहा ॥१-८॥

१क. ङ. ०श्च देव लो० । २ङ. ०र्वो लङ्कां पुनः । ३घ. च. भूपान् ।

रावण उवाच

को वा गिरावत्र वसेन्महात्मा, गिरिं नयाम्येनमथाधि भूमेः ।
लङ्कागतोऽयं गिरिराशु शोभां, लङ्काऽपि सत्यं श्रियमातनोति ॥९॥

ब्रह्मोवाच

इत्थं वचो राक्षसमन्त्रिणौ तौ, निशम्य रक्षोधिपतेश्च भावम् ।
न युक्तमित्यूचतुरिष्टबुद्ध्या, निशाचरस्तद्वचनं न मेने ॥१०॥
संस्थाप्य तत्पुष्पकमाशु रक्षः, पुप्लाव कैलासगिरेश्च मूले ।
हिन्दोलयामास गिरिं दशास्यो, ज्ञात्वा भवः कृत्यमिदं चकार ॥११॥
जित्वा दिगीशांश्च सगर्वितस्य, कैलासमान्दोलयतः सुरारेः ।
अङ्गुष्ठकृत्यैव रसातलादिलोकांश्च यातस्य दशाननस्य ॥१२॥
आलूनकायस्य गिरं निशम्य, विहस्य देव्या सह दत्तमिष्टम ।
तस्मै प्रसन्नः कुपितोऽपि शंभुरयुक्तदातेति न संशयोऽत्र ॥१३॥
ततोऽयमावाप्य वरान्सुवीरो, भवप्रसादात्कुसुमं जगाम ।
गच्छन्स लङ्कां भवपूजनाय, गङ्गामगाच्छंभुजटाप्रसूताम् ॥१४॥
संपूजयित्वा विविधैश्च मन्त्रैर्गङ्गाजलैः शंभुमदीनसत्त्वः ।
असिं स लेभे शशिखण्डभूषात्सिद्धिं च सर्वार्धिमभीप्सितां च ॥१५॥

रावण ने कहा—कौन महात्मा इस पर्वत पर रहते हैं ? मैं इस पर्वत को पृथ्वीतल पर ले जाना चाहता हूँ। यह गिरि लङ्का में अत्यन्त शोभा प्राप्त करेगा। इससे लङ्कापुरी की शोभा भी अधिक बढ़ जायेगी ॥९॥

ब्रह्मा ने कहा—वे दोनों राक्षस-मन्त्री राक्षसपति की ऐसी बातों को सुनकर उसके भाव को ताड़ गये। उन्होंने उसके हित की दृष्टि से कहा कि यह उचित नहीं है। किन्तु निशाचर ने उनकी बातें न मानीं। वह राक्षस अपने पुष्पक विमान को वहीं रखकर कैलासगिरि के मूल देश में कूद पड़ा। वहाँ जाकर वह दशानन उस पर्वत को हिलाने लगा। शंकर ने रावण की इस धृष्टता को जानकर ऐसा किया कि वह दिक्पालों को जीतने से गर्वित और कैलास को हिलाने वाले उस सुर-शत्रु दशानन को अँगूठे से दबा दिया। जिससे वह रसातललोक में धँसने लगा, उसका शरीर क्षत-विक्षत हो गया और वह जोरों से चिल्लाने लगा। अन्त में उसकी प्रार्थना को सुनकर देवी के सहित क्रुद्ध होते हुए भी शंकर ने प्रसन्न होकर हँसकर उसको वरदान दे दिया। वास्तव में शंकर अयोग्यों को भी दान देने वाले हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। शंकर की कृपा से वरों को पाकर वह वीर पुष्पक विमान के पास गया। लंका जाते समय वह शंकर की पूजा के लिए शिव की जटा से निकली हुई गंगा के पास गया। गंगा-जल और विविध मन्त्रों से उस पुरुषार्थी रावण ने शंभु की पूजाकर उस शशिमौलि से खड्ग, सिद्धियाँ और अभी-

---

१घ. ङ. पुरारेः।

मद्दत्तमन्त्रं शशिरक्षणाय, स साधयामास भवं प्रपूज्य ।
सिद्धे तु मन्त्रे पुनरेव लङ्कामयात्स रक्षोधिपतिः स तुष्टः ॥१६॥
ततः प्रभृत्येतदतिप्रभावं, तीर्थं महासिद्धिदमिष्टदं च ।
समस्तपापौघविनाशनं च, सिद्धैरशेषैः परिसेवितं च ॥१७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये सिद्धतीर्थाद्यष्टोत्तरशततीर्थवर्णनं नाम
त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४३॥
गौतमीमाहात्म्ये चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥७४॥

अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

परुष्णीसंगमतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

परुष्णीसंगमं चेति तीर्थं[1] त्रैलोक्यविश्रुतम् । तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि शृणु पापविनाशनम् ॥१॥
अत्रिराराधयामास ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् । तेषु तुष्टेषु स प्राह पुत्रा यूयं भविष्यथ ॥२॥
तथा चैका रूपवती कन्या मम भवेत्सुराः । तथा पुत्रत्वमापुस्ते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥३॥

प्सित सब ऋद्धियाँ प्राप्त कीं । उसने चन्द्र की रक्षा के लिए शंकर की पूजा कर मेरे दिये हुए मन्त्र का अनुष्ठान किया । मन्त्र-सिद्धि होने पर वह राक्षस-राज प्रसन्न होकर पुनः लंका में चला आया । तब से महासिद्धियों को देने वाला इष्टप्रद, अतिप्रभावशाली और समस्त विघ्नों को नष्ट करने वाला वह तीर्थ समस्त सिद्धों का प्रिय और सेव्य हो गया ॥१०-१७॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में सिद्ध-तीर्थ वर्णन नामक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१४३॥

अध्याय १४४

परुष्णी-संगम नामक तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—परुष्णी-संगम नामक तीर्थ त्रिलोक-प्रसिद्ध तीर्थ है । उसके पाप-विनाशक परिचय का वर्णन कर रहा हूँ, सुनो । अत्रि ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की आराधना की । उनके प्रसन्न होने पर उन्होंने उनसे कहा कि आप लोग मेरे पुत्र होइये और हे देवगण ! मुझे एक रूपवती कन्या भी हो । निदान वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर उनके पुत्र हुए । कुछ समय बाद अत्रि ने आत्रेयी नाम की एक शुभ कन्या उत्पन्न की और उस महात्मा के दत्त,

---

[1] घ. ङ. च. ०र्थं वेदेषु वि० ।

कन्यां च जनयामास शुभ्राऽऽत्रेयीति नामतः । दत्तः सोमोऽथ दुर्वासाः पुत्रास्तस्य महात्मनः ॥४॥
अग्नेरङ्गिरसो[1] जातो ह्यङ्गारैरङ्गिरा यतः । तस्मादङ्गिरसे प्रादादात्रेयीमातरोचिषम् ॥५॥
अग्नेः प्रभावात्परुषमात्रेयीं सर्वदाऽवदत् । आत्रेय्यपि च शुश्रूषां कुर्वती सर्वदाऽभवत् ॥६॥
तस्यामाङ्गिरसा जाता महाबलपराक्रमाः । अङ्गिराः परुषं वादीदात्रेयीं नित्यमेव च ॥७॥
पुत्रास्त्वाङ्गिरसा नित्यं पितरं शमयन्ति ते । सा कदाचिद्भर्तृवाक्यादुद्विग्ना परुषाक्षरात् ॥
कृताञ्जलिपुटा दीना प्राब्रवीच्छ्वशुरं गुरुम् ॥८॥

आत्रेय्युवाच

अत्रिजाऽहं हव्यवाह भार्या तव सुतस्य वै । शुश्रूषणापरा नित्यं पुत्राणां भर्तुरेव च ॥९॥
पतिर्मां परुषं वक्ति वृथैवोद्वीक्षते रुषा । प्रशाधि मां सुरज्येष्ठ भर्तारं मम दैवतम् ॥१०॥

ज्वलन उवाच

अङ्गारेभ्यः समुद्भूतो भर्ता ते ह्यङ्गिरा ऋषिः । यथा शान्तो भवेद्भद्रे तथा नीतिर्विधीयताम् ॥११॥
आग्नेयोऽग्नि समायातो तव भर्ता वरानने । तदा त्वं जलरूपेण प्लावयेथा मदाज्ञया ॥१२॥

आत्रेय्युवाच

सहेयं परुषं वाक्यं मा भर्ताऽग्नि समाविशेत् । भर्तरि प्रतिकूलानां योषितां जीवनेन किम् ॥१३॥

सोम और दुर्वासा तीन पुत्र हुए। अग्नि के अङ्गिरस पुत्र थे। जिस लिए अङ्गारों से उसकी उत्पत्ति हुई थी, इसलिए उसको अङ्गिरा कहते थे। अत्रि ने अपनी अतितेजस्वी कन्या अङ्गिरा को दे दी। अग्नि के प्रभाव से अङ्गिरा सर्वदा आत्रेयी को जली-कटी सुनाया करते थे, परन्तु आत्रेयी सर्वदा पति-शुश्रूषा करती रहती थी। उससे महाबलवान् और पराक्रमी आङ्गिरस उत्पन्न हुआ। अङ्गिरा नित्य प्रति आत्रेयी को कटु बातें सुनाया करता था। वे पुत्र आङ्गिरस नित्य पिता को शान्त किया करते थे। वह किसी दिन पति के कटु शब्दों से उद्विग्न हो गयी। उस दिन आत्रेयी ने हाथ जोड़कर अपने पूज्य श्वशुर से कहा ॥१-८॥

आत्रेयी ने कहा—हे हव्य को ढोने वाले अग्नि! मैं अत्रि-तनया आपके पुत्र की भार्या हूँ, प्रतिदिन पुत्रों और भर्त्ता की शुश्रूषा किया करती हूँ, फिर भी मेरे पति वृथा ही कटु शब्द कहा करते हैं, क्रोध से आँखें तरेर कर देखा करते हैं। सुरज्येष्ठ! कृपाकर मेरे भर्तृदेव और मुझको भी उचित उपदेश दीजिये ॥९-१०॥

अग्नि ने कहा—तुम्हारे भर्त्ता ऋषि अङ्गिरा अंगार से उत्पन्न हुए हैं। तो जिस प्रकार वह शांत हों भद्रे! वैसा ही उपाय करना चाहिए। सुन्दर आनन वाली! तुम्हारे पति आग्नेय जब अग्नि के पास आयें तब तुम जलरूप से उनको मेरी आज्ञा से डुवा दो ॥११-१२॥

आत्रेयी ने कहा—मैं उनके कटु वाक्यों को सह लूँगी, परन्तु मेरे भर्त्ता अग्नि में मत प्रवेश करें। भर्त्ता से

---

[1] च. ०ग्नेराङ्गि० ।

ज्वलन उवाच

इच्छेयं शान्तिवाक्यानि भर्तारं लभते तथा ॥१४॥
अग्निस्त्वप्सु शरीरेषु स्थावरे जङ्गमे तथा । तव भर्तुरहं धाम नित्यं च जनको मतः ॥१५॥
योऽहं सोऽहमिति ज्ञात्वा न चिन्तां कर्तुमर्हसि । किंचाऽऽपो मातरो देव्यो ह्यग्निः श्वशुर इत्यपि ॥
इति बुद्ध्या विनिश्चित्य मा विषण्णा भव स्नुषे ॥१६॥

स्नुषोवाच

आपो जनन्य इति यद्बभाषे, अग्नेरहं तव पुत्रस्य भार्या ।
कथं भूत्वा जननी चापि भार्या, विरुद्धमेतज्जलरूपेण नाथ ॥१७॥

ज्वलन उवाच

आदौ तु पत्नीं भरणात्तु भार्या, जनेस्तु जाया [1]स्वगुणैः कलत्रम् ।
इत्यादिरूपाणि बिभर्षि भद्रे, कुरुष्व वाक्यं मदुदीरितं यत् ॥१८॥
योऽस्यां प्रजातः स तु पुत्र एव, सा तस्य मातैव न संशयोऽत्र ।
तस्माद्वदन्ति श्रुतितत्त्वविज्ञाः, सा नैव योषित्तनयेऽभिजाते ॥१९॥

प्रतिकूल रहने वाली स्त्रियों के जीवन से क्या लाभ ? मैं तो जिस प्रकार भर्ता शान्ति-वचन कहने लगें वैसा ही करना चाहती हूँ ॥१३-१४॥

अग्नि बोले—अग्नि तो जल, शरीर, स्थावर और जंगम में रहता है । मैं तुम्हारे पति को उत्पन्न करने वाला और उनका धाम (आश्रय) हूँ । मैं तो जो हूँ वह हूँ ही या रहूँगा ही, ऐसा जानकर तुम कभी भी चिन्ता न करो । दूसरी बात यह है कि आप् (जल) देवी माता हैं, और अग्नि तुम्हारे ससुर हैं, इसका बुद्धि द्वारा निश्चय कर बहू ! तुम उदास मत होओ ॥१५-१६॥

स्नुषा बोली—'अग्ने ! आप् (जल) जननी हैं, यह आपने जो कहा वह ठीक नहीं; क्योंकि मैं तुम्हारे पुत्र की भार्या हूँ । नाथ ! भार्या होकर स्त्री किस प्रकार जननी हो सकती है ? यह तो जलरूप से (जननी बनना) विरुद्ध जान पड़ता है ॥१७॥

अग्नि के कहा—पहले (विवाह के समय) स्त्री पत्नी रहती है, पुनः भरण-पोषण करने से भार्या बन जाती है, पुत्रोत्पत्ति के कारण जाया और अपने गुणों के कारण कलत्र कहलाती है । भद्रे ! इस प्रकार स्त्री होने के नाते तुम इन विविध रूपों को धारण करती हो, अतः मैं जो कह रहा हूँ उसको करो । जो पति इसमें (स्त्री में) उत्पन्न हुआ वह तो पुत्र ही हुआ और वह उसकी माता हुई, इसमें सन्देह नहीं । इसलिए वेद-मर्मज्ञों ने कहा है कि पुत्र उत्पन्न हो जाने पर स्त्री योषित् नहीं प्रत्युत जननी हो जाती है ॥१८-१९॥

---

[1] ङ. सुगुणैः ।

ब्रह्मोवाच

श्वशुरस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वाऽऽत्रेयी तदैव तत् । आग्नेयं रूपमापन्नमम्भसाऽप्लावयत्पतिम् ॥२०॥
उभौ तौ दंपती ब्रह्मन्संगतौ गाङ्गवारिणा । शान्तरूपधरौ चोभौ दंपती संबभूवतुः ॥२१॥
लक्ष्म्या युक्तो यथा विष्णुरुमया शंकरो यथा । रोहिण्या च यथा चन्द्रस्तथाऽभून्मिथुनं तदा ॥२२॥
भर्तारं प्लावयन्ती सा दधाराम्बुमयं वपुः । परुष्णी चेति विख्याता गङ्गया संगता नदी ॥२३॥
गोशतार्पणजं पुण्यं परुष्णीस्नानतो भवेत् । तत्र चाऽऽङ्गिरसाश्चक्रुर्यज्ञांश्च बहुदक्षिणान् ॥२४॥
तत्र त्रीणि सहस्राणि तीर्थान्याहुः पुराणगाः[1] । उभयोस्तीरयोस्तात पृथग्यागफलं विदुः ॥२५॥
तेषु स्नानं च दानं च वाजपेयाधिकं मतम् । विशेषतस्तु गङ्गायाः परुष्ण्या सह संगमे ॥२६॥
स्नानदानादिभिः पुण्यं यत्तद्वक्तुं न शक्यते ॥२७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये परुष्णीसंगमादित्रिसहस्रतीर्थवर्णनं
नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४४॥

गौतमीमाहात्म्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥७५॥

ब्रह्मा बोले—ससुर की इन बातों को सुनकर आत्रेयी ने उसी समय उस आग्नेय रूप पाये हुए पति को जल में डुबो दिया। ब्रह्मन् ! वे दोनों दम्पती गङ्गा-जल से मिल जाने पर शान्तस्वरूप वाले दम्पती बन गये। जिस प्रकार लक्ष्मी से युक्त विष्णु, उमा से युक्त शिव और रोहिणी से युक्त चन्द्रमा की शोभा होती है, उसी प्रकार वे दोनों युगल दम्पती सुशोभित हुए। भर्ता को जल से डुबोती हुई उसने जलमय शरीर धारण किया था, अतः वह परुष्णी नाम से विख्यात हुई और वह नदी गंगा में जाकर मिली। परुष्णी में स्नान करने से सौ गोदान का पुण्य प्राप्त होता है। उस संगम तीर्थ में आंगिरसों ने बहुत-सी दक्षिणा वाले अनेक यज्ञ किये। पुराण-गायक लोग वहाँ और तीन हजार तीर्थ बताते हैं। तात! वहाँ दोनों तटों के यज्ञों का फल पृथक्-पृथक् कहा जाता है। उनमें स्नान और दान करने से वाजपेय यज्ञ से भी अधिक फल मिलता है, ऐसा कहा जाता है। गंगा और परुष्णी के संगम में स्नान-दान करने से जो विशेष पुण्य मिलता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२०-२७॥

श्रीब्रह्ममहापुराण मे परुष्णी-संगम-तीर्थ-वर्णन नामक एक सौ चौवालीसवाँ
अध्याय समाप्त ॥१४४॥

---

[1] घ. पुराविदः ।

अथ पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेयतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

मार्कण्डेयं नाम तीर्थं सर्वपापविमोचनम् । सर्वक्रतुफलं पुण्यमघौघविनिवारणम् ।।१।।
तस्य प्रभावं वक्ष्यामि शृणु नारद यत्नतः । मार्कण्डेयो भरद्वाजो वसिष्ठोऽत्रिश्च गौतमः ।।२।।
याज्ञवल्क्यश्च जाबालिर्मुनयोऽन्येऽपि नारद । एते शास्त्रप्रणेतारो वेदवेदाङ्गपारगाः ।।३।।
पुराणन्यायमीमांसाकथासु परिनिष्ठिताः । मिथः समूचुर्विद्वांसो मुक्तिं प्रति यथामति ।।४।।
केचिज्ज्ञानं प्रशंसन्ति केचित्कर्म तथोभयम् । एवं विवदमानास्ते मामूचुरुभयं मतम् ।।५।।
मदीयं तु मतं ज्ञात्वा ययुश्चक्रगदाधरम् । तस्य चापि मतं ज्ञात्वा ऋषयस्ते महौजसः ।।६।।
पुनर्विवदमानास्ते शंकरं प्रष्टुमुद्यताः । गङ्गायां च भवं पूज्य तमेवार्थं शशंसिरे ।।७।।
कर्मणस्तु प्रधानत्वमुवाच त्रिपुरान्तकः । क्रियारूपं च तज्ज्ञानं क्रिया सैव[1] तदुच्यते ।।८।।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि[2] कर्मणा सिद्धिमाप्नुयुः । कर्मैव विश्वतोव्यापि तदृते नास्ति किंचन ।।९।।
विद्याभ्यासो[3] यज्ञकृतिर्योगाभ्यासः शिवार्चनम् । सर्वं कर्मैव नाकर्मी प्राणी क्वाप्यत्र विद्यते ।।१०।।

अध्याय १४५

मार्कण्डेयतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—सब पापों को छुड़ाने वाला, सब यज्ञ-फलों को देने वाला, पवित्र और अघ-समूह को नष्ट करने वाला मार्कण्डेय नामक तीर्थ है। नारद ! उसके प्रभाव को कह रहा हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो। नारद ! मार्कण्डेय, भरद्वाज, वसिष्ठ, अत्रि, गौतम, याज्ञवल्क्य, जाबालि आदि मुनियों एवं अन्य शास्त्रकर्त्ता, वेदवेदाङ्ग के पारंगत, पुराण, मीमांसा और न्यायचर्चा में अति निष्ठा रखने वाले विद्वानों ने मुक्ति के विषय में अपनी सूझ के अनुसार परस्पर अपने विचार व्यक्त किये। कोई ज्ञान की प्रशंसा करते थे, तो कोई कर्म की, तो कोई कर्म और ज्ञान दोनों की। इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुए उन लोगों ने मेरे सामने दोनों पक्ष रखे। मेरे मत को जानकर लोग चक्रगदाधारी विष्णु के समीप गये। उनके मत को भी जानकर महातेजस्वी ऋषि पुनः अपने में विवाद करते हुए शंकर से पूछने के लिए तैयार हुए। गंगा में शंकर की पूजा कर उनसे पुनः उसी विवाद के विषय में निवेदन किया। त्रिपुरारि शिव ने कर्म का ही प्राधान्य बतलाते हुए कहा—वह ज्ञान भी कर्म रूप ही है और वही कर्म ज्ञान कहा जाता है। इसलिए सब प्राणी कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। कर्म ही विश्वव्यापी है। कर्म के विना कुछ भी सम्भव नहीं है। विद्याभ्यास, यज्ञकार्य, योगाभ्यास, शिवपूजा सब कुछ कर्म ही हैं। कोई प्राणी

---

[1] घ. ङ. कर्म । [2] क. ङ. कार्याणि । [3] घ. वेदाभ्यासे ।

ऋषीणां यत्र संवादो यत्र देवो महेश्वरः ॥११॥
कर्मैव कारणं तस्मादन्यदुन्मत्तचेष्टितम् । मार्कण्डं मुख्यतः कृत्वा ततो मार्कण्डमुच्यते ॥१२॥
चकार निर्णयं सर्वं कर्मणाऽवाप्यते नृभिः । पितॄणां पावनं पुण्यं स्मरणादपि सर्वदा ॥१३॥
तीर्थमृषिगणाकीर्णं गङ्गाया उत्तरे[1] तटे । वेदेन[2] चापि तत्प्रोक्तमृषयो मेनिरे च तत् ॥१४॥
तत्राष्टौ नवतिस्तात तीर्थान्याह जगन्मयः ।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये मार्कण्डेयाद्यष्टनवतितीर्थवर्णनं नाम
पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४५॥
गौतमीमाहात्म्ये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥७६॥

अथ षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कालञ्जरतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

यायातमपरं तीर्थं यत्र कालंजरः शिवः । सर्वपापप्रशमनं तद्वृत्तमुच्यते[3] मया ॥१॥

अकर्मी कहीं पर भी नहीं देखा गया है । इसलिए अन्य उन्मत्त चेष्टाओं (पागलपन के कामों) का भी कर्म ही कारण है ।' जहाँ ऋषियों का इस प्रकार का संवाद हुआ और जहाँ महेश्वर ने 'मनुष्य सब कुछ कर्म के द्वारा ही प्राप्त करता है' ऐसा निर्णय विशेष रूप से मार्कण्डेय को ही लक्षित करके किया, इसलिए उसको मार्कण्डेय तीर्थ कहते हैं । गंगा के उत्तर तट पर ऋषियों से व्याप्त तीर्थ पितरों को पवित्र करने वाला और सर्वदा स्मरणमात्र से भी पुण्यदायी है । तात ! जगद्व्यापक ने वहाँ अट्ठानबे तीर्थों को कहा है, वेदों ने भी उसको कहा है और ऋषियों ने भी इसका समर्थन किया है ॥१-१४॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में मार्कण्डेय आदि अट्ठानबे तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ पैंतीलीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१४५॥

अध्याय १४६

कालञ्जरतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—यायात नामक एक दूसरा तीर्थ है जहाँ कालंजर शिव रहते हैं । उसके सब पापों को शान्त करने वाला इतिहास मैं कह रहा हूँ । नहुष का पुत्र ययाति नामक राजा था, जो साक्षात् दूसरे इन्द्र के समान

---

[1] घ. दक्षिणे । [2] घ. देवेन । [3] घ. ङ. च. व्युष्टिस्तत्रोच्यते ।

ययातिर्नाहुषो राजा साक्षादिन्द्रः इवापरः । तस्य भार्याद्वयं चाऽऽसीत्कुललक्षणभूषितम् ॥२॥
ज्येष्ठा तु देवयानीति नाम्ना शुक्रसुता शुभा । शर्मिष्ठेति द्वितीया सा सुता स्याद्वृषपर्वणः ॥३॥
ब्राह्मण्यपि महाप्राज्ञा देवयानी सुमध्यमा । ययातेरभवद्भार्या सा तु शुक्रप्रसादतः ॥४॥
शर्मिष्ठा चापि तस्यैव भार्या या वृषपर्वजा । देवयानी शुक्रसुता द्वौ पुत्रौ समजीजनत् ॥५॥
यदुं च तुर्वसुं चैव देवपुत्रसमावुभौ । शर्मिष्ठा च नृपाल्लेभे त्रीन्पुत्रान्देवसंनिभान् ॥६॥
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च ययातेर्नृपसत्तमात् । देवयान्याः सुतौ ब्रह्मन्सदृशौ शुक्ररूपतः ॥७॥
शर्मिष्ठायास्तु तनयाः शक्राग्निवरुणप्रभाः । देवयानी कदाचित्तु पितरं प्राह दुःखिता ॥८॥

देवयान्युवाच

मम त्वपत्यद्वितयमभाग्याया भृगूद्वह । मम दास्याः सभाग्याया अपत्यत्रितयं पितः ॥९॥
तदेतदनुमृश्यायं दुःखमत्यन्तमागता[1] । मरिष्ये दानवगुरो ययातिकृतविप्रियात् ॥
मानभङ्गाद्वरं तात मरणं हि मनस्विनाम् ॥१०॥

ब्रह्मोवाच

तदेतत्पुत्रिकावाक्यं श्रुत्वा शुक्रः प्रतापवान् । कुपितोऽभ्याययौ शीघ्रं ययातिमिदमब्रवीत् ॥११॥

था। उसकी कुलीन और सब लक्षणों से सुशोभित दो स्त्रियाँ थीं। जेठी कल्याणमयी शुक्र-कन्या देवयानी नाम की और दूसरी वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा थी। वह सुन्दर कटिवाली, महाबुद्धिमती देवयानी ब्राह्मणी होते हुए भी शुक्र की कृपा से क्षत्रिय ययाति की भार्या हुई। वृषपर्वा-तनया शर्मिष्ठा भी उसी की पत्नी हुई। शुक्र-कन्या देवयानी ने दो पुत्रों को उत्पन्न किया। उन दोनों के नाम यदु और तुर्वसु थे। दोनों देव-पुत्रों के समान थे। शर्मिष्ठा ने भी नृपश्रेष्ठ ययाति से देव तुल्य तीन पुत्र—द्रुह्यु, अनु और पूरु—प्राप्त किये। ब्रह्मन् ! देवयानी के पुत्र रूप में शुक्र के समान थे, और शर्मिष्ठा के पुत्र इन्द्र, अग्नि और वरुण के समान तेजस्वी थे। किसी समय देवयानी ने अत्यंत दुःखी होकर पिता से कहा ॥१-८॥

देवयानी ने कहा—भृगुकुलोत्पन्न पिता जी ! मुझ अभागिनी के तो दो ही पुत्र हैं, किन्तु मेरी सौभाग्यवती दासी के तीन पुत्र हैं। इन बातों को सोचकर मुझे दुःख हो रहा है। दानव-गुरु ! ययाति के द्वारा किये गये अपमान से मैं मर जाऊँगी। तात ! मनस्वी के लिए मानभङ्ग की अपेक्षा मर जाना ही अच्छा है ॥९-१०॥

ब्रह्मा ने कहा—पुत्री की यह बात सुनकर प्रतापी शुक्र कुपित हो गये और शीघ्र ययाति के पास जाकर यह बोले ॥११॥

---

[1] क. ङ्. ०गतम् । म० ।

शुक्र उवाच

यदिदं विप्रियं मे त्वं सुतायाः कृतवानसि । रूपोन्मत्तेन राजेन्द्र तस्माद्वृद्धो भविष्यसि ।।१२।।
न च भोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयातुरः स्पृहयन्मनसैवाऽऽस्ते निःश्वासोच्छ्वासनष्टधीः ।।१३।।
वृद्धत्वमेव मरणं जीवतामपि देहिनाम् । तस्माच्छीघ्रं प्रयाहि त्वं जरां भूपातिदुर्धराम् ।।१४।।

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा ययातिस्तु शापं शुक्रस्य धीमतः । कृताञ्जलिपुटो राजा ययातिः शुक्रमब्रवीत् ।।१५।।

ययातिरुवाच

नापराध्ये न संकुप्ये नैवाधर्मं प्रवर्तये । अधर्मकारिणः पापाः शास्या एव महात्मनाम् ।।१६।।
धर्ममेव चरन्तं वै कथं मां [1]शप्तवानसि । देवयानी द्विजश्रेष्ठ वृथा मां वक्ति किंचन ।।१७।।
तस्मान्न मम विप्रेन्द्र शापं दातुं त्वमर्हसि । विद्वांसोऽपि हि निर्दोषे यदि कुप्यन्ति मोहिताः ।।
तदा न दोषो मूर्खाणां द्वेषाग्निप्लुष्टचेतसाम् ।।१८।।

ब्रह्मोवाच

ययातिवाक्याच्छुक्रोऽपि सस्मार सुतया कृतम् । असकृद्विप्रियं तस्य दिवा रात्रौ प्रचण्डया ।।१९।।
गतकोपोऽहमित्युक्त्वा काव्यो राजानमब्रवीत् ।।२०।।

शुक्र बोले—तुमने जो यह रूप के पीछे पागल होकर मेरी पुत्री का अपमान किया है, राजेन्द्र ! इस पाप से तुम बूढ़े हो जाओगे। विषयातुर होते हुए भी बूढ़ा व्यक्ति न तो विषयों का भोग ही कर सकता है और न त्याग ही। केवल वह मन से इच्छा करता रहता है। अतृप्ति के कारण वह सर्वदा आहें भरा करता है। उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। शरीरधारियों के लिए बुढ़ापा जीते जी मृत्यु है। इसलिए भूपाल ! तुम शीघ्र ही दुःखदायी बुढ़ापे का आलिङ्गन करो ।।१२-१४।।

ब्रह्मा बोले—धीमान् शुक्र के इस शाप को सुनकर राजा ययाति हाथ जोड़कर शुक्र से बोले ।।१५।।

ययाति ने कहा—महात्माओं द्वारा अधर्मी, पापी सर्वदा अनुशासित होते ही हैं, किन्तु मैंने न तो कोई अपराध किया है, न किसी पर क्रोध किया है और न अधर्म की ओर ही पग बढ़ाया है। सर्वदा धर्माचरण करने वाले मुझको आपने क्यों शाप दिया है ? द्विजश्रेष्ठ ! देवयानी व्यर्थ ही मुझ पर दोषारोपण कर रही है। विप्रेन्द्र ! इसलिए आपको मुझे शाप नहीं देना चाहिये था। यदि विद्वान् भी मोहित होकर निरपराधों पर इस प्रकार कोप करेंगे तो द्वेषाग्नि से जले हुए चित्त वाले मूर्खों को ऐसा कार्य करने में कोई दोष नहीं होगा ।।१६-१८।।

ब्रह्मा ने कहा—ययाति के कहने से शुक्र को भी अपनी दिन-रात बार-बार धृष्टता करने वाली प्रचण्ड कन्या के कृत्यों की याद आ गयी। उन्होंने 'मेरा क्रोध अब शान्त हो गया' ऐसा कहकर राजा से कहा ।।१९-२०।।

---

[1] घ. ङ. च. शप्तुमर्हसि।

शुक्र उवाच

ज्ञातं मयाऽनयाऽकारि विप्रियं न वदेऽनृतम् । शापस्येमं करिष्यामि शृणुष्वानुग्रहं नृप ॥२१॥
यस्मै पुत्राय संदातुं जरामिच्छसि मानद । तस्य सा यात्वियं राजञ्जरा पुत्राय मद्वरात् ॥२२॥

ब्रह्मोवाच

पुनर्ययातिः श्वशुरं शुक्रं प्राह विनीतवत् ॥२३॥
यो गृह्णाति मया दत्तां जरां भक्तिसमन्वितः । स राजा स्याद्दैत्यगुरो तदेतदनुमन्यताम् ॥२४॥

ययातिरुवाच

यो मद्वाक्यं नाभिनन्देत्सुतो दैत्यगुरो दृढम् । तं शपेयमनुज्ञाऽत्र दातव्यैव त्वया गुरो ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

एवमस्त्विति राजानमुवाच भृगुनन्दनः । ततो ययातिः स्वं पुत्रमाहूयेदं वचोऽब्रवीत् ॥२६॥

ययातिरुवाच

यदो गृहाण मे शापाज्जरां जातां सुतो भवान् । ज्येष्ठः सर्वार्थवित्प्रौढः पुत्राणां धुरि संस्थितः ॥
पुत्री तेनैव जनको यस्तदाज्ञावशे स्थितः ॥२७॥

ब्रह्मोवाच

नेत्युवाच यदुस्तातं ययातिं भूरिदक्षिणम् । ययातिश्च यदुं शप्त्वा तुर्वसुं काममब्रवीत् ॥२८॥

शुक्र ने कहा—मैंने जान लियवा कि उसने अवश्य अपराध किया है, परन्तु मैं कभी भी असत्य नहीं बोलता। नृप ! इस शाप का यह परिहार कर रहा हूँ। मानद ! जिस पुत्र को अपना बुढ़ापा देना चाहते हो, राजन् ! उसको यह बुढ़ापा मेरे वरदान से मिल जाय और तुम युवा हो जाओ ॥२१-२२॥

ब्रह्मा बोले—पुनः ययाति ने अति विनम्र भाव से श्वशुर शुक्र से कहा ॥२३॥

ययाति ने कहा—परन्तु दैत्यगुरो ! आप इस बात की अनुमति दीजिये कि जो भक्तिपूर्वक मेरे दिये हुए बुढ़ापे को अपना ले, वह राजा हो। दैत्यगुरो ! जो मेरे वाक्यों का दृढ़ता से अनादर करे उसको शाप भी दे दूँ। गुरो ! आप ऐसी भी आज्ञा दीजिये ॥२४-२५॥

ब्रह्मा बोले—भृगुनन्दन ने 'एवमस्तु' ऐसा राजा से कहा। तब राजा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को बुलाकर यह बात कही ॥२६॥

ययाति ने कहा—यदु ! शाप से पायी हुई मेरी इस जरा को ले लो, क्योंकि तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र, सब बातों को जानने वाले, वयस्क और सब पुत्रों के अग्रणी हो। पिता उस पुत्र से पुत्रवान् कहा जाता है, जो उसकी आज्ञा के अनुसार कार्य करे ॥२७॥

ब्रह्मा बोले—यदु ने अतिवैभवशाली पिता ययाति से 'नहीं' ऐसा कहा। ययाति ने यदु को शाप

नागृह्णात्तुर्वसुश्चापि पित्रा दत्तां जरां तदा । तं शप्त्वा चाब्रवीद्द्रुह्युं गृहाणेमां जरां मम ।।२९।।
द्रुह्युश्च नैच्छत्तां दत्तां जरा रूपविनाशिनीम् । अनुमप्यब्रवीद्राजा गृहाणेमां जरां मम ।।३०।।
अनुर्नेति तदोवाच शप्त्वा तं पूरुमब्रवीत् । अभिनन्द्य तदा पूरुर्जरां तां जगृहे पितुः ।।३१।।
सहस्रमेकं वर्षाणां यावत्प्रीतोऽभवत्पिता । यौवने यानि भोग्यानि वस्तूनि विविधानि च ।।३२।।
पुत्रयौवनसंपुष्टो ययातिर्बुभुजे सुखम् । ततस्तृप्तोऽभवद्राजा सर्वभोगेषु नाहुषः ।।
ततो हर्षात्समाहूय पुरुं पुत्रमथाब्रवीत् ।।३३।।

ययातिरुवाच

तृप्तोऽस्मि सर्वभोगेषु यौवनेन तवानघ । गृहाण यौवनं पुत्र जरां मे देहि कश्मलाम् ।।३४।।

ब्रह्मोवाच

नेत्युवाच तदा पूरुर्जरया क्षीयते मया । विकारास्तात भावानां दुर्निवाराः शरीरिणाम् ।।३५।।
बलात्कालागता सह्या जराऽप्यखिलदेहिभिः । सा चेद्गुरूपकाराय गृहीता त्यज्यते कथम् ।।३६।।
स्वीकृतत्यागपापाद्धि देहिनां मरणं वरम् । अथवा तु जरां राजंस्तपसा नाशयाम्यहम् ।।३७।।

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तु पितरं ययौ गङ्गामनुत्तमाम् । गौतम्या दक्षिणे पारे ततस्तेपे तपो महत् ।।३८।।

देकर तुर्वसु से बड़े प्यार से अपना मनोरथ कहा । उस समय तुर्वसु ने भी पिता के दिये हुए बुढ़ापे को नहीं लिया । राजा ने उसको भी शाप देकर द्रुह्यु से कहा—'मेरा यह बुढ़ापा ले लो ।' द्रुह्यु ने भी रूप-सौन्दर्य को विनष्ट करने वाली पितृ-दत्त जरा को अस्वीकार कर दिया । राजा ने अनु से भी कहा कि मेरी इस जरा को ले लो । अनु ने कहा 'कभी नहीं ।' तब उसको भी शाप देकर राजा ने पूरु से कहा । पूरु ने पिता का सम्मान कर पिता का बुढ़ापा ले लिया । पिता ययाति ने एक सहस्र वर्ष तक प्रसन्न एवं पुत्र की जवानी से परिपुष्ट होकर युवावस्थोचित जितने विविध भोग-पदार्थ और सुख थे, उनका उपभोग किया । इसके बाद जब राजा नहुष-पुत्र सब भोगों से तृप्त हो गये तब बड़ी प्रसन्नता से पुत्र पूरु को बुलाकर बोले ।।२८-३३।।

ययाति ने कहा—तुम्हारे इस यौवन से मैंने विविध भोगों का भोग किया । अब मैं तृप्त हो गया हूँ । पुत्र ! अब इस यौवन को ले लो और मेरी पापिनी वृद्धावस्था को दे दो ।।३४।।

ब्रह्मा बोले—तब पूरु ने कहा 'नहीं तात ! जरा से मेरी दुर्वासनाएँ नष्ट हो रही हैं । देह-धारियों के भाव-विकार कठिनाई से दूर करने योग्य होते हैं । अतः उन विकारों को दूर करने वाली जरा यदि हठात् समय की प्रेरणा से आ जाय तो भी सब देहधारियों को स्वीकार कर लेना चाहिये । वह यदि गुरु के उपकार के लिए हो तब तो उसको क्यों छोड़ा जाय । स्वीकार की हुई वस्तु के परित्याग जनित-पाप से देही का मर जाना ही अच्छा है । अथवा राजन् ! मैं इस जरा को तपस्या के द्वारा नष्ट किये देता हूँ ।।३५-३७।।

ब्रह्मा बोले—पिता से यह कहकर पूरु परमोत्तम गौतमी गंगा के पास गया और उसके दक्षिण तट पर

ततः प्रीतोऽभवद्देवः कालेन महता शिवः । लोकातीतमहोदारगुणसन्मणिभूषिताम् ॥
किं ददामीति तं प्राह पूरुं स सुरसत्तमः ॥३९॥

पूरुरुवाच

शापप्राप्तां जरां नाथ पितुर्मम सुराधिप । तां नाशयस्व देवेश पितृशप्तांश्च कोपतः ॥
मद्भ्रातृञ्शापतो मुक्तान्कुरुष्व सुरपूजित ॥४०॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा जगन्नाथः शापाज्जातां जरां तथा । [1]अनाशयज्जगन्नाथो भ्रातॄंश्चक्रे विशापिनः ॥४१॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं जरारोगविनाशनम् । अकालजजरादीनां स्मरणादपि नाशनम् ॥४२॥
तन्नाम्ना चापि विख्यातं कालंजरमुदाहृतम् । यायातं नाहुषं पौरं [2]शौक्रं शार्मिष्ठमेव च ॥४३॥
एवमादीनि तीर्थानि तत्राष्टोत्तरमेव च । शतं विद्यान्महाबुद्धे सर्वसिद्धिकरं तथा ॥४४॥
तेषु स्नानं च दानं च श्रवणं पठनं तथा । सर्वपापप्रशमनं भुक्तिमुक्तिप्रदं भवेत् ॥४५॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये कालंजराद्यष्टोत्तरशततीर्थवर्णनं नाम
षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४६॥
गौतमीमाहात्म्ये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥७७॥

महान् तपस्या करने लगा। तदनन्तर भगवान् शंकर बहुत समय बाद प्रसन्न हुए। उस सुर-वर ने लोकातीत महान् उदारता रूपी अच्छे मणि से भूषित उस पूरु से कहा कि 'क्या दूँ' ॥३८-३९॥

पूरु ने कहा—सुर-स्वामिन्! नाथ! शाप से पायी हुई मेरे पिता की जरा को नष्ट कर दीजिये। देवेश! देवपूजित! क्रोध से पिता द्वारा अभिशप्त मेरे भाइयों को शाप से मुक्त कर दीजिये ॥४०॥

ब्रह्मा ने कहा—'ऐसा ही हो' यह कहकर जगन्नाथ शंकर ने शाप से उत्पन्न जरा को नष्ट कर दिया और उसके भाइयों को भी शाप से मुक्त कर दिया। तब से वह तीर्थ जरा एवं रोग का विनाशक और स्मरणमात्र से भी असमय बुढ़ापे को दूर करने वाला हो गया। उस प्रभाव के कारण उसका नाम भी कालंजर हो गया। महाबुद्धे! यायात, नाहुष, पौर, शौक्र, शार्मिष्ठ आदि एक सौ आठ तीर्थ वहाँ विद्यमान हैं जो सब प्रकार की सिद्धियाँ देने वाले हैं। उनमें स्नान, दान, कथा-श्रवण, पठन आदि कर्म सब पापों को दूर करने वाले और भुक्ति-मुक्ति-प्रद हैं ॥४१-४५॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में यायात, कालंजर आदि एक सौ आठ तीर्थों का वर्णन नामक
एक सौ छियालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१४६॥

---

[1] घ. ङ. च. अनीनशज्ज०। [2] क. पौरं।

अथ सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अप्सरोयुगसंगमतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

[1]अप्सरोयुगमाख्यातमप्सरासंगमं ततः । तीरे च दक्षिणे पुण्यं स्मरणात्सुभगो भवेत् ॥१॥
मुक्तो भवत्यसंदेहं तत्र स्नानादिना नरः । स्त्री सती संगमे तस्मिन्नृतुस्नाता च नारद ॥२॥
वन्ध्याऽपि जनयेत्पुत्रं त्रिमासात्पतिना सह । स्नानदानेन वर्तन्ती नान्यथा मद्वचो भवेत् ॥३॥
अप्सरोयुगमाख्यातं तीर्थं येन च हेतुना । तत्रेदं कारणं वक्ष्ये शृणु नारद यत्नतः ॥४॥
स्पर्धाऽऽसीन्महती ब्रह्मन्विश्वामित्रवसिष्ठयोः । तपस्यन्तं गाधिसुतं ब्राह्मण्यार्थे यतव्रतम् ॥५॥
गङ्गाद्वारे समासीनं प्रेरितेन्द्रेण मेनका । तं गत्वा तपसो भ्रष्टं कुरु भद्रे ममाऽऽज्ञया ॥६॥
तदोक्तेन्द्रेण सा मेना विश्वामित्रं तपश्च्युतम् । कृत्वा कन्यां तथा दत्त्वा जगामेन्द्रपुरं पुनः ॥७॥
तस्यां गतायां सस्मार गाधिपुत्रोऽखिलं कृतम् । तं तु देशं परित्यज्य तीर्थं तु सुरवल्लभम् ॥८॥
जगाम दक्षिणां गङ्गां यत्र कालंजरो हरः । तपस्यन्तं तदोवाच पुनरिन्द्रः सहस्रदृक् ॥९॥

अध्याय १४७

अप्सरोयुग या अप्सरा-संगम तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—इसके बाद गौतमी के दक्षिण तीर पर अप्सरो-युग नामक एक पवित्र तीर्थ है, जिसको अप्सरासंगम भी कहते हैं। उसके स्मरण से भी मनुष्य भाग्यवान् हो जाता है। उस तीर्थ में स्नान आदि से मनुष्य निःसन्देह मुक्त हो जाता है। नारद ! उस संगम में यदि ऋतुस्नाता पतिव्रता स्त्री तीन महीने तक पति के साथ स्नान, दान आदि का व्रत करे तो वह चाहे बन्ध्या ही क्यों न हो, अवश्य पुत्र उत्पन्न करती है। नारद ! जिस कारण उसका अप्सरो-युग तीर्थ नाम पड़ा, वह बता रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो।

ब्रह्मन् ! विश्वामित्र और वसिष्ठ में बहुत बड़ी प्रति-स्पर्धा थी। महर्षि बनने के लिए विश्वामित्र ने व्रत धारण करके हरिद्वार में जाकर महान् तपस्या प्रारम्भ की। तपस्वी विश्वामित्र को तपोभ्रष्ट करने के लिए इन्द्र ने मेनका से कहा 'भद्रे ! मेरी आज्ञा से तुम विश्वामित्र के पास जाओ और उसको तपस्या से च्युत कर दो।' इन्द्र से इस प्रकार की आज्ञा पाकर मेनका ने विश्वामित्र को तपोभ्रष्ट कर दिया। वह उनसे एक कन्या उत्पन्न कर उनको देकर पुनः इन्द्रपुरी चली गयी। उसके चले जाने पर ऋषि को पिछली सारी बातों का स्मरण हुआ। शीघ्र उस प्रान्त और सुर-प्रिय तीर्थ को छोड़ दक्षिण गंगा के तट पर आये, जहाँ कालञ्जर महादेव स्थित हैं। पुनः उन्हें पहले की ही भाँति तपस्या में लीन देखकर सहस्राक्ष इन्द्र ने उर्वशी, मेना, रम्भा और तिलोत्तमा

---

[1] घ. ॰प्सरासंगमं स्या॰।

उर्वशीं च ततो मेनां रम्भां चापि तिलोत्तमाम् । नैवेत्यूचुर्भयत्रस्ताः पुनराह शचीपतिः ॥१०॥
गम्भीरां चातिगम्भीरामुभे ये गर्विते तदा । ते ऊचतुरुभे देवं सहस्राक्षं पुरंदरम् ॥११॥

गम्भीरातिगम्भीरे ऊचतुः

आवां गत्वा तपस्यन्तं गाधिपुत्रं महाद्युतिम् । च्यावयावो नृत्यगीत रूपयौवनसंपदा[1] ॥१२॥
यासामपाङ्गे हसिते वाचि विभ्रमसंपदि । नित्यं वसति पञ्चेषुस्ताभिः कोऽत्र न जीयते ॥१३॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्ते सहस्राक्षे त आगत्य महानदीम् । ददृशाते तपस्यन्तं[2] विश्वामित्रं महामुनिम् ॥१४॥
मृत्योरपि दुराधर्षं भूमिस्थमिव धूर्जटिम् । सहस्रमेकं वर्षाणामीक्षितुं न च शक्नुतः ॥१५॥
दूरे स्थिते नृत्यगीतचाटुकाररते तदा । विलोक्य मुनिशार्दूलस्ततः कोपाकुलोऽभवत् ॥१६॥
प्रतीपाचरणं दृष्ट्वा क्रोधः कस्य न जायते । निस्पृहोऽपि महाबाहुस्तमिन्द्रं प्रसहन्निव ॥१७॥
आभ्यां मुक्तः सहस्राक्षो ह्यप्सरोभ्यां ब्रुवन्निव । शशाप ते स गाधेयो द्रवरूपे भविष्यथः ॥१८॥
द्रवितुं मां समायाते यतस्त्विह ततो लघु । ततः प्रसादितस्ताभ्यां शापमोक्षं चकार सः ॥१९॥

आदि से उनको तपोभ्रष्ट करने के लिए कहा। परन्तु भयभीत होकर किसी ने कुछ नहीं कहा। तब पुनः शची-पति ने अपने रूप पर अभिमान करने वाली गम्भीरा और अतिगम्भीरा नामक अप्सराओं से कहा। उन दोनों ने सहस्रनेत्र इन्द्र से कहा ॥१-११॥

गम्भीरा और अतिगम्भीरा ने कहा—हम दोनों जाकर अपने सौन्दर्य और युवावस्था के प्रभाव से एवं अपने नृत्य और गीत के आकर्षण से उस तपोनिष्ठ, महातेजस्वी गाधि-सुत को च्युत कर देंगी। जिनके कटाक्ष, हास, वाणी और विलास में पञ्चशर मदन सर्वदा निवास करता है, उनसे भला कौन नहीं जीता जा सकता है ?॥१२-१३॥

ब्रह्मा ने कहा—इन्द्र की स्वीकृति मिल जाने पर दोनों अप्सराओं ने महानदी पर आकर तपोरत उस महामुनि को देखा, परन्तु मृत्यु से भी अधिक भयंकर, पृथ्वी पर स्थित भैरव शंकर के समान उस मुनि की ओर एक हजार वर्ष तक आँख उठाकर देखने का साहस नहीं हुआ। तब से वे दूर रहकर ही अपने नृत्य, गीत और हाव-भाव दिखाने में लग गयीं। उनकी यह लीला देखकर वशी विश्वामित्र क्रोध से व्याकुल हो गये। ठीक है—अनुचित व्यवहार को देखकर किसको क्रोध नहीं होता ? निस्पृह होते हुए भी उस महापराक्रमी गाधि-सुत ने इन्द्र पर हँसते और यह कहते हुए-से कि 'सहस्राक्ष इन्द्र इन अप्सराओं के भार से अब मुक्त हो गये' उन दोनों को शाप दे दिया कि 'तुम दोनों जल (द्रव) रूप हो जाओ, क्योंकि तुम दोनों मुझको यहाँ द्रवित (च्युत) करने के लिए आयी थीं। थोड़ी देर में ही उन दोनों ने मुनि को प्रसन्न कर दिया जिससे उस मुनि ने उसे शाप से मुक्त कर दिया और कहा—'जब तुम दोनों गंगा से मिलोगी तब उसी क्षण शाप से पाये हुए नदी रूप को छोड़ दिव्य रूप पा जाओगी।'

---

[1] घ. च. ०न भाषणैः । या० । [2] घ. ङ. च. ०न्तं दिवाकरमिवापरम् ।

भवेतां दिव्यरूपे वां गङ्गया संगते यदा। तच्छापात्ते नदीरूपे तत्क्षणात्संबभूवतुः ॥२०॥
अप्सरोयुगमाख्यातं नदीद्वयमतोऽभवत्। ताभ्यां परस्परं चापि ताभ्यां गङ्गासु संगमः ॥२१॥
सर्वलोकेषु विख्यातो भुक्तिमुक्तिप्रदः शिवः। तत्राऽऽस्ते दृष्ट एवासौ सर्वसिद्धिप्रदायकः ॥२२॥
तत्र स्नात्वा तु तं दृष्ट्वा मुच्यते [1]सर्वबन्धनात् ॥२३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्येऽप्सरोयुगसंगमतीर्थवर्णनं नाम
सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४७॥
गौतमीमाहात्म्येऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥७८॥

अथाष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कोटितीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

कोटितीर्थमिति ख्यातं गङ्गाया [2]दक्षिणे तटे। यस्यानुस्मरणादेव सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१॥
यत्र कोटीश्वरो देवः सर्वं कोटिगुणं भवेत्। कोटिद्वयं तत्र पूर्णं तीर्थानां शुभदायिनाम् ॥२॥
तत्र व्युष्टिं प्रवक्ष्यामि शृणु नारद तन्मनाः। कण्वस्य तु सुतो ज्येष्ठो बाह्लीक इति विश्रुतः ॥३॥

इसलिए नदीद्वय के संयोग से वह तीर्थ अप्सरोयुग नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनका परस्पर का संगम, पुनः उन दोनों का गंगा से संगम सब लोक में प्रसिद्ध हो गया। उस तीर्थ में भुक्ति-मुक्ति देने वाले एवं दर्शनमात्र से सब सिद्धियाँ देने वाले लोक-विख्यात शिव रहते हैं। तीर्थ में स्नान और उस शिव का दर्शन करने से मनुष्य सब बन्धनों से छूट जाता है ॥१४-२३॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में अप्सरोयुग-संगम-तीर्थ-वर्णन नामक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१४७॥

अध्याय १४८

कोटितीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—गंगा के दक्षिण तट पर कोटि-तीर्थ नामक एक तीर्थ है, जिसके स्मरण मात्र से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है ॥१॥ जहाँ कोटीश्वर देव हैं, वहाँ के प्रत्येक कार्य करोड़ गुना फल देते हैं। वहाँ पूरे दो करोड़ पवित्र तीर्थ हैं ॥२॥ नारद ! वहाँ के फल का वर्णन कर रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। कण्व के ज्येष्ठ पुत्र वाह्लीक नाम से प्रसिद्ध थे ॥३॥ और लोग उन्हें कण्व कहते थे। वेदवेदांग के पारंगत विद्वान्, वेदज्ञ काण्व अपनी भार्या

---

[1] घ. ङ. च. भवबन्धनैः। [2] घ. च. उत्तरे।

काण्वश्चेति जनैः ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः। इष्टीः पार्वायणानीर्याः सभार्यो वेदपारगः ॥४॥
कुर्वन्नास्ते स गौतम्यास्तीरस्थो लोकपूजितः। प्रातःकाले सभार्योऽसौ जुह्वदग्नौ समाहितः ॥५॥
सर्वदाऽऽस्ते कदाचित्तु हवनाय समुद्यतः। एकाहुतिं स हुत्वा तु समिद्धे हव्यवाहने ॥६॥
आहुत्यन्तरदानाय हविर्द्रव्यं करेऽग्रहीत्। एतस्मिन्नन्तरे वह्निरुपशशान्तोऽभवत्तदा ॥७॥
ततश्चिन्तापरः काण्वः कर्तव्यं किं भवेदिति। अन्तर्विचारयामास विषादं परमं गतः ॥८॥
आहुत्योश्च द्वयोर्मध्य उपशान्तो हुताशनः। अग्न्यन्तरमुपादेयं वैदिकं लौकिकं तथा ॥९॥
क्व होष्यं स्याद्द्वितीयं तु आहुत्यन्तरमेव च। एवं मीमांसमाने तु दैवी वागब्रवीत्तदा ॥१०॥
अग्न्यन्तरं नैव तेऽत्र उपादेयं भविष्यति। यानि तत्र भविष्यन्ति शकलानि समीपतः ॥११॥
अर्धदग्धेषु काष्ठेषु विप्रराज प्रहूयताम्। नेत्युवाच तदा काण्वः सैव वागब्रवीत्पुनः ॥१२॥
अग्नेः पुत्रो हिरण्यस्तु पिता पुत्रः स एव तु। पुत्रे दत्तं प्रियायैव पितुः प्रीत्यै भविष्यति ॥१३॥
पित्रे देयं सुते दद्यात्कोटिप्रीतिगुणं भवेत्। दैवी वागब्रवीदेवं ततः सर्वे महर्षयः ॥१४॥
निश्चित्य धर्मसर्वस्वं तथा चक्रुर्यथोदितम्। एतज्ज्ञात्वा जगत्यत्र पुत्रे दत्तं पितुर्भवेत् ॥१५॥
अपत्याद्युपकारेण पित्रोः प्रीतिर्यथा भवेत्। तथा नान्येन केनापि जगत्येतद्धि विश्रुतम् ॥१६॥
सुप्रसिद्धं जगत्येतत्सर्वलोकेषु पूजितम्। तस्मिन्दत्ते भवेत्पुण्यं सर्वं कोटिगुणं सुत ॥१७॥

के सहित गौतमी-तट पर पार्वायणानी नामक इष्टियों को करते हुए रहते थे।।४।। सर्वदा प्रातःकाल सावधानी से भार्यासहित अग्नि में हवन करते थे।।५।। एक दिन जब वे हवन के लिए तैयार हुए तब एक आहुति से अग्नि के प्रज्वलित होने पर दूसरी आहुति देने के लिए हवनीय द्रव्य को उन्होंने हाथ में लिया ही था कि इतने में अग्नि एकाएक बुझ गया।। ६-७।। तब काण्व विचार करने लगे कि अब क्या करना चाहिये। हृदय में विचार करने पर उनको अत्यन्त विषाद हुआ।।८।। दो आहुतियों के बीच में ही अग्नि बुझ गया। वैदिक (वेद-प्रतिष्ठित) या लौकिक अग्नि इसके लिए उपादेय (उपयुक्त) होगा कि नहीं, अब यह द्वितीय आहुति कहाँ दी जाय, इस प्रकार वे मीमांसा कर ही रहे थे कि इतने में आकाशवाणी हुई कि दूसरा अग्नि यहाँ तुम्हारे लिये उपयुक्त नहीं है।।९-१०$\frac{१}{२}$।। जो यहाँ समीप में अधजले काठ में अग्नि-खण्ड हैं, विप्रराज! उन्हीं में आहुति दो। यह सुनकर काण्व ने कहा कि नहीं। पुनः उसी दैवी वाणी ने कहा।।११-१२।। अग्नि का पुत्र हिरण्य है। पिता ही तो वह पुत्र है, प्रसन्न करने के लिए पुत्र को दिया हुआ द्रव्य पिता की प्रसन्नता का भी कारण बनता है।।१३।। पिता के देय को यदि पुत्र को दे दिया जाय तो वह पिता को करोड़ गुना आनन्द देता है। जब दैवी वाणी ने इस प्रकार कहा तब सब महर्षियों ने धर्म के रहस्य का निश्चय कर जैसा कि दैवी वाणी ने कहा था वैसा ही किया।।१४।। (तबसे) इस संसार में यह बात फैल गयी कि पुत्र को दिया हुआ पदार्थ पिता को दिया हुआ हो जाता है और पुत्र आदि के उपकार से पिता का जैसा उपकार होता है वैसा दूसरा कार्य करने से नहीं। पुत्र! यह बात भी संसार में प्रसिद्ध हो गयी कि यहाँ दान देने से करोड़ गुना फल होता है। इस बात को दैवी वाणी ने फिर कहा कि इस पवित्र काण्व तीर्थ में आत्म-ग्लानि दूर हो जाती तथा महान् सुख की प्राप्ति होती है।।१५-१७$\frac{१}{२}$।। मुनि काण्व के पुण्य के प्रभाव से वह तीनों लोकों के सब तीर्थों

मनोग्लानिनिवृत्तिश्च जायते च महत्सुखम्। पुनरप्याह सा वाणी काण्वेऽस्मिंस्तीर्थ उत्तमे ॥१८॥
अभवत्तन्महत्तीर्थं काण्वपुण्यप्रभावतः[1]। लोकत्रयाश्रयाशेषतीर्थेभ्योऽपि महाफलम् ॥१९॥
स्नानदानादिकं किंचिद्भक्त्या कुर्वन्समाहितः। फलं प्राप्स्यस्यशेषेण सर्वं कोटिगुणं मुने ॥२०॥
यत्किंचित्क्रियते चात्र स्नानदानादिकं नरैः। सर्वं कोटिगुणं विद्यात्कोटितीर्थं ततो विदुः ॥२१॥
यत्रैतद्वृत्तमाग्नेयं काण्वं पौत्रं हिरण्यकम्। वाणीसंज्ञं कोटितीर्थं कोटितीर्थफलं यतः ॥२२॥
कोटितीर्थस्य माहात्म्यमत्र वक्तुं न शक्यते। वाचस्पतिप्रभृतिभिरथ वाऽन्यैः सुरैरपि ॥२३॥
यत्रानुष्ठीयमानं हि सर्वं कर्म यथा तथा। गोदावर्याः प्रसादेन सर्वं कोटिगुणं भवेत् ॥२४॥
कोटितीर्थे द्विजाग्र्याय गामेकां यः प्रयच्छति। तस्य तीर्थस्य माहात्म्याद्गोकोटिफलमश्नुते ॥२५॥
तस्मिंस्तीर्थे शुचिर्भूत्वा भूमिदानं करोति यः। श्रद्धायुक्तेन मनसा स्यात्तत्कोटिगुणोत्तरम् ॥२६॥
सर्वत्र गौतमीतीरे पितॄणां दानमुत्तमम्। विशेषतः कोटितीर्थे तदनन्तफलप्रदम् ॥
अत्रैकन्यूनपञ्चाशत्तीर्थानि मुनयो विदुः ॥२७॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये काण्वाद्येकोनपञ्चाशत्तीर्थवर्णनं
नामाष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४८॥
गौतमीमाहात्म्य ऊनाशीतितमोऽध्यायः ॥७९॥

से अधिक फल देने वाला महान् तीर्थ हो गया। मुने! इस तीर्थ में मनुष्य एकाग्र होकर भक्तिपूर्वक स्नान-दान आदि जो कुछ करता है, उससे वह पूर्णरूप से करोड़ गुना फल पाता है ॥१८-२०॥ यहाँ मनुष्य स्नान, दान आदि जो कुछ करते हैं वे सब करोड़ गुना हो जाते है, इसीलिए उसको कोटि-तीर्थ कहा जाता है ॥२१॥ जहाँ यह घटना हुई उसको आग्नेय, काण्व, पौत्र, हिरण्यक, वाणीतीर्थ और कोटितीर्थ कहा जाता है; क्योंकि इससे कोटि तीर्थों का फल मिलता है ॥२२॥ कोटितीर्थ की महिमा का वर्णन बृहस्पति आदि अथवा दूसरे देवता भी नहीं कर सकते हैं ॥२३॥ उस तीर्थ में जिस किसी प्रकार किये गये कर्म गोदावरी की कृपा से कोटि-गुण फल देने वाले हो जाते हैं ॥२४॥ जो उस कोटि तीर्थ में किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण को एक गौ देता है, उस तीर्थ की महिमा से वह कोटि गो-दान का फल पाता हैं ॥२५॥ उस तीर्थ में पवित्र होकर जो श्रद्धायुत हृदय से भूमिदान करता है, वह कोटिगुण अधिक फल पाता है ॥२६॥ सर्वत्र गौतमी-तट पर पितरों के निमित्त दिया हुआ दान उत्तम है, परन्तु कोटि-तीर्थ में देने से वह अनन्त फल देने वाला हो जाता है। मुनि लोग यहाँ के उनचास तीर्थों को भलीभाँति जानते हैं ॥२७॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में कोटितीर्थ, काण्व आदि उनचास तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ
अड़तालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥१४८॥

---

[1] क. ०ण्यतमं ततः।

नारसिंहतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

नारसिंहमिति ख्यातं गङ्गाया उत्तरे तटे। तस्यानुभावं वक्ष्यामि सर्वरक्षाविधायकम् ॥१॥
हिरण्यकशिपुः पूर्वमभवद्बलिनां वरः। तपसा विक्रमेणापि देवानामपराजितः ॥२॥
हरिभक्तात्मजद्वेषकलुषीकृतमानसः। आविर्भूय सभास्तम्भाद्विश्वात्मत्वं प्रदर्शयन् ॥३॥
तं हत्वा नरसिंहस्तत्सैन्यमद्रावयत्तदा। सर्वान्हत्वा महादैत्यान्क्रमेणाऽऽजौ महामृगः ॥४॥
रसातलस्थाञ्शत्रूंश्च जित्वा स्वर्लोकमीयिवान्। तत्र जित्वा भुवं गत्वा दैत्यान्हत्वा नगस्थितान् ॥५॥
समुद्रस्थान्नदीसंस्थान्ग्रामस्थान्वनवासिनः। नानारूपधरान्दैत्यान्निजघान मृगाकृतिः ॥६॥
आकाशगान्वायुसंस्थाञ्ज्योतिर्लोकमुपागतान्। वज्रपाताधिकनखः समुद्धूतमहासटः ॥७॥
दैत्यगर्भस्राविगर्जी निर्जिताशेषराक्षसः। महानादैर्वीक्षितैश्च प्रलयानलसंनिभैः ॥८॥
चपेटैरङ्गविक्षेपैरसुरान्पर्यचूर्णयत्। एवं हत्वा बहुविधान्गौतमीमगमद्धरिः ॥९॥

अध्याय १४९

नारसिंह तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—गंगा के उत्तर तट पर नारसिंह नामक तीर्थ है, उसके सर्वरक्षक प्रभाव का वर्णन कर रहा हूँ। पूर्व समय में हिरण्यकशिपु नामक एक श्रेष्ठ बलवान् राक्षस हुआ। वह अपनी तपस्या और पराक्रम के कारण देवों के लिए अजेय हो गया। अपने हरि-भक्त पुत्र के प्रति द्वेष रखने से उसका मन कलुषित हो गया। तब नृसिंह रूप धारण कर भगवान् ने सभा-भवन के स्तम्भ से अपने विश्व-व्यापक रूप को दिखलाते हुए, प्रकट होकर उस राक्षस को मार डाला। फिर उन्होंने उस समय उसके सब सेना का भी संहार कर दिया। नृसिंह समर में सब महादैत्यों को क्रमशः मारकर और रसातल में रहने वाले सब शत्रुओं को जीतकर स्वर्लोक में पहुँच गये। वहाँ भी शत्रुओं को पराजित कर भूलोक में चले आये। यहाँ सब पर्वतीय दैत्यों को मारकर उस सिंहशरीरधारी ने समुद्र, नदी, ग्राम और वन में रहने वाले एवं नाना माया-रूप धारण करने वाले दैत्यों का वध किया। आकाशचारी, वायु में विचरण करने वाले एवं ज्योतिर्लोक में गये हुए को वज्रपात से अधिक भयंकर नखप्रहार करने वाले, अपनी ग्रीवा के केसर को ऊपर फहराने वाले, अपनी गर्जना से दैत्य-स्त्रियों के गर्भ को गिरा देने वाले और सम्पूर्ण राक्षसों को जीतने वाले नृसिंह ने अपनी भयंकर गर्जना, प्रलयाग्नि के समान अपनी भयंकर दृष्टि, अङ्ग-विक्षेप और क्रूर चपेटों से मार डाला। इस प्रकार अनेकों राक्षसों का वध कर हरि अपने पद-नख से उत्पन्न तथा मन और नयन दोनों को तृप्त करने वाली गौतमी के पास आये ॥१-९$\frac{१}{२}$॥ वहाँ अम्बर्य नामक दण्डकारण्य का

स्वपदाम्बुजसंभूतां मनोनयननन्दिनीम्। [1]तत्राम्बर्य इति ख्यातो दण्डकाधिपते[2] रिपुः ॥१०॥
देवानां दुर्जयो योद्धा बलेन महताऽऽवृतः। तेनाभवन्महारौद्रं भीषणं लोमहर्षणम्[3] ॥११॥
शस्त्रास्त्रवर्षणं युद्धं हरिणा दैत्यसूनुना। निजघान हरिः श्रीमांस्तं रिपुं ह्युत्तरे तटे ॥१२॥
गङ्गायां नारसिंहं तु तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। स्नानदानादिकं तत्र सर्वपापग्रहार्दनम् ॥१३॥
सर्वरक्षाकरं नित्यं जरामरणवारणम्। यथा सुराणां सर्वेषां न कोऽपि हरिणा समः ॥१४॥
तीर्थानामप्यशेषाणां तथा तत्तीर्थमुत्तमम्। तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा कुर्यान्नृहरिपूजनम् ॥१५॥
स्वर्गे मर्त्ये तले वाऽपि तस्य किंचिन्न दुर्लभम्। इत्याद्यष्टौ मुने तत्र महातीर्थानि नारद ॥१६॥
पृथक्पृथक्तीर्थकोटिफलमाहुर्मनीषिणः। अश्रद्धयाऽपि यन्नाम्नि स्मृते सर्वाघसंक्षयः ॥१७॥
भवेत्साक्षान्नृसिंहोऽसौ सर्वदा यत्र संस्थितः। तत्तीर्थसेवासंजातं फलं कैरिह वर्ण्यते ॥१८॥
यथा न देवो नृहरेरधिकः क्वापि वर्तते। तथा नृसिंहतीर्थेन समं तीर्थं न कुत्रचित् ॥१९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये नारसिंहाद्यष्टतीर्थवर्णनं नामैकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४९॥

गौतमीमाहात्म्येऽशीतितमोऽध्यायः ॥८०॥

स्वामी विख्यात शत्रु था। वह देवताओं से दुर्जेय योद्धा बहुत बड़ी सेना के साथ रहता था। उस दैत्य-पुत्र के साथ भगवान् का अति भयंकर लोमहर्षक युद्ध हुआ, जिसमें शस्त्रास्त्रों की भयंकर वर्षा हुई। अन्त में श्रीमान् हरि ने गौतमी के उत्तर तीर पर उस शत्रु को मार डाला। वह गौतमी-तट का नारसिंह तीर्थ त्रिभुवन-प्रसिद्ध है। उसमें स्नान-दान आदि से सब प्रकार के पाप-ग्रह दूर हो जाते हैं, सब प्रकार से रक्षा होती है तथा जरा-मृत्यु का भय दूर हो जाता है। जिस प्रकार सब देवों में नृसिंह के समान कोई नहीं है, उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थों में वह उत्तम तीर्थ है। उस तीर्थ में स्नान कर जो मनुष्य नृसिंह की पूजा करता है, उसके लिए स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। मुने ! नारद ! ऐसे आठ और महातीर्थ हैं। विद्वान् कहते हैं कि वे आठों पृथक्-पृथक् कोटितीर्थ के बराबर फल देनेवाले हैं। उनका अश्रद्धा से भी नाम-स्मरण करने से सब पापों का क्षय हो जाता है। जहाँ सर्वदा वे नृसिंह भगवान् साक्षात् रूप से स्थित रहते हैं, उस तीर्थ की सेवा करने से जो फल मिलता है, उसका वर्णन कौन कर सकता है। जिस प्रकार नृसिंह देव से बढ़कर कोई देवता नहीं है उसी प्रकार नृसिंह तीर्थ के समान कोई तीर्थ भी कहीं नहीं है ॥१०-१९॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में नारसिंहादि अष्ट महातीर्थों का वर्णन नामक एक सौ उनचासवाँ अध्याय समाप्त ॥१४९॥

---

[1] घ. ०त्रावर्य। च. ०त्रावर्ज इ०। [2] ङ. ०पती रि०। [3] क. ०म्। युद्धं परमकं चैव हरेर्वै दै०।

अथ पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पैशाचतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

पैशाचं तीर्थमाख्यातं गङ्गाया उत्तरे तटे। पिशाचत्वात्पुरा विप्रो मुक्तिमाप महामते ॥१॥
[1]सुयवस्याऽऽत्मजो लोकेऽजीगर्तिरिति विश्रुतः। कुटुम्बभारदुःखार्तो दुर्भिक्षेण तु पीडितः ॥२॥
मध्यमं तु शुनःशेपं पुत्रं ब्रह्मविदां वरम्। विक्रीतवान्क्षत्रियाय वधाय बहुलैर्धनैः ॥३॥
किं नामाऽऽपद्गतः पापं नाऽऽचरत्यपि पण्डितः। शमितृत्वे धनं चापि जगृहे बहुलं मुनिः ॥४॥
विदारणार्थं च धनं जगृहे ब्राह्मणाधमः। ततोऽप्रतिसमाधेयमहारोगनिपीडितः ॥५॥
स मृतः कालपर्याये नरकेष्वथ पातितः। भोगादृते न क्षयोऽस्ति प्राक्तनानामिहांहसाम् ॥६॥
किंकरैर्यमवाक्येन बहुयोन्यन्तरं गतः। ततः पिशाचो ह्यभवद्दारुणो दारुणाकृतिः ॥७॥
शुष्ककाष्ठेष्वथारण्ये निर्जले निर्जने तथा। ग्रीष्मे ग्रीष्मदवव्याप्ते क्षिप्यते यमकिंकरैः ॥८॥
कन्यापुत्रमहीवाजिगवां विक्रयकारिणः। नरकान्न निवर्तन्ते यावदाभूतसंप्लवम् ॥९॥

अध्याय १५०

पैशाचतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—गंगा के उत्तर तट पर पैशाच नामक एक उत्तम तीर्थ है। महामति ! बहुत पहले उस स्थान पर एक विप्र ने पिशाच-योनि से मुक्ति पायी थी। सुयव का लोक में अजीगर्ति नाम से प्रसिद्ध पुत्र था। परिवार के भार से दुःखी और दुर्भिक्ष से पीड़ित होकर उसने अपने ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ मँझले पुत्र शुनःशेप को, बहुत धन लेकर क्षत्रिय के हाथ वध करने के लिए बेच दिया था। पंडित भी आपत्ति में पड़ने पर कौन ऐसा पाप है, जो नहीं करते हैं। मुनि ने बलि करने के लिए भी बहुत-सा धन ले लिया। उस अधम ब्राह्मण ने अपने पुत्र को चीर देने के लिए धन लिया था इसलिए वह एक असाध्य रोग से पीड़ित हो गया। थोड़े दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गयी। वह नरक में गिरा दिया गया। यहाँ के किये हुए पापों का क्षय पापभोग के अतिरिक्त और किसी प्रकार से नहीं होता। यम के आदेशानुसार दूतों ने उसको भिन्न-भिन्न योनियों में पहुँचाया। तदनन्तर अन्त में वह भयङ्कर आकृतिवाला भयानक पिशाच हुआ ॥१-७॥ यमदूत उसको जंगल में, सूखे काठों पर, निर्जल और निर्जन स्थान में और ग्रीष्मऋतु में ग्रीष्म की गर्मी से जलते हुए स्थानों में ढकेल देते थे। सच है, कन्या, पुत्र, पृथिवी, घोड़ा और गाय बेचनेवाले व्यक्ति प्रलयकाल तक नरक से उद्धार नहीं पाते हैं। अपने किये हुए पापों के परिणामस्वरूप भया-

---

[1] च. ०यज्ञस्या०।

स्वकृताघविपाकेन दारुणैर्यमकिंकरैः। संघाते पच्यमानोऽसौ रुरोदोच्चैः कृतं स्मरन् ॥१०॥
पथि गच्छन्कदाचित्स जीगर्तेर्मध्यमः सुतः। शुश्राव रुदतो वाणीं पिशाचस्य मुहुर्मुहुः ॥११॥
पुत्रक्रेतुर्ब्रह्महन्तुर्जीगर्तेस्तु पितुस्तदा। पापिनः पुत्रविक्रेतुर्ब्रह्महन्तुः पितुश्च ताम् ॥१२॥
शुनःशेपस्तदोवाच को भवानतिदुःखितः। जीगर्तिरब्रवीद्दुःखाच्छुनःशेपपिता ह्यहम् ॥१३॥
पापीयसीं क्रियां कृत्वा योनिं प्राप्तोऽस्मि दारुणाम्। नरकेष्वथ पक्वश्च पुनः प्राप्तोऽन्तरालकम् ॥
ये ये दुष्कृतकर्माणस्तेषां तेषामियं गतिः ॥१४॥

जीगर्तिपुत्रस्तमुवाच दुःखात्सोऽहं सुतस्ते मम दोषेण तात
विक्रीत्वा मां नरकानेवमाप्तस्ततः करिष्ये स्वर्गतं त्वामिदानीम् ॥१५॥
एवं प्रतिज्ञाय स गाधिपुत्रपुत्रत्वमाप्तोऽथ मुनिप्रवीरः
गङ्गामभिध्याय पितुश्च लोकाननुत्तमानीहमानो जगाम ॥१६॥
अशेषदुःखानलधूपितानां, निमज्जतां मोहमहासमुद्रे
शरीरिणां नान्यदहो त्रिलोक्यामालम्बनं विष्णुपदीं विहाय ॥१७॥
एवं विनिश्चित्य मुनिर्महात्मासमुद्दिधीर्षुः पितरं स दुर्गतेः ।
शुचिस्ततो गौतमीमाशु गत्वा, तत्र स्नात्वा संस्मरञ्छंभुविष्णू ॥१८॥
ददौ जलं प्रेतरूपाय पित्रे, पिशाचरूपाय सुदुःखिताय ।
तद्दानमात्रेण तदैव पूतोऽजीगर्तिरावाप वपुः सुपुण्यम् ॥१९॥

नक यमदूतों की यातनाओं से पीड़ित वह अपने पूर्व कृत्यों का स्मरण करके चिल्लाकर रोता था। किसी दिन जीगर्ति का मँझला पुत्र रास्ते में जा रहा था। उसने पुत्रविक्रय करनेवाले, ब्रह्महत्या करनेवाले पापी पिता जीगर्ति के—जो पिशाच हो गया था—रोने की ध्वनि सुनी। तब शुनःशेप ने पूछा कि आप कौन हैं जो इतने दुःखी हैं। जीगर्ति ने दुःखित होकर कहा 'मैं शुनःशेप का पिता हूँ। पापकर्मों के करने से दारुण योनि को प्राप्त हुआ हूँ। नाना नरकों में मैं पीड़ा पाता रहा, अब पुनः उनसे छुटकारा पाकर पिशाच बना हूँ। जो पाप कर्म करनेवाले होते हैं, उनकी इसी प्रकार दुर्गति होती है' ॥८-१४॥

यह सुनकर जीगर्ति के पुत्र ने दुःखी होकर कहा—'तात ! मैं आपका वही पुत्र हूँ। मेरे ही दोष से मुझको बेचकर आप इस प्रकार नरक में गिराये गये। अब मैं अभी आपको स्वर्ग पहुँचाऊँगा' ॥१५॥ इस प्रकार प्रतिज्ञाकर विश्वामित्र का दत्तक पुत्र वह मुनिप्रवीर अपने पिता को उत्तम लोक में पहुँचाने की इच्छा से गंगा का स्मरण कर (उसी की ओर) चल पड़ा ॥१६॥ 'अहो ! इस त्रिलोकी में समस्त दुःख रूपी अग्नि में जलनेवाले तथा महामोह रूपी समुद्र में डूबनेवाले देहधारियों का गंगा को छोड़कर और कोई सहायक नहीं है' ॥१७॥ इस प्रकार का निश्चय कर वह पवित्र महात्मा मुनि अपने पिता को दुर्गति से छुड़ाने के लिए शीघ्र ही गौतमी के पास पहुँच गया। उसमें स्नान कर उसने शंभु और विष्णु का स्मरण किया तथा अतिदुःखित, पिशाचरूप, अपने प्रेत पिता को जल दिया। जल देते ही उसी समय अजीगर्ति पवित्र होकर पुण्य शरीर पा गया और दस हजार सूर्य के समान चमकता

विमानयुक्तः सुरसंघजुष्टं, विष्णोः पदं प्राप सुतप्रभावात् ।
गङ्गाप्रभावाच्च हरेश्च शंभोर्विधातुरर्कायुततुल्यतेजाः ॥२०॥
ततः प्रभृत्येतदतिप्रसिद्धं, [1]पैशाचनाशं च महागदं च ।
महान्ति पापानि च नाशमाशु, प्रयान्ति यस्य स्मरणेन पुंसाम् ॥२१॥
तीर्थस्य चेदं गदितं तवाद्य, माहात्म्यमेतत्त्रिशतानि यत्र[2]
तीर्थान्यथान्यानि भवन्ति भुक्तिमुक्तिप्रदायीनि किमन्यदत्र ॥२२॥
सर्वसिद्धिदमाख्यातमित्याद्यत्र शतत्रयम् । तीर्थानां मुनिजुष्टानां स्मरणादप्यभीष्टदम् ॥२३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये पैशाचादिशतत्रयतीर्थवर्णनं नाम
पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५०॥
गौतमीमाहात्म्ये एकाशीतितमोऽध्यायः ॥८१॥

अथैकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

निम्नभेदतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

निम्नभेदमिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् । गङ्गाया उत्तरे पारे तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥१॥

हुआ वह गंगा, विष्णु, शंकर और ब्रह्मा के प्रभाव से अपने पुत्र की कृपा से विमान पर आरूढ़ होकर देवगणों के साथ सम्मानपूर्वक विष्णुलोक को चला गया। तब से वह पिशाचयोनि से मुक्त करनेवाला तथा महारोगों को छुड़ानेवाला तीर्थ परम प्रसिद्ध हो गया, जिसके स्मरण मात्र से मनुष्यों के महान् पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। आज इस तीर्थ के माहात्म्य को—जहाँ पर भुक्ति-मुक्ति प्रदान करनेवाले दूसरे और तीन सौ तीर्थ हैं—तुमसे कह दिया, अब और अधिक क्या कहूँ। ये सब सिद्धियों को देनेवाले तीन सौ तीर्थ मुनियों के भी अति प्रिय और सेव्य हैं। इनके स्मरण से भी मनोरथ सिद्ध हो जाता है ॥१८-२३॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में पैशाचतीर्थ आदि तीन सौ तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ पचासवाँ
अध्याय समाप्त ॥१५०॥

अध्याय १५१

निम्नभेद तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—गंगा के उत्तर तट पर सब पापों को नष्ट करनेवाला, त्रिभुवन-प्रसिद्ध निम्नभेद नामक

---

[1] घ. च. ०नाशाय म० । [2] घ. ङ. च. तत्र ।

यस्य संस्मरणेनापि सर्वपापक्षयो भवेत्। वेदद्वीपश्च[1] तत्रैव दर्शनाद्वेदविद्भवेत् ॥२॥
उर्वशीं चकमे राजा ऐलः परमधार्मिकः। को न मोहमुपायाति विलोक्य मदिरेक्षणाम् ॥३॥
सा प्रायाद्यत्र राजाऽसौ घृतं स्तोकं समश्नुते। आनग्नदर्शनात्कृत्वा तस्याः कालावधिं नृपः ॥४॥
तां स्वीचकार ललनां यूनां रम्यां नवां नवाम्। सुप्तायां शयने तस्यां समुत्तस्थौ पुरूरवाः ॥५॥
विलोक्य तं विवसनं तदैवासौ विनिर्गता। विद्युच्चञ्चलचित्तानां क्व स्थैर्यं ननु योषिताम् ॥६॥
ईक्षांचक्रे स शर्वर्यां विवस्त्रा विस्मितो महान्। एतस्मिन्नन्तरे राजा युद्धायागाद्रिपून्प्रति ॥७॥
तान्जित्वा पुनरप्यागाद्देवलोकं सुपूजितम्। स चाऽऽगत्य महाराजो वसिष्ठाच्च पुरोधसः ॥८॥
उर्वश्या गमनं श्रुत्वा ततो दुःखसमन्वितः। न जुहोति न चाश्नाति न शृणोति न पश्यति ॥९॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र मृतावस्थं नृपोत्तमम्। बोधयामास वाक्यैश्च हेतुभूतैः पुरोहितः ॥१०॥

वसिष्ठ उवाच

सा मृताऽद्य महाराज मा व्यथस्व महामते। एवं स्थितं तु मा त्वां वै अशिवाः स्पृश्युराशुगाः ॥११॥
न वै स्त्रैणानि जानीषे हृदयानि महामते। शालावृकाणां यादृंशि तस्मात्त्वं भूप मा शुचः ॥१२॥
को नाम लोके राजेन्द्र कामिनीभिर्न वञ्चितः। वञ्चकत्वं नृशंसत्वं चञ्चलत्वं कुशीलता ॥१३॥

एकतीर्थ है, जिसके स्मरण से भी सब पापों का नाश हो जाता है। वहीं पर वेदद्वीप भी है, जिसके दर्शन से मनुष्य वेदज्ञ हो जाता है। एक बार परम धार्मिक राजा पुरूरवा उर्वशी पर आसक्त हो गया। कौन ऐसा है जो मतवाले नेत्रवाली कामिनी को देखकर मोहवश नहीं हो जाता। जहाँ राजा अल्प परिमाण में घृत का पान कर रहा था वहाँ वह पहुँच गयी। उसके साथ नग्न न देखने तक रहने की प्रतिज्ञा (शर्त) कर राजा ने युवकों को रम्य लगने वाली उस युवती ललना को स्वीकार कर लिया। एक दिन पुरूरवा शय्या पर सोयी हुई उसके सामने ही उठ गया। राजा को वस्त्ररहित देखकर वह उसी समय चली गयी। विद्युत् के समान चंचल चित्तवाली स्त्रियों के जीवन में स्थायित्व कहाँ? उस रात्रि में नग्न पुरूरवा अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर इधर-उधर देखने लगा। इसी समय राजा को शत्रुओं से युद्ध करने के लिए जाना पड़ा। उनको पराजित कर वह पुनः अतिपूजित देवलोक में गया। वहाँ से आने पर राजा पुरोहित वसिष्ठ के मुख से उर्वशी का पलायन सुनकर दुःखी हो गया। (अतएव) वह न तो हवन करता था, न खाता था, न कुछ सुनता था और न देखता ही था। इस बीच पुरोहित वसिष्ठ उस मृतक तुल्य राजा को उपयुक्त रहस्यमय वाक्यों से समझाने लगे ॥१-१०॥

वसिष्ठ बोले—महाराज! आज वह मर गयी। महाबुद्धिमान्! उसके लिए व्यथा मत करो। इस प्रकार अवस्थित तुमको शीघ्र आनेवाले अमंगल स्पर्श न करें (अर्थात् अशुभ भावनाएँ न व्याप्त हों)। महामति! शालावृक (कुक्कुर) की जैसी मनोवृत्तिवाली स्त्रियों के हृदय के मर्म को तुम नहीं जानते हो। भूप! अतः तुम शोक मत करो। राजेन्द्र! इस लोक में कौन ऐसा व्यक्ति है जो कामिनियों से ठगा नहीं जाता है? जिनकी

---

[1] ङ ०पस्य त०।

इति स्वाभाविकं यासां ताः कथं सुखहेतवः। कालेन को न निहतः कोऽर्थी गौरवमागतः ॥१४॥
श्रिया न भ्रामितः को वा योषिद्भिः को न खण्डितः। स्वप्नमायोपमा राजन्मदविप्लुतचेतसः ॥१५॥
सुखाय योषितः कस्य ज्ञात्वैतद्विज्वरो भव। विहाय शंकरं विष्णुं गौतमीं वा महामते ॥
दुःखिनां शरणं नान्यद्विद्यते भुवनत्रये ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा ततो राजा दुःखं संहृत्य यत्नतः। गौतम्या मध्यसंस्थोऽसावैलः परमधार्मिकः ॥१७॥
तत्र चाऽऽराधयामास शिवं देवं जनार्दनम्। ब्रह्माणं भास्करं गङ्गां देवानन्यांश्च यत्नतः ॥१८॥
यो विपन्नो न तीर्थानि देवताश्च न सेवते। स कालवशगो[1] जन्तुः कां दशामुपयास्यति ॥१९॥
तदीश्वरैकशरणो गौतमीसेवनोत्सुकः। परां श्रद्धामुपगतः संसारास्थापराङ्मुखः ॥२०॥
ईजे यज्ञांश्च बहुलानृत्विग्भिर्बहुदक्षिणान्। वेदद्वीपोऽभवत्तेन यज्ञद्वीपः स उच्यते ॥२१॥
पौर्णमास्यां तु शर्वर्यां तत्राऽऽयाति सदोर्वशी। तस्य दीपस्य यः कुर्यात्प्रदक्षिणमथो नरः ॥२२॥
प्रदक्षिणीकृता तेन पृथिवी सागराम्बरा। वेदानां स्मरणं तत्र यज्ञानां स्मरणं तथा ॥२३॥
सुकृती तत्र यः कुर्याद्वेदयज्ञफलं लभेत्। ऐलतीर्थं तु तज्ज्ञेयं तदेव च पुरूरवम् ॥२४॥
वासिष्ठं चापि तत्तु स्यान्निम्नभेदं तदुच्यते। ऐले राज्ञि न किंचित्स्यान्निम्नं सर्वेषु कर्मसु ॥२५॥

धूर्तता, क्रूरता, चञ्चलता एवं अनुदारता ही प्रकृति है वे किस प्रकार सुख का कारण बन सकती हैं ? काल ने किसको नष्ट नहीं किया ? किस याचक ने गौरव प्राप्त किया है ? कौन लक्ष्मी के मद में अपने को भूल न गया ? स्त्रियों ने किसको धत्ता नहीं बताया ? राजन् ! मद से भ्रष्ट चित्तवाले किस मनुष्य के लिए स्वप्न-माया के समान स्त्रियाँ सुख का कारण बनी हैं ? इस बात को समझकर तुम मोह को छोड़ दो। महामते ! केवल शंकर, विष्णु और गौतमी को छोड़कर इस त्रिभुवन में दुःखियों का सहायक कोई नहीं है ॥११-१६॥

ब्रह्मा बोले—इन बातों को सुनकर राजा बड़ी तत्परता से अपने दुःखों को कमाकर गौतमी के तट पर गया। उसके बीच में स्थित होकर परम धार्मिक पुरूरवा ने शिव, भगवान् विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, गंगा एवं अन्यान्य देवों की भक्तिपूर्वक आराधना की। जो विपत्ति-ग्रस्त मानव तीर्थ अथवा देवताओं की सेवा नहीं करता, वह मृत्यु के समीप आने पर किस अवस्था को प्राप्त करेगा या क्या कर सकेगा। वह राजा एकमात्र ईश्वर का अनन्य भक्त, गौतमी की सेवा के लिए उत्सुक एवं संसार की माया से विमुख होकर अत्यन्त श्रद्धालु बन गया। उसने ऋत्विजों के साथ बहुत-से यज्ञों का अनुष्ठान किया, जिनमें अधिक दक्षिणाएँ दीं। इस कारण वह स्थान वेदद्वीप नाम से प्रसिद्ध हुआ। यज्ञद्वीप भी उसको कहा जाता है। वहाँ सदा पूर्णिमा की रात्रि में उर्वशी आती है। उस द्वीप की जो व्यक्ति प्रदक्षिणा करता है, उसने मानो समुद्र समेत पृथिवी की प्रदक्षिणा कर ली। जो सुकृती वहाँ वेदों और यज्ञों का स्मरण करता है, वह वेद-यज्ञ का फल प्राप्त करता है। उसको ऐलतीर्थ कहा जाता है। पुरूरवा और

---

[1] घ. ङ. च. ०लदूतवशगः कां।

यदेतन्निम्मुर्वश्यां सर्वभावेन वर्तनम्। तच्चापि भेदितं निम्नं वसिष्ठेन च गङ्गया ॥२६॥
निम्नभेदमभूत्तेन दृष्टादृष्टेष्टसिद्धिदम्। तत्र सप्त शतान्याहुस्तीर्थानि गुणवन्ति च ॥२७॥
तेषु स्नानं च दानं च सर्वक्रतुफलप्रदम्। स्नानं कृत्वा निम्नभेदे यः पश्यति सुरानिमान् ॥२८॥
इह चामुत्र वा निम्नं न किंचित्तस्य विद्यते। सर्वोन्नतिमवाप्यासौ मोदते दिवि शक्रवत् ॥२९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये निम्नभेदादिसप्तशततीर्थवर्णनं
नामैकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५१॥
गौतमीमाहात्म्ये द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥८१॥

अथ द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

आनन्दतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

नन्दीतटमिति ख्यातं तीर्थं वेदविदो विदुः। तस्य प्रभावं वक्ष्यामि शृणु यत्नेन नारद ॥१॥
अत्रिपुत्रो महातेजाश्चन्द्रमा इति विश्रुतः। सर्वान्वेदांश्च विधिवद्धनुर्वेदं यथाविधि ॥२॥

वासिष्ठ भी वहीं है। निम्नभेद उसको इसलिए कहते हैं कि राजा ऐल के शासन-काल में सब कामों में निम्न भावना नहीं थी। उर्वशी में सब प्रकार से आसक्त हो जाना 'निम्न' था। उस निम्न को भी वसिष्ठ ने गंगा के द्वारा दूर कर दिया। अतः वह तीर्थ निम्न-भेद कहा जाता है, जो दृष्ट, अदृष्ट और इष्ट (मनोरथ) की सिद्धि देनेवाला है। वहाँ सात सौ और भी गुणशाली (पुण्यप्रद) तीर्थों का होना कहा गया है। उनमें स्नान और दान से सब यज्ञों का फल मिलता है। जो निम्न-भेद तीर्थ में स्नान कर इन (पहले कहे गये) देवों का दर्शन करता है, उसको इस लोक में अथवा परलोक में किसी प्रकार का निम्न (अभाव) नहीं रह जाता है। वह सब प्रकार की उन्नति प्राप्त कर स्वर्ग में इन्द्र के समान आनन्द प्राप्त करता है ॥१७-२९॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में निम्नभेद आदि सात सौ तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ इक्यावनवाँ
अध्याय समाप्त ॥१५१॥

अध्याय १५२

आनन्दतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—नन्दीतट नामक तीर्थ को वेदवेत्ता लोग जानते हैं। नारद ! मैं उसके प्रभाव का वर्णन कर रहा हूँ, तुम ध्यान से सुनो। महातेजस्वी अत्रि-पुत्र चन्द्रमा नाम से प्रसिद्ध है। महामते ! गुरु बृहस्पति से सब वेदों, धनुर्वेद और अन्य विद्याओं का यथाविधि अध्ययन कर उस चन्द्रमा ने बृहस्पति से कहा कि मैं गुरुपूजा

अधीत्य जीवात्सर्वाश्च विद्याश्चान्या महामते। गुरुपूजां करोमीति जीवमाह स चन्द्रमाः ।।
बृहस्पतिस्तदा प्राह चन्द्रं शिष्यं मुदान्वितः ।।३।।

बृहस्पतिरुवाच

मम प्रिया तु जानीते तारा रतिसमप्रभा ।।४।।

ब्रह्मोवाच

प्रष्टुं तां च तदा प्रायादन्तर्वेश्म स चन्द्रमाः। तारां तारामुखीं दृष्ट्वा जगृहे तां करेण सः।।५।।
स्ववेश्म प्रति तां लोभाद्बलादाकर्षयत्तदा। तावद्धैर्यनिधिर्ज्ञानी मतिमान्विजितेन्द्रियः।।६।।
यावन्न कामिनीनेत्रवागुराभिर्निबध्यते। विशेषतो रहःसंस्थां कामिनीमायतेक्षणाम्।।७।।
विलोक्य न मनो याति कस्य कामेषु वश्यताम्। अत एवान्यपुरुषदर्शनं न कदाचन।।८।।
कुलवध्वा रहः कार्यं भीतया शीलविप्लुतेः। विज्ञाय तत्परिजनात्सहसोत्थाय निर्गतः।।९।।
दृष्ट्वा तद्दुष्कृतं कर्म बृहस्पतिरुदारधीः। शशाप कोपाच्चाऽऽक्षिप्य वाग्भिर्विप्रियकारिभिः।।१०।।
पराभिभूतामालोक्य कान्तां कः सोढुमीश्वरः। युयुधे तेन जीवोऽपि देवश्चन्द्रमसा रुषा।।११।।
न शापैर्हन्यते चन्द्रो नाऽऽयुधैः सुरमन्त्रितैः। बृहस्पतिप्रणीतैश्च न मन्त्रैर्हन्यते शशी।।१२।।
तदा चन्द्रस्तु तां तारां नीत्वा संस्थाप्य मन्दिरे। बुभुजे बहुवर्षाणि रोहिणीं चाकुतोभयः।।१३।।
न जीयेत[1] तदा[2] देवैर्न कोपैः शापमन्त्रकैः। न राजभिर्न ऋषिभिर्न सम्ना भेददण्डनैः।।१४।।

करूँगा। तब बृहस्पति प्रसन्न होकर शिष्य चन्द्रमा से बोले।।१-३।।

बृहस्पति ने कहा—रति के समान सुन्दरी मेरी पत्नी तारा से इस विषय में पूछ लो वही जानती है।।४।।

ब्रह्मा बोले—वह चन्द्रमा गुरु-पत्नी से पूछने के लिए अन्तःपुर में गया। उसने तारा के समान मुखवाली तारा को देखकर उसको हाथ से पकड़ लिया और महोवश उसको हठात् अपने निवासस्थान की ओर खींच ले गया। मनुष्य तब तक ही धैर्यशील, ज्ञानी, बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय रहता है जब तक वह कामिनी के नेत्ररूपी पाश से बाँधा नहीं जाता अर्थात् कटाक्ष से आकृष्ट नहीं होता। विशेष रूप से एकान्त में स्थित मृगनयनी कामिनी को देखकर किसका मन काम के वशीभूत नहीं हो जाता है? इसलिए कुल-वधुओं को शीलच्युति होने के भय से एकान्त में कभी भी परपुरुष का दर्शन नहीं करना चाहिये। अपने स्वजनों से इस बात का पता पाकर उदार बुद्धिवाले गुरु सहसा उठकर बाहर गये और उस दुष्कर्म को देखकर अतिकुपित हो अत्यन्त अपमानजनक शब्दों से उन्होने चन्द्रमा को बुरा-भला कहकर शाप दे दिया। कौन ऐसा व्यक्ति है जो अपनी स्त्री को दूसरे से अभिभूत (अपमानित) देखकर उसको सहने में समर्थ हो सकता है। इसलिए बृहस्पति भी क्रोध से उस चन्द्रमा के साथ युद्ध करने लगे। चन्द्रमा का शाप से कुछ नहीं हुआ, देवों के आमन्त्रित अस्त्रों से भी उसका कुछ नहीं बिगड़ा, और न तो वह चन्द्रमा बृहस्पति द्वारा प्रयुक्त मन्त्रों से ही मारा गया। तब वह अपराजित चन्द्रमा उस तारा को लेकर चला गया। अपने घर में उसको रखकर रोहिणी के सहित उसका बहुत वर्षों तक उपभोग करता रहा।।५-१३।। जब वह चन्द्रमा देवों, क्रोधों और शाप-मन्त्रों से भी न जीता जा सका, और न राजाओं, ऋषियों, साम-भेद, दण्ड आदि से ही वश में आ सका तथा बृहस्पति सब प्रकार के प्रयत्नों से भी अपनी

---

[1] घ. ङ. च. जीवेन। [2] घ. च. तथा।

यदा भार्यां न लेभेऽसौ गुरुः सर्वप्रयत्नतः। सर्वोपायक्षये जीवस्तदा नीतिमथास्मरत् ॥१५॥
अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः। [1]स्वार्थमुद्धरते प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥१६॥
साध्यं केनाप्युपायेन जानद्भिः पुरुषैः फलम्। वृथाभिमानिनः शीघ्रं विपद्यन्ते विमोहिताः ॥१७॥
एवं निश्चित्य मेधावी शुक्रं गत्वा न्यवेदयत्। तमागतं कविर्ज्ञात्वा संमानेनाभ्यनन्दयत् ॥१८॥
उपविष्टं सुविश्रान्तं पूजितं च यथाविधि। पर्यपृच्छद्दैत्यगुरुस्तदागमनकारणम् ॥१९॥
गृहागतस्य विमुखाः शत्रवोऽप्युत्तमा न हि। तस्मै स विस्तरेणाऽऽह भार्याहरणमादितः ॥२०॥
बृहस्पतेस्तदा वाक्यं श्रुत्वा कोपान्वितः कविः। अपराधं तु चन्द्रस्य मेने शिष्यस्य नारद ॥
अतिक्रममिमं श्रुत्वा कोपात्कविरथाब्रवीत् ॥२१॥

शुक्र उवाच

तदा भोक्ष्ये तदा पास्ये तदा स्वप्स्ये तदा वदे। यदाऽऽनये प्रियं भ्रातस्तव भार्यां परार्दिताम् ॥२२॥
तामानीय भुवं पूज्य चन्द्रं शप्त्वा गुरुद्रुहम्। पश्चाद्भोक्ष्ये महाबाहो[2] शृणु वाचं ग्रहेश्वर ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा स जीवेन[3] दैत्याचार्यो जगाम ह। शिवमाराध्य यत्नेन परं सामर्थ्यमाप्तवान् ॥२४॥

भार्या को न पा सके, और उनके सब उपाय नष्ट से हो गये तब उन्होंने नीति का अनुसरण किया कि बुद्धिमान् मनुष्य अपमान को आगे करके और मान को पीछे करके अपने स्वार्थ को सिद्ध करे। क्योंकि स्वार्थ-हानि करना सबसे बड़ी मूर्खता है। ज्ञानी पुरुषों को किसी भी उपाय से अपने फल को प्राप्त करना चाहिये। वृथाभिमान करनेवाले मूर्ख मोहवश शीघ्र ही विपत्तियों में फँस जाते हैं। इस प्रकार का निश्चय कर मेधावी गुरु ने शुक्र के पास जाकर निवेदन किया। शुक्र बृहस्पति को अपना अतिथि जानकर उनका सम्मान के साथ अभिनन्दन किया। यथाविधि उनकी पूजा कर सुखासीन गुरु से दैत्य-गुरु शुक्र ने उनके आने का कारण पूछा। क्योंकि घर पर आये हुए शत्रु का भी विमुख होकर लौट जाना अच्छा नहीं है। बृहस्पति ने शुक्र से स्त्री-हरण की कथा आदि से अन्त तक कह सुनायी। नारद ! उस समय बृहस्पति से ऐसी बातें सुनकर कवि कुपित हो गये और शिष्य चन्द्र का अपराध उन्होंने स्वीकार किया। मर्यादा का यह अतिक्रमण देखकर कवि ने क्रोध से व्याकुल होकर कहा ॥१४-२१॥

शुक्र बोले—भाई ! मैं तब खाऊँगा, तब पिऊँगा, तब सोऊँगा और तभी कुछ कहूँगा जब कि तुम्हारी अन्योपभुक्त प्रिय भार्या को ले आऊँगा। महाबाहु ! शंकर की पूजाकर गुरुद्रोही चन्द्र को शाप देकर ही मैं खाऊँगा। ग्रहों के स्वामी ! मेरी प्रतिज्ञा सुनो ॥२२-२३॥

ब्रह्मा बोले—दैत्याचार्य शुक्र इस प्रकार बृहस्पति से कहकर चले गये और बड़ी तत्परता से शिव की आराधना कर उन्होंने भक्ति से पूजित शंकर से विविध वरों को पाकर परमोत्तम सामर्थ्य प्राप्त किया। इस

---

[1] घ. ०र्थमभ्युद्धरेत्प्राज्ञः। [2] घ. ०हो यामि यत्र महेश्वरः। ए०। [3] क. जीव तं दै०।

वरानवाप्य विविधाञ्शंकराद्भावपूजितात्। शिवप्रसादात्किं नाम देहिनामिह दुर्लभम् ॥२५॥
जगाम शुक्रो जीवेन तारया यत्र चन्द्रमाः। वर्तते तं शशापोच्चैः शृणु त्वं चन्द्र मे वचः ॥२६॥
यस्मात्पापतरं कर्म त्वया पाप मदात्कृतम्। कुष्ठी भूयास्ततश्चन्द्रं शशापैवं रुषा कविः ॥२७॥
कविशापप्रदग्धोऽभूत्तदैव मृगलाञ्छनः। प्रापुः क्षयं न के नाम गुरुस्वामिसखिद्रुहः ॥२८॥
तत्याज तां स चन्द्रोऽपि तां तारां जगृहे कविः। शुक्रोऽपि देवानाहूय ऋषीन्पितृगणांस्तथा ॥२९॥
नदीर्नदांश्च विविधानोषधीश्च पतिव्रताः। ततः संप्रष्टुमारेभे तारावृत्तविनिष्क्रयम् ॥३०॥
ततः श्रुतिः सुरानाह गौतम्यां भक्तितस्त्वियम्। स्नानं करोतु जीवेन तारा पूता भविष्यति ॥३१॥
रहस्यमेतत्परमं न कथ्यं यस्य कस्यचित्। सर्वास्वपि दशास्वेह शरणं गौतमी नृणाम् ॥३२॥
तथाऽकरोच्चैव तारा भर्त्रा स्नानं यथाविधि। पुष्पवृष्टिरभूत्तत्र जयशब्दो व्यवर्तत ॥३३॥
पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत। राजानः[१] सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ।३४॥
पुनर्दत्त्वा ब्रह्मजायां कृतां देवैरकल्मषाम्। सर्वं क्षेममभूत्तत्र तस्मात्तीर्थं महामुने ॥३५॥
तदभूत्सकलाघौघध्वंसनं सर्वकामदम्। आनन्दं क्षेममभवत्सुराणामसुरारिणाम् ॥३६॥
बृहस्पतेश्च शुक्रस्य तारायाश्च विशेषतः। परमानन्दमापन्नो गुरुर्गङ्गामभाषत ॥३७॥

संसार में शिव की कृपा से देहधारियों के लिए कौन-सा पदार्थ दुर्लभ है ? शुक्र गुरु के साथ वहाँ गये, जहाँ तारा के साथ चन्द्रमा रहता था। उन्होंने उसको उच्च स्वर से शाप दिया—'चन्द्र ! तुम मेरी बात सुनो—जिस मद से तुमने पापकर्म किया है, इसके परिणामस्वरूप तुम कोढ़ी हो जाओ। इस प्रकार कवि ने क्रोधपूर्वक चन्द्रमा को शाप दे दिया। मृग-चिह्न से युक्त चन्द्र कवि के शाप से उसी समय दग्ध हो गया। सत्य है कि गुरु, स्वामी और मित्रों से द्रोह करनेवाले कौन ऐसे हैं जो नष्ट नहीं हो गये ? उस चन्द्रमा ने भी उस तारा को छोड़ दिया। कवि ने उस तारा को ले लिया। शुक्र ने भी सब देवों, ऋषियों, पितरों, नदियों, नदों, विविध ओषधियों और पतिव्रता स्त्रियों से तारा के कर्मों का प्रतीकार (प्रायश्चित्त) पूछना प्रारम्भ किया। तब श्रुति ने देवों से कहा—'यह गौतमी में गुरु के सहित भक्तिपूर्वक स्नान करे। उससे तारा पवित्र हो जायगी।' यह परम गुप्त रहस्य है। जिस किसीसे इसको नहीं कहना चाहिए। प्रत्येक अवस्था में गौतमी मनुष्य मात्र के लिए एकमात्र शरण है, तदनुसार तारा ने यथा-विधि भर्ता के साथ स्नान किया। इस पर वहाँ आकाश से पुष्पवृष्टि हुई और चारों और जय-ध्वनि होने लगी। पुनः देवों ने उसको शुद्धता का आशीर्वाद दिया। फिर मनुष्यों ने पुनः राजाओं ने उस ब्रह्म-भार्या को सत्य घोषित करते हुए दे दिया। फिर इस प्रकार देवताओं ने उस ब्राह्मण-पत्नी को निष्पाप बनाकर देवगुरु को सौंप दिया। महामुनि ! उस स्थान पर सब कल्याण ही हुआ, इसलिए वह स्थान सब पापों का ध्वंस करनेवाला और सब प्रकार के मनोरथ सिद्ध करनेवाला तीर्थ हो गया। वहाँ असुर-द्रोही देवों, बृहस्पति, शुक्र और विशेष रूप से तारा को परम आनन्द और क्षेम प्राप्त हुआ। परम आनन्द से युक्त गुरु ने गंगा से कहा ॥२४-३७॥

---

[१] क. ङ राजानं।

गुरुरुवाच

त्वं गौतमि सदा पूज्या सर्वेषामपि मुक्तिदा। विशेषतस्तु सिंहस्थे मयि त्रैलोक्यपावनी ॥३८॥
भविष्यसि सरिच्छ्रेष्ठे सर्वतीर्थैः समन्विता। यानि कानि च तीर्थानि स्वर्गमृत्युरसातले ॥
त्वां स्नातुं तानि यास्यन्ति मयि सिंहस्थितेऽम्बिके ॥३९॥

ब्रह्मोवाच

धन्यं यशस्यमायुष्यमारोग्यश्रीविवर्धनम्। सौभाग्यैश्वर्यजननं तीर्थमानन्दनामकम् ॥४०॥
तत्र पञ्च सहस्राणि तीर्थान्याह स गौतमः। स्मरणात्पठनाद्वाऽपि इष्टैः संयुज्यते सदा ॥४१॥
शिवस्यात्र निविष्टस्य नन्दी गङ्गातटेऽनिशम्। साक्षात्च्चरत्यसौ धर्मस्तस्मान्नन्दीतटं स्मृतम् ॥
आनन्दमपि तत्तीर्थं सर्वानन्दविवर्धनात् ॥४२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये आनन्दतीर्थादिपञ्चसहस्रतीर्थवर्णनं
नाम द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५२॥
गौतमीमाहात्म्ये त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥८३॥

अथ त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भावतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

भावतीर्थमिति प्रोक्तं यत्र साक्षाद्भवः स्थितः। अशेषजगदन्तस्थो भूतात्मा सच्चिदाकृतिः ॥१॥

गुरु नें कहा—गौतमी ! तुम सर्वदा पूज्य हो। सभी को मुक्ति देनेवाली हो। विशेष रूप से मेरे सिंहस्थ (सिंह राशि पर) रहने पर हे सरित्‌शिरोमणि ! तुम सब तीर्थों से युक्त होकर त्रिभुवनपावनी होगी। अम्बिके ! स्वर्ग, मृत्यु और रसातल में जितने तीर्थ हैं वे सब मेरे सिंहस्थ होने पर तुम्हारे पास स्नान करने जायेंगे। ॥३८-३९॥

ब्रह्मा बोले—वह तीर्थ धन्य, कीर्तिप्रद, आयु, आरोग्य और श्री को बढ़ानेवाला, सौभाग्य और ऐश्वर्य को पैदा करनेवाला आनन्द नामक तीर्थ है। उस गौतम ने वहाँ पाँच हजार तीर्थ बतलाये हैं। उनके स्मरण और पठन से मनुष्य के सब प्रकार के मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। यहाँ गंगातट पर ध्यानावस्थित शिव का धर्म रूप नन्दी साक्षात् विचरण करता है, इसलिए इसका नाम नन्दीतट पड़ा है। वह सब का आनन्द बढ़ानेवाला है, अतः उसको आनन्दतीर्थ कहते हैं ॥४०-४२॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में आनन्दतीर्थ आदि पाँच हजार तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ बावनवाँ अध्यायं समाप्त ॥१५२॥

अध्याय १५३

भावतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—जहाँ समस्त संसार के अंतःकरण में रहनेवाले, भूतात्मा, सच्चिदानन्द स्वरूप साक्षात्

तत्रेमां शृणु वक्ष्यामि कथां पुण्यतमां शुभाम्। सूर्यवंशकरः श्रीमान्क्षत्रियाणां धुरंधरः ।।२।।
प्राचीनबर्हिराख्यातः सर्वधर्मेषु पारगः। तिस्रः कोट्योऽर्धकोटिश्च वर्षाणां राज्य आस्थितः ।।३।।
तस्येदृशं व्रतं चाऽऽसीद्यदहं यौवनच्युतः। भवेयं प्रियया वाऽपि पुत्रैर्वा प्रियवस्तुभिः ।।४।।
वियुज्येयं ततो राज्यं त्यक्ष्येऽहं नात्र संशयः। विवेकिनां कुलीनानामिदमेवोचितं नृणाम् ।।५।।
स्थीयते विजने क्वापि विरक्तैर्विभवक्षये। तस्मिन्प्रशासति महीं न वियोगः प्रियैः क्वचित् ।।६।।
नाऽऽधिव्याधी न दुर्भिक्षं न बन्धुकलहो नृणाम्। तस्मिञ्शासति राज्यं तु न च कश्चिद्वियुज्यते ।।७।।
ततः पुत्रार्थमकरोद्यज्ञं राजा महामतिः। ततः प्रसन्नो भगवान्वरं प्रादाद्यथेप्सितम् ।।८।।
गौतमीतीरसंस्थाय राज्ञे देवो महेश्वरः। पुत्रं देहीति राजा वै भवं प्राह स भार्यया ।।९।।
भवः प्राह नृपं प्रीत्या पश्य नेत्रं तृतीयकम्। ततः पश्यति राजेन्द्रे भवस्याक्षि तु मानद ।।१०।।
चक्षुर्दीप्त्याऽभवत्पुत्रो महिमा नाम विश्रुतः। येनाकारि स्तुतिः पुण्या महिम्न (?)[1] इति विश्रुता ।।११।।
किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने त्रिपुरान्तके। यं नित्यमनुवर्तन्ते हरिब्रह्मादयः सुराः ।।१२।।
प्राप्तपुत्रश्च नृपतिस्तीर्थश्रेष्ठ्यमयाचत। महापापमहारोगमहाव्यसनिनां नृणाम् ।।१३।।
नानाविपद्गणार्तानां सर्वाभिमतलब्धये। प्रादाज्ज्यैष्ठ्यं भवश्चापि भावतीर्थं तदुच्यते ।।१४।।

शंकर विराजमान हैं, उसको भावतीर्थ कहा गया है। उसकी शुभ एव पुण्यतम कथा कह रहा हूँ, सुनो ! सूर्यवंश को बढ़ानेवाला, सब धर्मों में पारङ्गत, लक्ष्मीवान् और क्षत्रिय-कुलधुरंधर एक प्राचीनबर्हिस् नामक राजा था। वह राजसिंहासन पर साढ़े तीन करोड़ वर्ष तक रहा। उसने ऐसा नियम किया कि यदि मैं यौवन-च्युत हो जाऊँगा या प्रिया या अपनी प्रिय वस्तुओं से अलग हो जाऊँगा तो मैं अपना राज्य अवश्य छोड़ दूँगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। कुलीन और ज्ञानी मनुष्यों के लिए यह उचित है कि वह विभव-हीन होने पर विरक्त हो कहीं एकान्त स्थान में जीवन व्यतीत करे। उसके शासनकाल में कहीं किसी को प्रिय-वियोग नहीं होता था। मनुष्यों को किसी प्रकार की आधि, व्याधि, दुर्भिक्ष तथा वन्धुओं से कलह नहीं होता था। उसके राज्य-शासन-काल में कोई अपने प्रिय से वियुक्त नहीं होता था। इसके वाद महाबुद्धिमान् राजा ने पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ किया। तब प्रसन्न होकर भगवान् महेश्वर देव ने गौतमी-तीर पर रहनेवाले राजा को इच्छानुकूल वर दिया। भार्या सहित उस राजा ने 'पुत्र दीजिये' यह वर शंकर से माँगा।। १-९।। शंकर ने प्रेमपूर्वक राजा से कहा कि मेरे तीसरे नेत्र को देखो। मानद ! तव उनके तीसरे नेत्र को देखने पर राजेन्द्र को नेत्र की दीप्ति के प्रभाव से महिमा नामक प्रसिद्ध पुत्र हुआ, जिसने 'महिम्नःस्तोत्र' नामक प्रसिद्ध स्तोत्र को वनाया और उसी से स्तुति की। जिसकी आज्ञा का अनुसरण हरि, बह्मा आदि देवता करते हैं, उस भगवान् त्रिपुरारि के प्रसन्न होने पर संसार में क्या अलभ्य है ? पुत्र पा जाने पर राजा ने उस तीर्थ की श्रेष्ठता का भी वर माँगा। भव ने महापापी, महारोगी, महाव्यसनी और अनेक विपत्तियों से दुःखी मनुष्यों की अभीष्ट-सिद्धि के लिए उस तीर्थ को अति श्रेष्ठता दे दी। अतः वह भावतीर्थ कहा जाता है।

---

[1] घ. इव।

तत्र स्नानेन दानेन सर्वान्कामानवाप्नुयात्। भवप्रसादाद्भवत्सुतः प्राचीनबर्हिषः ॥१५॥
महिमा गौतमीतीरे भावतीर्थं तदुच्यते। तत्र सप्ततितीर्थानि पुण्यान्यखिलदानि च ॥१६॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये भावतीर्थादिसप्ततितीर्थवर्णनं नाम
त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५३॥
गौतमीमाहात्म्ये चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥८४॥

अथ चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

सहस्रकुण्डाख्यतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

सहस्रकुण्डमाख्यातं तीर्थं वेदविदो विदुः। यस्य स्मरणमात्रेण सुखी संपद्यते नरः ॥१॥
पुरा दाशरथी रामः सेतुं बद्ध्वा महार्णवे। लङ्कां दग्ध्वा रिपून्हत्वा रावणादीन्रणे शरैः ॥२॥
वैदेहीं च समासाद्य रामो वचनमब्रवीत्। पश्यत्सु लोकपालेषु तस्याऽऽचार्ये पुरः स्थिते ॥३॥
अग्नौ शुद्धिगतां सीतां रामो लक्ष्मणसंनिधौ। एहि वैदेहि शुद्धाऽसि अङ्कमारोढुमर्हसि ॥४॥

उसमें स्नान और दान करने से मनुष्य सब कामनाओं को प्राप्त करता है। भगवान् भव की कृपा से प्राचीनबर्हिस् को गौतमी-तट पर महिमा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, इसलिए उसको भावतीर्थ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त वहाँ पवित्र और अखिल मनोरथों को देनेवाले सत्तर तीर्थ हैं ॥१०-१६॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में भावतीर्थ आदि सत्तर तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ तिरपनवाँ
अध्याय समाप्त ॥१५३॥

अध्याय १५४

सहस्रकुण्ड नामक तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—वेदों के जाननेवाले व्यक्ति सहस्रकुण्ड नामक तीर्थ को जानते हैं, जिसके स्मरण मात्र से मनुष्य सुखी हो जाता है। प्राचीन-काल में दशरथ-पुत्र राम ने महासमुद्र पर पुल बाँधकर लंका को जला रण में अपने बाणों से रावण आदि शत्रुओं को मारकर वैदेही को प्राप्त किया। तत्पश्चात् सब लोकपालों और अपने आचार्य के सामने ही राम ने लक्ष्मण के समीप अग्नि में शुद्ध की गयी सीता से कहा—'वैदेहि! तुम पवित्र हो, अब मेरी गोद में आरूढ़ होने के योग्य हो।' उस समय यह सुनकर श्रीमान् अंगद तथा हनुमान् ने इसका निषेध किया और कहा 'वैदेहि! हम सब अपने सुहृज्जनों के साथ अयोध्या चलेंगे। वहाँ शुद्ध होने पर और साथ ही भ्रातागण,

नेत्युवाच तदा श्रीमानङ्गदो हनुमांस्तथा। अयोध्यायां तु वैदेहि सार्धं यामः सुहृज्जनैः ।।५।।
तत्र शुद्धिमवाप्याथ पुनर्भ्रातृषु मातृषु। लौकिकेष्वपि पश्यत्सु ततः शुद्धा नृपात्मजा ।।६।।
अयोध्यायां सुपुण्येऽह्नि अङ्कमारोढुमर्हसि। अस्याश्चरित्रविषये संदेहः कस्य जायते ।।७।।
लोकापवादस्तदपि निरस्यः स्वजनेषु हि। तयोर्वाक्यमनादृत्य लक्ष्मणः सविभीषणः ।।८।।
रामश्च जाम्बवांश्चैव तामाह्वयन्नृपात्मजाम्। स्वस्तीत्युक्ता देवताभी राज्ञोऽङ्कं चाऽऽरुरोह सा ।।९।।
मुदितास्ते ययुः शीघ्रं पुष्पकेण विराजता। अयोध्यां नगरीं प्राप्य तथा राज्यं स्वकं तु यत् ।।१०।।
मुदितास्तेऽभवन्सर्वे सदा रामानुवर्तिनः। ततः कतिपयाहेषु अनार्येभ्यो विरूपिकाम् ।।११।।
वाचं श्रुत्वा स तत्याज गुर्विणीं तामयोनिजाम्। मिथ्यापवादमपि हि न सहन्ते कुलोन्नताः ।।१२।।
वाल्मीकेर्मुनिमुख्यस्य आश्रमस्य समीपतः। तत्याज लक्ष्मणः सीतामदुष्टां रुदतीं रुदन् ।।१३।।
नोल्लङ्घ्याऽऽज्ञा गुरूणामित्यसौ तदकरोद्भिया। ततः कतिपयाहेषु व्यतीतेषु नृपात्मजः ।।१४।।
रामः सौमित्रिणा सार्धं हयमेधाय दीक्षितः। तत्रैवाऽऽजग्मतुरुभौ रामपुत्रौ यशस्विनौ ।।१५।।
लवः कुशश्च विख्यातौ नारदाविव गायकौ। रामायणं समग्रं तद्गन्धर्वाविव सुस्वरौ ।।१६।।
रामाय चरितं सर्वं गायमानौ समीयतुः। यज्ञवाटं राजसुतौ हेतुभिर्लक्षितौ तदा ।।१७।।
रामपुत्रावुभौ शूरौ वैदेह्यास्तनयाविति। तावानीय ततः पुत्रावभिषिच्य यथाक्रमम् ।।१८।।
अङ्कारूढौ ततः कृत्वा सस्वजे तौ पुनः पुनः। संसारदुःखखिन्नानामगतीनां शरीरिणाम् ।।१९।।

माताएँ और समस्त प्रजाएँ जब इस अग्नि-परीक्षा को देख लेंगी तब नृप-तनया सीता शुद्ध होंगी। इसके अनन्तर पवित्र शुभ दिन में उसी अयोध्या में ये आपके अंकारूढ़ होंगी। वास्तव में इनके चरित्र के विषय में किसको सन्देह होगा? फिर भी स्वजनों में फैले लोकापवाद को अवश्य दूर करना चाहिये।' उन दोनों की इन बातों का अनादर कर विभीषण सहित राम, लक्ष्मण और जाम्बवान् ने उस शुद्ध नृप-कन्या को बुलाया, देवताओं ने स्वस्ति-पाठ किया और सीता आदरपूर्वक राजा के अंक में आरूढ़ हुईं।।१-९।। सभी पुष्पक-विमान पर सवार होकर प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र अयोध्या की ओर चले। अयोध्या नगरी और अपने राज्य को पा सदा राम की आज्ञा का पालन करनेवाले वे सब लोग प्रसन्न हुये। इसके बाद कुछ दिनों में राजा राम ने अनार्यों के मुख से सीता के संबंध में अनुचित बात सुनकर उस अयोनिजा को गर्भवती अवस्था में ही छोड़ दिया; क्योंकि कुलीन व्यक्ति मिथ्यापवाद को भी नहीं सहते हैं। लक्ष्मण ने मुनिशिरोमणि वाल्मीकि के आश्रम के समीप उस रोती हुई पवित्र सीता को स्वयं रोते हुए छोड़ दिया। गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, इस डर से उन्होंने वह क्रूर कर्म किया। इसके बाद कुछ समय बीत जाने पर नृप-पुत्र राम ने लक्ष्मण के सहित अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ली। उसी यज्ञ में वे दोनों यशस्वी, तथा नारद के समान विख्यात गायक रामपुत्र लव और कुश उस सम्पूर्ण रामचरित्र—रामायण को गन्धर्व के समान मीठे स्वर से गाते हुए पहुँचे। उस समय जब वे दोनों राज-पुत्र यज्ञ-पथ पर आये तब अपने अंग-लक्षणों से दोनों सीता से उत्पन्न राम के पुत्र पहचाने गये। राम ने अपने उन दोनों पुत्रों को बुलाकर यथाक्रम उनका अभिषेक किया, पुनः गोद में लेकर बार-बार छाती से लगाया।।१०-१८½।। सत्य है कि संसार के दुःखों से उद्विग्न एवं निरुपाय देहधारियों के लिए इस संसार में पुत्र का आलिंगन ही सुख-शान्ति का कारण है। राम उन दोनों पुत्रों को बार-बार अपनी छाती से लगाते, चूमते और आलिंगन करते, कुछ हृदय में सोचते-से थे,

पुत्रालिङ्गनमेवात्र परं विश्रान्तिकारणम् । मुहुरालिङ्ग्य तौ पुत्रौ मुहुः स्वजति चुम्बति ॥२०॥
किमप्यन्तर्ध्यायति च निःश्वसत्यपि वै मुहुः । एतस्मिन्नन्तरे प्राप्ता राक्षसा लङ्कवासिनः ॥२१॥
सुग्रीवो हनुमांश्चैव अङ्गदो जाम्बवांस्तथा । अन्ये च वानराः सर्वे विभीषणपुरः सराः ॥२२॥
ते चाऽऽगत्य नृपं प्राप्ताः सिंहासनमुपस्थितम् । सीतामदृष्ट्वा हनुमानङ्गदः कनकाङ्गदः[1] ॥२३॥
क्व गताऽयोनिजा माता एको रामोऽत्र दृश्यते । रामेण सा परित्यक्ता इत्यूचुर्द्वारपालकाः ॥२४॥
पश्यत्सु लोकापालेषु आर्ये तत्र प्रवादिनि । अग्नौ शुद्धिगतां (ता) सीतां (ता) किंतु राजा निरंकुशः ॥२५॥
उत्पन्नैर्लौकिकैर्वाक्यै रामस्त्यजति तां प्रियाम् । मरिष्याव इति ह्युक्त्वा गौतमीं पुनरीयतुः ॥२६॥
रामस्तौ पृष्ठतोऽभ्येत्य (?) अयोध्यावासिभिः सह । आगत्य गौतमीं तत्राकुर्वंस्ते परमं तपः ॥२७॥
स्मारं स्मारं निश्वसन्तस्तां सीतां लोकमातरम् । संसारास्थाविरहिता गौतमीसेवनोत्सुकाः ॥२८॥
लोकत्रयपतिः साक्षाद्रामोऽनुजसमन्वितः । प्राप्तः स्नात्वा च गौतम्यां शिवाराधनतत्परः ॥२९॥
परितापं जहौ सर्वं सहस्रपरिवारितः । यत्र चाऽऽसीत्स[2] वृत्तान्तः सहस्रकुण्डमुच्यते ॥३०॥
दशापराणि तीर्थानि तत्र सर्वार्थदानि च । तत्र स्नानं च दानं च सहस्रफलदायकम् ॥३१॥
यत्र श्रीगौतमीतीरे वसिष्ठादिमुनीश्वरैः । सर्वापत्तारकं होममकारयदघान्तकम् ॥३२॥
सहस्रसंख्यायुक्तेषु कुण्डेषु वसुधारया । सर्वानपेक्षितान्कामानवापासौ महातपाः ॥३३॥

और फिर बार-बार लम्बी आहें भरने लगते थे। इसि बीच लंकावासी विभीषण आदि राक्षस, सुग्रीव, हनुमान्, अंगद और जाम्बवान् एवं अन्य वानर आये। उन सबों ने सिंहासन पर बैठे राम को तो देखा, परन्तु सीता को न देखा। तब कनक और केयूर पहने हुए हनुमान् और अंगद ने पूछा कि मेरी अयोनिजा माता सीता कहाँ चली गयीं, केवल अकेले राम ही दिखायी पड़ रहे हैं। द्वारपाल ने कहा कि राम ने उनको छोड़ दिया है। तब सब लोकपालों के देखते-देखते और आर्य राम के रोकते रहने पर भी उन्होंने कहा कि ओह ! अग्नि के द्वारा शुद्ध की गयी प्रिय सीता को राम ने लोकापवाद के कारण छोड़ दिया है ! ठीक है राजा अति निरंकुश होते हैं। अब हम अवश्य मर जायेंगे। यह कह गौतमी-तट पर चले आये। राम भी उन दोनों के पीछे-पीछे अयोध्यावासियों के साथ उस गौतमी-तट पर आये। संसार से निराश और गौतमी-सेवन के लिए उत्सुक वे सब उस लोकमाता सीता का बार-बार स्मरण कर और दीर्घोच्छ्वास छोड़ते हुए परमोत्कृष्ट तप करने लगे। तीनों लोक के स्वामी साक्षात् राम अपने अनुज के साथ गौतमी के तट पर आये और उसमें स्नान कर शिवाराधन में लीन हो गये। ॥१९-२९॥ इस प्रकार उन्होंने सहस्रजनों के साथ दीर्घ तपस्या कर सब दुःखों से अपने को मुक्त किया। जहाँ वह घटना हुई उसको सहस्रकुण्ड कहा जाता है। वहाँ और भी सब अभिमत पदार्थों को देनेवाले दस तीर्थ हैं। उनमें स्नान और दान करने से सहस्रगुण फल प्राप्त होता है। जहाँ श्री गौतमी के तट पर वसिष्ठादि मुनीश्वरों से युक्त होकर सहस्रकुण्ड में पाप नष्ट करने वाली और सब आपत्तियों को दूर करनेवाली आहुतियों को वसुधारा के साथ दिया और राक्षसों के विध्वंसक

---

[1] त अत्र किञ्चित्त्रुटितम् । [2] घ. ङ. ०त्सर्ववृतः स० ।

गौतम्याः सरिदम्बायाः प्रसादाद्राक्षसान्तकः । सहस्रकुण्डाभिधं तदभूत्तीर्थं महाफलम् ॥३४॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये सहस्रकुण्डादिदशतीर्थवर्णनं नाम
चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५४॥
गौतमीमाहात्म्ये पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥८५॥

अथ पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कपिलातीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

कपिलातीर्थमाख्यातं तदेवाऽऽङ्गिरसं स्मृतम् । तदेवाऽऽदित्यमाख्यातं सैंहिकेयं तदुच्यते ॥१॥
गौतम्या दक्षिणे पारे आदित्यान्मुनिसत्तम । अयाजयन्नङ्गिरसो दक्षिणां[1] ते भुवं ददुः ॥२॥
अङ्गिरोभ्यस्तदाऽऽदित्यास्तपसेऽङ्गिरसो ययुः । सा भूमिः सैंहिकी भूत्वा जनान्सर्वानभक्षयत् ॥३॥

उस महातपस्वी राम ने माता गौतमी नदी की कृपा से सब अभीष्ट मनोरथों को प्राप्त किया, वह महाफल देनेवाला सहस्रकुण्ड नामक तीर्थ विख्यात हो गया ॥३०-३४॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में सहस्रकुण्ड आदि दस तीर्थों का वर्णन नामक एक सौ चौवनवाँ अध्याय समाप्त ॥१५४॥

अध्याय १५५

कपिलातीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—कपिलासंगम नामक एक प्रसिद्ध तीर्थ है। उसी को आंगिरस, आदित्य और सैंहिकेय तीर्थ भी कहा जाता है। मुनिश्रेष्ठ ! अङ्गिरसों ने गौतमी के दक्षिण तट पर आदित्यों को यज्ञ कराया। उन आदित्यों ने दक्षिणा में अङ्गिरसों को पृथिवी दी। अङ्गिरस तपस्या के लिये चले गये। वह भूमि सैंहिकी बनकर सब लोगों को खाने लगी। वे सब लोग भयत्रस्त हो गये और उन्होंने जाकर अङ्गिरसों से अपनी कष्ट-गाथा सुनायी। अपने अन्तःज्ञान से उस पृथिवी का सैंहिकी होना जानकर वे भी डर-से गये। इसके बाद वे आदित्यों के पास जाकर बोले—'अपनी दी

---

[1] घ. च. ०क्षिणार्थे भु० ।

तत्रसुस्ते जनाः सर्वे अङ्गिरोभ्यो न्यवेदयन् । विभीता ज्ञानतो ज्ञात्वा भुवं तां सैंहिकीमिति ॥४॥
आदित्याननुगत्वाऽथ वाचमङ्गिरसोऽब्रुवन् । भुवं गृह्णन्तु या दत्ता नेत्यादित्यास्तदाऽब्रुवन् ॥५॥
निवृत्तां दक्षिणां नैव प्रतिगृह्णन्ति सूरयः । स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुंधराम् ॥६॥
षष्टिर्वर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः । भूमेः स्वपरदत्ताया हरणान्नाधिकं क्वचित् ॥७॥
पापमस्ति महारौद्रं न स्वीकुर्मः पुनस्तु ताम् । एवं यदा स्वदत्ताया हरणे किं तदा भवेत् ॥८॥
तथाऽपि क्रयरूपेण गृह्णीमो दक्षिणां भुवम् । तथेत्युक्ते तु ते देवाः कपिलां शुभलक्षणाम् ॥९॥
गङ्गाया दक्षिणे पारे भुवः स्थाने तु तां ददुः । भुक्तिमुक्तिप्रदः साक्षाद्विष्णुस्तिष्ठति मूर्तिमान् ॥१०॥
कपिलासंगमं तच्च सर्वाघौघविनाशनम् । तत्राभवद्दानतोयादापगा कपिलाभिधा ॥११॥
सस्यवत्या अपि भुवो दानाद्गोदानमुत्तमम् । लोकरक्षां चकारासौ कृत्वा विनिमयं मुनिः ॥१२॥
यत्र तीर्थे च तद्वृत्तं गोतीर्थं तदुदाहृतम् । पुण्यदं तत्र तीर्थानां शतमुक्तं मनीषिभिः ॥१३॥
तत्र स्नानेन दानेन भूमिदानफलं लभेत् । संगता गङ्गया तच्च कपिलासंगमं विदुः ॥१४॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये कपिलासंगमादिशततीर्थवर्णनं नाम
पञ्चापञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५५॥
गौतमीमाहात्म्ये षडशीतितमोऽध्यायः ॥८६॥

हुई पृथ्वी को ले लीजिये ।' तब आदित्यों ने कहा 'नहीं, ज्ञानी दक्षिणा में दिये गये पदार्थ को पुनः स्वयं अपने नहीं लेते । जो अपनी दी हुई या दूसरे की दी हुई भूमि को छीन लेता है, वह साठ हजार वर्ष तक विष्ठा में कीड़ा बनता है । अपनी अथवा दूसरे की दी हुई भूमि को ले लेने की अपेक्षा कदाचित् और दूसरा महाभयङ्कर पाप नहीं है । इसलिए पुनः उस भूमि को हम नहीं ग्रहण करेंगे ॥१-७½॥ यद्यपि स्वदत्त पृथ्वी के पुनः ग्रहण में पाप होता है तब अब क्या होगा ? तथापि मूल्य देकर क्रय के रूप में इस दक्षिणा दी हुई पृथिवी को ले लेता हूँ ।' 'ऐसा ही हो' ऐसा अङ्गिरसों के कहने पर उन आदित्यों ने शुभ लक्षणोंवाली कपिला गौ को पृथ्वी के निष्क्रय के रूप में गंगा के दक्षिण तीर पर दे दिया । उस स्थान पर भुक्ति और मुक्ति देनेवाले साक्षात् मूर्तिमान् विष्णु निवास करते हैं । वहाँ वह कपिला-संगम नामक एक तीर्थ बन गया जो पापों को दूर करनेवाला है । वहीं दान-जल के गिरने से कपिला नाम की एक नदी बन गयी । सस्य-सम्पन्न पृथ्वी के दान से भी गोदान उत्तम दान है । इस प्रकार उस मुनि ने दान का विनिमय कर लोक-रक्षा की । जहाँ वह घटना हुई, उसको गोतीर्थ कहा जाता है । मनीषियों ने वहाँ और पुण्यप्रद सौ तीर्थों को कहा है । वहाँ स्नान और दान करने से भूमि-दान का फल प्राप्त होता है । गंगा से मिलने पर उस स्थान को कपिला-संगम कहा जाता है ॥८-१४॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में कपिला-संगम आदि सौ तीर्थों का वर्णन नामक
एक सौ पचपनवाँ अध्याय समाप्त ॥१५५॥

अथ षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

शङ्खह्रदतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

शङ्खह्रदं नाम तीर्थं यत्र शङ्खगदाधरः। तत्र स्नात्वा च तं दृष्ट्वा मुच्यते भवबन्धनात् ॥१॥
तत्रेदं वृत्तमाख्यास्ये भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्। पुरा कृतयुगस्याऽऽदौ ब्रह्मणः सामगायिनः ॥२॥
ब्रह्माण्डागारसंभूता राक्षसा बहुरूपिणः। ब्रह्माणं खादितुं प्राप्ता बलोन्मत्ता धृतायुधाः ॥३॥
तदाऽहमब्रवं विष्णुं रक्षणाय जगद्गुरुम्। स विष्णुस्तानि रक्षांसि हन्तुं चक्रेण चोद्यतः ॥४॥
छित्त्वा चक्रेण रक्षांसि शङ्खमापूरयत्तदा[1]। निष्कण्टकं तलं[2] कृत्वा स्वर्गं निर्वैरमेव च ॥५॥
ततो हर्षप्रकर्षेण शङ्खमापूरयद्धरिः। ततो रक्षांसि सर्वाणि ह्यनीनशुरशेषतः ॥६॥
यत्रैतद्वृत्तमखिलं विष्णुशङ्खप्रभावतः। शङ्खतीर्थं तु तत्प्रोक्तं सर्वक्षेमकरं नृणाम् ॥७॥
सर्वाभीष्टप्रदं पुण्यं स्मरणान्मङ्गलप्रदम्। आयुरारोग्यजननं लक्ष्मीपुत्रप्रवर्धनम् ॥८॥
स्मरणात्पठनाद्वाऽपि सर्वकामानवाप्नुयात्। तीर्थानामयुतं तत्र सर्वपापनुदं मुने ॥९॥
तीर्थान्ययुतसंख्यानि सर्वपापहराणि च। येषां प्रभावं जानाति वक्तुं देवो महेश्वरः ॥१०॥

अध्याय १५६

शङ्खह्रद नामक तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—शंख-ह्रद नामक एक तीर्थ है, जहाँ शंख और गदा को धारण करनेवाले भगवान् रहते हैं। उस तीर्थ में स्नान कर उस भगवान् का दर्शन करने से मनुष्य संसार के बन्धन से छूट जाता है। वहाँ जो यह भुक्ति और मुक्ति देनेवाली घटना हुई, उसको कह रहा हूँ। बहुत पहले कृत-युग के आदि में साम-गान करनेवाले ब्राह्मण थे। उस समय ब्रह्माण्ड रूपी गृह में उत्पन्न भिन्न-भिन्न रूपवाले तथा बल से उन्मत्त रहनेवाले राक्षस हाथ में शस्त्र लेकर ब्रह्मा को खाने के लिए आये। तब मैंने जगद्गुरु विष्णु से रक्षा के लिए कहा। वे विष्णु उन राक्षसों को चक्र से मारने के लिए तैयार हो गये। चक्र से राक्षसों को काट कर अपना शंख बजाया। भूतल को शत्रु-रहित और स्वर्ग को निश्चिन्त कर हरि ने आनन्दातिरेक से अपने शंख को बजाया। इस प्रकार सब राक्षसों को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया। जहाँ यह सारी घटना हुई, वह विष्णु के शंख के प्रभाव के कारण मनुष्यों के सब प्रकार के कल्याण करनेवाला शंखतीर्थ हो गया। वह तीर्थ अत्यन्त पवित्र, सब मनोरथों को देनेवाला, स्मरणमात्र से मंगल करनेवाला और आयु, आरोग्य, लक्ष्मी तथा पुत्र को बढ़ाने वाला है। मनुष्य उसके स्मरण और पठन से सब कामनाओं को पा जाता है। मुने! वहाँ सब पापों को नष्ट करनेवाले दस हजार तीर्थ हैं।

---

[1] घ. ०दा। राज्यं निष्कण्टकं कृ०। [2] च. तटं।

पापक्षयप्रतिनिधिर्नैतिभ्योऽस्त्यपरः क्वचित् ॥११॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये शङ्खतीर्थाद्ययुततीर्थवर्णनं नाम
षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५६॥
गौतमीमाहात्म्ये सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥८७॥

अथ सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

किष्किन्धातीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

किष्किन्धातीर्थमाख्यातं सर्वकामप्रदं नृणाम्। सर्वपापप्रशमनं यत्र संनिहितो भवः ॥१॥
तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि यत्नेन भृणु नारद। पुरा दाशरथी रामो रावणं लोकरावणम् ॥२॥
किष्किन्धावासिभिः सार्धं जघान रणमूर्धनि। सपुत्रं सबलं हत्वा सीतामादाय शत्रुहा ॥३॥
भ्रात्रा सौमित्रिणा सार्धं वानरैश्च महाबलैः। विभीषणेन बलिना देवैः प्रत्यागतो नृपः ॥४॥
कृतस्वस्त्ययनः श्रीमान्पुष्पकेण विराजितः। यदासीद्धनराजस्य कामगेनाऽऽशुगामिना ॥५॥
अयोध्यामगमन्सर्वे गच्छन्गङ्गामपश्यत। रामो विरामः शत्रूणां शरण्यः शरणार्थिनाम् ॥६॥

उन सब पापों को हरनेवाले दस हजार तीर्थों के प्रभाव का वर्णन महेश्वर देव ही कर सकते हैं। पापों का नाश करने वाला ऐसा प्रतिनिधि तीर्थ और दूसरा कोई भी इस भूमण्डल पर नहीं है ॥१-११॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में शंख-तीर्थ आदि दस हजार तीर्थों का वर्णन नामक
एक सौ छप्पनवाँ अध्याय समाप्त ॥१५६॥

अध्याय १५७

कष्किन्धा तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा ने कहा—मनुष्यों की सब प्रकार की कामनाओं को पूरा करनेवाला तथा सब पापों को दूर करने वाला किष्किन्धातीर्थ नामक एक तीर्थ है, जहाँ भगवान् शंकर सर्वदा निवास करते हैं। नारद! उसके स्वरूप का वर्णन कर रहा हूँ, ध्यान से सुनो। बहुत पहले दशरथ-पुत्र राम ने लोक को रुलानेवाले रावण को किष्किन्धा-निवासियों के सहयोग से भयङ्कर युद्ध में मारा। शत्रुनाशक राजा राम पुत्र और सैन्य सहित रावण को मारकर सीता को लेकर भाई लक्ष्मण, महाबलशाली वानरों, बली विभीषण और देवों के साथ लौट आये। श्रीमान् राम स्वस्त्ययन आदि मांगलिक कार्यों को समाप्त कर कुबेर के इच्छा-चालित शीघ्रगामी विमान पर विराजमान होकर सबके साथ अयोध्या को चले, रास्ते में गंगा का दर्शन हुआ। मुने! शत्रुओं के नाशक एवं शरणागतों के प्रतिपालक

गौतमीं तु [१]जगत्पुण्यां सर्वकामप्रदायिनीम् । मनोनयनसंतापनिवारणपरायणाम् ।।७।।
तां दृष्ट्वा नृपतिः श्रीमान्गङ्गातीरमथाऽऽविशत् । तां दृष्ट्वा प्राह नृपतिर्हर्षगद्गदया गिरा ।।
हरीन्सर्वानथाऽऽमन्त्र्य हनुमत्प्रमुखान्मुने ।।८।।

राम उवाच

अस्याः प्रभावाद्धरयो याऽसौ मम पिता प्रभुः । सर्वपापविनिर्मुक्तस्ततो यातस्त्रिविष्टपम् ।।९।।
इयं जनित्री सकलस्य जन्तोर्भुक्तिप्रदा मुक्तिमथापि दद्यात् ।
पापानि हन्यादपि दारुणानि, काऽन्याऽनयाऽस्त्यत्र नदी समाना ।।१०।।
हतानि शश्वद्दुरितानि चैव, अस्याः प्रभावादरयः सखायः ।
विभीषणो मैत्रमुपैति नित्यं, सीता च लब्धा हनुमांश्च बन्धुः ।।११।।
लङ्का च भग्ना सगणं हि रक्षो, हतं हि यस्याः परिसेवनेन ।
यां गौतमो देववरं प्रपूज्य, शिवं शरण्यं सजटामवाप ।।१२।।
सेयं जनित्री सकलेप्सितानाममङ्गलानामपि संनिहन्त्री
जगत्पवित्रीकरणैकदक्षा, दृष्टाऽद्य साक्षात्सरितां सवित्री ।।१३।।
कायेन वाचा मनसा सदैनां, व्रजामि गङ्गां शरणं शरण्याम् ।।१४।।

राम मन और नेत्र के संताप को निवारण करने में अतिकुशल, संसार की अति पवित्र और सब मनोरथों को देनेवाली उस गौतमी को देखकर गंगा-तीर पर उतर पड़े । मुनि नारद ! उसको देखकर राजा हर्ष से प्रफुल्लित होकर हनुमान् आदि प्रमुख वानरों को बुलाकर गद्गद वाणी से बोले ।। १-८।।

राम बोले—वानरगण ! इस महानदी के प्रभाव से मेरे प्रभु पिता सब पापों से मुक्त होकर स्वर्ग को चले गये । यह समस्त प्राणियों की माता है और सबको भुक्ति और मुक्ति दोनों देती है और उनके दारुण पापों को भी नष्ट कर देती है । इस भू पर इसके समान कोई अन्य नदी नहीं है । इसने सब पापों को पुनः-पुनः नष्ट किया, इसके प्रभाव से शत्रु मित्र हो गये, विभीषण नित्य का मित्र हो गया, सीता मिल गयीं और हनुमान् बन्धु (सहायक) मिल गया । इसकी सेवा से लंका नष्ट कर दी गयी और राक्षस अपने परिजनों सहित मारे गये । गौतम ऋषि ने देववर, शरण-रक्षक शिव की पूजा कर जिस गौतमी को जटा सहित प्राप्त किया था, वह यह सकल मनोरथों को प्रदान करनेवाली और सब अमंगलों को नष्ट करनेवाली, संसार को पवित्र करने में एकमात्र कुशल और सब नदियों को उत्पन्न करनेवाली गौतमी आज प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर हुई है । मैं ऐसी शरणवत्सल गंगा की शरण में शरीर, मन और वचन से सदा के लिए आया हूँ ।।९-१४।।

---

[१] घ. ०गत्पूज्यां स० ।

ब्रह्मोवाच

एतत्समाकर्ण्य वचो नृपस्य, तत्राऽऽप्लवन्हरयः सर्व एव
पूजां चक्रुर्विधिवत्ते पृथक्च, पुष्पैरनेकैः[1] सर्वलोकोपहारैः ॥१५॥
संपूज्य शर्वं नृपतिर्यथावत्स्तुत्वा वाक्यैः सर्वभावोपयुक्तैः ।
ते वानरा मुदिताः सर्व एव, नृत्यं च गीतं च तथैव चक्रुः ॥१६॥
सखोषितस्तां रजनीं महात्मा, प्रियानुयुक्तः संवृतः प्रेमवद्भिः ।
दुःखं जहौ सर्वममित्रसंभवं, किं नाऽऽप्यते गौतमीसेवनेन ॥१७॥
सविस्मयः पश्यति भृत्यवर्गं, गोदावरीं स्तौति च संप्रहृष्टः ।
संमानयन्भृत्यगणं समग्रमवाप रामः कमपि प्रमोदम् ॥
पुनः प्रभाते विमले तु सूर्ये, विभीषणो दाशरथिं बभाषे ॥१८॥

विभीषण उवाच

नाद्यापि तृप्तास्तु भवाम तीर्थे, कंचिच्च कालं निवसाम चात्र ।
वत्स्या (सा) म चात्रैव पराश्चतस्रो, रात्रीरथो याम वृतास्त्वयोध्याम् ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

तस्याथ वाक्यं हरयोऽनुमेनिरे, तथैव रात्रीरपराश्चतस्रः ।
संपूज्य देवं सकलेश्वरं तं, भ्रातृप्रियं तीर्थमथो जगाम ॥२०॥

ब्रह्मा बोले—राजा राम की उपर्युक्त वातों को सुनकर वे सव वानर उस पुण्यतोया गंगा में कूद पड़े और स्नान कर सब लोकों के उपहारस्वरूप भाँति-भाँति के फूलों से विधिवत् पूजा की । राजा ने भी शिव की पूजा कर सब भावों को व्यक्त करनेवाले उपर्युक्त वाक्यों से विधिपूर्वक स्तुति की । उन सभी वानरों ने मुदित होकर उसी प्रकार नृत्य-गान किया । महात्मा राम ने प्रिया सीता के सहित अपने प्रेमी अनुचरों के साथ उस रात्रि को वहीं विता दिया और सव शत्रुओं के कारण पाये हुए दुःख को वे भूल गये । सत्य है, गौतमी की सेवा से मनुष्य क्या नहीं कर पा सकता है ? वे कभी विस्मित हो अपने अनुचरवर्ग को देखते तो कभी प्रसन्न हो गोदावरी की स्तुति करते थे । अपने समस्त अनुचरों को सम्मानित करते हुए राम को कोई अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त हुआ । पुनः प्रातःकाल जव विमल सूर्योदय हुआ तव विभीषण ने राम से कहा ।।१५-१८।।

विभीषण ने कहा—इस तीर्थ में रहने से अभी हम तृप्त नहीं हुए हैं, अतः यहाँ कुछ समय तक और रहना चाहते हैं। यहीं और चार रात तक रहें, पुनः अयोध्या को आनन्दपूर्वक प्रस्थान करें ।।१९।।

ब्रह्मा ने कहा—इसके वाद वानरों ने भी विभीषण की वातों का समर्थन किया और उसी प्रकार आनन्दपूर्वक अन्य चार रात्रियाँ भी वितायी गयीं । इसके वाद सव के प्रभु शंकर की पूजाकर सव उस भ्रातृ-प्रिय जगत्प्रसिद्ध

---

[1] च. ०कैः शक्रलो० ।

सिद्धेश्वरं नाम जगत्प्रसिद्धं, यस्य प्रभावात्प्रबलो दशास्यः
एवं तु पञ्चाहमथोषिरे ते, स्वं स्वं प्रतिष्ठापितलिङ्गमर्च्य ॥२१॥
शुश्रूषणं तत्र करोति वायोः, सुतोऽनुगामी हनुमान्नृपस्य ।
गच्छन्नृपेन्द्रो हनुमन्तमाह, लिङ्गानि सर्वाणि विसर्जयस्व ॥२२॥
मत्स्थापितान्युत्तममन्त्रविद्भिस्तथेतरैः शंकरकिंकरैश्च ।
नोद्वास्य पूजां परशंकरेण, बाहचं[1] समायोज्यमहो भवस्य (?) ॥२३॥
तिष्ठन्ति सुस्थास्तदनादरेण, ते खड्गपत्रादिषु संभवन्ति ।
येऽश्रद्दधानाः शिवलिङ्गपूजां, विधाय कृत्यं न समाचरन्ति ॥२४॥
यथोचितं ते यर्मकिंकरैर्हि, पच्यन्त एवाखिलदुर्गतीषु ।
रामाज्ञया वायुसुतो जगाम, दोर्भ्यां न चोत्पाटयितुं शशाक ॥२५॥
ततः स्वपुच्छेन ग्रहीतुकामः, संवेष्टच लिङ्गं तु विसृष्टकामः ।
नैवाशकत्तन्महदद्भुतं स्यात्कपीश्वराणां नृपतेस्तथैव ॥२६॥
कश्चालयेल्लब्धमहानुभावं, महेशलिङ्गं पुरुषो मनस्वी ।
तन्निश्चलं प्रेक्ष्य महानुभावो, नृपप्रवीरः सहसा जगाम ॥२७॥
विप्रानथाऽऽमन्त्र्य विधाय पूजां, प्रदक्षिणीकृत्य च रामचन्द्रः ।
शुद्धातिशुद्धेन हृदाऽखिलैस्तैर्लिङ्गानि सर्वाणि ननाम रामः ॥२८॥

सिद्धेश्वर नामक तीर्थ में गये, जिसके प्रभाव से रावण प्रवल हो गया था। इस प्रकार वे सब पाँच दिनों तक वहीं रहकर अपने-अपने स्थापित किये हुए शिवलिंग की पूजा करते रहे। वहाँ वायु-पुत्र, अनुगामी हनुमान् राजा राम की शुश्रूषा करते थे। जाते समय राजशिरोमणि राम ने हनुमान् से कहा कि मेरे द्वारा प्रतिष्ठापित इन सब लिङ्गों का उत्तम मन्त्रज्ञों अथवा इतर शंकर-भक्तों के उपदेश से विसर्जन कर दो ॥२०-२२॥ अहो ! शंकर के भक्तों को उनकी पूजा का विसर्जन किये विना इतर कार्य नहीं करना चाहिये । भक्त विधिपूर्वक पूजा करके ही सुखपूर्वक रहते हैं, अन्यथा उन (शंकर) के अनादर से वे असिपत्र-वन नामक नरक में कष्ट पाते हैं । जो अश्रद्धालु जन शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठा कर, विहित कार्यों का अनुष्ठान नहीं करते हैं, वे यमदूतों द्वारा विभिन्न नरकों में यातना पाते हैं । राम की आज्ञा से वायु-पुत्र चले, परन्तु अपनी भुजाओं से उस लिङ्ग को उखाड़ न सके । तब उन्होंने अपनी पूँछ से बाँधकर उस लिङ्ग को उखाड़ना चाहा, परन्तु वैसा भी न कर सके । यह देखकर कपीश्वरों और राजा राम को महान् विस्मय हुआ । कौन ऐसा मनस्वी पुरुष है जो उस महामहिम शिवलिङ्ग को हटा सकता है ? नृपश्रेष्ठ महानुभाव राम उस लिङ्ग को अचल देखकर सहसा वहाँ गये और ब्राह्मणों को बुलाकर उस लिङ्ग की विधिवत् पूजा और प्रदक्षिणा की । फिर अति विशुद्ध हृदय से राम ने अखिल अनुयायी वर्गों के साथ उन लिङ्गों को नमस्कार

---

[1] च. बाह्य ।

किष्किन्धवासिप्रवरैरशेषैः, संसेवितं तीर्थमतो बभूव ।
अत्राऽऽप्लवादेव महान्ति पापान्यपि क्षयं यान्ति न संशयोऽत्र ॥२९॥
पुनश्च गङ्गां प्रणनाम भक्त्या, प्रसीद मातर्मम गौतमीति ।
जल्पन्मुहुर्विस्मितचित्तवृत्तिर्विलोकयन्प्रणमन्गौतमीं ताम् ॥३०॥
ततः प्रभृत्येतदतीव पुण्यं, किष्किन्धतीर्थं विबुधा वदन्ति ।
पठेत्स्मरेद्वाऽपि शृणोति भक्त्या, पापापहं किं पुनः स्नानदानैः ॥३१॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये किष्किन्धातीर्थवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५७॥

गौतमीमाहात्म्येऽष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥८८॥

अथाष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

व्यासतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

व्यासतीर्थमिति ख्यातं प्राचेतसमतः परम्। नातः परतरं किंचित्पावनं सर्वसिद्धिदम् ॥१॥
दश मे मानसाः पुत्राः स्रष्टारो जगतामपि। अन्तं जिज्ञासवस्ते वै पृथिव्या जग्मुरोजसा ॥२॥

किया। किष्किन्धा के रहनेवाले सब श्रेष्ठ वानरों से सेवित होने के कारण उसका नाम किष्किन्धातीर्थ पड़ा। इस तीर्थ में स्नान करने से ही बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥२३-२९॥ फिर राम ने 'हे माता गौतमी ! प्रसन्न हो' यह कहकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। इस प्रकार वे सभी आश्चर्यचकित हो बार-बार आपस में बातचीत करते हुए उस गौतमी की ओर देखते हुए और बार-बार प्रणाम करते हुए वहाँ से चल पड़े। उस समय से पंडितजन उसको अति पवित्र किष्किन्धातीर्थ कहते हैं। जो भक्तिपूर्वक उस तीर्थ का स्मरण, माहात्म्य-श्रवण या पाठ करते हैं, उनके सब पाप नष्ट हो जाते हैं। फिर उसके स्नान और दान की महिमा का वर्णन क्या किया जाय ॥३०-३१॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में किष्किन्धातीर्थ-वर्णन नामक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त ॥१५७॥

अध्याय १५८

व्यासतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—इसके बाद व्यास-तीर्थ नामक एक विख्यात तीर्थ है, जिसे प्राचेतस तीर्थ भी कहते हैं। इस तीर्थ से बढ़कर पवित्र तथा सब सिद्धियों को देनेवाला अन्य कोई तीर्थ नहीं है। संसार की भी सृष्टि करनेवाले

पुनः सृष्टा पुनस्तेऽपि यातास्तान्समवेक्षितुम्। नैव तेऽपि समायाता ये गतास्ते गता गताः ॥३॥
तदोत्पन्ना महाप्राज्ञा दिव्या आङ्गिरसो (सा) मुने। वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥४॥
तेऽनुज्ञाता अङ्गिरसा गुरुं नत्वा तपोधनाः। तपसे निश्चिताः सर्वे नैव पृष्ट्वा तु मातरम् ॥५॥
सर्वेभ्यो ह्यधिका माता गुरुभ्यो गौरवेण हि। तदा नारद कोपेन सा शशाप तदाऽऽत्मजान् ॥६॥

मातोवाच

मामनादृत्य ये पुत्राः प्रवृत्ताश्चरितुं तपः। सर्वैरपि प्रकारैस्तन्न तेषां सिद्धिमेष्यति ॥७॥

ब्रह्मोवाच

नानादेशांश्च चिन्वानास्तपः सिद्धिं न यान्ति च। विघ्नमन्वेति तान्सर्वानितश्चेतश्च धावतः ॥८॥
क्वापि तद्राक्षसैर्विघ्नं क्वापि तन्मानुषैरभूत्। प्रमदाभिः क्वचिच्चापि क्वापि तद्देहदोषतः ॥९॥
एवं तु भ्रममाणास्ते ययुः सर्वे तपोनिधिम्। अगस्त्यं तपतां श्रेष्ठं कुम्भयोनिं जगद्गुरुम् ॥१०॥
नमस्कृत्वा ह्याङ्गिरसा ह्यग्निवंशसमुद्भवाः। दक्षिणाशापतिं शान्तं विनीताः प्रष्टुमुद्यताः ॥११॥

आङ्गिरसा ऊचुः

भगवन्केन दोषेण तपोऽस्माकं न सिध्यति। नानाविधैरप्युपायैः कुर्वतां च पुनः पुनः ॥१२॥

मेरे दस मानस पुत्र हुए। वे पृथ्वी का अन्त जानने की इच्छा से बड़े साहस के साथ चले गये। फिर मैंने अन्य ही मानस पुत्रों को उत्पन्न किया। वे भी उनको ढूँढ़ने के लिए चले गये। वे भी लौटकर नहीं आये। जो गये वे चले ही गये। मुने! तदनन्तर महाबुद्धिमान्, वेद-वेदाङ्गों के तत्त्व को जाननेवाले तथा सब शास्त्रों के परिनिष्ठित विद्वान् दिव्य आङ्गिरस उत्पन्न हुए। तपस्वी अङ्गिरसों ने गुरु से आज्ञा लेकर तपस्या के लिए दृढ़निश्चय हुए, परन्तु अपनी माता से इस विषय में राय नहीं ली। यह देखकर माता को क्रोध हो गया, क्योंकि माता गौरव में सब गुरुओं से बढ़कर है। तब उसने क्रुद्ध होकर अपने पुत्रों को शाप दे दिया ॥१-६॥

माता बोली—जो मेरे पुत्र मेरा अनादर कर तपस्या करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं, वे सब प्रयत्न करने पर भी तपस्या में सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकेंगे ॥७॥

ब्रह्मा बोले—वे उपर्युक्त स्थान ढूँढ़ते हुये अनेक देशों में गये, परन्तु तपःसिद्धि प्राप्त नहीं हुई। इधर-उधर दौड़नेवाले उन लोगों के पीछे-पीछे विघ्न भी लगे रहते थे। कहीं तो राक्षस विघ्न उत्पन्न करते तो कहीं मनुष्य। कहीं स्त्रियों के कारण विघ्न हो जाता था तो कहीं उनके निजी दोषों के कारण। इस प्रकार चक्कर काटते हुए वे तपस्वियों में श्रेष्ठ, संसार के गुरु एवं जाज्वल्यमान अगस्त्य के पास गये। अग्निवंशीय वे अङ्गिरस दक्षिण दिशा के स्वामी, परम शान्त अगस्त्य को नमस्कार कर विनीत भाव से पूछने लगे ॥८-११॥

आङ्गिरस बोले—भगवन्! बार-बार नाना प्रकार के उपाय करते हुए भी हम लोगों की तपस्या किस दोष के कारण सिद्ध नहीं हो रही है? क्या करें? इस तपस्या का कौन-सा प्रकार (नियम) है? विप्रेन्द्र! कृपाकर उपाय बतलाइये, आप निश्चय ही तपस्या में सर्वश्रेष्ठ हैं। ब्रह्मन्! आप ज्ञानियों में श्रेष्ठ ज्ञाता हैं तथा

किं कुर्मः कः प्रकारोऽत्र तपस्येव भवाम किम् । उपायं ब्रूहि विप्रेन्द्र ज्येष्ठोऽसि तपसा ध्रुवम् ॥१३॥
ज्ञाताऽसि ज्ञानिनां ब्रह्मन्वक्ताऽसि वदतां वरः । शान्तोऽसि यमिनां नित्यं दयावान्प्रियकृत्तथा ॥१४॥
अक्रोधनश्च न द्वेष्टा तस्माद्ब्रूहि विवक्षितम् । साहंकारा दयाहीना गुरुसेवाविवर्जिताः ॥
असत्यवादिनः क्रूरा न ते तत्त्वं विजानते ॥१५॥

ब्रह्मोवाच

अगस्त्यः प्राह तान्सर्वान्क्षणं ध्यात्वा शनैः शनैः ॥१६॥

अगस्त्य उवाच

शान्तात्मानो भवन्तो वै स्रष्टारो ब्रह्मणा कृताः । न पर्याप्तं तपश्चाभूत्स्मरध्वं[1] स्मयकारणम् ॥१७॥
ब्रह्मणा निर्मिताः पूर्वं ये गताः सुखमेधते । ये गताः पुनरन्वेष्टुं ते च त्वाङ्गिरसोऽभवन् ॥१८॥
ते यूयं च पुनः काले याता याताः शनैः शनैः । प्रजापतेरप्यधिका भवितारो न संशयः ॥१९॥
इतो यान्तु तपस्तप्तुं गङ्गां त्रैलोक्यपावनीम् । नोपायोऽन्योऽस्ति संसारे विना गङ्गां शिवप्रियाम् ॥२०॥
तत्राऽऽश्रमे पुण्यदेशे ज्ञानदं पूजयिष्यथ । स च्छेदयिष्यत्यखिलं संशयं वो महामतिः ॥
न सिद्धिः क्वापि केषांचिद्विना सद्गुरुणा यतः ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

ते तमूचुर्मुनिवरं ज्ञानदः कोऽभिधीयते । ब्रह्मा विष्णुर्महेशो वा आदित्यो वाऽपि चन्द्रमाः ॥२२॥

वक्ताओं में श्रेष्ठ वक्ता हैं । आप संयमशीलों में सबसे अधिक शान्त और संयमी हैं । आप सर्वदा दया दिखानेवाले और प्रिय करनेवाले हैं । आप क्षमाशील और उदार हैं । इसलिए कृपाकर उपयुक्त उपाय बतलाइये । जो अहंकारी, निर्दय, गुरु-सेवा-पराङ्मुख, झूठ बोलनेवाले और क्रूर हैं वे तत्त्वों को नहीं जानते हैं ॥१२-१५॥

ब्रह्मा बोले—क्षण भर तक विचार कर अगस्त्य ऋषि ने धीरे-धीरे उनसे कहा ॥१६॥

अगस्त्य ने कहा—तुम लोग शान्त चित्तवाले, स्रष्टा (प्रजापति) और ब्रह्मा के पुत्र हो; फिर भी पर्याप्त तपस्या नहीं हुई । इस आश्चर्यजनक असफलता का कारण सोचो । पहले ब्रह्मा ने जिनको उत्पन्न किया और जो सुख की खोज में गये, वे सुख का अनुभव कर रहे हैं । जो पुनः उनको खोजने के लिये गए, वे आङ्गिरस हो गये । वे ही तुम लोग पुनः समय पाकर शनैः-शनैः आगे बढ़ते ही गये, और अब इसमें संदेह नहीं कि तुम लोग प्रजापति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाओगे । अब त्रिभुवन-पावनी गंगा के तट पर तपस्या करने के लिए जाओ । संसार में शिव-प्रिया गंगा के बिना और कोई कल्याण का उपाय नहीं । वहाँ पवित्र स्थान में आश्रम बनाकर जब ज्ञानदाता (शंकर) की पूजा करोगे तो वे महामति सब सन्देहों को अवश्य मिटा देंगे । क्योंकि कहीं पर किसी को अच्छे गुरु के बिना सिद्धि नहीं मिलती है ॥१७-२१॥

ब्रह्मा बोले—उन लोगों ने उन मुनिवर से कहा कि कौन ज्ञान-दाता कहा जाता है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य या चन्द्रमा । मुनिश्रेष्ठ ! अग्नि अथवा वरुण कौन ज्ञानदाता हैं ? यह सुन ज्ञानदाता अगस्त्य ने कहा-ज्ञान

---

[1] घ. च. ०भूच्छृणुध्वं ।

अग्निश्च वरुणः कः स्याज्ज्ञानदो मुनिसत्तम। अगस्त्यः पुनरप्याह ज्ञानदः श्रूयतामयम् ।।२३।।
या आपः सोऽग्निरित्युक्तो योऽग्निः सूर्यः स उच्यते । यश्च सूर्यः स वै विष्णुर्यश्च विष्णुः स भास्करः ।।२४।।
यश्च ब्रह्मा स वै रुद्रो यो रुद्रः सर्वमेव तत् । यस्य सर्वं तु तज्ज्ञानं ज्ञानदः सोऽत्र कीर्त्यते ।।२५।।
देशिकप्रेरकव्याख्याकृदुपाध्यायदेहदाः । गुरवः सन्ति बहवस्तेषां ज्ञानप्रदो महान् ।।२६।।
तदेव ज्ञानमत्रोक्तं येन भेदो विहन्यते । एक एवाद्वयः शंभुरिन्द्रमित्राग्निनामभिः ।।।
वदन्ति बहुधा विप्रा भ्रान्तोपकृतिहेतवे ।।२७।।

ब्रह्मोवाच

एतच्छुत्वा मुनेर्वाक्यं गाथा गायन्त एव ते । जग्मुः पञ्चोत्तरां गङ्गां पञ्च जग्मुश्च दक्षिणाम् ।।२८।।
अगस्त्येनोदितान्देवान्पूजयन्तो यथाविधि । आसनेषु विशेषेण ह्यासीनास्तत्त्वचिन्तकाः ।।२९।।
तेषां सर्वे सुरगणाः प्रीतिमन्तोऽभवन्मुने । स्रष्टृत्वं तु युगादौ यत्कल्पितं विश्वयोनिना ।।३०।।
अधर्माणां निवृत्त्यर्थं वेदानां स्थापनाय च । लोकानामुपकारार्थं धर्मकामार्थसिद्धये ।।३१।।
पुराणस्मृतिवेदार्थधर्मशास्त्रार्थनिश्चये । स्रष्टृत्वं जगतामिष्टं तादृग्रूपा भविष्यथ ।।३२।।
प्रजापतित्वं तेषां वै भविष्यति शनैः क्रमात् । यदा ह्यधर्मो भविता वेदानां च पराभवः ।।३३।।
वेदानां[1] व्यसनं तेभ्यो भाविव्यासास्ततस्तु ते । यदा यदा तु धर्मस्य ग्लानिर्वेदस्य दृश्यते ।।३४।।

देनेवाली इन बातों को सुनो । जो जल है वही अग्नि कहा गया है । जो अग्नि है, वही सूर्य, जो सूर्य है, वही विष्णु और जो विष्णु है, वही भास्कर है । जो ब्रह्मा है, वही रुद्र है । और जो रुद्र है, वही सब कुछ है । जिसका सब कुछ है, उसको ज्ञान है और वही ज्ञान का दाता यहाँ कहा जाता है । उपदेशक, प्रेरणा करनेवाला, व्याख्याकार, उपाध्याय और पिता आदि बहुत-से गुरु हैं । उनमें ज्ञानदाता गुरु महान् है । वही ज्ञान यहाँ कहा गया है, जिससे भेद-बुद्धि का नाश होता है । शंभु एक ही हैं, वह अद्वितीय हैं । बहुधा भ्रान्ति निवारण करने के लिए विप्रगण उन्हीं को अग्नि, इन्द्र, मित्र आदि नामों से अभिहित किया करते हैं ।।२२-२७।।

ब्रह्मा बोले—मुनि की इन बातों को सुनकर गाथा गाते हुए उनमें से पाँच तो गंगा के उत्तर तट पर और पाँच गंगा के दक्षिण तट पर गये। अगस्त्य के बतलाये हुए देवों की यथाविधि पूजा करते हुये वे तत्त्वचिन्ता करने-वाले मुनि विशेष रूप से आसनों पर बैठ गये। मुने ! उनकी तपस्या से उनके ऊपर सभी देवता प्रसन्न हो गये और कहा 'युग के आदि में विश्व-स्रष्टा ब्रह्मा ने अधर्म की निवृत्ति के लिए वेदों की स्थापना, लोकोपकार, धर्म, काम और अर्थ की सिद्धि तथा पुराण, स्मृति, वेद एवं धर्मशास्त्रों के अर्थ-निश्चय के लिए जिस रूपरेखा की कल्पना की थी, तुम लोग उसी कल्पना के अनुरूप हो जाओगे। क्रमशः शनैः-शनैः प्रजापति का पद अवश्य प्राप्त कर लोगे। इसके अतिरिक्त जब-जब अधर्म का आदर और वेदों का अनादर होगा, तब-तब तुम लोगों को वेदों के अध्ययन और अध्यापन का स्वभाव-सा हो जायगा और भावी व्यास तुम लोग होगे। जब जब धर्म और वेद का ह्रास दिखायी देगा, तब-तब तुम लोग व्यास बनकर जगत् का उपकार करोगे।' मुने ! उन लोगों का जो गंगा के तट पर उत्तम तपस्या का

---

[1] घ. देवानां ।

तदा तदा तु ते व्यासा भविष्यन्त्युपकारिणः। तेषां यत्तपसः स्थानं गङ्गायास्तीरमुत्तमम् ॥३५॥
तत्र तत्र शिवो विष्णुरहमादित्य एव च। अग्निरापः सर्वमिति तत्र संनिहितं सदा ॥३६॥
नैतेभ्यः पावनं किंचिन्नैतेभ्यस्त्वधिकं क्वचित्। तत्तदाकारतां प्राप्तं परं ब्रह्मैव केवलम् ॥३७॥
सर्वात्मकः शिवो व्यापी सर्वभावस्वरूपधृक्। विशेषतस्तत्र तीर्थे सर्वप्राण्यनुकम्पया ॥३८॥
सर्वैर्देवैरनुवृतस्तदनुग्रहकारकः। धर्मव्यासास्तु ते ज्ञेया वेदव्यासास्तथैव च ॥३९॥
तेषां तीर्थं तेन नाम्ना व्यपदिष्टं जगत्त्रये। पापपङ्कक्षालनाम्भो मोहध्वान्तमदापहम् ॥
सर्वसिद्धिप्रदं पुंसां व्यासतीर्थमनुत्तमम् ॥४०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये व्यासतीर्थवर्णनं नामाष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५८॥
गौतमीमाहात्म्ये एकोननवतितमोऽध्यायः ॥८९॥

अथैकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

वंजरासंगमतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

वंजरासंगमं नाम तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्। ऋषिभिः सेवितं नित्यं सिद्धै राजर्षिभिस्तथा ॥१॥

स्थान है, वहाँ शिव, विष्णु और मैं, आदित्य, अग्नि, जल आदि सब देवता सर्वदा रहा करते हैं। उन स्थानों से बढ़कर कोई दूसरा पवित्र और श्रेष्ठ स्थान नहीं है। वे तो ब्रह्माकार की प्राप्ति के कारण ब्रह्म रूप हैं। सर्वात्मक, व्यापक, सब की भावनाओं के अनुसार स्वरूप धारण करनेवाले शिव विशेष रूप से उस तीर्थ में सब प्राणियों के ऊपर दया और अनुग्रह कर सर्वदा ही निवास करते हैं। वे आङ्गिरस धर्म-व्यास माने जाते हैं। उसी प्रकार वे ही वेदव्यास भी कहे जाते हैं। पापरूपी पङ्क को धोनेवाले जल से युक्त तथा मोहरूपी अन्धकार के नशे को दूर करनेवाला वह पवित्र तीर्थ उन्हीं लोगों के नाम से तीनों लोक में प्रसिद्ध हो गया। वह मनुष्यों को सब सिद्धियाँ देनेवाला व्यास-तीर्थ अत्युत्तम तीर्थ है ॥२८-४०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में व्यासतीर्थ-वर्णन नामक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय समाप्त ॥१५८॥

अध्याय १५९

वंजरा संगम नामक तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—वंजरा संगम नामक तीर्थ तीनों लोक में प्रसिद्ध है। वहाँ सर्वदा ऋषि, सिद्ध और राजर्षिगण निवास करते हैं। पहले पक्षी गरुड़ नागों के दास हो गये थे, क्योंकि उनकी माता उस समय नागों की

दासत्वमगमत्पूर्वं नागानां गरुडः खगः । [१]मातृदास्यात्तदा दुःखपरिसंतप्तमानसः ॥
कदाचिच्चिन्तयामास रहः स्थित्वा विनिश्वसन् ॥२॥

गरुड उवाच

त एव धन्या लोकेऽस्मिन्कृतपुण्यास्त एव हि । नान्यसेवा कृता यैस्तु न येषां व्यसनागमः ॥३॥
सुखं तिष्ठन्ति गायन्ति स्वपन्ति च हसन्ति च । स्वदेहप्रभवो धन्या धिग्धिगन्यवशे स्थितान् ॥४॥

ब्रह्मोवाच

इति चिन्तासमाविष्टो जननीमेत्य दुःखितः । पर्यपृच्छदमेयात्मा वैनतेयोऽथ मातरम् ॥५॥

गरुड उवाच

कस्यापराधान्मातस्त्वं पितुर्वा मम वाऽन्यतः । दासीत्वमाप्ता वद तत्कारणं मम पृच्छतः ॥६॥

ब्रह्मोवाच

साऽब्रवीत्पुत्रमात्मीयमरुणस्यानुजं प्रियम् ॥७॥

विनतोवाच

नैव कस्यापराधोऽस्ति स्वापराधो मयोदितः । यस्या वाक्यं विपर्येति सा दासी स्यान्मयोदितम् ॥८॥
कद्रूश्चापि तथैवाहं सा मया संयुता ययौ । कद्र्वा ममाभवद्वादश्छद्मनाऽहं तया जिता ॥९॥

माता की दासी थी । यह देखकर उनका मन दुःख से संतप्त रहता था । किसी समय एकान्त में बैठकर लम्बी साँसें छोड़ते हुए वे विचार करने लगे ॥१-२॥

गरुड़ बोले—इस लोक में वे ही धन्य हैं और वे ही धर्मात्मा हैं, जिन्होंने दूसरे की दासता नहीं की और जो आपत्तियों के वशीभूत नहीं हुए । वे अपने तन के राजा धन्य हैं, क्योंकि वे सुखपूर्वक रहते हैं, सोते हैं और हँसते हैं । जो दूसरों के वश में हैं, उनको धिक्कार है, धिक्कार है ॥३-४॥

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार चिन्तित एवं दुःखी होकर वे माता के पास गये और अपरिमित-शक्ति-सम्पन्न विनता-पुत्र ने माता से पूछा ॥५॥

गरुड़ ने कहा—माता ! तुम किसके अपराध से—पिता के या मेरे या अन्य के कारण दासी बनायी गयी ? मैं इसको पूछ रहा हूँ, बताओ ॥६॥

ब्रह्मा बोले—उसने अपने प्रियपुत्र अरुण के छोटे भाई गरुड़ से कहा ॥७॥

विनता बोली—किसी का अपराध नहीं, मेरा ही अपराध है । मैंने एक बार कद्रू से कहा कि 'जिसका कहना झूठा हो जायगा, वह दासी होगी ।' कद्रू ने भी ऐसा ही कहा । इस प्रकार मैं और वह दोनों साथ-साथ गयीं । कद्रू के साथ मेरा विवाद हुआ । कद्रू ने धोखे से मुझे हरा दिया । विधि बलवान् है । तात ! वह किन

---

[१] क. ङ० ०त्तथा दुः० ।

विधिर्हि बलवांस्तात कां कां चेष्टां न चेष्टते। एवं दासीत्वमगमं कद्र्वाः कश्यपनन्दन ॥
यदा दासी तु जाताऽहं दासोऽभूस्त्वं द्विजन्मज ॥१०॥

ब्रह्मोवाच

तूष्णीं तदा बभूवासौ गरुडोऽतीव दुःखितः। न किंचिदूचे जननीं चिन्तयन्भवितव्यताम्[1] ॥११॥
कद्रूः कदाचित्सा प्राह पुत्राणां हितमिच्छती। आत्मनो भूतिमिच्छन्ती विनतां खगमातरम् ॥१२॥

कद्रूरुवाच

पुत्रः सूर्यं नमस्कर्तुं तव यात्यनिवारितः। अहो लोकत्रयेऽप्यस्मिन्धन्याऽसि बत दास्यपि ॥१३॥

ब्रह्मोवाच

स्वदुःखं गूहमाना सा कद्रूं प्राह सुविस्मिता ॥१४॥

विनतोवाच

तव पुत्रास्तु किमिति रविं द्रष्टुं न यान्ति च ॥१५॥

कद्रूरुवाच

पुत्रान्मदीयान्सुभगे नय नागालयं प्रति। समुद्रस्य समीपे तु तदाऽस्ते शीतलं सरः ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

सुपर्णस्त्वहन्नागान्कद्रूं च विनता तथा। ततः प्रोवाच मुदिता वैनतेयस्य मातरम् ॥१७॥

किन चेष्टाओं (व्यापारों) को नही करता है ? कश्यपनन्दन ! इस प्रकार मैं दासी हो गयी। जब मैं दासी हो गयी हूँ, तो हे पक्षि-पुत्र ! तुम भी दास हो ॥९-१०॥

ब्रह्मा बोले—वे गरुड़ तब अति दुःखित होकर मौन हो गये, अपनी भवितव्यता की चिन्ता करते हुए अपनी जननी से कुछ नहीं बोले। किसी समय पुत्र-हित और अपने ऐश्वर्य की इच्छा से उस कद्रू ने पक्षि-माता विनता से कहा ॥११-१२॥

कद्रू बोली—तुम्हारा पुत्र बिना बाधा के सूर्य को नमस्कार करने जाता है। अहो ! तुम दासी होती हुई भी इस त्रिलोकी में भाग्यशालिनी हो ॥१३॥

ब्रह्मा बोले—अपने दुःखों को हृदय में छिपाती हुई विनता ने विस्मित होकर कद्रू से कहा ॥१४॥

विनता ने कहा—तो तुम्हारे पुत्र क्यों नहीं सूर्य को देखने जाते ? ॥१५॥

कद्रू बोली—सुभगे ! मेरे पुत्रों को नागालय ले चलो। वहाँ समुद्र के समीप शीतल जल से पूर्ण एक सरोवर है ॥१६॥

ब्रह्मा बोले—गरुड़ उन नागों, कद्रू और विनता को ढोकर ले गये। तब कद्रू प्रसन्न होकर गरुड़ की

---

[1] घ. ०यन्निव तथ्यता।

सुराणां नेतु निलयं गरुडो मत्सुताननिति। पुनः प्राह सर्पमाता गरुडं विनयान्वितम् ॥१८॥

सर्पमातोवाच

पुत्रा मे द्रष्टुमिच्छन्ति हंसं त्रिजगतां गुरुम्। नमस्कृत्वा ततः सूर्यमेष्यन्ति निलयं मम॥
हण्डे त्वं नय पुत्रान्मे सूर्यमण्डलमन्वहम् ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

सा वेपमाना विनता दीना कद्रूमभाषत ॥२०॥

विनतोवाच

नाहं क्षमा सर्पमातः पुत्रो मे नेष्यते सुतान्। दृष्ट्वा दिनकरं देवं पुनरेव प्रयान्तु ते॥२१॥

ब्रह्मोवाच

विनता स्वसुतं प्राह विहगानामधीश्वरम्। नमस्कर्तुमथेच्छन्ति नागाः स्वामित्वमागताः॥२२॥
भास्वन्तमित्युवाचेयं मां सर्पजननी हठात्। तथेत्युक्त्वा स गरुडो मामारोहन्तु पन्नगाः॥२३॥
तदाऽऽरूढं सर्पसैन्यं गरुडं विहगाधिपम्। शनैः शनैरुपगमद्यत्र देवो दिवाकरः॥
ते दह्यमानास्तीक्ष्णेन भानुतापेन विव्यथुः ॥२४॥

सर्पा ऊचुः

निवर्तस्व महाप्राज्ञ पतङ्गाय नमो नमः। अलं सूर्यस्य सदनं दग्धाः सूर्यस्य तेजसा॥
यामस्त्वया वा गरुड विहाय त्वामथापि वा ॥२५॥

माता से बोली—गरुड़ मेरे पुत्रों को देवलोक में ले चले।' पुनः साँपों की माता ने विनयशील गरुड़ से कहा ॥१७-१८॥

सर्पमाता ने कहा—मेरे पुत्र त्रिलोकी के गुरु सूर्य को देखना चाहते हैं। इसके बाद सूर्य को नमस्कार करके पुनः मेरे घर चले आयेंगे। दासी! तुम मेरे पुत्रों को प्रतिदिन वहाँ ले जाया करो ॥१९॥

ब्रह्मा बोले—काँपती हुई दीन बिचारी ने कद्रू से कहा— ॥२०॥

विनता ने कहा—सर्पमाता! मैं वहाँ ले जाने में असमर्थ हूँ। मेरा पुत्र वहाँ ले जायगा। वे देव सूर्य को देखकर पुनः चले आयें ॥२१॥

ब्रह्मा बोले—विनता ने अपने पुत्र पक्षिराज गरुड़ से कहा—'इस सर्पमाता ने बलपूर्वक मुझसे कहा है कि ये तुम्हारे स्वामी नाग सूर्य को नमस्कार करना चाहते हैं।' गरुड़ ने कहा कि अच्छी बात है। नाग मेरी पीठ पर चढ़ें। विहगपति गरुड़ की पीठ पर आरूढ़ होकर से सर्प शनैः-शनैः उस ओर चले जहाँ भगवान् दिनकर रहते हैं। वे सूर्य की तीक्ष्ण गर्मी से जलने लगे और अति व्यथित हो गये ॥२२-२४॥

सर्पों ने कहा—महाबुद्धिमान्! लौटो, लौटो, भगवान् सूर्य को बार-बार नमस्कार है। अब सूर्यलोक को जाना नहीं चाहते। हम लोग सूर्य के तेज से जल गये। गरुड़! हम लोग तुम्हारे साथ जायेंगे अथवा तुम्हारे बिना भी चले जायेंगे ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

एवं नागैरुच्यमान आदित्यं दर्शयामि वः। इत्युक्त्वा गगनं शीघ्रं जगामाऽऽदित्यससंमुखः ।।२६।।
[1]दग्धभोगा निपेतुस्ते द्वीपं तं वीरणं प्रति। बहवः शतसाहस्राः पीडिता दग्धविग्रहाः ।।२७।।
पुत्राणामार्तसंनादं पतितानां महीतले (?)। आश्वासितुं समायाता तान्सा कद्रूः सुविह्वला ।।२८।।
उवाच विनतां कद्रूस्तव पुत्रोऽतिदुष्कृतम्। कृतवानतिदुर्मेधा येषां शान्तिर्न विद्यते ।।२९।।
नान्यथा कर्तुमायाति स्वामिवाक्यं फणीश्वरः। स काश्यपो बृहत्तेजा यद्यत्र स्यादनामयम् ।।३०।।
भवेच्चैवं कथं शान्तिः पुत्राणां मम भामिनि। कद्र्वास्तद्वचनं श्रुत्वा विनता ह्यतिभीतवत् ।।३१।।
पुत्रमाह महात्मानं गरुडं विहगाधिपम् ।।३२।।

विनतोवाच

नेदं युक्ततरं पुत्र भूषणं विनयेन हि। [2]वर्तितुं युक्तमित्युक्तं वैपरीत्यं न युज्यते ।।३३।।
नामित्रेष्वपि कर्तव्यं सद्भिर्जिह्मं कदाचन। श्रोत्रिये चान्त्यजे वाऽपि समं चन्द्रः प्रकाशते ।।३४।।
कुर्वन्त्यनिष्टं कपटैस्त्त एव मम पुत्रक। प्रसह्य कर्तुं ये साक्षादशक्ताः पुरुषाधमाः ।।३५।।

ब्रह्मोवाच

विनता च ततः प्राह कद्रुं तां सर्पमातरम् ।।३६।।

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार नागों के कहने पर 'मैं तुम लोगों को अवश्य सूर्यदर्शन कराऊँगा' यह कहकर गरुड़ बड़ी शीघ्रता से सूर्य की ओर चले। असह्य गर्मी से उनमें से कितनों की फणाएँ जल गयीं। वीरण द्वीप में, झुलसकर सैकड़ों और हजारों की संख्या में पीड़ित होकर वे गिर पड़े। पृथ्वीतल पर गिरे हुए पुत्रों के आर्तनाद को सुनकर वह कद्रू अतिविह्वल होकर उनको आश्वासन देने के लिए वहाँ आयी। कद्रू ने विनता से कहा कि तुम्हारे अतिदुष्टबुद्धि पुत्र ने महान् दुष्कर्म किया है, जिसकी शान्ति के उपाय नहीं हैं। फणीश्वर (शेषनाग) मेरे स्वामी के आदेश को अन्यथा कर सकता है। वह अति तेजस्वी कश्यपपुत्र यदि यहाँ होता तो अवश्य रोग-शान्ति हो जाती। भामिनि ! अब मेरे पुत्रों को शान्ति किस प्रकार मिलेगी ? कद्रू की उन बातों को सुनकर विनता डरी हुई-सी अपने पक्षिराज गरुड़ से बोली ।।२६-३२।।

विनता ने कहा—पुत्र ! यह तुमने अच्छा नहीं किया। विनम्र व्यवहार ही जीवन का आभूषण है, ऐसा कहा गया है। इसके विपरीत आचरण करना ठीक नहीं है। सज्जनों को कभी अपने शत्रुओं के प्रति भी कपट-व्यवहार नहीं करना चाहिए। देखो, वेदपाठी और चाण्डालों पर चन्द्रमा की किरणें समान रूप से प्रकाश-दान करती हैं। मेरे अज्ञानी पुत्र ! वे ही कष्ट से अनिष्ट व्यवहार करते हैं, जो पुरुषाधम साक्षात् बलप्रयोग करने में असमर्थ रहते हैं ।।३३-३५।।

ब्रह्मा बोले—तब विनता ने सर्पमाता कद्रू से कहा ।।३६।।

---

[1] घ. ङ. च. ०गास्ततो नागा निपेतुर्धरणीं प्र०। [2] घ. ङ. च. वर्तनं।

विनतोवाच

किं कृत्वा शान्तिरस्येति पुत्राणां ते करोमि तत् । जरया तु गृहीतास्ते वद शान्तिं करोमि तत् ।।३७।।

ब्रह्मोवाच

कद्रूरप्याह विनतां रसातलगतं पयः । तेनाभिषेचितानां मे पुत्राणां शान्तिरेष्यति ।।३८।।
कद्र्वास्तद्वचनं श्रुत्वा रसातलगतं पयः । क्षणेनैव समानीय नागांस्तानभ्यषेचयत् ।।
ततः प्रोवाच गरुडो मघवानं शतक्रतुम् ।।३९।।

गरुड उवाच

मेघाश्चाप्यत्र वर्षन्तु त्रैलोक्यस्योपकारिणः ।।४०।।

ब्रह्मोवाच

[1]तथा ववर्ष पर्जन्यो नागानामभवच्छिवम् । रसातलभवं गाङ्गं नागसंजीवनं पयः ।।४१।।
जराशोकविनाशार्थमानीतं गरुडेन यत् । यत्राभिषेचिता नागास्तन्नागालयमुच्यते ।।४२।।
गरुडेन यतो वारि आनीतं तद्रसातलात् । तद्गाङ्गं वारि सर्वेषां [2]सर्वपापप्रणाशनम् ।।४३।।
जराया वारणं यस्मान्नागानामभवच्छिवम् । रसातलभवं गाङ्गं नागसंजीवनं यतः ।।४४।।
जराशोकविनाशार्थं गङ्गाया दक्षिणे तटे । साक्षादमृतसंवाहा वंजरा साऽभवन्नदी ।।४५।।
जरादारिद्र्यसंतापहारिणी क्लेशवारिणी । रसातलभवा गङ्गा मर्त्यलोकभवा तु या ।।४६।।

विनता ने कहा—क्या करने से तुम्हारे पुत्रों को शान्ति मिलेगी ? कहो, मैं वैसा ही करूँगी । वे इस समय व्याधि-पीड़ित हैं । कहो, मैं अवश्य शान्ति करूँगी ।।३७।।

ब्रह्मा बोले—कद्रू ने विनता से कहा—'रसातल में जल है । उससे अभिषेक (स्नान) करने पर अवश्य मेरे पुत्रों को शान्ति मिलेगी ।' कद्रू की इन बातों को सुनकर गरुड़ ने क्षणभर में रसातल से जल ले आकर उससे उन नागों को नहला दिया । इसके बाद गरुड़ ने शतक्रतु इन्द्र से कहा ।।३८-३९।।

गरुड़ ने कहा—त्रिलोकी का उपकार करनेवाले मेघ भी यहाँ अवश्य वर्षा करें ।।४०।।

ब्रह्मा बोले—मेघों ने तदनुरूप ही वर्षा की, जिससे नागों का कल्याण हुआ। जहाँ गरुड़ नागों को जीवित कर देनेवाले, रसातल से उत्पन्न गंगा-जल को जरा-शोक दूर करने के लिए ले आये थे और जहाँ उस जल से नाग नहलाये गये, उसको नागालय कहा जाता है। यतः गरुड़ रसातल से जल ले आया, अतः वह गंगाजल सबके पापों को नष्ट करनेवाला हुआ। जिस जल से जरा की निवृत्ति हुई, नागों का कल्याण हुआ, वह रसातल से उत्पन्न गंगा-जल, नागों के लिए संजीवनी जल हुआ। इसलिए जरा-शोक को विनष्ट करने के लिए गंगा के दक्षिण तट पर साक्षात् अमृत बहानेवाली वंजरा नाम की नदी हो गयी। जरा, दारिद्र्य, संताप और क्लेश को दूर करनेवाली रसात-

---

१घ. ततो । २घ. ङ. सर्वाघौघविनाश० ।

तयोश्च संगमो यः स्यात्किं पुनस्तत्र वर्ण्यते। यस्यानुस्मरणादेव नाशं यान्त्यघसंचयाः ।।४७।।
तत्र च स्नानदानानां फलं को वक्तुमीश्वरः। सपादं तत्र तीर्थानां लक्षमाहुर्मनीषिणः ।।४८।।
सर्वसंपत्तिदातॄणां सर्वपापौघहारिणाम्। वंजरासंगमसमं तीर्थं क्वापि न विद्यते ।।
यदनुस्मरणेनापि विपद्यन्ते विपत्तयः ।।४९।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये वंजरासंगमादिसपादलक्षतीर्थवर्णनं
नामैकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१५९।।
गौतमीमाहात्म्ये नवतितमोऽध्यायः ।।९०।।

अथ षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

देवागमतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

देवागमं नाम तीर्थं सर्वकामप्रदं शिवम्। भुक्तिमुक्तिप्रदं नॄणां पितॄणां तृप्तिकारकम् ।।१।।
तत्र वृत्तं समाख्यास्ये तव यत्नेन नारद। देवानामसुराणां च स्पर्धाऽभूद्धनहेतवे ।।२।।
स्वर्गः सुराणामभवदसुराणामिलाऽभवत्। कर्मभूमिमवष्टभ्य असुराः सर्वतोऽभवन् ।।३।।

लोत्पन्न गंगा का मृत्यु लोक की गंगा के साथ जो संगम हुआ है, उसके माहात्म्य का वर्णन किया जाय ? जिसके स्मरण से ही अघों के समूह नष्ट हो जाते हैं, उसमें स्नान और दान से जो फल मिलते हैं, उसको कहने की शक्ति किसमें है ? वहाँ पर मनीषीगण और सवा लाख तीर्थों को बतलाते हैं। जो सब प्रकार की सम्पत्ति देनेवाले तथा सब पाप-समूहों को नष्ट करनेवाले हैं। वंजरा-संगम के समान तीर्थ कहीं पर नहीं हैं, जिसके स्मरण से भी विपत्तियाँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं ।।४१-४९।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में वंजरा-संगम आदि सवा लाख तीर्थों का वर्णन
नामक एक सौ उनसठवाँ अध्याय समाप्त ।।१५९।।

अध्याय १६०

देवागम नामक तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—देवागम नामक तीर्थ सब प्रकार के मनोरथों को देनेवाला और मंगलजनक है, मनुष्यों को भुक्ति और मुक्ति देनेवाला तथा पितरों को तृप्ति देनेवाला है। नारद! मैं वहाँ की घटना को तुमसे यत्नपूर्वक कह रहा हूँ। एक बार धन के लिए देवों और असुरों में प्रतिस्पर्धा हुई। देवताओं को स्वर्ग मिला और असुरों को पृथ्वी।

देवानां यज्ञभागांश्च दातॄन्घ्नन्त्यसुरास्ततः। ततः सुरगणाः सर्वे यज्ञभागैर्विना कृताः ॥४॥
व्यथिता मामुपाजग्मुः किं कृत्यमिति चाब्रुवन्। मया चोक्ताः सुरगणा युद्धे जित्वाऽसुरान्बलात् ॥५॥
भुवं प्राप्स्यथ कर्माणि हवींषि च यशांसि च। तथेत्युक्त्वा गता देवा भूमिं ते समरार्थिनः ॥६॥
दैत्याश्च दानवाश्चैव राक्षसा बलदर्पिताः। एकीभूत्वा ययुस्तेऽपि जयिनो युद्धकाङ्क्षिणः ॥७॥
अहिर्वृत्रो बलिस्त्वाष्ट्रिर्नमुचिः शम्बरो मयः। एते चान्ये च बहवो योद्धारो बलदर्पिताः ॥८॥
अग्निरिन्द्रोऽथ वरुणस्त्वष्टा पूषा तथाऽश्विनौ। मरुतो लोकपालाश्च नानायुद्धविशारदाः ॥९॥
ते दानवाः सर्व एव याम्यां वै दिशि संगरे। अकुर्वन्त महायत्नं दक्षिणार्णवसंस्थिताः ॥१०॥
त्रिकूटः पर्वतश्रेष्ठो राक्षसानां पुराऽभवत्। तद्वनेन ययुः सर्वे तैः सार्धं दक्षिणार्णवम् ॥११॥
सर्वेषां मेलनं यत्र पर्वतो मलयस्तु सः। [1]मलयस्यापि देशोऽसौ देवारीणामभूत्तदा ॥१२॥
देवानां गौतमीतीरे तत्र संनिहितः शिवः। इति तेषां समायोगो देवानामभवत्किल ॥१३॥
देवाः स्वरथमारूढास्तत्र तत्र समागमन्। गौतम्याः सरिदम्बायाः पुलिने विमलाशयाः ॥१४॥
प्रसन्नाऽभीष्टदा या स्यात् पितॄणामखिलस्य तु। ततो देवगणाः सर्वे स्तुत्वा[2] देवं महेश्वरम् ॥
अभयं चिन्तयामासुस्ते सर्वेऽथ परस्परम् ॥१५॥

असुरगण कर्मभूमि (पृथ्वी) को रोककर अर्थात् उस पर अपना अधिकार जमाकर सब जगह फैल गये। तब वे राक्षस देवों के यज्ञ-भाग को बन्द करने और दाताओं को मारने लगे। इस प्रकार उन्होंने देवताओं को यज्ञांश से रहित कर दिया। निदान वे देव व्यथित होकर मेरे पास आये और बोले "अब क्या करना चाहिये ?" मैंने उन देवताओं से कहा कि युद्ध में बलपूर्वक शत्रुओं को जीतकर पृथ्वी पर अधिकार करो। तब तुम कर्म, हवि और कीर्ति प्राप्त करोगे। 'ऐसा ही होगा' यह कहकर वे युद्धार्थी पृथ्वी पर गये। इधर जयाभिलाषी दैत्य, दानव तथा वल का घमंड रखनेवाले राक्षस संगठित होकर युद्ध करने के लिए आये ॥१-७॥ अहि, वृत्र, वलि, त्वाष्ट्रि, नमुचि, शम्बर और मय आदि तथा और भी दूसरे बहुत-से पराक्रम पर अभिमान करनेवाले लड़ाकू राक्षस इकट्ठे हुए। उधर अग्नि, इन्द्र, वरुण, त्वष्टा, पूषा, अश्विनीकुमार, मरुत्, लोकपाल आदि नाना प्रकार के युद्ध में कुशल देवता युद्धार्थ प्रस्तुत हुए। उन सभी दानवों ने दक्षिण दिशा में दक्षिण-समुद्र के किनारे स्थित होकर (व्यूह-रचना कर) युद्ध में महान् प्रयत्न किया। पहले राक्षसों ने पर्वतश्रेष्ठ त्रिकूट पर अधिकार जमा लिया। तब वे देवतागण वन के रास्ते उन राक्षसों से लड़ने के लिए दक्षिण समुद्र के किनारे पहुँचे। जहाँ सबका संघर्ष हुआ, वह मलय पर्वत हुआ। तदनन्तर वह मलय-प्रदेश भी राक्षसों का हो गया। वहाँ गौतमी-तट पर देवों के प्रिय देव शंकर समीप ही थे, यह सुअवसर जानकर वहाँ सब देवता एकत्र हुए। विमल हृदयवाले देवता अपने रथों पर आरूढ़ होकर उस माता गौतमी के तट पर आये, जो प्रसन्न होने पर सबको अभीष्ट प्रदान करती है और सब पितरों को तृप्त करनेवाली है। तब सब देवता महेश्वर देव की स्तुति करने लगे और आपस में निर्भय होने की बात सोचने लगे ॥८-१५॥

---

[1] घ. ङ. ०यश्चापि। [2] घ. च. ०त्वा विष्णुमहेश्वरौ। अभेदं चि०।

देवा ऊचुः

अत्राप्युपायः कोऽस्माकं निर्जितानां परैर्हठात् । एकमेवात्र नः श्रेयो विजयो वाऽथवा मृतिः ॥
सपत्नैरभिभूतानां जीवितं धिङ्मनस्विनाम् ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

एतस्मिन्नन्तरे पुत्र वागुवाचाशरीरिणी ॥१७॥

आकाशवागुवाच

क्लेशेनालं सुरगणा गौतमीमाशु गच्छत । भक्त्या हरिहरौ तत्र समराधयतेश्वरौ ॥१८॥
गोदावर्यास्तयोश्चैव प्रसादात्किंतु दुष्करम् ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

प्रसन्नाभ्यां हरीशाभ्यां देवा जयमभीप्सितम् । अवाप्य सर्वतो जग्मुः पालयन्तो दिवौकसः ॥२०॥
यत्र देवागमो जातस्तत्तीर्थं तेन विश्रुतम् । देवागमं प्रशंसन्ति मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥२१॥
तत्राशीतिसहस्राणि शिवलिङ्गानि नारद । देवागमः पर्वतोऽसौ प्रिय[1] इत्यपि कथ्यते ॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं देवप्रियमतो विदुः ॥२२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये देवागमतीर्थवर्णनं नाम षष्टयधिक-
शततमोऽध्यायः ॥१६०॥

गौतमीमाहात्म्ये एकनवतितमोऽध्यायः ॥९१॥

देवगण बोले—शत्रुओं से हठात् पराजित किये गये हम लोगों के लिए अब कौन-सा उपाय है ? अब श्रेय का एक ही मार्ग है—विजय या मृत्यु । शत्रुओं से पराजित मनस्वीजनों के जीवन को धिक्कार है ।१६॥

ब्रह्मा बोले—पुत्र ! इसी बीच आकाशवाणी हुई ॥१७॥

आकाशवाणी ने कहा—सुरगण ! व्यर्थ क्लेश मत करो । गौतमी के पास शीघ्र जाओ । वहाँ भक्तिपूर्वक भगवान् हरि और हर की आराधना करो । गोदावरी और उन दोनों प्रभुओं की कृपा से कौन-सा कार्य दुष्कर है ? ॥१८-१९॥

ब्रह्मा बोले—प्रसन्न विष्णु और शंकर से अपना अभीप्सित विजय-वरदान पाकर आकाशवाणी का भली-भाँति अनुसरण करते हुए देवता चले गये । जहाँ देवों का आगमन हुआ, वह तीर्थ उसी देवागम नाम से प्रसिद्ध हो गया । तत्त्वदर्शी मुनि देवागमतीर्थ की प्रशंसा करते हैं । नारद ! वहाँ अस्सी सहस्र शिवलिंग हैं । वह देवागम पर्वत प्रिय इस नाम से भी कहा जाता है। इसलिए तब से वह तीर्थ देव-प्रिय प्रख्यात हुआ ॥२०-२२॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में देवागम-तीर्थ-वर्णन नामक एक सौ साठवाँ अध्याय समाप्त ॥१६०॥

---

[1] घ. ०यक्रुच्चापि ।

अथैकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुशतर्पणतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

कुशतर्पणमाख्यातं प्रणीतासंगमं तथा । तीर्थं सर्वेषु लोकेषु भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥१॥
तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि शृणु पापहरं शुभम् । विन्ध्यस्य दक्षिणे पार्श्वे सह्यो नाम महागिरिः ॥२॥
यदङ्घ्रिभ्योऽभवन्नद्यो गोदाभीमरथीमुखाः । यत्राभवत्तद्विरजमेकवीरा च यत्र सा ॥३॥
न तस्य महिमा कैश्चिदपि शक्योऽनुवर्णितुम् । तस्मिन्गिरौ पुण्यदेशे शृणु नारद यत्नतः ॥४॥
गुह्याद्गुह्यतरं वक्ष्ये साक्षाद्वेदोदितं शुभम् । यन्न जानन्ति मुनयो देवाश्च पितरोऽसुराः ॥५॥
तदहं प्रीतये वक्ष्ये श्रवणात्सर्वकामदम् । परः स पुरुषो ज्ञेयो ह्यव्यक्तोऽक्षर एव तु ॥६॥
अपरश्च क्षरस्तस्मात्प्रकृत्यन्वित एव च । निराकारात्सावयवः पुरुषः समजायत ॥७॥
तस्मादापः समुद्भूता अद्भ्यश्च पुरुषस्तथा । ताभ्यामब्जं समुद्भूतं तत्राहमभवं मुने ॥८॥
पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिस्तथैव च । एते मत्तः पूर्वतरा एकदैवाभवन्मुने ॥९॥
एतानेव प्रपश्यामि नान्यत्स्थावरजङ्गमम् । नैव वेदास्तदा चाऽऽसन्नाहं द्रष्टाऽस्मि किंचन ॥१०॥
यस्मादहं समुद्भूतो न पश्येयं तमप्यथ । तूष्णीं स्थिते मयि तदा अश्रौषं वाचमुत्तमाम् ॥११॥

अध्याय १६१

कुशतर्पण नामक तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—कुशतर्पण और प्रणीता-संगम नामक तीर्थ सभी लोकों में प्रख्यात है और भुक्ति-भुक्ति को देने-वाला है। उसके पापहर और मङ्गल स्वरूप का वर्णन कर रहा हूँ, सुनो।

विन्ध्य के दक्षिण ओर एक सह्य नामक महापर्वत है, जिसके चरण (तलहटी) से गोदा और भीमरथी आदि प्रमुख नदियाँ निकलती हैं। जहाँ प्रसिद्ध विरज और एकवीरा नामक नदियाँ हैं उसकी महिमा का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। नारद ! उस पुण्य पर्वत-प्रदेश में जो अति रहस्यमय घटना हुई, जिसका साक्षात् वेदों में वर्णन किया गया है, जो शुभ है, और जिसके श्रवणमात्र से सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, जिसको मुनि, देव, पितर और असुर भी नहीं जानते हैं। उसको मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए कह रहा हूँ। वह पुरुष पर है, अव्यक्त और अक्षर भी वही है। अपर क्षर (नष्ट होनेवाला) और प्रकृति-समन्वित है। उस (पर पुरुष) निराकार परब्रह्म के सावयव पुरुष (कार्यब्रह्म) उत्पन्न हुआ। उससे जल और जल से पुरुष (विष्णु) की उत्पत्ति हुई। मुने ! पुरुष से कमल और कमल से मेरी (ब्रह्मा की) उत्पत्ति हुई ! मुने ! पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और ज्योति (तेज) ये मुझसे पहले एक ही बार उत्पन्न हो गये। मैं इतने पदार्थों को ही देखता था। उस समय न तो वेद ही थे और न तो मैं किसी अन्य पदार्थों को ही देखता था। जिससे मैं उत्पन्न हुआ उसको भी मैं नहीं देखता था। तब मैं अवाक् हो बैठ गया। उस समय मुझे उत्तम वाणी सुनायी दी ॥१-११॥

आकाशवागुवाच

ब्रह्मन्कुरु जगत्सृष्टिं स्थावरस्य चरस्य च ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

ततोऽहमब्रवं वाचं [1]परुषां तत्र नारद । कथं स्रक्ष्ये क्व वा स्रक्ष्ये केन स्रक्ष्य इदं जगत् ॥१३॥
सैव वागब्रवीद्देवी प्रकृतिर्याऽभिधीयते । विष्णुना प्रेरिता माता जगदीशा जगन्मयी ॥१४॥

आकाशवागुवाच

यज्ञं कुरु ततः शक्तिस्ते भवित्री न संशयः । यज्ञो वै विष्णुरित्येषा श्रुतिर्ब्रह्मन्सनातनी ॥१५॥
किं यज्वनामसाध्यं स्यादिह लोके परत्र च ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

पुनस्तामब्रवं देवीं क्व वा केनेति तद्वद । यज्ञः कार्यो माहाभागे ततः सोवाच मां प्रति ॥१७॥

आकाशवागुवाच

ओंकारभूता या देवी मातृकल्पा जगन्मयी । कर्मभूमौ यजस्वेह यज्ञेशं यज्ञपूरुषम् ॥१८॥
स एव साधनं ते स्यात्तेन तं यज सुव्रत । यज्ञः स्वाहा स्वधा मन्त्रा ब्राह्मणा हविरादिकम् ॥१९॥
हरिरेवाखिलं तेन सर्वं विष्णुरवाप्यते ॥२०॥

आकाशवाणी ने कहा—ब्रह्मन् ! तुम स्थावर और चर (जंगम) रूप संसार की सृष्टि करो ॥१२॥

ब्रह्मा बोले—नारद ! तब मैंने कठोर और उग्र स्वर से कहा—'कैसे सृष्टि करूँ ? कहाँ और किस वस्तु से इस जगत् की सृष्टि करूँ ?' यह सुनकर विष्णु से प्रेरित, संसार की स्वामिनी जगन्मयी माता उस देवी वाणी ने—जिसको प्रकृति भी कहते हैं—कहा ॥१३-१४॥

आकाशवाणी ने कहा—यज्ञ करो। तब तुम्हें शक्ति प्राप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं है। यज्ञ ही विष्णु है। ब्रह्मन् ! यही सनातन वेद कहलाता है। इस लोक और परलोक में यज्ञ करनेवालों के लिए क्या असाध्य है ? ॥१५-१६॥

ब्रह्मा बोले—पुनः मैंने उस देवी से कहा—'कहाँ और किस साधन से यज्ञ करूँ ? महाभागे ! इसको बतलाइये।' तब देवी ने मुझसे कहा—॥१७॥

आकाशवाणी ने कहा—मातृ-तुल्य, जगन्मयी तथा ओंकाररूपिणी जो देवी है उससे इस कर्मभूमि में यज्ञपति, यज्ञपुरुष का यज्ञ करो। वही तुम्हारे साधन (सहायक) होंगे। सुव्रत ! इसलिए उनका यजन करो। स्वाहा, स्वधा, मन्त्र, ब्राह्मण और हवि आदि सब यज्ञ ही है। सब कुछ विष्णु ही हैं, इसलिए सब कुछ विष्णु से ही प्राप्त किया जाता है ॥१८-२०॥

---

[1] च. पौरुषी।

ब्रह्मोवाच

पुनस्तामब्रवं देवीं कर्मभूः क्व विधीयते । तदा नारद नैवाऽऽसीद्भागीरथ्यथ नर्मदा ॥२१॥
यमुना नैव तापी सा सरस्वत्यथ गौतमी । समुद्रो वा नदः कश्चिन्न सरः सरितोऽमलाः ॥
सा शक्तिः पुनरप्येवं मामुवाच पुनः पुनः ॥२२॥

दैवी वागुवाच

सुमेरोर्दक्षिणे पार्श्वे तथा हिमवतो गिरेः । दक्षिणे चापि विन्ध्यस्य सह्याच्चैवाथ दक्षिणे ॥
सर्वस्य सर्वकाले तु कर्मभूमिः शुभोदया ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

तत्तु वाक्यमथो श्रुत्वा त्यक्त्वा मेरुं महागिरिम् । तं प्रदेशमथाऽऽगत्य स्थातव्यं क्वेत्यचिन्तयम् ॥
ततो मामब्रवीत्सैव विष्णोर्वाण्यशरीरिणी ॥२४॥

आकाशवागुवाच

इतो गच्छ इतस्तिष्ठ तथोपविश चात्र हि । संकल्पं कुरु यज्ञस्य स ते यज्ञः समाप्यते ॥२५॥
कृते चैवाथ संकल्पे यज्ञार्थे सुरसत्तम । यद्वदन्त्यखिला वेदा विधे[1] तत्तत्समाचर ॥२६॥

ब्रह्मोवाच

इतिहासपुराणानि यदन्यच्छब्दगोचरम् । स्वतो [2]मुखे मम प्रायादभूच्च स्मृतिगोचरम् ॥२७॥

ब्रह्मा बोले—फिर मैंने उस देवी से कहा—'कर्मभूमि कहाँ है ?' नारद ! उस समय भागीरथी, नर्मदा, यमुना, तापी व सरस्वती और गौतमी नहीं थीं । कोई समुद्र, नद, सरोवर या निर्मल जलवाली नदियाँ भी नहीं थीं । उस शक्ति ने पुनः मुझसे इस प्रकार बार-बार कहा ॥२१-२२॥

दैव वाणी ने कहा—सुमेरु गिरि के दक्षिण और हिमालय, विन्ध्य तथा सह्य के दक्षिण की भूमि सबके लिए सर्वदा शुभ देनेवाली कर्मभूमि है ॥२३॥

ब्रह्मा बोले—उस आदेश-वाक्य को सुनकर उस महागिरि मेरु को छोड़कर मैं उस प्रदेश में आया और सोचने लगा कि कहाँ रहना चाहिये । इसके बाद उसी विष्णु की दैवी वाणी ने मुझसे कहा ॥२४॥

आकाशवाणी ने कहा—इधर चलो, यहाँ ठहरो । यहाँ बैठो । यज्ञ का संकल्प करो । वह तुम्हारा यज्ञ अवश्य समाप्त होगा । सुरश्रेष्ठ ! यज्ञार्थ संकल्प कर देने पर, ब्रह्मन् ! अखिल वेद जैसे कहते हैं, उसके अनुसार कार्य करो ॥२५-२६॥

ब्रह्मा बोले—इतिहास, पुराण आदि जो अन्य श्रव्य शब्द स्वतः मेरे मुख में आये, वे धीरे-धीरे स्मृति में आने लगे । तत्काल मुझे सब वेदार्थ ज्ञात हो गये । तदनन्तर उस लोक-विख्यात पुरुषसूक्त का स्मरण किया । तदनुरूप

---

[1] ग. विधिना तत्स० । [2] घ. च. मुखं ।

वेदार्थश्च मया सर्वो ज्ञातोऽसौ तत्क्षणेन च । ततः पुरुषसूक्तं तदस्मरं लोकविश्रुतम् ।।२८।।
यज्ञोपकरणं सर्वं तदुक्तं च त्वकल्पयम् । तदुक्तेन प्रकारेण यज्ञपात्राण्यकल्पयम् ।।२९।।
अहं स्थित्वा यत्र देशे शुचिर्भूत्वा यतात्मवान् । दीक्षितो विप्रदेशोऽसौ मन्नाम्ना तु प्रकीर्तितः ।।३०।।
मद्देवयजनं पुण्यं नाम्ना ब्रह्मगिरिः स्मृतः । [1]चतुरशीतिपर्यन्तं योजनानि महामुने ।।३१।।
मद्देवयजनं पुण्यं पूर्वतो ब्रह्मणो गिरेः । तत्र मध्ये वेदिका [2]स्याद्गार्हपत्योऽस्य (?) दक्षिणे ।।३२।।
तत्र चाऽऽहवनीयस्य एवमग्नींस्त्वकल्पयम् (?) । विना पत्न्या न सिध्येत यज्ञः श्रुतिनिदर्शनात् ।।३३।।
शरीरमात्मनोऽहं वै द्वेधा चाकरवं मुने । पूर्वार्धेन ततः पत्नी ममाभूद्यज्ञसिद्धये ।।३४।।
उत्तरेण त्वहं [3]तद्वदर्धो जाया इति श्रुतेः । कालं वसन्तमुत्कृष्टमाज्यरूपेण नारद ।।३५।।
अकल्पयं तथा चेध्मं ग्रीष्मं चापि शरद्धविः । ऋतं च प्रावृषं पुत्र तदा बर्हिरकल्पयम् ।।३६।।
छन्दांसि सप्त वै तत्र तदा परिधयोऽभवन् । कलाकाष्ठानिमेषा हि समित्पात्रकुशाः स्मृताः ।।३७।।
योऽनादिश्च त्वनन्तश्च स्वयं कालोऽभवत्तदा । यूपरूपेण देवर्षे योक्त्रं च पशुबन्धनम् ।।३८।।
तत्त्वादित्रिगुणाः[4] पाशा नैव तत्राभवत्पशुः । ततोऽहमब्रवं वाचं वैष्णवीमशरीरिणम् ।।३९।।
विनैव पशुना नायं यज्ञः परिसमाप्यते । ततो मामवदद्देवी सैव नित्याऽशरीरिणी ।।४०।।

आकाशवागुवाच

पौरुषेणाथ सूक्तेन स्तुहि तं पुरुषं परम् ।।४१।।

मैंने सब यज्ञ-सामग्रियों को इकट्ठा किया। उसी के अनुसार यज्ञ पात्रों को प्रस्तुत किया। विप्र ! जिस प्रदेश में पवित्र और एकाग्रचित्त होकर मैंने आसन लगाया और यज्ञ-दीक्षा ग्रहण की, वह देश मेरे ही नाम से प्रसिद्ध हो गया। मेरा पवित्र देवयजन ब्रह्मगिरि के नाम से विख्यात हो गया। महामुनि नारद ! ब्रह्मगिरि के पूर्व में चौरासी योजन तक मेरा पवित्र देव-यजन फैला था। उसके मध्य में एक वेदी बनायी गयी। उसके दक्षिण गार्हपत्य अग्नि की स्थापना हुई। वहीं आहवनीय अग्नि की भी स्थापना की गयी। इस प्रकार यज्ञाग्नि की विधि पूर्ण हुई। बिना स्त्री के यज्ञ की सिद्धि नहीं होती, इस वेदाज्ञा के कारण, मुने ! मैंने अपने शरीर को दो भागों में बाँट दिया। तदनन्तर मेरे यज्ञ की सिद्धि के लिए पूर्वार्द्ध भाग से पत्नी उत्पन्न हुई और उत्तरार्द्ध से मैं रहा। वेद भी कहता है कि पत्नी आधा भाग है। नारद ! वसन्त ऋतु को उत्कृष्ट घृत, ग्रीष्म को इध्म (समिधा) और शरद् को हवि बनाया। इसी प्रकार पुत्र ! वर्षा ऋतु को कुश बनाया ।।२७-३६।। इसके बाद सात छन्द परिधि बने। कला, काष्ठा और निमेष (समय-परिमाण), समिधा, पात्र और कुशा हुए। उस समय जो अनादि और अनन्त स्वयं काल है, वह हे देवर्षे ! यूप रूप से पशु को बाँधने के लिए पशुबन्धन-काष्ठ हुआ। सत्त्व, रज और तम आदि गुण पाश (रस्सी) हुए। परन्तु वहाँ पशु तो था ही नहीं। तब मैंने उस अप्रत्यक्ष वैष्णवी आकाशवाणी से कहा कि बिना पशु के यह यज्ञ नहीं समाप्त होगा। यह सुन उस नित्य अप्रत्यक्ष देवी ने मुझसे कहा ।।३७-४०।।

आकाशवाणी ने कहा—पुरुष-सूक्त से उस परम पुरुष की स्तुति करो ।।४१।।

---

[1] ङ. ०तुर्विंशति० । [2] घ. ङ. च. ०पत्यस्य । [3] क. ०दर्धं जा० । [4] घ. च. ०गुणा चाऽऽसीत्सैव ।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा स्तूयमाने देवदेवे जनार्दने । मम चोत्पादके भक्त्या सूक्तेन पुरुषस्य हि ॥४२॥
सा च मामब्रवीद्देवी ब्रह्मन्मां त्वं पशुं कुरु । तदा विज्ञाय पुरुषं जनकं मम चाव्ययम् ॥४३॥
कालयूपस्य पार्श्वे तं गुणपाशैर्निवेशितम् । बर्हिस्थितमहं प्रौक्षं पुरुषं जातमग्रतः ॥४४॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र तस्मात्सर्वमभूदिदम् । ब्राह्मणास्तु मुखात्तस्याभवन्बाह्वोश्च क्षत्रियाः ॥४५॥
मुखादिन्द्रस्तथाऽग्निश्च श्वसनः प्राणतोऽभवत् । दिशः श्रोत्रात्तथा शीर्ष्णः सर्वः स्वर्गोऽभवत्तदा ॥४६॥
मनसश्चन्द्रमा जातः सूर्योऽभूच्चक्षुषस्तथा । अन्तरिक्षं तथा नाभेरूरुभ्यां विश एव च ॥४७॥
पद्भ्यां शूद्रश्च संजातस्तथा भूमिरजायत । ऋषयो रोमकूपेभ्य ओषध्यः केशतोऽभवन् ॥४८॥
ग्राम्यारण्याश्च [1]पशवो नखेभ्यः[2] सर्वतोऽभवन् । कृमिकीटपतङ्गादि पायूपस्थादजायत ॥४९॥
स्थावरं जङ्गमं किंचिद्दृश्यादृश्यं[3] च किंचन । तस्मात्सर्वमभूद्देवा मत्तश्चाप्यभवन्पुनः ॥
एतस्मिन्नन्तरे सैव विष्णोर्वागब्रवीच्च माम् ॥५०॥

आकाशवागुवाच

सर्वं संपूर्णमभवत्सृष्टिर्जाता तथेप्सिता । इदानीं जुहुधि हव्यग्नौ पात्राणि च समानि च ॥५१॥
विसर्जय तथा यूपं प्रणीतां च कुशांस्तथा । ऋत्विग्रूपं यज्ञरूपमुद्देश्यं ध्येयमेव च ॥५२॥
स्रुवं च पुरुषं पाशान्सर्वं ब्रह्मन्विसर्जय ॥५३॥

ब्रह्मा बोले—'ऐसा ही होगा' यह कहकर मैंने भक्तिपूर्वक पुरुषसूक्त से अपने उत्पादक देवदेव जनार्दन की स्तुति की। ब्रह्मन् ! इस पर उस देवी ने मुझसे कहा—'मुझको तुम पशु बनाओ।' तब मैंने अपने उत्पादक, नित्य पुरुष को जानकर उनको गुणों के पाश से कालयूप के पार्श्व में बाँधकर बैठा दिया। पुनः मैंने सबसे पहले उत्पन्न बर्हि पर बैठे हुए पुरुष का प्रोक्षण (अभिषेक) किया। इसी बीच वहाँ उस पुरुष से यह दृश्यमान (ब्रह्माण्ड आदि) उत्पन्न हो गया। उनके मुख से ब्राह्मण और बाहु से क्षत्रिय हुए। पुनः मुख से इन्द्र और अग्नि, प्राण से वायु, कान से दिशाएँ तथा सिर से सब स्वर्ग उत्पन्न हुए। मन से चन्द्रमा और नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुए। नाभि से अन्तरिक्ष, ऊरु से वैश्य, चरणों से शूद्र और पृथिवी उत्पन्न हुई। रोमकूपों से ऋषि और केशों से ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। सब नखों से ग्राम्य (पालतू) और वन्य (जंगली) पशु उत्पन्न हुए। पायु (गुदा) और उपस्थ (लिंग) से कृमि, कीट और पतङ्ग आदि उत्पन्न हुए। उस पुरुष से स्थावर, जंगम आदि जो कुछ दृश्य या अदृश्य है वह सब कुछ और सब देवता उत्पन्न हुए। पुनः वे मुझसे उत्पन्न हुए। इस बीच उसी विष्णु की वाणी ने पुनः मुझसे कहा ॥४२-५०॥

आकाशवाणी ने कहा—सब कुछ पूर्णरूप से हो गया, और मनचाही सृष्टि भी हो गयी। अब अग्नि में हवन करो। सब पात्रों, यूप, प्रणीता, पात्र, कुशा आदि को विसर्जित कर दो। ब्रह्मन् ! ऋत्विग्रूप, यज्ञरूप, उद्देश्य और ध्येय तथा स्रुव, पाश, पुरुष आदि सबका विसर्जन कर दो ॥५१-५३॥

---

[1]क. शवस्तत्खेभ्यः । [2]घ. मखेभ्यः । [3]घ. ङ. ०दृश्यादि किं० ।

ब्रह्मोवाच

तद्वाक्समकालं तु क्रमशो यज्ञयोनिषु । गार्हपत्ये दक्षिणाग्नौ तथा चैव महामुने ॥५४॥
पूर्वस्मिन्नपि चैवाग्नौ क्रमशो जुह्वतस्तदा । तत्र तत्र जगद्योनिमनुसंधाय पूरुषम् ॥५५॥
मन्त्रपूतं शुचिः सम्यग्यज्ञदेवो जगन्मयः । लोकनाथो विश्वकर्त्ता कुण्डानां तत्र संनिधौ ॥५६॥
शुक्लरूपधरो विष्णुरभवेदाहवनीयके । श्यामो विष्णुर्दक्षिणाग्नेः पीतो गृहपतेः कवेः ॥५७॥
सर्वकालं तेषु विष्णुरतो देशेषु संस्थितः । न तेन रहितं किंचिद्विष्णुना विश्वयोनिना ॥५८॥
प्रणीतायाः प्रणयनं मन्त्रैश्चाकरवं ततः । प्रणीतोदकमप्येतत्प्रणीतेति नदी शुभा ॥५९॥
व्यसर्जयं प्रणीतां तां मार्जयित्वा कुशैरथ । मार्जने क्रियमाणे तु प्रणीतोदकबिन्दवः ॥६०॥
पतितास्तत्र तीर्थानि जातानि गुणवन्ति च । संजाता मुनिशार्दूल स्नानात्क्रतुफलप्रदा ॥६१॥
याऽलंकृता सर्वकालं देवदेवेन शार्ङ्गिणा । सोपानपङ्क्तिः सर्वेषां वैकुण्ठारोहणाय सा ॥६२॥
संमार्जिताः कुशा यत्र पतिता भूतले शुभे । कुशतर्पणमाख्यातं बहुपुण्यफलप्रदम् ॥६३॥
कुशैश्च तर्पिताः सर्वे कुशतर्पणमुच्यते । पश्चाच्च संगता तत्र गौतमी कारणान्तरात् ॥६४॥
[१]प्रणीतायां महाबुद्धे प्रणीतासंगमोऽभवत् । कुशतर्पणदेशे तु तत्तीर्थं कुशतर्पणम् ॥६५॥
तत्रैव कल्पितो [२]यूपो मया विन्ध्यस्य चोत्तरे । विसृष्टो लोकपूज्योऽसौ विष्णोरासीत्समाश्रयः ॥६६॥
अक्षयश्चाभवच्छ्रीमानक्षयोऽसौ वटोऽभवत् । नित्यश्च [३]कालरूपोऽसौ स्मरणात्क्रतुपुण्यदः ॥६७॥

ब्रह्मा बोले—महामुने ! उस आकाशवाणी के समकाल ही मैंने क्रमशः यज्ञ-कुण्डों, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि में एवं पूर्व के अग्नि में भी क्रमशः उन-उन स्थानों में जगत्स्रष्टा, मन्त्र-पूत पुरुष का ध्यानकर हवन करना प्रारम्भ किया। वहाँ कुण्डों के समीप अतिपवित्र, जगन्मय, यज्ञदेव, लोक-स्वामी, विश्वकर्त्ता, शुक्लरूपधारी विष्णु आहवनीयक में हुए। दक्षिण अग्नि से श्याम विष्णु और गार्हपत्याग्नि से पीत विष्णु हुए। सर्वदा उन देशों में विष्णु रहते हैं। उस विश्व के आदि कारण विष्णु से रहित कुछ भी नहीं है। तदनन्तर मैंने मन्त्रों से प्रणीता का निर्माण किया। यह प्रणीता-जल ही शुभ प्रणीता नाम की नदी हुई। इसके बाद कुशों से उस प्रणीता का मार्जन कर विसर्जन किया। मार्जन करने से प्रणीता-पात्र से जहाँ-जहाँ जल-बिन्दु गिरे, वहाँ-वहाँ गुणशाली तीर्थ हो गये। मुनिवर ! स्नान करने से वहाँ यज्ञफल देनेवाली एक नदी हो गयी, जो सर्वदा देवाधिदेव विष्णु से सुशोभित रहती है। वह नदी वैकुण्ठ में जाने के लिए सर्वसाधारण की सोपान-परम्परा है। जिस शुभ भूतल पर सम्मार्जन-कुश गिरे, वह बहुत फल देनेवाला कुश-तर्पण नामक तीर्थ हो गया॥५४-६३॥ यतः वहाँ कुशों से सबका तर्पण हुआ, अतः उसको कुश-तर्पण कहा जाता है। पश्चात् वहाँ गौतमी अन्य कारण से आकर मिल गयी। महाबुद्धिमान् ! प्रणीता में गौतमी के संगम से प्रणीता-संगम नामक तीर्थ हो गया। जिस प्रदेश में कुशों से तर्पण हुआ। वह कुश-तर्पण तीर्थ हो गया। वहीं विन्ध्य के उत्तर में उस कल्पित यूप को मैंने छोड़ दिया, जो लोक-पूज्य और विष्णु का एकमात्र निवास-स्थान है। वह यूप अति शोभाशाली और अक्षय (नाश-रहित) वटवृक्ष हुआ। अतः उसका नाम अक्षयवट पड़ा। वह नित्य, कालरूप और स्मरण-मात्र से यज्ञ के पुण्य को देनेवाला है। मेरा वह देवयजन-प्रदेश दण्डकारण्य कहा जाता है। यज्ञ पूर्ण हो जाने पर मैंने भक्ति

१च. प्रणीतया। २क. यज्ञो। २घ. च. ०लयूपो०।

मद्देवयजनं चेदं दण्डकारण्यमुच्यते । संपूर्णे तु क्रतौ विष्णुर्मया भक्त्या प्रसादितः ।।६८।।
यो विराडुच्यते वेदे यस्मान्मूर्तमजायत । यस्माच्च मम चोत्पत्तिर्यस्येदं विकृतं जगत् ।।६९।।
तमहं देवदेवशमभिवन्द्य व्यसर्जयम् । योजनानि चतुर्विंशन्मद्देवयजनमं शुभम् ।।७०।।
तस्मादद्यापि कुण्डानि सन्ति च त्रीणि नारद । यज्ञेश्वरस्वरूपाणि विष्णोर्वै चक्रपाणिनः ।।७१।।
ततः प्रभृति चाऽऽख्यातं मद्देवयजनं च तत् । तत्रस्थः कृमिकीटादिः सोऽप्यन्ते मुक्तिभाजनम् ।।७२।।
धर्मबीजं मुक्तिबीजं दण्डकारण्यमुच्यते । विशेषाद्गौतमीश्लिष्टो देशः पुण्यतमोऽभवत् ।।७३।।
प्रणीतासंगमे चापि कुशतर्पण एव वा । स्नानदानादि यः कुर्यात्स गच्छेत्परमं पदम् ।।७४।।
स्मरणं पठनं वाऽपि श्रवणं चापि भक्तितः । सर्वकामप्रदं पुंसां भुक्तिमुक्तिप्रदं विदुः ।।७५।।
उभयोस्तीरयोस्तत्र तीर्थान्याहुर्मनीषिणः । षडशीतिसहस्राणि तेषु पुण्यं पुरोदितम् ।।७६।।
वाराणस्या अपि मुने कुशतर्पणमुत्तमम् । नानेन सदृशं तीर्थं विद्यते सचराचरे ।।७७।।
ब्रह्महत्यादिपापानां स्मरणादपि नाशनम् । तीर्थमेतन्मुने प्रोक्तं स्वर्गद्वारं महीतले ।।७७।।
ब्रह्महत्यादिपापानां स्मरणादपि नाशनम् । तीर्थमेतन्मुने प्रोक्तं स्वर्गद्वारं महीतले ।।७८।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये प्रणीतासंगमकुशतर्पणादिषडशीति-सहस्रतीर्थवर्णनं नामैकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१६१।।

गौतमीमाहात्म्ये द्विनवतितमोऽध्यायः ।।९२।।

से विष्णु को प्रसन्न किया। जो वेदों में विराट् कहा गया है, जिससे यह मूर्त जगत् उत्पन्न हुआ है, जिससे मेरी उत्पत्ति हुई, जिसका विकार यह जगत् है, उस देवों के देव ईश की स्तुति कर विसर्जन कर दिया। चौवीस योजन पर्यन्त मेरा शुभ देवयजन-प्रदेश है। नारद ! इसीलिए वहाँ आज भी चक्रपाणि विष्णु के यज्ञेश्वर स्वरूप की सूचना देनेवाले तीन कुण्ड हैं। उस समय से वह मेरा देव-यजन-प्रदेश प्रसिद्ध हो गया। वहाँ के जो कृमि, कीट आदि हैं वे भी अन्त में मुक्ति के अधिकारी होते हैं। दण्डकारण्य धर्मबीज एवं मुक्तिबीज कहा जाता है। गौतमी के आसपास की भूमि विशेष रूप से पुण्य भूमि मानी जाती है। प्रणीता-संगम अथवा कुशतर्पण तीर्थ में जो स्नान-दान आदि करता है, वह परम पद को प्राप्त करता है। उस तीर्थ का भक्तिपूर्वक स्मरण, पठन और श्रवण भी पुरुषों के लिए संकल्प-मनोरथ-दाता तथा भुक्ति और मुक्ति देनेवाला (कहा गया) है। विद्वान् लोग वहाँ दोनों तटों पर छियासी हजार तीर्थों का निवास बतलाते हैं। उनका पुण्य पहले बताया जा चुका है। मुने ! कुशतर्पण वाराणसी से भी उत्तम तीर्थ है। इस तीर्थ के समान इस चराचर जगत् में दूसरा तीर्थ नहीं है। मुने ! इसके स्मरण से भी ब्रह्म-हत्या आदि पाप नष्ट हो जाते हैं। यह तीर्थ क्या है मानों इस पृथ्वी-तल पर स्वर्ग-द्वार है ।।६४-७८।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में कुशतर्पण, प्रणीता-संगम आदि तीर्थों का माहात्म्य-वर्णन नामक
एक सौ एकसठवाँ अध्याय समाप्त ।।१६१।।

अथ द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

मन्युतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

मन्युतीर्थमिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् । सर्वकामप्रदं [1]नृणां स्मरणादघनाशनम् ॥१॥
तस्य प्रभावं वक्ष्यामि शृणुष्वावहितो मुने । देवानां दानवानां च संगरोऽभून्मिथः पुरा ॥२॥
तत्राजयन्नैव सुरा दानवा जयिनोऽभवन् । पराङ्मुखाः सुरगणाः संगराद्गतचेतसः ॥३॥
मामभ्येत्य समूचुस्ते देहि नोऽभयकारणम् । तानहं प्रत्यवोचं वै गङ्गां गच्छत सर्वशः ॥४॥
तत्र वै गौतमीतीरे स्तुत्वा देवं महेश्वरम् । अनपायनिरायाससहजानन्दसुन्दरम् ॥५॥
लप्स्यते सर्वविबुधा जयहेतुर्महेश्वरात् । तथेत्युक्त्वा सुरगणाः स्तुवन्ति स्म महेश्वरम् ॥६॥
तपोऽतप्यन्त केचिद्वै ननृतुश्च तथाऽपरे । अस्नापयंश्च केचिच्चापूजयंश्च तथाऽपरे ॥७॥
ततः प्रसन्नो भगवाञ्शूलपाणिर्महेश्वरः । देवानथाब्रवीत्तुष्टो व्रियतां यदभीप्सितम् ॥८॥
देवा ऊचुः सुरपतिं विजयाय ददस्व नः । पुरुषं परमश्लाघ्यं रणेषु पुरतः स्थितम् ॥९॥
यद्बाहुबलमाश्रित्य भवामः सुखिनो वयम् । तथेत्युवाच भगवान्देवान्प्रति महेश्वरः ॥१०॥

अध्याय १६२

मन्युतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—मनुष्यों के सब पापों को नष्ट करनेवाला, सब प्रकार के मनोरथों को पूर्ण करनेवाला और स्मरण मात्र से अघों को नष्ट कर देनेवाला मन्यु-तीर्थ नामक एक तीर्थ है। मुने ! उसके प्रभाव का वर्णन मैं कर रहा हूँ, एकाग्र होकर सुनो। प्राचीन काल में देवों और दानवों में परस्पर युद्ध छिड़ा। उसमें देव विजयी नहीं हुए प्रत्युत विजयश्री दानवों के हाथ लगी। युद्ध से पराङ्मुख देवों की चेतना लुप्त-सी हो गयी। वे मेरे पास आकर बोले—'हम लोगोंको अभय करनेवाला उपाय बतलाइये।' मैंने उन देवों से कहा—'देवगण ! सर्वथा गंगा की शरण में जाओ। वहाँ गौतमी के तट पर नित्य एवं स्वतः सहजानन्द सुन्दर महादेव की स्तुति कर उस महादेव से विजय-साधन प्राप्त करो।' 'ऐसा ही होगा' यह कहकर देवगण महेश्वर की आराधना करने लगे। उनमें से कोई तपस्या करते थे, कोई प्रेमविह्वल हो नाचते थे, कोई स्नान कराते थे तथा कोई उनकी पूजा करते थे। निदान, देवनाथ भगवान् शंकर महेश्वर प्रसन्न हुए और बोले—'जो अभीप्सित वरदान हो माँगो।' देवों ने सुरपति (शिव) से कहा—'हम लोगों की विजय के लिए रण में आगे रहनेवाला परम पराक्रम पुरुष को दीजिये जिसके बाहुबल

---

[1] घ. ङ. च. पुंसां।

आत्मनस्तेजसा कश्चिन्निर्मितः परमेष्ठिना । मन्युनामानमत्युग्रं देवसैन्यपुरोगमम् ॥११॥
तं नत्वा त्रिदशाः सर्वे शिवं नत्वा स्वमालयम् । मन्युना सह चाभ्येत्य पुनर्युद्धाय तस्थिरे ॥१२॥
युद्धे स्थित्वा तु दनुजैर्दैतेयैश्च महाबलैः । विबुधा जातसन्नद्धा मन्युमूचुः पुरः स्थिताः ॥१३॥

देवा ऊचुः

सामर्थ्यं तव पश्यामः पश्चाद्योत्स्यामहे परैः । तस्माद्दर्शय चाऽऽत्मानं मन्योऽस्माकं युयुत्सताम् ॥१४॥

ब्रह्मोवाच

तद्देववचनं श्रुत्वा मन्युराह स्मयन्निव ॥१५॥

मन्युरुवाच

जनिता मम देवेशः सर्वज्ञः सर्वदृक्प्रभुः । यः सर्वं वेत्ति सर्वेषां धामनाम[1] मनःस्थितम् ॥१६॥
नैव कश्चिच्च तं वेत्ति यः सर्वं वेत्ति सर्वदा । अमूर्तं मूर्तमप्येतद्वेत्ति कर्त्ता जगन्मयः ॥१७॥
परोऽसौ भगवान्साक्षात्तथा दिव्यन्तरिक्षगः । कस्तस्य रूपं यो वेद [2]कस्य कर्त्ता जगन्मयः ॥१८॥
एवं विधादहं जातो मां कथं वेत्तुमर्हथ । अथवा द्रष्टुकामा वै भवन्तो माऽनुपश्यत ॥१९॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्त्वा दर्शयामास मन्यू रूपं स्वकं महत् । तार्तीयचक्षुषोद्भूतं भवस्य परमेष्ठिनः ॥२०॥

के भरोसे हम सुखी हों।' भगवान् महादेव ने 'ऐसा ही हो' कहा और परमेष्ठी शिव ने अपने तेज से किसी मन्यु नामक अति प्रतापी पुरुष को अग्रणी बना दिया। सब देवता उस मन्यु को प्रणाम कर उसको साथ लेकर अपने घर आये और पुनः युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये। महाबलवान् दनुज और दैत्यों के साथ युद्ध की घोषणा कर देवता स्वयं युद्धार्थ प्रस्तुत हो गये और मन्यु के आगे जाकर उससे बोले ॥१-१३॥

देवगण बोले—पहले हम लोग तुम्हारे सामर्थ्य की परीक्षा करना चाहते हैं तब हम शत्रुओं के साथ लड़ेंगे। इसलिये मन्यु ! युद्ध के लिए प्रस्तुत हम लोगों को अपना पराक्रम दिखलाओ ॥१४॥

ब्रह्मा बोले—देवों की बातें सुनकर मन्यु ने हँसते हुए कहा—॥१५॥

मन्यु ने कहा—देवों के ईश, सर्वज्ञ, सब ओर देखनेवाले प्रभु शंकर मेरे उत्पादक हैं, जो सबके धाम (स्थान), नाम और आन्तरिक बातों को सर्वदा जानते हैं और उनको कोई भी नहीं जानता है। वही जगन्मय कर्त्ता शिव मूर्त और अमूर्त सब पदार्थों को जानते हैं। वह पर भगवान् स्वयं स्वर्ग और अन्तरिक्ष में अप्रतिहत गति रखते हैं। ऐसा कौन है, जो उनके स्वरूप को जानता है ? वह जगन्मय सर्वप्रथम जल की सृष्टि करनेवाले हैं। ऐसे महाप्रभु के तेज से मैं उत्पन्न हुआ हूँ। मुझको कैसे तुम जान सकते हो ? अथवा यदि तुम लोग देखना ही चाहते हो तो मुझको देखो ॥१६-१९॥

ब्रह्मा बोले—मन्यु ने यह कहकर अपने उस महान् तैजस स्वरूप को दिखाया जो परमेष्ठी शंकर के तीसरे

---

[1] घ. ०म जनस्थि० । [2]. च. ङ. ०म जनस्थितिम् ।

तेजसा संभृतं रूपं यतः सर्वं तदुच्यते । पौरुषं पुरुषेष्वेव अहंकारश्च जन्तुषु ॥२१॥
क्रोधः सर्वस्य यो भीम उपसंहारकृद्भवेत् । तं शंकरप्रतिनिधिं ज्वलन्त निजतेजसा ॥२२॥
सर्वायुधधरं दृष्ट्वा प्रणेमुः सर्वदेवताः । वित्रेसुर्दैत्यमनुजाः कृताञ्जलिपुटाः सुराः ॥२३॥
भूत्वा मन्युमथोचुस्ते त्वं सेनानीः प्रभो भव । त्वया दत्तमिदं राज्यं मन्यो भोक्ष्यामहे वयम् ॥२४॥
तस्मात्सर्वेषु कार्येषु जेता[1] त्वं जयवर्धनः । त्वमिन्द्रस्त्वं च वरुणो लोकपालास्त्वमेव च ॥२५॥
अस्मासु सर्वदेवेषु प्रविश त्वं जयाय वै । मन्युः प्रोवाच तान्सर्वान्विना मत्तो न किंचन ॥२६॥
सर्वेष्वन्तः प्रविष्टोऽहं न मां जानाति कश्चन । स एव भगवान्मन्युस्ततो जातः पृथक्पृथक् ॥२७॥
स एव रुद्ररूपी स्याद्रुद्रो मन्युः शिवोऽभवत् । स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं व्याप्तं हि मन्युना ॥२८॥
तमवाप्य सुराः सर्वे जयमापुश्च संगरे । जयो मन्युश्च शौर्यं च ईशतेजः समुद्भवम् ॥२९॥
मन्युना जयमाप्याथ कृत्वा दैत्यैश्च संगमम् । यथागतं ययुः सर्वे मन्युना परिरक्षिताः ॥३०॥
यत्र वै गौतमीतीरे शिवमाराध्य ते सुराः । मन्युमापुर्जयं चैव मन्युतीर्थं तदुच्यते ॥३१॥
उत्पत्तिं च तथा मन्योर्यो नरः प्रयतः स्मरेत् । विजयो जायते तस्य[2] न कैश्चित्परिभूयते ॥३२॥

नेत्र से उत्पन्न हुआ है, जो तेज से युक्त है और जिससे सब कुछ उत्पन्न हुआ है, ऐस कहा जाता है। जो पुरुषों में पौरुष, जन्तुओं में अहंकार तथा सबका क्रोध है और जो भीमरूप होकर सबका संहार करनेवाला है, उस अपने तेज से जलनेवाले सब प्रकार के शस्त्रों को धारण करनेवाले शंकर के प्रतिनिधि को देखकर सब देवताओं ने प्रणाम किया। दैत्य और दानव उसको देखकर भयत्रस्त हो गये। वे देवतागण हाथ जोड़कर मन्यु से बोले—'प्रभो ! तुम हमारे सेना-नायक बनो । मन्यो ! तुम्हारे दिये हुए इस स्वर्गराज्य का हम भोग करेंगे। इसलिए सब कार्यों में तुम्हीं विजय दिलानेवाले और जय-वृद्धि करने वाले हो। तुम इन्द्र हो, तुम वरुण हो, तुम्हीं लोकपाल भी हो। तुम हम सब देवों में विजय के लिए प्रवेश कर जाओ। मन्यु ने उन देवों से कहा—'मेरे बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं। मैं सबके अन्तस् में रहता हूँ। परन्तु मुझको कोई नहीं जानता है।' तदनन्तर वही भगवान् मन्यु पृथक्-पृथक् रूपों में व्यक्ति हुआ। वही मन्यु रुद्र रूप हुआ और रुद्र शिव हुआ। स्थावर-जंगम आदि सब मन्यु से व्याप्त है। उस मन्यु को पाकर देवों ने रण में विजय पायी। जय, मन्यु और वीरता की उत्पत्ति शंकर के तेज से हुई थी। अतएव दैत्यों से संघर्ष कर देवों ने मन्यु की सहायता से विजय पायी और उसके संरक्षण में वे सब देवता जहाँ से आये थे वहाँ चले गये। जहाँ गौतमी के तीर पर देवों ने शिव की आराधना कर मन्यु और जय को प्राप्त किया, वह मन्युतीर्थ कहा जाता है। जो मनुष्य मन्यु की उत्पत्ति का श्रद्धापूर्वक स्मरण करता है, उसकी सर्वदा विजय होती है। वह किसी से पराजित नहीं होता। महामुनि ! मन्यु के समान कोई पवित्र तीर्थ नहीं है। जहाँ

---

[1] घ. च. नेता । [2] घ. च. नित्यं ।

न मन्युतीर्थसदृशं[1] पावनं हि महामुने । यत्र साक्षान्मन्युरूपी सर्वदा शंकरः स्थितः ॥
तत्र स्नानं च दानं च स्मरणं सर्वकामदम् ॥३३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये मन्युतीर्थवर्णनं नाम द्विषष्टयधिकशततमोऽध्यायः ॥१६२॥

गौतमीमाहात्म्ये त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥९३॥

अथ त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

सारस्वततीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

सारस्वतं नाम तीर्थं सर्वकामप्रदं शुभम् । भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणां सर्वपापप्रणाशनम् ॥१॥
सर्वरोगप्रशमनं सर्वसिद्धिप्रदायकम् । तत्रेमं शृणु वृत्तान्तं विस्तरेणाथ नारद ॥२॥
पुष्पोत्कटात्पूर्वभागे पर्वतो लोकविश्रुतः । शुभ्रो नाम गिरिश्रेष्ठो गौतम्या दक्षिणे तटे ॥३॥
शाकल्य इति विख्यातो मुनिः परमनैष्ठिकः । तस्मिञ्शुभ्रे पुण्यगिरौ तपस्तेपे ह्यनुत्तमम् ॥४॥
तपस्यन्तं द्विजश्रेष्ठं गौतमीतीरमाश्रितम् । सर्वे भूतगणा नित्यं प्रणमन्ति स्तुवन्ति तम् ॥५॥
अग्निशुश्रूषणपरं वेदाध्ययनतत्परम् । ऋषिगन्धर्वसुमनः सेविते तत्र पर्वते ॥६॥

साक्षात् मन्यु रूपी शंकर निवास करते हैं, वहाँ स्नान, दान और तीर्थनाम के स्मरण से सब कामनाएँ प्राप्त हो जाती हैं ॥२०-३३॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में मन्यु तीर्थ-वर्णन नामक एक सौ बासठवाँ अध्याय समाप्त ॥१६२॥

अध्याय १६३

सारस्वततीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—सब कामनाओं को देनेवाला, शुभ सारस्वत नामक तीर्थ है, जो मनुष्यों को भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है और उनके पापों का नाश करता है, सब रोगों को दूर करता है और सब प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करता है। नारद ! वहाँ के इस वृत्तान्त को विस्तारपूर्वक कह रहा हूँ, सुनो ! गौतमी के दक्षिण तट पर पुष्पोत्कट से पूर्व की ओर लोक-विख्यात शुभ्र नामक एक उत्तम पर्वत है। उस स्वच्छ पवित्र पर्वत पर शाकल्य

---

[1] घ. च. ०शं तीर्थं कुत्रापि विद्यते । य० ।

तस्मिन्गिरौ महापुण्ये देवद्विजभयंकरः । यज्ञद्वेषी ब्रह्महन्ता परशुर्नाम राक्षसः ॥७॥
कामरूपी विचरति नानारूपधरो वने । क्षणं च ब्रह्मरूपेण कदाचिद्व्याघ्ररूपधृक् ॥८॥
कदाचिद्देवरूपेण कदाचित्पशुरूपधृक् । कदाचित्प्रमदारूपः कदाचिन्मृगरूपतः ॥९॥
कदाचिद्बालरूपेण एवं चरति पापकृत् । यत्राऽऽस्ते ब्राह्मणो विद्वाञ्शाकल्यो मुनिसत्तमः ॥१०॥
तमायाति महापापी परशू राक्षसाधमः । शुचिष्मन्तं द्विजश्रेष्ठं परशुर्नित्यमेव च ॥११॥
नेतुं हन्तुं प्रवृत्तोऽपि न शशाक स पापकृत् । स कदाचिद्द्विजश्रेष्ठो देवानभ्यर्च्य यत्नतः ॥१२॥
भोक्तुकामः किलाऽऽयातस्तत्रायात्परशुर्मुने । ब्रह्मरूपधरो भूत्वा शिथिलः पलितोऽबली ॥
कन्यामादाय कांचिच्च शाकल्यं वाक्यमब्रवीत् ॥१३॥

परशुरुवाच

भोजनस्यार्थिनं विद्धि मां च कन्यामिमां द्विज । आतिथ्यकाले संप्राप्तं कृतकृत्योऽसि मानद ॥१४॥
त एव धन्या लोकेऽस्मिन्येषामतिथयो गृहात् । पूर्णाभिलाषा निर्यान्ति जीवन्तोऽपि मृताः परे ॥१५॥
भोजने तूपविष्टे तु आत्मार्थं कल्पितं तु यत् । अतिथिभ्यस्तु या दद्याद्दत्ता तेन वसुंधरा ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा तु शाकल्यो ददामीत्येवमब्रवीत् । आसने चोपवेश्याथाज्ञानात्तं परशुं द्विजम् ॥१७॥
यथान्यायं पूजयित्वा शाकल्यो भोजनं ददौ । आपोशनं करे कृत्वा परशुर्वाक्यमब्रवीत् ॥१८॥

नामक परम नैष्ठिक मुनि अति कठोर तपस्या करते थे। गौतमी-तीर पर अग्नि-सेवा-परायण और वेदाध्ययन में लीन रहनेवाले उस द्विजवर्य को सब प्राणी प्रतिदिन प्रणाम करते और स्तुति करते थे। उस ऋषि, गन्धर्व और सज्जनों के निवास योग्य, महापुण्यप्रद पर्वत पर देव और ब्राह्मणों को भय देनेवाला, यज्ञविरोधी तथा ब्रह्मघाती परशु नाम का एक राक्षस रहता था। वह मायावी अनेक रूप धारण कर घूमा करता था। वह क्षणभर में कभी ब्राह्मण का रूप धारण कर लेता था तो कभी बाघ का, कभी देवरूप में घूमता था तो कभी पशुरूप में। किसी समय स्त्रीरूप में किसी समय मृगरूप में और किसी समय बालक के रूप में वह पापकर्मा घूमता था। जहाँ मुनिवर्य विद्वान् ब्राह्मण शाकल्य रहते थे, वहाँ वह महापापी परशु उनके पास आता था। उस पवित्रात्मा द्विजश्रेष्ठ को परशु नित्य मारने के लिए या हर लेने के लिये आता था। परन्तु वह पापी इसमें सफल नहीं हो पाता था। मुने ! किसी समय वह द्विजश्रेष्ठ अति श्रद्धापूर्वक देवों की पूजा करने की इच्छा से आये। उसी समय वहाँ वह परशु सितकेश एवं शिथिल ब्राह्मण का वेश धारण कर किसी कन्या को साथ लिये हुए शाकल्य के पास आया और बोला ॥१-१३॥

परशु ने कहा—द्विज ! मुझको और इस कन्या को इस आतिथ्योचित काल में आये भोजनार्थी समझो। मानद! तुम कृतकृत्य हो गये। क्योंकि इस लोक में वे धन्य हैं, जिनके घर से अतिथि अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण करके बाहर जाते हैं। इसके विपरीत जो मनुष्य हैं, वे जीते-जी मरे हुए-से हैं। भोजन के लिए बैठे जो व्यक्ति अपने लिये परसा हुआ भोजन अतिथि को दे देता है वह मानों पृथ्वी का दान कर देता है ॥१४-१६॥

ब्रह्मा बोले—यह सुनकर शाकल्य ने कहा—'दूँगा।' इसके बाद वह द्विजरूपधारी परशु को आसन पर बैठाकर अज्ञान से शाकल्य ने उसकी यथार्थ पूजा कर भोजन दे दिया। परशु ने भोजन को हाथ में लेकर कहा ॥१७-१८॥

परशुरुवाच

दूरादभ्यागतं श्रान्तमनुगच्छन्ति देवताः । तस्मिंस्तृप्ते तु तृप्ताः स्युरतृप्ते तु विपर्ययः ॥१९॥
अतिथिश्चापवादी च द्वावेतौ विश्वबान्धवौ । अपवादी हरेत्पापमतिथिः [1]स्वर्गसंक्रमः ॥२०॥
अभ्यागतं पथि श्रान्तं सावज्ञं योऽभिवीक्षते । तत्क्षणादेव नश्यन्ति तस्य धर्मयशः श्रियः ॥२१॥
तस्मादभ्यागतः श्रान्तो याचेऽहं त्वां द्विजोत्तम । दास्यसे यदि मे कामं तद्भोक्ष्येऽहं न चान्यथा ॥२२॥

ब्रह्मोवाच

दत्तमित्येव शाकल्यो भुङ्क्ष्वेत्येवाऽऽह राक्षसम् । ततः प्रोवाच परशुरहं राक्षससत्तमः ॥२३॥
नाहं द्विजस्तव रिपुर्न वृद्धः पलितः कृशः । बहूनि मे व्यातीतानि वर्षाणि त्वां प्रपश्यतः ॥२४॥
शुष्यन्ति मम गात्राणि ग्रीष्मे स्वल्पोदकं यथा । तस्मान्नेष्ये सानुगं त्वां भक्षयिष्ये द्विजोत्तम ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वा परशुवाक्यं तच्छाकल्यो वाक्यमब्रवीत् ॥२६॥

शाकल्य उवाच

ये महाकुलसंभूता विज्ञातसकलागमाः । तत्प्रतिश्रुतमभ्येति न जात्वत्र विपर्ययम्[2] ॥२७॥
यथोचितं कुरु सखे तथाऽपि शृणु मे वचः । निहन्तुमप्युद्यतेषु वक्तव्यं हितमुत्तमैः ॥२८॥

परशु ने कहा—दूर से आये हुए, थके अतिथि के पीछे-पीछे देवता आते हैं । उसके तृप होने पर वे तृप्त होते हैं और अतृप्त होने पर अतृप्त । अतिथि और अपवादी दोनों संसार के बन्धु हैं । अपवादी (निन्दक) पाप को हर लेता है । अतिथि मनुष्य को स्वर्ग का अधिकारी बनानेवाला है । जो रास्ते के थके-माँदे अतिथि को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, उसी क्षण उसका धर्म और श्री नष्ट हो जाती है । इसलिए द्विजोत्तम ! मैं श्रान्त अतिथि तुमसे याचना करता हूँ कि यदि तुम मुझे पर्याप्त भोजन दोगे तब तो खाऊँगा अन्यथा नहीं ॥१९-२२॥

ब्रह्मा बोले—शाकल्य ने राक्षस से कहा—'इतना ही था, जो दे दिया । अब इसको खाओ ।' तब परशु ने कहा—'मैं राक्षसराज हूँ, द्विज नहीं हूँ, तुम्हारा शत्रु हूँ, वृद्ध, दुर्बल तथा सितकेश नहीं हूँ । तुमको देखते-देखते मेरे बहुत साल बीत गये । ग्रीष्मऋतु में जिस प्रकार थोड़ा जल सूख जाता है, उसी प्रकार मेरे अंग सूखते जा रहे हैं । इसलिए द्विजोत्तम मैं आज तुमको अनुयायियों समेत उठा ले जाऊँगा और खा जाऊँगा ॥२३-२५॥

ब्रह्मा बोले—परशु की बात सुनकर शाकल्य ने कहा ॥२६॥

शाकल्य ने कहा—जो महाकुल में उत्पन्न होते हैं और जो सब शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं वे अपनी प्रतिज्ञाओं को पूरा करते हैं, इसमें विपर्यय (परिवर्तन) नहीं होता । सखे ! जैसे उचित समझो करो । फिर भी मेरी बात सुनो । सज्जन लोगों का स्वभाव है कि वे हत्या के लिए प्रस्तुत हत्यारों से भी उचित बात कहते हैं । मैं वज्र के

---

[1] ङ. स्वर्गदायकः । [2] घ. ङ. च. ०म् । कुरु वा मा कु० ।

ब्राह्मणोऽहं वज्रतनुः सर्वतो रक्षको हरिः । पादौ रक्षतु मे विष्णुः शिरो देवो जनार्दनः ॥२९॥
बाहू रक्षतु वाराहः पृष्ठं रक्षतु कूर्मराट् । हृदयं रक्षतात्कृष्णो ह्यङ्गुली रक्षतान्मृगः[1] ॥३०॥
मुखं रक्षतु वागीशो नेत्रे रक्षतु पक्षिगः । श्रोत्रं रक्षतु वित्तेशः[2] सर्वतो रक्षताद्भवः ॥
नानापस्त्वेकशरणं देवां नारायणः स्वयम् ॥३१॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तु शाकल्यो नय वा भक्ष वा सुखम् । मां राक्षसेन्द्र परशो त्वमिदानीमतन्द्रितः ॥३२॥
राक्षसस्तस्य वचनाद्भक्षणाय समुद्यतः । नास्त्येव हृदये नूनं पापिनां करुणाकणः ॥३३॥
दंष्ट्राकरालवदनो गत्वा तस्यान्तिकं तदा[3] । ब्राह्मणं तं निरीक्ष्यैवं परशुर्वाक्यमब्रवीत् ॥३४॥

परशुरुवाच

शङ्खचक्रगदापाणिं त्वां पश्येऽहं द्विजोत्तम । सहस्रपादशिरसं सहस्राक्षकरं विभुम् ॥३५॥
[4]सर्वभूतैकनिलयं छन्दोरूपं जगन्मयम् । त्वामद्य विप्र पश्यामि नास्ति ते पूर्वकं वपुः ॥३६॥
तस्मात्प्रसादये विप्र त्वमेव शरणं भव । ज्ञानं देहि महाबुद्धे तीर्थं [5]ब्रूह्यघनिष्कृतिम् ॥३७॥
महतां दर्शनं ब्रह्मञ्जायते नहि निष्फलम् । द्वेषादज्ञानतो वाऽपि प्रसङ्गाद्वा प्रमादतः ॥३८॥
अयसः स्पर्शसंस्पर्शो रुक्मत्वायैव जायते ॥३९॥

समान शरीरवाला ब्राह्मण हूँ। विष्णु मेरी चारों ओर से रक्षा करनेवाले हैं। विष्णु मेरे चरणों की रक्षा करें, जनार्दन देव सिर की रक्षा करें, वाराह मेरी भुजाओं की रक्षा करें, कूर्मराज पृष्ठभाग की रक्षा करें, कृष्ण हृदय की और नृसिंह अँगुलियों की रक्षा करें। वागीश मुख की, गरुड़वाहन नेत्रों की, कुबेर कानों की तथा शंकर चारों ओर से मेरी रक्षा करें। स्वयं नारायण देव नाना आपत्तियों में एकमात्र मेरे शरणदाता हों ॥२७-३१॥

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार कहकर शाकल्य ने राक्षस से कहा—'राक्षसेन्द्र ! परशो ! मुझको ले चलो या इस समय आलस्यरहित होकर आनन्दपूर्वक मुझको खा जाओ। तब राक्षस मुनि के कथनानुसार (मुनि को) खाने के लिए तैयार हो गया। वास्तव में पापी मनुष्यों के हृदय में दया का एक कण भी नहीं होता। उस भयानक दाँत और विकराले मुखवाले परशु ने जब उस ब्राह्मण के समीप जाकर उसे देखा तो इस प्रकार कहा॥३२-३४॥

परशु ने कहा—द्विजोत्तम ! मैं इस समय तुमको शंख, चक्र और गदाधारी, सहस्र चरण और सिरवाला, सहस्र नेत्र और भुजावाला, व्यापक, सब प्राणियों का एकमात्र वासस्थान, छन्दःस्वरूप और जगन्मय के रूप में देख रहा हूँ। विप्र ! तुम्हारा वह पहले का शरीर नहीं है। इसलिए हे विप्र ! मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ। तुम्हीं मेरे रक्षक बनो। महाबुद्धिमान् ! ज्ञान दो, मेरे पापों को दूर करनेवाले तीर्थ को बताओ। ब्रह्मन् ! महान् व्यक्तियों का दर्शन कभी भी निष्फल नहीं होता है। द्वेषवश, अज्ञान से, प्रसंगवश या भूल से किसी भी प्रकार से पारस का स्पर्श लोहे को सोना बना ही देता है ॥३५-३९॥

१क. ०न्मृडः० । ना० । २घ. चित्तेशः । ३घ. शनैः । ४घ. च. ०र्वदेवैक० । ५घ. ङ. च. ह्यथ नि० ।

ब्रह्मोवाच

एतद्वाक्यं समाकर्ण्य राक्षसेन समीरितम् । शाकल्यः कृपया प्राह वरदा सा सरस्वती ॥४०॥
तवाचिराद्दैत्यपते ततः स्तुहि जनार्दनम् । मनोरथफलप्राप्तौ नान्यन्नारायणस्तुतेः ॥४१॥
किंचिदप्यस्ति लोकेऽस्मिन्कारणं शृणु राक्षस । प्रसन्ना तव सा देवी मद्वाक्याच्च भविष्यति ॥४२॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा स परशुर्गङ्गां त्रैलोक्यपावनीम् । स्नात्वा शुचिर्यतमना गङ्गामभिमुखः स्थितः ॥४३॥
तत्रापश्यद्दिव्यरूपां दिव्यगन्धानुलेपनाम् । सरस्वतीं जगद्धात्रीं शाकल्यवचने स्थिताम् ॥४४॥
जगज्जाड्यहरां विश्वजननीं भुवनेश्वरीम् । तामुवाच विनीतात्मा परशुर्गतकल्मषः ॥४५॥

परशुरुवाच

गुरुः शाकल्य इत्याह माकान्तं स्तुति विध्वजम् । तव प्रसादात्सा शक्तिर्यथा मे स्यात्तथा कुरु ॥४६॥

ब्रह्मोवाच

तथाऽस्त्विति च सा प्राह परशुं श्रीसरस्वती । सरस्वत्याः प्रसादेन परशुस्तं जनार्दनम् ॥४७॥
तुष्टाव विविधैर्वाक्यैस्ततस्तुष्टोऽभवद्धरिः । वरं प्रादाद्राक्षसाय कृपासिन्धुर्जनार्दनः ॥४८॥

जनार्दन उवाच

यद्यन्मनोगतं रक्षस्तत्तत्सर्वं भविष्यति ॥४९॥

ब्रह्मोवाच

शाकल्यस्य प्रसादेन गौतम्याश्च प्रसादतः । सरस्वत्याः प्रसादेन नरसिंहप्रसादतः ॥५०॥

ब्रह्मा बोले—राक्षस की कही हुई इन बातों को सुनकर शाकल्य ने कृपापूर्वक कहा—'दैत्यपते ! वह सरस्वती शीघ्र तुमको वर प्रदान करेगी। इसलिए जनार्दन की स्तुति करो। नारायण की स्तुति के अतिरिक्त मनोरथ पूर्ण करने का और कोई सरल साधन इस लोक में नहीं है। राक्षस ! सुनो, मेरे कहने से सरस्वती देवी तुम्हारे ऊपर अवश्य प्रसन्न होगी ॥४०-४२॥

ब्रह्म बोले—'ऐसा ही करूँगा' यह कहकर वह परशु त्रिभुवन-पावनी गंगा में स्नान कर पवित्र हो एकाग्र मन से गंगा के सम्मुख बैठ गया। उसने दिव्य रूपवाली दिव्य गंध और अंगराग (लेप) से युक्त तथा संसार का धारण-पोषण करनेवाली सरस्वती को, शाकल्य के कथन के अनुसार स्थित देखा, निष्पाप एवं विनीत परशु ने जगत् की जड़ता को दूर करनेवाली, विश्वजननी और भुवनेश्वरी उस सरस्वती से कहा ॥४३-४५॥

परशु ने कहा—गुरु शाकल्य ने मुझसे कहा है कि लक्ष्मीपति गरुड़ध्वज विष्णु की स्तुति करो। अतः आपकी कृपा से जिस प्रकार मुझमें वैसी शक्ति हो, वैसा ही आप करें ॥४६॥

ब्रह्मा बोले—उस श्री सरस्वती ने परशु से कहा कि ऐसा ही हो। सरस्वती की कृपा से परशु उस जनार्दन भगवान् की विविध वाक्यों से स्तुति करने लगा। तब हरि उसके ऊपर प्रसन्न हो गये और कृपा-सागर जनार्दन ने राक्षस को वरदान दिया ॥४७-४८॥

जनार्दन बोले—राक्षस ! तुम्हारे जो-जो मनोरथ हैं, वे सब पूरे हो जायँगे ॥४९॥

ब्रह्मा बोले—शाकल्य, गौतमी, सरस्वती तथा नरसिंह की कृपा से उस परम पापी परशु ने भी स्वर्ग

पापिष्ठोऽपि तदा रक्षः परशुर्दिवमेयिवान् । सर्वतीर्थाङ्घ्रिपद्मस्य प्रसादाच्छार्ङ्गधन्वनः ।।५१।।
ततः प्रभृति तत्तीर्थं सारस्वतमिति श्रुतम् । तत्र स्नानेन दानेन विष्णुलोके महीयते ।।५२।।
वाग्जवैष्णवशाकल्यपरशुप्रभवाणि हि । बहून्यभूवंस्तीर्थानि [1]तस्मिन्वै श्वेतपर्वते ।।५३।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये श्वेतपर्वतस्थशाकल्यादितीर्थवर्णनं नाम त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१६३।।
गौतमीमाहात्म्ये चतुर्नवतितमोऽध्यायः ।।९४।।

अथ चतु:षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

चिच्चिकतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच[2]

चिच्चिका (क) तीर्थमित्युक्तं सर्वरोगविनाशनम् । सर्वचिन्ताप्रहरणं सर्वशान्तिकरं नृणाम् ।।१।।
तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि शुभ्रे तस्मिन्नगोत्तमे । गङ्गाया उत्तरे पारे यत्र देवो गदाधरः ।।२।।

को प्राप्त किया और सकल तीर्थों को अपने चरण-कमल में बसानेवाले विष्णु की कृपा से वह तीर्थ तब से सारस्वत तीर्थ नाम से प्रसिद्ध हो गया। वहाँ स्नान करने और दान देने से मनुष्य विष्णु-लोक में पूजित होता है। उस श्वेतपर्वत पर सारस्वत, वैष्णव, शाकल्य और परशु राक्षस के नाम से प्रसिद्ध और भी बहुत-से तीर्थ हैं।।५०-५३।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में श्वेतपर्वत पर अवस्थित शाकल्य आदि तीर्थों का वर्णन
नामक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय समाप्त ।।१६३।।

अध्याय १६४

चिच्चिक तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—मनुष्यों के सब रोगों को नष्ट करनेवाला, सब चिन्ताओं को दूर करनेवाला तथा सब प्रकार की शान्ति देनेवाला चिच्चिक तीर्थ नामक एक तीर्थ है। उसके स्वरूप का वर्णन मैं कर रहा हूँ। गंगा के उत्तर तट पर जहाँ देव गदाधर निवास करते हैं, उस उत्तम शुभ्र पर्वत पर चिच्चिक नामक मांसभोजी पक्षिराज-जिसको

---

[1] घ. श्रेष्ठानि । ङ. च. पुण्यानि । [2] क. ०च—चर्चिका० ।

चिच्चिकः[1] पक्षिराट् तत्र भेरुण्डो योऽभिधीयते । सदा वसति [2]तत्रैव मांसाशी श्वेतपर्वते ।।३।।
नानापुष्पफलाकीर्णैः सर्वर्तुकुसुमैर्नगैः । सेविते द्विजमुख्यैश्च गौतम्या चोपशोभिते ।।४।।
सिद्धचारणगन्धर्वकिंनरामरसंकुले । तत्समीपे नगः कश्चिद्द्विपदां च चतुष्पदाम् ।।५।।
रोगार्तिक्षुत्तृषाचिन्तामरणानां न भाजनम् । एवं गुणान्विते शैले नानामुनिगणावृते ।।६।।
पूर्वदेशाधिपः कश्चित्पवमान इति श्रुतः । क्षत्रधर्मरतः श्रीमान्देवब्राह्मणपालकः ।।७।।
बलेन महता युक्तः सपुरोधा वनं ययौ । रेमे स्त्रीभिर्मनोज्ञाभिर्नृत्यवादित्रजैः सुखैः ।।८।।
स च एवं धनुष्पाणिर्मृगयाशीलिभिर्वृतः । एवं भ्रमन्कदाचित्स श्रान्तो द्रुममुपागतः ।।९।।
गौतमीतीरसंभूतं नानापक्षिगणैर्वृतम् । आश्रमाणां गृहपतिं धर्मज्ञमिव सेवितम् ।।१०।।
तमाश्रित्य नगश्रेष्ठं पवमानो नृपोत्तमः । स विश्रान्तो जनवृत ईक्षां चक्रे नगोत्तमम् ।।११।।
तत्रापश्यद्द्विजं स्थूलं द्विमुखं शोभनाकृतिम् । चिन्ताविष्टं तथा श्रान्तं तमपृच्छन्नृपोत्तमः ।।१२।।

राजोवाच

को भवान्द्विमुखः पक्षी चिन्तावानिव लक्ष्यसे । नैवात्र कश्चिद्दुःखार्तः कस्मात्त्वं दुःखमागतः ।।१३।।

भेरुण्ड भी कहते हैं—सर्वदा निवास करता था। नाना पुष्प और फलों से भरे, सब ऋतु के फूलों और वृक्षों से युक्त एवं गौतमी से सुशोभित उस पर्वत पर मुख्य द्विज (ब्राह्मण या पक्षी) सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर और देवता सर्वदा निवास करते थे। उसके समीप ही कोई वृक्ष था जहाँ जाने से किसी मनुष्य या चार पैरवाले (चतुष्पद जन्तु) को रोग, दुःख, भूख, प्यास, चिन्ता और मृत्यु का भय नहीं रहता था। ऐसे गुणों से युक्त और अनेकों मुनियों से सुशोभित उस पर्वत पर वह पक्षी भी रहता था। एक दिन कोई पवमान नामक पूर्व देश का अधिपति, क्षत्रिय-धर्म- परायण, श्रीमान्, देवों और ब्राह्मणों का पालक राजा अपने असंख्य सैनिकों और पुरोहित के साथ वन में आया। वहाँ मनोहर स्त्रियों के साथ नृत्य-वाद्य-जन्य सुखों का अनुभव करता हुआ वह विहार करने लगा। इस प्रकार एक दिन वह अपने अनुचर शिकारियों के साथ हाथ में धनुष लिये हुए घूमता हुआ थका-सा उस वृक्ष के नीचे आया, जो गौतमी के तट पर अनेक पक्षियों से भरा हुआ था और आश्रमवासियों के लिए धर्मज्ञाता गृहपति के समान (भोजनदाता) था। उस वृक्ष के नीचे आकर उस नृप-श्रेष्ठ पवमान ने अपने अनुचरों के सहित विश्राम किया, और उस पर्वत की ओर दृष्टि दौड़ायी। उस पर्वत पर उसने स्थूल परन्तु सुन्दर आकार और दो मुखवाले पक्षी को देखा, जो थका हुआ-सा चिन्तातुर था। नृपोत्तम ने उस पक्षी से पूछा ।।१-१२।।

राजा ने कहा—तुम दो मुखवाले पक्षी कौन हो ? क्यों चिन्ताकुल-से दिखायी देते हो ? यहाँ कोई दुःखी नहीं दिखायी देता। फिर तुम इतने दुःखी क्यों हो ? ।।१३।।

---

[1] क. चर्चिकः । [2] घ. ङ. च. ०व सार्वकामिकप० ।

ब्रह्मोवाच

ततः प्रोवाच नृपतिं पवमानं शनैः शनैः । समाश्वस्तमनाः पक्षी चिञ्चिको[1] निःश्वसन्मुहुः ॥१४॥

चिञ्चिक उवाच

मत्तो भयं न चान्येषां मम वाऽन्योपपादितम् । नानापुष्पफलाकीर्णं मुनिभिः परिसेवितम् ॥१५॥
पश्येयं शून्यमेवाद्रिं ततः शोचामि मामहम् । न लभामि सुखं किंचिन्न तृप्यामि कदाचन ॥
निद्रां प्राप्नोमि न क्वापि न विश्रान्तिं न निर्वृतिम् ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

द्विमुखस्य द्विजस्योक्तं श्रुत्वा राजाऽतिविस्मितः ॥१७॥

राजोवाच

को भवान्किं कृतं पापं कस्माच्छून्यश्च पर्वतः । एकेनाऽऽस्येन तृप्यन्ति प्राणिनोऽत्र नगोत्तमे ॥१८॥
किमुताऽऽस्यद्वयेन त्वं न तृप्तिमुपयास्यसि । किंवा ते दुष्कृतं प्राप्तमिह जन्मन्यथो पुरा ॥१९॥
तत्सर्वं शंस मे सत्यं त्रास्ये त्वां महतो भयात् ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

स्म्लानं तं द्विजः प्राह निःश्वसन्नथ चिञ्चिकः[2] ॥२१॥

ब्रह्मा ने कहा—इसके बाद उस चिञ्चिक पक्षी ने अपने को सम्हाला और बार-बार लंबी आहें भरता हुआ वह राजा पवमान से धीरे-धीरे बोला ॥१४॥

चिञ्चिक ने कहा—मुझसे किसी दूसरे को भय नहीं और न मुझको ही किसी दूसरे का भय है। परन्तु मुनिजनों से सेवित और रंग-बिरंग के फूलों और फलों से सुशोभित यह पर्वत मुझे सूना-सा दिखायी देता है। इसीलिए मुझको अपने ऊपर शोक होता है। यहाँ न तो मुझे सुख मिलता है, न कभी आत्म-तृप्ति, न नींद और न कहीं विश्राम या शान्ति ही मिलती है ॥१५-१६॥

ब्रह्मा बोले—उस दो मुखवाले पक्षी की कही हुई बातों को सुनकर राजा विस्मित हो गया ॥१७॥

राजा बोले—आप कौन हैं ? आपने कौन-सा पाप किया है ? क्यों आपके लिए पर्वत शून्य है ? इस उत्तम पर्वत पर प्राणी अपने एक मुख से तृप्त हैं। फिर आप दो मुँह रखते हुए भी क्यों नहीं तृप्त हो रहे हैं ? अथवा इस जन्म में या पूर्वजन्म में कौन-सा पाप किया है ? आप सब बातें सत्य रूप से कहिये। मैं आपको सब महान् संकटों से बचाऊँगा ॥२०॥

ब्रह्मा बोले—इतना सुनने के बाद पक्षी चिञ्चिक ने दीर्घश्वास लेते हुए उस राजा से कहा ॥२१॥

---

[1] क. चर्चिको । [2] क. चर्चिकः ।

चिञ्चिक उवाच

वक्ष्येऽहं त्वां पूर्ववृत्तं पवमान शृणुष्व तत् । अहं द्विजातिप्रवरो वेदवेदाङ्गपारगः ॥२२॥
कुलीनो विदितप्राज्ञः कार्यहन्ता कलिप्रियः । वदे पुरस्तथा पृष्ठे अन्यदन्यच्च जन्तुषु ॥२३॥
परवृद्धया सदा दुःखी मायया विश्ववञ्चकः । कृतघ्नः सत्यरहितः परनिन्दाविचक्षणः ॥२४॥
मित्रस्वामिगुरुद्रोही दम्भाचारोऽतिनिर्घृणः । मनसा कर्मणा वाचा तापयामि जनान्बहून् ॥२५॥
अयमेव विनोदो मे सदा यत्परहिंसनम् । युग्मभेदं गणोच्छेदं मर्यादाभेदनं सदा ॥२६॥
करोमि निर्विचारोऽहं विद्वत्सेवापराङ्मुखः । न मया सदृशः कश्चित्पातकी भुवनत्रये ॥२७॥
तेनाहं द्विमुखो जातस्तापनाद्दुःखभाग्यहम् । तस्माद्दुःखेन संतप्तः शून्योऽयं पर्वतो मम ॥२८॥
अन्यच्च शृणु भूपाल वाक्यं धर्मार्थसंहितम् । ब्रह्महत्यासमं पापं तद्विना तदवाप्यते ॥२९॥
क्षत्रियः संगरं गत्वा अथवाऽन्यत्र संगरात् । पलायन्तं न्यस्तशस्त्रं विश्वस्तं च पराङ्मुखम् ॥३०॥
अविज्ञातं चोपविष्टं बिभेमीति च वादिनम् । तं यदि क्षत्रियो हन्यात्स तु स्याद्ब्रह्मघातकः ॥३१॥
अधीतं विस्मरति यस्त्वं करोति तथोत्तमम् । अनादरं च गुरुषु तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥३२॥
प्रत्यक्षे च प्रियं वक्ति परोक्षे परुषाणि च । अन्यद्धृदि वचस्यन्यत्करोत्यन्यत्सदैव यः ॥३३॥
गुरूणां शपथं कर्त्ता द्वेष्टा ब्राह्मणनिन्दकः । मिथ्या विनीतः पापात्मा स तु स्याद्ब्रह्मघातकः ॥३४॥

चिञ्चिक बोला—पवमान ! मैं तुमसे पूर्व का वृत्तान्त कहूँगा, उसे सुनो। मैं पहले वेद-वेदांग का पारदर्शी उत्तम ब्राह्मण था। कुलीन विद्वान् तो था, परन्तु दूसरे के कार्यों को बिगाड़नेवाला तथा झगड़ालू था। लोगों के मुंह पर तो दूसरी बात कहता था, परन्तु पीठ पीछे दूसरी। दूसरों की बातों से सर्वदा दुःखी रहता था, अपनी धूर्तता से संसार को ठगा करता था और कृतघ्न, असत्यवादी, परनिन्दा-पंडित, मित्र, स्वामी और गुरु से द्रोह करनेवाला, दरिद्र, अति घृणित कार्य करनेवाला और मन, वचन तथा कर्म से बहुत लोगों को कष्ट पहुँचाता था। यही मेरा सर्वदा का मनबहलाव था कि दूसरो को कष्ट देना। मैं विद्वानों की सेवा से पराङ्मुख रहकर बिना विचारे दो जनों में फूट डालता, समाज में भेद उत्पन्न करता और मर्यादा का उल्लंघन आदि करता था। सारांश यह कि मेरे समान त्रिभुवन में कोई पापी नहीं था। उसके फलस्वरूप मैं दो मुखवाला पक्षी हुआ। दूसरों को पीड़ा पहुँचाने से दुःखी हूँ। इसलिए दुःख-सन्तप्त मेरे लिये यह पर्वत शून्य है ॥२२-२८॥ भूपाल ! अब धर्मार्थ से युक्त बातें सुनो। ब्रह्म-हत्या के समान पाप ब्रह्म-हत्या न करने से भी होते हैं। (जैसे) क्षत्रिय युद्ध में जाकर या युद्ध से अन्यत्र भागते हुए, शरण में आये हुए, विश्वासपात्र, रण-विमुख, अपरिचित, बैठे हुए और 'मै डरता हूँ' ऐसा कहनेवाले को यदि मारे तो वह ब्रह्म-घातक कहा जाता है। जो अध्ययन किये हुए (शास्त्र) को भूल जाता है, श्रेष्ठ व्यक्ति को 'तुम' कहकर पुकारता है और गुरुजनों का अनादर करता है, वह ब्रह्मघातक है। जो सामने प्रिय बोलता है किन्तु पीठ पीछे कटु और जो मन में दूसरी, वचन में दूसरी और कार्यतः सदैव दूसरी ही बात करता है और जो गुरु का शपथ लेने वाला, द्वेष करनेवाला, ब्राह्मणों की निन्दा करनेवाला, मिथ्या विनीत तथा पापात्मा हैं, वे ब्रह्मघातक होते हैं। जो देवता, वेद, अध्यात्मज्ञान, धर्म तथा ब्राह्मण की संगति की, द्वेष से निन्दा करता

देवं देवमथाध्यात्मं धर्मब्राह्मणसंगतिम् । एतान्निन्दति यो द्वेषात्स तु स्याद्ब्रह्मघातकः ॥३५॥
एवं भूतोऽप्यहं राजन्दम्भार्थं लज्जया तथा । सद्वृत्त इव वर्तेऽहं तस्माद्राजन्द्विजोऽभवम् ॥३६॥
एवं भूतोऽपि सत्कर्म किंचित्कर्ताऽस्मि कुत्रचित् । तेनाहं कर्मणा राजन्स्वतः स्मर्ता पुरा कृतम् ॥३७॥

ब्रह्मोवाच

[1]तच्चिच्चिकवचः श्रुत्वा पवमानः सुविस्मितः । कर्मणा केन ते मुक्तिरित्याह नृपतिर्द्विजम् ॥३८॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा नृपतिं प्राह पक्षिराट् ॥३९॥

चिच्चिक उवाच

अस्मिन्नेव नगश्रेष्ठे गौतम्या उत्तरे तटे । गदाधरं नाम तीर्थं तत्र मां नय सुव्रत ॥४०॥
तद्धि तीर्थं पुण्यतमं सर्वपापप्रणाशनम् । सर्वकामप्रदं चेति महद्भिर्मुनिभिः श्रुतम् ॥४१॥
न गौतम्यास्तथा विष्णोरपरं क्लेशनाशनम् । सर्वभावेन तत्तीर्थं पश्येयमिति मे मतिः ॥४२॥
मत्कृतेन प्रयत्नेन नैतच्छक्यं कदाचन । कथमाकाङ्क्षितप्राप्तिर्भवेद्दुष्कृतकर्मणाम् ॥४३॥
सप्रयत्नोऽप्यहं वीर न पश्ये तत्सुदुष्करम् । तस्मात्तव प्रसादाच्च पश्येयं हि गदाधरम् ॥४४॥
अविज्ञापितदुःखज्ञं करुणावरुणालयम् । यस्मिन्दृष्टे भवक्लेशा न दृश्यन्ते पुनर्नरैः ॥४५॥
दृष्ट्वैव तं दिवं यास्ये प्रसादात्तव सुव्रत ॥४६॥

है, वह ब्रह्मघातक होता है। राजन्! इस प्रकार का होता हुआ भी मैं दम्भ के लिए अथवा लोकलज्जावश सदाचारी की तरह बाह्य व्यवहार करता था। राजन्! इसीलिए मैं पक्षी हुआ। ऐसा होता हुआ भी मैं कहीं-कहीं कभी सत्कर्म कर देता था। उन कर्मों के प्रभाव से ही मुझे पूर्व के किये हुए कर्मों का स्वतः स्मरण है।।२९-३७।।

ब्रह्मा बोले—चिच्चिक की बात सुनकर राजा पवमान अतिविस्मित हो गया। उसने पक्षी से कहा—'किस कर्म से तुम्हारी मुक्ति हो सकती है?' उसकी बात सुनकर पक्षिराज ने राजा से कहा।।३८-३९।।

चिच्चिक ने कहा—इसी पर्वत-श्रेष्ठ पर गौतमी के उत्तर तट पर गदाधर नामक एक तीर्थ है। सुव्रत! वहाँ मुझको ले चलो। वह तीर्थ अतिपवित्र, सब पापों को दूर करनेवाला तथा सब कामनाओं को देनेवाला है, ऐसा महामुनियों से हमने सुना है। गौतमी एवं विष्णु से बढ़कर दूसरा कोई पापों को नष्ट करनेवाला नहीं है। इसलिए मेरा विचार है कि उस तीर्थ को बड़ी श्रद्धा से देखूँ। यह मेरे प्रयत्नों से कभी भी नहीं हो सकता। भला, दुष्कर्म करनेवालों को कैसे मनोरथ प्राप्त हो सकते हैं? वीर! प्रयत्न करने पर भी मैं उस अत्यन्त कठिन कार्य की सिद्धि नहीं देखता हूँ। अतः मैं तुम्हारी सहायता और कृपा से ही भगवान् गदाधर को देख सकता हूँ, जो स्वयं दूसरों के दुःखों को जाननेवाले और करुणा के सागर हैं तथा जिनका दर्शन पा जाने पर मनुष्य पुनः सांसारिक कष्टों के फन्दे में नहीं पड़ते हैं। सुव्रत! तुम्हारी कृपा से उनका दर्शन करते ही मैं स्वर्ग को चला जाऊँगा२।।४०-४६।।

---

[1] क. तच्चर्चिक०।

ब्रह्मोवाच

एवमुक्तः स [1]नृपतिश्चिच्चिकेन द्विजन्मना । दर्शयामास तं देवं तां च गङ्गां द्विजन्मने ॥४७॥
ततः स चिच्चिकः[2] स्नात्वा (प्राह) गङ्गां त्रैलोक्यपावनीम् ॥४८॥

चिच्चिक उवाच

गङ्गे गौतमि यावत्त्वां त्रिजगत्पावनीं नरः । न पश्यत्युच्यते तावदिहामुत्रापि पातकी ॥४९॥
तस्मात्सर्वागसमपि मामुद्धर सरिद्वरे । संसारे देहिनामन्या न गतिः काऽपि कुत्रचित् ॥
त्वां विना विष्णुचरणसरोरुहसमुद्भवे ॥५०॥
इति श्रद्धाविशुद्धात्मा गङ्गैकशरणो द्विजः । स्नानं चक्रे स्मरन्नन्तर्गङ्गे त्रायस्व मामिति ॥५१॥

ब्रह्मोवाच

गदाधरं ततो नत्वा पश्यत्सु नगवासिषु । पवमानाभ्यनुज्ञातस्तत्रैव दिवमाक्रमत् ॥५२॥
पवमानः स्वनगरं प्रययौ सानुगस्ततः । ततः प्रभृति तत्तीर्थं पावमानं [3]सचिच्चिकम् ॥५३॥
गदाधरं कोटितीर्थमिति वेदविदो विदुः । कोटिकोटिगुणं कर्म कृतं तत्र भवेन्नृणाम् ॥५४॥

इति श्री महापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये पावमानचिच्चिकगदाधरकोटितीर्थवर्णनं
नाम चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६४॥
गौतमीमाहात्म्ये पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥९५॥

ब्रह्मा बोले—पक्षी चिच्चिक ने उस नृपति से ऐसा कहा और राजा ने उस पक्षी को उस देव गदाधर और गौतमी गंगा का दर्शन करा दिया। तदनन्तर चिच्चिक ने गौतमी में स्नान कर उस त्रैलोक्य-पावनी गंगा से कहा ॥४७-४८॥

चिच्चिक ने कहा—गंगे ! गौतमि ! मनुष्य जब तक त्रिभुवन-पावनी तुमको नहीं देखता है तभी तक उसको इस लोक में या परलोक में पापी कहा जाता है। इसलिए श्रेष्ठ नदी ! इस प्रकार अपराध करनेवाले मेरा भी उद्धार करो। हे विष्णु के चरणकमल से उत्पन्न होनेवाली ! इस संसार में तुम्हारे बिना देहधारियों के लिए कहीं पर और कोई सहारा (गति) नहीं है ॥४९-५०॥

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार श्रद्धा से विशुद्ध आत्मावाले, और एकमात्र गंगा की शरण में रहनेवाले उस ब्राह्मण ने 'गंगे ! मेरी रक्षा करो' इस प्रकार हृदय में ध्यान करते हुए गंगा में स्नान किया। तत्पश्चात् भगवान् गदाधर को नमस्कार कर पर्वतनिवासियों के देखते-देखते उसी समय वह पक्षी पवमान से विदा की आज्ञा लेकर स्वर्ग को चला गया। तब पवमान भी अनुचरों के साथ अपने नगर को चला गया। उस समय से वह तीर्थ पवमान चिच्चिक और कोटितीर्थ इन नामों से वेदज्ञों द्वारा पुकारा जाने लगा। वहाँ मनुष्य के किये हुए कर्म कोटि-कोटि गुना फल देते हैं ॥५१-५४॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में पवमान-चिच्चिक-गदाधर-तीर्थ-वर्णन नामक
एक सौ चौंसठवाँ अध्याय समाप्त ॥१६४॥

१क. ०तिश्चर्चिके० । २क. चर्चिकः । ३क. सचर्चिक० ।

अथ पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भद्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

भद्रतीर्थमिति प्रोक्तं सर्वानिष्टनिवारणम् । सर्वपापप्रशमनं महाशान्तिप्रदायकम् ।।१।।
आदित्यस्य प्रिया भार्या उषा त्वाष्ट्री पतिव्रता । छायाऽपि भार्या सवितुस्तस्याः पुत्रः शनैश्चरः ।।२।।
तस्य स्वसा विष्टिरिति भीषणा पापरूपिणी । तां कन्यां सविता कस्मै ददामीति मतिं दधे ।।३।।
यस्मै यस्मै दातुकामः सूर्यो लोकगुरुः प्रभुः । तच्छ्रुत्वा भीषणा चेति किं कुर्मो भार्ययाऽनया ।।४।।
एवं तु वर्तमाने सा पितरं प्राह दुःखिता ।।५।।

विष्टिरुवाच

बालामेव पिता यस्तु दद्यात्कन्यां सुरूपिणे । स कृतार्थो भवेल्लोके न चेद्दुष्कृतवान्पिता ।।६।।
चतुर्थाद्वत्सरादूर्ध्वं यावन्न दशमात्ययः । तावद्विवाहः कन्यायाः पित्रा कार्यः प्रयत्नतः ।।७।।
श्रीमते विदुषे यूने कुलीनाय यशस्विने । उदाराय सनाथाय कन्या देया वराय वै ।।८।।
एतच्चेदन्यथा कुर्यात्पिता स निरयी सदा । धर्मस्य साधनं कन्या विदुषामपि भास्कर ।।९।।
नरकस्येव[1] मूर्खाणां कामोपहतचेतसाम् । एकतः पृथिवी कृत्स्ना सशैलवनकानना ।।१०।।

अध्याय १६५

भद्रतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—सब अनिष्टो को दूर करनेवाला, सब पापों को शान्त करनेवाला तथा महान् शान्ति को देनेवाला भद्रतीर्थ नामक एक तीर्थ है। त्वष्टा की पुत्री त्वाष्ट्री सूर्य की प्रिय एवं पतिव्रता भार्या थी। छाया भी उन्हीं की भार्या थी जिसका पुत्र शनैश्चर है। उसकी अति कुरूप और भयंकर आकारवाली विष्टि नाम की बहिन थी। सूर्य 'वह कन्या किसे दूँ' यह सोचने लगे। लोक-गुरु, प्रभु सूर्य जिस-जिसको देना चाहते थे, सभी सुनकर यही कहते थे कि 'ऐसी भीषण भार्या को लेकर हम क्या करेंगे।' यह दशा देखकर एक दिन विष्टि दुःखी होकर पिता से बोली ।।१-५।।

विष्टि ने कहा—जो पिता अपनी बाला (छोटी अवस्था की) कन्या सुरूप वर को देता है वह लोक में कृतकृत्य हो जाता है, अन्यथा पिता पाप का भागी होता है। चौथे वर्ष के बाद जब तक दसवाँ न वीत जाय तक तक पिता को कन्या का विवाह यत्नपूर्वक कर देना चाहिए। श्रीमान्, विद्वान्, युवक, कुलीन, यशस्वी उदार और माता-पिता या अभिभावकवाले वर को ही कन्या देनी चाहिये। जो इसके विपरीत कार्य करता है वह सर्वदा नरक भोगता है। भास्कर ! विद्वानों के लिए भी कन्या धर्म का साधन है। काम से दग्ध हृदयवाले मूर्खों के लिए कन्या नरक का

---

[1] घ. च. कस्यैव ।

स्वलंकृतोपाधिहीना सुकन्या चैकतः स्मृता । विक्रीणीते यश्च कन्यामश्वं वा गां तिलानपि ॥११॥
न तस्य रौरवादिभ्यः कदाचिन्निष्कृतिर्भवेत् । विवाहातिक्रमः कार्यो न कन्यायाः कदाचन ॥१२॥
तस्मिन्कृते यत्पितुः स्यात्पापं तत्केन कथ्यते । यावल्लज्जां न जानाति यावत्क्रीडति पांशुभिः ॥१३॥
तावत्कन्या प्रदातव्या नो चेत्पित्रोरधोगतिः । पितुः स्वरूपं पुत्रः स्याद्यः पिता पुत्र एव सः ॥१४॥
आत्मनः सुखितां लोके को न कुर्यात्करोति च । यत्कन्यायां[1] पिता कुर्याद्दानं पूजनमीक्षणम् ॥१५॥
यत्कृतं तत्कृतं विद्यात्तासु दत्तं तदक्षयम् । यद्दत्तं तासु कन्यासु [2]तदानन्त्याय कल्पते ॥१६॥
पुत्रेषु चैव पौत्रेषु को न कुर्यात्सुखं रवे । करोति यः कन्यकानां स संपद्भाजनं भवेत् ॥१७॥

ब्रह्मोवाच

एवं तां वादिनीं कन्यां विष्टिं प्रोवाच भास्करः ॥१८॥

सूर्य उवाच

किं करोमि न गृह्णाति त्वां कश्चिद् भीषणाकृतिम् । कुलं रूपं वयो वित्तं विद्यां वृत्तं सुशीलताम् ॥१९॥
मिथः पश्यन्ति सम्बन्धे विवाहे स्त्रीषु पुंसु च । अस्मासु सर्वमप्यस्ति विना तव गुणैः शुभे ॥
किं करोमि क्व दास्यामि वृथा मां धिक्करोषि किम् ॥२०॥

साधन है। एक ओर शैल, वन तथा उपवन से युक्त सम्पूर्ण पृथिवी है तो दूसरी ओर अलंकारों से अलंकृत विकार-हीन सुकन्या। जो व्यक्ति कन्या, अश्व, गौ और तिल को वेंचता है, उसका रौरव आदि नरक से कभी भी उद्धार नहीं होता। साथ ही कन्या के विवाह-वय का अतिक्रमण कभी भी नहीं होना चाहिये। ऐसा करने से कन्या के पिता को जो पाप होता है, उसको कौन कह सकता है? जब तक कन्या लज्जा करना नहीं जानती, जब तक वह धूल-मिट्टी से खेलती रहती है, तब तक कन्या का दान कर देना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो पिता-माता की अधोगति होती है। पिता का स्वरूप पुत्र है। जो पिता है वहीं पुत्र है। लोक में अपने को सुखी बनाना कौन नहीं चाहेगा या नहीं चाहता? परन्तु पिता कन्या के लिए जो कुछ दान, पूजन, दर्शन (वर-निरीक्षण) आदि करता है वही करना (कार्य) उत्तम समझा जाता है। जो कन्या के लिए दिया जाता है, वह अक्षय दान है और वह अनन्त फल प्रदान करता है। रवि! पुत्र और पौत्र के सुख के लिए कौन नहीं प्रयत्न करता परन्तु जो कन्या के सुख के लिए प्रयत्न करता है, वही सम्पत्ति का प्रियपात्र होता है अर्थात् वही धनवान् होता है ॥६-१७॥

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार कहनेवाली उस कन्या विष्टि को भास्कर ने कहा ॥१८॥

सूर्य ने कहा—क्या करूँ? तुम भयङ्कर आकृतिवाली को कोई भी ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होता। स्त्री और पुरुषों के विवाह में परस्पर के कुल, रूप, अवस्था, धन, विद्या, व्यवहार और सौजन्य को देखा जाता है। शुभे! हम लोगों में और सब कुछ है परन्तु केवल तुममें कोई गुण नहीं है। क्या करूँ? कहाँ तुमको दूँ? वृथा मुझे धिक्कार रही हो? ॥१९-२०॥

---

[1] घ. ०न्यार्थे पि० । ङ. ०न्यायाः पि० । [2] ङ. तद्दानै कुप्यमुच्यते । च. तद्दानं पुण्यमुच्यते ।

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा पुनस्तां च विष्टिं प्रोवाच भास्करः ।।२१।।

सूर्य उवाच

यस्मै कस्मै च दातव्या त्वं वै यद्यनुमन्यसे । दीयसेऽद्य मया विष्टे अनुजानीहि मां ततः ।।२२।।

ब्रह्मोवाच

पितरं प्राह सा विष्टिर्भर्ता पुत्रा धनं सुखम् । आयू रूपं च संप्रीतिर्जायते प्राक्तनानुगम् ।।२३।।
यत्पुरा विहितं कर्म प्राणिना साध्वसाधु वा । फलं तदनुरोधेन प्राप्यतेऽपि भवान्तरे ।।२४।।
स्वदोष एव तत्पित्रा परिहर्तव्य आदरात् । तादृगेव फलं तु स्याद्यादृगाचरितं पुरा ।।२५।।
तस्मात्तद्दानसंबन्धं स्ववंशानुगतं पिता । करोति शेषं दैवेन यद्भाव्यं तद्भविष्यति ।।२६।।

ब्रह्मोवाच

तच्छ्रुत्वा दुहितुर्वाक्यं त्वष्टुः पुत्राय भीषणाम् । विश्वरूपाय तां प्रादाद्विष्टिं लोकभयंकरीम् ।।२७।।
विश्वरूपोऽपि तद्वच्च भीषणो भीषणाकृतिः । एवं मिथः संचरतोः शीलरूपसमानयोः ।।२८।।
प्रीतिः कदाचिद्वैषम्यं दंपत्योरभवन्मिथः । गण्डो नामाभवत्पुत्रो ह्यतिगण्डस्तथैव च ।।२९।।
[1]रक्ताक्षः क्रोधनश्चैव व्ययो दुर्मुख एव च । तेभ्यः कनीयानभवद्धर्षणो नाम पुण्यभाक् ।।३०।।

ब्रह्मा बोले—ऐसा कहकर पुनः भास्कर ने उस विष्टि से कहा ।।२१।।

सूर्य ने कहा—तुम यदि इस बात के लिए अनुमति दो कि जिस किसी के हाथों तुम्हें दे दिया जाय तो आज ही मैं किसी को दे देता हूँ । विष्टे ! केवल मुझे अपनी स्वीकृति दो ।।२२।।

ब्रह्मा बोले—उस विष्टि ने अपने पिता से कहा—'भर्ता, पुत्र, धन, सुख, आयु, रूप, प्रीति सब पहले के किये गये कर्मों के अनुसार ही होते हैं । प्राणी पूर्व-जन्म में जो अच्छा या बुरा कर्म करते हैं, दूसरे जन्म में भी उसी के अनुसार फल पाते हैं । इसलिए पिता को आदरपूर्वक अपने दोषों का ही परिहार करना चाहिये । फल तो वैसा ही होगा जैसा कि पूर्वजन्म में किया गया है । इसलिए पिता अपने वंश के अनुरूप ही कन्या-दान-सम्बन्ध करे, शेष दैव के अनुसार जो होने को होगा वह होगा ही ।।२३-२६।।

ब्रह्मा बोले—पुत्री की बात सुनकर सूर्य ने उस लोक-भयङ्करी विष्टि को त्वष्टा-पुत्र विश्वरूप के हाथ दे दिया । विश्वरूप भी उसी तरह भयंकर और भीषण आकारवाला था । इस प्रकार समान स्वभाव और रूपवाले दोनों परस्पर प्रीतिपूर्वक व्यवहार करते थे, परन्तु किसी समय उन दोनों दम्पति में वैषम्य (मन-मुटाव) हो गया । उनके गण्ड, अतिगण्ड, रक्ताक्ष, क्रोधन, व्यय और दुर्मुख नामक पुत्र हुए । सबसे छोटा हर्षण नामक पुत्र पुण्यात्मा था । वह सुशील, भाग्यवान्, शान्त, शुद्ध-हृदय और पवित्र पुत्र किसी समय यम-गृह को देखने

---

[1] घ. ङ. च. रक्ताक्षी ।

सुतः सुशीलः सुभगः शान्तः शुद्धमतिः शुचिः । स कदाचिद्यमगृहं द्रष्टुं मातुलमभ्यगात् ।।३१।।
स ददर्श बहूञ्जन्तूस्वर्गस्थानिव दुःखिनः । स मातुलं तु पप्रच्छ नत्वा धर्मं सनातनम् ।।३२।।

हर्षण उवाच

क इमे सुखिनस्तात पच्यन्ते नरके च के ।।३३।।

ब्रह्मोवाच

एवं पृष्टो धर्मराजः सर्वं प्राह यथार्थवत् । तत्कर्मणां गतिं सर्वामशेषेण न्यवेदयत् ।।३४।।

यम उवाच

विहितस्य न कुर्वन्ति ये कदाचिदतिक्रमम् । न ते पश्यन्ति निरयं कदाचिदपि मानवाः ।।३५।।
न मानयन्ति ये शास्त्रं नाऽऽचारं न बहुश्रुतान् । विहितातिक्रमं कुर्युर्ये ते नरकगामिनः ।।३६।।

ब्रह्मोवाच

स तु श्रुत्वा धर्मवाक्यं हर्षणः पुनरब्रवीत् ।।३७।।

हर्षण उवाच

पिता त्वाष्ट्रो भीषणश्च माता विष्टिश्च भीषणा । भ्रातरश्च महात्मनो येन ते शान्तबुद्धयः ।।३८।।
सुरूपाश्च भविष्यन्ति निर्दोषा मङ्गलप्रदाः । तन्मे कर्म वदस्वाद्य तत्कर्ताऽस्मि सुरोत्तम ।।३९।।

के लिए मामा यम के यहाँ गया। उसने वहाँ बहुत-से प्राणियों को स्वर्ग के समान सुख भोगते तथा बहुतों को दुःखी देखा। उसने मामा को प्रणाम कर उनसे सनातन धर्म के विषय में पूछा ।।२७-३२।।

हर्षण ने कहा—तात ! ये कौन हैं जो सुखी हैं और ये कौन हैं जो नरक में यन्त्रणा भोग रहे हैं ।।३३।।

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार पूछने पर धर्मराज यम ने उनके कर्मों की सब गति को ठीक-ठीक पूर्णरूप से कह दिया ।।३४।।

यम बोले—जो कभी भी विहित (उचित या वेद-विहित) कर्मों को नहीं छोड़ते हैं, वे मनुष्य कभी भी नरक में नहीं जाते हैं। जो शास्त्रों को नहीं मानते हैं, आचार और बहुश्रुतों (पंडितों) का आदर नहीं करते हैं और विहित कर्मों का उल्लंघन करते हैं वे नरकगामी होते हैं ।।३५-३६।।

ब्रह्मा बोले—उस हर्षण ने धर्मराज की बात सुनकर पुनः कहा ।।३७।।

हर्षण ने कहा—मेरे अत्यन्त भीषण पिता, भीषण माता विष्टि, तथा भाई जिस उपाय से शान्त-बुद्धि, महात्मा, सुरूप, निर्दोष और कल्याणदायक हो जायँ, उस कर्म को बतलाइये। सुरोत्तम ! मैं उन कार्यों को आज ही करूँगा। अन्यथा मैं उनके पास नहीं जाऊँगा। यह सुनकर धर्मराज ने उस शुद्धबुद्धि हर्षण से कहा—"तुम वास्तव

अन्यथा तान्न गच्छेयमित्युक्तः प्राह धर्मराट् । हर्षणं शुद्धबुद्धि तं हर्षणोऽसि न संशयः ॥४०॥
बहवः स्युः सुताः केचिन्नैव ते कुलतन्तवः । एक एव सुतः कश्चिद्येन तद्ध्रियते कुलम् ॥४१॥
कुलस्याऽऽधारभूतो यो यः पित्रोः प्रियकारकः । यः पूर्वजानुद्धरति स पुत्रस्त्वितरो गदः ॥४२॥
यस्मात्त्वयाऽनुरूपं मे प्रोक्तं मातामह-प्रियम । तस्मात्त्वं गौतमीं गच्छ स्नात्वा नियतमानसः ॥४३॥
स्तुहि विष्णुं जगद्योनिं शान्तं प्रीतेन चेतसा । स तु प्रीतो यदि भवेत्सर्वमिष्टं प्रदास्यति ॥४४॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा धर्मवाक्यं हर्षणो गौतमीं ययौ । शुचिस्तुष्टाव देवेशं हरिं प्रीतोऽभवद्धरिः ॥४५॥
हर्षणाय[१] ततः प्रादात्कुलभद्रं ततस्तु सः । सर्वाभद्रप्रशमनपूर्वकं भद्रमस्तु ते ॥४६॥
तद्भद्रा प्रोच्यते विष्टिः पिता भद्रस्तथा सुताः । ततः प्रभृति तत्तीर्थं भद्रतीर्थं तदुच्यते ॥४७॥
सर्वमङ्गलदं पुंसां तत्र भद्रपतिर्हरिः । तत्तीर्थसेविनां पुंसां सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥
मङ्गलैकनिधिः साक्षाद्देवदेवो जनार्दनः ॥४८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये भद्रतीर्थवर्णनं नाम
पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६५॥
गौतमीमाहात्म्ये षण्णवतितमोऽध्यायः ॥९६॥

में हर्षण (आनन्द देनेवाले) हो। कुल में बहुत-से पुत्र हो जाते हैं, परन्तु वे कुलतन्तु (कुल की मर्यादा बढ़ाने वाले) नहीं होते। वह कोई एक ही पुत्र होता है, जिससे कुल की रक्षा होती है। जो पुत्र कुल का आधारभूत है, जो माता-पिता का प्रिय करनेवाला है ओर जो पूर्व पुरुषों का उद्धार करता है, वही पुत्र है, अन्य तो कुल के लिए विपत्ति हैं। जिसलिए तुमने अपने मातामह को प्रिय लगनेवाली और अनुरूप बात मुझे पूछी है, इसलिए तुम गौतमी के पास जाओ। उसमें स्नान कर एकाग्र होकर प्रसन्न चित्त से जगत् के आदि कारण शान्त विष्णु की स्तुति करो। वे यदि तुम पर प्रसन्न हो जायेंगे तो तुम्हारे सब मनोरथों को पूर्ण कर देंगे ॥३८-४४॥

ब्रह्मा बोले—धर्मराज की इन बातों को सुनकर हर्षण गौतमी के पास गया। पवित्र होकर देव हरि की स्तुति की। हरि उसकी स्तुति से प्रसन्न हो गये। उन्होंने हर्षण को कुल के मंगल का वरदान दिया और कहा कि तुम लोगों के सब अमंगल नष्ट हो जायँ तथा कल्याण हो। इस कारण वह विष्टि शुभ, पिता शुभ और पुत्र भी शुभ हो गये। उस समय से वह तीर्थ भद्रतीर्थ कहा जाता है। वहाँ मनुष्यों को सब प्रकार का कल्याण देनेवाले, मंगल के एकमात्र कोश, साक्षात् देवाधिदेव जनार्दन विष्णु निवास करते हैं। उस तीर्थ की सेवा करनेवाले लोगों को सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥४५-४८॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में भद्रतीर्थ-वर्णन नामक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय समाप्त ॥१६५॥

---

[१] घ. ङ. च. ०णावगतं प्रा० ।

अथ षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पतत्रितीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

पतत्रितीर्थमाख्यातं रोगघ्नं पापनाशनम् । तस्य श्रवणमात्रेण कृतकृत्यो भवेन्नरः ।।१।।
बभूवतुः कश्यपस्य सुतावरुणवीश्वरौ । संपातिश्च जटायुश्च संभवेतां तदन्वये ।।२।।
तार्क्ष्यप्रजापतेः पुत्रावरुणो गरुडस्तथा । तदन्वये च संभूतः संपातिः पतगोत्तमः ।।३।।
जटायुरिति विख्यातो ह्यपरः सोदरोऽनुजः । अन्योन्यस्पर्धया युक्तावुन्मत्तौ स्वबलेन तौ ।।४।।
संजग्मतुर्दिनकरं नमस्कर्तुं विहायसि । यावत्सूर्यस्य सामीप्यं प्राप्तौ तौ विहगोत्तमौ ।।५।।
दग्धपक्षावुभौ श्रान्तौ पतितौ गिरिमूर्धनि । बान्धवौ पतितौ दृष्ट्वा निश्चेष्टौ गतचेतसौ ।।६।।
तावद्दुःखाभिभूतोऽसावरुणः प्राह भास्करम् । तौ दृष्ट्वा त्वरुणः सूर्यं प्राहेदं पतितौ भुवि ।।
आश्वासयैतौ तिग्मांशो यावन्नैतौ मरिष्यतः ।।७।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा दिनकरो जीवयामास तौ खगौ । गरुडोऽपि तयोः श्रुत्वा अवस्थां सह विष्णुना ।।८।।
आगत्याऽऽश्वासयामास सुखं चक्रे च नारद । सर्व एव तदा जग्मुर्गङ्गां तापापनुत्तये ।।९।।

अध्याय १६६

पतत्रितीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—रोगों तथा पापों को नष्ट करनेवाला पतत्रितीर्थ नामक एक प्रसिद्ध तीर्थ है। उसके (नाम को) सुनने से ही मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। कश्यप के अरुण और गरुड़ दो पुत्र हुए। उन्हीं के कुल में सम्पाति और जटायु भी थे। तार्क्ष्य प्रजापति के पुत्र अरुण और गरुड़ हुए। उस वंश में पक्षिश्रेष्ठ संपाति भी हुआ। उसका जटायु नामसे विख्यात दूसरा छोटा सगा भाई था। वे अपने वल से उन्मत्त थे और सर्वदा परस्पर प्रतिस्पर्धा (होड़) किया करते थे। वे दोनों आकाश में सूर्यदेव को नमस्कार करने के लिए उड़े। ज्यों ही दोनों पक्षि-श्रेष्ठ सूर्य के समीप गये त्यों ही उनके पंख जल गये और वे थककर पर्वत की चोटी पर गिर पड़े। अपने वन्धुओं को मूर्च्छित और निश्चेष्ट अवस्था में गिरते देखकर अरुण को अत्यन्त दुःख हुआ। वह अरुण दुःख से कातर हो भूमि पर गिरे उन दोनों की ओर लक्ष्य करके सूर्य से बोला—'तीक्ष्ण किरण- वाले ! इन चारों को बचाइये ताकि ये मरने न पायें ।।१-७।।

ब्रह्मा बोले—दिनकर ने 'ऐसा ही हो' यह कहकर उन दोनों पक्षियों को जिला दिया। नारद ! विष्णु सहित गरुड़ ने भी उन दोनों की शोचनीय अवस्था का पता पाया और आकर उन दोनों को आश्वासन दिया और सुखी बनाया। तब सभी उसी समय ताप की शान्ति के लिए गंगा के पास गये। जटायु, अरुण, संपाति, गरुड़

जटायुश्चारुणश्चैव संपातिर्गरुडस्तथा । सूर्यो विष्णुस्तत्प्रययौ तत्तीर्थं बहुपुण्यदम् ॥१०॥
पतत्रितीर्थमाख्यातं विषघ्नं सर्वकामदम् । स्वयं सूर्यस्तथा विष्णुः सुपर्णेनारुणेन च ॥११॥
आसते गौतमीतीरे तथैव वृषभध्वजः । त्रयाणामपि देवानां स्थितेस्तत्तीर्थमुत्तमम् ॥१२॥
तत्र स्नात्वा शुचिर्भूत्वा नमस्कुर्यात्सुरानिमान् । आधिव्याधिविनुर्मक्तः स परं सौख्यमाप्नुयात् ॥१३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये पतत्रितीर्थवर्णनं नाम षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६६॥

गौतमीमाहात्म्ये सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥९७॥

अथ सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

विप्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

विप्रतीर्थमिति ख्यातं तथा नारायणं विदुः । तस्याऽऽख्यानं प्रवक्ष्यामि शृणु विस्मयकारकम् ॥१॥
अन्तर्वेद्यां द्विजः कश्चिद्ब्राह्मणो वेदपारगः । तस्य पुत्रा महाप्राज्ञा गुणरूपदयान्विताः ॥२॥
तेषां कनीयान्यो भ्राता शान्तो गुणगणैर्वृतः । आसन्दिव इति ख्यातः सर्वज्ञानो महामतिः ॥३॥

सूर्य तथा (स्वयं) विष्णु उस स्थान पर गये। इसलिए अत्यन्त पुण्य देनेवाला, विषों को दूरकरनेवाला और सव कामनाओं को पूर्ण करनेवाला वह तीर्थ पतत्रितीर्थ नाम से प्रसिद्ध हो गया। गौतमी के तीर पर उसी तीर्थ में अरुण और गरुड़ के साथ सूर्य तथा विष्णु एवं वृषभध्वज शंकर रहते हैं। तीनों देवों के रहने के कारण वह तीर्थ अति उत्तम तीर्थ हो गया है। उसमें स्नान कर पवित्र हो जो इन देवों को नमस्कार करता है, वह सम्पूर्ण आधियों और व्याधियों से छूटकर महान् सुख को प्राप्त करता है ॥८-१३॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में पतत्रितीर्थ-वर्णन नामक एक सौ छाछठवाँ अध्याय समाप्त ॥१६६॥

अध्याय १६७

विप्रतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—विप्रतीर्थ नाम से प्रसिद्ध एक तीर्थ है, जिसको नारायणतीर्थ भी कहते हैं। उसका आश्चर्य-जनक आख्यान को कहता हूँ, सुनो—ब्रह्मावर्त (गंगा और यमुना के बीच के प्रदेश) में कोई वेदों का पारदर्शी ब्राह्मण रहता था। उसके पुत्र महाबुद्धिमान्, गुण, रूप और दया से युक्त थे। उनमें छोटे भाई का नाम आसन्दिव था, जो शान्त, गुणवान्, सर्वज्ञ तथा महाबुद्धिमान् था। पिता आसन्दिव के विवाह के लिए प्रयत्न कर रहे

विवाहाय पिता तस्मा आसन्दिवाय यत्नवान् । एतस्मिन्नन्तरे रात्रौ सुप्तं तं द्विजपुत्रकम् ॥४॥
अविष्णुस्मरणं सौम्यशिरस्कमसमाहितम् । आसन्दिवं क्रूररूपा राक्षसी कामरूपिणी ॥५॥
तमादायागमच्छीघ्रं गौतम्या दक्षिणे तटे । श्रीगिरेरुत्तरे [१]पारे बहुब्राह्मणसेवितम् ॥६॥
नगरं धर्मनिलयं लक्ष्म्या निलयमेव च । तत्र राजा बृहत्कीर्तिः सर्वक्षत्रगुणान्वितः ॥७॥

तस्यामितक्षेमसुभिक्षयुक्तं, निशावसाने द्विजपुत्रयुक्ता ।
सा राक्षसी तत्पुरमाससाद, मनोज्ञरूपाणि बिभर्ति नित्यम् ॥८॥
सा कामरूपेण चरत्यशेषां, महीमिमां तेन समं द्विजेन ।
गोदावरीदक्षिणतीरभागे, वृद्धाकृतिस्तं द्विजमाह भीमा ॥९॥

राक्षस्युवाच

एषा तु गङ्गा द्विजमुख्य संध्या, उपास्यतां विप्रवरैः समेत्य ।
यथोचितं विप्रवरास्तु काले, नोपासते यत्नत एव संध्याम् ॥१०॥
नीचास्त एवाभिहिताः सुरेशैरन्त्यावसायिप्रवरास्त एते ।
अहं जनित्री तव चेति वाच्यं, नो चेदिदानीं त्वमुपैषि नाशम् ॥११॥
मद्वाक्यकर्त्ताऽसि यदि द्विजेन्द्र, सुखं करिष्ये तव यत्प्रियं च ।
पुनश्च देशं निलयं गुरूंश्च, संप्रापयिष्ये ननु सत्यमेतत् ॥१२॥

थे। इसी बीच एक रात बिना विष्णु का स्मरण किये असावधानीपूर्वक सोये उस सुन्दर सिरवाले ब्राह्मण-पुत्र आसन्दिव को एक स्वेच्छा से रूप धारण करनेवाली तथा भयंकर रूपवाली राक्षसी उठाकर गोदावरी के दक्षिण तट पर ले गयी। श्रीगिरि के उत्तर तट पर बहुत ब्राह्मणों से सुसेवित तथा धर्म का केन्द्र रूप एक नगर है, जहाँ मानो लक्ष्मी का ही आवास है। वहाँ समस्त राज-गुणों से सम्पन्न बृहत्कीर्ति नामक राजा है। रात्रि के अन्त में उसी कल्याणमय तथा धन-धान्य-सम्पन्न नगर में, नित्य मनोहर रूपों को धारण करनेवाली वह राक्षसी ब्राह्मण-पुत्र के साथ जा पहुँची। अनन्तर वह स्वेच्छा से रूप धारणकर उस द्विज के साथ सम्पूर्ण पृथ्वी पर विचरण करती हुई गोदावरी के दक्षिण तट पर आयी। वहाँ वृद्धा का रूप बनाकर वह भयानक राक्षसी ब्राह्मण से कहने लगी ॥१-९॥

राक्षसी बोली—द्विजवर्य ! यह गंगा है। ब्राह्मणों को चाहिये कि यहाँ आकर सन्ध्योपासना करें। जो विप्रवर समय पर सावधानी से सन्ध्या की उपासना नहीं करते हैं उनको देवताओं ने नीच तथा चाण्डाल तुल्य बतलाया है। मैं तुम्हारी माता हूँ—यह तुम्हें कहना पड़ेगा; अन्यथा तुम तत्क्षण मृत्यु को प्राप्त करोगे। द्विजश्रेष्ठ! यदि तुम मेरी बात मानोगे, तो सुख भोगोगे। मैं तुम्हारी कामनाओं को पूर्ण करूँगी और पुनः तुम्हें अपने देश में पहुँचाकर गुरुजनों से मिला दूँगी, यह सत्य बात है ॥१०-१२॥

---

[१] च. पादे।

ब्रह्मोवाच

स प्राह का त्वं द्विजपुंगवोऽपि, सोवाच तं राक्षसी कामरूपा ।
विश्वासयन्ती शपथैरनेकैस्तं भ्रान्तचित्तं मुनिराजपुत्रम् ॥१३॥
कङ्कालिनी नाम जगत्प्रसिद्धा, विप्रोऽसि तामाह निवेदितं यत् ।
तदेव कर्ताऽस्मि न संशयोऽत्र, यत्तत्प्रियं वच्मि करोमि चैव ॥१४॥

ब्रह्मोवाच

तद्विप्रवचनं श्रुत्वा राक्षसी कामरूपिणी । वृद्धा तथाऽपि चार्वङ्गी दिव्यालंकारभूषणा ॥१५॥
द्विजमादाय सर्वत्र मत्सुतोऽयं गुणाकरः । एवं वदन्ती सर्वत्र याति वक्ति करोति च ॥१६॥
तं विप्रं रूपसौभाग्यवयोविद्याविभूषितम् । तां च वृद्धां गुणोपेतामस्य मातेति मेनिरे ॥१७॥
तत्र द्विजवरः कश्चित्स्वां कन्यां भूषणान्विताम् । राक्षसीं तां पुरस्कृत्य प्रादात्तस्मै द्विजातये ॥१८॥
सा कन्या तं पतिं प्राप्य कृतार्थाऽस्मीत्यचिन्तयत् ।
स द्विजोऽपि गुणैर्युक्तां पत्नीं दृष्ट्वा सुदुःखितः ॥१९॥

द्विज उवाच

मामियं भक्षयेदेव राक्षसी पापरूपिणी । किं करोमि क्व गच्छामि कस्यैतत्कथयामि वा ॥२०॥
महत्संकटमापन्नं रक्षयिष्यति कोऽत्र माम् । भार्या ममेयं कल्याणी गुणरूपवयोयुता ॥
एनामप्यशुभाऽकस्माद्भक्षयिष्यति राक्षसी ॥२१॥

ब्रह्मा बोले—उस ब्राह्मण ने भी पूछा—'तुम कौन हो ?' तब वह कामरूपिणी राक्षसी अनेक शपथों से विश्वास दिलाती हुई उस भ्रान्त चित्तवाले मुनिराज-पुत्र से कहने लगी—'मैं कङ्कालिनी नाम से संसार में विख्यात हूँ।' तब ब्राह्मण ने भी उससे निवेदन किया—'तुम संदेह मत करो। जो तुम कहोगी, वही मैं करूँगा' ॥१३-१४॥

ब्रह्मा बोले—विप्र के वचन सुनकर स्वेच्छा से रूप बनानेवाली राक्षसी वृद्धा होती हुई भी सुन्दर अंगों एवं दिव्य अलंकारों से विभूषित हो गयी। फिर वह ब्राह्मण को लेकर 'यह मेरा गुणवान् पुत्र है' ऐसा कहती हुई सब जगह जाने, बोलने और (कार्य) करने लगी। लोगों ने समझा कि रूप, सौभाग्य, अवस्था तथा विद्या से सम्पन्न यह ब्राह्मण उसी सर्वगुण-सम्पन्ना वृद्धा का पुत्र है। तब एक द्विजवर ने अलंकारों से युक्त अपनी कन्या को उसी राक्षसी के आगे उस ब्राह्मण को दे दिया। उस कन्या ने पति को पाकर सोचा कि मैं कृतार्थ हो गयी; पर वह ब्राह्मण गुणवती पत्नी को देखकर अत्यन्त दुःखी हुआ ॥१५-१९॥

द्विज बोला—यह पापरूपिणी राक्षसी मुझे खा ही लेगी। क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किससे यह बात कहूँ ? महान् संकट उपस्थित हो गया है। कौन मेरी रक्षा करेगा ? यह मेरी भार्या कल्याणमयी तथा गुण, रूप एवं अवस्था से सम्पन्न है। इसे भी पापिनी राक्षसी अचानक खा डालेगी ॥२०-२१॥

ब्रह्मोवाच

एतस्मिन्नन्तरे तत्र भार्या सा गुणशालिनी । वृद्धाऽप्यतिदुराधर्षा सा गता कुत्रचित्तदा ॥२२॥
प्रश्रयावनता भूत्वा बाला चापि पतिव्रता । भर्तारं दुःखितं ज्ञात्वा पतिं प्राह रहः शनैः ॥२३॥

भार्योवाच

कस्मात्ते दुःखमापन्नं स्वामिंस्तत्त्वं वदस्व मे ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

शनैः प्रोवाच तां भार्यां यथावत्पूर्वविस्तरम् । किमकथ्यं प्रिये मित्रे कुलीनायां च योषिति ॥२५॥
भर्तृवाक्यं निशम्येदं प्रोवाच वदतां वरा ॥२६॥

भार्योवाच

अनात्मनः सर्वतोऽपि भयमस्ति गृहेष्वपि । कुतो भयं ह्यात्मवतां किं पुनर्गौतमीतटे ॥२७॥
वसतां विष्णुभक्तानां विरक्तानां विवेकिनाम् । अत्र स्नात्वा शुचिर्भूत्वा स्तुहि देवमनायम् ॥२८॥

ब्रह्मोवाच

एतदाकर्ण्य गङ्गायां स्नात्वा विगतकल्मषः । तुष्टाव गौतमीतीरे द्विजो नारायणं तथा ॥२९॥

द्विज उवाच

त्वमन्तरात्मा जगतोऽस्य नाथ, त्वमेव कर्ताऽस्य मुकुन्द हर्ता ।
त्वं पालकः पालयसे न दीनमनाथबन्धो नरसिंह कस्मात् ॥३०॥

ब्रह्मा बोले—इसी बीच (एक दिन) वह भयंकर वृद्धा कहीं चली गयी। वह गुणवती, प्रौढ़ा तथा पतिव्रता पत्नी स्वामी को दुःखित जानकर एकान्त में अत्यन्त नम्रतापूर्वक पति से धीरे-धीरे कहने लगी ॥२२-२३॥

भार्या बोली—स्वामिन् ! किससे तुम्हें दुःख हुआ है ? मुझे सही-सही बताओ ॥२४॥

ब्रह्मा बोले—प्रिये ! मित्र तथा कुलीन स्त्री से क्या गोपनीय है ? ब्राह्मण ने धीरे-धीरे विस्तारपूर्वक सब बातें बता दीं ॥२५-२६॥

भार्या बोली—अज्ञानी के लिए घर पर भी भय है। किन्तु ज्ञानियों के लिए कहीं भय नहीं है। उस पर भी गोदावरी के तट पर निवास करनेवाले विष्णु-भक्त, विरक्त तथा विवेकी पुरुषों को तो भय हो ही नहीं सकता। तुम इस (गोदावरी) में स्नान करके पवित्र होकर कल्याणदाता भगवान् की स्तुति करो ॥२७-२८॥

ब्रह्मा बोले—यह सुनकर ब्राह्मण गंगा में स्नान करके निष्पाप होकर गोदावरी के तट पर नारायण की स्तुति करने लगा ॥२९॥

द्विज बोला—नाथ ! आप ही संसार के अन्तरात्मा है। मुकुन्द ! आप ही इसके कर्त्ता, हर्ता तथा पालयिता हैं। दीनबन्धो ! नरसिंह ! आप मुझ दीन का पालन क्यों नहीं करते ? उसकी यह प्रार्थना सुनकर संसार

श्रुत्वैतत्प्रार्थनं तस्य [1]जगच्छोकनिवारणः । नारायणोऽपि तां पापां निजघान स राक्षसीम् ॥३१॥
सुदर्शनेन चक्रेण सहस्रारेण भास्वता । तस्मै प्रादाद्वरानिष्टान्प्रापयच्च[2] गुरुं प्रभुः ॥३२॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं विप्रं नारायणं विदुः । स्नानदानेन पूजाद्यैर्यत्र सिध्यति वाञ्छितम् ॥३३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये विप्रनारायणतीर्थवर्णनं नाम सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६७॥
गौतमीमाहात्म्येऽष्टनवतितमोऽध्यायः ॥९८॥

अथाष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भानुतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

भानुतीर्थमिति ख्यातं त्वाष्ट्रं माहेश्वरं तथा । ऐन्द्रं याम्यं तथाऽऽग्नेयं सर्वपापप्रणाशनम् ॥१॥
अभिष्टुत इति ख्यातो राजाऽऽसीत्प्रियदर्शनः । हयमेधेन पुण्येन यष्टुमारब्धवान्सुरान् ॥२॥

के शोक निवारण करनेवाले नारायण ने अपने चमकते हुए सहस्रों अरों (दाँतों) वाले सुदर्शन चक्र से उस राक्षसी का काम तमाम कर डाला और ब्राह्मण को वरदान देकर उसे अपने गुरुजनों के पास पहुँचा दिया। तब से लेकर वह तीर्थ विप्र तथा नारायण नाम से प्रसिद्ध हुआ, जहाँ स्नान, दान, पूजा आदि करने से अभीष्ट-सिद्धि होती है ॥३०-३३॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में तीर्थ-माहात्म्य-वर्णन-प्रसंग में विप्र-नारायण-तीर्थ वर्णन नामक
एक सौ सरसठवाँ अध्याय समाप्त ॥१६७॥

अध्याय १६८

भानुतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—समस्त पापों के नाश करनेवाले त्वाष्ट्र, माहेश्वर, ऐन्द्र, याम्य तथा आग्नेय तीर्थ भानुतीर्थ नाम से प्रसिद्ध हैं। अभिष्टुत नामक एक सुन्दर राजा था। उसने पवित्र अश्वमेध यज्ञ करना आरम्भ किया। उस

---

[1] ङ. ०गदेकपरायणः । घ. च. ०गदेकपरायणम् । ना० । [2] घ. च. ०न्प्राहिणोच्च ।

तत्रर्त्विजः षोडश स्युर्वसिष्ठात्रिपुरोगमाः । क्षत्रिये यजमाने तु यज्ञभूमिः कथं भवेत् ।।३।।
ब्राह्मणे दीक्षिते राजा भुवं दास्यति यज्ञियाम् । भूपतौ दीक्षिते दाता को भवेत्को नु याचते ।।४।।
याच्ञेयमखिलाशर्मजननी पापरूपिणी । केनाप्यतो न कार्यैव क्षत्रियेण विशेषतः ।।५।।
एवं मीमांसमानेषु ब्राह्मणेषु परस्परम् । तत्र प्राह महाप्राज्ञो वसिष्ठो धर्मवित्तमः ।।६।।

वसिष्ठ उवाच

राज्ञि दीक्षायमाणे तु सूर्यो याच्यो भुवं प्रति । देहि मे देव सवितर्यजनं देवतोचितम् ।।७।।
दैवं क्षत्रमसि ब्रह्मन्भूतनाथ नमोऽस्तु ते । याचितः सविता राज्ञा देवानां यजनं शुभम् ।।८।।
ददात्येव ततो राजन्प्रार्थयेशं दिवाकरम् ।।९।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वाऽभिष्टुतोऽपि देवदेवं दिवाकरम् । श्रद्धया प्रार्थयामास हरीशाजात्मकं रविम् ।।१०।।

राजावोच

देवानां यजनं देहि सवितस्ते नमोऽस्तु ते ।।११।।

ब्रह्मोवाच

क्षत्रं दैवं यतः सूर्यो दत्ता भूर्भूपतेस्ततः । सविता देवदेवेशो ददामीत्यभ्यभाषत ।।१२।।
एवं करोति यो यज्ञं तस्य रिष्टिर्न काचन । तथा वाजिमखे सत्रे ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।।१३।।

यज्ञ में वसिष्ठ, अत्रि आदि सोलह ऋत्विज हुए। वहाँ ब्राह्मणों में परस्पर यह विचार होने लगा कि क्षत्रिय के यजमान होने पर यज्ञभूमि की व्यवस्था कैसे की जाय; क्योंकि ब्राह्मण के यज्ञ करने पर तो क्षत्रिय यज्ञ-भूमि देते हैं, पर क्षत्रिय के यज्ञ करने पर कौन भूमि देगा ? और कौन माँगेगा ? यह याचना अत्यन्त अशुभ करनेवाली तथा पापरूपिणी कही गयी है। इसलिए विशेषकर किसी क्षत्रिय को यह यज्ञ करना ही नहीं चाहिये। (इस तरह के विवाद उपस्थित होने पर) वहाँ महापण्डित तथा धर्मवेत्ता वसिष्ठ बोले ।।१-६।।

वसिष्ठ ने कहा—राजा के दीक्षित होने पर सूर्य से भूमि की याचना की जा सकती है। जैसे—'देव ! सत्कर्मों में लोगों के प्रेरक ! देवतोचित यज्ञ-भूमि मुझे प्रदान कीजिये। ब्रह्मन् ! आप क्षत्रयों के देवता हैं। भूतनाथ! आपको नमस्कार है।' इस प्रकार राजा द्वारा याचना करने पर सूर्य अवश्य देवोचित यज्ञ-भूमि देंगे। राजन् ! इसलिए आप दिनकर की प्रार्थना करें ।।७-९।।

ब्रह्मा बोले—'ऐसा ही हो' यह कहकर राजा श्रद्धापूर्वक ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश रूप देवाधिदेव सूर्य की प्रार्थना करने लगा ।।१०।।

राजा ने कहा—दिनकर ! देवताओं के लिए यज्ञभूमि मुझे प्रदान कीजिये ! आपको नमस्कार है ।।११।।

ब्रह्मा बोले—जिसलिए सूर्य क्षत्रियों के देवता हैं, अतः देवाधिपति सूर्य ने 'मैं देता हूँ' यह कहकर राजा को यज्ञ-भूमि दे दी। इस प्रकार जो यज्ञ करता है, उसका किसी प्रकार अशुभ नहीं होता है। वेदपारंगत विप्रों द्वारा

प्रारब्धेऽभिष्टुता राज्ञा यत्रागाद्भूपतिं रविः । देवानां यजनं दातुं भानुतीर्थं तदुच्यते ॥१४॥
तं देवक्रतुमुत्कृष्टं हयमेधं सुरैर्युतम् । दैत्याश्च दनुजाश्चैव तथाऽन्ये यज्ञघातकाः ॥१५॥
ब्रह्मवेषधराः सर्वे गायन्तः सामगा इव । तेऽपि तत्र महाप्राज्ञाः प्राविशन्ननिवारिताः ॥१६॥
चमसानि च पात्राणि सोमं चषालमेव च । सोमपानं हविस्त्यागमृत्विजो भूपतिं तथा ॥१७॥
निन्दन्ति निक्षिपन्त्यन्ये हसन्त्यन्ये तथाऽसुराः । तेषां चेष्टां न जानन्ति विश्वरूपं विना मुने ॥१८॥
विश्वरूपोऽपि पितरं प्राह दैत्या इमे इति । तत्पुत्रवचनं श्रुत्वा त्वष्टा प्राह सुरानिदम् ॥१९॥

त्वष्टोवाच

गृहीत्वा वारिदर्भांश्च प्रोक्षयध्वं समन्ततः । ये निन्दन्ति मखं पुण्यं चमसं सोममेव च ॥२०॥
मया त्वपहताः सर्वे इत्युक्त्वा परिषिञ्चत ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

तथा चक्रुः सुरगणास्त्वष्टा चापि तथाऽकरोत् । भस्मीभूतास्ततः सर्वे कांदिशीकास्ततोऽभवन् ॥२२॥
हता मया महापापा इत्युक्त्वा वार्यवाक्षिपत् । ततः क्षीणायुषो दैत्याः प्रातिष्ठन्कुपितास्ततः ॥२३॥
यत्रैतत्प्राक्षिपद्वारि त्वष्टा लोकप्रजापतिः । त्वाष्ट्रं तीर्थं तदाख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ॥२४॥
त्वष्टुर्वाक्याच्च्युतान्दैत्यान्निजघान यमस्तदा । कालदण्डेन चक्रेण कालपाशेन मन्युना[1] ॥२५॥

राजा अभिष्टुत् से आरम्भ किये गये अश्वमेध यज्ञ में दिवाकर देवताओं के निमित्त यज्ञ-भूमि देने के लिए राजा के निकट पहुँचे थे, इसलिए उस स्थान का नाम भानुतीर्थ पड़ा। देवताओं से युक्त उस उत्कृष्ट अश्वमेध नामक देवयज्ञ में विघ्न डालने के लिए दैत्य, दानव तथा दूसरे यज्ञ-विघ्न-कर्त्ता जन्तु ब्राह्मणों का वेश बनाकर साम-गान करते हुए-से वहाँ आये। उन्हें प्रवेश करने से किसी ने नहीं रोका। उनमें से कोई चमस, पात्र, सोम, चषाल (यज्ञिय पशु को बाँधने के लिए काष्ठ), सोमपान, हविस्त्याग, ऋत्विज तथा राजा की निन्दा करने लगा, कोई (सामग्रियों को) फेंकने लगा और कोई हँसने लगा। उन राक्षसों के कृत्यों को सिवा विश्वरूप के और किसी ने नहीं समझा। तब विश्वरूप ने अपने पिता से कहा कि ये दैत्य हैं। पुत्र के वचन सुनकर त्वष्टा ने देवताओं से यह कहा ॥१२-१९॥

त्वष्टा बोले—कुश-जल लेकर सब ओर छिड़क दो। 'जो पवित्र यज्ञ, चमस तथा सोम की निन्दा करते हैं, वे सब मेरे द्वारा विनष्ट हों' यह कहकर सर्वत्र जल से सिञ्चन करो ॥२०-२१॥

ब्रह्मा बोले—देववृन्द तथा त्वष्टा ने भी वैसा ही किया। समस्त दैत्य भस्मसात् हो गये। उन्हें इतना भी पता नहीं रहा कि किस दिशा की ओर भागें। 'मैंने पापियों को मार दिया' कहकर त्वष्टा ने जल फेंक दिया। तब क्षीणायु दैत्यसमूह कुपित होकर भाग निकले। जिस द्वार पर लोक-प्रजापति त्वष्टा ने जल फेंका, वह अखिल पापनाशन त्वाष्ट्र तीर्थ कहलाया। त्वष्टा के वाक्य से बचे दैत्यों को यम ने क्रुद्ध होकर कालदण्ड, चक्र तथा कालपाश से मार दिया। जहाँ वे दैत्य मारे गये, उस स्थान का नाम याम्यतीर्थ पड़ा। जहाँ अग्नि में हविष्य

---

[1] ङ. मृत्युना ।

यत्र ते निहता दैत्यास्तत्तीर्थं याम्यमुच्यते । यत्राभवत्क्रतुः पूर्णो हुत्वाऽग्नौचामृतं बहु ॥२६॥
धाराभिः शरमानाभिरखण्डाभिर्महाध्वरे । यत्राभवद्धव्यवाहस्तृप्तस्तस्य ह्यभिष्टुतः ॥२७॥
अग्नितीर्थं तदाख्यातमश्वमेधफलप्रदम् । इन्द्रो मरुद्भिर्नृपति प्राहेदं वचनं शुभम् ॥२८॥
त्वं सम्राड्भविता राजन्नुभयोरपि लोकयोः । सखा मम प्रियो नित्यं भविता नात्र संशयः ॥२९॥
स कृतार्थो मर्त्यलोक इन्द्रतीर्थे च तपर्णम् । कुर्यात्पितृणां प्रीत्यर्थं यमतीर्थे विशेषतः ॥३०॥
माहेश्वरं तु तत्तीर्थं पूजितोऽभिष्टुतः शिवः । भक्तियुक्तेन विप्रैश्च सर्वकर्मविशारदैः ॥३१॥
वैदिकैर्लौकिकैश्चैव मन्त्रैः पूज्यं महेश्वरम् । नृत्यैर्गीतैस्तथा वाद्यैरमृतैः पञ्चसंभवैः ॥३२॥
उपचारैश्च बहुभिर्दण्डपातप्रदक्षिणैः । धूपैर्दीपैश्च नैवेद्यैः पुष्पैर्गन्धैः सुगन्धिभिः ॥३३॥
पूजयामास देवेशं विष्णुं शंभुं धियैकया । ततः प्रसन्नौ देवेशौ वरान्ददतुरोजसा ॥३४॥
अभिष्टुते नरेन्द्राय भुक्तिमुक्ती उभे अपि । माहात्म्यमस्य तीर्थस्य तथा ददतुरुत्तमम् ॥३५॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं शैवं वैष्णवमुच्यते । तत्र स्नानं च दानं च सर्वकामप्रदं विदुः ॥३६॥
इमानि सर्वतीर्थानि स्मरेदपि पठेत वा । विमुक्तः सर्वपापेभ्यः शिवविष्णुपुरं व्रजेत् ॥३७॥
भानुतीर्थे विशेषेण स्नानं सर्वार्थसिद्धिदम् । तत्र तीर्थे महापुण्यं तीर्थानां शतमत्र हि ॥३८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये भान्वादिशततीर्थवर्णनं नामाष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६९॥

गौतमीमाहात्म्ये नवनवतितमोऽध्यायः ॥९९॥

डालकर यज्ञ सम्पन्न किया गया और जहाँ महायज्ञ में बाण के समान अखण्ड धाराओं से अभिष्टुत् द्वारा अग्निदेव तृप्त हुए, उस स्थान का नाम अग्नितीर्थ पड़ा, जो अश्वमेध के समान फलदायक है। तब इन्द्र ने वायु के द्वारा राजा से यह शुभ वचन कहलाया कि राजन्! तुम दोनों लोक के सम्राट् होगे और मेरे प्रियपात्र बनोगे, इसमें कोई संशय नहीं। मृत्युलोक में वह व्यक्ति कृतकृत्य हो जाता है, जो इन्द्रतीर्थ में और विशेष करके यमतीर्थ में पितरों की प्रीति के लिए तर्पण करता है ॥२२-३०॥ माहेश्वर तीर्थ वह कहलाता है, जहाँ अभिष्टुत् ने शिव की पूजा की थी। जब अखिल कर्मों में निपुण विप्रों ने भक्तिपूर्वक वैदिक तथा लौकिक मन्त्रों, नृत्य, गीत, वाद्य, पञ्चामृत, अनेक उपहार, दण्डवत् प्रणाम, प्रदक्षिणा, धूप, दीप, नैवैद्य, पुष्प, गन्ध तथा सुगन्धित द्रव्यों से देवताओं के स्वामी विष्णु तथा शंकर की एक ही भाव से पूजा की तब दोनों देवेशों ने राजा अभिष्टुत् को वरदान के रूप में भोग और मोक्ष दोनों दिये तथा उस तीर्थ के माहात्म्य को भी बढ़ा दिया। तब से लेकर वह तीर्थ शैव और वैष्णव दोनों नामों से पुकारा जाता है। वहाँ स्नान तथा दान करने से समस्त कामनाओं की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति इन सव तीर्थों का स्मरण या पाठ करेगा, वह निखिल पापों से मुक्त हो शिवलोक तथा विष्णुलोक को जायेगा। विशेष करके भानुतीर्थ का स्नान समस्त कामनाओं को पूर्ण करता है। उस तीर्थ में स्नान करने से महान् पुण्य होता है। उसमें एक सौ तीर्थ वास करते हैं। ॥३१-३८॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में तीर्थ-माहात्म्यवर्णन-प्रसंग में भानु आदि सौ तीर्थों के वर्णन-नामक एक सौ अरसठवाँ अध्याय समाप्त ॥१६८॥

अथैकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भिल्लतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

भिल्लतीर्थमिति ख्यातं रोगघ्नं पापनाशनम् । महादेवपदाम्भोजयुगभक्तिप्रदायकम् ॥१॥
तत्राप्येवंविधां पुण्यां कथां शृणु महामते । गङ्गाया दक्षिणे तीरे श्रीगिरेरुत्तरे तटे ॥२॥
आदिकेश इति ख्यात ऋषिभिः परिपूजितः । महादेवो लिङ्गरूपी सदाऽऽस्ते सर्वकामदः ॥३॥
सिन्धुद्वीप इति ख्यातो मुनिः परमधार्मिकः । तस्य भ्राता वेद इति स चापि परमो ऋषिः ॥४॥
तमादिकेशं वै देवं त्रिपुरारिं त्रिलोचनम् । नित्यं पूजयते भक्त्या प्राप्ते मध्यन्दिने रवौ ॥५॥
भिक्षाटनाय वेदोऽपि याति ग्रामं विचक्षणः । याते तस्मिन्द्विजवरे व्याधः परमधार्मिकः ॥६॥
तस्मिन्गिरिवरे पुण्ये मृगयां याति नित्यशः । अटित्वा विविधान्देशान्मृगान्हत्वा यथासुखम् ॥७॥
मुखे गृहीत्वा पानीयमभिषेकाय शूलिनः । न्यस्य मांसं धनुष्कोट्यां श्रान्तो व्याधः शिवं प्रभुम् ॥८॥
आदिकेशं समागत्य न्यस्य मांसं ततो बहिः । गङ्गां गत्वा मुखे वारि गृहीत्वाऽऽगत्य तं शिवम् ॥९॥
यस्य कस्यापि पत्राणि करेणाऽऽदाय भक्तितः । अपरेण च मांसानि नैवेद्यार्थं च तन्मनाः ॥१०॥
आदिकेशं समागत्य वेदेनार्चितमोजसा । पादेनाऽऽहत्य तां पूजां मुखानीतेन वारिणा ॥११॥

अध्याय १६९

भिल्लतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—भिल्लतीर्थ रोगनाशक, पापहारी तथा शिव के चरणयुगल में भक्ति बढ़ानेवाला है। महाबुद्धिमान् ! उसके बारे में भी इस प्रकार की एक पवित्र कथा सुनो। श्रीगिरि के उत्तर प्रदेश में गंगा के दक्षिण तट पर आदिकेश नाम से प्रसिद्ध, मुनियों से परिपूजित तथा समस्त कामनादायक शिवलिंग सदा विद्यमान रहते हैं। सिन्धुद्वीप नामक मुनि परम धर्मात्मा था। उसका वेद नामक भाई भी महान् ऋषि था। वह ऋषि त्रिपुर के शत्रु तथा तीन नेत्रवाले आदिकेश नामक शंकर देव की प्रतिदिन मध्याह्न काल में पूजा किया करता था। तत्पश्चात् विद्वान् वेद भिक्षाटन करने के लिए गाँव की ओर चल देता था ॥१-५½॥ उस ब्राह्मण के चले जाने के बाद एक परम धर्मात्मा व्याध उसी पवित्र पर्वत की गुफा में नित्य शिकार करता था। विविध प्रदेशों में पर्यटन करके मृगों को मारकर शिव को जल चढ़ाने के लिए मुख में जल लेकर धनुष में मांस को लटकाकर वह श्रान्त व्याध आदिकेश नामक सर्वशक्तिमान् शिव के पास आता था। गंगा में जाकर वह मुख में जल भरकर भक्तिपूर्वक जिस-किसी वृक्ष का पत्र हाथ से तोड़ लेता था। फिर नैवेद्य के लिए मांस लेकर आदिकेश के समीप आता था और वेद द्वारा पूजित शिव को लात मारकर उसकी पूजा को नष्ट करके अपने मुख-जल से शिव को नहलाता था। तब पत्रों से शंकर की पूजा करके मांस चढ़ाता था और कहता था कि शिव ! मुझ पर प्रसन्न होइये। वह कल्याण-

स्नापयित्वा शिवं देवमर्चयित्वा तु पत्रकैः। कल्पयित्वा तु (समर्पयति) तन्मांसं शिवो मे प्रीयतामिति ॥१२॥
नैव किंचित्स जानाति शिवभक्तिं विना शुभाम्। ततो याति स्वकं स्थानं मांसेन तु यथागतम् ॥१३॥
करोत्येतादृगागत्याऽऽगत्य प्रत्यहमेव सः। तथाऽपीशस्तुतोषास्य विचित्रा हीश्वरस्थितिः ॥१४॥
यावन्नायात्यसौ भिल्लः शिवस्तावन्न सौख्यभाक्। भक्तानुकम्पितां शंभोर्मानातीतां तु वेत्ति कः ॥१५॥
संपूजयत्यादिकेशमुमया प्रत्यहं शिवम्। एवं बहुतिथे काले याते वेदश्चुकोप ह ॥१६॥
पूजां मन्त्रवतीं चित्रां शिवभक्तिसमन्विताम्। को नु विध्वंसते पापो मत्तः स वधमाप्नुयात् ॥१७॥
गुरुदेवद्विजस्वामिद्रोही वध्यो मुनेरपि। सर्वस्यापि वधार्होऽसौ शिवस्य द्रोहकृन्नरः ॥१८॥
एवं निश्चित्य मेधावी वेदः सिन्धोस्तथाऽनुजः। कस्येयं पापचेष्टा स्यात्पापिष्ठस्य दुरात्मनः ॥१९॥
पुष्पैर्वन्यभवैर्दिव्यैः कन्दैर्मूलफलैः शुभैः। कृतां पूजां स विध्वस्य ह्यन्यां पूजां करोति यः ॥२०॥
मांसेन तरुपत्रैश्च स च वध्यो भवेन्मम। एवं संचिन्त्य मेधावी गोपयित्वा तनुं तदा ॥२१॥
तं पश्येयमहं पापं पूजाकर्तारमीश्वरे। एकस्मिन्नन्तरे प्रायाद्व्याधो देवं यथा पुरा ॥२२॥
नित्यवत्पूजयन्तं तमादिकेशस्तदाऽब्रवीत् ॥२३॥

आदिकेश उवाच

भो भो व्याध महाबुद्धे श्रान्तोऽसीति पुनः पुनः। चिराय कथमायातस्त्वां विना तात दुःखितः ॥
न विन्दामि सुखं किंचित्समाश्वसिहि पुत्रक ॥२४

मयी शिवभक्ति को छोड़कर कुछ नहीं जानता था। तदुपरान्त वह मांस लेकर अपने स्थान को चला जाता था। वह प्रतिदिन ऐसा किया करता था। फिर भी शंकर उस पर प्रसन्न हो गये। क्योंकि शंकर की लीला अपरम्पार है। जब तक वह व्याध नहीं आता था तब तक शिव को चैन नहीं पड़ती थी। भक्त के ऊपर जो शंकर की निःसीम अनुकम्पा होती है, उसे कौन जानता है? ॥६-१५॥ वह प्रतिदिन उमासहित शंकर की पूजा करता था। इस प्रकार बहुत दिन बीत जाने पर वेद को क्रोध हुआ। वह कहने लगा—'शिवभक्तियुक्त तथा मन्त्रविहित मेरी अपूर्व पूजा को कौन पापी नष्ट कर देता है? मैं उसे अवश्य मारूँगा। गुरु, देवता, द्विज तथा स्वामी से द्रोह करनेवाला मुनि भी वध्य है। शिव का द्रोही मनुष्य सबके लिए वध्य है।' सिन्धु के अनुज मेधावी वेद ने ऐसा ही निश्चय किया। उसने सोचा—'कौन ऐसा पापिष्ठ तथा दुरात्मा है, जो वनीय दिव्य पुष्प, कन्द, मूल तथा पवित्र फलों से की हुई पूजा को विनष्ट करके मांस तथा वृक्ष-पत्रों से दूसरी पूजा करता है? उस पापी शिव-पूजक को मैं देखूँगा।' ऐसा सोचकर विद्वान् वेद छिपकर वहाँ स्थित हुआ। इसी बीच वह व्याध पहले की तरह वहाँ आ पहुँचा। नित्य की तरह पूजा करते हुए उस व्याध से आदिकेश ने कहा ॥१६-२३॥

आदिकेश बोले—महाबुद्धिमान् व्याध! तुम बड़े श्रान्त हो। तुम्हें आने में देरी क्यों हुई? तुम्हारे बिना मैं दुःखी हूँ। मुझे कुछ भी सुख नहीं मिल रहा है। पुत्र! मुझे आश्वस्त करो ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

तमेवं वादिनं देवं वेदः श्रुत्वा विलोक्य तु । चुकोप विस्मयाविष्टो न च किंचिदुवाच ह ॥२५॥
व्याधश्च नित्यवत्पूजां कृत्वा स्वभवनं ययौ । वेदश्च कुपितो भूत्वा आगत्येशमुवाच ह ॥२६॥

वेद उवाच

अयं व्याधः पापरतः क्रियाज्ञानविवर्जितः । प्राणिहिंसारतः क्रूरो निर्दयः सर्वजन्तुषु ॥२७॥
हीनजातिरर्किंचिज्ज्ञो गुरुक्रमविवर्जितः । सदाऽनुचितकारी चानिर्जिताखिलगोगणः ॥२८॥
तस्याऽऽत्मानं दर्शितवान्न मां किंचन वक्ष्यसि । पूजां मन्त्रविधानेन करोमीश यतव्रतः ॥२९॥
त्वदेकशरणो नित्यं भार्यापुत्रविवर्जितः । व्याधो मांसेन दुष्टेन पूजां तव करोत्यसौ ॥३०॥
तस्य प्रसन्नो भगवान्न ममेति महाद्भुतम् । शास्तिमस्य करिष्यामि भिल्लस्य ह्यपकारिणः ॥३१॥
मृदोः कोऽपि भवेत्प्रीतः कोऽपि तद्वद्दुरात्मनः । तस्मादहं मूर्ध्नि शिलः पातयेयमसंशयम् ॥३२॥

ब्रह्मोवाच

इत्युक्तवति वै वेदे विहस्येशोऽब्रवीदिदम् ॥३३॥

आदिकेश उवाच

श्वः प्रतीक्षस्व पश्चान्मे शिला पातय मूर्धनि ॥३४॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा स वेदोऽपि शिलां संत्यज्य बाहुना । उपसंहृत्य तं कोपं श्वः करोमीत्युवाच ह ॥३५॥

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार बोलते हुए शंकर को देखकर तथा उनके वचन सुनकर वेद आश्चर्य-चकित तथा क्रुद्ध हुआ। पर कुछ भी नहीं बोला। व्याध भी नित्य की तरह पूजा करके अपना घर गया। वेद कुपित होकर शंकर से आकर कहने लगा ॥२५-२६॥

वेद बोला—यह व्याध पापी, क्रिया-ज्ञान-शून्य, प्राणियों की हिंसा में निरत, क्रूर, सब जीवों के प्रति निर्दय, नीच जाति का, कुछ भी नहीं जानने वाला, गुरु-रहित, अनुचित काम करनेवाला तथा अजितेन्द्रिय है। इसको तो आपने दर्शन दिया, पर मुझे क्यों नहीं दिया ? बतलाइये। शिव ! मैं पूर्णव्रती होकर मन्त्रविहित पूजा करता हूँ। नित्य आप ही मेरे रक्षक हैं। मैं भार्या-पुत्र से भी वंचित हूँ। यह व्याध दूषित मांस से आपकी पूजा करता है। फिर भी इसके ऊपर आप प्रसन्न हुए और मेरे ऊपर नहीं। यह महान् आश्चर्य की बात है। मैं इस दुष्ट व्याध को खण्ड दूँगा। मृदु व्यक्ति का कोई भी प्रिय होता है, उसी तरह दुरात्मा का भी कोई प्रिय हो जाता है। इसलिए मैं निःसन्देह आपके मस्तक पर पत्थर पटक दूँगा।

ब्रह्मा बोले—वेद के इतना कहने पर शंकर हँसकर बोले ॥३३॥

आदिकेश ने कहा—कल तक ठहर जाओ। पश्चात् मेरे मस्तक पर पत्थर गिरा देना ॥३४॥

ब्रह्मा बोले—'ऐसा ही सही' कहकर वेद ने हाथ से शिला-खण्ड को फेंक दिया और क्रोध का परित्याग करके

ततः प्रातः समागत्य कृत्वा स्नानादिकर्म च । वेदोऽपि नित्यवत्पूजां कुर्वन्पश्यति मस्तके ॥३६॥
लिङ्गस्य सव्रणां भीमां धारां च रुधिरप्लुताम् । वेदः स विस्मितो भूत्वा किमिदं लिङ्गमूर्धनि ॥३७॥
महोत्पातो भवेत्कस्य सूचयेदित्यचिन्तयत् । मृद्भिश्च गोमयेनापि कुशैस्तं गाङ्गवारिभिः ॥३८॥
प्रक्षालयित्वा तां पूजां कृतवान्नित्यवत्तदा । एतस्मिन्नन्तरे प्रायाद्व्याधो विगतकल्मषः ॥३९॥
मूर्धानं व्रणसंयुक्तं सरक्तं लिङ्गमस्तके । शंकरस्याऽऽदिकेशस्य ददृशेऽन्तर्गतस्तदा ॥४०॥
दृष्ट्वैव किमिदं चित्रमित्युक्त्वा निशितैः शरैः । आत्मानं भेदयामास शतधा च सहस्रधा ॥४१॥
स्वामिनो वैकृतं दृष्ट्वा कः क्षमेतोत्तमाशयः । मुहुर्निनिन्द चाऽऽत्मानं मयि जीवत्यभूदिदम् ॥४२॥
कष्टमापतितं कीदृगहो दुर्विधिवैशसात्[1] । तत्कर्म तस्य संवीक्ष्य महादेवोऽतिविस्मितः ॥
ततः प्रोवाच भगवान्वेदं वेदविदां वरम् ॥४३॥

आदिकेश उवाच

पश्य व्याधं महाबुद्धे भक्तं भावेन संयुतम् । त्वं तु मृद्भिः कुशैर्वाभिर्मूर्धानं स्पृष्टवानसि ॥४४॥
अनेन सहसा ब्रह्मन्ममाऽऽत्माऽपि निवेदितः । भक्तिः प्रेमाथवा शक्तिर्विचारो यत्र विद्यते ॥
तस्मादस्मै वरान्दास्ये पश्चात्तुभ्यं द्विजोत्तम ॥४५॥

कहा—'तो कल ही करूँगा।' तब प्रातःकाल वहाँ आकर स्नान आदि कर्म से निवृत्त हो वेद ने नित्य की भाँति मस्तक पर पूजा करके देखा कि घाव से युक्त शिवलिंग में भयंकर शोणित की धारा निकल रही है। वेद बड़ा आश्चर्यित हुआ और सोचने लगा कि लिंग के मस्तक पर यह क्या हो गया। इससे तो यह सूचित होता है कि किसी का महान् उत्पात होगा। फिर मृत्तिका, गोबर, कुश तथा गंगाजल से लिंग को पवित्रकर उसने नित्य की भाँति पूजा की। इसी बीच निष्पाप व्याध वहाँ आया। लिंग के मस्तक पर घाव तथा शोणित को देखते ही वह बोल उठा—'यह क्या ?' फिर तीक्ष्ण बाणों से उसने अपने को सैकड़ों तथा सहस्रों जगह विद्ध कर दिया और कहा—'स्वामी को विकृत देखकर कौन उत्तम चित्त वाला मनुष्य इसको सहन करेगा ? मेरे जीते ही ऐसा हो गया! हाय ! दुर्भाग्यवश महान् संकट आ गया !!' इस तरह उसने अपने को बड़ा धिक्कारा। उसका यह कर्म देखकर महादेव अत्यन्त विस्मित हुए। तब भगवान् शंकर ने वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ वेद से कहा ॥३५-४३॥

आदिकेश बोले—महाबुद्धिमान् ! भक्ति-भाव से संयुक्त व्याध को देखो ! तुमने मृत्तिका या कुशों से मस्तक का स्पर्श किया। पर इसने तो मुझे अपनी आत्मा ही समर्पित कर दी। जिसकेलिए इसमें भक्ति, प्रेम अथवा शक्ति या विचार है, अतः इसको पहिले ही वर दूँगा, पश्चात् तुम्हें दूँगा ॥४४-४५॥

---

[1] घ. च. ०त् । निश्चयं तस्य तं वी० ।

ब्रह्मोवाच

वरेण च्छन्दयामास व्याधं देवो महेश्वरः । व्याधः प्रोवाच देवेशं निर्माल्यं तव यद्भवेत् ॥४६॥
तदस्माकं भवेन्नाथ मन्नाम्ना तीर्थमुच्यताम् । सर्वक्रतुफलं तीर्थं स्मरणादेव जायताम् ॥४७॥

ब्रह्मोवाच

तथेत्युवाच देवेशस्ततस्तत्तीर्थमुत्तमम् । भिल्लतीर्थं समस्ताघसंघविच्छेदकारणम् ॥४८॥
श्रीमहादेवचरणमहाभक्तिविधायकम् । अभवत्स्नानदानाद्यैर्भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥
वेदस्यापि वरान्प्रादाच्छिवो नानाविधान्बहून् ॥४९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये भिल्लतीर्थमहिमवर्णनं नामैकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६९॥

गौतमीमाहात्म्ये शततमोऽध्यायः ॥१००॥

अथ सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

चक्षुस्तीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

चक्षुस्तीर्थमिति ख्यातं रूपसौभाग्यदायकम् । यत्र योगेश्वरो देवो गौतम्या दक्षिणे तटे ॥१॥
पुरं भौवनमाख्यातं गिरिमूर्ध्न्यभिधीयते । यत्रासौ भौवनो राजा क्षत्रधर्मपरायणः ॥२॥

ब्रह्मा बोले—महेश्वर ने व्याध से वर माँगने को कहा। व्याध ने देवेश से कहा—'आपका निर्माल्य जो हो, वही मेरे नाम से तीर्थ कहलावे। उस तीर्थ के स्मरण मात्र से समस्त यज्ञों का फल प्राप्त हो ॥४६-४७॥

ब्रह्मा बोले—देवेश ने कहा 'ऐसा ही होगा।' तब से उस उत्तम तीर्थ का नाम भिल्लतीर्थ पड़ा, जो समस्त पापसमूह का नाश करनेवाला तथा शिव के चरणों में महाभक्ति प्रदान करनेवाला है। उसमें स्नान, दान आदि करने से भोग-मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं। शिव ने वेद को भी अनेक प्रकार के वरदान दिये ॥४८-४९॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में तीर्थ-माहात्म्यवर्णन-प्रसंग में भिल्लतीर्थ की महिमा का वर्णन नामक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥१६९॥

अध्याय १७०

चक्षुस्तीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—गोदावरी के दक्षिण तट पर रूप-सौभाग्य देनेवाला प्रसिद्ध चक्षुस्तीर्थ है, जहाँ योगेश्वर भगवान् रहते हैं। पर्वत शिखर पर भौवन नामक एक नगर था, जहाँ क्षत्रियधर्म में निरत भौवन नामक

तस्मिन्पुरवरे कश्चिद्ब्राह्मणो वृद्धकौशिकः । तत्पुत्रो गौतम इति ख्यातो वेदविदुत्तमः ॥३॥
तस्य मातुर्मनोदोषाद्विपरीतोऽभवद्द्विजः । सखा तस्य वणिक्कश्चिन्मणिकुण्डल उच्यते ॥४॥
तेन सख्यं द्विजस्याऽऽसीद्विषमं द्विजवैश्ययोः । श्रीमद्दरिद्रयोर्नित्यं परस्परहितैषिणोः ॥५॥
कदाचिद्गौतमो वैश्यं वित्तेशं मणिकुण्डलम् । प्राहेदं वचनं प्रीत्या रहः स्थित्वा पुनः पुनः ॥६॥

गौतम उवाच

गच्छामो धनमादातुं पर्वतानुदधीनपि । यौवनं तद्वृथा ज्ञेयं विना [1]सौख्यानुकूल्यतः ॥
धनं विना तत्कथं स्यादहो धिङ्निर्धनं नरम् ॥७॥

ब्रह्मोवाच

कुण्डलो द्विजमाहेदं मत्पित्रोपार्जितं धनम् । बह्वस्ति किं धनेनाद्य करिष्ये द्विजसत्तम ॥
द्विजः पुनरुवाचेदं मणिकुण्डलमोजसा ॥८॥

गौतम उवाच

धर्मार्थज्ञानकामानां को नु तृप्तः प्रशस्यते[2] । उत्कर्षप्राप्तिरेवैषां[3] सखे श्लाघ्या शरीरिणाम् ॥९॥
स्वेनैव व्यवसायेन धन्या जीवन्ति जन्तवः । परदत्तार्थसंतुष्टाः कष्टजीविन एव ते ॥१०॥
स पुत्रः शस्यते लोके पितृभिश्चाभिनन्द्यते । यः पैत्र्यमभिलिप्सेत न वाचाऽपि तु कुण्डल ॥११॥

राजा रहता था। उसी उत्तम नगर में वृद्धकौशिक नामक कोई ब्राह्मण रहता था। उसके वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ गौतम नामक एक पुत्र था। वह अपनी माता के मनोदोष के कारण (पिता से) विपरीत हुआ। मणिकुण्डल नामक कोई बनिया उसका मित्र था। ब्राह्मण और वैश्य की मित्रता विषम थी। चूँकि एक धनिक था और दूसरा था गरीब, फिर भी परस्पर एक-दूसरे का हित चाहता था। किसी समय गौतम ने धनी मणिकुण्डल से एकान्त में प्रेमपूर्वक यह वचन बार-बार कहा ॥१-६॥

गौतम बोला—धन कमाने के लिए पर्वत पर या समुद्र में भी हम लोग चलें। बिना सुख भोग किये जवानी व्यर्थ है। बिना धन से सुख मिलना भी तो असम्भव है। हाय ! निर्धन मनुष्य को धिक्कार है ! ॥७॥

ब्रह्मा बोले—कुण्डल ने द्विज सें कहा—'ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मेरे पिता का कमाया हुआ वहुत-सा धन है। उस धन से मैं क्या करूँगा ?' द्विज ने पुनः मणिकुण्डल से कहा ॥८॥

गौतम बोला—धर्म, अर्थ, ज्ञान और काम से कौन सन्तुष्ट होता है ? मित्र ! प्राणियों का उन्नति करते रहना ही अच्छा माना गया है। अपने ही उद्योग से जीनेवाले प्राणी का जीवन धन्य है। जो दूसरे के दिये धन से सन्तुष्ट रहता है, वह कष्टजीवी है। कुण्डल ! वही पुत्र प्रशंसनीय तथा पिता का प्रीतिपात्र होता है, जो वाणी

---

[1] घ. च. सौख्यं कुतः कुलम् ॥घ०। [2] घ. च. प्रदृश्यते। [3] क. ङ. ०वैधा स०।

स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽर्थानर्जयते सुतः । स कृतार्थो भवेल्लोके पैत्र्यं वित्तं न तु स्पृशेत् ॥१२॥
स्वयमार्ज्य सुतो वित्तं पित्रे दास्यति बन्धवे । तं तु पुत्रं विजानीयादितरो योनिकीटकः ॥१३॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा तु तद्वाक्यं ब्राह्मणस्याभिलाषिणः । तथेति मत्वा तद्वाक्यं रत्नान्यादाय सत्वरः ॥१४॥
आत्मकीयानि वित्तानि गौतमाय न्यवेदयत् । धनेनैतेन देशांश्च परिभ्रम्य यथासुखम् ॥१५॥
धनान्यादाय वित्तानि पुनरेष्यामहे[1] गृहम् । सत्यमेव वणिग्वक्ति स तु विप्रः प्रतारकः ॥१६॥
पापात्मा पापचित्तं च न बुबोध वणिग्द्विजम् । तौ परस्परमामन्त्र्य मातापित्रोरजानतोः ॥१७॥
देशाद्देशान्तरं यातौ धनार्थं तौ वणिग्द्विजौ । वणिग्घस्तस्थितं वित्तं ब्राह्मणो हर्तुमिच्छति ॥१८॥

ब्राह्मण उवाच

येन केनाप्युपायेन तद्धनं हि समाहरे । अहो पृथिव्यां [2]रम्याणि नगराणि सहस्रशः ॥१९॥
इष्टप्रदात्र्यः कामस्य देवता इव योषितः । मनोहरास्तत्र तत्र सन्ति किं क्रियते मया ॥२०॥
धनमाहृत्य यत्नेन योषिद्भ्यो यदि दीयते । भुज्यन्ते तास्ततो नित्यं सफलं जीवितं हि तत् ॥२१॥
नृत्यगीतरतो नित्यं पण्यस्त्रीभिरलंकृतः । भोक्ष्ये कथं तु तद्वित्तं वैश्यान्मद्धस्तमागतम् ॥२२॥

से भी पितृधन की लिप्सा नहीं करता है। जो अपने बाहु-बल से धन उपार्जन करता है और पैतृक संपत्ति को छूता तक भी नहीं, वही लोक में कृतार्थ होता है। जो स्वयं धन कमाकर पिता तथा बन्धुओं को देता है, उसी को पुत्र समझना चाहिये; उससे भिन्न तो योनि का कीट है। ॥९-३॥

ब्रह्मा बोले—अभिलाषा करनेवाले ब्राह्मण की यह बात सुनकर तथा उसकी बात को मानकर कुण्डल अपने रत्नों को लाकर गौतम को समर्पित करके कहने लगा—'हम लोग इस धन से सुखपूर्वक देशभ्रमण करके धन कमाकर पुनः घर लौट आयेंगे।' पापी और ठग ब्राह्मण ने कहा—'तुम ठीक कहते हो।' बनिये ने पापयुक्त चित्त-वाले ब्राह्मण को नहीं समझा। वे दोनों परस्पर सलाह करके माता-पिता को बिना जताये ही घर से निकल पड़े। बनिया और ब्राह्मण दोनों धन की कामना से देश-देशान्तर में जाने लगे। पर ब्राह्मण बनिये के हाथ से धन का अपहरण कर लेना चाहता था ॥१४-१८॥

ब्राह्मण ने कहा—जिस किसी उपाय से मुझे धन अपहरण कर लेना चाहिये। अहा ! पृथिवी पर हजारों रमणीय नगर हैं, जिनमें अभीष्ट सिद्ध करनेवाली, देवता तुल्य मनोहर कामिनियाँ रहती हैं। तो मुझे क्या करना चाहिये ? यदि प्रयत्न से धन चुराकर स्त्रियों को दूँ और उनके साथ उपभोग करूँ तो मेरा जीवन सफल हो जाय। नित्य नृत्य-गीत-परायण तथा वेश्याओं से अलंकृत होकर मैं रहूँगा। पर कैसे वैश्य के हाथ से धन को प्राप्त करूँ ? ॥१९-२२॥

---

[1] घ. च. ०ष्यावहे। [2] घ. च. रत्नानि रम्याणि च सहस्रशः। नगराणि च रम्याणि गुणयुक्तानि सर्वशः।

ब्रह्मोवाच

एवं चिन्तयमानोऽसौ गौतमः प्रहसन्निव । मणिकुण्डलमाहेदमधर्मादेव जन्तवः ॥२३॥
वृद्धिं सुखमभीष्टानि प्राप्नुवन्ति न संशयः । धर्मिष्ठाः प्राणिनो लोके दृश्यन्ते दुःखभागिनः ॥२४॥
तस्माद्धर्मेण किं तेन दुःखैकफलहेतुना ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

नेत्युवाच ततो वैश्यः सुखं धर्मे प्रतिष्ठितम् । पापे दुःखं भयं शोको दारिद्र्यं क्लेश एव च ॥
यतो धर्मस्ततो मुक्तिः स्वधर्मः किं विनश्यति ॥२६॥

ब्रह्मोवाच

एवं विवदतोस्तत्र संपरायस्तयोरभूत् । यस्य पक्षो भवेज्ज्यायान्स परार्थमवाप्नुयात् ॥२७॥
पृच्छावः कस्य प्राबल्यं धर्मिणो वाऽप्यधर्मिणः । वेदात्तु लौकिकं ज्येष्ठं लोके धर्मात्सुखं भवेत् ॥२८॥
एवं विवदमानौ तावूचतुः सकलाञ्जनान् । धर्मस्य वाऽप्यधर्मस्य प्राबल्यमनयोर्भुवि ॥२९॥
तद्वदन्तु यथावृत्तमेवमूचतुरोजसा । एवं तत्रोचिरे केचिद्ये धर्मेणानुवर्तिनः ॥३०॥
तैर्दुःखमनुभूयते पापिष्ठाः सुखिनो जनाः । संपराये धनं सर्वं जितं विप्रे न्यवेदयत् ॥३१॥
मणिमान्धर्मविच्छ्रेष्ठः पुनर्धर्मं प्रशंसति । मणिमन्तं द्विजः प्राह किं धर्ममनुशंससि ॥

ब्रह्मोवाच

तथेति चेत्याह वैश्यो ब्राह्मणः पुनरब्रवीत् ॥३२॥

ब्रह्मा बोले—यह सोचते हुए गौतम ने हँसकर मणिकुण्डल से कहा—'जीव अधर्म से ही अभीप्सित सुख को प्राप्त करते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। लोक में धर्मिष्ठ प्राणी दुःखी देखे जाते हैं। इसलिए जिसका एक दुःख ही फल है, ऐसे धर्म से क्या प्रयोजन ? ॥२३-२५॥

ब्रह्मा बोले—तब वैश्य ने कहा—'नहीं, सुख धर्म में प्रतिष्ठित है। पाप में दुःख, भय, शोक, दरिद्रता तथा क्लेश है। जहाँ धर्म है, वहीं मुक्ति है। स्वधर्म का कहीं विनाश नहीं होता है' ॥२६॥

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार विवाद करते-करते दोनों ने बाजी लगायी कि जिसका पक्ष उत्तम होगा, वह दूसरे का धन ले लेगा। लोगों से हम दोनों यह पूछें कि धर्मात्मा श्रेष्ठ होता है या अधर्मात्मा। वैदिक कर्म से लौकिक कर्म श्रेष्ठ होता है या लोक में धर्म में सुख होता है। (यहाँ प्रश्न यह है कि वैदिक कर्म श्रेष्ठ होता है या लौकिक कर्म ? धर्म से सुख मिलता है या अधर्म से ?) इस प्रकार विवाद करते हुए दोनों ने लोगों से पूछा—'पृथ्वी पर धर्म की प्रबलता है या अधर्म की ? आप लोग यथार्थतः बतलायें।' तब कुछ लोगों ने बतलाया—'जो धर्म के पथ पर हैं, वे दुःख का अनुभव करते हैं और जो पापी हैं, वे सुखी हैं।' बाजी में ब्राह्मण ने सब धन जीत लिया। फिर भी मणिकुण्डल धर्म की प्रशंसा करता रहा। तब द्विज ने मणिकुण्डल से कहा—'क्या धर्म की प्रशंसा करते हो ?' ॥२७-३१॥

ब्रह्मा बोले—वैश्य ने कहा—'मैं करूँगा।' ब्राह्मण ने फिर कहा ॥३२॥

ब्राह्मण उवाच

जितं मया धनं वैश्य निर्लज्जः किंनु भाषसे । मयैव विजितो धर्मो यथेष्टचरणात्मना ।।३३।।

ब्रह्मोवाच

तद्ब्राह्मणवचः श्रुत्वा वैश्यः सस्मित ऊचिवान् ।।३४।।

वैश्य उवाच

पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु । तथैव तान्सखे मन्ये येषां धर्मो न विद्यते ।।३५।।
चतुर्णां पुरुषार्थानां धर्मः प्रथम[1] उच्यते । पश्चादर्थश्च कामश्च स धर्मो मयि तिष्ठति ।।
कथं ब्रूषे द्विजश्रेष्ठ मया विजितमित्यदः ।।३६।।

ब्रह्मोवाच

द्विजो वैश्यं पुनः प्राह हस्ताभ्यां जायतां पणः । तथेति मन्यते वैश्यस्तौ गत्वा पुनरूचतुः ।।३७।।
पूर्ववल्लौकिकान्गत्वा जितमित्यब्रवीद्द्विजः । करौ छित्त्वा ततः प्राह कथं धर्मं तु मन्यसे ।।
आक्षिप्तो ब्राह्मणेनैवं वैश्यो वचनमब्रवीत् ।।३८।।

वैश्य उवाच

धर्ममेव परं मन्ये प्राणैः कण्ठगतैरपि । माता पिता सुहृद्बन्धुर्धर्म एव शरीरिणाम् ।।३९।।

ब्राह्मण बोला—वैश्य ! मैंने धन जीत लिया । अब बोलने में तुम्हें लाज नहीं आती ? यथेच्छ आचरण करते हुए मैंने ही धर्म को जीत लिया ।।३३।।

ब्रह्मा बोले—ब्राह्मण का वचन सुनकर वैश्य आश्चर्यित होकर बोला ।।३४।।

वैश्य बोला—सखे ! मैं उन मनुष्यों को धान्यों में पुलाक (खखरी, तुच्छ धान्य) तथा पक्षियों में क्षुद्रमक्षिका की तरह समझता हूँ, जो धर्मात्मा नहीं हैं । चारों पुरुषार्थों में पहिले धर्म ही कहा जाता है, पश्चात् अर्थ और काम । वही धर्म मुझमें विद्यमान है । द्विजश्रेष्ठ ! कैसे तुम कहते हो कि मैंने इस धर्म को जीत लिया ? ।।३५-३६।।

ब्रह्मा बोले—द्विज ने पुनः वैश्य से कहा—'तो इस बार की बाजी लगाओ ।' वैश्य ने कहा—'अस्तु' । तब दोनों व्यक्तियों ने लोगों से जाकर पूछा । लोगों ने पहिले की तरह बतलाया । ब्राह्मण ने कहा—मेरी जीत हुई ।' वैश्य ने अपने हाथ कटवा लिये । तब ब्राह्मण ने पूछा—'कहो, अब भी धर्म को मानते हो ?' ब्राह्मण का व्यंग्य वचन सुनकर वैश्य ने कहा ।।३७-३८।।

वैश्य बोला—जब तक कण्ठ में प्राण रहेगा तब तक मैं धर्म को मानूंगा । शरीरधारियों के लिए धर्म ही माता, पिता, मित्र तथा बन्धु है ।।३९।।

---

[1] घ. ०ममुच्चय० ।

ब्रह्मोवाच

एवं विवदमानौ तावर्थवान्ब्राह्मणोऽभवत् । विमुक्तो वैश्यकस्तत्र बाहुभ्यां च धनेन च ।।४०।।
एवं भ्रमन्तौ संप्राप्तौ गङ्गां योगेश्वरं हरिम् । यदृच्छया मुनिश्रेष्ठः मिथस्तावूचतुः पुनः ।।४१।।
वैश्यो गङ्गां तु योगेशं धर्ममेव प्रशंसति । अतिकोपाद्द्विजो वैश्यमाक्षिपन्पुनरब्रवीत् ।।४२।।

ब्राह्मण उवाच

गतं धनं करौ छिन्नाववशिष्टोऽसुभिर्भवान् । त्वमन्यथा यदि ब्रूष आहरिष्येऽसिना शिरः ।।४३।।

ब्रह्मोवाच

विहस्य पुनराहेदं वैश्यो गौतममञ्जसा ।।४४।।

वैश्य उवाच

धर्ममेव परं मन्ये यथेच्छसि तथा कुरु । ब्राह्मणांश्च गुरून्देवान्वेदान्धर्मं जनार्दनम् ।।४५।।
यस्तु निन्दयते पापो नासौ स्पृश्योऽथ पापकृत् । उपेक्षणीयो दुर्वृत्तः पापात्मा धर्मदूषक : ।।४६।।

ब्रह्मोवाच

ततः प्राह स कोपेन धर्मं यद्यनुशंससि । आवयोः प्राणयोरत्र पणः स्यादिति वै मुने ।।४७।।
एकमुक्ते गौतमेन तथेत्याह वणिक्तदा । पुनरप्यूचतुरुभौ लोकाँल्लोकास्तथोचिरे ।।४८।।

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार के विवाद से ब्राह्मण तो धनवान् हुआ, पर वैश्य धन तथा हाथ दोनों से वंचित हो गया। फिर इस तरह भ्रमण करते हुए दोनों गंगा के तट पर पहुँचे, जहाँ योगेश्वर हरि रहते हैं। मुनिश्रेष्ठ ! स्वेच्छा से वहाँ भी उन दोनों ने वही बात छेड़ दी। वैश्य ने गंगा, योगेश्वर तथा धर्म की ही प्रशंसा की। तब ब्राह्मण ने अत्यन्त कोप से व्यंग्य करते हुए उससे कहा ।।४०-४२।।

ब्राह्मण बोला—तुम्हारे धन तथा दोनों हाथ तो गये। अब प्राण भी गँवाना चाहते हो ? यदि इस तरह बोलोगे तो मैं तलवार से तुम्हारा सिर काट डालूँगा ।।४३।।

ब्रह्मा बोले—वैश्य ने हँसकर पुनः गौतम से यह शीघ्र कहा ।।४४।।

वैश्य ने कहा—मैं तो धर्म को ही श्रेष्ठ मानूँगा। तुम्हें जो इच्छा हो, सो करो। जो पापी मनुष्य ब्राह्मण, गुरु, देवता, धर्म, वेद तथा भगवान् की निन्दा करता है, वह पापात्मा अस्पृश्य, उपेक्षणीय, दुराचारी तथा धर्मदूषक है ।।४५-४६।।

ब्रह्मा बोले—तब द्विज ने क्रोध से कहा—'यदि तुम धर्म की प्रशंसा करते हो तो इस बार हम दोनों के प्राणों की बाजी हो।' गौतम के इतना कहने पर बनिये ने कहा—'ऐसा ही सही।' तब दोनों ने लोगों से पूछा। लोगों ने वही उत्तर दिया। तब गोदावरी के दक्षिण तट पर योगेश्वर के सामने वैश्य को पटककर द्विज ने उसकी एक आँख निकाल ली और कहा ।।४७-४८।।

योगेश्वरस्य पुरतो गौतम्या दक्षिणे तटे । तं निपात्य विशं विप्रश्चक्षुरुत्पाट्य चाब्रवीत् ॥४९॥

विप्र उवाच

गतोऽसीमां दशां वैश्य नित्यं धर्मप्रशंसया । गतं धनं गतं चक्षुश्छेदितौ करपल्लवौ ॥
पृष्टोऽसि मित्र गच्छामि मैवं ब्रूयाः कथान्तरे ॥५०॥

ब्रह्मोवाच

तस्मिन्प्रयाते वैश्योऽसौ चिन्तयामास चेतसि । हा कष्टं मे किमभवद्धर्मैकमनसो हरे ॥५१॥
स कुण्डलो वणिक्श्रेष्ठो निर्धनो गतबाहुकः । गतनेत्रः[1] शुचं प्राप्तो धर्ममेवानुसंस्मरन् ॥५२॥
एवं बहुविधां चिन्तां कुर्वन्नास्ते महीतले । निश्चेष्टोऽथ निरुत्साहः पतितः शोकसागरे ॥५३॥
दिनावसाने शर्वर्यामुदिते चन्द्रमण्डले । एकदश्यां शुक्लपक्षे तत्राऽऽयाति विभीषणः ॥५४॥
स तु योगेश्वरं देवं पूजयित्वा यथाविधि । स्नात्वा तु गौतमीं गङ्गां सपुत्रो राक्षसैर्वृतः ॥५५॥
विभीषणस्य हि सुतो विभीषण इवापरः । वैभीषणिरिति ख्यातस्तमपश्यदुवाच ह ॥५६॥
वैश्यस्य वचनं श्रुत्वा यथावृत्तं स धर्मवित् । पित्रे निवेदयामास लङ्केशाय महात्मने ॥
स तु लङ्केश्वरः प्राह पुत्रं प्रीत्या गुणाकरम् ॥५७॥

विभीषण उवाच

श्रीमान्रामो मम गुरुस्तस्य[2] मान्यः सखा मम । हनुमानिति विख्यातस्तेनाऽऽनीतो गिरिर्महान् ॥५८॥

विप्र बोला—वैश्य ! नित्य धर्म की प्रशंसा करते-करते तुम इस दशा में प्राप्त हो गये हो कि तुम्हारा धन गया, आँख गयी और हाथ भी कटे । मित्र ! अब मैं जा रहा हूँ । किन्तु इतना कह देता हूँ कि फिर तुम कभी ऐसा न बोलना ॥५०॥

ब्रह्मा बोले—उसके चले जाने पर वैश्य चिन्ता करने लगा—'हाय भगवान् ! एक धर्म में ही मन को लगाते हुए मुझे कितना कष्ट हुआ ! निर्धन, अन्ध तथा हाथों से वंचित वणिक्श्रेष्ठ कुण्डल धर्म का ही स्मरण करते-करते शोक को प्राप्त हो गया । इस प्रकार अनेक तरह की चिन्ता करते हुए वह निश्चेष्ट तथा निरुत्साह होकर शोक-सागर में डूबते हुए धरती पर गिर पड़ा । शुक्लपक्ष की एकादशी को दिन के अन्त में तथा रात्रि में चन्द्रोदय होने पर विभीषण पुत्र तथा राक्षसों से युक्त होकर वहाँ आते थे और गोदावरी में स्नान करके योगेश्वर की विधिपूर्वक पूजा करते थे । विभीषण का पुत्र वैभीषणि, जो अपर विभीषण ही था, वैश्य की ओर देखने लगा । पश्चात् उस धर्म के वेत्ता ने वैश्य का सब समाचार सुनकर अपने पिता महात्मा लंकेश से निवेदन कर दिया । लंकापति ने प्रेमपूर्वक गुणशाली पुत्र से कहा ॥५१-५७॥

विभीषण बोले—मेरे गुरु श्रीमान् राम हैं । उन्हीं का प्रियपात्र मेरा मित्र हनुमान् है । वही महान् पर्वत को ले आया था । पूर्व समय वह कार्यवश समस्त औषधियों के आश्रयभूत पर्वत को लें आया था । पुनः कार्य

---

[1] घ. ङ. च. ०नेत्रो भुवं प्रा० । [2] घ. ङ. च. ०स्तस्यामात्यः स० ।

पुरा कार्यान्तरे प्राप्ते सर्वौषध्याश्रयोऽचलः । जाते कार्ये तमादाय हिमवन्तमथागमत् ॥५९॥
विशल्यकरणी चेति मृतसंजीवनीति च । तदाऽऽनीय महाबुद्धी रामायाक्लिष्टकर्मणे ॥६०॥
निवेदयित्वा तत्साध्यं[1] तस्मिन्वृत्ते समागतः । पुनर्गिरिं समादाय आगच्छद्देवपर्वतम् ॥६१॥
तामानीयास्य हृदये निवेशय हरिं स्मरन् । ततः प्राप्स्यत्ययं सर्वमपेक्षितमुदारधीः ॥६२॥
गच्छतस्तस्य वेगेन विशल्यकरणी पुनः । अपतद्गौतमीतीरे यत्र योगेश्वरो हरिः ॥६३॥

वैभीषणिरुवाच

तामोषधीं मम पितर्दर्शयाऽऽशु विलम्ब मा । परार्तिशमनादन्यच्छ्रेयो न भुवनत्रये ॥६४॥

ब्रह्मोवाच

विभीषणस्तथेत्युक्त्वा तां पुत्रस्याप्यदर्शयत् । इषे त्वेत्यस्य वृक्षस्य शाखां चिच्छेद तत्सुतः ॥
वैश्यस्य चापि वै प्रीत्या सन्तः परहिते रताः ॥६५॥

वैभीषणिरुवाच

यत्रापतन्नगे चास्मिन्स वृक्षस्तु प्रतापवान् । तस्य शाखां समादाय हृदयेऽस्य निवेशय ॥
तत्स्पृष्टमात्र एवासौ स्वकं[2] रूपमवाप्नुयात् ॥६६॥

सम्पन्न हो जाने पर वह उसे लेकर हिमालय पर चला गया। तब उसी महाबुद्धिमान् ने विशल्यकरणी तथा मृतसंजीवनी नामक ओषधियों को लाकर अथक काम करनेवाले राम को समर्पित कर दिया और उन ओषधियों का गुण भी बतला दिया। पुनः कार्य सम्पन्न हो जाने पर हनुमान् उस पर्वत को लेकर देवपर्वत पर चला गया। तुम उसी ओषधि को लाकर हरि का स्मरण करते हुए, वैश्य के हृदय में लगा दो। तब यह उदार बुद्धिवाला व्यक्ति अपनी समस्त कामनाओं को प्राप्त करेगा। जब हनुमान् वेग से जा रहा था तब विशल्यकरणी गोदावरी के तट पर उसी जगह पर गिर पड़ी थी, जहाँ योगेश्वर हरि रहते हैं ॥५८-६३॥

वैभीषणि बोला—पिता जी ! शीघ्र वह ओषधि मुझे दिखला दीजिये ! दूसरे की पीड़ा को शान्त कर देने से जितना कल्याण होता है, उतना (कल्याण) तीनों लोक में और किसी से नहीं होता है ॥६४॥

ब्रह्मा बोले—विभीषण ने 'ठीक' कहकर पुत्र को वह ओषधि दिखा दी। तब उसके पुत्र ने वैश्य पर स्नेह के कारण 'इषे त्वा' इस मन्त्र से उस वृक्ष की एक शाखा तोड़ ली। क्योंकि सत्पुरुष दूसरे के ही कल्याण में निरत रहते हैं ॥६५॥

विभीषण बोले—इस पर्वत पर जो वह प्रतापी वृक्ष गिरा है, उसकी शाखा लाकर इसके हृदय में लगा दो। उसका स्पर्श होते ही यह अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेगा ॥६६॥

---

[1] घ. च. यत्साध्यं । [2] ङ. स्वीयं ।

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा पितुर्वाक्यं वैभीषणिरुदारधीः । तथा चकार वै सम्यक्काष्ठखण्डं न्यवेशयत् ॥६७॥
हृदये स तु वैश्योऽपि सचक्षुः सकरोऽभवत् । मणिमन्त्रौषधीनां हि वीर्यं कोऽपि न बुध्यते ॥६८॥
तदेव काष्ठमादाय धर्ममेवानुसंस्मरन् । स्नात्वा तु गौतमीं गङ्गां तथा योगेश्वरं हरिम् ॥६९॥
नमस्कृत्वा पुनरगात्काष्ठखण्डेन वैश्यकः । परिभ्रमन्नृपपुरं महापुरमिति श्रुतम् ॥७०॥
महाराज इति ख्यातस्तत्र राजा महाबलः । तस्य नास्ति सुतः कश्चित्पुत्रिका[1] नष्टलोचना ॥७१॥
सैव तस्य सुता पुत्रस्तस्यापि व्रतमीदृशम् । देवो वा दानवो वाऽपि ब्राह्मणः क्षत्रियो भवेत् ॥७२॥
वैश्यो वा शूद्रयोनिर्वा सगुणो निर्गुणोऽपि वा । तस्मै देया इयं पुत्री यो नेत्रे आहरिष्यति ॥७३॥
राज्येन सह देयेयमिति राजा ह्यघोषयत् । अहर्निशमसौ वैश्यः श्रुत्वा घोषमथाब्रवीत् ॥७४॥

वैश्य उवाच

अहं नेत्रे आहरिष्ये राजपुत्र्या असंशयम् ॥७५॥

ब्रह्मोवाच

तं वैश्यं तरसाऽऽदाय महाराज्ञे न्यवेदयत् । तत्काष्ठस्पर्शमात्रेण सनेत्राऽभून्नृपात्मजा ॥७६॥
ततः सविस्मयो राजा को भवानिति चाब्रवीत् । वैश्यो राज्ञे यथावृत्तं न्यवेदयदशेषतः ॥७७॥

ब्रह्मा बोले—पिता का यह वचन सुनकर उदार चित्तवाले वैभीषणि ने उस लकड़ी के टुकड़े कर लिये और एक टुकड़े को उसके हृदय में लगा दिया। हृदय में स्पर्श होते ही वह वैश्य नेत्र तथा हाथों से युक्त हो गया। मणि, मन्त्र तथा ओषधियों के प्रभाव को कौन जान सकता है। उसी काष्ठ-खण्ड को लेकर धर्म का स्मरण करते हुए उसने गोदावरी में स्नान किया और योगेश्वर हरि को नमस्कार करके पुनः काष्ठ-खण्ड धारण कर वहाँ से प्रस्थान कर दिया। इतस्ततः भ्रमण करते हुए वह महापुर नाम से प्रसिद्ध एक राजधानी में पहुँचा। उस नगर में महाराज नाम से प्रसिद्ध एक महा बलवान् राजा रहता था। उसके कोई पुत्र नहीं था। एक कन्या भी थी तो नेत्रों से वंचित। वही कन्या उसके पुत्र के स्थान पर थी। राजा ने नियम किया—'जो कोई देवता या दानव या ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र या गुणवान् या निर्गुणी व्यक्ति मेरी पुत्री को नेत्र प्रदान करेगा, उसी को मैं राज्य के साथ कन्या दूँगा।' वह वैश्य दिन-रात यह घोषणा सुनकर बोला ॥६७-७४॥

वैश्य ने कहा—मैं राजपुत्री को नेत्र दूँगा, इसमें कोई संशय नहीं ॥७५॥

ब्रह्मा बोले—उस वैश्य को लेकर तुरन्त राजदूत ने महाराज से निवेदन किया। उस काष्ठ का स्पर्श होते ही राजकुमारी नेत्रयुक्त हो गयी। तब राजा ने विस्मयपूर्वक उससे पूछा—'आप कौन हैं?' वैश्य ने राजा से सारी घटना निवेदन कर दी ॥७६-७७॥

---

[1] क. ङ. ०काऽस्त्यन्धलो० ।

वैश्य उवाच

ब्राह्मणानां प्रसादेन धर्मस्य तपसस्तथा । दानप्रभावाद्यज्ञैश्च विविधैर्भूरिदक्षिणैः ॥
दिव्यौषधिप्रभावेण मम सामर्थ्यमीदृशम् ॥७८॥

ब्रह्मोवाच

एतद्वैश्यवचः श्रुत्वा विस्मितोऽभून्महीपतिः ॥७९॥

राजोवाच

अहो महानुभावोऽयं प्रायो वृन्दारको भवेत् । अन्यथैतादृगन्यस्य सामर्थ्यं दृश्यते कथम् ॥
तस्मादस्मै तु तां कन्यां प्रदास्ये राजपूर्विकाम् ॥८०॥

ब्रह्मोवाच

इति संकल्प्य मनसि कन्यां राज्यं च दत्तवान् । विहारार्थं गतः स्वैरं परं खेदमुपागतः ॥८१॥
न मित्रेण विना राज्यं न मित्रेण विना सुखम् । तमेव सततं विप्रं चिन्तयन्वैश्यनन्दनः ॥८२॥
एतदेव [1]सुजातानां लक्षणं भुवि देहिनाम् । कृपार्द्रं यन्मनो नित्यं तेषामप्यहितेषु हि ॥८३॥
महानृपो वनं प्रायात्स राजा मणिकुण्डलः । तस्मिञ्शासति राज्यं तु कदाचिद्गौतमं द्विजम् ॥८४॥
हृतस्वं द्यूतकैः पापैरपश्यन्मणिकुण्डलः । तमादाय द्विजं मित्रं पूजयामास धर्मवित् ॥८५॥
धर्माणां तु प्रभावं तं तस्मै सर्वं न्यवेदयत् । स्नापयामास गङ्गायां तं सर्वाघनिवृत्तये ॥८६॥

वैश्य बोला—ब्राह्मणों की कृपा से और धर्म, तपस्या, दान, दिव्य ओषधि तथा विविध दक्षिणा सम्पन्न यज्ञों के प्रभाव से मुझे यह सामर्थ्य प्राप्त हुआ है ॥७८॥

ब्रह्मा बोले—वैश्य का यह वचन सुनकर राजा आश्चर्यचकित हुआ ॥७९॥

राजा बोला—अहा ! यह महानुभाव प्रायः देवता होगा । अन्यथा दूसरे में ऐसा सामर्थ्य कहाँ देखा है ? इसलिए इसी को राज्यसहित कन्या प्रदान करूँगा ॥८०॥

ब्रह्मा बोले—ऐसा मन में संकल्प करके राजा ने उसे कन्या तथा राज्य दे दिया । जब वह विहार करने के लिए गया तो उसे बड़ा खेद हुआ । वह सोचने लगा—'बिना मित्र के न मुझे राज्य ही सुहाता है न सुख ही ।' वैश्यपुत्र उसी ब्राह्मण की सतत चिन्ता करता था । संसार में कुलीनों का यही लक्षण होता है कि वे शत्रुओं के ऊपर भी सदैव कृपा करते रहते हैं । महाराज वन में चला गया । मणिकुण्डल ही अब राज्य-कार्य सँभालता था । राज्य पर शासन करते, किसी समय मणिकुण्डल ने उसी गौतम नामक द्विज को देखा, जिसका धन पापी जुआरियों ने हरण कर लिया था । उस ब्राह्मण मित्र को लाकर धर्मवेत्ता वैश्य ने उसकी पूजा की और धर्मों का समस्त प्रभाव उसे बतला दिया । अखिल पाप-निवृत्ति के लिए उसने द्विज को गंगा में स्नाना करवाया । गौतम,

---

[1] घ. सज्ज्रनानां ।

तेन विप्रेण सर्वैस्तैः स्वकीयैर्गोत्रजैर्वृतः । वैश्यैः स्वदेशसंभूतैर्ब्राह्मणस्य तु बान्धवैः ॥८७॥
वृद्धकौशिकमुख्यैश्च तस्मिन्योगेश्वरान्तिके । यज्ञानिष्ट्वा[1] सुरान्पूज्य ततः स्वर्गमुपेयिवान् ॥८८॥
ततः प्रभृति तत्तीर्थं मृतसंजीवनं विदुः । चक्षुस्तीर्थं[2] सयोगेशं स्मरणादपि पुण्यदम् ॥
मनःप्रसादजननं [3]सर्वदुर्भावनाशनम् ॥८९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये चक्षुस्तीर्थादिवर्णनं नाम
सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७०॥
गौतमीमाहात्म्ये एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०१॥

अथैकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

उर्वशीतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

उर्वशीतीर्थमाख्यातमश्वमेधफलप्रदम् । स्नानदानमहादेववासुदेवार्चनादिभिः ॥१॥
[4]महेश्वरो यत्र देवो यत्र शार्ङ्गधरो हरिः । प्रमतिर्नाम राजाऽऽसीत्सार्वभौमः प्रतापवान् ॥२॥

अपने वंशजों, स्वदेशोत्पन्न वैश्यों, गौतम के बान्धवों तथा श्रेष्ठ याज्ञिकों के साथ योगेश्वर के समीप यज्ञ तथा देवताओं की पूजा करके मणिकुण्डल ने स्वर्ग प्राप्त किया। तब से लेकर उस तीर्थ का नाम मृतसंजीवनी पड़ा। योगेश्वर सहित चक्षुस्तीर्थ के स्मरण करने से पुण्य, मन की प्रसन्नता तथा समस्त दुर्भावनाओं का नाश होता है ॥७१-८९॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में तीर्थ-महात्म्यकथन-प्रसंग में चक्षुस्तीर्थ आदि
का वर्णन नामक एक सौ सत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥१७०॥

अध्याय १७१

उर्वशीतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—उर्वशी नामक तीर्थ में स्नान, दान, शिव और विष्णु की पूजा करने से अश्वमेध यज्ञ का फल, प्राप्त होता है, वहाँ शंकर तथा शार्ङ्गग नामक धनुष धारण करनेवाले हरि रहते हैं। (पूर्व काल में) प्रमति नामक

---

[1] घ. च. ०ष्ट्वा प्रजाः पूज्य। [2] घ. ०र्थं च यो०। [3] ङ ०र्वदुःखविना०। [4] घ. च. मृगेश्वरो। ङ. मृडेश्वरो।

रिपूञ्जित्वा जगामाऽऽशु इन्द्रलोकं सुरैर्वृतम् । तत्रापश्यत्सुरपतिं मरुद्भिः सह नारद ॥३॥
जहासेन्द्रं पाशहस्तं प्रमतिः क्षत्रियर्षभः । तं हसन्तमथाऽऽलक्ष्य हरिः प्रमतिमब्रवीत् ॥४॥

इन्द्र उवाच

देवालये महाबुद्धे मरुद्भिः क्रीडितैरलम् । दिशो जित्वा दिवं प्राप्तः कुरु क्रीडां मया सह ॥५॥

ब्रह्मोवाच

सकषायं हरिवचो निशम्य प्रमतिर्नृपः । तथेत्युवाच देवेन्द्रं निष्कृतिं कां तु मन्यसे ॥
तच्छ्रुत्वा प्रमतेर्वाक्यं सुरराण्नृपमब्रवीत् ॥६॥

इन्द्र उवाच

उर्वश्येव पणोऽस्माकं प्राप्या या निखिलैर्मखैः ॥७॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वेन्द्रवचनं प्रमतिः प्राह गर्वितः । उर्वशीं निष्कृतिं मन्ये त्वं राजन्किं नु[1] मन्यसे ॥८॥
यद्ब्रवीषि सुरेशान तन्मन्येऽहं शतक्रतो । [2]प्राहेन्द्रं प्रमतिस्तद्वन्निष्कृत्यै दक्षिणं करम् ।
सवर्म सशरं धर्म्यं देहि[3] (मन्ये) दीव्यामहे[4] वयम् ॥९॥

ब्रह्मोवाच

तावेवं संविदं कृत्वा देवनायोपतस्थतुः । प्रमतिर्जितवांस्तत्र उर्वशीं दैवतस्त्रियम् ॥१०॥

एक प्रतापी तथा चक्रवर्ती राजा रहता था। वह एक बार, शत्रुओं को जीतकर देवताओं से घिरे हुए इन्द्रलोक को गया। नारद ! वहाँ उसने मरुद्गण के साथ इन्द्र को देखा। हाथ में पासा लिये हुए इन्द्र को देखकर क्षत्रियश्रेष्ठ प्रमति ने हँस दिया। हँसते हुए प्रमति को देखकर इन्द्र ने उससे कहा ॥१-४॥

इन्द्र बोले—महाबुद्धिमान् ! देवलोक में मरुतों के साथ मैंने बहुत खेल किया। आप समस्त दिशाओं को जीतकर स्वर्ग आये हैं। इसलिए अब आप मेरे साथ क्रीड़ा करें ॥५॥

ब्रह्मा बोले—इन्द्र के सप्रेम वचन को सुनकर राजा प्रमति ने इन्द्र से कहा—'तो इसमें आप बाजी क्या लगाते हैं ?' प्रमति की बात सुनकर इन्द्र ने कहा ॥६॥

इन्द्र बोले—उर्वशी की ही मैं बाजी लगाता हूँ, जो अखिल यज्ञों के करने से मिलती है ॥७॥

ब्रह्मा बोले—इन्द्र की यह बात सुनकर प्रमति गर्व से बोला—'उर्वशी की बाजी मुझे स्वीकार है।' तब इन्द्र ने पूछा—'राजन् ! आप क्या बाजी रखते हैं ?' उसने कहा—'इन्द्र आप जो कहें, मैं वही रखने के लिए तैयार हूँ।' इन्द्र ने कहा—'मैं यह चाहता हूँ कि आप कवच, बाण तथा धनुष सहित अपने दाहिने हाथ को रखें ॥८-९॥

ब्रह्मा बोले—वे दोनों इस तरह बाजी रखकर जुआ खेलने लगे, जिसमें प्रमति ने देवाङ्गनी उर्वश को जीत लिया। उसे जीतकर प्रमति ने अभिमानपूर्वक इन्द्र से कहा ॥१०॥

---

[1] क. न । [2] ङ. प्रायच्छत्प्रम० । [3] घ. देव । [4] क. घ. च. तव ।

प्रमतिरुवाच

निष्कृत्यै पुनरन्यन्मे पश्चाद्दीव्ये त्वया विभो ॥११॥

इन्द्र उवाच

देवयोग्यमथो वज्रं जैत्रं सरथमुत्तमम् । दीव्येऽहं तेन नृपते करेणाप्यविचारयन् ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

स गृहीत्वा तदा पाशानन्यांश्च मणिभूषितान् । जितमित्यब्रवीच्छक्रं प्रमतिः प्रहसंस्तदा ॥१३॥
एतस्मिन्नन्तरे प्रायादक्षज्ञस्तत्र नारद । विश्वावसुरिति ख्यातो गन्धर्वाणां महेश्वरः ॥१४॥

विश्वावसुरुवाच

गन्धर्वविद्यया राजंस्तया दीव्यामहे त्वया । तथेत्युक्त्वा स नृपतिर्जितमित्यब्रवीत्तदा ॥१५॥
तां जित्वा नृपतिर्मौर्ख्याद्देवेन्द्रं प्राह कश्मलम्[1] ॥१६॥

प्रमतिरुवाच

रणे वा देवने वाऽपि न त्वं जेता कथंचन । महेन्द्र सततं तस्मादस्मदाराधको भव ॥
वद केन प्रकारेण जाता देवेन्द्रता तव ॥१७॥

ब्रह्मोवाच

तथा प्राहोर्वशीं गर्वाद्गच्छ कर्मकरी भव । उर्वशी प्राह देवेषु यथा वर्ते तथा त्वयि ॥
वर्तेयं सर्वभावेन न मां धिक्कर्तुमर्हसि ॥१८॥

प्रमति बोला—भगवन् ! अब दूसरी बाजी लगाइये ॥११॥

इन्द्र ने कहा—देव के योग्य जयशील वज्र तथा उत्तम रथ को मैं शर्त पर रखता हूँ। राजन् ! आपके हाथ को भी इस बार मैं रखवाना नहीं चाहता हूँ ॥१२॥

ब्रह्मा बोले—तब प्रमति ने मणिभूषित दूसरे पासे लेकर फेंके और से हँसकर कहा—मेरी जीत हुई।' नारद ! इसी बीच जुआ खेलने में निपुण गन्धर्वों का स्वामी विश्वावसु वहाँ आ पहुँचा ॥१३-१४॥

विश्वावसु ने कहा—'राजन् ! गन्धर्व-विद्या की बाजी रखकर मैं आपसे जुआ खेलना चाहता हूँ।' राजा ने स्वीकार कर पासा फेंका और कहा—'मेरी जीत हुई।' प्रमति ने दोनों को जीतकर मूर्खतावश इन्द्र से कहा ॥१५-१६॥

प्रमति बोला—महेन्द्र ! न युद्ध में और न जुए में तुम किसी तरह मुझे जीत सके। इसलिए तुम सतत मेरी पूजा किया करो और यह भी बतलाओ कि तुम इन्द्र कैसे बन गये ॥१७॥

ब्रह्मा बोले—उसी तरह उर्वशी से भी उसने गर्व से कहा—'तुम जाओ और मेरी नौकरी करो।' उर्वशी ने उससे कहा—'मैं जैसे देवताओं के साथ व्यवहार करती हूँ, उसी तरह आपके भी साथ करूँगी। आप मुझे फटकारिये मत' ॥१८॥

---

[1] क. काश्यपम् ।

ब्रह्मोवाच

ततस्तां प्रमतिः प्राह त्वादृश्यः सन्ति चारिकाः । त्वं किं विलज्जसे भद्रे[1] गच्छ कर्मकरी भव ।।१९।।
एतच्छ्रुत्वा नृपेणोक्तं गन्धर्वाधिपतिस्तदा । चित्रसेन इति ख्यातः (प्राह) सुतो विश्वावसोर्बली ।।२०।।

चित्रसेन उवाच

दीव्येऽहं वै त्वया राजन्सर्वेणानेन भूपते । राज्येन जीवितेनापि मदीयेन तवापि च ।।२१।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा पुनरुभौ चित्रसेननृपोत्तमौ । दीव्येतामभिसंरब्धौ चित्रसेनोऽजयत्तदा ।।२२।।
गान्धर्वैस्तं महापाशैर्बबन्ध नृपतिं तदा । चित्रसेनोऽजयत्सर्वमुर्वशीमुख्यतः पणैः ।।२३।।
राज्यं कोशं बलं चैव यदन्यद्वसु किंचन । चित्रसेनस्य तज्जातं यदासीत्प्रमतेर्धनम् ।।२४।।
तां जित्वा प्रमतिः प्राह संरम्भात्तं शतक्रतुम् ।।२५।।

प्रमतिपुत्र उवाच

किं मे पित्रा कृतं पापं क्व वा बद्धो महामतिः । कथमेष्यति स्वं स्थानं कथं पाशैर्विमोक्ष्यते ।।२६।।

ब्रह्मोवाच

सुमतेर्वचनं श्रुत्वा ध्यात्वा स मुनिसत्तमः । मधुच्छन्दा जगादेदं[2] प्रमतेर्वर्तनं तदा ।।२७।।

ब्रह्मा बोले—तब प्रमति ने उर्वशी से कहा—'भद्रे ! तुम्हारी जैसी मेरी अनेक परिचारिकाएँ हैं। तुम क्यों लज्जा करती हो ? जाओ, मेरा काम करो ।' राजा की यह बात सुनकर गन्धर्वों के स्वामी विश्वावसु के पुत्र बलवान् चित्रसेन ने कहा ।।१९-२०।।

चित्रसेन बोला—राजन् ! मैं सब कुछ की बाजी लगाकर आपसे जुआ खेलना चाहता हूँ। मैं अपने तथा आपके राज्य एवं जीवन की बाजी लगाना चाहता हूँ ।।२१।।

ब्रह्मा बोले—राजा ने कहा—'ऐसा ही सही ।' फिर चित्रसेन और राजा ने खेलना आरम्भ कर दिया। चित्रसेन की विजय हुई। तब उसने गन्धर्व-पाश में राजा को बाँध दिया। चित्रसेन ने बाजी में उर्वशी आदि सबको जीत लिया। प्रमति का राज्य, कोश, सेना, धन आदि जो कुछ भी था, सबको चित्रसेन ने जीत लिया। तब प्रमति के पुत्र ने, जो बिलकुल बालक ही था, अपने पुरोहित विश्वामित्र के पुत्र महापण्डित मधुच्छन्दा से पूछा ।।२२-२५।।

प्रमति का पुत्र बोला—मेरे महाबुद्धिमान् पिता ने कौन-सा पाप किया ? कहाँ बाँधे गये ? कैसे पाश से विमुक्त होकर अपने स्थान पर आयेंगे ।।२६।।

ब्रह्मा बोले—सुमति के वचन को सुनकर मुनिश्रेष्ठ मधुच्छन्दा ने ध्यान करके प्रमति के बारे में कहना आरम्भ किया ।।२७।।

---

[1] ङ. ०द्रे त्वं तु क० । [2] घ. च. ०दं सुमतिं वचनं त० ।

मधुच्छन्दा उवाच

देवलोके तव पिता बद्ध आस्ते महामते । कैतवैर्बहुदोषैश्च भ्रष्टराज्यो बभूव ह ॥२८॥
यो याति कैतवसभां स चापि क्लेशभाग्भवेत् । द्यूतमद्यामिषादीनि व्यसनानि नृपात्मज ॥२९॥
पापिनामेव जायन्ते सदा पापात्मकानि हि । एकैकमप्यनर्थाय पापाय नरकाय च ॥३०॥
यानासनाभिलापाद्यैः कृतैः कैतववर्तिभिः । कुलीनाः कलुषीभूताः किं पुनः कितवो जनः ॥३१॥
कितवस्य तु या जाया तप्यते नित्यमेव सा । स चापि कितवः पापो योषितं वीक्ष्य तप्यते ॥३२॥
तां दृष्ट्वा विगतानन्दो नित्यं वदति पापकृत् । अहो संसारचक्रेऽस्मिन्मया तुल्यो न पातकी ॥३३॥
न किंचिदपि यस्याऽऽस्ते लोके विषयजं सुखम् । लोकद्वयेऽपि न सुखी कितवः कोऽपि दृश्यते ॥३४॥
विभाति च तथा नित्यं लज्जया दग्धमानसः । गतधर्मो निरानन्दो ग्रस्तगर्वस्तथाऽटति ॥३५॥
अकैतवी च या वृत्तिः सा प्रशस्ता द्विजन्मनाम् । कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमपि कुर्यान्न कैतवम् ॥३६॥
यस्तु कैतववृत्त्या हि धनमाहर्तुमिच्छति । धर्मार्थकामाभिजनैः सा विमुच्येत पौरुषात् ॥३७॥
वेदेऽपि दूषितं कर्म तव पित्रा तदाऽऽदृतम् । तस्मात्किं कुर्महे वत्स यदुक्तं ते विधीयते ॥३८॥
विधातृविहितं मार्गं को नु वाऽत्येति पण्डितः ॥३९॥

ब्रह्मोवाच

एतत्पुरोधसो वाक्यं श्रुत्वा सुमतिरब्रवीत् ॥४०॥

मधुच्छन्दा बोले—महाधीमान् ! देवलोक में तुम्हारे पिता बाँधे हुए हैं। अनेक दोषों से युक्त द्यूतकर्म (जुआ) करने से वे राज्यच्युत हो गये। जो कोई भी द्यूतसभा में जाता है, वह अवश्य दुःख पाता है। नृपपुत्र ! द्यूत, मद्य, मांस आदि पापरूपी व्यसन पापियों के लिए ही हैं। इनमें से एक भी अनर्थ, तथा पाप नरक के लिए पर्याप्त है। जुआरियों के साथ चलने, बैठने तथा वार्तालाप करने से कुलीन व्यक्ति भी दूषित हो जाते हैं, और जो जुआरी ही हैं, उसके विषय में तो कहना ही क्या ? जुआरी की जो स्त्री होती है, वह सदा अनुताप करती है। वह पापी जुआरी भी स्त्री को देखकर पश्चात्ताप करता है। स्त्री को देखकर वह पापी आनन्दशून्य होकर कहने लगता है—'हाय ! इस संसार-चक्र में मेरे जैसा पातकी कोई नहीं है।' लोक में ऐसा कोई नहीं है, जिसे विषयजन्य सुख नहीं मिलता है। पर जुआरियों के लिए दोनों लोक में भी सुख नहीं है। वह नित्य लज्जा से दग्धचित्त बना रहता है और धर्म तथा आनन्द से शून्य होकर मदमत्त की तरह घूमता है। द्विजातियों के लिए छल-रहित वृत्ति ही प्रशस्त मानी गयी है। छल से खेती, गोरक्षा तथा व्यापार भी नहीं करना चाहिये। जो छल-वृत्ति से धन उपार्जन करना चाहता है, वह धर्म, अर्थ, काम, कुटुम्ब तथा पुरुषत्व से वंचित हो जाता है। वेद में भी जो कर्म दूषित माना गया है, वही तुम्हारे पिता ने किया। वत्स ! इसलिए हम लोग क्या करें ? तुम जो कहो, वही कर दें। भला कौन विद्वान् विधाता के मार्ग का उल्लंघन कर सकता है ? ॥२८-३९॥

ब्रह्मा बोले—पुरोहित का यह वाक्य सुनकर सुमति बोला ॥४०॥

सुमतिरुवाच

किं कृत्वा प्रमतिस्तातः पुना राज्यमवाप्नुयात् ।।४१।।

ब्रह्मोवाच

पुनर्ध्यात्वा मधुच्छन्दाः सुमतिं चेदमब्रवीत् ।।४२।।

मधुच्छन्दा उवाच

गौतमीं याहि वत्स त्वं तत्र पूजय शंकरम् । [1]अदितिं वरुणं विष्णुं ततः पाशाद्विमोक्ष्यते ।।४३।।

ब्रह्मोवाच

तथेत्युक्त्वा जगामाऽऽशु गङ्गां नत्वा जनार्दनम् । पूजयामास शंभुं च तपस्तेपे यतव्रतः ।।४४।।
सहस्रमेकं वर्षाणां बद्धं पितरमात्मनः । मोचयामास देवेभ्यः पुना राज्यमवाप सः[2] ।।४५।।
शिवे (हरी) शाभ्यां मुक्तपाशो राज्यं प्राप सुतात्स्वकात् । अवाप्य विद्यां गान्धर्वीं प्रियश्चाऽऽसीच्छतक्रतोः ।।४६।।
शांभवं वैष्णवं चैव उर्वशीतीर्थमेव च । ततः प्रभृति तत्तीर्थं कैतवं चेति विश्रुतम् ।।४७।।
शिवविष्णुसरिन्मातुः प्रसादादाप्यते न किम् । तत्र स्नानं च दानं च बहुपुण्यफलप्रदम् ।।
पापपाशविमोक्षं तु सर्वदुर्गतिनाशनम् ।।४८।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये उर्वश्यादितीर्थवर्णनं नामैकसप्त्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१७१।।
गौतमीमाहात्म्ये द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१०२।।

सुमति ने कहा—क्या करने से पिता प्रमति पुनः राज्य प्राप्त करेंगे ? ।।४१।।

ब्रह्मा बोले—फिर ध्यान करके मधुच्छन्दा ने सुमति से कहा ।।४२।।

मधुच्छन्दा बोले—वत्स ! तुम गोदावरी जाओ और वहाँ शंकर, अदिति, वरुण तथा विष्णु की पूजा करो । तब तुम्हारे पिता पाश से मुक्त हो जायेंगे ।।४३।।

ब्रह्मा बोले—'अस्तु' कहकर सुमति ने शीघ्र ही गंगा के लिए प्रस्थान कर दिया । वहाँ पहुँचकर वह गंगा को प्रणाम कर विष्णु तथा शंकर की पूजा करके नियमपूर्वक तप करने लगा । एक हजार वर्षों तक तपस्या करके उसने अपने पिता को देव-बन्धन से मुक्त किया । तब प्रमति ने अपने पुत्र से पुनः राज्य तथा शिव एवम् विष्णु की भक्ति प्राप्त की । वह गन्धर्व-विद्या को प्राप्त कर इन्द्र का प्रियपात्र बना । तब से उस तीर्थ का नाम शांभव, वैष्णव, उर्वशीतीर्थ एवम् कैतवतीर्थ भी पड़ा । शिव, विष्णु तथा गंगा की कृपा से क्या नहीं प्राप्त हो सकता है ? वहाँ स्नान तथा दान करने से बहुत पुण्य, पाप तथा बन्धन से मुक्ति और समस्त दुर्गतियों का नाश होता है ।।४४-४८।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में तीर्थमाहात्म्य-कथन-प्रसंग में उर्वशी आदि तीर्थ-वर्णन नामक एक सौ एकहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ।।१७१।।

१घ. आदित्यं । २घ. सः । दिवे ।

अथ द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

सामुद्रतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

सामुद्रं तीर्थमाख्यं सर्वतीर्थफलप्रदम् । तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि शृणु नारद तन्मनाः ॥१॥
विसृष्टा गौतमेनासौ गङ्गा पापप्रणाशनी । लोकानामुपकारार्थं प्रायात्पूर्वार्णवं प्रति ॥२॥
आगच्छन्ती देवनदी कमण्डलुधृता मया । शिरसा च धृता देवी शंभुना परमात्मना ॥३॥
विष्णुपादात्प्रसूतां तां ब्राह्मणेन महात्मना । आनीतां मर्त्यभवनं स्मरणादघनाशनीम् ॥४॥
गुरोर्गुरुतमां सिन्धुर्दृष्ट्वा कृत्यमचिन्तयत् । या वन्द्या जगतामीशा ब्रह्मेशाद्यैर्नमस्कृता ॥५॥
तामहं प्रतिगच्छेयं नो चेत्स्याद्धर्मदूषणम् । आगच्छन्तं महात्मानं यो मोहान्नोपतिष्ठते ॥६॥
न तस्य कोऽपि त्राताऽस्ति पापिनो लोकयोर्द्वयोः । एवं विमृश्य रत्नेशो मूर्तिमान्विनयान्वितः ॥
कृताञ्जलिपुटो गङ्गामाहेदं सरितांपतिः ॥७॥

सिन्धुरुवाच

[1]रसातलगतं वारि पृथिव्यां यन्नभस्तले । तन्मामेवात्र विशतु नाहं वक्ष्यामि किंचन ॥८॥

अध्याय १७२

सामुद्रतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—सामुद्रतीर्थ समस्त तीर्थों का फलदायक है। उसका स्वरूप-वर्णन मैं करूँगा। नारद ! आप ध्यान से सुनिये। गौतम से त्यक्त होकर अखिलपापनाशिनी गंगा लोगों के उपकार के लिए पूर्व-समुद्र की ओर चल पड़ी। आती हुई उस देवनदी को मैंने कमण्डलु में धारण कर लिया और परमात्मा शंकर ने उसे अपने सिर पर अवस्थित किया। विष्णु के चरण से निकली हुई उस पापनाशिनी देवी को महातमा ब्राह्मण मृत्युलोक में ले आये। उस सर्वश्रेष्ठा देवी को देखकर समुद्र अपने कर्तव्य की चिन्ता करने लगा कि जो भगवती संसार की पूजनीया तथा ब्रह्मा, शिव आदि देवताओं की प्रणम्या है, उससे मुझे संगम करना पड़ेगा। इसमें धर्मदोष तो नहीं है; क्योंकि जो मोहवश, आते हुए महात्मा का सत्कार नहीं करता है, उस पापी का सरक्षक दोनों लोक में कोई सन्तान नहीं होता है। ऐसा सोचकर मानो नम्रता की मूर्ति धारण कर रत्नाकर ने हाथ जोड़कर गंगा से कहा ॥१-७॥

समुद्र बोला—पाताल में, पृथिवी पर तथा आंकाश में जो जल है, वह मुझमें ही प्रविष्ट हो। (बस, इतना ही) और मैं कुछ नहीं कहूँगा। मैं रत्न, अमृत, पर्वत, राक्षस, देवता तथा दूसरे जीवों को धारण करता हूँ। मेरे

---

[1] घ. ङ. च. ०लभवं वा०।

मयि रत्नानि पीयूषं पर्वता राक्षसासुराः । एतानप्यखिलानन्यान्भीमान्संधारयाम्यहम् ॥९॥
ममान्तः कमलायुक्तो विष्णुः स्वपिति नित्यदा । ममाशक्यं न किमपि विद्यते सचराचरे ॥१०॥
महत्यभ्यागते कुर्यात्प्रत्युत्थानं न यो मदात् । स धर्मादिपरिभ्रष्टो निरयं तु समाप्नुयात् ॥११॥
न तान्मे बिभ्रतः खेदो विनाऽगस्त्यपराभवात् । किंतु त्वं गौरवेणैषामतिरिक्ता ततस्त्वहम् ॥१२॥
ब्रवीमि देवि गङ्गे मां त्वं साम्यात्संगता भव । नैकरूपामहं शक्तः संगन्तुं बहुधा यदि ॥१३॥
सङ्गमेष्यसि देवि त्वं संगच्छेऽहं न चान्यथा । गङ्गे समेष्यसि यदि बहुधा तद्विचारये[1] ॥१४॥

ब्रह्मोवाच

तमेवंवादिनं सिन्धुमपामीशं तदाऽब्रवीत् । गङ्गा सा गौतमी देवी कुरु चैतद्वचो मम ॥१५॥
सप्तर्षीणां च या भार्या अरुन्धतिपुरोगमाः । भर्तृभिः सहिताः सर्वा आनय त्वं तदा त्वहम् ॥१६॥
अल्पभूता भविष्यामि ततः स्यां तव संगता । तथेत्युक्त्वा सप्तर्षीणां भार्याभिर्ऋ (श्चऋ) षिभिर्वृतः[2] (ताः) ॥१७॥
आनयामास तां (ता) देवी सप्तधा सा व्यभज्यत । सा चेयं गौतमी गङ्गा सप्तधा सागरं गता ॥१८॥
सप्तर्षीणां तु नाम्ना तु सप्त गङ्गास्ततोऽभवन् । तत्र स्नानं च दानं च श्रवणं पठनं तथा ॥१९॥

भीतर लक्ष्मीयुक्त विष्णु सदा शयन करते हैं। संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो मुझसे असाध्य हो। महान् व्यक्ति के आने पर जो अभिमान से उठता नहीं है, वह धर्म आदि से भ्रष्ट होकर नरक में जाता है। उन चीजों को धारण करने से मुझे खेद नहीं होता है, यदि खेद होता है तो केवल एक अगस्त्य द्वारा पराजय से। किन्तु तुम अपनी महत्ता के कारण इनसे अतिरिक्त हो। इसलिए, देवि ! गंगे ! मैं कहता हूँ कि तुम समान होने के कारण मुझसे संगम करो। तुम जब तक एक रूप में रहोगी तब तक मैं तुमसे संगम करने में असमर्थ रहूँगा। पर यदि तुम अनेक रूप धरकर संगम करोगी तो मैं संगम कर पाऊँगा, अन्यथा नहीं। गंगे ! सोचो, जिससे कि तुम अनेक रूप बनाकर संगम कर सको ॥८-१४॥

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार बोलते हुए जल के स्वामी समुद्र से उस गौतमी देवी गंगा ने कहा—'तो मेरी यह बात करो कि सप्तर्षियों की अरुन्धती आदि जो भार्याएँ हैं, उनको पतियों के सहित ले आओ। तब मैं सीमित हो जाऊँगी, जिससे तुम्हारे साथ मेरा संगम हो जायगा।' 'ऐसा ही सही' कहकर समुद्र ऋषि पतियों सहित सप्तर्षियों की भार्याओं को ले आया। तब गंगा सात भागों में विभक्त हो गयी। वही यह गौतमी गंगा है, जो सात भागों में बँटकर समुद्र से मिल गयी। तब सप्तर्षियों के नाम से सात गंगाएँ हुईं। वहाँ स्नान, दान, श्रवण तथा पाठ करने से या स्मरण

---

[1] घ. ङ. च. ०रय। त०। [2] क. ०र्वृताम्। आ०। घ. ०र्वृतम्। आ०।

स्मरणं चापि यद्भक्त्या सर्वकामप्रदं भवेत् । नास्मादन्यत्परं तीर्थं समुद्राद्भुवनत्रये ॥
पापहानौ भुक्तिमुक्तिप्राप्तौ च मनसो मुदे ॥२०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये सप्तधागोदावरीसमुद्रागमनवर्णनं नाम
द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७२॥

अथ त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमेश्वरतीर्थवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

ऋषिसत्रमिति ख्यातमृषयः सप्त नारद । निषेदुस्तपसे यत्र यत्र भीमेश्वरः शिवः ॥१॥
तत्रेदं वृत्तमाख्यास्ये देवर्षिपितृबृंहितम् । शृणु यत्नेन वक्ष्यामि सर्वकामप्रदं शुभम् ॥२॥
सप्तधा व्यभजन्गङ्गामृषयः सप्त नारद । वासिष्ठी दाक्षिणेयी स्याद्वैश्वामित्री तदुत्तरा ॥३॥
वामदेव्यपरा ज्ञेया गौतमी मध्यतः शुभा । भारद्वाजी स्मृता चान्या आत्रेयी चेत्यथापरा ॥४॥
जामदग्नी तथा चान्या व्यपदिष्ट तु सप्तधा । तैः सर्वैर्ऋषिभिस्तत्र यष्टुमिष्टैर्महात्मभिः ॥५॥

करने से भी समस्त कामनाएँ पूरी होती हैं। पापों को नष्ट करने में और भुक्ति, मुक्ति तथा मन को प्रसन्नता देने में इस समुद्र से बढ़कर तीनों लोक में कोई तीर्थ नहीं है ॥१५-२०॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में तीर्थमाहात्म्यकथनप्रसंग में सातों गंगाओं के समुद्र-मिलन-वर्णन
नामक एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥१७२॥

अध्याय १७३

भीमेश्वरतीर्थ का वर्णन

ब्रह्मा बोले—नारद ! उस तीर्थ का नाम ऋषिसत्र है, जहाँ तप करने के लिए सातों ऋषि अवस्थित हुए थे और जहाँ भीमेश्वर शिव रहते हैं। वहाँ देवर्षियों और पितरों द्वारा जो वृत्तान्त हुआ था उसे मैं बतलाऊँगा। उस अखिल कामनादायक एवम् पवित्र वृत्तान्त को ध्यान से सुनिये। नारद ! सप्तर्षियों ने गंगा को सात भागों में विभक्त कर दिया। दक्षिण दिशा में वासिष्ठी हुई और उत्तर में वैश्वामित्री। वामदेव तीसरी हुई और मध्य में पवित्र गौतमी हुई। इनके अतिरिक्त भारद्वाजी, आत्रेयी एवम् जामदग्नी हुई। इस प्रकार गंगा सात भागों में बँट गयी। वहाँ उन महात्मा तथा भविष्यदर्शी सप्तर्षियों ने महासत्र नामक यज्ञ करना आरम्भ किया। इसी बीच देवताओं

निष्पादितं महासत्रमृषिभिः पारदर्शिभिः । एतस्मिन्नन्तरे तत्र देवानां प्रबलो रिपुः ॥६॥
विश्वरूप इति ख्यातो मुनीनां सत्रमभ्यगात् । ब्रह्मचर्येण तपसा तानाराध्य यथाविधि ॥
विनयेनाथ पप्रच्छ ऋषीन्सर्वाननुक्रमात् ॥७॥

विश्वरूप उवाच

ध्रुवं सर्वे यथाकामं मम स्वास्थ्येन हेतुना । यथा स्याद्बलवान्पुत्रो देवानामपि दुर्धरः ॥
यज्ञैर्वा तपसा वाऽपि मुनयो वक्तुमर्हथ ॥८॥

ब्रह्मोवाच

तत्र प्राह महाबुद्धिर्विश्वामित्रो महामनाः ॥९॥

विश्वामित्र उवाच

कर्मणा तात लभ्यन्ते फलानि विविधानि च । त्रयाणां कारणानां च कर्म प्रथमकारणम् ॥१०॥
ततश्च कारणं कर्ता ततश्चान्यत्प्रकीर्तितम् । उपादानं तथा बीजं न च कर्म विदुर्बुधाः ॥११॥
कर्मणां कारणत्वं च कारणे पुष्कले सति । भावाभावौ फले दृष्टौ तस्मात्कर्माश्रितं फलम् ॥१२॥
कर्मापि द्विविधं ज्ञेयं क्रियमाणं तथा कृतम् । कर्त्तव्यं क्रियमाणस्य साधनं यद्यदुच्यते ॥१३॥
तद्भावाः कर्मसिद्धौ च उभयत्रापि कारणम् । यद्यद्भावयते जन्तुः कर्म कुर्वन्विचक्षणः ॥१४॥
तद्भावनानुरूपेण फलनिष्पत्तिरुच्यते । करोति कर्म विधिवद्विना भावनया यदि ॥१५॥
अन्यथा स्यात्फलं सर्वं तस्य भावानुरूपतः । तस्मात्तपो व्रतं दानं जपयज्ञादिकाः क्रिया ॥१६॥

का प्रबल शत्रु विश्वरूप मुनियों के यज्ञस्थल में आ गया । ब्रह्मचर्य तथा तपस्या से विधिपूर्वक मुनियों की क्रमशः आराधना करके उसने नम्रता के साथ उनसे प्रश्न किया ॥१-७॥

विश्वरूप ने कहा—मेरी स्वस्थता के कारण जिस उपाय से—यज्ञ या तप करने से—बलवान् एवम् देवताओं से भी अजेय पुत्र मुझे उत्पन्न हो, वह आप लोग बतलायें ॥८॥

ब्रह्मा बोले—उनमें से महाबुद्धिमान् तथा महामनस्वी विश्वामित्र ने कहा ॥९॥

विश्वामित्र बोले—तात ! कर्म से अनेक प्रकार के फल प्राप्त होते हैं । तीन कारणों में कर्म ही प्रथम कारण माना जाता है । उसके बाद कारण, कर्ता तथा दूसरी वस्तु कही जाती है । विद्वान् लोग उपादान कारण एवम् बीज को कर्म नहीं मानते हैं । कारणों के आधिक्य होने पर ही कर्मों में कारणत्व माना जाता है । कर्म के दो फल होते हैं—एक भाव और दूसरा अभाव । इसलिए कर्म-फल कर्म के अधीन है । कर्म भी दो प्रकार का माना गया है—एंक क्रियमाण और दूसरा कृंत । कर्तव्य क्रियमाण का साधन कहा जाता है । कर्त्तव्य की भावना कर्म तथा उसकी सिद्धि में कारण होती है । विद्वान् मनुष्य जिस भावना से कर्म करता है, उसी भावना के अनुरूप उसे फल मिलता है । जो बिना भावना के विधिपूर्वक कर्म करता है, उसे अपनी भावना के प्रतिकूल फल मिलता है । इसलिए तप,

कर्मणस्त्वनुरूपेण फलं दास्यन्ति भावतः । तस्माद्भावानुरूपेण कर्म वै दास्यते फलम् ॥१७॥
भावस्तु त्रिविधो ज्ञेयः सात्त्विको राजसस्तथा । तामसस्तु तथा ज्ञेयः फलं कर्मानुसारतः ॥१८॥
भावनानुगुणं चेति विचित्रा कर्मणां स्थितिः । तस्मादिच्छानुसारेण भावं कुर्याद्विचक्षणः ॥१९॥
पश्चात्कर्मापि कर्तव्यं [1]फलदाताऽपि तद्विधम् । फलं ददाति फलिनां [2]फले यदि प्रवर्तते ॥२०॥
कर्मकारो न तत्रास्ति कुर्यात्कर्म स्वभावतः । तदेव चोपदानादि सत्त्वादिगुणभेदतः ॥२१॥
भावात्प्रारभते तद्वद्भावैः फलमवाप्यते । धर्मार्थकाममोक्षाणां कर्म चैव हि कारणम् ॥२२॥
भावस्थितं भवेत्कर्म मुक्तिदं बन्धकारणम् । स्वभावानुगुणं कर्म स्वस्यैवेह परत्र च ॥२३॥
फलानि विविधान्याशु[3] करोति समतानुगम्[4] । एक एव पदार्थोऽसौ भावैर्भेदः प्रदृश्यते ॥२४॥
क्रियते भुज्यते वाऽपि तस्माद्भावो विशिष्यते । यथाभावं कर्म कुरु यथेप्सितमवाप्स्यसि ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

एतच्छ्रुत्वा ऋषेर्वाक्यं विश्वामित्रस्य धीमतः । तपस्तप्त्वा बहुकालं तामसं भावमाश्रितः ॥२६॥
विश्वरूपः कर्म भीमं चकार सुरभीषणम् । पश्यत्सु ऋषिमुख्येषु वार्यमाणोऽपि नित्यशः ॥२७॥
आत्मकोपानुसारेण भीमं कर्म तथाऽकरोत् । भीषणे कुण्डखाते तु भीषणे जातवेदसि ॥२८॥

व्रत, दान, जप, यज्ञ आदि क्रियाएँ भावना के अनुरूप कर्मफल देती हैं। अतः भावना के अनुसार ही कर्म का फल प्राप्त होता है। भाव तीन प्रकार का होता है—एक सात्त्विक, दूसरा राजस और तीसरा तामस। फल कर्म तथा भावना के अनुसार मिलता है। कर्मों की स्थिति विचित्र है। इसलिए विद्वान् मनुष्य इच्छा के अनुसार भाव करे। पश्चात् कर्म भी करना चाहिये। फलदाता भी कर्मकर्ता को भावना के अनुरूप ही फल देते हैं। वस्तुतः कर्मकर्त्ता अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करता है। वही कर्म उपादान आदि कारणों और सत्त्व आदि गुणों के भेद के कारण भाव से प्रारंभ होता है। और उसी तरह भाव से फल प्राप्त होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का कारण कर्म ही है। भावनायुक्त कर्म मोक्ष भी देता है और बन्धन का कारण भी होता है। अपनी भावना के अनुसार किया गया कर्म इस लोक में तथा परलोक में शीघ्र ही विविध फलों को देता है। एक ही पदार्थ भावों के भेद से भिन्न हो जाता है। अर्थात् एक ही पदार्थ बनाया जाता है और खाया भी जाता है। इसलिए भाव विशिष्ट माना गया है। जैसी भावना से कर्म करोगे वैसा फल पाओगे ॥१०-२५॥

ब्रह्मा बोले—धीमान् विश्वामित्र मुनि की यह बात सुनकर विश्वरूप ने तामस भाव का अवलम्बन लेकर चिरकाल तक तप किया और देवताओं को डरानेवाला भयानक कर्म किया। ऋषिगण उसका कर्म देखते थे और नित्य उसे मना भी करते थे। फिर भी अपने क्रोध के अनुसार वह भयंकर कर्म करता ही रहा। वह भयानक कुण्ड

१घ. फलं तत्रापि । २क. ङ. फलेच्छैव । च. फलेच्छीव । ३क. घ. च. ०न्याहुः क० । ४क. ममतातुरम् ।

भीषणं रौद्रपुरुषं ध्यात्वाऽऽत्मानं गुहाशयम् । एवं तपन्तमालक्ष्य वागुवाचाशरीरिणी ॥२९॥
जटाजूटं विनाऽऽत्मानं[1] नच वृत्रो व्यजीयत । वृथाऽऽत्मानं विश्वरूपो जुहुयाज्जातवेदसि (?) ॥३०॥
स एवेन्द्रः स वरुणः स च स्यात्सर्वमेव च । [2]त्यक्त्वाऽऽत्मानं[3] जटामात्रं [4]हुतवान्वृजिनोद्भवः ॥३१॥
वृत्र इत्युच्यते वेदे[5] स चापि[6] वृजिनोऽभवत् । भीमस्य महिमानं को जानाति जगदीशितुः ॥३२॥
सृजत्यशेषमपि यो न च सङ्गेन लिप्यते । विररामेति संकीर्त्य सा वाण्येनं मुनीश्वराः ॥३३॥
भीमेश्वरं नमस्कृत्य जग्मुः स्वं स्वमथाऽऽश्रमम् । विश्वरूपो महाभीमो भीमकर्ता तथाकृतिः ॥३४॥
भीमभावो भीमतनुं ध्यात्वाऽऽत्मानं जुहाव ह । तस्माद् भीमेश्वरो देवः पुराणे परिपठ्यते ॥
तत्र स्नानं च दानं च मुक्तिदं नात्र संशयः ॥३५॥

इति पठति शृणोति यश्च भक्त्या, विबुधपतिं शिवमत्र भीमरूपम् ।
जगति विदितमशेपापहारिस्मृतिपदशरणेन[7] मुक्तिदश्च (?) ॥३६॥
गोदावरी तावदशेषपापसमूहहन्त्री परमार्थदात्री ।
सदैव सर्वत्र विशेषतस्तु, यत्राम्बुराशिं समनुप्रविष्टा ॥३७॥
स्नात्वा तु तस्मिन्सुकृती शरीरी, गोदावरीवारिधिसंगमे यः ।
उद्धृत्य तीव्रान्निरयादशेषात्स पूर्वजान्याति[8] पुरं पुरारेः ॥३८॥

में भयंकर अग्नि में हवन करता था और हृदयस्थित आत्मा का दारुण पुरुष के रूप में ध्यान करता था। इस प्रकार तप करते हुए विश्वरूप को देखकर आकाशवाणी ने कहा—'शिव के बिना वृत्र ने आत्मा को नहीं जीता। विश्वरूप व्यर्थ ही अग्नि में आत्मा की आहुति देगा। वही इन्द्र, वही वरुण और वही सब कुछ है। वृजिन के पुत्र ने आत्मा को छोड़कर जटामात्र की आहुति दी थी। वेद में जो वृत्र कहा गया है वह वृजिन से इतर नहीं है। संसार के स्वामी भीमपुरुष की महिमा को कौन जानता है? भयंकर भाववाले विश्वरूप ने भयंकर शरीर का ध्यान करके आत्मा की आहुति दी। इसलिए भीमेश्वर देव पुराणों में पढ़े जाते हैं। वहाँ स्नान तथा दान करने से निःसन्देह मुक्ति मिलती है ॥२६-३५॥ जो मनुष्य देवताओं के स्वामी तथा जगद्विदित भीम रूपवाले शिव के इस आख्यान का श्रवण तथा पाठ करेगा, उसके समस्त पाप नष्ट हो जायेंगे और मोक्ष मिलेगा। गोदावरी सब जगह अशेष-पाप-हारिणी तथा मोक्ष देनेवाली है। पर उस जगह तो और भी फल देती है, जहाँ वह समुद्र में प्रविष्ट हुई है। जो धर्मात्मा मनुष्य गंगासागरसंगम में स्नान करता है, वह भयंकर नरक से पितरों का उद्धार करके शिवलोक को जाता है।

---

[1] ङ. ०नं तव पुत्रोऽभ्यजायत । तथाऽऽत्मा० । [2] घ. च. ०क्त्वाऽऽत्मनो ज० । [3] क. ०टामौलि हवनाद्वृजिनोऽभवत् । [4] घ. ०त्रं हवनाद्व्रजितो भवान् । वृ० । च. ०त्रं हवनाद्वृजिनोद्भव । वृ० । [5] क. वेदैः । ङ. देवः । [6] घ. ०पि व्रजितोऽभ० । च. ०पि व्रजिनोऽभ० । [7] क. ०रणमुक्तिदश्च पुंसाम् । गो० । [8] घ. ०ति पदं मुरा० ।

वेदान्तवेद्यं यदुपासितव्यं, तद्ब्रह्म साक्षात्खलु भीमनाथः ।
दृष्टे हि तस्मिन्न पुनर्विशन्ति, शरीरिणः संसृतिमुग्रदुःखाम् ॥३९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये ऋषिसत्रभीमेश्वरतीर्थवर्णनं नाम
त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१७३॥
गौतमीमाहात्म्ये चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥१०५॥

अथ चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गंगासागरसंगमवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

सा संगता पूर्वमपांपतिं तं, गङ्गा सुराणामपि वन्दनीया ।
देवैश्च सर्वैरनुगम्यमाना, संस्तूयमाना मुनिभिर्मरुद्भिः ॥१॥
वसिष्ठजाबालिसयाज्ञवल्क्यक्रत्वङ्गिरोदक्षमरीचिवैष्णवाः[1] ।
शातातपः शौनकदेवरातभृग्वग्निवेश्यात्रिमरीचिमुख्याः ॥२॥
सुधूतपापा मनुगौतमादयः, सकौशिकास्तुम्बरुपर्वताद्याः ।
अगस्त्यमार्कण्डसपिप्पलाद्याः, सगालवा योगपरायणाश्च ॥३॥

वेदान्त से जानने योग्य एवम् उपासना करने योग्य जो ब्रह्म है, वह साक्षात् भीमनाथ है। उसके दर्शन हो जाने पर मनुष्य उग्र दुःख देनेवाले इस संसार में पुनः प्रवेश नहीं करते हैं ॥३६-३९॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में तीर्थमाहात्म्य-कथन-प्रसंग में ऋषि सत्र भीमेश्वरतीर्थ-वर्णन नामक
एक सौ तेहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥१७३॥

अध्याय १७४

गंगा और सागर के संगम का वर्णन

ब्रह्मा बोले—जिसकी देवगण वन्दना करते हैं, मुनि तथा मरुद्गण स्तुति करते हैं और समस्त देवता अनुगमन करते हैं, वह गंगा समुद्र में जाकर मिल गयी ॥१॥ वसिष्ठ, जाबालि, याज्ञवल्क्य, क्रतु, अङ्गिरा, दक्ष, मरीचि, वैष्णव, शातातप, शौनक, देवरात, भृगु, अग्निवेश्य, अत्रि, निष्पाप मनु, गौतम आदि, कौशिक, तुम्बरु, पर्वत आदि। अगस्त्य, मार्कण्ड, पिप्पलाद, गालव, योगपरायण वामदेव, अङ्गिरा आदि, भार्गव, स्मृतियों में प्रवीण, वेद-पुराणों

---

[1] क. घ. च. ०चिबिष्णवः। शा०।

सवामदेवाङ्गिरसोऽथ भार्गवाः, स्मृतिप्रवीणाः श्रुतिभिर्मनोज्ञाः ।
सर्वे पुराणार्थविदो बहुज्ञास्ते गौतमीं देवनदीं तु गत्वा ॥४॥
स्तोष्यन्ति मन्त्रैः श्रुतिभिः प्रभूतैर्हृद्यैश्च तुष्टैर्मुदितैर्मनोभिः ।
तां संगतां वीक्ष्य शिवो हरिश्च, आत्मानमादर्शयतां मुनिभ्यः ॥५॥
तथाऽमराऽस्तौ पितृभिश्च दृष्टौ, स्तुवन्ति देवौ सकलार्तिहारिणौ ॥६॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतो लोकपालकाः । कृताञ्जलिपुटाः सर्वे स्तुवन्ति हरिशंकरौ ॥७॥
संगमेषु प्रसिद्धेषु नित्यं सप्तसु नारद । समुद्रस्य च गङ्गाया नित्यं देवौ प्रतिष्ठितौ ॥८॥
गौतमेश्वर आख्यातो यत्र देवो महेश्वरः । नित्यं संनिहितस्तत्र माधवो [१]रमया सह ॥९॥
ब्रह्मेश्वर इति ख्यातो मयैव स्थापितः शिवः । लोकानामुपकारार्थमात्मनः कारणान्तरे ॥१०॥
चक्रपाणिरिति ख्यातः स्तुतो देवैर्मया सह । तत्र संनिहितो विष्णुर्देवैः सह मरुद्गणैः ॥११॥
ऐन्द्रतीर्थमिति ख्यातं तदेव हयमूर्धकम् । हयमूर्धा तत्र विष्णुस्तन्मूर्धनि सुरा अपि ॥
सोमतीर्थमिति ख्यातं यत्र सोमेश्वरः शिवः ॥१२॥
इन्द्रस्य सोमश्रवसो देवैश्च ऋषिभिस्तथा । प्रार्थितः सोम एवाऽऽदाविन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥१३॥
सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः ।
देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभिरक्ष न इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥१४॥

के तत्त्वज्ञाता एवम् बहुज्ञाता मुनिवृन्द देवनदी गोदावरी के निकट जाकर प्रफुल्ल चित्त से वेदमन्त्रों द्वारा उनकी स्तुति करने लगे ॥२-४½॥ गंगा का संगम देखकर शिव और हरि ने मुनियों को दर्शन दिया । पितर तथा देवगण सकल पीड़ाओं को हरनेवाले उन दोनों देवों की स्तुति करने लगे ॥५-६॥ आदित्य, वसु, रुद्र, मरुत् तथा लोकपाल हाथ जोड़कर हरि और शंकर की स्तुति करने लगे ॥७॥ नारद ! समुद्र तथा गंगा के सातों प्रसिद्ध संगमों में नित्य हरि-हर वास करते हैं । जहाँ गौतमेश्वर नाम से प्रसिद्ध शिव रहते हैं वहाँ लक्ष्मी सहित विष्णु भी रहते हैं ॥८-९॥ लोगों के उपकार के लिए मैंने ही ब्रह्मेश्वर नामक शिव की स्थापना की । फिर अपने दूसरे कारण से चक्रपाणि नामक शिव की स्थापना करके मैंने देवताओं के साथ उनकी स्तुति की । वहाँ मरुद्गणों के साथ विष्णु वास करते हैं । ऐन्द्रतीर्थ नाम से प्रसिद्ध एक हयमूर्धक नामक तीर्थ है, जहाँ हयमूर्धा नामक विष्णु और देवगण वास करते हैं । सोमतीर्थ नाम से प्रसिद्ध एक तीर्थ है, जहाँ सोमेश्वर शिव वास करते हैं ॥१०-१२॥ सोमश्रवा नामक इन्द्र के यज्ञ में देवता तथा ऋषियों ने सोम से प्रार्थना की—'सोम ! इन्द्र के लिए आप क्षरण करें । सात दिशाओं, अनेक सूर्यों, सात होताओं, ऋत्विजों, देवों एवम् आदित्यों से आप हमारी रक्षा करें और इन्द्र के लिए क्षरण करें । राजन् ! सोम ! आपका जो पक्व हविष् है, उससे हमारी रक्षा करें । शत्रु हमारा पार न पाये, कुछ बिगाड़े नहीं और आप

---

[१] क. घ. च. मायया ।

यत्ते राजञ्छृतं हविस्तेन सोमाभिरक्ष नः ।
अराती वा मा नस्तारीन्मो च नः किंचनाममदिन्द्रायेन्दो परिस्रव ।१५।।
ऋषे मन्त्रकृता स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन्गिरः ।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिरिन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।१६।।
कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियोवसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।१७।।

एवमुक्त्वा च ऋषिभिः सोमं प्राप्य च वज्रिणे । तेभ्यो दत्त्वा ततो यज्ञः पूर्णो जातः शतक्रतोः ।।१८।।
तत्सोमतीर्थमाख्यातमाग्नेयं पुरतस्तु तत्[1] । अग्निरिष्ट्वा महायज्ञैर्मामाराध्य मनीषितम् ।।१९।।
संप्राप्तवान्मत्प्रसादादहं तत्रैव नित्यशः । स्थितो लोकोपकारार्थं तत्र विष्णुः शिवस्तथा ।।२०।।
तस्मादाग्नेयमाख्यातमादित्यं तदनन्तरम् । यत्राऽऽदित्यो वेदमयो नित्यमेति उपासितुम् ।।२१।।
रूपान्तरेण मध्याह्ने द्रष्टुं मां शंकरं हरिम् । नमस्कार्यस्तत्र सदा मध्याह्ने सकलो जनः ।।२२।।
रूपेण केन सविता समायातीत्यनिश्चयात् । तस्मादादित्यमाख्यातं बार्हस्पत्यमनन्तरम् ।।२३।।
[2]बृहस्पतिः सुरैः पूजां तस्मात्तीर्थादवाप ह । ईजे च यज्ञान्विविधान्बार्हस्पत्यं ततो विदुः ।।२४।।
तत्तीर्थस्मरणादेव ग्रहशान्तिर्भविष्यति । तस्मादप्यपरं तीर्थमिन्द्रगोपे नगोत्तमे ।।२५।।

इन्द्र के लिए परिक्षरण करें। ऋषे ! कश्यप ! मन्त्रकारों के स्तोमों से वाणी को बढ़ाइये। वृक्षों के पति सोम राजा को नमस्कार है। चन्द्र ! इन्द्र के लिए आप परिक्षरण करें। हम ऋषि, पिता, यज्ञब्रह्मा तथा बालुका में यवों को कूटनेवाली माता हैं। जैसे गायें गोष्ठ में परिचरण करती हैं वैसे अनेक कर्म करनेवाले तथा धन की इच्छा करनेवाले हम लोग विचरण करते हैं। चन्द्र ! आप इन्द्र के लिए क्षरण करें।।१३-१७।। ऋषियों ने इस प्रकार प्रार्थना करके इन्द्र के लिए सोम को प्राप्त किया। फिर इन्द्र ने ऋषियों को देखकर यज्ञ सम्पन्न किया। उसी का नाम सोमतीर्थ पड़ा। उससे आगे आग्नेयतीर्थ है। अग्नि ने महायज्ञों द्वारा विष्णु की अराधना की और मेरी कृपा से उनकी प्राप्ति भी की। वहाँ लोगों के उपकार के लिए विष्णु और शिव नित्य वास करते हैं।।१८-२०।। इसीलिए उनका नाम आग्नेय पड़ा। उसके बाद आदित्यतीर्थ है, जहाँ वेदमय आदित्य नित्य उपसना करने के लिए आते हैं और मध्याह्न काल में स्वरूप बदलकर मेरे, शंकर और हरि के दर्शन करते हैं। किस रूप में सूर्य आते हैं—यह अनिश्चित है। इसलिए वहाँ मध्याह्न काल में समस्त प्राणियों को नमस्कार करे। इसी कारण उस तीर्थ का नाम आदित्य पड़ा। उसके आगे बार्हस्पत्यतीर्थ है ।।२१-२३।। वहाँ बृहस्पति ने देवताओं द्वारा पूजित होकर बहुत से यज्ञ किये। इसलिए वह तीर्थ बार्हस्पत्य कहलाया।।२४।। उस तीर्थ के स्मरणमात्र से ग्रहशान्ति हो जाती है। उसके आगे इन्द्रगोपनामक उत्तम पर्वत पर एक दूसरा तीर्थ है ।।२५।। किसी कारण वहाँ महालिङ्ग (शंकर) की

---

[1] क. यत् । [2] घ. ०तिः सूर्यपू० ।

प्रतिष्ठितं महालिङ्गं कस्मिंश्चित्कारणान्तरे । हिमालयेन तत्तीर्थमद्रितीर्थं तदुच्यते ॥२६॥
तत्र स्नानं च दानं च सर्वकामप्रदं शुभम् । एव सा गौतमी गङ्गा ब्रह्माद्रेश्च विनिःसृता ॥२७॥
यावत्सागरगा देवी तत्र तीर्थानि कानिचित् । संक्षेपेण मयोक्तानि रहस्यानि शुभानि च ॥२८॥

वेदे पुराणे ऋषिभिः प्रसिद्धा, या गौतमी लोकनमस्कृता च ।
वक्तुं कथं तामतिसुप्रभावामशेषतो नारद कस्य शक्तिः ॥२९॥
भक्त्या प्रवृत्तस्य यथाकथंचिन्नैवापराधोऽस्ति न संशयोऽत्र ।
तस्माच्च दिङ्मात्रमतिप्रयासात्संसूचितं लोकहिताय तस्याः ॥३०॥

कस्तस्याः प्रतितीर्थं तु प्रभावं वक्तुमीश्वरः । अपि लक्ष्मीपतिर्विष्णुरलं सोमेश्वरः शिवः ॥३१॥
क्वचित्कस्मिंश्च तीर्थानि कालयोगे भवन्ति हि । गुणवन्ति महाप्राज्ञ गौतमी तु सदा नृणाम् ॥३२॥
सर्वत्र सर्वदा पुण्या को न्वस्या गुणकीर्तनम् । वक्तुं शक्तस्ततस्तस्यै नम [1]इत्येव युज्यते ॥३३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये गङ्गासागरसंगमवर्णनं नाम चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७४॥

गौतमीमाहात्म्ये पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०५॥

प्रतिष्ठा हुई । हिमालय से सम्बद्ध होने के कारण उसका नाम अद्रितीर्थ पड़ा । वहाँ स्नान, दान करने से समस्त कामनाएँ सिद्ध होती हैं । इस प्रकार गौतमी गंगा ब्रह्मपर्वत से निकली है और जब तक वह देवी समुद्र से मिलती है, इस बीच में जितने तीर्थ पड़ जाते हैं, उनका रहस्य संक्षेप में मैंने बतला दिया ॥२६-२८॥ नारद ! वेदों और पुराणों में ऋषियों ने जिस गोदावरी की प्रशंसा की है और जो त्रिभुवनप्रणम्या है, उस महामहिमामयी देवी का अशेष वर्णन भला कौन कर सकता है ? ॥२९॥ उसके यथाकथंचित् वर्णन करने में मैं भक्ति-भाव से प्रवृत्त हुआ हूँ । निःसन्देह, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है । इसलिए लोकहित के लिए मैंने उसके दिग्दर्शनमात्र कराने का प्रयास किया है ॥३०॥ कौन उसके तीर्थों का प्रभाव वर्णन कर सकता है ? लक्ष्मीपति विष्णु तथा सोमेश्वर शिव भी वर्णन करने में असमर्थ हैं । महापंडित ! तीर्थ किसी स्थान में किसी अवसर पर गुण-सम्पन्न होते हैं । पर गोदावरी तो मनुष्यों के लिए सर्वत्र गुणसम्पन्ना एवम् पुण्यदायिका है । उसके गुणों का वर्णन कौन कर सकता है ? अतः उसे प्रणाम कर लेना ही उचित है ॥३१-३३॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में तीर्थमाहात्म्यकथनप्रसंग में गंगासागर-वर्णन नामक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥१७४॥

---

[1] क. ङ. ०वमुच्यते ।

अथ पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तीर्थादीनां चातुर्विध्यादिनिरूपणम्

नारद उवाच

त्रिदैवत्यां सुरेशान गङ्गां ब्रूषे सुरेश्वर। ब्राह्मणेनाऽऽहृतां पुण्यां जगतः पावनीं शुभाम् ।।१।।
आदिमध्यावसाने च उभयोस्तीरयोरपि। या व्याप्ता विष्णुनेशेन त्वया च सुरसत्तम ।।
पुनः संक्षेपतो ब्रूहि न मे तृप्तिः प्रजायते ।।२।।

ब्रह्मोवाच

कमण्डलुस्थिता पूर्वं ततो विष्णुपदानुगा। महेश्वरजटाजूटे स्थिता सैव नमस्कृता ।।३।।
ब्रह्मतेजः प्रभावेण शिवमाराध्य यत्नतः। ततः प्राप्ता गिरिं पुण्यं ततः पूर्वार्णवं प्रति ।।४।।
आगत्य संगता देवी सर्वतीर्थमयी नृणाम्। ईप्सितानां तथा दात्री प्रभावोऽस्या विशिष्यते ।।५।।
एतस्या नाधिकं मन्ये किंचित्तीर्थं जगत्त्रये। अस्याश्चैव प्रभावेण भाव्यं यच्च मनःस्थितम् ।।६।।
अद्याप्यस्या हि माहात्म्यं वक्तुं कैश्चिन्न शक्यते। भक्तितो[1] वक्ष्यते नित्यं या ब्रह्म परमार्थतः[2] ।।७।।
तस्याः परतरं तीर्थं न स्यादिति मतिर्मम। अन्यतीर्थेन साधर्म्यं न युज्येत कथंचन[3] ।।८।।

अध्याय १७५

तीर्थ आदि के चार प्रकार के होने का वर्णन

नारद बोले—देवताओं के स्वामी ! आपने गंगा के बारे में बतलाया है कि वह त्रिदेवमयी, संसारपावनी, कल्याणमयी और ब्राह्मण द्वारा लायी गयी है और उसके दोनों तटों के आदि, मध्य तथा अन्त में विष्णु व्याप्त हैं। अब फिर उसी के विषय में संक्षेप में कहिये। मुझे (सुनने से) तृप्ति नहीं होती है ।।१-२।।

ब्रह्मा बोले—पहिले वह कमण्डलु में थी। तब विष्णु के चरणों की अनुगामिनी हुई। तत्पश्चात् वही प्रणम्या देवी शंकर की जटाओं में अवस्थित हुई। ब्रह्मतेज के प्रभाव से यत्नपूर्वक शिव की आराधना करके वह पवित्र पर्वत पर पहुँची। तदुपरान्त पूर्वसमुद्र से मिलकर वह देवी मनुष्यों के लिए सर्वतीर्थमयी बन गयी। वह अभीप्सित फलों को देनेवाली है। उसका प्रभाव बहुत विशिष्ट है। तीनों लोक में उससे बढ़कर कोई तीर्थ मैं नहीं मानता। उसी के प्रभाव से जो कुछ मेरे मन में है, वह होगा। आज भी उसका माहात्म्य कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। वह वस्तुतः ब्रह्म है। मै भक्ति के प्रताप से उसके विषय में कुछ कहूँगा। उससे बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है—यह मेरा सिद्धान्त है। अन्य तीर्थों से उसकी उपमा नहीं हो सकती। मुने ! तीनों लोक में गंगा के गुणवर्णन

---

[1] घ. ङ. च. वन्यते। [2] घ. ङ. च. ०मार्थिभिः। त०। [3] क. कदाचन।

श्रुत्वा मद्वाक्यपीयूषैर्गङ्गाया गुणकीर्तनम्। सर्वेषां न मतिः कस्मात्तत्रैवोपरतिं गता॥
इति भाति विचित्रं मे मुने खलु जगत्त्रये ॥९॥

नारद उवाच

धर्मार्थकाममोक्षाणां त्वं वेत्ता चोपदेशकः। छन्दांसि सरहस्यानि पुराणस्मृतयोऽपि च॥१०॥
धर्मशास्त्राणि यच्चान्यत्तव वाक्ये प्रतिष्ठितम्। तीर्थानामथ दानानां यज्ञानां तपसां तथा॥११॥
देवतामन्त्रसेवानामधिकं किं वद प्रभो। यद्ब्रूषे भगवन्भक्त्या तथा भाव्यं न चान्यथा॥१२॥
एतं मे संशयं ब्रह्मन्वाक्यात्त्वं छेत्तुमर्हसि। इष्टं मनोगतं श्रुत्वा तस्माद्विस्मयमागतः॥१३॥

ब्रह्मोवाच

शृणु नारद वक्ष्यामि रहस्यं धर्ममुत्तमम्। चतुर्विधानि तीर्थानि तावन्त्येव युगानि च॥१४॥
गुणास्त्रयश्च पुरुषास्त्रयो देवाः सनातनाः। वेदाश्च स्मृतिभिर्युक्ताश्चत्वारस्ते प्रकीर्तिताः॥१५॥
पुरुषार्थाश्च चत्वारो वाणी चापि चतुर्विधा। गुणा ह्यपि तु चत्वारः समत्वेनेति नारद॥१६॥
सर्वत्र धर्मः सामान्यो यतो धर्मः सनातनः। साध्यसाधनभावेन स एव बहुधा मतः॥१७॥
तस्याऽऽश्रयश्च द्विविधो देशः कालश्च सर्वदा। कालाश्रयश्च यो धर्मो हीयते वर्धते सदा॥१८॥
युगानामनुरूपेण पादः पादोऽस्य हीयते। धर्मस्येति[1] महाप्राज्ञ देशापेक्षा[2] तथोभयम्॥१९॥

रूपी मेरे वचनामृत को पीकर सबको सुबुद्धि क्यों नहीं उत्पन्न हो गयी—यह मुझे बड़ा आश्चर्य मालूम पड़ता है॥३-९॥

नारद ने कहा—आप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के ज्ञाता एवम् रहस्य सहित वेद, पुराण, स्मृति तथा धर्मशास्त्रों के उपदेशक हैं। आपके वाक्य में सब कुछ प्रतिष्ठित है। प्रभो! अब तीर्थ, दान, यज्ञ, तप तथा देवताओं के मंत्रों एवम् उपासनाओं के बारे में ही कहिये। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। भगवन्! यह जो आपने कहा है कि भक्ति से यह हो सकता है, अन्यथा नहीं, इसमें मुझे संशय है। ब्रह्मन्! उसका आप निवारण करें। मैं अपनी अभिलषित बात को सुनकर आश्चर्य-चकित हो गया हूँ॥१०-१३॥

ब्रह्मा बोले—नारद! सुनो, मैं रहस्य सहित उत्तम धर्म को बतलाऊँगा। चार तीर्थ हैं और उतने ही युग हैं॥१४॥ गुण तीन ही हैं और सनातन देवपुरुष भी तीन हैं। स्मृतियों से युक्त वेद चार माने गये हैं।॥१५॥ पुरुषार्थ चार हैं और वाणी भी चार प्रकार की है। नारद! समता की दृष्टि से ग्रह भी चार हैं॥१६॥ धर्म सब जगह सामान्य है, जिसलिए वह सनातन धर्म है। वही धर्म साध्य-साधन भेद से अनेक हो जाता है॥१७॥ उसके आश्रय भी दो हैं—देश और काल। काल का आश्रित जो धर्म है, उसका ह्रास और क्षय होता है॥१८॥ युगों के अनुरूप उसका एक-एक पाद क्षीण होता रहता है। महापंडित! देशाश्रित धर्म का भी ह्रास और क्षय होता है। कालाश्रित धर्म सदा

---

[1] क. ङ. ०र्मस्यैव म०। [2] क. ङ. देशे नैव त०।

कालेन चाऽऽश्रितो धर्मो देशे नित्यं प्रतिष्ठितः। युगेषु क्षीयमाणेषु न देशेषु[१] स हीयते ॥२०॥
उभयत्र विहीने च धर्मस्य स्यादभावता। तस्माद्देशाश्रितो धर्मश्चतुष्पात्सुप्रतिष्ठितः ॥२१॥
स चापि धर्मो देशेषु तीर्थरूपेण तिष्ठति। कृते देशं च कालं च धर्मोऽवष्टभ्य तिष्ठति ॥२२॥
त्रेतायां पादहीनेन स तु पादः[२] प्रदेशतः। द्वापरे चार्धतः काले धर्मो[३] देशे समास्थितः ॥२३॥
कलौ पादेन चैकेन धर्मश्चलति संकटम्। एवंविधं तु या धर्मं वेत्ति तस्य न हीयते ॥२४॥
युगानामनुभावेन[४] जातिभेदाश्च[५] संस्थिताः। गुणेभ्यो गुणकर्तृभ्यो विचिथा धर्मसंस्थितिः ॥२५॥
गुणानामनुभावेन उद्भवाभिभवौ तथा। तीर्थानामपि [६]वर्णानां [७]वेदानां स्वर्गमोक्षयोः ॥२६॥
तादृग्रूपप्रवृत्त्या तु तदेव च विशिष्यते। कालोऽभिव्यञ्जकः प्रोक्तो देशोऽभिव्यङ्ग्य उच्यते ॥२७॥
यदा यदा [८]अभिर्व्यक्तिं कालो धत्ते[९] तदा तदा। तदेव व्यञ्जनं[१०] ब्रह्मंस्तस्मान्नास्त्यत्र[११]संशयः[१२] ॥२८॥
युगानुरूपा मूर्तिः स्याद्देवानां वैदिकी तथा। कर्मणामपि तीर्थानां जातीनामाश्रमस्य तु ॥२९॥
त्रिदैवत्यं सत्ययुगे तीर्थं लोकेषु पूज्यते। द्विदैवत्यं[१३] युगेऽन्यस्मिन्द्वापरे चैकदैविकम् ॥३०॥
कलौ न किंचिद्विज्ञेयमथान्यदपि तच्छृणु। दैवं कृतयुगे तीर्थं त्रेतायामासुरं विदुः ॥३१॥

देशों में प्रतिष्ठित रहता है। युगों के क्षय होने पर भी देशों में उस धर्म का ह्रास नहीं होता है ॥१८-२०॥ दोनों जगह उसका ह्रास होने पर धर्म का अभाव हो जायगा॥ इसलिए देशाश्रित धर्म चार चरणों से युक्त तथा सुप्रतिष्ठित है॥२१॥ वह भी धर्म देशों में तीर्थरूप से रहता है। सत्ययुग में देश और काल को व्याप्त कर धर्म स्थित रहता है॥२२॥ त्रेता में वह एक चरण से हीन होकर देशों में विद्यमान रहता है। द्वापर में दो चरणों से हीन होकर वह देश और काल में स्थित रहता है॥२३॥ कलियुग में एक ही पैर से युक्त होकर धर्म संकट से चलता है। इस प्रकार जो धर्म को जानता है, उसका धर्म क्षीण नहीं होता॥२४॥ युगों के अनुसार गुणों एवम् गुणकर्ताओं से जाति-भेद बनता है। धर्म की स्थिति विचित्र है॥२५॥ गुणों के अनुसार उत्पत्ति और प्रलय भी होता है। तीर्थों, वर्णों, वेदों, स्वर्ग और मोक्ष की भी उसी रूप में प्रवृत्ति होती है। काल प्रकाशक और देश प्रकाश्य माना गया है॥२६-२७॥ ब्रह्मन्! जब-जब काल प्रकाश को धारण करता है तब-तब उससे वही प्रकाश होता है, इसमें कोई संशय नहीं॥२८॥ युगों के अनुरूप ही देव, कर्म, तीर्थ, जाति तथा आश्रम की वैदिकी मूर्ति होती है। सत्ययुग में त्रिदेवमय तीर्थ की लोकों में पूजा होती है, त्रेता में द्विदेवमय तीर्थ की पूजा होती है, द्वापर में एकदेवमय तीर्थ की पूजा होती है और कलियुग में किसी की भी नहीं। अब और भी सुनो॥२९-३०½॥ कृतयुग में दैवतीर्थ, त्रेता में आसुर, द्वापर में आर्ष और कलियुग में मानुषतीर्थ कहलाता है॥३१½॥ नारद! अब और भी कारण बतलाता

१क. ङ. ०षु मही०। २क. ङ. पादप्र०। ३क. ङ. ०र्मो हीयेत्समग्रतः। क० । ४क. ०न याति भेदांश्च संस्थितिम्। गु०। ५घ. ०तिवेदासमास्थितिः। गु० । ६घ. ०नां दर्शनात्स्वर्ग०। ७ ङ. देवानां। ८क. ०व्यक्तिः का०। घ. ङ. च. ०व्यक्तिका०। ९ क. ङ. धर्मं। च. धर्मस्तदा। १०क. ङ. च. व्यज्यते। ११घ. ०स्मादस्त्य०। १२घ. च. विस्मयः। १३ङ.त्यं त्रेतयुगे द्वाप०।

आर्षं च द्वापरे प्रोक्तं कलौ मानुषमुच्यते। अथान्यदपि वक्ष्यामि शृणु नारद कारणम् ॥३२॥
गौतम्यां यत्त्वया पृष्टं तत्ते वक्ष्यामि विस्तरात्। यदा चेयं हरशिरः प्राप्ता गङ्गा महामुने ॥३३॥
तदा प्रभृति सा गङ्गा शंभोः प्रियतराऽभवत्। तद्देवस्य मतं ज्ञात्वा गजवक्त्रमुवाच सा ॥३४॥
उमा लोकत्रयेशाना माता च जगतो हिता। शान्ता श्रुतिरिति ख्याता भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ॥३५॥

ब्रह्मोवाच

तन्मातुर्वचनं श्रुत्वा गजवक्त्रेऽभ्यभाषत ॥३६॥

गजवक्त्र उवाच

किं कृत्यं शाधि मां मातस्तत्कर्ताऽहमसंशयम् ॥३७॥

ब्रह्मोवाच

उमा सुतमुवाचेदं महेश्वरजटास्थिता। त्वयाऽवतार्यतां गङ्गा सत्यमीशप्रिया सती ॥३८॥
पुनश्चेशस्तत्र चित्रमध्यास्ते[1] सर्वदा सुत। शिवो यत्र सुरास्तत्र तत्र वेदाः सनातनाः ॥३९॥
तत्रैव ऋषयः सर्वे मनुष्याः पितरस्तथा। तस्मान्निवर्तयेशानं देवदेवं महेश्वरम् ॥४०॥
तस्या निर्वर्तिते देवे गङ्गायाः सर्व एव हि। निवृत्तास्ते भविष्यन्ति शृणु चेदं वचो मम ॥
निवर्तय ततस्तस्याः सर्वभावेन शंकरम् ॥४१॥

ब्रह्मोवाच

मातुस्तद्वचनं श्रुत्वा पुनराह गणेश्वरः ॥४२॥

हूँ, सुनो। गोदावरी के विषय में जो तुमने पूछा है, उसे मैं विस्तार से बतलाऊँगा। महामुने! जब से यह गंगा शंकर के सिर पर पहुँची तब से यह शिव की प्रिया हो गयी ॥३२-३३½॥ शिव का आशय समझकर तीनों लोक की ईश्वरी, संसार की माता तथा हितैषिणी, शान्ता, श्रुतिरूपा और भुक्ति-मुक्तिदायिनी पार्वती ने गणेश से यह बात कह दी ॥३४-३५॥

ब्रह्मा बोले—माता की बात सुनकर गणेश ने कहा ॥३६॥

गणेश बोले—माता! आज्ञा करो! क्या कार्य है? मैं निःसन्देह उसे पूरा करूँगा ॥३७॥

ब्रह्मा बोले—उमा ने पुत्र से कहा—'शंकर की जटा में उनकी प्रिया सती गंगा अवस्थित है। उसे तुम हटा दो। क्योंकि शंकर सदा उसमें अनुरक्त रहते हैं और जहाँ शिव रहते हैं, वहाँ देवता, सनातन वेद, समस्त ऋषि मनुष्य एवम् पितर रहते हैं। इसलिए देवों के देव शिव को उससे अलग करो। उनके अलग हो जाने पर सब अलग हो जायेंगे। इसलिए मेरी बात सुनो और सब प्रकार से शंकर को अलग करो ॥३८-४१॥

ब्रह्मा बोले—माता की बात सुनकर पुनः गणेश ने कहा ॥४२॥

---

[1] ङ. चित्तम०।

गणेश्वर उवाच

नैव शक्यः शिवो देवो मया तस्या निर्वर्तितुम्। अनिवृत्ते शिवे तस्या देवा अपि निर्वर्तितुम् ।।४३।।
न शक्या जगतां मातरथान्यच्चापि कारणम्। गङ्गाऽवतारिता पूर्वं गौतमेन महात्मना ।।४४।।
ऋषिणा लोकपूज्येन त्रैलोक्यहितकारिणा। सामोपायेन तद्वाक्यात्पूज्येन ब्रह्मतेजसा ।।४५।।
आराधयित्वा देवेशं तपोभिः स्तुतिभिर्भवम्। तुष्टेन शंकरेणेदमुक्तोऽसौ गौतमस्तदा ।।४६।।

शंकर उवाच

वरान्वरय पुण्यांश्च प्रियांश्च मनसेप्सितान्। यद्यदिच्छसि तत्सर्वं दाता तेऽद्य महामते ।।४७।।

ब्रह्मोवाच

एवमुक्तः शिवेनासौ गौतमो मयि शृण्वति। इदमेव तदोवाच सजटां देहि शंकर ।।
गङ्गां मे याचते पुण्यां किमन्येन वरेण मे ।।४८।।

ब्रह्मोवाच

पुनः प्रोवाच तं शंभुः सर्वलोकोपकारकः ।।४९।।

शंभुरुवाच

[1]उक्त न चाऽऽत्मनः किंचित्तस्माद्याचस्व दुष्करम् ।।५०।।

ब्रह्मोवाच

गौतमोऽदीनसत्त्वस्तं भवमाह कृताञ्जलिः ।।५१।।

गणेश बोले—मेरे द्वारा शिव उससे अलग नहीं किये जा सकते हैं और शिव के अलग नहीं होने पर देवता भी निवृत्त नहीं हो सकेंगे। जगन्माता ! इसका और भी कारण है कि पूर्व काल में महात्मा गौतम गंगा को लाये थे। लोकपूज्य तथा त्रैलोक्यहितकारी ऋषि ने तपस्या, स्तुति तथा सामगान द्वारा शंकर की आराधना की। संतुष्ट होकर शिव ने गौतम से कहा ।।४३-४६।।

शंकर बोले—महाबुद्धिमन् ! तुम पवित्र, प्रिय तथा मनोभिलषित वरदान माँगो। तुज जो-जो चाहोगे, वह सब आज मैं तुम्हें दूँगा ।।४४।।

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार शिव द्वारा कहे जाने पर मेरे सुनते ही गौतम ने यह कहा—'शंकर ! अपनी जटासहित पवित्र गंगा मुझे दीजिये, दूसरा वरदान मुझे नहीं चाहिये ।।४८।।

ब्रह्मा बोले—समस्त लोकों के उपकारक शिव ने पुनः गौतम से कहा ।।४९।।

शंभु बोले—तुमने अपने लिए कुछ नहीं माँगा। इसलिए कठिन वरदान भी मुझसे माँग लो ।।५०।।

ब्रह्मा बोले—दीनता-शून्य गौतम ने हाथ जोड़कर शिव से कहा ।।५१।।

---

[1] ङ. ०क्तं तवाऽऽत्म०।

गौतम उवाच

एतदेव च सर्वेषां दुष्करं तव दर्शनम्। मया तदद्य संप्राप्तं कृपया तव शंकर ॥५२॥
स्मरणादेव ते पद्भ्यां कृतकृत्या मनीषिणः। भवन्ति किं पुनः साक्षात्त्वयि दृष्टे महेश्वरे ॥५३॥

ब्रह्मोवाच

एवमुक्ते गौतमेन भवो हर्षसमन्वितः। त्रयाणामुपकारार्थं लोकानां याचितं त्वया ॥५४॥
नचाऽऽत्मनो महाबुद्धे याचेत्याह शिवो द्विजम्। एवं प्रोक्तः पुनर्विप्रो ध्यात्वा प्राह शिवं तथा ॥५५॥
विनीतवददीनात्मा शिवभक्तिसमन्वितः। सर्वलोकोपकाराय पुनर्याचितवानिदम् ॥
शृण्वत्सु लोकपालेषु जगादेदं स गौतमः ॥५६॥

गौतम उवाच

यावत्सागरगा देवी निसृष्टा ब्रह्मणो गिरेः। सर्वत्र सर्वदा तस्यां स्थातव्यं वृषभध्वज ॥५७॥
फलेप्सूनां फलं दाता त्वमेव जगतः प्रभो। तीर्थान्यन्यानि देवेश क्वापि क्वापि शुभानि च ॥५८॥
यत्र ते संनिधिर्नित्यं तदेव शुभदं विदुः। यत्र गङ्गा त्वया दत्ता जटामुकुटसंस्थिता ॥
[1]सर्वत्र तव [2]सांनिध्यात्सर्वतीर्थानि[3] शंकर ॥५९॥

ब्रह्मोवाच

तद्गौतमवचः श्रुत्वा पुनर्हर्षाच्छिवोऽब्रवीत् ॥६०॥

गौतम बोले—आपका दर्शन ही सबके लिए कठिन है। शंकर ! आपकी कृपा से आज मैंने उसे प्राप्त कर लिया। आपके चरणों के स्मरण से ही विद्वान् लोग कृतकृत्य हो जाते हैं। जिसे आपका साक्षात्कार हो जाता है, उसका तो भला कहना ही क्या ? ॥५२-५३॥

ब्रह्मा बोले—गौतम के इतना कहने पर शंकर प्रसन्न हो गये और बोले—'तीनों लोकों के उपकार के लिए तुमने याचना की। पर महाबुद्धिमन् ! अपने लिए तुमने याचना नहीं की। इस प्रकार कहे जाने पर शिवभक्ति से युक्त, दीनता से रहित तथा विनीत गौतम ने शिव से कहा। लोकपालों के सुनते गौतम ने समस्त लोकों के उपकार के लिए पुनः यह याचना की ॥५४-५६॥

गौतम बोले—ब्रह्मगिरि से लेकर समुद्रपर्यन्त इस गंगा में सर्वत्र सब काल आप रहें। जगत्प्रभो ! फल चाहनेवालों को फल आप ही देते हैं। देवेश ! जहाँ-कहीं भी जो अन्य पवित्र तीर्थ हैं, उनमें भी जिस तीर्थ में आपका सान्निध्य है, वही शुभदायक माना गया है। शंकर ! जहाँ आपने अपने जटा-मुकुट में अवस्थित गंगा को प्रदान किया है, वहाँ सब जगह आपके सान्निध्य से समस्त तीर्थ रहेंगे ॥५७-५९॥

ब्रह्मा बोले—गौतम के वचन को सुनकर पुनः हर्ष से शिव ने कहा ॥६०॥

---

[1] घ. च. सर्वे च तत्र सां०। [2] ङ. च. ०निध्यं सर्व०। [3] घ. च. ०तीर्थेऽस्तु शं०। ङ. ०तीर्थेषु शं० ॥

शिव उवाच

यत्र क्वापि यत्किंचिद्यो वा भवति भक्तितः (?) यात्रां स्नानमथो दानं पितॄणां वाऽपि तर्पणम् ॥६१॥
श्रवणं पठनं वाऽपि स्मरणं वाऽपि गौतम। यः करोति नरो भक्त्या गोदावर्यां यतव्रतः ॥६२॥
सप्तद्वीपवती पृथ्वी सशैलवनकानना। सरत्ना सौषधी रम्या सार्णवा धर्मभूषिता ॥६३॥
दत्त्वा भवति यो धर्मः स भवेद्गौतमीस्मृतेः। एवं विधा इला विप्र गोदानाद्याऽभिधीयते ॥६४॥
चन्द्रसूर्यग्रहे काले मत्सांनिध्ये यतव्रतः। भूभृते विष्णवे भक्त्या सर्वकालं कृता सुधीः ॥६५॥
गाः सुन्दराः सवत्साश्च संगमे लोकविश्रुते। यो ददाति द्विजश्रेष्ठ तत्र यत्पुण्यमाप्नुयात् ॥६६॥
तस्माद्वरं पुण्यमेति स्नानदानादिना नरः। गौतम्यां विश्ववन्द्यायां महानद्यां तु भक्तितः ॥६७॥
तस्माद्गोदावरी गङ्गा त्वया नीता भविष्यति। सर्वपापक्षयकरी सर्वाभीष्टप्रदायिनी ॥६८॥

गणेश्वर उवाच

एतच्छ्रुतं मया मातर्वदतो गौतमं शिवात्। एतस्मात्कारणाच्छंभुर्गङ्गायां नियतः स्थितः ॥६९॥
को निवर्तयितुं शक्तस्तमम्ब करुणोदधिम्। अथापि मातरेतत्स्यान्मानुषा विघ्नपाशकैः ॥७०॥
विनिबद्धा न गच्छन्ति गोदामप्यन्तिकस्थिताम्। न नमन्ति शिवं देवं न स्मरन्ति स्तुवन्ति न ॥७१॥
तथा मातः करिष्यामि तव संतोषहेतवे। संनिरोद्धुमथो[२] क्लेशस्तव वाक्यं क्षमस्व मे ॥७२॥

शिव बोले—गौतम ! जो मनुष्य नियमपूर्वक गोदावरी में जहाँ-कहीं भी जो कुछ भी भक्ति से करता है अर्थात् यात्रा, स्नान, दान पितृ-तर्पण, श्रवण, पठन या स्मरण—करता है, उसे उतना ही धर्म होता है जितना सातों द्वीप, पर्वत, वन, रत्न, ओषधि तथा समुद्र सहित एवम् धर्मभूषित पृथ्वी के दान करने से होता है। विप्र ! इस प्रकार की पृथ्वी दान करने से जो धर्म होता है उतना धर्म चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण काल में गोदावरी में गोदान करने से होता है। द्विजवर ! उसे भी उतना धर्म होता है, जो लोक-प्रसिद्ध गंगा-सागर के संगम पर भुवन के धारण करनेवाले विष्णु की प्रीति के लिये बछड़े सहित सुन्दर गौ दान करता है। इसलिए मनुष्य विश्ववन्द्या तथा महानदी गोदावरी में भक्तिपूर्वक स्नान-दान करने से अत्यन्त पुण्य प्राप्त करता है। अतः समस्त पापों को नष्ट करनेवाली तथा अखिल कामनाओं को देनेवाली गोदावरी गंगा को तुम ले जाओ ॥६१-६८॥

गणेश्वर बोले—माता ! मैंने गौतम तथा शिव का इतना संवाद सुना है। इसी कारण शंकर नियमपूर्वक गंगा में रहते हैं। अम्ब ! उस करुणासागर को कौन निवारण कर सकता है ? माता ! इतना तो मैं तुम्हारे संतोष के लिये करूँगा कि विघ्न-जाल में फँसकर मनुष्य समीप रहने पर भी गंगा में स्नान करने नहीं जायगा और शिव को प्रणाम, स्मरण तथा स्तुति नहीं करेगा। पर उनका निवारण तो असम्भव है। इसलिए मुझे क्षमा करो॥६९-७२॥

---

[२] क. ङ. च. ०थोऽशक्तस्तव वाक्यात्क्षम०।

ब्रह्मोवाच

ततः प्रभृति विघ्नेशो मानुषान्प्रति किंचन। विघ्नमाचरते यस्तु तमुपास्य प्रवर्तते ॥७३॥
अथो विघ्नमनादृत्य गौतमीं याति भक्तितः। स कृतार्थो भवेल्लोके न कृत्यमवशिष्यते ॥७४॥
विघ्नान्यनेकानि भवन्ति गेहान्निर्गन्तुकामस्य नराधमस्य ।
निधाय तन्मूर्ध्नि पदं प्रयाति, गङ्गां न किं तेन फलं प्रलब्धम् ॥७५॥
अस्याः प्रभावं को ब्रूयादपि साक्षात्सदाशिवः। संक्षेपेण मया प्रोक्तमितिहासपदानुगम् ॥७६॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं यच्चराचरे। तदत्र विद्यते सर्वमितिहासे सविस्तरे ॥७७॥
वेदोदितं श्रुतिसकलरहस्यमुक्तं, सत्कारणं समभिधानमिदं सदैव ।
सम्यक्च दृष्टं जगतां हिताय, प्रोक्तं पुराणं बहुधर्मयुक्तम् ॥७८॥
अस्य श्लोकं पदं वाऽपि भक्तितः शृणुयात्पठेत्। गङ्गा गङ्गेति वा वाक्यं स तु पुण्यमवाप्नुयात् ॥७९॥
कलिकलङ्कविनाशनदक्षमिदं, सकलसिद्धिकरं शुभदं शिवम् ।
जगति पूज्यमभीष्टफलप्रदं, गाङ्गमेतदुदीरितमुत्तमम् ॥८०॥
साधु गौतम भद्रं ते कोऽन्योऽस्ति सदृशस्त्वया। य एनां गौतमीं गङ्गां दण्डकारण्यमाप्नुयात् ॥८१॥
गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥८२॥
तिस्रः कोटयोऽर्धकोटी च तीर्थानि भुवनत्रये। तानि स्नातुं समायान्ति गङ्गायां सिंहगे गुरौ ॥८३॥

ब्रह्मा बोले—तब से गणेश मनुष्यों को विघ्न करते हैं। जो उनकी उपासना करता है, उसे छोड़ देते हैं। जो मनुष्य गणेश की वन्दना कर भक्ति से गोदावरी को जाते हैं, वे लोक में कृतार्थ हो जाते हैं और उन्हें कुछ करना शेष नहीं रहता। घर से बाहर जानेवाले नराधम को अनेक विघ्न होते हैं। जो मस्तक पर गंगा के चरणों को रखकर (अर्थात् उनका ध्यान करते हुए) प्रयाण करता है, उसे कौन-सा फल नहीं मिलता है? (अर्थात् सब मिलते हैं) ॥७३-७५॥ गंगा का प्रभाव कौन बतला सकता है? साक्षात् सदाशिव भी भरसक बतला सकते हैं। संक्षेप में मैंने इस इतिहास को बतलाया है॥७६॥ संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के जितने साधन होते हैं, वे सब इस विस्तृत इतिहास में विद्यमान हैं॥७७॥ संसार के कल्याण के लिए मैंने अनेक धर्मों से युक्त पुराण सुना दिया, जो वेद-प्रतिपादित, सम्पूर्ण रहस्यों का सार, सत्कारणस्वरूप, सदुक्तिस्वरूप तथा सम्यक् दर्शनरूप है॥७८॥ इस पुराण का एक श्लोक या एक पद जो मनुष्य भक्ति से सुनेगा या पढ़ेगा या 'गंगा-गंगा' यह उच्चारण ही करेगा, उसे पुण्य लाभ होगा॥७९॥ 'गंगा' इस पवित्र नाम का उच्चारण कलियुग के कलंकों को नष्ट करने में दक्ष, सकल सिद्धियों को देनेवाला, कल्याणकारक, सुन्दर, जगत्पूज्य तथा अभीष्टफलदायक है॥८०॥ गौतम! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे सदृश कौन दूसरा है, जो इस गौतमी गंगा को दण्डकारण्य में प्राप्त करे॥८१॥ जो व्यक्ति सैकड़ों योजन दूर से भी 'गंगा-गंगा' यह उच्चारण करता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर विष्णुलोक को जाता है॥८२॥ तीनों लोकों में साढ़े तीस करोड़ जो तीर्थ हैं, वे सिंह राशि पर बृहस्पति के जाने पर गंगा में स्नान करने आते हैं॥८३॥ बृहस्पति के सिंह राशि पर अवस्थित होने पर गोदावरी में एक बार स्नान करने से उतना ही फल

षष्टिवर्षसहस्राणि भागीरथ्यवगाहनम्। सकृद्गोदावरीस्नानं सिंहयुक्ते बृहस्पतौ ।।८४।।
इयं तु गौमती पुत्र यत्र क्वापि ममाऽऽज्ञया। सर्वेषां सर्वदा नृणां स्नानान्मुक्ति प्रदास्यति ।।८५।।
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च। कृत्वा यत्फलमाप्नोति तदस्य श्रवणाद्भवेत् ।।८६।।
यस्यैतत्तिष्ठति गृहे पुराणं ब्रह्मणोदितम्। न भयं विद्यते तस्य कलिकालस्य नारद ।।८७।।
यस्य कस्यापि नाँऽऽख्येयं पुराणमिदमुत्तमम्। श्रद्दधानाय शान्ताय वैष्णवाय महात्मने ।।८८।।
इदं कीर्त्यं भुक्तिमुक्तिदायकं पापनाशकम्। एतच्छ्रवणमात्रेण कृतकृत्यो भवेन्नरः ।।८९।।
लिखित्वा पुस्तकमिदं ब्राह्मणाय प्रयच्छति। सर्वपापविनिर्मुक्तः पुनर्गर्भं न संविशेत् ।।९०।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे तीर्थमाहात्म्ये ब्रह्मनारदसंवादे गङ्गामाहात्म्यश्रवणादिफलवर्णनं नाम पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१७५।।
गौतमीमाहात्म्ये षडधिकशततमोऽध्यायः ।।१०६।।
समाप्तं गौतमीमाहात्म्यम्

अथ षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अनन्तवासुदेवमाहात्म्यवर्णनम्

मुनय ऊचुः

न हि नस्तृप्तिरस्तीह शृण्वतां भगवत्कथाम्। पुनरेव परं गुह्यं वक्तुमर्हस्यशेषतः ।।१।।

होता है, जितना साठ हजार वर्षों तक गंगा में स्नान करने से होता है ।।८४।। पुत्र ! यह गौतमी गंगा (अपने में) जहाँ-कहीं भी स्नान करने से मनुष्यों को मेरी आज्ञा से मुक्ति दे देती है ।।८५।। सहस्रों अश्वमेध यज्ञ तथा सैकड़ों वाजपेय यज्ञ करने से जो फल प्राप्त होता है, वह इसके श्रवणमात्र से होता है ।।८६।। नारद ! जिसके घर में यह ब्रह्मपुराण रहता है, उसके लिए कलिकाल का कोई डर नहीं है ।।८७।। जिस-किसी को यह पुराण नहीं सुनाना चाहिये। श्रद्धालु, शान्त, विष्णुभक्त तथा महात्मा को यह पापनाशन तथा भुक्ति-मुक्ति-दायक पुराण सुनाना चाहिये ।।८८$\frac{१}{३}$।। इसके श्रवणमात्र से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। जो इस पुस्तक को लिखकर ब्राह्मण को समर्पित करता है, वह सब पापों से निर्मुक्त होकर पुनः गर्भ में नहीं आता है ।।८९-९०।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में तीर्थमाहात्म्य में ब्रह्मा और नारद के संवाद में गंगामाहात्म्यश्रवण आदि का फल-वर्णन नामक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ।।१७५।।

अध्याय १७६

अनन्त वासुदेव का माहात्म्य-निरूपण

मुनियों ने कहा—भगवत्कथा सुनते-सुनते हमें तृप्ति नहीं होती है। आप पुनः संपूर्ण रहस्य को बतलायें।

अनन्तवासुदेवस्य न सम्यग्वर्णितं त्वया। श्रोतुमिच्छामहे देव विस्तरेण वदस्व नः ॥२॥

ब्रह्मोवाच

प्रवक्ष्यामि मुनिश्रेष्ठाः सारात्सारतरं परम्। अनन्तवासुदेवस्य माहात्म्यं भुवि दुर्लभम् ॥३॥
आदिकल्पे पुरा विप्रास्त्वहमव्यक्तजन्मवान्। विश्वकर्माणमाहूय वचनं प्रोक्तवानिदम् ॥४॥
वरिष्ठं देवशिल्पीन्द्रं विश्वकर्माग्रकर्मिणम्[1]। प्रतिमां वासुदेवस्य कुरु शैलमयीं भुवि ॥५॥
यां प्रेक्ष्य विधिवद्भक्ताः सेन्द्रा वै मानुषादयः। येन दानवरक्षोभ्यो विज्ञाय सुमहद्भयम् ॥६॥
त्रिदिवं[2] समनुप्राप्य सुमेरुशिखरं चिरम्[3]। वासुदेवं समाराध्य निरातङ्का वसन्ति ते ॥७॥
मम तद्वचनं श्रुत्वा विश्वकर्मा तु तत्क्षणात्। चकार प्रतिमां शुद्धां[4] शङ्खचक्रगदाधराम् ॥८॥
सर्वलक्षणसंयुक्तां पुण्डरीकायतेक्षणाम्। श्रीवत्सलक्ष्मसंयुक्तामत्युग्रां प्रतिमोत्तमाम् ॥९॥
वनमालावृतोरस्कां मुकुटाङ्गदधारिणीम्। पीतवस्त्रां सुपीनांसां कुण्डलाभ्यामलंकृताम् ॥१०॥
एवं सा प्रतिमा दिव्या गुह्यमन्त्रैस्तदा स्वयम्। प्रतिष्ठाकालमासाद्य मयाऽसौ निर्मिता पुरा ॥११॥
तस्मिन्काले तदा शक्रो देवराट्खेचरैः[5] सह। जगाम ब्रह्मसदनमारुह्य गजमुत्तमम् ॥१२॥
प्रसाद्य प्रतिमां शक्रः स्नानदानैः पुनः पुनः। प्रतिमां तां समाराध्य (दाय) स्वपुरं पुनरागमत् ॥१३॥
तां समाराध्य सुचिरं यतवाक्कायमानसः। वृत्राद्यानसुरान्क्रूरान्नमुचिप्रमुखान्स च ॥१४॥

अनन्त वासुदेव का आपने सम्यक् वर्णन नहीं किया। देव! (वही) हम सुनना चाहते हैं। विस्तारपूर्वक कहिये ॥१-२॥

ब्रह्मा बोले—मुनिश्रेष्ठो! अनन्त वासुदेव का जगद्दुर्लभ तथा सारतम माहात्म्य मैं बतलाऊँगा ॥३॥ विप्रवृन्द! पहले आदिकल्प में अव्यक्तजन्मा मैंने अत्यन्त बलवान्, देवताओं के कारीगर और बढ़ई के काम में अग्रणी विश्वकर्मा को बुलाकर कहा—पृथ्वी पर वासुदेव की एक ऐसी पत्थर की मूर्ति बनाओ, जिसे विधिपूर्वक देखकर भक्त, इन्द्र तथा मनुष्य आदि, दानव-राक्षसों के महान् भय से स्वर्ग में आकर अर्थात् सुमेरु पर्वत के शिखर पर चिरकाल तक वासुदेव की आराधना करते हुए सुख से वास करें ॥४-७॥ मेरे वचन को सुनकर तत्काल विश्वकर्मा ने शुद्ध, शंख, चक्र तथा गदा धारण करनेवाली, सर्वलक्षणसम्पन्न, कमल के समान दीर्घ नेत्रोंवाली, श्रीवत्स-चिह्न से युक्त, अत्यन्त उग्र, वनमाला से आवृत वक्षःस्थल वाली, मुकुट तथा अंगद धारण करने वाली, पीतवस्त्रा, स्थूल स्कंधों वाली तथा कुण्डलों से अलंकृत प्रतिमा को बना डाला ॥८-१०॥ इस प्रकार बनी दिव्य प्रतिमा में मैं स्वयं गुह्य मन्त्रों द्वारा प्राणप्रतिष्ठा करने लगा। उस समय देववृन्दों के साथ इन्द्र उत्तम हाथी पर चढ़कर ब्रह्मलोक में आये। इन्द्र बार-बार स्नान-दानों से प्रतिमा की आराधना करके अपने नगर को चले गये॥११-१३॥ चिरकाल तक कायिक, वाचिक तथा मानसिक संयम के साथ उस प्रतिमा की आराधना करके इन्द्र ने वृत्र, नमुचि आदि क्रूर राक्षसों को मारकर तीनों लोक का उपभोग किया॥१४॥ द्वितीय युग प्राप्त होने पर अर्थात् त्रेता आने पर राक्षसराज, प्रतापी

---

[1] ख. कर्मन्सुकर्मकृत्। प्र०। [2] ख. ०दिवेशमनुप्रा०। [3] ख. गिरेः। [4] क. ग. शुभ्रां। [5] क. ख. ०चरैर्वृतः। ज०।

निहत्य दानवान्भीमान्भुक्तवान्भुवनत्रयम्। द्वितीये च युगे प्राप्ते त्रेतायां राक्षसाधिपः ।।१५।।
बभूव सुमहावीर्यो दशग्रीवः प्रतापवान्। दश वर्षसहस्राणि निराहारो जितेन्द्रियः ।।१६।।
चचार व्रतमत्युग्रं तपः परमदुश्चरम्[1]। तपसा तेन तुष्टोऽहं वरं तस्मै प्रदत्तवान् ।।१७।।
अवध्यः सर्वदेवानां स दैत्योरगयक्षसाम्। शापप्रहरणैरुग्रैरवध्यो यमकिंकरैः ।।१८।।
वरं प्राप्य तदा रक्षो यक्षान्सर्वगणान्मान्। धनाध्यक्षं विनिर्जित्य शक्रं जेतुं समुद्यतः ।।१९।।
संग्रामं सुमहाघोरं कृत्वा देवैः स राक्षसः। देवराजं विनिर्जित्य तदा इन्द्रजितेति वै ।।२०।।
[2]राक्षसस्तत्सुतो नाम मेघनादः प्रलब्धवान्। अमरावतीं ततः प्राप्य देवराजगृहे शुभे ।।२१।।
[3]ददर्शाञ्जनसंकाशां रावणस्तु बलान्वितः। प्रतिमां वासुदेवस्य सर्वलक्षणसंयुताम् ।।२२।।
श्रीवत्सलक्ष्मसंयुक्तां पद्मपत्रायतेक्षणाम्। वनमालावृतोरस्कां मुकुटाङ्गदभूषिताम् ।।२३।।
शङ्खचक्रगदाहस्तां पीतवस्त्रां चतुर्भुजाम्। सर्वाभरणसंयुक्तां सर्वकामफलप्रदाम् ।२४।।
विहाय रत्नसङ्घांश्च प्रतिमां शुभलक्षणाम्। पुष्पकेण विमानेन लङ्कां प्रास्थापयद्द्रुतम् ।।२५।।
पुराध्यक्षः स्थितः श्रीमान्धर्मात्मा स विभीषणः। रावणस्यानुजो मन्त्री नारायणपरायणः ।।२६।।
दृष्ट्वा तां प्रतिमां दिव्यां देवेन्द्रभवनच्युताम्[4]। रोमाञ्चिततनुर्भूत्वा विस्मयं समपद्यत ।।२७।।
प्रणम्य शिरसा देवं प्रहृष्टेनान्तरात्मना। अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं तपः ।।२८।।
इत्युक्त्वा स तु धर्मात्मा प्रणिपत्य मुहुर्मुहुः। ज्येष्ठं भ्रातरमासाद्य कृताञ्जलिरभाषत ।।२९।।

तथा महाशक्तिशाली रावण ने दस हजार वर्षों तक निराहार तथा जितेन्द्रिय होकर अत्यन्त उग्र तप किया ।।१५-१६½।। उसकी तपस्या से संतुष्ट होकर मैंने उसे वरदान दिया कि तुम समस्त देवता, दैत्य, सर्प, राक्षस, शापप्रहार तथा यमदूतों से अवध्य होगे। तदुपरान्त वर प्राप्त कर वह राक्षस यक्षगण सहित कुबेर को जीतकर इन्द्र को जीतने के लिए उद्यत हुआ ।।१७-१९।। देवताओं के साथ घोर संग्राम करके उसने देवराज पर विजय प्राप्त की। तब से उसका पुत्र मेघनाद इन्द्रजित् कहलाने लगा ।।२०½।। बलवान् रावण ने अमरावती में घुसकर इन्द्र के पवित्र गृह से अञ्जनतुल्य सर्वलक्षणसम्पन्न, श्रीवत्स-चिह्न से युक्त, कमलपत्र के समान दीर्घ नेत्रोंवाली, वनमाला से आवृत वक्षःस्थलवाली, मुकुट तथा अंगदों से विभूषित, हाथों में शंख-चक्र-गदा धारण करनेवाली, पीतवस्त्रा, चतुर्भुजा, समस्त आभूषणों से युक्त, शुभलक्षणों से सम्पन्न तथा समस्त कामनाओं के फल को देनेवाली वासुदेव की प्रतिमा को लेकर रत्नसमूह को बिना छुए ही पुष्पक विमान से लंका के लिये शीघ्र प्रस्थान कर दिया ।।२१-२५।। नगर का अध्यक्ष श्रीमान्, धर्मात्मा, वासुदेव भक्त, मंत्री तथा रावण का छोटा भाई विभीषण था ।।२६।। वह इन्द्र-भवन से लायी हुई दिव्य प्रतिमा को देखकर आश्चर्य-चकित हो गया ।।२७।। उसे रोमाञ्च हो आया। हृदय से गद्गद होकर उसने सिर झुकाकर वासुदेव को प्रणाम किया और कहा—'आज मेरा जन्म सफल हुआ, आज मेरा तप सफल हुआ, ।।२८।। यह कहकर उस धर्मात्मा ने बार-बार प्रणाम किया और हाथ जोड़कर अपने ज्येष्ठ भाई से कहा—'राजन्! यह प्रतिमा

---

[1] ख. ०दुष्कर०। [2] ख. ग. ०सस्तु ततो। [3] ख. ०र्शाद्भुतसं०। [4] ख. ०वनागता०।

राजन्प्रतिमया त्वं मे प्रसादं कर्तुमर्हसि। यामाराध्य जगन्नाथ निस्तरेयं भवार्णवम् ॥३०॥
भ्रातुर्वचनमाकर्ण्य [1]रावणस्तं तदाऽब्रवीत्। गृहाण प्रतिमां वीर त्वनया किं करोम्यहम् ॥३१॥
स्वयंभुवं समाराध्य त्रैलोक्यं विजये त्वहम्। नानाश्चर्यमयं देवं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥३२॥
विभीषणो महाबुद्धिस्तदा तां (रासाद्य) प्रतिमां शुभाम्। शतमष्टोत्तरं चाब्दं समाराध्य जनार्दनम् ॥३३॥
अजरामरणं प्राप्तमणिमादिगुणैर्युतम्। राज्यं लङ्काधिपत्यं च भोगान्भुङ्क्ते यथेप्सितान् ॥३४॥

मुनय ऊचुः

अहो नो विस्मयो जातः श्रुत्वेदं परमामृतम्। अनन्तवासुदेवस्य संभवं भुवि दुर्लभम् ॥३५॥
श्रोतुमिच्छामहे देव विस्तरेण यथातथम्। तस्य देवस्य माहात्म्यं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥३६॥

ब्रह्मोवाच

तदा स राक्षसः क्रूरो देवगन्धर्वकिन्नरान्। लोकपालान्समनुजान्मुनिसिद्धांश्च पापकृत् ॥३७॥
विजित्य समरे सर्वानाजहार तदङ्गनाः। संस्थाप्य नगरीं लङ्कां पुनः सीतार्थ[2] (तां च) मोहितः ॥३८॥
[3]शङ्कितो मृगरूपेण सौवर्णेन च [4]रावणः। ततः क्रुद्धेन रामेण रणे सौमित्रिणा सह ॥३९॥

मुझे दे देने की कृपा करो। जगत् के स्वामी! इसकी आराधना करके मैं संसार-समुद्र से पार उतर जाऊँगा।' भाई का वचन सुनकर रावण ने कहा—'वीर! प्रतिमा ले लो, मुझे इससे क्या करना है? मैंने सर्वभूतमय संसार को उत्पन्न करनेवाले तथा अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओं से युक्त ब्रह्मा की उपासना करके तीनों लोक को जीत लिया है।' तब महाबुद्धिमान् विभीषण ने प्रतिमा को लेकर एक सौ आठ वर्षों तक जनार्दन की आराधना करके अजरत्व, अमरत्व, अणिमा आदि सिद्धियाँ तथा लंका का आधिपत्य प्राप्त किया और अनेक अभिलषित भोगों का उपभोग किया ॥२९-३४॥

मुनियों ने कहा—अहा! अनन्तवासुदेव का यह संसार-दुर्लभ वृत्तान्त सुनकर हमें मानो अमृत मिल गया है तथा आश्चर्य हो रहा है। हे देव! हम विस्तारपूर्वक यथार्थ वर्णन सुनना चाहते हैं। उस देव का अखिल माहात्म्य आप बतलाइये ॥३५-३६॥

ब्रह्मा बोले—तब उस क्रूर तथा पापी राक्षस ने देव, गन्धर्व, किन्नर, लोकपाल, मनुष्य, मुनि तथा सिद्धों को समर में जीतकर देवांगनाओं का अपहरण कर लिया ॥३७½॥ उनको लंका में रखकर पुनः उसने सीता के लिए मोहित होकर सोने के मृग का रूप धारण किया। तदनन्तर राम ने लक्ष्मण के साथ रण में रावण के वध के निमित्त

---

[1] ख. ०णस्तु त०। [2] क. ख. ०र्थमुद्यतः। [3] क. चलितो। ग. चरित्वा। [4] ग. राघवम्।

रावणस्य वधार्थाय हत्वा वालिं मनोजवम्[1] । अभिषिक्तश्च सुग्रीवो युवराजोऽङ्गदस्तथा ॥४०॥
हनुमान्नलनीलश्च [2]जाम्बवान्पनसस्तथा । [3]गवयश्च गवाक्षश्च पाठीनः परमौजसः ॥४१॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्वानरैः समहाबलैः । समावृतो [4]महाघोरै रामो राजीवलोचनः[5] ॥४२॥
गिरीणां सर्वसंघातैः सेतुं बद्ध्वा महोदधौ । बलेन महता रामः समुत्तीर्य महोदधिम् ॥४३॥
संग्राममतुलं चक्रे रक्षोगणसमन्वितः । [6]यमहस्तं प्रहस्तं च निकुम्भं कुम्भमेव च ॥४४॥
नरान्तकं महावीर्यं तथा चैव यमान्तकम् । [7]मालाढ्यं मालिकाढ्यं च हत्वा रामस्तु वीर्यवान् ॥४५॥
पुनरिन्द्रजितं हत्वा कुम्भकर्णं सरावणम् । वैदेहीं चाग्निनाऽऽशोध्य दत्त्वा राज्यं विभीषणे ॥४६॥
वासुदेवं समादाय यानं पुष्पकमारुहत् । लीलया समनुप्रापदयोध्यां पूर्वपालिताम् ॥४७॥
कनिष्ठं भरतं स्नेहाच्छत्रुघ्नं भक्तवत्सलः । अभिषिच्य तदा रामः सर्वराज्येऽधिराजवत् ॥४८॥
पुरातनीं स्वमूर्तिं च समाराध्य ततो हरिः । दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ॥४९॥
भुक्त्वा सागरपर्यन्तां मेदिनीं स तु राघवः । [8]राज्यमासाद्य सुगतिं वैष्णवं पदमाविशत् ॥५०॥
तां चापि प्रतिमां रामः[9] समुद्रेशाय दत्तवान् । धन्यो रक्षयितासि त्वं तोयरत्नसमन्वितः ॥५१॥
द्वापरं युगमासाद्य यदा देवो जगत्पतिः । धरण्याश्चानुरोधेन भावशैथिल्यकारणात् ॥५२॥
अवतीर्णः स भगवान्वसुदेवकुले प्रभुः । कंसादीनां वधार्थाय संकर्षणसहायवान् ॥५३॥

मन के तुल्य वेगवाले वालि को मारकर सुग्रीव को अभिषिक्त किया एवम् अंगद को युवराज बनाया॥ ३८-४०॥ हनुमान्, नल, नील, जाम्ववान्, पनस, गवय, गवाक्ष, पाठीन आदि ओजस्वी वन्दरों तथा दूसरे भी वहुत-से वलवान् तथा महाभयंकर बन्दरों से युक्त होकर कमललोचन राम ने पर्वतों के समूहों से समुद्र में पुल बाँधकर विशाल सेना के साथ समुद्र पार करके राक्षसों के साथ अतुल संग्राम किया। फिर यमहस्त, प्रहस्त, निकुम्भ, कुम्भ, महाशक्तिशाली नरान्तक, यमान्तक, मालाढ्य, मालिकाढ्य, मेघनाद, कुम्भकर्ण तथा रावण को मारकर शक्तिसम्पन्न राम ने जानकी को अग्नि से शुद्धकर विभीषण को राज्य दे वासुदेव की प्रतिमा को लेकर पुष्पक विमान से प्रस्थान कर दिया। क्षण में ही पूर्वपालित अयोध्या पहुँचकर भक्तवत्सल राम ने स्नेह से छोटे भाई भरत तथा शत्रुघ्न को सम्पूर्ण राज्य में राजा की तरह अभिषिक्त कर अपनी पुरातनी प्रतिमा की आराधना करते हुए ग्यारह हजार वर्षों तक समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का भोग किया। राज्य-काल के बाद 'तुम जल तथा रत्नों से सम्पन्न हो, धन्य हो, इसकी रक्षा करो' यह कहकर समुद्र के अधिष्ठित देवता को वह प्रतिमा देकर राम ने विष्णुलोक में प्रवेश किया ॥४१-५१॥ विप्रवृन्द ! द्वापर युग में जब धर्म के नाश होने कारण तथा पृथ्वी के अनुरोध से जगत्पति भगवान् कंस आदि के वध के निमित्त बलराम सहित वसुदेव के कुल में अवतीर्ण हुए थे तब किसी कारण समस्त कामनाओं के फल को देनेवाली

१क. प्लवंगगमम्। २भ०। न्पवनस्त०। ३ख. ०यश्चैव मैन्दश्च वानरेशा महौज०। ४ख. ०हात्माऽसौ रा०। ५ग. ०नः। ५२। शतशः शाल्वसं०। ६क. महोदरं। ७क. मालिनं माल्यवन्तं च। ८ग. ०मादाय सु०। ९ख. राज्ञे।

तदा[1] तां प्रतिमां विप्राः सर्ववाञ्छाफलप्रदाम् । सर्वलोकहितार्थाय कस्यचित्कारणान्तरे ॥५४॥
तस्मिन्क्षेत्रवरे पुण्ये दुर्लभे पुरुषोत्तमे । उज्जहार स्वयं तोयात्समुद्रः सरितां पतिः ॥५५॥
तदा प्रभृति तत्रैव क्षेत्रे मुक्तिप्रदे द्विजाः । आस्ते स देवो देवानां[2] सर्वकामफलप्रदः ॥५६॥
ये संश्रयन्ति चानन्तं भक्त्या सर्वेश्वरं प्रभुम् । वाङ्मनः कर्मभिर्नित्यं ते यान्ति परमं पदम् ॥५७॥
दृष्ट्वाऽनन्तं सकृद्भक्त्या संपूज्य प्रणिपत्य च । राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं दशगुणं लभेत् ॥५८॥
सर्वकामसमृद्धेन कामगेन सुवर्चसा । विमानेनार्कवर्णेन किङ्किणीजालमालिना ॥५९॥
त्रिःसप्तकुलमुद्धृत्य दिव्यस्त्रीगणसेवितः । उपगीयमानो गन्धर्वैर्नरो विष्णुपुरं व्रजेत् ॥६०॥
तत्र भुक्त्वा वरान्भोगाञ्जरामरणवर्जितः । दिव्यरूपधरः श्रीमान्यावदाभूतसंप्लवम् ॥६१॥
पुण्यक्षयादिहाऽऽयातश्चतुर्वेदी द्विजोत्तमः । वैष्णवं योगमास्थाय ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥६२॥
एवं मया त्वनन्तोऽसौ कीर्तितो मुनिसत्तमाः । कः शक्नोति गुणान्वक्तुं तस्य वर्षशतैरपि ॥६३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंम्भृषिसंवादेऽनन्तवासुदेवमाहात्म्यनिरूपणं नाम
षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७६॥

उस प्रतिमा को अखिल लोकों के हित के लिए उस पवित्र, उत्तम तथा दुर्लभ पुरुषोत्तम नामक क्षेत्र में सरिताओं के स्वामी समुद्र ने जल से वाहर कर दिया। द्विजगण ! तव से लेकर उसी मुक्तिदायक क्षेत्र में देवों के देव तथा अखिल कामनाओं के दाता भगवान् रहते हैं। जो मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा भक्तिपूर्वक सवके ईश्वर, सर्वशक्तिमान्, अनन्त वासुदेव की शरण में जाते हैं, वे परम पद को प्राप्त होते हैं। एक वार अनन्त भागवन् के दर्शन, पूजन तथा प्रणाम करने से मनुष्य राजसूय तथा अवश्मेध यज्ञों से दस गुने अधिक फल प्राप्त करते हैं। देहान्त के वाद वे निखिल कामनाओं से सम्पन्न, स्वेच्छाचारी, सूर्य सदृश वर्णवाले तथा क्षुद्र घण्टिकाओं से युक्त विमान पर चढ़कर अपने इक्कीस कुलों का उद्धार करके दिव्य वनिताओं से सुसेवित तथा गन्धर्वों से स्तुत होते हुए विष्णुपुर को जाते हैं ॥५२-६०॥ वहाँ वृद्धत्व तथा मृत्यु से रहित होकर दिव्य रूप धारण कर कल्पान्त तक उत्तम भोगों को भोगते हैं। फिर पुण्यक्षय होने पर इस लोक में आते हैं और चारों वेदों के ज्ञाता द्विजवर होते हैं। तदनन्तर वैष्णव योग में स्थित होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। मुनिश्रेष्ठो ! इस प्रकार मैंने अनन्त भगवान् का गुण-कीर्तन किया है। यों तो सैकड़ों वर्षों में भी उनके गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता है ॥६१-६३॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में व्रह्मा और ऋषिसंवाद-प्रकरण में अनन्तवासुदेवमाहात्म्यनिरूपण
नामक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥१७६॥

---

[1] ख. तद्दत्तां प्र० । [2] ख. ०वानामार्तिहा सर्वकामदः ।

अथ सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पुरुषोत्तमक्षेत्रमाहात्म्यवर्णनम्

ब्रह्मोवाच

एवं वोऽनन्तमाहात्म्यं क्षेत्रं च पुरुषोत्तमम् । भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणां मया प्रोक्तं सुदुर्लभम् ॥१॥
यत्राऽऽस्ते पुण्डरीकाक्षः शङ्खचक्रगदाधरः । पीताम्बरधरः कृष्णः कंसकेशिनिषूदनः ॥२॥
ये तत्र कृष्णं पश्यन्ति सुरासुरनमस्कृतम् । सकर्षणं सुभद्रां च धन्यास्ते नात्र संशयः ॥३॥
त्रैलोक्याधिपतिं देवं सर्वकामफलप्रदम् । ये ध्यायन्ति सदा [1]कृष्णं मुक्तास्ते नात्र संशयः ॥४॥
कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति, रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये ।
ते भिन्नदेहाः प्रविशन्ति [2]कृष्णं हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशनम् ॥५॥
तस्मात्सदा मुनिश्रेष्ठाः कृष्णः कमललोचनः । तस्मिन्क्षेत्रे प्रयत्नेन द्रष्टव्यो मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥६॥
[3]शयनोत्थापने कृष्णं ये पश्यन्ति मनीषिणः । हलायुधं सुभद्रां च [4]हरेः स्थानं व्रजन्ति ते ॥७॥
सर्वकालेऽपि ये भक्त्या पश्यन्ति पुरुषोत्तमम् । रौहिणेयं सुभद्रां च विष्णुलोकं[5] व्रजन्ति ते ॥८॥

अध्याय १७७

पुरुषोत्तम-क्षेत्र का माहात्म्य-वर्णन

ब्रह्मा बोले—इस प्रकार अनन्त का माहात्म्य तथा मनुष्यों के लिए भोग-मोक्ष-दायक एवम् अत्यन्त दुर्लभ पुरुषोत्तम क्षेत्र मैंने बता दिये ॥१॥ उस क्षेत्र में कमललोचन, शंख-चक्र-गदाधारी, पीताम्वर तथा कंस और केशी के संहर्ता कृष्ण वास करते हैं ॥२॥ वहाँ जो मनुष्य देव-राक्षसों से वन्दनीय कृष्ण, बलराम तथा सुभद्रा के दर्शन करते हैं, वे निःसन्देह धन्यवादार्ह हैं ॥३॥ जो त्रिलोकी के स्वामी तथा समस्त कामनाओं के फलदाता कृष्ण का ध्यान करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं, इसमें कोई संशय नहीं ॥४॥ जो कृष्ण में निरत होकर सतत कृष्ण का स्मरण करते हैं अर्थात् रात्रि में तथा उठने पर भी कृष्ण का ध्यान करते हैं, वे शरीर छूटने पर उसी तरह कृष्ण में प्रवेश करते हैं, जैसे मन्त्रपूर्वक छोड़े गये हवि अग्नि में ॥५॥ मुनिवरः! इसलिए मोक्षाभिलाषियों को यत्नपूर्वक उस क्षेत्र में जाकर कमललोचन कृष्ण का दर्शन करना चाहिये ॥६॥ जो सोते-उठते सदा कृष्ण, बलराम तथा सुभद्रा का दर्शन करते हैं, वे विष्णुलोक को जाते हैं ॥७॥ जो सब काल में कृष्ण, बलराम तथा सुभद्रा का दर्शन करते हैं, वे विष्णुलोक को जाते हैं ॥८॥ जो वर्षः में चार मास पुरुषोत्तम क्षेत्र में रहते हैं, वे पृथ्वी पर समस्त तीर्थयात्राओं

---

[1]क. ०ष्णं धन्यास्ते । [2]क. विष्णुं । [3]ख. ०यने बोधने । [4]क. ख. हरिस्था० । [5]क. ०कं च यान्ति ।

आस्ते यश्चतुरो मासान्वार्षिकान्पुरुषोत्तमे । पृथिव्यास्तीर्थयात्रायाः फलं प्राप्नोति चाधिकम् ।।९।।
ये सर्वकालं तत्रैव निवसन्ति मनीषिणः । जितेन्द्रिया जितक्रोधा लभन्ते तपसः फलम् ।।१०।।
तपस्तप्त्वाऽन्यतीर्थेषु वर्षाणामयुतं नरः । यदाप्नोति तदाप्नोति मासेन पुरुषोत्तमे ।।११।।
तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन यत्फलम् । तत्फलं सततं[1] तत्र प्राप्नुवन्ति मनीषिणः ।।१२।।
सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं स्नानदाननेन कीर्तितम् । तत्फलं सततं [2]तत्र प्राप्नुवन्ति मनीषिणः ।।१३।।
[3]सम्यक्तीर्थेन यत्प्रोक्तं व्रतेन नियमेन च । तत्फलं लभते तत्र प्रत्यहं प्रयतः शुचिः ।।१४।।
यस्तु नानाविधैर्यज्ञैर्यत्फलं लभते नरः । तत्फलं लभते तत्र[4] प्रत्यहं संयतेन्द्रियः ।।१५।।
देहं त्यजन्ति पुरुषास्तत्र ये पुरुषोत्तमे । कल्पवृक्षं समासाद्य मुक्तास्ते नात्र संशयः ।।१६।।
वटसागरयोर्मध्ये ये त्यजन्ति कलेवरम् । ते दुर्लभं परं मोक्षं प्राप्नुवन्ति न संशयः ।।१७।।
अनिछन्नपि यस्तत्र प्राणांस्त्यजति मानवः । सोऽपि दुःखविनिर्मुक्तो मुक्तिं प्राप्नोति दुर्लभाम् ।।१८।।
कृमिकीटपतङ्गाद्यास्तिर्यग्योनिगताश्च ये । तत्र देहं परित्यज्य ते यान्ति परमां गतिम् ।।१९।।
भ्रान्तिं लोकस्य पश्यध्वमन्यतीर्थं प्रति द्विजाः । पुरुषाख्येन यत्प्राप्तमन्यतीर्थफलादिकम् ।।२०।।
सकृत्पश्यति यो मर्त्यः श्रद्धया पुरुषोत्तमम् । पुरुषाणां सहस्रेषु स भवेदुत्तमः पुमान् ।।२१।।
प्रकृतेः स परो यस्मात्पुरुषादपि चोत्तमः । तस्माद्वेदे पुराणे च लोकेऽस्मिन्पुरुषोत्तमः ।।२२।।

के फल से अधिक फल प्राप्त करते हैं ।।९।। जो विद्वान् क्रोध तथा इन्द्रियों को जीतकर सव समय वहीं वास करते हैं, वे तपस्या का फल प्राप्त करते हैं ।।१०।। अन्य तीर्थों में दस हजार वर्षों तक तप करने से जितना फल प्राप्त होता है, उतना फल पुरुषोत्तम में एक मास तक तप करने से होता है ।।११।। तपस्या, व्रह्मचर्य तथा आसक्ति त्याग से जो फल मिलता है, वह फल उस क्षेत्र में विद्वानों को सतत प्राप्त होता है ।।१२।। सव तीर्थों में स्नान-दान करने से जो पुण्य होता है, वह फल वहाँ सतत विद्वानों को प्राप्त होता रहता है ।।१३।। तीर्थ, व्रत तथा नियम करने से जो फल मिलता है, वह फल प्रतिदिन पवित्रतापूर्वक वहाँ रहने से प्राप्त होता है ।।१४।। अनेक यज्ञ करने से मनुष्य जो फल प्राप्त करता है, वह फल वहाँ प्रतिदिन इन्द्रिय संयम करने से मिलता है ।।१५।। जो मनुष्य पुरुषोत्तम क्षेत्र में कल्पवृक्ष के समीप देहत्याग करते हैं, वे निःसन्देह मोक्ष प्राप्त करते हैं ।।१६।। वटवृक्ष तथा सागर के मध्य जो शरीर त्याग करते हैं, वे दुर्लभ मोक्ष को प्राप्त करते हैं, इसमें संशय नहीं ।।१७।। न चाहते हुए भी जो मनुष्य वहाँ प्राणत्याग करता है, वह भी दुःख से रहित होकर दुर्लभ मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।।१८।। कृमि, कीट, पतंग आदि तिर्यग् योनिवाले जीव भी वहाँ देहत्याग करने से परम गति को प्राप्त करते हैं ।।१९।। द्विजगण ! दूसरे तीर्थों के प्रति जो लोगों में श्रद्धा है, उसे भ्रान्ति समझिये । क्योंकि अन्य समस्त तीर्थों का फल तो एक पुरुषोत्तम से प्राप्त हो जाता है ।।२०।। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक एक वार भी पुरुषोत्तम का दर्शन कर लेता है, वह हजारों पुरुषों में उत्तम पुरुष होकर जन्म लेता है ।।२१।। जिसलिए प्रकृति तथा पुरुष से भी वह उत्तम है इसलिए इस लोक में वेद और पुराण में वह उत्तम माना गया है ।।२२।। जो पुराण तथा वेदान्त में परमात्मा नाम से पुकारा जाता है,

---

[1] क.ग. विप्राः । [2] ग. विप्राः । [3] ख. ०म्यग्धियां च य० । [4] ग. विप्राः ।

योऽसौ पुराणे वेदान्ते परमात्मेत्युदाहृतः । [1]आस्ते विश्वोपकाराय तेनासौ[2]पुरुषोत्तमः ॥२३॥

पथि श्मशाने गृहमण्डपे वा, रथ्याप्रदेशेष्वपि यत्र कुत्र ।
इच्छन्ननिच्छन्नपि तत्र देहं, संत्यज्य मोक्षं लभते मनुष्यः ॥२४॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तस्मिन्क्षेत्रे द्विजोत्तमाः । देहत्यागो नरैः कार्यः सम्यङ्मोक्षाभिकाङ्क्षिभिः ॥२५॥
पुरुषाख्यस्य माहात्म्यं न भूतं न भविष्यति । त्यक्त्वा यत्र नरो देहं मुक्तिं प्राप्नोति दुर्लभाम् ॥२६॥
गुणानामेकदेशोऽयं मया क्षेत्रस्य कीर्तितः । कः समस्तान्गुणान्वक्तुं शक्तो वर्षशतैरपि ॥२७॥
यदि यूयं मुनिश्रेष्ठा मोक्षमिच्छथ शाश्वतम् । तस्मिन्क्षेत्रवरे पुण्ये निवसध्वमतन्द्रिताः ॥२८॥

व्यास उवाच

ते तस्य वचनं श्रुत्वा ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः । निवासं चक्रिरे तत्र अवापुः परमं पदम् ॥२९॥
तस्माद्यूयं प्रयत्नेन निवसध्वं द्विजोत्तमाः । पुरुषाख्ये वरे क्षेत्रे यदि मुक्तिमभीप्सथ ॥३०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे ब्रह्मऋषिसंवादे क्षेत्रमाहात्म्यवर्णनं नाम सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥११७॥

विश्व के उपकार के लिये पुरुषोत्तम कहलाता है ॥२३॥ पुरुषोत्तम क्षेत्र में मार्ग, श्मशान, गृहमण्डप तथा गलियों में या जहाँ-कहीं भी चाहते हुए या बिना चाहते हुए भी जो मनुष्य देह त्याग करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है ॥२४॥ द्विजश्रेष्ठो ! इसलिए मोक्ष के इच्छुकों को अखिल प्रयत्न करके उस क्षेत्र में शरीर त्याग करना चाहिए ॥२५॥ पुरुषोत्तम के माहात्म्य की समता करनेवाले न कोई तीर्थ हुआ है न होगा । वहाँ देह त्याग करने से मानव दुर्लभ मुक्ति को प्राप्त करता है ॥२६॥ यह तो उस क्षेत्र के गुणों का एकदेशी वर्णन ही मैंने किया है । क्योंकि उसके निखिल गुणों का वर्णन तो कोई सैकड़ों वर्षों में भी नहीं कर सकता ॥२७॥ मुनिवर ! यदि आप लोग शाश्वत मोक्ष चाहते हैं तो आलस्य से रहित होकर उस पवित्र तथा उत्तम क्षेत्र में वास कीजिये ॥२८॥

व्यास ने कहा—अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा के वचनों को सुनकर मुनिवृन्द ने वहाँ निवास करके परमपद को प्राप्त किया । द्विजश्रेष्ठो ! इसलिए यदि आप लोग भी मोक्ष चाहते हों तो प्रयत्नपूर्वक पुरुषोत्तम नामक श्रेष्ठ क्षेत्र में निवास कीजिये ॥२९-३०॥

श्रीब्रमहाह्मपुराण में ब्रह्मा और ऋषियों के संवादप्रकरण में क्षेत्रमाहात्म्यवर्णन नामक एक सौ सतहत्तरवा अध्याय समाप्त ॥१७७॥

---

[1]क. ख. ०स्ते तत्रोप० । [2]क. ख. प्रदेशे

अथाष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

कण्डुचरित्रवर्णनम्

व्यास उवाच

तस्मिन्क्षेत्रे मुनिश्रेष्ठाः सर्वसत्त्वसुखावहे। धर्मार्थकाममोक्षाणां फलदे पुरुषोत्तमे ॥१॥
कण्डुर्नाम महातेजा ऋषिः परमधार्मिकः। सत्यवादी शुचिर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः ॥२॥
जितेन्द्रियो जितक्रोधो वेदवेदाङ्गपारगः। आवाप परमां सिद्धिमाराध्य[1] पुरुषोत्तमम् ॥३॥
अन्येऽपि तत्र संसिद्धा मुनयः संशितव्रताः[2]। सर्वभूतहिता दान्ता जितक्रोधा विमत्सराः ॥४॥

मुनय ऊचुः

कोऽसौ कण्डुः कथं तत्र जगाम[3] परमां गतिम्। श्रोतुमिच्छामहे तस्य चरितं ब्रूहि सत्तम ॥५॥

व्यास उवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः कथां तस्य मनोहराम्। प्रवक्ष्यामि समासेन मुनेस्तस्य विचेष्टितम् ॥६॥
[4]पवित्रे गौतमीतीरे विजने सुमनोहरे। कन्दमूलफलैः[5] पूर्णे [6]समित्पुष्पकुशान्वितैः ॥७॥
नानाद्रुमलताकीर्णे नानापुष्पोपशोभिते। नानापक्षिरुते रम्ये नानामृगगणान्विते ॥८॥

अध्याय १७८

कण्डुऋषि के चरित्र का वर्णन

व्यास ने कहा—मुनिवर ! समस्त जीवों के लिए सुखदायक तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के फल देने वाले उस पुरुषोत्तम नामक क्षेत्र में महातेजस्वी, परमधर्मात्मा, सत्यवादी, पवित्र, दान्त, अखिल प्राणियों के हित में निरत, जितेन्द्रिय, जितक्रोध तथा वेद-वेदांग-पारंगत कण्डु नामक ऋषि ने पुरुषोत्तम विष्णु की आराधना करके सिद्धि प्राप्त की। फिर पूर्णव्रती, अशेष भूतों के हित में निरत, इन्द्रियों का दमन करनेवाले, क्रोध को जीतनेवाले तथा डाह से रहित दूसरे मुनिवृन्द भी वहाँ सिद्धि को प्राप्त हुए ॥१-४॥

मुनियों ने कहा—मुनिश्रेष्ठ ! कण्डु कौन थे ? कैसे उन्होंने परम गति प्राप्त की ? उनका चरित्र वर्णन कीजिये, हम सुनना चाहते हैं ॥५॥

व्यास बोले—मुनिवर ! उनकी मनोहर कथा को सुनिये ! मैं संक्षेप में उनकी क्रिया का वर्णन करूँगा। मुनिश्रेष्ठो ! पवित्र, विजन, मनोहर, कन्द-मूल-फलों से परिपूर्ण, लकड़ी, पुष्प तथा कुशों से युक्त, अनेक वृक्ष-लताओं से प्रपूर्ण, नाना पुष्पों से सुशोभित, विविध पक्षियों से शब्दायमान, रमणीय तथा नाना मृगगणों से युक्त गोदा-

---

[1] क. ख. ०द्धिमवाप्य पु०। [2] क. ख. संयतेन्द्रियवाः। [3] ख. ०म यदिमां। [4] क. प्रसिद्धे। [5] क. ग. ०फलैर्मेध्यैः स०। [6] ख. ०ष्पजलैः कुशैः। ना०।

तत्राऽऽश्रमपदं कण्डोर्बभूव मुनिसत्तमाः। सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं कदलीखण्डमण्डितम् ॥९॥
तपस्तेपे मुनिस्तत्र सुमहत्परमाद्भुतम्। व्रतोपवासैर्नियमैः स्नानमौनसुसंयमैः ॥१०॥
ग्रीष्मे पञ्चतपा भूत्वा वर्षासु स्थण्डिलेशयः। आर्द्रवासास्तु हेमन्ते स तेपे सुमहत्तपः ॥११॥
दृष्ट्वा तु तपसो वीर्यं मुनेस्तस्य सुविस्मिताः। बभूवुर्देवगन्धर्वाः सिद्धविद्याधरास्तथा ॥१२॥
भूमिं तथाऽन्तरिक्षं च दिवं च मुनिसत्तमाः। कण्डुः संतापयामास त्रैलोक्यं तपसो बलात् ॥१३॥
अहोऽस्य परमं धैर्यमहोऽस्य परमं तपः। इत्यब्रुवंस्तदा दृष्ट्वा देवास्तं तपसि स्थितम् ॥१४॥
मन्त्रयामासुरव्यग्राः शक्रेण सहितास्तदा। भयात्तस्य समुद्विग्नास्तपोविघ्नमभीप्सवः ॥१५॥
ज्ञात्वा तेषामभिप्रायं शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः। प्रम्लोचाख्यां वरारोहां रूपयौवनगर्विताम् ॥१६॥
सुमध्यां चारुजङ्घां तां पीनश्रोणिपयोधराम्। सर्वलक्षणसंपन्नां प्रोवाच फलसूदनः ॥१७॥

शक्र उवाच

प्रम्लोचे गच्छ शीघ्रं त्वं यदाऽसौ तप्यते मुनिः। विघ्नार्थं तस्य तपसः क्षोभयस्वां (स्वाऽऽ) शु सुप्रभे ॥१८॥

प्रम्लोचोवाच

तव वाक्यं सुरश्रेष्ठ करोमि सततं प्रभो। किंतु शङ्का ममैवात्र जीवितस्य च संशयः ॥१९॥
बिभेमि तं मुनिवरं ब्रह्मचर्यव्रते स्थितम्। अत्युग्रं दीप्ततपसं ज्वलनार्कसमप्रभम् ॥२०॥
ज्ञात्वा मां स मुनिः क्रोधाद्विघ्नार्थं समुपागताम्। कण्डुः परमतेजस्वी शापं दास्यति दुःसहम् ॥२१॥

वरी के तट पर कण्डु का आश्रम था, जो सब ऋतुओं में होनेवाले फल-पुष्पों से सुसम्पन्न एवम् कदली वृक्षों से शोभित था। उस आश्रम में मुनि व्रत, उपवास, नियम, स्नान, मौन तथा संयम के द्वारा परम अद्भुत तप करते थे। ग्रीष्मऋतु में पञ्चाग्नि-सेवन, वर्षा में भूमिशयन और हेमन्त में गीले वस्त्रों को धारण करके वे महान् तप करते थे। मुनि की तपःशक्ति को देखकर देव, गन्धर्व, सिद्ध तथा विद्याधर अत्यन्त विस्मित हुए। मुनिश्रेष्ठो! कण्डु ने तप के बल से भूमि, आकाश, स्वर्ग—तीनों लोक——को तपा डाला। तपस्या में निरत मुनि को देखकर देवताओं ने कहा—'अहा! इसका महान् धैर्य तथा महान् तप आश्चर्यजनक है।' तब मुनि के भय से उद्विग्न होकर तप में विघ्न डालने की इच्छा से इन्द्र सहित देवगण परस्पर मन्त्रणा करने लगे। देवता के अभिप्राय को समझकर तीनों भुवन के ईश्वर तथा फल देनेवाले इन्द्र ने वनिताओं में श्रेष्ठ, रूप तथा यौवन से गर्वित, सुन्दर कटिवाली, सुन्दर जंघावाली, स्थूल नितम्ब तथा स्तनवाली और सर्वलक्षण सम्पन्न प्रम्लोचा नामक अप्सरा से कहा ॥६-१७॥

इन्द्र बोले—प्रम्लोचा! तुम शीघ्र जाओ! सुन्दर कान्तिवाली! ये जो मुनि तपस्या कर रहे हैं, उनके तप में विघ्न डालकर उन्हें शीघ्र विचलित करो ॥१८॥

प्रम्लोचा बोली—सुरश्रेष्ठ! मैं आपके वचन को सतत पूरा करती हूँ। किन्तु इस बार निश्चित रूप से मेरे जीवन में सन्देह है। ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित, अत्यन्त उग्र, प्रदीप्त तप से युक्त तथा जाज्वल्यमान सूर्य के समान कान्तिवाले उन मुनिवर से मैं डरती हूँ। परम तेजस्वी कण्डु मुनि मुझे विघ्न डालने के लिए आयी हुई समझकर

उर्वशी मेनका रम्भा घृताची पुञ्जिकस्थला। विश्वाची सहजन्या च पूर्वचित्तिस्तिलोत्तमा ।।२२।।
अलम्बुषा मिश्रकेशी शशिलेखा च वामना। अन्याश्चाप्सरसः सन्ति रूपयौवनगर्विताः ।।२३।।
सुमध्याश्चारुवदनाः पीनोन्नतपयोधराः। कामप्रधानकुशलास्तास्तत्र संनियोजय ।।२४।।

ब्रह्मोवाच

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा पुनः प्राह शचीपतिः। तिष्ठन्तु नाम चान्यास्तास्त्वं चात्र कुशला शुभे ।।२५।।
कामं वसन्तं वायुं च सहायार्थे ददामि ते। तैः सार्धं गच्छ सुश्रोणि यत्राऽऽस्ते स महामुनिः ।।२६।।
शक्रस्य वचनं श्रुत्वा तदा सा चारुलोचना। जगामाऽऽकाशमार्गेण तैः सार्धं चाऽऽश्रमं मुनेः ।।२७।।
गत्वा सा तत्र रुचिरं ददर्श वनमुत्तमम्। मुनिं च दीप्ततपसमाश्रमस्थमकल्मषम् ।।२८।।
अपश्यत्सा वनं रम्यं तैः सार्धं नन्दनोपमम्। सर्वर्तुवरपुष्पाढ्यं शाखामृगगणाकुलम् ।।२९।।
पुण्यं पद्मवलोपेतं सपल्लवमहाबलम्। श्रोत्ररम्यान्सुमधुराञ्शब्दान्खगमुखेरितान् ।।३०।।
सर्वर्तुफलभाराढ्यान्सर्वर्तुकुसुमज्ज्वलान्। अपश्यत्पादपांश्चैव विहङ्गैरनुनादितान् ।।३१।।
आम्रानाम्रातकान्भव्यान्नारिकेरान्सतिन्दुकान्। अथ बिल्वांस्तथाजीवान्दाडिमान्बीजपूरकान् ।।३२।।
पनसांल्लकुचान्नीपाञ्शिरीषान्सुमनोहरान्। पारावतांस्तथा कोलानरिमेदाम्लवेतसान् ।।३३।।
भल्लातकानामलकाञ्शतपर्णांश्च किंशुकान्। इङ्गुदान्करवीरांश्च हरीतकीविभीतकान् ।।३४।।

दुःसह शाप देंगे। उर्वशी, मेनका, रम्भा, घृताची, पुञ्जिकस्थला, विश्वाची, सहजन्या, पूर्वचित्ति, तिलोत्तमा, अलम्बुषा, मिश्रकेशी, शशिलेखा, वामना तथा दूसरी भी रूप-यौवन-गर्वित, सुन्दर कटिवाली, सुन्दर मुखवाली, स्थूल एवम् उन्नत स्तनवाली और कामशास्त्र में निपुण अप्सराएँ हैं। उन्हीं को इस कार्य के लिए नियुक्त करें।।१९-२४।।

ब्रह्मा बोले—उसके वचन को सुनकर पुनः इन्द्र ने कहा—'दूसरी अप्सराएँ नहीं जायेंगी। कामिनी ! तुम्हीं इस काम में कुशल हो। कामदेव, वसन्त तथा वायु को तुम्हारी सहायता के लिये देता हूँ। सुन्दर कटिवाली ! उनके साथ तुम उस महामुनि के पास जाओ।' शक्र की बात सुनकर वह मनोहर नेत्र-वाली अप्सरा उनके साथ आकाशमार्ग से मुनि के आश्रम के लिए चल पड़ी। वहाँ जाकर उसने उत्तम वन तथा आश्रमवासी निष्पाप एवम् अत्यन्त तपस्वी मुनि को देखा।।२५-२८।। उसने नन्दनवन तुल्य रमणीय वन को देखा, जो सब ऋतुओं में होनेवाले उत्तम पुष्पों से सम्पन्न, शाखाओं तथा मृगगणों से परिपूर्ण, पवित्र और कमलों तथा पल्लवों से युक्त था। वहाँ खगवृन्द श्रवणसुखद तथा अत्यन्त मधुर शब्द कर रहे थे। उस वन में ऐसे वृक्ष शोभायमान थे, जो सब ऋतुओं में फलते-फूलते थे और जिन पर पक्षियों का समूह मधुरालाप करता रहता था। आम, आमला, सुन्दर नारियल, तिन्दुक (तेंदू), बिल्व, जीव (बकायन), दाड़िम, बीज पूरक, कटहल, बड़हर, कदम्ब, शिरीष, मनोहर पारावत, कोल (बेर), अरिमेद (खैर), अम्लवेतस (अमलबेंत), भल्लातक (भिलावाँ), छतिवन, पलाश, इंगुद (हिंगोट), करवीर, हड़, बहेड़ा—इन वृक्षों को तथा अन्य वृक्षों को भी उस विशालाक्षी अप्सरा ने वहाँ देखा।।२९-३४½।। उसी तरह अशोक

एतानन्यांश्च सा वृक्षान्ददर्श पृथुलोचना । तथैवाशोकपुन्नागकेतकीबकुलानथ ।।३५।।
पारिजातान्कोविदारान्मन्दारेन्दीवरांस्तथा । पाटलाः पुष्पिता रम्या देवदारुद्रुमास्तथा ।।३६।।
शालांस्तालांस्तमालांश्च निचुलाँल्लोमकांस्तथा । अन्यांश्च पादपश्रेष्ठानपश्यत्फलपुष्पितान् ।।३७।।
चकोरैः शतपत्रैश्च भृङ्गराजैस्तथा शुकैः । कोकिलैः कलविङ्कैश्च हारीतैर्जीवजीवकैः ।।३८।।
प्रियपुत्रैश्चातकैश्च तथाऽन्यैर्विविधैः खगैः । श्रोत्ररम्यं सुमधुरं कूजद्भिश्चाप्यधिष्ठितम् ।।३९।।
सरांसि च मनोज्ञानि प्रसन्नसलिलानि च । कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा नीलोत्पलैः शुभैः ।।४०।।
कह्लारैः कमलैश्चैव आचितानि समन्ततः । कादम्बैश्चक्रवाकैश्च तथैव जलकुक्कुटैः ।।४१।।
कारण्डवैर्बकैर्हंसैः कूर्मैर्मद्गुभिरेव च । एतैश्चान्यैश्च कीर्णानि समन्ताज्जलचारिभिः ।।४२।।
क्रमेणैव तथा सा तु वनं बभ्राम तैः सह । एवं दृष्ट्वा वनं रम्यं तैः सार्धं परमाद्भुतम् ।।४३।।
विस्मयोत्फुल्लनयना सा बभूव वराङ्गना । प्रोवाच वायुं कामं च वसन्तं च द्विजोत्तमाः ।।४४।।

प्रम्लोचोवाच

कुरुध्वं मम साहाय्यं यूयं सर्वे पृथक्पृथक् ।।४५।।

ब्रह्मोवाच

एवमुक्त्वा तदा सा तु तथेत्युक्ता सुरैर्द्विजाः । प्रत्युवाचाद्य यास्यामि यत्रासौ संस्थितो मुनिः ।।४६।।
अद्य तं देहयन्तारं[1] प्रयुक्तेन्द्रियवाजिनम् । स्मरशस्त्रगलद्रश्मिं करिष्यामि कुसारथिम् ।।४७।।
ब्रह्मा जनार्दनो वाऽपि यदि वा नीललोहितः । तथाऽप्यद्य करिष्यामि कामबाणक्षतान्तरम् ।।४८।।

पुन्नाग, केतकी, मौलसिरी, पारिजात, कचनार, मन्दार, नीलकमल, पाटला, देवदारु, शाल, ताल, तमाल, निचुल (बेंत), लोमक तथा दूसरे भी फल-पुष्पों से युक्त वृक्षों को उसने देखा। चकोर, मयूर, भृङ्गराज, तोते, कोयल, गौरेये, हारीत, जीवजीवक, प्रियपुत्र, चातक तथा अन्य विविध पक्षीगण मनोरम एवम् सुमधुर शब्द वहाँ कर रहे थे ।।३५-३९।। वहाँ मनोहर तथा स्वच्छ जल से युक्त अनेक सरोवर थे, जो कुमुद, कमल, नील कमल, रक्तकमल, कलहंस, चक्रवाक, जलकुक्कुट, कारण्डव, बक, हंस, कछुए, मद्गु तथा अन्य जलजन्तुओं से व्याप्त थे। काम आदि के साथ प्रम्लोचा ने क्रमशः वन में भ्रमण किया। इस प्रकार परम आश्चर्यजनक मनोरम वन को देखकर उस वरांगना के नेत्र विस्मय से प्रफुल्लित हो गये। द्विजश्रेष्ठो ! तब उसने वायु, काम तथा वसन्त से कहा ।।४०-४४।।

प्रम्लोचा बोली—तुम सब अलग-अलग मेरी सहायता करो ।।४५।।

ब्रह्मा बोले—द्विजगण ! उन्होंने उसका वचन स्वीकार किया। तब उसने कहा—'आज मैं मुनि के पास जाऊँगी। देह का संयमन करनेवाले इन्द्रिय रूपी घोड़ों को जीतनेवाले तथा कुसारथि से युक्त मुनि के घोड़ों की डोरी को आज मैं कन्दर्प रूपी शस्त्र से काट डालूँगी। ब्रह्मा या विष्णु या महेश ही क्यों न हों, उन्हें भी आज मैं काम-

---

[1] ग. देवय०।

इत्युक्त्वा प्रययौ[1] साऽथ यत्रासौ तिष्ठते मुनिः। मुनेस्तपःप्रभावेण प्रशान्तश्वापदाश्रमम् ॥४९॥
सा पुंस्कोकिलमाधुर्ये नदीतीरे व्यवस्थिता। [2]स्तोकमात्रं स्थिता तस्मादगायत वराऽप्सराः ॥५०॥
ततो वसन्तः सहसा[3] बलं समकरोत्तदा। कोकिलारावमधुरमकालिकमनोहरम् ॥५१॥
ववौ गन्धवहश्चैव मलयाद्रिनिकेतनः। पुष्पानुच्चावचान्मेध्यान्पातयंश्च शनैः शनैः ॥५२॥
पुष्पबाणधरश्चैव गत्वा तस्य समीपतः। मुनेश्च क्षोभयामास कामस्तस्यापि मानसम् ॥५३॥
ततो गीतध्वनिं श्रुत्वा मुनिर्विस्मितमानसः। [4]जगाम यत्र सा सुभ्रूः कामबाणप्रपीडित; ॥५४॥
दृष्ट्वा तामाह संदृष्टो विस्मयोत्फुल्ललोचनः। भ्रष्टोत्तरीयो विकलः पुलकाञ्चितविग्रहः ॥५५॥

ऋषिरुवाच

काऽसि कस्यासि सुश्रोणि सुभगे चारुहासिनि। मनो हरसि मे सुभ्रु ब्रूहि सत्यं सुमध्यमे ॥५६॥

प्रम्लोचोवाच

तव कर्मकरा चाहं [5]पुष्पार्थमहमागता। आदेशं देहि मे क्षिप्रं किं करोमि तवाऽऽज्ञया ॥५७॥

व्यास उवाच

श्रुत्वैवं वचनं तस्यास्त्यक्त्वा धैर्यं विमोहितः। आदाय हस्ते तां बालां प्रविवेश स्वमाश्रमम् ॥५८॥

बाण से क्षत-विक्षत कर दूँगी, इतना कहकर वह वहाँ के लिए चल पड़ी, जहाँ मुनि रहते थे। मुनि के तपःप्रभाव से आश्रमस्थ हिंसक जीव भी शान्त हो गये थे। नर कोयलों के मधुरालाप से युक्त नदी तट पर वह रुक गयी। मुनि से थोड़ी ही दूर पर स्थित होकर वह वरांगना गाने लगी। तब सहसा वसन्त ने आकर असमय में ही कोकिलों के आलाप को मनोहर तथा मधुर बना दिया। मलयाचल स्थित सुगन्धित वायु भी धीरे-धीरे वहते हुए छोटे-बड़े सुललित पुष्पों को गिराने लगे। स्वयं कन्दर्प पुष्पों का बाण लेकर मुनि के समीप जाकर उनके मन को विचलित करने लगा। गीतध्वनि सुनकर मुनि आश्चर्यान्वित हो गये और काम-बाण से पीड़ित होकर उसी सुन्दर भौंह-वाली अप्सरा के पास पहुँचे। उसे देखकर विस्मय से मुनि के नेत्र उत्फुल्ल हो गये, उत्तरीय वस्त्र नीचे गिर पड़ा और शरीर में रोमाञ्च हो आया ॥४६-५५॥

ऋषि बोले—सुन्दर नितम्बवाली! मनोहर हास्य करनेवाली! सुन्दरि! तुम कौन हो! किसकी हो? सुन्दर कटिवाली! सुन्दर भौंवाली! सच-सच बतलाओ। तुम मेरे मन का हरण कर रही हो ॥५६॥

प्रम्लोचा बोली—मैं आपकी अनुचरी हूँ। फूलों के लिए मैं यहाँ आयी हूँ। शीघ्र आप अदेश करें। मैं आपकी आज्ञा से सब कुछ कर सकती हूँ ॥५७॥

व्यास ने कहा—उसकी बातों सुनकर मुग्ध मुनि ने धैर्य का परित्याग कर उस कामिनी का हाथ पकड़कर अपने आश्रम में प्रवेश किया ॥५८॥ द्विजश्रेष्ठो! तदनन्तर काम, वायु, तथा वसन्त ने कृतकृत्य होकर स्वर्ग

१क. ख. प्रजगामाथ य०। २क. स्तोमसंत्रासिता। ३ग. ०सा वसन्तम०। ४ख. ०म तत्रै चैवाऽऽशु का०। ५ख. पुष्पकामाऽह०।

ततः कामश्च वायुश्च वसन्तश्च द्विजोत्तमाः। जग्मुर्यथागतं सर्वे कृतकृत्यास्त्रिविष्टपम् ॥५९॥
शशंसुश्च हरिं गत्वा तस्यास्तस्य च चेष्टितम्। श्रुत्वा शक्रस्तदा देवाः प्रीताः सुमनसोऽभवन् ॥६०॥
स च कण्डुस्तया सार्धं प्रविशन्नेव चाऽऽश्रमम्। आत्मनः परमं रूपं चकार मदनाकृति[1] ॥६१॥
रूपयौवनसंपन्नमतीव सुमनोहरम्। दिव्यालंकारसंयुक्तं षोडशवत्सराकृति ॥६२॥
दिव्यवस्त्रधरं कान्तं दिव्यस्रग्गन्धभूषितम्। सर्वोपभोगसंपन्नं सहसा तपसो बलात् ॥६३॥
दृष्ट्वा सा तस्य तद्वीर्यं परं विस्मयमागता। अहोऽस्य तपसो वीर्यमित्युक्त्वा मुदिताऽभवत् ॥६४॥
स्नानं संध्यां जपं होमं स्वाध्यायं देवतार्चनम्। व्रतोपवासनियमं ध्यानं च मुनिसत्तमाः ॥६५॥
त्यक्त्वा स रेमे मुदितस्तया सार्धमहर्निशम्। मन्मथाविष्टहृदयो न बुबोध तपःक्षयम् ॥६६॥
संध्यारात्रिदिवापक्षमासर्त्वयनहायनम्। न बुबोध गतं कालं विषयासक्तमानसः ॥६७॥
सा च तं कामजैर्भावैर्विदग्धा रहसि द्विजाः। वरयामास सुश्रोणिः [2]प्रलापकुशला तदा ॥६८॥
एवं कण्डुस्तया सार्धं वर्षाणामधिकं शतम्। अतिष्ठन्मन्दरद्रोण्यां ग्राम्यधर्मरतो मुनिः ॥६९॥
सा तं प्राह महाभागं गन्तुमिच्छाम्यहं दिवम्। प्रसादसुमुखो ब्रह्मन्ननुज्ञातुं त्वमर्हसि ॥७०॥
तयैवमुक्तः स मुनिस्तस्यामासक्तमानसः। दिनानि कतिचिद्भद्रे स्थीयतामित्यभाषत ॥७१॥

जाकर इन्द्र से अप्सरा तथा मुनि की चेष्टाओं का वर्णन कर दिया। यह सुनकर इन्द्र तथा देवगण अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥५९-६०॥ उस कण्डु ने अप्सरा के साथ आश्रम में प्रवेश करते ही अपना रूप कामदेव जैसा बना लिया। मुनि तपस्या के बल से एकाएक सोलह वर्ष का युवक, रूप-यौवन से सम्पन्न, अत्यन्त सुन्दर दिव्य आभूषणों से विभूषित, दिव्यवस्त्रधारी, कमनीय दिव्य माला तथा सुगंध से युक्त और सब प्रकार के उपभोग से सम्पन्न हो गया। अप्सरा उसकी वह विभूति देखकर परम आश्चर्यित हुई और यह कहकर प्रसन्न हुई कि अहा ! कैसा इसके तप का प्रभाव है। मुनिवर ! तत्पश्चात् वह मुनि स्नान, सन्ध्या, जप, होम, स्वाध्याय, देवपूजन, व्रत, उपवास, नियम तथा ध्यान छोड़कर दिन-रात अप्सरा के साथ आनन्दपूर्वक रमण करने लगा। काम से व्यथित हृदयवाले मुनि ने तपस्या के क्षय को नहीं समझा। विषय में आसक्त चित्त-वाले मुनि ने संध्या, रात, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा वर्ष तक को भी नहीं समझा। द्विजगण ! तदनन्तर बातचीत करने में चतुर एवम् हाव-भाव दिखाने में प्रवीण उस वरांगना ने मुनि का वरण कर लिया। इस प्रकार सौ वर्षों से अधिक काल तक कण्डु मुनि ग्राम्यधर्म में निरत होकर उसके साथ मन्दराचल की झील में पड़ा रहा ॥६१-६९॥ (एक दिन) अप्सरा ने महाभाग्यशाली मुनि से कहा—'मैं स्वर्ग जाना चाहती हूँ। ब्रह्मन् ! आप प्रसन्नता पूर्वक मुझे आज्ञा दीजिये। उसके इतना कहने पर उसमें आसक्त मनवाले मुनि ने कहा—'भद्रे ! कुछ दिन और ठहरो।' तदनन्तर पुनः सौ वर्ष से अधिक समय तक अप्सरा ने उस महात्मा

१ख. मन्मथाकृ०। २ग. प्रचारकु०।

एवमुक्ता ततस्तेन साग्रं वर्षशतं पुनः। बुभुजे विषयांस्तन्वी तेन सार्धं महात्मना ।।७२।।
अनुज्ञां देहि भगवन्व्रजामि त्रिदशालयम्। उक्तस्तयेति स पुनः स्थीयतामित्यभाषत ।।७३।।
पुनर्गते वर्षशते साधिके सा शुभानना। याम्यहं त्रिदिवं ब्रह्मन्प्रणयस्मितशोभनम् ।।७४।।
उक्तस्तयैवं स मुनिः पुनराहाऽऽयतेक्षणाम्। इहाऽऽस्यतां मया सुभ्रु चिरं कालं गमिष्यसि ।।७५।।
तच्छापभीता सुश्रोणी सह तेनर्षिणा पुनः। शतद्वयं किंचिदूनं वर्षाणां समतिष्ठत ।।७६।।
गमनाय महाभागो देवराजनिवेशनम्। प्रोक्तः प्रोक्तस्तया तन्व्या स्थीयतामित्यभाषत ।।७७।।
तस्य शापभयाद्भीरुर्दाक्षिण्येन च दक्षिणा। प्रोक्ता प्रणयभङ्गार्तिवेदिनी न जहौ मुनिम् ।।७८।।
तया च[1] रमतस्तस्य परमर्षेरहर्निशम्। नवं नवमभूत्प्रेम मन्मथासक्तचेतसः ।।७९।।
एकदा तु त्वरायुक्तो निश्चक्रामोटजान्मुनिः। निष्क्रामन्तं च कुत्रेति गम्यते प्राह सा शुभा ।।८०।।
इत्युक्तः स तया प्राह परिवृत्तमहः शुभे। संध्योपास्तिं करिष्यामि क्रियालोपोऽन्यथा भवेत् ।।८१।।
ततः प्रहस्य मुदिता सा तं प्राह महामुनिम्। किमद्य सर्वधर्मज्ञ परिवृत्तमहस्तव ।।
गतमेतन्न कुरुते विस्मयं कस्य कथ्यते ।।८२।।

मुनिरुवाच

प्रातस्त्वमागता भद्रे नदीतीरमिदं शुभम्। मया दृष्टाऽसि सुश्रोणि प्रविष्टा च ममाऽऽश्रमम् ।।८३।।

के साथ विषय का उपभोग किया ।।७०-७२।। तब उसने मुनि से कहा—'भगवन् ! आज्ञा दीजिये। मैं स्वर्ग जाऊँगी।' उसके कहने पर फिर मुनि ने कहा—'नहीं, अभी ठहरो।' पुनः सौ वर्ष से अधिक समय तक ठहरकर अप्सरा ने प्रेम से मुस्कराते हुए कहा—'ब्रह्मन् ! मैं स्वर्ग जाऊँगी।' तब मुनि ने दीर्घ नेत्रवाली उस अप्सरा से कहा—'सुन्दर भौंवाली ! चिरकाल तक मेरे साथ और रहो तब जाना।' मुनि के शाप के डर से वह दो सौ वर्षों से कुछ कम काल तक मुनि के साथ फिर ठहर गयी। तत्पश्चात् उसने इन्द्रपुरी जाने के लिए मुनि से आज्ञा माँगी। पुनः मुनि ने कहा—'अभी ठहरो।' मुनि के शाप के डर से प्रणयभंगजन्य पीड़ा को समझनेवाली उस चतुर अप्सरा ने मुनि का त्याग नहीं किया। उसके साथ रात-दिन रमण करते हुए विषयलोलुप मुनि के हृदय में नवीन-नवीन प्रेम का संचार होने लगा। एक दिन आश्रम से शीघ्रतापूर्वक निकलते हुए मुनि से अप्सरा पूछ बैठी—'कहाँ जा रहे हैं?' मुनि ने उत्तर दिया—'कल्याणि ! दिनान्त हो रहा है, मैं सन्ध्योपासन करूँगा; अन्यथा क्रिया का लोप हो जायगा।'' तब हँसकर अप्सरा ने महामुनि से कहा—'अखिल धर्मों के ज्ञाता ! क्या आज ही दिनान्त हो रहा है? इतने दिन बीत गये। आप क्या करते थे?' ।।७३-८२।।

मुनि बोले—भद्रे ! प्रातःकाल तुम पवित्र नदी-तट पर आयी। सुन्दर नितम्बवाली ! मैंने तुम्हें देखा

---

[1] ग. च वसत०।

इयं च वर्तते संध्या परिणाममहो गतम् । अवहासः किमर्थोऽयं सद्भावः कथ्यतां मम ॥८४॥

प्रम्लोचोवाच

प्रत्यूषस्यागता ब्रह्मन्सत्यमेतन्न मे मृषा । किं त्वद्य तस्य कालस्य गतान्यब्दशतानि ते ॥८५॥
ततः ससाध्वसो विप्रस्तां पप्रच्छाऽऽयतेक्षणाम् । कथ्यतां भीरु कः कालस्त्वया मे रमतः सदा ॥८६॥

प्रम्लोचोवाच

[1]सप्तोत्तराण्यतीतानि नववर्षशतानि च । [2]मासाश्च षट्तथैवान्यत्समतीतं दिनत्रयम् ॥८७॥

ऋषिरुवाच

सत्यं भीरु वदस्येतत्परिहासोऽथवा शुभे । दिनमेकमहं मन्ये त्वया सार्धमिहोषितम् ॥८८॥

प्रम्लोचोवाच

वदिष्याम्यनृतं ब्रह्मन्कथमत्र तवान्तिके । विशेषादद्य भवता पृष्टा मार्गानुगामिना ॥८९॥

व्यास उवाच

निशम्य तद्वचस्तस्याः स मुनिर्द्विजसत्तमाः[3] । धिग्धिङ्मामित्यनाचारं विनिन्द्याऽऽत्मानमात्मना ॥९०॥

और तुम मेरे आश्रम में प्रविष्ट हुई । यह सन्ध्याकाल है । दिन का अवसान हो गया है । क्यों तुम उपहास कर रही हो ? सच्ची बात बतलाओ ॥८३-८४॥

प्रम्लोचा बोली—ब्रह्मन् ! प्रातःकाल मैं आयी—यह कहना आपका ठीक है । किन्तु उस प्रातःकाल को बीते आज सैकड़ों वर्ष हो गये हैं । तब भययुक्त मुनि ने लम्बी आंखों वाली प्रम्लोचा से पूछा—'कहो, तुमसे रमण करते मुझे कितने समय हो गये ?' ॥८५-८६॥

प्रम्लोचा बोली—नौ सौ वर्ष, छह मास, तीन दिन व्यतीत हुए ॥८७॥

ऋषि बोले—कल्याणि ! क्या यह सत्य कह रही हो या उपहास करती हो ? मैं तो समझ रहा हूँ कि तुम्हारे साथ एक ही दिन बीता है ॥८८॥

प्रम्लोचा बोली—ब्रह्मन् ! विशेष करके जब आपने अन्वेषण की दृष्टि से पूछा है तब मैं आपके समीप असत्य क्यों बोलूँ ? ॥८९॥

व्यास बोले—द्विजश्रेष्ठो ! उसका वचन सुनकर मुनि आचारशून्य अपने आपको धिक्कारने लगे तथा निन्दा करने लगे ॥९०॥

---

[1]ख. सप्तन्यूनान्यती० । [2]ख. ०श्च षोडशैवात्र सम० । [3]क. ०माः । विदित्वा इत्य० ।

मुनिरुवाच

तपांसि मम नष्टानि हतं ब्रह्मविदां धनम्। हृतो विवेकः केनापि[1] योषिन्मोहाय निर्मिता ।।९१।।
ऊर्मिषट्कातिगं ब्रह्म ज्ञेयमात्मजयेन मे। गतिरेषा कृता येन धिक्तं काममहाग्रहम् ।।९२।।
व्रतानि[2] सर्ववेदाश्च कारणान्यखिलानि च। नरकग्राममार्गेण कामेनाद्य[3] हतानि मे ।।९३।।
[4]विनिन्द्येत्थं स धर्मज्ञः स्वयमात्मानमात्मना। तामप्सरसमासीनामिदं वचनमब्रवीत् ।।९४।।

ऋषिरुवाच

गच्छ पापे यथाकामं यत्कार्यं तत्त्वया कृतम्। देवराजस्य[5] यत्क्षोभं कुर्वन्त्या भावचेष्टितैः ।।९५।।
न त्वां करोम्यहं भस्म क्रोधतीव्रेण वह्निना। सतां [6]साप्तपदं [7]मैत्र्यमुषितोऽहं त्वया सह ।।९६।।
अथवा तव दोषः कः किंवा [8]कुर्यामहं तव। ममैव दोषो नितरां येनाहमजितेन्द्रियः ।।९७।।
यथा शक्रप्रियार्थिन्या कृतो मत्तपसो व्ययः। त्वया दृष्टिमहामोहमनुनाऽहं जुगुप्सितः ।।९८।।

व्यास उवाच

यावदित्थं स विप्रर्षिस्तां ब्रवीति सुमध्यमाम्। तावत्स्खलत्स्वेदजला सा बभूवातिवेपथुः ।।९९।।
प्रवेपमानां स च तां स्विन्नगात्रलतां सतीम्। गच्छ गच्छेति सक्रोधमुवाच मुनिसत्तमः ।।१००।।

मुनि बोले—मेरे तप नष्ट हो गये, ब्रह्मवेत्ताओं का धन नष्ट हो गया, किसी ने विवेक का अपहरण कर लिया। अहो ! मोह में डालने के लिए ही स्त्रियों की रचना हुई है। कहाँ तो मैं इन्द्रियों को जीतकर ब्रह्म को प्राप्त करनेवाला था और कहाँ मेरी यह दशा ? उस महाग्रह रूपी काम को धिक्कार है जिसने मेरी यह दशा की है। नरकसमूह में पहुँचानेवाले काम ने आज मेरे व्रत, समस्त वेद तथा अखिल कारणों को नष्ट कर दिया। इस प्रकार धर्मज्ञ मुनि ने अपने से अपनी निन्दा करके बैठी हुई उस अप्सरा से कहा ।।९१-९४।।

ऋषि बोले—पापिनी ! तुम स्वेच्छा से चली जाओ। इन्द्र का जो काम तुम्हें करना था वह तुमने हाव-भाव दिखलाकर कर दिया। तीव्र क्रोध रूपी अग्नि से मैं तुम्हें जलाऊँगा नहीं। सज्जनों की जो सप्तपदी मित्रता होती है वह तुमसे हो गयी; क्योंकि सात सौ वर्षों से ऊपर मैं तुम्हारे साथ रह चुका हूँ। अथवा तुम्हारा दोष ही क्या है या मैं ही तुम्हारा क्या कर लूँगा ? यह मेरा ही दोष है कि मैं इन्द्रियों को न जीत सका। इन्द्र के कल्याण करने की इच्छा से तुमने मेरे तप का नाश किया। तुम्हारी दृष्टि पड़ते ही मैं महामोह में फँसकर निन्दा का पात्र बन गया ।।९५-९८।।

व्यास बोले—इस प्रकार जब वे ब्राह्मण अप्सरा से कह रहे थे तब वह पसीने से तर-बतर होकर काँप रही थी। उसी अवस्था में मुनि ने क्रोधपूर्वक उससे कहा—'जाओ, जाओ।' फटकार खाकर उस अप्सरा ने आश्रम से

१क. ०पि या मे मोहा०। २ख. ०नि च समस्तानि का०। ३ग. ०नापकृता०। ४ख. ०निन्द्यात्यन्त घ०। ५क. ०स्य तु क्षमं कु०। ६ख. साप्तपदी। ७ख. मैत्री ह्युषि०। ग. कुप्याम्यहं।

सा तु दिर्भर्त्सिता तेन विनिष्क्रम्य तदाश्रमात्। आकाशगामिनी स्वेदं ममार्ज तरुपल्लवैः ॥१०१॥
वृक्षाद्वृक्षं ययौ बाला उदग्रारुणपल्लवैः। निर्ममार्ज च गात्राणि गलत्स्वेदजलानि वै ॥१०२॥
ऋषिणा यस्तदा गर्भस्तस्या देहे समाहितः। निर्जगाम सरोमाञ्चस्वेदरूपी तदङ्गतः ॥१०३॥
तं वृक्षा जगृहुर्गर्भमेकं चक्रे च मारुतः। सोमेनाऽऽप्यायितो गोभिः स तदा ववृधे शनैः ॥१०४॥
मारिषा नाम कन्याऽभूद्वृक्षाणां चारुलोचना। प्राचेतसानां सा भार्या दक्षस्य जननी द्विजाः ॥१०५॥
स चापि भगवान्कण्डुः क्षीणे तपसि सत्तमः। पुरुषोत्तमाख्यं भो विप्रा विष्णोरायतनं ययौ ॥१०६॥
ददर्श परमं क्षेत्रं मुक्तिदं भुवि दुर्लभम्। दक्षिणस्योदधेस्तीरे सर्वकामफलप्रदम् ॥१०७॥
सुरम्यं वालुकाकीर्णं केतकीवनशोभितम्। नानाद्रुमलताकीर्णं नानापक्षिरुतं शिवम् ॥१०८॥
सर्वत्र सुखसंचारं सर्वर्तुकुसुमान्वितम्। सर्वसौख्यप्रदं नृणां धन्यं सर्वगुणाकरम् ॥१०९॥
भृग्वाद्यैः सेवितं पूर्वं मुनिसिद्धवरैस्तथा। गन्धर्वैः किंनरैर्यक्षैस्तथाऽन्यैर्मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥११०॥
ददर्श च हरिं तत्र देवैः सर्वैरलंकृतम्। ब्राह्मणाद्यैस्तथा वर्णैराश्रमस्थैर्निषेवितम् ॥१११॥
दृष्ट्वैव स तदा[1] क्षेत्रं देवं च पुरुषोत्तमम्। कृतकृत्यमिवाऽऽत्मानं मेने स मुनिसत्तमः ॥११२॥
तत्रैकाग्रमना[2] भूत्वा चकाराऽऽराधनं हरेः। ब्रह्मपारमयं कुर्वञ्जपमेकाग्रमानसः ॥
ऊर्ध्वबाहुर्महायोगी स्थित्वाऽसौ मुनिसत्तमः ॥११३॥

निकलकर आकाश-मार्ग से गमन करती हुई तरु-पल्लवों से पसीने को पोंछ डाला। एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर होती हुई वह जाती थी और घर्मजल को वृक्ष-पल्लवों से पोंछ देती थी। ऋषि ने उसके शरीर में जो गर्भाधान किया था, वह गर्भ पसीना बनकर उसके अंगों से निकल गया। वृक्षों ने उस गर्भ को ग्रहण कर लिया और वायु ने उसे एकत्रित कर दिया। चन्द्रमा अपनी किरणों द्वारा उसे पालने लगे। तब वह धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उसी गर्भ से वृक्षों की चारुनेत्रा मारिषा नामक कन्या उत्पन्न हुई, जो प्रचेताओं की पत्नी तथा दक्ष की माता बनी। भगवान् कण्डु भी तप के क्षय हो जाने पर पुरुषोत्तम नामक विष्णु-क्षेत्र को चले गये ॥९९-१०६॥ दक्षिण समुद्र के तट पर उन्होंने मोक्षदायक, पृथ्वी पर दुर्लभ, अखिल कामनाओं के फल को देनेवाले, मनोहर, वालुका से परिपूर्ण, केतकीवन से सुशोभित, अनेक वृक्ष-लताओं से व्याप्त, नाना पक्षियों से शब्दित तथा कल्याणकारी क्षेत्र को देखा। वहाँ सर्वत्र सुख का साम्राज्य था। सब ऋतुओं में होनेवाले पुष्प खिले हुए थे। मनुष्यों को समस्त सुख प्राप्त थे। वह क्षेत्र मानो निखिल गुणों की निधि था। पहले भृगु आदि मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष तथा अन्य मोक्षाभिलाषियों ने उस क्षेत्र की सेवा की थी। वहाँ पर कण्डु ने देवगणों से अलंकृत तथा ब्राह्मण आदि वर्णों एवं आश्रमवासियों से सुसेवित हरि को देखा। पुरुषोत्तम देव तथा क्षेत्र को देखते ही वे अपने को कृत-कृत्य मानने लगे। वहाँ एकाग्रचित्त होकर हरि की आराधना करने लगे। उन्होंने भुजाओं को उठाकर एकाग्र मन से ब्रह्मपार मन्त्र का जप करते हुए योगाभ्यास करना आरम्भ कर दिया ॥१०७-११३॥

---

[1] ख. ०दा देवं क्षेत्रे वै पुरुषोत्तमे। कु०। [2] क. ख. ०मतिर्भूत्वा।

मुनय ऊचुः

ब्रह्मपारं [1]मुने श्रोतुमिच्छामः परमं[2] शुभम्। जपता कण्डुना देवो येनाऽऽराध्यत केशवः ॥११४॥

व्यास उवाच

पारं परं विष्णुरपारपारः, परः परेभ्यः [3]परमात्मरूपः ।
स ब्रह्मपारः परपारभूतः, परः पराणामपि पारपारः ॥११५॥
स कारणं [4]कारणसंश्रितोऽपि, तस्यापि हेतुः [5]परहेतुहेतुः ।
[6]कार्योऽपि चैष सह कर्मकर्तृ..... [7]रूपैरनेकैरवतीह [8]सर्वम् ॥११६॥
ब्रह्म प्रभुर्ब्रह्म स सर्वभूतो, ब्रह्म प्रजानां पतिरच्युतोऽसौ ।
ब्रह्माव्ययं नित्यमजं स विष्णुरपक्षयाद्यैरखिलैरसङ्गः ॥११७॥
ब्रह्माक्षरमजं नित्यं यथाऽसौ पुरुषोत्तमः। तथा रागादयो दोषाः प्रयान्तु प्रशमं मम ॥११८॥

व्यास उवाच

श्रुत्वा तस्य [9]मुनेर्जप्यं ब्रह्मपारं द्विजोत्तमाः। भक्तिं च परमां ज्ञात्वा सुदृढां पुरुषोत्तमः ॥११९॥
प्रीत्या स परया देवस्तदाऽसौ भक्तवत्सलः। गत्वा तस्य [10]समीपं तु प्रोवाच मधुसूदनः ॥१२०॥
मेघगम्भीरया वाचा दिशः संनादयन्निव। आरुह्य गरुडं विप्रा विनताकुलनन्दनम् ॥१२१॥

मुनियों ने कहा—मुने ! हम परम पवित्र ब्रह्मपार मन्त्र के विषय में सुनना चाहते हैं, जिसका जप करते हुए कण्डु ने केशव की आराधना की थी ॥११४॥

व्यास बोले—विष्णु पारंपर, अपारपार, परों से भी परे तथा परमात्मा स्वरूप हैं। वे ब्रह्मपार, परपारभूत, परों से भी परे तथा पारपार हैं ॥११५॥ वे कारण, कारणों के आश्रय, कारणों के कारण तथा दूसरों के कारणों के कारण हैं। वे कार्य, कर्म, कर्ता होते हुए भी अनेक रूपों से सब की रक्षा करते हैं। वे ब्रह्म, प्रभु, सर्वभूतमय तथा प्रजाओं के स्वामी हैं। वे अविनाशी, नित्य, अजन्मा, विष्णु तथा क्षय आदि से रहित हैं। जैसे पुरुषोत्तम भगवान् ब्रह्म, अविनाशी, अजन्मा तथा नित्य हैं वैसे मेरे राग आदि दोष शान्त हो जायँ ॥११६-११८॥

व्यास बोले—द्विजवर ! मुनि के ब्रह्मपार मन्त्र का जप सुनकर तथा अत्यन्त दृढ़ भक्ति जानकर भक्तवत्सल भगवान् परम प्रसन्न हो गये। तब विनता के वंश को बढ़ानेवाले गरुड़ पर चढ़कर मधुसूदन मुनि के समीप जाकर मेघ के समान गम्भीर वाणी से दिशाओं को शब्दित करते हुए कहने लगे ॥११९-१२१॥

---

१. मुनेः। २क. ख. स्तवम्। ३ग. परमार्थरूपी। ४क. ०णतस्ततो०। ५ख. ०रपारहे०। ६क. ग. कार्येषु चैवं स०। ७क. ख. ०रशेषैर०। ८क. विष्णुः। ९क. ०नेर्वाक्यं ब्र०। ख. ०नेर्जप्यं। १०ख. समीपे।

श्रीभगवानुवाच

मुने ब्रूहि परं कार्यं यत्ते मनसि वर्तते। वरदोऽहमनुप्राप्तो वरं वरय सुव्रत ॥१२२॥
श्रुत्वैवं वचनं तस्य देवदेवस्य चक्रिणः। चक्षुरुन्मील्य सहसा ददर्श पुरतो हरिम् ॥१२३॥
अतसीपुष्पसंकाशं पद्मपत्रायतेक्षणम्। शङ्खचक्रगदापाणि मुकुटाङ्गदधारिणम् ॥१२४॥
चतुर्बाहुमुदाराङ्गं पीतवस्त्रधरं शुभम्। श्रीवत्सलक्ष्मसंयुक्तं वनमालाविभूषितम् ॥१२५॥
सर्वलक्षणसंयुक्तं सर्वरत्नविभूषितम्। दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गं दिव्यमाल्यविभूषितम् ॥१२६॥
ततः स विस्मयाविष्टो रोमाञ्चिततनूरुहः। दण्डवत्प्रणिपत्योर्व्यां प्रणाममकरोत्तदा ॥१२७॥
अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं तपः। इत्युक्त्वा [1]मुनिशार्दूलास्तं स्तोतुमुपचक्रमे ॥१२८॥

कण्डुरुवाच

नारायण हरे कृष्ण श्रीवत्साङ्क जगत्पते। [2]जगद्बीज जगद्धाम जगत्साक्षिन्नमोऽस्तु ते ॥१२९॥
अव्यक्त जिष्णो[3] प्रभव प्रधानपुरुषोत्तम। पुण्डरीकाक्ष गोविन्द[4] लोकनाथ नमोऽस्तु ते ॥१३०॥
हिरण्यगर्भ श्रीनाथ पद्मनाथ सनातन। भूगर्भ ध्रुव ईशान हृषीकेश नमोऽस्तु ते ॥१३१॥
अनाद्यन्तामृताजेय जय त्वं जयतां वर। अजिताखण्ड श्रीकृष्ण श्रीनिवास नमोऽस्तु ते ॥१३२॥
पर्जन्यधर्मकर्ता च दुष्पार दुरधिष्ठित। दुःखार्तिनाशन हरे जलशायिन्नमोऽस्तु ते ॥१३३॥

श्री भगवान् बोले—मुने ! तुम्हारे मन में जो हो सो बोलो। मैं तुम्हें वर देने आया हूँ। सुव्रती ! वर माँगो। देवों के देव तथा चक्रधारी विष्णु के वचन को सुनकर मुनि ने जब आँखें खोलीं तो सामने अलसी-पुष्प के समान वर्णवाले, कमलपत्र के समान दीर्घ नेत्रवाले, हाथों में शंख, चक्र तथा गदा धारण करनेवाले, मुकुट तथा अंगद पहिननेवाले, चार भुजावाले, सुडौल अंगवाले, पीतवस्त्रधारी, पवित्र, श्रीवत्स-चिह्न से युक्त, वनमाला से विभूषित, सर्वलक्षणसम्पन्न, समस्त रत्नों से आभूषित, दिव्य चन्दन से लिप्तांग और दिव्य माला से सुशोभित हरि को देखा। भूमि पर दण्ड की तरह गिरकर मुनि ने केशव को प्रणाम किया और 'आज मेरा जन्म सफल हुआ, आज मेरा तप सफल हुआ' यह कहकर उनकी स्तुति प्रारंभ की ॥१२२-१२८॥

कण्डु बोले—नारायण! हरे! श्रीवत्सचिह्न से युक्त! जगत्पते! जगद्बीज! जगद्धाम! जगत्साक्षिन्! आपको नमस्कार है॥१२९॥ अव्यक्त! जयशील! आदिकारण! प्रधान! पुरुषोत्तम! कमललोचन! गोविन्द! लोकनाथ! आपको नमस्कार है॥१३०॥ हिरण्यगर्भ! लक्ष्मीनाथ! पद्मनाथ! सनातन! भूगर्भ! ध्रुव! ईशान! हृषीकेश! आपको नमस्कार है॥१३१॥ अनादि! अनन्त! अमर! अजेय! विजेताओं में श्रेष्ठ! आपकी जय हो! अजित! अखण्ड! श्रीकृष्ण! श्रीनिवास! आपको नमस्कार है॥१३२॥ मेघ के धर्मों के कर्ता! दुष्पार! दुराश्रय! दुःख तथा आर्ति के नाशक! हरे! जलशायिन्! आपको नमस्कार

---

[1] क. ख. ०लाः संस्तो०। [2] ख. ०गद्धातर्जग०। [3] क. विष्णो। [4] क. ०न्द जगन्नाथ जगत्पते।

भूतपाव्यक्त भूतेश भूततत्त्वैरनाकुल। भूताधिवास भूतात्मन्भूतगर्भ नमोऽस्तु ते ॥१३४॥
यज्ञयज्वन्यज्ञधर यज्ञधाताऽभयप्रद। यज्ञगर्भ हिरण्याङ्ग [1]पृश्निगर्भ नमोऽस्तु ते ॥१३५॥
क्षेत्रज्ञ क्षेत्रभृत्क्षेत्री क्षेत्रहा क्षेत्रकृद्वशी। क्षेत्रात्मन्क्षेत्ररहित क्षेत्रस्रष्ट्रे नमोऽस्तु ते ॥१३६॥
गुणालय गुणावास गुणाश्रय गुणावह। गुणभोक्तृ गुणाराम गुणत्यागिन्नमोऽस्तु ते ॥१३७॥
त्वं विष्णुस्त्वं हरिश्चक्री त्वं जिष्णुस्त्वं जनार्दनः। त्वं भूतस्त्वं वषट्कारस्त्वं भव्यस्त्वं भवत्प्रभुः ॥१३८॥
त्वं भूतकृत्त्वमव्यक्तस्त्वं भवो भूतभृद्भवान्। त्वं भूतभावनो देवस्त्वामाहुरजमीश्वरम् ॥१३९॥
त्वमनन्तः कृतज्ञस्त्वं प्रकृतिस्त्वं वृषाकपिः। त्वं रुद्रस्त्वं दुराधर्षस्त्वममोघस्त्वमीश्वरः ॥१४०॥
त्वं विश्वकर्मा [2]जिष्णुस्त्वं त्वं शंभुस्त्वं वृषाकृतिः। त्वं शंकरस्त्वमुशना त्वं सत्यं त्वं तपो जनः ॥१४१॥
त्वं विश्वजेता[3] त्वं शर्म त्वं शरण्यस्त्वमक्षरम्। त्वं शंभुस्त्वं स्वयंभूश्च त्वं ज्येष्ठस्त्वं परायणः ॥१४२॥
[4]त्वमादित्यस्त्वमोंकारस्त्वं प्राणस्त्वं तमिस्रहा। त्वं पर्जन्यस्त्वं प्रथितस्त्वं वेधास्त्वं सुरेश्वरः ॥१४३॥
त्वमृग्यजुः साम चैव त्वमात्मा संमतो भवान्। त्वमग्निस्त्वं च पवनस्त्वमापो वसुधा भवान् ॥१४४॥
त्वं स्रष्टा त्वं तथा भोक्ता होता त्व च हवि : त्वं प्रभुस्त्वं विभुः श्रेष्ठस्त्वं लोकपतिरच्युतः ॥१४५॥

त्वं सर्वदर्शनः श्रीमांस्त्वं सर्वदमनोऽरिहा। त्वमहस्त्वं तथारात्रिस्त्वामाहुर्वत्सरं [5]बुधाः ॥१४६॥
त्वं कालस्त्वं कला काष्ठा त्वं मुहूर्तः क्षणा लवाः। त्वं बालस्त्वं तथा वृद्धस्त्वं पुमान्स्त्री नपुंसकः ॥१४७॥
त्वं विश्वयोनिस्त्वं चक्षुस्त्वं वेदाङ्गं[6] त्वमव्ययः। त्वं वेदवेदस्त्वं धाता विधाता त्वं समाहितः ॥१४८॥

है ॥१३३॥ भूतरक्षक! अव्यक्त! भूतेश! पंचमहाभूतों के तत्त्वों से अव्यग्र! भूताधिवास! भूतात्मन्! भूतगर्भ! आपको नमस्कार है ॥१३४॥ यज्ञकर्ता! यज्ञघर! यज्ञधाता! अभयदाता! यज्ञगर्भ! हिरण्यांग! पृश्निगर्भ! आपको नमस्कार है ॥१३५॥ क्षेत्रज्ञ! क्षेत्रभर्ता! क्षेत्री! क्षेत्रत्यागी! क्षेत्रकर्ता! वशी! क्षेत्रात्मा! क्षेत्ररहित! क्षेत्रस्रष्टा! आपको नमस्कार है ॥१३६॥ गुणालय! गुणावास! गुणाश्रय! गुणावह! गुणभोक्ता! गुणाराम! गुणत्यागी! आपको नमस्कार है ॥१३७॥ आप विष्णु हैं। आप हरि हैं। आप चक्रधारी हैं। आप जयशील हैं। आप जनार्दन हैं। आप भूत, वषट्कार, भव्य, प्रभु, भूतकर्ता, अव्यक्त, भव, भूतभर्ता तथा भूतों के कारण हैं। आपको अजन्मा तथा ईश्वर कहा गया है ॥१३८-१३९॥ आप अनन्त, कृतज्ञ, प्रकृति, वृषाकपि, रुद्र, अत्युग्र, अमोघ, विश्वकर्मा, शंकर, शुक्र, सत्य, तप, जन, विश्वजेता, कल्याण, शरण्य, अक्षर, स्वयंभू, ज्येष्ठ, परायण, आदित्य, ओंकार, प्राण, सूर्य, मेघ, प्रथित, वेधा, सुरेश्वर, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आत्मा, सम्मत, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, स्रष्टा, भोक्ता, होता, हवि, यज्ञ, प्रभु, विभु, श्रेष्ठ, लोकपति, अच्युत, सर्वदर्शन, श्रीमान्, सर्वदमन, शत्रुनाशन, दिन तथा रात्रि हैं। पण्डितों ने आपको वर्ष कहा है ॥१४०-१४६॥ आप काल, कला, काष्ठा, मुहूर्त, क्षण, लव, बालक, वृद्ध, पुरुष, स्त्री, नपुंसक, विश्वयोनि, नेत्र, स्थाणु, शुचिश्रवा, शाश्वत, अजित, इन्द्र, उत्तम, विश्व

१ख. पृथ्वीग०। २क. ०ष्णुस्त्वमश्विनौ त्वं जनार्दनः। त्वं। ३क. ख. ०श्वरेतास्त्वं श०। ४ख. स्त्वमाकाशस्त्वं। ५ख. द्विजाः। ६ग. ०दान्तस्त्वम०।

त्वं जलनिधिरामूलं त्वं धाता त्वं पुनर्वसुः। त्वं वैद्यस्त्वं धृतात्मा च त्वमतीन्द्रियगोचरः ॥१४९॥
त्वमग्रणीर्ग्रामणीस्त्वं त्वं सुपर्णस्त्वमादिमान्। त्वं संग्रहस्त्वं सुमहत्त्वं धृतात्मा त्वमच्युतः ॥१५०॥
त्वं गुरुस्त्वं यमस्त्वं च नियमस्त्व[1] प्रांशुस्त्वं चतुर्भुजः। त्वमेवान्नान्तरात्मा त्वं परमात्मा त्वमुच्यते ॥१५१॥
त्वं गुरुतमस्त्वं[2] वामस्त्वं प्रदक्षिणः। त्वं पिप्पलस्त्वमगमस्त्वं व्यक्तस्त्वं प्रजापतिः ॥१५२॥
हिरण्यनाभस्त्वं देवस्त्वं शशी त्वं प्रजापतिः। अनिर्देश्यवपुस्त्वं वै त्वं यमस्त्वं सुरारिहा ॥१५३॥
त्वं च संकर्षणो देवस्त्वं कर्ता त्वं सनातनः। त्वं वासुदेवोऽमेयात्मा त्वमेव गुणवर्जितः ॥१५४॥
त्वं ज्येष्ठस्त्वं वरिष्ठस्त्वं त्वं सहिष्णुश्च माधवः। सहस्रशीर्षा त्वं देवस्त्वमव्यक्तः सहस्रदृक् ॥१५५॥
सहस्रपादस्त्वं देवस्त्वं विराट्त्वं सुरप्रभुः। त्वमेव तिष्ठसे भूयो देवदेव दशाङ्गुलः ॥१५६॥
यद्भूतं तत्त्वमेवोक्तः पुरुषः शक्र उत्तमः। यद्भाव्यं तत्त्वमीशानस्त्वममृतस्त्वं तथाऽमृतः ॥१५७॥
त्वत्तों रोहत्ययं लोको महीयांस्त्वमनुत्तमः। त्वं ज्यायान्पुरुषस्त्वं च त्वं देव दशधा स्थितः ॥१५८॥
विश्वभूतश्चतुर्भागो नवभागोऽमृतो दिवि। [3]नवभागोऽन्तरिक्षस्थः[4] पौरुषेयः[5] सनातनः[6] ॥१५९॥
भागद्वयं च भूसंस्थं चतुर्भागोऽप्यभूदिह। त्वत्तो यज्ञाः संभवन्ति जगतो[7] वृष्टिकारणम् ॥१६०॥
त्वत्तो विराट्समुत्पन्नो जगतो हृदि यः पुमान्। सोऽतिरिच्यत भूतेभ्यस्तेजसा यशसा श्रिया ॥१६१॥
त्वत्तः सुराणामाहारः पृषदाज्यमजायत। ग्राम्यारण्याश्चौषधयस्त्वत्तः पशुमृगादयः ॥१६२॥
ध्येयध्यानपरस्त्वं च कृतवानसि चौषधीः। त्वं देवदेव सप्तास्य कालाख्यो दीप्तविग्रहः ॥१६३॥

को सुख देनेवाले, वेदांग, अव्यय, वेदों के वेद, धाता, विधाता, समाहित, समुद्र, पुनर्वसु नक्षत्र, वैद्य, धृतात्मा, इन्द्रियों से परे, अग्रनेता, ग्रामनेता, सुपर्ण, आदिमान्, संग्रह, अतिमहान्, यम, नियम, पांशु, चतुर्भुज, अन्न, अन्तरात्मा, परमात्मा, गुरु, गुरुतम, वाम, प्रदक्षिण, पिप्पल, अगम, व्यक्त, प्रजापति, हिरण्यनाभ, देव, चन्द्रमा, अनिर्दिष्ट शरीरवाले, राक्षसनाशन, बलराम, कर्ता, सनातन, वासुदेव, अमितात्मा, गुणवर्जित, ज्येष्ठ, वरिष्ठ, सहिष्णु, माधव, सहस्र सिरवाले, सहस्र नेत्रवाले, सहस्र पैरवाले, विराट् तथा देवों के प्रभु हैं। देवदेव ! दशांगुल परिमित देव भी आप ही हैं ॥१४७-१५७॥ भूत आप ही हैं। पुरुषोत्तम शक्र आप ही को कहा गया है। भविष्य, ईशान तथा अमृत भी आप ही हैं। आपसे इस लोक की उत्पत्ति होती है। आप अत्यन्त महान् तथा सबसे उत्तम हैं। हे देव ! आप ज्येष्ठ पुरुष तथा दस प्रकार से स्थित हैं ॥१५८-१५९॥ आप विश्व में चार भागों से, स्वर्ग में नौ भागों से, आकाश में भी नौ भागों से और पृथ्वी पर दो एवम् चार भागों से भी अवस्थित हैं। आप सनातन पुरुष हैं। संसार में वृष्टि के कारण यज्ञ आपसे उत्पन्न होते हैं। आपसे ही विराट् उत्पन्न हुए हैं, जो संसार के हृदय में पुरुष रूप से विद्यमान हैं। वे ऽतेज, यश तथा शोभा में भूतों से बढ़कर हैं। आपसे देवताओं का आहार—दधिसिक्त घृत—उत्पन्न हुआ। ग्रामीण एवम् ओषधियाँ तथा पशु, मृग आदि आपसे उत्पन्न हुए। आप ध्येय तथा ध्यानपरायण हैं। ओषधियों का निर्माण आपने

१ख. ०स्त्वं पशु०। २क. ख. ०स्त्वं बालस्त्वं। ३क. ०भागान्त०। ४क. ग. ०क्षस्थाः पौ०। ५क. ग. ०षेयाः स०। ६क. ग. ०तनाः। भा०। ७ख. ०तो व्युष्टि०।

जङ्गमाजङ्गमं सर्वं जगदेतच्चराचरम्। त्वत्तः सर्वमिदं जातं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१६४॥
अनिरुद्धस्त्वं माधवस्त्वं प्रद्युम्नः सुरारिहा। देव सर्वसुरश्रेष्ठ सर्वलोकपरायण ॥१६५॥
त्राहि मामरविन्दाक्ष नारायण नमोऽस्तु ते। नमस्ते भगवन्विष्णो नमस्ते पुरुषोत्तम ॥१६६॥
नमस्ते सर्वलोकेश नमस्ते कमलालय। गुणालय नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु गुणाकर ॥१६७॥
वासुदेव नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु सुरोत्तम। जनार्दन नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु सनातन ॥१६८॥
नमस्ते योगिनां गम्य योगावास नमोऽस्तु ते। गोपते श्रीपते विष्णो नमस्तेऽस्तु मरुत्पते ॥१६९॥
जगत्पते जगत्सूते नमस्ते ज्ञानिनां पते। दिवस्पते नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु महीपते ॥१७०॥
नमस्ते मधुहन्त्रे च नमस्ते पुष्करेक्षण[1]। कैटभघ्न नमस्तेऽस्तु सुब्रह्मण्य नमोऽस्तु ते ॥१७१॥
नमोऽस्तु ते महामीन श्रुतिपृष्ठधराच्युत। समुद्रसलिलक्षोभ पद्मजाह्लादकारिणे ॥१७२॥
अश्वशीर्ष महाघोण महापुरुषविग्रह। मधुकैटभहन्त्रे च नमस्ते तुरगानन ॥१७३॥
महाकमठभोगाय पृथिव्युद्धरणाय च। विधृताद्रिस्वरूपाय महाकूर्माय ते नमः ॥१७४॥
नमो महावराहाय पृथिव्युद्धारकारिणे। नमश्चाऽऽदिवराहाय विश्वरूपाय वेधसे[2] ॥१७५॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय मुख्याय च वराय च। परमाणुस्वरूपाय योगिगम्याय ते नमः ॥१७६॥

ही किया। देवों के देव ! आप सात मुखों वाले, देदीप्यमान शरीरधारी काल पुरुष हैं। स्थावर, जंगम या चराचर रूप यह सम्पूर्ण जगत् आपसे उत्पन्न हुआ है तथा आप में प्रतिष्ठित है। आप अनिरुद्ध, माधव, प्रद्युम्न तथा राक्षसनाशन हैं ॥१६०-१६४½॥ देव ! सकल देवों में श्रेष्ठ ! समस्त-लोक-परायण ! मेरी रक्षा करें ! कमलाक्ष ! नारायण ! आपको नमस्कार है। भगवन् ! विष्णो ! पुरुषोत्तम ! आपको नमस्कार है। समस्त लोकों के ईश्वर ! आपको नमस्कार है। कमलालय ! आपको नमस्कार है। गुणालय ! आपको नमस्कार है। गुणाकर ! आपको नमस्कार है ॥१६५-१६७॥ वासुदेव ! आपको नमस्कार है। सुरोत्तम ! आपको नमस्कार है। जनार्दन ! आपको नमस्कार है। सनातन ! आपको नमस्कार है ॥१६८॥ योगियों के प्राप्य ! आपको नमस्कार है ! योगावास ! आपको नमस्कार है। इन्द्रियपते ! लक्ष्मीपते ! विष्णो ! आपको नमस्कार है। मरुत्पते ! जगत्पते ! जगदुत्पादक ! आपको नमस्कार है। ज्ञानियों के स्वामी ! स्वर्ग के स्वामी ! आपको नमस्कार है। पृथ्वीपते ! आपको नमस्कार है ॥१६९-१७०॥ मधुनाशन ! आपको नमस्कार है। कमललोचन ! आपको नमस्कार है। कैटभ के मारनेवाले ! आपको नमस्कार है। सुब्रह्मण्य ! आपको नमस्कार है ॥१७१॥ महामत्स्य ! आपकों नमस्कार है। वेदों को पीठ पर धारण करनेवाले! ”३व४व१८आपको नमस्कार है। समुद्र के जल को संक्षुब्ध करनेवाले! ब्रह्मा को प्रसन्न करनेवाले! आपको नमस्कार है। अश्व के समान सिरवाले! महानासिकावाले! महापुरुष का शरीर धारण करनेवाले! मधु-कैटभ-नाशन! आपको नमस्कार है। अश्व के समान मुखवाले! महाकच्छप का रूप धारण करनेवाले! पृथिवी के उद्धारक! पर्वतस्वरूप! महाकूर्मस्वरूप! आपको नमस्कार है। महावराहस्वरूप! आपको नमस्कार है। आदिवराहरूप! विश्वरूप! ब्रह्मन्! आपको नमस्कार है। अनन्त! सूक्ष्म! मुख्य! श्रेष्ठ!

---

[1] क. तुरगानन। [2] ख. ०से। जगन्नाथाय सू०।

तस्मै नमः कारणकारणाय, योगीन्द्रवृत्तनिलयाय सुदुर्विदाय ।
क्षीरार्णवाश्रितमहाहिसुतल्पगाय, तुभ्यं नमः कनकरत्नसुकुण्डलाय ।।१७७।।

व्यास उवाच

इत्थं स्तुतस्तदा तेन प्रीतः प्रोवाच माधवः। क्षिप्रं ब्रूहि मुनिश्रेष्ठ मत्तो यदभिवाञ्छसि ।।१७८।।

कण्डुरुवाच

संसारेऽस्मिञ्जगन्नाथ दुस्तरे लोमहर्षणे। अनित्ये दुःखबहुले कदलीदलसंनिभे ।।१७९।।
निराश्रये निरालम्बे जलबुद्‌बुदचञ्चले[1]। सर्वोपद्रवसंयुक्ते दुस्तरे चातिभैरवे ।।१८०।।
भ्रमामि सुचिरं कालं मायया मोहितस्तव। न[2] चान्तमभिगच्छामि विषयासक्तमानसः ।।१८१।।
त्वामहं चाद्य देवेश संसारभयपीडितः। गतोऽस्मि शरणं कृष्ण मामुद्धर भवार्णवात् ।।१८२।।
गन्तुमिच्छामि परमं पदं यत्ते सनातनम्। प्रसादात्तव देवेश पुनरावृत्तिदुर्लभम् ।।१८३।।

श्रीभगवानुवाच

भक्तोऽसि मे मुनिश्रेष्ठ मामाराधय नित्यशः। मत्प्रसादाद् ध्रुवं मोक्षं प्राप्स्यसि त्वं समीहितम् ।।१८४।।
मद्‌भक्ताः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातिजाः। प्राप्नुवन्ति परां सिद्धिं किं पुनस्त्वं द्विजोत्तम।१८५।।
श्वपाकोऽपि च मद्‌भक्तः सम्यक्श्रद्धासमन्वितः। प्राप्नोत्यभिमतां सिद्धिमन्येषां[3] तत्र का कथा।।१८६।।

परमाणुस्वरूप ! योगिगम्य ! आपको नमस्कार है ।।१७२-१७६।। कारणों के कारण ! योगीन्द्रों की वृत्ति के आश्रय ! अत्यन्त दुर्ज्ञेय ! क्षीरसमुद्रस्थित महासर्परूपी शय्या पर सोनेवाले ! सुवर्ण एवम् रत्न के कुण्डल पहिननेवाले ! आपको नमस्कार है ।।१७७।।

व्यास बोले—इस प्रकार स्तुति करने पर माधव प्रसन्न होकर कहने लगे—'मुनिश्रेष्ठ ! तुम जो चाहते हो, वह शीघ्र मुझसे माँगो' ।।१७८।।

कण्डु बोले—जगन्नाथ ! दुष्पार, रोमाञ्चकारी, अनित्य, विविध दुःखों से युक्त, केले के पत्तों के समान स्थित, निराश्रय, निरालम्ब, पानी के बुलबुले के समान चञ्चल, अखिल उपद्रवों से युक्त तथा अति भयंकर इस संसार में आपकी माया से मोहित होकर मैं चिरकाल से चक्कर काट रहा हूँ। मन के विषय में आसक्त होने के कारण मैं इसका अन्त नहीं पा रहा हूँ। देवेश ! संसार के भय से पीड़ित होकर आज मैं आपकी शरण में प्राप्त हूँ। कृष्ण ! संसाररूपी समुद्र से मेरा उद्धार कीजिये। देवों के स्वामी ! आपकी कृपा से मैं आपके सनातन परम पद को प्राप्त करना चाहता हूँ, जहाँ से फिर लौटना न पड़े ।।१७९-१८३।।

श्रीभगवान् बोले—मुनिवर! तुम मेरे भक्त हो। नित्य मेरी आराधना करो। मेरी कृपा से तुम निश्चय अभिलषित मोक्ष को प्राप्त करोगे। मेरे भक्त क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र तथा चाण्डाल तक भी परा सिद्धि को प्राप्त करते

---

[1] क. ०दसंनिभे। स०। [2] क. न शान्तिम०। [3] ग. ०न्येषामत्र।

व्यास उवाच

एवमुक्त्वा तु तं विप्राः स देवो भक्तवत्सलः। दुर्विज्ञेयगतिर्विष्णुस्तत्रैवान्तरधीयत ॥१८७॥
गते तस्मिन्मुनिश्रेष्ठाः कण्डुः संहृष्टमानसः। सर्वान्कामान्परित्यज्य स्वस्थचित्तो[1]ऽभवत्पुनः ॥१८८॥
सर्वेन्द्रियाणि संयम्य निर्ममो निरहंकृतिः। एकाग्रमानसः [2]सम्यग्ध्यात्वा तं पुरुषोत्तमम् ॥१८९॥
निर्लेपं निर्गुणं शान्तं सत्तामात्रव्यवस्थितम्। अवाप परमं मोक्षं सुराणामपि दुर्लभम् ॥१९०॥
यः पठेच्छृणुयाद्वाऽपि कथां कण्डोर्महात्मनः। विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स्वर्गलोकं स गच्छति ॥१९१॥
एवं मया मुनिश्रेष्ठाः कर्मभूमिरुदाहृता। मोक्षक्षेत्रं च परमं देवं च पुरुषोत्तमम् ॥१९२॥

ये पश्यन्ति विभुं स्तुवन्ति वरदं [3]ध्यायन्ति मुक्तिप्रदं।
भक्त्या श्रीपुरुषोत्तमाख्यमजरं संसारदुःखापहम् ॥१९३॥
ते भुक्त्वा मनुजेन्द्रभोगममलाः स्वर्गे च दिव्यं सुखं।
पश्चाद्यान्ति समस्तदोषरहिताः स्थानं हरेरव्ययम् ॥१९४॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे कण्डोरुपाख्याननिरूपणं नामाष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७८॥

हैं। तुम तो फिर ब्राह्मण हो। पूर्ण श्रद्धालु भक्त चाण्डाल भी अभिमत सिद्धि को प्राप्त करता है, औरों की तो कथा ही क्या? ॥१८४-१८६॥

व्यास बोले—विप्रवृन्द! भक्तवत्सल तथा दुर्विज्ञेय विष्णु इतना कहकर वहीं अन्तर्धान हो गये। उनके चले जानें पर अत्यन्त प्रसन्न चित्तवाले कण्डु समस्त कामों को छोड़कर पुनः स्वस्थचित्त हो गये। निखिल इन्द्रियों का संयमन कर निर्मम, निरहंकार तथा एकाग्रचित्त होकर निर्लेप, निर्गुण, शान्त तथा सत्तामात्र से अवस्थित पुरुषोत्तम का सम्यक् ध्यान करके उन्होंने देवदुर्लभ मोक्ष को प्राप्त किया। महात्मा कण्डु की कथा को जो पढ़ेगा या सुनेगा, वह समस्त पापों से मुक्त होकर स्वर्ग जायेगा। मुनिवर! इस प्रकार मैंने कर्मभूमि, मोक्ष-क्षेत्र तथा पुरुषोत्तम देव का वर्णन कर दिया। जो सर्वव्यापक, वरदायक, मोक्षदायक, अजर तथा संसार-दुःखनाशन श्री पुरुषोत्तम का भक्तिपूर्वक ध्यान, दर्शन तथा स्तुति करते हैं, वे मनुजेन्द्र निर्मल तथा समस्त दोषों से रहित होकर स्वर्ग में दिव्य सुख का उपभोग करके पश्चात् हरि के अविनाशी स्थान को प्राप्त करते हैं ॥१८७-१९४॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषियों के संवादप्रकरण में कण्डु का उपाख्यान-निरूपण नामक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥१७८॥

---

[1] ग. ०त्तो जितेन्द्रियः। स०। [2] क. ख. ०म्यग्ज्ञात्वा। [3] क. सुचिरं।

अथोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

बादरायणं प्रति श्रीकृष्णावतारविषयको मुनीनां प्रश्नः

लोमहर्षण उवाच

व्यासस्य वचनं श्रुत्वा मुनयः [1]संयतेन्द्रियाः। प्रीता बभूवुः संहृष्टा विस्मिताश्च पुनः पुनः ॥१॥

मुनय ऊचुः

अहो भारतवर्षस्य त्वया संकीर्तिता गुणाः। तद्वच्छ्रीपुरुषाख्यस्य क्षेत्रस्य पुरुषोत्तम ॥२॥
[2]विस्मयो हि न चैकस्य श्रुत्वा माहात्म्यमुत्तमम्। पुरुषाख्यस्य क्षेत्रस्य प्रीतिश्च वदतां वर ॥३॥
चिरात्प्रभृति चास्माकं संशयो हृदि वर्तते। त्वदृते संशयस्यास्य छेत्ता नान्योऽस्ति भूतले ॥४॥
उत्पत्तिं बलदेवस्य कृष्णस्य च महीतले। भद्रायाश्चैव कात्स्न्येन पृच्छामस्त्वां महामुने ॥५॥
किमर्थं तौ समुत्पन्नौ कृष्णसंकर्षणावुभौ। वसुदेवसुतौ वीरौ[3] स्थितौ नन्दगृहे मुने ॥६॥
निःसारे मृत्युलोकेऽस्मिन्[4] दुःखप्रायेऽतिचञ्चले। जलबुद्बुदसंकाशे भैरवे लोमहर्षणे ॥७॥
विण्मूत्रपिच्छलं कष्टं संकटं दुःखदायकम्। कथं घोरतरं तेषां गर्भवासमरोचत ॥८॥

अध्याय १७९

श्रीकृष्णावतार के संबंध में व्यास जी से मुनियों का प्रश्न

सूत बोले—व्यास के वचन को सुनकर जितेन्द्रिय मुनिगण परम हर्षित तथा आश्चर्य-चकित हुए ॥१॥

मुनियों ने कहा—पुरुषपुंगव! अहा! भारतवर्ष का और उसी तरह श्रीपुरुष नामक क्षेत्र का गुण-वर्णन आपने कर दिया ॥२॥ पर वक्ताओं में श्रेष्ठ, एक पुरुषक्षेत्र के ही उत्तम माहात्म्य को सुनकर हमें संतोष तथा विस्मय नहीं हो रहा है ॥३॥ क्योंकि चिरकाल से हमारे हृदय में अनेक संशय हो रहे हैं, जिनका निराकरण विना आपके पृथ्वी पर कोई नहीं कर सकता है ॥४॥ महामुने! वलदेव, कृष्ण तथा सुभद्रा की उत्पत्ति के विषय में हम विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं ॥५॥ किसलिए कृष्ण तथा वलराम उत्पन्न हुए और क्यों दोनों वीर वसुदेव के पुत्र होकर नन्द के घर में पाले-पोसे गये? ॥६॥ साररहित, दुःखयुक्त, अत्यन्त चञ्चल, पानी के बुलबुले के समान अस्थिर, भयंकर तथा रोमाञ्चकारी इस मृत्युलोक में गर्भवास विष्ठा तथा मूत्र से युक्त, संकटमय, दुःखदायक और महाभयंकर माना गया है। तब फिर यह कृष्ण को कैसे अच्छा लगा? वक्ताओं में श्रेष्ठ! उन्होंने पृथ्वी पर जन्म लेकर कौन-से कर्म किये? उन कर्मों को विस्तारपूर्वक हमें बतलाइये ॥७-८॥ उनके अद्भुत तथा लोकोत्तर सम्पूर्ण

---

[1]ग. संजिते०। [2]ग. विस्मये। [3]क. ०रौ सा च न०। ख. ०रौ सा च तत्र गृ०। [4]ख. ०न्दुःखे पापेऽति०।

यानि कर्माणि चक्रुस्ते समुत्पन्ना महीतले। विस्तरेण मुने तानि ब्रूहि नो[1] वदतां वर ॥९॥
समग्रं चरितं तेषामद्भुतं चातिमानुषम्। कथं स भगवान्देवः सुरेशः सुरसत्तमः ॥१०॥
वसुदेवकुले धीमान्वासुदेवत्वमागतः। अमरैश्चाऽऽवृतं पुण्यं पुण्यकृद्भिरलंकृतम् ॥११॥
देवलोकं किमुत्सृज्य मर्त्यलोक इहाऽऽगतः। देवमानुषयोर्नेता द्योर्भुवः प्रभवोऽव्ययः ॥१२॥
किमर्थं दिव्यमात्मानं मानुषेषु न्ययोजयत्। यश्चक्रं वर्तयत्येको मानुषाणामनामयम् ॥१३॥
स मानुष्ये कथं बुद्धिं चक्रे चक्रगदाधरः। गोपायनं यः कुरुते जगतः सार्वभौतिकम् ॥१४॥
स कथं गां गतो विष्णुर्गोपत्वमकरोत्प्रभुः। महाभूतानि भूतात्मा यो दधार चकार च ॥१५॥
श्रीगर्भः स कथं गर्भे स्त्रिया [2]भूचरया धृतः। येन लोकान्क्रमैर्जित्वा त्रिभिर्वै त्रिदशेप्सया ॥१६॥
स्थापिता जगतो मार्गास्त्रिवर्गाश्चाभवस्त्रयः। योऽन्तकाले जगत्पीत्वा कृत्वा तोयमयं वपुः ॥१७॥
लोकमेकार्णवं चक्रे दृश्यादृश्येन[3] चाऽऽत्मना। यः पुराणः पुराणात्मा वाराहं रूपमास्थितः ॥१८॥
विषाणाग्रेण वसुधामुज्जहारारिसूदनः। यः पुरा पुरुहूतार्थे त्रैलोक्यमिदमव्ययम् ॥१९॥
ददौ जित्वा वसुमतीं सुराणां सुरसत्तमः। येन सैंहवपुः कृत्वा द्विधा कृत्वा च तत्पुनः ॥२०॥
पूर्वदैत्यो महावीर्यो हिरण्यकशिपुर्हतः। यः पुरा ह्यनलो भूत्वा और्वः संवर्तको विभुः ॥२१॥
पातालस्थोऽर्णवरसं पपौ तोयमयं हरिः। सहस्रचरणं ब्रह्म सहस्रांशुसहस्रदम् ॥२२॥

चरित्र को सुनाइये। देवताओं में श्रेष्ठ, धीमान् तथा देवों के स्वामी भगवान् ने वसुदेव के कुल में वासुदेवत्व को कैसे प्राप्त किया अर्थात् जन्म लिया? देवताओं से आवृत, पवित्र तथा धर्मात्माओं से अलंकृत देवलोक को छोड़कर क्यों वे मृत्युलोक में आये? देवता तथा मनुष्यों के नायक, स्वर्ग, मर्त्य के आदिकारण तथा अविनाशी होकर किसलिए उन्होंने दिव्य आत्मा को मनुष्य-शरीर में स्थापित किया? जो चक्र-गदा-धारी भगवान् अकेले मनुष्यमात्र के चक्र को चलाते हैं, उन्हें मनुष्य-योनि में आने की इच्छा कैसे हुई? जो प्रभु विष्णु सम्पूर्ण जगत् का पालन करते हैं, वे पृथ्वी पर आकर गोपाल कैसे बने? ॥९-१४$\frac{1}{2}$॥ जो अखिलात्मा पञ्चमहाभूतों का धारण करते हैं, उनको भूमि पर चलनेवाली एक सामान्य स्त्री ने कैसे गर्भ में धारण किया? देवताओं की इच्छा से उन्होंने तीन डगों में तीनों लोकों को जीतकर संसार के मार्गों को सुव्यवस्थित कर दिया। तव त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम भी व्यवस्थित हुए। वे अन्तकाल में जगत् को पीकर जलमय शरीर धारण कर दृश्य तथा अदृश्य आत्मा से लोक को एकार्णव अर्थात् जलप्लावित कर देते हैं॥१५-१७$\frac{१}{२}$॥ पुराण, पुराणात्मा तथा वाराहरूप धारण कर उन्होंने दंष्ट्रा के अग्रभाग से पृथ्वी का उद्धार किया। पूर्वकाल में इन्द्र के लिए तीनों लोक को जीतकर देवश्रेष्ठ विष्णु ने देवताओं को पृथ्वी दे दी। उन्होंने सिंह का शरीर धारण कर पुनः उसके दो भाग करके महावली हिरण्यकशिपु को निहत किया॥१८-२०$\frac{१}{२}$॥ प्राचीन समय में उन्होंने और्व तथा संवर्तक नामक अग्नि होकर पाताल में रहकर समुद्र के जलमय रस को पी लिया। उनके सहस्र चरण तथा सहस्र किरण हैं। वे ब्रह्म हैं तथा सहस्रों के दाता हैं॥२१-२२॥ प्रतियुग में वे सहस्र सिर धारण करते हैं। उनकी नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई, जो ब्रह्मा

---

[1] क. त्वं। [2] ख. भूवरं०। [3] ग. ०न वर्त्मना।

सहस्रशिरसं देवं यमाहुर्वै युगे युगे। नाभ्यां पद्मं समुद्भूतं यस्य पैतामहं गृहम् ॥२३॥
एकार्णवे नागलोके सद्धिरण्मयपङ्कजम्। येन ते निहता दैत्याः संग्रामे तारकामये ॥२४॥
येन देवमयं कृत्वा सर्वायुधधरं वपुः। गुहासंस्थेन [1]चोत्सिक्तः कालनेमिर्निपातितः ॥२५॥
उत्तरान्ते समुद्रस्य क्षीरोदस्यामृतोदधौ। यः शेते शाश्वतं योगमास्थाय तिमिरं महत् ॥२६॥
सुरारणी[2]गर्भमत्त दिव्यं तपः[3] प्रकर्षाददितिः [4]पुराणम्
शक्रं च यो दैत्यगणावरुद्धं,[5] गर्भावधानेन कृतं चकार ॥२७॥
पदानि यो योगमयानि कृत्वा, चकार दैत्यान्सलिलेशयस्थान् ।
कृत्वा स देवांस्त्रिदशेश्वरांस्तु, चक्रे सुरेशं पुरुहूतमेव ॥२८॥
गार्हपत्येन विधिना अन्वाहार्येण कर्मणा। अग्निमावहनीयं च वेदं दीक्षां समिद्ध्रुवम् ॥२९॥
प्रोक्षणीयं स्रुवं चैव आवभृथ्यं तथैव च। अवाक्पाणिस्तु यश्चक्रे हव्यभागभुजस्तथा ॥३०॥
हव्यादांश्च सुरांश्चक्रे कव्यादांश्च पितॄनथ। भोगार्थे यज्ञविधिनाऽयोजयद्यज्ञकर्मणि ॥३१॥
पात्राणि दक्षिणां दीक्षां चरूंश्चोलूखलानि च। यूपं समित्स्रुवं सोमं पवित्रान्परिधीनपि ॥३२॥
यज्ञियानि च द्रव्याणि चमसांश्च तथाऽपरान्। सदस्यान्यजमानांश्च मेधादींश्च क्रतूत्तमान् ॥३३॥
विबभाज पुरा यस्तु पारमेष्ठ्येन कर्मणा। युगानुरूपं यः कृत्वा लोकाननुपराक्रमात् ॥३४॥
क्षणा निमेषाः काष्ठाश्च कलास्त्रैकाल्यमेव च। मुहूर्तास्तिथयो मासा दिनं संवत्सरस्तथा ॥३५॥
ऋतवः कालयोगाश्च प्रमाणं[6] त्रिविधं त्रिषु। आयुःक्षेत्राण्युपचयो लक्षणं रूपसौष्ठवम् ॥३६॥

का घर कहा गया है। वह कमल एकार्णव रूप नागलोक में सुन्दर सुवर्णमय कहा जाता है। उन्होंने तारकामय नामक संग्राम में दैत्यों को निहत किया। उन्होंने देवमय तथा समस्त आयुधों से युक्त शरीर धारण कर गुफा में स्थित होकर कालनेमि का संहार किया। वे क्षीरसमुद्ररूपी अमृतसमुद्र के उत्तरी भाग में महान् अन्धकार रूपी शाश्वत योग में स्थित होकर शयन करते हैं।।२३-२६।। जव तप की प्रकर्षता से देवमाता अदिति ने इन्द्र को गर्भ में धारण किया तब उन्होंने ही दैत्यगणों से गर्भ को वचाया।।२७।। उन्होंने यौगिक चरणों की रचना कर दैत्यों को जल में सुला दिया और देवताओं को स्वर्ग लौटाकर इन्द्र को ही स्वर्ग का अधिनायक बनाया।।२८।। बिना वाणी और हाथ के ही उन्होंने गार्हपत्य (गृहस्थोचित) विधान से अन्वाहार्य कर्म के द्वारा अग्नि, आहवनीय, वेद, दीक्षा, समिधा, ध्रुव, प्रोक्षणीपात्र, स्रुव, आवभृथ्य तथा हव्य-भाग-भोक्ताओं का निर्माण किया। यज्ञकर्म में यज्ञविधि से भोग के लिए देवताओं को हव्यभोक्ता और पितरों को कव्यभोक्ता वनाया। पात्रों, दक्षिणा, दीक्षा, चरु, ओखली, यूप, समिधा, स्रुव, सोम, पवित्री, परिधि, यज्ञिय द्रव्य, चमस, सदस्य, यजमान तथा यज्ञों में उत्तम मेधा आदि का निर्माण करके उन्होंने व्रह्मा आदि के कर्मों का भी विभाग किया। युग के अनुरूप ही उन्होंने लोकों को बनाया।।२९-३४।। उन्होंने अनन्त कर्मों द्वारा क्षण, निमेष, काष्ठा, कला, तीनों काल, मुहूर्त, तिथि, मास, दिन, वर्ष, ऋतु, कालयोग तथा तीनों प्रकार के प्रमाण बनाये। आयु, क्षेत्र, वृद्धि, लक्षण, रूप-सौन्दर्य, तीनों लोक, तीनों देव, तीनों विद्या, तीनों अग्नि, तीनों काल,

---

१क. चोद्रिक्तः। २ग. सुरावली। ३ग. ०प्रहर्षा०। ४क. सुराणाम्। ५क. ०वबुद्धौ ग०। ६क. विविधं।

त्रयो लोकास्त्रयो देवास्त्रैविद्यं पावकास्त्रयः। त्रैकाल्यं त्रीणि कर्माणि त्रयो वर्णास्त्रयोगुणाः ॥३७॥
सृष्टा लोकाः पुरा सर्वे येनानन्तेन कर्मणा। सर्वभूतगतः स्रष्टा सर्वभूतगुणात्मकः ॥३८॥
नृणामिन्द्रियपूर्वेण योगेन रमते च यः। गतागताभ्यां योगेन[1] य एव विधिरीश्वरः ॥३९॥
या गतिर्धर्मयुक्तानामगतिः पापकर्मणाम्। चातुर्वर्ण्यस्य प्रभवश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ॥४०॥
चातुर्विद्यस्य यो वेत्ता चातुराश्रम्यसंश्रयः। दिगन्तरं नमो भूमिर्वायुर्वाऽपि विभावसुः ॥४१॥
चन्द्रसूर्यमयं ज्योतिर्युगेशः क्षणदाचरः। यः परं श्रूयते ज्योतिर्यः परं श्रूयते तपः ॥४२॥
यं परं प्राहुरपरं यः परः परमात्मवान्। आदित्यानां तु यो देवो यश्च दैत्यान्तको विभुः ॥४३॥
युगान्तेष्वन्तको यश्च यश्च लोकान्तकान्तकः। सेतुर्यो लोकसेतूनां मेध्यो यो मेध्यकर्मणाम् ॥४४॥
वेद्यो यो वेदविदुषां प्रभुर्यः प्रभवात्मनाम्। सोमभूतश्च सौम्यानामग्निभूतोऽग्निवर्चसाम् ॥४५॥
यः शक्राणामीशभूतस्तपोभूतस्तपस्विनाम्। विनयो नयवृत्तीनां तेजस्तेजस्विनामपि ॥४६॥
विग्रहो विग्रहार्हाणां गतिर्गतिमतामपि। आकाशप्रभवो वायुर्वायोः [2]प्राणाद्धुताशनः ॥४७॥
दिवो हुताशनः प्राणः प्राणोऽग्निर्मधुसूदनः। रसाच्छोणितसंभूतिः शोणितान्मांसमुच्यते ॥४८॥
मांसात्तु मेदसो जन्म मेदसोऽस्थि निरुच्यते। अस्थ्नो मज्जा समभवन्मज्जातः शुक्रसम्भवः ॥४९॥
शुक्राद्गर्भः समभवद्रसमूलेन कर्मणा। [3]तत्रापां प्रथमो [4]भागः स सौम्यो राशिरुच्यते ॥५०॥
गर्भोष्मसंभवो ज्ञेयो द्वितीयो राशिरुच्यते। शुक्रं सोमात्मकं विद्यादार्तवं पावकात्मकम् ॥५१॥

तीनों कर्म, तीनों वर्ण तथा तीनों गुण का निर्माण किया। वे समस्त प्राणियों में व्याप्त, स्रष्टा तथा अखिल भूतों के गुण रूप हैं॥३५-३८॥ वे मनुष्यों के इन्द्रियपूर्वक योग से रमण करते हैं। वे विधाता तथा ईश्वर हैं। वे धर्मात्माओं के आश्रय तथा पापियों के निराश्रय हैं। वे चारों वर्णों के आदिकारण तथा चारों वर्णों के रक्षक हैं॥३९-४०॥ वे चारों विद्याओं के ज्ञाता तथा चारों आश्रमों के आश्रय हैं। वे दिशा, आकाश, भूमि, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, प्रकाश, युगों के स्वामी तथा नक्षत्र हैं। वे महाज्योति, महातप, पर, अपर तथा परमात्मा कहलाते हैं॥४१-४२½॥ वे आदित्यों के देव, दैत्यों के शत्रु, विभु, युगान्तों में भी कालरूप तथा लोकों के काल के भी काल हैं॥४३½॥ वे लोक-मर्यादाओं में मर्यादारूप, पवित्र कर्मों में पवित्र, वेदवेत्ताओं के ज्ञेय, प्रभु तथा भूतात्मा हैं। सौम्यों के सोमभूत, अग्नि-तेजों के अग्निभूत तथा इन्द्रों के ईशभूत हैं। वे तपस्वियों के तप, विनम्रों के विनय, तेजस्वियों के तेज, शरीरधारियों के शरीर तथा गतिमानों की गति हैं ॥४४-४६½॥ आकाश से वायु और प्राणरूपी वायु से अग्नि की उत्पत्ति हुई। आकाश, अग्नि तथा प्राण भी विष्णु ही हैं। रस से शोणित, शोणित से मांस, मांस से मेदा, मेदा से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य और वीर्य से रसनिर्माण क्रिया द्वारा गर्भ बनता है ॥४७-४९½॥ उसमें पहिला भाग जल का है, जिसे सौम्य राशि कहते हैं। गर्भ की गर्मी से द्वितीय राशि की उत्पत्ति होती है। वीर्य चन्द्रसम्बन्धी तथा रज अग्निसम्बन्धी कहलाता है। भाव रस के अनुसार होते हैं और बीज में अग्नि तथा चन्द्रमा हैं। कफवर्ग में वीर्य होता है

---

[1] ख. यो नेता स ए०। [2] ख. ग. प्राणो हुता०। [3] ख. तत्र यः प्र०। [4] ख. गर्भः।

[1]भावा [2]रसानुगाश्चैषां बीजे च शशिपावकौ। कफवर्गे भवेच्छुक्रं पित्तवर्गे च शोणितम् ॥५२॥
कफस्य हृदयं स्थानं नाभ्यां पित्तं प्रतिष्ठितम्। देहस्य मध्ये हृदयं स्थानं तन्मनसः स्मृतम् ॥५३॥
नाभिकोष्ठान्तरं यत्तु तत्र देवो हुताशनः। मनः प्रजापतिर्ज्ञेयः कफः सोमो विभाव्यते ॥५४॥
पित्तमग्निः स्मृतं त्वेवमग्निसोमात्मकं जगत्। एवं प्रवर्तिते गर्भे वर्धितेऽर्बुदसंनिभे ॥५५॥
वायुः प्रवेशं संचक्रे संगतः परमात्मनः। स पञ्चधा शरीरस्थो भिद्यते [3]वर्तते पुनः ॥५६॥
प्राणापानौ समानश्च उदानो व्यान एव च। प्राणोऽस्य परमात्मानं वर्धयन्परिवर्तते ॥५७॥
अपानः पश्चिमं कायमुदानोर्ध्वं शरीरिणः। व्यानस्तु व्याप्यते येन समानः संनिवर्तते ॥५८॥
भूतावाप्तिस्ततस्तस्य जायेतेन्द्रियगोचरा। पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥५९॥
तस्येन्द्रियनिविष्टानि स्वं स्वं [4]भागं प्रचक्रिरे। पार्थिवं [5]देहमाहुस्तु प्राणात्मानं च मारुतम् ॥६०॥
छिद्राण्याकाशयोनीनि जलात्स्रावः प्रवर्तते। ज्योतिश्चक्षूंषि तेजश्च [6]आत्मा तेषां मनः स्मृतम् ॥६१॥
ग्रामाश्च विषयाश्चैव यस्य वीर्यात्प्रवर्तिताः। इत्येतान्पुरुषः सर्वान्सृजँल्लोकान्सनातनः[7] ॥६२॥
नैधनेऽस्मिन्कथं लोके नरत्वं विष्णुरागतः। एष नः संशयो ब्रह्मन्नेष नो विस्मयो महान् ॥६३॥
कथं गतिर्गतिमतामापन्नो मानुषीं तनुम्। आश्चर्यं परमं विष्णुर्देवैर्दैत्यैश्च कथ्यते ॥६४॥
विष्णोरुत्पत्तिमाश्चर्यं कथयस्व महामुने। प्रख्यातबलवीर्यस्य विष्णोरमिततेजसः ॥६५॥

और पित्तवर्ग में शोणित ॥५०-५२॥ कफ का स्थान हृदय है और पित्त का नाभि। देह के मध्य में हृदय रहता है और उसमें मन। नाभिकोष्ठ के बीच अग्नि का स्थान है। मन प्रजापति कहलाता हैं और कफ चन्द्रमा। पित्त अग्नि कहलाता है और अग्नि तथा चन्द्रमा रूप ही जगत् माना जाता है। इस प्रकार मांसपिण्ड के आकार में गर्भ उत्पन्न होने पर परमात्मा से मिलकर वायु प्रवेश करता है। शरीर में वायु पाँच प्रकार से विभक्त हो जाता है। जैसे—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। प्राण परमात्मा को बढ़ाता है, अपान शरीर के पिछले भाग को और उदान आधे शरीर को। व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है और समान लौट जाता है ॥५३-५८॥ तब भूतों की प्राप्ति उसकी इन्द्रियगोचर होती है। वहाँ पृथिवी, वायु, आकाश, जल तथा अग्नि अपने-अपने भागों की रचना करते हैं। शरीर पृथिवी का भाग है और प्राणात्मा वायु का। शरीर के समस्त छिद्र आकाशमूलक हैं और शोणित आदि का प्रस्रवण जल से होता है। नेत्र, तेज तथा अन्तरात्मा अग्नि का भाग माना गया है। विषयसमूह भी उन्हीं विष्णु के वीर्य से उत्पन्न हुए हैं। इतने लोकों का सर्जन करते हुए सनातन पुरुष मृत्युलोक में मनुष्यत्व को कैसे प्राप्त हुए? ब्रह्मन्! यही हमारा संशय है और यही महान् आश्चर्य है ॥५९-६३॥ गतिमानों की गति कहे जानेवाले विष्णु मानव-शरीर में कैसे आये? देव और दैत्य विष्णु को परम आश्चर्य की वस्तु बतलाते हैं। महामुने! विष्णु की आश्चर्यजनक उत्पत्ति के बारे में कहिये। प्रसिद्ध विक्रमशाली, अत्यन्त तेजस्वी तथा आश्चर्यजनक कर्म

---

[1]ख. भावौ। [2]ख. ०नुगौ ज्ञेयौ वीर्यं च श०। [3]ख. वर्धते। [4]ख. योगं। [5]ग. देवमा०। [6]ग. यन्ता। [7]ग. ०तनान। नै०।

कर्मणाऽऽश्चर्यभूतस्य विष्णोस्तत्त्वमिहोच्यताम्। कथं स देवो देवानामार्तिहा पुरुषोत्तमः ॥६६॥
सर्वव्यापी जगन्नाथः सर्वलोकमहेश्वरः। सर्गस्थित्यन्तकृद्देवः सर्वलोकसुखावहः ॥६७॥
अक्षयः शाश्वतोऽनन्तः क्षयवृद्धिविवर्जितः। निर्लेपो निर्गुणः सूक्ष्मो निर्विकारो निरञ्जनः ॥६८॥
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तः सत्तामात्रव्यवस्थितः। अविकारी विभुर्नित्यः परमात्मा सनातनः ॥६९॥
अचलो निर्मलो व्यापी नित्यतृप्तो निराश्रयः। [1]विशुद्धं श्रूयते यस्य हरित्वं च कृते युगे ॥७०॥
वैकुण्ठत्वं च देवेषु कृष्णत्वं मानुषेषु च। ईश्वरस्य हि तस्येमां गहनां कर्मणो गतिम् ॥७१॥
समतीतां भविष्यं च श्रोतुमिच्छा प्रवर्तते। अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान्प्रभुः ॥७२॥
नारायणो ह्यनन्तात्मा प्रभवोऽव्यय एव च। एष नारायणो भूत्वा हरीरासीत्सनातनः ॥७३॥
ब्रह्मा शक्रश्च रुद्रश्च धर्मः शुक्रो बृहस्पतिः। प्रधानात्मा पुरा ह्येष ब्रह्माणमसृजत्प्रभुः ॥७४॥
सोऽसृजत्पूर्वपुरुषः पुरा कल्पे प्रजापतीन्। एवं स भगवान्विष्णुः सर्वलोकमहेश्वरः ॥
किमर्थं मर्त्यलोकेऽस्मिन्यातो यदुकुले हरिः ॥७५॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे स्वयंभुऋषिसंवादे ऋषिप्रश्ननिरूपणं नामोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१७९॥

करनेवाले विष्णु के तत्त्व को बतलाइये। देवों के दुःख निवारण करनेवाले, पुरुषों में उत्तम, सर्वव्यापक, जगन्नाथ, समस्त लोकों के महान् ईश्वर, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करनेवाले अखिल, लोकों के सुखदायक, अविनाशी, नित्य, अनन्त, ह्रास तथा वृद्धि से रहित, निर्लेप, निर्गुण, सूक्ष्म, निर्विकार, निरञ्जन, निखिल उपाधियों से रहित, सत्तामात्र से अवस्थित, विकारशून्य, विभु, परमात्मा, सनातन, अचल, निर्मल, व्यापक, नित्यतृप्त, निराश्रय देव ने कैसे मृत्युलोक में जन्म लिया ॥६४-७०॥ देवों में वैकुण्ठत्व तथा मनुष्यों में कृष्णत्व उनका प्रसिद्ध है। ऐसे ईश्वर के बीते हुए तथा होनेवाले कर्मों की गहन गति को हम सुनना चाहते हैं। वे अव्यक्त, व्यक्त चिह्नों में स्थित, नारायण, अनन्तात्मा, आदिकारण तथा अव्यय हैं। वे नारायण होकर सनातन हरि हैं ॥ ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, धर्म, शुक्र तथा बृहस्पति भी वे ही हैं। पहिले प्रधानात्मा प्रभु ने ब्रह्मा की सृष्टि की। उस पूर्वपुरुष ब्रह्मा ने प्रजापतियों की रचना की। इस प्रकार भगवान् विष्णु सकल लोकों के महेश्वर हैं। वे किसलिए मृत्युलोक तथा यदुकुल में उत्पन्न हुए? ॥७१-७५॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में ऋषिप्रश्ननिरूपण नामक एक सौ उन्नासीवाँ अध्याय समाप्त ॥१७९॥

---

[1] ख विष्णुत्वं।

अथाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णचरितारम्भः

व्यास उवाच

नमस्कृत्वा सुरेशाय विष्णवे प्रभविष्णवे। पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययाय च ॥१॥
चतुर्व्यूहात्मने तस्मै निर्गुणाय गुणाय च। वरिष्ठाय गरिष्ठाय वरेण्यायामिताय[1] च ॥२॥
यज्ञाङ्गायाखिलाङ्गाय देवाद्यैरीप्सिताय च। यस्मादणुतरं नास्ति यस्मान्नास्ति बृहत्तरम् ॥३॥
येन विश्वमिदं व्याप्तमजेन सचराचरम्। आविर्भावतिरोभावदृष्टादृष्टविलक्षणम् ॥४॥
वदन्ति यत्सृष्टमिति तथैवाप्युपसंहृतम्। ब्रह्मणे चाऽऽदिदेवाय नमस्कृत्य समाधिना ॥५॥
अधिकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने। सर्वैकरूपरूपाय जिष्णवे विष्णवे नमः ॥६॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शंकराय च। वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे[2] ॥७॥
एकानेकस्वरूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः। अव्यक्तव्यक्तभूताय विष्णवे मुक्तिहेतवे ॥८॥
सर्गस्थितिविनाशानां जगतो यो जगन्मयः। मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने ॥९॥
आधारभूतं विश्वस्याप्यणीयांसमणीयसाम्। प्रणम्य सर्वभूतस्थमच्युतं पुरुषोत्तमम् ॥१०॥

अध्याय १८०

श्रीकृष्ण-चरित्र का आरंभ

व्यास ने कहा—सुरेश, विष्णु, प्रभविष्णु, पुरुष, पुराण, शाश्वत, अव्यय, चतुर्व्यूहरूप, निर्गुण, सगुण, वरिष्ठ, गरिष्ठ, वरेण्य, अप्रमेय, यज्ञांग, अखिलांग तथा देवता आदि से अभीप्सित विष्णु को नमस्कार है। जिनसे कोई छोटा या बड़ा नहीं है (उन्हें नमस्कार है), जिन अजन्मा हरि ने चराचर विश्व की सृष्टि की, (उन्हें नमस्कार है), आविर्भाव, तिरोभाव तथा दृष्ट, अदृष्टरूपक जगत् की जिन्होंने सृष्टि की तथा संहार किया (उन्हें नमस्कार है), जो ब्रह्मा, आदिदेव, विकारशून्य, शुद्ध, नित्य, परमात्मा, सदा एकरूप, जयशील तथा विष्णु हैं उन्हें नमस्कार है ॥१-६॥ हिरण्यगर्भ, हरि, शंकर, वासुदेव, तारनेवाले, सृष्टि-स्थिति प्रलय करनेवाले, एक तथा अनेक स्वरूपवाले, स्थूल तथा सूक्ष्म रूपवाले, अव्यक्त एवम् व्यक्त रूपवाले तथा मोक्ष के कारण विष्णु को नमस्कार है। संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के कारण, जगन्मय, परमात्मा विष्णु को नमस्कार है। विश्व के आधार, अणु से भी अणु, सर्वभूतस्थित, पुरुषोत्तम विष्णु को नमस्कार है। ज्ञान के स्वरूप, तत्त्वतः अत्यन्त निर्मल तथा पदार्थ-

---

[1] क. ०यामृता०। [2] ख. ०न्तकर्मणे।

[१]ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं निर्मलं परमार्थतः। तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥११॥
विष्णुं ग्रसिष्णुं विश्वस्य स्थितिसर्गे तथा प्रभुम्। अनादिं जगतामीशमजमक्षयमव्ययम् ॥१२॥
कथयामि यथा पूर्वं यक्षाद्यैर्मुनिसत्तमैः। पृष्टः प्रोवाच भगवानब्जयोनिः पितामहः ॥१३॥
ऋक्सामान्युद्गिरन्वक्त्रैर्यः पुनाति जगत्त्रयम्। प्रणिपत्य तथेशानमेकार्णवविनिर्गतम् ॥१४॥
यस्यासुरगणा यज्ञान्विलुम्पन्ति न याजिनाम्। प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ॥१५॥
येन सृष्टिं समुद्दिश्य धर्माद्याः प्रकटीकृताः। आपो नारा इति [२]प्रोक्ता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। स देवो भगवान्सर्वं व्याप्य नारायणो विभुः ॥१७॥
चतुर्धा संस्थितो ब्रह्मा सगुणो निर्गुणस्तथा। एका मूर्तिरनुद्देश्या शुक्लां पश्यन्ति तां बुधाः ॥१८॥
[३]ज्वालामालावनद्धाङ्गी निष्ठा सा योगिनां परा। दूरस्था चान्तिकस्था च विज्ञेया सा गुणातिगा[४] ॥१९॥
वासुदेवाभिधानाऽसौ[५] निर्ममत्वेन दृश्यते। रूपवर्णादयस्तस्या न भावाः [६]कल्पनामयाः ॥२०॥
आस्ते च सा सदा शुद्धा सुप्रतिष्ठैकरूपिणी। द्वितीया पृथिवीं मूर्ध्ना शेषाख्या धारयत्यधः ॥२१॥
तामसी सा समाख्याता तिर्यक्त्वं समुपागता। तृतीया कर्म कुरुते प्रजापालनतत्परा ॥२२॥
सत्त्वोद्रिक्ता तु सा ज्ञेया धर्मसंस्थानकारिणी। चतुर्थी जलमध्यस्था शेते पन्नगतल्पगा[७] ॥२३॥

रूप से भासित विष्णु को नमस्कार है। संसार को ग्रसनेवाले, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति करने में समर्थ, अनादि, संसार के स्वामी, अजन्मा, अक्षय तथा अव्यय विष्णु को नमस्कार है ॥७-१२॥ पूर्वकाल में यक्ष आदि मुनियों द्वारा पूछे जाने पर कमलयोनि व्रह्मा ने जैसे वतलाया था वैसे मैं कहूँगा। जो ऋग्वेद तथा सामवेद के उच्चारण करके तीनों लोकों को पवित्र करते हैं तथा एकार्णव से निःसृत हैं, उन ईश्वर को प्रणाम है। जिनके याजकों के यज्ञों को राक्षसगण नष्ट नहीं कर पाते हैं, उनको प्रणाम करके अव्यक्तजन्मा व्रह्मा के सम्पूर्ण मत का मैं वर्णन करूँगा। विष्णु ने सृष्टि के उद्देश्य से धर्म आदि को प्रकट किया। तत्त्वदर्शी मुनियों ने जल का नाम 'नार' वतलाया है। पहिले विष्णु का अयन (घर) जल था। इसलिए उनका नाम नारायण पड़ा। वे विभु नारायण भगवान् सवको व्याप्त करके चार प्रकार से अवस्थित व्रह्मा कहलाते हैं। वे सगुण तथा निर्गुण भी हैं। उनकी एक अनुद्देश्य शुक्ल मूर्ति है, जिसे विद्वान् लोग देखते हैं ॥१३-१८॥ वह योगियों की, ज्वाला-माला से वद्ध अंगवाली परा निष्ठा है। वह दूरस्थ, समीपस्थ तथा त्रिगुणातीत है। उसी की ममतारहित वसुदेव संज्ञा कही गयी है। उसके कल्पनामय रूप, वर्ण, भाव आदि नहीं होते। वह सदा शुद्ध, सुप्रतिष्ठित एवम् एकरूपिणी है। शेष नामक दूसरी मूर्ति नीचे पृथ्वी को धारण करती है। वह तामसी कहलाती है। और वक्र वनी रहती है। तीसरी मूर्ति प्रजापालन में निरत होकर कर्म करती है। उसमें सत्त्वगुण की प्रधानता है। वह धर्म की स्थापना करती है। चौथी मूर्ति जल के वीच सर्पशय्या पर सोती है। उसका

---

[१] ख. ज्ञानाद्यरू०। [२] ख. ख्याता। [३] ख. ०लाज्वलद्देहा नि०। [४] क. ०णानुगा। [५] ख. ०ना सा नि०। [६] क. ख. कल्पिता मया। आ०। [७] क. ख. ०गमध्यगा।

रजस्तस्या गुणः सर्गं सा करोति सदैव हि। या तृतीया हरेर्मूर्तिः प्रजापालनतत्परा ॥२४॥
सा तु धर्मव्यवस्थानं करोति नियतं भुवि। प्रोद्धतानसुरान्हन्ति धर्मव्युच्छित्तिकारिणः ॥२५॥
पाति[1] देवान्सगन्धर्वान्धर्मरक्षापरायणान्। यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिः समुपजायते ॥२६॥
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजत्यसौ। भूत्वा पुरा वराहेण तुण्डेनापो निरस्य च ॥२७॥
एकया दंष्ट्रयोत्खाता नलीनीव वसुंधरा। कृत्वा नृसिंहरूपं च हिरण्यकशिपुर्हतः ॥२८॥
विप्रचित्तिमुखाश्चान्ये दानवा विनिपातिताः। वामनं रूपमास्थाय बलिं संयम्य[2] मायया ॥२९॥
त्रैलोक्यं[3] क्रान्तवानेव विनिर्जित्वा दितेः सुतान्[4]। भृगोर्वंशे समुत्पन्नो जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥३०॥
जघान क्षत्रियान्रामः पितुर्वधमनुस्मरन्। तथाऽत्रितनयो भूत्वा दत्तात्रेयः प्रतापवान् ॥३१॥
योगमष्टाङ्गमाचख्यावलर्काय महात्मने। रामो दाशरथिर्भूत्वा स तु देवः प्रतापवान् ॥३२॥
जघान रावणं संख्ये त्रैलोक्यस्य भयंकरम्। यदा चैकार्णवे सुप्तो देवदेवो जगत्पतिः ॥३३॥
सहस्रयुगपर्यन्तं नागपर्यङ्कगो विभुः। योगनिद्रां समास्थाय स्वे महिम्नि व्यवस्थितः ॥३४॥
त्रैलोक्यमुदरे कृत्वा जगत्स्थावरजङ्गमम्। जनलोकगतैः[5] सिद्धैः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥३५॥
तस्य नाभौ समुत्पन्नं पद्मं [6]दिक्पत्रमण्डितम्[7]। मरुत्किञ्जल्कसंयुक्तं गृहं पैतामहं वरम्[8] ॥३६॥
यत्र ब्रह्मा समुत्पन्नो देवदेवश्चतुर्मुखः। तदा कर्णमलोद्भूतौ दानवौ मधुकैटभौ ॥३७॥

गुण रज है। वह सदा ही सृष्टि करती रहती है। हरि की जो तीसरी प्रजापालन में निरत रहनेवाली मूर्ति है, वह पृथ्वी पर धर्म की व्यवस्था करती है, धर्मसंहारक उद्धत असुरों को मारती है और धर्म-रक्षा-परायण देव-गन्धर्वों का पालन करती है। जव-जव धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की वृद्धि होती है तव-तव वह अपनी सृष्टि करती है ॥१९-२६½॥ पूर्वकाल में उसने वराह का रूप धारण कर थूथनी से पानी को हटाकर एक ही दाँत से कमलिनी की तरह पृथ्वी को उखाड़ डाला। नृसिंह रूप धरकर उसने हिरण्यकशिपु को निहत किया और विप्रचित्ति आदि दानवों का संहार किया। वामन रूप धारणकर उसने माया से वलि को वाँधा और दैत्यों को जीतकर तीनों लोक को नाप लिया। भृगुवंश में उत्पन्न होकर प्रतापी परशुराम ने पिता के वैर का स्मरण करके क्षत्रियों का संहार किया ॥२७-३०½॥ उसी तरह अत्रि-पुत्र तेजस्वी दत्तात्रेय होकर उसने महात्मा अलर्क को अष्टांग योग का उपदेश दिया। दशरथ पुत्र ओजस्वी राम होकर उसने युद्ध में त्रैलोक्य-भयंकर रावण का संहार किया। जव एकार्णव में देवदेव जगत्पति अपनी महिमा में व्यवस्थित तथा योगनिद्रा में अवस्थित होकर हजारों युगों तक तीनों लोक (चराचर जगत्) को अपने पेट में रखकर सर्पशय्या पर सो रहे थे तव जनलोकवासी महर्षियों एवम् सिद्धों ने उनकी स्तुति की ॥३१-३५॥ तदनन्तर उनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ, जो दिशा रूपी पत्रों से अलंकृत तथा वायुरूपी किञ्जल्क (कमल-पराग) से युक्त था। वह व्रह्मा का उत्तम गृह हुआ। उसी से चतुर्मुख व्रह्मा उत्पन्न हुए। उस समय भगवान् के कर्णमल से मधु और कैटभ नामक दो महावली तथा महापराक्रमी दानव उत्पन्न होकर व्रह्मा को मारने के लिए

१ख. ०न्सतश्चान्यान्ध०। २क. संयाच्य। ३क. ०क्यं क्रमता तेन निर्जिताश्च दि०। ४क. सुताः। ५ख. ०गणैः सि०। ६क. दिव्यमखण्डि०। ७य. ०म्। ज्वलनार्कप्रतीकाशं शैलकेशरमण्डितम्। मेरुकिञ्ज०। ८क. शुभम्।

महाबलौ महावीर्यौ ब्रह्माणं हन्तुमुद्यतौ। जघान तौ दुराधर्षौ उत्थाय[1] शयनोदधेः ॥३८॥
एवमादींस्तथैवान्यानसंख्यातुमिहोत्सहे। अवतारो ह्यजस्येह माथुरः सांप्रतस्त्वयम् ॥३९॥
इति सा सात्त्विकी मूर्तिरवतारं करोति च[2]। प्रद्युम्नेति समाख्याता रक्षाकर्मण्यवस्थिता ॥४०॥
देवत्वेऽथ मनुष्यत्वे तिर्यग्योनौ च संस्थिता। गृह्णाति तत्स्वभावश्च वासुदेवेच्छया सदा ॥४१॥
ददात्यभिमतान्कामान्पूजिता सा द्विजोत्तमाः। एवं मया समाख्यातः कृतकृत्योऽपि यः प्रभुः॥
मानुषत्वं गतो विष्णुः शृणुध्वं चोत्तरं पुनः ॥४२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासऋषिसंवादे चतुर्व्यूहवर्णनं
नामाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८०॥

अथैकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अवतारप्रयोजनवर्णनम्

व्यास उवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः प्रवक्ष्यामि समासतः। अवतारं हरेश्चात्र भारावतरणेच्छया ॥१॥
यदा यदा त्वधर्मस्य वृद्धिर्भवति भो द्विजाः। धर्मश्च ह्रासमभ्येति तदा देवो जनार्दनः ॥२॥

तैयार हो गये। तव शयन-समुद्र से उठकर विष्णु ने दोनों प्रचण्ड दानवों को मार डाला। इस प्रकार भगवान् के जितने अवतार हो गये हैं, उनकी संख्या मैं नहीं वता सकता। पर अजन्मा के इस अवतार का नाम माथुर है ॥३६-३९॥ भगवान् की प्रद्युम्न नामक सात्त्विकी मूर्ति, जो रक्षाकर्म में लगी रहती है, अवतार लेती है। वासुदेव की इच्छा से वह देवयोनि, मनुष्ययोनि तथा तिर्यग् योनि में भी अवतीर्ण होकर उस उस योनि का स्वभाव ग्रहण करती है। द्विजश्रेष्ठो! पूजित होने पर वह अभीप्सित कामनाओं को प्रदान करती है। इस प्रकार कृतकृत्य होते हुए भी विष्णु मनुष्य-योनि में जैसे अवतीर्ण हुए, वह मैंने वतला दिया। अव इससे आगे सुनिये ॥४०-४२॥

श्री व्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में चतुर्व्यूहवर्णन
नामक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय समाप्त ॥८०॥

अध्याय १८१

अवतार का प्रयोजन-वर्णन

व्यास बोले—मुनिवर! भार उतारने की इच्छा से हरि ने जो अवतार लिया, उसके विषय में मैं संक्षेप से वतलाऊँगा, सुनिये। द्विजगण! जव-जव अधर्म की वृद्धि और धर्म का ह्रास होता है तव-तव जनार्दन साधुओं की

१ख. ०य स महोदधौ। ए०। २क. ख. वै।

अवतारं करोत्यत्र द्विधा कृत्वाऽऽत्मनस्तनुम्। साधूनां रक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥३॥
दुष्टानां निग्रहार्थाय अन्येषां च सुरद्विषाम्। प्रजानां रक्षणार्थाय जायतेऽसौ युगे युगे ॥४॥
पुरा किल मही विप्रा भूरिभारावपीडिता। जगाम धरणी मेरौ समाजे त्रिदिवौकसाम् ॥५॥
सब्रह्मकान्सुरान्सर्वान्प्रणिपत्याथ मेदिनी। कथयामास तत्सर्वं[1] खेदात्करुणभाषिणी ॥६॥

धरण्युवाच

अग्निः सुवर्णस्य गुरुर्गवां सूर्योऽपरो गुरुः। ममाप्यखिललोकानां वन्द्यो नारायणो गुरुः ॥७॥
तत्सांप्रतमिमे दैत्याः कालनेमिपुरोगमाः। मर्त्यलोकं समागम्य[2] बाधन्तेऽहर्निशं प्रजाः ॥८॥
कालनेमिर्हतो योऽसौ विष्णुना प्रभविष्णुना। उग्रसेनसुतः कंसः संभूतः सुमहासुरः ॥९॥
अरिष्टो धेनुकः केशी प्रलम्बो नरकस्तथा। सुन्दोऽसुरस्तथाऽत्युग्रो बाणश्चापि बलेः सुतः ॥१०॥
तथाऽन्ये च महावीर्या नृपाणां भवनेषु ये। समुत्पन्ना दुरात्मानस्तान्न संख्यातुमुत्सहे ॥११॥
अक्षौहिण्यो हि बहुला दिव्यमूर्तिधृताः सुराः। महाबलानां दृप्तानां दैत्येन्द्राणां ममोपरि ॥१२॥
तद्भूरिभारपीडार्ता न शक्नोम्यमरेश्वराः। बिभर्तुमात्मानमहमिति विज्ञापयामि वः ॥१३॥
क्रियतां तन्महाभागा मम भारावतारणम्। यथा रसातलं नाहं गच्छेयमतिविह्वला ॥१४॥

व्यास उवाच

इत्याकर्ण्य धरावाक्यमशेषैस्त्रिदशैस्ततः। भुवो भारावतारार्थं ब्रह्मा प्राह च चोदितः ॥१५॥

रक्षा, धर्म की स्थापना, सुरद्रोही दुष्टों के दण्ड और प्रजा के रक्षण के लिए युग-युग में अपने शरीर को द्विधा विभक्त करके अवतार लेते हैं। प्राचीनकाल में अत्यन्त भार से पीड़ित होकर पृथ्वी सुमेरुपर्वत पर देवताओं के समाज में गई। व्रह्मा सहित अखिल देवों को प्रणाम करके खेद से करुणभाषिणी धरणी अपना वृत्तान्त कहने लगी ॥१-६॥

पृथ्वी बोली—सुवर्ण के गुरु अग्नि हैं, गौओं के गुरु सूर्य हैं और मेरे गुरु अखिल लोकवन्द्य नारायण हैं। इस समय कालनेमि आदि दैत्य मृत्युलोक में आकर रात-दिन प्रजा का उत्पीड़न करते हैं। जिस कालनेमि को विष्णु ने मारा था, वही उग्रसेन का पुत्र महाराक्षस कंस हुआ है। अरिष्ट, धेनुक, केशी, प्रलम्व, नरक, सुन्द, बलि-पुत्र अत्यन्त भयंकर वाण तथा अन्य जो दुरात्मा एवम् महाशक्तिशाली राजगण हैं, उनकी तो मैं संख्या ही नहीं वतला सकती। सुरगण ! मद से चूर्ण महावली दैत्येन्द्रों की दिव्य मूर्तिधारी अक्षौहिणी सेना भी काफी तादाद में मेरे ऊपर भार लाद रही है। अमरवृन्द ! इस महाभार से पीड़ित होकर मैं अपने को नहीं संभाल सकती। यही निवेदन करने के लिए मैं आयी हूँ। महाभागो ! इसलिए मेरे भार उतारने का कोई प्रयत्न कीजिये, ताकि मैं अत्यन्त विह्वल होकर पाताल न चली जाऊँ ॥७-१४॥

व्यास बोले—धरती की यह वात सुनकर समस्त देवों ने व्रह्मा से निवेदन किया। तव पृथ्वी के भार उतारने के निमित्त व्रह्मा ने कहा ॥१५॥

१क. ०र्वं तेभ्यः करु०। २क. ०म्य लुम्पन्तेऽ०।

ब्रह्मोवाच

यदाह वसुधा सर्वं सत्यमेतद्दिवौकसः। अहं भवो भवन्तश्च सर्वं नारायणात्मकम् ॥१६॥
विभूतयस्तु यास्तस्य तासामेव परस्परम्। आधिक्यं न्यूनता बाध्यबाधकत्वेन वर्तते ॥१७॥
तदागच्छत गच्छामः क्षीराब्धेस्तटमुत्तमम्। तत्राऽऽराध्य हरिं तस्मै सर्वं विज्ञापयाम वै ॥१८॥
सर्वदैव जगत्यर्थे स सर्वात्मा जगन्मयः। स्वल्पांशेनावतीर्योर्व्यां धर्मस्य कुरुते स्थितिम् ॥१९॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र सह देवैः पितामहः। समाहितमना[1] भूत्वा तुष्टाव गरुडध्वजम् ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रमूर्ते, सहस्रबाहो बहुवक्त्रपाद ।
नमो नमस्ते जगतः प्रवृत्तिविनाशसंस्थानपराप्रमेय ॥२१॥
सुक्ष्मातिसूक्ष्मं च बृहत्प्रमाणं गरीयसामप्यतिगौरवात्मन् ।
प्रधानबुद्धीन्द्रियवाक्प्रधानमूलापरात्मन्भगवन्प्रसीद ॥२२॥
एषा मही देव महीप्रसूतैर्महासुरैः पीडितशैलबन्धा ।
परायणं त्वां जगतामुपैति, भारावतारार्थमपारपारम् ॥२३॥

ब्रह्मा बोले—देववृन्द ! पृथ्वी ने जो कहा, सब ठीक है । 'मैं, शिव तथा आप लोग सब नारायण के अंश हैं । उनकी जो विभूतियाँ हैं, उन्हीं में परस्पर बाध्यबाधक भाव से कमी-वेसी होती है । इसलिए आइये, हम लोग क्षीरसमुद्र के तट पर चलें । वहाँ हरि की आराधना करके उनसे सब निवेदन करेंगे । जगत् के लिए वे अखिलात्मा तथा जगन्मय प्रभु पृथ्वी पर अवतार लेकर सदा धर्म की स्थापना करते हैं ॥१६-१९॥

व्यास बोले—इतना कहकर देववृन्द सहित ब्रह्मा वहाँ जाकर एकाग्र चित्त से भगवान् की स्तुति करने लगे ॥२०॥

ब्रह्मा बोले—सहस्र रूपवाले ! सहस्र भुजावाले ! वहुत मुख तथा चरणवाले ! आपको नमस्कार है । जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करनेवाले ! अप्रमेय ! आपको नमस्कार है । सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म ! महान् से भी अत्यन्त महान् ! वुद्धि, इन्द्रिय, वाणी तथा प्रकृति रूप ! परात्मन् ! भगवन् ! प्रसन्न होइये । यह पृथ्वी अपने पर उत्पन्न हुए महाराक्षसों द्वारा पीड़ित होकर भार उतरवाने के लिए आपकी शरण में आयी है। आप संसार के रक्षक हैं। आपका कोई पार नहीं पा सकता । सुरनाथ ! हम सब—इन्द्र, अश्विनी कुमार, वरुण

---

[1] ख. ०मतिश्चैव तु० ।

एते वयं वृत्ररिपुस्तथाऽयं, नासत्यदस्रौ वरुणस्तथैषः ।
इमे च रुद्रा वसवः ससूर्याः, समीरणाग्निप्रमुखास्तथाऽन्ये ॥२४॥
सुराः समस्ताः सुरनाथ कार्यमेभिर्मया यच्च तदीश सर्वम् ।
आज्ञापयाऽऽज्ञां प्रतिपालयन्तस्तवैव तिष्ठाम सदाऽस्तदोषाः ॥२५॥

व्यास उवाच

एवं संस्तूयमानस्तु भगवान्परमेश्वरः। उज्जहाराऽऽत्मनः केशौ सितकृष्णौ द्विजोत्तमाः ॥२६॥
उवाच च सुरानेतौ मत्केशौ वसुधातले। अवतीर्य भुवो भारक्लेशहानिं करिष्यतः ॥२७॥
सुराश्च सकलाः स्वांशैरवतीर्य महीतले। कुर्वन्तु युद्धमुन्मत्तैः पूर्वोत्पन्नैर्महासुरैः ॥२८॥
ततः क्षयमशेषास्ते दैतेया धरणीतले। प्रयास्यन्ति न संदेहो[1] नानायुधविचूर्णिताः ॥२९॥
वसुदेवस्य या पत्नी देवकी देवतोपमा। तस्या गर्भोऽष्टमोऽयं तु मत्केशो भविता सुराः ॥३०॥
अवतीर्य च तत्रायं कंसं घातयिता भुवि। कालनेमिसमुद्भूतमित्युक्त्वाऽन्तर्दधे हरिः ॥३१॥
अदृश्याय ततस्तेऽपि प्रणिपत्य महात्मने। मेरुपृष्ठं सुरा जग्मुरवतेरुश्च[2] भूतले ॥३२॥
कंसाय चाष्टमो गर्भो देवक्या धरणीतले[3]। भविष्यतीत्याचचक्षे भगवान्नारदो मुनिः ॥३३॥
कंसोऽपि तदुपश्रुत्य नारदात्कुपितस्ततः। देवकीं वसुदेवं च गृहे गुप्तावधारयत् ॥३४॥
जातं जातं च कंसाय तेनैवोक्तं यथा पुरा। तथैव वसुदेवोऽपि पुत्रमर्पितवान्द्विजाः ॥३५॥

रुद्र, वसु, सूर्य, वायु, अग्नि आदि देवगण—सदा दोषों से रहित होकर आपही के आज्ञापालन में निरत रहते हैं। इसलिए, ईश ! हमें आज्ञा कीजिये ॥२१-२५॥

व्यास बोले—द्विजश्रेष्ठो ! इस प्रकार स्तुति किये जाने पर भगवान् परमेश्वर ने अपने दो सफेद तथा काले केशों को उखाड़कर देवताओं से कहा—'मेरे दोनों केश पृथ्वी पर अवतार लेकर धरती के भारजन्य क्लेशों को दूर करेंगे। सकल देवगण भी अपने अंशों से भूतल पर अवतीर्ण होकर पूर्वोत्पन्न मदमत्त महाराक्षसों से युद्ध करें। तत्पश्चात् अनेक अस्त्र-शस्त्रों से चूर-चूर होकर अशेष दैत्य विनष्ट हो जायेंगे, इसमें संदेह नहीं। देवगण ! वसुदेव की देवतुल्य देवकी नामक पत्नी के आठवें गर्भ से मेरे केश अवतीर्ण होकर अपर कालनेमि कंस को मारेगा।' इतना कहकर हरि अन्तर्हित हो गये। तदनन्तर अदृश्य भगवान् को प्रणाम कर समस्त देवगण सुमेरु पर्वत पर चले गये और पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। (इधर) नारद मुनि ने कंस से आकर कह दिया—पृथ्वी पर 'देवकी का आठवाँ गर्भ तुम्हारे लिए घातक होगा।' नारद की वात सुनकर कंस कुपित हो गया। उसने देवकी तथा वसुदेव को जेल में भेज दिया। द्विजगण! वसुदेव भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार जैसे-जैसे पुत्र उत्पन्न होता वैसे-वैसे लाकर कंस को समर्पित कर देते थे। हिरण्यकशिपु के छह गर्भावस्थित पुत्रों को विष्णु की भेजी हुई योगनिद्रा क्रमशः देवकी के गर्भ में

---

[1] ग. ०हो मद्दृक्पातविर्वाणि०। [2] क. ख. ०रुर्महीत०। [3] क. ग. धरणीधरः।

हिरण्यकशिपोः पुत्राः षड्गर्भा इति विश्रुताः । विष्णुप्रयुक्ता तान्निद्रा क्रमाद्गर्भे न्ययोजयत् ॥३६॥
योगनिद्रा महामाया वैष्णवी मोहितं यया । अविद्यया जगत्सर्वं तामाह भगवान्हरिः ॥३७॥

विष्णुरुवाच

गच्छ निद्रे ममाऽऽदेशात्पातालतलसंश्रयान् । एकैकश्येन षड्गर्भान्देवकीजठरे नय ॥३८॥
हतेषु तेषु कंसेन शेषाख्यों[1]ऽशस्ततोऽनघः । अंशांशेनोदरे तस्याः सप्तमः संभविष्यति ॥३९॥
गोकुले वसुदेवस्य भार्या वै रोहिणी स्थिता । तस्याः प्रसूतिसमये गर्भो नेयस्त्वयोदरम् ॥४०॥
सप्तमो भोजराजस्य भयाद्रोधोपरोधतः । देवक्याः पतितो गर्भ इति लोको वदिष्यति ॥४१॥
गर्भसंकर्षणात्सोऽथ लोके संकर्षणेति वै । संज्ञामवाप्स्यते वीरः श्वेताद्रिशिखरोपमः ॥४२॥
ततोऽहं संभविष्यामि देवकीजठरे शुभे । गर्भे त्वया यशोदाया गन्तव्यमविलम्बितम् ॥४३॥
प्रावृट्काले च नभसि कृष्णाष्टम्यामहं[2] निशि। उत्पत्स्यामि नवम्यां च प्रसूतिं त्वमवाप्स्यसि॥४४॥
यशोदाशयने मां तु देवक्यास्त्वामनिन्दिते । मच्छक्तिप्रेरितमतिर्वसुदेवो नयिष्यति ॥४५॥
कंसश्च त्वामुपादाय देवि शैलशिलातले । प्रक्षेप्स्यत्यन्तरिक्षे च त्वं स्थानं समवाप्स्यसि ॥४६॥
ततस्त्वां शतधा[3] शक्रः प्रणम्य मम गौरवात् । प्रणिपातानतशिरा भगिनीत्वे ग्रहीष्यति ॥४७॥
ततः शुम्भनिशुम्भादीन्हत्वा दैत्यान्सहस्रशः । स्थानैरनेकैः पृथिवीमशेषां मण्डयिष्यसि ॥४८॥

ला-लाकर रख छोड़ती थी। विष्णु ने अपनी महाविद्या योगनिद्रा से, जो अविद्या से संसार को मोहित करती है, कहा ॥२६-३७॥

विष्णु बोले—निद्रे ! तुम जाओ और मेरी आज्ञा से पातालस्थित छहों गर्भों को एक-एक करके देवकी के पेट में रख छोड़ो। कंस द्वारा उनके निहत हो जाने पर मेरा शेष संज्ञक अंश अंशों के अंश से देवकी के पेट में सातवाँ गर्भ होकर अवस्थित होगा। वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी गोकुल में रहती है। प्रसव समय उस गर्भ को लेकर तुम रोहिणी के पेट में रख छोड़ना। तब कंस के भय से या कैद के कारण देवकी का सातवाँ गर्भ गिर पड़ा—इस तरह लोक में जनश्रुति फैल जायगी। गर्भ से गिर जाने के कारण लोक में उस श्वेतपर्वततुल्य वीर की संज्ञा 'संकर्षण' हो जायगी। तदुपरान्त मैं देवकी के पवित्र उदर से उत्पन्न हूँगा। तुम शीघ्र यशोदा के गर्भ में चली जाओ। वर्षाऋतु में भाद्रपद की कृष्णाष्टमी की रात्रि में मैं जन्म लूँगा और नवमी में तुम्हारी उत्पत्ति होगी ॥३८-४४॥ मेरी शक्ति से प्रेरणा पाकर वसुदेव जी मुझे ले जाकर यशोदा की पवित्र शय्या पर छोड़ आयेंगे और तुम्हें लाकर देवकी के बिछौने पर रख देंगे। तब कंस तुम्हें उठाकर पर्वत के शिलातल पर पटक देगा, पर तुम वहाँ से उड़कर आकाश में अपना स्थान प्राप्त कर लोगी। वहाँ इन्द्र मेरी प्रतिष्ठा के कारण तुम्हें माथा टेक कर सैकड़ों बार प्रणाम करके अपनी बहन बनायेंगे। तदनन्तर तुम अनेक स्थानों पर शुम्भ, निशुम्भ आदि सहस्रों दैत्यों को मारकर

---

[1] ग. ०स्ततो मम । अ० । [2] ख. ०ष्टम्यां महानि० । [3] ख. ०तदृक्शक्रः ।

त्वं भूतिः संनतिः कीर्तिः कान्तिर्वै पृथिवी धृतिः । लज्जापुष्टिरुषा या च काचिदन्या त्वमेव सा ॥४९॥
ये त्वामार्येति दुर्गेति वेदगर्भेऽम्बिकेति च । भद्रेति भद्रकालीति [1]क्षेम्या क्षेमंकरीति च ॥५०॥
प्रातश्चैवापराह्णे च स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्तयः । तेषां हि वाञ्छितं[2] सर्वं मत्प्रसादाद्भविष्यति ॥५१॥
सुरामांसोपहारैस्तु भक्ष्यभोज्यैश्च पूजिता । नृणामशेषकामांस्त्वं प्रसन्नायां प्रदास्यसि ॥५२॥
ते सर्वे सर्वदा भद्रा मत्प्रसादादसंशयम् । असंदिग्धं भविष्यन्ति गच्छ देवि यथोदितम् ॥५३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे हरेरंशावतारनिरूपणं
नामैकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८१॥

अथ द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णोत्पत्तिकथानिरूपणम्

व्यास उवाच

यथोक्तं सा जगद्धात्री देवदेवेन वै पुरा[3]। [4]षड्गर्भगर्भविन्यासं चक्रे चान्यस्य कर्षणम् ॥१॥
सप्तमे रोहिणीं प्राप्ते गर्भे गर्भे ततो हरिः । लोकत्रयोपकाराय देवक्याः प्रविवेश वै ॥२॥

सम्पूर्ण पृथ्वी को भूषित करोगी । भूति, संनति, कीर्ति, कान्ति, पृथिवी, धृति, लज्जा, पुष्टि, उषा और जो कोई दूसरी हैं, सब तुम ही हो । जो प्रातःकाल तथा सांयकाल मस्तक झुकाकर आर्या, दुर्गा, वेदगर्भा, अम्बिका, भद्रा, भद्रकाली, क्षेम्या तथा क्षेमंकरी आदि नामों से तुम्हारी स्तुति करेंगे, उनकी समस्त अभिलाषाएँ मेरी कृपा से पूरी होंगी । जो मनुष्य मद्य, मांस, भक्ष्य, भोज्य तथा उपहारों से तुम्हारी पूजा करेंगे, उन्हें तुम प्रसन्न होकर अशेष कामनाएँ प्रदान करोगी । वे सब मेरी कृपा से निःसन्देह कल्याण प्राप्त करेंगे । देवि ! अब तुम मेरे कथनानुसार जाओ ॥४५-५३॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में विष्णु का अवतारनिरूपण नामक
एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय समाप्त ॥१८१॥

अध्याय १८२

श्री कृष्ण की उत्पत्ति-कथा का निरूपण

व्यास बोले—विष्णु के कथनानुसार जगद्धात्री ने छहों गर्भों का वैसा ही विन्यास किया और सातवें गर्भ को रोहिणी के उदर में स्थित कर दिया । तव तीनों लोक के उपकार के लिए भगवान् ने देवकी के उदर में प्रवेश किया ।

---

[1] ख. क्षेमा । [2] क. ख. प्रार्थितं [3] ग. । ०रा । चक्रे ष० । [4] ग. ०र्भवि० ।

योगनिद्रा यशोदायास्तस्मिन्नेव ततो दिने। संभूता जठरे तद्वद्यथोक्तं परमेष्ठिना ॥३॥
ततो ग्रहगणः सम्यक्प्रचचार दिवि द्विजाः। विष्णोरंशे महीं यात ऋतवोऽप्यभवञ्शुभाः ॥४॥
नोत्सेहे देवकीं द्रष्टुं कश्चिदप्यतितेजसा। जाज्वल्यमानं तां दृष्ट्वा मनांसि क्षोभमाययुः ॥५॥
अदृष्टां पुरुषैः स्त्रीभिर्देवकीं देवतागणाः[1] । बिभ्राणां वपुषा विष्णुं तुष्टुवुस्तामहर्निशम् ॥६॥

देवा ऊचुः

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा विद्या सुधा त्वं ज्योतिरेव च । त्वं सर्वलोकरक्षार्थमवतीर्णा महीतले ॥७॥
प्रसीद देवि सर्वस्य जगतस्त्वं शुभं कुरु । प्रीत्यर्थं धारयेशानं धृतं येनाखिलं जगत् ॥८॥

व्यास उवाच

एवं संस्तूयमाना सा [2] देवैर्देवमधारयत् । गर्भेण पुण्डरीकाक्षं जगतां[3] त्राणकारणम् ॥९॥
ततोऽखिलजगत्पद्मबोधायाच्युतभानुना । देवक्याः पूर्वसंध्यायामाविर्भूतं महात्मना ॥१०॥
मध्यरात्रेऽखिलाधारे जायमाने जनार्दने । मन्दं जगर्जुर्जलदाः पुष्पवृष्टिमुचः सुराः ॥११॥
फुल्लेन्दीवरपत्राभं चतुर्बाहुमुदीक्ष्य तम् । श्रीवत्सवक्षसं जातं तुष्टावाऽऽनकदुन्दुभिः ॥१२॥
अभिष्टूय च तं वाग्भिः प्रसन्नाभिर्महामतिः[4] । विज्ञायापमास[5] तदा कंसाद्भीतो द्विजोत्तमाः ॥१३॥

ब्रह्मा के कथनानुसार योगनिद्रा भी उसी दिन यशोदा के उदर में प्रविष्ट हुई। द्विजगण ! पृथ्वी पर विष्णु के अंश के जाने पर ग्रहगण सुचारु रूप से विचरण करने लगे। ऋतुएँ भी सुखदायिनी हो गयीं। अत्यन्त तेज के कारण देवकी को देखने का किसी को साहस नहीं होता था। तेज से देदीप्यमान देवकी को देखकर लोग अत्यन्त क्षुब्ध हो जाते थे। (अतएव) देवकी पुरुष तथा स्त्रियों से अदृश्य रहती थीं। देवगण शरीर में विष्णु को धारण किए हुई देवकी की रात-दिन स्तुति किया करते थे ॥१-६॥

देव ने कहा—तुम स्वाहा, स्वधा, विद्या, सुधा तथा ज्योति हो। अखिल लोकों की रक्षा के निमित्त तुम पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई हो। देवि ! तुम प्रसन्न होओ और संसार का कल्याण करो। अपनी प्रीति के लिए तुम उस ईश्वर को धारण करो, जिसने सम्पूर्ण जगत् को धारण किया है ॥७-८॥

व्यास बोले—देवों द्वारा इस प्रकार स्तुति की जाने पर देवकी ने संसार की रक्षा के कारण कमललोचन भगवान् को गर्भ में धारण किया। तदनन्तर सम्पूर्ण जगत्रूपी कमल को खिलाने के लिए सूर्यरूपी महात्मा हरि रात्रि के प्रथम प्रहर में देवकी से प्रादुर्भूत हुए। सवके आधारभूत जनार्दन के अवतीर्ण हो जाने पर मध्यरात्रि में मेघ मन्द-मन्द गरजने लगे और सुरवृन्द पुष्प-वृष्टि करने लगे। विकसित कमलपत्र के समान कान्तिवाले, चतुर्भुज तथा वक्ष पर श्रीवत्स नामक चिह्न धारण करनेवाले भगवान् को देखकर वसुदेव स्तुति करने लगे। द्विजश्रेष्ठो ! सुन्दर वाणी से उनकी स्तुति करके कंस से डरे महाबुद्धिमान् वसुदेव ने निवेदन किया ॥९-१३॥

---

[1] क. ०णाः। चित्राभिः स्तुतिभिर्विष्णुं। [2] ख. देवदेव०। [3] क. ख. ०गद्रक्षणका०। [4] ख. ०तिः।

वसुदेव उवाच

[1]ज्ञातोऽसि देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर । दिव्यं रूपमिदं देव प्रसादेनोपसंहर ॥१४॥
अद्यैव देव कंसोऽयं कुरुते मम यातनाम् । अवतीर्णमिति ज्ञात्वा त्वामस्मिन्मन्दिरे मम ॥१५॥

देवक्युवाच

योऽनन्तरूपोऽखिलविश्वरूपो, गर्भेऽपि लोकान्वपुषा बिभर्ति ।
प्रसीदतामेष स देवदेवः, स्वमाययाऽऽविष्कृतबालरूपः ॥१६॥
उपसंहर सर्वात्मन् रूपमेतच्चतुर्भुजम् । जानातु माऽवतारं ते कंसोऽयं दितिजान्तक ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

स्तुतोऽहं यत्त्वया पूर्वं पुत्रार्थिन्या तदद्य ते। सफलं देवि संजातं जातोऽहं यत्तवोदरात् ॥१८॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा भगवांस्तूष्णीं बभूव मुनिसत्तमाः । वसुदेवोऽपि तं रात्रावादाय प्रययौ बहिः ॥१९॥
मोहिताश्चाभवंस्तत्र रक्षिणो [2]योगनिद्रया[3]। मथुराद्वारपालाश्च व्रजत्यानकदुन्दुभौ ॥२०॥
वर्षतां जलदानां च तत्तोयमुल्बणं निशि । संछाद्य तं ययौ शेष फणैरानकदुन्दुभिम्॥२१॥
यमुनां चातिगम्भीरां नानावर्तशताकुलाम् । वसुदेवो वहन्विष्णुं जानुमात्रवहां ययौ ॥२२॥

वसुदेव बोले—देवों के देव ! शंख-चक्र-गदा-धारी ! मैं आपको पहचान गया। देव ! कृपा करके इस दिव्य रूप को बदल दीजिये। मेरे घर मे आप अवतीर्ण हुए हैं—यह जानकर कंस आज ही मुझे महाकष्ट देगा ॥१४-१५॥

देवकी बोलीं—जो अनन्तरूप तथा अखिल विश्वरूप होते हुए गर्भ में भी लोकों को धारण करते हैं और जो अपनी माया से बाल-रूप में प्रकट हुए हैं, वे देवों के स्वामी प्रसन्न हों। सर्वात्मन् ! इस चतुर्भुज रूप को हटाइये; ताकि महादैत्य कंस आपका अवतार न समझ पाये ॥१६-१७॥

श्रीभगवान् बोले—देवि ! पहिले जो तुमने पुत्र की अभिलाषा से मेरी स्तुति की थी, वह प्रार्थना आज तुम्हारी सफल हुई। मैं तुम्हारे उदर से उत्पन्न हुआ ॥१८॥

व्यास बोले—मुनिवर ! इतना कहकर भगवान् चुप हो गये। वसुदेव भी रात्र में ही उन्हें लेकर बाहर निकल गये। वसुदेव के जाते समय वहाँ के रक्षकगण तथा मथुरा के द्वारपाल योगनिद्रा से मोहित हो गये। रात में बरसते हुए बादलों के जल से बचाने के लिए शेषनाग ने वसुदेव को अपनी फणाओं से पूर्णतया ढक दिया। अत्यन्त गम्भीर तथा अनेक आवर्तो (भँवर) से व्याप्त यमुना विष्णु को ढोते हुए वसुदेव की जंघा बराबर

---

[1]ख. जातोऽसि। [2]क. ०गमायया। [3]ग. ०या। माथूरा द्वा०।

कंसस्य करमादाय तत्रैवाभ्यागतांस्तटे । नन्दादीन्गोपवृद्धांश्च यमुनायां ददर्श सः ॥२३॥
तस्मिन्काले यशोदाऽपि मोहिता योगनिद्रया । तामेव कन्यां मुनयः प्रासुत मोहिते जने ॥२४॥
वसुदेवोऽपि विन्यस्य बालमादाय दारिकाम् । यशोदाशयने तूर्णमाजगामामितद्युतिः ॥२५॥
ददर्श च विबुद्ध्वा सा यशोदा जातमात्मजम् । नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ ॥२६॥
आदाय वसुदेवोऽपि दारिकां निजमन्दिरम् । देवकीशयने न्यस्य यथापूर्वमतिष्ठत ॥२७॥
ततो बालध्वनिं श्रुत्वा रक्षिणः सहसोत्थिताः । कंसमावेदयामासुर्देवकीप्रसवं द्विजाः ॥२८॥
कंसस्तूर्णमुपेत्यैनां ततो जग्राह बालिकाम्[1]। मुञ्च मुञ्चेति देवक्याऽऽसन्नकण्ठं निवारितः ॥२९॥
चिक्षेप च शिलापृष्ठे सा क्षिप्ता वियति[2] स्थितिम् । अवाप रूपं च महत्सायुधाष्टमहाभुजम् ॥
प्रजहास तथैवोच्चैः कंसं च रुषिताऽब्रवीत् ॥३०॥

योगमायोवाच

किं मयाऽऽक्षिप्तया कंस जातो यस्त्वां हनिष्यति । सर्वस्वभूतो देवानामासीन्मृत्युः पुरा[3] स ते ॥
तदेतत्संप्रधार्याऽऽशु क्रियतां हितमात्मनः ॥३१॥

बहने लगी। कंस को कर चुकाने के लिए आये नन्द आदि वृद्ध गोपों को वसुदेव ने वहीं यमुना के तट पर देखा। उस समय यशोदा भी योगनिद्रा से मोहित हो गयी थीं। मुनिवृन्द ! मोहित व्यक्तियों के सामने यशोदा ने उसी कन्या को प्रसव किया था। अपरिमित कान्तिवाले वसुदेव भी बालक को यशोदा की शय्या पर सुलाकर और कन्या को लेकर शीघ्रता से चल पड़े। जागने पर यशोदा नील कमल के समान श्यामवर्ण पुत्र को देखकर आनन्दविभोर हो गयीं। वसुदेव भी अपने घर में बालिका को देवकी की शय्या पर रखकर पहिले की तरह अवस्थित हो गये। द्विजगण ! तदनन्तर बाल-ध्वनि सुनकर रक्षकगण सहसा उठ पड़े और जाकर कंस से देवकी के प्रसव का समाचार सुनाने लगे। तब कंस ने शीघ्र देवकी के पास जाकर कन्या को पकड़ लिया। देवकी 'छोड़ दो, छोड़ दो' कहती ही रह गयी। पर उसने बालिका को शिलापृष्ठ पर पटक दिया। हाथ से छूटते ही वह आकाश में उड़ गयी और महान् अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित अष्टभुजाधारिणी वन गयी। अट्टहास करके उसने क्रोधपूर्वक कंस से कहा ॥१९-३०॥

योगमाया बोली—कंस ! मुझे पटककर तुम्हें क्या मिला ? जो देवों के सर्वस्वभूत देव तुम्हें मौत के घाट उतारेंगे, वे तो पहिले ही जन्म ले चुके। यह जानकर तुम शीघ्र अपने कल्याण के लिए उपवास करो ॥३१॥

१क. दारिकाम् । २क. ख. स्थिता । ३क. ०रा तव । त० ।

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा प्रययौ देवी दिव्यस्रग्गन्धभूषणा । पश्यतो भोजराजस्य स्तुता सिद्धैर्विहायसा ॥३२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे श्रीकृष्णोत्पत्तिकथानिरूपणं नाम
द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८२॥

अथ त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

कंसविचारकथनम्

व्यास उवाच

कंसस्त्वथोद्विग्नमनाः प्राह सर्वान्महासुरान् । प्रलम्बकेशिप्रमुखानाहूयासुरपुंगवान् ॥१॥

कंस उवाच

हे प्रलम्ब महाबाहो केशिन्धेनुक पूतने । अरिष्टाद्यैस्तथा चान्यैः श्रूयतां वचनं मम[1]॥२॥
मां हन्तुममरैर्यत्नः कृतः किल दुरात्मभिः । [2]मद्वीर्यतापितान्वीरान्न त्वेतान्गणयाम्यहम्[3]॥३॥

व्यास बोले—इतना कहकर दिव्य माला, गन्ध तथा आभूषणों से युक्त एवम् सिद्धगणों से स्तुत भगवती कंस के देखते-ही देखते आकाश में विलीन हो गयी ॥३२॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में श्रीकृष्णोत्पत्ति कथानिरूपण नामक
एक सौ बयासीवाँ अध्याय समाप्त ॥१८२॥

अध्याय १८३

कंस का अपना विचार कहना

व्यास ने कहा—एतदुपरान्त कंस उद्विग्न मन से प्रलम्ब, केशी आदि महासुरों को बुलाकर कहने लगा ॥१॥

कंस बोला—महाशक्तिशाली प्रलम्ब ! केशी ! धेनुक ! पूतने ! तुम लोग तथा अरिष्ट आदि दूसरे सेवक भी मेरे वचन को सुनें । दुष्ट देवताओं ने मेरे मारने का उपाय किया है; परन्तु मेरें प्रताप से संतप्त इन देवगणों का मैं परवाह नहीं करता। दैत्यश्रेष्ठो ! कन्या की बात से मुझे आश्चर्य होता है और उन यत्नशील देव-

---

[1] ख. ०म । धरावाक्येन देवैश्च प्रेरितो वासवानुजः । म० । [2] ख. ०पितैर्वीरा नन्वेतान्सूदया० । [3] ग. ०म् । अमरेषु ममावज्ञा जा० ।

आश्चर्यं कन्यया चोक्तं जायते दैत्यपुंगवाः। हास्यं मे जायते वीरास्तेषु यत्नपरेष्वपि ॥४॥
तथाऽपि खलु दुष्टानां [1]तेषामप्यधिकं [2]मया । अपकाराय दैत्येन्द्रा यतनीयं दुरात्मनाम् ॥५॥
उत्पन्नश्चापि मृत्युर्मे [3]भूतभव्यभवत्प्रभुः । इत्येतद्बालिका प्राह देवकीगर्भसंभवा ॥६॥
तस्माद्बालेषु परमो यत्नः कार्यो महीतले। यत्रोद्रिक्तं बलं बाले स हन्तव्यः प्रयत्नतः ॥७॥

व्यास उवाच

इत्याज्ञाप्यासुरान्कंसः प्रविश्याऽऽत्मगृहं [4]ततः । उवाच वसुदेवं च देवकीमविरोधतः ॥८॥

कंस उवाच

युवयोर्घातिता गर्भा वृथैवैते मयाऽधुना । कोऽप्यन्य एव नाशाय बालो मम [5]समुद्गतः ॥९॥
तदलं परितापेन नूनं यद्भाविनो हि ते । अर्भका युवयोः को वा आयुषोऽन्ते न हन्यते ॥१०॥

व्यास उवाच

इत्याश्वास्य विमुच्यैव कंसस्तौ परितोष्य च । अन्तर्गृहं द्विजश्रेष्ठाः प्रविवेश पुनः स्वकम् ॥११॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे श्रीकृष्णबालचरिते कंसविचारकथनं नाम
त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥१८३॥

ताओं के प्रति हँसी भी आती है। तो भी उन दुरात्मा देवों का अब अधिक अपकार हमें करना है। दैत्यपुंगवो! इसके लिए कटिबद्ध हो जाओ। देवकी के गर्भ से उत्पन्न कुमारिका ने बतलाया है कि भूत, भविष्य तथा वर्तमान के अधीश्वर ने तुम्हें मारने के लिए जन्म ले लिया है। इसलिए पृथ्वी-तल के बालकों पर हमें खास करके ध्यान रखना है। जिस बालक में बल का आधिक्य दीख पड़े, उसे यत्नपूर्वक मार दिया जाय ॥२-७॥

व्यास ने कहा—असुरों को इस प्रकार आज्ञा देकर कंस अपने घर में प्रविष्ट हुआ और बिना विरोध के वसुदेव तथा देवकी से कहने लगा ॥८॥

कंस बोला—तुम दोनों के बालकों को मैंने व्यर्थ ही मार डाला। मेरे नाश के लिए कोई दूसरा ही बालक उत्पन्न हुआ है। इसलिए अब तुम सोच मत करो। जो तुम्हारे भाग्य में था, वह होकर रहा। आयु के अन्त हो जाने पर कौन नहीं मरता है? ॥९-१०॥

व्यास बोले—द्विजवर! इस प्रकार उन दोनों को सान्त्वना दे बन्धन से मुक्त करके कंस ने पुनः अपने अन्तर्गृह में प्रवेश किया ॥११॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में श्रीकृष्ण के बाल-चरित्र-वर्णन-प्रसंग में कंस-विचार-कथन नामक एक सौ
तिरासीवाँ अध्याय समाप्त ॥१८३॥

---

[1] ख. ०मभ्यधि०। [2] ख. धिया। [3] ख. ग. ०तपूर्वश्च वै किल। इ०। [4] ख. तदा। [5] ख. समुद्यतः।

अथ चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णबालचरितवर्णनम्

व्यास उवाच

विमुक्तो वसुदेवोऽपि नन्दस्य शकटं गतः । प्रहृष्टः वृष्टवान्नन्दं पुत्रो जातो ममेति वै ॥१॥
वसुदेवोऽपि तं प्राह दिष्ट्या दिष्ट्येति सारदम् । वार्धकेऽपि समुत्पन्नस्तनयोऽयं तवाधुना ॥२॥
दत्तो हि वार्षिकः सर्वो भवद्भिर्नृपतेः करः । यदर्थमागतस्तस्मान्नात्र स्थेयं महात्मना ॥३॥
यदर्थमागंतः कार्यं तन्निष्पन्नं किमास्यते । भवद्भिर्गम्यतां नन्द तच्छीघ्रं निजगोकुलम् ॥४॥
ममापि बालकस्तत्र रोहिणीप्रसवो हि यः । स रक्षणीयो भवता [1]यथाऽयं तनयो निजः ॥५॥

व्यास उवाच

इत्युक्ताः प्रययुर्गोपा नन्दगोपपुरोगमाः । शकटारोपितैर्भाण्डैः करं दत्त्वा महाबलाः ॥६॥
वसतां गोकुले तेषां पूतना बालघातिनी । सुप्तं कृष्णमुपादाय रात्रौ च प्रददौ स्तनम् ॥७॥
यस्मै यस्मै स्तनं रात्रौ पूतना संप्रयच्छति । तस्य तस्य क्षणेनाङ्गं बालकस्योपहन्यते ॥८॥
कृष्णस्तस्याः स्तनं गाढं कराभ्यामतिपीडितम् । गृहीत्वा प्राणसहितं पपौ क्रोधसमन्वितः ॥९॥

अध्याय १८४

श्रीकृष्ण का बाल-चरित्र-वर्णन

व्यास बोले—विमुक्त होने पर वसुदेव भी नन्द की गाड़ी के पास पहुँचे। उन्होंने पुत्रोत्सव से नन्द को प्रसन्न देखकर आदरपूर्वक कहा—'आनन्द की बात है कि बुढ़ापे में भी आपको अब पुत्र हो गया। आप लोगों ने राजा को वार्षिक कर अदा कर दिया। जिसके लिए आप लोग यहाँ आये थे, वह कार्य सम्पन्न हो गया। नन्द ! अब आप यहाँ न ठहरें। शीघ्र अपने गोकुल चले जायँ। मेरा भी बालक, जो रोहिणी से उत्पन्न हुआ है, वहीं पर है। उसकी भी आप अपने पुत्र की तरह रक्षा करेंगे ॥१-५॥

व्यास बोले—यह कहे जाने पर नन्द आदि महाबलवान् गोप कर देकर बर्तनों को गाड़ियों पर लादकर प्रस्थित हो गये। गोकुल में उन लोगों के रहते ही रात्रि में बालघातिनी पूतना ने सोये कृष्ण को उठाकर उनके मुख में अपना स्तन दे दिया। रात्रि में जिस-जिस बालक के मुख में पूतना अपना स्तन डालती थी, उस-उस बालक की तत्काल मृत्यु हो जाती थी। कृष्ण ने क्रोध से उसके स्तन को दोनों हाथों से कसकर दबा दिया और प्राण सहित

---

[1] क. ०था ते त० ।

सा विमुक्तमहारावा विच्छिन्नस्नायुबन्धना। पपात पूतना भूमौ म्रियमाणाऽतिभीषणा ॥१०॥
तन्नादश्रुतिसंत्रासाद्विबुद्धास्ते व्रजौकसः । ददृशुः पूतनोत्सङ्गे कृष्णं तां च निपातिताम् ॥११॥
आदाय कृष्णं संत्रस्ता यशोदा च ततो द्विजाः । गोपुच्छभ्रामणाद्यैश्च बालदोषमपाकरोत् ॥१२॥
गोपुरीषमुपादाय नन्दगोपोऽपि मस्तके। कृष्णस्य प्रददौ रक्षां कुर्वन्निदमुदैरयत् ॥१३॥

[1]नन्दगोप उवाच

रक्षते त्वामशेषाणां भूतानां प्रभवो हरिः । यस्य नाभिसमुद्भूतात्पङ्कजादभवज्जगत् ॥१४॥
येन दंष्ट्राग्रविधृता धारयत्यवनी जगत् । वराहरूपधृग्देवः स त्वां रक्षतु केशवः ॥१५॥
गुह्यं स जठरं विष्णुर्जङ्घा पादौ जनार्दनः। वामनो रक्षतु सदा भवन्तं यः क्षणादभूत् ॥१६॥
त्रिविक्रमक्रमाक्रान्तत्रैलोक्यस्फुरदायुधः । शिरस्ते पातु गोविन्दः कण्ठं रक्षतु केशवः ॥१७॥
मुखबाहू प्रबाहू च मनः सर्वेन्द्रियाणि च । रक्षत्वव्याहतैश्वर्यस्तव नारायणोऽव्ययः ॥१८॥
त्वां दिक्षु पातु वैकुण्ठो विदिक्षु मधुसूदनः। हृषीकेशोऽम्बरे भूमौ रक्षतु त्वां महीधरः ॥१९॥

व्यास उवाच

एवं कृतस्वस्त्ययनो नन्दगोपेन बालकः । शायितः शकटस्याधो बालपर्यङ्किकातले ॥२०॥
ते च गोपा महद्दृष्ट्वा पूतनायाः कलेवरम् । मृतायाः परमं त्रासं विस्मयं च तदा ययुः ॥२१॥

स्तन को पी लिया। स्तन को छोड़ देने पर अतिभयंकरी पूतना के समस्त स्नायु- वन्धन छिन्न-भिन्न हो गये और वह महाशब्द करती हुई निष्प्राण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसके शब्द से समस्त व्रजवासी जाग पड़े और वड़े भयभीत हुए। उन्होंने गिरी हुई पूतना तथा उसकी गोद में कृष्ण को देखा। द्विजगण ! तव अत्यन्त त्रस्त यशोदा ने कृष्ण को उठाकर उनके ऊपर गो-पुच्छ घुमाने आदि के द्वारा वाल-दोष का निराकरण किया। नन्द गोप ने भी कृष्ण के मस्तक पर गोबर रखकर यह कहते हुए रक्षा की ॥६-१३॥

नन्द गोप बोले—समस्त भूतों के आदिकारण हरि तुम्हारी रक्षा करें। जिनकी नाभि से उत्पन्न कमल से जगत् की सृष्टि हुई और जिन्होंने वराह-रूप बनाकर दंष्ट्रा के अग्रभाग से पृथ्वी का उद्धारकर संसार को धारण किया, वे केशव तुम्हारी रक्षा करें। केशव तुम्हारे गुह्य स्थान की, विष्णु जंघाओं की और जनार्दन पैरों की रक्षा करें। वे वामन तुम्हारी सदा रक्षा करें, जो एक ही क्षण में तीन पगों में तीनों लोक को आक्रान्त कर चमकते हुए अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो गये थे। गोविन्द तुम्हारे सिर की, केशव कण्ठ की और अप्रतिहत शक्तिवाले अविनाशी नारायण मुख, वाहु, मन तथा समस्त इन्द्रियों की रक्षा करें। दिशाओं में वैकुण्ठ तथा विदिशाओं में मधुसूदन तुम्हारी रक्षा करें। आकाश में हृषीकेश और भूमि पर महीधर तुम्हारी रक्षा करें ॥१४-१९॥

व्यास बोले—इस प्रकार रक्षा करके नन्द गोप ने वालक को गाड़ी के नीचे वच्चों के पलँग पर सुला दिया। मृतक पूतना के महाकाय को देखकर गोपगण परम त्रस्त तथा विस्मित हुए। किसी समय शकट के नीचे सोये मधु-

---

[1] क. ख. ०न्द उ०।

कदाचिच्छकटस्याधः शयानो मधुसूदनः । चिक्षेप चरणावूर्ध्वं स्तनार्थी प्ररुरोद च[1] ॥२२॥
तस्य पादप्रहारेण शकटं परिवर्तितम् । विध्वस्तभाण्डकुम्भं तद्विपरीतं पपात वै ॥२३॥
ततो हाहाकृतः सर्वो गोपगोपीजनो द्विजाः । [2]आजगाम तदा ज्ञात्वा बालमुत्तानशायिनम् ॥२४॥
गोपाः केनेति जगदुः शकटं परिवर्तितम् । तत्रैव बालकाः प्रोचुर्बालेनानेन पातितम् ॥२५॥
रुदता दृष्टमस्माभिः पादविक्षेपताडितम् । शकटं परिवृत्तं वै नैतदन्यस्य चेष्टितम् ॥२६॥
ततः पुनरती वाऽऽसन्नगोपा विस्मितचेतसः । नन्दगोपोऽपि जग्राह बालमत्यन्तविस्मितः ॥२७॥
यशोदा विमयारुढा भग्नभाण्डकपालकम् । शकटं[3] चार्चयामास दधिपुष्पफलक्षतैः ॥२८॥
गर्गश्च गोकुले तत्र वसुदेवप्रचोदितः[4] । प्रच्छन्न[5] एव गोपानां संस्कारमकरोत्तयोः ॥२९॥
ज्येष्ठं च राममित्याह कृष्णं चैव तथापरम् । गर्गो मतिमतां श्रेष्ठो नाम कुर्वन्महामतिः ॥३०॥
अल्पेनैव हि कालेन विज्ञातौ तौ महाबलौ । घृष्टजानकरौ विप्रा बभूवतुरुभावपि ॥३१॥
करीषभस्मदिग्धाङ्गौ भ्रममाणावितस्ततः । न निवारयितुं शक्ता[6] यशोदा तौ न रोहिणी ॥३२॥
गोवाटमध्ये क्रीडन्तौ वत्सवाटगतौ पुनः । तदहर्जातगोवत्सपुच्छाकर्षणतत्परौ ॥३३॥
यदा यशोदा तौ बालावेकस्थानचरावुभौ । शशाक नो वारयितुं क्रीडन्तावतिचञ्चलौ ॥३४॥
दाम्ना बद्ध्वा तदा मध्ये निबबन्ध उलूखले । कृष्णमक्लिष्टकर्माणमाह[7] चेदममर्षिता ॥३५॥

सूदन ने अपने पैरों को ऊपर फेंका और स्तन पीने के लिए रोना आरम्भ किया। उनके चरण-प्रहार से गाड़ी उलट गयी और समीपस्थ घड़ों को फोड़ती हुई विपरीत दिशा में गिर पड़ी। द्विजगण! तव समस्त गोप-गोपियाँ हाय-हाय करती हुई वहाँ दौड़ आयीं। उत्तान सोते हुए वालक को देखकर गोपों ने पूछा—'किसने गाड़ी को उलटाया?' वहीं जो लड़के थे, उन्होंने बतलाया—'इसी शिशु ने गाड़ी को गिराया। हमने देखा कि इसने रोते हुए अपने पैरों से गाड़ी में ठोकर मारी, जिससे गाड़ी उलट गयी। यह दूसरे का काम नहीं है।' यह सुनकर पुनः गोपगण अत्यन्त आश्चर्य-चकित हुए। नन्द गोप ने अति-विस्मित होकर बालक को उठा लिया। यशोदा आश्चर्य में पड़कर दही, फूल, फल तथा अक्षतों से फूटे घड़े के कपाल को तथा गाड़ी को पूजने लगीं। वसुदेव की प्रेरणा से गर्ग ने गोकुल में गोपों से छिपकर ही दोनों बालकों का संस्कार किया। विद्वानों में श्रेष्ठ गर्ग ने बड़े का नाम राम और छोटे का कृष्ण रखा ॥२०-२९॥ विप्रवृन्द! थोड़े ही दिनों में दोनों महावली कुमार घुटने तथा हाथों के वल चलने लगे। कंडी के भस्म से लिप्तांग होकर भ्रमण करते हुए दोनों बालकों को यशोदा और रोहिणी निवारण नहीं कर पाती थीं। वे दोनों गौओं के स्थान से क्रीड़ा करते-करते बछड़ों के स्थान पर चले जाते और नवप्रसूत गायों के बछड़ों की पूँछ पकड़कर खींचने लगते थे। जव यशोदा साथ-साथ खेलते हुए दोनों अत्यन्त चञ्चल बालकों का निवारण नहीं कर सकीं तव उन्होंने सहज ही में कर्मों को सम्पन्न करनेवाले कृष्ण को ओखली के वीच में लगाकर रस्सी से बाँध दिया और क्रोध से कहा ॥३०-३५॥

१क. ह। २ग. ०गामाथ ददृशे वा०। ३क. ०टं प्रार्थयामास तदा सा वेपती मुहुः। ग०। ख. ०टं वन्धयामास दृढे सदसि दारुणि। ग०। ४क. ०प्रणोदि०। ५क. ०न्नरूपो मुनयः सं०। ६ग. सेहे। ७ख. ०ह चैवं प्रहर्षि०।

यशोदावाच

यदि शक्तोऽसि गच्छ त्वमतिचञ्चलचेष्टित ।।३६।।

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा च निजं कर्म सा चकार[1] कुटुम्बिनी । व्यग्रायामथ तस्यां स कर्षमाण उलूखलम् ।।३७।।
यमलार्जुनयोर्मध्ये जगाम कमलेक्षणः । कर्षता वृक्षयोर्मध्ये तिर्यगेवमुलूखलम् ।।३८।।
भग्नावुत्तुङ्गशाखाग्रौ तेन तौ यमलार्जुनौ । ततः[2] कटकटाशब्दसमाकर्णनकातरः ।।३९।।
आजगाम व्रजजनो ददृशे च महाद्रुमौ । भग्नस्कन्धौ निपतितौ भग्नशाखौ महीतले ।।४०।।
ददर्श चाल्पदन्तास्यं स्मितहासं च बालकम् । तयोर्मध्यगतं बद्धं दाम्ना गाढं तथोदरे ।।४१।।
ततश्च दामोदरतां स ययौ दामबन्धनात् । [3]गोपवृद्धास्ततः सर्वे नन्दगोपपुरोगमः ।।४२।।
मन्त्रयामासुरुद्विग्ना महोत्पातातिभीरवः[4] । स्थानेनेह न नः कार्यं व्रजामोऽन्यन्महावनम् ।।४३।।
उत्पाता बहवो ह्यत्र दृश्यन्ते नाशहेतवः । पूतनाया विनाशश्च शकटस्य विपर्ययः ।।४४।।
विना वातादिदोषेण द्रुमयोः पतनं तथा । वृन्दावनमितः स्थानात्तस्माद्गच्छाम मा चिरम् ।।४५।।
यावद्भौममहोत्पातदोषो[5] नाभिभवेद्व्रजम् । इति कृत्वा मतिं सर्वे गमने ते व्रजौकसः ।।४६।।
ऊचुः स्वं स्वं कुलं शीघ्रं गम्यतां मा विलम्ब्यताम् । ततः क्षणेन प्रययुः शकटैर्गोधनैस्तथा ।।४७।।

यशोदा बोलीं—नटखट ! अब यदि तुझमें शक्ति है तो जा ।।३६।।

व्यास बोले—इतना कहकर कुटुम्बवाली यशोदा अपने काम में लग गयीं । जब वह कार्य में व्यस्त हो गयीं तब ओखली को खींचते हुए कमललोचन कृष्ण यमलार्जुन (नाम से प्रसिद्ध दो वृक्षों) के मध्य में चले गये और वृक्षों के बीच ही ओखली को तिरछी करके खींचने लगे । इससे उत्तुंग शाखावाले दोनों यमलार्जुन टूटकर गिर पड़े । तदनन्तर उनकी धड़ाके की आवाज से संत्रस्त व्रजवासी वहाँ आये । उन्होंने देखा कि टूटे स्कन्ध तथा टूटी शाखा-वाले दोनों वृक्ष भूमि पर गिरे पड़े हैं और अल्प दातों से युक्त मुखवाला बालक मुसकरा रहा है, जो उन्हीं वृक्षों के बीच में खड़ा है और जिसके पेट में रस्सी से ओखली बँधी हुई है । उसी दिन से रस्सी से बाँधे जाने के कारण भगवान् दामोदर कहलाने लगें ।।३७-४१½।। नन्दगोप आदि वृद्ध गोप महान् उत्पात के डर से उद्विग्न होकर परस्पर परामर्श करने लगे—'इस स्थान में अब हमें नंहीं रहना चाहिये। दूसरे महावन में चलना चाहिये। क्योंकि बहुत-से नाश के कारण रूप उपद्रव यहाँ देखे जाते हैं। पूतना का विनाश, गाड़ी का उलटना, विना आँधी-तूफान के ही वृक्षों का गिरना आदि उपद्रव हो रहे हैं। इसलिए जब तक बड़े-वड़े भौतिक उत्पात व्रज पर आक्रमण न करें उससे पहिले शीघ्र ही हम लोग इस स्थान से वृन्दावन को चल दें। इस प्रकार व्रजवासी जाने के लिए ऐकमत्य करके अपने-अपने परिवार से कहने लगे—'शीघ्र तैयार हो जाओ, विलम्व मत करो।' तत्पश्चात् क्षण में ही व्रजवासी शकट,

---

[1] ख. नितम्बिनी। [2] ख. तयोः। [3] क. ०पमुख्यास्त०। [4] ख. ०तिशङ्किताः। स्था०। [5] ख. षो गर्गवचोद्भवः।
इ०।

यूथशो वत्सपालीश्च कालयन्तो व्रजौकसः[1] । सर्वावयवनिर्धूतं क्षणमात्रेण तत्तदा ॥४८॥
काककाकीसमाकीर्णं व्रजस्थानमभूद् द्विजाः । वृन्दावनं भगवता कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा ॥४९॥
शुभेन मनसा ध्यातं[2] गवां वृद्धिमभीप्सता । ततस्तत्रातिरुक्षेऽपि धर्मकाले द्विजोत्तमाः ॥५०॥
प्रावृट्काल इवाभूच्च नवशष्पं समन्ततः । स समावासितः सर्वो व्रजो वृन्दावने ततः ॥५१॥
शकटीवाटपर्यन्तचन्द्रार्धाकारसंस्थितिः । वत्सबालौ च संवृत्तौ रामदामोदरौ ततः ॥५२॥
तत्र[3] स्थितौ तौ गोष्ठे चेरतुर्बाललीलया । बर्हिपत्रकृतापीडौ [4]वन्यपुष्पावतंसकौ ॥५३॥
[5]गोपवेणुकृतातोद्यपत्रवाद्यकृतस्वनौ । काकपक्षधरौ बालौ कुमारमिव पावकौ ॥५४॥
हसन्तौ च रमन्तौ च चेरतुस्तन्महद्वनम् । क्वचिद्धसन्तावन्योन्यं क्रीडमानौ तथा परैः ॥५५॥
गोपपुत्रैः समं वत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः । कालेन गच्छता तौ तु सप्तवर्षौ बभूवतुः ॥५६॥
सर्वस्य जगतः पालौ वत्सपालौ महाव्रजे । प्रावृट्कालस्ततोऽतीव मेघौघस्थगिताम्बरः ॥५७॥
बभूव वारिधाराभिरैक्यं कुर्वन्दिशामिव । [6]प्ररूढनवपुष्पाढ्या[7] शक्रगोपवृता मही ॥५८॥
यथा मारकते वाऽऽसीत्पद्मरागविभूषिता । ऊहुरुन्मार्गगामीनि निम्नगाम्भांसि सर्वतः ॥५९॥

गोधन, बछड़े आदि अपनी समस्त चीजों को लेकर विदा हो गये। द्विजगण ! क्षणमात्र में व्रज मनुष्यविहीन हो गया। वहाँ कौए चारों ओर छा गये। महाकर्मशाली भगवान् कृष्ण ने गौओं की वृद्धि करने की इच्छा से शुभ मन से वृन्दावन का ध्यान किया। द्विजश्रेष्ठो ! तदनन्तर अत्यन्त रूक्ष ग्रीष्म ऋतु में भी वहाँ वर्षा ऋतु की तरह नयी घास-पौध चारों तरफ उग गयी। समस्त व्रजवासी वृन्दावन में सुखपूर्वक निवास करने लगे ॥४२-५१॥ गाड़ी के मार्ग पर्यन्त उन लोगों का आवास अर्धचन्द्राकार-सा प्रतीत होता था। राम और कृष्ण बछड़ों को चराने जाते थे। गोष्ठ में रहकर वे दोनों बाल-लीला करते थे। वे मयूर-पंख के शिरोभूषण तथा वन्य पुष्पों के कर्णभूषण बनाते, बाँसुरी बजाते, चरवाहे की लाठी रखते और बालों का सिंगार करते थे। इस प्रकार दोनों अग्नि के समान तेजस्वी कुमार हँसते, खेलते और महावन में विचरण करते थे। कहीं परस्पर हँसते, कहीं दूसरों के साथ हँसते और कहीं गोप-पुत्रों के साथ बछड़ों को चराते हुए विचरण करते थे। इस तरह समय बीतते हुए उन्हें सात वर्ष हो गये। जो समस्त संसार के पालक हैं, वे महाव्रज में बछड़ों के पालक बने। तदनन्तर वर्षा ऋतु का आगमन हुआ। आकाश में बादल छा गये। मानो वे जलधारा से दिशाओं को एक करने लगे हों। नवीन पुष्पों तथा इन्द्रगोपों से आच्छादित होकर पृथ्वी इस तरह सुशोभित हो रही थी मानो वह मरकतमणि तथा पद्मरागमणि से विभूषित हो गयी हो। नदी का जल इस प्रकार उत्पथ होकर बहने लगा जैसे दुष्ट जनों का मन नया धन पाकर (उत्पथगामी हो जाता है)। तब

१क. ख. ०सः । द्रव्याव० । २क. ख. व्याप्तं । ३ग ०त्र स्थानाप्लुतौ । ४क. गुञ्जहारविभूषितौ । ५क. ०ताभ्यासौ नानावाद्यविशारदौ । का० । ६क. प्रभूतन० । ७क. ख. ०वशष्पाढ्या ।

मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्त लक्ष्मीं नवामिव । विकाले च यथाकामं व्रजमेत्य महाबलौ ॥
गोपैः समानैः सहितौ चिक्रीडातेऽमराविव ॥६०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बालचरिते वृन्दावनप्रवेशवर्णनं नाम
चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८४॥

अथ पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

कालीयदमनाख्यानम्

व्यास उवाच

एकदा तु विना रामं कृष्णो वृन्दावनं ययौ । विचचार वृतो गोपैर्वन्यपुष्पस्रगुज्ज्वलः ॥१॥
स जगामाथ कालिन्दीं [1]लोलकल्लोलशालिनीम् । तीरसंलग्नफेनौघैर्हसन्तीमिव सर्वतः ॥२॥
तस्यां चातिमहाभीमं विषाग्निकणदूषितम् । ह्रदं कालीयनागस्य ददर्शातिविभीषिणम् ॥३॥
विषाग्निना विसरता दग्धतीरमहातरुम् । वाताहताम्बुविक्षेपस्पर्शदग्धविहङ्गमम् ॥४॥

दोनों महाबली बालक स्वेच्छा से असमय में ही व्रज में आकर समवस्क गोपों के साथ देवों की तरह खेलने लगे ॥५२-६०॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में बाल-चरित्र-वर्णन-प्रसंग में वृन्दावनप्रवेश-निरूपण
नामक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय समाप्त ॥१८४॥

अध्याय १८५

कालीय-दमन का आख्यान

व्यास बोले—एक समय बिना राम के ही कृष्ण वृन्दावन चले गये और वन्य पुष्पों की उज्ज्वल माला पहनकर गोपों के साथ विचरण करने लगे। वे चञ्चल तरंगों से व्याप्त यमुना नदी के तट पर गये, जो मानो तीर-संलग्न फेन-समूहों से हास्य करती-सी दीखती थी। उसी में उन्होंने अत्यन्त भयंकर तथा विषाग्नि के कणों से दूषित कालीय नाग का ह्रद (कुण्ड) देखा, जो विषाग्नि से तट पर के वृक्षों को जला रहा था। उसके ऊपर से उड़ने

---

[1] क. ०लमालि० ।

तमतीव महारौद्रं मृत्युवक्त्रमिवापरम् । विलोक्य चिन्तयामास भगवान्मधुसूदनः ॥५॥
अस्मिन्वसति दुष्टात्मा कालीयोऽसौ विषायुधः । यो मया निर्जितस्त्यक्त्वा दुष्टो नष्टः पयोनिधौ ॥६॥
तेनेयं दूषिता सर्वा यमुना [1]सागरंगमा । न नरैर्गोधनैर्वाऽपि तृषार्तैरुपभुज्यते ॥७॥
तदस्य नागराजस्य[2] कर्तव्यो निग्रहो मया । [3]नित्यत्रस्ताः सुखं येन चरेयुर्व्रजवासिनः ॥८॥
एतदर्थं नृलोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः । यदेषामुत्पथस्थानां कार्या [4]शास्तिर्दुरात्मनाम् ॥९॥
तदेतन्नातिदूरस्थं कदम्बमुरुशाखिनम् । अधिरुह्यपतिष्यामि ह्रदेऽस्मिञ्जीवनाशिनः ॥१०॥

व्यास उवाच

इत्थं विचिन्त्य बद्ध्वा च[5] गाढं परिकरं ततः । निपपात ह्रदे तत्र सर्पराजस्य वेगतः ॥११॥
तेनापि पतता तत्र क्षोभितः स महाह्रदः । अत्यर्थदूरजातांश्च तांश्चासिञ्चन्महीरुहान् ॥१२॥
तेऽहिदुष्टविषज्वालातप्ताम्बुतपनोक्षिताः । जज्वलुः पादपाः सद्यो ज्वालाव्याप्तदिगन्तराः ॥१३॥
आस्फोटयामास तदा कृष्णो नागह्रदं[6] भुजैः । तच्छब्दश्रवणाच्चाथ नागराजोऽभ्युपागमत् ॥१४॥
आताम्रनयनः कोपाद्विषज्वालाकुलैः फणैः । वृतो महाविषैश्चान्यैररुणैरनिलाशनैः ॥१५॥
नागपत्न्यश्च शतशो हारिहारोपशोभिताः[7] । [8]प्रकम्पिततनूत्क्षेपचलत्कुण्डलकान्तयः[9] ॥१६॥

वाले पक्षियों को कहीं वायु के झोंके से जल के छींटे पड़ जाते तो उनकी मृत्यु हो जाती। उस महाभयानक तथा मृत्यु-मुख के समान ह्रद को देखकर भगवान् मधुसूदन सोचने लगे—'इसमें वह दुष्टात्मा तथा विरूप अस्त्रवाला कालीय नाग रहता है, जो दुष्ट मेरे द्वारा जीतकर छोड़ दिया जाने पर समुद्र में भाग गया था। उसने समुद्रगामिनी यमुना को दूषित कर दिया है। मनुष्य या गोधन प्यासे होने पर भी इसका जल नहीं पीते हैं। इसलिए मुझे इस नागराज को दण्ड देना चाहिये, ताकि नित्य डरनेवाले ब्रजवासी सुखपूर्वक विचरण कर सकें। इसीलिए तो मैंने मृत्युलोक में अवतार भी लिया है, ताकि उत्पथगामी दुरात्माओं को दण्ड दे सकूँ। विपुल शाखाओं से युक्त यह कदम्ब वृक्ष भी कोई दूर नहीं है। इसी पर चढ़कर जीवनाशी कालीय के ह्रद में कूद पड़ूंगा॥१-१०॥

व्यास बोले—ऐसा विचार कर वे दृढ़ता से काछ बाँधकर सर्पराज के ह्रद में वेग से कूद पड़े। उनके गिरने से ह्रद में अत्यन्त क्षोभ पैदा हुआ, जिससे अत्यन्त दूरस्थ वृक्षों के ऊपर भी जल के छींटे पड़ गये। दुष्ट विषरूपी ज्वाला से संतप्त जल के पड़ने से वृक्षों में सद्यः इतनी ज्वाला धधक उठी की चारों ओर ज्वाला दीखने लगी। तब कृष्ण ने अपनी भुजाओं से नाग-ह्रद में ताल ठोंका या आघात किया। वह शब्द सुनते ही नागराज दौड़ पड़ा। क्रोध से आँख लाल कर विष की ज्वाला से व्याप्त फणाओं से कालीय ने कृष्ण को आच्छादित कर दिया। लाल रंगवाले तथा महाविषवाले दूसरे सर्पों ने भी कृष्ण को घेर लिया। वहाँ सैकड़ों मनोहर हारों से सुशोभित नाग-पत्नियाँ थीं, जिनके शरीर-कम्पन होने से चञ्चल कुण्डलों की छटा देखते ही बनती थी। तब फणाओं

१ख. सागराङ्गना। २क. सर्पराज्यस्य। ३ग. नित्यात्रस्थाः सु०। ४ग. शान्तिर्दु०। ५ख. स। ६ग. ०ह्रदे भुजम्। त०। ७ख. ०ताः। ययुः प्र०। ८ख. ०म्पितास्तत्र च०। ९ख. ०लजातयः।

ततः प्रवेष्टितः सर्पैः स कृष्णो भोगबन्धनैः । ददंशुश्चापि ते कृष्णं विषज्वालाविलैर्मुखैः ॥१७॥
तं तत्र पतितं दृष्ट्वा नागभोगनिपीडितम् । गोपा व्रजमुपागत्य चुक्रुशुः शोकलालसाः ॥१८॥

गोपा ऊचुः

एष कृष्णो गतो मोहमग्नो[1] वै कालिये ह्रदे । भक्ष्यते सर्पराजेन तदागच्छत मा चिरम् ॥१९॥

व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा ततो गोपा वज्रपातोपमं वचः । गोप्यश्च त्वरिता जग्मुर्यशोदाप्रमुखा[2] ह्रदम् ॥२०॥
हा हा क्वासाविति जनो गोपीनामतिविह्वलः । यशोदया समं भ्रान्तो द्रुतः प्रस्खलितो ययौ ॥२१॥
नन्दगोपश्च गोपाश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः । त्वरितं यमुनां जग्मुः कृष्णदर्शनलालसाः ॥२२॥
ददृशुश्चापि ते तत्र सर्पराजवशं गतम् । निष्प्रयत्नं कृतं कृष्णं सर्पभोगेन वेष्टितम् ॥२३॥
नन्दगोपश्च निश्चेष्टः पश्यन्पुत्रमुखं भृशम्[3] । यशोदा च महाभागा बभूव मुनिसत्तमाः ॥२४॥
गोप्यस्त्वन्या रुदत्यश्च ददृशुः शोककातराः । प्रोचुश्च केशवं प्रीत्या भयकातरगद्गदम् ॥२५॥
सर्वा यशोदया सार्धं विशामोऽत्र महाह्रदे । नागराजस्य नो गन्तुमस्माकं युज्यते व्रजे ॥२६॥
दिवसः को विना सूर्यं विना चन्द्रेण का निशा । विना दुग्धेन[4] का गावो विना कृष्णेन को व्रजः ॥
विना कृता न यास्यामः कृष्णेनानेन गोकुलम् ॥२७॥

से कृष्ण को वेष्टित कर सर्पगण विष की ज्वाला से व्याप्त मुखों से उन्हें काटने भी लगे। नाग की फणाओं से पीड़ित कृष्ण को देखकर गोप शोकविह्वल हो व्रज आकर आक्रोश करने लगे ॥११-१८॥

गोप बोले—कालीय नाग के ह्रद में कृष्ण मोहवश चले गये। सर्पराज उन्हें खा रहा है। इसलिए जल्दी आओ ॥१९॥

व्यास बोले—तदुपरान्त वज्रपात के सदृश वचन सुनकर गोप तथा यशोदा आदि गोपियाँ दौड़ते ही वहाँ गयीं। गोपियाँ अत्यन्त शोकातुर होकर रोने लगीं—हाय ! हाय; कहाँ कृष्ण पड़े हैं ! !' नन्दगोप यशोदा के साथ गिरते-पड़ते जल्दी-जल्दी वहाँ पहुँचे। अन्य गोप तथा अद्भुत पराक्रमी राम भी कृष्ण-दर्शन की लालसा से शीघ्र ही यमुना के किनारे पहुँच गये। उन लोगों ने देखा—'कृष्ण सर्पराज के वश में आ गये हैं। अपनी फणाओं से वेष्टित करके उसने कृष्ण को निश्चेष्ट बना दिया है।' पुत्र के मुख को देखते ही नन्दगोप भी अत्यन्त निश्चेष्ट हो गये। मुनिश्रेष्ठो ! यशोदा की भी वही दशा हुई। अन्य गोपियाँ शोक से कातर हो रोने लगीं और भय से विह्वल होकर कृष्ण से प्रेमपूर्वक कहने लगीं—'यशोदा सहित हम सब नागराज के महाह्रद में प्रवेश करती हैं। यों व्रज में जाना हम लोगों के लिए उचित नहीं। जैसे बिना सूर्य के दिन, बिना चन्द्रमा के रात और बिना दूध के गाय कुत्सित है, उसी तरह बिना कृष्ण के व्रज निन्द्य हैं। बिना कृष्ण के हम गोकुल नहीं जायेंगे ॥२०-२७॥

---

[1] ख. ०हमुग्रे वै । [2] क. द्रुतम् । [3] क. तदा । [4] ग. वृषेण ।

व्यास उवाच

इति गोपीवचः श्रुत्वा रौहिणेयो महाबलः । उवाच गोपान्विधुरान्विलोक्य स्तिमितेक्षणः[1] ॥२८॥
नन्दं च दीनमत्यर्थं न्यस्तदृष्टिं सुतानने । मूर्च्छाकुलां यशोदां च कृष्णमाहात्म्यसंज्ञया ॥२९॥

बलराम उवाच

किमयं देवदेवेश भावोऽयं मानुषस्त्वया । व्यज्यते स्वं तमात्मानं किमन्यं त्वं न वेत्सि यत् ॥३०॥
त्वमस्य जगतो[2] नाभिः सुराणामेव चाऽऽश्रयः । कर्ताऽपहर्ता पाता च त्रैलोक्यं[3] त्वं त्रयीमयः ॥३१॥
अत्रावतीर्णयोः कृष्ण गोपा एव हि बान्धवाः । गोप्यश्च सीदतः कस्मात्त्वं बन्धून्समुपेक्षसे ॥३२॥
दर्शितो मानुषो भावो दर्शितं बालचेष्टितम् । तदयं दम्यतां कृष्ण दुरात्मा दशनायुधः ॥३३॥

व्यास उवाच

इति संस्मारितः कृष्णः स्मितभिन्नौष्ठसंपुटः । [4]आस्फाल्य मोचयामास स्वं देहं भोगबन्धनात् ॥३४॥
आनाम्य चापि हस्ताभ्यामुभाभ्यां मध्यमं फणम् । आरुह्य[5] भुग्नशिरसः प्रननर्तोरुविक्रमः ॥३५॥
व्रणाः फणेऽभवंस्तस्य कृष्णस्याङ्घ्रिविकुट्टनैः । यत्रोन्नतिं च कुरुते ननामास्य ततः शिरः ॥३६॥
मूर्च्छामुपाययौ भ्रान्त्या नागः कृष्णस्य [6]कुट्टनैः । दण्डपातनिपातेन ववाम रुधिरं बहुः ॥३७॥
तं निर्भुग्नशिरोग्रीवमास्यप्रस्रुतशोणितम् । विलोक्य शरणं जग्मुस्तत्पत्न्यो मधुसूदनम् ॥३८॥

व्यास बोले—गोपियों का वचन सुनकर महावलशाली तथा निर्निमेष नेत्रों से देखनेवाले राम ने दुःखी गोपों को, पुत्र के मुख पर दृष्टि गड़ाये अत्यन्त दीन नन्द को तथा मूर्च्छा से आकुल यशोदा को देखकर कृष्ण के माहात्म्य की ओर संकेत करके कहा ॥२८-२९॥

बलराम बोले—देवदेवेश ! क्या आप यह मनुष्य-भाव प्रकट कर रहे हैं ? क्या आप अपनी उस दूसरी आत्मा को नहीं जानते हैं। आप त्रैलोक्य के कर्ता, हर्ता तथा रक्षक हैं। आप वेदमय हैं। कृष्ण ! यहाँ अवतीर्ण हुए हम दोनों के गोप-गोपियाँ ही बन्धु हैं। सीदित होते हुए वन्धुओं की क्यों आप उपेक्षा कर रहे हैं ? आपने मनुष्य भाव दिखला दिया । बाल-चेष्टाएँ भी दिखला दीं । कृष्ण ! अब इस दुरात्मा सर्प का दमन कीजिये॥३०-३३॥

व्यास बोले—इस प्रकार स्मरण दिलाने पर मुस्कराते हुए कृष्ण ने फणाओं को तोड़कर तद्रूप बन्धन से अपने शरीर को मुक्त कर दिया । दोनों हाथों से बीच की फणाओं को झुकाकर टूटे हुए सिर पर चढ़कर महापराक्रमी कृष्ण नाचने लगे। कृष्ण के चरणप्रहार से सर्प की फणा में घाव हो गये। जहाँ वह सिर उठाता वहीं पर भगवान् कुचल देते। कृष्ण के कुचलने से नाग अत्यन्त मूर्च्छित हो गया। दण्डप्रहार से वह शोणित वमन करने लगा। भग्नसिर तथा ग्रीवा से युक्त शोणित से लथ-पथ कालीय को देखकर नाग-पत्नियाँ मधुसूदन की शरण में गयीं ॥३४-३८॥

---

[1] ख. ०क्षणान् । न० । [2] क. ०तो योनिश्चराणामपि संश्र० । [3] क. त्रैलोक्ये । [4] ख. ग. आस्फोट्य । [5] ख. ग. ०ह्य भग्न० । [6] ग. रेचकैः ।

नागपत्न्य ऊचुः

ज्ञातोऽसि देवदेवेश सर्वेशस्त्वमनुत्तम । परं ज्योतिरचिन्त्यं यत्तदंशः परमेश्वरः ॥३९॥
न समर्थाः सुर स्तोतुं यमनन्यभवं प्रभुम् । स्वरूपवर्णनं तस्य कथं योषित्करिष्यति ॥४०॥
यस्याखिलमहीव्योमजलाग्निपवनात्मकम् । ब्रह्माण्डमल्पकांशांशः स्तोष्यामस्तं कथं वयम् ॥४१॥
ततः कुरु[1] जगत्स्वामिन्[2] प्रसादमवसीदतः । प्राणांस्त्यजति नागोऽयं भर्तृभिक्षा प्रदीयताम् ॥४२॥

व्यास उवाच

इत्युक्ते[3] ताभिराश्वास्य क्लान्तदेहोऽपि पन्नगः । प्रसीद देवदेवेति प्राह वाक्यं शनैः शनैः ॥४३॥

कालीय उवाच

तवाष्टगुणमैश्वर्यं नाथ स्वाभाविकं परम् । निरस्तातिशयं यस्य तस्य स्तोष्यामि किन्वहम् ॥४४॥
त्वं परस्त्वं परस्याऽऽद्यः परं त्वं तत्परात्मकम् । परस्मात्परमो[4] यस्त्वं तस्य स्तोष्यामि किन्वहम् ॥४५॥
यथाऽहं भवता सृष्टो जात्या रूपेण चेश्वरः । स्वभावेन च संयुक्तस्तथेदं चेष्टितं मया ॥४६॥
यद्यन्यथा प्रवर्तेय देवदेव ततो मयि । न्याय्यो दण्डनिपातस्ते तवैव वचनं यथा ॥४७॥
तथाऽपि यं जगत्स्वामी दण्डं पातितवान्मयि । स सोढोऽयं वरो दण्डस्त्वत्तो नान्योऽस्तु मे वरः ॥४८॥
हतवीर्यो हतविषो दमितोऽहं त्वयाऽच्युत । जीवितं दीयतामेकमाज्ञापय करोमि किम् ॥४९॥

नाग-पत्नियाँ बोलीं—देवदेवेश ! हमने आपको पहिचान लिया । आप सबके स्वामी तथा सबसे उत्तम हैं । परम ज्योति तथा अचिन्त्य रूप जो हैं, वे भी आप ही के अंश हैं । आप परमेश्वर हैं । जिन स्वतः उत्पन्न होनेवाले प्रभु की स्तुति करने में देवता भी समर्थ नहीं होते हैं, उनका स्वरूप-वर्णन भला स्त्री कैसे करेगी ? पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि तथा वायु रूप अखिल ब्रह्माण्ड जिनके अल्प अंश का अंश है, उनकी स्तुति हम कैसे करेंगी ? इसलिए, जगन्नाथ ! हम दुःखियों पर कृपा कीजिये । नाग प्राणत्याग कर रहा है । स्वामि-भिक्षा हमें दीजिये ॥३९-४२॥

व्यास बोले—स्तुति के बाद यद्यपि सर्प का शरीर खिन्न था, तो भी उसने धीरे-धीरे कहा—'देवाधिदेव ! प्रसन्न होइये ।' ॥४३॥

कालीय बोला—नाथ ! आठ प्रकार के ऐश्वर्य आपके स्वाभाविक गुण हैं । आप अनिर्वचनीय हैं । आपकी मैं क्या स्तुति करूँगा ? आपने जैसी जाति, जैसा रूप और जैसा स्वभाव देकर मेरी सृष्टि की वैसा ही मैंने व्यवहार किया । देवदेव ! यदि मैं बुरा व्यवहार करूँ तो आप मुझे उचित दण्ड दें । यह तो आपका कथन ही है । जगत्स्वामी ने मुझे जो दण्ड दिया, उसको मैंने सहन किया । मेरे लिए आपसे बढ़कर दूसरा कौन श्रेष्ठ है ? अच्युत ! आपने मेरा दमन किया । मैं हतशक्ति तथा हतविष हो गया । आप मुझे केवल जीवन प्रदान करें । आज्ञा दीजिये कि मैं क्या करूँ ॥४४-४९॥

---

[1] क. ०रु कृपां नाथ प्रसा० । [2] क. ०न्प्रसीद णं भव । प्रा० । [3] ख. ०क्ते कान्तया तस्य । [4] ख. ०भोजस्त्वं ।

श्रीभगवानुवाच

नात्र स्थेयं त्वया सर्प कदाचिद्यमुनाजले । [1]सभृत्यपरिवारस्त्वं समुद्रसलिलं व्रज ।।५०।।
मत्पदानि च ते सर्प दृष्ट्वा मूर्धनि [2]सागरे । गरुडः पन्नगरिपुस्त्वयि न प्रहरिष्यति ।।५१।।

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा सर्पराजानं मुमोच भगवान्हरिः । प्रणम्य सोऽपि कृष्णाय जगाम पयसांनिधिम् ।।५२।।
पश्यतां सर्वभूतानां सभृत्यापत्यबान्धवः । समस्तभार्यासहितः परित्यज्य स्वकं ह्रदम् ।।५३।।
गते सर्पे परिष्वज्य मृतं पुनरिवाऽऽगतम् । गोपा मूर्धनि गोविन्दं सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः ।।५४।।
कृष्णमक्लिष्टकर्माणमन्ये विस्मितचेतसः । तुष्टुवुर्मुदिता गोपा दृष्ट्वा [3]शिवजलां नदीम् ।।५५।।
गीयमानोऽथ गोपीभिश्चरितैश्चारुचेष्टितैः । संस्तूयमानो गोपालैः [4]कृष्णो व्रजमुपागमत् ।।५६।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बालचरिते कालीयदमननिरूपणं नाम
पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१८५।।

श्री भगवान् बोले—सर्प ! तुम यहाँ यमुना-जल में भी कभी मत ठहरो । अपने नौकर तथा परिवार सहित तुम समुद्र के जल में चले जाओ । सर्प ! समुद्र में तुम्हारे मस्तक पर मेरे पदचिह्नों को देखकर गरुड़ तुम्हारे ऊपर प्रहार नहीं करेगा ।।५०-५१।।

व्यास बोले—सर्पराज से इतना कहकर भगवान् हरि ने उसे छोड़ दिया । वह भी कृष्ण को प्रणाम कर समस्त भूतों के देखते-ही-देखते अपने नौकर, वच्चे, बन्धु तथा अखिल पत्नियों समेत अपने ह्रद को छोड़कर समुद्र में चला गया । सर्प के चले जाने पर गोपों ने मरकर पुनः लौट आये की तरह कृष्ण का आलिंगन कर नेत्रजल से उनके मस्तक को भिगो दिया । दूसरे गोप नदी के जल को निर्दुष्ट देखकर आश्चर्यचकित हो हर्ष से महापराक्रमी कृष्ण की स्तुति करने लगे । गोपियाँ उनके सुन्दर चरित्रों का गान करने लगीं और गोपाल उनकी प्रशंसा करने लगे । इस प्रकार कृष्ण व्रज में आये ।।५२-५६।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में वालचरित्रवर्णन-प्रसंग में कालीयदमन-निरूपण नामक
एक सौ पचासीवाँ अध्याय समाप्त ।।१८५।।

---

[1] ख. सपुत्रप० । [2] ख. नागहा । [3] ख. क्षुब्धजलां । [4] क. ख. हृष्टो ।

अथ षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

धेनुकवधाख्यानम्

व्यास उवाच

गाः पालयन्तौ च पुनः सहितौ[१] रामकेशवौ । भ्रममाणौ वने तत्र रम्यं तालवनं गतौ ॥१॥
तच्च तालवनं नित्यं धेनुको नाम दानवः । नृगोमांसकृताहारः सदाऽध्यास्ते खराकृतिः ॥२॥
तत्र तालवनं रम्यं फलसम्पत्समन्वितम् । दृष्ट्वा स्पृहान्विता गोपाः फलदानेऽब्रुवन्वचः ॥३॥

गोपा ऊचुः

हे राम हे कृष्ण सदा धेनुकेनैव रक्ष्यते । भूप्रदेशो [२]यतस्तस्मात्त्यक्तानीमानि सन्ति वै ॥४॥
फलानि पश्य तालानां गन्धमोदयुतानि वै । वयमेतान्यभीप्सामः पात्यन्तां यदि रोचते ॥५॥
इति गोपकुमाराणां श्रुत्वा संकर्षणो वचः । कृष्णश्च पातयामास भुवि तालफलानि वै ॥६॥
तालानां पततां शब्दमाकर्ण्यासुरराट्ततः । आजगाम स दुष्टात्मा कोपाद्दैतेयगर्दभः ॥७॥
पद्भ्यामुभाभ्यां स तदा पश्चिमाभ्यां च तं बली । जघानोरसि ताभ्यां च स च तेनाप्यगृह्यत ॥८॥
गृहीत्वा भ्रामणेनैव चाम्बरे गतजीवितम् । तस्मिन्नेव प्रचिक्षेप वेगेन तृणराजनि ॥९॥

अध्याय १८६

धेनुक नामक असुर का वध

व्यास बोले—पुनः राम और कृष्ण एक साथ वन में गौओं को चराते हुए इधर-उधर घूमते हुए एक रमणीय तालवन में प्रविष्ट हो गयें। उस तालवन का रक्षक धेनुक नामक दानव था। जो मनुष्यों तथा गौओं के मांस का भोजन करता था। फलस्वरूप उस रमणीय तालवन को देखकर गोपों को फल लेने की इच्छा हुई। तब उन्होंने यह वचन कहा ॥१-३॥

गोप बोले—हे राम ! हे कृष्ण ! इस भूमि-प्रदेश की रक्षा धेनुक करता है। इसलिए ये फल लोगों से परित्यक्त हैं। तुम इन सुगंधित तालफलों को देखो। हमें ये चाहिए। यदि तुम्हें पसन्द आये तो इन्हें तोड़ दो। गोप-बालकों का यह वचन सुनकर बलराम तथा कृष्ण ने भूमि पर तालफलों को गिरा दिया। गिरते हुए फलों का शब्द सुनकर गर्दभरूपधारी दुष्टातमा दैत्य क्रोध से वहाँ आ पहुँचा। उस बलवान् ने अपने पिछले दोनों पैरों से राम की छाती पर मारा, पर उन्होंने उसकी टाँगे पकड़कर घुमाते-घुमाते आकाश में ही उसे निष्प्राण कर दिया और उसी क्षण वेग से तालवृक्ष के ऊपर फेंक दिया। ताल के ऊपर से गिरते हुए उस गधे ने अनेकों फलों

१क. ख. ०तौ बलके० । २क. ग. ०स्मात्पक्वानी० ।

ततः फलान्यनेकानि तालाग्रान्निपतन्खरः । पृथिव्यां पातयामास महावातोऽम्बुदानिव ॥१०॥
अन्यानप्यस्य वै ज्ञातीनागतान्दैत्यगर्दभान् । कृष्णश्चिक्षेप तालाग्रे बलभद्रश्च लीलया ॥११॥
क्षणेनालंकृता पृथ्वी पक्वैस्तालफलैस्तदा । दैत्यगर्दभदेहैश्च मुनयः शुशुभेऽधिकम् ॥१२॥
ततो गावो निराबाधास्तस्मिंस्तालवने द्विजाः । [1]नवशष्पं सुखं चेरुर्यत्र भुक्तमभूत्पुरा ॥१३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बालचरिते धेनुकवधवर्णनं नाम
षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८६॥

अथ सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

रामकृष्णकृतबहुविधलीलावर्णनम्

व्यास उवाच

तस्मिन्रासभदैतेये सानुजे विनिपातिते । सर्वगोपालगोपीनां रम्यं तालवनं बभौ ॥१॥
ततस्तौ जातहर्षौ तु वसुदेवसुतावुभौ । शुशुभाते महात्मानौ बालशृङ्गाविवर्षभौ ॥२॥

को उसी तरह पृथ्वी पर गिरा दिया, जैसे आँधी बादलों को छिन्न-भिन्न कर देती है। वहाँ आये हुए गर्दभरूपधारी अन्य दैत्यों को भी, जो धेनुक के भाई-बन्धु थे, कृष्ण तथा बलभद्र ने सहज ही में तालवृक्ष के ऊपर फेंक दिया। मुनिगण! क्षण भर में पृथ्वी पक्व तालफलों से अलंकृत हो गयी तथा गर्दभरूपधारी दैत्यों की देहों से वह विशेष रूप से शोभित हुई। द्विजवृन्द! तब से उस तालवन में गायें निर्बाधपूर्वक नवीन घासों को सुख से चरने लगीं, जहाँ से पहले खाती थीं ॥४-१३॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में बालचरित्र-कथन-प्रसंग में धेनुक-वर्णन नामक
एक सौ छियासीवाँ अध्याय समाप्त ॥१८६॥

अध्याय १८७

राम और कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन

व्यास बोले—बन्धुवर्गसहित उस राक्षस के विनष्ट हो जाने पर समस्त गोप-गोपियों के लिए तालवन रमणीय स्थान बन गया। तदनन्तर वसुदेव के दोनों महात्मा पुत्र हर्ष से उसी तरह सुशोभित हुए, जैसे नये सींग

---

[1] ख. ०वसस्यं सु०।

चारयन्तौ च गा दूरे व्याहरन्तौ च नामभिः । नियोगपाशस्कन्धौ तौ वनमालाविभूषितौ ॥३॥
सुवर्णाञ्जनपूर्णाभ्यां तदा तौ भूषिताम्बरौ । महेन्द्रायुधसंकाशौ श्वेतकृष्णाविवाम्बुदौ ॥४॥
चेरतुर्लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिरितरेतरम् । समस्तलोकनाथानां नाथभूतौ भुवं गतौ ॥५॥
मनुष्यधर्माभिरतौ मानयन्तौ मनुष्यताम्[1] । तज्जातिगुणयुक्ताभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वनम् ॥६॥
ततस्त्वान्दोलिकाभिश्च नियुद्धैश्च महाबलौ । व्यायामं चक्रतुस्तत्र क्षेपणीयैस्तथाऽश्मभिः ॥७॥
तल्लिप्सुरसुरस्तत्र उभयो रममाणयोः । आजगाम प्रलम्बाख्यो[2] गोपवेषतिरोहितः ॥८॥
सोऽवगाहत निःशङ्कं तेषां [3]मध्यममानुषः । मानुषं रूपमास्थाय प्रलम्बो दानवोत्तमः ॥९॥
तयोश्छिद्रान्तरप्रेप्सुरतिशीघ्रममन्यत । कृष्णं ततो रौहिणेयं हन्तुं चक्रे मनोरथम् ॥१०॥
हरिणा क्रीडनं नाम बालक्रीडनकं ततः । प्रक्रीडितास्तु ते सर्वे द्वौ द्वौ युगपदुत्पतन् ॥११॥
श्रीदाम्ना सह गोविन्दः प्रलम्बेन तथा बलः । गोपालैरपरैश्चान्ये गोपालाः सह पुप्लुवुः ॥१२॥
श्रीदामानं ततः कृष्णः प्रलम्बं रोहिणीसुतः । जितवान्कृष्णपक्षीयैर्गोपैरन्यैः पराजिताः ॥१३॥
ते वाहयन्तस्त्वन्योन्यं भाण्डीरस्कन्धमेत्य वै । पुनर्निवृत्तास्ते सर्वे [4]ये ये तत्र पराजिताः ॥१४॥
संकर्षणं तु स्कन्धेन शीघ्रमुत्क्षिप्य दानवः । न तस्थौ प्रजगामैव सचन्द्र इव वारिदः ॥१५॥
अशक्तो वहने तस्य सरंम्भाद्दानवोत्तमः । ववृक्षे सुमहाकायः प्रावृषीव बलाहकः ॥१६॥

वाले बछड़े। वनमाला से विभूषित तथा कंधे पर हाँकने की रस्सी रखे हुए कृष्ण एवम् राम गौवों को दूर ले जाकर चराते थे तथा उनके नामों से पुकारते थे। सुवर्ण तथा अञ्जनचूर्ण से भूषित वस्त्रधारी, (अर्थात् पीताम्बर और नीलाम्बर), इन्द्रधनुष के तुल्य और बादल की तरह श्वेत एवम् कृष्ण दोनों भाई परस्पर लोक-प्रसिद्ध क्रीडाओं से खेल करते थे। समस्त लोकनाथों के नाथ तथा महाबली कृष्ण-राम पृथ्वी पर आकर मनुष्य-धर्म-निरत होकर मनुष्यत्व का परिचय देते हुए मनुष्य जाति के अनुरूप ही वन में क्रीड़ा करते थे। वे हिंडोले पर झूलते, युद्ध करते और फेंकने योग्य पत्थर के टुकड़ों से व्यायाम करते थे। (एक दिन) खेल करते हुए कृष्ण और राम से बदला लेने की इच्छा से प्रलम्ब नामक असुर गोप-वेश में अपने को छिपाकर वहाँ उपस्थित हुआ। वह उन दोनों का छिद्रान्वेषण करने लगा। अत्यन्त शीघ्र ही उसे अवसर भी मालूम हो गया। तब वह कृष्ण और बलभद्र को मार देने की कामना करने लगा ॥१-१०॥ हरि ने बालक्रीड़नक नामक खेल आरम्भ किया। उसमें दो-दो बालक एक ही बार दौड़ते थे। श्रीदामा के साथ गोविन्द, प्रलम्ब के साथ बलराम और अन्य गोपालों के साथ दूसरे गोपाल दौड़ने लगे। कृष्ण ने श्रीदामा को और बलभद्र ने प्रलम्ब को जीत लिया; कृष्ण के पक्ष के गोपालों ने अन्य गोपालों को जीत लिया। पराजित पक्षवाले विजयी पक्ष वालों को कन्धे पर ढोकर नियत वटवृक्ष तक ले जाते थे और पुनः लौट आते थे। उस समय दैत्य बलराम को फुर्ती से कन्धे पर उठाकर उसी तरह भागने लगा जैसे चन्द्रमा के साथ बादल। बलभद्र के भार के कारण जब वह वहन करने में असमर्थ हुआ तब उसने वर्षाऋतु में बादल की तरह अपने शरीर को बहुत विस्तृत कर दिया। जले पर्वत

---

[1] ख. ०म्। तौ जाति०। [2] क. ०ख्यो नरवे। ०ध्यगतो रुषा। मा० [4] क. न।

संकर्षणस्तु तं दृष्ट्वा दग्धशैलोपमाकृतिम् । स्रग्दामलम्बाभरणं मुकुटाटोपमस्तकम् ॥१७॥
रौद्रं शकटचक्राक्षं [1]पादन्यासचलत्क्षितिम् । ह्रियमाणस्ततः कृष्णमिदं वचनमब्रवीत् ॥१८॥

बलराम उवाच

कृष्ण कृष्ण ह्रिये त्वेष पर्वतोदग्रमूर्तिना । केनापि पश्च दैत्येन गोपालच्छद्मरूपिणा ॥१९॥
यदत्र सांप्रतं कार्यं मया मधुनिषूदन । तत्कथ्यतां प्रयात्येष दुरात्माऽतित्वरान्वितः ॥२०॥

व्यास उवाच

तमाह रामं गोविन्दः स्मितभिन्नौष्ठसंपुटः । महात्मा रौहिणेयस्य बलवीर्यप्रमाणवित् ॥२१॥

कृष्ण उवाच

किमयं मानुषो भावो व्यक्तमेवावलम्ब्यते । सर्वात्मन्सर्वगुह्यानां गुह्याद्गुह्यात्मना त्वया ॥२२॥
स्मराशेषजगदीश कारणं कारणाग्रज । आत्मानमेकं तद्वच्च जगत्येकार्णवे च यः ॥२३॥
भवानहं च विश्वात्मन्नेकमेव हि कारणम् । जगतोऽस्य जगत्यर्थे भेदेनाऽऽवां व्यवस्थितौ ॥२४॥
तत्स्मर्यताममेयात्मंस्त्वयाऽऽत्मा जहि दानवम् । मानुष्यमेवमालम्ब्य बन्धूनां क्रियतां हितम् ॥२५॥

व्यास उवाच

इति संस्मारितो विप्राः कृष्णेन सुमहात्मना । विहस्य पीडयामास प्रलम्बं बलवान्बलः ॥२६॥
मुष्टिना चाहनन्मूर्ध्नि कोपसंरक्तलोचनः । तेन चास्य प्रहारेण बहिर्याते विलोचने ॥२७॥

के समान आकृतिवाले, पुष्पमाला तथा आभूषणों से युक्त, मस्तक पर मुकुट धारण किये, भयंकर, गाड़ी के चक्र के समान नेत्रवाले और पाद-प्रक्षेप से पृथ्वी को कँपानेवाले उस दानव को देखकर अपहृत किये जाते हुए बलराम ने कृष्ण से कहा ॥११-१८॥

बलराम बोले—कृष्ण ! कृष्ण ! गोपालवेशधारी किसी पर्वताकार दानव के द्वारा मैं अपहृत किया जा रहा हूँ। मधुसूदन ! इस समय मुझे क्या करना चाहिये ? कहिये। यह दुरात्मा तेजी से भाग रहा है॥१९-२०॥

व्यास बोले—बलभद्र के पराक्रम की इयत्ता को जानने वाले महात्मा गोविन्द ने मुस्कराकर उनसे कहा॥२१॥

कृष्ण बोले—अखिलात्मन् ! गुप्त से भी गुप्त को समझनेवाले ! आप क्या इस स्पष्ट मनुष्य-भाव का अवलम्बन कर रहे हैं ? सम्पूर्ण जगत् के स्वामी ! एक आत्मा का स्मरण कीजिये। किसी निमित्त से अग्रज होने वाले कारण का स्मरण कीजिये विश्वात्मन् ! जगत् के एकार्णव होने में भी हम और आप एक ही कारण हैं। संसार के लिए ही हम दोनों भिन्नतया अवस्थित होते हैं। अप्रमेयात्मन् ! इसलिए आत्मा का स्मरण कीजिये। दानव का नाश कीजिये। इस प्रकार मनुष्यत्व का अवलम्बन कर बन्धुओं का हित कीजिये ॥२२-२५॥

व्यास बोले—विप्रवृन्द ! महात्मा कृष्ण के इस प्रकार स्मरण दिलाने पर बलवान् बलराम हँसकर प्रलम्ब को पीड़ा देने लगे। क्रोध से आँखे लाल कर उन्होंने मुट्ठी से उसके मस्तक पर दे मारा। इस प्रहार से उसकी आँखें

---

[1] क. ०सहतक्षि०।

स निष्कासितमस्तिष्को मुखाच्छोणितमुद्वमन् । निपपात महीपृष्ठे दैत्यवर्यो ममार च ॥२८॥
प्रलम्बं निहतं दृष्ट्वा बलेनाद्भुतकर्मणा । प्रहृष्टास्तुष्टुवुर्गोपाः साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥२९॥
संस्तूयमानो [1]रामस्तु गोपैर्दैत्ये निपातिते । प्रलम्बे सह कृष्णेन पुनर्गोकुलमाययौ ॥३०॥

व्यास उवाच

तयोर्विहरतोरेवं रामकेशवयोर्व्रजे । प्रावृड्व्यतीता विकसत्सरोजा चाभवच्छरत् ॥३१॥
विमलाम्बरनक्षत्रे काले चाभ्यागते व्रजम् । [2]ददर्शेन्द्रोत्सवारम्भप्रवृत्तान्व्रजवासिनः ॥३२॥
कृष्णस्तानुत्सुकान्दृष्ट्वा गोपानुत्सवलालसान् । कौतूहलादिदं वाक्यं प्राह वृद्धान्महामतिः ॥३३॥

कृष्ण उवाच

कोऽयं शक्रमहो नाम येन वो हर्ष आगतः । प्राह तं नन्दगोपश्च पृच्छन्तमतिसादरम् ॥३४॥

नन्द उवाच

मेघानां [3]पयसामीशो देवराजः शतक्रतुः । येन संचोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बुमयं रसम् ॥३५॥
तद्वृष्टिजनितं सस्यं वयमन्ये च देहिनः । वर्तयामोपभुञ्जानास्तर्पयामश्च देवताः ॥३६॥
क्षीरवत्य इमा गावो वत्सवत्यश्च निर्वृताः । तेन संवर्धितैः सस्यैः[4] पुष्टास्तुष्टा भवन्ति वै ॥३७॥
नासस्या नानृणा भूमिर्न बुभुक्षार्दितो जनः । दृश्यते यत्र दृश्यन्ते वृष्टिमन्तो बलाहकाः ॥३८॥

निकल गयीं, सिर टूट गया और मुख से शोणित वहने लगा । इस प्रकार वह दानव-श्रेष्ठ पृथ्वी पर गिरकर मर गया। अद्भुत-कर्मकारी बलभद्र द्वारा प्रलम्व के मारे जाने पर गोपगण 'ठीक-ठीक कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे। प्रलम्व के गिर जाने पर गोपों द्वारा स्तुत होते हुए वलराम कृष्ण के साथ पुनः गोकुल आ गये ॥२६-३०॥

व्यास बोले—व्रज में राम और केशव के इस प्रकार विहार करते हुए वर्षा ऋतु वीत गयी और शरद् का प्रारम्भ हुआ । निर्मल आकाश में तारे सुशोभित होने लगे । व्रजवासी इन्द्रपूजा की तैयारी में लग गये । उत्सव मनाने की लालसा से दौड़-धूप करते हुए गोपों को देखकर महावुद्धिमान् कृष्ण ने उत्सुकतापूर्वक वृद्धों से पूछा॥३१-३३॥

कृष्ण बोले—इन्द्र कौन है, जिससे आप लोगों को इतना हर्ष हो रहा है । इस प्रकार पूछते हुए कृष्ण से नन्दगोप अत्यन्त आदरपूर्वक कहने लगे ॥३४॥

नन्द बोले—देवराज इन्द्र मेघों के स्वामी हैं । उन्हीं की प्रेरणा से मेघ जलमय रस वृष्टि करते हैं । उसी वृष्टि से अन्न पैदा होता है, जिसे खाकर हम तथा दूसरे प्राणी जीते हैं और देवताओं को तृप्त करते हैं । उसी अन्न से गायें हृष्ट-पुष्ट होकर दूध तथा बछड़े देती हैं । जहाँ मेघ बरसते हैं, वहाँ भूमि सस्यसम्पन्न होती है, ऋण नहीं लेने पड़ते और प्राणी भूखों नहीं मरते हैं । वादल पृथ्वी पर के जल को सूर्य की किरणों द्वारा खींच लेते हैं और

---

[1]क. रामोऽथ । [2]ग. ०र्शेन्द्रमहारम्भायोद्यतान्व्र० । [3]क. ०यसां स्वामी दे० । [4]क. सस्यैर्हृष्टपुष्टा भ० ।

भौममेतत्पयो गोभिर्धत्ते सूर्यस्य वारिदः । पर्जन्यः सर्वलोकस्य भवाय भुवि वर्षति ।।३९।।
तस्मात्प्रावृषि राजानः शक्रं सर्वे मुदान्विताः । महे सुरेशमर्चन्ति वयमन्ये च देहिनः ।।४०।।

व्यास उवाच

नन्दगोपस्य वचनं श्रुत्वेत्थं शक्रपूजने । कोपाय त्रिदशेन्द्रस्य प्राह दामोदरस्तदा ।।४१।।

कृष्ण उवाच

न वयं कृषिकर्तारो वणिज्याजीविनो न च । गावोऽस्मद्दैवतं तात वयं वनचरा यतः ।।४२।।
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथाऽपरा । विद्याचतुष्टयं त्वेतद्वार्तामत्र शृणुष्व मे ।।४३।।
कृषिर्वणिज्या तद्वच्च तृतीयं पशुपालनम् । विद्या ह्येता (षा) महाभागा वार्ता वृत्तित्रयाश्रया ।।४४।।
कर्षकाणां कृषिर्वृत्तिः पण्यं तु पणजीविनाम् । अस्माकं गाः परा वृत्तिर्वार्ता भेदैरियं त्रिभिः ।।४५।।
विद्यया यो यया युक्तस्तस्य सा दैवतं महत् । सैव पूज्याऽर्चनीया च सैव तस्योपकारिका ।।४६।।
योऽन्यास्यः फलमश्नन्वै पूजयत्यपरां नरः । इह च प्रेत्य चैवासौ तात नाऽऽप्नोति शोभनम् ।।४७।।
पूज्यन्तां प्रथिताः सीमाः[१] सीमान्तं च पुनर्वनम् । वनान्ता गिरयः सर्वे सा चास्माकं परा गतिः ।।४८।।
गिरियज्ञस्त्वयं तस्माद्गोयज्ञश्च प्रवर्त्यताम् । किमस्माकं महेन्द्रेण गावः शैलाश्च देवताः ।।४९।।
मन्त्रयज्ञपरा विप्राः सीरयज्ञाश्च कर्षकाः । गिरिगोयज्ञशीलाश्च वयमद्रिवनाश्रयाः[२] ।।५०।।

समस्त लोक के हित के लिए पुनः भूमि पर बरस देते हैं। इसलिए वर्षाऋतु में (?) समस्त नृपगण, हम तथा दूसरे लोग भी हर्षपूर्वक इन्द्र की पूजा करते हैं ।।३५-४०।।

व्यास बोले—शक्रपूजन के वारे में नन्द का यह वचन सुनकर इन्द्र को कुपित करने के लिए दामोदर ने कहा ।।४१।।

कृष्ण बोले—तात ! हम न तो कृषक हैं न व्यापारी ही। हम लोग वनवासी हैं। इसलिए गौएँ हमारी देवता हैं। चार प्रकार की विद्याएँ होती हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति। इनमें वार्ता के विषय में मुझसे सुनिये। कृषि, व्यापार और पशुपालन—इन्हीं तीन वृत्तियों के आश्रित वार्ता मानी जाती है। किसानों की वृत्ति खेती, बनियों की व्यापार और हमारी पशुपालन वृत्ति ही कही गयी है। वार्ता के यही तीन भेद हैं। जो जिस विद्या से युक्त है, उसका वही देवता है। उसी की पूजा करनी चाहिए। वही उसका उपकार करता है। तात ! जो मनुष्य फल प्राप्त करता है किसी देवता से और पूजा करता है किसी और की, उसका इस लोक में तथा परलोक में कल्याण नहीं होता है। हम लोग विस्तृत सीमाओं की पूजा करें, फिर सीमान्त वन की और वनान्त पर्वतों की पूजा करें। समस्त पर्वत ही हमारे रक्षक हैं। इसलिए पर्वतयज्ञ और गोयज्ञ हम लोग आरम्भ करें। हमें इन्द्र से क्या प्रयोजन ? हमारे देवता तो गायें तथा पर्वत हैं। ब्राह्मणों को मन्त्रयज्ञ, किसानों को हलयज्ञ और हम वनवासियों को पर्वतों तथा

---

[१] क. ०सीमा गिरयो धेनुकान्तथा। येनास्माकं हि गिरयो धेनुश्च परमा ग०। [२] ग. ०द्रिबलाश्र०।

तस्माद्गोवर्धनः शैलो भवद्भिर्विविधार्हणैः । अर्च्यतां पूज्यतां मेध्यं पशुं हत्वा विधानतः ॥५१॥
सर्वघोषस्य संदोहा गृह्यन्तां मा विचार्यताम् । भोज्यन्तां तेन वै विप्रास्तथाऽन्ये चापि वाञ्छकाः ॥५२॥
तमर्चितं कृते होमे भोजितेषु द्विजातिषु । शरत्पुष्पकृतापीडाः परिगच्छन्तु गोगणाः ॥५३॥
एतन्मम मतं गोपाः संप्रीत्या क्रियते यदि । ततः कृता भवेत्प्रीतिर्गवामद्रेस्तथा मम ॥५४॥

व्यास उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा नन्दाद्यास्ते व्रजौकसः । प्रीत्युत्फुल्लमुखा विप्राः साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥५५॥
शोभनं ते मतं वत्स तदेतद्भवतोदितम् । तत्करिष्याम्यहं सर्वं गिरियज्ञः प्रवर्त्यताम् ॥५६॥
तथा च कृतवन्तस्ते गिरियज्ञं व्रजौकसः । दधिपायसमांसाद्यैर्ददुः शैलबलिं ततः ॥५७॥
द्विजांश्च भोजयामासुः शतशोऽथ सहस्रशः । गावः शैलं ततश्चक्रुरर्चितास्तं प्रदक्षिणम् ॥५८॥
वृषभाश्चाभिनर्दन्तः सतोया जलदा इव । गिरिमूर्धनि गोविन्दः शैलोऽहमिति मूर्तिमान् ॥५९॥
बुभुजेऽन्नं बहुविधं गोपवर्याहृतं द्विजाः । कृष्णस्तेनैव रूपेण गोपैः सह गिरेः शिरः ॥६०॥
अधिरुह्यार्चयामास द्वितीयामात्मनस्तनुम् । अन्तर्धानं कृते तस्मिन्गोपा लब्ध्वा ततो वरान् ॥
कृत्वा गिरिमहं गोष्ठं निजमभ्याययुः पुनः ॥६१॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बालचरिते गोवर्धनगिरियज्ञप्रवर्तनं नाम
सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८७॥

गौओं का यज्ञ करना चाहिए। इसलिए आप लोग विधानपूर्वक पवित्र पशु की बलि देकर गोवर्धन पर्वत की विविध पूजा कीजिये। सब गाँववालों को सूचना दे दीजिये। अब इसमें सोचिये नहीं। ब्राह्मणों को तथा अपेक्षितों को भोजन कराइये। गोवर्धन की पूजा, हवन तथा ब्राह्मण-भोजन कराने के उपरान्त गो-समूह को शरद् ऋतु में होनेवाले पुष्पों से सुसज्जित कीजिये। यह मेरा विचार है। यदि गोपगण प्रसन्नतापूर्वक ऐसा करेंगे तो गौओं तथा पर्वत को और मुझे भी परितोष होगा ॥४२-४५॥

व्यास बोले—विप्रवृन्द ! कृष्ण के वचन सुनकर, नन्द आदि व्रजवासी प्रेम से गद्गद होकर कहने लगे—'ठीक-ठीक ! वत्स ! तुमने जो कहा, सब अच्छा है। हम वैसे ही करेंगे। अब हम पर्वतयज्ञ आरम्भ करे।' तदनन्तर समस्त व्रजवासियों ने पर्वत-यज्ञ किया। पर्वत को दही, खीर, मांस आदि की बलि दी गई। सैकड़ों-हजारों ब्राह्मण खिलाये गये। सुसज्जित गायों तथा जलपूर्ण बादल की तरह शब्द करते हुए बैलों ने पर्वत की प्रदक्षिणा की। द्विजवृन्द ! पर्वत के शिखर पर प्रतिमा की आकृति में अपने को पर्वत बतलाते हुए गोविन्द ने गोपों के चढ़ाये हुए अनेक प्रकार के अन्नों को खाया। कृष्ण ने उसी रूप से गोपों के साथ पर्वत के शिखर पर चढ़कर अपने दूसरे शरीर की पूजा की। मूर्ति के अन्तर्ध्यान हो जाने पर गोपगण उत्तम वरदान प्राप्त कर तथा पर्वतोत्सव सम्पन्न कर पुनः गोकुल आ गये ॥५५-६१॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में बालचरित्र-कथन-प्रंग में गोवर्धनगिरि-यज्ञ-प्रवर्तन
नामक एक सौ सत्तासीवाँ अध्याय समाप्त ॥१८७॥

अथाष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

गोवर्धनाख्यानवर्णनम्

व्यास उवाच[1]

महे प्रतिहते शक्रो भृशं कोपसमन्वितः । संवर्तकं नाम गणं तोयदानामथाब्रवीत् ॥१॥

इन्द्र उवाच

भो भो मेघा निशम्यैतद्वदतो वचनं मम । [2]आज्ञानान्तरमेवाऽसु क्रियतामविचारितम् ॥२॥
नन्दगोपः सुदुर्बुद्धिर्गोपैरन्यैः सहायवान् । [3]कृष्णाश्रयबलाध्मातो महभङ्गमचीकरत् ॥३॥
आजीवो यः परं तेषां गोपत्वस्य च कारणम् । ता गावो वृष्टिपातेन पीडयन्तां वचनान्मम ॥४॥
अहमप्यद्रिभृङ्गाभं तुङ्गमारुह्य वारणम् । साहाय्यं वः करिष्यामि [4]वायूनां संगमेन च ॥५॥

व्यास उवाच

इत्याज्ञप्ताः सुरेन्द्रेण मुमचुस्ते बलाहकाः । वातवर्षं महाभीममभावाय गवां द्विजाः ॥६॥
ततः क्षणेन धरणी ककुभोऽम्बरमेव च । एकं धारामहासारपूरणेनाभवद् द्विजाः ॥७॥
गावस्तु तेन पतता वर्षवातेन वेगिना । धुताः प्राणाञ्जहुः सर्वास्तिर्यङ्मुखशिरोधराः ॥८॥

अध्याय १८८

गोवर्धन का आख्यान

व्यास बोले—उत्सव नष्ट हो जाने पर (अर्थात् इन्द्र की पूजा रुक जाने पर) इन्द्र को बहुत क्रोध हुआ। तब बादलों में से संवर्तक नामक गण को बुलाकर उन्होंने कहा ॥१॥

इन्द्र बोले—बादलो ! मेरी बात सुनो और आज्ञा के बाद बिना विचारे शीघ्र ही उसे कार्यरूप में परिणत कर डालो। दुष्टबुद्धि नन्दगोप ने अन्य गोपों की सहायता से तथा कृष्ण के बल से मेरे उत्सव को भंग किया। जो गौएँ उनकी जीविका हैं तथा गोपत्व का कारण हैं, उन्हे ही तुम मेरे वचनानुसार वृष्टिपात से पीड़ित करो। मैं भी पर्वतशिखर के तुल्य उत्तुंग हस्ती पर चढ़कर वायु के साथ तुम्हारी सहायता करूँगा ॥२-५॥

व्यास बोले—द्विजवर ! इन्द्र की आज्ञा पाकर बादल गौओं के नाश के लिए मूसलधार वृष्टि करने लगे। तदनन्तर क्षण में ही पृथ्वी, दिशाएँ तथा आकाश अनन्त धाराओं से भरकर एक-से बन गये। उस भीषण वृष्टिपात से समस्त गौएँ मुख और ग्रीवा को तिरछा करके प्राणत्याग करने लगीं। द्विजश्रेष्ठो ! कितनी गौएँ बछड़ों को क्रोड़-

---

[1] ख. ०च—यज्ञे च प्रह० । [2] क ०ज्ञा परं ममैवाऽऽ० । [3] ख. ०बलोन्मत्तो म० । [4] ग. वायुमुत्सर्गयोजितम् । व्या० ।

क्रोडेन वत्सानाक्रम्य तस्थुरन्या द्विजोत्तमाः । गावो विवत्साश्च कृता वारिपूरेण चापराः ॥९॥
वत्साश्च दीनवदनाः[१] पवनाकम्पिकंधराः । त्राहि त्राहीत्यल्पशब्दाः कृष्णमूचुरिवाऽऽर्तकाः ॥१०॥
ततस्तद्गोकुलं सर्वं [२]गोगोपीगोपसंकुलम् । अतीवाऽऽर्तं हरिर्दृष्ट्वा त्राणायाचिन्तयत्तदा ॥११॥
एतत्कृतं महेन्द्रेण महभङ्गविरोधिना । तदेतदखिलं गोष्ठं त्रातव्यमधुना मया ॥१२॥
इममद्रिमहं वीर्यादुत्पाट्योरुशिलातलम् । धारयिष्यामि गोष्ठस्य पृथुच्छत्रमिवोपरि ॥१३॥

व्यास उवाच

इति कृत्वा मतिं कृष्णो गोवर्धनमहीधरम् । उत्पाट्यैककरेणैव धारयामास लीलया ॥१४॥
गोपांश्चाऽऽह जगन्नाथः समुत्पाटितभूधरः । विशध्वमत्र सहिताः कृतं वर्षनिवारणम् ॥१५॥
सुनिर्वातेषु देशेषु यथायोग्यमिहाऽऽस्यताम् । प्रविश्य नात्र भेतव्यं गिरिपातस्य निर्भयैः ॥१६॥
इत्युक्तास्तेन ते गोपा विविशुर्गोधनैः सह । शकटारोपितैर्भाण्डैर्गोप्यश्चाऽऽसारपीडिताः ॥१७॥
कृष्णोऽपि तं दधारैवं शैलमत्यन्तनिश्चलम् । व्रजौकोवासिभिर्हर्षविस्मिताक्षैर्निरीक्षितः ॥१८॥
गोपगोपीजनैर्हृष्टैः प्रीतिविस्तारितेक्षणैः । संस्तूयमानचरितः कृष्णः शैलमधारयत् ॥१९॥
सप्तरात्रं महामेघा ववर्षुर्नन्दगोकुले । इन्द्रेण चोदिता मेघा गोपानां नाशकारिणा ॥२०॥
ततो धृते महाशैले परित्राते च गोकुले । मिथ्याप्रतिज्ञो बलभिद्वारयामास तान्घनान् ॥२१॥

प्रदेश में छिपाकर खड़ी हो गयी और कितनी गौओं को तो जलधारा ने वत्सरहित ही कर दिया। वायु से थरथराते हुए कंधेवाले, दीन मुखवाले एवम् भयपीड़ित बछड़े कृष्ण से रक्षा करो, रक्षा करो' की तरह कुछ अल्प शब्दों में कहने लगे। तब गोप-गोपी समेत समस्त गोकुल को अत्यन्त पीड़ित देखकर कृष्ण रक्षा का उपाय सोचने लगे—'उत्सव के भंग हो जाने से इन्द्र ने ऐसा किया है। इसलिए सम्पूर्ण गोकुल की रक्षा इस समय मुझे करनी चाहिये। मैं अपनी शक्ति से इस विस्तृत शिलामय पर्वत को उखाड़कर गोकुल के ऊपर विशाल छत्र की तरह उसको धारण करूँगा' ॥६-१३॥

व्यास बोले—ऐसा निश्चय करके सहज ही में गोवर्धन पर्वत को उखाड़कर कृष्ण ने एक ही हाथ से उसको धारण कर लिया। पर्वत को उखाड़कर जगन्नाथ ने गोपों से कहा—'इसके अन्दर सब चले आओ, वर्षा से बच जाओगे। यहाँ वायु भी नहीं है, सुखपूर्वक रहो। निर्भय होकर यहाँ प्रवेश करो, पर्वत के गिरने की कोई शंका न करो।' कृष्ण के कहने पर वे गोप गाड़ियों पर भाण्डों को लादकर गोधन सहित उसमें प्रविष्ट हो गये। जलधारा से पीड़ित गोपियाँ भी वहाँ गयीं। कृष्ण ने अत्यन्त निश्चलता से पर्वत को धारण किया। व्रजवासी आनन्द से विस्मित नेत्रों से उनकी ओर देखने लगे। गोप-गोपियाँ प्रेम से आँखे फाड़-फाड़कर उनकी ओर ताकने और प्रसन्नतापूर्वक उनके चरित्रों की प्रशंसा करने लगीं। गोपों का नाश करने के लिए इन्द्र से प्रेरित महामेघ सात रातों तक नन्द के गोकुल में वृष्टि करते रहे। कृष्ण द्वारा महापर्वत के धारण किये जाने पर और गोकुल की रक्षा हो जाने पर इन्द्र की

---

[१] ख. ०दना बभूवुर्वर्षपीडिताः। त्रा०। [२] क. ०गोपगोपीसमाकु०।

व्यभ्रे नभसि देवेन्द्रे वितथे शक्रमन्त्रिते । निष्क्रम्य गोकुलं हृष्टः स्वस्थानं पुनरागमत् ।।२२।।
मुमोच कृष्णोऽपि तदा गोवर्धनमहागिरिम् । स्वस्थाने विस्मितमुखैर्दृष्टस्तैर्व्रजवासिभिः ।।२३।।

व्यास उवाच

धृते गोवर्धने शैले परित्राते च गोकुले । रोचयामास कृष्णस्य दर्शनं पाकशासनः ।।२४।।
सोऽधिरुह्य महानागमैरावतममित्रजित् । गोवर्धनगिरौ कृष्णं ददर्श त्रिदशाधिपः ।।२५।।
चारयन्तं महावीर्यं गाश्च[1] गोपवपुर्धरम् । कृत्स्नस्य जगतो गोपं वृतं गोपकुमारकैः ।।२६।।
गरुडं च ददर्शोच्चैरन्तर्धानगतं द्विजाः । कृतच्छायं हरेर्मूर्ध्नि पक्षाभ्यां पक्षिपुंगवम् ।।२७।।
अवरुह्य स नागेन्द्रादेकान्ते मधुसूदनम् । शक्रः सस्मितमाहेदं प्रीतिविस्फारितेक्षणः[2] ।।२८।।

इन्द्र उवाच

कृष्ण कृष्ण शृणुष्वेदं यदर्थमहमागतः । त्वत्समीपं महाबाहो नैतच्चिन्त्यं[3] त्वयाऽन्यथा ।।२९।।
भारावतरणार्थाय पृथिव्याः पृथिवीतलम् । अवतीर्णोऽखिलाधारस्त्वमेव परमेश्वर ।।३०।।
महभङ्गविरुद्धेन मया गोकुलनाशकाः । समादिष्टा महामेघास्तैश्चैतत्कदनं कृतम् ।।३१।।
त्रातास्तापात्त्वया गावः समुत्पाट्य महागिरिम् । तेनाहं तोषितो वीर[4] कर्मणाऽत्यद्भुतेन ते ।।३२।।

प्रतिज्ञा असत्य हुई । तब उन्होंने मेघों को रोक दिया । इन्द्र के विचार निष्फल हो जाने पर वे गोकुल को छोड़कर पुनः अपने स्थान पर चले गये । आकाश स्वच्छ हो गया । तब कृष्ण ने भी गोवर्धन पर्वत को यथास्थान रख दिया । व्रजवासियों ने विस्मित मुखों से कृष्ण का अवलोकन किया ।।१४-२३।।

व्यास बोले—गोवर्धनपर्वत के धारण तथा गोकुल की रक्षा करने के कारण इन्द्र को कृष्ण-दर्शन की लालसा हुई । तब देवों के अधीश इन्द्र ने ऐरावत नामक महाहस्ती पर आरूढ़ होकर गोवर्धन गिरि पर कृष्ण का दर्शन किया । उस समय अखिल जगत् के रक्षक महाबलशाली कृष्ण गोप-शरीर धारण कर गोपकुमारों के साथ गायें चरा रहे थे और ऊपर से छिपे-छिपे पक्षिश्रेष्ठ गरुड़ अपने पंखों से भगवान् के मस्तक पर छाया कर रहे थे । तब एकान्त में हाथी पर से उतरकर इन्द्र प्रेम से आँखें फाड़-फाड़कर कृष्ण की ओर ताकते हुए मुस्कराकर उनसे कहने लगे ।।२४-२८।।

इन्द्र बोले—कृष्ण ! कृष्ण ! मैं जिसलिए आपके समीप आया हूँ, वह सुनिये । महाबाहो ! उसे आप अन्यथा न समझेंगे । पृथ्वी के भार उतारने के लिए आप भूतल पर अवतीर्ण हुए हैं । आप सबके आधार हैं । आप ही परमेश्वर हैं । उत्सव के भंग होने के कारण मैंने गोकुल को नष्ट करने के लिए महामेघों को आदेश दिया था । यह मैंने अपराध किया । आपने महापर्वत को उखाड़कर गौओं को कष्ट से बचा लिया । वीर ! आपके अत्यन्त आश्चर्य-

---

[1] क. ०गा गोपैः सहितं तदा । कृ० । [2] क. ०क्षणम् । इ० । [3] क. ०च्चित्रं विभो त्वयि । भा० । [4] ख. देव ।

साधितं कृष्ण देवानामद्य मन्ये प्रयोजनम् । त्वयाऽयमद्रिप्रवरः करेणैकेन चोद्धृतः ।।३३।।
गोभिश्च नोदितः कृष्ण त्वत्समीपमिहाऽऽगतः । त्वया त्राताभिरत्यर्थं युष्मत्कारणकारणात् ।।३४।।
स त्वां कृष्णाभिषेक्ष्यामि गवां वाक्यप्रचोदितः । उपेन्द्रत्वे गवामिन्द्रो गोविन्दस्त्वं भविष्यसि ।।३५।।
अथोपवाह्यादादाय घण्टामैरावताद्गजात् । अभिषेकं तया चक्रे पवित्रजलपूर्णया ।।३६।।
क्रियमाणेऽभिषेके तु गावः कृष्णस्य तत्क्षणात् । प्रस्रवोद्भूतदुग्धार्द्रां सद्यश्चक्रुर्वसुंधराम् ।।३७।।
अभिषिच्य गवां वाक्याद्देवेन्द्रो वै जनार्दनम् । प्रीत्या सप्रश्रयं कृष्णं पुनराह शचीपतिः ।।३८।।

इन्द्र उवाच

गवामेतत्कृतं वाक्यात्तथाऽन्यदपि मे शृणु । यद्ब्रवीमि महाभाग भारावतरणेच्छया ।।३९।।
ममांशः पुरुषव्याघ्रः पृथिव्यां पृथिवीधर । अवतीर्णोऽर्जुनो नाम स रक्ष्यो भवता सदा ।।४०।।
भारावतरणे सख्यं स ते वीरः करिष्यति । स रक्षणीयो भवता यथाऽऽत्मा मधुसूदन ।।४१।।

श्रीभगवानुवाच

जानामि भारते वंशे जातं पार्थं[१] तवांशतः । तमहं पालयिष्यामि यावदस्मि महीतले ।।४२।।
यावन्महीतले शक्र स्थास्याम्यहमरिंदम । न तावदर्जुनं कश्चिद्देवेन्द्र युधि जेष्यति ।।४३।।
कंसो नाम महाबाहुर्दैत्योऽरिष्टस्तथा परः । केशी कुवलयापीडो नरकाद्यास्तथाऽपरे ।।४४।।

जनक कर्म से मैं प्रसन्न हूँ। कृष्ण ! आज मैं मानता हूँ कि आपने देवताओं का कार्य सिद्ध कर दिया। आपने एक ही हाथ से इस पर्वतश्रेष्ठ को धारण किया। कृष्ण ! आपसे अभिरक्षित गौओं द्वारा प्रेरित होकर मैं आपके ही कारण आपके पास आया हूँ। मैं गौओं की वातों से प्रेरित होकर आपको उपेन्द्रत्व के पद पर अभिषिक्त करूँगा। आप गोविन्द तथा गौओं के स्वामी कहलायेंगे। इसके वाद ऐरावत हाथी से घण्टा उतारकर इन्द्र ने पवित्र जल से कृष्ण का अभिषेक किया। कृष्ण के अभिषेक के समय गौओं ने दूध से पृथ्वी को सद्यः आप्लुत कर दिया। गौओं के वचन से जनार्दन का अभिषेक करके शचीपति ने पुनः कृष्ण से प्रेम तथा विनयपूर्वक कहा ।।२९-३८।।

इन्द्र बोले—महाभाग ! गौओं के वचन से जैसे आपने यह किया वैसे और भी जो मैं कहता हूँ, वह सुनिये। पृथ्वीधर ! भार उतारने की इच्छा से मेरा अंश पुरुषपुंगव होकर अवतीर्ण हुआ है, जिसका नाम अर्जुन है। उसकी आप सदा रक्षा करेंगे। भार उतारने में वह वीर आपकी सहायता करेगा। मधुसूदन ! आत्मा की तरह आप उसकी रक्षा करेंगे ।।३९-४१।।

श्री भगवान् बोले—मैं जानता हूँ, भारतवंश में आपके अंश से पार्थ उत्पन्न हुआ है। मैं जव तक पृथ्वी पर रहूँगा तव तक उसका पालन करूँगा। शक्र ! शत्रु का दमन करनेवाले ! मैं जव तक भूतल पर रहूँगा तब तक युद्ध में अर्जुन को कोई नहीं पराजित कर सकेगा। कस नामक एक महाशक्तिशाली दैत्य है। उंसी तरह अरिष्ट, केशी, कुवलयापीड़, नरक आदि भी हैं। देवेन्द्र ! उनके निहत होने के बाद महासंग्राम होगा, जिससे पृथ्वी

---

[१]क. पुत्रं ।

हतेषु तेषु देवेन्द्र भविष्यति महाहवः[1] । तत्र विद्धि सहस्राक्ष भारावतरणं कृतम् ॥४५॥
स त्वं गच्छ न संतापं पुत्रार्थे कर्तुमर्हसि । नार्जुनस्य रिपुः [2]कश्चिन्ममाग्रे प्रभविष्यति ॥४६॥
अर्जुनार्थे[3] त्वहं सर्वान्युधिष्ठिरपुरोगमान् । निवृत्ते भारते युद्धे कुन्त्यै दास्यामि विक्षतान् ॥४७॥

व्यास उवाच

इत्युक्तः संपरिष्वज्य देवराजो जनार्दनम् । आरुह्यैरावतं नागं[4] पुनरेव दिवं ययौ ॥४८॥
कृष्णोऽपि सहितो गोभिर्गोपालैश्च पुनर्व्रजम् । आजगामाथ गोपीनां दृष्टपूतेन वर्त्मना ॥४९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बालचरिते गोविन्दाभिषेकवर्णनं
नामाष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८८॥

अथोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अरिष्टवधनिरूपणम्

व्यास उवाच

गते शक्रे तु गोपालाः कृष्णमक्लिष्टकारिणम् । ऊचुः प्रीत्या धृतं दृष्ट्वा तेन गोवर्धनाचलम् ॥१॥

का भार उतर जायगा। सहस्राक्ष! इसलिए आप जाइये। पुत्र के लिए सोच न कीजिये। मेरे सामने अर्जुन का कोई शत्रु नहीं होगा। अर्जुन के कारण मैं युधिष्ठिर आदि सबको विना क्षत हुए ही महाभारत युद्ध के अन्त में कुन्ती को समर्पित कर दूँगा ॥४२-४७॥

व्यास बोले—एतदुपरान्त देवराज जनार्दन का आलिंगन करके ऐरावत हाथी पर चढ़कर पुनः स्वर्ग चले गये। कृष्ण भी गौओं तथा गोपालों के साथ गोपियों के दृष्टिपात से पवित्र हुए मार्ग से पुनः व्रज में आ गये॥४८-४९॥

श्रीब्रह्मपुराण में वालचरित्र-कथन-प्रसंग में गोविन्दाभिषेक-वर्णन नामक एक सौ
अट्ठासीवाँ अध्याय समाप्त ॥१८८॥

अध्याय १८९

अरिष्ट नामक असुर का वध

व्यास बोले—इन्द्र के चले जाने के उपरान्त गोवर्धनपर्वत को धारण करनेवाले एवं विना क्लेश के कर्म करनेवाले कृष्ण से गोपालों ने प्रेमपूर्वक कहा ॥१॥

---

[1] क. ०वः । भविष्यति स० । [2] ख. ०श्चित्संग्रामे संभ० । [3] ख. नार्थं त्व० । [4] ० गं त्वरितं स ।

गोपा ऊचुः

वयमस्मान्महाभाग भवता महतो भयात् । गावश्च भवता त्राता गिरिधारणकर्मणा ।।२।।
बालक्रीडेयमतुला गोपालत्वं जुगुप्सितम् । दिव्यं च कर्म भवतः किमेतत्तात कथ्यताम् ।।३।।
कालियो दमितस्तोये प्रलम्बो विनिपातितः । धृतो गोवर्धनश्चायं शङ्कितानि मनांसि नः ।।४।।
सत्यं सत्यं हरेः पादौ श्रयामोऽमितविक्रम । यथा त्वद्वीर्यमालोक्य न त्वां मन्यामहे नरम् ।।५।।
देवो वा दानवो वा त्वं यक्षो गन्धर्व एव वा । किं चास्माकं विचारेण बान्धवोऽस्ति नमोऽस्तु ते ।।६।।
प्रीतिः सस्त्रीकुमारस्य व्रजस्य तव केशव । कर्म चेदमशक्यं यत्समस्तैस्त्रिदशैरपि ।।७।।
बालत्वं चातिवीर्यं च जन्म चास्मास्वशोभनम् । चिन्त्यमानममेयात्मञ्शङ्कां कृष्ण प्रयच्छति ।।८।।

व्यास उवाच

क्षणं भूत्वा त्वसौ तूष्णीं किंचित्प्रणयकोपवान् । इत्येवमुक्तस्तैर्गोपैराह कृष्णो द्विजोत्तमाः ।।९।।

श्रीकृष्ण उवाच

मत्संबन्धेन वो गोपा यदि लज्जा न जायते । श्लाघ्यो वाऽहं ततः किं वो विचारेण प्रयोजनम् ।।१०।।
यदि वोऽस्ति मयि प्रीतिः श्लाघ्योऽहं भवतां यदि । तदर्घा बन्धुसदृशी बान्धवाः क्रियतां मयि ।।११।।
नाहं देवो न गन्धर्वो न यक्षो न च दानवः । अहं वो बान्धवो जातो नातश्चिन्त्यमतोऽन्यथा ।।१२।।

गोप बोले—महाभाग ! तुमने पर्वत धारणकर इस महाभय से हमें तथा गौओं को वचाया । यह वालक्रीड़ा तो अनुपमेय है । तुम्हारा कर्म दिव्य है, पर गोपालत्व तो निन्दित है । तात ! यह कैसी वात है, वतलाओ । जल में तुमने कालिय का दमन किया, प्रलम्वासुर को मारा और गोवर्धन को धारण किया । इससे हमारे मन में शंका हो रही है । अमितपराक्रमी ! हम सत्य कह रहे हैं, हमारा आश्रय हरिचरण ही है । तुम्हारी शक्ति देखकर हम तुम्हें मनुष्य नहीं मान रहे हैं । हमारे विचार से तुम देव या दानव या यक्ष या गन्धर्व हो । फिर भी हमारे वन्धु हो । तुम्हें नमस्कार है । केशव ! व्रज के स्त्री-वच्चे सव तुमसे प्रेम करते हैं । तुमने जो काम किया है, उसे अखिल देव भी नहीं कर सकते । कहाँ वचपन और कहाँ अतिपराक्रम ! हम लोगों के वीच तुम्हारा जन्म ठीक नहीं हुआ । अमेयात्मन् ! यह सोच-विचारकर हमें शंका होती है ।।२-८।।

व्यास बोले—द्विजश्रेष्ठो ! गोपों से इस प्रकार कहे जाने पर कृष्ण क्षण भर चुप रहे, फिर कुछ प्रणय-कोप दिखाते हुए वोले ।।९।।

श्रीकृष्ण ने कहा—गोपवृन्द ! यदि मेरे सम्वन्ध से तुम्हें लज्जा न मालूम पड़े तो मुझसे स्नेह करो । तुम्हें विचार से क्या प्रयोजन ? वान्धवो ! यदि तुम्हें मुझसे स्नेह है और तुम मेरी प्रशंसा करते हो तो मुझसे वन्धुसदृश व्यवहार करो । मैं न देव न गन्धर्व न यक्ष न दानव ही हूँ । मैं तुम्हारा वन्धु हूँ । इससे दूसरा कुछ मेरे विषय में मत सोचो ।।१०-१२।।

व्यास उवाच

इति श्रुत्वा हरेर्वाक्यं बद्धमौनास्ततो बलम् । ययुर्गोपा महाभागास्तस्मिन्प्रणयकोपिनि ॥१३॥
कृष्णस्तु विमलव्योमशरच्चन्द्रस्य चन्द्रिकाम् । तथा कुमुदिनीं फुल्लामामोदितदिगन्तराम् ॥१४॥
वनराजीं तथा कूजद्भृङ्गमालामनोरमाम् । विलोक्य सह गोपीभिर्मनश्चक्रे रतिं प्रति ॥१५॥
सह रामेण मधुरमतीव वनिताप्रियम् । जगौ [1]कमलपादोऽसौ नाम तत्र [2]कृतव्रतः ॥१६॥
रम्यं गीतध्वनिं श्रुत्वा संत्यज्यावसथांस्तदा । आजग्मुस्त्वरिता गोप्यो यत्राऽऽस्ते मधुसूदनः ॥१७॥
शनैः शनैर्जगौ गोपी काचित्तस्य पदानुगा । दत्तावधाना काचिच्च तमेव मनसाऽस्मरत् ॥१८॥
काचित्कृष्णेति कृष्णेति चोक्त्वा लज्जामुपाययौ । ययौ च काचित्प्रेमान्धा[3] तत्पार्श्वमविलज्जिता ॥१९॥
काचिदावसथस्यान्तः स्थित्वा दृष्ट्वा बहिर्गुरुम् । तन्मयत्वेन गोविन्दं दध्यौ मीलितलोचना ॥२०॥
गोपीपरिवृतो रात्रिं शरच्चन्द्रमनोरमाम् । मानयामास गोविन्दो रासारम्भरसोत्सुकः ॥२१॥
गोप्यश्च वृन्दशः कृष्णचेष्टाभ्यायत्तमूर्तयः । [4]अन्यदेशगते कृष्णे चेरुर्वृन्दावनान्तरम् ॥२२॥
बभ्रमुस्तास्ततो गोप्यः कृष्णदर्शनलालसाः । कृष्णस्य चरणं रात्रौ दृष्ट्वा वृन्दावने द्विजाः ॥२३॥
एवं नानाप्रकारासु कृष्णचेष्टासु तासु च । गोप्यो व्यग्राः समं चेरू रम्यं वृन्दावनं वनम् ॥२४॥
निवृत्तास्तास्ततो गोप्यो निराशाः कृष्णदर्शने । यमुनातीरमागम्य जगुस्तच्चरितं द्विजाः ॥२५॥

व्यास बोले—महाभागो ! हरि के वचन सुनकर गोप चुप हो गये और उनका प्रणय-कोप देखकर वहाँ से चले गये । तब कृष्ण ने स्वच्छ आकाश, शरच्चन्द्र की चन्द्रिका, विकसित तथा दिशाओं को आमोदित करती हुई कुमुदिनी, वनपंक्ति और मनोरम शब्द करती हुई भ्रमरावलि को देखकर गोपियों के साथ रमण करना चाहा । बाद में व्रतधारी तथा कमलचरण कृष्ण राम के साथ वनिताओं को मोहनेवाली सुमधुर तान छेड़ने लगे । मनोरम गीत-ध्वनि सुनकर गोपियाँ गृहों को छोड़कर शीघ्र मधुसूदन के पास आ गयीं ॥१३-१७॥ कोई गोपी उन्हीं के पदों का अनुसरण करती हुई मन्द-मन्द गाने लगी, कोई सावधानतापूर्वक मन से उन्हीं का स्मरण करने लगी, कोई कृष्ण-कृष्ण कहकर लज्जा करने लगी, कोई प्रेमान्ध होकर निर्लज्जतापूर्वक उनके पास जाने लगी, कोई घर के बाहर गुरुजनों को देखकर उसके अन्दर ही आँखें मूँदकर तन्यमता से गोविन्द का ध्यान करने लगी । रास आरम्भ करने के इच्छुक गोविन्द ने गोपियों से वेष्टित होकर मनोरम शरच्चन्द्रयुक्त रात्रि को ही इसके लिए उपयुक्त समझा । कृष्ण की लीलाओं से वशीभूत होकर गोपियाँ अपने को भूल गयीं । कृष्ण के छिप जाने पर वे वृन्दावन के बाहर भी उनको इधर-उधर ढूँढ़ने लगीं । द्विजवृन्द ! कृष्ण के दर्शन की लालसा करनेवाली भ्रमणशील गोपियों ने वृन्दावन में ही रात्रि में कृष्ण के चरण को देखा । इस प्रकार कृष्ण की अनेक चेष्टाओं में आसक्त होकर गोपियों ने रमणीय वृन्दावन में विचरण किया ॥१८-२४॥ द्विजगण ! कृष्ण के दर्शन से निराश होकर गोपियाँ यमुनातट पर आकर उनके चरित्रों का गान करने लगीं । तदनन्तर गोपियों ने विकसित कमल के समान मुखवाले, त्रैलोक्यरक्षक तथा

---

[1] ग. कलपदं शौरिर्नाम। [2] ग. कृतं वजे। र०। [3] क. तत्प्रार्थनविल०। [4] क. अन्यास्त्वसंगताः कृ०।

ततो ददृशुरायान्तं विकाशि मुखपङ्कजम्[1] । गोप्यस्त्रैलोक्यगोप्तारं[2] कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।।२६।।
काचिदालोक्य गोविन्दमायान्तमतिहर्षिता । कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति प्राहोत्फुल्लविलोचना ।।२७।।
काचिद्भ्रूभङ्गुरं कृत्वा ललाटफलकं हरिम् । विलोक्य नेत्रभृङ्गाभ्यां पपौ तन्मुखपङ्कजम् ।।२८।।
काचिदालोक्य गोविन्दं निमीलितविलोचना । तस्यैव रूपं ध्यायन्ती योगारूढेव सा बभौ ।।२९।।
ततः[3] कांचित्प्रियालापैः[4] कांचिद्भ्रूभङ्गवीक्षितैः[5] । निन्येऽनुनयमन्याश्च करस्पर्शेन माधवः ।।३०।।
ताभिः प्रसन्नचित्ताभिर्गोपीभिः सह सादरम् । ररास रासगोष्ठीभिरुदारचरितो हरिः ।।३१।।
रासमण्डलबद्धोऽपि कृष्णपार्श्वमनूद्गता । गोपीजनो न चैवाभूदेकस्थानस्थिरात्मना ।।३२।।
हस्ते प्रगृह्य चैकैकां गोपिकां रासमण्डलम् । चकार च करस्पर्शनिमीलितदृशं हरिः ।।३३।।
ततः प्रववृते[6] रम्या चलद्वलयनिस्वनैः । [7]अनुयातशरत्काव्यगेयगीतिरनुक्रमाम् ।।३४।।
कृष्णः[8] शरच्चन्द्रमसं[9] कौमुदीकुमुदाकरम् ।[10]जगौ गोपीजनस्त्वेकं[11] कृष्णनाम पुनः पुनः ।।३५।।।
परिवृत्ता[12] [13]श्रमेणैका चलद्वलयतापिनी । ददौ बाहुलतां स्कन्धे गोपी [14]मधुविघातिनः ।।३६।।
काचित्प्रविलसद्बाहु परिरभ्य चुचुम्ब तम् । गोपी गीतस्तुतिव्याजनिपुणा मधुसूदनम् ।।३७।।
गोपीकपोलसंश्लेषमभिपद्य हरेर्भुजौ । पुलकोद्गमशस्याय स्वेदाम्बुघनतां गतौ ।।३८।।

अद्भुत कार्यकर्ता कृष्ण को आते देखा । गोविन्द को आते देखकर कोई गोपी अत्यन्त आनन्दित होकर 'कृष्ण, कृष्ण' कहने लगी, हर्ष से उसके नेत्र प्रफुल्लित हो गये । कोई भ्रू-भंगी से हरि की ओर देखती हुई अपने नेत्र रूपी भौंरों द्वारा उनके मुख-कमल का पान करने लगी । कोई गोविन्द को देखकर आँखें मूँदकर योगी की तरह उन्हीं के रूप का ध्यान करने लगी ।।२५-२९।। तव किसी को प्रिय वचनों से, किसी को भ्रू-भंगिमापूर्वक देखने से तथा किसी को करस्पर्श से माधव ने मना लिया । रास-लीला में उपस्थित उन प्रसन्नचित्त गोपियों के साथ उदार चरित्र- वाले हरि रमण करने लगे । रास-लीला में मंडली बनाकर कृष्ण की वगल में स्थित गोपियाँ एक स्थान में स्थिर नहीं रहती थीं । एक-एक गोपी का हाथ पकड़कर हरि रास करते थे । भगवान् के कर-स्पर्श होते ही गोपियाँ आत्मविभोर हो आँखें मूँद लेती थीं । रास करते समय गोपियों के चंचल कंकणों के शब्द वहुत ही मनोहारी होते थे। वे क्रमशः शरत्कालीन काव्य तथा गीत गाती थीं । कृष्ण शरद्-ऋतु के चन्द्रमा एवम् उसकी ज्योत्स्ना का वर्णन करते थे और गोपियाँ एक कृष्ण-नाम को ही वार-वार गाती थीं । किसी गोपी ने चञ्चल कंकणों से पीड़ा तथा परिश्रम से थकावट का अनुभव कर कृष्ण के कन्धे पर अपनी वाहुलता डाल दी और गाने तथा स्तुति करने में निपुण किसी दूसरी गोपी ने मधुसूदन को वाहुपाश में जकड़कर चूम लिया ।।३०-३७।। गोपी के कपोलस्पर्श से हरि की भुजाओं में रोमाञ्च हो आया तथा पसीना टपकने लगा । कृष्ण रास के गीतों को गाते थे । जव गोपियाँ 'वाह कृष्ण, वाह कृष्ण' कहकर

१क. ०ङ्कजाः । गो० । २क. ०क्यभर्तारं । ३क. ०तः काचि० । ४क. ०पैः काचि० । ५क. ०तैः । त्रियामां गमयामास रसस्पर्शेन मानिनी । ता० । ६क. प्रसन्नचित्ताभिश्चल० । ७क. ० नुपात्तशिराकाव्यं गायन्तीभिर० । ९क. कृष्णं । ९क. शरच्चन्द्रनिभं । १०क. ०कुसुमाक० । ११क. ०स्त्वेवं रामं कृष्णं पु० । १२ग. रिवर्तश्र० । १३क. ०णैव काचिद्व० । १४क. ०धुनिपाति० ।

रासगेयं जगौ कृष्णो यावत्तारतरध्वनिः । साधु कृष्णेति कृष्णेति तावत्ता द्विगुणं जगुः ॥३९॥
गतेऽनुगमनं [1]चक्रुर्वलने संमुखं ययुः । [2]प्रतिलोमानुलोमेन भेजुर्गोपाङ्गना हरिम् ॥४०॥
स तदा सह गोपीभी रराम मधुसूदनः । स वर्षकोटिप्रतिमः क्षणस्तेन विनाऽभवत् ॥४१॥
ता वार्यमाणाः पितृभिः पतिभिर्भ्रातृभिस्तथा । कृष्णं गोपाङ्गना रात्रौ रमयन्ति रतिप्रियाः ॥४२॥
सोऽपि कैशोरकवया मानयन्मधुसूदनः । रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिताहितः ॥४३॥
तद्भर्तृषु तथा तासु सर्वभूतेषु चेश्वरः । आत्मस्वरूपरूपोऽसौ व्याप्य[3] सर्वमवस्थितः ॥४४॥
यथा समस्तभूतेषु नभोऽग्निः पृथिवी जलम् । वायुश्चाऽऽत्मा तथैवासौ व्याप्य सर्वमवस्थितः ॥४५॥

व्यास उवाच[4]

प्रदोषार्धे कदाचित्तु रासासक्ते जनार्दने । त्रासयन्समदो गोष्ठानरिष्टः समुपागतः ॥४६॥
सतोयतोयदाकारस्तीक्ष्णशृङ्गोऽर्कलोचनः । खुराग्रपातैरत्यर्थं दारयन्धरणीतलम् ॥४७॥
लेलिहानः सनिष्पेषं[5] जिह्वयोष्ठौ पुनः पुनः । संरम्भाक्षिप्तलाङ्गूलः [6]कठिनस्कन्धबन्धनः[7] ॥४८॥
उदग्रककुदाभोगः प्रमाणाद्दुरतिक्रमः । विण्मूत्रालिप्तपृष्ठाङ्गो गवामुद्वेगकारकः ॥४९॥
प्रलम्बकण्ठोऽ[8]भिमुखस्तरुघाताङ्कितानन:[9] । पातयन्स गवां गर्भान्दैत्यो वृषभरूपधृक् ॥५०॥

तालियाँ बजातीं तब कृष्ण और द्विगुण मात्रा में गाने लगते। कृष्ण चलते तो वे भी उनके पीछे चल देतीं, कृष्ण मुँह घुमाते तो वे उनके सामने आ जातीं। इस प्रकार प्रतिलोम-अनुलोम भाव से गोपांगनाएँ कृष्ण के साथ केलि करती थीं। मधुसूदन गोपियों के साथ रमण करते थे। विना कृष्ण के गोपियों के लिए एक क्षण भी करोड़ों वर्ष के समान मालूम पड़ता था। पिता, पति तथा भाइयों के रोकने पर भी रतिप्रिय गोपियाँ रात में कृष्ण से रमण कराती थीं। किशोर मधुसूधन भी, जिनकी शक्ति अप्रमेय थी, उनका आदर करते हुए रात में उनसे रमण करते थे। क्योंकि उनके पतियों में उनमें तथा समस्त भूतों में आत्मस्वरूप से व्याप्त होकर कृष्ण ही तो अवस्थित थे। जैसे सकल भूतों में आकाश, अग्नि, जल, पृथिवी तथा वायु अवस्थित हैं उसी तरह परमात्मा कृष्ण भी सबको व्याप्त करके स्थित हैं ॥३८-४५॥

व्यास बोले—किसी समय अर्ध प्रदोषकाल में जब कृष्ण रास में आसक्त थे तब एक (वृषभरूपधारी) मदमत्त राक्षस गौओं को त्रास दिखाते हुए व्रज में आया। उसकी आकृति जलपूर्ण बादल की-सी थी, सींग तीक्ष्ण थे, आँखें सूर्य के समान चमकती थीं। वह अपने खुरों के अग्रभाग से धरती को विदीर्ण कर रहा था, जिह्वा से होठों को वार-बार संघर्षपूर्वक चाट रहा था, पुच्छ को वड़े वेग से इधर-उधर फेंकता था। उसके कन्धे का वन्धन बड़ा कठोर था। उसके ककुद का विस्तार असाधारण था। उसका पृष्ठभाग विष्ठा-मूत्र से लिप्त था। वह गौओं को

१क. ग. ०क्रुश्चल०। २ख. ०लोमेन मार्गेण ययुर्गो०। ३ख. ०प्य चाऽऽत्मन्यवस्थि०। ४ख. ०च। परेऽह्नि च क०। ५क. सनिष्कम्पो। ६क. कपिलस्क०। ७क. ख. ०बन्धुरः। उ०। ८क. ०रुपाता०। ९क. ०नः। घात०।

सूदयंस्तरसा सर्वान्वनान्यटति यः सदा । ततस्तमतिघोराक्षमवेक्ष्यातिभयातुराः ।।५१।।
गोपा गोपस्त्रियश्चैव कृष्णकृष्णेति चुक्रुशुः । सिंहनादं ततश्चक्रे[1] तलशब्दं च केशवः ।।५२।।
तच्छब्दश्रवणाच्चासौ दामोदरमुखं ययौ । अग्रन्यस्तविषाणाग्रः कृष्णकुक्षिकृतेक्षणः ।।५३।।
अभ्यधावत दुष्टात्मा दैत्यो वृषभरूपधृक् । आयान्तं[2] दैत्यवृषभं दृष्ट्वा कृष्णो महाबलम् ।।५४।।
न चचाल ततः स्थानादवज्ञास्मितलीलया । आसन्नं चैव जग्राह ग्राहवन्मधुसूदनः ।।५५।।
जघान जानुना कुक्षौ विषाणग्रहणाचलम् । तस्य दर्पबलं हत्वा गृहीतस्य विषाणयोः ।।५६।।
आपीडयदरिष्टस्य कण्ठं[3] क्लिन्नमिवाम्बरम् । उत्पाट्य शृङ्गमेकं च तेनैवाताडयत्ततः ।।५७।।
ममार स महादैत्यो मुखाच्छोणितमुद्वमन् । तुष्टुवुर्निहते तस्मिन्गोपा दैत्ये जनार्दनम् ।।
जम्भे हते सहस्राक्षं पुरा देवगणा यथा ।।५८।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बालचरितेऽरिष्टवध -निरूपणं
नामोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१८९।।

उद्वग्नि कर रहा था। उसका कण्ठ वहुत लम्वा था। उसके मुख पर वृक्षों के आघात करने का चिह्न था। वह वृषभरूपधारी दैत्य गायों के गर्भों को गिरा रहा था। वेग से वनों को नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ वह घूम रहा था। उस अत्यन्त भयानक आँखवाले वृषभ को देखकर गोप-गोपियाँ भयातुर होकर 'कृष्ण-कृष्ण' चिल्लाने लगे। तब केशव ने सिंहनाद करते हुए ताल ठोंका ।।४६-५२।। उनके शब्द सुनते ही दैत्य सींगों के अग्रभाग को सामने करके कृष्ण की कुक्षि की ओर घूरते हुए दामोदर के सम्मुख जाने लगा। वृषभरूपधारी दुष्टात्मा दैत्य जोर से दौड़ रहा था। महाबली दैत्यरूपी वृषभ को आते देखकर कृष्ण तिरस्कारपूर्वक मुस्कराते हुए अपने स्थान से विचलित न हुए। मधुसूदन ने समीप आने पर उसे ग्राह की तरह पकड़ लिया। सींगों को पकड़कर घुटने से उसकी कुक्षि में मार दिया। सींगों को पकड़ते ही दैत्य के गर्व तथा बल को चूर-चूरकर उसके गले को गीले कपड़े की तरह निचोड़ दिया। फिर एक सींग को उखाड़कर उसी से उसको मारने लगे। वह महादैत्य मुख से शोणित वमन करते हुए मर गया। उस दैत्य के मर जाने पर गोपों ने कृष्ण की उसी तरह स्तुति की जिस तरह जम्भासुर के मरने पर देवगणों ने इन्द्र की स्तुति की थी ।।५३-५८।।

श्रीव्रह्ममहापुराण में वालचरित्र-कथन-प्रसंग में अरिष्ट-वध-निरूपण
नामक एक सौ नवासीवाँ अध्याय समाप्त ।।१८९।।

१ग. ०क्रे ताल० । २क. ०न्तं तमथो दैत्यं दृ० । ३क. ०ण्ठं स्विन्नं० ।

अथ नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

केशिवधनिरूपणम्

व्यास उवाच

ककुद्मिनी हतेऽरिष्टे धेनुके च निपातिते । प्रलम्बे निधनं नीते धृते गोवर्धनाचले ॥१॥
दमिते कालिये नागे भग्ने तुङ्गद्रुमद्वये । हतायां पूतनायां च शकटे परिवर्तिते ॥२॥
कंसाय नारदः प्राह यथावृत्तमनुक्रमात् । यशोदादेवकीगर्भपरिवर्ताद्यशेषतः ॥३॥
श्रुत्वा तत्सकलं कंसो नारदाद्देवदर्शनात् । वसुदेवं प्रति तदा कोपं [1]चक्रे स दुर्मतिः ॥४॥
सोऽतिकोपादुपालभ्य सर्वयादवसंसदि । जगर्हे यादवांश्चापि कार्यं चैतदचिन्तयत् ॥५॥
यावन्न बलमारूढौ [2]बलकृष्णौ सुबालकौ । तावदेव मया वध्यावसाध्यौ रूढयौवनौ ॥६॥
चाणूरोऽत्र महावीर्यो मुष्टिकश्च महाबलः । एताभ्यां मल्लयुद्धे तौ घातयिष्यामि दुर्मदौ ॥७॥
[3]धनुर्महमहायागव्याजेनाऽऽनीय तौ व्रजात् । तथा तथा करिष्यामि यास्यतः संक्षयं तथा ॥८॥

व्यास उवाच

इत्यालोच्य स दुष्टात्मा कंसो रामजनार्दनौ । हन्तुं कृतमतिर्वीरक्रूरं वाक्यमब्रवीत् ॥९॥

अध्याय १९०

केशी नामक असुर का वध

व्यास बोले—वृषभासुर, धेनुक तथा प्रलम्व के मारने पर गोवर्धनपर्वत के धारण करने पर, कालिय के दमन करने पर, दोनों अत्युच्च वृक्षों के तोड़ने पर, पूतना के निहत करने पर और शकट के उलटाने पर नारद ने कंस से आकर क्रमशः सम्पूर्ण वृत्तान्त कह दिया। यशोदा तथा देवकी के गर्भ-परिवर्तन का भी अखिल वर्णन कर दिया। देवर्षि नारद से सकल वृत्तान्त सुनकर दुर्मति कंस वसुदेव के प्रति कोप करने लगा। वह अत्यन्त क्रोध में आकर समस्त यादवों की सभा में यादवों की भी निन्दा करने लगा। उसने सोचा—'यावत् बलभद्र तथा कृष्ण सवल नहीं होते हैं, उससे पहले ही उनको समाप्त कर देना चाहिये, अन्यथा पूर्ण यौवन प्राप्त करने पर तो ये दोनों असाध्य हो जायेंगे। चाणूर और मुष्टिक महावलवान् हैं। मल्लयुद्ध में इन्हीं के द्वारा उन दोनों अभिमानियों को मरवाऊँगा। धनुष-उत्सव रूपी महायज्ञ के व्याज से उनको यहाँ मँगवाकर मैं वैसा ही उपाय करूँगा, जिससे वे विनष्ट हो जायेंगे' ॥१-८॥

व्यास बोले—यह सोचकर राम तथा कृष्ण को मारने की इच्छा से दुष्टात्मा कंस ने अक्रूर से यह वचन कहा ॥९॥

---

[1] क. ०रिवृत्तिमशे० । [2] क. ०क्रे सुदु० । [3] स. ०र्मखम० ।

कंस उवाच

भो भो दानपते वाक्यं क्रियतां प्रीतये मम । इतः स्यन्दनमारुह्य गम्यतां[1] नन्दगोकुलम् ॥१०॥
वसुदेवसुतौ तत्र विष्णोरंशसमुद्भवौ । नाशाय किल संभूतौ मम दुष्टौ प्रवर्धतः ॥११॥
[2]धनुर्महमहायागश्चतुर्दश्यां[3] भविष्यति । आनेयौ भवता तौ तु मल्लयुद्धाय तत्र वै ॥१२॥
चाणूरमुष्टिकौ मल्लौ नियुद्धकुशलौ मम । ताभ्यां सहानयोर्युद्धं सर्वलोकोऽत्र पश्यतु ॥१३॥
नागः कुवलयापीडो महामात्रप्रचोदितः । स तौ निहंस्यते पापौ वसुदेवात्मजौ शिशू ॥१४॥
तौ हत्वा वसुदेवं च नन्दगोपं च दुर्मतिम् । हनिष्ये पितरं चैव उग्रसेनं च दुर्मतिम् ॥१५॥
ततः समस्तगोपानां गोधनान्यखिलांन्यहम् । वित्तं चापहरिष्यामि दुष्टानां मद्वधैषिणाम् ॥१६॥
त्वामृते [4]यादवाश्चेमे दुष्टा दानपते मम । एतेषां च वधायाहं प्रयतिष्याम्यनुक्रमात् ॥१७॥
ततो निष्कण्टकं सर्वं राज्यमेतदयादवम् । प्रसाधिष्ये त्वया तस्मान्मत्प्रीत्या वीर गम्यताम् ॥१८॥
यथा च माहिषं सर्पिर्दधि चाप्युपहार्यं वै । गोपाः समानयन्त्याशु त्वया वाच्यास्तथा तथा ॥१९॥

व्यास उवाच

इत्याज्ञप्तस्तदाऽक्रूरो महाभागवतो द्विजाः । प्रीतिमानभवत्कृष्णं श्वो द्रक्ष्यामीति सत्वरः ॥२०॥
तथेत्युक्त्वा तु राजानं रथमारुह्य सत्वरः[5] । निश्चक्राम तदा पुर्या मथुराया मधुप्रियः ॥२१॥

कंस बोला—दानेवश्वर ! मेरे परितोष के लिए मेरी वात मानो। यहाँ से रथ पर चढ़कर नन्द के गोकुल में जाओ। विष्णु के अंश से समुत्पन्न वसुदेव के दो दुष्ट पुत्र मेरे नाश के लिए ही वढ़ रहे हैं। धनुष-महायज्ञ चतुर्दशी को होगा। उसमें मल्लयुद्ध के लिए उन दोनों को तुम ले आना। मेरे दो पहलवान चाणूर और मुष्टिक युद्ध-प्रवीण हैं। उन्हीं के साथ उन दोनों का युद्ध होगा, सव लोग देखेंगे। कुवलयापीड़ नामक हाथी महावत की प्रेरणा से वसुदेव के दोनों पापी वालकों को मारेगा। उनको मारकर वसुदेव, दुष्टवुद्धि नन्दगोप तथा दुर्मति पिता उग्रसेन को मैं मारूँगा। तव मेरे वध के इच्छुक समस्त गोपों के अखिल गोधन का मैं अपहरण करूँगा। दानवपते ! केवल तुम्हें छोड़कर इन दुष्ट यादवों के भी क्रमशः वध करने के लिए मैं यत्न करूँगा। तदनन्तर यादवरहित सम्पूर्ण निष्कण्टक राज्य का मैं उपभोग करूँगा। इसलिए वीर ! तुम मेरी संतुष्टि के लिए जाओ। तुम उस ढंग से वातचीत करोगे, जिससे कि गोपगण दही-घी भी लेते आयेंगे ॥१०-१९॥

व्यास बोले—द्विजवृन्दः इस प्रकार आज्ञा पाकर महाभगवद्भक्त अक्रूर 'कल कृष्ण का दर्शन होगा' यह सोचकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और राजा से 'एवमस्तु' कहकर तुरन्त रथ पर आरूढ़ होकर मथुरापुरी से वाहर निकल गया ॥२०-२१॥

---

[1] ख. ग. ०तां गोपगो० । [2] ग. ०र्महो ममाप्यत्र चतु० । [3] क. ०गस्त्रयोदश्यां । [4] क. दवाः सर्वे दु० ।

व्यास उवाच

केशी चापि बलोदग्रः कंसदूतः प्रचोदितः । कृष्णस्य निधनाकाङ्क्षी वृन्दावनमुपागमत् ॥२२॥
सखुरक्षतभूपृष्ठः सटाक्षेपधुताम्बुदः । पुनर्विक्रान्तचन्द्रार्कमार्गो गोपान्तमागमत् ॥२३॥
तस्य ह्रेषितशब्देन गोपाला दैत्यवाजिनः । गोप्यश्च भयसंविग्ना गोविन्दं शरणं ययुः ॥२४॥
त्राहि त्राहीति गोविन्दस्तेषां श्रुत्वा तु तद्वचः । सतोयजलदध्वानगम्भीरमिदमुक्तवान् ॥२५॥

गोविन्द उवाच

अलं त्रासेन गोपालाः केशिनः किं भयातुरैः । भवद्भिर्गोपजातीयैर्वीरवीर्यं विलोप्यते ॥२६॥
किमनेनाल्पसारे ह्रेषितारोपकारिणा । दैतेयबलवाह्येन[1] वल्गता दुष्टवाजिना ॥२७॥
एह्येहि दुष्ट कृष्णोऽहं पूष्णस्त्विव पिनाकधृक् । पातयिष्यामि दशनान्वदनादखिलांस्तव ॥२८॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा स तु गोविन्दः केशिनः संमुखं ययौ । विवृतास्यश्च सोऽप्येनं दैतेयश्च उपाद्रवत् ॥२९॥
बाहुमाभोगिनं कृत्वा मुखे तस्य जनार्दनः । प्रवेशयामास तदा केशिनो दुष्टवाजिनः ॥३०॥
केशिनो वदनं तेन विशता कृष्णबाहुना । शातिता दशनास्तस्य सिताभ्रावयवा इव ॥३१॥
कृष्णस्य ववृधे बाहुः केशिदेहगतो द्विजाः । विनाशाय यथा व्याधिराप्तभूतैरुपेक्षितः ॥३२॥

व्यास बोले—कंस का दूत वलोन्मत्त केशी भी प्रेरित होकर कृष्ण को मारने की इच्छा से वृन्दावन पहुँचा। वह अश्व का रूप वनाकर अपने खुरों से भूपृष्ठ को क्षत-विक्षत करते हुए, सटा (गर्दन पर के वाल) के प्रक्षेप से वादल को कँपाते हुए और सूर्य-चन्द्रमा के मार्ग को अवरुद्ध करते हुए गोपों के पास आया। दैत्य रूपी अश्व के हिनहिनाने से गोप-गोपियाँ भय से उद्विग्न होकर गोविन्द की शरण में गये। उनके 'वचाओ, वचाओ' यह वचन सुनकर जलपूर्ण मेघ की तरह गम्भीर वाणी से भगवान् ने कहा ॥२२-२५॥

गोविन्द बोले—गोपालो ! क्यों भयातुर हो रहे हो ? केशी से क्या डरना है ? तुम लोग गोप जाति के होकर वीर-शक्ति को भूल जाते हो ? इस दुष्ट दैत्य रूपी अश्व के सारहीन हिनहिनाने से क्यों डरते हो ? दुष्ट ! आओ। जैसे शिव ने पूषा के दाँतों को तोड़ा था उसी तरह मैं भी तुम्हारे वदन से अखिल दाँतो को गिरा देता हूँ॥२६-२८॥

व्यास बोले—इतना कहकर गोविन्द केशी के सामने गये। दैत्य भी मुँह खोलकर इन पर टूट पड़ा। तव भुजा को फैलाकर कृष्ण ने केशी नामक उस दुष्ट अश्व के मुख में घुसेड़ दिया। केशी के मुख में कृष्ण की भुजा के प्रवेश होते ही उसके दाँत स्वच्छ वादल के अवयव की तरह उखड़ने लगे। द्विजगण ! केशी के देह में प्रविष्ट होने पर कृष्ण की वाँह उसको विनष्ट करने के लिए उसी तरह वढ़ने लगी जैसे रोगियों से उपेक्षित होने पर व्याधि।

---

[1] क. ०वाक्येन वल्लभा दु० ।

विपाटितौष्ठो बहुलं सफेनं रुधिरं वमन् । सृक्कणी विवृते चक्रे विश्लिष्टे मुक्तबन्धने ॥३३॥
जगाम धरणीं पादैः शकृन्मूत्रं समुत्सृजन् । स्वेदार्द्रगात्रः श्रान्तश्च [1]निर्यत्नः सोऽभवत्ततः ॥३४॥
व्यादितास्यो महारौद्रः सोऽसुरः कृष्णबाहुना । निपपात द्विधाभूतो वैद्युतेन यथा द्रुमः ॥३५॥
द्विपादपृष्ठपुच्छार्धश्रवणैकाक्षनासिके । केशिनस्ते द्विधा भूते शकले च विरेजतुः ॥३६॥
हत्वा तु केशिनं कृष्णो[2] मुदितैर्गोपकैर्वृतः । अनायस्ततनुः स्वस्थो हसंस्तत्रैव [3]संस्थितः ॥३७॥
ततो गोपाश्च गोप्यश्च हते केशिनि विस्मिताः । तुष्टुवुः पुण्डरीकाक्षमनुरागमनोरमम्[4] ॥३८॥
आययौ त्वरितो विप्रो नारदो जलदस्थितः[5] । केशिनं निहतं दृष्ट्वा हर्षनिर्भरमानसः ॥३९॥

नारद उवाच

साधु साधु जगन्नाथ लीलयैव यदच्युत । निहतोऽयं त्वया केशी क्लेशदस्त्रिदिवौकसाम् ॥४०॥
कुकर्माण्यवतारे तु कृतानि मधुसूदन । यानि वै विस्मितं चेतस्तोषमेतेन मे गतम् ॥४१॥
तुरगस्यास्य शक्रोऽपि कृष्ण देवाश्च बिभ्यति । धुतकेसरजालस्य ह्रेषतोऽभ्रावलोकिनः ॥४२॥
यस्मात्त्वयैष दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन । तस्मात्केशवनाम्ना त्वं लोके गेयो भविष्यसि ॥४३॥
स्वस्त्यस्तु ते गमिष्यामि कंसयुद्धेऽधुना पुनः । परश्वोऽहं समेष्यामि त्वया केशिनिषूदन ॥४४॥
उग्रसेनसुते कंसे सानुगे विनिपातिते । भारावतारकर्त्ता त्वं पृथिव्या धरणीधर ॥४५॥

उसके होंठ फाड़ दिये गये, मुख से फेन सहित रुधिर प्रचुर मात्रा में वहने लगा, गलफड़ चीर दिये गये, नसें तोड़ दी गयीं। तव वह मल-मूत्र त्याग करता हुआ पैरों से धरती को खुरचने लगा। उसके अंगों से पसीना टपकने लगा। वह श्रान्त होकर निश्चेष्ट हो गया। कृष्ण की भुजा ने उस महाभयंकर राक्षस के मुख को विदीर्ण कर दिया। तव वह विद्युत् से आहत वृक्ष की तरह दो टुकड़े होकर गिर पड़ा। उसके पैर, पीठ, पुच्छ, कान, आँख, नाक सव के दो-दो टुकड़े हो गये। इस प्रकार केशी के अंगों के दो-दो टुकड़े विराजमान हुए। केशी को मारकर प्रमुदित गोपों के साथ कृष्ण हँसते हुए वहीं अवस्थित हुए। उनके शरीर में कोई आयास नहीं हुआ। वे स्वस्थ थे। तत्पश्चात् केशी की मृत्यु से विस्मित गोप-गोपियाँ मनोहर कृष्ण की स्तुति करने लगे। केशी को निहत देखकर मेघ-स्थित विप्र नारद अत्यन्त प्रसन्न हुए और तुरन्त वहाँ आये।॥२९-३९॥

नारद बोले—जगन्नाथ ! आपने समुचित ही किया जो कि देवों को क्लेश देनेवाले केशी को सहज ही में मार डाला। मधुसूदन ! इस अवतार में आपने जो-जो आश्चर्यजनक सुकर्म किये, उनसे मुझे वड़ा संतोष हुआ। केसरजाल (अयाल) को हिलानेवाले तथा हिनहिनानेवाले बादल की तरह प्रतीत होनेवाले इस अश्व से देवगण तथा इन्द्र भी डरते थे। जनार्दन ! जिसलिए आपने इस दुष्टात्मा केशी को मारा इसलिए केशव नाम से आप लोक में पुकारे जायेंगे। आपका कल्याण हो। इस समय मैं जाता हूँ। केशिनाशन ! फिर परसों कंस के युद्ध में मैं आपसे

---

[1]क. निषण्णः । [2]क. ०ष्णो गोपालैर्वहुभिर्व० । [3]ख. तस्थिवान् । [4]क. ग. ०म् । अथाऽऽह त्वं० । [5]ग. लदे० रिथ० ।

तत्रानेकप्रकारेण युद्धानि पृथिवीक्षिताम् । द्रष्टव्यानि मया युष्मत्प्रणीतानि जनार्दन ॥४६॥
सोऽहं यास्यामि गोविन्द देवकार्यं महत्कृतम् । त्वया सभाजितश्चाहं स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥४७॥

व्यास उवाच

नारदे तु गते कृष्णः सह गोपैरविस्मितः । विवेश गोकुलं गोपीनेत्रपानैकभाजनम् ॥४८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे कृष्णबालचरिते केशिवधनिरूपणं नाम
नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९०॥

अथैकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अक्रूरगमनवर्णनम्

व्यास उवाच

अक्रूरोऽपि विनिष्क्रम्य स्यन्दनेनाऽऽशुगामिना । कृष्णसंदर्शनासक्तः प्रययौ नन्दगोकुले ॥१॥
चिन्तयामास चाक्रूरो नास्ति धन्यतरो मया । योऽहमंशावतीर्णस्य मुखं द्रक्ष्यामि चक्रिणः ॥२॥
अद्य मे सफलं जन्म सुप्रभाता च[1] मे निशा । यदुन्निद्राब्जपत्राक्षं विष्णोर्द्रक्ष्याम्यहं मुखम् ॥३॥

मिलूँगा। धरणीधर ! उग्रसेन के पुत्र कंस को वन्धुवर्ग सहित नष्ट कर देने पर आप पृथ्वी का भार हलका करेंगे। जनार्दन ! तव आपके रचाये हुए राजाओं के अनेक प्रकार के युद्धों को मैं देखूँगा। गोविन्द ! अव मैं जाऊँगा। आपने देवताओं का महान् कार्य किया। आपका कल्याण हो ! मैं चलता हूँ ॥४०-४७॥

व्यास बोले—नारद के चले जाने पर गोपियों के नयनों के पीने के एकमात्र पात्र कृष्ण गोपों के साथ विना किसी आश्चर्य के गोकुल में प्रविष्ट हुए ॥४८॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में कृष्ण के वालचरित्र-कथन-प्रसंग में केशिवधनिरूपण नामक एक सौ
नब्वेवाँ अध्याय समाप्त ॥१९०॥

अध्याय १९१

अक्रूर के जाने का वर्णन

व्यास बोले—कृष्ण-दर्शन के लिए लालायित अक्रूर भी शीघ्रगामी रथ से नन्द-गोकुल के लिए प्रस्थित हुए। अक्रूर सोचने लगे—'मुझसे वढ़कर कोई धन्य नहीं है, क्योंकि अंशावतार विष्णु का मैं मुख-दर्शन करूँगा। आज मेरा जन्म सफल हुआ, आज मेरी रात सुप्रभात हुई, जो मैं विकसित कमल-पत्र के सदृश नेत्रवाले विष्णु का मुखावलोकन

---

[1] क. च शर्वरी। य०।

पापं हरति यत्पुंसां स्मृतं संकल्पनामयम् । तत्पुण्डरीकनयनं विष्णोर्द्रक्ष्याम्यहं मुखम् ॥४॥
निर्जग्मुश्च यतो वेदा वेदाङ्गान्यखिलानि च । द्रक्ष्यामि यत्परं धाम देवानां भगवन्मुखम् ॥५॥
यज्ञेषु यज्ञपुरुषः पुरुषैः पुरुषोत्तमः । इज्यते योऽखिलाधारस्तं द्रक्ष्यामि जगत्पतिम् ॥६॥
इष्ट्वा यमिन्द्रो यज्ञानां शतेनामरराजताम् । अवाप तमनन्तादिमहं द्रक्ष्यामि केशवम् ॥७॥
न ब्रह्मा नेन्द्ररुद्राश्विवस्वादित्यमरुद्गणाः । यस्य स्वरूपं जानन्ति स्पृशत्यद्य स मे हरिः ॥८॥
सर्वात्मा सर्वगः सर्वः सर्वभूतेषु संस्थितः । यो भवत्यव्ययो व्यापी स वीक्ष्यते मयाऽद्य ह ॥९॥
मत्स्यकूर्मवराहाद्यैः सिंहरूपादिभिः स्थितम् । चकार योगतो योगं स मामालापयिष्यति ॥१०॥
सांप्रतं च जगत्स्वामी कार्यजाते व्रजे स्थितिम् । कर्तुं मनुष्यतां प्राप्तः स्वेच्छादेहदृगव्ययः ॥११॥
योऽनन्तः पृथिवीं धत्ते शिखरस्थितिसंस्थिताम् । सोऽवतीर्णो जगत्यर्थे मामक्रूरेति वक्ष्यति ॥१२॥
पितृबन्धुसुहृद्भ्रातृमातृबन्धुमयीमिमाम् । यन्मायां नालमुद्धर्तुं जगत्तस्मै नमो नमः ॥१३॥
तरन्त्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते । योगमायामिमां मर्त्यास्तस्मै विद्यात्मने नमः ॥१४॥
यज्वभिर्यज्ञपुरुषो वासुदेवश्च शाश्वतैः । वेदान्तवेदिभिर्विष्णुः प्रोच्यते यो नतोऽस्मि तम् ॥१५॥
तथा यत्र जगद्धाम्नि धार्यते च प्रतिष्ठिताम् । सदसत्त्वं स सत्त्वेन मय्यसौ यातु सौम्यताम् ॥१६॥
स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषप्रवरं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम् ॥१७॥

करूँगा। स्मरण तथा चिन्तन करने से जो मनुष्यों के पापों को नष्ट करते हैं, उस पुण्डरीकाक्ष विष्णु के मुख को मैं देखूँगा। जिस मुख से वेद तथा वेदों के अखिल अंग निःसृत हुए और जो देवों का परम धाम है, उस भगवन्मुख का मैं दर्शन करूँगा। जो यज्ञों में यज्ञपुरुष, पुरुषों में उत्तम तथा सब के आधार हैं, उन जगत्पति का मैं दर्शन करूँगा। सौ यज्ञों से जिनकी आराधना करके इन्द्र ने देवराजत्व को प्राप्त किया, उन्हीं आदि-अन्त-रहित केशव का मैं दर्शन करूँगा ॥१-७॥ ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, अश्विनीकुमार, वसु, आदित्य तथा मरुद्गण जिनके स्वरूप को नहीं जानते हैं, उन्हीं हरि का आज मैं स्पर्श करूँगा ॥८॥ जो सर्वात्मा, सर्वत्रगामी, सब, समस्त भूतों में अवस्थित, अव्यय तथा व्यापक हैं, उन्हीं को आज मैं देखूँगा ॥९॥ जिन्होंने मत्स्य, कूर्म, वराह, सिंह आदि का रूप धारण किया और योग का मार्ग दिखलाया, वे मुझसे संभाषण करेंगे ॥१०॥ इस समय कार्य उपस्थित होने पर जगत्स्वामी, अव्यय तथा स्वेच्छा से रूप धारण करनेवाले भगवान् मनुष्य-शरीर धारण कर व्रज में अवस्थित हैं। जो अनन्त भगवान् पर्वतादिविशिष्ट पृथिवी का धारण करते हैं, वे ही जगत् के निमित्त अवतीर्ण हुए हैं। वे मुझे 'अक्रूर' कहेंगे जिनके पिता, बन्धु, मित्र, भाई तथा माता रूपी माया का पार संसार नहीं पाता है, उनको नमस्कार है। हृदय में जिनके प्रविष्ट होने से मनुष्य विस्तृत अविद्यारूपी योगमाया को पार कर जाते हैं, उन विद्यात्मा को नमस्कार है। जिनको यज्ञकर्ता यज्ञपुरुष कहकर तथा वेदान्तवेत्ता विष्णु कहकर पुकारते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। जो संसार का धारण करते हैं अर्थात् जिनके तेज में सत् असत् रूप जगत् प्रतिष्ठित होता है, वे मेरे प्रति सौम्य हों। जिनके स्मरण करने से सब प्रकार का कल्याण होता है, उन्हीं पुरुषप्रवर हरि की शरण में मैं जा रहा हूँ॥११-१७॥

व्यास उवाच

इत्थं स चिन्तयन्विष्णुं भक्तिनम्रात्ममानसः । अक्रूरो गोकुलं प्राप्तः[1] किंचित्सूर्ये विराजति ॥२८॥
स ददर्श तदा तत्र[2] कृष्णमादोहने गवाम् । वत्समध्यगतं फुल्लनीलोत्पलदलच्छविम् ॥१९॥
[3]प्रफुल्लपद्मपत्राक्षं श्रीवत्साङ्कितवक्षसम् । प्रलम्बबाहुमायामतुङ्गोरस्थलमुन्नसम् ॥२०॥
सविलासस्मिताधारं बिभ्राणं मुखपङ्कजम् । तुङ्गरक्तनखं पद्भ्यां धरण्यां सुप्रतिष्ठितम् ॥२१॥
बिभ्राणं वाससी पीते वन्यपुष्पविभूषितम् । सान्द्रनीललताहस्तं सिताम्भोजावतंसकम् ॥२२॥
हंसेन्दुकुन्दधवलं नीलाम्बरधरं द्विजाः । तस्यानु बलभद्रं च ददर्श यदुनन्दनम् ॥२३॥
प्रांशुमुत्तुङ्गबाहुं च विकाशिमुखपङ्कजम् । मेघमालापरिवृतं कैलासाद्रिमिवापरम् ॥२४॥
तौ दृष्ट्वाविकसद्वक्त्रसरोजः स महामतिः । [4]पुलकाञ्चितसर्वाङ्गस्तदाऽक्रूरोऽभवद्द्विजाः[5] ॥२५॥
य एतत्परमं धाम एतत्तत्परमं पदम् । अभवद्वसुदेवोऽसौ द्विधा योऽयं व्यवस्थितः ॥२६॥

साफल्यमक्ष्णोर्युगपन्ममास्तु, दृष्टे जगद्धातरि हासमुच्चैः (?) ।
अप्यङ्गमेतद्भगवत्प्रसादाद्दत्ताङ्गसङ्गे फलवर्त्म तत्स्यात् ॥२७॥
अद्यैव स्पृष्ट्वा मम हस्तपद्मं, करिष्यति श्रीमदनन्तमूर्तिः ।
यस्याङ्गुलिस्पर्शहताखिलाघैरवाप्यते सिद्धिरनुत्तमा नरैः ॥२८॥

व्यास बोले—इस प्रकार विष्णु का ध्यान करते हुए भक्ति से विनम्र चित्तवाले अक्रूर गोधूलिवेला में गोकुल पहुँच गये ।। १८।। वहाँ उन्होंने गायों के दोहन-काल में वछड़ों के वीच अवस्थित कृष्ण को देखा। कृष्ण की छवि प्रफुल्लित नील कमल के पत्र जैसी थी, उनकी आँखें विकसित कमल-दल के समान थीं, हृदय पर श्रीवत्स नामक चिह्न था, वाँहें लम्वी थीं, छाती चौड़ी थी, नासिका उन्नत थी, मुखकमल सुन्दर हास्य से युक्त था, नख उत्तुंग तथा लाल थे, पैर पृथ्वी पर सुप्रतिष्ठित थे। वे पीतवस्त्र पहने हुए थे और वनमाला से विभूषित थे। सघननीललता के समान उनके हाथ थे और उज्ज्वल कमल के आभूषण थे। उनके बाद अक्रूर ने हंस, चन्द्रमा तथा कुन्दपुष्प के समान शुभ्र, नीलवस्त्रधारी, आजानवाहु, विकसित कमल के समान मुखवाले, मेघमाला से परिवृत तथा कैलासपर्वत के तुल्य धवल यदुनन्दन वलभद्र को देखा। द्विजवृन्द! उनके देखते ही महाबुद्धिमान् अक्रूर के सर्वांग शरीर में (आनन्द के मारे) रोमाञ्च हो आया और मुखकमल खिल उठा। उन्होंने कहा—'ये ही परमधाम तथा ये ही परमपद हैं। ये अपने को दो करके वासुदेवरूप से व्यवस्थित हैं।। १९-२६।। जगद्धाता के दर्शन करके मेरे दोनों नेत्र एक ही काल में सफल हों। मेरे अंग भी भगवान् की कृपा से उनके अंग-स्पर्श करके सफल हों। आज ही मेरे हस्तकमल का स्पर्श करके अनन्तमूर्ति भगवान् मुझे कृतार्थ करेंगे। जिन मनुष्यों को उनकी अंगुलि का स्पर्श होता है, वे निष्पाप हो जाते हैं, उत्तम सिद्धि को प्राप्त करते हैं, और अश्विन्, रुद्र, इन्द्र तथा वसु आदि देवता प्रसन्न होकर उन्हें वर देते हैं।

---

[1] क. ०प्तः कियत्सू० । [2] क. ख. दक्षः । [3] ग. प्रस्पष्टप० । [4] क. ०काङ्कितगात्रोऽसौ तदाऽ० । [5] ख. ०तरोमाऽसौ तदाऽ० ।

तथाऽऽश्विरुद्रेन्द्रवसुप्रणीता, देवाः प्रयच्छन्ति वरं प्रहृष्टाः ।
चक्रं घ्नता दैत्यपतेर्हृतानि, दैत्याङ्गनानां नयनान्तराणि ॥२९॥

यत्रा (तोऽ)म्बु विन्यस्य बलिर्मनोभ्याम (ज्ञान) वाप भोगान्वसुधातलस्थः ।
तथाऽमरेशस्त्रिदशाधिपत्यं, मन्वन्तरं पूर्णमवाप शक्रः ॥३०॥

अथेश (थापि) मां कंसपरिग्रहेण, दोषास्पदीभूतमदोषयुक्तम् ।
कर्ता न मानोपहितं धिगस्तु, यस्मान्मनः साधुबहिष्कृतो यः (?) ॥३१॥

ज्ञानात्मकस्याखिलसत्त्वराशेर्व्यावृत्तदोषस्य सदाऽस्फुटस्य ।
किं वा जगत्यत्र समस्तपुंसामज्ञातमस्यास्ति हृदि स्थितस्य ॥३२॥

तस्मादहं भक्तिविनम्रगात्रो, व्रजामि विश्वेश्वरमीश्वराणाम् ।
अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य, अनादिमध्यान्तमजस्य विष्णोः ॥३३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे कृष्णक्रीडायामक्रूरागमनवर्णनं
नामैकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९१॥

दैत्यराज की सेना को विनष्ट करते हुए उन्होंने दैत्य वनिताओं के नयनों को अपनी ओर खींच लिया था। उनको दान देकर बलि ने पाताल में रहकर भी सकल भोगों को प्राप्त किया। उनकी कृपा से इन्द्र ने पूरे मन्वन्तर तक देवताओं का आधिपत्य प्राप्त किया। ऐसे भगवान् को मैं कंस की आज्ञा से लेने आया हूँ। अतएव मैं निर्दोष होता हुआ भी दोषी हूँ। ऐसे मानविगर्हित मुझे धिक्कार है, क्योंकि मैं मन से साधु-समाज से वहिष्कृत हो गया हूँ। वे भगवान् ज्ञानस्वरूप, अखिल सात्त्विक वृत्तियों के पुञ्ज, दोषों से रहित, सदा अस्फुट तथा सबके हृदय में वास करनेवाले हैं। संसार में समस्त पुरुषों की ऐसी कौन-सी वात है, जो उन्हें अविदित हो ? इसलिए मैं भक्ति से नत शरीर होकर पुरुषोत्तम, आदि, मध्य तथा अन्त से रहित एवम् अजन्मा विष्णु के अंश से अवतीर्ण विश्वेश्वर के समीप जाता हूँ ॥२७-३३॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में कृष्ण-क्रीड़ा-वर्णन-प्रसंग में अक्रूरागमन-वर्णन नामक एक सौ
इक्यानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥१९१॥

अथ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अक्रूरप्रत्यागमनवर्णनम्

व्यास उवाच

चिन्तयन्निति गोविन्दमुपगम्य स यादवः । अक्रूरोऽस्मीति [1]चरणौ ननाम शिरसा हरेः ॥१॥
सोऽप्येनं ध्वजवज्राब्जकृतचिह्नेन पाणिना । संस्पृश्याऽऽकृष्य च प्रीत्या सुगाढं परिषस्वजे ॥२॥
[2]कृतसंवदनौ तेन यथावद्बलकेशवौ । ततः प्रविष्टौ सहसा तमादायाऽऽत्ममन्दिरम् ॥३॥
सह ताभ्यां तदाऽक्रूरः कृतसंवन्दनादिकः । भुक्तभोज्यो यथान्यायमाचचक्षे ततस्तयोः ॥४॥
यथानिर्भत्सितस्तेन कंसेनाऽऽनकदुन्दुभिः । यथा च देवकी देवी दानवेन दुरात्मना ॥५॥
उग्रसेने यथा कंसः स दुरात्मा च वर्तते । यं चैवार्थं समुद्दिश्य कंसेन स विसर्जितः ॥६॥
तत्सर्वं विस्तराच्छ्रुत्वा भगवान्केशिसूदनः । [3]उवाचाखिलमेतत्तु ज्ञातं दानपते मया ॥७॥
करिष्ये च महाभाग यदत्रौपायिकं मतम् । विचिन्त्यं नान्यथैतत्ते विद्धि कंसं हतं मया ॥८॥
अहं रामश्च मथुरां श्वो यास्यावः समं त्वया । गोपवृद्धाश्च यास्यन्ति आदायोपायनं बहु ॥९॥
निशेयं नीयतां वीर न चिन्तां कर्तुमर्हसि । त्रिरात्राभ्यन्तरे कंसं हनिष्यामि सहानुगम् ॥१०॥

अध्याय १९२

अक्रूर के लौटने का वर्णन

व्यास बोले—इस तरह सोचते हुए वह यदुवंशी अक्रूर गोविन्द के पास जाकर उनके चरणों पर सिर झुकाकर प्रणाम करने लगे। कृष्ण ने भी ध्वजा, वज्र तथा कमल के चिह्नों से युक्त हस्त से उनका स्पर्श करते हुए अपनी ओर खींचकर प्रेम से गाढ़ आलिंगन किया। वलभद्र तथा कृष्ण व्यवहारपूर्वक अक्रूर से मिलकर उन्हें पकड़े हुए अपने घर ले गये। उन्होंने अक्रूर को विधिपूर्वक भोजन कराया। तव अक्रूर ने उन दोनों से, जैसे दुरात्मा दानव कंस वसुदेव, देवकी तथा उग्रसेन को सताता था और जिस उद्देश्य से उसने अक्रूर को गोकुल भेजा था, वह सव समाचार कह सुनाया। विस्तारपूर्वक अखिल वृत्तान्त सुनकर केशिनाशन भगवान् ने कहा—'दानपते! यह सव तो मुझे मालूम ही था। महाभाग! जो उपाय मैंने सोच रखा है, वह तो करूँगा ही; वह अन्यथा नहीं हो सकता। तुम कंस को मेरे द्वारा निहत ही समझो। कल मैं और राम तुम्हारे साथ मथुरा जायेंगे। गोपवृद्ध भी बहुत-से उपहार लेकर जायेंगे। वीर! इस रात को वीतने दो। चिन्ता मत करो। तीन रात के अन्दर ही अनुयायियों सहित कंस को मैं मार दूँगा' ॥१-१०॥

१ख. सहसा। २ख. ०वन्दनौ। ३क. ०लमप्येतज्ज्ञातं।

व्यास उवाच

समादिश्य ततो गोपानक्रूरोऽपि सकेशवः । सुष्वाप बलभद्रश्च नन्दगोपगृहे गतः ॥११॥
ततः प्रभाते विमले रामकृष्णौ महाबलौ । अक्रूरेण समं गन्तुमुद्यतौ मथुरां पुरीम् ॥१२॥
दृष्ट्वा गोपीजनः सास्रः श्लथद्‌बलयबाहुकः । निश्वसंश्चातिदुःखार्तः प्राह चेदं परस्परम् ॥१३॥
मथुरां प्राप्य गोविन्दः कथं गोकुलमेष्यति । नागरस्त्रीकलालापमधु श्रोत्रेण पास्यति ॥१४॥
विलासिवाक्यजातेषु[1] नागरीणां कृतास्पदम् । चित्तमस्य '[2]कथं ग्राम्यगोपगोपीषु यास्यति ॥१५॥
सारं समस्तगोष्ठस्य विधिना हरता हरिम् । प्रहृतं गोपयोषित्सु निघृणेन दुरात्मना ॥१६॥
भावगर्भस्मितं वाक्यं विलासललिता गतिः । नागरीणामतीवैतत्काटाक्षेक्षितमेवं तु ॥१७॥
गाम्यो हरिरयं तासां विलासनिगडैर्यतः । भवतीनां पुनः पार्श्वं कया युक्त्या समेष्यति ॥१८॥
एषो हि रथमारुह्य मथुरां याति केशवः । अक्रूरक्रूरकेणापि [3]हताशेन प्रतारितः ॥१९॥
किं न वेत्ति नृशंसोऽयमनुरागपरं जनम्[4] । येनेममक्षराह्लादं नयत्यन्यत्र नो हरिम् ॥२०॥
एष रामेण सहितः प्रयात्यत्यन्तनिर्घृणः । रथमारुह्य गोविन्दस्त्वर्यतामस्य वारणे ॥२१॥
गुरूणामग्रतो वक्तुं किं ब्रवीषि न नः क्षमम् । गुरवः किं करिष्यन्ति दग्धानां विरहाग्निना[5] ॥२२॥
नन्दगोपमुखा गोपा गन्तुमेते समुद्यताः । नोद्यमं कुरुते कश्चिद्‌गोविन्दविनिवर्तने ॥२३॥

व्यास बोले—तदुपरान्त गोपों को आदेश करके अक्रूर भी केशव और वलभद्र के साथ नन्दगोप के घर में जाकर सोये ॥११॥ सुप्रभात होने पर महावली राम और कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरापुरी जाने के लिए तैयारी करने लगे ॥१२॥ यह देखकर गोपियों के आँसू वहने लगे और वाँहें ढीली पड़ गयीं, जिनसे कंगन निकलने लगे। उन्होंने शोकातुर होकर लंवी साँस ली और परस्पर कहा—मथुरा जाने पर कृष्ण गोकुल क्यों आयेंगे ? वहाँ नगर की वनिताओं का मधुरालाप सुनेंगे। नगर-नारियों के विलासयुक्त वचनों में चित्त वैठ जाने पर ग्राम्य गोप-गोपियों की वातों को सुनने के लिए भला कौन आयेगा ? हरि को ले जाते हुए विधाता ने समस्त व्रज का सार हर लिया। गोपांगनाओं का तो उस निष्ठुर दुरात्मा ने सर्वस्व ही छीन लिया । नगर की महिलाओं का वचन सारगर्भित एवम् हास्ययुक्त होता है, गति सविलास एवम् सुललित होती है और अवलोकन अत्यन्त कटाक्षपूर्ण होता है ॥१३-१७॥ ये हरि गाँव के हैं। उन लोगों के विलास रूपी पाश में फँसकर ये फिर तुम लोगों के पास कैसे आयेंगे ? यह देखो, रथ पर चढ़कर केशव मथुरा जा रहे हैं। निगोड़ा एवम् क्रूर अक्रूर इन्हें ठगकर ले जा रहा है। क्या यह हत्यारा इनकी प्रेमियों को नहीं जानता है जो नित्य आह्लाद देनेवाले हमारे हरि को लिये जा रहा है ? यह अत्यन्त निर्दय अक्रूर रथ पर चढ़कर कृष्ण-राम को लिये जा रहा है, जल्दी करो, इसको रोक दें ॥१८-२१॥ क्या कहती हो कि गुरुजनों के सामने हम ऐसा करने में असमर्थ हैं। अरे ! विरहाग्नि से जले का गुरुजन क्या करेंगे ? नन्दगोप प्रभृति गोप तो जा ही रहे हैं भला गोविन्द का निवारण कौन करे ? आज मथुरा की रमणियों के लिए सुप्रभात हुआ जो

१क. ०क्यपानेषु । २क. ०थं भूयो ग्राम्यगोपी० । ३ख. ग. निराशेन । ४क. ०म् । योऽयं याति क्षणेनैवमुक्त्वा सर्वं सखीजनम् । ५ख. मदनाग्निना ।

सुप्रभाताऽद्य रजनी मथुरावासियोषिताम् । यासामच्युतवक्त्राब्जे याति नेत्रालिभोग्यताम् ।।२४।।
धन्यास्ते पथि ये कृष्णमितो यान्तमवारिताः । उद्वहिष्यन्ति पश्यन्तः स्वदेहं पुलकाञ्चितम् ।।२५।।
मथुरानगरीपौरनयनानां महोत्सवः । गोविन्दवदनालोकादतीवाद्य भविष्यति ।।२६।।
को नु स्वप्नः सभाग्याभिर्दृष्टस्ताभिरधोक्षजम् । विस्तारिकान्तनयना या द्रक्ष्यन्त्यनिवारितम् ।।२७।।
अहो गोपीजनस्यास्य दर्शयित्वा महानिधिम् । उद्धृतान्यद्य नेत्राणि विधात्राऽकरुणात्मना ।।२८।।
अनुरागेण शैथिल्यमस्मासु व्रजतो हरेः । शैथिल्यमुपयान्त्याशु करेषु वलयान्यपि ।।२९।।
अक्रूरः क्रूरहृदयः शीघ्रं प्रेरयते हयान् । एवमार्तासु योषित्सु घृणा कस्य न जायते ।।३०।।
हे हे कृष्ण रथस्योच्चैश्चक्ररेणुर्निरीक्ष्यताम् । दूरीकृतो हरिर्येन सोऽपि रेणुर्न लक्ष्यते ।।३१।।
इत्येवमतिहार्देन गोपीजननिरीक्षितः । तत्याज व्रजभूभागं सह रामेण केशवः ।।३२।।
गच्छन्तो जवनाश्वेन रथेन यमुनातटम् । प्राप्ता मध्याह्नसमये रामाक्रूरजनार्दनाः ।।३३।।
अथाऽऽह कृष्णमक्रूरो भवद्भ्यां तावदास्यताम् । यावत्करोमि कालिन्द्यामाह्निकार्हणमम्भसि ।।३४।।
तथेत्युक्ते ततः स्नातः स्वाचान्तः स महामतिः । दध्यौ ब्रह्म परं विप्राः प्रविश्य यमुनाजले ।।३५।।
फणासहस्रमालाढ्यं बलभद्रं ददर्श सः । कुन्दामलाङ्गमुन्निद्रपद्मपत्रायतेक्षणम् ।।३६।।
वृतं [१]वासुकिडिम्भौघैर्महद्भिः पवनाशिभिः । [२]संस्तूयमानसद्गन्धिवनमालाविभूषितम् ।।३७।।

उनके नेत्र रूपी भौंरे कृष्ण के मुख रूपी कमल का रसास्वादन करेंगे । वे व्यक्ति धन्य हैं, जो मार्ग में कृष्ण का दर्शन करेक आनन्द से शरीर को रोमाञ्चित करेंगे ।।२२-२५।। आज गोविन्द के मुखावलोकन से मथुरावासियों को अपार हर्ष होगा । उन लोगों ने कौन-सा सुस्वप्न देखा था जो आज प्रफुल्लित नेत्रों से कृष्ण का संदर्शन करेंगे । हाय ! गोपीजनों को महानिधि दिखाकर आज निर्दय विधाता ने उनके नेत्रों को निकाल लिया ! ! हम लोगों में अपने अनुराग को शिथिल करके हरि के चले जाने पर हमारे हाथों के कंगन भी शिथिल हो रहे हैं । इस प्रकार आर्त अबलाओं के प्रति किसे दया उत्पन्न नहीं होगी ? किन्तु यह क्रूरहृदय अक्रूर तेजी से घोड़ों को हाँक रहा है । हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! वह बहुत ऊपर रथ के चक्र की धूलि देखो। अब तो जिस धूलि ने कृष्ण को अलक्षित कर दिया, वह भी दिखायी नहीं देती ।।२३-३१।। इस प्रकार अत्यन्त अनुराग से गोपियाँ ताकती ही रहीं कि राम सहित कृष्ण ब्रज के भू-भाग को पार कर गये। शीघ्रगामी अश्वयुक्त रथ से दोपहर के समय राम, अक्रूर और कृष्ण यमुना-तट पर पहुँचे। अब अक्रूर ने कृष्ण-राम से कहा—'तब तक आप दोनों आराम करें जब तक मैं यमुना-जल में नित्यकर्म (संध्या-वंदन आदि) सम्पन्न करता हूँ। विप्रवृन्द ! उनकी स्वीकृति मिल जाने पर महावुद्धिमान् अक्रूर यमुना-जल में स्नान कर आचमन करके परब्रह्म का ध्यान करने लगे ।।३२-३५।। उन्होंने जल के भीतर सहस्र फणाओं से युक्त, कुन्दपुष्प के सदृश श्वेतांग, विकसित कमलपत्र के समान दीर्घ नेत्रवाले, वासुकि के बच्चों से आवृत, महान् सर्पों से स्तूयमान, वनमाला से विभूषित, नीलवस्त्रधारी, मनोहर आभूषणों से युक्त, चारु कुण्डलों से सुशोभित और मद से झूमते हुए

---

[१] ख. ०किरम्भाद्यैर्म०। [२] क. ख. ०मानं बहुभिर्वन०।

चारुकुण्डलिनं मत्तमन्तर्जलतले स्थितम् ॥३८॥
दधानमसिते वस्त्रे चारुरूपावतंसकम् । चतुर्बाहुमुदाराङ्गं चक्राद्यायुधभूषणम् ॥३९॥
तस्योत्सङ्गे घनश्याममाताभ्रायतलोचनम् । चक्रचापतडिन्मालाविचित्रमिव तोयदम् ॥४०॥
पीते वसानं वसने चित्रमाल्यविभूषितम् । ददर्श कृष्णमक्लिष्टं पुण्डरीकावतंसकम् ॥४१॥
श्रीवत्सवक्षसं चारुकेयूरमुकुटोज्ज्वलम् । [1]संचिन्त्यमानं [2]मनसा नासाग्रन्यस्तलोचनैः ॥४२॥
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिः सिद्धयोगैरकल्मषैः । अचिन्तयदथो शीघ्रं कथमत्रागताविति ॥४३॥
बलकृष्णौ तदाऽक्रूरः प्रत्यभिज्ञाय विस्मितः । ततो निष्क्रम्य सलिलाद्रथमभ्यागतः पुनः ॥४४॥
विवक्षोः स्तम्भयामास वाचं तस्य[3] जनार्दनः । रामकृष्णौ यथा पूर्वं मनुष्यवपुषाऽऽन्वितौ ॥४५॥
ददर्श तत्र चैवोभौ रथस्योपरि संस्थितौ । संस्तूयमानौ गन्धर्वैर्मुनिसिद्धमहोरगैः ॥४६॥
निमग्नश्च पुनस्तोये ददृशे स तथैव तौ । तुष्टाव सर्वविज्ञानमयमच्युतमीश्वरम् ॥४७॥
ततो विज्ञातसद्भावः स तु दानपतिस्तदा ।

अक्रूर उवाच

तन्मात्ररूपिणेऽचिन्त्यमहिम्ने परमात्मने । व्यापिने नैकरूपैकस्वरूपाय नमो नमः ॥४८॥
शब्दरूपाय तेऽचिन्त्यहविर्भूताय ते नमः । नमो विज्ञानरूपाय पराय प्रकृतेः प्रभो ॥४९॥
भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान् । आत्मा च परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधा स्थितः ॥५०॥

बलभद्र को देखा । उनके क्रोड-प्रदेश में मेघ के समान श्यामवर्णवाले, लाल तथा दीर्घनेत्रवाले, चतुर्भुज, सुन्दर अवयवों से युक्त, चक्र आदि आयुधों से विभूषित, पीताम्वर, विचित्र मालाओं से सुशोभित, इन्द्रधनुष, विद्युत् तथा मेघ के सदृश दीखनेवाले, श्रीवत्स नामक चिह्न से युक्त, सुन्दर केयूर तथा उज्ज्वल मुकुट से आभूषित, कमल-पुष्पों के आभूषण धारण करनेवाले, प्रसन्न और नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर करके निष्पाप एवम् सिद्ध, सनन्दन आदि मुनियों द्वारा ध्यान किये जाते हुए कृष्ण को भी देखा ॥३६-४२॥ तव अक्रूर 'ये ही वलभद्र और कृष्ण हैं' यह जानकर आश्चर्यान्वित हुए और सोचने लगे—'इतनी जल्दी यहाँ कैसे आ गये ।' वे वोलना ही चाहते थे कि कृष्ण ने उनका वाक्स्तम्भन कर दिया । तव वे जल से वाहर निकलकर पुनः रथ के पास आये । वहाँ भी पहिले की तरह मनुष्य-शरीरधारी राम-कृष्ण को रथ पर वैठे देखा । पुनः वे जल में डूवे तो उनको उसी रूप में देखा कि गन्धर्व, मुनि, सिद्ध तथा महासर्प उनकी स्तुति कर रहे हैं । तव यथार्थभाव को समझकर अक्रूर ने सर्वविज्ञानमय ईश्वर कृष्ण की स्तुति प्रारम्भ की ॥४३-४७॥

अक्रूर बोले—पंचतन्मात्रारूप, अचिन्त्य महिमा से युक्त, व्यापक और एक तथा अनेक रूपों से परे परमात्मा को नमस्कार है । शब्दरूप तथा अचिन्त्यहविर्भूत आपको नमस्कार है । प्रभो ! विज्ञानरूप तथा प्रकृति से परे आपको नमस्कार है । आप भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, प्रधानात्मा, आत्मा तथा परमात्मा हैं । आप एक होते हुए भी उपर्युक्त पाँचों प्रकार से स्थित हैं ॥४८-५०॥ सर्वधर्मात्मन् ! क्षराक्षर ! महेश्वर ! प्रसन्न होइये । व्रह्मा,

---

१ग. ०नं तत्रस्थैर्नासा० । २क. सततं । ३ग. तत्र ।

प्रसीद सर्वधर्मात्मन्क्षराक्षर[1] महेश्वर । ब्रह्मविष्णुशिवाद्याभिः कल्पनाभिरुदीरितः[2] ।।५१।।
अनाख्येयस्वरूपात्मन्ननाख्येयप्रयोजन । अनाख्येयाभिधान त्वां नातोऽस्मि परमेश्वरम् ।।५२।।
न यत्र नाथ विद्यन्ते नामजात्यादिकल्पनाः । तद्‍ब्रह्म परमं नित्यमविकारि भवानजः ।।५३।।
न कल्पनामृतेऽर्थस्य सर्वस्याधिगमो यतः । ततः कृष्णाच्युतानन्त विष्णुसंज्ञाभिरीडयसे ।।५४।।

सर्वात्मंस्त्वमज विकल्पनाभिरेतैर्देवास्त्वं जगदखिलं विश्वम् ।
विश्वात्मंस्त्वतिविकारभेदहीनः, सर्वस्मिन्न हि भवतोऽस्ति किंचिदन्यत् ।।५५।।
त्वं ब्रह्मा पशुपतिरर्यमा विधाता, त्वं धाता त्रिदशपतिः समीरणोऽग्निः ।
तोयेशो धनपतिरन्तकस्त्वमेको, भिन्नात्मा जगदपि पासि शक्तिभेदैः ।।५६।।
विश्वं भवान्सृजति हन्ति गभस्तिरूपो, विश्वं च ते गुणमयोऽयमज प्रपञ्चः ।
रूपं परं सदितिवाचकमक्षरं यज्ज्ञानात्मने सदसते प्रणतोऽस्मि तस्मै ।।५७।।
ॐ नमो वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च । प्रद्युम्नाय नमस्तुभ्यमनिरुद्धाय ते नमः ।।५८।।

व्यास उवाच

एवमन्तर्जले कृष्णमभिष्टूय स यादवः । अर्घयामास सर्वेशं धूपपुष्पैर्मनोमयैः ।।५९।।
परित्यज्यान्यविषयं मनस्तत्र निवेश्य सः । [3]ब्रह्मभूते चिरं स्थित्वा विरराम समाश्रितः ।।६०।।
कृतकृत्यमिवाऽऽत्मानं मन्यमानो द्विजोत्तमाः । आजगाम रथं भूयो निर्गम्य[4] यमुनाम्भसः ।।६१।।

विष्णु, शिव आदि नामों से आप ही पुकारे जाते हैं। आपके स्वरूप, प्रयोजन तथा संज्ञा भी अनिर्वचनीय हैं। परमेश्वर ! आपको नमस्कार है। नाथ ! जहाँ नाम, जाति आदि की कल्पना नहीं होती है, वह नित्य, अविकारी, अजन्मा परब्रह्म आप ही हैं। जिसलिए विना कल्पना (संज्ञा) के अर्थ (वस्तु) का अववोध नहीं होता है इसलिए कृष्ण, अच्युत, अनन्त, विष्णु आदि संज्ञाओं से आपकी स्तुति की जाती है ।।५१-५४।। अखिलात्मन् ! अज ! इन विकल्पनाओं से युक्त आप ही हैं, देव, सम्पूर्ण जगत् तथा विश्व भी आप ही हैं। विश्वात्मन् ! आप विकार तथा भेद से अत्यन्त रहित हैं। अप सव में हैं। आपके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आप ब्रह्मा, शिव, अर्यमा, विधाता, धाता, इन्द्र, वायु, अग्नि, वरुण, कुवेर तथा यम हैं। आप एक होते हुए भी भिन्नात्मा हैं। आप शक्तिभेदों से संसार का पालन करते हैं ।।५५-५६।। गभस्ति (सूर्य ?) रूप से आप विश्व का सृजन तथा नाश करते हैं। विश्व आपका गुणमय है। यह आप ही का प्रपञ्च है। 'सत्' यह ओंकार, परम रूप तथा ज्ञानात्मा है। आपके उन सत्-असत् रूप को प्रणाम है। वासुदेव को नमस्कार है। संकर्षण को नमस्कार है, प्रद्युम्न को नमस्कार है तथा अनिरुद्ध को नमस्कार है ।।५७-५८।।

व्यास बोले—इस प्रकार जल के भीतर कृष्ण की स्तुति करके यादव ने मनोमय धूप-पुष्पों से सर्वेश्वर को अर्घ दिया। अन्य विषयों का परित्याग कर ब्रह्मभूत कृष्ण में मन को लगाकर चिरकाल तक वे वहीं समाधि में डूबे

---

[1] ग ०रमयेश्व०। [2] ख. ०रुदाहृतः। [3] क. ०भूतश्चिरं। [4] ख. निष्क्रम्य।

रामकृष्णो ददर्शाथ यथापूर्वमवस्थितौ । विस्मिताक्षं तदाऽक्रूरं तं च कृष्णोऽभ्यभाषत ॥६२॥

श्रीकृष्ण उवाच

किं त्वया दृष्टमाश्चर्यमक्रूर यमुनाजले । विस्मयोत्फुल्लनयनो भवान्संलक्ष्यते यतः ॥६३॥

अक्रूर उवाच

अन्तर्जले यदाश्चर्यं दृष्टं तत्र मयाऽच्युत । तदत्रैव हि पश्यामि मूर्तिमत्पुरतः स्थितम् ॥६४॥
जगदेतन्महाश्चर्यरूपं यस्य महात्मनः । तेनाऽऽश्चर्यपरेणाहं भवता कृष्ण संगतः ॥६५॥
तत्किमेतेन मथुरां प्रयामो मधुसूदन । बिभेमि [1]कंसाद्धिग्जन्म परपिण्डोपजीविनः[2] ॥६६॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा चोदयामास तान्हयान्वातरंहसः । संप्राप्तश्चापि सायाह्ने सोऽक्रूरो मथुरां पुरीम् ॥
विलोक्य मथुरां कृष्णं रामं चाऽऽह स यादवः ॥६७॥

अक्रूर उवाच

पद्भ्यां यातं महावीर्यौ रथेनैको[3] विशाम्यहम् । गन्तव्यं वसुदेवस्य नो भवद्भ्यां तथा गृहे ॥
युवयोर्हि कृते वृद्धः[4] कंसेन स निरस्यते ॥६८॥

रहो। द्विजश्रेष्ठो ! अपने को कृतकृत्य समझते हुए वे यमुना-जल से निकलकर पुनः रथ पर आये। वहाँ राम-कृष्ण को यथापूर्व अवस्थित देखकर उन्होंने विस्मय से आँखें मूँद लीं। तव कृष्ण ने उनसे कहा ॥५९-६२॥

श्रीकृष्ण बोले—अक्रूर ! यमुना-जल में तुमने क्या आश्चर्य देखा है जोकि तुम्हारे नेत्र विस्मय से प्रफुल्लित हो रहे हैं ? ॥६३॥

अक्रूर बोले—अच्युत ! जल के भीतर जो मैंने आश्चर्य देखा, वह यहीं पर मेरे सामने मूर्तरूप में अवस्थित है। कृष्ण ! जिन महात्मा का यह निखिल संसार ही आश्चर्यरूप है, उन्हीं आश्चर्यों से भी परे के साथ मैं हूँ। मधुसूदन ! तो क्यों हम लोग मथुरा जायें ? कंस से मुझे डर लगता है। दूसरे का पिण्ड खाकर जीनेवाले के जन्म को धिक्कार है ॥६४-६६॥

व्यास बोले— इतना कहकर वायु के समान तीव्र चलनेवाले घोड़ों को हाँककर सायंकाल अक्रूर मथुरापुरी पहुँचे। मथुरा को देखकर यादव ने कृष्ण तथा राम से कहा ॥६७॥

अक्रूर बोले—महापराक्रमी ! आप दोनों पैदल चलें और मैं अकेला ही रथ से वसुदेव जी के घर जाता हूँ आप लोग वहाँ अभी न जायें। ऐसा करने से कंस वसुदेव जी को निकाल बाहर कर देगा ॥६८॥

---

[1] ख. ०सादुद्विग्नः प० । [2] ख. ०जीवनः । [3] क. ०को व्रजाम्य० । [4] क. शुद्धः ।

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा प्रविवेशासावक्रूरो मथुरां पुरीम् । प्रविष्टौ रामकृष्णौ च राजमार्गमुपागतौ ॥६९॥
स्त्रीभिर्नरैश्च सानन्दलोचनैरभिवीक्षितौ । जग्मतुर्लीलया वीरौ प्राप्यौ बालगजाविव ॥७०॥
[1]भ्रममाणौ तु तौ दृष्ट्वा रजकं रङ्गकारकम् । अयाचेतां [2]स्वरूपाणि वासांसि रुचिराणि तौ ॥७१॥
कंसस्य रजकः सोऽथ प्रसादारूढविस्मयः । बहून्याक्षेपवाक्यानि प्राहोच्चै रामकेशवौ ॥७२॥
ततस्तलप्रहारेण कृष्णस्तस्य दुरात्मनः । पातयामास कोपेन रजकस्य शिरो भुवि ॥७३॥
हत्वाऽऽदाय च वस्त्राणि पीतनीलाम्बरौ ततः । कृष्णरामौ मुदायुक्तौ मालाकारगृहं गतौ ॥७४॥
विकासिनेत्रयुगलो[3] मालाकारोऽतिविस्मितः । एतौ कस्य कुतो यातौ मनसाऽचिन्तयत्ततः ॥७५॥
पीतनीलाम्बरधरौ दृष्ट्वाऽतिसुमनोहरौ । स तर्कयामास तदा भुवं देवावुपागतौ ॥७६॥
विकाशिमुखपद्माभ्यां ताभ्यां पुष्पाणि याचितः । भुवं विष्टभ्य हस्ताभ्यां पस्पर्श शिरसा महीम् ॥७७॥
प्रसादसुमुखो नाथौ मम गेहमुपागतौ । धन्योऽहमर्चयिष्यामीत्याह तौ माल्यजीविकः[4] ॥७८॥
ततः [5]प्रहृष्टवदनस्तयोः पुष्पाणि कामतः । चारूण्येतानि [6]चैतानि प्रददौ स विलोभयन् ॥७९॥
पुनः पुनः प्रणम्यासौ मालाकारोत्तमो ददौ । पुष्पाणि ताभ्यां चारूणि गन्धवन्त्यमलानि च ॥८०॥

व्यास बोले—इतना कहकर अक्रूर मथुरापुरी में प्रविष्ट हुए और राम-कृष्ण भी राजमार्ग पर चलने लगे । नर-नारियाँ आनन्दित नेत्रों से उनको देखने लगीं । वे दोनों वीर वालगज की तरह लीला करते हुए चलते थे । भ्रमण करते हुए उन्होंने एक रँगरेज धोवी को देखा । उससे अपने अनुरूप सुन्दर वस्त्रों की याचना की । वह कंस का धोवी था । इसलिए विस्मित होकर उसने राम-केशव से उच्चस्वर में वहुत व्यंग्ययुक्त वचन कहे । तव कृष्ण ने क्रोध से उस दुरात्मा धोवी के सिर को हस्त-प्रहार से भूमि पर गिरा दिया । उसे मारकर पीले तथा नीले वस्त्रों को लेकर हर्षित कृष्ण तथा राम माली के घर की ओर वढ़े । माली पीत-नीलाम्वरधारी दोनों भाइयों को देखकर अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुआ और प्रफुल्लित नेत्रों से उनकी ओर ताकते हुए मन में सोचने लगा—'ये दोनों किसके हैं ? कहाँ जा रहे हैं ?' ॥६९-७५॥ उसने अनुमान किया कि ये देव हैं। अपने मुखकमल को खोलकर दोनों ने उससे पुष्पों की याचना की । माली ने पृथ्वी पर दोनों हाथों को रखकर सिर से भूमि का स्पर्श किया और कहा—'नाथ ! प्रसन्न मुखवाले ! आप दोनों मेरे घर आये, इसी से मैं अपने को धन्य समझता हूँ । मैं आप दोनों की पूजा करूँगा ।' इतना कहकर वह प्रसन्नतापूर्वक सुन्दर-सुन्दर फूलों से उन दोनों को लुभाते हुए पुष्प समर्पित करने लगा। पुनः पुनः प्रणाम करके मालाकार ने उन्हें मनोहर, सुगन्धित तथा स्वच्छ पुष्प दिये । कृष्ण ने भी प्रसन्न होकर माली को वरदान दिया—'भद्र ! मेरी आश्रित लक्ष्मी तुम्हें कभी भी न छोड़ेगी । सौम्य ! जव तक पृथ्वी

१क. ०णौ ततो दृ० । २क. सुरूपाणि । ३ख. ग. ०गलौ मा० । ४क. ख. जीवनः । त० । ५ख. ०दनः स्वयं पु० । ६क. हृष्टात्मा ।

मालाकाराय कृष्णोऽपि प्रसन्नः प्रददौ वरम् । श्रीस्त्वांमत्संश्रया भद्र न कदाचित्त्यजिष्यति ॥८१॥
बलहानिर्न ते सौम्य धनहानिरथापि वा । यावद्धरणिसूर्यौ च संतीतः पुत्रपौत्रिकी ॥८२॥
भुक्त्वा च विपुलान्भोगांस्त्वमन्ते मत्प्रसादतः । ममानुस्मरणं प्राप्य दिव्यलोकमवाप्स्यसि ॥८३॥
धर्मे [1]मनश्च ते भद्र सर्वकालं भविष्यति । [2]युष्मत्संततिजातानां दीर्घमायुर्भविष्यति ॥८४॥
नोपसर्गादिकं दोषं युष्मत्संततिसंभवः । अवाप्स्यति महाभाग यावत्सूर्यो भविष्यति ॥८५॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा तद्गृहात्कृष्णो बलदेवसहायवान् । निर्जगाम मुनिश्रेष्ठा मालाकारेण पूजितः ॥८६॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मेऽक्रूरप्रत्यागमनं नाम द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९२॥

अथ त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुब्जोद्धारवर्णनम्

व्यास उवाच

राजमार्गे ततः कृष्णः सानुलेपनभाजनाम् । ददर्श कुब्जामायान्तीं नवयौवनगोचराम् ॥१॥
तामाह ललितं कृष्णः कस्येदमनुलेपनम् । भवत्या नीयते सत्यं वदेन्दीवरलोचने ॥२॥

तथा सूर्य रहेंगे तब तक तुम्हारी बलहानि तथा धनहानि नहीं होगी। पुत्र-पौत्र आदि सन्तानें होंगी। विपुल भोगों को भोगकर अन्त में तुम मेरी कृपा से मेरे स्मरण करते हुए दिव्यलोक को जाओगे। भद्र ! धर्म में तुम्हारा मन सदा लगेगा। तुम्हारी सन्तानों की लंवी आयु होगी। महाभाग ! जब तक सूर्य रहेंगे तब तक तुम्हें किसी प्रकार के उत्पात आदि दोष नहीं होंगे ॥७६-८५॥

व्यास बोले—मुनिश्रेष्ठो ! इतना कहकर मालाकार द्वारा पूजित कृष्ण वलराम के साथ उसके घर से बाहर निकल गये ॥८६॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में अक्रूर-प्रत्यागमन नामक एक सौ वानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥१९२॥

अध्याय १९३

कुब्जा का उद्धार-वर्णन

व्यास बोले—तदुपरान्त कृष्ण ने राजमार्ग पर अनुलेप (चन्दन, केसर आदि) के पात्र को लिये आती हुई नवयौवना कुब्जा को देखा। उसको देखकर कृष्ण ने कहा—'कमललोचने ! किसके लिए तुम यह सुललित

---

[1] ख. मतिश्च । [2] क. ०नां महावीर्यं भवि० । ख. ०नां वाहुवीर्यं भवि० ।

सकामेनैव सा प्रोक्ता सानुरागा हरिं प्रति । प्राह सा ललितं कुब्जा ददर्श च बलात्ततः ॥३॥

कुब्जोवाच

कान्त कस्मान्न जानासि कंसेनापि नियोजिता । नैकवक्रेति विख्यातामनुलेपनकर्मणि ॥४॥
नान्यपिष्टं हि कंसस्य प्रीतये ह्यनुलेपनम् । भवत्यहमतीवास्य प्रसादधनभाजनम् ॥५॥

श्रीकृष्ण उवाच

सुगन्धमेतद्राजार्हं रुचिरं रुचिरानने । आवयोर्गात्रसदृशं दीयतामनुलेपनम् ॥६॥

व्यास उवाच

श्रुत्वा तमाह सा कृष्णं गृह्यतामिति सादरम् । अनुलेपं च प्रददौ गात्रयोग्यमथोभयोः ॥७॥
भक्तिच्छेदानुलिप्ताङ्गौ ततस्तौ पुरुषर्षभौ । सेन्द्रचापौ विराजन्तौ सितकृष्णाविवाम्बुदौ ॥८॥
ततस्तां चिबुके [1]शौरिरुल्लापनविधानवित् । उल्लाप्य तोलयामास [2]द्व्यङ्गुलेनाग्रपाणिना ॥९॥
चकर्ष पद्भ्यां च तदा ऋजुत्वं केशवोऽनयत् । ततः सा ऋजुतां प्राप्ता योषितामभवद्वरा ॥१०॥
विलासललितं प्राह प्रेमगर्भभरालसम् । वस्त्रे प्रगृह्य गोविन्दं व्रज गेहं ममेति वै ॥११॥
आयास्ये भवतीगेहमिति तां प्राह केशवः । विससर्ज जहासोच्चै रामस्याऽऽलोक्य चाऽऽननम् ॥१२॥

अनुलेपन लिये जा रही हो ? सच वोलो ।' कुब्जा भी सकाम भाव से कृष्ण की ओर देखकर सुन्दर वचन बोली ॥१-३॥

कुब्जा ने कहा—कान्त ! क्यों नहीं आप जानते कि कुब्जा कंस के अनुलेपन कर्म के लिए रखी गयी है । दूसरे का घिसा हुआ चंदन कंस को नहीं सुहाता है । मैं उसकी अत्यन्त कृपापात्र हूँ ॥४-५॥

श्रीकृष्ण बोले—सुमुखि ! राजा के योग्य यह सुगंधित अनुलेप हम दोनों के अंगों में लगाने योग्य है । यह हमें दे दो ॥६॥

व्यास बोले—यह सुनकर कुब्जा ने कृष्ण से आदरपूर्वक कहा—'लीजिये ।' बाद में उसने उन दोनों के शरीर के योग्य अनुलेप दे दिया । चित्रकारीपूर्वक अनुलेप के लगाने पर दोनों नरपुंगव इन्द्रधनुष तथा शुक्ल-कृष्ण वादल की तरह सुशोभित हुए । तदनन्तर उठाने के विधान को जाननेवाले कृष्ण ने अपनी हाथ की दो अँगुलियों को कुब्जा की ठुड्डी में लगाकर ऊपर को उठा दिया और पैरों से खींचा (अर्थात् अपने पैरों से उसके पैरों को दवाकर चिवुक को उठा दिया) । इस प्रकार कृष्ण ने उसको सीधा कर दिया । सीधी होने पर वह श्रेष्ठ रमणी वन गयी । तव गोविन्द के वस्त्र पकड़कर उसने प्रेम से लवालव भरी होने के कारण अलसायी हुई तथा हाव-भाव से सुन्दर वात कृष्ण से कही कि मेरे घर चलिये । 'मैं आऊँगा' ऐसा कृष्ण ने भी उससे कह दिया । राम का मुख देखकर जोर से

---

[1] क. शौरिः प्रणयेन वि० । [2] ख. ०स प्राङ्गु० ।

भक्तिच्छेदानुलिप्ताङ्गौ नीलपीतम्बरावुभौ । धनुःशालां ततो यातौ चित्रमाल्योपशोभितौ[1] ॥१३॥
अध्यास्य च धनूरत्नं ताभ्यां पृष्टैस्तु रक्षिभिः । आख्यातं सहसा कृष्णो गृहीत्वाऽपूरयद्धनुः ॥१४॥
ततः पूरयता तेन [2]भज्यमानं बलाद्धनुः । चकारातिमहाशब्दं मथुरा तेन पूरिता ॥१५॥
अनुयुक्तौ ततस्तौ च भग्ने धनुषि रक्षिभिः । रक्षिसैन्यं निकृत्योभौ निष्क्रान्तौ कार्मुकालयात् ॥१६॥
अक्रूरागमवृत्तान्तमुपलभ्य तथा धनुः । भग्नं श्रुत्वाऽथ कंसोऽपि प्राह चाणूरमुष्टिकौ ॥१७॥

कंस उवाच

गोपालदारकौ प्राप्तौ भवद्भ्यां तौ ममाग्रतः । मल्लयुद्धेन हन्तव्यौ मम प्राणहरौ हि तौ ॥१८॥
नियुद्धे तद्विनाशेन भवद्भ्यां तोषितो ह्यहम् । [3]दास्याम्यभिमतान्कामान्नान्यथैतन्महाबलौ ॥१९॥
न्यायतोऽन्यायतो वाऽपि भवद्भ्यां तौ ममाहितौ । हन्तव्यौ तद्वधाद्राज्यं सामान्यं वो भविष्यति ॥२०॥

व्यास उवाच

इत्यादिश्य स तौ मल्लौ ततश्चाऽहूय हस्तिपम् । प्रोवाचौच्चैस्त्वया [4]मत्तः समाजद्वारि कुञ्जरः ॥२१॥
स्थाप्यः कुवलयापीडस्तेन तौ गोपदारकौ । घातनीयौ नियुद्धाय रङ्गद्वारमुपागतौ ॥२२॥
तमाज्ञाप्याथ दृष्ट्वा च मञ्चान्सर्वानुपाहृतान् । आसन्नमरणः कंसः सूर्योदयमुदैक्षतं ॥२३॥

हँसते हुए कृष्ण ने उसको विदा किया। तदुपरान्त भक्तिपूर्वक समर्पित अनुलेष से लिप्तांग, नील-पीत-वस्त्रधारी तथा विचित्र मालाओं से सुशोभित राम और कृष्ण धनुष-शाला की ओर प्रस्थित हुए। वहाँ रक्षकों से धनुष के वारे में पूछा। उनके बतलाने पर कृष्ण ने सहसा धनुष को उठाकर खींचा। वलपूर्वक खींचने से धनुष टूट गया। उसके महाशब्द से मथुरापुरी गूँज उठी। धनुष के टूट जाने पर रक्षकों ने उनके ऊपर आक्रमण किया। पर रक्षक-सैनिकों को मार-पीट कर दोनों वीर धनुषालय से निकल गये। अक्रूर के आगमन का वृत्तान्त एवं धनुष-भंग का समाचार सुनकर कंस ने चाणूर और मुष्टिक से कहा ॥७-१७॥

कंस बोला—दोनों गोपाल-कुमार मेरे पास आ गये हैं। वे मेरे प्राणों के ग्राहक हैं। तुम उनको मल्लयुद्ध में मार दो। युद्ध में उनके मार देने से मैं प्रसन्न हूँगा और तुम दोनों महावलवानों को मुँह मांगे मुराद दूँगा। इसे असत्य न समझो। न्याय से या अन्याय से उन दोनों मेरे शत्रुओं को अवश्य मारना। उनके वध करने से राज्य पर तुम्हारा समानाधिकार होगा ॥१८-२०॥

व्यास बोले—उन पहलवानों को ऐसा आदेश देकर कंस महावत को वुलाकर जोर से कहने लगे—'कुवलयापीड़ नामक मतवाले हाथी को तुम द्वार पर रखना। युद्ध के लिये वे दोनों गोपवालक ज्योंही समर-द्वार पर आयें त्योंही हाथी से उन्हें मरवा डालना।' उसको आज्ञा देकर समस्त रंग-मंचों को देखकर मुमूर्षु कंसे ने सूर्योदय को देखा।

---

[1] क. ०माल्यानुलेपनौ। अ०। [2] क. ख. ०नं महद्ध०। ख. ०मान्राज्यं चत०। [4] ग. मल्लंस०।

ततः समस्तमञ्चेषु नागरः स तदा जनः । राजमञ्चेषु चाऽऽरुढाः सह भृत्यैर्महीभृतः ॥२४॥
मल्लप्राश्निकवर्गश्च रङ्गमध्ये समीपगः । कृतः कंसेन कंसोऽपि तुङ्गमञ्चे व्यवस्थितः ॥२५॥
अन्तःपुराणां मञ्चाश्च यथाऽन्ये परिकल्पितः । अन्ये च वारमुख्यानामन्ये नगरयोषिताम् ॥२६॥
नन्दगोपादयो गोपा मञ्चेष्वन्येष्ववस्थिताः । अक्रूरवसुदेवौ च मञ्चप्रान्ते व्यवस्थितौ ॥२७॥
नगरीयोषितां मध्ये देवकी पुत्रगर्धिनी । [1]अन्तकालेऽपि पुत्रस्य द्रक्ष्यामीति मुखं स्थिता ॥२८॥
वाद्यमानेषु तूर्येषु चाणूरे चातिवल्गति । हाहाकारपरे लोक आस्फोटयति मुष्टिके ॥२९॥
हत्वा कुवलयापीडं हस्त्यारोहप्रचोदितम् । मदासृगनुलिप्ताङ्गौ गजदन्तवरायुधौ ॥३०॥
मृगमध्ये यथा सिंहौ गर्वलीलावलोकिनौ । प्रविष्टौ सुमहारङ्गं बलदेवजनार्दनौ ॥३१॥
हाहाकारो महाञ्जज्ञे सर्वरङ्गेष्वनन्तरम् । कृष्णोऽयं बलभद्रोऽयमिति लोकस्य विस्मयात् ॥३२॥
सोऽयं येन हता घोरा पूतना सा निशाचरी[2] । प्रक्षिप्तं शकटं येन भग्नौ च यमलार्जुनौ ॥३३॥
सोऽयं यः कालियं नागं ननर्ताऽऽरुह्य बालकः । धृतो गोवर्धनो येन सप्तरात्रं महागिरिः ॥३४॥
अरिष्टो धेनुकः केशी लीलयैव महात्मना । हतो येन च दुर्वृत्तो दृश्यते सोऽयमच्युतः ॥३५॥
अयं चास्य महाबाहुर्बलदेवोऽग्रजोऽग्रतः । प्रयाति लीलया योषिन्मनोनयननन्दनः[3] ॥३६॥
अयं स[4] कथ्यते प्राज्ञैः पुराणार्थावलोकिभिः । गोपालो यादवं वंशं मग्नमभ्युद्धरिष्यति ॥३७॥

तव समस्त मंचों पर नागरिक लोग वैठ गये। राज-मंचों पर अनुचरों समेत राजगण भी वैठ गये। पहलवानों का समुदाय रंगमंच के समीप ही अवस्थित हुआ। कंस अत्युच्च मंच पर विराजमान था। अतःपुरवासिनी ललनाओं के, वेश्याओं के तथा नागरिक महिलाओं के मंच पृथक्-पृथक् वनाये गये थे। नन्दगोप आदि गोप भी अन्य मञ्चों पर वैठे थे। अक्रूर तथा वसुदेव भी मञ्चप्रान्त में अवस्थित हुए। अन्तकाल में भी पुत्र का मुख देखूँगी, इस ललसा से देवकी नगर-नारियों के वीच जा वैठी। नगाड़े वजने लगे। चाणूर अत्यन्त वागाडम्वर कर रहा था। मुष्टिक ताल ठोंक रहा था। लोगों में हाहाकार मच रहा था ॥२१-२९॥ महावत द्वारा प्रेरित कुवलयापीड़ को मारकर उसके दाँतों को अस्त्र रूप में धारण कर तथा गर्व से तमाशा देखने वाले मद एवम् शोणित से लिप्त अंगवाले वलदेव और कृष्ण रंगभूमि में उसी तरह प्रविष्ट हुए जैसे सिंह मृगों के मध्य में। समस्त रंगभूमि में महान् कोलाहल मच गया। 'यह कृष्ण हैं, यह वलराम हैं' इस प्रकार कहते हुए लोग आश्चर्य के साथ एक दूसरे से पूछने लगे—ये वही हैं, जिन्होंने पूतना नामक भयंकर राक्षसी को मारा, शकट को फेंका, यमलार्जुन को तोड़ा, कालिय नाग के ऊपर चढ़कर नृत्य किया, सात रात तक गोवर्धन पर्वत का धारण किया और दुराचारी अरिष्ट, धेनुक तथा केशी को सहज ही में मार डाला। ये अच्युत आज हमारे सामने हैं। ये महाशक्तिशाली वलदेव इनके ज्येठ भाई हैं। ये सहज ही में वनिताओं के चित्त तथा नयनों को तृप्त कर देते हैं। इनके विषय में पुराणों के तत्त्ववेत्ता विद्वान् कहते हैं कि ये

---

[1]ग. ०ले च पु० । [2]क. वालघातिनि । [3]क. ०नमन्दिरः । अ० । [4]ख. सत्यकथ्य० ।

अयं स सर्वभूतस्य विष्णोरखिलजन्मनः । अवतीर्णो[1] महीमंशो नूनं भारहरो भुवः ।।३८।।
इत्येवं वर्णिते पौरै रामे कृष्णे च तत्क्षणात् । उरस्ततताप देवक्याः स्नेहस्नुतपयोधरम् ।।३९।।
महोत्सवमिवालोक्यं[2] पुत्रावेव विलोकयन् ।[3] युवेव[4] [5]वसुदेवोऽभूद्विहायाभ्यागतां जराम् ।।४०।।
विस्तारिताक्षियुगला राजान्तःपुरयोषितः । नागरस्त्रीसमूहश्च द्रष्टुं न विरराम तौ ।।४१।।

स्त्रिय ऊचुः

सख्यः पश्यत कृष्णस्य मुख्यमप्यम्बुजेक्षणम् । गजयुद्धकृतायासस्वेदाम्बुकणिकाञ्चितम् ।।४२।।
विकासीव सरोम्भोजमवश्यायजलोक्षितम् । परिभूताक्षरं जन्म सफलं क्रियतां दृशः ।।४३।।
श्रीवत्साङ्कं जगद्धाम बालस्यैतद्विलोक्यताम् । विपक्षक्षपणं वक्षो भुजयुग्मं च भामिनि ।।४४।।
वल्गता मुष्टिकेनैव चाणूरेण तथा परैः । क्रियते बलभद्रस्य हास्यमीषद्विलोक्यताम् ।।४५।।
सख्यः पश्यत चाणूरं नियुद्धार्थमयं हरिः । समुपैति न सन्त्यत्र किं वृद्धा युक्तकारिणः ।।४६।।
क्व यौवनोन्मुखीभूतः सुकुमारतनुर्हरिः । क्व वज्रकठिनाभोशरीरोऽयं महासुरः ।।४७।।
इमौ सुललितौ रङ्गे वर्तेते नवयौवनौ । दैतेयमल्लाश्चाणूरप्रमुखास्त्वतिदारुणाः ।।४८।।
नियुद्धप्राश्निकानां तु महानेष व्यतिक्रमः । यद्बालबलिनोर्युद्धं मध्यस्थैः समुपेक्ष्यते ।।४९।।

डूबे हुए यादव वंश का उद्धार करेंगे। ये सर्वजन्मा तथा सर्वभूत विष्णु के अंश से पृथ्वी के भार उतारने के लिये धरणी पर अवतीर्ण हुए हैं ।।३०-३८।। इस प्रकार पुरवासी लोग राम और कृष्ण के वर्णन कर रहे थे और देवकी की छाती संतप्त होकर स्नेह से दूध वहा रही थी। वसुदेव महान् उत्सव की तरह दोनों पुत्रों को ही देखते थे। वे मानों आई हुई वृद्धता का त्याग कर युवक हो गये थे। राजा के अन्तःपुर की रमणियाँ तथा नगर की ललनायें आँखें फाड़-फाड़ कर उनकी ओर अविरत गति से देख रही थीं ।।३९-४१।।

स्त्रियों ने कहा—सखियों ! कृष्ण के मुखकमल को देखो। गजयुद्धजन्य प्रस्वेद-जल की बूंदों से व्याप्त इनका मुख कैसे सुशोभित हो रहा है जैसे हिम-जल से सींचा हुआ विकसित कमल। इनका दर्शन करके आज जन्म सफल करो। विलासिनियों ! इनके श्रीवत्स चिह्न, शत्रुओं को दलन करने वाली भुजाओं तथा छाती को देखो। वाचाल मुष्टिक तथा चाणूर वलभद्र का उपहास कर रहे हैं, जरा देखो तो। सखियो ! चाणूर को देखो, यह कृष्ण से लड़ने जा रहा है। क्या यहाँ न्याय करने वाले वृद्ध लोग नहीं हैं ? कहाँ यौवन को प्राप्त करते हुए सुकोमल तनु कृष्ण और कहाँ यह वज्र के समान कठोर तथा महाकाय महासुर ? रंगभूमि में ये दोनों नवयुक सुकुमार हैं और चाणूर प्रभृति दैत्य पहलवान अत्यन्त दारूण हैं। युद्ध के परीक्षकों का यह महान् अन्याय है जो ये वालक तथा वलवानों को लड़ा रहे हैं ।।४२-४९।।

१क. ०र्णोऽयमंशेन भुवो भारहरो विभुः । इ० । २क. ०मिवाऽऽसाद्य पुत्राननवि० । ३क. ०कनम् । यु० । ४क. तत्याज । ५. ०वोऽपि हर्षादभ्या० ।

व्यास उवाच

इत्थं पुरस्त्रीलोकस्य वदतश्चालयन्भुवम् । ववर्ष हर्षोत्कर्षं च जनस्य भगवान्हरिः ।।५०।।
बलभद्रोऽपि चाऽऽस्फोटय ववल्ग ललितं यदा । पदे पदे तदा भूमिर्न शीर्णा यत्तदद्भुतम् ।।५१।।
चाणूरेण ततः कृष्णो युयुधेऽमितविक्रमः । नियुद्धकुशलो दैत्यो बलदेवने मुष्टिकः ।।५२।।
संनिपातावधूतैश्च चाणूरेण समं हरिः । क्षेपणैर्मुष्टिभिश्चैव कीलीवज्रनिपातनैः ।।५३।।
पादोद्धूतैः प्रमृष्टाभिस्तयोर्युद्धमभून्महत् । अशस्त्रमतिघोरं तत्तयोर्युद्धं सुदारुणम् ।।५४।।
स्वबलप्राणनिष्पाद्यं समाजोत्सवसंनिधौ । यावद्यावच्च चाणूरो युयुधे हरिणा सह ।।५५।।
प्राणहानिमापाग्र्यां तावत्तावन्न बान्धवम् । कृष्णोऽपि युयुधे तेन लीलयैव जगन्मयः ।।५६।।
खेदाच्चालयता कोपान्निजशेषकरे करम् । बलक्षयं विवृद्धिं च दृष्ट्वा चाणूरकृष्णयोः ।।५७।।
वारयामास तूर्याणि कंसः कोपपरायणः । मृदङ्गादिषु वाद्येषु प्रतिषिद्धेषु तत्क्षणात् ।।५८।।
खसंगतान्यवाद्यन्त दैवतूर्याण्यनेकशः । जय गोविन्द चाणूरं जहि[1] केशव दानवम् ।।५९।।
इत्यन्तर्धिगता देवास्तुष्टुवुस्ते प्रहर्षिताः । चाणूरेण चिरं कालं क्रीडित्वा मधुसूदनः ।।६०।।
उत्पाटय भ्रामयामास तद्वधाय कृतोद्यमः । भ्रामयित्वा[2] शतगुणं दैत्यमल्लममित्रजित् ।।६१।।
भूमावास्फोटयामास गगने गतजीवितम् । भूमावास्फोटितस्तेन चाणूरः शतधा भवन् ।।६२।।

व्यास बोले—इस प्रकार नगर-नारियाँ पृथ्वी को कँपाती हुई वोल रही थीं और भगवान् हरि लोगों को प्रमुदित कर रहे थे । जव वलभद्र भी ताल ठोंक कर ललकारने लगे तव पग-पग पर पृथ्वी जो नहीं फटी, वह महान् आश्चर्य समझिये । तव चाणूर के साथ अमितपराक्रमी कृष्ण और युद्धकुशल मुष्टिक के साथ वलदेव लड़ने लगे । चाणूर के साथ कृष्ण टकराकर आक्रमण कर फेंककर वज्र के समान कठोर मुक्के मारकर और पैर चलाकर महान् युद्ध करने लगे । चाणूर और कृष्ण का युद्ध विना अस्त्र-स्त्र के भी महाभयंकर था ।।५०-५४।। समाजोत्सव में अपने वल तथा प्राणों की आहुति देनी थी । जव-जव चाणूर हरि से भिड़ता था तव-तव उसे प्राणहानि मालूम पड़ती थी । कोई वांधव नहीं दीखता था । जगन्मय कृष्ण भी लीलापूर्वक उससे लड़ते थे और कभी खेद से तो कभी क्रोध से उसके हाथ को अपने हाथ में पकड़ लेते थे । चाणूर के वलक्षय और कृष्ण की वलवृद्धि को देखकर कोपपरायण कंस ने तत्क्षण तुरही, मृदंग आदि वाद्यों को वोलना रोकवा दिया । परन्तु आकाश में देवताओं की अनेक तुरहियाँ वोलने लगीं—गोविन्द की जय हो । केशव ! दानव को मारिये ।, इस प्रकार अन्तर्हित हुए देवगण हर्षपूर्वक कृष्ण की स्तुति करने लगे । चाणूर के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करके मधुसूदन उसके वध के निमित्त उसे उठाकर घुमाने लगे । शत्रुविजयी कृष्ण ने दैत्य पहलवान को सौ वार घुमाकर आकाश में ही उसे निष्प्राण कर भूमि पर गिरा दिया । धरती पर गिरते ही चाणूर के सौ टुकड़े हो गये ।।५५-६२।। तब उसने रक्त-स्रवण से पृथ्वी पर कीचड़ ही कीचड़ कर दिया । उस समय महावली वलदेव भी

---

[1] क. ख. जय माधव केशव । इ० । [2] ०त्वा दशगु० ।

रक्तस्रावमहापङ्कां चकार स तदा भुवम् । बलदेवस्तु[1] तत्कालं मुष्टिकेन महाबलः ।।६३।।
युयुधे दैत्यमल्लेन चाणूरेण यथा हरिः । सोऽप्येनं मुष्टिना मूर्ध्नि वक्षस्याहत्य जानुना ।।६४।।
पातयित्वा धरापृष्ठे निष्पिपेष गतायुषम् । कृष्णस्तोशलकं भूयो मल्लराजं महाबलम् ।।६५।।
वाममुष्टिप्रहारेण पातयामास भूतले । चाणूरे निहते मल्ले मुष्टिके च निपातिते ।।६६।।
नीते क्षयं तोशलके सर्वे मल्लाः प्रदुद्रुवुः । ववल्गतुस्तदा रङ्गे कृष्णसंकर्षणावुभौ ।।६७।।
समानवयसो[2] गोपान्बलादाकृष्य हर्षितौ । कंसोऽपि कोपरक्ताक्षः [3]प्राहोच्चैर्व्यायताञ्नरान्[4] ।।६८।।
[5]गोपावेतौ [6]समाजौघान्निष्क्रम्येतां बलादितः । नन्दोऽपि गृह्यतां पापो निगडैराशु बध्यताम् ।।६९।।
अवृद्धार्हेण दण्डेन वसुदेवोऽपि [7]वध्यताम् । वल्गन्ति गोपाः कृष्णेन ये चेमे सहिताः पुनः[8] ।।७०।।
गावो ह्रियन्तामेषां च यच्चास्ति वसु किंचन । एवमाज्ञापयन्तं तं प्रहस्य मधुसूदनः ।।७१।।
उत्पत्याऽऽरुह्य तन्मञ्चं कंसं जग्राह [9]वेगितः । केशेष्वाकृष्य विगलत्किरीटमवनीतले ।।७२।।
स कंसं पातयामास तस्योपरि पपात च । निःशेषजगदाधारगुरुणा पततोपरि ।।७३।।
कृष्णेन त्याजितः प्राणानुग्रसेनात्मजो नृपः । मृतस्य केशेषु तदा गृहीत्वा मधुसूदनः ।।७४।।

मुष्टिक के साथ वैसे ही लड़ रहे थे जैसे दैत्य-मल्ल चाणूर के साथ हरि। उन्होंने भी उसके मस्तक पर मुष्टि प्रहार कर घुटने से उसकी छाती पर मारा। इस प्रकार गतजीवित कर धराशायी करके उसे पीस दिया। कृष्ण ने दूसरी वार तोशलक नामक महावली मल्लराज को वाम मुष्टि प्रहार से धराशायी किया। पहलवान चाणूर, मुष्टिक तथा तोशलक के निहत हो जाने पर सब मल्ल भाग गये। तव अखाड़े में कृष्ण और राम हर्ष से अपने समवयस्क गोपों को हठपूर्वक खींचकर उनके साथ लपटने लगे। कंस क्रोध से आग-बबूला होकर अपने अनुचरों से कहने लगा—'इन दोनों गोपों को बलात् समाज से निकाल दो, पापी नन्द को भी कैद कर लो और वृद्धों को न देने योग्य दण्ड से वसुदेव का वध करो। कृष्ण के साथ जो गोप लपट रहे हैं, उनको पकड़ लो और उनके धन तथा गायों का अपहरण कर लो ।।६३-७०½।। इस प्रकार उसकी आज्ञा सुनकर मधुसूदन हँसने लगे और तत्क्षण छलांग मार कर मञ्च पर चढ़ गये। वहाँ उन्होंने कंस के वालों को पकड़ लिया। उसके मुकुट धरती पर गिर पड़े। तत्पश्चात् उसे धरती पर गिराकर भगवान् भी उसके ऊपर गिर पड़े। अशेष जगत् के आधार कृष्ण के गिरने से उग्रसेन का पुत्र निर्जीव हो गया। तव मृतक कंस के केशों को पकड़ कर महावली कृष्ण घसीटते हुए उसे रंगमंच के मध्य में ले आये। यद्यपि कंस का शरीर वहुत भारी था तो भी महात्मा कृष्ण वेग से उसे घसीट ले गए। कृष्ण द्वारा कंस के पकड़े जाने पर उसका भाई

---

[1] क. ख. ०देवऽपित० । [2] ग. ०यसौ गो० । [3] ग. ०र्व्यावृतान्न० । [4] क. ०तान्तरा० । [5] ख. ०पाविमौ द्रुतं रङ्गान्निगडैरायासैरिह । अ० । [6] क. ०तौ द्रुततरं निगडैरायासैरिह । अवधार्हे । [7] ख. वध्यताम् । [8] ग. पुरः । [9] क. केशवः । ख. वेगतः ।

चकर्ष देहं कंसस्य रङ्गमध्ये महाबलः । गौरवेणातिमहता परिपातेन[1] कृष्यता ॥७५॥
कृता कंसस्य देहेन वेगितेन महात्मना । कंसे गृहीते कृष्णेन तद्भ्राताऽभ्यागतो रुषा ॥७६॥
सुनामा बलभद्रेण लीलयेव निपातितः । ततो हाहाकृतं सर्वमासीत्तद्रङ्गमण्डलम् ॥७७॥
अवज्ञया[2] हतं दृष्ट्वा कृष्णेन मथुरेश्वरम् । कृष्णोऽपि वसुदेवस्य पादौ जग्राह सत्वरम् ॥७८॥
देवक्याश्च महाबाहुर्बलदेवसहायवान् । उत्थाप्य वसुदेवस्तु देवकी च जनार्दनम् ॥
स्मृतजन्मोक्तवचनौ तावेव प्रणतौ स्थितौ ॥७९॥

वसुदेव उवाच

प्रसीद देवदेवेश देवानां प्रवर प्रभो । तथाऽऽवयोः प्रसादेन कृताभ्युद्धार केशव ॥८०॥
आराधितो[3] यद्भगवानवतीर्णो गृहे मम । दुर्वृत्तनिधनार्थाय तेन नः पावितं कुलम् ॥८१॥
त्वमन्तः सर्वभूतानां सर्वभूतेष्ववस्थितः । वर्तते च समस्तात्मंस्त्वत्तो भूतभविष्यती ॥८२॥
यज्ञे त्वमिज्यसेऽचिन्त्य सर्वदेवमयाच्युत । त्वमेव यज्ञो[4] यज्वा[5] च यज्ञानां परेमश्वर ॥८३॥
सापह्नवं मम मनो यदेतत्त्वयि जायते । देवक्याश्चाऽऽत्मजप्रीत्या तदत्यन्तविडम्बना ॥८४॥
त्वं कर्ता सर्वभूतानामनादिनिधनो भवान् । क्व च मे मानुषस्यैषा जिह्वा पुत्रेति वक्ष्यति ॥८५॥
जगदेतज्जगन्नाथ संभूतमखिलं यतः[6] । कया युक्त्या विना [7]मायां सोऽस्मत्तः संभविष्यति ॥८६॥

सुनामा क्रोध करते हुए वहाँ आया, किन्तु वलभद्र ने सहज ही में उसे मार डाला। तव सम्पूर्ण रंग-भूमि में हाहाकार मच गया। तिरस्कारपूर्वक कंस को मारकर महावली वलदेव सहित कृष्ण शीघ्र ही जाकर वसुदेव तथा देवकी के चरणों पर गिरे। देवकी तथा वसुदेव जनार्दन को उठाकर जन्मकालीन वचनों का स्मरण कर उन्हीं को प्रणाम करते हुए खड़े हुए ॥७१-७९॥

वसुदेव बोले—देवदेवेश ! देवों में श्रेष्ठ ! प्रभो ! प्रसन्न होइये। केशव ! आपने कृपा करके हम दोनों का उद्धार कर दिया। मेरी आराधना करने पर दुराचारियों के वध के निमित्त जो आपने मेरे घर में अवतार लिया, उससे हमारा कुल पवित्र हो गया। आप समस्त भूतों के अन्तःकरण में वास करते हैं। आप अखिल भूतों में अवस्थित हैं। अखिलात्मन् ! आप ही से भूत, भविष्य, वर्तमान उत्पन्न हुए हैं। अचिन्त्य ! निखिलदेवमय ! अच्युत ! यज्ञ में आप ही की उपासना की जाती है। परमेश्वर ! आप ही यज्ञ तथा यज्ञकर्त्ता हैं। मेरा और देवकी का मन जो पुत्र-स्नेह-बुद्ध्या आप में लगता है, वह विडम्वनामात्र है। आप समस्त भूतों के कर्ता तथा जन्म-मरण से रहित हैं। मैं मनुष्य हूँ। मेरी जिह्वा 'पुत्र' कैसे कहेगी ? जगन्नाथ ! यह सम्पूर्ण जगत् जिनसे उत्पन्न हुआ है, वे विना माया के किस प्रकार हमसे उत्पन्न होंगे ? जिनमें स्थावर-जंगम रूप निखिल विश्व प्रतिष्ठित है, वे कैसे मनुष्य से उत्पन्न

---

[1] क. परिश्वासेन। ख. परिवातेन। [2] ग. वज्ञयाऽऽह०। [3] क. ख. ०तोऽपि भग०। [4] ग. यज्ञे। [5] क. ख. यष्टा। [6] क. भवेत्। [7] क. ०यां सादृश्यं सं०।

यस्मिन्प्रतिष्ठितं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् । स कोष्ठोत्सङ्गशयनो मनुष्याज्जायते कथम् ।।८७।।

स त्वं प्रसीद परमेश्वर पाहि विश्वमंशावतारकरणैर्न ममासि पुत्रः ।
आब्रह्मपादपमयं जगदीश सर्वं, चित्ते विमोहयसि किं परमेश्वरात्मन् ।।८८
मायाविमोहितदृशा तनयो ममेति, कंसाद्भयं कृतवता तु मयाऽतितीव्रम् ।
नीतोऽसि गोकुलमरातिभयाकुलस्य, वृद्धिं गतोऽसि मम चैव गवामधीश ।।८९।।
कर्माणि रुद्रमरुदश्विशतक्रतूनां, साध्यानि यानि न भवन्ति निरीक्षितानि ।
त्वं विष्णुरीशजगतामुपकारहेतोः[1], प्राप्तोऽसि नः परिगतः परमो विमोहः ।।९०।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बालचरिते कंसवधकथनं नाम
त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१९३।।

अथ चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

देवकीवसुदेवाभ्यां सह कृष्णसंवादः

व्यास उवाच

तौ समुत्पन्नविज्ञानौ भगवत्कर्मदर्शनात् । देवकीवसुदेवौ तु दृष्ट्वा मायां पुनर्हरिः ।।१।।

होकर गोद में सोयेंगे ? ।।८०-८७।। परमेश्वर ! वह आप प्रसन्न होइये ; विश्व की रक्षा कीजिये । आप अंश से अवतीर्ण हुए हैं, मेरे पुत्र नहीं हैं । जगदीश ! ब्रह्मा से लेकर स्तम्व पर्यन्त सव आप ही हैं । परमेश्वरात्मन् ! क्यों चित्त को मोह में डाल रहे हैं ? माया-मोहित चक्षु से मैंने आपको पुत्र रूप में देखा । फिर कंस के अत्यन्त भय से मैंने आपको गोकुल पहुँचाया । गवेन्द्र ! शत्रु-भय से मैं व्याकुल था । आपने मेरा उद्धार किया । जो कार्य रुद्र, मरुत्, अश्विन् तथा इन्द्र के साध्य नहीं हैं, जिन्हें वे देख भी नहीं सकते, उन्हीं कार्यों को आपने संसार के कल्याण के लिये किया । ईश ! आप विष्णु हैं । हम महामोह में प्राप्त हैं ।।८८-९०।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में वालचरित्र-कथन-प्रसंग में कंसवध-कथन नामक
एक सौ तिरानवेवाँ अध्याय समाप्त ।।१९३।।

अध्याय १९४

देवकी और वसुदेव के साथ कृष्ण का संवाद

व्यास बोले—भगवान् की क्रिया देखने से देवकी तथा वसुदेव को ज्ञान उत्पन्न हो गया । यह देखकर यादवों को मोह में डालने के लिये हरि ने पुनः अपनी वैष्णवी माया को फैला दिया और कहा—'तात ! अम्व ! कंस से

---

[1] ख. ०हेतुः प्रा० ।

मोहाय [1]यदुचक्रस्य विततान स वैष्णवीम् । उवाच चाम्ब भोस्तात चिरादुत्कण्ठितेन तु[2] ॥२॥
भवन्तौ[2] कंसभीतेन[4] दृष्टौ संकर्षणेन च । कुर्वतां याति यः कालो मातापित्रोरपूजनम् ॥३॥
स[5] वृथा क्लेशकारी वै साधूनामुपजायते । गुरुदेवद्विजातीनां मातापित्रोश्च पूजनम् ॥४॥
कुर्वतः सफलं जन्म देहिनस्तात जायते । तत्क्षन्तव्यमिदं सर्वमतिक्रमकृतं पितः ॥
[6]कंसवीर्यप्रतापाभ्यामावयोः परवश्ययोः ॥५॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वाऽथ प्रणम्योभौ यदुवृद्धाननुक्रमात् । पादानतिभिः सस्नेहं चक्रतुः पौरमानसम् ॥६॥
कंसपत्न्यस्ततः कंसं परिवार्य हतं भुवि । विलेपुर्मातरश्चास्य शोकदुःखपरिप्लुताः ॥७॥
बहुप्रकारमस्वस्थाः पश्चात्तापातुरा हरिः । ताः समाश्वासयामास स्वयमस्राविलेक्षणः ॥८॥
उग्रसेनं ततो बन्धान्मुमोच मधुसूदनः । अभ्यषिञ्चत्तथैवैनं निजराज्ये हतात्मजम् ॥९॥
राज्येऽभिषिक्तः कृष्णेन यदुसिंहः सुतस्य सः । चकार प्रेतकार्याणि ये चान्ये तत्र घातिताः ॥१०॥
कृतौर्ध्वदैहिकं चैनं सिंहासनगतं हरिः । उवाचाऽऽज्ञापय विभो यत्कार्यमविशङ्कया ॥११॥
ययातिशापाद्वंशोऽयमराज्यार्होऽपि सांप्रतम् । मयि भृत्ये स्थिते देवानाज्ञापयतु किं नृपैः ॥१२॥
इत्युक्त्वा चोग्रसेनं तु वायुं प्रति जगाद ह । नृवाचा चैव भगवान्केशवः कार्यमानुषः ॥१३॥

डरे हुए बलराम को तथा मुझे चिरकाल से आपके दर्शन करने की उत्कण्ठा थी। सो आज पूरी हुई। जिसका समय माता-पिता के पूजन किये विना ही कटता है, वह व्यर्थ है, केवल साधुओं को क्लेश देने के लिये वह उत्पन्न होता है। तात ! गुरु, देवता व्राह्मण तथा माता-पिता की पूजा करने वाले मनुष्य का जन्म सफल है। पिता जी! अतः आप क्षमा करेंगे। कंस के पराक्रम तथा प्रताप से पराधीन होकर हम दोनों ने इन सव का अतिक्रमण किया ॥१-५॥

व्यास बोले—इतना कहकर दोनों ने क्रमशः यदुवंशी वृद्धों के चरण छूकर प्रणाम किया। पुरवासियों के मन में उनके प्रति अत्यन्त स्नेह हो गया। भूमि पर निहत कंस को देखकर कंस की पत्नियाँ तथा मातायें शोकातुर होकर विलाप करने लगीं। पश्चात्ताप करती हुई उन अस्वस्थ अवलाओं को स्वयम् आँखों से आँसू वहाते हुए कृष्ण ने वहुत प्रकार से आश्वासन दिया। तव मधुसूदन ने उग्रसेन को वन्धन से उन्मुक्त किया और पुत्र के मर जाने पर अपने राज्य में उन्हीं को अभिषिक्त किया । कृष्ण द्वारा राज्य में अभिषिक्त होकर उग्रसेन ने पुत्र के तथा वहाँ जितने मारे गये थे, उन सवके श्राद्ध किये। औध्र्वदैहिक क्रिया करने के वाद उग्रसेन के सिंहासनासीन होने पर कृष्ण ने उनसे कहा—'प्रभो ! आप निःसंकोच मुझे आज्ञा कीजिये। ययाति के शाप के कारण यदुवंशी तो राजा हो नहीं सकते। फिर भी मेरे जैसे भृत्य के रहते आप देवताओं को भी आज्ञा दीजिये। राजाओं की तो वात ही क्या।' उग्रसेन से इतना कहकर कार्यार्थ मनुष्यशरीरधारी भगवान् केशव ने वायु से मनुष्यवाणी में ही कहा ॥६-१३॥

१ख. वसुदेवस्य। २क. ग. मे। ३ख. भवतोः। ४ख. ०न न कृतं सेवनं मया। कु०। ५ख. स तु दुरत्ययोऽत्यर्थं सा०। ६ख. ०वीर्यात्प्रवसतोराव०।

श्रीकृष्ण उवाच

गच्छेन्द्रं ब्रूहि वायो त्वमलं गर्वेण वासव । दीयतामुग्रसेनाय सुधर्मा भवता सभा ॥१४॥
कृष्णो ब्रवीति राजार्हमेतद्रत्नमनुत्तमम् । सुधर्माख्या सभा युक्तमस्यां यदुभिरासितुम् ॥१५॥

व्यास उवाच

इत्युक्तः पवनो गत्वा सर्वमाह शचीपतिम् । ददौ सोऽपि सुधर्माख्यां सभां वायोः पुरंदरः ॥१६॥
वायुना चाऽऽहृतां[1] दिव्यां ते[2] सभां यदुपुंगवाः । बुभुजुः सर्वरत्नाढ्यां गोविन्दभुजसंश्रयाः[3] ॥१७॥
विदिताखिलविज्ञानौ सर्वज्ञानमयावपि । [4]शिष्याचार्यक्रमं वीरौ ख्यापयन्तौ यदूत्तमौ ॥१८॥
ततः सांदीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम् । [5]अस्त्रार्थं जग्मतुर्वीरौ [5]बलदेवजनार्दनौ ॥१९॥
तस्य शिष्यत्वमभ्येत्य गुरुवृत्तिपरौ हि तौ । दर्शयांचक्रतुर्वीरावाचारमखिले जने ॥२०॥
सरहस्यं धनुर्वेदं ससंग्रहमधीयताम् । अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या तदद्भुतमभूद्द्विजाः ॥२१॥
सांदीपनिरसंभाव्यं तयोः कर्मातिमानुषम् । विचिन्त्य तौ तदा मेने प्राप्तौ चन्द्रदिवाकरौ ॥२२॥
अस्त्रग्राममशेषं च प्रोक्तमात्रवाप्य तौ । ऊचतुर्व्रियतां या ते दातव्या गुरुदक्षिणा[6] ॥२३॥
सोऽप्यतीन्द्रियमालोक्य तयोः कर्म महामतिः । अयाचत मृतं पुत्रं प्रभासे लवणार्णवे ॥२४॥

श्रीकृष्ण बोले—जाओ और इन्द्र से गर्वपूर्वक कहो—'आप उग्रसेन को सुधर्मा नामक देवसभा दे दीजिये। कृष्ण कहते हैं कि यह उत्तम रत्न राजा के योग्य है। सुधर्मा नामक सभा में यादवों का वैठना उचित है॥१४-१५॥

व्यास बोले—एतदुपरान्त पवन ने इन्द्र से जाकर सव समाचार कह दिये। उन्होंने भी वायु को सुधर्मा नामक सभा दे दी। वायु देवसभा को ले आये। गोविन्द के भुजवल से यदुपुंगव अखिल रत्नों से सुसम्पन्न देवसभा का उपभोग करने लगे। निखिल विज्ञान को जानने वाले, सर्वज्ञानमय तथा वीर यादव श्रेष्ठ कृष्ण और वलराम शिष्य तथा आचार्य के क्रम को विख्यात करने के निमित्त अवन्तिपुरवासी सांदीपनि से अस्त्र विद्या सीखने के लिये गये। उनके शिष्यत्व को स्वीकार करके गुरुसेवापरायण होकर दोनों वीर लोगों को आचार दिखलाने लगे। द्विजगण! यह आश्चर्य की बात है कि चौंसठ अहोरात्र में ही उन्होंने संग्रह तथा रहस्य सहित धनुर्वेद को सीख लिया॥१६-२१॥ सांदीपनि ने उन दोनों के असंभव तथा लोकोत्तर कर्म को देखकर उन्हें सूर्य तथा चन्द्रमा समझा। अस्त्र-समूह का प्रयोग तो वताते ही उन्होंने सीख लिया। तव उन्होंने गुरु से कहा—आप दक्षिणा के लिए हमें आदेश करें।' महावुद्धिमान् सांदीपनि ने भी उनके अतीन्द्रिय कर्म को देखकर प्रभास नामक क्षार-समुद्र में मरे हुए अपने पुत्र के लिये याचना की। तव अस्त्र लेकर वे दोनों लवण-समुद्र को गये और समुद्र से कहा—'गुरु-पुत्र को दे दो। द्विजश्रेष्ठो!

१ख. वाहितां। २क. ख. तां। ३क. यदुनन्दनाः। ४क. शिष्टाचारक्रमाचार्यो ख्या०। ५क. शस्त्रार्थं। ख. शिक्षार्थं। ६ख. ०णा। असाधारणमा०।

गृहीतास्त्रौ ततस्तौ तु[1] गत्वा तं लवणोदधिम् । ऊचतुश्च गुरोः पुत्रो दीयतामिति सागरम् ।।२५।।
कृताञ्जलिपुटश्चाब्धिस्तावध द्विजसत्तमाः । उवाच न मया पुत्रो हृतः सांदीपनेरिति ।।२६।।
दैत्यः पञ्चजनो नाम शङ्खरूपः[2] स बालकम् । जग्राह सोऽस्ति सलिले ममैवासुरसूदन ।।२७।।
इत्युक्तोऽन्तर्जलं गत्वा हत्वा पञ्चजनं[3] तथा । कृष्णो जग्राह तस्यास्थिप्रभवं[4] शङ्खमुत्तमम् ।।२८।।
यस्य नादेन दैत्यानां बलहानिः प्रजायते । देवानां वर्धते तेजो यात्यधर्मश्च संक्षयम् ।।२९।।
तं पाञ्चजन्यमापूर्य गत्वा यमपुरीं हरिः । बलदेवश्च बलवाञ्जित्वा वैवस्वतं यमम् ।।३०।।
तं बालं यातनासंस्थं यथापूर्वशरीरिणम् । पित्रे प्रदत्तवान्कृष्णो बलश्च बलिनां वरः ।।३१।।
मथुरां च पुनः प्राप्तावुग्रसेनेन पालिताम् । प्रहृष्टपुरुषस्त्रीकावुभौ रामजनार्दनौ ।।३२।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बालचरिते चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१९४।।

अथ पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जरासंधेन सह रामजनार्दनयुद्धवर्णनम्

व्यास उवाच

जरासन्धसुते कंस उपयेमे महाबलः । अस्ति प्राप्तिश्च भो विप्रास्तयोर्भर्तृहणं हरिम् ।।१।।

समुद्र ने हा जोड़ कहा—'असुरसूदन ! सांदीपनि के पुत्र का अपहरण मैंने नहीं किया है; वल्कि शंख का रूप धारण कर पञ्चजन नामक राक्षस मेरे जल में रहता है । उसी ने बालक को पकड़ रखा है । यह सुनकर कृष्ण ने जल के भीतर घुसकर पञ्चजन को मारकर उसकी हड्डियों के वने उत्तम शंख को ले लिया, जिसके शब्द से दैत्यों की वलहानि, देवों की तेजोवृद्धि तथा अधर्म का क्षय होता है । उस पांचजन्य नामक शंख को वजाते हुए कृष्ण और बालक को यथापूर्व शरीर में प्राप्त करके पिता (सांदीपनि) को दे दिया । पुनः राम और जनार्दन उग्रसेन द्वारा प्रतिपालित मथुरा पुरी में आकर नर-नारियों को प्रमुदित करने लगे ।।२२-३२।।

अध्याय १९५

जरासंघ के साथ राम-कृष्ण का युद्ध-वर्णन

व्यास बोले—जरासंध की अस्ति और प्राप्ति नामक दो कन्याओं के साथ कंस का विवाह हुआ था ।

१ख. तु ऊचतुश्च महोदधिम् । उवाच न मया पुत्रो हृतः सांदीपनेरिति । दै० । २ख. वहुरूपी । ३क. ०नं च तम् । कृ० । ४ख. ०स्यांगप्र० ।

महाबलपरीवारो मागधाधिपतिर्बली । हन्तुमभ्याययौ कोपाज्जरासंधः सयादवम् ॥२॥
उपेत्य मथुरां सोऽथ रुरोध मगधेश्वरः । अक्षौहिणीभिः सैन्यस्य त्रयोविंशतिभिर्वृतः ॥३॥
निष्क्रम्याल्पपरीवारावुभौ रामजनार्दनौ । युयुधाते समं तस्य बलिनौ बलिसैनिकैः ॥४॥
ततो बलश्च कृष्णश्च मतिं चक्रे महाबलः । आयुधानां पुराणानामादाने मुनिसत्तमाः ॥५॥
अनन्तरं चक्रशार्ङ्गं तूणौ चाप्यक्षयौ शरैः । आकाशादागतौ वीरौ तदा कौमोदोकी गदा ॥६॥
हलं च बलभद्रस्य गगनादागमत्करम् । बलस्याभिमतं विप्राः सुनन्दं मुशलं तथा ॥७॥
ततो युद्धे[1] पराजित्य स्वसैन्यं मगधाधिपम् । पुरीं विवशतुर्वीरावुभौ रामजनार्दनौ ॥८॥
जिते तस्मिन्सुदृर्वृत्ते जरासंधे द्विजोत्तमाः । जीवमाने गते[2] तत्र कृष्णो मेने न तं जितम् ॥९॥
पुनरप्याजगामाथ जरासंधो बलान्वितः । जितश्च रामकृष्णाभ्यामपकृत्य[3] द्विजोत्तमाः ॥१०॥
दश चाष्टौ च संग्रामानेवमत्यन्तदुर्मदः । यदुभिर्मागधो राजा चक्रे कृष्णपुरोगमैः ॥११॥
सर्वेष्वेव च युद्धेषु यदुभिः स पराजितः । अपक्रान्तो जरासंधः स्वल्पसैन्यर्बलाधिकः[4] ॥१२॥
तद्बलं यादवानां वै रक्षितं यदनेकशः । तत्तु संनिधिमाहात्म्यं विष्णोरंशस्य चक्रिणः ॥१३॥
मनुष्यधर्मशीलस्य लीला सा जगतः पतेः । अस्त्राण्यनेकरूपाणि यदरातिषु मुञ्चति ॥१४॥
मनसैव जगत्सृष्टिसंहारं तु करोति यः । तस्यारिपक्षक्षपणे कियानुद्यमविस्तरः ॥१५॥

कृष्ण द्वारा कंस के निहत हो जाने पर वली मगधेश्वर जरासन्ध क्रोध से सेना लेकर यादव सहित कृष्ण को मारने के लिये आया । मथुरा पहुँच कर मगधपति ने तेईस अक्षौहिणी सेनाओं से उसको घेर लिया । थोड़ी-सी सेनां लेकर वलशाली राम-जनार्दन निकल आये और जरासन्ध के सैनिकों के साथ जूझ पड़े । मुनिश्रेष्ठो ! पहिले तो महावली वलराम तथा कृष्ण ने प्राचीन आयुधों का ग्रहण किया, पिर वाद में आकाश से समागत चक्र, शार्ङ्ग नामक धनुष, वाणों से परिपूर्ण अक्षय तरकस तथा कौमोदेकी नामक गदा को ग्रहण किया । वलभद्र का हल भी आकाश से हाथ में आ गया । विप्रगण ! वलराम का प्रिय सुनन्द नामक मुशल भी उनके पास आ गया । तव युद्ध में सेना सहित मगधेश्वर को जीतकर दोनों वीर राम और कृष्ण नगर में प्रविष्ट हुए । विप्रवर ! दुराचारी जरासन्ध के जीत लिये जाने पर तथा उसके जीवित चले जाने पर कृष्ण ने उसको पराजित न माना । पुन: वली जरासन्ध आया और वलराम तथा कृष्ण के द्वारा अपकार करके जीता गया ।। १-१०।। द्विजश्रेष्ठो ! इस प्रकार अत्यन्त दुर्मद राजा जरासन्ध ने अट्ठारह वार कृष्ण आदि यादवों से युद्ध किया । प्रत्येक युद्ध में यदुओं से पराजित होकर अल्प सेनाओं के साथ वह भाग जाता था। यादवों की अनेक सेनाओं की जो रक्षा हो जाती थी, वह तो विष्णु के अंगभूत कृष्ण के सामीप्य का माहात्म्य था । मनुष्यधर्मावलम्वी जगत्पति ने जो शत्रुओं के ऊपर अनेक प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग किया, वह तो उनकी लीला थी। जो केवल मनसे संसार की सृष्टि का संहार कर देते हैं, उन्हें शत्रुओं के नाश करने में

---

[1] क. युद्धात्परावृत्तः ससैन्यो मगधाधिपः । पु० । [2] क. ०ते कृष्णस्तममन्यत नो जि० । [3] ग. ०पक्रान्तो द्वि० । [4] ख. ०लाद्वहिः । त० ।

तथाऽपि च मनुष्याणां धर्मस्तदनुवर्तनम् । कुर्वन्बलवता संधिं हीनैर्युद्धं करोत्यसौ ॥१६॥
साम चोपप्रदानं च तथा भेदं च दर्शयन् । करोति दण्डपातं च क्वचिदेव पलायनम् ॥१७॥
मनुष्यदेहिनां चेष्टामित्येवमनुवर्तते । लीला जगत्पतेस्तस्य च्छन्दतः संप्रवर्तते ॥१८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्रह्मे श्रीकृष्णचरिते पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९५॥

अथ षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कालयवनोपाख्यानम्

व्यास उवाच[1]

गार्ग्यं गोष्ठे द्विजो (जं) श्यालः षण्ढ (ण्ड) इत्युक्तवान्द्विजाः । यदूनां संनिधौ सर्वे जहसुर्यादवास्तदा[2] ॥१॥
ततः कोपसमाविष्टो दक्षिणापथमेत्य सः । सुतमिच्छंस्तपस्तेपे यदुचक्रभयावहम्[3] ॥२॥
[4]आराधयन्महादेवं [5]सोऽयश्चूर्णमभक्षयत् । ददौ वरं च तुष्टोऽसौ वर्षे द्वादशके हरः ॥३॥
[6]संभावयामास स तं यवनेशो[7] ह्यनात्मजम् । [8]तद्योषित्संगमाच्चास्य पुत्रोऽभूदलिसप्रभः[9] ॥४॥

कितना उद्यम करना पड़ता ? तो भी मनुष्य-धर्म का अवलम्बन करते हुए उन्होंने जरासन्ध के साथ युद्ध किये। वे साम, दान, भेद, दण्ड तथा कहीं पलायन भी करते थे। मनुष्यों जैसी चेष्टा करते हुए जगत्पति की लीला स्वच्छन्दतया प्रवृत्त होती है ॥११-१८॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में श्रीकृष्णचरित्र-वर्णन-प्रसंग में एक सौ पंचानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥१९५॥

अध्याय १९६

कालयवन का उपाख्यान

व्यास बोले—द्विजगण ! (एक बार) सभा में यादवों ने द्विज गार्ग्य को साले, नपुंसक आदि कहकर गालियाँ दीं। तब वे अत्यन्त क्रुद्ध होकर दक्षिणापथ में आकर यदुवंशियों के लिए भयावह पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा से तप करने लगे। उन्होंने शिव की आराधना करते हुए लोहे का चूर्ण भक्षण किया। बारहवें वर्ष में शंकर ने प्रसन्न होकर उन्हें वरदान दिया। तब वे पुत्र-विहीन यवनेश (म्लेच्छों के राजा) से आकर मिले। यवनेश ने उनका सम्मान किया। अनन्तर उन्होंने उसकी स्त्री से संगम करके भौंरे के समान कान्ति वाले पुत्र को उत्पन्न किया। उसका नाम कालयवन

---

[1] क. ०च । शालोऽयं द्विजशार्दूलं षण्ढमित्यु० । [2] ख. ०दवाः स्थिताः । त० । [3] ग. ०क्रसुखाव० । [4] ख. ०देवमोजस्तीक्ष्णमभूत्तदा । द० । [5] क. सोऽथ प्रत्यक्षतां गतः । द० । [6] ग. संभोजया० । [7] क. ०शो जना० । [8] ख. ०मात्तस्य । [9] ख. ०दसमञ्जसः । तं ।

तं कालयवनं नाम[१] राज्ये स्वे यवनेश्वरः । अभिषिच्य वनं यातो वज्राग्रकठिनोरसम्[२] ॥५॥
स तु वीर्यमदोन्मत्तः पृथिव्यां बलिनो नृपान् । पप्रच्छ नारदश्चास्मै कथयामास यादवान् ॥६॥
म्लेच्छकोटिसहस्राणां सहस्रैः[३] सोऽपि संवृत्तः । गजाश्वरथसंपन्नैश्चकार परमोद्यमम् ॥७॥
प्रययौ चाऽऽतव (प) च्छिन्नैः प्रयाणैः स दिने दिने । यादवान्प्रति सामर्षो मुनयो मथुरां पुरीम् ॥८॥
कृष्णोऽपि चिन्तयामास क्षपितं यादवं [४]बलम्[५] । यवनेन समलोक्य मागधः[६] संप्रयास्यति ॥९॥
मागधस्य बलं क्षीणं स कालयवनो बली । हन्ता[७] तदिदमायातं[८] यदूनां व्यसनं द्विधा ॥१०॥
तस्माद्दुर्गं करिष्यामि यदूनामतिदुर्जयम् । स्त्रियोऽपि यत्र युध्येयुः किं पुनर्वृष्णियादवाः ॥११॥
मयि मत्ते प्रमत्ते वा सुप्ते प्रवसितेऽपि वा । यादवाभिभवं दुष्टा मा कुर्वन्वै (र्युवै) रिणोऽधिकम् ॥१२॥
इति संचिन्त्य गोविन्दो योजनानि महोदधिम् । ययाचे द्वादश पुरीं द्वारकां तत्र निर्ममे ॥१३॥
महोद्यानां[९] महावप्रां तडागशतशोभिताम् । प्रकारशतसंबाधामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥१४॥
मथुरावासिनं[१०] लोकं तत्राऽऽनीय जनार्दनः । आसन्ने कालयवने[११] मथुरां च स्वयं ययौ ॥१५॥
बहिरावासिते सैन्ये मथुराया निरायुधः । निर्जगाम स गोविन्दो ददर्श यवनश्च तम् ॥१६॥
स ज्ञात्वा वासुदेवं तं बाहुप्रहरणो नृपः । अनुयातो महायोगिचेतोभिः प्राप्यते न यः ॥१७॥
तेनानुयातः कृष्णोऽपि प्रविवेश महागुहाम् । यत्र शेते महावीर्यो मुचुकुन्दो नरेश्वरः ॥१८॥

पड़ा। वज्र के अग्रभाग के समान कठोर छाती वाले कालवयन को राज्य में अभिषिक्त करके यवनेश्वर वन को चले गये ॥१-५॥ वल के मद से उन्मत्त कालयवन वली राजाओं के वारे में पूछ-ताछ करने लगा। नारद ने उससे यादवों का नाम वतला दिया। तव वह हाथी घोड़ों से सुसंपन्न हजारों करोड़ सेनाओं से युक्त होकर यादवों के प्रति कोप करते हुए मथुरा के लिये प्रस्थित हुआ। प्रयाण करती हुई उसकी सेनाओं के चरण-रज से सूर्य आच्छादित हो गये। कृष्ण भी सोचने लगे—'यवन द्वारा यादवों के वल का क्षय होते देखकर जरासन्ध टूट पड़ेगा। मगधेश की क्षीण सेना तथा वली कालयवन दोनों लड़ेगे। तव तो यादवों के लिये दो संकट उपस्थित हो जायेंगे। इसलिये यदुवंशियों के निमित्त मैं अजेय दुर्ग की रचना करूँगा, जहाँ से स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकेंगी। वृष्णि और यादवों की वात ही क्या? ॥६-११॥ ऐसा सोचकर गोविन्द ने समुद्र से कोसों लंवे-चौड़े स्थान की याचना की और वहाँ द्वारका पुरी का निर्माण किया। उसमें वड़े-वड़े उद्यान तथा मिट्टी के टीले थे, सैकड़ों तालाव थे, और सैकड़ों चहारदीवारियों से आवृत्त होकर वह नगरी इन्द्रावती की शोभा प्राप्त कर रही थी। जनार्दन ने मथुरावासियों को लाकर वहाँ रख दिया। कालयवन के मथुरा पहुँचने पर वे स्वयं वहाँ चले गये ॥१२-१५॥ मथुरा के वाहर ही सेनाओं को रखकर गोविन्द निःशस्त्र होकर जाने लगे। यवन ने उनको देख लिया। तव कृष्ण को पहचान कर भुजाओं से प्रहार करने वाले राजा ने उनका पीछा किया, जिन्हें महायोगियों के चित्त भी नहीं प्राप्त करते हैं। कृष्ण आगे-आगे भागते हुए महागुहा में प्रविष्ट होकर वहाँ पहुँच गये, जहाँ पराक्रमी राजा मुचुकुन्द शयन कर रहे थे। दुर्मति यवन ने भी गुफा में पैठ कर

१ख. ०म चक्रे स य० । २ख. वज्रवत्कठि० । ३क. ख. ०हस्रैश्चापि । ४ग. कुलम् । ५क. ०म् । पर्वते नगरे रम्ये मागधस्य भविष्यति । ६ग. ०गधस्य भविष्यति । न मा० । ७ख. न्ताऽत्र० सुसमा० । ८ख. वहूनां । ९ख. महोन्नतां । १०ख. कं द्वारकामानययद्धरिः । उन्मत्त का० । ११ख. ०वनो मथुरायाः स्व० ।

सोऽपि प्रविष्टो यवनो दृष्ट्वा शय्यागतं नरम् । पादेन ताडयामास[1] कृष्णं मत्वा स दुर्मतिः ॥१९॥
दृष्टमात्रश्च तेनासौ जज्वाल यवनोऽग्निना । तत्क्रोधजेन मुनयो भस्मीभूतश्च तत्क्षणात् ॥२०॥
स हि देवासुरे युद्धे गत्वा जित्वा महासुरान् । निद्रार्तः सुमहाकालं निद्रां वव्रे वरं सुरान् ॥२१॥
प्रोक्तश्च देवैः संसुप्तं यस्त्वामुत्थापयिष्यति । देहजेनाग्निना सद्यः स तु भस्मीभविष्यति ॥२२॥
एवं दग्ध्वा स तं पापं दृष्ट्वा च मधुसूदनम् । कस्त्वमित्याह सोऽप्याह जातोऽहं शशिनः कुले ॥२३॥
वसुदेवस्य तनयो यदुवंशसमुद्भवः । मुचुकुन्दोऽपि तच्छ्रुत्वा [2]वृद्धगार्ग्यवचः स्मरन् ॥२४॥
संस्मृत्य प्रणिपत्यैनं सर्वं सर्वेश्वरं हरिम् । प्राह ज्ञातो भवान्विष्णोरंशस्त्वं परमेश्वरः ॥२५॥
पुरा गार्ग्येण[3] कथितमष्टाविंशतिमे युगे । द्वापरान्ते हरेर्जन्म यदुवंशे भविष्यति ॥२६॥
स त्वं प्राप्तो न संदेहो[4] मर्त्यानामुपकारकृत् । तथा हि सुमहत्तेजो नालं सोढुमहं तव ॥२७॥
तथा हि सुमहाम्भोदध्वनिधीरतरं ततः । वाक्यं तमिति होवाच युष्मत्पादसुलालितम् ॥२८॥
देवासुरे महायुद्धे दैत्याश्च सुमहाभटाः । न शेकुस्ते[5] महत्तेजस्तत्तेजो न सहाम्यहम् ॥२९॥
संसारपतितस्यैको जन्तोस्त्वं शरणं परम् । संप्रसीद प्रपन्नार्तिहर्ता हर [5]ममाशुभम् ॥३०॥
त्वं पयोनिधयः शैलाः सरितश्च वनानि च । मेदिनी गगनं[6] वायुरापोऽग्निस्त्वं तथा पुमान्[7] ॥३१॥

सोये हुए मनुष्य को देखकर उसे कृष्ण समझ कर पैर से मार दिया। मुनिवृन्ध ! मुचुकुन्द की दृष्टि पड़ते ही उनके क्रोध-जन्य अग्नि से यवन तत्क्षण जलकर भस्मसात् हो गया ॥१६-२०॥ मुचुकुन्द देवासुर संग्राम में गये थे। वहाँ उन्होंने असुरों को जीतकर निद्रा से पीड़ित होकर देवताओं से यही वरदान मांगा था कि मैं चिरकाल तक सोया रहूँ। देवों ने उनसे कहा था कि जो व्यक्ति सोये हुए तुमको उठावेगा, वह देहोत्पन्न अग्नि से सद्यः भस्म हो जायगा। इस प्रकार उस पापी को जलाकर मधुसूदन को देखकर उन्होंने पूछा—'तुम कौन हो?' कृष्ण ने उत्तर दिया। 'मेरी उत्पत्ति चन्द्रकुल में हुई है। मैं वसुदेव का पुत्र हूँ। यदुओं के वंश में मैं उत्पन्न हुआ हूँ।' यह सुनकर मुचुकुन्द भी गार्ग्य के वचन का स्मरण करके सर्वेश्वर हरि को प्रणाम करते हुए कहने लगे—'मैंने आपको जान लिया। आप विष्णु के अंश से अवतीर्ण परमेश्वर हैं। पहिले गार्ग्य ने कहा था कि अट्ठाईसवें युग में द्वापर के अन्त में यदुवंश में हरि का जन्म होगा। मनुष्यों के उपकार करने वाले वे आप ही पधारे हैं, मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। मैं आपके तेज को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ। आपके महासमुद्र के समान धीर वचन भी मुझे असह्य हो रहा हैं। देवासुरसंग्राम में महावीर दैत्यगण भी आपके तेज को नहीं सह सके थे, वही महान् तेज मुझे सह्य नहीं हो रहा है ॥२१-२९॥ संसार में पतित जीव के लिये आप ही एक शरण हैं। शरणागत की आर्ति हरण करने वाले ! प्रसन्न होइये। मेरे अशुभ का नाश कीजिये। आप समुद्र, पर्वत, नदी, वन, पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि तथा पुरुष हैं। आप पुरुष

---

[1]क. घातयामास। [2]क. ०द्धवाक्यमनुस्म०। [3]ख. गर्गेण। [4]ग. ०हो यादवानुप०। [5]ख. ०कुर्मम यत्ते०। [6]ख. वायुः पयोऽग्निश्च त०। [7]ख. ०न्। त्वयाऽपि युगपत्सर्वं व्याप्तं ज०।

पुंसः परतरं सर्वं व्याप्य जन्म विकल्पवत्[1] । शब्दादिहीनमजरं[2] वृद्धिक्षयविवर्जितम् ॥३२॥
त्वत्तोऽमरास्तु पितरो यक्षगन्धर्वराक्षसाः[3] । सिद्धाश्चाप्सरसस्त्वत्तो मनुष्याः पशवः खगाः ॥३३॥
सरीसृपा मृगाः सर्वे त्वत्तश्चैव महीरुहाः । यच्च भूतं भविष्यद्वा किंचिदत्र चराचरे ॥३४॥
अमूर्तं मूर्तमथवा स्थूलं सूक्ष्मतरं तथा । तत्सर्वं त्वं जगत्कर्तर्नास्ति किंचित्त्वया विना ॥३५॥
मया संसारचक्रेऽस्मिन्भ्रमता भगवन्सदा । तापत्रयाभिभूतेन न प्राप्ता निवृतिः क्वचित् ॥३६॥
दुःखान्येव सुखानीति मृगतृष्णा जलाशयः । मया नाथ गृहीतानि तानि[4] तापाय मेऽभवन् ॥३७॥
राज्यमुर्वी बलं कोशो मित्रपक्षस्तथाऽऽत्मजाः । भार्या भृत्यजना ये च शब्दाद्या विषयाः प्रभो ॥३८॥
सुखबुद्ध्या मया सर्वं गृहीतमिदमव्यय । परिणामे च देवेश तापात्मकमभून्मम ॥३९॥
देवलोकगतिं प्राप्तो नाथ देवगणोऽपि हि । मत्तः साहाय्यकामोभूच्छाश्वती कुत्र निर्वृतिः ॥४०॥
त्वामनाराध्य जगतां सर्वेषां प्रभवास्पदम् । शाश्वती प्राप्यते केन परमेश्वर निर्वृतिः ॥४१॥
त्वन्मायामूढमनसो जन्ममृत्युजरादिकान्[5] । अवाप्य पापान्पश्यन्ति प्रेतराजानमन्तरा[6] ॥४२॥
ततः पाशशतैर्बद्धा नरकेष्वतिदारुणम् । प्राप्नुवन्ति महद्दुःखं[7] विश्वरूपमिदं तव ॥४३॥
अहमत्यन्तविषयी मोहितस्तव मायया । ममत्वागाधगर्तान्ते भ्रमामि परमेश्वर ॥४४॥

से भी परे हैं। सब में व्याप्त होकर आप स्थित हैं। आपका जन्म वैकल्पिक, शब्दादि से हीन, अजर तथा ह्रास और क्षय से विवर्जित है। आप ही से देव, पितर, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, सिद्ध, अप्सरा, मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प, मृग तथा वृक्ष उत्पन्न हुए हैं। इस चराचर जगत् में जो कुछ भी भूत, भविष्य, अमूर्त, मूर्त, स्थूल तथा सूक्ष्म हैं, वह सब आप ही हैं। जगत्कर्ता ! विना आपके कुछ भी नहीं है। भगवन् ! इस संसारचक्र में भ्रमण करते हुए मैंने तापत्रय से अभिभूत होकर कहीं शान्ति नहीं पायी ॥३०-३६॥ नाथ ! मृगतृष्णा में पड़कर मैंने दुःख ही को सुख समझा। पर उससे मुझे संताप ही मिला। प्रभो ! राज्य, पृथ्वी, सेना, कोष, मित्रसमूह, पुत्र, स्त्री, भृत्य तथा शब्द आदि जितने विषय हैं, उन सबको मैंने सुख समझकर ग्रहण किया। परन्तु परिणाम में मुझे ताप ही हुआ। देवेश ! मैं देवलोक को गया। वहाँ देवगण ने मुझसे सहायता मांगी, फिर नित्य सुख कहाँ है? परमेश्वर ! संसार के आदि कारण रूप आपकी आराधना किए विना शाश्वत सुख कहाँ से मिल सकता है? आपकी माया से मुग्ध होकर प्राणी, जन्म, मृत्यु, जरा आदि को प्राप्त कर विना यमराज के ही और पापियों को देखते हैं। तब सैकड़ों पाशों में बद्ध होकर नरकों में अत्यन्त भयंकर दुःख पाते हैं। यह आपका विश्वरूप है। परमेश्वर ! मैं अत्यन्त विषयी हूँ। आपकी माया से मोहित होकर ममतारूपी अगाध गर्त में भ्रमण रहा हूँ। वही मैं ईश तथा स्तुत्य प्रभु की शरण में प्राप्त

---

[1] ख. ०त् । सृष्ट्यादिं० । [2] ख. ०रं जन्मक्ष० । [3] ख. ०र्वकिंनराः । सि० । [4] क. तापत्रययुतेन भोः । रा० । [5] ख। ०दिकैः । शस्त्रवाप्यां प्रपश्य० । [6] ख. ०ननं तदा । त० । [7] ख. ०खं स्वरूपं निन्दतस्तव ।

सोऽहं त्वां शरणमपारमीशमीड्यं, संप्राप्तः परमपदं यतो न किंचित् ।
संसारश्रमपरितापतप्तचेता निर्विण्वे परिणतधाम्नि साभिलाषः ॥४५॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे कालयवनवधे मुचुकुन्दस्तुतिनिरूपणं
नाम षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९६॥

अथ सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

गोकुले बलप्रत्यागमनवर्णनम्

व्यास उवाच[1]

इत्थं स्तुतस्तदा तेन मुचुकुन्देन धीमता । प्राहेशः सर्वभूतानामनादिनिधनो हरिः ॥१॥

श्रीकृष्ण उवाच

यथाऽभिवाञ्छितांलोकान्दिव्यान्गच्छ नरेश्वर । [2]अव्याहतपरैश्वर्यो मत्प्रसादोपबृंहितः ॥२॥
भुक्त्वा दिव्यान्महाभोगान्भविष्यति महाकुले । जातिस्मरो मत्प्रसादात्ततो मोक्षमवाप्स्यसि ॥३॥

हूँ। आपके अतिरिक्त कोई परमपद नहीं है। सांसारिक ताप से परितप्त होकर मैं विरक्त एवं रूपान्तर को प्राप्त धाम वाले आपकी अभिलाषा करता हूँ ॥३७-४५॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में कालयवन-वध-कथन-प्रसंग में मुचुकुन्द-स्तुति-निरूपण
नामक एक सौ छानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥१९६॥

अध्याय १९७

गोकुल में बलराम का लौटना

व्यास बोले—इस प्रकार धीमान मुचुकन्द द्वारा स्तुत होने पर समस्त प्राणियों के ईश तथा जन्म-मरण से रहित कृष्ण ने कहा ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! तुम मेरे कृपापात्र होकर अभिवाञ्छित दिव्य लोकों को जाओ। वहाँ समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर दिव्य महाभोगों कोभोगकर महान् कुल में उत्पन्न होओगे। मेरी कृपा से तुम्हें पूर्वजन्मों का स्मरण रहेगा। इसके वाद तुम मोक्ष पाओगे ॥२-३॥

---

[1] ख. ब्रह्मोवाच । [2] ख. ०तवलैश्च० । ख. ०तवरै० ।

व्यास उवाच

इत्युक्तः प्रणिपत्येशं [1]जगतामच्युतं नृपः । गुहामुखाद्विनिष्क्रान्ता ददृशे सोऽल्पकान्नरान् ॥४॥
ततः कलियुगं ज्ञात्वा प्राप्तं तप्तुं ततो नृपः । नरनारायणस्थानं प्रययौ गन्धमादनम् ॥५॥
कृष्णोऽपि घातयित्वाऽरिमुपायेन हि तद्बलम् । जग्राह मथुरामेत्य हस्त्यश्वस्यन्दनोज्ज्वलम्[2] ॥६॥
आनीय चोग्रसेनाय द्वारवत्यां न्यवेदयत् । पराभिभवनिःशङ्कं बभूव च[3] यदोः कुलम् ॥७॥
बलदेवोऽपि विप्रेन्द्राः[4] प्रशान्ताखिलविग्रहः । ज्ञानिदर्शनसोत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥८॥
ततो गोपाश्च गोप्यश्च यथापूर्वममित्रजित् । तथैवाभ्यवदत्प्रेम्णा बहुमानपुरःसरम् ॥९॥
कैश्चापि संपरिष्वक्तः कांश्चित्स परिषस्वजे । हासं चक्रे समं कैश्चिद्गोपगोपीजनैस्तथा ॥१०॥
[5]प्रियाण्यनेकान्यवदन्गोपास्तत्र [6]हलायुधम् । गोप्यश्च प्रेममुदिताः प्रोचुः सेर्ष्यमथापराः ॥११॥
गोप्यः पप्रच्छुरपरा नागरीजनवल्लभः । कच्चिदास्ते सुखं कृष्णश्चलत्प्रेमरसाकुलः ॥१२॥
अस्मच्चेष्टोपहसनं न कच्चित्पुरयोषिताम् । सौभाग्यमानमधिकं करोति क्षणसौहृदः ॥१३॥
कच्चित्स्मरति नः कृष्णो गीतानुगमनं कृतम्[7] । अप्यसौ मातरं द्रष्टुं सकृदप्यागमिष्यति ॥१४॥

व्यास बोले—यह कहे जाने पर राजा जगत्पति कृष्ण को प्रणाम करके गुफा से वाहर हो गये। उन्होंने थोड़े ही मनुष्यों को देखा। तव कलियुग जानकर वे तप करने के लिये निमित्त गन्धमादनपर्वत पर नरनारायण के स्थान के लिए प्रस्थित हो गये। कृष्ण ने युक्ति से शत्रु को मरवा कर मथुरा आकर उसकी सेना को विनष्ट किया, फिर उसके हाथी, घोड़े तथा उज्वल रथ को लेकर द्वारका में उग्रसेन को दे दिया। तव यदुवशी पराजय की आशंका से रहित हो गये। द्विजश्रेष्ठो ! अखिल युद्धों के शान्त हो जाने पर वन्धुओं के दर्शन करने की उत्कंठा से वलदेव नन्द के गोकुल गये ॥४-८॥ वहाँ शत्रुजित् वलराम ने गोप-गोपियों के साथ अत्यन्त सम्मानपूर्वक प्रेम से वार्तालाप किया। किसी ने उनका आलिंगन किया और किसी का आलिंगन उन्होंने ही किया। किन्हीं गोप-गोपियों के साथ उन्होंने हास्य किया। गोपों ने वलराम से अनेक प्रिय वातें कहीं। गोपियों ने प्रेम से विभोर होकर ईर्ष्यायुक्त वचन कहा। कुछ गोपियों ने पूछा—नगर-नारियों के प्रिय तथा प्रेमलंम्पट कृष्णु कुशल से तो हैं ? क्षणिक स्नेह करने वाले हरि नागरिक रमणियों के सौभाग्य तथा मान को खूव वढ़ाते होंगे और हम लोगों का उपहास करते होंगे। कभी कृष्ण हम लोगों के गीतों का स्मरण करते हैं ? क्या वे एक वार भी माता के दर्शन करने के लिये आयेंगे ? अथवा उनके वारे में वातचीत करने से क्या लाभ ? दूसरी कथा कीजिये, जो हमसे और उनसे कोई सम्वन्ध नहीं

---

[1] क. ०तामीश्वरं नृ० । [2] ग. ०ज्ज्वला म् । [3] क. ख. यदोर्वलम् । [4] क. मुनयः । ख. मुनिभिः । [5] क. ०दद्गोपांस्त० । [6] क. ०युधः । गो० । [7] क. कलम् ।

अथवा किं तदालापैः क्रियन्तामपराः कथाः। यदस्माभिर्विना तेन (तस्य) विनाऽस्माकं भविष्यति ।।१५।।
पिता माता तता भ्राता भर्ता बन्धुजनश्च कः[1] । न त्यक्तस्तत्कृतेऽस्माभिरकृतज्ञस्ततो हि सः ।।१६।।
तथाऽपि [2]कच्चिदात्मीयमिहाऽगमनसंश्रयम् । करोति कृष्णो वक्तव्यं भवता[3] वचनामृतम् ।।१७।।
दामोदरोऽसौ गोविन्दः पुरस्त्रीसक्तमानसः । अपेतप्रीतिरस्मासु दुर्दर्शः[4] प्रतिभाति नः ।।१८।।

व्यास उवाच

आमन्त्रितः स कृष्णेति पुनर्दामोदरेति च । जहसुः सुस्वरं गोप्यो हरिणाकृष्टचेतसः ।।१९।।
संदेशैः[5] सौम्यमधुरैः प्रेमगर्भैरगर्वितैः । रामेणाऽऽश्वासिता गोप्यः कृष्णस्यातिमधुस्वरैः ।।२०।।
गोपैश्च पूर्ववद्रामः परिहासमनोहरैः । कथाश्चकार प्रेम्णा च सह तैर्व्रजभूमिषु ।।२१।।

अथाष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

हलिक्रीडावर्णनम्

व्यास उवाच

वने [6]विहरतस्तस्य सह गोपैर्महात्मनः[7] । मानुषच्छद्मरूपस्य शेषस्य धरणीभृतः ।।१।।

रखती हो। उनके निमित्त हमने पिता, माता, भाई, स्वामी, वन्धुजन तथा किसका परित्याग नहीं किया? इसलिये वे अकृतज्ञ है। तो भी आप वतलाइए कि क्या वे कभी यहाँ आने के लिये आत्मीयता दिखलायेंगे? नागरिक रमणियों में आसक्त मन वाले तथा हम लोगों की प्रीति की उपेक्षा करने वाले दामोदर गोविन्द का दर्शन तो हम लोगों के लिये असम्भव ही है।।९-१८।।

व्यास बोले—कृष्ण द्वारा आकृष्ट चित्त वाली गोपियाँ 'कृष्ण! दामोदर!' इस प्रकार सम्वोधन करती हुई मधुर स्वर में हँसने लगीं। तव राम ने अत्यन्त मधुर स्वर से कृष्ण के सौम्य, मधुर, प्रेमगर्भित और निरभिमान संदेशों को सुनाकर गोपियों को आश्वासन दिया। व्रज में गोपों ने राम के साथ पहले की तरह प्रेम से मनोहर परिहास तथा वार्तालाप किये।।२१।।

श्रीव्रह्ममहापुराण में गोकुल में वलराम के प्रत्यागमन-वर्णन नामक
एक सौ सत्तानवेवाँ अध्याय समाप्त।।१९७।।

अध्याय १९८

बलराम की क्रीड़ा का वर्णन

व्यास बोले—गोपों के साथ वन में विहार करते हुए अशेषधरणी का धारण करने वाले, महान् कार्यों को

१क. ग. किम्। २क. ख. ०दालापमि०। ३क. ०ता कृष्ण हृद्गत०। ख. ०ता कृष्णपूर्वज। दा०। ४क. ०र्दर्शो मन्दभागिनाम्। व्या०। ५ग. ०शैः सामम०। ६. ख विचर०। ७ख. ०त्मभिः। मा०।

निष्पादितोरुकार्यस्य कार्येणैवावतारिणः । उपभोगार्थमत्यर्थं वरुणः प्राह वारुणीम् ॥२॥

वरुण उवाच

अभीष्टां सर्वदा ह्यस्य मदिरे त्वं महौजसः । अनन्तस्योपभोगाय तस्य गच्छ मुदे शुभे ॥३॥

व्यास उवाच

इत्युक्ता वारुणी तेन संनिधानमथाकरोत् । वृन्दावनतटोत्पन्नकदम्बतरुकोटरे ॥४॥
विचरन्बलदेवोऽपि[1] मदिरागन्धमुद्धतम् । आघ्राय[2] [3]मदिराहर्षमवापाथ पुरातनम् ॥५॥
ततः कदम्बात्सहसा मद्यधारां स लाङ्गली । पतन्तीं वीक्ष्य मुनयः प्रययौ परमां मुदम् ॥६॥
पपौ च गोपगोपीभिः समवेतो मुदाऽन्वितः । उपगीयमानो ललितं गीतवाद्यविशारदैः[4] ॥७॥
श्रमतोऽत्यन्तघर्माम्भःकणिकामौक्तिकोज्ज्वलः । आगच्छ यमुने स्नातुमिच्छामीत्याह विह्वलः ॥८॥
तस्य वाचं नदी सा तु मत्तोक्तामवमन्य वै । नाऽऽजगाम ततः क्रुद्धो हलं जग्राह लाङ्गली ॥९॥
गृहीत्वा तां तटेनैव चकर्ष मदविह्वलः । पापे नाऽऽयासि नाऽऽयासि गम्यतामिच्छयाऽन्यतः ॥१०॥
सा कृष्टा तेन सहसा मार्गं संत्यज्य निम्नगा । यत्राऽऽस्ते बलदेवोऽसौ प्लावयामास तद्वनम् ॥११॥
शरीरिणी तथोपेत्य त्रासविह्वललोचना । प्रसीदेत्यब्रवीद्रामं मुञ्च मां मुशलायुध ॥१२॥
सोऽब्रवीदवजानासि मम शौर्यबलं यदि । सोऽहं त्वां हलपातेन नयिष्यामि सहस्रधा ॥१३॥

सम्पन्न करने वाले, कार्यवश अवतीर्ण होने वाले तथा मनुष्यशरीरधारी महात्मा वलराम के अत्यन्त उपभोग के लिए वरुण ने वारुणी मदिरा से कहा ॥१-२॥

वरुण बोले—कल्याणि ! मदिरे ! महातेजस्वी वलभद्र के उपभोग के लिये तुम जाओ ॥३॥

व्यास बोले—इसके वाद वृन्दावन में यमुनातट पर उत्पन्न कदम्ववृक्ष के कोटर में वलभद्र को वारुणी मदिरा प्राप्त हुई । विचरण करते हुए वलदेव ने मदिरा की अत्युत्कट गन्ध को सूंघ कर अपने पुरातन मदिराजन्य हर्ष को प्राप्त किया । मुनिवृन्द ! तदनन्तर सहसा कदम्व से गिरती हुई मद्यधारा को देखकर वलभद्र परम हर्षित हुए । वाद में उन्होंने गोप-गोपियों के साथ आनन्दपूर्वक मदिरा का पान किया । गाने-वजाने में प्रवीण व्यक्तियों ने उनका स्वागत किया । क्रीड़ाजन्य श्रम से उनके धवल शरीर पर पसीने की बूँदें मोतियों की तरह सुशोभित होने लगीं । तव उन्होंने विह्वल होकर कहा—'यमुने ! आओ मैं स्नान करना चाहता हूँ ।' उनकी वाणी को प्रमत्त की उक्ति समझकर यमुना नहीं आई । तव क्रुद्ध होकर उन्होंने हल उठाया और तट पर से ही नदी को खींचते हुए कहा—'पापे ! नहीं आती हो तो मत आओ । 'इच्छापूर्वक' दूसरी तरफ चली जाओ ।' खिंची जाने पर यमुना ने अपने मार्ग को त्यागकर जहाँ वलदेव थे, वहाँ के वन को आप्लावित कर दिया । शरीरधारण कर के भय से कातरनयना यमुना राम से आकर कहने लगीं—'मुशलायुध ! प्रसन्न होइये, मुझे छोड़ दीजिये ।' वलभद्र ने कहा—'यदि तुम मेरे शौर्यवल का अपमान करती हो तो हल के प्रहार से मैं तुम्हारे सहस्र टुकड़े कर दूँगा' ॥४-१३॥

१क. विचिन्वन्व । २ख. सस्मार । ३ख. ०रावर्ष० । ४क. ०दैः । स मत्तोऽत्य० ।

व्यास उवाच

इत्युक्तयाऽतिसंत्रस्ततया नद्या प्रसादितः। भूभागे प्लाविते तत्र मुमोच यमुनां बलः ।।१४।।
ततः स्नातस्य[1] वै कान्तिराजगाम महावने । अवतंसोत्पलं चारु गृहीत्वैकं च कुण्डलम् ।।१५।।
वरुणप्रहितां चास्मै मालामम्लानपङ्कजाम्। समुद्रार्हे[2] तथा वस्त्रे नीले लक्ष्मीरयच्छत ।।१६।।
कृतावतंसः स तदा चारुकुण्डलभूषितः । नीलाम्बरधरः स्रग्वी शुशुभे कान्तिसंयुतः ।।१७।।
इत्थं विभूषितो रेमे तत्र रामस्तदा व्रजे । मासद्वयेन यातश्च पुनः स मथुरां पुरीम् ।।१८।।
रेवतीं चैव तनयां रैवतस्य महीपते । उपयेमे बलस्तस्यां जज्ञाते निशठोल्मुकौ ।।१९।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे हलिक्रीडावर्णनं नामाष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।।१९८।।

अथ नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

रुक्मिणीविवाहवर्णनम्

व्यास उवाच

भीष्मकः कुण्डिने राजा विदर्भविषयेऽभवत् । रुक्मिणी तस्य दुहिता रुक्मी चैव सुतो द्विजाः ।।१।।
रुक्मिणीं चकमे कृष्णः सा च तं चारुहासिनी । न ददौ याचते चैनां रुक्मी द्वेषेण चक्रिणे ।।२।।

व्यास बोले—इतना कहने पर यमुना अत्यन्त डर कर उनको मनाने लगी; अन्त में वहाँ के भू-प्रदेश के जलप्लावित हो जाने पर वलराम ने नदी को मुक्त कर दिया। तव महावन में स्नान करने पर वलभद्र की कान्ति वढ़ गई। उन्होंने आभूषण के लिए सुन्दर कमल तथा एक कुण्डल ग्रहण किया। वरुण ने उनको म्लान न होने वाले कमलों की माला दी। लक्ष्मी ने समुद्र के योग्य दो नील वस्त्र उन्हें प्रदान किये। तव भूषणों से युक्त, मनोहर कुण्डल से विभूषित नीलवस्त्रधारी, मालाधारी तथा कान्ति से युक्त होकर वलदेव सुशोभित हुए। इस प्रकार विभूषित होकर राम व्रज में दो महीनों तक रमण करते रहे। पुनः वे मथुरा आये। रैवत नामक राजा की रेवती नामक कन्या से वलभद्र ने विवाह किया और उससे निशठ तथा उल्मुक नामक दो पुत्र उत्पन्न किये ।।१४-१९।।

श्रीव्रह्ममहापुराण में हलिक्रीड़ा-वर्णन नामक एक सौ अट्ठानवेवाँ अध्याय समाप्त ।।१९८।।

अध्याय १९९

रुक्मिणी के विवाह का वर्णन

व्यास ने कहा—द्विजवर! विदर्भ राज्य के कुण्डिन नगर में भीष्मक नामक राजा हुए। उनके रुक्मी नामक पुत्र और रुक्मिणी नामक कन्या थी। कृष्ण रुक्मिणी को चाहते थे और मनोहर हास्य करने वाले रुक्मिणी

---

[1] कान्तस्य । [2] क. ०मुद्रस्तु त० ।

दवौ स शिशुपालाय जरासंधप्रचोचितः । भीष्मको रुक्मिणा सार्धं रुक्मिणीमुरुविक्रमः ॥३॥
विवाहार्थं ततः सर्वे जरासंधमुखा नृपाः । भीष्मकस्य पुरं जग्मुः शिशुपालश्च कुण्डिनम् ॥४॥
कृष्णोऽपि बलभद्राद्यैर्यदुभिः परिवारितः । प्रययौ कुण्डिनं द्रष्टुं विवाहं चैद्यभूपतेः ॥५॥
श्वोभाविनि विवाहे तु तां कन्यां हृतवान्हरिः । विपक्षभावमासाद्य रामाद्येष्वेव बन्धुषु ॥६॥
ततश्च पौण्ड्रकः श्रीमान्दन्तवक्तो विदूरथः । शिशुपालो जरासंधः शाल्वाद्याश्च महीभृतः ॥७॥
कुपितास्ते हरिं हन्तुं चक्रुरुद्योगमुत्तमम् । निर्जिताश्च समागम्य रामाद्यैर्यदुपुंगवैः ॥८॥
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि अहत्वा युधि क़ेवशम् । कृत्वा प्रतिज्ञां रुक्मी च हन्तुं कृष्णमभिद्रुतः ॥९॥
हत्वा बलं स नागाश्वपत्तिस्यन्दनसंकुलम् । निर्जितः पातितश्चोर्व्यां लीलयैव स चक्रिणा ॥१०॥
निर्जित्य रुक्मिणं[1] सम्यगुपयेमे स रुक्मिणीम् । राक्षसेने [2]विधानेन संप्राप्तो मधुसूदनः ॥११॥
तस्यां जज्ञे च प्रद्युम्नो मदनांशः[3] स वीर्यवान् । जहार शम्बरो यं वै यो जघान च शम्बरम्[4] ॥१२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे श्रीकृष्णचरिते नवनवत्यधिकशतततमोऽध्यायः ॥१९९॥

उनको चाहती थी। ईर्ष्यावश रुक्मी ने याचना करते हुए कृष्ण को रुक्मिणी नहीं दी। जरासंध के कहने से पराक्रमी भीष्मक ने रुक्मी के साथ रुक्मिणी को शिशुपाल को दे दिया। तव विवाह के निमित्त जरासंध आदि राजा तथा शिशुपाल भी भीष्मक के कुण्डिन नगर में पहुँचे। कृष्ण भी वलभद्र आदि यादवों सहित शिशुपाल का विवाह देखने के लिये कुण्डिन में पधारे। विवाह कल होता, किन्तु आज ही हरि ने उस कन्या का अपहरण कर लिया। राम आदि वन्धुओं में ही शत्रु-भाव को देखकर पौण्ड्रक, श्रीमान्, दन्तवक्त्र, विदूरथ, शिशुपाल, जरासंध तथा शाल्व आदि नृपगण कुपित होकर हरि को मारने के लिए महान् प्रयत्न करने लगे। पर राम आदि यदुपुंगवों द्वारा वे पराजित हो गये। तव युद्ध में विना केशव को मारे मैं कुण्डिन में प्रवेश नहीं करूँगा, इस तरह प्रतिज्ञा करके रुक्मी कृष्ण को मारने के लिए दौड़ पड़ा। पर कृष्ण ने सहज ही में हाथी, घोड़े, पैदल सिपाही तथा रथों से युक्त सेना को मारकर रुक्मी को जीतकर पृथ्वी पर गिरा दिया। रुक्मी को जीतकर मधुसूदन ने राक्षस विधि से रुक्मिणी के साथ भली भाँति विवाह किया। उससे कन्दर्प के अंशभूत शक्तिशाली प्रद्युम्न की उत्पत्ति हुई, जिसका शम्वर ने अपहरण किया और जिसने शम्वर को मार दिया ॥१-१२॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में श्रीकृष्ण-चरित्र-वर्णन-प्रसंग में एक सौ निन्यानवेवाँ
अध्याय समाप्त ॥१९९॥

---

[1] क. ख. ०णं कृष्णो रुक्मिणीं वरकन्याम्। रा०। [2] क.ख. विवाहेन। [3] ख. ०दनश्चातिवीं [4] ग. सम्वरम्।

अथ द्विशततमोऽध्यायः

प्रद्युम्नाख्यानवर्णनम्

मुनय ऊचुः

शम्बरेण[1] हृतो वीरः प्रद्युम्नः स कथं पुनः[2] । शम्बरश्च महावीर्यः प्रद्युम्नेन कथं हतः ॥१॥

व्यास उवाच

षष्ठेऽह्नि जातमात्रे प्रद्युम्नं सूतिकागृहात् । ममैष हन्तेति द्विजा हृतवान्कालशम्बरः[3] ॥२॥
नीत्वा चिक्षेप[4] चैवैनं ग्राहोऽग्रे लवणार्णवे । कल्लोलजनितावर्ते सुघोरे मकरालये ॥३॥
पतितं चैव तत्रैको मत्स्यो जग्राह बालकम् । न ममार च तस्यापि [5]जठरानलदीपितः[6] ॥४॥
मत्स्यबन्धैश्च मत्स्योऽसौ मत्स्यैरन्यैः सह द्विजाः । घातितोऽसुरवर्याय शम्बराय निवेदितः ॥५॥
तस्य मायावती नाम पत्नी सर्वगृहेश्वरी । कारयामास सूदानामाधिपत्यमनिन्दिता ॥६॥
दारिते मत्स्यजठरे ददृशे साऽतिशोभनम् । कुमारं मन्मथतोर्दग्धस्य प्रथमाङ्कुरम् ॥७॥
कोऽयं कथमयं मत्स्यजठरे समुपागतः । इत्येवं कौतुकाविष्टां तां तन्वीं प्राह नारदः ॥८॥

अध्याय २००

प्रद्युम्न का आख्यान-वर्णन

मुनियों ने कहा—कैसे शम्वर ने वीर प्रद्युम्न का अपहरण किया और कैसे फिर प्रद्युम्न ने महाशक्तिशाली शम्वर को मारा ? ॥१॥

व्यास बोले—विप्रवर ! उत्पत्ति के छठे दिन 'मुझे यह मारेगा' यह सोचकर सूतिकागृह से ही काल शम्वर ने प्रद्युम्न का अपहरण कर लिया और उसे ले जाकर लवण समुद्र में फेंक दिया । अत्यन्त भयंकर तथा हिलकोरों द्वारा उत्पन्न आवर्तों से युक्त समुद्र में पतित वालक को एक मत्स्य निगल गया । वहाँ भी वह जठराग्नि से दीप्त होकर नहीं मरा । द्विजगण ! मछुओं ने अन्य मत्स्यों के साथ उस मत्स्य को भी मारकर असुरवर शम्वर से निवेदन कर दिया । शम्वर की मायावती नामक पत्नी गृहस्वामिनी थी । वही अनिन्द्य रमणी रसोई-घर का देख भाल किया करती थी । मत्स्य के पेट फाड़ने पर उसने दग्धमन्मथ रूपी वृक्ष के प्रथम अंकुर रूप अतिसुन्दर कुमार को देखकर कहने लगी—'यह कौन है ? कैसे मत्स्य के पेट में आ गया ?' इस प्रकार कुतूहल करती हुई उस वनिता से नारद ने कहा ॥२-८॥

१ग. सम्वरेण । २ग. ०नः । सम्व० । ३ग. ०लसम्व० । ४क. ०प जलधौ मत्स्योऽग्रे । ५ग ०ठरेऽन० । ६ग. ०पिते । म० ।

नारद उवाच

अयं समस्तजगतां सृष्टिसंहारकारिणा । शम्बरेण[1] हृतः कृष्णतनयः सूतिकागृहात् ॥९॥
क्षिप्तः समुद्रे मत्स्येन निगीर्णस्ते वशं गतः । नररत्नमिदं सुभ्रु विश्रब्धा परिपालय ॥१०॥

व्यास उवाच

नारदेनैव मुक्ता सा पालयामास तं शिशुम् । बाल्यादेवातिरागेण रूपातिशयमोहिता ॥११॥
स यदा यौवनाभोगभूषितोऽभूद्द्विजोत्तमाः । साभिलाषा तदा सा तु बभूव गजगामिनी ॥१२॥
मायावती ददौ चास्मै माया सर्वा महात्मने । प्रद्युम्नायाऽऽत्मभूताय तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥
प्रसज्जन्तीं तु तामाह स कार्ष्णिः कमललोचनः[2] ॥१३॥

प्रद्युम्न उवाच

मातृभावं विहायैव किमर्थं वर्तसेऽन्यथा ॥१४॥

व्यास उवाच

सा चास्मै कथयामास न पुत्रस्त्वं ममेति वै । तनयं त्वामयं विष्णोर्हृतवान्कालशम्बरः[3] ॥१५॥
क्षिप्तः समुद्रे मत्स्यस्य संप्राप्तो जठरान्मया । सा तु रोदिति ते माता कान्ताऽद्याप्यतिवत्सला ॥१६॥

व्यास उवाच

इत्युक्तः [4]शम्बरं युद्धे प्रद्युम्नः सा समाह्वयत् । क्रोधाकुलीकृतमना युयुधे[5] च महाबलः ॥१७॥

नारद बोले—सम्पूर्ण जगत् के संहार करने वाले शम्वर ने सूतिकागृह से कृष्ण के पुत्र का अपहरण करके समुद्र में फेंक दिया । उसे एक मत्स्य निगल गया । वही वालक तुम्हें प्राप्त हुआ है । सुन्दर भौं वाली ! इस नररत्न को विश्वासपूर्वक तुम पालो ॥९-१०॥

व्यास बोले—नारद के इस प्रकार कहने पर वह वालक के अतिशय रूप पर मोहित होकर अत्यन्त अनुराग से उसका पालन करने लगी । द्विजश्रेष्ठो ! वालक जव युवावस्था से परिपूर्ण हुआ तव वह गजगामिनी उसके प्रति अभिलाषा करने लगी । आत्मा की तरह प्रिय वने हुए प्रद्युम्न में मन तथा नेत्रों को लगाकर मायावती ने उसको समस्त माया दे दी (अर्थात् उससे हाव-भाव करने लगी) । इस प्रकार व्यवहार करती हुई मायावती से कमललोचन प्रद्युम्न ने कहा ॥११-१३॥

प्रद्युम्न बोले—तुम मातृ-भाव को छोड़कर और तरह से क्यों वरतती हो ? ॥१४॥

व्यास बोले—उसने उससे कहा—तुम मेरे पुत्र नहीं हो । तुम विष्णु के पुत्र हो । कालशम्वर ने तुम्हें अपहृत करके समुद्र में फेंक दिया था । तव मत्स्य के उदर से मैंने तुम्हें प्राप्त किया । तुम्हारी अतिवत्सला माता तो आज भी रो रही है ॥१५-१६॥

व्यास बोले—यह कहे जाने पर क्रोध से व्याकुल चित्त वाले महावली प्रद्युम्न ने शम्वर को युद्ध के लिये

---

[1] ग. सम्वरेण । [2] ग. ०मलेक्षणाम् । मा० । [3] ग.। ०लसम्व० । [4] ग. सम्वरं । [5] क. ०धेऽथ म० ।

हत्वा सैन्यमशेषं तु तस्य दैत्यस्य माधविः । सप्त माया व्यतिक्रम्य मायां संयुयुजेऽष्टमीम् ।।१८।।
तया जघान तं दैत्यं मायया [1]कालशम्बरम्[2] । उत्पत्य च तया सार्धमाजगाम पितुः पुरम् ।।१९।।
अन्तःपुरे[3] च पतितं मायावत्या समन्वितम् । तं दृष्ट्वा[4] हृष्टसंकल्पा बभूवुः कृष्णयोषितः ।।
रुक्मिणी चाब्रवीत्प्रेम्णाऽऽसक्तदृष्टिरनिन्दता ।।२०।।

रुक्मिण्युवाच

धन्यायाः खल्वयं पुत्रो वर्तते नवयौवने । अस्मिन्वयसि पुत्रो मे प्रद्युम्नो यदि जीवति ।।२१।।
सभाग्या जननी वत्स त्वया काऽपि विभूषिता । अथवा मादृशः स्नेहो मम यादृग्वपुश्च ते ।।
हरेरपत्यं सुव्यक्तं भवान्वत्स भविष्यति ।।२२।।

व्यास उवाच

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः सह कृष्णेन नारदः । अन्तःपुरवरां देवीं रुक्मिणीं प्राह हर्षितः ।।२३।।

श्रीकृष्ण उवाच

एष ते तनयः सुभ्रु हत्वा शम्बरमागतः । हृतो येनाभवत्पूर्वं पुत्रस्ते सूतिकागृहात् ।।२४।।
इयं मायावती भार्या तनयस्यास्य ते सती। शम्बरस्य न भार्येयं श्रूयतामत्र कारणम् ।।२५।।

आह्वान किया । संग्राम में दैत्य की समस्त सेनाओं का नाश करके प्रद्युम्न ने सात मायाओं का अतिक्रमण करके आठवीं माया (मायावती) से संयोग किया । उस माया के द्वारा कालशम्वर को मारकर उसी के साथ उड़कर वह पिता के नगर में आया । अन्तःपुर में मायावती समेत प्रद्युम्न को गिरे हुए देखकर कृष्ण की स्त्रियाँ प्रमुदित हुईं । अनिन्दित रुक्मिणी उसकी ओर टकटकी लगाकर देखती हुई प्रेम से वोली ।।१७-२०।।

रुक्मिणी बोली—किसी भाग्यशालिनी का यह पुत्र नवयौवन में संप्राप्त है । काश ! यदि इस अवस्था में मेरा पुत्र प्रद्युम्न जीवित होता । वत्स ! तुमने किस भाग्यवती माता को विभूषित किया है । अथवा मेरा जैसा स्नेह है और तुम्हारा जैसा शरीर है, इससे तुम स्पष्ट ही हरि के पुत्र होगे ।।२१-२२।।

व्यास बोले—इसी वीच कृष्ण के साथ नारद वहाँ आ पहुँचे । कृष्ण ने अन्तःपुर में श्रेष्ठ रमणी रुक्मिणी से कहा ।।२३।।

श्रीकृष्ण बोले—सुन्दर भौं वाली ! यह तुम्हारा पुत्र उसी शम्वर को मारकर आया है, जिसके द्वारा तुम्हारा पुत्र सूतिका-गृह से अपहृत हुआ था । यह मायावती तुम्हारे पुत्र की सती भार्या है । यह शम्वर की पत्नी नहीं है,

---

[1] ग. ०लसम्ब० । [2] ख. ०म् । तथा ऽन्यांश्च त० । [3] ग. ०रे निप० । [4] ग. ०ष्ट्वा कृतसं० ।

मन्मथे तु गते नाशं तदुद्भवपरायणा । शम्बरं[१] मोहयामास मायारूपेण रुक्मिणी[२] ॥२६॥
विवाहाद्युपभोगेषु रूपं मायामयं[३] शुभम् । दर्शयामास दैत्यस्य तस्येयं मदिरेक्षणा ॥२७॥
कामोऽवतीर्णः पुत्रस्ते तस्येयं दयिता रतिः । विशङ्का नात्र कर्त्तव्या स्नुषेयं तव शोभना[४] ॥२८॥

व्यास उवाच

ततो हर्षसमाविष्टौ रुक्मिणीकेशवौ तदा । नगरी च समस्ता सा साधु साध्वित्यभाषत ॥२९॥
चिरं[५] नष्टेन पुत्रेण संगतं प्रेक्ष्य रुक्मिणीम् । अवाप विस्मयं सर्वोद्वारवत्यां जनस्तदा ॥३०॥

इतिश्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे शम्बरहृतप्रद्युम्नागमनवर्णनं नाम द्विशततमोऽध्यायः ॥२००॥

अथैकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अनिरुद्धविवाहे रुक्मिवधनिरूपणम्

व्यास उवाच

चारुदेष्णं सुदेष्णं च चारुदेहं च शोभनम् । सुषेणं (विचारुं) चारुगुप्तं च भद्रचारुं तथाऽपरम् ॥१॥
चारुविन्दं (चन्द्र) सुचारुं च चारुं च बलिनां वरम् । रुक्मिण्यजनयत्पुत्रान्कन्यां चारुमतीं तथा ॥२॥

इसका कारण सुनो । रुक्मिणी ! मन्मथ के विनष्ट हो जाने पर उसकी उत्पत्ति के लिए प्रयत्नशील रति ने मायारूप से शम्वर को मोह लिया । इस सुनयना ने विवाह आदि उपभोगों में दैत्य को मायामय सुन्दर रूप दिखला दिया । काम तुम्हारा पुत्र होकर अवतीर्ण हुआ । उसी की पत्नी रति यह है । इसमें शंका मत करो । यह तुम्हारी पवित्र पुत्र-वधू है ॥२४-२८॥

व्यास बोले—तदुपरान्त रुक्मिणी और केशव हर्षित हुए । नगर के सभी लोग 'वाह-वाह' कहने लगे । चिरकाल से नष्ट पुत्र के साथ रुक्मिणी को देखकर अखिल द्वारकावासी आश्चर्य करने लगे ॥२९-३०॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में शम्वर द्वारा अपहृत प्रद्युम्न के आगमन-वर्णन नामक
दो सौवाँ अध्याय समाप्त ॥२००॥

अध्याय २०१

अनिरुद्ध के विवाह में रुक्मी का वध

व्यास ने कहा—रुक्मिणी ने—चारुदेष्ण, सुदेष्ण, सुन्दर चारुदेह, सुषेण, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुविन्द, सुचारु और वलिष्ठ चारु—इन पुत्रों को तथा चारुमती नामक कन्या को उत्पन्न किया । कृष्ण की दूसरी भी सात

---

[१]ग. सम्वरं । [२]ग. रूपिणी । [३]क. मायावहं । [४]क. शोभने । [५]ख. पुरा ।

अन्याश्च भार्याः कृष्णस्य बभूवुः सप्त शोभनाः। कालिन्दी मित्रविन्दा च सत्या नाग्नजिती तथा ॥३॥
देवी जाम्बवती चापि[1] सदा तुष्टा तु रोहिणी[2]। मद्रराजसुता[3] चान्या सुशीला शीलमण्डला ॥४॥
सत्राजिती सत्यभामा लक्ष्मणा चारुहासिनी[4]। षोडशात्र सहस्राणि स्त्रीणामन्यानि चक्रिणः ॥५॥
प्रद्युम्नोऽपि महावीर्यो रुक्मिणस्तनयां शुभाम्। स्वयंवरस्थां जग्राह साऽपि तं तनयं हरेः ॥६॥
तस्यामस्याभवत्पुत्रो महाबलपराक्रमः। अनिरुद्धो रणे रुद्धो वीर्योदधिररिंदमः ॥७॥
तस्यापि रुक्मिणः पौत्री वरयामास केशवः। दौहित्राय ददौ रुक्मी स्पर्धयन्नपि शौरिणा ॥८॥
तस्या विवाहे रामाद्या यादवा हरिणा सह। रुक्मिणो नगरं जग्मुर्नाम्ना भोजकटं द्विजाः ॥९॥
विवाहे तत्र निर्वृत्ते प्राद्युम्नेः सुमहात्मनः। कलिङ्गराजप्रमुखा रुक्मिणं वाक्यमब्रुवम् ॥१०॥

कलिङ्गादय ऊचुः

अनक्षज्ञो हली द्यूते तथाऽस्य व्यसनं महत्। तन्न (ज्ज) यामो बलं तस्माद्द्यूतेनैव महाद्युते ॥११॥

व्यास उवाच

तथेति तानाह नृपानुक्मी बलसमन्वितः। सभायां सह रामेण चक्रे द्यूतं च वै तदा ॥१२॥
सहस्रमेकं निष्काणां रुक्मिणा विजितो बलः। द्वितीये[5] दिवसे चान्यत्सहस्रं रुक्मिणा जितः ॥१३॥

सुन्दरी भार्यायें थीं—कलिन्द की पुत्री मित्रविन्दा, नग्नजित् की पुत्री सत्या, देवी जाम्ववती, सदा प्रसन्न रहने वाली रोहिणी, मद्रराज की कन्या सुन्दर स्वभाव वाली शीलमण्डला, सत्राजित् की पुत्री सत्यभामा और मनोरम हास्य करने वाली लक्ष्मणा। चक्रधारी (कृष्ण) की अन्य सोलह हजार स्त्रियाँ थीं। महापराक्रमी प्रद्युम्न ने रुक्मी की पवित्र कन्या को स्वयंवर से ग्रहण किया। कन्या ने भी कृष्ण के पुत्र को स्वीकार किया। प्रद्युम्न के महावलशाली, युद्ध करने में समर्थ, शक्ति का समुद्र और शत्रु का दमन करने वाला अनिरुद्ध नामक पुत्र हुआ। रुक्मी की पौत्री ने उसका वरण किया। रुक्मी यद्यपि कृष्ण से स्पर्धा करता था, तो भी दौहित्र को उसने पौत्री ब्याह दी। द्विजगण ! उसके विवाह में वलराम आदि यादव कृष्ण के साथ रुक्मी के भोजकट नामक नगर में गये। महात्मा अनिरुद्ध का विवाह सम्पन्न होने पर कलिंग नरेश आदि (राजाओं) ने रुक्मी से यह वाक्य कहा।। १-१०॥

कलिंग आदि ने कहा—महाकान्तिमन्! वलभद्र पासा चलाना नहीं जानता, फिर भी जुए में इसका वड़ा व्यसन है। इसलिए जुए में ही इसे पराजित किया जाय।।११॥

व्यास ने कहा—वली रुक्मी ने उन राजाओं से कहा—'ऐसा ही सही' और सभा में वलराम के साथ जुआ खेलना प्रारम्भ भी कर दिया। (पहले दिन) रुक्मी ने वलभद्र से एक हजार निष्क (सोने का एक प्राचीन

---

[1] क. ख. ०पि रो०। [2] क. ख. ०णी कामरूपिणी। म०। [3] ख. मन्त्रराजसुता। ग. भद्रराजसुता। [4] क. ०नी। तथा षोडश स। [5] ग. ०येऽपि पणं चा०।

ततो दश सहस्राणि निष्काणां[1] पणमाददे । बलभद्रप्रपन्नानि रुक्मी द्युतविदां वरः ॥१४॥
ततो जहासाथ बलं कलिङ्गाधिपतिर्द्विजाः । दन्तान्विदर्शयन्मूढो रुक्मी चाऽह मदोद्धतः ॥१५॥

रुक्म्युवाच

अविद्योऽयं महाद्यूते बलभद्रः पराजितः । मृषावाक्षावलेपत्वाद्योऽयं मेनेऽक्षकोविदम् ॥१६॥
दृष्ट्वा कलिङ्गराजं तु प्रकाशदशनाननम् । रुक्मिणं चापि दुर्वाक्यं कोपं चक्रे हलायुधः ॥१७॥

व्यास उवाच

ततः कोपपरीतात्मा निष्ककोटिं हलायुधः । ग्लहं जग्राह रुक्मी च ततस्त्वक्षानपातयत् ॥१८॥
अजयद्बलदेवोऽथ प्राहोच्चैस्तं जितं मया । ममेति रुक्मी प्राहोच्चैरलीकोक्तैरलं बलम् ॥१९॥
त्वयोक्तोऽयं ग्लहः सत्यं न ममैषोऽनुमोदितः । एवं त्वया चेद्विजितं न मया विजितं कथम् ॥२०॥
ततोऽन्तरिक्षे वागुच्चैः प्राह गम्भीरनादिनी । बलदेवस्य तं कोपं वर्धयन्ती महात्मनः ॥२१॥

आकाशवागुवाच

जितं तु बलदेवेन रुक्मिणा भाषितं मृषा । अनुक्त्वा[2] वचनं किंचित्कृतं भवति कर्मणा ॥२२॥

व्यास उवाच

ततो बलः समुत्थाय क्रोधसंरक्तलोचनः । जघानाष्टापदेनैव रुक्मिणं स महाबलः ॥२३॥

सिक्का जो प्रायः १६ माशे का होता था) जीते । दूसरे दिन भी रुक्मी ने एक सहस्र निष्क जीते । तदनन्तर जुआ खेलने में चतुर रुक्मी ने वलभद्र से दस हजार की वाजी जीती । द्विजगण ! तव कलिंगराज वलभद्र की हँसी उड़ाने लगा । मद से उद्धत मूर्ख रुक्मी भी दाँत दिखाते हुए वोलने लगा ॥१२-१५॥

रुक्मी ने कहा—जुए में यह मूर्ख वलभद्र पराजित हुआ है । व्यर्थ ही पासे के अभिमान से इसने अपने को जुए का विशेषज्ञ मान वैठा है । हँसते हुए कलिंगराज तथा दुर्वाक्य वोलते हुए रुक्मी को देखकर वलभद्र को क्रोध आ गया ॥१६-१७॥

व्यास ने कहा—तव क्रोध से आग-ववूले होकर वलभद्र ने एक करोड़ निष्कों की वाजी लगाई । रुक्मी ने भी स्वीकार किया । पासे फेंके गये, पर विजय वलदेव की हुई । वलदेव ने उच्च स्वर से कहा—'मेरी विजय हुई ।' रुक्मी ने भी जोर से कहा—'मेरी विजय हुई ।' तुम मिथ्या वोलते हो । तुमने शर्त रखी ठीक, पर मैंने उसका समर्थन नहीं किया । अगर इस तरह तुमने जीता, तो मैंने क्यों नहीं जीता ?' ॥१८-२१॥

आकाशवाणी ने कहा—वलदेव की विजय हुई । रुक्मी असत्य वोला । विना वोले काम करना भी समर्थन करना है ॥२२॥

व्यास ने कहा—तदनन्तर क्रोध से आँख लाल किये महावलवान् वलभद्र ने उठकर आठ लातों (के प्रहार) से ही रुक्मी को मार दिया। चमकते हुए कलिंगराज को भी पकड़कर क्रुद्ध वलभद्र ने उसके उन दाँतों को तोड़ दिया,

---

[1] क. ०णां ग्लहमा० । [2] ख. ०क्त्वऽपि वचः० किं० ।

कलिङ्गराजं चाऽऽदाय विस्फुरन्तं बलाद्बलः । बभञ्ज दन्तान्कुपितो यैः प्रकाशं जहास सः ॥२४॥
आकृष्य च महास्तम्भं जातरूपमयं बलः । जघान ये तत्पक्षास्तान्भूभृतः कुपितो बलः ॥२५॥
ततो हाहाकृतं सर्वं पलायनपरं द्विजाः । तद्राजमण्डलं सर्वं बभूव कुपिते बले ॥२६॥
बलेन निहतं श्रुत्वा रुक्मिणं मधुसूदनः । नोवाच वचनं किंचिद्रुक्मिणीबलयोर्भयात् ॥२७॥
ततोऽनिरुद्धमादाय कृतोद्वाहं द्विजोत्तमाः । द्वारकामाजगामाथ यदुचक्रं सकेशवम् ॥२८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मेऽनिरुद्धविवाहे रुक्मिवधनिरूपणं
नामैकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०१॥

अथ द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

नरकवधवर्णनम्

व्यास उवाच

द्वारवत्यां ततः शौरिं शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः । आजगामाथ मुनयो [1]मत्तैरावतपृष्ठगः ॥१॥
प्रविश्य द्वारकां सोऽथ समीपे च हरेस्तदा । कथयामास दैत्यस्य नरकस्य विचेष्टितम् ॥२॥

जिन्हें निकाल कर वह हँस रहा था । स्वर्णमय महास्तम्भ को उखाड़ कर कुपित बलराम ने रुक्मी के पक्ष में और जो राजा थे, उन्हें भी मार दिया । द्विजगण ! तदनन्तर कुपित बलराम को देखकर रुक्मी के पक्ष की राज-मंडली 'हाहाकार' करते हुए नौ दो ग्यारह होने लगी । बलराम द्वारा निहत रुक्मी के विषय में सुनकर रुक्मिणी और बलराम के भय से कृष्ण कुछ भी नहीं बोले । द्विजवर ! तदनन्तर विवाहित अनिरुद्ध को लेकर कृष्ण सहित समस्त यादवगण द्वारका चले गये ॥२३-२८॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में अनिरुद्ध-विवाह-प्रसंग में रुक्मी का वध-निरूपण
नामक दो सौ एक अध्याय समाप्त ॥२०१॥

अध्याय २०२

नरकासुर के वध का वर्णन

व्यास ने कहा—मुनिवृन्द ! तदुपरान्त त्रिभुवन के स्वामी इन्द्र मत्त ऐरावत की पीठ पर चढ़कर कृष्ण से मिलने के लिए द्वारका आये । द्वारका में प्रवेश कर हरि के समीप इन्द्र ने नरक नामक दैत्य की क्रियाओं का वर्णन किया ॥१-२॥

---

[1] क. ०वणपृ० ।

इन्द्र उवाच

त्वया नाथेन देवानां मनुष्यत्वेऽपि तिष्ठता । प्रशमं सर्वदुःखानि नीतानि मधुसूदन ।।३।।
[1]तपस्विजनरक्षायै सोऽरिष्टो धेनुकस्तथा । प्रलम्बाद्यास्तथा केशी ते सर्वे निहतास्त्वया ।।४।।
कंसः कुवलयापीडः पूतना बालघातिनी । नाशं नीतास्त्वया सर्वे येऽन्ये जगदुपद्रवाः ।।५।।
युष्मद्दोर्दण्डसंबुद्धिपरित्राते जगत्त्रये । यज्ञे यज्ञहविः प्राश्य तृप्तिं यान्ति दिवौकसः ।।६।।
सोऽहं सांप्रतमायातो यन्निमित्तं जनार्दन । तच्छ्रुत्वा तत्प्रतीकारप्रयत्नं कर्तुमर्हसि ।।७।।
भौमोऽयं नरको नाम प्राग्ज्योतिषपुरेश्वरः । करोति [2]सर्वभूतानामपघातमरिंदम ।।८।।
देवसिद्धसुरादीनां नृपाणां च जनार्दन ।हत्वा तु सोऽसुरः कन्या रुरोध निजमन्दिरे ।।९।।
छत्रं यत्सलिलस्रावि तज्जहार प्रचेतसः । मन्दरस्य तथा शृङ्गं हृतवान्मणिपर्वतम् ।।१०।।
अमृतस्राविणी दिव्ये मातुर्मेऽमृतकुण्डले । जहार सोऽसुरोऽदित्या वाञ्छत्यैरावतं द्विपम् ।।११।।
[3]दुर्नीतमेतद्गोविन्द मया तस्य तवोदितम् । यदत्र [4]प्रतिकर्तव्यं तत्स्वयं परिमृश्यताम् ।।१२।।

व्यास उवाच

इति श्रुत्वा स्मितं कृत्वा भगवान्देवकीसुतः । गृहीत्वा वासवं हस्ते समुत्तस्थौ वरासनात् ।।१३।।
संचिन्तितमुपारुह्य [5]गरुडं गगनेचरम् । सत्यभामां समारोप्य ययौ प्राग्ज्योतिषं पुरम् ।।१४।।

इन्द्र ने कहा—नाथ ! मधुसूदन ! मनुष्यों के वीच रहते हुए भी आपने देवताओं के समस्त कष्टों का निवारण कर दिया। तपस्वियों की रक्षा के निमित्त अरिष्ट, धेनुक, केशी तथा प्रलम्व आदि सव को आपने निहत किया। कंस, कुवलयापीड, वालघातिनी पूतना आदि जितने संसार के उपद्रवी जीव थे, उन सवका आपने नाश किया। आपके वाहु-वल तथा वुद्धिवल से तीनों लोकों की रक्षा होने पर ही देवता लोग यज्ञ में हविष्य भोजन कर तृप्त होते हैं। जनार्दन ! इस समय मैं जिसलिए आया हूँ, वह सुनकर आप उसका प्रतीकार करें। हे शत्रु का दमन करने वाले ! प्राग्ज्योतिषपुर का राजा नरक नामक दैत्य समस्त प्राणियों का अपघात करता है। भगवन् ! उसने देव, सिद्ध, सुर आदि को तथा राजाओं को मारकर उनकी कन्याओं को अपने घर में रोक रखा है। वरुण का, मेरी माता के अमृत टपकाने वाले दिव्य अमृतकुण्डलों को तथा ऐरावत हाथी को भी हरण करके वह राक्षस ले गया। गोविन्द उसकी यह दुर्नीति मैंने आपसे वर्णन की। अव इसका जो प्रतीकार हो, वह आप स्वयं सोच लें ।।३-१३।।

व्यास ने कहा—यह सुनकर मुस्कराते हुए भगवान् कृष्ण इन्द्र का हाथ पकड़ कर अपने उत्तम आसन पर से

१क. ख. ०ननाशाय सोऽ० । २क. ०नामुपद्रवम० । ३ख. दुर्वृत्तमे० । ४ग. ०तिपत्तव्यं । ५ख. ०डं च खगेश्वर० ।

आरुह्यैरावतं नागं शक्रोऽपि त्रिदशालयम् । ततो जगाम सुमनाः पश्यतां द्वारकौकसाम् ॥१५॥
प्राग्ज्योतिषपुरस्यास्य समन्ताच्छतयोजनम् । आचितं भैरवैः[1] पाशैः परसैन्यनिवारणे ॥१६॥
तांश्चिच्छेद हरिः पाशान्क्षिप्त्वा चक्रं सुदर्शनम् । ततो मुरः समुत्तस्थौ तं जघान च केशवः ॥१७॥
मरोस्तु (रस्य) तनयान्सप्त सहस्रास्तां (सा तां) स्ततो हरिः । चक्रधाराग्निनिर्दग्धांश्चकार[2] शलभानिव ॥१८॥
हत्वा मुरं हयग्रीवं तथा पञ्चजनं द्विजाः । प्राग्ज्योतिषपुरं धीमांस्त्वरावान्समुपाद्रवत् ॥१९॥
नरकेनास्य तत्राभून्महासैन्येन संयुगः । कृष्णस्य यत्र गोविन्दो जघ्ने दैत्यान्सहस्रशः ॥२०॥
शस्त्रास्त्रवर्षं मुञ्चन्तं स भौमं नरकं बली । क्षिप्त्वा चक्रं द्विधा चक्रे चक्री दैतेयचक्रहा ॥२१॥
हते तु नरके भूमिर्गृहीत्वाऽदितिकुण्डले । उपतस्थे जगन्नाथं वाक्यं चेदमथाब्रवीत् ॥२२॥

धरण्युवाच

यदाऽहमुद्धृता नाथ त्वया शूकरमूर्तिना । त्वत्संस्पर्शभवः पुत्रस्तदाऽयं मय्यजायत ॥२३॥
सोऽयं त्वयैव दत्तो मे त्वयैव विनिपातितः । गृहाण कुण्डले चेमे पालयास्य च संततिम् ॥२४॥
भारावतरणार्थाय ममैव भगवानिमम् । अंशेन लोकमायातः प्रसादसुमुख प्रभो ॥२५॥

उठ गये और ध्यान मात्र से उपस्थित आकाशविहारी गरुड़ पर सत्याभमा सहित स्वयं चढ़कर प्राग्ज्योतिषपुर के लिए प्रस्थित हो गये। तव इन्द्र भी प्रसन्न मन से ऐरावत हस्ती पर आरूढ़ होकर द्वारकावासियों के देखते ही देखते देवलोक को चले गये। प्राग्ज्योतिषपुर की चारों तरफ सात योजन तक शत्रु-सेना के निवारणार्थ भयंकर जाल विछे हुए थे। उन जालों को सुदर्शन चक्र से कृष्ण ने काट डाला। तदनन्तर मुर नामक राक्षस उठ खड़ा हुआ। उसे कृष्ण ने मार डाला। मुर के सात हजार पुत्र थे। उनको हरि ने अपने चक्र के धाराग्नि से पंतगों की तरह जला डाला! द्विजगण! मुर, हयग्रीव तथा पञ्चजन को मार कर वुद्धिमान् कृष्ण ने शीघ्रता से प्राग्ज्योतिषपुर पर आक्रमण कर दिया। वहाँ वड़ी सेना से युक्त नरक के साथ कृष्ण का संग्राम छिड़ गया। गोविन्द ने हजारों दैत्यों को विनष्ट किया। दैत्यों के चक्रसमूह को नष्ट करने वाले चक्रधारी वली कृष्ण ने अपना चक्र चला कर शस्त्र-अस्त्रों की वर्षा करते हुए नरक के दो टुकड़े कर दिये। नरक के मर जाने पर पृथ्वी अदिति के कुण्डलों को लेकर भगवान् के पास जाकर यह वात कहने लगी ॥१३-२२॥

पृथ्वी ने कहा—नाथ! जव वराह रूप धारण कर आपने मेरा उद्धार किया था, तभी आपके स्पर्श से यह पुत्र मुझमें उत्पन्न हुआ था। सो आपने ही इसको दिया था और आपने ही इसे नष्ट भी किया। अव ये कुण्डल लीजिये और इसकी संतानों का पालन कीजिये। मेरे ही भार उतारने के लए आप एक अंश से इस लोक में आये

---

[1] ग. मौरवैः। [2] क. ०र स तु लीलया। ह०।

त्वं कर्ता च विकर्ता च संहर्ता प्रभवोऽव्ययः । जगत्स्वरूपो यश्च त्वं स्तूयसेऽच्युत किं मया ॥२६॥
व्यापी व्याप्यः क्रिया कर्ता कार्यं च भगवान्सदा । सर्वभूतात्मभूतात्मा स्तूयसेऽच्युत किं मया ॥२७॥
परमात्मा त्वमात्मा च भूतात्मा चाव्ययो भवान् । यदा तदा स्तुतिर्नास्ति किमर्थं ते प्रवर्तताम् ॥२८॥
प्रसीद सर्वभूतात्मन्नरकेन कृतं च यत्[1] । तत्क्षम्यतामदोषाय[2] मत्सुतः स निपातितः ॥२९॥

व्यास उवाच

तथेति चोक्त्वा धरणीं भगवान्भूतभावनः । रत्नानि[3] नरकावासाज्जग्राह[4] मुनिसत्तमाः ॥३०॥
कन्यापुरे स कन्यायां षोडशातुलविक्रमः । शताधिकानि ददृशे सहस्राणि द्विजोत्तमाः[5] ॥३१॥
चतुर्दंष्ट्रान्गजांश्चोग्रान्षट्सहस्राणि दृष्टवान् । काम्बोजानां तथाऽश्वानां नियुतान्येकविंशतिम् ॥३२॥
कन्यास्ताश्च तथा नागांस्तानश्वान्द्वारकां पुरीम् । प्रापयामास गोविन्दः सद्यो नरककिंकरैः ॥३३॥
ददृशे वारुणं छत्रं तथैव च मणिपर्वतम् । आरोपयामास हरिर्गरुडे पतगेश्वरे ॥३४॥
आरुह्य च स्वयं कृष्णः सत्यभामासहायवान् । अदित्याः कुण्डले दातुं जगाम त्रिदशालयम् ॥३४॥

इतिश्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे कृष्णचरिते नरकवधो नाम
द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०२॥

हुए हैं। प्रभो ! सुन्दर मुख वाले ! प्रसन्न होइये। आप कर्ता, विशिष्टकर्ता, संहर्ता, प्रभु, अव्यय तथा जगत्स्वरूप हैं। अच्युत ! मैं क्या आपकी स्तुति करूँ ? आप जब परमात्मा, आत्मा, भूतात्मा तथा अविनाशी हैं, तब तो आपकी स्तुति ही नहीं हो सकती, फिर कैसे की जाय। हे समस्त प्राणियों के आत्मा ! कृपा कीजिये। नरक ने जो अपराध किया उसे दोष हटाने की दृष्टि से क्षमा कर दीजिये। वह मेरा पुत्र था, जिसे आपने मारा॥२३-२९॥

व्यास ने कहा—मुनिवर ! (पृथ्वी से) ऐसा ही होगा, इतना कहकर प्राणियों के उत्पादक भगवान् ने नरक के घर से रत्नों को ले लिया। द्विजश्रेष्ठो ! अतुल पराक्रमी कृष्ण ने कन्यापुर (रनिवास) में सोलह हजार एक सौ कन्याओं को देखा। चार दाँत वाले छह हजार भयंकर हाथियों को तथा इक्कीस लाख कम्बोजी (अफगान) घोड़ों को भी देखा। गोविन्द ने तुरन्त उन कन्यायों, हाथियों एवम् घोड़ों को नरक के नौकरों द्वारा द्वारका पहुँचवा दिया। भगवान् कृष्ण वरुण के छत्र तथा मणिपर्वत को पक्षि-राज गरुड़ के ऊपर रखकर सत्यभामा के साथ स्वयं चढ़कर अदिति को कुण्डल देने के लिए देवलोक गये ॥३०-३५॥

श्रीब्रह्ममहापुराण के कृष्ण-चरित्र-वर्णनोपक्रम में नरकवध नामक
दो सौ दूसरा अध्याय समाप्त ॥२०२॥

---

[1] क. ०त् । क्षम्य० । [2] क. ०म्यतां स च मे दोषः स त्वया विनि० । [3] ख. ०नि नाटकीयाणि जग्रा० । [4] क. ०ज्जहार मु० । [5] क. ख. महामतिः ।

अथ त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अदितिकृता भगवत्स्तुतिः

व्यास उवाच

गरुडो वारुणं छत्रं तथैव मणिपवर्तम् । सभार्यं च हृषीकेशं लीलयैव वहन्ययौ ।।१।।
ततः शङ्खमुपाध्माय स्वर्गद्वारं गतो हरिः । उपतस्थुस्ततो देवाः सार्घपात्रा जनार्दनम् ।।२।।
स देवैरर्चितः कृष्णो देवमातुनिर्ववेशनम्[1] । सिताभ्रशिखराकारं प्रविश्य ददृशेऽदितिम् ।।३।।
स तां प्रणम्य शक्रेण सहितः कुण्डलोत्तमे । ददौ नरकनाशं च शशंसास्यै जनार्दनः ।।४।।
ततः प्रीता[2] जगन्माता धातारं जगतां हरिम् । तुष्टावादितिरव्यग्रं कृत्वा तत्प्रवणं मनः ।।५।।

अदितिरुवाच

नमस्ते पुण्डरीकाक्ष भक्तानामभयंकर । सनातनात्मन्भूतात्मन्सर्वात्मन्भूतभावन ।।६।।
प्रणेतर्मनसो बुद्धेरिन्द्रियाणां गुणात्मक[3] । सितदीर्घादिनिःशेषकल्पनापरिवर्जित ।।७।।
जन्मादिभिरसंस्पृष्ट स्वप्नादिपरिवर्जित । संध्या रात्रिरहर्भूमिर्गगनं वायुरम्बु च ।।८।।
हुताशनो मनो बुद्धिर्भूतादिस्त्वं तथाऽच्युत । सृष्टिस्थितिविनाशानां कर्ता कर्तृपतिर्भवान् ।।९।।

अध्याय २०३

अदिति द्वारा भगवान् की स्तुति

व्यास ने कहा—गरुड वरुण के छत्र, मणि-पर्वत तथा पत्नी सहित कृष्ण को बड़ी आसानी से ढोता हुआ जा रहा था। स्वर्ग-द्वार पर पहुँचने पर माधव ने शंख-ध्वनि की। अर्घपात्र लिए समस्त देवगण जनार्दन के पास उपस्थित हुए देवताओं से पूजित होने पर कृष्ण ने देवमाता के स्वच्छ मेघों से आवृत पर्वत-शिखरतुल्य भवन में प्रवेश कर अदिति को देखा। इन्द्र सहित उपेन्द्र ने उनको प्रणाम कर उत्तम कुण्डल दे दिये और नरक का नाश भी उन्हें कह सुनाया। तत्पश्चात् जगन्माता प्रसन्न होकर चित्त को व्यग्रता से रहित करके जगद्धाता हरि में ही मन को लगाकर उनकी स्तुति करने लगी।।१-५।।

अदिति ने कहा—कमललोचन! भक्तों को निर्भय करने वाले! आपको नमस्कार है। सनातनात्मन्! भूतात्मन्! सर्वात्मन्। भूतोत्पादक! मन, वुद्धि और इन्द्रियों के निर्माता! त्रिगुणात्मक! शुक्ल, दीर्घ आदि सकल कल्पनाओं से रहित! आप जन्म आदि से अस्पृष्ट तथा स्वप्न आदि आदि से वर्जित हैं। आप संध्या, रात्रि, दिन, पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि, मन, वुद्धि तथा प्राणियों के आदि हैं। आप सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता, कर्ता

१क. ०म् १ शैलाग्रशि०। २क. प्राह। ३क. ०क। शतशीर्षादि०।

[1]ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिरात्ममूर्तिभिरीश्वरः। मायाभिरेतद्व्याप्तं ते जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥१०॥
अनात्मन्यात्मविज्ञानं सा ते माया जनार्दन । अहं ममेति भावोऽत्र यया समुपजायते ॥११॥
संसारमध्ये मायायास्तवैतन्नाथ चेष्टितम् । यैः स्वधर्मपरैर्नाथ नरैराराधितो भवान् ॥१२॥
ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये । ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा ॥१३॥
विष्णुमायामहावर्ते मोहान्धतमसाऽऽवृताः । आराध्य त्वामभीप्सन्ते [2]कामानात्मभवक्षये ॥१४॥
पदे ते पुरुषा बद्धा मायया भगवंस्तव । मया त्वं पुत्रकामिन्या वैरिपक्षक्षयाय च ॥१५॥
आराधितो न मोक्षाय मायाविलसितं हि तत् । कौपीनाच्छादनप्राया वाञ्छा कल्पद्रुमादपि ॥१६॥
जायते मदपुण्यानां सोऽपराधः स्वदोषजः । तत्प्रसीदाखिलजगन्मायामोहकराव्यय ॥१७॥
अज्ञानं ज्ञानसद्भाव भूतभूतेश नाशय। नमस्ते चक्रहस्ताय[3] शार्ङ्गहस्ताय ते नमः ॥१८॥
गदाहस्ताय ते विष्णो शङ्खहस्ताय[4] ते नमः । एतत्पश्यामि ते रूपं स्थूलचिह्नोपशोभितम् ॥
न जानामि परं [5]यत्ते प्रसीद परमेश्वर ॥१९॥

व्यास उवाच

अदित्यैवं स्तुतो विष्णुः [6]प्रहस्याऽऽह सुरारणिम् ॥२०॥

के पति और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव संज्ञक अपनी मूर्तियों से ईश्वर कहलाते हैं। आपकी माया से यह स्थावर-जंगम रूप जगत् व्याप्त है। जनार्दन ! अनात्मा में आत्मा का ज्ञान ही माया है, जिससे 'मैं और मेरा' यह भाव उत्पन्न होता है। नाथ ! संसार में आपकी माया की यह चेष्टा है। जिन धर्मपरायण मनुष्यों ने आपकी आराधना की, वे आत्ममुक्ति के लिए इस अखिल माया को पार कर गये। ब्रह्मा आदि सकल देवता, मनुष्य तथा पशु विष्णु-माया रूपी महान् भँवर में मोहरूपी तिमिर से आवृत हो आपकी उपासना कर अपने तथा संसार के नाश के लिये अभिलाषायें करते हैं ॥६-१४॥ भगवन् ! पुरुष, आपकी माया से आपके चरणों में बद्ध हैं। मैंने पुत्री की कामना से तथा शत्रु-पक्ष के नाश की इच्छा से आपकी आराधना की, परन्तु मोक्ष के लिए नहीं की। यह भी माया का (ही) खेल है। पापियों को जो कल्पद्रुप से भी केवल कोपीन तथा आच्छादन-वस्त्र की इच्छा होती है, वह उसका निजी दोषजन्य अपराध है। इसलिए, अखिल जगत् को माया-मोह में डालने वाले ! अव्यय ! प्राणियों के अधीश ! ज्ञानपूर्ण ! आप प्रसन्न होइये और मेरे अज्ञान का नाश कीजिये। चक्र, धनुष, गदा तथा शंख हाथों में धारण करने वाले ! आपको नमस्कार है। स्थूल चिह्नों से सुशोभित आपके इस रूप को मैं देखती हूँ, पर इससे भी परे जो आप का रूप है, उसे नहीं दे पा रही हूँ। परमेश्वर ! कृपा कीजिए ॥१५-१९॥

व्यास ने कहा—अदिति द्वारा इस प्रकार स्तुति करने पर विष्णु हँसकर देवमाता से कहने लगे ॥२०॥

---

[1]क. ०वाद्यामि । [2]ख. ०ये यदेते । [3]क. ख. ०य शङ्खह० । [4] क. ख. पद्महस्ताय । [5]ख. तत्त्वं । [6]ग. प्रणम्याऽऽह ।

श्रीकृष्ण उवाच

माता देवि त्वमास्माकं प्रसीद वरदां भव ।।२१।।

अदितिरुवाच

एवमस्तु यथेच्छा ते त्वमशेषसुरासुरैः । अजेयः पुरुषव्याघ्र मर्त्यलोके भविष्यसि ।।२२।।

व्यास उवाच

ततोऽनन्तरमेवास्य शक्राणीसहितां दितिम् । सत्यभामा प्रणम्याऽऽह प्रसीदेति पुनः पुनः ।।२३।।

अदितिरुवाच

मत्प्रसादान्न ते सुभ्रु जरा वैरूप्यमेव च । भविष्यत्यनवद्याङ्गि सर्वकामा[1] भविष्यसि ।।२४।।

व्यास उवाच

अदित्या तु कृतानुज्ञो देवराजो जनार्दनम् । यथावत्पूजयामास बहुमानपुरःसरम् ।।२५।।
ततो ददर्श कृष्णोऽपि सत्यभामासहायवान् । देवोद्यानानि सर्वाणि नन्दनादीनि सत्तमाः ।।२६।।
ददर्श च सुगन्धढ्यं[2] मञ्जरीपुञ्जधारिणम् । शैत्याह्लादकरं दिव्यं[3] ताम्रपल्लवशोभितम् ।।२७।।
मथ्यमाने ऽमृते जातं जातरूपसमप्रभम् । पारिजातं जगन्नाथः केशवः केशिसूदनः ।।
तं दृष्ट्वा प्राह गोविन्दं सत्यभामा द्विजोत्तमाः ।।२८।।

श्रीकृष्ण बोले—देवी ! तुम हमारी माता हो, कृपा करो, वर दो ।।२१।।

अदिति ने कहा—एवमस्तु ! तुम्हारी जैसी इच्छा । पुरुषश्रेष्ठ ! मर्त्यलोक में तुम अशेष देव-दैत्यों से अजेय होगे ।।२२।।

व्यास ने कहा—तदनन्तर इन्द्राणी सहित सत्यभामा दिति को वार-वार प्रणाम कर कहने लगी—'प्रसन्न होइये' ।।३३।।

अदिति ने कहा—सुन्दर भौं वाली ! अनिन्द्य अंगों वाली ! मेरी कृपा से तुम्हें बुढ़ापा तथा कुरूपता नहीं व्यापेगी ! तुम्हारी सारी कामनायें पूरी होंगी ।।२४।।

व्यास ने कहा—अदिति की आज्ञा पाकर इन्द्र ने वहुत आदर से जनार्दन की विधिपूर्वक पूजा की । तव सत्यभामा सहित कृष्ण, देवताओं के नन्दन आदि समस्त उद्यागों को देखने लगे । केशी नामक राक्षस के मारने वाले जगन्नाथ केशव ने सुगन्धि से परिपूर्ण, मञ्जरियों से सुशोभित, शीतलता तथा आह्लादकता से सम्पन्न, दिव्य ताम्रवर्ण वाले पल्लवों से विभूषित, स्वर्णतुल्य कान्तिमान् और अमृत-मंथन से उत्पन्न कल्पवृक्ष को देखा । द्विजवर ! उसे देखकर सत्यभामा ने गोविन्द से कहा ।।२५-२८।।

---

[1] ख. ०र्व सौख्यं गमिष्य० । [2] ० गन्धीनि म० । [3] क. ख. ०व्यं वालप० ।

सत्यभामोवाच

कस्मान्न द्वारकामेष नीयते कृष्ण पादपः[1] । यदि ते तद्वचः सत्यं सत्याऽत्यर्थं प्रियेति मे ।।२९।।
मद्गृहे निष्कुटार्थाय तदयं नीयतां तरुः । न मे जाम्बवती तादृगभीष्टा न च रुक्मिणी ।।३०।।
सत्ये यथा त्वमित्युक्तं त्वया कृष्णासकृत्प्रियम् । सत्यं तद्यदि गोविन्द नोपचारकृतं वचः[2] ।।३१।।
तदस्तु पारिजातोऽयं मम गेहविभूषणम् । बिभ्रती पारिजातस्य केशपाशेन मञ्जरीम् ।।
सपत्नीनामहं मध्ये शोभेयमिति कामये ।।३२।।

व्यास उवाच

इत्युक्तः स प्रहस्यैनं पारिजातं गरुत्मति । आरोपयामास हरिस्तमूचुर्वनरक्षिणः[3] ।।३३।।

वनपाला ऊचुः

भोः [4]शची देवराजस्य महिषी तत्परिग्रहम् । पारिजातं न गोविन्द हर्तुमर्हसि पादपम् ।।३४।।
शचीविभूषणार्थाय देवैरमृतमन्थने । उत्पादितोऽयं न क्षेमी गृहीत्वैनं गमिष्यसि[5] ।।३५।।
[6]मौढ्यात्प्रार्थयसे क्षेमी गृहीत्वैनं च को व्रजेत्[7] । अवश्यमस्य देवेन्द्रो विकृतिं[8] कृष्ण यास्यति ।।३६।।
वज्रोद्यतकरं शक्रमनुयास्यन्ति चामराः । तदलं सकलैर्देवैर्विग्रहेण तवाच्युत ।।
विपाककटु यत्कर्म न तच्छंसन्ति पण्डिताः ।।३७।।

सत्यभामा बोली—कृष्ण ! यदि आपका यह वचन—सत्या ! तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो—सत्य है तो इस वृक्ष को द्वारका क्यों नहीं ले चलते हैं ? अन्तःपुर में रखने के लिए इसे मेरे घर ले चलिये । कृष्ण ! आपने यह प्रिय वचन अनेक वार कहा था, कि सत्या ! तुम मुझे जितनी प्रिय हो उतनी न जाम्ववती न रुक्मिणी ही मुझे अभीष्ट है । गोविन्द ! यदि आपका यह वचन सत्य है, केवल मुखसुखार्थ नहीं कहा गया था, तो यह कल्पवृक्ष मेरे घर का भूषण बने । कल्पवृक्ष की मंजरी को मैं अपने वालों पर धारण कर सपत्नियों के वीच शोभा प्राप्त करूँगी ।।२९-३२।।

व्यास ने कहा—इतना कहने पर हरि ने हँसकर कल्पवृक्ष को गरुड़ के ऊपर रख दिया । तव वन-रक्षकों ने उनसे कहा ।।३३।।

वनरक्षकों ने कहा—हे गोविन्द ! इन्द्र की महारानी इन्द्राणी का यह कल्पवृक्ष है । इसका आप हरण न करें । अमृतमन्थन के समय शची के भूषण के निमित्त देवताओं ने इसे उत्पन्न किया था । आप इसे ले जाने में समर्थ नहीं हो पायेंगे । कृष्ण ! आप मूर्खतावश प्रार्थना कर रहे हैं । कोन सामर्थ्यवान् पुरुष इसे ले जायेगा ? इसे ले जाने से इन्द्र वहुत क्रुद्ध होंगे । जव इन्द हाथ में वज्र धारण कर तैयार हो जायेंगे तव समस्त देवगण उनका अनुगमन करेंगे । अच्युत ! सकल देववृन्दों से आपका कलह करना व्यर्थ है । जिस काम का परिणाम, कड़ुवा हो, उसे पंडित लोग अच्छा नहीं कहते हैं ।।३४-३७।।

---

[1] ख. भूरुहः । [2] ग. तव । [3] क. ०चुस्तरुर० । [4] ख. कृण । [5] क. ०सि । मोहात्प्रा० । ख. ०सि । को व प्रार्थ० । [6] ख. ग. ०यते क्षे० । [7] ख. ०त् । श्रवणेनास्य । [8] क. ख. निष्कृतिं ।

व्यास उवाच

इत्युक्ते तैरुवाचैतान्सत्यभामाऽतिकोपिनी ।।३८।।

सत्यभामोवाच

का शची पारिजातस्य को[1] वा शक्रः सुराधिपः । सामान्यः सर्वलोकानां यद्येषोऽमृतमन्थने ।।३९।।
समुत्पन्नः पुरा कस्मादेको गृह्णाति वासवः । यथा सुरा यथा चेन्दुर्यथा श्रीर्वनरक्षिणः ।।४०।।
सामान्यः । सर्वलोकस्य पारिजातस्तथा द्रुमः । भर्तृबाहुमहागर्वाद्रुणद्ध्येनमथो शची ।।४१।।
तत्कथ्यतां द्रुतं गत्वा पौलोम्या वचनं मम । सत्यभामा वदत्येवं भर्तृगर्वोद्धताक्षरम् ।।४२।।
यदि त्वं दयिता भर्तुर्यदि तस्य प्रिया ह्यसि । मद्भर्तुर्हरतो वृक्ष तत्कारय निवारणम् ।।४३।।
जानामि ते पतिं शक्रं जानामि त्रिदशेश्वरम् । पारिजातं तथाऽप्येनं मानुषी हारयामि ते ।।४४।।

व्यास उवाच

इत्युक्ता रक्षिणो गत्वा[2] प्रोच्चैः प्रोचुर्यथोदितम् । शची चोत्साहयामास त्रिदशाधिपतिं पतिम् ।।४५।।
ततः समस्तदेवानां सैन्यैः परिवृतो हरिम् । प्रवृंक्तः पारिजातार्थमिन्द्रो योधयितुं द्विजाः ।।४६।।
ततः परिघनिस्त्रिंशगदाशूलधरायुधाः । वभूवुस्त्रिदशाः सज्जाः शक्रे वज्रकरे स्थिते ।।४७।।
ततो निरीक्ष्य गोविन्दो नागराजोपरि स्थितम् । शक्रं देवपरीवारं युद्धाय समुपस्थितम् ।।४८।।

व्यास ने कहा—यह सुनकर क्रोध से तमतमाती हुई सत्यभामा उनसे कहने लगी ।।३८।।

सत्यभामा बोली—कल्पवृक्ष की इन्द्राणी कौन होती है या देवस्वामी इन्द्र ही कौन होता है ? यह तो सब लोगों के लिये समान है । यदि यह अमृतमन्थन के समय उत्पन्न हुआ तो अकेले इन्द्र ने क्यों इसे ग्रहण किया ? वनरक्षको ! सब लोगों के लिये जैसे (सुरा) अमृत, चन्द्र तथा लक्ष्मी सामान्य है, वैसे कल्पवृक्ष भी है । यदि अपने स्वामी के वाहु-वल के गर्व से शची इसे रोकती हैं, तो शीघ्र जाकर उससे मेरी वात कहो—'स्वामी के गर्व से उद्धता सत्यभामा इस प्रकार कहती है कि यदि तुम अपने पति की प्रेयसी हो, तो कल्पवृक्ष का हरण करते हुए मेरे स्वामी का निवारण कराओ । मैं तुम्हारे पति इन्द्र को जानती हूँ, देवताओं के ईश्वर को भी जानती हूँ, तो भी मानुषी होकर कल्पवृक्ष का हरण करवाती हूँ ।।३९-४४।।

व्यास ने कहा—इतना कहने पर रक्षकगण शची के पास जाकर जोर-जोर से सव वृत्तान्त कहने लगे । शची ने देवताओं के पति इन्द्र को उत्साहित किया । द्विजगण ! तदुपरान्त अखिल देवों की सेना से युक्त इन्द्र कल्पवृक्ष के लिये कृष्ण से युद्ध करने को तैयार हो गये । इन्द्र ने हाथ में वज्र लिया और अतिरिक्त देवगण ने मुद्गर, तलवार, गदा, शूल आदि अस्त्र-शस्त्रों को धारण किया । तव गोविन्द ने युद्ध के लिये उपस्थित तथा हस्तिराज पर स्थित

---

[1] क. कोऽयं श० । [2] क. ०त्वा सत्ययोदितमञ्जसा । श० ।

चकार शङ्खनिर्घोषं दिशः शब्देन पूरयन्। [1]मुमोच च शरव्रातं सहस्रायुतसंमितम् ॥४९॥
ततो दिशो नभश्चैव दृष्ट्वा शरशताचितम्। मुमुचुस्त्रिदशाः सर्वे शस्त्राण्यस्त्राण्यनेकशः ॥५०॥
एकैकमस्त्रं शस्त्रं च देवैर्मुक्तं सहस्रधा। चिच्छेद लीलयैवेशो जगतां मधुसूदनः ॥५१॥
पाशं सलिलराजस्य समाकृष्योरगाशनः। चचाल खण्डशः कृत्वा बालपन्नगदेहवत् ॥५२॥
यमेन प्रहितं दण्डं गदाप्रक्षेपखण्डितम्। पृथिव्यां पातयामास भगवान्देवकीसुतः ॥५३॥
शिबिकां च धनेशस्य चक्रेण तिलशो विभुः[2]। चकार शौरिरर्केन्दू दृष्टिपातहतौजसौ ॥५४॥
नीतोऽग्निः शतशो बाणैर्द्राविता वसवो दिशः। चक्रविच्छिन्नशूलाग्रा रुद्रा भुवि निपातिताः ॥५५॥
साध्या विश्वे च मरुतो गन्धर्वाश्चैव सायकैः। शार्ङ्गिणा प्रेरिताः सर्वे व्योम्नि शाल्मलितूलवत् ॥५६॥
[3]गरुडश्चापि वक्त्रेण पक्षाभ्यां च नखाङ्कुरैः। भक्षयन्नहनद्देवान्दानवांश्च सदा खगः ॥५७॥
ततः शरसहस्रेण देवेन्द्रमधुसूदनौ। परस्परं ववर्षाते धाराभिरिव तोयदौ ॥५८॥
ऐरावतेन गरुडो युयुधे तत्र संकुले। देवैः समेतैर्युयुधे शक्रेण च जनार्दनः ॥५९॥
छिन्नेषु शीर्यमाणेषु शस्त्रेष्वस्त्रेषु सत्वरम्। जग्राह वासवो वज्रं कृष्णश्चक्रं सुदर्शनम् ॥६०॥
ततो हाहाकृतं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्। वज्रचक्रधरौ दृष्ट्वा देवराजजनार्दनौ ॥६१॥
क्षिप्तं वज्रमथेन्द्रेण जग्राह भगवान्हरिः। न मुमोच तदा चक्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥६२॥

इन्द्र को देव-परिवारों के साथ देखा। उन्होंने शंखध्वनि की। चारों दिशायें शब्द से गूंज उठीं। एक लाख की संख्या में वाण छोड़े गए। दिशा एवम् आकाश सैकड़ों वाणों से भर गये। तव देवताओं ने भी अनेकों अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया। जगत्स्वामी मधुसूदन ने लीला से ही देवताओं द्वारा छोड़े गए एक-एक अस्त्र-श्स्त्र के हजार टुकड़े कर दिये। गरुड़ ने वाल सर्पों की देह के समान वरुण के पाश को खींच कर उसके खण्ड खण्ड कर दिये ॥।४५-५२॥ भगवान् देवकी-पुत्र ने यम के द्वारा प्रक्षिप्त गदा को तोड़ कर पृथ्वी पर गिरा दिया। कुवेर की पालकी को चक्र से तिल के वरावर काट-काट कर रख दिया; सूर्य- चन्द्रमा को दृष्टिपात से ही तेजोहीन वना दिया। अग्नि को सैकड़ों वाणों से विद्ध कर दिया। वसुगण चारों दिशाओं में भाग गये। चक्र से कटे त्रिशूल के अग्रभाग वाले रुद्रगण पृथ्वी पर गिर पड़े। शार्ङ्ग नामक धनुष धारण करने वाले कृष्ण के वाणों से आहत साध्य, विश्वदेव, मरुत् तथा गन्धर्वगण सेमल की रूई की तरह आकाश में दीखने लगे। गरुड़ भी मुंह, पंख तथा नखों से देव-दानवों को मारने तथा खाने लगे। तव देवन्द्र और मधुसूदन परस्पर वादल की तरह हजारों वाणों की वृष्टि करने लगे। उस युद्ध में ऐरावत के साथ गरुड़ और देवों तथा इन्द्र के साथ जनार्दन युद्ध करते थे ॥५३-५९॥ शीघ्र ही सव अस्त्र-शस्त्रों के छिन्न-भिन्न हो जाने पर इन्द्र ने वज्र तथा कृष्ण ने सुदर्शन चक्र धारण किये। वज्र-चक्रधारी इन्द्र-जनार्दन को देखकर चराचर सहित तीनों लोक हाहाकार करने लगे। भगवान् हरि ने इन्द्र द्वारा प्रक्षिप्त वज्र को पकड़ लिया, पर अपना चक्र नहीं छोड़ा।

---

[1] ख. ०च सुशरांस्थीव्रान्सह०। [2] क. भूवि। [3] क. ख. ०रूत्मानपि।

प्रनष्टवज्रं देवेन्द्रं गरुडक्षतवाहनम्। [1]सत्यभामाऽब्रवीद्वाक्यं पलायनपरायणम् ॥६३॥

सत्यभामोवाच

त्रैलोक्येश्वर नो युक्तं शचीभर्तुः[2] पलायनम्। पारिजातस्रगाभोगात्त्वामुपस्थास्यते शची ॥६४॥
कीदृशं देव राज्यं ते पारिजातस्रगुज्ज्वलाम्। अपश्यतो यथापूर्वं प्रणयाभ्यागतां शचीम् ॥६५॥
अलं शक्र [3]प्रयासेन न व्रीडां यातुमर्हसि। नीयतां पारिजातोऽयं देवाः सन्तु गतव्यथाः ॥६६॥
पतिगर्वावलेपेन बहुमानपुरःसरम्। न ददर्श गृहायातामुपचारेण मां शची ॥६७॥
स्त्रीत्वादगुरुचित्ताऽहं स्वभर्तुः श्लाघनापरा। ततः कृतवती शक्र भवता सह विग्रहम् ॥६८॥
तदलं पारिजातेन परस्वेन हृतेन वा। [4]रूपेण यशसा चैव भवेत्स्त्री का न गर्विता ॥६९॥

व्यास उवाच

इत्युक्ते वै निववृते [5]देवराजस्तया द्विजाः। प्राह चैनामलं चण्डि सखि[6] खेदातिविस्तरैः ॥७०॥
न चाऽपि सर्गसंहारस्थितिकर्ताऽखिलस्य यः। जितस्य तेन मे व्रीडा जायते विश्वरूपिणा ॥७१॥
यस्मिञ्जगत्सकलमेतदनादिमध्ये, यस्माद्यतश्च न भविष्यति सर्वभूतात्।
तेनोद्भवप्रलयपालनकारणेन[7], व्रीडा कथं भवति देवि निराकृतस्य ॥७२॥

वज्र नष्ट होने के साथ ही ऐरावत भी गरुड़ द्वारा क्षत-विक्षत हो गया। इन्द्र भागने लगे। हरि ने कहा— 'ठहरो, ठहरो।' तब सत्यभामा इन्द्र से कहने लगी ॥६०-६३॥

सत्यभामा बोली—तीनों लोकों के ईश्वर तथा शची के स्वामी होकर आपको भागना नहीं चाहिये। कल्पवृक्ष के पुष्पों की माला पहनकर शची आपके पास जायेगी। पहले की तरह कल्पवृक्ष की उज्ज्वल माला धारण कर प्रेम से आयी हुई शची को विना देखे आपका राज्य कैसा? इन्द्र! आप व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं। आपको लज्जा नहीं करनी चाहिये। आप कल्पवृक्ष ले जाइये। देवगण व्यथारहित हो जाँय। पति के गर्व से शची ने गृह में आयी हुई मुझे वहुत आदर के साथ नहीं देखा। स्त्री होने के कारण मेरा हृदय विशाल नहीं है। अतः अपने पति से हठ करके मैंने आपसे विग्रह किया। अव मुझे कल्पवृक्ष की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं दूसरे का धन हरण नहीं करना चाहती। रूप तथा यश (मिलने) से किस स्त्री को गर्व नहीं होता ॥६४-६९॥

व्यास ने कहा—द्विजगण! इतना कहकर चुप हो जाने पर देवराज ने उससे कहा—'चण्डिके! सखि! खेद का अतिविस्तार करना व्यर्थ है। सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता विश्वात्मा से पराजित होने पर मुझे लज्जा क्यों होगी? देवि! जिस आदि-मध्य-रहित (परमात्मा) में संपूर्ण जगत् लीन हो जाता है तथा जिससे उत्पन्न होता है, उस उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कारण (व्रह्म) से हारने पर लज्जा कैसी? जिस अखिल जगत् रूप मूर्ति वाले (परमात्मा) की मूर्ति अल्प एवम् अति सूक्ष्म है और जिसे समस्त वेदों के ज्ञाता ही जानते हैं दूसरे नहीं, उस अजन्मा,

---

[1]क. ग. ०वीद्वीरं प०। [2]क. ख. ०भर्तः प०। [3]क. ख. प्रतापेन। [4]ग. ०ण गर्विता सा तु भर्त्रा स्त्रीकालग०। [5]क. ०जस्त्रपायुतः। प्रा०। [6]क. ०खि वैरेण केवलम्। न। [7]क. ०कारिणा मे व्री ०।

सकलभुवनमूर्तेर्मूर्तिरल्पा सुसूक्ष्मा, विदितसकलवेदैर्ज्ञायते यस्य नान्यैः ।
तमजमकृतमीशं शाश्वतं स्वेच्छयैनं, जगदुपकृतिमाद्यं को विजेतुं समर्थः ।।७३।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे पारिजातहरणे शक्रस्तवनिरूपणं
नाम त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२०३।।

अथ चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रकृष्णसंवादवर्णनम्

व्यास उवाच

संस्तुतो भगवानित्थं देवराजेन केशवः । प्रहस्य भावगम्भीरमुवाचेदं[1] द्विजोत्तमाः ।।१।।

श्रीभगवानुवाच

देवराजो भवानिन्द्रो वयं मर्त्या जगत्पते । क्षन्तव्यं भवतैवैतदपराधकृतं मम ।।२।।
पारिजाततरुश्चायं नीयतामुचितास्पदम् । गृहीतोऽयं मया शक्र सत्यावचनकारणात् ।।३।।
वज्रं चेदं गृहाण त्वं यष्टव्यं[2] प्रहितं त्वया । तवैवैतत्प्रहरणं शक्रवैरिविदारणम् ।।४।।

अक्षय, ईश, नित्य, आद्य तथा संसार के उपकारी को कौन व्यक्ति स्वेच्छा से जीतने में समर्थ (हो सकता) है ? ।।७०-७३।।'

श्रीब्रह्ममहापुराण में कल्पवृक्ष के हरण-प्रसंग में इन्द्रस्तुति-निरूपण
नामक दो सौ तीसरा अध्याय समाप्त ।।२०३।।

अध्याय २०४

इन्द्र और कृष्ण के संवाद का वर्णन

व्यास ने कहा—द्विजवर ! इन्द्र से इस प्रकार स्तुत होने के उपरान्त केशव ने हँसकर सारगर्भित वाक्य कहा ।।१।।

श्रीभगवान् ने कहा—जगत्स्वामी ! आप देवताओं के राजा इन्द्र हैं और मैं मनुष्य हूँ । इसलिए आप ही मेरे अपराध को क्षमा करें । इस कल्पवृक्ष को उचित स्थान पर रख दें । शक्र ! मैंने तो केवल सत्या के वचन के कारण इसे ग्रहण किया । इस वज्र को भी आप ले लीजिए । आपसे छोड़ा गया यह पूजनीय है । शत्रुओं का विदारण करने वाला यह वज्र आप ही का है ।।२-४।।

---

[1] ग. ०चेन्द्रं द्वि० । [2] ख. यद्वैतत्प्रहि० ।

व्यास उवाच

विमोहयसि मामीश मर्त्योऽहमिति किं वदन् । जानीमस्त्वां[1]भगवतोऽनन्तसौख्यविदो वयम् ॥५॥
योऽसि सोऽसि जगन्नाथ प्रवृत्तौ नाथ संस्थितः । जगतः शल्यनिष्कर्षं करोष्यसुरसूदन ॥६॥
नीयतां पारिजातोऽयं कृष्ण द्वारवतीं पुरीम् । मर्त्यलोके त्वया मुक्ते नायं संस्थास्यते भुवि ॥७॥

व्यास उवाच

तथेत्युक्त्वा तु देवेन्द्रमाजगाम भुवं हरिः । प्रयुक्तैः सिद्धगन्धर्वैः स्तूयमानस्त्वथर्षिभिः ॥८॥
जगाम कृष्णः सहसा गृहीत्वा पादपोत्तमम् । ततः शङ्खमुपाध्माय द्वारकोपरि संस्थितः ॥९॥
हर्षमुत्पादयामास द्वारकावासिनां द्विजाः । अवतीर्याथ गरुडात्सत्यभामासहायवान् ॥१०॥
निष्कुटे स्थापयामास पारिजातं महातरुम् । यमभ्येत्य जनः सर्वो जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥११॥
वास्यते यस्य पुष्पाणां गन्धेनोर्वी त्रियोजनम् । ततस्ते यादवाः सर्वे देवगन्धानमानुषान्[2] ॥१२॥
ददृशुः पादपे [3]तस्मिन्कुर्वतो [4]मुखदर्शनम् । किंकरैः समुपानीतं हस्त्यश्वादि ततो धनम् ॥१३॥
स्त्रियश्च कृष्णो जग्राह नरकस्य परिग्रहात्[5] । ततः काले शुभे प्राप्त उपयेमे जनार्दनः ॥१४॥
ताः कन्या [6]नरकावासात्सर्वतो याः समहृताः । एकस्मिन्नेव गोविन्दः कालेनाऽऽसां द्विजोत्तमाः ॥१५॥
जग्राह विधिवत्पाणीन्पृथग्देहे स्वधर्मतः । षोडश स्त्रीसहस्राणि शतमेकं तथाऽधिकम् ॥१६॥

शुक्र ने कहा—ईश ! 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा कहकर क्यों आप मुझे मोह में डाल रहे हैं ? मैं आपको जानता हूँ । आप ही से मह सव अनन्त सुखों को प्राप्त करते हैं । जगन्नाथ ! राक्षसों के संहारक ! आप जो हैं सो हैं, पर आप प्रवृत्ति पर स्थित होकर संसार का संकट दूर करते हैं । कृष्ण ! इस कल्पवृक्ष को आप द्वारका ले जाँय । आपके मर्त्यलोक छोड़ देने पर यह पृथ्वी पर नहीं ठहरेगा ॥५-७॥

व्यास ने कहा—इन्द्र से 'एवमस्तु' कहकर भगवान् कृष्ण उत्तम वृक्ष को लेकर सिद्ध, गन्धर्व तथा ऋषियों द्वारा स्तुत होते हुए शीघ्र मृत्युलोक आ गये। विप्रवृन्द ! द्वारका पहुँचकर उन्होंने शंखध्वनि से द्वारकावासियों को आनन्दित किया और गरुड़ पर से सत्यभामा सहित उतर कर अन्तःपुर में महातरु कल्पवल्ली को स्थापित कर दिया। उसको देखकर मनुष्य को पूर्व जाति का स्मरण हो आता था और उसकी सुगंध से पृथ्वी तीन योजन तक सुवासित रहती थी। यादवगण उस अलौकिक गन्ध को सूँघते थे, उस वृक्ष में अपना मुखदर्शन करते थे। सेवकगण उससे हाथी-घोड़े आदि धन प्राप्त करते थे। नरक नामक राक्षस के वन्धन से उन्मुक्त स्त्रियों को कृष्ण ने स्वीकार किया। शुभकाल प्राप्त होने पर जनार्दन ने उन सव कन्याओं से विवाह कर लिया, जो नरक के गृह से लाई गई थीं। विप्रवर ! गोविन्द ने पृथक्-पृथक् शरीर धारण कर एक ही समय सव कन्याओं से विधिपूर्वक विवाह किया। सोलह हजार एक सौ स्त्रियाँ थीं। भगवान् मधुसूदन ने उतने ही रूप वनाये। उन कन्याओं ने मधुसूदन को

---

[1] ग. ०तो मनुसूक्ष्मवि० । [2] क. देहवन्धान्युपानयम् । [3] क. ०र्वन्तो मु० । [4] क. ख. ०खवन्धन० । [5] क. ग्रहा? । त० । [6] क. ख. ०रकेणाऽऽसन्सर्व० ।

तावन्ति चक्रे रूपाणि भगवान्मधुसूदनः । एकैकशश्च ताः कन्या मेनिरे मधुसूदनम् ॥१७॥
ममै पाणिग्रहणं गोविन्दः कृतवानिति । निशासु जगतः स्रष्टा तासां गेहेषु केशवः ॥
उवास विप्राः सर्वासां विश्वरूपधरो हरिः ॥१८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे श्रीकृष्णचरिते चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०४॥

अथ पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अनिरुद्धचरित्रवर्णनम्

व्यास उवाच

प्रद्युम्नाद्या हरेः पुत्रा रुक्मिण्यां [1]कथिता द्विजाः । भान्वादिकांश्च वै पुत्रान्सत्यभामा व्यजायत ॥१॥
दीप्तिमन्तः प्रपक्षाद्या रोहिण्यास्तनया हरेः । बभूवुर्जाम्बवत्याश्च [2]साम्बाद्या बाहुशालिनः ॥२॥
तनया भद्रविन्दाद्या नाग्नजित्यां महाबलाः । संग्रामचित्प्रधानास्तु शैब्यायां चाभवन्सुताः ॥३॥
वृकाद्यास्तु सुता [3]माद्री गात्रवत्प्रमुखान्सुतान् । अवाप लक्ष्मणा पुत्रान्कालिन्द्याश्च श्रुतादयः ॥४॥
अन्यासां चैव भार्याणां समुत्पन्नानि चक्रिणः । अष्टायुतानि पुत्राणां सहस्राणि शतं तथा ॥५॥

एक-एक करके माना और समझा कि गोविन्द ने मुझसे ही पाणिग्रहण किया है । द्विजगण ! रात्रि में जगत्स्रष्टा केशव विश्वरूप धारण कर उन सवके घरों में वास करते थे ॥८-१८॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में श्रीकृष्ण-चरित्र-वर्णन-प्रसंग में दो सौ चौथा अध्याय समाप्त ॥२०४॥

अध्याय २०५

अनिरुद्ध का चरित्र-वर्णन

व्यास ने कहा—द्विजवृन्द ! हरि के रुक्मिणी से उत्पन्न प्रद्युम्न आदि पुत्रों के वारे में मैंने कहा । (अव और सुनिये) भानु आदि पुत्र सत्यभामा से उत्पन्न हुए । हरि के रोहिणी से प्रपक्ष आदि दीप्तिमान् पुत्र हुए । जाम्बवती के साम्ब आदि प्रतापी पुत्र हुए । नाग्नजिती के भद्रविन्द आदि महावलवान् पुत्र हुए । संग्रामजित् आदि पुत्र शैव्या के हुए । माद्री के वृक आदि पुत्र हुए । लक्ष्मणा ने गात्रवान् आदि पुत्रों को प्राप्त किया । कालिन्दी के श्रुत आदि पुत्र हुए । कृष्ण की दूसरी स्त्रियों से आठ करोड़ एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए । उनमें रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्न

---

[1] क. ०ता हि वः । भा० । [2] ख. ग। ०द्या वहु० । [3] क. ०द्री सुगात्रप्रमु० ।

प्रद्युम्नः [1]प्रमुखस्तेषां रुक्मिण्यास्तु सुतस्ततः । प्रद्युम्नानिरुद्धोऽभूद्वज्रस्तस्मादजायत ॥६॥
अनिरुद्धो रणे रुद्धो बलेः पौत्रीं महाबलः । बाणस्य तनयामू (मु) षामुपये द्विजोत्तमाः ॥७॥
यत्र युद्धमभूद्घोरं हरिशंकरयोर्महत् । छिन्नं सहस्रं बाहूनां यत्र बाणस्य चक्रिणा ॥८॥

मुनय ऊचुः

कथं युद्धमभूद्ब्रह्मन्नुषार्थे हरकृष्णयोः । कथं क्षयं च बाणस्य बाहूनां कृतवान्हरिः ॥९॥
एतत्सर्वं महाभाग[2] वक्तुमर्हसि नोऽखिलम् । महत्कौतूहलं जातं श्रोतुमेतां कथां शुभाम् ॥१०॥

व्यास उवाच

उषा बाणसुता विप्राः पार्वतीं शंभुना सह । क्रीडन्तीमुपलक्ष्योच्चैः स्पृहां चक्रे तदा[3] स्वयम् ॥
ततः सकलचित्तज्ञा गौरी तामाह भामिनीम् ॥११॥

गौर्युवाच

अलमित्यनुतापेन भर्त्रा त्वमपि रंस्यसे ॥१२॥

व्यास उवाच

इत्युक्ता सा तदा चक्रे कदेति मतिमात्मनः । को वा भर्ता ममेत्येनां पुनरप्याह पार्वती ॥१३॥

प्रधान था । प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति हुई । द्विजश्रेष्ठो ! रणदुर्मद महावली अनिरुद्ध ने वलि की पौत्री तथा वाण की पुत्री उषा से विवाह किया । उस विवाह में हरि और शंकर के वीच महायुद्ध हुआ । कृष्ण ने वाण की हजार भुजाओं को काट डाला ॥१-८॥

मुनियों ने कहा—व्रह्मन् ! उषा के लिये क्यों शिव तथा कृष्ण में युद्ध हुआ ? क्यों हरि ने वाण की बाँहें काट डालीं ? महाभाग ! यह सव सविस्तार हमें वतलाइये । इस शुभ कथा को सुनने के लिए हमें वड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥९-१०॥

व्यास ने कहा—विप्रवृन्द ! बाण की कन्या उषा ने शंकर के साथ क्रीडा करती हुई पार्वती को देखकर इच्छा की, कि काश ! मैं भी ऐसा करती । तव सवके चित्तों को जानने वाली गौरी ने उससे कहा ॥११॥

गौरी बोलीं—तुम व्यर्थ ही अनुताप कर रही हो, पति के साथ तुम भी रमण करोगी ॥१२॥

व्यास ने कहा—पार्वती के इतना कहने पर उषा मन में सोचने लगी, कि कव कौन मेरा स्वामी होगा । फिर पार्वती ने उससे कहा ॥१३॥

---

[1] क. ख. प्रथमस्ते० । [2] क. ख. ०ग समाख्यातुं त्वमर्हसि । म० । [3] ख. ग. ०दाश्रयाम् ।

पार्वत्युवाच

वैशाखे शुक्लद्वादश्यां स्वप्ने योऽभिभवं तव । करिष्यति स ते भर्ता राजपुत्रि भविष्यति ।।१४।।

व्यास उवाच

तस्यां तिथौ पुमान्स्वप्ने यथा देव्या उदीरितः । तथैवाभिभवं चक्रे रागं चक्रे च तत्र सा ।।
[1]ततः प्रबुद्धा पुरुषमपश्यन्ती तमुत्सुका ।।१५।।

उषोवाच

क्व गतोऽसीति निर्लज्जा द्विजाश्चोक्तवती सखीम् । बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा तु तत्सुता ।।१६।।
तस्याः सख्यभवत्सा च प्राह कोऽयं त्वयोच्यते । यदा लज्जाकुला नास्य कथयामास सा सखी ।।१७।।
तदा विश्वासमानीय सर्वमेवान्ववेदयत् । विदितायां तु तामाह पुनरूषा यथोदितम् ।।
देव्या तथैव तत्प्राप्तौ योऽभ्युपायः कुरुष्व तम् ।।१८।।

व्यास उवाच

ततः पटे सुरान्दैत्यान्गन्धर्वांश्च प्रधानतः । मनुष्यांश्चाभिलिख्यासौ चित्रलेखाऽप्यदर्शयत् ।।१९।।
अपास्य सा तु गन्धर्वांस्तथोरगसुरासुरान् । मनुष्येषु ददौ दृष्टिं तेष्वप्यन्धकवृष्णिषु ।।२०।।

पार्वती ने कहा—राजकुमारी ! वैशाख-शुक्ल-द्वादशी तिथि में जो व्यक्ति स्वप्न में तुमसे प्रसंग करेगा, वही तुम्हारा पति होगा ।।१४।।

व्यास ने कहा—पार्वती के कथनानुसार उसी तिथि को एक पुरुष ने स्वप्न में उषा से रमण किया और उषा को उसके साथ प्रेम भी हो गया । तव जागने पर उस पुरुष को न देखती हुई उषा (उसके लिए) उत्कण्ठित हो गई ।।१५।।

उषा बोली—द्विजगण ! 'कहाँ गये हो' यह वात उषा निर्लज्ज होकर अपनी सखी से पूछ वैठी । वाण के मंत्री कुम्भाण्ड के चित्रलेखा नामक कन्या थी । वह उषा की सखी होने के नाते वोली—'किसके वारे में तुम कह रही हो ?' जब उषा ने लज्जा के मारे कुछ नहीं कहा तव चित्रलेखा उसे विश्वास दिलाने के लिए सब वृत्तान्त निवेदन करने लगी । 'यह सव समझ गयी' ऐसा जानकर उषा ने उससे कहा—'उसकी प्राप्ति के लिए गौरी ने जो उपाय वतलाया है, वह करो' ।।१६-१८।।

व्यास ने कहा—तदनन्तर चित्रलेखा ने चित्र-पट पर देव, राक्षस, गन्धर्व और मुख्य-मुख्य मनुष्यों को चित्रित कर दिखलाया । उषा ने गन्धर्व, सर्प, राक्षस तथा देवों को छोड़कर मनुष्यों के ऊपर दृष्टि दौड़ायी, उनमें भी अन्धक और वृष्टि वालों के ऊपर खास तौर से दृष्टिपात किया । सुन्दर भौं वाली उषा कृष्ण-राम को देखकर

---

[1] क. उषा ।

कृष्णरामौ विलोक्याऽऽसीत्सुभ्रूर्लज्जायतेक्षणा । प्रद्युम्नदर्शने व्रीडादृष्टिं निन्ये ततो द्विजाः ॥२१॥
दृष्ट्वाऽनिरुद्धं च ततो लज्जा क्वापि निराकृता । सोऽयं सोऽयं ममेत्युक्ते तथा सा योगगामिनी ॥
ययौ द्वारवतीमू (मु)षां समाश्वास्य ततः सखी ॥२२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बाणयुद्धे पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०५॥

अथ षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

बाणयुद्धवर्णनम्

व्यास उवाच

बाणोऽपि प्रणिपत्याग्रे ततश्चाऽऽह त्रिलोचनम् ॥१॥

बाण उवाच

देव बाहुसहस्रेण निर्विण्णोऽहं विनाऽऽहवम् । कच्चिन्ममैषां बाहूनां साफल्यकरणो रणः ॥
भविष्यति विना युद्धं भाराय मम किं भुजैः ॥२॥

शंकर उवाच[१]

मयूरध्वजभङ्गस्ते यदा बाण भविष्यति । पिशिताशिजनानन्दं प्राप्स्यसि त्वं तदा रणम् ॥३॥

लज्जित हो गई। द्विजवृन्द ! उसने प्रद्युम्न के ऊपर लज्जापूर्ण दृष्टि डाली। अनिरुद्ध को देखकर वह योग-मार्ग से चलने वाली उषा लज्जा दूर करके वोल उठी—'यही है मेरा, यही है।' तव उषा को सान्त्वना देकर सखी द्वारका गयी ॥१९-२२॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में वाण-युद्ध-प्रसंग में दो सौ पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥२०५॥

अध्याय २०६

बाण के युद्ध का वर्णन

व्यास ने कहा—वाण भी शिव के सामने माथा टेक कर कहने लगा ॥१॥

बाण ने कहा—देव ! मैं हजार भुजाओं से युक्त होकर विना युद्ध के दुःखी हो रहा हूँ। यदि कोई ऐसा युद्ध हो, जो मेरी वाँहों को चरितार्थ कर सके, तो ठीक है; अन्यथा विना युद्ध के भुजायें भारमात्र हैं ॥२॥

शंकर ने कहा—वाण ! जव तुम्हारी मयूर-पताका भग्न होगी तव मांसाहारी जीवों को आनन्द देने वाला रण तुम्हें प्राप्त होगा ॥३॥

---

[१] ग. ०च। मायू०।

व्यास उवाच

ततः प्रणम्य मुदितः शंभुमभ्यागतो गृहात् । भग्नं ध्वजमथाऽऽलोक्य हृष्टो हर्षं परं ययौ ॥४॥
एतस्मिन्नेव काले तु योगविद्याबलेन तम् । अनिरुद्धमथाऽऽनिन्ये चित्रलेखा वरा सखी ॥५॥
कन्यान्तःपुरमध्ये तं रममाणं सहोषया । विज्ञाय रक्षिणो गत्वा शशंसुर्दैत्यभूपतेः ॥६॥
व्यादिष्टं किंकराणां तु सैन्यं तेन महात्मना । जघान परिघं लौहमादाय परवीरहा ॥७॥
हतेषु तेषु बाणोऽपि रथस्थस्तद्वधोद्यतः । युध्यमानो यथाशक्ति यदा वीरेण निर्जितः ॥८॥
मायया युयुधे तेन स तदा मन्त्रचोदितः । ततश्च पन्नगास्त्रेण बबन्ध यदुनन्दनम् ॥९॥
द्वारवत्यां क्व यातोऽसावनिरुद्धेति जल्पताम् । यदूनामाचचक्षे तं बद्धं बाणेन नारदः ॥१०॥
तं शोणितपुरे श्रुत्वा नीतं विद्याविदग्धया । योषिता प्रत्ययं जग्मुर्यादवा नाम[१] वैरिति (णि) ॥११॥
ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रा[२] गतं हरिः । बलप्रद्युम्नसहितो बाणस्य प्रययौ पुरम् ॥१२॥
पुरीप्रवेशे प्रमथैर्युद्धमासीन्महाबलैः । ययौ बाणपुराभ्याशं नीत्वा तान्संक्षयं हरिः ॥१३॥
ततस्त्रिपादस्त्रिशिरा ज्वरो माहेश्वरो महान् । बाणरक्षार्थमत्यर्थं ययुधे शार्ङ्गधन्वना ॥१४॥
[३]तद् भस्मस्पर्शसंभूततापं [४]कृष्णाङ्गसंगमात् । [५]अवाप बलदेवोऽपि [६]समं संमीलितेक्षणः ॥१५॥

व्यास ने कहा—तदुपरान्त शंकर को प्रणाम कर वाण घर से वाहर निकला और पताके को भग्न देखकर बड़ा आनन्दित हुआ ॥४॥ इसी समय योगविद्या के वल से उत्तमा सखी चित्रलेखा अनिरुद्ध को ले आई ॥५॥ कन्यापुर में उषा के साथ रमण करते हुए अनिरुद्ध का पता पाकर रक्षकों ने दैत्यराज से जाकर निवेदन कर दिया ॥६॥ उस महात्मा ने अनिरुद्ध को मार देने के लिए सेवकों को आज्ञा दे दी। पर वीर शत्रुओं के नाशकर्त्ता अनिरुद्ध ने लोहे का मुद्‌गर लेकर सैनिकों को नष्ट कर दिया। सेनाओं के निहत हो जाने पर अनिरुद्ध का वध करने के लिए उद्यत वाण भी रथारूढ़ होकर शक्तिभर युद्ध करने लगा। पर अनिरुद्ध ने उसे हरा दिया। तव मंत्रसिद्ध वाण माया से युद्ध करने लगा और अन्ततः सर्पास्त्र से यदुकुमार को वाँध दिया ॥७-९॥ (अनिरुद्ध के चले आने पर) द्वारका में यादवगण वोलने लगे—अनिरुद्ध कहाँ गये ?' (उसी समय) नारद ने (कहीं से आकर) वाण द्वारा वाँधे गये अनिरुद्ध का समाचार सुना दिया ॥१०॥ 'विद्या में निपुण स्त्री, अनिरुद्ध को शोणितपुर ले गई' यह सुनकर यादवों को विश्वास हो गया ॥११॥ तदनन्तर गरुड़ पर चढ़कर कृष्ण बलभद्र और प्रद्युम्न को साथ लेकर शोणितपुर के लिए तुरन्त प्रस्थित हो गये। नगर में प्रवेश करने से पूर्व महावलशाली प्रमथगणों के साथ उनका युद्ध छिड़ गया। हरि उनका नाश करके बाण-पुर के समीप पहुँचे। तव शंकर का तीन पैर तथा तीन शिर वाला महाज्वर वाण की रक्षा के निमित्त कृष्ण से युद्ध करने लगा ॥१२-१४॥ कृष्ण के अंग से स्पर्श हो जाने के कारण वलदेव को भी महाज्वर के भस्म-स्पर्श से उत्पन्न ताप लग गया। उन्होंने आँखें मूँद लीं। तव वैष्णव ज्वर ने कृष्ण के साथ युद्ध करते

---

[१] ख. ०म तैरि०। [२] ग. ०मात्रं ग०। [३] क. तद्वच्च कृष्णसं०। [४] ग. ०तस्ताप:० कृ०। [५]. अत्यजद्बल०। [६] ग। ०पि श्रममुन्मीलि०।

ततः संयुध्यमानस्तु सह देवेन शार्ङ्गिणा । वैष्णवेन ज्वरेणाऽऽशु कृष्णदेहान्निराकृतः ॥१६॥
नारायणभुजाघातपरिपीडनविह्वलम् । तं वीक्ष्य क्षम्यतामस्येत्याह देवः पितामहः ॥१७॥
ततश्च क्षान्तमेवेति प्रोच्य तं वैष्णवं ज्वरम् । आत्मन्येव लयं निन्ये भगवान्मधुसूदनः ॥१८॥
मम त्वया समं युद्धं ये स्मरिष्यन्ति मानवाः । विज्वरास्ते भविष्यन्तीत्युक्त्वा चैनं ययौ हरिः[1] ॥१९॥
ततोऽग्नीन्भगवान्पञ्च जित्वा नीत्वा क्षयं तथा । दानवानां बलं विष्णुश्चूर्णयामास लीलया ॥२०॥
ततः समस्तसैन्येन दैतेयानां बलेः सुतः । युयुधे शंकरश्चैव कार्तिकेयश्च शौरिणा ॥२१॥
हरिशंकरयोर्युद्धमतीवाऽऽसीत्सुदारुणम् । चुक्षुभुः सकला लोकाः शस्त्रास्त्रैर्बहुधाऽर्दिताः ॥२२॥
प्रलयोऽयमशेषस्य जगतो नूनमागतः । मेनिरे त्रिदशा यत्र वर्तमाने महाहवे[2] ॥२३॥
जृम्भणास्त्रेण गोविन्दो जृम्भयामास शंकरम् । ततः प्रणेशुर्दैतेयाः प्रमथाश्च समन्ततः ॥२४॥
जृम्भाभिभूतश्च हरो रथोपस्थमुपाविशत् । न शशाक तदा योद्धुं कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा ॥२५॥
गरुडक्षतबाहुश्च प्रद्युम्नास्त्रेण पीडितः । कृष्णहुंकारनिर्धूतशक्तिश्चापययौ गुहः ॥२६॥
जृम्भिते शंकरे नष्टे दैत्यसैन्ये गुहे जिते । नीते प्रमथसैन्ये च संक्षयं शार्ङ्गधन्वना ॥२७॥
नन्दीशसंगृहीताश्वमधिरूढा महारथम् । बाणस्तत्राऽऽययौ योद्धुं कृष्णकार्ष्णिबलैः सह ॥२८॥
बलभद्रो महावीर्यो बाणसैन्यमनेकधा । विव्याध बाणैः प्रद्युम्नो धर्मतश्चापलायतः ॥२९॥

हुए माहेश्वर ज्वर को कृष्ण की देह से निकाल दिया ॥१५-१६॥ हरि की भुजाओं के आघात से परिपीड़ित माहेश्वर ज्वर को देखकर व्रह्मा ने विष्णु से कहा—'क्षमा कर दीजिये'। विष्णु ने कहा—'क्षमा ही है।' तव भगवान् मधुसूदन ने वैष्णव ज्वर को अपने में लीन कर लिया और माहेश्वर ज्वर से कहा—'जो मनुष्य तुम्हारे इस युद्ध का स्मरण करेंगे, वे विज्वर हो जायेंगे।' इतना कहकर हरि आगे वढ़े ॥१७-१९॥ तव भगवान् ने पाँच अग्नियों को जीतकर दानवों की सेना को आसानी से चूर-चूर कर दिया। तव समस्त सैनिकों से युक्त वाण, शंकर और कार्तिकेय कृष्ण से युद्ध करने लगे। हरि और शिव में वड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया। अनेक वार अस्त्र-शस्त्रों से पीड़ित सकल लोक काँपने लगे। उस युद्ध की विद्यमानता में देवगण सोचने लगे कि निश्चय ही अव संपूर्ण जगत् में प्रलय मच जायगा। गोविन्द ने जृम्भणास्त्र का प्रयोग किया, जिससे शंकर को जँभाई आने लगी। तव चारों ओर दैत्य और प्रमथगण नष्ट होने लगे ॥२०-२४॥ जँभाई से अभिभूत शिव, महापराक्रमी कृष्ण के साथ युद्ध करने में असमर्थ होकर रथ पर वैठ गये। गरुड़ ने कार्तिकेय की वाहुओं को क्षत-विक्षत कर दिया। प्रद्युम्न ने अस्त्र से पीड़ित किया। कृष्ण ने हुंकार से उसकी शक्ति नष्ट कर दी। फिर वह टिक नहीं सका। जव शंकर जृम्भास्त्र के वशीभूत हो गये, दानव-सेनायें नष्ट हो गईं, कार्तिकेय पराजित हो गये और प्रमथ-सेना को भी कृष्ण क्षीण कर चुके तव सारथि के रूप में शिव को लेकर रथारूढ़ वाण कृष्ण तथा उनकी सेना से युद्ध करने के लिये वहाँ आ पहुँचा ॥२५-२८॥ महापराक्रमी वलभद्र तथा धर्मतः न भागने वाले प्रद्युम्न ने वाणों से वाण की सेना को कई वार आहत किया। वलराम ने हल के अग्रभाग तथा मुशल

---

[1] ग. ज्वरः० । [2] क. महारणे ।

आकृष्य लाङ्गलाग्रेण मुशलेन च पोथितम् । बलं बलेन ददृशे बाणो बाणैश्च चक्रिणः ॥३०॥
ततः कृष्णस्य बाणेन युद्धमासीत्समासतः । परस्परं तु संदीप्तान्कायत्राणविभेदिनः ॥३१॥
कृष्णश्चिच्छेद बाणंस्तान्बाणेन प्रहिताञ्शरैः । बिभेद केशवं बाणो बाणं विव्याध चक्रधृक् ॥३२॥
मुमुचाते तथाऽस्त्राणि बाणकृष्णौ जिगीषया । परस्परक्षतिपरौ परिघांश्च ततो द्विजाः ॥३३॥
छिद्यमानेष्वशेषेषु शस्त्रेष्वस्त्रे च सीदति । प्राचुर्येण हरिर्बाणं हन्तुं चक्रे ततो मनः ॥३४॥
ततोऽर्कशतसंभूततेजसा सदृशद्युति । जग्राह दैत्यचक्रारिर्हरिश्चक्रं सुदर्शनम् ॥३५॥
मुञ्चतो बाणनाशाय तच्चक्रं मधुविद्विषः । नग्ना दैतेयविद्याऽभूत्कोटरी पुरतो हरेः ॥३६॥
तामग्रतो हरिर्दृष्ट्वा मीलिताक्षः सुदर्शनम् । मुमोच बाणमुद्दिश्य छेत्तुं बाहुवनं रिपोः ॥३७॥
क्रमेणास्य तु बाहूनां बाणस्याच्युतचोदितम् । छेदं चक्रेऽसुरस्याऽऽशु शस्त्रास्त्रक्षेपणाद्द्रुतम् ॥३८॥
छिन्ने बाहुवने तत्तु करस्थं मधुसूदनः । मुमुक्षुर्बाणनाशाय विज्ञातस्त्रिपुरद्विषा ॥३९॥
स उत्पत्याऽऽह गोविन्दं सामपूर्वमुमापतिः । विलोक्य बाणं दोर्दण्डच्छेदासृक्स्राववर्षिणम् ॥४०॥

रुद्र उवाच

कृष्ण कृष्ण जगन्नाथ जाने त्वां पुरुषोत्तमम् । परेशं परमात्मानमनादिनिधनं परम् ॥४१॥
दैवतिर्यङ्मनुष्येषु शरीरग्रहणात्मिका । लीलेयं तव चेष्टा हि दैत्यानां वधलक्षणा ॥४२॥
तत्प्रसीदाभयं दत्तं बाणस्यास्य मया प्रभो । तत्त्वया नानृतं कार्यं यन्मया व्याहृतं वचः ॥४३॥

से और कृष्ण ने बाणों से शत्रु की सेना को तहस-नहस कर दिया। तब कृष्ण और वाण में घोर युद्ध होने लगा। वाण के द्वारा प्रक्षिप्त कवचभेदी बाणों को कृष्ण अपने शरों से काट देते थे। बाण केशव को वेध करता था और केशव वाण को। वे दोनों विजय की इच्छा से अस्त्रों को छोड़ते थे। तब परस्पर क्षति पहुँचाने में व्याकुल दोनों व्यक्ति मुसलों का प्रयोग करने लगे। समस्त अस्त्र-शस्त्रों के छिन्न-भिन्न हो जाने पर हरि ने बाण को मार देने का विचार किया। अनन्तर दैत्य-समूह-नाशन हरि ने सैकड़ों सूर्य के समान प्रकाशमान सुदर्शन चक्र को उठा लिया ॥२९-३५॥ वाण के नाश के लिये चक्र छोड़ते हुए मधुसूदन के आगे कोटरी नामक राक्षसी विद्या नग्न होकर खड़ी हो गई। उसे सामने देखकर हरि ने नेत्र को वंद कर लिया और शत्रु की भुजा रूप वन को काटने के लिए वाण को उद्देश्य करके सुदर्शन छोड़ दिया। कृष्ण के छोड़े हुए चक्र ने क्रमशः वाण की सारी भुजाओं को शस्त्रास्त्र फेंकने से भी पहले द्रुत गति से काट डाला। वाहु-समूह के विच्छिन्न हो जाने पर शंकर-द्रोह-ज्ञाता मधुसूदन ने बाण-नाश के लिए छोड़े हुए चक्र को अपने हाथ में ले लिया। वाँहों के कट जाने से शोणित-वर्षा करते हुए वाण को देखकर महादेव गोविन्द के पास जाकर प्रार्थना करने लगे ॥३६-४०॥

रुद्र ने कहा—कृष्ण, कृष्ण ! जगन्नाथ ! मैं जानता हूँ कि आप पुरुषोत्तम, परमात्मा, ईश्वर तथा जन्ममरण से रहित हैं। दैत्यों का वध करने के लिये देव, पक्षी तथा मनुष्य का शरीर जो आप धारण करते हैं, यह तो आपकी लीला है। प्रभो ! प्रसन्न होइये। मैंने वाण को अभयदान दिया है। मेरे वचन को मिथ्या मत कीजिए।

अस्मत्संश्रयवृद्धोऽयं नापराधस्तवाव्यय । मया दत्तवरो दैत्यस्ततस्त्वां क्षमयाम्यहम् ॥४४॥

व्यास उवाच

इत्युक्तः प्राह गोविन्दः शूलपाणिमुमापतिम् । प्रसन्नवदनो भूत्वा गतामर्षोऽसुरं प्रति ॥४५॥

श्रीभगवानुवाच

युष्मद्दत्तवरो बाणो जीवतादेष शंकर । त्वद्वाक्यगौरवादेतन्मया चक्रं निवर्तितम् ॥४६॥
त्वया यदभयं दत्तं तद्दत्तमभयं मया । मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रष्टुमर्हसि शंकर ॥४७॥
योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम् । अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः[1] ॥४८॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा प्रययौ कृष्णः प्राद्युम्निर्यत्र तिष्ठति । तद्बन्धफणिनो नेशुर्गरुडानिलशोषिताः ॥४९॥
ततोऽनिरुद्धमारोप्य सपत्नीकं गरुत्मति । आजग्मुर्द्वारकां रामकार्ष्णिदामोदराः पुरीम् ॥५०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बाणयुद्धे षडधिकशततमोऽध्यायः ॥२०६॥

यह मेरे आश्रय में रहकर समृद्ध हुआ है। आपका कोई अपराध नहीं है। मैंने इस दैत्य को वरदान दिया था। इस लिए क्षमा करवा रहा हूँ ॥४१-४४॥

व्यास ने कहा—इतना कहने पर गोविन्द राक्षस के प्रति क्रोध त्याग कर प्रसन्नमुख हो शूलपाणि उमापति से कहने लगे ॥४५॥

श्री भगवान् ने कहा—शंकर ! आपने जव इसे वरदान दिया है तव यह जीवित रहे। आपकें वचन की प्रतिष्ठा के कारण मैंने चक्र को निवृत्त कर लिया है। आपने जो अभय दान दिया वह (मानो) मैंने अभय दान दिया। आप मुझे अपने से अलग न समझे। शिव ! जो मैं हूँ, वही आप तथा देव-राक्षस-मनुष्य सहित यह संपूर्ण जगत् है। अविद्या से मोहित चित्त वाले पुरुष भिन्नदर्शी होते हैं ॥४६-४८॥

व्यास ने कहा—इतना कहकर कृष्ण वहाँ गये, जहाँ अनिरुद्ध था। अनिरुद्ध को वाँधे हुए सर्पगण गरुड़ के वायु से शोषित होकर नष्ट हो गये। तदनन्तर पत्नी सहित अनिरुद्ध को गरुड़ पर चढ़ाकर कृष्ण-राम अपनी द्वारिकापुरी आ गये ॥४९-५०॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में वाण-युद्ध-प्रसंग में दो सौ छठा अध्याय समाप्त ॥२०६॥

---

[1] ख. ०दर्शनाः । इ० ।

अथ सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

पौण्ड्रकवधवर्णनम्

मुनय ऊचुः

चक्रे कर्ममहच्छौरिर्बिभ्रद्यो मानुषीं तनुम् । जिगाय शक्रं शर्वं च सर्वदेवांश्च लीलया ॥१॥
यच्चान्यदकरोत्कर्म [1]दिव्यचेष्टाविघातकृत् । कथ्यतां तन्मुनिश्रेष्ठ परं कौतूहलं हि नः ॥२॥

व्यास उवाच

गदतो मे मुनिश्रेष्ठाः श्रूयतामिदमारात् । नरावतारे कृष्णेन दग्धा वाराणसी यथा ॥३॥
पौण्ड्रको वासुदेवश्च वासुदेवोऽभवद्भुवि । अवतीर्णस्त्वमित्युक्तो जनैरज्ञानमोहितैः ॥४॥
स मेने वासुदेवोऽहमवतीर्णो महीतले । नष्टस्मृतिस्ततः सर्वं विष्णुचिह्नमचीकरत् ॥
दूतं च प्रेषयामास[2] स कृष्णाय[2] द्विजोत्तमाः ॥५॥

दूत उवाच

त्यक्त्वा चक्रादिकं चिह्नं मदीयं नाम माऽऽत्मनः । वासुदेवात्मकं मूढ मुक्त्वा[3] सर्वमशेषतः ॥६॥
आत्मनो जीवितार्थं च तथा मे प्रणतिं व्रज ॥७॥

अध्याय २०७

पौण्ड्रक-वध-वर्णन

मुनियों ने कहा—कृष्ण ने मनुष्य-शरीर धारण कर महान् कार्य किया, जो कि इन्द्र, शिव तथा अखिल देवों को सहज ही में जीत लिया। मुनिश्रेष्ठ! दिव्यचेष्टानाशन कृष्ण ने और जो कार्य किया, वह हमें वतलाइये, हमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥१-२॥

व्यास ने कहा—मुनिवर! आदरपूर्वक सुनिये, मैं कहता हूँ। नरावतार में कृष्ण ने काशीपुरी को जलाया। पौण्ड्रक और वासुदेव—दो कृष्ण पृथ्वी पर हो गये। अर्थात् अज्ञानमोहित व्यक्तियों ने पौण्ड्रक से कहा—'तुम अवतारी पुरुष हो।' उसने स्वयं भी अपने को समझा कि मैं वासुदेव हूँ, पृथ्वी पर अवतीर्ण हूँ। द्विजश्रेष्ठ! पश्चात् उसने सब कुछ भूलकर अपने शरीर में विष्णु के चिह्नों का धारण किया और कृष्ण के पास एक दूत भेजा ॥३-५॥

दूत ने कहा—मूर्ख! तू मेरे चक्र आदि चिह्नों को तथा वासुदेव नाम को त्याग दे और यदि जीने की इच्छा है तो मुझे आकर प्रणाम कर ॥६-७॥

१क. ख. ०ष्टभिघा० । २क. ख. ०स कृ० । ३क. ख. ०य सुमहात्मने । त्य० ।

व्यास उवाच

इत्युक्तः स प्रहस्यैव दूतं प्राह जनार्दनः ॥८॥

श्रीभगवानुवाच

निजचिह्नमहं चक्रं समुत्स्रक्ष्ये त्वयीति वै। वाच्यश्च पौण्ड्रको गत्वा त्वया दूत वचो मम ॥९॥
ज्ञातस्त्वद्वाक्यसद्भावो यत्कार्यं तद्विधीयतां। गृहीतचिह्न एवाहमागमिष्यामि ते पुरम् ॥१०॥
उत्स्रक्ष्यामि च ते चक्रं निजचिह्नमसंशयम् । आज्ञापूर्वं च यदिदमागच्छेति त्वयोदितम् ॥११॥
संपादयिष्ये श्वस्तुभ्यं तदप्येषोऽविलम्बितम् । शरणं ते समभ्येत्य कर्ताऽस्मि नृपते तथा।
यथा त्वत्तो भयं भूयो नैव किंचिद्भविष्यति ॥१२॥

व्यास उवाच

इत्युक्तेऽपगते दूते संस्मृत्याभ्यागतं हरिः । गरुत्मन्तं समारुह्य त्वरितं तत्पुरं ययौ ॥१३॥
तस्यापि केशवोद्योगं श्रुत्वा काशिपतिस्तदा । सर्वसैन्यपरीवारपार्ष्णिग्राहमुपाययौ ॥१४॥
ततो बलेन महता काशिराजबलेन च । पौण्ड्रको वासुदेवोऽसौ केशवाभिमुखं ययौ ॥१५॥
तं ददर्श हरिर्दूरादुदारस्यन्दने स्थितम् । चक्रशङ्खगदापाणिं पाणिना विधृताम्बुजम् ॥१६॥
स्रग्धरं धृतशार्ङ्गं च सुपर्णरचनाध्वजम् । वक्षःस्थलकृतं चास्य श्रीवत्सं ददृशे हरिः ॥१७॥
किरीटकुण्डलधरं पीतवासःसमन्वितम् । दृष्ट्वा तं भावगम्भीरं जहास [१]मधुसूदनः ॥१८॥

व्यास ने कहा—इतना कहने पर जनार्दन हँसकर दूत से कहने लगे ॥८॥

श्रीभगवान् ने कहा—दूत ! तुम जाकर पौण्ड्रक से कहना, कि मैं उनके सामने अपने चिह्न-चक्र का परित्याग कर दूँगा। उनके वाक्य का आशय मैं समझता हूँ। वे अपना कार्य करें। मैं चिह्न सहित उनके नगर में आऊँगा। यदि तुम्हारे कहने पर वे मुझे आने के लिए आज्ञा देंगे तो निःसंदेह मैं अपने चिह्न-चक्र को छोड़ दूँगा। उनका कल्याण हो। मैं शीघ्र ही यह कार्य करूँगा। उनकी शरण में जाकर मैं सब कुछ करूँगा, जिससे फिर मुझे उनसे कोई भय न रहे ॥९-१२॥

व्यास ने कहा—यह सुनकर दूत चला गया। हरि आगन्तुक का स्मरण कर तुरन्त गरुड़ पर चढ़कर पौण्ड्रक के नगर के लिए प्रस्थित हो गये। कृष्ण के प्रयत्न के बारे में सुनकर काशीनरेश समस्त सैनिकों से युक्त होकर शत्रु से संघर्ष करने के लिए चल पड़ा। तब अपनी बड़ी सेना तथा काशीपति की सेना के साथ वासुदेव-रूपधारी पौण्ड्रक भी केशव के सामने गया। हरि ने विशाल रथ पर स्थित, मालाधारी, धनुषधारी, गरुड़चित्रित पताका से युक्त, वक्षःस्थल पर श्रीवत्सचिह्न से विभूषित, मुकुट-कुण्डलधारी, पीतवस्त्रसमन्वित तथा हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म लिये पौण्ड्रक को दूर से ही देखा। भावगम्भीर पौण्ड्रक को देखकर मधुसूदन हँसने लगे। द्विजगण !

---

[१] क. गरुडध्वजः ।

युयुधे च बलेनास्य हस्त्यश्वबलिना द्विजाः । निर्स्त्रिशर्ष्टिगदाशूलशक्तिकार्मुकशालिना ॥१९॥
क्षणेन शार्ङ्गनिर्मुक्तैः शरैरग्निविदारणैः । गदाचक्रातिपातैश्च सूदयामास तद्बलम् ॥२०॥
काशिराजबलं चैव क्षयं नीत्वा जनार्दनः । उवाच पौण्ड्रकं मूढमात्मचिह्नोपलक्षणम् ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

पौण्ड्रकोक्तं त्वया यत्तद्दूतवक्त्रेण मां प्रति। समुत्सृजेति चिह्नानि तत्ते संपादयाम्यहम् ॥२२॥
चक्रमेतत्समुत्सृष्टं गदेयं ते विसर्जिता । गरुत्मानेष निर्दिष्टः समारोहतु ते ध्वजम् ॥२३॥
इत्युच्चार्य विमुक्तेन चक्रेणासौ विदारितः । [१]पोथितो गदया भग्नो गरुत्मांश्च गरुत्मता ॥२४॥
ततो हाहाकृते लोके [२]काशीनामंधिपस्तदा । युयुधे वासुदेवेन मित्रस्यापचितौ स्थितः ॥२५॥
ततः शार्ङ्गविनिर्मुक्तैश्छित्त्वा तस्य शरैः शिरः । काशिपुर्यां स चिक्षेप कुर्वंल्लोकस्य विमस्यम् ॥२६॥
हत्वा तु पौण्ड्रकं शौरिः काशिराजं च सानुगम् । रेमे द्वारवतीं प्राप्तोऽमरः स्वर्गगतो यथा ॥२७॥
तच्छिरः पतितं तत्र दृष्ट्वा काशिपतेः पुरे । जनः किमेतदित्याह केनेत्यत्यन्तविस्मितः ॥२८॥
ज्ञात्वा तं वासुदेवेन हतं तस्य सुतस्ततः । पुरोहितेन सहितस्तोषयामास शंकरम् ॥२९॥
अविमुक्ते महाक्षेत्रे तोषितस्तेन शंकरः । वरं वृणीष्वेति तदा तं प्रोवाच नृपात्मजम् ॥३०॥
स वव्रे भगवन्कृत्या पितुर्हन्तुर्वधाम मे । समुत्तिष्ठतु कृष्णस्य त्वत्प्रसादान्महेश्वरः ॥३१॥

तलवार, गदा, शूल, शक्ति धनुष तथा हाथी-घोड़ों से युक्त सैनिकों से कृष्ण युद्ध करने लगे । क्षण में ही जनार्दन ने अपने अग्निवर्षी बाणों से तथा गदा-चक्र से उसकी सेना को विनष्ट कर दिया । काशीपति की सेना का भी संहार करके कृष्ण ने निजचिह्न से युक्त मूर्ख पौण्ड्रक से कहा ।।१३-२१।।

श्रीभगवान् ने कहा—पौण्ड्रक ! तुमने दूत के मुख से मुझे चिह्न त्याग देने को कहलाया था, उस काम को मैं कर रहा हूँ । इस चक्र को मैंने छोड़ दिया । तुम्हारे लिए इस गदा को भी छोड़ दिया; यह गरुड़ तुम्हारी पताका धारण करे । इतना कहकर कृष्ण ने चक्र छोड़ दिया । चक्र ने पौण्ड्रक को फाड़ डाला; गदा ने उसे चूर चूर कर डाला; गरुड़ ने उसकी ध्वजा का नाश कर दिया । तव लोगों में हाहाकार मच गया । मित्र-क्षय होने पर काशीपति वासुदेव से युद्ध करने लगा । तव लोगों को आश्चर्यित करते हुए कृष्ण ने अपने वाणों से उसका शिर काट कर काशीपुरी में फेंक दिया । वासुदेव काशिराज सहित पौण्ड्रक को मार कर द्वारका में उसी प्रकार रमण करने लगे जैसे स्वर्ग में देवता । काशीपुरी में गिरे हुए उसके शिर को देखकर लोग 'यह क्या' कहकर अत्यन्त विस्मित हुए । 'वासुदेव ने मारा' यह जानकार काशीपति का पुत्र पुरोहित सहित, शंकर को संतुष्ट करने लगा । अविमुक्त नामक महाक्षेत्र में राज-पुत्र से प्रसन्न होकर शंकर ने उससे वर माँगने को कहा । उसने वर माँगा—'महेश्वर ! आपकी कृपा से मेरे पिता के वधकर्त्ता कृष्ण को मारने के लिए कृत्या उत्पन्न हो ।।२३-३१।।

[१]ग. पातितो । [२]ग. ०म रिपुर्वली । यु० ।

व्यास उवाच

एवं भविष्यतीत्युक्ते दक्षिणाग्नेरनन्तरम् । महाकृत्या समुत्तस्थौ तस्यैवाग्निनिवेशनात् ।।३२।।
ततो ज्वालाकरालास्या ज्वलत्केशकलापिका[1] । कृष्ण कृष्णेति कुपिता [2]कृत्वा द्वारवतीं ययौ ।।३३।।
तामवेक्ष्य जनः सर्वो रौद्रां विकृतलोचनाम् । ययौ शरण्यं जगतां शरणं मधुसूदनम् ।।३४।।

जना ऊचुः

काशिराजसुतेनेयमाराध्य वृषभध्वजम् । उत्पादिता महाकृत्या वधाय तव चक्रिणः ।।
जहि कृत्यामिमामुग्रां वह्निज्वालाजटाकुलाम् ।।३५।।

व्यास उवाच

चक्रमुत्सृष्टमक्षेषु क्रीडासक्तेन लीलया । तदग्निमालाजटिलं ज्वालोद्गारातिभीषणम् ।।३६।।
कृत्यामनुजगामाऽशु विष्णुचक्रं सुदर्शनम् । ततः सा चक्रविध्वस्ता कृत्या माहेश्वरी तदा ।।३७।।
जगाम वेगिनी वेगात्तदप्यनुजगाम ताम् । कृत्या वाराणसीमेव प्रविवेश त्वरान्विता ।।३८।।
विष्णुचक्रप्रतिहतप्रभावा मुनिसत्तमाः । ततः काशिबलं भूरि प्रमथानां तथा बलम् ।।३९।।
समस्तशस्त्रास्त्रयुतं चक्रस्याभिमुखं ययौ । शस्त्रास्त्रमोक्षबहुलं दग्ध्वा तद्बलमोजसा ।।४०।।
कृत्वाऽक्षेमामशेषां तां पुरीं वाराणसीं ययौ । प्रभूतभृत्यपौरां तां साश्वमातङ्गमानवाम् ।।४१।।

व्यास ने कहा—शिव ने कहा—'ऐसा ही होगा।' पश्चात् अग्निकुण्ड से महाकृत्या उत्पन्न हुई, जिसके मुँह और केश ज्वालाओं से भयंकर हो रहे थे। वह क्रोध से 'कृष्ण-कृष्ण' वोलती हुई द्वारका पहुँची। रुद्र की उस विकृत नेत्र वाली कृत्या को देखकर लोग अखिललोकरक्षक मधुसूदन की शरण में गये ।।३२-३४।।

लोगों ने कहा—काशिराज के पुत्र ने शंकर की आराधना करके आपके वध के निमित्त महाकृत्या को उत्पन्न कराया है। अग्निज्वाला से व्याप्त जटा वाली इस भीषण कृत्या को आप मारिये ।।३५।।

व्यास ने कहा—द्यूत-क्रीड़ा में आसक्त कृष्ण ने लीला करने के लिए अपना चक्र छोड़ दिया। अग्निपुञ्ज से व्याप्त तथा ज्वालाओं से अतिभयानक सुदर्शन चक्र शीघ्रता से कृत्या का पीछा करने लगा। चक्र की चोट खाकर शिव की कृत्या वेग से गमन करने लगी। चक्र ने भी वेग से उसका अनुसरण किया। विष्णु-चक्र ने उसकी शक्ति को नष्ट कर दिया। वह शीघ्रता से वाराणसी में प्रविष्ट हुई। मुनिवर ! तव काशीपति की सेना और प्रमथगण समस्त शस्त्र-अस्त्रों से युक्त होकर चक्र के सामने आये। चक्र ने शस्त्र-अस्त्र छोड़ने में व्यस्त सारी सेना को दग्ध कर संपूर्ण वाराणसी पुरी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। प्रचुर सेवकों तथा पुरवासियों से युक्त-

---

[1] क. ख. ०पिनी। कृ०। [2] ख. कृत्या।

अशेषदुर्गकोष्ठां तां दुर्निरीक्ष्यां सुरैरपि । ज्वालापरिवृताशेषगृहप्राकारतोरणाम् ॥४२॥
ददाह[1] तां पुरीं चक्रं सकलामेव सत्वरम्[2] । अक्षीणामर्षमत्यल्पसाध्यसाधननिस्पृहम्[3] ॥४३॥
तच्चक्रं प्रस्फुरद्दीप्ति विष्णोरभ्याययौ करम् ॥४४॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे श्रीकृष्णचरिते पौण्ड्रकवासुदेववधे काशीदाहवर्णनं नाम सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०७॥

अथाष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

बलदेवमाहात्म्यवर्णनम्

मुनय ऊचुः

श्रोतुमिच्छामहे भूयो बलभद्रस्य धीमतः । मुने पराक्रमं शौर्यं तन्नो व्याख्यातुमर्हसि ॥१॥
यमुनाकर्षणादीनि श्रुतान्यस्माभिरत्र वै । तत्कथ्यतां महाभाग यदन्यत्कृतवान्बलः ॥२॥

व्यास उवाच

भृणुध्वं मुनयः कर्म यद्रामेणाभवत्कृतम् । अनन्तेनाप्रमेयेन शेषेण धरणीभृता ॥३॥
दुर्योधनस्य तनयां स्वयंवरकृतेक्षणाम् । बलादादत्तवान्वीरः साम्बो जाम्बवतीसुतः ॥४॥

परकोटे तथा तोरणों से युक्त उस समग्र पुरी को शीघ्र ही चक्र ने जला दिया । अनन्तर साधनों से निःस्पृह, अक्षीण क्रोध वाला वह कान्तिमान् चक्र विष्णु के हाथ में आ गया ॥३६-४३॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में श्रीकृष्णचरित्रोपक्रम में पौण्ड्रक वासुदेव के वध-प्रसंग में काशीदाह-वर्णन नामक दो सौ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥२०७॥

अध्याय २०८

बलदेव का माहात्म्य-वर्णन

मुनियों ने कहा—मुने ! पुनः हम धीमान् वलभद्र की वीरता तथा पराक्रम के वारे में सुनना चाहते हैं, आप वर्णन करें ॥१-२॥

व्यास ने कहा—मुनिवृन्द ! अनन्त, अप्रमेय, शेष तथा धरणीधर राम ने जो किया, वह आप सुनिये । जाम्ववतीपुत्र वीर साम्ब ने दुर्योधन की पुत्री को स्वयंवर में वलात् पकड़ लिया । तव क्रुद्ध वलशाली कर्ण, दुर्योधन,

---

१ग. ह० तद्धरेश्चक्रं। २ख. ०म्। सुक्षीणसारां कृत्वेमां सा० । ३ख. ०नकारकम् ।

ततः कुद्धा महावीर्याः कर्णदुर्योधनादयः । भीष्मद्रोणादयश्चैव[1] बबन्धुर्युधि निर्जितम् ॥५॥
तच्छ्रुत्वा यादवाः सर्वे क्रोधं दुर्योधनादिषु । मुनयः प्रतिचक्रुश्च तान्विहन्तुं महोद्यमम् ॥६॥
तान्निवार्य बलः प्राह मदलोलाकुलाक्षरम् । मोक्ष्यन्ति ते मद्वचनाद्यास्याम्येको हि कौरवान् ॥७॥
बलदेवस्ततो गत्वा नगरं नागसाह्वयम् । बाह्योपवनमध्येऽभून्न[2] विवेश च तत्पुरम्[3] ॥८॥
बलमागतमाज्ञाय तदा दुर्योधनादयः । गामर्घमुदकं चैव रामाय प्रत्यवेदयन् ॥
गृहीत्वा विधिवत्सर्वं ततस्तानाह कौरवान् ॥९॥

बलदेव उवाच

आज्ञापयत्युग्रसेनः साम्बमाशु विमुञ्चत ॥१०॥

व्यास उवाच

ततस्तद्वचनं श्रुत्वा भीष्मद्रोणादयो द्विजाः । कर्णदुर्योधनाद्याश्च चुक्रुधुर्द्विजसत्तमाः ॥११॥
ऊचुश्च कुपिताः सर्वे बाह्लिकाद्याश्च भूमिपाः । अराजार्हं यदोर्वंशमवेक्ष्य मुशलायुधम् ॥१२॥

कौरवा ऊचुः

भो भोः किमेतद्भवता बलभद्रेरितं वचः । आज्ञां कुरुकुलोत्थानां यादवः कः प्रदास्यति ॥१३॥
उग्रसेनोऽपि यद्याज्ञां कौरवाणां प्रदास्यति । तदलं पाण्डुरैश्छत्रैर्नृपयोग्यैरलंकृतैः ॥१४॥
तद्गच्छ बलभद्र त्वं साम्बमन्यायचेष्टितम् । विमोक्ष्यामो न भवतो नोग्रसेनस्य शासनात् ॥१५॥

भीष्म, द्रोण आदि ने युद्ध में पराजित साम्ब को बाँध दिया। मुनिगण ! यह सुनकर यादवों को दुर्योधन आदि के ऊपर क्रोध हुआ। वे उनको मारने के लिए तैयारी करने लगे। पर बलभद्र ने उन्हें रोक कर अभिमानपूर्ण वाक्य कहा—'मरे कहने से वे लोग छोड़ देंगे। मैं अकेला 'ही कौरवों के पास जाऊँगा।' तत्पश्चात् बलदेव हस्तिनापुर पहुँचकर नगर के उपवन में ही ठहरे, पुरी में प्रविष्ट नहीं हुए। बलराम के आगमन को जानकर दुर्योधन प्रभृति ने राम को अर्घ्य-जल-पाद्य समर्पित किये। राम ने विधिपूर्वक सब कुछ ग्रहण कर कौरवों से कहा ॥३-९॥

बलदेव बोले—उग्रसेन की आज्ञा है कि तुम लोग शीघ्र साम्ब को छोड़ दो ॥१०॥

व्यास ने कहा—द्विजगण ! राम के वचन को सुनकर भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन आदि क्रुद्ध हो गये। बाह्लिक आदि समस्त नृपगण 'यदुवंश राजवंश नहीं हैं' यह सोचकर बलदेव की ओर लक्ष्य करके बोले ॥११-१२॥

कौरवों ने कहा—बलभद्र जी ! यह आपने क्या कह दिया। कौरवों को आज्ञा देने वाला यादव कौन होता है ? यदि उग्रसेन भी कौरवों को आज्ञा दे तो नृपयोग्य अलंकृत श्वेतच्छत्र धारण करने से क्या लाभ ? बलभद्र ! इसलिये आप चले जायँ। न आपके कहनें से न उग्रसेन की आज्ञा से हम इस अन्यायी साम्ब को छोड़ेंगे।

---

[1] क. ख. ०श्चैनं ब०। [2] ख. ०भूद्विवे०। [3] ख. ततः पुरम्। ब०।

६७

न नाम सा कृता केयमाज्ञा स्वामिनि भृत्यतः ॥१६॥
प्रणतिर्या कृताऽस्माकं मान्यानां कुकुरान्धकैः । को दोषो भवतां नीतिर्यत्प्रीणात्यनपेक्षिता ॥१७॥
गर्वमारोपिता यूयं समानासनभोजनैः । प्रेम्णैव न तदस्माकं कुलाद्युष्मत्कुलोचितम् ॥१८॥
अस्माभिरर्च्यो भवता योऽयं बल निवेदितः ।

व्यास उवाच

कृतैकनिश्चयाः सर्वे विविशुर्गजसाह्वयम् ॥१९॥
इत्युक्त्वा कुरवः सर्वे नामुञ्चन्त हरेः सुतम् । उत्थाय पार्ष्ण्या वसुधां जघान स हलायुधः ॥२०॥
मत्तः कोपेन चाऽऽघूर्णं ततोऽधिक्षेपजन्मना । आस्फोटयामास तदा दिशः शब्देन पूरयन्
ततो विदारिता पृथ्वी पार्ष्णिघातान्महात्मनः । ॥२१॥
उवाच चातिताम्राक्षो भ्रुकुटीकुटिलाननः

बलदेव उवाच

कौरवाणामाधिपत्यमस्माकं किल कालजम् ॥२२॥
अहो महावलेपोऽयमसाराणां दुरात्मनाम् । आज्ञां प्रतीच्छेद्धर्मेण सह देवैः शचीपतिः ॥२३॥
उग्रसेनस्य ये नाऽऽज्ञां मन्यन्ते चाप्यलङ्घनाम् । धिङ्मनुष्यशतोच्छिष्टे तुष्टिरेषां नृपासने ॥२४॥
सदाऽध्यास्ते सुधर्मां तामुग्रसेनः शचीपतेः । बिभर्ति यस्य भृत्यानां सोऽप्येषां न महीपतिः ॥२५॥
पारिजाततरोः पुष्पमञ्जरीर्वनिताजनः । अद्य निष्कौरवामुर्वीं कृत्वा यास्मामि तां पुरीम् ॥२६॥
समस्तभूभुजां नाथ उग्रसेनः स तिष्ठतु । दुःशासनादीन्भूरिं च भूरिश्रवसमेव च ॥२७॥
कर्ण दुर्योधनं द्रोणमद्य भीष्मं सबाह्लिकम् । यमजौ कौरवांश्चान्यान्हन्यां साश्वरथद्विपान् ॥२८॥
सोमदत्तं शलं भीममअर्जुनं सयुधिष्ठिरम् ।

हमने आप जिन कुकुर-अन्धक वंश वालों ने हमें प्रणाम किया, वे हमें आज्ञा दें ! सेवक स्वामी पर शासन करे ! यह तो नीति है। लोगों को समान आसन-भोजन देकर अभिमानी बना दिया। आपका दोष ही क्या है ? हम आपके कुल वल ! हम जो आपकी पूजा करते हैं, वह केवल प्रेम के कारण। हमरे कुल का यह धर्म नहीं है कि की प्रतिष्ठा करें ॥१३-१८॥

व्यास ने कहा—इतना कहकर कौरवों ने साम्व को नहीं छोड़ा। सब एक निश्चय करके हस्तिनापुर में प्रविष्ट हुए। आक्षेपजन्य क्रोध से मत्त होकर वलदेव ने उठकर एँड़ी से पृथ्वी पर ठोकर मारी। महात्मा की एँड़ी के प्रहार से विदारित पृथ्वी दिशाओं को शब्द-पूर्ण करती हुई फटने लगी। आँखें लाल कर तथा मुँह-भौंह को कुटिल कर (अर्थात् त्योरी चढ़ाकर) वलदेव वोले ॥१९-२१॥

बलदेव ने कहा—अहो ! तुच्छ दुरात्माओं को महान् गर्व हो गया है ! हमारे ऊपर कौरवों का आधिपत्य हो गया है ! ! उग्रसेन की अलंघनीय आज्ञा को कौरव नहीं मानेंगे ! ! देवगण सहित इन्द्र धर्मपूर्वक उग्रसेन की आज्ञा चाहते हैं। उग्रसेन इन्द्र की देवसभा के अध्यक्ष हैं। सैकडों मनुष्यों के उच्छिष्ट राजसिंहासन से संतोष करने वाले इन (कौरवों) को धिक्कार है। जिन (उग्रसेन) के दासों की स्त्रियाँ कल्पवृक्ष के पुष्पों तथा मंजरियाँ धारण करती हैं, वे इनके शासक नहीं हैं ? उग्रसेन समस्त राजाओं के अधिपति हों। आज ही मैं पृथ्वी को कौरव-विहीन करके उस पुरी में जाऊँगा। आज ही हाथी, घोड़े तथा रथ सहित कर्ण, दुर्योधन, द्रोण,

वीरमादाय तं साम्बं सपत्नीकं ततः पुरीम् । द्वारकामुग्रसेनादीन्गत्वा द्रक्ष्यामि बान्धवान् ॥२९॥
अथवा कौरवादीनां समस्तैः कुरुभिः सह । भारावतरणे शीघ्रं देवराजेन चोदितः ॥३०॥
भागीरथ्यां क्षिपाम्याशु नगरं नागसाह्वयम् ॥३१॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा[1] [2]क्रोधरक्ताक्षस्तालाङ्कोऽधोमुखं हलम्[3] । प्राकारवप्रे[4] विन्यस्य चकर्ष मुशलायुधः ॥३२॥
आघूर्णितं तत्सहसा ततो वै हस्तिनापुरम् । दृष्ट्वा संक्षुब्धहृदयाश्चुक्रुशुः सर्वकौरवाः ॥३३॥

कौरवा ऊचुः

राम राम महाबाहो क्षम्यतां क्षम्यतां त्वया । उपसंह्रियतां कोपः प्रसीद मुशलायुध ॥३४॥
एष साम्बः सपत्नीकस्तव निर्यातितो बल । अविज्ञातप्रभावाणां क्षम्यतामपराधिनाम् ॥३५॥

व्यास उवाच

ततो निर्यातयामासुः साम्बं पत्न्या समन्वितम् । निष्क्रम्य स्वपुरीं तूर्णं कौरवा मुनिसत्तमाः ॥३६॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां प्रणम्य वदतां प्रियम् । क्षान्तमेव मयेत्याह बलो बलवतां वरः ॥३७॥
अद्याप्याघूर्णिताकारं लक्ष्यते तत्पुरं द्विजाः । एष प्रभावो रामस्य बलशौर्यवतो द्विजाः ॥३८॥

भीष्म, वाह्लिक, दुःशासन, भूरि, भूरिश्रवा, सोमदत्त, शल, भीम, अर्जुन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा अन्य कौरवों को मैं मार दूँगा । फिर पत्नी सहित वीर साम्व को लेकर द्वारका जाऊँगा और भाई-वन्धुओं से मिलूँगा । अथवा इन्द्र की प्रेरणा से पृथ्वी का भार उतारने के लिये समस्त कौरवों सहित हस्तिनापुर को गंगा में डुवो दूँगा ॥२२-३१॥

व्यास ने कहा—इतना कहकर क्रोध से आँखे लाल किये मुशलधारी बलदेव ने हल को अधोमुख करके प्राचीर और स्तूप का विन्यास करके हल को खींचा । जिससे सम्पूर्ण हस्तिनापुर एकाएक घूमने लगा। यह देखकर समस्त कौरव व्यथितहृदय होकर चिल्लाने लगे ॥३२-३३॥

कौरवों ने कहा—महावाहो ! राम ! राम ! क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये ! मुशलायुध ! कृपा कीजिये, क्रोध को हटाइये ! वल ! पत्नी सहित साम्वं प्रस्थान कर चुके । हमने आपके प्रभाव को नहीं जाना । हम अपराधियों को क्षमा कीजिये ॥३४-३५॥

व्यास ने कहा—मुनिवर ! कौरवों ने शीघ्रतापूर्वक अपनी नगरी से निकल कर पत्नी सहित साम्व को विदा किया । वलवानों में श्रेष्ठ वलदेव ने भीष्म, द्रोण, कृप आदि को प्रणाम करके कहा—'क्षमा ही है ।' द्विजगण ! आज भी हस्तिनापुर घूमा-हुआ सा प्रतीत होता है । वल-वीरताशाली वलराम का यह प्रभाव

---

[1] ख. ग. ०क्त्वा मदर० । [2] ख. क्ताक्षः कुर्वन्नधो० । [3] ख. ०म् । सप्रा० । [4] ख. ०कारां च नगरीं च० ।

ततस्तु कौरवाः साम्बं संपूज्य हलिना सह । प्रेषयामासुरुद्वाहधनभार्यासमन्वितम् ॥३९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे श्रीकृष्णचरिते बलदेवामाहात्म्यनिरूपणं
नामाष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०८॥

अथ नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्विविदवानरवधवर्णनम्

व्यास उवाच

शृणुध्वं मुनयः सर्वे बलस्य बलशालिनः । कृतं यदन्यदेवाभूत्तदपि श्रूयतां द्विजाः ॥१॥
नरकस्यासुरेन्द्रस्य देवपक्षविरोधिनः । सखाऽभवन्महावीर्यो[1] द्विविदो नाम वानरः ॥२॥
वैरानुबन्धं बलवान्स चकार सुरान्प्रति ॥३॥

द्विविद उवाच

नरकं हतवान्कृष्णो बलदर्पसमन्वितम्[2] । करिष्ये सर्वदेवानां तस्मादेष प्रतिक्रियाम् ॥४॥

है। तदुपरान्त कौरवों ने वलराम सहित साम्व की पूजा कर दान-दहेज देकर भार्या सहित साम्व को बिदा किया ॥३६-३९॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में श्रीकृष्णचरित्र-प्रसंग में वलदेव-माहात्म्य-निरूपण
नामक दौ सौ आठवाँ अध्याय समाप्त ॥२०८॥

अध्याय २०९

द्विविद नामक वानर का वध-वर्णन

व्यास ने कहा—मुनिवृन्द ! शक्तिशाली वलदेव ने और जो कार्य किये, वे भी आप लोग सुन लीजिये। देवताओं के विरोधी राक्षसराज नरक का मित्र द्विविद नामक वन्दर था। वली द्विविद अपने मित्र के कारण देवताओं से वैर करने लगा ॥१-३॥

द्विविद बोले—कृष्ण ने वल तथा गर्व से युक्त नरक को मार दिया है। इसलिए मैं समस्त देवों से इसका वदला लूँगा ॥४॥

---

[1] क. ०हामायो द्वि० । [2] क. ०न्विताः । क० ।

व्यास उवाच

यज्ञविध्वंसनं कुर्वन्मर्त्यलोकक्षयं तथा । ततो विध्वंसयामास यज्ञानज्ञानमोहितः ॥५॥
बिभेद साधुमर्यादां क्षयं चक्रे च देहिनाम् । ददाह चपलो[1] देशं पुरग्रामान्तराणि च ॥६॥
क्वचिच्च पर्वतक्षेपाद्ग्रामादीन्समचूर्णयत् । शैलानुत्पाट्य तोयेषु मुमोचाम्बुनिधौ [2]तथा ॥७॥
पुनश्चार्णवमध्यस्थः क्षोभयामास सागरम् । तेनातिक्षोभितश्चाब्धिरुद्वेलो जायते द्विजाः ॥८॥
[3]प्लावयंस्तीरजान्ग्रामान्पुरादीनतिवेगवान् । कामरूपं महारूपं कृत्वा सस्यान्यनेकशः ॥९॥
लुठन्भ्रमणसंमर्दैः संचूर्णयति वानरः । तेन विप्रकृतं सर्वं जगदेतद्दुरात्मना ॥१०॥
निःस्वाध्यायवषट्कारं द्विजाश्चाऽऽसीत्सुदुःखितम्[3] । कदाचिद्रैवतोद्याने[5]पपौ पानं हलायुधः ॥११॥
रेवती च महाभागा तथैवान्या वरस्त्रियः । उद्गीयमानो विलसल्ललनामौलिमध्यगः ॥१२॥
रेमे यदुवरश्रेष्ठः कुबेर इव मन्दरे[6] । ततः स वानरोऽभ्येत्य गृहीत्वा सारिणो हलम् ॥१३॥
मुशलं च चकारास्य संमुखः स विडम्बनाम् । तथैव योषितां तासां जाहासाभिमुखं कपिः ॥१४॥
पानपूर्णांश्च करकांश्चिक्षेपाऽऽहत्य वै तदा । ततः कोपपरीतात्मा भर्त्सयामास तं बलम् ॥१५॥
तथाऽपि तमवज्ञाय चक्रे किलकिलाध्वनिम् । ततः समुत्थाय बलो जगृहे मुशलं रुषा ॥१६॥
सोऽपि शैलशिलां भीमां जग्राह प्लवगोत्तमः । चिक्षेप च स तां क्षिप्तां मुशलेन सहस्रधा ॥१७॥

व्यास ने कहा—अज्ञानमोहित द्विविद यज्ञों का विध्वंस तथा लोगों का नाश करने लगा। वह साधु-मर्यादा का भंग करता, प्राणियों का विनाश करता, गाँवों तथा देशों को जला डालता, कहीं पहाड़ों को फेंककर ग्राम आदि को चूर-चूर कर देता, पहाड़ों को उखाड़ कर जल में तथा समुद्र में फेंक देता और पुनः सागर के वीच में वैठकर समुद्र को संक्षुब्ध कर डालता था। द्विजगण ! उससे अति क्षुब्ध समुद्र चंचल हो उठता और अत्यन्त वेग से तट पर के गाँवों तथा नगरों को वहा डालता। वह वन्दर मनमाना रूप तथा विशालकाय धारण करके सस्यों पर लोट जाता और भ्रमण-संमर्दन से उन्हें कुचल डालता। उस दुष्ट ने सम्पूर्ण संसार में उपद्रव मचा रखा ॥५-१०॥ व्राह्मण लोग स्वाध्याय तथा यक्ष आदि से वंचित होकर वड़े दुःखी हो गए। किसी समय रेवत के उद्यान में वलराम (सुरा) पान कर रहे थे। महाभागा रेवती तथा दूसरी स्त्रियाँ भी थीं। ललनाओं के वीच में यदुवर वलदेव गाने-वजाने के साथ उसी तरह विलास कर रहे थे जैसे मन्दराचल पर कुवेर। तव वह वन्दर समीप आकर वलदेव के हल और मुशल लेकर उनके सामने ही खेल-कूद करने लगा। वह स्त्रियों के सामने हँसता और पान-पात्रों को कंकड़ों से भर देता। फिर अत्यन्त क्रोध से उसने वलराम की भर्त्सना की और उनकी अवहेलना करते हुए किलकिला शब्द किया। तदनन्तर वलदेव ने क्रोध से उठकर मुशल ग्रहण किया ॥११-१६॥ उस श्रेष्ठ वन्दर ने भी भयंकर पर्वतशिला को उठाकर फेंका। यादव-श्रेष्ठ वल ने मुशल से उसके हज़ार टुकड़े कर दिये। शिला छिन्न-भिन्न होकर

१क. च पुरोद्देशं। २क. तदा। ३क. ०जान्वृक्षान्नरा०। ४क. ०म्। एकदा रैव०। ५क. ०द्यानं ययौ क्रीडन्हला०। ६. मन्दिरे।

बिभेद यादवश्रेष्ठः सा पपात महीतले । अपतन्मुशलं चासौ समुल्लङ्घ्य प्लवंगमः ॥१८॥
वेगेनाऽऽयम्य रोषेण बलेनोरस्यताडयत् । ततो बलेन कोपेन मुष्टिना मूर्ध्नि ताडितः ॥१९॥
पपात रुधिरोद्‌गारी द्विविदः क्षीणजीवितः । पतता तच्छरीरेण गिरेः शृङ्गमशीर्यत ॥२०॥
मुनयः शतधा वज्रिवज्रेणेव हि ताडितम् । पुष्पवृष्टिं ततो देवा रामस्योपरि चिक्षिपुः ॥२१॥
प्रशशंसुतस्तदाऽभ्येत्य साध्वेतत्ते महत्कृतम् । अनेन दुष्टकपिना दैत्यपक्षोपकरिणा ॥
जगन्निराकृतं वीर दिष्टया स क्षयमागतः ॥२२॥

व्यास उवाच

एवंविधान्यनेकानि बलदेवस्य धीमतः । कर्माण्यपरिमेयानि शेषस्य धरणीभृतः ॥२३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे बलदेवमाहात्म्ये द्विविदवानरवधवर्णनं नाम
नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२०९॥

पृथ्वी पर गिर पड़ी और मुशल भी गिर गया। वन्दर ने वेग से छलांग मार कर जोर से वलराम की छाती पर मारा। तव वल ने क्रोध से मुट्ठी वाँधकर वन्दर के शिर पर मारा। द्विविद निष्प्राण होकर रुधिर वमन करते हुए गिर पड़ा। मुनिवृन्द ! गिरते हुए उसके शरीर से पर्वत का शिखर उसी तरह सैकड़ों खण्डों में परिणत हो गया जैसे इन्द्र के वज्रसे आहत होने पर हुआ था। तव देवताओं ने वलराम के ऊपर पुष्प-वृष्टि की और समीप आकर (इस प्रकार) प्रशंसा की—'यह आपने महान् कार्य किया, वहुत ही अच्छा किया। वीर ! देवों के अपकार करने वाले इस दुष्ट वंदर ने संसार का अनिष्ट किया था। भाग्य से, यह नष्ट हो गया है ॥१७-२२॥

व्यास ने कहा—धीमान्, धरणीधर तथा शेषावतार वलदेव के ऐसे अनेक कर्म हैं, जो अनुमान से परे हैं।२३॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में वलदेव-माहात्म्य-कथन-प्रसंग में द्विविद-वानर-वध-वर्णन नामक
दौ सौ नवाँ अध्याय समाप्त ॥२०९॥

अथ दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

भूमिभारावतरणकथनम्

व्यास उवाच

एवं दैत्यवधं कृष्णो बलदेवसहायवान् । चक्रे दुष्टक्षितीशानां तथैव जगतः कृते ॥१॥
क्षितेश्च भारं [1]भगवान्फाल्गुनेन समं विभुः । अवतारयामास हरिः समस्ताक्षौहिणीवधात् ॥२॥
कृत्वा भारावतरणं भुवो हत्वाऽखिलन्नृपान् । शापव्याजेन विप्राणामुपसंहृतवान्कुलम् ॥३॥
उत्सृज्य द्वारकां कृष्णस्त्यक्त्वा मानुष्यमात्मभूः । स्वांशो विष्णुमयं स्थानं प्रविवेश पुनर्निजम् ॥४॥

मुनय ऊचुः

स विप्रशापव्याजेन संजह्रे स्वकुलं कथम् । कथं च मानुषं देहमुत्ससर्ज जनार्दनः ॥५॥

व्यास उवाच

विश्वामित्रस्तथ कण्वो नारदश्च महामुनिः । पिण्डारके महातीर्थे दृष्टा यदुकुमारकैः ॥६॥
ततस्ते यौवनोन्मत्ता भाविकार्यप्रचोदिताः[2] । साम्बं जाम्बवतीपुत्रं भूषयित्वा[3] स्त्रियं यथा ॥
प्रसृतास्तन्मुनीनूचुः प्रणिपातपुरः सरम् ॥७॥

अध्याय २१०

पृथ्वी के भार उतारने का वर्णन

व्यास ने कहा—इस प्रकार वलदेव की सहायता से कृष्ण ने संसार के लिए दुष्ट राजाओं का वध किया। अर्जुन के साथ सर्वशक्तिमान् हरि ने समस्त अक्षौहिणी सेनाओं का वध करके पृथ्वी का भार उतारा। अखिल राजाओं को मारकर पृथ्वी का भार उतार कर भगवान् ने ब्राह्मणों के शाप के वहाने कुल का संहार किया। द्वारका को छोड़कर मनुष्य-शरीर त्याग कर कृष्ण अपने अंश से पुनः अपने विष्णुमय स्थान पर चले गये ॥१-४॥

मुनियों ने कहा—जनार्दन ने विप्र-शाप के व्याज से कैसे अपने कुल का संहार किया ? कैसे उन्होंने मनुष्य-शरीर को त्यागा ? ॥५॥

व्यास ने कहा—पिण्डारक नामक महातीर्थ में यदुवंशी कुमारों ने विश्वामित्र, कण्व तथा महामुनि नारद को देखा। तदनन्तर यौवन से उन्मत्त तथा भावी घटना से प्रेरित कुमारों ने जाम्ववती-पुत्र को स्त्री की तरह सज-धज कर मुनियों को प्रणाम करके कहा ॥६-७॥

---

१. ०वान्स वलेन । २क. ०प्रणोदि० । ३क. ०त्वा स्वयं तदा । प्र० ।

कुमारा ऊचुः

इयं स्त्री पुत्रकामा[1] तु प्रभो किं जनयिष्यति ॥८॥

व्यास उवाच

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते विप्रलब्धा कुमारकैः । शापं ददुस्तदा विप्रास्तेषां नाशाय सुव्रताः ॥९॥
मुनयः कुपिताः प्रोचुर्मुशलं जनयिष्यति । येनाखिलकुलोत्सादो[2] यादवानां भविष्यति ॥१०॥
इत्युक्तास्तैः कुमारास्त आचचक्षुर्यथातथम् । उग्रसेनाय मुशलं जज्ञे साम्बस्य चोदरात् ॥११॥
तदुग्रसेनो मुशलमयश्चूर्णमकारयत् । जज्ञे तच्चैरका चूर्णं प्रक्षिप्तं वै महोदधौ ॥१२॥
मुसलस्याथ लौहस्य चूर्णितस्यान्धकैर्द्विजाः । खण्डं चूर्णयितुं शेकुर्नैव ते तोमराकृति ॥१३॥
तदप्यम्बुनिधौ क्षिप्तं मत्स्यो जग्राह जालिभिः[3] । घातितस्योदरात्तस्य लुब्धो जग्राह तज्जरा ॥१४॥
विज्ञातपरमार्थोऽपि[4] भगवान्मधुसूदनः । नैच्छत्तदन्यथा कर्त्तुं विधिना यत्समाहृतम्[5] ॥१५॥
देवैश्च प्रहितो दूतः प्रणिपत्याऽऽह केशवम् । रहस्येवमहं दूतः प्रहितो भगवन्सुरैः ॥१६॥
वस्वश्विमरुदादित्यरुद्रसाध्यादिभिः सह । विज्ञापयति वः शक्रस्तदिदं श्रूयतां[6] प्रभो ॥१७॥

देवा ऊचुः

भारावतरणार्थाय वर्षाणामधिकं शतम् । भगवानवतीर्णोऽत्र त्रिदशैः संप्रसादितः ॥१८॥
दुर्वृत्ता निहता दैत्या भुवो भारोऽवतारितः । त्वया सनाथस्त्रिदशा व्रजन्तु त्रिदिवेशताम् ॥१९॥

कुमार बोले—यह स्त्री पुत्राभिलाषिणी है । वतलाइये, यह क्या जनेगी ? ॥८॥

व्यास ने कहा—कुमारों ने दिव्यज्ञानी मुनियों से छल किया । अतः सुव्रती विप्रों ने उनके नाश के लिए शाप दे दिया । क्रुद्ध मुवनयों ने कहा—'यह मुशल पैदा करेगी, जिससे यादवों का संपूर्ण वंश नष्ट हो जायगा ।' तदुपरान्त कुमारों ने उग्रसेन से वह घटना निवेदन की । साम्व के पेट से मुशल उत्पन्न हुआ । उग्रसेन ने उस लौहमय मुशल को चूर-चूर करवा दिया । समुद्र में फेंका जाने पर वह चूर्ण एरका (तृण विशेष) होकर उत्पन्न हुआ । द्विजगण ! उस चूर्णित मुशल के तोमर (रायवाँश) के समान खण्ड को अन्धक वंश वाले चूर-चूर नहीं कर सके । समुद्र में फेंका जाने पर एक मछली ने उसे खा लिया । मल्लाहों द्वारा मारी गई उस मछली के पेट से मुशल-चूर्ण निकला, जिसे एक जरा नामक व्याध ने ले लिया । वस्तुस्थिति को जानते हुए भी मधुसूदन ने विधि-विधान को अन्यथा करना नहीं चाहा । देवताओं का भेजा हुआ दूत एकान्त में केशव को प्रणाम करके बोला—'भगवन् ! मैं देवों का भेजा हुआ दूत हूँ । प्रभो ! वसु, अश्विनीकुमार, मरुत्, आदित्य, साध्य आदि देवगण सहित इन्द्र ने आपसे जो निवेदन किया है, वह आप सुनें ॥९-१७॥

देवताओं ने कहा—पृथ्वी का भार उतारने के लिये देवताओं से स्तुत होकर आपने भूलोक में अवतार लिया। सौ वर्षों से अधिक हो गया। दुराचारी दैत्यगण मारे गये। पृथ्वी का भार भी आपने उतार दिया। आपके

---

[1] ग. ०कामस्य वभ्रो किं । [2] क. ०लोच्छेदो । [3] ख. ०भिः । पातितं चोद० । [4] क. ०पि सर्वशक्तिस्तदा हरिः । नै० । [5] ख. ०मावृतः । दे० । [6] ख. विभो ।

तदतीतं जगन्नाथ वर्षाणामधिकं शतम् । इदानीं गम्यतां स्वर्गो भवते यदि रोचते ॥२०॥
देवैर्विज्ञापितो देवोऽप्यथात्रैव रतिस्तव । तत्स्थीयतां यथाकालमाख्येयमनुजीविभिः ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

यत्त्वामात्थाखिलं दूत वेद्मि चैतदहं पुनः । प्रारब्ध एव हि मया यादवानामपि क्षयः ॥२२॥
भुवो [1]नामातिभारोऽयं [2]यादवैरनिबर्हितैः[3] । अवतारं करोम्यस्य सप्तरात्रेण सत्वरः ॥२३॥
यथागृहीतं चाम्भोधौ हृत्वाऽहं द्वारकां[4] पुनः । यादवानुपसंहृत्य यास्यामि त्रिदशालयम् ॥२४॥
मनुष्यदेहमुत्सृज्य संकर्षणसहायवान् । प्राप्त एवास्मि मन्तव्यौ देवेन्द्रेण तथा सुरैः ॥२५॥
जरासंधादयो येऽन्ये निहता भारहेतवः । क्षितेस्तेभ्यः[5] स भारो हि [6]यदूनां[7] समधीयत ॥२६॥
तदेतत्सुमहाभारमवतार्य क्षितेरहम् । यास्याम्यमरलोकस्य पालनाय ब्रवीहि तान् ॥२७॥

व्यास उवाच

इत्युक्तो वासुदेवेन देवदूतः प्रणम्य तम् । द्विजाः स दिव्यया गत्या देवराजान्तिकं ययौ ॥२८॥
भगवानप्यथोत्पातान्दिव्यान्भौमान्तरिक्षगान् । ददर्श द्वारकापुर्यां विनाशाय दिवानिशम् ॥२९॥
तान्दृष्ट्वा यादवानाह पश्यध्वमतिदारुणान् । महोत्पाताञ्शमायैषां प्रभासं याम मा चिरम् ॥३०॥

साथ-साथ देवता लोग स्वर्ग पधारें। जगन्नाथ ! सौ वर्षों से अधिक हो चुका है। अव यदि आपकी इच्छा हो तो स्वर्ग को प्रस्थान करें। देवताओं का निवेदन सुनकर यदि श्रीमान् को अच्छा लगता हो तो अपने अनुचरों समेत यथाकाल यहीं रहें। इतना ही हमें कहना है ॥१८-२१॥

श्रीभगवान् ने कहा—दूत ! जो तुमने कहा है, वह सव मुझे मालूम है। मैंने यादवों का क्षय करना भी आरम्भ कर दिया है। असंख्य यादवों से पृथ्वी का भार बहुत वढ़ गया है। मैं शीघ्र ही सात रात के अन्दर इसको दूर कर दूँगा। द्वारका को समुद्र में स्थापित कर यादवों का संहार करके मैं स्वर्ग चला आऊँगा। मनुष्य-शरीर का त्याग कर वलराम के साथ मैं इन्द्र तथा देवताओं के पास पहुँचा ही हूँ—यही समझो। भार के कारण जो जरासन्ध आदि मारे गये हैं, उनसे वढ़कर यदुओं का भार पृथ्वी पर हो गया है। इसलिये इस महाभार को पृथ्वी पर से उतार कर मैं अमरलोक का पालन करने के लिये जाऊँगा। तुम उनसे कह देना ॥२२-२७॥

व्यास ने कहा—द्विजगण ! वासुदेव के इतना कहने पर देवदूत उन्हें प्रणाम कर दिव्यगति से इन्द्र के पास चला गया। भगवान् भी रातदिन द्वारकापुरी में विनाश-सूचक अलौकिक उत्पातों को पृथ्वी तथा आकाश के बीच देखने लगे। उन्हें देखकर भगवान् ने यादवों से कहा—'इन महाभयंकर उत्पातों को देखो।' इनकी शान्ति करने के लिए हमें शीघ्र ही प्रभास (तीर्थस्थान) को जाना है ॥२८-३०॥

---

[1] ख. ग. नाद्यापि भा०। [2] क. ०रतिव०। [3] ग. ०निवाहितैः। [4] ग. ०रकाभुवम्। ०या०। [5] ग. ०भ्यः कुमारोऽपि य०। [6] ख. ०दूनामवधीः०। [7] ग. ०नां नापचीयते। त०।

व्यास उवाच

महाभागवतः प्राह प्रणिपत्योद्धवो हरिम् ॥३१॥

उद्धव उवाच

[1]भगवन्यन्मया कार्यं तदाज्ञापय सांप्रतम् । मन्ये कुलमिदं सर्वं भगवान्संहरिष्यति ॥
नाशायास्य निमित्तानि कुलस्याच्युत लक्षये ॥३२॥

श्रीभगवानुवाच

गच्छ त्वं दिव्यया गत्या मत्प्रसादसमुत्थया । बदरीमाश्रमं पुण्यं गन्धमादनपर्वते ॥३३॥
नरनारायणस्थाने पवित्रितमहीतले । मन्मना मत्प्रसादेन तत्र सिद्धिमवाप्स्यसि ॥३४॥
अहं स्वर्गं गमिष्यामि उपसंहृत्य वै कुलम् । द्वारकां च मया त्यक्तां समुद्रः प्लावयिष्यति ॥३५॥

व्यास उवाच

इत्युक्तः प्रणिपत्यैनं जगाम स तदोद्धवः । नरनारायणस्थानं केशवेनानुमोदितः[2] ॥३६॥
ततस्ते यादवाः सर्वे[3] रथानारुह्य शीघ्रगान् । प्रभासं प्रययुः सार्धं कृष्णरामादिभिर्द्विजाः ॥३७॥
प्राप्य प्रभासं प्रयता प्रीतास्ते कुक्कुरान्धकाः । चक्रुस्तत्र[4] सुरापानं वासुदेवानुमोदिताः ॥३८॥
पिबतां तत्र वै तेषां संघर्षेण परस्परम् । यादवानां ततो जज्ञे कलहाग्निः क्षयावहः ॥३९॥
जघ्नुः परस्परं ते तु शस्त्रैर्दैवबलात्कृताः । क्षीणशस्त्रास्तु जगृहुः प्रत्यासन्नामथैरकाम् ॥४०॥

व्यास ने कहा—महाभक्त उद्धव ने प्रणाम करके हरि से कहा ॥३१॥

उद्धव ने कहा—भगवन् ! मुझे जो इस समय करना है, वह आप आज्ञा दें । मैं समझता हूँ कि भगवान् समस्त कुल का संहार करेंगे । अच्युत ! कुल के विनाश के कारणों को मैं देख रहा हूँ ॥३२॥

श्रीभगवान् ने कहा—मेरी कृपा से प्राप्त दिव्यगति से तुम गन्धमादन पर्वत पर स्थित पवित्र वदरिकाश्रम में चले जाओ । उस पवित्र भूमि पर नर-नारायण के स्थान में मेरी कृपा से मुझमें मन लगाकर सिद्धि प्राप्त करोगे । मैं कुल का नाश करके स्वर्ग चला जाऊँगा । मुझसे परित्यक्त द्वारका को समुद्र डुवो देगा ॥३३-३५॥

व्यास ने कहा—इतना कहने पर उद्धव केशव से आज्ञा लेकर उन्हें प्रणाम करके नरनारायण के स्थान पर चले गये । द्विजगण ! तदनन्तर समस्त यादवों ने कृष्ण, राम आदि के साथ शीघ्रगामी रथों पर चढ़ कर प्रभास के लिए प्रस्थान किया । वहाँ पहुँचने पर कुक्कुर और अन्धक वंश वाले बड़े प्रसन्न हुए । वासुदेव की आज्ञा पाकर वे लोग मदिरापान करने लगे । पीते ही पीते उन लोगों में परस्पर संघर्ष हो गया । यादवों के बीच संहारकारी कलहाग्नि उत्पन्न हो गया । दौर्भाग्य से वे एक दूसरे को मारने लगे । शस्त्र क्षीण हो जाने पर उन्होंने समीपवर्ती एरका (तृण विशेष) को ले लिया । एरका वज्र के समान दीखता था । उससे वे लोग परस्पर भयंकर प्रहार

१क. ०वन्किमया । २ख. ०वेन तु चोदि० । ३क. ०र्वे रथाना० । ४ख. ग. ०त्र मुदा पा० ।

एरका तु गृहीता तैर्वज्रभूतेव लक्ष्यते । तया परस्परं जघ्नुः संप्रहारैः सुदारुणैः ॥४१॥
प्रद्युम्नसाम्बप्रमुखाः कृतवर्माऽथ सात्यकिः । अनिरुद्धादयश्चान्ये पृथुर्विपृथुरेव च ॥४२॥
चारुवर्मा[1] सुचारुश्च[2] तथाऽक्रूरादयो द्विजाः । एरकारूपिभिर्वज्रैस्ते निजघ्नुः परस्परम् ॥४३॥
निवारयामास हरिर्यादवास्ते च केशवम् । सहायं मेनिरे प्राप्तं ते निजघ्नुः परस्परम् ॥४४
कृष्णोऽपि कुपितस्तेषामेरकामुष्टिमाददे । वधाय[4] तेषां मुशलं मुष्टिलोहमभूत्तदा ॥४५॥
जघान तेन[3] निःशेषानाततायी स यादवान् । जघ्नुश्च सहसाऽभ्येत्य तथाऽन्ये तु परस्परम् ॥४६॥
ततश्चार्णवमध्येन जैत्रोऽसौ चक्रिणो रथः । पश्यतो दारुकस्याऽऽशु[5] हृतोऽश्वैर्द्विजसत्तमाः ॥४७॥
चक्रं गदा तथा शार्ङ्गं तूणौ शङ्खोऽसिरेव च । प्रदक्षिणं ततः कृत्वा जग्मुरादित्यवर्त्मना ॥४८॥
क्षणमात्रेण वै तत्र यादवानामभूत्क्षयः । ऋते कृष्णं महाबाहुं दारुकं च द्विजोत्तमाः ॥४९॥
चङ्क्रम्यमाणौ तौ रामं वृक्षमूलकृतासनम् । ददृशाते मुखाच्चास्य निष्क्रामन्तं महोरगम् ॥५०॥
निष्क्रम्य स मुखात्तस्य महाभोगो भुजंगमः । प्रयातश्चार्णवं सिद्धैः[3] पूज्यमानस्तथोरगैः ॥५१॥
तमर्घ्यमादाय तदा जलधिः संमुखं ययौ । प्रविवेश च तत्तोयं पूजितः पन्नगोत्तमैः ॥ ॥५२॥
दृष्ट्वा बलस्य निर्याणं दारुकं प्राह केशवः

करने लगे ॥३६-४१॥ प्रद्युम्न, साम्ब, कृतवर्मा, सात्यकि, अनिरुद्ध, पृथु, विपृथु, चारुवर्मा, सुचारु तथा अक्रूर आदि एरका रूपी वज्रों से एक दूसरे को मारने लगे। कृष्ण उनका निवारण करना चाहते थे। पर उन्होंने कृष्ण को अपना सहायक समझ लिया। वे मार-पीट करने में डटे ही रहे। तब कृष्ण ने कुपित होकर एक मुट्ठी एरका ले लिया। यादवों के विनाश के निमित्त एरका मुशलरूप में परिणत हो गया। उससे कृष्ण ने आततायी बनकर अशेष यादवों का संहार कर दिया। दूसरे भी सहसा आकर परस्पर वध करने लगे। विप्रवर ! तब कृष्ण का जयशील रथ दारुक (कृष्ण के सारथि) के देखते ही देखते समुद्र के बीच से अश्वों के द्वारा अपहृत हो गया। चक्र, गदा, धनुष, तरकश, शंख तथा खड्ग कृष्ण की प्रदक्षिणा करके सूर्य-मार्ग से चले गये। द्विजश्रेष्ठो ! महाशक्तिशाली कृष्ण तथा दारुक को छोड़कर समस्त यादवों का क्षण भर में क्षय हो गया। फुर्ती से चले हुए कृष्ण तथा दारुक ने देखा कि एक वृक्ष की जड़ में आसन जमाए हुए बलराम के मुख से एक महासर्प निकल रहा है। महती फणा वाला वह सर्प उनके मुख से निकल कर समुद्र की ओर चल पड़ा। सिद्ध तथा सर्प-समूह उसकी पूजा करने लगे। अर्घ लेकर समुद्र उसके सम्मुख आया। उत्तम सर्पों से पूजित होकर वह समुद्रजल में प्रविष्ट हो गया। बलराम का महाप्रयाण देखकर केशव ने दारुक से कहा ॥४२-५२॥

---

[1] ग. ०रुधर्मा। [2] ग. चारुकश्च। [3] क. ०य सा तु मु०। ग. ०य सोऽपि। [4] क. ०षान्मातिवर्गान्स या०। [5] ख. ०शु ततः स्वर्गं द्विजोत्त०। [6] ख. ०मानो महोर०।

श्रीभगवानुवाच

इदं सर्वं त्वमाचक्ष्व वसुदेवोग्रसेनयोः । निर्याणं बलदेवस्य यादवानां तथा क्षयम् ।।५३।।
योगे स्थित्वाऽहमप्येतत्परित्यज्य कलेवरम् । वाच्यश्च द्वारकावासी जनः सर्वस्तथाऽऽहुकः ।।५४।।
यथेमां नगरीं सर्वां समुद्रः प्लावयिष्यति । तस्माद्रथैः सुसज्जैस्तु प्रतीक्ष्यो ह्यर्जुनागमः ।।५५।।
न स्थेयं द्वारकामध्ये निष्क्रान्ते तत्र पाण्डवे । तेनैव सह गन्तव्यं यत्र याति स कौरवः ।।५६।।
गत्वा च ब्रूहि कौन्तेयमर्जुनं वचनं मम । पालनीयस्त्वया शक्त्या जनोऽयं मत्परिग्रहः ।।५७।।
इत्यर्जुनेन सहितो द्वारवत्यां [१]भवान्जनम् । गृहीत्वा यातु [२]वज्रश्च यदुराजो भविष्यति ।।५८।।

श्री श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे श्रीकृष्णचरिते श्रीकृष्णनिजधामगमननिरूपणं नाम
दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२१०।।

अथैकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

कृष्णमानुषोत्सर्गकथनम्

व्यास उवाच

इत्युक्तो दारुकः कृष्णं प्रणिपत्य पुनः पुनः । प्रदक्षिणं च बहुशः कृत्वा प्रायाद्यथोदितम् ।।१।।
स च गत्वा तथा चक्रे द्वारकायां तथाऽऽर्जुनम् । आनिनाय महाबुद्धिं वज्रं चक्रे तथा नृपम् ।।२।।

भगवान् ने कहा—ये सव वातें—वलदेव का प्रयाणं तथा यादवों का क्षय—तुम वसुदेव तथा उग्रसेन से निवेदन कर देना। योग स्थित होकर मैं भी इस शरीर का त्याग कर दूँगा। तुम समस्त द्वारिकावासियों तथा आहुक से भी कह देना कि ‘संपूर्ण नगरी को समुद्र जलप्लावित कर देगा। इसलिये तुम लोग रथों पर चढ़कर तैयार हो जाओ और अर्जुन के आने की प्रतीक्षा करो। अर्जुन के प्रयाण करने पर द्वारका में कोई न रहना। उसकी से साथ चल देना चाहे जहाँ वह जाय।’ फिर तुम जाकर अर्जुन से मेरा वचन कहना—‘तुम्हें यथाशक्ति मेरी पत्नियों का पालन करना चाहिए।’ अर्जुन के साथ वज्र द्वारका में भवान्जन लेकर जायगा और वहीं यदुओं का राजा होगा ।।५३-५८।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में श्रीकृष्ण-चरित्र-वर्णन-प्रसंग में श्रीकृष्ण के निज-धाम-गमन-निरूपण
नामक दो सौ दसवाँ अध्याय समाप्त ।।२१०।।

अध्याय २११

कृष्ण का मनुष्य-देह-त्याग

व्यास ने कहा—इसके वाद दारुक कृष्ण को वार-वार प्रणाम कर तथा अनेक वार उनकी प्रदक्षिणा कर चला गया। उसने जाकर कृष्ण का वचन सव को सुनाया तथा द्वारका में अर्जुन को लाकर महावुद्धिमान् वज्र को

---

[१]क. भवक्षणम् । गृ० । [२]क. वजं च । ग. वभ्रश्च ।

भगवानपि गोविन्दो वासुदेवात्मकं परम् । ब्रह्मात्मनि समारोप्य [१]सर्वभूतेष्वधारयत्[२] ॥३॥
स मानयन्द्विजवचो दुर्वासा यदुवाच ह । योगयुक्तोऽभवत्पादं कृत्वा जानुनि सत्तमाः ॥४॥
संप्राप्तो वै जरा नाम तदा तत्र स लुब्धकः । मुशलशेषलोहस्य[३] सायकं[४] धारयन्परम् ॥५॥
स तत्पादं मृगाकारं समवेक्ष्य[५] व्यवस्थितः । ततो[६] विव्याध तेनैव तोमरेण द्विजोत्तमाः ॥६॥
गतश्च ददृशे तत्र चतुर्बाहुधरं [७]नरम् । प्रणिपत्याऽऽह चैवैनं प्रसीदेति पुनः पुनः ॥७॥
अजानता कृतमिदं मया हरिणशङ्कया । क्षम्यतामात्मपापेन दग्धं मा दग्धुमर्हसि ॥८॥

व्यास उवाच

ततस्तं भगवानाह नास्ति ते भयमण्वपि । गच्छ त्वं मत्प्रसादेन लुब्ध[८] स्वर्गेश्वरास्पदम् ॥९॥

व्यास उवाच

विमानमागतं सद्यस्तद्वाक्यसमनन्तरम् । आरुह्य प्रययौ स्वर्गं लुब्धकस्तत्प्रसादतः ॥१०॥
गते तस्मिन्स भगवान्संयोज्याऽऽत्मानमात्मनि । ब्रह्मभूतेऽव्ययेऽचिन्त्ये वासुदेवमयेऽमले ॥११॥
अजन्मन्यजरेऽनाशिन्यप्रमेयेऽखिलात्मनि । त्यक्त्वा स मानुषं देहमवाप त्रिवधां[९] गतिम् ॥१२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे श्रीकृष्णचरिते कृष्णमानुषोत्सर्गकथनं नामैकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२११॥

राजा बनाया। भगवान् गोविन्द ने भी अपने में वासुदेव रूप परब्रह्म को अधिष्ठित करके अखिल प्राणियों का धारण किया। दुर्वासा के वचन को सत्य करने के लिये उन्होंने योग-युक्त होकर घुटने के ऊपर पैर को रखा। तब उसी मुशल के शेष लोहे से बने वाण को धारण किये वह जरा नामक व्याध वहाँ आ पहुँचा। उसने भगवान् के पैर को मृग समझ कर उसी तोमर (रायवाँस) से वेध कर दिया। समीप जाने पर उसने चार भुजा वाले मनुष्य को देखा। उसको वार-वार प्रणाम करके कहा—'कृपा कीजिये। मैंने अज्ञानता से हरिण समझ कर ऐसा किया क्षमा कीजिये। मैं अपने ही पाप से जल रहा हूँ। मुझे मत जलाइये' ॥१-८॥

व्यास बोले—तब भगवान् ने कहा—'व्याध ! तुम्हें जरा भी भय नहीं है। तुम मेरी कृपा से स्वर्ग चले जाओ ॥९॥

व्यास ने कहा—कृष्ण के वाक्य समाप्त होते ही एक विमान आ गया, जिस पर चढ़कर व्याध उनकी कृपा से स्वर्ग चला गया। उसके जाने के पश्चात् भगवान् ब्रह्मभूत, अव्यय, अचिन्त्य, वासुदेवमय, निर्मल, जन्म-रहित, अजर, अमर, अखिलात्मा तथा अप्रमेय आत्मा में आत्मा को मिलाकर मनुष्य का देह त्याग कर त्रिविध गति (देवगति) को प्राप्त हुए ॥१०-१२॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में व्यास तथा ऋषियों के संवाद में कृष्ण-चरित्र-वर्णन-प्रसंग में कृष्ण के मनुष्य-शरीर-त्याग निरूपण नामक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥२११॥

१ख. ष्वकार०। २ख. ०त्। चकार भगवान्सर्वं दु०। ३क. ०लोहेन सा०। ग. ०लोहैकसा०। ४क. ग. ०यकन्यस्ततोमरः। स। ५ख. ०क्ष्य ह्यव०। ६क. ग. तले। ७ख. हरिम्। ८ख. ०ब्धं सर्वामरास्प०। ९क. त्रिदशां। ख. त्रिदिवं।

अथद्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

रुक्मिण्यादीनां परलोकगमनम्

व्यास उवाच

अर्जुनोऽपि तदाऽन्विष्य कृष्णरामकलेवरे । संस्कारं लम्भयामास तथाऽन्येषामनुक्रमात् ।।१।।
अष्टौ महिष्यः कथिता रुक्मिणीप्रमुखास्तु याः । उपगृह्य हरेर्देहं विविशुस्ता हुताशनम् ।।२।।
रेवती चैव रामस्य देहमाश्लिष्य सत्तमाः । विवेश ज्वलितं वह्निं तत्सङ्गाह्लाशीतलम् ।।३।।
उग्रसेनस्तु तच्छ्रुत्वा तथैवाऽऽनकदुन्दुभिः । देवकी रोहिणी चैव विविशुर्जातवेदसम् ।।४।।
ततोऽर्जुनः प्रेतकार्यं कृत्वा तेषां यथाविधि । निश्चक्राम जनं सर्वं गृहीत्वा वज्रमेव च ।।५।।
द्वारवत्या विनिष्क्रान्ताः कृष्णपत्न्यः सहस्रशः । वज्रं जनं च कौन्तेयः पालयञ्शनकैर्ययौ ।।६।।
सभा सुधर्मा कृष्णेन मर्त्यलोके समाहृता । स्वर्गं जगाम भो विप्राः पारिजातश्च पादपः ।।७।।
यस्मिन्दिने हरिर्यातो दिवं संत्यज्य मेदिनीम् । तस्मिन्दिनेऽवतीर्णोऽयं कालकायः कलिः किल ।।८।।
प्लावयामास तां शून्यां द्वारकां च महोदधिः । यदुश्रेष्ठगृहं त्वेकं नाऽऽप्लावयत सागरः ।।९।।
नातिक्रामति भो विप्रास्तद्यापि महोदधिः । नित्यं संनिहितस्तत्र भगवान्केशवो यतः ।।१०।।
तदतीव महापुण्यं सर्वपातकनाशनम् । विष्णुक्रीडान्वितं स्थानं दृष्ट्वा पापात्प्रमुच्यते ।।११।।

अध्याय २१२

रुक्मिणी आदि का परलोक-गमन

व्यास ने कहा—अर्जुन ने भी कृष्ण तथा राम के शरीर को ढूँढ़कर दाह-संस्कार किया और क्रमशः दूसरों की देहों को भी जलाया। कृष्ण की रुक्मिणी आदि आठ स्त्रियों को मैं बतला चुका हूँ। वे हरि के शरीर को लेकर अग्नि में प्रविष्ट हो गईं। सज्जनो! राम के शरीर का आलिंगन करके रेवती ने प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश किया। उसके स्पर्श-सुख से अग्नि शीतल हो गया। यह सुनकर देवकी, रोहिणी, उग्रसेन तथा वसुदेव ने भी अग्नि में प्रवेश किया। तदुपरान्त अर्जुन ने सबका श्राद्ध किया और वज्र तथा समस्त द्वारकवासियों को लेकर वहाँ से प्रयाण किया। कृष्ण की हजारों पत्नियाँ भी द्वारका छोड़कर चली गईं। अर्जुन वज्र तथा द्वारकावासियों का पालन करते हुए धीरे-धीरे प्रस्थान करने लगे। विप्रवृन्द! सुधर्मा नामक देवसभा तथा कल्पवृक्ष को कृष्ण मर्त्यलोक में ले आये थे। वे दोनों अब स्वर्ग को चले गये ।।१-७।। जिस दिन हरि पृथ्वी को छोड़कर स्वर्ग चले गये उसी दिन यह कालरूप कलियुग अवतीर्ण हुआ। शून्य द्वारका को समुद्र ने प्लावित कर दिया। केवल एक यदुश्रेष्ठ के घर को समुद्र ने नहीं डुबाया। द्विजगण! आज भी समुद्र उसका अतिक्रमण नहीं करता, जिसलिए वहाँ भगवान् केशव

पार्थः[1] पञ्चनदे देशे बहुधान्यधनान्विते । चकार वासं सर्वस्य जनस्य मुनिसत्तमाः ॥१२॥
ततो लोभः समभवत्पार्थेनैकेन धन्विना । दृष्ट्वा स्त्रियो नीयमाना दस्यूनां निहतेश्वराः ॥१३॥
ततस्ते पापकर्माणो लोभोपहतचेतसः । आभीरा मन्त्रयामासुः समेत्यात्यन्तदुर्मदाः ॥१४॥

आभीरा ऊचुः

अयमेकोऽर्जुनो धन्वी स्त्रीजनं निहतेश्वरम् । नयत्यस्मानतिक्रम्य धिगेतत्क्रियतां बलम् ॥१५॥
हत्वा गर्वसमारूढो भीष्मद्रोजयद्रथान् । कर्णादींश्च न जानाति बलं ग्रामनिवासिनाम्[2] ॥१६॥
बलज्येष्ठान्नरानन्यान्ग्राम्यांश्चैव विशेषतः । सर्वानिवावजानाति किं बो बहुभिरुत्तरैः ॥१७॥

व्यास उवाच

ततो यष्टिप्रहरणा दस्यवो लोष्टहारिणः । सहस्रशोऽभ्यधावन्त तं जनं निहतेश्वरम् ॥
ततो निवृत्तः कौन्तेयः प्राहाऽऽभीरान्हसन्निव ॥१८॥

अर्जुन उवाच

निवर्तध्वमधर्मज्ञा यदीतो न मुमूर्षवः ॥१९॥

व्यास उवाच

अवज्ञाय वचस्तस्य जगृहुस्ते तदा धनम् । स्त्रीजनं चापि कौन्तेयाद्विषवक्सेनपरिग्रहम् ॥२०॥
ततोऽर्जुनो धनुर्दिव्यं गाण्डीवमजरं युधि । आरोपयितुमारेभे न शशाक स वीर्यवान् ॥२१॥

का नित्य सान्निध्य रहता है । उस महापवित्र, सर्वपापनाशन तथा विष्णु-क्रीड़ा से युक्त स्थान के दर्शन से पाप दूर हो जाते हैं । मुनिश्रेष्ठो ! धन-धान्य-सम्पन्न पञ्चनद देश में पार्थ ने सवको वसा दिया । मृत पति वाली स्त्रियों को ले जाते हुए अकेले धनुषधारी पार्थ को देखकर चोरों को लोभ हुआ । लोभ से नष्ट चित्त वाले पापी अहीर अत्यन्त मदान्ध होकर परस्पर मन्त्रणा करने लगे ॥८-१४॥

अहीरों ने कहा—यह अकेला धनुर्धारी अर्जुन हम लोगों की अवहेलना कर विधवाओं को ले जा रहा है । ऐसे साहस को धिक्कार है । हम बल प्रयोग करें । इस अभिमानी ने भीष्म, द्रोण, जयद्रथ तथा कर्ण आदि को मारा । पर इसे ग्रामवासियों की शक्ति का परिचय नहीं है । यह वलशाली मनुष्यों का विशेषकर ग्रामीणों का तथा सवका अपमान करता है । इस संवंध में वहुत उत्तर-प्रत्युत्तर करने से क्या लाभ ॥१५-१७॥

व्यास ने कहा—तदुपरान्त हजारों की संख्या में चोरगण लाठी-ढेले लेकर विधवाओं के पीछे दौड़ने लगे । तव निश्चिन्त कौन्तेय ने हँसकर अहीरों से कहा ॥१८॥

अर्जुन ने कहा—पापियो ! यदि मरना नहीं चाहते हो तो यहाँ से लौट जाओ ॥१९॥

व्यास ने कहा—अर्जुन की अवहेलना कर अहीरों ने धन ले लिया और कृष्ण की स्त्रियों का भी अपहरण किया । तव अर्जुन ने दिव्य तथा अजर गाण्डीव धनुष को चढ़ाना चाहा, पर वह वली ऐसा न कर

---

[1] क.पार्थश्च विजनोद्देशे। ख.पार्थश्चसुखदे। [2] ख.ग. ०म्। १६।देहयष्टिं महायासद्गृहीत्वाऽयं सुदुर्मतिः। स०

चकार सज्जं कृच्छ्रात्तु तदभूच्छिथिलं पुनः । सस्मार तथाऽस्त्राणि चिन्तयन्नपि पाण्डवः ॥२२॥
शरान्मुमोच चैतेषु पार्थः शेषान्स हर्षितः । न भेदं ते परं चक्रुरस्ता गाण्डीवधन्वना ॥२३॥
वह्निना चाक्षया दत्ताः शरास्तेऽपि क्षयं ययुः । युध्यतः सह गोपालैरर्जुनस्याभवत्क्षयः ॥२४॥
अचिन्तयत्तु कौन्तेय कृष्णस्यैव हि तद्बलम् । यन्मया शरसंघातैः सबला भूभृतो जिताः ॥२५॥
मिषतः पाण्डुपुत्रस्य ततस्ताः प्रमदोत्तमाः । अपाकृष्यन्त चाऽऽभीरैः[1] कामाच्चान्याः प्रवव्रजुः ॥२६॥
ततः शरेषु क्षीणेषु धनुष्कोटया धनंजयः । जघान दस्यूंस्ते चास्य प्रहाराञ्जहसुर्द्विजाः ॥२७॥
पश्यतस्त्वेव पार्थस्य वृष्ण्यन्धकवरस्त्रियः । जग्मुरादाय ते म्लेच्छाः [2]समन्तान्मुनिसत्तमाः ॥२८॥
ततः स दुःखितो जिष्णुः कष्टं कष्टमिति ब्रुवन् । अहो भगवता तेन मुक्तोऽस्मीति रुरोद वै[3] ॥२९॥

अर्जुन उवाच

तद्धनुस्तानि चास्त्राणि स रथस्ते च वाजिनः । सर्वमेकपदे नष्टं[4] दानमश्रोत्रिये यथा ॥३०॥
अहो[5] चाति बलं दैवं विना तेन महात्मना । यदसामर्थ्ययुक्तोऽहं[3] नीचैर्नीतः पराभवम् ॥३१॥
तौ बाहू स च मे मुष्टिः[7] स्थानं तत्सोऽस्मि चार्जुनः । पुण्येनेव विना तेन गतं सर्वमसारताम् ॥३२॥
ममार्जुनत्वं भीमस्य भीमत्वं तत्कृतं ध्रुवम् । विना तेन यदाभीरैर्जितोऽहं कथमन्यथा ॥३३॥

सका। कष्ट करने पर धनुष चढ़ा भी तो वह पुनः शिथिल हो गया। ध्यान करने पर भी पाण्डव अस्त्रों का स्मरण नहीं कर पाया। हर्ष से पाण्डव ने अपने अवशिष्ट वाणों को चोरों के ऊपर छोड़ा। किन्तु गाण्डीव धनुष से छूटे हुए वे वाण अहीरों के कुछ नहीं विगाड़ सके। अग्नि ने अर्जुन को अक्षय वाण दिये थे। वे भी नष्ट हो गये। अहीरों के साथ युद्ध करते हुए अर्जुन का क्षय हो गया। पाण्डव ने सोचा—'मैंने जो वाण-समूहों से वली राजाओं को जीता वह कृष्ण का ही प्रताप था।' अहीरों ने पाण्डुपुत्र से वलपूर्वक अवलाओं को छीन लिया। कुछ महिलायें इसके प्रहारों को देखकर हँसने लगे। मुनिश्रेष्ठो ! पार्थ के देखते ही देखते म्लेच्छगण चारों ओर से वृष्णि तथा अन्धक वंश वालों की स्त्रियों को लेकर भाग गये। तव दुःखी अर्जुन 'कष्ट, कष्ट ! अहो ! भगवान् ने मुझे छोड़ दिया' यह बोलते हुए रोने लगे ॥२०-२९॥

अर्जुन ने कहा—वही धनुष, वही रथ, वे ही अस्त्र, वे ही घोड़े—सव एक ही पग में नष्ट हो गये, जैसे अश्रोत्रिय को दिया हुआ दान (नष्ट हो जाता है)। अहो ! भाग्य प्रवल है। विना उस महात्मा के मैं असमर्थ होकर नीचों से पराजित हुआ। वे ही मेरी वाँहें हैं, वही मेरी मुट्ठी है, वही स्थान है, और वही अर्जुन मैं हूँ। किन्तु जैसे विना पुण्य के क्रियायें निष्फल होती हैं उसी तरह कृष्ण के विना मेरा सव कुछ निष्फल हो गया। मेरा अर्जुनत्व तथा भीम का भीमत्व निश्चय ही कृष्ण का किया हुआ अन्यथा उनके विना क्यों मैं अहीरों से पराजित हुआ ? ॥३०-३३॥

१क. ०भीरैस्ते शराः प्रययुः क्षयम् । त० । २क. ०मस्ता मुनि० । ३ख. ह । ४क. भ्रष्टं । ५ख। ग. ०होऽतिवलवद्दैवं । ६ख. ग. ०युक्तेऽपि नीचवर्गे जप्रदम् । ७क. ०ष्टिः सोऽस्मि चाहं तथाऽर्जु० ।

व्यास उवाच

इत्थं वदन्ययौ जिष्णुरिन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् । चकार तत्र राजानं वज्रं यादवनन्दनम् ॥३४॥
स ददर्श ततो व्यासं फाल्गुनः काननाश्रयम् । तमुपेत्य महाभागं[1] विनयेनाभ्यवादयत् ॥३५॥
तं[2] वन्दमानं चरणाववलोक्य सुनिश्चितम् । उवाच पार्थ विच्छायः कथमत्यन्तमीदृशः[3] ॥३६॥
अजारजोऽनुगमनं ब्रह्महत्याऽथवा कृता । जयाशाभङ्गदुःखी वा भ्रष्टच्छायोऽसि सांप्रतम् ॥३७॥
सान्तानिकादयो वा ते याचमाना निराकृताः । अगम्यस्त्रीरतिर्वाऽपि तेनासि विगतप्रभः ॥३८॥
भुङ्क्ते प्रदाय विप्रेभ्यो मिष्टमेकमथो भवान् । किं वा कृपणवित्तानि हृतानि भवताऽर्जुन ॥३९॥
स्पृष्टो नखाम्भसा वाऽपि घटाम्भःप्रोक्षितोऽपि वा । तेनातीवासि विच्छायो[4] न्यूनैर्वा युधि निर्जितः ॥४१॥

व्यास उवाच

ततः पार्थो विनिःश्वस्य श्रूयतां भगवन्निति । प्रोक्तो यथावदाचष्ट विप्रा[5] आत्मपराभवम् ॥४२॥

अर्जुन उवाच

यद्बलं यच्च नस्तेजो यद्वीर्यं यत्पराक्रमः । या श्रीश्छाया च नः सोऽस्मान्परित्यज्य हरिर्गतः ॥४३॥

व्यास ने कहा—इस प्रकार कहता हुआ अर्जुन इन्द्रप्रस्थ नामक उत्तम नगर में पहुँचा । वहाँ उसने यादव-पुत्र वज्र को राजा वनाया । तदनन्तर अर्जुन वन में व्यास से मिला । उसने विनयपूर्वक महाभाग व्यास का अभिवादन किया । चरणवन्दना करते हुए पार्थ को देखकर व्यास ने पूछा—ऐसे अत्यन्त कान्तिहीन क्यों हो गये हो ? क्या तुमने अजारज (मार्ग में वकरे-वकरियों के चलने से जो धूल उड़ती है, वह 'अजारज' है । उसके पड़ने से पाप लगता है) का अनुगमन किया है ? अथवा व्रह्महत्या की है ? या तुम विजय की आशा के भंग हो जाने से दुःखी हो ? या इस समय तुम निराश्रय हो गये हो ? या तुम्हारे पुत्र आदि याचना करतें हुए निकाल दिये गये हैं या तुम अगम्या स्त्री में अनुरक्त हो गये हो, जिससे तुम्हारी कान्ति नष्ट हो गई ।? क्या तुमने व्राह्मणों को मिष्टान्न देकर स्वयं खा लिया ? अर्जुन ! क्या तुमने कृपणों का वित्त हरण किया है ? कहीं तुम सूर्य-वायु के समाने तो नहीं पड़ गये ? दूषित दृष्टि तो नहीं लग गई है ? अन्यथा तुम (इतना) हतश्रीक क्यों होते ? तुम्हें नख डाले गये जल का स्पर्श हो गया है या (ऐसे) घड़े के जल से तुमने स्नान कर लिया है या नीचों से तुम युद्ध में हार गये हो । इसलिए तुम अत्यन्त कान्तिहीन मालूम पड़ते हो ॥३४-४१॥

व्यास ने कहा—विप्रवृन्द ! आह भरकर पार्थ ने कहा—'भगवन् ! सुनिये !' तव उसने अपने पराजय का सव समाचार सुनाया ॥४२॥

अर्जुन ने कहा—हमारे जो वल, तेज, शक्ति, पराक्रम, धन तथा ऐश्वर्य थे, वे हरि हमें छोड़ कर चले

---

[1] ग. ०भागो वि० । [2] ग. तं दृष्ट्वा वै मुनिश्रेष्ठाः पृष्टवानहमर्जुनम् । अहो विपार्थ वि० । [3] ख. ०शः । नुजरञ्जोअ० । ग. ०शः । कृतं राजानु० । [4] क. ख. ०यो नीचैर्वा । [5] क..ख. ०प्रायाऽऽत्म० ।

इतरेणेव महता स्मितपर्वूाभिभाषिणा । हीना वयं मुने तेन जातास्तृणमया इव ।।४४।।
अस्त्राणां सायकानां च गाण्डीवस्य तथा मम । सारता याऽभवन्मूर्ता स गतः पुरुषोत्तमः ।।४५।।
यस्यावलोकनादस्याञ्श्रीर्जयः संपदुन्नतिः । न तत्याज स गोविन्दस्त्यक्त्वाऽस्मान्भगवान्गतः ।।४६।।
भीष्मद्रोणाङ्गराजाद्यास्तथा दुर्योधनादयः । यत्प्रभावेण निर्दग्धाः स कृष्णस्त्यक्तवान्भुवम् ।।४७।।
निर्यौवना हतश्रीका भ्रष्टच्छायेव मे मही । विभाति तात नैकोऽहं विरहे तस्य चक्रिणः ।।४८।।
यस्यानुभावाद्भीष्माद्यैर्मय्यग्नौ शलभायितम् । विना तेनाद्य कृष्णेन गोपालैरस्मि निर्जितः ।।४९।।
गाण्डीवं त्रिषु लोकेषु ख्यातं यदनुभावतः । मम तेन विनाऽऽभीरैर्लगुडैस्तु तिरस्कृतम् ।।५०।।
स्त्रीसहस्राण्यनेकानि ह्यनाथानि महामुने । यततो मम नीतानि दस्युभिर्लगुडायुधैः ।।५१।।
आनीयमानमाभीरैः सर्वं कृष्णावरोधनम् । हृतं यष्टिप्रहरणैः परिभूय बलं मम ।।५२।।
निःश्रीकता न मे चित्रं यज्जीवामि तदद्भुतम्[1] । नीचावमानपङ्काङ्की निर्लज्जोऽस्मि पितामह ।।५३।।

व्यास उवाच

श्रुत्वाऽहं तस्य तद्वाक्यमब्रवं द्विजसत्तमाः । दुःखितस्य च दीनस्य पाण्डवस्य महात्मनः ।।५४।।
अलं ते व्रीडया पार्थ न त्वं शोचितुमर्हसि । अवेहि[2] सर्वभूतेषु कालस्य गतिरीदृशी ।।५५।।

गये । मुने ! मुसकराकर वोलने वाले उस महान् महात्मा ने इतर व्यक्ति की तरह हमें छोड़ दिया । उससे हम तृण के वरावर हो गये । मेरे अस्त्रों, वाणों तथा गाण्डीव धनुष का जो मूर्तरूप तत्त्व था, वे पुरुषोत्तम चले गये । जिनके दर्शन से लक्ष्मी, विजय, संपत्ति तथा उन्नति हमें नहीं छोड़ती थी, वे भगवान् गोविन्द हमें त्याग कर चले गये । जिनके प्रभाव से भीष्म, द्रोण, अंगराज आदि तथा दुर्योधन आदि दग्ध हुए। उन कृष्ण ने पृथ्वी का परित्याग कर दिया । तात ! मुझे पृथ्वी यौवनहीन, श्रीहीन तथा छायाहीन दीखती है । अकेला मैं ही कृष्ण के विरह में नहीं घुलता । जिनके प्रताप से भीष्म आदि, मुझ रूपी अग्नि में पतंगों की तरह गिर पड़े थे, उन कृष्ण के विना आज मैं ग्वालों से हार गया । जिनके सामर्थ्य से मेरा गाण्डीव धनुष तीनों लोक में प्रख्यात हुआ, उन कृष्ण के विना वही धनुष ग्वालों की लाठियों से तिरस्कृत हुआ । महामुने ! मेरे यत्न करने पर भी हजारों अनाथ स्त्रियाँ लट्ठधर चोरों द्वारा अपहृत कर ली गईं । लाठी चलाने वाले अहीरों ने मेरे वल को पराजित कर कृष्ण की सारी पत्नियों को हर लिया । मुझे अपनी श्रीविहीनता से उतना आश्चर्य नहीं होता जितना कि 'मैं जी रहा हूँ' इससे आश्चर्य होता है ।पितामह ! मैं नीचों के अपमान रूपी कीचड़ में फँसा हूँ, मैं निर्लज्ज हूँ ।।४३-५३।।

व्यास ने कहा—द्विजवर ! मैं दुःखी, दीन, महात्मा पाण्डव की वात सुनकर कहने लगा—'पार्थ ! तुम व्यर्थ लज्जित हो रहे हो । तुम्हें सोच नहीं करना चाहिए । समझो, प्राणिमात्र में काल की गति ऐसी ही होती है ।

---

[1] क०. म् । एकाकी जीवमानस्तु नि० । [2] ख. ग. अवैहि ।

कालो भवाय भूतानामभवाय च पाण्डव । कालमूलमिदं ज्ञात्वा कुरु स्थैर्यमतोऽर्जुन ॥५६॥
नद्यः समुद्रा गिरयः[1] सकला च वसुंधरा । देवा मनुष्याः पशवस्तरवश्च सरीसृपाः ॥५७॥
सृष्टाः कालेन कालेन पुनर्यास्यन्ति संक्षयम् । कालात्मकमिदं सर्वं ज्ञात्वाशममवाप्नुहि ॥५८॥
यथाऽऽत्थ कृष्णमाहात्म्यं तत्तथैव धनंजय । भारावतारकार्यार्थमवतीर्णः स मेदिनीम् ॥५९॥
भाराक्रान्ता धरा याता देवानां संनिधौ पुरा । तदर्थमवतीर्णोऽसौ कामरूपी जनार्दनः ॥६०॥
तच्च निष्पादितं कार्यमशेषा भूभृतो हताः । वृष्ण्यन्धककुलं सर्वं तथा पार्थोपसंहृतम् ॥६१॥
न किंचिदन्यत्कर्तव्यमस्य भूमितलेऽर्जुन । ततो गतः स भगवान्कृतकृत्यो यथेच्छया ॥६२॥
सृष्टिं सर्गे करोत्येष देवदेवः स्थितिं स्थितौ । अन्ते[2] ताप (लयं) समर्थोऽयं सांप्रतं वै यथा कृतम् ॥६३॥
तस्मात्पार्थ न संतापस्त्वया कार्यः पराभवात्[3] । भवन्ति भवकालेषु पुरुषाणां पराक्रमाः ॥६४॥
यतस्त्वयैकेन हता भीष्मद्रोणादयो नृपाः । तेषामर्जुन कालोत्थः किं न्यूनाभिभवो न सः ॥६५॥
विष्णोस्तस्यानुभावेन यथा तेषां पराभवः । त्वत्तस्तथैव भवतो दस्युभ्योऽन्ते तदुद्भवः ॥६६॥
स देवोऽन्यशरीराणि समाविश्य जगत्स्थितिम् । करोति सर्वभूतानां नाशं चान्ते जगत्पतिः ॥६७॥
भवोद्भवे च कौन्तेय सहायस्ते जनार्दनः । भवान्ते त्वद्विपक्षास्ते केशवेनावलोकिताः ॥६८॥
कः श्रद्दध्यात्सगाङ्गेयान्हन्यास्त्वं सर्वकौरवान् । आभीरेभ्यश्च भवतः कः श्रद्दध्यात्पराभवम् ॥६९॥

पाण्डव ! काल ही प्राणियों की उत्पत्ति तथा विनाश करता है। संसार को कालमूलक जानकर स्वस्थ होओ। काल ने ही नदी, समुद्र, पर्वत, सम्पूर्ण पृथ्वी, देव मनुष्य, पशु, वृक्ष तथा सर्प की सृष्टि की और ये सब पुनः काल ही में विलीन हो जायेंगे। सम्पूर्ण जगत् को कालरूप जानकर शान्ति धारण करो ॥५४-५८॥ धनंजय ! जैसे तुमने कृष्ण का माहात्म्य-वर्णन किया है, वैसे ही वे भार उतारने के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे। पूर्वकाल में भार से आक्रान्त होकर पृथ्वी देवताओं के पास गई थी। इसी निमित्त कामरूपी जनार्दन ने अवतार लिया। उन्होंने कार्य सम्पन्न किया, अशेष राजाओं को मारा और वृष्णि-अन्धक कुल का संहार किया ॥५९-६१॥ अर्जुन ! भूतल पर उनका कोई कर्तव्य नहीं शेष नहीं रहा। भगवान् कृतकृत्य होकर स्वेच्छा से चले गये। देवों के देव समर्थ भगवान् सृष्टिकाल में सृष्टि, स्थितिकाल में स्थिति तथा प्रलयकाल में प्रलय करते हैं, जैसे इस समय उन्होंने किया है। पार्थ ! इसलिए तुम्हें पराभव से संताप नहीं करना चाहिए। संसार में रहने के समय पुरुषों में पराक्रम होते हैं, जिसलिए तुमने अकेले ही भीष्म, द्रोण आदि राजाओं को निहत किया। क्या यह उनका कालजन्य पराभव कम हुआ? ॥६२-६५॥ उसी विष्णु के प्रताप से जैसे तुमसे उनका पराजय हुआ उसी तरह अन्त में चोरों से तुम्हारा भी हुआ। वह जगत्पति अन्य शरीरों में प्रवेश कर संसार की स्थिति करते हैं और अन्त में समस्त प्राणियों का नाश कर देते हैं। कुन्तीपुत्र ! तुम्हारे उद्भव-काल में जनार्दन सहायक थे और अन्त काल में केशव ने तुम्हारे शत्रुओं को देखा था। कौन विश्वास करता कि तुम भीष्म सहित अशेष कौरवों को मारोगे और अहीरों से तुम्हारा पराजय होगा? पार्थ !

१क. मुनयः । २क. ०न्ते तां च समाप्याथ सां० । ख. ०न्ते च ह्रस० । ३ख. ०भवे । भ० ।

पार्थैतत्सर्वभूतेषु हरेर्लीलाविचेष्टितम् । त्वया यत्कौरवा ध्वस्ता यदाभीरैर्भवाञ्जितः ॥७०॥
गृहीता दस्युभिर्यच्च रक्षिता भवता स्त्रियः । तदप्यहं यथावृत्तं कथयामि तवार्जुन ॥७१॥
अष्टावक्रः पुरा विप्र उदवासरतोऽभवत् । बहून्वर्षगणान्पार्थ गृणब्रह्म सनातनम् ॥७२॥
जितेष्वसुरसंघेषु मेरुपृष्ठे महोत्सवः । बभूव तत्र गच्छन्त्यो ददृशुस्तं सुरस्त्रियः ॥७३॥
रम्भा तिलोत्तमाद्याश्च शतशोऽथ सहस्रशः । तुष्टुवुस्तं महात्मानं प्रशशंसुश्च[1] पाण्डव ॥७४॥
आकण्ठमग्नं[2] सलिले [3]जटाभारधरं मुनिम् । विनयावनताश्चैव प्रणेमुः स्तोत्रतत्पराः ॥७५॥
यथा यथा प्रसन्नोऽभूत्तुष्टुवुस्तं तथा तथा । सर्वास्ताः कौरवश्रेष्ठ वरिष्ठं तं द्विजन्मनाम् ॥७६॥

अष्टावक्र उवाच

प्रसन्नोऽहं महाभागा भवतीनां यदिष्यते । मत्तस्तद्‌विरयतां सर्वं प्रदास्याम्यपि दुर्लभम् ॥७७॥

व्यास उवाच

रम्भा तिलोत्तमाद्याश्च[4] दिव्याश्चाप्सरसोऽब्रुवन् ॥७८॥

अप्सरस ऊचुः

प्रसन्ने त्वय्यसंप्राप्तं किमस्माकमिति द्विजाः[5] ॥७९॥
इतरास्त्वब्रुवन्विप्र प्रसन्नो भगवन्यदि । तदिच्छामः पतिं प्राप्तुं विप्रेन्द्र पुरुषोत्तमम् ॥८०॥

प्राणि-मात्र में यह सब तो हरि की लीला है। अर्जुन ! तुमने जो कौरवों को मारा, अहीरों ने जो तुम्हें जीता और तुमसे रक्षित स्त्रियों का जो चोरों ने हरण किया, वह सब वृत्तान्त मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥६६-७१॥ पार्थ ! प्राचीनकाल में विप्र अष्टावक्र सनातन ब्रह्म की स्तुति करते हुए वहुत वर्षों तक जलवास में निरत रहे। असुरसमूह के पराजय होने के उपलक्ष्य में सुमेरुपर्वत पर महान् उत्सव हो रहा था। उसी में सम्मिलित होने के लिए जाती हुई सैकड़ों हजारों देवांगनायें तथा रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सरायें महात्मा अष्टावक्र को देखकर उनकी स्तुति तथा प्रशंसा करने लगीं। पाण्डव ! स्तुति करने में तत्पर वनितायें जल में कण्ठ तक निमग्न तथा जटाभारधारी मुनि को विनय से झुक कर प्रणाम करने लगीं। कौरवश्रेष्ठ ! जैसे जैसे मुनि प्रसन्न होते जाते थे वैसे-वैसे स्त्रियाँ उनकी स्तुति करती जाती थीं ॥७२-७६॥

अष्टावक्र ने कहा—महाभाग ! में प्रसन्न हूँ। तुम लोगों को जो इच्छा हो वह सव मुझसे वर माँग लो, मैं दुर्लभ वस्तु भी दूँगा ॥७७॥

व्यास ने कहा—रम्भा, तिलोत्तमा आदि दिव्य अप्सरायें वोलीं ॥७८॥

अप्सराओं ने कहा—आपके प्रसन्न होने पर हमें क्य नहीं मिला। द्विजगण ! इतर स्त्रियों ने कहा—विप्रेन्द्र ! भगवन् ! यदि आप प्रसन्न हैं तो यह वर दीजिये कि पुरुषोत्तम हमारे पति हों ॥७९-८०॥

---

[1] ख. प्रसन्नमुखपङ्कजम्। आ०। [2] क. ०कर्णम०। [3] क. ख. ०टाचीर०। [4] क. ग. ०श्च वैदिक्योऽप्स। [5] ख. ग. द्विज।

व्यास उवाच

एवं भविष्यतीत्युक्त्वा उत्ततार जलान्मुनिः। तमुत्तीर्णं च ददृशुर्विरूपं वक्रमष्टधा ॥८१॥
तं दृष्ट्वा गूहमानानां यासां हासः स्फुटोऽभवत्। ताः शशाप मुनिः कोपमवाप्य कुरूनन्दनः ॥८२॥

अष्टावक्र उवाच

यस्माद्विरूपरूपं मां मत्वा हासावमानना। भवतीभिः कृता तस्मादेष शापं ददामि वः ॥८३॥
मत्प्रसादेन भर्तारं लब्ध्वा तु पुरूषोत्तमम्। मच्छापोपहताः सर्वा दस्युहस्तं गमिष्थ ॥८४॥

व्यास उवाच

इत्युदीरितमाकर्ण्य मुनिस्ताभिः प्रसादितः। पुनः सुरेन्द्रलोकं वै प्राह भूयो गमिष्यथ ॥८५॥
एवं तस्य मुनेः शापादष्टावक्रस्य केशवम्। भर्तारं प्राप्य ताः प्राप्ता दस्युहस्तं वराङ्गनाः ॥८६॥
तत्त्वया नात्र कर्तव्यः शोकोऽल्पोऽपि हि पाण्डव। [1]तेनैवाखिलनाथेन सर्वं तदुमसंहृतम् ॥८७॥
भवतां चोपसंहारमासन्नं तेन कुर्वता। बलं तेजस्तथा वीर्यं महात्म्यं चोपसंहृतम् ॥८८॥
जातस्य नियतो मृत्युः पतनं च तथोन्नतेः। विप्रयोगावसानं तु संयोगः [2]संचयः क्ष(यात्क्ष)यः ॥८९॥
विज्ञाय न बुधाः शोकं न हर्षमुपयान्ति ये। तेषामेवेतरे चेष्टां शिक्षन्तः सन्ति तादृशाः ॥९०॥
तस्मात्त्वया नरश्रेष्ठ ज्ञात्वैतद्भ्रातृभिः सह। परित्यज्याखिलं राज्यं गन्तव्यं तपसे वनम् ॥९१॥
तद्गच्छ धर्मराजाय निवेद्यैतद्वचो मम। परश्वो भ्रातृभिः सार्धं गतिं वीर यथा कुरू ॥९२॥

व्यास ने कहा—'ऐसा होगा' यह कह कर मुनि जल से वाहर निकले। स्त्रियों ने देखा कि मुनि कुरूप तथा आठ स्थानों में वक्र हैं। उन्हें देखकर जिन स्त्रियों का हास्य छिपाने पर भी स्फुट हो गया, उनको मुनि ने क्रोध से शाप दे दिया ॥८१-८२॥

अष्टावक्र ने कहा—जिसलिये मुझे कुरूप समझकर मेरा अपमान करती हुई तुम हँसीं इसलिए मैं तुम्हें शाप देता हूँ—'मेरी कृपा से पुरूषोत्तम को पतिरूप में प्राप्त करके तुम सव मेरे शाप से चोरों के हाथ में पड़ोगी ॥८३-८४॥

व्यास ने कहा—इतना वचन सुनकर स्त्रियों ने मुनि को प्रसन्न किया। पुनः मुनि ने कहा—'तुम लोग फिर देवलोक जाओगी'। इस प्रकार अष्टावक्र मुनि के शाप से वे स्त्रियाँ केशव को स्वामी के रूप में प्राप्त कर चोरों के हाथों में पड़ीं। पाण्डव ! इसलिए तुम्हें जरा भी शोक नहीं करना चाहिये। उसी जगन्नाथ ने सवका उपसंहार किया है।तुम्हारा भी संहार निकटवर्ती है। अतः तुम्हारे वल, तेज, वीर्य तथा माहात्म्य को उन्होनें समेट लिया है। उत्पन्न प्राणी का मरण, पतन, उन्नति, वियोग, समाप्ति, संयोग, संचय तथा क्षय निश्चित है-यह जानकर जो विद्वान् हर्ष-शोक नहीं करते हैं, उन्ही की चेष्टाओं से इतर व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करते हैं। नरश्रेष्ठ ! इसलिए यह जानकर तुम अखिल राज्य का परित्याग कर भाइयों के साथ तपस्या करने के लिये वन में चले जाओ।अतः धर्मराज से जाकर मेरा वचन कह देना और परसों भाइयों के साथ प्रस्थान कर देना ॥८५-९२॥

---

[1] ख. तनारिवलनाशेन। [2] क. संभवक्ष०।

व्यास उवाच

इत्युक्तो धर्मराजं तु समभ्येत्य तथोक्तवान् । दृष्टं चैवानुभूतं वा कथितं तदशेषतः[1] ॥९३॥
व्यासवाक्यं च ते सर्वे श्रुत्वाऽर्जुनसमीरितम् । राज्ये परीक्षितं कृत्वा ययुः पाण्डुसुता वनम् ॥९४॥
इत्येवं वो मुनिश्रेष्ठा विस्तरेण मयोदितम् । जातस्य च यदोर्वंशे वासुदेवस्य चेष्टितम् ॥९५॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे श्रीकृष्णचरितसमाप्तिकथनं नाम
द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१२॥

अथ त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

वराहावतारवर्णनम्

मुनयः ऊचुः

अहो कृष्णस्य माहात्म्यमद्भुतं चातिमानुषम् । रामस्य च मुनिश्रेष्ठ त्वयोक्तं भुवि दुर्लभम् ॥१॥
न तृप्तिमधिगच्छामः शृण्वन्तो भगवत्कथाम् । तस्माद्ब्रूहि महाभाग भूयो देवस्य चेष्टितम् ॥२॥
प्रादुर्भावः पुराणेषु विष्णोरमिततेजसः । सतां कथयतामेष वराह इति नः श्रुतम् ॥३॥

व्यास ने कहा—तदुपरान्त अर्जुन ने युधिष्ठर के पास जाकर दृष्ट, अनुभूत, कथित—सारी वातें कह सुनायीं । अर्जुन द्वारा कथित व्यास-वाक्य को सुनकर वे सव पाण्डु-पुत्र राज्य में परीक्षित् को नियुक्त करके वन में चले गये । मुनिश्रेष्ठो ! इस प्रकार मैंने यदुवंश में उत्पन्न वासुदेव की लीला का वर्णन कर दिया ॥९३-९५॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में श्रीकृष्णचरित्र-समाप्तिकथन नामक दो सौ
वारहवाँ अध्याय समाप्त ॥२१२॥

अध्याय २१३

वाराह-अवतार का वर्णन

मुनियों ने कहा—मुनिश्रेष्ठ ! अहा ! आपने कृष्ण-राम का अद्भुत, अलौकिक तथा पृथ्वी पर दुर्लभ माहात्म्य सुनाया । पर भगवान् की कथा को सुनते-सुनते तृप्ति नहीं होती । महाभाग ! इसलिये फिर भगवान् की लीला सुनायें । सत्पुरुषों के मुँह से हमने सुना है कि पुराणों में अमित तेजस्वी विष्णु का वराह अवतार माना गया है ।

---

[1] ग. ०तः । मम वा० ।

न जानीमोऽस्य चरितं न विधिं च च विस्तरम् । न कर्मगुणसद्भावं न हेतुत्वमनीषितम् ।।४।।
किमात्मको वराहोऽसौ का मूर्तिः का च देवता । किमाचारप्रभावो वा किंवा तेन तदा कृतम् ।।५।।
यज्ञार्थे समवेतानां मिषतां च द्विजन्मनाम् । महावराहचरितं सर्वलोकसुखावहम् ।।६।।
यथा नारायणो ब्रह्मन्वाराहं रूपमास्थितः । दंष्ट्रया गां समुद्रस्थामुज्जहारारिमर्दनः ।।७।।
विस्तरेणैव कर्माणि सर्वाणि रिपुघातिनः । श्रोतुं नो वर्तते बुद्धिर्हरेः कृष्णस्य धीमतः ।।८।।
कर्मणामानुपूर्व्या च प्रादर्भावाश्च ये विभोः । या वाऽस्य प्रकृतिब्रह्मंस्ताश्चाऽऽख्यातुं त्वमर्हसि ।।९।।

व्यास उवाच

प्रश्नभारो महानेष भवद्भिः समुदाहृतः । यथाशक्त्या तु वक्ष्यामि श्रूयतां वैष्णवं यशः ।।१०।।
विष्णोः प्रभावश्रवणे दिष्ट्या वो मतिरुत्थिता । तस्माद्विष्णोः समस्ता वै शृणुध्वं याः प्रवृत्तयः ।।११।।
सहस्रास्यं सहस्राक्षं सहस्रचरणं च यम् । सहस्रशिरसं देवं सहस्रकरमव्ययम् ।।१२।।
सहस्रजिह्वं भास्वन्तं सहस्रमुकुटं प्रभुम् । सहस्रदं सहस्रादिं सहस्रभुजमव्ययम् ।।१३।।
हवनं सवनं चैव होतारं हव्यमेव च । पत्राणि च पवित्राणि वेदिं दीक्षां समित्स्रुवम् ।।१४।।
स्रुक्सोमसूर्यमुशलं प्रोक्षणीं दक्षिणायनम् । अध्वर्युं सामगं विप्रं सदस्यं सदनं सदः ।।१५।।
यूपं चक्रं[1] ध्रुवां दर्वीं चरूंश्चोलूखलानि च । प्राग्वंशं यज्ञभूमिं च होतारं च परं च यत् ।।१६।।

है। परन्तु हम लोग न उसका चरित्र, न विस्तृत विधान, न कर्म-गुण और न अन्वेषण-रहित कारण ही जानते हैं। वराह का क्या स्वरूप है ? कैसी मूर्ति है ? कौन सा देवता है ? कैसा आचार तथा प्रभाव है ? जिस समय यज्ञ करने के लिए द्विजातिगण एकत्रित हुए थे, उस समय उसने क्या किया ? महावराह का चरित्र सव लोगों को सुख देने वाला है। कैसे शत्रुमर्दन नारायण ने वराह का रूप धारण कर दाँतों से समुद्र-स्थित पृथ्वी का उद्धार किया ? रिपुनाशन धीमान् कृष्ण के सारे कर्मों को विस्तार से हम सुनना चाहते हैं। व्रह्मन् ! हरि के कर्म, प्रादुर्भाव तथा प्रकृति के वारे में हमें क्रमशः वतलाइये ।।१-९।।

व्यास ने कहा—यह तो आपने महान् प्रश्न कर दिया। मैं यथाशक्ति कहूँगा। विष्णु के यश को सुनिये। भाग्य से विष्णु के प्रताप सुनने की इच्छा आपको हुई है। इसलिए विष्णु की समस्त प्रवृत्तियों को सुन लीजिये।।१०-११।। जो सहस्र मुख वाले, सहस्र चरण वाले, सहस्र नेत्र वाले, सहस्र शिर वाले, सहस्र हाथ वाले, अव्यय, सहस्र जिह्वा वाले, प्रकाशमान, सहस्रमुकुट वाले, समर्थ, सहस्रों देने वाले, सहस्रों के आदि, सहस्र भुजा वाले, हवन, सोमपान, होता, देवान्न, पात्र, पवित्री, वेदि, दीक्षा, समिधा, स्रुव; चन्द्रमा, सूर्य, मुशल, प्रोक्षणीपात्र, दक्षिणायन, अध्वर्यु, साम गाने वाले विप्र, सदस्य, सदन, सभा, यूप, चक्र, धुरी, चरु, ओखली, प्राग्वंश (यज्ञशाला में हविर्गृह के पूरव का घर जिसमें यजमान आदि रहते हैं) यज्ञभूमि, सवसे परे, ह्रस्व, अतिदीर्घ, स्थावर, जंगम, प्रायश्चित्त, अर्घ, स्थण्डिल, (समतल प्रदेश), कुश, मन्त्र तथा यज्ञवाहक अग्नि, भाग, भागवाहक, आगे वैठने वाले, सोमभोक्ता, अग्नि में हवन करने वाले

---

[1] क. ध्रुवं ।

ह्रस्वाण्यतिप्रमाणानि स्थावरणि चराणि च । प्रायश्चित्तानि वाऽर्घ्यं च स्थण्डिलानि कुशास्तथा ।।१७।।
[१]मन्त्रयज्ञवहं वह्निं भागं भागवहं च यत् । [२]अग्रासिनं सोमभुजं हुतार्चिषमुदायुधम् ।।१८।।
आहुर्वेदविदो विप्रा यं यज्ञे शाश्वतं प्रभुम् । तस्य विष्णो सुरेशस्य श्रीवत्साङ्कस्य धीमतः ।।१९।।
प्रादुर्भावसहस्राणि समतीतान्यनेकशः । भूयश्चैव भविष्यन्ति ह्येवमाह पितामहः ।।२०।।
यत्पृच्छध्वं महाभागा दिव्यां पुण्यामिमां कथाम् । प्रादुर्भावाश्रितां विष्णोः सर्वपापहरां शिवाम् ।।२१।।
शृणुध्वं तां महाभागास्तद्गतेनान्तरात्मना । प्रवक्ष्याम्यानुपूर्व्येण यत्पृच्छध्वं[३] ममानघाः ।।२२।।
वासुदेवस्य माहात्म्यं चरितं च महामतेः । हितार्थं सुरमर्त्यानां लोकानां प्रभवाय च ।।२३।।
बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति वीर्यवान्[४] । प्रादुर्भावांश्च वक्ष्यामि[५] पुण्यान्दिव्यान्गुणान्वितान् ।।२४।।
सुप्तो युगसहस्रं यः प्रादुर्भवति कार्यतः[६] । पूर्णे युगसहस्रेऽथ देवदेवो जगत्पतिः ।।२५।।
ब्रह्मा च कपिलश्चैव त्र्यम्बकस्त्रिदशास्तथा । देवाः सप्तर्षश्चैव नागाश्चाप्सरस्तथा ।।२६।।
सनत्कुमारश्च महानुभावो, मनुर्महात्मा [७]भगवान्प्रजाकरः ।
पुराणदेवोऽथ पुराणि चक्रे[८] प्रदीप्तवैश्वानरतुल्यतेजाः ।।२७।।
योऽसौ चार्णवमध्यस्थो नष्टे स्थावरजङ्गमे । नष्टे देवासुरनरे प्रनष्टोरगराक्षसे ।।२८।।
योद्धुकामौ दुराधर्षौ तावुभो मधुकैटभौ । हतौ[९] भगवता[१०] तेन तयोर्दत्त्वाऽमितं[११] वरम् ।।२९।।
पुरा कमलनाभस्य स्वपतः सागराम्भसि । पुष्करे तत्र[१२] संभूता देवाः सर्षिगणास्तथा ।।३०।।

धारण तथा अस्त्र करने वाले हैं और जिनको वेदवेत्ता व्राह्मण यज्ञ में 'नित्य' कहकर पुकारते हैं, उन देवेश, श्रीवत्स चिह्न से युक्त, धीमान् विष्णु के हजारों अवतार हो चुके हैं और फिर होंगे—ऐसा व्रह्मा जी ने कहा ।।१२-२०।। महाभाग ! जो आप विष्णु की सर्वपापनाशिनी, कल्याणमयी, दिव्य, पवित्र तथा अवतार से सम्वन्ध रखने वाली कथा पूछते हैं, वह कृष्ण में मन लगाकर सुनिये। निष्पाप ! देव-मनुष्यों के हित के लिए तथा लोकों की उत्पत्ति के लिए मैं महावुद्धिमान् वासुदेव का माहात्म्य तथा चरित्र अक्षरशः वतलाऊँगा ।।२१-२३।। अखिल प्राणियों के आत्मा शक्तिशाली कृष्ण के अनेक अवतार हुए हैं, उन दिव्य गुणों से युक्त तथा पवित्र अवतारों के विषय में मैं कहूँगा ।।२४।। देवदेव जगत्पति हजार युग तक शयन करते हैं और सहस्रयुग पूर्ण होने पर कार्यवश अवतार लेते हैं ।।२४।। अनन्तर प्रज्वलित अग्नितुल्य तेजस्वी पुराणदेव व्रह्मा, कपिल, शिव, देवता, सप्तर्षि, नाग, अप्सरा, महानुभाव सनत्कुमार, महात्मा मनु, भगवान् प्रजापति तथा पुरों की सृष्टि करते हैं।।२६-२७।। जो हरि स्थावर, जंगम, देव, असुर, नर, सर्प तथा राक्षस के नष्ट हो जाने पर समुद्र-मध्य में विराजमान थे, उन्होंने अतिपराक्रमी तथा युद्धाभिलाषी मधु-कैटभ को अपरिमित व्रर देकर निहत किया था ।।२६-२९।। पूर्व काल में जव कमलनाभ भगवान् समुद्र में शयन कर रहे थे उस समय उस कमल से ऋषिगण सहित देवता उत्पन्न हुए थे ।।३०।। महात्मा हरि का यह पौष्करक

१क. ०यज्ञं वहिर्यज्ञं भा० । २क. अन्नाशिनं । ३क. ०ध्वं मुनीश्वराः । वा० । ४ग. कार्यवान् । ५क. ०मि असंख्येयगुणा० । ६क. ख. वीर्यवान् । ७क. ०न्प्रभाक० । ८क. ०क्रे राष्टाणि वै० । ९ग. ०तौ प्रभव० । १०ग. ०ताऽनेन । ११क. ०त्त्वा वरं ततः । पु० । १२ग. यत्र ।

एष पौष्करको नाम प्रादुर्भावो महात्मनः । पुराणं कथ्यते यत्र[1] देवश्रुतिसमाहितम् ॥३१॥
वाराहस्तु[2] श्रुतिमुखः प्रादुर्भावो महात्मनः । यत्र विष्णुः सुरश्रेष्ठो वाराहं रूपमास्थितः ॥३२॥
वेदपादो यूपदंष्ट्रः [3]क्रतुदन्तश्चितीमुखः । अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो [4]महातपाः ॥३३॥
अहोरात्रेक्षणो दिव्यो वेदाङ्गः श्रुतिभूषणः । आज्यनासः स्रुवतुण्डः सामघोषस्वरो महान् ॥३४॥
सत्यधर्ममयः श्रीमान्क्रमविक्रमसत्कृतः । प्रायश्चित्तनखो[5] घोरः [6]पशुजानुर्मुखाकृतिः ॥३५॥
उद्गातान्त्रो होमलिङ्गो[7] बीजौषधिमहाफलः । वाद्यान्तरात्मा [8]मन्त्रस्फिग्विकृतः सोमशोणितः ॥३६॥
दक्षिणाहृदयो योगी महासत्रमयो[9] महान् । [10]उपाकर्माष्टरुचकः[11] [12]प्रगर्वावर्तभूषणः ॥३८॥
नानाच्छन्दोगतिपथो गुह्योपनिषदासनः । छायापत्नीसहायोऽसौ मणिभृङ्ग इवोत्थितः ॥३९॥
महीं सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् । एकार्णवजलभ्रष्टामेकार्णवगतः प्रभुः ॥४०॥
दंष्ट्रया यः समुद्धृत्य लोकानां हितकाम्यया । सहस्रशीर्षो लोकादिश्चकार जगतीं पुनः ॥४१॥
एवं यज्ञवराहेण भूत्वा भूतहितार्थिना । उद्धृता पृथिवी देवी सागराम्बुधरा पुरा ॥४२॥

प्रादुर्भाव है, जहाँ देवतालोग समाहितचित होकर पुराणश्रवण करते हैं ॥३१॥ महात्मा (विष्णु) के वराह अवतार का मुख वेद है, जहाँ सुरश्रेष्ठ वराह-रूप से स्थित हैं ॥३२॥ वेद उनके चरण हैं, यूप दंष्ट्रा है, यज्ञ दाँत हैं, चिति (अग्नि-संस्कार) मुख है, अग्नि चिह्वा है, कुश रोम है, व्रह्मा शिर है, दिन और रात आँखें हैं, वेदांग कर्णभूषण हैं, घी नाक है, स्रुव थूथन है और सामगान भारी स्वर है ॥३३-३४॥ वे महातपस्वी, सत्यधर्ममय, श्रीमान् तथा पराक्रम द्वारा सत्कृत हैं। प्रायश्चित्त उनका भयंकर नख है और पशु के घुटने उनके मुख की आकृति है ॥३५॥ उद्गाता उनकी अँतड़ी है। होम उनका लिंग है। महाफलशाली ओषधियाँ वीर्य हैं। अन्तरात्मा वाजा है, मन्त्र विकृत चूतड़ है, सोम शोणित है, वेदि कन्धा है, हविष्य गन्ध है, हव्य-कव्य अत्यन्त वेग है और प्राग्वंश (यज्ञशाला में हविर्गृह के पूरव का घर) शरीर है। वे कांतिमान् तथा नाना दीक्षाओं से युक्त हैं ॥३६-३७॥ दक्षिणा उनका हृदय है। वे योगी, महान् तथा महासत्रमय हैं। उपाकर्म उनके कुण्डल हैं, प्रवर्ग (होमाग्नि का भेद) आवर्तभूषण (चक्करदार आभूषण विशेष) है, नाना छन्द मार्ग हैं, उपनिषद् आसन है और छाया पत्नी है। वे मणिपर्वत की तरह उठे हुए हैं ॥३८-३९॥ जव पर्वत वन तथा कानन सहित समुद्र पर्यन्त पृथिवी एकार्णव हो गई तव लोकों के आदि तथा सहस्र शिर वाले प्रभु ने लोकों के हित के निमित्त एकार्णव में प्राप्त होकर दंष्ट्रा से पृथ्वी का उंद्धार कर पुनः संसार बसाया ॥४०-४१॥ इस प्रकार प्राचीन काल में प्राणियों के कल्याण के इच्छुक भगवान् ने यज्ञवराह होकर सागर के जल का धारण करने वाली पृथ्वी देवी का उद्धार किया ॥४२॥ द्विजगण !

१ग. यत्र । २क. ग. ०त्र वेदस्तुति० । २क. ०स्तु ततो जातः प्रा० । ३ग. ०तुहस्ताश्विनीमु० । ४क. महाभयः । ५क. ०त्तमुखो । ६क. ०शुपायुर्मु० । ७क. लिङ्गः फलजीवमहौषधिः । वा० । ८क. मस्तिक्यविक्रृ० । ९क. ०महेम० । १०ग. ७वाक० । ११क. ०कर्मोऽष्ट० । १२क। ०वर्ग्यावलभू० ।

वाराह एष कथितो नारसिंहस्ततो द्विजाः । यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥४३॥
पुरा कृतयुगे नाम सुरारिर्बलदर्पितः । दैत्यानामादिपुरुषश्चकार सुमहत्तपः ॥४४॥
दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च । [1]जपोपवासनिरतस्तस्थौ[2] मौनव्रतस्थितः ॥४५॥
ततः शमदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चैव हि । प्रीतोऽभवत्ततस्तस्य तपसा नियमेन च ॥४६॥
तं वै स्वयंभूर्भगवान्स्वयमागम्य भो द्विजाः । विमानेननार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥४७॥
आदित्यैर्वसुभिः सार्धं मरुद्भिर्दैवतैस्तथा । रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसकिंनरैः ॥४८॥
दिशाभिः प्रदिशाभिश्च नदीभिः सागरैस्तथा । नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खेचरैश्च महाग्रहैः ॥४९॥
देवर्षिभिस्तपोवृद्धैः सिद्धैर्विद्वद्भिरेव च । राजर्षिभिः पुण्यतमैर्गन्धर्वैरप्सरोगणैः ॥५०॥
चराचरगुरुः श्रीमान्वृतः सर्वैः सुरैस्तथा । ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यं वचनमब्रवीत् ॥५१॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसाऽनेन सुव्रत । वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि ॥५२॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः । ऋषयो वाऽथ मां शापैः क्रुद्धा लोकपितामह ॥५३॥
शपेयुस्तपसा युक्ता शर एष वृतो मया । न शस्त्रेण न वाऽस्त्रेण गिरिणा पादपेन वा ॥५४॥
न शुष्केण न चाऽऽर्द्रेण न चैवोर्ध्वं न चाप्यधः । प्राणिप्रहारेणैकेन सभृत्यबलवाहनम् ॥५५॥

यही वराहअवतार है । इसके वाद नरसिंह अवतार हुआ था, जिसमें सिंह होकर भगवान् ने हिरण्यकशिपु को मारा था ॥४३॥ पहले सत्ययुग में दैत्यों के आदिपुरुष वलाभिमानी राक्षस (हिरण्यकशिपु) ने महान् तप किया ॥४४॥ ग्यारह हजार पाँच सौ वर्षों तक वह मौनव्रत में स्थित होकर जप-उपवास करता रहा ॥४५॥ उसके शम, दम, व्रह्मचर्य, तपस्या और नियम से भगवान् प्रसन्न हुए) ॥४६॥ द्विजवृन्द ! हंस से युक्त, दीप्यमान तथा सूर्य के समान वर्ण वाले विमान से स्वयं व्रह्माजी आदित्य, वसु, मरुत्, देवता, रुद्र, विश्वेदेव, यक्ष, राक्षस, किन्नर, दिशा, प्रदिशा, नदी, सागर, नक्षत्र, मुहूर्त, आकाशचर, महाग्रह, देवर्षि, तपोवृद्ध सिद्ध, विद्वान्, राजर्षि, पुण्यतम, गन्धर्व तथा अप्सरागण से आवृत होकर उसके समीप आये । चराचर के गुरु तथा व्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ व्रह्मा ने दैत्य से कहा ॥४७-५१॥

ब्रह्मा बोले—हे सुव्रती ! तुम्हारी इस तपस्या से मैं प्रसन्न हूँ । तुम्हारा कल्याण हो ! तुम यथेष्ट वर माँगो ॥५२॥

हिरण्यकश्यप ने कहा—हे लोकपितामह ! मैं यही वर माँगता हूँ कि देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, सर्प, राक्षस या ऋषि तपस्या से युक्त होकर क्रोध से मुझे शाप न दें तथा न शस्त्र से, न अस्त्र से, न पर्वत से, न वृक्ष से, न सूखे या गीले पदार्थ से, न ऊपर और न नीचे ही मेरी मृत्यु हो । जो एक ही हस्त-प्रहार से सेवक, सेना तथा वाहन समेत

---

[1] क. ख. जलोप० । [2] ख. ०स्थौ वा ऽभोजनः शुचिः । त० ।

यो मां नाशयितुं शक्तः स मे मृत्युर्भविष्यति । भवेयमहमेवार्कः सोमो वायुर्हुताशनः ॥५६॥
सलिलं चान्तरिक्षं च आकाशं चैव सर्वशः । अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वासवो यमः ॥
धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किंपुरुषाधिपः ॥५७॥

ब्रह्मोवाच

एते दिव्या शरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः । सर्वान्कामानिमांस्तात प्राप्स्यसि त्वं न संशयः ॥५८॥

व्यास उवाच

एवमुक्त्वा तु श्रादान्जगामाऽऽशु पितामहः । वैराजं ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥५९॥
अतो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा मुनयस्तथा । वरप्रदानं [1]श्रुत्वैव पितामहमुपस्थिताः ॥६०॥

देवा ऊचुः

वरेणानेन भगवन्बाधिष्यति स नोऽसुरः । तत्प्रसीदाऽऽशु भगवन्वधोऽप्यस्य विचिन्त्यताम् ॥६१॥
भगवन्सर्वभूतानां स्वयंभूरादिकृत्प्रभुः । स्रष्टा च हव्यकाव्यानामव्यक्तं प्रकृतिर्ध्रुवम् ॥६२॥

व्यास उवाच

ततो लोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः । प्रोवाच भगवान्वाक्यं सर्वदेवगणांस्तथा ॥६३॥

ब्रह्मोवाच

अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम् । तपसोऽन्ते च भगवान्वधं विष्णुः करिष्यति ॥६४॥

मुझे मारने में समर्थ होगा, उसी से मेरी मृत्यु हो। मैं ही सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, जल, अन्तरिक्ष, आकाश, क्रोध, काम, वरुण, इन्द्र, यम, कुवेर और यक्ष होऊँ ॥५३-५७॥

ब्रह्मा ने कहा—तात ! ये आश्चर्यकारी दिव्य वर मैं देता हूँ। तुम्हारी समस्त कामनायें पूरी होंगी, इसमें कोई संशय नहीं ॥५८॥

व्यास ने कहा—इतना कहकर शीघ्र ही भगवान् पितामह ब्रह्मर्षिगणों से सेवित वैराज नामक ब्रह्मसदन में चले गये। तदनन्तर देव, नाग, गन्धर्व और मुनिवृन्द वरदान सुनकर ब्रह्मा के पास उपस्थित हुए ॥५९-६०॥

देवों ने कहा—भगवन् ! इस वर से वह राक्षस हमें कष्ट देगा। अतः कृपा करके उसके वध का भी उपाय सोचिये। भगवन् ! आप अखिल प्राणियों के आदिकर्ता, स्वयंभू, हव्य-कव्यों के स्रष्टा, अव्यक्त, प्रकृति तथा ध्रुव हैं ॥६१-६२॥

व्यास ने कहा—तदुपरान्त लोकों के कल्याणकारी वाक्य को सुनकर भगवान् प्रजापति ने समस्त देवगणों से कहा ॥६३॥

ब्रह्मा ने कहा—देववृन्द ! वह तपस्या का फल अवश्य पायेगा। तप के अन्त में भगवान् विष्णु उसका वध करेंगे ॥६४॥

---

[1]क. श्रुत्वेदं ।

व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा सुराः सर्वे वाक्यं पङ्कजजन्मनः। स्वानि स्थानानि दिव्यानि जग्मुस्ते वै मुदान्विताः ॥६५॥
लब्धमात्रे वरे चापि सर्वाः सोऽबाधत प्रजाः। हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः ॥६६॥
आश्रमेषु महाभागन्मुनीन्वै संशितव्रतान्। सत्यधर्मरतान्दान्तांस्तदा धर्षितवांस्तथा ॥६७॥
त्रिदिवस्तांस्तथा देवान्पराजित्य महाबलः। त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति सोऽसुरः ॥६८॥
यदा वरमदोन्मत्तो विचरन्दानवो भुवि[1]। यज्ञीयानकरोद्दैत्यानयज्ञीयाश्च देवताः ॥६९॥
आदित्या वसवः साध्या विश्वे च मरुतस्तथा। शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्थुर्महाबलम् ॥७०॥
देवब्रह्ममयं यज्ञं ब्रह्मदेवं सनातनम्। भूतं भव्यं भविष्यं च प्रभुं लोकनमस्कृतम्॥
नारायणं विभुं देवं शरण्यं शरणं गताः ॥७१॥

देवा ऊचुः

त्रायस्व नोऽद्य देवेश हिरण्यकशिपोर्भयात्। त्वं हि नः परमो देवस्त्वं हि नः परमो गुरुः ॥७२॥
त्वं हि नः परमो धाता ब्रह्मादीनां सुरोत्तम। उत्फुल्लामलपत्राक्ष शत्रुपक्षक्षयंकर॥
[2]क्षयाय दितिवंशस्य शरणं त्वं भवस्व नः ॥७३॥

वासुदेव उवाच

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम्। तथैव त्रिदिवं देवाः [3]प्रतिलप्स्यथ मा चिरम् ॥७४॥
एषोऽहं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम्। [4]अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्मि तम् ॥७५॥

व्यास ने कहा—पितामह का वचन सुनकर देवगण प्रसन्नता से अपने-अपने दिव्य स्थानों पर चले गये। वर प्राप्त करते ही दैत्य हिरण्यकशिपु वरदान के गर्व से प्रजा को पीड़ित करने लगा। आश्रमों में व्रतनिष्ठ, सत्यधर्मपरायण, इन्द्रियों के दमन करने वाले महाभाग मुनियों को वह कष्ट देने लगा। स्वर्गस्थ देवों को जीतकर तीनों लोक को वश में लाकर वह महावली राक्षस स्वर्ग में वास करने लगा। जव वर के मद से उन्मत्त होकर उस दानव ने पृथ्वी पर विचरण करके दैत्यों को यज्ञ-भाग-भोक्ता तथा देवताओं को यज्ञ से वंचित कर दिया तव आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव और मरुत्-गण महावली, शरणदाता, देव-व्रह्ममय, यज्ञरूप, व्रह्मदेव, सनातन, भूत, भव्य, भविष्य, प्रभु, लोकों से नमस्कृत, नारायण तथा व्यापक विष्णुदेव के समीप उपस्थित हुए ॥६५-७१॥

देवों ने कहा—देवातओं के स्वामी ! हिरण्यकशिपु के भय से वचाइये। सुरोत्तम ! आप हमारे परमदेव हैं, परम गुरु हैं और हम व्रह्मा आदि देवों के परम धाता (धारण करने वाले) हैं। विकसित कमल के समान नेत्रवाले ! शत्रुपक्ष का क्षय करने वाले ! दैत्यों के नाश के लिये हम आपकी शरण में आये हैं ॥७२-७३॥

वासुदेव ने कहा—देववृन्द ! भय त्यागो। मैं तुम्हें अभय देता हूँ। शीघ्र ही तुम स्वर्ग प्राप्त करोगे। अभी मैं वरदान से गर्वित तथा देवताओं से अवध्य दानवेन्द्र को गणसहित मार डालता हूँ ॥७४-७५॥

---

[1]ग. दिवि। [2]क. जयाय। [3]ग. प्रतिपद्यत। [4]ग. ०वयश्यम०।

व्यास उवाच

एवमुक्त्वा तु भगवान्विसृज्य [1]त्रिदशेश्वरान् । हिरण्यकशिपोः स्थानमाजगाम महाबलः ॥७६॥
नरस्यार्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्धतनुं प्रभुः[2] । नारसिंहेन वपुषा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ॥७७॥
घनजीमूतसंकाशो घनजीमूतनिस्वनः । घनजीमूतदीप्तौजा जीमूत इव वेगवान् ॥७८॥
दैत्यं सोऽतिबलं दृष्ट्वा दृप्तशार्दूलविक्रमः । दृप्तैर्दैत्यगणैर्गुप्तं हतवानेकपाणिना ॥७९॥
नृसिंह एष कथितो [3]भूयोऽयं वामनः[4] परः । यत्र वामनमास्थाय रूपं दैत्यविनाशनम् ॥८०॥
बलेर्बलवतो यज्ञे बलिना विष्णुना पुरा । विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्याः क्षोभितास्ते महासुराः ॥८१॥
विप्रचित्तिः शिवः शङ्कुरयःशङ्कुस्तथैव च । अयः शिरा अश्वशिरा हयग्रीवश्च वीर्यवान् ॥८२॥
वेगवान्केतुमानुग्रः [5]सोग्रव्यग्रो महासुरः । पुष्करः पुष्कलश्चैव शा (सा) श्वोऽश्वपतिरेव च ॥८३॥
[6]प्रह्लादोऽश्वपतिः कुम्भः संह्लादो [7]गमनप्रियः । अनुह्लादो हरिहयो[8] वाराहः[9] [10]संहरोऽनुजः ॥८४॥
शरभः शलभश्चैव कुपथः[11] क्रोधनः क्रथः । बृहत्कीर्तिर्महाजिह्वः शङ्कुकर्णो महास्वनः ॥८५॥
दीप्तजिह्वोऽर्कनयनो [12]मृगपादो [13]मृगप्रियः । वायुर्गरिष्ठो नमुचिः [14]सम्बरो [15]विस्करो महान् ॥८६॥
चन्द्रहन्ता क्रोधहन्ता क्रोधवर्धन एव च । कालकः कालकोपश्च वृत्रः क्रोधो विरोचनः ॥८७॥
गरिष्ठश्च वरिष्ठश्च प्रलम्बनरकावुभौ । इन्द्रतापनवातापी केतुमान्बलदर्पितः ॥८८॥

व्यास ने कहा—इतना कहकर देवताओं को विदा करके महावलशाली भगवान् आधा शरीर मनुष्य का और आधा शरीर सिंह का वनाकर हाथ से हाथ को छूते हुए हिरण्यकशिपु के स्थान पर आये ॥७६-७७॥ मेघ के समान वर्ण वाले, मेघतुल्य शब्द वाले, मेघतुल्य कान्ति वाले, मेघतुल्य वेग वाले और सिंह के सदृश पराक्रमी हरि ने अतिवलशाली दैत्य को देखकर अभिमानी दैत्यगणों से रक्षित हिरण्यकशिपु को एक ही हाथ से मार डाला ॥७९॥ यह नृसिंह-अवतार वतला दिया । अव दूसरा वामन-अवतार आता है, जिसमें दैत्यविनाशकारी वामन रूप धर कर वली विष्णु ने वलवान् वलि के यज्ञ में महाराक्षसों को संक्षुब्ध कर दिया था ॥८०-८१॥ (जैसे—) विप्रचित्ति, शिव, शंकु, अयःशंकु, अयःशिरा, अश्वशिरा, हयग्रीव, वीर्यवान् ॥८२॥ वेगवान्, केतुमान्, उग्र, सोग्रव्यग्र, महासुर, पुष्कर, पुष्कल, शा (सा) श्व, अश्वपति ॥८३॥ प्रह्लाद, कुम्भ, संह्लाद, गमनप्रिय, अनुह्लाद, हरिहय, वाराह, संहर, अनुज ॥८४॥ शरभ, शलभ, कुपथ, क्रोधन, क्रथ, वृहत्कीर्ति, महाजिह्व, शंकुकर्ण, महास्वन ॥८५॥ दीप्तजिह्व, अर्कनयन, मृपाद, मृगप्रिय, वायु, गरिष्ठ, नमुचि, सम्वर, विस्कर, महान् । ॥८६॥ चन्द्रहन्ता, क्रोधहन्ता, क्रोधवर्धन, कालक, कालकोप, वृत्र, क्रोध, विरोचन ॥८७॥ गरिष्ठ, वरिष्ठ, प्रलम्व, नरक, इन्द्रतापन, वातापि, केतुमान्, वल-

---

[1] ख. त्रिदिवेश्व० । [2] क. ख. हरिः । [3] क. ०योऽसो वा० । [4] क. ०मनस्ततः । य० । [5] क. सोव्यग्रो हि म० । [6] क. ०ह्लादः स्वप० । [7] क. गगन० । [8] क. ०हरौ वा० । [9] ग. वराहः । [10] ग. ०नोरजः । [11] क. कुशपः । [12] क. मृदुषा० [13] क. मृदुप्रि० । [14] क. ख. शम्वरो । [15] क. ख. विक्षरो ।

असिलोमा पुलोमा च बाष्कलः प्रमदो मदः । [१]स्वमिश्रः [२]कालवदनः करालःकेशिरेव च ॥८९॥
एकाक्षश्चन्द्रमा[३] राहुः संह्लादः[४] सम्बरः[५] [६]स्वनः । शतघ्नीचक्रहस्ताश्च तथा मुशलपाणयः ॥९०॥
अश्वयन्त्रायुधोपेता भिन्दिपालायुधास्तथा । शूलोलूखखलहस्ताश्च परश्वदधरास्तथा ॥९१॥
पाशमुद्गरहस्ताश्च तथा परिघपाणयः । महाशिलाप्रहरणः शूलहस्ताश्च दानवाः ॥९२॥
नानाप्रहरणा घोरा नानावेशा महाबलाः । कूर्मकुक्कुटवक्त्राश्च शशोलूकमुखास्तथा ॥९३॥
खरोष्ट्रवदनाश्चैव वराहवदनास्तथा । मार्जारशिखिवक्त्राश्च महावक्त्रास्तथा परे ॥९४॥
नक्रमेषाननाः शूरा गोजाविमहिषाननाः । गोधाशल्लकिवक्त्राश्च[७] कोष्टुवक्त्राश्च दानवाः ॥९५॥
आखुदर्दुरवक्त्राश्च घोरा वृकमुखस्तथा । भीमा मकरवक्त्राश्च क्रौञ्चवक्त्राश्च दानवाः ॥९६॥
[८]अश्वाननाः खरमुखा मयूरवदनास्तथा । गजेन्द्रचर्मवसनास्तथा कृष्णाजिनाम्बराः ॥९७॥
चीरसंवृतगात्राश्च तथा[९] नीलकवाससः । उष्णीषिणो मुकुटिनस्तथा कुण्डलिनोऽसुराः ॥९८॥
किरीटिनो लम्बशिखाः [१०]कम्बुग्रीवाः सुवर्चसः । नानावेशधरा दैत्या नानामाल्यानुलेपनाः ॥९९॥
स्वान्यायुधानि संगृह्य प्रदीप्तानि[११] च तेजसा । [१२]क्रममाणं [१३]हृषीकेशमुपावर्तन्त सर्वशः ॥१००॥

दर्पित ॥८८॥ असिलोमा, पुलोमा, बाष्कल, प्रमद, मद, स्वमिश्र, कालवदन, कराल, केशि ॥८९॥ एकाक्ष, चन्द्रमा, राहु, संह्लाद, सम्वर, स्वन, एवम् शतघ्नी तथा चक्र हाथ में रखने वाले, मुशल हाथ में रखने वाले ॥९०॥ अश्व, यन्त्र तथा आयुधों से युक्त, भिन्दिपाल अस्त्र से युक्त, शूल तथा ऊखल हाथ में रखने वाले परशुधारी ॥९१॥ पाश तथा मुद्गर धारण करने वाले, परिघ हाथ में रखने वाले, महाशिला के आयुध वाले, हाथ में शूल लिये हुए दानव, ॥९२॥ नाना अस्त्रों से युक्त, भयानक, अनेकवेशधारी, महावली, कछुए तथा मुर्गे के समान मुंह वाले, खरगोश तथा उलूक के समान मुँह वाले ॥९३॥ गधे तथा ऊँट के सदृश मुख वाले; सूअर के समान मुँह वाले, विलाड़ तथा मयूर के समान मुँह वाले, सियार के समान मुंह वाले दानव ॥९५॥ चूहे तथा मेढक के समान मुंह वाले, भेड़िये के समान मुख वाले, ग्राह के समान मूंह वाले, करॉकुल पक्षी के समान मुंह वाले ॥९६॥ घोड़े समान मुंह वाले, गजचर्मधारी, कृष्णमृगचर्मधारी ॥९७॥ वस्त्र से ढके शरीर वाले, नीलवस्त्रधारी, पगड़ीदारी, मुकुटधारी, कुण्डलधारी राक्षस ॥९८॥ लम्वी चोटी वाले, शंख के समान ग्रीवा वाले, अतितेजस्वी, अनेक मालाओं तथा लेप से युक्त राक्षसवृन्द ने अपने चमकते हुए शस्त्र-अस्त्रों को लेकर पैर से पृथ्वी को नापते हुए भगवान् के ऊपर आक्रमण कर दिया ॥९९-१००॥ विभु ने अपने पैर-हाथों के प्रहार से दैत्यसमूह को नष्ट कर महाभयानक रूप वनाकर शीघ्र

---

[१] ख. स्वश्रियः । ग. खसृमः । [२] क. कालदमनः । ख. कालनाभश्च । [३] ग. ०न्द्रहा रा० । [४] क. ०ह् रादो ह्राद एव च । श० । [५] ग. श्रमरः । [६] ग. स्वमः । [७] क. ख. ०श्च क्रौष्टु० । [८] ख. ग. गरुडाननाः । [९] क. ख. ०था फल० । [१०] क. कम्वुकण्ठाः । [११] का ०प्तानीव ते । [१२] क. ०माणे हृषी० । [१३] क. ०केश उपा० ।

प्रमथ्य सर्वान्दैतेयान्पादहस्ततलैर्विभुः । रूपं कृत्वा महाभीमं [१]जहाराऽऽशु स मेदिनीम् ॥१०१॥
तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तानान्तरे । नभः प्रक्रममाणस्य नाभ्यां किल तथा स्थितौ ॥१०२॥
[२]परमाक्रममाणस्य जानुदेशे व्यवस्थितौ । विष्णोरमितवीर्यस्य वदन्त्येवं द्विजातयः ॥१०३॥
हृत्वा स मेदिनीं कृत्स्नां हत्वा चासुरपुंगवान् । ददौ शक्राय वसुधां[३] विष्णुर्बलवतां वरः ॥१०४॥
एष वो वामनो नाम प्रादुर्भावो महात्मनः । वेदविद्भिर्द्विजैरेतत्कथ्यते वैष्णवं यशः ॥१०५॥
भूयो भूतात्मनो[४] विष्णोः प्रादुर्भावो महात्मनः । दत्तात्रेय इति ख्यातः क्षमया परया युतः ॥१०६॥
तेन नष्टेषु [५]वेदेषु प्रक्रियासु[६] मखेषु च । चातुर्वर्ण्ये च संकीर्णे धर्मे शिथिलतां गते ॥१०७॥
[७]अतिवर्धति चाधर्मे सत्ये नष्टेऽनृते स्थिते । प्रजासु शीर्यमाणासु धर्मे चाऽऽकुलतां गते ॥१०८॥
सयज्ञाः सक्रिया वेदाः प्रत्यानीता हि तेन वै । चातुर्वर्ण्यमसंकीर्णं कृतं तेन महात्मना ॥१०९॥
तेन हैहयराजस्य कार्तवीर्यस्य धीमतः । वरदेन वरो दत्तो दत्तात्रेयेण धीमता ॥११०॥
एतद्बाहुद्वयं यत्ते तत्ते मम कृते[८] नृप । शतानि दश बाहूनां भविष्यन्ति न संशयः ॥१११॥
पालयिष्यसि कृत्स्नां च वसुधां वसुधेश्वर । दुर्निरीक्ष्योऽरिवृन्दानां युद्धस्थश्च भविष्यसि ॥११२॥
एष वो वैष्णवः श्रीमान्प्रादुर्भावोऽद्भुतः शुभः । भूयश्च जामदग्न्योऽयं प्रादुर्भावो महात्मनः ॥११३॥
यत्र बाहुसहस्रेण द्विषतां दुर्जयं रणे । रामोऽर्जुनमनीकस्थ जघान नृपतिं प्रभुः ॥११४॥

पृथ्वी का हरण कर लिया ॥१०१॥ विद्वानों का कहना है कि पृथ्वी नापने के समय सूय-चन्द्रमा अमित शक्तिशाली विष्णु के स्तनों के वीच स्थित हुए, आकाश नापने के समय वे उनकी नाभि में और उससे ऊपर नापने के समय वे उनके जानुदेश में अवस्थित हुए ॥१०२-१०३॥ संपूर्ण पृथ्वी पर हरण कर असुरपुंगवों को मारकर वलवानों में श्रेष्ठ विष्णु ने इन्द्र को पृथ्वी दे दी ॥१०४॥ यह महात्मा विष्णु के वामन अवतार का वर्णन आपसे किया गया है। वेदवेत्ता व्राह्मण इसे विष्णु का यश कहते हैं ॥१०५॥ पुनः अखिलात्मा विष्णु का दत्तात्रेय नाम से प्रख्यात तथा अत्यन्त क्षमा से युक्त अवतार हुआ ॥१०६॥ जिस समय वेद, धर्मशास्त्र तथा यज्ञ नष्ट हो रहे थे, चारों वर्णों में सांकर्य हो गया था, धर्म में शिथिलता आ गई थी अधर्म वढ़ रहा था सत्य नष्ट हो रहा था, असत्य फल रहा था, प्रजा छिन्न-भिन्न हो रही थी और धर्म अस्त-व्यस्त हो गया था उस समय उन्होंने यज्ञ तथा धर्मशास्त्र सहित वेदों को पुनः स्थापित किया। महात्मा ने चातुर्वर्ण्य को सांकर्य रहित किया ॥१०७-१०९॥ वरदायक धीमान् दत्तात्रेय ने हैहयराज कार्तवीर्य को वरदान दिया—'नृप ! मेरी कृपा से तुम्हारी दोनों वाँहें एक सहस्र भुजाओं में परिणत हो जायेंगी, इसमें कोई संशय नहीं ॥११०-१११॥ पृथ्वीपति ! तुम समस्त वसुधा का पालन करोगे और युद्ध में शत्रु-समूहों से दुर्निरीक्ष्य होगे ॥११२॥ यह वैष्णव अवतार अद्भुत तथा शुभकारक हुआ। पुनः महात्मा का परशुराम अवतार हुआ, जिसमें शक्तिमान् राम ने रण में सहस्र भुजाओं के कारण शत्रुओं से अजेय राजा अर्जुन (कार्तवीर्य) को मार दिया ॥११३-११४॥ राम ने रथ में स्थित अर्जुन को पृथ्वी पर गिरा दिया। आक्रोश करते

१क. ०रास्य तु मे०। २क. ख. ०रमं क्र०। ३क. ०धां दिवं वल०। ४क. ख. ०त्मको वि०। ५ग. देवेषु। ६ख. प्रयातेषु। ७ख. अभिव०। ८क. कृतो वरः। श०।

रथस्थं पार्थिवं रामः पातयित्वाऽर्जुनं भुवि । धर्षयित्वाऽर्जुनं रामः क्रोशमानं च मेघवत् ॥११५॥
कृत्स्नं बाहुसहस्रं च चिच्छेद भृगुनन्दनः । परश्वधेन दीप्तेन [१]ज्ञातिभिः सहितस्य वै ॥११६॥
कीर्णा क्षत्रियकोटीभिर्मेरुमन्दरभूषणा । त्रिः सप्तकृत्वः पृथिवी तेन निःक्षत्रिया[२] कृता ॥११७॥
कृत्वा निःक्षत्रियां चैनां[३] भार्गवः सुमहायशाः । सर्वपापविनाशाय वाजिमेधेन चेष्टवान् ॥११८॥
यस्मिन्यज्ञे महादाने दक्षिणां भृगुनन्दनः । मारीचाय ददौ प्रीतः कश्यपाय वसुंधराम् ॥११९॥
[४]वारणांस्तुरगाञ्शुभ्रान्थाश्च रथिनां वरः । हिरण्यमक्षयं धेनुर्गजेन्द्रांश्च [५]महीपतिः ॥१२०॥
ददौ तस्मिन्महायज्ञे वाजिमेधे महायशाः । अद्यापि [६]च हितार्थाय लोकानां भृगुनन्दनः ॥१२१॥
चरमाणस्तपो घोरं जामदग्न्यः पुनः प्रभुः । आस्ते वै [७]देववच्छ्रीमान्महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ॥१२२॥
एष विष्णोः सुरेशस्य शाश्वतस्याव्ययस्य च । जामदग्न्य इति ख्यातः प्रादुर्भावो महात्मनः ॥१२३॥
चतुर्विंशे युगे वाऽपि विश्वामित्रपुरःसरः । जज्ञे दशरथस्याथ पुत्रः पद्मायतेक्षणः ॥१२४॥
कृत्वाऽत्मानं महाबाहुश्चतुर्धा प्रभुरीश्वरः । लोके राम इति ख्यातस्तेजसा भास्करोपमः ॥१२५॥
[८]प्रसादनार्थं लोकस्य रक्षसां निग्रहाय च । धर्मस्य च विवृद्ध्यर्थं[९] जज्ञे तत्र महयशाः ॥१२६॥
तमप्याहुर्मनुष्येन्द्रं सर्वभूतहिते रतम् । यः समाः सर्वधर्मज्ञश्चतुर्दश वनेऽवसत् ॥१२७॥
लक्ष्मणानुचरो रामः[१०] सर्वभूतहिते रतः । चतुर्दश वने तप्त्वा तपो वर्षाणि राघवः ॥१२८॥

हुए अर्जुन को मेघ की तरह फटकार कर भृगुपुत्र ने अपने चमकते हुए फरसे से उसकी हजार वाहों को काट दिया और उसके भाई-बन्धुओं को भी विध्वस्त कर दिया ॥११५-११६॥ सुमेरु तथा मन्दराचल से भूषित एवम् क्षत्रियों से व्याप्त पृथिवी को राम ने इक्कीस बार निःक्षत्रिय किया ॥११७॥ इसको क्षत्रियविहीन बना कर महायशस्वी राम ने सब पापों के विनाश के लिए अश्वमेध यज्ञ किया ॥११८॥ जिस यज्ञ में भृगुनन्दन ने महादान की दक्षिणा में मरीचिपुत्र कश्यप को पृथ्वी दे दी ॥११९॥ उस अश्वमेध नामक महायथ में महायशस्वी राम ने हाथी, उज्जवल घोड़े, रथ, अक्षय सुवर्ण, धेनु तथा गजेन्द्र दान किये। आज भी लोकहित के निमित्त जमदग्नि-पुत्र राम महेन्द्र नामक उत्तम पर्वत पर घोर तप करते हुए देवता के समान विद्यमान हैं ॥१२०-१२२॥ सुरेश, नित्य, अव्यय तथा महात्मा विष्णु का यह परशुराम-अवतार हुआ। चौवीसवें युग में भी विश्वामित्र के आगे चलने वाले कमललोचन राम दशरथ के पुत्र हुए ॥१२३-१२४॥ अपने को चार रूपों में विभक्त करके सूर्य के समान तेजस्वी महाशक्तिमान् ईश्वर लोक में राम नाम से ख्यात हुए ॥१२५॥ लोक को प्रसन्न करने, राक्षसों का दलन करने तथा धर्म की वृद्धि करने के लिए महायशस्वी (राम) ने वहाँ अवतार लिया ॥१२६॥ लोग उन्हें मनुष्यों के राजा तथा अखिल प्राणियों के हित में रत कहते हैं, जिन्होंने चौदह वर्षों तक वनवास किया और जिनके अनुचर लक्ष्मण थे। समस्त प्राणियों के कल्याण में निरत रघुवंशी राम ने चौदह वर्ष वन में तप किया। उनकी स्त्री लोक में सीता नाम से प्रख्यात

१क. ०तिभिश्चार्दित०। २ग. ०त्रियी कृ०। ३ग. चैव। ४ग. वारुणां०। ५ग. महामतिः। ६क. तु। ७क. वै वेदविच्छ्री०। ८क. ०सादायाथ लो०। ९क.ख. ०र्थं जातस्तत्र। १०क. ०मः पितुराज्ञापरो द्विजाः। च०।

[1]रूपिणी तस्य [2]पार्श्वस्था सीतेति प्रथिता [3]जने । पूर्वोदिता तु या लक्ष्मीर्भर्तारमनुगच्छति ॥१२९॥
जनस्थाने वसन्कार्यं त्रिदशानां चकार सः । तस्यापकारिणं क्रूरं पौलस्त्यं[4] मनुजर्षभः[5] ॥१३०॥
सीतायाः पदमन्विच्छन्निजघान महायशाः । देवासुरगणानां च यक्षराक्षसभोगिनाम् ॥१३१॥
यत्रावध्यं राक्षसेन्द्रं रावणं युधि[6] दुर्जयम् । युक्तं राक्षसकोटीभिर्नीलाञ्जनचयोपमम् ॥१३२॥
त्रैलोक्यद्रावणं क्रूरं रावणं राक्षसेश्वरम् । दुर्जयं दुर्धरं[7] दृप्तं शार्दूलसमविक्रमम् ॥१३३॥
दुर्निरीक्ष्यं सुरगणैर्वरदानेन दर्पितम् । जघान सचिवैः सार्धं ससैन्यं रावणं युधि ॥१३४॥
महाभ्रगणसंकाशं महाकायं महाबलम् । रावणं निजघानाऽऽशु रामो भूतपतिः पुरा ॥१३५॥
सुग्रीवस्य कृते येन वानरेन्द्रो महाबलः । वाली विनिहतः संख्ये सुग्रीवश्चाभिषेचितः ॥१३६॥
मधोश्च तनयो दृप्तो लवणो नाम दानवः । हतो मधुवने वीरो वरमत्तो महासुरः ॥१३७॥
यज्ञविघ्नकरौ येन मुनीनां भावितात्मनाम् । मारीचश्च सुबाहुश्च बलेन बलिनां वरौ ॥१३८॥
निहतौ च निराशौ च कृतौ तेन महात्मना । समरे युद्धशौण्डेन तथाऽन्ये चापि राक्षसाः ॥१३९॥
विराधश्च कबन्धश्च राक्षसौ भीमविक्रमौ । जघान पुरुषव्याघ्रो गन्धर्वौ शापमोहितौ[8] ॥१४०॥
हुताशनार्कांशुतडिद्गुणाभैः प्रतप्तजाम्बूनदचित्रपुङ्खैः ।
महेन्द्रवज्राशनितुल्यसारै[9] रिपून्स रामः समरे निजघ्ने ॥१४१॥

तथा सुन्दरी थी। लक्ष्मी की तरह वह स्वामी का अनुगमन करती थी ॥१२७-१२९॥ जनस्थान में निवास करते हुए उन्होंने देवताओं का कार्य किया। सीता का अन्वेषण करते हुए महायशस्वी राम ने अपकारी तथा क्रूर रावण का वध किया। युद्ध में लोकपति राम ने देव, असुर, यक्ष, राक्षस तथा सर्पों से अवध्य, युद्ध में दुर्जय, त्रैलोक्य के संतापक, क्रूर, महाभिमानी, व्याघ्र के समान पराक्रमी, देवगणों से दुर्निरीक्ष्य, वरदान से दर्पित, करोड़ों राक्षसों से युक्त, नील अञ्जन की राशि तुल्य, महामेघगण के सदृश, महाकाय तथा महावली रावण को सेना तथा मंत्रीगण सहित निहत किया ॥१३०-१३४॥ सुग्रीव के लिये उन्होंने युद्ध में बन्दरों के स्वामी महाबलशाली वाली को मारा और सुग्रीव को अभिषिक्त किया ॥१३५-१३६॥ मधुवन में वीर राम ने मधु के पुत्र लवण नामक महाभिमानी दानव को विनष्ट किया ॥१३७॥ उस महात्मा में संयतात्मा मुनियों के यज्ञ में विघ्न करने वाले अत्यन्त बलशाली मारीच और सुवाहु को निराश तथा निहत किया। युद्धदुर्मद राम ने समर में अन्य अनेक राक्षसों को भी विध्वस्त किया ॥१३८-१३९॥ पुरुषपुंगव राघव ने भयंकर पराक्रमी विराध और कबन्ध नामक राक्षसों को, जो शापमोहित गन्धर्व थे, मार गिराया ॥१४०॥ रण में राम ने अग्नि, सूर्यकिरण, तप्त सुवर्ण तथा विद्युत् के समान प्रभा वाले और इन्द्र के वज्र के समान सारयुक्त बाणों से शत्रुओं को निहत किया ॥१४१॥ देवताओं से भी अजेय देवशत्रुओं

१ख. गृहिणी। २क. रामस्य। ३ख. ग. जनैः। ४क. ०स्त्यं पुरुषर्षभाः। सी०। ५ख. ०र्षभाः। सी०। ६क. भुवि। ७क. दुर्मदं। ८ ० पविक्षतौ। ख. पवीक्षितो। ९ग. ०सारैः शरैः शरीरेण वियोजितो बलात्। त०।

वधार्थं देवशत्रूणां दुर्धर्षाणां सुरैरपि।।१४२।।
तस्मै दत्तानि [१]शस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता। भग्नं माहेश्वरं चापं क्रीडता लीलया पुरा।।१४३।।
वर्तमाने मखे येन जनकस्य महात्मनः। दशाश्वमेधाञ्जारूथ्यानाजहार निरर्गलान्।।१४४।।
एतानि कृत्वा कर्माणि रामो धर्मभृतां वरः। न वित्तहरणं चाऽऽसीद्रामे राज्यं प्रशासति ।।१४५।।
नाश्रूयन्ताशुभा वाचो[२] नाऽऽकुलं मारुतो ववौ। [३]सर्वमासीच्छुभं तत्र रामे राज्यं प्रशासति।।१४६।।
परिदेवन्ति विधवा नानर्थाश्च कदाचन। न चापि वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि चक्रिरे।।१४७।।
न प्राणिनां भयं चाऽऽसीज्जलाग्न्यनिलघातजम्। शूद्राश्चैव हि वर्णांस्त्रीञ्शुश्रूषन्त्यनहंकृताः।।१४८।।
[४]ब्रह्मचर्यपरं क्षत्रं [५]विशस्तु क्षत्रिये रताः। सर्वमासीज्जगद्दान्तं[६] निर्दस्युरभवन्मही ।।१४९।।
नार्यो नात्यचरन्भर्तॄन्भार्यां नात्यचरत्पतिः। आसन्वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः।।१५०।।
राम एकोऽभवद्भर्ता रामः पालयिताऽभवत्। देवतानामृषीणां च मनुष्याणां च सर्वशः।।१५१।।
अरोगाः प्राणिनश्चाऽऽसन्रामे राज्यं प्रशासति। गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।।१५२।।
पृथिव्यां [७]समवायाऽभूद्रामे राज्यं प्रशासति। श्यामो युवा लोहिताक्षो दीप्तास्यो मितभाषितः।।१५३।।
रामे निबद्धतत्त्वार्था माहात्म्य तस्य धीमतः। दश वर्षसहस्राणि रामो राज्यमकारयत्।।१५४।।
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः। अव्युच्छिन्नोऽभवद्राष्ट्रे दीयतां भुज्यतामिति।।१५४।।
ऋक्सामयजुषां घोषो ज्याघोषश्च महात्मनः।

के वध के लिए धीमान् विश्वामित्र ने राम को शस्त्र दिये ।।१४२।। महात्मा जनक के यज्ञ में राम ने खेलते-खेलते सहज ही में शिव के धनुष को तोड़ डाला ।।१४३।।इतने कर्मों को करके धर्मात्माओं में श्रेष्ठ राम ने विघ्न-बाधाओं से रहित जारुथ्य नामक दश अश्वमेध यज्ञ किये ।।१४४।। राम के राज्य-काल में अशुभ वाणी नहीं सुनी जाती थी, व्याकुल करने वाला वायु नहीं वहता था, वित्तों का हरण नहीं होता था, विधवायें अनुताप नहीं करती थीं और अनर्थ कभी नहीं होते थे। राम-राज्य में सब कुछ कल्याणमय होते थे, प्राणियों को जल, अग्नि तथा वायु का आघातजन्य भय नहीं होता था; वृद्धों को बालकों का श्राद्ध नहीं करना पड़ता था; क्षत्रिय ब्राह्मणों की वैश्य क्षत्रियों की और शूद्र तीनों वर्णों की सेवा अभिमानरहित भाव से किया करते थे; पत्नियाँ पतियों को और पति पत्नियों को नहीं छोड़ते थे; सम्पूर्ण जगत् नियंत्रित एवम् चोररहित था; एक राम ही सबके स्वामी तथा पालन-कर्ता थे; प्राणी नीरोग तथा सहस्रों पुत्रों से युक्त होकर हजारों वर्षों तक जीते थे ।।१४५-१५०½।।राम के तत्त्व को जानने वाले पुराणवेत्ता लोग बुद्धिमान् राम के माहात्म्य तथा इस विषय में एक गाथा भी गाते हैं कि राम के राज्य-शासन के समय पृथिवी पर देवता, ऋषि तथा मनुष्यों का मिलन होता था। श्यामवर्ण, युवक, लालनेत्र, प्रदीप्तमुख, मितभाषी, आजानवाहु, सुमुख, सिंहस्कन्ध तथा महावाहु राम ने दश हजार वर्षों तक राज्य किया था ।।१५१-१५४।। उस महात्मा के राष्ट्र में ऋक्, साम तथा यजुर्वेदों का घोष, धनुष का घोष एवम् 'दान करो और उपभोग करो' का शब्द

१क. शास्त्राणि। २क. ०चो मरुतो नासुखा ववुः। न। ३ग. ०सीज्जगद्दान्त रा०। ४क. ०ह्म पर्यचरत्क्षत्रं। ५ग. विशःक्षत्रमनुव्रताः। ६क. ०न्तं रामे राज्ये प्रशासति। रा०। ७०क. सह वासोऽभू०।

सत्त्ववान्गुणसंपन्नो दीप्यमानः स्वतेजसा। अतिचन्द्रं च सूर्यं च रामो दाशरथिर्बभौ ॥१५६॥
ईजे क्रतुशतैः पुण्यैः समाप्तवरदक्षिणैः। हित्वाऽयोध्यां दिवं यातो राघवो हि महाबलः ॥१५७॥
एवमेव महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः। रावणं सगणं हत्वा दिवमाचक्रमे विभुः ॥१५८॥
अपरः केशवस्यायं प्रादुर्भावो महात्मनः। विख्यातो माथुरे कल्पे सर्वलोकहिताय वै ॥१५९॥
यत्र शाल्वं च चैद्यं च कंसं द्विविदमेव च। अरिष्टं वृषभं केशिं पूतनां दैत्यदारिकाम् ॥१६०॥
नागं कुवलयापीडं चाणूरं मुष्टिकं तथा। दैत्यान्मानुषदेहेन[1] सूदयामास वीर्यवान् ॥१६१॥
छिन्नं बाहुसहस्रं च बाणस्याद्भुतकर्मणः। नरकश्च हतः संख्ये यवनश्च बहाबलः ॥१६२॥
हृतानि च महीपानां सर्वरत्नानि तेजसा। [2]दुराचाराश्च निहिताः पार्थिवा ये महीतले ॥१६३॥
एष लोकहितार्थाय प्रादुर्भावो महात्मनः। कल्की विष्णुयशा नाम [3]शम्भलग्रामसंभवः ॥१६४॥
सर्वलोकहितार्थाय भूयो देवो महायशाः। एते चान्ये च बहवो दित्या देवगणैर्वृतः ॥१६५॥
प्रादुर्भावः पुराणेषु गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः। यत्र देवा विमुह्यन्ति प्रादुर्भावानुकीर्तने ॥१६६॥
पुराणं वर्तते यत्र [4] वेदश्रुतिसमाहितम्। एतदुद्देशमात्रेण प्रादुर्भावानुकीर्तनम् ॥१६७॥
कीर्तितं कीर्तनीयस्य सर्वलोकगुरोर्विभोः। पीयन्ते पितरस्तस्य प्रादुर्भावानुकीर्तनात् ॥१६८॥
विष्णोरमितवीर्यस्य यः शृणोति कृताञ्जलिः ॥१६९॥

निरन्तर होता ही रहता था। सात्त्विक, गुणसंपन्न तथा अपने तेज से देदीप्यमान दशरथ-पुत्र राम सूर्य-चन्द्र से भी अधिक सुशोभित थे ॥१५५-१५६॥ महाबलशाली राघव ने सैकड़ों पवित्र यज्ञ किये, उत्तम दक्षिणा दी और (अन्त में) अयोध्या छोड़कर स्वर्ग की यात्रा की। इसी प्रकार इक्ष्वाकुकुलभूषण महावाहु राम गणसहित रावण को मारकर स्वर्ग पधारे थे ॥१५७-१५८॥ अखिललोकहित के लिये महात्मा विष्णु का दूसरा (कृष्ण) अवतार माथुर कल्प में प्रसिद्ध ही है, जिसमें शाल्व, शिशुपाल, कंस, द्विविद अरिष्ट, वृषभ, केशि, दैत्य-कन्या, पूतना, कुवलयापीड़ नामक हाथी, चाणूर, मुष्टिक, तथा दैत्यों को मनुष्यशरीर से शक्तिशाली भगवान् ने विनष्ट किया था। उन्होंने अद्भुत काम करने वाले वाण की सहस्त्र भुजाओं को काटा, युद्ध में नरक तथा महावली कालयवन को मारा, तेज से राजाओं के अखिल रत्नों का अपहरण किया और पृथ्वीतल पर जितने दुराचारी राजा थे, उन सवको निहत किया ॥१५९-१६३॥ महात्मा का यह अवतार लोक-कल्याण के निमित्त हुआ था। पुनः महायशस्वी (विष्णु) देव निखिल-लोक-हित के निमित्त शम्भलग्राम में विष्णुयशस् नाम से कल्की अवतार लेंगे ॥१६४॥ ये और दूसरे भी वहुत से दिव्य तथा देवाताओं से आवृत अवतार पुराणों में व्रह्मवादियों द्वारा गाये जाते हैं। अवतारों के वर्णन करने में देवगण मुग्ध हो जाते हैं। वेद और श्रुति से सम्मत पुराण इस विषय में प्रमाण है। यह अखिल लोकों के गुरु परमात्मा के अवतार का वर्णन संक्षेप में किया गया है। अमित शक्तिशाली विष्णु के अवतारों का वर्णन जो मनुष्य अंजलिवद्ध होकर सुनता है, उसके पितर तृप्त हो जाते हैं। योगेश्वर की इस योगमाया को सुनकर मनुष्य सव पापों से मुक्त

---

[1] ग. ०देहस्थान्सूद०। [2] क. ०राधर्षाश्च। [3] ग. ०म सम्भ०। [4] क. ०त्र देवश्रु०।

एताश्च योगेश्वरयोगमायाः । श्रुत्वा नरो मुच्यति सर्वपापैः ।
ऋद्धिं समृद्धिं विपुलांश्च भोगान्प्राप्नोति शीघ्रं भगवत्प्रसादात् ॥१७० ॥
एवं मया मुनिश्रेष्ठा विष्णोरमिततेजसः । सर्वपापहराः पुण्याः प्रादुर्भावाः प्रकीर्तिताः ॥१७१ ॥
इति श्रीमहापुराणे आदिब्रह्मे विष्णोः प्रादुर्भावानुकीर्तनं नाम त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१३ ॥

अथ चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

नरकवर्णनम्

मुनय ऊचुः

न तृप्तिमधिगच्छामः पुण्यधर्मामृतस्य च । मुने त्वन्मुखगीतस्य तथा कौतूहलं हि नः ॥१ ॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानां कर्मणो गतिम् । वेत्सि सर्वं मुने तेन पृच्छामस्त्वां महामतिम् ॥२ ॥
श्रूयते यमलोकस्य मार्गः [1]परमदुर्गमः । दुःखक्लेशकरः शश्वत्सर्वभूतभयावहः ॥३ ॥
कथं तेन नरा यान्ति मार्गेण यमसादनम् । प्रमाणं चैव मार्गस्य ब्रूहि नो वदतां वर ॥४ ॥
मुने पृच्छाम सर्वज्ञ ब्रूहि सर्वमशेषतः । कथं नरकदुःखानि नाऽऽप्नुवन्ति नरान्मुने ॥५ ॥

हो जाता है और शीघ्र ही भगवत्कृपा से ऋद्धि,समृद्धि तथा विपुल भोगों को प्राप्त करता है ॥१६५-१७० ॥मुनिश्वर ! इस प्रकार मैंने अतितेजस्वी विष्णु के समस्त पापहारी तथा पवित्र अवतारों का वर्णन किया है ॥१७१ ॥

श्री व्रह्मपुराण में विष्णु का प्रादुर्भाववर्णन नामक दो सौ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥२१३ ॥

अध्याय २१४

नरकों का वर्णन

मुनियों ने कहा—मुने ! आपके मुख से निःसृत पवित्र तथा धर्ममय वचनामृत के पान करने से हमें तृप्ति नहीं मिलती; प्रत्युत उत्सुकता वढ़ती ही जा रही है । आप उत्पत्ति, प्रलय तथा प्राणियों के कर्मों की गति को जानते हैं । इसलिये आपसे पूछ रहे हैं । सुनते हैं कि यमलोक का मार्ग परमदुर्गम, कष्टप्रद तथा समस्त प्राणियों के लिये सतत भयावह है । वक्ताओं में श्रेष्ठ ! कैसे उस मार्ग से प्राणी यमलोक जाते हैं ? उस मार्ग का कितना प्रमाण है ? हमें वतलाइये । सर्वज्ञ ! मुने ! हम पूछते हैं । आप पूर्णतः सव वतलाइये । मुने ! किस उपाय, दान, धर्म तथा नियम के करने से नरकों के दुःख मनुष्यों को प्राप्त नहीं होते ? मनुष्यलोक तथा

केनोपायेन दानेन धर्मेण नियमेन च। मानुषस्य च याम्यस्य लोकस्य कियदन्तरम् ॥६॥
[1]कथं च स्वर्गतिं यान्ति नरकं केन कर्मणा। स्वर्गस्थानानि कियन्ति कियन्ति नरकाणि च ॥७॥
कथं सुकृतिनो यान्ति कथं दुष्कृतकारिणः। किं रूपं किं प्रमाणं वा को वर्णस्तूभयोरपि॥
जीवस्य[2] नीयमानस्य यमलोकं[3] ब्रवीहि नः ॥८॥

व्यास उवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूला वदतो मम सुव्रताः। संसारचक्रमजरं स्थितिर्यस्य न विद्यते ॥९॥
सोऽहं वदामि वः सर्वं यममार्गस्य निर्णयम्। उत्क्रान्तिकालादारभ्य यथा नान्यो वदिष्यति ॥१०॥
स्वरूपं चैव मार्गस्य यन्मां पृच्छथ सत्तमाः। यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च ॥११॥
योजनानां सहस्राणि षडशीतिस्तदन्तरम्। तप्तताम्रमिवाऽऽतप्तं[4] तदध्वानमुदाहृतम् ॥१२॥
तदवश्यं हि गन्तव्यं प्राणिभिर्जीवसंज्ञकैः[5]। पुण्यान्पुण्यकृतो यान्ति पापान्पापकृतोऽधमाः ॥१३॥
द्वाविंशतिश्च नरका यमस्य विषये स्थिताः। येषु दुष्कृतकर्माणो विपच्यन्ते पृथक्पृथक् ॥१४॥
नरको रौरवो रौद्रः शूकरस्ताल एव च। 'कुम्भीपाको' महाघोरः शाल्मलोऽथ विमोहनः ॥१५॥
कीटादः कृमिभक्षश्च ना (ला) लाभक्षो भ्रमस्तथा। नद्यः पूयवहाश्चान्या रुधिराम्भस्तथैव च ॥१६॥
अग्निज्वाला [6]महाघोरः संदंशः शुनभोजनः। घोरा वैतरणी चैव असिपत्रवनं तथा ॥१७॥
न तत्र वृक्षच्छाया वा न तडागाः सरांसि च। न वाप्यो दीर्घिका वाऽपि न कूपो न[7] प्रपा सभा ॥१८॥

यमलोक में कितना अन्तर है ? कैसे स्वर्ग मिलता है ? किस कर्म से नरक प्राप्त होता है ? स्वर्गस्थान कितने हैं ? नरक कितने हैं ? धर्मात्मा कैसे जाते है ? पापी कैसे जाते हैं ? उनका क्या रूप है ? क्या प्रमाण है ? दोनों का वर्ण कैसा होता है ? यमलोक को लिये जाते हुए जीव के बारे में भी हमें बताइए ॥१-८॥

व्यास ने कहा—सुव्रतियो! मुनिश्रेष्ठो! मुझसे सुनिये। संसारचक्र अजर है, जिसकी स्थिति नहीं है। इसलिए मैं यममार्ग का निर्णय मरणकाल से लेकर बतलाता हूँ, जैसा कि कोई नहीं कह सकेगा॥९-१०॥ मार्ग का स्वरूप, जो आपने मुझसे पूछा है, बतलाता हूँ। यमलोक तथा मनुष्यलोक में छियासी हजार योजन का अन्तर है। यमलोक का मार्ग तपे ताँबे के समान संतप्त कहा गया है॥११-१२॥ जीव संज्ञक प्राणी वहाँ अवश्य जाते हैं। पुण्यात्मा पवित्र लोक को जाते हैं और पापी पापलोक को। यम के राज्य में बाईस नरक हैं, जिनमें पृथक्-पृथक् दुष्कर्मी जीव सताये जाते हैं॥१३-१४॥ जैसे नरक, रौरव, रौद्र, शूकर, ताल, कुम्भीपाक, महाघोर, शाल्मल, विमोहन, कीटाद, कृमिभक्ष, लालाभक्ष, भ्रम, पीप बहाने वाली नदियाँ, शोणित रूप जल वाली नदियाँ, अग्निज्वाल, महाघोर, संदंश, शुनभोजन, भयंकर वैतरणी तथा असिपत्रवन॥१५-१७॥ वहाँ न वृक्षों की छाया, न बावलियाँ, न सरोवर, न तालाब, न कुआँ, न प्याऊ, न सभा, न मण्डप, न घर, न नदियाँ, न पर्वत ही हैं। यम के मार्ग में कोई विश्राम-स्थान

---

[1] ग. कर्मणा केन नरकं स्वर्गं वा मनुजा मुने। स्व०। [2] ख. ०स्य नियमांस्तस्य। [3] ख। ०लोके व्र०। [4] क. ०तप्त एतन्मार्ग उदाहृतः। त० [5] ग. ०संक्षये। पु०। [6] क. महारौद्रः। [7] क. न नदी प्लवाः। न।

न मण्डपो नाऽऽयतनं[1] न नद्यो न च पर्वताः । न किंचिदाश्रमस्थानं विद्यते तत्र वर्त्मनि ॥१९॥
यत्र विश्रमते श्रान्तः [2]पुरुषोऽतीवकर्षितः । अवश्यमेव गन्तव्यः स सर्वैस्तु महापथः ॥२०॥
प्राप्ते काले तु संत्यज्य सुहृद्बन्धुधनादिकम् । जरायुजाण्डजाश्चैव स्वदेजाश्चोद्भिजास्तथा ॥२१॥
जङ्गमाजङ्गमाश्चैव गमिष्यन्ति महापथम् । देवासुरमनुष्यैश्च वैवस्वतवशानुगैः ॥२२॥
स्त्रीपुंनपुंसकैश्चैव पृथिव्यां जीवसंज्ञितैः । पूर्वाह्णे चापराह्णे वा मधयाह्ने वा तथा पुनः ॥२३॥
संध्याकालेऽर्धरात्रे वा प्रत्यूषे वाऽप्युपस्थिते । वृद्धैर्वा मध्यमैर्वाऽपि यौवनस्थैस्तथैव च ॥२४॥
गर्भवासेऽथ बाल्ये वा गन्तव्यः स महापथः[3] । प्रवासस्थैर्गृहस्थैर्वा पर्वतस्थैः स्थलेऽपि वा ॥२५॥
क्षेत्रस्थैर्वा जलस्थैर्वा गृहमध्यगतैस्तथा । आसीनैश्चास्थितैर्वाऽपि शयनीयगतैस्तथा ॥२६॥
जाग्रद्भिर्वा प्रसुप्तैर्वा गन्तव्यः स महापथः । इहानुभूय निर्दिष्टमायुर्जन्तुः स्वयं तदा ॥२७॥
तस्यान्ते च स्वयं प्राणैरनिच्छन्नपि मुच्यते । जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद्व्याधिः पतनं गिरेः ॥२८॥
निमित्तं किंचिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते । विहाय सुमहत्कृत्स्नं शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥२९॥
अन्यच्छरीरमादत्ते यातनीयं[4] स्वकर्मजम् । दृढं शरीरमाप्नोति [5]सुखदुःखोपभुक्तये ॥३०॥
तेन भुङ्क्ते स कृच्छ्राणि पापकर्ता नरो भृशम् । सुखानि धार्मिको हृष्ट इह नीतो[6] यमक्षये ॥३१॥
ऊष्मा प्रकुपितः काये[7] तीव्रवायुसमीरितः । भिनत्ति मर्मस्थानानि दीप्यमानो निरन्धनः ॥३२॥
उदानो नाम पवनस्ततश्चोर्ध्वं प्रवर्तते । भुज्यता(क्ताना) मम्बुभक्ष्याणामधोगतिनिरोधकृत् ॥३३॥

नहीं है, जहाँ अत्यन्त चलने से श्रान्त जीव आराम करे। उस महापथ से सबको प्रयाण करना ही पड़ता है ॥१८-२०॥ काल पहुँचने पर मित्र, वन्धु, धन आदि को छोड़कर जरायुज, अण्डज, स्वदेज, उद्भिज्ज, स्थावर, जंगम-सभी महापथ से जाते हैं ॥२१॥ वैवस्वत (मनु) के अनुगामी देव, राक्षस, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, नंपुसक तथा पृथ्वी पर जितने जीवसंज्ञक प्राणी हैं, वृद्ध या मध्यवयस्क या युवक या गर्भवासी या वालक होकर वे सव पूर्वाह्ण में या अपराह्ण में या मध्याह्न में या संध्याकाल या आधी रात को या प्रातःकाल उस महापथ पर जाते हैं। प्रवास में, गृह में, पर्वत पर, स्थल में, क्षेत्र में, जल में तथा गृह -मध्य में रहते, वैठते, खड़े होते, शय्या पर जाते, जागते तथा सोते हुए प्राणी उस महापथ पर पर जाते हैं ॥२२-२६॥ यहाँ निर्धारित आयु तक भोग करके स्वयं न चाहता हुआ भी प्राणी प्राणों से मुक्त हो जाता है। जल, अग्नि, विष, शस्त्र, भूख, व्याधि, पर्वत-पतन——इनमें से किसी निमित्त को प्राप्त कर जीव प्राणों से मुक्त हो जाता है और अति महान् पाञ्चभौतिकशरीर को त्याग कर अपने कर्मों से उत्पन्न अन्य यातना-शरीर को प्राप्त करता है। सुख-दुःख के उपभोग के लिए दृढ़ शरीर प्राप्त होता है ॥२७-३०॥ उसी से पापी मनुष्य यमालय में लाया जाने पर अत्यन्त कष्ट भोगता है और धर्मात्मा मनुष्य प्रसन्न होकर सुख भोगता है ॥३१॥ शरीर में तीव्र वायु द्वारा प्रेरित गर्मी बढ़ जाती है और जलते हुए अग्नि की तरह मर्मस्थानों को पकाने लगती है ॥३२॥ तव खाये-पिये हुए भक्ष्य तथा जल की अधोगति को रोककर उदान नामक वायु ऊपर की ओर वढ़ता जाता

---

[1] क. न चोद्यानं न प०। [2] ख. ०षो वातक०। [3] क. ०थः। वानप्रस्थै०। [4] क. ०म्। तन्मात्रगुणसंयुक्तमात्मदेहप्रमाणतः। इष्टं श०। [5] क. ०दुःखानुभूतये। [6] क। यमालये। [7] क. ०वातस०।

ततो येनाम्बुदानानि कृतान्यन्नरसास्तथा। दत्ताः स तस्यामाह्लादमापदि प्रतिपद्यते ॥३४॥
अन्नानि येन दत्तानि श्रद्धापूतेन चेतसा। सोऽपि तृप्तिमवाप्नोति विनाऽप्यन्नेन वै तदा ॥३५॥
येनानृतानि नोक्तानि प्रतिभेदः कृतो न च। आस्तिकः श्रद्दधानश्च सुखमृत्युं स[1] गच्छति ॥३६॥
देवब्राह्मणपूजायां निरताश्चानसूयकाः। शुक्ला वदान्या ह्रीमन्तस्ते नराः सुखमृत्यवः ॥३७॥
यः कामान्नापि संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत्। यथोक्तकारी सौम्यश्च स सुखं मृत्युमृच्छति ॥३८॥
वारिदास्तृषितानां ये क्षुधितान्नप्रदायिनः। प्राप्नुवन्ति नराः काले मृत्युं सुखसमन्वितम् ॥३९॥
शीतं जयन्ति धनदास्तापं[2] चन्दनदायिनः। प्राणघ्नीं[3] वेदनां कष्टां ये[4] चान्योद्वेगधारिणः[5] ॥४०॥
मोहं ज्ञानप्रदातारस्तथा दीपप्रदास्तमः। कूटसाक्षी मृषावादी यो[6] गुरुर्नानुशास्ति वै ॥४१॥
ते मोहमृत्यवः सर्वे तथा या. वेदनिन्दकाः। विभीषिणाः पूतिगन्धाः कूटमुद्गरपाणयः ॥४२॥
आगच्छन्ति[7] दुरात्मानो यमस्य पुरुषास्तथा[8]। प्राप्तेषु दृक्पथं तेषु जायते तस्य वेपथुः ॥४३॥
क्रन्दत्यविरतः सोऽथ भ्रातृमातृपितॄ स्तथा। सा तु वागस्फुटा विप्रा एकवर्णा विभाव्यते ॥४४॥
दृष्टिर्विभ्राम्यते[9] त्रासात्कासावृष्ट्त्य (विष्टम) थाऽऽननम्[10]। ततः स वेदनाविष्टं तच्छशरीरं विमुञ्चति ॥४५।

हैं जो मनुष्य अन्नदान तथा जलदान किये रहता है, उसे वह दत्त वस्तु उस विपत्ति में आनन्द देता है। जिसने पवित्र चित्त से श्रद्धापूर्वक अन्नदान किया है, उसे विना अन्न के भी उस समय तृप्ति मिलती है ॥ ३३-३५ ॥ जो असत्य नहीं वोलता, प्रीतिभेद नहीं करता तथा आस्तिक एवम् श्रद्धालु है, वह सुख से मृत्यु प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥ जो मनुष्य देव-ब्राह्मणों की पूजा में निरत रहता है, किसी से डाह नहीं करता तथा स्वच्छ, दानी एवम् लज्जाशील है, उसकी मृत्यु सुखपूर्वक होती है ॥ ३७ ॥ जो न इच्छा से, न कठिनाई से, न द्वेष से ही धर्म का परित्याग करताहै और शास्त्रविहित कर्म करता है तथा सौम्य है, वह सुख से मरता है ॥ ३८ ॥ जो नर प्यासे को जल तथा भूखे को अन्न देता है, वह समय आने पर सुखर्पूक मृत्यु प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥ धन देने वाले सर्दी को जीतते हैं, चन्दन देने वाले गर्मी को जीतते हैं और दूसरे के उद्वेग को दूर करने वाले जन प्राणनाशिनी वेदना को पार कर लेते हैं ॥ ४० ॥ ज्ञानदाता मोह को तथा दीपदाता अंधकार को पार करता है। मिथ्या गवाही देने वाले, असत्यवादी तथा वेदनिन्दक व्यक्ति मोह से मृत्यु प्राप्त करते हैं। भयंकर, दुर्गन्ध तथा मुद्गर हाथों में लिये यम के दुरात्मा पुरुष उनके पास आते हैं, जिन्हें देखते ही वे काँपने लगते हैं ॥ ४१-४३ ॥ तव वे भाई, माता, पिता आदि के नाम लेकर चिल्लाने लगते हैं। विप्रवृन्द! उनकी वह अस्फुट वाणी एकाक्षर-सी प्रतीत होती है ॥ ४४ ॥ डर से आँखे घूमने लगती हैं और मुँह लारों की वृष्टि करने लगता है; तव वे वेदनायुक्त शरीर को छोड़ देते हैं और वायु से प्रेरित होकर दूसरे शरीर को प्राप्त करते हैं। वह शरीर माता-पिता से उत्पन्न नहीं होता। वह केवल कर्म-भोग के लिये

---

[1] ग. समृच्छ०। [2] क. ०पं पवन०। [3] क. प्राणितो। ख. प्राणिनो। [4] क. चान्यऽद्रोहकारि० [5] ग. ०गकारि०। [6] क. योऽधर्ममनु०। [7] ग. ०च्छन्तो दु०। [8] क. ०स्तदा। प्रा०। [9] क. भ्रान्तनेत्रा सा कासोच्छ्वासेन वेपितम्। [10] क. ०म्। अन्तश्च वे।

वाय्वग्रसारी तद्रूपदेहमन्यत्प्रपद्यते। तत्कर्मयातनार्थे च न मातृपितृसंभवम् ॥४६॥
[१]तत्प्रमाणवयोवस्थासंस्थानैः [२]प्राप्यते व्यथा। ततो दूतो यमस्याथ पाशैर्बध्नाति दारुणैः ॥४७॥
जन्तोः संप्राप्तकालस्य वेदनार्तस्य[३] वै भृशम्। भूतैः संत्यक्तदेहस्य कण्ठप्राप्तानिलस्य च ॥४८॥
[४]शरीराच्च्यावितो जीवो रोरवीति तथोल्बणम्। निर्गतो वायुभूतस्तु[५] षाट्कौशिककलेवरे ॥४९॥
मातृभिः पितृभिश्चैव भ्रातृभिर्मातुलैस्तथा[६]। दारैः पुत्रैर्वयस्यैश्च [७] गुरुभिस्त्यज्यते भुवि ॥५०॥
दृश्यमानश्च तैर्दीनैरश्रुपूर्णेक्षणैर्भृशम्। स्वशरीरं समुत्सृज्य वायुभूतस्तु गच्छति ॥५१॥
अन्धकारमपारं च[८] महाघोरं तमोवृतम्। सुखदुःखप्रदातारं दुर्गमं पापकर्मणाम् ॥५२॥
दुःसहं च दुरन्तं [९] च दुर्निरीक्षं दुरासदम्। दुरापमतिदुर्गं च पापिष्ठानां सदाऽहितम् ॥५३॥
कृष्यमाणाश्च[१०] तैर्भूतैर्याम्यैः पाशैस्तु संयताः। मुद्गरैस्ताड्यमानाश्च नीयन्ते [११] तं महापथम् ॥५४॥
क्षीणायुषं समालोक्य प्राणिनं चाऽऽयुषक्षये। निनीषवः समायान्ति यमदूता भयङ्कराः ॥५५॥
आरूढा यानकाले तु ऋक्षव्याघ्रखरेषु च। उष्ट्रेषु वानरेष्वन्ये वृश्चिकेषु वृकेषु च ॥५६॥
उलूकसर्पमार्जारं तथाऽन्ये गृध्रवाहनाः। श्येनशृगालमारूढाः[१२] सरघाकङ्कवाहनाः ॥५७॥
वराहपशुवेतालमहिषास्यास्तथा परे। नानारूपधरा घोराः सर्वप्राणिभयंकराः ॥५८॥

मिलता है ॥४५-४६॥ उस शरीर में मी कर्मानुसार अवस्था प्राप्त कर जीव कष्ट भोगते हैं। तव समय पूर्ण होने पर वेदना से पीड़ित जीव के शरीर को पञ्चभूत छोड़ देते हैं और प्राणवायु कण्ठगत हो जाता है। उसी समय यमदूत उसे भयंकर जाल में वाँध देता है। शरीर से मुक्त जीव वहुत जोर से रोने लगता है। छह कोशों से युक्त शरीर से वायुभूत जीव के निकल जाने पर माता, पिता, भाई, मामा, स्त्री, पुत्र तथा गुरु उसको पृथ्वी पर छोड़ देते हैं ॥४७-५०॥ वे लोग दीन होकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखते ही रहते हैं, पर वह वायुभूत जीव अपने शरीर को छोड़कर चल पड़ता है ॥५१॥ तिमिराच्छादित, पाररहित, महाघोर, सुखदुःखदाता, पापियों के लिए दुर्गम, दुःसह, दुष्पार, दुर्निरीक्ष्य, भीषण, अतिदुर्ग तथा पापिष्ठों के लिये सदा अहितकर उस महापथ पर यमदूत जीव को जाल में दृढ़ता से वाँध कर मुद्गर से पीटते हुए ले जाता है। आयु के क्षय होने पर क्षीणायु प्राणी को देखकर उसे ले जाने की इच्छा से भयंकर यमदूत आते हैं ॥५२-५५॥ रीछ, वाघ, गधा, ऊँट, विच्छू, भेड़िया, उल्लू, साँप, विलाड़, गीध, वाज, सियार, मधुमक्खी, सफेद चील आदि वाहनों पर चढ़कर समस्त प्राणियों के लिये भयानक, नानारूपधारी, सूअर, पशु, वेताल तथा महिष के समान मुख वाले, लंवे अंडकोश वाले, विकराल मुँह वाले, टेढ़ी नाक वाले, तीन नेत्र वाले, महान् ठुड्डी, कपोल तथा मुख वाले, लंवे दाँत वाले, अंकुर के सदृश निकले तथा विकृत आकार के

१क. ०माणा व०। २क. ०स्थाशरीरैः प्रा०। ३क. ख. ०नास्तस्य। ४क. ख. ०रादपनीतोऽसौ जीवो रौति त०। ५ग. ०ट्कौपिक०। ६क. ख. ०तुलादिभिः। दा०। ७क. ०श्च रूदद्भिस्त्य० ८ग. तं। ९क. ख. सुदूरं। १०ख. तैर्हृष्टैर्या०। ११क. ०न्ते यमसादनम्। १२ग. ०ढाः खञ्जरीक०।

दीर्घमुष्काः करालास्या वक्रनासास्त्रिलोचनाः। [1]महाहनुकपोलास्याः प्रलम्बदशनच्छदाः ॥५९॥
निर्गतैर्विकृताकारैर्दशनैरङ्कुरोपमैः। मांसशोणितदिग्धाङ्गा दंष्ट्राभिर्भृशमुल्बणैः ॥६०॥
मुखैः पातालसदृशैर्ज्वलज्जिह्वैर्भयंकरैः। नेत्रैः सुविकृताकारैर्ज्वलत्पिङ्गलचञ्चलैः ॥६१॥
[2]मार्जारोलूकखद्योतशक्रगोपवदुद्धतैः। केकरैः संकुलैस्तब्धैर्लोचनैः पावकोपमैः ॥६२॥
भृशमाभरणैर्भीमैराबद्धैर्भुजगोपमैः। शोणसरलगात्रैश्च मुण्डमालाविभूषितैः[3] ॥६३॥
कण्ठस्थकृष्णसर्पैश्च फूत्काररवभीषणैः। वह्निज्वालोपमैः केशैस्तब्धरूक्षैर्भयंकरैः ॥६४॥
बभ्रुपिङ्गललोलैश्च कद्रुश्मश्रुभिरावृताः। भुजदण्डैर्महाघोरैः प्रलम्बैः परिघोपमैः ॥६५॥
केचिद् द्विबाहवस्तत्र तथाऽन्ये च चतुर्भुजाः। द्विरष्टाबाहवश्चान्ये दशविंशभुजास्तथा ॥६६॥
असंख्यातभुजाश्चान्ये केचिद्बाहुसहस्रिणः। आयुधैर्विकृताकारैः प्रज्वलद्भिर्भयानकैः ॥६७॥
शक्तितोमरचक्राद्यैः सुदीप्तैर्विविधायुधैः। पाशशृंखलदण्डैश्च भीषयन्तो[4] महाबलाः ॥६८॥
आगच्छन्ति महारौद्रा मर्त्यानामायुषः क्षये। [5]ग्रहीतुं प्राणिनः सर्वं यमस्याऽऽज्ञाकरास्तथा ॥६९॥
यत्तच्छरीरमादत्ते यातनीयं स्वकर्मजम्। [6]तदस्य नीयते जन्तोर्यमस्य सदनं प्रति ॥७०॥
बद्ध्वा तत्कालपाशैश्च निगडैर्वज्रशृङ्खलैः। ताडयित्वा भृशं क्रुद्धैर्नीयते यमकिंकरैः[7] ॥७१॥
प्रस्खलन्तं रुदन्तं च आक्रोशन्तं मुहुर्मुहुः[8]। हा तात [9] मातः पुत्रेति वदन्तं कर्मदूषितम् ॥७२॥

दाँतों वाले, मांस तथा शोणित से बढ़े अंगों वाले, अत्यन्त तीक्ष्ण दंष्ट्रा वाले, पाताल सदृश मुख वाले, जलती हुई जिह्वा वाले, चञ्चल, पीत तथा विकृताकार नेत्र वाले, बिलाड़, उल्लू, जुगनू, तथा बीरबहूटी के समान उद्धत आँखों वाले, अग्नि के समान चमकीले, ऐंचे, संकीर्ण तथा निर्निमिष नेत्रों वाले, सर्प के समान भीषण भूषणों से आवद्ध, लाल तथा कर्कश शरीर वाले, मुण्ड-मालाओं से विभूषित, भयंकर 'फूत्कार' शब्द करने वाले, कृष्ण सर्पों को गले में धारण करने वाले, अग्निज्वाला तुल्य, रूक्ष, भयंकर तथा अचल केश वाले, चंचल तथा भूरे एवम् पीत रंग की दाढ़ी-मूछों से आवृत और महाभयंकर तथा भाले के समान लम्बी भुजा वाले यमदूत आते हैं॥५६-६५॥ उनमें कोई दो बाँहें वाले, कोई चार भुजा वाले, कोई सोलह भुजा वाले, कोई तीस (या दो सौ) भुजा वाले, कोई हजार भुजा वाले और कोई असंख्य भुजा वाले होते हैं॥६६॥ जाज्वल्यमान, भयानक तथा विचित्र आकार के अस्त्र-शस्त्रों से, देदीप्यमान शक्ति, तोमर, चक्र आदि विविध आयुधों से, पाश, साँकल तथा दण्डों से डराते हुए महादारुण यमदूत मृत्युलोकवासियों के आयु क्षय होने पर प्राणियों को पकड़ने के लिये आते हैं॥६७-६९॥ जीव अपने कर्मों से उत्पन्न यातना-शरीर को प्राप्त करता है, और वह यमालय ले जाया जाता है॥७०॥ साँकलों तथा काल-पाशों से बाँध कर अत्यन्त कुपित यमकिंकर पीटते हुए उसे ले जाते हैं॥७१॥ गिरते, रोते, बार-बार चिल्लाते और 'हा पिता, माता, पुत्र' बोलते हुए दुष्कर्मी जीव को तीक्ष्ण, शूल, मुद्‌गर,अत्यन्त तेज तलवार तथा शक्ति के प्रहारों से एवम्

---

[1] क. ०कपाला०। [2] क. ख. ०क्रचापैरिवोद्गतैः। [3] क. ०भूषणैः। क०। [4] क. ख. चापहस्ता। [5] क. ख. गृहीत्वा। [6] क. ख. तदाऽस्य। [7] क. ०रैः। कृत्वा वज्रमयं कायमाक्रो०। [8] क. सुदुर्मदैः। [9] ग. ०त पुत्र मातेति। हा कलत्रेति चासकृत्। आ०।

आहत्य निशितैः शूलैर्मुद्गरैर्निशितैर्घनैः। खड्गशक्तिप्रहारैश्च वज्रदण्डैः सुदारुणैः ।।७३।।
भर्त्स्यमानो महारावैर्वज्रशक्तिसमन्वितैः। एकैकशो भृशं क्रुद्धैस्ताडयद्भिः समन्ततः ।।७४।।
स मुह्यमानो दुःखार्तः प्रतपंश्च इतस्ततः। आकृष्य नीयते जन्तुरध्वानं सुभयंकरैः ।।७५।।
कुशकण्टकवल्मीकाङ्कुपाषाणशर्करे। तथा प्रदीप्तज्वलने [1] क्षारवज्रशतोत्कटे ।।७६।।
प्रदीप्तादित्यतप्तेन दह्यमानस्तदंशुभिः। कृष्यते यमदूतैश्च शिवासंनादभीषणैः ।।७७।।
विकृष्यमाणस्तैर्घोरैर्भक्ष्यमाणः शिवाशतैः। प्रयाति दारुणे मार्गे पापकर्मा यमालयम् ।।७८।।
क्वचिद्भीतैः क्वचित्त्रस्तैः प्रस्खलद्भिः क्वचित्क्वचित्। दुःखेनाऽऽक्रन्दमानैश्च[2] गन्तव्यः स महापथः ।।७९।।
निर्भर्त्स्यमानैरुद्विग्नैर्विद्रुतैर्भयविह्वलैः। कम्पमानशरीरैस्तु गन्तव्यं जीवसंज्ञकैः ।।८०।।
कण्टकाकीर्णमार्गेण संतप्तसिकतेन च। दह्यमानैस्तु गन्तव्यं नरैर्दानविवर्जितैः ।।८१।।
मेदःशोणितदुर्गन्धैर्बस्तगात्रैश्च[3] पूगशः। [4] दग्धस्फुटत्वचाऽऽकीर्णैर्गन्तव्यं जीवघातकैः ।।८२।।
कूजद्भिः क्रन्दमानैश्च विक्रोशद्भिश्च विस्वरम्। वेदनार्तैश्च सद्भिश्च गन्तव्यं जीवघातकैः ।।८३।।
शक्तिभिर्भिन्दिपालैश्च खड्गतोमरसायकैः। भिद्यद्भिस्तीक्ष्णशूलाग्रैर्गन्तव्यं जीवघातकैः[5] ।।८४।।
श्वानैर्व्याघ्रैर्वृकैः कङ्कैर्भक्ष्यमाणैश्च पापिभिः। ।।८५।।
कृन्तद्भिः क्रकचाघातैर्गन्तव्यं मांसखादिभिः। महिषर्षभशृङ्गाग्रैर्भिद्यमानैः समन्ततः ।।८६।।

कठोर वज्र-दण्डोंसे पीटते हुए यमदूत ले जाते हैं। ग्लानि करते हुए, इधर-उधर तड़पते हुए दुःख पीड़ित जीव को वज्र-शक्ति समन्वित महाशब्दों से धिक्कारते हुए महाभयानक तथा अत्यन्त कुपित यमदूत मार्ग पर ले जाते हैं।।७२-७५।। कुश, कण्टक, वल्मीक, शंकु, पत्थर तथा वालू-कण से युक्त, जाज्वल्यमान, सैकड़ों कठोर वज्र के समान उत्कट एवं प्रदीप्त सूर्य-किरणों से जलते हुए मार्ग पर शृगाली के समान भीषण नाद करने वाले यमदूत जीव को ले जाते हैं।।७६-७७।। यमलोक के लिये दारुण मार्ग से प्रयाण करते हुए पापकर्मी जीव को सैकड़ों भयानक शृगालियाँ खाती हैं और यमदूत खींचातानी करते हैं।।७८।। कहीं डरते हुए, कहीं त्रस्त होते हुए, कहीं गिरते हुए और कहीं आक्रोश करते हुए उस महापथ पर चलना पड़ता है।।७९।। उद्विग्न तथा भयविह्वल होकर फटकार खाते हुए तथा भागते हुए जीव काँपते हुए शरीरों से उस महापथ पर जाते हैं।।८०।। दानरहित मनुष्य को संतप्त वालूमय तथा कण्टकाकीर्ण मार्ग से जाना पड़ता है। जीवहत्या करने वाले मनुष्यों को चरवी, शोणित तथा दुर्गन्ध से युक्त एवम् जल कर फटी हुई त्वचा वाले शरीर धारण कर जाना पड़ता है।।८१-८२।। जीवघाती को अव्यक्त शब्द करते, रोते, जोर से चिल्लाते तथा वेदना से पीड़ित होते हुए जाना पड़ता है। जीवघातक को शक्ति, भिन्दिपाल, तलवार, तोमर, वाण तथा तीक्ष्ण शूल के अग्रभाग से विद्ध होकर जाना पड़ता है। महापथ पर जाते हुए पापियों को कुत्ते, वाघ, भेड़िये तथा सफेद चील खाते हैं।।८३-८५।। मांसाहारी जीवों को आरे से चिरवा कर जाना होता है। वहाँ जाते हुए मांसभक्षी जीवों को चारों ओर से महिष तथा वैल सींगोंसे छिन्न-भिन्न करते

---

[1] ग. ०रदर्शश०। [2] क. क्रम्यमाणैश्च। [3] क. ०न्धैर्विष्टामूत्रानुलेपनैः। द०। [4] ख. ग. ०टरुजाकी०। [5] क. ०कैः। श्वोभेर्व्या०।

[१]उल्लिखद्भिः शूकरैश्च गन्तव्यं मांसखादकैः। सूचीभ्रमरकाकोलमक्षिकाभिश्च[२] संघशः ।।८७।।
भुज्यमानैश्च गन्तव्यं पापिष्ठैर्मधुघातकैः[३]। विश्वस्तं स्वामिनं मित्रं स्त्रियं वा यस्तु घातयेत् ।।८८।।
शस्त्रैर्निकृत्यमानैश्च गन्तव्यं चातुरैर्नरैः। घातयन्ति च ये जन्तूंस्ताडयन्ति निरागसः ।।८९।।
राक्षसैर्भक्ष्यमाणास्ते यान्ति याम्यपथं नराः। ये हरन्ति[४] परस्त्रीणां वरप्रावरणानि च ।।९०।।
ते यान्ति विद्रुता नग्नाः[५] प्रेतीभूता यमालयम्। वासो[६] धान्यं हिरण्यं वा गृहक्षेत्रमथापि वा ।।९१।।
ये हरन्ति दुरात्मानः पापिष्ठाः पापकर्मिणः। पाषाणैर्लगुडैर्दण्डैस्ताडयमानैस्तु जर्जरैः ।।९२।।
वहद्भिः शोणितं भूरि गन्तव्यं तु यमालयम्[७]। ब्रह्मस्वं ये हरन्तीह[८] नरा नरकनिर्भयाः ।।९३।।
ताडयन्ति तथा विप्रानाक्रोशन्ति नराधमाः। शुष्ककाष्ठनिबद्धास्ते छिन्नकर्णाक्षिनासिकाः ।।९४।।
पूयशोणितदिग्धास्ते कालगृध्रैश्च जम्बुकैः। किंकरैर्भीषणैश्चण्डैस्ताडयमानाश्च दारुणैः ।।९५।।
विक्रोशमाना गच्छन्ति पापिनस्ते यमालयम्। एवं परमदुर्धर्षमध्वानं ज्वलनप्रभम् ।९६।।
रौरवं दुर्गविषमं निर्दिष्टं मानुषस्य च। प्रतप्तताम्रवर्णाभं वह्निज्वालास्फुलिङ्गवत् ।।९७।।
कुरण्टकण्टकाकीर्णं[९] [१०]पृथुविकटताडनैः। शक्तिवज्रैश्च संकीर्णमुज्ज्वलं तीव्रकण्टकम् ।।९८।।
अङ्गारवालुकामिश्रं वह्निकीटकदुर्गमम्। ज्वालामालाकुलं रौद्रं[११] सूर्यरश्मिप्रतापितम् ।।९९।।

हैं तथा सूअर चीरते हैं ।।८६⅓।। मधुघाती (मधुमक्खियों को मारने वाले) पापिष्ठ जीवों को सूई, भौंरे, कौए तथा मक्खियों से आहत होकर जाना पड़ता है ।।८७⅓।। विश्वस्त स्वामी, मित्र तथा स्त्री को जो मारता है, उसे शस्त्रों से आहत होकर जाना पड़ता है ।।८८⅓।। जो मनुष्य जीवों को मारता है, उसे यमपथ पर राक्षस खाते हैं ।।८९⅓।। जो मनुष्य परस्त्रियों की ओढ़नी चुरा लेता है। वह मरने पर नग्न होकर यमलोक जाता है ।।९०⅓।। जो दुरात्मा पापिष्ठ कपड़े, धान्य, सोने तथा वासस्थान का अपहरण करता है, वह पत्थर, लाठी तथा डंडों से जर्जरगात्र होकर प्रचुर शोणित वहाते यमालय जाता है ।।९१-९२⅓।। जो नर नरक से निर्भय होकर व्राह्मणों का धन हरण करता है और विप्रों की पीटता है, वह नराधम सूखी लकड़ी में वाँध दिया जाता है; उसकी आँख, कान, नाक काट दी जाती हैं; पीप तथा शोणित से उसका सर्वांग शरीर लिप्त हो जाता है; गीध तथा सियार उसे खाते हैं; प्रचण्ड तथा भयंकर यमदूत उसे पीटते हैं; तव वह पापी आक्रोश करता हुआ यमसदन जाता है ।।९३-९५⅓।। इस प्रकार वह महापथ मनुष्य के लिए परम कठिन, अग्नितुल्य प्रभा वाला, विषम, भयंकर तथा रौरव नरक तुल्य वतलाया जाता है। तपे ताँवे के तुल्य, अग्नि ज्वालाओं के कण के सदृश, कुरण्ट वृक्ष के काँटों से व्याप्त, विंशाल तथा विकट ताड़नों (चावुकों), शक्तियों तथा वज्रों से भरे हुए, उज्ज्वल, तीखी काँटों से युक्त, अंगार सदृश, वालू से मिश्रित, अग्नि तथा कीड़ों के कारण दुर्गम, ज्वालाओं से परिपूर्ण, भयानक तथा सूर्य-किरणों से संतप्त मार्ग परं प्राणी अत्यन्त निष्ठुर यमदूतों द्वारा घसीटता हुआ ले जाया जाता है ।।९६-९९⅓।। जभी, दुःखपीड़ित जीव कहीं गिर कर रोने लगता है

१क. ख. उत्तिष्ठद्भिः। २क. ख. ०काभिः सहस्रशः। ३ग. ०र्मद्यघा०। ४क. ०न्ति धनं स्त्री०। ५क. भग्नाः। ६ग. गावो। ७क. ०म्। देवद्रव्यं ह०। ८क. ख. ०ह गुरुभूमिं तथैव च। ता०। ९क. ०र्णं वृथा वि०। ग. ०र्णं वृषावि०। १०ख. ०टरङ्कुरैः। श०। ग. ०टङ्मकुरः। श०। ११क. ख. ०द्रं दीप्तसूर्य प्र०।

अध्वानं नीयते देही कृष्यमाणः सुनिष्ठुरैः। यदैव क्रन्दते जन्तुर्दुःखार्तः पतितः[1] क्वचित् ॥१००॥
तदैवाऽऽहन्यते सर्वैरायुधैर्यमकिंकरैः। एवं संताडयमानश्च लुब्धः पापेषु योऽनयः ॥१०१॥
अवशो नीयते जन्तुर्दुर्धरैर्यमकिंकरैः। सर्वैरेव हि गन्तव्यमध्वानं तत्सुदुर्गमम् ॥१०२॥
नीयते विविधैर्घोरैर्यमदूतैरवज्ञया। नीत्वा सुदारुणं मार्गं प्राणिनं यमकिंकरैः ॥१०३॥
प्रवेश्यते पुरीं घोरां ताम्रायसमयीं द्विजाः। सा पुरी विपुलाकारा[2] लक्षयोजनमायता ॥१०४॥
[3]चतुरस्रा विनिर्दिष्टा चतुर्द्वारवती शुभा। प्राकाराः काञ्चनास्तस्या योजनायुतमुच्छ्रिताः ॥१०५॥
इन्द्रनीलमहानीलपद्मरागोपशोभिता। सा पुरी विविधैः संघैर्घोरा घोरैः समाकुला ॥१०६॥
देवदानगन्धर्वैर्यक्षराक्षसपन्नगैः। पूर्वद्वारं शुभं तस्याः पताकाशतशोभितम् ॥१०७॥
वज्रेन्द्रनीलवैदूर्यमुक्ताफलविभूषितम्। गीतनृत्यैः समाकीर्णं गन्धर्वाप्सरसां गणैः ॥१०८॥
प्रवेशस्तेन देवानामृषीणां योगिनां तथा। गन्धर्वसिद्धयक्षाणां विद्याधरविसर्पिणाम् ॥१०९॥
[4]उत्तरं नगरद्वारं घण्टाचामरभूषितम्। छत्रचामरविन्यासं नानारत्नैरलंकृतम् ॥११०॥
वीणारेणुरवै रम्यैर्गीतमङ्गलनादितैः[5]। [6]ऋग्यजुःसामनिर्घोषैर्मुनिवृन्दसमाकुलम् ॥१११॥
विशन्ति येन धर्मज्ञाः सत्यव्रतपरायणाः। ग्रीष्मे वारिप्रदा ये च शीते चाग्निप्रदा नराः ॥११२॥
श्रान्तसंवाहका ये च प्रियवादरताश्च ये। ये च दानरताः शूरा [7]मातापितृपराश्च ये ॥११३॥

तभी यमदूत विविध आयुधों से उसे आहत कर देते हैं।।१००।। इस प्रकार पापी और अनैतिक जीव को ताड़ते हुए यमकिंकर ले जाते हैं। उस अत्यन्त दुर्गम मार्ग पर सबको जाना पड़ता है। द्विजगण ! अनेक भयंकर यमदूत प्राणी को दारुण मार्ग पर तिरस्कारपूर्वक ले जाते हैं और अनन्तर उसे ताम्र-लौहमयी पुरी में प्रवेश कराते हैं।। १०१-१०३।। वह पुरी विस्तृत आकार वाली, एक लाख योजन लम्वी, चौकोर, चार द्वार वाली तथा सुन्दर है। उसकी सुवर्णमयी चहार दीवारी दश हजार योजन विस्तृत है।।१०४-१०५।। वह पुरी इन्द्रपुरी, महानील तथा पद्मराग मणि से सुशोभित, विविध संघों से भयंकर और देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा सर्पों से परिपूर्ण है। उसका पूर्वद्वार पवित्र, सैकड़ों पताकाओं से शोभित, वज्र, इन्द्र, नील, वैदूर्य आदि मणियों तथा मोतियों से विभूषित, नृत्य-गीतों तथा गन्धर्व और अप्सराओं के गणों से प्रपूर्ण है।।१०६-१०८।। उस द्वार से देव, ऋषि, योगी, गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष तथा विद्याधरों का प्रवेश होता है।।१०९।। नगर का उत्तरद्वार घण्टा तथा चामरों से भूषित, छत्र तथा नाना रत्नों से अलंकृत, वीणा, बाँसुरी के शब्दों तथा गीत-मंगलों से रंम्य, ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के निर्घोष एवम् मुनिवृन्द से परिव्याप्त है।।११०-१११।। उस मार्ग से धर्मज्ञ तथा सत्यव्रतपरायण व्यक्ति प्रवेश करते हैं। जो मनुष्य ग्रीष्म-काल में जलदान और शीतकाल में अग्निदान करते हैं, वे उस मार्ग से जाते हैं।।११२।। जो थके-माँदे की सेवा करते हैं, जो प्रियवक्ता हैं, जो दानी हैं, जो वीर हैं, जो मातृ-पितृ-भक्त हैं, जो विप्रसेवा में निरत हैं और जो अतिथिपूजक हैं, वे उस मार्ग से जाते हैं।।११३½।। नगरी का पश्चिमद्वार रत्नों से विभूषित विचित्र मणिमय

---

[1]क. ग. पतते। [2]ग. विविधाका०। [3]ग. ०तुष्पथवि०। [4]क. ख. ०रं तु वर०। [5]ख. ०तैः। यजुः०। [6]ख. ०सामाथर्वघोषै०। [7]क. मातृभक्तिपरायणाः। द्वि०।

द्विजशुश्रूषणे युक्ता नित्यं येऽतिथिपूजकाः। पश्चिमं तु महाद्वारं पुर्या रत्नैर्विभूषितम् ॥११४॥
विचित्रमणिसोपानं[१] तोमरैः समलंकृतम्। भेरीमृदङ्गसंनादैः[२] शङ्खकाहलनादितम् ॥११५॥
सिद्धवृन्दैः सदा हृष्टैर्मङ्गलैः प्रणिनादितम्। प्रवेशस्तेन हृष्टानां शिवभक्तिमतां नृणाम् ॥११६॥
सर्वतीर्थप्लुता ये च पञ्चाग्नेर्ये च सेवकाः। प्रस्थाने ये मृता वीरा [३]मृताः कालंजरे गिरौ ॥११७॥
अग्नौ[४] विपन्ना ये वीराः साधितं वैरनाशकम्। ये स्वामिमित्रलोकार्थे गोग्रहे संकुले हताः ॥११८॥
ते विशन्ति नराः शूराः पश्चिमेन तपोधनाः। पूर्यां तस्या महाघोरं सर्वसत्त्वभयंकरम् ॥११९॥
हाहाकारसमाक्रुष्टं दक्षिणं द्वारमीदृशम्। [५]अन्धकारसमायुक्तं तीक्ष्णशृङ्गैः समन्वितम् ॥१२०॥
कण्टकैर्वृश्चिकैः सर्पैर्वज्रकीटैः सुदुर्गमैः। विलुम्पद्भिर्वृकैर्व्याघ्रैर्ऋक्षैः सिंहैः सजम्बुकैः ॥१२१॥
श्वानमार्जारगृध्रैश्च सज्वालकवलैर्मुखैः। प्रवेशस्तेन वै नित्यं [६]सर्वेषामपकारिणाम् ॥१२२॥
ये घातयन्ति विप्रान्गा बालं वृद्धं तथाऽऽतुरम्। शरणागतं विश्वस्तं स्त्रियं मित्रं निरायुधम् ॥१२३॥
येऽगम्यागामिनो मूढाः परद्रव्यापहारिणः। निक्षेपस्यापहर्तारो विषवह्निप्रदाश्च ये ॥१२४॥
परभूमिं गृहं शय्यां वस्त्रालंकारहारिणः। पररन्ध्रेषु ये क्रूरा ये सदाऽनृतवादिनः ॥१२५॥
[७]ग्रामराष्ट्रपुरस्थाने[८] महादुःखप्रदा[९] हि ये। कूटसाक्षिप्रदातारः[१०] कन्याविक्रयकारकाः ॥१२६॥
अभक्ष्यभक्षणरता ये गच्छन्ति सुतां स्नुषाम्। मातरं[११] पितरं चैव ये[१२] वदन्ति च पौरुषम् ॥१२७॥

सीढ़ियों से युक्त, तोमरों से अलंकृत, ढोल, मृदंग, शंख तथा डमरू से शब्दित और सदा प्रसन्न रहने वाले सिद्धवृन्दों से सुसेवित है। उस द्वार से आनन्दयुक्त शिवभक्त मनुष्यों का प्रवेश होता है ॥११४-११५॥ जो समस्त तीर्थस्नायी हैं, जो पञ्चाग्नि के उपासक हैं, जो वीर युद्ध-यात्रा में मरते हैं, जो कालञ्जर पर्वत पर मरते हैं, जो अग्नि में पड़े हुए को वचाते हैं, जो स्वामी, मित्र, गो तथा दूसरों के लिये प्राण देते हैं, वे तपस्वी तथा वीर मनुष्य पश्चिमद्वार से जाते हैं ॥११८½॥ उस पुरी का दक्षिणद्वार महाघोर, अखिल जीवों के लिए भयंकर, हाहाकार शब्दों से व्याप्त, तिमिरावृत, तीक्ष्ण शृंगों से समन्वित, काँटे, विच्छू, साँप वज्र तथा कीड़ों से अतिदुर्गम, मुंह फैलाये उपद्रवी भेड़िये, वाघ, रीछ, सिंह, सियार, कुत्ते, विलाड़ तथा गीधों से युक्त है। उस द्वार से नित्य पापियों का प्रवेश होता है ॥११९-१२२॥ जो व्राह्मण गो, वालक, वृद्ध, आतुर, शरणागत, विश्वस्त, स्त्री, मित्र तथा निःशस्त्र व्यक्ति को मारते हैं, जो अगम्यागामी, मूढ, दूसरे के धन हरण करने वाले, धरोहर के अपहर्ता, विष तथा अग्नि डालने वाले हैं, जो दूसरे की भूमि, गृह, शय्या, वस्त्र तथा आभूषणों का हरण करते हैं, जो दूसरे के छिद्रान्वेषी, सदा मिथ्यावादी, ग्राम, राष्ट्र तथा नगरों में उपद्रव मचाने वाले, मिथ्या गवाही देने वाले, कन्या वेचने वाले, तथा अभक्ष्यभक्षण

१ख. ०पानमम०। २ग. ०दैः शङ्खकाहलना०। ३क. ख. मृता ये पतने गि०। ४ख. जले। ५क. ग. ०कारं निरालोकं ती०। ६क. ख. ०र्वेषां पापका०। ७ख. ग्रामे पुरे निवसतां। म०। ८क. ०रत्रासम०। ९क. ०प्रवर्धकाः। कू०। १०क. ग. ०न्यावादे च येऽनृताः। अ०। ११ग. ये गच्छन्ति स्वसामपि। अ०।

अन्ये ये चैव निर्दिष्टा महापातककारिणः। दक्षिणेन तु ते सर्वे द्वारेण प्रविशन्ति वै ॥१२८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे यमलोकस्य मार्गस्वरूपाख्याननिरूपणं
नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१४॥

अथ पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

दक्षिणमार्गवर्णनम्

मुनय ऊचुः

कथं दक्षिणमार्गेण विशन्ति पापिनः पुरम्। श्रोतुमिच्छाम तद्ब्रूहि विस्तरेण तपोधन ॥१॥

व्यास उवाच

सुघोरं तन्महाघोरं द्वारं वक्ष्यामि भीषणम्। नानाश्वापदसंकीर्णं शिवाशतनिनादितम् ॥२॥
फेत्काररवसंयुक्तमगम्यं लोमहर्षणम्। भूतप्रेतपिशाचैश्च वृतं चान्यैश्च राक्षसैः ॥३॥
एवं दृष्ट्वा सुदूरान्ते द्वारं दुष्कृतकारिणः। मोहं गच्छन्ति सहसा[२] त्रासाद्विप्रलपन्ति च ॥४॥
ततस्ताञ्शृङ्खलैः पाशैर्बद्ध्वा कर्षन्ति निर्भयाः। ताडयन्ति च दण्डैश्च भर्त्सयन्ति पुनः पुनः ॥५॥

करने वाले हैं, जो पुत्री तथा पुत्रवधू से गमन करते हैं, जो माता-पिता को कटु वचन कहते हैं और जो महापातककारी हैं, वे निश्चय ही दक्षिण द्वार से प्रवेश करते हैं ॥१२३-१२८॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में यमलोक के मार्गस्वरूप-व्याख्यान
नामक दो सौ चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥२१४॥

अध्याय २१५

दक्षिण मार्ग का वर्णन

मुनियों ने कहा—तपोधन ! पापी जीव दक्षिण मार्ग से कैसे पुरी में प्रवेश करते हैं ? हमें यह सुनने की इच्छा है, विस्तारपूर्वक वतलाइये ॥१॥

व्यास ने कहा—मैं उस महाघोर तथा भीषण द्वार के वारे में कहूँगा। अनेक हिंसक जानवरों से प्रपूर्ण, सैकड़ों सियारिनों से शब्दित, 'फेत्कार' शब्दों से संयुक्त, अगम्य, रोमांचकारी, भूत, प्रेत, पिशाच तथा राक्षसों से आवृत दक्षिणद्वार को दूर ही से देखकर दुष्कर्मी जीव सहसा घवरा जाते हैं और डर से विलाप करने लगते हैं॥२-४॥ तव भयशून्य यमदूत साँकलों तथा पाशों से उन्हें वांधकर डंडों से पीटते हैं और वार-वार गाली देते हैं॥५॥

---

[१]क. दक्षिणं। [२]क. ख. ०सा दुःखाद्वि०।

लब्धसंज्ञास्ततस्ते वै रुधिरेण परिप्लुताः। व्रजन्ति दक्षिणं द्वारं प्रस्खलन्तः पदे पदे ॥६॥
तीव्रकण्टकयुक्तेन शर्करानिचितेन च। क्षुरधारानिभैस्तीक्ष्णैः पाषाणैर्निचितेन च ॥७॥
क्वचित्पङ्केन निचिता निरुत्तारैश्च खातकैः। लोहसूचीनिभैर्दन्तैः संछन्नेन क्वचित्क्वचित् ॥८॥
तटप्रपातविषमैः पर्वतैर्वृक्षसंकुलैः[1]। प्रतप्ताङ्गारयुक्तेन यान्ति मार्गेण दुःखिताः ॥९॥
क्वचिद्विषमगर्ताभिः क्वचिल्लोष्टैः सुपिच्छलैः। सुतप्तवालुकाभिश्च तथा तीक्ष्णैश्च शङ्कुभिः ॥१०॥
अयःशृङ्गाटकैस्तप्तैः क्वचिद्दावाग्निना युतम्। क्वचित्तप्तशिलाभिश्च क्वचिद्व्याप्तं हिमेन च ॥११॥
क्वचिद्वालुकया व्याप्तमाकण्ठान्तःप्रवेशया। क्वचिद्दुष्टाम्बुना व्याप्तं क्वचित्कर्षाग्निना पुनः ॥१२॥
क्वचित्सिंहैर्वृकैर्व्याघ्रैर्दंशकीटैश्च दारुणैः। क्वचिन्महाजलौकाभिः क्वचिदजगरैः पुनः ॥१३॥
मक्षिकाभिश्च रौद्राभिः क्वचित्सर्पैर्विषोल्वणैः। [2]क्वचिद्दुष्टगजैश्चैव बलोन्मत्तैः [3]प्रमाथिभिः[4] ॥१४॥
पन्थानमुल्लिखद्भिश्च तीक्ष्णशृङ्गैर्महावृषैः। महाशृङ्गैश्च [5]महिषैरुष्ट्रैर्मत्तैश्च खादनैः ॥१५॥
डाकिनीभिश्च रौद्राभिर्विकरालैश्च राक्षसैः। व्याधिभिश्च महारौद्रैः पीड्यमाना व्रजन्ति ते ॥१६॥
महाधूलिविमिश्रेण महाचण्डेन वायुना। महापाषाणवर्षेण हन्यमाना निराश्रयाः ॥१७॥
क्वचिद्विद्युन्निपातेन दीर्यमाणा व्रजन्ति ते। महता बाणवर्षेण भिद्यमानाश्च सर्वशः ॥१८॥
[6]पतद्भिर्वज्रनिर्घातैरुल्कापातैः सुदारुणैः। प्रदीप्ताङ्गारवर्षेण दह्यमाना विशन्ति च ॥१९॥

चेतना आने पर वे जीव रक्त से लथपथ होकर पग-पग पर गिरते हुए दक्षिणद्वार को जाते हैं ॥६॥ तीव्र काँटों से युक्त, कंकड़ों से व्याप्त, अस्तुरे की धार के समान तीक्ष्ण पत्थरों से समन्वित, कहीं कीचड़ों से युक्त, कहीं खाइयों से युक्त, कहीं-कहीं लोहे की सूई के समान दाँतों से युक्त, तट-प्रदेश में विषम पर्वतों तथा वृक्षों से संकुल और जाज्वल्यमान अंगारों से युक्त मार्ग से दुःखी होकर जीव जाते हैं ॥७-९॥ कहीं विषम गड्ढों से, कहीं फिसलने वाले पत्थरों से, तप्त वालुओं से, तीक्ष्ण खूंटियों से, लोहे की तप्त कीलों से, कहीं दावाग्नियों से, कहीं तप्त शिलाओं से, कहीं पाले से, कहीं कण्ठ के भीतर घुसने वाली वालुओं से, कहीं दूषित जल से, कहीं अग्नि से, कहीं दारुण सिंह, भेड़िये, वाघ तथा डसने वाले कीड़ों से, कहीं वड़े-वड़े जोकों से, कहीं अजगरों से, कहीं भयंकर मक्खियों से, कहीं विष वमन करने वाले सर्पों से, कहीं दुष्ट, वलोन्मत्त तथा कुचलने वाले हाथियों से, तीखे सींगों से मार्ग को उखाड़ने वाले साँड़ों से, विशाल सींग वाले महिषोंसे, खा जाने वाले मतवाले ऊँटों से, भयंकर डाकिनियों से, विकराल राक्षसों से और महाभयंकर व्याधियों से पीड़ित होते हुए जीव जाते हैं ॥१०-१६॥ वहुत धूलि मिश्रित प्रचण्ड वायु से तथा भयंकर पत्थरों की वृष्टि से आहत, निराश्रय और कहीं विजली के गिरने से विदीर्ण होते हुए जीव जाते हैं ॥१७॥ महान् वाणों की वृष्टि से छिन्न-भिन्न दारुण उल्कापात तथा वज्रप्रहारों से आहत और जाज्वल्यमान शृंगारों की वृष्टि से दग्ध होते हुए जीव प्रवेश करते हैं ॥१८-१९॥ महान् धूलि-वृष्टि से भर कर जीव रोते हैं और भयंकर मेघ-गर्जन

---

[1] ख. ०र्वृकसं०। [2] ग. महागजेन्द्रधृष्टैश्च। [3] क. प्रहारिभिः। [4] क. ०भिः। आकाशमु०। [5] क. ०रुन्मत्तैश्चैव सादिभिः। डा०। [6] क. ०ज्रसंघातैर्गदाघातैः।

महता पांशुवर्षेण पूर्यमाणा रुदन्ति[1] च। मेघारवैः सुघोरैश्च वित्रास्यन्ते मुहुर्मुहुः ॥२०॥
निःशेषाः शरवर्षेण चूर्ण्यमानाश्च सर्वतः। महाक्षाराम्बुधाराभिः सिच्यमाना व्रजन्ति च ॥२१॥
महाशीतेन मरुता रूक्षेण परुषेण च। समन्ताद्दीर्यमाणाश्च शुष्यन्ते संकुचन्ति च ॥२२॥
इत्थं मार्गेण पुरुषाः[2] पाथेयरहितेन च। निरालम्बेन दुर्गेण निर्जलेन समन्ततः ॥२३॥
अतिश्रमेण महता [3]निर्गतेनाऽऽश्रमाय वै। नीयन्ते देहिनः सर्वे ये मूढाः पापकर्मिणः ॥२४॥
यमदूतैर्महाघोरैस्तदाज्ञाकारिभिर्बलात्। एकाकिनः पराधीना मित्रबन्धुविवर्जिताः ॥२५॥
शोचन्तः स्वानि कर्माणि रुदन्ति च मुहुर्मुहुः। प्रेतीभूता निषिद्धास्ते शुष्ककण्ठौष्ठतालुकाः ॥२६॥
कृशाङ्गा भीतभीताश्च दह्यमानाः क्षुधाग्निना। बद्धाः शृङ्खलया[4] [5]केचित्केचिदुत्तानपादयोः ॥२७॥
आकृष्यन्ते शुष्यमाणा यमदूतैर्बलोत्कटैः। नरा अधोमुखाश्चान्ये कृष्यमाणाः सुदुःखिताः ॥२८॥
अन्नपानीयरहिता याचमानाः पुनः पुनः। देहि देहीति भाषन्तः साश्रुगद्गदया गिरा ॥२९॥
कृताञ्जलिपुटा दीनाः क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः। भक्ष्यानुच्चावचान्दृष्ट्वा[6] भोज्यान्पेयांश्च पुष्कलान् ॥३०॥
सुगन्धद्रव्यसंयुक्तान्याचमानाः पुनः पुनः। [7]दधिक्षीरघृतोन्मिश्रं दृष्ट्वा शाल्योदनं तथा ॥३१॥
पानानि च सुगन्धीनि शीतलान्युदकानि च। तान्याचमानांस्ते याम्या[8] भर्त्सयन्तस्तदाऽब्रुवन् ॥
वचोभिः परुषैर्भीमाः क्रोधरक्तान्तलोचनाः ॥३२॥

से वार-वार त्रस्त होते हैं ॥२०॥ वाणों की वर्षा से निःशेषतया चूर-चूर होते हुए तथा अत्यन्त खारे जल की धाराओं से भीगते हुए जीव जाते हैं ॥२१॥ वहुत ठंडी, रूखी तथा कठोर वायु से प्राणी फट जाते हैं, सूख जाते हैं तथा संकुचित हो जाते हैं ॥२२॥ इस प्रकार पाथेयरहित, निरालम्व, निर्जल तथा दुर्गम मार्ग से पापकर्मी मूर्ख जीव अत्यन्त कष्ट से महाभयंकर यमदूतों द्वारा वलपूर्वक यमाश्रम को ले जाये जाते हैं ॥२३-२४½॥ अकेले, पराधीन तथा मित्र-वन्धुओं से रहित जीव अपने कर्मों को सोचते हुए वार-वार रोते हैं। प्रेत होने पर जीव दूषित हो जाते हैं; उनके कण्ठ, होंठ तथा तालु सूख जाते हैं, शरीर क्षीण हो जाते हैं। वलोन्मत्त यमदूत क्षुधाग्नि से दग्ध, भयों से त्रस्त, साँकलों से वद्ध तथा शुष्क जीवों को उत्तानपाद करके खींचते हैं; कितने जीवों को अधोमुख करके अत्यन्त दुःख देते हुए खींचते हैं ॥२५-२८॥ अन्न-जल से रहित जीव 'दो-दो' कहते हुए अश्रुपूर्ण स्वर से वार-वार याचना करते हैं ॥२९॥ भूख-प्यास से परिपीडित तथा दीन जीव प्रचुर मात्रा में सुगन्धित हव्य मिश्रित भोज्य तथा पेय पदार्थों को देखकर अञ्जलिवद्ध होकर वार-वार याचना करते हैं। दही, दूध, घी, चावल, भात, सुगन्धित पान पदार्थ, तथा शीतल जल—इन चीजों को देखकर जव जीव मांगते हैं तव भयंकर यमदूत आँखें लाल कर कटुवचन कहते हुए फटकारते हैं ॥३०-३२॥

---

[1] क. विशन्ति। [2] ग. दुर्गेण। [3] ख. ०र्गता ये यमालयम्। नी०। [4] ०लकैः के०। [5] क. ०चिदुत्तानाः पादचारिणः। आ०। [6] ख. भोज्यराशींश्च पु०। [7] क. ख. ०धिखण्डघृ०। [8] ख. ०म्या निषेधन्त०।

याम्या ऊचुः

न भवद्भिर्हुतं काले न दत्तं ब्राह्मणेषु च। प्रसभं दीयमानं च वारितं च द्विजातिषु ॥३३॥
तस्य पापस्य च फलं[1] भवतां समुपागतम्। नाग्नौ दग्धं जले नष्टं न हृतं नृपतस्करैः ॥३४॥
कुतो वा सांप्रतं विप्रे[2] यन्न दत्तं पुराऽधमाः। यैर्दत्तानि तु दानानि साधुभिः सात्त्विकानि तु ॥३५॥
तेषामेते प्रदृश्यन्ते कल्पिता ह्यन्नपर्वताः। भक्ष्यभोज्याश्च पेयाश्च लेह्याश्चोष्याश्च संवृताः ॥३६॥
न यूयमभिलप्स्यध्वे न दत्तं च कथंचन। यैस्तु दत्तं हुतं चेष्टं ब्राह्मणाश्चैव पूजिताः ॥३७॥
तेषामन्नं समानीय इह निक्षिप्यते सदा। परस्वं कथमस्माभिर्दातुं शक्येत नारकाः ॥३८॥

व्यास उवाच

किंकराणां वचः श्रुत्वा निःस्पृहाः क्षुत्तृषार्दिताः। ततस्ते दारुणैश्चास्त्रैः पीडयन्ते यमकिंकरैः ॥३९॥
मुद्गरैर्लोहदण्डैश्च शक्तितोमरपट्टिशैः। परिघैर्भिन्दिपालैश्च गदापरशुभिः शरैः ॥४०॥
पृष्ठतो हन्यमानाश्च यमदूतैः सुनिर्दयैः। अग्रतः सिंहव्याघ्राद्यैर्भक्ष्यन्ते पापकारिणः ॥४१॥
न प्रवेष्टुं न निर्गन्तुं लभन्ते दुःखिता भृशम्। स्वकर्मोपहताः पापाः क्रन्दमानाः सुदारुणाः ॥४२॥
तत्र संपीड्य सुभृशं प्रवेशं यमकिंकरैः। नीयन्ते पापिनस्तत्र यत्र तिष्ठेत्स्वयं यमः ॥४३॥
धर्मात्मा धर्मकृद्देवः सर्वसंयमनो यमः। एवं पथाऽतिकष्टेन प्राप्ताः प्रेतपुरं नराः ॥४४॥

यमकिंकर बोले—समय पर न तुमने हवन किया, न ब्राह्मणों को दान दिया, प्रत्युत विप्रों को दिये जाने वाले दान को तुमने हठात् रोक दिया। उसी पाप का फल तुम्हें मिला है। नीचो ! तुम्हारा धन अग्नि में नहीं जला था, जल में नष्ट नहीं हुआ था और राजा तथा चोरों ने भी नहीं लिया था, फिर भी तुमने ब्राह्मणों को नहीं दिया। इसलिए अभी कहाँ से मिलेगा ? जिन साधुओं ने सात्त्विक दान दिये थे, उनके लिये ये अन्नपर्वत, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य (चाटने योग्य) तथा चोष्य (चूसने योग्य) पदार्थ तैयार हैं। तुमने कभी दान नहीं किया। इसलिये पाने की इच्छा मत करो। जिन्होंने दान दिया, हवन किया, यज्ञ किया तथा ब्राह्मणों की पूजा की, उनके लिए अन्न लाकर यहाँ रखा जाता है। नरक में जाने वालो ! हम दूसरे का धन तुम्हें कैसे देंगे ? ॥३३-३८॥

व्यास ने कहा—यमदूतों के वचन सुनकर जीव भूख-प्यास से व्याकुल तथा इच्छारहित हो जाते हैं। तव यमकिंकर दारुण अस्त्रों से उन्हें कष्ट देते हैं ॥३९॥ मुंगरे, लोहे के डंडे, शक्ति, तोमर, पट्टिश, परिघ, भिन्दिपाल, गदा, फरसे, तथा वाणों से निर्दय यमदूत जीवों को पीछे से मारते हैं ॥४०½॥ पापकारी जीवों को अग्रभाग से सिंह, वाघ आदि खाते हैं। अभागे, दुःखी, अतिभयंकर तथा पापी जीव न प्रवेश कर पाते हैं न निकल हो पाते हैं। वहाँ यमदूत पापियों को अत्यन्त कष्ट देकर वहाँ ले जाते हैं, जहाँ धर्मात्मा, धर्मकर्ता तथा सर्वनियामक यम स्वयं रहते हैं। इस प्रकार अति कष्टदायक मार्ग से मनुष्य प्रेतपुरी जाते हैं ॥४१-४४॥

---

[1] ग. ०लं सांप्रतं प्रतिमोक्ष्यथ। ना०। [2] ख. विप्रा।

भयानकम्[1] ॥४५॥
प्रज्ञापितास्तदा दूतैर्निवेश्यन्ते यमाग्रतः। ततस्ते पापकर्माणस्तं पश्यन्ति भयानकम्[1] ॥४५॥
पापापविद्धनयना[2] विपरीतात्मबुद्धयः। दंष्ट्राकरालवदनं भ्रुकुटीकुटिलेक्षणम् ॥४६॥
ऊर्ध्वकेशं महाश्मश्रुं प्रस्फुरदधरोत्तरम्। अष्टादशभुजं क्रुद्धं नीलाञ्जनचयोपमम् ॥४७॥
सर्वायुधोद्यतकरं तीव्रदण्डेन संयुतम्। महामहिषमारूढं दीप्ताग्निसमलोचनम् ॥४८॥
रक्तमाल्याम्बरधरं महामेघमिवोच्छ्रितम्। प्रलयाम्बुदनिर्घोषं पिबन्निव महोदधिम् ॥४९॥
ग्रसन्तमिव त्रैलोक्यमुद्गिरन्तमिवानलम्। मृत्युं च तत्समीपस्थं कालानलसमप्रभम् ॥५०॥
प्रलयानलसंकाशं कृतान्तं च भयानकम्। मारीचोग्रा महामारी कालरात्री च दारुणा ॥५१॥
विविधा व्याधयः कष्टा नानारूपा भयावहाः। शक्तिशूलाङ्कुशधराः पाशचक्रासिधारिणः ॥५२॥
वज्रदण्डधरा रौद्राः क्षुरतूणधनुर्धराः। असंख्याता महावीर्याः क्रूराश्चाञ्जनसप्रभाः ॥५३॥
सर्वायुधोद्यतकरा यमदूता भयानकाः। अनेन परिवारेण महाघोरेण संवृतम् ॥५४॥
यमं पश्यन्ति पापिष्ठाश्चित्रगुप्तं विभीषणम्। निर्भर्त्सयति चाऽत्यर्थं यमस्तान्पापकारिणः ॥५५॥
॥५६॥
चित्रगुप्तस्तु भगवान्धर्मवाक्यैः प्रबोधयन्

चित्रगुप्त उवाच

भो भो दुष्कृतकर्माणः परद्रव्यापहारिणः। गर्विता रूपवीर्येण परदारविमर्दकाः ॥५७॥
यत्स्वयं क्रियते कर्म तत्स्वयं भुज्यते पुनः। [3]तत्किमात्मोपघातार्थं भवद्भिर्दुष्कृतं कृतम् ॥५८॥

तव यमदूत उन्हें यम के सामने उपस्थित करते हैं। पापों से अन्धे, आत्मा को विपरीत प्रकार से समझने वाले पापकर्मी जीव भयानक, दंष्ट्राओं से विकराल मुख वाले, भौं टेढ़ी करके देखने वाले, ऊपर उठे केश वाले, लम्वी दाढ़ी-मूंछ वाले, फड़कते होंठ वाले, अठारह भुजा वाले, क्रुद्ध, नील अञ्जन की राशि के तुल्य, समस्त अस्त्र-शस्त्रों से सुसुज्जित हस्त वाले, तीव्र दण्डधारी, विशाल महिष पर आरूढ़, प्रज्वलित अग्नि के समान नेत्र वाले, लाल माला तथा वस्त्र धारण किये हुए, महामेघ के समान उच्च और प्रलयकालीन वादल के समान शब्द करने वाले यम को देखते हैं। यम देखने में ऐसा लगता है मानो समुद्र को पी रहा हो और अग्नि को उगल रहा हो ॥४५-४९½॥ उनके समीप कालाग्नि के समान कान्ति-वाली तथा प्रलयाग्नि तुल्य महाभयानक मृत्यु रहती है, मारीचा, उग्रा, महामारी, कालरात्री दारुणा तथा विविध प्रकार की व्याधियाँ रहती हैं। नानारूपधारी, भयानक, शक्ति, शूल, अंकुश, पाश, चक्र, तलवार, वज्र, दण्ड, छुरे, तरकस तथा धनुष धारण करने वाले अञ्जन के समान कान्ति वाले, महापराक्रमी तथा समस्त अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हस्त वाले यमदूत रहते हैं। ऐसे महाभयानक परिवार से युक्त यमराज तथा भीषण चित्रगुप्त को पापी लोग देखते हैं। उन पापियों को यमराज वहुत फटकारते हैं और भगवान् चित्रगुप्त धर्मवाक्यों से समझाते हैं ॥५०-५६॥

चित्रगुप्त ने कहा—दुष्कर्मियो! दूसरे का धन हरण करने वालो! रूप तथा शक्ति का अभिमान करने वालो! दूसरे की स्त्री का सतीत्व लूटने वालो! जो जैसा कर्म करता है वह वैसा फल भोगता है। तुम लोगों ने

---

[1]ख. भयंकरम्। [2]क. ०पातिवद्धहृदया वि०। [3]ग. ०पकारार्थं।

इदानीं किं नु शोचध्वं पीडयमानाः स्वकर्मभिः । भुञ्जध्वं स्वानि दुःखानि न हि दोषोऽस्ति कस्यचित् ॥५९॥
य एते पृथिवीपालाः संप्राप्ता मत्समीपतः । स्वकीयैः कर्मभिर्घोरैर्दुष्प्रज्ञा बलगर्विताः ॥६०॥
भो भो नृपा दुराचाराः प्रजाविध्वंसकारिणः । अल्पकालस्य राज्यस्य कृते किं दुष्कृतं कृतम् ॥६१॥
राज्यलोभेन मोहेन बलादन्यायतः प्रजाः । [1]यद्दण्डिताः फलं तस्य भुञ्जध्वमधुना नृपाः ॥६२॥
कुतो राज्यं कलत्रं च यदर्थमशुभं कृतम् । तत्सर्वं संपरित्यज्य यूयमेकाकिनः स्थिताः ॥६३॥
[1]पश्यामो न बलं सर्वं येन विध्वंसिताः प्रजाः । यमदूतैः पाटचमाना अधुना कीदृशं फलम् ॥६४॥

व्यास उवाच

एवं बहुविधैर्वाक्यैरुपालब्धा यमनं ते । शोचन्तः स्वानि कर्माणि तूष्णीं तिष्ठन्ति पार्थिवाः ॥६५॥
इति कर्म समादिश्य नृपाणां [3]धर्मराट्स्वयम् । तत्पातकविशुद्ध्यर्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥६६॥

यम उवाच

भो भोश्चण्ड महाचण्ड गृहीत्वा नृपतीनिमान् । विशोधयध्वं पापेभ्यः क्रमेण नरकाग्निषु ॥६७॥

व्यास उवाच

ततः शीघ्रं समुत्थाय नृपान्संगृह्य पादयोः । भ्रामयित्वा तु वेगेन क्षिप्त्वा चोर्ध्वं प्रगृह्य च[4] ॥६८॥

आत्महनन के लिये क्यों दुष्कर्म किया ? अव तुम अपने कर्मों से पीड़ित होकर क्या सोच रहे हो ? अपने दुःखों को भोगो, इसमें किसी का दोष नहीं है । जो ये मूर्ख वलाभिमानी राजा लोग मेरे पास आये हैं, ये अपने भयंकर कर्मों के कारण आये हैं । प्रजा का नाश करने वाले दुराचारी राजाओ ! थोड़े समय के लिये राज्य पाकर क्यों तुमने दुष्कर्म किया ? राज्यलोभ से तथा मोह से जो तुमने अन्याय किया तथा वलपूर्वक प्रजा को दण्ड दिया, उसका फल अभी भोगो । जिसके लिये तुमने पाप किया, वह राज्य तथा स्त्री कहाँ है ? क्यों उन सव का परित्याग कर तुम अकेले यहाँ हो ? हम तुम्हारे उस वल को नहीं देख रहे हैं, जिससे तुमने प्रजा का विध्वंस किया था । यमदूतों से पीटे जाने पर अव तुम्हें कैसा फल मिल रहा है ? ॥५७-६४॥

व्यास ने कहा—इस प्रकार यम द्वारा अनेक वाक्यों में उलाहना सुनकर राजा लोग अपने कर्मों को सोचते हुए चुप रहते हैं । स्वयं धर्मराज, राजाओं के लिये कर्मों का आदेश देकर उनके पापों की शुद्धि के लिये ये वचन कहते हैं ॥६५-६६॥

यम कहते हैं—चण्ड ! महाचण्ड ! इन राजाओं को पकड़ कर क्रमशः नरकाग्नियों में डालकर पापों का प्रायश्चित्त कराओ ॥६७॥

व्यास ने कहा—तदनन्तर यमदूत शीघ्र उठकर राजाओं के दोनों पैरों को पकड़कर वेग से घुमाने लगते हैं और ऊपर फेंक कर फिर पकड़ लेते हैं। पश्चात् शिला-खण्ड पर इस प्रकार पटकते हैं मानो वज्र से आहत महावृक्ष

१ख. यत्पीडिताः । २क. पश्यत । ३क. ख. ०म् । सर्वपापवि० । ४क. ग. च. । सर्वपापेन महता सुप्रतप्ते शि० ।

तत्तत्पापप्रमाणेन यमदूताः शिलातले। [१]आस्फोटयन्ति तरसा वज्रेणेव महाद्रुमम् ॥६९॥
ततस्तु रक्तं स्रोतोभिः स्रवते जर्जरीकृतः। निःसंज्ञः[२] स तदा देही निश्चेष्टश्च प्रजायते ॥७०॥
ततः स वायुना स्पृष्टः शनैरुज्जीवते पुनः। ततः पापविशुद्ध्यर्थं क्षिपन्ति नरकार्णवे ॥७१॥
अन्यांश्च ते तदा दूताः पापकर्मरतान्नरान्। निवेदयन्ति विप्रेन्द्रा यमाय भृशदुःखितान् ॥७२॥

यमदूता ऊचुः

एष देव तवाऽऽदेशादस्माभिर्मोहितो भृशम्। आनीतो धर्मविमुखः सदा पापरतः परः ॥७३॥
एष लुब्धो दुराचारो महापातकसंयुतः। उपपातककर्ता च सदा हिंसारतः[३] शुचिः ॥७४॥
[४]अगम्यागामी दुष्टात्मा परद्रव्यापहारकः। [५]कन्याक्रयी कूटसाक्षी कृतघ्नो मित्रवञ्चकः ॥७५॥
अनेन मदमत्तेन सदा धर्मो विनिन्दितः[६]। पापमाचरितं कर्म मर्त्यलोके दुरात्मना ॥७६॥
[७]इदानीमस्य देवेश निग्रहानुग्रहौ वद[८]। प्रभुरस्य क्रियायोगे वयं वा परिपन्थिनः ॥७७॥

व्यास उवाच

इति विज्ञाप्य देवेशं न्यस्याग्रे पापकारिणम्। नरकाणां सहस्रेषु[९] लक्षकोटिशतेषु[१०] च ॥७८॥
किंकरास्ते ततो यान्ति[११] ग्रहीतुमपरान्नरान्। प्रतिपन्ने कृते दोषे यमो वै पापकरिणाम् ॥७९॥
समादिशति तान्घोरान्निग्रहाय स्वकिंकरान्। यथा यस्य विर्निर्दिष्टो वसिष्ठाद्यैर्विनिग्रहः ॥८०॥

गिरा हो। उनका शरीर जर्जर हो जाता है, रक्त की धारायें फूट निकलती हैं। वे संज्ञाहीन तथा निश्चेष्ट हो जाते हैं। वायु का स्पर्श होने से पुनः प्राण-संचार होता है। तव पाप-शुद्धि कराने के लिये यमदूत उन्हें नरक समुद्र में फेंक देते हैं। विप्रवर ! तव तक अन्य दूत दूसरे अत्यन्त दुःखी तथा पापकर्मों में निरत मनुष्यों को यमराज के सामने उपस्थित कर निवेदन करते हैं ॥६८-७२॥

यमदूत कहते हैं—देव ! आपकी आज्ञा से मैं अत्यन्त मोहित, धर्मविमुख तथा सदा पापों में रत इस मनुष्य को ले आया हूँ। यह लोभी, दुराचारी, महापापी, उपपापी, सदा हिंसा में निरत, अपवित्र, अगम्यागामी, दुष्टात्मा, दूसरे का धनहर्ता तथा निन्दक है। इस दुरात्मा ने मर्त्यलोक में पापाचरण किया है। देवेश ! अव इस पर आप जो दण्ड या कृपा करें, वह वतलाइये। इसके अध्यक्ष आप हैं, हम तो केवल आज्ञाकारी हैं ॥७३-७७॥

व्यास ने कहा—यमराज से इतना निवेदन कर यमदूत उनके सामने पापी को छोड़ देते हैं और सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों नरकों से दूसरे मनुष्यों को पकड़ने के लिये चल पड़ते हैं ॥७८½॥ पापियों के दोष प्रमाणित हो जाने पर धर्मराज उन्हें पकड़ने के लिये अपने भयंकर अनुचरों को आज्ञा देते हैं। वसिष्ठ आदि मुनियों ने

१क. आस्कालयन्ति। ख. आपोथयन्ति। २ग. निःसङ्गः। ३ख. ०सापरोऽशु०। ४क. ग. ०गम्यगा०। ५क. ग. कन्यानृती। ६ख. विनाशितः। ७क. ख. ०दानीं तस्य। ८ख. ग. तव। ९क. ०स्रेण ल०। १०क. ०तेन च। ११क. ०न्ति गृहीत्वा चाप०।

पापस्य[1] तद्भृ (तं भृ) शं क्रुद्धाः कुर्वन्ति यमकिंकराः । अङ्कुशैर्मुद्गरैर्दण्डैः क्रकचैः शक्तितोमरैः ।।८१।।
[2]खड्गशूलनिपातैश्च भिद्यन्ते पापकारिणः । नरकाणां सहस्रेषु लक्षकोटिशतेषु च ।।८२।।
स्वकर्मोपार्जितैर्दोषैः पीड्यन्ते यमकिंकरैः । शृणुध्वं नरकाणां च स्वरूपं च भयंकरम् ।।८३।।
नामानि च प्रमाणं च येन यान्ति नराश्च तान् । महावीचीति विख्यातं नरकं शोणितप्लुतम्[3] ।।८४।।
वज्रकण्टकसंमिश्रं योजनायुतविस्तृतम् । तत्र संपीड्यते मग्नो भिद्यते वज्रकण्टके[4] ।।८५।।
वर्षलक्षं महाघोरं गोघाती नरके नरः । योजनानां शतं[5] लक्षं कुम्भीपाकं सुदारुणम् ।।८६।।
ताम्रकुम्भवती दीप्ता वालुकाङ्गारसंवृता । ब्रह्महा [6]भूमिहर्ता च निक्षेपस्यापहारकः ।।८७।।
दह्यन्ते तत्र संक्षिप्ता यावदाभूतसंप्लवम् । रौरवो वज्रनाराचैः प्रज्वलद्भिः समावृतः ।।८८।।
योजनानां सहस्राणि षष्टिरायामविस्तरैः । भिद्यन्ते तत्र नाराचैः सज्वालैर्नरके नराः ।।८९।।
इक्षुवत्तत्र पीड्यन्ते ये नराः कूटसाक्षिणः । अयोमयं प्रज्वलितं मञ्जूषं नरकं स्मृतम् ।।९०।।
निक्षिप्तास्तत्र दह्यन्ते वन्दिग्राहकृताश्च ये । अप्रतिष्ठेति नरकं पूयमूत्रपुरीषकम् ।।९१।।
अधोमुखः पतेत्तत्र ब्राह्मणस्योपपीडकः । लाक्षाप्रज्वलितं घोरं नरकं तु विलेपकम् ।।९२।।

जिस पाप का जो दण्ड वतलाया है, क्रुद्ध यमदूत वही दण्ड देते हैं। अंकुश, मुंगरे, डंडे, आरे, शक्ति, तोमर, तलवार तथा शूल—इनके प्रहारों से पापी लोग सताये जाते हैं। सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों नरकों में अपने-कर्म जन्य दोषों से जीव यमदूतों द्वारा पीड़ित किये जाते हैं ।।७८-८२½।। नरकों के भयंकर स्वरूप, नाम तथा प्रमाण सुनिये, जिससे मनुष्य वहाँ जाते हैं। महावीची नाम से विख्यात नरक शोणित से परिपूर्ण, वज्र तुल्य काँटों से मिश्रित एवम् दश हजार योजन विस्तृत है। उसमें डूव कर जीव काँटों से छिन्न-भिन्न होकर व्यथित होता है। ८३-८५ ।। कुम्भीपाक नामक नरक अत्यन्त दारुण तथा सौ लाख योजन विस्तृत है। गोहत्या करने वाला मनुष्य उस नरक में एक लाख वर्षों तक कष्ट भोगता है ।।८६।। ताम्रकुम्भवती नामक नरक संतप्त वालुओं से प्रपूर्ण है। व्रह्महत्या करने वाला, भूमिहरण करने वाला तथा धरोहर का अपहरण करने वाला मनुष्य उसी नरक में कल्पान्त तक दग्ध होता है। रौरव नामक नरक जलते हुए लोहे के वाणों से आवृत है ।।८७-८८।। वह साठ हजार योजन लम्वा-चौड़ा है। उस नरक में ज्वलित लोहे के वाणों से मनुष्यों को वेध किया जाता है। जो मनुष्य मिथ्या गवाही देते हैं, वे उसी नरक में गन्ने की तरह पेड़े जाते हैं ।।८९½।। मञ्जूष नामक नरक प्रज्वलित, लोहमय है। निरपराध व्यक्ति को वन्दी वनाने वाले मनुष्य उसी नरक में पड़कर दग्ध होते हैं। अप्रतिष्ठ नामक नरक पीप, मूत्र तथा विष्ठा से भरा है। व्राह्मण को पीड़ा देने वाले मनुष्य उसी नरक में नीचे मुंह करके गिरते हैं ।।९०-९१½।। विलेपक नामक नरक भयंकर तथा प्रज्वलित लाहों से प्रपूर्ण है। द्विजश्रेष्ठो! मद्यपान में निरत मनुष्य उस नरक में दग्ध होते हैं।।९२½।। महाप्रभ नामक नरक प्रदीप्त शूलों से युक्त तथा वहुत ऊँचा है। पति-पत्नी में भेद कराने

---

[1] ग. ०स्य संक्षयं क्रु० । [2] क.० लप्रपा० । [3] क.० तप्लवम् । व० [4] क. ० ण्टकैः [5] ख. स्मृतं । [6] क. ०मिहारी च ।

निमग्नास्तत्र दह्यन्ते मद्यपाने द्विजोत्तमाः। महाप्रभेति नरकं दीप्तशूलमहोच्छ्रयम् ॥९३॥
तत्र शूलेन भिद्यन्ते पतिभार्योपभेदिनः। नरकं च महाघोरं जयन्ती चाऽऽयसी शिला ॥९४॥
तया चाऽऽक्रम्यते पापः परदारोपसेवकः। नरकं शाल्मलाख्यं तु प्रदीप्तदृढकण्टकम् ॥९५॥
तया (दा) लिङ्गन्ति दुःखार्ता नारी बहुनरंगमा। ये वदन्ति सदाऽसत्यं परमर्मावकर्तनम् ॥९६॥
जिह्वा चोच्छ्रिय (च्छिद्य) ते तेषां सदस्यैर्यमकिंकरैः। ये तु रागैः कटाक्षैश्च वीक्षन्ते परयोषितम् ॥९७॥
तेषां चक्षूंषि नाराचैर्विध्यन्ते यमकिंकरैः। मातरं येऽपि गच्छन्ति भगिनीं दुहितरं स्नुषाम् ॥९८॥
स्त्रीबालवृद्धहन्तारो यावदिन्द्राश्चतुर्दश। [1]ज्वालामालाकुलं रौद्रं महारौरवसंज्ञितम् ॥९९॥
नरकं योजनानां च सहस्राणि चतुर्दश[2]। पुरं क्षेत्रं गृहं ग्रामं यो दीपयति वह्निना ॥१००॥
स तत्र दह्यते मूढो यावत्कल्पस्थितिर्नरः। तामिस्रमिति विख्यातं लक्षयोजनविस्तृतम् ॥१०१॥
निपतद्भिः सदा रौद्रः खड्गपट्टिशमुद्गरैः। तत्र चौरा नराः क्षिप्तास्ताड्यन्ते[3] यमकिंकरैः ॥१०२॥
शूलशक्तिगदाखड्गैर्यावत्कल्पशतत्रयम्। तामिस्राद्द्विगुणं प्रोक्तं महातामिस्रसंज्ञितम् ॥१०३॥
जलौकासर्पसंपूर्णं निरालोकं सुदुःखदम्। मातृहा पितृहा चैव मित्रविस्रम्भघातकः ॥१०४॥
तिष्ठन्ति[4] तक्ष्यमाणाश्च यावत्तिष्ठति मेदिनी। असिपत्रवनं नाम नरकं भूरिदुःखदम् ॥१०५॥
योजनायुतविस्तारं ज्वलत्खड्गैः समाकुलम्। पातितस्तत्र तैः खड्गैः शतधा तु समाहतः ॥१०६॥

वाले मनुष्य वहाँ शूलों से विद्ध होते हैं। जयन्ती नामक महाभयंकर नरक लोहमिश्रित पत्थर का है ॥९३-९४॥ दूसरे की स्त्री से संभोग करने वाले पापी मनुष्य उसी नरक में पड़ते हैं। शाल्मल नामक नरक जलते हुए दृढ कंटकों से युक्त है। वहुत पुरुषों के साथ उपभोग करने वाली नारी उस नरक में पड़ती है। जो मनुष्य दूसरे के मर्मों को कतरने वाले वचन वोलते हैं, उनकी जीभ को यमदूत काट देते हैं। जो अनुराग भरी चितवन से दूसरे की स्त्री को देखते हैं, उनकी आँखों को यमकिंकर लोहे के वाणों से फोड़ डालते हैं ॥९५-९७½॥ जो मनुष्य माता, वहिन, पुत्री तथा पुत्र-वधू से संभोग करते हैं और जो स्त्री, वालक तथा वृद्ध की हत्या करते हैं, वे चौदह इन्द्र जव तक रहते हैं तव तक, ज्वालाओं के समूह से व्याप्त, चौदह हजार योजन विस्तृत तथा भयंकर महारौरव नामक नरक में पड़ते हैं। नगर, क्षेत्र, घर तथा ग्राम में जो आग लगाता है, वह मूर्ख उस नरक में कल्पान्त तक दग्ध होता रहता है। तामिस्र नामक नरक एक लाख योजन विस्तृत है जहाँ तलवार पट्टिश (पटा) तथा मुद्गरों का सदा प्रहार होता रहता है। चोर मनुष्य वहाँ फेंके जाते हैं और यमदूतों द्वारा पीड़ित होते हैं ॥९८-१०२॥ तीन सौ कल्पों तक उनके ऊपर शूल, शक्ति, गदा तथा तलवारों का प्रहार होता रहता है। महातामिश्र नामक नरक तामिस्र से दूना है, जो जोंक तथा सांपों से परिपूर्ण, प्रकाशरहित तथा अत्यन्त दुःखदायी है ॥१०३½॥ मातृहत्या करने वाले, पितृहत्या करने वाले तथा मित्र के साथ विश्वासघात करने वाले मनुष्य उस नरक में छीले जाते हुए तव तक रहते हैं जव तक पृथ्वी रहती है ॥१०४½॥ अति दुःखदायी असिपत्रवन नामक नरक दश हजार योजन विस्तृत तथा जलते हुए तलवारों से प्रपूर्ण है। मित्रहत्या करने वाला मनुष्य उस नरक में तलवारों से सैकड़ों जगह आहत होते हुए कल्पान्त तक

---

[1] ग. ०लाधुमाकु०। [2] ग. च सप्ततिः। पु०। [3] ग. ०न्ते वाऽऽयुधैर्भृशम्। शू०। [4] ग. ०न्ति भक्ष्य०।

मित्रघ्नः कृत्यते तावद्यावदाभूतसंप्लवम्। करम्भवालुका नाम नरकं योजनायुतम् ॥१०७॥
कूपाकारं वृतं दीप्तैर्वालुकाङ्गारकण्टकैः। [1]दह्यते भिद्यते वर्षलक्षायुतशतत्रयम्[2] ॥१०८॥
येन दग्धो जनो नित्यं मिथ्योपायैः सुदारुणैः। काकोलं नाम नरकं कृमिपूयपरिप्लुतम्[3] ॥१०९॥
क्षिप्यते तत्र दुष्टात्मा एकाकी मिष्टभुङ्नरः। कुड्मलं नाम नरकं पूर्णं विण्मूत्रशोणितैः ॥११०॥
पञ्चयज्ञक्रियाहीनाः क्षिप्यन्ते तत्र वै नराः। सुदुर्गन्धं महाभीमं मांसशोणितसंकुलम्[4] ॥१११॥
[5]अभक्ष्यान्ने रतास्तेऽत्र निपतन्ति नराधमाः। क्रिमिकीटसमाकीर्णं शवपूर्णं महावटम् ॥११२॥
अधोमुखः पतेत्तत्र कन्याविक्रयकृन्नरः। नाम्ना वै तिलपाकेति नरकं दारुणं स्मृतम् ॥११३॥
तिलवत्तत्र पीड्यन्ते परपीडारताश्च ये। नरकं तैलपाकेति ज्वलत्तैलमहीप्लवम् ॥११४॥
पच्यते तत्र मित्रघ्नो हन्ता च शरणागतम् । नाम्ना वज्रकपाटेति वज्रशृङ्खलयाऽन्वितम् ॥११५॥
पीड्यन्ते निर्दयं तत्र यैः कृतः क्षीरविक्रयः। निरुच्छ्वास इति प्रोक्तं तमोन्धं वातवर्जितम् ॥११६॥
निष्चेष्टं क्षिप्यते तत्र विप्रदाननिरोधकृत्। अङ्गारोपचयं नाम दीप्ताङ्गारसमुज्ज्वलम् ॥११७॥
दह्यते तत्र येनोक्तं दानं विप्राय नार्पितम्। [6]महापायीति नरकं लक्षयोजनमायतम्[7] ॥११८॥

रहता है ॥१०५-१०६½॥ करम्भवालुका नामक नरक दश हजार योजन विस्तृत, प्रज्वलित वालू रूपी अंगार तथा कण्टकों से व्याप्त और कुएँ के आकार का है। जो भयंकर मिथ्या प्रपञ्च करके नित्य लोगों को जलाते हैं, वे एक लाख दशहजार तीन सौ वर्षों तक उस नरक में जलाये जाते हैं तथा काटे जाते हैं ॥१०७-१०८½॥ काकोल नामक नरक कीड़े तथा पीप से आप्लुत है। अकेले मीठा खाने वाला दुष्टात्मा मनुष्य वहाँ फेंका जाता है ॥१०९½॥ कुड्मल नामक नरक विष्ठा, मूत्र तथा शोणित से परिपूर्ण है। पञ्चयज्ञक्रिया से हीन मनुष्य उस नरक में फेंके जाते हैं ॥११०½॥ एक नरक अत्यन्त दुर्गन्ध, महाभयंकर तथा मांस-शोणित से प्रपूर्ण है। अभक्ष्य अन्न खाने में निरत मनुष्य उस नरक में गिरते हैं ॥१११½॥ महावट नामक नरक कीड़े, फतिंगे तथा शवों से ओत-प्रोत है। कन्या वेचने वाले मनुष्य अधोमुख होकर उस नरक में गिरते हैं ॥११२½॥ तिलपाक नामक नरक भयंकर है। दूसरे का उत्पीड़न करने वाले मनुष्य वहाँ तिल की तरह पेड़े जाते हैं ॥११३½॥ तैलपाक नामक नरक जलते हुए तेल से प्रपूर्ण है। मित्रहत्या करने वाले तथा शरणागत को मारने वाले मनुष्य वहाँ पकाये जाते हैं ॥११४½॥ वज्रकपाट नामक नरक वज्र की तरह दृढ साँकलों से युक्त है। दूध-विक्रेता मनुष्य वहाँ निर्दयतापूर्वक पीड़ित किये जाते हैं ॥११५½॥ निरुच्छ्वास नामक नरक अन्धकारावृत तथा वायुरहित है। व्राह्मणों का दान रोकने वाला मनुष्य वहाँ संज्ञाहीन करने फेंके जाते हैं ॥११६॥ अंगारोपचय नामक नरक जाज्वल्यमान अंगारों से पूर्ण है। जो व्राह्मणों को कह कर दान नहीं देता है, वह वहाँ दग्ध किया जाता है! ॥११७½॥ महापायी नामक नरक एक लाख योजन लम्वा है। जो मनुष्य सदा मिथ्या भाषण करते हैं वे अधोमुख करके वहाँ गिराये जाते हैं ॥११८½॥ महाज्वाल नामक नरक

१क. ०ते तत्र वर्षायुतत्रयं पुनः। ये०। २ख. ०तत्रयं पुनः। ये०। ३क. ०मिकीटप०। ४क. ख. ०तर्दमम्। ५क. ख. ०भक्ष्यनिर०। ६ख. ०पातीति। ग. ०पातेति। ७क. ०म्। यान्ति तेऽधो०।

[1]पात्यन्तेऽधोमुखास्तत्र ये जल्पन्ति सदाऽनृतम् । महाज्वालेति नरकं ज्वालाभास्वरभीषणम् ॥११९॥
दह्यते तत्र सुचिरं यः पापे बुद्धिकृन्नरः । नरकं क्रकचाख्यातं पीडचन्ते तत्र वै नराः ॥१२०॥
क्रकचैर्वज्रधारोग्रैरगम्यागमने रताः । नरकं गुडपाकेति ज्वलद्गुडह्रदैर्वृतम् ॥१२१॥
निक्षिप्तो दह्यते तस्मिन्वर्णसंकरकृन्नरः । क्षुरधारेति नरकं तीक्ष्णक्षुरसमावृतम्[2] ॥१२२॥
छिद्यन्ते तत्र कल्पान्तं विप्रभूमिहरा नराः । नरकं [3]चाम्बरीषाख्यं प्रलयानलदीपितम् ॥१२३॥
कल्पकोटिशतं तत्र दह्यते स्वर्णहारकः । नाम्ना वज्रकुठारेति नरकं वज्रसंकुलम् ॥१२४॥
छिद्यन्ते तत्र छेत्तारो द्रुमाणां पापकारिणः । नरकं[4] परितापाख्यं प्रलयानलदीपितम् ॥१२५॥
गरदो मधुहर्ता च पच्यते तत्र पापकृत् । नरकं कालूसत्रं च वज्रसूत्रविनिर्मितम् ॥१२६॥
भ्रमन्तस्तत्र च्छिद्यन्ते [5]परसस्योपलुण्ठकाः । नरकं कश्मलं नाम श्लेष्मशिङ्घाणकावृत्तम् ॥१२७॥
तत्र संक्षिप्यते [6]कल्पं सदा मांसरुचिर्नर । नरकं चोग्रगन्धेति लालामूत्रपुरीषवत् ॥१२८॥
क्षिप्यन्ते तत्र नरके पितृपिण्डाप्रयच्छकाः । नरकं दुर्धरं नाम जलौकावृश्चिकाकुलम् ॥१२९॥
[7]उत्कोचभक्षकस्तत्र तिष्ठते वर्षकायुतम् । यच्च वज्रमहापीडा नरकं वज्रनिर्मितम् ॥१३०॥
तत्र प्रक्षिप्य दह्यन्ते पीडचन्ते यर्मांकिकरैः । धनं धान्यं हिरण्यं वा परकीयं हरन्ति ये ॥१३१॥

भीषण ज्वालाओं से व्याप्त है। जो मनुष्य पाप में वुद्धि लगाते हैं, वे वहाँ चिरकाल तक जलाये जाते हैं ॥११९½॥ क्रकच नामक नरक में अगम्यागमन करने वाले मनुष्य वज्र के समान उग्र धार वाले आरे से चीरे जाते हैं। ॥१२०½॥ गुडपाक नामक नरक जलते हुए गुडों की झीलों से युक्त है। वर्णसंकर उत्पन्न करने वाले मनुष्य वहाँ दग्ध किये जाते हैं ॥१२१½॥ क्षुरधार नामक नरक तीखे अस्तुरों से आवृत है। व्राह्मण की भूमि हरण करने वाले मनुष्य वहाँ कल्पान्त तक काटे जाते हैं ॥१२२½॥ अम्वरीष नामक नरक प्रलयाग्नि के समान प्रज्वलित है। सोना चुराने वाले मनुष्य वहाँ करोड़ों कल्पों तक जलाये जाते हैं ॥१२३½॥ वज्रकुठार नामक नरक वज्रों से व्याप्त है। वृक्षों के काटने वाले पापी मनुष्य वहाँ काटे जाते हैं ॥१२४½॥ परिताप नामक नरक प्रलयाग्नि के समान प्रदीप्त है। विए देने वाले तथा मधु हरण करने वाले पापी मनुष्य वहाँ पकाये जाते हैं ॥१२५½॥ कालसूत्र नामक नरक वज्र तुल्य सूत्रों से निर्मित है। दूसरे की फसलों को लूटने वाले मनुष्य वहाँ भ्रमण करते हुए काटे जाते हैं ॥१२६½॥ कश्मल नामक नरक कफ तथा नासिकामल (नकटी) से आवृत है। सदा मांस की अभिलाषा रखने वाला मनुष्य एक कल्प तक वहाँ फेंका जाता है ॥१२७½॥ उग्रगन्ध नामक नरक लार, मूत्र तथा विष्ठा से युक्त है। पितरों को पिण्ड देने वाले मनुष्य वहाँ फेंके जाते हैं ॥१२८½॥ दुर्धर नामक नरक जोकों तथा विच्छुओं से व्याप्त है। घूस लेने वाला व्यक्ति वहाँ दश हजार वर्षों तक रहता है ॥१२९½॥ वज्रमहापीड़ा नामक नरक वज्रों का वनाया हुआ है। जो दूसरे के धन, धान्य तथा सुवर्ण का अपहरण करते हैं, वे वहाँ यमदूतों द्वारा जलाये जाते हैं और उत्पीड़ित होते हैं॥१३०-१३१½॥ जो मूर्ख प्राणियों को मारकर कौए तथा गीध की तरह खाते हैं, उन्हें कल्पान्त तक यमदूत अपना

१ग. पाट्यन्तेऽ० । २ग. वज्रसूचिसमावृतम् । ३ख. ०री ख्यातं प्र० ! ४क. ०कं चातिता० । ५क. ०रस्वस्यो० । ६ख. ०ल्पं मद्यमां० । ७क. ०क्षणस्त० ।

[1]यमदूतैश्च चौरास्ते छिद्यन्ते लवशः क्षुरैः। ये हत्वा प्राणिनं मूढाः खादन्ते काकगृध्रवत् ॥१३२॥
भोज्यन्ते च स्वमांसं ते कल्पान्तं यमकिंकरैः। आसनं शयनं वस्त्रं परकीयं हरन्ति ये ॥१३३॥
यमदूतैश्च ते मूढा भिद्यन्ते शक्तितोमरैः। फलं पत्रं नृणां वाऽपि हृतं यैस्तु कुबुद्धिभिः ॥१३४॥
यमदूतैश्च ते क्रुद्धैर्दह्यन्ते तृणवह्निभिः। परद्रव्ये कलत्रे च यः सदा दुष्टधीर्नरः ॥१३५॥
यमदूतैर्ज्वलत्तस्य हृदि शूलं निखन्यते। कर्मणा मनसा वाचा ये धर्मविमुखा नराः ॥१३६॥
यमलोके तु ते घोरा लभन्ते परियातनाः। एवं शतसहस्राणि लक्षकोटिशतानि च ॥१३७॥
नरकाणि नरैस्तत्र [2]भुज्यन्ते पापकारिभिः। इह कृत्वा स्वल्पमपि नरः कर्माशुभात्मकम् ॥१३८॥
प्राप्नोति नरके घेरे यमलोकेषु यातनाम्। न शृण्वन्ति नरा मूढा धर्मोक्तं साधु भाषितम् ॥१३९॥
दृष्टं केनेति प्रत्यक्षं [3]प्रत्युक्त्यैवं वदन्ति ते। दिवा रात्रौ प्रयत्नेन पापं कुर्वन्ति ये नराः ॥१४०॥
नाऽऽचरन्ति हि ते धर्मं प्रमादेनापि मोहिताः। इहैव फलभोक्तारः परत्र विमुखाश्च ये ॥१४१॥
ते पतन्ति सुघोरेषु नरकेषु नराधमाः। दारुणो नरके वासः स्वर्गवासः सुखप्रदः ॥
नरैः संप्राप्यते तत्र कर्म कृत्वा शुभाशुभम् ॥१४२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे नरकगतपृथग्यातनाकीर्तनं नाम
पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१५॥

मांस खिलाते हैं ॥१३२½॥ जो दूसरे के आसन, शय्या तथा वस्त्र का अपहरण करते हैं उन मूर्खों को यम दूत शक्ति और तोमर से काटते हैं ॥१३३½॥ जो मनुष्यों के फल तथा पत्र का भी कुबुद्धिपूर्वक अपहरण करते हैं उन्हें क्रुद्ध यमदूत तृणवह्नि से जलाते हैं ॥१३४½॥ जो नर दूसरे के द्रव्य तथा स्त्री के प्रति कुभाव रखते हैं यमदूत उसके हृदय में जलता हुआ शूल गाड़ते हैं ॥१३५½॥ जो मानव कर्म, मन तथा वाणी से धर्मविमुख हैं, उन्हें यमलोक में घोर यातनायें मिलती हैं ॥१३६½॥ इस प्रकार पापकारी मनुष्य सैकड़ों, हजारों, लाखों तथा करोड़ों नरकों का भोग भोगते हैं ॥१३७½॥ इस लोक में थोड़ा भी पाप करने वाला मनुष्य यमलोक में घोर नरक की यातना प्राप्त करता है ॥१३८½॥ मूर्ख मनुष्य धर्मशास्त्र-प्रतिपादित सुन्दर वचन को नहीं सुनते हैं; वल्कि प्रतिवाद करते हुए कहते हैं—'प्रत्यक्ष किसने देखा है ?' जो मनुष्य दिन रात यत्नपूर्वक पाप करते हैं, वे मोहित होकर भूल से भी धर्माचरण नहीं करते हैं। जो परलोक को नहीं मानते हैं और 'यहीं फल का भोग होता है' ऐसा मानते हैं, वे नराधम घोर नरक में गिरते हैं। नरक का वास भयंकर है और स्वर्गवास सुखप्रद है। मनुष्य शुभ-अशुभ कर्म करके स्वर्गनरक प्राप्त करते हैं ॥१३९-१४२॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में व्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में नरकों में पृथक्-पृथक् यातना-कीर्तन
नामक दो सौ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥२१५॥

---

[1] ख. ०श्च ते मूढाः। [2] क. ख. सेव्यन्ते। [3] क. ख. प्रत्यक्षेण।

अथ षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

नरकगतदुःखनिवारणाय धर्माचरणवर्णनम्

मुनय ऊचुः

अहोऽतिदुःखं घोरं च यममार्गे त्वयोदितम्। नरकाणि च घोराणि द्वारं याम्यं च सत्तम ॥१॥
अस्त्युपायो न वा ब्रह्मन्यममार्गेऽतिभीषणे। ब्रूहि येन नरा यान्ति सुखेन यमसादनम् ॥२॥

व्यास उवाच

इह ये धर्मसंयुक्तास्त्वहिंसानिरता नराः। गुरुशुश्रूषणं युक्ता देवब्राह्मणपूजकाः ॥३॥
यस्मिन्मनुष्यलोकास्ते सभार्याः ससुतास्तथा। तमध्वानं च गच्छन्ति यथा तत्कथयामि वः ॥४॥
विमानैर्विविधैर्दिव्यैः काञ्चनध्वजशोभितैः। धर्मराजपुरं यान्ति सेवमानाप्सरोगणैः ॥५॥
ब्राह्मणेभ्यस्तु दानानि नानारूपाणि भक्तितः। ये प्रयच्छन्ति ते यान्ति सुखेनैव महापथे ॥६॥
अन्नं ये तु प्रयच्छन्ति ब्राह्मणेभ्यः सुसंस्कृतम्। श्रोत्रियेभ्यो विशेषेण भक्त्या परमया युतः ॥७॥
तरुणीभिर्वरस्त्रीभिः सेव्यमानाः प्रयत्नतः। धर्मराजपुरं यान्ति विमानैरभ्यलंकृतैः ॥८॥
ये च सत्यं प्रभाषन्ते बहिरन्तश्च[1] निर्मलाः। तेऽपि यान्त्यमरप्रख्या विमानैर्यममन्दिरम् ॥९॥

अध्याय २१६

नारकीय दुःख निवारण करने वाले धर्माचरण का वर्णन

मुनियों ने कहा—हे सज्जनों में श्रेष्ठ ! आपने यममार्ग का महान् कष्ट, भयंकर नरक तथा यम-द्वार भी वतलाये। व्रह्मन् ! अतिभीषण यममार्ग के वारे में ऐसा कोई उपाय है, जिससे मनुष्य सुखपूर्वक यमलोक जा सकें ? ॥१-२॥

व्यास ने कहा—इस लोक में जो मनुष्य धार्मिक, अहिंसानिरत, गुरु-सेवा में रत, देव-व्राह्मणों के पूजक तथा मनुष्यलोकधारी हैं, वे पत्नी-पुत्र समेत यममार्ग में जैसे जाते हैं, वह मैं आप लोगों को बतलाता हूँ ॥३-४॥ सुवर्ण-पताकाओं से शोभित विविध दिव्य विमानों से वे यमपुरी जाते हैं; जहाँ अप्सरायें उनको सेवा किया करती हैं ॥५॥ जो भक्ति-पूर्वक व्राह्मणों को अनेक प्रकार के दान देते हैं, वे सुख से ही महापथ पर जाते हैं ॥६॥ जो व्राह्मणों को विशेष करके श्रोत्रियों को परम भक्तिपूर्वक पवित्र अन्न देते हैं, वे उत्तम युवती स्त्रियों से सेवित तथा अलंकृत होकर विमानों से यमपुरी जाते हैं ॥७-८॥ जो सत्यभाषण करते हैं तथा वाहर भीतर से निर्मल हैं, वे भी देवतुल्य होकर विमानों से यममन्दिर जाने हैं ॥९॥ जो धर्मज्ञ मनुष्य कृशकाय, तपस्वी साधुओं को विष्णु के उद्देश्य से पवित्र

---

[1] क. धर्मयुक्ताश्च।

गोदानानि पवित्राणि विष्णुमुद्दिश्य साधुषु। ये प्रयच्छन्ति धर्मज्ञाः कृशेषु कृशवृत्तिषु ॥१०॥
ते यान्ति दिव्यवर्णाभैर्विमानैर्मणिचित्रितैः। धर्मराजपुरं श्रीमान्सेव्य (व) मानाप्सरोगणैः ॥११॥
उपानद्युगलं छत्रं शय्यासनमथापि वा। ये प्रयच्छन्ति वस्त्राणि तथैवाऽऽभरणानि च ॥१२॥
ते यान्त्यश्वै रथैश्चैव कुञ्जरैश्चाप्यलंकृताः। धर्मराजपुरं दिव्यं छत्रैः सौवर्णराजतैः ॥१३॥
ये च भक्त्या प्रयच्छन्ति गुडपानकर्मार्चितम्। [1]ओदनं च द्विजाग्र्येभ्यो विशुद्धेनान्तरात्मना ॥१४॥
ते यान्ति [2]काञ्चनैर्यानैर्विविधैस्तु यमालयम्। वरस्त्रीभिर्यथाकामं सेव्यमानाः पुनः पुनः ॥१५॥
ये च क्षीरं प्रयच्छन्ति घृतं दधि गुडं[3] मधु। ब्राह्मणेभ्यः [4]प्रयत्नेन [5]शुद्धयोपेतं सुसंस्कृतम् ॥१६॥
चक्रवाकप्रयुक्तैश्च विमानैस्तु हिरण्मयैः। यान्ति गन्धर्ववादित्रैः सेव्यमाना यमालयम् ॥१७॥
ये फलानि प्रयच्छन्ति पुष्पाणि सुरभीणि च। हंसयुक्तैर्विमानैस्तु यान्ति [6]धर्मपुरं नराः ॥१८॥
ये तिलांस्तिलधेनुं च घृतधेनुमथापि वा। श्रोत्रियेभ्यः प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यः श्रद्धयाऽन्विताः ॥१९॥
सोममण्डलसंकाशैर्यानैस्ते यान्ति निर्मलैः[7]। गन्धर्वैरुपगीयन्ते पुरे वैवस्वतस्य ते ॥२०॥
येषां वाप्यश्च कूपाश्च तडागानि सरांसि च। दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च शीतलाश्च जलाशयाः ॥२१॥
यानैस्ते हेमचन्द्राभैर्दिव्यघण्टानिनादितैः। व्यजनैस्तालवृन्तैश्च वीज्यमाना महाप्रभाः ॥२२॥
[8]येषां देवकुलान्यत्र चित्राण्यायतनानि च। रत्नैः प्रस्फुरमाणानि मनोज्ञानि शुभानि च ॥२३॥

विमानों से यमपुरी जाते हैं ॥१०-११॥ गायें देते हैं, वे अप्सराओं से सेवित होकर मणिखचित दिव्य वर्ण वाले जो जोड़ा जूता, छत्ता, शय्या, आसन, वस्त्र तथा भूषण दान करते हैं, वे घोड़े, हाथी, रथ तथा सोने-चांदी के दिव्य छत्रों से अलंकृत होकर यमालय जाते हैं ॥१२-१३॥ जो पवित्र हृदय से भक्तिपूर्वक गुड़, पान तथा भात ब्राह्मणों को देते हैं, वे सुवर्णमय विमानों से यम-भवन जाते हैं और दिव्याङ्गनायें उनकी पूर्ण सेवा करती हैं ॥१४-१५॥ जो पवित्र तथा सुसंस्कृत दूध, घी, दही, गुड़ और मधु यत्नपूर्वक ब्राह्मणों को देते हैं, वे चक्रवाकयुक्त सोने के विमानों से यमालय जाते हैं और गन्धर्वगण संगीत द्वारा उनकी सेवा करते हैं ॥१६-१७॥ जो सुगन्धित पुष्प तथा फल दान करते हैं, वे नर हंसयुक्त विमानों से धर्मपुर जाते हैं ॥१८॥ जो तिल, तिलधेनु (तिलों की वनी गाय) तथा घृतधेनु (घी की वनी गाय) श्रद्धापूर्वक श्रोत्रियों को देते हैं, वे चन्द्रमण्डल के समान निर्मल विमानों से यमालय जाते हैं और यमपुरी में गन्धर्वगण उनकी सेवा करते हैं ॥१९-२०॥ जो वावली, कुआँ, पोखरा, सरोवर, दीर्घिका, पुष्करिणी तथा तालाव दान करते हैं, वे महातेजस्वी होकर दिव्य घण्टा-नादों से युक्त, सुवर्ण तथा चन्द्रमा के समान कान्ति वाले विमानों से यमालय जाते हैं और उनके ऊपर पंखे झेले जाते हैं ॥२१-२२॥ इस लोक में जिन्होंने चित्र-विचित्र रत्न-जटित, मनोहर तथा पवित्र देवालय बनवाये हैं, वे लोकपालों के साथ पवनतुल्य वेगवाले विमानों से नाना

१क. दक्षिणां। ख. अयने। २ख. ०विमानैर्याम्यमा०। ३क. ख. तथा। ४ख. पुण्यदिने। ५क. श्रद्धोपेतं। ख शुद्धं मन्त्रसु०। ६क. धर्मपुरीं। ७क. ख. निर्मलाः। ८ख. ये च कुर्वन्ति भूलोके दिव्यान्याय०।

ते यान्ति लोकपालैस्तु विमानैर्वातरंहसैः। धर्मराजपुरं [1]दिव्यं नानाजनसमाकुलम् ॥२४॥
पानीयं ये प्रयच्छन्ति सर्वप्राण्युपजीवितम्[2]। ते[3] वितृष्णाः सुखं यान्ति विमानैस्तं महापथम् ॥२५॥
काष्ठपादुकयानानि पीठकान्यासनानि च। यैर्दत्तानि द्विजातिभ्यस्तेऽध्वानं यान्ति वै सुखम् ॥२६॥
सौवर्णमणिपीठेषु पादौ कृत्वोत्तमेषु च। ते प्रयान्ति विमानैस्तु अप्सरोगणमण्डितैः ॥२७॥
आरामाणि विचित्राणि पुष्पाढ्यानीह मानवाः। रोपयन्ति फलाढ्यानि नराणामुपकारिणः ॥२८॥
वृक्षच्छायासु रम्यासु शीतलासु स्वलंकृताः। वरस्त्रीगीतवाद्यैश्च सेव्यमाना व्रजन्ति ते ॥२९॥
सुवर्णं रजतं वाऽपि विद्रुमं मौक्तिकं तथा। ये प्रयच्छन्ति ते यान्ति विमानैः कनकोज्ज्वलैः ॥३०॥
भूमिदा दीप्यमानाश्च सर्वकामैस्तु तर्पिताः। उदितादित्यसंकाशैर्विमानैर्भृशनादितैः[4] ॥३१॥
कन्यां तु ये प्रयच्छन्ति ब्रह्मदेयामलंकृताम्। दिव्यकन्यावृता यान्ति विमानैस्ते यमालयम् ॥३२॥
सुगन्धागुरुकर्पूरान्पुष्पधूपान्द्विजोत्तमाः। प्रयच्छन्ति द्विजातिभ्यो भक्त्या परमयाऽन्विताः ॥३३॥
ते सुगन्धाः सुवेशाश्च सुप्रभाः सुविभूषिताः। यान्ति धर्मपुरं यानैर्विचित्रैरभ्यलंकृताः ॥३४॥
दीपदा यान्ति यानैश्च दीपयन्तो दिशो दश। आदित्यसदृशैर्यानैर्दीप्यमाना यथाऽग्नयः ॥३५॥
गृहावसथदातारो गृहैः काञ्चनमण्डितैः। व्रजन्ति बालार्कनिभैर्धर्मराजगृहं नराः ॥३६॥
जलभाजनदातारः कुण्डिकाकरकप्रदाः। पूज्यमानाप्सरोभिश्च यान्ति दृप्ता महागजैः ॥३७॥

प्राणियों से परिपूर्ण दिव्य यमपुरी को जाते हैं ॥२३-२४॥ जो समस्त प्राणियों के जीवन स्वरूप जल दान करते हैं, वे प्यास-रहित होकर विमानों से उस महापथ पर जाते हैं ॥२५॥ जो लकड़ी की सवारी, पीढ़ा तथा आसन व्राह्मणों को देते हैं, वे सुखपूर्वक उस मार्ग में जाते हैं ॥२६॥ वे सुवर्ण तथा मणि के उत्तम आसनों पर पैर रखकर अप्सराओं से मण्डित होकर विमानों से प्रयाण करते हैं ॥२७॥ जो लोगों के उपकार के लिये मनोहर तथा फल-पुष्पों से सम्पन्न उपवन लगाते हैं, वे सुरम्य तथा शीतल वृक्षों की छाया में अलंकृत एवम् उत्तम वनिता, गीत तथा वाद्यों से सुसेवित होकर जाते हैं ॥२८-२९॥ जो सोना, चांदी, मूंगा तथा मोती दान करते हैं, वे सुवर्ण के समान उज्ज्वल विमानों से जाते हैं ॥३०॥ भूमिदान करने वाले मनुष्य कान्तिमान् तथा समस्त कामनाओं से तृप्त होकर महानादों से युक्त तथा उदयकालीन सूर्य के समान विमानों से जाते हैं ॥३१॥ जो अलंकृता कन्या व्राह्मणों को देते हैं, वे दिव्य कन्याओं से आवृत होकर विमानों से यमालय जाते हैं ॥३२॥ द्विजश्रेष्ठो ! जो परम भक्ति से सुगन्धित द्रव्य, अगर, कर्पूर, पुष्प तथा धूप व्राह्मणों को देते हैं, वे अत्यन्त कान्तिमान्, सुविभूषित तथा सुन्दर गन्धों एवम् वेशों से युक्त होकर विचित्र विमानों से यमलोक जाते हैं ॥३३-३४॥ दीप दान करने वाले मनुष्य दशो दिशाओं को आलोकित करते हुए तथा सूर्य सदृश विमानों से अग्नि की तरह प्रदीप्त होते हुए धर्मपुर जाते हैं ॥३५॥ जो मनुष्य गृहदान करते हैं, वे वालसूर्य के समान सुवर्णमण्डित गृहों से युक्त होकर यमभवन जाते हैं ॥३६॥ जलपात्र देने वाले तथा कमण्डलु देने वाले मनुष्य अप्सराओं से पूजित होते हुए गजराज पर चढ़ कर जाते हैं ॥३७॥ जो पैर तथा शिर का उवटन

---

[1] क. ख. रम्यं। [2] क. ०प्राणिपु जीवनम्। [3] ग. तेऽपि तृप्ताः सु०। [4] ग. ०नैर्वृषयोजितैः।

पादाभ्यङ्गं शिरोभ्यङ्गं स्नानपानोदकं तथा। ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्ते यान्त्यश्वैर्यमालयम् ॥३८॥
विश्रामयन्ति ये विप्राञ्श्रान्तानध्वनि कर्शितान्। चक्रवाकप्रयुक्तेन यान्ति यानेन ते सुखम्[1] ॥३९॥
स्वागतेन च यो विप्रं पूजयेदासनेन च[2]। स गच्छन्ति तमध्वानं सुखं [3]परमनिर्वृतः ॥४०॥
नमो ब्रह्मण्यदेवेति यो हरिं चाभिवादयेत्[4]। गां च पापहरेत्युक्त्वा सुखं यान्ति च तत्पथम्[5] ॥४१॥
अनन्तराशिनौ ये च दम्भानृतविवर्जिताः। तेऽपि[6] सारसयुक्तैस्तु[7] यानैश्च तत्पथम्[8] ॥४२॥
वर्तन्ते ह्येकभक्तेन शाठ्यदम्भविवर्जिताः[9]। हंसयुक्तैर्विमानैस्तु सुखं यान्ति यमालयम् ॥४३॥
चतुर्थेनैकभक्तेन वर्तन्ते ये जितेन्द्रियाः। ते यान्ति धर्मनगरं यानैर्बर्हिणयोजितैः ॥४४॥
तृतीये दिवसे ये तु भुञ्जते नियतव्रताः। तेऽपि हस्तिरथैर्दिव्यैर्यान्ति यानैश्च तत्पदम् ॥४५॥
षष्ठेऽन्नभक्षको यस्तु शौचनित्यो जितेन्द्रियः। स याति कुञ्जरस्थस्तु शचीपतिरिव स्वयम् ॥४६॥
धर्मराजपुरं दिव्यं नानामणिविभूषितम्। नानास्वरसमायुक्तं जयशब्दरवैर्युतम् ॥४७॥
पक्षोपवासिनो यान्ति यानैः शार्दूलयोजितैः। पुरं तद्धर्मराजस्य सेव्यमानाः[10] सुरासुरैः ॥४८॥
ये च मासोपवासं तु कुर्वते संयतेन्द्रियाः[11]। तेऽपि सूर्यप्रदीप्तैस्तु यान्ति यामैर्यमालयम् ॥४९॥
[12]महाप्रस्थानमेकाग्रो यः प्रयाति दृढव्रतः। सेव्यमानस्तु गन्धर्वैर्याति यानैर्यमालयम् ॥५०॥

और नहाने तथा पीने के लिये जल ब्राह्मणों को देते हैं, वे घोड़ों पर चढ़कर यमालय जाते हैं ॥३८॥ जो रास्ते के थके हुए तथा दुःखी विप्रों को विश्राम देते हैं, वे चक्रवाक युक्त विमान से सुखपूर्वक यमपुरी जाते हैं ॥३९॥ जो स्वागत तथा आसन से द्विज की पूजा करते हैं, वह परम सुख से उस मार्ग में जाते हैं ॥४०॥ जो 'नमो ब्रह्मण्यदेव !' कह कर विष्णु की तथा ''पापहरे' कहकर गाय की वन्दना करते हैं, वे उस मार्ग में सुख से जाते हैं ॥४१॥ जो दूसरों (को खिलाने) के बाद भोजन करते हैं और दम्भ-मिथ्या से रहित हैं, वे सारस पक्षी से युक्त रथों से उस मार्ग में जाते हैं ॥४५॥ जो एक ईश्वर के भक्त हैं, तथा दम्भ-मिथ्या से शून्य हैं, वे हंस युक्त विमानों से यमालय जाते हैं ॥४३॥ जो नियमपूर्वक व्रत करते हुए तीसरे दिन भोजन करते हैं, वे भी दिव्य गजयुक्त रथों से यमालय जाते हैं ॥४५॥ जो जितेन्द्रिय तथा नित्य शुचि होकर छठे दिन भोजन करते हैं, वे साक्षात् इन्द्र की तरह हाथी पर चढ़ कर नाना मणियों से विभूषित, अनेक स्वरों से युक्त तथा जयशब्दों से समन्वित धर्मराजपुरी को जाते हैं ॥४६-४७॥ जो पाक्षिक उपवास करते हैं, वे शार्दूलों (पक्षी या वाघ) से युक्त रथों से यमपुरी जाते हैं और देवता तथा असुर उनकी सेवा करते हैं ॥४८॥ जो इन्द्रिय संयम पूर्वक मासिक उपवास करते हैं, वे भी सूर्य के समान प्रदीप्त रथों से यमालय जाते हैं ॥४९॥ जो दृढ़व्रती होकर एकाग्रचित्त से शरीर त्याग करते हैं, वे गन्धर्वो से सेवित होते हुए विमानों से यमालय जाते

१क. ०म्। ये तोषयन्ति पथिकानासनैः स्वागतेन। २क. च। ते गच्छन्ति महाध्वा०। ३क. ०र्वृताः। परव्र०। ४ग.· ०त्। गावः सर्वे सहेत्यु०। ५क. तत्पुरम्। ६क. ०पि हंससमायु०। ७क. ०क्तैर्विमानैर्यान्ति त०। ८क. ख. ०त्पदम्। ९क. शाकभक्ष्यवि०। १०क. ०मान सु०। ११क. ख. सुसमाहिताः। १२ख. ०नसमये हरिं स्मरति मानवः। से०।

[1]शरीरं साधयेद्यस्तु वैष्णवेनान्तरात्मना। स रथेनाग्निवर्णेन यातीह त्रिदशालयम् ॥५१॥
अग्निप्रवेशं यः कुर्यान्नारायणपरायणः। स यात्यग्निप्रकाशेन विमानेन यमालयम् ॥५२॥
प्राणांस्त्यजति यो मर्त्यः स्मरन्विष्णुं सनातनम्। यानेनार्कप्रकाशेन याति धर्मपुरं नरः ॥५३॥
प्रविष्टोऽन्तर्जलं यस्तु प्राणांस्त्यजति मानवः। सोममण्डलकल्पेन याति यानेन वै [2]सुखम् ॥५४॥
स्वशरीरं हि गृध्रेभ्यो वैष्णवो यः प्रयच्छति। स याति रथमुख्येन काञ्चनेन यमालयम् ॥५५॥
स्त्रीग्रहे गोग्रहे वाऽपि युद्धे मृत्युमुपैति यः। स यात्यमरकन्याभिः सेव्यमानो रविप्रभः ॥५६॥
वैष्णवा ये च कुर्वन्ति तीर्थयात्रां जितेन्द्रियाः। तत्पथं यान्ति ते घोरं सुखयानैरलंकृताः ॥५७॥
ये यजन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः। तप्तहाटकसंकाशैर्विमानैर्यान्ति ते सुखम् ॥५८॥
परपीडामकुर्वन्तो भृत्यानां भरणादिकम्। कुर्वन्ति ते सुखं यान्ति विमानैः कनकोज्ज्वलैः ॥५९॥
ये क्षान्ताः सर्वभूतेषु प्राणिनामभयप्रदाः। क्रोधमोहविनिर्मुक्ता निर्मदाः[3] संयतेन्द्रियाः ॥६०॥
पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन महाप्रभाः। यान्ति वैवस्वतपुरं देवगन्धर्वसेविताः ॥६१॥
एकभावेन ये विष्णुं ब्रह्माणं त्र्यम्बकं रविम्[4]। पूजयन्ति हि ते यान्ति विमानैर्भास्करप्रभैः ॥६२॥
ये च मांसं न खादन्ति सत्यशौचसमन्विताः। तेऽपि यान्ति सुखेनैव धर्मराजपुरं नराः ॥६३॥

हैं ॥५०॥ जो विष्णु में चित्त लगाकर शरीर की साधना करते हैं, वे अग्नि के समान वर्ण वाले रथों से यमालय जाते हैं ॥५१॥ जो नारायणपरायण होकर अग्नि-प्रवेश करते हैं, वे अग्नि तुल्य प्रकाश वाले विमानों से यमालय जाते हैं ॥५२॥ जो मनुष्य सनातन विष्णु का स्मरण करते हुए प्राणत्याग करता है, वह सूर्य के समान प्रकाश वाले रथ से धर्मपुर जाता है ॥५३॥ जो मानव जल के अन्दर प्रवेश कर प्राणत्याग करता है, वह चन्द्रमण्डल तुल्य रथ से सुखपूर्वक यमलोक जाता है ॥५४॥ जो विष्णु-भक्त गीधों को अपना शरीर दे देता है, वह सुवर्ण के उत्तम रथ से यमालय जाता है ॥५५॥ जो स्त्री के लिये या गाय के लिये युद्ध में मरता है, वह रवि तुल्य कान्तिमान् होकर देवकन्याओं से सेवित होते हुए धर्मपुर जाता है ॥५६॥ जो वैष्णव जितेन्द्रिय होकर तीर्थयात्रा करते हैं, वे अलंकृत होकर विमानों से सुखपूर्वक उस मार्ग पर जाते हैं ॥५७॥ द्विजश्रेष्ठो ! जो वहुत दक्षिणाओं से यज्ञ करते हैं, वे सुवर्ण सदृश विमानों से सुखपूर्वक यमालय जाते हैं ॥५८॥ जो दूसरे को कष्ट नहीं देते तथा नौकरों को उचित पारिश्रमिक देते हैं, वे कनक समान उज्ज्वल विमानों से सुखपूर्वक जाते हैं ॥५९॥ जो जितेन्द्रिय, क्षमाशील, क्रोध, मोह तथा अभिमान से रहित और प्राणीमात्र को अभयदान देने वाले हैं, वे देव-गन्धर्वों से सेवित तथा अतिकान्तियुक्त होकर पूर्णचन्द्र के समान प्रकाश वाले विमानों से यमपुर जाते हैं ॥६०-६१॥ जो एकभाव से विष्णु, व्रह्मा, शिव तथा दिनकर की पूजा करते हैं, वे सूर्यतुल्य प्रभा वाले विमानों से जाते हैं ॥६२॥ जो नर सत्य-शौच से युक्त हैं तथा मांसभक्षण नहीं करते हैं, वे भी सुख से यमपुर जाते हैं ॥६३॥ भक्ष्य तथा भोज्य पदार्थों में मांस से वढ़कर

१क. ०रं शोध०। २क. ०म्। मिष्टान्नभोजनं यस्तु वैष्णवेभ्यः प्र०। ३क. निर्मलाः। ४क. गुरुम्।

मांसान्मिष्टपरं नास्ति भक्ष्यभोज्यादिकेषु च। तस्मान्मांसं न भुञ्जीत नास्ति मिष्टैः सुखोदयः ॥६४॥
गोसहस्रं तु यो दद्याद्यस्तुमांसं न भक्षयेत्। समावेतौ पुरा प्राह ब्रह्मा वेदविदां वरः ॥६५॥
सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं सर्वयज्ञेषु यत्फलम्। अमांसभक्षणे विप्रास्तच्च तच्च च तत्समम् ॥६६॥
एवं सुखेन ते यान्ति यमलोकं च धार्मिकाः। दानव्रतपरा यानैर्यत्र देवो रवेः सुतः ॥६७॥
दृष्ट्वा तान्धार्मिकान्देवः स्वयं संमानयेद्यमः। स्वागतासनदानेन पाद्यार्घ्येण प्रियेण तु ॥६८॥
धन्या यूयं महात्मान आत्मनो हितकारिणः। येन दिव्यसुखार्थाय भवद्भिः सुकृतं कृतम् ॥६९॥
इदं विमानमारुह्य दिव्यस्त्रीभोगभूषिताः। स्वर्गं गच्छध्वमतुलं सर्वकामसमन्वितम् ॥७०॥
तत्र भुक्त्वा महाभोगानन्ते पुण्यपरिक्षयात्। यत्किंचिदल्पमशुभं फलं तदिह भोक्ष्यथ ॥७१॥
ये तु तं धर्मराजानं नराः पुण्यानुभावतः। पश्यन्ति सौम्यमनसं पितृभूतमिवाऽऽत्मनः ॥७२॥
[1]तस्माद्धर्मः सेवितव्यः सदा मुक्तिफलप्रदः। धर्मादर्थस्तथा कामो मोक्षश्च परिकीर्त्यते ॥७३॥
धर्मो माता पिता भ्राता धर्मो नाथः सुहृत्तथा। धर्मः स्वामी सखा गोप्ता[2] तथा धाता च पोषकः ॥७४॥
धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामाद्भोगः सुखानि च। धर्मादैश्वर्यमैकाग्र्यं धर्मात्स्वर्गगतिः परा ॥७५॥
धर्मस्तु सेवितो विप्रास्त्रायते महतो भयात्। देवत्वं च द्विजत्वं च धर्मात्प्राप्नोत्यसंशयम् ॥७६॥
यदा च क्षीयते पापं नराणां पूर्वसंचितम्। तदैषां भजते बुद्धिर्धर्मे चात्र द्विजोत्तमाः ॥७७॥

मीठा कोई नहीं है। इसलिये मांस नहीं खाना चाहिये, क्योंकि मधुरों से सुख नहीं होता है ॥६४॥ जो हजार गायें दान करेगा और जो मांस नहीं खायेगा, वे दोनों समान हैं—ऐसा वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा ने पहले ही कहा है ॥६५॥ विप्रवृन्द ! समस्त तीर्थों (के सेवन) और अखिल यज्ञों (के अनुष्ठान) से जो पुण्य फल मिलता है, वह फल मांस का भक्षण न करने से प्राप्त होता है ॥६६॥ इस प्रकार धार्मिक तथा दान-व्रतपरायण मनुष्य सुख से यमलोक जाते हैं, जहाँ सूर्यपुत्र यम स्वयं रहते हैं ॥६७॥ उन धार्मिकों को देखकर स्वयं यम आसन, पाद्य तथा अर्घ्य से स्वागत करते हैं और प्रियवचन कहते हैं (कि)—'हे महात्माओ ! अपना कल्याण करने वाला ! आप धन्य हैं ! जिसलिये आपने दिव्यसुख के निमित्त पुण्य किया, अतः इस विमान पर चढ़कर दिव्य-स्त्री-भोगों से भूषित तथा अशेष कामनाओं से परिपूर्ण होकर स्वर्ग जाइये। वहाँ विपुल भोगों को भोगकर अन्त में पुण्य क्षय होने पर जो कुछ थोड़ा-सा अशुभ कर्म आपका किया हुआ है, उसका फल यहाँ भोगेंगे ॥६८-७१॥ पुण्य के प्रताप से मनुष्य धर्मराज को अपने कल्याणमय पिता के रूप में देखते हैं ॥७२॥ इसलिये मोक्ष-फल-दायक धर्म की उपासना सदा करनी चाहिये। धर्म से अर्थ, काम, और मोक्ष (का मिलना) भी कहा गया है। ॥७३॥ धर्म ही माता, पिता, भाई, स्वामी, मित्र, वन्धु, रक्षक, धाता तथा पोपक है। धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से भोग तथा सुख होता है। धर्म से ऐश्वर्य, मन की एकाग्रता और स्वर्ग मिलता है ॥७४-७५॥ विप्रवृन्द ! सुरक्षित धर्म महान् भय से वचाता है। धर्म से देवत्व तथा व्राह्मणत्व निःसन्देह प्राप्त होता है ॥७६॥ द्विजश्रेष्ठो ! जव मनुष्यों के पूर्वसंचित पापों का क्षय हो जाता है तव उन्हें धर्म करने की वुद्धि होती है ॥७७॥ हजारों जन्म के वाद दुर्लभ मनुष्य-जन्म

१ख. ०द्धर्मश्चिन्तनीयः स०। २क. ख. ०प्ता त्राता धा०।

जन्मान्तरसहस्रेषु मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्। यो हि नाऽऽचरते धर्मं भवेत्स खलु वञ्चितः ॥७८॥
कुत्सिता ये दरिद्राश्च विरूपा व्याधितास्तथा[1]। परप्रेष्याश्च मूर्खाश्च ज्ञेया धर्मविवर्जिताः ॥७९॥
ये हि दीर्घायुषः शूराः पण्डिता[2] भोगिनोऽर्थिनः। अरोगा रूपवन्तश्च तैस्तु धर्मः पुरा कृतः ॥८०॥
एवं धर्मरता विप्रा गच्छन्ति गतिमुत्तमाम्। अधर्मं सेवमानास्तु तिर्यग्योनिं व्रजन्ति ते ॥८१॥
ये नरा नरकध्वंसिवासुदेवमनुव्रताः। ते स्वप्नेऽपि न पश्यन्ति यमं वा नरकाणि वा ॥८२॥
अनादिनिधनं देवं दैत्यदानवदारणम्। ये नमन्ति नरा नित्यं नहि पश्यन्ति ते यमम् ॥८३॥
कर्मणा मनसा वाचा येऽच्युतं शरणं गताः। न समर्थो यमस्तेषां ते मुक्तिफलभागिनः ॥८४॥
ये जना जगतां नाथं नित्यं नारायणं द्विजाः। नमन्ति नहि ते विष्णोः स्थानादन्यत्र गामिनः ॥८५॥
न ते दूतान्न तन्मार्गं न यमं न च तां पुरीम्। प्रणम्य विष्णुं पश्यन्ति नरकाणि [3]कथंचन ॥८६॥
कृत्वाऽपि बहुशः पापं नरा मोहसमन्विताः। न यान्ति नरकं नत्वा सर्वपापहरं हरिम्[4] ॥८७॥
शाठ्येनापि नरा नित्यं ये स्मरन्ति जनार्दनम्। तेऽपि यान्ति[5] तनुं त्यक्त्वा विष्णुलोकमनामयम् ॥८८॥
अत्यन्तक्रोधसक्तोऽपि कदाचित्कीर्तयेद्धरिम्। सोऽपि दोषक्षयान्मुक्तिं [6]लभेच्चेदिपतिर्यथा ॥८९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे धार्मिकाणां सुगतिनिरूपणं नाम
षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१६॥

पाकर जो व्यक्ति धर्माचरण नहीं करता है, वह (परम लाभ से) वञ्चित ही रहता है ॥७८॥ जो निन्दित, दरिद्र, कुरूप, रोगी, दूत तथा मूर्ख हैं, उन्हें धर्मविवर्जित समझना चाहिये ॥७९॥ जो दीर्घायु, वीर, पण्डित, भोगी, धनवान्, नीरोग तथा रूपवान् हैं, उन्होंने पहले धर्म किया है (ऐसा समझना चाहिए) ॥८०॥ विप्रवृन्द ! इस प्रकार धर्मपरायण मनुष्य उत्तम जाति को प्राप्त करते हैं और अधर्मसेवी नर पशु-पक्षी योनि में जाते हैं ॥८१॥ जो मनुष्य नरकनाशन कृष्ण के भक्त हैं, वे स्वप्न में भी यम या नरकों को नहीं देखते हैं ॥८२॥ जो मनुष्य दैत्य-दानवों का दलन करने वाले आदिअन्तरहित भगवान् को नित्य प्रणाम किया करते हैं, वे यम को नहीं देखते हैं॥८३॥ जो मन, कर्म तथा वाणी से भगवान् के शरणागत हो चुके हैं, उन्हें पकड़ने के लिये यमदूत समर्थ नहीं होते और वे मोक्षफलभागी हो जाते हैं॥८४॥ द्विजवृन्द ! जो मनुष्य नित्य जगत्पति नारायण को प्रणाम करते हैं, वे वैकुण्ठ छोड़ दूसरी जगह नहीं जाते॥८५॥ विष्णु को प्रणाम करने वाले मनुष्य न यमदूतोंको, न यममार्ग को, न यम को, न यमपुरी को, न नरकों को कभी देखते हैं॥८६॥ अखिलपापहारी हरि को प्रणाम कर मोहयुक्त मनुष्य अनेक पाप करके भी नरक नहीं जाते॥८७॥ जो नर शठता से भी नित्य जनार्दन का स्मरण करते हैं, वे भी शरीर त्यागने के वाद सुखमय विष्णुलोक को प्राप्त करते हैं॥८८॥ यदि अत्यन्त क्रोधी मनुष्य भी कभी हरि का कीर्तन करता है तो वह भी दोषों के क्षय हो जाने से मोक्ष प्राप्त करता है, जैसे शिशुपाल ने किया था॥८९॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में ब्रह्मा और ऋषि के संवाद-प्रकरण में धर्मात्माओं के गतिनिरूपण नामक दो सौ
सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥२१६॥

---

[1] ग. ०धिनस्त०। [2] ख. ०ता भागि०। [3] ख. कदाचन। [4] क. ०म्। सुखेना०। [5] ख. यमं। [6] क. ०भेदिति मतिर्मम ॥

अथ सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मश्रैष्ठ्यवर्णनम्

लोमहर्षण उवाच

श्रुत्वैवं यममार्गं ते नरकेषु च यातनाम्[1]। पप्रच्छुश्च पुनर्व्यासं संशयं मुनिसत्तमाः ।।१।।

मुनय ऊचुः

भगवन्सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद। मर्त्यस्य कः सहायो वै पिता माता सुतो गुरुः ।।२।।
ज्ञातिसंबन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च। [2]गृहं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनः ।।
गच्छन्त्यमुत्र लोके वै कश्चताननुगच्छति ।।३।।

व्यास उवाच

एकः प्रसूयते विप्रा एक एव हि नश्यति। एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकस्तु दुर्गतिम्[3] ।।४।।
असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतो गुरुः। ज्ञातिसंबन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च ।।५।।
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः। [4]मुहूर्तमिव रोदित्वा ततो यान्ति पराङ्मुखाः ।।६।।
तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म [5]एकोऽनुगच्छति। तस्माद्धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदा नृभिः ।।७।।

अध्याय २१७

धर्म की श्रेष्ठता का वर्णन

लोमहर्षण ने कहा—मुनिवर ! इस प्रकार यममार्ग तथा नरकों की यातना के वारे में सुनकर मुनियो ने फिर व्यास से अपना संशय पूछा ।।१।।

मुनियों ने कहा—भगवन् ! अशेष धर्मों के ज्ञाता ! सकलशास्त्रविशारद ! मनुष्य का कौन सहायक होता है—पिता या माता या पुत्र या गुरु या वन्धुवर्ग या मित्रवर्ग ? मनुष्य लकड़ी तथा ढेले के समान घर एवम् शरीर को छोड़कर चले जाते हैं। मरने पर कौन उनका अनुगमन करता है ? ।।२-३।।

व्यास ने कहा—विप्रवृन्द ! मनुष्य अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है, अकेला कठिनाइयों को पार करता है और अकेला दुर्गति प्राप्त करता है। पिता, माता, भाई, पुत्र, गुरु, वन्धुवर्ग तथा मित्रवर्ग—कोई उसका साथ नहीं देता है। लोग लकड़ी-ढेले के समान उसके मृत शरीर को त्याग कर दो घड़ी रो-धो कर निवृत्त हो जाते हैं। उन लोगों से परित्यक्त शरीर का अनुगमन एक धर्म ही करता है। इसलिए मनुष्यों को अपने सहायक धर्म की सदा

---

[1] ख. पातनम्। [2] ग. मृतं। [3] क. स्वर्गतिम्। [4] ख. ०र्तमपि रो०। [5] क. ख. एवानु०।

प्राणी धर्मसमायुक्तो गच्छेत्स्वर्गगतिं पराम्। तथैवाधर्मसंयुक्तो नरकं चोपपद्यते ॥८॥
[१]तस्मात्पापागतैरर्थैर्नानुरज्येत[२] पण्डितः[३]। धर्म एको[४] मनुष्याणां सहायः परिकीर्तितः ॥९॥
लोभान्मोहादनुक्रोशाद्भयाद्वाऽथ[५] बहुश्रुतः। नरः करोत्यकार्याणि परार्थे लोभमोहितः ॥१०॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीवतः[६] फलम्। [७]एतत्त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम् ॥११॥

मुनय ऊचुः

श्रुतं भगवतो वाक्यं धर्मयुक्तं परं हितम्। शरीरनिचयं ज्ञातुं बुद्धिर्नोऽत्र प्रजायते ॥१२॥
मृतं शरीरं हि नृणां सूक्ष्ममव्यक्ततां गतम्। [८]अचक्षुर्विषयं प्राप्तं कथं धर्मोऽनुगच्छति ॥१३॥

व्यास उवाच

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिर्मनोन्तरम्। बुद्धिरात्मा च सहिता धर्मं पश्यन्ति नित्यदा[९] ॥१४॥
प्राणिनामिह सर्वेषां [१०]साक्षिभूता दिवानिशम्। एतैश्च सह धर्मो हि तं जीवमनुगच्छति ॥१५॥
त्वगस्थि मांसं शुक्रं च शोणितं च द्विजोत्तमाः। [११]शरीरं [११]वर्जयन्त्येते जीवितेन[१३] विवर्जितम् ॥१६॥
ततो धर्मसमायुक्तः स जीवः सुखमेधते। इह लोके परे चैव किं भूयः कथयामि वः ॥१७॥

मुनय ऊचुः

तद्दर्शितं भगवता यथा धर्मोऽनुगच्छति। एतत्तु ज्ञातुमिच्छामः कथं रेतः प्रवर्तते ॥१८॥

सेवा करनी चाहिये। धर्मात्मा प्राणी उत्कृष्ट स्वर्ग को प्राप्त करता है और पापी नरक में जाता है। अतः पण्डितजन को चाहिये कि वे अधर्मों से प्राप्त धन में अनुरक्त न हों। मनुष्यों का एक धर्म ही सहायक माना गया है। वहुश्रुत मनुष्य भी लोभ से, मोह से, दया से या भय से अकार्य कर वैठते हैं। धर्म, अर्थ और काम—ये तीन ही जीवन के फल हैं। इन तीनों की प्राप्ति अधर्म पूर्वक नहीं करनी चाहिए।।४-११।।

मुनियों ने कहा—आपका धर्मयुक्त तथा परमकल्याणकारी वाक्य हमने सुना। अव शरीर के विषय में हम सुनना चाहते हैं। मनुष्यों का मृत शरीर सूक्ष्म तथा अव्यक्त कहा गया है। वह दृष्टिगोचर नहीं होता है। फिर धर्म कैसे उसका अनुगमन करता है?।।१२-१३।।

व्यास ने कहा—पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, मन, वुद्धि और आत्मा—ये सव नित्य धर्म को देखते हैं। ये दिनरात समस्त प्राणियों के साक्षी वने रहते हैं। इन्हीं के साथ धर्म जीव का अनुगमन करता है। द्विजवर! प्राणों के छोड़ देने पर त्वचा, हड्डी, मांस, वीर्य और शोणित रूप शरीर को ये भी छोड़ देते हैं। तदनन्तर धर्मयुक्त जीव इस लोक में तथा परलोक में सुख प्राप्त करता है। अव फिर आप लोगों से क्या कहूँ?।।१४-१७।।

मुनियों ने कहा—यह तो आपने वतलाया कि धर्म कैसे अनुगमन करता है। अव हम यह जानना चाहते हैं कि वीर्य कैसे वनता है।।१८।।

१ख. ०स्मान्याग०। २ख. ०र्थैर्धर्मः सेव्यस्तु प०। ३ख. पण्डितैः। ४ख. एष। ५ग. ०द्वाऽप्यव०। ६क. ग. जीविते। ख. जीविनः। ७क. ०तत्तु धर्मवाक्यं मे अध०। ८ख. अतिनिर्वि०। ९क. ख. ०दा। सर्वथात्विह। १०ग. ०तानि चानि०। ११ख. ०रीरे वर्तते सर्वं जी०। १२क. वर्तय०। १३ख. ०तेनाऽऽवृते पुनः। त०।

व्यास उवाच

अन्नमश्नन्ति ये देवाः शरीरस्था द्विजोत्तमाः। पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिर्मनस्तथा ॥१९॥
ततस्तृप्तेषु भो विप्रास्तेषु भूतेषु पञ्चसु। मनः षष्ठेषु शुद्धात्मा रेतः संपद्यते महत् ॥२०॥
ततो गर्भः संभवति श्लेष्मा स्त्रीपुंसयोर्द्विजाः। एतद्वः सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छथ ॥२१॥

मुनय ऊचुः

आख्यातं नो भगवता गर्भः संजायते यथा। यथा जातस्तु पुरुषः प्रपद्येत तदुच्यताम् ॥२२॥

व्यास उवाच

[1]आसन्नमात्रपुरुषस्तैर्भूतैरभिभूयते[2]। विप्रयुक्तस्तु[3] तैर्भूतैः पुनर्यात्यपरां गतिम् ॥२३॥
[4]स च भूतसमायुक्तः प्राप्नोति जीवमेव हि। ततोऽस्य कर्म पश्यन्ति शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥
देवताः [5]पञ्चभूतस्थाः किं भूयः [6]श्रोतुमिच्छथ ॥२४॥

मुनय ऊचुः

त्वगस्थि मांसमुत्सृज्य तैस्तु भूतैर्विवर्जितः। जीवः स भगवन्क्वस्थः सुखःदुखे समश्नुते ॥२५॥

व्यास उवाच

जीवः कर्मसमायुक्तः शीघ्रं रेतः[7] समागतः। स्त्रीणां पुष्पं समासाद्य ततः कालेन भो द्विजाः ॥२६॥

व्यास ने कहा—विप्रवर ! शरीरस्थ देव जो अन्नभक्षण करते हैं, उससे पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि और मन तृप्त होते हैं। पञ्च महाभूतों तथा छठे मन के तृप्त हो जाने पर शुद्ध आत्मा ही महान् वीर्य वन जाता है। तव स्त्री-पुरुषों का रज-वीर्य गर्भ रूप में परिणत होता है। यह सव मैंने आपसे वतला दिया। अव क्या सुनना चाहते हैं ? ॥१९-२१॥

मुनियों ने कहा—गर्भ जैसे उत्पन्न होता है, वह तो आपने वतला दिया। अव पुरुष कैसे उत्पन्न होता है—यह कहिये ॥२२॥

व्यास ने कहा—पुरुष उत्पन्न होते ही पञ्चमहाभूत से आक्रान्त हो जाता है। पुनः उन भूतों से वियुक्त होने पर वह दूसरी गति को प्राप्त करता है। भूतों से युक्त होने पर वह जीवभाव को ही प्राप्त करता है। तदुपरान्त पञ्चभूतों में रहने वाले देवता उसके शुभ-अशुभ कर्मों को देखते हैं। फिर आप क्या सुनना चाहते हैं॥२३-२४॥

मुनियों ने कहा—भगवन्! भूतों से परित्यक्त जीव जव त्वचा, हड्डी तथा मांस को छोड़ देता है तव वह कहां रह कर सुख-दुःखों का भोग करता है?॥२५॥

व्यास ने कहा—द्विजवृन्द! कर्मों से युक्त जीव शीघ्र वीर्य को प्राप्त करता है। तव समय पाकर स्त्रियों के रज में समाविष्ट होता है॥२६॥ मनुष्य संसारचक्र में पड़कर दुःख, क्लेश, यमदूतों द्वारा क्लेश तथा

१क. ०सप्तमात्तु पु०। २क. ख. ०रुषः स्वैर्गर्भैरनुभू०। ३क. ख. ०स्तु तैः सर्वैः पु०। ४क. ख. सर्वभू०। ५क. ख. ०ञ्च किं। ६क. ख. भूयो मुनयः श्रो०। ७क. ख. ०तः प्रवर्तते। स्त्री०।

यमस्य पुरुषैः कलेशो यमस्य पुरुषैर्वधः । दुःखं संसारचक्रं च नरः क्लेशं च विन्दति ।।२७।।
इह लोके स तु प्राणी जन्मप्रभृति भो द्विजाः । सुकृतं कर्म वै भुङ्क्ते धर्मस्य फलमाश्रितः[1] ।।२८।।
यदि धर्मं समायुज्य जन्मप्रभृति सेवते । ततः स पुरुषो भूत्वा सेवते नित्यदा सुखम् ।।२९।।
अथान्तरान्तरं धर्ममधर्ममुपसेवते । सुखस्यानन्तरं दुःखं स जीवोऽप्यधिगच्छति ।।३०।।
अधर्मेण समायुक्तो यमस्य विषयं गतः । महादुःखं समासाद्य तिर्यग्योनौ प्रजायते ।।३१।।
कर्मणा येन येनेह यस्यां योनौ प्रजायते । जीवो मोहसमायुक्तस्तन्मे शृणुत सांप्रतम् ।।३२।।
यदेतदुच्यते शास्त्रैः सेतिहासैश्च छन्दसि । यमस्य विषयं घोरं [2]मर्त्यलोकं प्रवर्तते ।।३३।।
इह स्थानानि पुण्यानि देवतुल्यानि भो द्विजाः । तिर्यग्योन्यतिरिक्तानि गतिमन्ति च सर्वशः ।।३४।।
यमस्य भवने दिव्ये ब्रह्मलोकसमे गुणैः । [3]कर्मभिर्नियतैर्बद्धो जन्तुर्दुःखान्युपाश्नुते ।।३५।।
येन येन हि भावेन येन वै कर्मणां गतिम् । प्रयाति पुरुषो घोरां तथा वक्ष्याम्यतः परम् ।।३६।।
अधीत्य चतुरो वेदान्द्विजो मोहसमन्वितः । [4]पतितात्प्रतिगृह्याथ खरयोनौ प्रजायते ।।३७।।
खरो जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भो द्विजाः । खरो मृतो बलीवर्दः सप्त वर्षाणि जीवति ।।३८।।
बलीवर्दो मृतश्चापि जायते ब्रह्मराक्षसः[5] । [6]ब्रह्मरक्षस्तु मासांस्त्रींस्ततो जायेत [7]ब्राह्मणः ।।३९।।
पतितं याजयित्वा तु कृमियोनौ प्रजायते । तत्र जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भो द्विजाः ।।४०।।

यमदूतों द्वारा वध को प्राप्त करता है ।।२७।। विप्रगण ! इस लोक में वह प्राणी जन्म से लेकर पुण्य करता है और धर्म का फल भोगता है ।।२८।। यदि वह जन्म से लेकर धर्म की सेवा करता है तो वह पुरुष होकर नित्य सुख प्राप्त करता है ।।२९।। वीच वीच में वह धर्म-अधर्म दोनों करता है । वह जीव सुख के वाद दुःख भी प्राप्त करता है ।।३०।। अधर्म करने पर वह यमलोक जाता है । फिर घोर दुःख पाकर पक्षीयोनि में जाता है ।।३१।। जिस-जिस कर्म के करने से मोह-वद्ध जीव जिस योनि में उत्पन्न होता है, वह अभी मुझसे सुनिये ।।३२।। वेद, शास्त्र तथा इतिहास वतलाते हैं कि जीव यम के भयंकर राज्य को छोड़कर मर्त्यलोक में आता है ।।३३।। यहाँ अनेकों देवतुल्य पवित्र स्थान हैं, जहाँ पशु-पक्षी योनि के अतिरिक्त योनियाँ जाती हैं ।।३४।। यमराज के व्रह्मलोक के समान गुणों वाले दिव्य भवन में जीव अपने कर्मों से वद्ध होकर दुःख भोगता है ।।३५।। जिस भाव से या जिस कर्म से मनुष्य घोर गति को प्राप्त करता है, वह मैं इसके वाद वतलाऊँगा ।।३६।। जो व्राह्मण चारों वेदों को पढ़कर मोहवश पतितों से दान लेता है, वह मरने पर गधा होता है ।।३७।। द्विजगण ! गधा होकर वह पन्द्रह वर्ष जीता है । फिर मरने पर वह वैल होकर सात वर्ष जीता है ।।३८।। वैल की देह त्यागने पर वह व्रह्मराक्षस होता है । तीन महीनों तक व्रह्मराक्षस रह कर वाद में व्राह्मण हो जाता है ।।३९।। पतितों के याग कराने से कीड़े की योनि में जाना पड़ता है । वहाँ पन्द्रह वर्ष रहने पर कीटयोनि से मुक्ति मिल जाती है । तव गधे की योनि में जाना पड़ता है । वहाँ भी

---

[1] ख. ०मास्थितः । [2] ग. मर्त्यो लोकः प्रजायते । [3] ख. ०भिर्मियते वद्धो० । [4] ग. ०तान्प्रति० । [5] ख. ०सः । राक्षसत्वं समासाद्य ततो । [6] क. ०ह्मराक्षसमांसाशी ततो । [7] क. ख. राक्षसः ।

क्रिमिभावाद्विनिर्मुक्तस्ततो जायेत गर्दभः। गर्दभः पञ्च वर्षाणि पञ्च वर्षाणि शूकरः ।।४१।।
कुक्कुटः पञ्च वर्षाणि पञ्च वर्षाणि जम्बुकः। श्वा वर्षमेकं भवति ततो जायेत मानवः ।।४२।।
उपाध्यायस्य यः पापं शिष्यः कुर्यादबुद्धिमान्। स जन्मानीह संसारे त्रीनाप्नोति न संशयः ।।४३।।
प्राक्श्वा भवति भो विप्रास्ततः क्रव्यात्ततः खरः। प्रेत्य च परिक्लिष्टेषु पश्चाज्जायेत ब्राह्मणः ।।४४।।
मनसाऽपि गुरोर्भार्यां यः शिष्यो याति पापकृत्। उदग्रान्प्रैति संसारानधर्मेणेह चेतसा ।।४५।।
श्वयोनौ तु स संभूतस्त्रीणि वर्षाणि जीवति। तत्रापि निधनं प्राप्तः क्रिमियोनौ प्रजायते ।।४६।।
कृमिभावमनुप्राप्तो वर्षमेकं तु जीवति। ततस्तु निधनं प्राप्य ब्रह्मयोनौ प्रजायते ।।४७।।
यदि पुत्रसमं शिष्यं गुरुर्हन्यादकारणम्। आत्मनः कामकारेण सोऽपि हिंस्रः प्रजायते ।।४८।।
पितरं मातरं चैव यस्तु पुत्रोऽवमन्यते। सोऽपि विप्रा मृतो जन्तुः पूर्वं जायेत गर्दभः ।।४९।।
गर्दभत्वं तु संप्राप्य दश वर्षाणि जीवति। संवत्सरं तु कुम्भीरस्ततो जायेत मानवः ।।५०।।
पुत्रस्य मातापितरौ यस्य रुष्टावुभावपि। गुर्वपध्यानतः सोऽपि मृतो जायेत गर्दभः ।।५१।।
खरो जीवति मासांश्च दश चापि चतुर्दश। बिडालः सप्त मासांस्तु ततो जायेत मानवः ।।५२।।
मातापितरावाक्रुश्य सारीकः संप्राजयते। ताडयित्वा तु तावेव जायते कच्छपो द्विजाः ।।५३।।
कच्छपो दश वर्षाणि त्रीणि वर्षाणि शल्यकः। व्यालो भूत्वा तु षण्मासांस्ततो जायेत मानुषः ।।५४।।
भर्तृपिण्डमुपाश्नीनो (दत्ते) राजद्विष्टानि सेवते। सोऽपि मोहसमापन्नो मृतो जायेत वानरः ।।५५।।

पाँच वर्षों तक रहकर जीव सूअर होकर जन्म लेता है ।।४०-४१।। फिर पाँच वर्षों तक मुर्गा और पाँच वर्षों तक सियार होना पड़ता है। फिर एक वर्ष तक कुत्ते की योनि में रहकर जीव मनुष्य-शरीर प्राप्त करता है ।।४२।। जो मूर्ख शिष्य अपने अध्यापक कें प्रति पापाचरण करता है, वह इस संसार में निःसन्देह तीन योनियों में जाता है। पहले वह कुत्ता होता है तदनन्तर राक्षस और तदनन्तर गधा। फिर मरने पर अनेकविध कष्टों को सहकर पश्चात् वह ब्राह्मण होता है ।।४३-४४।। जो शिष्य मन से भी गुरु-पत्नी के प्रति पापाचरण करता है, वह अधर्मयुक्त चित्त लेकर संसार में जन्म लेता है, और कुत्ते की योनि वर्षों तक जीकर मर जाता है। फिर कीड़े की योनि में उत्पन्न होता है ।।४५-४६।। वहाँ भी एक वर्ष जीता है। तदनन्तर ब्राह्मण-योनि में उत्पन्न होता है ।।४७।। यदि पुत्र तुल्य शिष्य को गुरु अकारण ही या अपने स्वार्थवश मार देता है तो वह भी हिंसक योनि में उत्पन्न होता है ।।४८।। विप्रवृन्द ! जो पुत्र माता-पिता की अवहेलना करता है, वह भी मरने पर गधा होता है ।।४९।। गर्दभयोनि में वह दश वर्षों तक रहता है। तव एक वर्ष तक मगर होकर रहता है। तदनन्तर मनुष्य योनि में उत्पन्न होता है ।।५०।। जिस पुत्र के ऊपर माता, पिता तथा गुरु रुष्ट रहते हैं, वह मरने पर गधा होता है ।।५१।। तदनन्तर चौवीस मास तक गधा और सात मास तक विलाड़ होकर फिर मनुष्य होता है ।।५२।। माता-पिता की निन्दा करने वाला मनुष्य सारीक (पक्षी विशेष) होता है और उनकी ताड़ना करने वाला कछुआ होता है ।।५३।। कच्छपयोनि में दश वर्षों तक रहकर साही होता है। फिर छह महीनों तक साँप होकर वाद में मनुष्य होता है ।।५४।। स्वामी के अन्न को खाकर उसके शत्रुओं की सेवा करने वाला मोहयुक्त मनुष्य मरने पर वन्दर होता हैं ।।५५।। दश वर्षों तक वन्दर, सात वर्षों तक चूहा और छह मासों तक कुत्ता रह कर वह मनुष्य होता है।

वानरो दश वर्षाणि सप्त वर्षाणि मूषकः। श्वा च भूत्वा तु षण्मासांस्ततो जायेत मानवः ।।५६।।
न्यासापहर्ता तु नरो यमस्य विषयं गतः। संसाराणां शतं गत्वा कृमियोनौ प्रजायते ।।५७।।
तत्र जीवति वर्षाणि दश पञ्च च भो द्विजाः। दुष्कृतस्य क्षयं कृत्वा ततो जायेत मानुषः[1] ।।५८।।
असूयको नरश्चापि मृतो जायेत शाङ्र्गकः। [2]विश्वासहर्ता च नरो मीनो जायेत दुर्मतिः ।।५९।।
भूत्वा मीनोऽष्टवर्षाणि मृगो जायेत भो द्विजाः। मृगस्तु चतुरो मासांस्ततश्छागः प्रजायते ।।६०।।
छागस्तु निधनं प्राप्य पूर्णे संवत्सरे ततः। कीटः संजायते जन्तुस्ततो जायेत मानुषः ।।६१।।
धान्यान्यवांस्तिलान्माषान्कुलित्थान्सर्षपांश्चणान्। कलायानथ मुद्गांश्च गोधूमानतसीस्तथा ।।६२।।
सस्यान्यन्यानि हर्ता च मर्त्यो मोहादचेतनः। संजायते मुनिश्रेष्ठा मूषिको निरपत्रपः ।।६३।।
ततः प्रेत्य मुनिश्रेष्ठा मृतो जायेत शूकरः। शूकरो जातमात्रस्तु रोगेण म्रियते पुनः ।।६४।।
श्वा ततो जायते मूकः कर्मणा तेन मानवः। भूत्वा श्वा पञ्च वर्षाणि ततो जायेत मानवः ।।६५।।
परदाराभिमर्शी तु कृत्वा जायेत वै वृक.। श्वा शृगालस्ततो गृध्रो व्यालः कङ्को बकस्तथा ।।६६।।
भ्रातुर्भार्यां तु पापात्मा यो धर्षयति मोहितः। पुंस्कोकिलत्वमाप्नोति सोऽपि संवत्सरं द्विजाः ।।६७।।
[3]सखिभार्यां गुरोर्भार्यां राजभार्यां तथैव च। प्रधर्षयित्वा कामात्मा मृतो जायेत शूकरः ।।६८।।
शूकरः पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि वै बकः। पिपीलिकस्तु मासांस्त्रीन्कीटः स्यान्मासमेव च ।।६९।।

।।५६।। धरोहर का अपहरण करने वाला मनुष्य यम के राज्य में पहुँचता है। सौ वार जन्म-मरण पाकर (या नरकों का भोगकर) कृमि-योनि में उत्पन्न होता है ।।५७।। वहाँ पन्द्रह वर्षों तक रहकर पापों का क्षय करके मनुष्य-योनि में आता है ।।५८।। निन्दक मनुष्य मरने पर शाङ्र्गक (सींग वाला जीव) होता है। विश्वासघाती दुष्टवुद्धि मनुष्य मछली होता है ।।५९।। आठ वर्षों तक मछली रह कर हरिण होता है चार महीनों तक हरिण रहकर वकरा होता है ।।६०।। एक वर्ष तक उस योनि में रहकर कीड़ा होता है। तदनन्तर मनुष्य होता है ।।६१।। मुनिश्रेष्ठो ! धान, यव, तिल, उड़द, कुलथी, सरसों, चने, मूंग, गेहूँ, तीसी तथा दूसरे अन्नों को चुराने वाला मूर्ख मनुष्य निर्लज्ज चूहा होता है ।।६२-६३।। फिर मरने पर सुअर होता है। शूकर योनि में वह उत्पन्न होते ही रोग से मर जाता है ।।६४।। तव वह गूंगा कुत्ता होता है। पाँच वर्षों तक उस योनि में रहकर मनुष्य होता है ।।६५।। दूसरे की पत्नी के साथ संभोग करने वाला मनुष्य भेड़िया होता है। तदनन्तर वह कुत्ता, सियार, गीध, साँप, चील और वगला होता है ।।६६।। जो मूर्ख मनुष्य भ्रातृ-पत्नी के साथ गमन करता है, वह भी एक वर्ष तक पुंस्कोकिल (कोयल का नर) होता है ।।६७।। मित्रपत्नी, गुरु-पत्नी तथा राज-पत्नी के पास जाने वाला कामी मनुष्य सुअर होता है।।६८।। पाँच वर्षों तक सुअर, दश वर्षों तक वगला, तीन महीनों तक चींटी और एक मास तक वह कीड़ा होता है।।६९।। इतनी योनियों में

१क. ख. मानवः। २ख. ०सघाती च। १क. ०र्यां पुत्रभार्या गुरुभार्यां त०।

एतानासाद्य संसारान्कृमियोनौ प्रजायते। तत्र जीवति मासांस्तु कृमियोनौ चतुर्दश[1] ॥७०॥
नरोऽधर्मक्षयं कृत्वा ततो जायेत मानुषः। पूर्वं दत्त्वा तु यः कन्यां द्वितीये दातुमिच्छति ॥७१॥
सोऽपि विप्रा मृतो जन्तुः क्रिमियोनौ प्रजायते। तत्र जीवति वर्षाणि त्रयोदश द्विजोत्तमाः ॥७२॥
अधर्मसंक्षये मुक्तस्ततो जायेत मानुषः। देवकार्यमकृत्वा तु पितृकार्यमथापि वा ॥७३॥
अनिर्वाप्य पितृ न्देोन्मृतो जायेत वायसः । वायसः शतवर्षाणि ततो जाये कुक्कुटः ॥७४॥
जायते व्यालकश्चापि मासं तस्मात्तु मानुषः। ज्येष्ठं पितृसमं चापि भ्रातरं योऽवमन्यते ॥७५॥
सोऽपि मृत्युमुपागम्य क्रौञ्चयोनौ प्रजायते। क्रौञ्चो जीवति वर्षाणि दश[2] जायेत जीवकः[3] ॥७६॥
ततो निधनमाप्नोति मानुषत्वमवाप्नुयात्। वृषलो ब्राह्मणीं गत्वा कृमियोनौ प्रजायते ॥७७॥
ततः संप्राप्य निधनं जायते शूकरः पुनः। शूकरो जातमात्रस्तु रोगेण म्रियते द्विजाः ॥७८॥
श्वा च वै जायते मूढः कर्मणा तेन भो द्विजाः। श्वा भूत्वा कृतकर्माऽसौ जायते मानस्वततः ॥७९॥
तत्रापत्यं समुत्पाद्य मृतो जायेत मूषिकः। कृतघ्नस्तु मृतो विप्रा यमस्य विषयं गतः ॥८०॥
यमस्य विषये क्रूरैर्बद्धः प्राप्नोति वेदनाम्। दण्डकं मुद्गरं शूलमग्निदण्डं च दारुणम् ॥८१॥
असिपत्रवनं घोरं वालुकां कूटशाल्मलीम्। एताश्चान्याश्च बहवो यमस्य विषयं गताः॥८२॥
यातनाः प्राप्य घोरास्तु ततो याति च भो द्विजाः। संसारचक्रमासाद्य क्रिमियोनौ प्रजायते ॥८३॥

जाकर फिर कृमि-योनि में उत्पन्न होता है। कृमि-योनि में वह चौदह मास तक जीवित रहता है ॥७०॥ वहाँ जीव पाप-क्षय करके तव मनुष्य होता है। जो व्यक्ति पहले एक को कन्या देकर फिर दूसरे को देना चाहता है, वह भी मरने पर कृमि-योनि में उत्पन्न होता है ॥७१½॥ वहाँ तेरह वर्षों तक वह जीता है और पाप-क्षय हो जाने पर फिर मनुष्य हो जाता है ॥७२½॥ जो मनुष्य देवकर्म, पितृकर्म या देव-पितरों का तर्पण विना किये ही मर जाता है, वह कौआ होता है। सौ वर्षों तक कौआ होकर फिर मुर्गा होता है ॥७३-७४॥ तदनन्तर साँप होकर फिर मनुष्य होता है। जो पिता के समान ज्येष्ठ भाई का अपमान करता है, वह भी मरने पर कराँकुल पक्षी होता है। दश वर्षों तक कराँकुल होकर फिर चकोर होता है। तदनन्तर मनुष्य-योनि में आता है ॥७५-७६॥ व्राह्मणी के पास जाने वाला शूद्र कृमि-योनि में उत्पन्न होता है। वहाँ से मरने पर फिर सूअर होता है। शूकर-योनि में उत्पन्न होते ही वह रोग से मर जाता है ॥७७-७८॥ उस कर्म से वह मूर्ख कुत्ता होता है। उस योनि में अपना कर्म समाप्त कर वह मनुष्य होता है। वहाँ भी सन्तान उत्पन्न कर मरने के वाद चूहा होता है ॥७९½॥ कृतघ्न व्यक्ति मरने पर यमलोक जाता है। वहाँ वह क्रूर यमदूतों द्वारा वद्ध होकर कष्ट पाता है। दण्डक, मुद्गर, शूल, भयंकर अग्निदण्ड, भयंकर असिपत्रवन, वालुका तथा कूटशाल्मली नामक नरकों की यातनायें तथा दूसरी भी वहुत-सी भयानक यातनायें पाकर वह फिर संसारचक्र को प्राप्त कर कृमियोनि में उत्पन्न होता है ॥८०-८३॥ पन्द्रह वर्षों तक उस योनि में रहकर फिर गर्भ में जाते ही वहीं मर जाता है।

२ख. ०श। ततः पापक्ष०। ३ग. ततो। ४ग. वारिकः।

क्रिमिर्भवति वर्षाणि दश पञ्च च भो द्विजाः। ततो गर्भं समासाद्य तत्रैव म्रियते नरः[१] ॥८४॥
ततो गर्भशतैर्जन्तुर्बहुशः संप्रपद्यते। संसारान्सुबहून्गत्वा ततस्तिर्यक्प्रजायते ॥८५॥
ततो दुःखमनुप्राप्य बहुवर्षगणानि वै। स पुनर्भवसंयुक्तस्ततः कूर्मः [२]प्रजायते ॥८६॥
दधि हृत्वा बकश्चापि[३] प्लवो मत्स्यानसंस्कृतान्। चोरयित्वा [४]तु दुर्बुद्धिर्मधुदंशः प्रजायते ॥८७॥
फलं वा मूलकं हृत्वा पूपं वाऽपि पिपीलिकः। चोरयित्वा तु निष्पावं जायते फलमूषकः[५] ॥८८॥
पायसं चोरयित्वा तु तित्तिरत्वमवाप्नुयात्। [६]हृत्वा पिष्टमयं[७] पूपं कुम्भोलूकः प्रजायते ॥८९॥
अपो हृत्वा तु दुर्बुद्धिर्वायसो जायते नरः। कांस्यं हृत्वा तु [८]दुर्बुद्धिर्हारीतो जायते नरः ॥९०॥
राजतं भाजनं हृत्वा कपोतः संप्रजायते। हृत्वा तु काञ्चनं भाण्डं कृमियोनौ प्रजायते ॥९१॥
पत्रोर्णं चोरयित्वा तु [९]कुररत्वं नियच्छति। [१०]कोशकारं ततो हृत्वा नरो जायेत नर्तकः[११] ॥९२॥
अंशुकं चोरयित्वा तु शुको जायेत मानवः। चोरयित्वा दुकूलं तु मृतो हंसः प्रजायते ॥९३॥
क्रौञ्चः कार्पासिकं हृत्वा मृतो जायेत मानवः। चोरयित्वा नरः पट्टं त्वाविकं चैव भो द्विजाः ॥९४॥
क्षौमं च वस्त्रमाहृत्य [१२]शशो जन्तुः प्रजायते। [१३]चूर्णं तु हृत्वा पुरुषो मृतो जायेत बर्हिणः ॥९५॥
हृत्वा रक्तानि वस्त्राणि जायते जीवजीवकः। वर्णकादींस्तथा गन्धांश्चोरयित्वेह मानवः ॥९६॥
चुच्छुन्दरित्वमाप्नोति विप्रो लोभपरायणः। तत्र जीवति वर्षाणि ततो दश च पञ्च च ॥९७॥
अधर्मस्य क्षयं कृत्वा ततो जायेत मानवः। चोरयित्वा पयश्चापि बलाका संप्रजायते ॥९८॥

तदनन्तर सैकड़ों गर्भों में वह इसी प्रकार जाता है। अनेकों वार जन्म लेकर वह पक्षीयोनि में उत्पन्न होता है। वहाँ वहुत वर्षों तक दुःख भोगकर फिर कछुआ होता है ॥८४-८६॥ दही चुराने वाला मनुष्य वगला होता है। असंस्कृत मछलियाँ चुराने वाला दुर्वुद्धि मनुष्य मधुमक्खी होता है ॥८७॥ फल-मूल या पूआ चुराने वाला चींटी होता है। सेम चुराने वाला गिलहरी होता है ॥८८॥ खीर चुराने वाला तीतर होता है। मालपूआ चुरानेवाला उल्लू होता है ॥८९॥ जल चुराने वाला मूर्ख मनुष्य कौआ होता है। काँसा चुराने वाला मूर्ख मनुष्य हारीत पक्षी होता है ॥९०॥ चाँदी का पात्र चुराने वाला कवूतर होता है। सुवर्णपात्र चुराने वाला कृमियोनिमें उत्पन्न होता है ॥९१॥ रेशमी वस्त्र चुराने वाला कुरर पक्षी होता है। रेशम का कीड़ा चुराने वाला नर्तक होता है ॥९२॥ महीन वस्त्र चुराने वाला मनुष्य तोता होता है। दुकूल (चिकना और महीन वस्त्र) चुराने वाला व्यक्ति मरने पर हंस होता है ॥९३॥ सूतीवस्त्र चुराने वाला मनुष्य मरने पर कराँकुल पक्षी होता है। ऊनीवस्त्र तथा रेशमीवस्त्र चुराने वाला खरगोश होता है। चूर्ण हरण करने वाला पुरुष मरने पर मयूर होता है ॥९४-९५॥ लालवस्त्र चुराने वाला मनुष्य चकोर होता है। गन्ध, चन्दन आदि चुराने वाला लोभी मनुष्य छछूंदर होता है। वहाँ पन्द्रह वर्षों तक रहकर अधर्मक्षय करके मनुष्य होता है ॥९६-९७½॥ दूध चुराने वाला वगली होता है ॥९८॥ जो

१ग. शिशुः। २क. ०ते। आडिर्भूत्वा व०। ख. ०ते। अहिर्भूत्वा व०। ३क. ०पि ततो जायेत मानवः। चो०। ४क. तु वै मत्स्याञ्शुष्कदन्तः प्र०। ५क. फलपोषकः। ग. हलगोलकः। ६क.० त्वा पुष्पं च पत्रं च कु०। ७ख. पुष्पभयं। ८क. ०द्विर्वक-योनौ प्रजायते। रा०। ९क. ख. कुक्कुटत्वं। १०ग. कोशिका०। ११ख. मर्कटः। १२क. कोशो। ख. हंसो। १३ग. वृक्षं।

यस्तु चोरयते तैलं नरो मोहसमन्वितः। सोऽपि विप्रा मृतो जन्तुस्तैलपायी प्रजायते ।।९९।।
अशस्त्रं पुरुषं हत्वा सशस्त्रः पुरुषाधमः। अर्थार्थे यदि वा वैरी मृतो जायेत वै खरः ।।१००।।
खरो जीवति वर्षे द्वे ततः शस्त्रेण वध्यते । स मृतो मृगयोनौ तु नित्योद्विग्नोऽभिजायते ।।१०१।।
मृगो विध्येत शस्त्रेण गते संवत्सरे ततः । हतो मृगस्ततो मीनः सोऽपि जालेन बध्यते ।।१०२।।
मासे चतुर्थे संप्राप्ते श्वापदः संप्रजायते । श्वापदो दश वर्षाषि द्वीपी वर्षाणि पञ्च च ।।१०३।।
ततस्तु निधनं प्राप्तः कालपर्यायचोदितः । अधर्मस्य क्षयं कृत्वा मानुषत्वमवाप्नुयात् ।।१०४।।
वाद्यं हृत्वा तु पुरुषो लोमशः संप्रजायते । तथा पिण्याकसंमिश्रमन्नं[1] यश्चोरयेन्नरः ।।१०५।।
स जायते बभ्रुसटो[2] दारुणो मूषिको नरः[3] । दशन्वै मानुषान्नित्यं पापात्मा स द्विजोत्तमाः ।।१०६।।
घृतं हृत्वा तु दुर्बुद्धिः काको मद्गुः प्रजायते । मत्स्यमांसमथो हृत्वा काको जायेत मानवः ।।१०७।।
लवणं चोरयित्वा तु चिरिकाकः प्रजायते । विश्वासेन तु निक्षिप्तं योऽपनिह्नोति मानवः ।।१०८।।
स गतायुर्नरस्तेन मत्स्ययोनौ प्रजायते । मत्स्ययोनिमनुप्राप्य मृतो जायेत मानुषः ।।१०९।।
मानुषत्वमनुप्राप्य [4]क्षीणायुरुपजायते । [5]पापानि तु [6]नरः कृत्वा[7] तिर्यग्जायेत भो द्विजाः ।।११०।।
न चाऽऽत्मनः प्रमाणं तु धर्मं जानाति किंचन । ये पापानि नराः कृत्वा निरस्यन्ति व्रतैः सदा ।।१११।।

मनुष्य मोवश तेल चुराता है, वह भी तेल पीने वाला जीव होता है ।।९९।। धन की इच्छा से या शत्रुता से जो नीच मनुष्य शस्त्र लेकर शस्त्रविहीन पुरुष को मारता है, वह मरने पर गधा होता है ।।१००।। दो वर्षों तक गधा होकर शस्त्र द्वारा मारा जाता है और मरने के वाद मृगयोनि में जन्म लेकर नित्य उद्विग्न वना रहता है।।१०१।। एक वर्ष वीतने पर वह शस्त्र से मारा जाता है । तदनन्तर मछली होकर जाल में फँसता है ।।१०२।। चार मास व्यतीत होने पर कुत्ता होता है । दश वर्षों तक कुत्ता होकर पाँच वर्षों तक वाघ होता है ।।१०३।। तव काल की प्रेरंणा से मृत्यु प्राप्त कर पापों का क्षय कर मनुष्य होता है ।।१०४।। वाजा चुराने वाला वहुत रोएँ वाला जीव होता है । हींग मिश्रित अन्न चुराने वाला मनुष्य भूरे रंग के रोंगटों से युक्त भयंकर चूहा होता है । वह पापी मनुष्यों को नित्य काटता रहता है ।।१०५-१०६।। घी चुराने वाला कौआ तथा मांगुर मछली होता है । मत्स्य-मांस चुराने वाला भी कौआ होता है । नमक चुराने वाला चिरकाल तक कौआ होता है । जो मनुष्य विश्वासपूर्वक रखे गये धरोहर को छिपा लेता है, वह गतायु होकर मत्स्ययोनि में जन्म लेता है । मत्स्ययोनि के वाद मनुष्य होता है ।।१०७-१०९।। मनुष्यत्व प्राप्त कर क्षीणायु होता है । पाप करने वाला मनुष्य पक्षी-योनि में जाता है और आत्मा के प्रमाण किसी धर्म को नहीं जानता है । जो नर पाप करता है तथा व्रतों से विमुख रहता है, वह सुख-दुःखों का भोग करते हुए रोगी होता है । लोभ-मोह से युक्त तथा पापाचरण करने वाले

१ग. मशनं चोर० । २ग. ०समो दा० । ३क. ०रः । दंशको मशको नित्यं । ४क. क्षीणद्रव्यः प्रजा० । ५क. पानीयं तु । ६क. नरो हृत्वा । ७ख. ०त्वा निजतापाय भो ।

सुखदु:खसमायुक्ता व्याधिमन्तो भवन्त्युत[१] । [२]असंवीताः प्रजायन्ते[३] म्लेच्छाश्चापि न संशयः ॥११२॥
नरा पापसमाचारा लोभमोहसमन्विताः । वर्जयन्ति हि पापानि जन्मप्रभृति ये नराः ॥११३॥
अरोगा रूपवन्तश्च धनिनस्ते भवन्त्युत । स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन कृत्वा पापमवाप्नुयुः ॥११४॥
एतेषामेव पापानां[४] भार्यात्वन्मुपयान्ति ताः । प्रायेण हरणे दोषाः सर्व एव प्रकीर्तिताः ॥११५॥
एतद्वै लेशमात्रेण कथितं वो द्विजर्षभाः । अपरस्मिन्कथायोगे भूयः श्रोष्यथ भो द्विजाः ॥११६॥
एतन्मया महाभागा ब्रह्मणो वदतः पुरा । सुरर्षीणां श्रुतं मध्ये पृष्टं चापि यथा तथा ॥११७॥
मयाऽपि तुभ्यं कात्स्र्येन यथावदनुवर्णितम् । एतच्छ्रुत्वा मुनिश्रेष्ठा धर्मे कुरुत मानसम् ॥११८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे संसारचक्रनिरूपणं नाम
सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१७॥

अथाष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अन्नदानप्रशंसावर्णनम्

मुनय ऊचुः

अधर्मस्य गतिर्ब्रह्मन्कथिता नस्त्वयाऽनघ । धर्मस्य च गतिं श्रोतुमिच्छामो वदतां वर ॥१॥

मनुष्य मर्यादा के उल्लंघन करने वाले म्लेच्छ होते हैं ॥११०-११२$\frac{१}{३}$॥ जो मनुष्य जन्म से लेकर पाप नहीं करते हैं, वे नीरोग, मुन्दर तथा धनी होते हैं। स्त्रियाँ भी इस प्रकार करके पापभागी वनती हैं ॥११३-११४॥ प्रायः इन्हीं पापियों की स्त्री वे वनती हैं। प्रायः करके ये दोषहरण के प्रकरण में वतलाये गये हैं ॥११५॥ द्विजश्रेष्ठो! यह तो दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। दूसरे कथा-प्रकरण में फिर आप सुनेंगे। महाभागो! देवर्षियों के वीच व्रह्मा के मुख से मैंने यह कथा सुनी थी। मैंने भी उसी प्रकार आप लोगों से नि:शेषतया वर्णन कर दी। मुनिश्रेष्ठो! इसे सुनकर आप लोग धर्म में मन को लगायें ॥११६-११८॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में संसारचक्रनिरूपण
नामक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥२१७॥

अध्याय २१८

अन्नदान की प्रशंसा का वर्णन

मुनियों ने कहा—व्रह्मन्! निष्पाप! आपने पाप की गति हमें वतला दी। अव, हे वक्ताओं में श्रेष्ठ!

---

[१]ग. ०त। स्वयंवाऽक्षाः प्र०। [२]ख. असंवासाः। [३]क. ०न्ते स्वेच्छावानरधर्मिणः। न०। [४]क. जन्तूनां

कृत्वा पापानि कर्माणि कथं यान्त्यशुभां गतिम् । कर्मणा च कृतेनेह केन यान्ति शुभां गतिम् ॥२॥

व्यास उवाच

कृत्वा पापानि [1]कर्माणि त्वधर्मवशमागतः । मनसा विपरीतेन निरयं प्रतिपद्यते ॥३॥
मोहादधर्मं यः कृत्वा पुनःसमनुतप्यते । मनः समाधिसंयुक्तो न स सेवेत दुष्कृतम् ॥४॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हते । तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते ॥५॥
[2]यदि विप्राः कथयते विप्राणां धर्मवादिनाम् । ततोऽधर्मकृतात्क्षिप्रमपराधात्प्रमुच्यते ॥६॥
यथा यथा नरः [3]सम्यगधर्ममनुभाषते । समाहितेन मनसा विमुञ्चति तथा तथा ॥७॥
भुजंग इव निर्मोकान्पूर्वभुक्ताञ्जहाति तान् । दत्त्वा विप्रस्य दानानि विविधानि समाहितः ॥८॥
मनःसमाधिसंयुक्तः [4]स्वर्गतिं प्रतिपद्यते[5] । दानानि तु प्रवक्ष्यामि यानि दत्त्वा द्विजोत्तमाः ॥९॥
नरः [6]कृत्वाऽप्यकार्याणि[7] ततो धर्मेण युज्यते । सर्वेषामेव दानानामन्नं श्रेष्ठमुदाहृतम् ॥१०॥
सर्वमन्नं प्रदातव्यमृजुना धर्ममिच्छता । प्राणा ह्यन्नं मनुष्याणां तस्माज्जन्तुः प्रजायते ॥११॥
अन्ने प्रतिष्ठिता लोकास्तस्मादन्नं प्रशस्यते । [8]अन्नमेव प्रशंसन्ति देवर्षिपितृमानवाः ॥१२॥
अन्नस्य हि प्रदानेन स्वर्गमाप्नोति मानवः[9] । न्यायलब्धं प्रदातव्यं द्विजातिभ्योऽन्नमुत्तमम् ॥१३॥

धर्म की गति हम सुनना चाहते हैं। किन पापकर्मों के करने से जीव को अशुभ गति मिलती है और किस कर्म के करने से शुभ गति प्राप्त होती है ? ॥१-२॥

व्यासने कहा—उल्टे मन से पाप कर्मों को करके अधर्म के वश होकर मनुष्य नरक जाता है ॥३॥ जो मोहवश पाप करके मन की एकाग्रतापूर्वक पश्चात्ताप करता है, वह पापभागी नहीं होता ॥४॥ जैसे-जैसे उसका मन पाप की निन्दा करता है, वैसे-वैसे उसका शरीर अधर्म से मुक्त होता है ॥५॥ विप्रवृन्द ! यदि वह धर्मवादी व्राह्मणों से अपना पाप वतला देता है तो अधर्मकृत अपराधों से वह शीघ्र मुक्त हो जाता है ॥६॥ जैसे-जैसे मनुष्य एकाग्र मन से ठीक-ठीक अपने अधर्म वतलाता है वैसे-वैसे पाप छूट जाता है ॥७॥ जैसे साँप केंचुली को छोड़ता है वैसे वह पापों को छोड़ देता है। व्राह्मण को अनेकों दान देकर मन की समाधि लगाकर वह स्वर्ग जाता है। द्विजश्रेष्ठो ! मैं उन दोनों को वतलाऊँगा, जिन्हें देकर मनुष्य कुकर्म करने पर भी धर्मात्मा हो जाता है ॥८-९½॥ सव दानों में अन्नदान श्रेष्ठ कहा गया है। धर्म के इच्छुक व्यक्ति को निष्कपट भाव से अन्नदान करना चाहिये। अन्न ही मनुष्यों का प्राण है। उसी से जीव की उत्पत्ति होती है ॥१०-११॥ अन्न में समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं। इसलिये अन्न प्रशस्त माना गया है। देव, ऋषि, पितर तथा मनुष्य अन्न की ही प्रशंसा करते हैं ॥१२॥ अन्नदान करने से मानव स्वर्ग प्राप्त करता है। वेदपाठी व्राह्मणों को प्रसन्न चित्त से न्याय-प्राप्त उत्तम अन्न देना चाहिये ॥१३॥ हर्षित मन से जो दश व्राह्मणों को एक वार भी खिलाता है, वह पक्षीयोनि में

---

[1] ग. ०णि स्वकर्म० । [2] ग. ०दि वाक्यं चरेद्विप्रा विप्राणां । [3] क. ख. ०म्यक्सुध० । [4] क. ख. सुगतिं । [5] क. ख. ०ते । प्रधानानि प्रव० । [6] क. ख. ०प्यकर्माणि । [7] क. ०णि नहि पापेन यु० । [8] ख. अन्नं चैव । [9] क. ख. ०वः । यावल्लभ्यं प्र० ।

स्वाध्यायसमुपेतेभ्यः प्रहृष्टेनान्तरात्मना। यस्य त्वन्नमुपाश्नन्ति [1]ब्राह्मणाश्च सकृद्दश ॥१४॥
हृष्टेन मनसा[2] दत्तं न स तिर्यग्गतिर्भवेत्। ब्राह्मणानां सहस्राणि दशाऽऽभोज्य द्विजोत्तमाः ॥१५॥
नरोऽधर्मात्प्रमुच्येत पापेष्वभिरतः सदा। भैक्षेणान्नं[3] समाहृत्य विप्रो वेदपुरस्कृतः ॥१६॥
[4]स्वाध्यायनिरते विप्रे दत्त्वेह सुखमेधते। [5]अहिंसन्ब्राह्मणस्वानि न्यायेन परिपाल्य च ॥१७॥
क्षत्त्रियस्तरसा प्राप्तमन्नं यो वै प्रयच्छति। द्विजेभ्यो वेदमुख्येभ्यः प्रयतः सुसमाहितः ॥१८॥
तेनापोहति धर्मात्मा दुष्कृतं कर्म भो द्विजाः। षड्भागपरिशुद्धं च कृषेर्भागमुपार्जितम् ॥१९॥
वैश्यो ददद्द्विजातिभ्यः पापेभ्यः परिमुच्यते। अवाप्य प्राणसंदेहं[6] [7]कार्कश्येन [8]समार्जितम् ॥२०॥
अन्नं दत्त्वा द्विजातिभ्यः शूद्रः [9] पापात्प्रमुच्यते। औरसेन बलेनान्नमर्जयित्वा विहिंसकः ॥२१॥
यः प्रयच्छति विप्रेभ्यो न स दुर्गाणि सेवते। न्यायेनावाप्तमन्नं तु नरो हर्षसमन्वितः ॥२२॥
द्विजेभ्यो वेदवृद्धेभ्यो दत्त्वा पापात्प्रमुच्यते। अन्नमूर्जस्करं लोके दत्त्वोर्जस्वी भवेन्नरः ॥२३॥
सतां पन्थानमावृत्य सर्वपापैः प्रमुच्यते। दानविद्भिः [10]कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः ॥२४॥
तेष्वप्यन्नस्य दातारस्तेभ्यो धर्मः सनातनः। सर्वावस्थं मनुष्येण न्यायेनान्नमुपार्जितम् ॥२५॥
कार्यान्न्यायागतं नित्यमन्नं हि परमा गतिः। अन्नस्य हि प्रदानेन [11]नरो याति परां गतिम् ॥२६॥

नहीं जाता है॥१४½॥ द्विजश्रेष्ठो! दश हजार व्राह्मणों को खिलाकर मनुष्य सदा पापों में निरत रहने पर भी अधर्म से मुक्त हो जाता है॥१५½॥ वेदवेत्ता विप्र भिक्षावृत्ति से अन्न लाकर वेदाध्ययन में रत व्राह्मण को समर्पित कर सुख प्राप्त करता है॥-१६½॥ द्विजवृन्द! जो क्षत्रिय व्राह्मण के धन का अपहरण नहीं करता, वल्कि न्यायपूर्वक उसकी रक्षा करता है और पवित्र तथा सावधान होकर वेदवेत्ता व्राह्मणों को अन्नदान देता है, वह पापों का त्याग कर धर्मात्मा हो जाता है॥१७-१८½॥ जो वैश्य खेती का छठा पवित्र भाग व्राह्मणों को दे देता है, वह पापों से मुक्त हो जाता है॥१९½॥ जो शूद्र प्राणों तक लगाकर कठिनाई से अन्न उपार्जित कर व्राह्मणों को दे देता है, वह पापों से मुक्ति पा जाता है॥२०½॥ जो हिंसक व्यक्ति अपनी छाती के वल से अन्न कमा कर विप्रों को देता है, वह कष्टों को नहीं भोगता है॥२१½॥ जो मनुष्य न्याय से प्राप्त अन्न वेदवेत्ता व्राह्मणों को हर्षपूर्वक देता है, उसे पाप से मुक्ति मिल जाती है॥२२½॥ लोक में वलवर्धक अन्न दान कर मनुष्य ओजस्वी होता है॥२३॥ सत्पुरुषों के मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य अखिल पापों से मुक्त होता है। दानवेत्ताओं ने वह मार्ग वना दिया है, जिस पर विद्वान लोग चलते हैं॥२४॥ अन्नदान करने वाले भी उन्हीं में से हैं। उनसे सनातन धर्म की रक्षा होती है। मनुष्य को किसी दशा में न्याय से ही अन्न कमाना चाहिये। नित्य से प्राप्त अन्न ही परम गति है। अन्न प्रदान करने से नर परम गति को प्राप्त करता है॥२५-२६॥ उसकी सव अभिलाषायें पूरी होती हैं।

---

[1] क.ग. ०णानां शतं दश। [2] ख. ०सा तस्य पवित्रं च कुलं भवे०। [3] ख. भैक्षादन्नं। ख. भैज्यान्नं च स०। [4] ग. ०रतो वि०। [5] ख. ०हिंसाया व्राह्मणेभ्योऽप्यन्नं दद्याच्च व्राह्मणः। क्ष०। [6] क. हं यद्धनं समुपार्जि०। [7] ख. कार्येष्वेव स०। [8] ग. समाहित०। [9] ख. ०ते। तेनान्नेन विपाप्मा स स्वर्गलोके महीयते। योऽन्नं य०। [10] ख. कृतं पुण्यं यथायोग्यं भवत्युत। ते सदाऽन्नप्रदा०। [11] क. ०रोऽधर्मान्न सेवते। स०।

एवं पुण्यसमायुक्तो नरः पापैः प्रमुच्यते ॥२७॥
सर्वकामसमायुक्तः प्रेत्य चाप्यश्नुते सुखम्। एवं पुण्यसमायुक्तो नरः पापैः प्रमुच्यते ॥२८॥
तस्मादन्नं [1]प्रदातव्यमन्यायपरिवर्जितम्। यस्तु[2] प्राणाहुतीपूर्वमन्नं भुङ्क्ते गृही सदा ॥२९॥
अबन्ध्यं दिवसं कुर्यादन्नदानेन मानवः। भोजयित्वा शतं नित्यं नरो वेदविदां वरम् ॥३०॥
न्यायविद्धर्मविदुषामितिहासविदां तथा। न याति नरकं घोरं संसारं न च सेवते ॥३१॥
सर्वकामसमायुक्तः प्रेत्य चाप्यश्नुते सुखम्। एवं[3] कर्मसमायुक्तो रमते विगतज्वरः ॥
रूपवान्कीर्तिमांश्चैव धनवांश्चोपजायते[4]। एतद्वः सर्वमाख्यातमन्नदानफलं महत् ॥
॥३२॥
मूलमेतत्तु धर्माणां प्रदानानां च भो द्विजाः

इदि श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे संसारचक्रेऽन्नदानप्रशंसावर्णनं
नामष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१८॥

अथैकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्राद्धविधिवर्णनम्

मुनय ऊचुः

परलोकगतानां तु स्वकर्मस्थानवासिनाम्। तेषां श्राद्धं कथं ज्ञे(दे)यं पुत्रैश्चान्यैश्च बन्धुभिः ॥१॥

मरने पर भी सुख मिलता है। इस प्रकार धर्म से युक्त मनुष्य पापों से मुक्त होता है ॥२७॥ इसलिये अन्याय से रहित अन्न दान करना चाहिये। गृहस्थ को अग्नि में आहुति डाल कर अन्न खाना चाहिए ॥२८॥ मनुष्य अन्नदान से दिन को अवन्ध्य (सफल) वनायें। जो मानव वेदवेत्ता, न्यायवेत्ता, धर्मवेत्ता तथा इतिहास-वेत्ताओं में श्रेष्ठ सौ मनुष्यों को नित्य भोजन कराता है, वह न तो घोर नरक में जाता है न जन्म ही लेता है ॥२९-३०॥ उसकी समस्त कामनायें पूरी होती हैं। वह मरने के वाद भी सुख प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मयोगी मनुष्य व्यथारहित होकर रमण करता है और रूपवान्, कीर्तिमान् तथा धनवान् होता है। अन्नदान का यह महाफल मैंने वर्णन कर दिया। द्विजगण! यह धर्मों तथा दानों का मूल है ॥३१-३२॥

श्री व्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवादप्रकरण में संसारचक्र में अन्नदान-प्रशंसा
वर्णन नामक दो सौ अट्ठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥२१८॥

अध्याय २१९

श्राद्धविधि का वर्णन

मुनियों ने कहा—मृत्यु के उपरान्त अपने कर्मों से प्राप्त स्थानों मे वास करने वाले जीवों का श्राद्ध उनके पुत्र तथा वन्धुवर्ग कैसे करें? ॥१॥

---

[1] क.ख. ०न्यायेन विव०। [2] ग. ०स्तु व्राह्मणपूर्वं हि भोक्तुमन्नं गृ०। [3] क. ०व नरः स०। ग० वं खलु स०। [4] ग. ०पपद्यते।

व्यास उवाच

नमस्कृत्य जगन्नाथं वाराहं लोकभावनम्। श्रृणुध्वं संप्रवक्ष्यामि श्राद्धकल्पं यथोदितम् ।।२।।
पुरा कोकाजले [1]मग्नान्पितॄनुद्धृतवान्विभुः। श्राद्धं कृत्वा तदा देवो यथा तत्र द्विजोत्तमाः ।।३।।

पितर ऊचुः

किमर्थं ते तु कोकायां निमग्नाः पितरोऽम्भसि। कथं तेनोद्धतास्ते वै वाराहेण द्विजोत्तम ।।४।।
तस्मिन्कोकामुखे तीर्थे भुक्तिमुक्तिफलप्रदे। श्रोतुमिच्छामहे ब्रूहि परं कौतूहलं हि नः ।।५।।

व्यास उवाच

त्रेताद्वापरयोः संधौ पितरो दिव्यमानुषाः। पुरा मेरुगिरेः पृष्ठे विश्वैर्देवैः सह स्थिताः ।।६।।
तेषां समुपविष्टानां पितृणां सोमसंभवा। कन्या कान्तिमती दिव्या पुरतः प्राञ्जलिः स्थिता ।।
तामूचः पितरो दिव्या[2] ये तत्राऽऽसन्समागतः ।।७।।

पितर ऊचुः

काऽसि भद्रे प्रभुः को वा भवत्या वक्तुमर्हसि ।।८ ।।

व्यास उवाच

सा प्रोवाच पितृन्देवान्कला[3] चान्द्रमसीति ह। प्रभुत्वे भवतामेव वरयामि यदीच्छथ ।।९।।

व्यास ने कहा—लोकस्रष्टा, जगत्पति तथा वराह (सूअर) रूप धारण करने वाले भगवान् को नमस्कार कर सुनिये। मैं यथा कथित- श्राद्धकल्प वतलाता हूँ। द्विजश्रेष्ठो ! प्राचीन काल में कोका नामक तीर्थ के जल में निमग्न पितरों का श्राद्ध कर भगवान् ने उनका उद्धार किया था ।।२-३।।

मुनियों ने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! क्यों पितरलोग कोका के जल में निमग्न हुए ? कैसे वाराह रूप धारण कर भगवान् ने उस भुक्ति-मुक्ति-फलदायक कोकातीर्थ से पितरों का उद्धार किया ? हम सुनना चाहते हैं। कहिये, हमें वड़ी उत्कण्ठा हो रही है ।।४-५।।

व्यास ने कहा—पहले त्रेता और द्वापर युग के संधिकाल में दिव्य-मानव-पितर सुमेरुपर्वत के पृष्ठ पर विश्वेदेवों के साथ वैठे हुये थे। उन वैठे हुए पितरों के समक्ष चन्द्रमा की कान्तिमती नामक कन्या अंजलि वांध कर खड़ी हो गई। वहाँ जो पितर आये हुए थे, उन्होंने उससे पूछा ।।६-७।।

पितरों ने कहा—भद्रे ! तुम कौन हो ? कौन तुम्हारा स्वामी है ? कहो ।।८।।

व्यास ने कहा—कन्या कहने लगी—'मैं चन्द्रमा की कला हूँ। स्वामी के विषय में यदि आप लोग चाहें तो मैं आप ही लोगों का वरण करूँ ।।९।। मेरा पहला नाम ऊर्जा है, दूसरा स्वधा और कोका नाम तो

१ग. ०द्धृत्य शूकरः। श्राद्धान्येव ददौ दे०। २ग. देवा। ३क. ०वान्कुले चा०।

ऊर्जा [1]नामास्ति प्रथमं स्वधा च तदनन्तरम् । भवद्भिश्चाद्यैव कृतं नाम कोकेति भावितम् ॥१०॥
ते हि तस्या वचः श्रुत्वा पितरो दिव्यमानुषाः । तस्या मुखं निरीक्षन्तो न तृप्तिमधिजग्मिरे ॥११॥
विश्वेदेवाश्च ताञ्ज्ञात्वा कन्यामुखनिरीक्षकान्[2] । योगच्युतान्निरीक्ष्यैव विहाय त्रिदिवं[3] गताः ॥१२॥
भगवानपि शीतांशुरूर्जां नापश्यदात्मजाम् । समाकुलमना दध्यौ क्व गतेति महायशाः ॥१३॥
स विवेद तदा सोमःप्राप्तां पितॄंश्च कामतः । तैश्चावलोकितां हार्दात्स्वीकृतां च तपोबलात् ॥१४॥
ततः क्रोधपरीतात्मा पितॄञ्शशधरो द्विजाः । शशाप निपतिष्यध्वं योगभ्रष्टा विचेतसः ॥१५॥
यस्माददत्तां मत्कन्यां कामयध्वं सुबालिशाः । यस्माद्वृतवती चेयं पतीन्पितृमती सती ॥१६॥
स्वतन्त्रा धर्ममुत्सृज्य तस्माद् भवतु निम्नगा । कोकेति प्रथिता लोके शिशिराद्रिसमाश्रिता ॥१७॥
इत्थं शप्ताश्चन्द्रमसा पितरो दिव्यमानुषाः । योगभ्रष्टा निपतिता हिमवत्पादभूतले ॥१८॥
ऊर्जा तत्रैव पतिता गिरिराजस्य विस्तृते[4] । प्रस्थे तीर्थं समासाद्य सप्तसामुद्रमुत्तमम् ॥१९॥
कोका नाम ततो वेगान्नदी तीर्थशताकुला । प्लावयन्ती गिरेः शृङ्गं सर्पणात्तु सरित्स्मृता ॥२०॥
अथ ते पितरो विप्रा योगहीना महानदीम् । ददृशुः शीतसलिला न विदुस्तां सुलोचनाम् ॥२१॥
ततस्तु गिरिराड्दृष्ट्वा पितॄस्तांस्तु क्षुधार्दितान् । बदरीमादिदेशाय धेनुं चैकां मधुस्रवाम् ॥२२॥

आज ही आप लोगों ने रख दिया ॥१०॥ वे दिव्यमनुष्यशरीरधारी पितर उसका वचन सुनकर उसके मुख की ओर ताकने लगे, पर तृप्त नहीं हुए ॥११॥ विश्वेदेव कन्या-मुख-निरीक्षण करते हुए पितरों को योगभ्रष्ट समझकर उन्हें छोड़ कर स्वर्ग चले गये॥१२॥ भगवान् चन्द्रमा भी अपनी पुत्री ऊर्जा को न देखकर चिन्तित हो गये और सोचने लगे, कि वह कहाँ चली गई॥१३॥ तव चन्द्रमा ने जान लिया, कि वह कामवश पितरों के पास गई है। पितरों ने उसे प्रेम की दृष्टि से देखा है और तपोवल से स्वीकार भी कर लिया है॥१४॥ तव क्रोध से आग ववूला होकर चन्द्रमा ने पितरों को शाप दिया—'मूर्खों! जिस लिये तुम मेरी असमर्पित कन्या की कामना करते हो इसलिये तुम योगभ्रष्ट तथा हृदयहीन होकर गिर पड़ोगे॥१५॥ जिस लिये इस सती कन्या ने पिता वाली होती हुई भी स्वतन्त्र होकर धर्म का उल्लंघन करके पतियों का वरण किया इसलिये यह नदी हो जाय। हिमालय की आश्रित होकर यह लोक में कोका नाम से प्रख्यात हो'॥१६-१७॥ इस प्रकार चन्द्रमा से अभिशप्त दिव्य मानव-पितर योग-भ्रष्ट होकर हिमालय की तराई में आ गिरे॥१८॥ वहीं पर ऊर्जा भी गिरी। गिरिराज के विस्तृत तटप्रान्त में वह सातों समुद्रों से जल लेकर उत्तम तीर्थ के रूप में परिणत हो गई। कोका नामक वह नदी सैकड़ों तीर्थों से युक्त तथा वेगवती हुई। पर्वत के शिखरों को प्लावित करते हुए वहने के कारण वह सरित् कहलायी॥१९-२०॥ तदनन्तर उन योगभ्रष्ट पितरों ने शीतल जल वाली महानदी को देखा, पर सुलोचना चन्द्रपुत्री को पहचाना नहीं। ॥२१॥ तव हिमालय ने भूख से पीड़ित उन पितरों को देखकर वेर के फल तथा मधु समान दूध देने वाली एक गाय उन्हें दी॥२२॥ गिरिराज ने उनके पोषण के निमित्त दिव्य मधुरूप दूध, कोका का जल तथा

१क. ख. ०मास्मि प्र०। २ख। ०न्। अयोग्यां तां निरी०। ३क. योग्यतां निरी०। ४ग. विप्लुते।

क्षीरं मधु च अद्दिव्यं कोकाम्भो बदरीफलम्। इदं गिरिवरेणैषां पोषणाय निरूपितम् ॥२३॥
तया वृत्या तु वसतां पितृणां मुनिसत्तमाः। दश वर्षसहस्राणि ययुरेकमहो यथा ॥२४॥
एवं लोके विपितरि तथैव विगतस्वधे। दैत्या बभूवुर्बलिनो यातुधानाश्च राक्षसाः ॥२५॥
ते तान्पितृगणान्दैत्या यातुधानाश्च वेगिताः। विश्वैर्देवैर्विरहितान्सर्वतः समुपाद्रवन् ॥२६॥
दैतेयान्यातुधानांश्च दृष्ट्वैवाऽऽपततो द्विजाः। कोकातटस्थामुत्तुङ्गां शिलां ते जगृहू रुषा ॥२७॥
गृहीतायां शिलायां तु कोका वेगवती पितॄन्। छादयामास तोयेन प्लावयन्ती हिमाचलम् ॥२८॥
पितॄनन्तर्हितान्दृष्ट्वा दैतेया राक्षसास्तथा। विभीतकं समारुह्य निराहारास्तिरोहिताः ॥२९॥
सलिलेन विषीदन्तः पितरः क्षुद्भ्रमातुराः। विषीदमानमात्मानं समीक्ष्य सलिलाशयाः ॥
[1]जगुर्जनार्दनं देवं पितरः शरणं हरिम् ॥३०॥

मुनय ऊचुः

जयस्व गोविन्द जगन्निवास जयोऽस्तु नः[2] केशव[3] ते प्रसादात् ।
जनार्दनास्मान्सलिलान्तरस्थानुद्धर्तुमर्हस्यनघप्रताप[4] ॥३१॥
निशाचरैर्दारुणदर्शनैः प्रभो वरेण्य वैकुण्ठ वराह विष्णो ।
नारायणाशेषमहेश्वरेश[5] प्रयाहि भीताञ्जय पद्मनाभ ॥३२॥

वदरीफल का प्रवन्ध कर दिया ॥२३॥ मुनिश्रेष्ठो ! उस वृत्ति से निर्वाह करते हुए पितरों के दस हजार वर्ष एक दिन के समान वीत गए ।२४॥ इस प्रकार लोक में पितरों तथा स्वधा के न रहने से दैत्य तथा राक्षस वलवान् हो गये ॥२५॥ वली राक्षसों ने विश्वेदेवों से रहित पितरों के ऊपर सव ओर से आक्रमण कर दिया ॥२६॥ राक्षसों को देखते ही पितर गिर पड़े । कोका के तट पर स्थित एक उत्तुंग शिला को उन्होंने क्रोध से पकड़ लिया ॥२७॥ शिला को पकड़ लेने पर हिमालय को प्लावित करती हुई वेगवती कोका ने जल से पितरों को ढक दिया ॥२८॥ पितरों को विलीन जानकर राक्षसवृन्द वहेड़े के पेड़ के ऊपर चढ़ गये और विना भोजन के छिप कर रहने लगे ।जल में भूख से आतुर तथा सीदित होते हुए जलाधार पितर अपने को कष्ट में देखकर भगवान् जनार्दन की शरण में गये और उनकी स्तुति करने लगे ॥२९-३०॥

पितरों ने कहा—गोविन्द ! संसार में निवास करने वाले ! आपकी जय हो ! आपकी कृपा से हमारी भी जय हो ! जर्नादन ! निष्कलंक प्रताप वाले ! जल के भीतर से हमारा उद्धार करें। भयंकर दीखने वाले राक्षसों से हमें वचायें। प्रभो ! श्रेष्ठ ! वैकुण्ठ ! वराह ! विष्णो ! नारायण ! सवके प्रभु ! महेश्वर !

---

[1] क. ग. जग्मुर्ज० । [2] ख. ते । [3] ख. ०व संप्रसीद । ज० । [4] क. ०प्रभाव । नि० । [5] क. ख. प्रजाहितार्थचय ।

उपेन्द्र योगिन्मधुकैटभघ्न विष्णो अनन्ताच्युत वासुदेव
श्रीशाङ्र्गचक्राम्बुजाशङ्खपाणे रक्षस्व देवेश्वर राक्षसेभ्यः ॥३३॥
त्वं पिता[1] जगतः शम्भो नान्यः शक्तः प्रबाधितुम् । निशाचरगणं भीममतस्त्वां शरणं गताः ॥३४॥
त्वन्नामसंकीर्तनतो निशाचरा द्रवन्ति भूतान्यपयान्ति[2] चारयः
नाशं तथा संप्रति यान्ति विष्णो धर्मादि सत्यं[3] भवतीह मुख्यम् ॥३५॥

व्यास उवाच

इथं स्तुतः स पितृभिर्धरणीधरस्तु तुष्टस्तदाऽऽविष्कृतदिव्यमूर्तिः ।
कोकामुखे पितृगणं सलिले निमग्नं देवो ददर्श शिरसाऽथ शिलां वहन्तम् ॥३६॥
तं दृष्ट्वा सलिले मग्नं क्रोडरूपी जनार्दनः । भीतं पितृगणं विष्णुरुद्धर्तुं[4] मतिरादधे ॥३७॥
दंष्ट्राग्रेण समाहत्य शिलां चिक्षेप शूकरः । पितॄनादाय च विभुरुज्जहार[5] शिलातलात् ॥३८॥
[6]वराहदंष्ट्रासंलग्नाः पितरः कनकोज्जवलाः । कोकामुखे गतभयाः [7]कृता देवेन विष्णुना ॥३९॥
उद्धृत्य च पितृन्देवो विष्णुतीर्थे[8] तु शूकरः । ददौ समाहितस्तेभ्यो[9] विष्णुर्लोहार्गले[10] जलम् ॥४०॥

प्रयाण कीजिये तथा डरे हुए (राक्षसों) को जीतिये । नाभि में कमल धारण करने वाले ! इन्द्र के छोटे भाई ! योगी ! मधु-कैटभ नामक राक्षसों को मारने वाले ! विष्णु ! अनन्त ! अच्युत ! वासुदेव ! धनुष, चक्र, कमल तथा शंख हाथों में धारण करने वाले ! देवों के ईश्वर ! राक्षसों से हमारी रक्षा करें ! कल्याण करने वाले ! आप संसार के पिता हैं । बिना आपके कोई नहीं भयानक राक्षस- समूह को मार सकता है । अतः हम लोग आपकी शरण में आये हैं । आपके नाम लेने से ही दैत्यगण भाग जाते हैं। (दुष्ट) प्राणी अलग हो जाते हैं तथा शत्रुसमूह विनष्ट हो जाते हैं । विष्णो ! यहाँ धर्म आदि सत्य ही मुख्य हैं ॥३१-३५॥

व्यास ने कहा—इस प्रकार पितरों द्वारा स्तुत होने पर धरणीधर भगवान् संतुष्ट हो गये और दिव्यमूर्ति धारण कर कोका के जल में डूबे हुए तथा शिर पर शिला को ढोते हुए पितरों की ओर देखने लगे ॥३६॥ वराहरूपी जनार्दन भगवान् पितरों को जल में निमग्न देखकर उन्हें उसमें से निकालने के लिए सोचने लगे ॥३७॥ शूकर रूपी भगवान् ने अपने दाँतों के अग्रभाग से शिला को तोड़कर शिलातल से पितरों को निकाला ॥३८॥ वराह के दाँतों में संलग्न एवं सुवर्ण के समान चमकने वाले पितरों को भगवान् विष्णु ने कोकातीर्थ में भयरहित कर दिया ॥३९॥ शूकर रूपधारी विष्णु ने पितरों का उद्धार कर विष्णुतीर्थ में सावधान होकर लोहे के अर्गल में उन्हें जल दिया ॥४०॥ तब अपने रोओं से उत्पन्न कुशों को लेकर केशव ने अपने पसीनों से तिल उत्पन्न किया,

---

[1]ग. धाता । [2]क. ख. ०न्यपि या० । [3]ग. सर्व भ० । [4]ग. ०द्धर्तुमुपचक्रमे । दं । [5]ख. ग. ०र रसात० । [6]घ. ०हदेहसं० । [7]ग. हृता । [8]ग. ०र्थेन शू० । [9]ख. ०स्तेभ्यस्तिललोमार्गति ज० । [10]घ. ०हाकुलं ज० ।

ततः स्वरोमसंभूतान्कुशानादाय केशवः। स्वेदोद्भवांस्तिलांश्चैव चक्रे[१] चोल्मुकमुत्तमम् ।।४१।।
ज्योतिः सूर्यप्रभं कृत्वा पात्रं तीर्थं च कामिकम्। स्थितः [२] कोटिवटस्याधो वारि गङ्गाधरं शुचि[३] ।।४२।।
तुङ्गकूटात्समादाय यज्ञीयानोषधीरसान्। मधुक्षीररसान्गन्धान्पुष्पधूपानुलेपनान् ।।४३।।
आदाय धेनुं सरसो रत्नान्यादाय चार्णवात्। दंष्ट्रयोल्लिख्य धरणीमभ्युक्ष्य सलिलेन च ।।४४।।
धर्मोद्भवेनोपलिप्य कुशैरुल्लिख्य तां पुनः। [४] परिणीयोल्मुकेनैनामभ्युक्ष्य च पुनः पुनः ।।४५।।
कुशानादाय प्रागग्रांल्लोमकूपान्तरस्थितान्। ऋषीनाहूय पप्रच्छ करिष्ये पितृतर्पणम् ।।४६।।
तैरप्युक्ते कुरुष्वेति विश्वान्देवांस्ततो विभुः। आहूय मन्त्रतस्तेषां विष्टराणि ददौ प्रभुः ।।४७।।
आहूय मन्त्रतस्तेषां वेदोक्तविधिना हरिः। अक्षतैर्देवतारक्षां चक्रे चक्रगदाधरः ।।४८।।
अक्षतास्तु[५] यवौषध्यः सर्वदेवांशसंभवाः[६]। रक्षन्ति सर्वत्र[७] दिशो रक्षार्थं निर्मिता हि ते ।।४९।।
देवदानवदैत्येषु यक्षरक्षःसु चैव हि। नहि कश्चित्क्षयं तेषां कर्तुं शक्तश्चराचरे ।।५०।।
[८]न केनचित्कृतं(त्क्षता) यस्मात्तस्मात्ते ह्यक्षताः कृताः। देवानां ते हि रक्षार्थं नियुक्ता विष्णुना पुरा ।।५१।।
[९] कुशगन्धयवैः पुष्पैरर्घ्यं कृत्वा च शूकरः। विश्वेभ्यो देवेभ्य इति ततस्तान्पर्यपृच्छत ।।५२।।

एक उत्तम अंगार को सूर्य के समान प्रभा से युक्त किया, इच्छानुसार तीर्थ को पात्र बनाया और कोटि वट वृक्ष के नीचे स्थित होकर गंगा को धारण करने वाला पवित्र जल उत्पन्न किया। फिर वे पर्वत के शिखरों पर से यज्ञीय ओषधियाँ, मधु, दूध, गन्ध, पुष्प, धूप तथा चन्दन ले आए ।।४१-४३।। सरोवर से धेनु तथा समुद्र से रत्न ले आए। दाँतों से पृथ्वी पर रेखा खींच कर जल से उसे अभिषिक्त किया फिर उसे लीपकर कुशों से रेखा खींच कर पसीने से उत्पन्न प्रणीता-पात्र के जल से उसे अभिषिक्त किया ।।४४-४५।। अपने लोम-कूप के भीतर स्थित कुशों के अग्रभाग को पूर्वाभिमुख कर ऋषियों को बुलाकर उनसे कहा कि मैं पितृतर्पण करूँगा ।।४६।। उन्होंनें भी कहा कि कीजिए। तब विश्वेदेवों को बुलाकर विभु ने मन्त्र पढ़कर उन्हें आसन दिया ।।४७।। वेदोक्त विधि से मन्त्रोच्चारण पूर्वक उन्हें बुलाकर चक्र-गदा-धारी हरि ने अक्षतों से देवताओं की रक्षा की ४८।। यव तथा ओषधियाँ अक्षत हैं। निखिल देवों के अंश से इनकी उत्पत्ति हुई है ।।४९।। सब जगह दिशाओं की रक्षा निमित्त इनका निर्माण हुआ है ।।४९।। देव, दानव, दैत्य, यक्ष, राक्षस तथा चराचरों में इनका नाश कोई नहीं कर सकता।।५०।। किसी ने इनका नाश नहीं किया, इसलिये इनका नाम अक्षत पड़ा। पहले देवताओं की रक्षा के लिए विष्णु ने इन्हें नियुक्त किया था।।५१।। शूकर रूपधारी विष्णु ने कुश, गन्ध, यव, पुष्प तथा अर्घ लेकर विश्वेदेवों से कहा कि मैं जितने दिव्य-देह धारी तथा मनुष्य- शरीर-धारी पितर हैं, उन सबको बुलाऊँगा? उन्होंने

१ख. ०क्रे त्रैलोक०। २क. ०टितट०। ३क.ख. ०चि। उग्रकूटे समा०। ४क. ०नैव तानभ्यु०। ५क. ०तास्त्वथ चौष०। ६क. ०देवास्थिसं०। ७ख. सर्वं त्रिदशा र०। ८क.नतेन चाक्षितं। ख०न तेन वाक्षतं। ९ग. ०न्धमयैः पु०।

पितृनावाहयिष्यामि ये दिव्या ये च मानुषाः। आवाहयस्वेति च तैरुक्तस्त्वावाहये(य) च्छुचिः[१]।।५३।।
श्लिष्टमूलाग्रदर्भांस्तु [२] सतिलान्वेद वेदवित्। जानावारोप्य हस्तं तु [३] ददौ सव्येन चाऽऽसनम्।।५४।।
तथैव जानुसंस्थेन करेणैकेन तान्पितॄन्[४]। [५] वाराहः पितृविप्राणामायान्तु[६] न इतीरयन्[७]।।५५।।
अपहतेत्युवाचैव रक्षणं चापसव्यतः। कृत्वा चाऽऽवाहनं चक्रे पितॄणां नामगोत्रतः।।५६।।
तत्पितरो(पितरोऽत्र) मनोजराना) वा आ (गच्छत इतरीयन् (?)। संवत्सरैरित्युदीर्य ततोऽर्घ्यं तेषु विन्यसेत्।।५७।।
यास्तिष्ठन्त्यमृता वाचो[८] यन्मेति[९] च पितुः पितुः। यन्मे [१०] पितामहेत्येवं ददावर्घ्यं पितामहे[११]।।५८।।
यन्मे प्रपितामहेति[१२] ददौ च प्रपितामहे[१३]। कुशगन्धतिलोन्मिश्रं सपुष्पमपसव्यतः।।५९।।
तद्वन्मातामहेभ्यस्तु विधिं चक्रे जनार्दनः। तानर्च्य भूयो गन्धाद्यैर्धूपं दत्त्वा तु [१४] भक्तितः।।६०।।
आदित्या वसवो रुद्रा इत्युच्चार्य जगत्प्रभुः। ततश्चान्नं समादाय [१५] सर्पिस्तिलकुशाकुलम्।।६१।।
विधाय[१६] पात्रे[१७] तच्चैव पर्यपृच्छत्ततो मुनीन्। अग्नौ करिष्य इति तैः कुरुष्वेति च चोदितः।।६२।।
[१८] आहुतित्रितयं [१९] दद्यात्सोमायाग्नेर्यमाय च। ये मामकेति च जपेद्यजुः सप्तकमच्युतम्।।६३।।

कहा—'बुलाओ'। तब वेदवेत्ता हरि ने पवित्र होकर घुटने पर हाथ रखकर तिलयुक्त कुशों के मोटक(मोड़े) पितरों को आसन रूप में दिये। घुटने पर एक हाथ रखे ही वाराह ने 'आयान्तु नः' यह मन्त्र पढ़कर 'अपहता' यह मन्त्र भी जनेऊ को दाहिने कंधे पर रख कर पढ़ा। तब पितरों के नाम-गोत्र उच्चारण कर 'तत्पितरो मनोजरानागच्छत, संवत्सरैः' यह पढ़कर आवाहन किया। 'यास्तिष्ठन्त्यमृता वाचो यन्मेतिं च पितुः' इस मन्त्र से पिता को अर्घ दिया। 'यन्मे पितामह' इस मन्त्र से पितामह को अर्घ दिया।।५२-५८।। 'यन्मे प्रपितामह' इस मन्त्र से प्रपितामह को दिया। अपसव्य होकर (जनेऊ दाहिने कंधे पर रखकर) कुश, गन्ध, तिल तथा पुष्प दिये।।५९।। इसी प्रकार मातामह आदि को भी जनार्दन ने सब कुछ दिया। पुनः गन्ध आदि से उनकी पूजा कर भक्तिपूर्वक धूप देकर जगत्स्वामी विष्णु ने 'आदित्या वसवो रुद्राः' इस पन्त्र का उच्चारण किया। तब एक पात्र में अन्न, घी, तिल तथा कुश रखकर मुनियों से निवेदन किया कि मैं अग्नि में आहुति दूंगा। उन्होंने कहा—दीजिये' ।।६०-६२।।तब वाराह ने चन्द्रमा, अग्नि तथा यम के लिये तीन आहुतियाँ डालीं। 'ये मामक' इस मन्त्र का जप किया। हवन

१क. ०चिः। शिष्ट० २क. ०सलिलाद्वेदवाचिनः। जा० ख सलिलाद्येन केनचित्। ३क. ०दौ चाऽऽवाहनास०। ख. ०दौ काव्यं सनातनं०। ४क. ख. ०न्। आप्याययन्तु पितरः सयवांस्तिलबर्हिषा। वा। ५ग. ०राहोऽपि त्रिवि०। ६क. ख. ०माप्याययन्त्विती०। ७क. ०न्०। संवत्सरेति दत्त्वार्घं ततोऽर्घं चा०। ख. न्। संवत्सरे ततो दीर्घं तेषु तेषु च स०। ८ ०न्मे पितुस्तत्पितुश्च तत्। तन्मे। ९ग. ०ति पितृतत्पितुः। १०ग. ०महीत्ये०। ११क. ०हेऽप्येवं दद्यादर्घ्यं समाहितः।कु०। १२ग. ०महीति। १३ख. ०महम्। कु०। १४ख. ख. शक्तितः। १५क. ०शान्वितम। १६ग. पिधाय। १७ख. ग. ०त्रेणान्येन म०। १८ख. ०तिभिश्चरुं द०। १९ख. ०मायेति यमा०।

हुतावशिष्टं च ददौ नामगोत्रसमन्वितम् । त्रिराहुतिकमेकैकं पितरं तु प्रति द्विजाः ॥६४ ॥
अतोऽवशिष्टमन्नाद्यं पिण्डपात्रे[1] तु निक्षिपेत् । तोऽन्नं सरसं स्वादु ददौ पायसपूर्वकम् ॥६५ ॥
प्रत्यग्रमेकदा[2] स्विन्नमपर्युषितमुत्तमम् । अल्पशाकं बहुफलं षड्रसममृतोपमम् ॥६६ ॥
यद्ब्राह्मणेषु प्रददौ पिण्डपात्रे पितॄंस्तथा । वेद (देव) पूर्वंपितृस्व (ष्व) न्नमाज्यप्लुतं मधूक्षितम् ॥६७ ॥
मन्त्रितं पृथिवीत्येवं [3]मधुवातातृचं जगौ । भुञ्जानेषु तु विप्रेषु जपन्वै मन्त्रपञ्चकम् ॥६८ ॥
[4]यत्ते प्रकारमारभ्य [5]नाधिकं[6] ते ततो जगौ । त्रिमधु त्रिसुपर्णं च बृहदारण्यकं तथा ॥६९ ॥
जजाप वैषां जाप्यं तु सूक्तं सौरं सपौरुषम् । भुक्तवत्सु च विप्रेषु पृष्ट्वा तृप्ताःस्थ [7]इत्युत ॥७० ॥
तृप्ताः स्मेति [8]सकृत्तोयं ददौ मौनविमोचनम् । पिण्डपात्रं [9]समादाय च्छायायै प्रददौ ततः ॥७१ ॥
[10]सा तदन्नं द्विधा कृत्वा त्रिधैकैकमथाकरोत् । वाराहो भूमथोल्लिख्य समाच्छाद्य[11] कुशैरपि ॥७२ ॥
दक्षिणाग्रान्कुशान्कृत्वा[12] तेषामुपरि चाऽऽसनम् । सतिलेषु समूलेषु कुशेष्वेव तु संश्रयः ॥७३ ॥
गन्धपुष्पादिकं कृत्वा ततः पिण्डं तु भक्तितः । पृथिवी [13] दधीरित्युक्त्वा ततः पिण्डं (पित्रे) प्रदत्तवान्
॥७४ ॥
पितामहाः [14]प्रपितामहास्तथेति (?) चान्तरिक्षतः । मातामहानामप्येवं ददौ पिण्डान्स शूकरः ॥७५ ॥

के अवशिष्ट पदार्थ भी पितरों के नाम-गोत्र उच्चारण करके दे दिये। एक-एक पितर के प्रति तीन-तीन आहुतियाँ दीं। तब अवशिष्ट अन्न, आदि को पिण्डपात्र में रखकर सरस तथा सुस्वादु खीर एवम् अन्न दिये॥६३-६५॥ नया, ताजा तथा उत्तम शाक, अनेक फल, अमृत के समान छहों प्रकार के रस ब्राह्मणों को खिलाये तथा पिण्डपात्र में पितरों को प्रदान किये। अन्न को घी तथा मधु से सिक्त एवम् 'पृथिवी' इस मन्त्र से अभिमन्त्रित कर दिया। 'मधुवाता' इस ऋचा का भी पाठ किया॥६६-६७½॥ ब्राह्मणों को भोजन कराते समय 'यत्ते प्रकारम्, नाधिकम्' त्रिमधु, त्रिसुपर्णम्, वृहदारण्यकम्' इन पाँच मन्त्रों का जप किया॥६८-६९॥ फिर 'सहस्रीशीर्षा' इत्यादि पुरुष सूक्त का पाठ किया। ब्राह्मणों के भोजन कर लेने पर उनसे पूछा— 'आप तृप्त तो हुए?' 'हम तृप्त हैं'— ऐसा ब्राह्मणों के कहने पर उन्हें जल दिया और पिण्डपात्र उठाकर छाया को दे दिया॥७०-७१॥ छाया ने उस अन्न के दो भाग किये और फिर एक-एक के तीन भाग किये। वाराह ने भूमि पर रेखा खींचकर कुशों से उसे आच्छादित कर दिया॥७२॥ कुशों के अग्र भागों को दक्षिण की ओर करके उनके ऊपर आसन दिया। मूल तथा तिल से युक्त कुशों के ऊपर गन्ध, पुष्प आदि रखकर भक्ति से पिण्ड दिया। 'पृथिवी दधीः' यह पढ़कर पिता को पिण्ड दिया॥७३-७४॥ पितामह तथा प्रपितापह को भी उस प्रकार पिण्ड दिया। वाराह ने मातामह आदि को भी उसी प्रकार पिण्ड दिया॥७५॥ पिण्ड के उच्छिष्ट अन्न को लेप भाग खाने वाले पितरों को दिया।

१क. ख. ०त्रेषु नि०। २क. ०दाऽप्यन्नमांसाद्यं तन्मधूक्षि०। ३ग. ०वातं ततो ज०। ४ग. यतः। ५ग. नाचिकेतं त०। ६ख. ०धिकान्ते त०। ७ग. इत्यपः। ८ख. घ. ०कृद्देवो द०। ९क. ०य मधुवाता जगौ त०। १०क. ख. स.। ११ख. घ. समुत्सृज्य। १२घ. ०शान्दत्त्वा। १३ख. दस्युरि०। १४ख. ०हास्तृप्येचान्तररक्षितः।

पिण्डनिर्वापणोच्छिष्टमन्नं लेपभुजेष्वदात् । एतद्वः पितरित्युक्त्वा ददौ वासांसि भक्तितः ॥७६॥
[१]द्व्यङ्गुलजानि शुक्लानि धौतान्यभिनवानि[२] च । गन्धपुष्पादिकं दत्त्वा कृत्वा चैषां प्रदक्षिणाम् ॥७७॥
आचम्याऽऽचमयेद्विप्रान्पैत्रानादौ ततः सुरान् । [३]ततस्त्वभ्युक्ष्य तां भूमिं दत्त्वाऽपः सुमनोक्षतान् ॥७८॥
सतिलाम्बु पितृष्वादौ दत्त्वा देवेषु साक्षतम्[४] । अक्षय्यं नस्त्विति पितृन्प्रीयतामिति[५] देवताः ॥७९॥
प्रीणयित्वा परावृत्य त्रिर्जपेच्चाघमर्षणम् । ततो निवृत्य तु [६]जपेद्यन्मे नाम इतीरयन्[७] ॥८०॥
गृहान्नः पितरो दत्त धनधान्यप्रपूरितान् । अर्घ्यपात्राणि पिण्डानामन्तरे[८] स[९] पवित्रकान्[१०] (?) ॥८१॥
निक्षिप्योर्जं वहन्तीति कोकातोयमथोऽजपत् । हिमक्षीरं मधुतिलान्पितॄणां तर्पणं ददौ ॥८२॥
स्वस्तीत्युक्ते पैतृकैस्तु सोराह्ले प्नावतर्पयन्(?) । रजतं दक्षिणां दत्त्वा विप्रान्देवो गदाधरः ॥८३॥
संविभागं मनुष्येभ्यो ददौ स्वदिति[११] चाब्रुवन् । कश्चिच(च्चि) त्संपन्नमि(त्यु) क्त्वा प्रत्युक्तस्तैर्द्विजोत्तमाः ॥८४॥
अभिरम्यतामित्युवाच प्रोचुस्तेऽभिरताः स्म वै । शिष्टमन्नं च पप्रच्छ तैरिष्टैः सह चोदितः ॥८५॥
पाणावादाय तान्विप्रान्कुर्यादनुगतस्त[१२] (तं तं) दा । वाजे वाजे इति [१३]पठन्बहिर्वेदिं विनिर्गतः ॥८६॥
कोटितीर्थजलेनासावपसव्यं समुत्क्षिपन् । [१४]अलग्नान्विपुलान्वालान्प्रार्थयामास चाशिषम्। ॥८७॥
दातारो नोऽविर्धन्तां तैस्तथेति समीरितः । प्रदक्षिणमुपावृत्य कृत्वा पादाभिवादनम् ॥८८॥

'एतद्वः पितः' इस मंत्र से भक्तिपूर्वक दो अंगुल प्रमाण स्वच्छ तथा नवीन वस्त्र दिये। फिर गन्ध, पुष्प आदि देकर प्रदक्षिणा की ॥७६-७७॥ तदनन्तर स्वयं आचमन किया और ब्राह्मणों तथा देवाताओं को आचमन कराया। तब भूमि को जल से सिक्त कर पितरों तथा देवताओं को जल, पुष्प, अक्षत तथा तिल दिया। फिर 'अक्षय्यं नः अस्तु' इससे पितरों को और 'प्रीयताम्' इससे देवताओं को जल दिया ॥७८-७९॥ जल देकर तीन बार 'अघमर्षण' मंत्र का जप किया। तदनन्तर 'यन्मे' इसका पाठ किया ॥८०॥ 'गृहान्नः.........कोकातोयम्' इसका भी जप किया। दूध, मधु तथा तिल से पितरों का तर्पण किया ॥८१-८२॥ गदाधारी हरि ने ब्राह्मणों को दक्षिणा में चाँदी देकर उनसे स्वस्तिवाचन करवाया। 'स्वत्' यह पढ़कर मनुष्यों को भाग दिया। भाग्य से संपन्न हो गया यह कहकर हरि ने ब्राह्मणों से विराम करने को कहा। उन्होंने उत्तर दिया—' हम विराम कर रहे हैं। तब अवशिष्ट अन्न को हाथ में उठाकर ब्राह्मणोंको दे दिया। 'वाजे वाजे' यह पढ़ते हुए हरि वेदी के पास से उठकर बाहर आये। करोड़ों तीर्थों के जल में अपने विपुल बालों को फेंक कर अपसव्य होते हुए आशीर्वाद के लिये 'दातारो' इस मन्त्र से पितरों की प्रार्थना की। फिर प्रदक्षिणा करके उनकी चरणवन्दना की ॥८३-८८॥ वाराह ने उन्हें

१क. ख. द्विगुणेयानि। २ख. ०न्यप्यजिनानि। ३क. ततः सुप्रोक्षितां। ४क. ख. ०म्। आक्षिप्तमिति। ५क. ख. ०तृन्वै प्रीय०। ६क. ०पेद्येन मेनामिती०। ७ख. ०न्। धारान्नपितरो दत्तधारान्नप्रददौ ततः। अ०। ग. ०न्। वीराधः। पितरो द्वावीरान्प्रददौ ततः। अ०। ८क. ०नामितरे। ९ख. समविन्नकाम्। राजतं। १०क. ०न्। राजतं। ११क. ०दितमीरयन्। १२क. ख. ०नुमत०। १३ग. ०ठन्नन्तर्वे। १४ग. ०लान्धानान्प्रा०।

आसनानि ददौ चैषां छादयामास शूकरः । विश्राम्यतां[1] प्रविश्याथ पिण्डं जग्राह मध्यमम् ॥८९॥
छायामयीमही पत्नी तस्यै पिण्डमदात्प्रभुः । आधत्त पितरो गर्भमित्युक्त्वा साऽपि रूपिणी ॥९०॥
पिण्डं गृहीत्वा विप्राणां चक्रे पादाभिवन्दनम् ।विसर्जनं पितॄणां स कर्तुकामश्च शूकरः ॥९१॥
कोका च पितरश्चैव प्रोचुः स्वार्थकरं वचः । शप्ताश्च भगवन्पूर्वं दिवस्था हिमभानुना ॥९२॥
योगभ्रष्टा भविष्यध्वं सर्वं एव दिवश्च्युताः । तदेव भवता त्राताः प्रविशन्तो रसातलम् ॥९३॥
योगभ्रष्टांश्च [2]विश्वेशास्तत्यजुर्योगरक्षिणः । तत्ते भूयोऽभिरक्षन्तु विश्वे देवा हि नः सदा ॥९४॥
स्वर्गं यास्यामश्च विभो प्रसादात्तव शूकर । सो (य) मोऽधिदेवोऽस्माकं च भवत्वच्युत योगधृक् ॥९५॥
योगाधारस्तथा सोमस्त्रायते न कदाचन । दिवि भूमौ [3] सदा वासो भवत्वस्मासु योगतः ॥९६॥
अन्तरिक्षे च [4]केषांचिन्सासं पुष्टिस्तथाऽस्तु नः । ऊर्जा चेयं हि नः पत्नी स्वधानाम्ना तु विश्रुता ॥९७॥
भवत्वेषैव योगाढ्या योगमाता च खेचरी । इत्येवमुक्तः पितृभिर्वाराहो भूतभावनः ॥९८॥
प्रोवाचाथ पितॄन्विष्णुस्तां च कोकां महानदीम् । यदुक्तं तु भवद्भिर्मे सर्वमेतद्भविष्यति ॥९९॥
यमोऽधिदेवो भवतां सोमः स्वाध्याय ईरितः । अधियज्ञस्तथैवाग्निर्भवतां कल्पना त्वियम् ॥१००॥
अग्निर्वायुश्च सूर्यश्च स्थानं हि भवतामिति । ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च भवतामधिपूरुषाः ॥१०१॥

आसन देकर विश्राम करने को कहा । तदनन्तर प्रभु ने गृह में प्रवेश कर बीच के पिण्ड को उठा लिया और अपनी स्त्री छायामयी पृथ्वी को दे दिया । सुन्दरी छाया ने भी 'आधत्त पितरो गर्भम्' यह कहकर पिण्ड को ग्रहण किया और ब्राह्मणों की चरणवन्दना की । तब वाराह ने पितरों का विसर्जन कराना चाहा ॥८९-९१॥ उस समय कोका और पितर स्वार्थयुक्त वचन कहने लगे— 'भगवन् ! पहले स्वर्ग में रहने वाले चन्द्रमा ने हमें शाप दिया था कि तुम लोग योगभ्रष्ट होकर स्वर्गच्युत हो जाओगे । सो इस प्रकार पाताल में प्रवेश करने से हमें आपने बचा लिया । योगरक्षक विश्वदेव ने हमें योगभ्रष्ट समझकर छोड़ दिया था सो अब विश्वेदेव पुनः सतत हमारी रक्षा करें ॥९२-९४॥ विभो ! आपकी कृपा से हम स्वर्ग जाँय । अच्युत ! योगधारण करने वाले चन्द्रमा हमारे अधिनायक हों । योग के आधार चन्द्रमा सतत हमारी रक्षा करें । योगबल से सदा हम पृथ्वी पर तथा स्वर्ग में वास करें ॥९५-९६॥ कुछ मासों तक आकाश में हमारा पोषण हो । स्वधा नाम से प्रख्यात यह ऊर्जा हमारी पत्नी है । यही योग से सम्पन्न होकर आकाशचारिणी योगमाता हो' ॥९७½॥ पितरों के इतना कहने पर सृष्टिकर्ता वराहरूपधारी विष्णु पितरों तथा महानदी कोका से कहने लगे— 'आपने जो, कुछ मुझसे कहा, वह सब होगा ॥९८-९९॥ आप के यम देवता, चन्द्रमा स्वाध्याय और अग्नि यज्ञ होंगें । आपकी कल्पना तो यही है न ? ॥१००॥ अग्नि, वायु तथा सूर्य आपका स्थान होंगे । ब्रह्मा विष्णु तथा शिव आपके पूर्व पुरुष कहलायेंगें ॥१०१॥ सूर्य, वसु तथा रुद्र आपकी मूर्तियाँ कहलायेंगे । आप योगी, योगशरीरधारी, योगाधार तथा सुव्रती

---

[1] क. विश्रम्य । [2] ग. जुर्येन र० । [3] क. ख. ०दाऽध्या । [4] क. केनापि सा सा पु० ।

आदित्या वसवो रुद्रा भवतां मूर्तयस्त्विमाः। योगिनो योगदेहाश्च योगाधाराश्च सुव्रताः ॥१०२॥
कामतो विचरिष्यध्वं फलदाः सर्वजन्तुषु। स्वर्गस्थान्नरकस्थांश्च भूमिस्थांश्च चराचरन् ॥१०३॥
नियोगबलेनैवाऽऽप्याययिष्वध्वमुत्तमाः। इयमूर्जा शशिसुता कीलालमधुविग्रहा ॥१०४॥
भविष्यति महाभागा दक्षस्य दुहिता स्वधा[1]। तत्रेयं [2] भवतां पत्नी भविष्यति वरानना ॥१०५॥
[3]कोकानदीति विख्याता गिरिराजसमाश्रिता। [4]तीर्थकोटिमहापुण्या मद्रूपपरिपालिता ॥१०६॥
अस्यामद्य प्रभृति वै निवत्स्याम्यघनाशकृत्। वराहदर्शनं पुण्यं पूजनं[5] भुक्तिमुक्तिदम् ॥१०७॥
कोकासलिलपानं च महापातकनाशनम्। [6]तीर्थेष्वाप्लवनं पुण्यमुपवासश्च स्वर्गदः ॥१०८॥
दानमक्षय्यमुदितं जन्ममृत्युजरापहम्। माघे मास्यसिते[7] पक्षे भवद्भिरुडुपक्षये ॥१०९॥
कोकामुखमुपागम्य स्थातव्यं दिनपञ्चकम्। तस्मिन्काले तु यः श्राद्धं पितृणां निर्वपिष्यति ॥११०॥
प्रागुक्तफलभागी स भविष्यति न[8] संशयः। एकादशीं द्वादशीं च स्थेयमत्र मया सदा ॥१११॥
यस्तत्रोपवसेद्धीमान्स प्रागुक्तफलं लभेत्। तद्व्रजध्वं महाभागाः स्थानमिष्टं यथेष्टतः ॥११२॥
अहमप्यत्र वत्स्यामीत्युक्त्वा सोऽन्तरधीयत। गते वराहे पितरः कोकामामन्त्र्य ते ययुः ॥११३॥

होकर स्वेच्छा से विचरण करेंगें और समस्त जीवों को फल देगें ॥१०२½॥ आप स्वर्ग में, पृथ्वी पर नरक में रहने वाले समस्त चराचरों को अपने योगवल से समृद्ध करेंगें। यह चन्द्रमा की पुत्री ऊर्जा, जिसका शरीर जल तथा मधु का है, दक्ष की महाभाग्यवती तथा स्वधा नाम से प्रख्यात कन्या होगी। वहीं पर यह सुमुखी आपकी पत्नी होगी ॥१०३-१०५॥ यह हिमालय के अधीन होकर कोकानदी नाम से विख्यात होगी और करोड़ों तीर्थ के समान पुण्यदायक एवम् मेरे रूप से सुरक्षित होगी ॥१०६॥ आज से लेकर मैं इसमें निवास करूँगा। और लोगों के पापों का नाश करूँगा। वराह के दर्शन तथा पूजन पुण्यकारक तथा भोग-मोक्ष-दायक हैं ॥१०७॥ कोका का जल पान करने से महापापों का नाश होता है। तीर्थों में स्नान पुण्यकारक एवम् उपवास स्वर्गदायक माना जाता है ॥१०८॥ कभी नष्ट न होने वाला दान तो अक्षय्य तथा जन्म, मृत्यु एवं बुढ़ापे का नाश करने वाला होता है। माघ मास के कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा के क्षय होने पर आप लोग कोका तीर्थ में आकर पाँच दिन ठहरेंगे ॥१०९½॥ उन दिनों जो यहाँ पितरों का श्राद्ध करेगा, वह निःसन्देह पूर्वकथित फल का भागी होगा ॥११०½॥ एकादशी और द्वादशी तिथि को मैं यहाँ सदा रहूँगा। जो बुद्धिमान् मनुष्य उन तिथियों में यहाँ उपवास करेगा, वह पूर्वकथित फल प्राप्त करेगा ॥१११½॥ महाभागो ! इस लिये आप लोग स्वेच्छा से अपने वांछित स्थान को जाइये। मैं भी यहाँ निवास करूँगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गये ॥११२½॥ वराह के विलीन हो जाने पर पितर लोग कोका से विदाई लेकर चले गये। कोका भी तीर्थ के साथ हिमालय पर रहने लगी। पृथ्वीमयी छाया ने, जिसने शूकरी का

---

[1] क. ०धा। आत्रेयदुहिता प०। [2] ख. दुहिता। [3] ख. ०का नाम्ना च वि०। [4] क. ०टिवहा। [5] क. पूजया। ख. पूजायां तु विमु०। [6] क. ०र्थेष्वल्पं तथा दानमु०। [7] क. मासेऽसिं०। ख. मासि सि० [8] क. ख. नरोत्तमः ए०।

कोकाऽपि तीर्थसहिता संस्थिता गिरिराजनि । छाया महीमयी क्रोडो पिण्डप्राशनबृंहिता ।।११४।।
[१]गर्भमादाय सश्रद्धा वाराहस्यैव सुन्दरी। ततोऽस्याः[२] प्राभवत्पुत्रो भौमस्तु नरकासुरः ।।[३]
प्राग्ज्योतिषं च नगरमस्य दत्तं च विष्णुना ।।११५।।
एवं मयोक्तं वरदस्य विष्णोः कोकामुखे दिव्यवराहरूपम्।
श्रुत्वा नरस्त्यक्तमलो विपाप्मा दशाश्वमेधेष्टिफलं लभेत ।।११६।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासऋषिसंवादे श्राद्धविधिनिरूपणं
नामैकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः।।२१९।।

अथ विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्राद्धकल्पवर्णनम्

मुनय ऊचुः

भूयः प्रब्रूहि भगवञ्श्राद्धकल्पं सुविस्तरात्। कथं क्व च कदा केषु [४]कैस्तद्ब्रूहि तपोधन ।।१।।

व्यास उवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः श्राद्धकल्पं सुविस्तरात्। यथा तत्र यदा [५]येषु यैर्द्रव्यैस्तद्वदाम्यहम् ।।२।।

रूप बनाकर पिण्ड का भक्षण किया था, श्रद्धापूर्वक वाराह ही का गर्भ धारण किया। तदनन्तर छाया के नरकासुर भौम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। विष्णु ने उसे प्राग्ज्योतिष नामक नगर (आधुनिक गोहाटी) दिया। इस प्रकार मैंने वरदायक विष्णु के कोकातीर्थ में दिव्यवराह रूप धारण करने का कारण बतला दिया। जो इस आख्यान को सुनेगा, वह निर्मल तथा पापरहित होकर दश अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त करेगा।।११३-११६।।

श्री ब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में श्राद्धविधिनिरूपण नामक दो सौ
उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२१९ ।।

अध्याय २२०

श्राद्धकल्प का वर्णन

मुनियों ने कहा—भगवन् ! पुनः श्राद्धकल्प को विस्तार से बतलाइये। तपोधन ! कैसे, कहाँ, किस समय, किन स्थानों में तथा किन द्रव्यों से श्राद्ध करना चाहिये, वह बताइए।।१।।

व्यास ने कहा—मुनिश्रेष्ठो ! आप लोग श्राद्धकल्प को विस्तारपूर्वक सुनिये। जिस प्रकार, जहाँ जब, जिन स्थानों में तथा जिन द्रव्यों से श्राद्ध करना चाहिये, वह मैं बतलाता हूँ।।२।। कुलधर्मों को मानने वाले ब्राह्मण,

---

[१] ग. ०य संस्पर्शाद्वरा०। [२] ख. ०स्यामभ०। [३] ग. ०रकोऽसु०। [४] क. कैस्तु ब्रूहि। [५] क. येन।

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः [१]श्राद्धं स्ववरणोदितम् । [२]कुलधर्ममनुतिष्ठद्भिर्दातव्यं मन्त्रपूर्वकम् ॥३॥
स्त्रीभिर्वर्णावरैः [३]शूद्रैर्विप्राणामनुशासनात्[४] । अमन्त्रकं विधिपूर्वं [५]वह्नियागविवर्जितम् ॥४॥
पुष्करादिषु तीर्थेषु पुण्येष्वायतनेषु च[६] । शिखरेषु गिरीन्द्राणां पुण्यदेशेषु भो द्विजाः ॥५॥
सरित्सु पुण्यतोयासु नदेषु च सरःसु च । संगमेषु नदीनां च समुद्रेषु च सप्तसु[७] ॥६॥
स्वनुलिप्तेषु गेहेषु स्वेष्वनुज्ञापितेषु च। दिव्यपादपमूलेषु यज्ञियेषु ह्रदेषु च ॥७॥
श्राद्धमेतेषु दातव्यं वर्ज्यमेतेषु चोच्यते । किरातेषु कलिङ्गेषु कोङ्कणेषु[८] कृमिष्वपि ॥८॥
दशार्णेषु कुमार्येषु तङ्गणेषु क्रथेष्वपि[९] । सिन्धोरुत्तरकूलेषु नर्मदायाश्च दक्षिणे ॥९॥
पूर्वेषु करतोयाया[१०] न देयं श्राद्धमुच्यते । श्राद्धं देयमुशन्तीह मासि[११] मास्युडुपक्षये ॥१०॥
पौर्णमासेषु(?) श्राद्धं च [१२] कर्तव्यमृक्षगोचरे । नित्यश्राद्धमदैवं च [१३] मनुष्यैः सह गीयते ॥११॥
नैमित्तिकं सुरैः सार्धं नित्यं नैमित्तिकं तथा । [१४] काम्यान्यन्यानि श्राद्धानि प्रतिसंवत्सरं द्विजैः ॥१२॥
वृद्धिश्राद्धं च कर्तव्यं जातकर्मादिकेषु [१५] च । तत्र [१३] युग्मान्द्विजानाहुर्मन्त्रपूर्वं तु वै द्विजाः ॥१३॥
कन्यां गते सवितरि दिनानि दश पञ्च च[१७] । पूर्वेणैवेह विधिना श्राद्धं तत्र विधीयते ॥१४॥

क्षत्रिय तथा वैश्य अपने वर्णधर्मानुसार मन्त्रपूर्वक श्राद्ध करें ॥३॥ स्त्री तथा वर्णों में नीच शूद्र ब्राह्मणों की तरफ से विना मन्त्र के अग्नि तथा यज्ञ से रहित विधिपूर्वक श्राद्ध करे ॥४॥ द्विजवृन्द ! पुष्कर आदि तीर्थों में, पवित्र भवनों में, पर्वतों के शिखरों पर, पवित्र देशों में, पवित्र जलवाली नदियों, नदों, सरोवरों, नदियों के संगमों, सातों समुद्रों के किनारे, अच्छी तरह लीपे-पोते हुए अपने घरों में या आज्ञा लेकर दूसरे के घरों में, दिव्य वृक्षों के मूलों में, यज्ञिय स्थानों में तथा झीलों के पास श्राद्ध करना चाहिये। अब कहाँ नहीं करना चाहिये, वह बतलाता हूँ ॥५-७१/२॥ किरातदेश, कलिंगदेश, कोंकणदेश, कृमिदेश, दशार्णदेश, कुमार्यदेश, तंगणदेश, क्रथदेश, सिन्धु नदी से उत्तर, नर्मदा से दक्षिण तथा करतोया से पूर्व देशों में श्राद्ध नहीं देना चाहिये ॥८-९१/२॥ प्रत्येक मास में चन्द्रक्षय होने पर श्राद्ध देना चाहिये। पूर्णिमा को नक्षत्रगोचर होने पर श्राद्ध करना चाहिये। मनुष्यों के साथ जो किया जाता है। वह नित्यश्राद्ध तथा अदैव श्राद्ध कहलाता है ॥१०-११॥ देवताओं के साथ होने वाला श्राद्ध नैमित्तिक कहलाता है। अन्य जो प्रतिवर्ष श्राद्ध किये जाते हैं, वे काम्य कहलाते हैं। द्विजों को जातकर्म आदि संस्कारों में वृद्धिश्राद्ध अर्थात् नान्दीश्राद्ध करना चाहिये। वहाँ दो-दो ब्राह्मणों को बुलाना चाहिये ॥१२-१३॥ कन्याराशि में सूर्य के प्रवेश करने पर पन्द्रह दिनों तक पूर्वकथित विधान से ही श्राद्ध करना चाहिये ॥१४॥ प्रतिपदा में श्राद्ध करने से धन

१क. ०द्धं कार्यं यथोदि० । २ग. ०धर्माण(य) मनुजैर्दा० । ३क. ग. ०द्रैर्देयं विप्रानु० । ४क. ०त् । ७ग. समन्त्रकविधिं वाऽपि व० । ग. ०त् । वह्निवर्जं तु पूर्ववद्वह्नि० । ५क. ग. ०ह्निपाकवि० । ६ग. वा । ७ग. ०सु । अनु० ।' ८ख. ०षु क्रमिष्व० । ९ग. कुशेष्वपि । १०क. ख. ०यायां न । ११क. ख. मासे मासे च पक्षयोः । पौ० ।प० । १२ख. ०र्तव्यं चक्षुगो० । १३ख. ०नुना पारिगी० । १४ग. ०म्यान्येतानि । १५क. ख. वै । १६ख. ०हुर्मातृपू० । १७ग. च पावणेनेह ।

प्रतिपद्धनलाभाय द्वितीया द्विपदप्रदा। पुत्रार्थिनी तृतीया तु चतुर्थी शत्रुनाशिनी ॥१५॥
श्रियं[1] प्राप्नोति पञ्चम्यां षष्ठ्यां पूज्यो[2] भवेन्नरः। गणाधिपत्यं सप्तम्यामष्टम्यां बुद्धिमुत्तमाम्[3] ॥१६॥
स्त्रियो नवम्यां[4] प्राप्नोति दशम्यां पूर्णकामताम्। वेदांस्तथाऽऽप्नुयात्सर्वानेकादश्यां क्रियापरः ॥१७॥
द्वादश्यां [5]जयलाभं च प्राप्नोति पितृपूजकः। प्रजावृद्धिं पशुं मेधां स्वातन्त्र्यं पुष्टिमुत्तमाम् ॥१८॥
दीर्घायुरथवैश्वर्यं कुर्वाणस्तु त्रयोदशीम्। अवाप्नोति न संदेहः श्राद्धं[6] [7] श्रद्धासमन्वितः ॥१९॥
यथासंभविनाऽन्नेन श्राद्धं श्रद्धासमन्वितः। युवानः पितरो यस्य मृताः शस्त्रेण वा हताः ॥२०॥
तेन कार्यं चतुर्दश्यां तेषां तृप्तिमभीप्सता। श्राद्धं कुर्वन्नमावास्यां यत्नेन पुरुषः शुचिः ॥२१॥
सर्वान्कामानवाप्नोति स्वर्गं चानन्तमश्नुते। अतःपरं मुनिश्रेष्ठाः शृणुध्वं वदतो मम ॥२२॥
पितृणां प्रीतये यत्र[8] यद्देयं प्रीतिकारिणा[9]। मासं तृप्तिः पितृणां तु हविष्यान्नेन जायते ॥२३॥
मासद्वयं मत्स्यमांसैस्तृप्तिं यान्ति पितामहाः। त्रीन्मासान्हारिणं मांसं विज्ञेयं पितृतृप्तये ॥२४॥
पुष्णाति चतुरो मासाञ्शशस्य पिशितं पितॄन्। शाकुनं[10] पञ्च वै मासान्षण्मासाञ्शूकरामिषम् ॥२५॥
छागलं सप्त वै मासानैणेयं चाष्टमासकान्। करोति तृप्तिं नव वै रूरुमांसं न संशयः ॥२६॥

लाभ होता है, द्वितीया में सन्तान, तृतीया में पुत्र, चतुर्थी में शत्रुनाश, पञ्चमी में लक्ष्मी-षष्ठी में सम्मान, सप्तमी में गणों का आधिपत्य, अष्टमी में उत्तम बुद्धि, नवमी में स्त्री और दशमी में मनोरथ पूर्ण होता है। एकादशी को श्राद्धक्रिया में तत्पर व्यक्ति समस्त वेदों का ज्ञान प्राप्त करता है॥१५-१७॥ द्वादशी में श्राद्ध करने वाला व्यक्ति विजय प्राप्त करता है। त्रयोदशी में श्रद्धा से श्राद्ध करने वाला व्यक्ति निःसंदेह प्रजा, पशु, बुद्धि, स्वतन्त्रता, उत्तम पुष्टि, दीर्घायु तथा ऐश्वर्य प्राप्त करता है॥१८-१९॥ जिसका पितर युवावस्था में ही मर गया हो या शस्त्रों से आहत होकर मर गया हो, वह यदि पितर की तृप्ति चाहे तो यथासंभव अन्न से चतुर्दशी में श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करे॥२०½॥ अमावस्या में होकर यत्नपूर्वक श्राद्ध करने से मनुष्य की समस्त अभिलाषायें पूरी होती हैं और वह अनन्त काल तक स्वर्ग में सुख करता है। मुनिश्रेष्ठो! अब इसके बाद प्रीतिपूर्वक श्राद्ध करने वाले मनुष्य को पितरों की तृप्ति के लिये क्या देना चाहिये, वह मुझसे सुनिये॥२१-२२½॥ हविष्यान्न से पितरों को एक मास तक तृप्ति मिलती है। मत्स्य-मांसों से दो मासों तक तृप्ति मिलती है। हिरण के मांस से पितरों को तीन मास तक तृप्ति मिलती है। खरगोश के मांस से पितरों को चार मास तक तृप्ति मिलती है॥२३-२४॥ पक्षी के मांस से पाँच मास तक और शूकर के मांस से छह मास तक तृप्ति मिलती है ॥२५॥ बकरे के मांस से सात मास तक और हरिण के मांस से आठ मास तक तृप्ति मिलती है। कृष्णमृग का मांस निःसन्देह नौ मास तक तृप्ति देता है

---

[1] ख. स्त्रियं। [2] क. श्रेष्ठो। [3] ख. ०म्। सप्तम्यां श्रियमाप्नोति कार्यप्रदाऽष्टमी मता। स्त्रि०। [4] ख. ०म्यां पशुमाप्नो०। [5] ख. पुत्रलाभं। [6] क. ख. श्राद्धे। [7] क. ख. ०द्धापरो नरः। य०। [8] क. घ. यच्च प्रदेयं। [9] क. ग. ०कारणम्। मा०। [10] क. शाकुन्तं।

[1]गव्यं [2]मांसं पितृतृप्तिं करोति दशमासिकीम् । तथैकादश मासांस्तु औरभ्रं पितृतृप्तिदम् ॥२७॥
संवत्सरं तथा गव्यं पयः पायसमेव च । वाध्रीनमा(र्ध्रीणसा) मिषं लोहं कालशाकं तथा मधु[3] ॥२८॥
रोहितामिषमन्नं च दत्तान्यात्मकुलोद्भवैः । अनन्तं वै प्रयच्छन्ति तृप्तियोगं सुतांस्तथा ॥२९॥
पितृणां नात्र संदेहो गयाश्राद्धं च भो द्विजाः । यो ददाति गुडोन्मिश्रांस्तिलान्वा श्राद्धकर्मणि ॥३०॥
मधु वा मधुमिश्रं वा अक्षयं सर्वमेव तत्[4] । अपि नः[5]स कुले[6] भूयाद्यो नो [7]दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥३१॥
पायसं मधुसंयुक्तं वर्षासु च मघासु च । एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ॥३२॥
गौरीं वाऽप्युद्वहेत्कन्यां[8] नीलं वा वृषमुत्सृजेत् । कृत्तिकासु पितृनर्च्य स्वर्गमाप्नोति मानवः ॥३३॥
अपत्यकामो रोहिण्यां सौम्ये तेजस्वितां लभेत् । शौर्यमार्द्रासु चाऽऽप्नोति क्षेत्राणि च पुनर्वसौ ॥३४॥
पुष्ये[9] तु धनमक्षय्यमाश्लेषे[10] चाऽऽयुरुत्तमम् । मघासु च प्रजां पुष्टिं सौभाग्यं फाल्गुनीषु च ॥३५॥
प्रधानशीलो भवति सापत्यश्चोत्तरासु च । प्रयाति श्रेष्ठतां शास्त्रे हस्ते श्राद्धप्रदो नरः ॥३६॥
रूपं तेजश्च चित्रासु तथाऽऽपत्यमवाप्नुयात् । वाणिज्यलाभदा स्वाती[11] विशाखा पुत्रकामदा ॥३७॥

॥२६॥ सुरागाय का मांस दस मास तक पितरों को तृप्त करता है। भेड़े का मांस ग्यारह मास तक पितरों को तृप्ति देता है॥२७॥ गौ का दूध या खीर एक वर्ष तक तृप्ति देता है। अपने वंशज द्वारा दिये हुए गैड़ें का मांस, लाल बकरे का मांस, पटुआ साग, मधु, रेहू मछली का मांस तथा अन्न पितरों को अनन्त तृप्ति प्रदान करते हैं और पुत्र देते हैं॥२८-२९॥ द्विजगण! गया श्राद्ध भी पितरों को तृप्ति देता है। जो मनुष्य श्राद्धकर्म में गुड़मिश्रित तिल या मधु या मधुमिश्रित अन्न पितरों को अर्पित करता है, उसकी वे दी हुई चीजें अक्षय्य हो जाती हैं। (पितर कामना करते हैं कि) जो वर्षा ऋतु में तथा मघा नक्षत्र में हमें जलाञ्जलि तथा मधुमिश्रित खीर देता है, वह फिर हमारे कुल में ही जन्म ले॥३०-३१½॥ वहुत पात्रों की अभिलाषा करनी चाहिये, यदि एक भी गया चला जाय (तो पितरों का उद्धार हो जाता है) आठ वर्ष की कन्या का विवाह करना चाहिए या नील रंग का वैल उत्सर्ग करना चाहिये। कृत्तिका नक्षत्र में पितरों की पूजा कर मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करता है॥३२-३३॥ रोहिणी नक्षत्र में पितरों की पूजा करने से सन्तान की प्राप्ति होती है। मृगशिरा नक्षत्र में करने से तेज वढ़ता है। आर्द्रा में वीरता और पुनवर्सु में क्षेत्र प्राप्त होता है। पुष्य में अक्षय्य धन और अश्लेषा में उत्तम आयु प्राप्त होती है। मघा में प्रजा की पुष्टि और पूर्वफाल्गुनी में सौभाग्य प्राप्त होता है। उत्तराफाल्गुनी में पितृ-पूजन करने से मनुष्य शीलवान् तथा पुत्रवान् होता है॥३४-३५½॥ हस्तनक्षत्र में श्राद्ध करने वाला मनुष्य शास्त्रों में श्रेष्ठता को प्राप्त करता है। चित्रा में श्राद्ध करने से रूप, तेज तथा सन्तान की प्राप्ति होती है। स्वाती में श्राद्ध करने से व्यापार में लाभ होता है। विशाखा में पुत्र की प्राप्ति होती है॥३६-३७॥ अनुराधा में श्राद्ध करने वाला व्यक्ति चक्रवर्ती होता है। ज्येष्ठा

---

[1]ग. गवयस्य मां० । [2]ग. ०सं तृ० । [3]क. ०धु । दौहित्रामि० । [4]ग. च । [5]क. नः स्वकु० । [6]ग. ०लै जाया० । [7]ग. ०द्यात्त्रयोदशीम् । [8]क. ०हेद्भार्यां नी० । [9]ख. तिष्ये । [10]क. ख. ०षे पुरूषोत्तम० । [11]क. स्वातिर्विशा० । ग. स्वात्यो ।

कुर्वन्तां चानुराधासु ता दद्युश्चक्रवर्तिताम् । आधिपत्यं च ज्येष्ठासु मूले चाऽऽरोग्यमुत्तमम् ।।३८।।
आषाढासु यशःप्राप्तिरुत्तरासु विशोकता[1] । श्रवणेन शुभांल्लोकान्धनिष्ठासु धनं[2] महत् ।।३९।।
वेदवित्त्वमभिजिति भिषक्सिद्धिं च वारुणे । अजाविकं प्रौष्ठपद्यां [3] विन्देद्गावस्त (श्च त) थोत्तरे ।।४०।।
रेवतीषु तथा कुप्यमश्विनीषु तुरङ्गमान् । श्राद्धं कुर्वंस्तथाऽप्नोति भरणीष्वायुरुत्तमम् ।।४१।।
एवं फलमवाप्नोति ऋक्षेष्वेतेषु तत्त्ववित् । तस्मात्काम्यानि[4] श्राद्धानि देयानि विधिवद्द्विजाः ।।४२।।
कन्याराशिगते सूर्ये फलमत्यन्तमिच्छता । यान्यान्कामानभिध्यायन्कन्याशशिगते रवौ ।।४३।।
श्राद्धं कुर्वन्ति मनुजास्तांस्तान्कामाँल्लभन्ति ते । नान्दीमुखानां कर्तव्यं कन्याराशिगते रवौ ।।४४।।
पौर्णमास्यां तु कर्तव्यं वाराहवचनं यथा । दिव्यभौमान्तरिक्षाणि स्थावराणि चराणि च ।।४५।।
पिण्डमिच्छन्ति पितरः कन्याराशिगते रवौ । कन्यां गते सवितरि यान्यहानि तु षोडश ।।४६।।
क्रतुभिस्तानि तुल्यानि देवो नारायणोऽब्रवीत् । राजसूयाश्वमेधाभ्यां य इच्छेद्दुर्लभं फलम् ।।४७।।
अप्यम्बुशाकमूलाद्यैः पितॄन्कन्यागतेऽर्चयेत् । उत्तराहस्तनक्षत्रगते तीक्ष्णांशुमालिनि ।।४८।।
[5]योऽर्चयेत्स्वपितॄन्भक्त्या तस्यवासस्त्रिविष्टपे । हस्तर्क्षगे दिनकरे पितृराजानुशासनात् ।।४९।।

में स्वामित्व तथा मूल में उत्तम ओरोग्य की प्राप्ति होती है। पूर्वाषाढ़ में यश की प्राप्ति तथा उत्तराषाढ़ में शोकनाश होता है। श्रवण में शुभलोक तथा धनिष्ठा में बहुत धन मिलता है ।।३८-३९।। अभिजित् में श्राद्ध करने से मनुष्य वेदवेत्ता होता है। शतभिषा में वैद्यक की सिद्धि होती है। पूर्वभाद्रपद में भेड़े तथा बकरे का लाभ होता है। उत्तराभाद्रपद में गौ का लाभ होता है। रेवती में दस्ते (धातु) की प्राप्ति होती है। अश्विनी में घोड़ों की प्राप्ति होती है। भंरणी में श्राद्ध करने वाला व्यक्ति उत्तम आयु प्राप्त करता है ।।४०-४१।। इन नक्षत्रों में श्राद्ध करनेवाला तत्त्ववेत्ता मनुष्य इस प्रकार फल प्राप्त करता है। द्विजवृन्द ! इसलिये काम्य श्राद्ध करना चाहिये ।।४२।। अत्यन्त फल के इच्छुक मनुष्य सूर्य के कन्याराशि में प्रवेश करने पर श्राद्ध करे। कन्या राशि में सूर्य के जाने पर मनुष्य (मन में) जो-जो कामनायें रखकर श्राद्ध करता है, वह सब कामनायें उसकी पूरी होती हैं ।।४३½।। सूर्य के कन्याराशि में जाने पर पौर्णमासी को नान्दीमुख श्राद्ध करना चाहिये, जैसा कि वाराह ने कहा है ।।४४½।। सूर्य के कन्याराशिगत होने पर स्वर्ग में, पृथ्वी पर, स्थावर, जंगम—जिस किसी भी रूप में रहते हुए पितर पिण्ड चाहते हैं। नारायण भगवान् का कहना है, कि सूर्य के कन्याराशिगत होने पर जो सोलह दिन होते हैं, वे यज्ञ तुल्य हैं। जो राजसूय तथा अश्वमेध के दुर्लभ फल की इच्छा करता है, वह सूर्य के कन्याराशिगत होने पर जल, शाक, मूल आदि से पितरों की पूजा करे ।।४५-४७½।। उत्तराषाढ़ तथा हस्त में सूर्य के प्रवेश करने पर जो भक्ति से पितरों की पूजा करता है, उसका वास स्वर्ग में होता है ।।४८½।। हस्त नक्षत्र में सूर्य के प्रवेश करने पर यमराज की आज्ञा से पितरों का नगर तब तक शून्य रहता है जब तक वृश्चिक राशि का दर्शन नहीं

१ख. विशेषतः । २क. ख. ०भान्कामान्ध० । ३क. विद्विषस्तु तथो । ख. विद्वेषस्तु तथो० । ४क. ख. ०नि कर्तव्यानि द्विजोत्तमाः । क० । ५ख. ०येच्च पि० ।

तावत्पितृपुरी शून्या यावद्वृश्चिकदर्शनम् । वृश्चिके समतिक्रान्ते पितरो दैवतैः सह ।।५०।।
[१]निःश्वस्य प्रतिगच्छन्ति शापं दत्त्वा सुदुःसहम्[१] । अष्टकासु च कर्तव्यं श्राद्धं मन्वन्तरासु वै ।।५१।।
अन्वष्टकासु क्रमशो मातृपूर्वं तदिष्यते । ग्रहणे च व्यतीपाते [३]रविचन्द्रसमागमे ।।५२।।
जन्मर्क्षे ग्रहपीडायां श्राद्धं पार्वणमुच्यते । अयनद्वितये श्राद्धं विषुवद्वितये तथा ।।५३।।
संक्रान्तिषु च कर्तव्यं श्राद्धं विधिवदुत्तमम् । एषु कार्यं द्विजाः श्राद्धं पिण्डनिर्वापणावृते ।।५४।।
वैशाखस्य तृतीयायां[४] नवम्यां कार्तिकस्य च । श्राद्धं कार्यं तु शुक्लायां संक्रान्तिविधिना नरैः ।।५५।।
त्रयोदश्यां भाद्रपदे माघे[५] चन्द्रक्षयेऽहनि । श्राद्धं कार्यं[६] पायसेन[७]दक्षिणायनवच्च[८] तत् ।।५६।।
यदा च श्रोत्रियोऽस्येति गेहं [९]वेदविदग्निमान् । तेनैकेन च कर्तव्यं श्राद्धं विधिवदुत्तमम् ।।५७।।
श्राद्धीयद्रव्यसंप्राप्तिर्यदा[१०] स्यात्साधुसंमता । पार्वणेन विधानेन श्राद्धं कार्यं तथा द्विजैः ।।५८।।
प्रतिसंवत्सरं कार्यं [११]मातापित्रोर्मृतेऽहनि । पितृव्यस्याप्यपुत्रस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य चैव हि ।।५९।।
पार्वणं देवपूर्वं स्यादेकोद्दिष्टं सुरैर्विना । द्वौ दैवे[१२] पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।।६०।।
मातामहानामप्येवं[१३] सर्वमूहेन कीर्तितम् । प्रेतीभूतस्य सततं भुवि पिण्डं जलं तथा ।।६१।।

होता ।।४९$\frac{१}{२}$।। वृश्चिक का अतिक्रमण हो जाने पर अर्थात् तब तक श्राद्ध न करने पर पितरलोग आहें भरकर दु:सह शाप देकर देवताओं के साथ चले जाते हैं ।।५०$\frac{१}{२}$।। अन्वष्टक (पौष, माघ तथा फाल्गुन के कृष्णपक्ष की अष्टमी) तथा मन्वतर में श्राद्ध करना चाहिये ।।५१।। अन्वष्टक (पौष, माघ तथा फाल्गुन के कृष्णपक्ष की नवमी) में माता से लेकर क्रमशः श्राद्ध करना चाहिये । ग्रहण, व्यतीपातयोग, अमावस्या, जन्मनक्षत्र तथा ग्रहपीड़ा में पार्वणश्राद्ध करना चाहिये ।।५२$\frac{१}{२}$।। उत्तरायण, दक्षिणायन, दोनों विषुवकाल तथा संक्रान्ति में विधिपूर्वक उत्तम श्राद्ध करना चाहिये ।।५३$\frac{१}{२}$।। द्विजवृन्द ! इनमें श्राद्ध तो करना चाहिये, पर पिण्डों का दान (?) नहीं करना चाहिये ।।५४।। वैशाख-शुक्ल-तृतीया तथा कार्तिक-शुक्ल-नवमी में संक्रान्ति की विधि से मनुष्य श्राद्ध करे । भाद्रपद की त्रयोदशी तथा माघ की अमावस्या में दक्षिणायन की तरह खीर से श्राद्ध करना चाहिये ।।५५-५६।। वेदवेत्ता तथा तेजस्वी श्रोत्रिय ब्राह्मण जब घर पर प्राप्त हो जाय तब एक उसी से विधिपूर्वक श्राद्ध करायें ।।५७।। जब शिष्ट व्यक्तियों को रुचने वाले श्राद्धीय द्रव्यों की प्राप्ति हो जाय तब पार्वण की विधि से द्विजों को श्राद्ध करना चाहिये । प्रतिवर्ष माता, पिता, पुत्रहीन चाचा तथा ज्येष्ठ भाई के मृत्यु-दिन में श्राद्ध करना चाहिये ।।५८-५९।। पार्वण में देवताओं की भी पूजा होनी चाहिये, पर एकोद्दिष्ट तो बिना देवों के करना चाहिए । देवकर्म में दो ब्राह्मणों को और पितृकर्म मे तीन को या दोनों में एक-एक को ही खिलाना चाहिये ।।६०।। मातामह आदि का भी श्राद्ध इसी प्रकार समझ लेना चाहिए । प्रेत को पिण्ड तथा जल सदा भूमि पर देना चाहिए, पर तिल-कुश के साथ जल के समीप

१ख. निराशाः । २ख. सुदारुणम् । ३ग. नवसस्यसमागते । ४क. ख. ०यां श्राद्धं कार्यं द्विजोत्तमैः । त्र० । ५ख. ०घे मासि क्ष० । ६क. ख. ०र्यं तु शुक्लायां नवम्यां कार्तिकस्य तु । य० । ७क. ०न पितृणां तृप्तिमिच्छता । दक्षिणायनसंपत्तिर्यदा । ८. ख. ०णाभिमुखस्ततः । य० । ९. ख. वेदाङ्गवेदवित् । ते० १०ख. ०संपत्तिर्य० । ११क. ख. पित्रोः क्षयेऽह० । १२ख. पितृकृत्ये । ग. पितृपक्षे । १३क. ख. ०र्वभूतेन ।

सतिलं सकुशं दद्याद्बहिर्जलसमीपतः । तृतीयेऽह्नि च कर्तव्यं[1] प्रेतास्थिचयनं द्विजैः ॥६२॥
दशाहे ब्राह्मणः शुद्धो द्वादशाहेन क्षत्रियः[2] । वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥६३॥
[3]सूतकान्ते गृहे श्राद्धमेकोद्दिष्टं प्रचक्षते[4] । [5]द्वादशेऽहनि मासे च त्रिपक्षे च ततः परम् ॥६४॥
मासि मासि च कर्तव्यं यावत्संवत्सरं द्विजाः । ततः परतरं कार्यं सपिण्डीकरणं क्रमात्[6] ॥६५॥
कृते सपिण्डीकरणे पार्वणं[7] प्रोच्यते पुनः । ततः प्रभृति निर्मुक्ताः प्रेतत्वात्पितृतां गताः ॥६६॥
अमूर्ता मूर्तिमन्तश्च पितरो द्विविधाः स्मृताः । नान्दीमुखास्त्वमूर्ताः स्युर्मूर्तिमन्तोऽथ पार्वणाः[8] ॥
एकोद्दिष्टाशिनः प्रेताः[9] पितृणां निर्णयस्त्रिधा ॥६७॥

मुनय ऊचुः

कथं सपिण्डीकरणं कर्तव्यं द्विजसत्तम । प्रेतीभूतस्य विधिवद्ब्रूहि नो वदतां वर ॥६८॥

व्यास उवाच

सपिण्डीकरणं विप्राः शृणुध्वं वदतो मम । तच्चापि देवरहितमेकार्धैकपवित्रकम् ॥६९॥
नैवाग्नौकरणं तत्र तच्चाऽऽवाहनवर्जितम् । अपसव्यं च तत्रापि भोजयेदयुजो द्विजान् ॥७०॥
विशेषस्तत्र चान्योऽस्ति प्रतिमासक्रियादिकः । तं कथ्यमानमेकाग्राः शृणुध्वं मे द्विजोत्तमाः ॥७१॥

बाहर में देना चाहिए। द्विजातियों को तीसरे दिन प्रेत का अस्थिसंचय करना चाहिये ॥६१-६२॥ दस दिन पर ब्राह्मण, बारह दिन पर क्षत्रिय, पन्द्रह दिन, पर वैश्य और एक मास में शूद्र शुद्ध होता है ॥६३॥ अशौच का अन्त होने पर घर में एकोद्दिष्ट श्राद्ध करना चाहिये। बारहवें दिन एक मास में, तीन पक्ष में और उसके बाद प्रत्येक मास में एक वर्ष तक श्राद्ध करना चाहिये। उसके बाद क्रम से सपिण्डीकरण करना चाहिये ॥६४-६५॥ सपिण्डीकरण के हो जाने पर पार्वण हो जाता है। तब से जीव प्रेतत्व से मुक्ति पाकर पितर हो जाता है ॥६६॥ पितर-दो प्रकार के होते हैं—एक रूपवान् और दूसरे स्वरूपरहित। उनमें नान्दीमुख श्राद्ध वाले पितर स्वरूप-रहित कहलाते हैं और पार्वण श्राद्ध वाले रूपवान् कहलाते हैं। एकोद्दिष्ट श्राद्ध के पिण्ड खाने वाले प्रेत कहलाते हैं—यह तीन प्रकार का निर्णय पितरों के विषय में किया गया है ॥६७॥

मुनियों ने कहा—द्विजवर ! प्रेत का सपिण्डीकरण कैसे करना चाहिये, वह हमें विस्तार से बतलाइये ॥६८॥

व्यास ने कहा—विप्रवृन्द ! सपिण्डीकरण के बारे में मुझसे सुनिये। वह एक अर्घ से तथा एक पवित्री से देवरहित करना चाहिये॥६९॥ वहाँ हवन न हो तथा आवाहन किया जाये। वहाँ भी अपसव्य करना चाहिये और अयुग्म (जोड़े नहीं) ब्राह्मणों को खिलाना चाहिये॥७०॥ द्विजश्रेष्ठ ! उसमें प्रतिमास कर्म आदि करने की दूसरी विशेषता है। उस कहीं जाने वाली विशेषता को आप लोग एकाग्र मन से सुनें॥७१॥ वहाँ-तिल गन्धों से

---

[1] क. व्यं प्रत्यगावाहनं। ख. व्यं प्रत्यगाहवनी द्वि। [2] क. भूमिपः। [3] ग. ०न्ते मृतश्रा०। [4] क. प्रशस्यते। [5] क. ख. ०शे चैव मा०। ख ०शे चैकमा०। [6] क. ख. तदा। [7] क. ख. ०णं प्रारभेत्पुनः। [8] ग. पार्वणे। [9] ख. ०ताः प्रेतत्वात्तृतां गताः। क०।

[1]तिलगन्धोदकैर्युक्तं[2] तत्र पात्रचतुष्टयम्[3] । कुर्यात्पितॄणां त्रितयमेकं प्रेतस्य च द्विजाः ॥७२॥
पात्रत्रये प्रेतपात्रादर्घं चैव प्रसेचयेत् । ये समाना इति जपन्पूर्ववच्छेषमाचरेत् ॥७३॥
स्त्रीणामप्येवमेव स्यादेकोद्दिष्टमुदाहृतम् । सपिण्डीकरणं तासां पुत्राभावे न विद्यते ॥७४॥
प्रतिसंवत्सरं कार्यमेकोद्दिष्टं नरैः स्त्रियाः । मृताहनि च तत्कार्यं[4] पितृणां विधिचोदितम् ॥७५॥
पुत्राभावे सपिण्डास्तु तदभावे सहोदराः । कुर्युरेतं विधिं सम्यक्पुत्रस्य च सुताः सुताः ॥७६॥
कुर्यान्मातामहानां तु पुत्रिकातनयस्तथा[5] । द्व्यामुष्यायणसंज्ञास्तु मातामहपितामहान् ॥७७॥
पूजयेयुर्यथान्यायं श्राद्धैर्नैमित्तिकैरपि । सर्वाभावे स्त्रियः कुर्युः :स्वभर्तॄणाममन्त्रकम् ॥७८॥
तदभावे च नृपतिः [6]कारयेत्त्वकुटुम्बिनाम् । तज्जातीयैर्नरैः सम्यग्वाहाद्याः[7] सकलाः क्रियाः ॥७९॥
सर्वेषामेव वर्णानां बान्धवो नृपतिर्यतः। एता वः कथिता विप्रा नित्या नैमित्तिकास्तथा ॥८०॥
वक्ष्ये श्राद्धाश्रयामन्यां नित्यनैमित्तिकां क्रियाम् । दर्शस्त (र्शंत) त्र निमित्तं तु विद्यादिन्दुक्षयान्वितः (तम्) ॥८१॥
नित्यस्तु नियतः कालस्तस्मिन्कुर्याद्यथोदितम् । सपिण्डीकरणादूर्ध्वं पितुर्यः प्रपितामहः ॥८२॥
स तु लेपभुजं याति प्रलुप्तः[8] पितृपिण्डतः । तेषां हि यश्चतुर्थोऽन्यः स तु लेपभुजो भवेत् ॥८३॥

युक्त चार पात्र होने चाहिये, जिनमें तीन तो पितरों के लिये और एक प्रेत के लिये होना चाहिये।।७२।। 'ये समाना' इसका जप करते हुए तीनों पात्रों में प्रेतपात्र से जल छोड़ना चाहिये और अवशिष्ट विधान पूर्ववत् करना चाहिये। स्त्रियों का भी एकोद्दिष्ट श्राद्ध इसी प्रकार होगा। पर पुत्र के अभाव में उनका सपिण्डीकरण नहीं हो सकता।।७३-७४।। मनुष्य स्त्री का एकोद्दिष्ट प्रतिवर्ष किया करे। पितरों का एकोद्दिष्ट उनकी मृत्यु-तिथि पर विधिपूर्वक करना चाहिए।।७५।। पुत्र के अभाव में सपिण्ड (पिंड देने के अधिकारी) और उनके अभाव में सहोदर भाई एकोद्दिष्ट करें। पुत्र के पुत्र और उनके भी पुत्र विधानपूर्वक कर सकते हैं।।७६।। मातामह का श्राद्ध दौहित्र कर सकता है। दोनों की सन्तान कहलाने वाले मनुष्य मातामह तथा पितामह दोनों के नैमित्तिक श्राद्ध न्यायपूर्वक करें। सब के अभाव में पत्नी पति का श्राद्ध विना मन्त्र के ही करे।।७७-७८।। स्त्री के अभाव में कुटुम्वशून्य व्यक्ति का श्राद्ध राजा कराये। उसकी जाति-विरादरी के लोगों द्वारा उसकी सारी क्रियायें राजा द्वारा सम्पन्न की जानी चाहिये, जिसलिये कि राजा समस्त वर्णों का वन्धु कहलाता है।।७९½।। विप्रवृन्द ! ये नित्य-नैमित्तिक श्राद्ध मैंने वतला दिये। अव श्राद्ध सम्वन्धी नित्य-नैमित्तिक क्रिया को भी मैं वतलाऊँगा ।।८०½।। उसमें चन्द्रक्षययुक्त अमावस्या ही कारण है। नित्य तो निश्चित समय का नाम है। उसमें जैसे वताये गये हैं वैसे करना चाहिये सपिण्डीकरण से आगे पिता का जो प्रपितामह है, वह लेपभुज में पहुँच जाता है। अतएव पितरों का पिण्ड उसे नहीं पड़ता है। मातामह के पक्ष में भी जो चौथा पड़ता है, वह भी लेपभुज है। इसलिए वह भी सम्वन्ध से हीन

१क. ०लदर्भोद०। २क. ०क्तं कुर्यादन्नच०। ३क. ०म्। पितॄणां तत्र० त्रि०। ४ग. र्यं स्त्रीणां तद्विधि०। ५क. ०था। आमु०। ६क. ०येच्च कु०। ७ग. ०म्यग्दायाद्याः। ८क. संप्राप्ते।

सोऽपि संबन्धतो हीनमुपभोगं प्रपद्यते । पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।।८४।।
पिण्डसंबन्धिनो ह्येते विज्ञेयाः पुरुषास्त्रयः । लेपसंबन्धिनश्चान्ये पितामहपितामहात् ।।८५।।
प्रभृत्युक्तास्त्रयस्तेषां यजमानश्च सप्तमः । इत्येष मुनिभिः प्रोक्तः संबंधः साप्तपौरुषः ।।८६।।
यजमानात्प्रभृत्यूर्ध्वमनुलेपभुजस्तथा[१] । ततोऽन्ये पूर्वजाः[२] सर्वे ये चान्ये नरकौकसः ।।८७।।
येऽपि तिर्यक्त्वमापन्ना ये च भूतादिसंस्थिताः तान्सर्वान्यजमानो वै श्राद्धं कुर्वन्यथाविधि ।।८८।।
स समाप्यायते विप्रा येन येन वदामि तत् । अन्नप्रकिरणं यत्तु मनुष्यैः क्रियते भुवि ।।८९।।
तेन तृप्तिमुपायान्ति ये पिशाचत्वमागताः । यदम्बु स्नानवस्त्रोत्थं भूमौ पतति भो द्विजाः ।।९०।।
तेन ये तरुतां प्राप्तास्तेषां तृप्तिः प्रजायते । यास्तु गन्धाम्बुकणिकाः पतन्ति धरणीतले ।।९१।।
ताभिराप्यायनं तेषां देवत्वं ये कुले गताः । उद्धृतेष्वथ पिण्डेषु याश्चाम्बुकणिका भुवि ।।९२।।
ताभिराप्यायनं तेषां ये तिर्यक्त्वं कुले गताः । ये चादन्ताः कुले बालाः क्रियायोगाद्बहिष्कृताः[३] ।।९३।।
विपन्नास्त्वनधिकाराः संमार्जितजलाशिनः[४] । भुक्त्वा चाऽऽचामतां यच्च यज्जलं चाङ्घ्रिशौचजम् ।।९४।।
ब्राह्मणानां [५]तथैवान्यत्तेन तृप्तिं प्रयान्ति वै । एवं यो यजमानस्य यश्च तेषां द्विजन्मनाम् ।।९५।।
[६]कश्चिज्जलान्नविक्षेपः शुचिरुच्छिष्ट एव वा । तेनान्नेन[७] कुले तत्र ये च योन्यन्तरं गताः ।।९६।।

होने के कारण पिण्ड नहीं पाता है । पिता, पितामह, प्रपितामह—ये ही तीन पुरुष पिण्डसम्वन्धी कहलाते हैं पितामह के पितामह से लेकर तीन पुरुष तक लेप सम्वन्धी कहलाते हैं और सातवाँ यजमान कहलाता है । यही सात पुरुषों का सम्वन्ध मुनियों ने वतलाया है ।।८१-८६।। यजमान से लेकर ऊपर अनुलेप-भुज कहलाते हैं और उनके अतिरिक्त सव पूर्वज कहलाते हैं । जो नरक में रहते हैं, जो पक्षीयोनि में प्राप्त हैं तथा जो भूत आदि की योनि में स्थित हैं, उन सवका श्राद्ध यजमान विधानपूर्वक करे ।।८७-८८।। विप्रवृन्द ! अव जो-जो करने से जीव को तृप्ति मिलती है, वह मैं कहता हूँ । भूमि पर जो अन्न विखेरा जाता है, उससे पिशाच-योनि में प्राप्त पितर को तृप्ति मिलती है ।।८९$\frac{१}{३}$।। स्नान-वस्त्र से जो जल पृथ्वी पर गिराया जाता है, उससे वृक्षयोनि में प्राप्त पितरों को तृप्ति मिलती है ।।९०$\frac{१}{३}$।। जो सुगन्धित जल के फुहारे भूतल पर गिराये जाते हैं, उनसे देवकुल में प्राप्त पितरों को तृप्ति मिलती है ।।९१$\frac{१}{३}$।। पिण्डों के उठा लेने पर पृथ्वी पर जो जल-विन्दु गिरता है, उससे पक्षीयोनि में प्राप्त पितरों को तृप्ति मिलती है ।।९२$\frac{१}{३}$।। व्राह्मणों को जो जल पिलाया जाता है उससे उन लोगों को (मृत्यु के वाद) तृप्ति मिलती है, जो निर्दन्त वालक क्रियायोग से कुलच्युत कर दिये गए हों, जो विपत्ति-ग्रस्त होकर अधिकार-वंचित कर दिये गये हों, जिन्होंने यज्ञीय जल पी लिया हो और जिन्होंने खाकर चरण धोने के वाद वचे जल से आचमन किया हो । इस प्रकार (श्राद्धस्थल में) जो यजमान और उन व्राह्मणों का पवित्र या जूठा जल और अन्न गिरता है, उससे उस (यजमान के) कुल में मरकर अन्य योनियों में गये हुए जीव तृप्ति को प्राप्त करते हैं ।।९३-९६।। द्विजगण ! लोग भली भाँति श्राद्धक्रिया से सम्पन्न व्यक्तियों का अन्यायपूर्वक उपार्जित धन से जो श्राद्ध

१क. ०मन्ते ले० । २क. वान्धवाः । ३ग. ०योगपथास्थिताः । ४क. ०र्माजनान्धसाशिं० । ५ग. ०वान्ये तेन । ६क. ०श्चित्तिला० । ७क. तेन तेन ।

प्रयान्त्याप्यायनं विप्राः सम्यक्श्राद्धक्रियावताम् । अन्यायोपार्जितैरर्थैर्यच्छ्राद्धं क्रियते नरैः ॥९७॥
तृप्यन्ते ते न चाण्डालपुल्कसाद्यासु योनिषु । एवमाप्यायनं विप्रा [1]बहूनामेव बान्धवैः ॥९८॥
श्राद्धं कुर्वद्भिरत्राम्बुविक्षेपैः संप्रजायते । तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकेनापि यथाविधि ॥९९॥
कुर्वीत कुर्वतः श्राद्धं कुले कश्चिन्न सीदति । श्राद्धं देयं तु विप्रेषु संयतेष्वग्निहोत्रिषु ॥१००॥
अवदातेषु विद्वत्सु श्रोत्रियेषु विशेषतः । त्रिणाचिकेतस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ॥१०१॥
मातापितृपरश्चैव स्वस्रीयः सामवेदवित् । ऋत्विक्पुरोहिताचार्यमुपाध्यायां च भोजयेत् ॥१०२॥
मातुलः श्वशुरः श्यालः संबन्धी द्रोणपाठकः । मण्डलब्राह्मणो यस्तु पुराणार्थविशारदः ॥१०३॥
अकल्पः कल्पसंतुष्टः प्रतिग्रहविवर्जितः । ऋते श्राद्धे नियोक्तव्या ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः ॥१०४॥
निमन्त्रयेत् पूर्वेद्युः पूर्वोक्तान्द्विजसत्तमान् । दैवे नियोगे पित्र्ये च तांस्तथैवोपकल्पयेत् ॥१०५॥
तैश्च संयमिभिर्भाव्यं यस्तु श्राद्धं करिष्यति । श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च मैथुनं योऽधिगच्छति ॥१०६॥
पितरस्तस्य वै मासं तस्मिन्रेतसि शेरते । गत्वा च योषितं श्राद्धे यो भुङ्क्ते यस्तु ग (य) च्छति ॥१०७॥
रेतोमूत्रकृताहारास्तं मासं पिरस्तयोः । [2]तस्मात्त्व (त्तु) प्रथमं कार्यं प्राज्ञेनोपनिमन्त्रणम् ॥१०८॥
अप्राप्तौ तद्दिने वाऽपि वर्ज्या योषित्प्रसङ्गिनः । भिक्षार्थमागतांश्चापि कालेन संयतान्यतीन् ॥१०९॥

करते है, उस श्राद्ध से चांडाल-व्याधि आदि योनियों में भी वे व्यक्ति तृप्त नहीं होते हैं । विप्रवृन्द ! इस प्रकार करते हुए वन्धुओं द्वारा जो जल दिया जाता है, उससे वहुतों को तृप्ति होती है । इसलिए मनुष्य शाक लेकर भी भक्ति से विधानपूर्वक श्राद्ध करे ॥९७-९९॥ श्राद्ध करने से कुल में किसी को कष्ट नहीं होता है । संयमी, अग्निहोत्री, शुद्ध, विद्वान् तथा विशेष करके श्रोत्रिय व्राह्मणों को श्राद्धीय द्रव्य देना चाहिये ॥१००॥ पञ्चाग्नि सेवन करने वाले, 'मधुवाता' इत्यादि मन्त्रों के ज्ञाता, छहों अंगों के ज्ञाता, मातृ-पितृ-भक्त, भागिनेय, सामवेदज्ञ, ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य तथा उपाध्याय को भोजन कराना चाहिए ॥१०१-१०२॥ मामा, श्वशुर, साला, सम्वन्धी पुराणार्थ-विशारद, मण्डलव्राह्मण, द्रोणपाठक, संशयरहित, संतुष्ट, प्रतिग्रह-रहित—ये पंक्ति-पवित्र करने वाले व्राह्मण श्राद्ध में नियुक्त होने चाहिये ॥१०३-१०४॥ श्राद्ध से पहले ही दिन पूर्वोक्त उत्तम व्राह्मणों को निमन्त्रण दे देना चाहिये । देवकर्म तथा पितृकर्म दोनों में उसी प्रकार से करना चाहिये ॥१०५॥ जो श्राद्ध करे, उसे संयमी होना चाहिये । श्राद्ध करके तथा श्रद्धान्न खाकर जो मैथुन करता है, उसके पितर को उसी वीर्य में एक मास तक सोना पड़ता है ॥१०६॥ स्त्री के पास जाकर श्राद्ध में भोजन करता है और जो भोजन करके स्त्री के पास जाता है, उन दोनों के पितरों को एक मास तक वीर्य तथा मूत्र खाना पड़ता है। इसलिये वुद्धिमाम् को चाहिये कि वह पहले ही निमन्त्रण दे दे ॥१०७-१०८॥ पता लग जाने पर उस दिन भी, स्त्री-प्रसंग करने वालों को छोड़ देना चाहिये। समय से भिक्षा के लिये आये हुए संयमी संन्यासियों को अनुनय-विनय पूर्वक यत्न से भोजन कराये।

---

[1]क. ०नामपि वा० । [2] ०स्मान्न प्र० । ख. ०स्मात्तं प्र० ।

भोजयेत्प्रणिपाताद्यैः प्रसाद्य यतमानसः । योगिनश्च तदा श्राद्धे भोजनीया विपश्चिता ।।११०।।
योगधारा हि पितरस्तस्मात्तान्पूजयेत्सदा । ब्राह्मणानां सहस्राणि एको योगी[१] भवेद्यदि ।।१११।।
यजमानं च भोक्तृंश्च नौरिवाम्भसि तारयेत् । पितृगाथा तथैवात्र गीयते ब्रह्मवादिभिः ।।११२।।
या गीता पितृभिः[२] पूर्वमैलस्याऽऽसीन्महीपतेः[३] । कदा नः संततावग्र्यः कस्यचिद्भविता सुतः ।।११३।।
यो योगिभुक्तशेषान्नो भुवि पिण्डान्प्रदास्यति । गयायामथवा पिण्डं खड्गमांसं तथा हविः ।।११४।।
कालशाकं तिलाज्यं च तृप्तये कृसरं च नः । वैश्वदेवं च सौम्यं च खड्गमांसं परं हविः ।।११५।।
[४]विषाणवर्जं शिरस आ पादादाशिषामहे । दद्याच्छ्राद्धं त्रयोदश्यां मघासु च यथाविधि ।।११६।।
मधुसर्पिसमायुक्तं पायसं दक्षिणायने । तस्मात्संपूजयेद्भक्त्या स्वपितॄन्विविधवन्नरः ।।११७।।
कामानभीप्सन्सकलान्पापादात्मविमोचनम्[५] । वसून्रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान्नक्षत्रग्रहतारकाः ।।११८।।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितरः श्राद्धतर्पिताः । आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ।।११९।।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः । तथाऽपराह्णः पूर्वाह्णात्पितॄणामतिरिच्यते ।।१२०।।
संपूज्य स्वागतेनैतान्सदनेऽभ्यागतान्द्विजान् । पवित्रपाणिराचान्तानासनेषूपवेशयेत् ।।१२१।।
श्राद्धं कृत्वा विधानेन संभोज्य च द्विजोत्तमान् । विसर्जयेत्प्रियाण्युक्त्वा प्रणिपत्य च भक्तितः ।।१२२।।

विद्वान् व्यक्ति योगियों को श्राद्ध में भोजन कराये । जिस लिए पितर योग के आधार माने जाते हैं इसलिए सदा योगियों का सम्मान करे ।।१०९-११०$\frac{१}{३}$।। हजारों ब्राह्मणों में यदि एक भी योगी हो तो वह यजमान तथा भोजन करने वालों को जल में नाव की तरह तार देते हैं ।।१११$\frac{१}{३}$।। इस विषय में ब्रह्मवादियों ने एक पितृगाथा गायी है कि राजा ऐल के पितरों ने कहा था—'हमारी सन्तानों में किसको पहले पुत्र होगा, जो योगियों के खाने से वचे अन्न के पिण्ड पृथ्वी पर देगा अथवा गया में पिण्ड देगा और हमारी तृप्ति के लिए गैंड़े का मांस, घी, कालशाक, तिलमिश्रित घी तथा खिचड़ी देगा । सींग को छोड़कर सिर से पैर तक गैंड़े का मांस विश्वेदेव तथा सोम को प्रिय है, उसे हम चाहते हैं ।।११२-११५$\frac{१}{३}$।। त्रयोदशी, मघा नक्षत्र तथा दक्षिणायन में मधु तथा घी से युक्त खीर श्राद्ध में देना चाहिये । इसलिये मनुष्य भक्ति से विधिपूर्वक अपने पितरों की पूजा करे । श्राद्ध में तृप्त किये गये पितर मनुष्यों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं, उन्हें पाप से मुक्त करते हैं, और उनके प्रति वसुओं, रुद्रों, आदित्यों,,नक्षत्रों, ग्रहों और तारों को अनुकूल वना देते हैं । श्राद्ध से सन्तुष्ट पितर आयु, प्रजा, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, राज्य तथा सुख प्रदान करते हैं । पितरों का समय पूर्वाह्ण की अपेक्षा अपराह्ण उत्तम माना जाता है । गृह में आये हुए द्विजों का स्वागत करके पवित्र हाथों से उन्हें जल दे और आचमन कराकर आसनों पर वैठाये ।।११६-१२१।। विधानपूर्वक श्राद्ध करके और उत्तम व्राह्मणों को भोजन कराकर उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम करे और प्रिय-वातों से उन्हें विदाई दे ।।१२२।। द्वार तक उनके पीछे-पीछे चलकर पुनः उनकी आज्ञा से

---

[१] ख. ०दि । योगी भोजितश्चेतस्यान्नौरि० । [२] क. ख. ०भिः सार्धं पू० । [३] क. ख. ०लस्य भूप० । [४] ग. ०वर्ज्या गर्ह्याश्च आमदानाशशानृते । द० । [५] क. ०लान्ये दिव्या ये च मनुषाः । व० ।

आद्वारमनुगच्छेच्च आगच्छेदनुमोदितः । ततो नित्यक्रियां कुर्याद्‌भोजयेच्च तथाऽतिथीन् ॥१२३॥
नित्यक्रियां पितृणां[1] च केचिदिच्छन्ति सत्तमाः । न पितृणां तथवान्ये शेषं पूर्ववदाचरेत् ॥१२४॥
पृथक्त्वेन[2] वदन्त्यन्ये केचित्पूर्वं च पूर्ववत् । ततस्तदन्नं भुञ्जीत सह भृत्यादिभिर्नरः ॥१२५॥
एवं कुर्वीत धर्मज्ञः श्राद्धं पित्र्यं समाहितः । यथा च विप्रमुख्यानां परिपोषोऽभिजायते ॥१२६॥
इदानीं संप्रवक्ष्यामि वर्जनीयान्द्विजाधमान् । मित्रध्रुक्कुनखी क्लीबः क्षयी शुक्ली[3] वणिक्पथः ॥१२७॥
श्यावदन्तोऽथ खल्वाटः काणोऽन्धो बधिरो जडः । मूकः पङ्‌गुः कुणिः षण्ढो[4] दुश्चर्मा व्यङ्गकेकरौ ॥१२८॥
कुष्ठी[5] रक्तेक्षणः कुब्जो वामनो विकटोऽलसः । मित्रशत्रुर्दुष्कुलीनः[6] पशुपालो निराकृतिः ॥१२९॥
परिवित्तिः परिवेत्ता परिवेदनिकासुतः । [7]वर्षषलीपतिस्तत्सुतश्च न भवेच्छ्राद्धभुग्द्विजः ॥१३०॥
[8]वृषलीपुत्रसंस्कर्ता अनूढो दिधिषूपतिः भृतकाध्यापको यस्तु भृतकाध्यापितश्च यः ॥१३१॥
सूतकान्नोपजीवी[9] च मृगयुः सोमविक्रयी । अभिशस्तस्तथा स्तेनः पतितो वार्धुषिः शठः ॥१३२॥
पिशुनो वेदसंत्यागी[10] दानाग्नित्यागनिष्ठुरः । राज्ञः पुरोहितो भृत्यो विद्याहीनोऽथ मत्सरी ॥१३३॥
वृद्धद्विड्दुर्धरः[11] क्रूरो मूढो देवलकस्तथा । नक्षत्रसूचकश्चैव पर्वकारश्च गर्हितः ॥१३४॥

लौट जाये । तव नित्यक्रिया करके अतिथियों को भोजन कराये ॥१२३॥ मुनिवृन्द ! कोई तो पितरो की नित्य-क्रिया करते हैं और कोई नहीं भी करते हैं । शेष क्रिया तो पहले ही की तरह करनी चाहिये ॥१२४॥ कोई कहते हैं, पितरों की पृथक्-पृथक् क्रिया होनी चाहिये, कोई कहते हैं नहीं, पहले की तरह ही सव कर्म करने चाहिये । श्राद्ध का अन्न सेवक आदि के साथ खाना चाहिये ॥१२५॥ धर्मज्ञ मनुष्य सावधान होकर पितरों का इस प्रकार श्राद्ध करे जिससे व्राह्मणों को सन्तोष हो जाय ॥१२६॥ अव मैं श्राद्ध में निषिद्ध व्राह्मणों के वारे में वतलाऊँगा । मित्र के साथ शत्रुता करने वाला, खराव नखवाला, नपुंसक, क्षय रोग वाला, श्वेत कुष्ठ वाला, व्यापार करने वाला, मद्य पीने वाला, गंजे शिर वाला, काना, अन्धा, वहड़ा, जड़, गूंगा, लंगड़ा, विकृत चर्म वाला, ऐंचाताना, कुष्ठरोगी, लाल नेत्र वाला, वौना, दन्तुल, आलसी, दुष्कुलीन, पशु पालने वाला, परिवित्ति, (जिसका छोटा भाई उससे पहले विवाह कर ले), परिवेत्ता, (जो बड़े भाई से पहले विवाह कर ले) परिवेदनिका (जिस स्त्रीसे विवाह करने पर परिवेदन दोष लगे) का पुत्र, शूद्रा का पति और उसका पुत्र व्राह्मण श्राद्ध में वर्जनीय है ॥१२६-१३०॥ शूद्रा के पुत्र का संस्कार करने वाला, अविवाहित, दूसरा विवाह करने वाली स्त्री का पति, वेतन लेकर पढ़ाने वाला, वेतन देकर पढ़ने वाला, सूतक के अन्न से जीने वाला, शिकार खेलने वाला, मद्यविक्रेता, कलंकी, चोर, पतित, सूदखोर, दुष्ट, चुगलखोर, वेदत्यागी, दान तथा अग्नि का त्याग करने वाला निष्ठुर, राजा का पुरोहित भृत्य, विद्याहीन, डाह रखने वाला, वृद्धों से द्वेष करने वाला, उद्धत, क्रूर, मूर्ख, पुजारी, ग्रह वताने वाला, पर्वकार, निन्दित और यज्ञ के अनधिकारी को यज्ञ कराने वाला,

---

१क. ख. ०णां प्राक्केचि० । २ग. ०न च नित्यत्वे के० । ३ग। स्विन्नी । ४क. षण्ढः कुकर्मा । ५क. कुक्षि-कुष्ठो रक्तदृष्टिर्घातनो । ख. कुक्षिकुष्ठोरक्त दृष्टिर्वाम० । ६क. ०त्रुर्दुःखशीलः प० । ७ग. ०स्तत्सूनुश्च तथा तच्छ्रा० । ८क. ०र्ताऽनृतवाग्दिधि० । ९क. सूतिकानिष्टकर्ता च । १०क. ण्गी होताऽग्नि० । ११ख. ०द्विण्मिथुनश्चैव पतितस्यैव पोषकः । न० ।

अयाज्ययाजकः षण्ढो गर्हिता ये च येऽधमाः। न ते श्राद्धे नियोक्तव्या दृष्ट्वाऽमी पङ्क्तिदूषकाः ॥१३५॥
असतां प्रग्रहो यत्र सतां चैवावमानना। दण्डो[१] देवकृतस्तत्र सद्यः पतति दारुणः ॥१३६॥
हित्वाऽऽगमं सुविहितं बालिशं यस्तु भोजयेत्। आदिधर्मं समुत्सृज्य दाता तत्र विनश्यति ॥१३७॥
यस्त्वाश्रितं द्विजं त्यक्त्वा अन्यमानीय भोजयेत्। तन्निःश्वासाग्निनिर्दग्धस्तत्र दाता विनश्यति ॥१३८॥
वस्त्राभावे क्रिया [२]नास्ति यज्ञा वेदास्तपांसि च। तस्माद्वासांसि देयानि श्राद्धकाले विशेषतः ॥१३९॥
कौशेयं क्षौमकार्पासं दुकूलमहतं तथा। श्राद्धे त्वेतानि यो दद्यात्कामानाप्नोति चोत्तमान् ॥१४०॥
यथा गोषु प्रभूतासु वत्सो विन्दति मातरम्। [३]तथाऽन्नं[४] तत्र विप्राणां जन्तुर्यत्रावतिष्ठते ॥१४१॥
नामगोत्रं च मन्त्राश्च दत्तमन्नं [५]नयन्ति ते। अपि ये निधनं प्राप्तास्तृप्तिस्तानुपतिष्ठते ॥१४२॥
देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च। [६]नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव[७] भवन्त्विति[८] ॥१४३॥
आद्यावसाने श्राद्धस्य त्रिरावृत्त्या जपेत्तदा। पिण्डनिर्वपणे [९]वाऽपि जपेदेवं समाहितः ॥१४४॥
क्षिप्रमायान्ति पितरो राक्षसाः प्रद्रवन्ति च। [१०]प्रीयन्ते त्रिषु लोकेषु मन्त्रोऽयं[११] तारयत्युत ॥१४५॥
क्षौमसूत्रं नवं दद्याच्छा (च्छो) णं कार्पासिकं तथा। [१२]पत्रोर्णं पट्टसूत्रं च कौशेयं च विवर्जयेत् ॥१४६॥

नपुंसक तथा अधम—ये ब्राह्मण श्राद्ध में त्याज्य हैं। ये पंक्ति को दूषित करने वाले हैं ॥१३१-१३५॥ जहाँ असत् पुरुष का सम्मान और सत् पुरुष का अपमान होता है वहाँ शीघ्र ही भयंकर दैविक दण्ड मिलता है ॥१३६॥ जो परम्परागत धर्म का उल्लघंन कर शास्त्रविहित ब्राह्मण को छोड़कर मूर्ख को खिलाता है, उसका नाश हो जाता है ॥१३७॥ जो आश्रित द्विज का परित्याग कर दूसरे को लाकर खिलाता है, वह उसके श्वास रूपी अग्नि से दग्ध होकर नष्ट हो जाता है ॥१३८॥ वस्त्र के अभाव में क्रिया, यज्ञ, वेद तथा तपस्या नहीं होती है। इसलिये श्राद्धकाल में विशेष करके वस्त्र देना चाहिये ॥१३९॥ जो रेशमी वस्त्र, पट्ट-वस्त्र, सूती वस्त्र तथा महीन वस्त्र श्राद्ध में देता है, वह उत्तम कामनाओं का प्राप्त करता है ॥१४०॥ जैसे अनेक गायों के बीच बछड़ा अपनी माँ के पास पहुँच जाता है उसी तरह ब्राह्मणों को खिलाया अन्न जीव के पास पहुँच जाता है ॥१४१॥ नाम-गोत्र के आदि तथा अन्त में 'देवताभ्यः ....' इस मन्त्र का जप तीन वार करे। पिण्डदान के समय भी सावधान होकर इसका जप करे। इससे पितर शीघ्र आ जाते हैं और राक्षस भाग जाते हैं। इस मन्त्र से तीनों लोक में पितर प्रसन्न होते हैं। यह सव का तारण करने वाला है ॥१४३-१४५॥ नवीन रेशमी सूत्र देना चाहिये, पर कपास, ऊन, पट्ट तथा कौशेय वस्त्र का सूत्र नहीं देना चाहिये ॥१४६॥ यदि वस्त्र पूरा हो किन्तु उसमें किनारी न हो तो वह

१ख. ०ण्डो दैव। ग. ०ण्डो दैत्यकृ०। २क. ०स्ति जपवे०। ३क. ०थाऽन्नमेति तत्रैव ज०। ४ग. ०न्नं नयते विप्रो ज०। ५ख. यान्ति। ६ग. ०मः स्वधायै स्वाहायै नि०। ७ख. ०व नमो नमः। आ०। ८क. ०वन्तु नः। आ०। ९क. चापि। १०ख. प्रयन्ते। ११. मन्त्रास्तांस्तार०। १२क. पितॄणां।

[1]वर्जयेच्चादशं प्राज्ञो यद्यप्यव्याहतं भवेत् । न प्रीणयन्त्यथैतानि दातुश्चाप्यनयो भवेत् ॥१४७॥
न निवेद्यो भवेत्पिण्डः पितॄणां यस्तु जीवति । इष्टेनान्नेन भक्ष्येण भोजयेत्तं यथाविधि ॥१४८॥
पिण्डमग्नौ सदा दद्याद्भोगार्थी सततं नरः । पत्न्यै दद्यात्प्रजार्थी च मध्यमं मन्त्रपूर्वकम् ॥१४९॥
[2]उत्तमां द्युमिमन्विच्छन्पिण्डं गोषु [3]प्रयच्छति । प्रज्ञां चैव यशः कीर्तिमप्सु[4] चैव[5] निवेदयेत् ॥१५०॥
प्रार्थयन्दीर्घमायुश्च वायसेभ्यः प्रयच्छति । कुमारशालामन्विच्छन्कुक्कुटेभ्यः प्रयच्छति ॥१५१॥
एके विप्राः पुनः प्राहुः पिण्डोद्धरणमग्रतः । अनुज्ञातस्तु विप्रैस्तैः काममुद्ध्रियतामिति ॥१५२॥
तस्माच्छ्राद्धं तथा[6] कार्यं यथोक्तमृषिभिः पुरा । अन्यथा तु भवेद्दोषः पितॄणां नोपतिष्ठति ॥१५३॥
यवैर्व्रीहितिलैर्माषैर्गोधूमैश्चणकैस्तथा । संतर्पयेत्पितॄन्मुद्गैः श्यामाकैः सर्षपद्रवैः ॥१५४॥
नीवारैर्हस्तिश्यामाकैः प्रियङ्गुभिस्तथाऽर्घयेत् । प्रसातिकां (असितकां)। सतूलिकां द (तीलकान्द)
द्याच्छ्राद्धे विचक्षणः ॥१५५॥
आम्रमाम्रातकं बिल्वं दाडिमं बीजपूरकम् । प्राचीनामलकं [7]क्षीरं नारिकेलं परूषकम् ॥१५६॥
नारङ्गं च सखर्जूरं द्राक्षानीलकपित्थकम् । पटोलं च प्रियालं च कर्कन्धूबदराणि च ॥१५७॥
[8]विकङ्कतं वत्सकं च[9] कस्त्वारु (र्कारू) र्वारकानपि । एतानि फलजातानि श्राद्धे देयानि यत्नतः ॥१५८॥
गुडशर्करमत्स्यण्डी देयं फाणितमूर्मुरम्[10] । गव्यं पयो दधि घृतं तैलं च तिलसंभवम् ॥१५९॥

नहीं देना चाहिए। ये वर्जनीय चीजें पितरों को तृप्ति नहीं देतीं। दाता के लिये भी ये हानिकारक हैं ॥१४७॥ पितरों में जो जीवित हैं, उसे पिण्ड नहीं देना चाहिये; वल्कि विधानपूर्वक उसे सुन्दर भोजन कराना चाहिये ॥१४८॥ भोगार्थी मनुष्य सदा अग्नि में पिण्ड चढ़ाये। प्रजा का इच्छुक मनुष्य मन्त्रपूर्वक पत्नी को पिण्ड दे ॥१४९॥ उत्तम कान्ति का इच्छुक व्यक्ति गौ को पिण्ड दे।बुद्धि,यश तथा प्रतिष्ठा चाहने वाला मनुष्य जल में पिण्ड दे ॥१५०॥ दीर्घायु चाहने वाला व्यक्ति कौओं को पिण्ड दे। कुमार-शाला चाहने वाला मुर्गों को दे ॥१५१॥ कुछ विद्वानों का कहना है कि अग्रभाग से पिण्ड को उठाना चाहिए। वैसे विप्रों की आज्ञा लेकर जैसे चाहें वैसे उठा सकते हैं ॥१५२॥ इसलिये जिस प्रकार ऋषियों ने वतलाया है उसी प्रकार श्राद्ध करना चाहिये। अन्यथा दोष होता है और पितरों को भी तृप्ति नहीं मिलती है ॥१५३॥ यव, व्रीहि, तिल, उड़द, गेहूँ तथा चने से पितरों का तर्पण करना चाहिए। मूँग, श्यामाक, (सांई), सरसों, नीवार, हस्तिश्यामक (सामा) तथा प्रियंगु (कंगनी) से पितरों को अंर्घ देना चाहिये। विद्वान् मनुष्य श्राद्ध में सोपकरण शय्या दान करें ॥१५४-१५५॥ आम, आमला, वेल, दाड़िम, विजौरा नीवू, पानीयामलक, नारियल, नारंगी, खजूर, दाख, कठवेल, पटोल, प्रियाल, (पियासाल), वेर, विकंकत, वत्सक, कस्तवारु ? वारक ?—ये फल श्राद्ध में देने चाहिये ॥१५६-१५८॥ गुड़, शक्कर, खांड, राव, गौ का दूध, दही, घी, तिल का तेल, सैन्धव नमक, पवित्र गन्ध, चन्दन, अगर, कुंकुम, कालशाक, तन्दुलीय, वास्तुक,

---

१क. ख. ०येदीदृशं। २क. ०मां गति०। ३क. ०ति। आंप्नोति च य०। ४ ०कीर्तिं यस्तु नित्यं नि०। ५ख। नित्यं। ६ग. सदा। ७ख. तीक्ष्णं। ८ख. ०तं वीजपूरं वैकामपि च पूरकम्। ए०। ९क. च खर्वारुरुचका०। १०ख। ०तशूर्मु०।

सैन्धवं सागरोत्थं च लवणं सारसं तथा । निवेदयेच्छुचीन्गन्धांश्चन्दनागुरुकुङ्कुमान्[1] ॥१६०॥
कालशाकं तन्दुलीयं वास्तुकं मूलकं तथा । शाकमारण्यकं चापि दद्यात्पुष्पाण्यमूनि च ॥१६१॥
जातिचम्पकलोध्राश्च मल्लिकाबाणबर्बरी । वृन्ताशोकाटरूषं च तुलसी तिलकं तथा ॥१६२॥
[2]पावन्तीः शतपत्रां च गन्धशेफालिकामपि । कुब्जकं तगरं चैव मृगमारण्यकेतकीम् ॥१६३॥
यूथिकामतिमुक्तं च श्राद्धयोग्यानि भो द्विजाः । कमलं कुमुदं पद्मं पुण्डरीकं च यत्नतः ॥१६४॥
इन्दीवरं कोकनदं कह्लारं च नियोजयेत् । कुष्ठं मांसी बालकं च कुक्कुटी जातिपत्रकम् ॥१६५॥
नलिकोशीरमुस्तं च ग्रन्तिपर्णी च सुन्दरी[3] । पुरप्येवमादीनि गन्धयोग्यानि चक्षते ॥१६६॥
गुग्गुलुं चन्दनं चैव श्रीवासमगुरुं तथा । धूपानि पितृयोग्यानि[4] ऋषिगुग्गुलमेव च ॥१६७॥
राजमाषांश्च[5] चणकान्मसूरान्कोरदूषकान् । विप्रुषान्मर्कटांश्चैव[6] कोद्रवांश्चैव वर्जयेत् ॥१६८॥
माहिषं चामरं मार्गमाविकैकशफोद्भवम् । [7]स्त्रैणमौष्ट्रमाविकं च दधि क्षीरं घृतं त्यजेत् ॥१६९॥
तालं वरुणकाकोलौ बहुपत्रार्जुनीफलम् । जम्बीरं रक्तबिल्वं च शालस्यापि फलं त्यजेत् ॥१७०॥
मत्स्यसूकरकूर्माश्च गावो वर्ज्या विशेषतः । पूतिकं मृगनाभिं च रोचनां पद्मचन्दनम् ॥१७१॥
कालेयकं तूग्रगन्धं तुरुष्कं चापि वर्जयेत् । पालङ्कं च कुमारी किरातं[8] पिण्डमूलकम् ॥१७२॥
गृञ्जनं चुक्रिकां [9]चुक्रं वरुमां चनपत्रिकाम् । [10] जीवंच [11]शतपुष्पां च नालिकां गन्धशूकरम्[12] ॥१७३॥

(वथुई) मूली तथा वन्य शाक देना चाहिये और ये फूल भी देने चाहिए ॥१५९-१६१॥ मालती, चम्पा, लोध, मल्लिका वाण, वर्वरी, वृन्त, अशोक, अटरूष, तुलसी, तिलक, शतपत्रा, गन्धशेफालिका, कुब्जक, तगर, मृग, जंगली केतकी, जूही तथा अतिमुक्त—ये पुष्प श्राद्ध के योग्य हैं ॥१६२-१६३½॥ कमल, कुमुद, श्वेतकमल, नीकमल तथा कह्लार श्राद्ध में देना चाहिए। कुष्ठ, जटामांसी, वालक, कुक्कुटी, जातिपत्रक, नलिक, उशीर (खस) मुस्त, ग्रन्थिपर्णी—ये पितरों के लिये गन्धोपयोगी वतलाये जाते हैं ॥१६५-१६६॥ गुग्गुल, चन्दन, श्रीवास, अगर, ऋषिगुग्गुल—ये पितरों के धूपयोग्य माने गये हैं। राजमाष, चणक, मसूर, कोरदूषक, विप्रुष, मर्कट, कोदो—ये श्राद्ध में त्याज्य हैं ॥१६७-१६८॥ भैंस, चमरी गाय, हरिणी, भेंड़, एक खुर वाले जानवर, स्त्री, ऊँट—इनका दही, दूध और घी भी त्याज्य हैं ॥१६९॥ ताल, वरुण, काकोल, वहुपत्र, अर्जुनीफल, जम्वीर, लालविल्व तथा शाल का भी फल त्याज्य है ॥१७०॥ मछली, सूअर, कछुआ तथा विशेष करके गायें त्याज्य हैं। पूतिक, कस्तूरी, गोरोचन, पद्मचन्दन, कालेयक तथा तीक्ष्ण गंध वाले लोवान का भी परित्याग करे ॥१७१½॥ पालक, कुमारी, किरात, पिण्डमूल, गाजर, चुक्रिका, चुक्र, वरुमा, चनपत्रिका, जीव, शतपुष्पा, नालिका, गन्धशूकर, हलभृत्य, सरसों, प्याज तथा लशुन का परित्याग करे ॥१७२-

---

१ग. नियोजये० । २क. पारधिं । ख. पारत्रीं। ३ख. सुक्षताः । ४क. गन्धयोग्यानि । ख. श्राद्धयोगयानि । ५ख। ०माष पन चैव मसू० । ग. ०माषानलूंश्चैव मसू० । ६क. ०टांश्चोग्रान्कोद्र० । ७क. ०ष्टमजावीकं द० । ख। ०ष्ट्रमजोद्भूतं द० । ८क. करम्म । ग. करण्डं । ९ग. ०क्रं वुवुकावरपोतिका० । १०ग. जीवकं श० । ११ग. ०तपत्रां च । १२क. गन्धसूतकीम् । ख. गन्धसूचकम् ।

हलभृत्यं सर्षपं च पलाण्डुं लशुनं त्येजत् । मानकन्दं[१] विषकन्दं[२] वज्रकन्दं[३] गदास्थिकम् ॥१७४॥
[४]पुरुषाल्वं सपिण्डालुं श्राद्धकर्मणि वर्जयेत् । अलाबुं[५] तिक्तपर्णीं च कूष्माण्डं कटुकत्रयम्[६] ॥१७५॥
वार्ताकं शिवजातं च लोमशानि वटानि च । [७]कालीयं रक्तबाणां च बालकां लकुचं तथा ॥१७६॥
श्राद्धकर्मणि वर्ज्यानि विभीतकफलं तथा । आरनालं च शुक्तं च शीर्णं पर्युषितं तथा ॥१७७॥
नोग्रगन्धं च दातव्यं [८]कोविदारकशिग्रुकौ । अत्यम्लं पिच्छिलं सूक्ष्मं यातयामं च सत्तमाः ॥१७८॥
न च देयं गतरसं मद्यगन्धं च यद्भवेत् । [९]हिङ्गूग्रगन्धं फणिशं भूनिम्बं निम्बराजिके ॥१७९॥
कुस्तुम्बुरु कलिङ्गोत्थं वर्जयेदम्लवेतसम् । दाडिमं मागधीं चैव नागरार्द्रकतित्तिडीः ॥१८०॥
आम्रातकं जीवकं च तुम्बुरुं न नियोजयेत् । पायसं शाल्मलीमुद्गान्मोदकादींश्च भक्तितः ॥१८१॥
पानकं च रसालं च गोक्षीरं च निवेदयेत् । यानि चाभ्यवहार्याणि स्वादुस्निग्धानि भो द्विजाः ॥१८२॥
ईषदम्लकटून्येव देयानि श्राद्धकर्मणि । अत्यम्लं [१०]चातिलवणमतिरिक्तकटूनि च ॥१८३॥
आसुराणीह भोज्यानि तान्यतो दूरतस्त्यजेत् । मृष्टस्निग्धानि यानि स्युरीषत्कट्वम्लकानि च ॥१८४॥
स्वादूनि देवभोज्यानि तानि श्राद्धे नियोजयेत् । [११]छागमांसं वार्तिकं च तैत्तिरं शशकामिषम् ॥१८५॥

१७३½॥ मानकन्द, विषकन्द, वज्रकन्द, गदास्थिक, पुरुषाल्व तथा पिण्डालु को भी श्राद्धकर्म में छोड़ दे । अलावू (लौकी), तिक्तपर्णा (करैला) कुम्हड़ा, त्रिकटुक, (सोंठ, पीपर और मिर्च) बैगन, शिवजात, लोमश, वट, कालीय, रक्तवाण, वलाका, वड़हर—ये श्राद्धकर्म में वर्जनीय हैं । वहेड़ा, आरनाल, शुक्त, फटा हुआ, वासी तथा तीक्ष्ण गन्ध वाला फल नहीं देना चाहिये । अत्यन्त खट्टा, फिसलने वाला, सूक्ष्म, वहुत देर का, रसहीन तथा मद्य समान गन्ध वाला फल नहीं देना चाहिये ॥१७४-१७८½॥ हींग के समान तीक्ष्ण गन्ध वाला फल, फणिश, भूनिम्व, निम्वराजिक, कलिंग देश का कुस्तुम्वुरु तथा अमलतास को छोड़ दे ॥१७९½॥ दाड़िम, मागधी, नागर, अदरक, इमली, आँवला, जीवक, तुम्वुरु—ये देने चाहिये । खीर, शाल्मली, मूँग, मोदक, पानक, आम तथा गौ का दूध भक्तिपूर्वक देना चाहिये ॥१८०-१८१½॥ जो भोज्य सुस्वादु, स्निग्ध तथा किंचित् खट्टा एवम् कड़ुवा पदार्थ हो, वह श्राद्ध कर्म में देना चाहिये ॥१८२½॥ अत्यन्त खट्टा, अधिक नमकीन और अधिक कड़ुवा भोज्य पदार्थ राक्षसी भोज्य कहलाता है, उसे दूर ही त्याग दे ॥१८३½॥ जो मधुर, स्निग्ध तथा थोड़ा कड़ूवा एवम् खट्टा हो, वह देव-भोज्य कहलाता है, उसे रखे ॥१८४½॥ वकरे का मांस, वटेर पक्षी का मांस, तीतर का मांस, खरहे का मांस, और शिवा, लावक तथा राजीव का मांस श्राद्ध में देना चाहिए ॥१८५½॥ वाघ्रीणस, (गैंडा) रक्तशिव, त्वचा से युक्त, लोह (?) सिंहतुण्ड

१ख. ०नस्कन्दं । २क. कृषस्कन्दं । ३क. वककन्दं । ४क. पुरपालं । ख. परुषालूं । ५क. तिक्तकणं । ख. त्यक्तकर्णं। ६. ग. कटुपत्रिकाम् । ७क. कालिङ्गं रक्तवाणुं च वीणाकातिं कुवालुकम् । श्रा० । ग. कालिन्दं रक्तदारुं च वीणाका वृत्तवारुकम् । श्रा० ८क. ०ककिंशुकौ । ख. ०कपित्थकौ । ९ग. हिङ्गुगन्धां पाणिशं च भू० । १०क. ०तितिक्त० । ११क. ०स च वार्ताकं तै० ।

शिवालावकराजीवमांसं श्राद्धे नियोजयेत् । [१]वाघ्रीणसं रक्तशिवं लोहं शल्कसमन्वितम् ।।१८६।।
[२]सिंहतुण्डं[३] च खड्गं च श्राद्धे योज्यं तथोच्यते । [४]यदप्युक्तं तं हि मनुना रोहितं प्रतियोजयेत् ।।१८७।।
योक्तव्यं [५]हव्यकव्येषु तथा न विप्रयोजयेत् । एवमुक्तं मया[६] विप्रा वाराहेणावलोकितम्[७] ।।१८८।।
मया निषिद्धं भुञ्जानो रौरवं नरकं व्रजेत् । [८]एतानि च निषिद्धानि वाराहेण तपोधनाः ।।१८९।।
अभक्ष्याणि द्विजातीनां न देयानि पितृष्वपि । रोहितं शूकरं कूर्मं गोधाहंसं[९] च [१०]वर्जयेत् ।।१९०।।
चक्रवाकं च मद्गुं च शल्कहीनांश्च मत्स्यकान् । कुररं च निरस्थिं च वासहातं च (?) कुक्कुटान् ।।१९१।।
कलविङ्कमयूरांश्च भारद्वाजांश्च शार्ङ्गकान् । [११]नकुलोलूकमार्जारांल्लोपानन्यान्सुदुर्ग्रहान् ।।१९२।।
[१२]टिट्टिभान्सार्धजम्बूकान्व्याघ्रऋक्षतरक्षुकान[१३] । एतानन्यांश्च [१४]संदुष्टान्यो भक्षयति दुर्मतिः ।।१९३।।
स महापापकारी तु रौरवं नरकं व्रजेत् । पितृष्वेतांस्तु यो दद्यात्पापात्मा गर्हितामिषान् ।।१९४।।
स स्वर्गस्थानपि पितृन्नरके पातयिष्यति । कुसुम्भशाकं जम्बीरं सिग्रुकं कोविदारकम् ।।१९५।।
पिण्याकं विप्रुषं[१५]चैव मसूरं[१६] गृञ्जनं शणम् । कोद्रवं कोकिलाक्षं च चक्रं कम्बुकपद्मकम्[१७] ।।१९६।।
चकोरश्येनमांसं च बर्तुलालाबुतालिनीम् । फलं तालतरूणां च भुक्त्या नरकमृच्छति ।।१९७।।

तथा खड्ग का मांस श्राद्ध में देना चाहिए ।।१८६$\frac{१}{२}$।। मनु के कथनानुसार रेहू मछली भी देनी चाहिए। हव्य-कव्यो की तैयारी में इन पदार्थों का उपयोग करना चाहिए पर इनका दुरुपयोग न होने पाए। विप्रवृन्द ! वाराह द्वारा निर्देशित मार्ग को मैंने आप लोगों से वतला दिया ।।१८७-१८८।। मैंने जिनका निषेध वतलाया है, उनका व्यवहार करने वाला मनुष्य रौरव नरक में जाता है। तपस्वियो ! इनका निषेध तो वाराह ने किया है ।।१८९।। पितृकर्म में भी अभक्ष्य वस्तु व्राह्मणों को नहीं देनी चाहिये। रोहू मछली, सूअर, कछुआ, गोह तथा हंस श्राद्ध में निषिद्ध है ।।१९०।। चक्रवाक, मद्गु (पनिडुब्वी), त्वचाहीन मत्स्य, कुररपक्षी, अस्थिविहीन वासहात ? मुर्गा, गौरैया, मयूर, भारद्वाज, शाङ्र्ग, नेवला, उल्लू, विलाड़, टिटिहरी, सियार, वाघ, रीछ, लकड़वग्घा—इन दुष्ट जीवों को जो दुर्मति मनुष्य खाता है, वह महापाप का भागी होकर रौरव नरक में जाता है ।।१९१$\frac{१}{२}$।। जो पापी मनुष्य पितरों को यह निन्दित मांस खिलाता है, उसके पितर स्वर्गच्युत हो जाते हैं। कुसुम्भशाक, जम्वीर, सिग्रुक, कोविदारक, पिण्याक, विप्रुष, मसूर, गाजर, शण, कोदो, कोकिलाक्ष, चुक्र, कम्वुक, पद्मक, चकोर तथा वाज का मांस, गोल लौकी और ताल वृक्ष का फल जो खाता है, वह नरक में जाता है ।।१९७।। पितरों को ये चीजें देकर मनुष्य उनके साथ पीप से भरे नरक में जाता है। इसलिये सुधीजन यत्न करने इन चीजों को न चढ़ायें। वराह भगवान् पितरों के सम्मान के लिये स्वयं इन चीजों का निषेध कर दिया है। मुनिवृन्द ! मनुष्य अपना मांस भक्षण करे यह उचित

१क. वादिनक्रशिलालोहशशश० । २ग. सिंहं तु० । ३क. तुण्डिकख० । ४ख. ०यद्यदुक्तं । ग. यद्यप्युक्तं । ५ग. ०षु कापिलं न नियो० । ६ख. प्रियं । ग. पुरा । ७ग. ०किना । म० । ८ग. श्राद्धानि । ९ख. ०धामांसं । १०. क. क. चन्द्रकम् । ११ग. र्जारं नोपाकार्यांश्चवर्तवान् । १२ क. भान्गर्ध । १३क. ०घ्रगोपुच्छमर्कटान् । १४क. संदूष्यान्यो । १५क. ख. गृञ्जनं । १६क. ख. ०रं वितुषं मतम् । १७ग. कञ्चुक० ।

दत्त्वा पितृषु तैः सार्धं वज्रेत्पूयवहं नरः । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन नाऽऽहरेत्तु विचक्षणः ॥१९८॥
निषिद्धानि वराहेण स्वयं पित्रर्थमादरात् । वरमेवाऽऽत्ममांसस्य भक्षणं मुनयः कृतम् ॥१९९॥
न त्वेव हि निषिद्धानामादानं पुंभिरादरात् । अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा सकृदेतानि च द्विजाः ॥२००॥
भक्षितानि निषिद्धानि प्रायश्चित्तं ततश्चरेत् । फलमूलदधिक्षीरतक्रगोमूत्रयावकैः ॥२०१॥
[1]भोज्यान्नभोज्यसंभुक्ते[2] प्रत्येकं दिनसप्तकम् । एवं निषिद्धाचरणे कृते सकृदपि द्विजैः ॥२०२॥
शुद्धिं नेयं शरीरं तु विष्णुभक्तैर्विशेषतः । निषिद्धं वर्जयेद्द्रव्यं यथोक्तं च द्विजोत्तमाः ॥२०३॥
समाहृत्य ततः श्राद्धं कर्तव्यं निजशक्तितः । एवं विधानतः श्राद्धं कृत्वा स्वविभवोचितम् ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्प्रीणाति मानवः ॥२०४॥

मुनय ऊचुः

पिता जीवति यस्याथ मृतौ द्वौ पितरौ पितुः । कथं श्राद्धं हि कर्तव्यमेतद्विस्तरशो वद ॥२०५॥

व्यास उवाच

यस्मै दद्यात्पिता श्राद्धं तस्मै दद्यात्सुतः स्वयम् । एवं न हीयते धर्मो लौकिको वैदिकस्तथा ॥२०६॥

मुनय ऊचुः

मृतः पिता जीवति च यस्य ब्रह्मन्पितामहः । स हि श्राद्धं कथं कुर्यादितत्त्वं वक्तुमर्हसि ॥२०७॥

है किन्तु निषिद्ध वस्तुओं का सेवन न करे ॥१९८-१९९॥ मनुष्य अज्ञान से या असावधानी से एक बार भी निषिद्ध वस्तुओं का भक्षण कर ले तो सात दिनों तक प्रत्येक दिन भोज्य अन्न के साथ फल, मूल, दही, दूध, तक्र, गोमूत्र तथा यावकों (कुलथी) से प्रायश्चित्त करे ॥२००-२०१॥ ब्राह्मणवर्ग यदि एक बार भी इस प्रकार का निषिद्ध आरचण कर लें तो उन्हें शरीर-शुद्धि करनी चाहिये । विष्णुभक्तों को विशेष करके प्रायश्चित करना चाहिये । निषिद्ध द्रव्यों का त्याग कर अपनी शक्ति के अनुसार सामग्री जुटाकर श्राद्ध करना चाहिये । इस तरह विधानपूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार श्राद्ध करने से मनुष्य व्रह्मा से लेकर तृण तक संपूर्ण जगत् को तृप्त करता है ॥२०२-२०४॥

मुनियों ने कहा—जिसका पिता जीवित है और पिता के माँ-वाप मर चुके हैं, वह कैसे श्राद्ध करे, यह हमें विस्तार से वतलाये ॥२०५॥

व्यास ने कहा—पिता जिसका श्राद्ध करे पुत्र भी उसी का श्राद्ध करे । ऐसा करने से लौकिक तथा वैदिक धर्म की हानि नहीं होती है ॥२०६॥

मुनियों ने कहा—व्रह्मन् ! जिसका पिता मर चुका है और पितामह जीवित है, वह कैसे श्राद्ध करे, यह वतलाइये ॥२०७॥

१क. ख. ०ज्यान्नं भो० । २क. ०संयुक्ते प्र० । ख. ०संयुक्तं प्र० ।

व्यास उवाच

पितुः पिण्डं प्रदद्याच्च भोजयेच्च पितामहम् । प्रपितामहस्य पिण्डं वै[1] ह्ययं शास्त्रेषु निर्णयः ॥२०८॥
मृतेषु पिण्डं दातव्यं जीवन्तं चापि भोजयेत् । सपिण्डीकरणं नास्ति न च पार्वणमिष्यते ॥२०९॥
[2]आचारमाचरेद्यस्तु पितृमेधाश्रितं नरः । आयुषा धनपुत्रैश्च वर्धत्याशु न संशयः ॥२१०॥
[3]पितृमेधाध्यायमिमं श्राद्धकालेषु यः पठेत् । तदन्नमस्य पितरोऽश्नन्ति च त्रियुगं द्विजाः ॥२११॥
एवं मयोक्तः पितृमेधकल्पः; पापापहः पुण्यविवर्धनश्च
श्रोतव्य एष प्रयतैर्नरैश्च, श्राद्धेषु चैवाप्यनुकीर्तयेत ॥२१२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे श्राद्धकल्पनिरूपणं नाम
विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२०॥

अथैकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सदाचारवर्णनम्

व्यास उवाच

एवं सम्यग्गृहस्थेन देवताः पितरस्तथा । संपूज्या हव्यकव्याभ्यामन्नेनातिथिबान्धवाः ॥१॥

व्यास ने कहा—वह पिता और प्रपितामह को पिण्ड तथा पितामह को भोजन कराये—यही शास्त्रों का निर्णय है। वह मरे हुए को पिण्ड दे और जीवित को भोजन दे। उसे सपिण्डीकरण तथा पार्वण नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य अपने पूर्वजों के अनुसार आचरण करता है, वह शीघ्र ही आयु, धन तथा पुत्रों से सम्पन्न होता है, इसमें कोई संशय नहीं। द्विजगण ! जो श्राद्धकाल में पितरों के इस अध्याय का पाठ करता है, उसका अन्न पितर तीन युगों तक खाते हैं। पापों को दूर करने वाले तथा पुण्य बढ़ाने वाले इस पितृमेधकल्प का वर्णन मैंने कर दिया। मनुष्य को यत्नपूर्वक इसका श्रवण करना चाहिये। श्राद्धों में भी इसका पाठ होना चाहिये ॥२०८-२१२॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में श्राद्धकल्प-निरूपण
नामक दो सौ बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२२०॥

अध्याय २२१

सदाचार का वर्णन

व्यास ने कहा—इस प्रकार गृहस्थ लोग हव्य-कव्यों से देवता और पितरों की पूजा करते और अन्य से अतिथि

---

[1] ग. वै श्राद्धेषु निर्णयः कृतः । मृ० । [2] ख. ०खांस्तु पुत्रः स्यान्पितॄन्प्रीणाति श्राद्धतः । आ० । [3] क. ०धामृतं पुण्यं प्रातः का० ।

भूतानि भृत्याः सकलाः पशुपक्षिपिपीलिकाः । भिक्षवो याचमानाश्च ये चान्ये पान्थका गृहे ॥२॥
सदाचाररता विप्राः साधुना गृहमेधिना । पापं भुङ्क्ते समुल्लङ्घ्य नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः ॥३॥

मुनय ऊचुः

कथितं भवता विप्र नित्यनैमित्तिकं च यत् । नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं कर्म पौरुषम् ॥४॥
सदाचारं मुने श्रोतुमिच्छामो वदतस्तव । यं कुर्वन्सुखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥५॥

व्यास उवाच

गृहस्थेन सदा कार्यमाचारपरिरक्षणम्[1] । न ह्याचारविहीनस्य भद्रमत्र परत्र वा ॥६॥
यज्ञदानतपांसीह पुरुषस्य न भूतये । भवन्ति यः सदाचारं समुल्लङ्घ्य प्रवर्तते[2] ॥७॥
दुराचारो हि पुरुषो[3] नेहाऽऽयुर्विन्दते महत् । कार्यो धर्मः सदाचार [4] आचारस्यैव लक्षणम् ॥८॥
[5]सत्य [6]स्वरूपं वक्ष्यामि सदाचारस्य[7] भो द्विजाः । आत्मनैकमना भूत्वा[8] तथैव परिपालयेत् ॥९॥
त्रिवर्गसाधने यत्नः कर्तव्यो गृहमेधिना । तत्संसिद्धौ गृहस्थस्य सिद्धिरत्र परत्र च ॥१०॥
पादेनाप्यस्य [9]पारत्र्यं कुर्याच्छ्रेयः स्वमात्मवान् । अर्धेन चाऽऽत्मभरणं नित्यनैमित्तिकानि च ॥११॥

तथा भाई-वन्धुओं को संतुष्ट करें। सद्गृहस्थ को चाहिये कि वह घर पर आये हुए समस्त प्राणी, सेवक, पशु, पक्षी, चींटी, भिक्षुक, पथिक तथा दूसरे भी याचकों का सत्कार करे। जो नित्य तथा नैमित्तिक क्रिया का उल्लंघन करता है, वह मानो पाप खाता है ॥१-३॥

मुनियों ने कहा—विप्र ! आपने नित्य-नैमित्तिक कर्म वतला दिये। पुरुष के तीन प्रकार के कर्म होते हैं—नित्य नैमित्तिक तथा काम्य। मुने ! अव हम सदाचार के वारे में सुनना चाहते हैं, जिसके करने से मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में सुख प्राप्त करता है ॥४-५॥

व्यास ने कहा—गृहस्थ को सदा आचार की रक्षा करनी चाहिये। आचारहीन मनुष्य का कल्याण न यहाँ होताहै, न परलोक में ॥६॥ जो सदाचार का उल्लंघन करता है, उसके यज्ञ, दान और तप ऐश्वर्यवर्धक नहीं होते हैं ॥७॥ दुराचारी पुरुष की आयु वड़ी नहीं होती है। सदाचारयुक्त धर्म करना चाहिये। द्विजगण ! सदाचार का स्वरूप मैं वतलाऊँगा, जिसका पालन मनुष्य एकचित्त होकर करे। गृहस्थ को धर्म, काम और अर्थ के साधन में यत्नशील रहना चाहिये। उनकी सिद्ध होने पर यहाँ और परलोक में भी सिद्धि मिलती है ॥८-१०॥ विचारवान् व्यक्ति उनके चतुर्थांश साधन करने से भी पारलौकिक श्रेय प्राप्त करता है और अर्ध साधन करने से अपना भरण-पोषण तथा नित्य नैमित्तिक कर्म कर लेता है ॥११॥ फिर भी चतुर्थांश साधन

---

[1] क. ख. ०रिपालनम्। [2] ख. ०ते। सदाचारः स पु०। [3] ख. षो व्रह्मेदं विन्द०। [4] क. ग. ०चारो हन्त्यल०। [5] क. तथा च वः प्रव०। ख. तथा। [6] ख. स्वपक्षं। [7] क. ०चारं तु भो। [8] ख. ०त्वा तं चैव। [9] ख. पावित्र्यं।

पादेनैव तथाऽप्यस्य मूलभूतं विवर्धयेत् । एवमाचरतो विप्रा अर्थः साफल्यमृच्छति ॥१२॥
तद्वत्पापनिषेधार्थं धर्मः कार्यो विपश्चिता । परत्रार्थस्तथैवान्यः [1]कार्योऽत्रैव फलप्रदः ॥१३॥
प्रत्यवायभयात्कामस्तथाऽन्यश्चाविरोधवान् । द्विधा कामोऽपि रचितस्त्रिवर्गायाविरोधकृत् ॥१४॥
[2]परस्परानुबन्धांश्च[3] सर्वानेतान्विचिन्तयेत् । विपरीतानुबन्धांश्च बुध्यध्वं तान्द्विजोत्तमाः ॥१५॥
धर्मो धर्मानुबन्धार्थो धर्मो[4] नाऽऽत्मार्थपीडकः । उभाभ्यां च द्विधा कामं तेन तौ च द्विधा पुनः ॥१६॥
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थावनुचिन्तयेत् । समुत्थाय तथाऽऽचम्य [5]प्रस्नातो नियतः शुचिः ॥१७॥
पूर्वां संध्यां सनक्षत्रां पश्चिमां सदिवाकराम् । उपासीत यथान्यायं नैनां जह्यादनापदि ॥१८॥
[6]असत्प्रलापमनृतं वाक्पारुष्यं च वर्जयेत् । असच्छास्त्रमसद्वादमसत्सेवा च वै द्विजाः ॥१९॥
सायंप्रातस्तथा होमं कुर्वीत नियतात्मवान् । नोदयास्तमने चैवमुदीक्षेत विवस्वतः ॥२०॥
केशप्रसाधनादर्शदन्तधावनमञ्जनम् । पूर्वाह्ण एवं कार्याणि देवतानां च तर्पणम्[7] ॥२१॥
[8]ग्रामावसथतीर्थानां क्षेत्राणां चैव [9]वर्त्मनि । न विण्मूत्रमनुष्ठेयं न च कृष्टे न गोव्रजे ॥२२॥

करते हुए ही उनकी जड़ को दृढ़ वनाना चाहिये। विप्रवृन्द ! इस प्रकार आचरण करने से धन सफल होता है ॥१२॥ उसी प्रकार पाप मिटाने के लिए विद्वान् को धर्म करना चाहिये। परलोक के लिये तथा इहलोक के लिये धर्म करना चाहिए, जो यहीं फलदायक होता है ॥१३॥ धर्म, काम और अर्थ का अविरोधी काम भी दो प्रकार का माना गया है—एक पाप से डरने वाला और दूसरा सवका अविरोधी। द्विजश्रेष्ठो ! ये तीनों परस्पर सम्वद्ध हैं, पर तीनों एक दूसरे के विपरीत हैं। धर्म का सहायक अर्थ भी धर्म ही है और आत्मा तथा धन का नाश करने वाला धर्म भी धर्म नहीं है। धर्म और अर्थ के भेद से काम दो प्रकार का होता है और काम-भेद से धर्म-अर्थ भी दो-दो प्रकार के होते हैं॥१४-१६॥ व्राह्म मुहूर्त्त में उठकर धर्म-अर्थ का चिन्तन करना चाहिये। उसी प्रकार उठने के वाद शौचादि से निवृत्त हो स्नान करके पवित्रतापूर्वक आचमन कर प्रातःकालीन सन्ध्या तारों के रहते हुए ही कर लेनी चाहिये, और सायंकाल की संध्या सूर्य के रहते करनी चाहिये। ठीक समय पर इसकी उपासना अवश्य करनी चाहिये। आपत्ति काल में भी इसका परित्याग न करे॥१७-१८॥ असत्य भाषण तथा वाणी की कठोरता को त्यागना चाहिये। असत् शास्त्र, असत् विवाद तथा असत् सेवा का त्याग कर देना चाहिये। सायंकाल तथा प्रातःकाल हवन करे। उदय एवम् अस्त होने के समय सूर्य को न देखे॥१९-२०॥ वालों का परिष्कार, दन्तधावन तथा अंजन करे। पूर्वाह्ण में ही देवताओं का तर्पण करे॥२१॥ गाँव, घर, तीर्थ, खेत, मार्ग, जोती हुई भूमि तिथा गोष्ठ में मल-मूत्र का त्याग न करे॥२२॥ नग्न स्त्री तथा अपनी विष्ठा को न देखे। रजस्वला स्त्री के दर्शन, स्पर्श एवम् संभाषण न करे। जल में मल-मूत्र-त्याग तथा मैथुन न करे। मल, मूत्र, केश, भस्म, कपाल, भूसी, कोयला रस्सी

१क। ग. काम्योऽत्रै० । २क. ख. ०रस्य चानु० । ३क. ०वन्धार्थं स० । ग. ०वन्धाञ्च स० । ४क. ०र्मो वाऽर्थार्थपादकः । ५ग. प्राङ्मुखे । ६क. ख. ०मत्यर्थं वा० । ७कं. पूजनम् । ८क. ०मावासे च ती० । ९ख. ०नि । विष्ठामूत्रं न कर्तव्यं न० ।

नग्नां परस्त्रियं नेक्षेन्न पश्येदात्मनः शकृत् । [1]उदक्यादर्शनस्पर्शमेवं संभाषणं तथा ।।२३।।
नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा मैथुनं वा समाचरेत् । नाधितिष्ठेच्छकृन्मूत्रे केशभस्मसपालिकाः ।।२४।।
तुषाङ्गारविशीर्णानि रज्जुवस्त्रादिकानि च । नाधितिष्ठेत्तथा प्राज्ञः पथि[2] वस्त्राणि[3] वा भुवि ।।२५।।
पितृदेवमनुष्याणां भूतानां च तथाऽर्चनम् । कृत्वा विभवतः पश्चाद्गृहस्थो भोक्तुमर्हति ।।२६।।
प्राङ्मुखोदङ्मुखो [4]वाऽपि स्वाचान्तो वाग्यतः शुचिः । भुञ्जीत चाऽन्नं तच्चित्तो ह्यन्तर्जानुः सदा नरः ।।२७।।
[5]उपघातमृते दोषान्नान्नस्योदीरयेद्बुधः[6] । प्रत्यक्षलवणं [7]वर्ज्यमन्नमुच्छिष्टमेव च ।।२८।।
न गच्छन्न च तिष्ठन्वै विण्मूत्रोत्सर्गमात्मवान् । कुर्वीत [8]चैवमुच्छिष्टं न किंचिदपि भक्षयेत् ।।२९।।
उच्छिष्टो [9]नालपेत्किंचित्स्वाध्यायं न विवर्जयेत् । न पश्येच्च रविं चेन्दुं नक्षत्राणि च कामतः ।।३०।।
भिन्नासनं च शय्यां च भाजनं च विवर्जयेत् । गुरूणामासनं [10] देयमभ्युत्थानादिसत्कृतम् ।।३१।।
अनुकूलं तथाऽऽलापमभिकुर्वीत बुद्धिमान् । तत्रानुगमनं कुर्यात्प्रतिकूलं न संचरेत् ।।३२।।
नैकवस्त्रश्च भुञ्जीत न कुर्याद्देवतार्चनम् । नाऽऽवाहयेद्द्विजानग्नौ होमं कुर्वीत बुद्धिमान् ।।३३।।
न स्नायीत नरो नग्नो न शयीत कदाचन । न पाणिभ्यामुभाभ्यां तु कण्डूयेत शिरस्तथा ।।३४।।
न चाभीक्ष्णं शिरःस्नानं कार्यं निष्कारणं बुधैः । शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किंचिदुपस्पृशेत् ।।३५।।

तथा (केवल) वस्त्र आदि पर न वैठे । विद्वान् मनुष्य मार्ग में भूमि पर वस्त्र विछा कर न वैठे ।।२३-२५।। पितर देवता, मनुष्य तथा पंचभूतों की पूजा करने के उपरान्त गृहस्थ भोजन करे ।।२६।। पूर्व या उत्तर मुंह वैठकर आचमन करके पवित्र हो मौन होकर भोजन करे । मनुष्य अन्न खाते समय उसी में मन लगाये और जंघे को नीचे करके अर्थात् पद्मासन लगा कर वैठे ।।२७।। विद्वान् व्यक्ति उपघात या क्षति के विना भोजन की निन्दा न करे । जिस भोजन में अधिक नमक हो, उसको त्याग दे ।।२८।। चलते हुए तथा खड़ा होकर मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिये । जूठा कुछ भी नहीं खाना चाहिये । जूठे मुँह से कुछ भी न वोले, स्वाध्याय न करे, सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रों को भी स्ववेच्छा से न देखे । फटा आसन, फटी शय्या तथा फूटा वरतन नहीं रखना चाहिये । गुरु को उठकर सत्कारपूर्वक आसन देना चाहिये ।।२९-३१।। वुद्धिमान् मनुष्य गुरु के अनुकूल संभाषण करे उनका अनुगमन करे और उनके प्रतिकूल कुछ भी न करे ।।३२।। वुद्धिमान् व्यक्ति एक वस्त्र धारण कर भोजन, देवपूजन, व्राह्मणों का आह्वान तथा अग्नि में हवन न करे ।।३३।। नग्न होकर मनुष्य कभी भी स्नान तथा शयन न करे । दोनों हाथों से शिर को न खुजलाये ।।३४।। विद्वान् वार-वार तथा निष्कारण सिर से स्नान न करे । सिर से स्नान करके अंगों में तेल न लगाये ।।३५।। अनध्यायों में वेदाध्ययन न करे । कभी भी व्राह्मण, अग्नि, गाय तथा सूर्य का

---

[1]क. ०स्पर्शं सहसं० । [2]क. परयन्त्राणि । [3]ख. पत्राणि । [4]ख. ०पि कुर्याद्वार्घ्यं च वा० । [5]ख. उच्चारयेत्सदा दो० । [6]ख. ०न्नस्य भोजने वुधः । [7]ख. ०मशुद्धं तत्प्रकीर्तितम् । न । [8]ग. चैवाऽऽचमनं न । [9]क. ख. ९लभेत्किं० । [10]क. ०मत्युच्चं चातिस० ।

अनध्यायेषु सर्वेषु स्वाध्यायं च विवर्जयेत्[1] । ब्राह्मणानलगोसूर्यान्नावमन्येत्कदाचन ॥३६॥
उदङ्मुखो दिवा रात्रावुत्सर्गं दक्षिणामुखः । आबाधासु यथाकामं कुर्यान्मूत्रपुरीषयोः ॥३७॥
दुष्कृतं न गुरोर्ब्रूयात्क्रुद्धं चैनं प्रसादयेत् । परिवादं न श्रृणुयादन्येषामपि कुर्वताम् ॥३८॥
पन्था देयो ब्राह्मणानां रामो दुःखातुरस्य[2] च । विद्याधिकस्य गर्भिण्या रोगार्तस्य महीयतः ॥३९॥
मूकान्धबधिराणां च मत्तस्योन्मत्तकस्य च । देवालयं चैद्यतरुं तथैव च चतुष्पथम् ॥४०॥
विद्याधिकं गुरुं चैव बुधः कुर्यात्प्रदक्षिणम् । । उपानद्वस्त्रमाल्यादि[3] धृतमन्यैर्न धारयेत् ॥४१॥
चतुर्दश्यां तथाऽष्टम्यां पञ्चदश्यां च पर्वसु । तैलाभ्यङ्गं तथा भोगं योषितश्च विवर्जयेत् ॥४२॥
नोत्क्षिप्ताबहुजङ्घश्च प्राज्ञस्तिष्ठेत्कदाचन[4]। न चापि विक्षिपेत्पादौ पादं पादेन नाऽऽक्रमेत् ॥४३॥
पुंश्चल्याः कृतकार्यस्य बालस्य पतितस्य च । मर्माभिघातमाक्रोशं पैशुन्यं च विवर्जयेत् ॥४४॥
दम्भाभिमानं तैक्ष्ण्यं च न कुर्वीत विचक्षणः । मूर्खोन्मत्तव्यसनिनो विरूपानपि वा तथा ॥४५॥
[5]न्यूनाङ्गांश्चाधनांश्चैव नोपहासेन दूषयेत् । परस्य दण्डं [6]नोद्यच्छेच्छिक्षार्थं शिष्यपुत्रयोः ॥४६॥
तद्वन्नोपविशेत्प्राज्ञः पादेनाऽऽकृष्य चाऽऽसनम् । संयावं कृशरं मांसं नाऽऽत्मार्थमुपसाधयेत् ॥४७॥
सायं प्रातश्च भोक्तव्यं कृत्वा चातिथिपूजनम् । प्राङ्मुखोदङ्मुखो वाऽपि वाग्यतो दन्तधावनम्[7] ॥४८॥

अपमान न करे ॥३६॥ दिन में उत्तर मुँह तथा रात में दक्षिण मुँह वैंठकर मल-मूत्र त्याग करे । संकट काल में किसी भी मुँह होकर त्याग कर सकता है ॥३७॥ गुरु को कटुवचन न कहे । कुपित होने पर उन्हें प्रसन्न करे । गुरु की निन्दा दूसरे के मुँह से भी न सुने ॥३८॥ व्राह्मणों को, राजाओं को, दुःखातुरों को, अधिक विद्या वालों को, गर्भिणियों को, महान् रोगियों को, गूंगों को, बहरों को, अन्धों को तथा पागलों को रास्ता दे देना चाहिये । पण्डित लोग देवालय, गाँव की सीमा पर के वृक्ष, चौराहे, अधिक विद्या वाले तथा गुरु की प्रदक्षिणा करे । दूसरे के धारण किये हुए जूते, वस्त्र, माला आदि न पहने ॥३९-४१॥ चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या तथा त्यौहारों में तेल तथा स्त्री-सम्भोग परित्याग करे ॥४२॥ वाँहों तथा जाँघों को ऊपर उठाकर अवस्थित नहीं होना चाहिये । पैरों को झटकारना नहीं चाहिये । एक पैर को दूसरे पैर से मलना नहीं चाहिए ॥४३॥ पुश्चली स्त्री, अपना कार्य किये हुए वालक तथा पतित व्यक्ति के प्रति मर्मवेधी आक्रोश तथा पिशुनता का व्यवहार नहीं करना चाहिये। विद्वान् मनुष्य दम्भ, अभिमान तथा तीक्ष्णता को छोड़ दे ॥४४॥ मूर्ख; पागल, दुर्व्यसनी, कुरूप तथा कम-अधिक अंग वाले व्यक्ति का उपहास न करे। शिष्य तथा पुत्र की शिक्षा के निमित्त दूसरे के डंडे को न उठाये ॥४५-४६॥ पैर से आसन खींच कर न वैठे। (केवल) अपने लिए हलुआ, तिल का लड्डू तथा मांस नहीं वनाना चाहिए। सायंकाल और प्रातः-काल (अर्थात् दिन और रात्रि में) अतिथि-सत्कार करके भोजन करना चाहिए। पूर्व या उत्तर मुँह वैठकर मौन

---

[1] ख. ०त्। भिक्षाटन सदा कुर्याद्व्राह्मणानां च स सु। उ० । [3] क. दुःखार्दितस्य। [3] क. ०माल्यं तु धृ० । [4] क. ०न । नापिं संक्षिपयेत्पा० । [5] क. ०श्चाधिकाङ्गाश्च नो० । [6] ग. ०द्यच्छेदन्यत्र मित्रपुत्रयोः । [7] ख. ०म् । शयनं स० ।

कुर्वीत सततं विप्रा वर्जयेद्वर्ज्यवीरुधम्[1] । नोदक्शिराः स्वपेज्जातु न च प्रत्यक्शिरा नरः ॥४९॥
शिरस्त्वागस्त्यामाधाय शयीताथ पुरंदरीम् । न तु गन्धवतीष्वप्सु शयीत न तथोषसि ॥५०॥
उपरागे परं स्नानमृते दिनमुदाहृतम् । अपमृज्यान्न वस्त्रान्तैर्गात्राण्यम्बरपाणिभिः ॥५१॥
न चावधूनयेत्केशान्वाससी न च निर्धुनेत् । अनुलेपनमादद्यान्नास्नातः कर्हिचिद्बुधः ॥५२॥
न चापि रक्तवासा स्याच्चित्रासितधरोऽपि वा । न च कुर्याद्विपर्यासं वाससोर्नापि भूषयोः ॥५३॥
वर्ज्यं च विदशं वस्त्रमत्यन्तोपहतं च यत् । कीटकेशावपन्नं च तथा श्वभिरवेक्षितम् ॥५४॥
अवलीढं शुना चैव सारोद्धरणदूषितम् । पृष्ठमांसं वृथामांसं वर्ज्यमांसं च वर्जयेत् ॥५५॥
न भक्षयेच्च सततं प्रत्यक्षं लवणं नरः । वर्ज्यं चिरोषितं विप्राः शुष्कं पर्युषितं च यत् ॥५६॥
पिष्टशाकेक्षुपयसां विकारा द्विजसत्तमाः । तथा[2] मांसविकाराश्च नैव वर्ज्याश्चिरोषिताः ॥५७॥
उदयास्तमने भानोः शयनं च विवर्जयेत् । नास्नातो नैव संविष्टो न चैवान्यमना नरः ॥५८॥
न चैव शयने नोर्व्यामुपविष्टो न शब्दकृत्[3] । प्रेष्याणामप्रदायाथ न भुञ्जीत कदाचन ॥५९॥
भुञ्जीत पुरुषः स्नातः सायंप्रातर्यथाविधि । परदारा न गन्तव्याः पुरुषेण विपश्चिता ॥६०॥
इष्टापूर्तायुषां हन्त्री परदारगतिर्नृणाम् । न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते ॥६१॥

होकर सदा दन्धावन करना चाहिये। विप्रवृन्द ! त्याज्य वृक्षों का दन्तधावन कभी नहीं करना चाहिये। उत्तर और पश्चिम की ओर शिर करके कभी नहीं सोना चाहिए। पूर्व या दक्षिण दिशा में सिर रख कर सोना चाहिये। भूमि पर जल में तथा प्रातःकाल नहीं सोना चाहिये ॥४७-५०॥ ग्रहण में, वाद में स्नान करना चाहिए दिन को छोड़कर अर्थात् रात्रि में ग्रहणोपरान्त स्नान करना चाहिए और दिन में ग्रहण-काल में स्नान कर सकते हैं। हाथ में वस्त्र रखकर उस के छोरों से अंगों को नहीं मलना चाहिए। केशों को नहीं हिलाना चाहिये और जोड़े वस्त्र को (एक साथ) नहीं पछाड़ना चाहिए। विना स्नान किये कभी भी लेप न लगाये। लाल वस्त्र नहीं पहनना चाहिये। धब्बेदार तथा काले वस्त्र का भी धारण न करे। दो वस्त्रों तथा दो आभूषणों का हेर-फेर नहीं करना चाहिए ॥५१-५३॥ किनारे से रहित तथा अत्यन्त फटा हुआ वस्त्र धारण न करे। कीड़ों तथा केशों से युक्त कुत्तों से दृष्ट तथा आस्वादित, साररहित तथा दूषित मांस का वर्जन करे। पीठ का मांस, व्यर्थ मांस तथा त्याज्य मांस का वर्जन करे ॥५४-५५॥ मनुष्य सदा अधिक नमक न खाये। चिरकालीन, शुष्क तथा वासी चीज न खाये ॥५६॥ द्विजश्रेष्ठो ! पिसे हुए अन्न, शाक, ईख, दूध तथा मांस का विकार अर्थात् इनकी वनी हुई चीजें वासी नहीं होती हैं। सूर्य के उदय तथा अस्तकाल में सोना नहीं चाहिये ॥५७॥ विना स्नान किये नहीं रहना चाहिए। अन्यमनस्क होकर के भी नहीं रहना चाहिए ॥५८॥ विना पैर धोये शय्या पर नहीं जाना चाहिये (?)। धरती पर नहीं वैठना चाहिए। चिल्लाना नहीं चाहिये। सेवकों को विना दिये कभी की नहीं खाना चाहिये ॥५९॥ पुरुष विधानपूर्वक स्नान करके सायं-प्रातः (अर्थात् दिन और रात्रि में) भोजन करे। विद्वान् पुरुष दूसरे की स्त्री से कभी भी रति न करे ॥६०॥ दूसरे की स्त्री से संभोग करना मानो मनुष्यों की यज्ञादि तथा आयु से हाथ धोना

---

[1] ख. ०येद्वृक्षवी० । [2] ख. ०था मात्स्यवि० । [3] ग. ०त् । न चैकवस्त्रो न रुदन्प्रेक्षतामपदाय च । भ०।

यादृशं पुरुषस्येह [1]परदाराभिमर्शनम् । देवाग्निपितृकार्याणि तथा गुर्वभिवादनम् ॥६२॥
कुर्वीत सम्यगाचम्य तद्वदन्नभुजिक्रियाम् । अफेनशब्दगन्धाभिरद्भिरच्छाभिरादरात् ॥६३॥
[2]आचामेच्चैव तद्वच्च प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा । अन्तर्जलादावसथाद्वल्मीकान्मूषिकास्थलात् ॥६४॥
कृतशौचावशिष्टाश्च वर्जयेत्पञ्च वै मृदः । प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च समभ्युक्ष्य समाहितः ॥६५॥
अन्तर्जानुस्तथाऽऽचामेत्त्रिश्चतुर्वाऽपि[3] वै नरः । परिमृज्य द्विरावर्त्य खानि मूर्धानमेव च ॥६६॥
सम्यगाचम्य तोयेन क्रियां कुर्वीत वै शुचिः । क्षुतेऽवलीढे [4]वाते च तथा निष्ठीवनादिषु ॥६७॥
कुर्यादाचमनं स्पर्शे वाऽस्पृष्टस्यार्कदर्शनम् । कुर्वीताऽऽलम्भनं चापि दक्षिणश्रवणस्य च ॥६८॥
यथाविभवतो ह्येतत्पूर्वाभावे ततः परम् । न विद्यमाने पूर्वोक्त उत्तरप्राप्तिरिष्यते ॥६९॥
न कुर्याद्दन्तसंघर्षं नाऽऽत्मनो देहताडनम्[5] । स्वापेऽध्वनि तथा भुञ्जन्स्वाध्यायं च विवर्जयेत् ॥७०॥
संध्यायां मैथुनं चापि तथा प्रस्थानमेव च । तथाऽपराह्णे कुर्वीत श्रद्धया पितृतर्पणम् ॥७१॥
शिरः स्नानं च कुर्वीत दैवं पित्र्यमथापि च । प्राङ्मुखोदङ्खो वाऽपि श्मश्रुकर्म च कारयेत् ॥७२॥
व्यङ्गिनीं वर्जयेत्कन्यां [6]कुलजां[7] वाऽप्यरोगिणीम् । उद्वहेत्पितृमात्रोश्च [8]सप्तमीं [9]पञ्चमीं तथा ॥७३॥
रक्षेद्दारांस्त्यजेदीर्ष्यां तथाऽह्नि स्वप्नमैथुने । परोपतापकं कर्म जन्तुपीडां च सर्वदा ॥७४॥

है । लोक में परस्त्री-प्रसंग से वढ़कर आयुक्षय करने वाली कोई चीज नहीं है ॥६१॥ देव, अग्नि तथा पितरों के कर्म और गुरु की वन्दना करके अन्न खाना चाहिए । फेन, शब्द तथा गन्धों से रहित एवम् स्वच्छ जल से पूर्व या उत्तर मुंह होकरके आचमन करे । जल के भीतर की तथा गृह, वल्मीक एवं चूहों के स्थान की और शौच की अवशिष्ट मृत्तिका—इन पाँचों मृत्तिकाओं का त्याग करे । मनुष्य हाथ-पैर धोकर जल शरीर पर छिड़के ॥६२-६५॥ फिर सावधान होकर पद्मासन लगाकर तीन या चार वार आचमन करे । मार्जन करके आँख, कान, नाक, मुंह तथा मस्तक का स्पर्श करे ॥६६॥ अच्छी तरह से जल से आचमन कर पवित्र होकर क्रिया करे । छींकने पर, थूकनें पर तथा वायु त्याग आदि करने पर आचमन करे या सूर्य का दर्शन करे और दाहिने कान को उमेठे । इनमें शक्ति के अनुसार सव करे अथवा पूर्व-पूर्व के अभाव से उत्तर-उत्तर क्रिया करे । अर्थात् पहला यदि विद्यमान न हो तव पिछला विधान करे ॥६७-६९॥ दाँतों को न कटकटाये, शरीर को न ठोके, सोकर, रास्ते में चलते हुए तथा खाते हुए नहीं पढ़ना चाहिये ॥७०॥ सन्ध्याकल में मैथुन तथा प्रस्थान नहीं करना चाहिये । अपराह्ण में श्रद्धा से पितरों का तर्पण करना चाहिये ॥७१॥ पूर्व या उत्तर मुंह होकर शिर से स्नान, देव-पितरों का कर्म तथा दाढ़ी-मूंछ कटाना चाहिये ॥७२॥ कम-अधिक अंग वाली कन्या कुलीन तथा नीरोग होने पर भी त्याज्य है जो कन्या अपने पिता-माता की सातवीं या पाँचवीं सन्तान हो उससे विवाह न करे ? स्त्री की रक्षा करे । ईर्ष्या का त्याग करे । दिन में शयन तथा मैथुन करना छोड़ दे । दूसरे को संताप देने वाला तथा जीवों को पीड़ा देने वाला कर्म न करे ॥७३-

---

[1] क. ०दारोपसेवन० । [2] ख. ०वमद्भिश्च प्रा । [3] क. ०तुर्वा पिवेन्नरः । ग. ०तुर्वापि वेदपः । प० । [4] क. वान्ते । [5] ग. ०म् । स्वप्नाध्ययनभोज्यानि स्वाध्या० । [6] क. ०लटां चाऽतिरो० । [7] ग. ०जां चातिरो० । [8] क. ०प्तमी प० । [9] ०ञ्चमी तु या । र० ।

उदक्या सर्ववर्णानां वर्ज्या रात्रिचतुष्टयम् । स्त्रीजन्मपरिहारार्थं पञ्चमीं चापि वर्जयेत् ।।७५।।
ततः षष्ठ्यां व्रजेद्रात्र्यां ज्येष्ठयुग्मासु[1] रात्रिषु । युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।।७६।।
विधर्मिणो वै [2]पर्वादौ संध्याकालेषु [3]षण्ढकाः[4] । क्षुरकर्मणि रिक्तां वै वर्जयीत विचक्षणः ।।७७।।
ब्रुवतामविनीतानां न [5]श्रोतव्यं कदाचन । न चोत्कृष्टासनं देयमनुत्कृष्टस्य चाऽऽदरात् ।।७८।।
क्षुरकर्मणि चा (वा) न्ते च स्त्रीसंभोगे च भो द्विजाः । स्नायीत चैलवान्प्राज्ञः कूटभूमिमुपेत्य च ।।७९।।
देववेदद्विजातीनां साधुसत्यमहात्मनाम् । गुरोः पतिव्रतानां च [6]ब्रह्मयज्ञतपस्विनाम् ।।८०।।
परिवादं न कुर्वीत परिहासं च भो द्विजाः । धवलाम्बरसंवीतः सितपुष्पविभूषितः ।।८१।।
सदा मांगल्यवेषः स्यान्न वाऽमाङ्गल्यवान्भवेत् । नोद्धतोन्मत्तमूढैश्च[7] नाविनीतैश्च पण्डितः ।।८२।।
[8]गच्छेन्मैत्रीमशीलेन न वयोजातिदूषितैः । न चातिव्ययशीलैश्च पुरुषैर्नैव वैरिभिः ।।८३।।
कायाक्षमैर्निन्दितैर्न न चैव[9] विटसङ्गिभिः[10] निःस्वैर्न वादैकपरैर्नरैश्चान्यस्तथाऽधमैः ।।८४।।
सुहृद्दीक्षितभूपालस्नातकश्वशुरैः सह । उत्तिष्ठेद्विभवाच्चैनानर्चयेद्गृहमागतान् ।।८५।।

७४।। चार रात तक सव वर्णों को रजस्वला स्त्री के पास नहीं जाना चाहिए। कन्या का जन्म अभिप्रेत न हो तो पाँचवीं रात में स्त्री-प्रसंग नहीं करना चाहिए। छठी रात में स्त्री-प्रसंग करे। युग्म रातों में स्त्री-प्रसंग करने से पुत्र होता है और अयुग्म में कन्या ।।७५-७६।। चतुर्दशी आदि पर्वकाल में स्त्री-प्रसंग करने से विधर्मी पुत्र होता है और संध्याकाल में करने से नपुंसक। चतुर्थी, चतुर्दशी तथा नवमी तिथि में क्षौर कर्म नहीं करना चाहिए ।।७७।। अविनीत व्यक्ति की वात कभी न सुने। नीच मनुष्य को आदर से उच्चासन न दे। क्षौरकर्म तथा स्त्री-भोग के वाद तेल लगाकर स्नान करना चाहिये। अपवित्र जगह पर जाने से भी सचैल स्नान करना चाहिये ।।७८-७९।। द्विजवृन्द ! देवता, वेद, व्राह्मण, साधु, सत्यमहात्मा, गुरु, पतिव्रता, यज्ञ तथा तपस्वियों की निन्दा तथा परिहास नहीं करना चाहिए। स्वच्छ वस्त्र पहने। शुक्ल पुष्पों से विभूषित हो ।।८०-८१।। सदा मंगलमय वेश धारण करे। अमंगलकारी वेश कदापि धारण न करे। उजड्ड, पागल, मूर्ख, अविनयी, शीलहीन, अवस्था तथा जाति से दूषित, अव्ययी तथा शत्रुता करने वाले पुरुषों के साथ मित्रता कभी नहीं करनी चाहिये। कार्य करने में अपटु, निन्दित, वेश्यागामी, दरिद्र, निन्दक तथा दूसरे भी अधम व्यक्तियों के साथ मित्रता न करे ।।८२-८४।। घर पर आये हुए मित्र, दीक्षित व्यक्ति, राजा, स्नातक तथा श्वशुर को देखकर उठ जाय और यथाशक्ति उनकी पूजा करे। विप्रवृन्द ! संपत्ति के अनुसार, प्रतिवर्ष आये हुए इन लोगों की अच्छी तरह पूजा करे।

---

[1]ख. ज्येष्ठायु०। [2]क. ख. पूर्वादौ। [3]क. कण्टकाः। ०ग. खण्डकाः। [4]ख. ०काः। अपवादोऽविनी। ग. ०काः। स्थानं चैवानि०। [5]ख. ०त्वयः क०। [6]क. ०ह्यचारित०। [7]क. ०द्धतैर्न च नीचैश्च नच मूढैश्च प०। [8]क. ०न्मैत्रो न शैलूपैर्न च वा जा०। [9]ग. ०व सर्वस०। [10]क. ख. ०भिः। न निस्वैर्न समुद्विग्नैर्न च देवपरैः सह। सु०।

यथाविभवतो विप्राः प्रतिसंवत्सरोषितान् । सम्यग्गृहेऽर्चनं कृत्वा यथास्थानमनुक्रमात् ॥८६॥
संपूजयेत्तथा वह्नौ प्रदद्याच्चाऽऽहुतीः क्रमात् । प्रथमां ब्राह्मणे दद्यात्प्रजानां पतये ततः ॥८७॥
तृतीयां चैव गृह्येभ्यः[१] कश्यपाय तथाऽपराम् । ततोऽनुमतये दद्याद्दद्याद्बहु (द्गृह) बलिं ततः ॥८८॥
पूर्वं ख्याता मया या तु नित्यक्रमविधौ क्रिया । वैश्वदेवं ततः [२]कुर्याद्वदत शृणुत द्विजाः ॥८९॥
यथास्थानविभागं तु देवानुद्दिश्य वै पृथक् । [३]पर्जन्यापोधरित्रीणां [४]दद्यात्तु [५]मणिके त्रयम् ॥९०॥
[६]वायवे च प्रतिदिशं दिग्भ्यः प्राच्यादिषु क्रमात् । ब्राह्मणे चान्तरिक्षाय सूर्याय च यथाक्रमात् ॥९१॥
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो विश्वभूतेभ्य एव च । [७]उषसे भूतपतये दद्याद्वोत्तरतः शुचिः ॥९२॥
स्वधा च नम इत्युक्त्वा पितृभ्यश्चैव दक्षिणे । कृत्वाऽपसव्यं वायव्यां [८]यक्ष्मैतत्तेति संवदन् ॥९३॥
अन्नावशेषमिश्रं वै तोयं दद्याद्यथाविधि । देवानां च ततः कुर्याद्ब्राह्मणानां नमस्क्रियाम् ॥९४॥
[९]अङ्गुष्ठोत्तरतो रेखा पाणेर्या दक्षिणस्य च । एतद्ब्राह्ममिति ख्यातं तीर्थमाचमनाय वै ॥९५॥
तर्जन्यङ्गुष्ठयोरन्तः पित्र्यं तीर्थमुदाहृतम् । पितॄणां तेन तोयानि दद्यान्नान्दीमुखादृते ॥९६॥
अङ्गुल्यग्रे तथा दैवं तेन दिव्यक्रियाविधिः । तीर्थं कनिष्ठिकामूले कायं तत्र [१०] प्रजापतेः ॥९७॥
एवमेभिः सदा [११]तीर्थैर्विधानं पितृभिः सह । सदा कार्याणि कुर्वीत नान्यतीर्थैः कदाचन ॥९८॥

पूजा करके अग्नि में क्रमशः आहुतियाँ दे ॥८५-८६$\frac{१}{३}$॥ पहिली आहुति व्रह्मा को, दूसरी प्रजापति को, तीसरी गृहवालों को और चौथी कश्यप को देनी चाहिए । तब वहुत-सी वलियाँ चढ़ाये ॥८७-८८॥ पहले नित्यक्रम के विधान में जो क्रिया मैंने वतलायी थी, उसके अनुसार विश्वेदेव का कर्म करना चाहिए । द्विजगण ! अव मुझसे सुनिये ॥८९॥ देवताओं को उद्देश्य करके पृथक्-पृथक् स्थान की रचना करे । मेघ, जल तथा पृथ्वी को वलि दे । प्रत्येक दिशा में वायु को वलि दे । पूर्व आदि दिशाओं को भी क्रमशः वलि दे । व्रह्मा, आकाश तथा सूर्य को क्रमशः वलि चढ़ाये ॥९०-९१॥ विश्वेदेव तथा विश्वभूत को भी वलि दे । भूतपति उषा को उत्तर दिशा में पवित्रता पूर्वक वलि दे ॥९२॥ 'स्वधा च नमः' यह पढ़कर दक्षिण दिशा में पितरों को वलि दे । अपसव्य होकर 'यक्ष्मैतत्त' यह पढ़ते हुए वायव्य कोण में अवशिष्ट अन्नमिश्रित जल पितर को समर्पित करे तव देवताओं और व्राह्मणों को नमस्कार करे ॥९३-९४॥ दाहिने हाथ में अंगुष्ठ से उत्तर की रेखा व्राह्मतीर्थ कहलाती है । इससे आचमन करना चाहिये । तर्जनी तथा अंगुष्ठ के वीच पित्र्यतीर्थ माना गया है । उससे पितरों को जल दे, केवल नान्दीमुख श्राद्ध में नहीं दे ॥९५-९६॥ अंगुलियों के अग्रभाग में दैवतीर्थ माना जाता है । उससे देवकर्म करे । कनिष्ठिका के मूल में प्रजापति का कायतीर्थ माना जाता है ॥९७॥ पितृकर्म में इन्हीं तीर्थों का विधान है । इन्हीं तीर्थों से सदा कार्य करे । अन्यतीर्थों से कभी भी न करे ॥९८॥ व्राह्मतीर्थ से आचमन. प्रशस्त है । पित्र्यतीर्थ से पितृकर्म

१ग। गुह्येभ्यः। २ख. ग. ०र्याद् वलयः शृ० । ३ख. ०न्यायोध० । ग. ०न्याय ध० । ४क. कुर्यात्तु । ५क. दिनके । ६ग. दीयते । ७ग. तपसे । ८ख. यन्मे तं ते विभोजनात् । अ० । ग. यस्यमैतत्तेऽभिभोजयेत् । अ० ९ख. ०ष्ठोन्तर० । १०क. ख. प्रजायते । ११क. ०तीर्थैः कुर्यात्कर्म यथोचितम् । ना० ।

ब्राह्मेणाऽऽचमनं शस्तं पैत्र्यं पित्र्येण सर्वदा। देवतीर्थेन देवानां प्राजापत्यं जिते (त्यजले) न च ॥९९॥
नान्दीमुखानां कुर्वीत प्राज्ञः पिण्डोदकक्रियाम्। प्राजापत्येन तीर्थेन यच्च किंचित्प्रजापतेः ॥१००॥
युगपज्जलमग्निं च बिभृयान्न विचक्षणः। [1]गुरुदेवपितृन्विप्रान्न च पादौ प्रसारयेत् ॥१००१॥
[2]नाऽऽचक्षीत धयन्तीं गां जलं नाञ्जलिना पिबेत्। शौचकालेषु सर्वेषु गुरुष्वल्पेषु वा पुनः ॥
न विलम्बेत[3] मेधावी न मुखेनानलं धमेत् ॥१०२॥
तत्र विप्रा न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम्। ऋणप्रदाता वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला[4] नदी ॥१०३॥
जितभृत्यो नृपो यत्र बलवान्धर्मतत्परः। तत्र नित्यं वसेत्प्राज्ञः कुतः कुनृपतौ सुखम् ॥१०४॥
पौराः सुसंहता यत्र सततं न्यायवर्तिनः। शान्ता मत्सरिणो लोकास्तत्र वासः सुखोदयः ॥१०५॥
यस्मिन्कृषीवला राष्ट्रे प्रायशो नातिमानिनः। यत्रौषधान्यशेषाणि वसेत्तत्र विचक्षणः ॥१०६॥
तत्र विप्रा न वस्तव्यं यत्रैतत्त्रितयं सदा। जिगीषुः [5]पूर्ववैरश्च जनश्च सततोत्सवः ॥१०७॥
वसेन्नित्यं सुशीलेषु [6]सहाचारिषु पण्डितः। यत्राप्रधृष्यो नृपतिर्यत्र सस्यप्रदा मही ॥१०८॥
इत्येतत्कथितं विप्रा मया वो हितकाम्यया। अतःपरं प्रवक्ष्यामि भक्ष्यभोज्यविधिक्रियाम् ॥१०९॥
भोज्यमन्नं पर्युषितं स्नेहाक्तं चिरसंभृतम्[7]। अस्नेहा अपि गोधूमयवगोरसविक्रियाः ॥११०॥

सदा करना चाहिये। देवतीर्थ से देवताओं का और कायतीर्थ से प्रजापति का कर्म करना चाहिये॥९९॥ विद्वान् मनुष्य नान्दीमुख श्राद्ध में पिण्डदान तथा जल-क्रिया करे। प्राजापत्य तीर्थ से प्रजापति का कर्म करे। पण्डितजन एक समय जल तथा अग्नि का धारण न करे। गुरुदेव, पितर तथा व्राह्मणों के ऊपर पैर न उठाये। वच्चे को पिलाती हुई या स्वयं जल पीती हुई गाय को न कहे (अर्थात् दूसरे को वताकर गाय के जल पीने में वाधा न डाले)। अंजलि से जल न पिये। छोटे वड़े सभी प्रकार के शौच के कार्यों में विलम्व न लगाये। मेधावी व्यक्ति मुँह से आग को न फूंके ॥१००-१०२॥ विप्रवृन्द ! वहाँ नहीं वास करना चाहिये, जहाँ ऋणदाता, वैद्य, श्रोत्रिय, जलवाली नदी—ये चार चीजें न हों ॥१०३॥ सेवकों को वश में रखने वाला, वलवान् तथा धर्मपरायण राजा जहाँ (के राज्य में) रहता है, वहीं विद्वान् व्यक्ति नित्य वास करे। निन्द्य राजा के राज्य में सुख कहाँ? पुरवासी आपस में मिल-जुलकर रहते हों तथा सदा न्यायानुगामी शांत एवम् ईर्ष्याशून्य हों, वहाँ का निवास सुखदायी होता है ॥१०४-१०५॥ जिस राष्ट्र में किसान अभिमानी न हों और ओषधियाँ पर्याप्त मिलती हों, वहाँ विद्वान् व्यक्ति वास करे॥१०६॥ विप्रवृन्द ! वहाँ वास नहीं करना चाहिये जहाँ लोग विजय के इच्छुक, वैर करने वाले एवम् सदा उत्सवकारी हों। पण्डित व्यक्ति सदा सुशील सहवासियों के साथ रहें। जहाँ राजा धृष्ट न हों और पृथ्वी सस्यसम्पन्ना हो, वहाँ वास करना चाहिये। विप्रगण ! आप लोगों के हित के निमित्त मैंने इतना कहा। अव भक्ष्य-भोज्य के विधान को वतलाऊँगा॥१०७-१०९॥ स्निग्ध भोज्य अन्न वासी हो, चिरकालीन हो, फिर भी ग्राह्य है। स्नेह से रहित गेहूँ, यव तथा गोरस के विकार—घी, मट्ठा आदि—ग्राह्य हैं॥११०॥ खरगोश, कछुआ, गोह, साही तथा मत्स्य

१क. ०तृनग्रेन च। २ख. ०तवयो जन्तोर्जलं। ३ग. ०लङ्घेत वातं च न। ४. ग. सज्जला। ५ख. श्च तथा न स०। ६ग. ०हवासिषु। ७क. ०संचित०।

शशकः कच्छपो गोधा श्वाविन्मत्स्योऽथ शल्यकः । भक्ष्याश्चैते तथा वर्ज्यौ ग्रामशूकरकुक्कुटौ ॥१११॥
पितृदेवादिशेषं च [1]श्राद्धे ब्राह्मणकाम्यया । प्रोक्षितं [2]चौषधार्थं च खादन्मांसं न दुष्यति ॥११२॥
शङ्खाश्मस्वर्णरूप्याणां [3]रज्जूनामथ वाससाम् । शाकमूलफलानां च तथा विदलचर्मणाम् ॥११३॥
मणिवस्त्रप्रवालानां तथा मुक्ताफलस्य च । [4]पात्राणां चमसानां च अम्बुना शौचमिष्यते ॥११४॥
तथाऽश्मकानां तोयेन अश्मसंघर्षणेन च । सस्नेहानां च पात्राणां शुद्धिरुष्णेन वारिणा ॥११५॥
शूर्पाणामजिनानां च मुशलोलूखलस्य च । संहतानां च वस्त्राणां प्रोक्षणात्संचयस्य[5] च[6] ॥११६॥
[7]वल्कलानामशेषाणामम्बुमृच्छौचमिष्यते । आविकानां समस्तानां केशानां[8] चैवमिष्यते ॥११७॥
सिद्धार्थकानां कल्केन तिलकल्केन वा पुनः । [9]शोधनं चैव भवति उपघातवतां सदा ॥११८॥
तथा कार्पासिकानां च शुद्धि स्याज्जलभस्मना । दारुदन्तास्थिभृङ्गाणां तक्षणाच्छुद्धिरिष्यते ॥११९॥
पुनः पाकेन भाण्डानां पार्थिवानाममेध्यता । शुद्धं भैक्ष्यं [10]कारुहस्तः [11]पण्यं योषिन्मुखं [12]तथा ॥१२०॥
[13]रथ्यागमनविज्ञानं [14]दासवर्गेण [15]संस्कृतम्। प्राक्प्रशस्तं चिरातीतमनेकान्तरितं लघु ॥१२१॥
अन्तः प्रभूतं बालं च [16]वृद्धान्तरविचेष्टितम् । कर्मान्तागारशालाश्च स्तनद्वयं शुचि स्त्रियाः ॥१२२॥

भक्ष्य हैं। गाँव के सूअर तथा मुर्गे अभक्ष्य हैं ॥१११॥ श्राद्ध में पितृ-देव कर्म के अवशिष्ट मांस तथा ब्राह्मण और औषध के निमित्त लाये गये मांस को संस्कृत करके खाने में कोई दोष नहीं ॥११२॥ शंख, पत्थर, सोना तथा चाँदी के पात्रों एवं चमचों को जल से धो देने पर उनकी शुद्धि हो जाती है। रस्सी,वस्त्र, शाक, कन्द, फल, वाँस का पात्र, मृग आदि का चर्म, मणि, मूँगा तथा मोती जल से धो देने पर शुद्ध हो जाते हैं। पत्थर जल से या पत्थरों की रगड़ से शुद्ध होता है। स्नेह (तेल आदि) से युक्त पात्र गरम जल से शुद्ध होता है। सूप, चर्म-वस्त्र, मुशल, ओखली, सिला हुआ वस्त्र तथा वल्कल (छाल) जल से शुद्ध होता है। भेड़ का वाल भी जल से शुद्ध हो जाता है॥११३-११७॥ सरसों या तिल की खली से चोटिलों या घाव वालों की शुद्धि होती है॥११८॥ कपास का वस्त्र जल तथा भस्म से शुद्ध होता है। लकड़ी, दाँत हड्डी तथा सींगों की शुद्धि छीलने से होती है। मिट्टी का वतरन पुनः पाक करने से अपवित्र हो जाता है। भिक्षा, दुकानदार का हाथ, दुकान में रखी चीजें तथा स्त्री का मुख शुद्ध होता है॥११९-१२० ॥ सेवकों द्वारा साफ-सुथरा किया गया राजमार्ग शुद्ध होता है। पहले जिसकी प्रशंसा की गई हो, ऐसी वस्तु वहुत दिनों के वाद भी शुद्ध रहती है। अनेक वस्तुओं से ढकी हुई छोटी चीज शुद्ध होती है। शरीर में संलग्न केश और वृद्ध की चेष्टा शुद्ध होती है (?) । जहाँ सत्कर्म किये गये हों ऐसी शालायें तथा स्त्रियों के दोनों स्तन शुद्ध होते हैं॥१२१-१२२॥ गन्ध रहित वहता जल शुद्ध होता है। भूमि जलाने, झाड़ू देने, गोष्ठ वनाने

१क. ग. श्राद्धं । २क. देवतानां । ३ख. रञ्जितानां च वा० । ४ख. ०णां च फलानां । ग. ०णां वसनानां । ५क. ०त्संहतस्य । ६ख. च । कल्कानामप्यशे० । ७ख. ०म्वुमच्छौ० । ८ग. ०नां चोप्यमेध्यता । सि० । ९क. ख. साधूनां । १०ख. ०हस्तात्पण्यं । ११ख. पण्ययो० । १२ख. ०था गतमविज्ञातं दा० । १३ग. ०गतम-विज्ञातं दा० । १४ग. ०वर्गाऽथ तत्कृत० । १५क. ०म् । व्रह्मश० । १६ग. ०द्धातुर० ।

शुचयश्च तथैवाऽऽपः स्रवन्त्यो [१]गन्धवर्जिताः । भूमिर्विशुद्धते कालाद्दाहमार्जनगोकुलैः[२] ।।१२३।।
लेपादुल्लेखनात्सेकाद्वेश्म[३] संमार्जनादिना । केशकीटावपन्ने च गोघ्राते [४]मक्षिकान्विते ।।१२४।।
मृदम्बु भस्म चाप्यन्ने प्रक्षेप्तव्यं विशुद्धये[५] । औदुम्बराणामम्लेन वारिणा [६]त्रपुसीसयोः ।।१२५।।
भस्माम्बुभिश्च कांस्यानां शुद्धिः प्लावो द्रवस्य च । अमेध्याक्तस्य [७]मृत्तोयैर्गन्धापहरणेन [८]च ।।१२६।।
अन्येषां चैव द्रव्याणां वर्णगन्धांश्च हारयेत् । शुचि मांसं तु चाण्डालक्रव्यादैर्विनिपातितम् ।।१२७।।
रथ्यागतं च तैलादि शुचि गोतृप्तिदं [९]पयः । रजोऽग्निरश्वगोछायारश्मयः पवनो मही ।।१२८।।
विप्लुषो मक्षिकाद्याश्च दुष्टसङ्गाददोषिणः । अजाश्वं मुखतो मेध्यं न गोर्वत्सस्य चाऽऽननम् ।।१२९।।
मातुःप्रस्रवणे (णं) मेध्यं शकुनिः फलपातने । आसनं शयनं यानं[१०] तटौ नद्यास्तृणानि च ।।१३०।।
[११]सोमसूर्यांशुपवनैः [१२]शुध्यन्ते तानि पण्यवत् । रथ्यापसर्पणे स्नाने [१३]क्षुपानानां च कर्मसु ।।१३१।।
आचामेत यथान्यायं वाससः [१४]परिधापने । स्पृष्टानामथ [१५]संस्पर्शैर्द्विरथ्याकर्दमाम्भसि[१६] ।।१३२।।
पक्वेष्टकचितानां च मेध्यता वायुसंश्रयात् । प्रभूतोपहतादन्नदग्रमुद्धृत्य संत्यजेत् ।।१३३।।

लीपने, कुड़ेदने, तथा सिक्त करने से शुद्ध होती है । घर झाड़ू-वहाड़ू आदि करने से शुद्ध होता है । अन्न में केश तथा कीड़े पड़ जाँय, गाय सूँघ ले या मक्खी वैठ जाय, तो उसे मिट्टी या जल या भस्म से शुद्ध करना चाहिये । ताँवा, राँगा तथा सीसा खटाईयुक्त जल से शुद्ध होता है । काँसा भस्म तथा जल से शुद्ध होता है । अपवित्र वस्तु से युक्त द्रव्य मिट्टी या जल तथा गन्ध को मिटा देने से शुद्ध होता है ।।१२३-१२६।। दूसरे भी द्रव्य वर्णगन्धों को मिटा देने से शुद्ध हो जाते हैं । चाण्डाल तथा हिंसक जीवों द्वारा गिराया हुआ मांस शुद्ध होता है । राजमार्ग पर गिरे हुए तेल आदि शुद्ध होते हैं । गाय को तृप्ति देने वाला दूध शुद्ध होता है । वालू, अग्नि, घोड़ी, गाय, छाँह, किरण, पवन और पृथ्वी शुद्ध होती है ।।१२७-१२८।। विन्दु तथा मक्खी आदि चीजें दुष्टसंग से दूषित नहीं होतीं । वकरी तथा घोड़े का मुख शुद्ध होता है । गाय तथा वछड़े का मुख शुद्ध नहीं होता है । माता के स्तन से निकलता हुआ दूध शुद्ध होता है । फल गिराने के समय पक्षी शुद्ध होता है ।।१२९$\frac{१}{३}$।। आसन, शय्या, सवारी और नदी-तट का तृण सूर्य-चन्द्रमा की किरणों से तथा वायु से शुद्ध हो जाता है, जैसे दुकान में रखी हुई चीजें ।।१३०$\frac{१}{३}$।। गली में चलने पर, स्नानाकाल में खाने-पीने के समय तथा वस्त्र पहनने के समय विधि के अनुसार आचमन करना चाहिए ।।१३१$\frac{१}{३}$।। वुरे रास्ते और कीचड़ सने हुए जल कां स्पर्श हो जाने पर वायु लगने से शुद्धि होती है । पकी ईंटों से वनी हुई वस्तुओं की शुद्धि भी वायु से होती है । वहुत नष्ट हुए अन्न के आगे से निकाल कर फेंक दे और

---

१. ०न्धवुद्वुदाः । २क. ०गोक्रमैः । ले० । ३ख. ०काद्भस्मना मा० । ४क. ०ते । भस्म चात्र तु विद्वद्भिः प्र० । ५क. ०ये । उदु० । ६क. ०योः । तस्मात्तु माक्षकान्नानां शु० । ७क. ०त्तोयैः शुद्भिर्ग० । ८क. ०पकर्षणात् । अ० ९क. ०यः । ९क. ख. ०यः । राजाग्निरथगो० । १०ख. पानं । ११ग. ०सूर्याम्वुप० । १२क. ध्यनत्यन्नानि । १३क. क्षुत्वा बातादिक० । १४ग. ०ने । घृष्टा० । १५ख. ०स्पर्शो द्विर० । १६ग. म्भसाम् । प० ।

शेषस्य प्रोक्षणं कुर्यादाचम्याद्भिस्तथा मृदा । उपवासस्त्रिरात्रं तु दुष्टभक्ताशिनो भवेत् ॥१३४॥
अज्ञाने ज्ञानपूर्वे तु तद्दोषोपशमे न तु । [१]उदक्यां[२] वावलग्नां च सूतिकान्त्यावसायिनः ॥१३५॥
स्पृष्ट्वा स्नायीत शौचार्थं तथैव मृतहारिणः । नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति ॥१३६॥
आचम्यैव तु निस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा । न लङ्घयेत्तथैवाथ ष्ठीवनोद्वर्तनानि च ॥१३७॥
गृहादुच्छिष्टविण्मूत्रं पादाम्भस्तत्क्षिपेद्बहिः । पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिणि ॥१३८॥
स्नायीत देवखातेषु गङ्गाह्रदसरित्सु च । [३]नोद्यानादौ विकालेषु [४]प्राज्ञस्तिष्ठेत्कदाचन ॥१३९॥
नाऽऽलपेज्जनविद्विष्टान्वीरहीनास्तथा स्त्रियः । देवतापितृसच्छास्त्रयज्विसंन्यासिनिन्दकैः ॥१४०॥
कृत्वा तु स्पर्शनालापं शुध्यत्यर्कावलोकनात् । अवलोक्य तथोदक्यां संन्यस्तं पतितं शवम् ॥१४१॥
[५]विधर्मिसूतिकाषण्ढविवस्त्रान्त्यावसायिनः । [६]मृतनिर्यातकांश्चैव परदाररताश्च ये ॥१४२॥
एतदेव हि कर्तव्यं प्राज्ञैः शोधनमात्मनः । अभोज्यभिक्षुपाखण्डमार्जारखरकुक्कुटान् ॥१४३॥
पतितापविद्धचाण्डालमृताहारांश्च धर्मवित् । संस्पृश्य शुध्यते स्नानादुदक्याग्रामशूकरौ ॥१४४॥
तद्वच्च [७]सूतिकाशौचदूषितौ पुरुषोवपि । यस्य चानुदिनं हानिगृहे नित्यस्य कर्मणः ॥१४५॥

वचे को जल से सिक्त करे। जानकर या विना जाने दूषित भात खाने से दोषशान्ति के लिये तीन रात उपवास करे ॥१३२-१३४॥ रजस्वला तथा नवप्रसूता स्त्री का स्पर्श हो जाने पर पवित्रता के लिये स्नान करे। शव-वाहक व्यक्तियों का स्पर्श होने पर भी स्नान करे। मनुष्य की हड्डी छू जाने पर व्राह्मण तेल लगाकर स्नान करने से शुद्ध होता है ॥१३५-१३६॥ अथवा विना सचैल स्नान किये ही गाय को छू लेने से, सूर्य को देख लेने से तथा आचमन कर लेने से वह पवित्र हो जाता है। थूक, उवटन, उच्छिष्ट, विष्ठा, मूत्र तथा चरण धोने से वचे जल को नहीं लांघना चाहिये।, दूसरे के जल में विना पाँच पिण्ड मिट्टी निकाले स्नान नहीं करना चाहिये ॥१३७-१३८॥ जलाशय, गंगा, झील तथा सरोवरों में स्नान करना चाहिये।, विद्वान् व्यक्ति कुसमय में वगीचे आदि में पितर, सत्-शास्त्र, यज्ञ-कर्त्ता तथा संन्यासियों के निन्दक से स्पर्श तथा संभाषण करके मनुष्य सूर्य के दर्शन से शुद्ध होता है ॥१४०½॥ रजस्वंला, त्यक्त, पतित, शव, विधर्मी, नवप्रसूता नपुंसक, वस्त्रहीन स्त्री, चाण्डाल, शव-वाहक तथा परस्त्रीगामी को देखकर विद्वान् मनुष्य यही प्रायश्चित्त करे (अर्थात् सूर्य का दर्शन कर ले) ॥१४१-१४२½॥ अभोज्य वस्तु, भिक्षुक, पाखण्डी, विलाड़, गधे, मुर्गे, पतित, चाण्डाल तथा शव ढोने वालों का स्पर्श कर धर्मवेत्ता मनुष्य स्नान से शुद्ध होता है। रजस्वला, गाँव के सूअर तथा नवप्रसूता के अशौच से दूषित पुरुषों का स्पर्श करने पर मनुष्य स्नान करे। जो प्रतिदिन नित्यकर्म से वंचित रहता है, जो व्राह्मणों से परित्यक्त है और जो पापाशी (विना भगन रहे ॥१३९॥ मनुष्यों से द्रोह करने वाले व्यक्ति से तथा कुलटा स्त्री से संभाषण नहीं करना चाहिए। देवता,

---

१क. ०दक्यास्नानमप्याम्वु सू० । २ख. ०क्यां स्वामनग्ना । ३क. नोद्वाहादौ । ख. नोत्खातादौ । ४क. प्राज्ञो गत्छेत्क० । ५ग. ०काखण्डवि० । ६क. ०र्यासकां० । ७क. ०षितं पापकर्मभिः । य० ।

यश्च ब्राह्मणसंत्यक्तः विल्बिषाशी नराधमः । नित्यस्य कर्मणो हानिं न कुर्वीत कदाचन ॥१४६॥
तस्य त्वकरणं वक्ष्ये केवलं मृतजन्मसु । दशाहं ब्राह्मणस्तिष्ठेद्दानहोमविवर्जितः ॥१४७॥
क्षत्रियो द्वादशाहं च वैश्यो मासार्धमेव च । शूद्रश्च मासमासीत निजकर्मविवर्जितः ॥१४८॥
ततः परं निजं कर्म कुर्युः सर्वे यथोचितम् । प्रेताय सलिलं देयं बहिर्गत्वा तु गोत्रकैः ॥१४९॥
प्रथमेऽह्नि चतुर्थे च सप्तमे नवमे तथा । तस्यास्थिसंचयः कार्यश्चतुर्थेऽहनि गोत्रकै ॥१५०॥
ऊर्ध्वं संचयनात्तेषामङ्गस्पर्शो विधीयते[1] । गोत्रकैस्तु क्रियाः सर्वाः कार्याः संचयनात्परम् ॥१५१॥
[2]स्पर्श एव सपिण्डानां मृताहनि तथोभयोः । [3]अन्वर्थमिच्छया [4]शस्त्ररज्जुबन्धनवह्निषु ॥१५२॥
विषप्रतापादिमृते[5] प्रायानाशकयोरपि । बाले देशान्तरस्थे च तथा प्रव्रजिते मृते ॥१५३॥
सद्यः शौचं [6]मनुष्याणां त्र्यहमुक्तमशौचकम् । सपिण्डानां सपिण्डस्तु मृतेऽन्यस्मिन्मृतो यदि ॥१५४॥
पूर्वशौचं समाख्यातं कार्यास्तत्र दिनक्रियाः । एष एव विधिर्दृष्टो जन्मन्यपि हि सूतके ॥१५५॥
सपिण्डानां सपिण्डेषु यथावत्सोदकेषु च । पुत्रे जाते पितुः स्नानं सचैलस्य विधीयते ॥१५६॥
तत्रापि यदि वाऽऽन्यस्मिन्ननुयातस्ततः [7]परम् । तत्रापि शुद्धिरुदिता पूर्वजन्मवतो दिनैः ॥१५७॥

वान् को समर्पित किये भोजन करने वाला) है, उनसे स्पर्श करने पर भी स्नान करे । नित्यकर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥१४३-१४६॥ सगोत्र में किसी के मरने पर तथा जन्म लेने पर नित्यकर्म छोड़ दे । अर्थात् अशौच में ब्राह्मण दस दिनों तक दान-होम छोड़ दे ॥१४७॥ क्षत्रिय बारह दिनों तक, वैश्य पन्द्रह दिनों तक और शूद्र एक मास तक अपने-अपने नित्यकर्मों से वंचित रहें ॥१४८॥ इसके बाद सब अपने-अपने यथोचित कर्म करें । सगोत्र के लोग बाहर जाकर पहले दिन, चौथे दिन, सातवें दिन तथा नवें दिन प्रेत को जल दें और चौथे दिन उसका अस्थिसंचय करें । अस्थि-संचय के बाद अंगस्पर्श का विधान है । गोत्र वाले अस्थि-संचय के बाद सारी क्रियायें करें ॥१४९-१५१॥ मृत्यु के दिन सपिण्डों द्वारा स्पर्श करना ही विहित है भले ही वह व्यक्ति स्वेच्छा से मरा हो या शस्त्र से या फाँसी से या अग्नि से या विष से या अनशन के द्वारा मरा हो । विदेश में बालक के मर जाने तथा संन्यासी के मर जाने पर मनुष्यों को तीन दिनों का सद्यः अशौच लगता है ॥१५२-१५३$\frac{१}{३}$॥ सगोत्र वालों में एक के मर जाने के बाद दूसरे दिन दूसरा भी कोई मर जाय तो पहिलें के अनुसार ही अशौच माना जाता है । उसमें केवल दैनिक क्रियायें करनी चाहिए । यही विधान जन्माशौच में भी लागू होता है ॥१५४-१५५॥ किन्तु यह नियम सपिण्डों के प्रति तथा जिनके मरने पर जल दिया जाय उनके सम्बन्ध में है । पुत्र के उत्पन्न होने पर पिता सचैल स्नान करे । वहाँ भी यदि दूसरे दिन दूसरा (बालक) जन्म ले ले तो पहले जो उत्पन्न हुआ हो, उसी के दिनों के अनुसार शुद्धि होगी । समस्त वर्ण दश, बारह, पन्द्रह तथा एक मास के हिसाब से विधिपूर्वक

---

[1] क. ०ते । सोदरैस्तु । ग. ०ते । सोदकै० । [2] ग. सर्व । [3] क. अन्विच्छभि० । [4] ग. ०स्त्रतेजोद्वर्तन० । [5] क. ख. षयप्रयतासूते । [6] ख. ०नुष्यस्य त्र्य० । ग. ०नुष्यैश्च त्र्य० । [7] ग. ०स्मिञ्जाते जायेदथाप० ।

दशद्वादशमासार्धमाससंख्यैर्दिनैर्गतैः । स्वाः स्वाः कर्मक्रिया कर्युः सर्वे वर्णा [1]यथाविधि ॥१५८॥
प्रेतमुद्दिश्य कर्त्तव्यमेकोद्दिष्टमतः परम् । दानानि चैव देयानि ब्राह्मणेभ्यो मनीषिभिः ॥१५९॥
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे। तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥१६०॥
पूर्णैस्तु दिवसैः [2]स्पृष्ट्वा सलिलं [3]वाहनायुधैः । दत्तप्रेतोदपिण्डाश्च सर्वे वर्णाः कृतक्रियाः ॥१६१॥
कुर्युः समग्राः शुचिनः परत्रेह च भूतये । अध्येतव्या त्रयी नित्य भवितव्यं विपश्चिता ॥१६२॥
धर्मतो धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः । येन प्रकुपितो नाऽऽत्मा जुगुप्सामेति भो द्विजाः ॥१६३॥
तत्कर्तव्यमशङ्केन यन्न गोप्यं महाजनैः । एवमाचरतो विप्राः पुरुषस्य गृहे सतः ॥१६४॥
धर्मार्थकामं संप्राप्य परत्रेह च शोभनम्। इदं रहस्यमायुष्यं धन्यं बुद्धिविवर्धनम् ॥१६५॥
सर्वपापहरं पुण्यं श्रीपुष्ट्यारोग्यदं शिवम् । यशःकीर्तिप्रदं नृणां तेजोबलविवर्धनम् ॥१६६॥
अनुष्ठेयं सदा [4]पुंभिः स्वर्गसाधनमुत्तमम् । ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च मुनिसत्तमाः ॥१६७॥
ज्ञातव्य सुप्रयत्नेन सम्यक्श्रेयोभिकाङ्क्षिभिः । ज्ञात्वैव यः सदा कालमनुष्ठानं करोति वै ॥१६८॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः स्वर्गलोके महीयते । सारात्सारतरं चेदमाख्यातं द्विजसत्तमाः ॥१६९॥

अपनी-अपनी कर्म-क्रिया करें ॥१५६-१५८॥ इसके वाद प्रेत को उद्देश्य करके एकोद्दिष्ट करना चाहिये । विद्वान् व्यक्ति व्राह्मणों को दान भी दें ॥१५९॥ लोक में जो सवसे प्रिय हो और अपने गृह में सुन्दर हो, उसी चीज को अक्षय बनाने की इच्छा से गुणवान् को देना चाहिए ॥१६०॥ दिन पूरे होने पर वाहन तथा शस्त्र-अस्त्रों से युक्त होकर समस्त वर्ण जल का स्पर्श करें और प्रेत को जल तथा पिण्ड देकर क्रिया सम्पन्न करें ॥१६१॥ इस लोक में तथा परलोक में कल्याण के लिये मनुष्य पवित्र होकर क्रिया सम्पन्न करें । विद्वान् व्यक्ति नित्य वेदों का अध्ययन करें ॥१६२॥ धर्मपूर्वक धन कमाना चाहिये और यत्नपूर्वक यज्ञ करना चाहिये । द्विजगण ! जिससे आत्मा कुपित न हो तथा निन्दित न वने, वह निःशकं होकर करना चाहिये ॥१६३॥ जो महान् व्यक्तियों से गोपनीय न हो, वह भी करना चाहिये । इस प्रकार आचरण करते हुए गृहस्थ मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति कर इस लोक में तथा परलोक में सुखी होते हैं । यह रहस्य धन, आयु तथा वुद्धि वढ़ाने वाला, समस्त पापों का नाश करने वाला, पुण्य, लक्ष्मी, पुष्टि तथा आरोग्य देने वाला, कल्याणकारक, यश-प्रतिष्ठा-दायक और तेजोवलविवर्धक है ॥१६४-१६६॥ पुरुषों को स्वर्ग के इस उत्तम साधन का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये । मुनिश्रेष्ठो । कल्याण चाहने वाले व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को यत्नपूर्वक इसे जानना चाहिये ॥१६७$\frac{१}{३}$॥ इसे जानकर जो सर्वदा इसका अनुष्ठान करता है, वह सव पापों से मुक्त होकर स्वर्ग में पूजित होता है । द्विजश्रेष्ठो ! सार से भी सार (सव से

---

[1] क. ख. द्विजातयः । [2] ख. ०ष्ट्वा शालिनं वाहनं वुधैः । वृतोच्चदण्डौ स० । [3] ग. हलायुधम् । प्रातोददण्डौ च त० । [4] क. सद्भिः ।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं न देयं यस्य कस्यचित् । न नास्तिकाय दातव्यं न दुष्टमतये द्विजाः ॥
न दाम्भिकाय मूर्खाय न कुतर्कप्रलापिने ॥१७०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे सदाचारनिरूपणं
नामैकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२१॥

अथ द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वर्णाश्रमधर्मवर्णनम्

मुनय ऊचुः

श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन्वर्णधर्मान्विशेषतः । चतुराश्रमधर्मांश्च द्विजवर्य ब्रवीहि तान् ॥१॥

व्यास उवाच

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च यथाक्रमम् । शृणुध्वं संयता[1] भूत्वा वर्णधर्मान्मयोदितान् ॥२॥
[2]दानदयातपोदेवयज्ञस्वाध्यायतत्परैः । नित्योदकी भवेद्विप्रः कुर्याच्चाग्निपरिग्रहम्[3] ॥३॥
वृत्त्यर्थं[4] याजयेत्त्वन्यान्द्विजानध्यापयेत्तथा । कुर्यात्प्रतिग्रहादानं[5] यज्ञार्थं ज्ञानतो द्विजाः ॥४॥
सर्वलोकहितं कुर्यान्नाहितं कस्यचिद्द्विजाः । मैत्री समस्तसत्त्वेषु ब्राह्मणस्योत्तमं धनम् ॥५॥

उत्तम) यह रहस्य मैंने वतला दिया। श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित यह धर्म जिस किसी को नहीं देना चाहिए। नास्तिक, दुष्टवुद्धि, दाम्भिक, मूर्ख तथा असंगत बोलने वाले को यह नहीं देना चाहिये ॥१६८-१७०॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में सदाचार-निरूपण नामक दौ सौ इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२२१॥

अध्याय २२२

वर्णाश्रमधर्म का वर्णन

मुनियों ने कहा—व्रह्मन् ! द्विजवर्य ! हम चारों आश्रमों के धर्मों को तथा विशेष कर वर्ण-धर्मों को सुनना चाहते हैं, आप वतलाएँ ॥१॥

व्यास बोले—क्रमशः व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के वर्णधर्मों को आप लोग ध्यान से सुनिये, मैं कहता हूँ ॥२॥ व्राह्मण दान, दया, तप, देवयज्ञ तथा स्वाध्याय में तत्पर होकर नित्य जलकर्म और अग्निहोत्र किया करे ॥३॥ जीविका के लिये अन्य द्विजों को पढ़ाये एवम् यज्ञ कराये। जान-वूझ कर यज्ञ के लिये प्रतिग्रह न स्वीकार करे ॥४॥ सव का कल्याण करे, अहित किसी का न करे। समस्त प्राणियों से मित्रता ही व्राह्मण का उत्तम

---

[1] क. प्रयता। [2] ग. दानं दद्याद्यजेद्देवान्यज्ञ०। [3] ख. ०र्याच्च प्रयतं गृह०। [4] ख. ०र्थं सेवयेत्त्व०। [5] ग. ०ग्रहं दानं शुक्लार्थं न्यायतो। ख. ग्रहं दानं सत्यर्थे न्यायतो।

गवि रत्ने च पारक्ये समबुद्धिर्भवेद् द्विजाः । ऋतावभिगमः पत्न्यां शस्यते वाऽस्य भो द्विजाः ॥६॥
दानानि दद्यादिच्छातो द्विजेभ्यः क्षत्रियोऽपि हि । यजेच्च विविधैर्यज्ञैरधीयीत च भो द्विजाः ॥७॥
शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरा तस्य जीविका । तस्यापि प्रथमे [१]कल्पे पृथिवीपरिपालनम् ॥८॥
धरित्रीपालनेनैव कृतकृत्या नराधिपाः । भवन्ति [२]नृपते रक्षा यतो यज्ञादिकर्मणाम् ॥९॥
दुष्टानां शासनाद्राजा शिष्टानां परिपालनात् । प्राप्नोत्यभिमतांल्लोकान्वर्णसंस्थापको नृपः ॥१०॥
पाशुपाल्यं वणिज्यां च कृषिं च मुनिसत्तमाः । वैश्याय जीविकां ब्रह्मा ददौ लोकपितामहः ॥११॥
तस्याप्यध्ययनं यज्ञो दानं धर्मश्च शस्यते । नित्यनैमित्तिकादीनामनुष्ठानं च कर्मणाम् ॥१२॥
द्विजातिसंश्रयं कर्म [३]तदर्थं तेन पोषणम् । क्रयविक्रयजैर्वाऽपि धनैः कारुभवैस्तु वा ॥१३॥
दानं दद्याच्च शूद्रोऽपि पाकयज्ञैर्यजेत च। पित्र्यादिकं च वै सर्वं शूद्रः कुर्वीत तेन वै ॥१४॥
भृत्यादिभरणार्थाय सर्वेषां च परिग्रहाः । ऋतुकालभिगमनं स्वदारेषु द्विजोत्तमाः ॥१५॥
दया समस्तभूतेषु तितिक्षा नाभिमानिता । सत्यं शौचमनायासो मङ्गलं प्रियवादिता ॥१६॥
मैत्री चैवास्पृहा तद्वदकार्पण्यं द्विजोत्तमाः । अनसूया च सामान्या वर्णानां कथिता गुणाः ॥१७॥
आश्रमाणां च सर्वेषामेते सामान्यलक्षणाः । गुणास्तथोपधर्माश्च विप्रादीनामिमे द्विजाः[४] ॥१८॥
क्षात्रं कर्म द्विजस्योक्तं वैश्यकर्म तथाऽऽपदि । राजन्यस्य च वैश्योक्तं शूद्रकर्माणि चैतयोः ॥१९॥

धन है ॥५॥ गो, रत्न तथा परलोक के निमित्त कर्मों में समवुद्धि रखे। व्राह्मणों के लिए ऋतुकाल में भार्यागमन करना प्रशस्त है ॥६॥ क्षत्रिय इच्छापूर्वक व्राह्मणों को दान दे, विविध यज्ञ करे तथा अध्ययन करे ॥७॥ शस्त्र धारण करना और पृथ्वी की रक्षा करना उसकी उत्तम जीविका है। प्रथम कल्प में पृथिवी का परिपालन ही क्षत्रिय का धर्म बतलाया गया है ॥८॥ धरित्रीपालन से ही क्षत्रिय कृतकृत्य हो जाते हैं, जिसलिये कि इससे यज्ञ आदि कर्मों की रक्षा होती है ॥९॥ दुष्टों को दण्ड देने से सज्जनों का परिपालन करने से वर्ण-संस्थापक राजा वाञ्छित लोक में जाते हैं ॥१० ॥ मुनिवर ! लोकपितामह व्रह्मा ने वैश्यों को पशुपालन, खेती तथा व्यापार जीविका में दिये हैं ॥११॥ वैश्य भी अध्ययन, यज्ञ, दान, धर्म और नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों का अनुष्ठान करे ॥१२॥ द्विजातियों के कर्म से या खरीद-विक्री आदि व्यापार से वह अपना पोषण करे ॥१३॥ शूद्र भी दान दे और पाक यज्ञ करे। वह पितृ-कर्म आदि सब कुछ करे ॥१४॥ द्विजश्रेष्ठो ! नौकर आदि के भरण के लिये सवका दान लेना, ऋतुकाल में स्त्रीप्रसंग करना, समस्त प्राणियों पर दया करना, सहनशीलता, अभिमान न करना, सत्य, शौच, अनायास, मंगल, प्रियवादिता, मैत्री, अस्पृहा, अकार्पण्य, अनसूया—ये गुण सब वर्णों के लिये सामान्य हैं ॥१५-१७॥ समस्त आश्रमों के लिये ये गुण सामान्य लक्षण हैं। द्विजगण ! व्राह्मण आदि के लिये ये उपधर्म हैं। आपत्तिकाल में व्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य का कर्म कर सकता है और क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र का कर्म कर सकता है ॥१८-१९॥ सामर्थ्य

१ख. काले। ७क. ०तेस्तस्य दानयज्ञादिसिद्धयः। ०दु। १ग. दातव्यं। २क. ख. ०जाः। एतदेव च कर्तव्यं।

स (अ) सामर्थ्ये सति त्याज्यमुभाभ्यामपि च द्विजाः । तदेवाऽऽपदि कर्तव्यं न कुर्यात्कर्मसंकरम् ॥२०॥
इत्येते कथिता विप्रा वर्णधर्मा मयाऽद्य वै । धर्ममाश्रमिणां सम्यग्ब्रुवतोऽपि निबोधत ॥२१॥
बालः कृतोपनयनो वेदाहरणतत्परः । गुरोर्गेहे वसन्विप्रा ब्रह्मचारी समाहित ॥२२॥
शौचाचाररतस्तत्र कार्यं शुश्रूषणं गुरोः । व्रतानि चरता [1]ग्राह्यो वेदश्च[2] कृतबुद्धिना ॥२३॥
उभे संध्ये रविं विप्रास्तथैवाग्निं समाहितः । उपतिष्ठेत्तथा कुर्याद्गुरोरप्यभिवादनम् ॥२४॥
स्थिते तिष्ठेद्व्रजेद्याति नीचैरासीत चाऽऽसिते । शिष्टो गुरौ द्विजश्रेष्ठाः प्रतिकूलं च संत्यजेत् ॥२५॥
तेनैवोक्तं पठेद्वेदं नान्यचित्तः पुरस्थितः । अनुज्ञातं च भिक्षान्नमश्नीयाद्गुरुणा ततः ॥२६॥
अवगाहेदपः पूर्वमाचार्येणावगाहिताः । समिज्जलादिकं चास्य कल्पकल्पमुपानयेत् ॥२७॥
[3]गृहीतग्राह्यवेदश्च ततोऽनुज्ञामवाप्य वै । गार्हस्थ्यमावसेत्प्राज्ञो निष्पन्नगुरुनिष्कृतिः ॥२८॥
विधिनाऽवाप्तदारस्तु धनं प्राप्य स्वकर्मणा । गृहस्थकार्यमखिलं [4]कुर्याद्विप्राः स्वशक्तितः ॥२९॥
निर्वापेण पितॄनर्च्य यज्ञैर्देवांस्तथाऽतिथीन् । अन्नैर्मुनींश्च स्वाध्यायैरपत्येन प्रजापतिम् ॥३०॥
बलिकर्मणा भूतानि वाक्सत्येनाखिलं जगत् । प्राप्नोति [5]लोकान्पुरुषो निजकर्मसमार्जितान् ॥३१॥
भिक्षाभुजश्च ये केचित्परिव्राड्ब्रह्मचारिणः । तेऽप्यत्र[6] प्रतितिष्ठन्ति गार्हस्थ्यं तेन वै परम् ॥३२॥
वेदाहरणकार्येण तीर्थस्नानाय च द्विजाः । अटन्ति वसुधां विप्राः पृथिवीदर्शनाय च ॥३३॥

रहने पर उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये, परन्तु आपत्तिकाल में करने से कोई दोष नहीं । दूसरे का कर्म दूसरा न करे ॥२०॥ विप्रवृन्द ! आपको वर्णधर्म मैंने वतला दिये । अव आश्रमों के धर्म भी आप मुझसे सुन लें ॥२१॥ द्विजगण ! वालक का उपनयन हो जाने के वाद वह वेदाध्ययन करने के लिये गुरु के गृह में वास करे । व्रह्मचर्य, सावधानी, शौच तथा आचार रखते हुए वह गुरु-शुश्रूषा में निरत रहे, व्रत करे, ध्यानपूर्वक वेदाध्ययन करे, दोनों सन्ध्या समाहित होकर सूर्य का उपस्थान, अग्निहोत्र एवम् गुरु का अभिवादन करे । ॥२२-२४॥ द्विजश्रेष्ठो ! शिष्य गुरु के खड़ा होने पर खड़ा हो जाय, चलने पर चले, वैठने पर नीचे वैठ जाय और उनके प्रतिकूल कभी न हो ॥२५॥ गुरु के कथनानुसार अनन्यचित्त से वेदाध्ययन करे । उनकी आज्ञा लेकर भिक्षान्न भोजन करे ॥२६॥ आचार्य को स्नान कराकर तव स्वयम् स्नान करे । नित्य प्रातःकाल गुरु के लिये समिधा, जल आदि का प्रवन्ध करके रख दे ॥२७॥ वेदाध्ययन करने के उपरान्त गुरु को दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से बुद्धिमान् व्यक्ति गृहस्थाश्रम में वास करे ॥२८॥ विधिपूर्वक विवाह कर अपने कर्म से धन प्राप्त कर शक्त्यनुसार गृहस्थाश्रम के अखिल कार्यों को सम्पन्न करे ॥२९॥ श्राद्ध आदि से पितरों को, यज्ञों से देवों को, अन्नों से अतिथियों को, स्वाध्यायों से मुनियों को, सन्तान से प्रजापति को, बलिकर्म से भूतों को तथा सत्यवाणी से अखिल जगत् को सन्तुष्ट करके मनुष्य अपने कर्मों द्वारा उपार्जित लोकों को प्राप्त करते हैं ॥३०-३१॥ भिक्षाजीवी संन्यासी तथा व्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर करते हैं । इसलिये गार्हस्थ्य सवसे श्रेष्ठ है ॥३२॥ द्विजगण ! वेदाध्ययन के लिये, तीर्थस्नान के

१क. ख. ग्राह्या । २क. ख. ०दवुद्धिः सनातनी उ । ३ख. ०वेदं च त० । ४ख. ०द्विप्रः स्व० । ५ग. ०न्पुत्रश्च नि० । ६ग. ०प्यत्रैवावतिष्ठन्ते गा० ।

अनिकेता ह्यनाहारा[1] ये तु सायं गृहास्तु ते । तेषां गृहस्थः[2] सततं प्रतिष्ठा योनिरुच्यते ॥३४॥
तेषां स्वागतदानानि वक्तव्यं मधुरं सदा । गृहागतानां दद्याच्च शयनासनभोजनम् ॥३५॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते । स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥३६॥
अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चापि गृहे सतः । परिवादोपघातौ च पारुष्यं च न शस्यते ॥३७॥
यश्च सम्यक्करोत्येवं गृहस्थः [3]परमं विधिम् । सर्वबन्धविनिर्मुक्तो लोकानाप्नोति चोत्तमान् ॥३८॥
[4]वयःपरिणतौ विप्राः कृतकृत्यो गृहाश्रमी । पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा[5] ॥३९॥
पर्णमूलफलाहारः केशश्मश्रुजटाधरः । भूमिशायी भवेत्तत्र मुनिः सर्वातिथिर्द्विजाः ॥४०॥
चर्मकाशकुशैः कुर्यात्परिधानोत्तरीयके । तद्वत्त्रिषवणं स्नानं शस्तमस्य द्विजोत्तमाः ॥४१॥
देवताभ्यर्चनं होमः सर्वाभ्यागतपूजनम् । भिक्षा बलिप्रदानं तु शस्तमस्य प्रशस्यते ॥४२॥
वन्यस्नेहेन गात्राणामभ्यङ्गश्चापि शस्यते । [6]तपस्या तस्य विप्रेन्द्राः शीतोष्णादिसहिष्णुता ॥४३॥
यस्त्वेता[7] नियतश्चर्या[8] वानप्रस्थश्चरेन्मुनिः । स दहत्यग्निवद्दोषाञ्जयेल्लोकांश्च शाश्वतान् ॥४४॥
चतुर्थश्चाऽऽश्रमो भिक्षो प्रोच्यते यो मनीषिभिः । तस्य स्वरूपं गदतो बुध्यध्वं मम सत्तमाः ॥४५॥
पुत्रद्रव्यकलत्रेषु त्यजेत्स्नेहं द्विजोत्तमाः । [9]चतुर्थमाश्रमस्थानं गच्छेन्निर्धूतमत्सरः ॥४६॥

लिये तथा पृथिवी-दर्शन के लिये जो विना घर तथा भोजन के पृथ्वी पर पर्यटन करते हैं, उनका आश्रम गृहस्थ ही है ॥३३-३४॥ मधुर वाणी से सदा उनका स्वागत करना चाहिये । गृह पर आने पर उन्हें शय्या, आसन तथा भोजन देना चाहिये ॥३५॥ अतिथि निराश होकर जिसके घर से लौट जाते हैं, उसे वे पाप देकर तथा (उसका) पुण्य लेकर चले जाते हैं । गृहस्थ के लिये तिरस्कार, अभिमान, दम्भ, निन्दा, घात तथा कठोरता प्रशस्त नहीं है ॥३६-३७॥ जो गृहस्थ सम्यक् प्रकार से गार्हस्थ्य-जीव बिताता है, वह समस्त वन्धनों से निर्मुक्त होकर उत्तम लोकों को प्राप्त करता है ॥३८॥ विप्रवृन्द ! परिपक्व अवस्था होने पर कृतकृत्य हो पुत्रों के ऊपर पत्नी का भार सौंप कर गृहाश्रमी अकेले वन जाय या भार्या के साथ जाय ॥३९॥ वहाँ पर पत्र, मूल, फल का आहार करे, भूमि पर सोये, मनन करे, सवका आतिथ्य स्वीकार करे, चर्म, काश तथा कुशों के परिधान (पहिनने के वस्त्र) तथा उत्तरीय (चादर) धारण करे, त्रिकाल-स्नान करे, शान्ति रखे, देवपूजन, हवन, अभ्यागतों का सत्कार, भिक्षा तथा वलिप्रदान करे। वह वनीय स्निग्ध पदार्थों का उवटन शरीर में लगा सकता है । सर्दी, गर्मी आदि को सहना उसके लिये तपस्या है ॥४०-४३॥ जो वाप्रस्थ मुनि इस प्रकार नित्यचर्या करते हैं, वे अग्नि की तरह दोषों को जलाकर शाश्वत लोकों को प्राप्त करते हैं ॥४४॥ मुनिवृन्द ! मनीषियों ने भिक्षुक के जिस चतुर्थ आश्रम का निर्देश किया है, उसका भी स्वरूप मुझसे सुन लीजये ॥४५॥ मनुष्य पुत्र, स्त्री तथा द्रव्य की ममता छोड़कर डाह से रहित होकर चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करे ॥४६॥ वह तीनों वर्णों के समस्त कर्मों का त्याग करे, मित्र आदि अखिल

१क. निराहारा । ग. ह्यनाचारा । २ग. गृहं गताः । त्रिधा गृ० । ३क. समये । ४क. णतो वि० । ५ख. वा । कन्द मूः । ६ग. ०पस्तस्य च वि० । क. ०पश्यताच वि० । ७ख. य एवं नि० । ८ख. ०यचारो वा० । ९क. ख. ०तुर्थाश्रमसंस्था० ।

त्रैवर्णिकांस्त्यजेत्सर्वानारम्भान्द्विजसत्तमाः । मित्रादिषु समो मैत्राः समस्तेष्वेव जन्तुषु ॥४७॥
जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकर्मभिः क्वचित् । युक्तः कुर्वीत न [1]द्रोहं सर्वसङ्गांश्च वर्जयेत् ॥४८॥
एकरात्रस्थितिर्ग्रामे पञ्चरात्रस्थितिः पुरे। [1]तथा प्रीतिर्न तिर्यक्षु[3] द्वेषो वा नास्य जायते ॥४९॥
प्राणयात्रानिमित्तं च व्यङ्गारेऽभुक्तवज्जने । काले [4]प्रशस्तवर्णानां भिक्षार्थी पर्यटेद्गृहान् ॥५०॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे नैव च हर्षयेत् । प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥५१॥
अतिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सं चै (प्सेच्चै) व सर्वतः । अतिपूजितलाभैस्तु [5]यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥५२॥
कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये । तांस्तु दोषान्परित्यज्य [6]परिव्राण्निर्ममो भवेत् ॥५३॥
अभयं सर्वसत्त्वेभ्यो दत्त्वा यश्चरते महीम् । तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नोत्पद्यते क्वचित् ॥५४॥

कृत्वाऽग्निहोत्रं[7] स्वशरीरसंस्थं, शरीरमग्निं स्वमुखे जुहोति ।
विप्रस्तु भिक्षोपगतैर्हविर्भिश्चिताग्निना स व्रजति स्म लोकान् ॥५५॥
मोक्षाश्रमं यश्चरते [8]यथोक्तं, शुचिश्च संकल्पितबुद्धियुक्तः ।
अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं, स ब्रह्मलोकं व्रजति द्विजातिः ॥५६॥

इति श्री महापुराणे आदिब्राह व्यासर्षिसंवादे वर्णाश्रमधर्मवर्णनं नाम
द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२२।

प्राणियों में समान भाव से व्यवहार करे, मन, वाणी, तथा कर्म से जरायुज, अण्डज आदि का द्रोह न करे, सर्वसंग का परित्याग करे, एक रात गाँव में वास करे तो पाँच रात नगर में रहे । इस तरह संन्यासी किसी से प्रीति तथा द्वेष न करे ॥४७-४९॥ केवल प्राणरक्षा के निमित्त वह प्रशस्त वर्णों के घर में भिक्षाटन करे, नहीं मिलने पर दुःख न करे और मिलने पर हर्षित न हो । आसक्ति रहित होकर वह केवल प्राणयात्रा के लिये कर्म करे, अत्यन्त सम्मान तथा लाभ से वचा रहे । क्योंकि अतिमान तथा लाभ से मुक्त यति भी वद्ध हो जाता है ॥५०-५२॥ संन्यासी काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह आदि दोषों का त्याग कर निर्मम हो जाय । जो निखिल प्राणियों को अभयदान देकर धरित्री पर विचरण करता है, वह शरीर से मुक्त हो जाता है, उसे कहीं भय नहीं होता है ॥५३-५४॥ जो विप्र इस तरह अग्निहोत्र करता है, जिसमें कि अपने शरीरस्थ अग्नि को अपने मुख में डालता है अर्थात् उस अग्नि में भिक्षा से प्राप्त घृत से हवन करता है और चिताग्नि से शरीर को जलाता है, वह (उत्तम) लोकों को प्राप्त करता है । जो द्विजाति संकल्पित बुद्धि से युक्त होकर पवित्रतापूर्वक मोक्षाश्रम में जीवन व्यतीत करता है, वह इंधनहीन अग्नि की तरह प्रशान्त व्रह्मलोक को प्राप्त करता है ॥५५-५६॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में वर्णाश्रमधर्मवर्णन नामक दो सौ बाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥२२२॥

१ख. हं दुष्टसङ्गं च व० । २ग. ०था तिष्ठेत्तथा प्री० । ३ग. ०तिर्द्वेषो । ४ख. ०स्तग्रामेषु भि० । ५क. तिर्यक्तोऽ० । ६ख. परव्रह्ममना भ० । ७क. ०होत्रैः स्व० । ८क. स्वशक्त्या ।

अथ त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

संकरजातिलक्षणवर्णनम्

मुनय ऊचुः

सर्वज्ञस्त्वं महाभाग सर्वभूतहिते रतः । भूतं भव्यं भविष्यं च न तेऽस्त्यविदितं मुने ॥१॥
कर्मणा केन वर्णानामधमा जायते गतिः । उत्तमा च भवेत्केन [1]ब्रूहि तेषां महामत्ते ॥२॥
शूद्रस्तु कर्मणा केन ब्राह्मणत्वं च गच्छति । श्रोतुमिच्छामहे केन ब्राह्मणः शूद्रतामियात् ॥३॥

व्यास उवाच

हिमवच्छिखरे[2] रम्ये नानाधातुविभूषिते[3] । नानाद्रुमलताकीर्णे [4]नानाश्चर्यसमन्विते ॥४॥
तत्र स्थितं महादेवं त्रिपुरघ्नं त्रिलोचनम् । शैलराजसुता देवी प्रणिपत्य सुरेश्वरम् ॥५॥
इमं प्रश्नं पुरा विप्रा अपृच्छच्चारुलोचना । तदहं संप्रवक्ष्यामि शृणुध्वं मम सत्तमाः ॥६॥

उमोवाच

भगवन्भगनेत्रघ्न पूष्णो दन्तविनाशन । दक्षक्रतुहर त्र्यक्ष संशयो मे महानयम् ॥७॥
चातुर्वर्ण्यं भगवता पूर्वं सृष्टं स्वयंभुवा । केन कर्मविपाकेन वैश्यो गच्छति शूद्रताम् ॥८॥

अध्याय २२३

संकरजाति का लक्षण-वर्णन

मुनियों ने कहा—महाभाग ! आप सर्वज्ञ तथा प्राणीमात्र के कल्याण में निरत हैं । मुने ! आप भूत, भविष्य, वर्तमान जानते हैं । आपसे कुछ अविदित नहीं है । महाबुद्धिमान् ! किस कर्म से वर्णों की नीच गति होती है और किस कर्म से उत्तम—यह हमें बतलाइये । शूद्र किस कर्म से ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है और ब्राह्मण किससे शूद्रत्व को—यह हम सुनना चाहते हैं ।।१-३।।

व्यास ने कहा—विप्रवृन्द ! पहले हिमालय के मनोरम, नाना प्रकार की धातुओं से विभूषित, अनेक वृक्ष-लताओं से व्याप्त तथा आश्चर्यजनक वस्तुओं से युक्त शिखर पर स्थित, देवों के ईश्वर, त्रिपुर नामक राक्षस को मारने वाले तथा तीन नेत्र वाले शंकर को प्रणाम कर सुन्दर नयन वाली गिरिपुत्री उमा ने उनसे यह प्रश्न पूछा था । मुनिवृन्द ! उसे मैं बतलाऊँगा, आप लोग सुनें ।।४-६।।

उमा ने कहा—भगवन् ! भग नामक देवता के नेत्र फोड़ने वाले ! पूषा के दाँत तोड़ने वाले ! दक्ष के यज्ञ का विनाश करने वाले ! तीन नेत्र वाले ! यह मुझे महान् संदेह है कि भगवान् ब्रह्मा ने पहले चारों वर्णों

---

[1] कथं । [2] क. हिमालयगिरौ० र० । [3] क. विचित्रिते । [4] क. ०नासत्त्वस० ।

वैश्यो वा क्षत्रियः केन द्विजो वा क्षत्रियो भवेत् । प्रतिलोमे कथं देव[1] शक्यो धर्मो निवर्तितुम् ।।९।।
केन वा कर्मणा विप्रः शूद्रयोनौ प्रजायते । क्षत्रियः शूद्रतामेति केना व कर्मणा विभो ।।१०।।
एतं मे संशयं देव वद भूपतपतेऽनघं । त्रयो वर्णाः प्रकृत्येह कथं ब्राह्मण्यमाप्नुयुः ।।११।।

शिव उवाच

ब्राह्मण्यं देवि दुष्प्रापं निसर्गाद्ब्राह्मणः [2]शुभे । क्षत्रियो वैश्यशूद्रो वा निसर्गादिति मे मतिः ।।१२।।
कर्मणा दुष्कृतेनेह स्थानाद्भ्रश्यति स द्विजः । श्रेष्ठं[3] वर्णमनुप्राप्य तस्मादाक्षिप्यते पुनः ।।१३।।
स्थितो ब्राह्मणधर्मेण ब्राह्मण्यमुपजीवति । क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो[4] वा [5]ब्रह्मभूयं स गच्छति ।।१४।।
यश्च विप्रत्वमुत्सृज्य[6] क्षत्रधर्मान्निषेवते[7] । ब्राह्मण्यात्स परिभ्रष्टः क्षत्त्रयोनौ प्रजायते ।।१५।।
वैश्यकर्म च यो विप्रो लोभमोहव्यपाश्रयः । ब्राह्मण्यं दुर्लभं प्राप्य करोत्यल्पमतिः सदा ।।१६।।
स द्विजो वैश्यतामेति वैश्यो वा शूद्रतामियात् । स्वधर्मात्प्रच्युतो विप्रस्ततः शूद्रत्वमाप्नुयात् ।।१७।।
तत्रासौ निरयं प्राप्तो [8]वर्णभ्रष्टो बहिष्कृतः । ब्रह्मलोकात्परिभ्रष्टः शूद्रयोनौ[9] प्रजायते ।।१८।।
क्षत्रियो वा महाभागे वैश्यो वा धर्मचारिणी । स्वानि कर्माण्यपाकृत्य शूद्रकर्म निषेवते ।।१९।।

की सृष्टि की। फिर किस कर्म के फल से वैश्य शूद्रत्व को प्राप्त करता है ? अथवा वैश्य किस कर्म से क्षत्रिय हो जाता है या ब्राह्मण किस कर्म से क्षत्रिय हो जाता है ? देव ! विपरीत होने पर धर्म कैसे निवृत्त हो जाता है ? किस कर्म से ब्राह्मण शूद्रयोनि में उत्पन्न होता है ? विभो ! क्षत्रिय किस कर्म से शूद्रत्व को प्राप्त करता है ? भूपते ! निष्पाप ! देव ! इस लोक में तीनों वर्ण स्वभाव से कैसे ब्राह्मणत्व को प्राप्त करेंगे ? मेरे इस संदेह का निराकरण कीजिए ।।७-११।।

शिव ने कहा—देवी ! कल्याणमयी ! ब्राह्मणत्व पाना बहुत कठिन है। मेरा तो यह विचार है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र स्वभावसिद्ध हैं। ।।१२।। दुष्कर्म करने से ब्राह्मण स्थानच्युत होता है। फिर सुकर्म करने से वह श्रेष्ठ वर्ण में आ जाता है ।।१३।। ब्राह्मणधर्म में स्थित क्षत्रिय या वैश्य ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है ।।१४।। जो विप्रत्व को त्याग कर क्षात्रधर्म को ग्रहण करता है, वह ब्राह्मणत्व से च्युत होकर क्षत्रिय-योनि में जन्म लेता है ।।१५।। जो क्षुद्रवुद्धि ब्राह्मण दुर्लभ ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लोभ-मोह में पड़कर वैश्य का कर्म करता है, वह वैश्य वन जाता है। वैश्य शूद्र का कर्म करने से शूद्र वन जाता है। स्वधर्मच्युत ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त करता है ।।१६-१७।। वह जाति-वहिष्कृत तथा वर्णभ्रष्ट होकर नरक में गिरता है; ब्रह्मलोक से परिभ्रष्ट होकर शूद्रयोनि में जन्म लेता है ।।१८।। महाभागे! धर्माचरण करने वाली ! जो क्षत्रिय या वैश्य अपने कर्मों का परित्याग कर शूद्र का कर्म करता है, वह अपने स्थान से भ्रष्ट होकर वर्णसंकर हो जाता है। इस तरह करने वाले

---

[1]क. ०व वर्णधर्मविवर्जिते। के०। [2]ख. शुभः। [3]ग. ज्येष्ठं। [4]ग. शूद्रो। [5]क. ०भूतं स। [6]क.ख. ०ज्य क्षात्रं धर्मं निषे०। [7]क. ख. ०ते। तस्य क्षत्रत्वमापन्नं क्षत्रयोः प्र०। [8]क. वर्णाचारव०। [9]ख. ग. ०द्रत्वमुपजा०।

स्वस्थानात्स परिभ्रष्टो वर्णसंकरतां गतः । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रत्वं याति तादृशः ॥२०॥
यस्तु [1]शूद्रः स्वधर्मेण ज्ञानविज्ञानवाञ्शुचिः । धर्मज्ञो धर्मनिरतः[2] स धर्मफलमश्नुते ॥२१॥
इदं चैवापरं देवि ब्रह्मणा[3] समुदाहृतम् । अध्यात्मं : नैष्ठिकी[4] सिद्धिर्धर्मकामैर्निषेव्यते ॥२२॥
उग्रान्नं गर्हितं देवि गणान्नं श्राद्धसूतकम् । [5]घुष्टान्नं नैव भोक्तव्यं शूद्रान्नं नैव वा क्वचित् ॥२३॥
शूद्रान्नं गर्हितं देवि [6]सदा देवैर्महात्मभिः । पितामहमुखोत्सृष्टं प्रमाणमिति मे मतिः ॥२४॥
शूद्रान्नेनावशेषेण जठरे म्रियते द्विजः । आहिताग्निस्तथा [7]यज्वा स शूद्रगतिभाग्भवेत् ॥२५॥
तेन शूद्रान्नशेषेण [8]ब्रह्मस्थानादपाकृतः । ब्राह्मणः शूद्रतामेति नास्ति तत्र विचारणा ॥२६॥
यस्यान्नेनावशेषेण जठरे म्रियते द्विजः । तां तां योनिं व्रजेद्विप्रो यस्यान्नमुपजीवति ॥२७॥
ब्राह्मणत्वं सुखं प्राप्य दुर्लभं योऽवमन्यते । अभोज्यान्नानि वाऽश्नाति स द्विजत्वात्पतेत वै ॥२८॥
[9]सुरापो ब्रह्महा स्तेयी चौरो[10] भग्नव्रतोऽशुचिः । स्वाध्यायवर्जितः पापो लुब्धो नैकृतिकः शठः ॥२९॥
अव्रती वृषलीभर्ता[11] कुण्डाशी सोमविक्रयी[12] । विहीनसेवी विप्रो हि पतते ब्रह्मयोनितः ॥३०॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य शूद्र हो जाते हैं ॥१९-२०॥ जो शूद्र स्वधर्मपूर्वक ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करता है तथा पवित्र, धर्मज्ञ और धर्मनिरत है, वह धर्मफल का भोग करता है ॥२१॥ देवी ! यह तथा दूसरा भी अध्यात्मविषय ब्रह्मा द्वारा वर्णित है । धर्माभिलाषियों को परा सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये ॥२२॥ देवी ! उग्रजाति का अन्न, गणों का अन्न, श्राद्ध तथा सूतक का अन्न, निन्दित अन्न और शूद्रान्न नहीं खाना चाहिये ॥२३॥ देवी ! देव-महात्माओं ने सदा शूद्रान्न को निन्दित बतलाया है । ब्रह्मा के मुख से निकला हुआ वचन प्रमाण है—यह मेरा विचार है ॥२४॥ जो अग्न्याधान तथा यज्ञ करने वाला ब्राह्मण पेट में शूद्रान्न का अवशेष रखकर मरता है, वह शूद्र की गति को प्राप्त करता है ॥२५॥ उस शूद्रान्न के शेष रहने के कारण ब्रह्मस्थान से च्युत ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त करता है, इसमें विचार करने की आवश्यकता नहीं ॥२६॥ जिसके अन्न का अवशेष पेट में रखकर ब्राह्मण मरता है, उसकी योनि में वह ब्राह्मण जन्म लेता है । जो दुर्लभ ब्राह्मणत्व को सुखपूर्वक प्राप्त कर इसका अपमान करता है तथा अभोज्य अन्न भक्षण करता है, वह द्विजत्व से गिर जाता है ॥२७-२८॥ मद्य पीने वाला, ब्रह्महत्या करने वाला, चोर, व्रतभंग करने वाला, अपवित्र, स्वाध्याय से रहित, पापी, लोभी, दाम्भिक, दुष्ट, अव्रती, शूद्रापति, जार-पुत्र के साथ खाने वाला, मद्यविक्रेता तथा नीच की सेवा करने वाला ब्राह्मण ब्रह्मयोनि से गिर जाता है ॥२९-३०॥ गुरु पत्नीगामी, गुरु से द्वेष करने वाला, गुरु की निन्दा करने वाला तथा ब्राह्मणों से द्रोह करने वाला ब्राह्मण ब्रह्म-

---

१ग. बुद्धः । २ख. ०तः स्वध० । ३ख. ब्राह्मण्यं । ४क. ०ष्ठिकीं बुद्धिं धर्मकामे निबोध मे । उ० । ५क. पृष्टान्नं । ख. पिष्टान्नं । ६०क. ०दा प्रोक्तं मनीषिभिः । क. ०दाप्रोक्तं महा० । ७क. ज्वा शूद्रयोनौ प्रजा ते । ते० । ८ग. ०पाहृतः । ९ ०पो ब्राह्मणः स्ते० । १०क. चौरस्त्यक्तव्र० । ११क। क्रूराशी । १२. क. ०यी । हीनाचारो ऽशुचिर्नित्यं प० ।

गुरुतल्पी गुरुद्वेषी गुरुकुत्सारतिश्च[1] यः । ब्रह्मद्विड्वाऽपि पतति ब्राह्मणो ब्रह्मयोनितः ॥३१॥
एभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा । शूद्रो ब्राह्मणतां गच्छेद्वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत् ॥३२॥
शूद्रः कर्माणि सर्वाणि यथान्यायं यथाविधि । सर्वातिथ्यमुपातिष्ठञ्शेषान्नकृतभोजनः ॥३३॥
शुश्रूषां परिचर्यां यो ज्येष्ठवर्णे प्रयत्नतः । कुर्यादविमनाः श्रेष्ठः सततं सत्पथे स्थितः ॥३४॥
देवद्विजातिसत्कर्ता सर्वातिथ्यकृतव्रतः । ऋतुकालाभिगामी च नियतो नियताशनः ॥३५॥
दक्षः शिष्टजनान्वेषी शेषान्नकृतभोजनः । वृथा मांसं न भुञ्जीत शूद्रो वैश्यत्वमृच्छति[2] ॥३६॥
ऋतवागनहंवादी निर्द्वंद्वः[3] सामकोविदः । यजते नित्ययज्ञैश्च स्वाध्यायपरमः शुचिः ॥३७॥
दान्तो[4] ब्राह्मणसत्कर्ता सर्ववर्णानसूयकः[5] । गृहस्थव्रतमातिष्ठन्द्विकालकृतभोजनः[6] ॥३८॥
शेषाशी विजिताहारो निष्कामो निरहंवदः । अग्निहोत्रमुपासीनो जुह्वानश्च यथाविधि ॥३९॥
सर्वातिथ्यमुपातिष्ठञ्शेषान्नकृतभोजनः । [7]त्रेताग्निमात्रविहितं वैश्यो भवति च द्विजः ॥४०॥
स वैश्यः क्षत्रियकुले शुचिर्महति जायते । स वैश्यः क्षत्रियो जातो जन्मप्रभृति संस्कृतः ॥४१॥
उपनीतो व्रतपरो द्विजो भवति संस्कृतः । [8]ददाति यजते यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ॥४२॥
अधीत्य स्वर्गमन्विच्छंस्त्रेताग्निशरणः सदा । [9]आर्द्रहस्तप्रदो नित्यं प्रजा धर्मेण पालयन् ॥४३॥

योनि से च्युत हो जाता है ॥३१॥ देवी ! इन (ब्राह्मण-) कर्मों से शुभ आचरणों से शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और वैश्य क्षत्रिय हो जाता है ॥३२॥ न्यायपूर्वक तथा विधानपुरस्सर समस्त कर्मों को करने वाला, सब का स्वागत करने वाला, अवशिष्ट अन्न खाने वाला, यत्न से श्रेष्ठ वर्णों की सेवा करने वाला, मनोमालिन्य को हटा कर सदा सत्पथ पर दृढ़ रहने वाला, देव-ब्राह्मणों का सत्कार करने वाला, सबका आतिथ्य करने वाला, ऋतुकाल में स्त्रीप्रसंग करने वाला, नियमपूर्वक भोजन करने वाला, प्रवीण, सभ्य मनुष्यों का अनुगम करने वाला और व्यर्थ मांस न खाने वाला शूद्र वैश्यत्व को प्राप्त करता है ॥३३-३६॥ सत्यवादी, अभिमानशून्य, द्वन्द्वरहित, सामवेद का पण्डित, नित्य यज्ञकर्त्ता, स्वाध्याय में निरत, पवित्र इन्द्रियों का दमन करने वाला, ब्राह्मणों का सत्कार करने वाला, किसी वर्ण की निन्दा न करने वाला, गृहस्थों का व्रत धारण करने वाला, दो समय भोजन करने वाला, अवशिष्ट अन्न खाने वाला, भोजन पर नियन्त्रण रखने वाला, कामनारहित, अग्निहोत्री, विधानपूर्वक हवन करने वाला, सब का आतिथ्य करने वाला और गार्हपत्य आदि तीनों अग्नियों की उपासना करने वाला वैश्य ब्राह्मण हो जाता है ॥३७-४०॥ वह वैश्य महान् क्षत्रिय-कुल में जन्म लेता है । वह वैश्य जन्मप्रभृति संस्कारों से युक्त क्षत्रिय होता है ॥४१॥ वह उपनयन संस्कार से युक्त व्रतपरायण ब्राह्मण होता है और पूर्ण दक्षिणा देकर यज्ञ करता है ॥४२॥ वेदाध्ययन करके स्वर्ग की कामना से तीनों अग्नियों की उपासना करता है । सदा दानशील होकर धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता है । सत्यव्यवहार करते हुए पवित्र विचार रखता है । धर्म, काम और अर्थ का साधन करते हुए धर्म-

---

[1] क. ०रतश्च । [2] क. ०ति । सुभावश्चान० । [3] ग. द्वः शम० । [4] क. दीनो । [5] ख. ग. ०वर्णबुभूषकः । [6] क. ०तमन्विच्छन्द्वि । [7] क. ०ग्निमन्त्रवि० । ग. ग्निमत्रावि० [8] क. तदाऽपि । [9] ख. आर्तह० ।

सत्यः सत्यानि कुरुते नित्यं यः शुद्धिदर्शनः । धर्मदण्डेन निर्दग्धो धर्मकामार्थसाधकः[1] ॥४४॥
यन्त्रितः कार्यकरणैः षड्भागकृतलक्षणः । ग्राम्यधर्मान्न सेवेत [2]स्वच्छन्देनार्थकोविदः ॥४५॥
ऋतुकाले तु धर्मात्मा पत्नीमुपाश्रयेत्सदा । सदोपवासी नियतः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ॥४६॥
वहिस्कान्तरिते (?) नित्यं शयानोऽस्ति सदा गृहे । सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य कुर्वाणः सुमनाः सदा ॥४७॥
शूद्राणां [3]चान्नकामानां नित्यं [4]सिद्धिमिति ब्रुवन् । स्वार्थाद्वा यदि वा[5] कामान्न किंचिदुपलक्षयेत्[6] ॥४८॥
पितृदेवातिथिकृते साधनं कुरुते च यत् । स्ववेश्मनि यथान्यायमुपास्ते भैक्ष्यमेव च ॥४९॥
द्विकालमग्निहोत्रं च जुह्वानो वै यथाविधि । गोब्राह्मणहितार्थाय रणे चाभिमुखो हतः ॥५०॥
त्रेताग्निमन्त्रपूतेन समाविश्य द्विजो भवेत् । ज्ञानविज्ञानसंपन्नः संस्कृतो वेदपारगः ॥५१॥
वैश्यो भवति धर्मात्मा क्षत्रियः स्वेन कर्मणा । एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः ॥५२॥
शूद्रोऽप्यागमसंपन्नो द्विजो भवति संस्कृतः । ब्राह्मणो वाऽप्यसद्वृत्तः सर्वसंकरभोजनः ॥५३॥
स ब्राह्मण्यं समुत्सृज्य शूद्रो भवति तादृशः । कर्मभिः शुचिभिर्देवी शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः ॥५४॥
शूद्रोऽपि द्विजवत्सेव्य इति ब्रह्माऽब्रवीत्स्वयम् । [7]स्वभावकर्मणा चैव यत्र (श्च) [8]शूद्रोऽधितिष्ठति ॥५५॥
विशुद्धः स द्विजातिभ्यो विज्ञेय इति मे मतिः । न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतिर्न च [9]संततिः ॥५६॥

दण्ड धारण करता है । कार्यों के अनुसार दण्ड (राजनीति) को (सन्धि, विग्रह) आदि छह भागों में विभक्त कर देता है । अर्थशास्त्र का ज्ञाता मनुष्य स्वतन्त्रता से ग्राम्य-धर्मों की सेवा न करे ॥४२-४५॥ धर्मात्मा व्यक्ति सदा ऋतुकाल में पत्नीगमन करे । नियमपूर्वक उपवास करने वाला, स्वाध्याय में निरत, पवित्र, सदा दोष-रहित (?) घर में शयन करने वाला, सव का आतिथ्य करने वाला, सदा प्रसन्न मन से धर्म, अर्थ और काम का साधन करने वाला, अन्नाभिलाषी शूद्रों में नित्य 'सिद्द ही है' यह कहने वाला, स्वा्र्थ से या काम से किसी की हानि नहीं करने वाला, पितर, देव तथा अतिथियों का पूजक, अपने घर में न्यायपूर्वक भिक्षावृत्ति से रहने वाला, दोनों समय विधान-पूर्वक अग्निहोत्र करने वाला, गो-व्राह्मण के निमित्त युद्ध में मरने वाला, तीनों अग्नियों की उपासना से पवित्र, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, संस्कारयुक्त और वेदपारंगत धर्मात्मा वैश्य अपने कर्म से क्षत्रिय हो जाता है ॥४६-५१½॥ देवी ! इन कर्मों के फल में नीच कुल में उत्पन्न शूद्र भी वेदसम्पन्न संस्कृत व्राह्मण हो जाता है । असद्वृत्ती तथा सवके साथ भोजन करने वाला व्राह्मण भी व्राह्मणत्व को त्याग कर वैसा शूद्र वन जाता है । पवित्र कर्मों से युक्त शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रिय शूद्र भी व्राह्मण की तरह पूज्य है—यह साक्षात् व्रह्मा ने कहा है । स्वभावसिद्ध कर्मों से युक्त शूद्र द्विजातियों से पवित्र है—यह मेरा मत है ॥५२-५५½॥ व्राह्मणत्व का कारण न योनि है, न संस्कार है, न श्रुति है, और न सन्तान ही है । वृत्त (आचरण) ही इसका कारण है । लोक में आचरण से व्राह्मण माना

---

[1] ग. ०कार्यानुशासकः.। [2] ख. ०छन्दश्चार्थ। [3] ग. चार्थका०। [4] ख. ग. सिद्धिमि०। [5] क. वा लोभान्न। [6] क. ०पहीयते। पि०। [7] ग. ०भावं कर्म च शुभं य०। [8] ग. ०द्रो हि ति०। [9] क. सद्गतिः।

कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् । सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते ।।५७।।
वृत्ते स्थितश्च शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं च [1]गच्छति । ब्रह्मस्वभावः सुश्रोणि समः सर्वत्र मे मतः ।।५८।।
निर्गुणं निर्मलं ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः । एते ये विमला देवि [2]स्थानाभावनिदर्शकाः ।।५९।।
स्वयं च वरदेनोक्ता ब्रह्मणा सृजता प्रजाः[3] । ब्रह्मणो हि महत्क्षेत्रं लोके चरति पादवत्[4] ।।६०।।
यत्तत्र बीजं पतति सा कृषिः प्रेत्य भाविनी । संतुष्टेन सदा भाव्यं सत्पालम्बिना सदा ।।६१।।
ब्राह्मं हि मार्गमाक्रम्य वर्तितव्यं बुभूषता[5] । संहिताध्यायिना भाव्यं गृहे वै गृहमेधिना ।।६२।।
नित्यं स्वाध्याययुक्तेन न चाध्ययनजीविना । एवंभूतो हि यो विप्रः सततं सत्पथे स्थितः ।।६३।।
आहिताग्निरधीयानो ब्रह्मभूयाय कल्पते । ब्राह्मण्यं देवि संप्राप्य रक्षितव्यं यतात्मना ।।६४।।
[6]योनिप्रतिग्रहादानैः कर्मभिश्च शुचिस्मिते । एतत्ते गुह्यमाख्यातं तथा शूद्रो भवेद्द्विजः ।।
ब्राह्मणो वा च्युतो धर्माद्यथा शूद्रत्वमाप्नुयात् ।।६५।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे उमामहेश्वरसंवादे संकरजातिलक्षणवर्णनं नाम
त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२२३।।

जाता है ।।५६-५७।। वृत्त में स्थित शूद्र भी व्राह्मणत्व को प्राप्त करता है । सुन्दर कटि वाली ! व्राह्मण का स्वभाव सव जगह समान है—यह मेरा मत है ।।५८।। निर्गुण, निर्मल व्रह्म जिसमें वास करता है, वह व्राह्मण है । देवी ! प्रजा की सृष्टि करने वाले स्वयं वरदायक व्रह्मा ने कहा है कि स्थानाभाव के उदाहरणस्वरूप निर्मलचित्त वाले जो हैं वे व्राह्मण हैं । लोक में व्रह्मा का महान् क्षेत्र पैर की तरह चलता है ।।५९-६०।। उसमें जो वीज डाला जाता है, वही कृषि के रूप में उत्पन्न होता है । मनुष्य को सदा सन्तुष्ट एवम् सत्पथालम्वी होना चाहिये ।।६१।। होनहार मनुष्य को व्राह्म मार्ग से चलना चाहिये । गृहस्थ को गृह में संहिताओं का अध्ययन करना चाहिये ।।६२।। जो व्राह्मण नित्य स्वाध्याय से युक्त, अध्ययन द्वारा जीविका न कमाने वाला सदा सत्पथ पर स्थित, वेदाध्ययन करने वाला और अग्न्याधान करने वाला है वह व्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है ।।६३½।। देवी! व्राह्मणत्व प्राप्त कर यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिये । पवित्र हास्य करने वाली ! योनि के आदान-प्रदान (परिवर्तन) से तथा कर्मों से जैसे शूद्र व्राह्मण हो जाता है या व्राह्मण धर्मच्युत होकर शूद्रत्व को प्राप्त कर लेता है, वह रहस्य तुमसे वतला दिया ।।६४-६५।।

श्रीव्रह्ममहापुराण में संकरजातिलक्षणवर्णन नामक
दो सौ तेईसवाँ अध्याय समाप्त ।।२२३।।

---

[1] क. ख. ०ति । व्राह्मणश्च भवेच्छूद्रोऽप्येवंवृत्तश्च मे । [2] क. ०भाषा निरर्थकाः । [3] क. पुरा । [4] क. दाववत् । [5] ख. बुभूषुणा । [6] ख. योनिः प्र० ।

अथ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

उमामहेश्वरसंवादे मानवानामुत्तमगतिप्राप्तिवर्णनम्

उमोवाच

भगवन्सर्वभूतेश सुरासुरनमस्कृत । [1]धर्माधर्मे नृणां देव ब्रूहि मे संशयं विभो ॥१॥
कर्मणा मनसा वाचा त्रिविधैर्देहिनः सदा । बध्यन्ते बन्धनैः कैर्वा मुच्यन्ते वा कथं वद ॥२॥
केन शीलेन वै देव कर्मणा कीदृशेन वा । समाचारैर्गुणैः कैर्वा स्वर्गं यान्तीह मानवाः ॥३॥

शिव उवाच

देवि धर्मार्थतत्त्वज्ञे धर्मनित्य उमे सदा । सर्वप्राणहितः प्रश्नः श्रूयतां [2]बुद्धिवर्धनः ॥४॥
सत्यधर्मरताः शान्ताः सर्वलिङ्गविवर्जिताः । नाधर्मेण न धर्मेण [3]बध्यन्ते छिन्नसंशयाः ॥५॥
प्रलयोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः । वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः ॥६॥
कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किंचन । ये न [4]मज्जन्ति कस्मिंश्चित्ते न [5]बध्नन्ति कर्मभिः ॥७॥
[6]प्राणातिपाताद्विरताः[7] शीलवन्तो दयान्विताः । तुल्यद्वेष्यप्रिया दान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः ॥८॥

अध्याय २२४

मनुष्यों को उत्तम गति मिलने का वर्णन

उमा बोलीं—भगवन् ! अखिल प्राणियों के ईश्वर ! देवराक्षसों से नमस्कृत ! देव ! सर्वशक्तिमान् ! मनुष्यों के धर्म-अधर्म के विषय में मुझे संदेह है, उसे दूर कीजिये । कायिक, वाचिक, मानसिक—इन तीन प्रकार के कर्मों में किस कर्म के द्वारा प्राणी सदा वद्ध होता है और किस कर्म के द्वारा उसकी मुक्ति होती है—यह मुझे वतलाइये । देव ! किस स्वभाव से या किस कर्म से या किस तरह के आचरण से या किन गुणों से मनुष्य स्वर्ग जाते हैं ? ॥१-३॥

शिव बोले—देवी ! धर्म-अर्थ के तत्त्व को जानने वाली ! सदा धर्म में निरत रहने वाली ! तुम्हारा प्रश्न समस्त प्राणियों का कल्याणकारक तथा बुद्धिवर्धक है ॥४॥ सुनो । सत्य और धर्म में रत, शान्त, सब प्रकार के लांछनों से रहित तथा संदेहशून्य पुरुष धर्म या अधर्म से वद्ध नहीं होते हैं ॥५॥ उत्पत्ति तथा प्रलय के तत्त्व को जानने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा रागशून्य पुरुष कर्म-बन्धनों में नहीं पड़ते हैं ॥६॥ जो कर्म से, मन से तथा वाणी से किसी की हिंसा नहीं करते हैं और जो किसी में आसक्त नहीं होते हैं, वे कर्मों से वद्ध नहीं होते हैं ॥७॥ जो जीव हिंसा से परे, शीलवान्, दयावान्, शत्रु-मित्र में सम बुद्धि वाले तथा इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं, वे कर्मवन्धनों से मुक्त हो जाते हैं ॥८॥ जो अखिल प्राणियों पर दया करने वाले, समस्त जीवों के विश्वासपात्र

---

[1] ग. ०धर्मौ नृ० । [2] क. बुद्धिवर्धिनि । [3] क. ख. वर्तन्ते । [4] क. ख. सर्पन्ति । [5] क. ख. वध्यन्ति । [6] ख. प्राणनिग्रहकुशलाः । [7] ग. ०णाभिपा० ।

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु । [1]त्यक्तहिंस्रसमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥९॥
परस्वनिर्ममा नित्यं परदारविवर्जिताः । धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नरा स्वर्गगामिनः ॥१०॥
मातृवत्स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये । परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥११॥
स्वदारनिरता ये च ऋतुकालभिगामिनः । अग्राम्यसुखभोगाच्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१२॥
स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं संतुष्टाः स्वधनेनन च । स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१३॥
परदारेषु ये नित्यं चारित्रावृतलोचनाः । जितेन्द्रियाः[2] शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१४॥
एष दैवकृतो मार्गः सेवितव्यः सदा [3]नरैः । अकषायकृतश्चैव मार्गः सेव्यः सदा बुधैः ॥१५।
अवृथापकृतश्चैव मार्गः सेव्यः सदा बुधैः । दानकर्मतपोयुक्तः शीलशौचदयात्मकः ॥
स्वर्गमार्गमभीप्सद्भिर्न सेव्यस्त्वत उत्तरः ॥१६॥

उमोवाच[4]

वाचा तु [5]बध्यते येन[6] मुच्यते ह्यथवा पुनः । तानि कर्माणि मे देव वद भूतपतेऽनघ ॥१७॥

शिव उवाच

आत्महेतोः परार्थे वा[7] अधर्माश्रितमेव च । ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१८॥

तथा हिंसावृत्ति से निवृत्त हैं, वे स्वर्ग जाते हैं ॥९॥ दूसरे के धन में ममता न करने वाले, परस्त्री प्रसंग से रहित तथा धर्मपूर्वक प्राप्त धन के भोक्ता मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ॥१०॥ जो मनुष्य दूसरे की स्त्री को माता, वहन तथा वेटी की तरह देखते हैं, वे स्वर्ग जाते हैं ॥११॥ जो मनुष्य अपनी स्त्री में निरत, ऋतुकाल में स्त्री-प्रसंग करने वाले तथा ग्राम्य-सुख-भोग से रहित हैं, वे स्वर्ग जाते हैं ॥१२॥ जो चोरी से रहित सदा अपने धन से संतुष्ट और अपने भाग्य के भरोसे जीते हैं, वे स्वर्ग जाते हैं ॥१३॥ जो मनुष्य दूसरे की स्त्री को देखकर चरित्ररक्षा के लिये आँखें मूंद लेते हैं और जितेन्द्रिय एवम् शीलवान् हैं, वे स्वर्ग जाते हैं ॥१४॥ मनुष्य इस देवमार्ग का सदा अनुसरण करे। विद्वान् मनुष्य शिष्टसम्मत मार्ग का सदा सेवन करे। पण्डित जन सदा निर्दुष्ट मार्ग का अवलम्व करें ॥१५॥ दान, कर्म, तपस्या, शील, शौच तथा दया से युक्त एवम् स्वर्ग की कामना करने वाले मनुष्य इससे भिन्न मार्ग को कभी न अपनायें ॥१६॥

उमा बोलीं—भूतपते! निष्पाप! जिन वाचिक कर्मों से मनुष्य बद्ध होता है अथवा मुक्त होता है, वे मुझे बतलाइये ॥१७॥

शिव बोले—जो मनुष्य अपने लिये या दूसरे के लिये असत्य नहीं वोलते, वे स्वर्ग जाते हैं। जो मनुष्य

---

[1] क. ख. ०हिंसास०। [2] क. ०याः शौचप०। [3] ग. वुधैः। [4] ख. ०च.। कर्मभिर्यैश्च बध्येत यैर्वा मुच्येत पूरुषः। ता०। [5] क. वदते। [6] क। ये तु मुह्यते। [7] ग. वा माहात्म्यश्रवणात्तथा। ये।

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात्तथैव च । अनृतं ये न भाषन्ते ते[1] नराः स्वर्गगामिनः ॥१९॥
श्लक्ष्णां वाणीं स्वच्छवर्णां [1]मधुरां पापवर्जिताम् । स्वगतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२०॥
परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा । न पैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२१॥
पिशुनं न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरं[2] तथा । परपीडाकरं चैव ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२२॥
ये वर्जयन्ति [3]परुषं परद्रोहं च मानवाः । सर्वभूतसमा[4] दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२३॥
शठप्रलापाद्विरता विरुद्धपरिवर्जकाः । सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२४॥
न कोपाद्व्याहरन्ते ये वाचं हृदयदारिणीम् । शान्तिं विन्दन्ति ये क्रुद्धास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२५॥
एष वाणीकृतो देवि धर्मः सेव्यः सदा नरैः । शुभसत्यगुणैर्नित्य वर्जनीया मृषा बुधैः ॥२६॥

उमोवाच

मनसा [5]बध्यते येन कर्मणा पुरुषः सदा । तन्मे ब्रूहि महाभाग देवदेव पिनाकधृक् ॥२७॥

महेश्वर उवाच

मानसेनेह धर्मेण संयुक्ताः पुरुषाः सदा । स्वर्गं गच्छन्ति कल्याणि तन्मे कीर्तयतः शृणु ॥२८॥
दुष्प्रणीतेन मनसा दुष्प्राणीतान्तराकृतिः । नरो बध्येत येनेह शृणु वा तं शुभानने ॥२९॥
अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा । मनसाऽपि न गृह्णन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३०॥

जीविका के लिये या धर्म के निमित्त या स्वेच्छा से असत्य भाषण नहीं करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं। जो मनुष्य कोमल, स्फीत, मधुर तथा पाप-रहित वाणी बोलते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं। जो मनुष्य कठोर तथा कटु वचन नहीं बोलते हैं तथा चुगली नहीं करते हैं, वे स्वर्ग जाते हैं। जो मनुष्य दूसरे से द्रोह नहीं करते हैं, समस्त प्राणियों में समान भाव रखते हैं और इन्द्रियों का दमन करते हैं, वे स्वर्ग जाते हैं। जो मनुष्य दुष्टभाषण से रहित, विरोध-शून्य तथा मधुरभाषी हैं, वे स्वर्ग जाते हैं। जो मनुष्य क्रोध से हृदयविदारक वचन नहीं बोलते हैं और क्रुद्ध होने पर भी तुरन्त शान्त हो जाते हैं, वे स्वर्ग जाते हैं। देवी ! मनुष्य सदा इस वाचिक धर्म का पालन करे। विद्वान् मनुष्य शुभ तथा सत्यगुणों से युक्त होकर असत्य का परित्याग करे ॥१८-२६॥

उमा बोलीं—महाभाग ! धनुषधारी ! देवों के देव ! जिस मानसिक कर्म से मनुष्य बद्ध होता है, वह मुझे वतलाइये ॥२७॥

महेश्वर ने कहा—कल्याणमयी ! मानसिक धर्म से युक्त पुरुष स्वर्ग जाते हैं—इसके बारे में मुझसे सुनो। पवित्र मुख वाली ! जिस मनुष्य का मन तथा अन्तरात्मा दूषित है, वह वद्ध होता है। जो वन में तथा एकान्त स्थान में दूसरे के पड़े हुए धन को देखकर मनसे भी उसे ग्रहण नहीं करता है, वह स्वर्ग जाता है। जो मनुष्य एकान्त में दूसरे की स्त्री को देखकर मन से भी उसके साथ पापाचरण नहीं करता है, वह स्वर्ग जाता है। जो

---

[1]क. निरालम्वां। ग. निराधारां। [2]ख. ०करीं गिरम्। ऋतं मित्रैस्तु भाषन्ते ते। [3]क. सततं। [4]क. ख. ०समाः शान्ताः० । [5]ग. वाध्यते ।

तथैव परदारान्ये कामवृत्ता रहोगताः । मनसाऽपि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः[1] ॥३१॥
शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः । भजन्ति [2]मैत्र्यं संगम्य ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३२॥
श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसंगराः । स्वैरर्थैः परिसंतुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३३॥
अवैरा ये त्वनायासा मैत्रचित्तरताः[3] सदा । सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः[4] ॥३४॥
ज्ञातवन्तः क्रियावन्तः क्षमावन्तः सुहृत्प्रियाः । धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३५॥
शुभानामशुभानां च कर्मणां [5]फलसंचये । निराकाङ्क्षाश्च ये देवि ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३६॥
[6]पापोपेतान्वर्जयन्ति देवद्विजपराः सदा । [7]समुत्थानमनुप्राप्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३७॥
शुभैः कर्मफलैर्देवि मयैते परिकीर्तिताः । स्वर्गमार्गपरा भूयः किं त्वं श्रोतुमिहेच्छसि ॥३८॥

उमोवाच

महान्मे संशयः [8]कश्चिन्मर्त्यान्प्रति महेश्वर । तस्मात्त्वं निपुणेनाद्य मम व्याख्यातुमर्हसि ॥३९॥
कैनाऽऽयुर्लभते दीर्घं कर्मणा पुरुषः प्रभो[9] । तपसा वापि देवेश केनाऽऽयुर्लभते महत् ॥४०॥
क्षीणायुः केन भवति कर्मणा भुवि मानवः । विपाकं कर्मणां देव [10]वक्तुमर्हस्यनिन्दित ॥४१॥
अपरे च महाभाग्या मन्दभाग्यास्तथा परे । अकुलीनाः कुलीनाश्च संभवन्ति तथा परे ॥४२॥

मनुष्य शत्रु तथा मित्र के साथ समान भाव से व्यवहार करता है, वह स्वर्ग जाता है। जो मनुष्य वेदों के ज्ञाता, दयावान्, पवित्र, सत्यात्मा तथा अपने धन से संतुष्ट हैं, वे स्वर्ग जाते हैं। जो शत्रुता से रहित, अनायास ही सदा सबसे मैत्री करने वाला तथा प्राणी मात्र पर दया करने वाला है, वह नर स्वर्ग जाता है। जो ज्ञानी, क्रियाशील, क्षमावान्, बन्धुओं का प्रिय तथा धर्म-अधर्म का ज्ञाता है, वह स्वर्ग जाता है। देवी ! जो मनुष्य शुभ-अशुभ कर्मों का फल नहीं चाहता है, वह स्वर्ग जाता है। जो पापियों से अलग रहता है, देव-ब्राह्मणों की सेवा करता है और अपने धर्म में निरत रहता है, वह स्वर्ग जाता है। देवी ! शुभ कर्मों के द्वारा जैसे लोग स्वर्ग जाते हैं, वह मैंने बतला दिया। अब फिर क्या सुनना चाहते हो ? ॥२८-३८॥

उमा ने कहा—महेश्वर ! मनुष्यों के बारे में मुझे एक संदेह है। दक्षतापूर्वक आप उसका निराकरण कीजिए। प्रभो ! किस कर्म से मनुष्य दीघार्यु लाभ करता है ? देवेश ! किस तप से मनुष्य की आयु बढ़ जाती है ? पृथ्वी पर मनुष्य किस कर्म से क्षीणायु होता है ? देव ! निन्दा से रहित ! कर्मों का परिणाम आप बतलायें। कोई मनुष्य महाभाग्यवान् होते हैं तो कोई भाग्यहीन होते हैं। कोई कुलीन होते हैं तो कोई अकुलीन होते हैं।

१क. ०नः। श्रद्धावन्तो न ये। ख. नः। श्रद्धावन्तश्च ये। २क. मैत्री। ३ख. मैत्रीचिन्तार०। ४ग. ०नः। श्रद्धावन्तो दयावन्तः सौख्याः सौख्यजनप्रियाः। ५ख. ग. ०चयम्। विपाकज्ञाश्च। ६क. ख. पापादपेताः ये देवि दे०। ७ख. ०नपरा ये वै ते न०। ८क. ०श्चित्सत्त्वान्प्र०। ९क. ०भो। गतायुरपि। १०क. ०स्यशेषतः। अ०।

दुर्दशाः केचिदाभान्ति[1] नराः काष्ठमया इव । प्रियदर्शास्तथा चान्ये दर्शनादेव मानवाः ॥४३॥
दुष्प्रज्ञाः केचिदाभान्ति केचिदाभान्ति पण्डिताः । महाप्रज्ञास्तथा चान्ये ज्ञानविज्ञानभाविनः ॥४४॥
अल्पवाचास्तथा[2] केचिन्महावाचास्तथा परे । दृश्यन्ते पुरुषा देव ततो व्याख्यातुमर्हसि ॥४५॥

शिव उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि देवि कर्मफलोदयम् । मर्त्यलोके नरः सर्वो येन स्वं फलमश्नुते ॥४६॥
प्राणातिपाती योगीन्द्रो दण्डहस्तो नरः सदा । नित्यमुद्यतशस्त्रश्च[3] हन्ति भूतगणान्नरः ॥४७॥
निर्दयः सर्वभूतेभ्यो नित्यमुद्वेगकारकः । अपि [4]कीटपतङ्गानामशरण्यः सुनिर्घृणः ॥४८॥
एवंभूतो नरो देवि निरयं प्रतिपद्यते । विपरीतस्तु धर्मात्मा स्वरूपेणाभिजायते ॥४९॥
निरयं याति हिंसात्मा याति स्वर्गमहिंसकः । यातनां निरये रौद्रां [5]सकृच्छ्रां लभते नरः ॥५०॥
यः कश्चिन्निरयात्तस्मात्समुत्तरति कर्हिचित् । मनुष्य लभते वाऽपि हीनायुस्तत्र [6]जायते ॥५१॥
पापेन कर्मणा देवि युक्तो हिंसादिभिर्यतः । अहितः सर्वभूतानां हीनायुरुपजायते ॥५२॥
शुभेन कर्मणा देवि प्राणिघातविवर्जितः । निक्षिप्तशस्त्रो निर्दण्डो[7] न हिंसति कदाचन ॥५३॥
न घातयति नो हन्ति घ्नन्तं नैवानुमोदते । सर्वभूतेषु सस्नेहो यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥५४॥

कोई लकड़ी की तरह देखने में कठोर मालूम पड़ते हैं तो कोई देखने में प्रिय (कोमल) मालूम पड़ते हैं । कोई मूर्ख हैं तो कोई पण्डित हैं । कोई ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न महापण्डित हैं । कोई मितभाषी हैं तो कोई बहुभाषी । देव ! ऐसे पुरुष देखे जाते हैं । इसका कारण आप बतलायें ॥३९-४५॥

शिव ने कहा—देवी ! अच्छा, तो मैं कर्मफल बतलाऊँगा । मृत्युलोक में मनुष्य कर्मों के फल भोगते हैं । प्राण देने वाला योगीन्द्र, दण्ड धारण करने वाला, सदा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रहने वाला मनुष्य भूतगणों को मारता है । प्राणीमात्र पर दया न करने वाला, सब को उद्विग्न करने वाला, कीटपतंग पर्यन्त किसी को भी शरण न देने वाला तथा अत्यन्त घृणा करने वाला मनुष्य नरक जाता है । इसके विपरीत धर्मात्मा मनुष्य स्वर्ग जाता है । हिंसक मनुष्य नरक जाता है और अहिंसक स्वर्ग जाता है । नरक में मनुष्य भयंकर यातना प्राप्त करता है । जो कोई कभी उस नरक से निकल आता है, वह अल्पायु होकर मनुष्ययोनि में जन्म लेता है । देवी ! जिसलिये मनुष्य हिंसा आदि पापकर्म करता है और समस्त प्राणियों का अहित करता है, इसलिये वह अल्पायु होता है । देवी ! जो शुभ कर्मों से युक्त, जीव-हिंसा से रहित तथा शस्त्र एवम् दण्ड से शून्य होकर न किसी को मारता है, न मारने वालों का अनुमोदन करता है और अपने आंत्मा की तरह अखिल प्राणियों से प्रेम करता है, वह देवत्व को

१क. ०न्ति कष्टमेयास्तथाऽपरे । प्रि० । २क.ख. ०ल्पबाधास्त० । ३ख. ०मुल्लङ्घ्य शास्त्रं च ह० । ४क.ख.
०टपिपीलानाम० । ५क. सुकृच्छ्रां । ६ग. ०ते । यस्तु शुक्लाभिजातीयः प्राणघातविजर्जकः । निक्षि० । ७ग. निर्दम्भो ।

ईदृशः पुरुषो नित्यं देवि देवत्वमश्नुते । उपपन्नान्सुखान्भोगान्सदाऽश्नाति मुदा युतः ॥५५॥
अथ चेन्मानुषे लोके कदाचिदुपपद्यते । एष दीर्घायुषां मार्गः सुवृत्तानां सुकर्मणाम् ॥
प्राणिहिंसाविमोक्षेण ब्रह्मणा समुदीरितः ॥५६॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे उमामहेश्वरसंवादे धर्मनिरूपणं नाम
चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२४॥

अथ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

उमामहेश्वरसंवादे देवलोकप्राप्तिकारणकथनम्

उमोवाच

किंशीलः किंसमाचारः पुरुषः कैश्च कर्मभिः । स्वर्गं समभिपद्येत संप्रदानेन केन वा ॥१॥

महेश्वर उवाच

दाता ब्राह्मणसत्कर्ता दीनार्तकृपणादिषु[1] । भक्ष्यभोज्यान्नपानानां वाससां च महामतिः ॥२॥
प्रतिश्रयान्सभाः कुर्यात्प्रपाः पुष्करिणीस्तथा । नित्यकादीनि कर्माणि करोति प्रयतः शुचिः ॥३॥
आसनं शयनं यानं गृहं रत्नं धनं तथा । सस्यजातानि [2]सर्वाणि सक्षेत्राण्यथ योषितः ॥४॥

प्राप्त करता है । यदि कदाचित् वह मनुष्यलोक में उत्पन्न होता है तो हर्ष से समस्त सुखों का भोग करता है । सुकर्मी, सदाचारी तता जीवहिंसारहित दीर्घायु मनुष्यों का यह मार्ग ब्रह्मा द्वारा निर्दिष्ट है ॥४६-५६॥

श्रीब्राह्ममहापुराण में धर्मनिरूपण नामक दो सौ चौवीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२२४॥

अध्याय २२५

शिव-पार्वती के संवाद में देवलोक की प्राप्ति का कारण बताना

पार्वती बोलीं—कैसे स्वभाव तथा आचरण वाला पुरुष किन कर्मों से या किस दान से स्वर्ग-प्राप्ति करता है ? ॥१॥

शिव बोले—देवी ! जो मनुष्य ब्राह्मणों का आदर करता है, दीन-दुखियों को भक्ष्य-भोज्य आदि अन्न, पान तथा वस्त्र देता है, लोगों को आश्रय देता है, प्याऊ, पोखरा आदि खुदवाता है, पवित्रतापूर्वक नित्यकर्म आदि करता है और शान्त चित्त से लोगों को आसन, शय्या, सवारी, घर, रत्न, धन, धान्यसम्पन्न खेत तथा स्त्रियाँ

१क. ०नान्धकृ० । २ख. ०णि सुक्षे० ।

सुप्रशान्तमना नित्यं यः प्रयच्छति मानवः । एवंभूतो नरो देवि देवलोकेऽभिजायते ।।५।।
[१]तत्रोष्य सुचिरं कालं भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् । सहाप्सरोभिर्मुदितो रमित्वा नन्दनादिषु ।।६।।
तस्माच्च्युतो महेशानि मानुषेषूपजायते । महाभागकुले देवि [२]धनधान्यसमाचिते ।।७।।
तत्र कामगुणैः सर्वैः समुपेतो मुदाऽन्वितः । [३]महाकार्यो महाभागो धनी भवति मानवः ।।८।।
एते देवि महाभागाः प्राणिनो दानशालिनः[४] । ब्रह्मणा वै पुरा प्रोक्ताः सर्वस्य प्रियदर्शनाः ।।९।।
अपरे मानवा देवि प्रदानकृपणा द्विजाः । येऽन्नानि न प्रयच्छन्ति विद्यमानेऽप्यबुद्धयः ।।१०।।
दीनान्धकृपणान्दृष्ट्वा भिक्षुकानतिथीनपि । याच्यमाना निवर्तन्ते जिह्वालोभसमन्विताः ।।११।।
न धनानि न वासांसि न भोगान्न च काञ्चनम् । न गाश्च नान्नविकृतिं प्रयच्छन्ति कदाचन ।।१२।।
अप्रलुब्धाश्च[५] ये लुब्धा नास्तिका दानवर्जिताः । एवं भूता नरा देवि निरयं यान्त्यबुद्धयः ।।१३।।
ते वै मनुष्यतां यान्ति यदा कालस्य पर्ययात् । धनरिक्ते कुले जन्म लभन्ते स्वल्पबुद्धयः ।।१४।।
क्षुत्पिपासापरीताश्च सर्वलोकबहिष्कृताः । निराशाः सर्वभागेभ्यो जीवन्त्यधर्मजीविकाः ।।१५।।
अल्पभोगकुले जाता अल्पभोगरता नराः । अनेन कर्मणा देवि भवन्त्यधनिनो नराः ।।१६।।
अपरे दम्भिनो नित्यं मानिनः परतो रताः । आसनार्हस्यये पीठं न यच्छन्त्यल्पचेतसः ।।१७।।
मार्गार्हस्य च ये मार्गं न प्रयच्छन्त्यबुद्धयः । अर्घार्हान्न च संस्कारैरर्चयन्ति यथाविधि ।।१८।।

देता है, वह देवलोक में जन्म लेता है ।।३-५।। प्रिये ! वह देवलोक में चिरकाल तक उत्तम भोगों को भोगकर नन्दन वन आदि स्थानों में अप्सराओं के साथ रमण कर स्वर्गच्युत होने पर मनुष्ययोनि में आता है ।।६।। देवी ! यहाँ भी वह किसी धनधान्यसम्पन्न महाभाग्यवान् के कुल में जन्म लेकर समस्त गुणों से युक्त, महाकार्यशील, महायोगी तथा धनी मनुष्य होता है ।।७-८।। देवी ! ब्रह्मा ने कहा है कि वे दानशील, महाभाग्यवान् प्राणी सबके प्रिय होते हैं ।।९।। जो मनुष्य दान करने में कृपण हैं, जो दुर्बुद्धि मनुष्य अन्न रहने पर भी दान नहीं करते हैं, जो दीन, अन्धे, दुःखी, भिक्षुक तथा अतिथियों के माँगने पर भी उनकी रसनेन्द्रिय को तृप्त नहीं करते हैं, जो वस्त्र, भोग-पदार्थ, सुवर्ण, गाय तथा अन्न नहीं देते हैं, जो लोभी, नास्तिक तथा दानवर्जित हैं, वे सब बुद्धिहीन मनुष्य नरक जाते हैं ।।१०-१३।। वे जब काल की गति से मनुष्य-योनि में आते हैं तब उन अल्पबुद्धियों का जन्म दरिद्रकुल में होता है । वहाँ वे भूख-प्यास से व्याकुल, लोगों से बहिष्कृत, समस्त भोगों से वंचित तथा अधर्मपूर्वक जीवन बिताने वाले होते हैं।।१४-१५।। देवी ! ऐसे कर्मों के द्वारा मनुष्य अल्पभोग भोगने वाले कुल में जन्म लेकर दरिद्रता से जीवन बिताते हैं ।।१६।। जो मनुष्य दम्भ तथा अभिमान करते हैं, जो दुर्बुद्धि आसन देने योग्य पुरुष को आसन नहीं देते हैं, जो बुद्धिहीन मार्ग देने योग्य व्यक्ति को मार्ग नहीं देते हैं, जो अर्घ चढ़ाये जाने योग्य व्यक्ति को पाद्य-आचमनीय नहीं देते हैं तथा उनकी पूजा नहीं करते हैं, जो प्रेम से गुरु की वन्दना नहीं करते हैं, जो लोभ

---

[१]ख. तत्रान्ते सु० । [२]क.ख. ०समन्वितः । त० । [३] ०कायो म० । [४]ग. देवशीलिनः । [५]क. ०प्रलभ्याश्च ।

पाद्यमाचमनीयं वा प्रयच्छन्त्यभिबुद्धयः । शुभं चाभिमतं प्रेम्णा गुरुं नाभिवदन्ति ये ॥१९॥
अभिमानप्रवृद्धेन लोभेन[1] सममास्थिताः । संमान्यांश्चावमन्यन्ते[2] वृद्धान्परिभवन्ति च ॥२०॥
एवंविधा नरा देवि सर्वे निरयगामिनः । ते चेद्यदि नरास्तस्मान्निरयादुत्तरन्ति च ॥२१॥
[3]वर्षपूगैस्ततो जन्म लभन्ते कुत्सिते कुले । श्वपाकपुल्कसादीनां कुत्सितानामचेतसाम् ॥२२॥
कुलेषु तेऽभिजायन्ते गुरुवृद्धोपतापिनः । न दम्भी[4] न च मानी यो देवतातिथिपूजकः ॥२३॥
लोकपूज्यो नमस्कर्ता प्रसूतो मधुरं वचः । सर्वकर्मप्रियकरः सर्वभूतप्रियः सदा ॥२४॥
अद्वेषी सुमुखः श्लक्ष्णः स्निग्धवाणीप्रदः सदा । स्वागतेनैव सर्वेषां भूतानामविहिंसकः ॥२५॥
यथार्थं सत्क्रियापूर्वमर्चयन्नवतिष्ठते । मार्गार्हाय ददन्मार्गं गुरुमभ्यर्चयन्सदा ॥२६॥
अतिथिप्रग्रहरतस्तथाऽभ्यागतपूजकः । एवंभूतो नरो देवि स्वर्गतिं प्रतिपद्यते ॥२७॥
ततो [5]मानुष्यमासाद्य विशिष्टकुलजो भवेत् । तत्रासौ विपुलैर्भोगैः सर्वरत्नसमायुतः ॥२८॥
यथार्हदाता[6] चार्हेषु धर्मचर्यापरो भवेत् । संमतः सर्वभूतानां सर्वलोकनमस्कृतः ॥२९॥
स्वकर्मफलमाप्नोति स्वयमेव नरः सदा । एष धर्मो मया प्रोक्तो विधात्रा[7] स्वयमीरितः ॥३०॥
यस्तु रौद्रसमाचारः सर्वसत्त्वभयंकरः । हस्ताभ्यां यदि वा पद्भ्यां रज्ज्वा दण्डेन वा पुनः ॥३१॥
लोष्टैः स्तम्भैरुपायैर्वा जन्तून्बाधेत शोभने । हिंसार्थं निष्कृतिप्रज्ञः प्रोद्वेजयति चैव हि ॥३२॥

तथा अभिमान से युक्त होकर माननीय व्यक्तियों का अपमान करते हैं और वृद्धों की निन्दा करते हैं, वे सब नरक जाते हैं ॥१७-२०½॥ देवी ! वे मनुष्य जब नरकों से निकलते हैं तब निन्दित कुल में जन्म लेते हैं । गुरु तथा वृद्ध को सताने वाले मनुष्य निन्दित चित्त वाले चाण्डाल, म्लेच्छ आदि योनियों में जन्म लेते हैं ॥२१-२२½॥ जो मनुष्य न दम्भ करते हैं, न अभिमान करते हैं, देवता अतिथियों की पूजा करते हैं, लोगों को नमस्कार करते हैं, मधुर वचन बोलते हैं, समस्त शुभ कर्मों को करते हैं, सदा सब प्राणियों का हित करते हैं, किसी से द्वेष नहीं करते हैं, प्रसन्न रहते हैं स्नेह-युक्त कोमल वाणी बोलते हैं, किसी की हिंसा नहीं करते हैं, सबका स्वागत करते हैं, सत्क्रिया करते हैं, मार्ग देने योग्य व्यक्ति को मार्ग देते हैं, गुरु की पूजा करते हैं और अतिथि-अभ्यागतों की सेवा करते हैं, वे मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करते हैं ॥२३-२७॥ तदनन्तर वे मनुष्ययोनि में विशिष्ट कुल में जन्म लेते हैं । वहाँ समस्त रत्नों से युक्त होकर विपुल भोगों को भोगते हैं और धर्मचर्या में निरत रहते हुए योग्य व्यक्तियों को समुचित दान देते हैं । लोग उनका सम्मान करते हैं ॥२८-२९॥ मनुष्य स्वयं अपने किये कर्मों का फल भोगता है । स्वयं ब्रह्मा का बतलाया हुआ यह धर्म मैंने तुमसे कह दिया ॥३०॥ सुन्दरी ! जो भयंकर कर्म करता है, हाथों से, पैरों से, रस्सी से, लाठी से, ढेलों से, खम्भों से तथा अन्य उपायों से जीवों को कष्ट देता है, मन में हिंसा की भावना रखता है, लोगों को

---

[1]क. ०न सुसमन्विताः । [2]ख. ०न्ते विन्प्रान्प्र० । [3]क. ०पूगांस्त० । [4]क. ख. स्तम्भी । [5]क. ख. ०माविश्य वि० । [6]क. ०थार्हं सर्ववर्णेषु ब्रह्मचर्यप० । [7]ख. ०त्रा च यमादिभिः । य० ।

उपक्रामति जन्तूंश्च उद्वेगजननः[1] सदा । एवं शीलसमाचारो निरयं प्रतिपद्यते ॥३३॥
स चेन्मनुष्यतां [2]गच्छेद्यदि कालस्य पर्ययात् । बह्वाबाधापरिक्लिष्टे कुले जयति सोऽधमे ॥३४॥
[3]लोकद्विष्टोऽधमः पुंसां स्वयं कर्मकृतैः फलैः । एष देवि मनुष्येषु बोद्धव्यो ज्ञातिबन्धुषु ॥३५॥
अपरः सर्वभूतानि दयावाननुपश्यति । मैत्री दृष्टिः पितृसमो निर्वैरो नियतेन्द्रियः[4] ॥३६॥
नोद्वेजयति भूतानि न[5] च हन्ति दयापरः । हस्तपादैश्च नियतैर्विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ॥३७॥
न रज्ज्वा न च दण्डेन न लोष्टैर्नाऽऽयुधेन च । उद्वेजयति भूतानि शुभकर्मा दयापरः ॥३८॥
एवं शीलसमाचारः स्वर्गे समुपजायते । तत्रासौ भवने दिव्ये मुदा वसति देववत् ॥३९॥
स [6]चेत्स्वर्गक्षयान्मर्त्यो मनुष्येषूपजायते । अल्पायासो निरातङ्कः स जातः सुखमेधते ॥४०॥
सुखभागी निरायासो निरुद्वेगः सदा नरः । एष देवि सतां मार्गो [7]बाधा यत्र न विद्यते ॥४१॥

उमोवाच

इमे मनुष्या [8]दृश्यन्ते ऊहापोहविशारदाः । ज्ञानविज्ञानसंपन्नाः प्रज्ञावन्तोऽर्थकोविदाः ॥४२॥
दुष्प्रज्ञाश्चापरे देव ज्ञानविज्ञानवर्जिताः । केन कर्मविपाकेन प्रज्ञावान्पुरुषो भवेत् ॥४३॥
अल्पप्रज्ञो विरूपाक्ष कथं भवति मानवः । एवं त्वं संशयं छिन्धि सर्वधर्मभृतां वर ॥४४॥

उद्विग्न करता है तथा जन्तुओं का दमन करता है, वह स्वभाव तथा आचरण से दूषित व्यक्ति नरक जाता है ॥३१-३३॥ यदि कालक्रम से वह मनुष्ययोनि में आता है तो अनेक बाधाओं से परिपीडित नीच कुल में जन्म लेता है। लोग उससे द्वेष करते हैं। इस प्रकार वह अधम मनुष्य अपने कर्मों का फल पाता है। देवी ! मनुष्यों को सबके साथ भाई-बन्धुओं की तरह व्यवहार करना चाहिये ॥३४-३५॥ जो समस्त प्राणियों पर दया करता है, पिता के समान भाव रखता है, सबको मित्रता की दृष्टि से देखता है, किसी से वैर नहीं करता है, इन्द्रियों को वश में रखता है, प्राणियों को उद्विग्न नहीं करता है, हाथ-पैरों से किसी को कष्ट नहीं देता है, सबका विश्वासपात्र बनकर रहता है, रस्सी, लाठी, ढेले तथा हथियारों से किसी को हानि नहीं पहुँचाता है और दयायुक्त होकर शुभ कर्म करता है, वह सुन्दर स्वभाव तथा आचरण वाला व्यक्ति स्वर्ग जाता है ॥३६-३८½॥ वहाँ वह दिव्य भवन में देवता की तरह हर्ष से रहता है। यदि वह मनुष्य स्वर्गच्युत होने पर मनुष्ययोनि में आता है तो बिना कष्टपरिश्रम से सुखपूर्वक जीवन बिताता है ॥३९-४०॥ उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती, परिश्रम नहीं करना पड़ता, बल्कि सुख ही सुख मिलता रहता है। देवी ! यही सज्जनों का मार्ग है, जहाँ कोई बाधा नहीं होती ॥४१॥

उमा बोली—देव ! कोई मनुष्य तो तर्क-वितर्क करने में विशारद, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, बुद्धिमान् तथा तत्त्व के ज्ञाता होते हैं और कोई ज्ञान-विज्ञान से रहित मूर्ख होते हैं। तीन नेत्र वाले ! (अब कहिये) किस कर्म के परिणाम से पुरुष विद्वान् होता है और किस कर्म के फल से मूर्ख होता है ? समस्त धर्मधारियों में श्रेष्ठ !

---

[1] क. ०द्वेजनपरः स० । [2] क. ०च्छेत्कदाचित्कालप० । [3] क. ०कद्वेष्योऽध० । [4] क. विजितेन्द्रियः । [5] ग. न वै हेठयते सदा । ह० । [6] ख. चेच्छया मर्त्यलोके मर्त्यो । [7] ग. वन्धो । [8] क. ०न्ते महोत्साहा महाबलाः । दु० ।

जात्यन्धाश्चापरे देव रोगार्ताश्चापरे तथा । नराः क्लीबाश्च दृश्यन्ते कारणं ब्रूहि तत्र वै ॥४५॥

महेश्वर उवाच

ब्राह्मणान्वेदविदुषः सिद्धान्धर्मविदस्तथा । परिपृच्छन्त्यहरहः कुशलाकुशलं सदा ॥४६॥
वर्जयन्तोऽशुभं कर्म सेवमानाः शुभं तथा । लभन्ते स्वर्गतिं नित्यमिह लोके यथासुखम् ॥४७॥
स चेन्मनुष्यतां याति मेधावी तत्र जायते । श्रुतं [1]यज्ञानुगं यस्य कल्याणमुपजायते ॥४८॥
परदारेषु ये चापि [2]चक्षुर्दुष्टं प्रयुञ्जते । तेन दुष्टस्वभावेन जात्यन्धास्ते भवन्ति हि ॥४९॥
मनसाऽपि प्रदुष्टेन नग्नां पश्यन्ति ये स्त्रियम् । रोगार्तास्ते भवन्तीह[3] नरा दुष्कृतकारिणः ॥५०॥
ये तु मूढा दुराचारा वियोनौ मैथुने रताः । पुरुषेषु सुदुष्प्रज्ञाः क्लीबत्वमुपयान्ति ते ॥५१॥
पशूंश्च ये वै बध्नन्ति ये चैव गुरुतल्पगाः । प्रकीर्णमैथुना ये च क्लीबा जायन्ति वै नराः ॥५२॥

उमोवाच

अवद्यं किं तु वै कर्म निरवद्यं तथैव च । श्रेयः कुर्वन्नवाप्नोति मानवो देवसत्तम ॥५३॥

महेश्वर उवाच

श्रेयांसं मार्गमन्विच्छन्सदा यः पृच्छति द्विजान् । धर्मान्वेषी गुणाकाङ्क्षी स स्वर्गं समुपाश्नुते ॥५४॥

इसे संशय को आप दूर कीजिये । कोई मनुष्य तो जन्मान्ध होते हैं और कोई रोगी तथा नपुंसक होते हैं । इसका क्या कारण हैं ? मुझे वतलाइये ॥४२-४५॥

महेश्वर बोले—जो मनुष्य वेदवत्ता व्राह्मणों, सिद्धों तथा धर्मज्ञों से प्रतिदिन कुशल-समाचार पूछते हैं और अशुभकर्मों का त्याग कर शुभ कर्म करते हैं, वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं और इस लोक में सुख भोगते हैं । वे यदि मनुष्य-योनि में जन्म लेते हैं तो मेधावी, यज्ञकर्ता तथा श्रुतिवेत्ता होते हैं । उन्हें सुख-सौभाग्य प्राप्त होता है । जो परस्त्रियों पर कुदृष्टि डालते हैं, वे दुष्टस्वभाव के कारण जन्मान्ध होते हैं । जो मनुष्य दूषित मन से भी नग्न स्त्रियों को देखते है, वे पापी तथा रोगी होते हैं । जो मूर्ख तथा सदाचारी मनुष्य मनुष्येतर योनि में मैथुन करते है, वे नपुंसक होते हैं । जो मनुष्य पशुओं को वाँधते हैं, जो गुरुपत्नीगमन करते हैं, जो अत्यधिक मैथुन करते हैं, वे नपुंसक होते हैं ॥४६-५२॥

उमा बोलीं—देवों में श्रेष्ठ ! कौन ऐसा अनिन्द्य तथा उत्तम कर्म है, जिसके करने से मनुष्य का कल्याण होता है ? ॥५३॥

महेश्वर ने कहा—जो धर्मान्वेषी तथा गुणाकांक्षी मनुष्य सदा व्राह्मणों से कल्याण का मार्ग पूछते रहते हैं,

---

[1]ग. प्रश्नानुगं । [2]ग. ०क्षुर्द्रष्टुं प्र० । [3]ख. ०वन्त्येव परदारप्रदर्शनात् । ये० ।

यदि मानुष्यतां देवि कदाचित्संनियच्छति । मेधावी धारणायुक्तः प्राज्ञस्तत्रापि जायते ।।५५।।
एष देवि सतां धर्मो गन्तव्यो भूतिकारकः । नृणां हितार्थाय सदा मया चैवमुदाहृतः ।।५६।।

उमोवाच

अपरे स्वल्पविज्ञाना धर्मविद्वेषिणो नराः । ब्राह्मणान्वेदविदुषो नेच्छन्ति परिसर्पितुम् ।।५७।।
व्रतवन्तो नराः केचिच्छ्रद्धादमपरायणाः । अव्रता भ्रष्टनियमास्तथाऽन्ये राक्षसोपमाः ।।५८।।
यज्वानश्च तथैवान्ये निर्मोहाश्च तथा परे । केन कर्मविपाकेन भवन्तीह वदस्व मे ।।५१।।

महेश्वर उवाच

आगमालोकधर्माणां मर्यादाः पूर्वनिर्मिताः । प्रमाणेनानुवर्तन्ते दृश्यन्ते ह दृढव्रताः ।।६०।।
अधर्मं धर्ममित्याहुर्ये च मोहवशं गताः । अव्रता नष्टमर्यादास्ते नरा ब्रह्मराक्षसाः ।।६१।।
ये वै कालकृतोद्योगात्संभवन्तीह मानवाः । निर्होमा निर्वषट्कारास्ते भवन्ति नराधमाः ।।६२।।
एष देवि मया सर्वसंशयच्छेदनाय ते । कुशलाकुशलो नृणां व्याख्यातो धर्मसागरः ।।६३।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे उमामहेश्वरसंवादे धर्मनिरूपणं नाम
पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२२५।।

वे स्वर्ग का भोग करते हैं। देवी ! यदि कदाचित् वह मनुष्य-योनि में जन्म लेता है तो धारणायुक्त विद्वान् होता है। देवी ! यही सज्जनों का कल्याणकारक धर्म है। मनुष्यों के हित के लिये मैंने यह वतला दिया ।।५४-५६।।

उमा बोलीं—कोई मनुष्य अल्पज्ञानी, धर्मविद्वेषी तथा वेदवेत्ता ब्राह्मणों के अपमान करने वाले होते हैं। कोई मनुष्य व्रती, श्रद्धालु तथा इन्द्रियों का दमन करने वाले होते हैं। कोई व्रत तथा नियमों से च्युत होकर राक्षस के समान होते हैं। कोई यज्ञकर्त्ता तथा निर्मोही होते हैं। किस कर्म के परिणाम से ये ऐसे होते हैं ? मुझे वतलाये ।।५७-५९।।

महेश्वर बोले—वेद, शास्त्र एवं धर्मों की मर्यादा पहिले ही निर्मित है। दृढ़व्रती मनुष्य इसी के अनुसार बरतते हैं। जो मनुष्य मोह में पड़कर अधर्म को धर्म मानता है और व्रत तथा मर्यादा को भंग करता है, वह ब्रह्मराक्षस होता है। जो मनुष्य काल की प्रेरणा से निर्मोही तथा वषट्कार (यज्ञ) से शून्य होते हैं, वे नराधम होते हैं। देवी ! तुम्हारा संशय मिटाने के लिये मनुष्यों के कल्याण-अकल्याण रूपी धर्म-समुद्र का वर्णन किया गया ।।६०६३।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में धर्मनिरूपण नामक दो सौ पचीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२२५।।

अथ षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मुनिमहेश्वरसंवादे वासुदेवमहिमवर्णनम्

व्यास उवाच

श्रुत्वैवं सा जगन्माता भर्तुर्वचनमादितः । हृष्टा बभूव सुप्रीता विस्मिता च तदा द्विजः ॥१॥
ये तत्राऽऽसन्मुनिवरास्त्रिपुरारेः समीपतः । तीर्थयात्राप्रसङ्गेन गतास्तस्मिन्गिरौ द्विजाः ॥२॥
तेऽपि संपूज्य तं देवं शूलपाणिं प्रणम्य च । पप्रच्छुः संशयं चैव लोकानां हितकाम्यया ॥३॥

मुनय ऊचुः

त्रिलोचन नमस्तेऽस्तु दक्षक्रतुविनाशन । पृच्छामस्त्वां जगन्नाथ संशयं हृदि संस्थितम् ॥४॥
संसारेऽस्मिन्महाघोरे भैरवे लोमहर्षणे । भ्रमन्ति सुचिरं कालं पुरुषाश्चाल्पमेधसः ॥५॥
येपोपायेन मुच्यन्ते[1] जन्मसंसारबन्धनात् । ब्रूहि तच्छ्रोतुमिच्छामः परं कौतूहलं हि नः ॥६॥

महेश्वर उवाच

कर्मपाशनिबद्धानां नराणां दुःखभागिनाम् । नान्योपायं प्रपश्यामि वासुदेवात्परं द्विजाः ॥७॥
ये पूजयन्ति तं देवं शङ्खचक्रगदाधरम् । वाङ्मनःकर्मभिः सम्यक्ते यान्ति परमां[2] गतिम् ॥८॥
किं तेषां जीवितेनेह पशुवच्चेष्टितेन च । येषां न प्रवणं चित्तं वासुदेवे जगन्मये ॥९॥

अध्याय २२६

शिव और मुनियों के संवाद में वासुदेव की महिमा का वर्णन

व्यास ने कहा—द्विजगण ! स्वामी के वचन को आदि से सुनकर जगन्माता पार्वती अत्यन्त प्रसन्न तथा विस्मित हुई । उस समय शिव के पास बैठे हुए मुनिवृन्द, जो तीर्थ-यात्रा की कामना से उस पर्वत पर गये हुए थे, त्रिशूलधारी शंकर को प्रणाम करके लोगों के कल्याण के निमित्त उनसे संदेह पूछने लगे ॥१-३॥

मुनियों ने कहा—तीन नेत्र वाले ! दक्षयज्ञविनाशन ! आपको नमस्कार है । जगन्नाथ ! हम अपने हृदय का संदेह आपसे पूछते हैं । महाभयंकर तथा रोमाञ्चकारी इस दारुण संसार में अल्प बुद्धि वाले पुरुष चिरकाल तक भ्रमण करते हैं । वे किस उपाय से जन्मरूपी संसारबन्धन से मुक्त होंगे, वह बतलाइये । उसे सुनने के लिये हमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥४-६॥

महेश्वर ने कहा—द्विजवृन्द ! कर्म-जाल में फँसे दुःखी मनुष्यों के लिये वासुदेव से बढ़कर दूसरा उपाय तो मुझे नहीं दीखता है । जो मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा उस शंख-चक्र-गदाधारी देव की पूजा करते हैं, वे परम गति को पाते हैं । जिस मनुष्य का चित्त संसार रूप वासुदेव में नहीं लगता है, उसका जीवन व्यर्थ है, उसकी सारी क्रियायें पशु की तरह होती हैं ॥७-९॥

---

[1] क. ०न्ते ततः सं० । [2] क. ०रमं पदम् ।

ऋषय ऊचुः

पिनाकिन्भगनेत्रघ्न सर्वलोनमस्कृत । माहात्म्यं वासुदेवस्य श्रोतुमिच्छाम शंकर ॥१०॥

महेश्वर उवाच

पितामहादपि वरः शाश्वतः पुरुषो हरिः । कृष्णो जाम्बूनदाभासो व्यभ्रे सूर्य इवोदितः ॥११॥
दशबाहुर्महातेजा [1]देवतारिनिषूदनः । श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः [2]सर्वदैवतयूथपः ॥१२॥
ब्रह्म तस्योदरभवस्तस्याहं च शिरोभवः । शिरोरुहेभ्यो ज्योतींषि रोमभ्यश्च सुरासुराः ॥१३॥
ऋषयो देहसंभूतास्तस्य लोकाश्च शाश्वताः । पितामहगृहं साक्षात्सर्वदेवगृहं च सः ॥१४॥
सोऽस्याः पृथिव्याः कृत्स्नायाः स्रष्टा त्रिभुवनेश्वरः । संहर्ता चैव भूतानां स्थावरस्य चरस्य च ॥१५॥
स हि [3]देवदेवः साक्षाद्देवनाथः परंतपः । सर्वज्ञः सर्वसंस्रष्टा सर्वगः सर्वतोमुखः ॥१६॥
न तस्मात्परमं भूतं त्रिषु लोकेषु किंचन । सनातनो महाभागो गोविन्द इति विश्रुतः ॥१७॥
स सर्वान्पार्थिवान्संख्ये घातयिष्यति मानदः । सुरकार्यार्थमुत्पन्नो मानुष्यं वपुरास्थितः ॥१८॥
न हि देवगणाः शक्तास्त्रिविक्रमविनाकृताः । भवने देवकार्याणि कर्तुं नायकवर्जितः ॥१९॥
नायकः सर्वभूतानां सर्वभूतनमस्कृतः । एतस्य देवनाथस्य कार्यस्य च परस्य च ॥२०॥
ब्रह्मभूतस्य सततं ब्रह्मर्षिशरणस्य च । ब्रह्मा वसति नाभिस्थः शरीरेऽहं च संस्थितः ॥२१॥

ऋषियों ने कहा—पिनाक नामक धनुषधारी ! भग देवता के नेत्र फोड़ने वाले ! सव लोगों के वन्दनीय! शंकर ! वासुदेव का माहात्म्य हम सुनना चाहते हैं ॥१०॥

महेश्वर ने कहा—नित्य पुरुष वह हरि ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ हैं। सुवर्ण के समान कान्ति वाले कृष्ण उदयकालीन सूर्य के समान सुशोभित होते हैं ॥११॥ उनकी दस भुजायें हैं। वे महातेजस्वी तथा देवताओं के शत्रुओं के नाशक हैं। उनके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिह्न सुशोभित है। इन्द्रियों पर उनका अधिकार है। वे समस्त देवों के अधिनायक हैं॥१२॥ ब्रह्मा उनके पेट से उत्पन्न हुए हैं। मैं उनके शिर से उत्पन्न हुआ हूँ। उनके शिर के वालों से नक्षत्रगण तथा रोओं से सुर-असुर उत्पन्न हुए हैं॥१३॥ उनकी देह से ऋषि-समूह की उत्पत्ति हुई है। उनके लोक नित्य हैं। वे ब्रह्मा तथा समस्त देवों के आश्रय हैं॥१४॥ वे तीनों भुवन के ईश्वर हैं तथा सकल पृथ्वी के सृष्टिकर्ता हैं। स्थावर-जंगम के नाशकर्त्ता भी वे ही हैं॥१५॥ वे देवों के देव, देव-नाथ, शत्रुओं के तपाने वाले, सर्वज्ञ, सव के स्रष्टा, सर्वगामी और सव ओर मुख वाले हैं॥१६॥ तीनों लोक में उनसे वढ़कर कोई या कुछ नहीं है। वे सनातन, महाभाग, तथा गोविन्द नाम से प्रख्यात हैं॥१७॥ वे सम्मान-दाता पुरुष देव-कार्य के लिये मनुष्य-शरीर धारण कर युद्ध में राजाओं को मारते हैं॥१८॥ विना उनके देवगण कुछ नहीं कर पाते हैं। देवताओं के कार्य के निमित्त उन्हें किसी नायक की आवश्यकता नहीं पड़ती है॥१९॥ वे समस्त प्राणियों के नायक तथा सर्वपूज्य हैं। वे देवताओं के स्वामी ब्रह्मभूत तथा ब्रह्मर्षियों के रक्षक हैं। उनकी नाभि में ब्रह्मा तथा शरीर में मैं वास करता हूँ। उनके शरीर में समस्त देवगण सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥२०-२१$\frac{१}{३}$॥ वे देव कमललोचन श्रीगर्भ, लक्ष्मीरमण, चक्र-धनुष-खड्ग-

---

१क. देवनामरिसूद०। २ग० ०तपूजकः। ब्र। ३क. देवः परः सोऽपि देवानां च प०।

सर्वाः सुखं संस्थिताश्च शरीरे तस्य देवताः । स देवः पुण्डरीकाक्षः श्रीगर्भः श्रीसहोषितः ॥२२॥
शार्ङ्गचक्रायुधः खड्गी सर्वनागरिपुध्वजः । उत्तमेन सुशीलेन शौचेन च दमेन च ॥२३॥
पराक्रमेण वीर्येण वपुषा दर्शनेन च । आरोहणप्रमाणेन वीर्येणार्जवसंपदा॥२४॥
[1]आनृशंस्येन रूपेण बलेन च समन्वितः । अस्त्रैःसमुदितः सर्वैर्दिव्यैरद्भुतदर्शनैः ॥२५॥
योगमायासहस्राक्षो विरूपाक्षो महामनाः[2] । वाचा मित्रजनश्लाघी ज्ञातिबन्धुजनप्रियः ॥२६॥
क्षमावांश्चानहंवादी स देवो ब्रह्मदायकः[3] । भयहर्ता भयार्तानां [4]मित्रानन्दविवर्धनः ॥२७॥
शरण्यः सर्वभूतानां दीनानां पालने रतः । श्रुतवानथ संपन्नः सर्वभूतनमस्कृतः ॥२८॥
समाश्रितानामुपकृच्छत्रूणां[5] भयकृत्तथा । नीतिज्ञो नीतिसंपन्नो ब्रह्मवादी जितेन्द्रियः॥२९॥
[6]भवार्थमेव देवानां बुद्ध्या परमया युतः । प्राजापत्ये शुभे मार्गे मानवे धर्मसंस्कृते ॥३०॥
समुत्पत्स्यति गोविन्दो मनोर्वंशे महात्मनः । [7]अंशो नाम मनोः पुत्रो ह्यन्तर्धामा ततः परम् ॥३१॥
अन्तर्धाम्नो हविर्धामा प्रजापतिरनिन्दितः । प्राचीनबर्हिर्भविता हविर्धाम्नः सुतो द्विजाः ॥३२॥
तस्य प्रचेतःप्रमुखा भविष्यन्ति दशाऽऽत्मजाः[8] । प्राचेतसस्तथा दक्षो भवितेह प्रजापतिः ॥३३॥
दाक्षायण्स्तथाऽऽदित्यो मनुरादित्यतस्ततः । मनोश्च वंशज इला सुद्युम्नश्च भविष्यति॥३४॥
बुधात्पुरूरवाश्चापि तस्मादायुर्भवियति । नहुषो भविता तस्माद्ययातिस्तस्य चाऽऽत्मजः ॥३५॥
यदुस्तस्मान्महासत्त्वः क्रोष्टा तस्माद्भविष्यति । [9]क्रोष्टुश्चैव महान्पुत्रो वृजिनीवान्भविष्यति ॥३६॥

धारी और गरूडध्वज कहलाते हैं। वे उत्तम शील, शौच, दम, पराक्रम, शक्ति, दर्शनीय शरीर, अपरिमित विर्य, ऋजुता,(सीधापन) सौम्य रूप तथा वल से युक्त हैं। उन्हें सव प्रकार के आश्चर्यजनक दिव्य अस्त्र प्राप्त हैं। योगमाया के वे आश्रय हैं। वे महामना सहस्रनेत्रधारी तथा विरूपाक्ष कहलाते हैं। वाणी से वे मित्रों के श्लाघनीय हैं तथा भाई-वन्धुओं के प्रिय हैं। वे देव क्षमावान्, अभिमानशून्य, ज्ञानदाता, भयपीडितों के भयहर्ता, मित्रों का आनन्द बढ़ाने वाले, सवके रक्षक, दीनों के पालन में निरत, वेदवेत्ता, संपन्न, समस्त प्राणियों से नमस्कृत, आश्रितों के उपकारी, शत्रुओं के लिए भयकारी, नीतिज्ञ, नीतिसंपन्न, ब्रह्मवादी तथा जितेन्द्रिय हैं ॥२२-२९॥ देव-कार्य के लिये परम वुद्धि से युक्त होकर गोविन्द मनु सम्वन्धी प्रजापति के धर्मपूत शुभ मार्ग का अनुगमन करते हुए महात्मा मनु के वंश में उत्पन्न होंगे। मनु के अंश नामक पुत्र होगा। अंश के अन्तर्धाम और अन्तर्धाम के अनिन्द्य प्रजापति हविर्धाम उत्पन्न होगा। हविर्धाम का पुत्र प्राचीन वर्हिस् होगा ॥३०-३२॥ उसके प्रचेता आदि दस पुत्र होंगे। प्रचेता का पुत्र दक्ष प्रजापति होगा। दक्ष के आदित्य और आदित्य के मनु नामक पुत्र होगा। मनु के वंशज इला और सुद्युम्न होंगे । वुध से पुरूरवा और उससे आयु की उत्पत्ति होगी। आयु से नहुष और ययाति की उत्पत्ति होगी ॥३३-३५॥ उससे महापराक्रमी यदु और यदु से क्रोष्टा उत्पन्न होगा। क्रोष्टा का महापुत्र वृजिनीवान् होगा ॥३६॥

---

[1]ग. अनृशंसेन। [2]क. ०नाः। वचो मि०। [3]ख. ग. ०ह्यनाय०। [4]ख. ०त्राणां तद्विनाशनः। [5]क. ०त्रूणामपि धर्मवित्। नी०। [6]ख. भवनाशकरः श्रीमान्वुद्ध्या। [7]ख. अंशुर्नाम। ग. अङ्गो। [8]ख. ०जाः। प्रचे०। [9]क. ख. क्रोष्टोश्चै०।

वृजिनीवतश्च भविता[1] [2]उषङ्गुरपराजितः[3] । [4]उषङ्गोर्भविता पुत्रः शूरश्चित्ररथस्तथा ।।३७।।
तस्य त्ववरजः पुत्रः शूरो नाम भविष्यति । तेषां विख्यातवीर्याणां चारित्रगुणशालिनाम् ।।३८।।
यज्विनां च विशुद्धानां वंशे ब्राह्मणसत्तमाः। स शूरः क्षत्रियश्रेष्ठो महावीर्यो महायशाः ।।३९।।
स्ववंशविस्तारकरं जनयिष्यति मानदम्। वसुदेवमिति ख्यातं पुत्रमानकदुन्दुभिम् ।।४०।।
तस्य पुत्रश्चतुर्बाहुवासुदेवो भविष्यति। [5]दाता ब्राह्मणसत्कर्ता ब्रह्मभूतो द्विजप्रियः ।।४१।।
राज्ञो बद्धान्स सर्वान्वै मोक्षयिष्यति यादवः। जरासंधं तु राजानं निर्जित्य गिरिगह्वरे ।।४२।।
सर्वपार्थिवरत्नाढ्यो भविष्यति स वीर्यवान्। पृथिव्यामप्रतिहतो वीर्येणापि भविष्यति ।।४३।।
विक्रमेण च संपन्नः सर्वपार्थिवपार्थिवः। [6]शूरः [7]संहननो [8]भूतो द्वारकायां वसन्प्रभुः ।।४४।।
पालयिष्यति गां देवीं विनिर्जित्य दुराशयान्। तं भवन्तः समासाद्य ब्राह्मणैरर्हणैर्वरैः ।।४५।।
अर्चयन्तु यथान्यायं ब्रह्माणमिव शाश्वतम्। यो हि मां द्रष्टुमिच्छेत ब्रह्माणं च पितामहम् ।।४६
द्रष्टव्यस्तेन भगवान्वासुदेवः प्रतापवान्। दृष्टे तस्मिन्नहं दृष्टो न मेऽत्रास्ति विचारणा ।।४७।।
पितामहो वासुदेव इति वित्त तपोधनाः। स यस्य पुण्डरीकाक्षः प्रीतियुक्तो भविष्यति ।।४८।।
तस्य देवगणः प्रीतो ब्रह्मपूर्वो भविष्यति। यस्तु तं मानवो लोके संश्रयिष्यति केशवम् ।।४९।।
तस्य कीर्तिर्यशश्चैव स्वर्गश्चैव भविष्यति। धर्माणां [9]देशिकः साक्षाद्भविष्यति स [10]धर्मवान् ।।५०।।
धर्मविद्भिः स देवेशो नमस्कार्यः सदाऽच्युतः। धर्म एव सदा हि स्यादस्मिन्नभ्यर्चिते विभौ ।।५१।।

वृजिनीवान् के उपंगु नामक विजयी पुत्र होगा। उपंगु के चित्ररथ नामक वीर पुत्र होगा।।३७।। चित्ररथ का कनिष्ठ शूर नाम से विख्यात होगा। द्विजश्रेष्ठो ! प्रसिद्ध पराक्रमी, सच्चरित्रगुणशाली, यज्ञकर्ता तथा पवित्र राजाओं के वंश में महापराक्रमी तथा महायशस्वी क्षत्रियश्रेष्ठ शूर अपने वंश को वढ़ाने वाले तथा प्रतिष्ठा वाले वसुदेव एवम् आनकदुन्दुभि नाम से ख्यात पुत्र को उत्पन्न करेगा। उसके पुत्र चर्तुभुज वासुदेव होंगे। वासुदेव व्राह्मणों के सम्मान करने वाले, व्रह्मभूत तथा द्विजप्रिय होंगे।।३८-४१।। वे समस्त वद्ध राजाओं को उन्मुक्त करेंगें। पर्वत की गुफा में राजा जरासन्ध को जीतकर शक्तिशाली कृष्ण समस्त पृथ्वी के रत्नों से सम्पन्न होंगे। वे पृथ्वी पर अजेय होंगे।।४२-४३।। वे पराक्रमों से सम्पन्न तथा सव राजाओं के राजा होंगे। द्वारका में वास करते हुए सर्वशक्तिमान् कृष्ण दुष्ट चित्त वाले राजाओं को जीतकर पृथ्वी का पालन करेंगें। उत्तम व्राह्मणों के साथ आप लोग उनके समीप जाकर नित्य व्रह्मा की तरह उनकी उचित सेवा करेंगें।।४४-४५½।। जो मुझे तथा पितामह व्रह्मा को देखना चाहता है, उसे प्रतापी भगवान् वासुदेव को देखना चाहिये। उनके देख लेने पर मैं भी दृष्ट (देखा हुआ) हो जाता हूँ, इसमें सोचने की आवश्यकता नही है।।४६-४७।। जिस पर कमललोचन भगवान् प्रसन्न होते हैं, वही तपस्वी सव कुछ वासुदेवमय है, ऐसा समझता है। जो मनुष्य भगवान् केशव का आश्रय लेता है, उस पर व्रह्मा सहित देवगण प्रसन्न होते हैं। उसका यश वढ़ता है। उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। वह धर्मात्मा साक्षात् धर्म का रूप हो जाता है। धर्मवेत्ताओं को सदा अच्युत भगवान् को नमस्कार करना चाहिये। कृष्ण की पूजा से सदा धर्म ही धर्म होता है।।४८-५१।। उन महा-

---

१क. ०ता ऋष०। २ग ०षद्गुर०। ३क. ०तः। ऋष०। ४ग. ०षद्गोर्भ०। ५ग धाता। ६ग. शूरसं०। ७ख. संनहनो। ८क. भूयान्द्वार। ९ख पोषकः। १०ग. धर्मभाक्।

स हि देवो महातेजाः प्रजाहितचिकीर्षया। धर्मार्थं पुरुषव्याघ्र ऋषिकोटीः ससर्ज च ।।५२।।
ताः सृष्टास्तेन विधिना पर्वते गन्धमादने। सनत्कुमारप्रखास्तिष्ठन्ति तपसाऽन्विताः ।।५३।।
तस्मात्स वाग्गमी धर्मज्ञो नमस्यो द्विजपुंगवाः। वन्दितो हि स वन्देत मानितो मानयीत च ।।५४।।
दृष्टः पश्येदहरहः संश्रितः प्रतिसंश्रयेत्। अर्चितश्चार्चयेन्नित्यं स देवो द्विजसत्तमाः ।।५५।।
एवं तस्यानवद्यस्य विष्णोर्वै परमं तपः। आदिदेवस्य महतः सज्जनाचरितं सदा ।।५६।।
भुवनेऽभ्यर्चितो नित्यं देवैरपि सनातनः। अभयेनानुरूपेण प्रपद्य तमनुव्रताः ।।५७।।
कर्मणा मनसा वाचा स नमस्यो द्विजैः सदा। यत्नवद्विरुपस्थाय द्रष्टव्यो देवकीसुतः ।।५८।।
एष वै विहितो मार्गो मया वैल मुनिसत्तमाः। तं दृष्ट्वा सर्वदेवेशं दृष्टाः स्युः सुरसत्तमाः ।।५९।।
महावराहं तं देवं सर्वलोकपितामहम्। अहं चैव नमस्यामि नित्यमेव जगत्पतिम् ।।६०।।
तत्र च त्रितयं दृष्टं भविष्यति न संशयः। समस्ता हि वयं देवास्तस्य देहे वसामहे ।।६१।।
तस्यैव चाग्रजो भ्राता सिताद्रिनिचयप्रभः[1]। हली बल इति ख्यातो भविष्यति [2] धराधरः ।।६२।।
त्रिशिरास्तस्य देवस्य दृष्टोऽनन्त इति प्रभोः। सुपर्णो यस्य वीर्येण कश्यपस्याऽऽत्मजो बली ।।६३।।
अन्तं नैवाशकद्द्रष्टुं देवस्य परमात्मनः। स च शेषो विचरते परया वै मुदा युतः ।।६४।।
अन्तर्वसति भोगेन परिरभ्य वसुंधराम्। एष विष्णुः सोऽनन्तो भगवान्वसुधाधरः ।।६५।।

तेजस्वी पुरुषपुंगव ने प्रजा की हित-कामना से करोड़ो ऋषियों की सृष्टि की। पर्वत पर भगवान् ने जिनकी सृष्टि की, वे सनत्कुमार आदि मुनि गन्धमादन पर्वत पर तपस्या कर रहे हैं।।५२-५३।। द्विजश्रेष्ठो! इसलिये वे वाग्मी तथा धर्मज्ञ कृष्ण प्रणम्य हैं। वे देव वन्दित होने पर वन्दना करते हैं, सम्मानित होने पर सम्मान करते हैं, दृष्टिगोचर होने पर देखते हैं सेवित होने पर सेवा करते हैं ओर पूजित होने पर नित्य पूजा करते हैं।।५४-५५।।इस प्रकार अनिन्द्य एवं महान् आदिदेव विष्णु का परम तप तथा सर्वदा सज्जनों के अनुकूल आचरण है। ।।५६।। अपने लोक में देवगण भी सनातन कृष्ण की पूजा करते हैं। भगवान् सवको उपासना के अनुरूप अभयदान देते हैं। व्राह्मणों को कर्म, मन, तथा वाणी से कृष्ण को नमस्कार करना चाहिये। यत्नपूर्वक उपासना करके कृष्ण का दर्शन करना चाहिये।।५७-५८।। मुनिवर! इसी मार्ग को मैंने अपनाया है। उन अखिल देवों के स्वामी के दर्शन हो जाने पर समस्त देवों के दर्शन हो जाते हैं।।५९।। मैं भी महावराहरूप, समस्त लोकों के उत्पादक तथा संसार के स्वामी कृष्ण को नित्य नमस्कार करता हूँ।।६०।।उनमें तीनों देवों का दर्शन निःसन्देह होता है। हम सव देवगण उनकी देह में वास करते हैं।।६१।। उन्ही के ज्येष्ठ भ्राता धरणीघर वलराम हैं, जो हल धारण करने वाले तथा स्वच्छ पर्वतराशि की तरह कान्ति वाले हैं। वलराम का नाम अनन्त है। कश्यप पुत्र गरुड़ शक्ति से जिन परमात्मा वलदेव के अन्त को नहीं देख सके, वे शेषावतार वलभद्र परम हर्ष से विचरण करते हैं।।६२-६४।। वे अपनी फणाओं से वसुंधरा को वेष्टित कर पृथ्वी के भीतर वास करते हैं। जो विष्णु हैं, वे ही धरणीधर अनन्त हैं।।६५।। जो वलराम हैं, वे ही सकल पृथ्वीधर अच्युत भगवान् हैं। मनोहर, दिव्य-

---

[1] ख. ०भः। वलभद्र इ०। [2] क. धरातले।

यो रामः स हृषीकेशोऽच्युतः सर्वधराधरः। तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ दिव्यौ दिव्यपराक्रमौ ।।६६।।
द्रष्टव्यौ माननीयौ च चक्रलाङ्गलधारिणौ। एष वोऽनुग्रहः प्रोक्तो मया पुण्यस्तपोधनाः ।।
तद्भवन्तो यदुश्रेष्ठं पूजयेयुः प्रयत्नतः। ।।६७।।

इतिश्रीमहापुराणे आदिब्रह्मे ऋषिमहेश्वरसंवादे षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२२६।।

अथ सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मुनिव्याससंवादे विष्णुपूजाकथनम्

मुनय ऊचुः

अहो कृष्णस्य माहात्म्यं श्रुतमस्माभिरद्भुतम्। सर्वपापहरं पुण्यं धन्यं संसारनाशनम् ।।१।।
संपूज्य विधिवद्भक्त्या वासुदेवं[1] महामुने। कां गतिं यान्ति मनुजा वासुदेवार्चने रताः ।।२।।
किं प्राप्नुवन्ति ते मोक्षं किंवा स्वर्गं महामुने। अथवा किं मुनिश्रेष्ठ प्राप्नुवन्त्युभयं फलम् ।।३।।
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ संशयं नो हृदि स्थितम्। छेत्ता नान्योऽस्ति लोकेऽस्मिस्त्वदृते मुनिसत्तम ।।४।।

व्यास उवाच

साधु साधु मुनिश्रेष्ठा भवद्भिर्यदुदाहृतम्। श्रृणुध्वमानुपूर्व्येण वैष्णवानां सुखावहम् ।।५।।

पराक्रमी, तथा चक्र-हलधारी वे दोनों श्रेष्ठ पुरुष दर्शनीय एवं माननीय हैं। मुनिवृन्द ! यह भगवान् का अनुग्रह समझिये, जो आपने इस रहस्य को मुझसे प्राप्त किया। इसलिये आपलोग यत्नपूर्वक कृष्ण की पूजा करें।।६६-६७।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में मुनि-महेश्वर के संवाद में दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२२६।।

अध्याय २२७

मुनियों और व्यास के संवाद में वासुदेव-पूजन् का वर्णन

मुनियों ने कहा—अहा ! हमने कृण का अद्भुत, सर्वपापहारी, पवित्र, धन्यवादार्ह तथा संसारनाशक माहात्म्य सुन लिया। महामुने ! भक्ति से विधिपूर्वक कृष्ण की पूजा करके वासुदेव की उपासना में निरत मनुष्य किस गति को प्राप्त होते हैं ? उन्हें क्या मिलता है ? स्वर्ग या मोक्ष या दोनों ? सर्वज्ञ ! मेरे हृदय के संदेह को आप मिटा सकते हैं। मुनिश्रेष्ठ ! आपके अतिरिक्त इस लोक में कोई भी संशय का उच्छेद करने वाला नहीं है।।१-४।।

व्यास ने कहा—मुनिवर ! आपने जो कहा, सव ठीक है। अव आप लोग विष्णु-भक्तों को सुख देने वाला उत्तर सुनें। कृष्ण की दीक्षामात्र लेने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त करते हैं। मुनिश्रेष्ठ ! जो सदा भक्तिपूर्वक

---

[1] ग. ०वं सदा मु०।

दीक्षामात्रेण कृष्णस्य नरा मोक्षं व्रजन्ति वै। किं पुनर्ये सदा भक्त्या पूजयन्त्यच्युतं द्विजाः ।।६।।
न तेषां दुर्लभः स्वर्गो मोक्षश्च मुनिसत्तमाः। लभन्ते वैष्णवाः कामान्यान्यान्वाञ्छन्ति [1]दुर्लभान् ।।७।।
रत्नपर्वतमारुह्य नरो रत्नं यथाऽऽददेत्। स्वेच्छया मुनिशार्दूलास्तथा कृष्णान्मनोरथान् ।।८।।
कल्पवृक्षं समासाद्य फलानि स्वेच्छया यथा। गृह्णाति पुरुषो विप्रास्तथा कृष्णान्मनोरथान् ।।९।।
श्रद्धया विधिवत्पूज्य वासुदेवं जगद्गुरुम्। धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्नुवन्ति नराः फलम् ।।१०।।
आराध्य तं जगन्नाथं विशुद्धेनान्तरात्मना। प्राप्नुवन्ति नराः कामान्सुराणामपि दुर्लभान् ।।११।।
येऽर्चयन्ति सदा भक्त्या वासुदेवाख्यमव्ययम्। न तेषां दुर्लभं किंचिद्विद्यते भुवनत्रये ।।१२।।
धन्यास्ते पुरुषा लोके येऽर्चयन्ति सदा हरिम्। सर्वपापहरं देवं सर्वकामफलप्रदम् ।।१३।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः [2]शूद्रान्त्यजातयः। संपूज्य तं सुरवरं प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ।।१४।।
तस्माच्छृणुध्वं मुनयो यत्पृच्छत ममानघाः। प्रवक्ष्यामि समासेन गतिं तेषां महात्मनाम् ।।१५।।
त्यक्त्वा मानुष्यकं देहं रोगायतनमध्रुवम्। जरामरणसंयुक्तं जलबुद्बुदसंनिभम् ।।१६।।
मांसशोणितदुर्गन्धं विष्ठामूत्रादिभिर्युतम्। अस्थिस्थूणममेध्यं च स्नायुचर्मशिरान्वितम् ।।१७।।
कामगेन विमानेन दिव्यगन्धर्वनादिना। तरुणादित्यवर्णेन किङ्किणीजालमालिना ।।१८।।
उपगीयमाना गन्धर्वैरप्सरोभिरलंकृताः। व्रजन्ति लोकपालानां भवनं तु पृथक्पृथक् ।।१९।।

कृष्ण की पूजा करते हैं, उनके लिये स्वर्ग तथा मोक्ष दुर्लभ नहीं हैं ।।५-६।। विष्णु-भक्त मनुष्य की दुर्लभ कामनायें भी पूरी होती हैं। मुनिश्रेष्ठो ! रत्न के पर्वत पर चढ़कर जैसे मनुष्य स्वेच्छा से रत्न लेता है उसी तरह विष्णु-भक्त कृष्ण से अपने मनोरथों को प्राप्त करते हैं ।।७-८।। जैसे मनुष्य कल्पवृक्ष को प्राप्त कर स्वेच्छापूर्वक फलग्रहण करते हैं, वैसे विष्णुभक्त कृष्ण से अपने मनोरथों को प्राप्त करते हैं ।।९।। मनुष्य श्रद्धापूर्वक जगद्गुरु वासुदेव की पूजा करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का फल प्राप्त करते हैं।१०।। शुद्ध चित्त से जगन्नाथ की आराधना कर मनुष्य देवदुर्लभ कामनाओं को प्राप्त करते हैं ।।११।। जो सदा भक्तिपूर्वक अविनाशी कृष्ण की पूजा करते हैं, उनके लिये तीनों लोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं है ।।१२।। वे मानव धन्य हैं, जो सदा सर्वपापहारी तथा समस्त कामनाओं के फलदाता हरि की उपासना करते हैं ।।१३।। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री तथा चाण्डाल भी वासुदेव की पूजा करके उत्तम गति को प्राप्त करते हैं ।।१४।। निष्पाप मुनिवृन्द ! इसलिये उन महात्मा की गति के विषय में आप जो पूछते हैं, उसे मैं संक्षेपपूर्वक वतलाऊँगा ।।१५।। रोगों के मन्दिर, अनिश्चित, वृद्धता तथा मृत्यु से युक्त, जल के वुलवुले के समान, मांस, शोणित, दुर्गन्ध, विष्ठा, मूत्र आदि से युक्त, अस्थिरूपी खूंटों पर स्थित, अपवित्र और स्नायु, चर्म तथा शिरा से युक्त मनुष्य-शरीर को छोड़कर विष्णुभक्त कामचारी विमानों से लोकपालों के पृथक्-पृथक् भवन में जाते हैं। उनके विमान मध्याह्नकालीन सूर्य के समान वर्ण वाले तथा क्षुद्र घण्टिकाओं से युक्त होते हैं, जिन पर दिव्यगन्धर्वों का संगीत होता रहता है। गन्धर्व और अप्सरायें उन विष्णुभक्तों को वस्त्र-भूषण आदि से सुसज्जित करती हैं ।।१६-१९।। तव वे विष्णुभक्त सवको

---

[1]ख. चेतसा। [2]क. ०द्रास्तथाऽन्त्यजाः। सं०।

मन्वन्तरप्रमाणं तु भुक्त्वा कालं पृथक्पृथक् । [1]भुवनानि पृथक्तेषां सर्वभोगैरलंकृताः ॥२०॥
ततोऽन्तरिक्षं लोकं ते यान्ति सर्वसुखप्रदम् । तत्र भुक्त्वा[2] वरान्भोगान्दशमन्वन्तरं द्विजाः ॥२१॥
तस्माद्गन्धर्वलोकं तु यान्ति वै वैष्णवा द्विजाः । विंशन्मन्वन्तरं कालं तत्र भुक्त्वा मनोरमान् ॥२२॥
भोगानादित्यलोकं तु तस्माद्यान्ति सुपूजिताः । त्रिंशन्मन्वन्तरं तत्र भोगान्भुक्त्वाऽतिदैवतान् ॥२३॥
तस्माद्व्रजन्ति ते विप्राश्चन्द्रलोकं सुखप्रदम् । मन्वन्तराणां ते तत्र चत्वारिंशद्गुणान्वितम् ॥२४॥
कालं भुक्त्वा शुभान्भोगाञ्जरामरणवर्जिताः । तस्मान्नक्षत्रलोकं तु विमानैः समलंकृतम् ॥२५॥
व्रजन्ति ते मुनिश्रेष्ठा गुणैः सर्वैरलंकृताः । मन्वन्तराणां पञ्चाशद्भुक्त्वा भोगान्यथेप्सितान् ॥२६॥
तस्माद्व्रजन्ति ते[3] विप्रा देवलोकं सुदुर्लभम् । षष्टिमन्वन्तरं यावत्तत्र भुक्त्वा सुदुर्लभान् ॥२७॥
भोगान्नानाविधान्विप्रा ऋग्द्व्यष्टकसमन्वितान् । शक्रलोकं[4] पुनस्तस्माद्गच्छन्ति[5] सुरपूजिताः ॥२८॥
मन्वन्तराणां तत्रैव भुक्त्वा कालं च सप्ततिम् । भोगानुच्चावचान्दिव्यान्मनसः प्रीतिवर्धनान् ॥२९॥
तस्माद्व्रजन्ति ते लोकं प्राजापत्यमनुत्तमम् । भुक्त्वा तत्रेप्सितान्भोगान्सर्वकामगुणान्वितान् ॥३०॥
मन्वन्तरमशीतिं च कालं सर्वसुखप्रदम् । तस्मात्पैतामहं लोकं यान्ति ते वैष्णवा द्विजाः ॥३१॥
मन्वन्तराणां नवति क्रीडित्वा तत्र वै सुखम् । इहाऽऽगत्य[6] पुनस्तस्माद्विप्राणां प्रवरे कुले ॥३२॥
जायन्ते योगिनो विप्रा वेदशास्त्रार्थपारगाः । एवं सर्वेषु लोकेषु भुक्त्वा [7]भोगान्यथेप्सितान् ॥३३॥
इहाऽऽगत्य पुनर्यान्ति उपर्युपरि च क्रमात् । संभवे संभवे ते तु [8]शतवर्षं द्विजोत्तमाः ॥३४॥

सुख देने वाले अन्तरिक्ष-लोक को जाते हैं । वहाँ दश मन्वन्तर वीतने तक उत्तम भोगों को भोगकर गन्धर्वलोक में ज़ाते हैं । वहाँ वीस मन्वन्तरों तक मनोरम भोगों को भोगकर वहुत सम्मान के साथ आदित्यलोक में जाते हैं । ॥२०-२२½॥ वहाँ तीस मन्वन्तरों तक देवदुर्लभ भोगों को भोगकर सुखदायक चन्द्रलोक में जाते हैं । वहाँ चालीस मन्वन्तरों तक जरा-मरण से रहित होकर उत्तम भोगों को भोगकर विमानों से सुखपूर्वक नक्षत्रलोक में जाते हैं । ॥२३-२५॥ मुनिश्रेष्ठो ! वहाँ वे समस्त गुणों से युक्त होकर पचास मन्वन्तरों तक यथेच्छ भोगों को भोगकर दुर्लभ देवलोक में जाते हैं ॥२६॥ वहाँ साठ मन्वन्तरों तक नाना प्रकार के अत्यन्त दुर्लभ भोगों को भोगकर देवताओं से पूजित होकर इन्द्रलोक में जाते हैं ॥२७-२८॥ वहाँ सत्तर मन्वन्तरों तक मन को रुचने वाले समस्त दिव्य भोगों को भोगकर उत्तम प्रजापतिलोक में जाते हैं । वहाँ अस्सी मन्वन्तरों तक समस्त गुणों से युक्त अभिलपित भोगों को भोगकर पितामहलोक में जाते हैं ॥२९-३१॥ वहाँ नब्वे मन्वन्तरों तक सुख भोगकर इस लोक में व्राह्मणों के उत्तम कुल में जन्म लेते हैं और वेद-शास्त्र-पारंगत योगी होते हैं ॥३२½॥ इस प्रकार समस्त लोकों में यथेष्ट भोगों को भोगकर यहाँ आते हैं और पुनः क्रमशः ऊपर के लोक में जाते हैं ॥३३॥ द्विजगण ! प्रत्येक जन्म में सौ-सौ वर्षों तक यथेष्ट भोगों को भोगकर दूसरे लोक में जाते हैं । इस प्रकार जव उनके दश जन्म

१क. भवनानि । २क. ख. ०क्त्वा शुभान्भो० । ३ख. ते वीराश्च० । ४क. ख. ०कं मुदा युक्तास्त० । ५क. ख. ०न्ति पू० । ६क. ०गताः पु० । ७क. ख. ०न्यथासखम् । इ० । ८ख. षष्टिवर्षं ।

भुक्त्वा यथेप्सितान्भोगान्यान्ति लोकान्तरं ततः। दशजन्म यदा तेषां क्रमेणैवं प्रपूर्यते ॥३५॥
तदा लोकं हरेर्दिव्यं ब्रह्मलोकाद्व्रजन्ति ते। गत्वा तत्राक्षयान्भोगान्भुक्त्वा सर्वगुणान्वितान् ॥३६॥
मन्वन्तरशतं यावज्जन्ममृत्युविवर्जिताः। गच्छन्ति भुवनं पश्चाद्वाराहस्य द्विजोत्तमाः ॥३७॥
दिव्यदेहाः कुण्डलिनो महाकाया महाबलाः। क्रीडन्ति तत्र विप्रेन्द्राः कृत्वा रूपं चतुर्भुजम् ॥३८॥
दश कोटिसहस्राणि वर्षाणां द्विजसत्तमाः। तिष्ठन्ति शाश्वते भावे [1]सर्वैर्देवैर्नमस्कृताः ॥३९॥
ततो यान्ति तु ते धीरा नरसिंहगृहं द्विजाः। क्रीडन्ते तत्र मुदिता वर्षकोट्ययुतानि च ॥४०॥
तदन्ते वैष्णवं यान्ति पुरं सिद्धनिषेवितम्। क्रीडन्ते तत्र सौख्येन वर्षाणामयुतानि च ॥४१॥
ब्रह्मलोके पुनर्विप्रा गच्छन्ति साधकोत्तमाः। तत्र स्थित्वा चिरं कालं वर्षकोटिशतान्बहून् ॥४२॥
नारायणपुरं यान्ति ततस्ते साधकेश्वराः[2]। भुक्त्वा भोगांश्च विविधान्वर्षकोट्यर्बुदानि च ॥४३॥
अनिरुद्धपुरं पश्चाद्दिव्यरूपा महाबलाः। गच्छन्ति साधकवराः स्तूयमानाः सुरासुरैः ॥४४॥
तत्र कोटिसहस्राणि वर्षाणां च चतुर्दश। तिष्ठन्ति वैष्णवास्तत्र जरामरणवर्जिताः ॥४५॥
[5]प्रद्युम्नस्य पुरं पश्चाद्गच्छन्ति विगतज्वराः। तत्र तिष्ठन्ति[4] ते विप्रा लक्षकोटिशतत्रयम्[5] ॥४६॥
स्वच्छन्दगामिनो हृष्टा[6] बलशक्तिसमन्विताः। गच्छन्ति योगिनः पश्चाद्यत्र संकर्षणः प्रभुः ॥४७॥
तत्रोषित्वा चिरं कालं भुक्त्वा भोगान्सहस्रशः। विशन्ति वासुदेवेति विरूपाख्ये निरञ्जने ॥४८॥

पूरे हो जाते हैं तव वे व्रह्मलोक से विष्णुलोक में जाते हैं। वहाँ जन्म-मरण से रहित होकर सौ मन्वन्तरों तक सर्वगुण-सम्पन्न अक्षय भोगों को भोगकर पश्चात् वाराहलोक में जाते हैं। विप्रवर ! वहाँ कुण्डलयुक्त दिव्य देह धारण कर महाकाय, महावलवान् तथा चतुर्भुज होकर दश सहस्र कोटि वर्ष पर्यन्त क्रीड़ा करते हैं और व्रह्मभूत होकर सव देवों से नमस्कृत होते हैं ॥३४-३९॥ तदनन्तर वे धीर पुरुष नरसिंहलोक में जाते हैं। वहाँ भी दश सहस्र कोटि वर्ष पर्यन्त हर्षपूर्वक क्रीड़ा कर अन्त में सिद्धगणों से सुसेवित विष्णुलोक में जाते हैं। वहाँ दश हजार वर्ष पर्यन्त सुख से क्रीड़ा कर उत्तम साधक पुनः व्रह्मलोक में जाते हैं। वहाँ करोड़ों वर्ष तक रहकर श्रेष्ठ साधक नारायणपुर जाते हैं। वहाँ करोड़ों अरव वर्ष पर्यन्त विविध भोगों को भोगकर श्रेष्ठ साधक पश्चात् अनिरुद्धपुर जाते हैं। वहाँ वे जन्म-मरण से रहित, दिव्यकाय तथा महावलवान् होकर सुर-असुरों से स्तुत होते हुए चौदह सहस्र कोटि वर्ष पर्यन्त रहते हैं। तदनन्तर वे सुखपूर्वक प्रद्युम्नपुर जाते हैं। वहाँ स्वेच्छाचारी, हृष्ट तथा वल-शक्ति-समन्वित होकर करोड़ों वर्ष पर्यन्त रहते हैं ॥४०-४६॥ पश्चात् वे योगी पुरुष वलभद्रलोक में जाते हैं। वहाँ चिरकाल तक हजारों भोगों को भोगकर रूपरहित निरञ्जन वासुदेव में प्रवेश करते हैं। फिर

१क. सर्वलोकनम०। २क. ०धकोत्तमाः। भु०। ३क. ख. प्राद्युम्नेयं। ४क. ०न्ति वर्षाणि ल०। ५क. ख. ०तद्वय०। ६क. विप्रा।

विनिर्मुक्ताः परे तत्त्वे जरामरणवर्जिते। तत्र गत्वा विमुक्तास्ते भवेयुर्नात्र संशयः ।।४९।।
एवं क्रमेण भुक्तिं ते प्राप्नुवन्ति मनीषिणः। मुक्तिं च मुनिशार्दूला वासुदेवार्चने रताः ।।५०।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे वैष्णवानां गतिख्यापनं नाम
सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२२७।।

अथ अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यासमुनिसंवादे विष्णुपूजाकथनम्

व्यास उवाच

एकादश्यामुभे पक्षे निराहारः[1] समाहितः। स्नात्वा सम्यग्विधानेन धौतवासा जितेन्द्रियः ।।१।।
संपूज्य विधिवद्विष्णुं श्रद्धया सुसमाहितः। पुष्पैर्गन्धैस्तथा दीपैर्धूपैर्नैवेद्यकैस्तथा ।।२।।
उपहारैर्बहुविधैर्जप्यैर्होमप्रदक्षिणैः। स्तोत्रैर्नानाविधैर्दिव्यैर्गीतवाद्यैर्मनोहरैः ।।३।।
दण्डवत्प्रणिपातैश्च जयशब्दैस्तथोत्तमैः। एवं संपूज्य विधिवद्रात्रौ कृत्वा प्रजागरम् ।।४।।
कथां वा गीतिकां विष्णोर्गायन्विष्णुपरायणः। याति विष्णोः परं स्थानं नरो नास्त्यत्र संशयः ।।५।।

तो जरा-मरण-वर्जित परम तत्त्व को प्राप्त कर वे निःसन्देह मुक्त हो जाते हैं। मुनिश्रेष्ठो ! वासुदेव की उपासना में निरत विद्वान् लोग इस प्रकार क्रमशः भुक्ति तथा मुक्ति प्राप्त करते हैं ।।४७-५०।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में विष्णु-भक्तों की गति-निरूपण नामक दो सौ सत्ताईसवाँ
अध्याय समाप्त ।।२२७।।

अध्याय २२८

व्यास और मुनियों के संवाद में विष्णु-पूजा आदि का वर्णन

व्यास ने कहा—(विष्णु-भक्त मनुष्य) दोनों पक्षों की एकादशी में निराहार तथा सावधान होकर रहे। विधानपूर्वक स्नान करके पवित्र वस्त्र पहने और इन्द्रियों को वश में रखे। पुष्प, गन्ध, दीप, धूप, नैवेद्य, अनेक उपहार, जप, होम, प्रदक्षिणा, विविध दिव्य स्तोत्र, मनोहर गीत-वाद्य, दण्डवत्प्रणाम तथा उत्तम जयशब्दों से अत्यन्त श्रद्धापूर्वक विष्णु की पूजा करे। इस प्रकार विधिपूर्वक पूजा करके रात्रि में जागरण करे और विष्णु की कथा या गीत गाये। ऐसा करने से विष्णुपरायण मनुष्य निःसन्देह विष्णुलोक में जाता है ।।१-५।।

---

[1] क. ०हारसमन्वितः।

मुनय ऊचुः

प्रजागरे गीतिकायाः[1] फलं विष्णोर्महामुने। ब्रूहि तच्छ्रोतुमिच्छामः परं कौतूहलं हि नः ॥६॥

व्यास उवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः। गीतिकायाः फलं विष्णोर्जागरे यदुदाहृतम् ॥७॥
अवन्ती नाम नगरी बभूव भुवि विश्रुता। तत्राऽऽस्ते भगवान्विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥८॥
तस्या नगर्याः पर्यन्ते चाण्डालो [2]गीतिकोविदः। सद्वृत्त्योत्पादितधनो भृत्यानां भरणे रतः ॥९॥
विष्णुभक्तः स[3] चाण्डालो मासि मासि दृढव्रतः। एकादश्यां समागम्य सोपवासोऽथ गायति ॥१०॥
गतिका विष्णुनामाङ्काः प्रादुर्भावसमाश्रिताः। गान्धारषड्जनैषादस्वरपञ्चमधैवतैः ॥११॥
रात्रिजागरणे विष्णुं गाथाभिरुपगायति। प्रभाते च प्रणम्येशं द्वादश्यां गृहमेत्य च ॥१२॥
जामातृभागिनेयांश्च भोजयित्वा [4]सकन्यकाः। ततः सपरिवारस्तु पश्चाद्भुङ्क्ते द्विजोत्तमाः ॥१३॥
एवं तस्याऽऽसतस्तत्र कुर्वतो विष्णुप्रीणनम्। गीतिकाभिर्विचित्राभिर्वयः प्रतिगतं बहु ॥१४॥
एकदा चैत्रमासे तु कृष्णैकादशिगोचरे[5]। विष्णुशुश्रूषणार्थाय ययौ वनमनुत्तमम् ॥१५॥
वनजातानि पुष्पाणि ग्रहीतुं भक्तितत्परः। क्षिप्रातटे महारण्ये विभीतकतरोरधः ॥१६॥
दृष्टः स राक्षसेनाथ गृहीतश्चापि भक्षितुम्। चाण्डालस्तमथोवाच नाद्य भक्ष्यस्त्वया ह्यहम् ॥१७॥

मुनियों ने कहा—मुनिश्रेष्ठ ! जागरण में विष्णु के गीत गाने से क्या फल मिलता है ? हम सुनना चाहते हैं। हमें वड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥६॥

व्यास ने कहा—मुनिवर! सुनिये, जागरण में विष्णु-गीत गाने से जो फल मिलता है, उसे मैं अक्षरशः वतलाऊँगा। भू-मण्डल में प्रसिद्ध अवन्ती नामक नगरी थी। वहाँ शंख चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु रहते थे। ॥७-८॥ उसी नगरी के अन्त में एक संगीत-कुशल चाण्डाल रहता था। वह सद्वृत्ति से धन कमाता था और नौकर-चाकरों का भरण-पोषण करता था। वह चाण्डाल दृढव्रती तथा विष्णु का भक्त था। वह प्रतिमास एकादशी तिथि में उपवास करके रात्रि में जागरण करता था और विष्णु के अवतार सम्वन्धी गीतों को गान्धार षड्ज, नैषध, धैवत तथा पञ्चमस्वर में गाता था॥९-११॥ प्रातःकाल द्वादशी में भगवान् को प्रणाम कर घर आता था और जमाता, भागिनेय तथा कन्याओं को खिलाकर पश्चात् वह सपरिवार भोजन करता था। इस प्रकार विचित्र-विचित्र गीतों से विष्णु को सन्तुष्ट करते हुए उसकी वहुत अवस्था वीत गई॥१२-१४॥ एक समय चैत्र-कृष्ण एकादशी को विष्णु की पूजा करने के लिये उसने वन की ओर प्रस्थान किया। भक्तितत्पर होकर वह वन्य पुष्पों को लाने के लिये क्षिप्रा नदी के तट पर महावन में पहुँचा। एक वहेडे के वृक्ष के नीचे एक राक्षस ने उसे देखर खाने के लिये पकड़ लिया। तव चाण्डाल ने राक्षस से कहा—'भगवन्! आज तुम मुझे मत खाओ, कल सवेरे खा लेना।

---

[1] ख. ०कायां फ०। [2] क. ख. गीतको०। [3] ख. सदासोऽपि मा०। [4] ग. स्वकन्यकाः। [5] क. ०चरैः।

प्रातर्भोक्ष्यसि कल्याण सत्यमेष्याम्यहं पुनः। अद्य कार्यं मम महत्तस्मान्मुञ्चस्व राक्षस ॥१८॥
श्वः सत्येन समेष्यामि ततः खादसि मामिति। विणुशुश्रूषणार्थाय रात्रिजागरणं मया।
कार्यं न व्रतविघ्नं मे कर्तुमर्हसि राक्षस ॥१९॥

व्यास उवाच

तं राक्षसः प्रत्युवाच दशरात्रमभोजनम्। ममाभूदद्य च भवान्मया लब्धो मतङ्गज ॥२०॥
न मोक्ष्ये भक्षयिष्यामि क्षुधया पीडितो भृशम्। निशाचरवचः श्रुत्वा मातङ्गस्तमुवाच ह ॥
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा स सत्यवचनैर्दृढैः। ॥२१॥

मातङ्ग उवाच

[1]सत्यमूलं जगत्सर्वं ब्रह्मराक्षस तच्छृणु। सत्येनाहं शपिष्यामि पुनरागमनाय च ॥२२॥
आदित्यश्चन्द्रमा बह्निर्वायुर्भूर्द्यौर्जलं मनः। अहरोत्रं यमः संध्ये द्वे विदुर्नरचेष्टितम् ॥२३॥
परदारेषु यत्पापं यत्परद्रव्यहारिषु। यच्च ब्रह्महनः पापं सुरापे गुरूतल्पगे ॥२४॥
[2]बन्ध्यापतेश्च यत्पापं यत्पापं वृषलीपतेः। यच्च देवलके पापं मत्स्यमांसाशिनश्च यत् ॥२५॥
क्रोडमांसाशिनो यच्च[3] कूर्ममांसाशिनश्च यत्[4]। वृथा मांसाशिनो यच्च पृष्ठमांसाशिनश्च यत् ॥२६॥
कृतघ्ने मित्रघातके यत्पापं दिधिषूपतौ। [5]सूतकस्य च यत्पापं यत्पापं क्रूरकर्मणः ॥२७॥

मैं सत्य कहता हूँ। फिर आऊँगा। राक्षस! आज मुझे वड़ा कार्य है, इसलिये छोड़ दो। कल मैं अवश्य आऊँगा, तव खा लेना। विष्णु की परिचर्या के लिये मुझे रात में जागना है। तुम्हें मेरे व्रत में विघ्न नहीं डालना चाहिये।' ॥१५-१९॥

व्यास ने कहा—राक्षस ने उसको उत्तर दिया—'चाण्डाल! मैं दश रात से भूखा हूँ। आज तुमको पाया हूँ। मैं नहीं छोड़ूँगा। क्षुधा से पीड़ित हूँ। अतः अवश्य खाऊँगा।' राक्षस की वात सुनकर चाण्डाल कोमल वाणी से उसे सान्त्वना देते हुए दृढ़ तथा सत्य वचन वोलने लगा ॥२०-२१॥

चाण्डाल ने कहा—व्रह्मराक्षस! सुनो, सत्यमूलक ही सम्पूर्ण जगत् है। उसी सत्य को लेकर मैं पुनः आने के लिये शपथ करता हूँ॥२२॥ सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, पृथ्वी, आकाश, जल, मन, दिन, रात, यम तथा दोनों सन्ध्यायें मनुष्यों की क्रियायों को जानती हैं। पर-स्त्री-गमन में जो पाप होता है, दूसरे के धन चुराने में जो पाप होता है, व्रह्मत्या में जो पाप होता है, मदिरापन तथा गुरू-पत्नी-गमन में जो पाप होता है॥२३-२४॥ वन्ध्यापति तथा शूद्रापति होने से जो पाप होता है, पुजारी होने में जो पाप होता है। मत्स्य-मांस खाने में जो पाप होता है शूकर का मांस खाने में जो पाप होता है॥२५॥ कछुए का मांस, व्यर्थ मांस तथा पीठ का मांस खाने में जो पाप होता है, कृतघ्नता तथा मित्र के साथ विश्वासघात करने में जो पाप होता है, पुनर्विवाहिता स्त्री के पति बनने में जो पाप होता है, सूतक, क्रूरकर्मी तथा कृपण होने में जो पाप होता है, वन्ध्या स्त्री के अतिथि होने में जो पाप होता है,

---

[1]क. सत्याधारं। [2]ग. संध्यापाताच्च। [3]क. ०च्च वृषमां०। [4]क. ०त्। [5]ख. शूलिकस्य।

कृपणस्य च यत्पापं यच्च[1]बन्ध्यातिथेरपि। अमावस्याऽष्टमी षष्ठी कृष्णशुक्लचर्तुदशी[2] ॥२८॥
[3]तासु [4]यद्‌गमत्नापापां [5]यद्विप्रो व्रजति स्त्रियम्। रजस्वलां तथा पश्चाच्छ्राद्धं कृत्वा स्त्रियं व्रजेत्॥२९॥
[6]सर्वस्वस्नातभोज्यानां यत्पापं [7]मलभोजने।मित्रभार्यां गच्छतां च यत्पापं पिशुनस्य च॥३०॥
दम्भमायानुरक्ते च यत्पापं [8]मधुघातिनः। ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुत्य यत्पापं तदयच्छतः॥३१॥
यच्च कन्यानृते पापं यच्च गोश्वतरानृते[9]। स्त्रीबालहन्तुर्यत्पापं यच्च मिथ्याभिभाषिणः॥३२॥
[10]देववेदद्विजनृपपुत्रमित्रसतीस्त्रियः। यच्च निन्दयतां पापं[11] [12]गुरुमिथ्यापचारतः॥३३॥
अग्नित्यागिषु यत्पापमग्निदायिषु यद्वने[13]। गृहेष्ट्या पातके यच्च यद्‌गोघ्ने यद्‌द्विजाधमे॥३४॥
यत्पापं परिवित्ते च यत्पापं परिवेदिनः। तयोर्दातृग्रहीत्रोश्च यत्पापं भ्रूणघातिनः॥३५॥
किं चात्र बहुभिः प्रोक्तैः शपथैस्तव राक्षस। श्रूयतां शपथं भीमं दुर्वाच्यमपि कथ्यते॥३६॥
स्वकन्याजीविनः पापं [14]गूढसत्येन साक्षिणः। अयाज्ययाजके षण्ढे यत्पापं [15]श्रवणेऽधमे॥३७॥

अमावास्या, अष्टमी,षष्ठी तथा उभय पक्ष की चतुर्दशी में स्त्रीगमन करने से जो पाप होता है, रजस्वला स्त्री से संभोग करने में जो पाप होता है, श्राद्ध करने के वाद स्त्री प्रसंग करने से जो पाप होता है॥२६-२९॥ बिना स्नान किये भोजन करने से जो पाप होता है, मल-भोजन करने से जो पाप होता है, मित्रपत्नी-गमन में जो पाप होता है, पिशुनता, दम्भ तथा छल करने से जो पाप होता है, मधु-मक्खियों के मारने में जो पाप होता है, ब्राह्मण के साथ प्रतिज्ञा करके फिर न देने में जो पाप होता है॥३०-३१॥असत्यता से कन्या, गाय एवम् अश्व लाभ करने में जो पाप होता है, स्त्री तथा वालक की हत्या करने में जो पाप होता है, मिथ्याभाषण करने में जो पाप होता है, देवता, वेद, ब्राह्मण, राजा, पुत्र, मित्र तथा सती स्त्री की निन्दा करने में जो पाप होता है, गुरु के साथ मिथ्या व्यवहार करने से जो पाप होता है, अग्निहोत्र त्यागने से, वन में अग्नि लगाने से तथा गृह में याग करने से जो पाप होता है, गोहत्या करने से जो पाप होता है, अधम ब्राह्मण को जो पाप होता है, परिवित्ता (वह वड़ा भाई जिसके छोटे भाई ने उससे पहले ही विवाह कर लिया है) परिवेदी, (वह छोटा भाई जिसने अपने वड़े भाई से पहले ही विवाह कर लिया है) तथा उनको (दान) देने वाले एवम् (उनसे दान की वस्तु) ग्रहण करने वाले को जो पाप होता है, गर्भघात करने वाले को जो पाप होता है, वे सब पाप मुझे हों, यदि मैं तुम्हारे पास न आऊँ॥३२-३५॥ राक्षस! तुम से अधिक शपथ मैं क्या करूँ? सुनो, भयंकर तथा दुर्वाच्य शपथ भी मैं तुमसे करता हूँ। अपनी कन्या वेचकर जीविका चलाने वाले को जो पाप होता है, सत्य पर पर्दा डालकर गवाही देने वाले को जो पाप होता है, यज्ञ के अनधिकारी के यज्ञ कराने वाले को तथा नपुसंक को जो पाप

१क यत्पाप ग्रामयाजके।अ०।२ग. ०क्लत्रयोदशी।३क. तेषु।४क. यच्छरणात्पा०।५क ०द्विप्रा ध्यायतः स्त्रि०। ६ख. ०स्वप्रान्तर्भोज्या०। ७क. शल्यभोजिनाम्। ८क. ०धुगन्धिनः। ९ख. ग. ०श्वनरा०।१०क. ०पयज्ञसंधिस०। ११घ. ०पं सुरां मिथ्यापचर्यतः। १२ख. ०मिथ्योपरेततः। १३ख. ०ने। गूढ़चेष्टेषु यत्पापं यच्च गोघ्ने द्विजा। १४ग. कूटसत्येन। १५ख. ०वणाध०।

प्रव्रज्यावसिते यच्च ब्रह्मचारिणि कामुके। एतैस्तु पापैर्लिप्येऽहं यदि नैष्यामि तेऽन्तिकम् ॥३८॥

व्यास उवाच

मातङ्गवचनं श्रुत्वा विस्मतो ब्रह्मराक्षसः। प्राह गच्छस्व सत्येन समयं चैव पालय ॥३९॥
इत्युक्तः कुणपाशेन श्वपाकः कुसुमानि तु। समादायागमच्चैव विष्णोः स निलयं गतः ॥४०॥
तानि प्रादाद्ब्राह्मणाय सोऽपि प्रक्षाल्य चाम्भसा। विष्णुमभ्यर्च्य निलयं जगाम स तपोधनाः ॥४१॥
सोऽपि मातङ्गदायादः सोपवासस्तु तां निशाम्। गायन्हि बाह्यभूमिष्ठः प्रजागरमुपाकरोत् ॥४२॥
प्रभातायां तु शर्वर्यां स्नात्वा देवं नमस्य च। सत्यं स समयं कर्तुं प्रतस्थे यत्र [1]राक्षसः ॥४३॥
तं व्रजन्तं पथि नरः प्राह भद्र क्व गच्छसि[2]। स तथाऽकथयत्सर्वं सोऽप्येनं पुनरब्रवीत् ॥४४॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं[3] यतः। महता तु प्रत्नेन शरीरं पालयेद्बुधः ॥४५॥

जीवधर्मार्थसुखं नरस्तथाऽऽप्नोति मोक्षगतिमग्र्या।
जीवन्कीर्तिमुपैति च भवति मृतस्य का कथा लोके ॥४६॥

मातङ्गस्तद्वचः श्रुत्वा प्रत्युवाचाथ हेतुमत्। ॥४७॥

मातङ्ग उवाच

भद्र सत्यं पुरस्कृत्य गच्छामि शपथाः कृताः। ॥४८॥

होता है, निन्द्य बात श्रवण करने में जो पाप होता है, संन्यास लेकर गृहस्थी करने वाले को तथा कामी ब्रह्मचारी को जो पापा होता है, वे सब पाप मुझे हों, यदि मैं तुम्हारे पास न आऊँ ॥३६-३८॥

व्यास ने कहा—चाण्डाल की वात सुनकर ब्रह्मराक्षस विस्मित हुआ और बोला—'जाओ, सत्य की शपथ का ध्यान रखना।' राक्षस के कहने के वाद चाण्डाल ने फूल लेकर विष्णु-मन्दिर में जाकर ब्राह्मण को दे दिया। ब्राह्मण भी फूल को जल से धोकर विष्णु की पूजा कर अपना घर चला गया ॥३९-४१॥ चांडाल उस दिन उपवास करके रात में विष्णु-प्रीत्यर्थ गीतों को गाते हुए वाहरी भूमि में रह कर जागरण करने लगा। प्रभात होने पर स्नान करके देवता को नमस्कार करके वचन पूरा करने के लिये राक्षस के पास चल पड़ा। रास्ते में एक व्यक्ति ने उससे पूछा— 'भद्र ! कहाँ जा रहे हो ?' उसने सव वृत्तान्त कह सुनाया। उस व्यक्ति ने फिर कहा—'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का साधन शरीर ही है। इसलिये विद्वान् मनुष्य महान् प्रयत्न करके इसका पालन करते हैं ॥४२-४५॥ जीवित मनुष्य धर्म, धन, सुख तथा अन्तिम मोक्षगति को प्राप्त करते हैं। जीवन रहने पर ही यश भी मिलता है। मृतक की तो इस लोक में वात ही क्या है ?' चाण्डाल उसका वचन सुनकर सारगर्भित वाक्य वोला ॥४६-४७॥

चाण्डाल ने कहा—भद्र ! मैंने सत्य को आगे करके शपथ की है।

---

[1] क. ०सः। तत्र यान्तं तु पथिकः प्रा०। [2] क. यास्यसि। [3] क. ख. ०नं तु यत्। म०।

व्यास उवाच

तं भूयः [1]प्रत्युवाचाथ किमेवं मूढधीर्भवान् । किं न श्रुतं त्वया साधो मनुना [2]यदुदीरितम् ॥४९॥
गोस्त्रीद्विजानां परिरक्षणार्थं, विवाहकाले [3]सुरतप्रसङ्गे ।
प्राणात्यये [4]सर्वधनापहारे, पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥५०॥
धर्मवाक्यं न च स्त्रीषु न विवाहे तथा रिपौ । वञ्चने चार्थहानौ च स्वनाशे[5] ऽनृतके तथा ॥
एवं तद्वाक्यमाकर्ण्य मातङ्गः प्रत्युवाच ह ॥५१॥

मातङ्ग उवाच

मैवं वदस्व भद्रं ते सत्यं लोकेषु पूज्यते । सत्येनावाप्यते सौख्यं यत्किंचिज्जगतीगतम् ॥५२॥
सत्येनार्कः प्रतपति सत्येनाऽऽपो रसात्मिकाः । ज्वलत्यग्निश्च सत्येन वाति सत्येन मारुतः ॥५३॥
धर्मार्थकामसंप्राप्तिर्मोक्षप्राप्तिश्च दुर्लभा । सत्येन जायते पुंसां तस्मात्सत्यं न संत्यजेत् ॥५४॥
सत्यं ब्रह्म परं लोके सत्यं यज्ञेषु चोत्तमम् । सत्यं स्वर्गसमायातं[6] तस्मात्सत्यं न संत्यजेत् ॥५५॥

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा सोऽथ मातङ्गस्तं प्रक्षिप्य नरोत्तमम् । जगाम तत्र यत्राऽऽस्ते प्राणिहा ब्रह्मराक्षसः ॥५६॥
तमागतं समीक्ष्यासौ चाण्डालं ब्रह्मराक्षसः । विस्मयोत्फुल्लनयनः शिरःकम्पं तमब्रवीत् ॥५७॥

व्यास ने कहा—उस व्यक्ति ने फिर चाण्डाल से कहा—'तुम मूर्ख हो । क्या तुमने मनु का वचन नहीं सुना है ? उनका कहना है—'गाय, स्त्री तथा व्राह्मण की रक्षा के निमित्त, विवाहकाल में, रतिप्रसंग में, प्राणसंकट में और सर्वस्व अपहरण में मिथ्या वोलने से पाप नहीं लगता है । स्त्रियों के साथ वार्तालाप करने में, विवाह में, शत्रु को ठगने में, और धननाश तथा प्राणनाश के समय धर्मवाक्य नहीं माना जाता है ।' उसका वचन सुनकर चाण्डाल ने उत्तर दिया ॥४८-५१॥

चाण्डाल ने कहा—तुम्हारा कल्याण हो । ऐसा मत कहो । तीनों लोक में सत्य की पूजा होती है । संसार में जो कुछ मी सुख है, वह सत्य से प्राप्त होता है । सत्य से सूर्य प्रकाशित होता है, सत्य से जल रसरूप होता है; सत्य से वायु वहता है । पुरुषों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की दुर्लभ प्राप्ति सत्य से ही होती है । इसलिये सत्य का परित्याग नहीं करना चाहिये । लोक में सत्य परव्रह्म है; सत्य यज्ञों में सवसे उत्तम होता है; सत्य से स्वर्ग-प्राप्ति होती है । इसलिये सत्य को नहीं छोड़ना चाहिये ॥५२-५५॥

व्यास ने कहा—इतना कहकर उस मनुष्य को छोड़कर वह चाण्डाल वहाँ के लिये चल पड़ा, जहाँ वह जीवहिंसक व्रह्मराक्षस रहता था । आये हुए चाण्डाल को देखकर व्रह्मराक्षस परमविस्मित होकर शिर कँपाते हुए वोला ॥५६-५७ ॥

---

[1] क. ख. ०चासौ कि० । [2] ख. ख. ०दुदाहृत० । [3] ख. सुखदे च धर्मे । प्रा० । ग. सुहृदां च धर्मे । प्रा० ।
[4] ग. ०र्वजनोप० । [5] ग. ०शे कृतकं भवेत् । ए० . [6] ख. ०समस्तात त० ।

ब्रह्मराक्षस उवाच

साधु साधु महाभाग सत्यवाक्यानुपालक। न मातङ्गमहं मन्ये भवन्तं सत्यलक्षणम् ॥५८॥
कर्मणाऽनेन[1] मन्ये त्वां ब्राह्मणं [2]शुचिमव्ययम्। यत्किंचित्त्वां भद्रमुखं प्रवक्ष्ये धर्मसंश्रयम्॥
किं तत्र भवता रात्रौ कृतं विष्णुगृहे वद ॥५९॥

व्यास उवाच

तमभ्युवाच मातङ्गः शृणु विष्णुगृहे मया। यत्कृतं रजनीभागे यथातथ्यं वदामि ते॥६०॥
विष्णोर्देवकुलस्याधः स्थितेनाऽऽनम्रमूर्तिना। प्रजागरः कृतो रात्रौ गायता विष्णुगीतिकाम्॥६१॥
तं ब्रह्मराक्षसः प्राह कियन्तं कालमुच्यताम्। प्रजागरो विष्णुगृहे कृतं (तो) भक्तिमता वद॥६२॥
तमभ्युवाच प्रहसन्विंशत्यब्दानि राक्षस। एकादश्यां मासि मासि कृतस्तत्र प्रजागरः॥

ब्रह्मराक्षस उवाच

मातङ्गवचनं श्रुत्वा प्रोवाच ब्रह्मराक्षसः ॥६३॥
यदद्य त्वां प्रवक्ष्यामि तद्भवान्वक्तुमर्हति। एकरात्रिकृतं साधो मम देहि प्रजागरम्॥६४॥
एवं त्वां मोक्षयिष्यामि मोक्षयिष्यामि नान्यथा। त्रिः सत्येन महाभाग इत्युक्त्वा विरराम ह॥६५॥

व्यास उवाच

मातङ्गस्तमुवाचाथ मयाऽऽत्मा ते निशाचर। निवेदितः किमुक्तेन खादस्व स्वेच्छायाऽपि माम्॥६६॥

ब्रह्मराक्षस बोला—महाभाग ! सत्य वचन के पालन-कर्ता ! ठीक, ठीक ! ! तुम इतने सत्यात्मा हो कि मैं कभी नहीं मान सकता कि तुम चाण्डाल हो। इस कर्म से मैं तुम्हें पवित्र तथा नाशरहित ब्राह्मण मानता हूँ। तुम अतीव धर्मात्मा हो, कल्याणमय हो। मैं जो कुछ पूछता हूँ, वह बतलाओ। गत रात्रि में तुमने विष्णु मन्दिर में क्या सब किया ? ॥५८-५९।

व्यास ने कहा—चाण्डाल ने उससे कहा—'सुनो, रात में मैनें विष्णु-मन्दिर में जो किया, वह यथार्थतः बतला देता हूँ। विष्णु के नीचे नतमस्तक होकर मैं रात भर विष्णु-गीत गाते हुए जागता रहा।' (इस पर) ब्रह्मराक्षस ने उससे पूछा—'कितने दिनों से तुम विष्णु-मन्दिर में जागरण करते हो ? कहो।' चाण्डाल ने हँसते हुए कहा—'राक्षस ! बीस वर्ष से मैं प्रत्येक मास की एकादशी को जागरण करता हूँ।' चाण्डाल की बात सुनकर ब्रह्मराक्षस बोला ॥६०-६३॥

ब्रह्मराक्षस बोला—आज जो मैं तुमसे पूछूँ, वह बतलाओ। साधो तुम अपना एक रात्रि के जागरण का फल मुझे दे दो। ऐसा करने से मैं तुम्हें छोड़ दूँगा, अन्यथा नहीं छोडूँगा। महाभाग ! मैं तीन बार सत्य को साक्षी करके कहता हूँ। इतना कहकर राक्षस चुप हो गया ॥६४-६५॥

व्यास ने कहा—तदनन्तर चाण्डाल ने कहा—'राक्षस ! मैंने अपने को समर्पित कर दिया। तुम स्वेच्छा से खा डालो।' फिर राक्षस ने कहा— अच्छा तो दो घड़ी भर के संगीत के फल देने की कृपा करो।'

---

[1] क. ०नेन पुण्येन। [2] क. ०चिम्।

तमाह राक्षसो भूयो यामद्वयप्रजागरम् । सगीतं मे प्रयच्छस्व कृपां कर्त्तुं त्वमर्हसि ॥६७॥
मातङ्गो राक्षसं प्राह किमसंबद्धमुच्यते । खादस्व स्वेच्छया मां त्वं न प्रदास्ये प्रजागरम् ॥
मातङ्गवचनं श्रुत्वा प्राह तं ब्रह्मराक्षसः ॥६८॥

ब्रह्मराक्षस उवाच

को हि दुष्टमतिर्मन्दो भवन्तं द्रष्टुमुत्सहेत् । धर्षयितुं पीडयितुं रक्षितं धर्मकर्मणा ॥६९॥
दीनस्य पापग्रस्तस्य विषयैर्मोहितस्य च । नरकार्तस्य मूढस्य साधवः स्युर्दयान्विताः ॥७०॥
तन्मम त्वं महाभाग कृपां कृत्वा प्रजागरम् । यामस्यैकस्य मे देहि गच्छ वा निलयं स्वकम् ॥७१॥

व्यास उवाच

तं पुनः प्राह चाण्डालो न यास्यामि निजं गृहम् । न चापि तव दास्यामि कथं चिद्यामजागरम् ॥
तं प्रहस्याथ चाण्डालं प्रोवाच ब्रह्मराक्षसः ॥७२॥

ब्रह्मराक्षस उवाच

रात्र्यवसाने या गीता गीतिका कौतुकाश्रया । तस्याः फलं प्रयच्छस्व त्रापि पापात्समुद्धर ॥७३॥

व्यास उवाच

एवमुच्चारिते तेन मातङ्गस्तमुवाच ह ॥७४॥

चाण्डाल बोला—'क्यों व्यर्थ की वात करते हो ? तुम यथेच्छ खाओ । मैं जागरण का फल नहीं दूँगा ।' चाण्डाल की बात सुनकर ब्रह्मराक्षस ने कहा ॥६६-६८॥

ब्रह्मराक्षस बोला—कौन ऐसा दुष्टमति होगा, जो तुम्हें फटकारने या पीड़ा देने के लिये तुम्हारी ओर दृष्टिपात करेगा ? तुम अपने शुभ कर्मों के द्वारा सुरक्षित हो । दीन, पापग्रस्त, विषयान्ध, नरक-पीड़ित तथा मूर्ख पर साधु लोग दया करते हैं । महाभाग ! इसलिये कृपा करके तुम एक घड़ी जागरण मुझे दे दो अथवा अपने घर चले जाओ ॥६९-७१॥

व्यास ने कहा—चाण्डाल ने फिर उससे कहा—'मैं अपने घर नहीं जाऊँगा और तुम्हें एक घड़ी का जागरण भी नहीं दूँगा ।' तब ब्रह्मराक्षस ने हँसकर उससे कहा ॥७२॥

ब्रह्मराक्षस ने कहा—अच्छा तो रात के अन्त में जो तुमने गीत गाया, उसी का फल देकर मुझे पाप से बचाओ ॥७३॥

व्यास ने कहा—इतना कहने पर चाण्डाल ने उससे कहा ॥७४॥

मातङ्ग उवाच

किं पूर्वं भवता कर्म विकृतं कृतमञ्जसा । येन त्वं दोषजातेन [१]संभूतो [२]ब्रह्मराक्षसः ॥७५॥

व्यास उवाच

तस्य तद्वाक्यमाकर्ण्य मातङ्गं ब्रह्मराक्षसः । प्रोवाच दुःखसंतप्तः संस्मृत्य स्वकृतं कृतम् ॥७६॥

ब्रह्मराक्षस उवाच

[३]श्रूयतां योऽहमासं वै पूर्वं यच्च मया कृतम् । यस्मिन्कृते पापयोनिं गतवानस्मि राक्षसीम् ॥७७॥
सोमशर्म इति ख्यातः पूर्वमासमहं द्विजः । पुत्रोऽध्ययनशीलस्य देवशर्मस्य यज्वनः[४] ॥७८॥
कस्यचिद्यजमानस्य[५] सूत्रमन्त्रबहिष्कृतः । नृपस्य [६]कर्मसक्तेन[७] यूपकर्मसु निष्ठितः[८] ॥७९॥
आग्नीध्रं चाकरोद्यज्ञे लोभमोहप्रपीड़ितः । तस्मिन्परिसमाप्ते तु मौर्ख्याद्दम्भमनुष्ठतः ॥८०॥
यष्टुमारब्धवानस्मि द्वादशाहं महाक्रतुम् । प्रवर्तमाने [९]तस्मिंस्तु कुक्षिशूलोऽभवन्मम ॥८१॥
[१०]संपूर्णे दशरात्रे तू न समाप्ते तथा क्रतौ । विरूपाक्षस्य दीयन्त्यामाहुत्यां राक्षसे क्षणे ॥८२॥
मृतोऽहं तेन दोषेण संभूतो ब्रह्मराक्षसः । [११]मूर्खेण मन्त्रहीनेन सूत्रस्वरविवर्जितम् ॥८३॥
अजानता यद्यविद्यां यदिष्टं याजितं च यत् । तेन कर्मविपाकेन संभूतो ब्रह्मराक्षसः ॥८४॥
तन्मां पापमहाम्भोधौ निमग्नं त्वं समुद्धर । प्रजागरे गीतिकैकां पश्चिमां दातुमर्हसि ॥८५॥

चाण्डाल बोला—पहले पहलने कोन सा कुकर्म किया था, जिसके दोष से तुम ब्रह्मराक्षस हो गये ? ॥७५॥

व्यास ने कहा—उसकी वात सुनकर अत्यन्त दुःखी ब्रह्मराक्षस ने अपने कर्मों का स्मरण कर चाण्डाल से कहा ॥७६॥

ब्रह्मराक्षस बोला—पहले जो मैं था, जो कर्म किया और जिसके करने से इस पापी राक्षस-योनि में आ गया हूँ, वह सव तुम सुनो ॥७७॥ पहले मैं सोमशर्मा नामक ब्राह्मण था । अध्ययनशील तथा यज्ञकर्त्ता देवशर्मा का मै पुत्र था । मैं सूत्र-मन्त्र कुछ नहीं जानता था । फिर भी एक यजमान के यज्ञकर्म में मैंने भाग ले लिया । लोभ-मोह में फँसकर मैंने होता का कार्यभार ग्रहण किया । यज्ञ समाप्त होने पर मूर्खता तथा दम्भ के कारण मैंनें वारह दिनों में सम्पन्न होने वाला महायज्ञ पूरा कर दिया । यज्ञारम्भ में ही मेरे पेट में पीड़ा होने लगी । दश रात वीत जाने पर जव मैं शिव को आहुति दे रहा था तभी मेरा देहान्त हो गया । उसी दोष से मैं ब्रह्मराक्षस हुआ । मूर्ख, मन्त्रहीन तथा सूत्र-स्वर से रहित होकर यज्ञविद्या को न जानते हुए जो मैंने यज्ञ किया तथा कराया उसी कर्म के दोष से मैं ब्रह्मराक्षस हुआ । इसलिये मैं पापसमुद्र में निमग्न हूँ, मेरा उद्धार करो । जागरण काल के पिछले एक गीत का भी फल मुझे दे दो ॥७८-८५॥

---

[१]क. प्राप्तो । [२]क. राक्षसयोनिताम् । [३]क. ०तां हि महाबुद्धे पू० । [४]क. नः । किंचिच्च यज० । ग. ०नः । किंवित्तो यज० । [५]क. स्य शूद्रमन्तर्वहि० । ख. ०स्य शूद्रस्यान्नव० । [६]ख. कर्मशक्तेन । ग. सूर्यशाक्तस्तु । [७]ख। ०न पूर्वक० । [८]क. ख. ०र्मस्वनुष्ठि० । [९]ग. कर्मणि । [१०]ख. ग. अपूर्णे । [११]ख. मुखेन ।

व्यास उवाच

तमुवाचाथ चाण्डालो यदि प्राणिवधाद्भवान् । निवृत्तिं कुरुते दद्यां ततः पश्चिमगीतिकाम् ।।८६।।
बाढमित्यवदत्सोऽपि मातङ्गोऽपि ददौ तदा । गीतिकाफलमामन्त्र्य मुहूर्तार्धप्रजागरम् ।।८७।।
तस्मिन्गीतिफले दत्ते मातङ्गं ब्रह्मराक्षसः । प्रणम्य प्रययौ हृष्टस्तीर्थवर्यं पृथूदकम् ।।८८।।
तत्रानशनसंकल्पं कृत्वा प्राणाञ्जहौ द्विजाः । राक्षसत्वाद्विनिर्मुक्तो गीतिकाफलबृंहितः ।।८९।।
पृथूदकप्रभावाच्च ब्रह्मलोकं च दुर्लभम् । दश वर्षसहस्राणि निरातङ्कोऽवसत्ततः ।।९०।।
तस्यान्ते ब्राह्मणो जातो बभूव स्मृतिमान्वशी । तस्याहं चरितं भूयः कथयिष्यामि भो द्विजाः ।।९१।।
मातङ्गस्य कथाशेषं शृणुध्वं गदतो मम । राक्षसे तु गते धीमान्गृहमेत्य यतात्मवान् ।।९२।।
तद्विप्रचरितं स्मृत्वा निर्विण्णः शुचिरप्यसौ । पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य ददौ भूम्याः प्रदक्षिणाम् ।।९३।।
कोकामुखात्समारभ्य यावद्वै स्कन्ददर्शनम् । दृष्ट्वा स्कन्दं ययौ [१]धाराचक्रे चापि प्रदक्षिणम् ।।९४।।
ततोऽद्रिवरमागम्य विन्ध्यमुच्चशिलोच्चयम् । पापप्रमोचनं तीर्थमाससाद स तु द्विजाः ।।९५।।
[२]स्नानं पापहारं चक्रे स तु चाण्डालवंशजः । विमुक्तपापः सस्मार पूर्वजातीरनेकशः ।।९६।।
स पूर्वजन्मन्यभवद्भिक्षुः संयतवाङ्मनाः । यतकायश्च[३] मतिमान्वेदवेदाङ्गपारगः ।।९७।।
एकदा गोषु नगराद्ध्रियमाणासु तस्करैः । भिक्षाऽवधूता[४] रजसा मुक्ता[५] तेनाथ भिक्षुणा ।।९८।।

व्यास ने कहा—तदुपरान्त चाण्डाल ने उससे कहा—'यदि तुम प्राणियों का मारना वन्द कर दो तो मैं पिछले गीत का फल दे दूँ।' उसने कहा—'हाँ, निश्चय।' तव चाण्डाल ने आधी घड़ी के कारण जगारण तथा गीत का फल उसे दे दिया। गीत-फल दे देने पर व्रह्मराक्षस चाण्डाल को प्रणाम करके पृथूदक नामक तीर्थ में चला गया ।।८६-८८।। द्विजगण ! वहाँ उसने अनशन का संकल्प करके प्राणत्याग कर दिया। गीत-फल ले लेने के कारण वह राक्षसयोनि से मुक्त हो गया। पृथूदक तीर्थ के प्रभाव से वह दुर्लभ व्रह्मलोक में गया। वहाँ दश हजार वर्ष तक वह सुखपूर्वक वास करता रहा ।।८९-९०।। अन्त में वह धर्मशास्त्री तथा जितेन्द्रिय होकर उत्पन्न हुआ। द्विजवृन्द ! उसका चरित्र-वर्णन मैं फिर करूँगा। अभी चाण्डाल का कथाशेष आप लोग सुनें ।।९१½।। राक्षस के चले जाने पर वह संयमी तथा वुद्धिमान् चाण्डाल घर आया। उस व्राह्मण के चरित्र का स्मरण कर वह दुःखी हुआ। तव पुत्रों पर स्त्री का भार सौंप कर उसने पृथ्वी की प्रदक्षिणा की। कोकामुख नामक तीर्थ से लेकर स्कन्द तीर्थ तक यात्रा की। धाराचक्र की भी प्रदक्षिणा की ।।९२-९४।। तव विन्ध्याचल पर्वतपर चढ़कर वह पाप-प्रमोचन नामक तीर्थ में पहुँचा। उसमें स्नान करके वह पापमुक्त होकर अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करने लगा ।।९५-९६।। वह पूर्व जन्म में संयमी, वाग्मी, वुद्धिमान् तथा वेदवेदांगपारंगत भिक्षुक था ।।९७।। एक समय वहुत से चोर नगर से गायों को ले जा रहे थे। भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए उस भिक्षुक ने देखकर गायों को नहीं छुड़ाया। उसी पाप के दोष से वह चाण्डाल-योनि में उत्पन्न हुआ। पापप्रमोचन में स्नान करके वह नर्मदा नदी

---

[१] क. ग. ०धारां च० । [२] ग. स्थानं । [३] क. जितकायश्च । [४] ग. ०वभूता । [५] ख. भुक्ता ।

पापप्रमोचने स्नातः स [2]मृतो नर्मदातटे[3] ॥९९॥
स [1]तेनाधर्मदोषेण चाण्डालीं योनिमागतः । तत्रास्य वसतोऽब्दैस्तु [4]त्रिंशद्भिः सिद्धपूरुषः ॥१००॥
मूर्खोऽभूद्ब्राह्मणवरो वाराणस्यां च भो द्विजाः । तं दृष्ट्वा सोपहासार्थमभिवाद्याभ्युवाच ह ॥१०१॥
विरूपरूपी [5]बभ्राम योगमायाबलान्वितः ।
कुशलं सिद्धपुरुषं[6] कुतस्त्वागम्यते त्वया[7] ॥१०२॥

व्यास उवाच

एवं संभाषितस्तेन ज्ञातोऽहमिति चिन्त्य तु । प्रत्युवाचाथ [8]वन्द्यस्तं स्वर्गलोकादुपागतः ॥१०३॥
तं सिद्धं प्राह मूर्खोऽसौ किं त्वं वेत्सि त्रिविष्टपे । नारायणोरुप्रभवामुर्वशीमप्सरोवराम् ॥१०४॥
सिद्धस्तमाह तां वेद्मि शक्रचामरधारिणीम् । स्वर्गस्याऽऽभरणं मुख्यमुर्वशीं साधुसंभवाम् ॥१०५॥
विप्रः सिद्धमुवाचाथ ऋजुमार्गविवर्जितः[9] । तन्मित्र मत्कृते वार्तामुर्वश्य भवताऽऽदरात् ॥१०६॥
कथनीया यच्च सा ते ब्रूयादाख्यास्ते भवान् । बाढमित्यब्रवीत्सिद्धः सोऽपि विप्रो मुदाऽन्वितः ॥१०७॥
बभूव सिद्धोऽपि ययौ मेरुपृष्ठं सुरालयम् । समेत्य चोर्वशीं प्राह यदुक्तोऽसौ द्विजेन तु ॥१०८॥
सा प्राह तं सिद्धवरं नाहं काशिपतिं द्विजम् । जानामि सत्यमुक्तं ते न चेतसि मम स्थितम् ॥१०९॥
इत्युक्तः प्रययौ सोऽपि कालेन बहुना पुनः । वाराणसीं ययौ सिद्धो दृष्टो मूर्खेण वै पुनः ॥११०॥

के तट पर जाकर मर गया ॥९८-९९॥ तदनन्तर उसने वाराणसी में महामूर्ख होकर जन्म लिया । वहाँ तीस वर्ष के वाद एक दिन कोई सिद्ध योगी उसे मिले । उन्हें देखकर उपहास करने के लिये उसने प्रणाम करके उनसे पूछा—'कहिये, कुशल हैं ? कहाँ से आ रहे हैं ?' ॥१००-१०२॥

व्यास ने कहा—इस प्रकार पूछे जाने पर योगी ने समझा कि इसने मुझे पहचान लिया । इसलिये उन्होंने कहा कि मैं स्वर्गलोक से आ रहा हूँ । तव मूर्ख ने फिर उनसे प्रश्न किया—'स्वर्ग में भगवान् की जंघा से उत्पन्न उर्वशी नामक श्रेष्ठ अप्सरा को आप जानते हैं ?' ॥१०३-१०४॥ सिद्ध ने उत्तर दिया—'हाँ, इन्द्र को चामर डुलाने वाली, स्वर्ग-भूषण तथा महात्मा से उत्पन्न उर्वशी को मैं जानता हूँ ॥१०५॥' ब्राह्मण ने सरल मार्ग को छोड़ कर सिद्ध से कहा—'मित्र ! मेरी वात आप उर्वशी से आदरपूर्वक कह देंगे । तव वह जो कहे सो मुझे भी वतला देंगे ।' सिद्ध ने कहा—'अच्छा' । ब्राह्मण प्रसन्न हो गया ॥१०६-१०७॥ सिद्ध सुमेरुपर्वत पर चले गये । वहाँ उन्होंने उर्वशी से ब्राह्मण का निवेदन कह सुनाया । उर्वशी ने सिद्ध से कहा—'मैं काशी के ब्राह्मण को नहीं जानती हूँ । मैं सत्य कहती हूँ । मेरा उससे कोई परिचय नहीं है ।' इसके बाद वहुत दिन वीत जाने पर सिद्ध पुनः वाराणसी गये । फिर उस मूर्ख ने उन्हें देख लिया । देखते ही पूछा—'उर्वशी ने क्या कहा ?' सिद्ध ने उत्तर

१क. तेन ब्रह्मदो० । ख. तेन भमदो० । २ग. मूढो । ३क. ०टे । मुख्योऽभू० । ख. ०टे । मुक्तोऽभू० । ४क. ख. विंशद्भिः । ५क. ख। वलवान्योग० । ६क. ०रु कु० । ७ख. ग. चिरात् । ८ख. वन्द्यं तं स्व० । ९ग. ०र्गप्रधर्षिताम् । त० ।

दृष्टः पृष्टः किल भूयः किमाहोरुभवा तव । सिद्धोऽब्रवीन्न जानामि मामुवाचोर्वशी स्वयम् ।।१११।।
सिद्धवाक्यं ततः श्रुत्वा स्मितभिन्नौष्ठसंपुटः । पुनः प्राह कथं वेत्सीत्येवं वाच्या त्वयोर्वशी ।।११२।।
वाढमेवं करिष्यामीत्युक्त्वा सिद्धो दिवं गतः । ददर्श शक्रभवनान्निष्क्रामन्तीमथोर्वशीम्[1] ।।११३।।
प्रोवाच तां सिद्धवरः सा च तं सिद्धमब्रवीत् । नियमं कंचिदपि हि करोतु द्विजसत्तमः ।।११४।।
येनाहं कर्मणा सिद्ध तं जानामि न चान्यथा । तदुर्वशीवचोऽभ्येत्य तस्मै मूर्खद्विजाय तु ।।११५।।
कथयामास सिद्धस्तु सोऽपीयं नियमं जगौ । तवाग्रे सिद्धपुरुष नियमोऽयं कृतो मया ।।११६।।
न भोक्ष्येऽद्यप्रभृति वै [2]शकटं सत्यमीरितम् । इत्युक्तः प्रययौ सिद्धः स्वर्गे दृष्ट्वोर्वशीमथ ।।११७।।
प्राहासौ [3]शकटं भोक्ष्ये नाद्यप्रभृति कर्हिचित् । तं सिद्धमुर्वशी प्राह ज्ञातोऽसौ सांप्रतं मया ।।११८।।
नियमग्रहणादेव [4]मूर्खो मा (ऽय) मुपाहासकः । इत्युक्त्वा प्रययौ शीघ्रं वासं नारायणात्मजा ।।११९।।
सिद्धोऽपि विचचारासौ कामचारी महीतलम् । उर्वश्यपि वरारोहा गत्वा वाराणसीं पुरीम् ।।१२०।।
मत्स्योदरीजले स्नानं चक्रे दिव्यवपुर्धरा । अथासावपि मूर्खस्तु नदीं मत्स्योदरीं [5]मुने ।।१२१।।
जगामाथ ददर्शासौ स्नायमानामथोर्वशीम् । तां दृष्ट्वा ववृधेऽथास्य मन्मथः क्षोभकृद्दृढम् ।।१२२।।
चकार मूर्खश्चेष्टाश्च तं विवेदोर्वशी स्वयम् । तं मूर्खं सिद्धगदितं ज्ञात्वा सस्मितमाह तम् ।।१२३।।

दिया—'उर्वशी ने कहा—'मैं उसे नहीं जानती हूँ ।।१०८-१११।। सिद्ध के वाक्य को सुनकर मुस्कराते हुए ब्राह्मण ने कहा—'अब की आप उर्वशी से कहिएगा—'तुम कैसे जान सकती हो ।।११२।। ?' 'अच्छा' कहकर सिद्ध स्वर्ग चले गये । चन्द्रभवन से निकलती हुई उर्वशी को देखकर सिद्ध ने ब्राह्मण का कथन सुना दिया । उर्वशी ने सिद्ध से कहा—'यदि वह ब्राह्मण मुझसे कोई प्रतिज्ञा करे, तो मैं उसे जान जाऊँगी; अन्यथा तो जान ही नहीं सकती ।' उर्वशी की बात सिद्ध ने आकर मूर्ख ब्राह्मण से कह दी । ब्राह्मण बोला—'सिद्धपुरुष ! आपके सामने मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से मैं शकट (तिनिश या धव वृक्ष का फल या गाड़ी) नहीं खाऊँगा ।' ।।११३-११६$\frac{१}{३}$।। इसके बाद सिद्ध ने स्वर्ग में जाकर उर्वशी से कहा—'उसने प्रतिज्ञा की है कि आज से लेकर मैं कभी शकट नहीं खाऊँगा ।' तब उर्वशी ने कहा—'हाँ, अब मैं जान गयी । प्रतिज्ञा करने से ही मैं समझ गयी कि यह मूर्ख मेरा उपहास करने वाला है ।' इतना कहकर वह शीघ्र ही अपने वासस्थान पर चली गयी ।।११७-११९।। स्वेच्छाचारी सिद्ध भी पृथ्वी पर विचरण करने लगे । तब सुन्दरी उर्वशी वाराणसी जाकर दिव्य शरीर धारण कर मत्स्योदरी नामक नदी के जल में स्नान करने लगी । वह मूर्ख ब्राह्मण भी स्नान करती हुई उर्वशी को देखने के लिये मत्स्योदरी के तट पहुँचा । उर्वशी को देखते ही उसका कामवेग बढ़ गया । वह अपनी चेष्टा भी प्रकट करने लगा । उर्वशी उस मूर्ख के बारे में सिद्ध के मुख से सुन चुकी थी। इसलिये स्वयं उसे पहचान कर मुस्कराती हुई बोली ।।१२०-१२३।।

१ख. ०नाद्विनिष्क्रान्ताम० । २क. संकटं । ३ख. संकटं । ४ख. मूर्खः साधुप्रहारकः । ५क. शुभम् ।

उर्वश्युवाच

किमिच्छसि महाभाग मत्तः शीघ्रमिहोच्यताम् । करिष्यामि वचस्तुभ्यं त्वं विश्रब्धं करिष्यसि ॥१२४॥

मूर्खब्राह्मण उवाच

आत्मप्रदानेन मम प्राणान्रक्ष शुचिस्मिते ॥१२५॥

व्यास उवाच

तं प्राहाथोर्वशी विप्रं नियमस्थाऽस्मि सांप्रतम् । त्वं तिष्ठस्व क्षणमथ प्रतीक्षस्वाऽऽगतं मम ॥१२६॥
स्थितोऽस्मीत्यब्रवीद्विप्रः साऽपि स्वर्गं जगाम ह । मासमात्रेण साऽऽयाता ददर्श तं कृशं द्विजम् ॥१२७॥
स्थितं मासं नदीतीरे निराहारं सुराङ्गना । तं दृष्ट्वा निश्चययुतं भूत्वा वृद्धवपुस्ततः[1] ॥१२८॥
सा चकार नदीतीरे शकटं शर्करावृतम् । घृतेन मधुना चैव नदीं मत्स्योदरीं गता ॥१२९॥
स्नात्वाऽथ भूमौ वसन्ती शकटं च यथार्थतः । तं ब्राह्मणं समाहूय वाक्यमाह सुलोचना ॥१३०॥

उर्वश्युवाच

मया तीव्रं व्रतं विप्र चीर्णं सौभाग्यकारणात् । व्रतान्ते निष्कृतिं दद्यां प्रतिगृह्णीष्व भो द्विज ॥१३१॥

व्यास उवाच

सा प्राह किमिदं लोके दीयते शर्करावृतम्[2] । क्षुत्क्षामकण्ठः पृच्छामि साधु भद्रे समीरय ॥१३२॥

उर्वशी बोली—महाभाग ! मुझसे क्या चाहते हो ? शीघ्र वतलाओ । तुम विश्वास करो । मैं तुम्हारी वात मानूँगी ॥१२४॥

मूर्ख ब्राह्मण ने कहा—पवित्र हास्य करने वाली ! तुम आत्मदान देकर मेरे प्राणों की रक्षा करो ॥१२५॥

व्यास ने कहा—तव उर्वशी ने उससे कहा—'इस समय मैं नियम-पालन कर रही हूँ । तुम क्षण भर मेरे आगमन की प्रतीक्षा करो ।' व्राह्मण ने कहा—मैं ठहरता हूँ ।' उर्वशी स्वर्ग चली गई । एक महीने का वाद लौटी तव तक वह व्राह्मण नदी तट पर निराहार रहकर कृशकाय हो गया था । उसका दृढ़ निश्चय देखकर उर्वशी शकट में शक्कर, घी और मधु मिलाकर मत्स्योदरी में स्नान करके तट पर उस व्राह्मण को बुलाकर कहने लगी ॥१२६-१३०॥

उर्वशी ने कहा—विप्र ! मैंने सौभाग्य से उग्र व्रत को सम्पन्न किया । अव मैं तुम्हें वदला दूँगी । इसे स्वीकार करो ॥१३१॥

व्यास ने कहा—व्राह्मण ने पूछा—'भद्रे ! यह गुड़मिश्रित कौन सी चीज तुम दे रही हो ? मैं भूखा-प्यासा हूँ । सच वतलाओ ।' ॥१३२॥ उर्वशी ने कहा—'विप्र ! यह गुड़मिश्रित शकट है । इसे शीघ्र खाकर तुम आत्म

---

[1] ग. ०तः । व्रतान्ते । पिष्टककृतं श० । [2] क. ०रायुत० ।

सा प्राह शकटो विप्र शर्करापिष्टसंयुतः । इमं त्वं समुपादाय प्राण तर्पय मा चिरम् ॥१३३॥
स तच्छ्रुत्वा संस्मृत्य क्षुधया पीडितोऽपि सन् । प्राह भद्रे न गृह्णामि[1] नियमो हि कृतो मया ॥१३४॥
पुरतः सिद्धवर्गस्य न भोक्ष्ये शकटं त्विति । परिज्ञानार्थमुर्वश्या ददस्वान्यस्य कस्यचित् ॥१३५॥
साऽब्रवीन्नियमो भद्र कृतः काष्ठमये त्वया । नासौ काष्ठमयो भुङ्क्ष्व क्षुधया चातिपीड़ितः ॥१३६॥
तां ब्राह्मणः प्रत्युवाच न मया तद्विशेषणम् । कृतं भद्रेऽथ नियमः सामान्येनैव मे कृतः ॥१३७॥
तं भूयः प्राह सा तन्वी न चेद्भोक्ष्यसि ब्राह्मण । गृहं गृहीत्वा गच्छस्व कुटुम्बं तव भोक्ष्यति ॥१३८॥
स तामुवाच सुदति न तावद्यामि मन्दिरम् । इहाऽऽयाता वरारोहा त्रैलोक्येऽप्यधिका गुणैः ॥१३९॥
सा मया मदनार्तेन प्रार्थितऽऽश्वासितस्तया । स्थीयतां क्षणमित्येवं स्थास्यामीति मयोदितम् ॥१४०॥
मासमात्रं गतायास्तु तस्या भद्रे स्थितस्य च । मम सत्यानुरक्तस्य संगमाय धृतव्रते ॥१४१॥
तस्य सा वचनं श्रुत्वा कृत्वा स्वं रूपमुत्तमम् । विहस्य भावगम्भीरमुर्वशी प्राह तं द्विजम् ॥१४२॥

उर्वश्युवाच

साधु सत्यं त्वया विप्र व्रतं निष्ठिचेतसा । निष्पादितं हठादेव मम दर्शनमिच्छता ॥१४३॥
अहमेवोर्वशी विप्र[2] त्वां विप्र[2] त्वां [3]जिज्ञासार्थमागता । परीक्षितो निश्चितवान्भवान्सत्यतपा ऋषिः ॥१४४॥
गच्छ[4] [5]शूकरवोद्देशं रूपतीर्थेति विश्रुतम् । सिद्धिं यास्यसि विप्रेन्द्र ततस्त्वं मामवाप्स्यसि ॥१४५॥

तृप्ति करो ।' यह सुनते ही उसे स्मरण हो आया । तव क्षुधा से पीड़ित होते हुए भी उसने कहा—'भद्रे ! मैंने सिद्धपुरुष के सामने प्रतिज्ञा की है कि मैं शकट नहीं खाऊँगा । इसलिये तुम दूसरे किसी को दे दो ॥१३३-१३५॥ उर्वशी ने कहा—'भद्र ! तुमने लकड़ी के शकट के वारे में प्रतिज्ञा की है । यह तो लकड़ी का नहीं है । तुम अत्यन्त भूखे हो । इसलिये खा लो ॥१३६॥ ब्राह्मण ने कहा—'भद्रे ! मैंने सामान्यतया प्रतिज्ञा की थी, विशेष करके नहीं ।' उर्वशी ने कहा—ब्राह्मण ! यदि खाओगे नहीं तो इसे घर ले जाओ, तुम्हारे कुटुम्व खा लेंगे ॥१३७-१३८॥ ब्राह्मण ने कहा—'मनोहर दांत वाली ! मैं घर नहीं जाऊँगा । तीनों लोक में सवसे अधिक गुणवती कामिनी यहाँ आई है—यह जानकर मैं तुम्हारे पास आया और कामपीड़ित होकर मैंने तुमसे प्रार्थना की । तुमने भी आश्वासन दिया कि क्षण भर ठहरो । मैंने उत्तर दिया कि ठहरता हूँ ॥१३९-१४०॥ भद्रे ! तुम एक मास तक गई ही रही । मैं तब से यहीं हूँ । मुझे तुमसे सच्चा प्रेम है ।' उसके वचन सुनकर उर्वशी उत्तम स्वरूप बनाकर हँसती हुई गम्भीरतापूर्वक उससे कहने लगी ॥१४१-१४२॥

उर्वशी बोली—विप्र ! तुमने सत्य कहा । मेरे दर्शन की इच्छा से तुमने श्रद्धायुक्त चित्त से हठपूर्वक व्रत सम्पन्न किया । मैं ही उर्वशी हूँ । तुम्हारी जिज्ञासा करने के लिये आई हूँ । मैंने परीक्षा की । तुम निश्चयी तथा सत्य तपस्वी ऋषि हो । विप्रेन्द्र ! तुम तोते के शब्द के अनुसार रूपतीर्थ में जाओ । वहाँ सिद्धि प्राप्त करने के वाद तुम मुझे पा जाओगे ॥१४३-१४५॥

---

[1]क. ख. ग्रहीष्ये । [2]क. ०प्र जि० । ख. ०प्र त्वज्जिज्ञा० । [3]क. ०र्थमुपाग० । [4]क. च्छ त्वं शू० । [5]क. ०करोद्दे० ।

व्यास उवाच

इत्युक्त्वा दिवमुत्पत्य सा जगामोर्वशी द्विजाः । स च सत्यतपा विप्रो रूपतीर्थं जगाम ह ॥१४६॥
तत्र[1] शान्तिपरो भूत्वा नियमव्रतधृक्शुचिः । देहोत्सर्गे जगामासौ गान्धर्वं लोकमुत्तमम् ॥१४७॥
तत्र मन्वन्तरशतं भोगान्भुक्त्वा यथार्थतः । बभूव सुकुले राजा प्रजारञ्जनतत्परः ॥१४८॥
स यज्वा विविधैर्यज्ञैः समाप्तवरदक्षिणैः । पुत्रेषु राज्यं निक्षिप्य ययौ [2]शौकरवं पुनः ॥१४९॥
रूपतीर्थे मृतो भूयः शक्रलोकमुपागतः । तत्र मन्वन्तरशतं भोगान्भुक्त्वा ततश्च्युतः ॥१५०॥
प्रतिष्ठाने पुरवरे[3] बुधपुत्रः पुरूरवाः । बभूव तत्र चोर्वश्याः संगमाय तपोधनाः ॥१५१॥
एवं पुरा सत्यतपा द्विजातिस्तीर्थे प्रसिद्धे स हि रूपसंज्ञे ।
आराध्य जन्मन्यथ चार्च्य विष्णुमवाप्य भोगानथ मुक्तिमेति ॥१५२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे प्रजागरे गीतिकायाः प्रशंसानिरूपणं
नाम अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२८॥

व्यास ने कहा—द्विजगण ! इतना कहकर उर्वशी आकाश में उड़ गई । वह सत्यतपस्वी ब्राह्मण रूपतीर्थ के लिये प्रस्थित हुआ । ॥१४६॥ वहाँ शान्ति, नियम तथा व्रत धारण कर पवित्रतापूर्वक उसने देहत्याग किया । मृत्यु के पश्चात् वह गन्धर्वलोक में गया । वहाँ सौ मन्वन्तरों तक उत्तम भोगों को भोग कर सद्वंश में राजा होकर उत्पन्न हुआ । उसने प्रजापालन में निरत रहकर उत्तम दक्षिणा देकर अनेक यज्ञ किये । पश्चात् पुत्रों को राज्य सौंप कर रूपतीर्थ के लिए प्रस्थान किया । वहाँ पर शरीर त्यागकर वह इन्द्रलोक पहुँचा । वहाँ सौ मन्वन्तरों तक भोगों को भोगकर वहाँ से च्युत होने पर प्रतिष्ठान नामक श्रेष्ठपुरी में बुध का पुत्र पुरूरवा होकर उत्पन्न हुआ । मुनिवृन्द ! वहाँ उर्वशी के साथ उसका संगम हुआ । इस प्रकार पूर्वकाल में सत्यतपा नामक ब्राह्मण ने प्रसिद्ध रूपतीर्थ में विष्णु की आराधना कर जन्म के पश्चात् अनेक भोगों को भोगकर मोक्ष प्राप्त किया ॥१४७-१५२॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में जागरण-गीत-प्रशंसा-निरूपण
नामक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त ॥२२८॥

१ग. ०त्र क्षान्ति० । २क. शूकरकं । ३ख. ०वरं इलापु० ।

अथैकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यासमुनिसंवादे विष्णुभक्तिहेतुकथनम्

मुनय ऊचुः

श्रुतं फलं गीतिकाया अस्माभिः सुप्रजागरे । कृष्णस्य येन चाण्डालो गतोऽसौ परमां गतिम् ॥१॥
यथा विष्णौ भवेद्भक्तिस्तन्नो ब्रूहि महामते । तपसा कर्मणा येन श्रोतुमिच्छाम सांप्रतम् ॥२॥

व्यास उवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूलाः प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः । यथा कृष्णे भवेद्भक्तिः पुरुषस्य महाफला ॥३॥
संसारेऽस्मिन्महाघोरे सर्वभूतभयावहे । [1]महामोहकरे नृणां नानादुःखशताकुले[2] ॥४॥
तिर्यग्योनिसहस्रेषु जायमानः पुनः पुनः । कथंचिल्लभते जन्म देही मानुष्यकं द्विजाः ॥५॥
मानुषत्वेऽपि विप्रत्वं विप्रत्वेऽपि विवेकिता । विवेकाद्धर्मबुद्धिस्तु बुद्ध्या तु श्रेयसां ग्रहः ॥६॥
यावत्पापक्षयं पुंसां न भवेज्जन्मसंचितम् । तावन्न जायते भक्तिर्वासुदेवे जगन्मये ॥७॥
तस्माद्वक्ष्यामि भो विप्रा भक्तिः कृष्णे यथा भवेत् । अन्यदेवेषु या भक्तिः पुरुषस्येह जायते ॥८॥

अध्याय २२९

व्यास और मुनियों के संवाद में विष्णुभक्ति का कारण-वर्णन

मुनियों ने कहा—महावुद्धिमान् ! हमने जागरण-कालीन कृष्ण-गीत के फल तथा चाण्डाल के परम गति प्राप्त करने के विषय में सुना। अव विष्णु में जिस प्रकार भक्ति हो, वह वतलाइये। जिस तप या कर्म से विष्णु-भक्ति होती है, वह हम सुनना चाहते हैं ॥१-२॥

व्यास ने कहा—मुनिवर्य ! जिस प्रकार पुरुष को कृष्ण में महाफलदायिनी भक्ति होगी, वह मैं अक्षरशः वतलाऊँगा ॥३॥ द्विजगण ! महाभयंकर, समस्त प्राणियों के लिये भयावह, महामोहकारी तथा अनेक प्रकार के दुःखों से परिपूर्ण इस संसार में प्राणी हजारों नीचयोनियों में वार-वार उत्पन्न होकर कभी मनुष्य-शरीर प्राप्त करता है ॥४-५॥ मनुष्ययोनि में भी व्राह्मण होना और व्राह्मणत्व प्राप्त होने पर भी विवेक होना परम दुर्लभ है। विवेक से धर्मबुद्धि होती है और उससे कल्याण होता है ॥६॥ पुरुषों का पूर्वजन्मार्जित पाप जब तक नष्ट नहीं होता है तव तक विश्वात्मा वासुदेव में भक्ति नहीं होती है ॥७॥ विप्रवृन्द ! इसलिये जिस उपाय से कृष्ण तथा अन्य देवों में पुरुष को भक्ति होगी, वह मैं वतलाऊँगा ॥८॥ मुनिश्रेष्ठो ! कर्म, मन, वाणी से उसी देव में

---

[1] क. ०हाभयक० । [2] क. ख. ०ले । निन्द्योयोनि० ।

कर्मणा मनसा वाचा तद्गतेनान्तरात्मना । तेन तस्य भवेद्भक्तिर्यजने मुनिसत्तमाः ॥९॥
स करोति ततो विप्रा भक्तिं [1]चाग्नेः समाहितः । तुष्टे हुताशने तस्य भक्तिर्भवति भास्करे ॥१०॥
पूजां करोति सततमादित्यस्य ततो द्विजाः । प्रसन्ने भास्करे तस्य भक्तिर्भवति शंकरे ॥११॥
पूजां करोति विधिवत्स तु शंभोः प्रयत्नतः । तुष्टे त्रिलोचने तस्य भक्तिर्भवति केशवे ॥१२॥
संपूज्य तं जगन्नाथं वासुदेवाख्यमव्ययम् । ततो भुक्तिं च मुक्तिं च स प्राप्नोति द्विजोत्तमाः ॥१३॥

मुनय ऊचुः

अवैष्णवा नरा ये तु दृश्यन्ते च महामुने । किं ते विष्णुं नार्चयन्ति ब्रूहि तत्कारणं द्विज ॥१४॥

व्यास उवाच

द्वौ भूतसर्गौ विख्यातौ लोकेऽस्मिन्मुनिसत्तमाः । आसुरश्च तथा दैवः पुरा सृष्टः स्वयंभुवा ॥१५॥
दैवीं प्रकृतिमासाद्य पूजयन्ति ततोऽच्युतम् । आसुरीं योनिमापन्ना दूषयन्ति नरा हरिम् ॥१६॥
मायया हतविज्ञाना विष्णोस्ते तु नराधमाः । अप्राप्य तं हरिं विप्रास्ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥१७॥
[2]तस्य या गह्वरी माया दुर्विज्ञेया सुरासुरैः । महामोहकरी नृणां दुस्तरा चाकृतात्मभिः ॥१८॥

मुनय ऊचुः

इच्छामस्तां महामायां ज्ञातुं विष्णोः सुदुस्तराम् । वक्तुमर्हसि धर्मज्ञ परं कौतूहलं हि नः ॥१९॥

चित्त लगाकर यज्ञ करने से भक्ति होती है। सावधान होकर अग्नि की भक्ति करनी चाहिये। अग्नि से संतुष्ट होने पर सूर्य में भक्ति होती ॥९-१०॥ सतत सूर्य की पूजा करने से उनके प्रसन्न होने पर शंकर में भक्ति होती है। यत्न करके विधिपूर्वक शंकर की पूजा करने से उनके प्रसन्न होने पर कृष्ण में भक्ति होती है। वासुदेव संज्ञक अविनाशी जगन्नाथ की पूजा करने से भक्ति-मुक्ति की प्राप्ति होती है ॥११-१३॥

मुनियों ने कहा—महामुने ! जो मनुष्य अवैष्णव देखे जाते हैं, क्या वे विष्णु की पूजा नहीं करते हैं ? विप्र ! इसका कारण बतलाइये ॥१४॥

व्यास ने कहा—मुनिवर ! इस लोक में ब्रह्मा ने प्राणियों की दो प्रकार की सृष्टि की है—एक आसुरी सृष्टि और दूसरी दैवी। दैवी प्रकृति के मनुष्य वासुदेव की पूजा करते हैं और आसुरी योनि वाले मनुष्य हरि की निन्दा करते हैं। वे नाराधम विष्णु की माया से हतबुद्धि होकर हरि को न पाने से अधम गति को प्राप्त करते हैं। विष्णु की जो कठिन माया है, उसे देवता तथा राक्षस नहीं जानते हैं। वह मनुष्यों को महामोह में डालती है। वह अजितेन्द्रिय व्यक्तियों से दुर्जेय है ॥१५-१८॥

मुनियों ने कहा—हम विष्णु की दुर्जेय माया को जानना चाहते हैं। धर्मज्ञ ! बतलाइये ! हमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥१९॥

---

[1]ख. चाग्नौ । [2]क. तस्यैवैषा महामा० ।

व्यास उवाच

स्वप्नेन्द्रजालसंकाशा माया सा लोककर्षणी । कः शक्नोति हरेर्मायां ज्ञातुं तां केशवादृते ॥२०॥
या वृत्ता [1]ब्राह्मणस्याऽऽसीन्मायार्थे[2] नारदस्य च । विडम्बनां तु तां विप्राः शृणुध्वं गदतो मम ॥२१॥
प्रागासीन्नृपतिः श्रीमानाग्नीध्र इति विश्रुतः । नगरे कामदमनस्तस्याथ तनयः शुचिः ॥२२॥
धर्मारामः क्षमाशीलः पितृशुश्रूषणे रतः । प्रजानुरञ्जको दक्षः श्रुतिशास्त्रकृतश्रमः ॥२३॥
पिताऽस्य त्वकरोद्यत्नं विवाहाय न चैच्छत । तं पिता प्राह किमिति नेच्छसे दारसंग्रहम् ॥२४॥
सर्वमेतत्सुखार्थं हि वाञ्छन्ति मनुजाः किल । सुखमूला हि दाराश्च तस्मात्तं त्वं समाचर ॥२५॥
स पितुर्वचनं श्रुत्वा तूष्णीमास्ते च गौरवात् । मुहुर्मुहुस्तं च पिता चोदयामास भो द्विजाः ॥२६॥
अथासौ पितरं प्राह तात नामानुरूपता[3] । मया समाश्रिता [4]व्यक्ता वैष्णवी परिपालिनी ॥२७॥
तं पिता प्राह[5] संगम्य नैष धर्मोऽस्ति पुत्रक । न [6]विधारयितव्या स्यात्पुरुषेण विपश्चिता ॥२८॥
कुरु मद्वचनं पुत्र प्रभुरस्मि पिता तव । मा निमज्ज कुलं मह्यं नरके संततिक्षयात्[7] ॥२९॥
स हि तं पितुरादेशं श्रुत्वा[8] प्राह सुतो वशी । प्रीतः संस्मृत्य पौराणीं संसारस्य विचित्रताम् ॥३०॥

पुत्र उवाच

शृणु तात वचो मह्यं तत्त्ववाक्यं सहेतुकम् । नामानुरूपं कर्तव्यं सत्यं भवति पार्थिव ॥३१॥

व्यास ने कहा—लोगों को मोहित करने वाली वह माया स्वप्न तथा इन्द्रजाल के समान है। बिना भगवान् के उसे कौन जान सकता है ? विप्रवृन्द ! उस माया के कारण विप्र नारद की जो दशा हुई, उसे मुझसे सुन लीजिये ॥२०-२१॥ प्राचीन समय में आग्नीध्र नामक राजा था। उसका पुत्र कामदमन पवित्र, धर्मात्मा, क्षमाशील, प्रजाप्रेमी, निपुण तथा वेदशास्त्रवेत्ता था। पिता ने पुत्र के विवाह के लिये यत्न किया, पर पुत्र ने अस्वीकार कर दिया। तब पिता ने पुत्र से पूछा—'क्यों तुम विवाह नहीं करना चाहते हो ? मनुष्य सब कुछ सुख ही के लिये चाहते हैं। स्त्री सुख की जड़ है। इसलिये तुम विवाह कर लो' ॥२२-२५॥ पुत्र पिता का वचन सुनकर चुप हो गया। पिता ने बार-बार उससे पूछा ॥२६॥ तब उसने पिता से कहा—'तात ! मैंने विष्णु के नामानुरूप उनकी लोकपालिनी माया का आश्रय लिया है।' पिता ने फिर उससे कहा—'पुत्र यह धर्म नहीं है। विद्वान् पुरुष को विष्णु-माया का धारण नहीं करना चाहिये। पुत्र मेरी बात मानो। मैं तुम्हारा अध्यक्ष तथा पिता हूँ। सन्तान-क्षय करके कुल को नकर में मत डालो ॥२७-२९॥ पिता की आज्ञा सुनकर वश्यात्मा पुत्र संसार की पुरातनी विचित्रता का स्मरण करके प्रसन्न हुआ ॥३०॥

पुत्र ने कहा—तात ! मेरे हेतुपूर्ण तत्त्ववचन को आप सुनें। राजन् ! विष्णु की माया के अनुरूप कार्य

---

[1]क. ०णश्रेष्ठा माया०। [2]ख. ०स्यार्थे माया०। [3]ग. ०व्यतः। म०। [4]ग. व्यक्तं त्वदाज्ञाप०। [5]ग. ०ह प्रहसन्ग्राम्यं नाम च पू०। [6]ग. विचारयितव्यं। [7]क. ०त्। पितुरादेशनं श्रु०। [8]ग. कृत्वा।

मया जन्मसहस्राणि जरामृत्युशतानि च । प्राप्तानि दारसंयोगवियोगानि च सर्वशः ॥३२॥
तृणगुल्मलतावल्लीसरीसृपमृगद्विजः । पशुस्त्रीपुरुषाद्यानि प्राप्तानि शतशो मया ॥३३॥
गणकिंनरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः । यक्षगुह्यकरक्षांसि दानवाप्सरसः सुराः ॥३४॥
नदीश्वरसहस्रं च प्राप्तं तात पुनः पुनः । सृष्टस्तु बहुशः सृष्टौ संहारे चापि संहृतः ॥३५॥
दारसंयोगयुक्तस्य तातेदृङ्मे विडम्बना । इतस्तृतीये यद्वृत्तं मम जन्मनि तच्छृणु ॥
कथयामि समासेन तीर्थमाहात्म्यसंभवम् ॥३६॥

अतीत्य जन्मानि बहूनि तात, नृदेवगन्धर्वमहोरगाणाम् ।
विद्याधराणां खगकिंनराणां, जातो हि वंशे सुतपा महर्षिः ॥३७॥
ततो महाभूदचला हि भक्तिर्जनार्दने लोकपतौ मधुघ्ने ।
व्रतोपवासैर्विविधैश्च भक्त्या, संतोषतश्चक्रगदास्त्रधारी ॥३८॥
दुष्टोऽभ्यगात्पक्षिपतिं महात्मा, विष्णुः समारुह्य वरप्रदो मे ।
प्राहोच्चशब्दं व्रियतां द्विजाते, वरो हि यं वाञ्छसि तं प्रदास्ये ॥३९॥
ततोऽहमूचे हरिमीशितारं, तुष्टोऽसि चेत्केशव तद्वृणोमि ।
या सा त्वदीया परमा हि माया, तां वेत्तुमिच्छामि जनार्दनोऽहम् ॥४०॥
अथाब्रवीन्मे मधुकैटभारिः, किं ते तया ब्रह्मन्मायया वै ।
धर्मार्थकामानि ददानि तुभ्यं, पुत्राणि मुख्यानि निरामयत्वम् ॥४१॥

ही सत्य है। मैंने हजारों जन्म, सैकड़ों वृद्धत्व तथा मरण प्राप्त किये। स्त्रियों से संयोग तथा वियोग भी प्राप्त किये। सैकड़ों तृण, गुल्म, लता, मृग आदि प्राप्त किये। पशु, स्त्री, पुरुष, गण, किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर, महासर्प, यक्ष, गुह्यक, राक्षस, दानव, अप्सरा, देवता तथा सहस्रों नदियाँ प्राप्त कीं। अनेकों वार मेरा सर्जन तथा संहार हुआ। तात ! इसलिये मेरी समझ से स्त्री-संयोग करना विडम्वनामात्र है। इससे पिछले तीसरे जन्म में तीर्थ के माहात्म्य से उत्पन्न जो मेरा वृत्तान्त हुआ वह संक्षेप में कहता हूँ ॥३१-३६॥ तात ! मनुष्य, देवता, गन्धर्व, महासर्प, विद्याधर, पक्षी, किन्नर आदि अनेक जन्मों के वाद मैं सुतपा नामक महर्षि हुआ ॥३७॥ उस समय मधु नामक राक्षस के मारने वाले लोकपति जनार्दन में मेरी अचल भक्ति हुई। विविध व्रत, उपवास तथा भक्ति से मैंने चक्र, गदा तथा अस्त्र धारण करने वाले विष्णु को संतुष्ट किया ॥३८॥ प्रसन्न होने पर महात्मा विष्णु गरुड़ पर चढ़कर मुझे वरदान देने के लिये आये। उच्च स्वर में विष्णु ने कहा—'विप्र ! वर माँगो। तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह मैं दूँगा।' ॥३९॥ तव मैंने सर्वशक्तिमान् हरि से कहा—'केशव ! यदि आप प्रसन्न हैं तो मैं वर माँगता हूँ। जनार्दन ! आपकी जो परमा माया है, उसे मैं जानना चाहता हूँ' ॥४०॥ तव मधु-कैटभ के शत्रु भगवान् ने मुझसे कहा—'व्रह्मन् ! माया से तुम्हें क्या करना है ? मैं तुम्हें धर्म, अर्थ, काम, पुत्र तथा आरोग्य प्रदान करता हूँ' ॥४१॥ तव फिर मैंने मुर नामक राक्षस के शत्रु भगवान् से कहा—'अर्थ, धर्म, काम को जीतने वाली जो

ततो मुरारिं पुनरुक्तवानहं, भूयोऽर्थधर्मार्थजिगीषितैव यत् ।
माया तवेमामिह वेत्तुमिच्छे, ममाद्य तां दर्शय पुष्कराक्ष ।।४२।।
ततोऽभ्युवाचाथ नृसिंहमुख्यः, श्रीशः प्रभुर्विष्णुरिदं वचो मे ।।

विष्णुरुवाच

मायां मदीयां न हि वेत्ति कश्चिन्न चापि वा वेत्स्यति कश्चिदेव ।।४३।।
पूर्वं सुरर्षिर्द्विजनारदाख्यो, ब्रह्मात्मजोऽभून्मम भक्तियुक्तः ।
तेनापि पूर्वं भवता यथैव, संतोषितो भक्तिमता हि तद्वत् ।।४४।।
वरं च दत्तं (दातुं) गतवानहं च, स चापि वव्रे वरमेतदेव ।
निवारितो मामतिमूढभावाद्भवान्यथैवं वृतवान्वरं च ।।४५।।
ततो मयोक्तोऽम्भसि नारद त्वं, मायां हि मे वेत्स्यसि संनिमग्नः ।
ततो निमग्नोऽम्भसि नारदोऽसौ, कन्या बभौ काशिपतेः सुशीला ।।४६।।
तां यौवनाढ्यामथ चारुधर्मिणे, विदर्भराज्ञस्तनयाय वै ददौ ।
स्व (सु) धर्मणे सोऽपि तया समेतः, सिषेव कामानतुलान्महर्षिः ।।४७।।
स्वर्गे गतेऽसौ पितरि प्रतापवान्राज्यं क्रमायातमवाप्य हृष्टः ।
विदर्भराष्ट्रं परिपालयानः, पुत्रैः सपौत्रैर्बहुभिर्वृतोऽभूत् ।।४८।।
अथाभवद्भूमिपतेः सुधर्मणः, काशीश्वरेणाथ समं सुयुद्धम् ।
तत्र क्षयं प्राप्य (प) सपुत्रपौत्रं, विदर्भराट्काशिपतिश्च युद्धे ।।४९।।

आपकी माया है, उसी को मैं जानना चाहता हूँ। कमलाक्ष ! आज मुझे उसका दर्शन कराइये।' तदनन्तर नृसिंह, लक्ष्मीपति, प्रभु, विष्णु आदि नाम वाले भगवान् ने मुझसे यह वचन कहा ।।४२।।

विष्णु बोले—मेरी माया को न कोई जानता है न जानेगा। द्विज ! पहले ब्रह्मा के पुत्र भक्तिमान् देवर्षि नारद ने तुम्हारी ही तरह अपनी भक्ति से मुझे संतुष्ट किया। जव मैं वर देने के लिये गया तो उसने भी यही वर मांगा। मेरे मना करने पर भी उसने अत्यन्त मूर्खता से तुम्हारी ही तरह हठ किया ।।४३-४५।। तव मैंने कहा—'नारद ! जल में डूवकर तुम मेरी माया को जानोगे।' तदनन्तर वह नारद जल में निमग्न होने पर काशी-नरेश की सुशीला नामक वालिका वन गया ।।४६।। उस पूर्ण युवती कन्या को काशीपति ने चारुधर्मी नामक विदर्भपति के पुत्र को ब्याह दिया। सुधर्मा ने उसके साथ अतुलनीय कामों का उपभोग किया ।।४७।। पिता की मृत्यु हो जाने पर प्रतापी सुधर्मा क्रमागत राज्य को प्राप्त कर तृप्त हुआ। विदर्भ राज्य का परिपालन करते हुए सुधर्मा के अनेकों पुत्र-पौत्र हुए ।।४८।। तत्पश्चात् पृथ्वीपति सुधर्मा की काशीपति से युद्ध हुआ। उस युद्ध में विदर्भराज तथा काशीनरेश दोनों के सव पुत्र-पौत्र मारे गये ।।४९।। तव सुशीला पुत्र-पौत्र सहित अपने

ततः सुशीला पितरं सपुत्रं, ज्ञात्वा पतिं चापि सपुत्रपौत्रम् ।
पुराद्विनिःसृत्य रणावनिं गता, दृष्ट्वा सुशीला कदनं महान्तम् ॥५०॥
भर्तुर्बले तत्र पितुर्बले च, दुःखान्विता सा सुचिरं विलप्य ।
जगाम सा मातरमार्तरूपा, भ्रातॄन्सुतान्भ्रातृसुतान्सपौत्रान् ॥५१॥
भर्तारमेषा पितरं च गृह्य, महाश्मशाने च महाचितिं सा ।
कृत्वा हुताशं प्रददौ स्वयं च, यदा समिद्धो हुतभुग्बभूव ॥५२॥
तदा सुशीला प्रविवेश वेगाद्धा पुत्र हा पुत्र इति ब्रुवाणा ।
तदा पुनः सा मुनिर्नारदोऽभूत्, स चापि वह्निः स्फटिकामलाभः ॥५३॥
पूर्णं सरोऽभूदथ चोत्ततार, तस्याग्रतो देववरस्तु केशवः ।
.... प्रहस्य देवर्षिमुवाच नारदम् ॥५४॥
कस्ते तु पुत्रो वद मे महर्षे, मृतं च कं शोचसि नष्टबुद्धिः ।
व्रीडान्वितोऽभूदथ नारदोऽसौ, ततोऽहमेनं पुनरेव चाऽऽह ॥५॥
इतीदृशा नारद कष्टरूपा, माया मदीया कमलासनाद्यैः ।
शक्या न वेत्तुं समहेन्द्ररुद्रैः, कथं भवान्वेत्स्यति दुर्विभाव्याम् ॥५६॥
स वाक्यमाकर्ण्य महामहर्षिरुवाच भक्तिं मम देहि विष्णो ।
प्राप्तेऽथ काले स्मरणं तथैव, सदा च संदर्शनमीश तेऽस्तु ॥५७॥
यत्राहमार्तश्चितिमद्य रूढ़स्तत्तीर्थमस्त्वच्युतपापहन्त्रा ।
अधिष्ठितं केशव नित्यमेव, त्वया सहाऽऽसं (हेदं) कमलोद्भवेन ॥५८॥

पिता तथा पति की मृत्यु का समाचार पाकर नगर से वाहर निकल कर युद्धक्षेत्र में चली गई। पति-सेना तथा पितृ-सेना दोनों तरफ महान् दुःख देखकर वह वड़ी शोकातुर हुई ओर चिरकाल तक विलाप करके अपनी माता के पास लौट आई। फिर उसने महाश्मशान में जाकर भाई, पुत्र, पौत्र, पति, पिता सवके लिये चिता वनाकर अग्नि प्रदान किया। जब अग्नि प्रज्वलित हुआ तव सुशीला 'हा पुत्र, हा पुत्र' वोलती हुई वेग से अग्नि में प्रविष्ट हो गई। प्रवेश करते ही वह मुनि नारद के रूप में परिणत हो गई। अग्नि भी स्फटिक के समान स्वच्छ जल से परिपूर्ण सरोवर के रूप में परिणत हो गया। तदनन्तर देवश्रेष्ठ केशव नारद के सामने आकर हँसते हुए कहने लगे ॥५०-५४॥ महर्षे ! तुम्हारा कौन पुत्र था ? कहो। मन्दवुद्धि की तरह, किस मृतक के लिये शोच कर रहे हो ?' यह सुनकर नारद वहुत लज्जित हुआ। तव फिर मैंने उससे कहा—'नारद ! मेरी माया ऐसी ही कष्टरूपा है। व्रह्मा, इन्द्र, महेश, आदि देवता भी इसे नहीं जान सकते हैं। तव तुम कैसे इस अचिन्त्य माया को जानोगे' ॥५५-५६॥ यह वात सुनकर महामहर्षि नारद ने कहा—'विष्णो ! अव मुझे अपनी भक्ति दीजिये। और समय पर आपके स्मरण तथा दर्शन होते रहें॥५७॥ अच्युत ! आज जहाँ पर मैंने चिता वनाई है, वहाँ पापहरी तीर्थ हो जाय। व्रह्मा सहित आप भी वहाँ रहा करें ॥५८॥ तव मैंने कहा—द्विज नारद ! 'आपकी रची हुई चिता स्वच्छजलपूर्ण

ततो मयोक्तो द्विज नारदोऽसौ, तीर्थं सितोदे (दं) हि चितिस्तवास्तु ।
स्थास्याम्यहं चात्र सदैव विष्णुर्महेश्वरः स्थास्यति चोत्तरेण ।।५९।।
नदा विरञ्चेर्वदनं त्रिनेत्रः सा च्छेत्स्यतेयं च ममु (त्वथ चो) ग्रवाचम् ।
तदा कपालस्य तु मोचनाय, समेष्यते तीर्थमिदं त्वदीयम् ।।६०।।
स्नातस्य तीर्थे त्रिपुरान्तकस्य, पतिष्यते भूमितले कपालम् ।
ततस्तु तीर्थेति कपालमोचनं, ख्यातं पृथिव्यां च भविष्यते तत् ।।६१।।
तदा प्रभृत्यम्बुदवाहनोऽसौ, न मोक्ष्यते तीर्थवरं सुपुण्यम् ।
न चैव तस्मिन्द्विज संप्रचक्षते, तत्क्षेत्रमुग्रं त्वथ ब्रह्मवध्या ।।६२।।
यदा न मोक्षत्यमरारिहन्ता, तत्क्षेत्रमुख्यं महदाप्तपुण्यम् ।
तदा विमुक्तेति सुरै रहस्यं, तीर्थं स्तुतं पुण्यदमव्ययाख्यम् ।।६३।।
कृत्वा तु पापानि नरो महान्ति, तस्मिन्प्रविष्टः शुचिरप्रमादी ।
यदा तु मां चिन्यते स शुद्धः, प्रयाति मोक्षं भगवत्प्रसादात् ।।६४।।
भूत्वा तस्मिन्रुद्रपिशाचसंज्ञो योन्यतरे दुःखमुपाश्नुतेऽसौ ।
विमुक्तपापो बहुवर्षपूगैरुत्पत्तिमायास्याति विप्रगेहे ।।६५।।
शुचिर्यतात्माऽस्य ततोऽन्तकाले, रुद्रो हितं तारकमस्य कीर्तयेत् ।
इत्येवमुक्त्वा द्विजवर्य नारदं, गतोऽस्मि दुग्धार्णवमात्मगेहम् ।।६६।।
सा चापि विप्रस्त्रिदिवं चचार, गन्र्धवराजेन समर्च्यमानः ।
एतत्तवोक्तं ननु बोधनाय माया मदीया नहि शक्यते सा ।।६७।।

तीर्थ हो जायगी । मैं यहाँ सदा वास करूँगा । वांद में शंकर भी रहेंगे । जव शंकर ब्रह्मा के मुख को काटेंगे तव खोपड़ी को निकालने के लिये वे इस तीर्थ में आयेंगे । शंकर जव इसमें स्नान करेंगे तवं कपाल पृथ्वी पर गिर पड़ेगा । तव से यह तीर्थ कपालमोचन नाम से पृथिवी पर प्रसिद्ध होगा ।।५९-६१।। तव से लेकर इन्द्र इस पवित्र तीर्थ को कभी नहीं छोड़ेंगे । द्विज ! इस उग्र क्षेत्र में ब्रह्महत्या भी नहीं रह पाएगी (अर्थात् इस तीर्थ के सेवन से ब्रह्महत्या का पाप नष्ट हो जायगा ।) जब इन्द्र इस परम पवित्र तीर्थ को न छोड़ेंगे तव देवता लोग विमुक्त नाम रखकर इस पुण्यदायक तथा अविनाशी तीर्थ की स्तुति करेंगे । जो मनुष्य महान् पाप करके भी पवित्रता तथा सावधानतापूर्वक इसमें प्रवेश कर मेरा ध्यान करेगा, वह मेरी कृपा से शुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करेगा ।।६२-६४।। जो भयंकर पिशाच है या किसी योनि में क्लेश पाता है, वह भी इसमें स्नान करके पापमुक्त होकर ब्राह्मण के घर में जन्म लेगा ।।६५।। वह पवित्र तथा संयमी होगा । अन्तकाल में शंकर उसे तारक मन्त्र सुना देंगे । द्विजवर्य ! नारद से इतना कहकर मैं अपना घर क्षीरसमुद्र चला गया ।।६।। वह ब्राह्मण भी गन्धर्वराज से सम्मानित होते हुए स्वर्ग में विचरण करने लगा । इतना मैंने तुम्हें बोध कराने के लिये कह दिया । मेरी माया को नहीं जान सकते हो ।।६७।। यदि तुम जानना ही चाहते हो तो जल में प्रवेश करो, जिससे जान पाओगे ।' इस प्रकार

ज्ञातुं भवानिच्छति चेत्ततोऽद्य, एवं विशस्वाप्सु च वेत्सि येन ।
एवं द्विजातिर्हरिणा प्रबोधितो, भाव्यर्थयोगान्निममज्ज तोये ॥६८॥
कोकामुखे तात ततो हि कन्या, चाण्डालवेश्मन्यभवद्द्विजः सः ।
रूपान्विता शीलगुणोपपन्ना, अवाप सा यौवनमाससाद ॥६९॥
चाण्डालपुत्रेण सुबाहुनाऽपि, विवाहिता रूपविवर्जितेन ।
पतिर्न तस्या हि मतो बभूव सा तस्य चैवाभिमता बभूव ॥७०॥
पुत्रद्वयं नेत्रहीनं बभूव, कन्या च पश्चाद्बधिरा तथाऽन्या ।
पतिर्दरिद्रस्त्वथ साऽपि मुग्धा, नदीगता[1] रोदिति तत्र नित्यम् ॥७१॥
गता कदाचित्कलशं गृहीत्वा, साऽन्तर्जलं स्नातुमथ प्रविष्टा ।
यावद्द्विजोऽसौ पुनरेव तावज्जातः क्रियायोगरतः सुशीलः ॥७२॥
तस्याः स भर्ताऽथ चिरंगतेति, द्रष्टुं जगामाथ नदीं सुपुण्याम् ।
ददर्श कुम्भं न च तां तटस्थां, ततोऽतिदुःखात्प्ररुरोद नादयन् ॥७३॥
ततोऽन्धयुग्मं बधिरा च कन्या, दुःखान्विताऽसौ समुपाजगाम ।
ते वै रुदन्तं पितरं च दृष्ट्वा, दुःखान्विता वै रुरुदुर्भृशार्ताः ॥७४॥
ततः स पप्रच्छ नदीतटस्थान्द्विजान्भवद्भिर्यदि योषिदेका ।
दृष्टा तु तोयार्थमुपाद्रवन्ती, आख्यात ते प्रोचुरिमां प्रविष्टा ॥७५॥
नदीं न भूयस्तु समुत्ततार, एतावदेवेह समीहितं नः ।

भगवान् द्वारा समझाया जाने पर भी वह ब्राह्मण भावीवश कोकामुख नामक तीर्थ के जल में डूब गया ॥६८॥ तात! तब वह द्विज चाण्डाल के घर में कन्या होकर उत्पन्न हुआ। वह कन्या रूपवती, शील-गुण-सम्पन्ना तथा युवती हुई ॥६९॥ सुबाहु नामक एक कुरूप चाण्डाल-पुत्र से उसका विवाह हुआ। पति उसके मन के अनुरूप नहीं हुआ, पर वह पति की इच्छानुकूल हुई ॥७०॥ उसके दो अन्धे पुत्र हुए और एक बहरी कन्या हुई। पति दरिद्र था। और वह मूर्खा प्रतिदिन नदीतट पर जाकर रोती थी ॥७१॥ किसी समय घड़ा लेकर वह भीतर जल में स्नान करने के लिये प्रविष्ट हुई। प्रवेश करते ही वह योग-क्रिया-निरत सुशील ब्राह्मण बन गई। उसका पति 'बहुत देरी हुई' यह सोच कर पवित्र नदीतट पर देखने को गया। उसने तट पर घड़े को देखा पर पत्नी को नहीं देखा। तब वह जोर से रोने लगा। पश्चात् अन्धे पुत्र तथा बहरी कन्या उसके पास आई। वे सब रोते हुए पिता को देखकर अत्यन्त शोक विह्वल होकर रोने लगे ॥७२-७४॥ तब चाण्डालपुत्र ने समीपस्थ ब्राह्मणों से पूछा—'जल भरने के लिये आई हुई एक स्त्री को आपने देखा हो तो बतलायें'। द्विजो ने कहा—'एक स्त्री इस नदी में प्रविष्ट हुई,

---

[1] ग. ०गतो रो० ।

स तद्वचो घोरतरं निशम्य, रुरोद शोकाश्रुपरिप्लुताक्षः ।।७६।।
तं वै रुदन्तं ससुतं सकन्यं, दृष्ट्वाऽहमार्तः सुतरां बभूव ।
आर्तिश्च मेऽभूदथ संस्मृतिश्च, चाण्डालयोषाऽहमिति क्षितीश ।।७७।।
ततोऽब्रवं तं नृपते मतङ्गं, किमर्थमार्तेन हि रुद्यते त्वया ।
तस्या न लाभो भविताऽतिमौर्ख्यादाक्रन्दितेनेह वृथा हि किं ते ।।७८।।
स मामुवाचाऽऽत्मजयुग्ममन्धं, कन्या चैका बधिरेयं तथैव ।
कथं द्विजाते अधुनाऽऽर्तमेतमाश्वासयिष्येऽप्यथ पोषयिष्ये ।।७९।।
इत्येवमुक्त्वा स सुतैश्च सार्धं, फूत्कृत्य फूत्कृत्य च रोदिति स्म ।
यथा यथा रोदिति स श्वपाकस्तथा तथा[1] मे ह्यभवत्कृताऽपि ।।८०।।
ततोऽहमार्तं तु निवार्य तं वै, स्ववंशवृत्तान्तमथाऽऽचचक्षे ।
ततः स दुःखात्सह पुत्रकैः संविवेश कोकामुखमार्तरूपः[2] ।।८१।।
प्रविष्टमात्रे सलिले मतङ्गस्तीर्थप्रभावाच्च विमुक्तपापः ।
विमानमारुह्य शशिप्रकाशं, ययौ दिवं तात ममोपपश्यतः ।।८२।।
तस्मिन्प्रविष्टे सलिले मृते च, ममार्तिरासीदतिमोहकर्त्री ।
ततोऽतिपुण्ये नृपवर्य कोकाजले प्रविष्टस्त्रिदिवं गतश्च ।।८३।।

पर फिर निकली नहीं । बस, इतना ही हम जानते हैं ।' ब्राह्मणों का वचन सुनकर सुबाहु रोने लगा । उसकी आँखें शोकाश्रु से परिप्लुप्त हो गईं । कन्या-पुत्र सहित उसे रोते हुए देखकर मैं भी दुःखी हो गया । राजन् ! मुझे दुःख हुआ और यह स्मरण भी हुआ कि मैं ही इस चाण्डाल की स्त्री हूँ ।।७५-७७।। पृथ्वीपति ! तब मैंने चाण्डाल से कहा—'क्यों दुःख से रो रहे हो ? वह नहीं मिलेगी । अब रोना अत्यन्त मूर्खता है ।' तब उसने मुझसे कहा—'विप्र ! ' मेरे दो पुत्र अन्धे हैं तथा एक कन्या बहरी है । उन्हें मैं कसे आश्वासन दूँ ? कैसे उनका पालन करूँ ? इतना कहकर वह पुत्रों के साथ सिसक-सिसक कर रोने लगा । जैसे-जैसे वह चाण्डाल रोता था वैसे-वैसे मुझे उसे पर दया आती थी ।।७८-८०।। तब मैंने उसे रोक कर अपने वंश का वृत्तान्त सुना दिया । पश्चात् उसने पुत्रों समेत कोकामुख तीर्थ में प्रवेश किया । जल में प्रवेश करते ही चाण्डाल तीर्थ के प्रभाव से पापमुक्त हो गया । तब वह चन्द्रतुल्य प्रकाशमान विमान पर चढ़कर मेरे देखते ही स्वर्ग चला गया ।।८१-८२।। उसके जल में प्रवेश करने पर तथा मर जाने पर मुझे अत्यन्त मोहकारक दुःख हुआ । नृपवर्य ! तब मैं भी कोकाजल में प्रवेशकर स्वर्ग को चला गया ।।८३।। मेरी उत्पत्ति वैश्यकुल में हुई । वहाँ मैं परम दुःखी था । पर तीर्थराज की

---

[1] ग. ०था मूर्तिरन्या बभूव । त० । [2] ग. ०मात्मरु० ।

भूयोऽभवं वैश्यकुले व्यथार्तो, [१]जातिस्मरस्तीर्थवरप्रसादात् ।
ततो[२]ऽतिनिर्विण्णमना गतोऽहं, कोकामुखं[३] संयतवाक्यचित्तः ॥८४॥
व्रतं समास्थाय कलेवरं स्वं, संशोषयित्वा दिवमारुरोह ।
तस्माच्च्युतस्त्वद्भवने च जातो, जातिस्मरस्तात हरिप्रसादात् ॥८५॥
सोऽहं समाराध्य [४]मुरारिदेवं, कोकामुखे त्यक्तशुभाशुभेच्छः ।
इत्येवमुक्त्वा पितरं प्रणम्य, गत्वा च कोकामुखमग्रतीर्थम्[५] ।
विष्णुं समाराध्य वराहरूपमवाप सिद्धिं मनुजर्षभोऽसौ ॥८६॥
इत्थं स कामदमनः [६]सहपुत्रपौत्रः, कोकामुखे तीर्थवरे सुपुण्ये ।
त्यक्त्वा तनुं दोषमयीं ततस्तु, गतो दिवं सूर्यसमैर्विमानैः ॥८७॥
एवं मयोक्तं परमेश्वरस्य, माया सुराणामपि दुर्विचिन्त्या ।
स्वप्नेन्द्रजालप्रतिमा मुरारेर्यया जगन्मोहमुपैति विप्राः ॥८८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे विष्णुधर्मानुकीर्तने मायाप्रादुर्भावनिरूपणं नामैकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२२९॥

कृपा से मुझे पूर्वजन्मों का स्मरण था। तब मैं अत्यन्त खिन्न मन से कोकामुख तीर्थ में गया। वहाँ वाक्संयम तथा चित्तसंयम करके शरीर त्याग कर स्वर्ग पहुँचा। वहाँ से च्युत होने पर आपके घर में मेरा जन्म हुआ है। तात! हरि की कृपा से मुझे पूर्व जन्मों का स्मरण है। इसलिये शुभ-अशुभ कामनाओं का परित्याग कर मैं कोकामुख में विष्णु की आराधना करूँगा!' इतना कहकर पिता को प्रणाम करके राजपुत्र तीर्थराज कोकामुख को चला गया। वहाँ वराहरूपी विष्णु की उपासना करके नरपुङ्गव राजपुत्र ने सिद्धि प्राप्त की ॥८४-८६॥ इस प्रकार पुत्र-पौत्र सहित कामदमन अत्यन्त पवित्र कोकामुखतीर्थ में दोषमय शरीर का त्याग कर सूर्यतुल्य विमानों से स्वर्ग चला गया ॥८७॥ विप्रवृन्द! देवताओं से भी अचिन्त्य इस परमेश्वर की माया के वारे में मैंने वतला दिया। यह स्वप्न तथा इन्द्रजाल के समान है। इसी से संसार मोह में पड़ता है ॥८८॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में विष्णु-धर्म-कीर्तन-प्रसंग में मायाप्रादुर्भाव-निरूपण नामक दो सौ उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२२९॥

१क. जातश्च तीर्थप्रव०। २ख. ग. ०तो हि नि०। ३क. ०खं तीर्थवरं विचिन्त्य। व्र०। ४ख. वराहदेवं। ५क. ०मग्र्यती०। ६क. सबलः सपुत्रः।

अथ त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यास-मुनिसंवादे महाप्रलयवर्णनम्

मुनय ऊचुः

अस्माभिस्तु श्रुतं व्यास यत्त्वा समुदाहृतम् । प्रादुर्भावाश्रितं पुण्यं माया विष्णोश्च दुर्विदा[1] ॥१॥
श्रोतुमिच्छामहे त्वत्तो यथावदुपसंहृतिम् । महाप्रलयसंज्ञां च कल्पान्ते च महामुने ॥२॥

व्यास उवाच

श्रूयतां भो मुनिश्रेष्ठा यथावदनुसंहृतिः । कल्पान्ते प्राकृते चेव प्रलये जायते यथा ॥३॥
अहोरात्रं पितॄणां तु मासोऽब्दं त्रिदिवौकसाम् । चतुर्युगसहस्रे तु ब्राह्मणोऽहर्द्विजोत्तमाः ॥४॥
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् । देवैर्वर्षसहस्रैस्तु तद्द्वादशभिरुच्यते ॥५॥
चतुर्युगाण्यशेषाणि सदृशानि स्वरूपतः । आद्यं कृतयुगं प्रोक्तं मुनयोऽन्त्यं तथा कलिम् ॥६॥
आद्ये कृतयुगे सर्गो ब्रह्मणा क्रियते यतः । क्रियते चोपसंहारस्तथाऽन्तेऽपि कलौ युगे ॥७॥

मुनय ऊचुः

कलेः स्वरूपं भगवन्विस्तराद्वक्तुमर्हसि । [2]धर्मश्चतुष्पाद्भगवान्यस्मिन्वैकल्यमृच्छति ॥८॥

अध्याय २३०

व्यास और मुनियों के संवाद में महाप्रलय का वर्णन

मुनियों ने कहा—हे व्यास जी ! विष्णु के अवतार तथा दुर्ज्ञेय माया के बारे में आपने जो कहा, उसे हम सुन चुके । महामुनि ! अब कल्पान्त में जो महाप्रलय नामक उपसंहार होता है, उसके विषय में हम सुनना चाहते हैं ॥१-२॥

व्यास ने कहा—मुनिवर ! कल्पान्त में तथा प्राकृतिक प्रलय में जैसा (जगत् का) संहार होता है, उसे आप यथार्थतः सुन लीजिए । पितरों के अहोरात्रों का जो एक वर्ष होता है वही देवताओं का एक मास हुआ करता है । द्विज-श्रेष्ठो ! जब चारों युग एक सहस्र बार बीत जाता है तब ब्रह्मा का एक दिन होता है । कृत, त्रेता और कलि—ये चार युग हैं । देवताओं के बारह हजार वर्षों के ये युग होते हैं । समस्त युग स्वरूपतः समान हैं । मुनिवृन्द ! पहला कृतयुग है और अन्तिम कलियुग है । क्योंकि आद्य कृतयुग में ब्रह्म सृष्टि करते हैं और अन्त्य कलियुग में संहार करते हैं ॥३-७॥

मुनियों ने कहा—भगवन् ! कलियुग के स्वरूप का वर्णन विस्तार से कीजिये, जिसमें चार चरण वाले भगवान् धर्म की हानि होती है ॥८॥

---

[1]क. दुर्मदा । [2]क. ०श्च यस्माद्भ० ।

व्यास उवाच

कलिस्वरूपं भो विप्रा यत्पृच्छध्वं ममानघाः । निबोधध्वं समासेन वर्तते यन्महत्तरम् ॥९॥
वर्णाश्रमाचारवती प्रवृत्तिर्न कलौ नृणाम् । न सामऋग्यजुर्वेदविनिष्पादनहेतुकी[1] ॥१०॥
विवाहा न कलौ धर्म्या न शिष्या गुरुसंस्थिताः । [2]न पुत्रा धार्मिकाश्चैव न च वह्निक्रियाक्रमः ॥११॥
यत्र तत्र कुले जातो बली सर्वेश्वरः कलौ । सर्वेभ्य एव वर्णेभ्यो[3] नरः कन्योपजीविनः ॥१२॥
येन तेनैव योगेन द्विजातिर्दीक्षितः कलौ । यैव सैव च विप्रेन्द्राः प्रायश्चित्तक्रिया कलौ ॥१३॥
सर्वमेव कलौ शास्त्रं यस्य यद्वचनं द्विजाः । देवताश्च कलौ सर्वाः सर्वः सर्वस्य चाऽऽश्रमः ॥१४॥
[4]उपवासस्तथाऽऽयासो वित्तोत्सर्गस्तथा कलौ । धर्मो यथाभिरुचितैरनुष्ठानैरनुष्ठितः ॥१५॥
वित्तेन भविता पुंसां स्वल्पेनैव[5] मदः कलौ । स्त्रीणां रूपमदश्चैव केशैरेव भविष्यति ॥१६॥
सुवर्णमणिरत्नादौ वस्त्रे चापक्षयं गते[6] । कलौ स्त्रिया भविष्यन्ति तदा केशैरलंकृताः ॥१७॥
परित्यक्ष्यन्ति भर्तारं वित्तहीनं तथा स्त्रियः । भर्ता भविष्यति कलौ [7]वितवानेव योषिताम् ॥१८॥
यो यो ददाति बहुलं स स स्वामी तदा[8] नृणाम् । स्वामित्वहेतुसंबन्धो भविताऽभिजनस्तदा ॥१९॥
गृहान्ता द्रव्यसंघाता द्रव्यान्ता च तथा मतिः । अर्थाश्चाथोपभोगान्ता भविष्यन्ति तदा कलौ ॥२०॥

व्यास ने कहा—निष्पाप विप्रवृन्द ! कलि का जो स्वरूप आप पूछ रहे हैं, वह वहुत विस्तृत है। उसे संक्षेप में सुन लीजिये॥९॥ कलियुग में मनुष्यों की प्रवृत्ति वर्णाश्रम के आचार की ओर नहीं होगी। साम, ऋक्, तथा यजुर्वेद का स्वाध्याय नहीं होगा ॥१०॥ कलि में धार्मिक विवाह नहीं होगा । शिष्यों में गुरु-भक्ति नहीं होगी । धार्मिक पुत्र नहीं होंगे । अग्निहोत्र आदि क्रिया का भी कोई क्रम नहीं होगा ॥११॥ जिस-किसी कुल में उत्पन्न हुआ मनुष्य बलवान् होने पर सब का नायक बन जाएगा। सभी वर्णों के मनुष्य कन्या से जीविका उपार्जन करेंगे॥१२॥ कलि में द्विजाति जिस किसी योग से दीक्षित होगा । विप्रवर ! कलि में प्रायश्चित का कोई ठिकाना नहीं रहेगा । कलि में जिस-किसी का वचन ही शास्त्र माना जायगा । कलि में सब देवता माने जायेंगे । सब के लिए सब आश्रम होंगे ॥१३-१४॥ उपवास, परिश्रम तथा धन का त्याग करना पड़ेगा । धर्म का, अनुष्ठान मनमाना होगा। थोड़े ही धन में पुरुषों को अभिमान हो जायगा। स्त्रियों को केवल बालों से ही रूप का अभिमान होगा। सुवर्ण, मणि, रत्न, वस्त्र आदि के क्षय हो जाने पर कलि में स्त्रियाँ केवल केशों से ही अलंकृत होंगी ॥१५-१६॥ धनहीन पति को स्त्रियाँ छोड़ देंगी। धनवान् व्यक्ति ही कलि में स्त्रियों का पति होगा॥१७-१८॥ जो बहुत देगा, वही मनुष्यों का स्वामी होगा। स्वामित्व तथा बन्धुत्व केवल स्वार्थसिद्धि के लिये होगा। द्रव्य घर भरने के लिये, बुद्धि द्रव्य कमाने के लिये और धन केवल उपभोग करने के लिये होगा॥१९-२०॥ कलि

---

[1] ग. ०न हेतु० । [2] ग. न दास्यत्यक्रमेणैव । [3] ख. भ्यो ज्येष्ठः कन्याधरोधनी । ये० । [4] क. ०था यज्ञो वि० । [5] क. ग. ०ल्पेनाऽऽद्यम० । [6] ख. ०ते । काश्चिस्त्त्रियो । [7] क. चिन्तितश्चैव । [8] क. सदा ।

स्त्रियः कलौ भविष्यन्ति स्वैरिण्यो ललितस्पृहाः । अन्यायावाप्तवित्तेषु पुरुषेषु स्पृहालवः ॥२१॥
अभ्यर्थितोऽपि सुहृदा स्वार्थहानिं तु मानवः । पणस्यार्धार्धमात्रेऽपि करिष्यति तदा द्विजाः[1] ॥२२॥
सदा सपौरुषं चेतो भावि विप्र तदा कलौ । क्षीरप्रदानसंबन्धि भाति[2] गोषु च गौरवम् ॥२३॥
[3]अनावृष्टिभयात्प्रायः प्रजाः क्षुद्भयकातराः । भविष्यन्ति तदा सर्वा गगनासक्तदृष्टयः ॥२४॥
[4]मूलपर्णफलाहारास्तापसा इव मानवाः । आत्मानं[5] घातयिष्यन्ति[6] तदाऽवृष्ट्याऽभिदुःखिताः ॥२५॥
दुर्भिक्षमेव सततं [7]सदा क्लेशमनीश्वराः । प्राप्स्यन्ति व्याहतसुखं [8]प्रमादान्मानवाः कलौ ॥२६॥
अस्नातभोजिनो नाग्निदेवतातिथिपूजनम् । करिष्यन्ति कलौ[9] प्राप्ते न च पिण्डोदकक्रियाम् ॥२७॥
लोलुपा ह्रस्वदेहाश्च बह्वन्नादनतत्पराः । बहुप्रजाल्पभाग्याश्च भविष्यन्ति कलौ स्त्रियः ॥२८॥
उभाभ्यामथ पाणिभ्यां शिरःकण्डूयनं स्त्रियः । कुर्वत्यो गुरुभर्तॄणामममाज्ञां भेत्स्यन्त्यनावृताः ॥२९॥
स्वपोषणपराः क्रुद्धा देहसंस्कारवर्जिताः । परुषानृतभाषिण्यो भविष्यन्ति कलौ स्त्रियः ॥३०॥
दुःशीला दुष्टशीलेषु कुर्वत्यः सततं स्पृहाम् । असद्वृत्ता भविष्यन्ति पुरुषेषु कुलाङ्गनाः ॥३१॥
वेदादानं करिष्यन्ति वडवाश्च तथाऽव्रताः । गृहस्थाश्च न होष्यन्ति न दास्यन्त्युचितान्यपि[10] ॥३२॥
भवेयुर्वनवासा वै ग्राम्याहारपरिग्रहाः । भिक्षवश्चापि [11]पुत्रा हि स्नेहसंबन्धयन्त्रकाः[12]॥३३॥

में स्त्रियाँ स्वेच्छा से विहार करने वाली तथा ललित कला की इच्छुक होंगी। पुरुष अन्याय से उपार्जित धन के इच्छुक होंगे? बन्धुओं की प्रार्थना करने पर भी मनुष्य एक पैसे के आधे की प्राप्ति होने पर भी उनकी स्वार्थहानि करेगा॥२१-२२॥ चित्त में सदा कठोरता विद्यमान रहेगी। दूध देने तक ही गायों का आदर होगा॥२३॥ प्रायः अनावृष्टि का भय होगा। प्रजा भूख-भय से कातर होगी। सब आकाश की ओर दृष्टि लगाये रहेंगे। मनुष्य मूल, पत्र, फल खाकर तपस्वी की तरह रहेंगे। अनावृष्टि से अत्यन्त दुःखी होकर मनुष्य आत्महत्या करेंगे॥२४-२५॥ सतत अकाल ही होगा। मनुष्य अनाथ होकर सदा क्लेश ही पाते रहेंगे। कलि में मनुष्यों को प्रमाद से बाधित सुख मिलेगा॥२६॥ (प्रायः) बिना स्नान किये ही लोग भोजन करेंगे। अग्नि, देवता तथा अतिथियों का पूजन नहीं होगा। कलि में मनुष्य पिण्डदान नहीं करेंगे॥२७॥ मनुष्य लोभी, ह्रस्वकाय तथा अधिक अन्न खाने वाले होंगे। कलि में स्त्रियाँ बहुत सन्तान वाली तथा अल्पभाग्य वाली होंगी। दोनों हाथों से शिर को खुजलाती हुई स्त्रियाँ गुरु तथा स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन करेंगी। कलियुग की स्त्रियाँ अपने पोषण में निरत, क्रुद्ध, देह-संस्कार से रहित होकर कठोर तथा मिथ्या भाषण करने वाली होंगी। कुलांगनायें स्वभाव से दुष्ट, सदा लालसा से युक्त तथा पुरुषों के प्रति असत् आचरण करने वाली होंगी॥२९-३१॥ व्रतशून्य ब्राह्मणवृन्द वेद नहीं पढ़ायेंगे। गृहस्थ लोग हवन नहीं करेंगे तथा उचित दान भी नहीं देंगे॥३२॥ वनवासी तपस्वी भी ग्राम्य भोजन तथा भोग-सामग्री ग्रहण करेंगे। संन्यासियों को पुत्र आदि से स्नेह रहेगा। राजा अरक्षक तथा कर के

---

[1] ख. ०जाः। न सदा पौ०। [2] ग. भावि। [3] क. ०भयाः प्रायः। [4] क. ख. ०लकन्दफ०। [5] क. ख. ०नं पात०। [6] क. ०न्ति अभक्षाच्चापि दुः०। [7] क. तदा। [8] ग. प्रमोदा मान०। [9] क. ०लौ केचिन्न च प्रेतोद०। [10] ग. ०पि। वनवासिनो भविष्यन्ति ग्रा०। [11] ग. मित्रा। [12] क. ०न्धपाणयः। अ०।

अरक्षितारो हर्तारः शुल्कव्याजेन पार्थिवाः । हारिणो जनवित्तानां संप्राप्ते च कलौ युगे ॥३४॥
यो योश्वरथनागाढ्यः स स राजा भविष्यति । यश्च यश्चाबलः सर्वः स स भृत्यः कलौ युगे ॥३५॥
वैश्याः कृषिवणिज्यादि संत्यज्य निजकर्म यत् । शूद्रवृत्त्या भविष्यन्ति[1] कारुकर्मोपजीविनः ॥३६॥
भैक्ष्यव्रतास्तथा शूद्राः प्रव्रज्यालिङ्गिनोऽधमाः । पाखण्डसंश्रयां वृत्तिमाश्रयिष्यन्त्यसंस्कृताः ॥३७॥
दुर्भिक्षकरपीडाभिरतीवापद्रुता जनाः । गोधूमान्नयवान्नाद्यान्देशान्यास्यन्ति दुःखिताः ॥३८॥
वेदमार्गे प्रलीने च पाखण्डाढ्ये[2] ततो जने । अधर्मवृद्ध्या लोकानामल्पमायुर्भविष्यति ॥३९॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यमानेषु वै तपः । नरेषु नृपदोषेण बालमृत्युर्भविष्यति ॥४०॥
भवित्री योषितां सूतिः [3]पञ्चषट्सप्तवार्षिकी । नवाष्टदशवर्षाणां मनुष्याणां तथा कलौ ॥४१॥
पलितोद्गमश्च भविता तदा द्वादशवार्षिकः[4] । न[5] जीविष्यति वै कश्चित्कलौ वर्षाणि विंशतिम् ॥४२॥
अल्पप्रजा[6] वृथालिङ्गा दुष्टान्तःकरणाः कलौ । यतस्तो विनश्यन्ति कालेनाल्पेन मानवाः ॥४३॥
यदा यदा हि पाखण्डवृत्तिरत्रोपलक्ष्यते । तदा तदा कलेर्वृद्धिरनुमेया विचक्षणैः ॥४४॥
यदा यदा सतां हानिर्वेदमार्गानुसारिणाम् । तदा तदा कलेर्वृद्धिरनुमेया विचक्षणैः ॥४५॥
प्रारम्भाश्चावसीदन्ति यदा धर्मकृतां नृणाम् । तदाऽनुमेयं प्राधान्यं कलेर्विप्रा विचक्षणैः ॥४६॥
यदा यदा न यज्ञानामीश्वरः पुरुषोत्तमः । इज्यते पुरुषैर्यज्ञैस्तदा ज्ञेयं कलेर्बलम् ॥४७॥

बहाने मनुष्यों के धन अपहरण करने वाले होंगे। जिसके पास घोड़े-हाथी होंगे, वह राजा माना जायगा। जो अबल होगा, वही भृत्य (परिचर्या करनेवाला) होगा ॥३३-३५॥ वैश्य अपने कर्म खेती और व्यापार को छोड़कर शिल्प आदि, शूद्रों का कर्म करेंगे। अधम शूद्र भिक्षावृत्ति तथा संन्यास धारण करेंगे। वे असंस्कृत होते हुए पाखण्डी वृत्ति ग्रहण करेंगे। ३६-३७॥ मनुष्य दुर्भिक्ष, कर तथा अनेक पीड़ाओं से दुःखी होंगे। मनुष्य दुःखी होकर उन देशों में जायेंगे, जहाँ गेहू, यव आदि अन्न होंगे। वेदमार्ग के लुप्त हो जाने पर और लोगों में धूर्तता के आ जाने पर अधर्म की वृद्धि होगी और मनुष्य अल्पायु होंगे। लोग शास्त्रविहित मार्ग को छोड़कर घोर तप करने लगेंगे तब राजा के दोष से बालमृत्यु होने लगेगी। पुरुषों के नौ, आठ तथा दश वर्ष के होने पर तथा स्त्रियों के पाँच, छः तथा सात वर्ष की होने पर ही सन्तानोत्पत्ति होने लगेगी। बारह वर्षों में ही बुढ़ापा आ जायगा। कलि में कोई बीस वर्ष तक जीवित नहीं रहेगा ॥४०-४२॥ मनुष्य अल्पज्ञ, व्यर्थ चिह्न धारण करने वाले दुष्ट अन्तःकरण वाले होंगे। अल्पकाल में ही वे नष्ट हो जायेंगे ॥४३॥ जब-जब पाखण्डवृत्ति का प्रचार हो तव तव विद्वान् लोग कलि की वृद्धि का अनुमान करें ॥४४॥ जव-जब वेदमार्ग का अनुसरण करने वाले सत्पुरुषों की हानि हो तब-तब विद्वान् लोग कलिवृद्धि का अनुमान करें ॥४५॥ जब धर्मात्मा मनुष्यों के कार्य में विघ्न पड़े तव विद्वान् लोग कलि की प्रधानता का अनुमान करें ॥४६॥ यज्ञ करने वाले पुरुष जब यज्ञों के स्वामी विष्णु की पूजा न करें तब पण्डित लोग कलि की प्रबलता का अनुमान करें ॥४७॥ जब वेदों में विरति तथा पाखण्डों में रति

---

[1] ग. प्रवत्स्यन्ति । [2] क. ०खण्डोद्योतिते ज० । [3] क. ०षष्ठाष्टवा० । [4] ग. ०कः । नातजीवति । [5] ख. न तु जीवति । [6] क. ख. ०प्रजा वृ० ।

न प्रीतिर्वेदवादेषु पाखण्डेषु यदा रतिः । कलेर्वृद्धिस्तदा प्राज्ञैरनुमेया [1]द्विजोत्तमाः ॥४८॥
कलौ जगत्पतिं विष्णुं सर्वस्रष्टारमीश्वरम् । नार्चयिष्यन्ति भो विप्राः पाखण्डोपहता नराः ॥४९॥
किं देवैः किं द्विजैर्वेदैः किं शौचेनाम्बुजल्प (न्म) ना । इत्येवं प्रलपिष्यन्ति पाखण्डोपहता नराः ॥५०॥
अल्पवृष्टिश्च पर्जन्यः स्वल्पं सस्यफलं तथा । फलं तथाऽल्पसारं च विप्राः प्राप्ते कलौ युगे ॥५१॥
जानुप्रायाणि वस्त्राणि शमीप्राया महीरुहाः । शूद्रप्रायास्तथा वर्णा भविष्यन्ति कलौ युगे ॥५२॥
अणुप्रायाणि धान्यानि[2] आजप्रायं तथा पयः । भविष्यति कलौ प्राप्त औशीरं चानुलेपनम् ॥५३॥
श्वश्रूश्वशुरभूयिष्ठा गुरवश्च नृणां कलौ[3] । शालाद्याहारिभार्याश्च सुहृदो मुनिसत्तमाः ॥५४॥
कस्य माता पिता कस्य यदा कर्मात्मकः पुमान् । इति चोदाहरिष्यन्ति[4] श्वशुरानुगता नराः ॥५५॥
वाङ्मनः [5]कायजैर्दोषैरभिभूताः पुनः पुनः । नराः पापान्यनुदिनं करिष्यन्त्यल्पमेधसः ॥५६॥
[6]निःसत्यानामशौचानां निर्ह्रीकाणां तथा द्विजाः । यद्यद्दुःखाय तत्सर्वं कलिकाले भविष्यति ॥५७॥
निःस्वाध्यायवषट्कारे[7] स्वधास्वाहाविवर्जिते[8] । [9]तदा प्रविरलो विप्रः कश्चिल्लोके भविष्यति ॥५८॥
तत्राल्पेनैव[10] कालेन पुण्यस्कन्धमनुत्तमम् । करोति यः कृतयुगे[11] क्रियते तपसा हि[12] यः ॥५९॥

हो तब विद्वान् लोग कलिवृद्धि का अनुमान करें ॥४८॥ विप्रवृन्द ! कलि में पाखण्डी लोग सव का सर्जन करने वाले तथा संसार के स्वामी विष्णु की पूजा नहीं करेंगे ॥४९॥ (कलि में) पाखण्डी मनुष्य कहा करेंगे कि देवता, ब्राह्मण, वेद तथा शुद्धि से हमें क्या प्रयोजन ? कलि में मेघ कम बरसेगा, उपज कम होगी और फल भी अल्प सार से युक्त होगा। लोग जंघे तक वस्त्र पहनेंगे। वृक्षों में शमी वृक्ष तथा वर्णों में शूद्र वर्ण ही रह जायगा ॥५०-५२॥ अन्नों में (चना, श्यामा आदि) क्षुद्र अन्न ही होंगे। अधिकतर वकरियों का दूध मिलेगा। लेपों में खस की रह जायगी। कलि में मनुष्यों के गुरुवर्ण वे ही होंगे जिनमें सास-ससुर की प्रधानता होगी। मुनिश्रेष्ठ ! शाला (गृह) आदि का हरण करने वाली भार्या एवं मित्र हुआ करेंगे। ससुर का अनुगमन करने वाले मनुष्य कहेंगे कि जब मनुष्य कर्मों से बँधा हुआ है (अर्थात् कर्मानुसार ही जन्म होना है) तव कौन किसकी माता है और कौन किसका पिता है ? (अर्थात् माता-पिता कुछ नहीं हैं।) अल्प बुद्धिवाले मनुष्य शरीर, वाणी तथा मन के दोषों से व्याप्त होकर प्रतिदिन पाप किया करेंगे। कलिकाल में सत्य तथा शौच से विहीन एवं निर्लज्ज मनुष्यों को सब प्रकार के दु:ख होंगे। मनुष्य स्वाध्याय, वषट्कार तथा स्वधा-स्वाहा से विवर्जित होंगे। लोक में बिरला ही कोई ब्राह्मण होगा। सत्ययुग में तपस्या से जो फल होता है, वह फल कलियगु में अल्प पुण्य करने से भी हो जाएगा ॥५३-५९॥

---

[1] ख. विचक्षणैः । [2] क. ख. ०नि अज० । [3] ग. ०लौ । शीला० । [4] क. ०हरन्तीह येऽसुरा० । [5] ख. ग. ०कायिकैर्दो० । [6] क. ०सत्त्वाना० । [7] क. ०ट्कारः स्व० । [8] क. ०र्जितः । तथा चापरपरो यस्तु विष्णोर्लोके । [9] ख. तथा पापवृत्तिश्च क्वचिल्लोको भ० । [10] क. ख. तदाल्पेन च यत्नेन [11] क. व्रियते । [12] क. ख. सः ।

मुनय ऊचुः

कस्मिन्कालेऽल्पको धर्मो ददाति [1]सुमहाफलम् । वक्तुमर्हस्यशेषेण श्रोतुं वाञ्छा प्रवर्तते ॥६०॥

व्यास उवाच

धन्ये कलौ भवेद्विप्रास्त्वल्पक्लेशैर्महत्फलम् । तथा भवेतां स्त्रीशूद्रौ धन्यौ चान्यन्निबोधत ॥६१॥
यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् । द्वापरे तच्च मासेन अहोरात्रेण तत्कलौ ॥६२॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः । प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलौ[2] साध्विति [3]भाषितुम् ॥६३॥
ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् । यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥६४॥
धर्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ । स्वल्पायासेन धर्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलौ ॥६५॥
व्रतचर्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः । ततस्तु धर्मसंप्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद्धनैः[4] ॥६६॥
वृथा कथा वृथा भोज्यं वृथा स्वं च द्विजन्मनाम् । पतनाय तथा भाव्यं तैस्तु [5]संयतिभिः [6]सह ॥६७॥
असम्यक्करणे दोषास्तेषां सर्वेषु वस्तुषु । भोज्यपेयादिकं चैषां नेच्छाप्राप्तिकरं द्विजाः ॥६८॥
पारतन्त्र्यात्समस्तेषु तेषां कार्येषु वै ततः[7]। लोकान्क्लेशेन महता[8] यजन्ति विनयान्विताः ॥६९॥
द्विजशुश्रूषणेनैव पाकयज्ञाधिकारवान् । निजं जयति वै लोकं शूद्रो धन्यतरस्ततः ॥७०॥

मुनियों ने कहा—किस समय अल्प धर्म करने से भी महान् फल होता है, उसे हम विस्तार से सुनना चाहते हैं। बतलाइये ॥६०॥

व्यास ने कहा—विप्रवृन्द ! इस दृष्टि से यह कलियुग धन्य है कि इसमें थोड़े ही क्लेशों को सहन करने से बड़ा भारी फल प्राप्त होता है। इसमें स्त्री और शूद्र भी धन्य हो जाते हैं, इसके सिवा और भी सुनो ॥६१॥ जो फल सत्ययुग में दश वर्षों में, त्रेता में एक वर्ष में और द्वापर में एक मास में मिलता है, वह कलियुग में एक अहोरात्र में मिल जाता है ॥६२॥ द्विजगण ! इसी हिसाब से कलियुग में मनुष्य तप, ब्रह्मचर्य तथा जप आदि का फल प्राप्त करता है। ॥६३॥ कृतयुग में भगवान् के ध्यान से, त्रेता में यज्ञों से और द्वापर में उपासना से जो फल प्राप्त होता है, वह फल कलि में केवल भगवत्कीर्तन से मिल जाता है॥६४॥ धर्मज्ञो ! कलि में मनुष्य अल्प आयास से ही महान् धर्म प्राप्त कर लेता है। इसलिये मैं कलि से संतुष्ट हूँ। ब्राह्मणलोग पहले व्रत धारण कर वेदों क स्वाध्याय करते हैं। तब न्याय से प्राप्त धन से विधिपूर्वक यज्ञ करते हैं॥६५-६॥ दूषित कथा, दूषित भोज्य तथा दूषित धन ब्राह्मणों के पतन के लिये होता है। ब्राह्मणों को संयमी होना चाहिये। समस्त वस्तुओं को विपरीत प्रकार से ग्रहण करने से उन्हें दोष लगता है। भोज्य, पेय आदि पदार्थ उन्हें इच्छा के अनुसार प्राप्त नहीं होते हैं (अर्थात् खान-पान में उन्हें संयम बरतना पड़ता है)। अखिल कार्यों में उन्हें परन्त्रता का अनुभव होता है। वे विनयी होकर महान् क्लेश से यज्ञ करते हैं। (किन्तु) पाकयज्ञ का अधिकारी शूद्र केवल द्विजाति की सेवा करने से ही अपने लोक को जीत लेता है। अतएव अन्य द्विजातियों की अपेक्षा वह शूद्र अधिक धन्य है॥६७-७०॥ मुनिश्रेष्ठो ! भक्ष्यों और अभक्ष्यों में जिन्हें पाप लगने की आशा नहीं की जाती है और न कोई

---

[1] क. ख. ०महत्फल०। [2] क. ख. काल। ग. कलिः। [3] क. भाषणात्। [4] ग. ०वर्धनैः। [5] ख. संपविभिः। [6] क. सदा। [7] ग. ०तः। यजन्ति ये द्विजा लो०। [8]. ०ता द्विजाः द्वि०।

भक्ष्याभक्ष्येषु[1] नाशा (त्रा) स्ति येषां पापेषु वा यतः। नियमो मुनिशार्दूलास्तेनासौ साध्विवतीरितम् ॥७१॥
स्वधर्मस्याविरोधेन नरैर्लभ्यं धनं सदा । प्रतिपादनीयं पात्रेषु यष्टव्यं च यथाविधि ॥७२॥
तस्यार्जने महान्क्लेशः पालनेन द्विजोत्तमाः । [2]तथा सद्विनियोगाय विज्ञेयं गहनं नृणाम् ॥७३॥
एभिरन्यैस्तथा क्लेशैः पुरुषा द्विजसत्तमाः। निजाञ्जयन्ति वै लोकान्प्राजापत्यादिकान्क्रमात् ॥७४॥
योषिच्छुश्रूषणाद्भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा। [3]एतद्विषयमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः ॥७५॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा । तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति [4]योषितः ॥७६॥
एतद्वः कथितं विप्रा यन्निमित्तमिहाऽऽगताः। तत्पृच्छध्वं यथाकाममहं वक्ष्यामि वः स्फुटम् ॥७७॥
अल्पेनैव प्रयत्नेन धर्मः सिध्यति वै कलौ । नरैरात्मगुणाम्भोभिः क्षालिताखिलकिल्बिषैः ॥७८॥
शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषातत्परैर्मुनिसत्तमाः । तथा स्त्रीभिरनायासात्पतिशुश्रूषयैव हि ॥७९॥
ततस्त्रितयमप्येतन्मम धन्यतमं मतम्[5] । धर्मसंराधने क्लेशो द्विजातीनां कृतादिषु ॥८०॥
तथा स्वल्पेन तपसा सिद्धिं यास्यन्ति मानवाः। धन्या धर्मं चरिष्यन्ति युगान्ते मुनिसत्तमाः ॥८१॥

नियम ही करना पड़ता है ऐसे शूद्रों को इसी कारण अच्छा कहा गया है। पुरुषों को सदा अपने धर्म के अविरोध से धन का उपार्जन करना, पात्रों को दान देना और विधानपूर्वक यज्ञ करना पड़ता है।।७१-७२।। फिर न्याय से धन कमाने में तथा उसके पालन करने में महान् क्लेश होता है। द्विजश्रेष्ठो ! उस धन का सदुपयोग करना तो भी कठिन है।।७३।। द्विजवर ! इन कष्टों से तथा दूसरे प्रकार के कष्टों से पुरुष अपने लोक को तथा क्रमशः ब्रह्मलोक आदि को जीत लेता है। किन्तु मन, कर्म तथा वाणी से पति की शुश्रूषा करने मात्र से स्त्री इस विषय को अर्थात् पुरुष के समान लोकों को प्राप्त कर लेती है, पुरुष जिन लोकों को महान् क्लेश से भी नहीं प्राप्त कर पाता है, उनको स्त्री पतिसेवा से ही प्राप्त कर लेती है, इसलिए स्त्री को यह तीसरा साधुवाद दिया है। विप्रवृन्द ! आप लोग जिस निमित्त यहाँ आये हैं, वह तो मैंने बतला दिया। अब पूछिये, क्या पूछना चाहते हैं ? मैं स्पष्ट बतलाऊँगा ।।७४-७७।। कलि में अल्प प्रयास से ही धर्म सिद्ध हो जाता है। आत्मगुण रूपी जल से अखिल पाप रूपी कीचड़ को धो डालने से मनुष्य सिद्ध हो जाते हैं। द्विज-सेवा में निरत शूद्र और पति-सेवा में तत्पर स्त्री अनायास ही सिद्ध हो जाती हैं। इसलिये स्त्री, शूद्र और द्विज तीनों इस युग में धन्य हैं—ऐसा मेरा मत है। सत्ययुग आदि में धर्म की आराधना करने में महान् क्लेश होता है, पर कलियुग में मनुष्य अल्प तप से ही सिद्ध हो जाते हैं। इस युग में जो धर्माचरण

---

[1]ग. नास्त्यास्ति ये पापे येषु। [2]ग. तच्चास०। [3]ग. ०तद्धि समवाप्नोति भर्तृलोकं ततो। [4]ग. योषिताम्। [5]क. ०म्। कर्म०।

भवद्भिर्यदभिप्रेतं तदेतत्कथितं मया । अपृष्टेनापि धर्मज्ञाः किमन्यत्क्रियतां द्विजाः ।।८२।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे भविष्यकथनं
नाम त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२३०।।

अथैकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यास-मुनिसंवादे द्वापरयुगान्तकथनम्

मुनय ऊचुः

आसन्नं विप्रकृष्टं वा यदि कालं न विद्महे । ततो द्वापरविध्वंसं युगान्तं स्पृहयामहे ।।१।।
प्राप्ता वयं हि तत्कालमनया धर्मतृष्णया । आदद्याम[1] परं धर्मं[2] सुखमल्पेन कर्मणा ।।२।।
संत्रासोद्वेगजननं युगान्तं समुपस्थितम् । प्रनष्टधर्मं[3] धर्मज्ञ [4]निमित्तैर्वक्तुमर्हसि ।।३।।

व्यास उवाच

आरक्षितारो हर्तारो बलिभागस्य पार्थिवाः । युगान्ते प्रभविष्यन्ति स्वरक्षणपरायणाः ।।४।।

करते हैं, वे धन्य हैं। मुनिश्रेष्ठो ! आप लोगों का जो अभिप्राय था, वह विना पूछे भी मैंने बतला दिया। धर्मज्ञो ! कहिये, अब (मैं आप लोगों के लिये) और क्या करूँ ? ।।७८-८२।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में व्यास और मुनियों के संवाद-प्रकरण में भविष्यकथन नामक
दो सौ तीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२३०।।

अध्याय २३१

व्यास और मुनियों के संवाद में द्वापर युग के अन्त का वर्णन

मुनियों ने कहा—हम लोग समीप तथा दूर के काल को नहीं जानते हैं। इसलिये द्वापर का विध्वंस करने वाले कलियुग की इच्छा करते हैं। (इसमें) थोड़े ही कर्मों के करने से हम बहुत धर्म तथा सुख प्राप्त करेंगे—इसी धर्मतृष्णा से हम इस समय तक आ पहुँचे हैं। भय तथा उद्वेगकारी कलियुग उपस्थित है, जिसमें धर्मों का नाश होता है। धर्मज्ञ ! अब आप इस युग के अन्त को लक्षणों द्वारा बतलायें ।।१-३।।

व्यास ने कहा—इस युग के अन्त में अपनी रक्षा में निरत राजा लोग अरक्षक तथा बलिभाग के अपहरण करने वाले होंगे ।।४।। क्षत्रियेतर राजा होंगे ब्राह्मणों की जीविका शूद्रों से प्राप्त होगी। युगान्त में शूद्र

१क. ०द्यादप० । २क. सर्गं । ३ग. ०धर्मध० । ४ग. ०मित्तं वक्तु० ।

[1]अक्षत्रियाश्च राजानो विप्राः शूद्रोपजीविनः । शूद्राश्च ब्राह्मणाचारा भविष्यन्ति युगक्षये ॥५॥
श्रोत्रियाः [2]काण्डपृष्ठाश्च निष्कर्माणि हवींषि च । एकपंक्त्यामशिष्यन्ति युगान्ते मुनिसत्तमाः[3] ॥६॥
अशिष्टवन्तोऽर्थपरा नरा मद्यामिषप्रियाः । मित्रभार्या [4]भजिष्यन्ति युगान्ते पुरुषाधमाः ॥७॥
राजवृत्तिस्थिताश्चौरा [5]राजानश्चौरशीलिनः । भृत्या ह्यनिर्दिष्टभुजो भविष्यन्ति युगक्षये[6] ॥८॥
धनानि श्लाघनीयानि सतां वृत्तमपूजितम् । अकुत्सना च पतिते भविष्यति युगक्षये ॥९॥
प्रनष्टनासाः[7] पुरुषा मुक्तकेशा विरूपिणः । ऊनषोडशवर्षाश्च प्रसोष्यन्ति तथा स्त्रियः ॥१०॥
अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः । प्रमदाः केशशूलाश्च[8] भविष्यन्ति युगक्षये ॥११॥
सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति द्विजा वाजसनेयिकाः । शूद्राभा वादिनश्चैव [9]ब्राह्मणाश्चान्त्यवासिनः ॥१२॥
शुक्लदन्ता[10] जिताक्षाश्च मुण्डाः काषायवाससः । शूद्रा[11] धर्मं वदिष्यन्ति शाठ्यबुद्ध्योपजीविनः[12] १३॥
श्वापदप्रचुरत्वं च गवां चैव परिक्षयः । साधूनां [13]परिवृत्तिश्च विद्यादन्तगते युगे ॥१४॥
अन्त्या मध्ये निवत्स्यन्ति मध्याश्चान्त्यनिवासिनः । निर्ह्रीकाश्च प्रजाः सर्वा नष्टास्तत्र युगक्षये ॥१५॥
तपोयज्ञफलानां च विक्रेतारो द्विजोत्तमाः । ऋतवो विपरीताश्च भविष्यन्ति युगक्षये ॥१६॥

ब्राह्मणों का आचरण करेंगे ॥५॥ कहीं कर्म-क्रिया तथा हवन आदि नहीं होंगे । मुनिश्रेष्ठो ! श्रोत्रिय तथा शस्त्रजीवि (म्लेच्छ आदि) एक ही पंक्ति में भोजन करेंगे ॥६॥ मनुष्य अशिष्ट, धन कमाने में व्यस्त तथा मद्य-मांससेवी होंगे । युगान्त में नीच मनुष्य मित्रभार्यागामी होंगे ॥७॥ चोर राजाओं की वृत्ति में रहेंगे और राजा चोरों का आचरण करेंगे । युगक्षय होने पर भृत्यगण अनधिकृत वस्तुओं का उपयोग करेंगे । केवल धन का महत्त्व होगा । सज्जनों का सम्मान नहीं होगा । पतितों की निन्दा नहीं होगी ॥८-९॥ पुरुष नासिका विहीन, कुरूप तथा कटे केश वाले होंगे । सोलहवें वर्ष से पहले ही स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करेगी । देशों में अन्न का विक्रय होगा । चौराहों पर अर्थात् यत्र-तत्र वेदों का विक्रय होगा । स्त्रियाँ भग-विक्रय करेंगी ॥१०-११॥ सब यजुर्वेदी ब्राह्मण ब्रह्मवादी होंगे । ब्राह्मण शूद्र के समान तेजोहीन तथा विवादी होंगे ॥१२॥ चाण्डाल स्वच्छ दाँत वाले, माला-धारी, मुण्डी तथा काषायवस्त्रधारी होंगे । शठबुद्धि से जीविका उपार्जन करने वाले शूद्र धर्म का व्याख्यान करेंगे ॥१३॥ हिंसक जन्तुओं की अधिकता तथा गायों का क्षय होगा । युगान्त में साधुओं की निन्दा होगी ॥१४॥ अन्तिम वर्ण वाले (शूद्र) मध्य वर्ण (क्षत्रिय आदि) हो जायेंगे और मध्य वर्ण वाले अन्तिम वर्ण के हो जायेंगे । युगक्षय में समस्त प्रजा निर्लज्ज तथा विनाशशील होंगी ॥१५॥ ब्राह्मण लोग तपस्या तथा यज्ञों का फल-विक्रय करेंगे। ऋतुयें विपरीत होंगी ॥१६॥

१ख. कृतपापाश्च । २क. ०ण्डस्पृहाश्च । ग. ०ण्डस्पृष्टाश्च । ३ख. ०माः । सदा साधुद्रोहप० । ४क. ख. हरिष्यन्ति । ५क. ०ररूपिणः । भृ० । ६क. कलौ युगे । ७ग. ष्टचेतनाः पुंसो मु० । ८क. ०शूलिन्यो भ० । ९ख. ०णाश्चैत्यावा० । १०ख. क्लदीक्षाञ्जितीष्याश्च । ११क. ०न्तादिनासा च मु० । १२क. ०ठ्यधर्मोप० । १३ग. विनिवृत्तिश्च ।

तथा द्विहायना [१]दम्याः कलौ लाङ्गलधारिणः[२] । चित्रवर्षी च पर्जन्यो युगे क्षीणे भविष्यति ॥१७॥
सर्वे[३] शूरकुले जाताः[४] क्षमानाथा भवन्ति हि[५] । यज्ञा निम्नाः प्रजाः सर्वा भविष्यन्ति युगक्षये ॥१८॥
पितृदेयानि दत्तानि भविष्यन्ति तथा सुताः । न च धर्मं चरिष्यन्ति मानवा निर्गते युगे ॥१९॥
ऊषरा बहुला भूमिः पन्थानस्तस्करावृताः । सर्वे.......... वाणिकाश्चैव भविष्यन्ति युगक्षये ॥२०॥
पितृदायान्यदत्तानि [६]विभजन्ति तथा सुताः । हरणे[७] यत्नवन्तोऽपि लोभादिभिर्विरोधिनः[८] ॥२१॥
सौकुमार्ये तथा रूपे रत्ने चोपक्षयं गते । भविष्यन्ति युगस्यान्ते नार्यः केशैरलंकृताः ॥२२॥
निर्वीर्यस्य रतिस्तत्र गृहस्थस्य भविष्यति । युगान्ते समनुप्राप्ते नान्या भार्यासमा रतिः ॥२३॥
कुशीलानार्यभूयिष्ठा वृथारूपसमन्विताः । पुरुषाल्पं बहुस्त्रीकं तद्युगान्तस्य लक्षणम् ॥२४॥
बहुयाचनको लोको न दास्यति परस्परम् । राजचौराग्निदण्डादिक्षीणः[९] क्षयमुपैष्यति ॥२५॥
अफलानि च सस्यानि तरुणा वृद्धशीलिनः । अशीलाः सुखिनो लोके भविष्यन्ति युगक्षये ॥२६॥
वर्षासु परुषा वाता नीचाः[१०] शर्करवर्षिणः । संदिग्धः परलोकश्च भविष्यति युगक्षये ॥२७॥
वैश्या इव च राजन्या धनधान्योपजीविनः । युगापक्रमणे पूर्वं भविष्यन्ति न बान्धवाः ॥२८॥
अप्रवृत्ताः प्रपश्यन्ति[११] समयाः शपथास्तथा । ऋणं सविनयभ्रंशं युगे क्षीणे भविष्यति ॥२९॥
भविष्यत्यफलो हर्षः क्रोधश्च सफलो नृणाम् । अजाश्चापि निरोत्स्यन्ति पयसोऽर्थे युगक्षये ॥३०॥

कलि में दो वर्ष के बछड़े हल में जोते जायेंगे । युगान्त में मेघ विचित्र ढंग से बरसेगा । वीर के कुल में उत्पन्न पुरुष क्षमायाचक होंगे, युगक्षय में सारी प्रजायें बड़ी अधम होंगी । पुत्र पिता को जो कुछ देंगे उसे दान समझेंगे और युगान्त में धर्माचरण नहीं करेंगे ॥१७-१९॥ अधिकतर भूमि ऊसर होगी । मार्ग चोरों से आवृत होंगे । सब मनुष्य वणिग्वृत्ति करेंगे ॥२०॥ पुत्र पिता के बिना दिये हुए धन का बँटवारा करेंगे । उसे हरण करने में यत्नशील होते हुए भी लोभ के कारण परस्पर विरोधी बने रहेंगे । सुकुमारता, रूप तथा रत्न के क्षय हो जाने पर स्त्री के समान दूसरी रति नहीं होगी (अर्थात् लोग स्त्री-प्रेम से बढ़कर कुछ नहीं मानेंगे) । लोग दुःशील, अनार्यप्राय तथा व्यर्थ के रूप से युक्त होंगे । पुरुषों की संख्या कम और स्त्रियों की अधिक होगी । वही युगान्त का लक्षण है । माँगने वाले बहुत होंगे । लोग परस्पर दान-आदान नहीं करेंगे । राजा, चोर, अग्नि, दण्ड आदि से लोक-क्षय होगा । सस्य फलहीन होगा । युवक वृद्धस्वभाव के होंगे । दुःशील लोग सुखी होंगे ॥२३-२६॥ वर्षाऋतु में तीक्ष्ण वायु बहेगी और बालुकाकण या कंकड़ की वृष्टि होगी । युगक्षय में परलोक संदेहास्पद हो जायगा ॥२७॥ वैश्यों की तरह क्षत्रिय भी धन-धान्य से जीविका उपार्जन करेंगे । युगान्त में बन्धुता किसी से नहीं होगी ॥२८॥ नियम-शपथ का पालन कोई नहीं करेगा । ऋण बहुत अविनयपूर्वक मिलेगा ॥२९॥ मनुष्यों का हर्ष अफल होगा और क्रोध सफल होगा । युग के अवसान में दूध के लिए बकरियाँ भी

१क. वत्साः । २ग. ०लकर्षकाः । चि० । ३ख. ग. ०र्वे चौर० । ४ख. ताः स्वल्पेनाद्या भ० । ५क. हि । जना यथाचारयुता भ० । ६ख. ग. भजिष्यन्ति । ७ख. ग. ०रणाय भजिष्यन्ति लो० । ८ख. ग. ०धिताः । सौ० । ९क. ०ण्डानां तैक्ष्ण्यात्क्षय० । १०ख. नीराः । ११ग. प्रवित्स्यन्ति ।

अशास्त्रविहितो यज्ञ एवमेव भविष्यति । अप्रमाणं करिष्यन्ति नराः पण्डितमानिनः ॥३१॥
शास्त्रोक्तस्याप्रवक्तारो भविष्यन्ति न संशयः । सर्वः [1]सर्वं विजानाति [2]वृद्धाननुपसेव्य वै ॥३२॥
न कश्चिदकविर्नाम युगान्ते समुपस्थिते । नक्षत्राणि वियोगानि न कर्मस्था द्विजातयः ॥३३॥
चौरप्रायाश्च[3] राजानो युगान्ते समुपस्थिते । कुण्डीवृषा नैकृतिकाः सुरापा ब्रह्मवादिनः ॥३४॥
अश्वमेधेन यक्ष्यन्ते युगान्ते द्विजसत्तमाः । याजयिष्यन्त्ययाज्यांस्तु [4]तथाऽभक्ष्यस्य भक्षिणः ॥३५॥
ब्राह्मण[5] धनतृष्णार्ता युगान्ते समुपस्थिते । भोःशब्दमभिधास्यन्ति न च कश्चित्पठिष्यति ॥३६॥
एकशङ्खास्तथा नार्यो गवेधुकपिनद्धकाः (?) । नक्षत्राणि विवर्णानि विपरीता दिशो दश ॥३७॥
संध्यारागो विदग्धाङ्गो[6] भविष्यति युगक्षये । प्रेषयन्ति पितॄन्पुत्रा वधूः श्वश्रूः स्वकर्मसु ॥३८॥
युगेष्वेवं[7] निवत्स्यन्ति प्रमदाश्च नरास्तथा । [8]अकृत्वाऽग्राणि भोक्ष्यन्ति द्विजाश्चैवाहुताग्नयः ॥३९॥
भिक्षां बलिमदत्त्वा च भोक्ष्यन्ति पुरुषाः स्वयम् । वञ्चयित्वा पतीन्सुप्तान्गमिष्यन्ति स्त्रियोऽन्यतः ॥४०॥
न व्याधितान्नाप्रूपान्नोद्यतान्नाप्यसूयकान् । कृते न प्रतिकर्ता च युगे क्षीणे भविष्यति ॥४१॥

मुनय ऊचुः

एवं विलम्बिते धर्मे मानुषाः [9]करपीडिताः । कुत्र देशे निवत्स्यन्ति किमाहारविहारिणः ॥४२॥

बाँधी जायेंगी । अशास्त्रविहित यज्ञ होगा । अपने को पण्डित मानने वाले व्यक्ति बिना प्रमाण के सब कुछ करेंगे ॥३०-३१॥ शास्त्रीय वचनों के वक्ता नहीं मिलेंगे, इसमें संशय की बात नहीं है । बिना विद्वानों की सेवा किये ही सब अपने को सर्वज्ञ समझेंगे । कोई भी अपने को अविद्वान् नहीं मानेगा । नक्षत्र आदि का ज्ञाता कोई न होगा । द्विजातिगण कर्मठ नहीं होंगे । युगान्त उपस्थित होने पर राजा करीब-करीब चोर ही होंगे । द्विजश्रेष्ठो ! युगान्त में जारज, क्रूर कर्म करने वाले तथा मद्यपायी लोग ब्रह्मवादी होंगे और अश्वमेघ यज्ञ करेंगे । वे अनधिकारियों को यज्ञ करायेंगे तथा अभक्ष्य-भक्षण करेंगे ॥३२-३५॥ युगावसान में धन की तृष्णा से पीड़ित ब्राह्मण 'भो': शब्द का उच्चारण करेंगे (अर्थात् अनधिकारियों से यज्ञ करायेंगे), पर पढ़ेगा कोई नहीं (अर्थात् ब्राह्मण लोग मूर्ख होंगे) । स्त्रियाँ एक शंख वाली तथा तृण धान्य रखने वाली होंगी । नक्षत्र विवर्ण मालूम पड़ेंगे । दशों दिशायें विपरीत दीखेंगी । संध्या समय का रंग विचित्र-सा दीखेगा । पुत्र पिता को तथा बहू सास को अपने कार्यों के लिये भेजेंगी । इस प्रकार युगावसान में स्त्री-पुरुष रहा करेंगे । द्विजगण बिना अग्नि में आहुतियाँ डाले ही भोजन करेंगे । पुरुष स्वयम् बिना भिक्षा तथा भूत-बलि दिये ही खायेंगे । सोये पतियों को ठगकर स्त्रियाँ अन्यत्र चली जायेंगी । युग के क्षय-काल में रोगी, कुरुप, उपद्रवी तथा निन्दकों का कोई प्रतीकार करने वाला नहीं होगा ॥३६-४१॥

मुनियों ने कहा—इस प्रकार धर्म के नाश होने पर कर के भार से दबे हुए मनुष्य किस देश में निवास करेंगे ? उनका आहार-विहार कैसा होगा ? वे क्या कर्म करेंगे ? क्या चाहेंगे ? उनकी लंबाई-चौड़ाई

---

[1] क. ०र्वं न जा० । [2] क. ०नत्र प्रसे० । [3] ग. ०रप्रिया० । [4] ग. तदाऽभ० । [5] ख. ०णा ऋणतृ० । [6] ग. दिशादाहो । [7] ग. ०गेऽप्येवं । [8] ख. ग. कृतग्रा० । [9] क. कष्टपी० ।

किंकर्माणः किमीहन्तः किंप्रमाणाः किमायुषः । कां च काष्ठां समासाद्य प्रपत्स्यन्ति[1] कृतं युगम् ।।४३।।

व्यास उवाच

अत ऊर्ध्वं च्युते धर्मे गुणहीनाः प्रजास्तथा । शीलव्यसनमासाद्य प्राप्स्यन्ति ह्रासमायुषः ।।४४।।
आयुर्हान्यावलग्नानिर्वलग्नान्या विवर्णता । वैवर्ण्याद्व्याधिसंपीडा निर्वेदो व्याधिपीडनात् ।।४५।।
निर्वेदादत्मसंबोधः संबोधाद्धर्मशीलता । एवं गत्वा परां काष्ठां प्रपत्स्यन्ति कृतं युगम् ।।४६।।
उद्देशतो[2] धर्मशीलाः केचिन्मध्यस्थतां गताः । [3]किं धर्मशीलाः [4]केचित्तु केचिदत्र कुतूहलाः ।।४७।।
प्रत्यक्षमनु मानं च प्रमाणमिति निश्चिताः । अप्रमाणं[5] करिष्यन्ति सर्वमित्यपरे[6] जनाः ।।४८।।
नास्तिक्यपरताश्चापि केचिद्धर्मविलोपकाः । भविष्यन्ति नरा मूढा द्विजाः पण्डितमानिनः ।।४९।।
तदात्वमात्रश्रद्धेया शास्त्रज्ञानबहिष्कृताः । दाम्भिकास्ते भविष्यन्ति नरा ज्ञानविलोपिताः ।।५०।।
तथा[7] विलुलिते धर्मे जनाः श्रेष्ठपुरस्कृताः । शुभान्समाचरिष्यन्ति दानशीलपरायणाः ।।५१।।
सर्वभक्षाः स्वयंगुप्ता निर्घृणा निरपत्रपाः । भविष्यन्ति तदा लोके तत्कषायस्य लक्षणम् ।।५२।।
कषायोपप्लवे काले [8]ज्ञाननिष्ठाप्रणाशने । सिद्धिमल्पेन कालेन प्राप्स्यन्ति निरुपस्कृताः ।।५३।।
विप्राणां शाश्वतीं वृत्तिं यदा वर्णावरे जनाः[9] । [10]संश्रयिष्यन्ति भो विप्रास्तत्कषायस्य[11] लक्षणम् ।।५४।।

का कितना प्रमाण होगा उनकी आयु कितनी होगी ? कितने समय के वाद पुनः वे किस सीमा तक पहुँचकर सत्ययुग में प्रवेश करेंगे ? ।।४२-४३।।

व्यास ने कहा—धर्म का ह्रास होने पर प्रजा गुणविहीन होगी और दुर्व्यसन के कारण उसकी आयु अल्प होगी ।।४४।। आयु की हानि होने से बल की हानि होगी । बलहानि से नीचता होगी और नीचता से व्याधियाँ होंगी । व्याधियों से अत्यन्त खेद और उससे आत्मवोध होगा । आत्म-जागृति के वाद धर्मशीलता होगी । इस प्रकार पराकाष्ठा (अन्तिम सीमा) पर पहुँचकर प्रजा सत्ययुग में पहुँचेगी ।।४५-४६।। कोई मनुष्य कार्यवश धर्मात्मा बनेगा; कोई न धार्मिक न अधार्मिक अर्थात् मध्य कोटि में रहेगा; कोई क्षुद्र धर्म को अपनायेगा; कोई धर्म के सम्बन्ध में उत्सुकता प्रकट करेगा । प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने जायेंगे । कोई तो प्रमाण को विलकुल ही नहीं मानेगा ।।४७-४८।। कोई महानास्तिक होगा तो कोई धर्मों का संहारक होगा । द्विजगण ! मूर्ख मनुष्य भी अपने को पण्डित समझेंगे ।।४९।। वे वर्तमान समय में होने वाले पदार्थों में श्रद्धा रखने वाले और शास्त्रज्ञान से शून्य हो जायँगे । मनुष्य ज्ञानशून्य तथा दंभी होंगे । इस प्रकार धर्म के छिन्न-भिन्न हो जाने पर श्रेष्ठ व्यक्तियों से पुरस्कृत लोग दान के स्वभाव में परायण होकर शुभ कर्मों का समाचरण करेंगे । कलियुग में मनुष्य सर्वभक्षी, चोर, घृणा करने वाले तथा निर्लज्ज होंगे । यही कलि का लक्षण समझिये ।।५०-५२।। कलि के उपद्रवकाल में मनुष्यों की ज्ञाननिष्ठा नष्ट हो जायेगी । पर कर्मों की सिद्धि अल्पकाल की ज्ञाननिष्ठा में ही हो जायेगी । ब्राह्मणों की वृत्ति नीच वर्ण के लोग करेंगे । यही कलि का लक्षण समझिये ।।५३-५४।। कलियुग

---

[1] ख. ०पश्यन्ति । [2] क. उद्देशिनो । [3] किं मर्म० । [4] क. ०चित्तत्र । ख. ०चित्कौतू० । [5] क. ०णं चरि० । [6] ख. ०पराः प्रजाः । ना० । [7] ख. ०थाऽखिले गते ध० । [8] क. ख. ०नविद्याप्र० । [9] ग. ०नाः । निखिलेन ग्रहीष्य० । [10] ग. ०न्ति तत्क० । [11] क. ख. ०स्तदा निष्ठा कलेः स्मृता । म० ।

महायुद्धं महावर्षं महावातं महातपः । भविष्यति युगे क्षीणे तत्कषायस्य लक्षणम् ।।५५।।
विप्ररूपेण यक्षांसि राजानः कर्णवेदिनः[1] । पृथिवीमुपभोक्ष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ।।५६।।
निःस्वाध्यायवषट्काराः [2]कुनेतारोऽभिमानिनः। क्रव्यादा ब्रह्मरूपेण सर्वभक्ष्या वृथाव्रताः ।।५७।।
[3]मूर्खाश्चार्थपरा लुब्धाः क्षुद्राः क्षुद्रपरिच्छदाः[4] । व्यवहारोपवृत्ताश्च च्युता धर्माश्च शाश्वतात् ।।५८।।
हर्तारः पररत्नानां[5] परदारप्रधर्षकाः । कामात्मानो दुरात्मानः सोपधाः प्रियसाहसाः ।।५९।।
तेषु प्रभवमाणेशु जनेष्वपि च सर्वशः । अभाविनो[6] भविष्यन्ति मुनयो बहुरूपिणः ।।६०।।
कलौ[7] युगे समुत्पन्नाः प्रधानपुरुषाश्च ये । कथायोगेन तान्ससर्वान्पूजयिष्यन्ति मानवाः ।।६१।।
सस्यचौरा भविष्यन्ति तथा चैलापहारिणः । भोक्ष्यभोज्यहराश्चैव करण्डानां च हारिणः ।।६२।।
चौराश्चौरस्य हर्तारो हन्त हन्तुर्भविष्यति । चौरैश्चौरक्षये चापि कृते क्षेमं भविष्यति ।।६३।।
निःसारे क्षुभिते काले[8] निष्क्रिये संव्यवस्थिते । नरा वनं श्रयिष्यन्ति करभारप्रपीडिताः ।।६४।।
यज्ञकर्मण्युपरते रक्षांसि श्वापदानि च । कीटमूषिकसर्पाश्च धर्षयिष्यन्ति मानवान् ।।६५।।
क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं सामग्र्यं चैव बन्धुषु । उद्देशेषु नराः[9] श्रेष्ठा भविष्यन्ति युगक्षये ।।६६।।

के अवसान में महायुद्ध होगा, अत्यन्त वृष्टि होगी, वायु वहुत जोर से बहेगी और धूप अत्यन्त तीक्ष्ण होगी । यही कलि का लक्षण समझिए ।।५५।। युगान्त उपस्थित होने पर यक्षगण व्राह्मण का रूप धारण कर और राजा लोग कर्णवेदी होकर (अर्थात् केवल सुनी हुई बातों पर चलने वाले) पृथिवी का उपभोग करेंगे ।।५६।। वे स्वाध्याय तथा वषट्कार से रहित, अभिमानी, कुमार्ग पर लोगो को ले जाने वाले, सर्वभक्षी, मिथ्याव्रती, मूर्ख, धनलोलुप, लोभी, क्षुद्र, तुच्छ साधनों से युक्त, लोकव्यवहार को विगाड़ने वाले, धर्मभ्रष्ट, दूसरे के रत्नों के अपहर्ता, परस्त्री-गामी, कामी, दुरात्मा, छली तथा दुःसाहसी होंगे । उनके आधिक्य हो जाने पर धूर्त-मनुष्य अनेक रूप वनाकर मुनि कहलायेंगे ।।५७-६०।। कलियुग में जो प्रधान पुरुष उत्पन्न होंगे, उन सवकी मनुष्य कथा के योग से (अर्थात् कथा रचकर) पूजा किया करेंगे ।।६१।। कलि में मनुष्य सस्य-हर्ता, तेल-हर्ता, भक्ष्य-भोज्य-हर्ता करण्ड (डाली) के अपहर्ता, चोरों के चोर तथा हत्यारों के हत्यारे होंगे । चोरों के द्वारा चोरों का क्षय कर दिये जाने पर सत्ययुग में जाकर मनुष्यों का कल्याण होगा ।।६२-६३।। सारहीन, क्रियाशून्य तथा उद्वेगकारी काल उपस्थित होने पर मनुष्य कर के भार से पीड़ित होकर वन का आश्रय लेंगे ।।६४।। यज्ञों के नष्ट हो जाने पर राक्षस, हिंसक पशु, कीड़े, चूहे तथा साँफ मनुष्यों को काट खायेंगे ।।६५।। युग समाप्त हो जाने पर फिर से कल्याण, सुभिक्ष, आरोग्य तथा सकल साधन मनुष्यों को प्राप्त होंगे ।।६६।। कलियुग में मनुष्य स्वयं रक्षक, स्वयं चोर

---

[1] ख. कर्मवादि० । [2] क. कुनरा लोभमा० । [3] क. ख. मूर्खाः स्वार्थ० । [4] ख. ०रिग्रहाः । व्य० । [5] क. ०रधान्यानां । [6] ख. अभिमानिनो । [7] क. कृते । [8] ख. लोके । [9] क. ख. नरश्रे० ।

स्वयंपालाः स्वयं [1]चौराः [2]प्लवसंभारसंभृताः । मण्डलैः संभविष्यन्ति देशे देशे पृथक्पृथक् ।।६७।।
स्वदेशेभ्यः परिभ्रष्टा निःसाराः सह बन्धुभिः । नराः सर्वे भविष्यन्ति तदा कालपरिक्षयात् ।।६८।।
ततः सर्वे समादाय कुमारान्प्रद्रुता भयात् । कौशिकीं [3]संतरिष्यन्ति नराः क्षुद्भयपीडिताः ।।६९।।
[4]अङ्गान्वङ्गान्कलिङ्गांश्च काश्मीरानथ [5]कोशलान् । ऋषिकान्तगिरिद्रोणीः [6]संश्रयिष्यन्ति मानवाः ।।७०।।
कृत्स्नं च हिमवत्पार्श्वं कूलं च लवणाम्भसः । विविधं जीर्णपत्रं च वल्कलान्यजिनानि च ।।७१।।
स्वयं कृत्वा निवत्स्यन्ति तस्मिन्भूते युगक्षये । अरण्येषु च वत्स्यन्ति नरा [7]म्लेच्छगणैः सह ।।७२।।
नैव शून्या [8]नवारण्या भविष्यति वसुंधरा । अगोप्तारश्च गोप्तारो भविष्यन्ति [9]नराधिपाः ।।७३।।
मृगैर्मत्स्यैर्विहङ्गैश्च श्वापदैः सर्पकीटकैः । मधुशाकफलैर्मूलैर्वर्तयिष्यन्ति मानवाः ।।७४।।
शीर्णपर्णफलाहारा वल्कलान्यजिनानि च । स्वयं कृत्वा निवत्स्यन्ति यथा मुनिजनस्तथा ।।७५।।
[10]बीजानामकृतस्नेहा[11] आहताः [12]काष्ठशङ्कुभिः । अजैडकं[13] खरोष्ट्रं च पालयिष्यन्ति नित्यशः ।।७६।।
नदीस्रोतांसिरोत्स्यन्ति तोयार्थं कूलमाश्रिताः । पक्वान्नव्यवहारेण विपणन्तः परस्परम् ।।७७।।
[14]तनूरुहैर्यथाजातैः [15]समलान्तरसंभृतैः । बहवपत्याः प्रजाहीनाः कुलशीलविवर्जिताः ।।७८।।
एवं भविष्यन्ति तदा नराश्चाधर्मजीविनः । हीना[16] हीनं तथा धर्मं प्रजा समनु वत्स्यति ।।७९।।

तथा उपद्रवों से कातर होकर देश-देश में पृथक्-पृथक् अपना-अपना संघ बनायेंगे । युग के क्षय होने पर भाई-बन्धुओं सहित समस्त मनुष्य सारहीन तथा स्वेदश-भ्रष्ट हो जायेंगे । तब सब लोग भय के मारे अपने बाल-बच्चों को लेकर कौशिकी नदी को पार करके भाग जायेंगे ।। ६७-६९।। क्षुधा और भय से पीड़ित मनुष्य अंग, बंग, कलिंग, कश्मीर तथा कोशल देश में जाकर वास करेंगे । हिमालय की तराई में तथा क्षारसमुद्र के तट प्रान्त में मनुष्य अनेक प्रकार की जीर्ण पत्तियाँ खाकर वृक्ष के छाल तथा चर्म पहन कर किसी तरह दिन काटेंगे । वनो में म्लेच्छों के साथ मनुष्य निवास करेंगे ।।७०-७२।। पृथ्वी पर नये-नये वन होंगे । यह लोगों से शून्य नहीं होगी । रक्षक राजा लोग ही भक्षक हो जायेंगे ।।७३।। मृग, मत्स्य, पक्षी, हिंसक जीव, साँप तथा कीड़ों के साथ मनुष्य मधु, शाक, फल तथा कन्द खाकर रहेंगे । सड़े-गले पत्र तथा फल खाकर वल्कल तथा चर्म पहन कर मनुष्य मुनि की तरह रहेंगे । मनुष्य बीज नहीं बोयेंगे, बल्कि बकरे, भेंड़े, गधे ऊँट पालेंगे । वे जल के लिये बाँध बाँधकर नदियों की धाराओं को रोकेंगे, बाजारों में बने-बनाये भोजन का क्रय-विक्रय करेंगे । उनके शरीर बड़े-बड़े रोओं से तथा मल से आच्छादित रहेंगे । वे बहुत सन्तान वाले, सन्तानहीन तथा कुलमर्यादा से शून्य होंगे ।।७४-७८।। उस समय ऐसे अधर्मजीवी मनुष्य होंगे। दीन प्रजा तुच्छ धर्म को अपनायेगी । मनुष्यों की आयु की अवधि

---

[1] क. चौरा युगसं० । [2] क. ०संयुताः । [3] ग. संश्रयिष्य० । [4] क. ०श्च तथा मगधमेकला० । [5] ख. मेकलान् । [6] क. ऋषीकं ते गि० । ख. ऋषीसत्त्वां गि० । [7] क. भिक्षुगणैः । [8] क. न चार० । [9] ग. ०रा वृताः । मृ० । [10] क. वीजना० । [11] ख. ०कृतिस्नेहा हन्तुः का० । [12] क. ष्ठजन्तुभिः । [13] क. अजाण्डजान्खरो० । [14] क. ०थायातममलान्तर० । [15] ग. समूलोत्तर० । [16] क. ०नाधीनं ।

आयुस्तत्र च मर्त्यानां परं त्रिशद्भविष्यति । दुर्बला विषयग्लाना [1]जराशोकैरभिप्लुताः ॥८०॥
भविष्यन्ति तदा तेषां रोगैरिन्द्रियसंक्षयः । आयुःप्रत्ययसंरोधाद्विषायादु (यैरु) परंस्यते ॥८१॥
शुश्रूषवो भविष्यन्ति साधूनां दर्शने रताः । सत्यं च प्रतिपत्स्यन्ति[2] व्यवहारोपसंक्षयात् ॥८२॥
भविष्यन्ति च कामानामलाभाद्धर्मशीलिनः । करिष्यन्ति च[3] संस्कार[4] स्वयं[5] च क्षयपीडिताः ॥८३॥
एवं शुश्रूषवो दाने [6]सत्ये [7]प्राण्यभिरक्षणे[8] । ततः पादप्रवृत्ते तु धर्मे श्रेयो [9]निपत्स्यते ॥८४॥
तेषां लब्धानुमानानां गुणेषु परिवर्ततताम् । स्वादु किंत्विति विज्ञाय धर्म एव च दृश्यते ॥८५॥
यथा हानिक्रमं प्राप्तास्तथा ऋद्धिक्रमं गताः । प्रगृहीते ततो धर्मे प्रपश्यन्ति[10] कृतं युगम् ॥८६॥
साधुवृत्तिः कृतयुगे कषाये हानिरुच्यते । एक [11]एव तु कालोऽयं हीनवर्णो यथा शशी ॥८७॥
छन्नश्च तमसा सोमो यथा कलियुगं तथा । मुक्तश्च तमसा सोम एवं कृतयुगं च तत् ॥८८॥
अर्थवादः परं ब्रह्म वेदार्थ इति तं विदुः । [12]अविविक्तमविज्ञातं [13]दायाद्यमिह[14] धार्यते ॥८९॥
इष्टवादस्तपो नाम तपो हि स्थविरीकृतः । गुणैः कर्माभिनिवृत्तिर्गुणाः[15] शुध्यन्ति कर्मणा ॥९०॥
आशीस्तु पुरुषं दृष्ट्वा देशकालानुवर्तिनी। युगे युगे यथा कालमृषिभिः समुदाहृता[16] ॥९१॥

तीस तक होगी । वे दुर्बल, विषयलोलुप तथा बुढ़ापा और शोक से आक्रान्त होंगे ॥७९-८०॥ रोगों से उनकी इन्द्रियाँ क्षीण हो जायेंगी । आयु-क्षय होने कारण वे विषय से विरत हो जायेंगे । तथा साधुओं की शुश्रूषा एवं दर्शन में निरत होंगे । व्यवहार का क्षय होने पर उनमें सत्यता का उदय होगा । कामों की अप्राप्ति से उनमें धर्म-जागरुकता होगी । तब से अभाव से पीड़ित होकर स्वयं अपना संस्कार करेंगे ॥८१-८३॥ इस प्रकार सेवा, दान, सत्य तथा जीवरक्षा में उनकी रुचि होगी । तव चारों चरण लेकर धर्म के प्रादुर्भूत होने पर उनका कल्याण होगा ॥८४॥ उनके गुणों में भी परिवर्तन होगा । तब वे अनुमान करेंगे कि धर्म ही ठीक है । पश्चात् जैसे उनकी हानि हुई थी वैसे फिर समृद्धि होगी । धर्म को ग्रहण कर लेने पर वे सत्ययुग का दर्शन करते हैं ॥८५-८६॥ सत्ययुग में मनुष्यों की साधु-वृत्ति होती है और कलियुग में हानि होती है । यही एक काल है, जो चन्द्रमा की तरह मन्दवर्ण है ॥८७॥ जैसे चन्द्रमा अन्धकार से आच्छन्न होता है उसी तरह कलियुग भी पापों से आवृत होता है । अन्धकार से मुक्त होने पर चन्द्रमा की तरह कलियुग भी पापों से मुक्त होकर सुशोभित होता है । अर्थवाद परब्रह्म है और वेदार्थ भी उसी को जानना चाहिये । वह अपने से अपृथक् तथा अविज्ञेय सृष्टि धारण करता है । इष्टवाद तप का नाम है और तप को इसी से संवर्धित किया है । गुणों से कर्मों की निष्पत्ति होती है और गुण कर्मों से शुद्ध होते हैं ॥८८-९०॥ युग-युग में समय-समय पर मनुष्यों को देखकर ऋषि लोग देश-काल के अनुसार उन्हें आशीर्वाद देते हैं। प्रति युग में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा देवताओं की प्रतिक्रिया होती है और

१क. ०राक्लेशैर० । २ख. पश्यन्ति । ३ग. न. । ४ग. संकोचं । ५क. स्वपक्षभय० । ख. स्वपक्षक्ष० । ६क. सत्यप्रा० । ७क. ०रक्षिणः । त० । ८ग. ०णे । चतुष्पदे प्र० । ९क. विपत्स्यति । १०ख. ०पत्स्यन्ति । ११क. ख. ०व चतुष्कालो ही० । १२क. ख. ०विमुक्त० । १३ग. ०यादमि० । १४ख. ०मिवधा० । १५ग. ०र्गुणैस्तथ्येन क० । १६ग. ०हृतम् ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां देवानां[1] च प्रतिक्रिया । आशिषश्च शिवाः पुण्यास्तथैवाऽऽयुर्युगे युगे ।।९२।।
तथा युगानां परिवर्तनानि,[2] चिरप्रवृत्तानि विधिस्वभावात् ।
क्षणं न संतिष्ठति जीवलोकः, क्षयोदयाभ्यां परिवर्तमानः ।।९३।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे भविष्यकथनं नाम
एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

अथ द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यास-मुनिसंवादे प्राकृतप्रतिसंचरकथनम्

व्यास उवाच

सर्वेषामेव भूतानां[3] त्रिविधः प्रतिसंचरः । नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवाऽऽत्यन्तिको मतः ।।१।।
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तेषां कल्पान्ते प्रतिसंचरः । आत्यन्तिको वै मोक्षश्च प्राकृतो द्विपरार्धिकः ।।२।।

मुनय ऊचुः

[4]परार्धसंख्यां भगवंस्त्वमाचक्ष्व यथोदिताम् । द्विगुणीकृतयज्ज्ञेयः प्राकृतः प्रतिसंचरः ।।३।।

कल्याणमय एवं पवित्र आशीर्वाद दिये जाते हैं। विधिवशात् युगों का परिवर्तन होता रहता है। उत्पत्ति तथा प्रलय से युक्त जीवलोक क्षण भर भी एक रूप में नहीं रहता है।।९१-९३।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में भविष्यकथन नामक
दो सौ एकतीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२३१।।

अध्याय २३२

प्राकृत प्रलय का वर्णन

व्यास ने कहा—समस्त प्राणियों का प्रलय तीन प्रकार का माना गया है। एक नैमित्तक दूसरा प्राकृतिक और तीसरा आत्यन्तिक। (कल्प के अन्त में होने वाला) ब्राह्म प्रलय नैमित्तिक कहलाता है और मोक्ष को आत्यन्तिक कहते हैं। दो परार्ध संख्या बीत जाने पर होने वाला प्रलय प्राकृतिक कहलाता है।।१-२।।

मुनियों ने कहा—भगवन्! परार्ध संख्या हमें बतलाइये, जिसके द्विगुण कर देने से प्राकृत प्रलय का बोध होता है।।३।।

---

[1] ग. वेदानां। [2] क. ०नि यथा यथा वै प्रकृतिस्व०। [3] क. ख. वर्णानां। [4] ग. ०संज्ञां भ०।

व्यास उवाच

स्थानात्स्थानं [1]दशगुणमेकैकं गण्यते द्विजाः । ततोष्टादशमे भागे परार्धमभिधीयते ॥४॥
परार्धं द्विगुणं यत्तु प्राकृतः स लयो द्विजाः । तदाऽव्यक्तेऽखिलं व्यक्तं सहेतौ लयमेति वै ॥५॥
निमेषो मानुषो योऽयं मात्रामात्रप्रमाणतः । तैः पञ्चदशभिः काष्ठा त्रिंशत्काष्ठास्तथा कला ॥६॥
नाडिका तु प्रमाणेन कला च (श्च) दश पञ्च च[2] । उन्मानेनाम्भसः सा तु पलान्यर्धत्रयोदश ॥७॥
हेममाषैः कृतच्छिद्रा[3] चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः । मागधेन प्रमाणेन जलप्रस्थस्तु स स्मृतः ॥८॥
नाडिकाभ्यामथ द्वाभ्यां मुहूर्तो द्विजसत्तमाः । अहोरात्रं मुहूर्तास्तु त्रिंशन्मासो दिनैस्तथा ॥९॥
मासैर्द्वादशभिर्वर्षमहोरात्रं[4] तु तद्दिवि । त्रिभिर्वर्षशतैर्वर्षं षष्ट्या चैवासुरद्विषाम् ॥१०॥
तैस्तु द्वादशसाहस्रैश्चतुर्युगमुदाहृतम् । चतुर्युगसहस्रं तु कथ्यते ब्रह्मणो दिनम् ॥११॥
स कल्पस्तत्र मनवश्चतुर्दश द्विजोत्तमाः । तदन्ते चैव भो विप्रा ब्रह्मनैमित्तिको लयः ॥१२॥
तस्य स्वरूपमत्युग्रं द्विजेन्द्रा गदतो मम । शृणुध्वं प्राकृतं भूयस्ततो वक्ष्याम्यहं लयम् ॥१३॥
चतुर्युगसहस्रान्ते क्षीणप्राये महीतले । अनावृष्टिरतीवोग्रा जायते[5] शतवार्षिकी ॥१४॥

व्यास ने कहा—द्विजगण ! एक स्थान से दूसरे एक-एक स्थान को दश गुना करके गिनिये, उसके वाद अठारहवें स्थान तक गिनने पर जो अन्तिम संख्या होती है, उसका नाम परार्ध है । द्विगुण परार्ध (का काल) प्राकृत लय कहलाता है । उस समय अव्यक्त ब्रह्म में व्यक्त जगत् का लय हो जाता है । मनुष्य का निमेष (पलक गिरने का काल) मात्रा कहलाता है; क्योंकि एक मात्रा वाले अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतना निमेष में भी लगता है । पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा और तीस काष्ठाओं की एक कला होती है । १५ कला एक नाड़ी का प्रमाण है ॥१३॥ पल ताँवे के बने हुए जल के पात्र से नाडी का ज्ञान होता है । उस पात्र में ४ अंगुल लंबी, ४ माशे की सुवर्णमयी शलाका से छिद्र किया जाता है उस छिद्र को ऊपर करके जल में डुबो देने पर जितनी देर में वह पात्र भर जाय, वही एक नाड़ी का समय है । मगधदेशीय माप से वह पात्र जलप्रस्थ कहलाता है ॥४-८॥ द्विजश्रेष्ठो ! दो नाड़ियों (१२ क्षणों) का एक मुहूर्त होता है । तीस मुहूर्तों का एक अहोरात्र (दिन और रात) होता है और तीस अहोरात्रों का एक मास होता है ॥९॥ बारह मासों का एक वर्ष होता है । यही एक वर्ष देवताओं का एक अहोरात्र होता है । तीन सौ साठ वर्षों का देवताओं का एक वर्ष होता है । देवताओं के बारह हजार वर्ष चार युग माने गये हैं । सहस्र वार चारों युगों के बीत जाने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है ॥१०-११॥ वही कल्प कहलाता है । उसमें चौदह मनु हो जाते हैं । विप्रवृन्द ! उसके अन्त में ब्रह्मा का नैमित्तिक लय होता है ॥१२॥ द्विजश्रेष्ठो ! उसलय का स्वरूप अत्यन्त उग्र है । उसे पहले सुन लीजिये । वाद में प्राकृत लय का वर्णन करूँगा ॥१३॥ नैमित्तिक लय में पृथ्वी क्षीण हो जाती है, सौ वर्षों तक भयंकर अतिवृष्टि होती

---

[1] ग. ०मेकमस्माद्गण्य० । [2] ग. च । तन्मा० । [3] क. ०छिद्रश्चतु० । [4] क. ०वर्षं तन्मानपरिकीर्तितम् । शतैस्तैस्तु चतुःषष्ठ्या वर्षं वै त्रिदिवौकसाम् । तै० । [5] क. ०ते दशवा० । ख. ०ते वार्षिकी तदा । त० ।

ततो यान्यल्पसाराणि तानि[1] सत्त्वान्यनेकशः[2] । क्षयं यान्ति मुनिश्रेष्ठाः[3] पार्थिवान्यतिपीडनात् ।।१५।।
ततः स भगवान्कृष्णो [4]रुद्ररूपी तथाऽव्ययः । क्षयाय यतते कर्तुमात्मस्थाः सकलाः प्रजाः ।।१६।।
ततः स [5]भगवान्विष्णुर्भानोः सप्तसु रश्मिषु । स्थितः पिबत्यशेषाणि जलानि मुनिसत्तमाः ।।१७।।
पीत्वाऽम्भांसि समस्तानि [6]प्राणिभूतगतानि वै । शोषं नयति भो विप्राः समस्तं पृथिवीतलम् ।।१८।।
समुद्रान्सरितः शैलाञ्शैलप्रस्रवणानि च । पातालेषु च यत्तोयं तत्सर्वं नयति क्षयम् ।।१९।।
[7]ततस्तस्याप्यभावेन[8] तोयाहारोपबृंहितः । सहस्ररश्मयः सप्त जायन्ते तत्र भास्कराः ।।२०।।
अधश्चोर्ध्वं च ते दीप्तास्ततः सप्त दिवाकराः । दहन्त्यशेषं त्रैलोक्यं सपातालतलं द्विजाः ।।२१।।
दह्यमानंतु तैर्दीप्तैस्त्रैलोक्यं दीप्तभास्करैः । साद्रिनगार्णवाभोगं निःस्नेहमभिजायते ।।२२।।
ततो निर्दग्धवृक्षाम्बु त्रैलोक्यमखिलं द्विजाः । भवत्येषा च वसुधा कूर्मपृष्ठोपमाकृतिः ।।२३।।
ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूतगर्सहरो [9]हरः । शेषाहिश्वाससंतापात्पातालानि दहत्यधः ।।२४।।
पातालानि समस्तानि स दग्ध्वा ज्वलतो महान् । भूमिमभ्येत्य सकलं दग्ध्वा तु वसुधातलम् ।।२५।।
भुवो लोकं ततः सर्वं स्वर्गलोकं च दारुणः । ज्वालामालामहावर्तस्तत्रैव परिवर्तते ।।२६।।
अम्बरीषमिवाऽऽभाति त्रैलोक्यमखिलं तदा । ज्वालावर्तपरीवारमुपक्षीणबलास्ततः ।।२७।।
ततस्तापपरीतास्तु लोकद्वयनिवासिनः । हृतावकाशा गच्छन्ति महर्लोकं द्विजास्तदा ।।२८।।

रहती है ।।१४।। उससे जितने अल्प सार वाले जीव हैं, नष्ट हो जाते हैं । मुनिश्रेष्ठो ! पृथिवी के जितने पदार्थ हैं, उनका नाश हो जाता है ।।१५।। तब रुद्र रूपी अविनाशी भगवान् कृष्ण समस्त प्रजा को विनष्ट करने के लिये यत्न करते हैं ।।१६।। तब भगवान् विष्णु, सूर्य की सातों रश्मियों में स्थित होकर अशेष जल को सोख लेते हैं ।।१७।। प्राणियों में व्याप्त समस्त जल को पीकर भगवान् सम्पूर्ण पृथ्वी को सुखा देते हैं । समुद्र, नदियों, पर्वतों, झरनों तथा पातालों में जो जल रहता है, उस सम्पूर्ण ज़ल को सोख लेते हैं । सर्वत्र जल के अभाव हो जाने पर जल पीकर परिपुष्ट हुए सूर्य सात हो जाते हैं । तब ऊपर-नीचे सर्वत्र सूर्य तपाने लगते हैं, पाताल सहित तीनों लोक को जला डालते हैं ।।१८-२१।। पर्वत और समुद्र भी निर्दग्ध हो जाते हैं । वृक्ष, जल आदि वस्तुओं के जल जाने पर पृथ्वी की आकृति कछुए की पीठ के समान हो जाती है ।।२२-२३।। तब प्राणियों की सृष्टि के संहर्ता कालाग्नि का रूप धारण करते हैं। शेषनाग के श्वास की उष्णता से पाताल जल जाता है। समस्त पातालों को जलाकर वह भयंकर लपटें सम्पूर्ण पृथ्वीतल को जला डालती हैं ।।२४-२५।। तब वह दारुण ज्वाला-समूह भूलोक और स्वर्गलोक को निर्दग्ध कर देता है। तीनों लोक भ्राष्ट्र (भाड़) की तरह मालूम पड़ते हैं। दोनों लोकों (भूलोक और स्वर्गलोक) के निवासी प्राणी ज्वालाओं से संतप्त होकर महर्लोक को जाते हैं ।।२६--२८।। वहाँ से भी अत्यन्त संतप्त होकर जनलोक को जाते हैं। तब रुद्ररूपी विष्णु सम्पूर्ण जगत् को जला कर

---

[1] ग. सर्गाण्यने० । [2] क. ०शः । क्षीयन्ते मुनयः श्रे० । [3] क. ०श्रेष्ठा अन्नाभावे तु जन्तवः । त० । [4] क. ख. ०रूपधरोऽव्य० । [5] क. ०वान्कृष्णो भानोः । [6] क. ग. ०गणानि । [7] ख. ०स्तस्य तु वीजेन । [8] ग. स्यानुभा० । [9] ग. हरिः ।

तस्मादपि महातापतप्ता लोकास्ततः परम् । गच्छन्ति जनलोकं ते[1] दशावृत्या परैषिणः ॥२९॥
ततो दग्ध्वा जगत्सर्वं रूद्ररूपी [2]जर्नादनः । मुखनिःश्वासजान्मेघान्करोति मुनिसत्तमाः ॥३०॥
ततो गजकुलप्रख्यस्तडिद्वन्तो निनादिनः । उत्तिष्ठन्ति तदा व्योम्नि घोराः संवर्तका घनाः ॥३१॥
केचिदञ्जनसंकाशाः केचित्कुमुदसंनिभाः । धूमवर्णा घनाः केचित्केचित्पीताः पयोधराः ॥३२॥
केचिद्धरिद्रावर्णाभा लाक्षारसनिभास्तथा । केचिद्वैदूर्यसंकाशा इन्द्रनीलनिभास्तथा ॥३३॥
शङ्खकुन्दनिभाश्चान्ये जातीकुन्दनिभास्तथा । इन्द्रगोपनिभाः केचिन्मनः शिलनिभास्तथा ॥३४॥
पद्मपत्रनिभाः केचिदुत्तिष्ठन्ति घना घनाः । केचित्पुरवराकाराः केचित्पर्वतसंनिभाः ॥३५॥
[3]कूटागारनिभाश्चान्ये केचित्स्थलनिभा घनाः । महाकाया महारावा [4]पूरयन्ति नभस्तलम् ॥३६॥
वर्षन्तस्ते महासारास्तमग्निमतिभैरवम् । शमयन्त्यखिलं विप्रास्त्रैलोक्यान्तरविस्तृतम् ॥३७॥
नष्टे चाग्नौ शतं तेऽपि वर्षाणामधिकं घनाः । प्लावयन्तो जगत्सर्वं वर्षन्ति मुनिसत्तमाः ॥३८॥
धाराभिरक्षमात्राभिः प्लावययित्वाऽखिलां भुवम् । भुवो लोकं तथैवोर्ध्वं प्लावयन्ति दिवं द्विजाः ॥३९॥
अन्धकारीकृते लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे । वर्षन्ति ते [5]महामेधा वर्षाणामधिकं शतम् ॥४०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे संहारलक्षणकथनं नाम
द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥३२॥

अपने मुख के निःश्वास से मेघों को उत्पन्न करते हैं ॥२९-३०॥ फिर हाथी के समान नाद करने वाले भयंकर प्रलयकालीन मेघ अनेक विद्युल्लताओं से युक्त होकर आकाश में उठते हैं ॥३१॥ उनमें से किसी मेघ का वर्ण अंजन के समान होता है, किसी का कुमुद के समान होता है, किसी का धूम वर्ण होता है, किसी का पीत वर्ण होता है, किसी का वर्ण हलदी के समान होता है, किसी का लाह के समान होता है, किसी का वैदूर्य मणि के समान होता है, किसी का इन्द्रनील मणि के समान होता है, किसी का शंख के समान होता है, किसी का कुन्द पुष्प के समान होता है, किसी का जाति पुष्प के समान होता है; किसी का इन्द्रगोप के समान होता है, किसी का मनःशिला के समान होता है और किसी का पद्मपत्र के समान होता है । किसी मेघ की आकृति महानगर के समान होती है, किसी की पर्वत के समान होती है, किसी की क्रीड़ागृह से समान होती है, और किसी की पृथ्वी के समान होती है । वे महाशरीर वाले तथा महाशब्द करने वाले मेघ आकाश को भर देते हैं ॥३२-३६॥ अत्यन्त भीषण वृष्टि करते हैं, जिससे त्रैलोक्य में फैला हुआ अग्नि शान्त हो जाता है ॥७॥ मुनिश्रेष्ठो ! अग्नि के नष्ट हो जाने पर भी सौ वर्ष तक मेघ सम्पूर्ण जगत् को प्लावित करते हुए बरसते रहते हैं ॥३८॥ रुद्राक्ष के समान बूँदों से अखिल पृथ्वी को प्लावित करके भूलोक तथा ऊर्ध्वलोक को प्लावित कर देते हैं ॥३९॥ सम्पूर्ण लोक के तिमिरावृत हो जाने पर और स्थावर-जंगम के नष्ट हो जाने पर सौ वर्षों से अधिक काल तक महामेघ बरसते रहते हैं ॥४०॥

श्रीब्रह्मपुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में संहारलक्षण कथन नामक दो सौ
बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२३२॥

---

[1]क. ते देशा भृत्या। [2]ग. ०नः। अथनिः०। [3]ख. कूपागा०। [4]ख. पूरयन्तो। [5]ग. ०हाभागा व०।

अथ त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्राक्कृतलयनिरूपणम्

व्यास उवाच

सप्तर्षिस्थानमाक्रम्य स्थितेऽम्भसि द्विजोत्तमाः । एकार्णवं भवत्येतत्त्रैलोक्यमखिलं ततः[1] ॥१॥
अथ निःश्वासजो[2] विष्णोर्वायुस्ताञ्जलदांस्ततः । नाशं नयति भो विप्रा वर्षाणामधिकं शतम् ॥२॥
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यो भगवान्भूतभावनः । अनादिरादिर्विश्वस्य पीत्वा वायुमशेषतः ॥३॥
एकार्णवे[3] ततस्तस्मिञ्शेषशय्यास्थितः प्रभुः । ब्रह्मरूपधरः [4]शेते भगवानादिकृद्धरिः ॥४॥
जनलोकगतैः सिद्धैः सनकाद्यैरभिष्टुतः । ब्रह्मलोकगतैश्चैव चिन्त्यमानो मुमुक्षुभिः ॥५॥
आत्ममायामयीं दिव्यां योगनिद्रां समास्थितः । आत्मानं वासुदेवाख्यं चिन्तयन्परमेश्वरः ॥६॥
एष नैमित्तिको नाम विप्रेन्द्राः प्रतिसंचरः । निमित्तं तत्र यच्छेते ब्रह्मरूपधरो[5] हरिः ॥७॥
यदा जागर्ति सर्वात्मा स तदा चेष्टते जगत् । निमीलत्येतदखिलं मायाशय्याशयेऽच्युते ॥८॥
पद्मयोनेर्दिनं यत्तु [6]चतुर्युगसहस्रवत् । एकार्णवकृते लोके तावती रात्रिरुच्यते ॥९॥
ततः प्रबुद्धो रात्र्यन्ते पुनः सृष्टिं करोत्यजः । ब्रह्मस्वरूपधृग्विष्णुर्यथा वः कथितं पुरा ॥१०॥

अध्याय २३३

प्राकृत लय का निरूपण

व्यास ने कहा—द्विजवर ! सप्तर्षियों के स्थान से लेकर अखिल जगत् एकार्णव अर्थात् जलमय हो जाता है ।।१।। तदनन्तर विष्णु का श्वासवायु मेघों को नष्ट कर देता है और सौ वर्षों से अधिक काल तक वहता रहता है ।।२।। तब सर्वजीवमय, अचिन्त्य, प्राणियों के उत्पादक, अनादि तथा विश्व के आदि भगवान् अशेष वायु को पीकर उसी एकार्णव में शेषशय्या पर स्थित होते हैं ।।३½।। जब ब्रह्मरूपधारी आदिकर्त्ता भगवान् हरि शयन में रहते हैं तब जनलोक निवासी सनक आदि सिद्धवृन्द उनकी स्तुति करते हैं। ब्रह्मलोकवासी मुमुक्षु जन भी उनका ध्यान करते हैं। परमेश्वर भगवान् आत्ममायामयी दिव्य योगनिद्रा में स्थित होकर वासुदेव रूप अपने आत्मा की चिन्तना करते हैं। विप्रश्रेष्ठो ! इसी का नाम नैमित्तिक लय है, जिसमें ब्रह्मरूपधारी हरि ही निमित्त हैं। जव अखिलात्मा भगवान् जागते हैं, तब संसार में क्रियाशीलता आती है। माया रूपी शय्या पर जब वही जनार्दन सो जाते हैं तब जगत् भी निष्क्रिय हो जाता है। एक सहस्र चतुर्युग के बराबर जो ब्रह्मा का दिन होता है, उसी दिन के अनुसार उनकी रात होती है, जिसमें अखिल लोक एकार्णव के रूप में परिवर्तित हो जाता है।।४-९।। तब रात्रि के अन्त में प्रवुद्ध ब्रह्मा पुनः सृष्टि करते हैं। यह तो पहले ही कहा गया है कि ब्रह्मा के रूप में विष्णु ही होते हैं।।१०।। द्विजगण !

---

[1] क. ०तः। मुखनि०। [2] ग. ०सतोवि०। [3] क. ख. ०वे पुनस्त०। [4] क. शान्तो। [5] क. पमयोह। [6]. ०स्रकम्। ए०।

इत्येष[१] कल्पसंहारो अन्तरप्रलयो द्विजाः । [२]नैमित्तिको वः[३] कथितः शृणुध्वं प्राकृतं परम् ॥११॥
अवृष्ट्यग्न्यादिभिः सम्यक्कृते शय्यालये[४] द्विजाः । समस्तेष्वेष लोकेषु पातालेष्वखिलेषु च ॥१२॥
महदादेर्विकारस्य विशेषात्तत्र[५] संक्षये[६] । कृष्णेच्छाकारिते तस्मिन्प्रवृत्ते[७] प्रतिसंचरे ॥१३॥
आपो ग्रसन्ति वै पूर्वं [८]भूमेर्गन्धादिकं गुणम् । [९]आत्तगन्धा ततो भूमिः प्रलयाय[१०] प्रकल्पते ॥१४॥
प्रनष्टे गन्धतन्मात्रे भवत्युर्वी जलात्मिका । आपस्तदा प्रवृत्तास्तु वेगवत्यो महास्वनाः ॥१५॥
सर्वमापूरयन्तीदं तिष्ठन्ति[११] विचरन्ति च । सलिलेनैवोर्मिमता लोकालोकः समन्ततः ॥१६॥
अपामपि गुणो यस्तु ज्योतिषा[१२] पीयते तु सः । नश्यन्त्यापः सुतप्ताश्च रसतन्मात्रसंक्षयात् ॥१७॥
ततश्चाऽऽपोऽमृतरसा[१३] ज्योतिष्ट्वं प्राप्नुवन्ति वै । अग्न्यवस्थे तु सलिले तेजसा सर्वतो वृते ॥१८॥
स चाग्निः सर्वतो व्याप्य आदत्ते तज्जलं तदा । सर्वमापूर्यतो चाभि (रयत्यग्नि) स्तदा जगदिदं शनैः ॥१९॥
अर्चिर्भिः संतते तस्मिंस्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा । ज्योतिषोऽपि परं रूपं वायुरत्ति प्रभाकरम् ॥२०॥
प्रलीने च ततस्तस्मिन्वायु भूतेऽखिलात्मके । प्रनष्टे रूपतन्मात्रे कृतरूपो विभावसुः ॥२१॥
प्रशाम्यति तदा ज्योतिर्वायुर्दोधूयते महान् । निरालोके तदा लोके वायुसंस्थे च तेजसि ॥२२॥
ततः प्रलयमासाद्य [१४]वायुसंभवमात्मनः । [१५]ऊर्ध्वं च वायुस्तिर्यक्च दोधवीति दिशो दश ॥२३॥

इसी का नाम अन्तरप्रलय, कल्पसंहार तथा नैमित्तिक लय है। अब आप लोक प्राकृत लय के वारे में सुनिये ॥११॥ विप्रवृन्द ! अवृष्टि तथा अग्नि आदि से समुद्र, समस्त लोक तथा अखिल पातालों के नष्ट हो जाने पर महत् आदि वकारों का भी क्षय हो जाता है ॥१२$\frac{१}{२}$॥ तब कृष्ण की इच्छा से प्राकृत लय होने लगता है, जिसमें जल भूमि के गन्ध आदि गुणों को विनष्ट कर देता है ॥१३$\frac{१}{२}$॥ तव गन्धशून्य पृथिवी प्रलय मचाने लगती है। गन्ध के नष्ट हो जाने पर पृथ्वी जल रूप में परिणत हो जाती है। जल वहुत वेग से महाशब्द करते हुए वहने लगता है, जिससे सम्पूर्ण जगत् भर जाता है। तीनों लोकों में तरंगयुक्त जल ही जल दीखता है। जल के गुण को भी अग्नि पी जाता है। रस के नष्ट हो जाने पर अत्यन्त तप्त जल भी विनष्ट हो जाता है ॥१४-१७॥ तव अमृत रूप रस वाला जल ज्योति रूप में परिवर्तित हो जाता है। जव जल अग्निरूप में परिणत हो जाता है और सब ओर तेज से ढक जाता है तव वह अग्नि सब ओर फैलकर उस जल को ग्रहण कर लेता है। तव वह सम्पूर्ण जगत् धीरे-धीरे भर जाता है। तिरछे, ऊपर और नीचे ज्वालाओं के फैल जाने पर वायु अग्नि के परम भास्वर रूप को भी निगल जाता है ॥१८-२०॥ जव अग्नि वायु रूप में परिवर्तित हो जाता है और उसका रूप नष्ट हो जाता है तब प्रकाश बुझ जाता है और 'हू हू' करके वड़े जोर से वायु वहने लगता है। अग्नि के वायु रूप में परिणत हो जाने पर समस्त लोक प्रकाशहीन हो जाते हैं। तब वायु प्रलय मचाते हुए दशो दिशाओं को ऊपर, नीचे तथा तिरछे बड़े जोर से कँपाने लगता है ॥२१-२३॥ वायु के भी स्पर्श गुण को आकाश ग्रस

---

[१]क. ०त्येवं क०। [२]ख. ०त्तिकश्च क०। [३]ग. यः। [४]ग. संस्कानले। [५]ग. ०त्तस्य सं०। [६]ख. संकुले। [७]क. ०न्प्रकृते प्र०। [८]ग. ०न्धात्मकं रसम्। [९]ग. शान्तगन्धा। [१०]क. ग. लयत्वाय क०। [११]ग. ०न्ति च रमन्ति। [१२]क. ०तिषि लीय०। [१३]ग. ०पो हृत०। [१४]ग. वायुः सं०। [१५]क. ग ०र्ध्वं चाधश्च तिर्य०।

वायोस्त्वपि गुणं स्पर्शमाकाशं ग्रसते ततः । प्रशाम्यति तदा वायुः खं तु तिष्ठत्यनावृतम् ॥२४॥
अरूपमरसस्पर्शमगन्धवदमूर्तिमत् । सर्वमापूरयच्चैव सुमहत्तत्प्रकाशते ॥२५॥
[1]परिमण्डलतस्तत्तु आकाशं शब्दलक्षणम् । शब्दमात्रं तथाऽऽकाशं सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥२६॥
ततः शब्दगुणं तस्य भूतादिर्ग्रसते पुनः । भूतेन्द्रियेषु युगपद्भूतादौ संस्थितेषु वैः ॥२७॥
अभिमानात्मको ह्येष भूतादिस्तामसः स्मृतः । भूतादिं ग्रसते चापि [2]महाबुद्धिर्विचक्षणा ॥२८॥
उर्वी महांश्च जगतः प्रान्तेऽन्तर्बाह्यतस्तथा । [3]एवं सप्तमहाबुद्धिः (?) क्रमात्प्रकृतयस्थया ॥२९॥
प्रत्याहारैस्तु ताः सर्वाः प्रविशन्ति परस्परम् । येनेदमावृतं सर्वमण्डमप्सु प्रलीयते ॥३०॥
सप्तद्वीपसमुद्रान्तं सप्तलोकं सपर्वतम् । उदकावरणं ह्यत्र ज्योतिषा पीयते तु तत् ॥३१॥
ज्योतिर्वायौ लयं याति यात्याकाशे समीरणः । आकाशं चैव भूतादिर्ग्रसते तं तथा महान् ॥३२॥
महान्तमेभिः सहितं प्रकृतिर्ग्रसते द्विजाः[4] । [5]गुणसाम्यमनुद्रिक्तमन्यूनं च द्विजोत्तमाः ॥३३॥
प्रोच्यते प्रकृतिर्हेतुः प्रधानं कारणं परम् । इत्येषा प्रकृतिः सर्वा व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ॥३४॥
व्यक्तस्वरूपमव्यक्ते तस्यां विप्राः प्रलीयते । एकः शुद्धोऽक्षरो[6] नित्यः सर्वव्यापी तथा पुनः ॥३५॥
सोऽप्यंशः सर्वभूतस्य द्विजेन्द्राः परमात्मनः । नश्यन्ति सर्वा यत्रापि नामजात्यादिकल्पनाः ॥३६॥
सत्तामात्रात्मके ज्ञेये ज्ञानात्मन्यात्मनः परे । स[7] ब्रह्म[8] तत्परं धाम परमात्मा[9] परेश्वरः ॥३७॥

लेता है। तब वायु आकाशरूप में परिणत हो जाता है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा मूर्ति से रहित वह महान् आकाश ही सर्वत्र प्रकाशित होता है। आकाशमण्डल में केवल शब्द ही होता है। शब्दमात्र करने वाला वह आकाश सबको आवृत कर स्थित होता है। तब आकाश के शब्द गुण को भी अहंकार ग्रस लेता है ॥२४-२६॥ यह अहंकार सभी प्राणियों में अभिमान रूप से रहता है ओर यह तामस है। इस अहंकार को भी विचक्षण महाबुद्धि खा डालती है। महाबुद्धि, उर्वी, महान्, जगत् का आभ्यन्तर भाग, वाह्य भाग तथा प्रान्त और प्रकृतियाँ ये सात महाबुद्धि हैं। प्रलय के समय वे परस्पर एक-दूसरे में प्रविष्ट हो जाती हैं, जिससे यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जल में प्रलीन हो जाता है (??)। जल के आधार समुद्र पर्यन्त सातों द्वीप तथा पर्वत सहित सातों लोक को अग्नि पी जाता है ॥२७-३१॥ अग्नि का लय वायु में और वायु का आकाश में हो जाता है। आकाश को भूतादि और उसको महान् ग्रस लेता है ॥३२॥ भूतादि सहित महान् को प्रकृति ग्रस लेती है। द्विजश्रेष्ठो ! गुणों की साम्यावस्था—न कम न अधिक—को प्रकृति कहते हैं। इसी के नाम हेतु, प्रधान, कारण तथा पर हैं। यह प्रकृति व्यक्त तथा अव्यक्त स्वरूप वाली है ॥३३-३४॥ विप्रवृन्द ! इसका व्यक्त रूप अव्यक्त रूप में लीन हो जाता है। जो एक, शुद्ध, अक्षर, नित्य, तथा सर्वव्यापी है, वह भी सर्वभूतस्वरूप परमात्मा का अंश है। आत्मा के पर रूप में, जो ज्ञेय तथा सत्तामात्र है, नाम, जाति आदि की समस्त कल्पनायें लीन हो जाती हैं ॥३५-३६॥ वही ब्रह्म, परम धाम, परमात्मा, परेश्वर तथा विष्णु है, जिसमें विलीन होकर यह संसार पुनः लौटता नहीं है। जो मैंने

---

[1]ग. ०ण्डलं तच्छुषिरमाका०। [2]ग. ०क्षणः। उ। [3]ख. ०वं सुप्ते महायुद्धे क्र०। [4]क. ०जाः। स्वगुणे सा०। [5]क. ०म्यमुद्रि०। [6]क. ०क्षयो नि०। [7]क. ०ह्मणः परोवासः प०। [8]ख. ०वरं वासः प०। [9]क. ख. ०त्मा सं चेश्व०।

स विष्णुः सर्वमेवेदं यतो नाऽऽवर्तते पुनः[1] । प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ॥३८॥
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि । परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ॥३९॥
विष्णुनाम्ना स वेदेषु वेदान्तेषु[2] च गीयते । [3]प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥४०॥
ताभ्यामुभाभ्यां पुरुषैर्यज्ञमूर्तिः स इज्यते । ऋग्यजुःसामभिर्मार्गैः प्रवृत्तैरिज्यते ह्यसौ ॥४१॥
यज्ञेश्वरो [4]यज्ञपुमान्पुरुषैः पुरुषोत्तमः । ज्ञानात्मा ज्ञानयोगेन ज्ञानमूर्तिः स इज्यते ॥४२॥
[5]निवृत्तैर्योगमार्गैश्च[6] विष्णुर्मुक्तिफलप्रदः । ह्रस्वदीर्घप्लुतैर्यत्तु किंचिद्वस्त्वभिधीयते ॥४३॥
यच्च वाचामविषयस्तत्सर्वं विष्णुरव्ययः । व्यक्तः स एवमव्यक्तः स एव पुरुषोऽव्ययः ॥४४॥
परमात्मा च विश्वात्मा विश्वरूपधरो हरिः । व्यक्ताव्यक्तात्मिका तस्मिन्प्रकृतिः सा विलीयते ॥४५॥
पुरुषश्चापि भो विप्रा यस्तदव्याकृतात्मनि । द्विपरार्धात्मकः कालः कथितो यो मया द्विजाः ॥४६॥
तदहस्तस्य विप्रेन्द्रा विष्णोरीशस्य कथ्यते । व्यक्ते तु प्रकृतौ लीने प्रकृत्यां पुरुषे तथा ॥४७॥
[7]तत्राऽऽस्थिते निशा तस्य तत्प्रमाणा तपोधनाः[8] । नैवाहस्तस्य च निशा नित्यस्य परमात्मनः ॥४८॥
उपचारात्तथाऽप्येतत्तस्येशस्य तु कथ्यते । इत्येष मुनिशार्दूलाः कथितः प्राकृतो लयः ॥४९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे प्राकृतलयनिरूपणं नाम
त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३३॥

व्यक्त-अव्यक्त-स्वरूपा बतालायी है, वह और पुरुष दोनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं। परमात्मा सबके आधार और परमेश्वर हैं। वेद-वेदान्तों में वे विष्णु नाम से गाये जाते हैं। वैदिक कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक प्रवृत्ति (कर्मयोग) और दूसरा निवृत्ति (सांख्य योग) ॥३७-४०॥ उन दोनों कर्मों से मनुष्य यज्ञमूर्ति परमात्मा की उपासना करते हैं। ऋग्, यजुस् तथा साम का मार्ग प्रवृत्त कहलाता है। इस मार्ग से मनुष्य पुरुषोत्तम, यज्ञपुरुष तथा यज्ञपति भगवान् की आराधना करते हैं। ज्ञानी पुरुष ज्ञानयोग से ज्ञानमूर्ति भगवान् की पूजा करते हैं। योगमार्ग निवृत्त कहलाता है। इससे उपासना करने पर विष्णु मोक्षफल देते हैं। ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत से जिनका उच्चारण होता है और जो वाणी से अगोचर हैं, वे अविनाशी विष्णु हैं। वे ही व्यक्ति, अव्यक्त, पुरुष, अव्यय, परमात्मा, विश्वात्मा तथा विश्वरूपधारी हरि हैं। व्यक्त-अव्यक्त-स्वरूपा प्रकृति उन्हीं में लीन होती है ॥४१-४५॥ विप्रवृन्द ! पुरुष भी उसी परमात्मा में लीन हो जाता है। द्विजगण ! दो परार्ध का काल जो मैंने बतलाया है, वह सर्वशक्तिमान् विष्णु का एक दिन माना गया है। व्यक्त के प्रकृति में और प्रकृति के पुरुष में लीन हो जाने पर विष्णु की अपने दिन के बराबर रात भी होती है। नित्य परमात्मा का न तो दिन होता है, न रात होती है। परन्तु उपचार (उपलक्षण) से यह कहा जाता है। मुनिवर ! यह प्राकृतिक लय का वर्णन हुआ ॥४६-४९॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में प्राकृत-लय-निरूपण नामक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२३३॥

---

[1] ग. यतिः। [2] क. ०दारम्भेषु गी०। [3] ग. प्रवृत्तिं। [4] ख. ०मान्यज्ञभुक्पु०। [5] क. ०वृत्ते यो०। [6] क. ०मार्गे तु वि०। [7] क. ख. ततः स्थि०। [8] क. द्विजोत्तमाः।

अथ चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

आत्यन्तिकलयनिरूपणम्

व्यास उवाच

आध्यात्मिकादि भो विप्रा ज्ञात्वा ताप्पत्रयं बुधः । उत्पन्नज्ञानवैराग्यः प्राप्नोत्यात्यन्तिकं लयम् ॥१॥
[1]आध्यात्मिकोऽपि द्विविधा शारीरो मानसस्तथा । शारीरो बहुभिर्भेदैर्भिद्यते श्रूयतां च सः ॥२॥
शिरोरोगप्रतिश्यायज्वरशूलभगंदरैः[2] । गुल्मार्शःश्वयथुश्वासच्छर्द्यादिभिरनेकधा ॥३॥
तथाऽक्षिरोगातीसारकुष्ठाङ्गामयसंज्ञकैः[3] । भिद्यते देहजस्तापो मानसं श्रोतुमर्हथ ॥४॥
कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादजः । शोकासूयावमानेर्ष्यामात्सर्याभिभवस्तथा ॥५॥
मानसोऽपि द्विजश्रेष्ठास्तापो भवति नैकधा। इत्येवमादिभिर्भेदैस्तापो ह्याध्यात्मिकः स्मृतः ॥६॥
मृगपक्षिमनुष्याद्यैः[4] पिशाचोरगराक्षसैः । सरीसृपाद्यैश्च नृणां जन्यते चाऽऽधिभौतिकः ॥७॥
शीतोष्णवातवर्षाम्बुवैद्युतादिसमुद्‌भवः । तापो द्विजवरश्रेष्ठाः कथ्यते चाऽऽधिदैविकः ॥८॥
गर्भजन्मजराज्ञानमृत्युनारकजं तथा । दुःखं सहस्रशो भेदैर्भिद्यते मुनिसत्तमाः ॥९॥
सुकुमारतनुर्गर्भे जन्तुर्बहुमलावृते[5] । उल्बसंवेष्टितौ[6] भग्नपृष्ठग्रीवास्थिसंहतिः[7] ॥१०॥

अध्याय २३४

आत्यन्तिक लय का निरूपण

व्यास ने कहा—विप्रवृन्द ! विद्वान् लोगों को आध्यात्मिक आदि तीन प्रकार के तापों के जानने से ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न होता है, जिससे वे आत्यन्तिक लय को प्राप्त करते हैं ॥१॥ आध्यात्मिक ताप के भी दो भेद हैं—एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। शारीरिक ताप के भी बहुत से भेद हैं, सुनिये ॥२॥ शिरोव्यथा, सर्दी, ज्वर, शूल, भगन्दर, प्लीहा, बवासीर, हाथीपाँव, खाँसी, नेत्ररोग, अतीसार, कुष्ठ आदि अनेक भेद शारीरिक ताप के होते हैं ॥३॥ अब मानस ताप के भेद सुनिये। काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, असूया, अपमान, ईर्ष्या, मात्सर्य तथा पराभव—इन भेदों से मानस ताप भी अनेक प्रकार के होते हैं। द्विजश्रेष्ठो ! इस प्रकार आध्यात्मिक ताप अनेक भेदों से युक्त हैं ॥४-६॥ मनुष्यों को मृग, पक्षी, मनुष्य, पिशाच, साँप, राक्षस तथा रेंगने वाले जीवों से जो ताप होता है, उसका नाम आधिभौतिक है ॥७॥ विप्रवर ! सर्दी, गर्मी, वायु, वर्षा, जल, विजली आदि से जो ताप होता है, उसका नाम आधिदैविक है ॥८॥ गर्भ, जन्म, जरा, अज्ञानता, मृत्यु तथा नरक से जो दुःख होता है, उसके हजारों भेद हैं। अनेक प्रकार के मलों से युक्त गर्भ में कोमल शरीर वाला जीव उल्वचर्म में वेष्टित रहता है, जिसकी पीठ ग्रीवा तथा, हड्डियाँ मुड़ी रहती हैं ॥९-१०॥ माता जो अत्यन्त

---

[1]ग. ०को वै द्वि० । [2]क. ०ररोगभ० । [3]क. ०रकट्याम० । [4]क. ०नुष्यौघैः पि० । [5]ख. ०ते । वसते वे० । [6]क. ०तो भुग्न० । [7]क. ०वास्यसं० ।

अत्यम्लकटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्मातृभोजनैः । अतितापिभिरत्यर्थं बाध्यमानोऽतिवेदनः ॥११॥
प्रसारणाकुञ्चनादौ नागा (ङ्गा) नां प्रभुरात्मनः । शकृन्मूत्रमहापङ्कशायी सर्वत्र पीडितः ॥१२॥
निरुच्छ्वासः सचैतन्यः स्मरञ्जन्मशतान्यथ । आस्ते गर्भेऽतिदुःखेन निजकर्मनिबन्धनः ॥१३॥
जायमानः पुरीषासृङ्मूत्रशुक्राविलाननः । प्राजापत्येन वातेन पीड्यमानास्थिबन्धनः ॥१४॥
अधोमुखस्तैः क्रियते प्रबलैः सूतिमारुतैः । क्लेशैर्निष्क्रान्तिमाप्नोति जठरान्मातुरातुरः ॥१५॥
मूर्च्छामवाप्य महतीं संस्पृष्टो बाह्यवायुना । विज्ञानभ्रंशमाप्नोति जातस्तु मुनिसत्तमाः ॥१६॥
कण्टकैरिव तुन्नाङ्गः क्रकचैरिव दारितः । पूतिव्रणान्निपतितो धरण्यां क्रिमिको यथा ॥१७॥
कण्डूयनेऽपि चाशक्तः परिवर्तेऽप्यनीश्वरः । स्तनपानादिकाहारमवाप्नोति परेच्छया ॥१८॥
अशुचिस्रस्तरे सुप्तः कीटदंशादिभिस्तथा । भक्ष्यमाणोऽपि नैवैषां समर्थो विनिवारणे ॥१९॥
जन्मदुःखान्यनेकानि [1]जन्मनोऽनन्तराणि च । बालभावे यदाप्नोति आधिभूतादिकानि च ॥२०॥
अज्ञानतमसा छन्नो मूढान्तःकरणो नरः । न जानाति कुतः कोऽहं कुत्र गन्ता किमात्मकः ॥२१॥
केन बन्धेन बद्धोऽहं कारणं किमकारणम् । किं कार्यं किमकार्यं व किं वाच्यं किं न चोच्यते ॥२२॥

अम्ल, कटु, तीक्ष्ण, उष्ण तथ लवण मिश्रित भोजन करती हैं, उससे गर्भस्थ जीव को अतिपीड़ा होती है ॥११॥ जीव अपने अंगों के फैलाने तथा समेटने में भी असमर्थ रहता है। उसे विष्ठा तथा मूत्र के महापंक में सोना पड़ता है। सर्वत्र उसे पीड़ा ही पीड़ा होती रहती है ॥१२॥ श्वास-रहित पर सचेतन रहते हुए जीव को सैकड़ों जन्मों का स्मरण होता है। इस प्रकार कर्मबन्धन में पड़कर जीव गर्भ में अत्यन्त दुःख भोगता है ॥१३॥ उत्पत्ति के समय जीव का मुख विष्ठा, मूत्र, शोणित तथा वीर्य से लिपटा रहता है, प्राजापत्य नामक वायु उसकी हड्डियों की जोड़ में पीड़ा पहुँचाता है, सूति नामक प्रबलवायु उसे अधोमुख कर देता है। इस प्रकार अत्यन्त क्लेश से आतुर होकर जीव माता के पेट से निकलता है ॥१४-१५॥ बाहरी वायु के लगते ही उसे अत्यन्त मूर्च्छा आ जाती है। तभी उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है ॥१६॥ उस समय उसकी ऐसी दशा होती है कि मानों उसके अंगों में काँटे चुभाये जा रहे हों और वह आरे से विदीर्ण किया जा रहा हो। भयंकर घाव से भूमि पर गिरे कीड़े की तरह उसकी स्थिति होती है ॥१७॥ वह अंगों को खुजलाने में तथा करवट बदलने में भी असमर्थ रहता है। स्तनपान आदि आहार भी उसे दूसरे की इच्छा से मिलता है ॥१८॥ अपवित्र बिस्तरे पर सोता है। कीड़े-मकोड़े के काटने पर भी वह उसका निवारण नहीं कर सकता है ॥१९॥ उसे जन्म-दुःख तो अनेक होते ही हैं, जन्म के बाद भी अनेक प्रकार के दुःख होते हैं ॥२०॥ बचपन में उसे अनेक आधिभौतिक दुःख होते हैं। अज्ञानरूपी अन्धकार से आवृत चित्त वाला मूर्ख मनुष्य यह नहीं जानता है कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, किस बन्धन में पड़ा हूँ, कौन कारण है, कौन नहीं कारण है, कौन अकार्य है, क्या बोलना चाहिये, क्या नहीं बोलना चाहिये, कौन धर्म है, कौन नहीं धर्म है, किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, क्या करना

---

[1] क. ०नोऽभ्यन्त०।

को धर्मः कश्च वाऽधर्मः कस्मिन्वर्तेत वै कथम् । किं कर्त्तव्यमकर्त्तव्यं किं वा किं गुणदोषवत् ॥२३॥
एवं पशुसमैर्मूढैरज्ञानप्रभवं महत् । अवाप्यते नरैर्दुःखं शिश्नोदरपरायणैः ॥२४॥
अज्ञानं तामसो भावः कार्यारम्भप्रवृत्तयः । अज्ञानिनां प्रवर्तन्ते कर्मलोपस्ततो द्विजाः ॥२५॥
नकरं कर्मणां लोपात्फलमाहुर्महर्षयः । तस्मादज्ञानिनां दुःखमिह चामुत्र चोत्तमम्[1] ॥२६॥
जराजर्जरदेहश्च शिथिलावयवः पुमान् । [2]विचलच्छीर्णदशनो वलिस्नायुशिरावृतः ॥२७॥
दूरप्रनष्टनयनों व्योमान्तर्गततारकः । नासाविवरनिर्यातरोमपुञ्जश्चलद्वपुः ॥२८॥
प्रकटीभूतसर्वास्थिर्नतपृष्ठास्थिसंहतिः । उत्सन्नजठराग्नित्वादल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥२९॥
कृच्छ्रचंक्रमणोत्थानशयनासनचेष्टितः । मन्दीभवच्छ्रोत्रनेत्रगल्लालाविलाननः ॥३०॥
अनायत्तैः समस्तैश्च करणैर्मरणोन्मुखः । तत्क्षणेऽप्नुभूतानामस्मर्ताऽखिलवस्तुनाम् ॥३१॥
सकृदुच्चारिते वाक्ये [3]समुद्भूतमहाश्रमः । [4]श्वासकासामयायाससमुद्भूतप्रजागरः ॥३२॥
अन्येनोत्थाप्यतेऽन्येन तथा संवेश्यते जरी । [5]भृत्यात्मपुत्रदारणामपमानपराकृतः[6] ॥३३॥
प्रक्षीणाखिलशौचश्च विहाराहारसंस्पृहः । हास्यः परिजनस्यापि निर्विण्णाशेषबान्धवः ॥३४॥
अनुभूतमिवान्यस्मिञ्जन्मन्यात्मविचेष्टितम् । संस्मरन्यौवने दीर्घं निःश्वसित्यतितापितः ॥३५॥

चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये, कौन गुणयुक्त है तथा कौन दोषयुक्त है ॥२१-२३॥ इस प्रकार इन्द्रिय तथा उदर की पूर्ति में निरत पशुतुल्य मूर्ख मनुष्य अज्ञानता से उत्पन्न दुःख को भोगता है। द्विजगण ! अज्ञानियों को अज्ञानता रूप तामस भाव का कार्यारम्भ काल में हो जाता है, जिससे वे कर्मों को नहीं कर पाते। महर्षियों ने कर्मों के लोप हो जाने का फल नरक बतलाया है। इसलिये अज्ञानियों को इस लोक में तथा परलोक में दुःख ही दुःख होत है ॥२४-२६॥ वृद्धावस्था में मनुष्य के सव अंग जर्जर तथा शिथिल हो जाते हैं, दाँत भग्न हो जाते हैं, स्नायु तथा शिरा उग जाती है, आँखों की शक्ति कम हो जाती है, आँखों की पुतली धँस जाती है, नाक के रन्ध्र में रोमपुञ्ज दीखने लगता है, शरीर काँपने लगता है, हड्डियाँ झलकने लगती हैं, पीठ की हड्डी झुक जाती है, जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, भोजन तथा शारीरिक चेष्टा कम हो जाती है, उठने, सोने तथा वैठने तक में भी वहुत कष्ट का अनुभव होता है, कानों तथा नेत्रों की शक्ति क्षीण हो जाती है, लार टपकने से मुख मलिन हो जाता है। समस्त इन्द्रियाँ वश के बाहर हो जाती हैं। तब वह मरणोन्मुख हो जाता है। उस समय अनुभूत वस्तुओं का भी स्मरण नहीं होता है। एक बार बोलने में भी महान् आयास करना पड़ता है ॥२७-३१॥ खाँसी तथा श्वास-वायु की तीव्रता से नींद खुल जाती है। दूसरे ही लोग उस वृद्ध को उठाते-बैठाते हैं। नौकर, पुत्र तथा स्त्री भी उसकी अवहेलना करती है। शरीर की शुद्धियां भी वह नहीं कर पाता है। विहार तथा आहार की इच्छा भी नष्ट हो जाती है। परिजनों का भी वह हास्यास्पद वन जाता है। उसके समस्त वान्धव उससे तंग आ जाते हैं ॥३२-३४॥ वह युवावस्था का स्मरण करके अत्यन्त सन्ताप से लम्वी साँस लेता हैं जैसे कि मानों वह दूसरे जन्मों की

---

[1] क. चोच्यते। [2] क. ०शनस्त्वचा स्ना०। [3] क. ०मुद्गत०। [4] ग. ०कामसहाया०। [5] क. ख. ०मवमा०। [6] क. परिक्षतः। ख. परिप्लुतः।

एवमादीनि दु:खानि जरायामनुभूय च । मरणे यानि दु:खानि प्राप्नोति शृणु तान्यपि ॥३६॥
श्लथग्रीवाङ्‌घ्रिहस्तोऽथ [1]प्राप्तो वेपथुना नर: । मुहुर्ग्लानिपरश्चासौ मुहुर्ज्ञानबलान्वित: ॥३७॥
[2]हिरण्यधान्यतनयभार्याभृत्यगृहादिषु । एते कथं भविष्यन्तीत्यतीवममताकुल: ॥३८॥
मर्मविद्‌भिर्महारोगै: क्रकचैरिव दारुणै: । शरैरिवान्तकस्योग्रैश्छिद्यमानस्थिबन्धन: ॥३९॥
परिवर्तमानताराक्षिहस्तपादं मुहु: क्षिपन् । संशुष्यमाणताल्वोष्ठकण्ठो घुरघुरायते ॥४०॥
निरुद्धकण्ठदेशोऽपि उदानश्वासपीड़ित: । तापेन महता व्याप्तस्तृषा व्याप्तस्तथा क्षुधा ॥४१॥
क्लेशादुत्क्रान्तिमाप्नोति याम्यकिंकरपीडित: । ततश्च यातनादेहं क्लेशेन प्रतिपद्यते ॥४२॥
एतान्यन्यानि चोग्राणि दु:खानि मरणे नृणाम् । शृणुध्वं नरके यानि प्राप्यन्ते पुरुषैर्मृतै: ॥४३॥
याम्यकिंकरपाशादिग्रहणं दण्डताडनम् । यमस्य दर्शनं चोग्रमुग्रमार्गविलोकनम् ॥४४॥
करम्भवालुकावह्नियन्त्रशस्त्रादिभीषणे[3] । प्रत्येकं यातनायाश्च[4] यातनादि द्विजोत्तमा: ॥४५॥
क्रकचै:पीड्यमानानां मृ (मू) षायां चापि ध्माप्यताम् । कुठारै: पाट्यमानानां भूमौ चापि निखन्यताम् ॥४६॥
शूलेष्वारोप्यमाणानां व्याघ्रवक्त्रे प्रवेश्यताम् । गृध्रै: संभक्ष्यमाणानां द्वीपिभिश्चोपभुज्यताम् ॥४७॥
क्वथ्यतां तैलमध्ये च क्लिद्यतां क्षारकर्दमे । उच्चान्निपात्यमानानां क्षिप्यतां क्षेपयन्त्रकै: ॥४८॥

अपनी क्रियाओं का अनुभव कर रहा हो ॥३५॥ इस प्रकार मनुष्य वृद्धावस्था में दु:खों का अनुभव करके मरण के समय जिन दु:खों का अनुभव करता है, वह सुनिये ॥३६॥ उस समय उसकी ग्रीवा, पैर तथा हाथ शिथिल पड़ जाते हैं तथा काँपने लगते हैं। बारम्बार ग्लानि होती है और चेतना भी होती है ॥३७॥ सोना, अन्न, पुत्र, स्त्री, नौकर तथा घर की क्या स्थिति होगी—यह सोचकर वह ममता से व्याकुल हो जाता है ॥३८॥ आरे के समान भयंकर तथा मर्मवेधी महान् रोगों से उसकी हड्डियों का बन्धन टूटने लगता है जैसे कि मानो यमदूतों के वाणों से काटा जा रहा हो ॥३९॥ आँखों की पुतली उलटने लगती है। हाथ-पैर अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। तालु, ओष्ठ और कण्ठ सूख कर घुरघुराने लगता है ॥४०॥ कण्ठप्रदेश अवरुद्ध हो जाता है। उदान वायुपीड़ा देने लगती है। गर्मी अत्यन्त बढ़ जाती है। भूख-प्यास सताने लगती है ॥४१॥ यमदूतों के द्वारा अत्यन्त पीड़ित होकर वह कष्टपूर्वक प्राण त्याग करता है। तब उसे यातना-शरीर प्राप्त होता है ॥४२॥ मृत्यु-समय ये तथा अन्य भी तीव्र कष्ट मनुष्यों को होते हैं। अब सुनिये कि नरक में मृतात्मा को कौन कौन-सा कष्ट होता है ॥४३॥ यमदूत उसे जाल में बाँध देता है और लाठी से पीटता है। एक तो यमदर्शन ही भयंकर दूसरा यममार्ग तो और भी भयंकर है ॥४४॥ तप्त वालुका, अग्नि, यन्त्र, शस्त्र आदि से यममार्ग में कष्ट दिया जाता है ॥४५॥ जीवों को यमदूत आरे से चीरते हैं, कड़ाह में भूनते हैं, कुल्हाड़ी से काटते हैं, भूमि में गाड़ते हैं, शूलों पर चढ़ाते हैं, वाघ के मुँह में डालते हैं, गीधों से नोचवाते हैं, संतप्त तेल में डालकर काढ़ा वनाते हैं, कीचड़ में डुवो देते हैं, ऊपर ले जाकर नीचे गिरा देते हैं, प्रक्षेपणयन्त्रों द्वारा फेंक देते हैं ॥४६-४८॥ विप्रवृन्द ! पापी मनुष्य नरक में जो पापजन्य

१ख. प्राप्नोति यातनां तत: । मु० । २ख. ०यतातभृ० । ३क. ०षणै: । प्र० । ख. ०षणम् । प्र० । ४ग. श्च पातानां हि द्वि० । ५क. ०म् । यन्त्रेष्वा० ।

नरके यानि दुःखानि पापहेतूद्भवानि वै । प्राप्यन्ते नारकैर्विप्रास्तेषां संख्या न विद्यते ॥४९॥
न केवलं द्विजश्रेष्ठा नरके दुःखपद्धतिः । स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृतिः ॥५०॥
पुनश्च गर्भो भवति जायते च पुनर्नरः । गर्भे विलीयते भूयो जायमानोऽस्तमेति च ॥५१॥
जातमात्रश्च म्रियते बालभावे च यौवने । यद्यत्प्रीतिकरं पुंसां वस्तु विप्राः प्रजायते ॥५२॥
तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति । [१]कलत्रपुत्रमित्रादिगृहक्षेत्रधनादिकैः ॥५३॥
क्रियते न तथा भूरि सुखं पुंसां यथाऽसुखम् । इति संसारदुःखार्कतापतापितचेतसाम् ॥५४॥
विमुक्तिपादपच्छायामृते कुत्र सुखं नृणाम् । तदस्य त्रिविधस्यापि दुःखजातस्य पण्डितैः ॥५५॥
गर्भजन्मजराद्येषु स्थानेषु प्रभविष्यतः । [२]निरस्तातिशयाह्लादं[३] सुखभावैकलक्षणम् ॥५६॥
भेषजं भगवत्प्राप्तिरेका चाऽऽत्यन्तिकी मता । तस्मात्तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः ॥५७॥
तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं द्विजोत्तमाः । आगमोत्थं विवेकाच्च[४] द्विधा ज्ञानं तथोच्यते ॥५८॥
शब्दब्रह्माऽऽगममयं परं ब्रह्म विवेकजम् । अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम् ॥५९॥
यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्वै विप्रा विवेकजम् । मनुरप्याह वेदार्थं स्मृत्वा यन्मुनिसत्तमाः ॥६०॥
तदेतच्छ्रूयतामत्र [५]संबन्धे गदतो मम । द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ॥६१॥
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति । द्वे विद्ये वै वेदितव्ये इति चाऽऽथर्वणी श्रुतिः ॥६२॥

दुःख पाते हैं, उन दुःखों की संख्या नहीं हो सकती ॥४९॥ द्विजश्रेष्ठो ! पापियों के लिये केवल नरक में ही दुःखों का बाहुल्य नहीं है । अपितु स्वर्ग में भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती है । ॥५०॥ जीव पुनः गर्भ में वास करता है और पुनः जन्म लेता है । वह फिर गर्भ में विलीन होता है और फिर जन्म लेकर समाप्त होता है ॥५१॥ कभी तो जन्म लेते ही मर जाता है और कभी बचपन में या युवावस्था में पञ्चत्व को प्राप्त करता है । विप्रवृन्द ! मनुष्यों की जो प्रिय वस्तु होती है, वही दुःख रूपी वृक्ष का बीज बन जाती है । फिर तो स्त्री, पुत्र, मित्र, गृह, क्षेत्र तथा धन आदि उतना अधिक सुख नहीं देते हैं जितना कि दुःख देने लगते हैं । इसलिये संसार रूपी सूर्य के ताप से सन्तापित चित्त वाले मनुष्यों के लिये मोक्ष रूपी वृक्षच्छाया को छोड़कर सुख कहाँ है? ॥५२-५४॥ इस कारण विद्वानों ने बतलाया है कि गर्भ, जन्म, वृद्धता आदि स्थानों में होने वाले त्रिविध तापों को मिटाने के लिये अतिशय आह्लादजनक तथा आनन्दरूप भगवत्प्राप्ति ही एक औषध है । इसलिये ज्ञानी मानव भगवत्प्राप्ति के लिये यत्न करें ॥५५-५७॥ द्विजश्रेष्ठो ! भगत्वप्राप्ति का कारण ज्ञान तथा कर्म माना गया है । ज्ञान दो प्रकार का माना गया है—एक शास्त्रजन्य और दूसरा विवेकजन्य । शब्दब्रह्म का ज्ञान शास्त्रजन्य है और परब्रह्म का विवेकजन्य । अज्ञान अन्धकार के समान है और ज्ञान दीप के समान है ॥५८-५९॥ विप्रगण ! विवेकजन्य ज्ञान सूर्य के समान है । इस सम्बन्ध में वेदार्थ का स्मरण करके मनु ने जो कहा है, उसे आप सुनिये । दो ब्रह्म जानने योग्य हैं—एक शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म ॥६०-६१॥ शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त करता है । अथर्ववेद का भी कहना है कि दो विद्याओं को जानना चाहिये ॥६२॥ परा विद्या से ब्रह्म की प्राप्ति होती

१ख. ग. ०त्रार्थगृ० । २क. ०स्तातपपारादिसु० । ३ख. ०ह्लादिसु० । ४ख. विवेकोत्थं । ५ख. संभ्रमो ।

[1]परया ह्यक्षरप्राप्तिर्ऋग्वेदादिमयाऽपरा । यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम् ॥६३॥
अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम् । वित्तं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिमकारणम् ॥६४॥
व्याप्यं व्याप्तं यतः सर्वं तद्वै पश्यन्ति सूरयः । तद्ब्रह्म परमं धाम तद्ध्येयं मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥६५॥
[2]श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम् । [3]उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम् ॥६॥
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति । ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ॥६७॥
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः । सर्वाणि तत्र [4]भूतानि निवसन्ति [5]परमात्मनि ॥६८॥
भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः । उवाचेदं महर्षिभ्यः पुरा पृष्टः प्रजापतिः ॥६९॥
नामव्याख्यामनन्तस्य वासुदेवस्य तत्त्वतः । भूतेषु वसते योऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत् ॥
धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः ॥७०॥
[6]ससर्वभूतप्रकृतिर्गुणांश्च,[7] दोषांश्च[8] [9]सर्वान्स (न) गुणो ह्यतीतः ।
अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा, तेनाऽऽवृतं यद्भवनान्तरालम्[10] ॥७१॥
समस्तकल्याणगुणात्मको हि, स्वशक्तिलेशावृतभूतसर्गः ।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः, संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ ॥७२॥

है और अपरा विद्या ऋग्वेदादि स्वरूप है। जो अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, जन्म-मरण-रहित, अनिर्देश्य, अरूप, हाथ पैर आदि से रहित, सर्वत्र प्राप्त, नित्य भूतयोनि तथा अकारण है, जिससे व्याप्य वस्तु व्याप्त है, उसे ही विवेकी लोग देखते हैं। वही ब्रह्म तथा परम धाम है। मोक्षाभिलाषी व्यक्ति उसी का ध्यान करें ॥६३-६५॥ वह वेंद-वाक्यों से प्रतिपादित, सूक्ष्म तथा विष्णु का परमपद है। वह पंचभूतों की उत्पत्ति, प्रलय, अगति तथा गति को जानते हैं ॥६६॥ वह विद्या तथा अविद्या को भी जानता है। उसी का नाम भगवान् है। त्याज्य गुण आदि को छोड़कर जितने ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज हैं, उन सब को भगवद् रूप ही समझना चाहिए। परात्मा में समस्त भूत निवास करते हैं और भूतों में वह वासुदेव संज्ञक अखिलात्मा वास करता है। पूर्वकाल में पूछे जाने पर ब्रह्म ने यही रहस्य महर्षियों को बतलाया था। उन्होंने तत्त्वतः अनन्त वासुदेव के नामों की व्याख्या की थी। वह वासुदेव प्राणियों में वास करता है और प्राणी उसमें वास करते हैं। वही प्रभु वासुदेव संसार का धाता और विधाता है ॥६७-७०॥ वह समस्त भूतों की प्रकृति है। वह त्रिगुणातीत होते हुए भी सव के गुण-दोषों को जानता है। वह समस्त आवरणों से परे तथा अखिलात्मा है। उसी से संसार व्याप्त है ॥७१॥ वह निखिल कल्याण रूप तथा गुणरूप है। वह अपनी शक्ति के लेशमात्र से भूतों की सृष्टि करता है। वह स्वेच्छा से देह धारण करता है तथा संपूर्ण जगत् का कल्याण करता है ॥७२॥ वह तेज, बल तथा ऐश्वर्य का महासमुद्र है। वह वीर्य,

---

१ग. ०या दुष्कर० । २क. ०तिवाह्योचितं । ३क. ०त्तिं च विपत्तिं च भू० । ४क. ०निव० । ५क. परमात्म० । ६ग. कृतेर्विकारं गुणां । ७ख. निर्विकारान्गुणां० । ८ख. ०श्च स गुणेष्वतीं० । ९ग. स वत्स्यते ततः । १०ख. यज्ञव० ।

तेजोबलैश्वर्यमहावरोधः, स्ववीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।
[1]परः पराणां सकला न यत्र, क्लेशादयः सन्ति परापरेशे[2] ॥७३॥
स ईश्वरो [3]व्यष्टिसमष्टिरूपो[4]ऽव्यक्तस्वरूपः प्रकटस्वरूपः ।
सर्वेश्वरः [5]सर्वदृक्सर्ववेत्ता, समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः ॥७४॥
संज्ञायते येन तदस्तदोषं शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम् ।
संदृश्यते वाऽप्यथ गम्यते वा, तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम् ॥७५॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवाद आत्यन्तिकलयनिरूपणं नाम
चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२३४॥

अथ पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

योगाभ्यानिरूपणम्

मुनय ऊचुः

इदानीं ब्रूहि योगं च दुःखसंयोगभेषजम् । यं विदित्वाऽव्ययं तत्र युञ्जामः पुरुषोत्तमम् ॥१॥
श्रुत्वा स वचनं तेषां कृष्णद्वैपायनस्तदा । [6]अब्रवीत्परमप्रीतो योगी[7] योगविदां वरः ॥२॥

शक्ति आदि गुणों की राशि है। वह परे से भी परे है। उस परात्पर को क्लेश आदि नहीं होते हैं ॥७३॥ वह ईश्वर, व्यष्टि-समष्टि रूप, अव्यक्त रूप तथा व्यक्त रूप है। वह सर्वेश्वर, सर्वद्रष्टा, सर्ववेत्ता, सर्वशक्तिमान् तथा परमेश्वर है ॥७४॥ जिसके द्वारा दोषरहित, शुद्ध, पर निर्मल तथा एकरूप परमात्मा का दर्शन तथा प्राप्ति होती है, उसी का नाम ज्ञान है। उसके अतिरिक्त अज्ञान माना जाता है ॥७५॥

श्री ब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में आत्यन्तिक लय
निरूपण नामक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२३४॥

अध्याय २३५

योगाभ्यासनिरूपुणम्

मुनियों ने कहा—अब दुःखों के संयोग के मिटाने में ओषधिरूप योग का वर्णन आप करें, जिसे जानकर हम अविनाशी पुरुषोत्तम को प्राप्त कर सकते हैं। उनका वचन सुनकर योगवेत्ताओं में श्रेष्ठ योगी व्यास परम हर्ष से कहने लगे ॥१-२॥

१क. ख. परावरा० । २ख. ०रावरे० । व्यस्तस० । ४क. ०मस्तरु० । ५ख. ०वर्जनप्रद्रष्टा स० । ६ख. ०प्रीतस्तदा योगवि० । ७ग. योगं ।

व्यास उवाच

योगं वक्ष्यामि भो विप्राः शृणुध्वं भवनाशनम् । यमभ्यस्याऽऽप्नुयाद्योगी मोक्षं परमदुर्लभम् ॥३॥
श्रुत्वाऽऽदौ योगशास्त्राणि गुरुमाराध्य भक्तितः । इतिहासं पुराणं च वेदांश्चैव विचक्षणः ॥४॥
आहारं योगदोषांश्च देशकालं च बुद्धिमान् । ज्ञात्वा [१]समभ्यसेद्योगं निर्द्वंद्वो निष्परिग्रहः[२] ॥५॥
भुञ्जन्सक्तुं यवागूं च[३] तक्रमूलफलं पयः । यावकं कणपिण्याकमाहारं योगसाधनम् ॥६॥
न मनोविकले ध्माते न श्रान्ते क्षुधिते तथा । न द्वंद्वे न च शीते च न चोष्णे नानिलात्मके ॥७॥
सशब्दे न जलाभ्यासे जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे । सरीसृपे श्मशाने च न नद्यन्तेऽग्निसंनिधौ ॥८॥
न चैत्ये न च वल्मीके सभये कूपसंनिधौ । न शुष्कपर्णनिचये योगं युञ्जीत कर्हिचित् ॥९॥
देशानेताननादृत्य मूढत्वाद्यो युनक्ति वै । प्रवक्ष्ये तस्य ये दोषा जायन्ते विघ्नकारकाः ॥१०॥
बाधिर्यं जडता लोपः स्मृतेर्मूकत्वमन्धता । ज्वरश्च जायते [४]सद्यस्तद्वदज्ञानसंभवः ॥११॥
तस्मात्सर्वात्मना कार्या रक्षा योगविदा सदा । धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ॥१२॥
आश्रमे विजने गुह्ये निःशब्दे निर्भये नगे । शून्यागारे शुचौ रम्ये चैकान्ते देवतालये ॥१३॥
रजन्याः पश्चिमे [५]यामे पूर्वे च सुसमाहितः । पूर्वाह्ले मध्यमे चाह्नि[६] युक्ताहारो जितेन्द्रियः ॥१४॥

व्यास बोले—विप्रवृन्द ! सुनिये । मैं संसारनाशन योग का वर्णन करूँगा, जिसका अभ्यास कर योगी पुरुष परमदुर्लभ मोक्ष को प्राप्त करता है ॥३॥ पहले भक्तिपूर्वक गुरु की आराधना करके विद्वान् पुरुष योगशास्त्र, इतिहास, पुराण तथा वेदों का श्रवण करे ॥४॥ पश्चात् आहार, योग के दोष तथा देश-काल को जान कर द्वन्द्व (सुख-दुःख आदि) तथा परिग्रह (दान या सुख-साधन) से रहित होकर योग का अभ्यास करे ॥५॥ सत्तू, यवागू (लपसी), तक्र, मूल, फल, दूध, यावक (जौ की बनी वस्तु या साठी चावल), चावल का कण (खुद्दी) पिण्याक (केसर)—इनका आहार करे। द्वन्द्वावस्था में योगाभ्यास न करे। सर्दी, गर्मी तथा वायु की तीव्रावस्था में योगाभ्यास न करे। शब्दायमान स्थान में, जल के समीप, पुराने गोष्ठ में, चौराहे पर, मार्ग पर, श्मशान में तथा नदी और अग्नि के सान्निध्य में योगाभ्यास न करे। जन-सभा में, वल्मीक पर, भयावह स्थान में, कूप के समीप तथा शुष्क पत्रों के ढेर पर कभी भी योगाभ्यास न करे ॥७-९॥ इन स्थानों में जो मूर्खतावश योगाभ्यास करता है, उसके विघ्नकारी दोषों को बतलाता हूँ ॥१०॥ ऐसे व्यक्ति को वहरापन, जड़ता, स्मृतिशून्यता, अन्धापन, ज्वर तथा ज्ञानशून्यता हो जाती है ॥११॥ इसलिये योगी व्यक्ति को सदा शरीर की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन शरीर ही है ॥१२॥ एकान्त आश्रम में, गुप्त तथा निःशब्द स्थान में, भयशून्य पर्वत पर, शून्य भवन में, पवित्र तथा रमणीय स्थान में और एकान्त देवालय में रात्रि के प्रथम प्रहर में तथा अन्तिम प्रहर में अत्यन्त सावधानी से योगाभ्यास करना चाहिए। जितेन्द्रिय तथा समुचिताहारी होकर पूर्वाह्ण में तथा मध्याह्न में भी रम्य,

---

[१] ग. ०द्योगी नि० । [२] ख. ०हः । भैक्षं सक्तुं । [३] क. च पत्रं मू० । [४] ग. ०द्यः शुद्धविज्ञानयोगिनः । त० । [५] क. ख. भागे । [६] क. ख. वाह्नि ।

आसीनः [1]प्राङ्मुखो[2] रम्य आसने सुखनिश्चले । नातिनीचे न चोच्छ्रिते निस्पृहः सत्यवाक्शुचिः ।।१५।।
[3]युक्तनिद्रो जितक्रोधः सर्वभूतहिते रतः । सर्वद्वंद्वसहो धीरः समकायाङ्‌घ्रिमस्तकः ।।१६।।
नाभौ निधाय हस्तौ द्वौ शान्तः पद्मासने स्थितः । संस्थाप्य दृष्टिं नासाग्रे प्राणानायम्य वाग्यतः ।।१७।।
समाहृत्येन्द्रियग्रामं मनसा हृदये मुनिः । प्रणवं दीर्घमुद्यम्य संवृतास्यः[4] सुनिश्चलः[5] ।।१८।।
रजसा तमसो वृत्तिं सत्त्वेन रजसस्तथा । संछाद्य निर्मले शान्ते स्थितः संवृतलोचनः ।।१९।।
हृत्पद्मकोटरे लीनं सर्वव्यापि निरञ्जनम् । युञ्जीत सततं योगी मुक्तिदं पुरुषोत्तमम् ।।२०।।
करणेन्द्रियभूतानि क्षेत्रज्ञे प्रथमं न्यसेत् । क्षेत्रज्ञश्च परे योज्यस्ततो युञ्जति योगवित् ।।२१।।
मनो यस्यान्तमभ्येति परमात्मनि चञ्चलम्[6] । संत्यज्य विषयांस्तस्य योगसिद्धिः प्रकाशिता ।।२२।।
यदा निर्विषयं चित्तं परे ब्रह्मणि लीयते । समाधौ योगयुक्तस्य तदाऽभ्येति परं पदम् ।।२३।।
[7]असंसक्तं यदा चित्तं योगिनः सर्वकर्मसु । [8]भवत्यानन्दमासाद्य तदा निर्वाणमृच्छति ।।२४।।
[9]शुद्धं धामत्रयातीतं तुर्याख्यं पुरुषोत्तमम् । प्राप्य योगबलाद्योगी मुच्यते नात्र संशयः[10] ।।२५।।

निश्चल तथा न अधिक उच्च न अधिक नीच आसन पर पूरब मुँह बैठकर निस्पृह, सत्यवादी एवं पवित्र होकर योगाभ्यास करे ।।१३-१५।। योगी व्यक्ति को उचित मात्रा में सोना चाहिये । उसे अक्रोधी, समस्त प्राणियों के हित में निरत, सुख-दुःखों का सहन करने वाला तथा धीर वनना चाहिये । वह शरीर, चरण और मस्तक को समान स्थिति में रखे ।।१६।। वह नाभि-प्रदेश में दोनों हाथों को रखकर शान्त होकर पद्मासन लगाये । नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर कर वाक्थसंयम पूर्वक प्राणायाम करे ।।१७।। मन से इन्द्रिय-समूह का निरोध करके हृदय में प्रणव (ओं) का ध्यान करे । उस समय वह अपना मुख वन्द कर ले और निश्चल रहे ।।१८।। राजस वृत्ति से तामस वृत्ति को और सात्त्विक वृत्ति से राजस वृत्ति को आच्छादित कर नेत्रों को बन्द करके निर्मल तथा शान्त हृदय-कमल की कर्णिका में लीन, सर्वव्यापी, निरञ्जन, तथा मुक्तिदाता पुरुषोत्तम का योगी सदा ध्यान करे ।।१९-२०।। योगवेत्ता पुरुष पहले अन्तःकरण सहित इन्द्रियों और पञ्चभूतों को क्षेत्रज्ञ में स्थापित करे और क्षेत्रज्ञ को परमात्मा में नियुक्त करके योगाभ्यास करे । जिसका चञ्चल मन विषयों का परित्याग करके परमात्मा में लग जाता है, उसकी योगसिद्धि हो जाती है ।।२१-२२।। जव योगी का चित्त निर्विषय होकर समाधि-अवस्था में ब्रह्म में लीन हो जाता है तव वह परम पद को प्राप्त करता है ।।२३।। जब योगी का चित्त अखिल कर्मों में अनासक्त हो जाता है तब वह आनन्दरूप परमात्मा को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है ।।२४।। शुद्ध, त्रिगुणातीत, तुरीय कहलाने वाले तथा पुरुषोत्तम विष्णु को योगवल से प्राप्त करके योगी निःसन्देह मुक्त हो जात है ।।२५।। समस्त कामनाओं से निःस्पृह, सव का प्रिय एवम् सर्वत्र

१क. ०ङ्मुखे देश आ० । २ग. ०खोदग्वा आ० । ३ग। मुक्तनिद्रो । ४ख. संयतास्यः । ५ग. ०लः । सोमपा योगयुक्तस्य युञ्जन्तः परमं पदम् । बाह्यात्मा संपरित्यज्य यो ऽन्तर्ध्यानरतः सदा । अन्तः सुखोऽन्तराराम: स मोक्षं लभते ध्रुवम् । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तं च त्यक्त्वा स्थानत्रयं बुधः । तुरीयं पदमासाद्य न शोचति न काङ्क्षति । मनो । ६ख. केवलम् । ७क. ख. असंशयं । ८ख. भगवत्पादमा० । ९क. ख. ०द्धं सूक्ष्मं गुणातीतं सत्त्वाख्यं । १०क. ०यः । बद्धप० ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः सर्वत्र प्रियदर्शनः । सर्वत्रानित्यबुद्धिस्तु योगी मुच्येत नान्यथा ।।२६।।
इन्द्रियाणि न सेवेत वैराग्येण च योगवित् । सदा चाभ्यासयोगेन मुच्यते नात्र संशयः ।।२७।।
न च [1]पद्मासनाद्योगो न नासाग्रनिरीक्षणात् । मनसश्चेन्द्रियाणां च संयोगो योग उच्यते ।।२८।।
एवं मया मुनिश्रेष्ठा योगः प्रोक्तो विमुक्तिदः । संसारमोक्षहेतुश्च किमन्यच्छ्रोतुमिच्छथ ।।२९।।

लोमहर्षण उवाच

श्रुत्वा ते वचनं तस्य साधु साध्विति चाब्रुवन् । [2]व्यासं प्रशस्य संपूज्य[3] पुनः प्रष्टुं समुद्यताः ।।३०।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे योगाभ्यासनिरूपणं नाम
पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२३५।।

अथ षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सांख्ययोगनिरूपणम्

मुनय ऊचुः

तव वक्त्राब्धिसंभूतममृतं वाङ्मयं मुने । पिबतां नो द्विजश्रेष्ठ न तृप्तिरिह दृश्यते ।।१।।
तस्माद्योगं मुने ब्रूहि विस्तरेण विमुक्तिदम् । सांख्यं च द्विपदां श्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।।२।।

अनित्य बुद्धि रखने वाला योगी निःसन्देह मुक्त होता है। इन्द्रियों की सेवा से विरत तथा सदा वैराग्य एवं योगाभ्यास में निरत योगी निःसन्देह मोक्ष प्राप्त करता है। पद्मासन लगाना तथा नासिकाग्रभाग का निरीक्षण करना योग नहीं कहलाता है; प्रत्युत मन तथा इन्द्रियों का संयोग (एकाग्रता) ही योग कहलाता है। मुनिश्रेष्ठो ! इस प्रकार संसार से मोक्ष पाने का कारण तथा मुक्तिदायक योग मैंने बतला दिया। अब क्या सुनना चाहते हैं।? ।।२६-२९।।

लोमहर्षण ने कहा—व्यास के वचन सुनकर श्रोतागणों ने 'साधु-साधु' कहकर उनकी प्रशंसा की और पुनः उनसे प्रश्न किया ।।३०।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में योगाभ्यासनिरूपण
नामक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२३५।।

अध्याय २३६

सांख्ययोग का निरूपण

मुनियों ने कहा—मुने ! द्विजश्रेष्ठ ! आपके मुखरूपी समुद्र से उत्पन्न वाङ्मयीरूपी अमृत का पान करते-करते हमें तृप्ति नहीं हो रही है। इसलिये मुक्तिदायक योग का विस्तृत वर्णन कीजिये। हम मनुष्यों के

---

[1] क. ०सनो योगी स्वना० । क. [2] ख. ०सं स० । [3] क. ख. ०ज्य मुनयः पु० ।

[1]प्रज्ञावाञ्श्रोत्रियो यज्वा [2]ख्यातः प्राज्ञोऽनसूयकः[3] । सत्यधर्ममतिर्ब्रह्मन्कथं ब्रह्माधिगच्छति ॥३॥
तपसा ब्रह्मचर्येण सर्वत्यागेन मेधया । सांख्ये वा यदि वा योग एतत्पृष्टो वदस्व नः ॥४॥
मनसश्चेन्द्रियाणां च यथैकाग्र्यमवाप्यते । येनोपायेन पुरुषस्तत्त्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥५॥

व्यास उवाच

नान्यत्र ज्ञानतपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् । नान्यत्र सर्वसंत्यागात्सिद्धिं विन्दति कश्चन ॥६॥
महाभूतानि सर्वाणि पूर्वसृष्टिः स्वयंभुवः । भूयिष्ठं प्राणभृद्ग्रामे निविष्टानि शरीरिषु ॥७॥
भूमेर्देहो जलात्स्नेहो ज्योतिषश्चक्षुषी स्मृते । प्राणापानाश्रयो [4]वायुःकोष्ठाकाशं शरीरिणाम् ॥८॥
क्रान्तौ विष्णुर्बले [5]शक्रः कोष्ठेऽग्निर्भोक्तुमिच्छति । कर्णयोः प्रदिशः श्रोत्रे जिह्वायां वाक्सरस्वती ॥९॥
कर्णौ त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी । दश तानीन्द्रियोक्तानि द्वाराण्याहारसिद्धये ॥१०॥
शब्दस्पर्शौ तथा रूपं रसं गन्धं च पञ्चमम् । इन्द्रियार्थान्पृथग्विद्यादिन्द्रियेभ्यस्तु नित्यदा ॥११॥
इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते अवश्या (शा) निव राजिनः (लः) । मनश्चापि सदा युङ्क्ते भूतात्मा हृदयाश्रितः ॥१२॥
इन्द्रियाणां तथैवैषां सर्वेषामीश्वरं मनः । नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मनसस्तथा ॥१३॥
[6]इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावाचेतना[7] मनः । प्राणापानौ च जीवश्च नित्यं देहेषु देहिनाम् ॥१४॥

सांख्य-दर्शन के बारे में भी सुनना चाहते हैं। प्रज्ञावान्, श्रोत्रिय, यज्ञकर्त्ता, मेधावी, अनिन्दक तथा सत्य-धर्म-निष्ठ मनुष्य कैसे ब्रह्म को प्राप्त करता है ? तपस्या से या ब्रह्मचर्य से या सर्वत्याग से या मेधा से, या सांख्य से या योग से या जैसे ब्रह्म की प्राप्ति हो वह हमें बतलाइये। जिस उपाय से मन की एकाग्रता प्राप्त हो, वह भी बतलाइये ॥१-५॥

व्यास बोले—बिना ज्ञान, तपस्या, इन्द्रियनिग्रह तथा सर्वत्याग के कोई सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है ॥६॥ ब्रह्मा ने पहले महाभूतों की सृष्टि की। फिर उनको प्राणियों के शरीरों में विनिविष्ट किया ॥७॥ भूमि से शरीर, जल से स्निग्धता, अग्नि से नेत्र, वायु से, प्राण-अपान तथा आकाश से कोष्ठ (नाक, कान आदि के छेद) उत्पन्न हुए ॥८॥ शरीर की क्रियाओं का देवता विष्णु, बल का इन्द्र, कोष्ठ का अग्नि, कर्ण का दिशायें तथा जिह्वा का वाक्सरस्वती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं, जिन्हें इन्द्रियों से अलग समझना चाहिये। चञ्चल घोड़ों की तरह इन्द्रियों को मन युक्त करता है और मन को भी हृदयाश्रित भूतात्मा युक्त करता है ॥९-१२॥ नियम तथा उत्सर्ग में समस्त इन्द्रियों का ईश्वर मन है। उसी तरह मन का ईश्वर भूतात्मा है ॥१३॥ देहधारियों की देह में इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान तथा जीव नित्य रहते हैं ॥१४॥ सत्त्व का न

---

[1] क. प्रजावां० । [2] ग. ख्यातप्रज्ञो० । [3] ख. ०कः । अभ्यासेन सदा ब्रह्म० । ग. ०कः । अनागतगतिर्ब्र० [4] ख. वायुश्चेष्टाकाशः श० । [5] क. शक्तः । ख. शक्त्या । [6] क. ०र्थाय स्व० । [7] क. ०नाश्रयः । प्रा०।

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य गुणशब्दो न चेतनाः । सत्त्वं हि तेजः सृजति न गुणान्वै कथंचन ॥१५॥
एवं सप्तदशं देहं [1]वृतं षोडशभिर्गुणैः । मनीषी मनसा विप्राः पश्यत्यात्मानमात्मनि[2] ॥१६॥
न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः । मनसा तु प्रदीप्तेन महानात्मा प्रकाशते ॥१७॥
अशब्दस्पर्शरूपं तच्च (च्चा) रसागन्धमव्ययम् । अशरीरं [3]शरीरे स्वे निरीक्षेत निरिन्द्रियम् ॥१८॥
अव्यक्तं सर्वदेहेषु मर्त्येषु परमार्चितम् । योऽनुपश्यति स[4] प्रेत्य कल्पते ब्रह्मभूयतः ॥१९॥
[5]विद्याविनयसंपन्नब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुचि चैव श्वापके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥२०॥
स हि सर्वेषु भूतेषु जङ्गमेषु ध्रुवेषु च । वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥२१॥
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि[6] । यदा पश्यति भूतात्मा[7] ब्रह्म संपद्यते तदा ॥२२॥
यावानात्मनि वेदाऽऽत्मा तावानात्मा परात्मनि । य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥२३॥
सर्वभूतात्मभूतस्य [8]सर्वभूतहितस्य च । देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥२४॥
शकुन्तानामिवाऽऽकाशे मत्स्यानामिव चोदके । यथा [9]गतिर्न दृश्येत तथा [10]ज्ञानविदां गतिः ॥२५॥
कालः पचति भूतानि सर्वाण्येवाऽऽत्मनाऽऽत्मनि । यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तन्न वेदेह कश्चन[11] ॥२६॥

आश्रय है, न गुण है, न शब्द है और न चेतना है। सत्त्व तेज का सर्जन करता है, पर गुणों का कभी नहीं ॥१५॥ इस प्रकार सत्रहवाँ शरीर सोलहो गुणों से युक्त है। विप्रवृन्द ! विद्वान् पुरुष मन से आत्मा को आत्मा में देखता है ॥१६॥ आत्मा को नेत्र से तथा इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता है। मन रूपी दीप से यह महान् आत्मा प्रकाशित होता है ॥१७॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से रहित, अविनाशी एवम् अशरीरी आत्मा को अपने शरीर में देखना चाहिए ॥१८॥ जो समस्त देहों में उस परम पूज्य आत्मा को देखता है, वह मृत्यु के वाद व्रह्म में लीन हो जाता है ॥१९॥ पण्डित लोग विद्या-विनय-संपन्न व्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल को समान भाव से देखते हैं ॥२०॥ वही एक महान् आत्मा समस्त भूतों में तथा स्थावर-जंगमों में वास करता है, जिससे संपूर्ण जगत् का निर्माण हुआ है ॥२१॥ जब मनुष्य समस्त भूतों में अपने को तथा अपने में समस्त भूतों को देखने लग जाता है तब उसे व्रह्म की प्राप्ति होती है ॥२२॥ अपने शरीर के भीतर जैसा आत्मा है, वैसा ही दूसरों के शरीर में भी है, जो ऐसा निरन्तर समझता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥२३॥ समस्त प्राणियों को अपना आत्मा समझने वाला, समस्त प्राणियों के हित में निरत तथा अपद (परमात्मा) के पद के इच्छुक जो व्यक्ति है, उसके मार्ग में देवता भी मोहित हो जाते हैं ॥२४॥ (सुदूर) आकाश में पक्षियों की और (अगाध) जल में मत्स्यों की गति जैसे नहीं दिखाई पड़ती है, वैसे ज्ञानियों की गति भी समझ में नहीं आती है ॥२५॥ काल समस्त भूतों को अपने से अपने में पचाता है। पर काल जिसमें पकाया जाता है, उसे यहाँ कोई नहीं जानता है। उसके ऊपर, नीचे, तिरछे तथा मध्य में कोई कुछ नहीं ग्रहण कर सकता है। ये समस्त लोक उसी

१क. कृतं। २क. ०त्मना। न। ३क. ख. ०रेष नि०। ४क. सर्वेभ्यः कल्पान्ते न तु भूयते। वि०। ५ग. ०द्याभिजनसं०। ६क. ०नि। एवं च स०। ७ग. सर्वात्मा। ८ख. ०तस्य देहिनः। दे०। ९ख. ०तिर्विनश्ये०। १०ख. ०नस्य चोदयः। का०। ११क. ०न। नवोर्ध्वं न।

न तदूर्ध्वं न तिर्यक्च[१] नाधो न च पुनः पुनः । न [२]मध्ये प्रतिगृह्णीते[३] नैव किंचिन्न कश्चन ॥२७॥
सर्वे तत्स्था इमे लोका बाह्यमेषां न किंचन । यद्यप्यग्रे समागच्छेद्यथा बाणो गुणच्युतः ॥२८॥
नैवान्तं कारणस्येयाद्यद्यपि स्यान्मनोजवः । तस्मात्सूक्ष्मतरं नास्ति नास्ति स्थूलतरं तथा ॥२९॥
सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥३०॥
तदेवाणोरणुतरं तन्महद्भ्यो महत्तरम् । तन्दतः सर्वभूतानां ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ॥३१॥
अक्षरं च क्षरं चैव द्वेधा भावोऽयमात्मनः । क्षरः सर्वेषु भूतेषु दिव्यं त्वमृतमक्षरम् । ३२॥
नवद्वारं पुरं [४]कृत्वा हंसो हि नियतो वशी । ईदृशः सर्वभूतस्य स्थावरस्य चरस्य [५]च ॥३३॥
हानेनाभिविकल्पानां नराणां संचयेन च । [६]शरीराणामजस्याऽऽहुर्हंसत्वं पारदर्शिनः ॥३४॥
हंसोक्तं च क्षरं चैव कूटस्थं यत्तदक्षरम् । तद्विद्वानक्षरं प्राप्य जहाति प्राणजन्मनी ॥३५॥

व्यास उवाच

भवतां पृच्छतां विप्रा यथावदिह तत्त्वतः । साख्यं ज्ञानेन संयुक्तं तदेतत्कीर्तितं मया ॥३६॥
योगकृत्यं तु भो विप्राः[७] कीर्तयिष्याम्यतः परम् । एकत्वं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वशः ॥३७॥
आत्मनो व्यापिनो ज्ञानं ज्ञानमेतदनुत्तमम् । तदेतदुपशान्तेन दान्तेनाध्यात्मशीलिना ॥३८॥

में वास करते हैं। उससे बाहर कुछ भी नहीं है। यह उसी भाँति आगे की ओर जाया करता है जैसे धनुष की डोरी से च्युत हुआ बाण जाया करता है। यद्यपि इसका मन के समान ही वेग होता है तो भी यह कारण के अंत तक प्राप्त नहीं हो पाता है। क्योंकि उससे कुछ भी अधिक सूक्ष्म तथा स्थूल वस्तु नहीं है। उसके सब ओर हाथ-पैर, आँख-सिर तथा मुख-कान हैं। वह सब को आवृत करके स्थित है ॥२६-३०॥ वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् है। समस्त भूतों के भीतर वह स्थित होते हुए भी अदृश्य है ॥३१॥ आत्मा के दो भाव हैं—अक्षर और क्षर। समस्त भूतों में रहने वाला क्षर कहलाता है और दिव्य तथा अमृत स्वरूप चेतन आत्मा अक्षर है ॥३२॥ नियत तथा वशी हंस (आत्मा) नव द्वारयुक्त शरीर रूपी गृह में वास करता है। इसी प्रकार वह समस्त स्थावर-जंगमों में वास करता है ॥३३॥ पारदर्शी लोग विकल्पों की हानि तथा मनुष्यों के संचय से ब्रह्म के शरीरों को ही हंस कहते हैं ॥३४॥ हंस को क्षर कहा जाता है और कूटस्थ अक्षर कहलाता है। ज्ञानी पुरुष उसी अक्षर को प्राप्त करके प्राण और जन्म का परित्याग करते हैं ॥३५॥

व्यास ने कहा—विप्रवृन्द ! आपने जो ज्ञानयुक्त सांख्य के बारे में पूछा, उसका वर्णन तत्त्वतः मैंने कर दिया ॥३६॥ अब योग-क्रिया का वर्णन मैं करूँगा। बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता का नाम ही एकता है ॥३७॥ व्यापक आत्मा का ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है। यही ज्ञान शम, दम, अध्यात्म-परिशीलन तथा

१क. ०र्यगधो न च भाति पु० । २ग. मन्ये । ३ग. ०हृणीतो नै० । ४क. ०त्वा सोऽत्र वै नियतं वसेत् । ई० । ५क. च । हीनेनागतक० । ६क. ०रीरं हि नरस्येह निःसर्वं पा० । ७ख. ग। ०प्रा० वर्त० ।

[1]आत्मारामेण बुद्धेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा । योगदोषान्समुच्छिद्य पञ्च[2] यान्कवयो विदुः ॥३९॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् । क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात् ॥४०॥
सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति । धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा ॥४१॥
चक्षुः श्रोत्रं च मनसा मनो वाचं च कर्मणा । अप्रमादाद्भयं जह्याद्दम्भं प्राज्ञोपसेवनात् ॥४२॥
एवमेतान्योगदोषाञ्जयेन्नित्यमतन्द्रितः । अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चाथ देवताः प्रणमेत्सदा ॥४३॥
[3]वर्जयेदुद्धतां वाचं हिंसायुक्तां [4]मनोनुगाम्[5] । ब्रह्मतेजोमयं [6]शुक्रं यस्सर्वमिदं जगत् ॥४४॥
एतस्य भूतभूतस्य वृष्टं स्थावरजङ्गमम् । ध्यानमध्ययनं दानं [8]सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा ॥४५॥
शौचं चैवाऽऽत्मनः शुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः । एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥४६॥
[9]समः सर्वेषु भूतेषु [10]लभ्यालभ्येन वर्तयन् । धूतपाप्मा तु तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥४७॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निषेवेद्ब्रह्मणः पदम् । मनसश्चेन्द्रियाणां च[11] कृत्वैकाग्र्यं समाहितः ॥४८॥
पूर्वरात्रे परार्धे च धारयेन्मन आत्मनः । जन्तोः पञ्चेन्द्रियस्यास्य यद्येकं क्लिन्नमिन्द्रियम् ॥४९॥
ततोऽस्य [12]स्रवति प्रज्ञा गिरेः पादादिवोदकम् । मनसः[13] पूर्वमादद्यात्कूर्माणामिव[14] मत्स्यहा ॥५०॥

पवित्र कर्मों के द्वारा आत्मा में रमण करने वाले बुद्धिमान् मनुष्य को प्राप्त होता है। विद्वान् व्यक्ति योग के पाँच दोषों—काम, क्रोध, लोभ, भय तथा पञ्चम स्वप्न रूप दोषों को, जिन्हें विद्वानों ने बताया है, छोड़ दे। शम से क्रोध को तथा संकल्प-त्याग से काम को जीते। धीर पुरुष सात्त्विक वृत्ति के सेवन से निद्रा को जीत लेते हैं। धैर्य से इन्द्रिय तथा उदर की रक्षा करे, नेत्र से हाथ-पैर की रक्षा करे, मन से नेत्र तथा कर्ण की रक्षा करे और कर्म से मन तथा वाणी की रक्षा करे। सावधानी से भय का त्याग करे विद्वान् की सेवा से दम्भ को छोड़े ॥३८-४२॥ इस प्रकार इन योग-दोषों को निरालस्य पूर्वक त्याग दें। सदा अग्नि, ब्राह्मण और देवताओं को प्रणाम करे ॥४३॥ मन की अनुगामी उद्धत, तथा हिंसायुक्त वाणी को त्याग दे। ब्रह्म तथा तेजोमय वीर्य को धारण करे, जिससे स्थावर-जंगमात्मक संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है ॥४४½॥ ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, कोमलता, क्षमा, शौच तथा इन्द्रियों का निग्रह करे। इन सब साधनों से तेज बढ़ता है और पाप नष्ट होता है ॥४५-४६॥ समस्त प्राणियों में समान भाव रखे और जो कुछ मिल जाय उसी से निर्वाह करे। पापरहित तेजस्वी, अल्प भोजन करने वाला तथा जितेन्द्रिय होकर काम-क्रोध को वश में करके ब्रह्मपद का सेवन करे ॥४७½॥ सावधानी से मन और इन्द्रियों की एकाग्रता करके पूर्वरात्र में तथा अपररात्रि में मन से आत्मा का धारण करे। मनुष्यों की पाँच इन्द्रियों में से एक भी यदि अवश हो जाय तो उसकी प्रज्ञा पर्वत पर से जल की तरह प्रस्रवित हो जाती है ॥४८-४९½॥ मछुआ पहले कछुओं को पकड़ता है उसी तरह योगी पहले मन को वश में

१ग. ०रागेण। २क. ख. ०ञ्च तान्क०। ३ख. ०येद् दुःखदां वा०। ग. ०येत्कुश्रितां वा०। ४क. ०नोजवाम्। ५ख. ०म्। ब्राह्मं ते०। ६क. शक्लं। ७ग. रसः। ८क. ०त्यं क्रीडाऽऽर्ज०। ९ग. सम्यक्सर्वे०। १०ख. ग. लब्ध्वा लब्ध्वेन। ११ख. च तत्त्वैका०। १२ख. क्षरति। १३क. ख. मनसा। १४क। ०द्यात्कर्मणा।

ततः श्रोत्रं ततश्चक्षुर्जिह्वा घ्राणं च योगवित् । तत एतानि संयम्य मनसि स्थापयेद्यदि ।।५१।।
तथैवापोह्य संकल्पान्मनो ह्यात्मनि धारयेत् । पञ्चेन्द्रियाणि मनसि हृदि संस्थापयेद्यदि ।।५२।।
यदैतान्यवतिष्ठन्ते मनःषष्ठानि चाऽऽत्मनि । प्रसीदन्ति च [1]संस्थायां तदा ब्रह्म प्रकाशते ।।५३।।
विधूम इव [2]दीप्तार्चिरागत्य इव दीप्तिमान् । वैद्युतोऽग्निरिवाऽऽकाशे[3] पश्यन्त्यात्मानमात्मनि ।।५४।।
[4]सर्वं तत्र तु सर्वत्र व्यापकत्वाच्च दृश्यते । तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।।५५।।
धृतिमन्तो महाप्राज्ञाः सर्वभूतहिते रताः । एवं परिमितं कालमाचरन्संशितव्रतः ।।५६।।
आसीनो हि रहस्येको गच्छेदक्षरसाम्यताम् । प्रमोहो भ्रम आवर्तो घ्राणं श्रवणदर्शने ।।५७।।
अद्भुतानि रसः स्पर्शः शीतोष्णमारुताकृतिः । प्रतिभानुपसर्गाश्च प्रतिसंगृह्य योगतः ।।५८।।
तांस्तत्त्वविदनादृत्य साम्येनैव निवर्तयेत् । कुर्यात्परिचयं योगे त्रैलोक्ये नियतो मुनिः ।।५९।।
गिरिशृङ्गे तथा चैत्ये वृक्षमूलेषु योजयेत् । संनियम्येन्द्रियग्रामं [5]कोष्ठे [6]भाण्डमना इव ।।६०।।
[7]एकाग्रं चिन्तयेन्नित्यं [8]योगान्नोद्विजते मनः । येनोपायेन शक्येत नियन्तुं चञ्चलं मनः[9] ।।६१।।
तत्र युक्तो निषेवेत न चैव विचलेत्ततः । शून्यागाराणि चैकाग्रो निवासार्थमुपक्रमेत् ।।६२।।
[10]नातिव्रजेत्परं वाचा कर्मणा[11] मनसाऽपि वा । उपेक्षको [12]यताहारो [13]लब्धालब्धसमो भवेत् ।।६३।।

करे। इसके अनन्तर कान, आँख, जिह्वा और नासिका का संयम करके मन में इनकी स्थापना करे ।।५०-५१।। उसी तरह संकल्प से मन को हटाकर आत्मा में धारण करे। पाँचों इन्द्रियों को मन में स्थापित करे ।।५२।। जब मन सहित पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा में स्थित हो जाती हैं तव व्रह्म का प्रकाश प्राप्त होता है ।।५३।। आकाश में दीप्तिमान् सूर्य की तरह तथा विद्युत्-अग्नि की तरह मन में आत्मा का दर्शन होता है। व्यापक होने के कारण आत्मा में अखिल वस्तुएँ तथा अखिल वस्तुओं में आत्मा दीखता है। उस आत्मा को महात्मा, धीर, महापण्डित तथा समस्त भूतों के हित में निरत मनीषी व्राह्मण देख पाते हैं ।।५४-५५।। दृढ़व्रती मनुष्य अकेले एकान्त में बैठकर थोड़े समय तक ही इस प्रकार आचरण करते हुए व्रह्म-समानता को प्राप्त कर लेते हैं। महामोह, भ्रम तथा चक्कर ही नाक, कान तथा आँख है। स्पर्श, सर्दी, गर्मी तथा वायु अद्भुत् रस हैं। प्रतिभा तथा वाधाओं को योग द्वारा रोककर तत्त्ववेत्ता व्यक्ति समता से ही उनको अनादरपूर्वक निवृत्त करे। इस प्रकार वश्येन्द्रिय तीनों लोक में योग का परिचय प्राप्त करे। पर्वत-शिखर पर, देवालय में तथा वृक्षमूलों में इन्द्रिय-समूह का संयम करके योगाभ्यास करे। नित्य मन को एकाग्र करे। योग से मन को उद्विग्न न होने दे। जिस उपाय से चंचल मन को वशीभूत कर सके, उसी का अवलम्बन करके योगाभ्यास करना चाहिए। उससे विचलित नहीं होना चाहिये ।।५६-६१½।। निवास के लिये शून्य भवन ढूँढ़े और एकाग्र होकर रहे। मन, वचन और कर्म से कभी भी आसक्त न हो। उपेक्षा करने वाले, नियमित भोजन करने वाले तथा हानि-लाभ में समान भाव रखने वाले व्यक्ति योगाभ्यास करें ।।६२-६३।। अपने निन्दक तथा प्रशंसक दोनों के प्रति समान व्यवहार करे।

---

[1] क. सच्छायां। [2] ख. ०प्तागिनरा०। [3] घ. ०शे दृश्य०। [4] ख. सर्वतन्त्रं च स०। [5] क. काष्ठे। [6] क. तादृङ्मना। [7] ख. एकान्ते। [8] क. ०गात्मा चिन्तयन्परः। ये० [9] क. ख. ०नः। तं च यु०। [10] क. नाभिष्वज्येत वालं वा क०। [11] क. ०सा गिरा। उ०। [12] क. जिताहारो। [13] क. लभ्यालभ्यस०।

यश्चैनमभिनन्देत यश्चैनमभिवादयेत् । समस्तयोश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम् ।।६४।।
न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु च चिन्तयेत् । समः सर्वेषु भूतेषु [1]सधर्मा मातरिश्वनः ।।६५।।
एवं स्वस्थात्मनः साधो सर्वत्र समदर्शिनः । षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्माभिवर्तते ।।६६।।
[2]वेदनार्तान्परान्दृष्ट्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः । एवं तु निरतो मार्गं विरमेन्न विमोहितः ।।६७।।
अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ।।६८।।

अजं पुराणमजरं सनातनं, यमिन्द्रियातिगमगोचरं द्विजाः ।
अवेक्ष्य चेमां परिमेष्ठिसाम्यतां, [3]प्रयान्त्यनावृत्तिगतिं मनीषिणः ।।६९।।

इति श्री महापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे सांख्ययोगनिरूपणं नाम
पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२३६।।

अथ सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ज्ञानिनां मोक्षप्राप्तिनिरूपणम्

मुनय ऊचुः

[4]यद्येवं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च । कां [5]दिशं विद्यया यन्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा ।।१।।

शुभ-अशुभ का ध्यान न करे ।।६४।। लाभ होने पर प्रसन्न न हो और हानि होने पर चिन्ता न करे । वायु के समान समस्त प्राणियों से तुल्य व्यवहार करे ।।६५।। इस प्रकार स्वस्थात्मा और सर्वत्र समदर्शी होकर छह मास तक नित्य योगाभ्यास करने वालों को शब्द-ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।।६६।। जिसका चित्त वेदनाओं से पीड़ित व्यक्ति को देखकर भी उद्विग्नि नहीं होता है तथा जो ढेले, पत्थर एवम् सोने में समान भाव रखता है, वही योगयुक्त कहलाता है । इस प्रकार योगमार्ग पर आरूढ़ होना चाहिये, मोहवश उससे भ्रष्ट नहीं होना चाहिये । चाहे नीच वर्ण का व्यक्ति हो अथवा धर्म चाहने वाली स्त्री हो, वे दोनों ही इस मार्ग से चलने पर परम गति को प्राप्त करते हैं ।।६७-६८।। द्विजगण ! अज, पुराण, अजर, सनातन, इन्द्रियों से परे तथा अगोचर परमात्मा का दर्शन करके विद्वान् लोग ब्रह्म-समानता रूप अपरिवर्तनशील गति को प्राप्त करते हैं ।।६९।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में सांख्ययोग-निरूपण
नामक दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२३६।।

अध्याय २३७

ज्ञानियों की मोक्षप्राप्ति का निरूपण

मुनियों ने कहा—यदि ऐसा वेद का वचन है कि कर्म करो और त्याग भी करो तो मनुष्य ज्ञान के द्वारा

---

[1] ख. ०र्मात्मा मुनीश्वरः । ए० । [2] ग. ०नार्ताः प्रजा ह० । [3] ग. ०त्तिपथं म० । [4] ख. ग. यदिदं वे० । [5] क. गतिं ।

एतद्वै श्रोतुमिच्छामस्तद्भवान्प्रब्रवीतु नः । एतदन्योन्यवैरूप्यं वर्तते प्रतिकूलतः ॥२॥

व्यास उवाच

शृणुध्वं मुनिशार्दूला यत्पृच्छध्वं समासतः । [1]कर्मविद्यामयौ चोभौ व्याख्यास्यामि [2]क्षराक्षरौ ॥३॥
यां दिशं विद्यया यान्ति यां गच्छन्ति च कर्मणा । शृणुध्वं सांप्रतं विप्रा गहनं ह्येतदुत्तरम् ॥४॥
अस्ति धर्म इति युक्तं नास्ति तत्रैव यो वदेत् । यक्षस्य सादृश्यमिदं यक्षस्येदं भवेदथ ॥५॥
द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तो वा विभाषितः ॥६॥
कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥७॥
कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान्षोडशात्मकः । विद्यया जायते नित्यमव्यक्तं ह्यक्षरात्मकम् ॥८॥
कर्म त्वेके प्रशंसन्ति स्वल्पबुद्धिरता नराः । तेन ते देहजालेन[3] रमयन्त उपासते ॥९॥
ये तु बुद्धिं परां प्राप्ता धर्मनैपुण्यदर्शिनः[4] । न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव ॥१०॥
कर्मणां फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ । विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥११॥
न म्रियते यत्र गत्वा यत्र गत्वा न जायते । न जीर्यते यत्र गत्वा यत्र गत्वा न वर्धते ॥१२॥
यत्र तद्ब्रह्म परममव्यक्तमचलं ध्रुवम् । अव्याकृतमनायाममममृतं [5]चाधियोगवित् ॥१३॥

(कर्म त्याग देने से) किस गति को प्राप्त होते हैं और कर्म से किस गति को प्राप्त होते हैं ? यह हम सुनना चाहते हैं, आप बतलाइये । यह परस्पर वैरूप्य प्रतिकूल भाव रखता है ॥१-२॥

व्यास बोले—मुनिवर ! जो आप पूछते हैं, उसे संक्षेप से सुनिये । मैं कर्म तथा ज्ञानमय दोनों क्षर और अक्षर का वर्णन करूँगा । विप्रवृन्द ! ज्ञान से मनुष्य जिस गति को प्राप्त करते हैं और कर्म से जिसको प्राप्त करते हैं, इसका उत्तर देना बहुत कठिन है। फिर भी अब सुनिये । धर्म है और धर्म नहीं है—यह कहना वैसा ही होगा जैसे यह एक यक्ष का सादृश्य है और यक्ष का सादृश्य नहीं है, यह कथन । ये दो मार्ग हैं, जिनमें वेद प्रतिष्ठित हैं। एक प्रवृत्तिलक्षण धर्म है और दूसरा निवृत्तिलक्षण धर्म है ॥३-६॥ कर्म से जीव वद्ध होता है और ज्ञान से मुक्त होता है। इसलिये पारदर्शी संन्यासी लोग कर्म नहीं करते हैं ॥७॥ कर्म से जीव देहान्त के वाद सोलह विकार से युक्त मूर्तिमान् होता है अर्थात् जन्म लेता है और ज्ञान से अक्षरात्मक नित्य अव्यक्त हो जाता है ॥८॥ स्वल्प वुद्धि वाले मनुष्य कर्म की प्रशंसा करते हैं। इसलिये वे देहजाल से रमण करते हुए कर्म की उपासना करते हैं ॥९॥ जो परा बुद्धि को प्राप्त हैं तथा धर्म की निपुणता को देखते हैं, वे कर्म की प्रशंसा उसी तरह नहीं करते हैं जैसे नदी के जल पीने वाले कुएँ की ॥१०॥ कर्मों के फल उत्पत्ति-मरण रूप सुख-दुःख होते हैं। ज्ञान से जीव वहाँ जाता है, जहाँ जाने पर सोच नहीं होता है, मृत्यु नहीं होती, उत्पत्ति नहीं होती, हानि तथा वृद्धि नहीं होती, जहाँ परम, अव्यक्त, अचल, ध्रुव, नामरूप से रहित, अनामय, अमृत तथा योगवेत्ता ब्रह्म की प्राप्ति होती है और जहाँ मानसिक कर्म तथा (शीत-उष्ण आदि) द्वन्द्व

---

[1]क. ०द्यावेतौ व्या० । [2]ग. चराचरौ । [3]ख. जालानि र० । ०जातानि र० । [4]क. ०र्मज्ञाः पुण्य० । [5]क. वाधयोगतः । ख. बाधियोगिता ।

द्वंदैर्न यत्र बाध्यन्ते मानसेन च कर्मणा । समाः सर्वत्र मैत्राश्च सर्वभूतहिते रताः ।।१४।।
विद्यामयोऽन्यः पुरुषो द्विजाः कर्ममयोऽपरः । [1]विप्राश्चन्द्रसमस्पर्शः[2] सूक्ष्मया कलया स्थितः[3] ।।१५।।
तदेतदृषिणा प्रोक्तं विस्तरेणानुगीयते । [4]न वक्तुं शक्यते द्रष्टुं [5]चक्रतन्तुमिवाम्बरे ।।१६।।
एकादशविकारात्मा कलासंभारसंभृतः । मूर्तिमानिति तं विद्याद्विप्राः कर्मगुणात्मकम् ।।१७।।
देवो यः संश्रितस्तस्मिन्बुद्धीन्दुरिव[6] पुष्करे । क्षेत्रज्ञं तं विजानीयान्नित्यं योगजितात्मकम् ।।१८।।
तमो रजश्च सत्त्वं च ज्ञेयं [7]जीवगुणात्मकम् । जीवमात्मगुणं विद्यादात्मानं परमात्मनः ।।१९।।
सचेतनं जीवगुणं वदन्ति, स[8] चेष्टते [9]जीवगुणं च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति[10], प्रकल्पयन्तो भुवनानि सप्त ।।२०।।

व्यास उवाच

प्रकृत्यास्तु विकारा ये [11]क्षेत्रज्ञास्ते[12] परिश्रुताः । ते चैनं न प्रजानन्ति न जानाति स तानपि ।।२१।।
तैश्चैव कुरुते कार्यं [13]मनः षष्ठैरिहेन्द्रियैः । सुदान्तैरिव संयन्ता दृढः[14] परमवाजिभिः ।।२२।।
इन्द्रियेभ्यः[15] परा ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ।।२३।।

वाधा नहीं डालते हैं ।।११-१३½।। वहाँ जीव समभाव में स्थित, सर्वत्र मित्रतायुक्त एवम् समस्त भूतों के हित में निरत रहते हैं ।।१४।। द्विजगण ! कोई पुरुष ज्ञानमय होता है तो कोई कर्ममय । विप्रवृन्द । कोई चन्द्रमा के समान शीलत स्पर्श वाला तथा सूक्ष्म कला (गुण) से युक्त होता है । यह रहस्य ऋषि ने वतलाया है । उसका विस्तार से मैं वर्णन कर रहा हूँ । वह आकाश में चक्रतन्तु के समान देखा जा सकता है, किन्तु वतलाया नहीं जा सकता है । विप्रगण ! कर्म-गुण वाले को ग्यारह विकारों से युक्त तथा कलाओं से सम्पन्न मूर्तिमान् समझिये ।।१५-१७।। तालाव में चन्द्र-प्रतिविंव की तरह शरीर में जो देव अवस्थित हैं, उसे क्षेत्रज्ञ, नित्य तथा योग, जितात्मा समझिये । तम, सत्त्व तथा रज को जीव का गुण समझिये, जीव को आत्मा का गुण और आत्मा को परमात्मा का गुण मानिये । जीव का गुण सचेतन है, वह समस्त जीव के गुण की चेष्टा किया करता है और सातों भुवनों की कल्पना करते हुए क्षेत्रवेत्ता उससे परे को वतलाते हैं ।।१८-२०।।

व्यास बोले—प्रकृति के जो विकार हैं, वे क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं । वे पुरुष को नहीं जानते हैं और पुरुष उनको नहीं जानता है । जैसे सुशासित अश्वों से दृढ़ सारथि कार्य लेता है उसी तरह मन सहित छहों इन्द्रियों से पुरुष कार्य लेता है ।।२१-२२।। इन्द्रियों से परे उनके विषय हैं, विषयों से परे मन है, मन से परे वुद्धि है और बुद्धि से परे महान् आत्मा है ।।२३।। महान् से परे अव्यक्त है, अव्यक्त से परे अमृत है और अमृत से परे कुछ भी नहीं

१ख. विप्रश्च० । २ख. ०न्द्रमसः स्पर्शात्स सूक्ष्मो लोकसंस्थि० । ग. ०न्द्रमसं स्प० । ३क. स्थितम् । ४ख. न चक्रं शशिनं दृष्ट्वा चक्रत० । ५क. चक्रुस्तरुमिवापरे । ६क. ०स्मिन्नब्धीन्दु । ७ख. जीवात्मकंगुणम् । ८ख. स तिष्ठते चेतयते तु स० । ९क. ०ते चिन्तयन्तीह स० । १०ग. ०न्ति प्राक्कल्पयन्यो भु० । ११क. ०त्रज्ञे ते प० । १२ख. ०ज्ञाश्च प० । १३ग. मनसश्चेन्द्रियैः सह । सु० १४ख. दृढैः । १५क. ख. अनर्थेभ्यः ।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्परतोऽमृतम् । अमृतान्न[1] परं किंचित्सा काष्ठा परमा गतिः ॥२४॥
एवं सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥२५॥
अन्तरात्मनि संलीय मनःषष्ठानि मेधया । इन्द्रियैरिन्द्रियार्थांश्च बहुचित्तमचिन्तयन् ॥२६॥
[2]ध्यानेऽपि परमं कृत्वा विद्यासंपादितं मनः । अनीश्वरः प्रशान्तात्मा ततो गच्छेत्परं पदम् ॥२७॥
इन्द्रियाणां तु सर्वेषां वश्यात्मा [3]चलितस्मृतिः । आत्मनः संप्रदानेन मर्त्यो मृत्युमुपाश्नुते ॥२८॥
विहत्य सर्वसंकल्पान्सत्त्वे चित्तं निवेशयेत् । सत्त्वे चित्तं समावेश्य ततः [4]कालंजरो भवेत् ॥२९॥
चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाशुभम् । प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते ॥३०॥
लक्षणं तु प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं [5]भवेत्[6] । निर्वाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते ॥३१॥
एवं पूर्वापरे रात्रे युञ्जन्नात्मानमात्मना । लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥३२॥
रहस्यं [7]सर्ववेदानामनैतिह्यमनागमम् । आत्मप्रत्यायकं शास्त्रमिदं पुत्रानुशासनम् ॥३३॥
धर्माख्यानेषु सर्वेषु सत्याख्यानेषु [8]यद्वसु[9] । दशवर्षसहस्राणि निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥३४॥
नवनीतं यथा[10] दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च । तथैव विदुषां ज्ञानं [11]मुक्तिहेतोः समुद्धृतम् ॥३५॥

है। वह पराकाष्ठा तथा परमगति है ॥२४॥ इस प्रकार समस्त भूतों में प्रच्छन्न आत्मा प्रकाशित नहीं होती है। किन्तु सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म वुद्धि से उसको देख लेते हैं ॥२५॥ वुद्धि से मन सहित छहों इन्द्रियों को अन्तरात्मा में विलीन करके इन्द्रियों के विषयों का ध्यान करते हुए तथा ध्यान हो जाने पर भी मन को विद्या से सुसंयत करके अनीश्वर तथा प्रशान्तात्मा व्यक्ति परम पद को प्राप्त करता है ॥२६-२७॥ समस्त इन्द्रियों के वश में रहने वाला तथा विचलित ध्यान वाला मनुष्य आत्मा का हनन करके मृत्यु को प्राप्त करता है ॥२८॥ जो समस्त संकल्पों को विनष्ट करके सत्त्व में चित्त को निविष्ट करता है, वह काल को जीत लेता है ॥२९॥ चित्त की प्रसन्नता से संन्यासी शुभाशुभ कर्मों का त्याग करके आत्मस्थित होकर अत्यन्त सुख को प्राप्त करते हैं ॥३०॥ प्रसन्नता का लक्षण यह है कि जैसे स्वप्न में सुख होता है और निर्वात स्थान में प्रज्वलित दीप कम्पित नहीं होता है उसी तरह पूर्व रात्रि में तथा अपर रात्रि में आत्मा से मन का संयोग (ध्यान) करे और अल्पभोजन करते हुए विशुद्धात्मा होकर आत्मा में आत्मा को देखे ॥३१-३२॥ यह शास्त्र अखिल वेदों का रहस्य है, इतिहास तथा आगम से भिन्न है, आत्मा का ज्ञान करने वाला है और पुत्रानुशासन है अर्थात् जैसे पिता पुत्र के ऊपर अनुशासन करता है वैसे यह भी साधक के ऊपर शासन करता है ॥३३॥ धर्म के आख्यानों में तथा सत्य के आख्यानों में जो सार है, वही यह है। दश सहस्र वर्षों तक वेदों का मथन करके यह अमृत निकाला गया है। जैसे दही से नवनीत और काष्ठ से अग्नि निकलता है उसी प्रकार मोक्ष के कारण से विद्वानों का ज्ञान निःसृत हुआ है। यह पुत्रानुशासन शास्त्र शिष्यों को वतलाना चाहिये।

---

[1]क. ख. ०ताच्च प०। [2]क. ०नेनोप०। [3]ख. ०स्मृतः। आ०। [4]ग. ०लंचरो। [5]ख. स्वयम्। [6]ख. ०त्। शनैर्वाति य०। [7]ख. ०मनौपम्यमनायमयम्। [8]क. यद्वनु। ख. वस्तुपु। [9]ग. सु०। दर्शे दशस०। [10]क. ०था दुग्धात्काष्ठा०। [11]ख. ०हेतौ स०।

स्नातकानामिदं शास्त्रं वाच्यं पुत्रानुशासनम् । तदिदं नाप्रशान्ताय नादान्ताय तपस्विने[1] ॥३६॥
नावेदविदुषे वाच्यं तथा नानुगताय च । नासूयकायानृजवे न चानिर्दिष्टकारिणे ॥३७॥
न तर्कशास्त्रदग्धाय तथैव पिशुनाय च । श्लाघिने श्लाघनीयाय प्रशान्ताय [2]तपस्विने ॥३८॥
इदं प्रियाय पुत्राय शिष्यायानुगताय तु । रहस्यधर्मं वक्तव्यं नान्यस्मै तु कथंचन ॥३९॥
यद्यप्यस्य महीं दद्याद्रत्नपूर्णामिमां नरः । इदमेव ततः श्रेय इति[3] मन्येत तत्त्ववित् ॥४०॥
[4]अतो गुह्यतरार्थं तदध्यात्ममतिमानुषम् । [5]यत्तन्महर्षिभिर्दृष्टं वेदान्तेषु च गीयते ॥४१॥
तद्युष्मभ्यं [6]प्रयच्छामि यन्मां पृच्छत सत्तमाः । यन्मे मनसि वर्तेत यस्तु वो हृदि संशयः ॥
श्रुतं भवद्भिस्तत्सर्वं किमन्यत्कथयामि वः ॥४२॥

मुनय ऊचुः

अध्यात्मं विस्तरेणेह पुनरेव वदस्व नः । यदध्यात्मं यथा विद्मो[7] भगवन्नृषिसत्तम ॥४३॥

व्यास उवाच

अध्यात्मं यदिदं विप्राः पुरुषस्येह [8]पठ्यते । युष्मभ्यं कथयिष्यामि तस्य[9] व्याख्याऽवधार्यताम् ॥४४॥
भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च । [10]महाभूतानि यश्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ॥४५॥

अशान्त और अदान्त तपस्वी को नहीं बतलाना चाहिये ॥३४-३६॥ जो वेदों को नहीं जानता है, उसे भी नहीं बतलाना चाहिये । जो अनुगमन न करे, उसे नहीं बतलाना चाहिये । निन्दक, कुटिल, बिना निर्देश किये कार्य करने वले, तर्कशास्त्र से दग्ध तथा पिशुन को नहीं बतलाना चाहिये । प्रशंसक, प्रशंसनीय, प्रशान्त तथा तपस्वी को यह बतलाना चाहिये । वह रहस्यधर्म प्रिय पुत्र को तथा अनुगमन करने वाले शिष्य को बतलाया जा सकता है और अन्य को तो कभी भी नहीं ॥३७-३९॥ यदि मनुष्य रत्नपरिपूर्ण सकल पृथ्वी को दे तो भी तत्त्ववेत्ता जन इसी को उससे श्रेष्ठ समझे । अतः अत्यन्त गोप्य तथा लोकोत्तर जो अध्यात्म विद्या है, उसे महर्षियों ने प्राप्त किया । उसी की चर्चा वेदान्तों में की जाती है । मुनिगण ! आप लोगों ने जो मुझसे पूछा, वह मैंने बतला दिया और जो मेरे मन में था तथा जो आपके हृदय में सन्देह था, वह भी आप सुन चुके हैं । अब और क्या कहूँ ? ॥४०-४२॥

मुनियों ने कहा—भगवन् ! मुनिवर ! पुनः अध्यात्म को विस्तार से बतलाइये, ताकि अध्यात्म को हम समझ जाँय ॥४३॥

व्यास बोले—विप्रवृन्द ! पुरुष का जो अध्यात्म कहा जाता है, वह मैं आपसे बतालाऊँगा । उसकी व्याख्या सुनिये । भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँचों महाभूत सभी प्राणियों में स्थित हैं ॥४४-४५॥

---

[1] ग. ०ने । इदं प्रियाय पुत्राय शिष्यायानु० । [2] ग. ०ने । र० । [3] ग. इदं । [4] क. ख. ततो । [5] क. यत्र गूढं समुद्दिष्टं । [6] क. ख. प्रवक्ष्यामि । [7] क. ख. विप्र । [8] ख. इष्यते । [9] ग. तच्छृणुध्वमतन्द्रिताः । भू० । [10] ख. ग. ०निपञ्चैव ।

मुनय ऊचुः

[1]आकारं तु भवेद्यस्य यस्मिन्देहं न पश्यति । आकाशाद्यं शरीरेषु कथं [2]तदुपवर्णयेत् ॥
[3]इन्द्रियाणां[4] गुणाः केचित्कथं तानुपलक्षयेत् ॥४६॥

व्यास उवाच

एतद्वो वर्णयिष्यामि [5]यथावदनु दर्शनम् । शृणुध्वं तदिहैकाग्र्या यथातत्त्वं यथा च तत् ॥४७॥
शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशलक्षणम् । प्राणश्चेष्टा तथा स्पर्श एते वायुगुणास्त्रयः ॥४८॥
रूपं चक्षुर्विपाकश्च त्रिधा ज्योतिर्विधीयते । [6]रसोऽथ रसनं स्वेदो गुणास्त्वेते त्रयोऽम्भसाम् ॥४९॥
घ्रेयं घ्राणं शरीरं च भूमेरेते गुणास्त्रयः । एतावानिन्द्रियग्रामो व्याख्यातः पाञ्चभौतिकः ॥५०॥
वायोः स्पर्शो रसोऽद्भ्यश्च ज्योतिषो रूपमुच्यते । आकाशप्रभवः शब्दो गन्धो भूमिगुणः स्मृतः ॥५१॥
मनो बुद्धिः स्वभावश्च गुणा एते स्वयोनिजाः[7] । [8]ते गुणानतिवर्तन्ते गुणेभ्यः परमा मताः ॥५२॥
यथा कूर्म इवाङ्गानि प्रसार्य संनियच्छति । एवमेवेन्द्रियग्रामं बुद्धिश्रेष्ठो नियच्छति[9] ॥५३॥
यदूर्ध्वं पादतलयोरवार्कोर्द्ध्वं च (गधश्च) पश्यति । एतस्मिन्नेव कृत्ये सा वर्तते बुद्धिरुत्तमा ॥५४॥

मुनियों ने कहा—जिसका आकार तो होता होगा, किन्तु जिसमें कोई देह को नहीं देखता है, वह आकाश आदि शरीर में कैसे विद्यमान रहते हैं, इसका वर्णन कीजिए। कुछ इन्द्रियों के गुण होते हैं, वे कैसे होते हैं, उन्हें भी बतलाइए ॥४६॥

व्यास बोले—शास्त्रानुसार मैं ठीक-ठीक इसका वर्णन करूँगा। आप लोग एकाग्रचित्त होकर तत्त्वतः सुनिये ॥४७॥ शब्द, श्रवणेन्द्रिय तथा शून्य प्रदेश—ये तीन आकाश के लक्षण हैं। प्राण, चेष्टा तथा स्पर्श-ये तीन वायु के लक्षण हैं ॥४८॥ रूप, नेत्र था परिणाम-ये तीन अग्नि के गुण हैं। रस, जिह्वा तथा स्वेद—ये तीन जल के गुण हैं ॥४९॥ सूँघने योग्य वस्तु, नाक और शरीर—ये तीन गुण पृथ्वी के हैं। पाँच भूतों के विकार इन्द्रिय समूह का वर्णन कर दिया। वायु से स्पर्श, जल से रस, अग्नि से रूप, आकाश से शब्द तथा पृथ्वी से गन्ध उत्पन्न होता है। मन, बुद्धि तथा स्वभाव—ये स्वयोनिज गुण हैं। ये इतर गुणों का अतिक्रमण करते हैं। अतएव दूसरे गुणों से ये श्रेष्ठ माने जाते हैं ॥५०-५२॥ जैसे कच्छप अंगों को फैलाकर सिर समेट लेता है उसी तरह ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों का नियमन कर लेता है। जो या तो ऊपर आकाश की ओर या नीचे चरणतल की ओर देखे, उसकी बुद्धि उत्तम है (कारण बीच में इधर-उधर देखने से बुद्धि भ्रान्त होती है, अतएव योगी पुरुष को ऊपर-नीचे देखना चाहिए) ॥५३-५४॥ गुण बुद्धि का वहन करते हैं और बुद्धि छठे मन सहित पाँचों इन्द्रियों को

१ग. ०कारात्तात वै यस्य । ख. ०काशस्तु भ० । २क. ०र्णनम् । इ० । ३ग. इन्द्रियाणि । ४क. ख. ०णां विचरतां कथं । ५क. ख. ०वत्तदुपासन० । ६क. ०सोद्रवस्तथा स्वे० । ७क. ०जाः । एते त्रयोऽभिव० । ८ख. न । ९ख. ०ति । न तूर्ध्वं ।

[1]गुणैस्तु नीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि । मनःषष्ठानि सर्वाणि [2]बुद्ध्या [3]भावात्कुतो गुणाः ॥५५॥
इन्द्रियाणि नरैः पञ्च षष्ठं तन्मन उच्यते । सप्तमीं बुद्धिमेवाऽऽहुः क्षेत्रज्ञं विद्धि चाष्टमम् ॥५६॥
[4]चक्षुरालोकनायैव संशयं कुरुते मनः । बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥५७॥
रजस्तमश्च सत्त्वं च त्रय एते स्वयोनिजाः । [5]समाः सर्वेषु भूतेषु तान्गुणानुपलक्षयेत् ॥५८॥
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् । प्रशान्तमिव संयुक्तं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥५९॥
यत्तु संतापसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् । प्रवृत्तं रज इत्येवं तत्र चाप्युपलक्षयेत् ॥६०॥
यत्तु[6] संमोहसंयुक्तमव्यक्तं[7] विषमं भवेत् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥६१॥
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दं स्वाम्यं स्वस्थात्मचित्तता । [8]अकस्माद्यदि वा कस्माद्वदन्ति सात्त्विकान्गुणान् ॥६२॥
[9]अभिमानो मृषावादो लोभो मोहस्तथा क्षमा । लिङ्गानि रजसस्तानि [10]वर्तन्ते हेतुतत्त्वतः ॥६३॥
तथा मोहः प्रमादश्च तन्द्री निद्राऽप्रबोधिता । कथंचिदभिवर्तन्ते विज्ञेयास्तामसा गुणाः ॥६४॥
मनः प्रसृजते भावं बुद्धिरध्यवसायिनी[11] । हृदयं प्रियमेवेह त्रिविधा कर्मचोदना ॥६५॥
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परः[12] स्मृतः ॥६६॥
बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवाऽऽत्मनायिका । यदा विकुरुते भावं[13] तदा भवति सा मनः ॥६७॥

वहन करती है । बुद्धि के अभाव में गुण क्या कर सकते हैं (?) । पाँच इन्द्रियाँ तथा छठा मन कहलाता है । सातवीं बुद्धि को और आठवाँ आत्मा को समझिये ॥५५-५६॥ नेत्र अवलोकन के लिये हैं । मन संशय करता है । बुद्धि निश्चय करती है ॥५७॥ क्षेत्रज्ञ (आत्मा) साक्षी कहलाता है । रज, तम, सत्त्व-ये तीनों स्वयोनिज गुण समस्त भूतों में समान हैं । इन गुणों का परिदर्शन करें । वहाँ प्रीति-संयुक्त जो कुछ भी आत्मा में दीख पड़े, उसे सत्त्व का शान्तिपूर्वक धारण करें ॥५८-५९॥ शरीर में या मन में संतापयुक्त जो कुछ मालूम हो उसे रजोगुण समझना चाहिए ॥६०॥ जो मोहसंयुक्त, अव्यक्त, विषम, अप्रतर्क्य तथा अविज्ञेय है, उसे तमोगुण समझना चाहिये ॥६१॥ महान् हर्ष, प्रीति, आनन्द, स्वाम्य तथा स्वस्थचित्तता यदि अकस्मात् मालूम पड़े तो उन्हें सात्त्विक गुण समझिये ॥६२॥ अभिमान, मिथ्यावाद, लोभ, मोह, क्षमा—ये रजोगुण के चिह्न हैं । मन भाव का सर्जन करता है, बुद्धि निश्चय करती है और हृदय प्रिय ही करता है । यह तीन प्रकार की कर्म-प्रेरणायें हैं ॥६३-६५॥ इन्द्रियों से परे उनके विषय हैं, विषयों से परे मन है । मन से परे वुद्धि है और वुद्धि से परे आत्मा है । वुद्धि मनुष्य का आत्मा है, बुद्धि ही आत्मा की नेत्री है । वुद्धि जव भाव को अभिव्यक्त करती है तव वह मन कहलाती है ॥६६-६७ ॥ इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् व्यापार को बुद्धि ही ही करती है । श्रवण करती हुई वह कर्ण

१क. गुणान्ते नी० । ख. गुणागुणाय० । २क. वुद्धिभाजः कृताः गु० । ३ग. भावे ततो । ४ग. लोचना० । ५क. ख. समः । ६ख. ०त्तु व्यामो० । ७ग. ०व्यक्तिविषयं भ० । ८क. अस्माकं यदि । ९ख. ०नो विवादो वा लो० । १०ग. ०न्ते देहतं० । ११ग. ०नी । कृत्यं प्रियाप्रिये चैव त्रि० । १२ख. परो मतः । १३ख. वाच ।

इन्द्रियांणां पृथुग्भावाद्बुद्धिर्विकुरुते [१]ह्यनु । शृण्वती भवति श्रोत्रं स्पृशती स्पर्श उच्यते ॥६८॥
पश्यन्ती च भवेद्दृष्टी रसन्ती रसना भवेत् । जिघ्रन्ती भवति घ्राणं बुद्धिर्विकुरुते पृथक् ॥६९॥
इन्द्रियाणि तु तान्याहुस्तेषां[२] वृत्त्या वितिष्ठति । तिष्ठन्ति पुरुषे [३]बुद्धिर्बुद्धिभावव्यवस्थिता ॥७०॥
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति । न सुखेन न दुःखेन कदाचिदिह मुह्यते ॥७१॥
स्वयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते[४] । सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान् ॥७२॥
यदा प्रार्थयते किंचित्तदा भवति सा[५] मनः । अधिष्ठाने च वै बुद्ध्या पृथगेतानि संस्मरेत् ॥७३॥
इन्द्रियाणि च मेध्यानि विचेतव्यानि कृत्स्नशः[६] । सर्वाण्येवानुपूर्वेण यद्यदा[७] च विधीयते ॥७४॥
अभिभागमना[८] बुद्धिर्भावो मनसि वर्तते । प्रवर्तमानस्तु[९] रजः सत्त्वमप्यतिवर्तते[१०] ॥७५॥
ये वै भावेन वर्तन्ते सर्वेष्वेतेषु ते त्रिषु । अन्वर्थान्संप्रवर्तन्ते रथनेमिमरा इव ॥७६॥
[११]प्रदीपार्थं मनः कुर्यादिन्द्रियैर्बुद्धिसत्तमैः । [१२]निश्चरद्भिर्यथायोगमुदासीनैर्यदृच्छया ॥७७॥
एवं स्वभावमेवेदमिति बुद्ध्वा[१३] न मुह्यति । अशोचन्संप्रहृष्यंश्च नित्यं विगतमत्सरः ॥७८॥
न ह्यात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैः कामगोचरैः । प्रवर्तमानैरनेकैर्दुर्धरैरकृतात्मभिः ॥७९॥

कहलाती है, स्पर्श करती हुई त्वचा कहलाती है, देखती हुई नेत्र कहलाती है, रसास्वाद करती हुई जिह्वा कहलाती है और सूँघती हुई नासिका कहलाती है। इस प्रकार बुद्धि ही सब इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् कार्य को करती है ॥६८-६९॥ बुद्धि को इन्द्रियाँ समझिए। उनकी वृत्ति से वह अवस्थित होती है। पुरुष में बुद्धि अवस्थित है और बुद्धि में भाव अवस्थित है ॥७०॥ बुद्धि कभी प्रीति लाभ करती है और कभी शोक। यह सुख तथा दुःख से कभी भी मुग्ध नहीं होती है ॥७१॥ जैसे नदियों का स्वामी समुद्र तरंग आने पर तट का उल्लंघन करता है उसी तरह भावात्मिका बुद्धि इन तीन भावों का अतिक्रमण करती है ॥७२॥ जब किसी चीज के लिये प्रार्थना की जाती है तब बुद्धि मन कहलाती है। स्थान विशेष में बुद्धि द्वारा इन्द्रियों का पृथक्-पृथक् स्मरण किया जाता है। सकल इन्द्रियों को क्रमशः पवित्र बनाना चाहिये और सावधानी से उनका व्यवहार करना चाहिये। बुद्धि मन से अतिरिक्त नहीं है। भाव मन में रहता है। उदीयमन भाव रज तथा सत्त्व का भी अतिक्रमण करता है ॥७३-७५॥ जो इन तीन गुणों में भाव से विद्यमान रहते हैं (अर्थात् इनकी भावना करते रहते हैं) वे विषयों से उसी तरह चिपक जाते हैं जैसे रथ के पहिये के आरे नेमि से चिपके रहते हैं ॥७६॥ प्रकाश पाने के लिये निश्चल तथा उदासीन इन्द्रियों द्वारा मन को वश में करे। शोक, हर्ष तथा ईर्ष्या से शून्य मनुष्य 'मन का ऐसा ही स्वभाव है' यह जानकर मोह नहीं पड़ता है। कामचारी, उद्धत तता अवश इन्द्रियों द्वारा इस आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता है।

१क. मनः २ख. ०स्तेषु दृश्योऽवति० । ग. स्तेषु दृश्ये च ति० । ३क. ०द्धिः सदा भा० । ४ख. ग. ०नभिव० । ५क. सागरः । विष्टाविनिद्यवै भर्त्रा पृ० । ख. सागरः । आविष्टामिव वै बुद्ध्या पृ० । ६क. ०शः । भूतान्येवा० । ७क. यथावदभिधी० । ८ख. ०मतो बु० । ९क. मानोरुर० । ख. ०मानं तु र० । १०ग. ०ते । यैरेव भावा वर्तन्ते भावाः सर्वेषु तेषु च । अ० । ११क. प्रदीप्त्यर्थं । १२क. निश्वसद्भि० । १३ख. ग. बुद्ध्या ।

[1]तेषां तु मनसा रश्मीन्यदा सम्यङ्नियच्छति । तदा प्रकाशतेऽस्याऽऽत्मा दीपदीप्ता यथाऽऽकृतिः ।।८०।।
सर्वेषामेव भूतानां तमस्युपगते यथा । प्रकाशं भवते सर्वं तथैवमुपधार्यताम् ।।८१।।
यथा वारिचरः पक्षी न लिप्यति जले चरन् । विमुक्तात्मा तथा योगी गुणदोषैर्न लिप्यते ।।८२।।
एवमेव कृतप्रज्ञो न दोषैर्विषयाश्चरन् । असज्जमानः सर्वेषु न कथंचित्प्रलिप्यते ।।८३।।
त्यक्त्वा पूर्वकृतं कर्म रतिर्यस्य सदाऽऽत्मनि । सर्वभूतात्मभूतस्य गुणसङ्गेन सज्जत[2]ः ।।८४।।
स्वयमात्मा [3]प्रसवति गुणेष्वपि[4] कदाचन[5] । न गुणा विदुरात्मानं गुणान्वेद स सर्वदा ।।८५।।
परिदध्याद्गुणानां स द्रष्टा चैव यतातथम् । सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं लक्षयेन्नरः ।।८६।।
सृजते तु गुणानेक एको न सृजते गुणान् । पृथग्भूतौ प्रकृत्यैतौ संप्रयुक्तौ च सर्वदा ।।८७।।
यथाऽश्मना हिरण्यस्य संप्रयुक्तौ तथैव तौ । मशकौदुम्बरौ वाऽपि संप्रयुक्तौ यथा सह ।।८८।।
इषिका वा यथा मुञ्जे पृथक्च सह चैव ह । तथैव[6] सहितावेतौ अन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ ।।८९।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे
सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२३७।।

मन द्वारा जब इन्द्रियों का सम्यक् प्रकार से नियमन होता है तब आत्मा उसी तरह प्रकाशित होता है जैसे दीप द्वारा रूप ।।७७-८०।। अन्धकार के नष्ट होने पर जैसे समस्त भूतों का साक्षात्कार होता है वैसे आत्मा का भी समझ लीजिये। जैसे जलचर पक्षी जल में विचरण करते हुए भी लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार मुक्तात्मा योगी गुण-दोषों लिप्त नहीं होता है ।।८१-८२।। इसी प्रकार प्रज्ञावान् व्यक्ति विषयों का उपभोग करते हुए भी समस्त विषयों में अनासक्त रहने के कारण लिप्त नहीं होता है ।।८३।। जो पूर्वकृत कर्म का त्याग करके सदा आत्मा में निरत रहता है और सबके आत्मा को अपना आत्मा समझता है वह गुण-दोषों से रहित हो जाता है। कदाचित् गुणों में स्वयम् आत्मा उत्पत्ति करता है। गुण आत्मा को नहीं जानते हैं, पर आत्मा गुणो को सदा जानता है ।।८४-८५।। द्रष्टा आत्मा गुणों का धारण करता है। मनुष्य प्रकृति और आत्मा में यही अन्तर समझे कि एक (प्रकृति) गुणों का सर्जन करती है और दूसरा (आत्मा) नहीं करता है। ये दोनों स्वाभव से पृथक् होते हुए भी सदा साथ रहते हैं। जैसे पत्थर से सुवर्ण का संयोग, कीड़ों से उदुम्वर (गूलर) का संयोग और इषिका (सींक) से मूंज का संयोग होता उसी तरह ये दोनों प्रकृति-पुरुष परस्पर प्रतिष्ठित (अर्थात् एक दूसरे से संयुक्त रहते) हैं ।।८६-८९।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में
दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२३७।।

---

[1]ख. ०षां सुम० । [2]ग. ०तः । मूर्तिमा० । [3]ग. प्रसरति । [4]क. गुणानपि । [5]क. ख. कथंचन । [6]क. ख. तद्वच्च ।

अथाष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

गुर्णसर्जनकथनम्

व्यास उवाच

सृजते तु गुणान्सत्त्वं क्षत्रज्ञस्त्वधितिष्ठत्ति । गुणान्विक्रयतः[१] सर्वानुदासीनवदीश्वरः ॥१॥
स्वभावयुक्तं तत्सर्वं [२]यदिमान्सृजते गुणान् । ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं सृजते तद्गुणांस्तथा ॥२॥
[३]प्रवृत्ता न निवर्तन्ते प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते । [४]एवमेके व्यवस्यन्ति निवृत्तिमिति चापरे ॥३॥
उभयं संप्रधार्यैतदध्यवस्येद्यथामति । अनेनैव विधानेन भवेद्वै संशयो महान् ॥४॥
अनादिनिधनो ह्यात्मा तं बुद्ध्वा [५]विहरेन्नरः । अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च नित्यं विगतमत्सरः ॥५॥
इत्येवं हृदये सर्वो [६]बुद्धिचिन्तामयं[७] दृढम् । अनित्यं सुखमासीनमशोच्यं[८] छिन्नसंशयः ॥६॥
तरयेत्प्रच्युतां पृथ्वीं यथा पूर्णां नदीं नराः । अवगाह्य च विदांसो विप्रा लोलमिमं तथा[९] ॥७॥
न तु तप्यति वै विद्वान्स्थले चरति तत्त्ववित् । एवं विचिन्त्य चाऽऽत्मानं केवलं ज्ञानमात्मनः ॥८॥
तां (तं) तु बुद्ध्वा नरः सर्गं भूतानामागतिं गतिम् । समचेष्टश्च वै सम्यग्लभते शममुत्तमम् ॥९॥
एतद्द्विजन्मसामग्र्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः । आत्मज्ञानसमस्नेहपर्याप्तं तत्परायणम्[१०] ॥१०॥

अध्याय २४८

गुणों की सृष्टि का प्रतिपादन

व्यास बोले—प्रकृति गुणों का सर्जन करती है और आत्मा उनका उपभोग करता है । ईश्वर या परमात्मा विकृत होते हुए सभी गुणों को उदासीन की तरह देखता रहा है । प्रकृति जो गुणों की सृष्टि करती है, वह स्वभावयुक्त है । जैसे मकड़ा सूत्र का सर्जन करता है वैसे प्रकृति गुणों का सर्जन करती है ॥ १-२॥ किन्हीं का मत है कि तत्त्वज्ञान से जब गुणों का नाश कर दिया जाता है, तव वे फिर उत्पन्न नहीं होते, उनका सर्वथा वाध हो जाता है । इस प्रकार वे भ्रम या अविद्या के निवारण को ही मुक्ति मानते हैं । दूसरों के मत में त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्ष है ॥३॥ दोनों (मतों) को समझकर अपनी वुद्धि के अनुसार निश्चय करना चाहिये । अन्यथा इसी विधान से महान् संशय उत्पन्न हो जाएगा ॥४॥ आत्मा को अनादि और अजर-अमर जानकर मनुष्य क्रोध, हर्ष तथा ईर्ष्या से शून्य होकर विहार करे। इस प्रकार हृदय में वुद्धिपूर्वक दृढ़ता रखकर अनित्य सुख, शोक तथा संशय का त्याग करे ॥५-६॥ जैसे मनुष्य तैर कर नदी को पार करता है उसी तरह ज्ञानी मनुष्य संसार का संतरण करे । तत्त्वेत्ता जन संसार में विचरण करते हुए भी संतप्त नहीं होते हैं। ऐसा सोचकर मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये । ज्ञान जन सृष्टि के रहस्य तथा भूतों की गति और अगति सव कुछ समझ कर उत्तम शान्ति को प्राप्त करते हैं ॥७-९॥ आत्म ज्ञान प्राप्त करना द्विजातियों का कार्य है, विशेष करके व्राह्मण का । तत्त्व को जानकर मनुष्य वुद्ध हो

१ख. ०यते स० । २क. यदात्मा सृज० । ३ग. प्रध्वस्ता । ४ एकमेव व्य० । ५. ग. विरहेन्न० । ६क. वुद्धि । चि० ६क. ०मयां दृढाम् । ८क. ख. ०मसाध्यं छि० । ९क. ०था । नानुलिप्येत वै । १०क. ख. ०म् । एतद्वुद्ध्वा ।

त्वं बुद्ध्वा भवेद्बुद्धः किमन्यद्बुद्धलक्षणम्[1] । विज्ञायैतद्विमुच्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥११॥
न भवति विदुषां महद्भयं, यदविदुषां सुमहद्भयं परत्र ।
न हि गतिरधिकाऽस्ति कस्यचिद्भवति हि या विदुषः सनातनी ॥१२॥
लोके[2] मातरमसूयते नरस्तत्र[3] देवमनिरीक्ष्य शोचते ।
तत्र चेत्कुशलो न शोचते, ये विदुस्तदुभयं कृताकृतम् ॥१३॥
यत्करोत्यनभिसंधिपूर्वकं, तच्च निन्दयति यत्पुरा कृतम् ।
यत्प्रियं तदुभयं न वाऽप्रियं, तस्य तज्जनयतीह कुर्वतः ॥१४॥

मुनय ऊचुः

यस्माद्धर्मात्परो धर्मो विद्यते नेह कश्चन । यो विशिष्टश्च भूतेभ्यस्तद्भवान्प्रब्रवीतु नः ॥१५॥

व्यास उवाच

धर्मं च संप्रवक्ष्यामि पुराणमृषिभिः स्तुतम् । विशिष्टं सर्वधर्मेभ्यः शृणुध्वं मुनिसत्तमाः ॥१६॥
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि बुद्ध्या संयम्य तत्त्वतः । सर्वतः प्रसृतानीह पिता बालानिवाऽऽत्मजान् ॥१७॥
मनुसचेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः । विज्ञेयः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥१८॥
तानि सर्वाणि संधाय मनःषष्ठानि मेधया । आत्मतृप्तः स एवाऽऽसीद्बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ॥१९॥

जाता है और इसके अतिरिक्त अन्य बुद्ध का क्या लक्षण है—यही जानकर मनीषी लोग कृतकृत्य हो जाते हैं ॥१०-११॥ परलोक में विद्वान् को जो महाभय होता है, वह विद्वान् को नहीं होता है। विद्वान् को जो सनातनी गति प्राप्त होती है, उससे अधिक किसी को नहीं मिलती है। संसार में मनुष्य माता पिता की भी निन्दा कर वैठता है, किन्तु वहाँ देवता को न देखकर ऐसा सोचता है या करता है। जो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य दोनों को जानता है, जो निष्कपट होकर कर्म करता है, जो पहले के किये कर्म की निन्दा करता है, जो प्रिय अप्रिय दोनों को उत्पन्न करता है, वह कुशल व्यक्ति शोक में नहीं पड़ता है ॥१२-१४॥

मुनियों ने कहा—जिस धर्म से वढ़कर कोई नहीं है और जो भूतों से विशिष्ट है, उसे आप बतलायें ॥१५॥

व्यास बोले—मुनिवर ! प्राचीन, ऋषियों द्वारा स्तुत तथा समस्त धर्मों से विशिष्ट धर्म को मैं वतलाऊँगा, आप लोग सुनिये ॥१६॥ जैसे पिता शिशुपुत्रों का नियमन करता है उसी तरह मनुष्य वुद्धि से वलवान् इन्द्रियों का संयम करे ॥१७॥ मन और इन्द्रियों का संयम करके अनेक प्रकार की चिन्ता न करते हुए सदा आत्मतृप्त रहना चाहिये ॥१९॥ जब इन्द्रियाँ विषयों से विनिवृत्त होकर आत्मा में स्थित हो जाती हैं तव नित्य आत्मा का

१ग. ०द्बुद्धिल० । २क. लोकमा० । ३ग. ०स्तत्तमेव च नि० ।

गोचरेभ्यो निवृत्तानि यदा स्थास्यन्ति वेश्मनि । तदा चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं परं द्रक्ष्यथ शाश्वतम् ॥२०॥
सर्वात्मानं महात्मानं विधूममिव पावकम् । प्रपश्यन्ति महात्मानं ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥२१॥
यथा पुष्पफलोपेतो बहुशाखो महाद्रुमः । आत्मनो नाभिजानीते क्व मे पुष्पं क्व मे फलम् ॥२२॥
एवात्मा न जानीते क्व गमिष्ये कुतोऽन्वहम् । अन्यो ह्यस्यान्तरात्माऽस्ति यः सर्वमनुपश्यति ॥२३॥
ज्ञानदीपेन दीप्तेन पश्यत्यात्मानमात्मना । दृष्ट्वाऽऽत्मानं तथा यूयं विरागा भवत द्विजाः ॥२४॥
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यो मुक्तत्वच इवोरगाः । परां बुद्धिमवाप्येहाप्यचिन्ता विगतज्वराः ॥२५॥
सर्वतःस्रोतसं घोरां नदीं लोकप्रवाहिणीम् । पञ्चेन्द्रियग्राहवतीं मनःसंकल्परोधसम् ॥२६॥
लोभमोहतृणच्छन्नां कामक्रोधसरीसृपाम् । सत्यतीर्थानृतक्षोभां क्रोधपङ्कां सरिद्वराम् ॥२७॥
अव्यक्तप्रभवां शीघ्रां कामक्रोधसमाकुलाम् । प्रतरध्वं नदीं बुद्ध्या[1] दुस्तरामकृतात्मभिः ॥२८॥
संसारसागरगमां योनिपातालदुस्तराम् । आत्मजन्मोद्भवां तां तु जिह्वावर्तदुरासदाम् ॥२९॥
यां तरन्ति कृतप्रज्ञा धृतिमन्तो मनीषिणः । तां तीर्णः सर्वतो मुक्तो विधूतात्माऽऽत्मवाञ्शुचिः ॥३०॥
उत्तमां बुद्धिमास्थाय ब्रह्मभूयाय कल्पते । उत्तीर्णः सर्वसंक्लेशान्प्रसन्नात्मा विकल्मषः ॥३१॥
भूयिष्ठानीव [2]भूतानि सर्वस्थानान्निरीक्ष्य च । अक्रुध्यन्नप्रसीदंश्च ननृशंसमतिस्तथा ॥३२॥

दर्शन होता है। विद्वान् ब्राह्मण अपने आत्मा को तथा सब आत्मा को धूमरहित अग्नि की तरह देखते हैं ॥२०-२१॥ जैसे पुष्प-फलों से युक्त बहुत शाखा वाला महावृक्ष अपने को नहीं जानता है कि कहाँ मेरा पुष्प है और कहाँ मेरा फल उस प्रकार जीव नहीं जानता है कि कहाँ से मैं आया हूँ और कहाँ जाऊँगा। इसके अतिरिक्त अन्तरात्मा है, जो सब कुछ देखता है ॥२२-२३॥ द्विजगण ! ज्ञान रूपी दीप से दीप्त आत्मा द्वारा आत्मा को देखकर आप लोग वैराग्य धारण कीजिए ॥२४॥ जैसे सर्प केंचुली से निर्मुक्त होता है उसी तरह आप लोग समस्त पापों से विमुक्त होकर परा बुद्धि को प्राप्त कर चिन्ता तथा ज्वर से रहित हो जाइये ॥२५॥ आप लोग बुद्धि द्वारा सब ओर स्रोत वाली, भयंकर, लोगों को बहाने वाली, पाँचों इन्द्रिय रूपी ग्राह वाली मनःसंकल्प रूपी तट वाली, लोभ-मोहरूपी तृणों से आच्छादित, काम-क्रोध रूपी रेंगने वाले जीवों से युक्त, सत्यरूपी तीर्थ वाली, मिथ्या रूपी तरंगवाली, क्रोधरूपी कीचड़ वाली, अव्यक्त से उत्पन्न होने वाली, शीघ्रगामिनी, अवश्यात्माओं से न पार होने योग्य, संसाररूपी सागर से संगम करने वाली, योनिरूपी पाताल तक गंभीर, अपने जन्म से उत्पन्न होने वाली तथा जिह्वा रूपी भँवरों से कठिन नदी को पार कीजिये। उस नदी को धीर मनीषी जन पार करते हैं ॥२६-२९$\frac{१}{३}$॥ उसको पार कर मुक्त, निष्पाप तथा तत्त्ववेत्ता मनुष्य परा बुद्धि को प्राप्त कर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। निष्पाप, प्रसन्नात्मा और क्रोध, हर्ष तथा क्रूरता से रहित मनुष्य समस्त भूतों में व्यापक आत्मा का दर्शन करके समस्त क्लेशों से उत्तीर्ण हो जाता है। ऐसा करने से आप लोग भूतों की उत्पत्ति तथा प्रलय को भी देखेंगे।

१क. बुद्ध्वा । २क. ख. ०नि पर्वतस्थो नि० ।

ततो द्रक्ष्यथ सर्वेषां भूतानां प्रभवाप्ययात् । एतद्धि सर्वधर्मेभ्यो विशिष्टं मेनिरे बुधाः ॥३३॥
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठा मुनयः [1]सत्यदर्शिनः । आत्मानो व्यापिनो विप्रा [2]इति पुत्रानुशासनम् ॥३४॥
प्रयताय प्रवक्तव्यं हितायानुगताय च । आत्मज्ञानमिदं गुह्यं सर्वगुह्यतमं महत् ॥३५॥
अब्रवं यदहं विप्रा [3]आत्मसाक्षिकमञ्जसा । नैव स्त्री न पुमानेवं न चैवेदं नपुंसकम् ॥३६॥
अदुःखमसुखं ब्रह्म भूतभव्यभवात्मकम् । नैतज्ज्ञात्वा पुमान्स्त्री वा पुनर्भवमवाप्नुयात् ॥३७॥
यथा [4]मतानि सर्वाणि तथैतानि यथा तथा । कथितानि मया विप्रा भवन्ति न भवन्ति च ॥३८॥

तत्प्रीतियुक्तेन गुणान्वितेन, पुत्रेण सत्पुत्रदयान्वितेन ।
दृष्ट्वा हितं प्रीतमना यदर्थं, ब्रूयात्सुतस्येह यदुक्तमेतत् ॥३९॥

मुनय ऊचुः

मोक्षः पितामहेनोक्त उपायान्नानुपायतः । तमुपायं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामहे मुने ॥४०॥

व्यास उवाच

अस्मासु तन्महाप्राज्ञ [5]युक्तं निपुणदर्शनम् । यदुपायेन [6]सर्वार्थान्मृगयध्वं सदाऽनघाः ॥४१॥
घटोपकरणे [7]बुद्धिर्घटोत्पत्तौ न सा मता । एवं धर्माद्युपायार्थे [8]नान्यधर्मेषु कारणम् ॥४२॥
पूर्वे समुद्रे यः पन्था न स गच्छति पश्चिमम् । एकः पन्था हि मोक्षस्य तच्छृणुध्वं ममानघाः ॥४३॥

विद्वानों ने इसी को अखिल धर्मों से विशिष्ट मना है ॥३०-३३॥ विप्रवृन्द ! धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, सत्यदर्शी तथा महात्मा मुनियों ने इस धर्म को पुत्रानुशासन (पुत्र को उपदेश करने योग्य) वतलाया है ॥३४॥ अत्यन्त गोपनीय यह आत्मज्ञान संयमी, हित तथा अनुगमन करने वाले को देना चाहिये ॥३५॥ द्विजगण ! जिस आत्मा के वारे में मैंने कहा है, वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नंपुसक है ॥३६॥ वह दुःख-सुख-से परे तथा भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों रूप है । इसको जान लेने से पुरुष या स्त्री का पुनर्जन्म नहीं होता है । विप्रगण ! इस प्रकार के जो मत हैं, वे सव मैंने बता दिये । वे होते भी हैं और नहीं भी होते हैं ॥३८॥ इसलिए प्रीतियुक्त, गुणों से युक्त तथा सत्पुत्रोचित दया से युक्त पुत्र को जानकर प्रसन्न मन से पूर्वोक्त आत्मज्ञान देना चाहिये ।

मुनियों ने कहा—मुने ! ब्रह्मा ने कहा है कि मोक्ष उपाय से मिलता है विना उपाय के नहीं । उस उपाय को हम लोग अच्छी तरह सुनना चाहते हैं ॥३९-४०॥

व्यास बोले—महापंडितो ! समीचीन दर्शन को ही हम लोग इसका उपाय कह सकते हैं, जिससे समस्त पदार्थों का अन्वेषण किया जा सकता है ॥४१॥ घट की सामग्रियों में जो कारण होता है, वही घटोत्पत्ति में नहीं होता । इसी तरह धर्म के उपाय का जो कारण होता है, वह धर्म का नहीं होता है ॥४२॥ पूर्व समुद्र को जो मार्ग जाता है, वह पश्चिम समुद्र को नहीं जाता है । निष्पापो ! मोक्ष का एक ही मार्ग है, वह

---

[1]क. ङ. सत्यवादिनः । [2]ग. इदं विप्रानु० । [3]क. ०त्मशान्तिकरं परम् । नै० । [4]ग. गतानि । [5]. मुक्तं । [6]ग. ०र्थान्प्राप्नुवध्वं । [7]क. ०र्घटत्युक्ते न । [8]घ. नानाध० ।

क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात्कामं संकल्पवर्जनात् । सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति ॥४४॥
अप्रमादाद्भयं रक्षेद्रक्षेत्क्षेत्रं च संविदम् । इच्छां द्वेषं च कामं च धैर्येण विनिवर्तयेत् ॥४५॥
निद्रां च प्रतिभां चैव ज्ञानाभ्यासेन तत्त्ववित् । उपद्रवास्तथा योगी हितजीर्णमिताशनात् ॥४६॥
लोभं मोहं च संतोषाद्विषयांस्तत्त्वदर्शनात् । अनुक्रोशादधर्मं च जयेद्धर्ममुपेक्षया[1] ॥४७॥
आयत्या[2] च जयेदाशां[3] सामर्थ्यं सङ्गवर्जनात् । अनित्यत्वेन च स्नेहं क्षुधां योगेन पण्डितः ॥४८॥
कारुण्येनाऽऽत्मनाऽऽत्मानं तृष्णां च परितोषतः । उत्थानेन[4] जयेत्तन्द्रां[5] वितर्कं निश्चयाज्जयेत् ॥४९॥
मौनेन बहुभाषां च शौर्येण च भयं जयेत् । यच्छेद्वाङ्मनसी बुद्ध्या तां यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा ॥५०॥
ज्ञानमात्मा महान्यच्छेत्तं यच्छेच्छान्तिरात्मनः । तदेतदुपशान्तेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा ॥५१॥
योगदोषान्समुच्छिद्य पञ्च यान्कवयो विदुः । कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् ॥५२॥
परित्यज्य निषेवेत यथावद्योगसाधनात्[6]। ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा ॥५३॥
शौचमाचारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः । एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानमुपहन्ति च ॥५४॥
सिद्ध्यन्ति चास्य संकल्पा विज्ञानं च प्रवर्तते । धूततापः स तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥५५॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निर्विशेद्ब्रह्मणः पदम् । अमूढत्वमसङ्गित्वं कामक्रोधविवर्जनम् ॥५६॥

मुझसे सुनिये ॥४३॥ धीर पुरुष क्षमा से क्रोध को नष्ट करे, संकल्प त्याग से काम को नष्ट करे और सत्त्व गुण के संसेवन से निद्रा का उच्छेद करे ॥४४॥ सावधानता से भय को जीते और शरीर तथा बुद्धि की रक्षा करे। धैर्य से इच्छा, द्वेष तथा काम को निवृत्त करे ॥४५॥ तत्त्ववेत्ता व्यक्ति ज्ञान के अभ्यास से निद्रा को जीते और प्रतिभा को बढ़ाये। योगी हितकारक सुपच एवम् अल्प भोजन से उपद्रवों को दूर करे ॥४६॥ संतोष से लोभ-मोह का तथा तत्त्वदर्शन से विषयों का त्याग करे। अधर्म को निन्दा से तथा धर्म को उपेक्षा से जीते ॥४७॥ उत्तरकाल से आशा को तथा संगत्याग से सामर्थ्य को जीते। अनित्यत्व से स्नेह को तथा योग से भूख को जीते ॥४८॥ कारुण्य से आत्मा को तथा संतोष से तृष्णा को जीते। उत्थान से तन्द्रा को तथा निश्चय से वितर्क को जीते ॥४९॥ मौन से बहुत बोलने को तथा वीरता से भय को जीते। बुद्धि से वाणी तथा मन को समझे। ज्ञानचक्षु से बुद्धि को समझे, ज्ञान को महान् आत्मा समझे, उसको आत्मा की शान्ति समझे और उसको शान्त एवं पवित्र कर्म के द्वारा समझना चाहिये ॥५०-५१॥ विद्वानों ने काम, क्रोध, लोभ, भय, स्वप्न रूप जिन पाँच योग-दोषों को बतलाया है, उनका उच्छेद करें ॥५२॥ योगसाधन द्वारा दोषों का परित्याग करके आत्मस्थित होना चाहिये। ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, ऋजुता, क्षमा, शौच, आचार तथा इन्द्रियों का संयम—इनसे तेज बढ़ता है और पाप नष्ट होता है ॥५३-५४॥ योगी के समस्त संकल्प सिद्ध होते हैं और विज्ञान बढ़ता है। निष्पाप, तेजस्वी, लघ्वाहारी तथा जितेन्द्रिय होकर काम-क्रोध को वश में करके ब्रह्म-पद को प्राप्त करना

१क. ०क्षणात्। आ०। २क. आपत्त्या। ३ख. द. ०दाशामर्थं सङ्गविव०। ४ग. उत्ताने०। ५क. ०न्द्रां द्वापरं धर्मनिर्णयात्। मौ०। ६ख. साधनम्। ध्या०।

अदैन्यमनुदीर्णत्वमनुद्वेगो ह्यवस्थितिः । एक मार्गो हि मोक्षस्य प्रसन्नो विमलः शुचिः ।।
तथा वाक्कायमनसां नियमाः कामतोऽव्ययाः ।।५७।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे सांख्ययोगनिरूपणं नाम
अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।।२३८।।

अथैकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

योगविधिनिरुपणम्

मुनय ऊचुः

सांख्यं योगस्य नो विप्र विशेषं वक्तुमर्हसि । तव धर्मज्ञ सर्वं हि विदितं मुनिसत्तम ।।१।।

व्यास उवाच

सांख्याः सांख्यं प्रशंसन्ति [1]योगान्योगविदुत्तमाः । वदन्ति कारणैः श्रेष्ठैः स्वपक्षोद्भवनाय वै ।।२।।
अनीश्वरः कथं मुच्येदित्येवं मुनिसत्तमाः । वदन्ति कारणैः श्रेष्ठं योगं सम्यङ्मनीषिणः ।।३।।
वदन्ति कारणं वेदं सांख्यं सम्यग्द्विजातयः । विज्ञायेह गतीः सर्वा [2]विरक्तो विषयेषु यः ।।४।।

चाहिये । अमूर्खता, असंगित्व, काम-क्रोध-त्याग, अदैन्य, अनुद्वेग, वाणी, शरीर तथा मन का संयम—ये मोक्ष के निर्मल मार्ग बतलाये गये हैं ।।५५-५७।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में सांख्य-योग-निरूपण नामक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२३८।।

अध्याय २३९

योगविधि का निरूपण

मुनियों ने कहा—विप्र ! सांख्य और योग की विशेषता हमें बतलाइये । धर्मज्ञ ! मुनिश्रेष्ठ ! आप सब कुछ जानते हैं ।।१।।

व्यास बोले—सांख्यवेत्ता सांख्य की प्रशंसा करते हैं और योगवेत्ता योग की । दोनों अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिये उत्तम प्रमाण भी बतलाते हैं । मुनिश्रेष्ठो ! ईश्वर को न मानने वाला व्यक्ति कैसे मुक्ति होगा यह कह कर मनीषी लोग योग को श्रेष्ठ बतलाते हैं । परन्तु सांख्यवेत्ता द्विजाति वेद को कारण बतलाकर सांख्य

---

[1] ग. ०गा योगं द्विजातयः । वि० । [2] ख. चरित्वा ।

ऊर्ध्वं स देहात्सुव्यक्तं विमुच्येदिति नान्यथा । एतदाहुर्महाप्राज्ञाः साख्यं वै मोक्षदर्शनम् ॥५॥
स्वपक्षे कारणं ग्राह्यं समर्थं वचनं हितम् । शिष्टानां हि मतं ग्राह्यं भवद्भिः शिष्टसंमतैः ॥६॥
[1]प्रत्यक्षं हेतवो योगाः सांख्याः [2]शास्त्रविनिश्चयाः । उभे चैते मते तत्त्वे समवेत्ते द्विजोत्तमाः ॥७॥
उभे चैते मते ज्ञाते मुनीन्द्राः[3] शिष्टसंमते । अनुष्ठिते यथाशास्त्रं नयेतां परमां गतिम् ॥८॥
तुल्यं शौचं तयोर्युक्तं दया[4] भूतेषु चानघाः[5] । व्रतानां धारणं तुल्यं दर्शनं त्वसमं तयोः ॥९॥

मुनय ऊचुः

यदि तुल्यं व्रतं शौचं दया चात्र महामुने । तुल्यं तद्दर्शनं कस्मात्तन्नो ब्रूहि द्विजोत्तम ॥१०॥

व्यास उवाच

रागं मोहं तथा स्नेहं कामं क्रोधं च केवलम् । योगास्थिरोदितान्दोषान्पञ्चैतान्प्राप्नुवन्ति तान् ॥११॥
यज्ञा वाऽनिमिषाः स्थूलं जालं छित्त्वा पुनर्जलम् । प्राप्नुवन्ति तथा योगात्तत्पदं वीतकल्मषाः ॥१२॥
तथैव वागुरां छित्त्वा बलवन्तो यथा मृगाः । प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्वबन्धनैः ॥१३॥
लोभजानि तता विप्रा बन्धनानि बलान्विताः । छित्त्वा [6]योगात्परं मार्गं गच्छन्ति विमलं शुभम् ॥१४॥
[7]अचलास्त्वाविला विप्रा वागुरासु तथाऽपरे । विनश्यन्ति न संदेहस्तद्वद्योगबलादृते ॥१५॥

को ही श्रेष्ठ कहते हैं। समस्त क्रियाओं को जानकर जो मनुष्य विषयों से विरक्त होता है, वही मुक्त होता है। महापंडितों ने इस सांख्य को मोक्षदर्शन वतलाया है। अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये वेदवचन तथा शिष्टों का मत ग्रहण करना चाहिये। योग का प्रत्यक्ष प्रमाण है और सांख्य का शास्त्र प्रमाण है। मुनिश्रेष्ठो ! दोनों के शिष्टसंमत मत ज्ञात होने पर और शास्त्रानुसार उनके अनुष्ठान करने पर परम गति की संप्राप्ति होती है। दोनों में शौच, दया, तथा व्रतों का धारण तुल्य है, परन्तु दर्शन एक जैसा नहीं है ॥२-९॥

मुनियों ने कहा—महामुने ! यदि दोनों में व्रत, शौच और दया तुल्य है तो दर्शन क्यों नहीं तुल्य है ? द्विजश्रेष्ठ ! यह हमें बतलाइये ॥१०॥

व्यास बोले—मनुष्य योग में बाधा डालने वाले राग, मोह, स्नेह, काम तथा क्रोध रूपी पाँच दोषों को प्राप्त करता है ॥११॥ जैसे मत्स्य स्थूल जाल को छेदकर पुनः जल में चला जाता है वैसे मनुष्य योग से निष्पाप होकर शाश्वत पद को प्राप्त कर लेते हैं ॥१२॥ जैसे वलवान् मृग जाल को तोड़कर निकल जाते हैं वैसे योगी समस्त वन्धनों से युक्त होकर विमल मार्ग को प्राप्त कर लेते हैं ॥१३॥ विप्रवृन्द ! वलान्वित योगी लोभजन्य वन्धनों को तोड़कर निर्मल तथा शुभ मार्ग को प्राप्त करते हैं ॥१४॥ योगवल के विना मनुष्य जाल में अचल तथा व्याकुल होकर विनष्ट हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥१५॥ वलहीन व्राह्मण जाल में फँसते हैं। परन्तु निष्पाप

---

[1]ग. ०त्यक्षहेतुका यो०। [2]क. श्चये। उ०। [3]ख. मुनिभिः। [4]ग. यदा। [5]क. ख. मानवाः। [6]ख. योगपरं। [7]क. ख. अबला०।

बलहीनाश्च विप्रेन्द्रा यथा जालं गता द्विजाः । बन्धं न गच्छन्त्यनघा योगास्ते तु सुदुर्लभाः ॥१६॥
यथा च शकुनाः सूक्ष्मं प्राप्य जालमरिन्दमाः । तत्राशक्ता विपद्यन्ते मुच्यन्ते तु बलान्विताः ॥१७॥
कर्मजैर्बन्धनैर्बद्धास्तद्वद्योगपरा द्विजाः । अबला न विमुच्यन्ते च बलान्विताः ॥१८॥
अल्पकश्च यथा विप्रा वह्निः शाम्यति [१]दुर्बलः । आक्रान्त इन्धनैः स्थूलैस्तद्वद्योगबलः स्मृतः ॥१९॥
स एव च तदा विप्रा वह्निर्जातबलः पुनः । समीरणगतः कृत्स्नां दहेत्क्षिप्रं महीमिमाम् ॥२०॥
[२]तत्त्वज्ञानबलो योगी दीप्ततेजा महाबलः । अन्तकाल इवाऽऽदित्यः कृत्स्नं संशोषयेज्जगत् ॥२१॥
दुर्बलश्च यथा विप्राः स्रोतसा ह्रियते[३] नरः । बलहीनस्तथा योगी [४]विषयैर्ह्रियते च सः ॥२२॥
तदेव तु यथा स्रोतो विष्कम्भयति वारणः । तद्वद्योगबलं लब्ध्वा न भवेद्विषयैर्हृतः ॥२३॥
विशन्ति वा [५]वशाद्वाऽथ योगाद्योगबलान्विताः । प्रजापतीन्मनून्सर्वान्महाभूतानि चेश्वराः ॥२४॥
न यमो नान्तकः [६]क्रुद्धो न मृत्युर्भीमविक्रमः[७] । विशन्ते तद्द्विजाः सर्वे योगस्यामिततेजसः ॥२५॥
[८]आत्मनां च सहस्राणि बहूनि द्विजसत्तमाः । योगं कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥२६॥
प्राप्नुयाद्विषयान्कश्चित्पुनश्चोग्रं तपश्चरेत् । संक्षिप्येच्च पुनर्विप्राः सूर्यस्तेजोगुणानिव ॥२७॥
बलस्थस्य हि योगस्य बलार्थं[९] मुनिसत्तमाः । विमोक्षप्रभवं विष्णुमुपपन्नमसंशयम्[१०] ॥२८॥
बलानि योगप्रोक्तानि मयैतानि द्विजोत्तमाः । निदर्शनार्थं सूक्ष्माणि वक्ष्यामि च पुनर्द्विजाः ॥२९॥

योगी बन्धन में नहीं पड़ते ॥१६॥ जैसे पक्षी सूक्ष्म जाल में फँसकर अशक्त होने के कारण विपत्ति में पड़ जाता है वैसे निर्बल मनुष्य भी बद्ध हो जाता है। परन्तु वलवान् व्यक्ति मुक्त हो जाता है ॥१६॥ द्विजगण ! कर्मजन्य बन्धनों से वद्ध होकर बलहीन मनुष्य मुक्त नहीं होता है। परन्तु वलवान् व्यक्ति मुक्त हो जाता है ॥१८॥ विप्रवृन्द ! जैसे अल्प तथा दुर्बल अग्नि स्थूल इन्धनों से आक्रान्त होने पर बुझ जाता है वैसे निर्वल योगी भी नष्ट हो जाता है ॥१९॥ पुनः जैसे वही वलप्राप्त अग्नि वायु की सहायता से शीघ्र ही सम्पूर्ण पृथ्वी को जला देने की क्षमता रखता है वैसे तत्त्वज्ञाता, तेजस्वी तथा महावली योगी प्रलयकालीन सूर्य की तरह निखिल जगत् को सुखा डालने की क्षमता रखते हैं ॥२०-२१॥ जैसे दुर्वल मनुष्य धारा में वह जाता है वैसे बलहीन योगी विषयों में बह जाता है ॥२२॥ जैसे उसी धारा को हाथी सहज में पार कर जाता है उसी तरह योगबल प्राप्त मनुष्य विषयों को आसानी से पार कर जाता है ॥२३॥ योगबल से मनुष्य ऐश्वर्य प्राप्त कर प्रजापति, मनु तथा महाभूतों में प्रवेश करते हैं। द्विजगण ! अमित तेजस्वी योगी का क्रुद्ध यम, काल तथा मृत्यु भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते ॥२४-२५॥ द्विजश्रेष्ठो ! सहस्रों जन्मों के बाद योगाभ्यास करके वल प्राप्त कर मनुष्य सम्पूर्ण पृथ्वी पर विचरण करता है ॥२६॥ कोई योगी विषयों में फँस जाय तो वह पुनः तपस्या करके सूर्य की तरह तेज आधान करे ॥२७॥ मुनिश्रेष्ठो ! योगबल प्राप्त करने के लिये मोक्ष के कारण विष्णु की शरण में जाना चाहिये ॥२८॥ द्विजश्रेष्ठो ! योग-प्रतिपादित ऐश्वर्यों के बारे में मैंने इतना कहा, अव योग के सूक्ष्म रहस्य को

१क. ख. दुर्लभः । २क. तद्वज्ज्ञान० । ३ग. हीयते । ४ग. ०यैर्हीय० । ५क. ०शा नार्यो यो० । ६क. क्रूरो । ७ख. ०मः । ईशतस्तु द्विजाः । ८ख. ०त्मना च । ९ग. बन्धने यस्य स० । १०क. ख. ०शयः । ब० ।

आत्मनश्च समाधाने धारणां प्रति वा द्विजाः । निदर्शनानि सूक्ष्माणि भृणुध्वं मुनिसत्तमाः ॥३०॥
अप्रमत्तो यथा धन्वी लक्ष्यं हन्ति समाहितः । युक्तः सम्यक्तथा योगी मोक्षं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥३१॥
स्नेहपात्रे यथा पूर्णे मन आधाय निश्चलम् । पुरुषो युक्त[१] आरोहेत्सोपानं युक्तमानसः ॥३२॥
मुक्तस्तथाऽयमात्मानं योगं तद्वत्सुनिश्चलम् । करोत्यमलमात्मानं भास्करोपमदर्शने ॥३३॥
यथा च नावं विप्रेन्द्राः कर्णधारः समाहितः । महार्णवगतां शीघ्रं नयेद्विप्रांस्तु पत्तनम् ॥३४॥
तद्वदात्मसमाधानां युक्तो योगेन[२] योगवित् । दुर्गमं स्थानमाप्नोति हित्वा देहमिमं द्विजाः ॥३५॥
सारथिश्च यथा युक्तः सदश्वान्सुसमाहितः । देशमिष्टं नयत्याशु धन्विनं पुरुर्षभम् ॥३६॥
तथैव च द्विजा योगी [३]धारणासु समाहितः । प्रोप्नोत्याशु परं स्थानं लक्ष्यमुक्त इवाऽऽशुगः[४] ॥३७॥
आविश्याऽऽत्मनि चाऽऽत्मानं योऽवतिष्ठति सोऽचलः । पाशं बहत्वे मीनानां पदमाप्नोति सोऽजरम् ॥३८॥
नाभ्यां[५] शीर्षे च कुक्षौ च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः । दर्शने श्रवणे वाऽपि घ्राणे[६] चामितविक्रमः ॥३९॥
स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः । आत्मना सूक्ष्ममात्मानं युङ्क्ते सम्यग्द्विजोत्तमाः ॥४०॥
सुशीघ्रमचलप्रख्यं कर्म दग्ध्वा शुभाशुभम् । उत्तमं योगमास्थाय यदीच्छति विमुच्यते ॥४१॥

मुनय ऊचुः

आहारान्कीदृशान्कृत्वा कानि जित्वा च सत्तम । [७]योगी बलमवाप्नोति तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥४२॥

सुनिये ॥२९॥ आत्मा की समाधि तथा धारण के प्रति सूक्ष्म विचारों को सुनिये ॥३०॥ जैसे सावधान धनुर्धारी अपने लक्ष्य को वेध कर देता है उसी तरह सम्यक् योगाभ्यास करने वाला योगी निःसन्देह मोक्ष को प्राप्त करता है ॥३१॥ जैसे तेलपात्र को लेकर सीढ़ी पर चढ़ते समय मन को निश्चल रखना पड़ता है उसी तरह मनुष्य मन को सावधान करके योगाभ्यास करे ॥३२॥ इस प्रकार योगाभ्यास से मन को निश्चल करके मुक्त होकर मनुष्य सूर्य की तरह अमल आत्मा का दर्शन करता है ॥३३॥ जैसे सावधान नाविक महासमुद्र में पड़ी नाव को शीघ्र नियतस्थान पर ले जाता है । उसी तरह योगी पुरुष आत्म-समाधान करके देहत्याग के वाद दुर्गम स्थान को प्राप्त करते हैं ॥३४-३५॥ जैसे पूर्ण सावधान सारथि अच्छे घोड़ों को शीघ्र अभिमत स्थान पर ले जाते हैं और उत्तम तीर चलाने वाले के हाथ से मुक्त तीर लक्ष्य पर पहुँच जाता है उसी प्रकार धारणाओं में समाहित योगी परम पद को प्राप्त करते हैं ॥३६-३७॥ जो आत्मा में आत्मा को प्रविष्ट करके निश्चल हो जाता है, वह जाल फाड़कर मछली की तरह अपने स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥३८॥ नाभि, मस्तक, कुक्षि, हृदय, पार्श्व, नेत्र, कान, तथा नाक—इन स्थानों में महाव्रतधारी, अमिततेजस्वी योगी अच्छी तरह आत्ममनः संयोग करके अत्यन्त चञ्चल शुभाशुभ कर्म को दग्ध कर उत्तम योग में स्थित हो इच्छानुसार विमुक्त हो जाता है ॥३९-४१॥

मुनियों ने कहा—योगी को बलप्राप्ति के लिये किस तरह का भोजन करना चाहिये और किस तरह का नहीं करना चाहिये , यह हमें बतलाइये ॥४२॥

---

[१] ग. मुक्त । [२] ख. ग. युक्तेन । [३] क. ०णायां स० । [४] क. ख. ०गः । अवेक्ष्याऽऽत्म० । [५] ग. नाड्यां । [६] ग. प्राणे । [७] क. योगस्य फलमाप्नो० ।

व्यास उवाच

कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भो द्विजाः । स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ॥४३॥
भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालं द्विजोसत्तमाः । एकाहारी विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥४४॥
पक्षान्मासानृतूंश्चित्रान्सं चरंश्च गुहास्तथा । अपः पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमवाप्नुयात् ॥४५॥
अखण्डमपि वा मासं सततं मुनिसत्तमाः । उपोष्य सम्यक्शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥४६॥
कामं जित्वा तथा क्रोधं शीतोष्णं वर्षमेव च । भयं शोकं तथा स्वापं पौरुषान्विषयांस्तथा ॥४७॥
अरतिं दुर्जयां चैव घोरां दृष्ट्वा च भो द्विजाः । [1]स्पर्शं निद्रां तथा[2] तन्द्रां दुर्जन्यां मुनिसत्तमाः ॥४८॥
दीपयन्ति[3] महात्मानं सूक्ष्ममात्मानमात्मना । वीतरागा महाप्राज्ञा ध्यानाध्ययनसंपदा[4] ॥४९॥
दुर्गस्त्वेष मतः पन्था ब्राह्मणानां विपश्चिताम् । यः कश्चिद्व्रजति क्षिप्रं क्षेमेण मुनिपुंगवाः ॥५०॥
यथा कश्चिद्विनं घोरं बहुसर्पसरीसृपम् । श्वभ्रवत्तोयहीनं च दुर्गमं बहुकण्टकम् ॥५१॥
अभक्तमटवीप्रायं दावदग्धमहीरुहम् । पन्थानं तस्कराकीर्णं क्षेमेणाभिपतेत्तथा ॥५२॥
योगमार्गं समासाद्य यः कश्चिद्व्रजते द्विजः । [5]क्षेमेणोपरमेन्मार्गाद्बहुदोषोऽपि[6] संमतः ॥५३॥

व्यास बोले—पिण्याक (हींग या केसर) तथा कणों (चावल आदि के महीन टुकड़ों) के भक्षण और स्निग्ध पदार्थों के वर्जन से योगी को बल-प्राप्ति होती है ॥४३॥ चिरकाल तक रूक्ष यव का भक्षण करने से और एक ही बार भोजन करने से विशुद्धात्मा योगी बल प्राप्त करता है ॥४४॥ पक्षों, मासों, ऋतुओं तथा वर्षों तक गुफाओं में वास करने से और दूध-मिश्रित जल पीने से योगी बल प्राप्त करता है ॥४५॥ मुनिश्रेष्ठो ! महीनों तक अखण्ड उपवास करके शुद्धात्मा योगी बल प्राप्त करता है ॥४६॥ काम, क्रोध सर्दी, गर्मी, भय, शोक, स्वप्न, पुरुष-सम्बन्धी विषय, दुर्जय एवं भयंकर वितृष्णा, स्पर्श, निद्रा, तन्द्रा को जीतकर वीतराग महाज्ञानी पुरुष ध्यान और अध्ययन के बल से सूक्ष्म आत्मा का दर्शन करते हैं ॥४७-४९॥ मुनिपुंगवो ! विद्वान् ब्राह्मणों का यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। जो कोई कुशलता से इस मार्ग को पार कर जाता है, वह धन्य है ॥५०॥ जैसे भयंकर, अनेक सर्प तथा हिंसक जीवों से व्याप्त, जलहीन, दुर्गम, कण्टकाकीर्ण, दावाग्नि से दग्ध वृक्षों से युक्त तथा चोरों से आक्रान्त वन के मार्ग पर चलना कठिन है उसी तरह योगमार्ग पर भी चलना दुस्तर है। जो कोई द्विज योगमार्ग पर आरूढ़ होकर चल पड़ता है, उसे बड़ी कुशलता से उस मार्ग को तय करना चाहिए; क्योंकि वह मार्ग वहुत दोषों से युक्त होने पर भी कल्याणप्रद है ॥५१-५३॥ तीक्ष्ण क्षुर-धार पर ठहरना जैसे दुःसाध्य है वैसे योग की

---

[1] ख. श्वासं । [2] ख. भयं । [3] क. ०न्ति तथाऽऽत्मा० । [4] क. ख. ०संयुताः । दु० । [5] ख. ०र्गाद्वंद्वदो० । [6] क. ०हुपोष्यो हि सं० ।

आस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु द्विजोत्तमाः । धारणा सा तु योगस्य दुर्गेयमकृतात्मभिः ।।५४।।
विषमा धारणा विप्रा यान्ति वै न शुभां गतिम् । नेतृहीना यथा नावः पुरुषाणां तु वै द्विजाः ।।५५।।
यस्तु तिष्ठति [1]योगाधौ [2]धारणासु यथाविधि । [3]मरणं जन्मदुःखित्वं सुखित्वं स विशिष्यते ।।५६।।
[4]नानाशास्त्रेषु नियतं नानामुनिनिषेवितम् । परं योगस्य पन्थानं निश्चितं[5] तं द्विजातिषु ।।५७।।

परं हि[6] तद्ब्रह्ममयं मुनीन्द्रा, ब्रह्माणमीशं वरदं[7] च विष्णुम् ।
भवं च धर्मं च महानुभावं[8], यद्ब्रह्मपुत्रान्सुमहानुभावान् ।।५८।।
तमश्च कष्टं सुमहद्रजश्च, सत्त्वं च शुद्धं प्रकृतिं परां च ।
सिद्धिं च देवीं वरुणस्य पत्नीं, तेजश्च कृत्स्नं सुमहच्च धैर्यम् ।५९।।
ताराधिपं खे विमलं [9]सुतारं, विश्वांश्च देवानुरगान्पितॄंश्च ।
शैलांश्च कृत्स्नानुदधींश्च वाञ्चलान्नदीश्च सर्वाः सनगांश्च नागान् ।।६०।।
साध्यांस्तथा यक्षगणान्दिशश्च, गन्धर्वसिद्धान्पुरुषान्स्त्रियश्च ।
परस्परं प्राप्य महान्महात्मा विशेत योगी नचिराद्विमुक्तः ।।६१।।
कथा च या विप्रवराः प्रसवक्ता, दैवे महावीर्यमतौ शुभेयम् ।
योगान्स सर्वाननुभूय[10] मर्त्या, नारायणं तं द्रुतमाप्नुवन्ति ।।६२।।

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासर्षिसंवादे योगविधिनिरूपणं
नाम एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।।२३९।।

धारणा भी अवश्यात्माओं से कठिन है ।।५४।। विप्रवृन्द ! धारणा में विषमता आने से नाविक-विहीन नौका की तरह पुरुषों की शुभ गति नहीं होती है ।।५५।। जो विधानपूर्वक धारण में स्थित होता है वह जन्म-मरण रूप दुःख से मुक्त होकर सुखी हो जाता है ।।५६।। योग का मार्ग नाना शास्त्रों में निर्णीत अनेक मुनियों द्वारा सुसेवित तथा द्विजातियों के लिए सुनिश्चित है ।।५७।। मुनिवर ! परब्रह्म, ब्रह्म, शिव, वरदायक विष्णु, धर्म, महानुभाव ब्रह्मपुत्र, तम, कष्ट, रज, सत्त्व, शुद्ध, पराप्रकृति, सिद्धि, वरुण-पत्नी, तेज, धैर्य, चन्द्रमा, सूर्य, विश्वेदेव, देव, सर्प, पितर, पर्वत, समुद्र, नदी, नाग, साध्य, यक्षगण, दिशा, गन्धर्व, सिद्ध पुरुष तथा स्त्रियों को परस्पर प्राप्त कर महात्मा योगी शीघ्र मुक्त हो जाते हैं। विप्रश्रेष्ठो ! महाशक्तिशाली दैव के सम्वन्ध में जो कथा प्राप्त है, वह शुभ है। मनुष्य समस्त योगों का अनुभव करके शीघ्र नारायण को प्राप्त करते हैं ।।५८-६२।।

श्रीब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में योगविधिनिरूपण
नामक दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय समाप्त ।।२३९।।

१क. ०गान्वै धा० । २क. ०रणां तु य० । ३क. ०णं दुश्चिकित्स्यं च सु० । ४क. ख. ०पु निष्पन्नं योगेष्वेवमुदाहृतम् । ५ख. ०तं तद्द्विजा० । ६ख. हितं ब्रह्म० । ७क. ०दं वरिष्ठम् । ८ग. महानरं । ९क. सुभावं । १०ग. ०नभिभू० ।

अथ चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सांख्यविधिनिरूपणम्

मुनय ऊचुः

सम्यक्क्रियेयं विप्रेन्द्र वर्णिता शिष्टसंमता । योगमार्गो यथान्यायं शिष्यायेह हितैषिणा ॥१॥
[1]सांख्ये त्विदानीं धर्मस्य विधिं प्रब्रूहि तत्त्वतः । त्रिषु लोकेषु यज्ज्ञानं सर्वं तद्विदितं हि ते ॥२॥

व्यास उवाच

शृणुध्वं मुनयः [2]सर्वमाख्यानं विदितात्मनाम् । विहितं [3]यतिभिर्वृद्धैः कपिलादिभिरीश्वरैः ॥३॥
यस्मिन्सुविभ्रमाः केचिद्दृश्यन्ते मुनिसत्तमाः । गुणाश्च यस्मिन्बहवो दोषहानिश्च केवला ॥४॥
ज्ञानेन परिसंख्याय सदोषान्विषयान्द्विजाः । मानुषान्दुर्जयान्कृत्स्नान्पैशाचान्विषयांस्तथा ॥५॥
विषयानौरगाञ्ज्ञात्वा गन्धर्वविषयांस्तथा । पितृणां विषयाञ्ज्ञात्वा तिर्यक्त्वं चरतां द्विजाः ॥६॥
सुपर्णविषयाञ्ज्ञात्वा मरुतां विषयांस्तथा । महर्षिविषयांश्चैव राजर्षिविषयांस्तथा ॥७॥
आसुरान्विषयाञ्ज्ञात्वा वैश्वदेवांस्तथैव च । देवर्षिविषयाञ्ज्ञात्वा [4]योगानामपि वै परान् ॥८॥
विषयांश्च प्रमाणस्य ब्रह्मणो विषयांस्तथा । आयुषश्च परं कालं लोकैर्विज्ञाय तत्त्वतः ॥९॥

अध्याय २४०

सांख्यविधि का निरूपण

मुनियों ने कहा—विप्रेन्द्र ! आपने शिष्ट-संमत क्रिया का सम्यक् वर्णन किया । जैसे हितचिन्तक गुरु शिष्य को उपदेश देते हैं उसी तरह आपने हमें योगमार्ग का यथोचित उपदेश दिया । अब सांख्यदर्शन के अनुसार तत्त्वतः धर्म की विधि बतलाइये । तीनों लोक में जो ज्ञान है, वह सब आपको विदित है ॥१-२॥

व्यास बोले—मुनिवृन्द ! ज्ञानियों के समस्त आख्यान को आप लोग सुनें, जिसका विधान वृद्ध कपिल आदि यतियों ने किया है, जिसमें कितने ही लोग विभ्रान्त हो जाते हैं और जिसमें गुण बहुत-से हैं तथा दोषों की हानि बताई गई है ॥३-४॥ द्विजगण ! ज्ञान के द्वारा दोषयुक्त विषयों को समझना चाहिए । मनुष्य संबंधी तथा पिशाच संबन्धी सकल दुर्जेय विषयों का ज्ञान करना चाहिये ॥५॥ सर्प के विषय, गन्धर्वों के विषय, पितरों के विषय, तिर्यग्योनि में प्राप्त जीवों के विषय, गरुड़विषय, वायुविषय, महर्षिविषय, राजर्षिविषय, असुरविषय, विश्वेदेवों के विषय, देवर्षियों के विषय, योगों के विषय, प्रमाण के विषय, ब्रह्म के विषय तथा आयु से परे काल को तत्त्वतः समझना चाहिये ॥६-९॥ मुनिश्रेष्ठो ! सुख के उत्तरकाल को समझना चाहिये । विषया-

---

[1]ग. सांख्यं । [2]ख. ०र्वंसांख्यानां वि० । [3]क. ०तिभिः पूर्वैः क० । [4]क. ग. ०पि चेश्वरात् । वि० ।

सुखस्य च परं कालं विज्ञाय मुनिसत्तमाः । प्राप्तकाले च यद्दुःखं पततां विषयैषिणाम् ।।१०।।
तिर्यक्त्वे पततां विप्रास्तथैव नरकेषु यत् । स्वर्गस्य च गुणाञ्ज्ञात्वा दोषान्सर्वांश्च भो द्विजाः ।।११।।
वेदवादे च ये दोषा गुणा ये चापि वैदिकाः । ज्ञानयोगे ये दोषा [१]ज्ञानयोगे च ये गुणाः ।।१२।।
सांख्यज्ञाने च ये दोषांस्तथैव च गुणा द्विजाः । सत्त्वं दशगुणं ज्ञात्वा रजो नवगुणं तथा ।।१३।।
तमश्चाष्टगुणं ज्ञात्वा बुद्धिं सप्तगुणां तथा । षड्गुणं च नभो ज्ञात्वा तमश्च त्रिगुणं महत् ।।१४।।
द्विगुणं च रजो ज्ञात्वा सत्त्वं चैकगुणं पुनः । मार्गं विज्ञाय तत्त्वेन [२]प्रलयप्रेक्षणेन तु ।।१५।।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नाः कारणैर्भावितात्मभिः । प्राप्नुवन्ति शुभं मोक्षं सूक्ष्मा इव नभः परम् ।।१६।।
रूपेण दृष्टिं संयुक्तां घ्राणं गन्धगुणेन च । [३]शब्दग्राह्यं तथा श्रोत्रं जिह्वां रसगुणेन च ।।१७।।
त्वचं स्पर्शं तथा शक्यं वायु चैव तदाश्रितम् । मोहं तमसि संयुक्तं लोभं मोहेषु[४] संश्रितम्[५] ।।१८।।
विष्णुं क्रान्ते बले शक्रं कोष्ठे सक्तं तथाऽनलम् । अप्सु देवीं समायुक्तामापस्तेजसि संश्रिताः ।।१९।।
तेजो वायौ तु संयुक्तं वायु नभसि चाऽऽश्रितम् । नभो महति [६]संयुक्तं तमो महसि संस्थितम् ।।२०।।
रजः सत्त्वं तथा सक्तं सत्त्वं सक्तं तथाऽऽत्मनि । सक्तमात्मानमीशे च देवे नारायणे तथा ।।२१।।
देवं मोक्षे च संयुक्तं ततो मोक्षं च न क्वचित् । ज्ञात्वा सत्त्वगुणं देहं वृत्तं षोडशभिर्गुणैः ।।२२।।

भिलाषी जीव के वर्तमानकालीन दुःख, तिर्यग्योनि में प्राप्त होते हुए जीवों के दुःख तथा नरकों के दुःख को समझना चाहिये ।।१०½।। द्विजगण ! स्वर्ग के समस्त गुण तथा दोषों को समझना चाहिये ।वैदिक गुण-दोष, ज्ञानयोग के गुण-दोष तथा सांख्यज्ञान के गुण-दोषो को समझना चाहिये ।।११½।। सत्त्व के दस गुण, रज के नौ गुण, तम के आठ गुण, बुद्धि के सात गुण, आकाश के छह गुण, और पुनः तम के तीन गुण रज के दो गुण तथा सत्त्व के एक गुण को समझना चाहिए । प्रलय-दर्शनपूर्वक तत्त्वतः मार्ग को जानकर ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न मनुष्य अन्तःकरण को पवित्र करने वाले कारणों के द्वारा पवित्र मोक्ष को उसी तरह प्राप्त कर लेते हैं जैसे सूक्ष्म वस्तु आकाश को ।।१२-१६।। रूप से संयुक्त दृष्टि को, गन्धगुण से युक्त नासिका को, शब्दग्राह्य कर्ण को, रसगुण से युक्त जिह्वा को, स्पर्शयुक्त त्वचा को, तदाश्रित वायु को, तमोयुक्त मोह को, मोहयुक्त लोभ को, प्रक्रान्त बल में विष्णु को, कोष्ठ में इन्द्र तथा अग्नि को, जल में देवी को, तेज से युक्त जल को, वायु में संयुक्त तेज को, आकाश के आश्रित वायु को, महत्त्व से जुड़े हुए आकाश को, तेज में स्थित तम को, रज में आसक्त सत्त्व को तथा आत्मा में आसक्त सत्त्व को, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव में आसक्त आत्मा को और मोक्ष से संयुक्त देव को समझना चाहिए । मोक्ष को किसी में भी आसक्त नहीं समझना चाहिए ।।१७-२१½।। सोलह गुणों से घिरे हुए सत्त्वगुण-सम्पन्न शरीर को तथा स्वभाव एवं देहाश्रित भावना को जानकर मध्यस्थ की तरह आत्मा को समझना

---

[१]क. गुणयोगे । [२]ख. ०लये प्रेक्षणं तथा । ज्ञा० । ग. ०लये प्रलयं तथा । ज्ञा० । [३]क. ख. शब्दशक्त्या । [४]ग. सत्त्वेषु । [५]क. ०मृ । मोहेऽनलं तथा क्रान्तं बले स० । [६]ख. ०क्तं ततो म० । ग. ०क्तं तथा भ० ।

स्वभावं भावनां चैव ज्ञात्वा देहसमाश्रिताम् । मध्यस्थमिव चाऽऽत्मानं पापं यस्मिन्न विद्यत ॥२३॥
द्वितीयं कर्म वै ज्ञात्वा विप्रेन्द्रा विषयैषिणाम् । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च सर्वानात्मनि संश्रितान्[1] ॥२४॥
दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम् । प्राणापानौ समानं च व्यानोदानौ च तत्त्वतः ॥२५॥
आद्यं चैवानिलं ज्ञात्वा प्रभवं चानिलं पुनः । सप्तधा तांस्तथा शेषान्सप्तधा विधिवत्पुनः ॥२६॥
प्रजापतीनृषींश्चैव[2] सर्गांश्च सुबहून्वरान् । सप्तर्षींश्च बहूञ्ज्ञात्वा राजर्षींश्च परंतपान् ॥२७॥
सुरर्षीन्मरुतश्चान्यान्ब्रह्मर्षीन्सूर्यसंनिभान् । ऐश्वर्याच्च्यावितान्दृष्ट्वा कालेन महता द्विजाः ॥२८॥
महतां भूतसंघानां श्रुत्वा नाशं च भो द्विजाः । गतिं वाचां [3]शुभां ज्ञात्वा अर्चार्हाः पापकर्मणाम् ॥२९॥
वैतरण्यां च यद्दुःखं पतितानां यमक्षये । योनिषु च विचित्रासु संचारानशुभांस्तथा ॥३०॥
जठरे चाशुभे वासं शोणितोदकभाजने । श्लेष्ममूत्रपुरीषे च तीव्रगन्धसमन्विते ॥३१॥
शुक्रशौणितसंघाते मज्जास्नायुपरिग्रहे । शिराशतसमाकीर्णे नवद्वारे पुरेऽथ वै ॥३२॥
विज्ञाय[4] हितमात्मानं योगांश्च विविधान्द्विजाः । तामसानां च जन्तूनां रमणीयानृतात्मनाम् ॥३३॥
सात्त्विकानां च जन्तूनां कुत्सितं मुनिसत्तमाः । गर्हितं महतामर्थे सांख्यानां विदितात्मनाम् ॥३४॥
उपप्लांस्तथा घोराञ्शशिनस्तेजसस्तथा । ताराणां पतनं दृष्ट्वा नक्षत्राणां च पर्ययम् ॥३५॥

चाहिये, जिसमें पाप नहीं है ॥२२-२३॥ द्विजश्रेष्ठो ! विषयाभिलाषी व्यक्तियों के द्वितीय कर्म को जानकर इन्द्रियों तथा आत्माश्रित इन्द्रिय-विषयों को समझना चाहिये ॥२४॥ वेदानुसार मोक्ष के दुर्लभत्व को जानकर प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान को तत्त्वतः जानना चाहिये ॥२५॥ आद्यवायु, कारणवायु और पुनः उनचासों वायु को विधिपूर्वक जानकर प्रजापति, ऋषि, सर्ग (सृष्टि), सप्तर्षि, राजर्षि, देवर्षि, मरुत्, सूर्यसदृश ब्रह्मर्षि तथा ऐश्वर्यच्युत व्यक्तियों को समझना चाहिये ॥२६-२८॥ द्विजगण ! महान् भूतसंघों के नाश को सुनकर पापकर्मों की गति तथा शुभ वाणी को जानना चाहिये। पतितों को यममार्ग में वैतरणी में जो दुःख होता है, उसे जानना चाहिये तथा विचित्र योनियों में जो उनके संचरण एवं अमंगल होते हैं, उन्हें जानना चाहिये ॥२९-३०॥ रक्त तथा जल के पात्र, कफ, मूत्र तथा विद्या से युक्त, तीव्रगन्धसमन्वित वीर्य, शोणित, मज्जा तथा स्नायु से संयुक्त, सैकड़ों शिराओं से समाकीर्ण तथा नवद्वारयुक्त शरीर के अशुभ उदर में वास को जानना चाहिये ॥३१-३२॥ आत्मा, हित, विविध योग, रमणीय एवम् अनृतात्मा तामस जन्तुओं को जानना चाहिये ॥३३॥ सात्त्विक जन्तुओं के कुत्सित कर्म को तथा विदितात्मा सांख्यकों के गर्हित कर्म को जानना चाहिये ॥३४॥ घोर उपद्रवों, चन्द्रमा के तेज, तारों के पतन, नक्षत्रों के विपर्यय, सुख-दुःख आदि के विप्रयोग तथा कृपण को जानना चाहिये ॥३५½॥

१ख. संस्थितान् । २क. ख. ०व मार्गांश्चैव वसुंधराम् । स० । ३क. ख. ०भां प्राप्ताः पापाश्च क० । ४क. ०ज्ञायाहि० ।

[१]द्वंद्वानां विप्रयोगं च विज्ञाय कृपणं द्विजाः । [२]अन्योन्यभक्षणं दृष्ट्वा भूतानामपि चाशुभम् ।।३६।।
बाल्ये मोहं च विज्ञाय पक्षदेहस्य चाशुभम् । रागं मोहं च संप्राप्तं क्वचित्सत्त्वं समाश्रितम् ।।३७।।
सहस्रेषु नरः कश्चिन्मोक्षबुद्धिं समाश्रितः । दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञानं श्रुतिपूर्वकम् ।।३८।।
[३]बहुमानमलब्धेषु लब्धे मध्यस्थतां पुनः । विषयाणां च दौरात्म्यं विज्ञाय च पुनर्द्विजाः ।।३९।।
गतासूनां च सत्त्वानां देहान्भित्त्वा तथा शुभान् । वासं कुलेषु [४]जन्तूनां मरणाय धृतात्मनाम् ।।४०।।
सात्त्विकानां च जन्तूनां दुःखं विज्ञाय भो द्विजाः । ब्रह्मघ्नानां गतिं ज्ञात्वा पतितानां सुदारुणाम् ।।४१।।
सुरापाने च सक्तानां ब्राह्मणानां दुरात्मनाम् । गुरुदारप्रसक्तानां गतिं विज्ञाय चाशुभाम् ।।४२।।
[५]जननीषु च वर्तन्ते येन सम्यग्द्विजोत्तमाः । [६]सदेवकेषु लोकेषु येन वर्तन्ति मानवाः ।।४३।।
तेन ज्ञानेन विज्ञाय गतिं चाशुभकर्मणाम् । तिर्यग्योनिगतानां च विज्ञाय च गतीः पृथक् ।।४४।।
वेदवादांस्था[७] चित्रानृतूनां[८] पर्ययांस्तथा । क्षयं संवत्सराणां च मासानां च क्षयं तथा ।।४५।।
पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानां च संक्षयम् । क्षयं वृद्धिं च चन्द्रस्य दृष्ट्वा प्रत्यक्षतस्तथा ।।४६।।
वृद्धिं दृष्ट्वा समुद्राणां क्षयं तेषां तथा पुनः । क्षयं धनानां दृष्ट्वा च पुनर्वृद्धिं तथैव च ।।४७।।
संयोगानां तथा दृष्ट्वा युगानां च विशेषतः । देहवैक्लव्यतां[९] चैव सम्यग्विज्ञाय तत्त्वतः ।।४८।।
आत्मदोषांश्च विज्ञाय सर्वानात्मनि संस्थितान् । स्वदेहादुत्थितान्गन्धांस्तथा विज्ञाय चाशुभाम् ।।४९।।

प्राणियों के परस्पर अशुभ भक्षण, बाल्यावस्था के मोह, देह के अकल्याण और जीवसमाश्रित राग-मोह को जानना चाहिये ।।३६-३७।। हजारों मनुष्य में किसी को मोक्षबुद्धि होती है । श्रुतिपूर्वक विज्ञान तथा मोक्ष के दुर्लभत्व को जानना चाहिए ।।३८।। अलब्धों में बहुमान तथा लब्धों में मध्यस्थता को देखना चाहिये । विषयों के दौरात्म्य को जानना चाहिये ।।३९।। गतप्राण शरीरियों के पवित्र देहों को छोड़कर मरण के लिए शरीर धारण किये हुए (अन्य) जन्तुओं के कुलों में निवास को तथा सात्त्विक जन्तुओं के दुःख को जानना चाहिये ।।४०½।। पतित ब्रह्मघातियों की, मदिरापान में आसक्त दुरात्मा ब्राह्मणों की और गुरुपत्नीगामियों की दारुणगति को जानना चाहिये ।।४१-४२।। द्विजश्रेष्ठो ! मनुष्य जिस ज्ञान से माताओं, देवताओं तथा लोगों के साथ व्यवहार करते हैं, उस ज्ञान से अशुभ कर्मों की गति को जानना चाहिये ।।४३½।। तिर्यग्योनियों में गये जीवों की पृथक्-पृथक् गतियों को समझना चाहिये। वेदवादों को, ऋतुविपर्ययों को, वर्ष, मास, पक्ष तथा दिन के क्षय को, चन्द्रमा के प्रत्यक्ष क्षय तथा वृद्धि को, समुद्र के क्षय तथा वृद्धि को और धन के क्षय एवम् पुनर्वृद्धि को जानना चाहिये । युगों के संयोग को विशेष करके जानना चाहिये । शरीर की विलकता को अच्छी तरह जानना चाहिये । आंत्मा में संस्थित दोषों को जानना चाहिये । अपने शरीर से उत्थित अशुभ गन्धों को जानना चाहिये ।।४४-४९।।

१ख. बद्धानां । २ख. ०न्यरक्षणां दृ० । ३क. ०लभ्ये तु ल० । ४ख. ग. ०नां रमणीयानृतात्म० । ५. ख. रजनीषु । ६क. सदैव० । ७ख. ०दविद्यास्त० । ८ख. ०त्रा भूतानां । ९क. ख. अहंवक्तव्यतां ।

मुनय ऊचुः

कानुत्पातभवान्दोषान्पश्यति ब्रह्मवित्तम । एतं नः संशयं कृत्स्नं वक्तुमर्हस्यशेषतः ।।५०।।

व्यास उवाच

पञ्च दोषान्द्विजा देहे प्रवदन्ति मनीषिणः । मार्गज्ञाः कापिलाः सांख्याः शृणुध्वं मुनिसत्तमाः ।।५१।।
कामक्रोधौ भयं निद्रा पञ्चमः श्वास उच्यते[1] । एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम् ।।५२।।
छिन्दन्ति क्षमया क्रोधं कामं संकल्पवर्जनात् । सत्त्वसंसेवान्निद्रामप्रमादाद्भयं तथा ।।५३।।
छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासमल्पाहारतया द्विजाः । गुणान्गुणशतैर्ज्ञात्वा दोषान्दोषशतैरपि ।।५४।।
हेतून्हेतुशतैश्चित्रैश्चित्रान्विज्ञाय तत्त्वतः । अपां फेनोपमं[2] लोकं विष्णोर्मायाशतैः कृतम् ।।५५।।
[3]चित्रभित्तिप्रतीकाशं नलसारमनर्थकम् । तमःसंभ्रमितं दृष्ट्वा वर्षबुद्बुदसंनिभम् ।।५६।।
नाशप्रायं [4]सुखाधानं नाशोत्तरमहाभयम् । रजस्तमसि संमग्नं पङ्के द्विपमिवावशम् ।।५७।।
सांख्या[5] विप्रा महाप्राज्ञास्त्यक्त्वा स्नेहं प्रजाकृतम् । ज्ञानज्ञेयेन सांख्येन व्यापिना महता द्विजाः ।।५८।।
राजसानशुभान्गन्धांस्तमसांश्च तथाविधान् । पुण्यांश्च सात्त्विकान्गन्धान्स्पर्शजान्देहसंश्रितान् ।।५९।।
छित्त्वाऽऽत्मज्ञानशस्त्रेण तपोदण्डेन सत्तमाः । ततो दुःखादिकं घोरं चिन्ताशोकमहाह्रदम् ।।६०।।

मुनियों ने कहा—ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! आप किन उत्पातजन्य दोषों को देखते हैं ? हमारे इस संशय का पूर्ण रूप से समाधान कर दीजिये ।।५०।।

व्यास बोले—मुनिवर ! मार्गो के ज्ञाता, कपिलमतानुयायी, सांख्यशास्त्र के विद्वान् शरीर में पाँच प्रकार के दोषों को बतलाते हैं ।।५१।। काम, क्रोध, भय, निद्रा तथा श्वास—ये पाँच दोष समस्त प्राणियों के शरीरों में देखे जाते हैं ।।५२।। क्षमा से क्रोध का उच्छेद करे, संकल्पत्याग से काम का, सत्त्वसंसेवन से निद्रा का और अप्रमाद से भय का नाश करे ।।५३।। द्विजगण ! अल्पाहार से श्वास का उच्छेदन करे। सैकड़ों गुणों से गुणों को, सैकड़ों दोषों से दोषों को और सैकड़ों कारणों से कारणों को तत्त्वतः जानकर विष्णु की सैकड़ों मायाओं से रचित लोक को जल के फेन सदृश समझे ।।५४-५५।। दीवार के चित्र तुल्य सारहीन, अनर्थक, तिमिरावृत, वर्षा के बुलबुले के समान, नष्टप्राय, सुखाधान, नाशोत्तर महाभय से युक्त, रज तथा तमोगुण में निमग्न और पंक-मग्न हस्ती की तरह विवश संसार का त्याग करना चाहिये ।।५६-५७।। विप्रवृन्द ! सांख्यवेत्ता महापंडित ज्ञान से जानने योग्य सांख्यदर्शन के बल से सन्तान-स्नेह का परित्याग करते हैं ।।५८।। राजस अशुभों को, तामस गन्धों को, सात्त्विक पुण्यों को तथा स्पर्शजन्य गन्धों को आत्मज्ञान रूपी शस्त्र से तथा तप रूपी दण्ड से उच्छिन्न कर देना चाहिये ।।५९½।। तदनन्तर महाभय रूपी महासर्प ने युक्त, तम रूपी कच्छप से समन्वित और रजरूपी मत्स्य से संवलित,

---

[1]क. ०ते । पञ्च विध्वंसकर्तारो वर्तन्ते । ख. ०ते । योगविध्वंसकर्तारो वर्तन्ते । [2]क. व्योमपरं । [3]ख. चिन्ताभि० । [4]ख. सुखासीनं । [5]क. ख. ०ख्यान्विप्रा० । [6]क. ख. ०ज्ञान्स तानाह प्रजापतिः । अनेन दोषान्सांख्ये० ।

व्याधिमृत्युमहाघोरं महाभयमहोरगम् । ततःकूर्मं रजोमीनं प्रज्ञया संतरन्त्युत ।।६१।।
स्नेहपङ्कं जरादुर्गं स्पर्शद्वीपं द्विजोत्तमाः । कर्मागाधं सत्यतीरं[१] स्थितं व्रतमनीषिणः ।।६२।।
हर्षसंघमहावेगं नानारससमाकुलम् । नानाप्रीतिमहारत्नं दुःखज्वरसमीरितम् ।।६३।।
शोकतृष्णामहावर्तं तीक्ष्णव्याधिमहारुजम् । अस्थिसंघातसंघट्टं श्लेष्मयोगं द्विजोत्तमाः ।।६४।।
दानमुक्ताकरं घोरं शोणितोद्गारविद्रुमम् । हसितोत्क्रुष्टनिर्घोषं नानाज्ञानसुदुष्करम् ।।६५।।
रोदनाश्रुमलक्षारं [२]सङ्गयोगपरायणम् । प्रलब्ध्वा जन्मलोको यं पुत्रबान्धवपत्तनम्[३] ।।६६।।
अहिंसासत्यमर्यादं [४]प्राणयोगमयोर्मिलम् । वृन्दानुगामिनं क्षीरं सर्वभूतपयोदधिम् ।।६७।।
[५]मोक्षदुर्लभविषयं वाडवासुखसागरम् । तरन्ति यतयः सिद्धा ज्ञानयोगेन चानघाः ।।६८।।
[७]तीर्त्वा च दुस्तरं जन्म विशन्ति विमलं नभः[८] । ततस्तान्सुकृतीञ्ज्ञात्वा सूर्यो वहति रश्मिभिः ।।६९।।
पद्मतन्तुवदाविश्य प्रवहन्विषयान्द्विजाः । तत्र तान्प्रवहो वायुः प्रतिगृह्णाति चानघाः ।।७०।।
वीतरागान्यतीन्सिद्धान्वीर्ययुक्तांस्तपोधनान् । सूक्ष्मः शीतः सुगन्धश्च सुखस्पर्शश्च भो द्विजाः ।।७१।।
सप्तानां मरुतां श्रेष्ठो लोकान्गच्छति यः शुभान् । स तान्वहति विप्रेन्द्रा नभसः परमां गतिम् ।।७२।।

महाघोर, दुःख, चिन्ता, शोक, व्याधि तथा मृत्यु रूपी महाह्लद को ज्ञान से पार करे ।।६०-६१।। स्नेहरूपी कीचड़ वाले, वृद्धतारूपी दुर्ग वाले, स्पर्श रूपी द्वीप वाले, कर्म रूपी अतिगम्भीरता से युक्त, सत्यरूपी तट वाले, हर्षसमूह रूपी महावेग से युक्त, नाना रसों से आकुल, प्रीति रूपी महारत्नों से युक्त, दुःख रूपी ज्वार-भाटे से युक्त, शोक और तृष्णा रूपी आवर्तों से युक्त, तीक्ष्णव्याधित तथा महारोग वाले, अस्थिसमूह से युक्त, कफ से युक्त, दान रूपी मुक्ताओं के आकर, भयंकर, शोणित रूपी मूँगों से युक्त, हास्य रूपी शब्दों से युक्त, अनेक प्रकार के अज्ञानों से दुर्लंघ्य, रोदन के अश्रुमल से क्षार, संग-योग में निरत, पुत्र और बन्धु रूप नगर वाले (?) अहिंसा तथा सत्यरूपी मर्यादा (सीमा) से युक्त, प्राण-योगमय तरंगों से युक्त, समूह के अनुगामी, सकल प्राणी रूप दूध या जल के समुद्र, मोक्षरूपी दुर्लभ पदार्थ से युक्त और सुख रूपी वडवानल से युक्त संसार रूपी सागर को सिद्ध एवं निष्पाप संन्यासी ज्ञानयोग से पार करते हैं।।६२-६८।। दुस्तर जन्म का संतरण करके सिद्धपुरुष निर्मल आकाश में प्रवेश करते हैं। द्विजगण ! तब सूर्य उन्हें पुण्यात्मा समझ कर अपनी किरणों के द्वारा ऊपर को उठाते है और प्रवहनामक वायु पद्मतन्तु के भीतर प्रविष्ट होकर भोग्यपदार्थों को उनके पास पहुँचाता है।।६९-७०।। विप्रवृन्द ! वीतराग, तपोधन, शक्तिशाली सिद्ध यतियों को सूक्ष्म शीत तथा सुगन्धित वायु का सुखस्पर्श होता है।७१।। विप्रेन्द्रो ! सात मरुतों में सबसे श्रेष्ठ वायु, जो पवित्र लोकों में जाता है, उन सिद्धों को आकाश की चरम सीमा पर पहुँचा देता है।।७२।। आकाश उनको रजोगुण की चरम सीमा पर पहुँचाता है और रजो-

---

१क. ख. ०रं सत्यव्र० । २क. ख. ०म् । पुनर्वा ज० । ३क. खु. ०त्रवधूचयत्परम् । ४क. ०म् । वेदानुपायिनक्षी० । ५ग. म्० । महोक्ष० । ६ग. ०विषं वडवामुख० । ७ख. भित्त्वा । ८क. तमः । ख. ततः ।

नभो[1] वहति लोकेशान्रजसः परमां गतिम् । रजो वहति विप्रेन्द्राः सत्त्वस्य परमां गतिम् ॥७३॥
सत्त्वं वहति शुद्धात्मा परं नारायणं प्रभुम् । प्रभुर्वहति शुद्धात्मा परमात्मानमात्मना ॥७४॥
परमात्मानमासाद्य तद्भूता यतयोऽमलाः । अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्तन्ति च द्विजाः ॥७५॥
परमा सा गतिर्विप्रा निर्द्वन्द्वानां महात्मनाम् । सत्यार्जवरतानां वै सर्वभूतदयावताम् ॥७६॥

मुनय ऊचुः

स्थानमुत्तममासाद्य भगवन्तं स्थिरव्रताः । आजन्ममरणं वा [2]ते रमन्ते तत्र वा न वा ॥७७॥
यदत्र तथ्यं तत्त्वं नो यथावद्वक्तुमर्हसि । त्वदृते मानवं नान्यं प्रष्टुमर्हामि सत्तम ॥७८॥
[3]मोक्षदोषो महानेष प्राप्य सिद्धिं गतानृषीन् । यदि तत्रैव विज्ञाने वर्तन्ते यतयः परे ॥७९॥
प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं पश्याम परमं द्विज[4] । मग्नस्य हि परे ज्ञाने किंतु दुःखान्तरं भवेत् ॥८०॥

व्यास उवाच

यथान्यायं मुनिश्रेष्ठाः प्रश्नः पृष्टश्च संकटः । बुधानामपि संमोहः प्रश्नेऽस्मिन्मुनिसत्तमाः ॥८१॥
अत्रापि तत्त्वं परमं शृणुध्वं वचनं मम । बुद्धिश्च परमा यत्र[5] कपिलानां महात्मनाम् ॥८२॥
इन्द्रियाण्यपि बुध्यन्ते स्वदेहं[6] देहिनां द्विजाः । करणान्यात्मनास्तानि सूक्ष्यं[7] पश्यन्ति तैस्तु सः ॥८३॥

गुण सत्त्वगुण की अन्तिम सीमा पर पहुँचा देता है ॥७३॥ शुद्धात्मा सत्त्वगुण उन्हें प्रभु नारायण के पास पहुँचाता है और शुद्धात्मा प्रभु परमात्मा के पहुँचा देता है ॥७४॥ परमात्मा को प्राप्त करके निर्मल यति तन्मय हो जाते हैं। द्विजगण ! तब वे अमृतत्व को प्राप्त कर वहाँ से निवृत्त नहीं होते हैं ॥७५॥ विप्रवृन्द ! निर्द्वन्द्व, सत्य तथा ऋजुता में निरत और समस्त भूतों पर दया करने वाले महात्माओं की वह परमगति है ॥७६॥

मुनियों ने कहा—स्थिरव्रती संन्यासी उत्तम स्थान को प्राप्त कर वहाँ जन्म-मरण तक रमण करते हैं कि नहीं ? इसमें जो तथ्य बात है, वह हमें बतलाये। मुने ! आपको छोड़कर हम दूसरे व्यक्ति से नहीं पूछ सकते। यदि यति लोग वहीं पर विज्ञान में निरत रहते हैं तो सिद्ध ऋषियों के लिए यह महान् मोक्षदोष है। द्विज ! यह तो प्रवृत्ति-लक्षण धर्म है जो कि परम ज्ञान में निमग्न व्यक्ति के लिए एक दूसरे प्रकार का दुःख है ॥७७-८०॥

व्यास बोले—मुनिश्रेष्ठो ! यह तो बड़ा कठिन प्रश्न आपने पूछ दिया। ऐसे प्रश्न से तो विद्वान् लोग भी घबरा जाते हैं ॥८१॥ यहाँ भी परमतत्त्व को आप मुझसे सुन लीजिए, जिसका निश्चय महात्मा कपिल की उत्कृष्ट बुद्धि ने किया ॥८२॥ द्विजगण ! प्राणियों की इन्द्रियाँ भी अपनी देह को जानती हैं। मनुष्य इन्द्रियों द्वारा आत्मा के सूक्ष्म कारणों को देखते हैं ॥८३॥ लकड़ी पर बनाये चित्र जैसे लकड़ी के नष्ट होते ही नष्ट हो

---

[1] ख. तमो। [2] ग. ते स्मरन्त्यत्र सदाऽनघाः। य०। [3] ग. मोक्षलाभो। [4] ख. ०ज। यस्य हिंसापरं ज्ञानं किं०। [5] क. त्र० जायते हि म०। [6] क. स्वदेहे। [7] ख. सूक्ष्मः।

आत्मना विप्रहीणानि [1]काष्ठकुडचसमानि तु । विनश्यन्ति न संदेहो वेला इव महार्णवे ।।८४।।
इन्द्रियैः सह सुप्तस्य देहिनो[2] द्विजसत्तमाः[3] । सूक्ष्मश्चरति सर्वत्र नभसीव समीरणः ।।८५।।
स पश्यति [4]यथान्यायं स्मृत्वा स्पृशति चानघाः । बुध्यमानो यतापूर्वमखिलेनेह भो द्विजाः ।।८६।।
इन्द्रियाणि ह सर्वाणि स्वे स्वे स्थाने यथाविधि । अनीशत्वात्प्रलीयन्ते सर्पा विषहता इव ।।८७।।
इन्द्रियाणां तु सर्वेषां स्वस्थानेष्वेव सर्वशः । आक्रम्य गतयः सूक्ष्माव (श्च) रत्यात्मा न संशयः ।।८८।।
सत्त्वस्य च गुणान्कृत्स्नान्रजसश्च गुणान्पुनः । गुणांश्च तमसः सर्वान्गुणान्बुद्धेश्च सत्तमाः ।।८९।।
गुणांश्च मनसश्चापि नभसश्च गुणांस्तथा । गुणान्वायोश्च सर्वज्ञाः स्नेहजांश्च गुणान्पुनः ।।९०।।
अपां गुणास्तथा विप्राः पार्थिवांश्च गुणानपि । सर्वानेव [5]गुणैर्व्याप्य क्षेत्रज्ञेषु द्विजोत्तमाः ।।९१।।
आत्मा [6]चरति क्षेत्रज्ञः कर्मणा च [7]शुभाशुभे । शिष्या इव महात्मानमिन्द्रियाणि च तं द्विजाः ।।९२।।
प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य शुद्धं सूक्ष्मं परात्परम् । नारायणं महात्मानं निर्विकारं परात्परम् ।।९३।।
विमुक्तं सर्वपापेभ्यः प्रविष्टं च ह्यनामयम् । परमात्मानमगुणं निर्वृत्तं तं च सप्तमाः ।।९४।।
श्रेष्ठं तत्र मनो विप्रा इन्द्रियाणि च भोः द्विजाः । आगच्छन्ति यथाकालं गुरोः संदेशकारिणः[8] ।।९५।।
शक्यं वाऽल्पेन कालेन[9] शान्तिं प्राप्तुं[10] गुणांस्तथा । एवमुक्तेन विप्रेन्द्राः सांख्य योगेन मोक्षिणीम्[11] ।।९६।।

जाते हैं उसी तरह आत्मा से वियुक्त होते ही इन्द्रियाँ समुद्र में तरंग की तरह विनष्ट हो जाती हैं, इसमें संशय नहीं ।।८४।। द्विजश्रेष्ठो ! प्राणी की सुषुप्तावस्था में जब इन्द्रियाँ भी सुप्त रहती हैं तब सूक्ष्म वायु जैसे आकाश में सर्वत्र संचरण करता है वैसे उसके शरीर में भी संचरित होता है ।।८५। प्राणी जागने पर पहले की तरह देखता है, स्मरण करता है और स्पर्श करता है । आत्मा के चले जाने पर शासकविहीन होने के कारण इन्द्रियाँ उसी तरह नष्ट हो जाती हैं जैसे विष नष्ट होने पर सर्फ ।।८६-८७।। इन्द्रियों के अपने-अपने स्थानों में ही उनका अतिक्रमण कर आत्मा निःसन्देह सूक्ष्म गति से चल देता है ।।८९।। विप्रवृन्द ! सत्त्व के अखिल गुणों को, पुनः रज के गुणों को, तम के गुणों को, बुद्धि के गुणों को, मन के गुणों को, आकाश के गुणों को, वायु के गुणों को, स्नेह के गुणों को, जल के गुणों तथा पृथ्वी के सकल गुणों को व्याप्त करके क्षेत्रज्ञ आत्मा शुभ-अशुभ कर्मों को करता है । द्विजगण ! जैसे शिष्य महात्मा का अनुगमन करते हैं उसी तरह इन्द्रियाँ आत्मा का अनुसरण करती हैं ।।८९-९२।। प्रकृति का भी अतिक्रमण करके शुद्ध, सूक्ष्म, परात्पर, नारायण, महात्मा, निर्विकार, समस्त पापों से विमुक्त, अनामय, निर्गुण, शाश्वत परमात्मा में मन तथा इन्द्रियाँ प्रविष्ट होती हैं ।।९३।। गुरु के आज्ञाकारी शिष्य जैसे यथासमय आ जाते हैं वेसे वे भी उपस्थित होती हैं ।।९३-९५।। विप्रवर ! सांख्य-योग से अल्पकाल में ही मोक्ष रूप शान्ति प्राप्त हो जाती है । सांख्यवेत्ता महापंडित परमगति को प्राप्त करते हैं ।

---

[1]क. ख. पापकर्मकृतानि । [2]क. ०नो व्याकुलस्य तु । सू० । [3]क. ०माः । मनो भ्रमति । [4]ग. ०यं स्पर्शान्स्पृश । [5]क. गुणान्व्याप्य । [6]ग. च याति । [7]ख. च याति । [7]ख. ०भान्गुणान् । शि० । [8]क. ख. ०देहका० । [9]क. ०न प्राप्तश्चाऽऽप्तगु० । ख. ०न प्राप्तुं प्राप्ता गुणात्मनाम् । ए० । [10]ग. प्राप्तिं गुणार्थिना । ए० । [11]क. ख. ०म । शीतोष्णादि परित्यज्य ग० ।

सांख्या विप्रा महाप्राज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम् । ज्ञानेनानेन विप्रेन्द्रास्तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ॥९७॥
अत्र वः संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम् । अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्वं ब्रह्म सनातनम् ॥९८॥
अनादिमध्यनिधनं निर्द्वंद्वं कर्तृ शाश्वतम् । कूटस्थं चैव नित्यं च यद्वदन्ति शमात्मकाः ॥९९॥
यतः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः । एवं शंसन्ति शास्त्रेषु प्रवक्तारो महर्षयः ॥१००॥
सर्वे विप्राश्च वेदाश्च तथा सामविदो जनाः । ब्रह्मण्यं परमं देवमनन्तं परमाच्युतम् ॥१०१॥
प्रार्थयन्तश्च तं विप्रा वदन्ति [1]गुणबुद्धयः । सम्यगुक्तास्तथा योगाः[2] [3]सांख्याश्चामितदर्शनाः ॥१०२॥
अमूर्तिस्तस्य विप्रेन्द्राः सांख्यं मूर्तिरिति श्रुतिः । अभिज्ञानानि तस्याऽऽहुर्महान्ति[4] मुनिसत्तमाः ॥१०३॥
द्विविधानि हि भूतानि पृथिव्यां द्विजसत्तमाः । अगम्यगम्यसंज्ञानि गम्यं तत्र विशिष्यते ॥१०४॥

ज्ञानं महद्वै महतश्च विप्रा, वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे ।
यच्चापि दृष्टं विधिवत्पुराणे, सांख्यागतं तन्निखिलं मुनीन्द्राः ॥१०५॥
यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं, यथार्थशास्त्रेषु विशिष्टदृष्टम् ।
ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित्सांख्यागतं तच्च महामुनीन्द्राः ॥१०६॥
समस्तदृष्टं परमं बलं च, ज्ञानं च मोक्षश्च यथावदुक्तम् ।
तपांसि सूक्ष्माणि च यानि चैव, सांख्ये यथावद्विहितानि विप्राः ॥१०७॥
विपर्ययं तस्य हितं सदैव, गच्छन्ति सांख्याः सततं सुखेन ।
तांश्चापि संधार्य ततः कृतार्थाः, पतन्ति [5]विप्रायतनेषु भूयः ॥१०८॥

इस ज्ञान के समान दूसरा ज्ञान नहीं है ॥९६-९७॥ इसमें आप संशय न करें। सांख्य का ज्ञान महान् है। यह अक्षर, ध्रुव, ब्रह्म, सनातन आदि-मध्य तथा अन्त से रहित, निर्द्वन्द्व, कर्ता, शाश्वत, कूटस्थ तथा नित्य है। प्रवक्ता महर्षि शास्त्रों में ऐसा कहते हैं कि इसीसे सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय होते हैं ॥९८-१००। समस्त ब्राह्मण, वेद तथा सामवेत्ता जन, ब्रह्मण्य, परमदेव, अनन्त तथा परम अच्युत की प्रार्थना करते हैं। परमात्मा को सगुण समझने वाले लोग ऐसा कहते हैं। योग तथा सांख्य का सम्यक् वर्णन हो गया। विप्रश्रेष्ठो ! सांख्य अमूर्त परमात्मा की मूर्ति है, ऐसा सुना जाता है। उनके अभिज्ञान महान् हैं ॥१०१-१०३॥ पृथिवी पर दो प्रकार के भूत होते हैं—एक अगम्यसंज्ञक और दूसरा गम्यसंज्ञक। उनमें गम्य श्रेष्ठ है ॥१०४॥ मुनीन्द्रो ! महत्तत्त्व ज्ञान है और महत्तत्त्व से वेद, सांख्य, योग तथा पुराणों से जो कुछ देखा जाता है, वह सांख्य से प्राप्त है। महान् इतिहासों में जो कुछ देखा जाता है, यथार्थशास्त्रों में जो विशेषता देखी जाती है और लोक में जो कुछ ज्ञान है, वह सांख्य से प्राप्त है। विप्रवृन्द ! समस्त दर्शन, परम बल, ज्ञान, मोक्ष, तप और सूक्ष्म पदार्थ—ये सब सांख्य में बतलाये गये हैं। सांख्य का अस्तित्ववाद सदैव हितकर है। सांख्यवेत्ता सतत सुख प्राप्त करते हैं। सांख्य-ज्ञान का धारण करने वाले व्यक्ति कृतार्थ होकर ब्राह्मण-शरीर को प्राप्त करते हैं। फिर उस देहत्याग के बाद योगी तथा सांख्यक

---

[1] क. ०यः। शमयुक्ता०। [2] क. योगे। [3] क. ०ख्याश्च जात०। [4] क. ख. ०र्मतं हि मु०। [5] ख. विप्रेषु यतन्ति। भू०।

हित्वा च देहं प्रविशन्ति मोक्षं, दिवौकसश्चापि च योगसांख्याः ।
अतोऽधिकं तेऽभिरता महार्हे, सांख्ये द्विजा भो इह शिष्टजुष्टे ॥१०९॥
तेषां तु तिर्यग्गमनं हि दृष्टं, नाधो गतिः पापकृतां निवासः ।
न वा प्रधाना अपि ते द्विजातयो, ये ज्ञानमेतन्मुनयो न सक्ताः ॥११०॥
[1]सांख्यं विशालं परमं पुराणं, महार्णवं विमलमुदारकान्तम् ।
कृत्स्नं हि सांख्या मुनया महात्मनारायणे धारयताप्रमेयम् ॥१११॥
एतन्मयोक्तं परमं हि तत्त्वं, नारायणाद्विश्वमिदं पुराणम् ।
स सर्गकाले च करोति सर्गं, संहारकाले च[2] हरेत भूयः ॥११२॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे व्यासऋषिसंवादे सांख्यविधिनिरूपणं
नामैकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४०॥

अथैकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वसिष्ठकरालजनकसंवादे क्षराक्षरविचारनिरूपणम्

मुनय ऊचुः

किं तदक्षरमित्युक्तं यस्मान्नाऽऽवर्तते पुनः । किंस्वित्तत्क्षरमित्युक्तं यस्मादावर्तते पुनः ॥१॥
अक्षराक्षरयोर्व्यक्तिं पृच्छामस्त्वां महामुने । उपलब्धुं मुनिश्रेष्ठ तत्त्वेन मुनिपुंगव ॥२॥

मोक्ष प्राप्त करते हैं। महापूज्य तथा शिष्ट-जन-सेवित सांख्य में जो व्यक्ति निरत रहते हैं, वे नीचयोनि में नहीं जाते, उनकी अधोगति नहीं होती और पापियों के यहाँ उनका निवास नहीं होता। मुनिवृन्द ! वे द्विजाति उत्तम नहीं कहलाते हैं, जिन्हें सांख्य का ज्ञान नहीं है। सम्पूर्ण सांख्य विशाल, परमपुराण, महार्णव, विमल, उदार तथा सुन्दर है। हे सांख्य जानने वाले मुनियों ! महात्मा नारायण में अप्रमेय ज्ञान का धारण करो। यह परम तत्त्व मैंने बतला दिया। नारायण से इस पुरातन विश्व की उत्पत्ति है। वे ही सृष्टिकाल में सृष्टि करते हैं और संहार काल में संहार करते हैं ॥१०५-११२॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में व्यास और ऋषियों के संवाद-प्रकरण में सांख्यविधिनिरूपण
नामक दो सौ चालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२४०॥

अध्याय २४१

वसिष्ठ और करालजनक के संवाद में क्षर और अक्षर का निरूपण

मुनियों ने कहा—वे अक्षर कौन हैं, जिसे प्राप्त कर जीव की पुनरावृत्ति नहीं होती है और वे क्षर कौन हैं, जिसे प्राप्त कर पुनरावृत्ति होती है ! महामुने ! अक्षर और क्षर की अभिव्यक्ति को तत्त्वतः उपलब्ध करने

---

[1] ग. सांख्या । [2] ग. च तदत्ति भू० ।

त्वं हि ज्ञानविदां श्रेष्ठः प्रोच्यसे वेदपारगैः । ऋषिभिश्च महाभागैर्यतिभिश्च महात्मभिः ॥३॥
तदेतच्छ्रोतुमिच्छामस्त्वत्तः सर्वं महामते । न तृप्तिमधिगच्छामः शृण्वन्तोऽमृतमुत्तमम् ॥४॥

व्यास उवाच

अत्र वो वर्णयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् । वसिष्ठस्य च संवादं करालजनकस्य च ॥५॥
वसिष्ठं श्रेष्ठमासीनमृषीणां भास्करद्युतिम् । पप्रच्छ जनको राजा ज्ञानं नैःश्रेयसं परम् ॥६॥
परमात्मनि कुशलमध्यात्मगतिनिश्चयम् । मैत्रावरुणिमासीनमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥७॥
[1]स्वच्छन्दं [2]सुकृतं चैव मधुरं चाप्यनुल्बणम् । पप्रच्छर्षिवरं राजा करालजनकः पुरा ॥८॥

करालजनक उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि परं ब्रह्म सनातनम् । यस्मिन्न पुनरावृत्तिं प्राप्नुवन्ति मनीषिणः ॥९॥
यच्च तत्क्षरमित्युक्तं यत्रेदं क्षरते जगत् । यच्चाक्षरमिति प्रोक्तं शिवं क्षेममनामयम् ॥१०॥

वसिष्ठ उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल क्षरतीदं यथा जगत् । यत्र क्षरति पूर्वेण यावत्कालेन चाप्यथ ॥११॥
युगं द्वादशसाहस्रं कल्पं विद्धि चतुर्युगम् । दशकल्पशतावर्तमहस्तद्ब्राह्ममुच्यते ॥१२॥
रात्रिश्चैतावती राजन्यस्यान्ते प्रतिबुध्यते । सृजत्यनन्तकर्माणि महान्तं भूतमग्रजम् ॥१३॥

के लिये हम आपसे पूछते हैं। वेदपारंगत महाभाग ऋषि और महात्मा यति आपको ज्ञानियों में श्रेष्ठ बतलाते हैं। महामते! हम लोग इस बात को आपसे तत्त्वपूर्वक समझना चाहते हैं। आपके वचनामृत का पान करते हुए हमें तृप्ति नहीं मिल रही है ॥१-४॥

व्यास बोले—इस विषय में मैं आपको एक पुरातन इतिहास बतलाऊँगा, जिसमें वसिष्ठ तथा कराल जनक का संवाद है। ऋषियों में श्रेष्ठ, सूर्य तुल्य कान्ति वाले और आसन पर विराजमान वसिष्ठ से राजा जनक ने मोक्ष संबंधी ज्ञान के बारे में प्रश्न किया। पूर्वकाल में, परमात्मा में कुशल तथा अध्यात्मज्ञान का निश्चय करने वाले, समासीन वसिष्ठ को प्रणाम कर राजा करालजनक ने अंजलि बाँधकर स्वच्छन्द, पवित्र, मधुर तथा अस्पष्ट तत्त्व के बारे में उनसे पूछा ॥५-८॥

करालजनक बोले—भगवन्! मैं सनातन परब्रह्म के बारे में सुनना चाहता हूँ, जिसे प्राप्त कर मनीषी लोग फिर नहीं लौटते हैं। क्षर तो उसे कहते हैं, जहाँ यह सम्पूर्ण जगत् विनष्ट हो जाता है और अक्षर वह है, जो शिव, कल्याण तथा अनामय (स्वस्थ) रूप हैं ॥९-१०॥

वसिष्ठ बोले—पृथिवीपाल! यह जगत् जै, जहाँ और जितने काल में नष्ट होता है, वह सुनिये ॥ १॥ बारह हजार युगों का एक कल्प होता है और दस सौ कल्पों से युक्त चतुर्युग ब्रह्मा का एक दिन होता है। राजन्! (ब्रह्मा की) रात्रि भी इसी परिमाण से होती है, जिसके अन्त में जागकर ब्रह्मा अनन्त कर्मों का सर्जन करते हैं। निराकार

---

[1] ग. सुक्षेत्रं। [2] ग. प्रसृतं।

मूर्तिमन्तममूर्तात्मा विश्वं शंभुः स्वयंभुवः । यत्रोत्पत्तिं प्रवक्ष्यामि मूलतो नृपसत्तम ॥१४॥
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानं ज्योतिरव्ययम् । सर्वतःपाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥१५॥
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति [1]स्मृतिः ॥१६॥
महानिति च योगेषु [2]विरिञ्चिरिति चाप्यथ । सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः ॥१७॥
विचित्ररूपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः । धृतमेकात्मकं येन कृत्स्नं त्रैलोक्यमात्मना ॥१८॥
तथैव बहुरूपत्वाद्विश्वरूप इति श्रुतः । एष वै [3]विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना ॥१९॥
प्रधानं तस्य संयोगादुत्पन्नं सुमहत्पुरम् । अहंकारं [4]महातेजाः प्रजापतिनमस्कृतम्[5] ॥२०॥
[6]अव्यक्ताद्व्यक्तिमापन्नं विद्यासर्गं वदन्ति तम् । महान्तं चाप्यहंकारमविद्यासर्ग एव च ॥२१॥
अचरश्च चरश्चैव समुत्पन्नौ कथैकतः[7] । विद्याऽविद्येति विख्याते श्रुतिशास्त्रानुचिन्तकैः ॥२२॥
भूतसर्गमहंकारात्तृतीयं विद्धि पार्थिव । अहंकारेषु नृपते चतुर्थं विद्धि वैकृतम् ॥२३॥
वायुर्ज्योतिरथाऽऽकाशमापोऽथ पृथिवी तथा । शब्दस्पर्शौ च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥२४॥
एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम् । पञ्चमं विद्धि राजेन्द्र भौतिकं सर्गमर्थकृत् ॥२५॥
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणमेव च पञ्चमम् । वाग्हस्तौ चैव पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च ॥२६॥
बुद्धीन्द्रियाणि चैतानि तथा कर्मेन्द्रियाणि च । संभूतानीह युगपन्मनसा सह पार्थिव ॥२७॥

तथा कल्याणकारी ब्रह्मा ने पहिले पंचभूतों की सृष्टि करके साकार विश्व का निर्माण किया। नृपश्रेष्ठ! उसकी उत्पत्ति मैं आदि से बतलाऊँगा ॥१२-१४॥ हिरण्यगर्भ भगवान् अणिमा, लघिमा तथा प्राप्ति रूप हैं। वे शंभु, ज्योति तथा अव्यय हैं। उनके सब ओर हाथ, पैर, नेत्र, शिर, मुख तथा कर्ण हैं। वे सबको आवृत कर स्थित हैं। योगों में वे महान् कहे गये हैं। विरिञ्चि भी उनका नाम है। सांख्यशास्त्र में वे बहुत नामों से पुकारे गये हैं। वे विचित्ररूप विश्वात्मा तथा एकाक्षर (ओँ) हैं॥१५-१७½॥ जिसलिये उन्होंने अनेक रूपों से एकात्मरूप त्रैलोक्य का धारण किया इसलिये वे विश्वरूप कहलाये ॥१८½॥ वे विकारयुक्त होकर आत्मा से आत्मा का सर्जन करते हैं। उनके संयोग से प्रधान उत्पन्न हुआ। तब महातेजस्वी तथा प्रजापति द्वारा नमस्कृत अहंकार उत्पन्न हुआ। वे अव्यक्त से व्यक्त हुए। इसका नाम विद्यासृष्टि है। महान्, अहंकार तथा अविद्यासृष्टि को भी उन्होंने पूरा किया। एक हिरण्यगर्भ से अचर और चर दोनों उत्पन्न हुए। वेद और शास्त्र के चिन्तकों ने विद्यासृष्टि तथा अविद्यासृष्टि दोनों नाम बताये हैं॥१९-२२॥ राजन्! भूतसृष्टि को अहंकार से तृतीय समझिये। अहंकारों में चौथा वैकृत-सृष्टि है ॥२३॥ वायु, अग्नि, आकाश, जल, पृथिवी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये दसों एक ही काल में उत्पन्न हुए। राजेन्द्र! पञ्चम भौतिकसृष्टि को समझिये ॥२४-२५॥ कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका—ये ज्ञानेन्द्रियाँ और वाणी, हाथ, पैर, गुदा, लिंग—ये कर्मेन्द्रियाँ मन के साथ एक ही काल में उत्पन्न

---

[1] क. स्मृतः । [2] ग. विरञ्च इति । [3] ख. ०यायत्नः सृ० । [4] क. ०तेजा जातस्तत्र प्रजापतिः । अ० । [5] ग. ०तिमहत्कृत० । [6] क. ग. ०क्ताव्यक्तमा० । [7] क. ०थैव च । वि०।

एषा तत्त्वचतुर्विंशा [१]सर्वाऽऽकृतिः[२] प्रवर्तते । यां ज्ञात्वा नाभिशोचन्ति ब्राह्मणस्तत्त्वदर्शिनः ॥२८॥
एवमेतत्समुत्पन्नं त्रैलोक्यमिदमुत्तमम् । वेदितव्यं नरश्रेष्ठ सदैव [३]नरकार्णवे ॥२९॥
सयक्षभूतगन्धर्वे सकिंनरमहोरगे । सचारणपिशाचे वै सदेवर्षिनिशाचरे ॥३०॥
सदंशकीटमशके सपूतिकृमिमूषके । शुनि [४]श्वपाके चैणेये [५]सचाण्डाले सपुल्कसे ॥३१॥
हस्त्यश्वखरशार्दूले सवृके गवि चैव ह[६] । या च मूर्तिश्च यत्किंचित्सर्वत्रैतन्निदर्शनम् ॥३२॥
जले भुवि तथाऽऽकाशे नान्यत्रेति विनिश्चयः । स्थानं देहवतामासीदित्येवमनुशुश्रुम ॥३३॥
कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते [७]व्यक्तसंज्ञकः । अहन्यहनि भूतात्मा[८] यच्चाक्षर इति स्मृतम्[९] ॥३४॥
ततस्तत्क्षरमित्युक्तं क्षरतीदं यथा जगत् । जगन्मोहात्मकं चाऽऽहुरव्यक्ताद् व्यक्तसंज्ञकम्[१०] ॥३५॥
[११]महांश्चैवाक्षरो नित्यमेतत्क्षरविवर्जनम्[१२] । कथितं ते महाराज यस्मान्नाऽऽवर्तते पुनः ॥३६॥
[१३]पञ्चविंशतिकोऽमूर्तः [१४]स नित्यस्तत्त्वसंज्ञकः । सत्त्वसंश्रयणात्तत्वं सत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥३७॥
यदमूर्तिः सृजद्व्यक्तं तन्मूर्तिमधिष्ठिति । [१५]चतुर्विंशतिमो व्यक्तो ह्यमूर्तिः पञ्चविंशकः ॥३८॥
स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वातिष्ठताऽऽत्मवान्[१६] । चेतयंश्चेतनो नित्यं सर्वमूर्तिमान् ॥३९॥
सर्गप्रलयधर्मेण स सर्गप्रलयात्मकः । गोचरे वर्तते नित्यं निर्गुणो गुणसंज्ञितः ॥४०॥
[१७]एवमेष महात्मा च सर्गप्रलयकोटिशः । विकुर्वाणः प्रकृतिमान्नाभिमन्येत बुद्धिमान् ॥४१॥

हुई ॥२६-२७॥ ये चौबीस प्रकार के तत्त्व हैं, जिन्हें जानकर तत्त्वदर्शी ब्राह्मण सोच नहीं करते हैं । नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार ये उत्तम तीनों लोक उत्पन्न हुए, जिनकी स्थिति नरक, समुद्र, यक्ष, भूत, गन्धर्व, किन्नर, महासर्प, चारण, पिशाच, देवर्षि, राक्षस, दंश (डाँस), कीट, मशक, कृमि, मूषक, कुत्ते, श्वपाक, कृष्णमृगचर्म, चाण्डाल, पुल्कस, हाथी, घोड़े, गधे, बाघ, भेड़िये तथा गाय आदि में है । शरीरधारियों की स्थिति जल, पृथ्वी तथा आकाश में है अन्यत्र नहीं—ऐसा निश्चयपूर्वक हमने सुना है । जिसलिए यह जगत् विनष्ट होता है इसलिये इसका नाम क्षर पड़ा । संसार को मोहात्मक बतलाया गया है । अव्यक्त से निःसृत होकर इसने व्यक्त संज्ञा धारण की ॥२८-३५॥ महाराज ! यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि अक्षर महान्, नित्य तथा क्षररहित है । इसको प्राप्त कर जीव फिर लौटता नहीं है ॥३६॥ यह पचीसवाँ निराकार तथा नित्य तत्त्व है । मनीषियों ने सत्त्व के संश्रयण से तत्त्व को सत्त्व कहा है ॥३७॥ निराकार जिस व्यक्त की सृष्टि करता है, वह व्यक्त साकार होता है । वह चौबीसवाँ तत्त्व है और अव्यक्त पचीसवाँ तत्त्व है ॥३८॥ वही आत्मवान्, चेतन, नित्य, सर्वमूर्ति, तथा अव्यक्त सब हृदयों में वास करता है । वह सृष्टि तथा प्रलयरूप है । वह गोचर में सदा विद्यमान रहता है और वह निर्गुण तथा सगुण भी है ॥३९-४०॥ प्रकृतिमान् वह महात्मा करोड़ों सृष्टि-प्रलयों को करते हुए भी अभिमान नहीं करता ॥४१॥

१क. ०र्वा । प्रकृतिर्वर्त । २ग. ०कृतिषु व० । ३ख. ०र्णवात् । स० । ४क. ०के कृपणे पशुचा० । ५ख. ०ण्डालपु० । ६क. ह । यच्च मूर्तं च य० । ७क. संज्ञितम् । अ० । ८ख. ०त्मा तदक्षरमिति । ९ग. ०म् । एतदक्षर० । १०. ०क्ताव्यक्त० । ११क. ग. ०वाग्रजो नि० । १२ख. ग. ०रनिदर्शन० । १३ख. ०तिभो मू० १४ग. विष्णोः । १५क. ०तिको व्य० । १६ख. ०न् । अचेताश्चे० । १७क. एष एव म० ।

तमःसत्त्वरजोयुक्तस्तासु तास्विह योनिषु । लीयते प्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ॥४२॥
[1]सहवासनिवासत्वाद्बालोऽहमिति मन्यते । योऽहं न सोऽहमित्युक्तो गुणानेवानुवर्तते ॥४३॥
तमसा तामसान्भावान्विविधान्प्रतिपद्यते । रजसा राजसांश्चैव सात्त्विकान्सत्त्वसंश्रयात् ॥४४॥
शुक्ललोहितकृष्णानि रूपाण्येतानि त्रीणि तु । सर्वाण्येतानि रूपाणि जानीहि [2]प्राकृतानि तु ॥४५॥
तामसा निरयं यान्ति राजसा मानुषानथ । सात्त्विका देवलोकाय गच्छन्ति सुखभागिनः ॥४६॥
निष्केवलेन पापेन तिर्यग्योनिमवाप्नुयात् । पुण्यपापेषु मानुष्यं पुण्यमात्रेण देवताः ॥४७॥
[3]एवमव्यक्तविषयं मोक्षमाहुर्मनीषिणः । पञ्चविंशतिमो योऽयं ज्ञानादेव प्रवर्तते ॥४८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे वसिष्ठकरालजनकसंवादे क्षराक्षरविचारनिरूपणं
नाम एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४१॥

अथ द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वशिष्ठकरालजनकसंवादवर्णनम्

वसिष्ठ उवाच

[4]एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धमनुवर्तते । देहाद्देहसहस्राणि तथा च न स भिद्यते ॥१॥

अज्ञानी एवं अविद्वान् की सेवा करने से जीव, तम, सत्त्व तथा रज से युक्त होतर तत्तत् योनि में लीन होता है ॥४२॥ तत्तत् योनि में उत्पन्न व्यक्तियों के सहवास से जीव अपने को कहता है—"मै वालक हूँ, जो मैं था, वह अव नहीं हूँ।' इस प्रकार वह गुणों का ही अनुसरण करता है ॥४३॥ तमोगुण से जीव तामस भावों को प्राप्त करता है, रजोगुण से राजस भावों को और सत्त्व के संश्रयण से सात्त्विक भावों को प्राप्त करता है ॥४४॥ शुक्ल, लोहित कृष्ण—इन तीन रूपों को तथा समस्त रूपों को प्रकृति से उत्पन्न समझिये ॥४५॥ तामस भाव वाले नरक जाते हैं, राजसभाव वाले मनुष्य-योनि में जाते हैं और सात्त्विक भाव वाले सुखभागी जीव देवलोक को जाते हैं ॥४६॥ केवल पाप रहने से जीव तिर्यग्योनि में जाता है, पुण्य-पाप दोनों रहने से मनुष्य-योनि में जाता है और केवल पुण्य रहने से देवयोनि में जाता है। इस प्रकार विद्वान् लोग अव्यक्त के विषय को मोक्ष कहते हैं, जो पचीसवाँ तत्त्व है और ज्ञान से ही प्राप्त होता है ॥४७-४८॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में वसिष्ठ तथा करालजनक के संवाद में क्षर-अक्षर-विचार-निरूपण
नामक दो सौ इकतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२४१॥

अध्याय २४२

वसिष्ठ और करालजनक का संवाद-वर्णन

वसिष्ठ बोले—इस प्रकार जीव अज्ञानता से मूढ़योनि में ही जाता है। सहस्रों शरीर उसे मिलते हैं;

---

[1] क. ०त्वात्तेनाह० । ख. ०त्वान्नान्योऽह० । [2] ग. प्रकृतानि । [3] ग. ०यं क्षरमा० । [4] ख. त्वादबुद्धिरेव प्रव० ।

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद्देवतास्वपि । उत्पद्यति तपोयोगाद्गुणैः [1]सह गुणक्षयात् ॥२॥
मनुष्यत्वाद्दिवं याति देवो मानुष्यमेति च । मानुष्यान्निरयस्थानमालयं[2] प्रतिपद्यते ॥३॥
कोषकारो यथाऽऽत्मानं कीटः समभिरुन्धति । सूत्रतन्तुगुणैर्नित्यं तथाऽयमगुणो गुणैः ॥४॥
द्वंद्वमेति च निर्द्वंद्वस्तासु तास्विह योनिषु । शीर्षरोगेऽक्षिरोगे च दन्तशूले गलग्रहे ॥५॥
जलोदरेऽतिसारे च गण्डमालाविचर्चिके । श्वित्रकुष्ठेऽग्निदग्धे च सिध्मापस्मारयोरपि ॥६॥
यानि चान्यानि द्वंद्वानि प्राकृतानि शरीरिणाम् । उत्पद्यन्ते विचित्राणि तान्येवाऽऽत्माऽभिमन्यते[3] ॥७॥
अभिमानातिमानानां तथैव सुकृतान्यपि । एकवासाश्चतुर्वासाः[4] शायी नित्यमधस्तथा ॥८॥
मण्डूकशायी च तथा वीरासनगतस्तथा । वीरमासनमाकाशे तथा शयनमेव च ॥९॥
इष्टकाप्रस्तरे चैव[5] चक्रकप्रस्तरे तथा । भस्मप्रस्तरशायी च भूमिशय्यानुलेपनः ॥१०॥
वीरस्थानाम्बुपाके च शयनं फलकेषु च । विविधासु च शय्यासु फलगृह्यन्वितासु च ॥११॥
उद्याने खललग्ने तु क्षौमकृष्णाजिनान्वितः[6] । मणिवालपरीधानो व्याघ्रचर्मपरिच्छदः ॥१२॥
सिंहचर्मपरीधानः [7]पट्टवासास्तथैव च । फलकं (?) परिधानश्च तथा[8] कटकवस्त्रधृक् ॥१३॥
कटैकवसनश्चैव चीरवासास्तथैव च । वस्त्राणि चान्यानि बहून्यभिमत्य च बुद्धिमान् ॥१४॥
भोजनानि विचित्राणि रत्नानि विविधानि च । एकरात्रान्तराशित्वमेककालिकभोजनम् ॥१५॥

पर वह भिन्न हीं होता है ॥१॥ हजारों नीच योनियों में और कदाचित् देवयोनि में भी वह तपोवल से गुणों के साथ उत्पन्न होता है ॥२॥ गुणों की वृद्धि तथा क्षय से जीव मनुष्यत्व से देवत्व को और देवत्व से मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। और मनुष्यत्व से प्रलयकाल तक नरक को भी प्राप्त करता है ॥ ३॥ जैसे मकरा सूत्र-तन्तु रूप गुणों से अपने को अवरुद्ध कर लेता है वैसे यह निर्गुण जीव गुणों से अपने को फँसा लेता है ॥४॥ यह निर्द्वन्द्व होते हुए भी तत्तत्योनियों में द्वन्द्व को प्राप्त करता है। शिरोरोग, नेत्ररोग, दन्तपीड़ा, गलव्याधि, जलोदर, अतिसार, कण्ठमाला, चेचक, श्वेतकुष्ठ, ताप, खुजली, मिरगी और जो दूसरे प्राकृत द्वन्द्व है, वे शरीरों में उत्पन्न होते हैं, परन्तु जीव उन्हें अपना मान वैठता है ॥५-७॥ जीव द्वन्द्वों की तरह पुण्यों को भी मानता है। मनुष्य सिद्धि की आकांक्षा से विविध कष्टों को भोगता है। वह एक वस्त्र तथा चार वस्त्र को धारण करता है, मेढक की तरह सोता है, वीरासन लगाता है, आकाश में वीरासन लगाकर शयन भी करता है। ईंट के आकार के पत्थर, मंडलाकार पत्थर तथा भस्मीभूत पत्थर पर सोता है, भूमि-शय्या पर अवस्थित होकर लेप लगाता है। वीरों के स्थान में जल पीता है, पाक वनाता है और तख्तों पर तथा फलों के गुच्छों से युक्त अनेक प्रकार की शय्याओं पर सोता है। खलिहान से लगे हुए उद्यान में रेशमी वस्त्र तथा कृष्ण मृगचर्म से युक्त होकर मणि तथा पूँछ के बाल धारण करता है। व्याघ्रचर्म, सिंहचर्म, पट्टवस्त्र फलक (?), स्वर्ण-वस्त्र धारण करता है ॥८-१३॥ (कभी) एकमात्र स्वर्णवस्त्र तो कभी खंडवस्त्र धारण करता है। कभी अन्य प्रकार के बहुत से वस्त्रों को पहनता है, अनेक प्रकार के भोजन करता है, विविध रत्नों को धारण

---

[1] क. ०ह युगक्ष०। [2] ग. ०मानुष्यं प्र०। [3] ख. ०भिगच्छति। अ०। [4] ख. ०श्च दुर्वा०। [5] क. ०व। कुशस्य प्र०। [6] ग. ०तः। शालिवान प०। [7] ख. पटवा०। [8] ख. तथोदकसुव०।

[1]चतुर्थाष्टमकालं च षष्ठकालिकमेव च । षड्रात्रभोजनश्चैव तथा चाष्टाहभोजनः ॥१६॥
मासोपवासी मूलाशी फलाहारस्तथैव च । वायुभक्षश्च[2] पिण्याकदधिगोमयभोजनः ॥१७॥
गोमूत्रभोजनश्चैव काशपुष्पाशनस्तथा । शैवालभोजनश्चैव तथा चान्येन वर्तयन् ॥१८॥
वर्तयञ्शीर्णपर्णैश्च प्रकीर्णफलभोजनः । विविधानि च कृच्छ्राणि सेवते सिद्धिकाङ्क्षया ॥१९॥
चान्द्रायणानि विधिवल्लिङ्गानि विविधानि च । [3]चातुराश्रम्ययुक्तानि धर्माधर्माश्रयाण्यपि ॥२०॥
उपाश्रयानप्यपरान्पाखण्डान्विविधानपि । विविक्ताश्च शिलाछायास्तथा प्रस्रवणानि च ॥२१॥
पुलिनानि विविक्तानि विविधानि वनानि च । काननेषु विविक्ताश्च शैलानां महतीर्गुहाः ॥२२॥
नियमान्विविधांश्चापि विविधानि तपांसि च । यज्ञांश्च विविधाकारान्विद्याश्च विविधास्तथा ॥२३॥
वणिक्पथं द्विजक्षत्रवैश्यशूद्रांस्तथैव च । दानं च विविधाकारं दीनान्धकृपणादिषु ॥२४॥
[4]अभिमन्येत संधातुं तथैव विविधान्गुणान् । सत्त्वं रजस्तमश्चैव धर्मार्थौ काम एव च[5] ॥२५॥
प्रकृत्याऽऽत्मानमेवाऽऽत्मा एवं प्रविभजत्युत[6] । स्वाहाकारवषट्कारौ स्वधाकारनमस्क्रिये ॥२६॥
यजनाध्ययने दानं तथैवाऽऽहुः प्रतिग्रहम् । याजनाध्यापने चैव तथाऽन्यदपि किंचन ॥२७॥
जन्ममृत्युविधानेन तथा विशसनेन च । शुभाशुभमयं सर्वमेतदाहुः सनातनम्[7] ॥२८॥
प्रकृतिः कुरुते देवी भयं प्रलयमेव च । दिवसान्ते गुणानेतानतीत्यैकोऽवतिष्ठते ॥२९॥

करता है, बीच में एक रात को छोड़कर भोजन करता है, एक ही समय भोजन करता है चौथे, आठवें तथा छठे प्रहर में भोजन करता है, महीने में छह रात भोजन करता है, आठ दिन भोजन करता है, महीने तक उपवास करता है, कन्द-मूल फल खाता है, वायुभक्षण करता है, तिलकल्क, दही तथा गोबर खाता है, गोमूत्र तथा काशपुष्प भोजन करता है, सिवार भोजन करता है जीर्ण होकर झड़े हुए फल-पत्ते खाता है, चन्द्रायण व्रत करता है, एकान्त स्थान में, शिला-खण्ड पर, तथा छाया के नीचे विश्राम करता है, पुलिनों पर, विविध वनों में, काननों, पर्वतों पर तथा गुफाओं में रहता है, विविध नियम, तप तथा यज्ञ करता है, अनेक विद्याओं को पढ़ता है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों में उत्पन्न होता है, दीन, अन्ध तथा कृपणों को दान देता है, रज, सत्त्व, तथा तमोगुण को धारण करता है, धर्म, अर्थ और काम का साधन करता है ॥१४-२५॥ इस प्रकार आत्मा प्रकृति से आत्मा का विभाग करता है। स्वाहाकार, वषट्कार, स्वधाकार, नमस्कार, यजन, अध्ययन, दान, प्रतिग्रह, याजन, अध्यापन, जन्म, मृत्यु, शुभ, अशुभ—ये सब आत्मा ही हैं ॥२६-२८॥ प्रकृतिदेवी भय और प्रलय करती है। दिवसान्त (प्रलय) में इन गुणों का अतिक्रमण करके एक आत्मा ही अवस्थित रहता है। जैसे सूर्य रश्मिजाल को समेट लेता है, वैसे आत्मा काल का नियमन करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् आत्मा की क्रीड़ा के लिये माना जाता है। आत्मा विविध गुणों को धारण करके सृष्टि तथा प्रलय करता है। कर्म के मार्ग पर आरुढ़ होकर त्रिगुणात्मक तथा त्रिगुणाधिप आत्मा कर्म एवम्

१ख. ०कालश्च ष० । २ख. ०भक्षोऽम्बुपि० । ३क. ०नि वर्णधर्माश्र० । ४क. ०मन्य तु सं० । ख. ०मन्यवसं० । ५क. च । स कृत्वाऽऽत्मा० । ६क. ख. ०जत्पुनः । स्वा० । ७ख. ग. क्रियापथम् ।

रश्मिजालमिवाऽऽदित्यस्तत्कालं संनियच्छति । एवमेवैष तत्सर्वं क्रीडार्थमभिमन्यते ॥३०॥
आत्मरूपगुणानेतान्विविधान्हृदयप्रियान् । एवमेतां प्रकुर्वाणः सर्गप्रलयधर्मिणीम् ॥३१॥
क्रियां क्रियापथे रक्तस्त्रिगुणस्त्रिगुणाधिपः । क्रियाक्रियापथोपेतस्तथा तदिति मन्यते ॥३२॥
प्रकृत्या सर्वमेवेदं जगदन्धीकृतं विभो । रजसा तमसा चैव व्याप्तं सर्वमनेकधा ॥३३॥
एवं द्वंद्वान्यतीतानि मम वर्तन्ति नित्यशः । मत्त एतानि जायन्ते प्रलये यान्ति मामपि ॥३४॥
निस्तर्तव्याण्यथैतानि सर्वाणीति नराधिप । मन्यते पक्षबुद्धित्वात्तथैव सुकृतान्यपि ॥३५॥
भोक्तव्यानि ममैतानि देवलोकगतेन वै । इहैव चैनं भोक्ष्यामि[1] शुभाशुभफलोदयम् ॥३६॥
सुखमेवं तु कर्तव्यं सकृत्कृत्वा सुखं मम । यावदेव तु मे सौख्यं जात्यां जात्यां भविष्यति ॥३७॥
भविष्यति न मे दुःखं कृतेनेहाप्यनन्तकम् । [2]सुखदुःखं हि मानुष्यं निरये चापि मज्जनम् ॥३८॥
निरयाच्चापि मानुष्यं कालेनैष्याम्यहं पुनः । मनुष्यत्वाच्च देवत्वं देवत्वात्पौरुषं पुनः ॥३९॥
मनुष्यत्वाच्च [3]निरयं [4]पर्यायेणोपगच्छति । एष एवं द्विजातीनामात्मा वै स गुणैर्वृतः ॥४०॥
तेन देवमनुष्येषु निरयं चोपपद्यते । ममत्वेनाऽऽवृतो नित्यं तत्रैव परिवर्तते ॥४१॥
सर्गकोटिसहस्राणि मरणान्तासु मूर्तिषु । य एवं कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम् ॥४२॥
स एव फलमाप्नोति त्रिषु लोकेषु मूर्तिमान् । प्रकृतिः कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम् ॥४३॥
प्रकृतिश्च तथाऽऽप्नोति त्रिषु लोकेषु कामगा । तिर्यग्योनिमनुष्यत्वे देवलोके तथैव च ॥४४॥

कर्ममार्ग से युक्त होकर कर्म करता है ॥२९-३२॥ परमात्मा की प्रकृति ने सम्पूर्ण जगत् को अन्धा वना दिया है। रजोगुण तथा तमोगुण से सब कुछ व्याप्त है ॥३३॥ इस प्रकार जीव के द्वन्द्व नित्य वर्तमान रहते हैं। जीव से ही इनकी उत्पत्ति होती है और प्रलय में ये जीव को ही प्राप्त होते हैं ॥३४॥ राजन् ! ये समस्त द्वन्द्व दुष्पार हैं। उसी तरह पुण्यों को भी समझिये। देवलोक जाने पर भी इनका भोग करना पड़ता है। शुभ और अशुभ कर्मों का फल सुख दुःख—तब तक भोगना पड़ता है, जब तक जन्म-मरण होते रहते हैं। जीव को सुख, दुःख, मनुष्यता तथा नरक-भोग भी प्राप्त होता है। समय पाकर जीव पुनः नरक से मनुष्य-योनि में भी आता है। वह मनुष्यत्व से देवत्व को, देवत्व से मनुष्यत्व को और मनुष्यत्व से नरक को भी कालक्रम से प्राप्त करता है। इस प्रकार द्विजातियों का आत्मा गुणों से आवृत है ॥३५-४०॥ इसलिये जीव देवयोनि में, मनुष्योनि में तथा नरक में भी जाता है। ममता से युक्त होकर जीव सहस्रों करोड़ सृष्टियों में सुख-दुःख भोगता रहता है ॥४१३॥ जो इस प्रकार शुभ-अशुभ कर्म करता है, वह शुभ-अशुभ फल पाता है। तीनों लोक में जाने वाली प्रकृति शुभ-अशुभ कर्म करती है और तदनुरूप फल पाती है। तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि तथा देवयोनि—ये तीन स्थान प्रकृति के माने जाते हैं।

---

[1] क. ०मि पापपुण्यफ०। [2] ग. दुःखे हि। [3] क. नरकं। [4] ग. ०ति। य एवं वेत्ति नित्यं वै निरात्माऽऽत्मगु०।

त्रीणि स्थानानि चैतानि जानीयात्प्राकृतानि ह । अलिङ्गप्रकृतित्वाच्च लिङ्गैरप्यनुमीयते ।।४५।।
तथैव पौरुषं लिङ्गमनुमानाद्धि मन्यते । स लिङ्गान्तरमासाद्य प्राकृतं लिङ्गमव्रणम्[1] ।।४६।।
व्रणद्वाराण्यधिष्ठाय [2]कर्माण्यात्मनि मन्यते । श्रोत्रादीनि तु सर्वाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यथ ।।४७।।
रागादीनि प्रवर्तन्ते गुणेष्विह गुणैः सह । अहमेतानि वै कुर्वन्ममैतानीन्द्रियाणि ह ।।४८।।
निरिन्द्रियो हि मन्येत व्रणवानस्मि निर्व्रणः । अलिङ्गो लिङ्गमात्मानमकालं कालमात्मनः ।।४९।।
असत्त्वं सत्त्वमात्मानममृतं मृतमात्मनः । अमृत्युं मृत्युमात्मानमचरं चरमात्मनः ।।५०।।
अक्षेत्रं क्षेत्रमात्मानमसङ्गं सङ्गमात्मनः । अतत्त्वं तत्त्वमात्मानमभवं भवमात्मनः ।।५१।।
अक्षरं क्षरमात्मानमबुद्धत्वाद्धि मन्यते । एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ।।५२।।
सर्गकोटिसहस्राणि पतनान्तानि [3]गच्छति । जन्मान्तरसहस्राणि मरणान्तानि गच्छति ।।५३।।
तिर्यग्योनिमनुष्यत्वे देवलोके तथैव च । चन्द्रमा इव [4]कोशानां पुनस्तत्र सहस्रशः ।।५४।।
नीयतेऽप्रतिबुद्धत्वादेवमेव कुबुद्धिमान् । [5]कला पञ्चदशी योनिस्तद्धाम [6]इति [7]पठ्यते ।।५५।।
[8]नित्यमेव विजानीहि सोमं वै [9]षोडशांशकैः । [10]कलया जायतेऽजस्रं पुनः पुनरबुद्धिमान्[11] ।।५६।।
धीमांश्चायं न भवति नृप एवं हि जायते । षोडशी तु कला सूक्ष्मा स सोम उपधार्यताम् ।।५७।।

जीव अलिंगप्रकृतिक होते हुए भी लिंगों द्वारा समझा जाता है ।।४२-४५।। उसी तरह पौरुषलिंग अनुमान से माना जाता है। वह अक्षर प्राकृत लिंग को प्राप्त कर व्रणद्वार को अधिष्ठित करके अपने में कर्मों को मानता है ।।४६$\frac{१}{२}$।। श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा रागआदि, गुणों के साथ विद्यमान रहते हैं। जीव इन्द्रिय-रहित होते हुए भी अज्ञानता से समझ बैठता है कि मैं यह कार्य करता हूँ और मेरी ये इन्द्रियाँ हैं ।।४०-४८।। वह अलिंग (अरूप) को लिंग, असत्त्व को सत्त्व, अमृत को मृत, अमृत्यु को मृत्यु, अचर को चर, अक्षेत्र को क्षेत्र, असंग को संग, अतत्त्व को तत्त्व, अभव को भव और अक्षर को क्षर मान लेता है ।।४९-५१$\frac{१}{२}$।। इस प्रकार अविद्वानों की सेवा से सहस्रकोटि सृष्टि पर्यन्त जीव का अधःपतन होता रहता है। सहस्रों बार उसके जन्म-मरण होते हैं ।।५२-५३$\frac{१}{२}$।। तिर्यग्योनि, मनुष्योनि तथा देवयोनि में भी वह जाता है। जैसे चन्द्रमा कोशों (लोकों में ?) जाता है वैसे मूर्ख मनुष्य अबोध के कारण तत्तत् योनियों में जाता है ।।५४$\frac{१}{२}$।। चन्द्रमा की पन्द्रहवीं कला योनि कहलाती है। उसका नाम धाम भी है। सोलह अंशों से युक्त चन्द्रमा को नित्य समझिये ।अबुद्धिमान् मनुष्य बार-बार कला से उत्पन्न होता है। नृप ! वह ऐसे ही उत्पन्न होता रहता है, पर बुद्धिमान् नहीं होता। सोलहवीं कला सूक्ष्म है। उसे चन्द्रमा समझिये ।।५५-५७।।

१ख. ०म् । प्राणान्द्वारा० । २क. ग. कर्मणात्म० । ३ग. ०ति । धाम्ना धामस० । ४क. लोकानां । ५ग. कलाः । ६ख. ग. इव । ७ख. पद्यते । ८ख. ग. ०मेतद्द्विजा० । ९क. ०दृशात्मकम् । क० । ग. ०डशीं कलाम् । क० । १०क. कला पंचदशी तेजस्ते पुनश्च कुबु० । ११ग. ०न् । धाम तस्योपयुञ्जन्ति भूय एव तु जा० ।

न [1]तूपयुज्यते देवैर्देवानपि युनक्ति सः । ममत्वं क्षपयित्वा तु जायते नृपसत्तम ॥५८॥
प्रकृतेस्त्रिगुणायास्तु स एव त्रिगुणो[2] भवेत् ॥५९॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे वसिष्ठकरालजनकसंवादे
द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४२॥

अथ त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वशिष्ठं प्रति मोक्षधर्मविषयको जनकप्रश्नः

जनक उवाच

अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः संबन्ध इष्यते । [3]स्त्रीपुंसयोर्वा सम्बन्धः स वै पुरुष उच्यते ॥१॥
ऋते तु पुरुषं नेह स्त्री गर्भान्धारयत्युत । ऋते स्त्रियं न पुरुषो [4]रूपं निर्वर्तते तथा ॥२॥
अन्योन्यस्याभिसंबन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात् । रूपं निर्वर्तयेदेतदेवं सर्वासु योनिषु[5] ॥३॥
रत्यर्थमतिसंयोगादन्योन्यगुणसंश्रयात् । ऋतौ निर्वर्तते रूपं तद्वक्ष्यामि निदर्शनम् ॥४॥
ये गुणाः पुरुषस्येह ये च मातुर्गुणास्तथा । अस्थि स्नायु च मज्जा च[6] जानीमः पितृतो द्विज ॥५॥

सोम देवताओं से उपयुक्त नहीं होते, पर वे देवताओं को उपयुक्त करते हैं। वे ममत्व का नाश करके उत्पन्न होते हैं। वे त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीनों गुण हैं ॥५८॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में वसिष्ठ और करालजनक के संवाद-प्रकरण में
दो सौ बयालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२४२॥

अध्याय २४३

मोक्षधर्म के सम्बन्ध में वसिष्ठ से जनक का प्रश्न

जनक बोले—अक्षर और क्षर (पुरुष और प्रकृति), दोनों का सम्वन्ध होता है। स्त्री-पुरुष का सम्वन्ध पुरुष कहलाता है ॥१॥ पुरुष के बिना स्त्री गर्भ-धारण नहीं करती है और स्त्री के बिना पुरुष रूप धारण नहीं करता है ॥२॥ परस्पर के सम्बन्ध तथा गुणों के आदान-प्रदान से समस्त योनियों के रूप की निष्पत्ति होती है ॥३॥ रतिकालिक अत्यन्त संयोग से तथा परस्पर गुणाधान से ऋतुमयी होने के पश्चात् रूप का निष्पादन किया जाता है। यह मैं उदाहरण के लिये बतलाऊँगा ॥४॥ कुछ गुण पुरुष के होते हैं और कुछ माता के।

---

[1]क. न भूयश्चेज्य० । [2]ग. द्विगुणो । [3] योर्भगवन्संवन्धस्तु तदुच्य० । [4]क. ०पं प्रतिनिवर्तते । अ० । [5]क. ०षु । गत्यर्थानभिसं० । [6]क. च याति नः पि० ।

त्वङ्मासशोणितं चेति मातृजान्यनुशुश्रुम । एवमेतद्द्विजश्रेष्ठ वेदशास्त्रेषु पठ्यते ॥६॥
प्रमाणं यच्च वेदोक्तं शास्त्रोक्तं यच्च पठ्यते । वेदशास्त्रप्रमाणं च प्रमाणं तत्सनातनम् ॥७॥
एवमेवाभिसम्बन्धौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ । यच्चापि भगवंस्तस्मान्मोक्षधर्मो[1] न विद्यते ॥८॥
[2]अथवाऽनन्तरकृतं किंचिदेव निदर्शनम् । तन्ममाऽऽचक्ष्व तत्त्वेन प्रत्यक्षो ह्यसि सर्वदा ॥९॥
मोक्षकामा वयं चापि काङ्क्षामो यदनामयम् । अजेयमजरं नित्यमतीन्द्रियमनीश्वरम् ॥१०॥

वसिष्ठ उवाच

यदेतदुक्तं भवता वेदशास्त्रनिदर्शनम् । एवमेतद्यथा[3] वक्ष्ये तत्त्वग्राही यथा भवान् ॥११॥
धार्यते हि त्वया [4]ग्रन्थ उभयोर्वेदशास्त्रयोः । न च ग्रन्थस्य तत्त्वज्ञो यथातत्त्वं नरेश्वर ॥१२॥
यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः । न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ॥१३॥
भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः । यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥१४॥
ग्रन्थस्यार्थं स पृष्टस्तु मादृशो वक्तुमर्हति । यथातत्त्वाभिगमनादर्थं तस्य स विन्दति ॥१५॥
न यः समुत्सुकः कश्चिद्ग्रन्थार्थं स्थूलबुद्धिमान् । स कथं मन्दविज्ञानो ग्रन्थं वक्ष्यति निर्णयात् ॥१६॥
अज्ञात्वा ग्रन्थतत्त्वानि वादं यः कुरुते नरः । लोभाद्वाऽप्यथवा दम्भात्स पापी नरकं व्रजेत् ॥१७॥

द्विज ! अस्थि, स्नायु तथा मज्जा—ये पिता से प्राप्त होते हैं और त्वचा, मांस तथा शोणित—ये माता से प्राप्त होते हैं। वेद-शास्त्रों में ऐसा ही बतलाया गया है ॥५-६॥ वेद और शास्त्रों में जो प्रमाण पठित है तथा वेद-शास्त्रों का जो प्रमाण है, वह सनातन प्रमाण है ॥७॥ प्रकृति-पुरुष का ऐसा ही नित्य सम्वन्ध है। भगवन् ! उससे वढ़कर कोई मोक्षधर्म नहीं है। अथवा इसके बाद कोई उदाहरण हो तो वह मुझे वतलाइए। आपने तत्त्व का प्रत्यक्ष किया है ॥८-९॥ मैं भी मोक्ष का इच्छुक हूँ। अनामय, अजेय, अजर, नित्य, अतीन्द्रिय तथा ईश्वर से भी परे ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता हूँ ॥१०॥

वसिष्ठ बोले—आपने वेद-शास्त्रों का उदाहरण देकर कहा है। आप तत्त्वग्राही हैं। मैं उसी प्रकार वतलाऊँगा जैसा आप चाहते हैं ॥११॥ राजन् ! आप वेद-शास्त्रों के ग्रन्थों को धारण करते हैं, पर उनके यथार्थ तत्त्व को नहीं जानते हैं ॥१२॥ जो व्यक्ति वेद-शास्त्रों के ग्रन्थ-धारण में निरत रहता है, वह ग्रन्थों के तत्त्व को नहीं जानता है, उसका ग्रन्थ-धारण करना व्यर्थ है ॥१३॥ जो ग्रन्थ के अर्थ को नहीं जानता है, वह केवल भारवाही है। जो ग्रन्थ के तत्त्व को जानता है, उसका ग्रन्थ-धारण व्यर्थ नहीं है ॥१४॥ उससे ग्रन्थ का अर्थ पूछने पर वह मेरी तरह वता सकता है। क्योंकि वह तत्त्व को समझने के कारण उसके अर्थ को प्राप्त कर लेता है ॥१५॥ जो स्थूलवुद्धि वाला व्यक्ति ग्रन्थ के अर्थ को जानने के लिये उत्सुक नहीं रहता है, वह अल्पज्ञ जन निर्णयपूर्वक ग्रन्थ को कैसे वतलाएगा ॥१६॥ ग्रन्थ के तत्त्व को न जानकर जो व्यक्ति लोभ से अथवा दम्भ से विवाद करता है, वह पापी

---

[1] ग. ०धर्मान्न वि०। [2] क. अन्यद्वाऽ न०। [3] क. ०था तद्वै जन्म गृह्णाति चेतनः। धा०। ग. ०था तद्वै तत्त्वं गृह्णाद्यथा। क. द्व्यर्थं।

निर्णयं चापि च्छिद्रात्मा न तद्वक्ष्यति तत्त्वतः । सोऽपीहास्यार्थतत्त्वज्ञो यस्मान्नैवाऽऽत्मवानपि ॥१८॥
तस्मात्त्वं शृणु राजेन्द्र यथैतदनुदृश्यते[१] । यथा तत्त्वेन सांख्येषु योगेषु च महात्मसु ॥१९॥
यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यं[२] तदनुगम्यते । एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ॥२०॥
त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जाऽस्थि स्नायु च । एतदैन्द्रियकं तात यद्भवानित्थमात्थ माम् ॥२१॥
द्रव्याद्द्रव्यस्य निर्वृत्तिरिन्द्रियादिन्द्रियं तथा । देहाद्देहमवाप्नोति बीजाद्बीजं तथैव च ॥२२॥
निरिन्द्रियस्य बीजस्य निर्द्रव्यस्यापि देहिनः । कथं गुणा भविष्यन्ति निर्गुणत्वान्महात्मनः ॥२३॥
गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव विरमन्ति च । एवं गुणाः प्रकृतिजा जायन्ते न च यान्ति च ॥२४॥
त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जाऽस्थि स्नायु च । अष्टौ तान्यथ शुक्रेण जानीहि[३] प्राकृतेन वै ॥२५॥
पुमांश्चैवापुमांश्चैव स्त्रीलिङ्गं प्राकृतं स्मृतम्[४] । वायुरेष पुमांश्चैव रस[५] इत्यभिधीयते ॥२६॥
अलिङ्गा [६]प्रकृतिर्लिङ्गैरुपलभ्यति[७] साऽऽत्मजैः । यथा पुष्पफलैर्नित्यं मूर्तं चामूर्तयस्तथा ॥२७॥
एवमप्यनुमानेन स लिङ्गमुपलभ्यते । पञ्चविंशतिकस्तात लिङ्गेषु [८]नियतात्मकः ॥२८॥
अनादिनिधनोऽनन्तः सर्वदर्शनकेवलः[९] । [१०]केवलं त्वभिमानित्वाद्गुणेषु गुण उच्यते ॥२९॥
गुणा गुणवतः सन्ति निगुर्णस्य[११] कुतो गुणाः । तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः ॥३०॥

नरक को जाता है ।।१७।। छिद्रान्वेषी व्यक्ति तत्त्वतः निर्णय भी नहीं कर पाता है। राजन्! आप जिसलिए तत्त्व को नहीं जानते हैं इसलिये सुनिये। सांख्य और योग में तत्त्वतः कुछ भी अन्तर नहीं है। योग जो बतलाता है, सांख्य भी वही बतलाता है। जो सांख्य और योग को एक समझता है, वही बुद्धिमान् है ।।१८-२०।। त्वचा, मांस, रक्त, मेद, पित्त, मज्जा, अस्थि तथा स्नायु—ये इन्द्रियसम्बन्धी हैं। द्रव्य से द्रव्य की, इन्द्रिय से इन्द्रिय की, देह से देह की और बीज से बीज की निष्पत्ति होती है। निरिन्द्रिय, निर्बीज तथा निर्द्रव्य प्राणी से गुणों की उत्पत्ति कैसे होगी ।।२१-२३।। गुण गुणों से उत्पन्न होते हैं और वहीं विराम करते हैं। इस प्रकार प्रकृति से गुण उत्पन्न होते हैं; किन्तु वे चले नहीं जाते हैं ।।२४।। त्वचा, मांस, रक्त, मेद, पित्त, मज्जा, अस्थि, स्नायु—ये आठों वीर्य से उत्पन्न होते हैं। पुंलिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक—ये तीनों प्राकृतिक हैं। यह वायु पुरुष ही है और इसको रस कहते हैं ।।२५-२६।। प्रकृति अलिंग है। आत्मजन्य लिंगों से वह उपलब्ध होती है। जैसे पुष्पों और फलों के नित्य मूर्त रूप तथा अमूर्त रूप की उपलब्धि होती है, इसी प्रकार अनुमान से वह लिंग उपलब्ध होता है ।।२७।। तात! पचीसवाँ तत्त्व, जो आदि, अन्त तथा मरण से रहित है और समस्त दर्शन में एक है, वह लिंगों में नियतलिंग है। वह केवल अभिमान से गुणों के बीच गुण कहलाता है ।।२८-२९।। गुणवान् के गुण होते हैं; निर्गुण के गुण कहाँ से होंगे? इसलिये जो व्यक्ति गुणदर्शी हैं, वे ऐसा जानते हैं ।।३०।। जब यह गुणवान् आत्मा इन प्राकृतिक गुणों का अभिमान करता है

१क. ०ते । याथातथ्येन । २ग. सांख्यैस्तदभिकथ्यते । ३क. जायन्ते । ४क. ख. शुभम् । ५क. रेत । ६क. ०लिङ्ग उप० । ७ग. ०ति चात्म० । ८ग. ०त्मकम् । अ० । ९ग. ०वलम् । के० । १०क. ०लं वलवानीशगुणे० । ११क. ०र्गुणेषु कु० ।

यदा त्वेष गुणानेतान्प्राकृतानभिमन्यते । तदा स [1]गुणवानेव गुणभेदान्प्रपश्यति ॥३१॥
यत्तद्बुद्धेः परं प्राहुः सांख्ययोगं च सर्वशः[2] । बुध्यमानं महाप्राज्ञाः प्रबुद्धपरिवर्जनात् ॥३२॥
अप्रबुद्धं यथा व्यक्तं स्वगुणैः प्राहुरीश्वरम् । निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च ॥३३॥
प्रकृतेश्च गुणानां च पञ्चविंशतिकं बुधाः । सांख्ययोगे च कुशला बुध्यन्ते परमैषिणः ॥३४॥
यदा प्रबुद्धमव्यक्तमवस्थात (प) ननी (भी) रवः। [3]बुध्यमानं न [4]बुध्यन्तेऽवगच्छन्ति समं[5] तदा ॥३५॥
एतन्निदर्शनं [6]सम्यङ्न सम्यगनुदर्शनम् । बुध्यमानं प्रबुध्यन्ते द्वाभ्यां पृथगरिंदम ॥३६॥
परस्परेणैतदुक्तं क्षराक्षरनिदर्शनम् । एकत्वमक्षरं प्राहुर्नानात्वं क्षरमुच्यते ॥३७॥
[7]पञ्चविंशतिनिष्ठोऽयं तदा सम्यक्प्रचक्षते । एकत्वदर्शनं चास्य नानात्वं चास्य दर्शनम् ॥३८॥
[8]तत्त्ववित्तत्त्वयोरेव पृथगेतन्निदर्शनम् । पञ्चविंशतिभिस्तत्त्वं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥३९॥
निस्तत्त्वं पञ्चविंशस्य परमाहुर्मनीषिणः । वर्ज्यस्य[9] वर्ज्यमाचारं[10] तत्त्वं तत्त्वात्सनातनम् ॥४०॥

करालजनक उवाच

नानात्वैकत्वमित्युक्तं त्वयैतद्द्विजसत्तम । पश्यतस्तद्धि संदिग्धमेतयोर्वै निदर्शनम् ॥४१॥
तथा [11]बुद्धप्रबुद्धाभ्यां[12] बुध्यमानस्य चानघ । स्थूलबुद्ध्या न पश्यामि तत्त्वमेतन्न संशयः ॥४२॥
अक्षरक्षरयोरुक्तं त्वया यदपि कारणम् । तदप्यस्थिरबुद्धित्वात्प्रनष्टमिव मेऽनघ ॥४३॥

तब यह गुण-भेदों को देखता है । महापंडितों ने कहा है कि सांख्य और योग बुद्धि से परे होते हुए भी समझे जाते हैं । सांख्य और योग में प्रवीण विद्वान् अप्रबुद्ध, ईश्वर, निर्गुण नित्य तथा अधिष्ठाता परमात्मा को, जो प्रकृति तथा गुणों का पचीसवाँ तत्त्व है, जानते हैं । ज़ब प्रबुद्ध अव्यक्त आत्मा को अवस्थित करने से भी पुरुष जाने जाते हुए आत्मा को नहीं जानते हैं तब वे सम भाव को जानते हैं । यह सम्यक् दृष्टान्त है न कि सम्यक् निरीक्षण । हे शत्रुओं का दमन करने वाले ! तत्त्ववेत्ता जन इन दोनों से पृथक् बुद्धिमान् आत्मा को जानते हैं ॥३१-३६॥ क्षर और अक्षर का निदर्शन परस्पर बतलाया गया है । एकत्व अक्षर को कहते हैं और नानात्व क्षर को कहते हैं । जीव पचीसवें तत्त्व में प्रविष्ट होने पर एकत्व तथा नानात्व का दर्शन करता है । तत्त्ववेत्ता और तत्त्व के बारे में ही यह दृष्टान्त बतलाया गया है । मनीषियों ने पचीस तत्त्व बतलाये हैं, परन्तु पचीसवें तत्त्व को निस्तत्व कहा गया है । वर्जनीय का वर्जनीय आचार तत्त्व से बढ़कर सनातन तत्त्व है ॥४०॥

करालजनक बोले—द्विजश्रेष्ठ ! आपने नानात्व तथा एकत्व के बारे में कहा है । परन्तु दोनों के दृष्टान्त में मुझे सन्देह है । मैं मन्दबुद्धि होने के कारण इस तत्त्व को नहीं समझ रहा हूँ ! निष्पाप ! अक्षर और क्षर का कारण जो आपने बतलाया, वह भी चञ्चलबुद्धि होने के कारण मैं नहीं समझ सका । इसलिये नानात्व तथा एकत्व

१ग. ०वपरमेनावप। २ग. ०शः। प्रबुद्धिमान्महाप्राज्ञः प्र०। ३ग. ०माने न। ४ग. ०न्ते न ग०। ५ग. मतं। ६ग. ०म्यगग्रन्थदर्शनद०। ७ग. ०तिविष्णोऽयं। ८ग. तद्वन्निस्तत्त्व०। ९ग. वर्गस्य। १०ग. वर्गमात्मानं त०। ११क. बुद्धं प्र०। १२क. ०द्धात्मा० बु०।

तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि नानात्वैकत्वदर्शनम्[1] । द्वंद्वं चैवानिरुद्धं च बुध्यमानं च तत्त्वतः ॥४४॥
विद्याविद्ये च भगवन्नक्षरं च क्षरमेव।सांख्ययोगं च[2] कृत्स्नेन बुद्धाबुद्धिं पृथक्पृथक् ॥४५॥

वसिष्ठ उवाच

हन्त ते संप्रवक्ष्यामि यदेतदनुपृच्छसि । योगकृत्यं[3] महाराज पृथगेव शृणुष्व मे ॥४६॥
योगकृत्यं तु योगानां ध्यानमेव परं बलम् । तच्चापि[4] द्विविधं ध्यानमाहुर्विद्याविदो जनाः ॥४७॥
एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च । प्राणायामस्तु[5] सगुणो निर्गुणो मानसस्तथा ॥४८॥
मूत्रोत्सर्गे पुरीषे च भोजने च नराधिप (?) । द्विकालं नोपभुञ्जीत शेषं भुञ्जीत [6]तत्परः ॥४९॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवर्त्य मनसा मुनिः । दशद्वादशभिर्वाऽपि[7] चतुर्विंशात्परं[8] यतः ॥५०॥
स चोदनाभिर्मतिमान्नाऽऽत्मानं चोदयेदथ । तिष्ठन्तमजरं[9] तं तु यत्तदुक्तं मनीषिभिः ॥५१॥
विश्वात्मा सततं ज्ञेय इत्येवमनुशुश्रुम । द्रव्यं [10]हृयहीनमनसो नान्यथेति विनिश्चयः ॥५२॥
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो लघ्वाहारो[11] जितेन्द्रियः । पूर्वरात्रे परार्धे च धारयीत[12] मनो हृदि ॥५३॥
स्थिरीकृत्येन्द्रियग्रामं मनसा मिथिलेश्वर । मनो बुद्ध्या स्थिरं कृत्वा पाषाण इव निश्चलः ॥५४॥

का दर्शन मुझे बतलाइये। भगवन् ! द्वन्द्व, अनिरुद्ध, बुध्यमान, विद्या, अविद्या, अक्षर, क्षर, सांख्य योग, बुद्धि और अबुद्धि को पृथक्-पृथक् बतलाइये ॥४१-४५॥

वसिष्ठ बोले—अच्छा ! जो आपने पूछा है, वह बतलाऊँगा। महाराज ! योग-कार्य को अलग ही सुन लीजिए ॥४६॥ योग का ध्यान ही परम बल है। विद्वानों का कहना है कि ध्यान दो प्रकार के होते हैं—एक मन की एकाग्रता और दूसरा प्राणायाम। प्राणायाम सगुण होता है और मानसिक एकतान निर्गुण होता है ॥४७-४८॥ नराधिप ! मल-मूत्र त्यागने के समय तथा भोजन-काल में (?) प्राणायाम नहीं करना चाहिये। प्रातः सायंकाल में भोजन नहीं करना चाहिये। अन्य काल में सावधान होकर भोजन करे ॥४९॥ मुनि विषयों से इन्द्रियों को मन से रोककर दस, बारह या चौबीस तत्त्वों से परे आत्मा का मनन करे। वह बुद्धिमान् वर्तमान तथा अजर आत्मा को प्रेरणाओं (शास्त्रोपदेशों) से उत्प्रेरित (तर्क-वितर्कशील) न करें ऐसा मनीषियों ने कहा है। (?) विश्वात्मा का ज्ञान सतत रहना चाहिये, ऐसा हमने सुना है ॥५०-५१½॥ यह निश्चित बात है कि मन को वश में करने पर ही आत्मज्ञान होता है। सब प्रकार की आसक्तियों से विमुक्त तथा जितेन्द्रिय होकर अल्प आहार करते हुए पूर्वरात्रि में एवम् अपर रात्रि में हृदय में मन का धारण करे ॥५२-५३॥ मिथिलेश्वर ! मन से इन्द्रिय-समूह को स्थिर करके बुद्धि से मन को पाषाण की तरह स्थिर करते हुए निश्चल हो जाय ॥५४॥ स्थाणु की तरह निष्कम्प और दारु के समान अचल होना चाहिये। इस प्रकार बुद्धि से विधि-

---

[1] ग. ०म्। बुद्धं जहात्याबुद्धं च बु०। [2] क. च सांख्येन पृथक्त्वेन पृथक्स्थितिः। व०। [3] क. ०त्यं तु योगेन ध्यान०। [4] क. ०पि तद्विधत्वाच्च आहु०। [5] क. ०यामः सत्त्वगु०। [6] क. तत्त्वतः। [7] क. ०पि पञ्चविंशा०। [8] क. ०रंतप। संवादादिभि०। [9] क. ०जरत्वं तु। [10] क. ह्यदीन०। [11] क. लघुवागजि०। [12] क. वाचयित्वा।

स्थाणुवच्चाप्यकम्प्यः स्याद्दारुवच्चापि निश्चलः । बुद्ध्या विधिविधानज्ञस्ततो युक्तं [१]प्रचक्षते ॥५५॥
न शृणोति न चाऽऽघ्राति [२]न च पश्यति किंचन । न च स्पर्शं विजानाति न च संकल्पते मनः ॥५६॥
न चापि[३] मन्यते किंचिन्न च बुध्येत[४] काष्ठवत् । तदा प्रकृतिमापन्नं युक्तमाहुर्मनीषिणः[५] ॥५७॥
न भाति हि यथा दीपो[६] दीप्तिस्तद्वच्च दृश्यते । निलिङ्गश्चाधश्चोर्ध्वं च तिर्यग्गतिमवाप्नुयात् ॥५८॥
तदा तदुपपन्नश्च यस्मिन्दृष्टे च कथ्यते । हृदयस्थोऽन्तरात्मेति ज्ञेयो ज्ञस्तात मद्विधैः ॥५९॥
निर्धूम इव सप्तार्चिरादित्य इव रश्मिवान् । वैद्युतोऽग्निरिवाऽऽकाशे पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥६०॥
यं पश्यन्ति महात्मानो धृतिमन्तो मनीषिणः । ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ह्ययोनिममृतात्मकम् ॥६१॥
तदेवाऽऽहुरणुभ्योऽणु तन्महद्भ्यो महत्तरम् । सर्वत्र सर्वभूतेषु ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ॥६२॥
[७]बुद्धिद्रव्येण दृश्येन मनोदीपेन लोककृत् । महतस्तमसस्तात पारे तिष्ठन्न[८] तामसः ॥६३॥
तमसो दूर इत्युक्तस्तत्त्वज्ञैर्वेदपारगैः । विमलो विमतश्चैव निर्लिङ्गोऽलिङ्गसंज्ञकः ॥६४॥
योग एष हि लोकानां[९] किमन्यद्योगलक्षणम् । एवं पश्यन्प्रपश्येन आत्मानमजरं परम् ॥६५॥
योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया । [११]सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानिदर्शनम् ॥६६॥

विधान को जानने वाला योगाभ्यास करे ॥५५॥ जब योगी न सुनता है, न सूँघता है, न देखता है, न स्पर्श को जानता है, न संकल्प करता है, न मानता है और न काष्ठ की तरह कुछ समझता ही है तब वह प्रकृति को प्राप्त कर लेता है, ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥५७॥ जैसे दीपक यदि बढ़िया नहीं है तो उसका प्रकाश भी अच्छा नहीं होगा। दीप को ऊपर, नीचे तथा अधर में कहीं भी रखिए, उसकी लौ की गति सदा टेढ़ी रहेगी। उसी तरह स्वच्छ अन्तःकरण में आत्मा प्रकाशित होता है (?) तात ! ज्ञात रूप जो आत्मा है उसी को हम लोग हृदयस्थित अन्तरात्मा समझें ॥५८-५९॥ निर्धूम अग्नि के समान, रश्मियुक्त आदित्य के समान और आकाश में विद्युल्लता के अग्नि के समान आत्मा में आत्मा को देखना चाहिए ॥६०॥ धीर, मनीषी, ब्रह्मज्ञ तथा महात्मा ब्राह्मण जिस अयोनिज तथा अमृतरूप आत्मा को देखते हैं, वही आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् है। वह समस्त भूतों में निश्चल रहता हुआ भी देखा नहीं जाता है ॥६१-६२॥ बुद्धि रूपी द्रव्य के सहयोग से मन रूपी दीप के द्वारा आत्मा को देखना चाहिये। आत्मा महान् तम से परे रहने के कारण तामस नहीं कहलाता है ॥६३॥ वेदपारंगत तत्त्वज्ञों ने आत्मा को तम से दूर, तथा निर्लिप्त कहा है ॥६४॥ लोक में यही योग का लक्षण है। दूसरा क्या हो सकता है ? यह विचार कर अजर तथा पर आत्मा को देखना चाहिये ॥६५॥ इतना योगदर्शन मैंने आपको तत्त्वपूर्वक बतला दिया, अब परिसंख्याविधि (जिसमें विहित विधि के अतिरिक्त अन्य वस्तु का निषेध हो जाता है) के प्रमाण से सांख्यदर्शन का प्रवचन करूँगा ॥६६॥ नृपश्रेष्ठ ! सांख्य में आत्मा की परा प्रकृति को

१क. नित्यं । २ग. न रंस्यति न पश्यति । न । ३क. चावम० । ४ग. बुध्यति । ५ग. ०णः निवाते हि । ६ग. दीप्यदीप्तो दीपः । प्रदृ० । ७क. ०द्धिदृश्यित मानादि येन तल्लोकवैकृतम् । म० । ग. ०द्धिर्द्रव्ये० । ८क. ०न्ननामयः । ० । ९क. योगानां । १०क. सांख्ययोगं ।

अव्यक्तमाहुः [1]प्रख्यानं परां [2]प्रकृतिमात्मनः । तस्मान्महत्समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम ।।६७।।
अहंकारस्तु महतस्तृतीय इति नः श्रुतम् । पञ्चभूतान्यहंकारादाहुः [3]सांख्यात्मदर्शिनः ।।६८।।
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराश्चापि षोडश । पञ्च चैव विशेषाश्च तथा पञ्चेन्द्रियाणि च ।।६९।।
एतावदेव तत्त्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिणः । सांख्ये सांख्यविधानज्ञा नित्यं सांख्यपथे स्थिताः ।।७०।।
यस्माद्यदभिजायेत तत्तत्रैव प्रलीयते । लीयन्ते प्रतिलोमानि [4]गृह्यन्ते चान्तरात्मना ।।७१।।
आनुलोम्येन जायन्ते लीयन्ते प्रतिलोमतः । गुणा गुणेषु सततं सागरस्योर्मयो यथा ।।७२।।
सर्गप्रलय एतावान्प्रकृतेर्नृपसत्तम । एकत्वं प्रलये[5] चास्य बहुत्वं च तथा[6] सृजि ।।७३।।
एवमेव च राजेन्द्र विज्ञेयं ज्ञानकोविदैः । अधिष्ठातारमव्यक्तमस्याप्येतन्निदर्शनम् ।।७४।।
एकत्वं च बहुत्वं च प्रकृतेरनुतत्त्ववान् । एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च प्रवर्तनात् ।।७५।।
बहुधाऽऽत्मा प्रकुर्वीत प्रकृतिं प्रसवात्मिकाम् । [7]तच्च क्षेत्रं महानात्मा पञ्चविंशोऽधितिष्ठति ।।७६।।
अधिष्ठातेति राजेन्द्र प्रोच्यते यतिसत्तमैः । अधिष्ठानादधिष्ठाता क्षेत्राणामिति नःश्रुतम् ।।७७।।
क्षेत्रं जानाति चाव्यक्तं[8] क्षेत्रज्ञ इति चोच्यते । अव्यक्तिके पुरे शेते पुरुषश्चेति कथ्यते ।।७८।।
अन्यदेव च क्षेत्रं स्यादन्यः क्षेत्रज्ञ उच्यते । क्षेत्रमव्यक्त इत्युक्तं ज्ञातारं पञ्चविंशकम् ।।७९।।

अव्यक्त पुरुष कहा गया है । उससे महत्तत्व की उत्पत्ति हुई, जो द्वितीय है ।।६७।। महान् से अहंकार उत्पन्न हुआ जो तृतीय है, ऐसा हमने सुना है । और अहंकार से पंचभूतों की सृष्टि हुई, ऐसा सांख्यात्मदर्शी का कहना है ।।६८।। ये आठ प्रकृतियाँ हैं और सोलह विकार हैं । पाँच विशेष (पदार्थ भेद) और पाँच इन्द्रियाँ हैं ।।६९।। मनीषियों ने साख्य में तत्त्वों की इतनी ही संख्या बतायी है । सांख्य के विधान को जानने वाले व्यक्ति नित्य सांख्यपथ पर दृढ़ रहते हैं ।।७०।। जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, वहीं उसका लय होता है । प्रतिलोम लीन हो जाते हैं और अन्तरात्मा द्वारा उनका ग्रहण किया जाता है ।।७१।। सागर की लहरों की तरह गुण गुणों में अनुलोम भाव से उत्पन्न होते हैं और प्रतिलोम भाव से लय को प्राप्त करते हैं ।।७२।। महाराज ! प्रकृति का यही सर्गप्रलय है । प्रलय में इसका एकत्व और सृष्टि में वहुत्व जाना गया है ।।७३।। राजेन्द्र ! इस प्रकार ज्ञानियों को समझना चाहिये कि इसके अधिष्ठाता अव्यक्त का भी यही निदर्शन है ।।७४।। प्रकृति की एकता और अनेकता होती है । एकता प्रलय में और अनेकता सृष्टिकाल में होती है ।।७५।। वहुधा आत्मा प्रकृति से प्रसव कराता है । उस क्षेत्र को पचीसवाँ तत्त्व—महान् आत्मा—व्याप्त करके स्थित होता है ।।७६।। नृपेन्द्र ! यतिवर्यों ने महान् आत्मा को अधिष्ठाता कहा है । क्षेत्रों का अधिष्ठान करने से यह अधिष्ठाता कहलाता है, ऐसा हमने सुना है ।।७७।। अव्यक्त क्षेत्रों के जानने से इसका नाम क्षेत्रज्ञ पड़ा । अव्यक्त पुर में सोने से इसका नाम पुरुष है ।।७८।। क्षेत्र ओर क्षेत्रज्ञ में अन्तर है । क्षेत्र अव्यक्त का नाम है और क्षेत्रज्ञ पचीसवाँ तत्त्व कहलाता है ।।७९।। ज्ञान और ज्ञेय में भी अन्तर

१ग. प्रकृतिं । २ग. ०तिवादिनः । ३क। सांख्यविशारदाः । ए० । ४ग. सृज्यन्ते । ५क. प्रीतये । ६क. ०थाऽस्य तत् । ए० । ७क. तत्त्वक्षे० । ८क. ख. ०क्तं ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः । अ० ।

अन्यदेव च ज्ञानं स्यादन्यज्ज्ञेयं तदुच्यते । ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं[1] ज्ञेयो वै पञ्चविंशकः ॥८०॥
अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरम् । अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं[2] तत्पञ्चविंशकम् ॥८१॥
सांख्यदर्शनमेतावत्परिसंख्या न विद्यते । संख्यां प्रकुरुते चैव प्रकृतिं च प्रवक्ष्यते[3] ॥८२॥
चत्वारिंशच्चतुर्विंशत्प्रतिसंख्याय तत्त्वतः । संख्या सहस्रकृत्या[4] तु निस्तत्त्वः पञ्चविंशकः ॥८३॥
पञ्चविंशत्प्रबुद्धात्मा[5] बुध्यमान इति श्रुतः[6] । यदा बुध्यति आत्मानं तदा भवति [7]केवलः ॥८४॥
सम्यग्दर्शनमेतावद्भाषितं तव तत्त्वतः । ‘एवमेतद्विजानन्तः साम्यतां प्रतियान्त्युत ॥८५॥
सम्यङ्निदर्शनं नाम प्रत्यक्षं प्रकृतेस्तथा । [8]गुणवत्त्वाद्यथैतानि निर्गुणेभ्यस्तथा भवेत् ॥८६॥
न त्वेवं वर्तमानानामावृत्तिर्वतते पुनः । विद्यते क्षरभावश्च न परस्परमव्ययम् ॥८७॥
[9]पश्यन्त्यमतयो ये न सम्यक्तेषु च दर्शनम् । ते व्यक्तिं प्रतिपद्यन्ते पुनः पुनररिंदम ॥८८॥
सर्वमेतद्विजानन्तो[10] न सर्वस्य प्रबोधनात् । व्यक्तिभूता भविष्यन्ति[11] व्यक्तस्यैवानुवर्तनात्[12] ॥८९॥
[13]सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्वः पञ्चविंशकः[14] । य एवमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते ॥९०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे वसिष्ठकरालजनकसंवादे
त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४३॥

है । ज्ञान अव्यक्त है और ज्ञेय पचीसवाँ तत्त्व है ॥८०॥ क्षेत्र अव्यक्त कहलाता है और सत्त्व ईश्वर कहलाता है । सांख्यदर्शन अनीश्वरवादी और तत्त्व से रहित है । अथवा उसमें पचीस तत्त्व माने गये हैं । अथवा उसकी गिनती नहीं है । अथवा यह गिनती करता ही है और प्रकृति को वतलाता है । अथवा चौवालीस या चौवीस संख्या है । अथवा तत्त्वतः सहस्रों संख्या हैं अथवा निस्तत्त्व पचीस संख्या है (?) ॥८१-८३॥ पचीसवाँ प्रवुद्धात्मा वुध्यमान कहलाता है । जब वह आत्मा को जानता है तब एक हो जाता है ॥८४॥ इस दर्शन को तत्त्वपूर्वक आपसे वतला दिया । इसके जानने वाले समता प्राप्त करते हैं ॥८५॥ प्रकृति का प्रत्यक्ष होना अच्छा उदाहरण है । जैसे ये सगुण से होतेहैं वैसे निर्गुण से भी । किन्तु इस प्रकार वर्तमान रहने वालों की आवृत्ति पुनः नहीं होती है । और उसका परस्पर नाश भी होता है । वे अविनाशी नहीं हैं । (?) ॥८६-८७॥

राजन् ! जो प्रज्ञाहीन मनुष्य इस दर्शन को नहीं जानता है, वह वार-वार क्षरभाव को प्राप्त करता है ॥८८॥ व्यक्त के जानने वाले व्यक्त भाव को ही प्राप्त करते हैं । ‘सकल पदार्थ अव्यक्त है, केवल पचीसवाँ तत्त्व ही व्यक्त है’—ऐसा जो जानते हैं, उन्हें भय नहीं होता ॥८९-९०॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में वसिष्ठ और करालजनक के संवाद में
दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२४३॥

१क. ख. ०क्तं तथा वै । २ख. तनू त्वमेकविं० । ३ग. प्रचक्षते । ४ख. ०स्रप्रकृत्या नि० । ५ग. ०वुद्ध्या यो वु० । ६ख. स्मृतः । ७ग. केवलम् । ८ग. ०णतत्त्वान्यथै० । ९ग. ०न्त्यर्थैकम० । १०ख. ०न्तो भवान्सर्व प्र० । ११ख. प्रविशन्ति । १२गं. ०वात्मदर्शना० । १३ख. ०त्युक्तं स सर्वं प० । १४ख. ०शकम् । य ।

अथ चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्याय:

विद्याविद्ययो:स्वरूपकथनम्

वसिष्ठ उवाच

सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम । विद्याविद्ये त्विदानीं मे त्वं निबोधानुपूर्वशः ॥१॥
अभेद्यमाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मिणः । सर्गप्रलय इत्युक्तं विद्याविद्ये च विंशकः ॥२॥
परस्परस्य[१] विद्या वै तन्निबोधानुपूर्वशः । यथोक्तमृषिभिस्तात [२]सांख्यस्यातिनिदर्शनम् ॥३॥
कर्मेन्द्रियाणां सर्वेषां विद्या बुद्धीन्द्रियं स्मृतम् । बुद्धीन्द्रियाणां च तथा विशेषा इति नः श्रुतम् ॥४॥
विषयाणां मनस्तेषां विद्यामाहुर्मनीषिणः । मनसः पञ्च भूतानि विद्यां इत्यभिचक्षते ॥५॥
अहंकारस्तु भूतानां पञ्चानां नात्र संशयः । अहंकारस्तथा विद्या बुद्धिर्विद्या नरेश्वर ॥६॥
बुद्धया प्रकृतिरव्यक्तं तत्त्वानां परमेश्वरः । विद्या ज्ञेया नरश्रेष्ठ विधिश्च परमः स्मृतः ॥७॥
[३]अव्यक्तमपरं प्राहुर्विद्या वै पञ्चविंशकः[४] । सर्वस्य सर्वमित्युक्तं ज्ञेयज्ञानस्य पारगः ॥८॥
ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयं वै पञ्चविंशकम् । तथैव [५]ज्ञानमव्यक्तं विज्ञाता पञ्चविंशकः ॥९॥

अध्याया २४४

विद्या और अविद्या के स्वरूप का वर्णन

वसिष्ठ बोले—नृपवर ! अब तक आपसे जो कुछ कहा गया वह सांख्य दर्शन के विषय में था, अब विद्या और अविद्या के विषय में मैं कह रहा हूँ, इसको आनपूर्वी (अक्षरशः) आप सुनिये ॥१॥ सृष्टि और प्रलय-धर्मी का स्वरूप अभेद्य और अव्यक्त कहा गया है । इसी प्रकार सर्ग प्रलय और विद्या तथा अविद्या बीस प्रकार की कही गई है ॥२॥ तात ! पहले परस्पर की विद्या को आनुपूर्वीरूप से जान लो जैसा कि ऋषियों ने सांख्य को प्रमाण मानकर कहा है ॥३॥ सब कर्मेन्द्रियों के लिये विद्या ज्ञानेन्द्रिय है और ज्ञानेन्द्रियों के लिए वह विशेष वस्तु है, ऐसा हमने सुना है ॥४॥ इसी प्रकार मनीषियों ने उन (इन्द्रियों) के विषयों के लिये मन को विद्या कहा है और मन की विद्या पाँच महाभूतों को माना है ॥५॥ पाँचों महाभूतों की विद्या अहंकार है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ! इसी प्रकार अहंकार की विद्या बुद्धि है । बुद्धि की प्रकृति और प्रकृति (अव्यक्त तत्त्वों) की विद्या परमेश्वर है । नरश्रेष्ठ ! विधि को तो परम विद्या कहा गया है ॥६-७॥ अपर पचीस प्रकार के अव्यक्त को भी विद्या कहा गया है । सब के सब, एवं ज्ञेय और ज्ञान के पारगामी (पुरुष) को विद्या कहा गया है ॥८॥ ज्ञान को अव्यक्त कहा गया है, ज्ञेय के पचीस भेद हैं । इसी प्रकार अव्यक्त ज्ञान के एवं विद्या के भी पचीस भेद कहे हैं । उपर्युक्त विशेष

१ख. ०स्परं द्विधा चैतत्त्वं निबो० । २ख. स्याभिनिवेदन० । ३ख. ०क्तस्य प० । ४ख. ०शकम् । स । ५। ०मिमेत्युक्तं ।

विद्याविद्ये[1] तु तत्त्वेन मयोक्ते[2] वै विशेषतः । अक्षरं च क्षरं चैव यदुक्तं तन्निबोध मे ।।१०।।
उभावेतौ क्षरावुक्तौ उभावेतावन (था) क्षरौ । कारणं तु प्रवक्ष्यामि[3] यथाज्ञानं तु ज्ञानतः ।।११।।
अनादिनिधनावेतौ उभावेवेश्वरौ मतौ । [4]तत्त्वसंज्ञावुभावेव प्रोच्यते ज्ञानचिन्तकैः ।।१२।।
सर्गप्रलयधर्मित्वादव्यक्तं प्राहुरव्ययम् । तदेतद्गुणसर्गाय[5] विकुर्वाणं पुनः पुनः ।।१३।।
गुणानां महदादीनामुत्पद्यति परस्परम् । अधिष्ठानं[6] क्षेत्रमाहुरेतद्वै पञ्चविंशकम् ।।१४।।
[7]यदन्तर्गुणजालं[8] तु तद्व्यक्तात्मनि संक्षिपेत् । तदहं तद्गुणैस्तस्तु पञ्चविंशे विलीयते ।।१५।।
गुणा गुणेषु लीयन्ते तदेका प्रकृतिर्भवेत् । क्षेत्रज्ञोऽपि तदा [9]तावत्क्षेत्रज्ञः[10] संप्रणीयते ।।१६।।
यदाऽक्षरं प्रकृतिर्यं गच्छते गुणसंज्ञिता । निगुर्णत्वं च वै देहे गुणेषु परिवर्तनात् ।।१७।।
एवमेव च क्षेत्रज्ञः क्षेत्रज्ञानपरिक्षयात् । प्रकृत्या निर्गुणस्त्वेष इत्येवमनुशुश्रुम ।।१८।।
क्षणो भवत्येष यदा गुणवती गुणेष्वथ[11] । प्रकृतिं त्वथ जानाति निर्गुणत्वं तथात्मनः ।।१९।।
तथा[12] विशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात् । अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुध्यति बुद्धिमान् ।।२०।।
तदैषोऽव्यथतामेति न च मिश्रत्वमाव्रजेत् । प्रकृत्या चैष राजेन्द्र [13]मिश्रोऽन्योऽन्यस्य दृश्यते ।।२१।।

प्रकार से मैंने विद्या और अविद्या के विषय में तत्त्वत: कह दिया । अव जो क्षर और अक्षर के विषय में मैं कह रहा हूँ, उसको सुनो । ये दोनों ज्ञान और ज्ञेय (प्रकृति पुरुष) (विद्या, अविद्या) क्षर और अक्षर दोनों कहे गये हैं, इसका काहृण मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कह रहा हूँ । ये दोनों अनादि और निधन (नाश-शील) एवं दोनों ही ईश्वर (समर्थ) माने गये हैं। इसी प्रकार तत्त्वचिंतकों ने दोनों को तत्त्व नाम से कहा ।।९-१२।। सर्ग और प्रलय धर्मी होने के कारण अव्यक्त को अव्यय कहा गया है। यह अव्यक्त गुण सृष्टि के लिये वार-वार विकृत (विकार को प्राप्त) होता है ।।१३।। महदादि गुणों की उत्पत्ति परस्पर संयोग से होती है । इस पचीस प्रकार के गुणों को ही अधिष्ठान क्षेत्र कहा गया है ।।१४।। जो अन्तर्गुणों का समूह है वह उस अव्यक्त आत्मा में संक्षिप्त हो जाता है। वह अहं उन गुणों के सा पचीस तत्वों में विलीन हो जाता है ।।१५।। जव गुण अन्य गुणों में लीन हो जाते हैं तव एक प्रकृति के हो जाते हैं। उस समय क्षेत्र भी क्षेत्रज्ञ के रूप में उत्पन्न हो जाता है । जव अक्षर में गुण संज्ञा से प्रसिद्ध प्रकृति लीन हो जाती है तब वही शरीर में गुणों के परिवर्तन होने से निर्गुणत्व को प्राप्त होती है। इसी प्रकार क्षेत्र-ज्ञान के क्षय होने से क्षेत्रज्ञ प्रकृतित: निर्गुण हो जाता है, ऐसा सुना गया है। यह क्षेत्रज्ञ जव गुणवती प्रकृति के गुणों में विलीन हो जाता है तब क्षर हो जाता है, यद्यपि वह प्रकृति और अपने निर्गुणत्व को भली भाँति जानता है। जब बुद्धिमान् पुरुष 'मैं अन्य हूँ, यह प्रकृति अन्य है' इस बात को जान लेता है तव वह प्रकृति (माया) के परित्याग से शुद्ध हो जाता है ।।१६-२०।। वह शान्ति का अनुभव करता है और पुन: संसर्ग में नहीं आता है। राजेन्द्र ! वह प्रकृति से अन्य-अन्य के साथ मिला हुआ सा दीख पड़ता है ।।२१।। जव वह उस प्राकृत गुण-समूह से मुँह फेर लेता

---

[1] ग. ०विद्यार्थत० । [2] ग. ०योक्तान्तवि० । [3] ख. थाविज्ञानज्ञा । [4] ग. ०ज्ञाडुँभावेन प्रो० । [5] ख. ०सङ्गाय । [6] ग. ०ष्ठानात्क्षेत्र० । [7] ग. यद्यन्त० । [8] ग. ०लं तदव्यक्ता० । [9] ग. तातत खे क्षेत्र० । [10] ख. ०त्रज्ञानं परिक्षयेत् । य० । [11] ख। ०कृतिस्त्वथ । [12] ख. ०थाग्निशु० । [13] ख. मिथ्याऽन्येषु स दृ० ।

यदा तु गुणजालं तत्प्राकृतं विजुगप्सते । पश्यते च परं पश्यस्तदा पश्यन्नु[1] संसृजेत् ॥२२॥
किं मया कृतमेतावद्योऽहं[2] कालनिमज्जनः । यथा मत्स्यो ह्यभिमानादनुवर्तितवाञ्जलम् ॥२३॥
अहमेव हि [3]संमोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् । मत्स्यो यथोदकज्ञानादनुवर्तितवानिह ॥२४॥
[4]मत्स्योऽन्यत्वमथाज्ञानादुदकान्नाभिमन्यते[5] । आत्मानं [6]तदवज्ञानादन्यं[7] चैव न वेद्म्यहम् ॥२५॥
ममास्तु धिक्कुबुद्धस्य योऽहं मग्न इमं पुनः । अनुवर्तितवान्मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् ॥२६॥
[8]अयमनुभवेद्बन्धुरनेन सह मे क्षयम् । साम्यमेकत्वतां यातो यादृशस्तादृशस्त्वहम् ॥२७॥
तुल्यतामिह पश्यामि सदृशोऽहमनेन वै । अयं हि विमलो व्यक्तमहमीदृशकस्तदा ॥२८॥
योऽहमज्ञानसंमोहादज्ञया[9] संप्रवृत्तवान् । [10]संसर्गादतिसंसर्गात्स्थितः कालमिमं त्वहम् ॥२९॥
सोऽहमेवं वशीभूतः कालमेतं न बुद्धवान्[11] । उत्तमाधममध्यानां तामहं कथमावसे ॥३०॥
समानमायया चेह सहवासमहं कथम् । गच्छाम्यबुद्धभावत्वादिहेदानीं स्थिरो भव ॥३१॥
सहवासं न यास्यामि कालमेतं विवञ्चनात् । वञ्चितो ह्यनया यद्धि निर्विकारो विकारया ॥३२॥
न तत्तदपराद्धं स्यादपराधो ह्ययं मम । योऽहमत्राभवं सक्तः पराङ्मुखमुपस्थितः ॥३३॥

तव वह पर-स्वरूप को देखने लगता है और तब वह उस मत्स्य की भाँति जो जल को ही केवल जानता है और उसी में इधर-उधर घूमता रहता है, सृष्टि भी करने लगता है क्योंकि वह वह सोचने लगता है कि क्या मैंने समय के वश होकर अब तक इतना ही कार्य किया है। मैं भी मोहवश मत्स्य की भाँति केवल गतानुगतिक कार्य करता रहा। जिस प्रकार मछली जल के अतिरिक्त और किसी पदार्थ को नहीं जानती है उसी प्रकार मैंने भी आत्म-अज्ञान के कारण अन्य पदार्थों का ज्ञान नहीं प्राप्त किया ॥२२-२५॥ मेरे समान कुबुद्धि को धिक्कार है कि अब तक मैं केवल इसी में मग्न रहा, इस (प्रकृति) का अनुगामी बना रहा। अव इस अज्ञान के साथ भी मेरी बन्धुता हो गई, इसके साथ मेरा क्षय भी होगा। इसके साथ मेरा साम्य और एकत्वानुभूति हो गई, जैसा यह है वैसा मैं भी हो गया। मुझे तो अब इसी की समानता दिखाई देती है, प्रतीत होता है कि इसके संसर्ग से मैं भी इसी के समान हो गया ॥२६-२८॥ जो मैं अज्ञानवश इस मोहमयी प्रकृति के पीछे दौड़ता रहा और इसके घनिष्ठ संसर्ग से उतने समय तक अपने को भुलावे में रखा इसके लिये धिक्कार है। ऐसा अज्ञानी मैं इसके वश होकर माया वाली इस प्रकृति के साथ अब भला किस प्रकार नाता जोड़ सकता हूँ। इस समय मेरा सारा मोह अपनी अज्ञानता के साथ यहीं रहे। अव मैं कभी भी काल की वञ्चना में पड़कर इस प्रकृति का साहचर्य स्वीकार नहीं करूँगा। विकार युक्त होकर भी इसने इतने दिनों तक निर्विकार मुझको वञ्चित रखा अतः अब पुनः इस साहचर्य में नहीं फँसूँगा। यह इसका अपराध नहीं सारा दोष मेरा है जो कि मैं यह ज्ञान-पराङ्मुख हो आसक्त भाव से समय बिताता रहा ॥३१-३३॥ अब तक अमूर्त्त मैं बहुत रूप धारण कर इस मोह-परिधि में साक्षात् मूर्ति के रूप में स्थित रहा।

---

[1]ख. पश्यंश्च। [2]ख. ०हंकारनि०। [3]ग. ०हादन्यमन्यज्जलाज्जलम्। म०। [4]क. ०न्यत्वं यथान्यद्वा उदकनावम०। [5]ग. ०दकं नाभि०। [6]ग. ०दभिज्ञा०। [7]ख. ग. ०दन्यत्वं चैव वे०। [8]ख. ०मत्र भवेदेवं दुराननसहक्ष०। [9]क. ग. ०हादाज्ञ०। [10]. ०गर्हिस्तु निःसङ्गः स्थितः। [11]क. ०न्। मध्योमऽहं हीनतरैस्तानह।

ततोऽस्मिन्बहुरूपोऽथ स्थितो मूर्तिरमूर्तिमान् । अमूर्तिश्चाप्यमूर्तात्मा ममत्वेन प्रधर्षितः ॥३४॥
प्रकृत्या च तया तेन तासु तास्विह योनिषु । निर्ममस्य ममत्वेन विकृतं तासु तासु च ॥३५॥
योनिषु वर्तमानेन नष्टसंज्ञेन चेतसा[1] । समता न मया काचिदहंकारे[2] कृता मया ॥३६॥
आत्मानं बहुधा कृत्वा सोऽयं[3] भूयो युनक्ति माम् । इदानीमवबुद्धोऽस्मि निर्ममो निरहंकृतः ॥३७॥
ममत्वं मनसा नित्यमहंकारकृतात्मकम् । अपलग्नामिमां हित्वा संश्रयिष्ये निरामयम् ॥३८॥
अनेन साम्यं यास्यामि नानयाऽहमचेतसा । क्षेमं मम सहानेन नैवैकमनया सह ॥३९॥
एवं परमसंबोधात्पञ्चविंशोऽनुबुद्धवान् । अक्षरत्वं निगच्छति त्यक्त्वा क्षरमनामयम् ॥४०॥
अव्यक्तं व्यक्तधर्माणं सगुणं निर्गुणं तथा । निर्गुणं प्रथमं दृष्ट्वा तादृग्भवति मैथिल ॥४१॥
अक्षरक्षरयोरेतदुक्तं तव निदर्शनम् । मयेह ज्ञानसंपन्नं यथा श्रुतिनिदर्शनात् ॥४२॥
निःसंदिग्धं च सूक्ष्मं च विशुद्धं विमलं तथा । प्रवक्ष्यामि तु ते भूयस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥४३॥
सांख्ययोगो मया प्रोक्तः शास्त्रद्वयनिदर्शनात् । यदेव सांख्यशास्त्रोक्तं योगदर्शनमेव तत् ॥४४॥
प्रबोधनपरं ज्ञानं सांख्यानामवनीपते । विस्पष्टं प्रोच्यते तत्र शिष्याणां हितकाम्यया ॥४५॥
[4]बृहच्चैवमिदं शास्त्रमित्याहुर्विदुषो जनाः । अस्मिंश्च शास्त्रे योगानां पुनर्भवपुरःसरम् ॥४६॥

अहो ! अमूर्तात्मा, अमूर्ति का इस प्रकार ममता द्वारा पराभव ? ॥३४॥ उस प्रकृति के साथ उन योनियों में मैं घूमता रहा जिनमें निर्सम मुझको यह ममता घुमाती रही । मैं संज्ञाहीन हो, चेतना खोकर अनेक योनियों में भटकता रहा। इस अहंकार में, अज्ञान में मेरी कोई समता नहीं कर सकता ॥३५-३६॥ देखता हूँ पुनः वही अज्ञान अपने को वहुत रूपों में बाँट कर मुझको कुपथ की ओर लगाना चाहता है परन्तु अब मैं मायातीत हूँ, प्रवुद्ध हूँ, और अहंकार-विजेता हूँ ॥३७॥ अब मैं अहंकार पर खड़ी हुई ममता को मन से हटाकर, इस अनुचित माया को छोड़कर निर्विकाररूप का आश्रय ग्रहण करूँगा ॥३८॥ अब उसी निरामय की समता प्राप्त करूँगा, अज्ञानवश इस माया का नहीं । उस निरामय के साथ ही मेरा एकमात्र कल्याण संबद्ध है, इस प्रकृति के साथ नहीं—इस परमज्ञान के उद्वुद्ध होने से पञ्चविंशात्मक अव्यक्त जाग्रत हो जाता है और अपने-क्षर भाव को छोड़कर अनामय अक्षरत्व को प्राप्त कर लेता है ॥३९-४०॥ मैथिल ! इस प्रकार अव्यक्त व्यक्त-धर्मा सगुण और निर्गुण को देखकर (अनुभव कर) पुनः अपने पूर्वरूप (निर्गुण) को श्रेयस्कर समझ कर वैसा ही (निरामय) हो जाता है ॥४१॥ मैंने इस प्रकार तुझको अक्षर और क्षर का स्वरूप-ज्ञान कराया जैसे कि श्रुतियों के अध्ययन से ज्ञान-प्राप्त किया था ॥४१॥ अव पुनः यथाश्रुत ज्ञान के अनुरूप असन्दिग्ध, सूक्ष्म, विंशुद्ध और विमल ज्ञान को तुमसे कह रहा हूँ उसको सुनो ॥४३॥ दो शास्त्रों के उदाहरणों के द्वारा सांख्ययोग का प्रवचन कर दिया, जो सांख्यशास्त्र में कहा गया है वही योग-दर्शन भी है ॥४४॥ भूमिपति ! उन दोनों में अब शिष्यों के हित के लिये सांख्य के मोक्ष-प्रद ज्ञान को स्पष्ट रूप से कह रहा हूँ ॥४५॥ विद्वान् जनों ने इस शास्त्र को अति बृहत् बताया है । नरपाल ! इस शास्त्र योग का पुनर्भव के साथ-साथ पंच-

---

[1] क. ०सा । मम । ग. ०सा । मम तन्नानया कार्यमहं० । [2] ग. ०कारकृ० । [3] ख. स्वयं । [4] ग. ०व निरालम्बमि० ।

पञ्चविंशात्परं तत्त्वं पठ्यते च नराधिप । सांख्यानां तु परं तत्त्वं यथावदनुवर्णितम्[1] ॥४७॥
बुद्धमप्रतिबुद्धं[2] च बुध्यमानं च तत्त्वतः । बुध्यमानं च बुद्धत्वं प्राहुर्योगनिदर्शनम् ॥४८॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे वसिष्ठकरालजनकसंवादे
चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४४॥

अथ पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

अजस्यापि विक्रियया नानाभवनम्

वसिष्ठ उवाच

अप्रबुद्धमथाव्यक्तमिमं[3] गुणनिधिं सदा । गुणानां[4] धार्यतां तत्त्वं सृजत्याक्षिपते तथा ॥१॥
अजो हि[5] क्रीडया भूप विक्रियां प्राप्त इत्युत । आत्मानं बहुधा कृत्वा नानेव[6] प्रतिचक्षते[7] ॥२॥
एतदेवं विकुर्वाणो बुध्यमानो न बुध्यते । गुणानाचरते ह्येष सृजत्याक्षिपते तथा ॥३॥
अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमानं वदन्त्यपि[8] । न त्वेवं बुध्यतेऽव्यक्तं सगुणं तात निर्गुणम् ॥४॥

विंशात्मक तत्त्व से उत्कृष्ट तत्त्व भी कहा गया है। सांख्य के परतत्त्व को तो यथावद् कहा चुका हूँ। बुद्ध, अप्रतिवुद्ध और बुध्यमान भी तत्त्वरूप से योग में कहे गये हैं, परन्तु बुध्यमान और बुद्धत्व ही योग के परमतत्त्व निर्दिष्ट किये गये हैं ॥४६-४८॥

श्रीव्रह्ममहापुराण में वशिष्ठ और करालजनक के संवाद में
दो सौ चौआलीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२४४॥

अध्याय २४५

ब्रह्म भी विकार को प्राप्त कर अनेक हो जाते हैं

वसिष्ठ बोले—भूप ! अजन्मा व्रह्म के हृदय में क्रीड़ा की इच्छा से विकार उत्पन्न हो जाता है। उस समय वह अपने को बहुत रूपों में विभक्त कर देता है, तव वह नाना रूपों में विभक्त के समान अपने को समझने लगता है। अप्रवुद्ध (सुप्त), अव्यक्त गुण-समूह की और गुणों के उत्पादक तत्त्वों की सृष्टि और विस्तार करने लगता है। उस समय इस प्रकार अनेक रूपों में विकृत होने पर भी वह अपने इस रूप को (वहुधा विभक्त) जानता नहीं यद्यपि बुद्धिपूर्वक ही (जानकर ही) सृष्टि (विकार), गुणों की सृष्टि, भोग ओर आक्षेप करता है।

१ख. ०म्। शुद्ध म०। २ख. ०तिशुद्धत्वं प्रा०। ३क. व्यक्तं निर्गुणानां नि०। ४ग. ०णानधार्य ते ह्येष सृ०। ५ख. ग. अजस्रं द्विजक्रीडार्थं विकुर्वन्ति जनाधिप। आ०। ६क. ग. तान्येव। ७ग. ०चक्ष्यते। ८क. ख. ०दत्यपि।

कदाचित्त्वेव खल्वेतत्तदाहुः प्रतिबुद्धकम् । बुध्यते यदि चाव्यक्तमेतद्वै पञ्चविंशकम् ।।५।।
बुध्यमानो भवत्येष [1]ममात्मक इति श्रुतः । अन्योन्यप्रतिबुद्धेन वदन्त्यव्यक्तमच्युतम् ।।६।।
अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमानं वदन्त्युत । पञ्चविंशं महात्मानं न चासावपि बुध्यते ।।७।।
षड्विंशं विमलं बुद्धमप्रमेयं सनातनम् । सततं पञ्चविंशं तु चतुर्विंशं[2] विबुध्यते ।।८।।
दृश्यादृश्ये [3]ह्यनुगततत्स्वभावे महाद्युते[4] । अव्यक्तं चैव तद्ब्रह्म बुध्यते [5]तात केवलम् ।।९।।
पञ्चविंशं[6] [7]चतुर्विंशमात्मानमनु पश्यति । बुध्यमानो यदाऽऽत्मानमन्याऽहमिति मन्यते ।।१०।।
तदा प्रकृतिमानेष भवत्यव्यक्तलोचनः । बुध्यते च परां बुद्धिं[8] विशुद्धाममलां[9] यथा (दा) ।।११।।
षड्विंशं राजशार्दूल तदा बुद्धः[10] कृतो व्रजेत् । ततस्त्यजति सोऽव्यक्तसर्गप्रलयधर्मिणम् ।।१२।।
[11]निर्गुणां प्रकृतिं वेद गुणयुक्तामचेतनाम् । ततः केवलधर्माऽसौ भवत्यव्यक्तदर्शनात् ।।१३।।
केवलेन समागम्य °विमुक्तात्मानमाप्नुयात् । एतत्तु तत्त्वमित्याहुर्निस्तत्त्वमजरामरम् ।।१४।।
तत्त्वसंश्रवणादेव तत्त्वज्ञो जायते नृप । पञ्चविंशतितत्त्वानि प्रवदन्ति मनीषिणः ।।१५।।
न चैव तत्त्ववांस्तात[12] संसारेषु निमज्जति । एषामुपैति [13]तत्त्वं हि क्षिप्रं बुध्यस्व[14] लक्षणम् ।।१६।।

अव्यक्त-ज्ञान के क़ारण ही उसको पंडितजन बुध्यमान (जानने योग्य) कहते हैं। तात ! इस परकार वह अव्यक्त सगुण या निर्गुण किसी भी रूप में नहीं जाना जाता है। कदाचित् ही इसे प्रतिवुद्ध कहते हैं। यदि यह अव्यक्त जाना जाता है तो वह पचीसवाँ है ।।१-५।। यह बुध्यमान होता है और मेरा आत्मा है—इस प्रकार प्रसिद्ध है। परस्पर ज्ञान होने के कारण इसको अव्यक्त और अच्युत कहते हैं ।।६।। अव्यक्त जानने के कारण ही उसे बुध्यमान कहते हैं। किन्तु वह भी पचीसवें महान् आत्मा को नहीं जानता है ।।७।। निर्मल, बुद्ध, अप्रमेय और सनातन चौवीसवें, पचीसवें और छब्बीसवें आत्मा को वह सतत जानता है ।।८।। महाकान्तिशाली ! दृश्य और अदृश्य सकल पदार्थ उसके स्वभाव का अनुगमन करते हैं। तात ! केवल अव्यक्त ब्रह्म ही उसको जानता है ।।९।। वह चौवीसें और पचीसवें आत्मा को देखता है। जीव जब अपने को उससे अलग मानता है तब यह प्रकृतियुक्त एवम् अव्यक्त नेत्र वाला होता है ।।१०½।। हे नृपवर ! जब वह परा; विशुद्ध एवं निर्मल बुद्धि को और छब्बीसवें आत्मा या तत्त्व को जान लेता है तब वह बुद्ध होकर परिव्रजन करता है। तदनन्तर सृष्टि और प्रलय करने वाले अव्यक्त को वह त्याग देता है, और निर्गुण तथा गुणयुक्त अचेतन प्रकृति को जान जाता है ।।११-१२।। तत्पश्चात् अव्यक्त के दर्शन से वह केवलधर्मा हो जाता है। फिर केवल (ब्रह्म) के साथ समागम करके वह विमुक्त आत्मा को प्राप्त करता है। इतना ही तत्त्व कहा गया है और तत्त्व से परे ब्रह्म अजर-अमर है ।।१३-१४।। राजन् ! तत्त्वों के सम्यक् श्रवण से ही मनुष्य तत्त्वज्ञाता हो जाता है। विद्वान् लोग पचीस प्रकार के तत्त्व बतलाते हैं ।।१५।। तात ! तत्त्वों का जानकार व्यक्ति संसार में बिलकुल नहीं डूबता है। जो तत्त्व का लक्षण जानते हैं, उनके पास तत्त्व शीघ्र पहुँच जाता है ।।१६।।

---

[1] ग. शमात्मक । [2] क. ०शं तु कथ्यते । [3] क. ख. ०तमुभावेव म० । [4] क. महद्धिते । [5] क. ख. ०ते भावके० । [6] ग. ०विंशच्चतु० । [7] ग. ०श आत्मना च न प० । [8] क. ख. बुद्धिमशु० । [9] क. ख. ०मलो य० । [10] ग. बुद्धकृतो । [11] ग. निर्गुण । [12] ख. ०त निरतस्ततत्वबुद्धिमान् । ए० । ग. ०त निरस्तस्तत्त्वबुद्धिमान् । ए० । [13] क. बुद्धिं । [14] क. बुधस्य ।

[1]षड्विंशोऽयमिति प्राज्ञो गृह्यमाणाऽजरामरः । केवलेन बलेनैव समतां यात्यसंशयम् ॥१७॥
षड्विंशेन प्रबुद्धेन बुध्यमानोऽप्यबुद्धिमान् । [2]एतन्नानात्वमित्युक्तं सांख्यश्रुतिनिदर्शनात् ॥१८॥
चेतनेन समेतस्य पञ्चविंशतिकस्य ह । एकत्वं वै भवेत्तस्य [3]यदा [4]बुद्ध्याऽनुबुध्यते ॥१९॥
बुध्यमानेन[5] बुद्धेन समतां याति मैथिल । सङ्गधर्मा भवत्येष निःसङ्गात्मा नराधिप ॥२०॥
निःसङ्गात्मानमासाद्य षड्विंशं कर्मजं विदुः । विभुस्त्यजति [6]चाव्यक्तं यदा त्वेतद्विबुध्यते ॥२१॥
चतुर्विंशमगाधं च षड्विंशस्य प्रबोधनात् । एष ह्यप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानस्तु तेऽनघ ॥२२॥
उक्तो [7]बुद्धश्च तत्त्वेन यथाश्रुतिनिदर्शनात् । मशकोदुम्बरे [8]यद्वदन्यत्वं तद्वदेतयोः (कता) ॥२३॥
मत्स्योदकं यथा तद्वदन्यत्वमुपलभ्यते । एवमेव च गन्तव्यं नानात्वैकत्वमेतयोः ॥२४॥
एतावन्मोक्ष इत्युक्तो ज्ञानविज्ञानसंज्ञितः । पञ्चविंशतिकस्याऽऽशु [9]योऽयं देहे प्रवर्तते ॥२५॥
[10]एष [11]मोक्षयितव्येति प्राहुरव्यक्तगोचरात्[12] । सोऽयमेवं विमुच्येत नान्यथेति विनिश्चयः ॥२६॥

यह छब्बीसवाँ है—इस प्रकार समझने वाला विद्वान् अजर-अमर होकर केवल वल से ही समता को प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥१७॥ छब्बीसवें प्रवुद्ध आत्मा के जान लेने से अवुद्धिमान् भी वुध्यमान हो जाता है। सांख्यदर्शन के उदाहरण से यह नानात्व वताया गया है ॥१८॥ जव वुद्धि से समझा जाता है तव चेतन समेत पचीस तत्त्वों में एकता हो जाती है ॥१९॥ मैथिल ! वुध्यमान और वुद्ध के साथ समता हो जाती है, नरेन्द्र ! यह निःसङ्ग आत्मा भी सङ्गी के धर्म को ग्रहण कर लेता है ॥२०॥ निःसङ्ग आत्मा (व्रह्म) को पाकर छब्वीस प्रकार के कर्मजों का ज्ञान हो जाता है। विभु (व्यापक) आत्मा जब इस कर्मज का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तव वह अपने अव्यक्त रूप को छोड़ देता है ॥२१॥ निष्पाप ! षड्विंशात्मक स्वरूप के ज्ञान से अगाध (गहन) चतुर्विंशात्मक रूप का ज्ञान हो ही जाता है ॥२२॥ इस प्रकार मैंने वेद-सम्मत उदाहरणों के द्वारा अप्रतिवुद्ध, वुध्यमान और वुद्ध को तत्त्वतः कह दिया। मशक (कीट) और गूलर, मछली तथा जल में जिस प्रकार अन्यत्व नहीं है (अर्थात् दो भिन्न पदार्थ होते हुए भी जिस प्रकार दोनों में एकता रहती है) उसी प्रकार इन दोनों जीव और व्रह्म का अन्यत्व समझना चाहिये और इनका नानात्व तथा एकत्व भी समझना चाहिये ॥२३-२४॥ यही इस पंचविंशति (पचीस) तत्त्वावलिप्त जीव का ज्ञान-विज्ञान नामक मोक्ष कहा गया है, जो कि इस देह का, देहधारी जीव का एकमात्र प्रवर्तक होता है। अर्थात् मोक्ष-कामना से ही शरीरगत व्यापारों द्वारा ज्ञान की ओर जीव झुकता है और उसकी मुक्ति होती है। इस प्रकृति-वशग जीव को ही अव्यक्त (व्रह्म) के साक्षात्मकार द्वारा मोक्ष प्राप्त करना रहता है और उसको ही मुक्ति की आवश्यकता है। वह माया-बद्ध जीव इस प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर

१क. ०शोऽहमि०। २ग. एतं वासार्थमि०। ३क. यथा। ख. यद्वा तु ध्यानवुध्यतः। वु०। ४ग। ०द्ध्या न वु०। ५ग. ०मानाप्रबु०। ६क. ग. धक्तव्यं। ६०क. बुध्यस्व। ८क. ०न्यमन्यत्तथोभयोः। ९क. ०यं वेदेषु व०। १०क. एतं मो। ११क. क्षपथं विप्राः प्रा०। १२क. ०क्तमादरात्।

परश्च परधर्मा च भवत्येव समेत्य वै । विशुद्धधर्माशुद्धेन च बुद्धिमान् ।।२७।।
विमुक्तधर्मा[1] बुद्धेन समेत्य पुरुषर्षभ । वियोगधर्मिणा चैव [2]विमुक्तात्मा भवत्यथ ।।२८।।
विमोक्षिणा विमोक्षश्च समेत्येह तथा भवेत् । शुचिकर्मा शुचिश्चैव भवत्यमितबुद्धिमान्[3] ।।२९।।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना । केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै ।।
स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्यते ।।३०।।

एतावदेतत्कथितं मया ते, तथ्यं महाराज यथार्थतत्त्वम् ।
अमत्सरस्त्वं[4] प्रतिगृह्य[5] बुद्ध्या, सनातनं ब्रह्म विशुद्धमाद्यम्[3] ।।३१।।
तद्वेदनिष्ठस्य जनस्य राजन्, प्रदेयमेतत्परमं त्वया भवेत् ।
विधित्समानाय निबोधकारकं, प्रबोधहेतोः प्रणतस्य शासनम् ।।३२।।
न देयमेतच्च यथाऽनृतात्मने, शठाय क्लीबाय न जिह्मबुद्धये ।
न पण्डितज्ञानपरोपतापिने, देयं तथा शिष्यविबोधनाय ।।३३।।
श्रद्धान्वितायाथ गुणान्विताय, परापवादाद्विरताय नित्यम् ।
विशुद्धयोगाय बुधाय चैव, कृपावतेऽथ क्षमिणे हिताय ।।३४।।

सकता है अन्यथा नहीं यह ध्रुव-सत्य है। यह विशुद्ध धर्म वाला जीव पर-धर्म को ग्रहण करने वाला और अन्य के संयोग से यह शुद्ध या अशुद्ध हो जाता है अतः इसको शुद्ध बनाने के लिये शुद्ध ज्ञान का ही साहचर्य आवश्यक है न कि अशुद्ध का। हे पुरुषर्षभ ! विमुक्त-धर्मा (मुक्ति-कामी) वियोगधर्मी (मुक्त) का साहचर्य पाकर ही मुक्तात्मा होता है। अमित बुद्धिमान् विमुक्त ब्रह्म के सान्निध्य से ही मुक्त होता है और शुचि कर्म करने वाला ही अपने शुचि (पवित्र) कर्मों के प्रभाव से पवित्र होता है। विमल आत्मा वाले के साहचर्य से जीव विशुद्धात्मा होता, कैवल्य ज्ञान-प्राप्त के सत्संग से कैवल्य-ज्ञानी एवं स्वतन्त्र की संगति से ही जीव स्वतन्त्र हो स्वतन्त्रत्व को प्राप्त करता है ।।२५-३०।। महाराज ! मैंने निष्पक्ष भाव से सनातन, विशुद्ध आद्यब्रह्म के यथार्थतत्त्व और तत्त्व को इस प्रकार तुमसे कह दिया ।।३१।। राजन् ! इस परमतत्त्व को तुम वेदों में श्रद्धा रखने वाले जनों को देना। क्योंकि आत्म-ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक जनों के लिये उपदेश या शासन ज्ञान-वर्द्धक होता है एवं विनम्र व्यक्ति के प्रति किया हुआ शासनोपदेश उसके उत्थान का कारण बनता है ।।३२।। यह विमल ज्ञान असत्यवादी, शठ, नपुंसक, कुटिल और अपने पाण्डित्य से दूसरे के आत्मा को पीड़ा पहुँचाने वाले व्यक्ति को नहीं देना चाहिए, किन्तु ऐसे व्यक्ति को देना चाहिये जो जिज्ञासु हो, श्रद्धालु, गुण, प्रेमी, नित्य दूसरे की निन्दा करने या सुनने से दूर रहता हो, जो विशुद्धयोग प्रेमी, बुद्धिमान्, कृपालु, क्षमाशील और परहित में निरत रहने वाला हो, जो विविक्त सेवी (एकान्त-प्रेमी) अनुशासन-प्रिय, विवाद से विरक्त रहने वाला,

---

१क. ०धर्मयुक्तेन। २क. विशुद्धात्मा। ३ख. ०तदीप्तिमा०। ४क. ग. ०रत्वं प्र०। ५क. ख. चार्थं। ६क. ०म्। देवैकनि०।

विविक्तशीलाय विधिप्रियाय, विवादहीनाय बहुश्रुताय ।
विनीतवेशाय नहैतुकात्मने, सदैव गुहचं त्विदमेव देयम् ॥३५॥
एतैर्गुणैर्हीनतमे न देयमेतत्परं ब्रह्म विशुद्धमाहुः ।
न श्रेयसे योक्ष्यति तादृशे कृतं, धर्मप्रवक्तारमपात्रदानात् ॥३६॥
पृथ्वीमिमां वा यदि रत्नपूर्णां, दद्याददेयं त्विदमव्रताय ।
जितेन्द्रियाय प्रयताय देयं, देयं परं तत्त्वविदे नरेन्द्र ॥३७॥
कराल मा ते भयमस्ति किंचिदेतच्छ्रुतं ब्रह्म परं त्वयाऽध्य ।
यथावदुक्तं परमं पवित्रं, विशोकमत्यन्तमनादिमध्यम् ॥३८॥
अगाधमेतदजरामरं च, निरामयं वीतभयं शिवं च ।
समीक्ष्य [१]मोहं परवादसंज्ञमेतस्य तत्त्वार्थमिमं विदित्वा ॥३९॥
अवाप्तमेतद्धि पुरा सनातनाद्धिरण्यगर्भाद्धि ततो नराधिप ।
प्रसाद्य यत्नेन तमुग्रतेजसं, सनातनं ब्रह्म यथा त्वयैतत् ॥४०॥
पृष्टस्त्वया चाऽस्मि यथा नरेन्द्र, तथा मयेदं त्वयि नोक्तमन्यत् ।
यथाऽवाप्तं ब्राह्मणो मे नरेन्द्र, महाज्ञानं मोक्षविदां परायणम् ॥४१॥

बहुज्ञ, विनीत वेश वाला और जो तर्क करने वाला न हो, ऐसे श्रद्धाप्रिय शिष्य की ज्ञान-वृद्धि के लिये इस रहस्यमय ज्ञान को देना चाहिये ॥३३-३५॥ उपर्युक्त गुणों से शून्य व्यक्ति को यह विशुद्ध ब्रह्म-ज्ञान नहीं देना चाहिये। अपात्र को दान देने से (ज्ञान-दान से) धर्म-प्रवक्ता कभी भी उस कुपात्र को श्रेयस्कर पथ पर नहीं ला सकता ॥३६॥ यदि कोई अनुपयुक्त व्यक्ति रत्नों से परिपूर्ण इस पृथ्वी को भी दे दे तब भी व्रत-हीन व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं ही देना चाहिये। नरेन्द्र ! यह ज्ञान जितेन्द्रिय प्रयत (पवित्र) और तत्त्वज्ञानी को देना चाहिये ॥३७॥ ऋषिवर ! तुमको अब कराल काल का कुछ भी भय नहीं होगा क्योंकि आज तुमने पर ब्रह्म (ज्ञान) को सुन लिया है। मैंने उस परम-पवित्र, अगाध शोक को दूर करने वाले, आदिमध्यरहित, अनन्त, अजर, अमर, निर्विकार, वीत-भय और कल्याणमय ज्ञान को यथार्थ रूप से कहा है। नराधिप ! मोह की व्यापकता को साथ ही इसके निवारक ज्ञान के तत्त्वार्थ (मर्म) को समझकर ही इस ज्ञान को उग्र तेजस्वी, सनातन ब्रह्म को यत्नपूर्वक प्रसन्न कर उस सनातन हिरण्यगर्भ से आज से बहुत पहले प्राप्त किया। जिस प्रकार आज तुमने सम्मान और श्रद्धा के साथ मुझसे पूछा है और जिस प्रकार तुमसे आज मैंने कहा है, हे नरेन्द्र ! इस प्रकार अन्य किसी से नहीं कहा। नरेन्द्र ! जिस प्रकार मैंने मोक्षज्ञया मुमुक्षुजनों के परमलक्ष्य इस ज्ञान को ब्रह्मा से प्राप्त किया उसी प्रकार तुमसे कह दिया ॥३९-४१॥

---

[१]ख. सोऽहं । २ग. महज्ज्ञानं ।

व्यास उवाच

एतदुक्तं परं ब्रह्म यस्मान्नाऽऽवर्तते पुनः । [1]पञ्चविंशं मुनिश्रेष्ठा वसिष्ठेन यथा पुरा ॥४२॥
पुनरावृत्तिमाप्नोति परमं ज्ञानमव्ययम् । नाति बुध्यति तत्त्वेन बुध्यमानोऽजरामरम् ॥४३॥
एतन्निःश्रेयसकरं ज्ञानं भोः परमं मया । कथितं तत्त्वतो विप्राः श्रुत्वा देवर्षितो द्विजाः ॥४४॥
हिरण्यगर्भादृषिणा वसिष्ठेन समाहृतम् । वसिष्ठादृषिशार्दूलो नारदोऽवाप्तवानिदम् ॥४५॥
नारदाद्विदितं मह्यमेतदुक्तं सनातनम् । मा शुचध्वं मुनिश्रेष्ठाः श्रुत्वैतत्परमं पदम् ॥४६॥
येन क्षराक्षरे भिन्ने न भयं तस्य विद्यते । [2]विद्यते तु भयं यस्य यो नैनं वेत्ति तत्त्वतः ॥४७॥
अविज्ञानाच्च[3] मूढात्मा पुनः पुनरुपद्रवान् । प्रत्य जातिसहस्राणि मरणान्तान्युपाश्नुते ॥४८॥
देवलोकं तथा तिर्यङ्मानुष्यमपि चाश्नुते । [4]यदि वा मुच्यते वाऽपि तस्मादज्ञानसागरात् ॥४९॥
अज्ञानसागरे घोरे ह्यव्यक्तागाध उच्यते । अहन्यहनि मज्जन्ति यत्र भूतानि भो द्विजाः ॥५०॥
तस्मादगाधादव्यक्तादुपक्षीणात्सनातनात् । तस्माद्यूयं विरजस्का वितमस्काश्च भो द्विजाः ॥५१॥
एवं मया मुनिश्रेष्ठाः सारात्सारतरं परम् । कथितं[5] परमं मोक्षं यं ज्ञात्वा न निवर्तते ॥५२॥

व्यास बोले—श्रेष्ठ मुनियो ! जिस प्रकार पहले वसिष्ठ ने इस पंचविंशात्मक परब्रह्म के विषय में जिसको पाकर कोई पुनः आवागमन के बन्धन में नहीं पड़ता है, कहा है, उसको मैंने कह दिया । इस प्रकार उस वसिष्ठ, द्वारा कहे गये शाश्वत ज्ञान की आज पुनरावृत्ति हो गई । इस शाश्वत, अमर ज्ञान को तत्त्वतः समझकर कोई भी बुद्धिमान् जगत् या माया के पाश में नहीं फंस सकता है । हे विप्रगण ! हे द्विजवर्य ! इस परम निःश्रेयसकर ज्ञान को देवर्षि (नारद) के मुख से सुनकर मैंने यथार्थतः कह दिया ॥४४॥ इस ज्ञान को ऋषि वसिष्ठ ने हिरण्यगर्भ ब्रह्म से प्राप्त किया । ज्ञानी वसिष्ठ से इसको ऋषि-शार्दूल नारद ने प्राप्त किया ॥४५॥ नारद से इस सनातन ज्ञान को जानकर मैंने आप लोगों से कहा । मुनिश्रेष्ठो ! अब तो इस परम पद को सुनकर आप लोगों को लेश-मात्र भी भय या शोक नहीं करना चाहिये ॥४६॥ जिसने क्षर और अक्षर का व्यापक ज्ञान प्राप्त कर लिया उसको अब किस बात का भय रह गया, भय तो उसको होना चाहिये जिसको इस परम ज्ञान का तत्त्व ज्ञात नहीं है ॥४७॥ मूढात्मा ही इस विज्ञान के न जानने के कारणर बार-बार संकटों में फंसकर सहस्रों योनियों में भटक कर मृत्यु कष्ट का अनुभव करता है ॥४८॥ यदि कथंचित् उस अज्ञानसागर से किसी प्रकार मुक्त भी होते हैं तो वे भी कर्मानुसार देवलोक, तिर्यग् और मनुष्य योनि का भोग करते हैं ॥४९॥ द्विजगण ! जिस घोर अज्ञान-सागर में प्राणी रातदिन डूबते रहते हैं, जिसको अव्यक्त और अगाध कहा जाता है, उस अगाध, अव्यक्त, सनातन और उपक्षीण (क्षयशील) अज्ञान से तुम लोग सर्वथा अछूते हो, उसके रजस् एवं तमोगुणात्मक स्पर्श से सर्वथा परे हो। मुनिवर ! इस प्रकार मैंने तत्त्वों के तत्त्व परम मोक्षज्ञान को कह दिया, जिसको जानकर मनुष्य पुनःजन्म-

---

[1]क. ग. पञ्चविंशो । [2]क. ०ते न जरा शोको य एतद्वेत्ति । [3]क. ०च्च मोहाद्वा पु० । [4]क. यदा भवति कालेन त० । [5]क. ०तं मोक्षशास्त्रं वै यद्गत्वा ।

न नास्तिकाय दातव्यं नाभक्ताय कदाचन । न दुष्टमतये विप्रा न श्रद्धाविमुखाय च ॥५३॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे वसिष्ठकरालजनकसंवादसमाप्तिनिरूपणं नाम
पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४५॥

अथ षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

अस्य श्रवणपठनकर्तॄणां फलप्राप्तिकथनम्

लोमहर्षण उवाच

एवं पुरा मुनीन्व्यासः पुराणं श्लक्ष्णया गिरा । दशाष्टदोषरहितैर्वाक्यैः सारतरैर्द्विजाः ॥१॥
पूर्णमस्तमलैः [1]शुद्धैर्नानाशास्त्रसमुच्चयैः । जातिशुद्धसमायुक्तं[2] [3]साधुशब्दोपशोभितम् ॥२॥
पूवपक्षोक्तिसिद्धान्तपरिनिष्ठासमन्वितम् । [4]श्रावयित्वा यथान्यायं विरराम महामतिः ॥३॥
तेऽपि श्रुत्वा [5]मुनिश्रेष्ठाः पुराणं वेदसंमितम् । आद्यं ब्रह्माभिधानं च सर्ववाञ्छाफलप्रदम् ॥४॥
हृष्टा बभूवुः सुप्रीता विस्मिताश्च पुनः पुनः । प्रशशंसुस्तदा व्यासं कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ॥५॥

मरण के बन्धन में नहीं फँसता है। विप्रगण ! इस परमतत्त्व को किसी नास्तिक, अभक्त, दुष्टमति और श्रद्धा-हीन व्यक्ति को नहीं देना चाहिये ॥५०-५३॥

श्रीब्रह्ममहापुराण में वसिष्ठ-करालजनक-संवाद-समाप्ति-निरूपण नामक
दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२४५॥

अध्याय २४६

इस पुराण के सुनने और पढ़ने का फल-वर्णन

लोमहर्षण बोले—द्विजगण ! पूर्व काल में महामति व्यास जी ने इस प्रकार मुनियों को अट्ठारहों दोषों से रहित अत्यन्त सारभूत, निर्मल, विशुद्ध, नाना शास्त्रों के तत्त्व से पूर्ण साधु शब्दों से सुशोभित, सहज शुद्ध और पूर्वपक्षकथन एवं सिद्धान्तकथन के समन्वय से युक्त पुराण को न्यायानुकूल रीति से सुना कर मौन हो गये। वे श्रेष्ठमुनि भी सब मनोरथों को पूर्ण करने वाले, तथा वेद-तुल्य आद्य ब्रह्मपुराण को सुनकर विस्मित और आनन्द-मग्न हो गये। प्रसन्नता से मुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास की बार-बार प्रशंसा करने लगे ॥१-५॥

---

[1]ग. शुभ्रैर्ना० । [2]ख। ०क्तं सांख्यश० । [3]ग. ०धुसाध्योप० । [4]क. वाचयित्वा । [5]क. ख. मुनिवराः ।

मुनय ऊचुः

अहो त्वया मुनिश्रेष्ठ पुराणं श्रुतिसंमितम् । सर्वाभिप्रेतफलदं सर्वपापहरं [१]परम् ॥६॥
प्रोक्तं श्रुतं तथाऽस्माभिर्विचित्रपदमक्षरम्। न तेऽस्त्यविदितं किंचित्त्रिषु लोकेषु वै प्रभो ॥७॥
सर्वज्ञस्त्वं महाभाग देवेष्विव बृहस्पतिः । नमस्यामो महाप्राज्ञं ब्रह्मिष्ठं त्वां महामुनिम्[२] ॥८॥
येन त्वया तु वेदार्था भारते प्रकटीकृताः । कः शक्नोति गुणान्वक्तुं तव सर्वान्महामुने ॥९॥
अधीत्य चतुरो वेदान्साङ्गान्व्याकरणानि च[३] । [४]कृतवान्भारतं [५]शास्त्रं तस्मै [६]ज्ञानात्मने नमः ॥१०॥
नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे, फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र[७] ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः, प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥११॥
अज्ञानतिमिरान्धानां [८]भ्रामितानां कुदृष्टिभिः । ज्ञानाञ्जनशलाकेन त्वया चोन्मीलिता दृशः ॥१२॥
[९]एवमुक्त्वा समभ्यर्च्य व्यासं ते चैव पूजिताः । जग्मुर्यथागतं सर्वे कृतकृत्याः स्वमाश्रमम् ॥१३॥
तथा मया मुनिश्रेष्ठा कथितं हि सनातनम् । पुराणं सुमहापुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥१४॥
यथा भवद्भिः पृष्टोऽहं संप्रश्नं द्विजसत्तमाः । व्यासप्रसादात्तत्सर्वं मया सपरिकीर्तितम् ।१५॥

मुनियो ने कहा—अहो ! मुनिश्रेष्ठ ! आपने सव प्रकार की अभिप्रेत वस्तुओं को देने वाले, सव पापों को दूर करने वाले, विचित्र पदों वाले और श्रुति तुल्य इस उत्तम पुराण को सुनाया, तथा हम लोगों ने इसे अक्षरशः सुना ! प्रभो ! तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो आपको विदित न हो । महाभाग ! आप सर्वज्ञ हैं, देवों में वृहस्पति के समान आप का (इस लोक में) स्थान है, आप ऐसे महाविवेकशील, व्रह्मज्ञानी महामुनि को हम सव नमस्कार करते हैं । आपने इस भारतवर्ष में वेदों के अर्थ प्रकट किये हैं । महामुने ! आपके सव गुणों का वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? ॥६-९॥ आपने अंग (षडंग) सहित वेदों और सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्रों का अध्ययन कर महाभारत शास्त्र की रचना की है, ऐसे ज्ञानी पुरुष को नमस्कार है ॥१०॥ हे विशाल (व्यापक) वुद्धि वाले, विकसित कमल की पंखुड़ियों के समान आयत नेत्र वाले व्यास ! आपको नमस्कार है, आप जैसे महामानव को नमस्कार है जिन्होंने महाभारत रूपी तेल से परिपूर्ण ज्ञानदीपक को जला दिया है ॥११॥ आपने अज्ञान के गहन अन्धकार में अपनी भ्रान्ति दृष्टि के कारण भूले हुये व्यक्तियों की आँखों में ज्ञान की अञ्जन-शलाका को लगाकर उनकी आँखे खोदी हैं ॥१२॥ इस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकट करके और महामुनि उस व्यास की पूजाकर सब मुनि अपने-अपने आश्रमों को चले गये ॥१३॥

लोमहर्षण बोले—द्विजवर ! जिस प्रकार आप लोगों ने मुझसे पूछा, उसी प्रकार मैंने भी व्यास की कृपा से पाये हुये अत्यन्त पुण्यप्रद तथा सब पापों को दूर करने वाले सनातन पुराण को आप लोगों से कह दिया । इस पुराण

१क. शिवम् । २क. महामते । ३ग. च । रक्षितं भार० । ४ख. कृतं हि भार० । ५ख. ग. येन । ६क. योगात्मने । ७क. रुने० । ८ग. तर्कज्ञानं । ९ख. पाराशरं ।

इदं गृहस्थैः श्रोतव्यं [1]यतिभिर्ब्रह्मचारिभिः । [2]धनसौख्यप्रदं नृणां पवित्रं पापनाशनम् ॥१६॥
तथा ब्रह्मपरैर्विप्रैर्ब्राह्मणाद्यैः सुसंयतैः । श्रोतव्यं सुप्रयत्नेन सम्यक्श्रेयोभिकाङ्क्षिभिः ॥१७॥
प्राप्नोति ब्राह्मणो विद्यां क्षत्रियो विजयं रणे । वैश्यस्तु धनमक्षय्यं शूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥१८॥
यं यं काममभिध्यान्शृणोति पुरुषः [3]शुचिः । तं तं काममवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ॥१९॥
पुराणं वैष्णवं [4]त्वेतत्सर्वकिल्विषनाशनम् । विशिष्टं सर्वशास्त्रेभ्यः पुरुषार्थोपपादकम् ॥२०॥
एतद्वो यन्मयाऽऽख्यातं पुराणं वेदसंमितम् । श्रुतेऽस्मिन्सर्वदोषोत्थः पापराशिः प्रणश्यति[5] ॥२१॥
प्रयागे पुष्करे चैव कुरुक्षेत्र तथाऽर्बुदे । उपोष्य यदवाप्नोति तदस्य [6]श्रवणान्नरः ॥२२॥
यदग्निहोत्रे सुहुते वर्षे नाऽऽप्नोति वै फलम् । महापुण्यमयं विप्रास्तदस्य श्रवणात्सकृत् ॥२३॥
[7]यज्ज्येष्ठशुक्लद्वादश्यां स्नात्वा वै यमुनाजले । मथुरायां हरिं दृष्ट्वा प्राप्नोति [8]पुरुषः फलम्[9] ॥२४॥
तदाप्नोति[10] फलं[11] सम्यक्समाधानेन कीर्तनात्। पुराणेऽस्य हितो (?) विप्राः केशवार्पितमानसः॥२५॥
यत्फलं क्रि (श्रि) यमालोक्य पुरुषोऽथ लभेन्नरः । तत्फलम् समवाप्नोति यः पठेच्छृणुयादपि ॥२६॥
इदं यः श्रद्धया नित्यं पुराणं वेदसंमितम् । यः पठेच्छृणुयान्मर्त्यः स याति भुवनं हरेः ॥२७॥

को गृहस्थ, यति, ब्रह्मचारी सबको सुनना चाहिये यह मनुष्यों को धन एवं सौख्य देने वाला, पवित्र और पापों को नष्ट करने वाला है ॥१४-१६॥ परम श्रेय की आकांक्षा रखने वाले, ब्रह्मज्ञान-परायण विप्रों और संयमी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि को प्रयत्नपूर्वक (यह पुराण) सुनना चाहिये। इस पुराण के श्रवण से ब्राह्मण विद्या और क्षत्रिय युद्ध में विजय प्राप्त करता है, वैश्य अपरिमित धन और शूद्र अति सुख पाता है। पुरुष पवित्र भावना से जिन जिन मनोरथों की इच्छा करता हुआ इस पुराण को सुनता है, उनको वह अवश्य प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥१७-१९॥ यह वैष्णव पुराण सब पापों को नष्ट करने वाला, सब शास्त्रों से अधिक विशेषता रखने वाला और पुरुषार्थ-चतुष्टय को देने वाला है। यह जो वेद तुल्य पुराण आप लोगों को मैंने सुनाया है, इसके श्रवण से सब प्रकार के दोषों से उत्पन्न पाप-समूह नष्ट हो जाते हैं ॥२०-२१॥ प्रयाग, पुष्पकर, कुरुक्षेत्र तथा अर्वुदतीर्थ (आबू) में उपवास करने से जो फल मिलता है वह इस पुराण के श्रवण करने से मनुष्य को प्राप्त होता है ॥२२॥ वर्ष भर भलीभाँति अग्निहोत्र करने से भी उतना फल नहीं प्राप्त होता जितना कि इस महापुण्यप्रद पुराण के एक बार श्रवण करने से प्राप्त होता है ॥२३॥ ज्येष्ठ-शुक्ल-द्वादशी के दिन यमुना में स्नान कर मथुरा में श्रीकृष्ण-दर्शन फल से जो मिलता है वह इस पुराण के सम्यक् पाठ से प्राप्त होता है ॥२४॥ विप्रगण ! केशव के ध्यान में मग्न होकर श्री लक्ष्मी दर्शन से जो फल मनुष्य प्राप्त करता है वह फल इसके पठन या श्रवण से प्राप्त होता है। जो व्यक्ति नित्य तुल्य इस पुराण का श्रद्धा सहित पाठ या श्रवण करता है वह विष्णु-लोक को जाता

१क. ०र्भिर्धर्मचा० । २क. धनारोग्यप्र० । ३क. सुधीः । ४ख। ०त्सद्यः किं० । ५क. प्रशाम्यति । ६ख. ०णाद्द्विजाः। य० । ७ख. यन्माघशु० । ८ख. लं । ९क. ०म् । यदा० । १०क. ०ति कलौ स० । ११क. ०म्यक्स्मृत्वा तु मधुसूदनम् । पुराणश्रवणादेव के० ।

एकादश्यां द्वादश्यां च विष्णुलोकं स गच्छति ॥२८॥
श्रावयेद्ब्राह्मणो[1] यस्तु सदा पर्वसु संयतः। बलपुष्टिप्रदं नृणां धन्यं दुःस्वप्ननाशनम् ॥२९॥
इदं यशस्यमायुष्यं सुखदं कीर्तिवर्धनम्। इदं वरिष्ठमाख्यानं स सर्वमीप्सितं लभेत् ॥३०॥
त्रिसंध्यं यः पठेद्विद्वाञ्श्रद्धया सुसमाहितः। भयाद्विमुच्यते भीत[2] आपदापन्न आपदः ॥३१॥
रोगार्तो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात्। धर्मं चार्थं च कामं च मोक्षं तु लभते नरः ॥३२॥
जातिस्मरत्वं विद्यां च पुत्रान्मेधां[3] पशून्धृतिम्। तांस्तान्सर्वानवाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः ॥३३॥
यान्यान्कामानभिप्रेत्य पठेत्प्रयतमानसः।

यश्चेदं सततं शृणोति मनुजः स्वर्गापवर्गप्रदं,
विष्णुं लोकगुरुं प्रणम्य वरदं भक्त्येकचित्तः[4] शुचिः।
भुक्त्वा चात्र सुखं विमुक्तकलुषः स्वर्गे च दिव्यं सुखं,
पश्चाद्याति हरेः पदं सुविमलं मुक्तो गुणैः प्राकृतैः ॥३४॥
तस्माद्विप्रवरैः[5] स्वधर्मनिरतैर्मुक्त्येकमार्गेप्सुभि-
स्तद्वत्क्षत्रियपुंगवैस्तु[6] नियतैः श्रेयोर्थिभिः सर्वदा।
वैश्यैश्चानुदिनं विशुद्धकुलजैः शूद्रैस्तथा धार्मिकैः
श्रोतव्यं त्विदमुत्तमं बहुफलं धर्मार्थमोक्षप्रदम् ॥३५॥

है। जो ब्राह्मण सर्वदा पर्वों के दिन तथा एकादशी और द्वादशी के दिन यह पुराण सुनाता है वह विष्णुलोक प्राप्त करता है॥२५-२८॥ यह पुराण मनुष्यों का यश वढ़ाने वाला, आयु, सुख और कीर्ति वढ़ाने वाला, बल-पुष्टि-प्रद, धन्य और दुःस्वप्न के प्रभाव को दूर करने वाला है॥२९॥ जो व्यक्ति तीनों काल (प्रातः, मध्याह्न एवं सायम्) एकाग्र मन से श्रद्धापूर्वक इस श्रेष्ठ आख्यान (पुराण) को पढ़ता है वह सव मनोरथों को प्राप्त कर लेता है॥३०॥ इस पुराण के पाठ से रोगी मनुष्य रोग से और वन्दी कारागार से छूट जाता है। इसी प्रकार भयभीत भय से तथा आपत्तिग्रस्त आपत्तियों से छूट जाता है॥३१॥ मनुष्य इसके प्रभाव से जातिस्मरत्व (पूर्वजन्म का ज्ञान) विद्या, पुत्र, मेधा, पशुधन, धैर्य, धर्म, अर्थ, काम यहाँ तक कि मोक्ष भी प्राप्त करता है॥३२॥ जिन जिन इष्ट पदार्थों को मन में लेकर संयतचित्त से मनुष्य इस पुराण का पाठ करता है उन सवको वह प्राप्त करता है इसमें सन्देह नहीं॥३३॥ जो मनुष्य लोकगुरु, वरदाता, विष्णु को प्रणाम कर भक्ति भाव से ध्यानपूर्वक पवित्र हो, इस स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) को देने वाले पुराण का नित्य श्रवण करता है, वह पाप मुक्त होकर इस लोक में सुख और स्वर्ग में दिव्य सुखों को भोगने के बाद अपने प्राकृत गुणों से भी मुक्त होकर विष्णु के विमल और शाश्वत पद को प्राप्त करता है॥३४॥ इसलिये मुक्ति-प्राप्ति के इच्छुक तथा अपने धर्म में निरत रहने वाले श्रेष्ठ विप्र, सर्वथा अभ्युदय की इच्छा करने वाले एवं नियम पालन करने वाले उत्तम क्षत्रिय, विशुद्ध कुल में उत्पन्न वैश्य और धर्मप्रेमी शूद्र प्रतिदिन अधिक फल देने वाले एवं धर्म, अर्थ और मोक्ष देने वाले उत्तम पुराण का श्रवण करें॥३५॥ आप पुरुष-

---

[1] क. ह्यणान्यस्तु। [2] क. ख. ०तश्चौरान्मुच्येन्महाधनः। जा०। [3] क. ०धां यशो धृति०। [4] ख. ०कचेताः शु०। [5] ख. ०र्मक्तैक०। [6] ख. ०यसंयुतैस्तु। [7] ख. ०व्यं तदनुत्त०।

धर्मे मतिर्भवतु[1] वः पुरुषोत्तमानां, स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः ।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना, नैव प्रभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥३६॥
धर्मेण राज्यं लभते मनुष्यः स्वर्गं च धर्मेण नरः प्रयाति ।
आयुश्च कीर्तिं च तपश्च धर्मं, धर्मेण[2] मोक्षं लभते मनुष्यः ॥३७॥
धर्मोऽत्र मातापितरौ नरस्य, धर्मः सखा चात्र परे च लोके ।
त्राता च धर्मस्त्विह मोक्षदश्च[3], धर्मादृते नास्ति तु किंचिदेव ॥३८॥
इदं रहस्यं श्रेष्ठं च पुराणं वेदसंमितम् । न[4] देयं दुष्टमतये नास्तिकाय विशेषतः ॥३९॥
इदं मयोक्तं प्रवरं पुराणं, पापापहं धर्मविवर्धनं च ।
श्रुतं भवद्भिः परमं रहस्यमाज्ञापयध्वं मुनयो व्रजामि ॥४०॥

इति श्रीमहापुराणे आदिब्राह्मे रोमहर्षणमुनिसंवादे पुराणप्रशंसनं नाम
षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२४६॥

समाप्तमिदमादिब्रह्माभिधं महापुराणम्

ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु

श्रेष्ठों की धर्म की ओर सदा अभिरुचि हो, क्योंकि वही परलोक में गये हुये जीवों (मृत) का एकमात्र सहायक हैं। परम कुशल व्यक्ति भी यदि अर्थ और स्त्री की सेवा करे अर्थात् उनका प्रेमी वने तो भी वे न तो कुछ सहायता ही कर सकते और न स्थिर ही रहते हैं ॥३६॥ मनुष्य धर्म से ही राज्य प्राप्त करता, धर्म से ही स्वर्ग प्राप्त करता और धर्म से ही आयु, कीर्ति, तप और धर्म यहाँ तक कि मोक्ष भी प्राप्त करता है ॥३७॥ इस लोक में धर्म ही मनुष्य की माता और पिता है, धर्म ही इस लोक तथा परलोक का सखा है, धर्म ही इस लोक का रक्षक और मोक्ष-दाता है, धर्म के अतिरिक्त और कोई पदार्थ संसार में नहीं है ॥३८॥ यह श्रेष्ठ पुराण परम गोपनीय तथा वेदतुल्य है। इसको दुष्ट-वुद्धि विशेषकर नास्तिक व्यक्ति को कभी भी नहीं सुनाना चाहिये ॥३९॥ मुनिगण ! मैंने यह पाप-नाशक, उत्तम तथा परम गोपनीय पुराण कह दिया और आप लोगों ने भी इसे सुन लिया। अव आज्ञा दीजिये, मैं जाता हूँ।

श्रीब्रह्ममहापुराण में रोमहर्षण और मुनियों के संवाद-प्रकरण में पुराण-
प्रशंसा नामक दो सौ छियालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥२४६॥

॥ब्रह्मपुराण समाप्त॥
(ब्रह्मपुराण के समस्त श्लोकों की संख्या १३७८३)

---

[1] क. ०ति वै पु० । [2] क. ख. ०ण सौख्यं समुपैति सर्वम् । धर्मश्च मा० । [3] ख. ०श्च ज्ञानप्रदश्चात्र सुखप्रदश्च । इ० । [4] ख. पापमतये । [5] ख. एवं ।

परिशिष्ट

ब्रह्मपुराण में आये व्यक्तिवाची संज्ञा शब्दों की अनुक्रमणी

अ

अंश—१६, १२०१।

अंशुमान्—५५, ४४९।

अकपीवान्—३३।

अकृतव्रण—१४६।

अकृशाश्व—४८।

अक्रूर—९३, ९५, १०६, १०८, १०९, ११०, ९९१, ९९३, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, १०००, १००१, १००२, १००४, १००५, १०६७।

अक्षसूत्रा—७४०

अक्षेप—९३।

अगस्त्य—४०८, ४१३, ४५२, ५२२, ५६३, ५८५, ६४१, ६४२, ६९३, ६९५, ६९६, ६९७, ७४१, ७४२, ८२८, ८२९, ८३०, ८९६, ९०१।

अगावह—९६।

अग्नि—३३, २४३, ३६८, ३७८, ४१५, ४८२, ५०९, ५१३, ५२७, ५३८, ५६२, ५७३, ५८५, ६०९, ७०१, ७१४, ७१९, ७२०, ७२२, ७२३, ७२५, ७८९, ७९०, ७९४, ८०२, ८३०, ८३१, ८३८, ९५१, ९९९, १०४०, १०७२, १०८१, १०८३, १२१०, १२२४, ११६६।

अग्निवाहु—३२।

अग्निवेश्य—९०१।

अग्निष्टुत्—८।

अग्रसेन—८४।

अङ्ग—८, २४।

अङ्गद—८१७, ८१९, ९१७।

अङ्गारक—१९१।

अङ्गारसुत८७।

अङ्गिरा—५, ८, १४, ३२, ३३, ७१, ८२, १९५, २३३, ३७८, ५१६, ७८९, ८२०, ८२८, ९०१।

अच्युत—९६८, १०३४।

अज—५६।

अजक—६२, ८२।

अजपार्श्व—८६।

अजमीगढ़—९२, ८३।

अजर—३४।

अजातशत्रु—९५।

अजिन—८।

अजीगर्त—५४४, ५४५।

अजीगर्ति—८०६।

अजैकपाद—१५।

अञ्जना—४७१, ४७२।

अञ्जिक—१८, ८७।

अतिकल्माप—३३।

अतिगण्ड—८६३।

अतिगम्भीरा—८००।

अतिदत्त—१०२।

अतिदान्त—१०३।

अतिनाम—३३।

अतिरात्र—८।

अत्रि—५, ७, २४, ३२, ३४, ५८, ७७, १८६, १८९,

१९५, ३७८, ५२२, ६३७, ६३८, ७८८, ७८९, ७९२, ८७२, ९०१।
अदिति—१६, १७८, १७९, १८०, १८१, १९७, ३७८, ४१९, ६८५, ८९४, ९४१, १०३३, १०३४, १०३५, १०३६, १०३७।
अद्रि—४७२।
अद्रिका—४७१, ४७२।
अधृष्ट—३४।
अध्वरीवान्—३४।
अनध—८०।
अनन्त—३६८।
अनमित्र—५६, ९४, १०३।
अनरण्य—५६।
अनल—१४।
अनाधृष्टि—९४।
अनावृष्टि—१०२।
अनिरुद्ध—३५२, ३६७, १०२८, १०२९, १०३१, १०४४, १०४५, १०४७, १०४८, १०५१, १०६७।
अनिल—१४।
अनु—७२, ७४, ७६, ८६, ८७, ७९४, ७९७।
अनुज—१०८५।
अनुह्लाद—१७, ७००, १०८५।
अनेना—४५, ६६, ६८।
अन्तर—९७।
अन्तर्धान—८।
अन्तर्धाम—१२०१।
अन्तर्धि—८।
अन्धक—९२, १००, १०१, १०३, ४०८, ७३३।
अन्धकरु—९३।
अन्धकारक—१२२।
अपराजित—१५।
अपर्णा—२०१।
अभयपद—७६।
अभिजित—१०१।
अभिमन्यु—८, ८५, ९५।
अभिष्टुत—८७१, ८७३।
अमावसु—६१।
अम्बरीष—४३, ५६, ४०८।
अम्बर्य—८०४।
अम्बकष्ठ—७८।
अम्बिका—५५७।
अय:शंकु—१०८५।
अय:शिरा—१०८५।
अयुताजित—५६, १००।
अयोमुख—१७।
अरिक्षेप—१०६।
अरिन्दम—४०८।
अरिमर्दन—९३, १०६।
अरिमेजय—८४, ९३, १०६।
अरिष्ट—३४, ९४९, ९५७, ९८०, १००५, १०३२, १०९१।
अरिष्टनेमि—१४, १६, ५५, ९३।
अरिष्टा—१६, १९।
अरुण—१९, ४९५, ८३२, ८६६, ८६७।
अरुन्धती—१४, १९७, ४०३, ४१३, ४६६, ६०३, ८६६।
अर्कनयन—१०८५।
अर्जुन—८८, ८९, ९०, ९४, ९५, ९८०, ९८१, १०५९, १०६३, १०६८, १०७०, १०७१, १०७२, १०७३, १०७५, १०७६, १०७८, १०८८।
अर्यमा—१६, ३७८, ९९९।
अर्ष्टिषेण—५६०।
अलम्बुषा—३९९, ९२४।
अलर्क—७०, ८१, २०२, ९४७।
अवन्ति—९१, १०१।
अविक्षित—८६, ९३।
अविज्ञात गति—१५।
अव्यय—३३।

अश्मक्य—९४।
अश्व—९३, १०६।
अश्वग्रीव—९३, १०६।
अश्वतर—१९।
अश्वत्थ—६४१।
अश्वत्थामा—३४।
अश्वपति—१०८५।
अश्ववाहु—९३, १०७।
अश्वशिरा—१०८५।
अश्वहनु—९५।
अश्विन्—३२८, ५१३, ५८५, ९९३, १०१०।
अश्विनीकुमार—३४, ४०, २१२, २२५, २३३, २३४, २७२, ३०९, ४९५, ४९६, ५३८, ६८०, ८३८, ९५०, ९९२, १०६४।
अष्टक—६५, ६६, ८३।
अष्टारथ—८१।
अष्टावक्र—१०७६, १०७७।
असमंजस—४४८, ४४९।
असमौजा—१०३।
असिक्नी—१२, ९३।
असित—१४६।
असिलोमा—१०८६।
अस्ति—१०१३।
अहल्या—४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ५७९, ६५६, ६७२।
अहि—८३८।
अहिर्वुध्न्य—१५।
अहीनगु—५७।

आ

आग्नीध्र—३२, १२२५।
आग्नेयी—८
आङ्गिरस—७८९।
आत्तपर्णि—५६।
आत्रेय—७७४, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९।
आत्रेयी—७८८, ७८९, ७९१।
आदिकेश—८७६, ८७७, ८७८।
आदित्य—३४, २२५, ४९२, ५१३, ५८०, ५८५, ६८०, ८२०, ८२१, ८३१, ९०२, ९९२, १०६४, १२०१।
आनकदुन्दुभि—१२०२।
आनन्द—११९
आनर्त—४३, ७१, ८२।
आप—१४, ३२।
आपव—५, ६।
आपस्तम्व—७३६, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३।
आयाति—७१।
आयु—६१, ६६, ६५२, १२०१।
आयुष्मान्—७।
आरण्य—३३।
आर्द्र—४५।
आर्ष्टिषेण—६९, ७११, ७१३, ७१६, ७१७।
आवन्त—९९।
आवाह—९३, १०६।
आसन्दिव—८६७, ८६८।
आसुरि—१४६।
आहुक—१०१, १०६८।
आह्लीद—८७।

इ

इक्ष्वाकु—४१, ४२, ४४, ४५, ५४।
इन्द्र—२१, २२, २९, ४९, ६२, ६३, ६८, ७१, ७२, ८२, ९४, ११०, १४९, १५८, १७४, १८२, १८६, १९१, १९३, १९७, २१२, २१३, २१५, २३४, २३७, २४३, २६३, २६५, २७१, ३१०, ३३१, ३६८, ३७८, ३८१, ३८८, ४०९, ४१९, ४२३, ४३७, ४४६, ४५३, ४५९, ४६४, ४७२, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ५०९, ५१०, ५१३, ५२०,

५२१, ५३१, ५३८, ५४१, ५५०, ५८०, ५८२, ५८५, ६५३, ६५९, ६५७, ६५८, ६६१, ६६२, ६६३, ६८६, ६८८, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४ ६९५, ६९६, ६९७, ६९९, ७२१, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७४५, ७७५, ७७७, ७७८, ७७९, ७९३, ७९४, ७९९, ८००, ८११, ८३५, ८३८, ८४४, ८४९, ८७४, ८९०, ८९१, ८९४, ९००, ९०२, ९०३, ९१४, ९१५, ९२३, ९२४, ९२७, ९४०, ९४१, ९४४, ९५०, ९५२, ९७४, ९७५, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९९, १०१०, १०१२, १०३२, १०३३, १०३५, १०३७, १०३८, १०३९, १०४०, १०४१, १०४२, १०५२, १०५८, १०५९, १०६४, १०६५, १०८३, १११७, १२२८, १२२९, १२६६

इन्द्रजित्—१७

इन्द्रतापन—१०८५।

इन्द्रद्युम्न—२६६, २७१, २७२, २८४, २९०, २९२, २९४, २९६, २९८, ३०९, ३१०, ३१५, ३८५।

इन्द्रसेना—८३।

इन्द्राणी—७२८, ७३१, ७३२, ७३६, १०३७, १०३८, १०३९।

इरा—१६, १९।

इल—३२, ५६५, ५६६, ५६७, ५७१, ५७७, ५७८।

इला—४१, ४२, ४३, ६०, ८०, ४१५, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, १२०१।

इल्वल—१७, १८।

ई

ईशान—३२८, ३६८।

ईश्वर—८६६।

ईश्वरी—५५७।

उ

उक्य—५७

उग्र—१०८५।

उग्रसेन—१०१, १०२, ९४९, ९८८, ९९१, ९९५, १००८, १०१२, १०१३, १०५७, १०५८, १०६४, १०६८, १०७०।

उग्रसेना—९३, १०६।

उच्चैःश्रवा—२२।

उत्कल—४२।

उत्कला—४२।

उत्तङ्क—४६, ४७, ४८।

उत्तम—३१।

उत्तानपाद— ७।

उद्धव—९४, १०६६।

उपदानवी—८०।

उपदेव—९३, १०१, १०६।

उपदेवी—९४, १०१।

उपबाह्यका—१००।

उपमद्गु—९३, १०६।

उपमन्यु—७१६।

उपेक्ष—१०६।

उमा—२०१, २०४, २०५, २०६, २०९, २१३, २२३, २३०, २७९, ४१६, ४२६, ४३४, ४३८, ५६८, ५७५, ५७६, ६०५, ७३४, ७९१, ११८२, ११८८, ११८९, ११९०, ११९१, ११९६, ११९७, ११९८।

उर्वशी—६०, ६१, १८७, २५६, ३९९, ५३४, ५३५, ७९९, ८०९, ८१०, ८११, ८९०, ८९१, ८९२, ९२४, १२१८, १२१९, १२२०, १२२१, १२२२।

उलूक—१४६, ७००।

उल्मुक—१०२३।

उशीनर—७७, ९५।

उषङ्गु—१२०२।

उषत्—९७।

उषद्गु—९७।

उषद्रथ—७८।

उषा—१९७, ४९२, ४९४, ४९५, ४९६, १०४५, १०४६, १०४७, १०४८।
उष्ण—१२२।
ऊ
ऊर्ज—३२।
ऊर्जा—११३४, ११३५, ११४२, ११४३।
ऊर्ध्वबाहु—३३।
ऋ
ऋक्ष—८४।
ऋचीक—३४, ६३, ६४।
ऋचेयु—७६।
ऋचेयुका—८०।
ऋतध्वज—५६०।
ऋतुपर्ण—५६।
ऋष्यश्रृंग—७९।
ए
एकचक्र—१७।
एकपर्णा—२०१, २०२।
एकपाटला—२०१।
एकलव्य—९४।
एकाक्ष—१०८६।
एलापत्र—१९।
ऐ
ऐक्ष्वाकी—९९।
ऐरावत—१९, २२, २९, १०३३, १०४०, १०४१।
ऐशानु—८६।
औ
और्व—३२, ३४, ५२, ५३, ५५।
क
कंस—१०१, ९१७, ९४९, ९५१, ९५२, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९८७, ९८८, ९८९, ९९१, ९९४, ९९५, १०००, १००१, १००३, १००४, १००५, १००७, १००८, १०१०, १०११, १०१३, १०१४, १०३२, १०९१।
कंसवती—१०२।
कंसा—१०२।
ककुत्स्थ—४५, ७१।
ककुद्मी—४३।
कक्षीवान्—५२९, ५३०।
कक्षेयु—७६, ७७।
कङ्क—१०२।
कङ्का—१०२।
कङ्कालिनी—८६९।
कच—५१९।
कच्छप—६५।
कठ—६४९, ६५०।
कण्डु—९२२, ९२३, ९२७, ९३१, ९३३, ९३७, ९३८।
कण्व—१४६, ४७३, ४७४, ४७५, ८०१, १०६३।
कति—६५।
कद्रु—१६, १९, ५३३, ८३२, ८३३, ८३५, ८३६।
कनक—८७।
कनखल—४०८।
कनवक—९४, ९५।
कन्दर्प—१०२४।
कपर्दी—१५।
कपालगौतम—३४९।
कपाली—१५।
कपिल—१७, १९, ५४, ८०; १४६, ४०२, ४४७, ४४८, ४४९, ४५१, ७८०, ७८१, ७८३, १०८०।
कपिलाश्व—४८।
कपीवान्—३३।
कपोतरोमा—१०१।
कबन्ध—१०८९।
कमला—४९९।
कम्बल—१९।
कम्बलबर्हिष्—९८, १०३।

करन्धम—८६।

करम्भ—९९।

कराल—१०८६।

करालजनक—१०८६।

करालजनक—१३०१, १३१२

करुष—४१, ४३, ४४।

करूरोम—८७।

कर्कि—७४०।

कर्कोटक—१९, ८९।

कर्ण—१०५६, १०५७, १०५८, १०७१।

कर्दम—७, २२।

कलि—१०२९।

कलिन्द—१०२९।

कल्माषपाद—५६।

कवष—७७२, ७७३।

कवि—८, ५१६।

कश्यप—१२, १४, १५, १६, १७, १९, २०, ३२, ३४, ३६, १४६, १७८, १८१, १८२, १९७, १९८, १९९, २००, २११, २६३, २७८, ३७८, ४०४, ४०८, ४६८, ४६९, ४९२, ५२२, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ६७०, ६८६, ६८७, ६८८, ६९१, ६९४, ६९५, ६९६, ८६६, ९०३, १०८८।

काचनप्रभ—६१।

काण्व—८०२।

काम—९२५, ९२६।

कामदमन—१२२५।

कामदम्भक—१०३।

कामदेव—२२१।

कामली—६४।

काम्या—६, ७।

कारूष—४३।

कारूपक—६५।

कार्त—८७।

कार्तवीर्य—९१, १०८७।

कार्तिक—७२०।

कार्तिकेय—१५, २५२, २६०, ३२८, ४६४, ४६६, ५१२, ५६८, ५९७, ७१९, १०४९।

काल—१५, १७, ८७।

कालक—१०८५।

कालकोप—१०८५।

कालनाभ—१७, १८।

कालनेमि—९४१, ९४९।

कालयवन—९६, १०१५, १०१६, १०१९, १०९१।

कालरात्रि—५५७।

कालवदन—१०८६।

कालानल—७७।

कालिका—१८।

कालिन्दी—१०४४।

कालिय—९८२, ९८७, १००५।

काली—८५।

कालीय—९६४, ९६५, ९६७, ९६८, ९६९।

कावेरी—६२, ८२।

काव्य—३३।

काश—६९।

काशिक—८१।

काशिकन्या—९५।

काशिप—६९।

काश्य—१०१।

काश्यप—३४, ६९।

काश्या—८५, १०१।

कीर्ति—५९, १९७, ४१४।

कीर्तिमान्—७।

कुकुर—१०१, १०२।

कुक्षि—७, १७।

कुण्डल—८८१, ८८५।

कुत्स—८।

कुन्ति—९४, ९९।

कुपथ—१०८५।

कुवेर—२१२, २३३, ३२८, ३६८, ४०२, ४१५,

५२३, ५२४, ५३५, ५३६, ७२१, ८२३, ८५३, ९१५, ९९९, १०४०, १०६१, १०८३।

कुब्जा—१००२, १००३।

कुमार—१५, १२३।

कुम्भ—९१७, १०८५।

कुम्भकर्ण—५२३, ९१७।

कुम्भनाभ—१७।

कुम्भाण्ड—१०४६।

कुरु—८४, ४०८।

कुरुक्षेत्र—८४।

कुवलयापीड़—९८०, ९८८, १००५, १०३२, १०९१।

कुवलाश्व—४५, ४६, ४७।

कुश—५६, ६२, ८१८।

कुशग—१२२।

कुशनाभ—६२।

कुशार्म्वं—६२।

कुशिक—६२, ६५, ८२।

कुसमोद—१२३।

कुहर—१९।

कुहू—५९।

कृकणेयु—७६।

कृतक—८५।

कृतधन्वा—८७।

कृतलक्षण—९४।

कृतवर्मा—१०३, १०६७।

कृतवीर्य—८७, ८८।

कृताग्नि—८७।

कृति—६९।

कृती—३३।

कृतौजा—८७।

कृत्तिका—१५, ७२०।

कृमि—७७, ७८।

कृमिलाश्व—८३।

कृशाश्व—१४, १६, ४८।

कृष्ण—८, ९६, १०३, १०४, १०५, १०७, १०८, १०९, ११०, १४६, २६३, २६४, २६५, २६६, २७३, २७८, २८४, २८५, २९८, ३०१, ३०३, ३०८, ३१४, ३२८, ३३८, ३३९, ३४०, ३४२, ३५९, ३६९, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८७, ३८८, ३९७, ४००, ४०५, ४६४, ९१९, ९३७, ९३९, ९५७, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५; ९६६, ९६७, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८२, ९८३, ९८५, ९८६, ९८७, ९९०, ९९५, ९९७, ९९८, १०००, १००१, १००२, १००३, १००४, १००५, १००६, १००७, १००८, १००९, १०११, १०१२, १०१३, १०१४, १०१५, १०१९, १०२०, १०२३, १०२४, १०२६, १०२७, १०२८, १०३१, १०३३, १०३५, १०३७, १०३८, १०४२, १०४३, १०४६, १०४८, १०४९, १०५०, १०५१, १०५२, १०५४, १०५५, १०५६, १०६०, १०६३, १०६६, १०६७, १०६८, १०६९, १०७०, १०७१, १०७२, १०७५, १०७८, ११२०, १२०२, १२०३, १२०४, १२०५, १२५०, १२५३।

कृष्णानुभौतिक—१४६।

केकय—७८।

केतु—१७।

केतुमान्—२२, ६९, ७०, ८१, १०८५।

केतुवीर्य—१७।

केरल—८७।

केशव—३१४, ६५५, ९९६, १२२८।

केशि—१०८६, १०९१।

केशिनी—५५, ६२, ८२।

केशी—९४९, ९५७, ९८०, ९८७, ९८९, ९९०, १००५, १०३२, १०३७।

केसरी—४७१।

कैकेयी—६६३, ६६५, ६७१, ६७३।

कैटभ—३०, ६४१, ६४७, ६५५, ११३७।
कैशिक—९९।
कोका—११४३।
कोल्लासुर—४०८।
कोष्टु—९७।
कौशल्या—९९, ६६३, ६७१।
कौशिक—३४, ५०, ८६, ९४, १४६, ९०१।
कौशिकी—६४।
क्रतु—५, ८, ३२, १९५, ३७८, ९०१।
क्रतुस्थला—३९९।
क्रथ—९९, १०८५।
क्रमण—१००।
क्रिमि—१००।
क्रोमैंची—१९।
क्रोध—१०८५।
क्रोधन—८६३, १०८५।
क्रोधवर्द्धन—१०८५।
क्रोधवशा—१६।
क्रोधहन्ता—१०८५।
क्रोष्टा—८७, १२०१।
क्रोष्टु—९, १०३।
क्षत्रवृद्ध—६९।
क्षमावान्—१५६
क्षान्ति—४१४।
क्षेम—१०१।
क्षेमक—६९, ७०, ८१, ११९।
क्षेमधन्वा—५७।

ख

खट्वाङ्ग—५५।
खलदा—७६।
खसा—१६, १९।

ग

गङ्गा—४०९, ४२६, ४४१, ४४२, ६०९, ६४७, ७३८, ७७०, ७८४, ८०८, ८१०, ८९४, ८९६, ११३८।
गणनायक—४३०।
गणपति—४२९।
गणेश—२२७, २६०, ३२८, ४२८, ४३३, ५६८, ५७६, ५९७, ६२८, ६३१, ९०८, ९०९, ९१२।
गणेश्वर—९११।
गण्ड—८६३।
गण्डूष—९४।
गद्र—९६।
गन्धर्वगण—१०४०।
गभस्तिनी—५८५, ५८८।
गमनप्रिय—१०८५।
गम्भीरा—८००।
गय—८, ४२, ८०, ४०८।
गया—४२।
गरिष्ठ—१०८५।
गरुड—१९, २२, ३५५, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ८३१, ८३२, ८३४, ८३५, ८३६, ८६६, ८६७, ९३२, ९६९, १०३३, १०३४, १०३५, १०४०, १०४१, १०४३, १०४८, १०४९, १०५३, १०५४, १२२६।
गर्ग—७२, ८०, ९६, १२८, ९६१।
गर्दभाक्ष—१७।
गवय—९१७।
गवाक्ष—९१७।
गवेषण—९३, १०७।
गात्रवान्—१०४४।
गाधि—६३, ६५, ८३।
गान्दिनी—९३, १०६।
गान्धार—८७।
गान्धारी—८५, ९२, १०३।
गायत्री—३६१।
गार्ग्य—९६, १४६, १०१५, १०१७।
गालव—३४, ५०, ६५, १४६, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ६७०, ९०१।

गुरु—८१३, ८१४, ८१५।
गृञ्जम—९४।
गृञ्जिम—९५।
गृत्समति—८१।
गृत्समद—६९।
गृध्रभोजान्धक—१०६।
गृध्रिका—१९।
गो—७१।
गोचपला—७६।
गोपाली—९६।
गोभानु—८६।
गोविन्द—४८१, ९७२, ९८४, ९८९, १०१६, १०२१, १०३९, १०४४, १०७४।
गौतम—३४, १४६, ४०८, ४२५, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३५, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४५५, ४७३, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ५१७, ५१८, ५२०, ५२१, ५२२, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ७९२, ८८०, ८८१, ८८२, ८८८, ८९५, ९०१, ९०९, ९१०, ९११, ९१२।
गौतमी—५३५, ५६४; ७३२, ७३३, ७३९, ७६६, ८१०।
गौरी—४८, ४१२, ५७८, १०४५, १०४६।

घ

घृताची—१८७, २५६, ३९९, ९२४।
घोष—१४।

च

चक्षुस्—७।
चञ्चु—५२।
चण्ड—११०७।
चतुरङ्ग—७९।
चतुर्भुज—१४६।
चन्द्र—२५८, ५१३, ५९६, ७५६, ७८८, ८१३, १०९१।
चन्द्रतापन—१७।
चन्द्रमध्या—३९९।
चन्द्रमा—१७, ४२, ५९, ६०, २१२, २४३, ३७८, ७८६, ७९१, ८११, ८१२, ८१४, ८२९, ८३५, ८४४, ९७२, १०१२, १०४०, १०८३, १०८६, १०८७, ११३५, ११४२, १२१०।
चन्द्रहन्ता—१०८५।
चन्द्रापीड़—८५।
चन्द्राश्व—४८।
चम्प—७९।
चाक्षुष—७, २३, ३१, ३३, ७७, १९६, १९७।
चाणूर—९८७, ९८८, १००४, १००५, १००६, १००७, १००८, १०९१।
चारु—१०२८।
चारुगुप्त—१०२८।
चारुदेष्ण—९४, १०२८।
चारुदेह—१०२८।
चारुधर्मी—१२२७।
चारुवर्मा—१०६७।
चारुविन्द—१०२८।
चिञ्चिक—८५५, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०।
चित्रक—९२, ९३, १०६, ५११।
चित्रगुप्त—५१२, ११०६।
चित्ररथ—२२, ३०, ७९, ९७, ४०३, १२०२।
चित्रलेखा—१०४६, १०४८।
चित्रसेना—३९९।
चित्रा—९५।
चैत्ररथी—४८।
चोल—८७।
च्यवन—३२, ४३, ८५, १४६।

छ

छाया—३८, ३९, १८३, १८४, १८५, ४९२, ४९३, ४९४, ८६१, ११४२।

ज
जटायु—८६६ ।
जनक—१६७, ४८९, ४९१, ६७३, १०९०, १३०९ ।
जनमेजय—७२, ७७, ८४ ।
जनार्दन—२८४, ३९८, ६५४, ९१६, ९९१, १०१३, १०१४, ११३६ ।
जन्तु—८३ ।
जप्य—६५ ।
जमदग्नि—३४, ६४, ६५, १४६ ।
जय—६५, ६९ ।
जयत्सेन—६९ ।
जयद्रथ—१०७१ ।
जयध्वज—९१ ।
जयन्त—७७५ ।
जया—४१४, ४२३, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३३, ५८०, ७११ ।
जरा—१०६४, १०६९ ।
जरासन्ध—७२, १०१३, १०१४, १०१५, १०१६, १०२४, १०६५, १२०२ ।
जलद—१२३ ।
जलेयु—७६ ।
जह—३३, ६१, ६२, ८२ ।
जातवेदस्—५२७, ५२८ ।
जानकी—९१७ ।
जाबाला—७५८, ७५९ ।
जावालि—५०१, ६७०, ७९२, ९०१ ।
जाम्बवती—१०५, १०२९, १०४४ ।
जाम्बवान्—१०५, ८१८, ८१९, ९१७ ।
जारुथ्य—१०९० ।०
जीर्गति—८०७ ।
जीमूत—९९ ।
जीव—५१६ ।
जैगीषव्य—२०२ ।
जैमिनि—१४६ ।
ज्यामघ—९८ ।
ज्योति—३२ ।
ज्योतिष्मान्—३२ ।
त
तंसु—८० ।
तक्षक—१९, २२, २९ ।
तत्त्वदर्शी—३३ ।
तनूर्ज—३२ ।
तन्त्रिज—९५ ।
तन्त्रिपाल—९५ ।
तन्वी—३३ ।
तप—३३ ।
तपती—६०९ ।
तपस्य—३३ ।
तपस्वी—८ ।
तपोभूत—३३ ।
तम—६५२, ६५३, ६५८ ।
ताड़का—६७२ ।
तापी—४९५, ४९६ ।
तामस—३१ ।
तामा—१६, १९ ।
तारक—१७, ४६४, ४६६, ७१९ ।
तारा—५९, ८१२, ८१४ ।
तार्क्ष्य—८६६ ।
तालजंघ—९१ ।
तितिक्षु—७७, ७८ ।
तिलिर—१०१ ।
तिलोत्तमा—१८७, २५६, ३९९, ७९९, ९२४, १०७६ ।
तुम्बुरु—१८७, २१६, ९०१ ।
तुर्वसु—७२, ७३, ७४, ७६, ८६, ८७, ७९४, ७९७ ।
तुषित—३२ ।
तृणयज्ञ—१४६ ।
तोशलक—१००८ ।
तौण्डिकेर—९१ ।

त्र्य्यारुण—४९।
त्रसदस्यु—४८।
त्रिधन्वा—४९।
त्रिपुर—४०८, ८७५।
त्रिशंकु—५१, ५२।
त्र्यम्वक—१५।
त्वष्टा—१५, १६, ३९, १८६, ३७८, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ५९१, ७७६, ७७८, ८३८, ८६९, ८७३।
त्वाष्ट्रि—८३८।

द

दक्ष—१०, १३, १४, २२, ३५, ३६, १९४, १९६, १९७, १९८, २१३, २३२, २३४, २३५, २३६, २३८, २३९, २४१, २४२, २५०, २५१, २५२, २५४, ३७८, ४०४, ५७९, ५८०, ५८२, ५८९, ७१८, ९०१, ९३१, ११४३, १२०१।
दण्डशर्मा—१०२।
दत्त—३२, ८८, १०२, ६३७, ६३८।
दत्तक—२०२।
दत्तात्रेय—९४७।
दधिवाहन—७९।
दधीचि—२३४, २३५, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९४, ६०७, ६१०।
दनु—१६, १७, १७८, ६८५, ६८६, ६८८।
दन्तवक्य—१०२४।
दन्तवक्र—९४।
दन्तशत्रु—१०८।
दमन—९५।
दरिद्रा—७६३, ७६४, ७६५, ७६६।
दर्वा—७७।
दशरथ—५६, ७९, ९९, ५०७, ६६३, ६६४, ६६५, ६६९, ६७१, ६७३, ६७९, ६८०।
दशार्णेयु—७६।
दशार्ह—९९।
दस्र—४०।
दाक्षायणी—४११, ५७९।
दारुक—१०६७, १०६८।
दासक—१००।
दिक्पश्चिमा—४२।
दिति—१६, १७, २०, १७८, ६८५, ६८६, ६८८, ६९१, ६९३, ६९४, ६९६, ६९७।
दिनकर—१११८।
दिलीप—५५, ५६, ४४९।
दिविरथ—६९।
दिवोदास—६९, ७०, ८१, ८९।
दिव्य—९९।
दीप्तजिह्व—१०८५।
दीर्घतपा—६९, ८१।
दुःशासन—१०५९।
दुन्दुभि—१२२।
दुर्गा—९५३।
दुर्दम—७०, ८१, ८७, ९५।
दुर्मुख—१९, ८६३।
दुर्योधन—८५, १०९, १०५६, १०५७, १०५८, १०७४।
दुर्वासा—१४६, ६३७, ७८९, १०६९।
दुलिदुह—५६।
दुष्यन्त—८०, ८७।
दृढरथ—७९।
दृढव्रता—१०६।
दृढायु—६१।
दृढाश्व—४८।
दृषद्वती—४८, ६६, ७०, ७७।
देवकी—९५, १०१, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५८, ९८७, ९९५, १००५, १००६, १००९, १०१०, १०७०।
देवक्षत्र—९९।
देवप्रहरण—१६।

देववाहु—३३।
देवभाग—९४।
देवमीढुष—९२, ९३, १०३।
देवयानी—७२, ७९४, ७९५।
देवरक्षित—१०१।
देवरक्षिता—९५, १०१।
देवरात—६५, ६६, ९९, ९०१।
देवल—१५, ६५, १४६, २०६।
देववान्—१०१।
देवव्रत—८५।
देवशर्मा—१२१६।
देवश्रवा—९४।
देवस्थान—१४६।
देवानीक—५७।
देवान्त—१०३।
देवापि—८४, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७।
देवावृध—९९, १००।
देवेन्द्र—४६५।
द्युति—३३, ५९।
द्युतिमान्—३२, १२२।
द्यूत—८७।
द्रविण—१५।
द्रुपद—८३।
द्रुह्य—७२, ७४, ७६, ८६, ८७, १९४, ७९७।
द्रोण—१०५७, १०५८, १०७१, १०७४, १०७५।
द्रोणाचार्य—३४।
द्विमीढ—८२।
द्विमूर्धा—१७।
द्विविद—१०६०, १०६२, १०९१।

ध

धनंजय—१९, ८५।
धनु—६९।
धनेयु—७६।
धन्वन्तरि—६९, ८१, ६५२, ६५४, ६५६, ६५८।
धन्वी—३३।
धर्म—८७, १०७, ७२१, ७२४, ७२५, ९४४।
धर्मकेतु—७०।
धर्मधृक्—९३।
धर्मनेत्र—८०, ८७।
धर्मभृत्—९३, १०६, १०७।
धर्मरथ—७९।
धर्मराज—४०।
धर्मा—१०६।
धर्मोक्ष—९३।
धव—१४, १५।
धातकि—१२४।
धाता—१६, ३३।
धार्ष्टक—४३।
धिषणा—८।
धुन्धु—४५, ४६, ४८।
धुन्धुमार—४५।
धूमिनी—८२, ८३।
धूम्र—१४६।
धृतराष्ट्र—१७, १९, ८५।
धृतव्रत—५०२, ५०३, ५०५, ५०६।
धृति—५९।
धृतिमान्—३३, ३४।
धृष्ट—४१, ४३, ९९, १००।
धृष्टकेतु—७१।
धेनुक—९४९, ९५७, ९७०, ९७१, ९८७, १००५, १०३२।
धौम्य—१४६।
ध्यान—६५।
ध्रुव—७, १४, १५, ११९।

न

नकुल—१०५९।

नक्षत्र—१४।
नग्नजित्—१०२९।
नचिकेता—४०८।
नड्वला—७।
नदीन—६९।
नन्द—९५६, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६६, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९८८, ९९१, ९९६, १००५, १००८, १०२०।
नन्दिकेश्वर—४९७।
नन्दी—४१५, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५१२, ५१५, ५६८, ७१७, ८१५।
नन्दीश्वर—२५२।
नभ—३२, ३३, ५७।
नभस्य—३२।
नमुचि—१८, ४०८, ६६५, ६८९, ७२७, ७३०, ८३८, ९१४, १०८५।
नरक—१८, ९४९, ९८०, १०३१, १०३२, १०३३, १०३५, १०४३, १०६०, १०८५।
नरनारायण—४०८।
नरसिंह—३४२, ३४४, ३४५, ३४७, ३६७।
नरान्त—१०३।
नरान्तक—९१७।
नरिष्यन्त—४१, ४३।
नर्मदा—६०९।
नल—१८, ५६, ५७, ९१७।
नलदा—७६।
नव—७७, ७८।
नवरथ—९९।
नवा—७७।
नहुष—१९, ६६, ७१, ६५६, ७९३, ७९७, १२०१।
नाग्नजिती—१०४४।
नाभाग—४१, ४३, ५६।
नाभागारिष्ट—४४।
नारद—१२, १३, ८८, १४६, १७०, १७३, १८७, २१६, २३३, ४०३, ४०४, ४०६, ४०७, ४०९, ४१५, ४१७, ४२५, ४३४, ४४१, ४४४, ४४५, ४४८, ४५२, ४५३, ४५४, ४६४, ४६६, ४६७, ४७१, ४९६, ५०१, ५०२, ५०७, ५१५, ५३८, ५३९, ५४०, ५४९, ५५१, ५८०, ५८५, ६४१, ६५०, ६५३, ६६३, ६६५, ६६९, ६७४, ६८४, ६८६, ६८९, ७१०, ७१७, ७२७, ७४३, ७५४, ७७२, ७८०, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७९२, ८०१, ८११, ८१८, ८२३, ७२४, ८३७, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४६, ८५०, ८६६, ८९०, ८९५, ८९७, ९०२, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९१३, ९५१, ९८७, ९९०, ९९१, १०१६, १०२५, १०२६, १०४८, १०६३, १२२७, १२२८, १२२९, १३२६।
नारायण—१३२, १९७, ३५९, ३६७, ३७१, ४११, ८५४, ८७०, ११४८।
नावेय—१०६।
नासत्य—४०।
नासमौजा—१०३।
निकाश्य—१०३।
निकुम्भ—४८, ७०, ९१७।
निघ्न—५६, १०३।
निम्लोचा—३९९।
निरुत्सुक—३३।
निवातकवच—१८।
निवृत्तशत्रु—९४।
निशठ—९५, १०२३।
निषध—५६।
नील—८७, ९१७।
नीलकेशा—३९९।
नीली—८२, ८३।

नृग—७७।
नृगा—७७।
नृसिह—३४३, ८०४।
नैगमेय—१५।
नैमिषारण्य—१।
नैर्ऋत—७८५।
नैर्ऋत्य—३६८।
न्यग्रोध—१०१।

प

पञ्चजन—५५, ८३, १०१३, १०३३।
पञ्चनद—५४।
पञ्चाल—९४।
पनस—९१७।
पयोद—८७।
परजित्९८।
परन्तप—३३।
परमन्यु—७७।
परशु—९०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५।
पराजिता—७२७।
परावती—३९९।
परीक्षित्—७२, ८४, ८५।
पर्जन्य—२२, ३३।
पर्वत—१४६, ३३३, ५३९, ५४०।
पवमान—८५६, ८५८, ८५९, ८६०।
पाठीन—९१७।
पाणिन—६५।
पाण्डु—८५, ९४।
पाण्ड्य—८७।
पातालकेतु—४०८।
पातिन्—८।
पारिक्षित—८५।
पार्थिव—६५।
पार्वती—२०३, २०४, २०७, २११, २१५, २१९। २२०, २२२, २२८, २३६, २५१, २५२, २६०, ३५०, ३५१, ४१४, ४६४, ५२५, ५७०, ५७७, ५९७, ६४५, ७२०, ९०८, १०४६, ११९३।
पालित—९८।
पिण्डारक—९५।
पिप्पल—६४१।
पिप्पला—७५०।
पिप्पलाद—१४६, ५९४, ५९५, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०७, ६०८, ९०१।
पीवर—१२२।
पुजिकस्थला—९२४।
पुण्डरीक—५७।
पुत्र—३२।
पुनर्वसु—१०१।
पुरञ्जय—७७, १००।
पुरु—८, ७२, ७३, ७४, ७६।
पुरुकुत्स—४८।
पुरुजाति—८३।
पुरुद्धान्—९९।
पुरुमीढ—८२।
पुरूरवा—४२, ४३, ६०, ६१, ५३४, ५३६, ५७३, ५७४, ५७६, ५७७, ५७८, ८०९, १२२२।
पुलस्त्य—५, ३२, ९०, १४६, १९५, ३७८, ५२४, ५२५, ५२६, ७८६।
पुलह—५, ३२, १४६, १८९, १९५, ३७८।
पुलोमा—१७, १८, १०८६।
पुष्कर—४०९, १०८५।
पुष्करिणी—७।
पुष्टि—५९, ४१४।
पुष्टिमान्—१०२।
पुष्पदंष्ट्र—१९।
पूतना—९५९, ९५७, ९६०, ९६२, ९८७, १००५, १०३२, १०९१।

पूरण—१४६।
पूरु—७९४, ७९७, ७९८।
पूर्णभद्र—७९।
पूर्वचित्ति—३९९, ९२४।
पूषा—१६, ३७८, ५८०, ८३८, ९८९।
पृथा—९४।
पृथिवी—२८, ७८३।
पृथु—२०, २३, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३३, ४५, ९३, १०६, ७८१, ७८२, १०६७।
पृथुकीर्ति—९४।
पृथुरुक्म—९८।
पृथुलाक्ष—७९।
पृथुश्रवा—९७, ५२९, ५३०।
पृथ्वी—७०८, ७८२, ९४९, १०३३।
पैठीनसी—७५१।
पैप्पलादि—८६।
पैल—१४६।
पैलूष—७७२, ७७३।
पौण्ड्रक—१०२४, १०५२, १०५३, १०५४, १०५६।
पौरा—६३।
पौलस्त्य—४१४।
प्रकाश—३३।
प्रचेता—९, १०, १३, ८७, १९६, १९७, ३७८, ९३१, १२०१।
प्रजापति—४१, ४५९, ६८६, ९४३, १०८०, १०८३।
प्रतर्दन—७०, ७०, ८८, ८१।
प्रतिक्षत्र—६८, १०२।
प्रतिरथ—८०।
प्रतिवाहु—९३, १०६।
प्रतीत—३२।
प्रतीप—८४।
प्रत्यूष—१४, १५।
प्रद्युम्न—३५२, १०२४, १०२५, १०२६, १०२७, १०२९, १०४५, १०४७, १०४८, १०४९, १०६७।
प्रपक्ष—१०४४।
प्रभा—१८, ५९, ६७।
प्रभाकर—७६।
प्रभास—१५, ४०८।
प्रमति—८९०, ८९१, ८९२, ८९४।
प्रमद—१०८६।
प्रम्लोचा—२५६, ३९९, ९२३, ९२५, ९२६, ९२९।
प्रलम्व—९४९, ९५७, ९७२, ९७४, ९८२, ९८७, १०३२, १०८५।
प्रवीर—८०।
प्रसेन—९३, १०३, १०४, १०५।
प्रसेनजित्—४८।
प्रस्वापिनी—१०६।
प्रहस्त—९१७।
प्रहलाद—१७, २२, ४०३, १०८५।
प्रियव्रत—६, ५३९।
प्रिषत—८३।
प्रिषध्र—४१, ४४।
प्रांशु—४१, ४३।
प्राचीनर्वाहिस्—१८, १९६, १९७, ७५१, ८१६, ८१७, १२०१।
प्राण—१५, ३२।
प्रातिथेयी—५९२, ५९३, ५९४, ५९९।
प्राप्ति—१०१३।

फ

फेन—७८।

व

वभ्रव—६५।
वभ्रुदेवावृध—१००।
वभ्रुसेतु—८७।
वर्हिकेतु—५४।

वल—१८, १०५८।

बलदर्पित—१०८५।

बलदेव—४३, १०५, २८४, ३०८, ९३९, १००५, १०१३, १०२०, १०५६, १०५८, १०५९, १०६०, १०६३।

वलबर्हिषु—१०१।

वलभद्र—१०५, १०८, २६५, ९७१, ९७४, ९८७, ९९३, ९९५, ९९६, ९९८, १००६, १००७, १००९, १०२४, १०३०, १०४८, १०४९, १०५७।

वलराम—४३, १०९, २८५, ३१४, ३४२, ३७३, ३७९, ३८२, ३८४, ३८५, ३८६, ३८८, ९१७, ९१९, ९६७, ९७०, ९७३, १००२, १०१२, १०१४, १०१९, १०२२, १०२३, १०२९, १०३१, १०६०, १०६१, १०६२, १०६५, १०६७, १२०३।

वलाकाश्व—६२, ८२।

बलाहक—१९।

वलि—१७, ७८, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ६६३, ८३८, ९९४, १०४५।

वहुपुत्र—१४, १६।

वहुबाहु—९३, १०७।

वहुरूप—१५। ०

वहवायु—६१।

वाल—१७, ५९७, ९४९, १०४५, १०४६, १०४७, १०४८, १०४९, १०५०, १०९१।

वालखिल्य—१४४, १६७, १८७, २६३, २७८, ३२८, ३८१, ४१५, ५३१, ५३२।

वाष्कल—६५, १०८६।

वाहु—५२।

वाह्यका—१००।

वाह्याश्व—८३।

वाहिलक—८४, १५७, १०५९।

विन्दुमती—४८।

वुध—४२, ६०, १९१, ५७१, ५७२, ५७३, ५७६, ५७७, १२०१, १२२२।

वृहत्—८२।

वृहती—७।

वृहत्कर्मा—७९।

वृहत्कीर्ति—८६८, १०८५।

वृहदश्व—४५, ४६, ४७।

बृहदिषु—८३।

वृहद्दर्भ—७९।

वृहद्रथ—७२, ५३५।

वृहन्मना—७९।

वृहस्पति—२९, ३२, ५९, ८०, १६१, २४३, २९२, ४१२, ५१९, ५५४, ५५५, ५७३, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ७४५, ८०३, ८११, ८१२, ९०३, ९१२।

व्रघ्नश्व—८३।

व्रह्मा—२६, ५८, ५९, १४७, १४८, १५०, १५५, १५६, १६१, १६७, १७०, १७३, १७४, १७६, १७८, १७९, १८०, १८१, १८३, १८४, १८५, १८६, १८८, १९१, १९३, १९४, १९५, १९७, १९८, २००, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २१३, २१६, २२३, २२४, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३५, २३६, २३७, २३८, २४०, २४८, २४३, २४८, २५०, २५१, २६१, २६४, २६६, २७२, २७८, २७९, २८०, २८१, २८४, २८५, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९५, २९६, ३०२, ३०४, ३०६, ३०७, ३०८, ३१०, ३११, ३१४, ३१५, ३१७, ३१९, ३२१, ३२२, ३२३, ३२६, ३२९, ३३०, ३३१, ३३४, ३३५, ३३६, ३४२, ३४३, ३४९, ३५०, ३५१, ३५५, ३५७, ३५८, ३६०, ३६३, ३६६, ३६९, ३७१, ३७२।

३७४, ३७६, ३७८, ३८१, ३८५, ३८६, ३८८,
३९५, ४०२, ४०४, ४०६, ४०७, ४०९, ४१०,
४११,४१२,४१३,४१४,४१५,४१६४१७,४१८,
४१९, ४२०, ४२२, ४२३, ४२५, ४२७, ४२८,
४२९, ४३०, ४३१, ४३३, ४३५, ४३७, ४३८,
४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५,
४४६, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५५, ४५८,
४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६५, ४६६, ४६७,
४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७३, ४७४, ४७५,
४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८२, ४८६,
४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९४, ४९५, ४९६,
४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०४, ५०६,
५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१४,
५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१,
५२३, ५२४, ५२५, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०,
५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७,
५३८, ५३९, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५,
५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२,
५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५८, ५६०, ५६१,
५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६९,
५७०, ५७१, ५७२, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७,
५७९, ५७१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८६, ५९०,
५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९८, ५९९,
६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६,
६०७, ६०८, ६०९, ६११, ६१२, ६१३, ६१४,
६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१,
६२२, ६२४, ६२५, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०,
६३१, ६३२, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८,
६४०, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८,
६४९, ६५०, ६५१, ६५३, ६५४, ६५४, ६५६,
६५७, ६५८, ६६०, ६६१, ६६३, ६६४, ६६६,
६६७, ६६८, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३,
६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९,
६८०, ६८१, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७,
६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४,
६९५, ६९६, ६९७, ६९९, ७००, ७०१, ७०२,
७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९,
७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६,
७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२२, ७२३, ७२४,
७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१,
७३३, ७३५, ७३६, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२,
७४३, ७४४, ७४५, ७४७, ७४८, ७५०, ७५१,
७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८,
७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६७,
७६८, ७६९, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७६,
७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४,
७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७९१, ७९२, ७९३,
७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००,
८०४, ८०६, ८०८, ८१०, ८११, ८१५, ८१६,
८१७, ८२०, ८२२, ८२३, ८२५, ८२७, ८२८,
८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५,
८३६, ८३७, ८३९, ८४०, ८४२, ८४४, ८४५,
८४७, ८४८, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४,
८५५, ८५७, ८५९, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२,
८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६९, ८७०,
८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७७, ८७९,
८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६,
८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९२, ८९३, ८९४,
८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९०१, ९०५,
९०६, ९०८, ९०९, ९१०, ९१२, ९१४, ९१६,
९१९, ९२१, ९२४, ९२५, ९४०, ९४४, ९४६,
९४७, ९४९, ९५०, ९५४, ९९२, ९९८, १०१०,
१०३६, १०४९, १०८०, १०८२, १०८३, १०८४,
१११८, ११११, ११४२, ११८७, ११९३, ११९४,
११९५, १२५२, १२६६, १२९२।

भ

भग—१६, २११, २१४, २४२, ३७८, ५८१।

भगीरथ—५६, ४२५, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२।

भङ्गकाट—१०६।

भजमान—९९, १००, १०१, १०२।

भद्रकाली—५५७, ५८०।

भद्रवारू—१०२८।

भद्ररथ—७९, १०४४।

भद्रश्रेण्य—७०, ७६, ८१, ८७।

भद्रा—७६, ९५।

भद्राङ्गी—३९९।

भद्राश्व—४०८।

भर—७११, ७१२, ७१३।

भरत—८०, ९१, ६७१, ६७३।

भरद्वाज—३४, ६९, ८०, ८४, १४६, ६४९, ६५०, ७५१, ७५२, ७५३।

भर्ग—७०।

भर्गभूमि—८२।

भर्भर—१७।

भवानी—२२९, ७१९।

भव्य—७।

भागी—९९।

भागीरथी—७५८।

भानु—१४, १०४४।

भारद्वाज—३४, ४०८, ७९२।

भार्ग—७१।

भार्गभूमि—७१।

भार्गव—८१, ८२, १४६, ४०८, ९०१।

भासी—१९।

भास्कर—८६२, ८६३।

भास्करि—१४६।

भिषग्वैतरण—१४३।

भीम—६१, ९९, १०५९, १०७२।

भीमरथ—६९, ८१, ९९।

भीमसेन—८४, ९४।

भीष्म—८५, १०५७, १०५९, १०७१, १०७४, १०७५।

भीष्मक—१०२३, १०२४।

भूतसंतापन—१७।

भूति—३५।

भूरि—८४, १०५९।

भूरिश्रवा—८४, १०५९।

भृगु— ३३, ६४, ६५, १८९, १९५, ३७८, ४०२, ५१६, ९०१, ९३१।

भोगवती—६१५, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२२।

भोज—९१, ९६, १०१।

भोज्या—९३।

भौत्य—३५।

भौवन—४६८, ४६९, ४७०, ८७९।

म

मघवान्—१७।

मणि—१९।

मणिकुण्डल—८८०, ८८२, ८८८, ८८९।

मतिनार—८०।

मत्स्यमाधव—३४९, ४५७।

मद—१०८६।

मदन ४१२।

मदिरा—९५।

मद्गु—९३, १०६।

मद्रक—७८।

मद्राभ७६।

मधु—२९, ३०, ३ ४६, ९१, ९९, ५२७, ९४७, १०८९, ११३७, १२२६।

मधुच्छन्द—६५, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ८९२, ८९३, ८९४।

मधुपध्वज—९१।

मधुसूदन—३६६, ९६५, १०३२, १०४०, १०६४।

मनस्य—७६।
मनीरक— १२३।
मनीषी—१५।
मनु—५, ३८, ४०, ४१, ४४, १८४, ३७८, ४०८, ४९५, ९०१, १०८०, १२०१, १२१३।
महासुर—१०८५।
मनोजव—१५।
मन्थरा—६७३।
मन्दग—१२२।
मन्दोदरी—३९९।
मन्मथ—१०२८।
मन्मथदीपिनी—३९९।
मन्यु—८४८, ८४९।
मय—८, ४०८, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ८३८।
मरीच—५३४।
मरीचि—५, १८, ३२, १९५, १९७, ३७८, ९०१।
मरुट्—२०, ३४, ८६, ९८, ६९९, ८९०, ९०२, १०१०, १०४०, १०६४, १०८२।
मरुत्वती—१४।
मरुद्गण—९९२।
मलदा—७६।
महाकर्ण—१९।
महाचण्ड—११०७।
महाजिह्व—१०८५।
महादेव्र—२३३, ४१७, ६३२, ६८३, ७१५, ७५६, ७९९, ८४७, ८४८।
महाद्रुम—१२३।
महान्—१०८५।
महानाथ—१७।
महानील—१९।
महापद्म—१९।
महावला—५५७।
महामना—७७।
महाराज—८८७,८८८।
महारूपा—३९९।
महाव्रीत—१२४।
महाशनि—७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३६।
महाशाल—७७।
महाशिरा—१७।
महास्वन—१०८५।
महासुर—१०८५।
महिमा—८१६, ८१७।
महिष्मान्—८७।
मही—५०२, ५०३, ५०५।
महेश—४२८, ४७३, ५३२, ७४८, ८२९, ८७२, ९२५, १२२८।
महेश्वर—३३६, ४२५, ४४९, ४५२, ५७४, ६३८, ७१९, ७२५, ८१६, ८२३, ११९०, ११९७, ११९८, ११९९, १२०४।
मागध—२६, २७।
माण्डव्य—१४६, ५२१।
माद्री—९२, १०३, १०६, १०४४।
माधव्र—३२, ३३४, ३५६।
मान्धाता—४८, ४०८।
मायावती—१०२५, १०२६, १०२७।
मारिषा—९, १०, १९६, १९७, ९३१।
मारीच—१०८९।
मारीचि—१७।
मार्कण्ड—९०१।
मार्कण्डेय—१४६, २६६, २८४, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२६, ३२७, ३२९, ३३०, ३३४, ३३६, ३३७, ४०५, ७९२, ७९३।
मार्तण्ड—४०।
मालाढ्य—९१७।
मालिका—९१७।
मालिनी—८५।
मित्र—१६, ३७८।

मित्रविन्दा—१०२९।
मित्रसद—५६।
मित्रावरुण—४१, ४२।
मिथु—७११, ७१२, ७१६, ७१७।
मिश्रकेशी—३९९, ९२४।
मुक्तकेशी—७५४।
मुचुकुन्द—४८, १०१६, १०१७, १०१९।
मुञ्जिकस्थला—३९९।
मुद्र—१०६।
मुद्गल—६५, ८३, ७५८।
मुनि—१४, १६, १९, १२२।
मुर—१०३३, १२३६।
मुष्टिका—९८७, ९८८, १००४, १००५, १००६, १००७, १००८, १०९१।
मुहूर्त—१४।
मूहूर्ता—१४।
मूर्ति—३२।
मूर्तिमान—६२।
मृगपाद—१०८५।
मृगप्रियं—१०८५।
मृगव्याध—१५।
मेघनाद—९१५, ९१७।
मेघहास—७८४, ७८५।
मेदुर—९३।
मेघतिथि—३२, ११९, १४६।
मेध्य—३२।
मेनका—१८७, २५६, ३९९, ४७९, ९२४,।
मेना—१९७, २३०, ४११, ७९९।
मेरुसावर्ण्य—३२।
मैत्रेय—१४६।
मोदाकि—१२३।
मोहिनी—७५४।
मौद्गल्य— ८३, १४६, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२।

य

यज्ञघ्न—७५१, ७५२।
यति—७१।
यतिधर्मा—९३।
यदु—७२, ७३, ७५, ७६, ८६, ८७, ७९४, ७९६, १२०१।
यदुध्र—३३।
यम—२२, २९, ३७, ३८, ४०, १२९, १८४, २८३, २८४, ३६८, ४०८, ४७६, ४८०, ४८१, ४९३, ४९५, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५३८, ५८५, ७०२, ७०३, ७०५, ७४७, ८६४, ८७३, ९९९, १०४०, १०८३, १०९३, १०९५, ११०५, ११०६, ११०७, १११९, ११२०, १२१०।
यमदूत—६५।
यमराज—२११, ११०८, ११२४, ११४८।
यमहस्त—९१७।
यमान्तक—९१७।
यमुना—३७, ४०, १८३, ४९२, ४९५, ४९६, ६०९, १०२२, १०२३।
ययाति—७१, ७२, ७३, ७४, ७५ ८६, ८७, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, १२०१।
यवन—१०१७।
यवीनर—८३।
यशोदा—९५२, ९५६, ९६०, ९६१, ९६२, ९६६, ९६७, ९८७।
याज्ञवल्क्य—४८९, ४९०, ४९१, ७९२, ९०१।
याति—७१।
यामी—१४।
युक्त—३३।
युधाजित्—९२, १०३, १०६।
युधिष्ठिर—९४, ८०१, १०५९, १०७८।
युवनाश्व—४५, ४८, ६२, ८२।
योगपरायण—९०१।
योगमाया—९५६।

यौधेय—७७।
यौवनाश्व—८७।
र
रक्ताक्ष—८६३।
रघु—५६।
रजतनाभ—२९।
रजस्—२२।
रजि—६६, ६७।
रमण—१५।
रमा—२७९।
रम्भ—६६, ६८।
रम्भा—१८७, ३९९; ७९९, ९२४, १०७६।
राघव—६७६।
राजाधिदेव—१०२।
राजाधिदेवी—९४।
राम—३४, ५६, ९५, २६६, २७८, ३५४, ३६९, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३८१, ३८७, ३९७, ४००, ४०५, ५०७, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८४, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८८६, ९१७, ९४७, ९६१, ९६३, ९६४, ९६६, ९७०, ९७१, ९७२० ९७४, ९८३, ९९७, १०००, १००१, १००३, १००४, १००६, १००८, १०१३, १०१४, १०२१, १०४६, १०५१, १०५९, १०६६, १०७०, १०७८, १०८७, १०८८, १०८९, १०९०, १०९१।
रामा—३९९।
रावण—८९, ९०, ५२३, ५२४, ५९७, ७८६, ७८७, ८१७, ८२३, ८२६, ९१५, ९१६, ९१७, ९४७, १०८९, १०९१।
राष्ट्रपाल—१०२।
राष्ट्रपाली—१०२।
राहु—७६, २४९, ५५५, ५५६, ५५७, ७८४, ७८५, १०८६।
रिपु—७।
रिपुञ्जय—७।
रिष्ट—४१।
रुक्मकवच—९८।
रुक्मिणी—९४, १०२३, १०२४, १०२७, १०२८, १०३१, १०४४, १०७०।
रुक्मी—१०२३, १०२४, १०२८, १०२९ १०३०, १०३१।
रुक्मेषु—९८।
रुचि—३५।
रुद्र—१५, ३४, १७४, १९१, १९३, १९७, २२५, ३६३, ४१९, ५८५, ६३०, ७४२, ८३०, ९०२, ९४४, ९५१, ९९२, ९९३, १०५०, १०८२, १२५०।
रुद्रगण—१०४०।
रुर—३३।
रुरुक—५२।
रेणु—६४, ६५।
रेणुका—६४।
रेमक—८६।
रेमती—८६।
रेवती—४३, ४४, ९५, ६५०, १०२३, १०६१, १०७०
रैभ्य—३२, ३३, १४६।
रैव—४३।
रैवत—१५, ३१, ४३, ४४, १०२३।
रोहिणी—९५, ७९१, ८१२, ९५२, ९५३, ९५९, ९६१, १०२९, १०४४, १०७०।
रोहित—५२, ५३९, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६,, ५४७, ५४८।
रौच्य—३२, ३५।
रौद्राश्व—८०।
ल
लक्ष्मण—६७१, ६७२, ६७३, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८१, ८१७, ८१८, ८२३।

लक्ष्मणा—१०२९, १०४४।
लक्ष्मी—५९, १९७, २७८, २८४, ३५३, ३९८, ४०२, ४१४, ४५९, ७११, ७३५, ७५९, ७६०, ७६३, ७६५, ७६६, ७९१, ८६८, ९०२, १०२३, १०८९।
लम्वा—१४।
लव—८१८।
लवण—४०८, १०८९।
लिखित—२०२।
लोकपाल—८४९, ९०२।
लोपामुद्रा—७०, ८१, ५८५, ६४१।
लोमपाद—७९।
लोमश—१४६, ४१४।
लोमहर्षण—६, ११, १६, २३, २८, ३१, ३६, ३७, ४१, ४४, ४५, ४७, ५०, ५३, ५५, ६०, ६१, ६६, ६८, ७१, ७६, ९२ ९७, ९९, १०२, १०७, १०८, ११२, ११९, १२६, १२९, १३३, १३७, १४०, १४५, २५३, ११२१, १२६५, १३२७, १३२८।
लोहित—६५।
लौहि—६६, ८३।
व
वंश—१८।
वज्र—१०६८, १०७०, १०७३।
व्रजनाभ—१७, ५७।
वडवा—९५, ५८५।
वत्स—७०, ८१, ८२।
वत्सभूमि—७१, ८२।
वत्सवान्—९४।
वनदुह—८७।
वनायु—६१।
वनेयु—७६।
वय—५४४।
वरांगी—३९९।
वरिष्ठ—१०८५।
वारीदास—८८।
वरुण—१६, २२, ९०, २४३, ३१०, ३२८, ३६८, ३७८, ४०३, ४१५, ४६४, ४८२, ४८९, ४९०, ४९१, ४९५, ५१३, ५४१, ५४२, ५४३, ५४६, ५४८, ६२८, ७२१, ७२९, ७३०, ७३१, ७९४, ८३८, ८४९, ८९४, ९००, ९५०, ९९९, १०२२, १०२३, १०३२, १०३४, १०३५, १०४०, १०८३।
वर्षकेतु—८१।
वशाति—४५।
वसन्त—९२५, ९२६।
वसिष्ठ—५, ३२, ३४, ४५, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, १४६, १८६, १९५, १९७, ४०८, ४१३, ४१४, ४४६, ५२२, ५३८, ५३९, ५४७, ५६२, ५६६, ५७४, ५७८, ५८०, ६६३, ६७०, ६७२, ६७३, ७५४, ७९२, ७९९, ८०९, ८७२, ९०१, ११०८, १३०१, १३०४, १३१०, १३१३, १३१७, १३२१।
वसु—७, १४, ३२, ३४, ५९, २२५, ५८०, ९०२, ९५१, ९९२, ९९३, १०६४, १०८२।
वसुगण—१०४०।
वसुदेव—९४, ९५, १०१, १०६, २२८, ९१७, ९४०, ९५१, ९५२, ९५४, ९५५, ९५६, ९५८, ९५९, ९६१, ९८७, ९८८, ९९५, १०००, १००५, १००६, १००८, १००९, १०१०, १०१७, १०६८, १०७०।
वसुन्धरा—१०६।
वसुमेध—१०६।
वसुरोध—८०।
वह्नि—८६।
वार्जो—३४।
वातपति—१०६।
वातापि—१८, १०८५।
वात्स्य—१४६।
वामदेव—५४७, ५६२, ६७०, ७८०, ९०१।
वामन—१७, १९, ४१९, ४२०, ४२१।
वामना—९२४।

वायु—१४६, ३६८, ३७८, ६६४, ६६५, ७०८, ७२१, ८७४, ९२५, ९२६, ९५१, ९९९, १०८३, १०८५, १२१०।
वाराह—१०८५।
वारिप्लव—३३।
वालि—९१७।
वाली—१०८९।
वाल्मीकि—१४६, ८१८।
वासुकि—१९, २२, ९९७।
वासुदेव—७३, १०५, १०६, ३५२, १०५४, १०५६, ११९९, १२०२, १२०७, १२०८, १२२४, १२६१।
वाहलीक—८०१।
विकर्ण—७९
विकुक्षि—४४, ४५।
विंकृति—९९।
विक्रान्त—१७
विक्षोभण—१७।
विघ्नराज—४३१, ४३२, ४३३, ६३०।
विचित्रवीर्य—८५।
विजय—५२, ६९, ९६, ६१५, ६१८।
विजया—५८०।
वितथ—८०।
विदर्भ—९९।
विदुर—८५।
विदूरथ—८४, १०२, १०२४।
विद्रावण—१७।
बिधाता—९९९।
विनता—१६, १९, १७८, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६।
विनताश्व—४२।
विनायक—४२६, ४२७, ५१२, ५२५, ६२९।
विन्ध्याचल—६४१।
विपुलानना—३९९।
विपृथु—९३, १०६, १०६७।
विप्रचित्ति—१७, १८, २५६, ९४७, १०८५।
विभाण्ड—१४६।
विभीषण—५२३, ८१८, ८१९, ८२३, ८२४, ८२५, ८८५, ८८६, ९१५, ९१६, ९१७।
विभु—७१, ८१, ८२।
विरजा—३३, ७१, २६१।
विराट्—५, ७।
विराध—१०८९।
विरोचन—१७, २९, १०८५।
विवस्वान्—१६, ३३, ५३७।
विशाख—१५।
विश्रवा—५२३, ५२६।
विश्वकर्मा—१५, १८३, १८५, १८७, ३०६, ३०८, ३१४, ४१४, ४६८, ४७०, ५९०, ६०२, ७६१, ९१४।
विश्वजित्—७९।
विश्वघर—४७६।
विश्वरूप—८६२, ८७३, ८९८, ८९९, ९००।
विश्वा—१४।
विश्वाची—७४, १८७, २५६, ३९९, ९२४।
विश्वामित्र—३४, ४९, ५१, ५२, ६५, ६६, ८३, १४६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५३९, ५४७, ५४८, ६७१, ६७२, ६७३, ७६७, ७७०, ७९९, ८०७, ८९२, ८९८, ८९९, १०६३, १०९०।
विश्वायु—६१।
विश्वासु—२३३, ७५०, ८९१, ८९२।
विश्वेदेव—१४, ३४, १०४०, १०८२, ११३५।
विषहर—९९।
विष्टराश्व—४५।
विष्टि—४९३, ८६१, ८६२, ८६३, ८६५।
विष्णु—१६, ४०, ४६, ४७, ५४, ९२, ११५, ११८, १२७, १३६, १५८, १६७, १७४, १८९, १९१, १९७, २१२, २१४, २२८, २३४, २३५, २४३, २४८, २७१, २८७, २९०, २९६,

३०६, ३०७, ३०८, ३१०, ३११, ३१५, ३२०, ३३१, ३३६, ३३८, ३४१, ३५२, ३५३, ३६०, ३६४, ३६८, ३७८, ३८६, ३८८, ३८९, ३९२, ४०२, ४०७, ४०९, ४१३, ४१४, ४१५, ४१८, ४१९, ४२२, ४२४, ४२८, ४५३, ४५४, ४५९, ४६३, ४७९, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५१३, ५१४, ५१५, ५२२, ४३७, ५४६, ५५५, ५६३, ५७३, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ४८५, ५९६, ६२८, ६२९, ६४५, ६४७, ६५१, ६५२, ६५६, ६५८ ६६२ ६६४ ६८९, ७०८, ७१६, ७२५, ७२७, ७३२, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४० ७४२, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५५, ७५६, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६५, ७८८, ७९१, ७९२, ८०८, ८१०, ८२१, ८२२, ८२९, ८३०, ८३१, ८४१, ८४२, ८४४, ८४५, ८४६, ८५३, ८५५, ८५९, ८६०, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८७२, ८७४, ८८९, ८९४, ८९६, ९०३, ९०४, ९०५, ९११, ९२२, ९२५, ९३२, ९३३, ९३८, ९४०, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४८, ९४९, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९८८, ९९२, ९९३, ९९४, ९९९, १००६, १०१०, १०२६, १०३६, १०५६, १०७५, १०८०, १०८१, १०८३, १०८४, १०८७, १०८८, १०९२, १११४, १११७, १११८, ११३७, ११४२, १२०९, १२२३, १२२६, १२२७, १२३२, १२३३, १२३६, १२३७, १२५२, १२५४, १२५५, १२६४, १२६६, १२९२।

विष्णुयशस्—१०९१।

विष्वक्सेन—९४।

विस्कर—१०८५।

वीत्रिहोत्र—९१।

वीर—६, ७।

वीरण—७, १२।

वीरभद्र—२३८, २३९, २५३, ५८०, ५८१।

वीरसेन—५७।

वीरु—९५।

वृक—५२, १०४४।

वृकदेव—९६।

वृकदेवी—९५, ९६, १०१।

वृकल—७।

वृकलतेजा—७।

वृजिन—९००।

वृजिनीवान्—९७, १२०१।

वृत्र—४०८, ६५६, ८३८, ९००, ९१४, १०८५।

वृत्रहा—७३०।

वृद्धकौशिक—८८०।

वृद्धक्षत्र—९९।

वृद्धशर्मा—६६, ९४।

वृष—९१।

वृषण—९१।

वृषदर्भ—७८।

वृषपर्वा—१७, १८, ७२, ७९४।

वृषभ—१०९१।

वृषभासुर—९८७।

वृषल—१४।

वृषाकपि—१४, ४०८, ७३६, ७३७, ७३८।

वृष्टि—१०१।

वृष्णि—९२, १००।

वेगवान्—१०८५।

वेण—२३, २४, २५।

वेणुहय—८७।

वेणुहोत्र—७१।

वेद—८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९।

वेदव्यास—८५।

वेदशिरा—३३।

वेन—८,.७८०, ७८१, ७८३।

वैकर्ण—७९।

वैतण्ड्य—१४।

वैदर्भी—९९।

वैदेही—८१७।

वैभाण्डकि—७९।

वैभीषणि—८८५।

वैरणी—१३, १४, ८८६, ८८७।

वैराज—७, २२।

वैरिणी—७।

वैरी—३४।

वैवस्वत—२०, २३, ३२, ३५, ४१, १९६, १९७, ४९२, १०१३, १०९४।

वैशम्पायन—१४६।

वैशाखी—९५।

वैश्वानर—१७, १८।

वैश्रवण—१९१, ३३१, ५२६।

व्यय—८६३।

व्यास—३४, १४६, १४७, १४८, २५३, २५४, ४०२, ९२१, ९२२, ९२६, ९२९, ९३०, ९३७, ९३८, ९३९, ९४५, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५३, ९५४, ९५५, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६२, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८१, ९८२, ९८३, ९८५, ९८७, ९८८, ९८९, ९९१, ९९३, ९९५, ९९६, ९९९, १०००, १००१, १००२, १००३, १००४, १००७, १०१०, १०११, १०१२, १०१३, १०१५, १०१९, १०२०, १०२१, १०२२, १०२३, १०२५, १०२६, १०२७, १०२८, १०२९, १०३०, १०३१, १०३२, १०३४, १०३५, १०३६, १०३७, १०३८, १०३९, १०४१, १०४२, १०४३, १०४४, १०४५, १०४६, १०४७, १०४८, १०५१, १०५२, १०५३, १०५५, १०५६, १०५७, १०५८, १०५९, १०६०, १०६१, १०६२, १०६३, १०६४, १०६५, १०६६, १०६८, १०६९, १०७०, १०७१, १०७३, १०७४, १०७६, १०७७, १०७८, १०७९, १०८३, १०८४, १०८५, १०९३, ११०२, ११०५, ११०७, ११०८, १११४, ११२१, ११२२, ११२३, ११३१, ११३४, ११३७, ११४४, ११५०, ११६१, ११६२, ११६३, ११७७, ११८२, ११९९, १२०४, १२०८, १२०९, १२१०, १२१२, १२१३, १२१४, १२१५, १२१६, १२१७, १२१८, १२२०, १२२२, १२२३, १२२४, १२२५, १२३३, १२३४, १२३८, १२४४, १२४८, १२४९, १२५२, १२५६, १२६३, १२६६, १२६८, १२७२, १२७३, १२७५, १२७६, १२८०, १२८१, १२८३, १२८५, १२८६, १२८९, १२९१, १२९५, १२९७, १३०१, १३२६, १३२७।

व्योमा—९९।

व्रज—८।

श

शंरोमा—पृ० १९।

शकुनि—१७, ४५, ९९।

शक्ति—७३५।

शक्र—२३९।

शंकर—९६, १५८, १८९, १९६, २०२, २०४, २०६, २१०, २१२, २१६, २२२, २२६, २२९, २३२, २३७, २५२, २५३, २८४, ३५०, ३५१, ४०२, ४११, ४१२, ४१४, ४१६, ४२३, ४२४, ४२६, ४३३, ४३७, ४३९, ४४९, ४५०, ४५१, ४५३, ४६३, ४६६, ४८३, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५१२, ५१३, ५१७, ५१८, ५१९, ५२५, ५२६, ५३१, ५३३, ५३६, ५५६, ५५८, ५६४, ५६८, ५७०, ५७५, ५७६, ५७९, ५८०, ५८२, ५८३ ५८४, ५९६, ५९९, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०७, ६१०, ६११, ६२२ ६२३, ६२४, ६२६, ६२९, ६३५, ६३७, ६४०, ६४५, ६५०, ६५६, ६५८, ६६१, ६६४, ६८२, ६९६, ६९७, ६९८, ७१६, ७१७, ७२०, ७२२, ७२३, ७२५, ७३२, ७३४, ७३७, ७४७, ७५०,

७५५, ७६०, ७७३, ७८७, ७८८, ७९२, ७९८, ८००, ८१०, ८१३, ८१६, ८२६, ८३८, ८४९, ८५०, ८५३, ८६७, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८९४, ८९५, ९०२, ९०५, ९०८, ९१०, १०४५, १०४७, १०४८, १०४९, १०५१, १०५४।

शङ्करदेव—१९३।

शङ्कु—१०८५।

शङ्कुकर्ण—१७, १०८।

शङ्ख—१९।

शङ्खपाल—१९।

शची—१९७, ३७९, ४८०, ७३०, ७३७, ७६६, ७७५, ७७८, १०४१।

शठ—९५।

शतद्युम्न—८।

शतधन्वा—१०३, १०७, १०८।

शतप्रसव—९८।

शतरूपा—६।

शतह्रद—१७।

शताजित्—१००।

शतानन्द—१४६।

शत्रुघ्न—९३, ६९४, ६७१, ६७३, ९१७।

शत्रुजित्—१०२।

शत्रुहा—१०६।

शनि—४९३, ४९५, ६४२, ६४३।

शनैश्चर—३८, ४०, १९१, ८६१।

शबलाश्व—१३।

शमन—३४।

शमी—१०२।

शमीक—९४, ९५।

शम्बर—१७, ७५४, ८३८, १०२४, १०२५, १०२६, १०२७, १०२८।

शम्भु—१५, २५९, ४१३, ४४२, ४६५, ५३७, ५५५, ५५७, ५६३, ५७५, ५७८, ५८५, ६२०, ६८४, ७२०, ७२४, ७३३।

शरण्य—९५।

शरद्वान्—३४।

शरभ—१०८५।

शर्मिष्ठा—१८, ७२, ७९४।

शर्याति—४१, ४३, ४४, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०।

शर्व—१५।

शल—५७, ६९, ८४, १०५९।

शरदा—७६।

शलभ—१०८५।

शल्य—१८।

शशविन्दु—४८, ९७।

शशाद—४५।

शशिलेखा—३९९, ९२४।

शाकल्य—८५०, ८५१, ८५२, ८५४।

शाख—१५।

शाण्डिल्य—१४६।

शातातप—९०१।

शान्तनु—८४, ८५।

शान्तमय—११९।

शान्ता—७९।

शान्तिदेवा—९५, १०१।

शार्दूल—७२४, ७२५।

शालङ्काय—६५।

शालावती—६५।

शाल्व—१०२४, १०९१।

शिखण्डिनी—८।

शिनी—९४।

शिनेयु—९७।

शिवि—७७।

शिव—१७, ५९, ११९, १६७, १९४, १९५, २०१, २०२, २०४, २०५, २१४, २१५, २१७, २२२,

२२३, २२४, २२७, २२८, २३४, २३६, २४१, २४२, २४३, २४८, २५०, २५२, २५७, २५८, २६०, २६९, २७०, ३१०, ३३१, ३३५, ३३७, ४१५, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४४०, ४४३, ४४४, ४४५, ४५०, ४५१, ४९७, ५११, ५१४, ५१५, ५३८, ५४७, ५७७, ५९७, ५९८, ६००, ६०१, ६०५, ६०७, ६१२, ६२०, ६२१, ६२५, ६३६, ६३७, ६३९, ६५१, ६५२, ६६०, ६७४, ६८१, ६९५, ६९६, ७१६, ७१७, ७३५, ७३६, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४३, ७४९, ७५०, ७५७, ७६४, ७६५ ७७३, ७८४, ७९१, ७९३, ८०१, ८१४, ८१५, ८२४, ८३१, ८७४, ८७९, ८८९, ८९७, ९००, ९०२, ९०३, ९०४, ९०९, ९११, ९१२, ९५० ९८९, ९९९, १०१५, १०३६, १०५२, १०५५, १०८०, १०८५, १०९०, १११८, ११४२, ११८३, ११८८, ११८९, ११९१, ११९३, १२१६, १२९२।

शिवव्रत—५३८।

शिवा—१४, ७५०।

शिशिर—१४, ११९।

शिशिरायणि—९६।

शिशुपाल—७२, ९४, १०२४, १०९१, १०२९।

शुक—१६७।

शुक्र—८, ३२, १९१, २०२, २३३, ४०२, ४२०, ४२१, ५१७, ५१८, ५१९, ७९४, ७९५, ७९६, ८१३, ८१४, ९४४, १०४३।

शुक्राचार्य—५९।

शुचि—१९, ३२।

शुनःपुच्छ—६५, ५४५।

शुनःशेप—६५, ५३९, ५४५, ५४७, ५४८, ८०६, ८०७।

शुनक—६९।

शुभानना—३९९।

शुभ—९५।

शून्य—९०।

शूर—९१, ९३, ९५, १००, १२०२।

शूरसेन—९१, ६१२, ६१३, ६१४, ६१६, ६१७।

शूला—७६।

शृङ्क—४०८।

शेष—१९, ६३२।

शेषनाग—१२५०।

शैब्या—९८, १०४४।

शोणाश्व—१०२।

शौनक—६९, ७२, ९०१।

शौरि—९५।

श्येनी—१९।

श्रम—१४।

श्रवणा—९३, १०२, १०७।

श्रविष्ठा—८६, ९३, १०२, १०७।

श्रान्त—१४।

श्राव—४५।

श्रावस्तक—४५।

श्राहुक—१०१।

श्रीदामा—९७२।

श्रीदेवी—९५।

श्रुत—५६, १०४४।

श्रुतदेवी—९४।

श्रुतसेन—८४।

श्रुतायु—१।

श्लिष्टि—७।

श्वफल्क—९२, ९३, १०६।

श्वेत—३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५६, ५१०, ५११, ५१२, ५१३।

श्वेतकर्ण—८५।

श्वेतमाधव—३४९, ३५१, ३५२, ३५७।

श्वेतवाहन—१०२।

स
संयता—८६, ८७।
संयाति—७१।
संवरण—८४।
संवर्त—८६, १४६, ४६९।
संहतश्व—४८।
संहर—१०८५।
संह्लद—१०८५।
संह्लाद—१७, १८, १०८६।
संज्ञा—३७, ३८, १८३, १८४, १८५।
सगर—५२, ५३, ५४, ५५, ४०८, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५२।
सङ्कर्षण—३३८, ३५२, ९५२।
सङ्कल्पा—१४, ७२१, ७२४।
सङ्कलति—६९।
सङ्ग्रामजित्—१०४४।
सञ्जय—६८।
सती—१९४, १९५, १९७, १९८।
सत्त्वान्—९९।
सत्यक—९४।
सत्कर्णक—८५।
सत्यकेतु—७०, ८२, ९५।
सत्यतपा—१२२२।
सत्यनेत्र—३३।
सत्यभामा—१०६, १०७, १०८, १०२९, १०३३, १०३४, १०३७, १०३८, १०३९, १०४१, १०४३, १०४४।
सत्यरथा—५२।
सत्यवती—६३, ६५।
सत्यवाक्—८, ३३।
सत्यव्रत—४८, ५०, ५१, १०२९, १०४२।
सत्राजित्—१०२, १०३, १०४, १०६, १०७, १०२९।
सनक—७३३।
सनत्कुमार—५, १४६, २३३, १०८०, १२०३।
सनन्दन—१३४।
सनाञ्जात—५०२, ५०४, ५०५।
सनातन—३३।
सन्देव—१०१।
सन्नति—७०।
सन्नतेयु—७६।
सवल—३२।
सभाक्ष—१०६।
सभानर—७७।
समा—५६६, ५६९।
समुद्र—८९५, ८९६, १०१३।
सम्पाति—८६६।
सम्बर—१०८५, १०८६।
सम्भूत—४९।
सम्राट्—७।
सरमा—७४४, ७४५।
सरमान—१८।
सरस्वती—३७८, ५३५, ५६२, ६०९, ६१०, ६५९, ८५४, १२६६।
सरस्वान—५३५।
सर्वकर्मा—५६।
सर्वजित्—१७।
सवन—१२४।
सवर्णा—९, ३७, ३८।
सविता—१६।
ससक—१०१।
सह—३२।
सहजन्या—१८७, ३९९, ९२४।
सहदेव—६९, ८३, १०५९।
सहदेवा—९५।
सहस्रजित्—१००।
सहस्राद—८७।
सहिष्णु—३३।

साङ्कृति—६५।
सात्यकि—९४, १०८, १०६७।
साध्य—१४, ३४, १०४०, १०६४।
साध्या—१४।
सान्दीपनि—१०१२, १०१३।
साम्व—१०६, १०४४, १०५६, १०५७, १०५८, १०५९, १०६०, १०६३, १०६४।
सार्तिकावत—१००।
सावर्ण—३४, ३८, ४०।
सावर्णि—३२, ४९३।
सावित्री—२६०।
साहञ्ज—८।
सिंहिका—१७, १८, ७८४।
सिनीवाल—५९।
सिन्धु—८७६।
सिन्धुद्वीप—५६, ८७५।
सिन्धुसेन—४५३, ४५६।
सीता—५०७, ६७३, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ८१८, ८१९, ८२३, ८२४, ८२५, ९१६, १०८८, १०९६।
सुकन्या—८२।
सुकमार—७१, ८२, १२३।
सुकृति—३२।
सुकेतु—५४, ७०।
सुकेशी३९९।
सुखोदय—११९।
सुग्रीव—८१९, ९१७, १०८९।
सुग्रीवी—१९।
सुचारु—८५, १०३, १०२८, १०६७।
सुचेता—८७।
सुच्छाया—७।
सुजात—९१।
सुतनु—९५, १०५।
सुतपा—३३, ७८, १२२६।
सुदंष्ट्र—१०३।
सुदान्त—१०३।
सुदास—५६।
सुदेवा—१०१।
सुदेष्ण—९४, १०२८।
सुद्युम्न—८, ४३, १२०१।
सुधनु—८४।
सुधन्वा—२२, ५७, ७६, ८४।
सुधर्मा—९३, १२२७।
सुधामा—३३।
सुनद्य—६२।
सुनहोत्र—६९।
सुनामा—९६, १०२, १००९।
सुनाम्नी—९५, १०१।
सुनीथ—७०।
सुनीथा—८, २४।
सुन्द—९४९।
सुन्दरी—९३।
सुपर्णा—५३१।
सुपार्श्वक—१०७।
सुप्रभा—७११।
सुवाहु—८०, ९३, १०७, १०८९, १२३०, १२३१।
सुभद्रा—९५, २६५, २६६, २७८, २८४, ३०८, ३१४, ३३८, ३४१, ३४२, ३६९, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७८, ३७९, ३८१, ३८२, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३९७, ४००, ४०५, ९१९, ९३९।
सुभूषण—१०२।
सुमति—३४, ८९२, ८९३, ८९४।
सुमनस्—५।
सुमन्तु—१४६।
सुमन्यु—५६६।
सुमाली—२९।

सुमित्रा—६६३, ६७१, ६७३।
सुमुख—१९।
सुयज्ञ—९७।
सुयव—८०६।
सुयाति—७१।
सुरथ—८४।
सुरभि—१५, १६, १९।
सुरसा—१६, १९, ७६।
सुरूचि—३०।
सुरेश—७३४।
सुवर्ण—७२१, ७२४।
सुवर्णा—७२१, ७२४, ७२५।
सुवीर—७६, ७८।
सुव्रत—७७, ७८।
सुशान्ति—८३।
सुशीला—१२२७, १२२८, १२३०।
सश्यामा—५६०।
सुषेण—१०२८।
सुष्मन्त—८०।
सुहोतार—८०।
सुहोत्र—६, ८०, ८१।
सूत—२, ३, १०, १३, २६, २७, १४६, ९३९।
सूदन—९६१।
सूनृता—७।
सूर्य—१७, २९, ३६, ३८, ३९, ४०, ५७, ७६, ७७, १५८, १५९, १६२, १६४, १६५, १६६, १६८, १७३, १७४, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९१, १९२, १९७, २१२, २४३, २४५, २४९, २५९, २७०, २७२, ३७८, ४७८, ४८०, ४८१, ४९५, ४९६, ५३८, ५६२, ५८१, ६०१, ६०२, ६११, ६८०, ७४७, ७४८, ७५६, ७७०, ८१०, ८२९, ८३०, ८३४, ८४४, ८४५, ८६१, ८६२, ८६७, ८७२, ९०३, ९५१, ९५४, ९७४, १०१२, १०४०, १०८३, १०८७, १०९१, १२१०, १२२४।
सूर्यापीड—८५।
सृञ्जय—७७, ८३, १००।
सोग्रव्यग्र—१०८५।
सोम—१०, १४, ३३, ५८, ७६, १९१, ५३८, ५९४, ५९५, ५९८, ९०२, ९०३।
सोमक—८३।
सोमदत्त—८३, ८४, १०५९।
सोमशर्मा—१२१६।
सौदास—५६।
सौभद्र—८५।
सौभाग्यवती—३९९।
स्कन्द—५, १९१, ४०२, ४२६, ४२७, ४२९, ४६५, ४६७, ५१२, ५७६।
स्त्रीरत्नकूटा—७६।
स्थण्डिलेयु—७६।
स्थविष्ठा—७६७।
स्वन—१०८६।
स्वपार्श्वक—९३।
स्वमिश्र—१०८६।
स्वयम्भोज—१०२।
स्वरकल्प—१८।
स्वभार्नु—१७, १८।
स्वसा—११०।
स्वसृम—१७, १८।
स्वाति—८।
स्वायम्भुव—६, २९, ३१, १३१।
स्वारोचिष—२०, ३१, ३२।
स्वाहा—३७८, ७१८, ७२१।
स्वाहि—९७।
ह
हनुमान—४७२, ७२७, ८१७, ८१९, ८२४, ८२६, ८८५, ८८६, ९१७।

हय—८७।
हयग्रीव—१०३३, १०८५।
हयमूर्धा—४०८।
हयशिरा—१७, १८।
हर—१५, ३७८, ८३९।
हरि—२०, ९८, ३३५, ४२३, ६७४, ८०५, ८१६, ८३९, ९०२, ९३१, ९४७, ९५१, ९६९, १०४१, १०४२, १०५३, १०७९, १०८५।
हरित—५२, १४६।
हरिदश्व—६५।
हरिश्चन्द्र—५२, ४०८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४६, ५४७, ५४८।
हरिहय—१०८५।
हरिहर—६६०, ६६१।
हर्यंग—७९।
हर्यत्वत—६९।
हर्यश्व—१२, १३, ४८।
हर्षण—८६३, ८६४, ८६५।
हलधर—३३९।
हविघ्न—३२।
हविर्धान—८।
हविर्धाम—१२०१।
हव्य—३२।
हरित—६५।
हाहा—१८७, २१६।
हिमवान्—२००।
हिमालय—१९७, १९८।
हिरण्य—७२७, ७२८।
हिरण्यक—५३८।
हिरण्यकशिपु—१७, ९४, ३४२, ८०४, ९४०, ९४७, ९५१, १०८२, १०८४, १०८५।
हिरण्यगर्भ—३२।
हिरण्यरोमा—२२, ३३।
हिरण्याक्ष—१७।
हुतहव्यवाह—१५।
हूहू—१८७, २१६।
हेति—७००, ८०१।
हेमवती—४८।
हैहय—८७।
ह्रद—१७।
ह्राद—१७।

●●

A1S3

Jag nath Bhatt arjun- Nepa